मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक-40

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

भाग-2

[क - न]

क्षु. जिनेन्द्र वर्णी

भारतीय ज्ञानपीठ

आठवाँ संस्करण : 2007 ☐ मूल्य 250 रुपये
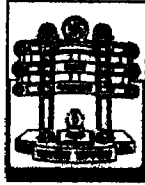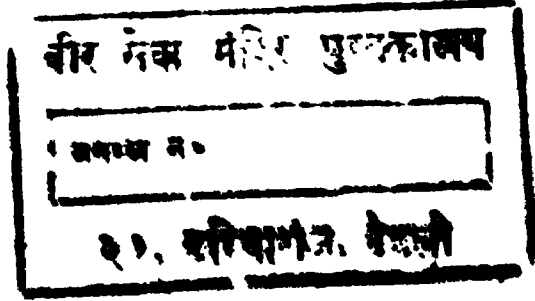
ISBN 81-263-0763 - 3 (Set)
81-263-0764 - 1 (Part-II)

भारतीय ज्ञानपीठ

(स्थापना : फाल्गुन कृष्ण 9; वीर नि. सं. 2470; विक्रम सं. 2000; 18 फरवरी 1944)

पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवी की स्मृति में
साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित
एवं
उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमा जैन द्वारा सम्पोषित

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध विषयक जैन साहित्य का अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उनके मूल और यथासम्भव अनुवाद आदि के साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारों की ग्रन्थसूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य पर विशिष्ट विद्वानों के अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन साहित्य ग्रन्थ भी इस ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहे हैं।

प्रधान सम्पादक (प्रथम संस्करण)
[illegible] जैन एवं डॉ. आ. [illegible] उपाध्ये

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, दिल्ली - 110 032

MOORTIDEVI GRANTHAMALA · Sanskrit Grantha No. 40

JAINENDRA SIDDHĀNTA KOŚA

[Part-II]

[क - न]

by

Kshu. JINENDRA VARNI
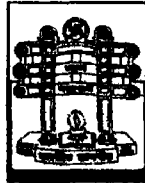
BHARATIYA JNANPITH

Eighth Edition : 2007 □ Price Rs. 250

ISBN 81-263-0763 - 3 (Set)
81-263-0764 - 1 (Part-II)

BHARATIYA JNANPITH

(Founded on Phalguna Krishna 9, Vira N Sam 2470, Vikrama Sam 2000, 18th Feb 1944)

MOORTIDEVI JAIN GRANTHAMALA

FOUNDED BY

Sahu Shanti Prasad Jain

In memory of his illustrious mother Smt. Moortidevi

and

promoted by his benevolent wife

Smt. Rama Jain

In this Granthamala critically edited Jain agamic, philosophical, puranic, literary, historical and other original texts in Prakrit, Sanskrit, Apabhramsha, Hindi, Kannada, Tamil etc are being published in the original form with their translations in modern languages. Catalogues of Jain bhandaras, inscriptions, studies on art and architecture by competent scholars and popular Jain literature are also being published

•

General Editors (First Edition)

Dr Hiralal Jain and Dr A N Upadhye

Published by

Bharatiya Jnanpith

18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110 003

Printed at Vikas Computer & Printers, Delhi - 110 032

प्रकाशकीय प्रस्तुति
(द्वितीय भाग, द्वितीय संस्करण)

इस द्वितीय भाग के प्रथम संस्करण का प्रकाशन सन् 1971 में हुआ था। पाँच भागों में नियोजित जैन साहित्य का यह ऐसा गौरव-ग्रन्थ है जो अपनी परिकल्पना में, कोश-निर्माण कला की वैज्ञानिक पद्धति में, परिभाषित शब्दों की प्रस्तुति और उनके पूर्वापर आयामों के संयोजन में अनेक प्रकार से अद्भुत और अद्वितीय है। इसके रचयिता और प्रायोजक पूज्य क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी जी आज हमारे बीच नहीं हैं। उनके जीवन की उपलब्धियों का चर्मोत्कर्ष था उनका समाधिमरण जो ईसरी में, तीर्थराज सम्मेदशिखर के पादमूल में, आचार्य विद्यासागर महाराज से दीक्षा एवं सल्लेखना व्रत ग्रहण करके श्री 105 क्षुल्लक सिद्धान्तसागर के रूप में, 24 मई 1983 को सम्पन्न हुआ। वह एक ज्योतिपुंज का तिरोहण था जिसने आज के युग को आलोकित करने के लिए जैन-जीवन और जिनवाणी की प्रकाश-परम्परा को अक्षत रखा। उनके प्रति बारम्बार नमन हमारी भावनाओं का परिष्करण है।

भारतीय ज्ञानपीठ के संस्थापक-दम्पती स्व० श्री साहू शान्ति प्रसाद जैन और उनकी धर्मपत्नी स्व० श्रीमती रमा जैन ने इस कोश के प्रकाशन को अपना और ज्ञानपीठ का सौभाग्य माना था। कोश का कृतित्व पूज्य वर्णीजी की 20 वर्ष की साधना का सुफल था। मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला के प्रधान सम्पादक-द्वय स्व० डॉ० हीरालाल जैन और स्व० डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने प्रथम संस्करण के अपने प्रधान संपादकीय में लिखा था :

> "....'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' प्रस्तुत किया जा रहा है जो ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला संस्कृत सीरीज का 38वाँ ग्रन्थ है। यह क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी द्वारा संकलित व सम्पादित है। यद्यपि वे क्षीणकाय तथा अस्वस्थ हैं फिर भी वर्णी जी को गम्भीर अध्ययन से अत्यन्त अनुराग है। इस प्रकाशन से ज्ञान के क्षेत्र में ग्रन्थमाला का गौरव और भी बढ़ गया है। ग्रन्थमाला के प्रधान सम्पादक, क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी के अत्यन्त आभारी हैं जो उन्होंने अपना यह विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ इस ग्रन्थमाला को प्रकाशनार्थ उपहार में दिया।"

उक्त प्रधान-सम्पादकीय को और पूज्य क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी के मुख्य 'प्रास्ताविक' को हमने प्रथम भाग के द्वितीय संस्करण में ज्यों-का-त्यों प्रकाशित किया है। उस प्रास्ताविक में वर्णीजी ने कोश की रचना-प्रक्रिया और विषय-नियोजन तथा विवेचन-पद्धति पर प्रकाश डाला है। ये दोनों लेख महत्त्वपूर्ण और पठनीय हैं।

यह कोश पिछले अनेक वर्षों से अनुपलब्ध था। यह नया संस्करण पूज्य वर्णी जी ने स्वयं अक्षर-अक्षर देखकर संशोधित और व्यवस्थित किया है। प्रथम भाग के नये संस्करण में वर्णी जी ने अनेक नये शब्द जोड़े हैं, कई स्थानों पर तथ्यात्मक संशोधन, परिवर्तन, परिवर्द्धन किये हैं। 'इतिहास' तथा 'परिशिष्ट' के अन्तर्गत दिगम्बर मूल संघ, दिगम्बर जैनाभासी संघ, पट्टावलि तथा गुर्वावलियाँ, संवत्, गुणधर आम्नाय, नन्दिसंघादि शीर्षकों से महत्त्वपूर्ण सामग्री जोड़ी है। आगम-सूची में 147 नाम जोड़कर उनकी संख्या 651 कर दी है। इसी प्रकार आचार्य-सूची में 360 नये नाम जोड़े हैं, अतः आचार्य संख्या 618 हो गई है। पूज्य वर्णीजी ने इन चारों भागों का तो संशोधन किया ही है, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है

कि कोश का पाँचवाँ भाग भी वह तैयार कर गये हैं जो चारों भागों की अनुक्रमणिका है, इस कारण यह कोश सर्वांगीण हो गया है। इसकी उपयोगिता और तात्कालिक संदर्भ-सुविधा कई गुना बढ़ गई है।

इस महान् कोश-ग्रन्थ के नियोजन और क्रियान्वयन में बाल-ब्रह्मचारिणी कौशल जी ने जो सहयोग दिया है, उसको स्मरण करते हुए पूज्य वर्णी जी ने 'इस कार्य की तत्परता के रूप' में 'उनकी कठिन तपस्या' का उल्लेख किया है। भारतीय ज्ञानपीठ इसे अपना पवित्र कर्तव्य मानती है कि वह ब्रह्मचारिणी कौशलजी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करे कि उनकी निष्ठा और साधना के योगदान से यह कार्य सम्पन्न हुआ। इसे स्वीकार करते हुए वर्णीजी ने स्वयं लिखा है : 'प्रभु-प्रदत्त इस अनुग्रह को प्राप्त कर मैं अपने को धन्य समझता हूँ।' किसी अन्य के लिए इससे आगे लिखने को और क्या रह जाता है !

आरम्भ के इन दो नये संस्करणों की भाँति तीसरे और चौथे भाग के संशोधित नये संस्करणों का यथाशीघ्र प्रकाशन ज्ञानपीठ के कार्यक्रम में सम्मिलित है। इसी क्रम में चारों भागों की अनुक्रमणिका से सम्बद्ध पाँचवाँ भाग भी प्रकाशित होगा। कोश का प्रकाशन इतना व्यय-साध्य हो गया है कि सीमित संख्या में ही प्रतियाँ छापी जा रही हैं। पाँचों भागों की संस्करण-प्रतियों की संख्या समान होगी। अतः संस्थाओं और पाठकों के लिए यह लाभदायक होगा कि वह पाँचों भागों के लिए संयुक्त आदेश भेज दें। पाँचों भागों के संयुक्त मूल्य के लिए नियमों की जानकारी कृपया ज्ञानपीठ कार्यालय से मालूम कर लें।

ज्ञानपीठ के अध्यक्ष श्री साहू श्रेयांस प्रसाद जैन और मैनेजिंग ट्रस्टी श्री अशोक कुमार जैन का प्रयत्न है कि यह बहुमूल्य ग्रन्थ संस्थाओं को विशेष सुविधा-नियमों के अन्तर्गत उपलब्ध कराया जाए।

कोश के इस संस्करण के सम्पादन-प्रकाशन में 'टाइम्स रिसर्च फाउण्डेशन, बम्बई', ने जो सहयोग दिया है उसके लिए भारतीय ज्ञानपीठ उनका आभारी है।

मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला के वर्तमान सम्पादक-द्वय—सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी, वाराणसी, और विद्या-वारिधि डॉ० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ, का मार्गदर्शन ज्ञानपीठ को सदा उपलब्ध है। हम उनके कृतज्ञ हैं।

अनन्त चतुर्दशी
17 सितम्बर 1986

—लक्ष्मीचन्द्र जैन,
भारतीय ज्ञानपीठ

संकेत - सूची

अ.ग.श्रा. ...|...	अमितगति श्रावकाचार अधिकार सं./श्लोक सं., पं. वंशीधर शोलापुर, प्र.सं., वि.सं. १९७९
अन.ध....|...|...	अनगारधर्मामृत अधिकार सं./ श्लोक सं./पृष्ठ सं., पं. खूबचन्द शोलापुर, प्र. सं., ई. १९.१९२७
आ.अनु. ...	आत्मानुशासन श्लोक सं.
आ.प....|...|...	आलापपद्धति अधिकार सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं., चौरासी मथुरा, प्र. सं., वी. नि. २४५६
आप्त.प....|...|...	आप्तपरीक्षा श्लोक सं./प्रकरण सं./पृष्ठ सं., वीरसेवा मन्दिर सरसावा, प्र. सं., वि. सं. २००६
आप्त.मी....	आप्तमीमांसा श्लोक सं.
इ.उ./मू....|...	इष्टोपदेश/मूल या टीका श्लो.सं./पृष्ठ सं.(समाधिशतकके पीछे) पं.आशाधरजी कृत टीका, वीरसेवा मन्दिर दिल्ली
क.पा....|§...|...|...	कषायपाहुड पुस्तक सं. भाग सं./§प्रकरण सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., दिगम्बर जैनसंघ, मथुरा, प्र.सं., वि.सं. २०००
का.अ./मू....	कार्तिकेयानुप्रेक्षा/मूल या टीका गाथा सं., राजचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र.सं. ई.१९६०
कुरल....|...	कुरल काव्य परिच्छेद सं./श्लोक सं., पं. गोविन्दराय जैन शास्त्री, प्र.सं., वी.नि.सं. २४८०
क्रि.क....|...|...	क्रियाकलाप मुख्याधिकार सं.-प्रकरण सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं., पन्नालाल सोनी शास्त्री आगरा, वि.सं. १९९३
क्रि.को....	क्रियाकोश श्लोक सं., पं. दौलतराम
क्ष.सा./मू....|...	क्षपणसार/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
गुण.श्रा....	गुणभद्र श्रावकाचार श्लोक सं.
गो.क./मू....|...	गोम्मटसार कर्मकाण्ड/मूल गाथा सं./पृष्ठ सं., जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
गो.क./जी.प्र....|...|...	गोम्मटसार कर्मकाण्ड/जीव तत्त्व प्रदीपिका टीका गाथा सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., जैन सिद्धान्त प्रका. संस्था
गो.जी./मू....|...	गोम्मटसार जीवकाण्ड/मूल गाथा सं./पृष्ठ सं., जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
गो.जी./जी.प्र....|...|...	गोम्मटसार जीवकाण्ड/जीव तत्त्वप्रदीपिका टीका गाथा सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था
ज्ञा....|...|...	ज्ञानार्णव अधिकार सं./दोहक सं./पृष्ठ सं. राजचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र.सं. ई. १९०७
ज्ञा.सा....	ज्ञानसार श्लोक सं.
चा.पा./मू....|...	चारित्त पाहुड/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र.सं., वि.सं. १९७७
चा.सा....|...	चारित्रसार पृष्ठ सं./पंक्ति सं., महावीर जी, प्र.सं., वी.नि. २४८८
ज.प....|...	जंबूदीवपण्णत्तिसंगहो अधिकार सं./गाथा सं., जैन संस्कृति संरक्षण संघ, शोलापुर, वि.सं. २०१४
जै.सा....|...	जैन साहित्य इतिहास खण्ड सं./पृष्ठ सं., गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वी.नि. २४८१
जै.पी....	जैन साहित्य इतिहास/पूर्व पीठिका पृष्ठ सं., गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वी.नि. २४८१
त.अनु....	तत्त्वानुशासन श्लोक सं., नागसेन सूरिकृत, वीर सेवा मन्दिर देहली, प्र.सं., ई. १९६३
त.वृ....|...|...|...	तत्त्वार्थवृत्ति अध्याय सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं., ई. १९४९
त.सा....|...|...	तत्त्वार्थसार अधिकार सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं., जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता, प्र.सं., ई.स. १९२६
त.सू....|...	तत्त्वार्थसूत्र अध्याय सं./सूत्र सं.
ति.प....|...	तिलोयपण्णत्ति अधिकार सं./गाथा सं., जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र.सं., वि.सं. १९९९
ती....	तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृष्ठ सं., दि. जैन विद्वत्परिषद्, सागर, ई. १९७४
त्रि.सा....	त्रिलोकसार गाथा सं., जैन साहित्य बम्बई, प्र. सं., १९१८
द.पा./मू....|...	दर्शनपाहुड/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र.सं., वि.सं. १९७७
द.सा....	दर्शनसार गाथा सं., नाथूराम प्रेमी, बम्बई, प्र.सं., वि. १९७४
द्र.सं./मू....|...	द्रव्यसंग्रह/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., देहली, प्र.सं. ई. १९५३
ध.प....	धर्म परीक्षा श्लोक सं.
ध....|...|...|...	धवला पुस्तक सं./खण्ड सं., भाग, सूत्र/पृष्ठ सं./पंक्ति या गाथा सं., अमरावती, प्र. सं.
न.च.वृ....	नयचक्र बृहद् गाथा सं. श्री देवसेनाचार्यकृत, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई प्र. सं., वि. सं. १९७७
न.च./श्रुत....|...	नयचक्र/श्रुत भवन दीपक अधिकार सं./पृष्ठ सं., सिद्ध सागर, शोलापुर
नि.सा./मू....	नियमसार/मूल या टीका गाथा सं.
नि.सा./ता.वृ..../क....	नियमसार/तात्पर्य वृत्ति गाथा सं./कलश सं.
न्या.दी....|§...|...|...	न्यायदीपिका अधिकार सं./§प्रकरण सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं. वीरसेवा मन्दिर देहली, प्र.सं. वि.सं. २००२
न्या.बि./मू....	न्यायबिन्दु/मूल या टीका श्लोक सं., चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस
न्या.वि./मू....|...|...|...	न्यायविनिश्चय/मूल या टीका अधिकार सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., ज्ञानपीठ बनारस
न्या.सू./मू....|...|...|...	न्यायदर्शन सूत्र/मूल या टीका अध्याय सं./आह्निक/सूत्र सं./पृष्ठ सं. मुजफ्फरनगर, द्वि. सं., ई. १९३४
पं.का./मू....|...	पंचास्तिकाय/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, प्र.सं., वि. १९७२
पं.ध./पू....	पंचाध्यायी/पूर्वार्ध श्लोक सं., पं. देवकीनन्दन, प्र. सं., ई. १९३२
पं.ध./उ....	पंचाध्यायी/उत्तरार्ध श्लोक सं., पं. देवकीनन्दन, प्र.सं. ई. १९३२
पं.वि....|...	पद्मनन्दि पंचविंशतिका अधिकार सं./श्लोक सं. जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र.सं., ई. १९३२
पं.सं./प्रा....|...	पंचसंग्रह/प्राकृत अधिकार सं./गाथा सं., ज्ञानपीठ, बनारस प्र. सं. ई. १९६०
पं.सं./सं....|...	पंचसंग्रह/संस्कृत अधिकार सं./श्लोक सं., पं. सं./प्रा. की टिप्पणी, प्र. सं., ई. १९६०

प.पु.…/…	पद्मपुराण सर्ग/श्लोक सं., भारतीय ज्ञानपीठ बनारस, प्र.सं., वि.सं. २०१६
प.मु.…/…/…	परीक्षामुख परिच्छेद सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं., स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी, प्र. सं.
प.प्र./मू.…/…/…	परमात्मप्रकाश/मूल या टीका अधिकार सं./गाथा सं./पृष्ठ सं., राजचन्द्र ग्रन्थमाला, द्वि.सं., वि.सं. २०१७
पा.पु.…/…	पाण्डवपुराण सर्ग सं./श्लोक सं., जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र.सं., ई. १९६२
पु.सि …	पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय श्लोक सं.
प्र.सा./मू.…/…	प्रवचनसार/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं.
प्रति.सा.…/…	प्रतिष्ठासारोद्धार अध्याय सं./श्लोक सं.
बा.अ.…	बारस अणुवेक्खा गाथा सं.
बो.पा./मू.…/…	बोधपाहुड़/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं. माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १९७७
बृ. जै. श …	बृहत् जैन शब्दार्णव/द्वितीय खंड/पृष्ठ सं., मूलचंद किशनदास कापड़िया, सूरत, प्र. सं., वी.नि. २४६०
भ.आ./मू. …/ /…	भगवती आराधना/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., सखाराम दोशी, सोलापुर, प्र.सं., ई. १९३५
भा.पा./मू.…/…	भाव पाहुड़/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र.सं., वि सं. १९७७
म.पु.…/…	महापुराण सर्ग सं./श्लोक सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र. सं., ई. १९५१
म.बं.…/§…/…	महाबन्ध पुस्तक सं./§ प्रकरण सं./पृष्ठ सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं., ई. १९५१
मू.आ.…	मूलाचार गाथा सं., अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, प्र. सं., वि. सं. १९७९
मो.पं.…	मोक्ष पंचाशिका श्लोक सं.
मो.पा./मू.…/…	मोक्ष पाहुड़/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १९७७
मो.मा.प्र.…/…/…	मोक्षमार्गप्रकाशक अधिकार सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., सस्ती ग्रन्थमाला, देहली, द्वि.सं., वि. सं. २०१०
यु.अनु.…	युक्त्यनुशासन श्लोक सं., वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, प्र. सं., ई. १९५१
यो.सा.अ.…/…	योगसार अमितगति अधिकार सं./श्लोक सं., जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, ई.सं. १९१८
यो.सा.यो.…	योगसार योगेन्दुदेव गाथा सं., परमात्मप्रकाशके पीछे छपा
र.क.श्रा.…	रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक सं.
र.सा.…	रयणसार गाथा सं.
रा.वा.…/…/…/…	राजवार्तिक अध्याय सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं., वि.सं. २००८
रा.वा.हिं.…/…/…	राजवार्तिक हिन्दी अध्याय सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं.
ल.सा./मू.…/…	लब्धिसार/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, प्र. सं.
ला.सं.…/…/…	लाटी संहिता अधिकार सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं.
लि.पा./मू.…/…	लिंग पाहुड़/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र.सं., वि. सं. १९७७
वसु.श्रा.…	वसुनन्दि श्रावकाचार गाथा सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र. सं., वि. सं. २००७
वै.द.…/…/…/…	वैशेषिक दर्शन/अध्याय सं./आह्निक/सूत्र सं./पृष्ठ सं., देहली पुस्तक भण्डार देहली, प्र सं., वि.सं. २०१७
शी.पा./मू.…/…	शील पाहुड़/मूल या टीका गाथा सं./पंक्ति सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र. सं., वि.सं. १९७७
श्लो.वा.…/…/…/…/…	श्लोकवार्तिक पुस्तक सं./अध्याय सं./सूत्र सं./वार्तिक-सं./पृष्ठ सं., कुन्थुसागर ग्रन्थमाला शोलापुर, प्र.सं., ई. १९४९-१९५६
ष.खं.…/…/…	षट्खण्डागम पुस्तक सं./खण्ड सं., भाग, सूत्र/पृष्ठ सं.
स.भ.त.…/…	सप्तभङ्गीतरङ्गिनी पृष्ठ सं./पंक्ति सं., परम श्रुत प्रभावक मण्डल, द्वि.सं., वि.सं. १९७२
स.म.…/…/…	स्याद्वादमञ्जरी श्लोक सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., परम श्रुत प्रभावक मण्डल, प्र. सं. १९९१
स.श./मू.…/…	समाधिशतक/मूल या टीका श्लोक सं./पृष्ठ सं., इष्टोपदेश युक्त, वीर सेवा मन्दिर, देहली, प्र.सं., २०२१
स.सा./मू.…/…/…	समयसार/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, देहली, प्र.सं. ३१.१२.१९५८
स.सा./आ.…/क	समयसार/आत्मख्याति गाथा सं./कलश सं.
स.सि.…/…/…	सर्वार्थसिद्धि अध्याय सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं. ई. १९५५
स्व. स्तो…	स्वयम्भू स्तोत्र श्लोक सं., वीरसेवा मन्दिर सरसावा, प्र. सं., ई. १९५१
सा.ध.…/…	सागार धर्मामृत अधिकार सं./श्लोक सं.
सा.पा.…	सामायिक पाठ अमितगति श्लोक सं.
सि.सा.सं.…/…	सिद्धान्तसार संग्रह अध्याय सं./श्लोक सं., जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र. सं. ई. १९५७
सि.वि./मू.…/…/…/…	सिद्धि विनिश्चय/मूल या टीका प्रस्ताव सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., भारतीय ज्ञानपीठ, प्र.सं. ई. १९५१
सु.र.सं.…	सुभाषित रत्न सन्दोह श्लोक सं. (अमितगति), जैन प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, प्र.सं., ई. १९१७
सू.पा./मू.…/…	सूत्र पाहुड़/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र.सं., वि.सं. १९७७
ह.पु.…/…	हरिवंश पुराण सर्ग/श्लोक/सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं.

नोट : भिन्न-भिन्न कोष्ठकों व रेखा चित्रोंमें प्रयुक्त संकेतोंके अर्थ वहीं उस-उस स्थल पर ही दिये गये हैं।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

[क्षु० जिनेन्द्र वर्णी]

[क]

कंचन—१. सौधर्मस्वर्गका ६वाँ पटल—दे० स्वर्ग/५/३ २. कंचन कूट व देव आदि—दे० कांचन।

कंका—भरतक्षेत्र आर्य खण्डकी नदी—दे० मनुष्य/४।

कंजिक व्रत—समय—६४ दिन। विधि—किसी भी मासकी पड़वासे प्रारम्भ करके ६४ दिन तक केवल कांजी आहार (जल व भात) लेना। शक्ति हो तो समयको दुगुना तिगुना आदि कर लेना। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करना। (वर्द्धमान पुराण), (व्रत-विधान संग्रह/पृ० १००)।

कंटक द्वीप—लवण समुद्रमें स्थित एक अन्तर्द्वीप—दे० मनुष्य/४।

कंडरा—औदारिक शरीरमें कंडराओंका प्रमाण—दे० औदारिक/१/७

कंदक—ध. १३/५.३,२६/३४/१० हत्थिधरणट्ठमोड्डिदवारिबंधो कंदओ णाम। हरिण-वाराहादिमारणट्ठमोड्डिदकंदा वा कंदओ णाम। —हाथी के पकड़नेके लिए जो वारिबन्ध बनाया जाता है उसे कंदक कहते हैं। अथवा हिरण और सूअर आदिके मारनेके लिए जो फंदा तैयार किया जाता है उसे कन्दक कहते हैं।

कंदमूल—१. भेद-प्रभेद—दे० वनस्पति/१। २. भक्ष्याभक्ष्य विचार—दे० भक्ष्याभक्ष्य/४।

कंदर्प—स.सि./७/३२/३६९/१४ रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कन्दर्पः। —रागभावकी तीव्रतावश हास्य मिश्रित असभ्य वचन बोलना कन्दर्प है। (रा. वा./७/३२/१/५५६), (भ. आ./वि./१८०/-३९८/१)।

कंदर्पदेव—मू. आ./११३१ कंदप्पमाभिजोग्गा देवीओ चावि आरण-चुदोत्ति ···/११३२। —कन्दर्प जातिके देवोंका गमनागमन अच्युत स्वर्ग पर्यन्त है।

कंस—१. एक ग्रह—दे० ग्रह। २. तोलका एक प्रमाण—दे० गणित/-I/१/२ ३.(ह. पु./सर्ग/श्लो०) पूर्वभव सं० २ में वशिष्ठ नामक तापस था (३३/३६)। इस भवमें राजा उग्रसेनका पुत्र हुआ (३३/३३)। मञ्जोदरीके घर पला (१९/११)। जरासंधके शत्रुको जीतकर जरा-संधकी कन्या जीवद्यशाको विवाहा (३३/२–१२,१४)। पिताके पूर्व व्यवहारसे क्रुद्ध हो उसे जेलमें डाल दिया (३३/२७)। अपनी बहन देवकी वसुदेवके साथ गुरु दक्षिणाके रूपमें परिणायी (३३/३१)। भावि मरणकी आशंकासे देवकीके छः पुत्रोंको मार दिया (३५/७)। अन्तमें देवकीके ७वें पुत्र कृष्ण द्वारा मारा गया (३६/४५)। ४. श्रुता-वतारके अनुसार आप पाँचवें ११ अंगधारी आचार्य थे। समय—वी. नि. ४३९-४६८ (ई० पू० ९१-५९)—दे० इतिहास/४/४।

कंसक वर्ण—एक ग्रह—दे० ग्रह।

कच्छ—१. भरत क्षेत्र आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

कच्छ परिंगित—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

कच्छवत्—पूर्व विदेहस्थ मन्दर वक्षारका एक कूट—दे० लोक/५/४।

कच्छविजय—माल्यवान् गजदन्तस्थ एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/५/४।

कच्छा—पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/५/२।

कच्छावती—पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/५/२

कज्जला—सुमेरु पर्वतके नन्दनादि वनोंमें स्थित वापियाँ—दे० लोक५/६।

कज्जलाभा—कज्जलावत्। —दे० लोक/५/६।

कज्जली—एक ग्रह—दे० ग्रह।

कटक—ध. १४/५,६,४२/४०/१ वंसकंबीहि अण्णोण्णजणणाए जे किज्जंति घरावणादिवारणं ढंकणट्ठं ते कडआ णाम। —बाँसकी कम-चियोंके द्वारा परस्पर बुनकर घर और अन्न आदिके ढाँकनेके लिए जो बनायी जाती हैं, वे कटक अर्थात् चटाई कहलाती हैं।

कटु—कटु संभाषणकी कथंचित् इष्टता-अनिष्टता—दे० सत्य/२।

कठु—पंजाब देश (मु. अनु./प्र.३६/पं० जुगलकिशोर)।

कणाद—१. वैशेषिकसूत्रके कर्ता—दे० वैशेषिक। २. एक अज्ञान-वादी—दे० अज्ञानवाद।

कण्व—एक अज्ञानवादी—दे० अज्ञानवाद।

कथंचित्—द्र.सं./टी./अधिकार २की चूलिका/८१/६। परस्परसापे-क्षत्वं कथंचित्परिणामित्वशब्दस्यार्थः। —परस्पर अपेक्षा सहित होना, यही 'कथंचित् परिणामित्व' शब्दका अर्थ है।

२. कथंचित् शब्दकी प्रयोग-विधि व माहात्म्य—दे० स्याद्वाद/५,६।

कथा (न्याय)—न्या. दी./पृ.४१ की टिप्पणी—नानाप्रवक्तृत्वे सति तद्विचारवस्तुविषया वाक्यसंदर्भलब्धिकथा। —अनेक प्रवक्ताओंके विचारका जो विषय या पदार्थ है, उनके वाक्य सन्दर्भका नाम कथा है।

न्यायसार पृ० १५ वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः कथा। —वादी प्रतिवादियोंके पक्षप्रतिपक्षका ग्रहण सो कथा है।

१. कथाके भेद

न्या. सू./भाष्य/१-१/४१/४१/१८ तिस्रः कथा भवन्ति वादो जल्पो वितण्डा चेति। —कथा तीन प्रकारकी होती है—वाद, जल्प व वितण्डा।

न्यायसार पृ० १५ सा द्विविधा—वीतरागकथा विजिगीषुकथा चेति।—वह दो प्रकार है—वीतरागकथा और विजिगीषुकथा।

२. वीतराग व विजिगीषु कथाके लक्षण

न्या.वि/मू./२/२१३/२४३ प्रत्यनीकव्यवच्छेदप्रकारेणैकसिद्धये वचनं साधनादीनां वादं सोऽयं जिगीषितोः।२१३। —विरोधी धर्मोंमेंसे किसी एकको सिद्ध करनेके लिए, एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले वादी और प्रतिवादी परस्परमें जो हेतु व दूषण आदि देते हैं, वह वाद कहलाता है।

न्या.दी./३/§३४/७९ वादिप्रतिवादिनोः स्वमतस्थापनार्थं जयपराजयपर्यंतं परस्परं प्रवर्तमानो वाग्व्यापारो विजिगीषुकथा। गुरुशिष्याणां विशिष्टविदुषां वा रागद्वेषरहितानां तत्त्वनिर्णयपर्यन्तं परस्परं प्रवर्तमानो वाग्व्यापारो वीतरागकथा। तत्र विजिगीषुकथा वाद इति चोच्यते।··· विजिगीषुवाग्व्यवहार एव वादत्वप्रसिद्धेः। यथा स्वामिसमन्तभद्राचार्यैः सर्वे सर्वथैकान्तवादिनो वादे जिता इति। —वादी और प्रतिवादीमें अपने पक्षको स्थापित करनेके लिए जीत-हार होने तक जो परस्परमें वचन प्रवृत्ति या चर्चा होती है वह विजिगीषु-कथा कहलाती है और गुरु तथा शिष्यमें अथवा रागद्वेष रहित विशेष विद्वानोंमें तत्त्वके निर्णय होने तक जो चर्चा चलती है वह वीतराग कथा है। इनमें विजिगीषु कथाको वाद कहते हैं। हार जीतकी चर्चाको अवश्य वाद कहा जाता है। जैसे—स्वामी समन्तभद्राचार्यने सभी एकान्तवादियोंको वादमें जीत लिया।

★विजिगीषु कथा सम्बन्धी विशेष—दे० वाद।

कथा (सत्कथा व विकथा आदि)—म. पु./१/११८ पुरुषार्थोपयोगित्वात्त्रिवर्गकथनं कथा। —मोक्ष पुरुषार्थके उपयोगी होनेसे धर्म, अर्थ और कामका कथन करना कथा कहलाती है।

१. कथाके भेद

म. पु./१/११८-१२०—(सत्कथा, विकथा व धर्म कथा)।

भ. आ./मू./६५५/८५२ आक्खेवणी य विक्खेवणी य संवेगणी य णिव्वेप्रणी य खवयस्स।—आक्षेपिणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेजनी—ऐसे (धर्म) कथाके चार भेद हैं। (ध. १/१,१,२/१०४/६), (गो. जी./जी. प्र./३५७/७६५/१८) (अन. ध./७/८८/७१६)।

२. धर्मकथा व सत्कथाके लक्षण

ध. ९/४,१ ५५/२६३/४ एक्कंगस्स एगाहियारोवसंहारो धम्मकहा। तत्थ जो उवजोगो सो वि धम्मकहा त्ति घेत्तव्वो। —एक अंगके एक अधिकारके उपसंहारका नाम धर्मकथा है। उसमें जो उपयोग है वह भी धर्मकथा है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। (ध. १४/५.६.१४/९/६)।

म. पु./१/१२०,११८ यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थसंसिद्धिरञ्जसा। सद्धर्मस्तन्निबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता।१२०।··· तत्रापि सत्कथां धर्म्यामामनन्ति मनीषिणः।११८। —जिससे जीवोंको स्वर्गादि अभ्युदय तथा मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है, वास्तवमें वही धर्म कहलाता है। उससे सम्बन्ध रखने वाली जो कथा है उसे सद्धर्मकथा कहते हैं।१२०। जिसमें धर्मका विशेष निरूपण होता है उसे बुद्धिमान् पुरुष सत्कथा कहते हैं।११८।

गो. क./जी. प्र./८८/७४/८ अनुयोगादि धर्मकथा च भवति।—प्रथमानुयोगादि रूप शास्त्र सो धर्मकथा कहिए।

४. आक्षेपणी कथाका लक्षण

भ. आ./मू. व. वि./६५६/८५३ आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ।···।६५६। आक्षेपणी कथा भण्यते। यस्यां कथायां ज्ञानं चारित्रं चोपदिश्यते। —जिसमें मति आदि सम्यग्ज्ञानोंका तथा सामायिकादि सम्यग्चारित्रोंका निरूपण किया जाता है वह आक्षेपणी कथा है।

ध. १/१,१,२/१०५/१ तथा श्लो. ७५/१०६ तत्थ अक्खेवणीणाम छद्दव्वणवपयत्थाणं सरूवं दिगंतर-समयांतर-णिराकरणं सुद्धिं करेंती परूवेदि। उक्तं च—आक्षेपणीं तत्त्वविधानभूतां।···।७५। —जो नाना प्रकारकी एकान्त दृष्टियोंका और दूसरे समयोंका निराकरण पूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्य और नौ प्रकारके पदार्थोंका प्ररूपण करती है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं।···कहा भी है—तत्त्वोंका निरूपण करनेवाली आक्षेपणी कथा है।

गो.जी./जी.प्र./३५७/७६५/११ तत्र प्रथमानुयोगकरणानुयोगचरणानुयोगद्रव्यानुयोगरूपपरमागमपदार्थानां तीर्थंकरादिवृत्तान्तलोकसंस्थानदेशसकलयतिधर्मपंचास्तिकायादीनां परमतार्शकारहितं कथनमाक्षेपणी कथा—तहाँ तीर्थंकरादिके वृत्तान्तरूप प्रथमानुयोग, लोकका वर्णनरूप करणानुयोग, श्रावक मुनिधर्मका कथनरूप चरणानुयोग, पंचास्तिकायादिकका कथनरूप द्रव्यानुयोग, इनका कथन अर परमतकी शंका दूर करिए सो आक्षेपणी कथा है।

अन. ध./७/८८/७१६ आक्षेपणीं स्वमतसंग्रहणीं समेक्षी,···। —जिसके द्वारा अपने मतका संग्रह अर्थात् अनेकान्त सिद्धान्तका यथायोग्य समर्थन हो उसको आक्षेपणी कथा कहते हैं।

५. विक्षेपणी कथाका लक्षण

भ. आ./मू.व.वि./६५६/८५३ ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम।६५६।—या कथा स्वसमयं परसमयं चाश्रित्य प्रवृत्ता सा विक्षेपणी भण्यते। सर्वथानित्यं···इत्यादिकं परसमयं पूर्वपक्षीकृत्य प्रत्यक्षानुमानेन आगमेन च विरोधं प्रदर्श्य कथंचिन्नित्यं···इत्यादि स्वसमयनिरूपणा च-विक्षेपणी। —जिस कथामें जैन मतके सिद्धान्तोंका और परमतका निरूपण है उसको विक्षेपणी कथा कहते हैं। जैसे 'वस्तु सर्वथा नित्य ही है' इत्यादि अन्य मतोंके एकान्त सिद्धान्तोंको पूर्व पक्षमें स्थापित कर उत्तर पक्षमें वे सिद्धान्त प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमसे विरुद्ध हैं, ऐसा सिद्ध करके, वस्तुका स्वरूप कथंचित् नित्य इत्यादि रूपसे जैनमतके अनेकान्तको सिद्ध करना यह विक्षेपणी कथा है।

ध. १/१,१,२/१०५/२ तथा श्लो. नं. ७५/१०६ विक्खेवणी णाम पर-समएण स-समयं दूसंती पच्छा दिगंतरसुद्धिं करेंती स-समयं थावंती छद्दव्व-णव-पयत्थे परूवेदि।···उक्तं च—विक्षेपणीं तत्त्वदिगन्तरशुद्धिम्।···।७५। —जिसमें पहले परसमयके द्वारा स्वसमयमें दोष बतलाये जाते हैं। अनन्तर परसमयकी आधारभूत अनेक एकान्त दृष्टियोंका शोधन करके स्वसमयकी स्थापना की जाती है और छह-द्रव्य नौ पदार्थोंका प्ररूपण किया जाता है उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं। कहा भी है—तत्त्वसे दिगान्तरको प्राप्त हुई दृष्टियोंका शोधन करनेवाली अर्थात् परमतकी एकान्त दृष्टियोंका शोधन करके स्वसमयकी स्थापना करनेवाली विक्षेपणी कथा है। (गो. जी./जी.प्र./३५७/७६५/२०) (अन. ध./७/८८/७१६)।

६. संवेजनी कथाका लक्षण

भ. आ./मू. व. वि./६५७/८५४ संवेयणी पुण कहा णाणचरित्तं तववीरिय इड्ढिगदा /६५७/…संवेजनी पुनः कथा ज्ञानचारित्रतपोभावनाजनित-शक्तिसंपन्निरूपणपरा ।—ज्ञान, चारित्र, तप व वीर्य इनका अभ्यास करने से आत्मामें कैसी-कैसी अलौकिक शक्तियाँ प्रगट होती हैं इनका खुलासेवार वर्णन करनेवाली कथाको संवेजनी कथा कहते हैं।

ध. १/१,१,२/१०५/४ तथा श्लो. ७५/१०६ संवेयणी णाम पुण्ण-फल-संकहा। काणि पुण्ण-फलाणि। तित्थयर-गणहर-रिसिचक्कवट्टि-बलदेव-वासुदेव-सुर-विज्जाहररिद्धीओ…उक्तं च—'संवेगनी धर्मफल-प्रपञ्चा…।७५।—पुण्यके फलका कथन करनेवाली कथाको संवेदनी कथा कहते हैं। पुण्यके फल कौनसे हैं? तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ति, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरोंकी ऋद्धियाँ पुण्यके फल हैं। कहा भी है—विस्तारसे धर्मके फलका वर्णन करनेवाली संवेगिनी कथा है। (गो.जी./जी. प्र./३५७/७६६/१) (अन. ध./७/८८/७१६)।

७. निर्वेजनी कथाका लक्षण

भ. आ. मू.व.वि./६५७/८५४ णिव्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोघे य ।६५७।…निर्वेजनी पुनः कथा सा। शरीरेभोगे, भवसंतती च परा-ङ्मुखताकारिणी शरीराण्यशुचीनि…अनित्यकायस्वभावाः प्राण-भृतः इति शरीरतत्त्वाश्रयणात्। तथा भोगा दुर्लभाः…लब्धा अपि कथंचित्र तृप्तिं जनयन्ति। अलाभे तेषां, लब्धानां वा विनाशे शोको महानुदेति। देवमनुजभवावपि दुर्लभौ, दुःखबहुलौ अल्पसुखौ इति निरूपणात।—शरीर, भोग और जन्म परम्परामें विरक्ति उत्पन्न करनेवाली कथाका निर्वेजनी कथा ऐसा नाम है। इसका खुलासा—शरीर अपवित्र है, शरीरके आश्रयसे आत्माकी अनित्यता प्राप्त होती है। भोग पदार्थ दुर्लभ हैं। इनकी प्राप्ति होनेपर आत्मा तृप्त होता नहीं। इनका लाभ नहीं होनेसे अथवा लाभ होकर विनष्ट हो जानेसे महान् दुःख उत्पन्न होता है। देव व मनुष्य जन्मकी प्राप्ति होना दुर्लभ है। ये बहुत दुःखोंसे भरे हैं तथा अल्प मात्र सुख देनेवाले हैं। इस प्रकारका वर्णन जिसमें किया जाता है वह कथा निर्वेजनी कथा कहलाती है (अन. ध./७/८८/७१६)।

ध. १/१,१,२/१०५/५ तथा श्लोक ७५/१०६ णिव्वेयणी णाम पावफल-संकहा। काणि पावफलाणि। णिरय-तिरय-कुमाणुस-जोणीसु जाइ-जरा-मरण-वाहि-वेयणा-दालिद्दादीणि। संसार-सरीर-भोगेसु वेरग्गु-प्पाइणी णिव्वेयणी णाम। उक्तं च—निर्वेगिनी चाह कथां विरा-गाम् ।७५।—पापके फलका वर्णन करनेवाली कथाको निर्वेदनी कथा कहते हैं। पापके फल कौनसे हैं? नरक, तिर्यंच और कुमानुषकी योनियोंमें जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र आदिकी प्राप्ति पापके फल हैं।—अथवा संसार, शरीर और भोगोंमें वैराग्यको उत्पन्न करनेवाली कथाको निर्वेदनी कथा कहते हैं। कहा भी है—वैराग्य उत्पन्न करनेवाली निर्वेगिनी कथा है। (गो.जी./जी.प्र./३५७/७६६/१)।

८. विकथाके भेद

नि. सा./मू./६७ थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स ।…।—पापके हेतुभूत ऐसे स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भक्तकथा इत्यादिरूप वचनोंका त्याग करना वचनगुप्ति है।

मू. आ./मू./८५५-८५६ इत्थिकहा अत्थकहा भत्तकहा खेडकव्वडाणं च। रायकहा चोरकहा जणवदणयरायरकहाओ ।८५५। णडभडमल्लकहाओ मायाकरजल्लमुट्ठियाणं च। अज्जउललंघियाणं कहासु ण विरज्जए धीरा: ।८५६।—स्त्रीकथा, धनकथा, भोजनकथा, नदी पर्वतसे घिरे हुए स्थानकी कथा, केवल पर्वतसे घिरे हुए स्थानकी कथा, राजकथा, चोरकथा, देश-नगरकथा, खानि सम्बन्धी कथा ।८५५। नटकथा, भाटकथा, मल्लकथा, कपटजीवी व्याध व ज्वारीकी कथा, हिंसकोंकी कथा, ये सब लौकिकी कथा (विकथा) हैं। इनमें वैरागी मुनिराज रागभाव नहीं करते ।८५६।

गो. जी./जी प्र./४४/८४/१७ तद्यथा—स्त्रीकथा अर्थकथा भोजनकथा राजकथा चोरकथा वैरकथा परपाखण्डकथा देशकथा भाषाकथा गुण-बन्धकथा देवीकथा निष्ठुरकथा परपैशुन्यकथा कन्दर्पकथा देशकाला-नुचितकथा भंडकथा मूर्खकथा आत्मप्रशंसाकथा परपरिवादकथा पर-जुगुप्साकथा परपीडाकथा कलहकथा परिग्रहकथा कृष्याद्यारम्भकथा संगीतवाद्यकथा चेति विकथा पञ्चविंशतिः।—स्त्रीकथा, अर्थ (धन) कथा, भोजनकथा, राजकथा, चोरकथा, वैरकथा, परपाखंडकथा, देशकथा, भाषा कथा (कहानी इत्यादि), गुणप्रतिबन्धकथा, देवी-कथा, निष्ठुरकथा, परपैशुन्य (चुगली) कथा, कन्दर्प (काम) कथा, देशकालके अनुचित कथा, भंड (निर्लज्ज) कथा, मूर्खकथा, आत्मप्रशंसा कथा, परपरिवाद (परनिन्दा) कथा, पर जुगुप्सा (घृणा) कथा, परपीड़ाकथा, कलहकथा, परिग्रहकथा, कृषि आदि आरम्भ कथा, संगीत वादित्रादि कथा—ऐसे विकथा २५ भेद संयुक्त हैं।

९. स्त्री कथा आदि चार विकथाओंके लक्षण

नि. सा./ता. वृ./६७ अतिप्रवृद्धकामैः कामुकजनैः स्त्रीणां संयोगविप्र-लम्भजनितविविधवचनरचना कर्तव्या श्रोतव्या च सैव स्त्रीकथा। राज्ञां युद्धहेतूपन्यासो राजकथाप्रपञ्चः। चौराणां चौरप्रयोगकथनं चौरकथाविधानम्। अतिप्रवृद्धभोजनप्रीत्या विचित्रमण्डकावलीखण्ड-दधिखण्डसितादानपानप्रशंसा भक्तकथा।—जिन्होंके काम अति वृद्धि-को प्राप्त हुआ हो ऐसे कामी जनों द्वारा की जानेवाली और सुनी जानेवाली ऐसी जो स्त्रियोंकी संयोग वियोगजनित विविधवचन रचना, वही स्त्रीकथा है। राजाओंका युद्धहेतुक कथन राजकथा प्रपंच है। चोरोंका चोर प्रयोग कथन चोरकथाविधान है। अति वृद्धिको प्राप्त भोजनकी प्रीति द्वारा मैदाकी पूरी और शक्कर, दही-शक्कर, मिसरी इत्यादि अनेक प्रकारके अशन-पानकी प्रशंसा भक्त कथा या भोजन कथा है।

१०. अर्थ व काम कथाओंमें धर्मकथा व विकथापना

म. पु./१/११९ तत्फलाभ्युदयाङ्गत्वादर्थकामकथा। अन्यथा विकथैवा-सावपुण्यास्रवकारणम् ।११९।—धर्मके फलस्वरूप जिन अभ्युदयोंकी प्राप्ति होती है, उनमें अर्थ और काम भी मुख्य हैं, अतः धर्मका फल दिखानेके लिए अर्थ और कामका वर्णन करना भी कथा (धर्म कथा) कहलाती है। यदि यही अर्थ और कामकी कथा धर्म-कथासे रहित हो तो विकथा ही कहलावेगी और मात्र पापास्रवका ही कारण होगी ।११९।

* किसको कब कौन कथाका उपदेश देना चाहिए—

दे० उपदेश ३।

कथाकोश—१. आ. हरिषेण (ई: ९३१) कृत 'बृहद् कथा कोश' नामका मूल संस्कृत ग्रन्थ है। इसमें विभिन्न १५७ कथाएँ निबद्ध हैं। २. आ. प्रभा-चन्द्र (ई. ९५०-१०२०) की भी 'गद्य कथाकोश' नामकी ऐसी ही एक रचना है। ३. आ. सेमन्धर (ई. १०००) द्वारा संस्कृत छन्दोंमें रची 'बृहद् कथामञ्जरी' भी एक है। ४. आ. सोमदेव (ई. १०६१-१०८१) कृत 'बृहत्कथासरित्सागर' है। ५. आ. ब्रह्मदेव (ई० श० ११ मध्य) ने एक 'कथा कोश' रचा था। ६. आ. श्रुतसागर (ई. १४८७-१४९९) कृत दो कथा कोश प्राप्त हैं—व्रत कथा कोश और बृहद् कथा कोश। ७. नं. १ वाले कथा कोशके आधार पर ब्र. नेमिदत्त (ई. १५१८) ने 'आराधना कथा कोश' की रचना की थी। इसमें १४४ कथाएँ निबद्ध हैं। ८. आ. देवेन्द्रकीर्ति (ई. १५८३-१६०५) कृत कथाकोष। ९. अपभ्रंश कवि मुनि श्रीचन्द्र (ई० श० ११ उत्तरार्ध) कृत ५३ कथाओं वाला कथाकोष। (ती० ३/१३५)।

कदंब—गन्धर्व नामा व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० गन्धर्व.।

कदंब वंश—कर्नाटकके उत्तरीय भागमें, जिसका नाम पहिले वनवास था, कदम्ब वंश राज्य करता था, जिसको चालुक्यवंशी राजा कीर्तिवर्मने श-५०० (ई. ५७८) में नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। समय लगभग—(ई. ४५०–५७८) (ध. १/प्र,३२/ H-L- Jain)

कदलीघात—दे० मरण/४।

कनक—दक्षिण क्षौद्रवर द्वीप तथा घृतवर समुद्रके रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर/४।

कनककूट— रुचक पर्वत, कुण्डल पर्वत, सौमनस पर्वत, तथा मानुषोत्तर पर्वतपर स्थित कूट—दे० लोक५/११,१२,४,१०।

कनकचित्रा— रुचक पर्वतके नित्यालोक कूटकी निवासिनी विद्यु-त्कुमारी देवी—दे० लोक /५/१३।

कनकध्वज—(पा. पु/१७/ श्लोक) दुर्योधन द्वारा घोषित आधे राज्यके लालचसे इसने कृत्या नामक विद्याको सिद्ध करके (१५०-१५२) उसके द्वारा पाण्डवोंको मारनेका प्रयत्न किया, परन्तु उसी विद्यासे स्वयं मारा गया (२०१-१६)।

कनकनन्दि— १. आप इन्द्रनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्तीके शिष्य तथा नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके सहधर्मा थे।कृति—५० गाथा प्रमाण सत्त्व स्थान त्रिभंगी नामक ग्रन्थ। समय- इन्द्र नन्दि के अनुसार लगभग वि० ६६६ (ई. ६३६) दे० इन्द्रनन्दि (गो.क- ३६६) (ती./२/४५०) (जै/१/३८१, ४४२) २. नन्दि संघके देशीय गणके अनुसार आप माघनन्दि कोल्हापुरीयके शिष्य थे। इन्होंने बौद्ध चार्वाक व मीमांसकोंको अनेकों वादोंमें परास्त किया। समय—ई. ११३३-११६३।—दे० इतिहास /७/५। (ष. ख. २/प्रा.४/ H. L. Jain).

कनकप्रभ — कुण्डल पर्वतका एक कूट- दे० लोक/७/१२।

कनकसेन—आप आ. बलदेवके गुरु थे। उनके अनुसार आपका समय लगभग वि० ६८२ (ई. ६२५) आता है। (श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं० १५ के आधारपर, भ. आ./प्र.१६/प्रेमी जी).

कनका—रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी—दे० लोक५/१३।

कनकाभ—उत्तर क्षौद्रवर द्वीप तथा घृतवर समुद्रके रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर/४।

कनकावली—१. (ह. पु./३४/७४-७५) समय ५२२ दिन; उपवास—४३४; पारणा—८८। यंत्र—१,२, ६ बार ३./१, वृद्धिक्रमसे १ से लेकर १६ तक, ३४ बार ३. एक हानिक्रमसे १६से लेकर १तक, ६बार३, २.१। विधि—उपरोक्त यंत्रके अनुसार एक-एक बारमें इतने-इतने उपवास करे। प्रत्येक अन्तरालमें एक पारणा करे। नमस्कार मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे। यह बृहद् विधि है। (व्रत विधान संग्रह/पृ. ७८)। २. समय एक वर्ष। उपवास ७२। विधि—एक वर्ष तक बराबर प्रतिमास-की शु० १,५,१० तथा कृ० २,६,१२ इन ६ तिथियों में उपवास करे। नमस्कार मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत-विधान संग्रह/. ७८) (किशन सिंह/क्रियाकोश)।

कनकोज्ज्वल—(म. पु./७४/२२०–२२१). महावीर भगवान्का पूर्वका नवमा भव। एक विद्याधर था।

कनिष्क—इतिहासकारोंके अनुसार कुशान वंश (भृत्य वंश) का तृतीय राजा था। बड़ा पराक्रमी था। इसने शकोंको जीतकर भारतमें एकछत्र गणतन्त्र राज्य स्थापित किया था। समय वी. नि/६४६-६९८ (ई. १२०-१६२)—(दे० इतिहास/३/४)।

कन्नौज—कुरुक्षेत्र देशका एक नगर। पूर्वमें इसका नाम कान्यकुब्ज था। (म.पु./प्र.४९/पं. पन्नालाल)।

कपाटसमुद्घात—दे० केवली/७।

कपित्थमुष्टि—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

कपिल—१. (प. पु./३५/श्लोक) एक ब्राह्मण था, जिसने वनवासी रामको अपने घरमें आया देखकर अत्यन्त क्रोध किया था (८-१३)। पीछे जङ्गलमें रामका अतिशय देखकर अपने पूर्वकृत्यके लिए रामसे क्षमा माँगी (८४,१४५,१७७)। अन्तमें दीक्षा धार ली (१९०-१९२)। २. सांख्य दर्शनके गुरु—दे० सांख्य।

कपिशा—वर्तमान 'कोसिया' नामक नदी (म. पु./ ४९ / पं० पन्नालाल)।

कपीवती—पूर्वी मध्य आर्यखण्डकी नदी—दे० मनुष्य/४।

कफ—शरीरमें कफ नामक धातुका निर्देश—दे० औदारिक/१।

कमठ—(म.पु./७३/श्लोक) भरतक्षेत्रमें पोदनपुर निवासी विश्वभूति ब्राह्मणका पुत्र था। (७-९)। अपने छोटे भाई मरुभूतिको मारकर उसकी स्त्रीके साथ व्यभिचार किया (११)। तत्पश्चात्—प्रथम भवमें कुक्कुट सर्प हुआ (२३)। द्वितीय भवमें धूमप्रभा नरकमें गया (२९) तीसरे भवमें अजगर हुआ (३०) चौथे भवमें छठे नरकमें गया (३३) पाँचवें भवमें कुरंग नामक भील हुआ (३७) छठे भवमें सप्तम नरकका नारकी हुआ (६७) सातवें भवमें सिंह हुआ (६७) आठवें भवमें महीपाल नामक राजा हुआ (९७,११५) और नवें भवमें शम्बर नामक ज्योतिष देव हुआ, जिसने भगवान् पार्श्वनाथपर घोर उपसर्ग किया। (इन नौ भवोंका युगपत् कथन—म.पु./७३/१७०)।

कमल—१. लोककी रचनामें प्रत्येक बावड़ीमें अनेकों कमलाकार द्वीप स्थित हैं; जिन्हें कमल कहा गया है। इनपर देवियाँ व उनके परिवारके देव निवास करते हैं। इनका अवस्थान व विस्तार आदि—दे०लोक/३/१ ये कमल वनस्पतिकायके नहीं बल्कि पृथिवी कायके हैं—दे० वृक्ष। २. काल का एक प्रमाण—दे० गणित /I/ १/४।

कमलभव—ई. १२३५ के एक कवि थे, जिन्होंने शान्तीश्वर पुराणकी रचना की थी। (वरांग चरित्र/प्र.२२/पं. खुशालचन्द) (ती./४/३११)

कमलांग—कालका एक प्रमाण—दे० गणित /I/ १/४।

कमेकुर—मध्य आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

करकंड चरित्र—१. मुनि कन काम (ई० ९६५-१०५१) कृत अपभ्रंश काव्य (ती० ४/१६१)।२.आ.शुभचन्द्र (ई० १५५४)की एक रचना ती० ३/३६६)।

करण—१. अंतरकरण व उपशमकरण आदि—दे० वह वह नाम। २. अवधिज्ञानके करण चिह्न—दे० अवधिज्ञान/५। ३. कारणके अर्थ में करण—दे० निमित्त/१। ४. प्रमाके करणको प्रमाण कहने सम्बन्धी—दे० प्रमाण। ५. मिथ्यात्वका त्रिधा करण—दे० उपशम/ २। ६. अधः करण आदि त्रिकरण व दशकरण—दे० आगे करण

करण—जीवके शुभ-अशुभ आदि परिणामोंकी करण संज्ञा है। सम्यक्त्व व चारित्रकी प्राप्तिमें सर्वत्र उत्तरोत्तर तरतमता लिये तीन प्रकारके परिणाम दर्शाये गये हैं—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इन तीनोंमें उत्तरोत्तर विशुद्धिकी वृद्धिके कारण कर्मोंके बन्धमें हानि तथा पूर्व सत्तामें स्थित कर्मोंकी निर्जरा आदिमें भी विशेषता होनी स्वाभाविक है। इनके अतिरिक्त कर्म सिद्धान्तमें बन्ध उदयसत्त्व आदि जो दस मूल अधिकार हैं उनको भी दशकरण कहते हैं।

१. करणसामान्य निर्देश

१. करणका लक्षण परिणाम व इन्द्रिय—

रा. वा./६/१३/१/५२३/२६ करणं चक्षुरादि। —चक्षु आदि इन्द्रियोंको करण कहते हैं।

ध. १/१.१.१६/१८०/१ करणाः परिणामाः। —करण शब्दका अर्थ परिणाम है।

२. इन्द्रियों व परिणामोंको करण संज्ञा देनेमें हेतु—

ध. ६/१.९-८/४/२१७/५ कधं परिणामाणं करणं सण्णा। ण एस दोसो, असि-वासीणं व सहायतमभावविवक्खाए परिणामाणं करणत्तुवलंभादो। —प्रश्न—परिणामोंकी 'करण' यह संज्ञा कैसे हुई? उत्तर—यह कोई दोष नहीं; क्योंकि, असि (तलवार) और वासि (बसूला) के समान साधकतम भावकी विवक्षामें परिणामोंके करणपना पाया जाता है।

भ. आ./वि./२०/७१/४ क्रियन्ते रूपादिगोचरा विज्ञप्तय एभिरिति करणानि इन्द्रियाण्युच्यन्ते क्वचित्करणशब्देन। —क्योंकि इनके द्वारा रूपादि पदार्थोंको ग्रहण करनेवाले ज्ञान किये जाते हैं इसलिए इन्द्रियोंको करण कहते हैं।

२. दशकरण निर्देश

१. दशकरणोंके नाम निर्देश

गो. क./मू./४३७/५९१ बंधुक्कट्टणकरणं संकममोकट्टुदीरणा सत्तं। उदयुवसामणिधत्ती णिकाचणा होदि पडिपयडी ।४३७। —बन्ध, उत्कर्षण, संक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व, उदय, उपशम, निधत्ति और निःकाचना ये दश करण प्रकृति प्रकृति प्रति संभवे हैं।

२. कर्मप्रकृतियोंमें यथासम्भव दश करण अधिकार निर्देश

गो. क./मू./४४१,४४४/५९३,५९६ संकमणाकरणूणा णवकरणा होंति सव्व आऊणं। सेसाणं दसकरणा अपुव्वकरणोत्ति दसकरणा ।४४१। बंधु-

बद्धणकरणं सगसगबंधोत्ति होदि णियमेण। संकमणं करणं पुण सगसगजादीण बंधोत्ति ।४४४। –च्यार आयु तिनिकैं संक्रमण करण बिना नव करण पाइए हैं जातैं च्यारौ आयु परस्पर परिणमैं नाही। अवशेष सर्व प्रकृतिनिकैं दश करण पाइये हैं ।४४१। बन्ध करण अर उत्कर्षण करण ये तौ दोऊ जिस जिस प्रकृतिनिकी जहाँ बन्ध व्युच्छित्ति भई तिस तिस प्रकृतिका तहाँ ही पर्यन्त जानने नियमकरि। बहुरि जिस जिस प्रकृतिके जे जे स्वजाति हैं जैसे ज्ञानावरणकी पाँचों प्रकृति स्वजाति हैं ऐसे स्वजाति प्रकृतिनिकी बन्धकी व्युच्छित्ति जहाँ भई तहाँ पर्यन्त तिनि प्रकृतिनिके संक्रमणकरण जानना ।४४४। (विशेष देखो उस उस करणका नाम)

२. गुणस्थानोंमें १० करण सामान्य व विशेषका अधिकार निर्देश

(गो. क./४४१–४५०/५६३–५६६)

१. सामान्य प्ररूपणा—

गुणस्थान	करण व्युच्छित्ति	सम्भव करण
१–७	×	दशों करण
८	उपशम, निधत्त, निःकाचित	,,
९	×	शेष ७
१०	संक्रमण	,,
११	×	संक्रमणरहित ६ + मिथ्यात्व व मिश्र प्रकृतिका संक्रमण भी – ७
१२		संक्रमण रहित – ६
१३	बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण उदीरणा	,,
१४	×	उदय व सत्त्व – २

२. विशेष प्ररूपणा—

गुणस्थान	कर्म प्रकृति	सम्भवकरण
सातिशय मि०	मिथ्यात्व	एक समयाधिक आवलीतक उदीरणा
१–४	नरकायु	सत्त्व, उदय, उदीरणा – ३
१–५	तिर्यंचायु	,, – ३
४–६	अनन्तानुबन्धी चतुष्क	स्व स्व विसंयोजना तक उत्कर्षण
१०	सूक्ष्मलोभ	उदीरणा
१–११ (सामान्य)	देवायु	अपकर्षण
१–११ उपशामक	नरक द्वि. तिर्य. द्वि.; ४ जाति; स्त्यान त्रिक; आतप, उद्योत, सूक्ष्म, साधारण, स्थावर, दर्शन मोहत्रिक – १६	अपकर्षण
	अप्रत्या० व प्रत्या. चतु०; संज्व० क्रोध, मान, माया; नोकषाय – २०	स्व स्व उपशम पर्यन्त अपकर्षण
१–११ क्षपक	उपरोक्त १६	क्षयदेश पर्यन्त अपकर्षण
	उपरोक्त २०	स्व स्व क्षयदेश पर्यन्त अपकर्षण
११ उपश० स०	स० मिथ्यात्व व मिश्रमोह	उपशम, निधत्ति व निःकांचित बिना ७
११ क्षा. स.	उपरोक्त २के बिना शेष १४६	संक्रमण रहित उपरोक्त – ६
१२	५ ज्ञाना०, ५ अन्तराय, ४ दर्शना० निद्रा व प्रचला – १६	स्व स्व क्षयदेश पर्यन्त अपकर्षण
१–१३	अयोगीकी सत्त्ववाली ८५	अपकर्षण
,,	जिस प्रकृतिकी जहाँ व्युच्छित्ति वहाँ पर्यन्त	बन्ध और उत्कर्षण
,,	स्व जाति प्रकृतिकी बन्ध व्यु० पर्यन्त	संक्रमण

३. त्रिकरण निर्देश

१. त्रिकरण नाम निर्देश

ध. ६/१, ९-८.४/२१४/५ एत्थ पढमसम्मत्तं पडिवज्जंतस्स अधापवत्तकरण-अपुव्वकरण-अणियट्टीकरणभेदेन तिविहाओ विसोहीओ होंति। – यहाँपर प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होनेवाले जीवके अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके भेदसे तीन प्रकारकी विशुद्धियाँ होती हैं। (ल. सा./मू./३३/६६), (गो. जी./मू./४७/६६) (गो. क./मू./८९६/१०७६)।

गो. क./जी.प्र/८./८९७/१०७६/४ करणानि त्रीण्यधःप्रवृत्तापूर्वानिवृत्तिकरणानि। – करण तीन हैं – अधःप्रवृत्त, अपूर्व और अनिवृत्तिकरण।

२. सम्यक्त्व व चारित्र प्राप्ति विधिमें तीनों करण अवश्य होते हैं

गो. जी./जी. प्र./६५१/११००/६ करणलब्धिस्तु भव्य एव स्यात् तथापि सम्यक्त्वग्रहणे चारित्रग्रहणे च। – करणलब्धि भव्यकै ही हो है। सो भी सम्यक्त्व और चारित्रका ग्रहण विषै ही हो है।

३. त्रिकरणका माहात्म्य

ल. सा./जी. प्र./३३/६६ क्रमेणाधःप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरणं च विशिष्टनिर्जरासाधनं विशुद्धपरिणामं। – क्रमशः अधःप्रवृत्तकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीनों विशिष्ट निर्जराके साधनभूत विशुद्ध परिणाम हैं (तिन्हैं करता है)।

४. तीनों करणोंके कालमें परस्पर तरतमता

ल. सा./मू. व. जी. प्र./३४/७० अंतोमुहुत्तकाला तिण्णिवि करणा हवंति पत्तेयं। उवरीदो गुणियकमा कमेण संखेज्जरूवेण ।३४। एते त्रयोऽपि करणपरिणामाः प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तकाला भवन्ति। तथापि उपरितः अनिवृत्तिकरणकालात्क्रमेणापूर्वकरणाधःकरणकालौ संख्येयरूपेण गुणितक्रमौ भवति। तत्र सर्वतः स्तोकान्तर्मुहूर्तः अनिवृत्तिकरणकालः, ततः संख्येयगुणः अपूर्वकरणकालः, ततः संख्येयगुणः अधःप्रवृत्तकरणकालः। – तीनों ही करण प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त कालमात्रस्थितियुक्त हैं तथापि ऊपर ऊपरतै संख्यातगुणा क्रम लिये हैं। अनिवृत्तिकरणका काल स्तोक है। तातैं अपूर्वकरणका संख्यात गुणा है। तातैं अधःप्रवृत्तकरणका संख्यातगुणा है। (तीनोंका मिलकर भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है)।

५. तीनों करणोंकी परिणाम विशुद्धियोंमें तरतमता

ध. ६/१,९-८,५/२२३/४ अधापवत्तकरणपढमसमयट्ठिदिबंधादो चरिमसमयट्ठिदिबंधो संखेज्जगुणहीणो। एत्थेव पढमसम्मत्तसंजमासंजमाभिमुहस्स ट्ठिदिबंधो संखेज्जगुणहीणो, पढमसम्मत्तसंजमाभिमुहस्स अधापवत्तकरणचरिमसमयट्ठिदिबंधो संखेज्जगुणहीणो।···एवमधापवत्तकरणस्स कज्जपरूवणं कदं।

ध. ६/१,९-८,१४/२८६/५ तत्थतण अणियट्टीकरणट्ठिदिघादादो वि एत्थतण अपुव्वकरणट्ठिदिघादस्स बहुगत्तादो वा। ण चेदमपुव्वकरणं पढमसम्मत्ताभिमुहमिच्छाइट्ठिअपुव्वकरणेण तुल्लं, सम्मत्त-संजम-संजमासंजमफलाणं तुल्लत्तविरोहा। ण चापुव्वकरणाणि सव्वअणियट्टीकरणेहिंतो अणंतगुणहीणाणि त्ति णवोत्तुं जुत्तं, तप्पुप्पायणसुत्ताभावा। —१. अधःप्रवृत्तिकरणके प्रथम समय सम्बन्धी स्थिति-बन्धसे उसीका अन्तिम समय सम्बन्धी स्थितिबन्ध संख्यात गुणाहीन होता है। यहाँपर ही अर्थात् अधःप्रवृत्तकरणके चरम समयमें ही प्रथमसम्यक्त्वके अभिमुख जीवके जो स्थितिबन्ध होता है, उससे प्रथम सम्यक्त्व सहित संयमासंयमके अभिमुख जीवका स्थितिबन्ध संख्यातगुणा हीन होता है। इससे प्रथम सम्यक्त्व सहित सकलसंयमके अभिमुख जीवका अधःप्रवृत्तकरणके अन्तिम समय सम्बन्धी स्थितिबन्ध संख्यातगुणा हीन होता है। ···इस प्रकार अधःप्रवृत्तकरणके कार्योंका निरूपण किया। २. यहाँके अर्थात् प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिके, अनिवृत्तिकरणसे होनेवाले स्थितिघातकी अपेक्षा यहाँके अर्थात् संयमासंयमके अभिमुख मिथ्यादृष्टिके, अपूर्वकरणसे होनेवाला स्थितिघात बहुत अधिक होता है। तथा, यह अपूर्वकरण, प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिके अपूर्वकरण के साथ समान नहीं है; क्योंकि सम्यक्त्व, संयम और संयमासंयमरूप फलवाले विभिन्न परिणामोंके समानता होनेका विरोध है। तथा, सर्व अपूर्वकरण परिणाम सभी अनिवृत्तिकरण परिणामोंसे अनन्त गुणहीन होते हैं, ऐसा कहना भी युक्त नहीं है; क्योंकि, इस बातका प्रतिपादन करनेवाले सूत्रका अभाव है। भावार्थ—(यद्यपि सम्यक्त्व, संयम या संयमासंयम आदि रूप किसी एक ही स्थानमें प्राप्त तीनों परिणामों की विशुद्धि उत्तरोत्तर अनन्तगुणा अधिक होती है, परन्तु विभिन्न स्थानोंमें प्राप्त परिणामोंमें यह नियम नहीं है। वहाँ तो निचले स्थानके अनिवृत्तिकरणकी अपेक्षा भी ऊपरले स्थानका अधःप्रवृत्तकरण अनन्तगुणा अधिक होता है।)

६. तीनों करणोंका कार्य भिन्न कैसे है

ध. ६/१,९-८,१४/२८९/२ कधं ताणि चेव तिण्णि करणाणि पुध-पुध कज्जुप्पाययाणि। ण एस दोसो, लक्खणसमाणत्तेण एयत्तमावण्णाणं भिण्णकम्मविरोहित्तणेण भेदमुवगयाणं जीवपरिणामाणं पुध पुध कज्जुप्पायणे विरोहाभावा। —प्रश्न—वे ही तीन करण पृथक्-पृथक् कार्योंके (सम्यक्त्व, संयम, संयमासंयम आदिके) उत्पादक कैसे हो सकते हैं? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, लक्षणकी समानतासे एकत्वको प्राप्त, परन्तु भिन्न कर्मोंके विरोधी होनेसे भेदको भी प्राप्त हुए जीव परिणामोंके पृथक्-पृथक् कार्यके उत्पादनमें कोई विरोध नहीं है।

४. अधःप्रवृत्तकरण निर्देश

१. अधःप्रवृत्तकरणका लक्षण

ल. सा./मू. व. जी. प्र./३५/७० जह्मा हेट्ठिमभावा उवरिमभावेहिं सरिसगा होंति। तह्मा पढमं करणं अधापवत्तोत्ति णिद्दिट्ठं।३५। संख्यया विशुद्ध्या च सदृशा भवन्ति तस्मात्कारणात्प्रथमः करणपरिणामः अधःप्रवृत्त इत्यन्वर्थतो निर्दिष्टः। —करणनिका नाम नाना जीव अपेक्षा है। सो अधःकरण मांडै कोई जीवको स्तोक काल भया, कोई जीवको बहुत काल भया। तिनिके परिणाम इस करणविषै संख्या व विशुद्धताकरि (अर्थात् दोनों ही प्रकारसे) समान भी हो है ऐसा जानना। जातैं यहाँ निचले समयवर्ती कोई जीवके परिणाम ऊपरले समयवर्ती कोई जीवके परिणामके सदृश हो हैं तातैं याका नाम अधःप्रवृत्तकरण है। (यद्यपि यहाँ परिणाम असमान भी होते हैं, परन्तु 'अधःप्रवृत्त करण' इस संज्ञा में कारण नीचले व ऊपरले परिणामों की समानता ही है असमानता नहीं)। (गो. जी./मू./४८/१००), (गो. क./मू./८९८/१०७६)। और भी दे० अधःप्रवृत्तिकरण

२. अधःप्रवृत्तकरणका काल

गो. जी./मू./४९/१०२ अंतोमुहुत्तमेत्तो तक्कालो होदि तत्थ परिणामा।

गो. जी./जी.प्र./४९/१०२/५ स्तोकान्तर्मुहूर्तमात्रात् अनिवृत्तिकरणकालात् संख्यातगुणः अपूर्वकरणकालः; अतः संख्यातगुणः अधःप्रवृत्तकरणकालः सोऽप्यन्तर्मुहूर्तमात्र एव। —तीनों करणनिविषै स्तोक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अनिवृत्तिकरणका काल है। यातैं संख्यातगुणा अपूर्वकरणका काल है। यातैं संख्यातगुणा इस अधःप्रवृत्तकरणका काल है। सो भी अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है। जातै अन्तर्मुहूर्तके भेद बहुत हैं। (गो. क./मू./८९९/१०७८)।

३. प्रति समय सम्भव परिणामोंकी संख्या संदृष्टि व यन्त्र

गो. जी./जी. प्र./४९/१०२-१०५/६ तस्मिन्नधःप्रवृत्तकरणकाले त्रिकालगोचरनानाजीवसंबन्धिनो विशुद्धपरिणामाः सर्वेऽपि असंख्यातलोकमात्राः सन्ति। २। तेषु प्रथमसमयसंबन्धिनो यावन्तः सन्ति द्वितीयादिसमयेषु उपर्युपरि चरमसमयपर्यन्तं सदृशवृद्ध्या वर्धिताः सन्ति ते च तावदङ्कसंदृष्ट्या प्रदर्श्यन्ते—तत्र परिणामाः द्वासप्तत्युत्तरत्रिसहस्री ३०७२। अधःप्रवृत्तकरणकालः षोडशसमयाः।१६। प्रतिसमयपरिणामवृद्धिप्रमाणं चत्वारः।४।···एकस्मिन् प्रचये ४ वर्धिते सति द्वितीयतृतीयादिसमयवर्तिपरिणामानां संख्या भवति। ताः इमाः—१६६,१७०,१७४,१७८,१८२,१८६,१९०,१९४,१९८,२०२,२०६,२१०,२१४,२१८,२२२। एतान्युक्तधनानि अधःप्रवृत्तकरणप्रथमसमयाच्चरमसमयपर्यन्तमुपर्युपरि स्थापयितव्यानि। अथानुकृष्टिरचनोच्यते—तत्र अनुकृष्टिर्नाम अधस्तनसमयपरिणामखण्डानां उपरितनसमयपरिणामखण्डैः सादृश्यं भवति (१०२।६) अथ सर्वजघन्यखण्डपरिणामानां ३९ सर्वोत्कृष्टखण्डपरिणामानां ५७ च कैरपि सादृश्यं नास्ति शेषाणामेवोपर्यधस्तनसमयवर्तिपरिणामपुञ्जानां यथासंभवं सदृशसंभवात्।···अथ अर्थसंदृष्ट्या विन्यासो दर्श्यते—तद्यथा—त्रिकालगोचरनानाजीवसंबन्धिनः अधःप्रवृत्तकरणकालसमस्तसमयसंभविनः सर्वपरिणामा असंख्यातलोकमात्राः सन्ति। २। अधःप्रवृत्तकरणकालो गच्छः (१०३/४)। अथाधःप्रवृत्तकरणकालस्य प्रथमादिसमयपरिणामानां मध्ये त्रिकालगोचरनानाजीवसंबन्धिप्रथमसमयजघन्यमध्यमोत्कृष्टपरिणामसमूहस्याधःप्रवृत्तकरणकालसंख्यातैकभागमात्रनिर्वर्गणकाण्डकसमयसमानानि २२२ खण्डानि क्रियन्ते तानि चयाधिकानि भवन्ति। ऊर्ध्वरचनाचये अनुकृष्टिपदेन भक्ते लब्धमनुकृष्टि चयप्रमाणं भवति। (१०४/१३)। पुनः द्वितीयसमयपरिणामप्रथमखण्डप्रथमसमयप्रथमखण्डाद्विशेषाधिकम्। (१०५/१४)। द्वितीयसमयप्रथमखण्डप्रथमसमयद्वितीयखण्डं च द्वे सदृशे तथा द्वितीयसमयद्वितीयादिखण्डानि प्रथमसमयतृतीयादिखण्डैः सह सदृशानि किंतु द्वितीयसमयचरमखण्डप्रथमसमयखण्डेषु केनापि सह सदृशं नास्ति। अतोऽग्रे···अधःप्रवृत्तकरणकालचरमसमयपर्यन्तं नेतव्यानि (१०६/११)। —"तीहि अधःप्रवृत्त करणके कालविषै अतीत अनागत वर्तमान त्रिकालवर्ती नाना जीव सम्बन्धी विशुद्धतारूप इस करणके सर्व परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण हैं।···बहुरि तिनि परिणामनिविषैं

लिए अधःप्रवृत्तकरणकालका प्रथमसमयसम्बन्धी जेते परिणाम हैं तिनितैं लगाय द्वितीयादि समयनिविषैं ऊपर-ऊपर अन्त समय पर्यन्त समान वृद्धि (चय) कर वर्द्धमान है (पृ० १२०)। अंक संदृष्टिकरि कल्पना रूप परिणाम लीएं दृष्टान्त मात्र कथन करिए है। सर्व अधःकरण परिणामनिकी संख्यारूप सर्वधन ३०७२। बहुरि अधःकरणके कालके समयनिका प्रमाणरूप गच्छ १६। बहुरि समय समय परिणामनिकी वृद्धिका प्रमाणरूप चय ४। (पृ० १२२)। तहाँ (१६ समयनिविषैं) क्रमतैं एक-एक चय बधती परिणामनिकी संख्या हो है—१६२, १६६, १७०, १७४, १७८, १८२, १८६, १९०, १९४, १९८, २०२, २०६, २१०, २१४, २१८, २२२ (सबका जोड़=३०७२)। ये उक्त राशियें अधःप्रवृत्तकरणके प्रथम समयसे लगाकर उसके चरम समय पर्यन्त ऊपर-ऊपर स्थापन करने चाहिए। (पृ० १२४)। आगे अनुकृष्टि कहिये है। तहाँ नीचेके समय सम्बन्धी परिणामनिके जे खण्ड ते परस्पर समान जैसे होइ तैसे एक समयके परिणामनि विषै खण्ड करना तिसका नाम अनुकृष्टि जानना। ए खण्ड एक समयविषै युगपत् (अर्थात् एक समयवर्ती त्रिकालगोचर) अनेक जीवनिके पाइये तातैं इनिको बराबर स्थापन किए है (देखो आगे संदृष्टिका यन्त्र)। (प्रथम समयके कुल परिणामोंको संख्या १६२ कह आये हैं। उसके चार खण्ड करनेपर अनुकृष्टि रचनामें क्रमसे ३९, ४०, ४१, ४२ हो है: इनका जोड़ १६२ हो है। इतने इतने अंक बराबर स्थापन किये। इसी प्रकार द्वितीय समयके चार खण्ड ४०, ४१, ४२, ४३ हो है। इनका जोड़ १६६ हो है। और इसी प्रकार आगे भी खण्ड करते-करते सोलवें समयके ५४, ५५, ५६, ५७ खण्ड जानने) इहाँ सर्व जघन्य खण्ड जो प्रथम समयका प्रथम खण्ड ३९ ताके परिणामनिकै अर सर्वोत्कृष्ट अन्त समयका अन्त खण्ड '५७' ताके परिणामनिकै किसी ही खण्डके परिणामनिकरि सदृश समानता नाहीं है, जातैं अवशेष समस्त ऊपरके व निचले समयसम्बन्धी खण्डनिका परिणाम पुंजनिकै यथा सम्भव समानता सम्भवै है। (पृ० १२५-१२६)।

अब यथार्थ कथन करिये है...त्रिकालवर्ती नाना जीव सम्बन्धी समस्त अधःप्रवृत्तकरणके परिणाम असंख्यात लोकमात्र है, सो सर्वधन जानना (सहनानी ३०७२)। बहुरि अधःप्रवृत्तकरणका काल अन्तर्मुहूर्तमात्र। ताके जेते समय होइ सो इहाँ गच्छ जानना (सहनानी १६)। (ऐसी गणित द्वारा चय व प्रथमादि समयोंके परिणामोंकी संख्या तथा अनुकृष्टिगत परिणाम पुंज निकाले जा सकते हैं।) (दे० 'गणित'/II/६)। (पृ० १२७)

१५	१४	१३	१२	११	१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१	समय
५३	५२	५१	५०	४९	४८	४७	४६	४५	४४	४३	४२	४१	४०	३९	प्र० खण्ड
५४	५३	५२	५१	५०	४९	४८	४७	४६	४५	४४	४३	४२	४१	४०	द्वि. खण्ड
५५	५४	५३	५२	५१	५०	४९	४८	४७	४६	४५	४४	४३	४२	४१	तृ० खण्ड
५६	५५	५४	५३	५२	५१	५०	४९	४८	४७	४६	४५	४४	४३	४२	च० खण्ड
२१८	२१४	२१०	२०६	२०२	१९८	१९४	१९०	१८६	१८२	१७८	१७४	१७०	१६६	१६२	सर्व धन
चतुर्थ			तृतीय				द्वितीय				प्रथम				निर्वर्गणा काण्डक

विशुद्ध परिणामनिकी संख्या त्रिकालवर्ती नाना जीवनिकै असंख्यात लोकमात्र है। तिनि विषै अधःप्रवृत्तकरण मांडे पहिला समय है ऐसे त्रिकाल सम्बन्धी अनेक जीवनिकै जे परिणाम सम्भवै तिनिके समूहको प्रथम समय परिणामपुंज कहिये है। बहुरि जिनि जीवनिकौ अधःकरणमांडै दूसरा समय भया ऐसे त्रिकाल सम्बन्धी अनेक जीवनिकै जे परिणाम सम्भवै तिनिके समूहको द्वितीय समय-परिणामपुंज कहिये। ऐसे क्रमतैं अंतसमय पर्यंत जानना।

तहाँ प्रथमादि समय सम्बन्धी परिणाम पुंजका प्रमाण जोड़ी, गणित व्यवहारका विधान करि पहिलै जुदा जुदा कह्या है। जो सर्व सम्बन्धी पुंजनिको जोड़ै असंख्यात लोकमात्र (३०७२) प्रमाण हुवै है। बहुरि इस अधःप्रवृत्तकरणकालका प्रथमादि समय सम्बन्धी परिणामनिके विषै त्रिकालवर्ती नाना जीव सम्बन्धी प्रथम समयके जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेद लिये जो परिणाम पुंज कह्या (३९, ४०...५७ तक), ताके अधःप्रवृत्तकरणकालके जेते समय तिनिको संख्यातका भाग दिये जेता प्रमाण आवे तितना खण्ड करिये। ते खण्ड निर्वर्गणा काण्डकके जेते समय तितने हो है (४)। वर्गणा कहिये समयनिकी समानता तीहिं करि रहित जे ऊपरि ऊपरि समयवर्ती परिणाम खण्ड तिनिका जो काण्डक कहिए सर्वप्रमाण सो <u>निर्वर्गणा काण्डक</u> है। (चित्रमें चार समयोंके १६ परिणाम खण्डोंका एक निर्वर्गणा काण्डक है)। तिनि निर्वर्गणा काण्डकके समयनिका जो प्रमाण सो अधःप्रवृत्तकरणरूप जो ऊर्ध्व गच्छ (अन्तर्मुहूर्त अथवा १६) ताके संख्यातवें भाग मात्र है (१६/४=४)। सो यहु प्रमाण अनुकृष्टि गच्छका (३९ से ४२ तक=४) जानना। इस अनुकृष्टि गच्छ प्रमाण एक एकसमय सम्बन्धी परिणामनि विषै खण्ड हो है (चित्रमें प्रदर्शित प्रत्येक समय सम्बन्धी परिणाम पुंज जो ४ है सो यथार्थमें संख्यात आवली प्रमाण है, क्योंकि अन्तर्मुहूर्त ÷ संख्यात = संख्यात आवली) ते क्रमतैं जानना। पृ० १२८

बहुरि इहाँ द्वितीय समयके प्रथम खण्ड अर प्रथम समयका द्वितीय खण्ड (४०) ये दोऊ समान हो है। तैसे ही द्वितीय समयका द्वितीयादि खण्ड अर प्रथम समयका तृतीयादि खण्ड दोऊ समान हो है। इतना विशेष है कि द्वितीय समयका अन्त खण्ड सो प्रथम समयका खण्डनिविषै किसी ही करि समान नाहीं।...ऐसे अधःप्रवृत्तकरणकालका अन्तसमय पर्यंत जानने। (पृ० १२९)...

ऐसे तिर्यग्रचना जो बराबर (अनुकृष्टि) रचना तीहि विषै एक एक समय सम्बन्धी खण्डनिके परिणामनिका प्रमाण कह्या। —पूर्वें अधःकरणका एक एक समय विषै सम्भवते नाना जीवनिके परिणामनिका प्रमाण कह्या था। अत तिस विषै जुदे जुदे सम्भवते ऐसे एक एक समय सम्बन्धी खण्डनि विषै परिणामनिका प्रमाण इहाँ कह्या है। जो ऊपरिके और नीचेके समय सम्बन्धी खण्डनि विषै परस्पर समानता पाइये है: तातैं अनुकृष्टि ऐसा नाम इहाँ सम्भवै है। जितनी संख्या लीए ऊपरिके समय विषै कोई परिणाम खण्ड हो है तितनी संख्या लीए निचले समय विषै भी परिणाम खण्ड हो हैं। ऐसैं निचले समयसम्बन्धी परिणाम खण्डतैं ऊपरिके समय सम्बन्धी परिणाम खण्ड विषै समानता जानि इसका नाम अधःप्रवृत्तकरण कहा है। (पृ० १३०)। (ध.६/१,९-८,४/२१४-२१७)

७. परिणाम संख्यामें अंकुश व लांगल रचना

गो. जी./जी. प्र./४९/१०८/१ प्रथमसमयानुकृष्टिप्रथमसर्वजघन्यखण्डस्य ३९ चरमसमयपरिणामानां चरमानुकृष्टिसर्वोत्कृष्टखण्डस्य ५७ च कुत्रापि सादृश्यं नास्ति शेषोपरितनसमयवर्तिखण्डानामधस्तनसमयवर्तिखण्डैः, अथवा अधस्तनसमयवर्तिखण्डानां उपरितनसमयवर्तिखण्डैः सह यथासंभवं सादृश्यमस्ति। द्वितीयसमयात् ४० द्विचरमसमयपर्यन्तं ५३ प्रथमप्रथमखण्डानि चरमसमयप्रथमखण्डात् द्विचरमसमयपर्यंतखण्डानि च ५४/५५/५६। स्वस्वोपरितनसमयपरिणामैः सह सादृश्याभावात् असदृशानि। इयमङ्कुशरचनेत्युच्यते। तथा द्वितीयसमयात् ४१ द्विचरमसमय ५६ पर्यन्तं चरमचरमखण्डानि प्रथमसमयप्रथमखण्डं ३९ वर्जितशेषखण्डानि च स्वस्वाधस्तनसमयपरिणामैः सह सादृश्याभावात् विसदृशानि इयं लाङ्गलरचनेत्युच्यते। —बहुरि इहाँ विशेष है सो कहिये है—प्रथम समय सम्बन्धी प्रथम खण्ड (३९) सौं सर्वतै जघन्य

खण्ड है। बहुरि अन्त समय सम्बन्धी अन्तका अनुकृष्टि खण्ड (६०) सो सर्वोत्कृष्ट है। सो इन दोऊनिके कहीं अन्य खण्डकरि समानता नाहीं है। बहुरि अवशेष ऊपरि समय सम्बन्धी खण्डनिके नीचले समय सम्बन्धी खण्डनि सहित अथवा नीचले समय सम्बन्धी खण्डनिके ऊपरि समय सम्बन्धी खण्डनि सहित यथा सम्भव समानता है। तहां द्वितीय समयतै लगाय द्विचरम समय पर्यंत जे समय (२ से १५ तक के समय) तिनिका पहिला पहिला खण्ड (४०–५३); अर अंत (नं० १६) समयके प्रथम खण्डतै लगाय द्विचरम खण्ड पर्यंत (५७–५९) अपने अपने ऊपरिके समय सम्बन्धी खण्डनिकरि समान नाहीं है, तातै असदृश है। सो द्वितीयादि चरम समय पर्यंत सम्बन्धी खण्डनिकी ऊर्ध्व रचना कीएं ऊपरि अन्त समयके प्रथमादि द्विचरम पर्यंत खण्डनिकी तिर्यक् रचना कीएं अंकुशके आकारकी रचना हो है। तातै याकूं अंकुश रचना कहिये। बहुरि द्वितीय समयतै लगाइ द्विचरम समय पर्यंत सम्बन्धी अंत अंतके खण्ड अर प्रथम समय सम्बन्धी प्रथम खण्ड (३९) बिना अन्य सर्व खण्ड ते अपने अपने नीचले समय सम्बन्धी किसी ही खण्डनिकरि समान नाहीं तातै असदृश है। सो इहां द्वितीयादि द्विचरम पर्यन्त समय सम्बन्धी अंत अंत खण्डनिकी ऊर्ध्व रचना कीएं अर नीचै प्रथम समयके द्वितीयादि अंत पर्यंत खण्डनिकी तिर्यक् रचना कीए, हलके आकार रचना हो है। तातै याकूं लांगल चित्र कहिये।

समय
१६ १५ १४ १३ १२ ११ १० ९ ८ ७ ६ ५ ४ ३ २ १
५४ ५३ ५२ ५१ ५० ४९ ४८ ४७ ४६ ४५ ४४ ४३ ४२ ४१ ४०
५५ ५६
अंकुश रचना
लांगल रचना
५६ ५५ ५४ ५३ ५२ ५१ ५० ४९ ४८ ४७ ४६ ४५ ४४ ४३
४० ४१ ४२

बहुरि जघन्य उत्कृष्ट खण्ड अर ऊपरि नीचै समय सम्बन्धी खण्डनिकी अपेक्षा कहे असदृश खण्ड तिनि खण्डनि बिना अवशेष सर्वखण्ड अपने ऊपरिके और नीचले समयसम्बन्धी खण्डनिकरि यथा सम्भव समान है। (पृ० १३०–१३१)। (अंकुश रचनाके सर्व परिणाम यद्यपि अपनेसे नीचेवाले समयोंके किन्हीं परिणाम खण्डोंसे अवश्य मिलते हैं, परन्तु अपनेसे ऊपरवाले समयोंके किसी भी परिणाम खण्डके साथ नहीं मिलते। इसी प्रकार लांगल रचनाके सर्व परिणाम यद्यपि अपनेसे ऊपरवाले समयोंके किन्हीं परिणाम खण्डोंसे अवश्य मिलते हैं, परन्तु अपनेसे नीचेवाले समयोंके किसी भी परिणाम खण्डके साथ नहीं मिलते। इनके अतिरिक्त बीचके सर्व परिणाम खण्ड अपने ऊपर अथवा नीचे दोनों ही समयोंके परिणाम खण्डोंके साथ बराबर मिलते ही हैं। (ध.६/१,९–८,४/२१७/१)।

५. परिणामोंकी विशुद्धताके अविभाग प्रतिच्छेद, अंक संदृष्टि व यंत्र

गो. जी./जी. प्र./४९/१०३/१ तत्राधःप्रवृत्तकरणपरिणामेषु प्रथमसमयपरिणामखण्डानां मध्ये प्रथमखण्डपरिणामा असंख्यातलोकमात्राः...अवस्थितास्तथा संख्यातप्रतरावलिभक्तासंख्यातलोकमात्रा भवन्ति। अमी च जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदविशिष्टाः...। द्वितीयसमयप्रथमखण्डपरिणामाश्चयाधिका जघन्यमध्यमोत्कृष्टविकल्पाः प्राग्वदसंख्यातलोकषट्स्थानवृद्धिवर्धिताः प्रथमखण्डपरिणामाः सन्ति। एवं तृतीयसमयादिचरमसमयपर्यन्तं चयाधिकाः प्रथमखण्डपरिणामाः सन्ति तथा प्रथमादिसमयेषु द्वितीयादिखण्डपरिणामाः अपि चयाधिकाः सन्ति। –अब विशुद्धताके अविभाग प्रतिच्छेदनिकी अपेक्षा वर्णन करिए है। तिनिकी अपेक्षा गणना करि पूर्वोक्त अधःकरणनिके खण्डनि विषै अल्पबहुत्व वर्णन करै है–तहां अधःप्रवृत्तकरणके परिणामनिविषै प्रथम समय सम्बन्धी परिणाम, तिनिके खण्डनिविषै जे प्रथम खण्डके परिणाम ते सामान्यपनै असंख्यातलोकमात्र (३९) है। तथापि पूर्वोक्त विधानके अनुसार–संख्यात प्रतरावलीको भाग दीजिए ऐसा असंख्यातलोक मात्र हैं (अर्थात् असं/सं. प्रतरावली–लोकके प्रदेश)। ते ए परिणाम अविभाग प्रतिच्छेदनिकी अपेक्षा जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेद लिये हैं।...क्रमतै प्रथम परिणामतै लगाइ इतने परिणाम (ऐसो एक षट् स्थान पतित हानि-वृद्धिका रूप) भए पीछे एक बार षट्स्थान वृद्धि पूर्ण होते (अर्थात् पूर्ण होती है)। (ऐसी ऐसी) असंख्यात लोकमात्र बार षट् स्थान पतित वृद्धि भए तिस प्रथम खण्डके सब परिणामनिकी संख्या (३९) पूर्ण होई है। (जैसे संदृष्टि–सर्व जघन्य विशुद्धि–८; एक षट्स्थान पतित वृद्धि–६; असंख्यात लोक–१०। तो प्रथम खण्डके कुल परिणाम ८×६×१०=४८०। इनमें प्रत्येक परिणाम षट्स्थान पतित वृद्धिमें बताये अनुसार उत्तरोत्तर एक-एक वृद्धिगत स्थान रूप है) यातै असंख्यात लोकमात्र षट्स्थान पतित वृद्धि करि वर्धमान प्रथम खण्डके परिणाम हैं। पृ० ११२।

तैसे ही द्वितीय समयके प्रथम खण्डका परिणाम (४०) अनुकृष्टि चयकरि अधिक है। ते जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेद लिये हैं। सो ये भी पूर्वोक्त प्रकार असंख्यात लोकमात्र षट्स्थान पतित वृद्धिकरि वर्धमान है।...(एक अनुकृष्टि चयमें जितनी षट् स्थानपतित वृद्धिय सम्भवै है) तितनी बार अधिक षट्स्थानपतित वृद्धि प्रथम समयके प्रथम खण्डतै द्वितीय समयके प्रथम खण्डमें सम्भवै है। (अर्थात् यदि प्रथम विकल्प में ६ बार वृद्धि ग्रहण की थी तो यहाँ ७ बार ग्रहण करना)। ऐसे ही तृतीय आदि अन्तपर्यन्त समयनिके प्रथम खण्डके परिणाम एक अनुकृष्टि चयकरि अधिक है। बहुरि तैसे ही प्रथमादि समयनिके अपने अपने प्रथम खण्डतै द्वितीय आदि खण्डनिके परिणाम भी क्रमतै एक एक चय अधिक है। तहाँ यथा सम्भव षट् स्थान पतित वृद्धि जेती बार होइ तितना प्रमाण (प्रत्येक खण्डके प्रति) जानना। (पृ० १३३)।

अंक कृत संदृष्टि व यन्त्र—उपरोक्त कथनके तात्पर्यपरसे निम्न प्रकार संदृष्टि की जा सकती है।—सर्व जघन्य परिणामकी विशुद्धि–८ अविभाग प्रतिच्छेद; तथा प्रत्येक अनन्तगुणवृद्धि–१ की वृद्धि। यन्त्रमें प्रत्येक खण्डके जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्तके सर्व परिणाम दर्शानेके लिए जघन्य व उत्कृष्टवाले दो ही अंक दर्शाये जायेंगे। तहाँ बीचके परिणामोंकी विशुद्धता क्रमसे एक-एक वृद्धि सहित योग्य प्रमाणमें जान लेना।

निर्वर्गणाकाण्ड	समय	कुल परिणाम	प्रथम खण्ड परिणाम	प्रथम खण्ड ज० से० उ० विशुद्धता	द्वि० खण्ड परिणाम	द्वि० खण्ड ज० से० उ० विशुद्धता	तृ० खण्ड परिणाम	तृ० खण्ड ज० से० उ० विशुद्धता	चतु० खण्ड परिणाम	चतु० खण्ड ज० से० उ० विशुद्धता
चतुर्थ	१६	२२२	५४	६९८–७५१	५५	७५२–८०६	५६	८०७–८६२	५७	८६३–९१९
	१५	२१८	५३	६४५–६९७	५४	६९८–७५१	५५	७५२–८०६	५६	८०७–८६२
	१४	२१४	५२	५९३–६४४	५३	६४५–६९७	५४	६९८–७५१	५५	७५२–८०६
	१३	२१०	५१	५४२–५९२	५२	५९३–६४४	५३	६४५–६९७	५४	६९८–७५१
तृतीय	१२	२०६	५०	४९२–५४१	५१	५४२–५९२	५२	५९३–६४४	५३	६४५–६९७
	११	२०२	४९	४४३–४९१	५०	४९२–५४१	५१	५४२–५९२	५२	५९३–६४४
	१०	१९८	४८	३९५–४४२	४९	४४३–४९१	५०	४९२–५४१	५१	५४२–५९२
	९	१९४	४७	३४८–३९४	४८	३९५–४४२	४९	४४३–४९१	५०	४९२–५४१
द्वितीय	८	१९०	४६	३०२–३४७	४७	३४८–३९४	४८	३९५–४४२	४९	४४३–४९१
	७	१८६	४५	२५७–३०१	४६	३०२–३४७	४७	३४८–३९४	४८	३९५–४४२
	६	१८२	४४	२१३–२५६	४५	२५७–३०१	४६	३०२–३४७	४७	३४८–३९४
	५	१७८	४३	१७०–२१२	४४	२१३–२५६	४५	२५७–३०१	४६	३०२–३४७
प्रथम	४	१७४	४२	१२८–१६९	४३	१७०–२१२	४४	२१३–२५६	४५	२५७–३०१
	३	१७०	४१	८७–१२७	४२	१२८–१६९	४३	१७०–२१२	४४	२१३–२५६
	२	१६६	४०	४७–८६	४१	८७–१२७	४२	१२८–१६९	४३	१७०–२१२
	१	१६२	३९	८–४६	४०	४७–८६	४१	८७–१२७	४२	१२८–१६९

यहाँ स्पष्ट रीतिसे ऊपर और नीचेके समयोंके परिणामोंकी विशुद्धतामें यथायोग्य समानता देखी जा सकती है। जैसे ६ठे समयके द्वितीय खण्ड के ४५ परिणामोंमेंसे नं० १ वाला परिणाम २५७ अविभाग प्रतिच्छेदवाला है। यदि एकको वृद्धिके हिसाबसे देखें तो इस ही का नं० २५वाँ [२५७+(२५–१)]=२८१ है। इसी प्रकार चौथे समयके चौथे खण्डका २५वाँ परिणाम भी २८१ अविभाग प्रतिच्छदवाला है। इसलिए समान है।

५. परिणामोंकी विशुद्धताका अल्प-बहुत्व तथा उसकी सर्पवत् चाल—

गो. जी./जी. प्र./४९/११०/१ तेषां विशुद्ध्यल्पबहुत्वमुच्यते तद्यथा—प्रथमसमयप्रथमखण्डजघन्यपरिणामविशुद्धिः सर्वतः स्तोकापि जीवराशितोऽनन्तगुणा अविभागप्रतिच्छेदसमूहात्मिका भवति १६ ख। अतस्तदुत्कृष्टपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। ततो द्वितीयखण्डजघन्यपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। ततस्तदुत्कृष्टपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। एवं तृतीयादिखण्डेष्वपि जघन्योत्कृष्टपरिणामविशुद्धयोऽनन्तगुणानन्तगुणाश्चरमखण्डोत्कृष्टपरिणामविशुद्धिपर्यंतं वर्तन्ते। पुनः प्रथमसमयप्रथमखण्डोत्कृष्टपरिणामविशुद्धितो द्वितीयसमयप्रथमखण्डजघन्यपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। ततस्तदुत्कृष्टपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। ततो द्वितीयखण्डजघन्यपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा ततस्तदुत्कृष्टपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। एवं तृतीयादिखण्डेष्वपि जघन्योत्कृष्टपरिणामविशुद्धयोऽनन्तगुणितक्रमेण द्वितीयसमयचरमखण्डोत्कृष्टपरिणामविशुद्धिपर्यन्तं गच्छन्ति। अनेन मार्गेण तृतीयादिसमयेष्वपि निर्वर्गणकाण्डकद्विचरमसमयपर्यन्तं जघन्योत्कृष्टपरिणामविशुद्धयोऽनन्तगुणितक्रमेण नेतव्याः। प्रथमनिर्वर्गणकाण्डकचरमसमयप्रथमखण्डजघन्यपरिणामविशुद्धितः प्रथमसमयचरमखण्डोत्कृष्टपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। ततो द्वितीयनिर्वर्गणकाण्डकप्रथमसमयप्रथमखण्डजघन्यपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। ततस्तत्प्रथमनिर्वर्गणकाण्डकद्वितीयसमयचरमखण्डोत्कृष्टपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। ततो द्वितीयनिर्वर्गणकाण्डकद्वितीयसमयप्रथमखण्डजघन्यपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। ततः प्रथमनिर्वर्गणकाण्डकतृतीयसमयचरमखण्डोत्कृष्टपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा एवमहिगत्या जघन्यादुत्कृष्टं उत्कृष्टाज्जघन्यमित्यनन्तगुणितक्रमेण परिणामविशुद्धिर्नीत्वा चरमनिर्वर्गणकाण्डकचरमसमयप्रथमखण्डजघन्यपरिणामविशुद्धिरनन्तानन्तगुणा। कुतः। पूर्वपूर्वविशुद्धितोऽनन्तानन्तगुणासिद्धत्वात। ततश्चरमनिर्वर्गणकाण्डकप्रथमसमयचरमखण्डोत्कृष्टपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। ततस्तदुपरि चरमनिर्वर्गणकाण्डकचरमसमयचरमखण्डोत्कृष्टपरिणामविशुद्धिपर्यन्ता उत्कृष्टखण्डोत्कृष्टपरिणामविशुद्धयोऽनन्तगुणितक्रमेण गच्छन्ति। तन्मध्ये या जघन्योत्कृष्टपरिणामविशुद्धयोऽनन्तानन्तगुणिताः सन्ति ता न विवक्षिता इति ज्ञातव्यम्। —अब तिनि खण्डनिकै विशुद्धताका अविभाग प्रतिच्छेदनिकी अपेक्षा अल्पबहुत्व कहिए है—प्रथम समय सम्बन्धी प्रथम खण्डका जघन्य परिणामकी विशुद्धता अन्य सर्व तै स्तोक है। तथापि जीव राशिका जो प्रमाण तातै अनन्तगुणा अविभाग प्रतिच्छेदनिकै समूहको धारै है। बहुरि यातै तिसही प्रथम समयका प्रथम खण्डका उत्कृष्ट परिणामकी विशुद्धता अनन्तगुणी है। तातै द्वितीय खण्डकी जघन्य परिणाम विशुद्धता अनन्तगुणी है। तातै तिस ही का उत्कृष्ट परिणामकी विशुद्धता अनन्तगुणी है। ऐसे ही क्रमतै तृतीयादि खण्डनिविषै भी जघन्य उत्कृष्ट परिणामनिकी विशुद्धता अनन्तगुणी अनन्तगुणी अन्तका खण्डकी उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धि पर्यंत प्रवर्तै है। (पृ० १३३)। बहुरि प्रथम समयसम्बन्धी प्रथम खण्डकी उत्कृष्ट-परिणाम-विशुद्धतातै द्वितीय समयके प्रथम खण्डकी जघन्य परिणाम विशुद्धता (प्रथम समयके द्वितीय खण्डवत्) अनन्त गुणी है। तातै तिस ही की उत्कृष्ट विशुद्धता अनन्तगुणी है तातै तिस ही के द्वितीय खण्डकी जघन्य परिणाम विशुद्धता अनन्तगुणी है। तातै तिस ही की उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता अनन्तगुणी है। ऐसे तृतीयादि खण्डनिविषै भी जघन्य उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता अनन्तगुणी अनुक्रमकरि; द्वितीय समयका अन्त खण्डकी उत्कृष्ट विशुद्धता पर्यन्त प्राप्त हो है। (पृ० १३३)। बहुरि इस ही मार्गकरि तृतीयादि समयखण्डनिविषै भी पूर्वोक्त लक्षणयुक्त जो निर्वर्गणा काण्डक ताका द्विचरम समय पर्यन्त जघन्य उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता अनन्त गुणानुक्रमकरि ल्यावनी। बहुरि प्रथम निर्वर्गणा काण्डकका अन्त समय सम्बन्धी प्रथमखण्डकी जघन्य विशुद्धतातै प्रथम समयका अन्त खण्डकी उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता अनन्तगुणी है। तातै दूसरे निर्वर्गणा काण्डकका प्रथम समय सम्बन्धी प्रथम खण्डकी जघन्य परिणाम विशुद्धता अनन्तगुणी है। तातै तिस प्रथम निर्वर्गणा काण्डकका द्वितीय समय सम्बन्धी अन्त खण्डकी उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता अनन्तगुणी है। तातै द्वितीय निर्वर्गणा काण्डकका द्वितीय समय सम्बन्धी प्रथम खण्डकी जघन्य परिणाम विशुद्धता अनन्तगुणी है। तातै प्रथम निर्वर्गणा काण्डकका तृतीय समय सम्बन्धी अन्त खण्डकी उत्कृष्ट विशुद्धता अनन्त गुणी है। या प्रकार जैसे सर्पकी चाल इधरतै उधर और उधरतै इधर पलटनि रूप हो है तैसे जघन्यतै उत्कृष्ट और उत्कृष्टतै जघन्य ऐसे पलटनि विषै अनन्तगुणी अनुक्रमकरि विशुद्धता प्राप्त करिए।

पीछे अन्तका निर्वर्गणा काण्डकका अन्त समय सम्बन्धी प्रथम खण्डकी जघन्य परिणाम विशुद्धता अनन्तानन्तगुणी है। काहे ते ? यातै पूर्व पूर्व विशुद्धतातै अनन्तानन्तगुणापनौ सिद्ध है। बहुरि तातै अन्तका निर्वर्गणा काण्डकका प्रथम समय सम्बन्धी अन्त खण्डकी उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता अनन्तगुणी है। ताकै ऊपरि अन्तका निर्वर्गणा काण्डकका अन्त समय सम्बन्धी अन्तखण्डकी उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता पर्यन्त अनन्तगुणा अनुक्रमकरि प्राप्त हो है। तिनि विषै जे (ऊपरिकै) जघन्यतै (नीचेके) उत्कृष्ट परिणामनिकी विशुद्धता अनन्तानन्तगुणी है ते इहाँ विवक्षा रूप नाहीं है, ऐसे जानना। (ध. ६/१.६-८, ४/२१८-२१६)।

(ऊपर ऊपर के समयों के प्रथम खण्डों की जघन्य परिणाम विशुद्धिसे एक निर्वर्गणा काण्डक नीचेके अन्तिम समयसम्बन्धी अन्तिम खण्डको उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धि अनन्तगुणी कही गयी है।) उसकी संदृष्टि—(ध. ६/१,६-८.४/२१६) (गो.जी./जी.प्र व भाषा/४६/१२०)।
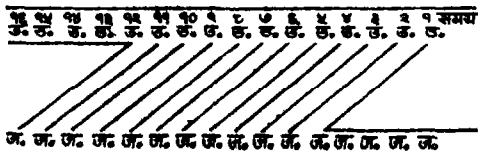
७. अधःप्रवृत्तकरणके चार आवश्यक

६/१-६-८,५/२२२/६ अधापवत्तकरणे ताव ट्ठिदिखंडगो वा अणुभागखंडगो वा गुणसेडी वा गुणसंकमो वा णत्थि। कुदो। एदेसिं परिणामाणं पुव्वुत्तचउव्विहकज्जुप्पायणसत्तीए अभावादो। केवलमणंतगुणाए विसोहीए पडिसमयं विसुज्झंतो अप्पसत्थाणं कम्माणं बेट्ठाणियमणुभागं समयं पडि अणंतगुणहीणं बंधदि, पसत्थाणं कम्माणमणुभागं चदुट्ठाणियं समयं पडि अणंतगुणं बंधदि। एत्थ ट्ठिदिबंधकालो अंतोमुहुत्तमेत्तो। पुण्णे पुण्णे ट्ठिदिबंधे पलिदोवमस्स संखेज्जदिभागेणूणियमण्णं ट्ठिदिं बंधदि। एवं संखेज्जसहस्सवारं ट्ठिदिबंधोसरणेसु कदेसु अधापवत्तकरणद्धा समप्पदि। अधापवत्तकरणपढमसमयट्ठिदिबंधादो चरिमसमयट्ठिदिबंधो संखेज्जगुणहीणो। एत्थेव पढमसम्मत्तसंजमासंजमाभिमुहस्स ट्ठिदिबंधो संखेज्जगुणहीणो, पढमसम्मत्तसंजमाभिमुहस्स अधापवत्तकरणचरिमसमयट्ठिदिबंधो संखेज्जगुणहीणो।" अधःप्रवृत्तकरणमें स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, गुणश्रेणी, और गुण संक्रमण नहीं होता है; क्योंकि इन अधःप्रवृत्त परिणामोंके पूर्वोक्त चतुर्विध कार्योंके उत्पादन करनेकी शक्तिका अभाव है।—१. केवल अनन्तगुणी विशुद्धिके द्वारा प्रतिसमय विशुद्धिको प्राप्त होता हुआ यह जीव—२. अप्रशस्त कर्मोंके द्विस्थानीय अर्थात् निंब और कांजीररूप अनुभागको समय समयके प्रति अनन्तगुणित हीन बान्धता है;—३. और प्रशस्त कर्मोंके गुड़ खाण्ड आदि चतुःस्थानीय अनुभागको प्रतिसमय अनन्तगुणित बान्धता है। ४. यहाँ अर्थात् अधःप्रवृत्तकरण कालमें, स्थितिबन्धका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। एक एक स्थिति बन्धकाल के पूर्ण होनेपर पल्योपमके संख्यातवें भागसे हीन अन्य स्थितिको बान्धता है (दे० अपकर्षण/३)। इस प्रकार संख्यात सहस्र बार स्थिति बन्धापसरणोंके करनेपर अधःप्रवृत्तकरणका काल समाप्त होता है।

अधःप्रवृत्तकरणके प्रथमसमय सम्बन्धी स्थितिबन्धसे उसीका अन्तिम समय सम्बन्धी स्थितिबन्ध संख्यातगुणा हीन होता है। यहाँ पर ही अर्थात् अधःप्रवृत्तकरणके चरम समयमें, प्रथमसम्यक्त्वके अभिमुख जीवके जो स्थितिबन्ध होता है, उससे प्रथम सम्यक्त्व सहित संयमासंयमके अभिमुख जीवका स्थितिबन्ध संख्यातगुणा हीन होता है। इससे प्रथमसम्यक्त्व सहित सकलसंयमके अभिमुख जीवका अधःप्रवृत्तकरणके अन्तिम समय सम्बन्धी स्थितिबन्ध संख्यातगुणा हीन होता है। (इस प्रकार इस करणमें चार आवश्यक जानने—१. प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि; २. अप्रशस्त प्रकृतियोंका केवल द्विस्थानीय बन्ध और उसमें भी अनन्तगुणी हानि; ३. प्रशस्त प्रकृतियोंके चतुःस्थानीय अनुभागबन्धमें प्रतिसमय अनन्तगुणी वृद्धि; ४. स्थितिबन्धापसरण) (ल. सा./मू./३७-३६/७२)/(क्ष. सा./मू./३६३/४८५)/(गो.जी./जी. प्र./४६/११०/१४)/(गो. क./जी.प्र /५५०/७४३/६)।

८. सम्यक्त्व प्राप्तिसे पहले भी सर्व जीवोंके परिणाम अधःकरण रूप ही होते हैं।

ध. ६/१,६-८,४/२१७/७ मिच्छादिट्ठीआदीणं ट्ठिदिबंधादिपरिणामा वि हेट्ठिमा उवरिमेसु, उवरिमा हेट्ठिमेसु अणुहरंति, तेसिं अधापवत्तसण्णा किण्ण कदा। ण, इट्ठत्तादो। कधं एदं णव्वदे। अंतदीवयअधापवत्तणामादो।—प्रश्न—मिथ्यादृष्टि आदि जीवोंके अधस्तनस्थितिबन्धादि परिणाम उपरिम परिणामोंमें और उपरिम स्थितिबन्धादि परिणाम अधस्तन परिणामोंमें अनुकरण करते हैं, अर्थात् परस्पर समानताको प्राप्त होते हैं; इसलिए इनके परिणामोंकी 'अधः प्रवृत्त' यह संज्ञा क्यों नहीं की ? उत्तर—नहीं, क्योंकि यह बात इष्ट है। प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है ? उत्तर—क्योंकि 'अधः प्रवृत्त' यह नाम अन्तदीपक है। इसलिए प्रथमोपशमसम्यक्त्व होनेसे पूर्व तक मिथ्यादृष्टि आदिके पूर्वोत्तर समयवर्ती परिणामोंमें जो सदृशता पायी जाती है, उसकी अधः प्रवृत्त संज्ञाका सूचक है।

५. अपूर्वकरण निर्देश

१. अपूर्वकरणका लक्षण—

ध. १/१,१,१७/गा. ११६-११७/१८३. भिण्ण-समय-ट्ठिएहि दु जीवेहि ण होइ सव्वदा सिरसो। करणेहि एक्कसमयट्ठिएहि सरिसो विसरिसो य।।११६। एदम्हि गुणट्ठाणे विसरिस-समय-ट्ठिएहि जीवेहि। पुव्वमपत्ता जम्हा होंति अपुव्वा हु परिणामा।।११७।

ध. १/१,१,१६/१८०/१ करणाः परिणामाः न पूर्वाः अपूर्वाः। नानाजीवापेक्षया प्रतिसमयमादितः क्रमप्रवृद्धासंख्येयलोकपरिणामस्यास्य गुणस्यान्तर्विवक्षितसमयवर्तिप्राणिनो व्यतिरिच्यान्यसमयवर्तिप्राणिभिरप्राप्या अपूर्वा अत्रतनपरिणामैरसमाना इति यावत्। अपूर्वाश्च ते करणाश्चापूर्वकरणाः।"—१. अपूर्वकरण गुणस्थानमें भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी अपेक्षा कभी भी सदृशता नहीं पायी जाती है, किन्तु एक समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी अपेक्षा सदृशता और विसदृशता दोनों ही पायी जाती है।११६। (गो. जी./मू./५२/१४०) इस गुणस्थानमें विसदृश अर्थात् भिन्न-भिन्न समयमें रहनेवाले जीव, जो पूर्वमें कभी भी प्राप्त नहीं हुए थे, ऐसे अपूर्व परिणामोंको ही धारण करते हैं। इसलिए इस गुणस्थानका नाम अपूर्वकरण है।११७।

(गो.जी./मू. ५१/१३६) । २. करण शब्दका अर्थ परिणाम है, और जो पूर्व अर्थात् पहिले नहीं हुए उन्हें अपूर्व कहते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि नाना जीवोंकी अपेक्षा आदिसे लेकर प्रत्येक समयमें क्रमसे बढ़ते हुए संख्यातलोक प्रमाण परिणामवाले इस गुणस्थानके अन्तर्गत विवक्षित समयवर्ती जीवोंको छोड़ कर अन्य समयवर्ती जीवोंके द्वारा अप्राप्य परिणाम अपूर्व कहलाते हैं । अर्थात् विवक्षित समयवर्ती जीवोंके परिणामोंसे भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम असमान अर्थात् विलक्षण होते हैं । इस तरह प्रत्येक समयमें होनेवाले अपूर्व परिणामों-को अपूर्वकरण कहते हैं । (यद्यपि यहाँ अपूर्वकरण नामक गुणस्थान की अपेक्षा कथन किया गया है, परन्तु सर्वत्र ही अपूर्वकरणका ऐसा लक्षण जानना) (रा. वा./९/१/१३/५८९/४) (ल. सा. मू./५१/८३) । और भी दे० अपूर्वकरण

२. अपूर्वकरणका काल

ध. ६/१,९-८,४/२२०/१ "अपुव्वकरणद्धा अंतोमुहुत्तमेत्ता होदि त्ति ।– अपूर्वकरणका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र होता है । (गो.जी./मू./५३/१४१) (गो.क./मू./९१०/१०९४) ।

३. अपूर्वकरणमें प्रतिसमय सम्भव परिणामोंकी संख्या

ध. ६/१,९-८,४/२२०/१ अपुव्वकरणद्धा अंतोमुहुत्तमेत्ता होदि त्ति अंतोमुहुत्तमेत्तसमयाणं पढमं रचणा कायव्वा । तत्थ पढमसमयपाओग्गविसोहीणं पमाणमसंखेज्जा लोगा । विदियसमयपाओग्गविसोहीणं पमाणमसंखेज्जा लोगा । एवं णेयव्वं जाव चरिमसमओ त्ति ।– अपूर्वकरणका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र होता है, इसलिए अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण समयोंकी पहले रचना करना चाहिए । उसमें प्रथम समयके योग्य विशुद्धियोंका प्रमाण असंख्यात लोक है, दूसरे समयके योग्य विशुद्धियोंका प्रमाण असंख्यात लोक है । इस प्रकार यह क्रम अपूर्व-करणके अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए । (यहाँ अनुकृष्टि रचना नहीं है) ।

गो.जी./मू./५३/१४१ अंतोमुहुत्तमेत्ते पडिसमयमसंखलोगपरिणामा । कमउड्ढा पुव्वगुणे अणुकट्टी णत्थि णियमेण ।५३। –अन्तर्मुहूर्तमात्र जो अपूर्वकरणका काल तीहिविषै समय-समय प्रति क्रमतैं एक-एक चय बंधता असंख्यात लोकमात्र परिणाम है । तहाँ नियमकरि पूर्वा-पर समय सम्बन्धी परिणामनिकी समानताका अभावतै अनुकृष्टि विधान नाहीं है ।–इहाँ भी अंक संदृष्टि करि दृष्टांत मात्र प्रमाण कल्पनाकरि रचनाका अनुक्रम दिखाइये है—(अपूर्वकरणके परिणाम ४०९६; अपूर्वकरणका काल ८ समय; संख्यातका प्रमाण ४; चय १६. । इस प्रकार प्रथम समयसे अन्तिम आठवें समय तक क्रमसे एक एक चय (१६) बढ़ते—४५६,४७२,४८८,५०४,५२०,५३६,५५२ और ५६८ परिणाम हो हैं । सबका जोड़=४०९६ (गो. क./मू./९१०/१०९४) ।

४. परिणामोंकी विशुद्धता में वृद्धिक्रम

ध. ६/१,९-८,४/२२०/४ "पढमसमयविसोहीहिंतो विदियसमयविसोहीओ विसेसाहियाओ । एवं णेदव्वं जाव चरिमसमओत्ति । विसेसो पुण अंतोमुहुत्तपडिभागिओ । एदेसिं करणाणं तिव्व-मंददाए अप्पाबहुगं उच्चदे । तं जधा—अपुव्वकरणस्य पढमसमयजहण्णविसोही थोवा । तत्थेव उक्कस्सिया विसोही अणंतगुणा । विदियसमयजहण्णिया विसोही अणंतगुणा । तत्थेव उक्कस्सिया विसोही अणंतगुणा । तदियसमय-जहण्णिया विसोही अणंतगुणा । तत्थेव उक्कस्सिया विसोही अणंत-गुणा । एवं णेयव्वं जाव अपुव्वकरणचरिमसमओ त्ति । – प्रथम समयकी विशुद्धियोंसे दूसरे समयकी विशुद्धियाँ विशेष अधिक होती हैं । इस प्रकार यह क्रम अपूर्वकरणके अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए । यहाँपर विशेष अन्तर्मुहूर्तका प्रतिभागी है । इन करणोंको, अर्थात् अपूर्वकरणकालके विभिन्न समयवर्ती परिणामोंकी तीव्र-मन्दताका अल्पबहुत्व कहते हैं । वह इस प्रकार है—अपूर्वकरणकी प्रथम समयसम्बन्धी जघन्य विशुद्धि सबसे कम है । वहीं पर ही उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणित है । प्रथम समयकी उत्कृष्ट विशुद्धिसे द्वितीय समयकी जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणित है । वहाँपर ही उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणित है । तृतीय समयकी जघन्य विशुद्धि द्वितीय समयकी उत्कृष्ट विशुद्धिसे अनन्तगुणी है । वहीं पर ही उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणित है ।...इस प्रकार यह क्रम अपूर्वकरणके अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए । (ल. सा./मू./ ५२।८४) (गो. जी./मू.व.जी.प्र./५३/१४२) (गो.क./मू.व.जी.प्र./ ९१०/१०९४) (रा.वा./९/१/१२/५८९/२) ।

५. अपूर्वकरणके परिणामोंकी संदृष्टि व यन्त्र

कोशकार–अपूर्वकरणके परिणामोंकी संख्या व विशुद्धियोंको दर्शानेके लिए निम्न प्रकार संदृष्टि की जा सकती है—

क्रम	प्रतिसमय वर्ती कुल परिणाम	ज. से. उ. विशुद्धियाँ
८	५६८	४४४९–५०१६
७	५५२	३८९७–४४४८
६	५३६	३३६१–३८९६
५	५२०	२८४१–३३६०
४	५०४	२३३७–२८४०
३	४८८	१८४९–२३३६
२	४७२	१३७७–१८४८
१	४५६	९२१–१३७६
	४०९६	सर्व परिणाम

कुल परिणाम=४०९६, अनन्त गुणी वृद्धि=१ चय, सर्व-जघन्य परिणाम=अधःकरण-के उत्कृष्ट परिणाम ९१६ से आगे अनन्तगुणा=९२१ ।

यहाँ एक ही समयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें यद्यपि समानता भी पायी जाती है, क्योंकि एक ही प्रकारकी विशुद्धिवाले अनेक जीव होने सम्भव हैं । और विसदृशता भी पायी जाती है, क्योंकि एक समयवर्ती परिणाम विशुद्धियोंकी संख्या अ-संख्यात लोक प्रमाण है । परन्तु भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें तो सर्वथा असमानता ही है, समानता नहीं; क्योंकि, यहाँ अधःकरणवत् अनुकृष्टि रचना-का अभाव है ।

६. अपूर्वकरणके चार आवश्यक

ल. सा./मू./५३-५४/८४ गुणसेढीगुणसंकमठिदिरसखंडा अपुव्वकरणादो । गुणसंकमेण सम्मा मिस्साणं पूरणोत्ति हवे ।५३। ठिदि बंधोसरणं पुण अधापवत्तादुपूरणोत्ति हवे । ठिदिबंधट्ठिदिउक्कीरणकाला समा होंति ।५४। –अपूर्वकरणके प्रथम समयतैं लगाय यावत् सम्यक्त्व-मोहनी मिश्रमोहनीका पूरणकाल, जो जिस कालविषै गुणसंक्रमणकरि मिथ्यात्वकौ सम्यक्त्वमोहनी मिश्रमोहनी रूप परिणमावै है, तिस कालका अन्त समय पर्यन्त १. गुणश्रेणी, २. गुणसंक्रमण, ३. स्थिति खण्डन और ४. अनुभाग खण्डन ए च्यार आवश्यक हो हैं ।५३। बहुरि स्थिति बंधापसरण है सो अधःप्रवृत्त करणका प्रथम समयतैं लगाय तिस गुणसंक्रमण पूरण होनेका काल पर्यंत हो है । यद्यपि प्रायोग्य लब्धितैं ही स्थितिबंधापसरण हो है, तथापि प्रायोग्य लब्धिकै सम्यक्त्व होनेका अनवस्थितपना है । नियम नाहीं है । तातैं ग्रहण न कीया । बहुरि स्थिति बंधापसरण काल अर स्थितिकांडकोत्करण-काल ए दोऊ समान अन्तर्मुहूर्त मात्र है । (विशेष देखो अपकर्षण / ३,४) (यद्यपि प्रथमसम्यक्त्वका आश्रय करके कथन किया गया है पर सर्वत्र ये चार आवश्यक यथासम्भव जानना ।) (ध. ६/१, ९–८ ५/२२४/१ तथा २२७/७) (ल. सा./मू./३९७/४८७), (गो. जी./जी प्र./५४/१४७/८) ।

७. अपूर्वकरण व अधःप्रवृत्तकरणमें कथंचित् समानता असमानता

ध. १/१,१,१७/१८०/४ एतेनापूर्वविशेषेण अधःप्रवृत्तपरिणामव्युदासः कृतः इति द्रष्टव्यः, तत्रतनपरिणामानामपूर्वत्वाभावात्। —इसमें दिये गये अपूर्व विशेषणसे अधःप्रवृत्त परिणामोंका निराकरण किया गया है; ऐसा समझना चाहिए; क्योंकि, जहाँ पर उपरितन-समयवर्ती जीवोंके परिणाम अधस्तनसमयवर्ती जीवोंके परिणामोंके साथ सदृश भी होते हैं और विसदृश भी होते हैं ऐसे अधःप्रवृत्तमें होनेवाले परिणामोंमें अपूर्वता नहीं पायी जाती। (ऊपर ऊपरके समयोंमें नियमसे अनन्तगुण विशुद्ध विसदृश ही परिणाम अपूर्व कहला सकते हैं)।

ल. सा./मू./५२/८४ विदियकरणादिसमयादंतिमसमओत्ति अवरवर-सुद्धी। अहिगदिणा खलु सव्वे होंति अणंतेण गुणियकमा।५२। —दूसरे करणका प्रथम समयतै लगाय अन्त समयपर्यन्त अपने जघन्यतै अपना उत्कृष्ट अर पूर्व समयके उत्कृष्टतै उत्तर समयका जघन्य परिणाम क्रमतैं अनन्तगुणी विशुद्धता लीएं सर्पकी चालवत् जानने। (विशेष देखो करण।५/४ तथा करण।४/६)।

६. अनिवृत्तिकरण निर्देश

१. अनिवृत्तिकरणका लक्षण

ध. १/१,१,१७/११९-१२०/१८६ एकम्मिकालसमए संठाणादीहि जह णिवट्टंति। ण णिवट्टंति तह च्चिय परिणामेहिं मिहो जे हु।११९। होंति अणियट्टिणोते पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामा। विमलयर-झाण-हुयवह-सिहाहि णिद्दड्ढ-कम्म-वणा।१२०। —अन्तर्मुहूर्तमात्र अनि-वृत्तिकरणके कालमें-से किसी एक समयमें रहनेवाले अनेक जीव जिस प्रकार शरीरके आकार, वर्ण आदि बाह्यरूपसे और ज्ञानोपयोगादि अन्तरंग रूपसे परस्पर भेदको प्राप्त होते हैं, उस प्रकार जिन परि-णामोंके द्वारा उनमें भेद नहीं पाया जाता है उनको अनिवृत्तिकरण परिणामवाले कहते हैं। और उनके प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर अनन्त गुणी विशुद्धिसे बढ़ते हुए एकसे ही (समान विशुद्धिको लिये हुए ही) परिणाम पाये जाते हैं। तथा वे अत्यन्त निर्मल ध्यानरूप अग्निकी शिखाओंसे कर्मवनको भस्म करनेवाले होते हैं। ११९-१२०। (गो. जी./मू./५६-५७/१४९), (गो. क./मू./९११-९१२/१०९८), (ल. सा./जी. प्र./३६/७१)।

ध. १/१,१,१७/१८३/११ समानसमयावस्थितजीवपरिणामानां निर्भेदेन वृत्तिः निवृत्तिः। अथवा निवृत्तिर्व्यावृत्तिः, न विद्यते निवृत्तिर्येषां तेऽनिवृत्तयः। —समान समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी भेद रहित वृत्तिको निवृत्ति कहते हैं। अथवा निवृत्ति शब्दका अर्थ व्यावृत्ति भी है। अतएव जिन परिणामोंकी निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नहीं होती (अर्थात् जो छूटते नहीं) उन्हें ही अनिवृत्ति कहते हैं।

और भी दे० अनिवृत्तिकरण

२. अनिवृत्तिकरणका काल

ध. ६/१,९–८, ४/२२१/८ अणियट्टीकरणद्धा अंतोमुहुत्तमेत्ता होदि त्ति तिस्से अद्धाए समया रचेदव्वा। —अनिवृत्तिकरणका काल अन्त-र्मुहूर्तमात्र होता है। इसलिए उसके कालके समयोंकी रचना करना चाहिए।

३. अनिवृत्तिकरणमें प्रति समय एक ही परिणाम सम्भव है

ध. ६/१,९–८,४/२२१/९ एत्थ समयं पडि एक्केक्को चेव परिणामो होदि, एक्कम्हिसमए जहण्णुक्कस्सपरिणामभेदाभावा। —यहाँ पर अर्थात् अनिवृत्तिकरणमें, एक-एक समयके प्रति एक-एक ही परिणाम होता है; क्योंकि, यहाँ एक समयमें जघन्य और उत्कृष्ट परिणामोंके भेद-का अभाव है। (ल. सा./मू./८३/११८ तथा जी. प्र./३६/७१)।

४. अनिवृत्तिकरणके परिणामोंकी विशुद्धतामें वृद्धिक्रम

ध. ६/१,९–८,४/२२१/११ एदासिं (अणियट्टीकरणस्स) विसोहीणं तिव्व-मंददाए अप्पाबहुगं उच्चदे—पढमसमयविसोही थोवा। बिदियसमयविसोही अणंतगुणा। तत्तो तदियसमयविसोही अजहण्णु-क्कस्सा अणंतगुणा। एवं णेयव्वं जाव अणियट्टीकरणद्धाए चरिम-समओ त्ति। —अब अनिवृत्तिकरण सम्बन्धी विशुद्धियोंकी तीव्रता मन्दताका अल्पबहुत्व कहते हैं—प्रथम समय सम्बन्धी विशुद्धि सबसे कम है। उससे द्वितीय समयकी विशुद्धि अनन्तगुणित है। उससे तृतीय समयकी विशुद्धि अजघन्योत्कृष्ट अनन्तगुणित है। इस प्रकार यह क्रम अनिवृत्तिकरणकालके अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए।

५ नाना जीवोंमें योगोंकी सदृशताका नियम नहीं है

ध. १/१,१,२७/२२०/१ ण च तेसिं सव्वेसिं जोगस्स सरिसत्ते णियमो अत्थि लोगपूरणम्हिट्ठियकेवलीणं व तहा पडिवायय-सुत्ताभावादो। —अनिवृत्तिकरणके एक समयवर्ती सम्पूर्ण जीवोंके योगकी सदृशता-का कोई नियम नहीं पाया जाता। जिस प्रकार लोकपूरण समुद्घातमें स्थित केवलियोंके योगकी समानताका प्रतिपादक परमागम है उस प्रकार अनिवृत्तिकरणमें योगकी समानताका प्रतिपादक परमागमका अभाव है।

६. नाना जीवोंमें काण्डक घात आदिकी समानता और प्रदेश बन्धकी असमानता

ध. १/१,१,२७/२२०/१ ण च अणियट्टिम्हि पदेसबंधो एयं समयम्हि वट्ट-माणसव्वजीवाणं सरिसो तस्स जोगकारणत्तादो।—तदो सरिसपरि-णामत्तादो सव्वेसिमणियट्टीणं समाणसमयसंट्ठियाणं ट्ठिदिअणु-भागघादस-बंधोसरण-गुणसेढि-णिज्जरासंकमणं सरिसत्तणं सिद्धं। —परन्तु इस कथनसे अनिवृत्तिकरणके एक समयमें स्थित सम्पूर्ण जीवोंके प्रदेशबन्ध सदृश होता है, ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए; क्योंकि, प्रदेशबन्ध योगके निमित्तसे होता है और तहाँ योगोंके सदृश होनेका नियम नहीं है (देखो पहले नं० ५ वाला शीर्षक)। …इसलिए समान समयमें स्थित सम्पूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थान-वाले जीवोंके सदृश परिणाम होनेके कारण स्थितिकाण्डकघात, अनु-भागकाण्डकघात, बन्धापसरण, गुणश्रेणी निर्जरा और संक्रमणमें भी समानता सिद्ध हो जाती है।

ल. सा./मू./४१२-४१३/४९६ बादरपढमे पढमं ठिदिखंडविसरिसं तु बिदियादि। ठिदिखंडयं समाणं सव्वस्स समाणकालम्हि।४१२। पल्लस्स संखभागं अवरं तु वरं तु संखभागहियं। घादादिमठिदिखंडो सेसो सव्वस्स सरिसा हु।४१३। —अनिवृत्तिकरणका प्रथम समयविषै पहिला स्थिति खण्ड है सो तो विसदृश है, नाना जीवनिकैं समान नाहीं है। बहुरि द्वितीयादि स्थितिखण्ड हैं ते समानकाल विषैं सर्व-जीवनिकैं समान हैं। अनिवृत्तिकरण माहैं जिनकौं समान काल भया तिनकैं परस्पर द्वितीयादि स्थितिकाण्डक आयामका समान प्रमाण जानना।४१२। सो प्रथम स्थिति खण्ड जघन्य तो पल्यका असंख्यातवाँ भाग मात्र है। उत्कृष्ट ताका संख्यातवाँ भाग करि अधिक है। बहुरि अवशेष द्वितीयादिखण्ड सर्व जीवनिकै समान हो हैं। अपूर्वकरणका प्रथम समयतै लगाय अनिवृत्तिकरणविषै यावत् प्रथम खण्डका घात न होइ तावत् ऐसे ही संभवै (अर्थात् किसीके स्थिति खण्ड जघन्य होइ और किसीके उत्कृष्ट) बहुरि तिस प्रथम-काण्डकका घात भए पीछे समान समयनिविषै प्राप्त सर्व जीवनिकैं स्थिति सत्त्वकी समानता हो है, तातै द्वितीयादि काण्डक आयामकी भी समानता जाननी।४१३।

७. अनिवृत्तिकरणके चार आवश्यक

ध. ६/१,९-८,५/२२१/८ ताधे चेव अण्णो ट्ठिदिखंडओ अण्णो अणुभाग-खंडओ, अण्णो ट्ठिदिबंधो च आडत्तो। पुव्वोकड्डिदपदेसग्गादो असंखेज्जगुणं पदेसमोकड्डिदूण अपुव्वकरणो व्व गलिदसेसं गुणसेढिं करेदि। ...एवं ट्ठिदिबंध-ट्ठिदिखंडय-अणुभागखंडयसहस्सेसु गदेसु अणियट्टीअद्धाए चरिमसमयं पावदि। –उसी (अनिवृत्तिकरणको प्रारम्भ करनेके) समयमें ही १. अन्य स्थितिखण्ड, २. अन्य अनुभाग खण्ड और ३. अन्य स्थिति बन्ध (अपसरण) को आरम्भ करता है। पूर्वमें अपकर्षित प्रदेशाग्रसे असंख्यात गुणित प्रदेशका अपकर्षण कर अपूर्वकरणके समान गलितावशेष गुणश्रेणीको करता है। ...इस प्रकार सहस्रों स्थितिबन्ध, स्थितिकाण्डकघात, और अनुभागकाण्डकघातोंके व्यतीत होनेपर अनिवृत्ति करणके कालका अन्तिम समय प्राप्त होता है। (ल. सा./मू./८३-८४/११८), (क्ष. सा./मू./४११-४३७/४६५)।

८. अनिवृत्तिकरण व अपूर्वकरणमें अन्तर

ध. १/१,१,१७/१८४/१ अपूर्वकरणाश्च तादृक्षाः केचित्सन्तीति तेषामप्ययं व्यपदेशः प्राप्नोतीति चेन्न, तेषां नियमाभावात्। –प्रश्न—अपूर्व-करण गुणस्थानमें भी कितने ही परिणाम इस प्रकारके होते हैं (अर्थात् समान समयवर्ती जीवोंके समान होते हैं और असमान समयवर्तीके भी परस्पर समान नहीं होते) अतएव उन परिणामोंको भी अनिवृत्ति संज्ञा प्राप्त होनी चाहिए। उत्तर—नहीं, क्योंकि, उनके निवृत्ति रहित (अर्थात् समान) होनेका कोई नियम नहीं है।

ल. सा./जी. प्र./३६/७१/१६ अनिवृत्तिकरणोऽपि तथैव पूर्वोत्तरसमयेषु संख्याविशुद्धिसादृश्याभावाद् भिन्नपरिणाम एव। अयं तु विशेषः—प्रतिसमयमेकपरिणामः जघन्यमध्यमोत्कृष्टपरिणामभेदाभावात्। यथाधःप्रवृत्तापूर्वकरणपरिणामाः प्रतिसमयं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदाद-संख्यातलोकमात्रविकल्पाः षट्स्थानवृद्धया वर्द्धमानाः सन्ति न तथानिवृत्तिकरणपरिणामाः तेषामेकस्मिन् समये कालत्रयेऽपि विशुद्धिसादृश्यादैक्यमुपचर्यते। –यद्यपि अपूर्वकरणकी भाँति अनिवृत्तिकरणमें भी पूर्वोत्तर समयोंमें होनेवाले परिणामोंकी संख्या व विशुद्धि सदृश न होनेके कारण भिन्न परिणाम होते हैं, परन्तु यहाँ यह विशेष है कि प्रतिसमय एक ही परिणाम होता है, क्योंकि यहाँ जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट परिणामरूप भेदका अभाव है। अर्थात् जिस प्रकार अधःप्रवृत्तकरण और अपूर्वकरणके परिणाम प्रतिसमय जघन्य मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे असंख्यात लोकमात्र विकल्प-सहित षट्स्थान वृद्धिसे वर्द्धमान होते हैं, उस प्रकार अनिवृत्तिकरणके परिणाम नहीं होते; क्योंकि, तीनों कालोंमें एक समयवर्ती उन परि-णामोंमें विशुद्धिकी सदृशता होनेके कारण एकता कही गयी है।

९. यहाँ जीवोंके परिणामोंकी समानताका नियम समान समयवालोंके लिए ही है, यह कैसे कहते हो?

ध. १/१,१,१७/१८३/२ समानसमयस्थितजीवपरिणामानामिति कथम-धिगम्यत इति चेन्न, 'अपूर्वकरण' इत्यनुवर्तनादेव द्वितीयादिसमय-वर्तिजीवैः सह परिणामापेक्षया भेदसिद्धेः। –प्रश्न—इस गुणस्थान-में जो जीवोंके परिणामोंकी भेदरहित वृत्ति बतलायी है, वह समान समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी ही विवक्षित है यह कैसे जाना? उत्तर—'अपूर्वकरण' पदकी अनुवृत्तिसे ही यह सिद्ध होता है कि इस गुणस्थानमें प्रथमादि समयवर्ती जीवोंका द्वितीयादि समयवर्ती जीवोंके साथ परिणामोंकी अपेक्षा भेद है।

१०. गुणश्रेणी आदि अनेक कार्योंका कारण होते हुए भी इसके परिणामोंमें अनेकता क्यों नहीं कहते

ध. १/१,१,२७/२१६/२ कज्ज-णाणत्तादो कारणणाणत्तमणुमाणिज्जदि इदि एदमवि ण घडदे, एयादो मोग्गरादो बहुकोडिकवालोवलंभा। तत्थ वि होदु णाम मोग्गरो एओ, ण तस्स सत्तीणमेयत्तं, तदो एयक्खप्प-रुप्पत्ति-प्पसंगादो इदि चे तो क्खहि एत्थ वि भवदु णाम ट्ठिदिखंडय-घाद-अणुभागकंडयघाद - ट्ठिदिबंधोसरण - गुणसंकम-गुणसेढी-ट्ठिदि-अणुभागबंध-परिणामाणं णाणत्तं तो वि एग-समयसंठियणाणा-जीवाणं सरिसा चेव, अण्णहा अणियट्टिविसेसणाणुववत्तीदो। जइ एवं, तो सव्वेसिमणियट्टी-णमेग-समयम्हि वट्टमाणाणं ट्ठिदि-अणु-भागघादाणं सरिसत्तं पावेदि त्ति चे ण दोसो, इट्ठत्तादो। पढम-ट्ठिदि-अणुभाग-खंडयाणं-सरिसत्त णियमो णत्थि, तदो णेदं घडदि त्ति चे ण दोसो, हद सेस-ट्ठिदि अणुभागाणं एय-पमाण-णियम-दंसणादो। –प्रश्न—अनेक प्रकारका कार्य होनेसे उनके साधनभूत अनेक प्रकारके कारणोंका अनुमान किया जाता है? अर्थात् अनि-वृत्तिकरण गुणस्थानमें प्रतिसमय असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा, स्थितिकाण्डकघात आदि अनेक कार्य देखे जाते हैं, इसलिए उनके साधनभूत परिणाम भी अनेक प्रकारके होने चाहिए? उत्तर—यह कहना भी नहीं बनता है, क्योंकि, एक मुद्गरसे अनेक प्रकारके कपालरूप कार्यकी उपलब्धि होती है। प्रश्न—वहाँपर मुद्गर एक भले ही रहा आवे, परन्तु उसकी शक्तियोंमें एकपना नहीं बन सकता है। यदि मुद्गरकी शक्तियोंमें भी एकपना मान लिया जावे तो उससे एक कपालरूप कार्यकी ही उत्पत्ति होगी? उत्तर—यदि ऐसा है तो यहाँपर भी स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, स्थितिबन्धा-पसरण, गुणसंक्रमण, गुणश्रेणीनिर्जरा, शुभ प्रकृतियोंके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धके कारणभूत परिणामोंमें नानापना रहा आवे, तो भी एक समयमें स्थित नाना जीवोंके परिणाम सदृश ही होते हैं, अन्यथा उन परिणामोंके 'अनिवृत्ति' यह विशेषण नहीं बन सकता है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो एक समयमें स्थित सम्पूर्ण अनिवृत्ति-करण गुणस्थानवालोंके स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात-की समानता प्राप्त हो जायेगी? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह बात तो हमें इष्ट ही है—दे० करण/६/६। प्रश्न—प्रथम स्थितिकाण्डक और प्रथम अनुभागकाण्डककी समानताका नियम तो नहीं पाया जाता है, इसलिए उक्त कथन घटित नहीं होता है? उत्तर—यह भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि, प्रथम स्थितिके अवशिष्ट रहे हुए खण्डका और उसके अनुभाग खण्डका अनिवृत्तिकरण गुण-स्थानवाले प्रथम समयमें ही घात कर देते हैं, अतएव उनके द्विती-यादि समयोंमें स्थितिकाण्डकोंका और अनुभागकाण्डकोंका एक प्रमाण नियम देखा जाता है।

करण लब्धि—दे० लब्धि/४।

करणानुयोग—दे० अनुयोग।

करभवेदिनी—भरत आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

करीरी—भरत आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

करुणा—स. सि./७/११/३४९/८ दीनानुग्रहभावः कारुण्यम्। –दीनों पर दयाभाव रखना कारुण्य है। (रा. वा./७/११/३/५३८/१९) (ज्ञा./२७/८-१०)

भ. आ./वि./१६९६/१५१६/१३ शारीरं, मानसं, स्वाभाविकं च दुःखम-सह्याप्नुवतो दृष्ट्वा हा वराका मिथ्यादर्शनेनाविरत्या कषायेणाशुभेन योगेन च समुपार्जिताशुभकर्मपर्यायपुद्गलस्कन्धतदुपोद्भवा विपदो विवशाः प्राप्नुवन्ति इति करुणा अनुकम्पा। –शारीरिक, मानसिक,

और स्वाभाविक ऐसी असह्य दुःखराशि प्राणियोंको सता रही है, यह देखकर, "अहह, इन दीन प्राणियोंने मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और अशुभयोगसे जो उत्पन्न किया था; वह कर्म उदयमें आकर इन जीवोंको दुःख दे रहा है। ये कर्मवश होकर दुःख भोग रहे हैं। इनके दुःखसे दुःखित होना करुणा है।

भ. आ./वि./१८३६/१६५०/३ दया सर्वप्राणिविषया। —सर्व प्राणियोंके ऊपर उनका दुःख देखकर अन्तःकरण आर्द्र होना दयाका लक्षण है।

★ **अनुकम्पाके भेद व लक्षण**—दे० अनुकम्पा।

२. करुणा जीवका स्वभाव है

ध. १३/५,५,४८/३६१/१४ करुणाए कारणं कम्मं करुणे त्ति किं ण वुत्तं। ण करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो। अकरुणाए कारणं कम्मं वत्तव्वं। ण एस दोसो, संजमघादिकम्माणं फलभावेण तिस्से अब्भुवगमादो। —प्रश्न—करुणाका कारणभूत कर्म करुणा कर्म है, यह क्यों नहीं कहा? उत्तर—नहीं, क्योंकि, करुणा जीवका स्वभाव है, अतएव उसे कर्मजनित माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—तो फिर अकरुणाका कारण कर्म कहना चाहिए? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, उसे संयमघाती कर्मोंके फलरूपसे स्वीकार किया गया है।

३. करुणा धर्मका मूल है

कुरल/२५/२ यथाकर्म समीक्ष्यैव दयां चित्तेन पालयेत्। सर्वे धर्मा हि भाषन्ते दया मोक्षस्य साधनम् ।२। —ठीक पद्धतिसे सोच-विचारकर हृदयमें दया धारण करो, और यदि तुम सर्व धर्मोंसे इस बारेमें पूछकर देखोगे तो तुम्हें मालूम होगा कि दया ही एकमात्र मुक्तिका साधन है।

पं.वि./६/३७ येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते। चित्ते जीवदया नास्ति तेषां धर्मः कुतो भवेत् ।३७। मूलं धर्मतरोराद्या व्रतानां धाम संपदाम्। गुणानां निधिरित्यङ्गिदया कार्या विवेकिभिः ।३८। —जिन भगवान्के उपदेशसे दयालुतारूप अमृतसे परिपूर्ण जिन श्रावकोंके हृदयमें प्राणिदया आविर्भूत नहीं होती है उनके धर्म कहाँसे हो सकता है? ।३७। प्राणिदया धर्मरूपी वृक्षकी जड़ है, व्रतोंमें मुख्य है, सम्पत्तियोंका स्थान है और गुणोंका भण्डार है। इसलिए उसे विवेकी जनोंको अवश्य करना चाहिए ।३८।

४. करुणा सम्यक्त्वका चिह्न है

का.अ./४१२/पं. जयचन्द "दश लक्षण धर्म दया प्रधान है और दया सम्यक्त्वका चिह्न है। (और भी देखो सम्यग्दर्शन/I/२। प्रशम संवेग आदि चिह्न)।

५. परन्तु निश्चयसे करुणा मोहका चिह्न है

प्र.सा./मू./८५ अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिर्यङ्मनुजेषु। विषयेषु च प्रसङ्गो मोहस्यैतानि लिङ्गानि ।८५। —पदार्थका अयथार्थ ग्रहण और तिर्यंच मनुष्योंके प्रति करुणाभाव तथा विषयोंकी संगति (इष्ट विषयोंमें प्रीति और अनिष्ट विषयोंमें अप्रीति) ये सब मोहके चिह्न हैं।

प्र.सा./त.प्र./८५ तिर्यग्मनुष्येषु प्रेक्षार्हेष्वपि कारुण्यबुद्ध्या च मोहम्... झगिति संभवन्नपि त्रिभूमिकोऽपि मोहो निहन्तव्यः। —तिर्यग्मनुष्य प्रेक्षायोग्य होनेपर भी उनके प्रति करुणाबुद्धिसे मोहको जानकर, तत्काल उत्पन्न होते भी तीनों प्रकारका मोह (दे० ऊपर मूलगाथा) नष्ट कर देने योग्य है।

प्र. सा./ता. वृ./८५ शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणपरमोपेक्षासंयमाद्विपरीतः करुणाभावो दयापरिणामश्च अथवा व्यवहारेण करुणाया अभावः। केषु विषयेषु। तिर्यग्मनुजेषु, इति दर्शनमोहचिह्नं। —शुद्धात्माकी उपलब्धि है लक्षण जिसका ऐसे परम उपेक्षा संयमसे विपरीत करुणाभाव या दयापरिणाम अथवा व्यवहारसे करुणाका अभाव; किनमें—तिर्यंच मनुष्योंमें; ये दर्शनमोहका चिह्न है।

६. निश्चयसे वैराग्य ही करुणा है

स.म./१०/१०८/१३ कारुणिकत्वं च वैराग्याद न भिद्यते। ततो युक्तमुक्तम् अहो विरक्त इति स्तुतिकारेणोपहासवचनम्। —करुणा और वैराग्य अलग-अलग नहीं हैं। इसलिए स्तुतिकारने (दे० मूल श्लोक नं० १०) 'अहो विरक्त' ऐसा कहकर जो उपहास किया है सो ठीक है।

करोति—करोति क्रिया व ज्ञप्ति क्रियामें परस्पर विरोध।

—दे० चेतना/३।

कर्कराज—गुर्जर नरेन्द्र राजा जगतुङ्गके छोटे भाई इन्द्रराजका पुत्र था। इसकी सहायतासे ही श. सं. ७५७ (ई. ८३५) में अमोघवर्ष प्रथमने राष्ट्रकूटोंको जीतकर उनके राष्ट्रकूट देशपर अधिकार किया था। अमोघवर्षके अनुसार इनका समय ई० ८१४–८७८ आता है।

—दे० इतिहास/३/४।

कर्कोटक—कंटक द्वीपमें स्थित एक पर्वत—दे मनुष्य/४।

कर्णइन्द्रिय—दे० इन्द्रिय/१।

कर्णगोमि—ई. श. ७–८ के एक बौद्ध नैयायिक थे। इनने धर्मकीर्ति कृत 'प्रमाणवार्तिक' की स्ववृत्ति नामकी टीका लिखी है। (सि.वि./३५/पं. महेन्द्रकुमार)

कर्ण (राजा)—(पा. पु./सर्ग/श्लो०)—पाण्डुका पुत्र था। कुँवारी कुन्तीसे उत्पन्न हुआ था। (७/२३७-६७)। चम्पा नगरीके राजा भानुके यहाँ पला (७/२८८)। महाभारत युद्धमें कौरवोंके पक्षसे लड़ा (१६/७१)। अन्तमें अर्जुन द्वारा मारा गया। (२०/२६३)।

कर्णविधि—Diagonal method (ज.प./प्र.१०६)।

कर्ण सुवर्ण—बंगालका वर्तमान वनसोना नामका ग्राम जो पहले बंग (बंगाल) देशकी राजधानी थी। (म. पु./प्र.४६/पं. पन्नालाल)।

कर्तव्य—जीवका कर्तव्य अकर्तव्य —दे० धर्म/५।

कर्ता—यद्यपि लोकमें 'मैं घट, पट आदिका कर्ता हूँ' ऐसा ही व्यवहार प्रचलित है। परन्तु परमार्थमें प्रत्येक पदार्थ परिणमन स्वभावी होने तथा प्रतिक्षण परिणमन करते रहनेके कारण वह अपनी पर्यायका ही कर्ता है। इस प्रकारका उपरोक्त भेद कर्ता कर्म भाव विकल्पात्मक होनेके कारण परमार्थमें सर्वत्र निषिद्ध है। अभेद कर्ता कर्म भावका विचार ही ज्ञाता द्रष्टाभावमें ग्राह्य है।

१. कर्ता व कर्म सामान्य निर्देश

१. निश्चय कर्ता कारक निर्देश

स.सा./आ./८६/क.५१ यः परिणमति स कर्ता। —जो परिणमन करता है, वही अपने परिणमनका कर्ता होता है।

प्र.सा./त.प्र./१८४ स तं च—स्वतन्त्रः कुर्वाणस्तस्य कर्ताऽवश्यं स्यात्। —वह (आत्मा) उसको (स्व-भावको) स्वतन्त्रतया करता हुआ उसका कर्ता अवश्य है।

प्र.सा./ता.वृ./१६ अभिन्नकारकचिदानन्दैकस्वभावेन स्वतन्त्रत्वात् कर्ता भवति। —अभिन्नकारक भावको प्राप्त चिदानन्द रूप चैतन्य स्व-स्वभावके द्वारा स्वतंत्र होनेसे अपने आनन्दका कर्ता होता है।

२. निश्चय कर्मकारक निर्देश

स.सि./६/१/३१८/४ कर्म क्रिया इत्यनर्थान्तरम्। —कर्म और क्रिया ये एकार्थवाची नाम हैं।

रा.वा./६/१/४/५०४/१६ कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कर्म। —कर्ताको क्रियाके द्वारा जो प्राप्त करने योग्य इष्ट होता है उसे कर्म कहते हैं। (स. सा./परि/शक्ति नं. ४१)।

भ आ./वि./२०/७१/६ कर्तुः क्रियाया व्याप्यत्वेन विवक्षितमपि कर्म, यथा कर्मणि द्वितीयेति। तथा क्रिया वचनोऽपि अस्ति, किं कर्म करोषि। का क्रियामित्यर्थः। इह क्रियावाची गृहीतः। —कर्ताकी होनेवाली क्रियाके द्वारा जो व्याप्त होता है, उसको कर्मकारक कहते हैं। कर्मकी व्याकरण शास्त्रमें द्वितीया (विभक्ति) होती है। जैसे

'कर्मणि द्वितीया' यह सूत्र है। कर्म शब्दका 'क्रिया' ऐसा भी अर्थ है। यहाँ कर्म शब्द क्रियावाची समझना।

स. सा./आ./८६/क. ५१ यः परिणामो भवेत् तत्कर्म।–(परिणमित होने वाले कर्ता रूप द्रव्यका) जो परिणाम है सो उसका कर्म है।

प्र. सा./त. प्र./१६ शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन प्राप्यत्वात् कर्मत्वं कलयन्।–शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वयं ही प्राप्य होनेसे (आत्मा) कर्मत्वका अनुभव करता है।

प्र. सा./त.प्र. ११७ क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म।–क्रिया वास्तवमें आत्माके द्वारा प्राप्त होनेसे कर्म है। (प्र. सा./त.प्र./१८४).

प्र. सा./ता.वृ./१६ नित्यानन्दैकस्वभावेन स्वयं प्राप्यत्वात् कर्मकारकं भवति।–नित्यानन्दरूप एक स्वभावके द्वारा स्वयं प्राप्य होनेसे (आत्मा ही) कर्म कारक होता है।

३. क्रिया सामान्य निर्देश

स. सि./६/१/३१८/४ कर्म क्रिया इत्यनर्थान्तरम्।–कर्म और क्रिया एकार्थवाची नाम हैं।

स.सा./आ./८६/क. ५१ या परिणतिःक्रिया।–(परिणमित होनेवाले कर्ता रूप द्रव्य की) जो परिणति है सो उसकी क्रिया है।

प्र. सा./त. प्र./१२२ यश्च तस्य तथाविधपरिणामः सा जीवमय्येव क्रिया सर्वद्रव्याणां परिणामलक्षणं क्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात्।–जो उस (आत्मा)का तथाविध परिणाम है वह जीवमयी ही क्रिया है, क्योंकि सर्व द्रव्योंकी परिणाम लक्षण क्रिया आत्ममयतासे स्वीकार की गयी है।

प्र. सा./त. प्र./१६६२ क्रिया हि तावच्चेतनस्य पूर्वोत्तरदशाविशिष्टचैतन्यपरिणामात्मिका। –(आत्माकी) क्रिया चेतनकी पूर्वोत्तर दशासे विशिष्ट चैतन्य परिणाम स्वरूप होती है।

४. कर्म कारकके प्राप्य विकार्य आदि तीन भेदोंका निर्देश

रा. वा./६/१/४/५०४/१७ तत्त्रिविधं निर्वर्त्यं विकार्यं प्राप्यं चेति। तत् त्रितयमपि कर्तुरन्यत्।–यह कर्म कारक निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य तीन प्रकारका होता है। ये तीनों कर्म कर्तासे भिन्न होते हैं।

स. सा./आ./७६ यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं पुद्गलपरिणामं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयमन्तर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यान्तेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं...।–प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्यलक्षणवाला पुद्गलका परिणाम स्वरूप कर्म (कर्ताका कार्य) उसमें पुद्गल द्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि मध्य और अन्तमें व्याप्त होकर उसे ग्रहण करता हुआ, उस रूप परिणमन करता हुआ, और उस रूप उत्पन्न होता हुआ, उस पुद्गल परिणामको करता है। भावार्थ पं० जयचन्द्र—सामान्यतया कर्ताका कर्म तीन प्रकारका कहा गया है—निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य। कर्ताके द्वारा जो पहिले न हो ऐसा नवीन कुछ उत्पन्न किया जाये सो कर्ताका निर्वर्त्य कर्म है (जैसे घट बनाना) कर्ताके द्वारा, पदार्थमें विकार-(परिवर्तन) करके जो कुछ किया जाये वह कर्ताका विकार्य कार्य है (जैसे दूधसे दही बनाना) कर्ता जो नया उत्पन्न नहीं करता, तथा विकार करके भी नहीं करता, मात्र जिसे प्राप्त करता है (अर्थात् स्वयं उसकी पर्याय) वह कर्ताका प्राप्य कर्म है।

टिप्पणी—अन्य प्रकारसे भी इन तीनोंका अर्थ भासित होता है—द्रव्यकी पर्याय दो प्रकारकी होती है—स्वाभाविक व विभाविक। विभाविक भी दो प्रकारकी होती है—प्रदेशात्म द्रव्यपर्याय तथा भावात्मक गुणपर्याय। स्वाभाविक एक ही प्रकारकी होती है—षट् गुण हानिवृद्धिरूपा तहाँ प्रदेशात्म विभावद्रव्य पर्याय द्रव्यका निर्वर्त्य कर्म है, क्योंकि निर्वर्तनाका व्यवहार पदार्थके आकार व संस्थान आदि बनानेमें होता है जैसे घट बनाना। विभाव गुण पर्याय द्रव्यका विकार्य कर्म है, क्योंकि अन्य द्रव्यके साथ संयोग होनेपर गुण जो अपने स्वभावसे च्युत हो जाते हैं उसे ही विकार कहा गया है—जैसे दूधसे दही बनाना। और स्वभाव पर्यायको प्राप्य कर्म कहते हैं, क्योंकि प्रतिक्षण वे स्वतः द्रव्यको प्राप्त होती रहती हैं। न उनमें कुछ प्रदेशात्मक परिस्पन्दनकी आवश्यकता होती है और न अन्य द्रव्योंके संयोगकी अपेक्षा होती है।

२. निश्चय व व्यवहार कर्ता कर्म भाव निर्देश

१. निश्चयसे कर्ता कर्म व अधिकरणमें अभेद

स. सा./आ./८५ इह खलु क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न परिणामतोऽस्ति भिन्ना, परिणामोऽपि परिणामपरिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात्परिणामिनो न भिन्नस्ततो या काचन क्रिया किल सकलापि सा क्रियावतो न भिन्नेति–जगतमें जो क्रिया है सो सब ही परिणाम-स्वरूप होनेसे वास्तवमें परिणामसे भिन्न नहीं है। परिणाम भी परिणामीसे भिन्न नहीं है, क्योंकि, परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु हैं, इसलिए जो कुछ क्रिया है वह सब ही क्रियावानसे भिन्न नहीं है।

प्र. सा./त. प्र./६६ यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा कार्तस्वरात् पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण पीततादिगुणानां कुण्डलादिपर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य यदस्तित्वं कार्तस्वरस्य स स्वभावः तथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण गुणानां पर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य...यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः।–जैसे द्रव्य क्षेत्र काल या भावसे स्वर्णसे जो पृथक् दिखाई नहीं देते; कर्ता-करण अधिकरण रूपसे पीतत्वादि गुणोंके और कुण्डलादि पर्यायोंके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान सुवर्णका जो अस्तित्व है वह उसका स्वभाव है; इसी प्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे जो द्रव्यसे पृथक् दिखाई नहीं देते, कर्ता-करण अधिकरण रूपसे गुणोंके और पर्यायोंके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान जो द्रव्यका अस्तित्व है। वह स्वभाव है।

प्र. सा./त.प्र./१११ ततः परिणामान्यत्वेन निश्चीयते पर्यायस्वरूपकर्तृकरणाधिकरणभूतत्वेन पर्यायेभ्योऽपृथग्भूतस्य द्रव्यस्यासदुत्पादः।–इसलिए पर्यायोंकी (व्यतिरेकी रूप) अन्यताके द्वारा द्रव्यका—जो कि पर्यायोंके स्वरूपका कर्ता, करण और अधिकरण होनेसे अपृथक् है, असत् उत्पाद निश्चित होता है।

२. निश्चयसे कर्ता कर्म व करण में अभेद

प्र.सा./मू./१२६ कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो। परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ।१२६। –यदि श्रमण 'कर्ता, कर्म, करण और फल आत्मा है' ऐसा निश्चय वाला होता हुआ, अन्य रूप परिणमित नहीं ही हो तो वह शुद्ध आत्माको उपलब्ध करता है।

प्र. सा./त प्र./१५ समस्तज्ञेयान्तर्वर्तिज्ञानस्वभावमात्मानमात्मा शुद्धोपयोगप्रसादादेवासादयति। –समस्त ज्ञेयोंके भीतर प्रवेशको प्राप्त ज्ञान जिसका स्वभाव है, ऐसे आत्माको आत्मा शुद्धोपयोगके ही (आत्माके ही) प्रसादसे प्राप्त करता है।

प्र. सा./त.प्र./३० संवेदनमप्यात्मनोऽभिन्नत्वात् कर्त्रंशेनात्मतामापन्नं करणांशेन ज्ञानतामापन्नेन कारणभूतानामर्थानां कार्यभूतान् समस्तज्ञेयाकारानभिव्याप्य वर्तमानं कार्यकारणत्वेनोपचर्य ज्ञानमर्थानभिभूय वर्तत इत्युच्यमानं न विप्रतिषिध्यते। –संवेदन (शुद्धोपयोग) भी आत्मासे अभिन्न होनेसे कर्ता अंशसे आत्मताको प्राप्त होता हुआ

ज्ञानरूप करण अंशके द्वारा कारणभूत पदार्थोंके कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारोंमें व्याप्त हुआ वर्तता है, इसलिए कार्यमें कारणका (ज्ञेयाकारोंमें पदार्थोंका) उपचार करके यह कहनेमें विरोध नहीं आता कि ज्ञान पदार्थोंमें व्याप्त होकर वर्तता है।

स. सा./आ./२९४ आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणे कार्ये कर्तुरात्मनः करणमीमांसायां निश्चयतः स्वतो भिन्नकरणासंभवात् भगवती प्रज्ञैव छेदनात्मकं करणं। =आत्मा और बन्धके द्विधा करनेरूप कार्यमें कर्ता जो आत्मा उसकी करण सम्बन्धी मीमांसा करनेपर, निश्चयतः अपनेसे भिन्न करणका अभाव होनेसे भगवती प्रज्ञा ही छेदनात्मक करण है।

३. निश्चयसे कर्ता व करणमें अभेद

रा.वा./१/१/५/४/२६ कर्तृकरणयोरन्यत्वादन्यत्वमात्मज्ञानादीनां परश्वादिवदिति चेत: न; तत्परिणामादग्निवत्। =प्रश्न—कर्ता व करण तो देवदत्त व परशुकी भाँति अन्य होते हैं। इसी प्रकार आत्मा व ज्ञान आदिमें अन्यत्व सिद्ध होता है। उत्तर—नहीं, जैसे अग्निसे उसका परिणाम अभिन्न है उसी प्रकार आत्मासे उसका परिणाम जो ज्ञानादि वे भी अभिन्न हैं।

प्र.सा./त.प्र./३५ अपृथग्भूतकर्तृकरणत्वशक्तिपारमैश्वर्ययोगित्वादात्मनो य एव स्वयमेव जानाति स एव ज्ञानमन्तर्लीनसाधकतमोष्णत्वशक्तेः स्वतन्त्रस्य जातवेदसो दहनक्रियाप्रसिद्धेरुष्णव्यपदेशवत्। =आत्मा अपृथग्भूत कर्तृत्व और करणत्वकी शक्तिरूप पारमैश्वर्यवान है, इसलिए जो स्वयमेव जानता है (ज्ञायक है) वही ज्ञान है। जैसे—जिसमें साधकतम (करणरूप) उष्णत्व शक्ति अन्तर्लीन है ऐसी स्वतन्त्र अग्निके दहनक्रियाकी प्रसिद्धि होनेसे उष्णता कही जाती है।

४. निश्चयसे वस्तुका परिणामी परिणाम सम्बन्ध ही उसका कर्ता कर्म भाव है

रा. वा./२/७/१३/११२/३ कर्तृत्वमपि साधारणं क्रियानिष्पत्तौ सर्वेषां स्वातन्त्र्यात्। ननु च जीवपुद्गलानां क्रियापरिणामयुक्तानां कर्तृत्वं युक्तम्, धर्मादीनां कथम्। तेषामपि अस्त्यादिक्रियाविषयमस्ति कर्तृत्वम्। =कर्तृत्व नामका धर्म भी साधारण है क्योंकि क्रियाकी निष्पत्तिमें सभी द्रव्य स्वतन्त्र हैं। प्रश्न—क्रिया परिणाम युक्त होनेके कारण जीव व पुद्गलमें कर्तृत्व धर्म कहना युक्त है, परन्तु धर्मादि द्रव्योंमें वह कैसे घटित होता है? उत्तर—उनमें भी अस्ति आदि क्रियाओंका (अर्थात् षट् गुण हानि वृद्धि रूप उत्पाद व्यय का) अस्तित्व है ही।

स.सा./आ./८६/क. ५१ यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत् तत्कर्म। या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ।५१। =जो परिणमित होता है सो कर्ता है, (परिणमित होनेवालेका) जो परिणाम है सो कर्म है और जो परिणति है सो क्रिया है। ये तीनों वस्तुरूपसे भिन्न नहीं हैं।

स.सा./आ. ३११ सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कङ्कणादिपरिणामैः काञ्चनवत्।...सर्वद्रव्याणां द्रव्यान्तरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात्—कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिध्यति। =जैसे सुवर्णका कंकण आदि पर्यायोंके साथ तादात्म्य है उसी प्रकार सर्व द्रव्योंका अपने परिणामोंके साथ तादात्म्य है। क्योंकि सर्व द्रव्योंका अन्य द्रव्यके साथ उत्पाद्य-उत्पादक भावका अभाव है, इसलिए कर्ता कर्मकी अन्य निरपेक्षता सिद्ध होनेसे जीवके अजीवका कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता है।

स.सा./आ./३४९-३५५ ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः। =इसलिए परिणाम-परिणामीभावसे वहीं (एक ही द्रव्यमें) कर्ता कर्मपनका और भोक्तृभोग्यपनका निश्चय है।

पं.का./ता.वृ./२७/चूलिका/५७/१७ अशुद्धनिश्चयेन···शुभाशुभपरिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं सर्वत्र ज्ञातव्यमिति। पुद्गलादीनां पञ्चद्रव्याणां च स्वकीयस्वकीयपरिणामेन परिणमनमेव कर्तृत्वं। वस्तुवृत्त्या पुनः पुण्यपापादिरूपेणाकर्तृत्वमेव। =अशुद्ध निश्चय नयसे शुभाशुभ परिणामोंका परिणमन ही कर्तापना है। सर्वत्र ऐसा ही जानना चाहिए। पुद्गलादि पाँच द्रव्योंके भी अपने-अपने परिणामोंके द्वारा परिणमन करना ही कर्तृत्व है। वस्तुवृत्तिसे अर्थात् शुद्ध निश्चय नयसे तो पुण्यपापका अकर्तापना ही है। (द्र.सं./अधिकार २ की चूलिका/७८/६)।

पं.ध./उ./१५२ तद्यथा नव तत्त्वानि केवलं जीवपुद्गलौ। स्वद्रव्याद्यैरनन्यत्वाद्वस्तुतः कर्तृकर्मणोः ।१५२। =ये नव तत्त्व केवल जीव व पुद्गल रूप हैं, क्योंकि वास्तवमें अपने द्रव्य क्षेत्रादिके द्वारा कर्ता तथा कर्ममें अनन्यत्व होता है।

५. एक ही वस्तुमें कर्ता व कर्म दोनों बातें कैसे हो सकती हैं

स.सि./१/१/६/२ नन्वेवं स एव कर्ता स एव करणमित्यायातम्। तच्च विरुद्धम्। सत्यं स्वपरिणामपरिणामिनोर्भेदविवक्षायां तथाभिधानात्। यथाग्निर्दहतीन्धनं दाहपरिणामेन। =प्रश्न—दर्शन आदि शब्दोंकी इस प्रकार व्युत्पत्ति करनेपर कर्ता और करण एक हो जाता है। किन्तु यह बात विरुद्ध है? =उत्तर—यद्यपि यह कहना सही है, तथापि स्वपरिणाम और परिणामीमें भेदकी विवक्षा होनेपर उक्त प्रकारसे कथन किया गया है। जैसे 'अग्नि दाह परिणामके द्वारा ईंधनको जलाती है'। यह कथन भेद-विवक्षाके होने पर बनता है।

रा.वा./१/२१/२/८८/३० द्रव्यस्य पर्यायाणां च कथंचिद्भेदे सति उक्तः कर्तृकर्मव्यपदेश सिद्धयति। =एक ही द्रव्य स्वयं कर्ता भी होता है और कर्म भी, क्योंकि उसका अपनी पर्यायोंके साथ कथंचित् भेद है।

श्लो. वा. २/१/६/२८-२९/३७८/३ ननु यदेवार्थस्य ज्ञानक्रियायां ज्ञानं करणं सैव ज्ञानक्रिया, तत्र कथं क्रियाकरणव्यवहारः प्रातीतिकः स्याद्विरोधादिति चेन्न, कथंचिद्भेदात्। प्रमातुरात्मनो हि वस्तुपरिच्छित्तौ साधकतमत्वेन व्यापृतं रूपं करणम्, निर्व्यापारं तु क्रियोच्यते, स्वातन्त्र्येण पुनर्व्याप्रियमाण. कर्तात्मेति निर्णीतप्रायम्। तेन ज्ञानात्मक एवात्मा ज्ञानात्मनार्थं जानातीति कर्तृकरणक्रियाविकल्पः प्रतीतिसिद्ध एव। तद्वत्तत्र कर्मव्यवहारोऽपि ज्ञानात्मात्मानमात्मना जानातीति घटते। सर्वथा कर्तृकरणकर्मक्रियानामभेदानभ्युपगमात्. तासां कर्तृत्वादिशक्तिनिमित्तत्वात् कथंचिद्भेदसिद्धेः। =प्रश्न—जो ही अर्थकी ज्ञान क्रिया करनेमें करण है वही तो ज्ञान क्रिया है। फिर उसमें क्रियापने और करणपनेका व्यवहार कैसे प्रतीत हो सकता है। इसमें तो विरोध दीख रहा है? उत्तर—नहीं, इन दोनोंमें कथंचित् भेद है। प्रमितिको करनेवाले आत्माके वस्तुकी ज्ञप्ति करनेमें साधकतमरूपसे व्यापृतको करणज्ञान कहते हैं। और व्यापार रहित शुद्ध ज्ञानरूप धात्वर्थको ज्ञप्ति क्रिया कहते हैं। स्वतन्त्रता से व्यापार करनेमें लगा हुआ आत्मा कर्ता है। इस प्रकार ज्ञानात्मक ही आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव करके अर्थको ज्ञानस्वरूपपने जानता है। इस प्रकार कर्ता कर्म और क्रियाके आकारोंका विकल्प करना प्रतीतियोंसे सिद्ध ही है। तिन ही के समान उस ज्ञानमें कर्मपनेका व्यवहार भी प्रतीतिसिद्ध समझ लेना चाहिए। सर्वथा कर्ता करण कर्म और क्रियापनका अभेद हम स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि उनका न्यारी-न्यारी कर्तृत्वादि शक्तियोंके निमित्तसे किसी अपेक्षा भेद भी सिद्ध हो रहा है।

ध. १३/५,३,६/१ कधमेक्कम्हि कम्म-कत्तारभावो जुज्जदे। ण सुज्जेंदुरुव-ज्जोअ-जलण-मणि-णक्खत्तादिसु उभयभावुवलंभादो। =प्रश्न—एक ही स्पर्श शब्दमें कर्मत्व व कर्तृत्व दोनों कैसे बन सकते हैं? उत्तर—

नहीं, क्योंकि, लोकमें सूर्य, चन्द्र, खद्योत, अग्नि, मणि और नक्षत्र आदि ऐसे अनेक पदार्थ हैं जिनमें उभय भाव देखा जाता है। उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए।"

६. व्यवहारसे भिन्न वस्तुओंमें भी कर्ता कर्म व्यपदेश किया जाता है

स.सा./मू./९८ ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि। करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीहि विविहाणि ।९८। =व्यवहारसे अर्थात् लोकमें आत्मा घट, पट, रथ इत्यादि वस्तुओंको, इन्द्रियोंको, अनेक प्रकारके क्रोधादि द्रव्य कर्मोंको और शरीरादि नोकर्मोंको करता है। (द्र.सं./मू./८)।

न.च.वृ./१२४-१२५ देहजुदो सो भुत्ता भुत्ता सो चेव होइ इह कत्ता। कत्ता पुण कम्मजुदो जीओ संसारिओ भणिओ ।१२४। कम्मं दुविहवियप्पं भावसहावं च दव्वसब्भावं। भावे सो णिच्छयदो कत्ता ववहारदो दव्वे ।१२५। =देहधारी जीव भोक्ता होता है और जो भोक्ता होता है वही कर्ता भी होता है। जो कर्ता होता है वह कर्म संयुक्त होता है। ऐसे जीवको संसारी कहा जाता है।१२४। वह कर्म दो प्रकारका है—भाव-कर्म और द्रव्य-कर्म। निश्चयसे वह भावकर्मका कर्ता है और व्यवहारसे द्रव्य कर्मका।१२५। (द्र.सं/मू./८) (और भी देखो कारण/III/५)।

प्र.सा./त.प्र./३० संवेदनमपि...कारणभूतानामर्थानां कार्यभूतान् समस्तज्ञेयाकारानभिव्याप्य वर्तमानं कार्यकारणत्वेनोपचर्य ज्ञानमर्थानभिभूय वर्तत इत्युच्यमानं न विप्रतिषिध्यते। =संवेदन (ज्ञान) भी कारणभूत पदार्थोंके कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारोंमें व्याप्त हुआ वर्तता है, इसलिए कार्यमें कारणका उपचार करके यह कहनेमें विरोध नहीं आता कि ज्ञान पदार्थोंमें व्याप्त होकर वर्तता है।

पं.का./त.प्र./२७/५८ व्यवहारेणात्मपरिणामनिमित्तपौद्गलिककर्मणां कर्तृत्वात्कर्ता। =व्यवहारसे जीव आत्मपरिणामोंके निमित्तसे होनेवाले कर्मोंको करनेसे कर्ता है।

३. निश्चय व्यवहार कर्ता कर्म भावकी कथंचित् सत्यार्थता असत्यार्थता

१. वास्तवमें व्याप्यव्यापकरूप ही कर्ता कर्म भाव अध्यात्ममें इष्ट है

स.सा/आ/७५/क ४९ व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः। =व्याप्यव्यापक भावके अभावमें कर्ता कर्मकी स्थिति कैसी?

प्र.सा./त.प्र./१८५ यो हि यस्य परिणमयिता दृष्टः स न तदुपादानहानशून्यो दृष्टः, यथाग्निरयःपिण्डस्य। =जो जिसका परिणमन करनेवाला देखा जाता है, वह उसके ग्रहण त्यागसे रहित नहीं देखा जाता है। जैसे—अग्नि लोहेके गोलेमें ग्रहण त्याग रहित होती है। (और भी दे० कर्ता/२/४)

२. निश्चयसे प्रत्येक पदार्थ अपने ही परिणामका कर्ता है दूसरे का नहीं—

प्र.सा/मू./१८४ कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स। पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ।१८४। =अपने भावको करता हुआ आत्मा वास्तवमें अपने भावका कर्ता है, परन्तु पुद्गलद्रव्यमय सर्व भावोंका कर्ता नहीं है।

प्र.सा./त./प्र./१२२ ततस्तस्य परमार्थादात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मण एव कर्ता, न तु पुद्गलपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मणः।...परमार्थाद् पुद्गलात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मण एव कर्ता न तु आत्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मणः। =इसलिए (अर्थात् अपने परिणामों रूप कर्मसे अभिन्न होनेके कारण) आत्मा परमार्थतः अपने परिणामस्वरूप भावकर्मका ही कर्ता है, किन्तु पुद्गलपरिणामात्मक द्रव्य कर्मका नहीं। इसी प्रकार परमार्थसे पुद्गल अपने परिणामस्वरूप द्रव्यकर्मका ही कर्ता है किन्तु आत्माके परिणामस्वरूप भावकर्मका नहीं।

स.सा./आ./८९ यथा किल कुलालः कलशसंभवानुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तम्...क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति, न पुनः कलशकरणाहंकारनिर्भरोऽपि...कलश-परिणामं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तं...क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति; तथात्मापि पुद्गलकर्मपरिणामानुकूलमज्ञानादात्मपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तम्...क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु, मा पुनः पुद्गलपरिणामकरणाहंकारनिर्भरोऽपि स्वपरिणामानुरूपं पुद्गलस्य परिणामं पुद्गलादव्यतिरिक्तं क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु। —जैसे कुम्हार घड़ेकी उत्पत्तिमें अनुकूल अपने व्यापार परिणामको जो कि अपनेसे अभिन्न है, करता हुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु घड़ा बनानेके अहंकारसे भरा हुआ होने पर भी अपने व्यापारके अनुरूप मिट्टीसे अभिन्न मिट्टीके घट परिणामको करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता; उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञानके कारण पुद्गल कर्मरूप परिणामके अनुकूल, अपनेसे अभिन्न, अपने परिणामको करता हुआ प्रतिभासित हो, परन्तु पुद्गलके परिणामको करनेके अहंकारसे भरा हुआ होते हुए भी, अपने परिणामके अनुरूप पुद्गलके परिणामको जो कि पुद्गलसे अभिन्न है, करता हुआ प्रतिभासित न हो। (स.सा./आ./८२)

स.सा./आ./८६/क ५३-५४ नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत। उभयोर्न परिणतिः स्यादनेकमनेकमेव सदा ।५३। नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य। नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ।५४। —जो दो वस्तुएँ हैं वे सर्वथा भिन्न ही हैं, प्रदेश भेद वाली ही हैं; दोनों एक होकर परिणमित नहीं होतीं, एक परिणामको उत्पन्न नहीं करतीं और उनकी एक क्रिया नहीं होती, ऐसा नियम है। यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमित हों तो सर्व द्रव्योंका लोप हो जाये।५३। एक द्रव्यके दो कर्ता नहीं होते और एक द्रव्यके दो कर्म नहीं होते, तथा एक द्रव्यकी दो क्रियाएँ नहीं होतीं, क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता।५४।

३. एक द्रव्य दूसरेके परिणामोंका कर्ता नहीं हो सकता—

स.सा./मू./१०३ जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे। सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ।१०३। —जो वस्तु जिस द्रव्यमें और गुणमें वर्तती है वह अन्य द्रव्यमें तथा गुणमें संक्रमणको प्राप्त नहीं होती (बदलकर उसमें नहीं मिल जाती)। और अन्य रूपसे संक्रमणको प्राप्त न होती हुई वह अन्य वस्तुको कैसे परिणमन करा सकती है।१०३। (स.सा./आ./१०४)

क.पा./१/§२८३/३१८/४ तिण्हं सद्दणयाणं...ण कारणस्स होदि; सगसरूवादो उप्पण्णस्स अण्णेहिंतो उप्पत्तिविरोहादो। —तीनों शब्द नयोंकी अपेक्षा कषायरूप कार्य कारण का नहीं होता, अर्थात् कार्यरूप भावकषायके स्वामी उसके कारण जीवद्रव्य और कर्मद्रव्य कहे जा सकते हैं, सो भी बात नहीं है, क्योंकि कोई भी कार्य अपने स्वरूपसे उत्पन्न होता है। इसलिए उसकी अन्यसे उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है।

यो.सा./अ./२/१८ पदार्थानां निमग्नानां स्वरूपं परमार्थतः। करोति कोऽपि, कस्यापि न किंचन कदाचन।१८।

यो.सा./अ./३/१६ नान्यद्रव्यपरिणाममन्यद्रव्यं प्रपद्यते। स्वान्यद्रव्यव्यवस्थेयं परस्य घटते कथम् ।१६। —संसारमें समस्त पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमें मग्न हैं। निश्चयनयसे कोई भी कभी कुछ भी उनके

स्वरूपको नवीन नहीं बना सकता।१८। जो परिणाम एक द्रव्यका है वह दूसरे द्रव्यका परिणाम नहीं हो सकता। अन्यथा संकर दोष आ जानेसे निजद्रव्य और अन्य द्रव्यकी व्यवस्था ही न बन सकेगी।१६।

स.सा./आ./१०४ यथा···कलशकारः, द्रव्यान्तरसंक्रममन्तरेणान्यस्य वस्तुनः परिणमयितुमशक्यत्वात् तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानो न तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभाति तथा पुद्गलमयज्ञानावरणादौ कर्मणि··· आत्मा न खल्वाधत्ते-द्रव्यान्तरसंक्रममन्तरेणान्यस्य वस्तुनः परिणमयितुमशक्यत्वादुभयं तु तस्मिन्ननादधानः कथं नु तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभायात्। ततः स्थितं खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्ता। –जैसे कुम्हार द्रव्यान्तर रूपमें संक्रमण प्राप्त किये बिना अन्य वस्तुको परिणमन करना अशक्य होनेसे अपने द्रव्य और गुण दोनोंको उस घट रूपी कर्ममें न डालता हुआ परमार्थसे उसका कर्ता प्रतिभासित नहीं होता। इसी प्रकार पुद्गलमयी ज्ञानावरणादि कर्मोंका, द्रव्यान्तररूपमें संक्रमण किये बिना अन्य वस्तुको परिणमित करना अशक्य होनेसे अपने द्रव्य और गुण दोनों को उन ज्ञानावरणादि कर्मोंमें न डालता हुआ वह आत्मा परमार्थसे उसका कर्ता कैसे हो सकता है? इसलिए आत्मा पुद्गल कर्मोंका अकर्ता सिद्ध हुआ (स.सा./आ./७५.८३)

स.सा./आ./३७२ एवं च सति मृत्तिकायाः स्वस्वभावानतिक्रमान्न कुम्भकारः कुम्भस्योत्पादक एव; मृत्तिकैव कुम्भकारस्वभावमस्पृशन्ती स्वस्वभावेन कुम्भभावेनोत्पद्यते।···एवं च सति सर्वद्रव्याणां न निमित्तभूतद्रव्यान्तराणि स्वपरिणामस्योत्पादकान्येव; सर्वद्रव्याण्येव निमित्तभूतद्रव्यान्तरस्वभावमस्पृशन्ति स्वस्वभावेन स्वपरिणामभावेनोत्पद्यन्ते। अतो न परद्रव्यं जीवस्य रागादीनामुत्पादकमुत्पश्यामो यस्मै कुप्यामः। –मिट्टी अपने स्वभावको उल्लंघन नहीं करती इसलिए कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं; मिट्टी ही कुम्हारके स्वभावको स्पर्श न करती हुई अपने स्वभावसे कुम्भभावसे उत्पन्न हुई। इसी प्रकार सर्व द्रव्योंके निमित्तभूत अन्य द्रव्य अपने परिणामोंके (अर्थात् उन सर्व द्रव्योंके परिणामोंके) उत्पादक हैं ही नहीं; सर्व द्रव्य ही निमित्तभूत अन्यद्रव्यके स्वभावको स्पर्श न करते हुए अपने स्वभावसे अपने परिणामभावसे उत्पन्न होते हैं। इसलिए हम जीवके रागादिका उत्पादक परद्रव्यको नहीं देखते, कि जिस पर कोप करें।

स.सा./आ./२६२ य एव हिनस्मीत्यहंकाररसनिर्भरो हिंसायामध्यवसायः स एव निश्चयतस्तस्य बन्धहेतुः, निश्चयेन परभावस्य प्राणव्यपरोपस्य परेण कर्तुमशक्यत्वात्। –"मैं मारता हूँ" ऐसा अहंकार रससे भरा हुआ हिंसाका अध्यवसाय ही निश्चयसे उसके बन्धका कारण है, क्योंकि निश्चयसे परका भाव जो प्राणोंका व्यपरोप वह दूसरेसे किया जाना अशक्य है।

स.सा./आ./१४८/क २१३ वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो, येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत्। निश्चयोऽयमपरो परस्य कः, किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि।२१३। –इस लोकमें एक वस्तु अन्य वस्तुकी नहीं है, इसलिए वास्तवमें वस्तु वस्तु ही है—यह निश्चय है। ऐसा होनेसे कोई अन्य वस्तु अन्य वस्तुके बाहर लोटती हुई भी उसका क्या कर सकती है।

स.सा./आ./७८-७६ प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं जानतोऽपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः।७८।···जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य जीवेन सह न कर्तृकर्मभावः।७६। –प्राप्य विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्य लक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले उस ज्ञानीका, पुद्गलकर्मके फलको जानते हुए भी कर्ताकर्मभाव नहीं है।७८। (और इसी प्रकार) अपने परिणामको, जीवके परिणामको तथा अपने परिणामके फलको नहीं जानते हुए भी पुद्गल द्रव्यका जीवके साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।७६।

स.सा./आ./३२३/क २०० नास्ति सर्वोऽपि संबन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः। कर्तृकर्मत्वसंबन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः।२००। –परद्रव्य और आत्मद्रव्यका (कोई भी) सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार कर्तृकर्मत्वके सम्बन्धका अभाव होनेसे आत्माके परद्रव्यका कर्तृत्व कहाँसे हो सकता है?

पं./का./त.प्र./६२ कर्म खलु···स्वयमेव षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानं न कारकान्तरमपेक्षते। एवं जीवोऽपि···स्वयमेव षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानो न कारकान्तरमपेक्षते। अतः कर्मणः कर्तुर्नास्ति जीवः कर्ता, जीवस्य कर्तुर्नास्ति कर्मकर्तृ निश्चयेनेति। –कर्म वास्तवमें षट्कारकी रूपसे वर्तता हुआ अन्य कारककी अपेक्षा नहीं रखता। उसी प्रकार जीव भी स्वयमेव षट्कारक रूपसे वर्तता हुआ अन्य कारकको अपेक्षा नहीं रखता। इसलिए निश्चयसे कर्मरूप कर्ताको जीवकर्ता नहीं है और जीवरूप कर्ताको कर्मकर्ता नहीं है।

४. एक द्रव्य दूसरेको निमित्त हो सकता है पर कर्ता नहीं

पं.का./मू./६० भावो कम्मणिमित्तो कम्मं पुण भावकारणं भवदि। ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं।६०। –जीवभावका कर्म निमित्त है और कर्मका जीव भाव निमित्त है। परन्तु वास्तवमें एक दूसरेके कर्ता नहीं हैं। कर्ताके बिना होते हों ऐसा भी नहीं है। (क्योंकि आत्मा स्वयं अपने भावका कर्ता है और पुद्गल कर्म स्वयं अपने भावका ६१-६२)।

गो. जी./मू./५७०/१०१५/१ ण य परिणमदि सयं सो ण य परिणामेइ अण्णमण्णेहिं। विविहपरिणामियाणं हवदि हु कालो सयं हेदू।५७०। –काल द्रव्य स्वयं अन्य द्रव्य रूप परिणमन करता नहीं, न ही अन्य द्रव्यको अपने रूप परिणमाता है। नाना प्रकार परिणामों रूप से द्रव्य जब स्वयं परिणमन करते हैं, तिनकौ हेतु होता है अर्थात् उदासीनरूपसे निमित्त मात्र होता है।

स. सा./आ./८२ जीवपुद्गलयोः परस्पर व्याप्यव्यापकभावाभावाज्जीवस्य पुद्गलपरिणामानां पुद्गलकर्मणापि जीवपरिणामानां कर्तृकर्मत्वासिद्धौ निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्याप्रतिषिद्धत्वादितरेतरनिमित्तमात्रीभावेनैव द्वयोरपि परिणाम। –जीव और पुद्गलमें परस्पर व्याप्य व्यापकभावका अभाव होनेसे जीवको पुद्गल परिणामोंके साथ और पुद्गल कर्मको जीव परिणामोंके साथ, कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि होनेसे, मात्र निमित्त नैमित्तिकभावका निषेध न होनेसे, परस्पर निमित्तमात्र होनेसे ही दोनोंके परिणाम (होता है)।

पं. ध./पू./५७६ इदमत्र समाधानं कर्ता यः कोऽपि सः स्वभावस्य। परभावस्य न कर्ता भोक्ता वा तन्निमित्तमात्रेऽपि। –जो कोई भी कर्ता है वह अपने स्वभावका ही कर्ता है किन्तु परभावमें निमित्त होनेपर भी, परभावका न कर्ता है और न भोक्ता।

पं. ध./उ./१०७२-१०७३ अन्तर्दृष्ट्या कषायाणां कर्मणां च परस्परम्। निमित्तनैमित्तिका भावः स्यान्न स्याज्जीवकर्मणोः।१०७२। यतस्तत्र स्वयं जीवे निमित्ते सति कर्मणाम्। नित्या स्यात्कर्तृता चेति न्यायान्मोक्षो न कस्यचित्।१०७३। –अन्तर्दृष्टिसे कषायोंका और कर्मोंका परस्परमें निमित्तनैमित्तिकभाव है किन्तु जीव (द्रव्य) तथा कर्मका नहीं है।१०७२। क्योंकि उनमेंसे जीवको कर्मोंका निमित्त माननेपर जीवमें सदैव ही कर्तृत्वका प्रसंग आवेगा और फिर ऐसा होनेपर कभी भी किसी जीवको मोक्ष नहीं होगा।१०७३।

५. निमित्त भी द्रव्यरूपसे तो कर्ता है ही नहीं पर्याय रूपसे हो तो हो—

स. सा./आ./१०० यत्किल घटादि क्रोधादि वा परद्रव्यात्मकं कर्म तदयमात्मा तन्मयत्वानुषङ्गाद् व्याप्यव्यापकभावेन तावन्न करोति, नित्यकर्तृत्वानुषङ्गान्निमित्तनैमित्तिकभावेनापि न तत्कुर्यात्। अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्तारौ। —वास्तवमें जो घटादिक तथा क्रोधादिक परद्रव्य स्वरूप कर्म हैं उन्हें आत्मा (द्रव्य) व्याप्य-व्यापकभावसे नहीं करता, क्योंकि यदि ऐसा करे तो तन्मयताका प्रसंग आ जावे, तथा वह निमित्त नैमित्तिक भावसे भी (उनको) नहीं करता; क्योंकि, यदि ऐसा करे तो नित्यकर्तृत्व (सर्व अवस्थाओंमें कर्तृत्व होनेका) प्रसंग आ जायेगा। अनित्य (जो सर्व अवस्थाओंमें व्याप्त नहीं होते ऐसे) योग और उपयोग ही निमित्त रूपसे उसके (परद्रव्य-स्वरूप कर्मके) कर्ता हैं। (पं.ध./उ./१०७३)

प्र.सा./त.प्र./१६२ न चापि तस्य कारणद्वारेण कर्तृद्वारेण कर्तृप्रयोजकद्वारेण कर्त्रनुमन्तृद्वारेण वा शरीरस्य कर्ताहमस्मि, मम…अनेकपरमाणुपिण्डपरिणामात्मकशरीरकर्तृत्वस्य सर्वथा विरोधात्। —उस शरीरके कारण द्वारा या कर्ता द्वारा या कर्ताके प्रयोजक द्वारा या कर्ताके अनुमोदक द्वारा शरीरका कर्ता मैं नहीं हूँ। क्योंकि मेरे अनेक परमाणु द्रव्योंके एक पिण्ड पर्यायरूप परिणामात्मक शरीरका कर्ता होने में सर्वथा विरोध है।

६. निमित्त किसीके परिणामों के उत्पादक नहीं हैं

रा.वा./१/२/११/२०/५ स्यादेतत्-स्वपरनिमित्त उत्पादो दृष्टो…; तन्न; किं कारणम्। उपकरणमात्रत्वात्। उपकरणमात्रं हि बाह्यसाधनम्। —प्रश्न—उत्पत्ति स्व व पर निमित्तोंसे होती देखी जाती है, जैसे कि मिट्टी व दण्डादिसे घड़ेकी उत्पत्ति। उत्तर—नहीं, क्योंकि निमित्त तो उपकरण मात्र होते हैं अर्थात् केवल बाह्य साधन होते हैं। (अतः सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें आत्मपरिणमन ही मुख्य है निमित्त नहीं)

स.सा./आ./३७२ एवं च सति सर्वद्रव्याणां न निमित्तभूतद्रव्यान्तराणि स्वपरिणामस्योत्पादकान्येव। —ऐसा होनेपर, सब द्रव्योंके, निमित्तभूत अन्यद्रव्य अपने (अर्थात् उन सर्वद्रव्योंके) परिणामोंके उत्पादक हैं ही नहीं।

प्र.सा./त.प्र./१८५ यो हि यस्य परिणमयिता दृष्टः स न तदुपादानहानशून्यो दृष्ट, यथाग्निरयःपिण्डस्य।…ततो न स पुद्गलानां कर्मभावेन परिणमयिता स्यात्। —जो जिसका परिणमन करानेवाला देखा जाता है वह उसके ग्रहण त्यागसे रहित नहीं देखा जाता; जैसे अग्नि लोहेके गोलेमें ग्रहण त्यागसे रहित है। इसलिए वह (आत्मा) पुद्गलोंका कर्मभावमें परिणमित करनेवाला नहीं है।

पं.ध./उ./३५४-३५५ अर्थाः स्पर्शादयः स्वैरं ज्ञानमुत्पादयन्ति चेत्। घटादौ ज्ञानशून्ये च तत्किं नोत्पादयन्ति ते।३५४। अथ चेच्चेतने द्रव्ये ज्ञानस्योत्पादकाः क्वचित्। चेतनत्वात्स्वयं तस्य किं तत्रोत्पादयन्ति वा।३५५। —यदि स्पर्शादिक विषय स्वतन्त्र बिना आत्माके ज्ञान उत्पन्न करते होते तो वे ज्ञानशून्य घटादिकोंमें भी वह ज्ञान क्यों उत्पन्न नहीं करते हैं।३५४। और यदि यह कहा जाय कि चेतन द्रव्यमें कहींपर ये ज्ञानको उत्पन्न करते हैं, तो उस आत्माके स्वयं चेतन होनेके कारण, वहाँ वे नवीन क्या उत्पन्न करेंगे।

७. स्वयं परिणमनेवाले द्रव्यको निमित्त बेचारा क्या परिणमावे

स.सा./आ./११६ किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयेत्। न तावत्तत्स्वयमपरिणममानं परेण परिणमयितुं पार्येत; न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते। स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत; न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते। ततः पुद्गलद्रव्यं परिणामस्वभावं स्वयमेवास्तु। —क्या जीव स्वयं न परिणमते हुए पुद्गलद्रव्यको कर्मभावरूपसे परिणमाता है या स्वयं परिणमते हुए को? स्वयं अपरिणमते हुएको दूसरेके द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता, क्योंकि जो शक्ति (वस्तुमें) स्वयं न हो उसे अन्य कोई नहीं उत्पन्न कर सकता। और स्वयं परिणमते हुएको अन्य परिणमानेवालेकी अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नहीं रखतीं। अतः पुद्गल द्रव्य परिणमन-स्वभाववाला स्वयं हो। (पं.ध./उ./६२) (ध. १/१.१,१,१६३/४०४/१) (स्या.म./५/३०/११)

प्र.सा./त.प्र./६७ एवमस्यात्मनः संसारे मुक्तौ वा स्वयमेव सुखतया परिणममानस्य सुखसाधनधिया अबुधैर्मुधाध्यास्यमाना अपि विषयाः किं हि नाम कुर्युः। —यद्यपि अज्ञानी जन 'विषय सुखके साधन हैं' ऐसी बुद्धिके द्वारा व्यर्थ ही विषयोंका अध्यास आश्रय करते हैं, तथापि संसारमें या मुक्तिमें स्वयमेव सुखरूप परिणमित इस आत्माका विषय क्या कर सकते हैं। (पं. ध./उ./३५३)

पं.का./त.प्र./६२ स्वयमेव षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानो न कारकान्तरमपेक्षन्ते। —स्वयमेव षट्कारकीरूपसे वर्तता हुआ (पुद्गल या जीव) अन्य कारककी अपेक्षा नहीं रखता।

पं.ध./पू./५७१ अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तिकत्वमस्ति मिथः। न यतः स्वता स्वयं वा परिणममानस्य किं निमित्ततया। —यदि कदाचित् यह कहा जाये कि इन दोनों (आत्मा व शरीरमें) परस्पर निमित्तनैमित्तिकपना अवश्य है तो इस प्रकारका कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्वयं अथवा स्वतः परिणममान वस्तुके निमित्त-कारणसे क्या प्रयोजन है।

८. एकको दूसरेका कर्ता कहना व्यवहार व उपचार है परमार्थ नहीं

स.सा./मू./१०५-१०७ जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं। जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण।१०५। जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो। ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण।१०६। उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य। आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं।१०७। —जीव निमित्तभूत होनेपर कर्मबन्धका परिणाम होता हुआ देखकर 'जीवने कर्म किया' इस प्रकार उपचारमात्रसे कहा जाता है।१०५। योद्धाओंके द्वारा युद्ध किये जानेपर 'राजाने युद्ध किया' इस प्रकार लोक (व्यवहारसे) कहते हैं। उसी प्रकार 'ज्ञानावरणादि कर्म जीवने किया' ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है।१०६। 'आत्मा पुद्गल द्रव्य को उत्पन्न करता है, बाँधता है, परिणमन कराता है और ग्रहण करता है'—यह व्यवहार नयका कथन है।

स.सा./आ./१०५ इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावादनिमित्तभूतेऽप्यात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्तभूतेनाज्ञानभावेन परिणमनान्निमित्तीभूते सति संपद्यमानत्वात् पौद्गलिकं कर्मात्मना कृतमिति निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपरायणानां परेषामस्ति विकल्पः। स तूपचार एव न तु परमार्थः। —इस लोकमें वास्तवमें आत्मा स्वभावसे पौद्गलिक कर्मका निमित्तभूत न होनेपर भी, अनादि अज्ञानके कारण पौद्गलिक कर्मको निमित्तरूप होते हुए अज्ञानभावमें परिणमता होनेसे निमित्तभूत होनेपर, पौद्गलिक कर्म उत्पन्न होता है, इसलिए 'पौद्गलिक कर्म आत्माने किया' ऐसा निर्विकल्प विज्ञानघनसे भ्रष्ट, विकल्पपरायण अज्ञानियोंका विकल्प है; वह विकल्प उपचार ही है, परमार्थ नहीं।

स.सा./आ./३५५ ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्म-भोक्तृभोग्यव्यवहारः।...—इसलिए निमित्तनैमित्तिक भावमात्रसे ही वहाँ कर्तृकर्म और भोक्तृभोग्यका व्यवहार है।

प्र.सा./त.प्र./१२१ तथात्मा चात्मपरिणामकर्तृत्वाद् द्रव्यकर्मकर्ताप्युपचारात्। —आत्मा भी अपने परिणामका कर्ता होनेसे द्रव्यकर्मका कर्ता भी उपचारसे है।

प्र.सा./११८/पं. जयचन्द "कर्म जीवके स्वभावका पराभव करता है" ऐसा कहना सो तो उपचार कथन है।

९. एकको दूसरेका कर्ता कहना लोकप्रसिद्ध रूढ़ि है

स.सि./५/२२/२९१/७ यद्येवं कालस्य क्रियावत्त्वं प्राप्नोति। यथा शिष्योऽधीते, उपाध्यायोऽध्यापयतीति। नैष दोषः, निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृव्यपदेशो दृष्टः। यथा कारीषोऽग्निरध्यापयति। एवं कालस्य हेतुकर्तृता।—प्रश्न—यदि ऐसा है (अर्थात् द्रव्योंकी पर्याय बदलनेवाला है) तो काल क्रियावान द्रव्य प्राप्त होता है? जैसे शिष्य पढ़ता है और उपाध्याय पढ़ाता है, यहाँ उपाध्याय क्रियावान द्रव्य है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि निमित्तमात्रमें भी हेतुकर्तारूप व्यपदेश देखा जाता है जैसे कण्डेकी अग्नि पढ़ाती है। यहाँ कण्डेकी अग्नि निमित्तमात्र है। उसी प्रकार काल भी हेतुकर्ता है।

रा.वा./१/१/११/४६/३२ लोके हि करणत्वेन प्रसिद्धस्यासेः तत्पशंसापरायामभिधानप्रवृत्तौ समीक्षितायां 'तैक्ष्ण्यगौरवकाठिन्याहितविशेषोऽयमेव छिनत्ति' इति कर्तृधर्माध्यारोपः क्रियते।—करणरूपसे प्रसिद्ध तलवार आदिकी तीक्ष्णता आदि गुणोंकी प्रशंसामें 'तलवारने छेद दिया' इस प्रकारका कर्तृ स्वधर्मका अध्यारोपण करके कर्तृ साधन प्रयोग होता है।

स.सा./आ./८४ कुलालः कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोऽस्ति तावद्व्यवहारः"—कुम्हार घड़ेका कर्ता है और भोक्ता है ऐसा लोगोंका अनादिसे रूढ़ व्यवहार है।

१०. वास्तवमें एकको दूसरेका कर्ता कहना असत्य है

स.सा./मू./११६ अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं। जीवा परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा।११६। —अथवा यदि पुद्गल द्रव्य अपने आप ही कर्मभावसे परिणमन करता है ऐसा माना जाये तो 'जीव कर्मको अर्थात् पुद्गलद्रव्यको कर्मरूप परिणमन कराता है, यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है।

प्र.सा./१६/पं. जयचन्द—क्योंकि वास्तवमें कोई द्रव्य किसी द्रव्यका कर्ता व हर्ता नहीं है, इसलिए व्यवहारकारक असत्य है, अपनेको आप ही कर्ता है इसलिए निश्चयकारक सत्य है।

११. एकको दूसरेका कर्ता माननेमें अनेक दोष आते हैं

यो.सा./अ./२/३० एवं संपद्यते दोषः सर्वथापि दुरुत्तरः। चेतनाचेतनद्रव्यविशेषाभावलक्षणः।३०। —यदि कर्मको चेतनका और चेतनको कर्मका कर्ता माना जाये तो दोनों एक दूसरेके उपादान बन जानेके कारण (२७-२६), कौन चेतन और कौन अचेतन यह बात ही सिद्ध न हो सकेगी।३०।

स.सा./आ./३२ यो हि नाम फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवन्तमपि दूरत एव तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य व्यावर्तनेन हठान्मोहं न्यक्कृत्योपरतसमस्तभाव्यभावकसंकरदोषत्वेन टङ्कोत्कीर्णं ..आत्मानं संचेतयते स खलु जितमोहो।—मोहकर्म फल देनेकी सामर्थ्यसे प्रगट उदयरूप होकर भावकपनेसे प्रगट होता है, तथापि तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है ऐसा जो अपना आत्मा—भाव्य, उसको भेदज्ञानके बल द्वारा दूरसे ही अलग करनेसे इस प्रकार बलपूर्वक मोहका तिरस्कार करके, समस्त भाव्यभावक संकरदोष दूर हो जानेसे एकत्वमें टंकोत्कीर्ण अपने आत्माको जो अनुभव करते हैं वे निश्चयसे जितमोह हैं।

पं.का./ता.वृ./२४/५१/५ अन्यद्रव्यस्य गुणोऽन्यद्रव्यस्य कर्तुं नायाति संकरव्यतिकरदोषप्राप्तेः। —अन्य द्रव्यके गुण अन्य द्रव्यके कर्ता नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसा माननेसे संकर व्यतिकर दोषोंकी प्राप्ति होती है।

पं.ध./पू./५७३, ५७४ नाभासत्वमसिद्धं स्यादपसिद्धान्तो नयस्यास्य। सदनेकत्वे सति किल गुणसंक्रान्तिः कुतः प्रमाणाद्वा।५७३। गुणसंक्रान्तिमृते यदि कर्ता स्यात्कर्मणश्च भोक्तात्मा। सर्वस्य सर्वसंकरदोषः स्यात् सर्वशून्यदोषश्च।५७४। —अपसिद्धान्त होनेसे इस नयको (कर्म व नोकर्मका व्यवहारसे जीव कर्ता व भोक्ता है) नयाभासपना असिद्ध नहीं है क्योंकि सत्को अनेकत्व होनेपर और जीव और कर्मोंके भिन्न-भिन्न होनेपर निश्चयसे किस प्रमाणसे गुण संक्रमण होगा।५७३। और यदि गुणसंक्रमणके बिना ही जीव कर्मोंका कर्ता तथा भोक्ता होगा तो सब पदार्थोंमें सर्वसंकरदोष और सर्वशून्यदोष हो जायेगा।५७४।

१२. एकको दूसरेका कर्ता माने सो अज्ञानी है—

स.सा./मू./२४७,२५३ जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं। सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।२४७। जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते ति। सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।२५३। —जो यह मानता है मैं पर जीवोंको मारता हूँ और पर जीव मुझे मारते हैं, वह मूढ है, अज्ञानी है। और इससे विपरीत ज्ञानी है।२४७। जो यह मानता है कि अपने द्वारा मैं जीवोंको दुःखी सुखी करता हूँ, वह मूढ है, अज्ञानी है। और इससे विपरीत है वह ज्ञानी है।२५३।

स.सा./आ./७६/क. ५० अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्। विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः।५०।—'जीव पुद्गलके कर्ताकर्म भाव है' ऐसी भ्रमबुद्धि अज्ञानके कारण वहाँ तक भासित होती है कि जहाँ तक विज्ञानज्योति करवतकी भाँति निर्दयतासे जीव पुद्गलका तत्काल भेद उत्पन्न करके प्रकाशित नहीं होती।

स.सा./आ./६७/क ६२ आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्। परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्।६२। —आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; वह ज्ञानके अतिरिक्त अन्य क्या करे? आत्मा कर्ता, ऐसा मानना सो व्यवहारी जीवोंका मोह है।

स.सा./आ./३२०/क.१९९ ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा तताः। सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम्।१९९।—जो अज्ञानान्धकारसे आच्छादित होते हुए आत्माको कर्ता मानते हैं वे भले ही मोक्षके इच्छुक हों तथापि सामान्य जनोंकी भाँति उनकी भी मुक्ति नहीं होती।१९९।

स.सा./आ./१११ अथायं तर्कः—पुद्गलमयमिथ्यात्वादीन् वेदयमानो जीवः स्वयमेव मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा पुद्गलकर्म करोति। स किलाविवेकः यतो न खल्वात्मा भाव्यभावकभावात् पुद्गलद्रव्यमयमिथ्यात्वादिवेदकोऽपि कथं पुनः पुद्गलकर्मणः कर्ता नाम।—प्रश्न—पुद्गलमय मिथ्यात्वादि कर्मोंको भोगता हुआ जीव स्वयं ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गल कर्मको करता है? —उत्तर—यह तर्क वास्तवमें अविवेक है, क्योंकि भावभावकभावका अभाव होनेसे आत्मा निश्चयसे पुद्गलद्रव्यमय मिथ्यात्वादिका भोक्ता भी नहीं है, तब फिर पुद्गल कर्मका कर्ता कैसे हो सकता है?

१३. एकको दूसरेका कर्ता माने सो मिथ्यादृष्टि है—

यो.सा./अ./४/१३ कोऽपि कस्यापि कर्तास्ति नोपकारापकारयोः। उपकुर्वेऽपकुर्वेऽहं मिथ्येति क्रियते मतिः ।१३। = इस संसारमें कोई जीव किसी अन्य जीवका उपकार या अपकार नहीं कर सकता। इसलिए 'मैं दूसरेका उपकार या अपकार करता हूँ' यह बुद्धि मिथ्या है।

स./सा./आ./३२१,३२७ ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यन्ति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तन्ते; लौकिकानां परमात्मा विष्णुः सुरनारकादिकार्याणि करोति, तेषां तु स्वात्मा करोतीत्यपसिद्धान्तस्य समत्वात् ।३२१। योऽयं परद्रव्ये कर्तृव्यवसायः स तेषां सम्यग्दर्शनरहितत्वादेव भवति इति सुनिश्चितं जानीयात् ।३२७। = जो आत्माको कर्ता ही देखते हैं वे लोकोत्तर हों तो भी लौकिकताको अतिक्रमण नहीं करते; क्योंकि, लौकिक जनोंके मतमें परमात्मा, विष्णु, देव, नारकादि कार्य करता है और उनके मतमें अपना आत्मा वह कार्य करता है। इस प्रकार (दोनोंमें) अपसिद्धान्तकी समानता है ।३२१। लोक और श्रमण दोनोंमें जो यह परद्रव्यमें कर्तृत्वका व्यवसाय है वह उनकी सम्यग्दर्शन रहितताके कारण ही है। (स.सा./मूल भी)

पं.ध./पू./५८०-५८१ अपरे बहिरात्मानो मिथ्यावादं वदन्ति दुर्मतयः। यदबद्धोऽपि परस्मिन् कर्ता भोक्ता परोऽपि भवति यथा।५८०। सद्वेद्योदयभावान् गृहधनधान्यं कलत्रपुत्रांश्च। स्वमिह करोति जीवो भुनक्ति वा स एव जीवश्च ।५८१। = कोई खोटी बुद्धि वाले मिथ्यादृष्टि जीव इस प्रकार मिथ्याकथनका प्रतिपादन करते हैं, जो बन्धको प्राप्त नहीं होनेवाले पर पदार्थके विषयमें भी अन्य पदार्थ कर्ता और भोक्ता होता है ।५८०। जैसे कि साता वेदनीयके उदयसे प्राप्त होनेवाले घर, धन, धान्य और स्त्री-पुत्र वगैरहको जीव स्वयं करता है तथा वही जीव ही उनका भोग करता है ।५८१।

१४. एकको दूसरेका कर्ता कहनेवाला अन्यमती है

स.सा./मू./८५,११६-११७ जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा। दोकिरियाविदिरित्तो पसजदि सो जिणावमदं ।८५। जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण। जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ।११६। कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण। संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ।११७। = यदि आत्मा इस पुद्गलकर्मको करे और उसीको भोगे तो वह आत्मा दो क्रियाओंसे अभिन्न ठहरे ऐसा प्रसंग आता है, जो कि जिनदेवको सम्मत नहीं है ।८५। 'यह पुद्गल द्रव्य जीवमें स्वयं नहीं बन्धा और कर्मभावसे भी स्वयं नहीं परिणमता', यदि ऐसा माना जाये तो वह अपरिणामी सिद्ध होता है; और इस प्रकार कार्मण-वर्गणाएँ कर्मभावसे नहीं परिणमती होनेसे संसारका अभाव (सदा शिववाद) सिद्ध होता है अथवा सांख्यमतका प्रसंग आता है ।११६-११७।

१५. एकको दूसरेका कर्ता कहनेवाले सर्वज्ञके मतसे बाहर हैं

स.सा./आ./८५ वस्तुस्थित्या प्रतपत्यां यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणामं करोति भाव्यभावकभावेन तमेवानुभवति च जीवस्तथा-व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलकर्मापि यदि कुर्यात् भाव्यभावकभावेन तदेवानुभवेच्च ततोऽयं स्वपरसमवेतक्रियाद्वयाव्यतिरिक्ततायां प्रसजन्त्यां...मिथ्यादृष्टितया सर्वज्ञावमतः स्यात्। = इस प्रकार वस्तुस्थितिसे ही, (क्रिया और कर्ताकी अभिन्नता) सदा प्रगट होनेसे, जैसे जीव व्याप्यव्यापकभावसे अपने परिणामको करता है और भाव्यभावकभावसे उसीका अनुभव करता है; उसी प्रकार यदि व्याप्यव्यापकभावसे पुद्गलकर्मको भी करे और भाव्यभावकभावसे उसीको भोगे, तो वह जीव अपनी व परकी एकत्रित हुई दो क्रियाओंसे अभिन्नताका प्रसंग आनेपर मिथ्यादृष्टिताके कारण सर्वज्ञके मतसे बाहर है।

४. निश्चय व्यवहार कर्ता-कर्म भावका समन्वय

१. व्यवहारसे ही निमित्तको कर्ता कहा जाता है निश्चयसे नहीं

स.सा./आ./३५५ क २१४ यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः, किंचनापि परिणामिनः स्वयम्। व्यावहारिकदृशैव तन्मतं, नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ।२१४। = एक वस्तु स्वयं परिणमित होती हुई अन्य वस्तुका कुछ भी कर सकती है ऐसा जो माना जाता है, सो व्यवहारदृष्टिसे ही माना जाता है। निश्चयसे इस लोकमें अन्यवस्तुको अन्यवस्तु कुछ भी नहीं है।

२. व्यवहारसे ही कर्ता कर्म भिन्न दिखते हैं निश्चयसे दोनों अभिन्न हैं

स.सा./आ./३४८ क २१० व्यावहारिकदृशैव केवलं, कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते। निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते; कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ।२१०। = केवल व्यावहारिक दृष्टिसे ही कर्ता और कर्म भिन्न माने जाते हैं, यदि निश्चयसे वस्तुका विचार किया जाये तो कर्ता और कर्म सदा एक माना जाता है।

३. निश्चयसे अपने परिणामोंका कर्ता है पर निमित्तकी अपेक्षा परपदार्थोंका भी कहा जाता है

स.सा./मू./३५६-३६५ जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ। तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु ।३५६। एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसणचरित्ते। सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ।३६०। जह परदव्वं सेडयदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण। तह परदव्वं जाणइ णाया वि सयेण भावेण ।३६१। एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते। भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णायव्वा ।३६५। = जैसे खड़िया पर (दीवाल आदि) की नहीं है, खड़िया तो खड़िया है, उसी प्रकार ज्ञायक (आत्मा) परका नहीं है, ज्ञायक तो ज्ञायक ही है ।३५६। क्योंकि जो जिस का होता है वह वही होता है, जैसे आत्माका ज्ञान होनेसे ज्ञान आत्मा ही है (आ ख्याति टीका)। इस प्रकार ज्ञान दर्शन चारित्रमें निश्चयका कथन है। अब उस सम्बन्धमें संक्षेपसे व्यवहार नयका कथन सुनो ।३६०। जैसे खड़िया अपने स्वभावसे (दीवाल आदि) परद्रव्यको सफेद करती है उसी प्रकार ज्ञाता भी अपने स्वभावसे परद्रव्यको जानता है ।३६१। इस प्रकार ज्ञान दर्शन चारित्रमें व्यवहारनयका निर्णय कहा है। अन्य पर्यायोंमें भी इसी प्रकार जानना चाहिए ।३६५। (यहाँ तात्पर्य यह है कि निश्चय दृष्टिमें वस्तुस्वभावपर ही लक्ष्य होनेके कारण तहाँ गुणगुणी अभेदकी भाँति कर्ता कर्म भावमें भी परिणाम परिणामी रूपसे अभेद देखा जाता है। और व्यवहार दृष्टिमें भेद व निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धपर लक्ष्य होनेके कारण तहाँ गुण-गुणी भेद की भाँति कर्ता-कर्म भावमें भी भेद देखा जाता है।) (स.सा./२२ की प्रक्षेपक गाथा)

पं.का./ता.वृ./२६/५४/१८ यथा निश्चयेन पुद्गलपिण्डोपादानकारणेन समुत्पन्नोऽपि घटः व्यवहारेण कुम्भकारनिमित्तेनोत्पन्नत्वात्कुम्भकारेण कृत इति भण्यते तथा समयादिव्यवहारकालो...। = जिस प्रकार निश्चयसे पुद्गलपिण्डरूप उपादानकारणसे उत्पन्न हुआ भी घट व्यवहारसे कुम्हारके निमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण कुम्हारके द्वारा

क्रिया गया कहा जाता है, उसी प्रकार समवायि व्यवहार काल भी ...। (पं.का./त.प्र./६८)

४ भिन्न कर्ता-कर्म भावके निषेधका कारण

स.सा./मू.व.आ./६६ यदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज। जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता।६६। परिणामपरिणामिभावान्यथानुपपत्तेर्नियमेन तन्मयः स्यात्। =यदि आत्मा पर द्रव्योंको करे तो वह नियमसे तन्मय अर्थात् परद्रव्यमय हो जाये किन्तु तन्मय नहीं है इसलिए वह उनका कर्ता नहीं है। (तन्मयता हेतु देनेका भी कारण यह है कि निश्चयसे विचार करते हुए परिणामी कर्ता है और उसका परिणाम उसका कर्म) यह परिणामपरिणामीभाव क्योंकि अन्य प्रकार बन नहीं सकता इसलिए उसे नियमसे तन्मय हो जाना पड़ेगा।

स.सा/आ/७५ व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ। =(भिन्न द्रव्योंमें) व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे कर्ता कर्म भावकी असिद्धि है।

स.सा/आ/८६ इह खलु क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोऽस्ति भिन्ना, परिणामोऽपि परिणामपरिणामिनोरभिन्न-वस्तुत्वात् परिणामिनो न भिन्नस्ततो या काचन क्रिया किल सकलापि सा क्रियावतो न भिन्नेति क्रियाकर्त्रोरव्यतिरिक्ततायां वस्तुस्थित्या प्रतपत्यां यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणामं करोति भाव्यभावक-भावेन तमेवानुभवति च जीवस्तथा व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गल-कर्मापि यदि कुर्यात् भाव्यभावकभावेन तदेवानुभवेच्च ततोऽयं स्वपरसमवेतक्रियाद्वयाव्यतिरिक्ततायां प्रसजन्त्यां स्वपरयोः परस्पर-विभागप्रत्यस्तमनादनेकात्मकमेकमात्मानमनुभवन्मिथ्यादृष्टितया सर्व-ज्ञावमतः स्यात्। =(इस रहस्यको समझनेके लिए पहले ही यह बुद्धिगोचर करना चाहिए कि यहाँ निश्चय दृष्टिसे मीमांसा की जा रही है व्यवहार दृष्टिसे नहीं। और निश्चयमें अभेद तत्त्वका विचार करना इष्ट होता है भेद तत्त्व या निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध का नहीं।) जगतमें जो क्रिया है सो सब ही परिणाम स्वरूप होनेसे वास्तवमें परिणामसे भिन्न नहीं है (परिणाम ही है); परिणाम भी परिणामी (द्रव्य) से भिन्न नहीं हैं क्योंकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु हैं। इसलिए (यह सिद्ध हुआ) कि जो कुछ क्रिया है वह सब ही क्रियावान्से भिन्न नहीं है। इस प्रकार वस्तुस्थितिसे ही क्रिया और कर्ताकी अभिन्नता सदा ही प्रगटित होनेसे, जसे जीव व्याप्य-व्यापकभावसे अपने परिणामको करता है और भाव्यभावकभावसे उसीका अनुभव करता है—उसी प्रकार यदि व्याप्यव्यापकभावसे पुद्गलकर्मको भी करे और भाव्यभावकभावसे उसीको भोगे तो वह जीव अपनी व परकी एकत्रित हुई दो क्रियाओंसे अभिन्नताका प्रसंग आनेपर स्व-परका परस्पर विभाग अस्त हो जानेसे, अनेकद्रव्यस्वरूप एक आत्माका अनुभव करता हुआ मिथ्यादृष्टिताके कारण सर्वज्ञके मतसे बाहर है।

५. भिन्न कर्ताकर्मभावके निषेधका प्रयोजन

स.सा/आ/३२१/क २००-२०२ नास्ति सर्वोऽपि संबन्धः परद्रव्यात्म-तत्त्वयोः। कर्तृकर्मत्वसंबन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः। २००। एकस्य वस्तुनो ह्यन्यतरेण सार्धं; संबन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः। तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे, पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम्। २०१। ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेममज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः। कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म, कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः।२०२। =परद्रव्य और आत्माका कोई भी सम्बन्ध नहीं है तब फिर उनमें कर्ताकर्म सम्बन्ध कैसे हो सकता है। इस प्रकार जहाँ कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है, वहाँ आत्माके परद्रव्यका कर्तृत्व कैसे हो सकता है? ।२००।। क्योंकि इस लोकमें एक वस्तुका अन्य वस्तुके साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध ही निषेध किया गया है, इसलिए जहाँ वस्तुभेद हैं अर्थात् भिन्न वस्तुएँ हैं वहाँ कर्ताकर्म घटना नहीं होती। इस प्रकार मुनिजन और लौकिक जन तत्त्वको (वस्तुके यथार्थ स्वरूपको) अकर्ता देखो, (यह श्रद्धामें लाओ कि कोई किसीका कर्ता नहीं है, पर द्रव्य परका अकर्ता ही है) ॥ २०१॥ जो इस वस्तु-स्वभावके नियमको नहीं जानते वे बेचारे, जिनका तेज (पुरुषार्थ या पराक्रम) अज्ञानमें डूब गया है ऐसे, कर्मको करते हैं; इसलिए भाव, कर्मका कर्ता चेतन ही स्वयं होता है, अन्य कोई नहीं। २०२।

६. भिन्न कर्ताकर्म व्यपदेशका कारण

स सा/मू/३१२-३१३ चेया हु उ पयडीअट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ। पयडी वि चेययट्ठं उपजइ विणस्सइ। ३१२। एवं बंधो उ दुण्हं वि अण्णोण्ण-प्पच्चया हवे। अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए। ३१३।= तत एव च तयोः कर्तृकर्मव्यवहारः। आ. ख्याति, टीका —चेतक अर्थात् आत्मा प्रकृतिके निमित्तसे उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। तथा प्रकृति भी चेतनके निमित्तसे उत्पन्न होती है तथा नष्ट होती है। इस प्रकार परस्पर निमित्तसे दोनों ही आत्माका और प्रकृतिका बन्ध होता है। और इससे संसार उत्पन्न हो जाता है। ३१२-३१३। इस लिए उन दोनोंके कर्ताकर्मका व्यवहार है।

७. भिन्न कर्ताकर्म व्यपदेशका प्रयोजन

द्र.सं./टी./८/२२/४ यतो हि नित्यनिरञ्जननिष्क्रियनिजात्मभावना-रहितस्य कर्मादिकर्तृत्वं व्याख्यातम्, ततस्तत्रैव निजशुद्धात्मनि भावना कर्तव्या। =क्योंकि नित्य निरञ्जन निष्क्रिय ऐसे अपने आत्मस्वरूपकी भावनासे रहित जीवके कर्मादिका कर्तृत्व कहा गया है, इसलिए उस निज शुद्धात्मामें ही भावना करनी चाहिए।

८. कर्ताकर्म भाव निर्देशका मतार्थ व नयार्थ

स.सा./ता.वृ./२२ की प्रक्षेपक गाथा—अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयात् पुद्गलद्रव्यकर्मादीनां कर्तेति। =अनुपचरित असद्भूत व्यवहारसे ही आत्मा पुद्गलद्रव्यका या कर्म आदिकोंका कर्ता है।

पं. का./ता.वृ./२७/६१/१०. शुद्धाशुद्धपरिणामकर्तृत्वव्याख्यानं तु नित्याकर्तृत्वैकान्तसांख्यमतानुयायिशिष्यसंबोधनार्थं, भोक्तृत्व-व्याख्यानं कर्ता कर्मफलं न भुङ्क्ते इति बौद्धमतानुसारिशिष्य-प्रतिबोधनार्थम्। = शुद्ध व अशुद्ध परिणामोंके कर्तापनेका व्याख्यान, आत्माको एकान्तसे नित्य अकर्ता माननेवाले सांख्य-मतानुसारी शिष्यके सम्बोधनार्थ किया गया है, और भोक्तापनेका व्याख्यान, 'कर्ता स्वयं कर्मके फलको नहीं भोगता' ऐसा माननेवाले बौद्ध मतानुसारी शिष्यके प्रतिबोधनार्थ है।

कर्तावाद—ईश्वर कर्तावाद—दे० परमात्मा/३।

कर्तृत्व—

रा.वा.२/७/१२/११२/३. कर्तृत्वमपि साधारणं क्रियानिष्पत्तौ सर्वेषां स्वातन्त्र्यात्। =कर्तृत्व भी साधारण धर्म है क्योंकि अपनी-अपनी क्रियाकी निष्पत्तिमें सब द्रव्योंकी स्वतंत्रता है।

स.सा./आ./परि./शक्ति नं० ४२ भवत्तारूपसिद्धरूपभावभावकत्वमयी कर्तृशक्तिः। ४२। =प्राप्त होने रूपता जो सिद्धरूप भाव है, उसके भावकत्वमयी कर्तृत्वशक्ति है।

पं.का./त.प्र./२८ समस्तवस्त्वसाधारणं स्वरूपनिर्वर्तनमात्रं कर्तृत्वं। = समस्त वस्तुओंसे असाधारण ऐसे स्वरूपकी निष्पत्तिमात्ररूप कर्तृत्व होता है।

कर्तृ नय—दे० नय/I/५।

कर्तृ समवायिनी क्रिया—दे० क्रिया/१।

कर्त्रन्वय क्रिया—दे० संस्कार/२।

कर्नाटक—आन्ध्र देशमें अर्थात् गोदावरी व कृष्णा नदीके मध्यवर्ती क्षेत्रके दक्षिण-पश्चिमका 'बनवास' नामका वह भाग जिसके अन्तर्गत मैसूर भी आ जाता है। इसकी राजधानियाँ मैसूर व रंगपत्तम थीं। (म. पु./प्र०/५० पं० पन्नालाल), (ध/१/प्र.४/H.L. Jain)। जहाँ-जहाँ कनड़ी भाषा बोली जाती है वह सब कर्नाटक देश है अर्थात् मैसूरसे लेकर द्वारसमुद्र तक (द.सं./प्र.४/पं. जवाहर लाल)।

कर्बुक—भरत क्षेत्र पश्चिम आर्य खण्डका एक देश—दे०मनुष्य/४।

कर्म—'कर्म' शब्दके अनेक अर्थ हैं यथा—कर्म कारक, क्रिया तथा जीवके साथ बन्धनेवाले विशेष जातिके पुद्गल स्कन्ध। कर्म कारक जगत् प्रसिद्ध है, क्रियाएँ समवदान व अधःकर्म आदिके भेदसे अनेक प्रकार हैं जिनका कथन इस अधिकारमें किया जायेगा।

परन्तु तीसरे प्रकारका कर्म अप्रसिद्ध है। केवल जैनसिद्धान्त ही उसका विशेष प्रकारसे निरूपण करता है। वास्तवमें कर्मका मौलिक अर्थ तो क्रिया ही है। जीव-मन-वचन कायके द्वारा कुछ न कुछ करता है, वह सब उसकी क्रिया या कर्म है और मन, वचन व काय ये तीन उसके द्वार हैं। इसे जीव कर्म या भाव कर्म कहते हैं। यहाँ तक तो सबको स्वीकार है।

परन्तु इस भाव कर्मसे प्रभावित होकर कुछ सूक्ष्म जड़ पुद्गल स्कन्ध जीवके प्रदेशोंमें प्रवेश पाते हैं और उसके साथ बँधते हैं यह बात केवल जैनागम ही बताता है। ये सूक्ष्म स्कन्ध अजीव कर्म या द्रव्य कर्म कहलाते हैं और रूप रसादि धारक मूर्तीक होते हैं। जैसे-जैसे कर्म जीव करता है वैसे ही स्वभावको लेकर ये द्रव्य कर्म उसके साथ बँधते हैं और कुछ काल पश्चात् परिपक्व दशाको प्राप्त होकर उदयमें आते हैं। उस समय इनके प्रभावसे जीवके ज्ञानादि गुण तिरोभूत हो जाते हैं। यही उनका फलदान कहा जाता है। सूक्ष्मताके कारण वे दृष्ट नहीं हैं।

१. समवदान आदि कर्म-निर्देश

१. कर्म सामान्यका लक्षण

वैशे. द./१-१/१७/३१ एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् ।१७।

वैशे. द./५-१/१/१५० आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म ।—१. एक द्रव्यके आश्रय रहनेवाला तथा अपनेमें अन्य गुण न रखनेवाला बिना किसी दूसरेकी अपेक्षाके संयोग और विभागमें कारण होनेवाला कर्म है। गुण व कर्ममें यह भेद है कि गुण तो संयोग विभागका कारण नहीं है और कर्म उनका कारण है ।१७। २. आत्माके संयोग और प्रयत्नसे हाथमें कर्म होता है ।१।

नोट—जैन वाङ्मयमें यही लक्षण पर्याय व क्रियाके हैं —दे० वह वह नाम। अन्तर इतना ही है कि वैशेषिक जन परिणमनरूप भावात्मक पर्यायको कर्म न कहकर केवल परिस्पन्दन रूप क्रियात्मक पर्यायको ही कहता है, जबकि जैनदर्शन दोनों प्रकारकी पर्यायोंको। यथा—

रा. वा./६/१/३/५०४/११ कर्मशब्दोऽनेकार्थः—क्वचित्कर्तुरीप्सिततमे वर्तते — यथा घटं करोतीति। क्वचित्पुण्यापुण्यवचनः — यथा "कुशलाकुशलं कर्म" [आप्त मी. ८] इति। क्वचिच्च क्रियावचनः —यथा उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि [वैशे./१/१/७] इति। तत्रेह क्रियावाचिनो ग्रहणम्। —कर्म शब्दके अनेक अर्थ हैं—'घटं करोति' में कर्मकारक कर्मशब्दका अर्थ है। 'कुशल अकुशल कर्म' में पुण्य पाप अर्थ है। उत्क्षेपण अवक्षेपण आदिमें कर्मका क्रिया अर्थ विवक्षित है। यहाँ आस्रवके प्रकरणमें क्रिया अर्थ विवक्षित है अन्य नहीं (क्योंकि वही जड़ कर्मोंके प्रवेशका द्वार है)।

२. कर्मके समवदान आदि अनेक भेद

(ष.खं. १३/५,४/सू. ४-२८/३८-८८), प्रमाण—सूत्र/पृष्ठ
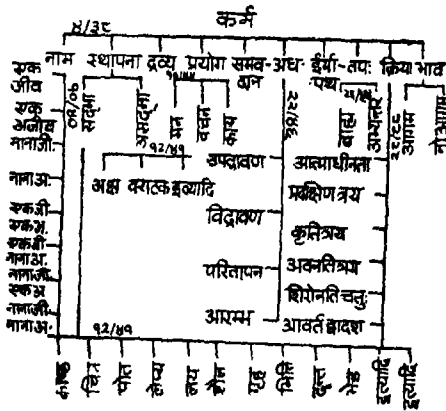
३. समवदान कर्मका लक्षण

ष.खं.१३/५,४/सू.२०/४५ तं अट्ठविहस्स वा सत्तविहस्स वा छव्विहस्स वा कम्मस्स समुदाणदाए गहणं पवत्तदि तं सव्वं समुदाणकम्मं णाम ।२०। —यतः सात प्रकारके, आठ प्रकारके और छह प्रकारके कर्मका भेदरूपसे ग्रहण होता है अतः वह सब समवदान कर्म है।

ध. १३/५,४,२०/४५/६ समयाविरोधेन समवदीयते खण्ड्यत इति समवदानम्, समवदानमेव समवदानता। कम्मइयपोग्गलाणं मिच्छत्त-संजम-जोग-कसाएहि अट्ठकम्मसरूवेण सत्तकम्मसरूवेण छकम्मसरूपेण वा भेदो समुदाणद त्ति वुत्तं होदि। —[समवदान शब्दमें 'सम्' और 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'दाप् लवने' धातु है। जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—] जो यथाविधि विभाजित किया जाता है वह समवदान कहलाता है। और समवदान ही समवदानता कहलाती है। कार्मण पुद्गलोंका मिथ्यात्व, असंयम, योग और कषायके निमित्तसे आठ कर्मरूप, सात कर्मरूप और छह कर्मरूप भेद करना समवदानता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

४. प्रयोग कर्मका लक्षण

ष.खं. १३/५,४/सू. १६–१७/४४ तं तिविहं—मणपओअकम्मं वचिपओअकम्मं कायपओअकम्मं ।१६। तं संसारावत्थाणं वा जीवाणं सजोगिकेवलीणं वा ।१७। —वह तीन प्रकारका है—मनःप्रयोगकर्म, वचनप्रयोगकर्म और कायप्रयोगकर्म ।१६। वह संसार अवस्थामें स्थित जीवोंके और सयोगकेवलियोंके होता है ।१७। (अन्यत्र इस प्रयोग कर्मको ही 'योग' कहा गया है।)

५. चितिकर्म आदि कर्मोंका निर्देश व लक्षण

मू.आ./४२८/५७६ अप्पासुएण मिस्सं पासुगदव्वं तु पूदिकम्मं तं। चुल्ली उक्खलि दव्वी भायणगंधत्ति पंचविहं ।४२८। किदियकम्मं चिदियकम्मं पूयाकम्मं च विणयकम्मं च। कादव्वं केण कस्स व कधं व कहिं व कदिखुत्तो ।५७६। —प्रासुक आहारादि वस्तु सचित्तादि वस्तुसे मिश्रित हों वह पूति दोष है—दे० आहार/II/४। प्रासुक द्रव्य भी पूतिकर्मसे मिला पूतिकर्म कहलाता है। उसके पाँच भेद हैं—चूली, ओखली, कड़छी, पकानेके बासन, गन्धयुक्त द्रव्य। इन पाँचोंमें संकल्प करना कि चूलि आदिमें पका हुआ भोजन जब तक साधुको न दे दें तबतक किसीको नहीं देंगे। ये ही पाँच आरम्भ दोष हैं ।४२८। जिससे आठ प्रकारके कर्मोंका छेद हो वह कृतिकर्म है, जिससे पुण्य कर्मका संचय हो वह चित्कर्म है, जिससे पूजा की जाती है वह माला चन्दन आदि पूजा कर्म है, शुश्रूषाका करना विनयकर्म है।

६. जीवको ही प्रयोगकर्म कैसे कहते हो

ध. १३/५,४,१७/४५/२ कधं जीवाणं पओअकम्मववएसो। ण, पओअं करेदि त्ति पओअकम्मसद्दणिप्पत्तीए कत्तारकारए कीरमाणाए जीवाणं पि पओअकम्मत्तसिद्धीदो। —प्रश्न—जीवोंको प्रयोग संज्ञा कैसे प्राप्त होती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि 'प्रयोगको करता है' इस व्युत्पत्तिके आधारसे प्रयोगकर्म शब्दकी सिद्धि कर्ता कारकमें करनेपर जीवोंके भी प्रयोगकर्म संज्ञा बन जाती है।

७. समवदान आदि कर्मोंमें स्थित जीवोंमें द्रव्यार्थता व प्रदेशार्थताका निर्देश

ध. १३/५,४,३१/९३/१ दव्वपमाणाणुगमे भण्णमाणे ताव दव्वट्ठद-पदेसट्ठदाणं अत्थपरूवणं कस्सामो। तं जहा—पओअकम्म-तवोकम्म-किरियाकम्मेसु जीवाणं दव्वट्ठदा त्ति सण्णा। जीवपदेसाणं पदेसट्ठदा त्ति ववएसो। समोदाणकम्म-इरियावथकम्मेसु जीवाणं दव्वट्ठदा त्ति ववएसो। तेसु चेव जीवेसु ट्ठिदकम्मपरमाणूणं...पदेसट्ठदा त्ति सण्णा। आधाकम्मम्मि...ओरालियसरीरणोकम्मक्खंधाणं दव्वट्ठदा त्ति सण्णा। तेसु चेव ओरालियसरीरणोकम्मक्खंधेसु ट्ठिदपरमाणूणं...पदेसट्ठदा त्ति सण्णा। —द्रव्य प्रमाणानुगमका कथन करते समय सर्व प्रथम द्रव्यार्थताके अर्थका कथन करते हैं। यथा—प्रयोगकर्म, तपःकर्म और क्रियाकर्ममें जीवोंकी द्रव्यार्थता संज्ञा है, और जीवप्रदेशोंकी प्रदेशार्थता संज्ञा है। समवधान और ईर्यापथ-

कर्ममें जीवोंकी द्रव्यार्थता संज्ञा है, और उन्हीं जीवोंमें स्थित… कर्म परमाणुओंकी प्रदेशार्थता संज्ञा है। अधःकर्ममें औदारिक शरीरके नोकर्मस्कन्धोंकी द्रव्यार्थता संज्ञा है और उन्हीं शरीरोंमें स्थित परमाणुओंकी प्रदेशार्थता संज्ञा है।

२. द्रव्य भाव व नोकर्म रूप भेद व लक्षण

१. कर्म सामान्यका लक्षण

रा.वा./६/१/७/५०४/२६ कर्मशब्दस्य कर्त्रादिषु साधनेषु संभवत्सु इच्छातो विशेषोऽध्यवसेयः। वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयक्षयोपशमापेक्षेण आत्मनात्मपरिणामः पुद्गलेन च स्वपरिणामः व्यत्ययेन च निश्चय-व्यवहारनयापेक्षया क्रियत इति कर्म। करणप्रशंसा विवक्षायां कर्तृ-धर्माध्यारोपे सति स परिणामः कुशलमकुशलं वा द्रव्यभावरूपं करो-तीति कर्म। आत्मनः प्राधान्यविवक्षायां कर्तृत्वे सति परिणामस्य करणत्वोपपत्तेः बहुलापेक्षया क्रियतेऽनेन कर्मेत्यपि भवति। साध्यसा-धन भावानभिधित्सायां स्वरूपावस्थिततत्त्वकथनात् कृतिः कर्मेत्यपि भवति। एवं शेषकारकोपपत्तिश्च योज्या। —कर्म शब्द कर्ता कर्म और भाव तीनों साधनोंमें निष्पन्न होता है और विवक्षानुसार तीनों यहाँ (कर्मास्रवके प्रकरणमें) परिगृहीत हैं। १. वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माके द्वारा निश्चय नयसे 'आत्मपरिणाम और पुद्गलके द्वारा पुद्गलपरिणाम; तथा व्यवहारनयसे आत्माके द्वारा पुद्गलपरिणाम और पुद्गलके द्वारा आत्मपरिणाम, भी जो किये जायें वह कर्म हैं। २. कारणभूत परि-णामोंकी प्रशंसाकी विवक्षामें कर्तृधर्म आरोप करनेपर वही परिणाम स्वयं द्रव्य और भावरूप कुशल-अकुशल कर्मोंको करता है अतः वही कर्म है। ३. आत्माकी प्रधानतामें वह कर्ता होता है और परिणाम करण तब 'जिनके द्वारा किया जाये वह कर्म' यह विग्रह भी होता है। ४. साध्यसाधन भावकी विवक्षा न होनेपर स्वरूपमात्र कथन करनेसे कृतिको भी कर्म कहते हैं। इसी तरह अन्य कारक भी लगा लेने चाहिए।

आप्तप./टी./११३/§२९६ जीवं परतन्त्रीकुर्वन्ति, स परतन्त्री क्रियते वा यस्तानि कर्माणि, जीवेन वा मिथ्यादर्शनादिपरिणामैः क्रियन्ते इति कर्माणि। —१. जीवको परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है उन्हें कर्म कहते हैं। २. अथवा जीवके द्वारा मिथ्यादर्शनादि परिणामोंसे जो किये जाते हैं—उपार्जित होते हैं वे कर्म हैं। (भ.आ./वि./२०/७१/८) केवल लक्षण नं. २।

२. कर्मके भेद-प्रभेद

स.सा./मू./८७ मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं। अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा।८७। —मिथ्यात्व, अज्ञान, अवि-रति, योग, मोह तथा क्रोधादि कषाय ये भाव जीव और अजीवके भेदसे दो-दो प्रकारके हैं।

आप्तप./मू./११३ कर्माणि द्विविधान्यत्र द्रव्यभावविकल्पतः। —कर्म दो प्रकारके हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म।

ध.१४/५,६,७१/५२/१ दव्ववग्गणा दुविहा—कम्म-वग्गणा, णोकम्मवग्गणा चेदि। —द्रव्य वर्गणा दो प्रकारकी है कर्मवर्गणा और नोकर्म-वर्गणा।

गो.क./मू./६/६ कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावोत्ति होदि दुविहं तु।—कर्म सामान्य भावरूप कर्मत्वकरि एक प्रकारका है। बहुरि सोई कर्म द्रव्य व भावके भेदसे दो प्रकारका है।

३. द्रव्य भाव या जीव अजीव कर्मोंके लक्षण

स.सा./मू./८८ पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अण्णाणमजीवं। उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छं च जीवो दु। ८८/५—जो मिथ्यात्व योग अविरति और अज्ञान अजीव हैं सो तो पुद्गल कर्म हैं और जो मिथ्यात्व अविरति और अज्ञान जीव है वह उपयोग है। (पुद्गल याके द्रव्य भाये गये कर्म अर्थात् उन कार्मण स्कन्धोंकी अवस्था अजीव कर्म है और जीवके द्वारा भाये गये अर्थात् उपयोगस्वरूप राग-द्वेषादिक जीव कर्म है—(स.सा./आ./८७), (प्र.सा./त.प्र./११७, १२४)।

स.सि./२/२५/१८२/८ सर्वशरीरप्ररोहणबीजभूतं कार्मण शरीरं कर्मे-त्युच्यते। —सब शरीरोंकी उत्पत्तिके मूलकारण कार्मण शरीरको कर्म (द्रव्यकर्म) कहते हैं। (रा.वा./२/२५/३/१३७/६), (रा.वा./५/२४/९/४८८/२०)।

आप्त.प./मू./११३-११४ द्रव्यकर्माणि जीवस्य पुद्गलात्मान्यनेकधा।११३। भावकर्माणि चैतन्यविवर्तात्मानि भान्ति नुः। क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथंचिदभेदतः।११४। —जीवके जो द्रव्यकर्म हैं वे पौद्गलिक हैं और उनके अनेक भेद हैं।११३। तथा जो भावकर्म हैं वे आत्माके चैतन्य परिणामात्मक हैं, क्योंकि आत्मासे कथंचित् अभिन्न रूपसे स्ववेद्य प्रतीत होते हैं और वे क्रोधादि रूप हैं।११४। (पं.ध./उ./१०५८-१०६०)

ध.१४/५,६,७१/५२/५ तत्थ कम्मवग्गणा णाम अट्ठकम्मक्खंधवियप्पा। —उनमें-से आठ प्रकारके कर्मस्कन्धोंके भेद कर्म वर्गणा (द्रव्य कर्म-वर्गणा) है। (नि.सा./ता.वृ./१०७)

और भी (दे० कर्म/३/५)

४. नोकर्मका लक्षण

ध.१४/५,६,७१/५२/६ सेस एक्कोणवीसवग्गणाओ णोकम्मवग्गणाओ। —(कार्मण वर्गणाको छोड़कर) शेष उन्नीस प्रकारकी वर्गणाएँ नोकर्म वर्गणाएँ हैं। (अर्थात् कुल २३ प्रकारकी वर्गणाओंमें-से कार्माण, भाषा, मनो व तैजस इन चारको छोड़कर शेष १९ वर्गणाएँ नोकर्म वर्गणाएँ हैं)।

गो. जी./मू./२४४/५०७ ओरालियवेगुव्वियआहारयतेजणामकम्मुदये। चउणोकम्मसरीरा कम्मेव य होदि कम्मइयं। —औदारिक, वैक्रि-यिक, आहारक और तैजस नामकर्मके उदयसे चार प्रकारके शरीर होते हैं। वे नोकर्म शरीर हैं। पाँचवाँ जो कार्मण शरीर सो कर्म रूप ही है।

नि.सा./ता.वृ./१०७ औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरी-राणि हि नोकर्माणि। —औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर (1) वे नोकर्म हैं।

गो.जी./जी.प्र./२४४/५०८/२ नोशब्दस्य विपर्यये ईषदर्थे च वृत्तेः। तेषां शरीराणां कर्मवदात्मगुणघातित्वगत्यादिपारतन्त्र्यहेतुत्वाभावेन कर्म-विपर्ययत्वात् कर्मसहकारित्वेन ईषत्कर्मत्वाच्च नोकर्मशरीरत्वसंभवात् नोइन्द्रियवत्। —नो शब्दका दोय अर्थ है—एक तौ निषेधरूप और एक ईषत् अर्थात् स्तोकरूप। सो इहाँ कार्माणको ज्यों ये चार शरीर आत्माके गुणोंको घातै नाहीं वा गत्यादिक रूप पराधीन न करि सकैं तातैं कर्मतै विपरीत लक्षण धरनेकरि इनिको अकर्मशरीर कहिए। अथवा कर्मशरीरके ए सहकारी हैं तातैं ईषत् कर्मशरीर कहिए। ऐसै इनिको नोकर्म शरीर कहैं जैसे मनको नोइन्द्रिय कहिए है।

५. कर्मफलका अर्थ

प्र.सा./त.प्र./१२४ तस्य कर्मणो यन्निष्पाद्यं सुखदुःखं तत्कर्मफलम्। —उस कर्मसे उत्पन्न किया जानेवाला सुख-दुख कर्मफल है। (विशेष देखो 'उदय')

३. द्रव्यभाव कर्म निर्देश

१. कर्म जगत्‌का स्रष्टा है

म.पु./४/३७ विधिः स्रष्टा विधाता च दैवं कर्म पुराकृतम्। ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेयाः कर्मवेधसः ।३७। =विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत कर्म और ईश्वर ये सब कर्मरूपी ईश्वरके पर्याय वाचक शब्द हैं। अर्थात् इनके सिवाय अन्य कोई लोकका बनानेवाला नहीं।

२. कर्म सामान्यके अस्तित्वकी सिद्धि

क.पा.१/१,१/§३७-३८/५६/४ एदस्स पमाणस्स वड्ढिहाणि-तर-तमभावो ण ताव णिक्कारणो; वड्ढिहाणि हि विणा एगसरूवेणावट्ठाणप्पसंगादो। ण च एवं तहाणुवलंभादो। तम्हा सकारणाहि ताहि होदव्वं। जं तं हाणि-तर-तमभावकारणं तमावरणमिदि सिद्धं ।३७। ...कम्मं पि सहेउअं तव्विणासण्णहाणुववत्तीदो णव्वदे। ण च कम्मविणासो असिद्धो। =ज्ञानप्रमाणका वृद्धिह्रासके द्वारा जो तरतम भाव होता है वह निष्कारण तो हो नहीं सकता है, क्योंकि ऐसा माननेपर उस वृद्धि हानिका ही अभाव हो जायेगा और उसके न होनेसे ज्ञानके एकरूपसे रहनेका प्रसंग प्राप्त होता है। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि एकरूपसे अवस्थित ज्ञानकी उपलब्धि नहीं होती। इसलिए वह सकारण होना चाहिए। अतः उसमें जो हानिके तरतमभावका कारण है वह आवरण कर्म है यह सिद्ध हो जाता है।३७। तथा कर्म भी अहेतुक नहीं है, क्योंकि उनको अहेतुक माना जायेगा तो उनका विनाश बन नहीं सकता है। कर्म का विनाश असिद्ध नहीं है।

—दे० मोक्ष/६,—दे० राग/५/१।

प्र.सा./त.प्र./११७ क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म, तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्गलोऽपि कर्म, तत्कार्यभूता मनुष्यादिपर्याया जीवस्य क्रियाया मूलकारणभूतायाः प्रवृत्तत्वात् क्रियाफलमेव स्युः। क्रियाभावे पुद्गलानां कर्मत्वाभावात्तत्कार्यभूतानां तेषामभावात्। अथ कथं ते कर्मणः कार्यभावमायान्ति, कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणत्वात् प्रदीपवत्। तथाहि—यथा ज्योतिः स्वभावेन तैलस्वभावमभिभूय क्रियमाणः प्रदीपो ज्योतिःकार्यं तथा कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणा मनुष्यादिपर्यायाः कर्म कार्यम्। =क्रिया वास्तवमें आत्माके द्वारा प्राप्त होनेसे कर्म है। उसके निमित्तसे परिणमनको प्राप्त होता हुआ पुद्गल भी कर्म है। उसकी कार्यभूत मनुष्यादि पर्यायें मूलकारणभूत जीवकी क्रियासे प्रवर्तमान होनेसे क्रियाफल ही हैं, क्योंकि क्रियाके अभावमें पुद्गलोंको कर्मत्वका अभाव होनेसे उसकी कार्यभूत मनुष्यादि पर्यायोंका अभाव होता है। प्रश्न—मनुष्यादि पर्यायें कर्मके कार्य कैसे हैं? उत्तर—वे कर्म स्वभावके द्वारा जीवके स्वभावका पराभव करके ही की जाती हैं। यथा—ज्योतिः (लौ) के स्वभावके द्वारा तेलके स्वभावका पराभव करके किया जानेवाला दीपक ज्योतिका कार्य है, उसी प्रकार कर्मस्वभावके द्वारा जीवके स्वभावका पराभव करके की जानेवाली मनुष्यादि पर्यायें कर्मके कार्य हैं।

गो.क./जी.प्र./२/३/६ तयोरस्तित्वं कुतः सिद्धं। स्वतः सिद्धं। अहं-प्रत्ययवेद्यत्वेन आत्मनः दरिद्रश्रीमदादिविचित्रपरिणामात् कर्मणश्च तत्सिद्धेः। =प्रश्न—जीव और कर्म इन दोनोंका अस्तित्व काहे तै सिद्ध है? उत्तर—स्वतः सिद्ध है। जातै 'अहं' इत्यादिक मानना जीव बिना नाहीं सम्भवै है। दरिद्री लक्ष्मीवान इत्यादिक विचित्रता कर्म बिना नाहीं सम्भवै है। (पं. ध./उ./५०)

३. कर्म व नोकर्ममें अन्तर

रा. वा./५/२४/९/४८८/२० अत्राह—कर्मनोकर्मणः कः प्रतिविशेष इति। उच्यते—आत्मभावेन योगभावलक्षणेन क्रियते इति कर्म। तदात्मनोऽस्वतन्त्रीकरणे मूलकारणम्। तदुदयापादितः पुद्गलपरिणाम आत्मनः सुखदुःखबलाधानहेतुः औदारिक शरीरादिः ईषत्कर्म नोकर्मेत्युच्यते। किं च स्थितिभेदाद्भेदः। =प्रश्न—कर्म और नोकर्ममें क्या विशेष है? उत्तर—आत्मके योगपरिणामोंके द्वारा जो किया जाता है उसे कर्म कहते हैं। यह आत्माको परतंत्र बनानेका मूलकारण है। कर्मके उदयसे होनेवाला वह औदारिक शरीर आदिरूप पुद्गलपरिणाम जो आत्माके सुख-दुःखमें सहायक होता है; नोकर्म कहलाता है। स्थितिके भेदसे भी कर्म और नोकर्ममें भेद है।—दे० स्थिति।

४. छहों ही द्रव्योंमें कथंचित् द्रव्य कर्मपना देखा जा सकता है

ष.खं.१३/५,४/सूत्र १४/४३ जाणि दव्वाणि सब्भावकिरियाणिप्फण्णाणि तं सव्वं दव्वकम्मं णाम ।१४।

ध. १३/५,४,१४/४३/७ जीवदव्वस्स णाणदंसणेहि परिणामो सब्भावकिरिया, पोग्गलदव्वस्स वण्ण-गंध-रस-फास-विसेसेहि परिणामो सब्भावकिरिया।...एवमादीहि किरियाहि जाणि णिप्पण्णाणि सहावदो चेव दव्वाणि तं सव्वं दव्वकम्मं णाम। =१. जो द्रव्य सद्भावक्रियानिष्पन्न हैं वह सब द्रव्यकर्म हैं।१४। २. जीवद्रव्यका ज्ञानदर्शन आदिरूपसे होनेवाला परिणाम उसकी सद्भावक्रिया है। पुद्गल द्रव्यका वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श विशेष रूपसे होनेवाला परिणाम उसकी सद्भाव-क्रिया है। (धर्म व अधर्म द्रव्यका जीव व पुद्गलोंकी गति व स्थितिमें हेतुरूप होना तथा काल व आकाशमें सभी द्रव्योंको परिणमन व अवगाहमें निमित्त रूप होनेवाला परिणाम उन-उन की सद्भाव क्रिया है) इत्यादि क्रियाओंके द्वारा जो द्रव्य-स्वभावसे ही निष्पन्न है वह सब द्रव्य कर्म है।

विशेषार्थ—मूल द्रव्य छह हैं और वे स्वभावसे ही परिणमनशील हैं। अपने-अपने स्वभावके अनुरूप उनमें प्रतिसमय परिणमन क्रिया होती रहती है और क्रिया कर्मका पर्यायवाची है। यही कारण है कि यहाँ 'द्रव्यकर्म' शब्दसे मूलभूत छह द्रव्योंका ग्रहण किया है।

५. जीव व पुद्‌गल दोनोंमें कथंचित् भावकर्मपना देखा जा सकता है

गो.क./मू./६/६ कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावोत्ति होदि दुविहं तु। पोग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु ।६।

गो.क./जी.प्र./६/६/१ कार्ये कारणोपचारात्तु शक्तिजनिताज्ञानादिर्वा भावकर्म भवति। =कर्म सामान्यभावरूप कर्मत्व करि एक प्रकारका है। बहुरि सोई कर्म द्रव्य और भावके भेदसे दोय प्रकार है। तहाँ ज्ञानावरणादि पुद्गलद्रव्यका पिण्ड सो द्रव्यकर्म है, बहुरि तिस पिण्ड विषै फल देनेकी शक्ति है सो भावकर्म है। अथवा कार्य विषै कारणके उपचारतै तिस शक्तितै उत्पन्न भए अज्ञानादिक व क्रोधादिक, सो भी भाव कर्म कहिए।

स.सा./ता.वृ./१६०-१६२ में प्रक्षेपक गाथाके पश्चात्‌की टीका—भावकर्म द्विविधा भवति। जीवगतं पुद्गलकर्मगतं च। तथाहि—भावक्रोधादिव्यक्तिरूपं जीवभावगतं भण्यते। पुद्गलपिण्डशक्तिरूपं पुद्गलद्रव्यगतं। तथा चोक्तं—(उपरोक्त गाथा)॥ अत्र दृष्टान्तो यथा—मधुरकटुकादिद्रव्यस्य भक्षणकाले जीवस्य मधुरकटुकस्वादव्यक्तिविकल्परूपं जीवभावगतं, तद्व्यक्तिकारणभूतं मधुरकटुकद्रव्यगतं शक्तिरूपं पुद्गलद्रव्यगतं। एवं भावकर्मस्वरूपं जीवगतं पुद्गलगतं च द्विधेति भावकर्म व्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यम्। =भावकर्म दो प्रकारका होता है—जीवगत व पुद्गलगत। भाव क्रोधादिकी

व्यक्तिरूप जीवगत भावकर्म है और पुद्गलपिंडकी शक्तिरूप पुद्गल द्रव्यगत भावकर्म है। कहा भी है—(यहाँ उपरोक्त गाथा ही उद्धृत की गयी है)। यहाँ दृष्टान्त देकर समझाते हैं—जैसे कि मीठे या खट्टे द्रव्यको खानेके समय जीवको जो मीठे खट्टे स्वादकी व्यक्तिका विकल्प उत्पन्न होता है वह जीवगत भाव है; और उस व्यक्तिके कारणभूत मीठे-खट्टे द्रव्यकी जो शक्ति है, सो पुद्गलद्रव्यगत भाव है। इस प्रकार जीवगत व पुद्गलगतके भेदसे दो प्रकार भावकर्मका स्वरूप भावकर्मका कथन करते समय सर्वत्र जानना चाहिए।

६. ज्ञप्ति परिवर्तनरूप कर्म भी संसारका कारण है

प्र. सा./त. प्र./२३३ न च परात्मज्ञानशून्यस्य परमात्मज्ञानशून्यस्य वा मोहादिद्रव्यभावकर्मणां ज्ञप्तिपरिवर्तनरूपकर्मणां वा क्षपणं स्यात्। तथाहि···मोहरागद्वेषादिभावैश्च सहैक्यमाकलयतो वध्यघातकविभागाभावान्मोहादिद्रव्यभावकर्मणां क्षपणं न सिद्ध्येत्। तथा च ज्ञेयनिष्ठतया प्रतिवस्तु पातोत्पातपरिणतत्वेन ज्ञप्तेरासंसारात्परिवर्तमानाया: परमात्मनिष्ठत्वमन्तरेणानिवार्यपरिवर्ततया ज्ञप्तिपरिवर्तरूपकर्मणां क्षपणमपि न सिद्ध्येत्। —आगमके बिना परात्मज्ञान व परमात्मज्ञान नहीं होता और उन दोनोंसे शून्यके मोहादि द्रव्यभाव कर्मोंका या ज्ञप्ति परिवर्तन रूप कर्मोंका क्षय नहीं होता। वह इस प्रकार है कि—मोहरागद्वेषादि भावोंके साथ एकताका अनुभव करनेसे वध्यघातकके विभागका अभाव होनेसे मोहादि द्रव्य व भाव कर्मोंका क्षय सिद्ध नहीं होता। तथा ज्ञेयनिष्ठतासे प्रत्येक वस्तुके उत्पाद विनाशरूप परिणमित होनेके कारण अनादि संसारसे परिवर्तनको पानेवाली जो ज्ञप्ति, उसका परिवर्तन परमात्मनिष्ठताके अतिरिक्त अनिवार्य होनेसे ज्ञप्ति परिवर्तनरूप कर्मोंका क्षय भी सिद्ध नहीं होता।

७. शरीरकी उत्पत्ति कर्माधीन है

न्या. सू./मू. व टी./३-२/६३/२११ पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः। ६३। पूर्वशरीरे या प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भलक्षणा तत्पूर्वकृतं कर्मोक्तं, तस्य फलं तज्जनितौ धर्माधर्मौ तत्फलस्यानुबन्ध आत्मसमवेतस्यावस्थानं तेन प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यस्तस्योत्पत्तिः शरीरस्य न स्वतन्त्रेभ्य इति। —पूर्वकृत फलके अनुबन्धसे उसकी उत्पत्ति होती है।६३। पूर्व शरीरोंमें किये मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिरूप कर्मोंके फलानुबन्धसे देहकी उत्पत्ति होती है, अर्थात् धर्माधर्मरूप अदृष्टसे प्रेरित पंचभूतोंसे शरीरकी उत्पत्ति होती है स्वतन्त्र भूतोंसे नहीं। (रा.वा./५/२८/१/४८८/२१)।

८. कर्मसिद्धान्त जाननेका प्रयोजन

प्र.सा./मू./१२६ कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो। परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं।१२६। —यदि श्रमण 'कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा है' ऐसा निश्चयवाला होता हुआ अन्यरूप परिणमित नहीं ही हो तो वह शुद्ध आत्माको उपलब्ध करता है।

पं.का/ता.वृ./५५/१०५/१७ अत्र यदेव शुद्धनिश्चयनयेन मूलोत्तरप्रकृतिरहितं वीतरागपरमाह्लादैकरूपचैतन्यप्रकाशसहितं शुद्धजीवास्तिकायस्वरूपं तदेवोपादेयमिति भावार्थः। —यहाँ (मनुष्यादि नामप्रकृतियुक्त जीवोंके उत्पाद विनाशके प्रकरणमें) जो शुद्धनिश्चयनयसे मूलोत्तरप्रकृतियोंसे रहित और वीतराग परमाह्लाद रूप एक चैतन्यप्रकाश सहित शुद्ध जीवास्तिकायका स्वरूप है वह ही उपादेय है, ऐसा भावार्थ है।

कर्म कारक—दे० कर्ता।

कर्मक्षय व्रत—

व्रत विधान संग्रह/१२१ कुल समय—२९६ दिन; कुल उपवास—१४८; कुल पारणा—१४८। विधि—सात प्रकृतियोंके नाशार्थ ७ चतुर्थियोंके ७ उपवास; तीन प्रकृतियोंके नाशार्थ ३ सप्तमियोंके ३ उपवास; छत्तीस प्रकृतियोंके नाशार्थ ३६ नवमियोंको ३६ उपवास; एक प्रकृतिके नाशार्थ १ दशमीका १ उपवास। १६ प्रकृतियोंके नाशार्थ १६ द्वादशियोंके १६ उपवास और ८५ प्रकृतियोंके नाशार्थ ८५ चतुर्दशियोंके ८५ उपवास। इसप्रकार कुल १४८ उपवास पूरे करे। "ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं" इस मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे।

ह.पु./३४/१२१ २९६ दिन तक लगातार १ उपवास व १ पारणाके क्रमसे १४८ उपवास व १४८ ही पारणा करे। "सर्वकर्मरहिताय सिद्धाय नमः" इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे।

कर्म चूर व्रत—कुल समय—२वर्ष ८ मास अर्थात् १२ मासकी ६४ अष्टमियोंके ६४ दिन, विधि नं. १—१. प्रथम आठ अष्टमियोंके आठ उपवास; २. दूसरी आठ अष्टमियोंके आठ कांजिक आहार; (भात व जल); ३. तीसरी आठ अष्टमियोंको केवल तंदुलाहार; ४. चौथी आठ अष्टमियोंको एक ग्रासाहार; ५. पाँचवीं आठ अष्टमियोंको एक कुरली मात्र आहार; ६. छठी आठ अष्टमियोंको एक रस व एक अन्नका आहार; ७. सातवीं आठ अष्टमियोंको एकलठाने; ८. आठवीं आठ अष्टमियोंको रूक्ष अन्नका आहार। "ओं ह्रीं णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिने नमः" इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य। (व्रत-विधान संग्रह/पृ.४८), (वर्द्धमान पुराण)।

नं २.—उपरोक्त क्रममें ही—नं. १ वाले स्थानमें उपवास, नं. २ वालेमें एकलठाना, नं. ३ वालेमें एक ग्रास; नं. ४ वालेमें नीरस भोजन; नं. ५ वालेमें एक ही प्रकारके फलोंका आहार; नं. ६ वालेमें केवल चावल; नं. ७ वालेमें लाडू; नं. ८ वालेमें कांजी आहार (भात व जल) (व्रत-विधान संग्रह/पृ ६५)(किशनसिंह क्रियाकोश)।

कर्म चेतना—दे० चेतना।

कर्मत्व—वैशे. द./१-२/१५ कर्मसु भावात् कर्मत्वमुक्तम् ।१५। —प्रत्येक कर्ममें रहनेवाला सामान्य व नित्य धर्म कर्मत्व है।

कर्म निर्जरा व्रत—विधि—१. दर्शन विशुद्धिके अर्थ आषाढ़ शु. १४; २. सम्यग्ज्ञानकी भावनाके अर्थ श्रावण शु. १४. ३. सम्यक्चारित्रकी भावनाके अर्थ भाद्रपद शु. १४; और ४. सम्यक्तपकी भावनाके अर्थ आसौज (क्वार) शु. १४। इन चार तिथियोंके चार उपवास। जाप्य मन्त्र—नं. १ के लिए 'ॐ ह्रीं दर्शविशुद्धये नमः'; नं. २ के लिए 'ॐ ह्रीं सम्यग्ज्ञानाय नमः'; नं. ३ के लिए 'ॐ ह्रीं सम्यक्चारित्राय नमः' और नं. ४ के लिए 'ॐ ह्रीं सम्यक्तपाय नमः'। उस उस दिन उस-उस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करना। (व्रत-विधान संग्रह/पृ. ६५), (किशन सिंह क्रिया कोश)।

कर्म प्रकृति—बन्ध का भेद —दे० प्रकृतिबन्ध, श्रुतज्ञान का एक अङ्ग —दे० परिशिष्ट १।

कर्म प्रकृति चूर्णि— —दे० परिशिष्ट १।

कर्म प्रकृति रहस्य—आ. अभयनन्दि (ई० ९३०-९५०) कृत एक रचना।

कर्म प्रकृति विधान—पं. बनारसीदास (ई. १५१६-१६६७) द्वारा रचित कर्मसिद्धान्त विषयक भाषा ग्रन्थ।

कर्म प्रवाद—श्रुतज्ञानका ७वाँ पूर्व—दे० श्रुतज्ञान/III।

कर्म प्राभृत टीका—आ. समन्तभद्र (ई. श. २) कृत कर्मसिद्धान्त विषयक एक संस्कृत भाषा-बद्ध ग्रन्थ। —दे० समन्तभद्र।

कर्म फल—दे० कर्म/२।

कर्म फल चेतना—दे० चेतना।

कर्म भूमि—दे० भूमि/३।

कर्म शक्ति—स.सा./आ./शक्ति नं. ४१ प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्तिः। —प्राप्त किया जाता जो सिद्ध रूप भाव है उसमयी कर्म-शक्ति है। विशेष दे० कर्ता/१/२।

कर्मसमवायिनी क्रिया—दे० क्रिया/१।

कर्मस्तव—एक प्रसिद्ध ग्रन्थ। —दे० परिशिष्ट १।

कर्मस्पर्श—दे० स्पर्श/१।

कर्माहार—दे० आहार/I/१।

कर्मोपाधि—सापेक्ष व निरपेक्ष नय —दे० नय/iv/२।

कर्वट—ध.१३/५.५,६३/३३५/८ पर्वतावरुद्धं कव्वडं णाम। —पर्वतों से रुके हुए नगरका नाम कर्वट है।

म. पु./१६/१७५ शतान्यष्टौ च चत्वारि द्वे च स्युर्ग्रामसंख्यया। राज-धान्यस्तथा द्रोणमुखकर्वटयोः क्रमात्। १७५। —एक कर्वटमें २०० ग्राम होते हैं।

कलधौतनन्दि—नन्दिसंघ देशीयगण। समय ई० श० १०। —दे० इतिहास ७/५।

कलह—(ध.१२/४.२.८.१०/२८५/४) —क्रोधादिवशादसिदण्डासभ्य-वचनादिभिः परसंतापजननं कलहः। —क्रोधादिके वश होकर तल-वार, लाठी और असभ्य वचनादिके द्वारा दूसरोंको सन्ताप उत्पन्न करना कलह कहलाता है।

कला—१. Art (ध./पु.५प्र./२७)। २. कालका एक प्रमाण विशेष। दे० गणित/I/१/४।

कलिंग—१. भरत क्षेत्र दक्षिण आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/-४। २. मद्रास प्रान्तका उत्तर भाग और उड़ीसाका दक्षिण भाग। राजधानी राजमहेन्द्री है। (म.पु./प्र.४६/पं. पन्नालाल)

कलि ओज—दे० ओज।

कलि चतुर्दशी व्रत—विधि—आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, इन चार महीनों की शुक्ल चतुर्दशियोंको बराबर ४ वर्ष तक उपवास करना। नमस्कार मंत्रका त्रिकाल जाप्य। (व्रत-विधान संग्रह/पृ.१०३) (कथाकोश)।

कलुषता—दे० कालुष्य।

कलेवर—एक ग्रह—दे० 'ग्रह'।

कल्की—जैनागममें कल्की नामके राजाका उल्लेख जैनयतियोंपर अत्याचार करनेके लिए बहुत प्रसिद्ध है। इसके व इसके पिताके विभिन्न नाम आगममें उपलब्ध होते हैं और इसी प्रकार इनके समयका भी। फिर भी बहुत्सगभग गुप्त वंशके पश्चात् प्राप्त होता है। इतिहासकारोंसे पूछनेपर पता चलता है कि भारतमें गुप्त साम्राज्यके पश्चात् एक बर्बर जंगली जातिका राज्य हुआ था, जिसका नाम 'हून' था। ई० ४३१-५४६ के १२५ वर्षके राज्यमें एकके पीछे एक चार राजा हुए। सभी अत्यन्त अत्याचारी थे। इस प्रकार आगम व इतिहासका मिलान करनेसे प्रतीत होता है कि कल्की नामका कोई राजा न था। बल्कि उपरोक्त चारों राजा ही अपने अत्याचारोंके कारण कल्की नामसे प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार इनके विभिन्न नामों व समयोंका सम्मेल बैठ जाता है। —दे० इतिहास ३/२

१. आगमकी अपेक्षा कल्की निर्देश

ति.प./४/१५०६-१५१० तत्तो कक्की जादो इंदसुदो तस्स चउमुहो णामो। सत्तरि वरिसा आऊ विगुणियइगिवीस रज्जंतो।१५०६। आचारांग-धरादो पणहत्तरिजुत्तदुसयवासेसुं। वोलीणेसुं बद्धो पट्टो कक्किस्स णरवइणो।१५१०। —इस गुप्त राज्य (वी. नि. ९५८) के पश्चात् इन्द्रका सुत कल्की उत्पन्न हुआ। इसका नाम चतुर्मुख, आयु ७० वर्ष और राज्यकाल ४२ वर्ष प्रमाण था।१५०६। आचारांगधरों (वी. नि. ६८३) के २७५ वर्ष पश्चात् (वी. नि. ९५८ में) कल्कीको नरपतिका पट्ट बाँधा गया।१५१०।

ह.पु./६०/४९१-४९२ भद्रबाणस्य तद्राज्यं गुप्तानां च शतद्वयम्। एक-विंशश्च वर्षाणि कालविद्भिरुदाहृतम्।४९१। द्विचत्वारिंशदेवातः कल्किराजस्य राजता।...।४९२। —फिर २४२ वर्ष तक बाणभट्ट (शक वंश) का, फिर २२१ तक गुप्तोंका और इसके बाद (वी. नि. ९५८ में) ४२ वर्ष तक कल्कि राजाका राज्य होगा।

म.पु./७६/३९७-४०० दुष्षमायां सहस्राब्दव्यतीतौ धर्महानितः।३९७। पुरे पाटलिपुत्राख्ये शिशुपालमहीपतेः। पापी तनूजः पृथिवीसुन्दर्यां दुर्जनादिमः।३९८। चतुर्मुखाह्वयः कल्किराजो वेजितभूतलः। उत्प-त्स्यते माघसंवत्सरयोगसमागमे।३९९। समानां सप्ततिस्तस्य परमायुः प्रकीर्तितम्। चत्वारिंशत्समा राज्यस्थितिश्चाक्रमकारिणः।४००। —दुःषमाकाल (वी.नि. ३) के १००० वर्ष बीतनेपर (वी.नि. १००३ में) धर्मकी हानि होनेसे पाटलिपुत्र नामक नगरमें राजा शिशुपालकी रानी पृथिवीसुन्दरीके चतुर्मुख नामका एक ऐसा पापी पुत्र होगा, जो कल्कि नामसे प्रसिद्ध होगा। यह कल्की मघा नामके संवत्सर में होगा। इसकी उत्कृष्ट आयु ७० वर्ष और राज्यकाल ४० वर्ष तक रहेगा।

त्रि.सा./८५०-८५१ पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो। सगराजो तो कक्की चदुणवतियमहिय सगमासं।८५०। सो उम्मग्गाहिं-मुहो चदुरिवासपरमाऊ। चालीसरज्जओ जिदभूमी पुच्छइसमंति-गणं।८५१। —वीर भगवान्‌की मुक्तिके ६०५ वर्ष व ५ महीने जानेपर शक राजा हो है। उसके ऊपर ३९४ वर्ष ७ महीने जाने पर (वी. नि. १००० में) कल्की हो है।८५०। वह उन्मार्गके सम्मुख है। उसका नाम चतुर्मुख तथा आयु ७० वर्ष है। ४० वर्ष प्रमाण राज्य करै है।८५१।

२. इतिहासकी अपेक्षा हून वंश

यह एक बर्बर जंगली जाति थी, जिसके सरदारोंने ई० ४३२ में गुप्त राजाओंपर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया था। यद्यपि स्कन्द-गुप्तने उन्हें परास्त करके पीछे भगा दिया परन्तु ये बराबर अपनी शक्ति बढ़ाते रहे, यहाँ तक कि ई० ५०० में उनके सरदार तोरमाणने गुप्त राज्यको कमजोर पाकर समस्त पंजाब व मालवा प्रान्तपर अपना अधिकार जमा लिया। फिर ई० ५०७में उसके पुत्र मिहिरकुलने भानुगुप्तको परास्त करके गुप्त वंशको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसने प्रजा-पर बड़े अत्याचार किये जिससे तंग आकर एक हिन्दू सरदार विष्णु-धर्मने बिखरी हुई हिन्दू शक्तिको संगठित करके ई० ५२८ में मिहिर-कुलको परास्त करके भगा दिया। उसने काश्मीरमें जाकर शरण ली और वहाँ ही ई० ५४० में उसकी मृत्यु हो गयी। (क. पा./पु. १ प्र. ५४/पं० महेन्द्र) यह विष्णु यशोधर्म कट्टर वैष्णव था। इसने हिन्दू धर्मका तो बड़ा उपकार किया परन्तु जैन साधुओं व जैन मन्दिरोंपर बड़ा अत्याचार किया, इसलिए जैनियोंमें यह कल्की नामसे प्रसिद्ध हुआ और हिन्दू धर्ममें उसे अन्तिम अवतार माना गया। (न्यायावतार/प्र. २ सतीशचन्द्र विद्याभूषण)।

३. आगम व इतिहासके निर्देशोंका समन्वय

आगमके उपरोक्त उद्धरणोंमें कल्कीका नाम चतुर्मुख बताया गया है पर उसके पिताका नाम एक स्थानपर इन्द्र और दूसरे स्थानपर शिशुपाल कहा गया है। हो सकता है कि शिशुपाल ही इन्द्र नामसे विख्यात हो। इधर इतिहासमें तोरमाणका पुत्र मिहिरकुल कहा गया है। प्रतीत होता है कि तोरमाण ही इन्द्र या शिशुपाल है और मिहिरकुल ही वह चतुर्मुख है। समयकी अपेक्षा भी आगमकारोंका कुछ मतभेद है। तिलोय पण्णत्ति व हरिवंशपुराणकी अपेक्षा उसका काल वी० नि० ९५८-१००० (ई० ४३१-४७३) और महापुराण व त्रिलोकसारकी अपेक्षा वह वी० नि० १०३०-१०७० (ई० ५०३-५३३) है। इन दोनों मान्यताओंमें विशेष अन्तर नहीं है। पहिलीमें कल्कीका राज्यकाल मिलाकर भगवान्के निर्वाणके पश्चात् १००० वर्षकी गणना करके दिखाई है अर्थात् निर्वाणसे १००० वर्ष पश्चात् धर्म व संघका लोप दर्शाया है और दूसरी मान्यतामें वी० नि० १००० में कल्कीका जन्म बताकर ३० वर्ष पश्चात् उसे राज्यारूढ बताया गया है। दोनों ही मान्यताओंमें उसका राज्यकाल ४० वर्ष बताया गया है। इतिहाससे मिलान करनेपर दूसरी मान्यता ठीक जँचती है, क्योंकि मिहिरकुलका काल ई० ५०७-५२८ बताया गया है।

४. कल्कीके अत्याचार

ति. प./४/१५११ अह सहियाण कक्की णियजोग्गे जणपदे पयत्तेण। सुक्कं जाचदि लुद्धो पिंडग्गं जाव ताव समणाओ ॥१५११॥ —तदनन्तर वह कल्की प्रयत्न पूर्वक अपने योग्य जनपदोंको सिद्ध करके लोभको प्राप्त होता हुआ मुनियोंके आहारमें-से भी प्रथम ग्रासको शुल्कके रूपमें माँगने लगा ॥१५११॥ (ति. प./१५२३-१५२६) (म. पु./७६/४१०) (त्रि. सा./८५३, ८५६)।

५. कल्कीकी मृत्यु

ति. प./४/१५१२-१५१३ दादूणं पिंडग्गं समणा कालो य अंतराणं पि। गच्छंति ओहिणाणं उप्पज्जइ तेसु एक्कम्मि ॥१५१२॥ अह को वि असुरदेवो ओहीदो मुणिगणाण उवसग्गं। णादूणं तं कक्किं मारेदि हु धम्मदोहि त्ति ॥१५१३॥ —तब श्रमण अग्रपिण्डको शुल्कके रूपमें देकर और 'यह अन्तरायोंका काल है' ऐसा समझकर (निराहार) चले जाते हैं। उस समय उनमें-से किसी एकको अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥१५१२॥ इसके पश्चात् कोई असुरदेव अवधिज्ञानसे मुनिगणके उपसर्गको जानकर और धर्मका द्रोही मानकर उस कल्कीको मार डालता है ॥१५१३॥ (ति. प./४/१५२६-१५३१) (म. पु./७६/४११-४१४) (त्रि. सा./८५४)।

६. कल्कीके पश्चात् पुनः धर्मकी स्थापना

ति. प./४/१५१४-१५१५ कक्किसुदो अजिदंजय णामो रक्खत्ति णमदि तच्चरणे। तं रक्खदि असुरदेओ धम्मे रज्जं करेज्ज त्ति ॥१५१४॥ तत्तो दोवे वासा सम्मद्धम्मो पयट्टदि जणाणं। कमसो दिवसे दिवसे कालमहप्पेण हाएदे ॥१५१५॥ —तब अजितंजय नामका उस कल्कीका पुत्र 'रक्षा करो' इस प्रकार कहकर उस देवके चरणोंमें नमस्कार करता है। तब वह देव 'धर्म पूर्वक राज्य करो' इस प्रकार कहकर उसकी रक्षा करता है ॥१५१४॥ इसके पश्चात् दो वर्ष तक लोगोंमें समीचीन धर्म-प्रवृत्ति रहती है, फिर क्रमशः कालके माहात्म्यसे वह प्रतिदिन हीन होती जाती है ॥१५१५॥ (म. पु./७६/४२८-४३०) (त्रि. सा./८५५-८५६)।

७. पंचम कालमें कल्कियों व उपकल्कियोंका प्रमाण

ति. प./४/१५१६, १५३४,१५३५ एवं वस्ससहस्से पुह पुह कक्की हवेइ एक्केक्को। पंचसयवच्छरेसुं एक्केक्को तह य उवकक्की ॥१५१६॥ एवमिगवीस कक्की उवकक्की तेत्तिया य धम्माए। जम्मंति धम्मदोहा जलणिहिउवमाणआउजुदो ॥१५३४॥ वासतए अडमासे पक्खे गलिदम्मि पविसदे तत्तो। सो अदिदुस्समणामो छट्ठो कालो महाविसमो ॥१५३५॥ —इस प्रकार १००० वर्षोंके पश्चात् पृथक्-पृथक् एक-एक कल्की तथा ५०० वर्षोंके पश्चात् एक-एक उपकल्की होता है ॥१५१६॥ इस प्रकार २१ कल्की और इतने ही उपकल्की धर्मके द्रोहसे एक सागरोपम आयुसे युक्त होकर घर्मा पृथिवी (प्रथम नरक) में जन्म लेते हैं ॥१५३४॥ इसके पश्चात् ३ वर्ष ८ मास और एक पक्षके बीतनेपर महा विषम वह अतिदुषमानामका छठा काल प्रविष्ट होता है ॥१५३५॥ (म. पु./७६/४३१-४४१) (त्रि. सा./८५७-८५६)।

८. कल्कीके समय चतुःसंघकी स्थिति

ति. प./४/१५२१,१५३० वीरांगजाभिधाणो तक्काले मुणिवरो भवे एक्को। सव्वसिरी तह विरदी सावयजुगमग्गिदत्तपंगुसिरी ॥१५२१॥ ताहे चत्तारि जणा चउविहआहारसंगपहुदीणं। जावज्जीवं छंडिय सण्णासं ते करंति य ॥१५३०॥ —उस समय वीरांगज नामक एक मुनि, सर्वश्री नामक आर्यिका तथा अग्निदत्त (अग्निल और पंगुश्री नाम श्रावक युगल (श्रावक-श्राविका) होते हैं ॥१५२१॥ तब वे चारों जन चार प्रकारके आहार और परिग्रहको जन्म पर्यन्त छोड़कर संन्यास (समाधिमरण) को ग्रहण करते हैं ॥१५३०॥ (म. पु./७६/४३२-४३६) (त्रि. सा./८५८-८५९)।

९. प्रत्येक कल्कीके कालमें एक अवधिज्ञानी मुनि

ति. प. /४/१५१७ कक्की पडि एक्केक्कं दुस्समसाहुस्स ओहिणाणं पि। संघा य चादुवण्णा थोवा जायंति तक्काले ॥१५१७॥ —प्रत्येक कल्कीके प्रति एक-एक दुष्षमाकालवर्ती साधुको अवधिज्ञान प्राप्त होता है और उसके समयमें चातुर्वर्ण्य संघ भी अल्प हो जाता है ॥१५१७॥"

कल्प—१. साधु चर्याके १० कल्पोंका निर्देश

१.—दे० साधु /२। २. इन दसों कल्पोंके लक्षण—दे० वह वह नाम। ३. जिनकल्प—दे० जिन कल्प। ४. महाकल्प—श्रुतज्ञानका ११वाँ अंगबाह्य है—दे० श्रुतज्ञान / III। ५कल्प स्वर्ग विभाग—दे० स्वर्ग १/२।

कल्प काल—दे० काल /४।

कल्पपुर—भरतक्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४।

कल्पभूमि—समवशरणकी छठी भूमि—दे० समवशरण।

कल्पवासी देव—दे० स्वर्ग १/३।

कल्पवृक्ष—१. कल्पवृक्ष निर्देश—दे० वृक्ष/१; । २. कल्पवृक्ष पूजा—दे० पूजा/१।

कल्प व्यवहार—श्रुतज्ञानका ९वाँ अंग बाह्य—दे० श्रुतज्ञान / III

कल्पशास्त्र—दे० शास्त्र।

कल्प स्वर्ग—दे० स्वर्ग।

कल्पाकल्प—श्रुतज्ञानका १वाँ अंगबाह्य—दे० श्रुतज्ञान / III

कल्पातीत—स्वर्ग विभाग —दे० स्वर्ग १/३।

कल्याण—श्रुतज्ञान ज्ञानका १० वाँ पूर्व—दे० श्रुतज्ञान / III

कल्याणक—जैनागममें प्रत्येक तीर्थंकरके जीवनकालके पाँच प्रसिद्ध घटनास्थलोंका उल्लेख मिलता है। उन्हें पंच कल्याणकके नामसे कहा जाता है, क्योंकि वे अवसर जगत्के लिए अत्यन्त कल्याण व मंगलकारी होते हैं। जो जन्मसे ही तीर्थंकर प्रकृति लेकर उत्पन्न हुए हैं उनके तो ५ ही कल्याणक होते हैं, परन्तु जिसने अन्तिम भवमें ही तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया है उसको यथा सम्भव चार व तीन व दो भी होते हैं, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृतिके बिना साधारण साधकोंको

भी नहीं होते हैं। नवनिर्मित जिनबिम्बकी शुद्धि करनेके लिए जो पंच कल्याणक प्रतिष्ठा पाठ किये जाते हैं वह उसी प्रधान पंच कल्याणककी कल्पना है जिसके आरोप द्वारा प्रतिमामें असली तीर्थंकरकी स्थापना होती है।

१. पंच कल्याणकोंका नाम निर्देश

ज. प./१३/९३ गब्भावयारकाले जम्मणकाले तहेव णिक्खमणे। केवलणाणुप्पण्णे परिणिव्वाणम्मि समयम्मि ।९३। —जो जिनदेव गर्भावतारकाल, जन्मकाल, निष्क्रमणकाल, केवलज्ञानोत्पत्तिकाल और निर्वाणसमय, इन पाँच स्थानों (कालों)में पाँच महा-कल्याणकोंको प्राप्त होकर महाऋद्धियुक्त सुरेन्द्र इन्द्रोंसे पूजित हैं।९३-९४।

२. पंच कल्याणक महोत्सवका संक्षिप्त परिचय

१. गर्भकल्याणक—भगवान्‌के गर्भमें आनेसे छह मास पूर्वसे लेकर जन्म पर्यन्त १५ मास तक उनके जन्म स्थानमें कुबेर द्वारा प्रतिदिन तीन बार ३½ करोड़ रत्नोंकी वर्षा होती रहती है। दिक्कुमारी देवियाँ माताकी परिचर्या व गर्भ शोधन करती हैं। गर्भवाले दिनसे पूर्व रात्रिको माताको १६ उत्तम स्वप्न दीखते हैं, जिनपर भगवान्‌का अवतरण निश्चय कर माता पिता प्रसन्न होते हैं। (प. पु./३/११२-१५७) (ह. पु. ३७/१-४७) (म. पु./१२/८४-१६५)

२. जन्म कल्याणक—भगवान्‌का जन्म होनेपर देवभवनों व स्वर्गों आदिमें स्वयं घण्टे आदि बजने लगते हैं और इन्द्रोंके आसन कम्पायमान हो जाते हैं जिससे उन्हें भगवान्‌के जन्मका निश्चय हो जाता है। सभी इन्द्र व देव भगवान्‌का जन्मोत्सव मनानेको बड़ी धूमधामसे पृथिवीपर आते हैं। अहमिन्द्रजन अपने-अपने स्थानपर ही सात पग आगे आकर भगवान्‌को परोक्ष नमस्कार करते हैं। दिक्कुमारी देवियाँ भगवान्‌के जातकर्म करती हैं। कुबेर नगरकी अद्भुत शोभा करता है। इन्द्रकी आज्ञासे इन्द्राणी प्रसूतिगृहमें जाती है, माताको माया निद्रासे सुलाकर उसके पास एक मायामयी पुतला लिटा देती है और बालक भगवान्‌को लाकर इन्द्रकी गोदमें दे देती है, जो उनका सौन्दर्य देखनेके लिए १००० नेत्र बनाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता। ऐरावत हाथीपर भगवान्‌को लेकर इन्द्र सुमेरुपर्वतकी ओर चलता है। वहाँ पहुँचकर पाण्डुक शिलापर, भगवान्‌का क्षीरसागरसे देवों द्वारा लाये गये जलके १००८ कलशों द्वारा, अभिषेक करता है। तदनन्तर बालकको वस्त्राभूषणसे अलंकृत कर नगरमें देवों सहित महान् उत्सवके साथ प्रवेश करता है। बालकके अंगूठेमें अमृत भरता है, और ताण्डव नृत्य आदि अनेकों मायामयी आश्चर्यकारी लीलाएँ प्रगट कर देवलोकको लौट जाता है। दिक्कुमारी देवियाँ भी अपने-अपने स्थानोंपर चली जाती हैं। (प. पु./३/१५८-२१४) (ह. पु /१८/५४ तथा ३१/१५ वृत्तान्त) (म. पु./१३/४-२१६) (ज. प./४/१५२-२११)।

३. तपकल्याणक—कुछ कालतक राज्य विभूतिका भोग कर लेनेके पश्चात् किसी एक दिन कोई कारण पाकर भगवान्‌को वैराग्य उत्पन्न होता है। उस समय ब्रह्म स्वर्गसे लौकान्तिक देव भी आकर उनको वैराग्य वर्द्धक उपदेश देते हैं। इन्द्र उनका अभिषेक करके उन्हें वस्त्राभूषणसे अलंकृत करता है। कुबेर द्वारा निर्मित पालकीमें भगवान् स्वयं बैठ जाते हैं। इस पालकीको पहले तो मनुष्य कन्धोंपर लेकर कुछ दूर पृथिवीपर चलते हैं और देव लोग लेकर आकाश मार्गसे चलते हैं। तपोवनमें पहुँचकर भगवान् वस्त्रालंकारका त्याग-कर केशोंका लुंचन कर देते हैं और दिगम्बर मुद्रा धारण कर लेते हैं। अन्य भी अनेकों राजा उनके साथ दीक्षा धारण करते हैं। इन्द्र उन केशोंको एक मणिमय पिटारेमें रखकर क्षीरसागरमें क्षेपण करता है। दीक्षा स्थान तीर्थ स्थान बन जाता है। भगवान् बेला तेला आदिके नियमपूर्वक 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' कहकर स्वयं दीक्षा ले लेते हैं क्योंकि वे स्वयं जगद् गुरु हैं। नियम पूरा होनेपर आहारार्थ नगरमें जाते हैं और यथाविधि आहार ग्रहण करते हैं। दातारके घर पंचाश्चर्य प्रगट होते हैं। (प. पु./३/२६३-२८३ तथा ४/१-२०) (ह. पु./५५/१००-१२६) (म. पु./१७/४६-२५३)।

४. ज्ञान कल्याणक—यथा क्रम ध्यानकी श्रेणियोंपर आरूढ़ होते हुए चार घातिया कर्मोंका नाश हो जानेपर भगवान्‌को केवलज्ञान आदि अनन्तचतुष्टय लक्ष्मी प्राप्त होती है। तब पुष्प वृष्टि, दुन्दुभी शब्द, अशोक वृक्ष, चमर, भामण्डल, छत्रत्रय, स्वर्ण सिंहासन और दिव्य ध्वनि ये आठ प्रातिहार्य प्रगट होते हैं। इन्द्रकी आज्ञासे कुबेर समवशरण रचता है जिसकी विचित्र रचना से जगत् चकित होता है। १२ सभाओंमें यथा स्थान देव मनुष्य तिर्यंच मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका आदि सभी बैठकर भगवान्‌के उपदेशामृतका पान कर जीवन सफल करते हैं।

भगवान्‌का विहार बड़ी धूमधामसे होता है। याचकोंको किमिच्छक दान दिया जाता है। भगवान्‌के चरणोंके नीचे देव लोग सहस्रदल स्वर्ण कमलोंकी रचना करते हैं और भगवान् इनको भी न स्पर्श करके अधर आकाशमें ही चलते हैं। आगे-आगे धर्मचक्र चलता है। बाजे नगाड़े बजते हैं। पृथिवी ईति भीति रहित हो जाती है। इन्द्र राजाओंके साथ आगे-आगे जय-जयकार करते चलते हैं। मार्गमें सुन्दर क्रीड़ा स्थान बनाये जाते हैं। मार्ग अष्टमंगल द्रव्योंसे शोभित रहता है। भामण्डल, छत्र, चमर स्वतः साथ-साथ चलते हैं। ऋषिगण पीछे-पीछे चलते हैं। इन्द्र प्रतिहार बनता है। अनेकों निधियाँ साथ-साथ चलती हैं। विरोधी जीव बैर विरोध भूल जाते हैं। अन्धे बहरोंको भी दिखने सुनने लग जाता है। (प. पु./४।२१-१२) (ह. पु./५६/११२-११८; ५७/१, ५९/१-१२४) (म. पु. सर्ग २२ व २३ पूर्ण)।

५. निर्वाण कल्याणक—अन्तिम समय आनेपर भगवान् योग निरोध द्वारा ध्यानमें निश्चलता कर चार अघातिया कर्मोंका भी नाश कर देते हैं और निर्वाण धामको प्राप्त होते हैं। देव लोग निर्वाण कल्याणककी पूजा करते हैं। भगवान्‌का शरीर काफूरकी भाँति उड़ जाता है। इन्द्र उस स्थानपर भगवान्‌के लक्षणोंसे युक्त सिद्धशिलाका निर्माण करता है। (ह. पु./६५/१-१७); (म. पु./४७/३४३-३५४) /

३. पंच कल्याणकोंमें १६ स्वर्गोंके देव व इन्द्र स्वयं आते हैं

ह. पु./८/१३१ स्वाम्यादेशो कृते तेन चेलुः सौधर्मवासिनः। देवैश्चाच्युतपर्यन्ताः स्वयंबुद्धा सुरेश्वराः।१३१। —सेनापतिके द्वारा स्वामीका आदेश सुनाये जाते ही सौधर्म स्वर्गमें रहनेवाले समस्त देव चल पड़े। तथा अच्युत स्वर्गतकके सर्व इन्द्र स्वयं ही इस समाचारको जान देवोंके साथ बाहर निकले। (ज. प./४/२७३-२७४)।

४. पंच कल्याणकोंमें देवोंके वैक्रियक शरीर आते हैं देव स्वयं नहीं आते

ति. प./८/५९५ गब्भावयारपहुदिसु उत्तरदेहा सुराण गच्छंति। जम्मणठाणेसु सुहं मूलसरीराणि चेट्ठंति ।५९५। —गर्भ और जन्मादि कल्याणकोंमें देवोंके उत्तर शरीर जाते हैं। उनके मूल शरीर सुखपूर्वक जन्मस्थानोंमें स्थित रहते हैं।

५. रत्नोंकी वृष्टिमें तीर्थंकरोंका पुण्य ही कारण है

म. पु./४८/१८-२० तीर्थकृन्नामपुण्यतः ।१८। तस्य शक्राज्ञया गेहे षण्मासात् प्रत्यहं मुहुः। रत्नान्यैलबिलस्तिस्रः कोटीः सार्धं न्यपीपतत् ।२०। —उस महाभागके स्वर्गसे पृथिवीपर अवतार लेनेके छह माह पूर्वसे

हो प्रतिदिन तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृतिके प्रभावसे, जितशत्रुके घरमें इन्द्रकी आज्ञासे कुबेरने साढ़े तीन करोड़ रत्नोंकी वृष्टि की।

४. उन रत्नोंको याचक लोग बे-रोकटोक ले जाते थे।

ह. पु./३७/३ तया पतन्त्या वसुधारयार्थभाक्त्रिकोटिसंख्यापरिमाणया जगत्। प्रतर्पितं प्रत्यहमर्थि सर्वतः क पात्रभेदोऽस्ति धनप्रवर्षिणाम्।३। =वह धनकी धारा प्रतिदिन तीन बार साढे तीन करोड़की संख्याका परिमाण लिये हुए पड़ती थी और उसने सब ओर याचक जगत्को सन्तुष्ट कर दिया था। सो ठीक ही है; क्योंकि, धनकी वर्षा करनेवालोंको पात्र भेद कहाँ होता है।

★ **हीनादिक कल्याणकवाले तीर्थंकर**—दे० तीर्थंकर

कल्याणक व्रत—

१. कल्याणक व्रत—पहले दिन दोपहरको एकलठाना (कल्याणक तिथिमें उपवास तथा उससे अगले दिन आचाम्ल भोजन (इमली व भात) खाये। इस प्रकार पंचकल्याणकको १२० तिथियोंके १२० उपवास ३६० दिनमें पूरे करे। (ह. पु./३४/१११-११२)।

२. चन्द्र कल्याणक व्रत—क्रमशः ५ उपवास, ५ कांजिक (भात व जल); ५. एकलठाना (एक बार पुरसा); ५ रूक्षाहार; ५ मुनि वृत्तिसे भोजन (अन्तराय टालकर मौन सहित भोजन), इस प्रकार २५ दिनतक लगातार करे। (वर्द्धमान पुराण) (व्रत विधान संग्रह) पृ० ६६)

३. निर्वाण कल्याणक व्रत—चौबीस तीर्थंकरोंके २४ निर्वाण तिथियोंमें उनसे अगले दिनों सहित दो-दो उपवास करे। तिथियोंके लिए देखो तीर्थंकर ५। (व्रत विधान संग्रह। पृ० १२४) (किशन सिंह क्रिया कोश)।

४. पंच कल्याणक व्रत—प्रथम वर्षमें २४ तीर्थंकरोंकी गर्भ तिथियोंके २४ उपवास; द्वितीय वर्षमें जन्म तिथियोंके २४ उपवास; तृतीय वर्षमें तप कल्याणककी तिथियोंके २४ उपवास, चतुर्थ वर्षमें ज्ञान कल्याणककी तिथियोंके २४ उपवास और पंचम वर्षमें निर्वाण कल्याणककी तिथियोंके २४ उपवास—इस प्रकार पाँच वर्षमें १२० उपवास करे। "ॐ ह्रीं वृषभादिवीरान्तेभ्यो नमः" इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। —यह बृहद् विधि है। एक ही वर्षमें उपरोक्त सर्व तिथियोंके १२० उपवास पूरे करना लघु विधि है। "ॐ ह्रीं वृषभादिचतुर्विंशतितीर्थकराय नमः" इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (पंच कल्याणककी तिथियें —दे० तीर्थंकर ५)।
(व्रत विधान संग्रह। पृ० १२६) (किशन सिंह कथा कोश)

५. परस्पर कल्याणक व्रत—१. बृहद् विधि—पंच कल्याणक, ८ प्रातिहार्य, ३४ अतिशय—सब मिलकर प्रत्येक तीर्थंकर सम्बन्धी ४७ उपवास होते हैं। २४ तीर्थंकरों सम्बन्धी ११२८ उपवास एकांतरा रूपसे लगातार २२५६ दिनमें पूरे करे। (ह. पु./३४/१२५)

२. मध्यम विधि—क्रमशः १ उपवास, ४ दिन एकलठाना (एक बारका परोसा); ३ दिन कांजी (भात व जल); २ दिन रूक्षाहार; २ दिन अन्तराय टालकर मुनि वृत्तिसे भोजन और १ दिन उपवास इस प्रकार लगातार १३ दिन तक करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य दे। (वर्द्धमान पुराण) (व्रत विधान संग्रह / पृ० ७०)

३ लघु विधि—क्रमशः १ उपवास, १ दिन कांजी (भात व जल); १ दिन एकलठाना (एक बार पुरसा); १ दिन रूक्षाहार; १ दिन अन्तराय टालकर मुनिवृत्तिसे आहार, इस प्रकार लगातार पाँच दिन करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य। (वर्द्धमान पुराण) (व्रत विधान संग्रह/पृ० ६६)

६. शील कल्याणक व्रत—मनुष्यणी, तिर्यंचिनी, देवांगना व अचेतन स्त्री इन चार प्रकारकी स्त्रियोंमें पाँचों इन्द्रियों व मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदनासे गुणा करनेपर १८० भंग होते हैं। ३६० दिनमें एकान्तरा क्रमसे १८० उपवास पूरा करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (ह. पु./३४/११३) (व्रत विधान संग्रह/पृ० ६८) (किशन सिंह क्रियाकोश)

७ श्रुति कल्याणक व्रत—क्रमशः ५ दिन उपवास, ५ दिन कांजी (भात व जल); ५ दिन एकलठाना (एक बार पुरसा) ५ दिन रूक्षाहार, ५ दिन मुनि वृत्तिसे अन्तराय टालकर मौन सहित भोजन, इस प्रकार लगातार २५ दिन तक करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य। (व्रत-विधान संग्रह/पृ० ६६). (किशन सिंह क्रियाकोश)

कल्याणमन्दिर स्तोत्र— श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेन दिवाकर (ई० ५०८) कृत ४४ श्लोक प्रमाण पार्श्वनाथ स्तोत्र। (ती० २/२१५)।

कल्याणमाला—(प. पु./३४/श्लो. नं०) बाल्यखिल्यकी पुत्री थी। अपने पिताकी अनुपस्थितिमें पुरुषवेशमें राज्यकार्य करती थी। ४०-४८। राम लक्ष्मण द्वारा अपने पिताको म्लेच्छोंकी बन्दीसे मुक्त हुआ जान (७६-९७) उसने लक्ष्मणको वर लिया (८०-११०)।

कल्ली—भरत क्षेत्र पश्चिम आर्य खण्डका एक देश —मनुष्य/४)

कवयव—एक ग्रह—दे० ग्रह।

कवल—दे० ग्रास।

कवलचान्द्रायण व्रत— किसी भी मासकी कृ० १५ को उपवास इससे आगे पडिमाको एक ग्रास, आगे प्रतिदिन एक-एक ग्रासकी वृद्धिसे चतुर्दशीको १४ ग्रास। पूर्णमाको पुनः उपवास। इससे आगे उलटा क्रम अर्थात् कृ० १ को १४ ग्रास, फिर एक-एक ग्रासकी प्रति दिन हानिसे कृ० १४ को १ ग्रास और अमावस्याको उपवास। इस प्रकार पूरे १ महीने तक लगातार करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य। (ह. पु./३४/९१) (व्रत-विधान संग्रह/पृ० ९८) (किशनचन्द्र क्रियाकोश)।

कवलाहार—१. कवलाहार निर्देश—दे० आहार /I/१।
२. केवलीको कवलाहारका निषेध—दे० केवली/४।

कवाटक— भरतक्षेत्र आर्यखण्डमें मलयगिरि पर्वतके निकट स्थित एक पर्वत—दे० मनुष्य/४।

कषाय—आत्माके भीतरी कलुष परिणामको कषाय कहते हैं। यद्यपि क्रोध मान माया लोभ ये चार ही कषाय प्रसिद्ध हैं पर इनके अतिरिक्त भी अनेकों प्रकारकी कषायोंका निर्देश आगममें मिलता है। हास्य रति अरति शोक भय ग्लानि व मैथुन भाव ये नोकषाय कही जाती हैं, क्योंकि कषायवत् व्यक्त नहीं होतीं। इन सबको ही राग व द्वेष में गर्भित किया जा सकता है। आत्माके स्वरूपका घात करनेके कारण कषाय ही हिंसा है। मिथ्यात्व सबसे बड़ी कषाय है।

एक दूसरी दृष्टिसे भी कषायोंका निर्देश मिलता है। वह चार प्रकार है—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन—ये भेद विषयोंके प्रति आसक्तिकी अपेक्षा किये गये हैं और क्योंकि वह आसक्ति भी क्रोधादि द्वारा ही व्यक्त होती है इसलिए इन चारोंके क्रोधादिके भेदसे चार-चार भेद करके कुल १६ भेद कर दिये हैं। तहाँ क्रोधादिकी तीव्रता मन्दतासे इनका सम्बन्ध नहीं है बल्कि आसक्तिकी तीव्रता मन्दतासे है। हो सकता है कि किसी व्यक्ति में क्रोधादिकी तो मन्दता हो और आसक्तिकी तीव्रता। या क्रोधादिकी तीव्रता हो और आसक्तिकी मन्दता। अतः क्रोधादिकी तीव्रता मन्दताको लेश्या द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है और आसक्तिकी तीव्रता मन्दताको अनन्तानुबन्धी आदि द्वारा।

कषायोंकी शक्ति अचिन्त्य है। कभी-कभी तीव्र कषायवश आत्माके प्रदेश शरीरसे निकलकर अपने बैरीका घात तक कर आते हैं, इसे कषाय समुद्घात कहते हैं।

६	कषाय समुद्घात
१	कषाय समुद्घातका लक्षण ।
*	वह शरीरसे तिगुने विस्तारवाला होता है । —दे० ऊपर लक्षण
*	वह संख्यात समय स्थितिवाला है । —दे० समुद्घात
*	इसका गमन व फैलाव सर्व दिशाओंमें होता है । —दे० समुद्घात
*	यह बद्धायुष्क व अबद्धायुष्क दोनोंको होता है । —दे० मरण/५/७
*	कषाय व मारणान्तिक समुद्घातमें अन्तर । —दे० मरण/५
*	कषाय समुद्घातका स्वामित्व । —दे० क्षेत्र/३

१. कषायके भेद व लक्षण

१. कषाय सामान्यका लक्षण

पं. सं./प्रा./१/१०९ सुहदुक्खं बहुसस्सं कम्मक्खित्तं कसेइ जीवस्स। संसारगदी मेरं तेण कसाओ त्ति णं बिंति।१०९। —जो क्रोधादिक जीवके सुख-दुःखरूप बहुत प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले कर्मरूप खेतको कर्षण करते हैं अर्थात् जोतते हैं, और जिनके लिए संसारकी चारों गतियाँ मर्यादा या मेंड रूप हैं, इस लिए उन्हें कषाय कहते हैं। (ध. १/१,१,४/१४१/५) (ध. ६/१,९-१,२३/४१/३) (ध. ७/२,१,३/७/१) (चा. सा./८९/१)।

स. सि./६/४/३२०/९ कषाय इव कषायाः। कः उपमार्थः। यथा कषायो नैयग्रोधादिः श्लेषहेतुस्तथा क्रोधादिरप्यात्मनः कर्मश्लेषहेतुत्वात् कषाय इव कषाय इत्युच्यते। —कषाय अर्थात् 'क्रोधादि' कषायके समान होनेसे कषाय कहलाते हैं। उपमारूप अर्थ क्या है? जिस प्रकार नैयग्रोध आदि कषाय श्लेषका कारण है उसी प्रकार आत्माका क्रोधादिरूप कषाय भी कर्मोंके श्लेषका कारण है। इसलिए कषायके समान यह कषाय है ऐसा कहते हैं।

रा. वा./२/६/२/१०८/२८ कषायवेदनीयस्योदयादात्मनः कालुष्यं क्रोधादिरूपमुत्पद्यमानं 'कषत्यात्मानं हिनस्ति' इति कषाय इत्युच्यते। —कषायवेदनीय (कर्म) के उदयसे होनेवाली क्रोधादिरूप कलुषता कषाय कहलाती है; क्योंकि यह आत्माके स्वाभाविक रूपको कष देती है अर्थात् उसकी हिंसा करती है। (गो. सा. अ./६/४०) (पं. ध./उ./११३५)।

रा. वा./६/४/२/५०८/८ क्रोधादिपरिणामः कषति हिनस्त्यात्मानं कुगतिप्रापणादिति कषायः। —क्रोधादि परिणाम आत्माको कुगतिमें ले जानेके कारण कषते हैं; आत्माके स्वरूपकी हिंसा करते हैं, अतः ये कषाय हैं (ऊपर भी रा. वा./२/६/२/१०८) (भ. आ./वि./२७/१०७/११) (गो. क./जी. प्रा./३३/२८/१)।

रा. वा./९/७/११/६०४/६ चारित्रपरिणामकषणात् कषायः। —चारित्र परिणामको कषनेके कारण या घातनेके कारण कषाय है। (चा. सा./८८/६)।

२. कषायके भेद प्रभेद
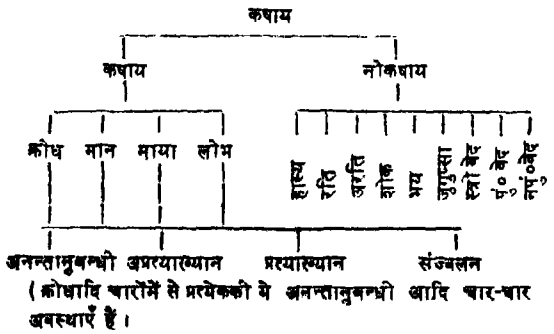
(क्रोधादि चारोंमें से प्रत्येककी ये अनन्तानुबन्धी आदि चार-चार अवस्थाएँ हैं।

प्रमाण:-

१. कषाय व नोकषाय—(क. पा. १/१,१३-१४/§२८७/३२२/१)

२. कषायके क्रोधादि ४ भेद—(ष. खं. १/१,१/सू. १११/३४८) (बा. अ./४९) (रा. वा./९/७/११/६०४/७) (ध. ६/१,९-२,२३/४१/३) (द्र. सं./टी/३०/८९/७)।

३. नोकषायके नौ भेद—(त. सू./८/९) (स. सि./८/९/३८५/१२) (रा. वा./८/९/४/५७४/१६) (पं. ध./उ./१०७७)।

४. क्रोधादि के अनन्तानुबन्धी आदि १६ भेद—(स. सि./८/९/३८६/४) (स. सि./८/१/३७४/८) (रा. वा. ८/९/५/५७४/२७) (न.च. वृ./३०८)

५. कषायके कुल २५ भेद—(स. सि./८/१/३७५/११) (रा. वा./८/१/२९/५६४/२६) (ध. ८/३,६/२१/४) (क. पा./१/१.१३-१४/§२८७/३२२/१) (द्र. सं./टी/१३/३८/१) (द्र. सं./टी./३०/८९/७)।

३. निक्षेपकी अपेक्षा कषायके भेद

(क. पा.१/१,१३-१४/§२३५-२७९/२८३-२९३)।

कषाय

पृ. २८३

नाम स्थापना द्रव्य प्रत्यय समुत्पत्तिक आदेश रस भाव

प्रत्यय | २८४ — बाह्य अभ्यन्तर

आदेश | ३०२-३०३ — चित्र कर्म, काष्ठ कर्म

द्रव्य — तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य — २८५ — सर्ज्ज सिरीष इत्यादि

एक जीव, अनेक जीव, एक अजीव, अनेक अजीव, एकजीव एक अजीव, एक जीव अनेक अजीव, अनेक जीव एक अजीव, अनेक जीव अनेक अजीव
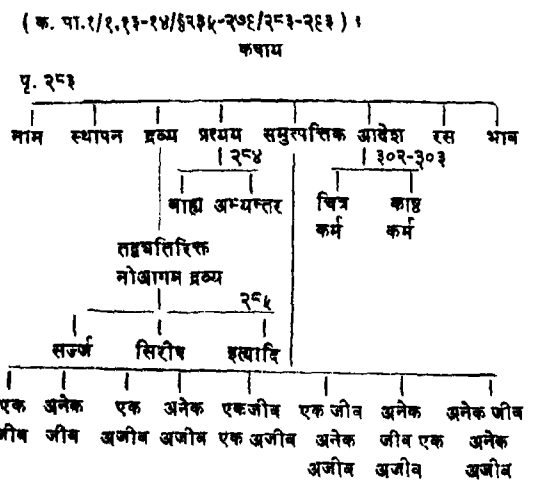
४. कषाय मार्गणाके भेद

ष. खं. १/१,१/सू. १११/३४८ "कसायाणुवादेण अत्थि कोधकसाई माणकसाई मायकसाई लोभकसाई अकसाई चेदि।" —कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी और कषायरहित जीव होते हैं।

५. नोकषाय या अकषायका लक्षण

स. सि./८/९/३८५/११ ईषदर्थे नञः प्रयोगादीषत्कषायोऽकषाय इति। –यहाँ ईषत् अर्थात् किंचित् अर्थमें 'नञ्' का प्रयोग होनेसे किंचित् कषायको अकषाय (या नोकषाय) कहते हैं। (रा. वा./८/९/३/५७४/१०) (ध. ६/१,९-१,२४/४६/१) (ध. १३/५,५,९४/३५९/९). (गो. क/जी. प्र./३३/२८/७)।

६. अकषाय मार्गणाका लक्षण

पं. सं./ प्रा./१/११६ अप्पपरोभयबाहणबंधासंजमणिमित्तकोहाई। जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइ णो जीवा ।११६। –जिनके अपने आपको, परको और उभयको बाधा देने, बन्ध करने और असंयमके आचरणमें निमित्तभूत क्रोधादि कषाय नहीं हैं, तथा जो बाह्य और अभ्यन्तर मलसे रहित हैं ऐसे जीवोंको अकषाय जानना चाहिए। (ध. १/१,१,१११/ १७८/३५१) (गो.जी./मू./२८९/६१७)।

७. तीव्र व मन्द कषायके लक्षण व उदाहरण

पा. अ./मू./९१-९२ सव्वत्थ वि पिय वयणं दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं। सव्वेसिं गुणगहणं मंदकसायाण दिट्ठंता ।९१। अप्पपसंसणकरणं पुज्जेसु वि दोसगहणसीलत्तं। वेरधरणं च सुइरं तिव्व कसायाण लिंगाणि ।९२। –सभीसे प्रिय वचन बोलना, खोटे वचन बोलनेपर दुर्जनको भी क्षमा करना और सभीके गुणोंको ग्रहण करना, ये मन्दकषायी जीवोंके उदाहरण हैं ।९१। अपनी प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषोंमें भी दोष निकालनेका स्वभाव होना और बहुत कालतक वैरका धारण करना, ये तीव्र कषायी जीवोंके चिन्ह हैं ।९२।

८. आदेश व प्रत्यय आदि कषायोंके लक्षण

क. पा. १/१,१३-१४/प्रकरण /पृष्ठ/पंक्ति "सर्जो नाम वृक्षविशेष', तस्य कषाय' सर्जकषाय.। शिरीषस्य कषाय शिरीषकषाय'। § २४२/२८५/६/…पच्चयकसायो णाम कोहवेयणीयस्स कम्मस्स उदएण जीवो कोहो होदि तम्हा तं कम्मं पच्चयकसाएण कोहो। (चूर्णसूत्र पृ. २८७) / समुप्पत्तियकसायो णाम, कोहो सिया जीवो सिया णोजीवो एवमट्ठभंगा/ (चूर्ण सूत्र पृ. २९३)/ मणुसस्सपडुच्च कोहो समुप्पण्णो सो मणुस्सो कोहो। (चूर्ण सूत्र पृ. २९५)/ कट्ठं वा लेड्डुं वा पडुच्च कोहो समुप्पण्णो तं कट्ठं वा लेड्डुं वा कोहो। (चूर्णसूत्र पृ. २९८) एव माणमाया-लोभाणं/ (पृ. ३००)। आदेसकसाएण जहा चित्तकम्मे लिहिदो कोहो रुसिदो तिवलिदणिडालो भिउडिं काऊण। (चूर्ण सूत्र/पृ. ३०१)। एवमेदे कट्ठकम्मे वा पोत्तकम्मे वा एस आदेसकसायो णाम। (चूर्ण-सूत्र/पृ० ३०३) –सर्ज साल नामके वृक्षविशेषको कहते हैं। उसके कसैले रसको सर्जकषाय कहते हैं। सिरीष नामके वृक्षके कसैले रसको सिरीषकषाय कहते हैं (§ २४२)। अब प्रत्ययकषायका स्वरूप कहते हैं–क्रोध वेदनीय कर्मके उदयसे जीव क्रोध रूप होता है, इसलिए प्रत्ययकर्मकी अपेक्षा वह क्रोधकर्म क्रोध कहलाता है (§२४३ का चूर्णसूत्र पृ. २८७)। (इसी प्रकार मान माया व लोभका भी कथन करना चाहिए) (§ २४७ के चूर्णसूत्र पृ. २८९)। समुत्पत्तिकी अपेक्षा कहींपर जीव क्रोधरूप है कहींपर अजीव क्रोधरूप है इस प्रकार आठ भंग करने चाहिए। जिस मनुष्यके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है वह मनुष्य समुत्पत्तिक कषायकी अपेक्षा क्रोध है। जिस लकड़ी अथवा ईंट आदिके टुकड़ेके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है समुत्पत्तिक कषायको अपेक्षा व लकड़ी या ईंट आदिका टुकड़ा क्रोध है। (इसी प्रकार मान, माया, लोभ का भी कथन करना चाहिए)। (§ २५२-२६२ के चूर्ण सूत्र पृ. २९३-३००)। भौंह चढ़ानेके कारण जिसके ललाटमें तीन बली पड़ गयी हैं चित्रमें अंकित ऐसा रुष्ट हुआ जीव आदेशकषायकी अपेक्षा क्रोध है। (इसी प्रकार चित्रलिखित अकड़ा हुआ पुरुष मान, ठगता हुआ मनुष्य माया तथा लम्पटताके भाव युक्त पुरुष लोभ है)। इस प्रकार काष्ठ कर्ममें या पोतकर्ममें लिखे गये (या उकेरे गये) क्रोध, मान, माया और लोभ आदेश कषाय है। (§२६३-२६८ के चूर्ण सूत्र पृ. ३०१-३०३)

२. कषाय निर्देश व शंका समाधान

१. कषायोंका परस्पर सम्बन्ध

ध.१२/४,२,७,८६/५२/६ मायाए लोभपुरंगमत्तुवलंभादो।
ध.१२/४,२,७,८८/५२/११ कोधपुरंगमत्तदंसणादो।
ध.१२/४,२,७,१००/५७/२ अरदीए विणा सोगाणुप्पत्तीए। –माया, लोभपूर्वक उपलब्ध है। वह (मान) क्रोधपूर्वक देखा जाता है। अरतिके बिना शोक नहीं उत्पन्न होता।

२. कषाय व नोकषायमें विशेषता

ध. ६/१,९-१,२४/४५/५ एत्थ णोसद्दो देसपडिसेहो घेत्तव्वो, अण्णहा एदेसिमकसायत्तप्पसंगादो। होदु चे ण, अकसायाणं चारित्तावरणविरोहा। ईषत्कषायो नोकषाय इति सिद्धम्। …कसाएहिंतो णोकसायाणं कधं थोवत्तं। ट्ठिदीहिंतो अणुभागदो उदयदो य। उदयकालो णोकसायाणं कसाएहिंतो बहुओ उवलब्भदि त्ति णोकसाएहिंतो कसायाणं थोवत्तं किण्णेच्छदे। ण, उदयकालमहल्लत्तणेण चारित्तविणासिकसाएहिंतो तम्मलफलकम्माणं महल्लत्ताणुववत्तीदो। –नोकषाय शब्दमें प्रयुक्त नो शब्द, एकदेशका प्रतिषेध करनेवाला ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा इन स्त्रीवेदादि नवों कषायोंके अकषायताका प्रसंग प्राप्त होता है। प्रश्न–होने दो, क्या हानि है? उत्तर–नहीं, क्योंकि, अकषायोंके चारित्रको आवरण करनेका विरोध है। इस प्रकार ईषत् कषायको नोकषाय कहते हैं, यह सिद्ध हुआ। प्रश्न–कषायोंसे नोकषायोंके अल्पपना कैसे है? उत्तर–स्थितियोंकी, अनुभागकी और उदयकी अपेक्षा कषायोंसे नोकषायोंके अल्पता पायी जाती है। प्रश्न–नोकषायोंका उदयकाल कषायोंकी अपेक्षा बहुत पाया जाता है, इसलिए नोकषायोंकी अपेक्षा कषायोंके अल्पपना क्यों नहीं मान लेते हैं? उत्तर–नहीं, क्योंकि, उदयकालकी अधिकता होनेसे, चारित्र विनाशक कषायोंकी अपेक्षा चारित्रमें मलको उत्पन्न करनेरूप फलवाले कर्मोंकी महत्ता नहीं बन सकती। (ध.१३/५,५,९४/३५९/९)

३. कषाय जीवका गुण नहीं है, विकार है

ध.५/१,७,४४/२२३/५ कसाओ णाम जीवगुणो, ण तस्स विणासो अत्थि णाणदंसणाणमिव। विणासो वा जीवस्स विणासेण होदव्वं; णाणदंसणविणासेणेव। तदो ण अकसायत्तं घडदे। इदि। होदु णाणदंसणाणं विणासम्हि जीव विणासो, तेसिं तल्लक्खणत्तादो। ण कसाओ जीवस्स लक्खणं, कम्मजणिदस्स लक्खणत्तविरोहा। ण कसायाणं कम्मजणिदत्तमसिद्धं, कसायवड्ढीए जीवलक्खणणाणहाणिअण्णहाणुववत्तीदो तस्स कम्मजणिदत्तसिद्धीदो। ण च गुणो गुणंतरविरोही अण्णत्थ तहाणुवलंभा। –प्रश्न–कषाय नाम जीवके गुणका है, इसलिए उसका विनाश नहीं हो सकता, जिस प्रकार कि ज्ञान और दर्शन, इन दोनों जीवके गुणोंका विनाश नहीं होता। यदि जीवके गुणोंका विनाश माना जाये, तो ज्ञान और दर्शनके विनाशके समान जीवका भी विनाश हो जाना चाहिए। इसलिए सूत्रमें कही गयी अकषायता घटित नहीं होती? उत्तर–ज्ञान और दर्शनके विनाश होनेपर जीवका विनाश भले ही हो जावे; क्योंकि, वे जीवके लक्षण

हैं। किन्तु कषाय तो जीवका लक्षण नहीं है, क्योंकि कर्म जनित कषायको जीवका लक्षण माननेमें विरोध आता है। और न कषायोंका कर्मसे उत्पन्न होना असिद्ध है, क्योंकि, कषायोंकी वृद्धि होनेपर जीवके लक्षणभूत ज्ञानकी हानि अन्यथा बन नहीं सकती है। इसलिए कषायका कर्मसे उत्पन्न होना सिद्ध है। तथा गुण गुणान्तरका विरोधी नहीं होता, क्योंकि, अन्यत्र वैसा देखा नहीं जाता।

४. जीवको या द्रव्यकर्म दोनोंको ही क्रोधादि संज्ञाएँ कैसे प्राप्त हो सकती हैं

क.पा.१/१,१,१३-१४/§२४३-२४४/२८७-२८८/७§२४३ 'जीवो कोहो होदि' त्ति ण घडदे; दव्वस्स जीवस्स पज्जयसरूवकोहभावावत्तिविरोहादो: ण, पज्जएहिंतो पुधभूदजीवदव्वाणुवलंभादो। तेण 'जीवो कोहो होदि' त्ति घडदे। § २४४. दव्वकम्मस्स कोहणिमित्तस्स कथं कोहभावो। ण; कारणे कज्जुवयारेण तस्स कोहभावसिद्धीदो। –प्रश्न–'जीव क्रोधरूप होता है' यह कहना संगत नहीं है, क्योंकि जीव द्रव्य है और क्रोध पर्याय है। अतः जीवद्रव्यको क्रोध पर्यायरूप माननेमें विरोध आता है। उत्तर–नहीं, क्योंकि जीव द्रव्य अपनी क्रोधादि पर्यायोंसे सर्वथा भिन्न नहीं पाया जाता।–दे० द्रव्य/४। अतः जीव क्रोधरूप होता है यह कथन भी बन जाता है। प्रश्न–द्रव्यकर्म क्रोधका निमित्त है अतः वह क्रोधरूप कैसे हो सकता है? उत्तर–नहीं, क्योंकि, कारणरूप द्रव्यमें कार्यरूप क्रोध भावका उपचार कर लेनेसे द्रव्यकर्ममें भी क्रोधभावकी सिद्धि हो जाती है, अर्थात् द्रव्यकर्मको भी क्रोध कह सकते हैं।

क.पा.१/१,१३-१४/२५१/२९२/६ ण च एत्थ दव्वकम्मस्स उवयारेण कसायत्तं, उजुसुदे उवयाराभावादो। कथं पुण तस्स कसायत्तं। उच्चदे दव्वभावकम्माणि जेण जीवादो अपुधभूदाणि तेण दव्वकसायत्तं जुज्जदे। –यदि कहा जाय कि उदय द्रव्यकर्मका ही होता है अतः ऋजुसूत्रनय उपचारसे द्रव्य कर्मको भी प्रत्ययकषाय मान लेगा, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऋजुसूत्रनयमें उपचार नहीं होता। प्रश्न–यदि ऐसा है तो द्रव्यकर्मको कषायपना कैसे प्राप्त हो सकता है? उत्तर–चूँकि द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनों जीवसे अभिन्न हैं इसलिए द्रव्यकर्ममें द्रव्यकषायपना बन जाता है।

५. निमित्तभूत भिन्न द्रव्योंको समुत्पत्तिक कषाय कैसे कह सकते हो

क.पा.१/१,१३-१४/§२५७/२९७/१ जं मणुस्सं पडुच्च कोहो समुप्पण्णो सो ततो पुधभूदो संतो कथं कोहो। होत एसो दोसो जदि संगहादिणया अवलंबिदा, किंतु णइगमणओ जयिवसहाइरिएण जेणावलंबिदो तेण एस दोसो। तत्थ कथं ण दोसो। कारणम्मि णिलीणकज्जब्भुवगमादो। –प्रश्न–जिस मनुष्यके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न हुआ है, वह मनुष्य उस क्रोधसे अलग होता हुआ भी क्रोध कैसे कहला सकता है? उत्तर–यदि यहाँपर संग्रह आदि नयोंका अवलंबन लिया होता, तो ऐसा होता, किन्तु यतिवृषभाचार्यने यहाँपर नैगमनयका अवलम्बन लिया है, इसलिए यह कोई दोष नहीं है। प्रश्न–नैगमनयका अवलम्बन लेनेपर दोष कैसे नहीं है? उत्तर–क्योंकि नैगमनयकी अपेक्षा कारणमें कार्यका सद्भाव स्वीकार किया गया है (अर्थात् कारणमें कार्य निलीन रहते हैं ऐसा माना गया है)।

क.पा.१/१,१३-१५/§२५६/२९८/६ वावारविरहिओ णोजीवो कोहं ण उप्पादेदि त्ति णासंकणिज्जं विद्धपायकंटए वि समुप्पज्जमाणकोहुवलंभादो, संगयंगलेट्ठुअखंडं रोसेण दसंतमक्कडुवलंभादो च। –प्रश्न–ताड़न मारण आदि व्यापारसे रहित अजीव (काष्ठ ढेला आदि) क्रोधको उत्पन्न नहीं करते हैं (फिर वे क्रोध कैसे कहला सकते हैं)? उत्तर–ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है; क्योंकि, जो काँटा पैरको बींध देता है उसके ऊपर भी क्रोध उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है। तथा बन्दरके शरीरमें जो पत्थर आदि लग जाता है, रोषके कारण वह उसे चबाता हुआ देखा जाता है। इससे प्रतीत होता है कि अजीव भी क्रोधको उत्पन्न करता है।

क.पा.१/१,१३-१४/§ २६२/३००/११ "कधं णोजीवे माणस्स समुप्पत्ती। ण; अप्पणो रूवजोव्वणगव्वेण वत्थालंकारादिसु समुव्वहमाणमाणत्थीपुरिसाणमुवलंभादो।" –प्रश्न–अजीवके निमित्तसे मानकी उत्पत्ति कैसे होती है? उत्तर–ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि अपने रूप अथवा यौवनके गर्वसे वस्त्र और अलंकार आदिमें मानको धारण करनेवाले स्त्री और पुरुष पाये जाते हैं। इसलिए समुत्पत्तिक कषायकी अपेक्षा वे वस्त्र और अलंकार भी मान कहे जाते हैं।

६. कषायरसवाले अजीव द्रव्योंको कषाय कैसे कहा जा सकता है

क.पा.१/१,१३-१४/§२७०/३०६/२ दव्वस्स कथं कसायववएसो; ण; कसायवदिरित्तदव्वाणुवलंभादो। अकसायं पि दव्वमत्थि त्ति चे; होदु णाम; किंतु 'अप्पियदव्वं ण कसायादो पुधभूदमत्थि' त्ति भणामो। तेण 'कसायरसं दव्वं दव्वाणि वा सिया कसाओ' त्ति सिद्धं। –प्रश्न–द्रव्यको (सिरीष आदिको) कषाय कैसे कहा जा सकता है? उत्तर–क्योंकि कषाय रससे भिन्न द्रव्य नहीं पाया जाता है, इसलिए द्रव्यको कषाय कहनेमें कोई आपत्ति नहीं आती है। प्रश्न–कषाय रससे रहित भी द्रव्य पाया जाता है ऐसी अवस्थामें द्रव्यको कषाय कैसे कहा जा सकता है? उत्तर–कषायरससे रहित द्रव्य पाया जाओ, इसमें कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु यहाँ जिस द्रव्यके विचारकी मुख्यता है वह कषायरससे भिन्न नहीं है, ऐसा हमारा कहना है। इसलिए जिसका या जिनका रस कसैला है उस द्रव्यको या उन द्रव्योंको कथंचित् कषाय कहते हैं यह सिद्ध हुआ।

७. प्रत्यय व समुत्पत्तिक कषायमें अन्तर

क.पा.१/१,१३-१४/§२४६/२८१/६ एसो पच्चयकसाओ समुप्पत्तियकसायादो अभिण्णो त्ति पुध ण वत्तव्वो। ण; जीवादो अभिण्णो होदूण जो कसाए समुप्पादेदि सो पच्चओ णाम भिण्णो होदूण जो समुप्पादेदि सो समुप्पत्तिओ त्ति दोण्हं भेदुवलंभादो। –प्रश्न–यह प्रत्ययकषाय समुत्पत्तिककषायसे अभिन्न है अर्थात् ये दोनों कषाय एक हैं (क्योंकि दोनों ही कषायके निमित्तभूत अन्य पदार्थोंको उपचारसे कषाय कहते हैं) इसलिए इसका (प्रत्यय कषायका) पृथक् कथन नहीं करना चाहिए? उत्तर–नहीं, क्योंकि, जो जीवसे अभिन्न होकर कषायको उत्पन्न करता है वह प्रत्यय कषाय है और जो जीवसे भिन्न होकर कषायको उत्पन्न करता है वह समुत्पत्तिक कषाय है। अर्थात् क्रोधादि कर्म प्रत्यय कषाय है और उनके (बाह्य) सहकारीकारण (मनुष्य ढेला आदि) समुत्पत्तिककषाय हैं इस प्रकार इन दोनोंमें भेद पाया जाता है, इसलिए समुत्पत्तिक कषायका प्रत्ययकषायसे भिन्न कथन किया है।

८. आदेशकषाय व स्थापनाकषायमें अन्तर

क.पा.१/१,१३-१४/§२६४/३०१/६ आदेसकसाय-ट्ठवणकसायाणं को भेओ। अत्थि भेओ, सब्भावट्ठवणा कषायपरूवणा कसायबुद्धी च आदेसकसाओ, कसायविसयसब्भावासब्भावट्ठवणा ट्ठवणकसाओ, तम्हा ण पुणरुत्तदोसो त्ति। –प्रश्न–(यदि चित्रमें लिखित या काष्ठादिमें

उकेरित क्रोधादि आवेश कषाय है) तो आवेशकषाय और स्थापना-कषायमें क्या भेद है। उत्तर—आदेशकषाय और स्थापनाकषायमें भेद है, क्योंकि सद्भावस्थापना कषायका प्ररूपण करना और 'यह कषाय है' इस प्रकारकी बुद्धि होना, यह आवेशकषाय है। तथा कषायकी सद्भाव और असद्भावरूप स्थापना करना स्थापनाकषाय है। तथा इसलिए आवेशकषाय और स्थापनाकषायका अलग-अलग कथन करनेसे पुनरुक्त दोष नहीं आता है।

९. चारों गतियोंमें कषाय विशेषोंकी प्रधानताका नियम

गो.जी./मू./२८८/६१६ णारयतिरिक्खणरसुरगईसु उप्पण्णपढमकालम्हि। कोहो माया माणो लोहुदओ अणियमो वापि।

गो. जी./जी. प्र./२८ /६१६/५ नारकतिर्यग्नरसुरगत्युत्पन्नजीवस्य तद्भव-प्रथमकाले-प्रथमसमये यथासंख्यं क्रोधमायामानलोभकषायाणामुदयः स्यादिति नियमवचनं कषायप्राभृतद्वितीयसिद्धान्तव्याख्यातुर्यति-वृषभाचार्यस्य अभिप्रायमाश्रित्योक्तं। वा-अथवा महाकर्मप्रकृति-प्राभृतप्रथमसिद्धान्तकर्तुः भूतबल्याचार्यस्य अभिप्रायेणानियमो ज्ञातव्यः। प्रागुक्तनियमं बिना यथासंभवं कषायोदयोऽस्तीत्यर्थः। —नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देवविषै उत्पन्न हुए जीवके प्रथम समय-विषै क्रमसे क्रोध, माया, मान व लोभका उदय हो है। सो ऐसा नियम कषायप्राभृत दूसरा सिद्धान्तके कर्ता यतिवृषभाचार्यके अभि-प्रायसे जानना। बहुरि महाकर्म प्रकृति प्राभृत प्रथमसिद्धान्तके कर्ता भूतबलि नामा आचार्य ताके अभिप्रायकरि पूर्वोक्त नियम नहीं है। जिस तिस किसी एक कषायका भी उदय हो सकता है।

ध.४/१,५,२५०/४४५/५ णिरयगदीए···उप्पण्णजीवाणं पढमं कोधोदयस्सु-वलंभा।···मणुसगदीए···माणोदय।···तिरिक्खगदीए···मायोदय।···देवगदीए···लोहोदओ होदि त्ति आइरियपरंपरागदुवदेसा। —नरक-गतिमें उत्पन्न जीवोंके प्रथमसमयमें क्रोधका उदय, मनुष्यगतिमें मानका, तिर्यंचगतिमें मायाका और देवगतिमें लोभके उदयका नियम है। ऐसा आचार्य परम्परागत उपदेश है।

३. कषायोंकी शक्तियाँ, उनका कार्य व स्थिति

१. कषायोंकी शक्तियोंके दृष्टान्त व उनका फल

पं.सं./प्रा./१/१११-११४ सिलभेयपुढविभेया धूलीराई य उदयराइसमा। णिर-तिरि-णर-देवत्तं उविंति जीवा हु कोहवसा।१११। सेलसमो अट्ठिसमो दारुसमो तह य जाण वेत्तसमो। णिर-तिरि-णर-देवत्तं उविंति जीवा हु माणवसा।१२१। वंसीमूलं मेसस्स सिंगगोमुत्तियं च खोरुप्पं। णिर-तिरि-णर-देवत्तं उविंति जीवा हु मायवसा।११३। किमिरायचक्कमलकद्दमो य तह चेय जाण हारिद्दं। णिर-तिरि-णर-देवत्तं उविंति जीवा हु लोहवसा।११४।

कषायकी अवस्था	शक्तियोंके दृष्टान्त				फल
	क्रोध	मान	माया	लोभ	
अनन्तानु०	शिला रेखा	शैल	वेणु मूल	किरमजीका रंग या दाग	नरक
अप्रत्या०	पृथिवी रेखा	अस्थि	मेष शृंग	चक्र मल ,,	तिर्यंच
प्रत्याख्यान	धूलि रेखा	दारु या काष्ठ	गोमूत्र	कीचड़ ,,	मनुष्य
संज्वलन०	जल रेखा	वेत्र (बेंत)	खुरपा	हल्दी ,,	देव

(ध.१/१,१,१११/१७४-१७७/३५०), (रा.वा./८/६/५/५७४/२६), (गो.जी./मू./२८४-२८७/६१०-६१४), (पं.सं./सं./१/२०८-२११)

२. उपरोक्त दृष्टान्त स्थितिकी अपेक्षा है अनुभागकी अपेक्षा नहीं

गो.जी./जी.प्र./२८४-२८७/६१०-६१५ यथा शिलादिभेदाना चिरतरचिर-शीघ्रशीघ्रतरकालैर्विना संधानं न घटते तथोत्कृष्टादिशक्तियुक्तक्रोध-परिणतो जीवोऽपि तथाविधकालैर्विना क्षमालक्षणसंधानार्हो न स्यात् इत्युपमानोपमेययोः सादृश्यं संभवतीति तात्पर्यार्थः।२८४। यथा हि चिरतरादिकालैर्विना शैलास्थिकाष्ठवेत्राः नामयितुं न शक्यन्ते तथो-त्कृष्टादिशक्तिमानपरिणतो जीवोऽपि तथाविधकालैर्विना मानं परि-हृत्य विनयरूपनमनं कर्तुं न शक्नोतीति सादृश्यसंभवोऽत्र ज्ञातव्यः।२८५। यथा वेणूपमूलादयः चिरतरादिकालैर्विना स्वस्ववक्रतां परि-हृत्य ऋजुत्वं न प्राप्नुवन्ति तथा जीवोऽपि उत्कृष्टादिशक्तियुक्त-मायाकषायपरिणतः तथाविधकालैर्विना स्वस्ववक्रतां परिहृत्य ऋजु-परिणामो न स्यात् इति सादृश्यं युक्तम्।२८६। —जैसे शिलादि पर उकेरी या खेंची गयी रेखाएँ अधिक देरसे, देरसे, जल्दी व बहुत जल्दी काल बीते बिना मिलती नहीं है, उसी प्रकार उत्कृष्टादि शक्तियुक्त क्रोधसे परिणत जीव भी उतने-उतने काल बीते बिना अनुसंधान या क्षमाको प्राप्त नहीं होता है। इसलिए यहाँ उपमान और उपमेयकी सदृशता सम्भव है।२८४। जैसे चिरतर आदि काल बीते बिना शैल, अस्थि, काष्ठ और बेत नमाये जाने शक्य नहीं हैं वैसे ही उत्कृष्टादि शक्तियुक्त मानसे परिणत जीव भी उतना उतना काल बीते बिना मानको छोड़कर विनय रूप नमना या प्रवर्तना शक्य नहीं है, अतः यहाँ भी उपमान व उपमेयमें सदृशता है।२८५। जैसे वेणुमूल आदि चिरतर आदि काल बीते बिना अपनी-अपनी वक्रता-को छोड़कर ऋजुत्व नहीं प्राप्त करते हैं, वैसे ही उत्कृष्टादि शक्तियुक्त मायासे परिणत जीव भी उतना-उतना काल बीते बिना अपनी-अपनी वक्रताको छोड़कर ऋजु या सरल परिणामको प्राप्त नहीं होते, अतः यहाँ भी उपमान व उपमेयमें सदृशता है। (जैसे कृमिराग आदिके रंग चिरतर आदि काल बीते बिना छूटते नहीं हैं, वैसे ही उत्कृष्टादि शक्तियुक्त लोभसे परिणत जीव भी उतना-उतना काल बीते बिना लोभ परिणामको छोड़कर सन्तोषको प्राप्त नहीं होता है, इसलिए यहाँ भी उपमान व उपमेयमें सदृशता है। बहुरि इहाँ शिलाभेदादि उपमान और उत्कृष्ट शक्तियुक्त आदि क्रोधादिक उप-मेय ताका समानपना अतिघना कालादि गये बिना मिलना न होने-की अपेक्षा जानना (पृ.६११)।

३. उपरोक्त दृष्टान्तोंका प्रयोजन

गो.जी./जी.प्र./२९१/६११/६ इति शिलाभेदादिदृष्टान्ता स्फुटं व्यवहाराव-धारणेन भवन्ति। परमागमव्यवहारिभिराचार्यैः अव्युत्पन्नमन्दप्रज्ञ-शिष्यप्रतिबोधनार्थं व्यवहर्तव्यानि भवन्ति। दृष्टान्तप्रदर्शनबलेनैव हि अव्युत्पन्नमन्दप्रज्ञाः शिष्याः प्रतिबोधयितुं शक्यन्ते। अतो दृष्टान्त-नामान्येव शिलाभेदादिशक्तीनां नामानीति रूढानि। —ए शिलादि-के भेदरूप दृष्टान्त प्रगट व्यवहारका अवधारणकरि हैं, और परमा-गमका व्यवहारी आचार्यनिकरि मन्दबुद्धि शिष्यको समझावनेके अर्थि व्यवहार रूप कीएं हैं, जातैं दृष्टान्तके बलकरि ही मन्दबुद्धि समझै हैं, तातैं दृष्टान्तकी मुख्यताकरि जेदार्ष्टान्तके नाम प्रसिद्ध कीए हैं।

४. क्रोधादि कषायोंका उदयकाल

ध.४/१,५,२५४/४४७/३ कसायाणामुदयस्स अन्तोमुहुत्तादो उवरि णिच्छ-एण विणासो होदि त्ति गुरूवदेसा। —कषायोंके उदयका, अन्त-र्मुहूर्तकालसे ऊपर, निश्चयसे विनाश होता है, इस प्रकार गुरुका उप-देश है। (और भी देखो काल/५)

५. कषायोंकी तीव्रता मन्दताका सम्बन्ध लेश्याओंसे है अनन्तानुबन्धी आदि अवस्थाओंसे नहीं

ध./१/१, १, १३६/३८८।३ षड्विधः कषायोदयः। तद्यथा तीव्रतमः, तीव्रतरः, तीव्रः, मन्दः, मन्दतरः, मन्दतम इति। एतेभ्यः षड्भ्यः कषायोदयेभ्यः परिपाट्या षट् लेश्या भवन्ति। —कषायका उदय छह प्रकारका होता है। वह इस प्रकार है—तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और मन्दतम। इन छह प्रकारके कषायके उदयसे उत्पन्न हुई परिपाटीक्रमसे लेश्या भी छह हो जाती हैं।

मो. मा. प्र./२/५७/२० अनादि संसार-अवस्थाविषै इनि च्यारयूं ही कषायनिका निरन्तर उदय पाइये है। परमकृष्णलेश्यारूप तीव्र कषाय होय तहाँ भी अर परम शुक्ललेश्यारूप मन्दकषाय होय तहाँ भी निरन्तर च्यारयौं हीका उदय रहै है। जातै तीव्र मन्दकी अपेक्षा अनन्तानुबन्धी आदि भेद नहीं है, सम्यक्त्वादि घातनेकी अपेक्षा ये भेद हैं। इनिही (क्रोधादिक) प्रकृतिनिका तीव्र अनुभाग उदय होतै तीव्र क्रोधादिक हो है और मन्द अनुभाग उदय होतै मन्द क्रोधादिक हो है।

४. कषायोंका रागद्वेषादिमें अन्तर्भाव

१. नयोंकी अपेक्षा अन्तर्भाव निर्देश

क. पा./१/१, २१/चूर्ण सूत्र व टोका/§३३५-३४१। ३६५-३६६—

	नय				
कषाय	नैगम	संग्रह	व्यवहार	ऋजु सू.	शब्द
क्रोध	द्वेष	द्वेष	द्वेष	द्वेष	द्वेष
मान	,,	,,	,,		,,
माया	राग	राग	,,		,,
लोभ	,,	,,	राग	राग	द्वेष व कथंचित् राग
हास्य-रति	,,	,,	द्वेष		
अरति-शोक	द्वेष	द्वेष	,,		
भय-जुगुप्सा	,,	,,	,,		
स्त्री-पुं. वेद	राग	राग	राग		
नपुंसक वेद	,,	,,	द्वेष		

(ध. १२/४, २, ८, ८/२८३/८) (स. सा./ता. वृ. २८१/३६१) (पं.का./ता.वृ./१४८/२१४) (द्र.सं./टी./४८/२०५/६)

१. नैगम व संग्रह नयोंकी अपेक्षामें युक्ति

क. पा./१/चूर्णसूत्र व टी./१-२१/§३३५-३३६/३६५ णेगमसंगहाणं कोहो दोसो, माणो दोसो, माया पेज्जं, लोहो पेज्जं। (चूर्णसूत्र)। ...... कोहो दोसो; अङ्गसन्तापकम्प......पितृमात्रादिप्राणिमारणहेतुत्वात्, सकलानर्थनिबन्धनत्वात्। माणो दोसो क्रोधपृष्ठभावित्वात्, क्रोधोक्ताशेषदोषनिबन्धनत्वात्। माया पेज्जं प्रेयोवस्त्वालम्बनत्वात्, स्वनिष्पत्त्युत्तरकाले मनसः सन्तोषोत्पादकत्वात्। लोहो पेज्जं आह्लादनहेतुत्वात् (§३३५)। क्रोध-मान-माया-लोभाः दोषः आस्रवत्वादिति चेत्; सत्यमेतत्; किन्त्वत्र आह्लादनानाह्लादनहेतुमात्रं विवक्षितं तेन नायं दोषः। प्रेयसि प्रविष्टदोषत्वाद्वा माया-लोभौ प्रेयान्सौ। अरइ-सोय-भय-दुगुंछाओ दोसो; कोहोव्व असुहकारणत्तादो। हस्स-रइ-इत्थि-पुरिस-णवुंसयवेया पेज्जं, लोहो व्व रायकारणत्तादो (§३३६)। —नैगम और संग्रहनयकी अपेक्षा क्रोध दोष है, मान दोष है, माया पेज्ज है और लोभ पेज्ज है। (सूत्र) क्रोध दोष है; क्योंकि क्रोधके करने से शरीरमें सन्ताप होता है, शरीर काँपने लगता है......आदि......माता-पिता तकको मार डालता है और क्रोध सकल अनर्थोंका कारण है। मान दोष है; क्योंकि वह क्रोधके अनन्तर उत्पन्न होता है और क्रोधके विषयमें कहे गये समस्त दोषोंका कारण है। माया पेज्ज है; क्योंकि, उसका आलम्बन प्रिय वस्तु है, तथा अपनी निष्पत्तिके अनन्तर सन्तोष उत्पन्न करती है। लोभ पेज्ज है; क्योंकि वह प्रसन्नताका कारण है। प्रश्न—क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों दोष हैं, क्योंकि वे स्वयं आस्रव रूप हैं या आस्रवके कारण हैं? उत्तर—यह कहना ठीक है, किन्तु यहाँ पर, कौन कषाय आनन्दकी कारण है और कौन आनन्दकी कारण नहीं है इतने मात्रकी विवक्षा है, इसलिए यह कोई दोष नहीं है। अथवा प्रेममें दोषपना पाया ही जाता है अतः माया और लोभ प्रेम अर्थात् पेज्ज है। अरति, शोक, भय और जुगुप्सा दोष रूप हैं; क्योंकि ये सब क्रोधके समान अशुभके कारण हैं। हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद पेज्जरूप हैं, क्योंकि ये सब लोभके समान रागके कारण हैं।

२. व्यवहारनयकी अपेक्षामें युक्ति

क. पा./१/चूर्णसूत्र व टी./१-२१/§३३७-३३८/३६७ ववहारणयस्स कोहो दोसो, माणो दोसो, माया दोसो, लोहो पेज्जं (सू.) क्रोध-मानौ दोष इति न्याय्यं तत्र लोके दोषव्यवहारदर्शनात्, न माया तत्र तद्व्यवहारानुपलम्भादिति; न; मायायामपि अप्रत्ययहेतुत्व-लोकगर्हितत्वयोरुपलम्भात्। न च लोकनिन्दितं प्रियं भवति; सर्वदा निन्दातो दुःखोत्पत्तेः (३३८)। लोहो पेज्जं लोभेन रक्षितद्रव्यस्य सुखेन जीवनोपलम्भात्। इत्थिपुरिसवेया पेज्जं सेसणोकसाया दोसो; तहा लोए संववहारदंसणादो। —व्यवहारनयकी अपेक्षा क्रोध दोष है, मान दोष है, माया दोष है और लोभ पेज्ज है। (सूत्र)। प्रश्न—क्रोध और मान द्वेष हैं यह कहना तो युक्त है, क्योंकि लोकमें क्रोध और मानमें दोषका व्यवहार देखा जाता है। परन्तु मायाको दोष कहना ठीक नहीं है, क्योंकि मायामें दोषका व्यवहार नहीं देखा जाता? उत्तर—नहीं, क्योंकि, मायामें भी अविश्वासका कारणपना और लोकनिन्दितपना देखा जाता है और जो वस्तु लोकनिन्दित होती है वह प्रिय नहीं हो सकती है; क्योंकि, निन्दासे हमेशा दुःख उत्पन्न होता है। लोभ पेज्ज है, क्योंकि लोभके द्वारा बचाये हुए द्रव्यसे जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता हुआ पाया जाता है। स्त्रीवेद और पुरुषवेद पेज्ज हैं और शेष नोकषाय दोष हैं क्योंकि लोकमें इनके बारेमें इसी प्रकारका व्यवहार देखा जाता है।

३. ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षामें युक्ति

क. पा. १/१-२१/चूर्णसूत्र व टी./§३३९-३४०/३६८ उजुसुदस्स कोहो दोसो, माणो णोदोसो णोपेज्जं, माया णोदोसो णोपेज्जं, लोहो पेज्जं (चूर्णसूत्र)। कोहो दोसो त्ति णव्वदे; सयलाणत्थहेउत्तादो। लोहो पेज्जं त्ति एदं पि सुगमं, तत्तो......किंतु माण-मायाओ णोदोसो णोपेज्जं त्ति एदं ण णव्वदे पेज्ज-दोसवज्जियस्स कसायस्स अणुवलंभादो त्ति (३३९)। एत्थ परिहारो उच्चदे, माण-माया णोदोसो; अंगसंतावाईणमकारणत्तादो। तत्तो समुप्पज्जमाण-अंगसंतावादओ दीसंति त्ति ण पच्चवट्ठाडुं जुत्तं; माण-णिबंधणकोहादो मायाणिबंधणलोहादो च समुप्पज्जमाणाणं तेसिमुवलंभादो।......ण च बे वि पेज्जं; तत्तो समुप्पज्जमाणआह्लादाणुवलंभादो। तम्हा माण-माया बे वि णोदोसो णोपेज्जं त्ति जुज्जदे

(३४०)। —ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा क्रोध दोष है; मान न दोष है और न पेज्ज है; माया न दोष है और न पेज्ज है; तथा लोभ पेज्ज है। (सूत्र)। प्रश्न—क्रोध दोष है यह तो समझमें आता है, क्योंकि वह समस्त अनर्थोंका कारण है। लोभ पेज्ज है यह भी सरल है।......किन्तु मान और माया न दोष हैं और न पेज्ज हैं, यह कहना नहीं बनता, क्योंकि पेज्ज और दोषसे भिन्न कषाय नहीं पायी जाती है? उत्तर—ऋजुसूत्रकी अपेक्षा मान और माया दोष नहीं हैं, क्योंकि ये दोनों अंग संतापादिके कारण नहीं हैं (अर्थात् इनकी अभेद प्रवृत्ति नहीं है)। यदि कहा जाय कि मान और मायासे अंग संताप आदि उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं; सो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि वहाँ जो अंग संताप आदि देखे जाते हैं, वे मान और मायासे न होकर मानसे होनेवाले क्रोधसे और मायासे होनेवाले लोभसे ही सीधे उत्पन्न होते हुए पाये जाते हैं।......उसी प्रकार मान और माया ये दोनों पेज्ज भी नहीं हैं, क्योंकि उनसे आनन्दकी उत्पत्ति होती हुई नहीं पायी जाती है। इसलिए मान और माया ये दोनों न दोष हैं और न पेज्ज हैं, यह कथन बन जाता है।

५. शब्दनयकी अपेक्षामें युक्ति

क. पा. १/१-२१/चूर्णसूत्र व टी/§ ३४१-३४२/३६६ सद्दस्स कोहो दोसो, माणो दोसो, माया दोसो, लोहो दोसो। कोहो माणो माया णोपेज्जं, लोहो सिया पेज्जं (चूर्णसूत्र)। कोह-माण-माया-लोहा-चत्तारि वि दोसो; अट्ठकम्मसवत्तादो, इहपरलोयविसेसदोसकारणत्तादो (§ ३४१)। कोहो माणो-माया णोपेज्जं; एदेहिंतो जीवस्स संतोस-परमाणंदाणमभावादो। लोहो सिया पेज्जं, तिरयणसाहणविसयलोहादो सग्गापवग्गाणमुप्पत्तिदंसणादो। अवसेसवत्थुविसयलोहो णोपेज्जं; तत्तो पावुप्पत्तिदंसणादो। ण च धम्मो ण पेज्जं, सयलसुह-दुक्खकारणाणं धम्माधम्माणं पेज्जदोसत्ताभावे तेसिं दोण्हं पि अभावप्पसंगादो।—शब्द नयकी अपेक्षा क्रोध दोष है, मान दोष है, माया दोष है और लोभ दोष है। क्रोध, मान और माया पेज्ज नहीं हैं किन्तु लोभ कथंचित् पेज्ज है। (सूत्र)। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों दोष हैं क्योंकि, ये आठों कर्मोंके आस्रवके कारण हैं, तथा इस लोक और पर लोकमें विशेष दोषके कारण हैं। क्रोध, मान और माया ये तीनों पेज्ज नहीं हैं; क्योंकि, इनसे जीवको सन्तोष और परमानन्दकी प्राप्ति नहीं होती है। लोभ कथंचित् पेज्ज है; क्योंकि रत्नत्रयके साधन विषयक लोभसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति देखी जाती है। तथा शेष पदार्थ विषयक लोभ पेज्ज नहीं हैं; क्योंकि, उससे पापकी उत्पत्ति देखी जाती है। यदि कहा जाये कि धर्म भी पेज्ज नहीं है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सुख और दुखके कारणभूत धर्म और अधर्मको पेज्ज और दोषरूप नहीं माननेपर धर्म और अधर्मके भी अभावका प्रसंग प्राप्त होता है।

५. कषाय मार्गणा

१. गतियोंकी अपेक्षा कषायोंकी प्रधानता

गो. जी./मू./२८८/६१६ णारयतिरिक्खणरसुरगईसु उप्पण्णपढमकालम्हि। कोहो माया माणो लोहुदओ अणियमो वापि॥ २८८॥

गो. जी./जी. प्र./२८८/६१६/६ नियमवचनं···यतिवृषभाचार्यस्य अभिप्रायमाश्रित्योक्तं।...भूतबल्याचार्यस्य अभिप्रायेणाऽनियमो ज्ञातव्य'। —नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव विषै उत्पन्न भया जीवकै पहिला समय विषै क्रमतै क्रोध, माया, मान व लोभका उदय हो है। नारकी उपजै तहाँ उपजतै ही पहिले समय क्रोध कषायका उदय हो है। ऐसे तिर्यंचके मायाका, मनुष्यके मानका और देवके लोभका उदय जानना। सो ऐसा नियम कषाय प्राभृत द्वितीय सिद्धान्तका कर्ता यतिवृषभाचार्य ताके अभिप्राय करि जानना। बहुरि महाकर्मप्रकृति प्राभृत प्रथम सिद्धान्तका कर्ता भूतबलि नामा आचार्य ताके अभिप्रायकरि पूर्वोक्त नियम नाहीं। जिस-तिस कोई एक कषायका उदय हो है।

२. गुणस्थानोंमें कषायोंकी सम्भावना

ष. खं./१/१, १/सू. ११२-११४/३५१-३५२ कोधकसाई माणकसाई मायकसाई एइंदियप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति।११२। लोभकसाई एइंदियप्पहुडि जाव सुहुम-सांपराइय सुद्धि संजदा त्ति।११३। अकसाई चदुसुट्ठाणेसु अत्थि उवसंतकसाय-वीयराय-छदुमत्था खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था, सजोगिकेवली अजोगिकेवलि त्ति। ११४।—एकेन्द्रियसे लेकर (अर्थात मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर) अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक क्रोधकषायी, मानकषायी, और मायाकषायी जीव होते हैं।११२। लोभ कषायमें युक्त जीव एकेन्द्रियोंसे लेकर सूक्ष्म साम्परायशुद्धिसंयत गुणस्थान तक होते है।११३। कषाय रहित जीव उपशान्तकषाय-वीतरागछद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतरागछद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानोंमें होते है।११४।

३. अप्रमत्त गुणस्थानोंमें कषायोंका अस्तित्व कैसे सिद्ध हो

ध. १/१,१,११२/३५१/७ यतीनामपूर्वकरणादीनां कथं कषायास्तित्वमिति चेत्, अव्यक्तकषायापेक्षया तथोपदेशात्।—प्रश्न—अपूर्वकरण आदि गुणस्थान वाले साधुओंके कषायका अस्तित्व कैसे पाया जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि अव्यक्त कषायकी अपेक्षा वहाँपर कषायोंके अस्तित्वका उपदेश दिया है।

४. उपशान्तकषाय गुणस्थानवर्तीको अकषाय कैसे-कैसे कह सकते हो?

ध. १/१,१,११४/३५२/९ उपशान्तकषायस्य कथमकषायत्वमिति चेत्, कथं च न भवति। द्रव्यकषायस्यानन्तस्य सत्त्वात्। न, कषायोदयाभावापेक्षया तस्याकषायत्वोपपत्तेः। -प्रश्न—उपशान्तकषाय गुणस्थानको कषायरहित कैसे कहा? प्रश्न—वह कषायरहित क्यों नहीं हो सकता है? प्रतिप्रश्न—वहाँ अनन्त द्रव्य कषायका सद्भाव होनेसे उसे कषायरहित नहीं कह सकते हैं? उत्तर—नहीं; क्योंकि, कषायके उदयके अभावकी अपेक्षा उसमें कषायोंसे रहितपना बन जाता है।

६. कषाय समुद्घात

१. कषाय समुद्घातका लक्षण

रा. वा./१/२०/१२/७७/१४ द्वितयप्रत्ययप्रकर्षोत्पादितक्रोधादिकृत: कषायसमुद्घात:। —बाह्य और आभ्यन्तर दोनों निमित्तोंके प्रकर्षसे उत्पादित जो क्रोधादि कषायें, उनके द्वारा किया गया कषाय समुद्घात है।

ध. ४/१,३,२/२६/८ "कसायसमुग्घादो णाम कोधभयादीहि सरीरतिगुणविप्फुज्जणं।" —क्रोध भय आदिके द्वारा जीवोंके प्रदेशोंका उत्कृष्टत: शरीरसे तिगुणे प्रमाण विसर्पणका नाम कषाय समुद्घात है।

ध. ७/२,६,१/२९९/८ कसायतिव्वदाए सरीरादो जीवपदेसाणं तिगुणविपुंजणं कसाय समुग्घादो णाम।—कषायकी तीव्रतासे जीवप्रदेशोंका अपने शरीरसे तिगुने प्रमाण फैलनेको कषाय समुद्घात कहते हैं।

का. अ./टी./१७६/११५/११ तीव्रकषायोदयान्मूलशरीरमत्यक्त्वा परस्य घातार्थमात्मप्रदेशानां बहिर्निर्गमनं संग्रामे सुभटानां रक्तलोचनादिभिः प्रत्यक्षदृश्यमानमिति कषायसमुद्‌घातः।=तीव्र कषायके उदयसे मूल-शरीरको न छोड़कर परस्परमें एक दूसरेका घात करनेके लिए आत्म-प्रदेशोंके बाहर निकलनेको कषाय-समुद्‌घात कहते हैं। संग्राममें योद्धा लोग क्रोधमें आकर लाल लाल आँखें करके अपने शत्रुको ताकते हैं' यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। यही कषायसमुद्‌घातका रूप है।

कषाय पाहुड—यह ग्रन्थ मूल सिद्धान्त ग्रन्थ है जिसे आ० गुणधर (वि०पू०श०१) ने ज्ञान विच्छेदके भयसे पहले केवल १८० गाथाओंमें निबद्ध किया था। आचार्य परम्परासे उसके ज्ञानको प्राप्त करके आचार्य आर्यमंक्षु व नागहस्तिने ई० ९३-१६२ में पीछे इसे २१५ गाथा प्रमाण कर दिया। उनके सान्निध्यमें ही ज्ञान प्राप्त करके यतिवृषभाचार्यने ई० १५०-१८० में इसको १५ अधिकारोंमें विभाजित करके इसपर ६००० चूर्णसूत्रोंकी रचना की। इन्हीं चूर्ण-सूत्रोंके आधारपर उच्चारणाचार्यने विस्तृत उच्चारणा लिखी। इसी उच्चारणाके आधारपर आ० बप्पदेवने ई० श० ५-६ मे एक और भी संक्षिप्त उच्चारणा लिखी। इन्हीं आचार्य बप्पदेवसे सिद्धान्तज्ञान प्राप्त करके पीछे ई ई० ८१६ में आ० वीरसेन स्वामीने इसपर २०,००० श्लोक प्रमाण जयधवला नामकी अधूरी टीका लिखी, जिसे उनके पश्चात् उनके शिष्य श्री जिनसेनाचार्यने ई० ८३७ में ४०,००० श्लोक प्रमाण और भी रचना करके पूरी की। इस ग्रन्थपर उपरोक्त प्रकार अनेकों टीकाएँ लिखी गयीं। आचार्य नागहस्ती द्वारा रची गयी ३५ गाथाओंके सम्बन्धमें आचार्योंका कुछ मतभेद है यथा—

२. ३५ गाथाओंके रचयिता सम्बन्धी दृष्टि भेद

क. पा. १/१,१३/§१४७-१४८/१८३/२ संकमम्मि वुत्तपणतीसवित्तिगाहाओ बंधगत्थाहियारपडिबद्धाओ त्ति असीदिसदगाहासु पवेसिय किण्ण पइज्जा कदा। बुच्चदे, एदाओ पणतीसगाहाओ तीहि गाहाहि परूविदपंचसु अत्थाहियारेसु तत्थ बंधगोत्थि अत्थाहियारे पडिबद्धाओ। अहवा अत्थावत्तिलब्भाओ त्ति ण तत्थ एदाओ पवेसिय वुत्ताओ। असीदि-सदगाहाओ मोत्तूण अवसेससंबंधद्धापरिमाणणिद्देस-संकमणगाहाओ जेण णागहत्थि आइरियकयाओ तेण 'गाहासदे असीदे' त्ति भणिदूण णागहत्थि आइरिएण पइज्जा कदा इदि के वि वक्खाणाइरिया भणंति: तण्ण घडदे; संबंधगाहाहि अद्धापरिमाण-णिद्देसगाहाहि संकमगाहाहि य विणा असीदिसदगाहाओ चेव भणंतस्स गुणहरभडारयस्स अयाणत्तप्पसंगादो। तम्हा पुव्वुत्तो चेव अत्थो।=प्रश्न—संक्रमणमें कही गयीं पैंतीस वृत्तिगाथाएँ बन्धक नामक अधिकारसे प्रतिबद्ध हैं, इसलिए इन्हें १८० गाथाओंमें सम्मिलित करके प्रतिज्ञा क्यों नहीं की? अर्थात् १८० के स्थानपर २१५ गाथाओंकी प्रतिज्ञा क्यों नहीं की? उत्तर—ये पैंतीस गाथाएँ तीन गाथाओंके द्वारा प्ररूपित किये गये पाँच अर्थाधिकारोंमें से बन्धक नामके ही अर्थाधिकार में प्रतिबद्ध हैं, इसलिए इन ३५ गाथाओंको १८० गाथाओंमें सम्मिलित नहीं किया, क्योंकि तीन गाथाओंके द्वारा प्ररूपित अर्थाधिकारोंमें से एक अर्थाधिकारमें ही वे ३५ गाथाएँ प्रतिबद्ध हैं। अथवा यह बात अर्थापत्तिसे ज्ञात हो जाती है कि ये ३५ गाथाएँ बन्धक अधिकारमें प्रतिबद्ध हैं।

'चूँकि १८० गाथाओंको छोड़कर सम्बन्ध अद्धापरिमाण और संक्रमणका निर्देश करनेवाली शेष गाथाएँ नागहस्ति आचार्यने रची हैं; इसलिए 'गाहासदे असीदे' ऐसा कहकर नागहस्ति आचार्यने १८० गाथाओंकी प्रतिज्ञा की है, ऐसा कुछ व्याख्यानाचार्य कहते हैं, परन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि सम्बन्ध गाथाओं, अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली गाथाओं और संक्रम गाथाओंके बिना १८० गाथाएँ ही गुणधर भट्टारकने कही हैं। यदि ऐसा माना जाय तो गुणधर भट्टारकको अज्ञपनेका प्रसंग प्राप्त होता है। इसलिए पूर्वोक्त अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। (विशेष दे० परिशिष्ट १)

कषायपाहुड चूर्णि—दे० परिशिष्ट/१।

कहाण छप्पय—आ. विनयचन्द्र (ई० श० १३) की एक प्राकृत छन्दबद्ध रचना।

कांक्षा—दे० निकांक्षित।

कांचनकूट—१. रुचक पर्वतका एक कूट—दे० लोक५/१३ २.मेरु पर्वत के सौमनस वनमें स्थित एक कूट—दे० लोक५/४ ३. शिखरी पर्वतका एक कूट—दे० लोक/५/४।

कांचन गिरि—विदेहके उत्तरकुरु व देवकुरुमें सीता व सीतोदा नदीके दोनों तटोंपर पचास-पचास अथवा नदीके भीतर स्थित दस-दस द्रहोंके दोनों ओर पाँच-पाँच करके, कंचन वर्णवाले कूटाकार सौ-सौ पर्वत हैं। अर्थात् देवकुरु व उत्तरकुरुमें पृथक्-पृथक् सौ-सौ है।—दे० लोक/३/८।

कांचन देव—शिखरी पर्वतके कांचनकूटका रक्षक देव। दे० लोक/५/४

कांचन द्वीप—मध्यलोकके अन्तमें नवमद्वीप—दे० लोक/५/१।

कांचनपुर—१. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। २. कलिंग देशका एक नगर—दे० मनुष्य/४।

कांचन सागर—मध्य लोकका नवम सागर—दे० लोक/५/१।

कांचीपुर—वर्तमान कांजीवरम् (यु० अनु०/प्र. ३६/पं. जुगलकिशोर)।

कांजी-आहार—केवल भात व जल मिलाकर पीना, अथवा केवल चावलोंकी मांड पीना। (व्रत विधान संग्रह/पृ. २६)।

कांजी बारस व्रत—प्रतिवर्ष भाद्रपद शु. १२ को उपवास करना। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य।

कांडक—१. काण्डक काण्डकायाम व फालिके लक्षण

क. पा ५/४,२२/§ ५७१/३३४/४ "किं कंडयं णाम। सूचिअंगुलस्स असंखे० भागो। तस्स को पडिभागो। तप्पाओग्गअसंखेज्जरूवाणि।" =प्रश्न—काण्डक किसे कहते हैं? उत्तर—सूच्यंगुलके असंख्यातवे भागको काण्डक कहते हैं। प्रश्न—उसका प्रतिभाग क्या है? उत्तर—उसके योग्य असंख्यात उसका प्रतिभाग है। (तात्पर्य यह कि अनुभाग वृद्धियोंमें अनन्त भाग वृद्धिके इतने स्थान ऊपर जाकर असंख्यात भाग वृद्धि होने लग जाती है।)

ल. सा./भाषा/८१/११६/१५ इहाँ (अनुभाग काण्डकघातके प्रकरणमें) समय समय प्रति जो द्रव्य ग्रह्या ताका तौ नाम फालि है। ऐसे अन्तर्मुहूर्तकरि जो कार्य कीया ताका नाम काण्डक है। तिस काण्डक करि जिन स्पर्धकनिका अभाव कीया सो काण्डकायाम है। (अर्थात् अन्तर्मुहूर्त पर्यंत जितनी फालियोंका घात किया उनका समूह एक काण्डक कहलाता है। इसी प्रकार दूसरे अन्तर्मुहूर्तमें जितनी फालियोंका घात कीया उनका समूह द्वितीय काण्डक कहलाता है। इस प्रकार आगे भी, घात क्रमके अन्त पर्यन्त तीसरा आदि काण्डक जानने।)

ल सा./भाषा/१३३/१८३/८ स्थितिकाण्डकायाम मात्र निषेकनिका जो द्रव्य ताकौ काण्डक द्रव्य कहिये, ताकौं इहाँ अधःप्रवृत्त (संक्रमणके भागाहार) का भाग दिये जो प्रमाण आया ताका नाम फालि है (विशेष देखो अपकर्षण/४/१)

२. काण्डकोत्करण काल

ल. सा./जी.प्र./७९/११४ एकस्थितिखण्डोत्करणस्थितिबन्धापसरणकालस्य संख्यातैकभागमात्रोऽनुभागखण्डोत्करणकाल इत्यर्थः। अनेनानुभागकाण्डकोत्करणकालप्रमाणमुक्तम्। =जाकरि एक बार स्थिति घटाइये सो स्थिति काण्डकोत्करणकाल अर जाकरि एक बार स्थिति बन्ध घटाइये सो स्थिति बन्धापसरण काल ए दोऊ समान हैं, अन्तर्मुहूर्त मात्र हैं। बहुरि तिस एक विषैं जाकरि अनुभाग सत्त्व घटाइये ऐसा अनुभाग खण्डोत्करण काल संख्यात हजार हो है, जातैं तिसकालैं अनुभाग खण्डोत्करणका यहु काल संख्यातवें भागमात्र है।

३. अन्य सम्बन्धित विषय

★ **निर्वर्गणा काण्डक**—दे० करण/४।

★ **आबाधा काण्डक**—दे० आबाधा।

★ **स्थिति व अनुभाग काण्डक**—दे० अपकर्षण/४।

४. क्रोध, मान आदिके काण्डक

ल. सा./भाषा/४७४/५५८/१६ क्रोधद्विक अवशेष कहिए क्रोधके स्पर्धकनिका प्रमाणकौं मानके स्पर्धकनिका प्रमाणविषै घटाएँ जो अवशेष रहै ताका भाग क्रोधकै स्पर्धकनिका प्रमाणकौं दीए जो प्रमाण आवै ताका नाम क्रोध काण्डक है। बहुरि मानत्रिक विषै एक एक अधिक है। सो क्रोध काण्डकतै एक अधिकका नाम मान काण्डक है। यातै एक अधिकका नाम माया काण्डक है। यातै एक अधिकका नाम लोभ काण्डक है। अंकसंदृष्टिकरि जैसे क्रोधके स्पर्धक १८, ते मानके २१ स्पर्धकनि विषै घटाएँ अवशेष ३, ताका भाग क्रोधके १८ स्पर्धकनिकौ दीएँ क्रोध कांडकका प्रमाण छह। यातैं एक एक अधिक मान, माया, लोभके काण्डकनिका प्रमाण क्रमतै ७, ८, ९ रूप जानने।

कांबोज—१. भरत क्षेत्र उत्तर आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४। २. वर्तमान बलोचिस्तान (म. पु./प्र ५०/पं. पन्नालाल)

काकतालीय न्याय—

प्र.सं./टी./३५/१४४/१ परं परं दुर्लभेषु कथंचित्काकतालीयन्यायेन लब्धेष्वपि···परमसमाधिर्दुर्लभः। =एकेन्द्रियादिसे लेकर अधिक अधिक दुर्लभ बातोंको काकताली न्यायसे अर्थात् बिना पुरुषार्थके स्वत. ही प्राप्त कर भी ले तौ भी परम समाधि अत्यन्त दुर्लभ है।

मो.मा.प्र./३/८०/१५ बहुरि काकतालीय न्यायकरि भवितव्य ऐसा ही होय और तातै कार्यकी सिद्धि भी हो जाय।

काकावलोकन—कायोत्सर्गका अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

काकिणी—चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंमें-से एक —दे० शलाका पुरुष/२।

काकुत्स्थ चारित्र—आ. वादिराज (ई. १०००-१०४०) द्वारा रचित संस्कृत छन्दबद्ध ग्रन्थ।

काक्षी—भरतक्षेत्र पश्चिम आर्य खण्डका एक देश —दे० मनुष्य/४।

कागंधुनी—भरतक्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

काणोविद्ध—एक क्रियावादी।

कान्ह—महायान सम्प्रदायका एक गूढवादी बौद्ध समय—डॉ० शाही दुल्लाके अनुसार ई. ७००; और डॉ० एस. के. चटर्जीके अनुसार ई. श. १२ का अन्त। (प.प्र./प्र.१०३/A.N. up.)

कानमा—रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी देवी —दे० लोक/५/१३।

कान्यकुब्ज—कुरुक्षेत्र देशमें स्थित वर्तमान कन्नौज—(म.पु./प्र.४९/ पं. पन्नालाल)

कापिष्ठ—आठवाँ कल्पस्वर्ग—दे० स्वर्ग/५/२।

कापोत—अशुभलेश्या—दे० लेश्या।

काम—१. काम व काम तत्त्वके लक्षण

न्या.द./४-१/३ में न्यायवार्तिकसे उद्धृत/पृ.२३० कामः स्त्रीगतोऽभिलाषः। =स्त्री-पुरुषके परस्पर संयोगकी अभिलाषा काम है।

ज्ञा./२१/१६/२२७/१५ क्षोभणादिमुद्राविशेषशाली सकलजगद्वशीकरणसमर्थः—इति चिन्त्यते तदायमात्मैव कामोक्तिविषयतामनुभवतीति कामतत्त्वम्। =क्षोभण कहिए चित्तके चलने आदि मुद्राविशेषोंमें शाली कहिए चतुर है, अर्थात् समस्त जगत्के चित्तको चलायमान करनेवाले आकारोंको प्रगट करनेवाला है। इस प्रकार समस्त जगत्को वशीभूत करनेवाले कामकी कल्पना करके अन्यमती जो ध्यान करते हैं, सो यह आत्मा ही कामकी उक्ति कहिये नाम व संज्ञाको धारण करनेवाला है। (ध्यानके प्रकरणमें यह कामतत्त्वका वर्णन है)।

स सा./ता.वृ./४ कामशब्देन स्पर्शरसनेन्द्रियद्वयं। = काम शब्दसे स्पर्शन व रसना इन दो इन्द्रियोंके विषय जानना।

२. काम व भोगमें अन्तर

मू.आ./मू./११३८ कामा दुवे तऊ भोग इंदयत्था विदूहि पण्णत्ता। कामो रसो य फासो सेसा भोगेति आहीया।११३८। =दो इन्द्रियोंके विषय काम हैं, तीन इन्द्रियोंके विषय भोग हैं, ऐसा विद्वानों ने कहा है। रस और स्पर्श तो काम हैं और गन्ध, रूप व शब्द ये तीन भोग हैं, ऐसा कहा है। (स सा./ता. वृ./११३८)

३. कामके दस विकार

भ.आ./मू./८९३-८९५ पढमे सोयदि वेगे दट्ठुं तं इच्छदे विदियवेगे। णिस्सदि तदियवेगे आरोहदि जरो चउत्थम्मि।८९३। उज्झदि पचमवेगे अंगं छठ्ठे ण रोचदे भत्तं। मुच्छिज्जदि सत्तमए उम्मत्तो होइ अट्ठमए।८९४। णवमे ण किंचि जाणदि दसमे पाणेहिं मुच्चदि मदंधो। संकप्पवसेण पुणो वेग्ग तिव्वा व मंदा वा।८९५। =कामके उद्दीप्त होनेपर प्रथम चिन्ता होती है; २. तत्पश्चात् स्त्रीको देखनेकी इच्छा, और इसी प्रकार क्रमसे ३. दीर्घ नि.श्वास, ४. ज्वर, ५. शरीरका दग्ध होने लगना; ६. भोजन न रुचना; ७ महामूर्च्छा; ८. उन्मत्तवत् चेष्टा; ९. प्राणोंमें सन्देह; १०. अन्तमें मरण। इस प्रकार कामके ये दश वेग होते हैं। इनसे व्याप्त हुआ जीव यथार्थ तत्त्वको नहीं देखता। (ज्ञा./११/२९-३१), (भा.पा./टी./९६/२४६/पर उद्धृत), (अन ध./४/६६/३६३ पर उद्धृत), (ला.सं./२/११४-१२७)

काम तत्त्व—

ज्ञा./२१/१६ सकलजगच्चमत्कारिकार्मुकास्पदनिवेशितमण्डलीकृतरेक्षुकाण्डस्वरसहितकुसुमसायकविधिलक्ष्यीकृत···स्फुरन्मकरकेतुः। कमनीयसकलललनावृन्दवन्दितसौन्दर्यरतिकेलिकलापदुर्ललितचेताश्चतुरश्चेष्टितभ्रूभङ्गमात्रवशीकृतजगत्त्रयस्त्रैणसाधने ··· स्त्रीपुरुषभेदभिन्नसमस्तसत्त्वपरस्परमन संघटनसूत्रधारः। ···संगीतकप्रियेण···स्वर्गापवर्गद्वारसंविघटनवज्रार्गलः।···क्षोभणादिमुद्राविशेषशाली। सकलजगद्वशीकरणसमर्थः इति···कामतत्त्वम्। =सकल जगत् चमत्कारी, खींचकर कुण्डलाकार किये हुए इक्षुकाण्डके धनुष व उन्मादन, मोहन, संतापन, शोषण और मारणरूप पाँच बाणोंसे निशाना बाँध रखा है जिसने, स्फुरायमान मकरकी ध्वजावाला, कमनीय स्त्रियोंके समूह द्वारा वन्दित है सुन्दरता जिसकी ऐसी रति नामा स्त्रीके साथ केलि करता हुआ, चतुरोंकी चेष्टारूप भ्रूभंगमात्रसे वशीभूत किया स्त्रियों-

का समूह ही है साधन सेना जिसके, स्त्री-पुरुषके भेदसे भिन्न समस्त प्राणियोंके मन मिलानेके लिए सूत्रधार, संगीत है प्रिय जिसको, स्वर्ग व मोक्षके द्वारमें वज्रमयी अर्गलेके समान; जिसको चलानेके लिए मुद्राविशेष बनानेमें चतुर, ऐसा समस्त जगतको वशीभूत करनेमें समर्थ कामतत्त्व है। —दे. ध्यान/४/५ यह काम-तत्त्व वास्तवमें आत्मा ही है।

कामदेव—दे० शलाका पुरुष/१,८।

कामना—दे० अभिलाषा।

कामपुरुषार्थ—दे० पुरुषार्थ/१।

कामपुष्प—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

कामराज—जयकुमार पुराणके कर्ता एक ब्रह्मचारी। समय ई.१४९८ वि. १५५५ (म पु.२०/पं. पन्नालाल)

कामरूपित्व ऋद्धि—दे० ऋद्धि/३।

कामरूप्य—भरत क्षेत्र आर्यखण्डका एक देश—दे०मनुष्य/४।

काम्य मंत्र—दे० मंत्र/१/६।

काय—कायका प्रसिद्ध अर्थ शरीर है। शरीरवत् ही बहुत प्रदेशोंके समूह रूप होनेके कारण कालातिरिक्त जीवादि पाँच द्रव्य भी कायवान् कहलाते हैं। जो पंचास्तिकाय करके प्रसिद्ध हैं। यद्यपि जीव अनेक भेद रूप हो सकते हैं पर उन सबके शरीर या काय छह ही जाति की हैं—पृथिवी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति व त्रस अर्थात मांसनिर्मित शरीर। यह ही षट् कायजीवके नामसे प्रसिद्ध हैं। यह शरीर भी औदारिक आदिके भेदसे पाँच प्रकार हैं। उस उस शरीरके निमित्त से होनेवाली आत्मप्रदेशोंकी चंचलता उस नामवाला काययोग कहलाता है। पर्याप्त अवस्थामें काययोग होते हैं और अपर्याप्तावस्थामें मिश्र योग क्योंकि तहाँ कार्मण योगके आधीन रहता हुआ ही वह वह योग प्रगट होता है।

१. काय सामान्यका लक्षण व शंकाएँ

१. बहुप्रदेशीके अर्थमें कायका लक्षण

नि. सा./मू./ ३४ काया हु बहुपदेसत्तं । =बहुप्रदेशीपना ही कायत्व है। (प्र. सा/त. प्र. व ता. वृ/१३५). ।

स. सि./५/१/२६५/५ 'काय'शब्दः शरीरे व्युत्पादितः इहोपचारादध्यारोप्यते। कुतः उपचारः। यथा शरीरं पुद्गलद्रव्यप्रचयात्मकं तथा धर्मादिष्वपि प्रदेशप्रचयापेक्षया काया इव काया इति। =व्युत्पत्तिसे काय शब्दका अर्थ शरीर है तो भी यहाँ उपचारसे उसका आरोप किया है। **प्रश्न**—उपचारका क्या कारण है ! **उत्तर**—जिस प्रकार शरीर पुद्गल द्रव्यके प्रचय रूप होता है, उसी प्रकार धर्मादिक द्रव्य भी प्रदेश प्रचयकी अपेक्षा कायके समान होनेसे काय कहे गये हैं। (रा. वा./५/१/७-८/४३२/२१) (नि. सा /ता. वृ./३४) (द्र सं./टी./२४/७०/१)।

स्या. म./२१/३२१/२० 'सेषां संघे चानूर्ध्वे' इति चिनोतेर्घञि आदेशश्च कत्वे कायः समूह जीवकायः पृथिव्यादि'। =यहाँ 'संघे चानूर्ध्वे' सूत्रसे 'चि' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होनेपर 'च' के स्थानमें 'क' हो जानेसे 'काय' शब्द बनता है। अतः जीवोंके समूहको जीवकाय कहते हैं।

२. शरीरके अर्थमें कायका लक्षण—

पं. सं./प्रा./१/७५. अप्पप्पवुत्तिसंचियपुग्गलपिंडं वियाण काओ त्ति। सो जिणमयम्हि भणिओ पुढवी कायाइयो छद्धा।७५। =योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे सचयको प्राप्त हुए औदारिकादिरूप पुद्गल पिंडको काय जानना चाहिए। (ध. १/१,१,४/ ८६/१३६) (पं. सं./सं./१/१५३)।

ध. ७/२,१,२/६/८ "आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः कायः, पृथिवीकायादिनामकर्मजनितपरिणामो वा कार्ये कारणोपचारेण कायः, चीयन्ते अस्मिन् जीवा इति व्युत्पत्तेर्वा कायः।" =आत्माकी प्रवृत्ति द्वारा उपचित किये गये पुद्गलपिंडको काय कहते हैं। अथवा पृथिवीकाय आदि नामकर्मोंके द्वारा उत्पन्न परिणामको कार्यमें कारणके उपचारसे काय कहा है। अथवा, 'जिसमें जीवोंका संचय किया जाय' ऐसी व्युत्पत्तिसे काय (शब्द) बना है। (रा. वा./६/७ ११/६०३/३० लक्षण सं. १) (ध. १/१,१,४/१३८/१ तथा १,१.३१/३६६/२ में लक्षण नं. १ व २)।

३. उपरोक्त लक्षणकी ईंट पत्थरोंके साथ अतिव्याप्ति नहीं है।

ध. १/१.१.४/१३८/१ "चीयत इति कायः। नेष्टकादिचयेन व्यभिचार पृथिव्यादिकर्मभिरिति विशेषणात्। औदारिकादिकर्मभि पुद्गलविपाकिभिश्चीयत इति चेन्न, पृथिव्यादिकर्मणां सहकारिणामभावे तत्त्चयनानुपपत्तेः। =**प्रश्न**— जो संचित किया जाता है उसे काय कहते हैं, ऐसी व्याप्ति बना लेनेपर, कायको छोड़कर ईंट आदिके संचयरूप विपक्षमें भी यह व्याप्ति घटित हो जाती है, अत व्यभिचार दोष आता है ! **उत्तर**—नहीं आता है; क्योंकि, पृथिवी आदि कर्मोंके उदयसे इतना विशेषण जोड़ कर ही, 'जो संचित किया जाता है' उसे काय कहते हैं ऐसी व्याख्या की गयी है। **प्रश्न**—'पुद्गलविपाकी औदारिक आदि कर्मोंके उदयसे जो संचित किया जाता है उसे काय कहते हैं, ऐसी व्याख्या क्यों नहीं की गयी ! **उत्तर**—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सहकारीरूप पृथिवी आदि नामकर्मके अभाव रहनेपर केवल औदारिक आदि नामकर्मके उदयसे नोकर्म वर्गणाओंका संचय नहीं हो सकता।

४. कार्माण काययोगियोंमें यह लक्षण कैसे घटित होगा

ध. १/१,१,४/१३८/३. कार्मणशरीरस्थानां जीवानां पृथिव्यादिकर्मभिश्चितनोकर्मपुद्गलाभावादकायत्वं स्यादिति चेन्न, तच्चयनहेतुकर्मणस्तत्रापि सत्त्वतस्तद्व्यपदेशस्य न्याय्यत्वात्। अथवा आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः कायः। अत्रापि स दोषो न निवर्तत इति चेन्न, आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डस्य तत्र सत्त्वात्। आत्मप्रवृत्त्युपचितनोकर्मपुद्गलपिण्डस्य तत्रासत्त्वान्न तस्य कायव्यपदेश इति चेन्न, तच्चयनहेतुकर्मणस्तत्रास्तित्वतस्तस्य तद्व्यपदेशसिद्धेः। =**प्रश्न**—कार्मणकाययोगमें स्थित जीवके पृथिवी आदिके द्वारा संचित हुए नोकर्मपुद्गलका अभाव होनेसे अकायत्व प्राप्त हो जायेगा ! **उत्तर**—ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि, नोकर्मरूप पुद्गलोंके संचयका कारण पृथिवी आदि कर्मसहकृत औदारिकादि नामकर्मका सत्त्व कार्मणकाययोग अवस्थामें भी पाया जाता है, इसलिए उस अवस्थामें भी कायपनेका व्यवहार बन जाता है। २. अथवा योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे संचित हुए औदारिकादिरूप पुद्गलपिण्डको काय कहते हैं। **प्रश्न**—कायका इस प्रकारका लक्षण करनेपर भी पहले जो दोष दे आये हैं वह दूर नहीं होता है। **उत्तर**—ऐसा नहीं है, क्योंकि, योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे संचित हुए कर्मरूप पुद्गलपिण्डका कार्मणकाययोग अवस्थामें सद्भाव पाया जाता है। अर्थात् जिस समय आत्मा कार्मणकाययोगकी अवस्थामें होता है, उस समय उसके ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंका सद्भाव रहता ही है, इसलिए इस अपेक्षासे उसके कायपना बन जाता है। **प्रश्न**—कार्मणकाय योगरूप अवस्थामें योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे संचयको प्राप्त हुए (कर्मरूप पुद्गलपिण्ड भले ही रहो परन्तु) नोकर्मरूप पुद्गलपिण्डका असत्त्व होनेके कारण कार्मण काययोगमें स्थित जीवके 'काय' यह व्यपदेश नहीं बन सकता ! **उत्तर**—नोकर्म पुद्गलपिण्डके संचयके कारणभूत कर्मका कार्मणकाययोगरूप अवस्थामें भी सद्भाव होनेसे कार्मणकाययोगमें स्थित जीवके 'काय' यह संज्ञा बन जाती है।

२. षट्काय जीव व मार्गणा निर्देश व शंकाएँ

१. षट्काय जीव व मार्गणाके भेद-प्रभेद

ष. खं १/१,१/ सूत्र ३९-४२/२६५-२७२ (ति. प./५/२७८-२८०)
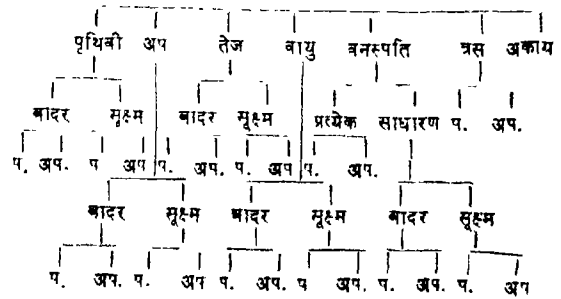
रा. वा. /६/७/११/६०३/३१ तत्संबन्धिजीवः षड्विध —पृथिवीकायिकः अप्कायिक तेजस्कायिक वायुकायिक. वनस्पतिकायिक त्रसकायिकश्चेति। =काय सम्बन्धी जीव छह प्रकारके हैं—पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तेज कायिक, वायु कायिक, वनस्पति कायिक और त्रसकायिक। (यहाँ 'अकाय' का ग्रहण नहीं किया है, यही ऊपरवालेसे इसमें विशेषता है। इसका भी कारण यह है कि ऊपरकाय मार्गणाके भेद है और यहाँ षट्काय जीवोंके।) (मू. आ./२०४-

२०५) (पं. सं./ प्रा./१/७५), (ध. १/१.१.४/ ८६/१३९), (गो. जी./मू./१८१/४१४), (द्र. सं./टी./१३/३७/६) ।

२. अकाय मार्गणाका लक्षण

पं. सं./प्रा./१/८७ जह कंचणमग्गियं मुच्चइ किट्टेण कलियाराय। तह कायबंधमुक्का अकाइया झाणजोएण ।८७। —जिस प्रकार अग्निमें दिया गया सुवर्ण किट्टिका (बहिरंगमल) और कालिमा (अन्तरंग मल) इन दोनों प्रकारके मलोंसे रहित हो जाता है उसी प्रकार ध्यानके योगसे शुद्ध हुए और कायके बन्धनसे मुक्त हुए जीव अकायिक जानना चाहिए। (ध. १/१.१.३९/ १४४/२६६), (गो. जी./मू./-२०३/४४९) ।

३. बहुप्रदेशी भी सिद्ध जीव अकाय कैसे हैं

ध./१/१.१.४६/२७७/६ जीवप्रदेशप्रचयात्मकत्वात्सिद्धा अपि सकाया इति चेन्न, तेषामनादिबन्धनबद्धजीवप्रदेशात्मकत्वात्। अनादिप्रचयोऽपि कायः किन्न स्यादिति चेन्न, मूर्तानां पुद्गलानां कर्म-नोकर्मपर्यायपरिणतानां सादिसान्तप्रचयस्य कायत्वाभ्युपगमात्। —प्रश्न—जीव प्रदेशोंके प्रचयरूप होनेके कारण सिद्ध जीव भी सकाय हैं, फिर उन्हें अकाय क्यों कहा? उत्तर—नहीं, क्योंकि सिद्ध जीव अनादिकालीन स्वाभाविक बन्धनसे बद्ध जीव प्रदेशस्वरूप हैं, इसलिए उसकी अपेक्षा यहाँ कायपना नहीं लिया गया है। प्रश्न—अनादि कालीन आत्मप्रदेशोंके प्रचयको काय क्यों नहीं कहा? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यहाँपर कर्म और नोकर्म रूप पर्यायसे परिणत मूर्त पुद्गलोंके सादि और सान्त प्रदेश प्रचयको ही कायरूपसे स्वीकार किया गया है। (किसी अपेक्षा उनको कायपना है भी। यथा—)

द्र. सं./टी./२४/७०/१ कायत्वं कथ्यते—बहुप्रदेशप्रचयं दृष्ट्वा यथा शरीरं कायो भण्यते तथानन्तज्ञानादिगुणाधारभूतानां लोकाकाशप्रमितासंख्येयशुद्धप्रदेशानां प्रचयं समूहं संघातं मेलापकं दृष्ट्वा मुक्तात्मनि कायत्वं भण्यते। —अब इन (मुक्तात्माओं)में कायपना कहते हैं—बहुतसे प्रदेशोंमें व्याप्त होकर रहनेको देखकर जैसे शरीरको काय कहते हैं, अर्थात् जैसे शरीरमें अधिक प्रदेश होनेके कारण शरीर को काय कहते हैं उसी प्रकार अनन्तज्ञानादि गुणोंके आधारभूत जो लोकाकाशके बराबर असंख्यात शुद्ध प्रदेश हैं उनके समूह, संघात अथवा मेलको देखकर मुक्त जीवमें भी कायत्व कहा जाता है।

४. काय मार्गणामें गुणस्थानोंका स्वामित्व

ष. खं./१/१.१/४३-४६ पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणप्फइकाइया एक्कम्मि चेय मिच्छाइट्ठिट्ठाणे ।४३। तसकाइया बीइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ।४४। बादरकाइया बादरेइंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ।४५। तेण परमकाइया चेदि ।४६। —पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थानमें ही होते हैं ।४३। द्वीन्द्रियसे लेकर अयोगिकेवलीतक त्रस जीव होते हैं ।४४। बादर एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त जीव बादरकायिक होते हैं ।४५। स्थावर और बादरकायसे परे कायरहित अकायिक जीव होते हैं ।४६। (विशेष —दे० जन्म/४)।

गो. क./जी. प्र./३०९/४३८/८ गुणस्थानद्वय। कुतः। "णहि सासणो अपुण्णे साहारणसुहमगेयतेउदुगे।" इति पारिशेष्यात् पृथ्व्यप्प्रत्येकवनस्पतिषु सासादनस्योत्पत्तेः।"

गो. जी./जी. प्र./७०३/१४ ते मिथ्यादृष्टौ पर्याप्तापर्याप्ताश्च। सासादने बादरपृथ्व्यब्वनस्पतिस्थावरकायाः द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञित्रसकायाश्चापर्याप्ताः संज्ञित्रसकायः उभयश्चेति षड्जीवनिकायः। मिश्रे संज्ञिपञ्चेन्द्रियत्रसकायपर्याप्त एव। असंयते उभयः, संदेशयते पर्याप्त एव। प्रमत्ते पर्याप्तः। साहारकर्धिस्तूभयः। अप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तेषु पर्याप्त एव। सयोगे पर्याप्तः। समुद्घाते तूभयः। अयोगे पर्याप्त एव। —"णहि सासणो..." इस वचनतैं पृथिवी अप प्रत्येक वनस्पति विषैं ही सासादन मर उपजै है (अतः तहाँ अपर्याप्तावस्था विषै दो गुणस्थान संभवै मिथ्यादृष्टि व सासादन) तहाँ मिथ्यादृष्टिविषै तौ छहो (कायवाले) पर्याप्त वा अपर्याप्त हैं। सासादनविषै बादर पृथिवी, अप व वनस्पति ए—स्थावर अर त्रस विषै बेंद्री तेंद्री चौंद्री असैनी पंचेंद्री ए तौ अपर्याप्त ही हैं और सैनी त्रसकाय पर्याप्त अपर्याप्त दोऊ हैं। आगैं संज्ञी पंचेंद्री त्रसकाय ही है। तहाँ मिश्र विषै पर्याप्त ही है। अविरत विषै दोऊ है। देश संयत विषै पर्याप्त ही है। प्रमत्त विषै पर्याप्त है। आहारक (समुद्घात) सहित दोऊ हैं। अप्रमत्तादि क्षीणकषाय पर्यन्त पर्याप्त ही है। सयोगी विषै पर्याप्त हैं। समुद्घात सहित दोऊ हैं। अयोगी विषै पर्याप्त ही है। (गो. जी./मू. व. जी. प्र./६७८) (विशेष दे० जन्म/४)

५. तैजस आदि कायिकोंका लोकमें अवस्थान व तद्गत शंका समाधान

ध. ७/२.७.७१/४०१/३ कम्मभूमिपडिभागसयंभूरमणदीवद्धे चेव किर तेउकाइया होंति, ण अण्णत्थेत्ति के वि आइरिया भणंति।...अण्णे के वि आइरिया सव्वेसु दीवसमुद्देसु तेउकाइयबादरपज्जत्ता संभवंति त्ति भणंति। कुदो। सयंभूरमणदीवसमुद्दुप्पण्णाणं बादरतेउपज्जत्ताणं वाएण हिरिज्जमाणाणं कीडणसीलदेवपरतंताणं वा सव्वदीवसमुद्देसु सविउव्वणाणं गमणसंभवादो। केइमाइरिया तिरियलोगादो संखेज्जगुणो फासिदो त्ति भणंति। कुदो। सव्वपुढवीसु बादरतेउपज्जत्ताणं संभवादो। तिसु वि उवदेसेसु को एत्थ गेज्झो। तइज्जो घेत्तव्वो जुत्तीए अणुग्गहित्तादो। ण च सुत्तं तिण्हमेक्कस्स वि मुक्ककंठं होऊण परूवयमत्थि। पहिल्लओ उवएसो वक्खाणे इरियेहि य संमदो त्ति एत्थ सो चेव णिद्दिट्ठो। —१. कर्मभूमिके प्रतिभागरूप अर्ध स्वयम्भूरमण द्वीपमें ही तैजस कायिक जीव होते हैं, अन्यत्र नहीं ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। २. अन्य कितने ही आचार्य 'सर्व द्वीपसमुद्रोंमें तेजसकायिक बादर पर्याप्त जीव संभव हैं' ऐसा कहते हैं, क्योंकि स्वयम्भूरमणद्वीप व समुद्रमें उत्पन्न बादर तेजस्कायिक पर्याप्त जीवोंका वायुसे ले जाये जानेके कारण अथवा क्रीड़नशील देवोंके परतन्त्र होनेसे सर्व द्वीप समुद्रोंमें विक्रिया युक्त होकर गमन सम्भव है। ३. कितने आचार्योंका कहना है कि उक्त जीवोंके द्वारा वैक्रियकसमुद्घातकी अपेक्षा तिर्यग्लोकसे संख्यातगुणा क्षेत्र स्पृष्ट है, क्योंकि (उस प्रकार) सब द्वीप समुद्रोंमें बादर तैजसकायिक पर्याप्त जीवोंकी सम्भावना है। उपर्युक्त तीनों उपदेशोंमें-से तीसरा उपदेश यहाँ ग्रहण करने योग्य है क्योंकि वह युक्तिसे अनुगृहीत है। दूसरी बात यह है कि सूत्र इन तीन उपदेशोंमें-से एकका भी मुक्तकण्ठ होकर प्ररूपक नहीं है। पहिला उपदेश व्याख्यानों और व्याख्यानाचार्योंसे संमत है। इसलिए यहाँ उसीका निर्देश किया गया है।

ध./७/२.६.३५/३३२/९ तेउ-आउ-रुक्खाणं कधं तत्थ संभवो। ण इंदिएहि अगेज्झाणं सुद्ठुसण्हाणं पुढविजोगियाणमत्थित्तस्स विरोहाभावादो।

ध./ ७/२.७.७८/४०५/५ "तह जलंता णिरयपुढवीसु अग्गिणो बहंतीओ णईओ च णत्थि त्ति जदि अभावो वुच्चदे, तं पि ण घडदे—'षष्ठ सप्तमयोः शीतं शीतोष्णं पञ्चमे स्मृतम्। चतुर्ष्वत्युष्णमुद्दिष्टस्तासामेव महीगुणाः ।१।' इदि तत्थ वि आउ तेऊणं संभवादो। कधं पुढवीणं हेट्ठा पत्तेयसरीराणं संभवो। ण, सीएण वि सम्मुच्छिज्जमाणपणग-कुहुणादीणमुवलंभादो। कधमुण्हम्हि संभवो। ण, अच्चुण्हे वि समुप्पज्जमाणजवासपाईणमुवलंभादो।" —(पर्याप्त व अपर्याप्त

बादर) प्रश्न—तैजसकायिक, जलकायिक, और वनस्पतिकायिक जीवोंकी वहाँ (भवनवासियोंके विमानों व अधोलोककी आठ-पृथिवियोंमें सम्भावना कैसे है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, इन्द्रियोंसे अग्राह्य व अतिशय सूक्ष्म पृथिवी सम्बद्ध उन जीवोंके अस्तित्वका कोई विरोध नहीं है। प्रश्न—नरक पृथिवियोंमें जलती हुई अग्नियाँ और बहती हुई नदियाँ नहीं हैं? उत्तर—इस कारण यदि उनका अभाव कहते हो, तो वह भी घटित नहीं होता, क्योंकि—छठी और सातवीं पृथिवीमें शीत, तथा पाँचवींमें शीत व उष्ण दोनों माने गये हैं। शेष चार पृथिवियोंमें अत्यन्त उष्णता है। ये उनके ही पृथिवी गुण हैं ।१। इस प्रकार उन नरक पृथिवियोंमें अप्कायिक व तैजसकायिक जीवोंकी सम्भावना है। प्रश्न—पृथिवियोंके नीचे प्रत्येक शरीर जीवोंकी सम्भावना कैसे है? उत्तर—नहीं; क्योंकि शीतसे भी उत्पन्न होनेवाले पगण और कुहुण आदि वनस्पति विशेष पाये जाते हैं। प्रश्न—उष्णतामें प्रत्येक शरीर जीवोंका उत्पन्न होना कैसे सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, अत्यन्त उष्णतामें भी उत्पन्न होनेवाले जवासप आदि वनस्पति विशेष पाये जाते हैं। विशेष देखो जन्म/४—(सासादन सम्बन्धी दृष्टि भेद)

३. काय योग निर्देश व शंका समाधान

१. काय योगका लक्षण

स. सि./६/१/६११/७ वीर्यान्तरायक्षयोपशमसद्भावे सति औदारिकादि-सप्तविधकायवर्गणान्यतमालम्बनापेक्ष आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः काययोगः। —वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमके होनेपर औदारिकादि सप्त-प्रकारकी कायवर्गणाओंमें-से किसी एक प्रकारकी वर्गणाओंके आलम्बनसे होनेवाला आत्मप्रदेश परिस्पन्द काययोग कहलाता है। (रा बा./६/१/१०/५०५/१७)

ध.१/१,१,६५/३०८/६ सप्तानां कायानां सामान्यं कायः, तेन जनितेन वीर्येण जीवप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणेन योगः काययोगः। —सात प्रकारके कायोंमें जो अन्वयरूपसे रहता है उसे सामान्य काय कहते हैं। उस कायसे उत्पन्न हुए आत्मप्रदेशपरिस्पन्द लक्षण वीर्यके द्वारा जो योग होता है उसे काययोग कहते हैं।

ध.७/२,१,३३/७६/१ चउव्विहसरीराणि अवलंबिय जीवपदेसाणं संकोच-विकोचो सो कायजोगो णाम। —जो चतुर्विध शरीरोंके अवलम्बनसे जीवप्रदेशोंका संकोच विकोच होता है, वह काययोग है।

ध.१०/४,२,४,१७५/४३७/११ वातपित्तसेंभादीहि जणिदपरिस्समेण जाव जीवपरिप्फंदो कायजोगो णाम। —वात, पित्त व कफ आदिके द्वारा उत्पन्न परिश्रमसे जो जीव प्रदेशोंका परिस्पन्द होता है वह काययोग कहा जाता है।

२. काययोगके भेद

ष. खं.१/१,१/सू.५६/२८९ कायजोगो सत्तविहो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो कम्मइयकायजोगो चेदि ।५६। —काय योग सात प्रकारका है—औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिककाययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग। (रा.वा/१/७/१४/११/२२) (ध.८/३,६/२१/७) (द्र.सं./टी./१३/३७/८)

३. शुभ-अशुभ काययोगके लक्षण

बा.अ./५३,५५ बंधणछेदणमारणकिरिया सा असुहकायेत्ति ।५३। जिणदेवादिसु पूजा सुहकायंत्ति य हवे चेट्ठा ।५५। —बान्धने, छेदने और मारनेकी क्रियाओंको अशुभकाय कहते हैं ।५३। जिनदेव, जिनगुरु, तथा जिनशास्त्रोंकी पूजारूप कायकी चेष्टाको शुभकाय कहते हैं।

रा. वा/६/३/१-२/५०६-५०७ प्राणातिपातादत्तादानमैथुनप्रयोगादिरशुभः काययोगः ।२। ततोऽनन्तविकल्पादन्यः शुभः ।३। ...तद्यथा अहिंसास्तेयब्रह्मचर्यादि शुभः काययोगः। —हिंसा, चोरी और मैथुनप्रयोगादि अनन्त विकल्परूप अशुभकाय योग है ।२। तथा उससे अन्य जो अहिंसा, अस्तेय ब्रह्मचर्यादि अनन्त विकल्प वे शुभ काययोग हैं। (स. सि./६/३/३१९/१०)

४. जीव या शरीरके चलनेको काययोग क्यों नहीं कहते

ध.५/१,७,४८/२२६/२ ण सरीरणामकम्मोदयजणिदो वि, पोग्गलविवाइयाणं जीवपरिफद्दणहेउत्तविरोहा। —योग शरीरनामकर्मोदय-जनित भी नहीं है, क्योंकि, पुद्गलविपाकी प्रकृतियोंके जीवपरिस्पन्दनका कारण होनेमें विरोध है।

ध.७/२,१,३३/७७/३ ण जीवे चलंते जीवपवेसाणं संकोचविकोचणियमो, सिज्झंतपढमसमए एत्तो लोअग्गं गच्छंतम्मि जीवपदेसाणं संकोच-विकोचाणुवलंभा। —चलते समय जीवप्रदेशोंके संकोच-विकोचका नियम नहीं है, क्योंकि, सिद्ध होनेके प्रथम समयमें जब जीव यहाँसे अर्थात् मध्यलोकसे, लोकके अग्रभागको जाता है, तब उसके प्रदेशोंमें संकोच-विकोच नहीं पाया जाता।

५. पर्याप्तावस्थामें कार्मणकायके सद्भावमें भी मिश्र-योग क्यों नहीं कहते

ध.१/१,१,७६/३१६/४ पर्याप्तावस्थायां कार्मणशरीरस्य सत्त्वात्तत्राप्युभयनिबन्धनात्मप्रदेशपरिस्पन्द इति औदारिकमिश्रकाययोगः किमु न स्यादिति चेन्न, तत्र तस्य सतोऽपि जीवप्रदेशपरिस्पन्दस्याहेतुत्वात्। न पारम्पर्यकृतं तद्धेतुत्वं तस्यौपचारिकत्वात्। न तदप्यविवक्षितत्वात्। —प्रश्न—पर्याप्त अवस्थामें कार्मणशरीरका सद्भाव होनेके कारण वहाँपर भी कार्मण और औदारिकशरीरके स्कन्धोंके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है, इसलिए वहाँपर भी औदारिकमिश्रकाययोग क्यों नहीं कहा जाता? उत्तर—नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामें यद्यपि कार्मण शरीर विद्यमान है फिर भी वह जीव प्रदेशोंके परिस्पन्दनका कारण नहीं है। यदि पर्याप्त अवस्थामें कार्मणशरीर परम्परासे जीव प्रदेशोंके परिस्पन्दका कारण कहा जावे, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, कार्मणशरीरको परम्परासे निमित्त मानना उपचार है। यदि कहें कि उपचारका भी यहाँ पर ग्रहण कर लिया जावे, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उपचारसे परम्परारूप निमित्तके ग्रहण करनेकी यहाँ विवक्षा नहीं है।

कायक्लेश—शरीरको जानबूझकर कठिन तपस्याकी अग्निमें झोंकना कायक्लेश कहलाता है। यह सर्वथा निरर्थक नहीं है। सम्यग्दर्शन सहित किया गया यह तप अन्तरंग बलकी वृद्धि, कर्मोंकी अनन्ती निर्जरा व मोक्षका साक्षात् कारण है।

१. कायक्लेश तपका लक्षण

मू.आ./मू./३५६ ठाणसयणासणेहिं य विविहेहिं पउग्गयेहिं बहुगेहिं। अणुवीचिपरिताओ कायकिलेसो हवदि एसो। —खड़ा रहना, एक पार्श्व मृतकी तरह सोना, वीरासनादिसे बैठना इत्यादि अनेक तरहके कारणोंसे शास्त्रके अनुसार आतापन आदि योगोंकरि शरीरको क्लेश देना वह कायक्लेश तप है।

स. सि./९/१९/४३८/११ आतपस्थानं वृक्षमूलनिवासो निरावरणशयनं बहुविधप्रतिमास्थानमित्येवमादिः कायक्लेशः। —आतापनयोग, वृक्षमूलमें निवास, निरावरण शयन और नानाप्रकारके प्रतिमास्थान

इत्यादि करना कायक्लेश है। (रा.वा/९/१९/१३/६१९/१५), (ध.१३/५/४,२६/५८/४), (चा.सा./१३६/२), (त.सा.७/११)

का.अ./मू./४५० दुस्सह-उवसग्गजई आतावण-सीय-वाय-खिण्णो वि। जो णवि खेदं गच्छदि कायकिलेसो तवो तस्स। —दुःसह उपसर्गको जीतनेवाला जो मुनि आतापन, शीत, वात वगैरहसे पीड़ित होनेपर भी खेदको प्राप्त नहीं होता, उस मुनिके कायक्लेश नामका तप होता है।

वसु.श्रा./३५१ आयंबिल णिव्वियडी एयट्ठाणं छट्ठमाइखवणेहिं। जं कीरइ तणुतावं कायकिलेसो मुणेयव्वो।३५१। —आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान, चतुर्भक्त, (उपवास), षष्ठ भक्त (बेला), अष्टम भक्त (तेला), आदिके द्वारा जो शरीरको कृश किया जाता है उसे कायक्लेश जानना चाहिए।

भ.आ./वि./६/३२/१८ कायसुखाभिलाषत्यजनं कायक्लेशः। —शरीरको सुख मिले ऐसी भावनाको त्यागना कायक्लेश है।

२. कायक्लेशके भेद

अन. ध./७/३२/६९३ ऊर्ध्वार्काद्ययनैः शवादिशयनैर्वीरासनाद्यासनैः, स्थानैरेकपदाग्रगामिभिरनिष्ठीवाग्रमावग्रहैः। योगैश्चातपनादिभिः प्रशमिना संतापनं यत्तनो', कायक्लेशमिदं तपोऽर्त्युपनतौ सद्ध्यानसिद्ध्यै भजेत।३२। —यह शरीरके कदर्थनरूप तप, अनेक उपायों द्वारा सिद्ध होता है। यहाँ छः उपायोंका निर्देश किया है—अयन (सूर्यादिकी गति); शयन, आसन, स्थान, अवग्रह और योग। इनके भी अनेक उत्तर भेद होते हैं (देखो आगे इन भेदोंके लक्षण)।

३. अयनादि कायक्लेशोंके भेद व लक्षण

भ.आ./मू./२२२-२२७ अणुसूरी पडिसूरी उड्ढसूरी य तिरियसूरी य। उब्भागमेण य गमणं पडिआगमणं च गंतूणं।२२२। साधारणं सवीचारं सणिरुद्धं तहेव वोसट्ठं। समपादमेगपादं गिद्धोलीणं च ठाणाणि।२२३। समपलियंक णिसेज्जा समपदगोदो हिया य उक्कुडिया। मगरमुह हत्थिसुंडी गोणणिसेज्जद्धपलियंका।२२४। वीरासण च दंडा य उड्ढसाई य लगडसाई य। उत्ताणो मच्छिय एगपाससाई य मडयसाई य।२२५। अब्भावगाससयणं अणिट्ठवणा अकंडुगं चेव। तणफलयसिलाभूमी सेज्जा तह केसलोचे य।२२६। अब्भुट्ठणं च रादो अण्हाणमदंतधोवणं चेव। कायकिलेसो एसो सीदुण्हादावणादी य।२२७। —*अयन*—कड़ी धूपवाले दिन पूर्वसे पश्चिमकी ओर चलना अनुसूर्य है—पश्चिमसे पूर्वकी ओर चलना प्रतिसूर्य है—सूर्य जब मस्तक पर चढ़ता है ऐसे समयमें गमन करना ऊर्ध्वसूर्य है, सूर्यको तिर्यक् (अर्थात दायें-बायें) करके गमन करना तिर्यक्सूर्य है--स्वयं ठहरे हुए ग्रामसे दूसरे गाँवको विश्रान्ति न लेकर गमन करना और स्वस्थानको लौट आना या तीर्थादि स्थानको जाकर लगे हाथ लौट आना गमनागमन है। इस तरह अयनके अनेक भेद होते हैं। स्थान—कायोत्सर्ग करना स्थान कहलाता है। जिसमें स्तम्भादिका आश्रय लेना पड़े उसे साधार; जिसमें संक्रमण पाया जाये उसको सविचार; जो निश्चलरूपसे धारण किया जाय उसको ससन्निरोध, जिसमें सम्पूर्ण शरीर ढीला छोड़ दिया जाय उसको विसृष्टांग; जिसमें दोनों पैर समान रखे जायें उसको समपाद; एक पैरसे खड़ा होना एकपाद, दोनों बाहू ऊपर करके खड़े होना प्रसारितबाहू। इस तरह स्थानके भी अनेक भेद हैं। आसन—जिसमें पिंडलियाँ और स्फिक बराबर मिल जायें वह समपर्यंकासन है; उससे उलटा असमपर्यंकासन है; गौको दुहनेकी भाँति बैठना गोदोहन है; ऊपरको संकुचित होकर बैठना उत्कटिकासन है; मकरमुखवत दोनों पैरोंको करके बैठना मकरमुखासन है; हाथीकी सूंडकी तरह हाथ या पाँवको फैलाकर बैठना हस्तिसूंडासन है; गौके बैठनेकी भाँति बैठना गोशय्यासन है; अर्धपर्यंकासन, दोनों जंघाओंको दूरवर्ती रखकर बैठना वीरासन है: दण्डेके समान सीधा बैठना दण्डासन है। इस प्रकार आसनके अनेक भेद हैं। शयन—शरीरको संकुचित करके सोना लगडशय्या है; ऊपरको मुख करके सोना उत्तानशय्या है; नीचेको मुख करके सोना अवाक्शय्या है। शवकी तरह निश्चेष्ट सोना शवशय्या है; किसी एक करवटसे सोना एकपार्श्वशय्या है; बाहर खुले आकाशमें सोना अभ्रावकाशशय्या है। इस प्रकार शयनके भी अनेक भेद हैं। अवग्रह—अनेक प्रकारकी बाधाओंको जीतना अवग्रह है। थूकने, खाँसनेकी बाधा; छींक व जंभाईको रोकना; खाज होनेपर न खुजाना; काँटा आदि लग जानेपर खिन्न न होना; फोड़ा, फुंसी आदि होनेपर दुःखी न होना; पत्थर आदि लग जानेपर या ऊँची-नीची धरती आ जानेपर खेद न मानना; यथा समय केशलौंच करना; रात्रिको भी न सोना; कभी स्नान न करना; कभी दाँतोंको न माँजना; इत्यादि अवग्रहके अनेक भेद हैं। योग—ग्रीष्म ऋतुमें पर्वतके शिखर पर सूर्यके सम्मुख खड़ा होना आतापन है; वर्षा ऋतुमें वृक्षके नीचे बैठना वृक्षमूल योग है; शीतकालमें चौराहे पर नदी किनारे ध्यान लगाना शीत योग है। इत्यादि अनेक प्रकार योग होता है। (अन. ध./७/३२/६८१ में उद्धृत)

४. कायक्लेश तपके अतिचार

भ.आ./वि./४८७/७०७/११ कायक्लेशस्यातापनस्यातिचारः उष्णार्दितस्य शीतलद्रव्यसमागमेच्छा, संतापापायो मम कथं स्यादिति चिन्ता, पूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रवेशानां स्मरणं, कठोरातपस्य द्वेषः, शीतलाद्देशादकृतगात्रप्रमार्जनस्य आतपप्रवेशः। आतपसंतप्तशरीरस्य वा अप्रमृष्टगात्रस्य छायानुप्रवेशः इत्यादिकः। वृक्षस्य मूलमुगतस्यापि हस्तेन, पादेन, शरीरेण वाप्कायानां पीडा। कथं। शरीरावलग्नजलकणप्रमार्जनं, हस्तेन पादेन वा शिलाफलकादिगतोदकापनयनं। मृत्तिकार्द्रायां भूमौ शयनं। निम्नेन जलप्रवाहागमनदेशे वा अवस्थानम्। अवग्राहे वर्षापातः कदा स्यादिति चिन्ता। वर्षति देवे कदास्योपरमः स्यादिति वा। छत्रकटकादिधारणं वर्षानिवारणायेत्यादिकः। —तथा अभ्रावकाशस्यातिचारः। सचित्तायां भूमौ त्रससहितहरितसमुत्थितायां विवरवत्यां शयनं। अकृतभूमिशरीरप्रमार्जनस्य हस्तपादसंकोचप्रसारणं पार्श्वान्तरसंचरणं, कण्डूयनं वा। हिमसमीरणाभ्यां हतस्य कदैतदुपशमो भवतीति चिन्ता, वंशदलादिभिरुपरिनिपतितहिमापकर्षणं, अवश्यायघट्टना वा। प्रचुरवातापातदेशोऽयमिति संक्लेशः। अग्निप्रावरणादीनां स्मरणमित्यादिकः। —आतापन योगके अतिचार—उष्णसे पीड़ित होनेपर ठंडे पदार्थोंके संयोगकी इच्छा करना, 'यह मेरा संताप कैसे नष्ट होगा' ऐसी चिन्ता करना, पूर्वमें अनुभव किये गये शीतल पदार्थोंका स्मरण होना, कठोर धूपसे द्वेष करना, शरीरको बिना झाड़े ही शीतलता से एकदम गर्मीमें प्रवेश करना तथा शरीरको पिच्छीसे न स्पर्श करके ही धूपसे शरीर संताप होनेपर छायामें प्रवेश करना इत्यादि अतिचार आतापन योगके हैं। वृक्षमूल योगके अतिचार—इस योगको धारण करनेपर भी अपने हाथसे, पाँवसे और

शरीरसे जलकायिक जीवोंको दुख देना अर्थात् शरीरसे लगे हुए जल-कण हाथसे पोंछना, अथवा पाँवसे शिला या फलक पर संचित हुआ जल अलग करना, गीली मिट्टीकी जमीनपर सोना, जहाँ जलप्रवाह बहता है ऐसे स्थानमें अथवा खोल प्रदेशोंमें बैठना, वृष्टि-प्रतिबन्ध होनेपर 'कब वृष्टि होगी' ऐसी चिन्ता करना; और वृष्टि होनेपर उसके उपशमकी चिन्ता करना, अथवा वर्षाका निवारण करनेके लिए छत्र चटाई वगैरह धारण करना। अभ्रावकाश या शीतयोगके अतिचार—सचित्त जमीनपर, त्रससहित हरितवनस्पति जहाँ उत्पन्न हुई है ऐसी जमीनपर, छिद्र सहित जमीनपर, शयन करना। जमीन और शरीरको पिच्छिकासे स्वच्छ किये बिना हाथ और पाँव संकुचित करके अथवा फैला करके सोना; एक करवटसे दूसरे करवटपर सोना अर्थात् करवट बदलना; अपना अंग खुजलाना; हवा और ठंडीसे पीडित होनेपर 'इनका कब उपशम होगा' ऐसा मनमें संकल्प करना; शरीरपर यदि बर्फ गिरा होगा तो बाँसके टुकडेसे उसको हटाना; अथवा जलके तुषारोंको मर्दन करना, 'इस प्रदेशमें धूप और हवा बहुत है' ऐसा विचारकर संक्लेश परिणामसे युक्त होना, अग्नि और आच्छादन वस्त्रोंका स्मरण करना। ये सब अभ्रावकाशके अतिचार है।

५. कायक्लेश तप गृहस्थके लिए नहीं है

सा.ध./७/५० श्रावको वीरचर्याह प्रतिमातापनादिषु। स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च।५०।—श्रावकको वीरचर्या अर्थात स्वयं भ्रामरी वृत्तिसे भोजन करना, दिनप्रतिमा, आतापन योग, आदि धारण करनेका तथा सिद्धान्तशास्त्रोंके अध्ययनका अधिकार नहीं है।

६. कायक्लेश व परिषहजय भी आवश्यक हैं

चा.सा./१०७ पर उद्धृत—परीषोढव्या नित्ये दर्शनचारित्ररक्षणे विरतैः। संयमतपोविशेषास्तदेकदेशाः परीषहाख्याः स्युः। =दर्शन और चारित्रकी रक्षाके लिए तत्पर रहनेवाले मुनियोंको सदा परिषहोंको सहन करना चाहिए। क्योंकि ये परिषहें संयम और तप दोनोंका विशेष रूप हैं, तथा उन्हीं दोनोंका एकदेश (अंग) हैं।

अन. ध./७/३२/६८२ कायक्लेशमिदं तपोऽर्त्युपनतौ सद्ध्यानसिद्ध्यै भजेत्।३२। —यह तप भी मुमुक्षुओंके लिए आवश्यक है अतएव प्रशान्त तपस्वियोंको ध्यानकी सिद्धिके लिए इसका नित्य ही सेवन करना चाहिए।

७. कायक्लेश व परिषहमें अन्तर

स.सि./९/१९/४३९/१ परिषहस्यास्य च को विशेषः। यदृच्छयोपनिपतितः परिषहः स्वयंकृतः कायक्लेशः। =प्रश्न—परिषह और काय क्लेशमें क्या अन्तर है? उत्तर—अपने आप प्राप्त हुआ परिषह और स्वयं किया गया कायक्लेश है। यही इन दोनोंमें अन्तर है। (रा. वा/९/१९/१५/६१९/२०)

८. कायक्लेश तपका प्रयोजन

स.सि./९/१९/४३९/१ तत्किमर्थम्। देहदुःखतितिक्षासुखानभिष्वङ्ग-प्रवचनप्रभावनाद्यर्थम्। =प्रश्न—यह किस लिए किया जाता है? उत्तर—यह देहदुःखको सहन करनेके लिए, सुखविषयक आसक्तिको कम करनेके लिए और प्रवचनकी प्रभावना करनेके लिए किया जाता है। (रा.वा/९/१९/१४/६१९/१७) (चा.सा./१३६/४)

ध.१३/५.४.२६/५८/५ किमट्ठमेसो करिदे। सदि-वादादवेहि बहुदोववासेहि तिसा-छुहादिबाहाहि विसंठुलासणेहि य ज्झाणपरिचयट्ठं, अभावियसदिबाधादिउववासादिबाहस्स मारणंतियअसादेण ओत्थ-अस्सज्झाणाणुववत्तीदो। =प्रश्न—यह (काय क्लेश तप) किस लिए किया जाता है? उत्तर—शीत, वात और आतपके द्वारा; बहुत उपवासोंके द्वारा; तृषा क्षुधा आदि बाधाओं द्वारा और विसंस्थुल आसनों द्वारा ध्यानका अभ्यास करनेके लिए किया जाता है; क्योंकि जिसने शीतबाधा आदि और उपवास आदिकी बाधाका अभ्यास नहीं किया है और जो मारणान्तिक असातासे खिन्न हुआ है, उसके ध्यान नहीं बन सकता। (चा. सा./१३६/३), (अन.ध/७/३२/६८२)।

कायगुप्ति—दे० गुप्ति।

काय बल ऋद्धि—दे० ऋद्धि/६।

काय विनय—दे० विनय।

काय शुद्धि—दे० शुद्धि।

कायिकी क्रिया—दे० क्रिया/३/२।

कायोत्सर्ग—दे० व्युत्सर्ग/१।

कारक—व्याकरणमें प्रसिद्ध तथा नित्यको बोल चालमें प्रयोग किये जानेवाले कर्ता कर्म करण आदि छः कारक हैं। लोकमें इनका प्रयोग भिन्न पदार्थोंमें किया जाता है, परन्तु अध्यात्ममें केवल वस्तु स्वभाव लक्षित होनेके कारण एक ही द्रव्य तथा उसके गुणपर्यायोंमें ये छहों लागू करके विचारे जाते हैं।

१. भेदाभेद षट्कारक निर्देश व समन्वय

१. षट्कारकोंका नाम निर्देश

प्र. सा./त. प्र/१६ कर्तृत्वं··· कर्मत्वं···करणत्वं······संप्रदानत्वं···अपादानत्वं···अधिकरणत्वं·। पं. जयचन्द्रकृत भाषा—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान अपादान और अधिकरण नामक छः कारक है। जहाँ परके निमित्तसे कार्यकी सिद्धि कहलाती है, वहाँ व्यवहार कारक है और जहाँ अपने ही उपादान कारणसे कार्यकी सिद्धि कही जाती है वहाँ निश्चय कारक हैं (व्याकरणमें प्रसिद्ध सम्बन्ध नामके सातवें कारकका यहाँ निर्देश नहीं किया गया है, क्योंकि इन छहोंका समुदित रूप ही सम्बन्ध कारक है)।

२. षट्कारकी अभेद निर्देश

प्र. सा./त. प्र./१६ अयं खल्वात्मा···शुद्धानन्तशक्ति-ज्ञायकस्वभावेन स्वतन्त्रत्वाद्गृहीतकर्तृत्वाधिकारः··· विपरिणमनस्वभावेन प्राप्यत्वात् कर्मत्वं कलयन् — विपरिणमनस्वभावेन साधकतमत्वात करणत्वमनुबिभ्राण ··· विपरिणमनस्वभावेन कर्मणा समाश्रियमाणत्वात् संप्रदानत्वं दधान विपरिणमनसमये पूर्वप्रवृत्त-विकलज्ञानस्वभावापगमेऽपि सहजज्ञानस्वभावेन ध्रुवत्वावलम्बनादपादानत्वमुपाददान·, ··· विपरिणमनस्वभावस्याधारभूतत्वादधिकरणत्व-मात्मसात्कुर्वाणः स्वयमेव षट्कारकीरूपेणोपजायमान··· स्वयंभूरिति निर्दिश्यते। —यह आत्मा अनन्तशील युक्त ज्ञायक स्वभावके कारण स्वतन्त्र होनेसे जिसने कर्तृत्वके अधिकारको ग्रहण किया है, तथा (उसी शक्तियुक्त ज्ञानरूपसे) परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वयं ही प्राप्य होनेसे कर्मत्वका अनुभव करता है। परिणामन होनेके स्वभावसे स्वयं ही साधकतम होनेसे करणताको धारण करता है। स्वयं ही अपने (परिणमन स्वभाव रूप) कर्मके द्वारा समाश्रित होनेसे सम्प्रदानताको धारण करता है। विपरिणमन होनेके पूर्व समयमें प्रवर्तमान विकल ज्ञानस्वभावका नाश होनेपर भी सहज ज्ञानस्व-

भावसे स्वयं ही ध्रुवताका अवलम्बन करनेसे अपादानताको धारण करता हुआ, और स्वयं परिणमित होनेके स्वभावका आधार होनेसे अधिकरणताको आत्मसात् करता हुआ—(इस प्रकार) स्वयमेव छह कारक रूप होनेसे अथवा उत्पत्ति अपेक्षासे स्वयमेव आविर्भूत होनेसे स्वयंभू कहलाता है। (पं. का./त. प्र./६२)।

स.सा./आ./२९७ 'ततोऽहमेव मयैव मह्यमेव मत्त एव मय्येव मामेव गृह्णामि। यत्किल गृह्णामि तच्चेतनैकक्रियत्वादात्मनश्चेतय एव, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानायैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमाने एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये…किंतु सर्वविशुद्ध-चिन्मात्रो भावोऽस्मि।=(अन्यसर्व भाव क्योंकि मुझसे भिन्न हैं) इसलिए मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने लिये ही, अपनेमेंसे ही, अपनेमें ही अपनेको ही ग्रहण करता हूँ। आत्माकी चेतना ही एक क्रिया है इसलिए 'मैं ग्रहण करता हूँ' का अर्थ 'मैं चेतता हूँ' ही है, चेतता हुआ ही चेतता हूँ, चेतते हुएके द्वारा ही चेतता हूँ, चेतते हुएके लिए ही चेतता हूँ, चेतते हुएसे ही चेतता हूँ, चेततेमें ही चेतता हूँ, चेततेको ही चेतता हूँ (अथवा न तो चेतता हूँ, न चेतता हुआ चेतता हूँ—इत्यादि छहों बोल) किन्तु सर्वविशुद्ध चिन्मात्र भाव हूँ।

.का./त. प्र./४६/९२ मृत्तिका घटभावं स्वयं स्वेन स्वस्मै स्वस्मात् स्वस्मिन् करोतीत्यात्मात्मानमात्मनात्मने आत्मन आत्मनि जानातीत्यनन्यत्वेऽपि। ='मिट्टी स्वयं घटभावको (घड़ारूप परिणामको) अपने द्वारा अपने लिए अपनेमेंसे अपनेमें करती है' 'आत्मा आत्माको आत्मा द्वारा आत्माके लिए आत्मामेंसे आत्मामें जानता है' ऐसे अनन्यपनेमें भी कारक व्यपदेश होता है।

३. निश्चयसे अभेद कारक ही परम सत्य है

प्र. सा./१६ पं जयचन्द—परमार्थतः एकद्रव्य दूसरेकी सहायता नहीं कर सकता और द्रव्य स्वयं ही, अपनेको, अपनेसे, अपने लिए, अपनेमेंसे, अपनेमें करता है, इसलिए निश्चय छह कारक ही परमसत्य हैं।

★ **कर्ता कर्म करण व क्रियामें भेदाभेद आदि** —दे० कर्ता।

★ **कारण कार्य व्यपदेश** दे० कारण।

★ **ज्ञानके द्वारा ज्ञानको जानना**—दे० ज्ञान/I/३/

४. द्रव्य अपने परिणामोंमें कारकान्तरकी अपेक्षा नहीं करता।

पं. का./त. प्र./ ६२ स्वयमेव षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानो न कारकान्तरमपेक्षते। —स्वयमेव षट्कारकी रूपसे वर्तता हुआ (द्रव्य) अन्य कारककी अपेक्षा नहीं करता। (प्र सा /त. प्र. १६)

५. परमार्थमें पर कारकोंकी खोज करना वृथा है

प्र. सा./त.प्र./१६ अतो न निश्चयतः परेण सहात्मनः कारकत्वसंबन्धोऽस्ति, यतः शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गणव्यग्रतया परतन्त्रैर्भूयते।—अतः यहाँ यह कहा गया समझना चाहिए कि निश्चयसे परके साथ आत्माका कारकताका सम्बन्ध नहीं है, कि जिससे शुद्धात्मस्वभावकी प्राप्तिके लिए सामग्री (बाह्य साधन) ढूँढ़नेकी व्यग्रतासे जीव (व्यर्थ ही) परतन्त्र होते हैं।

६. परन्तु लोकमें भेद षट्कारकोंका ही व्यवहार होता है

पं. का/त. प्र./४६/९२ यथा देवदत्तः फलमङ्कुशेन धनदत्ताय वृक्षाद्वाटिकायामवचिनोतीत्यन्यत्वे कारकव्यपदेशः। —जिस प्रकार 'देवदत्त, फलको, अङ्कुश द्वारा, धनदत्तके लिए वृक्षपरसे, बगीचेमें, तोड़ता है' ऐसे अन्यपनेमें कारक व्यपदेश होता है (उसी प्रकार अनन्यपनेमें भी होता है)।

७. अभेद कारक व्यपदेशका कारण

पं.ध /पू./३३१ अतदिदमिहप्रतीतौ क्रियाफलं कारकाणि हेतुरिति। तदिदं स्यादिह संविदि हि हेतुस्तत्त्वं हि चेन्मिथः प्रेम ।३३१। —यदि परस्पर दोनों (अन्वय व व्यतिरेकी अंशों) में अपेक्षा रहे तो 'यह वह नहीं है' इस प्रतीतिमें क्रियाफल, कारक, हेतु ये सब बन जाते हैं और 'ये वही हैं' इस प्रतीतिमें भी निश्चयसे हेतुतत्त्व ये सब बन जाते हैं।

८. अभेद कारक व्यपदेशका प्रयोजन

प्र.सा./मू./१६० णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं। कत्ता ण ण कारयिदा अणुमत्ता णेव कत्तीणं ।१६०।—मैं न देह हूँ, न मन हूँ, और न वाणी हूँ, उनका कारण नहीं हूँ, कर्ता नहीं हूँ, करानेवाला नहीं हूँ (और) कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ। (अर्थात् अभेद कारक पर दृष्टि आनेसे पर कारकों सम्बन्धी अहंकार टल जाता है) विशेष दे० कारक १/५।

प्र.सा./मू./१२६ कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्पत्ति णिच्छिदो समणो। परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ।१२६। =यदि श्रमण 'कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा है' ऐसा निश्चयवाला होता हुआ अन्य रूप परिणमित नहीं ही हो तो वह शुद्ध आत्माको उपलब्ध करता है।१२६।

प. प्र / टी./२/१६ यावत्कालमात्मा कर्ता आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मना करणभूतेन आत्मने निमित्तं आत्मनः सकाशात् आत्मनि स्थितं न जानासि तावत्कालं परमात्मानं किं लभसे। — जब तक आत्मा नाम कर्ता, कर्मतापन्न आत्माको, करणभूत आत्माके द्वारा, आत्माके लिए, आत्मामें-से, आत्मामें ही स्थित रहकर न जानेगा तबतक परमात्माको कैसे प्राप्त करेगा!

९. अभेद व भेदकारक व्यपदेशका नयार्थ

त अनु./२९ अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नयः। व्यवहारनयो भिन्नकर्तृकर्मादिगोचरः ॥२९॥ — अभिन्न कर्ता कर्मादि कारक निश्चयनयका विषय है और व्यवहार नय भिन्न कर्ता कर्मादिको विषय करता है। (अन. ध./१/१०२/१०८)

★ **षट् द्रव्योंमें उपकार्य उपकारक भाव।**

—दे० कारण/III/१।

२. सम्बन्धकारक निर्देश

१. भेद व अभेद सम्बन्ध निर्देश

स. सि./५/१२/२७७ ननु च लोके पूर्वोत्तरकालभाविनामाधाराधेयभावो दृष्टो यथा कुण्डे बदरादीनाम्। न तथाकाशं पूर्वं धर्मादीन्युत्तरकालभावीनि; अतो व्यवहारनयापेक्षयापि आधाराधेयकल्पनानुपपत्तिरिति। नैष दोषः, युगपद्भाविनामपि आधाराधेयभावो दृश्यते। घटे रूपादयः शरीरे हस्तादय इति। —प्रश्न—लोकमें जो पूर्वोत्तर कालभावी होते हैं, उन्हींका आधार आधेय भाव देखा गया है। जैसे कि बेरोंका आधार कुण्ड होता है। उस प्रकार आकाश पूर्वकालभावी हो और धर्मादिक द्रव्य पीछेसे उत्पन्न हुए हों ऐसा तो है नहीं; अतः व्यवहारनयकी अपेक्षा भी आधार आधेय कल्पना (इन द्रव्योंमें) नहीं बनती? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि एक साथ होने-

वाले पदार्थोंमें भी <u>आधार आधेय भाव</u> देखा जाता है। यथा— घटमें रूपादिकका और शरीरमें हाथ आदिकका।

पं. ध./उ./२११ व्याप्यव्यापकभावः स्यादात्मनि नातदात्मनि। व्याप्यव्यापकताभावः स्वतः सर्वत्र वस्तुषु ।२११। =अपनेमें ही <u>व्याप्य-व्यापकभाव</u> होता है, अपनेसे भिन्नमें नहीं होता है क्योंकि वास्तविक रीतिसे देखा जाये तो सर्व पदार्थोंका अपनेमें ही व्याप्यव्यापकपनेका होना सम्भव है। अन्यका अन्यमें नहीं।

★ द्रव्यगुण पर्यायमें युतसिद्ध व समवायसम्बन्धका निषेध —दे० द्रव्य/४/५

२. व्यवहारसे ही भिन्न द्रव्योंमें सम्बन्ध कहा जाता है तत्त्वतः कोई किसीका नहीं

स. सा/मू/२७ ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को। ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ।२७। =व्यवहारनय तो यह कहता है कि जीव और शरीर एक ही है; किन्तु निश्चयनयके अभिप्रायसे जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं हैं।

यो. सा./अ/५/२० शरीरमिन्द्रियं द्रव्यं विषयो विभवो विभुः। ममेति व्यवहारेण भण्यते न च तत्त्वतः ।२०। ='शरीर, इन्द्रिय, द्रव्य, विषय, ऐश्वर्य और स्वामी मेरे हैं' यह बात व्यवहारसे कही जाती है, निश्चयनयसे नहीं ।२०।

स. सा./आ/१८१ न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेनैकसत्तानुपपत्तेः, तदसत्त्वे च तेन सहाधाराधेयसंबन्धोऽपि नास्त्येव, ततः स्वरूपप्रतिष्ठित्वलक्षण एवाधाराधेयसंबन्धोऽवतिष्ठते। =वास्तवमें एक वस्तुकी दूसरी वस्तु नहीं है (अर्थात् एक वस्तु दूसरीके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती) क्योंकि दोनोंके प्रदेश भिन्न हैं, इसलिए उनमें एक सत्ताकी अनुपपत्ति है (अर्थात् दोनों सत्ताएँ भिन्न-भिन्न हैं) और इस प्रकार जबकि एक वस्तुकी दूसरी वस्तु नहीं है तब उनमें परस्पर आधार आधेय सम्बन्ध भी है ही नहीं। इसलिए स्वरूप प्रतिष्ठित वस्तुमें ही आधार आधेय सम्बन्ध है।

३. भिन्न द्रव्योंमें सम्बन्ध माननेसे अनेक दोष आते हैं

यो. सा./अ./३/१६ नान्यद्रव्यपरिणाममन्यद्रव्यं प्रपद्यते। स्वान्यद्रव्यव्यवस्थेयं परस्य घटते कथम् ।१६। =जो परिणाम एक द्रव्यका है वह दूसरे द्रव्यका परिणाम नहीं हो सकता। यदि ऐसा मान लिया जाये तो संकर दोष आ जानेसे यह निज द्रव्य है और यह अन्य द्रव्य है, ऐसी व्यवस्था ही नहीं बन सकती।

पं. ध./पू./५६७-५७० अस्तिव्यवहारः किल लोकानामयमलब्धबुद्धित्वात्। योऽयं मनुजादिवपुर्भवति सजीवस्ततोऽप्यनन्यत्वात् ।५६७। सोऽयं व्यवहारः स्यादव्यवहारो यथापसिद्धान्तात्। अप्यपसिद्धान्तत्वं नासिद्धं स्यादनेकधर्मित्वात् ।५६८। नाशक्यं कारणमिदमेकक्षेत्रावगाहिमात्रं यत। सर्वद्रव्येषु यतस्तथावगाहाद्भवेदतिव्याप्तिः ।५६९। अपि भवति बन्ध्यबन्धकभावो यदि वानयोर्न शङ्क्यमिति। तदनेकत्वे नियमात्तद्बन्धस्य स्वतोऽप्यसिद्धत्वात् ।५७०। =अलब्धबुद्धि जनोंका *यह व्यवहार है कि मनुष्यादिका शरीर ही जीव है क्योंकि दोनों अनन्य हैं।* उनका यह व्यवहार अपसिद्धान्त अर्थात् सिद्धान्त विरुद्ध होनेसे अव्यवहार है। क्योंकि वास्तवमें वे अनेकधर्मी हैं ।५६७-५६८। एकक्षेत्रावगाहीपनेके कारण भी शरीरको जीव कहनेसे अतिव्याप्ति हो जायेगी, क्योंकि सम्पूर्ण द्रव्योंमें ही एकक्षेत्रावगाहित्व पाया जाता है ।५६९। शरीर और जीवमें बन्ध्यबन्धक भावकी आशंका भी युक्त नहीं है क्योंकि दोनोंमें अनेकत्व होनेसे उनका बन्ध ही असिद्ध है।

४. अन्य द्रव्यको अन्यका कहना मिथ्यात्व है

स. सा./मू./३२५-३२६ जह को वि णरो जंपइ अम्हं गामविसयणयररट्ठं। ण य हुंति तस्स ताणि उ भणइ य मोहेण सो अप्पा ।३२५। एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णीसंसयं हवइ एसो। जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पणं कुणइ ।३२६। =जैसे कोई मनुष्य 'हमारा ग्राम, हमारा देश, हमारा नगर, हमारा राष्ट्र,' इस प्रकार कहता है, किन्तु वास्तवमें वे उसके नहीं हैं; मोहसे वह आत्मा 'मेरे हैं' इस प्रकार कहता है। इसी प्रकार यदि ज्ञानी भी 'परद्रव्य मेरा है' ऐसा जानता हुआ परद्रव्यको निजरूप करता है वह निःसन्देह मिथ्यादृष्टि होता है। (स. सा./मू./२०/२२)।

यो. सा./अ./३/५ मयीदं कार्मणं द्रव्यं कारणेऽत्र भवाम्यहम्। यावदेषा मतिस्तावन्मिथ्यात्वं न निवर्तते ।५। ='कर्मजनित द्रव्य मेरे हैं और मैं कर्मजनित द्रव्योंका हूँ', जब तक जीवकी यह भावना बनी रहती है तबतक उसकी मिथ्यात्वसे निवृत्ति नहीं होती।

स. सा./आ/३१४-३१५ यावदयं चेतयिता प्रतिनियतस्वलक्षणनिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बन्धनिमित्तं न मुञ्चति, तावत्...स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन मिथ्यादृष्टिर्भवति। =जबतक यह आत्मा, (स्व व परके भिन्न-भिन्न) निश्चित स्वलक्षणोंका ज्ञान (भेदज्ञान) न होनेसे प्रकृतिके स्वभावको, जो कि अपनेको बन्धका निमित्त है उसको नहीं छोड़ता, तबतक स्व-परके एकत्वदर्शनसे (एकत्वरूप श्रद्धानसे) मिथ्यादृष्टि है।

५. परके साथ एकत्वका तात्पर्य

स. सा./ता. वृ./९५ ननु धर्मास्तिकायोऽहमित्यादि कोऽपि न ब्रूते तत्कथं घटत इति। अत्र परिहारः। धर्मास्तिकायोऽयमिति योऽसौ परिच्छित्तिरूपविकल्पो मनसि वर्तते सोऽप्युपचारेण धर्मास्तिकायो भण्यते। यथा घटाकारविकल्पपरिणतज्ञानं घट इति। तथा तद्धर्मास्तिकायोऽयमित्यादिविकल्पः यदा ज्ञेयतत्त्वविचारकाले करोति जीव तदा शुद्धात्मस्वरूपं विस्मरति, तस्मिन्विकल्पे कृते सति धर्मोऽहमिति विकल्प उपचारेण घटत इति भावार्थः। =प्रश्न—"मैं धर्मास्तिकाय हूँ" ऐसा तो कोई भी नहीं कहता है, फिर सूत्रमें यह जो कहा गया है वह कैसे घटित होता है? उत्तर—"यह धर्मास्तिकाय है" ऐसा जो ज्ञानका विकल्प मनमें वर्तता है वह भी उपचारसे धर्मास्तिकाय कहा जाता है। जैसे कि घटाकारके विकल्परूपसे परिणत ज्ञानको घट कहते हैं। तथा 'यह धर्मास्तिकाय है' ऐसा विकल्प, जब जीव ज्ञेयतत्त्वके विचारकालमें करता है उस समय उसे शुद्धात्माका स्वरूप भूल जाता है (क्योंकि उपयोगमें एक समय एक ही विकल्प रह सकता है); इसलिए उस विकल्पके किये जानेपर 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' ऐसा उपचारसे घटित होता है। ऐसा भावार्थ है। (स. सा./ता. वृ./२६८)

६. भिन्न द्रव्योंमें सम्बन्ध निषेधका प्रयोजन

स.सा./मू./९६-९७ एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ। अप्पाणं अवि य परं करेइ अण्णाणभावेण ।९६। एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहि परिकहिदो। एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ।९७। =इस प्रकार अज्ञानी अज्ञानभावसे परद्रव्योंको अपने रूप करता है और अपनेको परद्रव्योंरूप करता है ।९६। इसलिए निश्चयके जाननेवाले ज्ञानियोंने उस आत्माको कर्ता कहा है। ऐसा निश्चयसे जो जानता है वह सर्व कर्तृत्वको छोड़ता है ।९७।

कारक व्यभिचार—दे० नय/III/६/८।

★ जीव शरीर सम्बन्ध व उसकी मुख्यता गौणताका समन्वय—दे० बन्ध/४।

कारण—कार्यके प्रति नियामक हेतुको कारण कहते हैं। वह दो प्रकारका है—अन्तरंग व बहिरंग। अन्तरंगको उपादान और बहिरंगको निमित्त कहते हैं। प्रत्येक कार्य इन दोनोंसे अवश्य अनुगृहीत होता है। साधारण, असाधारण, उदासीन, प्रेरक आदिके भेदसे निमित्त अनेक प्रकारका है। यद्यपि शुद्ध द्रव्योंकी एक समयस्थायी शुद्धपर्यायोंमें केवल कालद्रव्य ही साधारण निमित्त होता है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि अन्य निमित्तोंका विश्वमें कोई स्थान ही नहीं है। सभी अशुद्ध व संयोगी द्रव्योंकी चिर कालस्थायी जितनी भी चिदात्मक या अचिदात्मक पर्यायें दृष्ट हो रही हैं, वे सभी संयोगी होनेके कारण साधारण निमित्त (काल व धर्म द्रव्य) के अतिरिक्त अन्य बाह्य असाधारण सहकारी या प्रेरक निमित्तोंके द्वारा भी यथा योग्य रूपमें अवश्य अनुगृहीत हो रही हैं। फिर भी उपादानकी शक्ति ही सर्वतः प्रधान होती है क्योंकि उसके अभावमें निमित्त किसीके साथ जबरदस्ती नहीं कर सकता। यद्यपि कार्यकी उत्पत्तिमें उपरोक्त प्रकार निमित्त व उपादान दोनों का ही समान स्थान है, पर निर्विकल्पताके साधकको मात्र परमार्थका आश्रय होनेसे निमित्त इतना गौण हो जाता है, मानो वह है ही नहीं। संयोगी सर्व कार्योंपर-से दृष्टि हट जानेके कारण और मौलिक पदार्थपर ही लक्ष्य स्थिर करनेमें उद्यत होनेके कारण उसे केवल उपादान ही दिखाई देता है निमित्त नहीं और उसका स्वाभाविक शुद्ध परिणमन ही दिखाई देता है, संयोगी अशुद्ध परिणमन नहीं। ऐसा नहीं होता कि केवल उपादान पर दृष्टिको स्थिर करके भी वह जगतके व्यावहारिक कार्योंको देखता या तत्सम्बन्धी विकल्प करता रहे। यद्यपि पूर्वबद्ध कर्मोंके निमित्तसे जीवके परिणाम और उन परिणामोंके निमित्तसे नवीन कर्मोंका बन्ध, ऐसी अटूट शृंखला अनादिसे चली आ रही है, तदपि सत्य पुरुषार्थ द्वारा साधक इस शृंखलाको तोड़कर मुक्ति लाभ कर सकता है, क्योंकि उसके प्रभावसे सत्ता स्थित कर्मोंमें महान् अन्तर पड़ जाता है।

I. कारण सामान्य निर्देश

१. कारणके भेद व लक्षण

१. कारण सामान्यका लक्षण

स.सि./१/२१/१२५/७ प्रत्ययः कारणं निमित्तमित्यनर्थान्तरम्। =प्रत्यय, कारण और निमित्त ये एकार्थवाची नाम हैं। (स.सि./१/२०/१२०/७); (रा.वा./१/२०/२/७०/३०)

स.सि./१/७/२२/३ साधनमुत्पत्तिनिमित्तं। =जिस निमित्तसे वस्तु उत्पन्न होती है वह साधन है।

रा.वा./१/७/.../३८/१ साधनं कारणम्। =साधन अर्थात् कारण।

२. कारणके भेद

रा. वा/२/८/१/११८/१२ द्विविधो हेतुर्बाह्य आभ्यन्तरश्च।...तत्र बाह्यो हेतुर्द्विविधः—आत्मभूतोऽनात्मभूतश्चेति।...आभ्यन्तरश्च द्विविध — अनात्मभूत आत्मभूतश्चेति। =हेतु दो प्रकारका है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य हेतु भी दो प्रकारका है—अनात्मभूत और आत्मभूत और अभ्यन्तर हेतु भी दो प्रकारका होता है—आत्मभूत और अनात्मभूत। (और भी दे० निमित्त/१)

३. कारणके भेदोंके लक्षण

रा.वा/२/८/१/११८/१४ तत्रात्मना संबन्धमापन्नविशिष्टनामकर्मोपात्तचक्षुरादिकरणग्राम आत्मभूतः। प्रदीपादिरनात्मभूत.।...तत्र मनोवाक्कायवर्गणालक्षणो द्रव्ययोग. चिन्ताद्यालम्बनभूत अन्तरभिनिविष्टत्वादाभ्यन्तर इति व्यपदिश्यमान आत्मनोऽन्यत्वादनात्मभूत इत्यभिधीयते। तन्निमित्तो भावयोगो वीर्यान्तरायज्ञानदर्शनावरणक्षयोपशमनिमित्त आत्मनः प्रसादश्चात्मभूत इत्याख्यामर्हति। =(ज्ञान दर्शनरूप उपयोगके प्रकरणमें) आत्मासे सम्बद्ध शरीरमें निर्मित चक्षु आदि इन्द्रियाँ आत्मभूत बाह्यहेतु हैं और प्रदीप आदि अनात्मभूत बाह्य हेतु हैं। मनवचनकायकी वर्गणाओंके निमित्तसे होनेवाला आत्मप्रदेश परिस्पन्दन रूप द्रव्य योग अन्तःप्रविष्ट होनेसे आभ्यन्तर अनात्मभूतहेतु है तथा द्रव्ययोगनिमित्तक ज्ञानादिरूप भावयोग तथा वीर्यान्तराय तथा ज्ञानदर्शनावरणके क्षयोपशमके निमित्तसे उत्पन्न आत्माकी विशुद्धि आभ्यन्तर आत्मभूत हेतु है।

२. उपादान कारणकार्य निर्देश

१. निश्चयसे कारण व कार्यमें अभेद है

रा.वा/१/३३/१/९५/५ न च कार्यकारणयोः कश्चिद्रूपभेदः तदुभयमेकाकारमेव पर्वाङ्गुलिद्रव्यवदिति द्रव्यार्थिकः। =कार्य व कारणमें कोई भेद नहीं है। वे दोनों एकाकार ही हैं। जैसे—पर्व व अंगुली। यह द्रव्यार्थिक नय है।

ध.१२/४,२,८,३/३ सव्वस्स सव्वकलापस्स कारणादो अभेदो सत्तादीहितो त्ति णए अवलंबिज्जमाणे कारणादो कज्जमभिण्णं।...कारणे कार्यमस्तीति विवक्षातो वा कारणात्कार्यमभिन्नम्। =सत्ता आदिकी अपेक्षा सभी कार्यकलापका कारणसे अभेद है। इस नयका अवलम्बन करने पर कारणसे कार्य अभिन्न है, तथा कार्यसे कारण भी अभिन्न है। ...अथवा 'कारणमें कार्य है' इस विवक्षासे भी कारणसे कार्य अभिन्न है। (प्रकृतमें प्राण प्राणिवियोग और वचनकलाप चूँकि ज्ञानावरणीय बन्धके कारणभूत परिणामसे उत्पन्न होते हैं अतएव वे उससे अभिन्न हैं। इसी कारण वे ज्ञानावरणीयबन्धके प्रत्यय भी सिद्ध होते हैं)।

स.सा./आ./६५ निश्चयत. कर्मकरणयोरभिन्नत्वात् यद्येन क्रियते तत्तदेवेति कृत्वा, यथा कनकपत्रं कनकेन क्रियमाणं कनकमेव न त्वन्यत्। =निश्चय नयसे कर्म और करणकी अभिन्नता होनेसे जो जिससे किया जाता है (होता है) वह वही है—जैसे सुवर्णपत्र सुवर्णसे किया जाता होनेसे सुवर्ण ही है अन्य कुछ नहीं है।

२. द्रव्यका स्वभाव कारण है और पर्याय कार्य है

श्लो वा/२/१/७/१२/४४६/भाषाकार द्वारा उद्धृत—यावन्ति कार्याणि तावन्तः प्रत्येकं वस्तुस्वभावाः। =जितने कार्य होते हैं उतने प्रत्येक वस्तुके स्वभाव होते हैं।

न.च.वृ./३६०-३६१ कारणकज्जसहावं समयं णाऊण होइ ज्झायव्वं। कज्जं सुद्धसरूवं कारणभूदं तु साहणं तस्स ।३६०। सुद्धो कम्मखयादो कारणसमओ हु जीवसब्भावो। खय पुण सहावझाणे तम्हा तं कारणं भेयं।३६१। =समय अर्थात् आत्माको कारण व कार्यरूप जानकर ध्याना चाहिए। कार्य तो उस आत्माका प्रगट होने वाला शुद्ध स्वरूप है और कारणभूत शुद्ध स्वरूप उसका साधन है।३६०। कार्य शुद्ध समय तो कर्मोंके क्षयसे प्रगट होता है और कारण समय जीवका स्वभाव है। कर्मोंका क्षय स्वभावके ध्यानसे होता है इसलिए वह कारण समय ध्येय है। (और भी दे० कारण कार्य परमात्मा कारण कार्य समयसार)।

स.सा./आ./परि/क २६५ के आगे—आत्मवस्तुनो हि ज्ञानमात्रत्वेऽप्युपायोपेयभावो विद्यत एव। तस्यैकस्यापि स्वयं साधकसिद्धरूपोभयपरिणामित्वात्। तत्र यत्साधकं रूपं स उपाय यत्सिद्धं रूपं स उपेयः। =आत्म वस्तुको ज्ञानमात्र होनेपर भी उसे उपायउपेय भाव है, क्योंकि वह एक होनेपर भी स्वयं साधक रूपसे और सिद्ध रूपसे दोनों प्रकारसे परिणमित होता है (अर्थात् आत्मा परिणामी है और साधकत्व और सिद्धत्व ये दोनों परिणाम है) जो साधक रूप है वह उपाय है और जो सिद्ध रूप है वह उपेय है।

३. त्रिकाली द्रव्य कारण है और पर्याय कार्य

रा वा./१/३३/१/९५/४ अर्यते गम्यते निष्पाद्यते इत्यर्थःकार्यम्। द्रवति गच्छतीति द्रव्यं कारणम्। =जो निष्पादन या प्राप्त किया जाये ऐसी पर्याय तो कार्य है और जो परिणमन करे ऐसा द्रव्य कारण है।

न. च वृ./३६५ उप्पज्जंतो कज्जं कारणमप्पा णियं तु जणयंतो। तम्हा इह ण विरुद्ध एकस्स व कारणं कज्ज।३६५। =उत्पद्यमान कार्य होता है और उसको उत्पन्न करनेवाला निज आत्मा कारण होता है। इसलिए एक ही द्रव्यमें कारण व कार्य भाव विरोधको प्राप्त नहीं होते।

का.आ./मू./२३२ स सरूवत्थो जीवो कज्जं साहेदि वट्टमाणं पि। खेत्ते एक्कम्मि ट्ठिदो णिय दव्वे संठिदो चेव।२३२। =स्वरूपमें, स्वक्षेत्रमें, स्वद्रव्यमें और स्वकालमें स्थित जीव ही अपने पर्यायरूप कार्यको करता है।

४. पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य कारण है और उत्तर पर्याय उसका कार्य है

आ. मी /५८ कार्योत्पाद. क्षयो हेतुर्नियमाल्लक्षणात्पृथक्। न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ।५८। =हेतु कहिये उपादान कारण ताका क्षय कहिए विनाश है सो ही कार्यका उत्पाद है। जातै हेतुके नियमतै कार्यका उपजना है। तै उत्पाद विनाश भिन्न लक्षणतै न्यारे न्यारे हैं। जाति आदिके अवस्थानतै भिन्न नाहीं है—कथंचित अभेद रूप हैं। परस्पर अपेक्षा रहित होय तो आकाश पुष्पवत् अवस्तु होय। (अष्टसहस्री/श्लो. ५८)

रा.वा/१/६/१४/३७/२५ सर्वेषामेव तेषां पूर्वोत्तरकालभाव्यवस्थाविशेषार्पणाभेदादेकस्य कार्यकारणशक्तिसमन्वयो न विरोधस्यास्पदमित्यविरोधसिद्धिः। =सभी वादी पूर्वावस्थाको कारण और उत्तरावस्थाको कार्य मानते हैं। अतः एक ही पदार्थमें अपनी पूर्व और उत्तर पर्यायकी दृष्टिसे कारण कार्य व्यवहार निर्विरोध रूपसे होता ही है।

अष्टसहस्री/श्लो. १० टीकाका भावार्थ (द्रव्यार्थिक व्यवहार नयसे मिट्टी घटका उपादान कारण है। ऋजुसूत्र नयसे पूर्व पर्याय घटका उपादान कारण है। तथा प्रमाणसे पूर्व पर्याय विशिष्ट मिट्टी घटका उपादान कारण है।)

श्लो. वा. २/१/७/१२/५३६/५ तथा सति रूपरसयोरेकार्थात्मकयोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तिरेव लिङ्गलिङ्गिव्यवहारहेतुः कार्यकारणभावस्यापि नियतस्य तदभावेऽनुपपत्तेः संतानान्तरवत्। =आप बौद्धोंके यहाँ मान्य अर्थक्रियामें नियत रहना रूप कार्यकारण भाव भी एक द्रव्य प्रत्यासत्ति नामक सम्बन्धके बिना नहीं बन सकता है। किसी एक द्रव्यमें पूर्व समयके रस आदि उत्तरवर्ती पर्यायोंके उपादान कारण हो जाते हैं। (श्लो.वा./पु.२/१/८/१०/५६६)

अष्टसहस्री/पृ.२११ की टिप्पणी—नियतपूर्वक्षणवर्तित्वं कारणलक्षणम्। नियतोत्तरक्षणवर्तित्वं कार्यलक्षणम्। =नियतपूर्वक्षणवर्ती तो कारण होता है और नियत उत्तरक्षणवर्ती कार्य होता है।

क पा.१/§२४५/२८६/३ पागभावो कारणं। पागभावस्स विणासो वि दव्व-खेत्त-काल-भवावेक्खाए जायदे। =(जिस कारणसे द्रव्य कर्म सर्वदा विशिष्टपनेको प्राप्त नहीं होते हैं) वह कारण प्रागभाव है। प्रागभाव का विनाश हुए बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। और प्रागभावका विनाश द्रव्य क्षेत्र काल और भवकी अपेक्षा लेकर होता है, (इसलिए द्रव्य कर्म सर्वदा अपने कार्यको उत्पन्न नहीं करते हैं।)

का अ./मू./२२२-२२३ पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं। उत्तरपरिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा।२२२। कारणकज्जविसेसा तीसु वि कालेसु हुंति वत्थूणं। एक्केक्कम्मि य समए पुव्वुत्तर-भावमासिज्ज।२२३। =पूर्व परिणाम सहित द्रव्य कारण रूप है और उत्तर परिणाम सहित द्रव्य नियमसे कार्य रूप है।२२२। वस्तुके पूर्व और उत्तर परिणामोंको लेकर तीनों ही कालोंमें प्रत्येक समयमें कारणकार्य भाव होता है।२२३।

सा./ता वृ./१११/१६८/१० मुक्तात्मनां य एव...मोक्षपर्यायेण भव उत्पादः स एव...निश्चयमोक्षमार्गपर्यायेण विलयो विनाशस्तौ च मोक्षपर्यायमोक्षमार्गपर्यायौ कार्यकारणरूपेण भिन्नौ। =मुक्तात्माओंको जो मोक्ष पर्यायका उत्पाद है वह निश्चयमोक्षमार्गपर्यायका विलय है। इस प्रकार अभिन्न होते हुए भी मोक्ष और मोक्षमार्गरूप दोनों पर्यायोंमें कार्यकारणरूपसे भेद पाया जाता है (प्र.सा.ता. वृ./८/१०/११) (और भी देखो)—'समयसार' व 'मोक्षमार्ग/२/३'

५. एक वर्तमानमात्र पर्याय स्वयं ही कारण है और स्वयं ही कार्य है—

रा. वा./१/३३/१/६५/६ पर्याय एवार्थः कार्यमस्य न द्रव्यम्। अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्, स एवैकः कार्यकारणव्यपदेशमार्गाति पर्यायार्थिकः। =पर्याय ही है अर्थ या कार्य जिसका सो पर्यायार्थिक नय है। उसकी अपेक्षा करनेपर अतीत और अनागत पर्याय विनष्ट व अनुत्पन्न होनेके कारण व्यवहार योग्य ही नहीं हैं। एक वर्तमान पर्यायमें ही कारणकार्यका व्यपदेश होता है।

६. कारणकार्यमें कथंचित् भेदाभेद

आप्त. मी./५८ नियमात्लक्षणात्पृथक्। =पूर्वोत्तर पर्याय विशिष्ट वे उत्पाद व विनाश रूप कार्यकारण क्षेत्रादि से एक होते हुए भी अपने-अपने लक्षणों से पृथक् है।

आप्त. मी./६-१४ (कार्य के सर्वथा भाव या अभाव का निरास)

आप्त. मी./२४-३६ (सर्वथा अद्वैत या पृथक्त्वका निराकरण)

आप्त. मी./३७-४५ (सर्वथा नित्य व अनित्यत्वका निराकरण)

आप्त. मी./५७-६० (सामान्यरूपसे उत्पाद व्ययरहित है, विशेषरूपसे वही उत्पाद व्ययसहित है)

आप्त. मी./६१-७२ (सर्वथा एक व अनेक पक्षका निराकरण)

श्लो. वा./२/१/७/१२/५३१/६ न हि कश्चित् पूर्वे रसादिपर्यायाः पररसादिपर्यायाणामुपादानं नान्यत्र द्रव्ये वर्तमाना इति नियमस्तेषामेकद्रव्यतादात्म्यविरहे कथंचिदुपपन्नः। =किसी एक द्रव्यमें पूर्व समयके रस आदि पर्याय उत्तरवर्ती समयमें होनेवाले रसादिपर्यायोंके उपादान कारण हो जाते हैं, किन्तु दूसरे द्रव्योंमें वर्त रहे पूर्वसमयवर्ती रस आदि पर्याय इस प्रकृत द्रव्यमें होनेवाले रसादिक उपादान कारण नहीं है। इस प्रकार नियम करना उन-उन रूपादिकोंके एक द्रव्य तादात्म्यके बिना कैसे भी नहीं हो सकता।

ध. १२/४, २, ८, ३/२८०/३ सव्वस्स कज्जकलावस्स कारणादो अभेदो सत्तादीहितो त्ति णए अवलंबिज्जमाणे कारणादो कज्जमभिण्णं, कज्जादो कारणं पि, असदकरणाद् उपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्, शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च। =सत्ता आदिकी अपेक्षा सभी कार्यकलाप कारणसे अभेद है। इस (द्रव्यार्थिक) नयका अवलम्बन करनेपर कारणसे कार्य अभिन्न है तथा कार्यसे कारण भी अभिन्न हैं, क्योंकि—१. असत् कार्य कभी किया नहीं जा सकता, २. नियत उपादानकी अपेक्षा की जाती है, ३. किसी एक कारणसे सभी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते, ४. समर्थकारणके द्वारा शक्य कार्य ही किया जाता है, ५. तथा असत् कार्यके साथ कारणका सम्बन्ध भी नहीं बन सकता।

नोट—(इन सभी पक्षोंका ग्रहण उपरोक्त आप्तमीमांसाके उद्धरणों में तथा उसीके आधारपर (ध. १५/१७-३१) में विशद रीतिसे किया गया है)

न. च. वृ./३६५ उप्पज्जंतो कज्जं कारणमप्पा णियं तु जणयंतो। तम्हा इह ण विरुद्धं एकस्स वि कारणं कज्जं।३६५। =उत्पद्यमान पर्याय तो कार्य है और उसको उत्पन्न करनेवाला आत्मा कारण है, इसलिए एक ही द्रव्यमें कारणकार्य भावका भेद विरुद्ध नहीं है।

द्र. सं./टी./३७/१७-१८ उपादानकारणमपि ..मृन्मयकलशकार्यस्य मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलोपादानकारणवदिति च कार्यादेकदेशेन भिन्नं भवति। यदि पुनरेकान्तेनोपादानकारणस्य कार्येण सहाभेदो भेदो वा भवति तर्हि पूर्वोक्तसुवर्णमृत्तिकादृष्टान्तद्वयवत्कार्यकारणभावो न घटते। =उपादान कारण भी मिट्टीरूप घट कार्यके प्रति मिट्टीका पिण्ड, स्थास, कोश तथा कुशूलरूप उपादान कारणके समान (अथवा सुवर्णकी अधस्तन व उपरितन पाक अवस्थाओंवत्) कार्यसे एकदेश भिन्न होता है। यदि सर्वथा उपादान कारणका कार्यके साथ अभेद वा भेद हो तो उपरोक्त सुवर्ण और मिट्टीके दो दृष्टान्तोंकी भाँति कार्य और कारण भाव सिद्ध नहीं होता।

३. निमित्त कारणकार्य निर्देश

१. भिन्न गुणों व द्रव्योंमें भी कारणकार्य भाव होता है

रा. वा./१/२०/३-४/७०/३१ कश्चिदाह—मतिपूर्वं श्रुतं तदपि मत्यात्मकं प्राप्नोति, कारणगुणानुविधानं हि कार्यं दृष्टं यथा मृन्निमित्तो घटो मृदात्मकः। अथातदात्मकमिष्यते तत्पूर्वकत्वं तर्हि तस्य हीयते इति।३। न वैष दोषः। किं कारणम्। निमित्तमात्रत्वाद् दण्डादिवत्... मृत्पिण्ड एव बाह्यदण्डादिनिमित्तापेक्ष आभ्यन्तरपरिणामसान्निध्याद् घटो भवति न दण्डादयः, इति दण्डादीनां निमित्तमात्रत्वम्। तथा पर्यायिपर्यायियोः स्याद्न्यत्वाद् आत्मनः स्वयमन्तःश्रुतभवनपरि-

णामाभिमुख्ये मतिज्ञानं निमित्तमात्रं भवति···अतो बाह्यमतिज्ञानादिनिमित्तापेक्ष आत्मैव···श्रुतभवनपरिणामाभिमुख्यात् श्रुतीभवति, न मतिज्ञानस्य श्रुतीभवनमस्ति तस्य निमित्तमात्रत्वात्। –प्रश्न–जैसे मिट्टीके पिण्डसे बना हुआ घड़ा मिट्टी रूप होता है, उसी तरह मतिपूर्वक श्रुत भी मतिरूप ही होना चाहिए अन्यथा उसे मतिपूर्वक नहीं कह सकते? उत्तर–मतिज्ञान श्रुतज्ञानमें निमित्तमात्र है, उपादान नहीं। उपादान तो श्रुत पर्यायसे परिणत होनेवाला आत्मा है। जैसे मिट्टी ही बाह्य दण्डादि निमित्तोंकी अपेक्षा रखकर अभ्यन्तर परिणामके सान्निध्यसे घड़ा बनती है, परन्तु दण्ड आदिक घड़ा नहीं बन जाते और इसलिए दण्ड आदिकोंको निमित्तमात्रपना प्राप्त होता है। उसी प्रकार पर्यायी व पर्यायमें कथंचित् अन्यत्व होनेके कारण आत्मा स्वयं ही जब अपने अन्तरंग श्रुतज्ञानरूप परिणामके अभिमुख होता है तब मतिज्ञान निमित्तमात्र होता है। इसलिए बाह्य मतिज्ञानादि निमित्तोंकी अपेक्षा रखकर आत्मा ही श्रुतज्ञानरूप परिणामके अभिमुख होनेसे श्रुतरूप होता है, मतिज्ञान नहीं होता। इसलिए उसको निमित्तपना प्राप्त होता है। (स. सि./१/२०/१२०/८)

श्लो. वा./२/१/७/१३/५६३/११ सहकारिकारणेण कार्यस्य कथं तत्स्यादेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत् कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धिः; यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमन्यत्कार्यमिति प्रतीतम्। –प्रश्न–सहकारी कारणोंके साथ पूर्वोक्त कार्यकारण भाव कैसे ठहरेगा, क्योंकि तहाँ एक द्रव्यकी पर्यायें न होनेके कारण एक द्रव्य नामके सम्बन्धका तो अभाव है? उत्तर–काल प्रत्यासत्ति नामके विशेष सम्बन्धसे तहाँ कार्यकारणभाव सिद्ध हो सकता है। जिससे अव्यवहित उत्तरकालमें नियमसे जो अवश्य उत्पन्न हो जाता है, वह उसका सहकारी कारण है और शेष दूसरा कार्य है, इस प्रकार कालिक सम्बन्ध सबको प्रतीत हो रहा है।

२. उचित ही द्रव्यको कारण कहा जाता है, जिस किसीको नहीं

श्लो. वा. ३/१/१३/४८/२२१/२४ तथा २२२/११ स्मरणस्य हि न अनुभवमात्रं कारणं सर्वस्य सर्वत्र स्वानुभूतेऽर्थे स्मरण-प्रसंगात्। नापि दृष्टसजातीयदर्शनं सर्वस्य दृष्टस्य हेतोर्व्यभिचारात्। तदविद्यावासनाप्रहाणं तत्कारणमिति चेत, सैव योग्यता स्मरणावरणक्षयोपशमलक्षणा तस्यां च सत्यां सदुपयोगविशेषा वासना प्रबोध इति नाममात्रं भिद्यते। –पदार्थोंका मात्र अनुभव कर लेना ही स्मरणका कारण नहीं है, क्योंकि इस प्रकार सभी जीवोंको सर्वत्र सभी अपने अनुभूत विषयोंके स्मरण होनेका प्रसंग होगा। देखे हुए पदार्थोंके सजातीय पदार्थोंको देखनेसे वासना उद्बोध मानो सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि, इस प्रकार अन्वय व व्यतिरेकी व्यभिचार आता है। यदि उस स्मरणीय पदार्थकी लगी हुई अविद्यावासनाका प्रकृष्ट नाश हो जाना उस स्मरणका कारण मानते हो तब तो उसीका नाम योग्यता हमारे यहाँ कहा गया है। वह योग्यता स्मरणावरण कर्मका क्षयोपशम स्वरूप इष्ट की गयी है, और उस योग्यताके होते संते श्रेष्ठ उपयोग विशेषरूप वासना (लब्धि) को प्रबोध कहा जाता है। तब तो हमारे और तुम्हारे यहाँ केवल नामका ही भेद है।

पं. ध./उ./११,१०२ वैभाविकस्य भावस्य हेतुः स्यात्सन्निकर्षतः। तत्रस्थोऽप्यपरो हेतुर्न स्यात्किंवा बतेति चेत्।११। बद्धः स्याद्बद्धयोर्भावः स्यादबद्धोऽप्यबद्धयोः। सानुकूलतया बन्धो न बन्धः प्रतिकूलयोः।१०२। –प्रश्न–यदि एकक्षेत्रावगाहरूप होनेसे वह मूर्त द्रव्य जीवके वैभाविक भावमें कारण हो जाता है तो खेद है कि वहीं पर रहनेवाला विस्रसोपचय रूप अन्य द्रव्य समुदाय भी विभाव परिणमनका कारण क्यों नहीं हो जाता? उत्तर–एक दूसरेसे बँधे हुए दोनोंके भावको बद्ध कहते हैं और एक दूसरेसे नहीं बँधे हुए दोनोंके भावको अबद्ध कहते हैं, क्योंकि, जीवमें बन्धक शक्ति तथा कर्ममें बन्धनेकी शक्तिकी परस्पर अनुकूलताई से बन्ध होता है, और दोनोंके प्रतिकूल होनेपर बन्ध नहीं होता है।१०२। अर्थात् बँधे हुए कर्म ही उदय आनेपर विभावमें निमित्त होते है, विस्रसोपचयरूप अबद्ध कर्म नहीं।

३. कार्यानुसरण निरपेक्ष बाह्य वस्तु मात्रको कारण नहीं कह सकते।

ध. २/१, १/४४४/३ "दव्वेंदियाणं णिप्पत्ति पडुच्च के वि दस पाणे भणंति। तण्ण घडदे। कुदो। भाविंदियाभावादो।" –कितने ही आचार्य द्रव्येन्द्रियोंकी पूर्णताको (केवली भगवान्‌के) दश प्राण कहते हैं, परन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि संयोगि जिनके भावेन्द्रिय नहीं पायी जाती है।

प. मु./३/६१, ६३ न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः।६१। तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम्।६३। –पूर्वचर व उत्तरचर हेतु साध्यके कालमें नहीं रहते इसलिए उनका तादात्म्य सम्बन्ध न होनेसे तो वे स्वभाव हेतु नहीं कहे जा सकते और तदुत्पत्ति सम्बन्ध न रहनेसे कार्य हेतु भी नहीं कहे जा सकते।६१। कारणके सद्भावमें कार्यका होना कारणके व्यापारके आधीन है।६३। दे. मिथ्यादृष्टि/२/६ (कार्यकालमें उपस्थित होने मात्रसे कोई पदार्थ कारण नहीं बन जाता)

४. कार्यानुसरण सापेक्ष ही बाह्य वस्तु कारण कहलाती है

आप्त मी./४२ यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्मा जनि खपुष्पवत्। मोपादाननियामो भून्माश्वासः कार्यजन्मनि।४२। –कार्यको सर्वथा असत् माननेपर 'यही इसका कारण है अन्य नहीं' यह भी घटित नहीं होता, क्योंकि इसका कोई नियामक नहीं है। और यदि कोई नियामक हो तो वह कारणमें कार्यके अस्तित्वको छोड़कर दूसरा भला कौन सा हो सकता है। (ध. १२/४, २, ८, ३/२८०/५) (ध १५/५/२१)

रा. वा./१/६/११/४६/८ दृष्टो हि लोके छेत्तुर्देवदत्ताद् अर्थान्तरभूतस्य परशोः···काठिन्यादिविशेषलक्षणोपेतस्य सतः करणभावः। न च तथा ज्ञानस्य स्वरूपं पृथगुपलभामहे। दृष्टो हि परशोः देवदत्ताधिष्ठितोद्यमाननिपातनापेक्षस्य करणभावः, न च तथा ज्ञानेन किंचित्कर्तृसाध्यं क्रियान्तरमपेक्ष्यमस्ति। किंच तत्परिणामाभावात्। छेदनक्रियापरिणतेन हि देवदत्तेन तत्क्रियायाः साचिव्ये नियुज्यमानः परशुः 'करणम्' इत्येतदयुक्तम्, न च तथा आत्मा ज्ञानक्रियापरिणतः। –जिस प्रकार छेदनेवाले देवदत्तसे करणभूत फरसा कठोर तीक्ष्ण आदि रूपसे अपना पृथक् अस्तित्व रखता है, उस प्रकार (आप बौद्धोंके यहाँ) ज्ञानका पृथक् सिद्ध कोई स्वरूप उपलब्ध नहीं होता जिससे कि उसे करण बनाया जाये। फरसा भी तब करण बनता है जब वह देवदत्तकृत ऊपर उठने और नीचे गिरकर लकड़ीके भीतर घुसने रूप व्यापारकी अपेक्षा रखता है, किन्तु (आपके यहाँ) ज्ञानमें कर्ताके द्वारा की जानेवाली कोई क्रिया दिखाई नहीं देती, जिसकी अपेक्षा रखनेके कारण उसे करण कहा जा सके।

स्वयं छेदन क्रियामें परिणत देवदत्त अपनी सहायताके लिए फरसेको लेता है और इसीलिए फरसा करण कहलाता है। पर (आपके यहाँ) आत्मा स्वयं ज्ञान क्रिया रूपसे परिणति ही नहीं करता (क्योंकि वे दोनों भिन्न स्वीकार किये गये है)।

श्लो. वा. २/१/७/१३/५६३/२ यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम्। —जिससे अव्यवहित उत्तरकालमें नियमसे जो अवश्य उत्पन्न होता है, वह उसका सहकारी कारण है और दूसरा कार्य है।

स. सा./आ./८४ बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन कलशसंभवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः कलशकृततोयोपयोगजां तृप्तिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च कुलालः कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोऽस्ति तावद्व्यवहारः। —बाह्यमें व्याप्यव्यापक भावसे घड़ेकी उत्पत्तिमें अनुकूल ऐसे व्यापारको करता हुआ तथा घड़ेके द्वारा किये गये पानीके उपयोगसे उत्पन्न तृप्तिको भाव्यभावक भावके द्वारा अनुभव करता हुआ, कुम्हार घड़ेका कर्ता है और भोक्ता है, ऐसा लोगोंका अनादिसे रूढ व्यवहार है।

पं. का./ता. वृ./१६०/२३०/१३ निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यग्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण परिणममानस्यापि सुवर्णपाषाणस्याग्निरिव निश्चयमोक्षमार्गस्य बहिरङ्गसाधको भवतीति सूत्रार्थः। —अपने ही उपादान कारणसे स्वयमेव निश्चयमोक्षमार्गकी अपेक्षा शुद्ध भावोंसे परिणमता है वहाँ यह व्यवहार निमित्त कारणकी अपेक्षा साधन कहा गया है। जैसे—सुवर्ण यद्यपि अपने शुद्ध पीतादि गुणोंसे प्रत्येक आँचमें शुद्ध चोखी अवस्थाको धरे है, तथापि बहिरंग निमित्तकारण अग्नि आदिक वस्तुका प्रयत्न है। तैसे ही व्यवहार मोक्षमार्ग है।

५. अनेक कारणोंमें-से प्रधानका ही ग्रहण करना न्याय है

स. सि./१/२१/१२५ भवं प्रतीत्य क्षयोपशमः संजायत इति कृत्वा भवः प्रधानकारणमित्युपदिश्यते। —(भवप्रत्यय अवधिज्ञानमें यद्यपि भव व क्षयोपशम दोनों ही कारण उपलब्ध है, परन्तु) भवका अवलम्बन लेकर (वहाँ) क्षयोपशम होता है, (सम्यक्त्व व चारित्रादि गुणोंकी अपेक्षासे नहीं)। ऐसा समझकर भव प्रधान कारण है, ऐसा उपदेश दिया जाता है। (कि यह अवधिज्ञान भव प्रत्यय है)।

४. कारण कार्य सम्बन्धी नियम

१. कारण सदृश ही कार्य होता है

ध. १/१, १, ४१/२७०/५ कारणानुरूपं कार्यमिति न निषेद्धुं पार्यते सकलनैयायिकलोकप्रसिद्धत्वात्। —कारणके अनुरूप ही कार्य होता है, इसका निषेध भी तो नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, यह बात सम्पूर्ण नैयायिक लोगोंमें प्रसिद्ध है।

ध.१०/४,२,४,१७५/४३२/२ सव्वत्थकारणाणुसारिकज्जुवलंभादो। —सब जगह कारणके अनुसार ही कार्य पाया जाता है।

न.च.वृ./३६८ की चूलिका—इति न्यायादुपादानकारणसदृशं कार्यं भवति। इस न्यायके अनुसार उपादान सदृश कार्य होता है। (विशेष दे० 'समयसार')

स.सा./आ./६८ कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा यवपूर्वका यवा यवा एवेति। —कारण जैसा ही कार्य होता है, ऐसा समझ कर जौ पूर्वक होनेवाले जो जौ (यव), वे जौ (यव) ही होते हैं। (स.सा./आ./१३०-१३१) (पं.ध./पू./४०६)

प्र.सा./ता.वृ./८/१०/११ उपादानकारणसदृशं हि कार्यमिति। —उपादान कारण सदृश ही कार्य होता है। (पं.का./ता.वृ./२३/४९/१४)

स.म./२७/३०४/१८ उपादानानुरूपत्वाद् उपादेयस्य। —उपादेयरूप कार्य उपादान कारण के अनुरूप होता है।

२. कारण सदृश ही कार्य हो ऐसा कोई नियम नहीं

स.सि./१/२०/१२० यदि मतिपूर्वं श्रुतं तदपि मत्यात्मकं प्राप्नोति 'कारणसदृशं हि लोके कार्यं दृष्टम्' इति। नैतदैकान्तिकम्। दण्डादिकारणोऽयं घटो न दण्डाद्यात्मकः। —प्रश्न—यदि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है; तो वह श्रुतज्ञान भी मत्यात्मक ही प्राप्त होता है; क्योंकि लोकमें कारणके समान ही कार्य देखा जाता है? उत्तर—यह कोई एकान्त नियम नहीं है कि कारणके समान कार्य होता है। यद्यपि घटकी उत्पत्ति दण्डादिसे होती है तो भी दण्डाद्यात्मक नहीं होता। (और भी दे० कारण/I/३/१)

रा. वा/१/२०/५/७१/११ नायमेकान्तोऽस्ति—'कारणसदृशमेव कार्यम्' इति कुतः। तत्रापि सप्तभंगीसंभवात् कथम्। घटवत्। यथा घटः कारणेन मृत्पिण्डेन स्यात्सदृशः स्यान्न सदृश. इत्यादि। मृद्द्रव्याजीवानुपयोगाद्यादेशात् स्यात्सदृशः, पिण्डघटसंस्थानादिपर्यायादेशात् स्यान्न सदृशः।···यस्यैकान्तेन कारणानुरूपं कार्यम्, तस्य घटपिण्डशिवकादिपर्याया उपालभ्यन्ते। किंच, घटेन जलधारणादिव्यापारो न क्रियते मृत्पिण्डे तददर्शनात्। अपि च मृत्पिण्डस्य घटत्वेन परिणामवद्ध घटस्यापि घटत्वेन परिणामः स्यात् एकान्तसदृशत्वात्। न चैवं भवति। अतो नैकान्तेन कारणसदृशत्वम्। —यह कोई एकान्त नहीं है कि कारण सदृश ही कार्य हो। पुद्गल द्रव्यकी दृष्टिसे मिट्टी रूप कारणके समान घड़ा होता है, पर पिण्ड और घट आदि पर्यायोंकी अपेक्षा दोनों विलक्षण हैं। यदि कारणके सदृश ही कार्य हो तो घट अवस्थामें भी पिण्ड शिवक आदि पर्यायें मिलनी चाहिए थीं। जैसे मृत्पिण्डमें जल नहीं भर सकते उसी तरह घड़ेमें भी नहीं भरा जाना चाहिए और मिट्टीकी भाँति घटका भी घट रूपसे ही परिणमन होना चाहिए, कपालरूप नहीं। कारण कि दोनों सदृश जो हैं। परन्तु ऐसा तो कभी होता नहीं है अतः कार्य एकान्तसे कारण सदृश नहीं होता।

ध.१२/४,२,७,१७७/८१/३ संजमासंजमपरिणामादो जेण संजमपरिणामो अणंतगुणो तेण पदेसणिज्जराए वि अणंतगुणाए होदव्वं, एदम्हादो अण्णत्थ सव्वत्थ कारणाणुरूवकज्जुवलंभादो त्ति। ण, जोगगुणगाराणुसारिपदेसगुणगारस्स अणंतगुणत्तविरोहादो।···ण च कज्जं कारणाणुसारी चेव इति णियमो अत्थि, अंतरंगकारणावेक्खाए पवत्तस्स कज्जस्स बहिरंगकारणाणुसारित्तणियमाणुववत्तीदो। —प्रश्न—यत संयमासंयम रूप परिणामकी अपेक्षा संयमरूप परिणाम अनन्तगुणा है अतः वहाँ प्रदेश निर्जरा भी उससे अनन्तगुणी होनी चाहिए। क्योंकि इससे दूसरी जगह सर्वत्र कारणके अनुरूप ही कार्यकी उपलब्धि होती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्रदेश निर्जराका गुणकार योगगुणकारका अनुसरण करनेवाला है, अतएव उसके अनन्त गुणे होनेमें विरोध आता है। दूसरे—कार्य कारणका अनुसरण करता ही हो, ऐसा भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि अन्तरंग कारणकी अपेक्षा प्रवृत्त होने वाले कार्यके बहिरंग कारणके अनुसरण करनेका नियम नहीं बन सकता।

ध.१५/१६/१० ण च एयंतेण कारणाणुसारिणा कज्जेण होदव्वं, मट्टियपिंडादो मट्टियपिंडं मोत्तूण घटघटी-सरावालिंजरुट्टियादीणमणुप्पत्तिप्पसंगादो। सुवण्णादो सुवण्णस्स घटस्सेव उप्पत्तिदंसणादो कारणाणुसारि चेव कज्जं त्ति ण वोत्तुं जुत्तं, कट्ठिणादो, सुवण्णादो जलणादिसंजोगेण सुवण्णजलुप्पत्तिदंसणादो। किं च—कारणं व ण कज्जमुप्पज्जदि, सव्वप्पणा कारणसरूवमावण्णस्स उप्पत्तिविरोहादो। जदि एयंतेण [ण] कारणाणुसारि चेव कज्जमुप्पज्जदि तो मुत्तादो पोग्गलदव्वादो अमुत्तस्स गयणुप्पत्ती होज्ज, णिच्चेयणादो पोग्गलदव्वादो सचेयणस्स जीवदव्वस्स वा उप्पत्ती पावेज्ज। ण च एवं, तहाणुवलंभादो। तम्हा कारणाणुसारिणा कज्जेण होदव्वमिदि। एत्थ परि-

हारो वुच्चदे—होदु णाम केण वि सरूवेण कज्जस्स कारणाणुसारित्तं, ण सव्वप्पणा; उप्पादवय-ट्ठिदिलक्खणाणं जोव-पोग्गल-धम्माधम्म-कालागासदव्वाणं सगवइसे सियगुणा विणाभावि सयलगुणाणमपरिचाएण पज्जायंतरगमणदंसणादो। —'कारणानुसारी ही कार्य होना चाहिए, यह एकान्त नियम भी नहीं है, क्योंकि मिट्टीके पिण्डसे मिट्टीके पिण्डको छोड़कर घट, घटी, शराब, अलिंजर और उष्ट्रिका आदिक पर्याय विशेषोंकी उत्पत्ति न हो सकनेका प्रसंग अनिवार्य होगा। यदि कहो कि सुवर्णसे सुवर्णके घटकी हो उत्पत्ति देखी जानेसे कार्य कारणानुसारी ही होता है, सो ऐसा कहना भी योग्य नहीं है; क्योंकि, कठोर सुवर्णसे अग्नि आदिका संयोग होनेपर सुवर्ण जलकी उत्पत्ति देखी जाती है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार कारण उत्पन्न नहीं होता है उसी प्रकार कार्य भी उत्पन्न नहीं होगा, क्योंकि कार्य सर्वात्मना कारणरूप ही रहेगा, इसलिए उसकी उत्पत्तिका विरोध है। प्रश्न—यदि सर्वथा कारणका अनुसरण करनेवाला ही कार्य नहीं होता है तो फिर मूर्त पुद्गल द्रव्यसे अमूर्त आकाशकी उत्पत्ति हो जानी चाहिए। इसी प्रकार अचेतन पुद्गल द्रव्यसे सचेतन जीव द्रव्यकी भी उत्पत्ति पायी जानी चाहिए। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि, वैसा पाया नहीं जाता, इसलिए कार्य कारणानुसारी ही होना चाहिए? उत्तर—यहाँ उपर्युक्त शंकाका परिहार कहते हैं। किसी विशेष स्वरूपसे कार्य कारणानुसारी भले ही हो परन्तु वह सर्वात्मस्वरूपसे वैसा सम्भव नहीं है; क्योंकि, उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य लक्षणवाले जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश द्रव्य अपने विशेष गुणोंके अविनाभावी समस्त गुणोंका परित्याग न करके अन्य पर्यायको प्राप्त होते हुए देखे जाते हैं।

ध ९/४,१,४५/१४६/१ कारणानुगुणकार्यनियमानुपलम्भात। —कारणगुणानुसार कार्यके होनेका नियम नहीं पाया जाता।

३. एक कारणसे सभी कार्य नहीं हो सकते

सांख्यकारिका/९ सर्व संभवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात्। —किसी एक कारणसे सभी कार्योंकी उत्पत्ति सम्भव नहीं। समर्थ कारणके द्वारा शक्य कार्य ही किया जाता है। (ध.१२/४,२,८,११३/२८०/५)

४. परन्तु एक कारणसे अनेक कार्य अवश्य हो सकते हैं

स.सि./६/१०/३२८/६ एककारणसाध्यस्य कार्यस्यानेकस्य दर्शनात् तुल्येऽपि प्रदोषादौ ज्ञानदर्शनावरणास्रवहेतव। —एक कारणसे भी अनेक कार्य होते हुए देखे जाते हैं, इसलिए प्रदोषादिक (कारणों) के एक समान रहते हुए भी इनसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण दोनोंका आस्रव (रूप कार्य) सिद्ध होता है। (रा वा/६/१०/१०-१२/५१८)

ध.१२/४,२,८,२/२७८/१० कधमेगो पाणादिवादो अक्कमेण दोण्णं कज्जाणं संपादओ। ण एयादो एयादो मोग्गरादो घाद वयव विभाग द्वाणसंचालणक्खेत्तंतरवत्तिखप्परकज्जाणमक्कमेणुप्पत्तिदंसणादो। कधमेगो पाणादिवादो अणंते कम्मइयक्खंधे णाणावरणीयसरूवेण अक्कमेण परिणमावेदि, बहुसु एक्कस्स अक्कमेण वुत्तिविरोहादो। ण, एयस्स पाणादिवादस्स अणंतसत्तिजुत्तस्स तदविरोहादो। —प्रश्न—प्राणातिपाति रूप एक ही कारण युगपत् दो कार्योंका उत्पादक कैसे हो सकता है? (अर्थात् कर्मको ज्ञानावरण रूप परिणमाना और जीवके साथ उसका बन्ध कराना ये दोनों कार्य कैसे कर सकता है)? उत्तर—नहीं, क्योंकि, एक मुद्गरसे घात, अवयवविभाग, स्थानसंचालन और क्षेत्रान्तरकी प्राप्तिरूप खप्पर कार्योंकी युगपत् उत्पत्ति देखी जाती है। प्रश्न—प्राणातिपात रूप एक ही कारण अनन्त कार्माण स्कन्धोंको एक साथ ज्ञानावरणीय स्वरूपसे कैसे परिणमाता है, क्योंकि, बहुतोंमें एककी युगपत् वृत्तिका विरोध है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्राणातिपातरूप एक ही कारणके अनन्त शक्तियुक्त होनेसे वैसा होनेमें कोई विरोध नहीं आता। (और भी दे० वर्गणा/२/६/३ में ध./१५)

५. एक कार्यको अनेकों कारण चाहिए

स.सि./५/१७/२८३/३ भूमिजलादीन्येव तत्प्रयोजनसमर्थानि नार्थो धर्माधर्माभ्यामिति चेत्। न साधारणाश्रय इति विशिष्योक्तत्वात्। अनेककारणसाध्यत्वाच्चैकस्य कार्यस्य। —प्रश्न—धर्म और अधर्म द्रव्यके जो प्रयोजन है, पृथिवी और जल आदिक ही उनके करनेमें समर्थ हैं, अतः धर्म और अधर्म द्रव्यका मानना ठीक नहीं है? उत्तर—नहीं, क्योंकि धर्म और अधर्म द्रव्य गति और स्थितिके साधारण कारण हैं। यह विशेष रूपसे कहा गया है। तथा एक कार्य अनेक कारणोंसे होता है, इसलिए धर्म और अधर्म द्रव्यका मानना ठीक है।

रा.वा/५/१७/३१/४६४/२९ इह लोके कार्यमनेकोपकरणसाध्यं दृष्टम्, यथा मृत्पिण्डो घटकार्यपरिणामप्राप्तिं प्रति गृहीताभ्यन्तरसामर्थ्यः बाह्यकुलालदण्डचक्रसूत्रोदककालाकाशाद्यनेकोपकरणापेक्षः घटपर्यायेणाविर्भवति, नैक एव मृत्पिण्डः कुलालादिबाह्यसाधनसंनिधानेन विना घटात्मनाविर्भवितुं समर्थः। —इस लोकमें कोई भी कार्य अनेक कारणोंसे होता देखा जाता है, जैसे मिट्टीका पिण्ड घट कार्यरूप परिणामकी प्राप्तिके प्रति आभ्यन्तर सामर्थ्यको ग्रहण करके भी, बाह्य कुम्हार, दण्ड चक्र, डोरा, जल, काल व आकाशादि अनेक कारणोंकी अपेक्षा करके हो घट पर्यायरूपसे उत्पन्न होता है। कुम्हार आदिक बाह्य साधनोंकी सन्निधिके बिना केवल अकेला मिट्टीका पिण्ड घटरूपसे उत्पन्न होनेको समर्थ नहीं है।

पं.का/ता वृ./२५/५३/४ गतिपरिणतेर्धर्मद्रव्यं सहकारिकारणं भवति कालद्रव्य च, सहकारिकारणानि बहून्यपि भवन्ति यत कारणाद्घटोत्पत्तौ कुम्भकारचक्रचीवरादिवत्, मत्स्यादीनां जलादिवत्, मनुष्याणां शकटादिवत्, विद्याधराणां विद्यामन्त्रौषधादिवत्, देवानां विमानवदित्यादि कालद्रव्यं गतिकारणम्। —गतिरूप परिणतिमें धर्मद्रव्य भी सहकारी है और कालद्रव्य भी। सहकारीकारण बहुत होते हैं जैसे कि घड़ेकी उत्पत्तिमें कुम्हार, चक्र, चीवर आदि, मछली आदिकोंको जल आदि, मनुष्योंको रथ आदि, विद्याधरोंको विद्या, मन्त्र, औषधि आदि तथा देवोंको विमान आदि। अतः कालद्रव्य भी गतिका कारण है। (प.प्र./टी./२/२३), (द्र.सं./टी /२५/७१/१२)

प.ध /पू./४०२ कार्यं प्रतिनियतत्वाद्धेतुद्वैतं न ततोऽतिरिक्त चेत्। तन्न यतस्तन्नियमग्राहकमिव न प्रमाणमिह। —कार्यके प्रति नियत होनेसे उपादान और निमित्तरूप दो हेतु ही है, उससे अधिक नहीं है, यदि ऐसा कहो तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि, यहाँ पर उन दो हेतुओंके ही माननेरूप नियमका ग्राहक कोई प्रमाण नही है।४०२। (प.ध./पू./४०४)

६. एक ही प्रकारका कार्य विभिन्न कारणोंसे हो सकता है

ध.७/२,१,१७/६१/५ ण च एक्कं कज्जं एक्कादो चेव कारणादो सव्वत्थ उप्पज्जदि, खइर-सिसव-धव-धम्मण-गोमय-सूरयर-सुज्जकंतेहितो समुप्पज्जमाणेक्कग्गिकज्जुवलंभा। —एक कार्य सर्वत्र एक ही कारणसे उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि खदिर, शीसम, धौ, धामिन, गोबर, सूर्यकिरण, व सूर्यकान्तमणि, इन भिन्न-भिन्न कारणोंसे एक अग्निरूप कार्य उत्पन्न होता पाया जाता है।

ध.१२/४,२,८,११/२८६/११ कधमेय कज्जमणेगेहिंतो उप्पज्जदे। ण, एगादो कुंभारादो उप्पण्णघडस्स अण्णादो वि उप्पत्तिदंसणादो। पुरिसं

पडि पुध पुध उप्पज्जमाणा कुंभोदंचणसरावादओ दीसंति त्ति चे। ण, एत्थ वि कमभाविकोधादीहिंतो उप्पज्जमाणणाणावरणीयस्स दव्वादिभेदेण भेदुवलंभादो। णाणावरणीयसमाणत्तणेण तदेयक्कं चे। ण, बहूहिंतो समुप्पज्जमाणघडाणं पि घडभावेण एयत्तुवलंभादो। =प्रश्न—एक कार्य अनेक कारणोंसे कैसे उत्पन्न होता है? (अर्थात् अनेक प्रत्ययोंसे एक ज्ञानावरणीय ही वेदना कैसे उत्पन्न होती है)। उत्तर—नहीं, क्योंकि, एक कुम्भकारसे उत्पन्न किये जानेवाले घटकी उत्पत्ति अन्यसे भी देखी जाती है। प्रश्न—पुरुष भेदसे पृथक्-पृथक् उत्पन्न होने वाले कुम्भ, उदंच, व शराव आदि भिन्न-भिन्न कार्य देखे जाते हैं (अथवा पृथक्-पृथक् व्यक्तियोंसे बनाये गये घड़े भी कुछ न कुछ भिन्न होते ही हैं।)? उत्तर—तो यहाँ भी क्रमभावी क्रोधादिकोंसे उत्पन्न होने वाले ज्ञानावरणीयकर्मका द्रव्यादिकके भेदसे भेद पाया जाता है। प्रश्न—ज्ञानावरणीयत्वकी समानता होनेसे वह (अनेक भेद रूप होकर भी) एक ही है? उत्तर—इसी प्रकार यहाँ भी बहुतोंके द्वारा उत्पन्न किये जाने वाले घटोंके भी घटत्व रूपसे अभेद पाया जाता है।

७. कारण व कार्य पूर्वोत्तर कालवर्ती ही होते हैं

श्लो.वा२/१/४/२३/१२१/१६ य एव आत्मनः कर्मबन्धविनाशस्य कालः स एव केवलत्वाख्यमोक्षोत्पादस्येति चेत्, न, तस्यायोगकेवलिचरमसमयत्वविरोधात् पूर्वस्य समयस्यैव तथात्वापत्तेः। =यदि इस उपान्त्य समयमें होने वाली निर्जराको भी मोक्ष कहा जायेगा तो उससे भी पहले समयमें परमनिर्जरा कहनी पड़ेगी। क्योंकि कार्य एक समय पूर्वमें रहना चाहिए। प्रतिबन्धकोंका अभावरूप कारण भले कार्यकालमें रहता होय किन्तु प्रेरक या कारक कारण तो कार्यके पूर्व समयमें विद्यमान होने चाहिए—(ऐसा कहना भी ठीक नहीं है) क्योंकि इस प्रकार द्विचरम, त्रिचरम, चतुश्चरम आदि समयोंमें मोक्ष होनेका प्रसंग हो जायेगा; कुछ भी व्यवस्था नहीं हो सकेगी। अतः यही व्यवस्था होना ठीक है कि अयोग केवलीका चरम समय ही परम निर्जराका काल है और उसके पीछेका समय मोक्षका है।

ध १/१,१,४७/२७६/७ कार्यकारणयोरेककालं समुत्पत्तिविरोधात्। =कार्य और कारण इन दोनोंकी एक कालमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

ध.६/४,१,१/३/८ ण च कारणपुव्वकालभावि कज्जमत्थि, अणुवलंभादो। =कारणसे पूर्व कालमें कार्य होता नहीं है, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता।

स्या.म./१६/१६६/२२ न हि युगपदुत्पद्यमानयोस्तयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव कारणकार्यभावो युक्तः। नियतप्राक्कालभावित्वात् कारणस्य। नियतोत्तरकालभावित्वात् कार्यस्य। एतदेवाहु न तुल्यकाल: फलहेतुभाव इति। फलं कार्यं हेतुः कारणम्, तयोर्भावः स्वरूपम्, कार्यकारणभावः। स तुल्यकालः समानकालो न युज्यत इत्यर्थः। =प्रमाण और प्रमाणका फल बौद्ध लोगोंके मतमें गायके बायें और दाहिने सींगोंकी तरह एक साथ उत्पन्न होते हैं, इसलिए उनमें कार्यकारण सम्बन्ध नहीं हो सकता। क्योंकि नियत पूर्वकालवर्ती तो कारण होता है और नियत उत्तरकालवर्ती उसका कार्य होता है। फल कार्य है और हेतु कारण। उनका भाव या स्वरूप ही कार्यकारण भाव है। वह तुल्यकालमें नहीं हो सकता।

८. कारण व कार्यमें व्याप्ति आवश्यक होती है

आप्त.प./६/४१/२ तत्कारणकत्वस्य तदन्वयव्यतिरेकोपलम्भेन व्याप्तत्वात् कुलालकारणकस्य घटादेः कुलालान्वयव्यतिरेकोपलम्भप्रसिद्धेः। =जैसे कुम्हारसे उत्पन्न होनेवाले घड़ा आदिमें कुम्हारका अन्वय व्यतिरेक स्पष्टतः प्रसिद्ध है। अतः सब जगह बाधकोंके अभावसे अन्वय व्यतिरेक कार्यके व्यवस्थित होते हैं, अर्थात् जो जिसका कारण होता है उसके साथ अन्वय व्यतिरेक अवश्य पाया जाता है।

ध./पु. ७/२, १, ७/१०/५ जस्स अण्ण-विदिरेगेहि णियमेण जस्सण्णय-विदिरेगा उवलंभंति तं तस्स कज्जमियरं च कारणं। =जिसके अन्वय और व्यतिरेकके साथ नियमसे जिसका अन्वय और व्यतिरेक पाये जावें वह उसका कार्य और दूसरा कारण होता है। (ध./८/३, २०/५१/३)।

ध./१२/४, २, ८, १३/२८६/४ यत्पास्मन् सत्येव भवति नासति तत्तस्य कारणमिदि न्यायात्। =जो जिसके होनेपर ही होता है न होने पर नहीं वह उसका कारण होता है, ऐसा न्याय है। (ध./१४/५, ६, ६३/?/२)

९. कारण अवश्य कार्यका उत्पादक हो ऐसा कोई नियम नहीं

ध./१२/४, २, ८, १३/२८६/८ नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति, कुम्भमकुर्वत्यपि कुम्भकारे कुम्भकारव्यवहारोपलम्भात्। =कारण कार्यवाले अवश्य हों ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि, घटको न करनेवाले भी कुम्भकारके लिए 'कुम्भकार' शब्दका व्यवहार पाया जाता है।

भ. आ./वि/१६४/४१०/६ न चावश्यं कारणानि कार्यवन्ति। धूमजनयतोऽप्यग्नेर्दर्शनात् काष्ठाद्यपेक्षस्य। =कारण अवश्य कार्यवान् होते ही हैं, ऐसा नियम नहीं है, काष्ठादिकी अपेक्षा रखनेवाला अग्नि धूमको उत्पन्न करेगा ही, ऐसा नियम नहीं।

न्या. दी./३/§५३/६६ ननु कार्यं कारणानुमापकमस्तु कारणाभावे कार्यस्यानुपपत्तेः। कारणं तु कार्यभावेऽपि संभवति, यथा धूमाभावेऽपि वह्निः सुप्रतीतः। अतएव वह्निर्न धूमं गमयतीति चेत्; तन्न; उन्मीलितशक्तिकस्य कारणस्य कार्याव्यभिचारित्वेन कार्यं प्रति हेतुत्वाविरोधात्। =प्रश्न—कारण तो कार्यका ज्ञापक (जनानेवाला) हो सकता है, क्योंकि कारणके बिना कार्य नहीं होता किन्तु कारण कार्यके बिना भी सम्भव है, जैसे—धूमके बिना भी अग्नि देखी जाती है। अतएव अग्नि धूमकी गमक नहीं होती, (धूम ही अग्निका गमक होता है), अतः कारणरूप हेतुको मानना ठीक नहीं है। उत्तर—नहीं, जिस कारणकी शक्ति प्रकट है—अप्रतिहत है, वह कारण कार्यका व्यभिचारी नहीं होता है। अतः (उत्पादक न भी हो, पर) ऐसे कारणको कार्यका ज्ञापक हेतु माननेमें कोई दोष नहीं है।

दे. मंगल/२/६ (जिस प्रकार औषधियोंका औषधित्व व्याधियोंके शमन न करनेपर भी नष्ट नहीं होता इसी प्रकार मंगलका मंगलपना विघ्नोंका नाश न करनेपर भी नष्ट नहीं होता)।

१०. कारण कार्यका उत्पादक न हो हो यह भी कोई नियम नहीं

ध./६/४, १, ४४/११७/१० ण च कारणाणि कज्जं ण जणेंति चेवेति णियमो अत्थि, तहाणुवलंभादो। =कारण कार्यको उत्पन्न करते ही नहीं हैं, ऐसा नियम नहीं है; क्योंकि, वैसा पाया नहीं जाता। अतएव किसी कालमें किसी भी जीवमें कारणकलाप सामग्री निश्चयसे होना चाहिए।

११. कारणकी निवृत्तिसे कार्यकी भी निवृत्ति हो ऐसा कोई नियम नहीं

रा. वा./१०/३/१/६४२/१० नायमेकान्तः निमित्तापाये नैमित्तिकानां निवृत्तिः इति। =निमित्तके अभावमें नैमित्तिकका भी अभाव हो ही ऐसा कोई नियम नहीं है। (जैसे दीपक जला चुकनेके पश्चात्

उसके कारणभूत दियासलाईके बुझ जानेपर भी कार्यभूत दीपक बुझ नहीं जाता)।

१२. कदाचित् निमित्तसे विपरीत भी कार्यकी सम्भावना

ध./१/१, १, ५०/२८३/६ किमिति केवलिनो वचनं संशयानध्यवसाय-जनकमिति चेत्स्वार्थानन्त्याच्छ्रोतुरावरणक्षयोपशमातिशयाभावात् । —केवलीके ज्ञानके विषयभूत पदार्थ अनन्त होनेसे और श्रोताके आवरण क्षयोपशम अतिशयतारहित होनेसे केवलीके वचनोंके निमित्तसे (भी) संशय और अनध्यवसायकी उत्पत्ति हो सकती है।

II. उपादान कारणकी मुख्यता गौणता

१. उपादानकी कथंचित् स्वतन्त्रता

१. अन्य अन्यको अपने रूप नहीं कर सकता

यो. सा./अ./९/४६ सर्वे भावाः स्वस्वभावव्यवस्थिताः । न शक्यन्तेऽन्यथा कर्तुं ते परेण कदाचन ।४६। —समस्त पदार्थ स्वभावसे ही अपने स्वरूपमें स्थित हैं, वे कभी पर पदार्थसे अन्यथा रूप नहीं किये जा सकते अर्थात् कभी पर पदार्थ उन्हें अपने रूपमें परिणमन नहीं करा सकता।

२. अन्य स्वयं अन्य रूप नहीं हो सकता

रा. वा./१/९/१०/४५/१० मनश्चेन्द्रियं चास्य कारणमिति चेत्; न; तस्य तच्छक्त्यभावात् । मनस्तावन्न कारणम् विनष्टत्वात् । नेन्द्रियमप्यतीतम्; तत एव । —मनरूप इन्द्रियको ज्ञानका कारण कहना उचित नहीं है, क्योंकि उसमें वह शक्ति ही नहीं है। 'छहों ज्ञानोंके लिए एक क्षण पूर्वका ज्ञान मन होता है' यह उन बौद्धोंका सिद्धान्त है। इसलिए अतीतज्ञान रूप मन इन्द्रिय भी नहीं हो सकता। (विशेष देखो कर्ता/३)

३. निमित्त किसीमें अनहोनी शक्ति उत्पन्न नहीं करा सकता

ध./१/१, १, १६३/४०४/१ न हि स्वतोऽसमर्थोऽन्यतः समर्थो भवत्यतिप्रसंगात् । —(मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ देवोंकी प्रेरणासे भी मनुष्योंका गमन नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा न्याय है कि) जो स्वयं असमर्थ होता है वह दूसरोंके सम्बन्धसे भी समर्थ नहीं हो सकता।

स. सा./आ./११८-११९ न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । —जो शक्ति (वस्तुमें) स्वतः न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता। (पं. ध./उ./६२)

४. स्वभाव दूसरेकी अपेक्षा नहीं करता

स. सा./आ./११९ न हि वस्तु शक्तयः परमपेक्षन्ते । —वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नहीं रखतीं।

प्र. सा./त. प्र./१९ स्वभावस्य तु परानपेक्षत्वादिन्द्रियैर्विनाप्यात्मनो ज्ञानानन्दौ संभवतः । —(ज्ञान और आनन्द आत्माका स्वभाव ही है; और) स्वभाव परकी अपेक्षा नहीं करता इसलिए इन्द्रियोंके बिना भी (केवलज्ञानी) आत्माके ज्ञान आनन्द होता है। (प्र. सा./त. प्र.)

५. और परिणमन करना द्रव्यका स्वभाव है

प्र. सा./मू./९६ सब्भावो हि सभावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं । दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं ।९६। —सर्व लोकमें गुण तथा अपनी अनेक प्रकारकी पर्यायोंसे और उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे द्रव्यका जो अस्तित्व है वह वास्तवमें स्वभाव है।

प्र. सा./त. प्र./९६ गुणेभ्यः पर्यायेभ्यश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृ कर-णाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैर्गुणैः पर्यायैश्च··· यदस्तित्वं स स्वभावः । —जो गुणों और पर्यायोंसे पृथक् नहीं दिखाई देता, कर्ता करण अधिकरणरूपसे द्रव्यके स्वरूपको धारण करके प्रवर्त्तमान द्रव्यका जो अस्तित्व है, वह स्वभाव है।

६. उपादान अपने परिणमनमें स्वतन्त्र है

स. सा./मू./९१ जं कुणइ भावमादा कत्ता स होदि तस्स भावस्स । कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं । —आत्मा जिस भावको करता है, उस भावका वह कर्ता होता है। उसके कर्ता होनेपर पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्म रूप परिणमित होता है। (स. सा./मू./८०-८१); (म. सा./आ./१०५); (पु. सि. उ./१२); (और भी देखो कारण/-III/२/१)।

स. सा./मू./११६ अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं । जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ।११६। —अथवा यदि पुद्गलद्रव्य अपने आप ही कर्मभावसे परिणमन करता है ऐसा माना जाये, तो जीव कर्मको अर्थात् पुद्गलद्रव्यको परिणमन कराता है यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है "ततः पुद्गलद्रव्यं परिणामस्वभावं स्वयमेवास्तु" अतः पुद्गलद्रव्य परिणामस्वभावी स्वयमेव हो (आत्मख्याति)।

प्र. सा./मू./१५ उवओगविसुद्धो जो विगदावरणांतरायमोहरओ । भूदो सयमेवादा जादि पारं णेयभूदाणं ।१५। —जो उपयोग विशुद्ध है, वह आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय रजसे रहित स्वयमेव होता हुआ ज्ञेयभूत पदार्थोंके पारको प्राप्त होता है।

प्र. सा./मू./१६७ दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा स संठाणा । पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते । —द्विप्रदेशादिक स्कन्ध जोकि सूक्ष्म अथवा बादर होते हैं और संस्थानों (आकारों) सहित होते हैं, वे पृथिवी, जल, तेज और वायुरूप अपने परिणामोंसे होते हैं।

का. अ./मू./२१९ कालाइलद्धि जुत्ता णाणा सत्तीहि संजुदा अत्था । परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं । —काल आदि लब्धियोंसे युक्त तथा नाना शक्तियोंवाले पदार्थोंको स्वयं परिणमन करते हुए कौन रोक सकता है।

पं. ध./७६० उत्पद्यते विनश्यति सदिति यथास्वं प्रतिक्षणं यावत् । व्यवहारविशिष्टोऽयं नियतमनित्यनयः प्रसिद्धः स्यात् ।७६०। —सत् यथायोग्य प्रतिसमयमें उत्पन्न होता है तथा विनष्ट होता है यह निश्चयसे व्यवहार विशिष्ट अनित्य नय है।

पं. ध./उ./६३२ तस्मात्सिद्धोऽस्ति सिद्धान्तो दृङ्मोहस्येतरस्य वा । उदयोऽनुदयो वाथ स्यादनन्यगतिः स्वतः । —इसलिए यह सिद्धान्त सिद्ध होता है कि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इन दोनोंके उदय अथवा अनुदय ये दोनों ही स्वयं अनन्यगति हैं अर्थात् अपने आप होते हैं, परस्परमें एक दूसरेके निमित्तसे नहीं होते।

७. उपादानके परिणमनमें निमित्तकी प्रधानता नहीं होती

रा. वा./१/२/१२/२०/१६ यदिदं दर्शनमोहाख्यं कर्म तदात्मगुणघाति, कुतश्चिदात्मपरिणामादेवोपक्षीणशक्तिकं सम्यक्त्वाख्यां लभते । अतो न तदात्मपरिणामस्य प्रधानं कारणम्, आत्मैव स्वशक्त्या दर्शनपर्यायेणोत्पद्यत इति तस्यैव मोक्षकारणत्वं युक्तम् । —दर्शनमोहनीय नामके कर्मको आत्मविशुद्धिके द्वारा ही रसघात करके स्वल्पघाती क्षीणशक्तिक सम्यक्त्व कर्म बनाया जाता है। अतः यह सम्यक्त्वप्रकृति आत्मस्वरूप मोक्षका प्रधान कारण नहीं हो सकती। आत्मा

ही अपनी शक्तिसे दर्शन पर्यायको धारण करता है अतः वही मोक्षका कारण है।

रा. वा./५/१/२७/४३४/२४ धर्माधर्माकाशपुद्गलाः इति बहुवचनं स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थं द्रष्टव्यम्। किं पुनः स्वातन्त्र्यम्। धर्मादयो गत्याद्युपग्रहान् प्रति वर्तमानाः स्वयमेव तथा परिणमन्ते न परप्रत्ययाधीना तेषां प्रवृत्तिः इत्येतदत्र विवक्षितं स्वातन्त्र्यम्। ननु च बाह्यद्रव्यादिनिमित्तवशात् परिणामिनां परिणाम उपलभ्यते, स च स्वातन्त्र्ये सति विरुध्यत इति; नैष दोषः; बाह्यस्य निमित्तमात्रत्वात्। न हि गत्यादिपरिणामिनो जीवपुद्गलाः गत्याद्युपग्रहे धर्मादीनां प्रेरकाः। —सूत्रमें 'धर्माधर्माकाशपुद्गलाः' यहाँ बहुवचन स्वातन्त्र्यकी प्रतिपत्तिके लिए है। प्रश्न—वह स्वातन्त्र्य क्या है? उत्तर—इनका यही स्वातन्त्र्य है कि ये स्वयं गति और स्थिति रूपसे परिणत जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिमें स्वयं निमित्त होते हैं, जीव या पुद्गल इन्हें उकसाते नहीं हैं। इनकी प्रवृत्ति पराधीन नहीं है। प्रश्न—बाह्य द्रव्यादिके निमित्तसे परिणामियोंके परिणाम उपलब्ध होते हैं, और वह इस स्वातन्त्र्यके माननेपर विरोधको प्राप्त होता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि बाह्य वस्तुएँ निमित्त मात्र होती हैं, परिणामक नहीं।

श्लो. वा./२/१/६/४०-४१/३६४ चक्षुरादिप्रमाणं चेदचेतनमपीष्यते। न साधकतमत्वस्याभावात्तस्याचितः सदा ।४०। चितस्तु भावनेत्रादेः प्रमाणत्वं न वार्यते। तत्साधकतमत्वस्य कथंचिदुपपत्तितः ।४१। —वैशेषिक व नैयायिक लोग नेत्र आदि इन्द्रियोंको प्रमाण मानते हैं, परन्तु उनका कहना ठीक नहीं है; क्योंकि नेत्रादि जड़ हैं, उनके प्रमितिका प्रकृष्ट साधकपना सर्वदा नहीं है। प्रमितिका कारण वास्तवमें ज्ञान ही है। जड़ इन्द्रिय ज्ञप्तिके करण कदापि नहीं हो सकते, हाँ भावेन्द्रियोंके साधकतमपनेकी सिद्धि किसी प्रकार हो जाती है, क्योंकि भावेन्द्रिय चेतनस्वरूप है और चेतनका प्रमाणपना हमें अभीष्ट है। (श्लो. वा./२/१/६/२१/३७७/२३); (प. मु./२/६-९); (स्या. म./१६/२०८/२३); (न्या. दी./२/§५/२७)।

यो सा./अ./५/१८-१९ ज्ञानदृष्टिचारित्राणि ह्रियन्ते नाक्षगोचरैः। क्रियन्ते न च गुर्वाद्यैः सेव्यमानैरनारतम् ।१८। उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति जीवस्य परिणामिनः। ततः स्वयं स दाता न परतो न कदाचन ।१९। —ज्ञान दर्शन और चारित्रका न तो इन्द्रियोंके विषयोंसे हरण होता है, और न गुरुओंकी निरन्तर सेवासे उनकी उत्पत्ति होती है, किन्तु इस जीवके परिणमनशील होनेसे प्रति समय इसके गुणोंकी पर्याय पलटती हैं इसलिए मतिज्ञान आदिका उत्पाद न तो स्वयं जीव ही कर सकता है और न कभी पर पदार्थसे ही उनका उत्पाद विनाश हो सकता है।

द्र.सं./टी./२२/६८/३ तदेव (निश्चय सम्यक्त्वमेव) कालत्रयेऽपि मुक्तिकारणम्। कालस्तु तदभावे सहकारिकारणमपि न भवति। —वह निश्चय सम्यक्त्व ही सदा तीनों कालोंमें मुक्तिका कारण है। काल तो उसके अभावमें वीतराग चारित्रका सहकारीकारण भी नहीं हो सकता।

८. परिणमनमें उपादानकी योग्यता ही प्रधान है

प्र.सा./मू./व त.प्र./१६९ कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा। गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा। (जीवं परिणमयितारमन्तरेणापि कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिनः पुद्गलस्कन्धाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति। —कर्मत्वके योग्य स्कन्ध जीवकी परिणतिको प्राप्त करके कर्मभावको प्राप्त होते हैं, जीव उनको परिणमाता नहीं ।१६९। अर्थात् जीव उसको परिणमानेवाला नहीं होनेपर भी, कर्मरूप परिणमित होनेवालेकी योग्यता या शक्तिवाले पुद्गल स्कन्ध स्वयमेव कर्मभावसे परिणमित होते हैं।

इ.उ./मू./२ योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता। द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ।२। —जिस प्रकार स्वर्णरूप पाषाणमें कारण, योग्य उपादानरूप करणके सम्बन्धसे पाषाण भी स्वर्ण हो जाता है, उसी तरह द्रव्यादि चतुष्टयरूप सुयोग्य सम्पूर्ण सामग्रीके विद्यमान होनेपर निर्मल चैतन्य स्वरूप आत्माकी उपलब्धि हो जाती है। (मो.पा./२४)

प्र.सा./त.प्र./४४ केवलिनां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्थानमासनं विहरणं धर्मदेशना च स्वभावभूता एव प्रवर्तन्ते। —केवली भगवान्के बिना ही प्रयत्नके उस प्रकारकी योग्यताका सद्भाव होनेसे खड़े रहने, बैठना, विहार और धर्म देशना स्वभावभूत ही प्रवर्तते हैं।

प.मु./२/९ स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ।९। —जाननेरूप अपनी शक्तिके क्षयोपशमरूप अपनी योग्यतासे ही ज्ञान घटपटादि पदार्थोंकी जुदी जुदी रीतिसे व्यवस्था कर देता है। इसलिए विषय तथा प्रकाश आदि उसके कारण नहीं हैं। (श्लो.वा/२/१/६/४०-४१/३६४); (श्लो.वा/१/६/२९/३७७/२३); (प्रमाण परीक्षा/पृ.५२,६७); (प्रमेय कमल मार्तण्ड पृ.१०५); (न्या.दी./२/§५/२७); (स्या.म./१६/२०१/१०)

पं.का/ता.वृ./१०६/१६८/१२ शुद्धात्मस्वभावरूपव्यक्तियोग्यतासहितानां भव्यानामेव न च शुद्धात्मरूपव्यक्तियोग्यतारहितानामभव्यानाम्। —शुद्धात्मस्वभावरूप व्यक्तियोग्यता सहित भव्योंको ही वह चारित्र होता है, शुद्धात्मस्वभावरूप व्यक्तियोग्यता रहित अभव्योंको नहीं।

गो.जी./जी प्र./५८०/१०२२/१० में उद्धृत—निमित्तान्तरं तत्र योग्यता वस्तुनि स्थिता। बहिर्निश्चयकालस्तु निश्चितं तत्त्वदर्शिभिः ।१। —तोहि वस्तुविषै तिष्ठती परिणमनरूप जो योग्यता सो अन्तरंग निमित्त है बहुरि तिस परिणमनका निश्चयकाल बाह्य निमित्त है, ऐसे तत्त्वदर्शीनिकरि निश्चय किया है।

९. निमित्तके सद्भावमें भी परिणमन तो स्वतः ही होता है

प्र.सा./त.प्र./९५ द्रव्यमपि समुपात्तप्राक्तनावस्थं समुचितबहिरङ्गसाधनसंनिधिसद्भावे विचित्रबहुतरावस्थानं स्वरूपकर्तृकरणसामर्थ्यस्वभावेनान्तरङ्गसाधनतामुपागतेनानुगृहीतमुत्तरावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते। —जिसने पूर्व अवस्था प्राप्त की है ऐसा द्रव्य भी जो कि उचित बहिरंग साधनोंके सान्निध्यके सद्भावमें अनेक प्रकारकी बहुत-सी अवस्थाएँ करता है वह—अन्तरंग साधनभूत स्वरूपकर्ता और स्वरूपकरणके सामर्थ्यरूप स्वभावसे अनुगृहीत होनेपर उत्तर अवस्थासे उत्पन्न होता हुआ उत्पादसे लक्षित होता है (प्र. सा./त. प्र./ ९६, १२४)।

पं. का./त. प्र./७९ शब्दयोग्यवर्गणाभिरन्योन्यमनुप्रविश्य समन्ततोऽभिव्याप्य पूरितेऽपि सकले लोके यत्र यत्र बहिरङ्गकारणसामग्री समुदेति तत्र तत्र ताः शब्दत्वेन स्वयं व्यपरिणमन्त इति शब्दस्य नियतमुत्पाद्यत्वात् स्कन्धप्रभवत्वमिति। —एक दूसरेमें प्रविष्ट होकर सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित ऐसी जो स्वभावनिष्पन्न अनन्तपरमाणुमयी शब्दयोग्य वर्गणाएँ, उनसे समस्त लोक भरपूर होनेपर भी जहाँ-जहाँ बहिरंग कारणसामग्री उचित होती है वहाँ-वहाँ वे वर्गणाएँ शब्दरूपसे स्वयं परिणमित होती हैं; इसलिए शब्द नियतरूपसे उत्पाद्य होनेसे स्कन्धजन्य है। (और भी दे० कारण/III/२/१)

२. उपादानकी कथंचित् प्रधानता

१. उपादानके अभावमें कार्यका भी अभाव

ध./६/४, १, ४४/११५/७ ण चोवायाणकारणेण विणा कज्जुप्पत्ती, विरोहादो। —उपादान कारणके बिना, कार्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेमें विरोध है।

पं. का./ता. वृ./६०/११२/१२ परस्परोपादानकर्तृत्वं खलु स्फुटम्। नैव बिनाभूते संजाते तु पुनस्ते द्रव्यभावकर्मणी द्वे। क बिना। उपादानकर्तारं बिना, किंतु जीवगतरागादिभावानां जीव एव उपादानकर्ता द्रव्यकर्मणां कर्मवर्गणायोग्यपुद्गल एवेति। —जीव व कर्ममें परस्पर उपादान कर्तापना स्पष्ट है, क्योंकि बिना उपादानकर्ताके वे दोनों द्रव्य व भाव कर्म होने सम्भव नहीं हैं। तहाँ जीवगत रागादि भावकर्मोंका तो जीव उपादानकर्ता है और द्रव्य कर्मोंका कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल उपादानकर्ता है।

२. उपादानसे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है

ध./६/१,९-९/११/१६४ तम्हा कम्हि वि अंतरंगकारणादो चेव कज्जुप्पत्ती होदि त्ति णिच्छओ कायव्वो। —कहीं भी अन्तरंग कारणसे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है, ऐसा निश्चय करना चाहिए (क्योंकि बाह्यकारणोंसे उत्पत्ति माननेमें शालीके बीजसे जौकी उत्पत्तिका प्रसंग होगा।

३. अन्तरंग कारण ही बलवान है

ध./१२/४, २, ७,४८/३६/६ ण केवलमकसायपरिणामो चेव अणुभागघादस्स कारणं, किं पयडिगयसत्तिसव्वपेक्खो परिणामो अणुभागघादस्स कारणं। तत्थ वि पहाणमंतरंगकारणं, तम्हि उक्कस्से संते बहिरंगकारणे थोवे वि बहुअणुभागघाददंसणादो, अंतरंगकारणे थोवे संते बहिरंगकारणे बहुए संते वि बहुअणुभागघादाणुवलंभादो। —केवल अकषाय परिणाम ही (कर्मोंके) अनुभागघातका कारण नहीं है, किन्तु प्रकृतिगत शक्तिकी अपेक्षा रखनेवाला परिणाम अनुभागघातका कारण है। उसमें भी अन्तरंग कारण प्रधान है, उसके उत्कृष्ट होनेपर बहिरंगकारणके स्तोक रहनेपर भी अनुभाग घात बहुत देखा जाता है। तथा अन्तरंग कारणके स्तोक होनेपर बहिरंग कारणके बहुत होते हुए भी अनुभागघात बहुत नहीं उपलब्ध होता।

ध./१४/५, ६, ९३/९०/१ ण बहिरंगहिंसाए आसवत्ताभावो। तं कुदो णव्वदे। तदभावे वि अंतरंगहिंसादो चेव सित्थमच्छस्स बंधुवलंभादो। जेण विणा जं ण होदि चेव तं तस्स कारण। तम्हा अंतरंगहिंसा चेव सुद्धणएण हिंसा ण बहिरंगा त्ति सिद्धं। ण च अंतरंगहिंसा एत्थ अत्थि कसायासंजमाणमभावादो। —(अप्रमत्त जनोंकी) बहिरंग हिंसा आस्रव रूप नहीं होती। प्रश्न—यह किस प्रमाणसे जाना जाता है? उत्तर—क्योंकि बहिरंग हिंसाका अभाव होनेपर भी केवल अन्तरंग हिंसासे सिक्थमत्स्यके बन्धकी उपलब्धि होती है। जिसके बिना जो नहीं होता है वह उसका कारण है, इसलिए शुद्ध नयसे अन्तरंग हिंसा ही हिंसा है, बहिरंग नहीं यह बात सिद्ध होती है। यहाँ (अप्रमत्त साधुओंमें) अन्तरंग हिंसा नहीं है, क्योंकि कषाय और असंयमका अभाव है।

प्र. सा./त. प्र./२२७ यस्य…सकलाशनतृष्णाशून्यत्वात् स्वयमनशन एव स्वभावः। तदेव तस्यानशनं नाम तपोऽन्तरङ्गस्य बलीयस्त्वात्…। —समस्त अनशनकी तृष्णासे रहित होनेसे जिसका स्वयं अनशन ही स्वभाव है, वही उसके अनशन नामक तप है, क्योंकि अन्तरंगकी विशेष बलवत्ता है।

प्र.सा./त.प्र./२३८ आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्येऽप्यात्मज्ञानमेव मोक्षमार्गसाधकतममनुमन्तव्यम्। —आगम ज्ञान तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयतत्वकी युगपतता होनेपर भी आत्मज्ञानको ही मोक्षमार्गका साधकतम संमत करना।

स्या.म./७/६३/२२ पर उद्धृत -अव्यभिचारी मुख्योऽविकलोऽसाधारणोऽन्तरङ्गश्च। —अव्यभिचारी, अविकल, असाधारण और अन्तरंग अर्थको मुख्य कहते हैं।

स्व. स्तो./५९ की टीका पृ. १५६ अनेन भक्तिलक्षणशुभपरिणामहीनस्य पूजादिकं न पुण्यकारणं इत्युक्तं भवति। ततः अभ्यन्तरङ्गशुभाशुभजीवपरिणामलक्षणं कारणं केवलं बाह्यवस्तुनिरपेक्षम्। —इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भक्तियुक्त शुभ परिणामोंसे रहित पूजादिक पुण्यके कारण नहीं होते हैं। अतः बाह्य वस्तुओंसे निरपेक्ष जीवके केवल अन्तरंग शुभाशुभ परिणाम ही कारण है।

४. विघ्नकारी कारण भी अन्तरंग ही हैं

प्र.सा./त.प्र./९२ यदयं स्वयमात्मा धर्मो भवति स खलु मनोरथ एव, तस्य त्वेका बहिर्मोहदृष्टिरेव विहन्त्री। —यह आत्मा स्वयं धर्म हो, यह वास्तवमें मनोरथ है। इसमें विघ्न डालने वाली एक बहिर्मोहदृष्टि ही है।

द्र.सं./टी./३५/१४४/२ परमसमाधिर्दुर्लभः। कस्मादिति चेत्तत्प्रतिबन्धकमिथ्यात्वविषयकषायनिदानबन्धादिविभावपरिणामानां प्रबलत्वादिति। —परमसमाधि दुर्लभ है। क्योंकि परमसमाधिको रोकनेवाले मिथ्यात्व, विषय, कषाय, निदानबन्ध आदि जो विभाव परिणाम है, उनकी जीवमें प्रबलता है।

द्र. सं./टी./५६/२२५/५ नित्यनिरञ्जननिष्क्रियनिजशुद्धात्मानुभूतिप्रतिबन्धकं शुभाशुभचेष्टारूपं कायव्यापारं…वचनव्यापारं चित्तव्यापारं च किमपि मा कुरुत हे विवेकिजनाः। —नित्य निरञ्जन निष्क्रिय निज शुद्धात्माकी अनुभूतिके प्रतिबन्धक जो शुभाशुभ मन वचन कायका व्यापार उसे हे विवेकीजनो! तुम मत करो।

३. उपादानकी कथंचित् परतन्त्रता

१. निमित्तकी अपेक्षा रखनेवाला पदार्थ उस कार्यके प्रति स्वयं समर्थ नहीं हो सकता

स्या.म./५/३०/११ समर्थोऽपि तत्तत्सहकारिसमवधाने तं तमर्थं करोतीति चेत्, न तर्हि तस्य सामर्थ्यम्; अपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्वात्। सापेक्षमसमर्थम् इति न्यायात्। —यदि ऐसा माना जाये कि समर्थ होनेपर भी अमुक सहकारी कारणोंके मिलनेपर ही पदार्थ अमुक कार्यको करता है तो इससे उस पदार्थकी असमर्थता ही सिद्ध होती है, क्योंकि वह दूसरोंके सहयोगकी अपेक्षा रखता है, न्यायका वचन भी है कि "जो दूसरोंकी अपेक्षा रखता है। वह असमर्थ है।

२. व्यावहारिक कार्य करनेमें उपादान निमित्तोंके आधीन है

त.सू./१०/८ धर्मास्तिकायाभावात्। —धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे जीव लोकान्तसे ऊपर नहीं जाता। (विशेष दे० धर्माधर्म)

प.प्र./मू./१/६६ अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ। भुवणत्तयहं वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ।६६। —हे जीव! यह आत्मा पंगुके समान है। आप न कहीं जाता है, न आता है। तीनों लोकोंमें इस जीवको कर्म ही ले जाता है और कर्म ही ले आता है।

आप्त. प./११४-११५/§२९६-२९७/२४६-२४७ जीवं परतन्त्रीकुर्वन्ति, स परतन्त्रीक्रियते वा यैस्तानि कर्माणि। ...तानि च पुद्गलपरिणामात्मकानि जीवस्य पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्, निगडादिवत्। क्रोधादिभिर्व्यभिचार इति चेत्, न, ...पारतन्त्र्यं हि क्रोधादिपरिणामो न पुनः पारतन्त्र्यनिमित्तम्। § २९६। ननु च ज्ञानावरण...जीवस्वरूपघातित्वात्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वं न पुनर्नामगोत्रसद्वेद्यायुषाम् तेषामात्मस्वरूपाघातित्वात्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वासिद्धेरिति पक्षाव्यापको हेतु। ...न; तेषामपि जीवस्वरूपसिद्धत्वप्रतिबन्धत्वात्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वोपपत्तेः। कथमेवं तेषामघातिकर्मत्वं। इति चेत, जीवन्मुक्तलक्षणपरमार्हन्त्यलक्ष्मीघातित्वाभावादिति ब्रूमहे। § २९७। —जो जीवको परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है उन्हें कर्म कहते हैं। वे सब पुद्गलपरिणामात्मक हैं, क्योंकि वे जीवको परतन्त्रतामें कारण है जैसे निगड (बेड़ी) आदि। प्रश्न—उपर्युक्त हेतु क्रोधादिके साथ व्यभिचारी है? उत्तर—नहीं, क्योंकि जीवके क्रोधादि भाव स्वयं परतन्त्रता है, परतन्त्रताका कारण नहीं। § २९६। प्रश्न—ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्म ही जीवस्वरूप घातक होनेसे परतन्त्रताके कारण हैं, नाम गोत्र आदि अघाति कर्म नहीं, क्योंकि वे जीवके स्वरूपघातक नहीं हैं। अतः उनके परतन्त्रताकी कारणता असिद्ध है और इसलिए (उपरोक्त) हेतु पक्षव्यापक है? उत्तर—नहीं, क्योंकि नामादि अघातीकर्म भी जीव सिद्धत्वस्वरूपके प्रतिबन्धक हैं, और इसलिए उनके भी परतन्त्रताकी कारणता उपपन्न है। प्रश्न—तो फिर उन्हें अघाती कर्म क्यों कहा जाता है? उत्तर—जीवन्मुक्तिरूप आर्हन्त्यलक्ष्मीके घातक नहीं हैं, इसलिए उन्हें हम अघातिकर्म कहते हैं। (रा. वा./५/२४/९/४८८/२०), (गो. जी./जी. प्र./२४४/५०८/२)।

स. सा./आ./२७९/क. २७५ न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः। तस्मिन्निमित्तं परसंग एव, वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ।२७५। —सूर्यकान्त मणिकी भाँति आत्मा अपनेको रागादिका निमित्त कभी भी नहीं होता। (जिस प्रकार वह मणि सूर्यके निमित्तसे ही अग्नि रूप परिणमन करती है, उसी प्रकार आत्माको भी रागादिरूप परिणमन करनेमें) पर-संग ही निमित्त है। ऐसा वस्तुस्वभाव प्रकाशमान है।

प्र. सा./ता. वृ./५८ इन्द्रियमन परोपदेशावलोकादिबहिरङ्गनिमित्तभूतात् ...उपलब्धेरर्थावधारणरूप...यद्विज्ञानं तत्पराधीनत्वात्परोक्षमित्युच्यते। —इन्द्रिय, मन, परोपदेश तथा प्रकाशादि बहिरंग निमित्तोंसे उपलब्ध होनेवाला जो अर्थावधारण रूप विज्ञान वह पराधीन होनेके कारण परोक्ष कहा जाता है।

द्र. सं./टी./१४/४४/१० (जीवप्रदेशानां) विस्तारश्च शरीरनामकर्माधीन एव न च स्वभावस्तेन कारणेन शरीराभावे विस्तारो न भवति। —(जीवके प्रदेशोंका संहार तथा) विस्तार शरीर नामक नामकर्मके आधीन है, जीवका स्वभाव नहीं है। इस कारण जीवके शरीरका अभाव होनेपर प्रदेशोंका (संहार या) विस्तार नहीं होता है।

स्व. स्तो./टी./६२/१६२ "उपादानकारणं सहकारिकारणमपेक्षते। तच्चोपादानकारणं न च सर्वेण सर्वमपेक्ष्यते। किन्तु यद्येन अपेक्ष्यमाणं दृश्यते तत्तेनापेक्ष्यते।" —उपादानकारण सहकारीकारणकी अपेक्षा करता है। सर्व ही उपादान कारणोंसे सभी सहकारीकारण अपेक्षित होते हों सो भी नहीं। जो जिसके द्वारा अपेक्ष्यमाण होता है वही उसके द्वारा अपेक्षित होता है।

३. जैसा-जैसा कारण मिलता है वैसा-वैसा ही कार्य होता है—

रा. वा./४/४२/७/२५१/१२ नापि स्वत एव, परापेक्षाभावे तद्व्यक्त्यभावात्। तस्मात्तस्यानन्तपरिणामस्य द्रव्यस्य तत्तत्सहकारिकारणं प्रतीत्य तत्तद्रूपं वक्ष्यते। न तत् स्वत एव नापि परकृतमेव। —जीवोंके सर्व भेद प्रभेद स्वतः नहीं हैं, क्योंकि परकी अपेक्षाके अभावमें उन भेदों की व्यक्तिका अभाव है। इसलिए अनन्त परिणामी द्रव्य ही उन-उन सहकारी कारणोंकी अपेक्षा उन-उन रूपसे व्यवहारमें आता है। यह बात न स्वतः होती है और न परकृत ही है।

ध./१२/४, २, १३, २४३/४५३/७ कधमेगो परिणामो भिण्णकज्जकारओ। ण सहकारिकारणसंबंधभेएणतस्स तदविरोहादो। —प्रश्न—एक परिणाम भिन्न कार्योंको करनेवाला कैसे हो सकता है (ज्ञानावरणीयके बन्ध योग्य परिणाम आयु कर्मको भी कैसे बाँध सकता है)? उत्तर—नहीं, क्योंकि, सहकारी कारणोंके सम्बन्धसे उसके भिन्न कार्योंके करनेमें कोई विरोध नहीं है। (पं. का./त. प्र./७१/१२४) —(दे० पीछे कारण/II/१/६)।

४. उपादानको ही स्वयं सहकारी माननेमें दोष—

आप्त. मी./२१ एवं विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत्। नेति चेन्न यथा कार्यं बहिरन्तरुपाधिभिः ।२१। —पूर्वोक्त सप्तभंगी विषै विधि निषेधकरि अनवस्थित जीवादि वस्तु हैं सो अर्थ क्रियाकी करै है। बहुरि अन्यवादी केवल अन्तरंग कारणसे ही कार्य होना मानै तैसा नाहीं है। वस्तु को सर्वथा सत् या सर्वथा असत् माननेसे, जैसा कार्य सिद्ध होना बाह्य अन्तरंग सहकारीकारण अर उपादान कारणनि करि माना है तैसा नाहीं सिद्ध होय है। तिसकी विशेष चर्चा अष्टसहस्री तैं जानना। (दे० धर्माधर्म/३ तथा काल/२) यदि उपादानको ही सहकारी कारण भी माना जायेगा तो लोक में जीव पुद्गल दो ही द्रव्य मानने होंगे।

III निमित्तको कथंचित् गौणता मुख्यता

१. निमित्तके उदाहरण

१. षट्द्रव्योंका परस्पर उपकार्य उपकारक भाव

त. सू./५/१७-२२ गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ।१७। आकाशस्यावगाहः ।१८। शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ।१९। सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ।२०। परस्परोपग्रहो जीवानाम् ।२१। वर्तनापरिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ।२२। —(जीव व पुद्गलकी) गति और स्थितिमें निमित्त होना यह क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार है ।१७। अवकाश देना आकाशका उपकार है ।१८। शरीर, वचन, मन और प्राणापान पुद्गलोंका उपकार है ।१९। सुख दुःख जीवन और मरण ये भी पुद्गलोंके उपकार हैं ।२०। परस्पर निमित्त होना यह जीवोंका उपकार है ।२१। वर्तना परिणाम क्रिया परत्व और अपरत्व ये कालके उपकार हैं ।२०। (गो. जी./मू/६०५-६०६/१०५०, १०६०), (का. अ./मू/२०८-२१०)

स. सि./५/२०/२८९/२ एतानि सुखादीनि जीवस्य पुद्गलकृत उपकारः, मूर्तिमद्धेतुसंनिधाने सति तदुत्पत्तेः। ...पुद्गलानां पुद्गलकृत उपकार इति। तद्यथा—कंस्यादीनां भस्मादिभिर्जलादीनां कतकादिभिरयःप्रभृतीनामुदकादिभिरुपकारः क्रियते। च शब्दः...अन्योऽपि पुद्गलकृत उपकारोऽस्तीति समुच्चीयते। यथा शरीराणि एवं चक्षुरादीनीन्द्रियाण्यपीति ।२०। ...परस्परोपग्रहः। जीवानामुपकारः। कः पुनरसौ। स्वामी भृत्यः, आचार्यः शिष्यः इत्येवमादिभावेन वृत्तिः परस्परोपग्रहः। स्वामी तावद्वित्तत्यागादिना भृत्यानामुपकारे वर्तते। भृत्याश्च हितप्रतिपादनेनाहितप्रतिषेधेन च। आचार्य उपदेशदर्शनेन... क्रियानुष्ठापनेन च शिष्याणामनुग्रहे वर्तते। शिष्या अपि तदानुकूलवृत्त्या आचार्याणाम्। ...पूर्वोक्तसुखादिचतुष्टयप्रदर्शनार्थं पुनः

'उपग्रह वचनं क्रियते। सुखादीन्यपि जीवानां जीवकृत उपकार इति ।२१। —ये सुखादिक जीवके पुद्गलकृत उपकार हैं, क्योंकि मूर्त कारणोंके रहनेपर ही इनकी उत्पत्ति होती है। (इसके अतिरिक्त) पुद्गलोंका भी पुद्गलकृत उपकार होता है। यथा—कांसे आदिका राख आदिके द्वारा, जल आदिका कतक आदिके द्वारा और लोहे आदिका जल आदिके द्वारा उपकार किया जाता है। पुद्गलकृत और भी उपकार हैं, इसके समुच्चयके लिए सूत्रमें 'च' शब्द दिया है। जिस प्रकार शरीरादिक पुद्गलकृत उपकार हैं उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी पुद्गलकृत उपकार हैं। परस्परका उपग्रह करना जीवोंका उपकार है। जैसे स्वामी तो धन आदि देकर और सेवक उसके हितका कथन करके तथा अहितका निषेध करके एक दूसरेका उपकार करते हैं। आचार्य उपदेश द्वारा तथा क्रियामें लगाकर शिष्योंका और शिष्य अनुकूल प्रवृत्ति द्वारा आचार्यका उपकार करते है। इनके अतिरिक्त सुख आदिक भी जीवके जीवकृत उपकार हैं। (गो. जी./जी. प्र./६०५-६०६/१०६०-१०६२) (का. अ./टी./२०८-२१०)

प. का./मू./३४ जीवस्सुवयारकरा कारणभूया हु पंचकायाई। जीवो सत्ताभूओ सो ताणं ण कारणं होइ ।३४।

द्र. सं./टी./अधि. २ की चूलिका/७८/२ पुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि व्यवहारनयेन जीवस्य शरीरवाङ्मनःप्राणापानादिगतिस्थित्यवगाहवर्तनाकार्याणि कुर्वन्तीति कारणानि भवन्ति। जीवद्रव्यं पुनर्यद्यपि गुरुशिष्यादिरूपेण परस्परोपग्रहं करोति तथापि पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणां किमपि न करोतीत्यकारणम्। —पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ये पाँचों द्रव्य जीवका उपकार करते है, इसलिए वे कारणभूत हैं, किन्तु जीव सत्तास्वरूप है उनका कारण नहीं है ।३४। उपरोक्त पाँचों द्रव्योंमें-से व्यवहार नयकी अपेक्षा जीवके शरीर, वचन, मन, श्वास, निःश्वास आदि कार्य तो पुद्गल द्रव्य करता है। और गति, स्थिति, अवगाहन और वर्तनारूप कार्य क्रमसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल करते हैं। इसलिए पुद्गलादि पाँच द्रव्य कारण हैं। जीव द्रव्य यद्यपि गुरु शिष्य आदि रूप से आपसमें एक दूसरेका उपकार करता है, फिर भी पुद्गल आदि पाँचों द्रव्योंके लिए जीव कुछ भी नहीं करता, इसलिए वह अकारण है। (पं. का./ता. वृ./२७/५७/१२)।

२. द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप निमित्त

क. पा. १/§ २४५/२८६/३ पागभावो कारणं। पागभावस्स विणासो वि दव्व-खेत्त-काल-भवावेक्खाए जायदे। तदो ण सव्वद्धं दव्वकम्माइं सगफलं कुणंति त्ति सिद्धं। —प्रागभावका विनाश हुए बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है और प्रागभावका विनाश द्रव्य, क्षेत्र, काल और भवकी अपेक्षा लेकर होता है। इसलिए द्रव्य कर्म सर्वदा अपने कार्यको उत्पन्न नहीं करते हैं, यह सिद्ध होता है।

(दे० बन्ध/१) कर्मोंका बन्ध भी द्रव्य क्षेत्र काल व भवकी अपेक्षा लेकर होता है।

(दे० उदय/२/३) कर्मोंका उदय भी द्रव्य क्षेत्र काल व भवकी अपेक्षा लेकर होता है।

३. निमित्तकी प्रेरणासे कार्य होना

स. सि./५/१९/२८६/१ तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणाः पुद्गला वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति। —इस प्रकारकी (भाव वचनकी) सामर्थ्यसे युक्त क्रियावाले आत्माके द्वारा प्रेरित होकर पुद्गल वचनरूपसे परिणमन करते हैं। (गो. जी./जी. प्र./६०६/१०६२/३)।

पं. का./ता. वृ./१/६/१५ वीतरागसर्वज्ञदिव्यध्वनिशास्त्रे प्रवृत्ते किं कारणं। भव्यपुण्यप्रेरणात्। —प्रश्न—वीतराग सर्वज्ञ देवकी दिव्य ध्वनिमें प्रवृत्ति किस कारणसे होती है? उत्तर—भव्य जीवोंके पुण्यकी प्रेरणासे।

४. निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध

स. सा./मू/३१२-३१३ चेया उ पयडीअट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ। पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ।३१२। एवं बंधो उ दुण्ह वि अण्णोण्णपच्चया हवे। अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायदे ।३१३। —आत्मा प्रकृतिके निमित्तसे उत्पन्न होता है और नष्ट होता है तथा प्रकृति भी आत्माके निमित्तसे उत्पन्न होती है तथा नष्ट होती है। इस प्रकार परस्पर निमित्तसे दोनों ही आत्माका और प्रकृतिका बन्ध होता है, और इससे संसार होता है।

ध./२/१, १/४१२/११ तथोच्छ्वासनिःश्वासप्राणपर्याप्त्योः कार्यकारणयोरात्मपुद्गलोपादानयोर्भेदोऽभिधातव्य इति। —उच्छ्वासनिःश्वास प्राण कार्य है और आत्मा उपादान कारण है तथा उच्छ्वासनिःश्वासपर्याप्ति कारण है और पुद्गलोपादाननिमित्तक है।

स. सा./आ./२८६-२८७ यथाधःकर्मनिष्पन्नमुद्देशनिष्पन्नं च पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतमप्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बन्धसाधकं भावं न प्रत्याचष्टे, तथा समस्तमपि परद्रव्यमप्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तकं भावं न प्रत्याचष्टे··· इति तत्त्वज्ञानपूर्वकं पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतं प्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बन्धसाधकं भावं प्रत्याचष्टे। ···एवं द्रव्यभावयोरस्ति निमित्तनैमित्तिकभावः। —जैसे अधःकर्मसे उत्पन्न और उद्देश्यसे उत्पन्न हुए निमित्तभूत (आहारादि) पुद्गल द्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा नैमित्तिकभूत बन्ध साधक भावका प्रत्याख्यान नहीं करता, इसी प्रकार समस्त परद्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा उसके निमित्तसे होनेवाले भावका (भी) नहीं त्यागता। ···इस प्रकार तत्त्वज्ञानपूर्वक निमित्तभूत पुद्गलद्रव्यका प्रत्याख्यान करता हुआ आत्मा, जैसे नैमित्तिक भूत बन्धसाधक भावका प्रत्याख्यान करता है, उसी प्रकार समस्त परद्रव्यका प्रत्याख्यान करता हुआ आत्मा उसके निमित्तसे होनेवाले भावका प्रत्याख्यान करता है। इस प्रकार द्रव्य और भावको निमित्तनैमित्तिकपना है।

स. सा./आ./३१२-३१३ एवमनयोरात्मप्रकृत्योः कर्तृकर्मभावाभावेऽप्यन्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन द्वयोरपि बन्धो दृष्टः, ततः संसारः, तत एव च कर्तृकर्मव्यवहारः। —यद्यपि उन आत्मा और प्रकृतिके कर्ताकर्मभावका अभाव है तथापि परस्पर निमित्तनैमित्तिकभावसे दोनोंके बन्ध देखा जाता है। इससे संसार है और यह ही उनके कर्ताकर्मका व्यवहार है। (प. ध./उ./१०७१)

स. सा./आ./३४९-३५० यथा खलु शिल्पी सुवर्णकारादिः कुण्डलादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति···न त्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः। —जैसे शिल्पी (स्वर्णकार आदि) कुण्डल आदि जो परद्रव्य परिणामात्मक कर्म करता है, किन्तु अनेक द्रव्यत्वके कारण उनसे अन्य होनेसे तन्मय नहीं होता; इसलिए निमित्तनैमित्तिक भावमात्रसे ही वहाँ कर्तृ-कर्मत्वका और भोक्ता-भोक्तृत्वका व्यवहार है।

५. अन्य सामान्य उदाहरण

स. सि./३/२७/२२३/२ किंहेतुकौ पुनरसौ। कालहेतुकौ। —ये वृद्धि ह्रास कालके निमित्तसे होते है। (रा. वा./३/२७/१९१/२६)

ज्ञा./२४/२० शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरा बद्धवैराः परस्परम्। अपि स्वार्थे प्रवृत्तस्य मुनेः साम्यप्रभावतः ।२०। —इस साम्यभावके प्रभावसे अपने स्वार्थमें प्रवृत्त मुनिके निकट परस्पर वैर करनेवाले क्रूर जीव भी साम्यभावको प्राप्त हो जाते हैं।

२. निमित्तकी कथंचित् गौणता

१. सभी कार्य निमित्तका अनुसरण नहीं करते

ध. ६/१ ६–६,११/१६४/७ कुदो । पयडिविसेसादो । ण च सव्वाइं कज्जाइं एयंतेण बज्झत्थमवेक्खिय चे उप्पज्जंति, सालिबीजादो जवंकुरस्स वि उप्पत्तिप्पसंगा । ण च तारिसाइं दव्वाइं तिसु वि कालेसु कहिं पि अत्थि, जेसिं बलेण सालिबीजस्स जवंकुरुप्पायणसत्ती होज्ज, अणवत्थापसंगादो । =प्रश्न—(इन सर्व कर्मप्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थिति बन्ध इतना इतना ही क्यों है । जीव परिणामोंके निमित्तसे इससे अधिक क्यों नहीं हो सकता) ? उत्तर—क्योंकि प्रकृति विशेष होनेसे सूत्रोक्त प्रकृतियोंका यह स्थिति बन्ध होता है । सभी कार्य एकान्तसे बाह्य अर्थकी अपेक्षा करके ही नहीं उत्पन्न होते हैं, अन्यथा शालिधान्यके बीजसे जौके भी अंकुरकी उत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त होता है । किन्तु उस प्रकारके द्रव्य तीनों ही कालोंमें किसी भी क्षेत्रमें नहीं हैं कि जिनके बलसे शालिधान्यके बीजके जौके अंकुरको उत्पन्न करनेकी शक्ति हो सके । यदि ऐसा होने लगेगा तो अनवस्था दोष प्राप्त होगा ।

२. धर्मादि द्रव्य उपकारक हैं प्रेरक नहीं

प.का./मू./८८-८९ ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स । हवदिगदिस्स प्पसरो जीवाणं पुग्गलाणं च ।८८। विज्जदि जसि गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि । ते सगपरिणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति ।८९। =धर्मास्तिकाय गमन नहीं करता और अन्य द्रव्यको गमन नहीं कराता । वह जीवों तथा पुद्गलोंको गतिका उदासीन प्रसारक (गति प्रसारमें उदासीन निमित्त) है ।८८। जिनको गति होती है उन्हींको स्थिति होती है । वे तो अपने-अपने परिणामों से गति और स्थिति करते हैं । (इसलिए धर्म व अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलकी गति व स्थितिमें मुख्य हेतु नहीं (त. प्र. टी) ।

रा.वा./५/७/४–६/४४६ निष्क्रियत्वात गतिस्थिति-अवगाहनक्रियाहेतुत्वाभाव इति चेत्; न, बलाधानमात्रत्वादिन्द्रियवत् ।४।' यथा दिदृक्षोश्चक्षुरिन्द्रियं रूपोपलब्धौ बलाधानमात्रमिष्ट न तु चक्षुष. तत्सामर्थ्यम् इन्द्रियान्तरोपयुक्तस्य तदभावात् । ' तथा स्वयमेव गतिस्थित्यवगाहनपर्यायपरिणामिनां जीवपुद्गलानां धर्माधर्माकाशद्रव्याणि गत्यादिनिर्वृत्तौ बलाधानमात्रत्वेन विवक्षितानि न तु स्वयं क्रियापरिणामीनि । कुत पुनरेतदेवमिति चेत् । उच्यते—द्रव्यसामर्थ्यात् ।५। यथा आकाशमगच्छत् सर्वद्रव्यै संबद्धम्, न चास्य सामर्थ्यमन्यस्यास्ति । तथा च निष्क्रियत्वेऽप्येषां गत्यादिक्रियानिर्वृत्ति प्रति बलाधानमात्रत्वमसाधारणमवसेयम् ।

रा.वा./५/१७/१६/४६२/५ तयोः कर्तृत्वप्रसंग इति चेत्, न, उपकारवचनाद्यष्ट्यादिवत् ।१६।…जीवपुद्गलानां स्वशक्त्यैव गच्छतां तिष्ठतां च धर्माधर्मौ उपकारकौ न प्रेरकौ इत्युक्तं भवति ।…ततश्च मन्यामहे न प्रधानकर्तारौ इति ।१७। =प्रश्न—क्रियावाले ही जलादि पदार्थ मछली आदिकी गति और स्थितिमें निमित्त देखे गये हैं, अतः निष्क्रिय धर्माधर्मादि गति स्थितिमें निमित्त कैसे हो सकते हैं ? उत्तर—जैसे देखने की इच्छा करनेवाले आत्माको चक्षु इन्द्रिय बलाधायक हो जाती है, इन्द्रियान्तरमें उपयुक्त आत्माको वह स्वयं प्रेरणा नहीं करती । उसी प्रकार स्वयं गति स्थिति और अवगाहन रूपसे परिणमन करनेवाले द्रव्योंकी गति आदिमें धर्मादि द्रव्य निमित्त हो जाते हैं, स्वयं क्रिया नहीं करते । जैसे आकाश अपनी द्रव्य सामर्थ्यसे गमन न करनेपर भी सभी द्रव्योंसे सम्बद्ध है और सर्वगत कहलाता है, उसी तरह धर्मादि द्रव्योंकी भी गति आदि में निमित्तता समझनी चाहिए । जैसे यष्टि चलते हुए अन्धेको उपकारक है उसे प्रेरणा नहीं करती उसी प्रकार धर्मादिकोंको भी उपकारक कहनेसे उनमें प्रेरक कर्तृत्व नहीं आ सकता । इससे जाना जाता है कि ये दोनों प्रधान कर्ता नहीं हैं । (रा.वा./५/१७/२४/४६३/३१) ।

गो.जी./मू./५७०/१०१५ ण य परिणमदि सयं सो ण य परिणामेइ अण्णमण्णेहिं । विविहपरिणामियाणं हवदि हु कालो सयं हेदु ।५७०। =काल न तो स्वयं अन्य द्रव्यरूप परिणमन करता है और न अन्यको अपने रूप या किसी अन्य रूप परिणमन कराता है । नाना प्रकारके परिणामों युक्त ये द्रव्य स्वयं परिणमन कर रहे हैं, उनको काल द्रव्य स्वयं हेतु या निमित्त मात्र है ।

पं.क./ता.वृ./२४/५०/११ सर्वद्रव्याणां निश्चयेन स्वयमेव परिणामं गच्छतां शीतकाले स्वयमेवाध्ययनक्रियां कुर्वाणस्य पुरुषस्याग्निसहकारिवत् स्वयमेव भ्रमणक्रियां कुर्वाणस्य कुम्भकारचक्रस्याधस्तनशिलासहकारिवद्बहिरङ्गनिमित्तत्वाद्वर्तनालक्षणश्च कालाणुरूपो निश्चयकालो भवति । =सर्व द्रव्योंको जो कि निश्चयसे स्वयं ही परिणमन करते हैं; उनके बहिरंग निमित्त रूप होनेसे वर्तना लक्षणवाला यह कालाणु निश्चयकाल होता है । जिस प्रकार शीतकाल में स्वयमेव अध्ययन क्रिया परिणत पुरुषके अग्नि सहकारी होती है, अथवा स्वयमेव भ्रमणक्रिया करनेवाले कुम्भारके चक्रको उसकी अधस्तन शिला सहकारी होती है, उसी प्रकार यह निश्चय कालद्रव्य भी, स्वयमेव परिणमनेवाले द्रव्योंको बाह्य सहकारी निमित्त है । (पं.का./ता.वृ./८५/१४२/१५) ।

३. अन्य भी उदासीन कारण धर्मद्रव्यवत् ही जानने

इ. उ./मू./३५ नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति । निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् । =जो पुरुष अज्ञानी या तत्त्वज्ञानके अयोग्य है वह गुरु आदि परके निमित्तसे विशेष ज्ञानी नहीं हो सकता । और जो विशेष ज्ञानी है, तत्त्वज्ञानकी योग्यतासे सम्पन्न है वह अज्ञानी नहीं हो सकता । अतः जिस प्रकार धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलोंके गमनमें उदासीन निमित्तकारण है, उसी प्रकार अन्य मनुष्यके ज्ञानी करनेमें गुरु आदि निमित्त कारण हैं ।

पं.का./ता.वृ/८५/१४२/१५ धर्मस्य गतिहेतुत्वे लोकप्रसिद्धदृष्टान्तमाह—उदकं यथा मत्स्यानां गमनानुग्रहकरं…भव्यानां सिद्धगतेः पुण्यवत्… अथवा चतुर्गतिगमनकाले द्रव्यलिङ्गादिदानपूजादिकं वा बहिरङ्गसहकारिकारणं भवति ।८५। =धर्म द्रव्यके गति हेतुत्वपनेमें लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त कहते हैं—जैसे जल मछलियोंके गमनमें सहकारी है (और भी दे० धर्माधर्म/२), अथवा जैसे भव्योंको सिद्ध गतिमें पुण्य सहकारी है; अथवा जैसे सर्व साधारण जीवोंको चतुर्गति गमनमें द्रव्य लिंग व दान पूजादि बहिरंग सहकारी कारण हैं; (अथवा जैसे शीतकालमें स्वयं अध्ययन करनेवालेको अग्नि सहकारी है, अथवा जैसे भ्रमण करनेवाले कुम्भारके चक्रको उसकी अधस्तन शिला उदासीन कारण है (पं.का./ता.वृ/५०/११–दे० पीछेवाला शीर्षक)—उसी प्रकार जीव पुद्गलकी गतिमें धर्म द्रव्य सहकारी कारण है ।

द्र.सं/टी./१८/५६/६ सिद्धभक्तिरूपेणेह पूर्वं सविकल्पावस्थायां सिद्धोऽपि यथा भव्यानां बहिरंगसहकारिकारणं भवति तथैव…अधर्मद्रव्यं स्थितेः सहकारिकारणं । =सिद्ध भक्तिके रूपसे पहिले सविकल्पावस्थामें सिद्ध भगवान् भी जैसे भव्य जीवोंके लिए बहिरंग सहकारी कारण होते हैं, तैसे ही अधर्म द्रव्य जीवपुद्गलोंको ठहरनेमें सहकारी कारण होता है ।

४. बिना उपादानके निमित्त कुछ न करे

ध.१/१,१,१६३/४०३/१२ मानुषोत्तरात्परतो देवस्य प्रयोगतोऽपि मनुष्याणां गमनाभावात् । न हि स्वतोऽसमर्थोऽन्यतः समर्थो भवत्यतिप्रसंगात् । =मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ़ देवोंकी प्रेरणासे भी मनुष्योंका गमन नहीं हो सकता । ऐसा न्याय भी है जो स्वतः असमर्थ होता है वह दूसरोंके सम्बन्धसे भी समर्थ नहीं हो सकता ।

मो.पा./६०/पृ० १५३/१४ पं. जयचन्द—अपना भला बुरा अपने भावनि के अधीन है। उपादान कारण होय तो निमित्त भी सहकारी होय। अर उपादान न होय तौ निमित्त कछू न करै है। (भा.पा./२/पं. जयचन्द/ पृ० १५६/२) (और भी दे० कारण/II/१/७)।

५. सहकारी कारणको कारण कहना उपचार है

रा.बा.हिं/१/२७/७२६ में श्लो.बा.से उद्धृत—अन्यके नेत्रनिको ज्ञानका कारण सहकारीमात्र उपचारकरि कहा है। परमार्थतै ज्ञानका कारण आत्मा ही है। दे० कारण/II/१/७ में श्लो० बा०।

६. सहकारी कारण कार्यके प्रति प्रधान नहीं है

रा.बा./१/२/१४/२०/१८ आभ्यन्तर आत्मीयः सम्यग्दर्शनपरिणाम प्रधानम्, सति तस्मिन् बाह्यस्योपग्राहकत्वात। अतो बाह्य आभ्यन्तरस्योपग्राहकः पारार्थ्येन वर्तत इत्यप्रधानम्। = सम्यग्दर्शनपरिणाम रूप आभ्यन्तर आत्मीय भाव ही तहाँ प्रधान है कर्म प्रकृति नहीं। क्योंकि उस सम्यग्दर्शनके होनेपर वह तो उपग्राहक मात्र है। इसलिए बाह्य कारण आभ्यन्तरका उपग्राहक होता है और परपदार्थ रूपसे वर्तन करता है, इस लिए अप्रधान होता है।

७. सहकारीको कारण मानना सदोष है—

स.सा./आ.२६५ न च बन्धहेतुहेतुत्वे सत्यपि बाह्यं वस्तु बन्धहेतुः स्यात् ईर्यासमितिपरिणतपदव्यापाद्यमानवेगापतत्कालचोदितकुलिङ्गवत् बाह्यवस्तुनो बन्धहेतुहेतोरबन्धहेतुत्वेन बन्धहेतुत्वस्यानैकान्तिकत्वात। —यद्यपि बाह्य वस्तु बन्धके कारणका (अर्थात् अध्यवसानका) कारण है, तथापि वह बन्धका कारण नहीं है। क्योंकि ईर्यासमितिमें परिणमित मुनीन्द्रके चरणसे मर जानेवाले किसी कालप्रेरित जीवकी भाँति बाह्य वस्तुको बन्धका कारणत्व माननेमें अनैकान्तिक हेत्वाभासत्व है। अर्थात् व्यभिचार आता है। (श्लो बा/२/१/६/२६/३७३/११)

पं.ध./उ.८०१ अत्राभिप्रेतमेवैतत्स्वस्थितिकरणं स्वतः। न्यायात्कुतश्चिदत्रापि हेतुस्तत्रानवस्थितिः ।८०१। = इस स्वस्थितिकरणके विषयमें इतना ही अभिप्राय है कि स्थितिकरण स्वयमेव ही होता है। यदि इसका भी न्यायानुसार कोई न कोई कारण मानेंगे तो अनवस्था दोष आता है ।८०१।

८. सहकारी कारण अहेतुवत् होता है

पं.ध./उ./३५१,६७६ मतिज्ञानादिवेलायामात्मोपादानकारणम्। देहेन्द्रियास्तदर्थाश्च बाह्यं हेतुरहेतुवत ।३५१। अस्त्युपादानहेतोश्च तत्क्षतिर्वा तदक्षतिः। तदापि न बहिर्वस्तु स्यात्तद्धेतुरहेतुत ।६७६। —मति ज्ञानादिके उत्पन्न होनेके समय आत्मा उपादान कारण है और देह, इन्द्रिय, तथा उन इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थ केवल बाह्य हेतु हैं, अतः वे अहेतुके बराबर हैं ।३५१। केवल अपने उपादान हेतुसे ही चारित्रकी क्षति अथवा चारित्रकी अक्षति होती है। उस समय भी बाह्य वस्तु उस क्षति अक्षतिका कारण नहीं है। और इसलिए दीक्षादेशादि देने अथवा न देनेरूप बाह्य वस्तु चारित्रकी क्षति अक्षति के लिए अहेतु है ।६७६।

९. सहकारी कारण तो निमित्त मात्र होता है

स.सि./१/२०/१२१/३ (श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें मतिज्ञान निमित्तमात्र है।) (रा.बा/१/२०/४/७१/१)

रा.बा/१/२/११/२०/८ (बाह्य साधन उपकरणमात्र है)

रा. बा/५/७/४/४४६/१८ (जीव पुद्गलको गति स्थिति आदि करानेमें धर्म अधर्म आदि निष्क्रिय द्रव्य इन्द्रियवत् बलाधानमात्र है।)

न.च.वृ./१२० में उद्धृत—(सराग व वीतराग परिणामोंकी उत्पत्तिमें बाह्य वस्तु निमित्तमात्र है।)

स.सा./आ./८० (जीव व पुद्गल कर्म एक दूसरेके परिणामोंमें निमित्तमात्र होते हैं।) (स.सा./आ./६१) (प्र.सा./त.प्र./१८६) (पु.सि.उ./१२) (स.सा./ता.वृ./१२५)।

पं.का/त.प्र./६७ (जीवके सुख-दुखमें इष्टानिष्ट विषय निमित्तमात्र है।)

का. अ./मू./२१७ (प्रत्येक द्रव्यके निज-निज परिणाममें बाह्य द्रव्य निमित्तमात्र है)

पं.ध./पू./५७६ (सर्व द्रव्य अपने भावोंके कर्ता भोक्ता है, पर भावोंके कर्ताभोक्तापना निमित्तमात्र है।)

१०. निमित्त परमार्थमें अकिंचित्कर व हेय है

रा.बा/१/२/१२/२०/१५ (क्षायिक सम्यक्त्व अन्तर परिणामोंसे ही होता है, कर्म पुद्गल रूप बाह्य वस्तु हेय है।

स.सा./ता.वृ./११६ (पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्मभावरूप परिणमित होता है। तहाँ निमित्तभूत जीव द्रव्य हेयतत्त्व है।)

प्र.सा./ता.वृ./१४३ (जीवको सिद्ध गति उपादान कारणसे ही होती है। तहाँ काल द्रव्य रूप निमित्त हेय है) (द्र.सं./टी./२२/६७/४)

११. भिन्न कारण वास्तवमें कोई कारण नहीं

श्लो.वा/२/१/६/४०/३६४ चक्षुरादिप्रमाणं चेदचेतनमपीष्यते। न साधकतमत्वस्याभावात्तस्याचितः सदा ।४०। = वैशेषिक व नैयायिक लोग इन्द्रियोंको प्रमितिका कारण मानकर उन्हे प्रमाण कहते हैं। परन्तु जड़ होनेके कारण वे ज्ञप्तिके लिए साधकतम करण कभी नहीं हो सकते।

स. सा./आ/२९४ आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणे कार्ये कर्तुरात्मनः करणमीमांसायां निश्चयतः स्वतो भिन्नकरणासंभवाद् भगवती प्रज्ञैव छेदनात्मकं करणम्। = आत्मा और बन्धके द्विधा करनेरूप कार्यमें कर्ता जो आत्मा उसके करण सम्बन्धी मीमांसा करनेपर, निश्चयसे अपनेसे भिन्न करणका अभाव होनेसे भगवती प्रज्ञा ही छेदनात्मक करण है।

स.सा./आ/३०८-३११ सर्वद्रव्याणां द्रव्यान्तरेण सहोत्पाद्यभावाभावात्। —सर्व द्रव्योंका अन्य द्रव्यके साथ उत्पाद्य उत्पादक भावका अभाव है।

प.मु./२/६-८ नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ।६। तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुक ज्ञानवन्नक्तंचरज्ञानवच्च ।७। अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ।८। —अन्वयव्यतिरेकसे कार्यकारणभाव जाना जाता है। इस व्यवस्थाके अनुसार 'प्रकाश' ज्ञानमें कारण नहीं है, क्योंकि उसके अभावमें भी रात्रिको विचरने वाले बिल्ली चूहे आदिको ज्ञान पैदा होता है और उसके सद्भावमें भी उल्लू वगैरह को ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार अर्थ भी ज्ञानके प्रति कारण नहीं हो सकता, क्योंकि अर्थके अभावमें भी केशमशकादि ज्ञान उत्पन्न होता है। दीपक जिस प्रकार घटादिकोंसे उत्पन्न न होकर भी उन्हें प्रकाशित करता है इसी प्रकार ज्ञान भी अर्थसे उत्पन्न न होकर उन्हें प्रकाशित करता है। (न्या.दी./२/§४-५/२६)

१२. द्रव्यके परिणमनको सर्वथा निमित्ताधीन मानना मिथ्या है

स.सा/मू./१२१-१२३ ण सयं बद्धो कम्मे ण परिणमदि कोहमादीहिं। जइ एस तुज्झ जीवो अपरिणामी तदा होदी ।१२१। अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहि भावेहि। संसारस्स अभावो पसज्जदे संख-

समओ वा ।१२२। —सांख्यमतानुसारी शिष्यके प्रति आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! 'यह जीव कर्ममें स्वयं नहीं बँधा है और क्रोधादि भावसे स्वयं नहीं परिणमता है' यदि तेरा यह मत है तो वह अपरिणामी सिद्ध होता है और जीव स्वयं क्रोधादि भावरूप नहीं परिणमता होनेसे संसारका अभाव सिद्ध होता है। अथवा सांख्य मतका प्रसंग आता है ।१२१-१२२। और पुद्गल कर्मरूप जो क्रोध है वह जीवको क्रोधरूप परिणमन कराता है ऐसा तू माने तो यह प्रश्न होता है कि स्वयं न परिणमते हुएको वह कैसे परिणमन करा सकता है ।१२३।

स.सा./आ/३३२-३३४ एवमीदृशं सांख्यसमयं स्वप्रज्ञापराधेन सूत्रार्थमबुध्यमानाः केचिच्छ्रमणाभासाः प्ररूपयन्ति; तेषां प्रकृतेरेकान्तेन कर्तृत्वाभ्युपगमेन सर्वेषामेव जीवानामेकान्तेनाकर्तृत्वापत्तेः जीवः कर्तेति श्रुतेः कोपो दुःशक्यः परिहर्तुम् । —इस प्रकार ऐसे सांख्यमतको अपनी प्रज्ञाके अपराधसे सूत्रके अर्थको न जाननेवाले कुछ श्रमणाभास प्ररूपित करते हैं; उनकी एकान्त प्रकृतिके कर्तृत्वकी मान्यतासे समस्त जीवोंके एकान्तसे अकर्तृत्व आ जाता है। इसलिए 'जीव कर्ता है' ऐसी जो श्रुति है उसका कोप दूर करना अशक्य हो जाता है।

स.सा/आ/३७२/क.२२१ रागजन्मनि निमित्ततां पर-द्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते। उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं, शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ।२२१। —जो रागकी उत्पत्तिमें परद्रव्यका ही निमित्तत्व मानते हैं, वे—जिनकी बुद्धि शुद्धज्ञानसे रहित अन्ध है मोहनदीको पार नहीं कर सकते ।२२१।

पं.ध./पू./५६९-५७१ अथ सन्ति नयाभासा यथोपचाराख्यहेतुदृष्टान्ताः ।·।५६९। अपि भवति बन्ध्यबन्धकभावो यदि वानयोर्न शङ्क्यमिति। तदनेकत्वे नियमात्तद्बन्धस्य स्वतोऽप्यसिद्धत्वात् ।५७०। अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तिकत्वमस्ति मिथः। न यतः स्वयं स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया ।५७१। —(जीव व शरीरमें परस्पर बन्ध्यबन्धक या निमित्त नैमित्तिक भाव मानकर शरीरको व्यवहारनयसे जीवका कहना नयाभास अर्थात् मिथ्या नय है, क्योंकि अनेक द्रव्य होनेसे उनमें वास्तवमें बन्ध्य बन्धक भाव नहीं हो सकता। निमित्त नैमित्तिक भाव भी असिद्ध है क्योंकि स्वयं परिणमन करनेवालेको निमित्तसे क्या प्रयोजन)

३. कर्म व जीव गत कारण कार्य भावकी गौणता

१. जीवके भावको निमित्तमात्र करके पुद्गल स्वयं कर्मरूप परिणमते हैं

पं.का/मू./६५ अत्ता कुणदि सभावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं। गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा ।६५। —आत्मा अपने रागादि भावको करता है। वहाँ रहनेवाले पुद्गल अपने भावोंसे जीवमें अन्योन्य अवगाहरूपसे प्रविष्ट हुए कर्मभावको प्राप्त होते हैं। (प्र. सा./त. प्र./१८६)

स.सा./मू./८०-८१ जीवपरिणामहेदुं पुग्गला परिणमंति। पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ।८०। णवि कुव्वइ कम्मगुणो जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे। अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्णं पि ।८१। —पुद्गल जीवके परिणामके निमित्तसे कर्मरूपमें परिणमित होते हैं और जीव भी पुद्गलकर्मके निमित्तसे परिणमन करता है ।८०। जीव कर्मके गुणोंको नहीं करता। उसी तरह कर्म भी जीवके गुणोंको नहीं करता। परन्तु परस्पर निमित्तसे दोनोंके परिणमन जानो ।८१। (स.सा./मू./६१,११६) (स.सा./आ/१०५,११६) (पु.सि. उ./१२)

प्र.सा./त.प्र./१८७ यदायमात्मा रागद्वेषवशीकृतः शुभाशुभभावेन परिणमति तदा अन्ये योगद्वारेण प्रविशन्तः कर्मपुद्गलाः स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यैर्ज्ञानावरणादिभावैः परिणमन्ते। अतः स्वभावकृतं कर्मणां वैचित्र्यं न पुनरात्मकृतम्। —(मेघ जलके संयोगसे स्वतः उत्पन्न हरियाली व इन्द्रगोप आदिवत्) जब यह आत्मा रागद्वेषके वशीभूत होता हुआ शुभाशुभ भावरूप परिणमित होता है तब अन्य, योगद्वारोंसे प्रविष्ट होते हुए कर्मपुद्गल स्वयमेव विचित्रताको प्राप्त ज्ञानावरणादि भावरूप परिणमित होते हैं। इससे कर्मोंकी विचित्रताका होना स्वभावकृत है किन्तु आत्मकृत नहीं।

प्र.सा./त.प्र./१६९ जीवपरिणाममात्रं बहिरङ्गसाधनमाश्रित्य जीवं परिणमयितारमन्तरेणापि कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिनः पुद्गलस्कन्धाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति। —बहिरंगसाधनरूपसे जीवके परिणामोंका आश्रय लेकर, जीव उसको परिणमानेवाला न होनेपर भी, कर्मरूप परिणमित होनेकी शक्तिवाले पुद्गलस्कन्ध स्वयमेव कर्मभावसे परिणमित होते हैं। (पं.का./त./प्र./६५-६६), (स.सा./आ./९१)

पं.ध./उ./२१७ सति तत्रोदये सिद्धाः स्वतो नोकर्मवर्गणाः। मनो देहेन्द्रियाकारं जायते तन्निमित्ततः ।२१७। —उस पर्याप्ति नामकर्मका उदय होनेपर स्वयंसिद्ध आहारादि नोकर्मवर्गणाएँ उसके निमित्तसे मन देह और इन्द्रियोंके आकार रूप हो जाती हैं।

२. ११वें गुणस्थानमें अनुभागोदयमें हानिवृद्धि रहते हुए भी जीवके परिणाम अवस्थित रहते हैं

स. सा./जी. प्र./३०७/३८९ अतः कारणादवस्थितविशुद्धिपरिणामेऽप्युपशान्तकषाये एतच्चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां अनुभागोदयस्त्रिस्थानसंभवी भवति, कदाचिद्धीयते, कदाचिद्वर्धते, कदाचिद्धानिवृद्धिभ्यां विना एकादृश एवावतिष्ठते। —(यद्यपि तहाँ परिणामोंकी अवस्थितिके कारण शरीर वर्ण आदि २५ प्रकृतियें भी अवस्थित रहती हैं परन्तु) अवशेष ज्ञानावरणादि ३४ प्रकृतियें भवप्रत्यय हैं। उपशान्तकषायगुणस्थानके अवस्थित परिणामोंकी अपेक्षा रहित पर्यायका ही आश्रय करके इनका अनुभाग उदय इहाँ तीन अवस्था लिए है। कदाचित् हानिरूप हो है, कदाचित् वृद्धिरूप हो है, कदाचित् अवस्थित जैसाका तैसा रहे है।

३. जीव व कर्ममें बध्यघातक विरोध नहीं है

यो. सा./अ./६/४६ न कर्म हन्ति जीवस्य न जीवः कर्मणो गुणान्। बध्यघातकभावोऽस्ति नान्योन्यं जीवकर्मणोः। —न तो कर्म जीवके गुणोंका घात करता है और न जीव कर्मके गुणोंका घात करता है। इसलिए जीव और कर्मका आपसमें बध्यघातक सम्बन्ध नहीं है।

४. जीव व कर्ममें कारणकार्य मानना उपचार है

ध. ६/१/९,१-८/११/५ मुह्यत इति मोहनीयम्। एवं संते जीवस्स मोहणीयत्तं पसज्जदि त्ति णासंकणिज्जं, जीवादो अभिण्णम्हि पोग्गलदव्वे कम्मसण्णिदे उवयारेण कत्तारत्तमारोविय तथा उत्तीदो। —जो मोहित होता है वह मोहनीय कर्म है। प्रश्न—इस प्रकारकी व्युत्पत्ति करनेपर जीवके मोहनीयत्व प्राप्त होता है? उत्तर—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि, जीवसे अभिन्न और कर्म ऐसी संज्ञावाले पुद्गलकर्ममें उपचारसे कर्तृत्वका आरोपण करके उस प्रकारकी व्युत्पत्ति की गयी है।

प्र. सा./त. प्र./१२१-१२२ तथात्मा चात्मपरिणामकर्तृत्वाद्द्रव्यकर्मकर्ताप्युपचारात् ।१२१। परमार्थादात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मण एव कर्ता, न तु पुद्गलपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मणः। …परमार्थात् पुद्गलात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मण एव कर्ता, न त्वात्मात्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मणः ।१२२। —आत्मा भी अपने परिणामका कर्ता होनेसे द्रव्यकर्मका कर्ता भी उपचारसे है ।१२१। परमार्थतः

आत्मा अपने परिणामस्वरूप भावकर्मका ही कर्ता है किन्तु पुद्गल परिणामस्वरूप द्रव्यकर्मका नहीं ।...(इसी प्रकार) परमार्थतः पुद्गल अपने परिणामस्वरूप उस द्रव्यकर्मका ही कर्ता है किन्तु आत्माके परिणामस्वरूप भावकर्मका कर्ता नहीं है ।१२२। (स.सा./मू./१०५)

५. ज्ञानियोंका कर्म अकिंचित्कर है

स. सा./मू./१६९ पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स । कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वे वि णाणिस्स ।१६९। = उस ज्ञानीके पूर्वबद्ध समस्त प्रत्यय मिट्टीके ढेलेके समान हैं और वे कार्मण शरीरके साथ बँधे हुए हैं । (विशेष दे० विभाव/४/२)

आ. अनु/१६२-१६३ निर्धनत्वं धनं येषां मृत्युरेव हि जीवितम् किं करोति विधिस्तेषां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम् ।१६२। जीविताशा धनाशा च तेषां येषां विधिर्विधिः । किं करोति विधिस्तेषां येषामाशा निराशता ।१६३। = निर्धनत्व ही जिनका धन है और मृत्यु ही जिनका जीवन है (अर्थात् इनमें साम्यभाव रखते हैं) ऐसे साधुओंको एक मात्र ज्ञानचक्षु खुल जानेपर यह दैव या कर्म क्या कर सकता है ।१६२। जिनको जीनेकी या धनकी आशा है उनके लिए ही 'दैव' दैव है, पर निराशा ही जिनकी आशा है ऐसे वीतरागियोंको यह दैव या कर्म क्या कर सकता है ।१६३।

६. मोक्षमार्गमें आत्मपरिणामोंकी विवक्षा प्रधान है कर्मोंकी नहीं

रा. वा./१/२/१०-१/२०/३ औपशमिकादिसम्यग्दर्शनमात्मपरिणामत्वात् मोक्षकारणत्वेन विवक्ष्यते न च सम्यक्त्वकर्मपर्यायः पौद्गलिकत्वेऽस्य परपर्यायत्वात् ।१०।...स्यादेतत्...सम्यग्दर्शनोत्पाद आत्मनिमित्तः सम्यक्त्वपुद्गलनिमित्तश्च, तस्मात्तस्यापि मोक्षकारणत्वमुपपद्यते इति; तन्न, किं कारणम् । उपकरणमात्रत्वात् । = औपशमिकादिसम्यग्दर्शन सीधे आत्मपरिणामस्वरूप होनेसे मोक्षके कारणरूपसे विवक्षित होते हैं, सम्यक्त्व नाम कर्मकी पर्याय नहीं क्योंकि परद्रव्यकी पर्याय होनेके कारण वह तो पौद्गलिक है। प्रश्न—सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति जिस प्रकार आत्मपरिणामसे होती है, उसी प्रकार सम्यक्त्वनामा कर्मके निमित्तसे भी होती है, अत उसको भी मोक्षकारणपना प्राप्त होता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि वह तो उपकरणमात्र है।

७. कर्मोंकी उपशम क्षय व उदय आदि अवस्थाएँ भी कथंचित् अयत्न साध्य हैं

स. सि./२/३/१५२/१० अनादिमिथ्यादृष्टेर्भव्यस्य कर्मोदयापादितकालुष्ये सति कुतस्तदुपशमः । काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात् । तत्र काललब्धिस्तावत्...। 'आदि'शब्देन जातिस्मरणादि परिगृह्यते । - प्रश्न—अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यके कर्मोंके उदयसे प्राप्त कलुषताके रहते हुए इनका उपशम कैसे होता है ? उत्तर—काललब्धि आदिके निमित्तसे इनका उपशम होता है। अब यहाँ काललब्धिको बताते हैं (दे० नियति २) । आदि शब्दसे जातिस्मरण आदिका ग्रहण करना चाहिए (दे० सम्यग्दर्शन/III/२) ।

स. सि./१०/२/४६६/५ कर्माभावो द्विविधः—यत्नसाध्योऽयत्नसाध्यश्चेति । तत्र चरमदेहस्य नारकतिर्यग्देवायुषामभावो न यत्नसाध्यः असत्त्वात् । यत्नसाध्य इत ऊर्ध्वमुच्यते । असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिषु सप्तप्रकृतिक्षयः क्रियते । — कर्मका अभाव दो प्रकारका है—यत्नसाध्य और अयत्नसाध्य । इनमें-से चरमदेहवालेके नरकायु तिर्यंचायु और देवायुका अभाव यत्नसाध्य नहीं है, क्योंकि इसके उनका सत्त्व उपलब्ध नहीं होता । यत्नसाध्यका अभाव इनसे आगे कहते हैं – असंयतदृष्टि आदि चार गुणस्थानोंमें सात प्रकृतियोंका क्षय करता है । (आगे भी १०वें गुणस्थानमें यथायोग्य कर्मोंका क्षय करता है (दे० सत्त्व) ।

पं. ध./उ./३७६,९३२,९२६ प्रयत्नमन्तरेणापि दृङ्मोहोपशमो भवेत् । अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात् ।३७६। तस्मात्सिद्धोऽस्ति सिद्धान्तो दृङ्मोहस्येतरस्य वा । उदयोऽनुदयो वाथ स्यादनन्यगतिः स्वतः ।९३२। अस्त्युदयो यथानादेः स्वतश्चोपशमस्तथा । उदयः प्रशमो भूयः स्यादर्वागपुनर्भवात् ।९२६। = उक्त कारण सामग्रीके मिलते ही (अर्थात् दैव व कालादिलब्धि मिलते ही) प्रयत्नके बिना भी गुणश्रेणी निर्जराके अनुसार केवल अन्तर्मुहूर्त कालमें ही दर्शन मोहनीयका उपशम हो जाता है ।३७६। इसलिए यह सिद्धान्त सिद्ध होता है कि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इन दोनोंके उदय अथवा अनुदय ये दोनों ही अपने आप होते हैं, एक दूसरेके निमित्तसे नहीं ।९३२। जिस तरह अनादिकालसे स्वयं मोहनीयका उदय होता है उसी तरह उपशम भी काललब्धिके निमित्तसे स्वयं होता है । इस तरह मुक्ति होनेके पहले उदय और उपशम बार-बार होते रहते हैं ।

४. निमित्तकी कथंचित् प्रधानता

१. निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध भी वस्तुभूत है

आप्त. मी./२४ अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते । कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात् प्रजायते ।२४। = अद्वैत एकान्तपक्ष होनेतै (अर्थात् जगत् एक ब्रह्मके अतिरिक्त कोई नहीं है, ऐसा माननेसे) कर्ता कर्म आदि कारकनिके बहुरि क्रियानिके भेद जो प्रत्यक्ष प्रमाण करि सिद्ध है सो विरोधरूप होय है । बहुरि सर्वथा यदि एक ही रूप होय तौ आप ही कर्ता आप ही कर्म होय । अर आप ही तै आपकी उत्पत्ति नाहीं होय । (और भी दे० कारण/II/३/२), (अष्टसहस्री पृ० १५९,१५८) (स्या. म./१६/१६७/१७१)

श्लो. वा २/१/७/१३/५६५/१ तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठ संबन्धः संयोगसमवायादिवत्प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुनः कल्पनारोपितः । = व्यवहारनयका आश्रय लेनेपर संयोग समवाय सम्बन्धोंके समान दोमें ठहरनेवाला कारणकार्यभाव सम्बन्ध भी प्रतीतियोंसे सिद्ध होनेके कारण वस्तुभूत ही है केवल कल्पना आरोपित ही नहीं है ।

२. कारणके बिना कार्य नहीं होता

रा. वा./१०/२/१/६४०/२९ मिथ्यादर्शनादीनां पूर्वोक्तानां कर्मास्रवहेतूनां निरोधे कारणाभावात् कार्याभाव इत्यभिनवकर्मादानाभावः । = मिथ्यादर्शन आदि पूर्वोक्त आस्रवके हेतुओंका निरोध हो जानेपर नूतन कर्मोंका आना रुक जाता है। क्योंकि कारणके अभावसे कार्यका अभाव होता है ।

ध. १/१,१,६३/३०६/१ अप्रमत्तादीनां संयतानां किमित्याहारककाययोगो न भवेदिति चेन्न, तत्र तदुत्थापने निमित्ताभावात् । — प्रश्न—प्रमादरहित संयतोंके आहारककाययोग क्यों नहीं होता है ? उत्तर—क्योंकि वहाँ उसे उत्पन्न करानेमें निमित्तकारणका (असंयमकी बहुलताका) अभाव है ।

ध. १२/४,२,१३,१८/३८२/२ ण च कारणेण विणा कज्जमुप्पज्जदि अइप्पसंगादो । = कारणके बिना कहीं भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है; क्योंकि, वैसा होनेमें अतिप्रसंग दोष आता है । (उत्कृष्ट संक्लेशसे उत्कृष्ट प्रदेश बन्ध होनेका प्रकरण है) ।

ध. ६/१,९-९/६,७/४२१/३ णेरइया मिच्छाइट्ठी कदिहि कारणेहि पढमसम्मत्तमुप्पादेंति। मूलसूत्र ६/ उप्पज्जमाणं सव्वं हि कज्जं कारणादो चेव उप्पज्जदि, कारणेण विणा कज्जुप्पत्तिविरोहादो। एवं णिच्छिदकारणस्स तस्संखाविसयमिदं पुच्छासुत्तं। – नारकी मिथ्यादृष्टि जीव कितने कारणोंसे प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं सूत्र ६॥ उत्पन्न होनेवाला सभी कार्य कारणसे ही उत्पन्न होता है क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्तिका विरोध है। इस प्रकार निश्चित कारणकी संख्या विषयक यह पृच्छा सूत्र है।

ध. ६/१,९-९,३०/४३०/९ णइसग्गिमवि पढमसम्मत्तं तच्चट्ठे उत्तं, तं हि एत्थेव दट्ठव्वं, जाइस्सरण-जिणबिंबदंसणेहि विणा उप्पज्जमाणणइसग्गियपढमसम्मत्तस्स असंभवादो। – नैसर्गिक प्रथम सम्यक्त्वका भी पूर्वोक्त कारणोंसे उत्पन्न हुए सम्यक्त्वमें ही अन्तर्भाव कर लेना चाहिए, क्योंकि जाति-स्मरण और जिनबिम्बदर्शनोंके बिना उत्पन्न होनेवाला प्रथम नैसर्गिक सम्यक्त्व असम्भव है। (सम्यक्त्वके कारणोंके लिए दे० सम्यग्दर्शन/III/२)

ध.७/२,१,१८/७०/६ ण च कारणेण विणा कज्जाणामुप्पत्ती अत्थि।... तदो कज्जमेत्ताणि चेव कम्माणि वि अत्थि त्ति णिच्छओ कायव्वो। – कारणके बिना तो कार्योंकी उत्पत्ति होती नहीं। इसलिए जितने कार्य हैं उतने उनके कारण रूप कर्म भी हैं, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिए।

ध.९/४,१,४४/११७/६ ण च णिक्कारणाणि, कारणेण विणा कज्जाणमुप्पत्तिविरोहादो।... ण च कारणविरोहीण तक्कज्जेहि विरोहो जुज्जदे कारणविरोहादुवारेणेव सव्वत्थ कज्जेसु विरोहुवलंभादो। – यदि कहा जाय कि जन्म जरादिक अकारण हैं, सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि, कारणके बिना कार्योंकी उत्पत्तिका विरोध है जो कारणके साथ अविरोधी हैं उनका उक्त कारणके कार्योंके साथ विरोध उचित नहीं है, क्योंकि, कारणके विरोधके द्वारा ही सर्वत्र कार्योंमें विरोध पाया जाता है।

स्या. म /१६/११७/१७ द्विष्ठसंबन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात्। द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम्। इति वचनात्। – दो वस्तुओंके सम्बन्धमें रहनेवाला ज्ञान दोनों वस्तुओंके ज्ञान होनेपर ही हो सकता है। यदि दोनोंमेसे एक वस्तु रहे तो उस सम्बन्धका ज्ञान नहीं होता।

न्या. दी./२/§४/२७ न हि किंचित्स्वस्मादेव जायते। – कोई भी वस्तु अपनेसे ही पैदा नहीं होती, किन्तु अपनेसे भिन्न कारणोंसे पैदा होती है।

दे० नय/V/१/५ उपादान होते हुए भी निमित्तके बिना मुक्ति नहीं।

३. उचित निमित्तके सान्निध्यमें ही द्रव्य परिणमन करता है

प्र.सा /त.प्र /९२ द्रव्यमपि समुपात्तप्राक्तनावस्थं समुचितबहिरङ्गसाधनसंनिधिसद्भावे ...उत्तरावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते। – जिसने पूर्वावस्थाको प्राप्त किया है, ऐसा द्रव्य भी जो कि उचित बहिरंग साधनोंके सान्निध्यके सद्भावमें उत्तर अवस्थासे उत्पन्न होता है; वह उत्पादसे लक्षित होता है। (प्र. सा./त.प्र./१०२,१२४)।

४. उपादानकी योग्यताके सद्भावमें भी निमित्तके बिना कार्य नहीं होता

ध./१/१,१,३३/२३३/२ सर्वजीवावयवेषु क्षयोपशमस्योत्पत्त्यभ्युपगमात्। न सर्वावयवैः रूपाद्युपलब्धिरपि तत्सहकारिकारणबाह्यनिवृत्तेरशेषजीवावयवव्यापित्वाभावात्। – जीवके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें क्षयोपशमकी उत्पत्ति स्वीकार की है। (यद्यपि यह क्षयोपशम ही जीवकी ज्ञानके प्रति उपादानभूत योग्यता है, दे० कारण II/५) परन्तु ऐसा मान लेनेपर भी जीवके सम्पूर्ण प्रदेशोंके द्वारा रूपादिकी उपलब्धिका प्रसंग भी नहीं आता है; क्योंकि, रूपादिके ग्रहण करनेमें सहकारी कारणरूप बाह्यनिवृत्ति (इन्द्रिय) जीवके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें नहीं पायी जाती है।

५. निमित्तके बिना केवल उपादान व्यावहारिक कार्य करनेको समर्थ नहीं है

स्व. स्तो./मू./५९ यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः। अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं न ॥५९॥ – जो बाह्य वस्तु गुण दोष या पुण्यपापकी उत्पत्तिका निमित्त होती है वह अन्तरंगमें वर्तनेवाले गुणदोषोंकी उत्पत्तिके अभ्यन्तर मूल हेतुकी अंगभूत होती है (अर्थात् उपादानकी सहकारीकारणभूत होती है)। उस की अपेक्षा न करके केवल अभ्यन्तर कारण उस गुणदोषकी उत्पत्तिमें समर्थ नहीं है।

भ.आ./वि./१०७०/११५६/४ बाह्यद्रव्यं मनसा स्वीकृतं रागद्वेषयोर्बीजं, तस्मिन्नसति सहकारिकारणे न च कर्ममात्राद्रागद्वेषवृत्तिर्यथा सत्यपि मृत्पिण्डे दण्डाद्यनन्तरकरणवैकल्ये न घटोत्पत्तिर्यथेति मन्यते। – मनमें विचारकर जब जीव बाह्य परिग्रहका स्वीकार करता है तब रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। यदि सहकारीकारण न होगा तो केवल कर्ममात्रसे रागद्वेष उत्पन्न होते नहीं। यद्यपि मृत्पिण्डसे घट उत्पन्न होता है तथापि दण्डादिक कारण नहीं होंगे तो घटकी उत्पत्ति नहीं होती है।

ध. १/१,१,६०/२९८/१ यतो नाहारर्द्धिरात्मानमपेक्ष्योत्पद्यते स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। अपि तु संयमातिशयापेक्षया तस्याः समुत्पत्तिरिति। – आहारक ऋद्धि स्वत:की अपेक्षा करके उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि स्वत:से स्वत:की उत्पत्तिरूप क्रियाके होनेमें विरोध आता है। किन्तु संयमातिशयकी अपेक्षा आहारक ऋद्धिकी उत्पत्ति होती है।

क पा.१/१,१३-१४/§२५६/२९५/४ ण च अण्णादो अण्णम्मि कोहो ण उप्पज्जइ; अक्कोसादो जीवेकम्मकलंकंकिए कोहुप्पत्तिदंसणादो। ण च उवलद्धे अणुववण्णदा, विरोहादो। ण कज्जं तिरोहियं संतं आविब्भावमुवणमइ; पिंडवियारणे घडोवलद्धिप्पसंगादो। ण च णिच्चं तिरोहिज्जइ; अणाहियअइसयभावादो। ण तस्स आविब्भावो वि, परिणामवज्जियस्स अवत्थंतराभावादो। ण गद्दहस्स सिंगं अण्णेहिंतो उप्पज्जइ; तस्स विसेसेणेव सामण्णसरूवेण वि पुव्वमभावादो। ण च कारणेण विणा कज्जमुप्पज्जइ; सव्वकालं सव्वस्स उप्पत्ति-अणुप्पत्तिप्पसंगादो। णाणुप्पत्ती सव्वाभावप्पसंगादो। ण चेव (वं); उवलब्भमाणत्तादो। ण सव्वकालमुप्पत्ती वि; णिच्चस्सुप्पत्तिविरोहादो। ण णिच्चं पि; कमाकमेहि कज्जमकुणंतस्स पमाणविसए अवट्ठाणाणुववत्तीदो। तम्हा ण्णेहिंतो अण्णस्स सारिच्छ-तब्भावसामण्णेहि संतस्स विसेससरूवेण असंतस्स कज्जस्सुप्पत्तीए होदव्वमिदि सिद्धं। – 'किसी अन्यके निमित्तसे किसी अन्यमें क्रोध उत्पन्न नहीं होता है' यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि; कर्मोंसे कलंकित हुए जीवमें कटुवचनके निमित्तसे क्रोधकी उत्पत्ति देखी जाती है। और जो बात पायी जाती है उसके सम्बन्धमें यह कहना कि यह बात नहीं बन सकती, ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कहनेमें विरोध आता है। २. यदि कार्यको सर्वथा नित्य मान लिया जावे तो वह तिरोहित नहीं हो सकता है, क्योंकि सर्वथा नित्य पदार्थमें किसी प्रकारका अतिशय नहीं हो सकता है। तथा नित्य पदार्थका आविर्भाव भी नहीं बन सकता, क्योंकि जो परिणमनसे रहित है, उसमें दूसरी अवस्था नहीं हो सकती है। ३. 'कारणमें कार्य छिपा रहता है और वह प्रगट हो जाता है' ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेपर मिट्टीके पिण्डको विदारनेपर घड़ेकी उत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त होता है। ४. 'अन्य कारणोंसे गधेके

सींगकी उत्पत्ति का प्रसंग देना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसका पहिलेसे ही जिस प्रकार विशेषरूपसे अभाव है उसी प्रकार सामान्य-रूपसे भी अभाव है। इस प्रकार जब वह सामान्य और विशेष दोनों ही प्रकारसे असत् है तो उसकी उत्पत्तिका प्रश्न ही नहीं उठता। ५. तथा कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होने लगे तो सर्वदा सभी कार्योंकी उत्पत्ति अथवा अनुत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त होता है। ६. 'यदि कहा जाये कि कार्यकी उत्पत्ति मत होओ' सो भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि (सर्वदा) कार्यकी अनुत्पत्ति माननेपर सभीके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। ७. 'यदि कहा जाये कि सभीका अभाव होता है तो हो जाओ' सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सभी पदार्थोंकी उपलब्धि पायी जाती है। ८. यदि (दूसरे पक्षमें) यह कहा जाये कि सर्वदा सबकी उत्पत्ति होती ही रहे' सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ क्रमसे अथवा युगपत् कार्यको नहीं करता है वह पदार्थ प्रमाणका विषय नहीं होता है। इसलिए जो सादृश्यसामान्य और तद्भाव सामान्यरूपसे विद्यमान है तथा विशेष (पर्याय) रूपसे अविद्यमान है ऐसे किसी भी कार्यकी, किसी दूसरे कारणसे उत्पत्ति होती है यह सिद्ध हुआ।

६. निमित्तके बिना कार्योत्पत्ति माननेमें दोष

क.पा.१/१,१३/§२५६/२६१/६ ण च कारणेण विणा कज्जमुप्पज्जइ; सव्व-कालं सव्वस्स उप्पत्ति-अणुप्पत्तिप्पसंगादो। —कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होने लगे तो सर्वदा सभी कार्योंकी उत्पत्ति अथवा अनुत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त होता है।

प.मु./६/६३ समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् —यदि पदार्थ स्वयं समर्थ होकर क्रिया करते हैं तो सदा कार्यकी उत्पत्ति होनी चाहिए, क्योंकि, केवल सामान्य आदि कार्य करनेमें किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखते।

७. सभी निमित्त धर्मास्तिकायवत् उदासीन नहीं होते

पं.का./त.प्र./८८ यथा हि गतिपरिणतः प्रभञ्जनो वैजयन्तीनां गति-परिणामस्य हेतुकर्तावलोक्यते न तथा धर्मः। स खलु निष्क्रियत्वात् न कदाचिदपि गतिपरिणाममेवापद्यते। कुतोऽस्य सहकारित्वेन गति-परिणामस्य हेतुकर्तृत्वम्।...अपि च यथा गतिपूर्वस्थितिपरिणति-परिणतस्तुरंगोऽश्ववारस्य स्थितिपरिणामस्य हेतुकर्तावलोक्यते न तथाधर्मः। स खलु निष्क्रियत्वात् ..उदासीन एवासौ प्रसरो भवतीति। —जिस प्रकार गतिपरिणत पवन ध्वजाओंके गतिपरिणामका हेतुकर्ता (प्रेरक) दिखाई देता है, उसी प्रकार धर्म नहीं है। वह वास्तवमें निष्क्रिय होनेसे कभी गति परिणामको ही प्राप्त नहीं होता; तो फिर उसे (परके) सहकारीकी भाँति परके गतिपरिणामका हेतुकर्तृत्व कहाँसे होगा? किन्तु केवल उदासीन ही प्रसारक है। और जिस-प्रकार गतिपूर्वक स्थिति परिणत अश्व सवारके स्थिति परिणामका हेतुकर्ता (प्रेरक) दिखाई देता है उसी प्रकार अधर्म नहीं है।...वह तो केवल उदासीन ही प्रसारक है। (तात्पर्य यह कि सभी कारण धर्मास्तिकायवत् उदासीन नहीं हैं। निष्क्रियकारण उदासीन होता है और क्रियावान् प्रेरक होता है)।

५. कर्म व जीवगत कारणकार्य भावकी कथंचित् प्रधानता

१. जीव व कर्ममें परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका निर्देश

मू.आ./९६७ जीवपरिणामहेदू कम्मत्तण पोग्गला परिणमंति। ण दु णाण-परिणदो पुण जीवो कम्मं समादियदि॥ —जिनको जीवके परिणाम कारण हैं ऐसे रूपादिमान परमाणु कर्मस्वरूपसे परिणमते हैं, परन्तु ज्ञानभावकरि परिणत हुआ जीव कर्मभावकरि पुद्गलोंको नहीं ग्रहण करता।

स.सा./मू./८० जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति। पुग्गलकम्म-णिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ।८०। —पुद्गल जीवके परिणामके निमित्तसे कर्मरूपमें परिणत होते हैं और जीव भी पुद्गलकर्मके निमित्तसे परिणमन करता है। (स.सा./मू./३१२-३१३), (पं.का./मू. ६०), (न.च.वृ./८३), (यो.सा. अ/३/९-१०)।

पं.का./मू./१२८-१३० जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदु परिणामो। परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी।१२८। गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते। तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा।१२९। जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि। इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा।१३०। —जो वास्तवमें संसार-स्थित जीव है उससे परिणाम होता है, परिणामसे कर्म और कर्मसे गतियोंमें गमन होता है।१२८। गतिप्राप्तको देह होती है, देहसे इन्द्रियाँ होती हैं, इन्द्रियोंसे विषयग्रहण और विषयग्रहणसे राग अथवा द्वेष होता है।१२९। ऐसे भाव संसारचक्रमें जीवको अनादिअनन्त अथवा अनादि सान्त होते रहते हैं, ऐसा जिनवरोंने कहा है।१३०। (न.च.वृ./१३१-१३३); (यो.सा.अ./४/२६,३१ तथा २/३३), (त.अनु./१६-१९); (सा.ध./६/३१)

और भी देखो—प्रकृति बन्ध/१/१ में परिणाम प्रत्यय प्रकृतियोंके लक्षण व भेद।

पं. ध./उ./४१,१०७१ जीवस्याशुद्धरागादिभावानां कर्मकारणम्। कर्मण-स्तस्य रागादिभावाः प्रत्युपकारिवत्।४१। अस्ति सिद्धं ततोऽन्योन्यं जीवपुद्गलकर्मणोः। निमित्तनैमित्तिको भावो यथा कुम्भ-कुलालयोः।१०७१। —परस्पर उपकारकी तरह जीवके अशुद्ध रागादि भावोंका कारण द्रव्यकर्म है और उस द्रव्यकर्मके कारण रागादि भाव है।४१। इसलिए जिस प्रकार कुम्भ और कुम्भारमें निमित्त-नैमित्तिक भाव है उसी प्रकार जीव और पुद्गलात्मक कर्ममें परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव है यह सिद्ध होता है।१०७१। (पं.ध./उ./१०६; १३१-१३२;१०६९-१०७०)

२. जीव व कर्मोंकी विचित्रता परस्पर सापेक्ष है

ध. ७/२,१,१९/७०/१ ण च कारणेण विणा कज्जाणमुप्पत्ती अत्थि।...तदो कज्जमेत्ताणि चेव कम्माणि वि अत्थि त्ति णिच्छओ कायव्वो। जदि एवं तो भमर-महुवर...कयंबादि सण्णिदेहि वि णामकम्मेहि होदव्व-मिदि। ण एस दोसो इच्छिज्जमाणादो।" —कारणके बिना तो कार्योंकी उत्पत्ति होती नहीं है। इसलिए जितने (पृथिवी, अप्, तेज आदि) कार्य हैं उतने उनके कारणरूप कर्म भी हैं, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिए। प्रश्न—यदि ऐसा है तो भ्रमर, मधुकर—कदम्ब आदिक नामोंवाले भी नाम कर्म होने चाहिए। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह बात तो इष्ट ही है।

ध. १०/४,२,३,१/१३/७ जा सा णोआगमदव्वकम्मवेयणा सा अट्ठविहा...। कुदो। अट्ठविहस्स दिस्समाणस्स अण्णाणादंसण...वीरियादिअंतराय-कज्जस्स अण्णहाणुववत्तीदो। ण च कारणभेदेण विणा कज्जभेदो अत्थि, अण्णत्थ तहाणुवलंभादो। —जो वह नोआगमद्रव्यकर्मवेदना कही है, वह ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदिके भेदसे आठ प्रकार की है। क्योंकि ऐसा नहीं माननेपर अज्ञान अदर्शन...एवं वीर्यादिके अन्तरायरूप आठप्रकारका कार्य जो दिखाई देता है वह नहीं बन सकता है। यदि कहा जाय कि यह आठ प्रकारका कार्यभेद कारणभेद के बिना भी बन जायेगा, सो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अन्यत्र ऐसा पाया नहीं जाता।

क.पा. १/१,१/§३७/५६/४ एदस्स पमाणस्स वड्ढिहाणितरतमभावो ण ताव णिक्कारणो; वड्ढिहाणिहि विणा एगसरूवेणावट्ठाणप्पसंगादो।

ण च एवं तहाणुववत्तीदो। तम्हा सकारणाहि ताहि होदव्वं। जं तं वड्ढि हाणि तरतमभावकारणं तमावरणमिदि सिद्धं'।—इस ज्ञानप्रमाणका वृद्धि और हानिके द्वारा जो तरतमभाव होता है, वह निष्कारण तो हो नहीं सकता है, क्योंकि ज्ञानप्रमाणमें वृद्धि और हानिसे होनेवाले तरतमभावको निष्कारण मान लेनेपर वृद्धि और हानिरूप कार्यका ही अभाव हो जाता है। और ऐसी स्थितिमें ज्ञानके एकरूपसे रहनेका प्रसंग प्राप्त होता है। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि एकरूप ज्ञानकी उपलब्धि नहीं होती है। इसलिए ये तरतमता सकारण होनी चाहिए। उसमें जो हानि वृद्धिके तरतम भावका कारण है वह आवरण कर्म है।

क. पा. ४/३,२२/§२६/१५/६ एगट्ठिदिबंधकालो सव्वेसिं जीवाणं समाणपरिणामो किण्ण होदि। ण, अंतरंगकारणभेदेण सरिसत्ताणुववत्तीदो। एगजीवस्स सव्वकालमेगपमाणट्ठिदिबंधो किण्ण होदि। ण, अंतरंगकारणेसु दव्वादिसंबंधेण परियत्तमाणस्स एगम्मि चेव अंतरंगकारणे सव्वकालमवट्ठाणाभावादो।—प्रश्न—सब जीवोंके एक स्थितिबन्धका काल समान परिणामवाला क्यों नहीं होता? उत्तर—नहीं, क्योंकि अन्तरंगकारणमें भेद होनेसे उसमें समानता नहीं बन सकती। प्रश्न—एक ही जीवके सर्वदा स्थितिबन्ध एक समान कालवाला क्यों नहीं होता? उत्तर—नहीं; क्योंकि, यह जीव अन्तरंग कारणोंमें द्रव्यादिके सम्बन्धसे परिवर्तन करता रहता है, अतः उसका एक ही अन्तरंग कारणमें सर्वदा अवस्थान नहीं पाया जाता है।

क.पा. ४/१,२२/§४४/२४/५ सो केण जणिदो। अणंताणुबंधीणमुदएण। अणंताणुबंधीणमुदओ कुदो जायदे। परिणामपच्चएण।—प्रश्न—वह (सासादन परिणाम) किस कारणसे उत्पन्न होता है? उत्तर—अनन्तानुबन्धी चतुष्कके उदयसे होता है। प्रश्न—अनन्तानुबन्धी चतुष्कका उदय किस कारणसे होता है? उत्तर—परिणाम विशेषके कारणसे होता है।

३. जीवकी अवस्थाओंमें कर्म मूल हेतु है

रा.वा./५/२४/६/४८८/२१ तदात्मनोऽस्वतन्त्रीकरणे मूलकारणम्।—वह (कर्म) आत्माको परतन्त्र करनेमें मूलकारण है।

रा.वा./१/३/६/२३/१६ लोके हरिशार्दूलवृकभुजगादयो निसर्गतः क्रौर्यशौर्याहारादिसंप्रतिपत्तौ वर्तन्ते इत्युच्यन्ते न चासावाकस्मिकी कर्मनिमित्तत्वात्।—लोकमें भी शेर, भेड़िया, चीता, साँप आदिमें शूरता-क्रूरता आहार आदि परोपदेशके बिना होनेसे यद्यपि नैसर्गिक कहलाते हैं; परन्तु वे आकस्मिक नहीं हैं, क्योंकि कर्मोदयके निमित्तसे उत्पन्न होते हैं।

दे० विभाव/३/१ (जीवकी रागादिरूप परिणतिमें कर्म ही मूल कारण है)।

का.अ./मू./३१९ ण य को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं। उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि।३१९।—न तो कोई देवी देवता आदि जीवको लक्ष्मी देता है और न कोई उसका उपकार करता है। शुभाशुभ कर्म ही जीवका उपकार या अपकार करते हैं।

पं.ध./उ./२०१ स्वावरणस्योच्चैर्मूलं हेतुर्यथोदयः।—अपने-अपने ज्ञानके घातमें अपने-अपने आवरणका उदय वास्तवमें मूलकारण है।

४. कर्मकी बलवत्ताके उदाहरण

स.सा./मू./१६१-१६३ (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रके प्रतिबन्धक क्रमसे मिथ्यात्व, अज्ञान व कषाय नामके कर्म हैं।)

भ.आ./मू./१६१० असाताके उदयमें औषधियें भी सामर्थ्यहीन हैं।

स.सि./१/२०/१०१/२ प्रबल श्रुतावरणके उदयसे श्रुतज्ञानका अभाव हो जाता है।

प.प्र./मू./१/६६,७८ इस पंगु आत्माको कर्म ही तीनों लोकोंमें भ्रमण कराता है।६६। कर्म बलवान हैं, बहुत हैं, विनाश करनेको अशक्य हैं, चिकने हैं, भारी हैं और वज्रके समान हैं।७८।

रा.वा./१/१९/१३/६१/१९ चक्षुदर्शनावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे तथा अंगोपांग नामकर्मके अवष्टम्भ(बल)से चक्षुदर्शनकी शक्ति उत्पन्न होती है।

रा.वा./५/२४/६/४८८/२१ सुख दुःखकी उत्पत्तिमें कर्म बलाधान हेतु है।

आप्त.प./११४-११५/२४६-२४७ कर्म जीवको परतन्त्र करनेवाले हैं। (रा.वा./५/२४/६/४८८/२०) (गो.जी./जी.प्र./२४४/५०८/२)

ध. १/१,१,३३/२३४/३ कर्मोंकी विचित्रतासे ही जीव प्रदेशोंके संघटनका विच्छेद व बन्धन होता है।

ध.१/१,१,३३/२४२/८ नाम कर्मोदयकी वशवर्तितासे इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

स.सा./आ./१५७-१५९ कर्म मोक्षके हेतुका तिरोधान करनेवाला है।

स.सा./आ./२,४,३१,३२, क ३ इत्यादि (इन सर्व स्थलोंपर आचार्यने मोहकर्मकी बलवत्ता प्रगट की है)

स.सा./आ./८९ जीवके लिए कर्म संयोग ऐसा ही है जैसा स्फटिकके लिए तमालपत्र।

त.सा./८/३३ ऊर्ध्व गमनके अतिरिक्त अन्यत्र गमनरूप क्रिया कर्मके प्रतिघातसे तथा निज प्रयोगसे समझनी चाहिए।

का.अ./मू./२११ कर्मकी कोई ऐसी शक्ति है कि इससे जीवका केवलज्ञान स्वभाव नष्ट हो जाता है।

द्र.सं./टी./१४/४४/१० जीव प्रदेशोंका विस्तार कर्माधीन है, स्वाभाविक नहीं।

स्या.म./१७/२३८/६ स्व ज्ञानावरणके क्षयोपशमविशेषके वशसे ज्ञानकी निश्चित पदार्थोंमें प्रवृत्ति होती है।

पं.ध./उ./१०५,३२८,६८७,८७४,९२५ जीव विभावमें कर्मकी सामर्थ्य ही कारण है।१०५। आत्माकी शक्तिकी बाधक कर्मकी शक्ति है।३२८। मिथ्यात्व कर्म ही सम्यक्त्वका प्रत्यनीक (बाधक) है।६८७। दर्शनमोहके उपशमादि होनेपर ही सम्यक्त्व होता है और नहीं होनेपर नहीं ही होता है।८७४। कर्मकी शक्ति अचिन्त्य है।९२५।

स.सा./३१७/क १९८/पं. जयचन्द—जहाँ तक जीवकी निर्बलता है तहाँ तक कर्मका जोर चलता है।

स.सा./१७२/क११६/पं. जयचन्द—रागादि परिणाम अबुद्धि पूर्वक भी कर्मकी बलवत्तासे होते हैं।

—दे० विभाव/३/१—(कर्म जीवका पराभव करते हैं)

५. जीवकी एक अवस्थामें अनेक कर्म निमित्त होते हैं

रा.वा/१/१९/१३/६१/१९ इह चक्षुषा चक्षुर्दर्शनावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामावष्टम्भाद् अविभावितविशेषसामर्थ्येन किंचिदेतद्वस्तु इत्यालोचनमनाकारं दर्शनमित्युच्यते बालवत्।—चक्षुदर्शनावरण और वीर्यान्तराय इन दो कर्मोंके क्षयोपशमसे तथा साथ-साथ अंगोपांग नामकर्मके उदयसे होनेवाला सामान्य अवलोकन चक्षुदर्शन कहलाता है।

पं.ध/उ./२०१-२०२ सार्थं स्वावरणस्योच्चैर्मूलं हेतुर्यथोदयः। कर्मान्तरोदयापेक्षो नासिद्धः कार्यकृद्यथा।२०१। अस्ति मत्यादि यज्ज्ञानं ज्ञानावृत्युदयक्षतेः। तथा वीर्यान्तरायस्य कर्मणोऽनुदयादपि।२०२।—जैसे अपने-अपने घातमें अपने-अपने आवरणका उदय मूलकारण है वैसे ही वह ज्ञानावरण आदि दूसरे कर्मोंके उदयकी अपेक्षा सहित कार्य-

कारी होता है, यह भी असिद्ध नहीं है ।२०१। जैसे जो मत्यादिक ज्ञान ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे होता है वैसे ही वह वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे भी होता है ।२०२।

३. कर्मके उदयमें तदनुसार जीवके परिणाम अवश्य होते हैं

रा.वा/७/२१/२५/५४६/२७ यद्यभ्यन्तरसंयमघातिकर्मोदयोऽस्ति तदुदयेनावश्यमनिवृत्तपरिणामेन भवितव्यं ततश्च महाव्रतत्वमस्य नोपपद्यत इति मतम्; तन्न; किं कारणम्, उपचाराद् राजकुले सर्वगतचैत्रवत् । —प्रश्न—(छठे गुणस्थानवर्ती संयतको) यदि संयमघाती कर्मका उदय है तो अवश्य ही उसे अविरतिके परिणाम होने चाहिए। और ऐसा होने पर उसके महाव्रतत्वपना घटित नहीं होता (अतः संज्वलनके उदयके सद्भावमें छठे गुणस्थानवर्ती साधुको महाव्रती कहना उचित नहीं है)। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि राजकुलमें चैत्र या लोभी पुरुषको सर्वगत कहनेकी भाँति यहाँ उपचारसे उसे महाव्रती कहा जाता है।

ध./१२/४,२,१३,२६४/४५७/६ ण च सुहुमसांपराइय मोहणीय भावो णत्थि, भावेण विणा दव्वकम्मस्स अत्थित्तविरोहादो सुहुमसांपराइयगुण्णाणुवत्तीदो वा। =सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थानमें मोहनीयका भाव नहीं हो, ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि भावके बिना द्रव्यकर्मके रहनेका विरोध है, अथवा वहाँ भावके न मानने पर 'सूक्ष्मसाम्परायिक' यह संज्ञा ही नहीं बनती है।

नोट—(यद्यपि मूल सूत्र नं. २५४ "तस्स मोहणीयवेयणाभावदो णत्थि" के अनुसार वहाँ मोहनीयका भाव नहीं है। परन्तु यह कथन नय विवक्षासे आचार्य वीरसेन स्वामीने समन्वित किया है। तहाँ द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षासे सत्का ही विनाश होनेके कारण उस गुणस्थानके अन्तिम समयमें मोहनीयके भावका भी विनाश हो जाता है और पर्यायार्थिक नय अगली अवस्थामें ही अभाव या विनाश स्वीकार करता होनेके कारण उसकी अपेक्षा वह मोहनीयका भाव उस गुणस्थानके अन्तिम समयमें है और उपशान्तकषाय या क्षीणकषायके प्रथम समयमें विनष्ट होता है। विशेष—देखो उत्पाद/२/७)

ल. सा/जी. प्र./३०४/३८४/१६ द्रव्यकर्मोदये सति संक्लेशपरिणामलक्षणभावकर्मणः संभवेन तयोः कार्यकारणभावप्रसिद्धेः । =(उपशान्त कषाय गुणस्थानका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। तदुपरान्त अवश्य ही मोहकर्मका उदय आता है जिसके कारण वह नीचे गिर जाता है।) नियमकरि द्रव्यकर्मके उदयके निमित्ततै संक्लेशरूप भाव कर्म प्रगट हो है। इसलिए दोनोंमें कार्यकारणभाव सिद्ध है।

IV. कारण कार्य भाव समन्वय

१. उपादान निमित्त सामान्य विषयक

१. कार्य न सर्वथा स्वतः होता है न सर्वथा परतः

रा. वा /४/४२/७/२५१/७ पुद्गलानामानन्त्यात्तत्पुद्गलद्रव्यमपेक्ष्य एकपुद्गलस्थस्य तस्यैकस्यैव पर्यायस्यान्यत्वभावात् । यथा प्रदेशिन्याः मध्यमाभेदाद् यदन्यत्वं न तदेव अनामिकाभेदात् । मा भूत मध्यमानामिकयोरेकत्वं मध्यमाप्रदेशिन्यन्यत्वहेतुत्वेनाविशेषादिति । न चैतत्परावधिकमेवार्थसत्त्वम् । यदि मध्यमासामर्थ्यात् प्रदेशिन्याः ह्रस्वत्वं जायते शशविषाणेऽपि स्याच्छक्रयष्टौ वा । नापि स्वत एव, परापेक्षाभावे तदव्यक्त्यभावात् । तस्मात्तस्यानन्तपरिणामस्य द्रव्यस्य तत्तत्सहकारिकारणं प्रतीत्य तत्तद्रूपं वक्ष्यते । न तत् स्वत एव नापि परकृतमेव । एवं जीवोऽपि कर्मनोकर्मविषयवस्तूपकरणसंबन्धभेदादाविर्भूतजीवस्थानगुणस्थानविकल्पानन्तपर्यायरूप प्रत्येतव्यः । —जैसे अनन्त पुद्गल सम्बन्धियोंकी अपेक्षा एक ही प्रदेशिनी अंगुली अनेक भेदोंको प्राप्त होती है, उसी प्रकार जीव भी कर्म और नोकर्म विषय उपकरणोंके सम्बन्धसे जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणास्थान, दंडी, कुण्डली आदि अनेक पर्यायोंको धारण करता है। प्रदेशिनी अँगुलीमें मध्यमाकी अपेक्षा जो भिन्नता है वही अनामिकाकी अपेक्षा नहीं है, प्रत्येक पर रूपका भेद जुदा-जुदा है। मध्यमाने प्रदेशिनीमें ह्रस्वत्व उत्पन्न नहीं किया, अन्यथा शशविषाणमें भी उत्पन्न हो जाना चाहिए था, और न स्वतः ही उसमें ह्रस्वत्व था, अन्यथा मध्यमाके अभावमें भी उसकी प्रतीति हो जानी चाहिए थी। तात्पर्य यह कि अनन्त परिणामी द्रव्य ही तत्तत्सहकारी कारणोंकी अपेक्षा उन-उन रूपसे व्यवहारमें आता है। (यहाँ द्रव्यकी विभिन्नतामें सहकारी कारणताका स्थान दर्शाते हुए कहा गया है कि वह न स्वतः है न परतः। इसी प्रकार क्षेत्र, काल व भावमें भी लागू कर लेना चाहिए)

२. प्रत्येक कार्य अन्तरंग व बाह्य दोनों कारणोंके सम्मेलसे होता है

स्व.स्तो./मू /३३.५९.६० अलङ्घ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं, हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा ।...।३३। यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः । अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं न ।५९। बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं, कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः । नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां, तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ।६०। —अन्तरंग व बाह्य इन दोनों हेतुओंके अनिवार्य संयोग द्वारा उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है, ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्यशक्ति है ।३३। जो बाह्य वस्तु गुण दोष अर्थात् पुण्य पापकी उत्पत्तिका निमित्त होती है वह अन्तरंगमें वर्तनेवाले गुणदोषोंकी उत्पत्तिके आभ्यन्तर मूलहेतुकी अंगभूत है। केवल अभ्यन्तर कारण ही गुणदोषकी उत्पत्तिमें समर्थ नहीं है ।५९। कार्योंमें बाह्य और अभ्यंतर दोनों कारणोंकी जो यह पूर्णता है वह आपके मतमें द्रव्यगत स्वभाव है। अन्यथा पुरुषोंके मोक्षकी विधि भी नहीं बनती। इसीसे हे परमर्षि। आप बन्धुजनोंके वन्द्य है ।६०।

स.सि./५/३०/३००/५ उभयनिमित्तवशाद् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पादः मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत् । =अन्तरंग और बहिरंग निमित्तके वशसे प्रतिसमय जो नवीन अवस्थाकी प्राप्ति होती है, उसे उत्पाद कहते हैं। जैसे मिट्टीके पिण्डकी घटपर्याय। (प्र.सा/त प्र./९५,१०२)

ति.प./४/२८१-२८२ सव्वाणं पयत्थाणं णियमा परिणामपहुदिवित्तीओ। बहिरंतरंगहेदुहि सव्वब्भेदेसु वट्टंति ।२८१। बाहिरहेदू कहिदो णिच्छयकालो त्ति सव्वदरसीहि। अब्भंतरं णिमित्तं णियणियदव्वेसु चेट्ठेदि ।२८२। =सर्व पदार्थोंके समस्त भेदोंमें नियमसे बाह्य और अभ्यन्तर निमित्तोंके द्वारा परिणामादिक (परिणाम, क्रिया, परत्वापरत्व) वृत्तियाँ प्रवर्तती हैं ।२८१। सर्वज्ञदेवने सर्व पदार्थोंके प्रवर्तनेका बाह्य निमित्त निश्चयकाल कहा है। अभ्यन्तर निमित्त अपने-अपने द्रव्योंमें स्थित है ।२८२।

३. अन्तरंग व बहिरंग कारणोंसे होनेके उदाहरण

स.सा./मू./२७८-२७९ जैसे स्फटिकमणि तमालपत्रके संयोगसे परिणमती है वैसे ही जीव भी अन्य द्रव्योंके संयोगसे रागादि रूप परिणमन करता है।

स सा./मू./२८३-२८५ द्रव्य व भाव दोनों प्रतिक्रमण परस्पर सापेक्ष है।

रा.वा./२/१/१४/१०१/२३ बाहरमें मनुष्य तिर्यंचादिक औदयिक भाव और अन्तरंगमें चैतन्यादि पारिणामिक भाव ही जीवके परिचायक हैं।

पं.का./त.प्र./८८ स्वतः गमन करनेवाले जीव पुद्गलोंकी गतिमें धर्मास्तिकाय बाह्य सहकारीकारण है। (द्र.सं./टी./१७) (और भी दे० निमित्त)।

४. व्यवहारनयसे निमित्त वस्तुभूत है पर निश्चयमे कल्पना मात्र है

श्लो.वा.२/१/७/१३/५६१/१ व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठः संबन्धः संयोगसमवायादिवत्प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुनः कल्पनारोपितः सर्वथाप्यनवद्यत्वात्। संग्रहर्जु सूत्रनयाश्रयणे तु न कस्यचित्कश्चित्संबन्धोऽन्यत्र कल्पनामात्रत्वात् इति सर्वमविरुद्धं। —व्यवहार नयका आश्रय लेनेपर संयोग व समवाय आदि सम्बन्धोंके समान दोमें ठहरनेवाला कार्यकारण भाव प्रतीतियोंसे सिद्ध होनेके कारण वस्तुभूत ही है, काल्पनिक नहीं। (क्योंकि तहाँ व्यवहारनय भेदग्राही होनेके कारण असद्भूत व्यवहार भेदोपचारको ग्रहण करके संयोग सम्बन्धको सत्य घोषित करता है और सद्भूत व्यवहार नय अभेदोपचारको ग्रहण करके समवाय सम्बन्धको स्वीकार करता है) परन्तु संग्रह नय और ऋजुसूत्र नयका आश्रय करनेपर कोई भी किसी का किसीके साथ सम्बन्ध नहीं है। कोरी कल्पनाएँ है। सब अपने-अपने स्वभावोंमें लीन हैं। यही निश्चय नय कहता है। (संग्रहनय मात्र अद्वैत एक महा सत् ग्राही होनेके कारण और ऋजुसूत्रनय मात्र अन्तिम अवान्तर सत्तारूप एकत्वग्राही होनेके कारण, दोनों ही द्वित्व नहीं देखते। तब वे कारणकार्यके द्वैतको कैसे अंगीकार कर सकते है। विशेष देखो 'नय')।

५. निमित्त स्वीकार करनेपर भी वस्तु स्वतन्त्रता बाधित नहीं होती

रा.वा./५/१/२७/४३४/२६ ननु च बाह्यद्रव्यादिनिमित्तवशात् परिणामिनां परिणाम उपलभ्यते, स च स्वातन्त्र्ये सति विरुध्यत इति, नैष दोषः; बाह्यस्य निमित्तमात्रत्वात्। न हि गत्यादिपरिणामिनो जीवपुद्गलाः गत्याद्युपग्रहे धर्मादीनां प्रेरकाः। —(धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायकी यहाँ यह स्वतन्त्रता है कि ये स्वयं गति और स्थितिरूपसे परिणत जीव और पुद्गलोंकी गतिमें स्वयं निमित्त होते हैं।) प्रश्न—बाह्य द्रव्यादिके निमित्तसे परिणामियोंके परिणाम उपलब्ध होते हैं और स्वातन्त्र्य स्वीकार कर लेनेपर यह बात विरोधको प्राप्त हो जाती है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि बाह्य द्रव्य निमित्तमात्र होते है। (यहाँ प्रकृतमें) गति आदि रूप परिणमन करनेवाले जीव व पुद्गल गति आदि उपकार करनेके प्रति धर्म आदि द्रव्योंके प्रेरक नहीं हैं। गति आदि करानेके लिए उन्हे उकसाते नहीं हैं।

६. उपादान उपादेय भावका कारण प्रयोजन

रा.वा./२/३६/१८/१४७/७ यथा घटादिकार्योपलब्धेः परमाण्वनुमानं तथौदारिकादिकार्योपलब्धेः कार्मणानुमानम् "कार्यलिङ्गं हि कारणम्" (आप्त. मी. श्लो. ६८)। —जैसे घट आदि कार्योंकी उपलब्धि होनेसे परमाणु रूप उपादान कारणका अनुमान किया जाता है, इसी प्रकार औदारिक शरीर आदि कार्योंकी उपलब्धि होनेसे कर्मों रूप उपादान कारणका अनुमान किया जाता है, क्योंकि कारणको कार्यलिंगवाला कहा गया है।

श्लो. वा. २/१/५/६६/२७१/३० सिद्धमेकद्रव्यात्मकचित्तविशेषाणामेकसंतानत्वं द्रव्यप्रत्यासत्तेरेव। —(सर्वथा अनित्य पक्षके पोषक बौद्ध लोग किसी भी अन्वयी कारणसे निरपेक्ष एक सन्ताननामा तत्त्वको स्वीकार करके जिस किस प्रकार सर्वथा पृथक्-पृथक् कार्योंमें कारण-कार्य भाव घटित करनेका असफल प्रयास करते हैं, पर वह किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता। हाँ एक द्रव्यके अनेक परिणामोंको एक सन्तानपना अवश्य सिद्ध है।) तहाँ द्रव्य नामक प्रत्यासत्तिको ही तिस प्रकार होनेवाले एक सन्तानपनेकी कारणता सिद्ध होती है। एक द्रव्यके केवल परिणामोंकी एक सन्तान करनेमें उपादान उपादेय-भाव सिद्ध नहीं होता।

७. उपादानको परतन्त्र कहनेका कारण व प्रयोजन

स.सि./२/१९/१७७/३ लोके इन्द्रियाणां पारतन्त्र्यविवक्षा दृश्यते। अनेनाक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमीति। ततः पारतन्त्र्यात्स्पर्शनादीनां करणत्वम्। —लोकमें इन्द्रियोंकी पारतन्त्र्य विवक्षा देखी जाती है। जैसे इस आँखसे मैं अच्छा देखता हूँ, इस कानसे मैं अच्छा सुनता हूँ। अतः पारतन्त्र्य विवक्षामें स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका करणपना (साधकतमपना) बन जाता है (तात्पर्य यह कि लोक व्यवहारमें सर्वत्र व्यवहार नयका आश्रय होनेके कारण उपादानकी परिणतिको निमित्तके आधारपर बताया जाता है। (विशेष दे० नय/V/९) (रा.वा./२/१९/१/१३१/८)।

स.सा./ता.वृ./९६ भेदविज्ञानरहितः शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानमपि च परं स्वस्वरूपाद्भिन्नं करोति रागादिषु योजयतीत्यर्थः। केन, अज्ञान-भावेनेति। —भेद विज्ञानसे रहित व्यक्ति शुद्ध बुद्ध एक स्वभावी आत्माको अपने स्वरूपसे भिन्न पर पदार्थ रूप करता है (अर्थात् पर पदार्थोंके अटूट विकल्पके प्रवाहमें बहता हुआ) अपनेको रागादिकोंके साथ युक्त कर लेता है। यह सब उसका अज्ञान है। (ऐसा बताकर स्वरूपके प्रति सावधान कराना ही परतन्त्रता बतानेका प्रयोजन है।)

८. निमित्तको प्रधान कहनेका कारण प्रयोजन

रा.वा./१/१/५७/१५/१५ तत एवोत्पत्त्यनन्तरं निरन्वयविनाशाभ्युपगमात् परस्परसंश्लेषाभावे निमित्तनैमित्तिकव्यवहाराभावात् 'अविद्याप्रत्ययाः संस्कारा' इत्येवमादि विरुध्यते। —जिस (बौद्ध) मतमें सभी संस्कार क्षणिक हैं उसके यहाँ ज्ञानादिकी उत्पत्तिके बाद ही तुरन्त नाश हो जानेपर निमित्त नैमित्तिक आदि सम्बन्ध नहीं बनेंगे और समस्त अनुभव सिद्ध लोकव्यवहारोंका लोप हो जायेगा। अविद्याके प्रत्ययरूप सन्तान मानना भी विरुद्ध हो जायेगा। (इसी प्रकार सर्वथा अद्वैत नित्यपक्षवालोंके प्रति भी समझना। इसीलिए निमित्त नैमित्तिक द्वैतका यथा योग्यरूपसे स्वीकार करना आवश्यक है।)

ध./१२/४,२,८,४/२८१/२ एवंविहववहारो किमट्ठं करिदे। सुहेण णाणावरणीयपच्चयपडिबोहणट्ठं कज्जपडिसेहदुवारेण कारणपडिसेहट्ठं च। —प्रश्न—इस प्रकारका व्यवहार किस लिए किया जाता है। उत्तर—सुख पूर्वक ज्ञानावरणीयके प्रत्ययोंका प्रतिबोध करानेके लिए तथा कार्यके प्रतिषेध द्वारा कारणका प्रतिषेध करनेके लिए उपर्युक्त व्यवहार किया जाता है।

प्र.सा./ता.वृ./१३३-१३४/१८९/११ अयमत्रार्थः यद्यपि पञ्चद्रव्याणि जीवस्योपकारं कुर्वन्ति, तथापि तानि दुःखकारणान्येवेति ज्ञात्वा। यदि वाक्षयानन्तसुखादिकारणं विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावं परमात्मद्रव्यं तदेव मनसा ध्येयं वचसा वक्तव्यं कायेन तत्साधकमनुष्ठानं च कर्तव्यमिति। —यहाँ यह तात्पर्य है कि यद्यपि पाँच द्रव्य जीवका उपकार करते हैं, तथापि वे सब दुःखके कारण हैं, ऐसा जानकर; जो यह अक्षय अनन्त सुखादिका कारण विशुद्ध ज्ञान-दर्शन उपयोग स्वभावी परमात्म द्रव्य है, वह ही मनके द्वारा ध्येय है, वचनके द्वारा वक्तव्य है और कायके द्वारा उसके साधक अनुष्ठान ही कर्तव्य है।

प्र.सा./ता.वृ./१४३/२०३/१७ अत्र यद्यपि···सिद्धगतेः काललब्धिरूपेण बहिरङ्गसहकारी भवति कालस्तथापि निश्चयनयेन···या तु निश्चय-चतुर्विधाराधना सैव तत्रोपादानकारणं न च कालस्तेन कारणेन स

हेय इति भावार्थः। —यहाँ यद्यपि सिद्ध गतिमें कालादि लब्धि रूपसे काल द्रव्य बहिरंग सहकारीकारण होता है, तथापि निश्चयनयसे जो चार प्रकारकी आराधना है वही तहाँ उपादान कारण है काल नहीं। इसलिए वह (काल) हेय है, ऐसा भावार्थ है।

२. कर्म व जीवगत कारणकार्य भाव विषयक

१. जीव यदि कर्म न करे तो कर्म भी उसे फल क्यों दे

यो.सा.अ./४/११-१२ आत्मानं कुरुते कर्म यदि कर्म तथा कथम्। चेतनाय फलं दत्ते भुङ्क्ते वा चेतनः कथम् ।११। परेण विहितं कर्म परेण यदि भुज्यते। न कोऽपि सुखदुःखेभ्यस्तदानीं मुच्यते कथम् ।१२। —यदि कर्म स्वयं ही अपनेको कर्ता हो तो वह आत्माको क्यों फल देता है! वा आत्मा ही क्यों उसके फलको भोगता है? ।११। क्योंकि यदि कर्म तो कोई अन्य करेगा और उसका फल कोई अन्य भोगेगा तो कोई भिन्न ही पुरुष क्यों न सुख-दुखसे मुक्त हो सकेगा ।१२।

यो.सा. अ./५/२३-२७ विदधाति परो जीवः किंचित्कर्म शुभाशुभम्। पर्यायापेक्षया भुङ्क्ते फलं तस्य पुनः परः ।२३। य एव कुरुते कर्म किंचिज्जीवः शुभाशुभम्। स एव भुजते तस्य द्रव्यार्थापेक्षया फलम् ।२४। मनुष्यः कुरुते पुण्यं देवो वेदयते फलम्। आत्मा वा कुरुते पुण्यमात्मा वेदयते फलम् ।२५। चेतनः कुरुते भुङ्क्ते भावैरौदयिकैरयम्। न विधत्ते न वा भुङ्क्ते किंचित्कर्म तदत्यये ।२७। —पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा दूसरा ही पुरुष कर्मको करता है और दूसरा ही उसको भोगता है, जैसे कि मनुष्य द्वारा किया पुण्य देव भोगता है। और द्रव्यार्थिक नयसे जो पुरुष कर्म करता है वही उसके फलको भोगता है, जैसे—मनुष्य भवमें भी जिस आत्माने कर्म किया था देवभवमें भी वही आत्मा उसे भोगता है ।२३-२५। जिस समय इस आत्मामें औदयिक भावोंका उदय होता होता है उस समय उनके द्वारा यह शुभ अशुभ कर्मोंको करता है और उनके फलको भोगता है। किन्तु औदयिकभाव नष्ट हो जानेपर यह न कोई कर्म करता है और न किसीके फलको भोगता है ।२७।

२. कर्म जीवको किस प्रकार फल देते हैं

यो.सा./३/१३ जीवस्याच्छादकं कर्म निर्मलस्य मलीमसम्। जायते भास्करस्येव शुद्धस्य घनमण्डलम् ।१३। —जिस प्रकार ज्वलंत प्रभाके धारक भी सूर्यको मेघ मण्डल ढँक लेता है, उसी प्रकार अतिशय विमल भी आत्माके स्वरूपको मलिन कर्म ढँक देते हैं।

३. कर्म व जीवके निमित्त नैमित्तिकपनेमें हेतु

क.पा.१/१-१/§४२/६०/१ तं च कम्मं सहेउअं, अण्णहा णिव्वावाराणं पि बंधप्पसंगादो। कम्मस्स कारणं किं मिच्छत्तासंजमकसाया होंति, आहो सम्मत्तसंजदविरायदादो। —जीवसे सम्बद्ध कर्मको सहेतुक ही मानना चाहिए, अन्यथा निर्व्यापार अर्थात् अयोगियोंके भी कर्म-बन्धका प्रसंग प्राप्त हो जायेगा। उस कर्मके कारण मिथ्यात्व असंयम और कषाय हैं, सम्यक्त्व, संयम व वीतरागता नहीं। (आप्त. प./२/५/८)

ध.१२/४.२.८,१२/२८८/६ ण, जोगेण विणा णाणावरणीयपयडीए पादुब्भावादंसणादो। जेण विणा जं णियमेण णोवलब्भदे तं तस्स कज्जमियरं च कारणमिदि सयलणयाइयाइयअजणप्पसिद्धं। तम्हा पदेसग्गवेयणा व पयडिवेयणा वि जोग पच्चएण त्ति सिद्धं।

ध./१२/४,२.८.१३/२८९/४ यद्यस्मिन् सत्येव भवति नासति तत्तस्य कारणमिति न्यायात्। तम्हा णाणावरणीयवेयणा जोगकसाएहि चेव होदि त्ति सिद्धं। —१. योगके बिना ज्ञानावरणीयकी प्रकृतिवेदनाका प्रादुर्भाव देखा नहीं जाता। जिसके बिना जो नियमसे नहीं पाया जाता है वह उसका कारण व दूसरा कार्य होता है, ऐसा समस्त नैयायिक जनोंमें प्रसिद्ध है। इस प्रकार प्रदेशाग्रवेदनाके समान प्रकृतिवेदना भी योग प्रत्ययसे होती है, यह सिद्ध है। २. जो जिसके होनेपर ही होता है और जिसके नहीं होनेपर नहीं होता है वह उसका कारण होता है, ऐसा न्याय है। इस कारण ज्ञानावरणीय वेदना योग और कषायसे ही होती है, यह सिद्ध होता है।

४. वास्तवमें विभाव कर्ममें निमित्त नैमित्तिक भाव है, जीव व कर्ममें नहीं

पं.ध./उ./१०७२ अन्तर्दृष्ट्या कषायाणां कर्मणां च परस्परम्। निमित्तनैमित्तिको भावः स्यान्न स्याज्जीवकर्मणोः ।१०७२। —सूक्ष्म तत्त्वदृष्टिसे कषायों व कर्मोंका परस्परमें निमित्त नैमित्तिक भाव है किन्तु जीवद्रव्य तथा कर्मका नहीं।

५. समकालवर्ती इन दोनोंमें कारणकार्य भाव कैसे हो सकता है?

ध.७/२,१,३६/८१/१० वेदाभावलद्धीणं एक्ककालम्मि चेव उप्पज्जमाणीणं कधमाहाराहेयभावो, कज्जकारणभावो वा। ण समकालेणुप्पज्जमाणच्छायंकुराणं कज्जकारणभावदंसणादो, घडुप्पत्तीए कुसलाभावदंसणादो च। —प्रश्न—वेद (कर्म) का अभाव और उस अभाव सम्बन्धी लब्धि (जीवका शुद्ध भाव) ये दोनों जब एक ही कालमें उत्पन्न होते हैं, तब उनमें आधार-आधेयभाव या कार्य-कारणभाव कैसे बन सकता है? उत्तर—बन सकता है; क्योंकि, समान कालमें उत्पन्न होने वाले छाया और अंकुरमें, तथा दीपक व प्रकाशमें (छहढाला) कार्यकारणभाव देखा जाता है। तथा घट की उत्पत्ति में कुसूल का अभाव भी देखा जाता है।

६. कर्म व जीवके परस्पर निमित्तनैमित्तिकपनेसे इतरेतराश्रय दोष भी नहीं आ सकता

प्र.सा./त.प्र./१२१ यो हि नाम संसारनामायमात्मनस्तथाविधः परिणामः स एव द्रव्यकर्मश्लेषहेतुः। अथ तथाविधपरिणामस्यापि को हेतुः। द्रव्यकर्महेतुः तस्य, द्रव्यकर्मसंयुक्तत्वेनैवोपलम्भात्। एवं सतीतरेतराश्रयदोषः। न हि अनादिप्रसिद्धद्रव्यकर्माभिसंबन्धस्यात्मनः प्राक्तनद्रव्यकर्मणस्तत्र हेतुत्वेनोपादानात्। —'संसार' नामक जो यह आत्माका तथाविध परिणाम है वही द्रव्यकर्मके चिपकनेका हेतु है। प्रश्न—उस तथाविध परिणामका हेतु कौन है? उत्तर—द्रव्यकर्म उसका हेतु है, क्योंकि द्रव्यकर्मकी संयुक्ततासे ही वह देखा जाता है। प्रश्न—ऐसा होनेसे इतरेतराश्रय दोष आयेगा? उत्तर—नहीं आयेगा, क्योंकि अनादि सिद्ध द्रव्यकर्मके साथ सम्बद्ध आत्माका जो पूर्वका द्रव्यकर्म है उसका वहाँ हेतु रूपसे ग्रहण किया गया है (और नवीनबद्ध कर्मका कार्य रूपसे ग्रहण किया गया है)।

७. कर्मोदयका अनुसरण करते हुए भी जीवको मोक्ष सम्भव है

प्र.सं./टी./३७/१५५/१० अत्राह शिष्यः—संसारिणां निरन्तरं कर्मबन्धोऽस्ति, तथैवोदयोऽस्ति, शुद्धात्मभावनाप्रस्तावो नास्ति, कथं मोक्षो भवतीति। तत्र प्रत्युत्तरं। यथा शत्रोः क्षीणावस्थां दृष्ट्वा कोऽपि धीमान् पर्यालोचयत्ययं मम हनने प्रस्तावस्ततः पौरुषं कृत्वा शत्रुं हन्ति तथा कर्मणामप्येकरूपावस्था नास्ति। हीयमानस्थित्यनुभागत्वेन कृत्वा यदा लघुत्वं क्षीणत्वं भवति तदा धीमान् भव्य आगमभाषया निजशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च निर्मलभावनाविशेषखड्गेन पौरुषं कृत्वा कर्मशत्रुं हन्तीति। यत्पुनरन्तःकोटाकोटी-

प्रमितकर्मस्थितिरूपेण तथैव लताद्वारुस्थानीयरूपेण च कर्म लघुत्वे जातेऽपि सत्ययं जीव आगमभाषया अधःप्रवृत्तिकरणापूर्वकरणानिवृत्तिकरणसंज्ञामध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणतिरूपां कर्म हननबुद्धिं कापि काले न करिष्यतीति तदभव्यत्वगुणस्यैव लक्षणं ज्ञातव्यमिति। —प्रश्न—संसारी जीवोंके निरन्तर कर्मोंका बन्ध व उदय पाया जाता है। अतः उनके शुद्धात्म ध्यानका प्रसंग भी नहीं है। तब मोक्ष कैसे होता है? उत्तर—जैसे कोई बुद्धिमान शत्रुकी निर्बल अवस्था देखकर 'यह समय शत्रुको मारनेका है' ऐसा विचारकर उद्यम करता है वह अपने शत्रुको मारता है। इसी प्रकार—कर्मोंकी भी सदा एकरूप अवस्था नहीं रहती। स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्धकी न्यूनता (काललब्धि) होनेपर जब कर्म लघु व क्षीण होते हैं, उस समय कोई भव्य जीव अवसर विचारकर आगमकथित पंचलब्धि अथवा अध्यात्म कथित निजशुद्धात्म सम्मुख परिणामों नामक निर्मलभावना विशेषरूप खड्गसे पौरुष करके कर्मशत्रुको नष्ट करता है। और जो उपरोक्त काललब्धि हो जानेपर भी अधःकरण आदि त्रिकरण अथवा आत्म सम्मुख परिणाम रूप बुद्धि किसी भी समय न करेगा तो यह अभव्यत्व गुणका लक्षण जानना चाहिए।

८. कर्म व जीवके निमित्त-नैमित्तिकपनेमें कारण व प्रयोजन

प.प्र./टी./१/६६ अत्र वीतरागसदानन्दैकरूपात्सर्वप्रकारोपादेयभूतात्परमात्मनो यद्भिन्नं शुभाशुभकर्मद्वयं तद्धेयमिति भावार्थः। —(यहाँ जो जीवको कर्मोंके सामने पंगु बताया गया है) उसका भावार्थ ऐसा है कि वीतराग सदा एक आनन्दरूप तथा सर्व प्रकारसे उपादेयभूत जो यह परमात्म तत्त्व है, उससे भिन्न जो शुभ और अशुभ ये दोनों कर्म हैं, वे हेय हैं।

कारण ज्ञान—दे० उपयोग/I/१/५।

कारण चतुष्टय—दे० चतुष्टय।

कारण जीव—दे० जीव/१।

कारण परमाणु—दे० परमाणु/१।

कारण परमात्मा—दे० परमात्मा/१।

कारण विपर्यय—

कारण विरुद्ध व अविरुद्ध उपलब्धि—दे० हेतु/१।

कारण समयसार—दे० समयसार।

कारित—स.सि./६/८/३२५/५ कारिताभिधानं परप्रयोगापेक्षम्। —कार्यमें दूसरेके प्रयोगकी अपेक्षा दिखलानेके लिए 'कारित' शब्द रखा है। (रा.वा.६/८/८/५१४/६); (चा.सा./८८/५)

कारुण्य—दे० 'करुणा'।

कार्तिकेय—१. भगवान् वीरके तीर्थमें अनुत्तरोपपादक हुए—दे० अनुत्तरोपपादक; २. राजा क्रौंचके उपसर्ग द्वारा स्वर्ग सिधारे थे। समय—अनुमानतः ई. श. १का प्रारम्भ। (का.अ./प्र. ६६।A. N. up.)। ३. कार्तिकेयानुप्रेक्षाके कर्ता स्वामीकुमारका दूसरा नाम था। दे० कुमार स्वामी।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा—आ० कुमार कार्तिकेय(ई० श० २ मध्य)द्वारा रचित वैराग्य भावनाओंका प्रतिपादक प्राकृत गाथा बद्ध ग्रन्थ। इसमें ४९१ गाथाएँ हैं। इसपर आ० शुभचन्द्र (ई. १५१६-१५५६) ने संस्कृतमें टीका लिखी है। तथा पं० जयचन्द छाबड़ा (ई. १८०६) ने भाषा टीका लिखी है।

कार्मण—जीवके प्रदेशोंके साथ बन्धे अष्ट कर्मोंके सूक्ष्म पुद्गल स्कन्धके संग्रहका नाम कार्माण शरीर है। बाहरी स्थूल शरीरकी मृत्यु हो जानेपर भी इसकी मृत्यु नहीं होती। विग्रहगतिमें जीवोंके मात्र कार्माण शरीरका सद्भाव होनेके कारण कार्माण काययोग माना जाता है, और उस अवस्थामें नोकर्मवर्गणाओंका ग्रहण न होनेके कारण व अनाहारक रहता है।

१. कार्मण शरीर निर्देश

१. कार्मण शरीरका लक्षण

ष.खं. १४/५,६/सू. २४१/३२८ सव्वकम्माणं परूहणुप्पादयं सुहदुक्खाणं बीजमिदि कम्मइयं।२४१। —सब कर्मोंका प्ररोहण अर्थात् आधार, उत्पादक और सुख-दुःखका बीज है इसलिए कार्माण शरीर है।

स.सि./२/३६/१९१/१ कर्मणां कार्यं कार्मणम्। सर्वेषां कर्मनिमित्तत्वेऽपि रूढिवशाद्विशिष्टविषये वृत्तिरवसेया। —कर्मोंका कार्य कार्माण शरीर है। यद्यपि सब शरीर कर्मके निमित्तसे होते हैं तो भी रूढिसे विशिष्ट शरीरको कार्माण शरीर कहा है। (रा.वा./२/२४/३/१३७/६); (रा.वा./२/३६/६/१४६/१३); (रा.वा./२/४९/८/१५३/१८)

ध. १/१,१,५७/१६६/२९५ कम्मेव च कम्म-भवं कम्मइयं तेण...।...।१६६। —ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके ही कर्म स्कन्धको कार्माण शरीर कहते हैं, अथवा जो कार्माण शरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न होता है उसे कार्माण शरीर कहते हैं। (ध. १/१,१,५७/२९५/१); (गो.जी./मू./२४१)

ध. १४/५,६,२४१/३२८/११ कर्माणि प्ररोहन्ति अस्मिन्निति प्ररोहणं कार्मणशरीरम्।...सकलकर्माधारं...तत एव सुख-दुःखानां तद् बीजमपि...एतेन नामकर्मावयवस्य कार्मणशरीरस्य प्ररूपणा कृता। साम्प्रतमष्टकर्मकलापस्य कार्मणशरीरस्य लक्षणप्रतिपादकत्वेन सूत्रमिदं व्याख्यायते। तद्यथा—भविष्यत्सर्वकर्मणां प्ररोहणमुत्पादकं त्रिकालगोचराशेषसुख-दुःखानां बीजं चेति अष्टकर्मकलापं कार्मणशरीरम्। कर्मणि भवं वा कार्मणं कर्मैव वा कार्मणमिति कार्मणशब्दव्युत्पत्तेः। —कर्म इसमें उगते हैं इसलिए कार्मण शरीर प्ररोहण कहलाता है...सर्वकर्मोंका आधार है...सुखों और दुःखोंका बीज भी है...इसके द्वारा नामकर्मके अवयव रूप कार्मण शरीरकी प्ररूपणा की है। अब आठों कर्मोंके कलाप रूप कार्माण शरीरके लक्षणके प्रतिपादकपनेकी अपेक्षा इस सूत्रका व्याख्यान करते हैं। यथा—आगामी सर्व कर्मोंका प्ररोहण, उत्पादक और त्रिकाल विषयक समस्त सुख-दुःखका बीज है, इसलिए आठों कर्मोंका समुदाय कार्मणशरीर है, क्योंकि कर्ममें हुआ इसलिए कार्मण है, अथवा कर्म ही कार्मण है, इस प्रकार यह कार्मण शब्दकी व्युत्पत्ति है।

२. कार्मण शरीरके अस्तित्व सम्बन्धी शंका समाधान

रा.वा./२/३६/१०-१५/१४६/१६ सर्वेषां...कार्मणत्वप्रसङ्ग इति चेत्...औदारिकशरीरनामादीनि हि प्रतिनियतानि कर्माणि सन्ति तदुदयभेदाद्भेदो भवति। तत्कृतत्वेऽप्यन्यत्वदर्शनाद् घटादिवत्...अतः कार्यकारणभेदान्न सर्वेषां कार्मणत्वम्।...कार्मणेऽप्यौदारिकादीनां वैस्रसिकोपचयेनावस्थानमिति नानात्वं सिद्धम्। कार्मणमसत् निमित्ताभावादिति चेत्...तन्न; किं कारणं। तस्यैव निमित्तिभावात् प्रदीपवत्।...मिथ्यादर्शनादिनिमित्तत्वाच्च। —प्रश्न—(कर्मोंका समुदाय कार्माण शरीर है) ऐसा लक्षण करनेसे औदारिकादि सब ही शरीरोंको कार्मणत्वपनेका प्रसंग आ जायेगा? उत्तर—औदारिकादि शरीर प्रतिनियत नामकर्मके उदयसे होते हैं, यद्यपि औदारिकादि शरीर कर्मकृत है, तथा मिट्टीसे उत्पन्न होनेवाले घट, घटी आदिकी भाँति फिर भी उनमें संज्ञा, लक्षण, आकार और निमित्त आदिकी दृष्टिसे भिन्नता है।...कारण कार्यकी अपेक्षा भी

कार्मण और औदारिकादि भिन्न हैं।···कार्मण शरीरपर ही औदारिकादि शरीरोंके योग्य परमाणु जिन्हें विस्रसोपचय कहते हैं, आकर जमा होते हैं, इस दृष्टिसे भी कार्मण और औदारिकादि भिन्न है। प्रश्न—निर्निमित्त होनेसे कार्मण शरीर असत् है? उत्तर—ऐसा नहीं है। जिस प्रकार दीपक स्वपरप्रकाश है, उसी तरह कार्मणशरीर औदारिकादिका भी निमित्त है, और अपने उत्तर कार्मणका भी। फिर मिथ्यादर्शन आदि कार्मण शरीरके निमित्त हैं।

३. नोकर्मोंके ग्रहणके अभावमें भी इसे कायपना कैसे प्राप्त है

ध.१/१,१,४/१३८/३ कार्मणशरीरस्थानां जीवानां पृथिव्यादिकर्मभिश्चितनोकर्मपुद्गलाभावादकायत्वं स्यादिति चेन्न, तच्चयनहेतुकर्मणस्तत्रापि सत्त्वतस्तद्व्यपदेशस्य न्याय्यत्वात्। —प्रश्न—कार्मणकाययोगमें स्थित जीवके पृथिवी आदिके द्वारा संचित हुए नोकर्म पुद्गलका अभाव होनेसे अकायपना प्राप्त हो जायेगा? उत्तर—ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि नोकर्म रूप पुद्गलोंके संचयका कारण पृथिवी आदि कर्म सहकृत औदारिकादि नामकर्मका सत्त्व कार्मणकाययोगरूप अवस्थामें भी पाया जाता है, इसलिए उस अवस्थामें भी कायपनेका व्यवहार बन जाता है।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

१. पाँचों शरीरोंमें सूक्ष्मता तथा उनका स्वामित्व— दे० शरीर/१

२. कार्मण शरीर मूर्त है —दे० मूर्त /५

३. कार्मण शरीरका स्वामित्व, अनादि बन्धन बद्धत्व व निरुपभोगत्व —दे० तैजस/१

४. कार्मण शरीरकी संघातन परिशातन कृति —दे० ध.९/३५५-४११

५. कार्मण शरीर नामकर्मका बन्ध उदय सत्त्व —दे० वह वह नाम

२. कार्मण योग निर्देश

१. कार्मण काययोगका लक्षण

पं.सं./प्रा./१/९६ कम्मेव य कम्मइयं कम्मभवं तेण जो दु संजोगो। कम्मइयकायजोगो एय-बिय-तियगेसु समएसु।९६। —कर्मोंके समूहको अथवा कार्मण शरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले कायको कार्मणकाय कहते हैं, और उसके द्वारा होनेवाले योगको कार्मणकाययोग कहते हैं। यह योग विग्रहगतिमें अथवा केवलिसमुद्घातमें, एक दो अथवा तीन समय तक होता है।९६। (ध.१/१,१,५७/१६६/२९५) (गो.जी./मू./२४१) (पं. सं./सं./१/१७८)

ध. १/१,१,५७/२९५/२ तेन योगः कार्मणकाययोगः। केवलेन कर्मणा जनितवीर्येण सह योग इति यावत्। —उस (कार्मण) शरीरके निमित्तसे जो योग होता है, उसे कार्मण काययोग कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अन्य औदारिकादि शरीर वर्गणाओं के बिना केवल एक कर्म से उत्पन्न हुए वीर्यके निमित्तसे आत्मप्रदेश परिस्पन्द रूप जो प्रयत्न होता है उसे कार्मण काययोग कहते हैं।

गो.जी.जी./२४१/५०४/१ कर्माकर्षशक्तिसंगतप्रदेशपरिस्पन्दरूपो योगः स कार्मणकाययोग इत्युच्यते। कार्मणकाययोगः एकद्वित्रिसमयविशिष्टविग्रहगतिकालेषु केवलिसमुद्घातसंबन्धिप्रतरद्वयलोकपूरणे समयत्रये च प्रवर्तते शेषकाले नास्तीति विभागः तुशब्देन सूच्यते। —तीहिं (कार्मण शरीर) कार्मण स्कंधसहित वर्तमान जो संप्रयोगः कहिये आत्माके कर्म ग्रहण शक्ति धरै प्रदेशनिका चंचलपना सो कार्मणकाययोग है, सो विग्रहगति विषै एक, दो, अथवा तीन समय काल मात्र हो है, अर केवल समुद्घातविषैं प्रतरद्विक अर लोकपूरण इन तीन समयनि विषैं हो है, और समय विषैं कार्मणयोग न हो है।

२. कार्मण काययोगका स्वामित्व

ष.खं.१/१,१/सू० ६०,६४/२९८,३०७ कम्मइयकायजोगो विग्गहगई समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घाद-गदाणं।६०। कम्मइयकायजोगो एइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।६४। —विग्रहगतिको प्राप्त चारों गतियोंके जीवोंके तथा प्रतर और लोकपूरण समुद्घातको प्राप्त केवली जिनके कार्मणकाययोग होता है।६०। कार्मण काययोग ऐकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर सयोगिकेवली तक होता है। (रा.वा./१/७/१४/३९/२४) (त.सा./२/९७) विशेष दे० उपरला शीर्षक।

त.सू./२/२५/ विग्रहगतौ कर्मयोगः २५॥ विग्रहगतिमें कर्मयोग (कार्मणयोग) होता है। २५।

ध.४/विशेषार्थ/१,३,२/३०/१७ आनुपूर्वी नामकर्मका उदय कार्मणकाययोगवाली विग्रहगतिमें होता है। ऋजुगतिमें तो कार्मण काययोग न होकर औदारिकमिश्र व वैक्रियकमिश्र काययोग ही होता है।

३. विग्रहगतिमें कार्मण ही योग क्यों

गो.क./जी.प्र./३१८/४५१/१३ ननु अनादिसंसारे विग्रहाविग्रहगत्योर्मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगान्तगुणस्थानेषु कार्मणस्य निरन्तरोदये सति 'विग्रहगतौ कर्मयोग' इति सूत्रारम्भः कथं? सिद्धे सत्यारम्भमाणो विधिर्नियमायेति विग्रहगतौ कर्मयोग एव नान्यो योग इत्यवधारणार्थः। —प्रश्न—जो अनादि संसारविषै विग्रहगति अविग्रहगति विषै मिथ्यादृष्टि आदि सयोग पर्यन्त सर्व गुणस्थान विषै कार्माणका निरन्तर उदय है. 'विग्रहगतौ कर्मयोग' ऐसैं सूत्र विषैं कार्माणयोग कैसैं कह्या? उत्तर—'सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय' सिद्ध होतें भी बहुरि आरम्भ सो नियमके अर्थि है तातैं इहाँ ऐसा नियम है जो विग्रहगतिविषैं कार्मण योग ही है और योग नाहीं।

४. कार्मण योग अपर्याप्तकोंमें ही क्यों

ध १/१,१,८४/३३४/३ अथ स्याद्विग्रहगतौ कार्मणशरीराणां न पर्याप्तिस्तदा पर्याप्तीनां षण्णां निष्पत्तेरभावात्। न अपर्याप्तास्ते आरम्भात्प्रभृति आ उपरमादन्तरालावस्थायामपर्याप्तिव्यपदेशात्। न चानारम्भकस्य स व्यपदेश अतिप्रसङ्गात्। ततस्तृतीयमप्यवस्थान्तरं वक्तव्यमिति नैष दोष; तेषामपर्याप्तेष्वन्तर्भावात्। नातिप्रसङ्गोऽपि।···ततोऽशेषसंसारिणामवस्थाद्वयमेव नापरमिति स्थितम्। —प्रश्न—विग्रहगतिमें कार्मण शरीर होता है, यह बात ठीक है। किन्तु वहाँपर कार्मण शरीरवालोंके पर्याप्ति नहीं पायी जाती है, क्योंकि विग्रहगतिके कालमें छह पर्याप्तियोंकी निष्पत्ति नहीं होती है। उसी प्रकार विग्रहगतिमें वे अपर्याप्त भी नहीं हो सकते हैं; क्योंकि पर्याप्तियोंके आरम्भसे लेकर समाप्ति पर्यन्त मध्यकी अवस्थामें अपर्याप्ति यह संज्ञा दी गयी है। परन्तु जिन्होंने पर्याप्तियोंका आरम्भ ही नहीं किया है ऐसे विग्रहगति सम्बन्धी एक दो और तीन समयवर्ती जीवोंको अपर्याप्त संज्ञा नहीं प्राप्त हो सकती है, क्योंकि ऐसा मान लेनेपर अतिप्रसंग दोष आता है। इसलिए यहाँपर पर्याप्त और अपर्याप्तसे भिन्न कोई तीसरी अवस्था ही होनी चाहिए? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि ऐसे जीवोंका अपर्याप्तोंमें ही अन्तर्भाव किया गया है। और ऐसा मान लेनेपर अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता है···अतः सम्पूर्ण प्राणियोंकी दो अवस्थाएँ ही होती हैं। इनसे भिन्न कोई तीसरी अवस्था नहीं होती है।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

१. कार्मण काययोगमें कार्यका लक्षण कैसे घटित हो —दे० काय/१
२. कार्मण काययोगमें चक्षु व अवधि दर्शन प्रयोग नहीं होता। —दे० दर्शन/७
३. कार्मण काययोगी अनाहारक क्यों। —दे० आहारक/१
४. कार्मण काययोगमें कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व। —दे० वह वह नाम
५. मार्गणा प्रकरणमें भाव मार्गणा इष्ट है। तहाँ आयके अनुसार व्यय होता है। —दे० मार्गणा
६. कार्मण काययोग सम्बन्धी गुणस्थान, जीव समास, मार्गणा-स्थानादि २० प्ररूपणाएँ। —दे० सत्
७. कार्मण काययोग विषयक सत, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व प्ररूपणाएँ। —दे० वह वह नाम

कार्मण काल—दे० काल/१।

कार्मण वर्गणा—दे० वर्गणा।

कार्य—१. कर्मके अर्थमें कार्य दे०—कर्म/२. कारण कार्य भावका विस्तार—दे० कारण।

कार्य अविरुद्ध हेतु—दे० हेतु।

कार्य ज्ञान—दे० उपयोग/I/१/५।

कार्य चतुष्टय—दे० 'चतुष्टय'।

कार्य जीव—दे० जीव।

कार्य परमाणु—दे० परमाणु।

कार्य परमात्मा—दे० 'परमात्मा'।

कार्य विरुद्ध हेतु—दे० हेतु।

कार्य समयसार—दे० 'समयसार'।

कार्यसमा जाति—

न्या.सू./मू. व टी./५/१/३७/३०४ प्रयत्नकार्यानेकत्वात्कार्यसमः ।३७। प्रयत्नानन्तरीयकत्वादनित्य शब्द इति यस्य प्रयत्नानन्तरमात्मलाभस्तत खल्वभूत्वा भवति यथा घटादिकार्यमनित्यमिति च भूत्वा न भवतीत्येतद्विज्ञायते। एवमवस्थिते प्रयत्नकार्यानेकत्वादिति प्रतिषेध उच्यते। =प्रयत्नके आनन्तरीयकत्व (प्रयत्नसे उत्पन्न होनेवाला) शब्द अनित्य है जिसके अनन्तर स्वरूपका लाभ है, वह न होकर होता है, जैसे घटादि कार्य अनित्य है, और जो होकर नहीं होता है, ऐसी अवस्था रहते 'प्रयत्नकार्यानेकत्वात्' यह प्रतिषेध कहा जाता है। (श्लो.वा ४/न्या.४४६/५४२/५)।

काल—१. असुरकुमार नामा व्यन्तरजातीय देवोंका एक भेद—दे० असुर। २. पिशाच जातीय व्यन्तर देवोंका एक भेद- दे० 'पिशाच'। ३. उत्तर कालोद समुद्रका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यंतर/४। ४. एक ग्रह—दे० ग्रह। ५. पंचम नारद विशेष परिचय—दे० शलाकापुरुष/६। ६. चक्रवर्तीकी नवनिधियोंमेंसे एक—दे० शलाका पुरुष/२।

काल—यद्यपि लोकमें घण्टा, दिन, वर्ष आदिको ही काल कहनेका व्यवहार प्रचलित है, पर यह तो व्यवहार काल है वस्तुभूत नहीं है। परमाणु अथवा सूर्य आदिकी गतिके कारण या किसी भी द्रव्यकी भूत, वर्तमान, भावी पर्यायोंके कारण अपनी कल्पनाओंमें आरोपित किया जाता है। वस्तुभूत काल तो वह सूक्ष्म द्रव्य है, जिसके निमित्तसे ये सर्व द्रव्य गमन अथवा परिणमन कर रहे हैं। यदि वह न हो तो इनका परिणमन भी न हो, और उपरोक्त प्रकार आरोपित कालका व्यवहार भी न हो। यद्यपि वर्तमान व्यवहारमें सैकेण्डसे वर्ष अथवा शताब्दी तक ही कालका व्यवहार प्रचलित है। परन्तु आगममें उसकी जघन्य सीमा 'समय' है और उत्कृष्ट सीमा युग है। समयसे छोटा काल सम्भव नहीं, क्योंकि सूक्ष्म पर्याय भी एक समयसे जल्दी नहीं बदलती। एक युगमें उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी ये दो कल्प होते हैं, और एक कल्पमें दुःखसे दुःखकी वृद्धि अथवा सुखसे दुःखकी ओर हानि रूप दुषमा सुषमा आदि छः छः काल कल्पित किये गये हैं। इन कालों या कल्पोंका प्रमाण कोड़ाकोड़ी सागरोंमें मापा जाता है।

१.	**काल सामान्य निर्देश**
१	काल सामान्यका लक्षण।
२	निश्चय व्यवहार कालकी अपेक्षा भेद।
३	दीक्षा-शिक्षादि कालकी अपेक्षा भेद।
४	निक्षेपोंकी अपेक्षा कालके भेद
५	स्वपर कालके लक्षण।
*	स्वपर कालकी अपेक्षा वस्तुमें विधि निषेध —दे० सप्तभंगी/५/८
६	दीक्षा-शिक्षादि कालोंके लक्षण।
७	ग्रहण व वासनादि कालोंके लक्षण।
*	स्थितिबन्धापसरण काल —दे० अपकर्षण/४/४।
*	स्थितिकाण्डकोत्करण काल —दे० अपकर्षण/४/४।
८	व्यवहार कालका लक्षण।
९	निक्षेप रूप कालों के लक्षण।
१०	सम्यग्ज्ञानका काल नाम अंग।
११	पुद्गल आदिकोंके परिणामकी काल संज्ञा कैसे सम्भव है।
१२	दीक्षा-शिक्षादि कालोंमें से सर्व ही एक जीवको हों ऐसा नियम नहीं।
*	कालकी अपेक्षा द्रव्यमें भेदाभेद —दे० सप्तभंगी/५/८
*	आबाधाकाल —दे० 'आबाधा'
२.	**निश्चय काल निर्देश व उसकी सिद्धि**
१	निश्चय कालका लक्षण।
२	काल द्रव्यके विशेष गुण व कार्य वर्तना हेतुत्व है।
३	काल द्रव्य गतिमें भी सहकारी है।
४	काल द्रव्यके १५ सामान्य-विशेष स्वभाव।
५	काल द्रव्य एक प्रदेशी असंख्यात द्रव्य हैं।
*	कालद्रव्य व अनस्तिकायपना —दे० 'अस्तिकाय'
६	काल द्रव्य आकाश प्रदेशोंपर पृथक् पृथक् अवस्थित है।
७	काल द्रव्यका अस्तित्व कैसे जाना जाये।
८	समयसे अन्य कोई काल द्रव्य उपलब्ध नहीं।

१. काल-सामान्य निर्देश

१. काल सामान्यका लक्षण (पर्याय)

ध.४/१,५,१/३२२/६ अणेयविहो परिणामेहिंतो पुधभूदकालाभावा परिणामाणं च आणंतिओवलंभा। —परिणामोंसे पृथक् भूतकालका अभाव है, तथा परिणाम अनन्त पाये जाते हैं।

ध.९/४,१,२/२७/११ तीदाणागयपज्जायाणं···कालत्तब्भुवगमादो। —अतीत व अनागत पर्यायोंको काल स्वीकार किया गया है।

ध./पू./२७७ तदुदाहरणं सम्प्रति परिणमनं सत्तयावधार्यन्त। अस्ति विवक्षितत्वादिह नात्यंशस्याविवक्षया तदिह।२७७। —सत् सामान्य रूप परिणमनकी विवक्षासे काल, सामान्य काल कहलाता है। तथा सत्के विवक्षित द्रव्य गुण वा पर्याय रूप अंशोंके परिणमनकी अपेक्षासे जब कालकी विवक्षा होती है वह विशेष काल है।

२. निश्चय व्यवहार कालकी अपेक्षा भेद

स.सि./५/२२/२९३/२ कालो हि द्विविधः परमार्थकालो व्यवहारकालश्च। —काल दो प्रकारका है—परमार्थकाल और व्यवहारकाल। (स.सि./१/८/२९/७); (स.सि./४/१४/२४६/४); (रा.वा./४/१४/२/२२१/१); (रा वा./५/२२/२४/४८२/१)

ति.प./४/२७९ कालस्स दो वियप्पा मुक्खामुक्खा हुवंति एदेसुं। मुक्खाधारबलेणं अमुक्खकालो पयट्टेदि। —कालके मुख्य और अमुख्य दो भेद हैं। इनमें-से मुख्य कालके आश्रयसे अमुख्य कालकी प्रवृत्ति होती है।

३. दीक्षा-शिक्षा आदि कालकी अपेक्षा भेद

गो.क./मू./५८३ विग्गहकम्मसरीरे सरीरमिस्से सरीरपज्जत्ते। आणावचिपज्जत्ते कमेण पंचोदये काला।५८३। —ते नामकर्मके उदय स्थान जिस-जिस काल विषैं उदय योग्य हैं तहाँ ही होइ तातैं नियतकाल है। ते काल विग्रहगति, वा कार्मण शरीरविषैं, मिश्रशरीरविषैं, शरीर पर्याप्ति विषैं, आनपान पर्याप्ति विषैं, भाषा-पर्याप्ति विषैं अनुक्रमतैं पाँच जानने।

गो.क./मू./६१५ (इस गाथामें) वेदककाल व उपशमकाल ऐसे दो कालोंका निर्देश है।

पं.का./ता.वृ./१७२/२५३/११ दीक्षाशिक्षागणपोषणात्मसंस्कारसल्लेखनोत्तमार्थभेदेन षट् काला भवन्ति। —दीक्षाकाल, शिक्षाकाल, गणपोषण काल, आत्मसंस्कारकाल, सल्लेखनाकाल और उत्तमार्थकालके भेदसे कालके छह भेद हैं।

गो.जी./जी.प्र./२५६/५८२/२ तत्स्थितेः सोपक्रमकालः अनुपक्रमकालश्चेति द्वौ भङ्गौ भवतः। —उनकी स्थिति (काल) के दोय भाग हैं—एक सोपक्रमकाल, एक अनुपक्रमकाल।

४. निक्षेपोंकी अपेक्षा कालके भेद

ध. ४/१,५,१/पृ./पं णामकालो ठवणकालो दव्वकालो भावकालो चेदि-कालो चउव्विहो (३१३/११) सा दुविहा, सब्भावासब्भावभेदेण।··· दव्वकालो दुविहो, आगमदो णोआगमदो य।···णोआगमदो दव्वकालो जाणुगसरीर-भवियतव्वदिरित्तभेदेण तिविहो। तत्थ जाणुगसरीर-णोआगमदव्वकालो भविय-वट्टमाण-समुज्झादभेदेण तिविहो। (३१४/१)। भावकालो दुविहो, आगम-णोआगमभेदा। —नामकाल, स्थापनाकाल, द्रव्यकाल और भावकाल इस प्रकारसे काल चार प्रकारका है (३१३/११)। स्थापना, सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापनाके भेदसे दो प्रकारकी है।···आगम और नोआगमके भेदसे द्रव्यकाल दो प्रकारका है।···ज्ञायकशरीर, भव्य और तद्व्यतिरिक्तके भेदसे नोआगम द्रव्यकाल तीन प्रकारका है, उनमें ज्ञायकशरीर नोआगम द्रव्यकाल भावी, वर्तमान और व्यक्तके भेदसे तीन प्रकारका है (३१४/१)। आगम और नोआगमके भेदसे भावकाल दो प्रकारका है।

ध. ४/१,५,१/३२२/४ सामण्णेण एयविहो। तीदो अणागदो वट्टमाणो त्ति तिविहो। अधवा गुणट्ठिदिकालो भवट्ठिदिकालो कम्मट्ठिदिकालो कायट्ठिदिकालो उववादकालो भवट्ठिदिकालो त्ति छव्विहो। अहवा अणेयविहो परिणामेहिंतो पुधभूतकालाभावा, परिणामाणो च आणंतिओवलंभा। —सामान्यसे एक प्रकारका काल होता है। अतीतानागत वर्तमानकी अपेक्षा तीन प्रकारका होता है। अथवा गुणस्थितिकाल, भवस्थितिकाल, कर्मस्थितिकाल, कायस्थितिकाल, उपपादकाल और

भावस्थितिकाल, इस प्रकार कालके छह भेद हैं। अथवा काल अनेक प्रकारका है, क्योंकि परिणामोंसे पृथग्भूत कालका अभाव है, तथा परिणाम अनन्त पाये जाये।

ध. ११/४.२.६.१/७५-७७/४
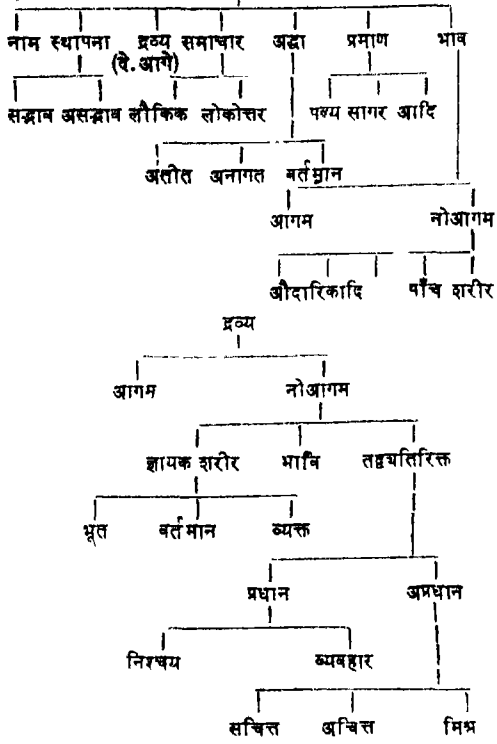
५. स्वपर कालके लक्षण

प्र.सा./ता.वृ./११५/१६१/१३ वर्तमानशुद्धपर्यायरूपपरिणतो वर्तमानसमयः कालो भण्यते। =वर्तमान शुद्ध पर्यायसे परिणत आत्मद्रव्यकी वर्तमान पर्याय उसका स्वकाल कहलाता है।

पं.ध./५/२७४,४७१ कालो वर्तनमिति वा परिणमनवस्तुनः स्वभावेन। ...।२७४। काल' समयो यदि वा तद्देशे वर्तनाकृतिश्चार्थात्। ..।४७१। =वर्तनाको अथवा वस्तुके प्रतिसमय होनेवाले स्वाभाविक परिणमनको काल कहते हैं।...।२७४। काल नाम समयका है अथवा परमार्थमें द्रव्यके देशमें वर्तनाके आकारका नाम भी काल है।...।४७१।

रा.वा./हि./१/६/४६ गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त (पर्याय)याका काल है।

रा.वा./हि./१/७/६७२ निश्चयकालकरि वर्तया जो क्रियारूप तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप परिणाम (पर्याय) सो निश्चयकाल निमित्त संसार (पर्याय) है।

रा.वा./हि./१/७/६७२ अतीत अनागत वर्तमानरूप भ्रमण सो (जीव) का व्यवहार काल (परकाल) निमित्त संसार है।

६. दीक्षा शिक्षादि कालोंके लक्षण

१. दीक्षादि कालोंके अध्यात्म अपेक्षा लक्षण

पं.का./ता.वृ./१७३/११ यदा कोऽप्यासन्नभव्यो भेदाभेदरत्नत्रयात्मकमाचार्यं प्राप्यात्माराधनार्थं बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागं कृत्वा जिनदीक्षां गृह्णाति स दीक्षाकालः, दीक्षानन्तरं निश्चयव्यवहाररत्नत्रयस्य परमात्मतत्त्वस्य च परिज्ञानार्थं तत्प्रतिपादकाध्यात्मशास्त्रेषु यदा शिक्षां गृह्णाति स शिक्षाकाल; शिक्षानन्तरं निश्चयव्यवहारमोक्षम[ार्गे] स्थित्वा तदर्थिनां भव्यप्राणिगणानां परमात्मोपदेशेन यदा पोष[णं] करोति स च गणपोषणकालः, गणपोषणानन्तरं गणं त्यक्त्वा य[दा] निजपरमात्मनि शुद्धसंस्कारं करोति स आत्मसंस्कारकालः, आत्म[संस्कारानन्तरं]... संस्कारानन्तरं तदर्थमेव...परमात्मपदार्थे स्थित्वा रागादिविकल्पा[नां] सम्यग्लेखनं तनुकरणं भावसल्लेखना तदर्थं कायक्लेशानुष्ठानां द्रव्य[सल्लेखना] सल्लेखना तदुभयाचरणं स सल्लेखनाकालः, सल्लेखनानन्तरं... बहिर्द्रव्येच्छानिरोधलक्षणतपश्चरणरूप निश्चयचतुर्विधाराधना ... तु सा चरमदेहस्य तद्भवमोक्षयोग्या तद्विपरीतस्य भवान्तरमोक्षयोग्[या] चेत्युभयमुत्तमार्थकालः। =जब कोई आसन्न भव्य जीव भेदाभे[द] रत्नत्रयात्मक आचार्यको प्राप्त करके, आत्मआराधनाके अर्थ बा[ह्य] व अभ्यन्तर परिग्रहका परित्याग करके, दीक्षा ग्रहण करता है व[ह] दीक्षाकाल है। दीक्षाके अनन्तर निश्चय व्यवहार रत्नत्रय तथा प[र]मात्मतत्त्वके परिज्ञानके लिए उसके प्रतिपादक अध्यात्म शास्त्रकी ज[ब] शिक्षा ग्रहण करता है वह शिक्षाकाल है। शिक्षाके पश्चात् नि[श्च]य व्यवहार मोक्षमार्गमें स्थित होकर उसके जिज्ञासु भव्यप्राणी गणों[का] परमात्मोपदेशसे पोषण करता है वह गणपोषणकाल है। गणपोषण[के] अनन्तर गणको छोड़कर जब निज परमात्मामें शुद्धसंस्कार करता [है] वह आत्मसंस्कारकाल है। तदनन्तर उसीके लिए परमात्मपदार्थ[में] स्थित होकर, र[ागा]द विकल्पोंके कृश करनेरूप भाव सल्लेखना त[था] उसीके अर्थ कायक्लेशादिके अनुष्ठान रूप द्रव्यसल्लेखना है इन दो[नों]का आचरण करता है वह सल्लेखनाकाल है। सल्लेखनाके पश्चा[त्] बहिर् द्रव्योंमें इच्छाका निरोध है लक्षण जिसका ऐसे तपश्चरण स[्वरूप] निश्चय चतुर्विधाराधना, जो कि तद्भव मोक्षभागी ऐसे चरमदे[ह] अथवा उससे विपरीत जो भवान्तरसे मोक्ष जानेके योग्य है, [इन] दोनोंके होती है। वह उत्तमार्थकाल कहलाता है।

२. दीक्षादि कालोंके आगमकी अपेक्षा लक्षण

पं.का./ता.वृ./१७३/२५४/८ यदा कोऽपि चतुर्विधाराधनाभिमुखः स[न्] पञ्चाचारोपेतमाचार्यं प्राप्योभयपरिग्रहरहितो भूत्वा जिनदीक्षां गृह्णा[ति] तदा दीक्षाकालः, दीक्षानन्तरं चतुर्विधाराधनापरिज्ञानार्थमाचारा[रा]धनादिचरणकरणग्रन्थशिक्षां गृह्णाति तदा शिक्षाकाल', शिक्षानन्त[रं] चरणकरणकथितार्थानुष्ठानेन व्याख्यानेन च पञ्चभावनासहित[ः] स[न्] शिष्यगणपोषणं करोति तदा गणपोषणकाल।...गणपोषणानन्त[रं] स्वकीयगणं त्यक्त्वात्मभावनासंस्कारार्थी भूत्वा परगणं गच्छति तद[ात्म]संस्कारकाल., आत्मसंस्कारानन्तरमाचाराराधनाकथितक्रमेण द्रव्य[भाव] भावसल्लेखनां करोति तदा सल्लेखनाकालः, सल्लेखनान्तरं च[तु]र्विधाराधनाभावनया समाधिविधि[ना] कालं करोति तदा स उत्त[मा]र्थकालश्चेति। =जब कोई मुमुक्षु चतुर्विध आराधनाके अभिमु[ख] हुआ, पंचाचारसे युक्त आचार्यको प्राप्त करके उभय परिग्रहमें रहि[त] होकर जिनदीक्षा ग्रहण करता है तदा दीक्षाकाल है। दीक्षाके अन[न]्तर चतुर्विध आराधनाके ज्ञानसे परिज्ञानके लिए जब आच[ार] आराधनादि चरणानुयोगके ग्रन्थोंकी शिक्षा ग्रहण करता है, त[ब] शिक्षाकाल है। शिक्षाके पश्चात् चरणानुयोग[में क]थित अनुष्ठान औ[र] उसके व्याख्यानके द्वारा पंचभावनासहित होता हुआ जब शिष्यगण का पोषण करता है तब गणपोषण काल है। गणपोषणके पश्चा[त्] अपने [गण अ]र्थात् [संघ]को छोड़कर आत्मभाव[ना]के संस्कारका इच्छु[क] होकर परसंघको जाता है तब आत्मसंस्कार काल है। आत्मसंस्कार[के] अनन्तर आचाराराधनामें कथित क्रमसे द्रव्य और भाव सल्लेखना करता है वह सल्लेखनाकाल है। सल्लेखनाके उपरान्त चार प्रकार[की] आराधनाकी भावनारूप समाधिको धारण करता है, वह उत्तमा[र्थ] काल है।

६. सोपक्रमादि कालोंके लक्षण

ध.१४/४,२,७,४२/३२/१ पारद्धपढमसमयादो अंतोमुहुत्तेण कालो जो घादो णिप्पज्जदि सो अणुभागखंडयघादो णाम, जो पुण उक्कीरण-कालेण विणा एगसमएणेव पददि सा अणुसमओवट्टणा। —प्रारम्भ किये गये प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा जो घात निष्पन्न होता है वह अनुभागकाण्डकघात है। परन्तु उत्कीरणकालके बिना एक समय द्वारा ही जो घात होता है वह अनुसमयापवर्तना है। विशेषार्थ—काण्डक पोरको कहते हैं। कुल अनुभागके हिस्से करके एक एक हिस्सेका फालिक्रमसे अन्तर्मुहूर्तकाल द्वारा अभाव करना अनुभाग काण्डकघात कहलाता है। (उपरोक्त कथनपरसे उत्कीरण-कालका यह लक्षण फलितार्थ होता है कि कुल अनुभागके पोर या काण्डक करके उन्हें घातार्थ जिस अन्तर्मुहूर्तकालमें स्थापित किया जाता है, उसे उत्कीरण काल कहते हैं।

ध.१४/५,६,६३१/४८५/१२ प्रबध्नन्ति एकत्वं गच्छन्ति अस्मिन्निति प्रब-न्धनः। प्रबन्धनश्चासौ कालश्च प्रबन्धनकालः। —बँधते अर्थात् एकत्वको प्राप्त होते हैं, जिसमें उसे प्रबन्धन कहते हैं। तथा प्रबन्धन रूप जो काल वह प्रबन्धनकाल कहलाता है।

गो.क./जी.प्र/६१५/८२०/५ सम्यक्त्वमिश्रप्रकृत्याः स्थितिसत्त्वं यावत्त्रसे उदधिपृथक्त्वं एकाक्षे च पल्यासंख्यातैकभागोनसागरोपममवशिष्यते तावद्वेदकयोग्यकालो भण्यते। तत उपर्युपशमकाल इति। —सम्य-क्त्वमोहिनी अर मिश्रमोहनी इनकी जो पूर्वे स्थितिबंधी थी सो वह सत्तारूप स्थिति त्रसकैं तौ पृथक्त्व सागर प्रमाण अवशेष रहैं अर एकेन्द्रीकैं पल्यका असंख्यातवाँ भाग करि हीन एक सागर प्रमाण अवशेष रहै तावत्काल तौ वेदक योग्य काल कहिए। बहुरि ताकै उपरि जा तिसतैं भी सत्तारूप स्थिति घाटि होइ तहाँ उपशम योग्य काल कहिए।

गो.क./भा.षा/५८३/७८९ ते नामकर्मके उदय स्थान जिस जिस काल विषै उदय योग्य है तहाँ ही होइ तातैं नियतकाल है। (इसको उदयकाल कहते हैं) ...कार्मण शरीर जहाँ पाइए सो कार्मण काल यावत शरीर पर्याप्ति पूर्ण न होइ तावत् शरीर मिश्रकाल, शरीर पर्याप्ति पूर्ण भएँ यावत सासोश्वास पर्याप्ति पूर्ण न होइ तावत शरीरपर्याप्ति काल, सासोश्वास पर्याप्ति पूर्ण भएँ यावत् भाषा पर्याप्ति पूर्ण न होइ तावत आनपान पर्याप्तिकाल, भाषा पर्याप्ति पूर्ण भएँ पीछैं सर्व अवशेष आयु प्रमाण भाषापर्याप्ति कहिए।

गो. जी./जी. प्र /२६६/५८२/२ उपक्रमः तत्सहितः कालः सोपक्रमकालः निरन्तरोत्पत्तिकाल इत्यर्थः। ...अनुपक्रमकालः उत्पत्तिरहितः कालः। —उपक्रम कहिए उत्पत्ति तींहि सहित जो काल सो सोप-क्रम काल कहिए सो आवलीके असंख्यातवें भाग मात्र है।...बहुरि जो उत्पत्ति रहित काल होइ सो अनुपक्रम काल कहिए।

ल.सा./भ षा/५३/८५ अपूर्वकरणके प्रथम समय तैं लगाय यावत सम्यक्त्व मोहनी, मिश्रमोहनीका पूरणकाल जो जिस कालविषैं गुणसंक्रमणकरि मिथ्यात्वकौं सम्यक्त्व मोहनीय मिश्रमोहनीरूप परिणमावै है।

७. ग्रहण व वासनादि कालोंके लक्षण

गो.क./जी.प्र /४६/४७/१० उदयाभावेऽपि तत्संस्कारकालो वासनाकालः। —उदयका अभाव होत संतै भी जो कषायनिका संस्कार जितने काल तक रहे ताका नाम वासना काल है।

भ.आ./भाषा/२११/४२६ दीक्षा ग्रहण कर जब तक संन्यास ग्रहण किया नहीं तब तक ग्रहण काल माना जाता है, तथा व्रतादिकोंमें अतिचार लगने पर जो प्रायश्चित्तसे शुद्धि करनेके लिए कुछ दिन अनशनादि तप करना पड़ता है उसको प्रतिसेवना काल कहते हैं।

८. भवहार कालका लक्षण

ध.३/१,२,५६/२६१/११ का सारार्थ भागाहार रूप कालका प्रमाण।

९. निक्षेपरूप कालोंके लक्षण

ध ४/१,५,१/३१३-३१६/१० तत्थ णामकालो णाम कालसद्दो। ...सो एसो इदि अण्णम्हि बुद्धीए अण्णारोवणं ठवणा णाम। ...पल्लविय...वण-संडुज्जोइयचित्तालिहियवसंतो। असब्भावट्ठवणकालो णाम मणि-भेद-गेरुअ-मट्टी-ठिक्करादिसु वसंतो त्ति बुद्धिबलेण ठविदो। ...आग-मदो कालपाहुडजाणगो अणुवजुत्तो। ...भवियणोआगमदव्वकालो-भवियणोआगमदव्वकालो भविस्सकाले कालपाहुडजाणओ जीवो। ववगददोगंध-पंचरसट्ठफास-पंचवण्णो कुंभारचक्कहेट्ठिमसिलव्व वत्त-णालक्खणो अत्थो तव्वदिरित्तणोआगमदव्वकालो णाम। ...जीवा-जीवादिअट्ठभंगदव्वं वा णोआगमदव्वकालो। ...कालपाहुडजाणओ उवजुत्तो जीवो आगमभावकालो। दव्वकालजणिदपरिणामो णो-आगमभावकालो भण्णदि। ...तस्स समय-आवलिय-खण-लव-मुहुत्त-दिवस-पक्ख-मास-उडु-अयण-संवच्छर-जुग-पुव्व-पव्व-पलिदोवम-सागरोवमादि-रूवत्तादो। —'काल' इस प्रकारका शब्द नामकाल कहलाता है।...'वह यही है' इस प्रकारसे अन्य वस्तुमें बुद्धिके द्वारा अन्यका आरोपण करना स्थापना है।...उनमेंसे पल्लवित...आदि वनखण्डसे उद्योतित, चित्रलिखित वसन्तकालको सद्भावस्थापनाकाल निक्षेप कहते हैं। मणिविशेष, गेरुक, मट्टी, ठीकरा इत्यादिमें यह वसन्त है' इस प्रकार बुद्धिके बलसे स्थापना करनेको असद्भावस्थापना काल कहते हैं। ...काल विषयक प्राभृतका ज्ञायक किन्तु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीव आगमद्रव्य काल है।...भविष्यकालमें जो जीव कालप्राभृतका ज्ञायक होगा, उसे भावीनोआगमद्रव्यकाल कहते हैं। जो दो प्रकारके गन्ध, पाँच प्रकारके रस, आठ प्रकारके स्पर्श और पाँच प्रकारके वर्णसे रहित है...वर्तना ही जिसका लक्षण है...ऐसे पदार्थको तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यकाल कहते हैं।... अथवा जीव और अजीवादिके योगसे बने हुए आठ भंग रूप द्रव्यको नोआगमद्रव्यकाल कहते हैं।...काल विषयक प्राभृतका ज्ञायक और वर्तमानमें उपयुक्त जीव आगम भाव काल है। द्रव्यकालसे जनित परिणाम या परिणमन नोआगमभावकाल कहा जाता है। ...वह काल समय, आवली, क्षण, लव, मुहूर्त, दिवस, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, पूर्व, पर्व, पल्योपम, सागरोपम आदि रूप है।

ध.११/४,२,६,१/७६/७ तत्थ सचित्तो-जहा दंसकालो मसयकालो इच्चेव-मादि, दंस-मसयाणं चेव उवयारेण कालत्तविहाणादो। अचित्तकालो-जहा धूलिकालो चिक्खल्लकालो उण्हकालो वरिसाकालो सीदकालो इच्चेवमादि। मिस्सकालो-तहा सदंस-सीदकालो इच्चेवमादि।... तत्थ लोउत्तरीओ समाचारकालो-जहा वंदणकालो णियमकालो सज्झयकालो झाणकालो इच्चेवमादि। लोगिय-समाचारकालो-जहा कसणकालो लुणणकालो ववणकालो इच्चेवमादि। —उनमें दंशकाल, मशककाल इत्यादिक सचित्तकाल है, क्योंकि इनमें दंश और मशक-के ही उपचारसे कालका विधान किया गया है। धूलिकाल, कर्दम-काल, उष्णकाल, वर्षाकाल एवं शीतकाल इत्यादि सब अचित्तकाल है। सदंश शीतकाल इत्यादि मिश्रकाल है। ...वंदनाकाल, नियम-काल, स्वाध्यायकाल व ध्यानकाल आदि लोकोत्तरीय समाचारकाल हैं। कर्षणकाल, लुननकाल व वपनकाल इत्यादि लौकिक समाचार-काल हैं।

१०. सम्यग्ज्ञानका कालनामा अंग

मू.आ./२७०-२७५ पादोसियवेरत्तियगोसग्गियकालमेव गेण्हित्ता। उभये कालम्हि पुणो सज्झाओ होदि कायव्वो।२७०। सज्झाये पट्ठवणे जंघच्छायं वियाण सत्तपयं। पुव्वण्हे अवरण्हे तावदियं चेव णिट्ठवणे।२७१। आसाढे दुपदा छाया पुस्समासे चदुप्पदा। वड्ढदे हीयदे चावि मासे मासे दुअंगुला।२७२। णवसत्तपंचगाहापरिमाणं दिसिविभागसोधीए। पुव्वण्हे अवरण्हे पदोसकाले य सज्झाए।२७३। दिसदाह उक्कपडणं विज्जु चडुक्कासणिंदधणुगं च। दुग्गंधसज्झदुद्दिणचंदग्गहसूरराहुजुज्झं च।२७४। कलहादिधूमकेदू धरणीकंपं च अब्भगज्जं च। इच्चेवमाइबहुया सज्झाए वज्जिदा दोसा।२७५। —प्रादोषिककाल, वैरात्रिक, गोसर्गकाल—इन चारों कालोंमें-से दिनरातके पूर्वकाल अपरकाल इन दो कालोंमें स्वाध्याय करनी चाहिए।२७०। स्वाध्यायके आरम्भ करनेमें सूर्यके उदय होनेपर दोनों जाँघोंकी छाया सात विलस्त प्रमाण जानना। और सूर्यके अस्त होनेके कालमें भी सात विलस्त छाया रहे तब स्वाध्याय समाप्त करना चाहिए।२७१। आषाढ महीनेके अन्त दिवसमें पूर्वाह्णके समय दो पहर पहले जंघा छाया दो विलस्त अर्थात् बारह अंगुल प्रमाण होती है और पौषमासमें अन्तके दिनमें चौबीस अंगुल प्रमाण जंघाछाया होती है। और फिर महीने महीनेमें दो-दो अंगुल बढ़ती घटती है। सब संध्याओंमें आदि अन्तकी दो दो घड़ी छोड़ स्वाध्याय काल है।२७२। दिशाओंके पूर्व आदि भेदोंकी शुद्धिके लिए प्रातःकालमें नौ गाथाओंका, तीसरे पहर सात गाथाओंका, सायंकालके समय पाँच गाथाओंका स्वाध्याय (पाठ व जाप) करे।२७३। उत्पातसे दिशाका अग्नि वर्ण होना, ताराके आकार पुद्गलका पड़ना, बिजलीका चमकना, मेघोंके संघट्टसे उत्पन्न वज्रपात, ओले बरसना, धनुषके आकार पंचवर्ण पुद्गलोंका दीखना, दुर्गन्ध, लालपीलेवर्णके आकार साँझका समय, बादलोंसे आच्छादित दिन, चन्द्रमा, ग्रह, सूर्य, राहुके विमानोंका आपसमें टकराना।२७४। लड़ाईके वचन, लकड़ी आदिसे झगड़ना, आकाशमें धुआँके आकार रेखाका दीखना, धरतीकंप, बादलोंका गर्जना, महापवनका चलना, अग्निदाह इत्यादि बहुत-से दोष स्वाध्यायमें वर्जित किये गये हैं अर्थात् ऐसे दोषोंके होनेपर नवीन पठन-पाठन नहीं करना चाहिए।२७५। (भ. आ./वि./११३/२६०)

११. पुद्गल आदिकोंके परिणामको काल संज्ञा कैसे सम्भव है

ध./४/१,५,१/३१७/६ पोग्गलादिपरिणामस्स कधं कालववएसो। ण एस दोसो, कज्जे कारणोवयारणिबंधणत्तादो। —प्रश्न—पुद्गल आदि द्रव्योंके परिणामके 'काल' यह संज्ञा कैसे सम्भव है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि कार्यमें कारणके उपचारके निबन्धनसे पुद्गलादि द्रव्योंके परिणामके भी 'काल' संज्ञाका व्यवहार हो सकता है।

१२. दीक्षा शिक्षा आदि कालोंमेंसे सर्व ही एक जीवको हों ऐसा नियम नहीं

पं.का./ता.वृ./१७३/२५३/२२ अत्र कालषट्कमध्ये केचन प्रथमकाले केचन द्वितीयकाले केचन तृतीयकालादौ केवलज्ञानमुत्पादयन्तीति कालषट्कनियमो नास्ति। —यहाँ दीक्षादि छः कालोंमें कोई तो प्रथम कालमें कोई, द्वितीय कालमें, कोई, तृतीय आदि कालमें केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार छः कालोंका नियम नहीं है।

२. निश्चयकाल निर्देश व उसकी सिद्धि

१. निश्चय कालका लक्षण

पं.का./मू./२४ ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंधअट्ठफासो य। अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालो त्ति।२४। —काल (निश्चयकाल) पाँच वर्ण और पाँच रस रहित, दो गन्ध और आठ स्पर्श रहित, अगुरुलघु, अमूर्त और वर्तना लक्षण वाला है। (स. सि./५/२२/२९३/२) (ति.प./४/२७८)

स.सि./५/२२/२९१/५ स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्त्यभावात्तत्प्रवर्तनोपलक्षितः कालः। —(यद्यपि धर्मादिक द्रव्य अपनी नवीन पर्याय उत्पन्न करनेमें) स्वयं प्रवृत्त होते हैं तो भी वह बाह्य सहकारी कारणके बिना नहीं हो सकती इसलिए उसे प्रवर्ताने वाला काल है ऐसा मानकर वर्तना कालका उपकार कहा है।

स.सि./५/३९/३१२/११ कालस्य पुनर्द्वेधापि प्रदेशप्रचयकल्पना नास्तीत्यकायत्वम्।...तस्मात्पृथगिह कालोद्देशः क्रियते। अनेकद्रव्यत्वे सति किमस्य प्रमाणम्। लोकाकाशस्य यावन्तः प्रदेशास्तावन्तः कालाणवो निष्क्रिया एकैकाकाशप्रदेशे एकैकवृत्त्या लोकं व्याप्य व्यवस्थिताः।... रूपादिगुणविरहादमूर्ताः। —(निश्चय और व्यवहार) दोनों ही प्रकारके कालमें प्रदेशप्रचयकी कल्पनाका अभाव है।...काल द्रव्यका पृथक्से कथन किया गया है। शंका—काल अनेक द्रव्य है इसका क्या प्रमाण है? उत्तर—लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतने कालाणु हैं और वे निष्क्रिय हैं। तात्पर्य यह है कि लोकाकाशके एक एक प्रदेश पर एक एक कालाणु अवस्थित है। और वह काल रूपादि गुणोंसे रहित तथा अमूर्तीक है। (रा.वा./५/२२/२४/४८२/२)

रा. वा./४/१४/२२२/१२ कल्यते क्षिप्यते प्रेर्यते येन क्रियावद्द्रव्यं स कालः। —जिसके द्वारा क्रियावान द्रव्य 'कल्यते, क्षिप्यते, प्रेर्यते' अर्थात् प्रेरणा किये जाते हैं, वह काल द्रव्य है।

ध.४/१,५,१/३/३१५ ण य परिणमइ सयं सो ण य परिणामेइ अण्णमण्णेहिं। विविहपरिणामियाणं हवइ सुहेऊ सयं कालो।३। —वह काल नामक पदार्थ न तो स्वयं परिणमित होता है, और न अन्यको अन्यरूपसे परिणमाता है। किन्तु स्वतः नाना प्रकारके परिणामोंको प्राप्त होने वाले पदार्थोंका काल स्वयं सुहेतु होता है।३। (ध.११/४,२,६,१/२/७६)

ध.४/१,५,१/७/३१७ सब्भावसहावाणं जीवाणं तह य पोग्गलाणं च। परियट्टणसंभूओ कालो णियमेण पण्णत्तो।७। —सत्ता स्वरूप स्वभाव वाले जीवोंके, तथैव पुद्गलोंके और 'च' शब्दसे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाश द्रव्यके परिवर्तनमें जो निमित्तकारण हो, वह नियमसे कालद्रव्य कहा गया है।

म.पु./३/४ यथा कुलालचक्रस्य भ्रान्तेर्हेतुरधश्शिला। तथा कालः पदार्थानां वर्तनोपग्रहे मतः।४। —जिस प्रकार कुम्हारके चाकके घूमनेमें उसके नीचे लगी हुई कील कारण है उसी प्रकार पदार्थोंके परिणमन होनेमें कालद्रव्य सहकारी कारण है।

न.च.वृ./१३७ परमत्थो जो कालो सो चिय हेऊ हवेइ परिणामो। —जो निश्चय काल है वही परिणमन करनेमें कारण होता है।

गो.जी./मू./५६८ वत्तणहेदू कालो वत्तणगुणमविय दव्वणिचयेसु। कालाधारेणेव य वट्टंति हु सव्वदव्वाणि।५६८। —णिच् प्रत्यय संयुक्त धातुका कर्मविषै वा भावविषै वर्तना शब्द निपजै है सो याका यहु जो वर्तै वा वर्तना मात्र होइ ताकौं वर्तना कहिए सो धर्मादिक द्रव्य अपने अपने पर्यायनिकी निष्पत्ति विषै स्वयमेव वर्तमान है तिनके बाह्य कोई कारणभूत उपकार बिना सो प्रवृत्ति संभवै नाहीं, तातैं तिनकैं तिस प्रवृत्ति करावने कूं कारण कालद्रव्य है, ऐसे वर्तना कालका उपकार है।

नि.सा./ता.वृ./६/२४/४ पञ्चानां वर्तनाहेतुः कालः। –पाँच द्रव्योंका वर्तनाका निमित्त वह काल है।

द्र.सं.वृ./मू./२१ परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो। –वर्तना लक्षण वाला जो काल है वह निश्चय काल है।

द्र. सं. वृ./टी./२१/६१ वर्तनालक्षणः कालाणुद्रव्यरूपो निश्चयकालः। –वह वर्तना लक्षणवाला कालाणु द्रव्यरूप 'निश्चयकाल' है।

२. कालद्रव्यके विशेष गुण व कार्य वर्तना हेतुत्व है

त. सू./५/२२, ४० वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥ सोऽनन्तसमयः ॥४०॥ –वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये कालके उपकार हैं ॥२२॥ वह अनन्त समयवाला है।

ति. प./४/२७६-२८२ कालस्स दो वियप्पा मुक्खामुक्खा हवंति एदेसुं। मुक्खाधारबलेण अमुक्खकालो पयट्टेदि ॥२७६॥ जीवाण पुग्गलाणं हुवंति परियट्टणाइ विविहाइं। एदाणं पज्जाया वट्टंते मुक्खकाल आधारे ॥२८०॥ सव्वाण पयत्थाण णियमा परिणामपहुदिवित्तीओ। बहिरंतरंगहेदुहि सव्वब्भेदेसु वट्टंति ॥२८१॥ बाहिरहेदुं कहिदो णिच्छयकालोत्ति सव्वदरिसीहिं। अब्भंतरं णिमित्तं णियणियदव्वेसु चेट्ठेदि ॥२८२॥ –कालके मुख्य और अमुख्य दो भेद हैं। इनमेंसे मुख्य कालके आश्रयसे अमुख्य कालकी प्रवृत्ति होती है ॥२७६॥ जीव और पुद्गल के विविध प्रकारके परिवर्तन हुआ करते हैं। इनकी पर्यायें मुख्य कालके आश्रयसे वर्तती हैं ॥२८०॥ सर्व पदार्थोंके समस्त भेदोंमें नियमसे बाह्य और अभ्यन्तर निमित्तोंके द्वारा परिणामादिक (परिणाम, क्रिया, परत्वापरत्व) वृत्तियाँ प्रवर्तती हैं ॥२८१॥ सर्वज्ञ देवने सर्व पदार्थोंके प्रवर्तनेका बाह्य निमित्त निश्चयकाल कहा है। अभ्यन्तर निमित्त अपने-अपने द्रव्योंमें स्थित है।

रा. वा./५/३९/२/५०१/३१ गुणा अपि कालस्य साधारणासाधारणरूपाः सन्ति। तत्रासाधारणा वर्तनाहेतुत्वम्। साधारणाश्च अचेतनत्वामूर्तत्वसूक्ष्मत्वागुरुलघुत्वादयः पर्यायाश्च व्ययोत्पादलक्षणा योज्याः। –कालमें अचेतनत्व, अमूर्तत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व आदि साधारण गुण और वर्तनाहेतुत्व असाधारण गुण पाये जाते हैं। व्यय और उत्पादरूप पर्यायें भी कालमें बराबर होती रहती हैं।

आ. प./२/९९ कालद्रव्ये वर्तनाहेतुत्वममूर्तत्वमचेतनत्वमिति विशेषगुणाः। –कालद्रव्यमें वर्तनाहेतुत्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व ये विशेष गुण हैं। (ध. ५/३३/७)

प्र. सा./त. प्र./१३३-१३४ अशेषशेषद्रव्याणां प्रतिपर्यायं समयवृत्तिहेतुत्वं कालस्य। –(कालके अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्योंकी प्रतिपर्यायमें समयवृत्तिका हेतुत्व (समय-समयकी परिणतिका निमित्तत्व) कालका विशेष गुण है।

३. काल द्रव्यगतिमें भी सहकारी है

त. सू./५/२२ ...क्रिया...च कालस्य ॥२२॥ –क्रियामें कारण होना, यह काल द्रव्यका उपकार है।

४. काल द्रव्यके १५ सामान्य विशेष स्वभाव

न. च. वृ./७० पंचदसा पुण काले दव्वसहावा य णायव्वा ॥७०॥ –काल द्रव्यके १५ सामान्य तथा विशेष स्वभाव जानने चाहिए। (आ. प./४) (वे स्वभाव निम्न हैं—सद्, असद्, नित्य, अनित्य, अनेक, भेद, अभेद, स्वभाव, अचैतन्य, अमूर्त, एकप्रदेशत्व, शुद्ध, उपचरित, अनुपचरित, एकान्त, अनेकान्त स्वभाव)

५. काल द्रव्य एक प्रदेशी असंख्यात द्रव्य है

नि. सा./मू./३६ कालस्स ण कायत्तं एयपदेसो हवे जम्हा ॥३६॥ –काल द्रव्यको कायपना नहीं है, क्योंकि वह एकप्रदेशी है। (पं. का./त. प्र./४) (द्र. सं. वृ./मू./२५)

प्र. सा./त. प्र./१३५ कालाणोस्तु द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वात्पर्यायेण तु परस्परसंपर्कासंभवादप्रदेशत्वमेवास्ति। ततः कालद्रव्यमप्रदेशं। –कालाणु तो द्रव्यतः प्रदेश मात्र होनेसे और पर्यायतः परस्पर सम्पर्क न होनेसे अप्रदेशी ही है। इसलिए निश्चय हुआ कि काल द्रव्य अप्रदेशी है। (प्र. सा./त. प्र./१३८)

प्र. सा./त. प्र./१३६ कालजीवपुद्गलानामित्येकद्रव्यापेक्षया एकदेश अनेकद्रव्यापेक्षया पुनरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकन्यायेन सर्वलोक एवेति ॥१३६॥ –काल, जीव तथा पुद्गल एक द्रव्यकी अपेक्षासे लोकके एकदेशमें रहते हैं, और अनेक द्रव्योंकी अपेक्षासे अंजनचूर्ण (काजल) से भरी हुई डिबियाके अनुसार समस्त लोकमें ही है। (अर्थात् द्रव्यकी अपेक्षासे कालद्रव्य असंख्यात हैं।)

गो. जी./मू./५८५ एक्केक्को दु पदेसो कालाणूणं धुवो होदि ॥५८५॥ –बहुरि कालाणू एक एक लोकाकाशका प्रदेशविषै एक-एक पाइए है सो ध्रुव रूप है, भिन्न-भिन्न सत्त्व धरै है तातैं तिनिका क्षेत्र एक-एक प्रदेशी है।

६. कालद्रव्य आकाश प्रदेशोंपर पृथक्-पृथक् अवस्थित है

ध./४/१,५१/४/३१५ लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया दु एक्केक्का। रयणाणं रासी इव ते कालाणू मुणेयव्वा ॥४॥ –लोकाकाशके एक-एक प्रदेश पर रत्नोंकी राशिके समान जो एक एक रूपसे स्थित हैं, वे कालाणु जानना चाहिए। (गो. जी./मू./५८९) (द्र. सं. वृ./मू./२२)

ति. प./४/२८३ कालस्स भिण्णाभिण्णा अण्णुण्णपवेसणेण परिहीणा। पुहपुह लोयायासे चेट्ठंते संचएण विणा ॥२८३॥ –अन्योन्य प्रवेशसे रहित कालके भिन्न-भिन्न अणु संचयके बिना पृथक्-पृथक् लोकाकाशमें स्थित हैं। (प. प्र./मू./२/२१) (रा. वा./५/२२/२४/४८२/१) (न. च. वृ./१३६)

७. काल द्रव्यका अस्तित्व कैसे जाना जावे

स. सि./५/२२/२९२/१ स कथं काल इत्यवसीयते। समयादीनां क्रियाविशेषाणां समयादिभिर्निर्वर्त्यमानानां च पाकादीनां समयः पाक इत्येवमादिस्वसंज्ञारूढिसद्भावेऽपि समयः कालः ओदनपाकः काल इति अध्यारोप्यमाणः कालव्यपदेशः तद्व्यपदेशनिमित्तस्य कालस्यास्तित्वं गमयति। कुतः। गौणस्य मुख्यापेक्षत्वात्। –प्रश्न—काल द्रव्य है यह कैसे जाना जा सकता है? उत्तर—समयादिक क्रियाविशेषोंकी और समयादिकके द्वारा होनेवाले पाक आदिककी समय, पाक इत्यादिक रूपसे अपनी-अपनी रौढिक संज्ञाके रहते हुए भी उसमें जो समयकाल, ओदनपाक काल इत्यादि रूपसे काल संज्ञाका अध्यारोप होता है, वह उस संज्ञाके निमित्तभूत मुख्यकालके अस्तित्वका ज्ञान कराता है, क्योंकि गौण व्यवहार मुख्यकी अपेक्षा रखता है। (रा. वा./५/२२/६/४७७/१९) (गो. जी./जी. प्र./५६८/१०१३/१४)

प्र. सा./त. प्र./१३४ अशेषशेषद्रव्याणां प्रतिपर्यायसमयवृत्तिहेतुत्वं कारणान्तरसाध्यत्वात्समयविशिष्टाया वृत्तेः स्वतस्तेषामसंभवत्कालमधिगमयति।

प्र. सा./त. प्र./१३६ कालोऽपि लोके जीवपुद्गलपरिणामव्यज्यमानसमयादिपर्यायत्वात्।

प्र. सा./त. प्र./१४२ तौ यदि वृत्त्यंशस्यैव किं यौगपद्येन किं क्रमेण, यौगपद्येन चेत् नास्ति यौगपद्यं सममेकस्य विरुद्धधर्मयोरनवतारात्।

क्रमेण चेत् नास्ति क्रमः, वृत्त्यंशस्य सूक्ष्मत्वेन विभागाभावात्। ततो वृत्तिमान् कोऽप्यवश्यमनुसर्तव्यः, स च समयपदार्थ एव।

प्र. सा./त. प्र./१४३ विशेषास्तित्वस्य सामान्यास्तित्वमन्तरेणानुपपत्तेः। अयमेव च समयपदार्थस्य सिद्ध्यति सद्भावः।–१. (कालके अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्योंके, प्रत्येक पर्यायमें समयवृत्तिका हेतुत्व कालको बतलाता है, क्योंकि उनके, समयविशिष्ट वृत्ति कारणान्तरसे साध्य होनेसे (अर्थात् उनके समयसे विशिष्ट-परिणति अन्य कारणसे होती है, इसलिए) स्वतः उनके वह (समयवृत्ति हेतुत्व। संभवित नहीं है। (१३४) (पं. का./त. प्र. ता. वृ./२३)। २. जीव और पुद्गलोंके परिणामोंके द्वारा (कालको) समयादि पर्यायें व्यक्त होती हैं (१३६/ (प्र. सा./त. प्र./१३६)। ३. यदि उत्पाद और विनाश वृत्त्यंशके (काल रूप पर्याय) ही मानें जायें तो, (प्रश्न होता है कि—) (१) वे युगपद् हैं या (२) क्रमशः? (१) यदि 'युगपद्' कहा जाय तो युगपद्पना घटित नहीं होता, क्योंकि एक ही समय एक के दो विरोधी धर्म नहीं होते। (एक ही समय एक वृत्त्यंशके प्रकाश और अन्धकारकी भाँति उत्पाद और विनाश-दो विरुद्ध धर्म नहीं होते।) (२) यदि 'क्रमशः' कहा जाय तो क्रम नहीं बनता, क्योंकि वृत्त्यंशके सूक्ष्म होनेसे उसमें विभागका अभाव है। इसलिए (समयरूपी वृत्त्यंशके उत्पाद तथा विनाश होना अशक्य होनेसे) कोई वृत्तिमान अवश्य ढूँढना चाहिए। और वह (वृत्तिमान) काल पदार्थ ही है। (१४२)। ४. सामान्य अस्तित्वके बिना विशेष अस्तित्वकी उत्पत्ति नहीं होती, वह ही समय पदार्थके सद्भावकी सिद्धि करता है।

त. सा./ परि०/१/पृ. १७२ पर शोलापुर वाले पं० वंशीधरजीने काफी विस्तारसे युक्तियों द्वारा छहों द्रव्योंकी सिद्धि की है।

८. समयसे अन्य कोई काल द्रव्य उपलब्ध नहीं—

प्र. सा./त. प्र./१४४ न च वृत्तिरेव केवला कालो भवितुमर्हति, वृत्तेर्हि वृत्तिमन्तमन्तरेणानुपपत्तेः। –मात्र वृत्ति ही काल नहीं हो सकती, क्योंकि वृत्तिमानके बिना वृत्ति नहीं हो सकती।

पं. का./ता. वृ./२६/५५/८ समयरूप एव परमार्थकालो न चान्यः कालाणुद्रव्यरूप इति। परिहारमाह-समयस्तावत्सूक्ष्मकालरूपः प्रसिद्ध स एव पर्यायः न च द्रव्यम्। कथं पर्यायत्वमिति चेत्। उत्पन्नप्रध्वंसित्वात्पर्यायस्य "समओ उप्पण्णपद्धंसी" ति वचनात्। पर्यायस्तु द्रव्यं विना न भवति द्रव्यं च निश्चयेनाविनश्वरं तच्च कालपर्यायस्योपादानकारणभूतं कालाणुरूपं कालद्रव्यमेव न च पुद्गलादि। तदपि कस्मात्। उपादानसदृशत्वात्कार्य...।–प्रश्न—समय रूप ही निश्चय काल है, उस समयसे भिन्न अन्य कोई कालाणु द्रव्यरूप निश्चयकाल नहीं है? उत्तर—समय तो कालद्रव्यकी सूक्ष्म पर्याय है स्वयं द्रव्य नहीं है। प्रश्न—समय को पर्यायपना किस प्रकार प्राप्त है? उत्तर—पर्याय उत्पत्ति विनाशवाली होती है "समय उत्पन्न प्रध्वंसी है" इस वचनसे समयको पर्यायपना प्राप्त होता है। और वह पर्याय द्रव्यके बिना नहीं होती, तथा द्रव्य निश्चयसे अविनश्वर होता है। इसलिए कालरूप पर्यायका उपादान कारणभूत कालाणुरूप कालद्रव्य ही होना चाहिए न कि पुद्गलादि। क्योंकि, उपादान कारणके सदृश ही कार्य होता है। (पं. का./ता. वृ./२३/४६/८) (पं. प्र./टी०/२/२१/१३६/१०) (द्र. सं. वृ. टी./२१/६१/१)।

९. समय आदि का उपादान कारण तो सूर्य परमाणु आदि हैं, कालद्रव्यसे क्या प्रयोजन:—

रा. वा./५/२२/७/४७७/२० आदित्यगतिनिमित्ता द्रव्याणां वर्तनेति; तन्न; किं, कारणम्। तद्गतावपि तत्सद्भावात्। सवितुरपि द्रव्याणां भूतादिव्यवहारविषयभूतायां क्रियेत्येवं रूढायां वर्तनादर्शनात् तद्धेतुना अन्येन कालेन भवितव्यम्। – प्रश्न—आदित्य—सूर्यकी गतिसे द्रव्योंमें वर्तना हो जावे? उत्तर—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि सूर्यकी गतिमें भी 'भूत वर्तमान भविष्यत' आदि कालिक व्यवहार देखे जाते हैं। वह भी एक क्रिया है उसकी वर्तनामें भी किसी अन्यको हेतु मानना ही चाहिए। वही काल है। (पं. का./ता. वृ./२५/५२/१६)।

द्र. सं. वृ./टी०/२१/६२/२ अथ मतं-समयादिकालपर्यायाणां कालद्रव्यमुपादानकारणं न भवति; किन्तु समयोत्पत्तौ मन्दगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुस्तथा निमेषकालोत्पत्तौ नयनपुटविघटनं तथैव घटिकाकालपर्यायोत्पत्तौ घटिकासामग्रीभूतजलभाजनपुरुषहस्तादिव्यापारो, दिवसपर्याये तु दिनकरबिम्बमुपादानकारणमिति। "नैवम्। यथा तन्दुलोपादानकारणोत्पन्नस्य सदोदनपर्यायस्य शुक्लकृष्णादिवर्णा, सुरभ्यसुरभिगन्ध-स्निग्धरूक्षादिस्पर्शमधुरादिरसविशेषरूपा गुणा दृश्यन्ते। तथा पुद्गलपरमाणुनयनपुटविघटनजलभाजनपुरुषव्यापारादिदिनकरबिम्बरूपैः पुद्गलपर्यायैरुपादानभूतैः समुत्पन्नानां समयनिमिषघटिकादिकालपर्यायाणामपि शुक्लकृष्णादिगुणाः प्राप्नुवन्ति, न च तथा।–प्रश्न—समय, घड़ी आदि कालपर्यायोंका उपादान कारण काल द्रव्य नहीं है किन्तु समय रूप काल पर्यायकी उत्पत्तिमें मन्दगतिसे परिणत पुद्गल परमाणु उपादान कारण है; तथा निमेषरूप काल पर्यायकी उत्पत्तिमें नेत्रोंके पुटोंका विघटन अर्थात पलकका गिरना-उठना उपादान कारण है; ऐसे ही घड़ी रूप काल पर्यायकी उत्पत्तिमें घड़ीकी सामग्रीरूप जलका कटोरा और पुरुषके हाथ आदिका व्यापार उपादान कारण है; दिन रूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमें सूर्यका बिम्ब उपादान कारण है। उत्तर—ऐसा नहीं है, जिस तरह चावल रूप उपादान कारणसे उत्पन्न भात पर्यायके उपादान कारणमें प्राप्त गुणोके समान ही सफेद, कालादि वर्ण, अच्छी या बुरी गन्ध; चिकना अथवा रूखा आदि स्पर्श; मीठा आदि रस; इत्यादि विशेष गुण दीख पड़ते हैं, वैसे ही पुद्गल परमाणु, नेत्र, पलक, विघटन, जल कटोरा, पुरुष व्यापार आदि तथा सूर्यका बिम्ब इन रूप जो उपादानभूत पुद्गलपर्याय है उनसे उत्पन्न हुए समय, निमिष, घडी, दिन आदि जो काल पर्याय हैं उनके भी सफेद, काला आदि गुण मिलने चाहिए; परन्तु समय, घड़ी आदिमें ये गुण नहीं दीख पड़ते हैं। (रा. वा./५/२२/२६-२७/४८२-४८४ में सविस्तार तर्कादि)।

पं.का./ता.वृ./२६/५४/१६ यद्यपि निश्चयेन द्रव्यकालस्य पर्यायस्तथापि व्यवहारेण परमाणुजलादिपुद्गलद्रव्यं प्रतीत्याश्रित्य निमित्तीकृत्य भव उत्पन्नो जात इत्यभिधीयते। –यद्यपि निश्चयसे (समय) द्रव्य कालकी पर्याय है, तथापि व्यवहारसे परमाणु, जलादि पुद्गलद्रव्यके आश्रयसे अर्थात पुद्गल द्रव्यको निमित्त करके प्रगट होती है, ऐसा जानना चाहिए। (द्र.सं वृ./टी./३५/१३४)।

१०. परमाणु आदिकी गतिमें भी धर्म आदि द्रव्य निमित्त हैं, काल द्रव्यसे क्या प्रयोजन

रा.वा./५/२२/८/४७७/२४ आकाशप्रदेशनिमित्ता वर्तना नान्यस्तद्धेतुः कालोऽस्तीति; तन्न; किं कारणम्। तां प्रत्यधिकरणभावाद् भाजनवत्। यथा भाजनं तण्डुलानामधिकरणं न तु तदेव पचति, तेजसो हि स व्यापारः, तथा आकाशमप्यादित्यगत्यादिवर्तनायामधिकरणं न तु तदेव निर्वर्तयति। कालस्य हि स व्यापारः। –प्रश्न—आकाश प्रदेशके निमित्तसे (द्रव्योंमें) वर्तना होती है। अन्य कोई 'काल' नामक उसका हेतु नहीं है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे बर्तन चावलोंका आधार है, पर पाकके लिए तो अग्निका व्यापार ही चाहिए, उसी तरह आकाश वर्तनावाले द्रव्योंका आधार तो हो

सकता है, पर वह वर्तनाकी उत्पत्तिमें सहकारी नहीं हो सकता। उसमें तो काल द्रव्यका ही व्यापार है।

पं.का./ता.वृ./२५/५३/३ आदित्यगत्यादिपरिणतेर्धर्मद्रव्यं सहकारिकारणं कालस्य किमायातम्। नैवं। गतिपरिणतेर्धर्मद्रव्यं सहकारिकारणं भवति कालद्रव्यं च, सहकारिकारणानि बहून्यपि भवन्ति यत कारणाद् घटोत्पत्तौ कुम्भकारचक्रचीवरादिवत् मत्स्यादीनां जलादिवत् मनुष्याणां शकटादिवद्·· इत्यादि कालद्रव्यं गतिकारणं। कुत्र भणितं तिष्ठतीति चेद् "पोग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणेहिं" क्रियावन्तो भवन्तीति कथयत्यग्रे। —प्रश्न—सूर्यकी गति आदि परिणतिमें धर्म द्रव्य सहकारी कारण है तो काल द्रव्यकी क्या आवश्यकता है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि गति परिणतके धर्म-द्रव्य सहकारी कारण होता है तथा काल द्रव्य भी। सहकारी कारण तो बहुत सारे होते हैं जैसे घटकी उत्पत्तिमें कुम्हार चक्र चीवरादिके समान, मत्स्योंकी गतिमें जलादिके समान, मनुष्योंकी गतिमें गाड़ी-पर बैठना आदिके समान,···इत्यादि प्रकार कालद्रव्य भी गतिमें कारण है। —प्रश्न—ऐसा कहाँ है? उत्तर—धर्म द्रव्यके विद्यमान होनेपर भी जीवोंकी गतिमें कर्म, नोकर्म, पुद्गल सहकारी कारण होते हैं और अणु तथा स्कन्ध इन दो भेदोंवाले पुद्गलोंके गमनमें काल द्रव्य सहकारी कारण होता है। (पं.का./मू./९८) ऐसा आगे कहेंगे।

११. सर्व द्रव्य स्वभावसे ही परिणमन करते हैं, काल द्रव्यसे क्या प्रयोजन

रा.वा./५/२२/१/४७७/२७ सत्तानां सर्वपदार्थानां साधारण्यस्ति तद्धेतुका वर्तनेति; तन्न; किं कारणम्। तस्या अप्यनुग्रहात्। कालानुगृहीतवर्तना हि सत्तेति ततोऽप्यन्येन कालेन भवितव्यम्। —प्रश्न—सत्ता सर्व पदार्थोंमें रहती है, साधारण है, अतः वर्तना सत्ताहेतुक है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि वर्तना सत्ताका भी उपकार करती है। कालसे अनुगृहीत वर्तना ही सत्ता कहलाती है। अतः काल पृथक् ही होना चाहिए।

द्र.सं.वृ./टी./२२/६५/४ अथ मतं यथा कालद्रव्यं स्वस्योपादानकारणं परिणतेः सहकारिकारणं च भवति तथा सर्वद्रव्याणि, कालद्रव्येण किं प्रयोजनमिति। नैवम्; यदि पृथग्भूतसहकारिकारणेन प्रयोजनं नास्ति तर्हि सर्वद्रव्याणां साधारणगतिस्थित्यवगाहनविषये धर्माधर्माकाशद्रव्यैरपि सहकारिकारणभूतैः प्रयोजनं नास्ति। किंच, कालस्य घटिकादिवसादिकार्यं प्रत्यक्षेण दृश्यते; धर्मादीनां पुनरागमकथनमेव, प्रत्यक्षेण किमपि कार्यं न दृश्यते; ततस्तेषामपि कालद्रव्यस्येवाभावः प्राप्नोति। ततश्च जीवपुद्गलद्रव्यद्वयमेव, स चागमविरोधः। —प्रश्न—(कालकी भाँति) जीवादि सर्वद्रव्य भी अपने उपादानकारण और अपने-अपने परिणमनके सहकारी कारण रहें। उन द्रव्योंके परिणमनमें काल द्रव्य से क्या प्रयोजन है? उत्तर—ऐसा नहीं, क्योंकि यदि अपनेसे भिन्न बहिरंग सहकारी कारणकी आवश्यकता न हो तो सब द्रव्योंके साधारण, गति, स्थिति, अवगाहनके लिए सहकारी कारणभूत जो धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य हैं उनकी भी कोई आवश्यकता न रहेगी। विशेष—कालका कार्य तो घड़ी, दिन, आदि प्रत्यक्षसे दीख पड़ता है; किन्तु धर्म द्रव्य आदिका कार्य तो केवल आगमके कथनसे ही जाना जाता है; उनका कोई कार्य प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता। इसलिए जैसे काल द्रव्यका अभाव मानते हो, उसी प्रकार उन धर्म, अधर्म, तथा आकाश द्रव्योंका भी अभाव प्राप्त होता है। और तब जीव तथा पुद्गल ये दो ही द्रव्य रह जायेंगे। केवल दो ही द्रव्योंके माननेपर आगमसे विरोध आता है। (पं.का./ता.वृ./२४/५१)।

१२. काल द्रव्य न माने तो क्या दोष है

नि.सा./ता.वृ./३२ में मार्ग प्रकाशसे उद्धृत-कालाभावे न भावानां परिणामस्तदन्तरात्। न द्रव्यं नापि पर्यायः सर्वाभावः प्रसज्यते। —कालके अभावमें पदार्थोंका परिणमन नहीं होगा, और परिणमन न हो तो द्रव्य भी न होगा, तथा पर्याय भी न होगी; इस प्रकार सर्वके अभावका (शून्य)का प्रसंग आयेगा।

गो.जी./जी.प्र./५६८/१०१३/१२ धर्मादिद्रव्याणां स्वपर्यायनिर्वृत्तिं प्रति स्वयमेव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाभावे तद्वृत्त्यसंभवात्। —धर्मादिक द्रव्य अपने-अपने पर्यायनिकी निष्पत्ति विषै स्वयमेव वर्तमान हैं, तिनके बाह्य कोई कारण भूत उपकार बिना तो प्रवृत्ति सम्भवै नाहीं।

१३. अलोकाकाशमें वर्तनाका हेतु क्या है

पं.का./ता.वृ./२४/५०/१३ लोकाकाशाद्बहिर्भागे कालद्रव्यं नास्ति कथमाकाशस्य परिणतिरिति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह—यथैकप्रदेशे स्पष्टे सति लम्बायमानमहावरत्रायां महावेणुदण्डे वा—सर्वत्र चलनं भवति यथैव च मनोज्ञस्पर्शनेन्द्रियविषयैकदेशस्पर्शे कृते सति रसनेन्द्रियविषये च सर्वाङ्गेन सुखानुभवो भवति···तथा लोकमध्ये स्थितेऽपि कालद्रव्ये सर्वत्रालोकाकाशे परिणतिर्भवति। कस्मात्। अखण्डैकद्रव्यत्वात्। —प्रश्न—लोकके बाहरी भागमें कालाणु द्रव्यके अभावमें अलोकाकाशमें परिणमन कैसे होता है? उत्तर—जिस प्रकार बहुत बड़े बाँसका एक भाग स्पर्श करनेपर सारा बाँस हिल जाता है···अथवा जैसे स्पर्शन इन्द्रियके विषयका, या रसना इन्द्रियके विषयका प्रिय अनुभव एक अंगमें करनेसे समस्त शरीरमें सुखका अनुभव होता है; उसी प्रकार लोकाकाशमें स्थित जो काल द्रव्य है वह आकाशके एक देशमें स्थित है, तो भी सर्व अलोकाकाशमें परिणमन होता है, क्योंकि आकाश एक अखण्ड द्रव्य है। (द्र.सं.वृ./टी./२२/६४)।

१४. स्वयं काल द्रव्यमें वर्तनाका हेतु क्या है

ध.४/१,५,१/३२१/५ कालस्स कालो किं तत्तो पुधभूदो अणण्णो वा।··· अणब्भुवगमा।···एत्थ वि एक्कम्हि काले भेदेण ववहारो जुज्जदे। —प्रश्न—कालका परिणमन करानेवाला काल क्या उससे पृथग्भूत है या अनन्य? उत्तर—हम कालके कालको कालसे भिन्न तो मानते नहीं हैं···यहाँपर एक या अभिन्न कालमें भी भेद रूपसे व्यवहार बन जाता है।

पं.का./ता.वृ./२४/५०/११ कालस्य किं परिणतिसहकारिकारणमिति। आकाशस्याकाशाधारवत् ज्ञानादित्यरत्नप्रदीपानां स्वपरप्रकाशवत् कालद्रव्यस्य परिणतेः काल एव सहकारिकारणं भवति। —प्रश्न—काल द्रव्यकी परिणतिमें सहकारी कारण कौन है? उत्तर—जिस प्रकार आकाश स्वयं अपना आधार है, तथा जिस प्रकार ज्ञान, सूर्य, रत्न वा दीपक आदि स्वपर प्रकाशक हैं, उसी प्रकार कालद्रव्यकी परिणतिमें सहकारी कारण स्वयं काल ही है। (द्र.सं.वृ./टी./२२/६५)

१५. काल द्रव्यको असंख्यात माननेकी क्या आवश्यकता, एक अखण्ड द्रव्य मानिए

श्लो.वा. २/भाषाकार १/४/४४-४५/१४८/१७ —प्रश्न—काल द्रव्यको असंख्यात माननेका क्या कारण है? उत्तर—काल द्रव्य अनेक हैं, क्योंकि एक ही समय परस्परमें विरुद्ध हो रहे अनेक द्रव्योंकी क्रियाओं-की उत्पत्तिमें निमित्त कारण हो रहे हैं···अर्थात् कोई रोगी हो रहा है, कोई निरोग हो रहा है।

१६. काल द्रव्य क्रियावान क्यों नहीं

स.सि./५/२२/२६१/७ वर्तते द्रव्यपर्यायस्तस्य वर्तयिता कालः। यद्येवं कालस्य क्रियावत्त्वं प्राप्नोति। यथा शिष्योऽधीते, उपाध्यायोऽध्यापयतीति। नैष दोषः, निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृव्यपदेशो दृष्टः। यथा कारीषोऽग्निरध्यापयति। एवं कालस्य हेतुकर्तृता। =द्रव्यकी पर्याय बदलती है और उसे बदलानेवाला काल है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो काल क्रियावान् द्रव्य प्राप्त होता है? जैसे शिष्य पढ़ता है और उपाध्याय पढ़ाता है यहाँ उपाध्याय क्रियावान् द्रव्य है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि निमित्तमात्रमें भी हेतुकर्तारूप व्यपदेश देखा जाता है। जैसे—कण्डेकी अग्नि पढ़ाती है। यहाँ कण्डेकी अग्नि निमित्त मात्र है। उसी प्रकार काल भी हेतुकर्ता है।

१७. कालाणुको अनन्त कैसे कहते हैं

स. सि./५/४०/३१५/६ अनन्तपर्यायवर्तनाहेतुत्वादेकोऽपि कालाणुरनन्त इत्युपचर्यते। =प्रश्न—[एक कालाणुको भी अनन्त संज्ञा कैसे देते हैं?] उत्तर—अनन्त पर्याय वर्तना गुणके निमित्तसे होती हैं, इसलिए एक कालाणुको भी उपचारसे अनन्त कहा है।

ह.पु./७/१० ...। अनन्तसमयोत्पादादनन्तव्यपदेशिनः।१०। =ये कालाणु अनन्त समयोंके उत्पादक होनेसे अनन्त भी कहे जाते हैं।१०।

१८. कालद्रव्यको जाननेका प्रयोजन

पं.का./ता.वृ./१३६/१६७/७ एवमुक्तलक्षणे काले विद्यमानेऽपि परमात्मतत्त्वमलभमानोऽतीतानन्तकाले संसारसागरे भ्रमितोऽयं जीवो यतस्ततः कारणात्तदेव निजपरमात्मतत्त्वं सर्वप्रकारोपादेयरूपेण श्रद्धेयं...ज्ञातव्यम्...ध्येयमिति तात्पर्यम्। =उपरोक्त लक्षणवाले कालके जाननेपर भी इस जीवने परमात्म तत्त्वकी प्राप्तिके बिना संसार सागरमें अनन्त काल तक भ्रमण किया है। इसलिए निज परमात्मतत्त्व सर्व प्रकार उपादेय रूपसे श्रद्धेय है, जानने योग्य है, तथा ध्यान करने योग्य है। यह तात्पर्य है।

पं.का./ता.वृ./२६/५५/२० अत्र व्याख्यानेऽतीतानन्तकाले दुर्लभो योऽसौ शुद्धजीवास्तिकायस्तस्मिन्नेव चिदानन्दैककालस्वभावे सम्यक्श्रद्धानं रागादिभ्यो भिन्नरूपेण भेदज्ञानं...विकल्पजालत्यागेन तत्रैव स्थिरचित्तं च कर्तव्यमिति तात्पर्यार्थः।

पं.का./ता.वृ./१००/१६०/१२ अत्र यद्यपि काललब्धिवशेन भेदाभेदरत्नत्रयलक्षणं मोक्षमार्गं प्राप्य जीवो रागादिरहितनित्यानन्दैकस्वभावमुपादेयभूतं पारमार्थिकसुखं साधयति तथा जीवस्तस्योपादानकारणं न च काल इत्यभिप्रायः। =१. इस व्याख्यानमें तात्पर्यार्थ यह है कि अतीत अनन्त कालमें दुर्लभ ऐसा जो शुद्ध जीवास्तिकाय है, उसी चिदानन्दैककालस्वभावमें सम्यक्श्रद्धान, तथा रागादिसे भिन्न रूपसे भेदज्ञान...तथा विकल्प जालको त्यागकर उसीमें स्थिरचित्त करना चाहिए। २. यद्यपि जीव काललब्धिके वशसे भेदाभेद रत्नत्रय रूप मोक्षमार्गको प्राप्त करके रागादिसे रहित नित्यानन्द एक स्वभाव तथा उपादेयभूत पारमार्थिक सुखको साधता है, परन्तु जीव ही उसका उपादान कारण है न कि काल, ऐसा अभिप्राय है।

द्र.सं.वृ./टी./२१/६३ यद्यपि काललब्धिवशेनानन्तसुखभाजनो भवति जीवस्तथापि...परमात्मतत्त्वस्य सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठान...तपश्चरणरूपा या निश्चयचतुर्विधाराधना सैव तत्रोपादानकारणं ज्ञातव्यं न च कालस्तेन स हेय इति। =यद्यपि यह जीव काललब्धिके वशसे अनन्त सुखका भाजन होता है, तथापि ... निज परमात्म तत्त्वका सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान, आचरण और तपश्चरण रूप जो चार प्रकारकी निश्चय आराधना है वह आराधना ही उस जीवके अनन्त सुखकी प्राप्तिमें उपादान कारण जाननी चाहिए, उसमें काल उपादान कारण नहीं है, इसलिए काल हेय है।

३. समयादि व्यवहार काल निर्देश व तत्सम्बन्धी शंका समाधान

१. समयादिकी अपेक्षा व्यवहार कालका निर्देश

पं.का./मू./२५ समओ णिमिसो कट्ठा कला य णाली तदो दिवारत्ती। मासोदुअयणसंवच्छरो त्ति कालो परायत्तो।२५। =समय, निमेष, काष्ठा, कला, घड़ी, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन और वर्ष ऐसा जो काल (व्यवहार काल) वह पराश्रित है।२५।

नि.सा./मू./३१ समयावलिभेदेन दु वियप्पं अहव होइ तिवियप्पं/ तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु।३१। समय और आवलिके भेदसे व्यवहारकालके दो भेद हैं, अथवा (भूत, वर्तमान और भविष्यतके भेदसे) तीन भेद हैं। अतीत काल संस्थानोंके और संख्यात आवलिके गुणकार जितना है।

स.सि./५/२२/२९३/३ परिणामादिलक्षणो व्यवहारकालः। अन्येन परिच्छिन्नः अन्यस्य परिच्छेदहेतुः क्रियाविशेषः काल इति व्यवह्रियते। स त्रिधा व्यवतिष्ठते भूतो वर्तमानो भविष्यन्निति... व्यवहारकाले भूतादिव्यपदेशो मुख्यः। कालव्यपदेशो गौणः, क्रियावद्द्रव्यापेक्षत्वात्कालकृतत्वाच्च।

स.सि./५/४०/३१५/४ सांप्रतिकस्यैकसमयिकत्वेऽपि अतीता अनागताश्च समया अनन्ता इति कृत्वा "अनन्तसमयः" इत्युच्यते। =१. परिणामादि लक्षणवाला व्यवहार काल है। तात्पर्य यह है कि जो क्रियाविशेष अन्यसे परिच्छिन्न होकर अन्यके परिच्छेदका हेतु है उसमें काल इस प्रकारका व्यवहार किया जाता है। यह काल तीन प्रकारका है—भूत, वर्तमान और भविष्यत।...व्यवहार कालमें भूतादिक रूप संज्ञा मुख्य है और काल संज्ञा गौण है; क्योंकि इस प्रकारका व्यवहार क्रियावाले द्रव्यकी अपेक्षासे होता है तथा कालका कार्य है। २. यद्यपि वर्तमान काल एक समयवाला है तो भी अतीत और अनागत अनन्त समय है ऐसा मानकर कालको अनन्त समयवाला कहा है। (रा.वा./५/२२/२४/४८२/६)

ध. ११/४.२.६.१/१/७५ कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसंभूदो। दोण्णं एस सहाओ कालो खणभंगुरो णियदो।१। =समयादि रूप व्यवहार काल चूँकि जीव व पुद्गलके परिणमनसे जाना जाता है, अतः वह उससे उत्पन्न हुआ कहा जाता है।...व्यवहारकाल क्षणस्थायी है।

ध.४/१.५.१/३१७/११ कल्यन्ते संख्यायन्ते कर्म-भव-कायायुस्थितयोऽनेनेति कालशब्दव्युत्पत्तेः। कालः समय अद्धा इत्येकोऽर्थः। =जिसके द्वारा कर्म, भव, काय और आयुकी स्थितियाँ कल्पित या संख्यात की जाती हैं अर्थात् कही जाती हैं, उसे काल कहते हैं, इस प्रकारकी काल शब्दकी व्युत्पत्ति है। काल, समय और अद्धा, ये सब एकार्थवाची नाम हैं। (रा.वा./५/२२/२५/४८२/२१)

न. च. वृ./१३७...परिणामो। पज्जयठिदि उवचरिदो ववहारादो य णायव्वो।१३७। =परिणाम अथवा पर्यायकी स्थितिको उपचारसे वा व्यवहारसे काल जानना चाहिए।

गो.जी./मू./५७२/१०१७ ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओत्ति एयट्ठो। ववहारअवट्ठाणट्ठिदी हु ववहारकालो दु। =व्यवहार अर विकल्प अर भेद अर पर्याय ए सर्व एकार्थ हैं। इनि शब्दनिका एक अर्थ है तहाँ व्यंजन पर्यायका अवस्थान जो वर्तमानपना ताकरि स्थिति जो कालका परिणाम सोई व्यवहार काल है।

द्र.सं./मू.व टी./२१/६० दव्वपरियट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।...।२१। पर्यायस्य सम्बन्धिनी याऽसौ समयघटिकादिरूपा स्थितिः सा

व्यवहारकालसंज्ञा भवति, न च पर्याय इत्याभिप्रायः। —जो द्रव्योंके परिवर्तनमें सहायक, परिणामादि लक्षणवाला है, सो व्यवहारकाल है।२१। द्रव्यकी पर्यायसे सम्बन्ध रखनेवाली यह समय, घड़ी आदि रूप जो स्थिति है वह स्थिति ही 'व्यवहार काल' है; वह पर्याय व्यवहार काल नहीं है। (द्र.सं./टी./२१/६१)

पं.ध./पू./२७७ तदुदाहरणं संप्रति परिणमनं सत्तयावधार्येत। अस्ति विवक्षितत्वादिह नास्त्यंशस्याविवक्षया तदिह।२७७। —अब उसका उदाहरण यह है कि सत् सामान्यरूप परिणमनकी विवक्षासे काल सामान्य काल कहलाता है। और सत्के विवक्षित द्रव्य, गुण व पर्याय रूप विशेष अंशोंके परिणमनकी अपेक्षासे काल विशेष काल कहलाता है।

२. समयादिकी उत्पत्तिके निमित्त

त. सू./४/१३, १४ (ज्योतिषदेवाः) मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१३॥ तत्कृतः कालविभागः॥१४॥ —ज्योतिषदेव मनुष्य लोकमें मेरुकी प्रदक्षिणा करनेवाले और निरन्तर गतिशील हैं॥१३॥ उन गमन करनेवाले ज्योतिषियोंके द्वारा किया हुआ काल विभाग है॥१४॥

प्र. सा./त. प्र./१३९ यो हि येन प्रदेशमात्रेण कालपदार्थेनाकाशस्य प्रदेशोऽभिव्याप्तस्तं प्रदेशं मन्दगत्यातिक्रमतः परमाणोस्तत्प्रदेशमात्रातिक्रमणपरिमाणेन तेन समो यः कालपदार्थसूक्ष्मवृत्तिरूपसमयः स तस्य कालपदार्थस्य पर्यायः। —किसी प्रदेशमात्र कालपदार्थके द्वारा आकाशका जो प्रदेश व्याप्त हो उस प्रदेशको जब परमाणु मन्दगतिसे उल्लंघन करता है तब उस प्रदेशमात्र अतिक्रमणके परिमाणके बराबर जो काल पदार्थकी सूक्ष्मवृत्ति रूप 'समय' है, वह उस काल पदार्थकी पर्याय है। (नि. सा./ता. वृ./३१)

पं. का./त. प्र./२५ परमाणुप्रचलनायत्तः समयः। नयनपुटघटनायत्तो निमिषः। तत्संख्याविशेषतः काष्ठा कला नाली च। गगनमणिगमनायत्तो दिवारात्रः। तत्संख्याविशेषतः मासः, ऋतुः, अयनं, संवत्सरमिति। —परमाणुके गमनके आश्रित समय है; आँख मिचनेके आश्रित निमेष है; उसकी (निमेष की) अमुक संख्यासे काष्ठा, कला, और घड़ी होती है, सूर्यके गमनके आश्रित अहोरात्र होता है; और उसकी (अहोरात्रकी) अमुक संख्यासे मास, ऋतु, अयन और वर्ष होते हैं। (द्र. सं. वृ./टी./१५/१३४)

द्र. सं. वृ./टी./२१/६२ समयोत्पत्तौ मन्दगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुस्तथा निमेषकालोत्पत्तौ नयनपुटविघटनं, तथैव घटिकाकालपर्यायोत्पत्तौ घटिकासामग्रीभूतजलभाजनपुरुषहस्तादिव्यापारो, दिवसपर्याये तु दिनकरबिम्बमुपादानकारणमिति। —समय रूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमें मन्दगतिसे परिणत पुद्गल परमाणु, निमेषरूप कालकी उत्पत्तिमें नेत्रोंके पुटोंका विघटन, घड़ी रूप काल पर्यायकी उत्पत्तिमें घड़ीकी सामग्रीरूप जलका कटोरा और पुरुषके हाथ आदिका व्यापार दिनरूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमें सूर्यका बिम्ब उपादान कारण है।

३. परमाणुकी तीव्रगतिसे समयका विभाग नहीं हो जाता

प्र. सा./त. प्र./१३९ तथाहि—यथा विशिष्टावगाहपरिणामादेकपरमाणुपरिमाणोऽनन्तपरमाणुस्कन्धः परमाणोरनंशत्वात् पुनरप्यनन्तांशत्वं न साधयति तथा विशिष्टगतिपरिणामादेककालाणुव्याप्तैकाकाशप्रदेशातिक्रमणपरिमाणावच्छिन्नेनैकसमयेनैकस्माल्लोकान्ताद् द्वितीयं लोकान्तमाक्रमतः परमाणोरसंख्येयाः कालाणवः समयस्यानंशत्वादसंख्येयांशत्वं न साधयन्ति। —जैसे विशिष्ट अवगाह परिणामके कारण एक परमाणुके परिमाणके बराबर अनन्त परमाणुओंका स्कन्ध बनता है तथापि वह स्कन्ध परमाणुके अनन्त अंशोंको सिद्ध नहीं करता, क्योंकि परमाणु निरंश है; उसी प्रकार जैसे एक कालाणुसे व्याप्त एक आकाशप्रदेशके अतिक्रमणके मापके बराबर एक 'समय'में परमाणु विशिष्टगति परिणामके कारण लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक जाता है तब (उस परमाणुके द्वारा उल्लंघित होनेवाले) असंख्य कालाणु 'समय'के असंख्य अंशोंको सिद्ध नहीं करते, क्योंकि 'समय' निरंश है।

पं. का./ता. वृ./२५/५३/८ ननु यावता कालेनैकप्रदेशातिक्रमं करोति पुद्गलपरमाणुस्तत्प्रमाणेन समयव्याख्यानं कृतं स एकसमये चतुर्दशरज्जु-गमनकाले यावन्तः प्रदेशास्तावन्तः समया भवन्तीति। नैवं। एकप्रदेशातिक्रमेण या समयोत्पत्तिर्भणिता सा मन्दगतिगमनेन, चतुर्दशरज्जुगमनं यदेकसमये भणितं तदक्रमेण शीघ्रगत्या कथितमिति नास्ति दोषः। अत्र दृष्टान्तमाह—यथा कोऽपि देवदत्तो योजनशतं दिनशतेन गच्छति स एव विद्याप्रभावेण दिनेनैकेन गच्छति तत्र किं दिनशतं भवति नैवैकदिनमेव तथा शीघ्रगतिगमने सति चतुर्दशरज्जुगमनेऽप्येकसमय एव नास्ति दोषः इति। —प्रश्न—जितने कालमें "आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें परमाणु गमन करता है उतने कालका नाम समय है" ऐसा शास्त्रमें कहा है तो एक समयमें परमाणुके चौदह रज्जु गमन करनेपर, जितने आकाशके प्रदेश हैं उतने ही समय होने चाहिए? उत्तर—आगममें जो परमाणुका एक समयमें एक आकाशके प्रदेशके साथ वाले दूसरे प्रदेशपर गमन करना कहा है, सो तो मन्दगतिकी अपेक्षासे है तथा परमाणुका एक समयमें जो चौदह रज्जुका गमन कहा है वह शीघ्र गमनकी अपेक्षासे है। इसलिए शीघ्रगतिसे चौदह रज्जु गमन करनेमें भी परमाणुको एक ही समय लगता है। इसमें दृष्टान्त यह है कि —जैसे देवदत्त धीमी चालसे सौ योजन सौ दिनमें जाता है, वही देवदत्त विद्याके प्रभावसे शीघ्र गतिके द्वारा सौ योजन एक दिनमें भी जाता है, तो क्या उस देवदत्तको शीघ्रगतिसे सौ योजन गमन करनेमें सौ दिन हो गये? किन्तु एक ही दिन लगेगा। इसी तरह शीघ्रगतिसे चौदह रज्जु गमन करनेमें भी परमाणुको एक ही समय लगेगा। (द्र. सं./टी./२२/६६/१)

श्लो. वा./२/भाषाकार १/५/६६-६८/२७८/२ लोक सम्बन्धी नीचेके वातवलयसे ऊपरके वातवलयमें जानेवाला वायुकायका जीव या परमाणु एक समयमें चौदह राजू जाता है। अतः एक समयके भी असंख्यात अविभाग प्रतिच्छेद माने गये हैं। संसारका कोई भी छोटेसे छोटा पूरा कार्य एक समयसे न्यून कालमें नहीं होता है।

४. व्यवहार कालका व्यवहार मनुष्य क्षेत्रमें ही होता है

रा. वा./५/२२/२५/४८२/२० व्यवहारकालो मनुष्यक्षेत्रे संभवति इत्युच्यते। तत्र ज्योतिषाणां गतिपरिणामात, न बहिःनिवृत्तगतिव्यापारत्वात् ज्योतिषानाम्। —सूर्यगति निमित्तक व्यवहारकाल मनुष्य क्षेत्रमें ही चलता है, क्योंकि मनुष्य लोकके ज्योतिर्देव गतिशील होते हैं, बाहरके ज्योतिर्देव अवस्थित हैं। (गो. जी./मू./५७७)

ध. ४/१/५,१,३२०/५ माणुसखेत्तेक्कसुज्जमंडलेतियालगोयराणंतपज्जाएहि आवूरिदे। —त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायोंसे परिपूरित एक मात्र मनुष्य क्षेत्र सम्बन्धी सूर्यमण्डलमें ही काल है; अर्थात् कालका आधार मनुष्य क्षेत्र सम्बन्धी सूर्यमण्डल है।

५. देवलोक आदिमें इसका व्यवहार मनुष्यक्षेत्रकी अपेक्षा किया जाता है

रा. वा./५/२२/२५/४८२/२१ मनुष्यक्षेत्रसमुत्थेन ज्योतिर्गतिसमयावलिकादिना परिच्छिन्नेन क्रियाकलापेन कालवर्तनया कालाख्येन ऊर्ध्वमधस्तिर्यग् च प्राणिनां संख्येयासंख्येयानन्तानन्तकालगणनाप्रभेदेन कर्मभवकायस्थितिपरिच्छेदः। —मनुष्य क्षेत्रसे उत्पन्न आव-

सिका आदिसे तीनों लोकोंके प्राणियों की कर्मस्थिति, भवस्थिति, और कायस्थिति आदिका परिच्छेद होता है। इसीसे संख्येय असंख्येय और अनन्त आदिकी गिनती की जाती है।

ध./४/३२०/१ इहत्थेणेव कालेण तेसिं ववहारादो। —यहाँके कालसे ही देवलोकमें कालका व्यवहार होता है।

६. जब सब द्रव्योंका परिणाम काल है तो मनुष्य क्षेत्रमें इसका व्यवहार क्यों

ध./४/१,५,१/३२१/१ जीव-पोग्गलपरिणामो कालो होदि, तो सव्वेसु जीव-पोग्गलेसु संठिएण कालेण होदव्वं; तदो माणुसखेत्तेक्कसुज्जमंडलट्ठिदो कालो त्ति ण घडदे। ण एस दोसो, णिरवज्जत्तादो। किंतु ण तहा लोगे समए वा संववहारो अत्थि; अणाइणिहणरूवेण सुज्जमंडल किरियापरिणामेसु चेव कालसंववहारो पयट्टो। तम्हा एदस्सेव गहणं कायव्वं। —प्रश्न—यदि जीव और पुद्गलोंका परिणाम ही काल है; तो सभी जीव और पुद्गलोंमें कालको संस्थित होना चाहिए। तब ऐसी दशामें 'मनुष्य क्षेत्रके एक सूर्य मण्डलमें ही काल स्थित है' यह बात घटित नहीं होती? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि उक्त कथन निर्दोष है। किन्तु लोकमें या शास्त्रमें उस प्रकार-से संव्यवहार नहीं है, पर अनादिनिधन स्वरूपसे सूर्यमण्डलकी क्रिया—परिणामोंमें ही कालका संव्यवहार प्रवृत्त है। इसलिए इसका ही ग्रहण करना चाहिए।

७. भूत वर्तमान व भविष्यत कालका प्रमाण

त्रि. सा./मू. व. टी./३१, ३२ तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु ॥३१॥ अतीतकालप्रपंचोऽयमुच्यते--अतीतसिद्धानां सिद्धपर्याय-प्रादुर्भावसमयात् पुरागतो ह्यावल्यादिव्यवहारकालः स कालस्यैषां संसारावस्थानां यानि संस्थानानि गतानि तैः सदृशत्वादनन्तः। अनागतकालोऽप्यनागतसिद्धानामनागतशरीराणि यानि तैः सदृशस्या: (1) मुक्तेः सकाशादित्यर्थः ।टी०। जीवादु पुग्गलादोऽणंतगुणा चावि संपदा समयाः। —अतीतकाल (अतीत) संस्थानोंके और संख्यात आवलिके गुणाकार जितना है ॥३१॥ अतीतकालका विस्तार कहा जाता है; अतीत सिद्धोंको सिद्धपर्यायके प्रादुर्भाव समयसे पूर्व बीता हुआ जो आवलि आदि व्यवहारकाल वह उन्हें संसार दशामें जितने संस्थान बीत गये हैं उनके जितना होनेसे अनन्त है। (अनागत सिद्धोंको मुक्ति होने तकका) अनागत काल भी अनागत सिद्धोंके जो मुक्ति पर्यन्त अनागत शरीर उनके बराबर है। अब, जीवसे तथा पुद्गलसे भी अनन्तगुने समय हैं।

ध.४/१,५,१/३२१/५ केवचिरं कालो। अणादिओ अपज्जवसिदो। —प्रश्न—काल कितने समय तक रहता है? उत्तर—काल अनादि और अपर्यवसित है, अर्थात् कालका न आदि है न अन्त है।

ध. ४/1 सर्वदा अतीत काल सर्वजीव राशिके अनन्तवें भाग प्रमाण रहता है, अन्यथा सर्व जीवोंके अभाव होनेका प्रसंग आता है।

गो. जी./मू./५७८, ५७९ ववहारो पुण तिविहो तीदो वट्टंतगो भविस्सो दु। तीदो संखेज्जावलिहदसिद्धाणं पमाणो दु ।५७८। समयो दु वट्टाणो जीवादो सव्वपुग्गलादो वि। भावी अणंतगुणिदो इदि ववहारो हवे कालो ।५७९। —व्यवहार काल तीन प्रकार है—अतीत, अनागत और वर्तमान। तहाँ अतीतकाल सिद्ध राशिकौं संख्यात आवलीकरि गुणैं जो प्रमाण होइ तितना जानना ।५७८। वर्तमानकाल एक समयमात्र जानना। बहुरि भावी जो अनागतकाल सो सर्व जीवराशितैं वा सर्व पुद्गलराशि तैं भी अनंतगुणा जानना। ऐसे व्यवहार काल तीन प्रकार कहा ।५७९।

८. काल प्रमाण स्थित कर देनेपर अनादि भी सादि बन जायेगा—

ध. ३/१,२,३/३०/५ अणाइस्स अदीदकालस्स कधं पमाणं ठविज्जदि। ण, अण्णहा तस्साभावपसंगादो। ण च अणादि त्ति जाणिदे सादित्तं पावेदि, विरोहा। —प्रश्न—अतीतकाल अनादि है, इसलिए उसका प्रमाण कैसे स्थापित किया जा सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि यदि उसका प्रमाण नहीं माना जाये तो उसके अभावका प्रसंग आ जायेगा। परन्तु उसके अनादित्वका ज्ञान हो जाता है, इसलिए उसे सादित्वकी प्राप्ति हो जायेगी, सो भी बात नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है।

९. निश्चय व व्यवहार कालमें अन्तर—

रा. वा./५/८/२०/४३/२० मुख्यकालास्तित्वसंप्रत्ययार्थं पुनः कालग्रहणम्। द्विविधो हि कालो मुख्यो व्यावहारिकश्चेति। तत्र मुख्यो निश्चय-कालः। पर्यायिपर्यायावधिपरिच्छेदो व्यावहारिकः। —मुख्य काल-के अस्तित्वकी सूचना देनेके लिए स्थितिसे पृथक कालका ग्रहण किया है। ··व्यवहार काल पर्याय और पर्यायोकी अवधिका परिच्छेद करता है।

४. उत्सर्पिणी आदि काल निर्देश

१. कल्पकाल निर्देश

सं. सि./३/२७/२२३/७ सोभयी कल्प इत्याख्यायते। —ये दोनों (उत्स-र्पिणी और अवसर्पिणी) मिल कर एक कल्पकाल कहे जाते हैं। (रा. वा./३/२७/५/१९१/३)।

ति. प./४।३१६ दोण्णि वि मिलिदेकप्पं छब्भेदा होंति तत्थ एक्केक्कं···। —इन दोनोंको मिलानेपर बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपमप्रमाण एक कल्पकाल होता है। (ज० प०/२/११५)।

२. कालके उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी दो भेद—

स. सि./३/२७/२२३/२ स च कालो द्विविधः-उत्सर्पिणी अवसर्पिणी चेति। —वह काल (व्यवहार काल) दो प्रकारका है—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। (ति. प./४/३१३) (रा. वा./३/२७/३/१९१/२६) (क. पा. १/§५६/७४/२)

३. दोनोंके सुषमादि छः छः भेद

स. सि./३/२७/२२३/४ तत्रावसर्पिणी षड्विधा—सुषमसुषमा सुषमा सुषमदुष्षमा दुष्षमसुषमा दुष्षमा अतिदुष्षमा चेति। उत्सर्पिण्यपि अतिदुष्षमाद्या सुषमसुषमान्ता षड्विधैव भवति। — अवसर्पिणीके छह भेद हैं—सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदुष्षमा, दुष्षमसुषमा, दुष्षमा और अतिदुष्षमा। इसी प्रकार उत्सर्पिणी भी अतिदुष्षमासे लेकर सुषमसुषमा तक छह प्रकारका है। (अर्थात दुष्षमदुष्षम, दुष्षमा, दुष्षमसुषमा, सुषमदुष्षमा, सुषमा. और अतिसुषमा / (रा. वा./३/२७/५/१९१/३१) (ति. प./४/३१६) (ति प./४/१५५५-१५५६) (क. पा. १/§५६/७४/३) (ध. ९/४,१,४४/११९/१०)।

४. सुषमा दुषमा आदि का लक्षण

म. पु./३/१९ समाकालविभागः स्यात् सुदुसावर्हगर्हयोः। सुषमा दुषमे-त्यमतोऽन्वर्थत्वमेतयोः ।१९। —समा कालके विभागको कहते हैं तथा

सु और दुर् उपसर्ग क्रमसे अच्छे और बुरे अर्थमें आते हैं। सु और दुर् उपसर्गोंको पृथक् पृथक् समाके साथ जोड़ देने तथा व्याकरणके नियमानुसार स को ष कर देनेसे सुषमा और दुःषमा शब्दोंकी सिद्धि होती है। जिनके अर्थ क्रमसे अच्छा काल और बुरा काल होता है. इस तरह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके छहों भेद सार्थक नामवाले हैं।११।

५. अवसर्पिणी कालके षट् भेदोंका स्वरूप

ति. प./४/३२०-३९४ "नोट—मूल न देकर केवल शब्दार्थ दिया जाता है। १. सुषमासुषमा—(भूमि) सुषमासुषमा कालमें भूमि रज, धूम, अग्नि और हिमसे रहित, तथा कण्टक, अभ्रशिला (बर्फ) आदि एवं बिच्छू आदिक कीड़ोंके उपसर्गोंसे रहित होती है।३२०। इस कालमें निर्मल दर्पणके सदृश और निन्दित द्रव्योंसे रहित दिव्य बालू, तन, मन और नयनोंको सुखदायक होती है।३२१। कोमल घास व फलोंसे लदे वृक्ष।३२२-३२३। कमलोंसे परिपूर्ण वापिकाएँ।३२४। सुन्दर भवन।३२५। कल्पवृक्षोंसे परिपूर्ण पर्वत।३२८। रत्नोंसे भरी पृथ्वी।३२९। तथा सुन्दर नदियाँ होती हैं।३३०। स्वामी भृत्य भाव व युद्धादिकका अभाव होता है। तथा विकलेन्द्रिय जीवोंका अभाव होता है।३३१-३३२। दिन रातका भेद, शीत व गर्मीकी वेदनाका अभाव होता है। परस्त्री व परधन हरण नहीं होता।३३३। यहाँ मनुष्य युगल-युगल उत्पन्न होते हैं।३३४। मनुष्य-प्रकृति—अनुपम लावण्यसे परिपूर्ण. सुख सागरमें मग्न, मार्दव एवं आर्जवसे सहित मन्दकषायी, सुशीलता पूर्ण भोग-भूमिमें मनुष्य होते हैं। नर व नारीसे अतिरिक्त अन्य परिवार नहीं होता।।३३७-३४०। —वहाँ गाँव व नगरादिक सब नहीं होते केवल वे सब कल्पवृक्ष होते हैं।३४१। मांसाहारके त्यागी, उदम्बर फलोंके त्यागी, सत्यवादी, वेश्या व परस्त्रीत्यागी, गुणियोंके गुणोंमें अनुरक्त, जिनपूजन करते हैं। उपवासादि संयमके धारक, परिग्रह रहित यतियोंको आहारदान देनेमें तत्पर रहते हैं।३६५-३६८। मनुष्य—भोगभूमिजोंके युगल कदलीघात मरणसे रहित, विक्रियासे बहुतसे शरीरोंको बनाकर अनेक प्रकारके भोगोंको भोगते हैं।३५८। मकुट आदि आभूषण उनके स्वभावसे ही होते हैं।३६०-३६४। जन्म-मृत्यु—भोगभूमिमें मनुष्य और तिर्यंचोंको नौ मास आयु शेष रहने पर गर्भ रहता है और मृत्यु समय आनेपर युगल बालक बालिका जन्म लेते हैं।३७५। नवमास पूर्ण होने पर गर्भसे युगल निकलते हैं, तत्काल ही तब माता पिता मरणको प्राप्त होते हैं।३७६। पुरुष छींकसे और स्त्री जंभाई आनेसे मृत्युको प्राप्त होते हैं। उन दोनोंके शरीर शरत्कालीन मेघके समान आमूल विनष्ट हो जाते हैं।३७७। पालन—उत्पन्न हुए बालकोंके शय्यापर सोते हुए अपने अँगूठेके चूसनेमें ३ दिन व्यतीत होते हैं।३७९। इसके पश्चात् उपवेशन, अस्थिरगमन, स्थिरगमन, कलागुणोंकी प्राप्ति, तारुण्य और सम्यग्दर्शनके ग्रहणकी योग्यता, इनमें क्रमशः प्रत्येक अवस्थामें उनबालकोंकेतीनतीनदिन व्यतीत होते हैं।३८०। इनका शरीरमें मूत्र व विष्ठाका आस्रव नहीं होता।३८१। विद्याएँ—वे अक्षर, चित्र, गणित, गन्धर्व और शिल्प आदि ६४ कलाओंमें स्वभावसे ही अतिशय निपुण होते हैं।३८५। जाति—भोग भूमिमें गाय, सिंह, हाथी, मगर, शूकर, सारंग, रोझ, भैंस, वृक, बन्दर, गवय, तेंदुआ, व्याघ्र, शृगाल, रीछ, भालू, मुर्गा, कोयल, तोता, कबूतर, राजहंस, कोरंड, काक, क्रौंच, और कंजक तथा और भी तिर्यंच होते हैं।३८६-३९०। योग व आहार—ये युगल पारस्परिक प्रेममें आसक्त रहते हैं।३८६। मनुष्योंवत् तिर्यंच भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार मांसाहारके बिना कल्पवृक्षोंका भोग करते हैं।३९१-३९३। चौथे दिन बेरके बराबर आहार करते हैं।३३४। कालस्थिति—चार कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण सुषमासुषमा कालमें पहिलेसे शरीरकी ऊँचाई, आयु, बल, ऋद्धि और तेज आदि हीन-हीन होते जाते हैं।३९४। (ह. पु./७/६४-१०५) (म. पु./३/६३-९१) (ज. प./२/११२-१६४) (त्रि सा./७८४-७९१) २—ति. प./४/३९५-४०२। २ सुषमा—इस प्रकार उत्सेधादिकके क्षीण होनेपर सुषमा नामका द्वितीय काल प्रविष्ट होता है।३९५। इसका प्रमाण तीन कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। उत्तम भोगभूमिवत् मनुष्य व तिर्यंच होते हैं। शरीर—शरीर समचतुरस्र संस्थान से युक्त होता है।३९८।आहार :—तीसरे दिन अक्ष (बहेड़ा) फलके बराबर अमृतमय आहारको ग्रहण करते हैं।३९८। जन्म व वृद्धि—उस कालमें उत्पन्न हुए बालकोंके शय्यापर सोते हुए अपने अंगूठेके चूसनेमें पाँच दिन व्यतीत होते हैं।३९९। पश्चात् उपवेशन, अस्थिरगमन, स्थिरगमन, कलागुणप्राप्ति, तारुण्य, और सम्यक्त्व ग्रहणकी योग्यता, इनमेंसे प्रत्येक अवस्थामें उन बालकोंके पाँच-पाँच दिन जाते हैं।४०१। शेष वर्णन सुषमासुषमावत् जानना। ३. ति. प./४/४०३-५१० सुषमादुषमा—उत्सेधादिके क्षीण होनेपर सुषमादुषमा काल प्रवेश करता है, उसका प्रमाण दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम है।४०३। शरीर—इस कालमें शरीरकी ऊँचाई दो हजार धनुष प्रमाण तथा एक पल्यकी आयु होती है।४०४। आहार—एक दिनके अन्तरालसे आँवलेके बराबर अमृतमय आहारको ग्रहण करते हैं।४०६। जन्म व वृद्धि—उस कालमें बालकोंके शय्यापर सोते हुए सात दिन व्यतीत होते हैं। इसके पश्चात् उपवेशनादि क्रियाओंमें क्रमशः सात सात दिन जाते हैं।४०८। कुलकर आदि पुरुष—कुछ कम पल्यके आठवें भाग प्रमाण तृतीय कालके शेष रहने पर…प्रथम कुलकर उत्पन्न होता है।४२१। फिर क्रमशः चौदह कुलकर उत्पन्न होते हैं।४२२-४६४। यहाँसे आगे सम्पूर्ण लोक प्रसिद्ध त्रेशठ शलाका पुरुष उत्पन्न होते हैं।५१०। शेष वर्णन जो सुषमा (वा सुषमसुषमा) कालमें कह आये हैं, वही यहाँ भी कहना चाहिए।५०९। ४. ति. प./४/१२७६-१२७७ दुषमासुषमा—ऋषभनाथ तीर्थंकरके निर्वाण होनेके पश्चात् तीन वर्ष और साढ़े आठ मासके व्यतीत होनेपर दुषमसुषमा नामक चतुर्थ काल प्रविष्ट हुआ।१२७६। इस कालमें शरीरकी ऊँचाई पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण थी।१२७७। इसमें ६३ शलाका पुरुष व कामदेव होते हैं। इनका विशेष वर्णन—दे० 'शलाका पुरुष'। ५. ति. प./४/१४७४-१५२५ दुषमा—वीर भगवान्‌का निर्वाण होनेके पश्चात् तीन वर्ष, आठ मास, और एक पक्षके व्यतीत हो जानेपर दुषमाकाल प्रवेश करता है।१४७४। शरीर—इस कालमें उत्कृष्ट आयु कुल १२० वर्ष और शरीरकी ऊँचाई सात हाथ होती है।१४७५। श्रुत विच्छेद—इस कालमें श्रुततीर्थ जो धर्म प्रवर्तनका कारण है वह २०३१७ वर्षोंमें काल दोषसे हीन होता होता व्युच्छेदको प्राप्त हो जायेगा।१४९३। इतने मात्र समय तक ही चातुर्वर्ण्य संघ रहेगा। इसके पश्चात् नहीं।।१४६४। मुनिदीक्षा—मुकुटधरोंमें अन्तिम चन्द्रगुप्तने दीक्षा धारण की। इसके पश्चात् मुकुटधारी प्रव्रज्याको धारण नहीं करते।१४८१। राजवंश—इस कालमें राजवंश क्रमशः न्यायसे गिरते-गिरते अन्यायी हो जाते हैं। अत आचारांगधरोंके २७५ वर्ष पश्चात् एक कल्की राजा हुआ।१४९६-१५१०। जो कि मुनियोंके आहारपर भी शुल्क माँगता है। तब मुनि अन्तराय जान निराहार लौट जाते हैं।१५१२। उस समय उनमें किसी एकको अवधिज्ञान हो जाता है। इसके पश्चात् कोई असुरदेव उपसर्गको जानकर धर्मद्रोही कल्कीको मार डालता है।१५१३। इसके ५०० वर्ष पश्चात् एक उपकल्की होता है और प्रत्येक १००० वर्ष पश्चात् एक कल्की होता है।१५१६। प्रत्येक कल्कीके समय मुनिको अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। और चातुर्वर्ण्य भी घटता जाता है।१५१७। संघविच्छेद—चाण्डालादि ऐसे बहुत मनुष्य दिखते हैं।।१५१८-१५१९। इस प्रकार से इक्कीसवाँ अन्तिम कल्की होता है।१५२०। उसके समय में वीरांगज नामक मुनि, सर्वश्री नामक आर्यिका तथा अग्निदत्त और पंगुश्री नामक श्रावक युगल होते हैं।।१५२१। उस राजाके द्वारा शुल्क माँगने पर वह मुनि उन श्रावक श्राविकाओंको दुषमा कालका अन्त आनेका सन्देशा देता है। उस समय मुनिकी

आयु कुल तीन दिन की शेष रहती है। तब वे चारों ही संन्यास मरण पूर्वक कार्तिक कृष्ण अमावस्या को यह देह छोड़ कर सौधर्म स्वर्गमें देव होते हैं। ।१५२०-१५३२। अन्त—उस दिन क्रोधको प्राप्त हुआ असुर देव कल्कीको मारता है और सूर्यास्तसमयमें अग्नि विनष्ट हो जाती है। ।१५३३। इस प्रकार धर्मद्रोही २१ कल्की एक सागर आयुसे युक्त होकर घर्मा नरकमें जाते हैं ।१५३४-१५३५ (म. पु./७६/३९०-४३५) ।

६—ति. प./४/१५३५-१५४४ दुषमादुषमा—२१वें कल्की के पश्चात् तीन वर्ष, आठ मास और एक पक्षके बीत जानेपर महाविषम वह अतिदुषमा नामक छठा काल प्रविष्ट होता है ।१५३५। शरीर—इस कालके प्रवेशमें शरीरकी ऊँचाई तीन अथवा साढ़े तीन हाथ और उत्कृष्ट आयु २० वर्ष प्रमाण होती है ।१५३६। धूम वर्णके होते हैं। आहार—उस कालमें मनुष्योंका आहार मूल, फल और मत्स्यादिक होते हैं ।१५३७। निवास—उस समय वस्त्र, वृक्ष और मकानादिक मनुष्योंको दिखाई नहीं देते ।१५३७। इसलिए सब नंगे और भवनोंसे रहित होकर वनोंमें घूमते हैं।१५३८। शारीरिक दुःख—मनुष्य प्रायः पशुओं जैसा आचरण करनेवाले, क्रूर, बहिरे, अन्धे, काने, गूंगे, दारिद्र्य एवं क्रोधसे परिपूर्ण, दीन, बन्दर जैसे रूपवाले, कुबड़े बौने शरीरवाले, नाना प्रकार की व्याधि वेदनासे विकल, अतिकषाय युक्त, स्वभावसे पापिष्ठ, स्वजन आदिसे विहीन, दुर्गन्धयुक्त शरीर एवं केशोंसे संयुक्त, जूं तथा लीख आदिसे आच्छन्न होते हैं ।१५३८-१५४१। आगमन निर्गमन—इस कालमें नरक और तिर्यंचगतिसे आये हुए जीव ही यहाँ जन्म लेते हैं, तथा यहाँ से मरकर घोर नरक व तिर्यंचगतिमें जन्म लेते हैं ।१५४२। हानि—दिन प्रतिदिन उन जीवोंकी ऊँचाई, आयु और वीर्य हीन होते जाते हैं ।१५४३। प्रलय—उनचास दिन कम इक्कीस हजार वर्षोंके बीत जानेपर जन्तुओंको भयदायक घोर प्रलय काल प्रवृत्त होता है। ।१५४४। (प्रलयका स्वरूप—दे० प्रलय। (म. पु./७६/४३८-४५०) (त्रि. सा/८५९-८६४) षट् कालोंमें अवगाहना, आहारप्रमाण, अन्तराल, संस्थान व हड्डियों आदिकी वृद्धिहानिका प्रमाण। दे० काल/४/१९।

६. उत्सर्पिणी कालका लक्षण व काल प्रमाण

स.सि./३/२७/२२३/३ अन्वर्थसंज्ञे चैते। अनुभवादिभिरुत्सर्पणशीला उत्सर्पिणी। ...अवसर्पिण्याः परिमाणं दशसागरोपमकोटीकोट्यः। उत्सर्पिण्या अपि तावत्य एव। —ये दोनों (उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी) काल सार्थक नामवाले हैं। जिसमें अनुभव आदिकी वृद्धि होती है वह उत्सर्पिणी काल है। (रा.वा./३/२७/५/१९१/३०)

अवसर्पिणी कालका परिमाण दस कोड़ाकोड़ी सागर है और उत्सर्पिणीका भी इतना ही है। (स.सि./३/३८/२३४/९) (ध.१३/५,५,५९/३१/३०१) (रा.वा./३/३८/७/२०८/२१) (ति. प./४/३१५) (ज.प./२/११५)

ध.९/४,१,४४/११९/९ जत्थ बलाउ-उस्सेहाणं उस्सप्पणं उड्ढी होदि सो कालो उस्सप्पिणी। —जिस कालमें बल, आयु व उत्सेधका उत्सर्पण अर्थात् वृद्धि होती है वह उत्सर्पिणी काल है। (ति.प./४/३१४१/१५५७) (क.पा.१/§५६/७४/३) (म.पु./३/२०)

७. उत्सर्पिणी कालके षट् भेदोंका विशेष स्वरूप

उत्सर्पिणी कालका प्रवेश क्रम—दे० काल/४/१२

ति.प./४/१५६३-१५६६ दुषमादुषमा—इस कालमें मनुष्य तथा तिर्यंच नग्न रहकर पशुओं जैसा आचरण करते हुए क्षुधित होकर वन-प्रदेशोंमें धतूरा आदि वृक्षोंके फल मूल एवं पत्ते आदि खाते हैं ।१५६३। शरीरकी ऊँचाई एक हाथ प्रमाण होती है ।१५६४। इसके आगे तेज, बल, बुद्धि आदि सब काल स्वभावसे उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं ।१५६५। इस प्रकार भरतक्षेत्रमें २१००० वर्ष पश्चात अतिदुषमा काल पूर्ण होता है ।१५६६। (म.पु./७६/४५४-४५९)

ति.प./४/१५६७-१५७५ दुषमा—इस कालमें मनुष्य-तिर्यंचोंका आहार २०,००० वर्ष तक पहलेके ही समान होता है। इसके प्रारम्भमें शरीरकी ऊँचाई ३ हाथ प्रमाण होती है ।१५६८। इस कालमें एक हजार वर्षोंके शेष रहनेपर १४ कुलकरोंकी उत्पत्ति होने लगती है ।१५६९-१५७१। कुलकर इस कालके म्लेछ पुरुषोंको उपदेश देते हैं ।१५७५। (म.पु./७६/४६०-४६६) (त्रि.सा./८७१)

ति. प./४/१५७५-१५९५ दुषमासुषमा—इसके पश्चात दुष्षम-सुषमाकाल प्रवेश होता है। इसके प्रारम्भमें शरीरकी ऊँचाई सात हाथ प्रमाण होती है ।१५७६। मनुष्य पाँच वर्णवाले शरीरसे युक्त, मर्यादा, विनय एवं लज्जासे सहित सन्तुष्ट और सम्पन्न होते हैं ।१५७७। इस कालमें २४ तीर्थंकर होते हैं। उनके समयमें १२ चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण हुआ करते हैं ।१५७८-१५९२। इस कालके अन्तमें मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई पाँच सौ पच्चीस धनुष होती है। ।१५९४-१५९५। (म.पु./७६/४७०-४८९) (त्रि.सा./८७२-८८०)

ति. प./४/१५९६-१५९९ सुषमादुषमा—इसके पश्चात् सुषमदुष्षम नाम चतुर्थ काल प्रविष्ट होता है। उस समय मनुष्योंकी ऊँचाई पाँचसौ धनुष प्रमाण होती है। उत्तरोत्तर आयु और ऊँचाई प्रत्येक कालके बलसे बढ़ती जाती है ।१५९६-१५९७। उस समय यह पृथिवी जघन्य भोगभूमि कही जाती है ।१५९८। उस समय वे सब मनुष्य एक कोस ऊँचे होते हैं ।१५९९। (म.पु./७६/४९०-९१)

ति.प./४/१५९९-१६०१ सुषमा—सुषमादुषमा कालके पश्चात् पाँचवाँ सुषमा नामक काल प्रविष्ट होता है ।१५९९। उस कालके प्रारम्भमें मनुष्य तिर्यंचोंकी आयु व उत्सेध आदि सुषमादुषमा कालके अन्तवत् होता है, परन्तु काल स्वभावसे वे उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं ।१६००। उस समय (कालके अन्तके) नरनारी दो कोस ऊँचे, पूर्ण चन्द्रमाके सदृश मुखवाले विनय एवं शीलसे सम्पन्न होते हैं ।१६०१। (म.पु./-७६/४९२)

ति.प./४/१६०२-१६०५ सुषमासुषमा—तदनन्तर सुषमासुषमा नामक छठा काल प्रविष्ट होता है। उसके प्रवेशमें आयु आदि सुषमाकालके अन्त-वत् होती हैं ।१६०२। परन्तु काल स्वभावके बलसे आयु आदिक बढ़ती जाती हैं। उस समय यह पृथिवी उत्तम भोगभूमिके नामसे सुप्रसिद्ध है।१६०३। उस कालके अन्तमें मनुष्योंकी ऊँचाई तीन कोस होती है।१६०४। वे बहुत परिवारकी विक्रिया करनेमें समर्थ ऐसी शक्तियोंसे संयुक्त होते हैं। (म.पु./७६/४९२)

छह कालोंमें आयु, वर्ण, अवगाहनादिकी वृद्धि व हानिकी सारणी—दे० काल/४/१९)

८. छह कालोंका पृथक्-पृथक् प्रमाण

स. सि./३/२७/२२३/७ तत्र सुषमसुषमा चतस्रः सागरोपमकोटीकोट्यः। तदादौ मनुष्या उत्तरकुरुमनुष्यतुल्याः। ततः क्रमेण हानौ सत्यां सुषमा भवति तिस्रः सागरोपमकोटीकोट्यः। तदादौ मनुष्या हरि-वर्षमनुष्यसमाः। ततः क्रमेण हानौ सत्यां सुषमदुष्षमा भवति द्वे सागरोपमकोटीकोट्यौ। तदादौ मनुष्या हैमवतकमनुष्यसमाः। ततः क्रमेण हानौ सत्यां दुष्षमसुषमा भवति एकसागरोपमकोटीकोटी द्वि-चत्वारिंशद्वर्षसहस्रोना। तदादौ मनुष्या विदेहजनतुल्या भवन्ति। ततः क्रमेण हानौ सत्यां दुष्षमा भवति एकविंशतिवर्षसहस्राणि। ततः क्रमेण हानौ सत्यामतिदुष्षमा भवति एकविंशतिवर्षसहस्राणि। एवमुत्सर्पिण्यपि विपरीतक्रमा वेदितव्या। —इसमेंसे सुषमसुषमा चार कोड़ाकोड़ी सागरका होता है। इसके प्रारम्भमें मनुष्य उत्तर-कुरुके मनुष्योंके समान होते हैं। फिर क्रमसे हानि होनेपर तीन कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण सुषमा काल प्राप्त होता है। इसके प्रारम्भमें

मनुष्य हरिवर्षके मनुष्योंके समान होते हैं। तदनन्तर क्रमसे हानि होनेपर दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण सुषमदुष्षमा काल प्राप्त होता है। इसके प्रारम्भमें मनुष्य हैमवतकके मनुष्योंके समान होते हैं। तदनन्तर क्रमसे हानि होकर ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरका दुषमसुषमा काल प्राप्त होता है। इसके प्रारम्भमें मनुष्य विदेह क्षेत्रके मनुष्योंके समान होते हैं। तदनन्तर क्रमसे हानि होकर इक्कीस हजार वर्षका दुष्षमा काल प्राप्त होता है। तदनन्तर क्रमसे हानि होकर इक्कीस हजार वर्षका अतिदुषमा काल प्राप्त होता है। इसी प्रकार उत्सर्पिणी भी इससे विपरीत क्रमसे जानना चाहिए। (ति.प./४/३१७-३१६)

अवसर्पिणीके छह भेदोंमें क्रमसे जीवोंकी वृद्धि होती जाती है

ति.प./४/१६१२-१६१३ अवसप्पिणीए दुस्समसुसमपवेसस्स पढमसमयम्मि। वियलिंदियउप्पत्ती वड्ढी जीवाण थोवकालम्मि ।१६१२। कमसो वड्ढंति हु तियकाले मणुवतिरियाणमवि संखा। तत्तो उस्सप्पिणिए तिदए वट्टंति पुव्वं वा ।१६१३। –अवसर्पिणी कालमें दुष्षमसुषमा कालके प्रारम्भिक प्रथम समयमें थोड़े ही समयके भीतर विकलेन्द्रियोंकी उत्पत्ति और जीवोंकी वृद्धि होने लगती है।१६१२। इस प्रकार क्रमसे तीन कालोंमें मनुष्य और तिर्यंच जीवोंकी संख्या बढ़ती ही रहती है। फिर इसके पश्चात उत्सर्पिणीके पहले तीन कालोंमें भी पहलेके समान ही वे जीव वर्तमान रहते हैं।१६१३।

१०. उत्सर्पिणीके छह कालोंमें जीवोंकी क्रमिक हानि व कल्पवृक्षोंकी क्रमिक वृद्धि

ति.प./४/१६०८-१६११ उस्सप्पिणीए अज्जाखंडे अदिदुस्समस्स पढमखणे। होंति हु णरतिरियाणं जीवा सव्वाणि थोवाणि ।१६०८। ततो कमसो बहवा मणुवा तेरिच्छसयलवियलक्खा। उप्पज्जंति हु जाव य दुस्समसुसमस्स चरिमो त्ति ।१६०९। णासंति एक्कसमए वियलक्खायंगिणिवहकुलभेया। तुरिमस्स पढमसमए कप्पतरूणं पि उप्पत्ती ।१६१०। पविसंति मणुवतिरिया जेत्तियमेत्ता जहण्णभोगखिदिं। तेत्तियमेत्ता होंति हु तक्काले भरहखेत्तम्मि ।१६११। –उत्सर्पिणी कालके आर्यखण्डमें अतिदुषमा कालके प्रथम क्षणमें मनुष्य और तिर्यंचोंमें-से सब जीव थोड़े होते हैं।१६०८। इसके पश्चात फिर क्रमसे दुष्षमसुषमा कालके अन्त तक बहुतसे मनुष्य और सकलेन्द्रिय एवं विकलेन्द्रिय तिर्यंच जीव उत्पन्न होते हैं।१६०९। तत्पश्चात् एक समयमें विकलेन्द्रिय प्राणियोंके समूह व कुलभेद नष्ट हो जाते हैं तथा चतुर्थ कालके प्रथम समयमें कल्पवृक्षोंकी भी उत्पत्ति हो जाती है।१६१०। जितने मनुष्य और तिर्यंच जघन्य भोगभूमिमें प्रवेश करते हैं उतने ही इस कालके भीतर भरतक्षेत्रमें होते हैं।१६११।

११. युगका प्रारम्भ व उसका क्रम

ति.प./१/७० सावणबहुले पाडिवरुद्दमुहुत्ते सुहोदये रविणो। अभिजस्स पढमजोए जुगस्स आदी इमस्स पुढं ।७०। –श्रावण कृष्णा पड़िवाके दिन रुद्र मुहूर्तके रहते हुए सूर्यका शुभ उदय होनेपर अभिजित् नक्षत्रके प्रथम योगमें इस युगका प्रारम्भ हुआ, यह स्पष्ट है।

ति.प./७/५३०-५४८ आसाढपुण्णिमीए जुगणिप्पत्ती दु सावणे किण्हे। अभिजिम्मि चंदजोगे पाडिवदिवसम्मि पारंभो ।५३०। पणवरिसे दुमणीणं दक्खिणुत्तरायणं उसुयं। चय आणेज्जो उस्सप्पिणिपढमआदिचरिमंतं ।५४७। पल्लस्सासंखभागं दक्खिणअयणस्स होदि परिमाणं। तेत्तियमेत्तं उत्तरअयणं उसुपं च तद्दुगुणं ।५४८। –आषाढ मासकी पूर्णिमाके दिन पाँच वर्ष प्रमाण युगकी पूर्णता और श्रावण-कृष्णा प्रतिपद्के दिन अभिजित् नक्षत्रके साथ चन्द्रमाका योग होनेपर उस युगका प्रारम्भ होता है।५३०। …इस प्रकार उत्सर्पिणीके प्रथम समयसे लेकर अन्तिम समय तक पाँच परिमित युगोंमें सूर्योंके दक्षिण व उत्तर अयन तथा विषुवोंको ले आना चाहिए।५४७। दक्षिण अयनका प्रमाण पल्यका असंख्यातवाँ भाग और इतना ही उत्तर अयनका भी प्रमाण है। विषुपोंका प्रमाण इससे दूना है।५४८।

ति. प./४/१५५८-१५६३ पोक्खरमेघा सलिलं वरिसंति दिणाणि सत्त सुहजणणं। वज्जग्गिदड्ढा भूमी सयला वि सीयला होदि ।१५५८। वरिसंति खीरमेघा खीरजलं तेत्तियाणि दिवसाणि। खीरजलेहिं भरिदा सच्छाया होदि सा भूमी ।१५५९। तत्तो अमिदपयोदा अमिदं वरिसंति सत्तदिवसाणि। अमिदेणं सित्ताए महिए जायंति वल्लिगोम्मादी ।१५६०। ताधे रसजलवाहा दिव्वरसं पवरिसंति सत्तदिणे। दिव्वरसेणाउण्णा रसवंता होंति ते सव्वे ।१५६१। विविहरसोसहिभरिदा भूमी सुस्सादपरिणदा होदि। तत्तो सीयलगंधं जादित्ता णिस्सरंति णरतिरिया ।१५६२। फलमूलदलप्पहुदिं छुहिदा खादंति मत्तपहुदीणं। णग्गा गोधम्मपरा णरतिरिया वणपएसेसुं ।१५६३। –उत्सर्पिणी कालके प्रारम्भमें सात दिन तक पुष्कर मेघ सुखोत्पादक जलको बरसाते हैं, जिससे वज्राग्निसे जली हुई सम्पूर्ण पृथिवी शीतल हो जाती है।१५५८। क्षीर मेघ उतने ही दिन तक क्षीर जल-वर्षा करते हैं, इस प्रकार क्षीर जलसे भरी हुई यह पृथिवी उत्तम कान्तिसे युक्त हो जाती है।१५५९। इसके पश्चात सात दिन तक अमृतमेघ अमृतकी वर्षा करते हैं। इस प्रकार अमृतसे अभिषिक्त भूमिपर लतागुल्म इत्यादि उगने लगते हैं।१५६०। उस समय रसमेघ सात दिन तक दिव्य रसकी वर्षा करते हैं। इस दिव्य रससे परिपूर्ण वे सब रसवाले हो जाते हैं।१५६१। विविध रसपूर्ण औषधियोंसे भरी हुई भूमि सुस्वाद परिणत हो जाती है। पश्चात् शीतल गन्धको ग्रहण कर वे मनुष्य और तिर्यंच गुफाओंसे बाहर निकलते हैं।१५६२। उस समय मनुष्य पशुओं जैसा आचरण करते हुए क्षुधित होकर वृक्षोंके फल, मूल व पत्ते आदिको खाते हैं।१५६३।

१२. हुंडावसर्पिणी कालकी विशेषताएँ

ति.प./४/१६१५-१६२१ असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी कालकी शलाकाओंके बीत जानेपर प्रसिद्ध एक हुण्डावसर्पिणी आती है; उसके चिह्न ये हैं–१. इस हुण्डावसर्पिणी कालके भीतर सुषमदुष्षमा कालकी स्थितिमें से कुछ कालके अवशिष्ट रहनेपर भी वर्षा आदिक पड़ने लगती है और विकलेन्द्रिय जीवोंकी उत्पत्ति होने लगती है।१६१६। २. इसके अतिरिक्त इसी कालमें कल्पवृक्षोंका अन्त और कर्मभूमिका व्यापार प्रारम्भ हो जाता है। ३. उस कालमें प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती भी उत्पन्न हो जाते हैं।१६१७। ४. चक्रवर्तीका विजय भंग। ५. और थोड़ेसे जीवोंका मोक्ष गमन भी होता है। ६. इसके अतिरिक्त चक्रवर्तीसे की गयी द्विजोंके वंशकी उत्पत्ति भी होती है।१६१८। ७. दुष्षमसुषमा कालमें ५८ ही शलाकापुरुष होते हैं। ८. और नौवें [पन्द्रहवेंकी बजाय] से सोलहवें तीर्थंकर तक सात तीर्थोंमें धर्मकी व्युच्छित्ति होती है।१६१९। (त्रि.सा./८१४) ९. ग्यारह रुद्र और कलहप्रिय नौ नारद होते हैं। १०. तथा इसके अतिरिक्त सातवें, तेईसवें और अन्तिम तीर्थंकरके उपसर्ग भी होता है।१६२०। ११. तृतीय, चतुर्थ व पंचम कालमें उत्तम धर्मको नष्ट करनेवाले विविध प्रकारके दुष्ट पापिष्ठ कुदेव और कुलिंगी भी दिखने लगते हैं। १२. तथा चाण्डाल, शबर, पाण (श्वपच), पुलिंद, लाहल, और किरात इत्यादि जातियाँ उत्पन्न होती हैं। १३. तथा दुषम कालमें ४२ कल्की व उपकल्की होते हैं। १४. अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूवृद्धि (भूकंप ?) और वज्राग्नि आदिका गिरना, इत्यादि विचित्र

भेदोंको लिये हुए नाना प्रकारके दोष इस हुण्डावसर्पिणी कालमें हुआ करते हैं ।१६२१-१६२३।

ध.३/१,२,१४/६८/४ पउमप्पहभडारओ बहुसीसपरिवारो...पुव्विल्लगाहाए वुत्तसंजदाणं पमाणं ण पावेंति । तदो गाहा ण भद्दिएत्ति । एत्थ परिहारो वुच्चदे—सव्वोसप्पिणीहितो अहमा हुंडोसप्पिणी । तत्थतण तित्थयरसिस्सपरिवारं जुगमाहप्पेण ओहट्टिय डहरभावमापण्णं घेत्तूण ण गाहासुत्तं दूसिदं सक्किज्जदि, सेसोसप्पिणी तित्थयरेसु बहुसीसपरिवारुवलंभादो । —प्रश्न—पद्मप्रभ भट्टारकका शिष्य परिवार...(की) संख्या पूर्व गाथामें कहे गये संयतोंके प्रमाणको प्राप्त नहीं होती, इसलिए पूर्व गाथा ठीक नहीं ? उत्तर—आगे पूर्वशंका का परिहार करते हैं कि सम्पूर्ण अवसर्पिणियोंकी अपेक्षा यह हुंडावसर्पिणी है, इसलिए युगके माहात्म्यसे घटकर ह्रस्वभावको प्राप्त हुए हुण्डावसर्पिणी काल सम्बन्धी तीर्थंकरोंके शिष्य परिवारको ग्रहणकरके गाथा सूत्रको दूषित करना शक्य नहीं है, क्योंकि शेष अवसर्पिणियोंके तीर्थंकरोंके बड़ा शिष्य परिवार पाया जाता है ।

१३. वे उत्सर्पिणी आदि षट्काल भरत व ऐरावत क्षेत्रोंमें ही होते हैं

त.सू./३/२७-२८ भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ।२७। ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ।२८। —भरत और ऐरावत क्षेत्रमें उत्सर्पिणीके और अवसर्पिणीके छह समयोंकी अपेक्षा वृद्धि और ह्रास होता रहता है ।२७। भरत और ऐरावतके सिवा शेष भूमियाँ अवस्थित हैं ।२८।

ति.प./४/३१३ भरहक्खेत्तम्मि इमे अज्जाखंडम्मि कालपरिभागा । अवसप्पिणिउस्सप्पिणिपज्जाया दोण्णि होंति पुढं ।३१३। —भरत क्षेत्रके आर्य खण्डोंमें ये कालके विभाग हैं । यहाँ पृथक्-पृथक् अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीरूप दोनों ही कालकी पर्यायें होती हैं ।३१३। और भी विशेष—दे० भूमि/५।

१४. मध्यलोकमें सुषमा दुषमा आदि काल विभाग

ति. प./४/गा. नं. भरहक्खेत्तम्मि इमे अज्जाखंडम्मि कालपरिभागा । अवसप्पिणिउस्सप्पिणिपज्जाया दोण्णि होंति पुढं (३१३) दोण्णि वि मिलिदे कप्पं छब्भेदा होंति तत्थ एक्केक्कं ।... (३१६) पणमेच्छखयरसेढिसु अवसप्पुस्सप्पिणीए तुरिमम्मि । तदियाए हाणिचयं कमसो पढमादु चरिमोत्ति (१६०७) अवसेसवण्णणाओ सरिसाओ सुसमदुस्समेणं पि । णवरि यवट्ठिदरूवं परिहीणं हाणिवड्ढीहिं (१७०३) अवसेसवण्णणाओ सुसमस्स व होंति तस्स खेत्तस्स । णवरि य संठिदरूवं परिहीणं हाणिवड्ढीहि (१७४४) रम्मकविजओ रम्मो हरिवरिसो व वरवण्णणाजुत्तो ।...(२३३५) सुसमसुसमम्मि काले जा भणिदा वण्णणा विचित्तपरा । सा हाणीए विहीणा एदस्सिं णिसहसेले य (२१४५) । विजओ हेरण्णवदो हेमवदो व्व वण्णणाजुत्तो ।...(२३५०) —भरत क्षेत्रके [वैसे ही ऐरावत क्षेत्रके] आर्यखण्डमें...उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों ही कालकी पर्याय होती हैं ।३१३। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमें-से प्रत्येकके छह-छह भेद हैं ।३१६। पाँच म्लेच्छखण्ड और विद्याधरोंकी श्रेणियोंमें अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी कालमें क्रमसे चतुर्थ और तृतीय कालके प्रारम्भसे अन्ततक हानि-वृद्धि होती रहती है । [अर्थात् इन स्थानोंमें अवसर्पिणीकालमें चतुर्थकालके प्रारम्भसे अन्ततक हानि और उत्सर्पिणी कालमें तृतीयकालके प्रारम्भसे अन्ततक वृद्धि होती रहती है । यहाँ अन्य कालोंकी प्रवृत्ति नहीं होती ।] ।१६०७। इसका (हैमवत क्षेत्र)का शेष वर्णन सुषमदुषमा कालके सदृश है । विशेषता केवल यह है कि यह क्षेत्र हानिवृद्धिसे रहित होता हुआ अवस्थितरूप अर्थात् एकसा रहता है ।१७०३। उस (हरि) क्षेत्रका अवशेष वर्णन सुषमाकालके समान है । विशेष यह है कि वह क्षेत्र हानि-वृद्धिसे रहित होता हुआ संस्थितरूप अर्थात् एक-सा ही रहता है ।१७४४। सुषमसुषमाकालके विषयमें जो विचित्रतर वर्णन किया गया है, वही वर्णन हानिसे रहित—देवकुरुमें भी समझना चाहिए ।२१४५। रमणीय रम्यकविजय भी हरिवर्षके समान उत्तम वर्णनोंसे युक्त है ।२३३५। हैरण्यवतक्षेत्र हैमवतक्षेत्रके समान वर्णनसे युक्त है ।२३५०। (त्रि.सा./७७६)

ज. प./२/१६६-१७४ तदिओ दु कालसमओ असंखदीवे य होंति णियमेण । मणुसुत्तरादु परदो णगिंदवरपव्वदो णाम ।१६६। जलणिहिसयंभूरवणे सयंभुरवणवणस्स दोवमज्झम्मि । भूहरणगिंदपरदो दुस्समकालो समुद्दिट्ठो ।१७४। —मानुषोत्तर पर्वतसे आगे नगेन्द्र (स्वयंप्रभ) पर्वततक असंख्यात द्वीपोंमें नियमतः तृतीयकालका समय रहता है ।१६६। नगेन्द्र पर्वतके परे स्वयंभूरमण द्वीप और स्वयंभूरमण समुद्रमें दुषमाकाल कहा गया है ।१७४। (कुमानुष द्वीपोंमें जघन्य भोगभूमि है । ज. प./११/५४-५५)

१५. छहों कालोंमें सुख-दुःख आदिका सामान्य कथन

ज. प./२/१६०-१६१ पढमे बिदये तदिये काले जे होंति माणुसा पवरा । ते अवमिच्चुविहूणा एयंतसुहेहिं संजुत्ता ।१६०। चउथे पंचमकाले मणुया सुहदुक्खसंजुदा णेया । छट्ठमकाले सव्वे णाणाविहदुक्खसंजुत्ता ।१६१। —प्रथम, द्वितीय और तृतीय कालोंमें जो श्रेष्ठ मनुष्य होते हैं वे अपमृत्युसे रहित और एकान्त सुखसे संयुक्त होते हैं ।१६०। चतुर्थ और पंचमकालमें मनुष्य सुख-दुःखसे संयुक्त तथा छठेकालमें सभी मनुष्य नानाप्रकारके दुःखोंसे संयुक्त होते हैं, ऐसा जानना चाहिए ।१६१। और भी—दे० भूमि/१ ।

१६. चतुर्थकालकी कुछ विशेषताएँ

ज. प./२/१७६-१८५ एदम्मि कालसमये तित्थयरा सयलचक्कवट्टीया । बलदेववासुदेवा पडिसत्तू ताण जायंति ।१७६। रुद्दा य कामदेवा गणहरदेवा य चरमदेहधरा । दुस्समसुसमे काले उप्पत्ती ताण बोद्धव्वा ।१८५। —इस कालके समयमें तीर्थंकर, सकलचक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और उनके प्रतिशत्रु उत्पन्न होते हैं ।१७६। रुद्र, कामदेव, गणधरदेव, और जो चरमशरीरी मनुष्य हैं, उनकी उत्पत्ति दुषमसुषमा कालमें जाननी चाहिए ।१८५।

१७. पंचमकालकी कुछ विशेषताएँ

म. पु./४१/६३-७९ का भावार्थ—भगवान् ऋषभदेवने भरत महाराजको उनके १६ स्वप्नोंका फल दर्शाते हुए यह भविष्यवाणी की—२३वें तीर्थंकरतक मिथ्या मतोंका प्रचार अधिक न होगा ।६३। २४वें तीर्थंकरके कालमें कुलिंगी उत्पन्न हो जायेंगे ।६५। साधु तपश्चरणका भार वहन न कर सकेंगे ।६६। मूल व उत्तरगुणोंको भी साधु भंग कर देंगे ।६७। मनुष्य दुराचारी हो जायेंगे ।६८। नीच कुलीन राजा होंगे ।६९। प्रजा जैनमुनियोंको छोड़कर अन्य साधुओंके पास धर्म श्रवण करने लगेगी ।७०। व्यन्तर देवोंकी उपासनाका प्रचार होगा ।७१। धर्म म्लेच्छ खण्डोंमें रह जायेगा ।७२। ऋद्धिधारी मुनि नहीं होंगे ।७३। मिथ्या ब्राह्मणोंका सत्कार होगा ।७४। तरुण अवस्थामें ही मुनिपदमें ठहरा जा सकेगा ।७५। अवधि व मनःपर्यय ज्ञान न होगा ।७६। मुनि एकल विहारी न होंगे ।७७। केवलज्ञान उत्पन्न न होगा ।७८। प्रजा चारित्र-भ्रष्ट हो जायेगी, औषधियोंके रस नष्ट हो जायेंगे ।७९।

१८. षट्कालोंमें आयु, आहारादिकी वृद्धि व हानि प्रदर्शक सारणी

प्रमाण – (ति.प./४/गा.); (स.सि./३/२७-३१,३७); (त्रि.सा./७८०-७९१,८८१-८८४); (रा.वा./३/२७-३१,३७/१९१-१९२,२०४); (महा.पु./३/२२-५५) (हरि.पु./७/६४-७०); (जं.प./२/११२-१५५) संकेत—को.को.सा.=कोड़ाकोड़ी सागर; ज.=जघन्य; उ.=उत्कृष्ट; पू.को.=पूर्व कोड़ि।

	प्रमाण सामान्य		षट्कालों में वृद्धि-ह्रास की विशेषताएँ											
विषय	ज.प./२/गा.	त्रि सा.	ति.प.	सुषमा सुषमा	ति.प.	सुषमा	ति.प.	सुषमा दुषमा	ति.प.	दुषमा सुषमा	ति.प.	दुषमा	ति.प.	दुषमा दुषमा
काल प्रमाण	११२-११४		३१६, ३६४	४को को सा.	३१६, ३६५	३को को सा.	३१७, ४०३	२को को सा.	३१७	१कोको सा.से ४२००० वर्ष हीन	३१८	२१००० वर्ष	३१९	२१००० वर्ष
आयु (ज.)			३९६	२ पल्य	१६००	१ पल्य	१५९६	१ पू० को०	१५७६	१२० वर्ष	१५६८	२० वर्ष	१५६४	१५-१६ वर्ष
,, (उ.)	१२०-१२३ १७८,१८६		३३५	३ पल्य	३९६	२ पल्य	४०४, १५९८	१ पल्य	१२७७, १५९५	१ पू० को.	१४७५	१२० वर्ष	१५३६	२० वर्ष
अवगाहना (ज.)			३९६ १६०१	४००० धनुष	१६००	२००० धनुष	१५९७	५०० धनुष	१५७६	७ हाथ	१५६८	३या ३½ हाथ	१५६४	१ हाथ
,, (उ.)	१७७,१८६ १२०-१२३		३३५	६००० धनुष	३९६, १६०१	४००० धनुष	४०४, १५९९	२००० धनुष	१२७७, १५९५	५०० धनुष	१४७५	७ हाथ	१५३६	३ या ३½ हाथ
आहार प्रमाण	१२०-१२३		३३४	बेर प्रमाण	३९८	बहेड़ा प्रमाण	४०६	आँवलाप्रमाण						
,, अन्तराल	,,	७८५	,,	३ दिन	,,	२ दिन	,,	१ दिन	त्रि.सा.	प्रति दिन	त्रि.सा	अनेक बार	त्रि.सा	बारम्बार
विहार			३३६	अभाव	३३६	अभाव	३३६	अभाव						
संस्थान	१५३		३४१	समचतुरस्र	३९८	समचतुरस्र	४०६	समचतुरस्र					१५३९	कुबड़े बौने आदि
संहनन	१२४		,,	वज्रऋषभ ना.	(ज.प)	वज्र ऋषभ	ज.प.	वज्र ऋषभ						
हड्डियाँ (शरीरके पृष्ठमें)			३३७	२५६	३९७	१२८	४०५	६४	१२७७, १५७७	४८-२४	१४७५	२४-१२	१५३६	१२
शरीरका रंग		७८४	रा.वा	स्वर्ण वत् सूर्य वत्	रा.वा	शंख वत् चन्द्र वत्	रा.वा	नील कमल हरित श्याम		पाँचों वर्ण		कान्तिहीन पंचवर्ण		धुँवे वत् श्याम
बल	१५५			९००० हाथियों का		९०००गज वत्		९०००गज वत्						
संयम				अभाव		अभाव		अभाव						
मरण समय	रा. वा.		→	पुरुषके छींक स्त्रीको जँभाई				←						
अपमृत्यु	हरि.पु./२/३१			अभाव		अभाव		अभाव						
मृत्यु पश्चात् शरीर	रा वा.		→	कर्पूर वत्	उड़	जाता है		←						
उपपाद	रा. वा.		→	(सम्यक्त्व सहित सौधर्म ईशानमें, मिथ्यात्व सहित भवनत्रिकमें)										
भूमि रचना	रा. वा.	८८१		उत्तम भोग		मध्यम भोग	१५१८	जघन्य भोग वकुभोगभूमि		कर्म भूमि		कर्मभूमि		कर्मभूमि
अन्य भूमियों में काल अवस्थान	ति. प./२/	११६-११८,	रा.वा	१६६,१७४; ३/२३४-२३५); (त्रि.सा./८८२-८८३); (रा.वा.); (गो.जी./५४८) उत्तर कुरु		हरि वर्षक्षेत्र		हैमवत् क्षेत्र	ति.प/४-१६०७	विदेह क्षेत्र		भरत क्षेत्र		भरत क्षेत्र
				देव कुरु		रम्यक क्षेत्र		हैरण्यवत क्षेत्र	त्रि.सा./८८३	भरतऐरावत के म्लेच्छ खण्ड		ऐरावत क्षेत्र		ऐरावत क्षेत्र
								अन्तर्द्वीप व मानुषोत्तरसे स्वयंभूरमण पर्वत तक	म.पु/१९/९-१० ज.प/२/-११६	व विजयार्ध में विद्याधर श्रेणियाँ				
									हरि.पु./-५/७३०	स्वयंभूरमण पर्वतसे आगे				
चतुर्गतिमें कालविभाग	ति.प./२/-१७५	८८४		देव गति										नरक गति

५. कालानुयोगद्वार तथा तत्सम्बन्धी कुछ नियम

१. कालानुयोगद्वारका लक्षण

रा.वा./१/८/६/४२/३ स्थितिमतोऽर्थस्यावधिः परिच्छेत्तव्यः। इति कालोपादानं क्रियते। – किसी क्षेत्रमें स्थित पदार्थकी काल मर्यादा निश्चय करना काल है।

ध.१/१,१,७/१०३/१५१ कालो ट्ठिदिअवधारणं···।···।१०३।

ध.१/१,१,७/१५८/६ तेहितो अवगय-संत-पमाण-खेत्त-फोसणाणं ट्ठिदिं परूवेदि कालाणियोगो। – १. जिसमें पदार्थोंकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन हो उसे काल प्ररूपणा कहते हैं।१०३। २. पूर्वोक्त चारों (सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन) अनुयोगोंके द्वारा जाने गये सत्-संख्या-क्षेत्र और स्पर्श रूप द्रव्योंकी स्थितिका वर्णन कालानुयोग करता है।

२. काल व अन्तरानुयोगद्वारमें अन्तर

ध. १/१,१,७/१५८/६ तेहितो अवगय-संत-पमाण-खेत्त-फोसणाणं ट्ठिदि परूवेदि कालाणियोगो। तेसिं चेव विरहं परूवेदि अंतराणियोगो। – चारों (सत्, संख्या, क्षेत्र व स्पर्शन) अनुयोगोंके द्वारा जाने गये सत्-संख्या-क्षेत्र और स्पर्शरूप द्रव्योंकी स्थितिका वर्णन कालानुयोगद्वार करता है। जिन पदार्थोंके अस्तित्व, संख्या, क्षेत्र, स्पर्श और स्थितिका ज्ञान हो गया है उनके अन्तरकालका वर्णन अन्तरानुयोग करता है।

३. काल प्ररूपणा सम्बन्धी सामान्य नियम

ध. ७/२,८,१७/४६६/२ किंतु जस्स गुणट्ठाणस्स मग्गणट्ठाणस्स वा एगजीवावट्ठाणकालादोपवेसंतरकालो बहुगो होदि तस्सण्णयवोच्छेदो। जस्स पुण कयावि ण बहुओ तस्स ण संताणस्स वोच्छेदो। जस्स पुण कयावि ण बहुओ तस्स ण संताणस्स वोच्छेदो त्ति घेत्तव्वं। – जिस गुणस्थान अथवा मार्गणा स्थानके एक जीवके अवस्थान कालसे प्रवेशान्तरकाल बहुत होता है, उसकी सन्तानका व्युच्छेद होता है। जिसका वह काल कदापि बहुत नहीं है, उसकी सन्तानका व्युच्छेद नहीं होता, ऐसा ग्रहण करना चाहिए।

४. ओघ प्ररूपणा सम्बन्धी सामान्य नियम

ध. ३/१,२,८/६०/३ अपमत्तद्धादो पमत्तद्धाए दुगुणत्तादो। – अप्रमत्त संयतके कालसे प्रमत्त संयतका काल दुगुणा है।

ध. ५/१,६,२५०/१२५/४ उवसमसेढि सव्वद्धाहितो पमत्तद्धा एक्का चेव संखेज्जगुणा त्ति गुरूवदेसादो।

ध. ५/१,६,१४/१८/८ एक्को अपुव्वकरणो अणियट्टिउवसामगो सुहुमउवसामगो उवसंत-कसाओ होदूण पुणो वि सुहुमउवसामगो अणियट्टिउवसामगो होदूण अपुव्वउवसामगो जादो। एदाओ पंच वि अद्धाओ एक्कट्ठं कदे वि अंतोमुहुत्तमेव होदि त्ति जहण्णंतरमंतोमुहुत्तं होदि। – १. उपशम श्रेणी सम्बन्धी सभी (अर्थात् चारों आरोहक व तीन अवरोहक) गुणस्थानों सम्बन्धी कालोंसे अकेले प्रमत्तसंयतका काल ही संख्यातगुणा होता है। २. एक अपूर्वकरण उपशामक जीव, अनिवृत्ति उपशामक, सूक्ष्मसाम्परायिक उपशामक और उपशान्तकषाय उपशामक होकर फिर भी सूक्ष्म साम्परायिक उपशामक और अनिवृत्तिकरण उपशामक होकर अपूर्वकरण उपशामक हो गया। इस पकार अन्तर्मुहूर्तकाल प्रमाण जघन्य अन्तर उपलब्ध हुआ। ये अनिवृत्तिकरणसे लगाकर पुनः अपूर्वकरण उपशामक होनेके पूर्व तकके पाँचों ही गुणस्थानोंके कालोंको एकत्र करनेपर भी वह काल अन्तर्मुहूर्त ही होता है, इसलिए जघन्य अन्तर भी अन्तर्मुहूर्त ही होता है।

५. ओघ प्र० में नानाजीवोंकी जघन्यकाल प्राप्ति विधि

ध. ४/१,५,५/३३६/६ दो वा तिण्णि वा एगुत्तरवड्ढीए जाव पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्ता वा उवसमसम्मादिट्ठिणो उवसमसमत्तद्धाए एगो समओ अत्थि त्ति सासणं पडिवण्णा एगसमयं दिट्ठा। बिदिए-समये सव्वे वि मिच्छत्तं गदा, तिसु वि लोएसु सासणमभावो जादो त्ति लद्धो एगसमओ। – दो अथवा तीन, इस प्रकार एक अधिक वृद्धिसे बढ़ते हुए पल्योपमके असंख्यातवें भागमात्र उपसमसम्यग्दृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्वके कालमें एक समय मात्र (जघन्य) काल अवशिष्ट रह जानेपर एक साथ सासादन गुणस्थानको प्राप्त हुए एक समयमें दिखाई दिये। दूसरे समयमें सबके सब (युगपत्) मिथ्यात्वको प्राप्त हो गये। उस समय तीनों ही लोकोंमें सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंका अभाव हो गया। इस प्रकार एक समय प्रमाण सासादन गुणस्थानका नाना जीवोंकी अपेक्षा (जघन्य) काल प्राप्त हुआ। नोट—इसी प्रकार यथायोग्य रूपसे अन्यगुणस्थानोंपर भी लागू कर लेना चाहिए। विशेष यह है कि उस उस गुणस्थानका एक जीवापेक्षा जो जघन्य काल है उस सहित ही प्रवेश करना।

६. ओघ प्र० में नाना जीवोंकी उत्कृष्ट काल प्राप्ति विधि

ध./४/१,५,६/३४०/२ दोण्णि वा, तिण्णि वा एवं एगुत्तरवड्ढीए जाव पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्ता वा उवसमसम्मादिट्ठिणो एगसमयादि कादूण जावुक्कस्सेण छआवलिओ उवसमत्तद्धाए अत्थि त्ति सासणत्तं पडिवण्णा। जाव ते मिच्छत्तं ण गच्छंति ताव अण्णे वि अण्णे वि उवसमसम्मदिट्ठिणो सासणत्तं पडिवज्जंति। एवं गिम्हकालरुक्खछाहीव उक्कस्सेण पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्तं कालं जीवेहि असुण्णं होदूण सासाणगुणट्ठाणं लब्भदि। – दो, अथवा तीन, अथवा चार, इस प्रकार एक-एक अधिक वृद्धि द्वारा पल्योपमके असंख्यातवें भागमात्र तक उपशमसम्यग्दृष्टि जीव एक समयको आदि करके उत्कर्षसे छह आवलियाँ उपशम सम्यक्त्वके कालमें अवशिष्ट रहनेपर सासादन गुणस्थानको प्राप्त हुए। वे जब तक मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं होते हैं, तब तक अन्य-अन्य भी उपशमसम्यग्दृष्टि जीव सासादन गुणस्थानको प्राप्त होते रहते हैं। इस प्रकारसे ग्रीष्मकालके वृक्षकी छायाके समान उत्कर्षसे पल्योपमके असंख्यातवें भागमात्र कालतक जीवोंसे अशून्य (परिपूर्ण) होकर, सासादन गुणस्थान पाया जाता है। (पश्चात् वे सर्वजीव अवश्य ही मिथ्यात्वको प्राप्त होकर उस गुणस्थानको जीवोंसे शून्य कर देते हैं) नोट—इसी प्रकार यथायोग्य रूपसे अन्य गुणस्थानोंपर भी लागू कर लेना। विशेष यह है कि उस उस गुणस्थान तकका एक जीवापेक्षया जो भी जघन्य या उत्कृष्ट कालके विकल्प हैं उन सबके साथ वाले सर्व ही जीवोंका प्रवेश कराना।

७. ओघ प्र० में एक जीवकी जघन्यकाल प्राप्ति विधि

ध./४/१,५,७/३४१-३४२ एक्को उवसमसम्मादिट्ठी उवसमसमत्तद्धाए एगसमओ अत्थि त्ति सासणं गदो।···एगसमयं सासाणगुणेण सह दिट्ठो, बिदिए समए मिच्छत्तं गदो। एवं सासाणस्स लद्धो एगसमओ।···

ध./४/१,५,१०/३४४-३४५। एक्को मिच्छादिट्ठी विसुज्झमाणो सम्मामिच्छत्तं पडिवण्णो। सव्वलहुमंतोमुहुत्तकालमच्छिदूण विसुज्झमाणो चेव असंजमं सम्मत्तं पडिवण्णो।···अधवा वेदगसम्मादिट्ठी संकिलिस्समाणगो सम्मामिच्छत्तं गदो, सव्वलहुमंतोमुहुत्तकालमच्छिदूण अविणट्ठसंकिलेसो मिच्छत्तं गदो।···एवं दोहि पयारेहि सम्मामिच्छत्तस्स जहण्णकालपरूवणा गदा।

ध./४/१,५,२४/३५३ एक्को अणियट्टि उवसामगो एगसमयं जीविदमत्थि त्ति अपुव्व उवसामगो जादो एगसमयं दिट्ठो, बिदियसमए मदो लवसत्तमो देवो जादो। – १ एक उपशम सम्यग्दृष्टि जीव उपशमसम्य-

क्त्वके कालमें एक समय अवशिष्ट रहनेपर सासादन गुणस्थानको प्राप्त हुआ।…एकसमय मात्र सासादन गुणस्थानके साथ दिखाई दिया। (क्योंकि जितना काल उपशमका शेष रहे उतना ही सासादनका काल है), दूसरे समयमें मिथ्यात्वको प्राप्त हो गया। २. एक मिथ्यादृष्टि जीव विशुद्ध होता हुआ सम्यग्मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ। पुनः सर्व लघु अन्तर्मुहूर्त काल रहकर विशुद्ध होता हुआ असंयत सहित सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ।…अथवा संक्लेशको प्राप्त होनेवाला वेदक सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त हुआ और वहाँपर सर्वलघु अन्तर्मुहूर्त काल रह करके अविनष्ट संक्लेशी हुआ ही मिथ्यात्वको चला गया।…इस तरह दो प्रकारोंसे सम्यग् मिथ्यात्वके जघन्यकालकी प्ररूपणा समाप्त हुई। ३. एक अनिवृत्तिकरण उपशामक जीव एकसमय जीवन शेष रहनेपर अपूर्वकरण उपशामक हुआ, एक समय दिखा, और द्वितीय समयमें मरणको प्राप्त हुआ। तथा उत्तम जातिका विमानवासी देव हो गया। नोट—इसी प्रकार अन्य गुणस्थानोंमें भी यथायोग्य रूपसे लागू कर लेना चाहिए।

८. देवगतिमें मिथ्यात्वके उत्कृष्टकाल सम्बन्धी नियम

ध./४/१,५,२६३/४६३/६ 'मिच्छादिट्ठी जदि सुट्ठु महंतं करेदि। तो पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागेणब्भहियवेसागरोवमाणि करेदि। सोहम्मे उप्पज्जमाणमिच्छादिट्ठीणं एदम्हादो अहियाउट्ठवणे सत्तीए अभावा। … अंतोमुहुत्तूणड्ढाइज्जसागरोवमेसु उप्पण्णसम्मादिट्ठिस्स सोहम्मणिवासिस्स मिच्छत्तगमणे संभवाभावो…भवणादि-सहस्सारंतदेवेसु मिच्छाइट्ठिस्स दुविहाउट्ठिदिपरूवणा हाणुववत्तीदो।—मिथ्यादृष्टि जीव यदि अच्छी तरह खूब बड़ी भी स्थिति करे, तो पल्योपमके असंख्यातवें भागसे अभ्यधिक दो सागरोपम करता है, क्योंकि सौधर्म कल्पमें उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवोंके इस उत्कृष्ट स्थितिसे अधिक आयु की स्थिति स्थापन करनेकी शक्तिका अभाव है।…अन्तर्मुहूर्त कम ढाई सागरोपमकी स्थितिवाले देवोंमें उत्पन्न हुए सौधर्म निवासी सम्यग्दृष्टि देवके मिथ्यात्वमें जानेकी सम्भावनाका अभाव है।…अन्यथा भवनवासियोंसे लेकर सहस्रार तकके देवोंमें मिथ्यादृष्टि जीवोंके दो प्रकारकी आयु स्थितिकी प्ररूपणा हो नहीं सकती थी।

९. इन्द्रिय मार्गणामें उत्कृष्ट भ्रमणकाल प्राप्ति विधि

ध.६/४,१,६६/१२६-१२७/२६५ व इनकी टीकाका भावार्थ- "सोधम्मे माहिंदे पढमपुढवीए होदि चदुगुणिदं। बम्हादि आरणच्चुद पुढवीणं होदि पंचगुणं ॥१२६॥ पढमपुढवीए चदुरोपण (पण) सेसासु होंति पुढवीसु। चदु चदु देवेसु भवा बावीसं ति सदपुधत्तं ॥१२७॥"—प्रथम पृथिवीमें ४ बार = १×४ = ४ सागर, २ से ७ वीं पृथिवीमें पाँच-पाँच बार = ५×३, ५×७, ५×१०, ५×१७, ५×२२, ५×३३ = १५ + ३५ ५० + ८५ + ११० + १६५ = ४६० सागर; सौधर्म व माहेन्द्र युगलोंमें चार-चार बार = ४×२, ४×७ = ८ + २८ = ३६ सागर; ब्रह्मसे अच्युत तकके स्वर्गोंमें पाँच-पाँच बार = ५×१० + ५×१४ + ५×१६ + ५×१८ + ५×२० + ५×२२ = ५० + ७० + ८० + ९० + १०० + ११० = ५०० सागर। इन सबके ७१ अन्तरालोंमें पंचेन्द्रिय भवोंकी कुल स्थिति = पूर्वपृथक्त्व है। अतः पंचेन्द्रियोंमें यह सब मिलकर कुल परिभ्रमण काल पूर्वकोडि पृथक्त्व अधिक १००० सागर प्रमाण है।१२६। अन्य प्रकार प्रथम पृथिवी चार बार—उपरोक्त प्रकार ४ सागर; २-७ पृथिवीमें पाँच-पाँच बार होनेसे उपरोक्त प्रकार ४६० सागर और सौधर्मसे अच्युत युगल पर्यन्त चार-चार बार—उपरोक्तवत ४३६ सागर अन्तरालोंके ७१ भवोंकी कुल स्थिति पूर्वकोडि पृथक्त्व। इस प्रकार कुल स्थिति पूर्वकोडि पृथक्त्व अधिक ९०० सागर भी है।१२७।

१०. काय मार्गणामें त्रसोंकी उत्कृष्ट भ्रमण प्राप्ति विधि

ध.६/४,१,६६/१२८-१२९/२९८ व इनकी टीकाका भावार्थ-सोहम्मे माहिंदे पढमपुढवीसु होदि चदुगुणिदं। बम्हादि आरणच्चुद पुढवीणं होदि अट्ठगुणं।१२८। गेवज्जेसु च विगुणं उवरिम गेवज्ज एगवज्जेसु। दोण्णि सहस्साणि भवे कोडिपुधत्तेण अहियाणि।१२९।"—कल्पोंमें सौधर्म माहेन्द्र युगलोंमें चार-चार बार = (४×२) + (४×७) = ८ + २८ = ३६ सागर, ब्रह्मसे अच्युत तकके युगलोंमें आठ-आठ बार = ८×१० + ८×१४ + ८×१६ + ८×१८ + ८×२० + ८×२२ = ८० + ११२ + १२८ + १४४ + १६० + १७६ = ८०० सागर। उपरिम रहित ८ ग्रैवेयकोंमें दो-दो बार = २×२१२ (२३ + २४ + २५ + २६ + २७ + २८ + २९ + ३० = ४२४ सागर। प्रथम पृथिवीमें चार बार = ४×१ = ४ सागर। २-७ पृथिवियोंमें आठ-आठ बार = ८×३ + ८×७ + ८×१० + ८×१७ + ८×२२ + ८×३३ = २४ + ५६ + ८० + १३६ + १७६ + २६४ = ७३६ सागर। अन्तरालके त्रस भवोंकी कुल स्थिति = पूर्व कोडि पृथक्त्व। कुल काल = २००० सागर + पूर्वकोडि पृथक्त्व।

११. योग मार्गणामें एक जीवापेक्षा जघन्यकाल प्राप्ति विधि

ध.४/१,५,१६१/४०१/१० "गुणट्ठाणाणि अस्सिदूण एगसमयपरूवणा कीरदे। एत्थ ताव जोगपरावत्ति-गुणपरावत्ति-मरण-वाघादेहि मिच्छत्तगुणट्ठाणस्स एगसमओ परूविज्जदे।" तं जधा—१. एक्को सासणो सम्मामिच्छादिट्ठी असंजदसम्मादिट्ठी संजदासंजदो पमत्तसंजदो वा मणजोगेण अच्छिदो। एगसमओ मणजोगद्धाए अत्थि त्ति मिच्छत्तं गदो। एगसमयं मणजोगेण सह मिच्छत्तं दिट्ठं। बिदियसमए मिच्छादिट्ठी चेव, किन्तु वचिजोगी कायजोगी व जादो। एवं जोगपरिवत्तीए पंचविहा एगसमयपरूवणा कदा। (५ भंग) २. गुणपरावत्तीए एगसमओ वुच्चदे। तं जहा—एक्को मिच्छादिट्ठी वचिजोगेण कायजोगेण वा अच्छिदो। तस्स वचिजोगद्धासु कायजोगद्धासु खीणासु मणजोगो आगदो। मणजोगेण सह एगसमयं मिच्छत्तं दिट्ठं। बिदियसमए वि मणजोगी चेव। किंतु सम्मामिच्छत्तं वा असंजमेण सह सम्मत्तं वा संजमासंजमं वा अपमत्तभावेण संजमं वा पडिवण्णो। एवं गुणपरावत्तीए चउव्विहा एगसमयपरूवणा कदा। (४ भंग)। ३. एक्को मिच्छादिट्ठी वचिजोगेण कायजोगेण वा अच्छिदो। तेसिं खएण मणजोगो आगदो। एगसमयं मणजोगेण सह मिच्छत्तं दिट्ठं। बिदियसमए मदो। जदि तिरिक्खेसु वा मणुसेसु वा उप्पण्णो, तो कम्मइयकायजोगी वा जादो। एवं मरणेण लद्ध एग भंगे…। ४. वाघादेण एक्को मिच्छादिट्ठी वचिजोगेण कायजोगेण वा अच्छिदो। तेसिं वचि-कायजोगाणं खएण तस्स मणजोगो आगदो। एगसमयं मणजोगेण मिच्छत्तं दिट्ठं। बिदियसमए वाघादिदो कायजोगी जादो। लद्धो एगसमओ। एत्थ उवजुज्जंती गाहा—गुण-जोग परावत्ती वाघादो मरणमिदि हु चत्तारि। जोगेसु होंति ण वरं पच्छिल्लदुगुणका जोगे।३९। नोट—एदम्हि गुणट्ठाणे ट्ठिदजीवा इमं गुणट्ठाणं पडिवज्जंति, ण पडिवज्जंति त्ति णादूण गुणपडिवण्णा वि इमं गुणट्ठाणं गच्छंति, ण गच्छंति त्ति चिंतिय असंजद-सम्मादिट्ठि-संजदासंजद-पमत्तसंजदाणं च चउव्विहा एगसमय-परूवणा परूविदव्वा। एवमप्पमत्तसंजदाणं। णवरि वाघादेण विणा तिविधा एगसमयपरूवणा कादव्वा।—मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानको आश्रय करके एक समयकी प्ररूपणा की जाती है—उनमेंसे पहले योग परिवर्तन, गुणस्थान परिवर्तन, मरण और व्याघात, इन चारोंके द्वारा मिथ्यात्व गुणस्थानका एक समय प्ररूपण किया जाता है। वह इस प्रकार है—१. योगपरिवर्तनके पाँच भंग—सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत अथवा प्रमत्त

संयत (इन पाँचों) गुणस्थानवर्ती कोई एक जीव मनोयोगके साथ विद्यमान था। मनोयोगके कालमें एक-एक समय अवशिष्ट रहनेपर वह मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ। वहाँपर एक समय मात्र मनोयोगके साथ मिथ्यात्व दिखाई दिया। द्वितीय समयमें वही जीव मिथ्यादृष्टि ही रहा, किन्तु मनोयोगीसे वचनयोगी हो गया अथवा काययोगी हो गया। इस प्रकार योग परिवर्तनके साथ पाँच प्रकारसे एक समयकी प्ररूपणा की गयी। (योग परिवर्तन किये बिना गुणस्थान परिवर्तन सम्भव नहीं है—दे० अन्तर २)। २. गुणस्थान परिवर्तनके चार भंग—अब गुणस्थान परिवर्तन द्वारा एक समयकी प्ररूपणा करते हैं। वह इस प्रकार है—कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव वचनयोगसे अथवा काययोगसे विद्यमान था। उसके वचनयोग अथवा काययोगका काल क्षीण होनेपर मनोयोग आ गया और मनोयोगके साथ एक समयमें मिथ्यादृष्टि गोचर हुआ। पश्चात द्वितीय समयमें भी वह जीव यद्यपि मनोयोगी ही है, किन्तु सम्यग्मिथ्यात्वको अथवा असंयमके साथ सम्यक्त्वको अथवा संयमासंयमको अथवा अप्रमत्त संयमको प्राप्त हुआ। इस प्रकार गुणस्थान परिवर्तनके द्वारा चार प्रकारसे एक समयकी प्ररूपणा की गयी। (एक विवक्षित गुणस्थानसे अविवक्षित चार गुणस्थानोंमें आनेसे चार भंग)। ३. मरणका एक भंग—कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव वचन योगसे अथवा काययोगसे विद्यमान था पुनः योग सम्बन्धी कालके क्षय हो जानेपर उसके मनोयोग आ गया। तब एक समय मनोयोगके साथ मिथ्यात्व दिखाई दिया और दूसरे समयमें मरा। सो यदि वह तिर्यंचोंमें या मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ तो कार्माण काययोगी अथवा औदारिक मिश्र काययोगी हो गया। अथवा यदि देव और नारकियोंमें उत्पन्न हुआ तो कार्माण काययोगी अथवा वैक्रियक मिश्र काययोगी हो गया। इस प्रकार मरणसे प्राप्त एक भंग हुआ। ४. व्याघातका एक भंग—अब व्याघातसे लब्ध होनेवाले एक भंगकी प्ररूपणा करते हैं—कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव वचनयोगसे अथवा काययोगसे विद्यमान था। सो उन वचन अथवा काययोगके क्षय हो जानेपर उसके मनोयोग आ गया तब एक समय मनोयोगके साथ मिथ्यात्व दृष्ट हुआ और दूसरे समय वह व्याघातको प्राप्त होता हुआ काययोगी हो गया, इस प्रकारसे एक समय लब्ध हुआ। भंगोंको यथायोग्य रूपसे लागू करना— इस विषयमें उपयुक्त गाथा इस प्रकार है—"गुणस्थान परिवर्तन, योगपरिवर्तन, व्याघात और मरण ये चारों बातें योगोंमें अर्थात तीन योगोंके होनेपर हैं। किन्तु सयोग केवलीके पिछले दो अर्थात् मरण और व्याघात तथा गुणस्थान परिवर्तन नहीं होते।३१।" इस विवक्षित गुणस्थानमें विद्यमान जीव इस अविवक्षित गुणस्थानको प्राप्त होते हैं या नहीं, ऐसा जान करके तथा गुणस्थानोंको प्राप्त जीव भी इस विवक्षित गुणस्थानको जाते हैं अथवा नहीं ऐसा चिन्तवन करके असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्त संयतोंकी चार प्रकारसे एक समयकी प्ररूपणा करना चाहिए। इसी प्रकारसे अप्रमत्त संयतोंकी भी प्ररूपणा होती है, किन्तु विशेष बात यह है कि उनके व्याघातके बिना तीन प्रकारसे एक समयकी प्ररूपणा करनी चाहिए। क्योंकि अप्रमाद और व्याघात इन दोनोंका सहानवस्था लक्षण विरोध है। (अतः चारों उपशामकोंमें भी अप्रमत्तवत् ही तीन प्रकार प्ररूपणा करनी चाहिए तथा क्षपकोंमें मरण रहित केवल दो प्रकारसे ही।) ५. भंगोंका संक्षेप—(अविवक्षित मिथ्यादृष्टि योग परिवर्तन कर एक समयतक उस योगके साथ रहकर अविवक्षित सम्यग्मिथ्यात्वी, या असंयत-सम्यग्दृष्टि, या संयतासंयत, या अप्रमत्त संयत हो गया। विवक्षित सासादन, या सम्यग्मिथ्यात्व, या असंयत सम्यग्दृष्टि, या संयतासंयत, या प्रमत्तसंयत विवक्षित योग एक समय अवशिष्ट रहनेपर अविवक्षित मिथ्यादृष्टि होकर योग परिवर्तन कर गया। विवक्षित स्थानवर्ती योगपरिवर्तन कर एक समय रहा, पीछे मरण या व्याघात पूर्वक योग परिवर्तन कर गया।)

१२. योग मार्गणामें एक जीवापेक्षा उत्कृष्ट काल प्राप्ति विधि

ध. ७/२,२,९८/१५२/२ अणप्पिदजोगादो अप्पिदजोगं गंतूण उक्कस्सेण तत्थ अंतोमुहुत्तावट्ठाणं पडि विरोहाभावादो।

ध. ७/२,२,१०४/१५३/७ बावीसवाससहस्साउअपुढवीकाइएसु उप्पज्जिय सव्वजहण्णेण कालेण ओरालियमिस्सद्धं गमिय पज्जत्तिगदपढमसमयप्पहुडि जाव अंतोमुहुत्तूणबावीसवाससहस्साणि ताव ओरालियकायजोगुवलंभादो।

ध.७/२,२,१०७/१५४/६ मणजोगादो वचिजोगादो वा वेउव्विय-आहारकायजोगं गंतूण सव्वुक्कस्सं अंतोमुहुत्तमच्छिय अण्णजोगं गदस्स अंतोमुहुत्तमेत्तकालुवलंभादो, अणप्पिदजोगादो ओरालियमिस्सजोगं गंतूण सव्वुक्कस्सकालमच्छिय अण्णजोगं गदस्स ओरालियमिस्सस्स अंतोमुहुत्तमेत्तुक्कस्सकालुवलंभादो। — १. (मनोयोगी तथा वचनयोगी) अविवक्षित योगसे विवक्षित योगको प्राप्त होकर उत्कर्षसे वहाँ अन्तर्मुहूर्त तक अवस्थान होनेमें कोई विरोध नहीं है। २ (अधिकसे अधिक बाईस हजार वर्ष तक जीव औदारिक काययोगी रहता है। (ष.खं./ ७/२,२/सू. १०५/१५३) क्योंकि, बाईस हजार वर्षकी आयु वाले पृथिवीकायिकोंमें उत्पन्न होकर सर्व जघन्य कालमे औदारिकमिश्र कालको बिताकर पर्याप्तिको प्राप्त होनेके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तकम बाईस हजार वर्ष तक औदारिक काययोग पाया जाता है। ३. मनोयोग अथवा वचनयोगसे वैक्रियक या आहारककाययोगको प्राप्त होकर सर्वोत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त काल तक रह कर अन्य योगको प्राप्त हुए जीवके अन्तर्मुहूर्त मात्र काल पाया जाता है, तथा अविवक्षित योगसे औदारिकमिश्रयोगको प्राप्त होकर ५ सर्वोत्कृष्ट काल तक रहकर अन्य योगको प्राप्त हुए जीवके औदारिकमिश्रका अन्तर्मुहूर्त मात्र उत्कृष्ट काल पाया जाता है।

१३. वेद मार्गणामें स्त्रीवेदियोंकी उत्कृष्ट भ्रमणकाल प्राप्ति विधि

ध.९/४,१,६६/१३०-१३१/३०० सोहम्मे सत्तगुणं तिगुणं जाव दु समुक्ककप्पो त्ति। सेसेसु भवे बिगुणं जाव दु आरणच्चुदो कप्पो।१३०। पणगादी दोही जुदा सत्तावीसा ति पल्लदेवीणं। तत्तो सत्तुत्तरियं जाव दु आरणच्चुआं कप्पो।१३१। = सौधर्ममें सात बार = ७×५ पल्य। ईशानसे महाशुक्र तक तीन तीन बार = ३ (७+९+११+१३+१५+१७+१९+२१+२३) = २१ + २७+३३+३९+४५+५१+५७+६३+६९ = ४०५ पल्य। शतारसे अच्युत तक दो दो बार = २ (२५+२७+३४+४१+४८+५५) = ५०+५४+६८+८२+९६+११० = ४६० पल्य।

अन्तरालोंके स्त्री भवोंकी स्थिति = ? कुल काल ९०० पल्य + ?

१४. वेद मार्गणामें पुरुषवेदियोंकी उत्कृष्ट भ्रमण काल प्राप्ति विधि

ध.९/४,१,६६/१३२/३०० पुरिसेसु सदपुधत्तं असुरकुमारेसु होदि तिगुणेण। तिगुणे णवगेवज्जे सग्गठिदी छग्गुणं होदि।१३२। = असुरकुमारमें ३ बार = ३×१ = ३ सागर। नव ग्रैवेयकोंमें तीन बार = ३ (२४+२७+३०) = ७२+८१+९० = २४३ सागर। आठ कल्प युगलों अर्थात् १६ स्वर्गोंमें छः छः बार = ६ (२+७+१० + १४+१६+१८+२०+२२) = १२+४२+६०+८४+९६+१०८+१२०+१३२ = ६५४ सागर। अन्तरालोंके भवोंकी कुल स्थिति = ?। कुल काल = ९०० सागर + ?।

१५. कषाय मार्गणामें एक जीवापेक्षा जघन्यकाल प्राप्ति विधि

ष. खं./७/२,२/सू. १२१/१६० जहण्णेण एयसमओ ।१२१।

ध. ७/२,२,१२१/१६०/१० कोधस्स वाघादेण एगसमओ णत्थि, वाघादिदे वि कोधस्सेव समुप्पत्तीदो । एवं सेसतिण्हं कसायाणं पि एगसमयपरूवणा कायव्वा । णवरि एदेसिं तिण्हं कसायाणं वाघादेण वि एगसमयपरूवणा कायव्वा ।—कमसे कम एक समयतक जीव क्रोध कषायी आदि रहता है (योगमार्गणावत् यहाँ भी योग परिवर्तनके पाँच, गुणस्थान परिवर्तनके चार मरणका एक तथा व्याघातका एक इस प्रकार चारोंके ११ भंग यथायोग्यरूपसे लागू करना । विशेष इतना कि क्रोधके व्याघातसे एक समय नहीं पाया जाता, क्योंकि व्याघातको प्राप्त होनेपर भी पुनः क्रोधकी उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार शेष तीन कषायोंके भी एक समयकी प्ररूपणा करना चाहिए (विशेष इतना है कि इन तीन कषायोंके व्याघातसे भी एक समयकी प्ररूपणा करना चाहिए ।

क. पा. १/§३६८/चूर्ण सू./३८५ दोसो केवचिरं कालादो होदि । जहण्णुक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं ।

क. पा. १/§३६९-३८५/१० कुदो । मुदे वाघादिदे वि कोहमाणाणं अंतोमुहुत्तं मोत्तूण एग-दोसमयादीणमणुवलंभादो । जीवट्ठाणे एगसमओ कालम्मि परूविदो, सोकधमेदेण सह ण विरुज्झदे; ण; तस्स अण्णाइरियउवएसत्तादो । कोहमाणाणमेगसमयमुदओ होदूण बिदियसमए किण्ण फिट्टदे । ण; साहावियादो ।—प्रश्न—दोष कितने कालतक रहता है ? उत्तर—जघन्य और उत्कृष्ट रूपसे दोष अन्तर्मुहूर्त कालतक रहता है । प्रश्न—जघन्य और उत्कृष्टरूपसे भी दोष अन्तर्मुहूर्त कालतक ही क्यों रहता है ? उत्तर—क्योंकि जीवके मर जानेपर या बीचमें किसी प्रकारकी रुकावटके आ जानेपर भी क्रोध और मानका काल अन्तर्मुहूर्त छोड़कर एक समय, दो समय, आदि रूप नहीं पाया जाता है । अर्थात् किसी भी अवस्थामें दोष अन्तर्मुहूर्तसे कम समयतक नहीं रह सकता । प्रश्न—जीवस्थानमें कालानुयोगद्वारका वर्णन करते समय क्रोधादिकका काल एक समय भी कहा है, अत: वह कथन इस कथनके साथ विरोधको क्यों प्राप्त नहीं होता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि जीवस्थानमें क्रोधादिकका काल जो एक समय कहा है वह अन्य आचार्यके उपदेशानुसार कहा है । प्रश्न—क्रोध और मानका उदय एक समयतक रहकर दूसरे समयमें नष्ट क्यों नहीं हो जाता ? उत्तर—नहीं, क्योंकि अन्तर्मुहूर्ततक रहना उसका स्वभाव है ।

१६. लेश्या मार्गणामें एक जीवापेक्षा एक समय जघन्यकाल प्राप्ति विधि

ध. ४/१,५,२९६/४६६-४७५ का भावार्थ (योग मार्गणावत् यहाँ भी लेश्या परिवर्तनके पाँच, गुणस्थान परिवर्तनके चार, मरणका एक और व्याघातका एक इस प्रकार चारोंके ११ भंग यथायोग्य रूपसे लागू करना । विशेष इतना कि वृद्धिगत गुणस्थान लेश्याको भी वृद्धिगत और हीयमान गुणस्थानोंके साथ लेश्याको भी हीयमान रूप परिवर्तन कराना चाहिए । परन्तु यह सब केवल शुभ लेश्याओंके साथ लागू होता है, क्योंकि अशुभ लेश्याओंका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है ।

ध. ४/१,५,२९७/४६७/१ एगो मिच्छादिट्ठी असंजदसम्मादिट्ठी वा वड्ढमाणपम्मलेस्सिओ पम्मलेस्सद्धाए एगो समओ अत्थि त्ति संजमासंजमं पडिवण्णो । बिदियसमए संजमासंजमेण सह सुक्कलेस्सं गदो । एसा लेस्सापरावत्ती (१) । अधवा वड्ढमाणतेउलेस्सिओ संजदासंजदो तेउलेस्सद्धाए खएण पम्मलेस्सिओ जादो । एगसमयं पम्मलेस्साए सह संजमासंजमं दिट्ठं, बिदियसमए अप्पमत्तो जादो । एसा गुणपरावत्ती । अधवा संजदासंजदो हीयमाणसुक्कलेस्सिओ सुक्कलेस्सद्धाखएण पम्मलेस्सिओ जादो । बिदियसमए पम्मलेस्सिओ चेव, किंतु असंजदसम्मादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी सासणसम्मादिट्ठी मिच्छादिट्ठी वा जादो । एसा गुणपरावत्ती (४) ।

ध. ४/१,५,३०७/४७५/१ (एओ) अप्पमत्तो हीयमाणसुक्कलेस्सिगो सुक्कलेस्सद्धाए सह पमत्तो जादो । बिदियसमये मदो देवत्तं गदो (१) ।—१. वर्धमान पद्मलेश्यावाला कोई एक मिथ्यादृष्टि अथवा असंयतसम्यग्दृष्टि जीव, पद्मलेश्याके कालमें एक समय अवशेष रहनेपर संयमासंयमको प्राप्त हुआ । द्वितीय समयमें संयमासंयमके साथ ही शुक्ललेश्याको प्राप्त हुआ । यह लेश्या परिवर्तन सम्बन्धी एक समयकी प्ररूपणा हुई । अथवा, वर्धमान तेजोलेश्यावाला कोई संयतासंयत तेजोलेश्याके कालके क्षय हो जानेसे पद्मलेश्यावाला हो गया । एक समय पद्मलेश्याके साथ संयमासंयम दृष्टिगोचर हुआ । और वह द्वितीय समयमें अप्रमत्तसंयत हो गया । वह गुणस्थान परिवर्तनकी अपेक्षा एक समयकी प्ररूपणा हुई । अथवा, हीयमान शुक्ललेश्यावाला कोई संयतासंयत जीव शुक्ललेश्याके कालके पूरे हो जानेपर पद्मलेश्यावाला हो गया । द्वितीय समयमें वह पद्मलेश्यावाला ही है, किन्तु असंयतसम्यग्दृष्टि, अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अथवा सासादन सम्यग्दृष्टि, अथवा मिथ्यादृष्टि हो गया । यह गुणस्थान परिवर्तनकी अपेक्षा एक समयकी प्ररूपणा हुई (४) । २. हीयमान शुक्ललेश्यावाला कोई अप्रमत्तसंयत, शुक्ललेश्याके ही कालके साथ प्रमत्तसंयत हो गया, पुनः दूसरे समयमें मरा और देवत्वको प्राप्त हुआ । (यह मरणकी अपेक्षा एक समयकी प्ररूपणा हुई ।) नोट—इस प्रकार यथायोग्यरूपसे सर्वत्र लागू कर लेना ।

१७. लेश्या मार्गणामें एक जीवापेक्षा अन्तर्मुहूर्त जघन्यकाल भी है

यह काल अशुभलेश्याकी अपेक्षा है—क्योंकि—

ध. ४/१,५,२८४/४५६/१२ एत्थ (असुहलेस्साए) जोगस्सेव एगसमओ जहण्णकालो किण्ण लब्भदे । ण, जोगकसायाणं व लेस्साए तिस्सा

परावत्तीए गुणपरावत्तीए मरणेण वाघादेण वा एगसमयकालस्सा-संभवा। ण ताव लेस्सापरावत्तीए एगसमओ लब्भदि, अप्पिदलेस्साए परिणमिदबिदियसमए तिस्से विणासाभावा, गुणंतरं गदस्स बिदिय-समए लेस्संतरगमणाभावादो च। ण गुणपरावत्तीए, अप्पिदलेस्साए परिणदबिदियसमए गुणंतरगमणाभावा। ण च वाघादेण, तिस्से वाघा-दाभावा। ण च मरणेण, अप्पिदलेस्साए परिणदबिदियसमए मरणा-भावा।—प्रश्न—यहाँपर (तीनों अशुभ लेश्याओंके प्रकरणमें) योग-परावर्तनके समान एक समय रूप जघन्यकाल क्यों नहीं पाया जाता है। उत्तर—नहीं। क्योंकि, योग और कषायोंके समान लेश्यामें—लेश्याका परिवर्तन, अथवा गुणस्थानका परिवर्तन, अथवा मरण और व्याघातसे एक समयकालका पाया जाना असम्भव है। इसका कारण यह कि न तो लेश्या परिवर्तनके द्वारा एक समय पाया जाता है, क्योंकि विवक्षित लेश्यासे परिणत हुए जीवके द्वितीय समयमें उस लेश्याके विनाशका अभाव है। तथा इसी प्रकारसे अन्य गुणस्थानको गये हुए जीवके द्वितीय समयमें अन्य लेश्याओंमें जानेका भी अभाव है। न गुणस्थान परिवर्तनकी अपेक्षा एक समय सम्भव है, क्योंकि विवक्षित लेश्यासे परिणत हुए जीवके द्वितीय समयमें अन्य गुणस्थान-के गमनका अभाव है। न व्याघातकी अपेक्षा ही एक समय सम्भव है, क्योंकि, वर्तमान लेश्याके व्याघातका अभाव है। और न मरणकी अपेक्षा ही एक समय सम्भव है, क्योंकि, विवक्षित लेश्यासे परिणत हुए जीवके द्वितीय समयमें मरणका अभाव है। (ध. ४/१,५,२६६/४५८/१)

१८. लेश्या परिवर्तन क्रम सम्बन्धी नियम

ध. ४/१,५,२८४/४५६/१ किण्हलेस्साए परिणदस्स जीवस्स अणंतरमेव काउलेस्सापरिणमणसत्तीए असंभवा।

ध. ८/३,१,५८/३२२/७ सुक्कलेस्साए ट्ठिदो पम्म-तेउ-काउणीललेस्सासु परिणमीय पच्छा किण्णलेस्साएण परिणमणब्भुवगमादो।—कृष्ण लेश्या परिणत जीवके तदनन्तर ही कापोत लेश्यारूप परिणमन शक्तिका होना असम्भव है। शुक्ललेश्यासे क्रमशः पद्म, पीत, कापोत और नील लेश्याओंमें परिणमन करके पीछे कृष्ण लेश्या पर्यायसे परिणमन स्वीकार किया गया है।

१९. वेदक सम्यक्त्वका ६६ सागर उत्कृष्टकाल प्राप्ति विधि

ध. ७/२,२,१४१/१६४/११ देवस्स णेरइयस्स वा पडिवण्णउवसमसम्मत्तेण सह समुप्पण्णमदि-सुद-ओहि-णाणस्स वेदगसम्मत्तं पडिवज्जिय अणिणट्ठतिणाणेहि अंतोमुहुत्तमच्छिय एवेणंतोमुहुत्तेणूणपुव्वकोडाउअमणुस्सेसुववज्जिय पुणो वीससागरोवमिएसु देवेसुववज्जिय पुणो पुव्व कोडाउएसु मणुस्सेसुववज्जिय वावीससागरोवमट्ठिदीएसु देवेसुव-वज्जिदूण पुणो पुव्वकोडाउएसु मणुस्सेसुववज्जिय खइयं पट्ठविय चउवीससागरोवमाउट्ठिदिएसु देवेसुववज्जिदूण पुणो पुव्वकोडाउएसु मणुस्सेसुववज्जिय थोवावसेसे जीविए केवलणाणी होदूण अबंधगत्तं गदस्स चदुहि पुव्वकोडीहि सादिरेयछावट्ठिसागरोवमाण मुवलं-भादो।—देव अथवा नारकीके प्राप्त हुए उपशम सम्यक्त्वके साथ मति, श्रुत व अवधि ज्ञानको उत्पन्न करके, वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त कर, अनिष्ट तीनों ज्ञानोंके साथ अन्तर्मुहूर्तकाल तक रहकर, इस अन्तर्मुहूर्तसे हीन पूर्व कोटि आयुवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होकर, पुनः बीस सागरोपम प्रमाण आयुवाले देवों में उत्पन्न होकर, पुनः बाईस सागरोपम आयुवाले देवोंमें उत्पन्न होकर, पुनः पूर्वकोटि आयुवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होकर, क्षायिक सम्यक्त्वका प्रारम्भ करके, चौबीस सागरोपम आयुवाले देवोंमें उत्पन्न होकर, पुनः पूर्वकोटि आयुवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होकर, जीवितके थोड़ा शेष रहनेपर केवलज्ञानी होकर अबन्धक अवस्थाको प्राप्त होनेपर चार पूर्वकोटियोंसे अधिक छयासठ सागरोपम पाये जाते हैं।

६. कालानुयोग विषयक प्ररूपणाएँ

१. सारणीमें प्रयुक्त संकेतोंका परिचय

अप०	लब्ध्यपर्याप्त	को० पू०	क्रोड़ पूर्व
अव०	अवसर्पिणी	पू० को०	पूर्व क्रोड़
असं०	असंख्यात	१,२,३,४	वह वह गुणस्थान
उत०	उत्सर्पिणी	२८ ज०	२८ प्रकृतियोंकी सत्ता वाला कोई मिथ्यादृष्टि या वेदक सम्यग्दृष्टि जीव सामान्य
उप०	उपशम		
तिर्य०	तिर्यञ्च		
प०	पर्याप्त		
पल्य/असं०	पल्यका असंख्यातवाँ भाग	पूर्व	७०५६०००००००००० वर्ष
पृ०	पृथिवी	अन्तर्मु०	अन्तर्मुहूर्त
मनु०	मनुष्य	को.को.सा.	कोड़ाकोड़ी सागर
मिथ्या०	मिथ्यात्व	ज०	जघन्य
सम्य०	सम्यक्त्व	उ०	उत्कृष्ट
सा०	सागर		

२. जीवोंकी कालविषयक ओघप्ररूपणा

प्रमाण— १. (ष. खं. ४/१,५,२-३२/३२३-३५७); (गो.जी./भाषा/१४५/३१६/१)
संकेत—दे० काल ६/१ काल विशेषोंको निकालनेका स्पष्ट प्रदर्शन—दे० काल/५

गुण स्थान	प्रमाण नं० १/सू.	नाना जीवापेक्षया				एक जीवापेक्षया			
		जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
१	२-४	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	अन्तर्मुहूर्त	३, ४, ५ या ६ठें स्थानसे गिरे, मिथ्यात्व हो, पुनः ३, ४, ५ या ६ठें को प्राप्त हो	अर्ध पुद्गल परिवर्तन	अनादि मिथ्यात्वी सर्वप्रथम सम्यक्त्व पाकर गिरे।
२	५-८	एक समय	२ या ३रेके १ समय स्थितिवाले सर्व जीव एकदम सासादन पूर्वक मिथ्यात्वको प्राप्त हो जायें।	पल्य/असं	६ आवली स्थितिवाले २, ३ या ४थे स्थानवाले जीवोंका प्रवेश क्रम न टूटे	१ समय	उपशम सम्यक्त्व में एक समय शेष रहनेपर सासादनको प्राप्त हो	६ आवली	उपशम सम्यक्त्व में ६ आवली शेष रहने पर सासादनको प्राप्त हो
३	९-१२	अन्तर्मुहूर्त	२८/ज वाले ७ या ८ जीव १,४,५ या छठे से युगपत् गिरे	,,	प्रवेश क्रम न टूटे	अन्तर्मुहूर्त	मिथ्यात्वसे चढ़कर ३रे को प्राप्त/ गिरनेवाले की अपेक्षासे नहीं।	अन्तर्मुहूर्त	चढ़ने व गिरने वाले दोनोंकी अपेक्षा
४	१३-१५	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	,,	२८/ज वाला १,३,५ या ६ठें स्थान से गिरने व चढ़ने दोनोंकी अपेक्षा	३३ सागर + १ कोडपूर्व	५वाँ, ६ठा स्थानधारी या उपशम सम्यक्त्वी मनुष्य अनुत्तर विमानोंमें १ समय कम ३३ सागर रहकर पूर्वकोड आयु वाला मनुष्य हो संयम धरे।
५	१६-१८	,,	,,	,,	,,	,,	२८/ज वाला १,४ या ६ठें स्थानसे अवरोहण या आरोहण करनेकी अपेक्षा। आरोहण करे तो १ या ४थे से ५वें पूर्वक ७वेंको प्राप्त हो ६ठें को नहीं।	१ कोडपूर्व-अन्तर्मुहूर्त	सम्मूर्छिम संज्ञी पर्याप्त तिर्यंच, मच्छ, मेंढक आदिक भवके अन्तर्मुहूर्त पश्चात् संयतासंयत हो।
६	१९-२१	,,	,,	,,	,,	१ समय	६ठें ७वें में परस्पर आरोहण व अवरोहण करता १ समय गुणस्थान विशेषमें रहकर मरे	अन्तर्मुहूर्त	सर्वोत्कृष्ट कालपर्यन्त प्रमत्त रहकर मिथ्यात्वी होनेवाले की अपेक्षा
७	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	उपरोक्तवत् पर अप्रमत्तसे मिथ्यात्वी होने वाला
८-११									

गुण स्थान	प्रमाण नं० १/सू.	नाना जीवापेक्षया				एक जीवापेक्षया			
		जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
उपशमक:	२२-२५	१ समय	२ या ३ अवरोहक-उपशामक ६ वें से ८वें में आ १ समय पश्चात् युगपत् मरें। ६वें व १०वें में भी उपरोक्तवत पर अवरोहण व आरोहण दोनोंकी अपेक्षा। ११वें में केवल आरोहणकी अपेक्षा	अन्तर्मुहूर्त	७,८ या ५४ तक जीव ८वें ६वें १०वें स्थानोंमें परस्पर अवरोहण व आरोहण करें। ११वें में केवल आरोहण करके गुणस्थान बदले। फिर अवश्य विरह होता है।	१ समय	१ समय जीवनं शेष रहनेपर ६वें से ८वें में या ८वें से ६वें में, ६वें से ६वें में वा ६वें से १०वें में: ११वें से १०वें में या १०वें से ११वें में आ १ समय पश्चात मरे।	अन्तर्मुहूर्त	७वें से ८वें में व ६वें में से ८वें में तथा इसी प्रकार सर्वत्र आरोहण या अवरोहण द्वारा प्रवेश कर अन्तर्मुहूर्त रह गुणस्थान परिवर्तन करें।
८-१२ क्षपक	२६-२९	अन्तर्मुहूर्त	७,८ या १०८ जीव ७वें स्थानसे क्षपक श्रेणी चढ़ क्रमेण युगपत अयोगी स्थानको प्राप्त	अन्तर्मुहूर्त	जघन्यवत्	अन्तर्मुहूर्त	७वें स्थानसे क्षपक श्रेणी चढ़ क्रमेण अयोगी स्थानको प्राप्त हुआ	,,	जघन्यवत्
१३	३०-३२	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	,,	१२वें से १३ में आ समुद्घात कर अयोगी स्थानको प्राप्त हुआ	१ कोड पूर्व—(७ वर्ष व ७ अन्तर्मुहूर्त)	१ पूर्वकोडकी आयुवाला मनुष्य ७ मास गर्भ में रहा, ८ वर्ष आयुपर दीक्षा ले अप्रमत्त हुआ। ७ अन्तर्मुहूर्तोंमें क्रमसे सर्व गुणस्थानोंको पार कर सयोगी स्थानको प्राप्त हुआ। शेष आयु पर्यन्त वहीं रहा। अन्त में अयोगी हुआ।
१४ उपसर्ग-केवली १३-१४	२६-२९	अन्तर्मुहूर्त	उपरोक्त क्षपकोंवत	अन्तर्मुहूर्त	उपरोक्त क्षपकवत	अन्तर्मुहूर्त ,,	उपरोक्त क्षपकोंवत् (क० पा/पु १/पृ० ३४२)	अन्तर्मुहूर्त ,,	उपरोक्त क्षपकोंवत् (क. पा./पु १/पृ० ३६०)

३. जीवों के अवस्थान काल विषयक सामान्य व विशेष आदेश प्ररूपणा

प्रमाण—१. (ष.ख.४/१,५,३३-३४२/३५७-४८८); २. (ष.ख./२.८.१-५५/पु.७/पृ.४६२-४७७); ३. (ष.ख.७/२.२.१-२१६/११४-१८५)

संकेत—दे० काल/६/१ काल विशेषोंको निकालनेका स्पष्ट प्रदर्शन—दे० काल/५

मार्गणा	गुण स्थान	नाना जीवापेक्षया प्रमाण नं०१	नाना जीवापेक्षया प्रमाण नं०२	नाना जीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	एक जीवापेक्षया प्रमाण नं०१	एक जीवापेक्षया प्रमाण नं०३	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
		सू.	सू.					सू.	सू.	सू.			
१. गतिमार्गणा नरक गति—													
नरकगतिसामान्य	...		२	सर्वदा	प्रवेशान्तर काल से अवस्थान काल अधिक है	सर्वदा	विच्छेदाभाव		२-३	१०००० वर्ष		३३ सागर	
१ली पृथिवी	...		,,	,,		,,	,,		५-६	,,		१ सागर	
२-७ ,,	...		,,	,,		,,	,,		८-९	१-२२ सागर	क्रमशः १,३,७,१०,२२ सागर	३-३३ सागर	क्रमशः ३,७,१०,१७,२२,३३ सागर
नरक सामान्य	१	३३		,,	विच्छेदाभाव	,,	,,	३४-३५		अन्तर्मु०	२८/ज ३ या ४थे से गिरकर पुनः चढे	३३ सागर	७वें नरककी पूर्ण आयु मिथ्यात्व सहित बीते
	२-३	३६			मूलोघवत्		मूलोघवत्	३६			मूलोघवत्		मूलोघवत्
	४	३७		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	३८-३९		,,	२८/ज १ले ३रे से ४थेमें जा पुनः गिरे	३३ सागर—६ अन्तर्मु०	७वें नरकमें उत्पन्न २८/ज. मिथ्यादृ पर्याप्तिपूर्णकर वेदकसम्यक्त्वी हो अन्तर्मु आयु शेष रहनेपर पुनः मिथ्यात्वी हुआ
१-७ पृथिवी	१	४०		,,	,,	,,	,,	४१-४२		,,	नरक सामान्यवत्	क्रमशः १,३,७,१० १७,२२,३३सागर	नरक सामान्यवत्
	२-३	४३			मूलोघवत्			४३			मूलोघवत्		
	४	४४		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	४५-४६		अन्तर्मु०	नरक सामान्यवत्	क्रमशः१,३,७,१०, १७सा.२२सा.३अ, ३३सा.—६अन्तर्मु०	नरक सामान्यवत् पूर्ण स्थितिसे पर्याप्तिकाल व अन्तिम अन्तर्मुहूर्त हीन)।
२. तिर्यंचगति तिर्यंच सामान्य	...		४-५	सर्वदा	प्रवेशान्तर काल से अवस्थानकाल अधिक है	सर्वदा	विच्छेदाभाव		११-१२	१ क्षुद्रभव	मनुष्यसे आकर कर्मभूमिमें उपजे तो	असं. पु. परि.	अन्य गतियोंसे आकर कर्मभूमिज तिर्यंचोंमें परिभ्रमण
पंचेन्द्रिय सामा.	...		,,	,,		,,	,,		१४-१५	,,	अपर्याप्तककी अपेक्षा	३पल्य+९५को.पू	परिभ्र.केपश्चा. उत्तमभोगभू.में देव हुआ
,, पर्याप्त०	...		,,			,,	,,		,,	अन्तर्मु०	पर्याप्तक की अपेक्षा	३पल्य+४७को.पू	,,
,, योनिमति	...		,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	३पल्य+१५को.पू	,,
,, नपुंसकवेदी	...		,,	,,	...	...	...		,,	...	...	८ कोड़ पूर्व	परिभ्रमण (कर्मभूमिमें)
,, लब्ध्यपर्याप्त	...		,,	सर्वदा	तिर्यं० सा०वत्	सर्वदा	विच्छेदाभाव		१७-१८	क्षुद्रभव	अविवक्षि.तिर्यं.पर्या.से आना	अन्तर्मुहूर्त	अविवक्षि. तिर्यं.से आकर पंचे. होना
तिर्यंच सामान्य	१	४७		,,	विच्छेदाभाव	,,	,,	४८-४९		अन्तर्मु०	२८/ज. ३,४,५वेंसे १ला हो पुनः ऊपर चढे	असं.पुद्गलपरिव	अनादि मिथ्यादृष्टि तिर्यंचोंमें उपज वहाँ इतने काल पर्यंत परिभ्रमण कर अन्य गतिको प्राप्त हुआ

मार्गणा	गुण स्थान	नाना जीवापेक्षया प्रमाण नं. १	नं. २	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	एक जीवापेक्षया प्रमाण नं. १	नं. ३	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
		सू.	सू.					सू.	सू.				
	२-३	५०			मूलोघवत्			५०			मूलोघवत्		
	४	५१		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	५२-५३		अन्तर्मु०	१.३.५में से ४थेमें आ पुनः लौटे	३ पल्य	नष्टायुष्कक्षा.सम्य.भोगभूमि.तिर्यं हुआ
	५	५४		"	"	"	"	५५-५६		"	उपरोक्तवत् पर २८/ज. की अपेक्षा	१को.पू.-३अन्तर्मु	२८/ज.सम्मूर्च्छिम पर्याप्त मत्स्यमेंडक आदिकहो ३अन्त मेंपर्याप्तिपूर्ण कर संयतासंय.हो भवके अन्त तक रहा
पंचेन्द्रिय सामान्य	१	५७		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	५८-५९		अन्तर्मु.	तिर्यंच सामान्यवत्	३ पल्य+९५को. पू.+अन्तर्मुहूर्त	संज्ञी, असंज्ञी व तीनों वेद इन स्थानोंमेंसे प्रत्येकमें८को०पू०=४८ को०पू०; ल०अप०में अन्तर्मु०,पुनः उपरोक्तवत् ३ वेदोंमें ४७को० पू०, फिर भोगभूमिमें उपजा
	२-३	६०			मूलोघवत्			६०			मूलोघवत्		
	४	६१		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	६२-६३		अन्तर्मु.	तिर्यंच सामान्यवत्	३ पल्य	तिर्यंच सामान्यवत
	५	६४			मूलोघवत्			६४			मूलोघवत्		
पंचेन्द्रिय पर्याप्त	१	५७			पंचेन्द्रिय सामान्यवत्			५८-५९			पंचेन्द्रिय सामान्यवत्	३पल्य+४७को.पू	सविशेष पंचेन्द्रिय सामान्यवत
	२-३	६०			मूलोघवत्			६०			मूलोघवत्		"
	४-५	६१-६४			पंचेन्द्रिय सामान्यवत्			६१-६४			पंचेन्द्रिय सामान्यवत		
पंचेन्द्रिय योनिमति	१	५७			"			५८-५९			पंचेन्द्रिय सामान्यवत	३पल्य+१५को.पू	सविशेष पंचेन्द्रिय सामान्य वत्
	२-३	६०			"			६०			पंचेन्द्रिय सामान्यवत		
	४	६१			"			६२-६३			"	३पल्य-२मास व मुहूर्त पृथक्त्व	२८/ज.मिथ्यात्वी भोगभूमिज तिर्य.-में उपजा/२ मास गर्भमें बीते/जन्म के मुहू. पृथक्त्व पश्चात् वेद. सम्य.
	५	६४			"			६४			पंचेन्द्रिय सामान्यवत्		
पंचे. ल. अप.	१	६५		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	६६-६७		क्षुद्रभव	अविवक्षि.पर्या.मे आ पुनः लौटे	अन्तर्मुहूर्त	जघन्यवत
३. मनुष्यगति— मनुष्य सामान्य	...		४-५	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		२०-२१	क्षुद्रभव	अपर्याप्त की अपेक्षा	३पल्य+४०को.पू	कर्मभूमिजमें भ्रमणकाल ४०को०पू./ फिर भोगभूमिज
" पर्याप्त	...		"	"	"	"	"		"	अन्तर्मु.	पर्याप्त होकर इतने कालसे पहले न मरे	" +२३को.पू	कर्मभूमिजमें भ्रमणकाल २३को०पू./ फिर भोगभूमिज
मनुष्यणी प.	...		"	"	"	"	"		"	"	पर्याप्त होकर इतने कालसे पहले न मरे	" +७को. पू.	कर्मभूमिजमें भ्रमणकाल ७ को०पू./ फिर भोगभूमिज
मनुष्य ल. अप.	...		६-८	क्षुद्रभव	...	पल्य/ असं.	संतान क्रम		२३-२४	क्षुद्रभव	कदली घातसे मरण कर पर्याय परिवर्तन	अन्तर्मुहूर्त	भ्रमण

मार्गणा	गुण स्थान	नाना जीवापेक्षया						एक जीवापेक्षया					
		प्रमाण नं०१	प्रमाण नं०२	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	प्रमाण नं०१	प्रमाण नं०३	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
मनुष्य सामान्य	१	सू० ६८	सू०	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सू०	सू० ६९–७०	अन्तर्मु.	३,४,५वें से १ला, पुनः ३,४ या ५	३पल्य+४७को.पू. + अन्तर्मुहूर्त	तीनों वेदोंमें-से प्रत्येक ८को०पू०=२४को०पू०; फिर ल०अप०में अन्त०; फिर स्त्री व नपुं० वेदमें ८,८ को० पू०=१६ को०पू०; फिर पुरुषवेदमें ७ को० पू० इस प्रकार ४७ को०पू० कर्मभूमिमें भ्रमण कर भोगभूमिमें उपजे
	२	७१–७२		१ समय	उप. सम्य.७,८, मनुष्यका सम्य. में १समय शेष रहते युग. प्रवेश	अन्तर्मु.	संख्यातमनु.का उप.सम्य. में ६आव.शेष रहते युग.प्रवे	७३–७४		१ समय	उपशम सम्यक्त्वमें १ समय काल शेष रहने पर सासादनमें प्रवेश	६ आवली	उपशम सम्यक्त्वमें ६ आवली काल शेष रहनेपर सासादनमें प्रवेश
	३	७५–७६		अन्तर्मु.	२८/ज १,४,५,६ठे से पीछे आये सं. मनु. युगपत लौटे	अन्तर्मु.	जघन्यवत्	७७–७८		अन्तर्मु	२८/ज. १,४,५,६ठे से ३रे में आ०, अन्तर्मु० वहाँ रह पुनः लौट जायें	अन्तर्मुहूर्त	जघन्यवत्
मनुष्य सा[illegible]न्य	४	७९		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	८०–८२		अन्तर्मु०	२८/ज. १,३,५,६ठे से ४थे में आ. पुनः लौटकर गुणस्थान परिवर्तन करे	३पल्य+देशोन पूर्व कोड़	१ को० पू० में त्रिभाग शेष रहनेपर मनुष्यायुको बाँध क्षायिक सम्यक्त्वी हो भोगभूमिमें उपजे।
	५–१४	८२			मूलोघवत्			८२			मूलोघवत्		
मनुष्य पर्याप्त	१–१४	६८–८२			मनुष्य सामान्य वत्			६८–८२			मनुष्य सामान्यवत्		
मनुष्यणी	१–३	६८–७८			"			६८–७८			"		
	४	७९		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	८०–८१		अन्तर्मु०	मनुष्य सामान्यवत्	३ पल्य–१ मास व ४१ दिन	२८/ज. भोग भूमिया मनुष्यणी हो १ मास गर्भ में रह ४१ दिनमें पर्याप्ति पूर्ण कर सम्यक्त्वी हो।
	५–१४	८२			मनुष्य सामान्य वत्			८२			मनुष्य सामान्यवत्		
मनुष्य ल० अप०	१	८३–८४		क्षुद्रभव	अनेक जीवोंका युगपत् प्रवेश व निर्गमन	पल्य/अ.	संतति क्रम न टूटे	८५–८६		क्षुद्रभव	परिभ्रमण	अन्तर्मुहूर्त	परिभ्रमण

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण नं०/१	प्रमाण नं०/२	नाना जीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	प्रमाण नं०/१	प्रमाण नं०/३	एक जीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
४ देवगति—		सू.	सू.					सू.	सू.				
देव सामान्य			६-१०	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		२६-२७	१०,००० वर्ष	देवकी जघन्य आयु	३३ सागर	देवकी उत्कृष्ट आयु
भवन वासी			११	,,	,,	,,	,,		२९-३०	,,	,,	१½ सागर	,,
व्यन्तर			,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	१½ पल्य	,,
								(ध./१४/३३१)		आ./असं	सोपक्रम काल	१२मुहूर्त	अनुपक्रम काल
ज्योतिषी			,,	,,	,,	,,	,,		२९-३०	½ पल्य	जघन्य आयु	१½ पल्य	उत्कृष्ट आयु
सौधर्मसे सहस्रार			,,	,,	,,	,,	,,		३२-३३	१½ पल्य १६½ सागर	क्रमशः प्रत्येक युगलमें १½ पल्य, २½, ७½, १०½, १४½, १६½ सागर	२½ सा.- १८½ सा.	प्रत्येक युगलमें क्रमशः २½, ७½, १०½, १४½, १६½ व १८½ सागर
आनत-अच्युत			,,	,,	,,	,,	,,		३५-३६	१८½२०सा.	दो युगलोंमें क्रमशः १८½ व २० सागर	२० सा. २२ सा.	दोनों युगलोंमें क्रमशः २० व २२ सागर
नव ग्रैवेयक			,,	,,	,,	,,	,,		,,	२२-३०सा.	प्रत्येक ग्रैवेयकमें क्रमशः २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३० सागर	२३ से ३१ सागर	प्रत्येक ग्रैवेयकमें क्रमशः २३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१ सागर
नव अनुदिश			,,	,,	,,	,,	,,		,,	३१ सागर	प्रत्येकमें बराबर	३२ सागर	प्रत्येकमें बराबर
विजय से अपराजित			,,	,,	,,	,,	,,		,,	३२ सागर	,,	३३ सागर	,,
सर्वार्थ सिद्धि			,,	,,	,,	,,	,,		३८	३३ सागर		३३ सागर	
देव सामान्य	१	८७		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	८८-८९		अन्तर्मु०	२८/ज. ३,४थे से १ ले में गुण स्थान परिवर्तन करे	३१ सागर	उपरिम ग्रैवेयकमें जा मिथ्यात्व सहित रहे।
	२-३	९०			मूलोघवत्			९०			मूलोघवत्		
	४	९१		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	९१-९२		अन्तर्मु०	१,३ रे से ४थे में जा स्थान परिवर्तन करे	३३ सागर	सर्वार्थ सिद्धिमें जा सम्यक्त्व सहित रहे
भवन वासी	१	९४		,,	,,	,,	,,	९५-९६		,,	,,	१ सागर + पल्य/ असंख्यात	मिथ्यात्व सहित कुल काल बिताया।
	२-३	९७			मूलोघवत्			९७			मूलोघवत्		

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० २	नानाजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० ३	एकजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
		सू०	सू०					सू०	सू०				
भवनवासी	४	९४		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	९५-९६		अन्तर्मु०	देव सामान्यवत् स्थान परि०	१ १/२ सागर -१ अन्त० ,, ,,-४ अन्त०	सम्यक्त्व सहित पूरा काल बितावें संयत मनुने वैमानिककी आयु बाँधी पीछे अपवर्तना घात द्वारा भवनवासी की रह गयी। वहाँ ६ पर्याप्ति प्राप्तकर सम्यक्त्वी हो रहा।
व्यन्तर	१	९४		,,	,,	,,	,,	९५-९६		,,	,,	१ १/२ पल्य-१अन्त०	मिथ्यात्व सहित पूर्ण काल बिताया
	२-३	९७		—	मूलोघवत्	—	—	९७		—	मूलोघवत्	—	—
	४	९४		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	९५-९६		अन्तर्मु०	देव सामान्यवत् स्थान परि०	१ १/२ पल्य-४अन्त०	भवनवासीवत
ज्योतिषी	१-४	९४-९७	—	—	व्यन्तरवत	—	—	९५-९७		—	व्यन्तरवत	—	—
सौधर्म-सहस्रार	१	९४		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	९५-९६		अन्तर्मु०	देव सामान्यवत् स्थान परि०	पल्य/असं. अधिक २-१८ सागर	अद्घायुष्कको अपेक्षा (मिथ्यात्वसे अद्घायुका अपवर्तना घात कर मरे तो) क्रमशः २,७,१०,१४,१६,१८ सागर+ पल्य/असंख्यात
	२-३	९७		—	मूलोघवत्	—	—	९७	—	—	मूलोघवत्	—	—
	४	९४		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	९५-९६		अन्तर्मु०	देव सामान्यवत स्थान परि०	क्रमशः अन्त० कम २ १/२, १८ १/२	क्रमशः २ १/२, ७ १/२, १० १/२, १४ १/२, १६ १/२, १८ १/२ सागरसे अन्तर्मु. कम
आनत-अच्युत	१	९८		,,	,,	,,	,,	९९-१००		,,	,,	क्र. २० व २२सा.	उत्कृष्ट आयु पर्यन्त वहाँ रहे
	२-३	१०१	—	—	मूलोघवत	—	—	१०१	—	—	मूलोघवत	—	—
	४	९८		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	९९-१००		अन्तर्मु०	देव सामान्यवत स्थान परि०	क्र. २० व २२सा०	उत्कृष्ट आयु पर्यन्त वहाँ रहे
नव ग्रैवेयक	१	९८		,	,,	,,	,,	९९-१००		,,	,,	क्र. २३-३१ सा०	नौ ग्रैवेयकोंमें क्रमशः २३,२४,२५,२६ २७,२८,२९,३० व ३१ सागर
	२-३	१०१		—	मूलोघवत	—	—	१०१	—	—	मूलोघवत	—	—
	४	९८		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	९९-१००		अन्तर्मु०	देव सामान्यवत स्थान परि०	क्रमशः२३-३१सा.	इसीके १ले गुण स्थानवत
नव अनुदिश	४	१०२		,,	,,	,,	,,	१०३-१०४		३१ सा०+ १ समय	मिथ्यात्व गुणस्थानका अभाव	३२ सागर	उत्कृष्ट आयु
विजय अपराजित	४	१०२		,,	,,	,,	,,	१०३-१०४		३२ सागर	,,	३३ सागर	,,
सर्वार्थसिद्धि	४	१०५		,,	,,	,,	,,	१०६		३३ सागर	जघन्य उत्कृष्ट दोनों समान	३३ सागर	,,

मार्गणा	गुण स्थान	नानाजीवापेक्षया प्रमाण नं०/१	प्रमाण नं०/२	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	एकजीवापेक्षया प्रमाण नं०/१	प्रमाण नं०/३	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
२. इन्द्रिय मार्गणा		सू.	सू.					सू	सू				
एकेन्द्रिय सामान्य			१२-१३	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		४०-४१	क्षुद्रभव		असं पु० परि०	स्व मार्गणामें परिभ्रमण (सू० व बा०)
,, सा० पर्याप्त			,,	,,	,,	,,	,,		४६-४७	अन्तर्मुहूर्त		सं० सहस्र वर्ष	,,
,, ,, ल० अप०			,,	,,	,,	,,	,,		४६-५०	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
,, बा० सा०			,,	,,	,,	,,	,,		४३-४४	क्षुद्रभव		असं उत्सर्प० अवसर्प०	,,
,, ,, पर्याप्त			,,	,,	,,	,,	,,		४६-४७	अन्तर्मुहूर्त		सं सहस्र वर्ष	,,
,, ,, ल० अप			,,	,,	,,	,,	,,		४६-५०	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
,, सू० सा०			,,	,,	,,	,,	,,		५२-५३	,,		असं लोक प्रमाण समय	,,
,, ,, पर्याप्त			,,	,,	,,	,,	,,		५५-५६	अन्तर्मुहूर्त		अन्तर्मुहूर्त	,,
,, ,, ल० अप			,,	,,	,,	,,	,,		५८-५६	क्षुद्रभव		,,	,,
विकलेन्द्रिय सा			,,	,,	,,	,,	,,		६१-६२	,,		सं० सहस्र वर्ष	,,
,, पर्याप्त			,,	,,	,,	,,	,,		,,	अन्तर्मुहूर्त		,,	,,
,, अपर्याप्त			,,	,,	,,	,,	,,		६४-६५	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
पंचेन्द्रिय सा०			,,	,,	,,	,,	,,		६७-६८	,,		१००० सा० + को० पृ०	,,
,, पर्याप्त			,,	,,	,,	,,	,,		,,	अन्तर्मुहूर्त		शतपृथक्त्व सागर	,,
,, ल० अप			,,	,,	,,	,,	,,		७०-७१	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
उपरोक्त सर्व विकल्प	१	१०७-१३८	,,	,,	,,	,,	,,		१०७-१३८	—	—उपरोक्त सर्व विकल्पोंके	ओघवत्	—
पंचेन्द्रिय पर्याप्त	२-१४	१३७	—	—	—मूलोघवत्—	—	—		१३४	—	—मूलोघवत्—		सर्व स्थान सम्भव नहीं
३. काय मार्गणा												—	—
पृथि. अप तेज वायु चारों सामान्य			१४-१५	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		७३-७४	क्षुद्रभव		असं लोक प्रमाण समय	सू० बा/पर्याप्त अपर्याप्त सर्व विकल्पों
,, पर्याप्त			,,	,,	,,	,,	,,		७६-८०	अन्तर्मुहूर्त		सं सहस्र वर्ष	,,
,, ल० अपर्याप्त			,,	,,	,,	,,	,,		८२-८३	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
,, बा० सामा			,,	,,	,,	,,	,,		७६-७७	क्षुद्रभव		७० कोड़ाकोड़ी सागर	स्व मार्गणामें परिभ्रमण (पूर्वा अपर्या०)
,, ,, पर्याप्त			,,	,,	,,	,,	,,		७६-८०	अन्तर्मुहूर्त		सं० सहस्र वर्ष	,,
,, ,, ल० अप०			,,	,,	,,	,,	,,		८२-८३	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
,, सू० सामान्य			,,	,,	,,	,,	,,		८४	क्षुद्रभव		असं लोक प्रमाण समय	,,
,, ,, पर्याप्त			,,	,,	,,	,,	,,		,,	अन्तर्मुहूर्त		अन्तर्मुहूर्त	,,
,, ,, ल० अप०			,,	,,	,,	,,	,,		,,	क्षुद्रभव		,,	,,

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण नं०/१	प्रमाण नं०/२	नानाजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	प्रमाण नं०/१	प्रमाण नं०/३	एकजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
वनस्पति सा०	...	सू	सू. १४-१५	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सू.	सू. ८५	क्षुद्रभव		असं० पु० परि०	स्व मार्गणामें परिभ्रमण
,, पर्याप्त	...		,,	,,	,,	,,	,,		,,	अन्तर्मुहूर्त		सं० सहस्र वर्ष	,,
,, ल० अप०	...		,,	,,	,,	,,	,,		,,	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
वन० प्रत्येक सा	...		,,	,,	,,	,,	,,		७६-७७	क्षुद्रभव		७० कोड़ा कोड़ी सागर	,,
,, ,, पर्याप्त	...		,,	,,	,,		,,		७९-८०	अन्तर्मुहूर्त		सं० सहस्र वर्ष	,,
,, ,, ल० अप०	...		,,	,,	,,	,,	,,		८२-८३	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
वन० साधारण निगोदः-													
,, सामान्य	...		,,	,,	,,	,,	,,		८७-८८	क्षुद्रभव		२ १/२ पु० परिवर्तन	,,
,, पर्याप्त	...		,,	,,	,,	,,	,,		८९	अन्तर्मु०		सं० सहस्र वर्ष	,,
,, ल० अप०	...		,,	,,	,,	,,	,,		,,	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
,, बा० सा०	...		,,	,,	,,	,,	,,		८९	क्षुद्रभव		७० कोड़ा कोड़ी सागर	,,
,, ,, पर्याप्त	...		,,	,,	,,	,,	,,		,,	अन्तर्मु०		सं० सहस्र वर्ष	,,
,, ,, ल० अप	...		,,	,,	,,	,,	,,		,,	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
,, सू० सा०	...		,,	,,	,,	,,	,,		८४	क्षुद्रभव		असं लोक प्रमाण समय	,,
,, ,, पर्याप्त	...		,,	,,	,,	,,	,,		,,	अन्तर्मु०		अन्तर्मुहूर्त	,,
,, ,, ल० अप	...		,,	,,	,,	,,	,,		,,	क्षुद्रभव		,,	,,
त्रस सामान्य	...		,,	,,	,,	,,	,,		९१-९२	,,		२००० सा+ १ पू० को०	,, (रा. वा./३/३१/६/२१०)
,, पर्याप्त	...		,,	,,	,,	,,	,,		,,	अन्तर्मुहूर्त		२००० सा०	,, (ध०/प्र. १०/पृ. ३४/१०)
,, ल०अप०	...		,,	,,	,,	,,	,,		९४-९५	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
स्थावरके सर्व विकल्प	१	१३६-१५६		,,	,,	,,	,,	१३६-१५६		—स्व स्व उपरोक्त ओघवत्—			
त्रस सामान्य	१	१५७-१५९		,,	,,	,,	,,	१५७-१५९		अन्तर्मु०	क्षुद्रभवसे असं गुणा	२००० सा+ १ पू० को	स्व मार्गणामें परिभ्रमण
,, पर्याप्त	१	,,		,,	,,	,,	,,	,,		,,		२००० सागर	,,
,, ,,	२-१४	१६०		,,	मूलोघवत्	—	—	१६०	—	—	—मूलोघवत्—	—	—
,, ल० अप०	१	१६१		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	१६१		क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	विकल व पंच इन्द्रियोंके निरन्तर भव क्रमेण ८०,६०,४०,२४ प्रमाण परिभ्रमण

४. योग मार्गणा:—

संकेत—१ समय सम्बन्धी प्ररूपणाके ११ भंगोंका विस्तार पहले सारणी सम्बन्धी नियमोंमें दिया गया है। वहाँसे देख लें। — दे० काल/५

मार्गणा	गुण स्थान	नानाजीवापेक्षया: प्रमाण नं०१	प्रमाण नं०२	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	एकजीवापेक्षया: प्रमाण नं०१	प्रमाण नं०३	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
		सू.	सू.					सू.	सू.				
पाँचों मनोयोगी	...		१६–१७	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		९७–९८	१ समय	योग परिवर्तनकर मरण व व्याघात	अन्तर्मुहूर्त	योग परिवर्तन
,, वचन योगी	...		,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
काय योगी सा०	...		,,	,,	,,	,,	,,		१००–१०१	अन्तर्मु०	इससे कमकाल परिभ्रमणका अभाव	आ. असं. पु. परिवर्तन	एकेन्द्रियोंमें परिभ्रमण
औदारिक...	...		,,	,,	,,	,,	,,		१०३–१०४	१ समय	योग परिवर्तनकर मरण या व्याघात	२२००० वर्ष	पृथिवी कायिकोंमें परिभ्रमण
औदारिक मिश्र	...		,,	,,	,,	,,	,,		१०५–१०७	,,	दण्ड कपाट समुद्घातमें	अन्तर्मुहूर्त	पूर्व भवोंमें इतना ही उत्कृष्ट है अधिक नहीं
वैक्रियक	...		,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	योग प्राप्तकर मृत्यु या व्याघात	,,	,,
वैक्रियक मिश्र	...		१९–२०	अन्तर्मु.	२ विग्रह सहित देवोंमें उत्पत्तिका प्रवाह क्रम	पल्य/असं	२ विग्रहसहित देवोंमें उत्पत्तिका प्रवाह क्रम		१०९–११०	अन्तर्मु०	मिश्र योगमें मरण नहीं	अन्तर्मुहूर्त	इससे अधिक काल अवस्थानका अभाव
आहारक	...		२१–२३	१ समय	एक जीववत्	अन्तर्मु	एक जीववत्		१०६–१०७	१ समय	योग प्राप्तकर दूसरे समय शरीर प्रवेश	अन्तर्मुहूर्त	अधिकसे अधिक इतने काल पश्चात् शरीर प्रवेश
आहारक मिश्र	...		२४–२६	अन्तर्मु.	,,	,,	,,		१०९–११०	अन्तर्मु०		,,	
कार्माण	...		१६–१७	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		११२–११३	१ समय	१ विग्रहपूर्वक जन्म धारण	३ समय	तीन विग्रह पूर्वक जन्मधारण
पाँचों मनो वचन योगी	१	१६२		सर्वदा	,,	सर्वदा	,,	१६३–१६४		१ समय	यथायोग्य ३ योग परिवर्तन, गुणस्थान परिवर्तन, मरण व व्याघातके पूर्व ११ भंग (देखो काल/५)	अन्तर्मुहूर्त	केवल योग परिवर्तन
	२	१६५		१ समय	मूलोघवत्	पल्य/असं	मूलोघवत्	१६१		१ समय	,,	६ आवली	,,
	३	१६६–१६७		,,	११ भंगोंसे योग परिवर्तन	,,	अविच्छिन्न प्रवाह	१६८–१६९		१ समय	,,	अन्तर्मुहूर्त	इतने काल पश्चात् योग परिवर्तन
	४–७	१६२		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	१६३–१६४		,,	उपरोक्तवत् परन्तु अप्रमत्तके व्याघात बिनाके १० भंग	,,	,,
	८–१२ (उप०)	१७०–१७१		१ समय	११ भंगोंसे योग परिवर्तन	अन्तर्मु.	योगपरिवर्तन	१७२–१७३		१ समय	व्याघात बिना उपरोक्त १० भंग	,,	,,
	८–१२ क्षपक	,,		,,		,,	,,	,,		,,	योग व गुणस्थान परिवर्तन के ९ भंग	,,	,,
	१३	१६२		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	१६३–१६४		१ समय	विवक्षित योगसहित प्रवेश १ समय पीछे योग परिवर्तन	अन्तर्मुहूर्त	,,

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० २	नानाजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० ३	एकजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
कायमोग सामान्य	१	सू. १७४	सू.	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सू. १७५–१७६	सू.	१ समय	मरण व व्याघात रहित ६ भंग	असं.पु.परिवर्तन	एकेन्द्रियोंमें परिभ्रमण
	२–१३	१७७		—	मनोयोगीवत्	—	"	१७७		मनोयोगीवत् ३,४थेमें मरण व व्याघात रहित ६ भंग तथा २,५,६ठेमें केवल व्याघात रहित भी मनोयोगवत्			
औदारिक	१	१७८		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	,,	१७९–१८०		१ समय	मनोयोगीवत् ११ भंग	२२००० वर्ष–अप० काल	पृथिवीकायमें परिभ्रमण
	२–१३	१८१		—	मनोयोगीवत्	—	—	१८१		मनोयोगीवत्	व्याघातवाले भंगका कहीं भी अभाव नहीं	मनोयोगीवत्	
औदारिक मिश्र	१	१८२		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	१८३–१८४		क्षुद्र भवसे ३ समयकम	१ विग्रहसे उत्पन्न क्षुद्र भवधारी	अन्तर्मुहूर्त	ल० अप० के संख्यातभव करके पर्याप्त हो गया
	२	१८५–१८६		१ समय	एक जीववत् ही ७ या ८ जीवोंकी युगपत् प्ररूपणा	पल्य/असं	अविच्छिन्न प्रवाह	१८७–१८८		१ समय	सासादन दृष्टि एक जीव स्वकालमें एक समय शेष रहनेपर मिश्र योगी हो द्वितीय समय मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ।	१ समयकम ६ आवली	जघन्यवत्
	४	१८९–१९०		अन्तर्मु.	७ या ८ असंयत नारकी औ० मि० योगी हो पर्याप्त हुए	अन्तर्मु.	जघन्यवत्-पर देव, नारकी व मनुष्य तीनों की अपेक्षा प्ररूपणा	१९१–१९२		अन्तर्मु०	छठी पृथिवीसे आ मनुष्य हुआ, गर्भमें अल्प अन्तर्मुहूर्त कालतक ही अपर्याप्त रहा, फिर पर्याप्त हो गया	अन्तर्मुहूर्त	जघन्यवत् परन्तु सर्वार्थसिद्धिसे आकर
	१३	१९३–१९४		१ समय	दण्ड समुद्घातसे कपाटको प्राप्त हो पुनः दण्डको प्राप्त हुआ	सं०समय	दण्ड व कपाट में परिवर्तन करने अनेक जीव	१९५–१९६		१ समय	दण्ड-कपाट समुद्घातमें आरोहण व अवतरण करते हुए कपाट समुद्घात गत केवली	१ समय	जघन्यवत्
वैक्रियक	१	१९६		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	१९७–१९८		१ समय	मनो या वचन योगी विवक्षित गुणस्थानवर्ती वैक्रि. काय योगी हो १ समय पश्चात् या तो मर जावे या गुणस्थान परिवर्तन करे व्याघात रहित १० भंग	अन्तर्मुहूर्त	विवक्षित गुणस्थानमें ही योगपरिवर्तन करे

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० २	नाना जीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० ३	एक जीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
वैक्रियक	२	सू. १९९	सू	१ समय	११ भंग	पल्य/असं	प्रवाह	सू. १९९	सू.	१ समय	११ भंग लागू करने (देखो काल/१)	६ आवली	स्वकालमें ६ आ० रहनेपर विवक्षित योगमें प्रवेश
	३	२००		,,	,,	,,	,,	२००		,,	,,	अन्तर्मुहूर्त	इतने काल पीछे योग परिवर्तन
	४	१९६		—	स्व मिथ्यादृष्टि वत्	—		१९७-१९८	—	—	स्व मिथ्यादृष्टिवत्	—	—
वैक्रियकमिश्र	१	२०१-२०२		अन्तर्मु.	७ या ८ द्रव्य लिंगी मुनि उपरिम ग्रैवेयकमें जा इतनेकाल पश्चात् पर्याप्त हुआ	पल्य/असं	७ या ८ जीव देव या नरकमें जा इतने काल पश्चात् पर्याप्त हुए	२०३-२०४		अन्तर्मु०	उपरिम ग्रैवेयकमें उपजनेवाला द्रव्य लिंगी मुनि सर्व लघुकाल पश्चात् पर्याप्त हुआ	अन्तर्मुहूर्त	मनुष्य व तिर्यंच मिथ्यादृष्टि ७वीं पृथिवीमें उपज इतने काल पश्चात् पर्याप्त हुआ
	२	२०५-२०६		१ समय	गुणस्थानमें १ समय शेष रहनेपर देवोंमें उपज सब मिथ्यात्वी हो गये	पल्य/असं	जघन्यवत् पर १ समयसे ६ आवली शेष रहते उत्पत्ति की प्ररूपणा	२०७-२०८		१ समय	सासादनमें एक समय शेष रहनेपर देवोंमें उत्पन्न हुआ। द्वितीय समय मिथ्यादृष्टि हो गया	१ समय कम ६ आवली	उपशम सम्यक्त्वके कालमें छः आवली शेष रहनेपर कोई मनुष्य या तिर्यंच सासादनको प्राप्त हुआ। एक समय पश्चात् देव हुआ। १ समयकम छः आवली पश्चात् मिथ्यादृष्टि हो गया।
	४	२०१-२०२		अन्तर्मु	संयत २ विग्रहसे सर्वार्थसिद्धिमें उपज पर्याप्त हुए	पल्य/असं	उपरोक्त मिथ्यादृष्टि वत्	२०३-२०४		अन्तर्मु०	कोई मुनि २ विग्रहसे सर्वार्थसिद्धिमें उपजा। इतनेकाल पश्चात् पर्याप्त हुआ	अन्तर्मुहूर्त	बद्धायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम पृथिवीमें उपजा। इतनेकाल पश्चात् पर्याप्त हुआ।
आहारक	६	२०९-२१०		१ समय	एक जीववत् युगपत् नाना जीव	अन्तर्मु.	जघन्यवत् प्रवाह क्रम	२११-२१२		१ समय	अविवक्षितसे विवक्षित योगमें आकर १ समय पश्चात् मूल शरीर प्रवेश	अन्तर्मुहूर्त	जघन्यवत्
आहारकमिश्र	६	२१३-२१४		१ समय	,,	अन्तर्मु.	,,	२१५-२१६		,,	देखा है मार्ग जिन्होंने ऐसा जीव सर्वलघुकालमें पर्याप्त होता है	,,	नहीं देखा है मार्ग जिसने ऐसा जीव इससे पहिले पर्याप्त न हो
कार्माण	१	२१७		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	२१८-२१९		,,	मारणान्तिक समुद्घात पूर्वक १ विग्रहसे जन्म	३ समय	जघन्यवत् पर ३ विग्रहसे जन्म
	२, ४	२२०-२२१		१ समय	एक जीववत्	आ०/असं	जघन्यवत् प्रवाह	२२२-२२३		,,	एक विग्रहसे उत्पन्न होनेवाला जीव	२ समय	२ विग्रहसे उत्पन्न होनेवाला जीव
	१३	२२४-२२५		३ समय	,,	सं. समय	,,	२२६		३ समय	कपाटसे क्रमशः प्रतर-लोक-पूर्ण-प्रतर	३ समय	जघन्यवत्

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण		नानाजीवापेक्षया				प्रमाण		एकजीवापेक्षया			
		नं०/१	नं०/२	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	नं०/१	नं०/३	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
		सू.	सू.										
५ वेद मार्गणा													
स्त्री वेद	...		२४-२८	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		११५-११६	१ समय	उपशम श्रेणीसे उतर सवेदी हो द्वितीय समय मृत्यु	३०० से ९०० पल्य तक	अविवक्षित वेदसे आकर तहाँ परिभ्रमण।
पुरुष वेद	...		,,	,,	,,	,,	,,		११८-११९	अन्तर्मु०	उपशम श्रेणी उतर सवेदी होकर पुनः अवेदी हुआ। मृत्यु होनेपर तो पुरुष वेदी देव ही नियमसे होगा अतः १समयकी प्ररूपणा नहीं की	१०० सागर	नपुंसकसे आ पुरुषवेदी हो तहाँ परिभ्रमण
नपुंसक वेद	...		,,	,,	,,	,,	,,		१२१-१२२	१ समय	स्त्री वेदवत्	असं० पु० परिवर्तन	एकेन्द्रियोंमें परिभ्रमण
अपगत वेद उप.	...		,,	,,	,,	,,	,,		१२४-१२५	,,	उपशम श्रेणीमें अवेदी होकर पुनः सवेदी हो जाना	अन्तर्मुहूर्त	स्त्री व नपुंसक वेद सहित उपशम श्रेणी चढ़े तो।
,, क्षपक	...		,,	,,	,,	,,	,,		१२७-१२८	अन्तर्मु०		कुछ कम पूर्व कोड़ि	सर्व जघन्य कालमें संयम धर अवेदी हुआ और उत्कृष्ट आयुपर्यन्त रहा
स्त्री वेद	१	२२७	,,	,,	,,	,,	,,	२२८-२२९		अन्तर्मुहूर्त	गुणस्थान प्रवेश कर पुनः लौटे	पल्यशत पृथक्त्व	वेद परिवर्तन करके पुनः लौटे
	२-३	२३०-२३१	—	—	मूलोघवत्	—	—	२३०-२३१		—	मूलोघवत्	—	—
	४	२३२		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	२३३-२३४		अन्तर्मु०	गुणस्थान परिवर्तन	३ अन्तर्मु० कम ५५ पल्य	अविवक्षित वेदी ५५ पल्य आयु वाली देवियोंमें उपज, अन्तर्मु० से पर्याप्ति पूरीकर सम्यक्त्वी हुआ।
	५	२३५		,,	,,	,,	,,	२३५		,,	,,	२मास+मुहूर्त० पृथक्त्व कम १ को० पूर्व	२८/ज स्त्री वेदी मर्कट आदिकमें उपजा/२ मास गर्भमें रहा। निकलकर मुहूर्त पृथक्त्वसे संयतासंयत हो रहा (ओघमें सम्पूर्च्छिमका ग्रहण किया है)
	६-९	२३५	—	—	मूलोघवत्	—	—	२३५		,,	—मूलोघवत्	—	—
पुरुष वेद	१	२३६		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	२३७-२३८		अन्तर्मु०	स्त्रीवेदवत्	सागरशत पृथक्त्व	स्त्रीवेदवत्
	२-४	२३९	—	—	मूलोघवत्	—	—	२३९					
	५	,,	—	—	स्त्रीवेदवत्	—	—						
	६-९	,,	—	—	मूलोघवत्	—	—						

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण नं०/१	प्रमाण नं०/२	नाना जीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	प्रमाण नं०/१	प्रमाण नं०/३	एक जीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
नपुंसक वेद	१	सू. २४०	सू.	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सू. २४१-२४२	सू.	अन्तर्मु०	स्त्रीवेदवत्	असं० पु० परिवर्तन	स्त्रीवेदवत्
	२-३	२४३-२४४	—	—	मूलोघवत्	—	—	२४३-२४४		—	मूलोघवत्	—	—
	४	२४५		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	२४६-२४७		अन्तर्मु०	स्त्रीवेदवत्	६ अन्तर्मु० कम ३३ सागर	२८/अ. ७ वी पृथिवीमें आ ६ मुहूर्त पीछे पर्याप्त व विशुद्ध हो सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ।
	५-९	२४८	—	—	मूलोघवत्	—	—	२४८		—	मूलोघवत्	—	—
अपगत वेदी	१०-१४	२४९			,,			२४९			,,		
६ कषाय मार्गणा:—													
चारों कषाय	...		२९-३०	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		१२९—१३०	१ समय	क्रोधमें केवल मृत्यु वाला भंग और शेष तीनमें मृत्यु व व्याघात वाले दोनों भंग	अन्तर्मुहूर्त	कषाय परिवर्तन
अकषाय उप०	...		,,	,,	,,	,,	,,		१३१	,,	अपगत वेदीवत्	,,	अपगत वेदीवत्
,, क्षपक	...		,,	,,	,,	,,	,,		,,	अन्तर्मु०	,,	कुछ कम पूर्णको०	,,
चारों कषाय	१	२५०		,,	,,	,,	,,	२५०		१ समय	कषाय, गुणस्थान परिवर्तन व मरणके सर्व भंग—काल/५ क्रोधके साथ व्याघात नहीं होता शेष तीनके साथ होता है। मरणकी प्ररूपणामें क्रोध कषायीको नरकमें उत्पन्न कराना, मान कषायीको नरकमें, माया कषायीको तिर्यंचमें और लोभ कषायी को देवोंमें। इस प्रकार यथा योग्य रूपसे सर्व ही गुण स्थानोंमें लगाना।	अन्तर्मुहूर्त	स्व गुणस्थानमें रहते हुए ही कषाय परिवर्तन
	२	२५०		१ समय	मूलोघवत्	पल्य/अ०	मूलोघवत्	,,		१ समय	,,	६ आवली	,,
	३	,,		,,	२१ भंगोंसे परि० —दे० काल/५	,,	अविच्छिन्न प्रवाह	,,		.	,,	अन्तर्मुहूर्त	,,
	४-७	,,		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	,,		,,	उपरोक्तवत् परन्तु ७ वें में व्याघात नहीं	,,	,,

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण नं०/१	प्रमाण नं०/२	नानाजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	प्रमाण नं०/१	प्रमाण नं०/३	एकजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
क्रोध मान माया	८-९ (उप०)	सू २५१-२५२	सू	१ समय	१ जीववत्	अन्तर्मु०	जघन्यवत् प्रवाह	सू. २५३-२५४	सू.	१ समय	८,९,१० में अवरोहक और ९,१० में आरोहक व अवरोहक के प्रथम समय में मरण	अन्तर्मुहूर्त	सर्वोत्कृष्ट स्थिति
लोभ कषाय	८-१० (क्षप०)			"	"	"	"	"		"	"	"	"
क्रोध मान माया	८-९ (क्षप०)	२५५-२५६		अन्तर्मु०	"	जघन्यसे सं०गुणा	"	२५७-२५८		अन्तर्मु०	मरण रहित शेष भंग उपरोक्तवत् (दे० काल/५)		"
लोभ	८-१० (उप०)	"		"	"	"	"	"		"	"	"	"
अकषायी	११-१४	२५९	—	—	मूलोघवत्	—	—	२५९	—	—	मूलोघवत्	—	—
७ ज्ञान मार्गणा													
मति श्रुतअज्ञान			३१-३२	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		१३३-१३५	अनन्त	अनादि अनन्त व अनादि सान्त	अनन्त	अभव्यवत्
,, सादि सान्त			"	"	"	"	"		१३६-१३७	अन्तर्मु०	ज्ञान परिवर्तन	कुछ कम अर्ध पु० परि०	सम्यक्त्वसे मिथ्यात्व फिर सम्यक्त्व देव नारकीमें उपरोक्त प्रकार
विभंग सामान्य			"	"	"	"	"		१३८-१४०	१ समय	उप० सम्य० देव नारकी-द्विती. समय सासा.हो मरे।	अन्तर्मु० कम ३३ सा०	
,, (मनु० तिर्य०)			ध./९/१६७	"	"	"	"		ध/९/-१६७	१ समय	औदारिक शरीरकी संघातनपरिशातन कृति	अन्तर्मुहूर्त	
मतिश्रुत अवधि-ज्ञान			३१-३२	"	"	"	"		१४२-१४३	अन्तर्मु०	देव नारकी सम्यक्त्वी हो पुनः मिथ्या।	६६ सागर+४ पूर्व को०	(देखो काल/५)
मनःपर्यय			३१-३२	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		१४५-१४६	अन्तर्मु०	इतने काल पश्चात् मरण	८ वर्ष कम १ को० पू०	८ वर्षमें दीक्षा लेकर शेष उत्कृष्ट आयु पर्यन्त
केवलज्ञान			"	"	"	"	"		" (क.पा.)	"	"	" अन्तर्मुहूर्त	" (दे० दर्शन/३/२)
मतिश्रुत अज्ञान	१-२	२६०-२६१	—	—	मूलोघवत्	—	—	२६०-२६१	—	—	मूलोघवत्	—	—
विभंग ज्ञान	१	२६२			विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	२६३-२६४		अन्तर्मु०	गुणस्थान परिवर्तन	३३ सागर से अन्तर्मु० कम अन्तर्मुहूर्त	सप्तम पृथिवीकी अपेक्षा मनुष्य तिर्यंचकी अपेक्षा

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० २	नानाजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० ३	एकजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
	२	सू २६५	सू —	—	मूलोघवत्	—	—	सू २६५	सू —	—	मूलोघवत्	—	—
मति श्रुत ज्ञान	४-१२	२६६			"			२६६			"		
अवधि ज्ञान	१-४	"			"			"	—	मूलोघवत्	—	४ अंत० कम १ को. पू.	ओघ से १ अन्तर्मु० और भी कम है। क्योंकि सम्यक्त्व अवधि धारनेमें १ अन्तर्मु० लगा
	५	"			"			"					
	६-१२	"			"			"		—	मूलोघवत्	—	
मन.पर्यय	६-१२	२६७			"			२६७			"		
केवल	१३-१४	२६८			"			२६८			"		
८. संयम मार्गणा													
संयम सामान्य			३२-३४	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		१४८-१४९	अन्तर्मु०	संयमीसे असंयमी	८ वर्ष न्न १ पूर्व कोड़	८ वर्षकी आयुमें संयम धार उत्कृष्ट मनुष्य आयु पर्यन्त संयम सहित रहे
सामायिक छेदो०			"	"	"	"	"		१५१-१५२	१ समय	उपशम श्रेणीसे उतरते हुए मृत्यु	"	"
परिहार विशुद्धि			"	"	"	"	"		१४८-१४९	अन्तर्मु०		३८ वर्ष कम १ पूर्व कोड़	सर्व लघु काल ८ वर्षमें संयम धार ३० साल पश्चात् तीर्थंकरके पादमूलमें प्रत्याख्यान पूर्वको पढ़कर परिहार विशुद्धि संयत हुआ।
सूक्ष्म साम्पराय	उप०		३५-३७	१ समय	१ जीववत्	अन्तर्मु०	जघन्यवत् प्रवाह		१५४-१५५	१ समय	प्रथम समय प्रवेश द्वितीय समय मरण	अन्तर्मुहूर्त	इससे अधिक न रहे
	क्षप०		३३-३४	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		१५६-१५७	अन्तर्मु०	मरणका यहाँ अभाव है	"	
यथाख्यात	उप०		३५-३७	१ समय	१ जीववत्	अन्तर्मु०	जघन्यवत् प्रवाह		१५९-१६०	१ समय	प्रथम समय प्रवेश द्वितीय समय मरण	"	
	क्षप०		३३-३४	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		१६१-१६२	अन्तर्मु०	मरणका अभाव	८ वर्ष कम १ पूर्व कोड़ अन्त०	संयम सामान्यवत् पर यथा योग्य अन्त० पश्चात् यथाख्यात धारण करे
संयतासंयत			"	"	"	"	"		१४८-१४९	"		अन्तर्मु० कम १ पूर्व कोड़	सम्मूर्च्छिम तिर्यंच मेंढकादिकी अपेक्षा
असंयत (अभ०)			"	"	"	"	"		१६४	—	अनादि अनन्त	—	—
(भव्य)			"	"	"	"	"		१६५-१६६	सादि सान्त	संयतसे असंयत हो पुनः संयत	अनादि सान्त	प्रथम बार संयम धारे तो
(सादि सान्त)			"	"	"	"	"		१६७-१६८	अन्तर्मु०	"	अर्ध० पु० परि०	इतने काल मिथ्यात्वमें रहकर पुनः सं०
संयम सामान्य	६-१४	२६६	—	—	मूल ओघवत्	—	—	२६६	—	—	मूलओघवत्	—	—

मार्गणा	गुण स्थान	नानाजीवापेक्षया प्रमाण नं०१	नं०२	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	एकजीवापेक्षया प्रमाण नं०१	नं०३	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
		सू	सू					सू					
सामायिक छेदो०	६-९	२७०	—	—	मूलोघवत्	—	—	२७०	—	—	मूलोघवत्	—	—
परिहार विशुद्धि	६-७	२७१			,,			२७१			,,		
सूक्ष्म साम्पराय	उप.क्षप.	२७२			,,			२७२			,,		
यथाख्यात	११-१४	२७३			,,			२७३			,,		
संयतासंयत	५	२७४			,,			२७४			,,		
असंयत	१-४	२७५			,,			२७५			,,		
९. दर्शन मार्गणा :—													
चक्षुदर्शन	...		३८-३९	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		१७०-१७१	अन्तर्मु०	चतुरिन्द्रिय पर्याप्त क्षयोपशमापेक्षा	२००० सागर	क्षयोपशमापेक्षा परिभ्रमण
	...		,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	उपयोगापेक्षा	अन्तर्मुहूर्त	उपयोग अपेक्षा
अचक्षुदर्शन	...		,,	,,	,,	,,	,,		१७३	अनादि अनन्त	अभव्य क्षयोपशमापेक्षा	अनादि अनन्त	अभव्य क्षयोपशमापेक्षा
	...		,,	,,	,,	,,	,,		१७४	अनादि सान्त	भव्य क्षयोपशमापेक्षा	अनादि सान्त	भव्य क्षयोपमापेक्षा
	...		,,	,,	,,	,,	,,		१७०-१७२	अन्तर्मु०	उपयोगापेक्षा	अन्तर्मुहूर्त	उपयोगापेक्षा
अवधि दर्शन	...		,,	,,	,,	,,	,,		१७५		अवधिज्ञानवत्	—	
केवलदर्शन	...			,,	,,	,,	,,		१७६		केवलज्ञानवत्	—	
चक्षु दर्शन	१	२७६		,,	,,	,,	,,	२७७-२७८		अन्तर्मु०	गुण स्थान परिवर्तन	२००० सागर	परिभ्रमण
	२-१४	२७९	—	—	मूलोघवत्	—	—	२७९	—	—	मूलोघवत्	—	—
अचक्षु दर्शन	१-१४	२८०	—	—	,,	—	—	२८०	—	—	,,		
अवधि दर्शन	४-१२	२८१	—	—	अवधिज्ञानवत्	—	—	२८१	—	—	अवधि ज्ञानवत्	—	—
केवल दर्शन	१३-१४	२८२	—	—	केवलज्ञानवत्	—	—	२८२	—	—	केवल ज्ञानवत्	—	—
१०. लेश्या मार्गणा :—													
कृष्ण			४०-४१	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		१७७-१७८	अन्तर्मु०	नीलसे कृष्ण पुनः वापिस	३३ सा.+अं.उ०	विवक्षित लेश्या सहित मनुष्य या तिर्यंचमें अन्तर्मुहूर्त रहा। फिर मर कर नरकमें उपजा
नीन			,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	कापोत या कृष्णसे नील पुनः वापिस	१७ सा.+ अंत०	,, (पंचम पृथिवीमें)
कापोत			,,	,,	,	,,	,,		,,	,,	नील या तेजसे कापोत पुनः वापिस	७ सा.+ अंतर्मु.	,, (तीसरी ,, ,,)
तेज			,,	,,	,,	,,	,,		१८१-१८२	,,	पद्मसे तेज फिर वापिस	२ सा.+ अंतर्मु.	उपरोक्तवत् परन्तु देवोंमें उत्पत्ति

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० २	नानाजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० २	एकजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
पद्म	...	सू.	सू. ४०-४१	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सू.	सू. १८१-१८२	अन्तर्मु०	शुक्ल या तैजसे पद्म फिर वापिस	१८ सा. + अंत०	उपरोक्तवत् परन्तु देवोंमें उत्पत्ति
शुक्ल	...		"	"	"	"	"			"	पद्मसे शुक्ल फिर वापिस	३३ सा + अंत०	"
कृष्ण	१	२८३		"	"	"	"	२८४-२८५		"	नीलसे कृष्ण पुनः वापिस	३३ सा. + २अं०	उपरोक्त स्व ओघवत्
	२-३	२८६-२८७	—	"	मूलोघवत्	—	—	२८६-२८७	—	—	मूलोघवत्	—	—
	४	२८८		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	२८९-२९०		अन्तर्मु०	नीलसे कृष्ण फिर वापिस	३३ सागर से ६ अन्तर्मु० कम	७ पृथिवीमें (भवधारणके ६ अन्तर्मु० पश्चात्से लेकर भवान्तके १ अन्तर्मु० पहिलेतक भवान्तमें नियमसे मिथ्यात्व
नील	१	२८३		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	२८४-२८५		अन्तर्मुहूर्त	कृष्ण या कापोतसे नील पुनः वापिस	१७ सागर + २ अन्तर्मुहूर्त	५ वीं पृथिवीमें (स्व ओघवत्)
	२-३	२८६-२८७	—		मूलोघवत्			२८६-२८७	—	—	—मूलोघवत्—		—
	४	२८८		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	२८९-२९०		अन्तर्मुहूर्त	स्व मिथ्यादृष्टिवत्	१७ सागरसे ३ अन्तर्मु० कम	कृष्णवत् पर भवान्तमें सम्यक्त्व सहित मर कर मनुष्योंमें उत्पत्ति (५ वीं पृथिवी)
कापोत	१	२८३		"	"	"	"	२८४-२८५		"	नील या तैजसे कापोत पुनः वापिस	७ सागर + २ अन्तर्मु०	स्व ओघवत् (३ री पृथिवीमें)
	२-३	२८६-२८७	—	—	मूलोघवत्	—	—	२८६-२८७	—	—	—मूलोघवत्—	—	—
	४	२८८		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	२८९-२९०		अन्तर्मुहूर्त	स्व मिथ्यादृष्टिवत्	७ सागरसे ३ अन्तर्मु० कम	नीलवत् ३ री पृथिवीमें
तेज	१	२९१		"	"	"	"	२९२-२९३		"	पद्मसे तेज फिर कापोत	२ सागर + पल्य/असं०	मरणसे अन्तर्मु० पहिले कापोतसे तेज/सौधर्म में उत्पत्ति/मरण समय लेश्या परिवर्तन
	२-३	२९४-२९५	—	—	मूलोघवत्	—	—	२९४-२९५	—	—	—मूलोघवत्—	—	—
	४	२९१		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	२९२-२९३		अन्तर्मुहूर्त	मिथ्यादृष्टिवत्	२½ सागरसे १ अन्तर्मु० कम	मिथ्यादृष्टिवत् पर अगले भवमें उसी लेश्याके साथ गया/१ अन्तर्मु० तक वहाँ भी वही लेश्या रही
	५-६	२९६		"	"	"	"	२९७-२९८		१ समय	लेश्या परिवर्तनसे या गुणस्थान परिवर्तनसे दोनों विकल्प (देखो काल/५)	अन्तर्मुहूर्त	विवक्षित लेश्या विवक्षित गुण स्थान में रहकर अविवक्षित लेश्याको प्राप्त हुआ

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० २	नानाजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० २	एकजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
पद्म	१	२९१		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	२९२–२९३		अन्तर्मुहूर्त	शुक्लमे पद्म फिर तेज	१८ सा० + पल्य/असं०	तेजवत् परन्तु तेजसे पद्म व सहस्रार में उत्पत्ति
	२–३	२९४–२९५			मूलोघवत्			२९४–२९५	—	—	—मूलोघवत्—	—	—
	४	२९१		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	२९२–२९३		अन्तर्मुहूर्त	मिथ्यादृष्टिवत्	१ अन्तर्मुहूर्त कम १८½ सा०	तेजवत्
	५–६	२९६		,,	,,	,,	,,	२९७–२९८		१ समय	तेजवत्	अन्तर्मुहूर्त	तेजवत्
शुक्ल	१	२९९		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	३००–३०१		अन्तर्मु०	पद्मसे शुक्ल फिर पद्म	३१ सा० + अन्तर्मुहूर्त	द्रव्यलिंगी मुनि स्व आयुमें अन्तर्मु० शेष रहनेपर शुक्ललेश्या धार उपरिम ग्रैवेयकमें उपजा
	२–३	३०२–३०३	—	—	मूलोघवत्	—	—	३०२–३०३		—	—मूलोघवत्—	—	—
	४	३०४		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	३०४		अन्तर्मु०	पद्मसे शुक्ल फिर पद्म	३३ सागर + १ अन्तर्मुहूर्त	अनुत्तर विमानोंसे आकर मनुष्य हुआ। अन्तर्मु० पश्चात् लेश्या परिवर्तन
	५–७	३०५		,,	,,	सर्वदा	,,	३०६–३०७		१ समय	तेजवत्	अन्तर्मुहूर्त	तेजवत्
	८–१३	३०८	—	—	मूलोघवत्	—	—	३०८		—	—मूलोघवत्—	—	—
११ भव्यत्व मार्गणा													
भव्य	...		४२–४३	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	३१०	१८४		अनादि सान्त (अयोग केवलीके अन्तिम समय तक)		
	...		,,	,,	,,	,,	,,	३१०	१८५		सादिसान्त (सम्यक्त्वोत्पत्तिके पश्चात् वाले विशेष भव्यत्वकी अपेक्षा)		
अभव्य	...		,,	,,	,,	,,	,,		१८७		अनादि अनन्त		
भव्य (सादिसान्त)	१	३०९		,,	,,	,,	,,	३१२–३१३		अन्तर्मु०	गुण स्थान परिवर्तन	कुछ कम अर्ध पु० परि०	मूलोघवत्
	२–१४	३१४	—	—	मूलोघवत्	—	—	३१४		—	—मूलोघवत्—	—	—
अभव्य	१	३१५		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	३१६			अनादि अनन्त		
१२ सम्यक्त्व मार्गणा													
सम्यक्त्वसामान्य	...		४४–४५	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		१८९–१९०	अन्तर्मु०		६६ सा० + ४ को० पूर्व	(दे० काल/५)

मार्गणा	गुण स्थान	नानाजीवापेक्षया						एकजीवापेक्षया					
		प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० २	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० ३	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
क्षायिक सम्य०	...	सू.	सू. सर्वदा	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सू.	सू. १६२-१६३	अन्तर्मु०		८ वर्ष कम २ को० पूर्व + ३३ सागर	कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि देव या नारकी मनुष्योंमें उपजा/सर्व लघु कालसे क्षायिक सम्यक्त्व सहित संयत होकर रहा/मरकर सर्वार्थसिद्धिमें गया/वहाँसे आ पुनः को० पूर्व आयु वाला मनुष्य हो मुक्त हुआ। (दे० काल/५)
वेदक सम्य०	...		"	"	"	"	"		१६५-१६६	"		६६ सा०+४ पू० को०	
उपशम "	...		४६-४८	अन्तर्मु०	सासादन	पल्य/असं०	प्रवाह क्रम		१६८-१६९	"	स्वकाल पूर्ण होने पर अवश्य सासादन	अन्तर्मुहूर्त	जघन्यवत्
सम्यग्मिथ्यात्व	...		"	"	गुण स्थान परि	"	"		"	"	गुणस्थान परिवर्तन	"	"
सासादन	...		४९-५१	१ समय	मूलोघवत्	"	मूलोघवत्		२०१-२०२	१ समय	उपशम सम्यक्त्व में १ समय शेष रहने पर सासादन	६ आवली	उपशममें ६ आवली शेष रहनेपर सासादन
मिथ्यात्व (अभव्य)	...		४४-४५	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		२०३		अनादि अनन्त		
(भव्य)	...		"	"	"	"	"		"		अनादि सान्त व सादि सान्त		
(सादि सान्त)	...		"	"	"	"	"		"	अन्तर्मु०		कुछ कम अर्ध पु० परि०	
सम्यग्दृष्टि सामान्य	४-१४	३१७	—	—	मूलोघवत्	—	—	१३७	—	—	मूलोघवत्	—	—
क्षायिक सम्य०	४	"			"			"			"		
	५	"			"			"	—	मूलोघवत्	—	४ अन्तर्मु०+८ वर्ष कम १ कोड़ पूर्व	सम्य० देव या नारकी मनुष्योंमें उपजा/३ अन्तर्मु० गर्भ काल, ८ वर्ष पश्चात संयमासंयम १ अन्तर्मु० विश्राम, १ अन्तर्मु० क्षपणा काल १ पूर्व कोड़की उत्कृष्ट आयु तक रहकर मरा
	६-१४	"			"			"	—	—	मूलोघवत	—	—
वेदक सम्य०	४-७	३१८			"			३१८					
उपशम सम्य०	४-५	३१९-३२०		अन्तर्मु०	गुण स्थान परि० (एक जीववत्)	पल्य/असं०	प्रवाह क्रम (जघन्यवत्)	३२१-३२२		अन्तर्मु०	मिथ्यासे उप० सम्य० असंयत अथवा संयतासंयत पुनः सासादन पूर्वक मिथ्या	अन्तर्मुहूर्त	जघन्यवत पर सम्यग्मिथ्यात्व, मिथ्या० या वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त कराना सासादन नहीं

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण नं०/१	प्रमाण नं०/२	नानाजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	प्रमाण नं०/१	प्रमाण नं०/३	एकजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
	६-११	सू. ३२३-३२४	सू.	१ समय	१ जीववत्	अन्तर्मु०	प्रवाहक्रम (जघन्यवत्)	सू. ३२५-३२६		१ समय	यथा योग्य आरोहण व अवरोह क्रममें मरणस्थान वाला भंग (दे० काल/५)	अन्तर्मुहूर्त	जघन्यवत्
सासादन	२	३२७	—	—	मूलोघवत्	—	—	३२७	—	—	मूलोघवत्	—	—
सम्यग्मिथ्यात्व	३	३२८			"			३२८			"		
मिथ्यादृष्टि	१	३२९			"			३२९			"		
१३ संज्ञी मार्गणा													
संज्ञी	...		५२-५३	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		२०५-२०६	क्षुद्रभव	भव परिवर्तन	सागर शत-पृथक्त्व	परिभ्रमण
असंज्ञी	...		"	"	"	"	"		२०८-२०९	"	"	असं० पु० परिवर्तन	एकेन्द्रियोंमें परिभ्रमण
संज्ञी	१	३३०		"	"	"	"	३३१-३३२		अन्तर्मु०	भव या गुणस्थान परिवर्तन	सागर शत-पृथक्त्व	परिभ्रमण
	२-१४	३३३	—	—	मूलोघवत्	—	—	३३३			मूलोघवत्		
असंज्ञी	१	३३४		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	३३५-३३६		क्षुद्रभव	भव परिवर्तन	असं० पु० परिवर्तन	एकेन्द्रियोंमें परिभ्रमण
१४ आहारक मार्गणा													
आहारक	...		५४-५५	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		२११-२१२	३ समय कम क्षुद्रभव		असंख्याता-संख्यात असं.उत्.अवसर्पि	
अनाहारक	...			"	"	"	"		२१४-२१५ २१६	१ समय	विग्रह गति	३ समय	विग्रह गति
आहारक	१	३३७		"	"	"	"	३३८-३३९		अन्तर्मु०	गुण स्थान या भव परिवर्तन कर विग्रह	अन्तर्मुहूर्त असं.उत्.अवसर्पि	अयोग केवली १ समयके विग्रह सहित भ्रमण
	२-१४	३४०	—	—	मूलोघवत्	—	—	३४०			मूलोघवत्		
अनाहारक (कार्मा.काययोग)	१	२१७		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	२१८-२१९		१ समय	मारणान्तिक समुद्घात पूर्वक १ विग्रहसे जन्म	३ समय	जघन्यवत् पर ३ विग्रहसे जन्म
	२, ४	२२०-२२१		१ समय	एक जीववत्	आ०/-असं	जघन्यवत् प्रवाह	२२२-२२३		"	एक विग्रहसे जन्म	२ समय	२ विग्रहसे उत्पन्न
	१३	२२४-२२५ व		३ समय	"	सं० समय	"	२२६		३ समय	कपाटसे क्रमशः प्रतर, लोकपूर्ण पुनः प्रतर	३ समय	जघन्यवत्
	१४	३४२	—	—	मूलोघवत्	—	—	३४२		—	मूलोघवत्	—	—

४. सम्यक्त्वप्रकृति व सम्यग्मिथ्यात्वकी सत्त्व काल प्ररूपणा

प्रमाण १. (क.पा./२,२१/२/§१८१-२१४/२५१-२५६); २. (क.पा./२,२२/२/§१२३/२०५)
विशेषोंके प्रमाण उस उस विशेष के ऊपर दिये हैं।

नं०	विषय	प्रमाण नं०	जघन्य		उत्कृष्ट	
			काल	विशेष	काल	विशेष
१	२६ प्रकृति स्थान	१	१ समय		अर्ध पु० परि०	
२	२७ ,, ,,	,,	अन्तर्मु०		पल्य/अ०सं०	
३	२८ ,, ,,	,,	,,		साधिक १३२ सागर	(क.पा.२/२,२२/§११८ व १२३/१०० व १०८) मिथ्यात्व से प्रथमोपशम सम्य० के पश्चात मिथ्यात्वको प्राप्त पल्य/असं पश्चात् पुनः उपशम सम्यक्त्वी हुआ। २८ कीसत्ताबनायी पश्चात् मिथ्यात्वमें जा वेदक सम्य० धारा। ६६ सा० रहा। फिर मिथ्यात्वमें पल्य/असं० रहकर पुनः उपशम पूर्वक वेदकमें ६६ सा० रहकर मिथ्यादृष्टि हो गया और पल्य/असं० में उद्वेलना द्वारा २६ प्रकृति स्थान को प्राप्त।
४	अवस्थित विभक्ति स्थान	१	१ समय	(क.पा.२/२,२२/§४२७/३९०) उपशम सम्यक्त्व सम्मुख जो जीव अन्तरकरण करनेके अनन्तर मिथ्यात्वकी प्रथम स्थितिके द्विचरम समयमें सम्यक्त्व प्रकृतिकी उद्वेलना करके २७ प्रकृति स्थानको प्राप्त होकर १ समय तक अल्पतर विभक्ति स्थानवाला होता है। अनन्तर मिथ्यादृष्टिके अन्तिम समय से २७ प्रकृति स्थानके साथ १ समय तक रहकर मिथ्यात्वके उपान्त्य समयसे तीसरे समयमें सम्य०को प्राप्तकर २८ प्रकृति स्थानवाला हो जाता है। उसके अल्पतर और भुजगारके मध्यमें अवस्थित विभक्ति स्थानका जघन्य काल १ समय देखा जाता है।		
	एकेन्द्रियोंमें सम्यक्प्रकृति २८ प्रकृति स्थान	२	१ समय	(क.पा.२/२/२२/१२१/१०४) उद्वेलनाके कालमें एक समय शेष रहनेपर अविवक्षितसे विवक्षित मार्गणामें प्रवेश करके उद्वेलना करे	पल्य/असं०	(क. पा. २/२,२२/§१२३/२०५) क्योंकि यहाँ उपशम प्राप्तिकी योग्यता नहीं है इसलिए इस कालमें वृद्धि नहीं हो सकती। यदि उपशम सम्य० प्राप्त करके पुनः इन प्रकृतियों की नवीन सत्ता बना ले तो क्रम न टूटने से इस कालमें वृद्धि हो जाती। तब तो उत्कृष्ट १३२ सा० काल बन जाता जैसा कि ऊपर दिखाया है
	सम्यग्मिथ्यात्व (२७ प्रकृति स्थान)	२	१ समय		पल्य/असं०	
२	अन्य कर्मोंका उदय काल					
१	शोक (ध.१४/५७/८)				छः मास	

प्रमाण ष./१४	विषय	जघन्य		उत्कृष्ट	
		काल	विशेष	काल	विशेष
५. पाँच शरीरबद्ध निषेकोंका सत्ता काल					
ष./१४/२४६–२४८					
२४६	औदारिक	१ समय	आबाधा काल नहीं है	३ पल्य	स्व भुज्यमान आयु
„	वैक्रियक	„	„	३३ सागर	„
„	आहारक	„	„	अन्तर्मु०	„
२४७	तैजस	„	„	६६ सागर	—
२४८	कार्मण	{ १ समय + १ आवली	आबाधा काल सहित	७० को-को सागर	
६. पाँच शरीरोंकी संघातन परिशातन कृति					
	(ध. ६/४,१,७१/३८०–४०१) नोट—(देखो वहाँ ही)				
७. योगस्थानोंका अवस्थान काल					
	(गो. जी./जी. प्र./२४२/२३३/१)				
	उपपाद स्थान	१ समय		१ समय	
	एकान्तानुवृद्धि	„		„	
	परिणाम योग	२ समय	विग्रह गति	८ समय	केवलि समुद्घात

नं.	विषय		नानाजीवापेक्षया		एकजीवापेक्षया	
	विषय	पद विशेष	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति
८. अष्टकर्मके चतुर्बन्ध सम्बन्धी ओघ आदेश प्ररूपणा						
		(म.ब./पु.न०…/§…/पृष्ठ नं०…)				
१.	प्रकृति	ज. उ. पद		१/१३२-१४४/२३६-२४६	१/४१–८३/४५-६८	
		भुजगारादि				
		हानि-वृद्धि				
२.	स्थिति	ज. उ. पद	२/१८७–२०३/११०-११८	३/५२२-५५४/२४३-२५६	२/६७-६६/४७-५८	२/१४६-२१६/३१४-३६५
		भुजगारादि	२/३१६-३२५/१६६-१६६	३/७६५ /३७६-३८०	२/२७५-२८०/१४८-१५१	३/७२०-७३२/३३३-३३६
		हानि-वृद्धि	२/४०१-४०२/२०१-२०२	३/…(ताड़पत्र नष्ट)	२/३६७-३६६/१८७-१८८	३/८७६-८८१/४१७-४१८
३.	अनुभाग	ज. उ. पद	४/२४०-२५३/१०६-११६	५/४०५-४०६/२११-२१६	४/८०-११७/२६-४३	४/४७७-५५४/२३८-३१४
		भुजगारादि	४/२६८-२६६/१३७-१३८	५/५३८-५४१/३०६-३१२	४/१७२- /१२६-१२७	५/४५७- /२४४
		हानि-वृद्धि	४/३६५ /१६६	५/६२२ /३६७-३६८	४/३५७-३५८/१६२-१६३	५/३१५ /३६१
४.	प्रदेश	ज. उ. पद	६/६४ /४८-५०		६/६०-८६/२८-४५	६/२२५-२४७/१३४-१५४
		भुजगारादि	६/१३७-१३६/७३-७६		६/१०४-१०६/५५-५७	
		हानि-वृद्धि				
९. अष्टकर्मके चतुःउदीरणा सम्बन्धी ओघ आदेश प्ररूपणा						
१	प्रकृति	ज. उ. पद	ध. १५/४७	ध. १५/७३	ध. १५/४४	ध. १५/६१
		भुजगारादि	ध. १५/५२	ध. १५/६७	ध. १५/५१	ध. १५/८७
		हानि-वृद्धि		ध. १५/६७		ध. १५/६७
		भंगापेक्षा ज.उ.पद	ध. १५/५०	ध. १५/८५	ध. १५/४६	ध. १५/८३

नं.	विषय	पद विशेष	नानाजीवापेक्षया मूल प्रकृति	नानाजीवापेक्षया उत्तर प्रकृति	एकजीवापेक्षया मूल प्रकृति	एकजीवापेक्षया उत्तर प्रकृति
२	स्थिति	ज. उ. पद	ध.१५/१४१	ध. १५/१४१	ध. १५/११६-१३०	ध. १५/११६-१३०
		भुजगारादि			ध. १५/१५७-१६१	ध. १५/१५७-१६१
		हानि-वृद्धि				
		भंगापेक्षा ज. उ.		ध. १५/२०५-२०८		ध. १५/१६०-१६६
३	अनुभाग	ज. उ. पद		ध. १५/२३५		ध. १५/२३२-२३३
		भुजगारादि				
		हानि-वृद्धि				
		भंगापेक्षा ज.उ. पद		ध. १५/२६१		ध. १५/२६१
४	प्रदेश	ज. उ. पद		ध. १५/२६१		ध. १५/२६१
		भुजगारादि				ध. १५/२७३-२७४
		हानि-वृद्धि				
		भंगापेक्षा ज उ. पद				

१०. अष्टकर्मके चतु: उदय सम्बन्धी ओघ आदेश प्ररूपणा

नं.	विषय	पद विशेष	नानाजीवापेक्षया मूल प्रकृति	नानाजीवापेक्षया उत्तर प्रकृति	एकजीवापेक्षया मूल प्रकृति	एकजीवापेक्षया उत्तर प्रकृति
१	प्रकृति	जघन्य उत्कृष्ट पद	ध. १५/२८५	ध. १५/२८८	ध. १५/२८५	ध. १५/२८८
		भुजगारादि पद				
		हानि वृद्धि पद				
		वृद्धि पद				
२	स्थिति	जघन्य उत्कृष्ट पद	ध. १५/२९२	ध. १५/२९५	ध. १५/२९१	ध. १५/२९५
		भुजगारादि पद	ध. १५/२९४	ध. १५/२९५	ध. १५/२९४	ध. १५/२९५
		हानि वृद्धि पद	ध. १५/२९४	ध. १५/२९५	ध. १५/२९४	ध. १५/२९५
		वृद्धि पद	ध. १५/२९४	ध. १५/२९५	ध. १५/२९४	ध. १५/२९५
३	अनुभाग	जघन्य उत्कृष्ट पद	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६
		भुजगारादि पद	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६
		हानि वृद्धि पद	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६
		वृद्धि पद	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६
४	प्रदेश	जघन्य उत्कृष्ट पद	ध. १५/२९६	ध. १५/३०९	ध. १५/२९६	ध. १५/३०९
		भुजगारादि पद	ध. १५/२९६	ध. १५/३२९	ध. १५/२९६	ध. १५/३२५-३२९
		हानि वृद्धि पद	ध. १५/२९६		ध. १५/२९६	
		वृद्धि पद	ध. १५/२९६		ध. १५/२९६	

११. अष्ट कर्मके चतु:अप्रशस्तोपशमना सम्बन्धी ओघ आदेश प्ररूपणा

नं.	विषय	पद विशेष	नानाजीवापेक्षया मूल प्रकृति	नानाजीवापेक्षया उत्तर प्रकृति	एकजीवापेक्षया मूल प्रकृति	एकजीवापेक्षया उत्तर प्रकृति
१	प्रकृति	जघन्य उत्कृष्ट पद	ध. १५/२७७	ध. १५/२७८-२८०	ध. १५/२७७	ध. १५/२७८-२८०
		भुजगारादि पद	ध. १५/२७७	ध. १५/२७८-२८०	ध. १५/२७७	ध. १५/२७८-२८०
		वृद्धि हानि पद	ध. १५/२७७	ध. १५/२७८-२८०	ध. १५/२७७	ध. १५/२७८-२८०
२	स्थिति	जघन्य उत्कृष्ट पद	ध. १५/२८१	ध. १५/२८१	ध. १५/२८१	ध. १५/२८१
		भुजगारादि पद	ध. १५/२८१	ध. १५/२८१	ध. १५/२८१	ध. १५/२८१
		वृद्धि हानि पद	ध. १५/२८१	ध. १५/२८१	ध. १५/२८१	ध. १५/२८१
३	अनुभाग	जघन्य उत्कृष्ट पद	ध. १५/२८२	ध. १५/२८२	ध. १५/२८२	ध. १५/२८२
		भुजगारादि पद	ध. १५/२८२	ध. १५/२८२	ध. १५/२८२	ध. १५/२८२
		वृद्धि हानि पद	ध. १५/२८२	ध. १५/२८२	ध. १५/२८२	ध. १५/२८२
४	प्रदेश	जघन्य उत्कृष्ट पद	ध. १५/२८२	ध. १५/२८२	ध. १५/२८२	ध. १५/२८२
		भुजगारादि पद	ध. १५/२८२	ध. १५/२८२	ध. १५/२८२	ध. १५/२८२
		वृद्धि हानि पद	ध. १५/२८२	ध. १५/२८२	ध. १५/२८२	ध. १५/२८२

नं.	विषय		नानाजीवापेक्षया		एकजीवापेक्षया	
	विषय	पद विशेष	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति

१२. अष्ट कर्मके चतु:संक्रमण सम्बन्धी ओघ आदेश प्ररूपणा

(ध. १५/२८३-२८४)

चारों भेद सर्वविकल्प (देखो वहाँ ही)

१३. अष्ट कर्मके चतु:स्वामित्व (सत्त्व) सम्बन्धी ओघ आदेश प्ररूपणा

चारों भेद सर्वविकल्प (देखो 'स्वामित्व')

१४. मोहनीयके चतु: सत्त्व विषयक ओघ आदेश प्ररूपणा

(क०पा०/पु.…/§…/पृष्ठ नं.…)

नं.	विषय	पद विशेष	नानाजीवापेक्षया मूल प्रकृति	नानाजीवापेक्षया उत्तर प्रकृति	एकजीवापेक्षया मूल प्रकृति	एकजीवापेक्षया उत्तर प्रकृति
१	प्रकृति	जघन्य उत्कृष्ट पद				
	१	पेज्ज दोष अपेक्षा	१/३६० /४०५-४०६		१/३६६-३७२/३८५-३८६	
	२	प्रकृति अपेक्षा	२/८१-९८/७१-७३	२/१८३- /१७१-१७३	२/४८-६३/२७-४४	२/११८-१३७/९१-१२३
	३	२४-२८ प्रकृति स्थानापेक्षा	२/३७०-३७७/३३४-३४४	२/३७०-३७७/३३४-३४४	२/२६८-३०७/२३३-२८१	२/२६८-३०७/२३३-२८१
		भुजगारादि पद प्रकृतिकी अपेक्षा	२/४६०-४६३/४१४-४१६	२/४६०-४६३/४१४-४१६	२/४२२-४३७/३८७-३९७	२/४२२-४३७/३८७-३९७
		हानि वृद्धि पद प्रकृतिकी अपेक्षा	२/५२५-५२८/४७०-४७५	२/५२५-५२८/४७०-४७५	२/४८६-४९७/४४२-४४८	२/४८६-४९७/४२२-४४८
२	स्थिति	जघन्य उत्कृष्ट पद				
	१	पेज्ज दोष अपेक्षा				
	२	प्रकृति अपेक्षा	३/१४२-१५४/१८०-१८७	३/६४७-६७२/३८७-४०६	३/४४-८२/२५-४७	३/४७७-५३०/२६६-३१६
	३	२४-२४प्रकृति स्थानापेक्षा				
		भुजगारादि पद प्रकृति अपेक्षा	३/२१३-२१७/१२१-१२३	४/१२६-१४२/६७-७४	३/१७४-१८७/९८-१०८	४/२५-७०/१४-४२
		हानि वृद्धि पद प्रकृति अपेक्षा	३/३१६-३२७/१७५-१८०	४/ /२५१-२६०	३/२५६-२७२/१४१-१४६	४/२७४-३१४/१६४-१९१
३	अनुभाग	जघन्य उत्कृष्ट पद				
	१	पेज्ज दोष अपेक्षा				
	२	प्रकृति अपेक्षा	५/१२१-१३०/७७-८५	५/३६८-३९०/२३३-२४०	५/२६-५६/२०-४३	५/२७७-३२०/१८५-२०१
	३	२४-२८प्रकृति स्थानापेक्षा				
		भुजगारादि पद प्रकृति अपेक्षा	५/१५७-१५८/१०४-१०५	५/५०१-५०४/२९३-२९५	५/१४३-१४६/९३-९६	५/४७६-४८०/२७६-२८०
		हानि वृद्धि पद प्रकृति अपेक्षा	५/१८२- /१२२-१२३	५/५५८-५६१/३२४-३२६	५/१७२-१७३/११४-११६	५/५३६-५३६/३०१-३१२
४	प्रदेश	जघन्य उत्कृष्ट पद				
	१	पेज्ज दोष अपेक्षा				
	२	प्रकृति अपेक्षा				
	३	२४-२८प्रकृति स्थानापेक्षा				
		भुजगारादि पद प्रकृति अपेक्षा				
		हानि वृद्धि पद प्रकृति अपेक्षा				

कालक—एक ग्रह—दे० 'ग्रह'।

कालकूट—भरत क्षेत्र आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

कालकेतु—एक ग्रह—दे० 'ग्रह'।

कालकेशपुर—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर।
—दे० 'विद्याधर'।

कालक्रम—दे० 'क्रम'।

कालतोया—पूर्व आर्य खण्डस्थ एक नदी—दे० मनुष्य/४।

कालनय—दे० नय/I/५।

काल परिवर्तन—दे० संसार/२।

काल प्रदेश—Time instant (ध./५/प्र० २७)

कालमही—पूर्व आर्य खण्डस्थ एक नदी—दे० मनुष्य/४।

कालमुखी—एक विद्या—दे० 'विद्या'।

काललब्धि—दे० नियति/२।

कालवाद—कालवादका मिथ्या निर्देश

गो.क./मू./८७९/१०६५ कालो सव्वं जणयदि कालो सव्वं विणस्सदे भूदं। जागत्ति हि सुत्तेसु वि ण सक्कदे वंचिदुं कालो।८७९। —काल ही सर्वकौ उपजावै है काल ही सर्वकौ विनाशै है। सूताप्राणिनि विषै भी काल ही प्रगट जागै है कालके ठिगनेकौं बंचनेकौं समर्थ न होइए है। ऐसैं कालही करि सबकौं मानना सो कालवादका अर्थ जानना।८७९।

★ **कालवादका सम्यक् निर्देश**—दे० नय/I/५।

कालव्यभिचार—दे० नय/III/६/८।

कालशुद्धि—दे० 'शुद्धि'।

कालसंवर—ह.पु./४३/श्लोक—मेघकूट नगरका राजा (४९-५०) असुर द्वारा पर्वतपर छोड़े गये कृष्णके पुत्र प्रद्युम्नका पालन किया था। (४३/५७-६१)

कालातीत हेत्वाभास—दे० 'कालात्ययापदिष्ट'।

कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास

न्या.सू./मू.व.टी /१/२/६/४७/१५ कालात्ययापदिष्टः कालातीत ।६।… निदर्शनं नित्यः शब्दः संयोगव्यङ्ग्यत्वाद् रूपवत्। —साधन कालके अभाव हो जानेपर प्रयुक्त किया हेतु कालात्ययापदिष्ट है।६।…जैसे—शब्द नित्य है संयोग द्वारा व्यक्त होनेसे रूपकी नाईं। (श्लो.वा./-४/न्या.२७३/४२६/२७)

न्या.दी./३/§४०/८७/३ बाधितविषयः कालात्ययापदिष्टः। यथा—अग्निरनुष्णः पदार्थत्वात् इति। अत्र हि पदार्थत्वं हेतुः स्वविषयेऽनुष्णत्वे उष्णत्वग्राहकेण प्रत्यक्षेण बाधिते प्रवर्तमानोऽबाधितविषयत्वाभावात्कालात्ययापदिष्टः। —जिस हेतुका विषय-साध्य प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित हो वह कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है। जैसे—'अग्नि ठण्डी है क्योंकि वह पदार्थ है' यहाँ 'पदार्थत्व' हेतु अपने विषय ठण्डापनमें,' जो कि अग्निकी गर्मीको ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्षसे बाधित है, प्रवृत्त है। अत अबाधित विषयता न होनेके कारण पदार्थत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट है। (पं.ध./पू./४०५)

कालिदास—१. राजा विक्रमादित्य नं. १ के दरबारके नवरत्नोंमें-से एक थे। समय—ई.पू. ११७-५७ (ज्ञा./प्र.१ पं. पन्नालाल बाकलीवाल) २. वर्तमान इतिहास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ई. ३७५-४१३ के प्रसिद्ध कवि थे। कृति—१. शकुन्तला. विक्रमोर्वशी, मेघदूत, रघुवंश, कुमारसम्भव, मालविकाग्निमित्र। ३. ज्ञा./प्र. १ पं. पन्नालाल बाकलीवाल 'राजाके दरबारमें एक रत्न थे। आप शुभचन्द्राचार्य प्रथमके समकालीन थे। आपके साथ भक्तामर स्तोत्रके रचयिता आचार्य श्री मानतुंगका शास्त्रार्थ हुआ था। समय—ई. १०२१-१०५५।

काली—१. भगवान् पुष्पदन्तकी शासक यक्षिणी—तीर्थंकर/५/३ २ एक विद्या—दे० 'विद्या'।

कालीघट्टपुरी—वर्तमान कलकत्ता। (म.पु./प्र.६/पं. पन्नालाल)

कालुष्य—पं.का./मू./१३८ कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज। जीवस्स कुणदि खोहं कलुसो त्ति य तं बुधा बेंति।१३८। —जब क्रोध, मान, माया अथवा लोभ चित्तका आश्रय पाकर जीवको क्षोभ करते हैं, तब उसे ज्ञानी 'कलुषता' कहते हैं।

नि. सा./ता. वृ./६६/१३० क्रोधमानमायालोभाभिधानैश्चतुर्भिः कषायैः क्षुभितं चित्तं कालुष्यम्। —क्रोध, मान, माया और लोभ नामक चार कषायोंसे क्षुब्ध हुआ चित्त सो कलुषता है।

कालेयक—औदारिक शरीरमें कालेयकोंका प्रमाण
—दे० औदारिक/१/७।

कालोद—मध्यलोकका द्वितीय सागर—दे० लोक/४/३।

कालोल—दूसरे नरकका नवमा पटल—दे० नरक/५/११।

काव्यानुशासन—१. हेमचन्द्र सूरि (ई० १०८८-११७३) कृत और २. वाग्भट्ट द्वारा (वि०श० १४ मध्य) में रचित काव्य शिक्षा ग्रन्थ।
(दे० वह वह नाम)

काव्यालंकार टीका—पं. आशाधर (ई० ११७३-१२४३) कृत एक काव्य शिक्षा विषयक ग्रन्थ —दे० आशाधर।

काशमीर—१. म.पु./प्र.४९ पं. पन्नालाल 'भारतके उत्तरमें एक देश है। श्रीनगर राजधानी है। वर्तमानमें भी इसका नाम काशमीर ही है।' २. भरतक्षेत्र आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

काशी—भरतक्षेत्र मध्य आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

काष्ठकर्म—दे० निक्षेप/४।

काष्ठा—कालका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१/४।

काष्ठासंघ—दिगम्बर साधुओंका संघ—दे० इतिहास/६/४।

काष्ठी—एक ग्रह—दे० 'ग्रह'।

किंनर—१. किंनरदेवका लक्षण

ध.१३/५,५,१४०/३९१/८ गीतरतयः किन्नरः। —गानमें रति करनेवाले किन्नर कहलाते हैं।

★ **व्यन्तर देवोंका एक भेद है**—दे० व्यंतर/१/२।

२. किन्नर देवके भेद

ति.प./६/३४ ते किंपुरिसा किणरहिदयंगमरूवपालिकिणरया। किंणरणिंदिदणामा मणरम्मा किणरुत्तमया।३४। रतिपियजेट्ठा। —किंपुरुष, किन्नर, हृदयंगम, रूपपाली, किन्नरकिन्नर, अनिन्दित, मनोरम, किन्नरोत्तम, रतिप्रिय और ज्येष्ठ, ये दश प्रकारके किन्नर जातिके देव होते हैं। (ति.सा./२५७-२५८)

★ **किंनर देवोंके वर्ण परिवार व अवस्थानादि**
—दे० व्यन्तर/३/१।

३. किंनर व्यपदेश सम्बन्धी शंका समाधान

रा.वा./४/११/४/२१७/२२ किंपुरुषान् कामयन्त इति किंपुरुषाः, ...तन्न, किं कारणम् । उक्तत्वात् । उक्तमेतत्—अवर्णवाद एष देवानामुपरीति । कथम् । न हि ते शुचिवैक्रियकदेहा अशुच्यौदारिकशरीरान् नरान् कामयन्ते । —प्रश्न—खोटे मनुष्योंको चाहनेके कारणसे किंनर...यह संज्ञा क्यों नहीं मानते ? उत्तर—यह सब देवोंका अवर्णवाद है । ये पवित्र वैक्रियक शरीरके धारक होते हैं, वे कभी भी अशुचि औदारिक शरीरवाले मनुष्य आदिकी कामना नहीं करते ।

किंनर—अनन्तनाथ भगवान्‌का शासक यक्ष—दे० तीर्थंकर/५/३ ।

किंनरगीत—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर —दे० विद्याधर ।

किंनरोद्‌गीत—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर —दे० विद्याधर ।

किंनामित—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर —दे० 'विद्याधर' ।

किंपुरुष—१. किंपुरुष देवका लक्षण—

ध.१३/५.५.१४०/३९१/८ प्रायेण मैथुनप्रियाः किंपुरुषाः । =प्रायः मैथुनमें रुचि रखनेवाले किंपुरुष कहलाते हैं ।

* **व्यन्तर देवोंका एक भेद है**—दे० व्यन्तर/१/२ ।

२. किंपुरुष व्यन्तरदेवके भेद

ति.प./६/३६ पुरुसा पुरुसुत्तमसप्पुरुसमहापुरुसपुरुसपभणामा । अतिपुरुसा तह मरुओ मरुदेवमरुप्पहा जसोवंता ।३६। =पुरुष, पुरुषोत्तम, सत्पुरुष, महापुरुष, पुरुषप्रभ, अतिपुरुष, पुरु, पुरुदेव, मरुप्रभ और यशस्वान्, इस प्रकार ये किंपुरुष जातिके देवोंके दश भेद हैं । (त्रि.सा./२५)

* **किंपुरुष देवका वर्ण परिवार व अवस्थानादि** —दे० 'व्यंतर'/२/१ ।

* **किंपुरुष व्यपदेश सम्बन्धी शंका समाधान**

रा.वा /४/११/४/२१७/२१ क्रियानिमित्ता एवैताः संज्ञाः,...किंपुरुषान् कामयन्त इति किंपुरुषाः ।...; तन्न किं कारणम् । उक्तत्वात् । उक्तमेतत्—अवर्णवाद एष देवानामुपरीति । कथम् । न हि ते शुचिवैक्रियकदेहा अशुच्यौदारिकशरीरान् नरान् कामयन्ते । —प्रश्न—कुत्सित पुरुषोंकी कामना करनेके कारण किंपुरुष...आदि कारणोंसे ये संज्ञाएँ क्यों नहीं मानते ? उत्तर—यह सब देवोंका अवर्णवाद है । ये पवित्र वैक्रियक शरीरके धारक होते हैं वे कभी भी अशुचि औदारिक शरीरवाले मनुष्य आदिकी कामना नहीं करते ।

किंपुरुष—धर्मनाथ भगवान्‌का एक यक्ष —दे० तीर्थंकर/५/३ ।

किंपुरुषवर्ष— ज.प./प्र.१३६ सरस्वतीके उद्गम स्थानसे लेकर यह बस्ती तिब्बत तक फैली हुई है ।

किलकिल—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर ।

किल्विष—१. किल्विष जातिके देवका लक्षण

स.सि./४/४/२३९/७ अन्तेवासिस्थानीयाः किल्बिषिकाः । किल्विषं पापं येषामस्तीति किल्विषिकाः ।=जो सीमाके पास रहनेवालोंके समान हैं वे किल्विषक कहलाते हैं । किल्विष पापको कहते हैं । इसकी जिनके बहुलता होती है वे किल्विषक कहलाते हैं । (रा. वा./४/४/१० /२१३/१४); (म. पु./२२/३०);

ति. प/३/६८—सुरा हवंति किब्बिसया ॥६८॥ =किल्विष देव चाण्डालकी उपमाको धारण करने वाले हैं ।

त. सा./२२३-२२४ का भावार्थ-बहुरि जैसे गायक गावनें आदि क्रियातैं आजीविकाके करन हारे तैसें किल्विषक हैं ।

* **किल्विष देव सामान्यका निर्देश:**—दे० देव /II/ २ ।

* **देवोंके परिवारमें किल्विष देवोंका निर्देशादि**—दे० भवनवासी आदि भेद ।

२. किल्विषी भावना का लक्षण

भ. आ./मू./१८१ णाणस्स केवलीणं धम्मस्साइरिय सव्वसाहूणं । माइय अवण्णवादी खिब्भिसियं भावणं कुणइ ॥१८१॥ =श्रुतज्ञानमें, केवलियोंमें, धर्ममें, तथा आचार्य, उपाध्याय, साधुमें दोषारोपण करनेवाला, तथा उनकी दिखावटी भक्ति करनेवाला, मायावी तथा अवर्णवादी कहलाता है । ऐसे अशुभ विचारोंसे मुनि किल्विष जातिके देवोंमें उत्पन्न होता है, इन्द्रकी सभामें नहीं जा सकता । (मू. आ०/६६)

किष्किंध – १. भरतक्षेत्रस्थ विन्ध्याचलका एक देश—दे० मनुष्य/४; २. भरत क्षेत्र मध्य आर्यखण्ड मलयगिरि पर्वतके निकटस्थ एक पर्वत—दे० मनुष्य / ४; ३. प्रतिचन्द्रका पुत्र तथा सूर्यरजका पिता वानरवंशी राजा था—दे० इतिहास/७/१३ ।

किष्किंबिल—भगवान् वीरके तीर्थमें अन्तकृत केवली हुए—दे० 'अन्तकृत'

किष्कु - क्षेत्रका प्रमाण विशेष । अपरनाम रिक्कु या गज—दे० गणित/ I/१ ।

कीचक—पा. पु./१७/श्लोक—चुलिका नगरके राजा चुलिकका पुत्र द्रौपदीपर मोहित हो गया था (२४५) तब भीम (पाण्डव) ने द्रौपदीका रूप धर इसको मारा था (२७८-२९५) । अथवा (हरिवंशपुराणमें) भीम द्वारा पीटा जानेपर विरक्त हो दीक्षा धारण कर ली । अन्तमें एक देव द्वारा परीक्षा लेनेपर चित्तकी स्थिरतासे मोक्ष प्राप्त किया । (ह. पु./४६/३४)

कीर्तिकूट—नील पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/४ ।

कीर्तिदेवी—नील पर्वतस्थ केसरीह्रद व उसकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/७ ।

कीर्तिधर— १. प. पु०/मू०/१२३/१६६ के आधारपर; प. पु./प्र २१/ पं० पन्नालाल—बड़े प्राचीन आचार्य हुए हैं । कृति—रामकथा (पद्मचरित) । इसीको आधार करके रविषेणाचार्यने पद्मपुराणकी और स्वयम्भू कविने पउमचरिउकी रचना की । समय—ई० ६०० लगभग । २. प. पु./२१ श्लोक "सुकौशल स्वामीके पिता थे । पुत्र सुकौशलके उत्पन्न होते ही दीक्षा धारण की (१५७-१६५) तदनन्तर स्त्रीने शेरनी बनकर पूर्व वैरसे खाया, परन्तु आपने उपसर्गको साम्यसे जीत मुक्ति प्राप्त की (२२/९८) ।

कीर्तिधवल—प. पु./सर्ग/श्लोक—राक्षस वंशीय घनप्रभ राजाका पुत्र था (५/४०३-४०४) इसने श्रीकण्ठको वानर द्वीप दिया था, जिसकी पुत्र [illegible]से वानर वंशकी उत्पत्ति हुई (६/८४) ।—दे० इतिहास/ ७/१२ ।

कीर्तिमति—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी। —दे० लोक/५/१३ ।

कीर्तिवर्म—जैन सिद्धान्त प्रकाशिनीके समयप्राभृतमें K. B. Pathak. "चालुक्य वंशी राजा थे । बादामी नगर में श० सं० ५०० (वि० ६३५) में प्राचीन कदम्ब वंशका नाश किया । समय—श. ५०० (ई० ५७८)

कीर्तिषेण—ह. पु./६६/२५-३२; म. पु./प्र. ४८ पं. पन्नालाल—पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार (इतिहास/७/८) आप अमितसेनके शिष्य

तथा हरिवंशपुराणकार श्री जिनसेनके गुरु थे। समय—वि. ८२०-८७० (ई० ७६३-८१३)

कीलित संहनन—दे० 'संहनन'

कुंचित—कायोत्सर्गका अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

कुंजरावर्त—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणिका एक नगर—दे० 'विद्याधर'।

कुंड—प्रत्येक क्षेत्रमें दो दो कुण्ड हैं जिनमें कि पर्वतसे निकलकर नदियाँ पहले उन कुण्डोंमें गिरती हैं। पीछे उन कुण्डोंमें से निकलकर क्षेत्रोंमें बहती हैं। प्रत्येक कुण्डमें एक एक द्वीप है।—दे० लोक/३/१०

कुंडलक कूट—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३।

कुंडलगिरि—इसके बहु मध्य भागमें एक कुण्डलाकार पर्वत है, जिसपर आठ चैत्यालय हैं। १३ द्वीपके चैत्यालयोंमें इनकी गणना है। —दे० लोक/४/६

कुंडलपुर—दे० कुंडिनपुर।

कुंडलवर द्वीप—मध्य लोकका ग्यारहवाँ द्वीप व सागर—दे० लोक/४/६।

कुंडला—पूर्व विदेहस्थ सुवत्सा क्षेत्रकी मुख्य नगरी—दे० लोक/५/२।

कुंडिनपुर—१. म. पु./प्र ४६ पं. पन्नालाल-विदर्भ (बरार) देशकी प्राचीन राजधानी/; २. वर्दा नदीपर स्थित एक नगर—दे० मनुष्य/४।

कुंतल—भरत क्षेत्र दक्षिण आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

कुंती—पा. पु०/सर्ग/श्लोक—राजा अन्धकवृष्णिकी पुत्री तथा वसुदेव की बहन थी (७/१३२-१३८) कन्यावस्थामें पाण्डुसे 'कर्ण' नामक पुत्र उत्पन्न किया (७/२६३) पाण्डुसे विवाहके पश्चात् युधिष्ठिर, भीम व अर्जुन पुत्रोंको जन्म दिया (८/३४-१४३) अन्तमें दीक्षा धारणकर सोलहवें स्वर्गमें देवपद प्राप्त किया (२५/१५,१४१)।

कुंथनाथ—म. पु /६४/श्लोक "पूर्वभव नं. ३ में वत्स देशकी सुसीमा के राजा सिंहरथ थे (२-३) फिर दूसरे भवमें सर्वार्थसिद्धिमें देव हुए (१०) वर्तमान भवमें १७ वें तीर्थंकर हुए।१। विशेष परिचय—दे० तीर्थंकर/५/।

कुंद—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० 'विद्याधर'।

कुंदकुंद—दिगम्बर आम्नाय के एक प्रधान आचार्य जिनके विषयमें विद्वानोंने सर्वाधिक खोज की। मूलसंघमें आपका स्थान (दे० इतिहास/७/१)

२. कुन्दकुन्दका वंश व ग्राम

जै०/२/१०३ कोण्डकुण्डपुर गाँव के नामपर से पद्मनन्दि 'कुन्दकुन्द' नाम से ख्यात हुए। पी०बी० देसाई कृत 'जैनिज्म' के अनुसार यह स्थान गण्टाकल रेलवे स्टेशन से चार मील दक्षिण की ओर कोनकोण्डल नामक गाँव प्रतीत होता है। यहाँ से अनेकों शिलालेख प्राप्त हुए हैं। दे० आगे शीर्षक नं०१० - इन्द्रनन्दि श्रुतावतार के अनुसार मुनि पद्मनन्दि ने कोण्डकुण्डपुर में सिद्धान्त को जानकर 'परिकर्म' नामक टीका लिखी थी।

ष.प्रा/प्र. ३/प्रेमीजी—द्रविड़ देशस्थ 'कोण्डकुण्ड' नामक स्थानके रहनेवाले थे और इस कारण कोण्डकुन्द नामसे प्रसिद्ध थे। नन्दिसंघ बलात्कार गणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० 'इतिहास') आप द्रविड़संघ के आचार्य थे। श्री जिनचन्द्रके शिष्य तथा श्री उमास्वामीके गुरु थे। यथा—

मू. आ./प्र. ११ जिनदास पार्श्वनाथ फुडकले—पद्मनन्दिगुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणीः। (इत्यादि देखो आगे 'उनका श्वेताम्बरोंके साथ वाद')

३. अपर नाम

मूल नन्दिसंघकी पट्टावली—पट्टे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ, जिनादिचन्द्रः समभूदतन्द्रः। ततोऽभवत् पञ्च सुनामधामा, श्री 'पद्मनन्दिः' मुनिचक्रवर्ती। आचार्य 'कुन्दकुन्दाख्यो' 'वक्रग्रीवो' महामतिः। 'एलाचार्यो' 'गृद्धपृच्छ' 'पद्मनन्दि' वितायते।—उस पट्टपर मुनिमान्य जिनचन्द्र आचार्य हुए और उनके पश्चात् पद्मनन्दि नामके मुनि चक्रवर्ती हुए। उनके पाँच नाम थे—कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपृच्छ और पद्मनन्दि।

पं.का./ता. वृ /१ मंगलाचरण—श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैः।—श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव जिनके कि पद्मनन्दि आदि अपर नाम भी थे।

चन्द्रगिरि शिलालेख ४५/६६ तथा महानवमीके उत्तरमें एक स्तम्भपर—"श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः।—श्री पद्मनन्दि ऐसे अनवद्य नामवाले आचार्य जिनका नामान्तर कौण्डकुन्द था।

ष.प्रा./मो/प्रशस्ति पृ. ३७६ इति श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृध्रपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन···।—इस प्रकार श्री पद्मनन्दि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य नामपंचकसे विराजित···।

४. नामों सम्बन्धी विचार

१ पद्मनन्दि—नन्दिसंघकी पट्टावलीमें जिनचन्द्र आचार्यके पश्चात् पद्मनन्दिका नाम आता है। अतः पता चलता है कि पद्मनन्दि इनका दीक्षाका नाम था। २. कुन्दकुन्द—श्रुतावतार/१६०-१६१ गुरुपरिपाट्या ज्ञात. सिद्धान्तः कोण्डकुण्डपुरे।१६०। श्रीपद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः। ग्रन्थपरिकर्मकर्ता षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य।१६१।—गुरु परिपाटीसे आये हुए सिद्धान्तको जानकर कोण्डकुण्डपुरमें श्री पद्मनन्दि मुनिके द्वारा १२००० श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नामका ग्रन्थ षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डोंकी टीकाके रूपमें रचा गया। इसपरसे जाना जाता है तथा प्रसिद्धि भी है कि आप कोण्डकुण्डपुरके निवासी थे। इसी कारण आपको कुन्दकुन्द भी कहते थे। (ष.प्रा./प्र. ३ प्रेमीजी) ३. एलाचार्य—ष. प्रा./प्र. ३ प्रेमीजी—ई०श० १ के आसपास मदुरा के कवि सम्मेलन में पेश करने के लिए रचित तमिलवेद या 'थिरुक्कुरल' के रचयिता ऐलाचार्य को श्री एम० ए० रामास्वामी आयंगर कुन्दकुन्द का अपर नाम मानते हैं। (मू आ /प्र ६ जिनदास पार्श्वनाथ फुडकले) पं. कैलाशचन्द्रजी के अनुसार यह नाम धवलाकार श्री वीरसेन स्वामीके गुरुका था जिनके पास उन्होंने सिद्धान्त ग्रन्थोंका अध्ययन किया था। इन्द्रनन्दि श्रुतावतार तथा धवलाकी प्रशस्तिसे इस बातकी पुष्टि होती है। वीरसेन स्वामी क्योंकि कुन्दकुन्दके बहुत पीछे हुए हैं इसलिये यह नाम इनका नहीं हो सकता। (जै० सा०/२,१०२) प. जुगलकिशोर मुख्तार भी इसे कुन्दकुन्दका नामान्तर स्वीकार नहीं करते। (जै०सा०/२/११६)। ४. गृद्धपृच्छ—(मू.आ./प्र.१०/ जिनदास पार्श्वनाथ फुडकले) गृद्धपृच्छ नामका हेतु ऐसा है कि विदेह क्षेत्रसे लौटते समय रास्तेमें इनकी मयूर पृच्छिका गिर गयी। तब यह गीधके पिच्छ (पंख) हाथमें लेकर लौट आये। अतः गृद्धपिच्छ ऐसा भी इनका नाम हुआ। श्रवणबेलगोलासे प्राप्त अनेकों शिलालेखोंमें यह नाम उमास्वामीके लिये आया है और उन्हें कुन्दकुन्दके अन्वयका बतलाया गया है। इनके शिष्यका नाम भी बलाकपिच्छ है। इसपर से पं. कैलाश चन्द्रजी के अनुसार यह उमास्वामीका नामान्तर है न कि कुन्दकुन्दका। (जै.सा./२/१०२) ५. वक्रग्रीव—इस शब्द परसे अनुमान होता है कि सम्भवतः आपकी गर्दन टेढ़ी हो और इसी कारण से आपका नाम वक्रग्रीव पड़ गया हो। परन्तु पं० कैलाशचन्द्रजी के अनुसार क्योंकि ई० ११३७ और ११५८ के शिला-

लेखोंमें यह नाम अकलंकदेवके पश्चात् आया है, इसलिये ये कोई एक स्वतंत्र महान् आचार्य हुए हैं, जिनका कुन्दकुन्दके साथ कोई सम्बन्ध नहीं (जै.सा./२/१०१)।

५. श्वेताम्बरोंके साथ वाद

(मू.आ./प्र./११./ जिनदास पार्श्वनाथ फुडकले) भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यका गिरनार पर्वतपर श्वेताम्बराचार्योंके साथ बड़ा वाद हुआ था, उस समय पाषाण निर्मित सरस्वतीकी मूर्तिसे आपने यह कहला दिया था कि दिगम्बर धर्म प्राचीन है।—यथा—"पद्मनन्दिगुरुर्जातो बला-त्कारगणाग्रणीः। पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती॥—गुर्वावली॥ कुन्दकुन्दगणी येनोर्ज्जयन्तगिरिमस्तके। सोऽवताद्वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ॥" (आचार्य शुभचन्द्र कृत पाण्डवपुराण)—ऐसे अनेक प्रमाणोंसे उनकी उत्कट विद्वत्ता सिद्ध है।

नोट—यद्यपि सूत्र पाहुड से इस बात की पुष्टि होती है और दर्शन-सारमें भी दिगम्बर श्वेताम्बर भेद वि.सं. १३६ में बताया गया है (दे० श्वेताम्बर); परन्तु पं० कैलाशचन्द जीके अनुसार यह विवाद पद्मनन्दि नामके किसी भट्टारकके साथ हुआ था कुन्दकुन्दके साथ नहीं। (जै.सा./२/११०,११२)

६. ऋद्धिधारी थे

श्रवणबेलगोलामें अनेकों शिलालेख प्राप्त हैं जिनपर आपकी चारण ऋद्धि तथा चार अंगुल पृथिवीसे ऊपर चलना सिद्ध है। यथा—जैन शिलालेख संग्रह/शिलालेख नं०/पृष्ठ नं० ४०/६४./ तस्यान्वये भूविदिते बभूव य. पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः। श्रीकोण्डकुन्दादि-मुनीश्वरस्य सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः॥६॥

४२/६६ श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः। द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसंजातसुचारणर्द्धिः ।४। —श्री चन्द्रगुप्त मुनिराजके प्रसिद्ध वंशमें पद्मनन्दि संज्ञावाले श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर हुए हैं। जिनको सत्संयमके प्रसादसे चारण ऋद्धि उत्पन्न हो गयी थी।४०। श्री पद्मनन्दि है अनवद्य नाम जिनका तथा कुन्दकुन्द है

अपर नाम जिनका ऐसे आचार्यको चारित्रके प्रभावसे चारण ऋद्धि उत्पन्न हो गयी थी।४२।

२. शिलालेख नं. ६२,६४,६६,६७,२५४,२६१ पृ. २६३-२६६ कुन्दकुन्दा-चार्य वायु द्वारा गमन कर सकते थे। उपरोक्त सभी लेखोंसे यही घोषित होता है।

३. चन्द्रगिरि शिलालेख/नं.५४/पृ.१०२ कुन्दपुष्पकी प्रभा धरनेवाले, जिसकी कीर्तिके द्वारा दिशाएँ विभूषित हुई हैं, जो चारणोंके चारण ऋद्धिधारी महामुनियोंके सुन्दर हस्तकमलका भ्रमर था और जिस पवित्रात्माने भरत क्षेत्रमें श्रुतकी प्रतिष्ठा करी है वह विभु कुन्दकुन्द इस पृथिवीपर किससे वन्द्य नहीं है।

४. जैन शिलालेख संग्रह/पृ.११७-११८ रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्यापि सव्यञ्जयितु' यतीशः। रजः पदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरङ्गुलं सः॥—यतीश्वर श्री कुन्दकुन्ददेव रजस्थानको और भूमि-तलको छोड़कर चार अंगुल ऊँचे आकाशमें चलते थे। उसके द्वारा मैं यों समझता हूँ कि वह अन्दरमें और बाहरमें रजसे अत्यन्त अस्पृष्टपनेको व्यक्त करता हुआ।"

५. मद्रास व मैसूर प्रान्त प्राचीन स्मारक पृं. ३१७-३१८ (६६) लेख नं. ३५। आचार्यकी वंशावलीमें—(श्री कुन्दकुन्दाचार्य भूमिसे चार अंगुल ऊपर चलते थे।)

हल्सी नं. २१ ग्राम हेग्गरेमें एक मन्दिरके पाषाणपर लेख—"स्वस्ति श्री वर्द्धमानस्य शासने। श्रीकुन्दकुन्दनामाभूत् चतुरङ्गुलचारणे।"—श्री वर्द्धमान स्वामीके शासनमें प्रसिद्ध श्री कुन्दकुन्दाचार्य भूमिसे चार अंगुल ऊपर चलते थे।

ष.प्रा./मो/प्रशस्ति/पृ.३७६ नामपञ्चकविराजितेन चतुरङ्गुलाकाशगमन-र्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितसीमन्धरजिनेन...। —नाम पंचक विराजित (श्री कुन्दकुन्दाचार्य) ने चतुरंगुल आकाशगमन ऋद्धि द्वारा विदेह क्षेत्रकी पुण्डरीकिणी नगरमें स्थित श्री सीमन्धर प्रभुकी वन्दना की थी।

मू.आ./प्र.१० जिनदास पार्श्वनाथ फुडकले—भद्रबाहु चरित्रके अनुसार राजा चन्द्रगुप्तके सोलह स्वप्नोंका फल कथन करते हुए भद्रबाहु आचार्य कहते हैं कि पंचम कालमें चारण ऋद्धि आदिक ऋद्धियाँ प्राप्त नहीं होतीं, और इस लिए भगवान् कुन्दकुन्द को चारण ऋद्धि होनेके सम्बन्धमें शंका उत्पन्न हो सकती है। जिसका समाधान यों समझना कि चारण ऋद्धिके निषेधका यह सामान्य कथन है। पंचम कालमें ऋद्धिप्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है यही उस का अर्थ समझना चाहिए। पंचम कालके प्रारम्भमें ऋद्धिका अभाव नहीं है परन्तु आगे उसका अभाव है ऐसा समझना चाहिए। यह कथन प्रायिक व अप-वाद रूप है। इस सम्बन्धमें हमारा कोई आग्रह नहीं है।

७. विदेहक्षेत्र गमन

१. द.सा./मू./४३, जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण। ण विबोहेइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ।४३। —विदेहक्षेत्रस्थ श्री सीमन्धर स्वामीके समवशरणमें जाकर श्री पद्मनन्दि नाथने जो दिव्य ज्ञान प्राप्त किया था, उसके द्वारा यदि वह बोध न देते तो, मुनिजन सच्चे मार्गको कैसे जानते।

२. पं. का./ता.वृ /मंगलाचरण/१ अथ श्रीकुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञश्रीमंदरस्वामितीर्थ-करपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणावधारित-पदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीकुन्दकुन्दा-चार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैः...विरचिते पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे ...तात्पर्यव्याख्यानं कथ्यते।—अब श्री कुमारनन्दि सिद्धान्तदेवके शिष्य, जो कि प्रसिद्ध कथाके अनुसार पूर्वविदेहमें जाकर वीतराग-सर्वज्ञ तीर्थंकर परमदेव श्रीमन्दर स्वामीके दर्शन करके, उनके मुख-कमलसे विनिर्गत दिव्य वाणीके श्रवण द्वारा अवधारित पदार्थसे शुद्धात्म तत्त्वके सारको ग्रहण करके आये थे, तथा पद्मनन्दि आदि हैं दूसरे नाम भी जिनके ऐसे कुन्दकुन्द आचार्यदेव द्वारा विरचित पंचास्तिकाय प्राभृतशास्त्रका तात्पर्य व्याख्यान करते हैं।

३. ष.प्रा./मो./प्रशस्ति/पृ.३७६ श्री पद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्य...नामपञ्चक-विराजितेन चतुरङ्गुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकणीनगरवंदित सीमन्धरापरनामस्वयंप्रभजिनेन तच्छ्रुतज्ञानसंबोधितभरतवर्षभव्य-जीवेन श्रीजिनचन्द्रभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे...।—श्री पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य देव जिनके कि पाँच नाम थे, चारण ऋद्धि द्वारा पृथिवीसे चार अंगुल आकाशमें गमन-करते पूर्व विदेहकी पुण्डरीकणी नगरमें गये थे। तहाँ सीमन्धर भगवान् जिनका कि अपर नाम स्वयंप्रभ भी है, उनकी वन्दना करके आये थे। वहाँसे आकर उन्होंने भारतवर्षके भव्य जीवोंको सम्बोधित किया था। वे श्री जिनचन्द्र भट्टारकके पट्टपर आसीन हुए थे, तथा कलिकाल सर्वज्ञके रूपमें प्रसिद्ध थे। उनके द्वारा विरचित षट्प्राभृत-ग्रन्थमें।

४. मू.आ./प्र./१० जिनदास पार्श्वनाथ फुडकले —चन्द्रगुप्तके स्वप्नोंका फलादेश बताते हुए आचार्य भद्रबाहुने (भद्रबाहु चरित्रमें) कहा है कि पंचम कालमें देव और विद्याधर भी नहीं आयेंगे, अतः शंका होती है कि भगवान् कुन्दकुन्दका विदेह क्षेत्रमें जाना असम्भव है। इसके समाधानमें भी ऋद्धिके समाधानवत् ही कहा जा सकता है।

जै. सा./२/१०८, १०९ (पं० कैलाश चन्द)—शिलालेखों में ऋद्धिप्राप्ति की चर्चा अवश्य है, परन्तु किसी में भी उनके विदेहगमन का उल्लेख नहीं है, जबकि एक शिला में 'पूज्यपाद' के लिये ऐसा लेख पाया जाता है। (दे० पूज्यपाद)। स्वयं कुन्दकुन्द ने भी इस विषय में कोई चर्चा नहीं की है।

८. कलिकालसर्वज्ञ कहलाते थे

१. ष.प्रा./मो./ प्रशस्ति पृ. ३७९ श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्य...कलिकाल-सर्वज्ञेन विरचितेन षट्प्राभृतग्रन्थे।—कलिकाल सर्वज्ञ श्रीपद्मनन्दि अपर नाम कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित षट्प्राभृत ग्रन्थमें।

९. गुरु सम्बन्धी विचार

बो० पा०/६२ बारस अंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं। सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयउ। —१२ अंग १४ पूर्वके ज्ञाता गमकगुरु भगवान् भद्रबाहु जयवंत वर्तो।

पं.का./टी. श्रीकुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यैः ... श्रीकुण्डकुन्दाचार्य-देवैः...शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रबोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकाये...। — कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के (शिष्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के द्वारा शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप-रुचि वाले शिष्यों के प्रबोधनार्थ विरचित पञ्चास्तिकाय...।

नन्दिसंघकी पट्टावली

श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन्बलात्कारगणोऽतिरम्यः। तत्राभवत् पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्यः॥ पदे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ जिनादिचन्द्रः समभूदतन्द्रः। ततोऽभवत्पञ्चसुनामधामा श्री पद्मनन्दी मुनिचक्रवर्ती॥ —श्री मूलसंघमें नन्दिसंघ तथा उसमें बलात्कार-गण है। उसमें पूर्वपदांशधारी श्री माघनन्दि मुनि हुए जो कि नर सुर द्वारा वन्द्य हैं। उनके पदपर मुनि मान्य श्री जिनचन्द्र हुए और उनके पश्चात् पंच नामधारी मुनिचक्रवर्ती श्रीपद्मनन्दि हुए।

ष.प्रा./मो./प्रशस्ति/पृ. ३७९ श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्य...नाम पञ्चक-विराजितेन...श्री जिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणेन...। — श्री पद्म-नन्दि कुन्दकुन्दाचार्य जिनके पाँच नाम प्रसिद्ध हैं तथा जो श्री जिन-चन्द्रसूरि भट्टारकके पदपर आसीन हुए थे।

नोट :—आचार्य परम्परा से आगत ज्ञान का श्रेय होने से श्रुत केवली भद्रबाहु प्र० को गमकगुरु कहना न्याय है। इनके साक्षात् गुरु (दीक्षा गुरु जिनचन्द्र ही थे। १०७ कुमारनन्दि के साथ भी इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। १०४। (जै० सा०/२/पृष्ठ) (हो सकता है कि ये इनके शिक्षा गुरु रहे हों)।

१०. रचनाएँ

इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार/श्लो० न० २—

एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन् गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कोण्डकुण्डपुरे ॥१६०॥ श्रीपद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादश-सहस्रपरिमाणः। ग्रन्थ परिकर्म कर्ता षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य ।१६१। — इस प्रकार द्रव्य व भाव दोनों प्रकारके ज्ञानको प्राप्त करके गुरु परि-पाटीसे आये हुए सिद्धान्तको जानकर श्रीपद्मनन्दि मुनिने कोण्डकुण्ड-पुर ग्राममें १२००० श्लोक प्रमाण परिकर्म नामकी षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंकी व्याख्या की।

इनके अतिरिक्त ८४ पाहुड जिनमें से १२ उपलब्ध हैं; समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय और दर्शन पाहुड आदि से समवेत अष्ट पाहुड। और भी बारस अणुवेक्खा, तथा साधु जनों के नित्य क्रियाकलाप में प्रसिद्ध सिद्ध, सुद, आइरिय, जोई, णिव्वाण, पंचगुरु और तित्थयर भक्ति।

११. काल विचार

संकेत :—प्रमाण—जै./२/पृष्ठ; ती०/२/१०७—१११।

प्रमाण	संस्थाता विद्वान्	काल विक्र.	[illegible]	हेतु
११३	के.बी. पाठक	५८५	७	शिवकुमार—शक ४५० के शिव मृगेश
११५	डा० चक्रवर्ती	४१	७	,, —ई० श० १ के पल्लव वंशी शिवस्कन्ध
११६	पं. जुगलकिशोर मुख्तार	१३८-२२२	८	षट्खण्डकर्ता भूतबलि—वी० नि० ६३३-६८३(वि० १६३)
११२	नाथूराम प्रेमी	श. ३ अन्त.	४	श्वे० उत्पत्ति—शक१३६(वि. १७१
११६	डा० उपाध्ये	श. २	४ ८	श्वे० उत्पत्ति (वि० १३६); भद्रबाहु श्वे० परम्परा गुरु षट्खण्ड टीका कुन्दकीर्ति।
१२५	पं० कैलाश चन्द	१८४-२३०	८	षट्खण्ड रचना—वी. नि. ६५०। कषायपाहुड कर्ता यतिवृषभ वि. श. ३ प्र० चरण। शिष्य उमा-स्वामी—वि० ३००
	नन्दि संघ पट्टावली	१८४-२३१		दे० कोश खण्ड १ में परिशिष्ट १

कुंभ— असुरकुमार (भवनवासी)—दे० असुर।

कुंभक—ज्ञा./२९/५ निरुणद्धि स्थिरीकृत्य श्वसनं नाभिपङ्कजे। कुम्भ-वन्निर्भरः सोऽयं कुम्भकः परिकीर्तितः।—पूरक पवनको स्थिर करके नाभि कमलमें जैसे घड़ेको भरैं तैसें रोकैं (थांभै) नाभिसे अन्य जगह चलने न दें सो कुम्भक कहा है।

★ **कुम्भक प्राणायाम सम्बन्धी विषय**—दे० प्राणायाम।

कुंभकटक द्वीप—भरतक्षेत्रका एक देश—दे० मनुष्य/४।

कुंभकर्ण—प. पु./७/श्लोक—रावणका छोटा भाई था (२२२)। रावणकी मृत्युके पश्चात् विरक्त हो दीक्षा धारण कर (७८/८१) अन्तमें मोक्ष प्राप्त की (८०/१२९)।

कुंमुज—ज. प./प्र./ १४० A. N. up H. L. वर्तमान काराकोरम देश ही पुराणोंका कुंमुज्ज या मुंजवान है। इसीका वैदिक नाम मूज-वान था। आज भी उसके अनुसार मूजताग कहते हैं। तुर्की भाषाके अनुसार इसका अर्थ पर्वत है।

कुअवधिज्ञान—दे० अवधिज्ञान।

कुगुरु—कुगुरुकी विनयका निषेध व कारणादि—दे० विनय/४।

कुट्टक—ध. ५/प्र. २७ Indetrminte equation

कुड्ड—ध. १४/५,६,४२/४२/२ जिणहरघरायदणाणं ठविदओलित्तीओ कुड्डा णाम।—जिनगृह, घर और आयतनकी जो भीतें बनायी जाती हैं, उन्हें कुड्ड कहते हैं।

कुड्याश्रित—कायोत्सर्गका अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

कुणिक—म. पु./७४/४१४ यह मगधका राजा था। राजा श्रेणिकका पिता था। राजा श्रेणिकके समयानुसार इसका समय—ई० पू० ५२५-५४६ माना जा सकता है।

कुणीयान—भरतक्षेत्र मध्य आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

कुत्सा—दे० जुगुप्सा।

कुदेव—१. कुदेवकी विनयका निषेध—दे० विनय/४। २. कुदेवकी विनयादिके निषेधका कारण—दे० अमूढदृष्टि/३।

कुधर्म—१. कुधर्मकी विनयका निषेध—दे० विनय/४। २. कुधर्मके निषेधका कारण—दे० अमूढदृष्टि/३।

कुपात्र—दे० पात्र।

कुप्य—स. सि./७/२९/३६७/१ कुप्यं क्षौमकार्पासकौशेयचन्दनादि। —रेशम, कपास और कोसाके वस्त्र तथा चन्दन आदि कुप्य कहलाता है। (रा. वा./७/२९/१/५५५/१०)।

कुबेर—१. अरहनाथ भगवान्‌का शासक यक्ष—दे० तीर्थंकर/५/३। २. दे० लोकपालदेव।

कुबुद्धि—एक अज्ञानवादी—दे० अज्ञानवाद।

कुब्जक संस्थान—दे० संस्थान।

कुब्जा—भरतक्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

कुभोगभूमि—दे० भूमि।

कुमति—दे० मतिज्ञान।

कुमानुष—दे० म्लेच्छ/अन्तर्द्वीपज।

कुमार—१. श्रेयांसनाथ भगवान्‌का शासक यक्ष—दे० तीर्थंकर/५/३। २. आत्म- प्रबोध/प्र. पं० गजाधरलाल—आप कविवर वीतिलकशास्त्रज्ञ विद्वद गोविन्दभट्टके ज्येष्ठ पुत्र थे व प्रसिद्ध कवि हस्तिमल्लके ज्येष्ठ भ्राता थे। समय—ई० १२९० वि० १३४७। कृति—आत्मप्रबोध।

कुमार—इस नामके अनेकों आचार्य, पंडित व कवि आदि हुए हैं जैसे कि—१. नागर शाखाके आचार्य कुमारनन्दि जिन्होंने मथुरा के सरस्वती आन्दोलन में ग्रन्थ निर्माण का कार्य किया था। नागर शाखा ई.श. १ में विद्यमान थी। (जै./२/१३४) २. हि. कुमारनन्दिका नाम कुन्दकुन्द के शिक्षागुरु के रूप में याद किया जाता है। लोहाचार्य तथा माघनन्द के समकालीन अनुमान किये जाते हैं। (पं का./ता.वृ./मंगलाचरण/१) : (का० अ०/प्र. ७०/A. N. up)। माघनन्दि के अनुसार आप का काल वी नि ५७५-६१४ (ई. ४८-८७)। दे०—इतिहास/७/४। —नन्दिसंघ बलात्कारगणके अनुसार विक्रम शक सं० ३९-४० (ई० ११४-११८)। श्रुतावतारके अनुसार वि० नि० ५९३-६१४ (ई० ६६-८७) नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप वज्रनन्दिके शिष्य तथा लोकचन्द्रके गुरु थे—विक्रम शक सं० ३८६-४२७ (ई० ४६४-५०५)। समय—४१ वर्ष आता है। ३. कार्तिकेयानु प्रेक्षा के कर्ता कुमार स्वामी उमा स्वामी के समकालीन या उनके कुछ उत्तरवर्ती हैं। का० अ०/३९४ की टीका में जो ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि "स्वामी कार्तिकेयमुनिः क्रौञ्चराजकृतोपसर्गं सोढ्वा साम्यपरिणामेन देवलोकं प्राप्तः।" यह सम्भवतः किसी दूसरे व्यक्ति के लिये लिखा गया प्रतीत होता है। भ० आ०/१५४९ में क्रौंच पक्षी कृत उपसर्ग को प्राप्त एक व्यक्ति का उल्लेख मिलता है। उमास्वामी के अनुसार कुमार स्वामी का समय वि० श० ९-१ (ई० श० २ का मध्य) आता है। (जै०/२/१२४, १३८)। ४. कुमार सेन गुरु चन्द्रोदय के कर्ता आ० प्रभाचन्द्र के गुरु थे। आपने मुल्गुण्ड नामक स्थान पर समाधिमरण किया था। वि० ७५३ में आपने काष्ठा संघ की स्थापना की थी। तदनुसार इनका समय वि० श० ८ (ई० श० ८ पूर्व) कल्पित किया जा सकता है। (ती./२/३५१); (इतिहास/७/६.१)। ५ कुमार नन्दि आचार्य 'वादन्याय' ग्रन्थ के रचयिता एक महान् जैन नैयायिक तथा तार्किक थे। आ० विद्यानन्द ने अपने ग्रन्थों में इनकी कारिकायें उद्धृत की हैं। समय—अकलंक तथा विद्यानन्दि के मध्य ई. श. ८-९ का मध्य। (ती./२/३६०, ४४८)। ६. पंचस्तूप संघ की गुर्वावली के अनुसार हि० कुमारसेन विनयसेन के शिष्य थे। नाथूराम जी प्रेमी के अनुसार ये काष्ठा संघ के संस्थापक थे। समय—वि० ८४५-९५५ ई० ७८८-८९९)। परन्तु सि० वि/प्र० ३८/पं० महेन्द्र कुमार के अनुसार ई० ७२०-८००। ७. नन्दिसंघ देशीयगण के अनुसार आविद्धकरण पद्मनन्दि न० १ का नाम कौमार देव था। समय ई० ९३०-१०३०/दे० इतिहास/७/५। ८. कुमार पण्डित जिनका समय ई० १२३१ है (का० अ०/प्र० ७१/A. N. up)।

कुमारगुप्त—मगध देशकी राज्य वंशावलीके अनुसार (दे० इतिहास) यह गुप्तवंशका पाँचवाँ राजा था। "जैनहितैषी भाग १३ अंक १२ में प्रकाशित "गुप्त राजाओंका काल, मिहिरकुल व कल्की" नामके लेखमें श्री के० बी० पाठक बताते हैं कि यह राजा वि० ५१३ (ई० ४५६) में राज्य करता था। और उस समय गुप्त संवत् १३७ था। समय—ई० ४३६-४६० विशेष—दे० इतिहास/३/४।

कुमारिल (भट्ट)—१. मीमांसक मतके आचार्य थे। सि.वि./२६ पं० महेन्द्रके अनुसार—आपका समय—ई० श० ७ का पूर्वार्ध। (विशेष दे० मीमांसा दर्शन)। २. वर्तमान भारतका इतिहास—हिन्दू धर्मका प्रभावशाली प्रचारक था। समय—ई० श० ८।

कुमुद—१. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर; २. देवकुरु का दिग्गजेन्द्र पर्वत—दे० लोक/५/३। एक कूट व उसका रक्षक—दे० लोक/७। ३. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३ ४. कालका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१/४।

कुमुदप्रभा—सुमेरु पर्वतके नन्दनादि वनोंमें स्थित एक वापी—दे० लोक/५/६।

कुमुदवती—पा. पु./८/१०८-१११ देवकराजकी पुत्री पाण्डुके भाई विदुरसे विवाही गयी।

कुमुदशैल—भद्रशाल वनमें स्थित एक दिग्गजेन्द्र पर्वत—दे० लोक/७।

कुमुदांग—कालका परिमाण विशेष—दे० गणित/I/१/४।

कुमुदा—सुमेरु पर्वतके नन्दनादि वनोंमें स्थित एक वापी—दे० लोक/५/६।

कुरलकाव्य—आ० एलाचार्य अपरनाम कुन्दकुन्द (ई. शताब्दि २) कृत अध्यात्म नीति विषयक तामिल भाषामें रचित एक ग्रन्थ है दक्षिण देशमें यह तामिलवेदके नामसे प्रसिद्ध है, और इसकी जैनेतर लोगोंमें बहुत मान्यता है। इसमें १०,१० श्लोक प्रमाण १०८ परिच्छेद हैं।

कुरु—१. भरत क्षेत्र आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४। २. म पु./प्र./४८ पं. पन्नालाल—सरस्वती नदीके बाँयी ओर का कुरुजांगल देश। हस्तिनापुर इसकी राजधानी है। ३. देव व उत्तरकुरु—(दे० लोक/३/११)

कुरुवंश—१. पुराणकी अपेक्षा कुरुवंश—दे० इतिहास/१०/५। २. इतिहासकी अपेक्षा कुरुवंश—दे० इतिहास/३/२।

कुयुंधर—पा. पु./१९/श्लोक—दुर्योधनका भानजा था (६६-६७) इसने पाँचों पाण्डवोंको ध्यानमग्न देख अपने मामाकी मृत्युका बदला लेनेके लिए उनको तपे लोहेके जेवर पहनाये थे (६९-७६)।

कुल—स. सि./९/२४/४४२/१ दीक्षकाचार्यशिष्यसंस्त्यायः कुलम्। —दीक्षकाचार्यके शिष्य समुदायको कुल कहते हैं। (रा. वा. /९/२४/६/६२३); (चा. सा./१५१/३)

प्र. सा./ता. वृ./२०३/२७४/७ लोकदुगुंछारहितत्वेन जिनदीक्षायोग्यं कुलं भण्यते।—लौकिक दोषोंसे रहित जो जिनदीक्षाके योग्य होता है उसे कुल कहते हैं।

मू. आ./भाषा./२२१ जाति भेदको कुल कहते हैं।

२. १९९½ लाख क्रोड़की अपेक्षा कुलोंका नाम निर्देश—

मू. आ./२२१-२२५ बावीससत्ततिण्णि अ सत्तय कुलकोडि सद सहस्साई। णेयापुढविदगागणिवाऊकायाण परिसंखा ।२२१। कोडिसदसहस्साइं सत्तट्ठ व णव य अट्ठवीसं च। बेइंदियतेइंदियचउरिंदियहरिदकायाणं ।२२२। अद्धत्तेरस बारस दसयं कुलकोडिसदसहस्साइं। जलचरपक्खिचउप्पयउरपरिसप्पेसु णव होंति ।२२३। छव्वीसं पणवीसं चउदसकुलकोडिसदसहस्साइं। सुरणेरइयणराणं जहाकमं होइ णायव्वं ।२२४। एया य कोडिकोडी णवणवदीकोडिसदसहस्साइं। पण्णारसं च सहस्सा संवग्गीणं कुलाण कोडीओ ।२२५।

अर्थ—एकेन्द्रियोंमें

१. पृथिवीकायिक जीवोंमें	—२२ लाख क्रोड कुल
२. अप्कायिक „	— ७ „ „ „
३. तेजकायिक „	— ३ „ „ „
४. वायुकायिक „	— ७ „ „ „
५. वनस्पतिकायिक „	—२८ „ „ „
विकलत्रय	
१. द्विइन्द्रिय जीवोंमें	— ७ „ „ „
२. त्रिइन्द्रिय „	— ८ „ „ „
३. चतुरिन्द्रिय „	— ९ „ „ „
पंचेन्द्रिय	
१. पंचेन्द्रिय जलचर जीवोंमें	—१२½ „ „ „
२. „ खेचर „	—१२ „ „ „
३. „ भूचर चौपाये „	—१० „ „ „
४. „ „ सर्पादि „	— ९ „ „ „
५. नारक जीवोंमें	—२५ „ „ „
६. मनुष्योंमें	—१४ लाख क्रोड कुल
७. देवोंमें	—२६ „ „ „
कुल सर्व कुल	—१९९½ लाख क्रोड कुल

३. १९७½ लाख क्रोड़की अपेक्षा कुलोंका नाम निर्देश

नि.सा./टी०/४२/२७६/७ पूर्वोक्तवत् ही है, अन्तर केवल इतना है कि वहाँ मनुष्योंमें १४ लाख क्रोड़ कुल कहे हैं, और यहाँ मनुष्योंमें १२ लाख क्रोड़ कुल कहे हैं। इस प्रकार २ क्रोड़ कुलका अन्तर हो जाता है। (त.सा./२/११२-११६); (गो.जी.मू./११३-११७)

४. कुल व जातिमें अन्तर

गो. जी/भाषा./११७/२७८/४ जाति है सो तौ योनि है तहाँ उपजनेके स्थान रूप,पुद्गल स्कंधके भेदनिका ग्रहण करना। बहुरि कुल है सो जिनि पुद्गलकरि शरीर निपजैं तिनिके भेद रूप हैं। जैसैं शरीर पुद्गल आकारादि भेदकरि पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चविषै हाथी, घोड़ा इत्यादि भेद हैं ऐसे सो यथासम्भव जानना।

कुलकर

म.पु./२११-२१२ प्रजानां जीवनोपायमननान्मनवो मताः। आर्याणां कुलसंस्त्यायकृतेः कुलकरा इमे ।२११। कुलानां धारणादेते मताः कुलधरा इति। युगादिपुरुषाः प्रोक्ता युगादौ प्रभविष्णवः ।२१२। —प्रजाके जीवनका उपाय जाननेसे मनु तथा आर्य पुरुषोंको कुलकी भाँति इकट्ठे रहनेका उपदेश देनेसे कुलकर कहलाते थे। इन्होंने अनेक वंश स्थापित किये थे, इसलिए कुलधर कहलाते थे, तथा युगके आदिमें होनेसे युगादि पुरुष भी कहे जाते थे। (२११/२१२/त्रि.सा./७९४)

१४ कुलकर निर्देश—दे० शलाका पुरुष/९।

कुलकुण्ड पार्श्वनाथ विधान—आ० पद्मनन्दि (ई० १२८०-१३३०) कृत पूजापाठ विषयक संस्कृत ग्रन्थ है।

कुलगिरि—दे० वर्षधर।

कुलचन्द्र—ष.खं./प्र.२/प्र.H. L. Jain नन्दिसंघके देशीय गणके अनुसार (दे० इतिहास) यह कुलभूषणके शिष्य तथा माघनन्दि मुनि कोल्लापुरीयके गुरु थे। समय—वि. ११३५-११६५ (ई० १०७८-११०८)—दे०-इतिहास ७/५।

कुलचर्या क्रिया—दे० संस्कार/२।

कुलधर—दे० कुलकर।

कुलभद्राचार्य—सारसमुच्चय टीका/प्र. ४ ब्र. शीतलप्रसाद—आप सारसमुच्चय ग्रन्थके कर्ता एवं आचार्य थे। आपका समय वी. सं./- २४६३ से १००० वर्ष पूर्व वी. १४६३, ई० ९३७ है।

कुलभूषण—१—प. प्र./३९/श्लोक…वंशधर पर्वत पर ध्यानस्थ इनपर अग्निप्रभ देवने घोर उपसर्ग किया (१५) वनवासी रामके आनेपर देव तिरोहित हो गया (७३) तदनन्तर इनको केवलज्ञानकी प्राप्ति हो गयी (७५)। २—नन्दिसंघके देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार(दे०इतिहास) आविद्ध करण पद्मनन्दि कौमारदेव सिद्धान्तिक के शिष्य तथा कुलचन्द्रके गुरु थे। समय—१०८०-११५५ (ई० १०२३-१०७८) (ष.खं./२ H. L. Jain) दे० इतिहास/७/५।

कुलमद—दे० मद।

कुलविद्या—दे० विद्या।

कुलसुत—भाविकालीन सातवें तीर्थंकर थे। अपरनाम कुलपुत्र, प्रभोदय, तथा उदयप्रभ है। दे० तीर्थंकर/५।

कुलोत्तुंग चोल—क्षत्र चूड़ामणि/प्र./७ प्रेमीजी, स्याद्वाद सिद्धि/प्र.२० पं०दरबारीलाल कोठिया—चोलदेशका राजा था। समय—वि. ११२७-११७५ (ई० १०७०-१११८)।

कुवलयमाला—आ० उद्योतन सूरि (ई० ७७८) की रचना है।

कुश—प.पु./सर्ग/श्लोक·· रामचन्द्रजीके पुत्र थे (१००/१७) नारदकी प्रेरणासे रामसे युद्ध किया (१०२/४१-७४) अन्तमें पिताके साथ मिलन हुआ (१०३/४१,४७) अन्तमें क्रमसे राज्य (११६/१-२) व मोक्ष प्राप्ति की। (१२३/८२)।

कुशपुर—१. भरत क्षेत्र मध्य आर्य खण्डका एक देश। दे० मनुष्य/४। २. म.पु./प्र.४९/पं० पन्नालाल—वर्तमान कुशावर (पंजाबका एक प्रसिद्ध नगर)।

कुशाग्रपुर—दे० कुशपुर।

कुसागवंश—भृत्यवंशका अपरनाम था—दे० इतिहास/३/४।

कुशील—दे० ब्रह्मचर्य।

कुशील संगति—मुनियोंको कुशील संगतिका निषेध—दे० संगति।

कुशील साधु—१. कुशील साधुका लक्षण

भ. आ./मू./१३०१-१३०२ इंदियचोरपरद्धा कसायसावदभएण वा केई। उम्मग्गेण पलायंति साधुसत्थस्स दूरेण ।१३०१। तो ते कुसीलपडिसेवणावणे उप्पधेण धावंता। सण्णाणदीसु पडिदा किलेससुत्तेण बुड्डंति ।१३०२। —कितनेक मुनि इन्द्रिय चोरोंसे पीड़ित होते हैं और कषाय रूप श्वापदोंसे ग्रहण किये जाते हैं, तब साधुमार्गका त्याग कर उन्मार्ग में पलायन करते हैं। १३०१। साधुसार्थसे दूर पलायन जिन्होंने किया है ऐसे वे मुनि कुशील प्रतिसेवना-कुशील नामक भ्रष्टमुनिके सदोष आचरणरूप वनमें उन्मार्गसे भागते हुए आहार, भय, मैथुन और परिग्रहकी वांछा रूपी नदीमें पड़कर दुःखरूप प्रवाहमें डूबते हैं। ।१३०२।

स.सि./९/४६/४६०/८ कुशीला द्विविधा—प्रतिसेवनाकुशीलाः कषायकुशीला इति। अविविक्तपरिग्रहाः परिपूर्णोभयाः कथंचिदुत्तरगुणविराधिनः प्रतिसेवनाकुशीलाः। वशीकृतान्यकषायोदयाः संज्वलनमात्रतन्त्राः कषायकुशीलाः।

स.सि./९/४७/४६१/१४ प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन्नुत्तरगुणेषु कांचिद्विराधनां प्रतिसेवते। कषायकुशीलप्रतिसेवना नास्ति। —१. कुशील दो प्रकारके होते हैं—प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील। जो परिग्रहसे घिरे रहते हैं, जो मूल और उत्तर गुणोंमें परिपूर्ण हैं, लेकिन कभी-कभी उत्तर गुणोंकी विराधना करते हैं वे प्रतिसेवनाकुशील हैं। जिन्होंने अन्य कषायोंके उदयको जीत लिया है और जो केवल संज्वलन कषायके आधीन हैं वे कषायकुशील कहलाते हैं (रा.वा./९/४६/३/६३६/२४); (चा.सा./१०१/४) २. प्रतिसेवना कुशील मूलगुणोंकी विराधना न करता हुआ उत्तरगुणोंकी विराधनाकी प्रतिसेवना करनेवाला होता है। कषाय कुशील…के प्रतिसेवना नहीं होती।

रा.वा./९/४६/३/६३६/२९ ग्रीष्मे जङ्घाप्रक्षालनादिसेवनाद्वशीकृतान्यकषायोदयाः संज्वलनमात्रतन्त्रत्वात् कषायकुशीलाः। —ग्रीष्म कालमें जंघाप्रक्षालन आदिका सेवन करनेकी इच्छा होनेसे जिनके संज्वलन-कषाय जगती है और अन्य कषायें वशमें हो चुकी हैं वे कषाय-कुशील हैं।

भा.पा./टी./१४/१३७/११ क्रोधादिकषायकलुषितात्मा व्रतगुणशीलैः परिहीनः संघस्याविनयकारी कुशील उच्यते। — क्रोधादि कषायोंसे कलुषित आत्मावाले, तथा व्रत, गुण और शीलोंसे जो रहित हैं, और संघका अविनय करनेवाले हैं वे कषाय कुशील कहलाते हैं।

रा. वा./हिं/९/४६/७६४ "यहाँ परिग्रह शब्दका अर्थ गृहस्थवत् नहीं लेना। मुनिनिके कमण्डल पीछी पुस्तकका आलम्बन है, गुरु शिष्यादिका सम्बन्ध है, सो ही परिग्रह जानना।

२. कुशील साधु सम्बन्धी विषय—दे० साधु/५।

कुश्रुत—दे० श्रुतज्ञान।

कुष्मांड—पिशाच जातीय व्यंतर देवोंका भेद—दे० मनुष्य/४।

कुसंगति — दे० संगति।

कुसुम—भरतक्षेत्रके वरुण पर्वतस्थ एक नदी—दे० मनुष्य/४।

कुहा—भरत क्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

कूट—ध.१३/५,३,२१/२४/८ कागंदुरादिधरणट्ठमोड्डिदं कूडं णाम।—चूहा आदिके धरनेके लिए जो बनाया जाता है उसे कूट कहते हैं।

ध./४/१,४,१,६४१/२९६/१ मेरु-कुलसेल-विंझ-सज्झादिपव्वया कूडाणि णाम।—मेरुपर्वत, कुलपर्वत, विन्ध्यपर्वत, और सह्यपर्वत आदि कूट कहलाते हैं।

कूट—१. पर्वतपर स्थित चोटियोंको कूट कहते हैं। २. मध्य आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४। ३. विभिन्न पर्वतोंपर कूटोंका अवस्थान व नाम आदि—दे० लोक/५।

कूटमातंगपुर—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

कूटलेख क्रिया—दे० क्रिया/३।

कूर्मोन्नत योनि—दे० योनि।

[illegible]—एक विद्या है—दे० विद्या।

कृत—स.सि./६/८/३२५/३ कृत वचनं स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थम्—कर्ताकी कार्य विषयक स्वतन्त्रता दिखलानेके लिए सूत्रमें कृत वचन दिया है। (रा. वा./६/८/७/५१४)

रा.वा./६/८/७/५१४/७ स्वातन्त्र्यविशिष्टेनात्मना यत्प्रादुर्भावितं तत्कृतमित्युच्यते।—आत्माने जो स्वतन्त्र भावसे किया वह कृत है (चा. सा./८८/५)

कृतक—स.भ.। अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतकमित्युच्यते।—जो पदार्थ अपने स्वभावकी सिद्धि में दूसरेके व्यापारकी इच्छा करता है, उसे कृतक कहते हैं।

कृतकृत्य—भगवान्‌की कृतकृत्यता—ति. प./१/१…णिट्ठियकज्जा…।…।१।—जो करने योग्य कामोंको कर चुके हैं वे कृतकृत्य हैं।

पं.वि./१/२ नो किंचित्करकार्यमस्ति गमनप्राप्यं न किंचिद्दृशोर्दृश्यं यस्य न कर्णयोः किमपि हि श्रोतव्यमप्यस्ति न। तेनालम्बितपाणिरुज्झितगतिर्नासाग्रदृष्टी रहः। संप्राप्तोऽतिनिराकुलो विजयते ध्यानैकतानो जिनः।२।—हाथोंसे कोई भी करने योग्य कार्य शेष न रहनेसे जिन्होंने अपने हाथोंको नीचे लटका रखा है, गमनसे प्राप्त करने योग्य कुछ भी कार्य न रहनेसे जो गमन रहित हो चुके हैं, नेत्रोंके देखने योग्य कोई भी वस्तु न रहनेसे जो अपनी दृष्टिको नासाग्रपर रखा करते हैं, तथा कानोंके सुनने योग्य कुछ भी शेष न रहनेसे जो आकुलता रहित होकर एकान्त स्थानको प्राप्त हुए थे; ऐसे वे ध्यानमें एकचित्त हुए भगवान् जयवन्त होवें।

कृतकृत्य छद्मस्थ—(क्षीणमोह)—दे० छद्मस्थ।

कृतकृत्य मिथ्यादृष्टि—दे० मिथ्यादृष्टि/१/सातिशय मिथ्यादृष्टि

कृतकृत्य वेदक—दे० सम्यग्दर्शन/IV/४।

कृतनाशहेत्वाभास—श्लो. वा./२/१/७/२३/१ कर्तुः क्रियाफलानुभवितृभावात्वे कृतनाशः।—करै कोई और फल कोई भोगे सो कृतनाश दोष है।

कृतमातृकधारा—दे० गणित/II/५।

कृतमाला—भरत क्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

कृतमालय—विजयार्ध पर्वतस्थ तमिस्राकूटका स्वामी देव—दे० लोक/५/४।

कृतांतवक्त्र—प.पु./सर्ग/श्लोक…रामचन्द्रजीका सेनापति था (९७/४४) दीक्षा ले, मरणकर देवपद प्राप्त किया (१०७/१४-१६) अपनी प्रतिज्ञानुसार लक्ष्मणकी मृत्युपर रामचन्द्रको सम्बोधकर उनका मोह दूर किया (१०७/११८-१११)।

कृति—१. किसी राशिके वर्ग या Square को कृति कहते हैं। विशेष—दे० गणित II/१/७ २. ष. खं./९/सू.६६/२७४ जो राशि वर्गित होकर वृद्धिको प्राप्त होती है। और अपने वर्गमेंसे अपने वर्गमूलको कम करके पुनः वर्ग करनेपर भी वृद्धिको प्राप्त होती है उसे कृति कहते हैं। '१' या '२' ये कृति नहीं हैं। '३' आदि समस्त संख्याएँ कृति हैं। ३. ष. खं./९/सू०६६/२७४ 'एक' संख्याका वर्ग करनेपर वृद्धि नहीं होती तथा उसमेंसे (उसके ही) वर्गमूलके कमकर देने पर वह निर्मूल नष्ट हो जाती है। इस कारण 'एक' संख्या नोकृति है।

कृति १. कृतिके भेद प्रभेद

ष. खं./९/४.१/सू.···/२३७-४५१
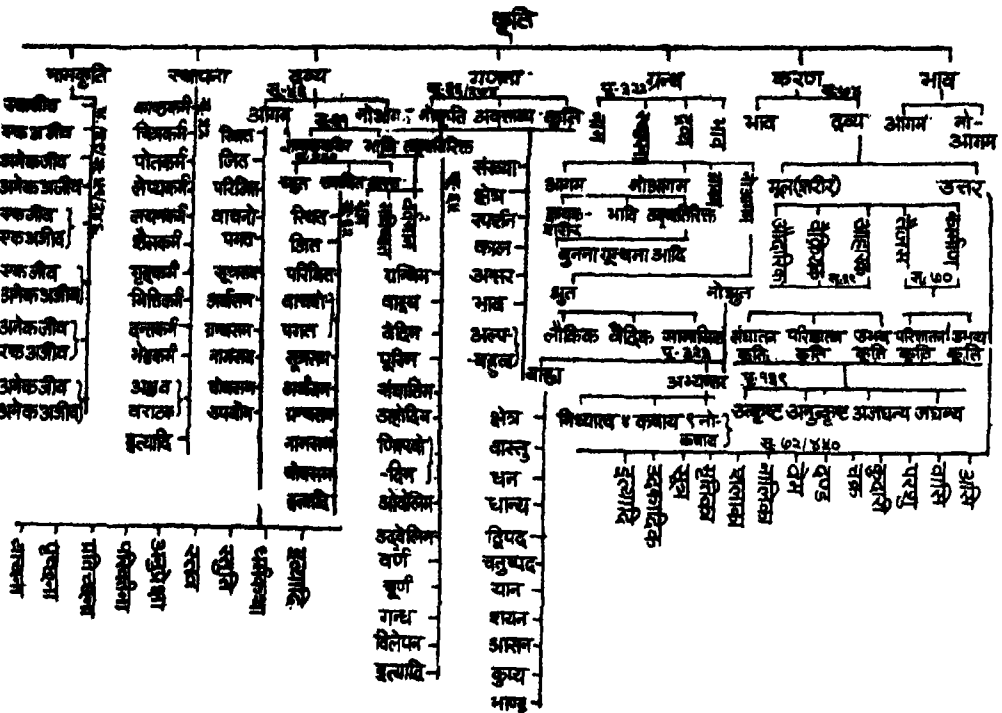
२. कृति सामान्यका लक्षण

ध./९/४.१.६८/३२६/१ "क्रियते कृतिरिति व्युत्पत्तेः अथवा मूलकरण मेव कृतिः, क्रियते अनया इति व्युत्पत्तेः।—जो किया जाता है वह कृति शब्दकी व्युत्पत्ति है, अथवा मूल कारण ही कृति है, क्योंकि जिसके द्वारा किया जाता है वह कृति है, ऐसी कृति शब्दकी व्युत्पत्ति है।

★ **नाक्षेपरूप कृतिके लक्षण** — दे० निक्षेप।

★ **स्थित जित आदि कृति**—दे० निक्षेप/५।

★ **वाचना पृच्छना कृति**—दे० वह वह नाम।

★ **ग्रन्थकृति** —दे० ग्रन्थ।

★ **संघातन परिशातन कृति**—दे० वह वह नाम।

कृतिकर्म —श्रुतज्ञानके १४ पूर्वोंमेंसे बारहवें पूर्वका छठा प्रकीर्णक —दे० श्रुतज्ञान/III/१।

कृतिकर्म—देव निकादि क्रियाओंमें साधुओंको किस प्रकारके आसन, मुद्रा आदिका ग्रहण करना चाहिए तथा किस अवसरपर कौन भक्ति व पाठादिका उच्चारण करना चाहिए, अथवा प्रत्येक भक्ति आदिके साथ किस प्रकार आवर्त, नति व नमस्कार आदि करना चाहिए, इस सब विधि विधानको कृतिकर्म कहते हैं। इसी विषयका विशेष परिचय इस अधिकारमें दिया गया है।

१. भेद व लक्षण—

१. कृतिकर्मका लक्षण

ष. खं./१३/५,४/सू. २८/८८ तमादाहीणं पदाहिणं तिक्खुत्तं तियोणदं चदुसिरं बारसावत्तं तं सव्वं किरियाकम्मं णाम/२८/।—आत्माधीन होना, प्रदक्षिणा करना, तीन बार करना (त्रिःकृत्वा) तीन बार अवनति (नमस्कार), चार बार सिर नवाना (चतुः शिर) और १२ आवर्त ये सब क्रियाकर्म कहलाते हैं। (अन.ध./९/१४)।

क. पा/१/१,१/§९१/११८/२ जिणसिद्धाइरियं बहुसुदेसु वंदिज्जमाणेसु। जं कीरइ कम्मं तं किरियम्मं णाम।—जिनदेव, सिद्ध, आचार्य और उपाध्यायकी (नव देवता की) वन्दना करते समय जो क्रिया की जाती है, उसे कृतिकर्म कहते हैं। (गो. जी./जी.प्र./३६७/७९०/५)

मू. आ./भाषा./५७६ जिसमें आठ प्रकारके कर्मोंका छेदन हो वह कृतिकर्म है।

२. कृतिकर्म स्थितिकल्पका लक्षण

भ. आ./टी./४२१/६१४/१० चरणस्थेनापि विनयो गुरूणां महत्तराणां शुश्रूषा च कर्तव्येति पञ्चमः कृतिकर्मसंज्ञितः स्थितिकल्पः।—चारित्र सम्पन्न मुनिका, अपने गुरुका और अपनेसे बड़े मुनियोंका विनय करना शुश्रूषा करना यह कर्तव्य है। इसको कृतिकर्म स्थितिकल्प कहते हैं।

२. कृतिकर्म निर्देश—

१. कृतिकर्मके नौ अधिकार—

मू.आ./५७५-५७६ किदियम्मं चिदियम्मं पूयाकम्मं च विणयकम्मं च। कादव्वं केण कस्स कधं व कहिं व कदि खुत्तो।५७६। कदि ओणदं कदि सिरं कदिए आवत्तगेहिं परिसुद्धं। कदि दोसविप्पमुक्कं किदियम्मं होदि कादव्वं।५७७।—जिससे आठ प्रकारके कर्मोंका छेदन हो वह कृतिकर्म है, जिससे पुण्यकर्मका संचय हो वह चितकर्म है, जिससे पूजा करना वह माला चन्दन आदि पूजाकर्म है, शुश्रूषाका करना विनयकर्म है। १. वह क्रिया कर्म कौन करे, २. किसका करना, ३. किस विधिसे करना, ४. किस अवस्थामें करना, ५. कितनी बार करना, (कृतिकर्म विधान); ६. कितनी अवनतियोंसे करना, ७. कितनी बार मस्तकमें हाथ रख कर करना; ८. कितने आवर्तोंसे शुद्ध होता है; ९. कितने दोष रहित कृतिकर्म करना (अतिचार) इस प्रकार नौ प्रश्न करने चाहिए (जिनको यहाँ चार अधिकारोंमें गर्भित कर दिया गया है।)

१. कृतिकर्मके प्रमुख अंग—

ष.खं./१३/५.४/सू.२८/८८ तमादाहीणं पदाहीणं तिक्खुत्तं तियोणदं चदुसिरं बारसावत्तं तं सव्वं किरियाकम्मं णाम।—आत्माधीन होना, प्रदक्षिणा करना तीन बार करना (त्रिःकृत्वा), तीन बार अवनति (या नमस्कार), चार बार सिर नवाना (चतुःशिर), और बारह आवर्त ये सब क्रियाकर्म हैं। (समवायांग सूत्र २)
(क.पा./१/१.१/§९१/११८/२) (चा.सा./१५७/१) (गो. जी०/जी.प्र./३६७/७९०/५)

मू. आ./६०१,६८६ दोणदं तु जधाजादं बारसावत्तमेव य। चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदियम्मं पउंजदे।६०१। तियरणसव्वविसुद्धो दव्वं खेत्ते जधुत्तकालम्हि। मोणेणव्वाखित्तो कुज्जा आवासया णिच्चं।—ऐसे क्रियाकर्मको करे कि जिसमें दो अवनति (भूमिको छूकर नमस्कार) हैं, बारह आवर्त हैं, मन वचन कायकी शुद्धतासे चार शिरोनति हैं इस प्रकार उत्पन्न हुए बालकके समान करना चाहिए।६०१। मन, वचन काय करके शुद्ध, द्रव्य क्षेत्र यथोक्त कालमें नित्य ही मौनकर निराकुल हुआ साधु आवश्यकोंको करे।६८४। (भ. आ./११६/२७५/११ पर उद्धृत) (चा.सा./२५७/६ पर उद्धृत)

अन.ध./८/७८ योग्यकालासनस्थानमुद्रावर्तशिरोनति। विनयेन यथाजातः कृतिकर्मामलं भजेत्।७८।—योग्य काल, आसन, स्थान (शरीरकी स्थिति बैठे हुए या खड़े हुए), मुद्रा, आवर्त, और शिरोनति रूप कृतिकर्म विनय पूर्वक यथाजात रूपमें निर्दोष करना चाहिए।

३— कृतिकर्म कौन करे (स्वामित्व)—

मू. आ./५९० पंचमहव्वदगुत्तो संविग्गोऽणालसो अमाणी य। किदियम्म णिज्जरट्ठी कुणइ सदा ऊणरादिणिओ।५९०। —पंच महाव्रतोंके आचरणमें लीन, धर्ममें उत्साह वाला, उद्यमी, मानकषाय रहित, निर्जराको चाहने वाला, दीक्षासे लघु ऐसा संयमी कृतिकर्मको करता है। नोट— मूलाचार ग्रन्थ मुनियोंके आचारका ग्रन्थ है, इसलिए यहाँ मुनियोंके लिए ही कृतिकर्म करना बताया गया है। परन्तु श्रावक व अविरत सम्यग्दृष्टियोंको भी यथाशक्ति कृतिकर्म अवश्य करना चाहिए।

ध./९.४,३१/९४/४ किरियाकम्मदव्वट्ठदा असंखेज्जा। कुदो। पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्त सम्माइट्ठीसु चेव किरियाकम्मुवलंभादो।—क्रियाकर्मकी द्रव्यार्थता (द्रव्य प्रमाण) असंख्यात है, क्योंकि पल्योपमके असंख्यातवें भाग मात्र सम्यग्दृष्टियोंमें ही क्रियाकर्म पाया जाता है।

चा.सा./१५८/६ सम्यग्दर्शीनां क्रियार्हा भवन्ति।

चा. सा./१५६/४ एवमुक्ताः क्रिया यथायोग्यं जघन्यमध्यमोत्तम-श्रावकैः संयतैश्च करणीयाः।—सम्यग्दृष्टियोंके ये क्रिया करने योग्य होती हैं।...इस प्रकार उपरोक्त क्रियाएँ अपनी-अपनी योग्यतानुसार उत्तम, मध्यम, जघन्य श्रावकोंको तथा मुनियोंको करनी चाहिए।

अन. ध./८/१२६/८१७ पर उद्धृत—सध्याधेरिव कल्पत्वे विदृष्टेरिव लोचने। जायते यस्य संतोषो जिनवक्त्रविलोकने। परिषहसहः शान्तो जिनसूत्रविशारदः। सम्यग्दृष्टिरनाविष्टो गुरुभक्तः प्रियंवदः॥ आवश्यकमिदं धीरः सर्वकर्मनिषूदनम्। सम्यक् कर्तुमसौ योग्यो नापरस्यास्ति योग्यता।—रोगीको निरोगताकी प्राप्तिसे; तथा अन्धेको नेत्रोंकी प्राप्तिसे जिस प्रकार हर्ष व संतोष होता है, उसी प्रकार जिनमुख विलोकनसे जिसको सन्तोष होता हो २. परीषहोंको जीतनेमें जो समर्थ हो, ३. शान्त परिणामी अर्थात् मन्दकषायी हो; ४. जिनसूत्र विशारद हो; ५. सम्यग्दर्शनसे युक्त हो; ६. आवेश रहित हो; ७. गुरुजनोंका भक्त हो; ८. प्रिय वचन बोलने वाला हो; ऐसा वही धीर-वीर सम्पूर्ण कर्मोंको नष्ट करने वाले इस आवश्यक कर्मको करनेका अधिकारी हो सकता है। और किसीमें इसकी योग्यता नहीं रह सकती।

४. कृतिकर्म किसका करे—

मू.आ./५९१ आइरियउवज्झायाणं पवत्तयथेरगणधरादीणं। एदेसिं किदियम्मं कादव्वं णिज्जरट्ठाए।५९१।—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणधर आदिकका कृतिकर्म निर्जराके लिए करना चाहिए, मन्त्रके लिए नहीं। (क.पा./१/१,१/§९१/११८/२)

गो.जी./जी.प्र./३६७/७९०/२ तत्त्व अर्हत्सिद्धाचार्यबहुश्रुतसाध्वादि-नवदेवतावन्दनानिमित्त...क्रियां विधानं च वर्णयति।—इस (कृतिकर्म प्रकीर्णकमें) अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु आदि नवदेवता (पाँच परमेष्ठी, शास्त्र, चैत्य, चैत्यालय तथा जिनधर्म) की वन्दनाके निमित्त क्रिया विधान निरूपित है।

५. किस किस अवसर पर करे—

मू.आ०/५९९ आलोयणायकरणे पडिपुच्छा पूजणे य सज्झाए अवराधे य गुरूणं वंदणमेदेसु ठाणेसु।५९९।—आलोचनाके समय, पूजाके समय, स्वाध्यायके समय, क्रोधादिक अपराधके समय—इतने स्थानोंमें आचार्य उपाध्याय आदिको वंदना करनी चाहिये।

भ.आ./वि./११६/२७८/२२ अतिचारनिवृत्तये कायोत्सर्गा बहुप्रकारा भवन्ति। रात्रिदिनपक्षमासचतुष्टयसंवत्सरादिकालगोचरातिचारभेदापेक्षया।

—अतिचार निवृत्तिके लिए कायोत्सर्ग बहुत प्रकारका है। रात्रि कायोत्सर्ग, पक्ष, मास, चतुर्मास और संवत्सर ऐसे कायोत्सर्गके बहुत भेद हैं। रात्रि, दिवस, पक्ष, मास, चतुर्मास, वर्ष इत्यादिमें जो व्रतमें अतिचार लगते हैं उनको दूर करनेके लिए ये कायोत्सर्ग किये जाते हैं।

६. नित्य करनेकी प्रेरणा—

अन.ध./८/७७ नित्येनेत्थमथेतरेण दुरितं निर्मूलयन् कर्मणा,...।...शुभगं कैवल्यमास्तिघ्नुते।७७। नित्य नैमित्तिक क्रियाओंके द्वारा पाप कर्मोंका निर्मूलन करते हुए...कैवल्य ज्ञानको प्राप्त कर लेता है।

७. कृतिकर्मकी प्रवृत्ति आदि व अन्तिम तीर्थोंमें ही कही गयी है—

मू.आ./६२९-६३० मज्झिमया दिढबुद्धी एयग्गमणा अमोहलक्खा य। तह्मा हु जमाचरंति तं गरहंता वि सुज्झंति।६२९। पुरिमचरिमादु जह्मा चलचित्ता चेव मोहलक्खा य। तो सव्वपडिक्कमणं अंधलघोडय दिट्ठंतो।६३०।—मध्यम तीर्थंकरोंके शिष्य स्मरण शक्तिवाले हैं, स्थिर चित्त वाले हैं, परीक्षापूर्वक कार्य करने वाले हैं, इस कारण जिस दोषको प्रगट आचरण करते हैं, उस दोषसे अपनी निन्दा करते हुए शुद्ध चारित्रके धारण करने वाले होते हैं।६२९। आदि-अन्तके तीर्थंकरोंके शिष्य चलायमान चित्त वाले होते हैं, मूढबुद्धि होते हैं, इसलिए उनके सब प्रतिक्रमण दण्डकका उच्चारण है। इसमें अन्धे घोड़ेका दृष्टान्त है। कि—एक वैद्यजी गाँव चले गये। पीछे एक सेठ अपने घोड़ेको लेकर इलाज करानेके लिए वैद्यजीके घर पधारे। वैद्यपुत्रको ठीक औषधिका ज्ञान तो था नहीं। उसने आलमारीमें रखी सारी ही औषधियोंका लेप घोड़ेकी आँखपर कर दिया। इससे उस घोड़ेकी आँखें खुल गईं। इसी प्रकार दोष व प्रायश्चित्तका ठीक-ठीक ज्ञान न होनेके कारण आगमोक्त आवश्यकादिको ठीक-ठीक पालन करते रहनेसे जीवनके दोष स्वतः शान्त हो जाते हैं। (भ.आ./वि./४२१/६१६/५)

८. आवर्तादि करनेकी विधि—

अन.ध./८/८९ त्रिः संपुटीकृतौ हस्तौ भ्रमयित्वा पठेत् पुनः। साम्यं पठित्वा भ्रमयेत्तौ स्तवेऽप्येतदाचरेत्।—आवश्यकोंका पालन करनेवाले तपस्वियोंको सामायिक पाठका उच्चारण करनेके पहले दोनों हाथोंको मुकुलित बनाकर तीन बार घुमाना चाहिए। घुमाकर सामायिकके 'णमो अरहंताणं' इत्यादि पाठका उच्चारण करना चाहिए। पाठ पूर्ण होनेपर फिर उसी तरह मुकुलित हाथोंको तीन बार घुमाना चाहिए। यही विधि स्तव दण्डकके विषयमें भी समझनी चाहिए।

९. अधिक बार भी आवर्त आदि करनेका निषेध नहीं—

ध.१३/५,४,२८/८९/१४ एवमेगं किरियाकम्मं चदुसिरं होदि। ण अण्णत्थ णवणपडिसेहो एदेण कदो, अण्णत्थणवणणियमस्स पडिसेहाकरणादो।—इस प्रकार एक क्रियाकर्म चतुःसिर होता है। इससे अतिरिक्त नमनका प्रतिषेध नहीं किया गया है, क्योंकि शास्त्रमें अन्यत्र नमन करनेके नियमका कोई प्रतिषेध नहीं है। (चा सा./१५७.५/); (अन.ध./८/९१)

३. कृतिकर्म व ध्यान योग्य द्रव्य क्षेत्रादि रूप सामग्री

१. योग्यमुद्रा व उसका प्रयोजन

१. शरीर निश्चल सीधा नासाग्रदृष्टि सहित होना चाहिए

भ.आ./मू./२०८९/१८०३ उज्जुअआयददेहो अचलं बंधेत्तु पलियंकं।—शरीर व कमरको सीधी करके तथा निश्चल करके और पर्यंकासन बाँधकर ध्यान किया जाता है।

रा. वा./९/४४/१/६३४/२० यथासुखमुपविष्टो बद्धपल्यङ्कासनः समृजं प्रणिधाय शरीरयष्टिमस्तब्धां स्वाङ्के वामपाणितलस्योपरि दक्षिणपाणितलमुत्तानं समुपादाय(नैते)नात्युन्मीलन्नातिनिमीलन् दन्तैर्दन्ताग्राणि संदधानः ईषदुन्नतमुखः प्रगुणमध्योऽस्तब्धमूर्तिः प्रणिधानगम्भीरशिरोधरः प्रसन्नवक्त्रवर्णः अनिमिषस्थिरसौम्यदृष्टिः विनिहितनिद्रालस्यकामरागरत्यरतिशोकहास्यभयद्वेषविचिकित्सः मन्दमन्दप्राणापानप्रचार इत्येवमादिकृतपरिकर्मा साधुः...।—सुखपूर्वक पल्यंकासनसे बैठना चाहिए। उस समय शरीरको सम ऋजु और निश्चल रखना चाहिए। अपनी गोदमें बायें हाथके ऊपर दाहिना हाथ रखे। नेत्र न अधिक खुले न अधिक बन्द। नीचेके दाँतोंपर ऊपरके दाँतोंको मिलाकर रखे। मुँहको कुछ ऊपरकी ओर किये हुए तथा सीधी कमर और गम्भीर गर्दन किये हुए, प्रसन्न मुख और अनिमिष स्थिर सौम्य दृष्टि होकर (नासाग्र दृष्टि होकर (ज्ञा./२८/३५,); निद्रा, आलस्य,

काम, राग, रति, अरति, शोक, हास्य, भय, द्वेष, विचिकित्सा आदिको छोड़कर मन्दमन्द श्वासोच्छ्वास लेनेवाला साधु ध्यानकी तैयारी करता है। (म.पु./२१/६०-६८); (चा.सा./१७१/६); (ज्ञा./२८/३४-३७); (त. अनु./९२-९३)

म.पु./२१/६६ अपि व्युत्सृष्टकायस्य समाधिप्रतिपत्तये। मन्दोच्छ्वास-निमेषादिवृत्तेर्नास्ति निषेधनम् ।६६। –(प्राणायाम द्वारा श्वास निरोध नहीं करना चाहिए दे० प्राणायाम), परन्तु शरीरसे ममत्व छोड़नेवाले मुनिके ध्यानकी सिद्धिके लिए मन्द-मन्द उच्छ्वास लेनेका और पलकोंकी मन्द मन्द टिमकारका निषेध नहीं किया है।

२. निश्चल मुद्राका प्रयोजन

म.पु./२१/६७-६८ समावस्थितकायस्य स्यात् समाधानमङ्गिनः। दुःस्थिताङ्गस्य तद्भङ्गाद् भवेदाकुलता धियः ।६७। ततो यथोक्तपल्यङ्कलक्षणासनमास्थितः। ध्यानाभ्यासं प्रकुर्वीत योगी व्याक्षेपमुत्सृजन् ।६८। –ध्यानके समय जिसका शरीर समरूपसे स्थित होता है अर्थात् ऊँचा-नीचा नहीं होता है, उसके चित्तकी स्थिरता रहती है, और जिसका शरीर विषमरूपसे स्थित है उसके चित्तकी स्थिरता भंग हो जाती है, जिससे बुद्धिमें आकुलता उत्पन्न होती है, इसलिए मुनियोंको ऊपर कहे हुए पर्यंकासनसे बैठकर और चित्तकी चंचलता छोड़कर ध्यानका अभ्यास करना चाहिए।

३. अवसरके अनुसार मुद्राका प्रयोग

अन.ध./८/८७ स्वमुद्रा वन्दने मुक्ताशुक्तिः सामायिकस्तवे। योगमुद्रास्यया स्थित्या जिनमुद्रा तनूज्झने ।८७। –(कृतिकर्म रूप) आवश्यकोंका पालन करनेवालोंको वन्दनाके समय वन्दना मुद्रा और 'सामायिक दण्डक' पढ़ते समय तथा 'थोस्सामि दण्डक' पढ़ते समय मुक्ताशुक्ति मुद्राका प्रयोग करना चाहिए। यदि बैठकर कायोत्सर्ग किया जाये तो जिनमुद्रा धारण करनी चाहिए। (मुद्राओंके भेद व लक्षण—दे० मुद्रा)

२. योग्य आसन व उसका प्रयोजन—

१. पर्यंक व कायोत्सर्गकी प्रधानता व उसका कारण

मू.आ./६०२ दुविहठाण पुनरुत्तं। –दो प्रकारके आसनोंमेंसे किसी एकसे कृतिकर्म करना चाहिए।

भ.आ./मू./२०८६/१८०३ बंधेत्तु पलिअंकं। –पर्यंकासन बान्धकर किया जाता है। (रा.वा./६/४४/१/६३४/२०); (म.पु./२१/६०)

म पु./२१/६९-७२ पल्यङ्क इव दिध्यासोः कायोत्सर्गोऽपि संमतः। संप्रयुक्त सर्वाङ्गो द्वात्रिंशद्दोषवर्जितः ।६९। विसंस्थुलासनस्थस्य ध्रुवं गात्रस्य निग्रहः। तन्निग्रहान्मनःपीडा ततश्च विमनस्कता ।७०। वैमनस्ये च किं ध्यायेत् तस्मादिष्टं सुखासनम्। कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कः ततोऽन्यद्विषमासनम् ।७१। तदवस्थाद्वयस्यैव प्राधान्यं ध्यायतो यतेः। प्रायस्तत्रापि पल्यङ्कम् आमनन्ति सुखासनम् ।७२। –ध्यान करनेकी इच्छा करनेवाले मुनिको पर्यंक आसनके समान कायोत्सर्ग आसन करनेकी भी आज्ञा है। परन्तु उसमें शरीरके समस्त अंग सम व ३२ दोषोंसे रहित रहने चाहिए (दे० व्युत्सर्ग १/१०) विषम आसनसे बैठने वालेके अवश्य ही शरीरमें पीड़ा होने लगती है। उसके कारण मनमें पीड़ा होती है और उससे व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है। ।७०। आकुलता उत्पन्न होनेपर क्या ध्यान किया जा सकता है? इसलिए ध्यानके समय सुखासन लगाना ही अच्छा है। कायोत्सर्ग और पर्यंक ये दो सुखासन हैं। इनके सिवाय बाकीके सब आसन विषम अर्थात् दुःख देनेवाले हैं ।७१। ध्यान करने वालेको इन्हीं दो आसनोंकी प्रधानता रहती है। और उन दोनोंमें भी पर्यंकासन अधिक सुखकर माना जाता है ।७२। (ध. १३/५.४.२६/६६/२); (ज्ञा/२८/१२-१३,३१-३२) (का. अ/मू/३५६); (अन. ध/८/८४)

२. समर्थ जनोंके लिए आसनका कोई नियम नहीं:

ध. १३/५,४.२६/१४/६६ जत्थिय देहावत्था जया ण झाणावरोहिणी होइ। झाएज्जो तदवत्थो ट्ठियो णिसण्णो णिवण्णो वा –जैसी भी देहकी अवस्था जिस समय ध्यानमें बाधक नहीं होती उस अवस्थामें रहते हुए खड़ा होकर या बैठकर (या म.पु.के अनुसार लेट कर भी) कायोत्सर्ग पूर्वक ध्यान करे। (म.पु/२१/७५); (ज्ञा /२८/११)

भ. आ./मू./२०९०/१८०४ वीरासणमादीयं आसणसमपादमादियं ठाणं। सम्मं अधिदिट्ठो अध सेज्जमुत्ताणसयणादि ।२०९०। –वीरासन आदि आसनोंसे बैठकर अथवा समपाद आदिसे खड़े होकर अर्थात् कायोत्सर्ग आसनसे किंवा उत्तान शयनादिकसे अर्थात् लेटकर भी धर्मध्यान करते हैं ।२०९०।

म.पु/२१/७३-७४ वज्रकाया महासत्त्वाः सर्वावस्थान्तरस्थिताः। श्रूयन्ते ध्यानयोगेन संप्राप्ताः पदमव्ययम् ।७३। बाहुल्यापेक्षया तस्माद् अवस्थाद्वयसंगरः। सक्तानां तूपसर्गाद्यैः तद्वैचित्र्यं न दुष्यति ।७४। –आगममें ऐसा भी सुना जाता है कि जिनका शरीर वज्रमयी है, और जो महाशक्तिशाली हैं; ऐसे पुरुष सभी आसनों से (आसनके वीरासन, कुक्कुटासन आदि अनेकों भेद—दे० आसन) विराजमान होकर ध्यानके बलसे अविनाशीपदको प्राप्त हुए हैं ।७३। इसलिए कायोत्सर्ग और पर्यंक ऐसे दो आसनोंका निरूपण असमर्थ जीवोंकी अधिकतासे किया गया है। जो उपसर्ग आदिके सहन करनेमें अतिशय समर्थ हैं; ऐसे मुनियोंके लिए अनेक प्रकारके आसनोंके लगानेमें दोष नहीं है ।७४। (ज्ञा/२८१३-१७)

अन.ध/८/८३ त्रिविधं पद्मपर्यङ्कवीरासनस्वभावकम्। आसनं यत्नतः कार्यं विदधानेन वन्दनाम्। –वन्दना करनेवालोंको पद्मासन पर्यंकासन और वीरासन इन तीन प्रकारके आसनोंमेंसे कोई भी आसन करना चाहिए।

३. योग्य पीठ

रा. वा./९/४४/१/६३४/१९ समन्तात् बाह्यान्तःकरणविक्षेपकारणविरहिते भूमितले शुभानुकूलस्पर्शे यथासुखमुपविष्टो। –सब तरफसे बाह्य और आभ्यन्तर बाधाओंसे शून्य, अनुकूल स्पर्शवाली पवित्र भूमिपर सुख पूर्वक बैठना चाहिए। (म.पु./२१/६०)

ज्ञ./२८/९ दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले। समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ।९। –धीर वीर पुरुष समाधिकी सिद्धिके लिए काष्ठके तख्तेपर, तथा शिलापर अथवा भूमिपर वा बालू रेतके स्थानमें भले प्रकार स्थिर आसन करै। (त. अनु./९२)

अन. ध./८/८२ विजन्तुकशब्दमच्छिद्रं सुखस्पर्शमकीलकम्। स्थेयस्तार्णाद्यधिष्ठेयं पीठं विनयवर्धनम्। –विनयकी वृद्धिके लिए, साधुओंको तृणमय, शिलामय या काष्ठमय ऐसे आसनपर बैठना चाहिए, जिसमें क्षुद्र जीव न हों, जिसमें चरचर शब्द न होता हो, जिसमें छिद्र न हों, जिसका स्पर्श सुखकर हो, जो कील या काँटे रहित हो तथा निश्चल हो, हिलता न हो।

४. योग्य क्षेत्र तथा उसका प्रयोजन

१. गिरि गुफा आदि शून्य व निर्जन्तु स्थान :

र. क. श्रा/९९ एकान्ते सामायिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च। चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया। –क्षुद्र जीवोंके उपद्रव रहित एकान्तमें तथा वनोंमें अथवा घर तथा धर्मशालाओंमें और चैत्यालयोंमें या पर्वतकी गुफा आदिमें प्रसन्न चित्तसे सामायिक करना चाहिए। (का. अ./मू./३५३), (चा. सा/१९/२)

रा. वा./९/४४/१/६३४/१७ पर्वतगुहाकन्दरदरीद्रुमकोटरनदीपुलिनपितृवनजीर्णोद्यानशून्यागारादीनामन्यतमस्मिन्नवकाशे···। –पर्वत, गुहा, वृक्षकी कोटर, नदीका तट, नदीका पुल, श्मशान, जीर्णोद्यान और

शून्यागार आदि किसी स्थानमें भी ध्यान करता है। (ध.१३/५,४,२६/६६/१), (म.पु./२१/५७), (चा.सा./१७१/१), (त.अनु./६०)

ज्ञा./२८/१-७ सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते। कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धिः प्रजायते।१। सागरान्ते वनान्ते वा शैलशृङ्गान्तरेऽथवा। पुलिने पद्मखण्डान्ते प्राकारे शालसंकटे।२। सरितां संगमे द्वीपे प्रशस्ते तरुकोटरे। जीर्णोद्याने श्मशाने वा गुहागर्भे विजन्तुके।३। सिद्धकूटे जिनागारे कृत्रिमेऽकृत्रिमेऽपि वा। महर्द्धिकमहाधीरयोगिसंसिद्धवाञ्छिते।४। —सिद्धक्षेत्र, पुराण पुरुषों द्वारा सेवित, महा तीर्थक्षेत्र, कल्याणकस्थान।१। सागरके किनारे पर वन, पर्वतका शिखर, नदीके किनारे, कमल वन, प्राकार (कोट), शालवृक्षोंका समूह, नदियोंका संगम, जलके मध्य स्थित द्वीप, वृक्षके कोटर, पुराने वन, श्मशान, पर्वतकी गुफा, जीवरहित स्थान, सिद्धकूट, कृत्रिम व अकृत्रिम चैत्यालय,—ऐसे स्थानोंमें ही सिद्धिकी इच्छा करनेवाले मुनि ध्यानकी सिद्धि करते हैं। (अन.ध./८/८१) (दे० वसतिका/४)

२. निर्बाध व अनुकूल

भ.आ./मू./२०८६/१८०३ सुचिए समे विचित्ते देसे णिज्जंतुए अणुणाए।२०८६। —पवित्र, सम, निर्जन्तुक तथा देवता आदिसे जिसके लिए अनुमति ले ली गयी है, ऐसे स्थानपर मुनि ध्यान करते हैं। (ज्ञा./२७/३२)

ध./१३/५,४,२६/६६-६७/६६ तो जत्थ समाहाणं होज्ज मणोवयणकायजोगाणं। भूदोवघायरहिओ सो देसो ज्झायमाणस्स।१६। णिच्चं वियजुवइपसुणवुंसयकुसीलवज्जियं जइणो। ट्ठाणं वियणं भणियं विसेसदो ज्झाणकालम्मि।१७। —मन, वचन व कायका जहाँ समाधान हो और जो प्राणियोंके उपघातसे रहित हो वही देश ध्यान करनेवालोंके लिए उचित है।१६। जो स्थान श्वापद, स्त्री, पशु, नपुंसक और कुशील जनोंसे रहित हो और जो निर्जन हो, यति जनोंको विशेष रूपसे ध्यानके समय ऐसा ही स्थान उचित है।१७। (दे० वसतिका/३ व ४)

रा. वा/६/४४/१/६३४/१८ व्यालमृगपशुपक्षिमनुष्याणामगोचरे तत्रस्थैरागन्तुभिश्च जन्तुभिः परिवर्जिते नात्युष्णे नातिशीते नातिवाते वर्षातपवर्जिते समन्तात् बाह्यान्तःकरणविक्षेपकारणविरहिते भूमितले। —व्याघ्र, सिंह, मृग, पशु, पक्षी, मनुष्य आदिके अगोचर, निर्जन्तु, न अति उष्ण और न अति शीत, न अधिक वायुवाला, वर्षा-आतप आदिसे रहित, तात्पर्य यह कि सब तरफसे बाह्य और आभ्यन्तर बाधाओंसे शून्य ऐसी भूमितलपर स्थित होकर ध्यान करे। (म.पु./२१/५८-५६,७७); (चा.सा./१७१/४); (ज्ञा./२७/३३); (त.अनु./६०-६१); (अन.ध./८/८१)

३. पापी जनोंसे संसक्त स्थानका निषेध

ज्ञा./२७/२२-३० म्लेच्छाधमजनैर्जुष्टं दुष्टभूपालपालितम्। पाषण्डिमण्डलाक्रान्तं महामिथ्यात्ववासितम्।२३। कौलिकापालिकावासं रुद्रक्षुद्रादिमन्दिरम्। उद्भ्रान्तभूतवेतालं चण्डिकाभवनाजिरम्।२४। पण्यस्त्रीकृतसंकेतं मन्दचारित्रमन्दिरम्। क्रूरकर्माभिचाराढ्यं कुशास्त्राभ्यासवञ्चितम्।२५। क्षेत्रजातिकुलोत्पन्नशक्तिस्वीकारदर्पितम्। मिलितानेकदुःशीलकल्पिताचिन्त्यसाहसम्।२६। द्यूतकारसुरापानविटवन्दिव्रजान्वितम्। पापिसत्त्वसमाक्रान्तं नास्तिकासारसेवितम्।२७। क्रव्यादकामुकाकीर्णं व्याधविध्वस्तश्वापदम्। शिल्पिकारुकविक्षिप्तमग्निजीवजनाश्रितम्।२८। प्रतिपक्षशिरःशूले प्रत्यनीकावलम्बितम्। आत्रेयीखण्डितव्यक्तसंवृतं च परित्यजेत्।२९। विद्रवन्ति जनाः पापाः संचरन्त्यभिसारिकाः। क्षोभयन्तीङ्गिताकारैर्यत्र नार्योपशङ्किताः।३०। —ध्यान करनेवाले मुनि ऐसे स्थानोंको छोड़े—म्लेच्छ व अधम जनोंसे सेवित, दुष्ट राजासे रक्षित, पाखण्डियोंसे आक्रान्त, महामिथ्यात्वसे वासित।२३। कुलदेवता या कापालिक (रुद्र) आदिका वास व मन्दिर जहाँ कि भूत बेताल आदि नाचते हों अथवा चण्डिकादेवीके भवनका आँगन।२४। व्यभिचारिणी स्त्रियोंके द्वारा संकेतित स्थान, कुचारित्रियोंका स्थान, क्रूरकर्म करने वालोंसे संचारित, कुशास्त्रोंका अभ्यास या पाठ आदि जहाँ होता हो।२५। जमींदारी अथवा जाति व कुलके गर्वसे गर्वित पुरुष जिस स्थानमें प्रवेश करनेसे मना करें, जिसमें अनेक दु:शील व्यक्तियोंने कोई साहसिक कार्य किया हो।२६। जुआरी, मद्यपायी, व्यभिचारी, बन्दीजन आदिके समूहसे युक्त स्थान पापी जीवोंसे आक्रान्त, नास्तिकों द्वारा सेवित।२७। राक्षसों व कामी पुरुषोंसे व्याप्त, शिकारियोंने जहाँ जीव वध किया हो, शिल्पी, मोची आदिकोंसे छोड़ा गया स्थान, अग्निजीवी (लुहार, ठठेरे आदि) से युक्त स्थान।२८। शत्रुकी सेनाका पड़ाव, रजस्वला, भ्रष्टाचारी, नपुंसक व अंगहीनोंका आवास।२९। जहाँ पापी जन उपद्रव करें, अभिसारिकाएँ जहाँ विचरती हों, स्त्रियाँ निःशंकित होकर जहाँ कटाक्ष आदि करती हों।३०। (वसतिका/३)

४. समर्थजनोंके लिए क्षेत्रका कोई नियम नहीं

ध.१३/५,४,२६/१८/६७ थिरकयजोगाणं पुण मुणीण झाणेसु णिच्चलमणाणं। गामम्मि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे य ण विसेसो।१८। —परन्तु जिन्होंने अपने योगोंको स्थिर कर लिया है और जिनका मन ध्यानमें निश्चल है, ऐसे मुनियोंके लिए मनुष्योंसे व्याप्त ग्राममें और शून्य जंगलमें कोई अन्तर नहीं है। (म.पु./२१/८०); (ज्ञा./२८/२२)

५. क्षेत्र सम्बन्धी नियमका कारण व प्रयोजन

म.पु./२१/७८-७९ वसतोऽस्य जनाकीर्णे विषयानभिपश्यतः। बाहुल्यादिन्द्रियार्थानां जातु व्यग्रीभवेन्मनः।७८। ततो विविक्तशायित्वं वने वासश्च योगिनाम्। इति साधारणो मार्गो जिनस्थविरकल्पयोः।७९। —जो मुनि मनुष्योंसे भरे हुए शहर आदिमें निवास करते हैं और निरन्तर विषयोंको देखा करते हैं, ऐसे मुनियोंका चित्त इन्द्रियोंके विषयोंकी अधिकता होनेसे कदाचित् व्याकुल हो सकता है।७८। इसलिए मुनियोंको एकान्त स्थानमें ही शयन करना चाहिए और वनमें ही रहना चाहिए यह जिनकल्पी और स्थविरकल्पी दोनों प्रकारके मुनियोंका साधारण मार्ग है।७९। (ज्ञा./२७/२२)

५. योगदिशा

ज्ञा./२८/२३-२४ पूर्वदिशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोऽपि वा। प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते।२३। —ध्यानी मुनि जो ध्यानके समय प्रसन्न मुख साक्षात् पूर्व दिशामें मुख करके अथवा उत्तर दिशामें मुख करके ध्यान करे सो प्रशंसनीय कहते हैं।२३। (परन्तु समर्थजनोंके लिए दिशाका कोई नियम नहीं।२४।

नोट—(दोनों दिशाओंके नियमका कारण—दे० दिशा)

६. योग्य भाव आत्माधीनता

ध.१३/५,४,२८/८८/१० किरियाकम्मे कीरमाणे अप्पायत्तं अपरवसत्तं आदाहीणं णाम। पराहीणभावेण किरियाकम्मं किण्ण कीरदे। ण, तहा किरियाकम्मं कुणमाणस्स कम्मक्खयाभावादो जिणिंदादि अच्चासणदुवारेण कम्मबंधसंभवादो च। —क्रियाकर्म करते समय आत्माधीन होना अर्थात् परवश न होना आत्माधीनता है। प्रश्न—पराधीन भावसे क्रियाकर्म क्यों नहीं किया जाता? उत्तर—नहीं, क्योंकि उस प्रकार क्रियाकर्म करनेवालेके कर्मोंका क्षय नहीं होगा और जिनेन्द्रदेवकी आसादना होनेसे कर्मोंका बन्ध होगा।

अन.ध./८/६६ कालुष्यं येन जातं तं क्षमयित्वैव सर्वतः। सङ्गाच्च चिन्तां व्यावर्त्य क्रिया कार्या फलार्थिना।९९। —मोक्षके इच्छुक साधुओंको सम्पूर्ण परिग्रहोंकी तरफसे चिन्ताको हटाकर और जिसके साथ किसी तरहका कभी कोई कालुष्य उत्पन्न हो गया हो, उसके क्षमा कराकर ही आवश्यक क्रिया करनी चाहिए।

७. योग्य शुद्धियाँ

(द्रव्य—क्षेत्र-काल व भाव शुद्धि; मन-वचन व काय शुद्धि; ईर्यापथ शुद्धि, विनय शुद्धि, कायोत्सर्ग-अवनति-आवर्त व शिरोनति आदि की शुद्धि—इस प्रकार कृतिकर्ममें इन सब प्रकारकी शुद्धियोंका ठीक प्रकार विवेक रखना चाहिए। (विशेष—दे० शुद्धि)।

८. आसन, क्षेत्र, काल आदिके नियम अपवाद मार्ग है उत्सर्ग नहीं

ध.१३/५,४,२६/१५,२०/६६ सव्वासु वट्टमाणा जं देसकालचेट्ठासु। वर-केवलादिलाहं पत्ता हु सो खवियपावा।१५। तो देसकालचेट्ठाणियमो ज्झाणस्स णत्थि समयम्मि। जोगाण समाहाणं जह होइ तहा पयइ-यव्वं।२०। —सब देश सब काल और सब अवस्थाओं (आसनों) में विद्यमान मुनि अनेकविध पापोंका क्षय करके उत्तम केवलज्ञानादि-को प्राप्त हुए।१५। ध्यानके शास्त्रमें देश, काल और चेष्टा (आसन)का भी कोई नियम नहीं है। तत्त्वतः जिस तरह योगोंका समाधान हो उसी तरह प्रवृत्ति करनी चाहिए।२०। (म. पु./२१/८२–८३); (ज्ञा./२८/२१)

म. पु./२१/७६ देशादिनियमोऽप्येवं प्रायोवृत्तिव्यपाश्रयः। कृतात्मनां तु सर्वोऽपि देशादिर्ध्यानसिद्धये।७६। —देश आदिका जो नियम कहा गया है वह प्रायोवृत्तिको लिये हुए है, अर्थात् हीन शक्तिके धारक ध्यान करनेवालोंके लिए ही देश आदिका नियम है, पूर्ण शक्तिके धारण करनेवालोंके लिए तो सभी देश और सभी काल आदि ध्यान-के साधन हैं।

और भी दे० कृतिकर्म/३/२,४ (समर्थ जनोंके लिए आसन व क्षेत्रका कोई नियम नहीं)

दे० वह वह विषय—काल सम्बन्धी भी कोई अटल नियम नहीं है। अधिक बार या अन्य-अन्य कालोंमें भी सामायिक, वन्दना, ध्यान आदि किये जाते हैं।

४. कृतिकर्म-विधि

१. साधुका दैनिक कार्यक्रम

मू.आ./६०० चत्तारि पडिक्कमणे किदियम्मा तिण्णि होंति सज्झाए। पुव्वण्हे अवरण्हे किदियम्मा चोद्दसा होंति।६००। —प्रतिक्रमण कालमें चार क्रियाकर्म होते हैं और स्वाध्यायकालमें तीन क्रियाकर्म होते हैं। इस तरह सात सवेरे और सात साँझको सब १४ क्रियाकर्म होते हैं।

(अन. ध. ९/१-११/३४-३५)

नं०	समय	क्रिया
१	सूर्योदय से लेकर २ घड़ी तक	देववन्दन, आचार्य वन्दना व मनन
२	सूर्योदयके २ घड़ी पश्चात्से मध्याह्न के २ घड़ी पहले तक	पूर्वाह्णिक स्वाध्याय
३	मध्याह्नके २ घड़ी पूर्वसे २ घड़ी पश्चात् तक	आहारचर्या (यदि उप-वासयुक्त है तो क्रम-से आचार्य व देव-वन्दना तथा मनन)
४	आहारसे लौटने पर	मंगलगोचरप्रत्याख्यान
५	मध्याह्नके २ घड़ी पश्चात्से सूर्यास्तके २ घड़ी पूर्व तक	अपराह्णिक स्वाध्याय
६	सूर्यास्तके २ घड़ी पूर्वसे सूर्यास्त तक	दैवसिक प्रतिक्रमण व रात्रियोग धारण
७	सूर्यास्तसे लेकर उसके २ घड़ी पश्चात् तक	आचार्य व देववन्दना तथा मनन
८	सूर्यास्तके २ घड़ी पश्चात्से अर्धरात्रि-के २ घड़ी पूर्व तक	पूर्वरात्रिक स्वाध्याय
९	अर्धरात्रिके २ घड़ी पूर्वसे उसके २ घड़ी पश्चात् तक	चार घड़ी निद्रा
१०	अर्धरात्रिके २ घड़ी पश्चात्से सूर्योदय-के २ घड़ी पूर्व तक	वैरात्रिक स्वाध्याय
११	सूर्योदयके २ घड़ी पूर्वसे सूर्योदय तक	रात्रिक प्रतिक्रमण
	नोट—रात्रि क्रियाओंके विषयमें दैवसिक क्रियाओंकी तरह समयका नियम नहीं है। अर्थात् हीनाधिक भी कर सकते हैं।४४।	

२. कृतिकर्मानुपूर्वी विधि

कोषकार—साधुके दैनिक कार्यक्रम परसे पता चलता है कि केवल चार घड़ी सोनेके अतिरिक्त शेष सर्व समयमें वह आवश्यक क्रियाओंमें ही उपयुक्त रहता है। वे उसकी आवश्यक क्रियाएँ छह कही गयी हैं—सामायिक, वन्दना, स्तुति स्वाध्याय, प्रत्याख्यान व कायोत्सर्ग। कहीं-कहीं स्वाध्यायके स्थान पर प्रतिक्रमण भी कहते हैं। यद्यपि ये छहों क्रियाएँ अन्तरंग व बाह्य दो प्रकारकी होती हैं। परन्तु अन्तरंग क्रियाएँ तो एक वीतरागता या समताके पेटमें समा जाती हैं। सामायिक व छेदोपस्थापना चारित्रके अन्तर्गत २४ घण्टों ही होती रहती हैं। यहाँ इन छहोंका निर्देश वाचसिक व कायिकरूप बाह्य क्रियाओंकी अपेक्षा किया गया है अर्थात् इनके अन्तर्गत मुखसे कुछ पाठादिका उच्चारण और शरीरसे कुछ नमस्कार आदिका करना होता है। इस क्रिया काण्डका ही इस कृतिकर्म अधिकारमें निर्देश किया गया है। सामायिकका अर्थ यहाँ 'सामायिक दण्डक' नामका एक पाठ विशेष है और उस स्तवका अर्थ 'थोस्सामि दण्डक' नामका पाठ जिसमें कि २४ तीर्थंकरोंका संक्षेपमें स्तवन किया गया है। कायोत्सर्गका अर्थ निश्चल सीधे खड़े होकर ९ बार णमोकार मन्त्रका २७ श्वासोंमें जाप्य करना है। वन्दना, स्वाध्याय, प्रत्या-ख्यान, व प्रतिक्रमणका अर्थ भी कुछ भक्तियोंके पाठोंका विशेष क्रमसे उच्चारण करना है, जिनका निर्देश पृथक् शीर्षकमें दिया गया है। इस प्रकारके १३ भक्ति पाठ उपलब्ध होते हैं—१. सिद्ध भक्ति,

२. श्रुत भक्ति, ३. चारित्र भक्ति, ४. योग भक्ति, ५. आचार्य भक्ति, ६. निर्वाण भक्ति, ७. नन्दीश्वर भक्ति, ८. वीर भक्ति, ९. चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति, १०. शान्ति भक्ति, ११. चैत्य भक्ति, १२. पंचमहागुरु भक्ति व १३. समाधि भक्ति। इनके अतिरिक्त ईर्यापथ शुद्धि, सामायिक दण्डक व थोस्सामि दण्डक ये तीन पाठ और भी हैं। दैनिक अथवा नैमित्तिक सर्व क्रियाओंमें इन्हीं भक्तियोंका उलट-पलट कर पाठ किया जाता है, किन्हीं क्रियाओंमें किन्हींका और किन्हींमें किन्हींका। इन छहों क्रियाओंमें तीन ही वास्तवमें मूल हैं—देव या आचार्य बन्दना, प्रत्याख्यान, स्वाध्याय या प्रतिक्रमण। शेष तीनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। उपरोक्त तीन मूल क्रियाओं-के क्रियाकाण्डमें ही उनका प्रयोग किया जाता है। यहाँ कृतिकर्मका विधि विधान है जिसका परिचय देना यहाँ अभीष्ट है। प्रत्येक भक्तिके पाठके साथ मुखसे सामायिक दण्डक व थोस्सामि दण्डक (स्तव) का उच्चारण; तथा कायसे दो नमस्कार, ४ नति व १२ आवर्त करने होते हैं। इनका क्रम निम्न प्रकार है—(चा. सा./१५७/१ का भावार्थ)।

(१) पूर्व या उत्तराभिमुख खड़े होकर या योग्य आसनसे बैठकर "विवक्षित भक्तिका प्रतिष्ठापन या निष्ठापन क्रियायां अमुक भक्ति कायोत्सर्ग करोम्यहम्" ऐसे वाक्यका उच्चारण। (२) पंचांग नमस्कार; (३) पूर्व प्रकार खड़े होकर या बैठकर तीन आवर्त व एक नति; (४) 'सामायिक दण्डक'का उच्चारण; (५) तीन आवर्त व एक नति; (६) कायोत्सर्ग; (७) पंचांग नमस्कार; (८) ३ आवर्त व एक नति; (९) थोस्सामि दण्डकका उच्चारण; (१०) ३ आवर्त व एक नति; (११) विवक्षित भक्तिके पाठका उच्चारण; (१२) उस भक्ति पाठकी अंचलिका जो उस पाठके साथ ही दी गयी है। इसीको दूसरे प्रकारसे यों भी समझ सकते हैं कि प्रत्येक भक्ति पाठसे पहिले प्रतिष्ठापन करनेके पश्चात् सामायिक व थोस्सामि दण्डक पढ़ने आवश्यक हैं। प्रत्येक सामायिक व थोस्सामि दण्डकसे पूर्व व अन्तमें एक एक शिरोनति की जाती है। इस प्रकार चार नति होती हैं। प्रत्येक नति तीन-तीन आवर्त पूर्वक ही होनेसे १२ आवर्त होते हैं। प्रतिष्ठापनके पश्चात् एक नमस्कार होता है और इसी प्रकार दोनों दण्डकोंकी सन्धिमें भी। इस प्रकार २ नमस्कार होते हैं। कहीं कहीं तीन नमस्कारोंका निर्देश मिलता है। तहाँ एक नमस्कार वह भी जोड़ लिया गया समझना जो कि प्रतिष्ठापन आदिसे भी पहिले बिना कोई पाठ बोले देव या आचार्यके समक्ष जाते ही किया जाता है। (दे० आवर्त व नमस्कार) किस क्रियाके साथ कौन कौन-सी भक्तियाँ की जाती हैं, उसका निर्देश आगे किया जाता है। (दे० नमस्कार/५)

६. प्रत्येक क्रियाके साथ भक्ति पाठोंका निर्देश

(चा०सा०/१६०-१६६/६; क्रि०क०/४ अध्याय) (अन० ध०/९/४५-७४; ८२-८५)

संकेत—ल=लघु; जहाँ कोई चिह्न नहीं दिया वहाँ वह बृहद् भक्ति समझना।

१. नित्य व नैमित्तिक क्रियाकी अपेक्षा

(I) अनेक अपूर्व चैत्य दर्शन क्रिया—अनेक अपूर्व जिन प्रतिमाओं-को देखकर एक अभिरुचित जिनप्रतिमामें अनेक अपूर्व जिन चैत्य वन्दना करे। छठें महीने उन प्रतिमाओंमें अपूर्वता सुनी जाती है। कोई नयी प्रतिमा हो या छह महीने पीछे पुनः दृष्टिगत हुई प्रतिमा हो उसे अपूर्व चैत्य कहते हैं। ऐसी अनेक प्रतिमाएँ होनेपर स्व रुचि-के अनुसार किसी एक प्रतिमाके प्रति यह क्रिया करे। (केवल क्रि० क०)

(II) अपूर्व चैत्य क्रिया—सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति, सालोचना-चारित्र भक्ति, चैत्य भक्ति, पंचगुरु भक्ति। अष्टमी आदि क्रियाओंमें या पाक्षिक प्रतिक्रमणमें दर्शनपूजा अर्थात् अपूर्व चैत्य क्रियाका योग हो तो सिद्ध भक्ति, चारित्र भक्ति, चैत्य भक्ति, पंचगुरु भक्ति करे। अन्तमें शान्तिभक्ति करे। (केवल क्रि० क०)

(III) अभिषेक वन्दना क्रिया—सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरु-भक्ति, शान्ति भक्ति।

(IV) अष्टमी क्रिया—सिद्ध-भक्ति, श्रुतभक्ति, सालोचना चारित्रभक्ति, शान्ति भक्ति। (विधि नं० १), सिद्ध भक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, चैत्य भक्ति, पंचगुरु भक्ति, शान्तिभक्ति। (विधि नं० २)

(V) अष्टाह्निक क्रिया—सिद्धभक्ति, नन्दीश्वर चैत्यभक्ति, पंचगुरु-भक्ति, शान्ति भक्ति।

(VI) आचार्यपद प्रतिष्ठान क्रिया—सिद्धभक्ति, आचार्यभक्ति, शान्ति भक्ति।

(VII) आचार्य वन्दना—लघु सिद्ध, श्रुत व आचार्य भक्ति। (विशेष दे० वन्दना) केश लोंच क्रिया—ल० सिद्ध—ल० योगि भक्ति। अन्त-में योगिभक्ति।

(VIII) चतुर्दशी क्रिया—सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति, पंचगुरु भक्ति, शान्तिभक्ति, (विधि नं० १)। अथवा चैत्य भक्ति, श्रुतभक्ति, पंचगुरु भक्ति, शान्तिभक्ति (विधि नं० २)

(IX) तीर्थंकर जन्म क्रिया—दे० आगे पाक्षिको क्रिया।

(X) दीक्षा विधि (सामान्य) (१) सिद्ध भक्ति, योगि भक्ति, लोंचकरण (केशलुंचण), नामकरण, नाग्न्य प्रदान, पिच्छिका प्रदान, सिद्ध भक्ति। (२)—उसी दिन या कुछ दिन पश्चात् व्रतदान प्रतिक्रमण।

(XI) दीक्षा विधि (क्षुल्लक), सिद्ध भक्ति, योगि भक्ति, शान्ति भक्ति, समाधि भक्ति, 'ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं नमः' इस मंत्रका २१ बार या १०८ बार जाप्य। विशेष दे० (क्रि० क०/पृ० ३३७)

(XII) दीक्षा विधि (बृहत्):—शिष्य—(१) बृहत्प्रत्याख्यान क्रियामें सिद्ध भक्ति, योगि भक्ति, गुरुके समक्ष सोपवास प्रत्याख्यान ग्रहण। आचार्य भक्ति, शान्ति भक्ति, गुरुको नमस्कार। (२)—गणधर वलय पूजा। (३)—श्वेत वस्त्र पर पूर्वाभिमुख बैठना। (४) केश लोंच क्रियामें सिद्ध भक्ति, योगि भक्ति। आचार्य—मन्त्र विशेषोंके उच्चा-रण पूर्वक मस्तकपर गन्धोदक व भस्म क्षेपण व केशोत्पाटन।

शिष्य—केश लोंच निष्ठापन क्रियामें सिद्ध भक्ति, दीक्षा याचना।

आचार्य—विशेष मन्त्र विधान पूर्वक सिर पर 'श्री' लिखे व अंजलीमें तन्दुलादि भरकर उस पर नारियल रखे। फिर व्रत दान क्रियामें सिद्ध भक्ति, चारित्र भक्ति, योगि भक्ति, व्रत दान, १६ संस्कारारोपण, नामकरण, उपकरण प्रदान, समाधि भक्ति।

शिष्य—सर्व मुनियोंको वन्दना।

आचार्य—व्रतारोपण क्रियामें रत्नत्रय पूजा, पाक्षिक प्रतिक्रमण।

शिष्य—मुख शुद्धि मुक्त करण पाठ क्रियामें सिद्ध भक्ति, समाधि भक्ति। विशेष दे० (क्रि.क./पृ. ३३३)।

देव वन्दना:—ईर्यापथ विशुद्धि पाठ, चैत्य भक्ति, पंचगुरु भक्ति, शान्ति भक्ति। (विशेष दे० वंदना)।

पाक्षिकी क्रिया:—सिद्ध भक्ति, चारित्र भक्ति, और शान्ति भक्ति। यदि धर्म व्यासंगसे चतुर्दशीके रोज क्रिया न कर सके तो पूर्णिमा और अमावसको अष्टमी क्रिया करनी चाहिए। (विधि नं. १)। सालोचना चारित्र भक्ति, चैत्य पंचगुरु भक्ति, शान्ति भक्ति (विधि नं. २)।

(XIII) पूर्व जिन चैत्य क्रिया:—विहार करते करते छः महीने पहले उसी प्रतिमाके पुनः दर्शन हों तो उसे पूर्व जिन चैत्य कहते हैं। उस पूर्व जिन चैत्यका दर्शन करते समय पाक्षिकी क्रिया करनी चाहिए। (केवल क्रि. क.)।

(XIV) प्रतिमा योगी मुनिक्रियाः—सिद्धभक्ति योगी भक्ति, शान्ति भक्ति।

(XV) मंगल गोचार मध्याह्न वन्दना क्रियाः—सिद्ध भक्ति, चैत्य भक्ति, पंचगुरु भक्ति, शान्ति भक्ति।

(XVI) योगनिद्रा धारण क्रियाः—योगि भक्ति। (विधि नं. १)।

(XVII) वर्षा योग निष्ठापन व प्रतिष्ठापन क्रियाः—(सिद्धभक्ति, योग भक्ति, 'यावन्ति जिनचैत्यायतनानि', और स्वयम्भूस्तोत्रमें से प्रथम दो तीर्थंकरोंकी स्तुति, चैत्य भक्ति। (२) ये सर्व पाठ पूर्वादि चारों दिशाओं की ओर मुख करके पढ़ें, विशेषता इतनी कि प्रत्येक दिशामें अगले अगले दो दो तीर्थंकरोंकी स्तुति पढ़ें। (३) पंचगुरु भक्ति व शान्ति भक्ति।

नोटः—आषाढ़ शुक्ला १४ की रात्रिके प्रथम पहरमें प्रतिष्ठापन और कार्तिक कृष्णा १४ की रात्रिके चौथे पहरमें निष्ठापन करना। विशेष दे० पाद स्थिति कल्प।

वीर निर्वाण क्रियाः—सिद्ध भक्ति, निर्वाण भक्ति, पंचगुरु भक्ति, शान्ति भक्ति।

श्रुत पंचमी क्रियाः—सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति पूर्वक वाचना नामका स्वाध्याय ग्रहण करना चाहिए। फिर स्वाध्याय कर श्रुत भक्ति और आचार्य भक्ति करके स्वाध्याय ग्रहण कर श्रुत भक्ति कर स्वाध्याय पूर्ण करे। समाप्तिके समय शान्ति भक्ति करे।

संन्यास क्रियाः—(१) सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति, कर वाचना ग्रहण, (२) —श्रुत भक्ति, आचार्य भक्ति कर स्वाध्याय ग्रहण कर श्रुत भक्तिमें स्वाध्याय पूर्ण करे। (३) वाचनाके समय यही क्रिया कर अन्तमें शान्ति भक्ति करे। (४) संन्यासमें स्थित होकर-बृहद् श्रुत भक्ति, बृ० आचार्य भक्ति कर स्वाध्याय ग्रहण, बृ० श्रुत भक्तिमें स्वाध्याय करें। (विधि नं० १)। संन्यास प्रारम्भ कर सिद्ध व श्रुत भक्ति, अन्तमें सिद्ध श्रुत व शान्ति भक्ति। अन्य दिनोंमें बृ० श्रुत भक्ति, बृ० आचार्य भक्ति पूर्वक प्रतिष्ठापना तथा बृ० श्रुत भक्ति पूर्वक निष्ठापना।

सिद्ध प्रतिमा क्रियाः—सिद्ध भक्ति।

२. पंचकल्याणक वन्दना की अपेक्षा

(१) गर्भ कल्याणक वन्दनाः—सिद्ध भक्ति, चारित्र भक्ति, शान्ति भक्ति।

(२) जन्म कल्याणक वन्दनाः—सिद्ध भक्ति, चारित्र भक्ति व शान्ति भक्ति।

(३) तप कल्याणक वन्दनाः—सिद्ध-चारित्र-योगि व शान्ति भक्ति।

(४) ज्ञान कल्याणक वन्दनाः—सिद्ध-श्रुत-चारित्र-योगि व शान्ति भक्ति।

(५) निर्वाण कल्याणक वन्दनाः—सिद्ध-श्रुत-चारित्र-योगि-निर्वाण व शान्ति भक्ति।

(६) अचलजिन बिम्ब प्रतिष्ठाः—सिद्ध व शान्ति भक्ति।...(चतुर्थ दिन अभिषेक वन्दना मेंः—सिद्ध-चारित्र चैत्य-पंचगुरु व शान्ति भक्ति (विधि नं० १)। अथवा सिद्ध, चारित्र, चारित्रालोचना व शान्ति भक्ति।

(७) चल जिन बिम्ब प्रतिष्ठाः—सिद्ध व शान्ति भक्ति।...(चतुर्थ दिन अभिषेक वन्दनामें)—सिद्ध-चैत्य-शान्ति भक्ति।

३. साधुके मृत शरीर व उसकी निषद्यका की वन्दनाकी अपेक्षा

(१) सामान्य मुनि सम्बन्धीः—सिद्ध-योगी व शान्ति भक्ति।

(२) उत्तर व्रती मुनि सम्बन्धीः- सिद्ध-चारित्र-योगि व शान्ति भक्ति।

(३) सिद्धान्त वेत्ता मुनि सम्बन्धीः—सिद्ध-श्रुत-योगि व शान्ति भक्ति।

(४) उत्तरव्रती व सिद्धान्तवेत्ता उभयगुणी साधुः—सिद्धश्रुत-चारित्र-योगि व शान्ति भक्ति।

(५) आचार्य सम्बन्धीः—सिद्ध-योगि-आचार्य-शान्ति भक्ति।

(६) कायक्लेशभृत आचार्यः—सिद्ध-योगि-आचार्य व शान्ति भक्ति। (विधि नं० १) सिद्ध-योगि-आचार्य-चारित्र व शान्ति भक्ति।

(७) सिद्धान्त वेत्ता आचार्यः—सिद्ध-श्रुत-योगि-आचार्य शान्ति भक्ति।

(८) शरीरक्लेशी व सिद्धान्त उभय आचार्यः—सिद्ध-श्रुत-चारित्र-योगि-आचार्य व शान्ति भक्ति।

४. स्वाध्यायकी अपेक्षा

सिद्धान्ताचार वाचन क्रियाः—(सामान्य) सिद्ध-श्रुत भक्ति करनी चाहिए, फिर श्रुत भक्ति व आचार्य भक्ति करके स्वाध्याय करें, तथा अन्तमें श्रुत-व शान्ति भक्ति करें। तथा एक कायोत्सर्ग करें। (क्रिया. चा० सा०)

विशेषः—प्रारम्भमें सिद्ध-श्रुत भक्ति तथा आचार्य भक्ति करनी चाहिए तथा अन्तमें ये दो क्रियाएँ तथा छह छह कायोत्सर्ग करने चाहिए।

पूर्वाह्न स्वाध्यायः—श्रुतभक्ति, आचार्य भक्ति			
अपराह्न ,,	—	,,	,,
पूर्वरात्रिक ,,	—	,,	,,
वैरात्रिक ,,	—	,,	,,

५. प्रत्याख्यान धारणकी अपेक्षा

भोजन सम्बन्धीः—ल० सिद्ध भक्ति।

उपवास सम्बन्धी—यदि स्वयं करे तो—ल० सिद्ध भक्ति।
यदि आचार्यके समक्ष करे तो—सिद्ध व योगि भक्ति।

मंगल गोचर बृहत् प्रत्याख्यान क्रियाः—सिद्ध व योगि भक्ति...(प्रत्याख्यान ग्रहण)—आचार्य व शान्ति भक्ति।

६. प्रतिक्रमणकी अपेक्षा

दैवसिक व रात्रिक प्रतिक्रमणः—सिद्ध-व प्रतिक्रमण-निष्ठित चारित्र व चतुर्विंशति जिन स्तुति पढ़े। (विधि नं० १)। सिद्ध-प्रतिक्रमण भक्ति अन्तमें वीर भक्ति तथा चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति (विधि नं० २।

यतिका पाक्षिक, चातुर्मासिक व सांवत्सारिक प्रतिक्रमण-सिद्ध-प्रतिक्रमण तथा चारित्र प्रतिक्रमणके साथ साथ चारित्र-चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति, चारित्र आलोचना गुरु भक्ति, बड़ी आलोचना गुरु भक्ति, फिर छोटी आचार्य भक्ति करनी चाहिए (विधि नं० १) (१) केवल शिष्य जनः—ल० श्रुत भक्ति, ल० आचार्य भक्ति द्वारा आचार्य वन्दना करें। (२) आचार्य सहित समस्त संघः—बृ० सिद्ध भक्ति, आलोचना सहित बृ० चारित्र भक्ति। (३) केवल आचार्यः—ल० सिद्ध भक्ति, ल० योग भक्ति, 'इच्छामि भंते चरित्तायारो तेरह विहो' इत्यादि देवके समक्ष अपने दोषोंकी आलोचना व प्रायश्चित्त ग्रहण। 'तीन बार पंच महाव्रत' इत्यादि देवके प्रति गुरु भक्ति। (४) आचार्य सहित समस्त संघ—ल० सिद्ध भक्ति, ल० योगि भक्ति तथा प्रायश्चित्त ग्रहण। (५) केवल शिष्यः—ल० आचार्य भक्ति द्वारा आचार्य वन्दना। (६) गणधर वलय, प्रतिक्रमण दण्डक, वीरभक्ति, शान्ति जिनकीर्तन सहित चतुर्विंशति जिनस्तव, ल० चारित्रालोचना युक्त बृ० आचार्य भक्ति, बृ० आलोचना युक्त मध्याचार्य भक्ति, ल० आलोचना सहित ल० आचार्य भक्ति, समाधि भक्ति।

श्रावक प्रतिक्रमणः—सिद्ध भक्ति श्रावक प्रतिक्रमण भक्ति, वीर भक्ति, चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति, समाधिभक्ति।

कृतिकार्य—अपर नाम क्षत्रिय था—दे० क्षत्रिय।

कृतिधारा—दे० गणित/II/५/२।

कृतिमूल—किसी राशिके Square root को कृतिमूल कहते हैं —दे० गणित/II/१/७।

कृत्तिका—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

कृत्स्न—स०सि०/५/१३/२७८/१० कृत्स्नवचनमशेषव्याप्तिप्रदर्शनम्।—सबके साथ व्याप्ति दिखलानेके लिए सूत्रमें 'कृत्स्न' पद रखा है।

कृषिकर्म—दे० सावद्य/३।

कृषिव्यवसाय—कुरलकाव्य/१०४/१ नरो गच्छतु कुत्रापि सर्वत्रान्नमपेक्षते। तत्सिद्धिश्च कृषेस्तस्मात् सुभिक्षेऽपि हिताय सा।१।—आदमी जहाँ चाहे घूमे पर अन्तमें अपने भोजनके लिए हलका सहारा लेना ही पड़ेगा। इसलिए हर तरहकी सस्ती होनेपर भी कृषि सर्वोत्तम उद्यम है।

कृष्टि—कृष्टिकरण विधानमें निम्न नामवाली कृष्टियोंका निर्देश प्राप्त होता है—कृष्टि, बादर कृष्टि, सूक्ष्मकृष्टि, पूर्वकृष्टि, अपूर्वकृष्टि, अधस्तनकृष्टि, संग्रहकृष्टि, अन्तरकृष्टि, पार्श्वकृष्टि, मध्यम खण्ड कृष्टि, साम्प्रतिक कृष्टि, जघन्योत्कृष्ट कृष्टि, घात कृष्टि। इन्हींका कथन यहाँ क्रमपूर्वक किया जायेगा।

१. कृष्टि सामान्य निर्देश

ध. ६/१,९-८,१६/३३/३८२ गुणसेडि अणंतगुणा लोभादीकोधपच्छिमपदादो। कम्मस्स य अणुभागे किट्टीए लक्खणं एदं।३३।—जघन्य-कृष्टिसे लेकर…अन्तिम उत्कृष्ट कृष्टि तक यथाक्रमसे अनन्तगुणित-गुणश्रेणी है। यह कृष्टिका लक्षण है।

ल. सा./जी.प्र./२८४/३४४/५ 'कर्शनं कृष्टिः कर्मपरमाणुशक्तेस्तनूकरणमित्यर्थः। कृश तनूकरणे इति धात्वर्थमाश्रित्य प्रतिपादनात्। अथवा कृष्यते तनूक्रियते इति कृष्टिः प्रतिसमयं पूर्वस्पर्धकजघन्यवर्गणाशक्तेरनन्तगुणहीनशक्तिवर्गणाकृष्टिरिति भावार्थः। —कृश तनूकरणे इस धातु करि 'कर्षणं कृष्टिः' जो कर्म परमाणुनिकी अनुभाग शक्तिका घटावना ताका नाम कृष्टि है। अथवा 'कृश्यत इति कृष्टिः' समय-समय प्रति पूर्व स्पर्धककी जघन्य वर्गणा तैं भी अनन्तगुणा घटता अनुभाग रूप जो वर्गणा ताका नाम कृष्टि है। (गो. जी./भाषा./५९/१६०/३) (क्ष. सा. ४९० की उत्थानिका)।

क्ष. सा./४९०. कृष्टिकरणका काल अपूर्व स्पर्धक करणसे कुछ कम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। कृष्टिमें भी संज्वलन चतुष्कके अनुभाग काण्डक व अनुभाग सत्त्वमें परस्पर अश्वकर्ण रूप अल्पबहुत्व पाइये हैं। तातैं यहाँ कृष्टि सहित अश्वकरण पाइये है ऐसा जानना। कृष्टिकरण कालमें स्थिति बन्धापसरण और स्थिति सत्त्वापसरण भी बराबर चलता रहता है।

क्ष. सा./४९२-४९४ "संज्वलन चतुष्ककी एक-एक कषायके द्रव्यको अपकर्षण भागाहारका भाग देना, उसमेंसे एक भाग मात्र द्रव्यका ग्रहण करके कृष्टिकरण किया जाता है।४९२। इस अपकर्षण किये द्रव्यमें भी पल्य/असं० का भाग देय बहुभाग मात्र द्रव्य बादरकृष्टि सम्बन्धी है। शेष एक भाग पूर्व अपूर्व स्पर्धकनि विषै निक्षेपण करिये (४९३) द्रव्यकी अपेक्षा विभाग करनेपर एक-एक स्पर्धक विषै अनन्ती वर्गणाएँ हैं जिन्हें वर्गणा शलाका कहते हैं। ताकै अनंतवें भागमात्र सर्व कृष्टिनिका प्रमाण है।४९४। अनुभागकी अपेक्षा विभाग करनेपर एक-एक कषाय विषै संग्रहकृष्टि तीन-तीन हैं, बहुरि एक-एक संग्रहकृष्टि विषै अन्तरकृष्टि अनन्त है।

तहाँ सबसे नीचे लोभकी (लोभके स्पर्धकोंकी) प्रथम संग्रहकृष्टि है तिसविषै अन्तरकृष्टि अनन्त है। तातै ऊपर लोभकी द्वितीय संग्रहकृष्टि है तहाँ भी अन्तरकृष्टि अनन्त है। तातै ऊपर लोभकी तृतीय संग्रहकृष्टि है तहाँ भी अन्तरकृष्टि अनन्त है। तातै ऊपर मायाकी प्रथम संग्रहकृष्टि है तहाँ भी अन्तरकृष्टि अनन्त है। इसी प्रकार तातै ऊपर मायाकी द्वितीय, तृतीय संग्रहकृष्टि व अन्तरकृष्टि है। इसी क्रमसे ऊपर ऊपर मानकी ३ और क्रोधकी ३ संग्रहकृष्टि जानना।

२. स्पर्धक व कृष्टिमें अन्तर

क्ष. सा./५०६/ भाषा—अपूर्व स्पर्धककरण कालके पश्चात् कृष्टिकरण काल प्रारम्भ होता है। कृष्टि है ते तो प्रतिपद अनन्तगुण अनुभाग लिये है। प्रथम कृष्टिका अनुभाग तै द्वितीयादि कृष्टिनिका अनुभाग अनन्त अनन्तगुणा है। बहुरि स्पर्धक हैं ते प्रतिपद विशेष अधिक अनुभाग लिये हैं अर्थात् स्पर्धकनिकरि प्रथम वर्गणा तै द्वितीयादि वर्गणानि विषै कछु विशेष-विशेष अधिक अनुभाग पाइये है। ऐसे अनुभागका आश्रयकरि कृष्टि अर स्पर्धकके लक्षणोंमें भेद हैं। द्रव्यकी अपेक्षा तो चय घटता क्रम दोऊनि विषै ही है। द्रव्यकी पंक्तिबद्ध रचनाके लिए—दे० स्पर्धक।

३. बादरकृष्टि

क्ष. सा./४९० की उत्थानिका (लक्षण)—संज्वलन कषायनिके पूर्व अपूर्व स्पर्धक, जैसे—ईंटनिकी पंक्ति होय तैसे अनुभागका एक-एक अविभाग प्रतिच्छेद बधती लीएँ परमाणूनिका समूहरूप जो वर्गणा तिनके समूह रूप हैं। तिनके अनन्तगुणा घटता अनुभाग होनेकर स्थूल-स्थूल खण्ड करिये सो बादर कृष्टिकरण है। बादरकृष्टिकरण विधानके अन्तर्गत संज्वलन चतुष्ककी अन्तरकृष्टि व संग्रहकृष्टि करता है। द्वितीयादि समयोंमें अपूर्व व पार्श्वकृष्टि करता है। जिसका विशेष आगे दिया गया है।

४. संग्रह व अन्तरकृष्टि

क्ष. सा./४९४-५०० भाषा—एक प्रकार बँधता (बढ़ता) गुणाकार रूप जो अन्तरकृष्टि, उनके समूहका नाम संग्रहकृष्टि है।४९४। कृष्टिनिकै अनुभाग विषै गुणाकारका प्रमाण यावत् एक प्रकार बढ़ता भया तावत् सो ही संग्रहकृष्टि कही। बहुरि जहाँ निचली कृष्टि तै ऊपरली कृष्टिका गुणाकार अन्य प्रकार भया तहाँ तै अन्य संग्रहकृष्टि कही है। प्रत्येक संग्रहकृष्टिके अन्तर्गत प्रथम अन्तरकृष्टिसे अन्तिम अन्तरकृष्टि पर्यन्त अनुभाग अनन्त अनन्तगुणा है। परन्तु सर्वत्र इस अनन्त गुणकारका प्रमाण समान है, इसे स्वस्थान गुणकार कहते हैं। प्रथम संग्रहकृष्टिके अन्तिम अन्तरकृष्टिसे द्वितीय संग्रहकृष्टिकी प्रथम अन्तरकृष्टिका अनुभाग अनन्तगुणा है। यह द्वितीय अनन्त गुणकार पहलेवाले अनन्त गुणकारसे अनन्तगुणा है, यही परस्थान गुणकार है। यह द्वितीय संग्रह कृष्टिकी अन्तिम अन्तरकृष्टिका अनुभाग भी उसकी इस प्रथम अन्तरकृष्टिसे अनन्तगुणा है। इसी प्रकार आगे भी जानना।४९८। संग्रह कृष्टि विषै जितनी अन्तर कृष्टिका प्रमाण होइ तिहिका नाम संग्रहकृष्टिका आयाम है।४९९। चारों कषायोंकी लोभसे क्रोध पर्यन्त जो १२ संग्रहकृष्टियाँ हैं उनमें प्रथम संग्रहकृष्टिसे अन्तिम संग्रहकृष्टि पर्यन्त पल्य/असं० भाग कम करि घटता संग्रहकृष्टि आयाम जानना।४९६। नौ कषाय सम्बन्धी सर्वकृष्टि क्रोधकी संग्रहकृष्टि विषै ही मिला दी गयी है।४९९। क्रोधके उदय सहित श्रेणी चढ़नेवालेके १२ संग्रह कृष्टि होती है। मानके उदय सहित चढ़नेवालेके ९; मायावालेके ६; और लोभवालेके केवल ३ ही संग्रहकृष्टि होती है, क्योंकि उनसे पूर्व पूर्वकी कृष्टियाँ

अपनेसे अगलियोंमें संक्रमण कर दी गयी हैं ।४९७। अनुभागकी अपेक्षा १२ संग्रह कृष्टियोंमें लोभकी प्रथम अन्तरकृष्टिसे क्रोधकी अन्तिम अन्तरकृष्टि पर्यन्त अनन्त गुणित क्रमसे (अन्तरकृष्टिका गुणकार स्वस्थान गुणकार है और संग्रहकृष्टिका गुणकार परस्थान गुणकार है जो स्वस्थान गुणकारसे अनन्तगुणा है—(दे० आगे कृष्ट्यन्तर) अनुभाग बढ़ता बढ़ता हो है ।४९९। द्रव्यकी अपेक्षा विभाग करनेपर क्रम उलटा हो जाता है। लोभकी जघन्य कृष्टिके द्रव्यतैं लगाय क्रोधकी उत्कृष्टकृष्टिका द्रव्य पर्यन्त (चय हानि) हीन क्रम लिये द्रव्य दीजिये ।५००।

५. कृष्ट्यन्तर

क्ष.सा./४९९/भाषा—संज्वलन चतुष्ककी १२ संग्रह कृष्टियाँ हैं। इन १२ की पंक्तिके मध्यमें ११ अन्तराल हैं। प्रत्येक अन्तरालका कारण परस्थान गुणकार है। एक संग्रहकृष्टिकी सर्व अन्तर कृष्टियाँ सर्वत्र एक गुणकार-से गुणित हैं। यह स्वस्थान गुणकार है। प्रथम संग्रहकृष्टिकी अन्तिम अन्तरकृष्टिसे द्वितीय संग्रहकृष्टिकी प्रथम अन्तरकृष्टिका अनुभाग अनन्त-गुणा है। यह गुणकार पहलेवाले स्वस्थान गुणकारसे अनन्तगुणा है। यही परस्थान गुणकार है। स्वस्थान गुणकारसे अन्तरकृष्टियोंका अन्तर प्राप्त होता है और परस्थान गुणकारसे संग्रहकृष्टिका अन्तर प्राप्त होता है। कारणमें कार्यका उपचार करके गुणकारका नाम ही अन्तर है। जेते अन्तराल होइ तितनी बार गुणकार होइ। तहाँ स्वस्थान गुणकार-निका नाम <u>कृष्ट्यन्तर</u> है और परस्थान गुणकारनिका नाम <u>संग्रह-कृष्ट्यन्तर</u> है।

६. पूर्व, अपूर्व, अधस्तन व पार्श्वकृष्टि

कृष्टिकरणकी अपेक्षा

क्ष. सा./५०२ भाषा—पूर्व समय विषै जे पूर्वोक्त कृष्टि करी थी (दे० संग्रहकृष्टि व अन्तरकृष्टि) तिनि विषै १२ संग्रहकृष्टिनिकी जे जघन्य (अन्तर) कृष्टि, तिनतैं (भी) अनन्तगुणा घटता अनुभाग लिये, (ताके) नीचे केतीक नवीन कृष्टि अपूर्व शक्ति लिये युक्त करिए है। याही तै इसका नाम <u>अधस्तन कृष्टि</u> जानना। भावार्थ—जो पहलेसे प्राप्त न हो बल्कि नवीन की जाये उसे अपूर्व कहते हैं। कृष्टिकरण कालके प्रथम समयमें जो कृष्टियाँ की गयीं वे तो <u>पूर्वकृष्टि</u> हैं। परन्तु द्वितीय समयमें जो कृष्टि की गयीं वे <u>अपूर्वकृष्टि</u> हैं, क्योंकि इनमें प्राप्त जो उत्कृष्ट अनुभाग है वह पूर्व कृष्टियोंके जघन्य अनुभागसे भी अनन्तगुणा घटता है। अपूर्व अनुभागके कारण इसका नाम <u>अपूर्वकृष्टि</u> है और पूर्वकी जघन्य कृष्टिके नीचे बनायी जानेके कारण इसका नाम <u>अधस्तनकृष्टि</u> है। पूर्व समय विषै करी जो कृष्टि, तिनिके समान ही अनुभाग लिये जो नवीन कृष्टि, द्वितीयादि समयोंमें की जाती है वे <u>पार्श्वकृष्टि</u> कहलाती हैं, क्योंकि समान होनेके कारण पंक्ति विषै, पूर्वकृष्टिके पार्श्वमें ही उनका स्थान है।

७. अधस्तन व उपरितन कृष्टि

कृष्टि वेदनकी अपेक्षा

क्ष.सा./५१५/भाषा—प्रथम द्वितीयादि कृष्टि तिनको <u>निचलीकृष्टि</u> कहिये। बहुरि अन्त, उपान्त आदि जो कृष्टि तिनिको ऊपरली कृष्टि कहिये। क्योंकि कृष्टिकरणसे कृष्टिवेदनका क्रम उलटा है। कृष्टिकरणमें अधिक अनुभाग युक्त ऊपरली कृष्टियोंके नीचे हीन अनुभाग युक्त नवीन-नवीन कृष्टियाँ रची जाती हैं। इसलिए प्रथमादि कृष्टियाँ ऊपरली और अन्त उपान्त कृष्टियाँ निचली कहलाती हैं। उदयके समय निचले निषेकोंका उदय पहले आता है और ऊपरलोंका बादमें। इसलिए अधिक अनुभाग युक्त प्रथमादि कृष्टियें नीचे रखी जाती हैं, और हीन अनुभाग युक्त आगेकी कृष्टियें ऊपर। अतः वही प्रथमादि ऊपर वाली कृष्टियें यहाँ नीचे वाली हो जाती है और नीचे वाली कृष्टियें ऊपरवाली बन जाती हैं।

८. कृष्टिकरण विधानमें अपकृष्ट द्रव्यका विभाजन

१. कृष्टि द्रव्य—क्ष.सा./५०३/ भाषा—द्वितीयादि समयनिविषै समय समय प्रति असंख्यात गुणा द्रव्यको पूर्व अपूर्व स्पर्धक सम्बन्धी द्रव्यतैं अपकर्षण करै है। उसमेंसे कुछ द्रव्य तो पूर्व अपूर्व स्पर्धक को ही देवै है और शेष द्रव्यकी कृष्टियें करता है। इस द्रव्यको कृष्टि सम्बन्धी द्रव्य कहते हैं। इस द्रव्यमें चार विभाग होते हैं—अधस्तन शीर्ष द्रव्य, अधस्तन कृष्टि द्रव्य, मध्य खण्ड द्रव्य, उभय द्रव्य विशेष।

२. अधस्तन शीर्ष द्रव्यः—पूर्व पूर्व समय विषैकरि कृष्टि तिनि विषै प्रथम कृष्टितै लगाय (द्रव्य प्रमाणका) विशेष घटता क्रम है। सो पूर्व पूर्व कृष्टिनिको आदि कृष्टि समान करनेके अर्थ घटे विशेषनिका द्रव्यमात्र जो द्रव्य तहाँ पूर्व कृष्टियोंमें दीजिए वह <u>अधस्तन शीर्ष</u> विशेष द्रव्य है।

३. अधस्तन कृष्टि द्रव्यः—अपूर्व कृष्टियोंके द्रव्यको भी पूर्व कृष्टियोंकी आदि कृष्टिके समान करनेके अर्थ जो द्रव्य दिया सो अधस्तन कृष्टि द्रव्य है।

४. उभय द्रव्य विशेषः—पूर्व पूर्व कृष्टियोंको समान कर लेनेके पश्चात् अब उनमें स्पर्धकोंकी भाँति पुनः नया विशेष हानि उत्पन्न करनेके अर्थ जो द्रव्य पूर्व व अपूर्व दोनों कृष्टियोंको दिया उसे उभय द्रव्य विशेष कहते हैं।

५. मध्य खण्ड द्रव्य—इन तीनोंकी जुदा किये अवशेष जो द्रव्य रहा ताका सर्व कृष्टिनि विषै समानरूप दीजिए, ताकी मध्यखण्ड द्रव्य कहते हैं।

इस प्रकारके द्रव्य विभाजनमें २३ उष्ट्रकूट रचना होती है।

९. उष्ट्र कूट रचना

क्ष.सा./५०५/भाषा—जैसे ऊँटकी पीठ पिछाड़ी तौ ऊँची और मध्य विषै नीची और आगै ऊँची और नीची हो है तैसे इहां (कृष्टियोंमें अपकृष्ट द्रव्यका विभाजन करनेके क्रममें) पहले नवीन (अपूर्व) जघन्य कृष्टि विषै बहुत, बहुरि द्वितीयादि नवीन कृष्टिनि विषै क्रमतै घटता द्रव्य दे हैं। आगै पुरातन (पूर्व) कृष्टिनि विषै अधस्तन शीर्ष विशेष द्रव्य कर बँधता और अधस्तन कृष्टि द्रव्य अथवा उभय द्रव्य विशेषकरि घटता द्रव्य दीजियै है। तातै देयमान द्रव्यविषै २३ उष्ट्रकूट रचना हो है। (चारों कषायोंमें प्रत्येककी तीन इस प्रकार पूर्व कृष्टि १२ प्रथम संग्रहके बिना नवीन संग्रह कृष्टि ११)।

१०. दृश्यमान द्रव्य

क्ष.सा./५०५/ भाषा—नवीन अपूर्व कृष्टि विषै तौ विवक्षित समय विषै दिया गया देय द्रव्य ही दृश्यमान है, क्योंकि, इससे पहले अन्य द्रव्य तहाँ दिया ही नहीं गया है, और पुरातन कृष्टिनिविषै पूर्व समयनिविषै दिया द्रव्य और विवक्षित समय विषै दिया द्रव्य मिलाये दृश्यमान द्रव्य हो है।

११. स्थिति बन्धापसरण व स्थिति सत्त्वापसरण

क्ष.सा./५०६-५०७/भाषा-अश्वकर्ण कालके अन्तिम समय संज्वलन चतुष्क का स्थिति बन्ध आठ वर्ष प्रमाण था। अब कृष्टिकरणके अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त बराबर स्थिति बन्धापसरण होते रहनेके कारण वह घटकर

इसके अन्तिम समयमें केवल अन्तर्मुहूर्त अधिक चार वर्ष प्रमाण रह गया। और अवशेष कर्मोंकी स्थिति संख्यात हजार वर्ष मात्र है। मोहनीयका स्थिति सत्त्व पहिले संख्यात हजार वर्ष मात्र था जो अब घट कर अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष मात्र रहा। शेष तीन घातियाका संख्यात हजार वर्ष और अघातियाका असंख्यात हजार वर्ष मात्र रहा।

१२. संक्रमण

क्ष.सा./५१२/ भाषा—नवक समय प्रबद्ध तथा उच्छिष्टावली मात्र निषेकोंको छोड़कर अन्य सर्व निषेक कृष्टिकरण कालके अन्त समय विषै ही कृष्टि रूप परिणमै हैं।

क्ष. सा./५१२/ भाषा—अन्त समय पर्यन्त कृष्टियोंके दृश्यमान द्रव्यकी चय हानि क्रम युक्त एक गोपुच्छा और स्पर्धकनिकी भिन्नचय हानि क्रम युक्त दूसरी गोपुच्छा है। परन्तु कृष्टिकालकी समाप्तताके अनन्तर सर्व ही द्रव्य कृष्टि रूप परिणमै एक गोपुच्छा हो है।

१३. घातकृष्टि

क्ष.सा./५२३/ भाषा—जिन कृष्टिनिका नाश किया तिनका नाम घात कृष्टि है।

१४. कृष्टि वेदनका लक्षण व काल

क्ष.सा./५१०-५११/भाषा—कृष्टिकरण काल पर्यन्त क्षपक, पूर्व, अपूर्व स्पर्धकनिके ही उदयको भोगता है परन्तु इन नवीन उत्पन्न की हुई कृष्टिनिको नहीं भोगता। अर्थात् कृष्टिकरण काल पर्यन्त कृष्टियोंका उदय नहीं आता। कृष्टिकरण कालके समाप्त हो जाकेंके अनन्तर कृष्टि वेदन काल आता है, तिस काल विषै तिष्ठति कृष्टिनिकी प्रथम स्थितिके निषेकनि विषै प्राप्त करि भोगवै है। तिस भोगवै ही का नाम कृष्टि वेदन है। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

क्ष.सा./५१३/भाषा—कृष्टिकरणकी अपेक्षा वेदनमें उल्टा क्रम है वहाँ पहले लोभकी और फिर माया, मान व क्रोधकी कृष्टि की गयी थी। परन्तु यहाँ पहले क्रोधकी, फिर मानकी, फिर मायाकी, और फिर लोभकी कृष्टिका वेदन होनेका क्रम है। (ल.सा./५१३) कृष्टिकरणमें तीन संग्रह कृष्टियोंमेंसे वहाँ जो अन्तिम कृष्टि थी वह यहाँ प्रथम कृष्टि है और वहाँ जो प्रथम कृष्टि थी वह यहाँ अन्तिम कृष्टि है, क्योंकि पहले अधिक अनुभाग युक्त कृष्टिका उदय होता है पीछे हीन हीन का।

१५. क्रोधकी प्रथम कृष्टि वेदन

क्ष.सा./५१४-५१५/भाषा—अब तक अश्वकर्ण रूप अनुभागका काण्डक घात करता था, अब समय प्रतिसमय अनन्तगुणा घटता अनुभाग होकर अपवर्तना करै है। नवीन कृष्टियोंका जो बन्ध होता है वह भी पहिलेसे अनन्तगुणा घात अनुभाग युक्त होता है।

क्ष.सा./५१५/भाषा—क्रोधकी कृष्टिके उदय कालमें मानादिकी कृष्टिका उदय नहीं होय है।

क्ष.सा./५१८/भाषा—प्रतिसमय बन्ध व उदय विषै अनुभागका घटना हो है।

क्ष.सा./५२२-५२६/भाषा—अन्य कृष्टियोंमें संक्रमण करके कृष्टियोंका अनुसमयापवर्तना घात करता है।

क्ष.सा./५२७-५२८/भाषा—कृष्टिकरणवत् मध्यखण्डादिक द्रव्य देनेकरि पुनः सर्व कृष्टियोंको एक गोपुच्छाकार करता है।

क्ष.सा./५२९-५३५/ भाषा—संक्रमण द्रव्य तथा नवीन बन्धे द्रव्यमें यहाँ भी कृष्टिकरणवत् नवीन संग्रह व अन्तरकृष्टि अथवा पूर्व व अपूर्व कृष्टियोंकी रचना करता है। तहाँ इन नवीन कृष्टियोंमें कुछ तो पहली कृष्टियोंके नीचे बनती है और कुछ पहले वाली पंक्तियोंके अन्तरालोंमें बनती है।

क्ष.सा./५३६-५३८/भाषा—पूर्व, अपूर्व कृष्टियोंके द्रव्यका अपकर्षण द्वारा घात करता है।

क्ष.सा./५३९-५४० भाषा—क्रोध कृष्टिवेदनके पहले समयमें ही स्थितिबन्धापसरण व स्थितिसत्त्वासरण द्वारा पूर्वके स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्वको घटाता है। तहाँ संज्वलन चतुष्कका स्थितिबन्ध ४ वर्षसे घटकर ३ मास १० दिन रहता है। शेष घातीका स्थितिबन्ध संख्यात हजार वर्षसे घटकर अन्तर्मुहूर्त घात दशवर्षमात्र रहता है और अघाती कर्मोंका स्थितिबन्ध पहिलेसे संख्यातगुणा घटता संख्यात हजार वर्ष प्रमाण रहा। स्थितिसत्त्व भी घातिया का संख्यात हजार और अघातियाका असंख्यात हजार वर्ष मात्र रहा।

क्ष.सा./५४१-५४३/भाषा—क्रोधकृष्टि वेदनके द्वितीयादि समयोंमें भी पूर्ववत कृष्टिघात व नवीन कृष्टिकरण, तथा स्थितिबन्धापसरण आदि जानने।

क्ष.सा./५४४-५५४/भाषा—क्रोधकी द्वितीयादि कृष्टियोंके वेदनाका भी विधान पूर्ववत् ही जानना।

१६. मान, माया व लोभका कृष्टिवेदन

क्ष.सा./५५५-५६२/भाषा—मान व मायाकी ६ कृष्टियोंका वेदन भ क्रोधवत् जानना।

क्ष.सा./५६३-५६४/ भाषा—क्रोधकी प्रथम संग्रहकृष्टिके वेदन कालमें उसकी द्वितीय व तृतीय संग्रहकृष्टिसे द्रव्यका अपकर्षणकर लोभकी सूक्ष्म कृष्टि करै है।

इस समय केवल संज्वलन लोभका स्थितिबंध हो है। उसका स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्व यहाँ आकर केवल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण शेष रह जाता है। तीन घातियानिका स्थितिबन्ध पृथक्त्व दिन और स्थिति सत्त्व संख्यात हजार वर्ष मात्र रहता है। अघातिया प्रकृतियोंका स्थितिबन्ध पृथक्त्व वर्ष और स्थितिसत्त्व यथायोग्य असंख्यात वर्ष मात्र है।

क्ष.सा./५७९-५८१/ भाषा—लोभकी द्वितीय संग्रह कृष्टिकी प्रथम स्थिति विषै समय अधिक आवली अवशेष रहे अनिवृत्तिकरणका अन्त समय हो है। तहाँ लोभका जघन्य स्थिति बन्ध व सत्त्व अन्तर्मुहूर्त मात्र है। यहाँ मोह बन्धकी व्युच्छित्ति भई। तीन घातियाका स्थितिबन्ध एक दिनसे कुछ कम रहा। और सत्त्व यथायोग्य संख्यात हजार वर्ष रहा। तीन अघातियाका (आयुके बिना) स्थिति सत्त्व यथा योग्य असंख्यात वर्ष मात्र रहा।

क्ष.सा./५८२/भाषा—अनिवृत्तिकरणका अन्त समयके अनन्तर सूक्ष्म कृष्टिको वेदता हुआ सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानको प्राप्त होता है।

१७. सूक्ष्म कृष्टि

क्ष.सा./४९० की उत्थानिका (लक्षण)—संज्वलन कषायानके स्पर्धकोंकी जो बादर कृष्टियें; उनमेंसे प्रत्येक कृष्टि रूप स्थूलखंडका अनन्त गुणा घटता अनुभाग करि सूक्ष्म-सूक्ष्म खण्ड करिये जो सूक्ष्म कृष्टिकरण है।

क्ष.सा./५६५-५६६/भाषा—अनिवृत्तिकरणके लोभकी प्रथम संग्रह कृष्टिके वेदन कालमें उसकी द्वितीय व तृतीय संग्रहकृष्टिसे द्रव्यको अपकर्षण करि लोभकी नवीन सूक्ष्मकृष्टि करै है, जिसका अवस्थान लोभकी तृतीय बादर संग्रह कृष्टिके नीचे है। सो इसका अनुभाग उस बादर कृष्टिसे अनन्तगुणा घटता है। और जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त अनन्तगुणा अनुभाग लिये है।

क्ष.सा./५६९-५७१/भाषा—तहाँ ही द्वितीयादि समयविषै अपूर्व सूक्ष्म कृष्टियोंकी रचना करता है। प्रति समय सूक्ष्मकृष्टिको दिया गया द्रव्य

असंख्यात गुणा है। तदनन्तर इन नवीन रचित कृष्टियोंमें अपकृष्ट द्रव्य देने करि यथायोग्य घट-बढ़ करके उसकी विशेष हानिक्रम रूप एक गोपुच्छा बनाता है।

क्ष.सा./५७६/भाषा—अनिवृत्तिकरण कालके अन्तिम समयमें लोभकी तृतीय संग्रहकृष्टिका तो सारा द्रव्य सूक्ष्मकृष्टि रूप परिणम चुका है और द्वितीय संग्रहकृष्टिमें केवल समय अधिक उच्छिष्टावली मात्र निषेक शेष है। अन्य सर्व द्रव्य सूक्ष्मकृष्टि रूप परिणमा है।

क्ष.सा./५८२/भाषा—अनिवृत्तिकरणका अन्त समयके अनन्तर सूक्ष्मकृष्टि-को वेदता हुआ सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानको प्राप्त होता है। तहाँ सूक्ष्म कृष्टि विषै प्राप्त मोहके सर्व द्रव्यका अपकर्षण कर गुणश्रेणी करै है।

क्ष.सा./५९७/भाषा—मोहका अन्तिम काण्डकका घात हो जानेके पश्चात जो मोहकी स्थितिविशेष रही, ता प्रमाण ही अब सूक्ष्मसाम्परायका काल भी शेष रहा, क्योंकि एक एक निषेकको अनुभवता हुआ उनका अन्त करता है। इस प्रकार सूक्ष्म साम्परायके अन्त समयको प्राप्त होता है।

क्ष.सा./५९८-६००/भाषा—यहाँ आकर सर्व कर्मोंका जघन्य स्थितिबन्ध होता है। तीन घातियाका स्थिति सत्त्व अन्तर्मुहूर्त मात्र रहा है। मोहका स्थिति सत्त्व क्षयके सम्मुख है। अघातियाका स्थिति सत्त्व असंख्यात वर्ष मात्र है। याके अनन्तर क्षीणकषाय गुणस्थानमें प्रवेश करै है।

१९. साम्प्रतिक कृष्टि

क्ष.सा./५११/भाषा—साम्प्रतिक कहिए वर्तमान उत्तर समय सम्बन्धी अन्त की केवल उदयरूप उत्कृष्ट कृष्टि हो है।

२०. जघन्योत्कृष्ट कृष्टि

क्ष.सा./५२१/भाषा—जे सर्व तै स्तोक अनुभाग लिये प्रथम कृष्टि सो जघन्य कृष्टि कहिये। सर्व तै अधिक अनुभाग लिये अन्तकृष्टि सो उत्कृष्ट कृष्टि हो है।

कृष्ण—ह.पु./सर्ग/श्लोक "पूर्वके चौथे भवमें अमृतरसायन नामक मांस पाचक थे (३३/१५१)। फिर तीसरे भवमें तीसरे नरकमें गये (३३/१५४) वहाँसे आकर यक्षलिक नामक वैश्य पुत्र हुए (३३/१५८) फिर पूर्वके भवमें निर्नामिक राजपुत्र हुए (३३/१४४)। वर्तमान भवमें वसुदेवके पुत्र थे (३५/१९)। नन्दगोपके घर पालन हुआ (३५/२८)। कंसके द्वारा छलसे बुलाया जाने पर (३५/७५) इन्होंने मल्लयुद्धमें कंस को मार दिया (४१/१८)। रुक्मिणीका हरण किया (४२/७४) तथा अन्य अनेकों कन्याएँ विवाह कर (४४ सर्ग) अनेकों पुत्रोंको जन्म दिया (४८/६९)। महाभारतके युद्धमें पाण्डवोंका पक्ष लिया। तथा जरासंधको मार कर (५२/८३) नवमें नारायणके रूपमें प्रसिद्ध हुए (५३/१७) अन्तमें भगवान् नेमिनाथकी भविष्यवाणीके अनुसार (५५/१२) द्वारकाका विनाश हुआ (६१/४८-) और ये उत्तम भावनाओंका चिन्तवन करते, जरत्कुमारके तीरसे मरकर नरकमें गये (६२/२३)। विशेष दे० शलाकापुरुष। भावि चौबीसोमें निर्मल नामके सोलहवें तीर्थंकर होंगे। —दे० तीर्थंकर/५।

कृष्ण गंगा—ज.प./प्र. १४१ A. N. up & H L. यह हरमुकुट पर्वतकी प्रसिद्ध गंगाबल झीलसे निकलती है। कश्मीरमें बहती है। इसे आज भी वहाँके लोग गंगाका उद्गम मानते हैं। इस गंगाके रेतमें सोना भी पाया जाता है, इसी लिए इसका नाम गांगेय है। इस नदीका नाम जम्बू भी है। जम्बू नदीसे निकलनेके कारण सोनेको जम्बूनद कहा जाता है।

कृष्णदास—म.पु./प्र. २० पं० पन्नालाल—आप ब्रह्मचारी थे। कृति—मुनिसुव्रत नाथ पुराण, विमल पुराण। समय—वि. १६७४—ई० १६१७। ग्रन्थ का रचनाकाल वि० १६८१ (ती./४/४४)।

कृष्णपंचमी व्रत—

वर्द्धमान पुराण/१ कुल समय—५ वर्ष; उपवास ५।

व्रतविधान संग्रह/१०१ विधि—पाँच वर्ष तक प्रतिवर्ष ज्येष्ठकृष्णा ५ को उपवास करे। जाप्य—नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप।

कृष्णमति—भूतकालीन बीसवें तीर्थंकर —दे० तीर्थंकर/५।

कृष्णराज—१. ह.पु./६६/५२-५३; (ह.पु./प्र.५ पं० पन्नालाल) (स्याद्वाद सिद्धि/प्र./२५ पं० दरबारी लाल) दक्षिण लाट देशके राजा श्रीवल्लभके पिता थे। आपका नाम कृष्णराज प्रथम था। आपके दो पुत्र थे—श्रीवल्लभ और ध्रुवराज। आपका राज्य लाट देशमें था तथा शत्रु भयंकरकी उपाधि प्राप्त थी। बड़े पराक्रमी थे। आचार्य पुष्पसेनके समकालीन थे। गोविन्द प्रथम आपका दूसरा नाम था। समय—श. ६७८-६९४; ई० ७५६-७७२ आता है। विशेष दे० इतिहास ३/४। २. कृष्णराज प्रथमके पुत्र ध्रुवराजके राज्य पर आसीन होनेके कारण राजा अकालवर्षका ही नाम कृष्णराज द्वितीय था (दे० अकालवर्ष) विशेष दे० इतिहास/३/४। ३. यशस्तिलक/प्र. २० पं० सुन्दर लाल—राष्ट्रकूट देशका राठौर वंशी राजा था। कृष्णराज द्वि०(अकालवर्ष) का पुत्र था। इसलिए यह कृष्णराज तृतीय कहलाया। अकालवर्ष तृतीयको ही अमोघवर्ष तृतीय भी कहते हैं। (विशेष दे० इतिहास/३/४) यशस्तिलक चम्पूके कर्ता सोमदेव सूरिके समकालीन थे। समय—वि० १००२-१०२९ (ई० ९४५-९७२) अकालवर्षके अनुसार (ई० ९१२-९७२) आना चाहिए।

कृष्णलेश्या—दे० लेश्या।

कृष्णवर्मा—समय—वि० ५२३ (ई० ४६६) (द.सा./प्र ३८ प्रेमीजी) (Royal Asiatic Society Bombay Journal Vol. 12 के आधार पर)

कृष्ण वर्मा—आर्यखण्डकी एक नदी —दे० मनुष्य/४।

केंद्रवर्ती वृत्त—Initial Circle; Central Core (ध./पु. ५/प्र. २७)

केकय—१. पंजाब प्रान्तकी वितस्ता (जेहलम) और चन्द्रभागा (चिनाब) नदियोंका अन्तरालवर्ती प्रदेश। इसकी राजधानी गिरिव्रज (जलालपुर) थी। (म.पु/प्र.५० पं० पन्नालाल); २. भरत क्षेत्र आर्यखण्डका एक देश। अपरनाम कैकेय था। —दे० मनुष्य/४।

केकयी—प.पु./सर्ग/श्लोक—शुभमति राजाकी पुत्री (२४/४) राजा दशरथकी रानी (२४/१२) व भरतकी माता थी। (२५/३५)। पुत्रके वियोगसे दुखित होकर दीक्षा ग्रहण कर ली (८६/१४)।

केतवा—भरत क्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी —दे० मनुष्य/४।

केतु—एक ग्रह —दे० ग्रह।

केतुभद्र—कुरुवंशी था। कलिंग देशका राजा था। कलिंग राजका संस्थापक था। महाभारत युद्धमें इसने बड़ा पराक्रम दिखाया था। समय—ई० पू० १४६० । (खारवेलकी हाथी गुफाका शिलालेख उड़ीसा।)

केतुमति—प.पु./१५/६-८ हनुमानकी दादी थी।

केतुमाल—१. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर —दे० विद्याधर। २. मैक्ट्रिया और एरियाना प्रदेश ही चक्षु द्वीपी भूगोलका केतुमाल द्वीप है। (ज.प./प्र. १४० A.N. up. & H.L.)

केरल— १. कृष्णा और तुङ्गभद्राके दक्षिणमें विद्यमान भूभाग, जो आजकल मद्रासके अन्तर्गत है। पाण्ड्य केरल और सतीपुत्र नामसे प्रसिद्ध है। २. मध्य आर्यखण्डका एक देश —दे० मनुष्य/४।

केवल—मो.पा./टी./६/३०८/१३ केवलोऽसहायः केवलज्ञानमयो वा के परब्रह्मणि निजशुद्धबुद्धैकस्वभावे आत्मनि बलमनन्तवीर्यं यस्य स भवति केवलः, अथवा केवते सेवते निजात्मनि एकलोलीभावेन तिष्ठतीति केवलः। —केवलका अर्थ असहाय या केवलज्ञानमय है। अथवा 'क' का अर्थ परमब्रह्म या शुद्ध बुद्धरूप एक स्वभाववाला आत्मा है उसमें है बल अर्थात् अनन्तवीर्य जिसके। अथवा जो केवते अर्थात् सेवन करता है—अपनी आत्मामें एकलोलीभावसे रहता है वह केवल है।

केवलज्ञान—जीवन्मुक्त योगियोंका एक निर्विकल्प अतीन्द्रिय अतिशय ज्ञान है जो बिना इच्छा व बुद्धिके प्रयोगके सर्वांगसे सर्वकाल व क्षेत्र सम्बन्धी सर्व पदार्थोंको हस्तामलकवत् टंकोत्कीर्ण प्रत्यक्ष देखता है। इसीके कारण वह योगी सर्वज्ञ कहाते हैं। स्व व पर ग्राही होनेके कारण इसमें भी ज्ञानका सामान्य लक्षण घटित होता है। यह ज्ञानका स्वाभाविक व शुद्ध परिणमन है।

१	**केवलज्ञान निर्देश**
१	केवलज्ञानका व्युत्पत्ति अर्थ।
२	केवलज्ञान निरपेक्ष व असहाय है।
*	केवलज्ञानमें विकल्पका कथंचित् सद्भाव। —दे० विकल्प
३	केवलज्ञान एक ही प्रकारका है।
४	केवलज्ञान गुण नहीं पर्याय है।
*	केवलज्ञान भी ज्ञान सामान्यका अंश है। —दे० ज्ञान/I/४/१-२
५	यह मोह व ज्ञानावरणीयके क्षयसे उत्पन्न होता है।
६	केवलज्ञान निर्देशका मतार्थ।
*	केवलज्ञान कथंचित् परिणामी है। —दे० केवलज्ञान/५/३
*	केवलज्ञानमें शुद्ध परिणमन होता है। —दे० परिणमन
*	वह शुद्धात्मोंमें ही उत्पन्न होता है। —दे० केवलज्ञान/५/६।
*	सभी मार्गणास्थानोंमें आयके अनुसार ही व्यय। —दे० मार्गणा।
*	तीसरे व चौथे कालमें ही होना संभव है। —दे० मोक्ष/४/३।
*	केवलज्ञान विषयक गुणस्थान, मार्गणास्थान, व जीवसमास आदिके स्वामित्व विषयक २० प्ररूपणाएँ—दे० सत्।
*	केवलज्ञान विषयक सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व —दे० वह वह नाम।
*	केवलज्ञान निसर्गज नहीं होता —दे० अधिगम/१०
२	**केवलज्ञानकी विचित्रता**
१	सर्वको जानता हुआ भी व्याकुल नहीं होता।
२	सर्वांगसे जानता है।
३	प्रतिबिम्बवत् जानता है।
४	टंकोत्कीर्णवत् जानता है।
५	अक्रमरूपसे युगपत् एकक्षणमें जानता है।
६	तात्कालिकवत् जानता है।
७	सर्वज्ञेयोंको पृथक् पृथक् जानता है।
३	**केवलज्ञानकी सर्वग्राहकता**
१	सब कुछ जानता है।
२	समस्त लोकालोकको जानता है।
३	सम्पूर्ण द्रव्य क्षेत्र काल भावको जानता है।
४	सर्व द्रव्यों व उनकी पर्यायोंको जानता है।
५	त्रिकाली पर्यायोंको जानता है।
६	सद्भूत व असद्भूत सब पर्यायोंको जानता है।
*	अनन्त व असंख्यातको जानता है —दे० अनन्त/२/४,५।
७	प्रयोजनभूत व अप्रयोजनभूत सबको जानता है।
८	इससे भी अनंतगुणा जाननेको समर्थ है।
९	इसे समर्थ न माने सो अज्ञानी है।
*	केवलज्ञान ज्ञानसामान्यके बराबर है। —दे० ज्ञान/I/४।
४	**केवलज्ञानकी सिद्धिमें हेतु**
१	यदि सर्वको न जाने तो एकको भी नहीं जान सकता।
२	यदि त्रिकालको न जाने तो इसकी दिव्यता ही क्या।
३	अपरिमित विषय ही तो इसका माहात्म्य है।
४	सर्वज्ञत्वका अभाववादी क्या स्वयं सर्वज्ञ है?
५	बाधक प्रमाणका अभाव होनेसे सर्वज्ञत्व सिद्ध है।
६	अतिशय पूज्य होनेसे सर्वज्ञत्व सिद्ध है।
७	केवलज्ञानका अंश सर्वप्रत्यक्ष होनेसे यह सिद्ध है।
*	मति आदि ज्ञान केवलज्ञानके अंश हैं। —दे० ज्ञान/I/४।
८	सूक्ष्मादि पदार्थ प्रमेय होनेसे सर्वज्ञत्व सिद्ध है।
९	कर्मों व दोषोंका अभाव होनेसे सर्वज्ञत्व सिद्ध है।
*	कर्मोंका अभाव सम्भव है। —दे० मोक्ष/६।
*	रागादि दोषोंका अभाव सम्भव है। —दे० राग/५।
५	**केवलज्ञान विषयक शंका समाधान**
१	केवलज्ञान असहाय कैसे है?
२	विनष्ट व अनुत्पन्न पदार्थोंका ज्ञान कैसे सम्भव है?
३	अपरिणामी केवलज्ञान परिणामी पदार्थोंको कैसे जान सकता है?
*	अनादि व अनन्त ज्ञानगम्य कैसे हो? दे० अनंत/२।
४	केवलज्ञानीको प्रश्न सुननेकी क्या आवश्यकता?
*	केवलज्ञानकी प्रत्यक्षता सम्बन्धी शंकाएँ —दे० प्रत्यक्ष।
५	सर्वज्ञत्वके साथ वक्तृत्वका विरोध नहीं है।

१. केवलज्ञान निर्देश

१. केवलज्ञानका व्युत्पत्ति अर्थ

स. सि./१/९/१४/६ बाह्येनाभ्यन्तरेण च तपसा यदर्थमर्थिनो मार्गं केवन्ते सेवन्ते तत्केवलम्। —अर्थीजन जिसके लिए बाह्य और अभ्यन्तर तपके द्वारा मार्गका केवन अर्थात् सेवन करते हैं वह केवलज्ञान कहलाता है। (रा. वा./१/९/६/४४-४५) (श्लो. वा ३/१/९/८/५)

२. केवलज्ञान निरपेक्ष व असहाय है

स. सि./१/९/९४/७ असहायमिति वा। —केवल शब्द असहायवाची है, इसलिए असहाय ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं। मो. पा./टी.६/१०८/१३ (श्लो. वा/३/१/९/८/५)

ध. ६/१,९-१,१४/२९/५ केवलमसहायमिंदियालोयणिरवेक्खं तिकालगोयराणंतपज्जायसमवेदाणंतवत्थुपरिमसंकुडियमसवत्तं केवलणाणं। —केवल असहायको कहते हैं। जो ज्ञान असहाय अर्थात् इन्द्रिय और आलोककी अपेक्षा रहित है, त्रिकालगोचर अनन्तपर्यायोंसे समवायसम्बन्धको प्राप्त अनन्त वस्तुओंको जाननेवाला है, असंकुटित अर्थात् सर्व व्यापक है और असपत्न अर्थात् प्रतिपक्षी रहित है उसे केवलज्ञान कहते हैं। (ध. १३/५,५,२१/२१३/४)

क. पा./१/१,१/§१५/२१,२३ केवलमसहायं इन्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षत्वात्।...आत्मार्थव्यतिरिक्तसहायनिरपेक्षत्वाद्वा केवलमसहायम्। केवलं च तज्ज्ञानं च केवलज्ञानम्। —असहाय ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह इन्द्रिय, प्रकाश और मनस्कार अर्थात् मनोव्यापारकी अपेक्षासे रहित है। अथवा केवलज्ञान आत्मा और अर्थसे अतिरिक्त किसी इन्द्रियादिक सहायककी अपेक्षासे रहित है, इसलिए भी वह केवल अर्थात् असहाय है। इस प्रकार केवल अर्थात् असहाय जो ज्ञान है उसे केवलज्ञान कहते हैं।

३. केवलज्ञान एक ही प्रकारका है

ध. १२/४,२,१४,५/४८०/७ केवलणाणमेयविधं, कम्मक्खएण उप्पज्जमाणत्तादो। —केवलज्ञान एक प्रकारका है, क्योंकि, वह कर्म क्षयसे उत्पन्न होनेवाला है।

४. केवलज्ञान गुण नहीं पर्याय है

ध. ६/१,९-१,१७/३४/३ पर्यायस्य केवलज्ञानस्य पर्यायाभावतः सामर्थ्यद्वयाभावात्। —केवलज्ञान स्वयं पर्याय है और पर्यायके दूसरी पर्याय होती नहीं है। इसलिए केवलज्ञानके स्व व पर को जाननेवाली दो शक्तियोंका अभाव है।

ध. ७/२,१,४६/८८/११ ण पारिणामिएण भावेण होदि, सव्वजीवाणं केवलणाणुप्पत्तिप्पसंगादो। —प्रश्न—जीव केवलज्ञानी कैसे होता है? (सूत्र ४६)। उत्तर—पारिणामिक भावसे तो होता नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो सभी जीवोंके केवलज्ञानकी उत्पत्तिका प्रसंग आ जाता।

५. यह मोह व ज्ञानावरणीयके क्षयसे उत्पन्न होता है

त. सू./१०/१ मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। —मोहका क्षय होनेसे तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण व अन्तराय कर्मका क्षय होनेसे केवलज्ञान प्रगट होता है।

६. केवलज्ञानका मतार्थ

ध. ६/१,९-१,२१६/४९०/४ केवलज्ञाने समुत्पन्नेऽपि सर्वं न जानातीति कपिलो ब्रूते। तत्र तन्निराकरणार्थं बुद्ध्यन्त इत्युच्यते। —कपिलका कहना है कि केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर भी सब वस्तुस्वरूपका ज्ञान नहीं होता। किन्तु ऐसा नहीं है, अतः इसीका निराकरण करनेके लिए 'बुद्ध होते हैं' यह पद कहा गया है।

प. प्र./टी./१/१/७/१ मुक्तात्मनां सुप्तावस्थावद्बहिर्ज्ञेयविषये परिज्ञानं नास्तीति सांख्या वदन्ति, तन्मतानुसारि शिष्यं प्रति जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसर्वपदार्थयुगपत्परिच्छित्तिरूपकेवलज्ञानस्थापनार्थं ज्ञानमयविशेषणं कृतमिति। —'मुक्तात्माओंके सुप्तावस्थाकी भाँति बाह्य ज्ञेय विषयोंका परिज्ञान नहीं होता' ऐसा सांख्य लोग कहते हैं। उनके मतानुसारी शिष्यके प्रति जगत्त्रय कालत्रयवर्ती सर्वपदार्थोंको युगपत् जाननेवाले केवलज्ञानके स्थापनार्थ 'ज्ञानमय' यह विशेषण दिया है।

२. केवलज्ञानकी विचित्रता

१. सबको जानता हुआ भी व्याकुल नहीं होता

ध /१३/५,४,२६/८९/५ केवलिस्स विसईकयासेसदव्वपज्जायस्स सगसव्वद्धाए एगरूवस्स अणिंदियस्स। —केवली जिन अशेष द्रव्य पर्यायोंको विषय करते हैं, अपने सब कालमें एकरूप रहते हैं और इन्द्रियज्ञानसे रहित हैं।

प्र. सा./त. प्र/३२ युगपदेव सर्वार्थसार्थसाक्षात्करणेन ज्ञप्तिपरिवर्तनाभावात् संभावितग्रहणमोक्षणक्रियाविरामः प्रथममेव समस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतत्वात् पुनः परमाकारान्तरमपरिणममानः समन्ततोऽपि विश्वमशेषं पश्यति जानाति च एवमस्यात्यन्तविविक्तत्वमेव। —एक साथ ही सर्व पदार्थोंके समूहका साक्षात्कार करनेसे, ज्ञप्ति परिवर्तनका

अभाव होनेसे समस्त परिछेद्य आकारोंरूप परिणत होनेके कारण जिसके ग्रहण त्याग कियाका अभाव हो गया है, फिर पररूपसे—आकारान्तररूपसे नहीं परिणमित होता हुआ सर्व प्रकारसे अशेष विश्वको (मात्र) देखता जानता है। इस प्रकार उस आत्माका (ज्ञेय-पदार्थोंसे) भिन्नत्व ही है।

प्र. सा./त.प्र./६० केवलस्यापि परिणामद्वारेण खेदस्य संभवादैकान्तिक-सुखत्वं नास्तीति प्रत्याचष्टे। (उत्थानिका)।...यतश्च त्रिसमया-वच्छिन्नसकलपदार्थपरिच्छेद्याकारवैश्वरूप्यप्रकाशनास्पदीभूतं चित्र-भित्तिस्थानीयमनन्तस्वरूपं स्वमेव परिणमत्केवलमेव परिणामः, ततो कुतोऽन्यः परिणामो यद्द्वारेण खेदस्यात्मलाभः। = प्रश्न—केवलज्ञानको भी परिणाम (परिणमन) के द्वारा खेदका सम्भव है, इसलिए केवलज्ञान एकान्तिक सुख नहीं है? उत्तर—तीन कालरूप तीन भेद जिसमें किये जाते हैं ऐसे समस्त पदार्थोंकी ज्ञेयाकाररूप विविधताको प्रका-शित करनेका स्थानभूत केवलज्ञान चित्रित दीवारकी भाँति स्वयं ही अनन्तस्वरूप परिणमित होता है, इसलिए केवलज्ञान (स्वयं) ही परिणमन है। अन्य परिणमन कहाँ है कि जिससे खेदकी उत्पत्ति हो।

नि. सा./ता. वृ./१७२ विश्वमश्रान्तं जानन्नपि पश्यन्नपि वा मनःप्रवृत्ते-रभावादीहापूर्वकं वर्तनं न भवति तस्य केवलिनः। = विश्वको निर-न्तर जानते हुए और देखते हुए भी केवलीको मनःप्रवृत्तिका अभाव होनेसे इच्छा पूर्वक वर्तन नहीं होता।

स्या.म./९/४८/२ अथ युष्मत्पक्षेऽपि यदा ज्ञानात्मा सर्वं जगत्त्रयं व्याप्नो-तीत्युच्यते तदाशुचिरसास्वादादीनामप्युपालम्भसंभावनात् नरकादि-दुःखस्वरूपसंवेदनात्मकतया दुःखानुभवप्रसंगाच्च अनिष्टापत्तिस्तुल्यै-वेति चेत्, तदेतदुपपत्तिभिः प्रतिकर्तुमशक्तस्य धूलिभिरिवावकरणम्। यतो ज्ञानमप्राप्यकारि स्वस्थानस्थमेव विषयं परिच्छिनत्ति, न पुन-स्तत्र गत्वा, तत्कुतो भवदुपालम्भः समीचीनः। = प्रश्न—ज्ञानकी अपेक्षा जिनभगवान्‌को जगत्त्रयमें व्यापी माननेसे आप जैन लोगोंके भगवान्‌-को भी (शरीरव्यापी भगवान्‌वत्) अशुचि पदार्थोंके रसास्वादनका ज्ञान होता है तथा नरक आदि दुःखोंके स्वरूपका ज्ञान होनेसे दुःखका भी अनुभव होता है, इसलिए अनिष्टापत्ति दोनोंके समान है? उत्तर—यह कहना असमर्थ होकर धूल फेंकनेके समान है। क्योंकि हम ज्ञानको अप्राप्यकारी मानते हैं. अर्थात् ज्ञान आत्मामें स्थित होकर ही पदार्थोंको जानता है, ज्ञेयपदार्थोंके पास जाकर नहीं। इसलिए आपका दिया हुआ दूषण ठीक नहीं है।

२. केवलज्ञान सर्वांगसे जानता है

ध. १/१,१,१/२७/४८ सव्वावयवेहि दिट्ठसव्वट्ठा। = जिन्होंने सर्वांग सर्व पदार्थोंको जान लिया है (वे सिद्ध हैं)।

क. पा. १/१,१/§४६/६५/२. ण एगावयवेण चेव गेण्हदि; सयलावयवगय-आवरणस्स णिम्मूलविणासे संते एगावयवेणेव गहणविरोहादो। तदो पत्तमपत्तं च अक्कमेण सयलावयवेहि जाणदि त्ति सिद्धं। = यदि कहा जाय कि केवली आत्माके एकदेशसे पदार्थोंका ग्रहण करता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्माके सभी प्रदेशोंमें विद्यमान आवरणकर्मके निर्मूल विनाश हो जानेपर केवल उसके एक अवयवसे पदार्थोंका ग्रहण माननेमें विरोध आता है। इसलिए प्राप्त और अप्राप्त सभी पदार्थोंको युगपद् अपने सभी अवयवोंसे केवली जानता है, यह सिद्ध हो जाता है।

प्र. सा./त. प्र./४७ सर्वतो विशुद्धस्य प्रतिनियतदेशविशुद्धेरन्तःप्लवनात् समन्ततोऽपि प्रकाशते। = (क्षायिक ज्ञान) सर्वतः विशुद्ध होनेके कारण प्रतिनियत प्रदेशोंकी विशुद्धि (सर्वतः विशुद्धि) के भीतर डूब जाने-से वह सर्वतः (सर्वात्मप्रदेशोंसे भी) प्रकाशित करता है। (प्र. सा./त. प्र./२२)।

३. केवलज्ञान प्रतिबिम्बवत् जानता है

प. प्र./मू./९९ जोइय अप्पें जाणिएण जगु जाणियउ हवेइ। अप्पहँ करेइ भावडइ बिंबिउ जेण वसेइ।९९। = अपने आत्माके जाननेसे यह तीन लोक जाना जाता है, क्योंकि आत्माके भावरूप केवलज्ञानमें यह लोक प्रतिबिम्बित हुआ बस रहा है।

प्र. सा./त. प्र./२०० अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभावत्वात् ...प्रतिबिम्बवत्तत्र...समस्तमपि द्रव्यजातमेकक्षण एव प्रत्यक्षयन्तं...। = एक ज्ञायकभावका समस्त ज्ञेयोंको जाननेका स्वभाव होनेसे, समस्त द्रव्यमात्रको, मानों वे द्रव्य प्रतिबिम्बवत् हुए हों, इस प्रकार एक क्षणमें ही जो प्रत्यक्ष करता है।

४. केवलज्ञान टंकोत्कीर्णवत् जानता है

प्र. सा./त. प्र./३८ परिच्छेदं प्रति नियतत्वात् ज्ञानप्रत्यक्षतामनुभवन्तः शिलास्तम्भोत्कीर्णभूतभाविदेववद् प्रकम्प्यार्पितस्वरूपाः। = ज्ञानके प्रति नियत होनेसे (सर्व पर्यायें) ज्ञानप्रत्यक्ष वर्तती हुई पाषाणस्तम्भमें उत्कीर्ण भूत और भावि देवोंकी भाँति अपने स्वरूपको अकम्पतया अर्पित करती हैं।

प्र. सा./त. प्र./२०० अथैकस्य ज्ञायकस्वभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभाव-त्वात् प्रोत्कीर्णलिखितनिखातकीलितमज्जितसमावर्तित... समस्तमपि द्रव्यजातमेकक्षण एव प्रत्यक्षयन्तं...। = एक ज्ञायकभावका समस्त ज्ञेयोंको जाननेका स्वभाव होनेसे, समस्त द्रव्यमात्रको, मानो वे द्रव्य ज्ञायकमें उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, इस प्रकार एक क्षणमें ही जो प्रत्यक्ष करता है।

प्र. सा./त. प्र./३७ किंच चित्रपटस्थानीयत्वात् संविदः। यथा हि चित्रपट्यामतिवाहितानामनुपस्थितानां वर्तमानानां च वस्तूनामा-लेख्याकाराः साक्षादेकक्षण एवावभासन्ते, तथा संविद्भित्तावपि। = ज्ञान चित्रपटके समान है। जैसे चित्रपटमें अतीत अनागत और वर्तमान वस्तुओंके आलेख्याकार साक्षात् एक समयमें भासित होते हैं। उसी प्रकार ज्ञानरूपी भित्तिमें भी भासित होते हैं।

५. केवलज्ञान अक्रम रूपसे जानता है

ष. खं. १३/५,५/सू. ८२/३४६ ...सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति।८२। = (केवलज्ञान) सब जीवों और सर्व भावोंको सम्यक् प्रकारसे युगपत् जानते हैं, देखते हैं और विहार करते हैं। (प्र. सा./मू./४७); (यो. सा. अ./२६); (प्र. सा./त. प्र./५२/क ४); (प्र. सा./त. प्र./३२, ३९) (ध.६/४,१,४५/५०/१४२)

भ. आ./मू./२१४२ भावे सगविसयत्थे सूरो जुगवं जहा पयासेइ। सव्वं वि तहा जुगवं केवलणाणं पयासेदि।२१४२। = जैसे सूर्य अपने प्रकाशमें जितने पदार्थ समाविष्ट होते हैं उन सबको युग-पत् प्रकाशित करता है, वैसे सिद्ध परमेष्ठीका केवलज्ञान सम्पूर्ण ज्ञेयोंको युगपत् जानता है। (प. प्र./टी./१/६/७/३); (पं. का./ता. वृ./२२४/१०), (द्र. सं./टी./१४/४२/७)।

अष्ट सहस्री/निर्णय सागर बम्बई/पृ. ४९. न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिद-गोचरोऽस्ति। यन्न क्रमेत तत्स्वभावान्तरप्रतिषेधात्। = 'ज्ञ' स्वभाव-को कुछ भी अगोचर नहीं है, क्योंकि वह क्रमसे नहीं जानता, तथा इससे अन्य प्रकारके स्वभावका उसमें निषेध है।

प्र.सा./मू. व. त. प्र./२१ सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहि किरियाहि। २१। ततोऽस्याक्रमसमाक्रान्त...सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा एव भवन्ति। = वे उन्हें अवग्रहादि क्रियाओंसे नहीं जानते।...अतः अक्रमिक ग्रहण होनेसे समक्ष संवेदनकी आलम्बनभूत समस्त द्रव्य पर्यायें प्रत्यक्ष ही हैं।

प्र. सा./त. प्र./३७ यथा हि चित्रपटयाम्…वस्तूनामालेख्याकाराः साक्षादेकक्षण एवावभासन्ते तथा संविद्भित्तावपि ।
—जैसे चित्रपटमें वस्तुओंके आलेख्याकार साक्षात् एक क्षणमें ही भासित होते हैं, इसी प्रकार ज्ञानरूपी भित्तिमें भी जानना । (ध.७/२,१,४६/८६/१), (द्र.सं./टी/११/२१६/१३), (नि.सा./ता.वृ./४३) ।

६. केवलज्ञान तात्कालिकवत् जानता है

प्र.सा./मू./३७ तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं । वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ।३७। —उन द्रव्य जातियोंकी समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें तात्कालिक पर्यायोंकी भाँति विशिष्टता पूर्वक ज्ञानमें वर्तती हैं । (प्र.सा./मू.४७)

७. केवलज्ञान सर्व ज्ञेयोंको पृथक्-पृथक् जानता है

प्र. सा./मू./३७ वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ।३७। —द्रव्य जातियोंकी सर्व पर्यायें ज्ञानमें विशिष्टता पूर्वक वर्तती हैं ।

प्र.सा./त.प्र./१२/क४ ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः ।४। —ज्ञेयाकारोंको (मानो पी गया है इस प्रकार समस्त पदार्थोंको) पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है ।

३. केवलज्ञानकी सर्वग्राहकता

१. केवलज्ञान सब कुछ जानता है

प्र.सा./मू./४७ सव्वं अत्थं विचित्तं विसमं तं णाणं खाइयं भणियं ।" —विचित्र और विषम समस्त पदार्थोंको जानता है उस ज्ञानको क्षायिक कहा है ।

नि. सा./मू./१६७ मुत्तममुत्तं दव्वं चेयणमियरं सगं च सव्वं च । पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ ।१६७। —मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन, द्रव्योंको, स्वको तथा समस्तको देखनेवालेका ज्ञान अतीन्द्रिय है, प्रत्यक्ष है । (प्र.सा./मू./५४); (आप्त. प./३६/§१२६/१०१/६);

स्व. स्तो./मू./१०६ "यस्य महर्षेः सकलपदार्थ-प्रत्यवबोधः समजनि साक्षात् । सामरमर्त्यं जगदपि सर्वं प्राञ्जलि भूत्वा प्रणिपतति स्म ।" —जिन महर्षिके सकल पदार्थोंका प्रत्यवबोध साक्षात् रूपसे उत्पन्न हुआ है, उन्हें देव मनुष्य सब हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं । (पं. सं./१/१२६); (ध.१०/४,२,४,१०७/३१६/५) ।

क.पा.१/१,१/§४६/६४/४ तम्हा णिरावरणो केवली भूदं भव्वं भवंतं सुहुमं ववहियं विप्पइट्ठं च सव्वं जाणदि त्ति सिद्धं । —इसलिए निरावरण केवली…सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्ट सभी पदार्थोंको जानते हैं ।

ध.१/१,१,१/४५/३ स्वस्थिताशेषप्रमेयत्वतः प्राप्तविश्वरूपाः । —अपनेमें ही सम्पूर्ण प्रमेय रहनेके कारण जिसने विश्वरूपताको प्राप्त कर लिया है ।

ध.७/२,१,४६/८६/१० तदणवगत्थाभावादो । —क्योंकि, केवलज्ञानसे न जाना गया हो ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है ।

पं.का/मू.४३की प्रक्षेपक गाथा नं. ५ तथा उसकी ता. वृ.टी/८७/६ णाणं णेयणिमित्तं केवलणाणं ण होदि सुदणाणं । णेयं केवलणाणं णाणाणाणं च णत्थि केवलिणो ।५। —न केवले श्रुतज्ञानं नास्ति केवलिनां ज्ञानाज्ञानं च नास्ति क्वापि विषये ज्ञानं क्वापि विषये पुनरज्ञानमेव न किन्तु सर्वत्र ज्ञानमेव । —ज्ञेयके निमित्तसे उत्पन्न नहीं होता इसलिए केवलज्ञानको श्रुतज्ञान नहीं कह सकते । और न ही ज्ञानाज्ञान कह सकते हैं । किसी विषयमें तो ज्ञान हो और किसी विषयमें अज्ञान हो ऐसा नहीं, किन्तु सर्वत्र ज्ञान ही है ।

२. केवलज्ञान समस्त लोकालोकको जानता है

भ.आ./मू./२१४१ पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे । तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो । —वे (सिद्ध परमेष्ठी) सम्पूर्ण द्रव्यों व उनकी पर्यायोंसे भरे हुए सम्पूर्ण जगत्को तीनों कालोंमें जानते हैं । तो भी वे मोहरहित ही रहते हैं ।

प्र.सा./मू./२३ आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं । णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ।२३। —आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान-ज्ञेयप्रमाण है, ज्ञेय लोकालोक है, इसलिए ज्ञान सर्वगत है । (ध.१/१,१,१३६/१९८/३८६); (नि.सा./ता.वृ./१६१/क.२७७) ।

पं.सं./प्रा./१/१२६ संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त सव्वभावगयं । लोयालोय वितिमिरं केवलणाणं मुणेयव्वा ।१२६। —जो सम्पूर्ण है, समग्र है, असहाय है, सर्वभावगत है, लोक और अलोकोंमें अज्ञानरूप तिमिरसे रहित है, अर्थात् सर्व व्यापक व सर्वज्ञायक है, उसे केवलज्ञान जानो । (ध. १/१,१,११५/ १९६/३६०); (गो. जी./मू./४६०/८७२) ।

द्र.सं./मू./५१ णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा । —नष्ट हो गयी है अष्टकर्मरूपी देह जिसके तथा जो लोकालोकको जानने देखनेवाला है (वह सिद्ध है) (द्र.सं./टी./१४/४२/७)

प. प्र./टी./११/१४/८ केवलज्ञाने जाते सति…सर्वं लोकालोकस्वरूपं विज्ञायते । —केवलज्ञान हो जाने पर सर्व लोकालोकका स्वरूप जाननेमें आ जाता है ।

३. केवलज्ञान सम्पूर्ण द्रव्य क्षेत्र काल भावको जानता है

ष. खं.१३/५,५/सू. ८२/३४६ सई भयवं उप्पण्णणाणदरिसी सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स अगदिं गदिं चयणोववादं बंधं मोक्खं इड्ढिं ट्ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं माणो माणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति ।८२। —स्वयं उत्पन्न हुए ज्ञान और दर्शनसे युक्त भगवान् देवलोक और असुरलोकके साथ मनुष्यलोककी अगति, गति, चयन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरह.कर्म, सब लोकों, सब जीवों और सब भावोंको सम्यक् प्रकारसे युगपत् जानते हैं, देखते हैं और विहार करते हैं ।

ध.१३/५,५,८२/३५०/१२ संसारिणो दुविहा तस। थावरा चेदि ।…तत्थ वणप्फदिकाइया अणंतवियप्पा; सेसा असंखेज्जवियप्पा । एदे सव्वजीवे सव्वलोगट्ठिदे जाणदि त्ति भणिदं होदि । —जीव दो प्रकारके हैं—त्रस और स्थावर ।…इनमेंसे वनस्पतिकायिक अनन्तप्रकारके हैं और शेष असंख्यात प्रकारके हैं (अर्थात् जीवसमासोंकी अपेक्षा जीव अनेक भेद रूप हैं) । केवली भगवान् समस्त लोकमें स्थित, इन सब जीवोंको जानते हैं । यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

प्र. सा./त. प्र./५४ अतीन्द्रियं हि ज्ञानं यदमूर्तं यन्मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियं यत्प्रच्छन्नं च तत्सकलं स्वपरविकल्पान्तःपाति प्रेक्षत एव । तस्य खल्वमूर्तेषु धर्माधर्मादिषु, मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियेषु परमाण्वादिषु द्रव्यप्रच्छन्नेषु कालादिषु क्षेत्रप्रच्छन्नेष्वलोकाकाशप्रदेशादिषु, कालप्रच्छन्नेष्वसाम्प्रतिकपर्यायेषु, भावप्रच्छन्नेषु स्थूलपर्यायान्तर्लीनसूक्ष्मपर्यायेषु सर्वेष्वपि स्वपरव्यवस्थाव्यवस्थितेष्वस्ति द्रष्टृत्वं प्रत्यक्षत्वात् । —जो अमूर्त है, जो मूर्त पदार्थोंमें भी अतीन्द्रिय है, और जो प्रच्छन्न (ढँका हुआ) है, उस सबको, जो कि स्व व पर इन दो भेदोंमें समा जाता है उसे अतीन्द्रिय ज्ञान अवश्य देखता है । अमूर्त द्रव्य धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आदि, मूर्त पदार्थोंमें भी अतीन्द्रिय परमाणु इत्यादि, तथा द्रव्यमें प्रच्छन्न काल इत्यादि, क्षेत्रमें प्रच्छन्न अलोकाकाशके प्रदेश इत्यादि, कालमें प्रच्छन्न असाम्प्रतिक (अतीत-अनागत) पर्यायें, तथा भाव प्रच्छन्न स्थूलपर्यायोंमें अन्तर्लीन सूक्ष्म

पर्यायें हैं उन सबको जो कि स्व और परके भेदसे विभक्त हैं उन सबका वास्तवमें उस अतीन्द्रियज्ञानके दृष्टपना है।

प्र.सा./त.प्र./२१ ततोऽस्याक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया समक्षसंवेदनालम्बनभूताः सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा एव भवन्ति। –इसलिए उनके समस्त द्रव्य क्षेत्र काल और भावका अक्रमिक ग्रहण होनेसे समक्ष-संवेदन (प्रत्यक्ष ज्ञान) को आलम्बनभूत समस्त द्रव्य व पर्यायें प्रत्यक्ष ही हैं। (द्र.सं./टी/५/१७/६)

प्र. सा./त. प्र./४७ अलमथातिविस्तरेण अनिवारितप्रसरप्रकाशशालितया क्षायिकज्ञानमवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वमेव जानीयात्। –अथवा अतिविस्तारसे बस हो—जिसका अनिवार फैलाव है, ऐसा प्रकाशमान होनेसे क्षायिकज्ञान अवश्यमेव, सर्वदा सर्वत्र, सर्वथा, सर्वको जानता है।

४. केवलज्ञान सर्व द्रव्य व पर्यायोंको जानता है

प्र.सा./मू./४९ दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि। ण विजाणादि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि। –यदि अनन्त पर्यायवाले एक द्रव्यको तथा अनन्त द्रव्य समूहको नहीं जानता तो वह सब अनन्त द्रव्य समूहको कैसे जान सकता है।

भ.आ./मू./२१४०-४१ सव्वेहिं पज्जएहिं य संपुण्णं सव्वदव्वेहिं।२१४०।··· तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो।२१४१। –सम्पूर्ण द्रव्यों और उनकी सम्पूर्ण पर्यायोंसे भरे हुए सम्पूर्ण जगत्को सिद्ध भगवान् देखते हैं, तो भी वे मोहरहित ही रहते हैं।

त.सू./१/२९ सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।

स.सि./१/२९/१३५/८ सर्वेषु द्रव्येषु सर्वेषु पर्यायेष्विति। जीवद्रव्याणि तावदनन्तानन्तानि, पुद्गलद्रव्याणि च ततोऽप्यनन्तानन्तानि अणु-स्कन्धभेदभिन्नानि, धर्माधर्माकाशानि त्रीणि, कालश्चासंख्येयस्तेषां पर्यायाश्च त्रिकालभुवः प्रत्येकमनन्तानन्तास्तेषु। द्रव्यं पर्यायजातं न किंचित्केवलज्ञानस्य विषयभावमतिक्रान्तमस्ति। अपरिमितमाहात्म्यं हि तदिति ज्ञापनार्थं सर्वद्रव्यपर्यायेषु इत्युच्यते। –केवलज्ञानकी प्रवृत्ति सर्व द्रव्योंमें और उनकी सर्व पर्यायोंमें होती है। जीव द्रव्य अनन्तानन्त है, पुद्गलद्रव्य इनसे भी अनन्तानन्तगुणे हैं जिनके अणु और स्कन्ध ये भेद हैं। धर्म अधर्म और आकाश ये तीन हैं, और काल असंख्यात हैं। इन सब द्रव्योंकी पृथक् पृथक् तीनों कालोंमें होनेवाली अनन्तानन्त पर्यायें हैं। इन सबमें केवलज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। ऐसा न कोई द्रव्य है और न पर्याय समूह है जो केवलज्ञानके विषयके परे हो। केवलज्ञानका माहात्म्य अपरिमित है इसी बातका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु' कहा है। (रा.वा/१/२९/९/९०/४)

अष्टशती/का १०६/निर्णयसागर बम्बई—साक्षात्कृतेरेव सर्वद्रव्यपर्यायान् परिच्छिनत्ति (केवलाख्येन प्रत्यक्षेण केवली) नान्यत: (नागमात्) इति। –केवली भगवान् केवलज्ञान नामवाले प्रत्यक्षज्ञानके द्वारा सर्व द्रव्यों व सर्व पर्यायोंको जानते हैं, आगमादि अन्य ज्ञानोंसे नहीं।

ध./१/१.१.१/२७/४८/४ सव्वावयवेहि दिट्ठसव्वट्ठा। –जिन्होंने सम्पूर्ण पर्यायों सहित पदार्थोंको जान लिया है।

प्र.सा./त.प्र/२१ सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा एव भवन्ति। –(उस ज्ञानके) समस्त द्रव्य पर्यायें प्रत्यक्ष हो हैं।

नि. सा./ता. वृ./४३ त्रिकालत्रिलोकवर्तिस्थावरजंगमात्मकनिखिलद्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलज्ञानावस्थत्वान्निर्मूढश्च। –तीन काल और तीन लोकके स्थावर जंगमस्वरूप समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायोंको एक समयमें जाननेमें समर्थ सकल विमल केवलज्ञान रूपसे अवस्थित होनेसे आत्मा निर्मूढ है।

५. केवलज्ञान त्रिकाली पर्यायोंको जानता है

ध.१/१,१,१३६/१९६/३८६ एय-दवियम्मि जे अत्थ-पज्जया वयणपज्जया वावि। तीदाणागदभूदा तावदियं तं हवइ दव्वं। –एक द्रव्यमें अतीत अनागत और गाथामें आये हुए अपि शब्दसे वर्तमान पर्यायरूप जितनी अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय हैं तत्प्रमाण वह द्रव्य होता है (जो केवलज्ञानका विषय है)। (गो.जी./मू./५८२/१०२३) तथा (क.पा.१/१,१/§१५/२२/२), (क.पा./१/१,१/§४६/६५/४) (प्र.सा./त.प्र./५२/क४) (प्र.सा./त.प्र./३६,२००)'

ध.६/४,१,४५/५०/१४२ क्षायिकमेकमनन्तं त्रिकालसर्वार्थयुगपदवभासम्। निरतिशयमत्ययच्युतमव्यवधानं जिनज्ञानम्।५०। –जिन भगवान्का ज्ञान क्षायिक, एक अर्थात् असहाय, अनन्त, तीनों कालोंके सर्वपदार्थोंको युगपत् प्रकाशित करनेवाला निरतिशय, विनाशसे रहित और व्यवधानसे विमुक्त है। (ध.१/१,१,१/२४/१०२३), (ध.१/१,१,२/६६/१); (ध. १/१,१,११५/३५८/३); (ध. ६/१,९-१,१४/२९/५); (ध. १३/५,५,८१/३४५/८) (ध.१५/४/६); (क पा.१/१,१/§२८/४३/६) (प्र.सा./त.प्र. २६/३७/६०) (प.प्रा.टी./६२/६१/१०) (न्याय बिन्दु/२६१-२६२ चौखम्बा सीरीज)

६. केवलज्ञान सद्भूत व असद्भूत सब पर्यायोंको जानता है

प्र.सा./मू./३७ तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं। वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं।३७। –उन जीवादि द्रव्य जातियोंकी समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें तात्कालिक पर्यायोंकी भाँति विशिष्टता पूर्वक ज्ञानमें वर्तती हैं। (प्र.सा./त प्र/३७,३८,३९,४१)

यो.सा./अ/१/२८ अतीता भाविनश्चार्थाः स्वे स्वे काले यथाखिला। वर्तमानास्ततस्तद्वद्वेत्ति तानपि केवलं।२८। –भूत और भावी समस्त पदार्थ जिस रूपसे अपने अपने कालमें वर्तमान रहते हैं, केवलज्ञान उन्हें भी उसी रूपसे जानता है।

७. प्रयोजनभूत व अप्रयोजनभूत सबको जानता है

ध. ६/४,१,४४/११८/८ ण च खीणावरणो परिमियं चेव जाणदि, णिप्पडिबंधस्स सयलत्थावगमणसहावस्स परिमियत्थावगमविरोहादो। अत्रोपयोगी श्लोक:—"ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबंधरि। दाह्योऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबंधरि।" २६। –आवरणके क्षीण हो जाने पर आत्मा परिमितको ही जानता हो यह तो हो नहीं सकता क्योंकि, प्रतिबन्धसे रहित और समस्त पदार्थोंके जानने रूप स्वभाव से संयुक्त उसके परिमित पदार्थोंके जाननेका विरोध है। यहाँ उपयोगी श्लोक—"ज्ञानस्वभाव आत्मा प्रतिबन्धकका अभाव होनेपर ज्ञेयके विषयमें ज्ञानरहित कैसे हो सकता है? क्या अग्नि प्रतिबन्धकके अभावमें दाह्यपदार्थका दाहक नहीं होता है। होता ही है। (क. पा. १/१,१§४६/१३/६६)

स्या.म./१/५/१२ आह यद्येवम् अतीतदोषमित्येवास्तु, अनन्तविज्ञानमित्यतिरिच्यते। दोषात्ययेऽवश्यंभावित्वादनन्तविज्ञानत्वस्य। न। कैश्चिद्दोषाभावेऽपि तदनभ्युपगमात्। तथा च वैशेषिकवचनम्—"सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु। कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते॥' तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्। प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृध्रानुपास्महे।" तन्मतव्यपोहार्थमनन्तविज्ञानमित्यदुष्टमेव। विज्ञानानन्त्यं विना एकस्याप्यर्थस्य यथावत् परिज्ञानाभावात्। तथा चार्षम्—(दे० श्रुतकेवली/२/६) प्रश्न—केवलीके साथ 'अतीत दोष' विशेष देना ही पर्याप्त है, 'अनन्तविज्ञान' भी कहनेकी क्या आवश्यकता? कारण कि दोषोंके नष्ट होनेपर अनन्त विज्ञानकी प्राप्ति अवश्यंभावी है? उत्तर—कितने ही वादी दोषोंका

नाश होने पर भी अनन्तविज्ञानकी प्राप्ति स्वीकार नहीं करते, अत एव 'अनन्तविज्ञान' विशेषण दिया गया है। वैशेषिकोंका मत है कि "ईश्वर सर्व पदार्थोंको जाने अथवा न जाने, वह इष्ट पदार्थोंको जाने इतना ही बस है। यदि ईश्वर कीड़ोंकी संख्या गिनने बैठे तो वह हमारे किस कामका ?" तथा "अतएव ईश्वरके उपयोगी ज्ञानकी ही प्रधानता है, क्योंकि यदि दूर तक देखनेवालेको ही प्रमाण माना जाये तो फिर हमें गीध पक्षियोंकी भी पूजा करनी चाहिए। इस मतका निराकरण करनेके लिए ग्रन्थकारने अनन्तविज्ञान विशेषण दिया है और यह विशेषण ठीक ही है, क्योंकि अनन्तज्ञानके बिना किसी वस्तुका भी ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। आगमका वचन भी है—"जो एकको जानता है वही सर्वको जानता है और सर्वको जानता है वह एकको जानता है।"

८. केवलज्ञानमें इससे भी अनन्तगुणा जाननेकी सामर्थ्य है

रा.वा./१/२९/९/९०/५ यावांल्लोकालोकस्वभावोऽनन्तः तावन्तोऽनन्तानन्ता यद्यपि स्युः, तानपि ज्ञातुमस्य सामर्थ्यमस्तीत्यपरिमितमाहात्म्यं तत् केवलज्ञानं वेदितव्यम्।—जितना यह लोकालोक स्वभावसे ही अनन्त है, उससे भी यदि अनन्तानन्त विश्व है तो उसको भी जाननेकी सामर्थ्य केवलज्ञानमें है, ऐसा केवलज्ञानका अपरिमित माहात्म्य जानना चाहिए।

आ.अनु./२१९ वसति भुवि समस्तं सापि संधारितान्यैः, उदरमुपनिविष्टा सा च ते वा परस्य। तदपि किल परेषां ज्ञानकोणे निलीनं वहति कथमिहान्यो गर्वमात्माधिकेषु ।२१९।—जिस पृथिवीके ऊपर सभी पदार्थ रहते हैं वह पृथिवी भी दूसरोंके द्वारा—अर्थात् घनोदधि, घन और तनुवातवलयोंके द्वारा धारण की गयी है। वे पृथिवी और वे तीनों वातवलय भी आकाशके मध्यमें प्रविष्ट हैं, और वह आकाश भी केवलियोंके ज्ञानके एक मध्यमें निलीन है। ऐसी अवस्थामें यहाँ दूसरा अपनेसे अधिक गुणोंवालेके विषयमें कैसे गर्व धारण करता है ?

९. केवलज्ञानको सर्व समर्थ न माने सो अज्ञानी है

स.सा./आ./४१५/क२५५ स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्, तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन्। स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां, त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ।२५५।—एकान्तवादी अज्ञानी, स्वक्षेत्रमें रहनेके लिए भिन्न-भिन्न परक्षेत्रोंमें रहे हुए ज्ञेयपदार्थोंको छोड़नेसे, ज्ञेयपदार्थोंके साथ चैतन्यके आकारोंका भी वमन करता हुआ तुच्छ होकर नाशको प्राप्त होता है; और स्याद्वादी तो स्वक्षेत्रमें रहता हुआ, परक्षेत्रमें अपना नास्तित्व जानता हुआ, ज्ञेय पदार्थोंको छोड़ता हुआ भी पर-पदार्थोंमेंसे चैतन्यके आकारोंको खेंचता है, इसलिए तुच्छताको प्राप्त नहीं होता।

४. केवलज्ञानकी सिद्धिमें हेतु

१. यदि सर्वको नहीं जानता तो एकको भी नहीं जान सकता

प्र.सा./४८-४९ जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे। णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ।४८। दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि। ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ।४९।—जो एक ही साथ त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ पदार्थोंको नहीं जानता, उसे पर्याय सहित एक (आत्म—टीका) द्रव्य भी जानना शक्य नहीं ।४८। यदि अनन्त पर्यायवाले एक द्रव्यको तथा अनन्त द्रव्य समूहको एक ही साथ नहीं जानता तो वह सबको कैसे जान सकेगा ? ।४९। (यो.सा./अ./१/२९-३०)

नि. सा./मू./१६८ पुव्वुत्तसयलदव्वं णाणागुणपज्जएण संजुत्तं। जो ण पेच्छइ सम्मं परोक्खदिट्ठी हवे तस्स/१६८/—विविध गुणों और पर्यायोंसे संयुक्त पूर्वोक्त समस्त द्रव्योंको जो सम्यक् प्रकारसे नहीं देखता उसे परोक्ष दर्शन है।

स. सि./१/१२/१०४/८ यदि प्रत्यर्थवशवर्ति सर्वज्ञत्वमस्य नास्ति योगिनः, ज्ञेयस्यानन्त्यात्।—यदि प्रत्येक पदार्थको (एक एक करके) क्रमसे जानता है तो उस योगीके सर्वज्ञताका अभाव होता है क्योंकि ज्ञेय अनन्त हैं।

स्या. म./१/५/२१ में उद्धृत—जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ। (आचारांग सूत्र/१/३/४/सूत्र १२२)। तथा एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः। सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः।—जो एकको जानता है वह सर्वको जानता है और जो सर्वको जानता है वह एकको जानता है। तथा—जिसने एक पदार्थको सब प्रकारसे देखा है उसने सब पदार्थोंको सब प्रकारसे देखा है। तथा जिसने सब पदार्थोंको सब प्रकारसे जान लिया है, उसने एक पदार्थको सब प्रकारसे जान लिया है।

श्लो. वा./२/१/५/१४/१६२/१७ यथा वस्तुस्वभावं प्रत्ययोत्पत्तौ कस्यचिदनाद्यनन्तवस्तुप्रत्ययप्रसंगात्...।—जैसी वस्तु होगी वैसा ही हूबहू ज्ञान उत्पन्न होवे तब तो चाहे जिस किसीको अनादि अनन्त वस्तुके ज्ञान होनेका प्रसंग होगा (क्योंकि अनादि अनन्त पर्यायोंसे समवेत ही सम्पूर्ण वस्तु है)।

ज्ञा./३४/१३ में उद्धृत—एको भावः सर्वभावस्वभावः, सर्वे भावा एकभावस्वभावाः। एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः।—एक भाव सर्वभावोंके स्वभावस्वरूप है और सर्व भाव एक भावके स्वभाव स्वरूप है; इस कारण जिसने तत्त्वसे एक भावको जाना उसने समस्त भावोंको यथार्थतया जाना।

नि. सा./ता.वृ./१६८/क २८४ यो नैव पश्यति जगत्त्रयमेकदैव, कालत्रयं च तरसा सकलज्ञमानी। प्रत्यक्षदृष्टिरतुला न हि तस्य नित्यं, सर्वज्ञता कथमिहास्य जडात्मनः स्यात्।—सर्वज्ञताके अभिमानवाला जो जीव शीघ्र एक ही कालमें तीन जगत्को तथा तीन कालको नहीं देखता, उसे सदा (कदापि) अतुल प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है; उस जड़ात्माको सर्वज्ञता किस प्रकार होगी।

२. यदि त्रिकालको न जाने तो इसकी दिव्यता ही क्या

प्र. सा./मू./३९ जदि पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स। ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति।—यदि अनुत्पन्न पर्याय व नष्ट पर्यायें ज्ञानके प्रत्यक्ष न हों तो उस ज्ञानको दिव्य कौन कहेगा ?

३. अपरिमिति विषय ही तो इसका माहात्म्य है

स. सि./१/२९/१३५/११ अपरिमितमाहात्म्यं हि तदिति ज्ञापनार्थं 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु' इत्युच्यते—केवलज्ञानका माहात्म्य अपरिमित है, इसी बातका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु' पद कहा है। (रा./वा./१/२९/९/९०/६).

४. सर्वज्ञत्वका अभाव कहनेवाला क्या स्वयं सर्वज्ञ नहीं है

सि. वि./मू./८/१५-१६ सर्वात्मज्ञानविज्ञेयतत्त्वं विवेचनम्। नो चेद्वेत्कथं तस्य सर्वज्ञाभावविस्स्वयम् ।१५। तज्ज्ञेयज्ञानवैकल्याद् यदि

बुध्येत न स्वयम् ।...। नरः शरीरी वक्ता वासकलज्ञं जगद्विदन् । सर्वज्ञः स्यात्ततो नास्ति सर्वज्ञाभावसाधनम् ।१६। —सब जीवोंके ज्ञान तथा उनके द्वारा ज्ञेय और अज्ञेय तत्त्वोंको प्रत्यक्षसे जाननेवाला क्या स्वयं सर्वज्ञ नहीं है ? यदि वह स्वयं यह नहीं जानता कि सब जीव सर्वज्ञके ज्ञानसे रहित हैं तो वह स्वयं कैसे सर्वज्ञके अभावका ज्ञाता हो सकता है ? शायद कहा जाये कि सब आत्माओंकी असर्वज्ञता प्रत्यक्षसे नहीं जानते किन्तु अनुमानसे जानते हैं अतः उक्त दोष नहीं आता। तो पुरुष विशेषको भी वक्तृत्व आदि सामान्य हेतुसे असर्वज्ञत्वका साधन करनेमें भी उक्त कथन समान है क्योंकि सर्वज्ञता और वक्तृत्वका कोई विरोध नहीं है सर्वज्ञ वक्ता हो सकता है।

न्याय. वि./वृ./३/१६/२८६ पर उद्धृत (मीमांसा श्लोक चोदना/१३४-१३५) "सर्वज्ञोऽयमिति ह्येवं तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः। तज्ज्ञानज्ञेय-विज्ञानरहितैर्गम्यते कथम् ।१३४। कल्पनीयाश्च सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव । य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुध्यते ।१३५।" —उस कालमें भी जो जिज्ञासु सर्वज्ञके ज्ञान और उसके द्वारा जाने गये पदार्थोंके ज्ञानसे रहित हैं वे 'यह सर्वज्ञ है' ऐसा कैसे जान सकते हैं। और ऐसा माननेपर आपको बहुतसे सर्वज्ञ मानने होंगे क्योंकि जो भी असर्वज्ञ है वह सर्वज्ञको नहीं जान सकता।

द्र. सं./टी./५०/२११/५ नास्ति सर्वज्ञोऽनुपलब्धेः। खरविषाणवत्। तत्र प्रत्युत्तरं—किमत्र देशेऽत्र काले अनुपलब्धेः, सर्वदेशे काले वा। यद्यत्र देशेऽत्र काले नास्ति तदा सम्मत एव। अथ सर्वदेशकाले नास्तीति भण्यते तज्जगत्त्रयं कालत्रयं सर्वज्ञरहितं कथं ज्ञातं भवता। ज्ञातं चेत्तर्हि भवानेव सर्वज्ञः। अथ न ज्ञातं तर्हि निषेधः कथं क्रियते ।१।...यथोक्तं खरविषाणवदिति दृष्टान्तवचनं तदप्यनुचितम्। खरे विषाणं नास्ति गवादौ तिष्ठतीत्यत्यन्ताभावो नास्ति यथा तथा सर्वज्ञस्यापि नियतदेशकालादिष्वभावेऽपि सर्वथा नास्तित्वं न भवति इति दृष्टान्तदूषणं गतम्। —प्रश्न—सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती, जैसे गधेके सींग ? उत्तर—सर्वज्ञकी प्राप्ति इस देश व इस काल में नहीं है या सब देशों व सब कालोंमें नहीं है ? यदि कहो कि इस देश व इस कालमें नहीं तब तो हमें भी सम्मत है ही। और यदि कहो कि सब देशों व सब कालोंमें नहीं है, तब हम पूछते हैं कि यह तुमने कैसे जाना कि तीनों जगत व तीनों कालोंमें सर्वज्ञ नहीं हैं। यदि कहो कि हमने जान लिया तब तो तुम ही सर्वज्ञ सिद्ध हो चुके और यदि कहो कि हम नहीं जानते तो उसका निषेध कैसे कर सकते हो। (इस प्रकार तो हेतु दूषित कर दिया गया) अब अपने हेतुकी सिद्धिमें जो आपने गधेके सींगका दृष्टान्त कहा है वह भी उचित नहीं है, क्योंकि भले ही गधेको सींग न हों परन्तु बैल आदिको तो हैं ही। इसी प्रकार यद्यपि सर्वज्ञका किसी नियत देश तथा काल आदिमें अभाव हो पर उसका सर्वथा अभाव नहीं हो सकता। इस प्रकार दृष्टान्त भी दूषित है। (पं. का./ता. वृ./२६/६५/११)

५. बाधक प्रमाणका अभाव होनेसे सर्वज्ञत्व सिद्ध है

सि. वि /मू./८/६-७/५३७-५३८ "प्रामाण्यमक्षबुद्धेर्वेद्यथाऽबाधाविनिश्चयात्। निर्णीतासंभवद्बाधः सर्वज्ञो नेति साहसम् ।६। सर्वज्ञोऽस्तीति विज्ञानं प्रमाणं स्वत एव तत्। दोषवत्कारणाभावाद् बाधकासंभवादपि ।७।" —जिस प्रकार बाधकाभावके विनिश्चयसे चक्षु आदिसे जन्य ज्ञानको प्रमाण माना जाता है उसी प्रकार बाधाके असंभवका निर्णय होनेसे सर्वज्ञके अस्तित्वको नहीं मानना यह अति साहस है ।६। 'सर्वज्ञ है' इस प्रकारके प्रवचनसे होने वाला ज्ञान स्वतः ही प्रमाण है क्योंकि उस ज्ञानका कारण सदोष नहीं है। शायद कहा जाये कि 'सर्वज्ञ है' यह ज्ञान बाध्यमान है किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उसका कोई बाधक भी नहीं है। (द्र. सं./टी./५०/२१३/७) (पं. का./ता. वृ./२६/६६.१३)।

आप्त.प / मू./९६-११० सुनिश्चितान्वयाद्धेतोः प्रसिद्धव्यतिरेक ज्ञाताऽर्हन् विश्वतत्त्वानामेवं सिद्ध्येदबाधितः ।९६।...एवं [...] सुनिर्णीतासंभवद्बाधकत्वतः । सुखवद्विश्वतत्त्वज्ञः सोऽर्ह[...] भवानिह ।१०९। —प्रमेयपना हेतुका अन्वय अच्छी तरह सिद्ध है [...] उसका व्यतिरेक भी प्रसिद्ध है, अतः उससे अर्हन्त निर्बाध[...] समस्त पदार्थोंका ज्ञाता सिद्ध होता है ।९६। (१)—त्रिकाल त्रिलो[...] को न जाननेके कारण इन्द्रिय प्रत्यक्ष बाधक नहीं है ।९७। (२)—[...] सत्ताको विषय करनेके कारण अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति [...] आगम भी बाधक नहीं है ।९८। (३)—अनैकान्तिक होनेके का[...] पुरुषत्व व वक्तृत्व हेतु(अनुमान) बाधक नहीं है–(दे० केवलज्ञान/[...] ।९९-१०० ।; ४)—सर्व मनुष्योंमें समानताका अभाव होनेसे उपमान बाधक नहीं है ।१०१।; (५)—अन्यथानुपपत्तिसे शून्य होनेसे अर्थाप[...] बाधक नहीं है ।१०२।; (६)—अपौरुषेय आगम केवल यज्ञादिके विष[...] में प्रमाण है, सर्वज्ञकृत आगम बाधक हो नहीं सकता और सर्वज्ञ[...] आगम स्वतः साधक है ।१०३-१०४।; (७)—सर्वज्ञत्वके अनुभव [...] स्मरण विहीन होनेके कारण अभाव प्रमाण भी बाधक नहीं है अथ[...] असर्वज्ञत्वकी सिद्धिके अभावमें सर्वज्ञत्वका अभाव कहना भी अरि[...] है ।१०५–१०८। इस प्रकार बाधक प्रमाणोंका अभाव अच्छी त[...] निश्चित होनेसे सुखकी तरह विश्वतत्त्वोंका ज्ञाता—सर्वज्ञ सि[...] होता है ।१०९।

६. अतिशय पूज्य होनेसे सर्वज्ञत्व सिद्ध है

ध.९/४,१,४४/११३/७ कधं सव्वण्हू वड्ढमाणभयवंतो ।...णवकेव[...] लद्धीओ...पेच्छंतएण सोहम्मिदेण तस्स कयपूजण्णहाणुववत्तीद[...] ण च विज्जावाइपूजाए वियहिचारो...साहम्माभावादो... वइधम्मि[...] यादो वा। —प्रश्न—भगवान् वर्द्धमान सर्वज्ञ थे यह कैसे सि[...] होता है ? उत्तर—भगवान्में स्थित नवकेवल लब्धिको देखनेवा[...] सौधर्मेन्द्र द्वारा की गयी उनकी पूजा क्योंकि सर्वज्ञताके बिना [...] नहीं सकती। यह हेतु विद्यावादियोंकी पूजासे व्यभिचरित न[...] होता, क्योंकि व्यन्तरों द्वारा की गयी और देवेन्द्रों द्वारा की ग[...] पूजामें समानता नहीं है।

७. केवलज्ञानका अंश सर्व प्रत्यक्ष होनेसे केवलज्ञा[...] सिद्ध है

क.पा.१/१,/§३१/४४ ण च केवलणाणमसिद्धं ; केवलणाणंसस्स ससंवेय[...] पच्चक्खेण णिव्वाहेणुवलंभादो। ण च अवयवे पच्चक्खे संते अवय[...] परोक्खो त्ति जुत्तं; चक्खिदियविसयीकयअवयवत्थंभस्स वि परं[...] क्खप्पसंगादो। —यदि कहा जाय कि केवलज्ञान असिद्ध है, सो [...] बात नहीं है, क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा केवलज्ञानके अंशरू[...] (मति आदि) ज्ञानकी निर्बाध रूपसे उपलब्धि होती है। अवयव[...] प्रत्यक्ष हो जाने पर सहवर्ती अन्य अवयव भले परोक्ष रहें, पर[...] अवयवी परोक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर च[...] इन्द्रियके द्वारा जिसका एक भाग प्रत्यक्ष किया गया है उस स्तम्भ[...] भी परोक्षताका प्रसंग प्राप्त होता है।

स्या.म./१७/२३७/६ तत्सिद्धिस्तु ज्ञानतारतम्यं क्वचिद् विश्रान्तम्, ता[...] तम्यत्वात् आकाशे परिणामतारतम्यवत्। —ज्ञानकी हानि औ[...] वृद्धि किसी जीवमें सर्वोत्कृष्ट रूपमें पायी जाती है, हानि, वृद्धि हों[...] से। जैसे आकाशमें परिणामकी सर्वोत्कृष्टता पायी जाती है वैसे ज्ञानकी सर्वोत्कृष्टता सर्वज्ञमें पायी जाती है।

८. सूक्ष्मादि पदार्थोंके प्रमेय होनेसे सर्वज्ञत्व सिद्ध है

आप्त.मी./५ सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा। अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ।५। –सूक्ष्म अर्थात् परमाणु आदिक, अन्तरित अर्थात् कालकरि दूर राम रावणादि और दूरस्थ अर्थात् क्षेत्रकरि दूर मेरु आदि किसी न किसीके प्रत्यक्ष अवश्य हैं, क्योंकि ये अनुमेय हैं। जैसे अग्नि आदि पदार्थ अनुमानके विषय हैं सो ही किसीके प्रत्यक्ष भी अवश्य होते हैं। ऐसे सर्वज्ञका भले प्रकार निश्चय होता है। (न्या.वि./मू./३/२६/२६८) (सि.वि./मू./८/३१/५७३) (न्या.वि./वृ./३/२०/२८८ में उद्धृत) (आप्त.प./मू./८८–९१) (काव्य मीमांसा ५) (द्र.सं./टी./५०/२१३/१०) (पं.का./ता.वृ./२९/६६/१४) (सा.म./१७/२३७/७) (न्या.दी./२/§२१–२३/४१–४४)

९. प्रतिबन्धक कर्मोंका अभाव होनेसे सर्वज्ञत्व सिद्ध है

सि.वि./मू./८–९ ज्ञानस्यातिशयात् सिध्येद्विभुत्वं परिमाणवत्। वैशद्यं क्वचिद्दोषमलहानेस्तिमिराक्षवत् ।८। माणिक्यादेर्मलस्यापि व्यावृत्तिरतिशयवती। आत्यन्तिकी भवत्येव तथा कस्यचिदात्मन. ।९। –जैसे परिमाण अतिशययुक्त होनेसे आकाशमें पूर्णरूपसे पाया जाता है, वैसे ही ज्ञान भी अतिशययुक्त होनेसे किसी पुरुष विशेषमें विभु-समस्त ज्ञेयोंका जाननेवाला होता है। और जैसे अन्धकार हटनेपर चक्षु स्पष्ट रूपसे जानती है, वैसे ही दोष और मलकी हानि होनेसे वह ज्ञान स्पष्ट होता है। शायद कहा जाये कि दोष और मलको आत्यन्तिक हानि नहीं होती तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि जैसे माणिक्य आदिसे अतिशयवाली मलकी व्यावृत्ति भी आत्यन्तिकी होती है उसके मल सर्वथा दूर हो जाता है उसी तरह किसी आत्मासे भी मलके प्रतिपक्षी ज्ञानादिका प्रकर्ष होनेपर मलका अत्यन्ताभाव हो जाता है ।७-८। (न्या.वि./मू./३/२१–२५/२६१–२६५), (ध.१/४,१,४४/२६/तथा टीका पृ.११४–११८), (क.पा.१/१,१/§३७–४६/१३ तथा टीका पृ. ५६–६४), (राग/५—रागादि दोषोंका अभाव असंभव नहीं है), (मोक्ष/६—अकृत्रिम भी कर्ममलका नाश सम्भव है); (न्या.दी./२/§२४–२८/४४–५०), (न्याय बिन्दु चौखम्बा सीरीज/श्लो. ३६१–३६२)

५. केवलज्ञान विषयक शंका-समाधान

१. केवलज्ञान असहाय कैसे है?

क.पा.१/१,१/§१५/२१/१ केवलमसहायं इन्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षत्वात्। आत्मसहायमिति न तत्केवलमिति चेत्; न; ज्ञानव्यतिरिक्तात्मनोऽसत्त्वात्। अर्थसहायत्वान्न केवलमिति चेत्; न; विनष्टानुत्पन्नातीतानागतेऽर्थेष्वपि तत्प्रवृत्त्युपलम्भात्। –असहाय ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह इन्द्रिय, प्रकाश और मनोव्यापारकी अपेक्षासे रहित है। प्रश्न—केवलज्ञान आत्माकी सहायतासे उत्पन्न होता है, इसलिए इसे केवल नहीं कह सकते? उत्तर—नहीं, क्योंकि ज्ञानसे भिन्न आत्मा नहीं पाया जाता है, इसलिए इसे असहाय कहनेमें आपत्ति नहीं है। *प्रश्न—केवलज्ञान अर्थकी सहायता* लेकर प्रवृत्त होता है, इसलिए इसे केवल (असहाय) नहीं कह सकते? उत्तर—नहीं, क्योंकि नष्ट हुए अतीत पदार्थोंमें और उत्पन्न न हुए अनागत पदार्थोंमें भी केवलज्ञानकी प्रवृत्ति पायी जाती है, इसलिए यह अर्थकी सहायतासे होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

भ.आ./वि./५१/१७३/१५ प्रत्यक्षस्यावध्यादेः आत्मकारणत्वादसहायतास्तोति केवलत्वप्रसंगः स्यादिति चेन्न रूढेर्निराकृताशेषज्ञानावरणस्योपजायमानस्यैव बोधस्य केवलशब्दप्रवृत्तेः। –प्रश्न—प्रत्यक्ष अवधि व मनःपर्यय ज्ञान भी इन्द्रियादिकी अपेक्षा न करके केवल आत्माके आश्रयसे उत्पन्न होते हैं, इसलिए उनको भी केवलज्ञान क्यों नहीं कहते हो? उत्तर—जिसने सर्व ज्ञानावरणकर्मका नाश किया है, ऐसे केवलज्ञानको ही 'केवलज्ञान' कहना रूढ है, अन्य ज्ञानोंमें 'केवल' शब्दकी रूढि नहीं है।

ध./१/१,१,२२/१९९/१ प्रमेयमपि मैवमैक्षिष्टासहायत्वादिति चेन्न, तस्य तत्स्वभावत्वात्। न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः अव्यवस्थापत्तेरिति। –प्रश्न—यदि केवलज्ञान असहाय है, तो वह प्रमेयको भी मत जानो? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि पदार्थोंका जानना उसका स्वभाव है। और वस्तुके स्वभाव दूसरोंके प्रश्नोंके योग्य नहीं हुआ करते हैं। यदि स्वभावमें भी प्रश्न होने लगें तो फिर वस्तुओंकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती।

२. विनष्ट व अनुत्पन्न पदार्थोंका ज्ञान कैसे सम्भव है

क.पा.१/१,१/§१५/२२/२ असति प्रवृत्तौ खरविषाणेऽपि प्रवृत्तिरस्त्विति चेत्; न; तस्य भूतभविष्यच्छक्तिरूपतयाऽप्यसत्त्वात्। वर्तमानपर्यायाणामेव किमित्यर्थत्वमिष्यत इति चेत; न; 'अर्यते परिच्छिद्यते' इति न्यायतस्तत्रार्थत्वोपलम्भात्। तदनागतातीतपर्यायेष्वपि समानमिति चेद; न; तद्ग्रहणस्य वर्तमानार्थग्रहणपूर्वकत्वात्। –प्रश्न—यदि विनष्ट और अनुत्पन्नरूपसे असत् पदार्थोंमें केवलज्ञानकी प्रवृत्ति होती है, तो खरविषाणमें भी उसकी प्रवृत्ति होओ? उत्तर—नहीं, क्योंकि खरविषाणका जिस प्रकार वर्तमानमें सत्त्व नहीं पाया जाता है, उसी प्रकार उसका भूतशक्ति और भविष्यत् शक्तिरूपसे भी सत्त्व नहीं पाया जाता है। प्रश्न—यदि अर्थमें भूत और भविष्यत् पर्यायें शक्तिरूपसे विद्यमान रहती हैं तो केवल वर्तमान पर्यायको ही अर्थ क्यों कहा जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, 'जो जाना जाता है उसे अर्थ कहते हैं' इस व्युत्पत्तिके अनुसार वर्तमान पर्यायोंमें ही अर्थपना पाया जाता है। प्रश्न—यह व्युत्पत्ति अर्थ अनागत और अतीत पर्यायोंमें भी समान है? उत्तर—नहीं, क्योंकि उनका ग्रहण वर्तमान अर्थके ग्रहण पूर्वक होता है।

ध.६/१,९–१,१४/२९/६ णट्ठाणुप्पण्णअत्थाणं कधं तदो परिच्छेदो। ण, केवलत्तादो बज्झत्थावेक्खाए विणा तदुप्पत्तीए विरोहाभावा। ण तस्स विपज्जयणाणत्तं पसज्जदे, जहारूवेण परिच्छित्तीदो। ण गद्दहसिंगेण विउचारो तस्स अच्चंताभावरूवत्तादो। –प्रश्न—जो पदार्थ नष्ट हो चुके हैं और जो पदार्थ अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, उनका केवलज्ञानसे कैसे ज्ञान हो सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि केवलज्ञानके सहाय निरपेक्ष होनेसे बाह्य पदार्थों की अपेक्षाके बिना उनके, (विनष्ट और अनुत्पन्नके) ज्ञानकी उत्पत्तिमें कोई विरोध नहीं है। और केवलज्ञानके विपर्ययज्ञानपनेका भी प्रसंग नहीं आता है, क्योंकि वह यथार्थ स्वरूपको पदार्थोंसे जानता है। और न गधेके सींगके साथ व्यभिचार दोष आता है, क्योंकि वह अत्यन्ताभाव रूप है।

प्र.सा./त.प्र./३७ न खल्वेतदयुक्तं—दृष्टाविरोधात्। दृश्यते हि छद्मस्थस्यापि वर्तमानमिव व्यतीतमनागतं वा वस्तु चिन्तयतः संविदालम्बितस्तदाकारः। किंच चित्रपटीयस्थानत्वात् संविदः। यथा हि चित्रपट्यामतिवाहितानामनुपस्थितानां वर्तमानानां च वस्तूनामालेख्याकाराः साक्षादेकक्षण एवावभासन्ते, तथा संविद्भित्तावपि। किंच सर्वज्ञेयाकाराणां तदात्विकत्वाविरोधात्। यथा हि प्रध्वस्तानामनुदितानां च वस्तूनामालेख्याकारा वर्तमाना एव तथातीतानामनागतानां च पर्यायाणां ज्ञेयाकारा वर्तमाना एव भवन्ति। –यह (तीनों कालोंकी पर्यायोंका वर्तमान पर्यायों वत् ज्ञानमें ज्ञात होना)

अयुक्त नहीं है, क्योंकि १. उसका दृष्टके साथ अविरोध है। (जगत्‌में) दिखाई देता है कि छद्मस्थके भी, जैसे वर्तमान वस्तुका चिन्तवन करते हुए ज्ञान उसके आकारका अवलम्बन करता है, उसी प्रकार भूत और भविष्यत् वस्तुका चिन्तवन करते हुए (भी) ज्ञान उसके आकार-का अवलम्बन करता है। २. ज्ञान चित्रपटके समान है। जैसे चित्र-पटमें अतीत अनागत और वर्तमान वस्तुओंके आलेख्याकार साक्षात् एक क्षणमें ही भासित होते हैं; उसी प्रकार ज्ञानरूपी भित्तिमें भी अतीत अनागत पर्यायोंके ज्ञेयाकार साक्षात् एक क्षणमें ही भासित होते हैं। ३. और सर्व ज्ञेयाकारोंकी तात्कालिकता अविरुद्ध है। जैसे चित्रपटमें नष्ट व अनुत्पन्न (बाहुबली, राम, रावण आदि) वस्तुओंके आलेख्याकार वर्तमान ही हैं, इसी प्रकार अतीत और अनागत पर्यायोंके ज्ञेयाकार वर्तमान ही हैं।

३. अपरिणामी केवलज्ञान परिणामी पदार्थोंको कैसे जाने

ध. १/१,१,२२/१९८/५ प्रतिक्षणं विवर्तमानानर्थानपरिणामि केवलं कथं परिच्छिनत्तीति चेन्न, ज्ञेयसमविपरिवर्तिनः केवलस्य तदविरोधात्। ज्ञेयपरतन्त्रतया परिवर्तमानस्य केवलस्य कथं पुनर्नवोत्पत्तिरिति चेन्न, केवलोपयोगसामान्यापेक्षया तस्योत्पत्तेरभावात्। विशेषापेक्षया च नेन्द्रियालोकमनोभ्यस्तदुत्पत्तिर्विगतावरणस्य तद्विरोधात्। केवल-मसहायत्वान्न तत्सहायमपेक्षते स्वरूपहानिप्रसंगात्। — प्रश्न—अपरि-वर्तनशील केवलज्ञान प्रत्येक समयमें परिवर्तनशील पदार्थोंको कैसे जानता है? उत्तर—ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, ज्ञेय पदार्थोंको जाननेके लिए तदनुकूल परिवर्तन करनेवाले केवलज्ञानके ऐसे परि-वर्तनके मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता। प्रश्न—ज्ञेयकी पर-तंत्रतासे परिवर्तन करनेवाले केवलज्ञानकी फिरसे उत्पत्ति क्यों नहीं मानी जाये? उत्तर—नहीं, क्योंकि, केवलज्ञानरूप उपयोग-सामान्य-की अपेक्षा केवलज्ञानकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती है। विशेषकी अपेक्षा उसकी उत्पत्ति होते हुए भी वह (उपयोग) इन्द्रिय, मन और आलोकसे उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि, जिसके ज्ञानावरणादि कर्म नष्ट हो गये हैं, ऐसे केवलज्ञानमें इन्द्रियादिकी सहायता माननेमें विरोध आता है। दूसरी बात यह है कि केवलज्ञान स्वयं असहाय है, इसलिए वह इन्द्रियादिकोंकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करता है, अन्यथा ज्ञानके स्वरूपकी हानिका प्रसंग आ जायेगा।

४. केवलज्ञानीको प्रश्न पूछने या सुननेकी आवश्यकता क्यों

म. पु./१/१८२ प्रश्नाद्विनैव तद्भावं जानन्नपि स सर्ववित्। तत्प्रश्नान्त-मुदैक्षिष्ट प्रतिपन्ननिरोधतः ।१८२। —संसारके सब पदार्थोंको एक साथ जाननेवाले भगवान् वृषभनाथ यद्यपि प्रश्नके बिना ही भरत महाराज-के अभिप्रायको जान गये थे तथापि वे श्रोताओंके अनुरोधसे प्रश्नके पूर्ण होनेकी प्रतीक्षा करते रहे।

५. सर्वज्ञत्वके साथ वक्तृत्वका विरोध नहीं है

आप्त. प./मू. /९९-१०० नार्हन्निःशेषतत्त्वज्ञो वक्तृत्व-पुरुषत्वतः। ब्रह्मा-दिवदिति प्रोक्तमनुमानं न बाधकम् ।९९। हेतोरस्य विपक्षेण विरोधा-भावनिश्चयात्। वक्तृत्वादेः प्रकर्षेऽपि ज्ञानानिर्ह्रासिसिद्धितः ।१००। — प्रश्न—अर्हन्त अशेष तत्त्वोंका ज्ञाता नहीं है क्योंकि वह वक्ता है और पुरुष है। जो वक्ता और पुरुष है, वह अशेष तत्त्वोंका ज्ञाता नहीं है, जैसे ब्रह्मा वगैरह? उत्तर—यह आपके द्वारा कहा गया अनुमान सर्वज्ञका बाधक नहीं है, क्योंकि, वक्तापन और पुरुषपन हेतुओंका, विपक्षके (सर्वज्ञताके) साथ विरोधका अभाव निश्चित है, अर्थात् उक्त हेतु सपक्ष व विपक्ष दोनोंमें रहता होनेसे अनैकान्तिक है। कारण वक्तापन आदिका प्रकर्ष होनेपर भी ज्ञानकी हानि नहीं होती। (और भी दे० व्यभिचार/४)।

६. अर्हन्तोंको ही केवलज्ञान क्यों अन्यको क्यों नहीं

आप्त. मी./मू./६,७ स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्। अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ।६। त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्। आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टादृष्टेन बाध्यते ।७। —हे अर्हन्! वह सर्वज्ञ आप ही हैं, क्योंकि आप निर्दोष हैं। निर्दोष इसलिए हैं कि युक्ति और आगमसे आपके वचन अविरुद्ध हैं—और वचनोंमें विरोध इस कारण नहीं है कि आपका इष्ट (मुक्ति आदि तत्त्व) प्रमाणसे बाधित नहीं है। किन्तु तुम्हारे अनेकान्त मतरूप अमृतका पान नहीं करनेवाले तथा सर्वथा एकान्त तत्त्वका कथन करनेवाले और अपनेको आप्त समझनेके अभिमानसे दग्ध हुए एकान्त-वादियोंका इष्ट (अभिमत तत्त्व) प्रत्यक्षसे बाधित है। (अष्ट-सहस्री) (निर्णय सागर बम्बई/पृ. ६६-६७) (न्याय. दी/२/§२४-२६/४४-४६)।

७. सर्वज्ञत्व जाननेका प्रयोजन

पं. का./ता. वृ./२९/६७/१० अन्यत्र सर्वज्ञसिद्धौ भणितमास्ते अत्र पुन-रध्यात्मग्रन्थत्वान्नोच्यते। इदमेव वीतरागसर्वज्ञस्वरूपं समस्तरागा-दिविभावत्यागेन निरन्तरमुपादेयत्वेन भावनीयमिति भावार्थः। — सर्वज्ञकी सिद्धि न्यायविषयक अन्य ग्रन्थोंमें अच्छी तरह की गयी है। यहाँ अध्यात्मग्रन्थ होनेके कारण विशेष नहीं कहा गया है। ऐसा वीतराग सर्वज्ञका स्वरूप ही समस्त रागादि विभावोंके त्याग द्वारा निरन्तर उपादेयरूपसे भाना योग्य है, ऐसा भावार्थ है।

६. केवलज्ञानका स्वपर-प्रकाशकपना

१. निश्चयसे स्वको और व्यवहारसे परको जानता है

नि. सा./मू. १५९ जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं। केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ।१५९। —व्यवहार नयसे केवली भगवान् सबको जानते हैं और देखते हैं; निश्चयनयसे केवलज्ञानी आत्माको जानता है और देखता है। (प. प्र./टी./१/५२/५०/८ (और भी दे० श्रुतकेवली/३)।

प. प्र./मू./१/५ ते पुणु वंदउँ सिद्धगण जे अप्पाणि वसंत/लोयालोउ वि सयलु इहु अच्छहिं विमलु णियंत ।५। —मैं उन सिद्धोंको वन्दता हूँ, जो निश्चय करके अपने स्वरूपमें तिष्ठते हैं और व्यवहार नयकरि लोकालोकको संशयरहित प्रत्यक्ष देखते हुए ठहर रहे हैं।

२. निश्चयसे परको न जाननेका तात्पर्य उपयोगका पर-के साथ तन्मय न होना है

प्र. सा./त.प्र./५२/क.४ जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भावि भूतं समस्तं, मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा। तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीतज्ञेयाकारं त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः ।४। —जिसने कर्मोंको छेद डाला है ऐसा यह आत्मा भूत, भविष्यत् और वर्तमान समस्त विश्वको एक ही साथ जानता हुआ भी मोहके अभावके कारण पररूप परिणमित नहीं होता, इसलिए अब, जिसके (समस्त) ज्ञेयाकारोंको अत्यन्त विकसित ज्ञप्तिके विस्तारसे स्वयं पी गया है ऐसे तीनों लोकके पदार्थोंको पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ वह ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है।

प्र. सा./त. प्र./३२ अयं खल्वात्मा स्वभावत एव परद्रव्यग्रहणमोक्षण-परिणमनाभावात्स्वतत्त्वभूतकेवलज्ञानस्वरूपेण विपरिणम्य समस्तमेव निःशेषतयात्मानमात्मनात्मनि संचेतयते। अथवा युगपदेव सर्वार्थसार्थसाक्षात्करणेन ज्ञप्तिपरिवर्तनाभावात् संभावितग्रहणमोक्षण-क्रियाविरामः···विश्वमशेषं पश्यति जानाति च एवमस्यात्यन्त-विविक्तत्वमेव। – यह आत्मा स्वभावसे ही परद्रव्योंके ग्रहण-त्यागका तथा परद्रव्यरूपसे परिणमित होनेका अभाव होनेसे स्वतत्त्वभूत केवल-ज्ञानरूपसे परिणमित होकर, निःशेषरूपसे परिपूर्ण आत्माको आत्मासे आत्मामें संचेतता जानता अनुभव करता है। अथवा एक साथ ही सर्व पदार्थोंके समूहका साक्षात्कार करनेसे ज्ञप्तिपरिवर्तनका अभाव होनेसे जिसके ग्रहणत्यागरूप क्रिया विरामको प्राप्त हुई है, सर्वप्रकारसे अशेष विश्वको देखता जानता ही है। इस प्रकार उसका अत्यन्त भिन्नत्व ही है। भावार्थ—केवली भगवान् सर्वात्म प्रदेशोंसे अपनेको ही अनुभव करते रहते हैं, इस प्रकार वे परद्रव्योंसे सर्वथा भिन्न हैं। अथवा केवली भगवान्को सर्व पदार्थोंका युगपत् ज्ञान होता है। उनका ज्ञान एक ज्ञेयको छोड़कर किसी अन्य विवक्षित ज्ञेयाकारको जाननेके लिए भी नहीं जाता है, इस प्रकार भी वे परसे सर्वथा भिन्न हैं।

प्र. सा./ता. वृ./३७/५०/१६ अयं केवली भगवान् परद्रव्यपर्यायान् परिच्छित्तिमात्रेण जानाति न च तन्मयत्वेन, निश्चयेन तु केवल-ज्ञानादिगुणाधारभूतं स्वकीयसिद्धपर्यायमेव स्वसंवित्त्याकारेण तन्मयो भूत्वा परिच्छिनत्ति जानाति। – यह केवली भगवान् परद्रव्य व उनकी पर्यायोंको परिच्छित्ति (प्रतिभास) मात्रसे जानते हैं; तन्मयरूपसे नहीं। परन्तु निश्चयसे तो वे केवलज्ञानादि गुणोंके आधारभूत स्वकीय सिद्धपर्यायको ही स्वसंवित्तिरूप आकारसे अर्थात् स्वसंवेदन ज्ञानसे तन्मय होकर जानता है या अनुभव करता है।

स. सा./ता. वृ./३५६-३६५ श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन ज्ञानात्मा घटपटादि-ज्ञेयपदार्थस्य निश्चयेन ज्ञायको न भवति तन्मयो न भवतीत्यर्थः तर्हि किं भवति। ज्ञायको ज्ञायक एव स्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः।···तथा तेन श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन परद्रव्यं घटादिकं ज्ञेयं वस्तुव्यवहारेण जानाति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति। – जिस प्रकार खड़िया दीवार रूप नहीं होती बल्कि दीवारके बाह्य भागमें ही ठहरती है इसी प्रकार ज्ञानात्मा घट पट आदि ज्ञेयपदार्थोंका निश्चयसे ज्ञायक नहीं होता अर्थात् उनके साथ तन्मय नहीं होता, ज्ञायक ज्ञायकरूप ही रहता है। जिस प्रकार खड़िया दीवारसे तन्मय न होकर भी उसे श्वेत करती है, इसी प्रकार वह ज्ञानात्मा घट पट आदि परद्रव्यरूप ज्ञेयवस्तुओंको व्यवहारसे जानता है पर उनके साथ तन्मय नहीं होता।

प. प्र./टी./१/५२/५०/१० कश्चिदाह। यदि व्यवहारेण लोकालोकं जानाति तर्हि व्यवहारनयेन सर्वज्ञत्वं, न च निश्चयनयेनेति। परि-हारमाह—यथा स्वकीयमात्मानं तन्मयत्वेन जानाति तथा परद्रव्यं तन्मयत्वेन न जानाति, तेन कारणेन व्यवहारो भण्यते न च परि-ज्ञानाभावात्। यदि पुनर्निश्चयेन स्वद्रव्यवत्तन्मयो भूत्वा परद्रव्यं जानाति तर्हि परकीयसुखदुःखरागद्वेषपरिज्ञातो सुखी दुःखी रागी द्वेषी च स्यादिति महद्दूषणं प्राप्नोतीति। – प्रश्न—यदि केवली भगवान् व्यवहारनयसे लोकालोकको जानते हैं तो व्यवहारनयसे ही उन्हें सर्वज्ञत्व भी होओ परन्तु निश्चयनयसे नहीं? उत्तर—जिस प्रकार तन्मय होकर स्वकीय आत्माको जानते हैं उसी प्रकार पर-द्रव्यको तन्मय होकर नहीं जानते, इस कारण व्यवहार कहा गया है, न कि उनके परिज्ञानका ही अभाव होनेके कारण। यदि स्व द्रव्यकी भाँति परद्रव्यको भी निश्चयसे तन्मय होकर जानते तो परकीय सुख व दुःखको जाननेसे स्वयं सुखी दुःखी और परकीय रागद्वेषको जाननेसे स्वयं रागी द्वेषी हो गये होते। और इस प्रकार महत् दूषण प्राप्त होता। (प. प्र./टी./१/५/११) और भी दे० मोक्ष/६ व हिंसा/४/५ में इसी प्रकारका शंका-समाधान)।

३. आत्मा ज्ञेयके साथ नहीं पर ज्ञेयाकारके साथ तन्मय होता है

रा. वा./१/१०/१०/५०/१६ यदि यथा बाह्यप्रमेयाकारात् प्रमाणमन्यत् तथाभ्यन्तरप्रमेयाकारादप्यन्यत् स्यात्, अनवस्थास्य स्यात् ।१०।··· स्यादन्यत्वं स्यादनन्यत्वमित्यादि। संज्ञालक्षणादिभेदात् स्याद-न्यत्वम्, व्यतिरेकेणानुपलब्धेः स्यादनन्यत्वमित्यादि ।१३। – जिस प्रकार बाह्य प्रमेयाकारोंसे प्रमाण जुदा है, उसी तरह यदि अन्तरंग प्रमेयाकारसे भी वह जुदा हो तब तो अनवस्था दोष आना ठीक है, परन्तु इनमें तो कथंचित् अन्यत्व और कथंचित् अनन्यत्व है। संज्ञा लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा अन्यत्व है और पृथक् पृथक् रूपसे अनु-पलब्धि होनेके कारण इनमें अनन्यत्व है। (प्र. सा./त.प्र./३६)।

प्र. सा./त. प्र./२६,३१ यथा चक्षु रूपिद्रव्याणि स्वप्रदेशैरसंस्पृशद-प्रविष्टं परिच्छेद्यमाकारमात्मसात्कुर्वन्न चाप्रविष्टं जानाति पश्यति च, एवमात्मापि···ज्ञेयतामापन्नानि समस्तवस्तूनि स्वप्रदेशैरसंस्पृशन्न प्रविष्टः···समस्तज्ञेयाकारानुन्मूल्य इव कलयन्न चाप्रविष्टो जानाति पश्यति च। एवमस्य विचित्रशक्तियोगिनो ज्ञानिनोऽर्थेष्वप्रवेश इव प्रवेशोऽपि सिद्धिमवतरति ।२६।···यदि खलु···सर्वेऽर्था न प्रतिभान्ति ज्ञाने तदा तन्न सर्वगतमभ्युपगम्येत। अभ्युपगम्येत वा सर्वगतम्। तर्हि साक्षात् संवेदनमुकुरुन्दभूमिकावतीर्णप्रतिबिम्बस्थानीयस्वसं-वेद्याकारणानि परम्परया प्रतिबिम्बस्थानीयसंवेद्याकारकारणानीति कथं न ज्ञानस्थायिनोऽर्था निश्चीयन्ते। – जिस प्रकार चक्षु रूपीद्र-व्योंको स्वप्रदेशोंके द्वारा अस्पर्श करता हुआ अप्रविष्ट रहकर (उन्हें जानता देखता है), तथा ज्ञेयाकारोंको आत्मसात्कार करता हुआ अप्रविष्ट न रहकर जानता देखता है, उसी प्रकार आत्मा भी ज्ञेयभूत समस्त वस्तुओंको स्वप्रदेशोंमें अस्पर्श करता है, इसलिए अप्रविष्ट रहकर (उनको जानता देखता है), तथा वस्तुओंमें वर्तते हुए समस्त ज्ञेयाकारोंको मानो मूलमेंसे ही उखाड़कर ग्रास कर लिया हो, ऐसे अप्रविष्ट न रहकर जानता देखता है। इस प्रकार इस विचित्र शक्तिवाले आत्माके पदार्थमें अप्रवेशकी भाँति प्रवेश भी सिद्ध होता है ।२६। यदि समस्त पदार्थ ज्ञानमें प्रतिभासित न हों तो वह ज्ञान सर्वगत नहीं माना जाता। और यदि वह सर्वगत माना जाय तो फिर साक्षात् ज्ञानदर्पण भूमिकामें अवतरित बिम्बकी भाँति अपने अपने ज्ञेयाकारोंके कारण (होनेसे), और परम्परासे प्रतिबिम्बके समान ज्ञेयाकारोंके कारण होनेसे पदार्थ कैसे ज्ञानस्थित निश्चित नहीं होते ।३१। (प्र./सा./त. प्र./३६) (प्र. सा./पं. जयचन्द/१७४)

४. आत्मा ज्ञेयरूप नहीं पर ज्ञेयके आकार रूप अवश्य परिणमन करता है

स. सा./आ./४९ सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रसपरिच्छेदपरि-णतत्वेऽपि स्वयं रसरूपेणापरिणमनाच्चारसः। – (उसे समस्त ज्ञेयोंका ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायकके तादात्म्यका निषेध होनेसे रसके ज्ञानरूपमें परिणमित होनेपर भी स्वयं रस रूप परिणमित नहीं होता, इसलिए (आत्मा) अरस है।

५. ज्ञानाकार व ज्ञेयाकार का अर्थ

रा. वा./१/६/५/३४/२१ अथवा, चैतन्यशक्तेर्द्वावाकारौ ज्ञानाकारो ज्ञेयाकारश्च। अनुपयुक्तप्रतिबिम्बाकारादर्शतलवत् ज्ञानाकारः, प्रति-बिम्बाकारपरिणतादर्शतलवत् ज्ञेयाकारः। – चैतन्य शक्तिके दो आकार हैं ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार। तहाँ प्रतिबिम्बशून्य दर्पणतल-वत् तो ज्ञानाकार है और प्रतिबिम्ब सहित दर्पणतलवत् ज्ञेया-कार है।

६. वास्तवमें ज्ञेयाकारोंसे प्रतिबिम्बित निजात्माको देखते हैं

रा. वा./१/१२/१५/५६/२३ अथ द्रव्यसिद्धिर्मभूदिति 'आकार एव न ज्ञानम्' इति कल्प्यते; एवं सति कस्य ते आकारा इति तेषामप्यभावः स्यात्। —यदि (बौद्ध लोग) अनेकान्तात्मक द्रव्यसिद्धिके भयसे केवल आकार ही आकार मानते हैं, पर ज्ञान नहीं तो यह प्रश्न होता है कि वे आकार किसके हैं, क्योंकि निराश्रय आकार तो रह नहीं सकते हैं। ज्ञानका अभाव होनेसे आकारोंका भी अभाव हो जायेगा।

ध. १३/५,५,८४/३५३/२ अशेषबाह्यार्थग्रहणे सत्यपि न केवलिनः सर्वज्ञता, स्वरूपपरिच्छित्त्यभावादित्युक्ते आह—'पस्सदि' त्रिकालगोचरानन्तपर्यायोपचितमात्मानं च पश्यति। —केवली द्वारा अशेष बाह्य पदार्थोंका ज्ञान होनेपर भी उनका सर्वज्ञ होना सम्भव नहीं है, क्योंकि उनके स्वरूपपरिच्छित्ति अर्थात् स्वसंवेदनका अभाव है; ऐसी आशंकाके होनेपर सूत्रमें 'पश्यति' कहा है। अर्थात् वे त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायोंसे उपचित आत्माको भी देखते हैं।

प्र.सा./त.प्र./४६ आत्मा हि तावत्स्वयं ज्ञानमयत्वे सति ज्ञातृत्वात् ज्ञानमेव। ज्ञानं तु प्रत्यात्मवर्ति प्रतिभासमयं महासामान्यम्। तत्तु प्रतिभासमयानन्तविशेषव्यापि। ते च सर्वद्रव्यपर्यायनिबन्धनाः। अथ यः ...प्रतिभासमयमहासामान्यरूपमात्मानं स्वानुभवप्रत्यक्षं न करोति स कथं...सर्वद्रव्यपर्यायान् प्रत्यक्षीकुर्यात्। ...एवं च सति ज्ञानमयत्वेन स्वसंचेतकत्वादात्मनो ज्ञातृज्ञेययोर्वस्तुत्वे नान्यत्वे सत्यपि प्रतिभासप्रतिभास्यमानयोः स्वस्यामवस्थायामन्योन्यसंवलनेनात्यन्तमशक्यविवेचनत्वात्सर्वमात्मनि निखातमिव प्रतिभाति। यद्येवं न स्यात् तदा ज्ञानस्य परिपूर्णात्मसंचेतनाभावात् परिपूर्णस्यैकस्यात्मनोऽपि ज्ञानं न सिद्ध्येत्। —पहिले तो आत्मा वास्तवमें स्वयं ज्ञानमय होनेसे ज्ञातृत्वके कारण ज्ञान ही है; और ज्ञान प्रत्येक आत्मामें वर्तता हुआ प्रतिभासमय महासामान्य है; वह प्रतिभास अनन्त विशेषोंमें व्याप्त होनेवाला है और उन विशेषोंके निमित्त सर्व द्रव्य-पर्याय हैं। अब जो पुरुष उस प्रतिभासमय महासामान्यरूप आत्माका स्वानुभव प्रत्यक्ष नहीं करता वह सर्व द्रव्य पर्यायोंको कैसे प्रत्यक्ष कर सकेगा? अतः जो आत्माको नहीं जानता व सबको नहीं जानता। आत्मा ज्ञानमयताके कारण संचेतक होनेसे, ज्ञाता और ज्ञेयका वस्तुरूपसे अन्यत्व होनेपर भी, प्रतिभास और प्रतिभास्य मानकर अपनी अवस्थामें अन्योन्य मिलन होनेके कारण, उन्हें (ज्ञान व ज्ञेयाकारको) भिन्न करना अत्यन्त अशक्य है इसलिए, मानो सब-कुछ आत्मामें प्रविष्ट हो गया हो इस प्रकार प्रतिभासित होता है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञानके परिपूर्ण आत्मसंचेतनका अभाव होनेसे परिपूर्ण एक आत्माका भी ज्ञान सिद्ध न हो। (प्र.सा./त.प्र./४८), (प्र.सा./ता.वृ./३५), (पं.ध./पू./६७३)

स.सा./परिशिष्ट/क२५१ ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पयन्नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति।...।२५१। —ज्ञेयाकारोंको धोकर चेतनको एकाकार करनेकी इच्छासे अज्ञानीजन वास्तवमें ज्ञानको ही नहीं चाहता। ज्ञानी तो विचित्र होनेपर भी ज्ञानको प्रक्षालित ही अनुभव करता है।

७. ज्ञेयाकारमें ज्ञेयका उपचार करके ज्ञेयको जाना कहा जाता है

प्र.सा./त.प्र./३० यथा किलेन्द्रनीलरत्नं दुग्धमधिवसत्स्वप्रभाभारेण तदभिभूय वर्तमानं, तथा संवेदनमप्यात्मनोऽभिन्नत्वात्...समस्तज्ञेयाकारानभिव्याप्य वर्तमानं कार्यकारणत्वेनोपचर्य ज्ञानमर्थानभिभूय वर्तत इत्युच्यमानं न विप्रतिषिध्यते। —जैसे दूधमें पड़ा हुआ इन्द्रनीलरत्न अपने प्रभावसमूहसे दूधमें व्याप्त होकर वर्तता हुआ दिखाई देता है, उसी प्रकार संवेदन (ज्ञान) भी आत्मासे अभिन्न होनेसे समस्त ज्ञेयाकारोंमें व्याप्त हुआ वर्तता है, इसलिए कार्यमें कारणका उपचार करके यह कहनेमें विरोध नहीं आता, कि ज्ञान पदार्थोंमें व्याप्त होकर वर्तता है। (स.सा./पं. जयचन्द/६)

स.सा./ता.वृ./२६८ घटाकारपरिणतं ज्ञानं घट इत्युपचारेणोच्यते। —घटाकार परिणत ज्ञानको ही उपचारसे घट कहते हैं।

८. छद्मस्थ भी निश्चयसे स्वको और व्यवहारसे परको जानता है

प्र.सा./ता.वृ./३१/५२/१६ यथायं केवली परकीयद्रव्यपर्यायान् यद्यपि परिच्छित्तिमात्रेण जानाति तथापि निश्चयनयेन सहजानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मनि तन्मयत्वेन परिच्छित्तिं करोति, तथा निर्मलविवेकिजनोऽपि यद्यपि व्यवहारेण परकीयद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानं करोति, तथापि निश्चयेन निर्विकारस्वसंवेदनपर्याये विषयत्वात्पर्यायेण परिज्ञानं करोतीति सूत्रतात्पर्यम्। —जिस प्रकार केवली भगवान् परकीय द्रव्यपर्यायोंको यद्यपि परिच्छित्तिमात्ररूपसे जानते हैं तथापि निश्चयनयसे सहजानन्दरूप एकस्वभावी शुद्धात्मामें ही तन्मय होकर परिच्छित्ति करते हैं, उसी प्रकार निर्मल विवेकीजन भी यद्यपि व्यवहारसे परकीय द्रव्यगुण पर्यायोंका ज्ञान करता है परन्तु निश्चयसे निर्विकार स्वसंवेदन पर्यायमें ही तद्विषयक पर्यायका ही ज्ञान करता है।

९. केवलज्ञानके स्वपर-प्रकाशकपनेका समन्वय

नि.सा./मू./१६६-१७२ अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं। जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ।१६६। मुत्तममुत्तं दव्वं चेयणमियरं सगं च सव्वं च। पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ।१६७। पुव्वुत्तसयलदव्वं णाणागुणपज्जएण संजुत्तं। जो ण य पेच्छइ सम्मं परोक्खदिट्ठी हवे तस्स।१६८। लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णेव केवली भगवं। जो केइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ।१६९। णाणं जीवसरूवं तम्हा जाणइ अप्पगं अप्पा। अप्पाणं ण वि जाणदि अप्पादो होदि विदिरित्तं।१७०। अप्पाणं विणु णाणं णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो। तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसणं होदि।१७१। जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो। केवलणाणी तम्हा तेण दु सोऽबंधगो भणिदो।१७२। —प्रश्न—केवली भगवान् आत्मस्वरूपको देखते हैं लोकालोकको नहीं, ऐसा यदि कोई कहे तो उसे क्या दोष है?।१६६। उत्तर—मूर्त, अमूर्त, चेतन व अचेतन द्रव्योंको स्वको तथा समस्तको देखनेवालेका ही ज्ञान प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय कहलाता है। विविध गुणों और पर्यायोंसे संयुक्त पूर्वोक्त समस्त द्रव्योंको जो सम्यक् प्रकार नहीं देखता उसकी दृष्टि परोक्ष है।१६७-१६८। प्रश्न—(तो फिर) केवली भगवान् लोकालोकको जानते हैं आत्माको नहीं ऐसा यदि कहें तो क्या दोष है?।१६९। उत्तर—ज्ञान जीवका स्वरूप है, इसलिए आत्मा आत्माको जानता है, यदि ज्ञान आत्माको न जाने तो वह आत्मासे पृथक् सिद्ध हो। इसलिए तू आत्माको ज्ञान जान और ज्ञानको आत्मा जान। इसमें तनिक भी सन्देह न कर। इसलिए ज्ञान भी स्वपरप्रकाशक है और दर्शन भी (ऐसा निश्चय कर)–(और भी दे० दर्शन/२/६)१७०-१७१। प्रश्न—(परको जाननेसे तो केवली भगवान्को बन्ध होनेका प्रसंग आयेगा, क्योंकि ऐसा होनेमें वे स्वभावमें स्थित न रह सकेंगे)? उत्तर—केवलीका जानना देखना क्योंकि इच्छापूर्वक नहीं होता है, (स्वाभाविक होता है) इसलिए उस जानने देखनेसे उन्हें बन्ध नहीं है।१७२।

नि.सा./ता.वृ./गा. स भगवान्...सच्चिदानन्दमयमात्मानं निश्चयतः पश्यतीति शुद्धनिश्चयनयविवक्षया यः कोऽपि शुद्धान्तस्तत्त्ववेदी परमजिनयोगीश्वरो वक्ति तस्य च न खलु दूषणं भवतीति।१६६। पराश्रितो व्यवहार इति मानाद् व्यवहारेण व्यवहारप्रधानत्वात् निरुपरागशुद्धा-

त्मस्वरूपं नैव जानाति (लोकालोकं जानाति) यदि व्यवहारनयविवक्षया कोऽपि जिननाथतत्त्वविचारलब्धः कदाचिदेवं वक्ति चेत् तस्य न खलु दूषणमिति।१६१। केवलज्ञानदर्शनाभ्यां व्यवहारनयेन जगत्त्रयं एकस्मिन् समये जानाति पश्यति च स भगवान् परमेश्वरः परम-भट्टारकः पराश्रितो व्यवहारः इति वचनात्। शुद्धनिश्चयतः...निज-कारणपरमात्मानं स्वयं कार्यपरमात्मापि जानाति पश्यति च।...किं कृत्वा, ज्ञानस्य धर्मोऽयं तावत् स्वपरप्रकाशकत्वं प्रदीपवत्।...आत्मापि व्यवहारेण जगत्त्रयं कालत्रयं च परंज्योतिःस्वरूपत्वात् स्वयंप्रकाशात्मकमात्मानं च प्रकाशयति।...अथ निश्चयपक्षेऽपि स्वपरप्रकाशकत्वमस्त्येति सततनिरुपरागनिरञ्जनस्वभावनिरतत्वात् स्वाश्रितो निश्चयः इति वचनात्। सहजज्ञानं तावदात्मनः सकाशात् संज्ञा-लक्षणप्रयोजनेन...भिन्नं भवति न वस्तुवृत्त्या चेति, अतः कारणात् एतदात्मगतदर्शनसुखचारित्रादिकं जानाति स्वात्मानं कारणपरमात्म-स्वरूपमपि जानाति।१५१। —वह भगवान् आत्माको निश्चयसे देखते हैं" शुद्धनिश्चयनयकी विवक्षासे यदि शुद्ध अन्तस्तत्त्वका वेदन करनेवाला अर्थात् ध्यानस्थ पुरुष या परम जिनयोगीश्वर कहें तो उनको कोई दूषण नहीं है।१६६। और व्यवहारनय क्योंकि पराश्रित होता है, इसलिए व्यवहारनयसे व्यवहार या भेदकी प्रधानता होनेके कारण 'शुद्धात्मस्वरूपको नहीं जानते, लोकालोकको जानते हैं' ऐसा यदि कोई जिननाथतत्त्वका विचार करनेवाला अर्थात् विकल्पस्थित पुरुष व्यवहारनयकी विवक्षासे कहे तो उसे भी कोई दूषण नहीं है।१६१। अर्थात् विवक्षावश दोनों ही बातें ठीक हैं। (अब दूसरे प्रकारसे भी आत्माका स्वपरप्रकाशकत्व दर्शाते हैं, तहाँ व्यवहारसे तथा निश्चयसे दोनों अपेक्षाओंसे ही ज्ञानको व आत्माको स्वपरप्रकाशक सिद्ध किया है।) सो कैसे—केवलज्ञान व केवलदर्शनसे व्यवहारनयकी अपेक्षा वह भगवान् तीनों जगत्को एक समयमें जानते हैं, क्योंकि व्यवहारनय पराश्रित कथन करता है। और शुद्धनिश्चयनयसे निज कारण परमात्मा व कार्य परमात्माको देखते व जानते हैं (क्योंकि निश्चयनय स्वाश्रित कथन करता है)। दीपकवत् स्वपरप्रकाशकपना ज्ञानका धर्म है।१६१। —इसी प्रकार आत्मा भी व्यवहारनयसे जगत्त्रय कालत्रयको और परंज्योति स्वरूप होनेके कारण (निश्चयसे) स्वयं प्रकाशात्मक आत्माको भी जानता है।१५१। निश्चय नयके पक्षमें भी ज्ञानके स्वपरप्रकाशकपना है। (निश्चय नयसे) वह सतत निरुपराग निरंजन स्वभावमें अवस्थित है, क्योंकि निश्चय नय स्वाश्रित कथन करता है। सहज ज्ञान संज्ञा, लक्षण व प्रयोजनकी अपेक्षा आत्मासे कथंचित् भिन्न है, वस्तुवृत्ति रूपसे नहीं। इसलिए वह उस आत्मगत दर्शन, सुख, चारित्रादि गुणोंको जानता है, और स्वात्माको भी कारण परमात्मस्वरूप जानता है। (इस प्रकार स्व पर दोनोंको जानता है।) (और भी दे० दर्शन/२/६) (और भी देखो नय/V/७/१) तथा (नय/V/१/४)।

केवलज्ञानावरण—दे० ज्ञानावरण।

केवलदर्शन—दे० दर्शन/५

केवलदर्शनावरण—दे० दर्शनावरण।

केवललब्धि—दे० लब्धि/१।

केवलाद्वैत— दे० नय /III/४/५

केवली—केवलज्ञान होनेके पश्चात् वह साधक केवली कहलाता है। इसीका नाम अर्हन्त या जीवन्मुक्त भी है। वह भी दो प्रकारके होते हैं—तीर्थंकर व सामान्य केवली। विशेष पुण्यशाली तथा साक्षात् उपदेशादि द्वारा धर्मको प्रभावना करनेवाले तीर्थंकर होते हैं, और इनके अतिरिक्त अन्य सामान्य केवली होते हैं। वे भी दो प्रकारके होते हैं, कदाचित् उपदेश देनेवाले और मूक केवली। मूक केवली बिलकुल भी उपदेश आदि नहीं देते। उपरोक्त सभी केवलियों की दो अवस्थाएँ होती हैं—सयोग और अयोग। जब तक विहार व उपदेश आदि क्रियाएँ करते हैं, तबतक सयोगी और आयुके अन्तिम कुछ क्षणोंमें जब इन क्रियाओंको त्याग सर्वथा योग निरोध कर देते हैं तब अयोगी कहलाते हैं।

१. भेद व लक्षण

१. केवली सामान्यका लक्षण

१. केवली निरावरण ज्ञानी होते हैं

मू. आ./५६४ सव्वे केवलकप्पं लोग जाणंति तह य पस्संति। केवलणाणचरित्ता तम्हा ते केवली होंति।५६४। —जिस कारण सब केवलज्ञानका विषय लोक अलोकको जानते हैं और उसी तरह देखते हैं। तथा जिनके केवलज्ञान ही आचरण है इसलिए वे भगवान् केवली हैं।

स. सि./६/१३/३३१/११ निरावरणज्ञानाः केवलिनः।

स. सि./९/३८/४५३/९ प्रक्षीणसकलज्ञानावरणस्य केवलिनः सयोगस्यायोगस्य च परे उत्तरे शुक्लध्याने भवतः। —जिनका ज्ञान आवरणरहित है वे केवली कहलाते हैं। जिसके समस्त ज्ञानावरणका नाश हो गया है ऐसे सयोग व अयोग केवली···। (ध./१/१,१,२१/१९१/३)।

रा. वा./६/१३/१/५२३/२९ करणक्रमव्यवधानातिवर्तिज्ञानोपेता: केवलिन ।१। करणं चक्षुरादि, कालभेदेन वृत्तिः क्रमः, कुड्यादिनान्तर्धानं व्यवधानम्, एतान्यतीत्य वर्तते, ज्ञानावरणस्यात्यन्तसंक्षये आविर्भूतमात्मनः स्वाभाविकं ज्ञानम्, तद्वन्तोऽर्हन्तो भगवन्त' केवलिन इति व्यपदिश्यन्ते। —ज्ञानावरणका अत्यन्त क्षय हो जानेपर जिनके स्वाभाविक अनन्तज्ञान प्रकट हो गया है, जिनका ज्ञान इन्द्रिय कालक्रम और दूर देश आदिके व्यवधानसे परे हैं और परिपूर्ण हैं वे केवली हैं (रा. वा./९/१/२३/५९०)।

२. केवली आत्मज्ञानी होते हैं

स सा./मू./जो हि सुएण हि गच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं। तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा।९। —जो जीव निश्चयसे श्रुतज्ञानके द्वारा इस अनुभव गोचर केवल एक शुद्ध आत्माको सम्मुख होकर जानता है, उसको लोकको प्रगट जाननेवाले ऋषिवर श्रुतकेवली हैं।

प्र. सा./त. प्र./३३ भगवान्···केवलस्यात्मन आत्मनात्मनि संचेतनात् केवली।—भगवान् · आत्माको आत्मासे आत्मामें अनुभव करनेके कारण केवली हैं। (भावार्थ—भगवान् समस्त पदार्थोंको जानते हैं, मात्र इसलिए ही वे 'केवली' नहीं कहलाते, किन्तु केवल अर्थात् शुद्धात्माको जानने--अनुभव करनेसे केवली कहलाते हैं)।

मो. पा./टी०/६/३०८/११ केवते सेवते निजात्मनि एकलोलीभावेन तिष्ठतीति केवलः।—जो निजात्मामें एकीभावसे केवते हैं, सेवते हैं या ठहरते हैं वे केवली कहलाते हैं।

२. केवलीके भेदोंका निर्देश

क. पा./१/१,१६/§ ३१२/३४८/२५ विशेषार्थ—तद्भवस्थकेवली और सिद्ध केवलीके भेदसे केवली दो प्रकारके होते हैं।

सत्ता स्वरूप/३८ सात प्रकारके अर्हन्त होते हैं। पाँच, तीन व दो कल्याणक युक्त, सातिशय केवली अर्थात् गन्धकुटी युक्त केवली, सामान्य केवली अर्थात् मूककेवली, (दो प्रकार हैं—तीर्थंकर व सामान्य केवली) उपसर्ग केवली और अन्त- कृद् केवली।

३. तद्भवस्थ व सिद्ध केवलीका लक्षण

क. पा. १/१,१६/§ ३११/३४३/ २६ विशेषार्थ—जिस पर्यायमें केवलज्ञान प्राप्त हुआ उसी पर्यायमें स्थित केवलीको तद्भवस्थ केवली कहते हैं और सिद्ध जीवोंको सिद्ध केवली कहते हैं।

४. सयोग व अयोग केवलीके लक्षण

पं. सं./प्रा./१/२७-३० केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासि अण्णाओ। णवकेवलद्धुग्गमपावियपरमप्पववएसो ।२७। असहयणाण-दसणसहिओ वि हु केवली हु जोएण। जुत्तो त्ति सजोइजिणो अणाइणिहणारिसे वुत्तो।१२५। सेलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेस आसओ जीवो। कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होई।५०। —जिसका केवलीज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंसे अज्ञान विनष्ट हो गया है। जिसने केवललब्धि प्राप्त कर परमात्म संज्ञा प्राप्त की है, वह असहाय ज्ञान और दर्शनसे युक्त होनेके कारण केवली, तीनों योगोंसे युक्त होनेके कारण सयोगी और घाति कर्मोंसे रहित होनेके कारण जिन कहा जाता है, ऐसा अनादि निधन आर्षमें कहा है। (२७, २८) जो अठारह हजार शीलोंके स्वामी हैं, जो आस्रवोंसे रहित हैं, जो नूतन बंधने वाले कर्मरजसे रहित हैं और जो योगसे रहित हैं, तथा केवलज्ञानसे विभूषित हैं, उन्हें अयोगी परमात्मा कहते हैं।३०। (ध.१/१,१.२१/१२४-१२६/१९२) (गो.जी./मू./६३-६५) (पं.सं./सं./१/४९-५०)

प. सं./प्रा./१/१०० जेसिं ण संति जोगा सुहासुहा पुण्णपापसंजणया। ते होंति अजोइजिणा अणोवमाणंतगुणकलिया।१००। —जिनके पुण्य और पापके संजनक अर्थात् उत्पन्न करने वाले शुभ और अशुभ योग नहीं होते हैं, वे अयोगि जिन कहलाते हैं, जो कि अनुपम और अनन्त गुणोंसे सहित होते हैं। (ध.१/१,१,५९/१५५/२८०) (गो.जी./मू./२४३) (पं.सं./सं./१/१८०)

ध.७/२,१,१५/१८/२ सट्ठिददेसमछंडिय छड्डिसा वा जीवदव्वस्स। सावयवेहि परिप्फंदो अजोगो णाम, तस्स कम्मक्खयत्तादो। —स्वस्थित प्रदेशको न छोड़ते हुए अथवा छोड़कर जो जीव द्रव्यका अपने अवयवों द्वारा परिस्पन्द होता है वह अयोग है, क्योंकि वह कर्मक्षयसे उत्पन्न होता है।

ज.१/१,१,२१/१९१/४ योगेन सह वर्तन्त इति सयोगाः। सयोगाश्च ते केवलिनश्च सयोगकेवलिन'।

ध.१/१,१,२२/१९२/७ न विद्यते योगो यस्य स भवत्ययोगः। केवलमस्यास्तीति केवली। अयोगश्चासौ केवली च अयोगकेवली। —जो योगके साथ रहते हैं उन्हें सयोग कहते हैं, इस तरह जो सयोग होते हुए केवली हैं उन्हें सयोग केवली कहते हैं। जिसके योग विद्यमान नहीं हैं उसे अयोग कहते हैं। जिसके केवलज्ञान पाया जाता है उसे केवली कहते हैं, जो योगरहित होते हुए केवली होता है उसे अयोग केवली कहते हैं। (रा.वा./९/१/२४/५९/२३)

द्र. सं./टी./१३/३५ ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायत्रयं युगपदेकसमयेन निर्मूल्य मेघपञ्जरविनिर्गतदिनकर इव सकलविमलकेवलज्ञानज्ञानकिरणैर्लोकालोकप्रकाशकास्त्रयोदशगुणस्थानवर्तिनो जिनभास्करा भवन्ति। मनोवचनकायवर्गणालम्बनकर्मादाननिमित्तात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणयोगरहितश्चतुर्दशगुणस्थानवर्तिनोऽयोगिजिना भवन्ति। —समस्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनोंको एक साथ एक कालमें सर्वथा निर्मूल करके मेघपटलसे निकले हुए सूर्यके समान केवलज्ञानकी किरणोंसे लोकालोकके प्रकाशक तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिनभास्कर (सयोगी जिन) होते हैं। और मन वचन, काय वर्गणाके अवलम्बनसे कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण जो आत्माके प्रदेशोंका परिस्पन्दन रूप योग है, उससे रहित चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगी जिन होते हैं।

२. केवली निर्देश

१. केवली चैतन्यमात्र नहीं बल्कि सर्वज्ञ होता है

स.स्तो./टी./५/१३ ननु. तत् (कर्म) प्रक्षये तु जडो भविष्यति···बुद्धि आदि-विशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदात् इति यौगा'। चैतन्यमात्ररूपं

इति सांख्या.। सकलविप्रमुक्तः सन्नात्मा समग्रविद्यात्मवपुर्भवति न जड़ो, नापि चैतन्यमात्ररूपः। =प्रश्न—१. कर्मोंका क्षय हो जाने-पर जीव जड़ हो जायेगा, क्योंकि उसके बुद्धि आदि गुणोंका अत्यन्त उच्छेद हो जायेगा। ऐसा योगमत वाले कहते हैं। २. वह तो चैतन्य मात्र रूप है, ऐसा सांख्य कहते हैं? उत्तर—सकल कर्मोंसे मुक्त होने पर आत्मा सम्पूर्णतः ज्ञानशरीरी हो जाता है जड़ नहीं, और न ही चैतन्य मात्र रहता है।

२. सयोग व अयोग केवलीमें अन्तर

द्र.सं./टी./१३/३६ चारित्रविनाशकचारित्रमोहोदयाभावेऽपि सयोगिकेवलिनां निष्क्रियशुद्धात्माचरणविलक्षणो योगत्रयव्यापारश्चारित्रमलं जनयति, योगत्रयगते पुनरयोगिजिने चरमसमयं विहाय शेषाघातिकर्मतीव्रोदयश्चारित्रमलं जनयति, चरमसमये तु मन्दोदये सति चारित्रमलाभावात् मोक्षं गच्छति। =सयोग केवलीके चारित्रके नाश करने वाले चारित्रमोहके उदयका अभाव है, तो भी निष्क्रिय आत्माके आचरणसे विलक्षण जो तीन योगोंका व्यापार है वह चारित्रमें दूषण उत्पन्न कहता है। तीनों योगोंसे रहित जो अयोगी जिन हैं उनके अन्त समयको छोड़कर चार अघातिया कर्मोंका तीव्र उदय चारित्रमें दूषण उत्पन्न करता है और अन्तिम समयमें उन अघातिया कर्मोंका मन्द उदय होने पर चारित्रमें दोषका अभाव हो जानेसे अयोगी जिन मोक्षको प्राप्त हो जाते हैं।

श्लो. वा./१/१/१/४/४८४/२६ स्वपरिणामविशेषः शक्तिविशेषः सोऽन्तरङ्गः सहकारी निःश्रेयसोत्पत्तौ रत्नत्रयस्य तदभावे नामाद्यघातिकर्मत्रयस्य निर्जरानुपपत्तेर्निःश्रेयसानुत्पत्तेः...तदपेक्षं क्षायिकरत्नत्रयं सयोगकेवलिनः प्रथमसमये मुक्तिं न संपादयत्येव, तदा तत्सहकारिणोऽसत्त्वात्।=वे आत्माकी विशेष शक्तियाँ मोक्षकी उत्पत्तिमें रत्नत्रयके अन्तरंग सहकारी कारण हो जाती हैं। यदि आत्माकी उन सामर्थ्योंको सहकारी कारण न माना जावेगा तो नामादि तीन अघाती कर्मोंकी निर्जरा नहीं हो सकती थी। तिस कारण मोक्ष भी नहीं उत्पन्न हो सकेगा, क्योंकि उसका अभाव हो जायेगा। उन आत्माके परिणाम विशेषोंकी अपेक्षा रखने वाला क्षायिक रत्नत्रय सयोग केवली गुणस्थानके पहले समयमें मुक्तिको कथमपि प्राप्त नहीं करा सकता है। क्योंकि उस समय रत्नत्रयका सहकारी कारण वह आत्माकी शक्ति विशेष विद्यमान नहीं है।

३. सयोग व अयोग केवलीमें कर्मक्षय सम्बन्धी विशेषताएँ

ध.१/१,१,२७/२२३/१० सयोगकेवली ण किंचि कम्मं खवेदि। =सयोगी जिन किसी भी कर्मका क्षय नहीं करते।

ध.१२/४,२,७,१५/१८/२ खीणकषाय-सजोगीसु ट्ठिदि-अणुभागघादेसु संतेसु वि सुहाणं पयडीणं अणुभागघादो णत्थि त्ति सिद्धे अजोगिम्हि ट्ठिदि-अणुभागवज्जिदे सुहाणं पयडीणमुक्कस्साणुभागो होदि त्ति अत्थावत्तिसिद्धं। =क्षीणकषाय और सयोगी जिनका ग्रहण प्रगट करता है कि शुभ प्रकृतियोंके अनुभागका घात विशुद्धि, केवलिसमुद्घात अथवा योग निरोधसे नहीं होता। क्षीण कषाय और सयोगी गुणस्थानोंमें स्थितिघात व अनुभागघातके होने पर भी शुभ प्रकृतियोंके अनुभागका घात वहाँ नहीं होता, यह सिद्ध होने पर स्थिति व अनुभागसे रहित अयोगी गुणस्थानमें शुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभाग होता है, यह अर्थापत्तिसे सिद्ध है।

४. केवलीको एक क्षायिक भाव होता है

ध. १/१,१,२१/१९१/१ क्षपिताशेषघातिकर्मत्वान्निःशक्तीकृतवेदनीयत्वान्नष्टाष्टकर्मावयवषष्टिकर्मत्वाद्वा क्षायिकगुणः।

ध.१/१,१,२१/१९६/२ पञ्चसु गुणेषु कोऽत्र गुण इति चेत्, क्षीणाशेषघातिकर्मत्वान्निरस्यमानाघातिकर्मत्वाच्च क्षायिको गुणः। =१. चारों घातिया कर्मोंके क्षय कर देनेसे, वेदनीय कर्मके निःशक्त कर देनेसे, अथवा आठों ही कर्मोंके अवयव रूप साठ उत्तर प्रकृतियोंके नष्ट कर देनेसे इस गुणस्थानमें क्षायिक भाव होता है। २. प्रश्न—पाँच प्रकार के भावोंमें इस (अयोगी) गुणस्थानमें कौन-सा भाव होता है। उत्तर—सम्पूर्ण घातिया कर्मोंके क्षीण हो जानेसे और थोड़े ही समय-में अघातिया कर्मोंके नाशको प्राप्त होनेवाले होनेसे इस गुणस्थानमें क्षायिक भाव होता है।

प्र. सा./मू./४५ पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया। मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइग त्ति मदा। =अरहन्त भगवान् पुण्य फलवाले हैं और उनकी क्रिया औदयिकी है, मोहादिसे रहित है इसलिए वह क्षायिकी मानी गयी है।

५. केवलियोंके शरीरकी विशेषताएँ

ति.प./४/७०५ जादे केवलणाणे परमोरालं जिणाण सव्वाणं। गच्छदि उवरिं चावा पंच सहस्साणि वसुहाओ।७०५। =केवलज्ञानके उत्पन्न होने पर समस्त तीर्थंकरोंका परमौदारिक शरीर पृथिवीसे पाँच हजार धनुष प्रमाण ऊपर चला जाता है।७०५।

ध.१४/५,६,९१/८१/८ सजोगि-अजोगिकेवलिणो च पत्तेय-सरीरा वुच्चंति एदेसिं णिगोदजीवेहि सह संबंधाभावादो।

ध.१४/५,६,११६/१३८/४ खीणकसायम्मि बादरणिगोदवग्गणाए संतीए केवलणाणुप्पत्तिविरोहादो। =१. सयोगकेवली और अयोगिकेवली ये जीव प्रत्येक शरीरवाले होते हैं, क्योंकि इनका निगोद जीवोंके साथ सम्बन्ध नहीं होता। २. क्षीण कषायमें बादर निगोद वर्गणाके रहते हुए केवलज्ञानकी उत्पत्ति होनेमें विरोध है। (यहाँ बादर-निगोद वर्गणासे बादर निगोद जीवका ग्रहण नहीं है, बल्कि केवली-के औदारिक व कार्माण शरीरों व विस्रसोपचयोंमें बँधे परमाणुओं-का प्रमाण बताना अभीष्ट है।) निगोद से रहित होता है।

३. शंका-समाधान

१. ईर्यापथ आस्रव सहित भी भगवान् कैसे हो सकते हैं

ध.१३/५,४,२४/५१/८ जलमज्झणिवदियतत्तलोहुंडओ व्व इरियावहकम्मजलं सगसव्वजीवपदेसेहि गेण्हमाणो केवली कधं परमप्पएण समाणत्तं पडिवज्जदि त्ति भणिदे तण्णिण्णयत्थमिदं वुच्चदे—इरियावहकम्मं गहिदं पि तण्ण गहिदं...अणंतरसंसारफलणिव्वत्तणसत्तिविरहादो...बद्धं पि तण्ण बद्धं चेव, बिदियसमए चेव णिज्जरुवलंभादो पुणो...पुट्ठं पि तण्ण पुट्ठं चेव; इरियावहबंधस्स संतसहावेण...अवट्ठाणाभावादो।...उदिण्णमपि तण्ण उदिण्णं दद्धगोहूमरासिव्व पत्तणिब्बीयभावत्तादो। =प्रश्न—जलके बीच पड़े हुए तप्त लोह पिण्डके समान ईर्यापथ कर्म जलको अपने सर्व जीव प्रदेशों द्वारा ग्रहण करते हुए केवली जिन परमात्माके समान कैसे हो सकते हैं? उत्तर—ईर्यापथ कर्म गृहीत होकर भी वह गृहीत नहीं है...क्योंकि वह संसारफलको उत्पन्न करनेवाली शक्तिसे रहित है।...बद्ध होकर भी वह बद्ध नहीं है, क्योंकि दूसरे समयमें ही उसकी निर्जरा देखी जाती है।...स्पृष्ट होकर भी वह स्पृष्ट नहीं है, कारण कि ईर्यापथ बन्धका सत्त्व रूपसे उनके अवस्थान नहीं पाया जाता...उदीर्ण होकर भी उदीर्ण नहीं है, क्योंकि वह दग्ध गेहूँके समान निर्बीज भावको प्राप्त हो गया है।

४. कवलाहार व परीषह सम्बन्धी निर्देश व शंका-समाधान

१. केवलीको नोकर्माहार होता है

क्ष.सा./६१८ पडिसमयं दिव्वतमं जोगी णोकम्मदेहपडिबद्धं। समयपबद्धं बंधदि गलिदवसेसाउमेत्तठिदी।६१८। —सयोगी जिन हैं सो समय समय प्रति नोकर्म जो औदारिक तीहि सम्बन्धी जो समय प्रबद्धताको ग्रहण करै है। ताकी स्थिति आयु व्यतीत भए पीछे जैता अवशेष रहा तावन्मात्र जाननी। सो नोकर्म वर्गणाके ग्रहण ही का नाम आहार मार्गणा है ताका सद्भाव केवलीकैं है।

२. समुद्‌घात अवस्थामें नोकर्माहार भी नहीं होता

ष. खं.१/१,१/सू.१७७/४१० अणाहारा ··केवलीणं वा समुग्घाद-गदाणं अजोगिकेवली···चेदि।१७७।

ध.२/१,१/६६६/५ कम्मग्गहणमत्थित्तं पडुच्च आहारित्तं किण्ण उच्चदि त्ति भणिदे ण उच्चदि; आहारस्स तिण्णिसमयविरहकालोवलद्धीदो। —१. समुद्‌घातगत केवलियोंके सयोगकेवली और अयोगकेवली अनाहारक होते हैं। २. प्रश्न—कार्माण काययोगीकी अवस्थामें भी कर्म वर्गणाओंके ग्रहणका अस्तित्व पाया जाता है, इस अपेक्षा कार्माण काययोगी जीवोंको आहारक क्यों नहीं कहा जाता? उत्तर—उन्हें आहारक नहीं कहा जाता है, क्योंकि कार्माण काययोगके समय नोकर्मणाओंके आहारका अधिकसे अधिक तीन समय तक विरहकाल पाया जाता है।

क्ष.सा./६१९ णवरि समुग्घादगदे पदरे तह लोगपूरणे पदरे। णत्थि तिसमये णियमा णोकम्माहारयं तत्थ।—समुद्‌घातको प्राप्त केवली विषै दोय तौ प्रतरके समय अर एक लोक पूरणका समय इनि तीन समयानिविषै नोकर्मका आहार नियमतै नहीं है।

३. केवलीको कवलाहार नहीं होता

स.सि./८/१/३७५ केवली कवलाहारी···विपर्यय।—केवलीको कवलाहारी मानना विपरीत मिथ्या-दर्शन है।

४. मनुष्य होनेके कारण केवलीको भी कवलाहारी होना चाहिए

स्व. स्तो./मू./७५ मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्, देवतास्वपि च देवता यत:। तेन नाथ! परमासि देवता, श्रेयसे जिनवृष! प्रसीद न:।५। —हे नाथ! चूँकि आप मानुषी प्रकृतिको अतिक्रान्त कर गये हैं और देवताओंमें भी देवता हैं, इसलिए आप उत्कृष्ट देवता हैं, अत: हे धर्म जिन! आप हमारे कल्याणके लिए प्रसन्न होवें।७५। (बो.पा./टी./३४/१०१)

प्र.सा./ता.वृ./२०/२१/१२ केवलिनो कवलाहारोऽस्ति मनुष्यत्वात् वर्तमानमनुष्यवत्। तदप्ययुक्तम्। तर्हि पूर्वकालपुरुषाणां सर्वज्ञत्वं नास्ति, रामरावणादिपुरुषाणां च विशेषसामर्थ्यं नास्ति वर्तमानमनुष्यवत्। न च तथा। —प्रश्न—केवली भगवान्‌के कवलाहार होता है, क्योंकि वह मनुष्य है, वर्तमान मनुष्यकी भाँति? उत्तर—ऐसा कहना युक्त नहीं है। क्योंकि अन्यथा पूर्वकालके पुरुषोंमें सर्वज्ञता भी नहीं है। अथवा राम रावणादि पुरुषोंमें विशेष सामर्थ्य नहीं है, वर्तमान मनुष्योंकी भाँति। ऐसा मानना पड़ेगा। परन्तु ऐसा है नहीं। (अत: केवली कवलाहारी नहीं है।)

५. संयमकी रक्षाके लिए भी केवलीको कवलाहारकी आवश्यकता थी

क.पा.१/१,१/§५२/५ किंतु तिरयणट्ठमिदि ण वोत्तुं जुत्तं, तत्थ पत्तासेसरूवम्मि तदसंभवादो। तं जहा, ण ताव णाणट्ठं भुंजइ, पत्तकेवलणाणभावादो। ण च केवलणाणादो अहियमण्णं पत्थणिज्जं णाणमत्थि जेण तदट्ठं केवली भुजेज्ज। ण संजमट्ठं, पत्तजहाक्खादसंजमादो। ण ज्झाणट्ठं; विसईकयासेसतिहुवणस्स ज्झेयाभावादो। ण भुंजइ केवली भुत्तिकारणाभावादो त्ति सिद्धं।

क.पा.१/१,१/§५२/७१/१ अह जइ सो भुंजइ तो बलाउ-साउसरीरुवचय-तेज-सुहट्ठं चेव भुंजइ संसारिजीवो व्व, ण च एवं, समोहस्स केवलणाणाणुववत्तीदो। ण च अकेवलिवयणमागमो, रागदोसमोहकलंकिय···सच्चाभावादो। आगमाभावे ण तिरयणपउत्ती त्ति तित्थवोच्छेदो तित्थस्स णिव्वाहबोहविसयीकयस्स उवलंभादो। —१. प्रश्न—यदि कहा जाय कि केवली रत्नत्रयके लिए भोजन करते हैं? उत्तर—यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि केवली जिन पूर्णरूपसे आत्मस्वभावको प्राप्त कर चुके हैं। इसलिए वे 'रत्नत्रय अर्थात् ज्ञान, संयम और ध्यानके लिए भोजन करते हैं, यह बात संभव नहीं है। इसीका स्पष्टीकरण करते हैं—केवली जिन ज्ञानकी प्राप्तिके लिए तो भोजन करते नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने केवलज्ञानको प्राप्त कर लिया है। तथा केवलज्ञानसे बड़ा और कोई दूसरा ज्ञान प्राप्त करने योग्य नहीं है, जिससे उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिए भोजन करें। न ही संयमके लिए भोजन करते हैं क्योंकि उन्हें यथाख्यात संयमकी प्राप्ति हो चुकी है। तथा ध्यानके लिए भी भोजन नहीं करते क्योंकि उन्होंने त्रिभुवनको जान लिया है, इसलिए इनके ध्यान करने योग्य कोई पदार्थ ही नहीं रहा है। अतएव भोजन करनेका कोई कारण न रहनेसे केवली जिन भोजन नहीं करते हैं, यह सिद्ध हो जाता है। २. यदि केवली जिन भोजन करते हैं तो संसारी जीवोंके समान बल, आयु, स्वादिष्ट भोजन, शरीरकी वृद्धि, तेज और सुखके लिए ही भोजन करते हैं ऐसा मानना पड़ेगा, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर वह मोहयुक्त हो जायेंगे और इसलिए उनके केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। यदि कहा जाये कि जिनदेवको केवलज्ञान नहीं होता तो केवलज्ञानसे रहित जीवके वचन ही आगम हो जावें? यह भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसा माननेपर राग, द्वेष, और मोहसे कलंकित···जीवोंके सत्यताका अभाव होनेसे उनके वचन आगम नहीं कहे जायेंगे। आगमका अभाव होनेसे रत्नत्रयकी प्रवृत्ति न होगी और तीर्थका व्युच्छेद हो जायेगा। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि निर्बाध बोधके द्वारा ज्ञात तीर्थकी उपलब्धि बराबर होती है। न्यायकुमुद चन्द्रिका/पृ. ८५२।

प्रमेयकमलमार्तण्ड/पृ. ३०० कवलाहारित्वे चास्य सरागत्वप्रसंग:। —केवली भगवान्‌को कवलाहारी माननेपर सरागत्वका प्रसंग प्राप्त होता है।

६. औदारिक शरीर होनेसे केवलीको कवलाहारी होना चाहिए

प्र. सा./ता./वृ./२०/२८/७ केवलिनां भुक्तिरस्ति, औदारिकशरीरसद्भावात्। ···अस्मदादिवत्। परिहारमाह—तद्भगवत: शरीरमौदारिकं न भवति किन्तु परमौदारिकम्—शुद्धस्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमयं वपु:। जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम्। —प्रश्न—केवली भगवान् भोजन करते हैं, औदारिक शरीरका सद्भाव होनेसे; हमारी भाँति? उत्तर—भगवान्‌का शरीर औदारिक नहीं होता अपितु परमौदारिक है। कहा भी है कि—'दोषोंके विनाश हो जानेसे शुद्ध स्फटिकके सदृश सात धातुसे रहित तेज मूर्तिमय शरीर हो जाता है।

७. आहारक होनेके कारण केवलीको कवलाहार होना चाहिए

ध./१/१,१,१७३/४०६/१० अत्र कवललेपोष्ममन:कर्माहारान् परित्यज्य नोकर्माहारो ग्राह्य:, अन्यथाहारकालविरहाभ्यां सह विरोधात् =आहारक मार्गणामें आहार शब्दसे कवलाहार, लेपाहार···आदिको छोड़कर नोकर्माहारका ही ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा आहारकाल और विरहके साथ विरोध आता है।

प्र. सा०/२०/२८/२१ मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवलिपर्यन्तास्त्रयोदशगुणस्थानवर्तिनो जीवा आहारका भवन्तीत्याहारकमार्गणायामागमे भणितमास्ते, तत: कारणात् केवलिनामाहारोऽस्तीति । तदप्ययुक्तम्। परिहार:···यद्यपि षट्प्रकार आहारो भवति तथापि नोकर्माहारपेक्षया केवलिनामाहारकत्वमवबोद्धव्यम्। न च कवलाहारापेक्षया। तथाहि—सूक्ष्मा: सुरसा: सुगन्धा अन्यमनुजानामसंभविन: कवलाहारं विनापि किंचिदूनपूर्वकोटिपर्यन्तं शरीरस्थितिहेतव: सप्तधातुरहितपरमौदारिकशरीरनोकर्माहारयोग्या लाभान्तरायकर्मनिरवशेषक्षयात् प्रतिक्षणं पुद्गला आस्रवन्तीति···ततो ज्ञायते नोकर्माहारापेक्षया केवलिनामाहारकत्वम्। अथ मतम्—भवदीयकल्पनया आहारानाहारकत्वं नोकर्माहारपेक्षया, न च कवलाहारापेक्षया चेति कथं ज्ञायते। नैवम्। "एकं द्वौ त्रीन् वानाहारक" इति तत्त्वार्थे कथितमास्ते। अस्य सूत्रस्यार्थ: कथ्यते—भवान्तरगमनकाले विग्रहगतौ शरीराभावे सति नूतनशरीरधारणार्थं त्रयाणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलपिण्डग्रहणं नोकर्माहार उच्यते। स च विग्रहगतौ कर्माहारे विद्यमानेऽप्येकद्वित्रिसमयपर्यन्तं नास्ति। ततो नोकर्माहारापेक्षयाहारानाहारकत्वमागमे ज्ञायते। यदि पुन: कवलाहारापेक्षया तर्हि भोजनकालं विहाय सर्वदैवानाहारक एव, समयत्रयनियमो न घटते। =प्रश्न—मिथ्यादृष्टि आदि सयोग केवली पर्यन्त तेरह गुणस्थानवर्ती जीव आहारक होते हैं ऐसा आहारक मार्गणामें आगममें कहा है। इसलिए केवली भगवान्‌के आहार होता है? उत्तर—ऐसा कहना युक्त नहीं है। इसका परिहार करते हैं। यद्यपि छह प्रकारका आहार होता है परन्तु नोकर्माहारकी अपेक्षा केवलीको आहारक जानना चाहिए कवलाहारकी अपेक्षा नहीं। सो ऐसे हैं—लाभान्तराय कर्मका निरवशेष विनाश हो जानेके कारण सप्तधातुरहित परमौदारिक शरीरके नोकर्माहारके योग्य शरीरकी स्थितिके हेतुभूत अन्य मनुष्योंको जो असंभव हैं ऐसे पुद्गल किंचिदून पूर्वकोटि पर्यन्त प्रतिक्षण आते रहते हैं, इसलिए जाना जाता है कि केवली भगवान्‌को नोकर्माहारकी अपेक्षा आहारकत्व है। प्रश्न—यह आपकी अपनी कल्पना है कि आहारक व अनाहारकपना नोकर्माहारकी अपेक्षा है कवलाहारकी अपेक्षा नहीं। कैसे जाना जाता है? उत्तर—ऐसा नहीं है। 'एक दो अथवा तीन समय तक अनाहारक होता है' ऐसा तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है। इस सूत्रका अर्थ कहते हैं—एक भवसे दूसरे भवमें गमनके समय विग्रहगतिमें शरीरका अभाव होनेपर नवीन शरीरको धारण करनेके लिए तीन शरीरोंकी पर्याप्तिके योग्य पुद्गल पिण्डको ग्रहण करना नोकर्माहार कहलाता है। वह कर्माहार विग्रहगतिमें विद्यमान होनेपर भी एक, दो, तीन समय पर्यन्त नहीं होता है। इसलिए आगममें आहारक व अनाहारकपना नोकर्माहारकी अपेक्षा है ऐसा जाना जाता है। यदि कवलाहारकी अपेक्षा हो तो भोजनकालको छोड़कर सर्वदा अनाहारक ही होवे, तीन समयका नियम घटित न होवे। (बो. पा./टी०/३४/१०१/१५)।

८. परिषहोंका सद्भाव होनेसे केवलीको कवलाहार होना चाहिए

ध. १२/४,२,७,२/२४/७ असादं वेदयमाणस्स सजोगिभयवंतस्स भुक्खा-तिसादीहि एक्कारसपरीसहेहि बाहिज्जमाणस्स कधं ण भुत्ती होज्ज। ण एस दोसो, पाणोयणेसु जादतण्हाए स समोहस्स मरणभएण भुंजंतस्स परीसहेहि पराजियस्स केवलित्तविरोहादो। =प्रश्न—असाता वेदनीयका वेदन करनेवाले तथा क्षुधा तृषादि ग्यारह परिषहों द्वारा बाधाको प्राप्त हुए ऐसे सयोग केवली भगवान्‌के भोजनका ग्रहण कैसे नहीं होगा। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जो भोजन पानमें उत्पन्न हुई इच्छासे मोह युक्त है तथा मरणके भयसे जो भोजन करता है, अतएव परीषहोंसे जो पराजित हुआ है ऐसे जीवके केवली होनेमें विरोध है।

प्र.सा./ता.वृ./२०/२८/१२ यदि पुनर्मोहाभावेऽपि क्षुधादिपरिषहं जनयति तर्हि वधरोगादिपरिषहमपि जनयतु न च तथा। तदपि कस्मात्। "भुक्त्युपसर्गाभावात्" इति वचनात् अन्यदपि दूषणमस्ति। यदि क्षुधाबाधास्ति तर्हि क्षुधाक्षीणशक्तेरनन्तवीर्यं नास्ति। तथैव दु:खितस्यानन्तसुखमपि नास्ति। जिह्वेन्द्रियपरिच्छित्तिरूपमतिज्ञानपरिणतस्य केवलज्ञानमपि न संभवति। =यदि केवली भगवान्‌को मोहका अभाव होनेपर भी क्षुधादि परिषह होती हैं, तो वध तथा रोगादि परिषह भी होनी चाहिए। परन्तु ये होती नहीं हैं, वह भी कैसे "भुक्ति और उपसर्गका अभाव है" इस वचनसे सिद्ध होता है। और भी दूषण लगता है। यदि केवली भगवान्‌को क्षुधा बाधा हो तो क्षुधाकी बाधासे शक्ति क्षीण हो जानेसे अनन्त वीर्यपना न रहेगा, उसीसे दुखी होकर अनन्त सुख भी नहीं बनेगा। तथा जिह्वा इन्द्रियकी परिच्छित्ति रूप मतिज्ञानमें परिणत उन केवली भगवान्‌को केवलज्ञान भी न बनेगा। (बो. पा./टी./३४/१०१/२२)।

९. केवली भगवान्‌को क्षुधादि परिषह नहीं होती

ति प./१/५६ चउविहउवसग्गेहि णिच्चविमुक्को कसायपरिहीणो। छुहपहुदिपरिसहेहि परिचत्तो रायदोसेहि ।५९। =देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतनकृत चार प्रकारके उपसर्गोंसे सदा विमुक्त हैं कषायोंसे रहित हैं, क्षुधादिक बाईस परीषहों व रागद्वेषसे परित्यक्त हैं।

१०. केवलीको परिषह कहना उपचार है

स. सि./६/११/४२६/८ मोहनीयोदयसहायाभावात्क्षुदादिवेदनाभावे परिषहव्यपदेशो न युक्त:। सत्यमेवमेतत्—वेदनाभावेऽपि द्रव्यकर्मसद्भावापेक्षया परिषहोपचार क्रियते। =प्रश्न—मोहनीयके उदयकी सहायता न होनेसे क्षुधादि वेदनाके न होनेपर परिषह संज्ञायुक्त नहीं है? उत्तर—यह कथन सत्य ही है तथापि वेदनाका अभाव होनेपर द्रव्यकर्मके सद्भावकी अपेक्षासे यहाँ परीषहोंका उपचार किया जाता है। (रा. वा./६/११/१/६१४/१)।

११. असाता वेदनीय कर्मके उदयके कारण केवलीको क्षुधादि परिषह होनी चाहिए

१. घाति व मोहनीय कर्मकी सहायता न होनेसे असाता अपना कार्य करनेको समर्थ नहीं है:—

रा. वा./६/११/१/६१३/२७ स्यान्मतम्-घातिकर्मप्रक्षयान्निमित्तोपरमे सति नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनालाभसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानदर्शनानि मा भूवन्, अमी पुनर्वेदनीयाश्रया: खलु परीषहा: प्राप्नुवन्ति भगवति जिने इति; तन्न; किं कारणम्। घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात्। यथा विषद्रव्यं मन्त्रौषधिबलादुपक्षीणमारणशक्तिकमुपयुज्यमानं न मरणाय कल्पते तथा ध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्मेन्धनस्यानन्ताप्रतिहतज्ञानादिचतुष्टयस्यान्तरायाभावान्निरन्तरमुपचीयमानशुभपुद्गलसंततेर्वेदनीयाख्यं कर्म सदपि प्रक्षीणसहायबलं स्वयोग्यप्रयोजनोत्पादनं प्रत्यसमर्थमिति क्षुधाद्यभाव: तत्सद्भावोपचाराद् ध्यानकल्पनवत्। =प्रश्न—केवलीमें घातिया कर्मका नाश होनेसे निमित्तके हट जानेके कारण नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश,

याचना, अलाभ, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन परीषहें न हों, पर वेदनीय कर्मका उदय होनेसे तदाश्रित परीषहें तो होनी ही चाहिए। उत्तर—घातिया कर्मोदय रूपी सहायकके अभावसे अन्य कर्मोंकी सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। जैसे मन्त्र औषधीके प्रयोगसे जिसकी मारण शक्ति उपक्षीण हो गयी है ऐसे विषको खानेपर भी मरण नहीं होता, उसी तरह ध्यानाग्निके द्वारा घाति कर्मेन्धनके जल जानेपर अनन्तचतुष्टयके स्वामी केवलीके अन्तरायका अभाव हो जानेसे प्रतिक्षण शुभकर्म पुद्गलोंका संचय होते रहनेसे प्रक्षीण सहाय वेदनीयकर्म विद्यमान रहकर भी अपना कार्य नहीं कर सकता। इसलिए केवलीमें क्षुधादि नहीं होते। (ध. १३/५.४.२४/५३/१); (ध.१२/४.२.७.२/२४/११); (क.पा. १/१.१/§५१/६६/१); (चा.सा./१३१/२); (प्र. सा./ता. वृ./२०/२८/१०)।

गो.क./मू. व जी.प्र./२७३ णट्ठा य रायदोसा इंदियणाणं च केवलिम्हि जदो। तेण दु सादासादजसुहदुक्खं णत्थि इंदियजं।२७३। सहकारिकारणमोहनीयाभावे विद्यमानोऽपि न स्वकार्यकारीत्यर्थः। —जातैं सयोग केवलीकैं घातिकर्मका नाश भया है तातैं राग व द्वेषको कारणभूत क्रोधादि कषायोंका निर्मूल नाश भया है। बहुरि युगपत् सकल प्रकाशी केवलज्ञान विषैं क्षयोपशमरूप परोक्ष मतिज्ञान और श्रुतज्ञान न संभवै तातैं इन्द्रिय जनित ज्ञान नष्ट भया तिस कारण करि केवलिकैं साता असाता वेदनीयके उदयतैं सुख दुख नाहीं हैं जातैं सुख-दुख इन्द्रिय जनित हैं बहुरि वेदनीयका सहकारी कारण मोहनीयका अभाव भया है तातैं वेदनीयका उदय होत संतै भी अपना सुख-दुख देने रूप कार्य करनेकौं समर्थ नाहीं। (क्ष.सा./मू./६१६/७२८)

प्रमेयकमलमार्तण्ड/पृ.३०३ तथा असातादि वेदनीयं विद्यमानोदयमपि, असति मोहनीये, निःसामर्थ्यत्वान्न क्षुद्दुःखकरणे प्रभु' सामग्रीतः कार्योत्पत्तिप्रसिद्धेः। =असातादि वेदनीयके विद्यमान होते हुए भी, मोहनीयके अभावमें असमर्थ होनेसे, वे केवली भगवान्को क्षुधा सम्बन्धी दुःखको करनेमें असमर्थ हैं।

२. साता वेदनीयके सहवर्तीपनेसे असाताकी शक्ति अनन्तगुणी क्षीण हो जाती है

रा.वा./९/११/१/६१३/३१ निरन्तरमुपचीयमानशुभपुद्गलसंततेर्वेदनीयाख्यं कर्म सदपि प्रक्षीणसहायबलं स्वयोग्यप्रयोजनं प्रत्यसमर्थमिति। —अन्तरायकर्मका अभाव होनेसे प्रतिक्षण शुभकर्मपुद्गलोंका संचय होते रहनेसे प्रक्षीण सहाय वेदनीयकर्म विद्यमान रहकर भी अपना कार्य नहीं कर सकता। (चा.सा./१३१/३)

ध.२/१.१/४३३/२ असादावेदणीयस्स उदीरणाभावादो आहारसण्णा अप्पमत्तसंजदस्स णत्थि। कारणभूद-कम्मोदय-संभवादो उवयारेण भय-मेहुण-परिग्गहसण्णा अत्थि। —असाता वेदनीय कर्मकी उदीरणाका अभाव हो जानेसे अप्रमत्त संयतके आहार संज्ञा नहीं होती है। किन्तु भय आदि संज्ञाओंके कारणभूत कर्मोंका उदय सम्भव है, इसलिए उपचारसे भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञाएँ हैं।

प्र.सा./ता.वृ./२०/२८/१६ असद्वेद्योदयापेक्षया सद्वेद्योदयोऽनन्तगुणोऽस्ति। ततः कारणात् शर्कराराशिमध्ये निम्बकणिकावदसद्वेद्योदयो विद्यमानोऽपि न ज्ञायते। तथैवान्यदपि बाधकमस्ति—यथा प्रमत्तसंयतादि तपोधनानां वेदोदये विद्यमानेऽपि मन्दमोहोदयत्वादखण्डब्रह्मचारीणां स्त्रीपरीषहबाधा नास्ति। यथैव च नवग्रैवेयकाद्यहमिन्द्रदेवानां वेदोदये विद्यमानेऽपि मन्दमोहोदयेन स्त्रीविषयबाधा नास्ति, तथा भगवत्यसद्वेद्योदये विद्यमानेऽपि निरवशेषमोहाभावात् क्षुधाबाधा नास्ति। —और भी कारण है, कि केवली (भगवान्के) असाता वेदनीयके उदयकी अपेक्षा साता वेदनीयका उदय अनन्तगुणा है। इस कारण खण्ड (चीनी)की बड़ी राशिके बीचमें नीमकी एक कणिकाकी भाँति असातावेदनीयका उदय होनेपर भी नहीं जाना जाता है। और दूसरी एक और बाधा है—जैसे प्रमत्तसंयत आदि तपोधनोंके वेदका उदय होनेपर भी मोहका मन्द उदय होनेसे उन अखण्ड ब्रह्मचारियोंके स्त्रीपरीषहरूप बाधा नहीं होती, और जिस प्रकार नवग्रैवेयकादिमें अहमिन्द्रदेवोंके वेदका उदय विद्यमान होनेपर भी मोहके मन्द उदयसे स्त्री-विषयक बाधा नहीं होती, उसी प्रकार भगवान्के असातावेदनीयका उदय विद्यमान होनेपर भी निरवशेष मोहका अभाव होनेसे क्षुधाकी बाधा नहीं होती। (और भी—दे० केवली/४/१२)

३. असाता भी सातारूप परिणमन कर जाता है

गो.क./मू. व जी.प्र./२७४/४०३ समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स। तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणमदि।२७४। यतस्तस्य केवलिनः सातवेदनीयस्य बन्धः समयस्थितिकः ततः उदयात्मक एव स्यात् तेन तत्रासातोदयः सातास्वरूपेण परिणमति कुतः विशिष्टशुद्धे तस्मिन् असातस्य अनन्तगुणहीनशक्तित्वसहायरहितत्वाभ्यां अव्यक्तोदयत्वात्। बध्यमानसातस्य च अनन्तगुणानुभागत्वात् तथात्वस्यावश्यंभावात्। न च तत्र सातोदयोऽसातस्वरूपेण परिणमतीति शक्यते वक्तुं द्विसमयस्थितिकत्वप्रसङ्गात् अन्यथा असातस्यैव बन्धः प्रसज्यते। —जातैं तिस केवलीकैं साता वेदनीयका बन्ध एक समय स्थितिकी लियें है तातैं उदय स्वरूप ही है तातैं केवलीकै असाता वेदनीयका उदय सातारूप होइकरि परिनमैं है। काहे तै? केवलीके विषैं विशुद्धता विशेष है तातैं असातावेदनीयकी अनुभाग शक्ति अनन्तगुणी हीन भई है अर मोहका सहाय था ताका अभाव भया है तातैं असातावेदनीयका अप्रगट सूक्ष्म उदय है। बहुरि जो सातावेदनीयबन्धै है ताका अनुभाग अनन्तगुणा है जातैं, साता वेदनीयकी स्थितिकी अधिकता तो संक्लेश तातै हो है अनुभागकी अधिकता विशुद्धतातै हो है सो केवलीके विशुद्धता विशेष है तातै स्थितिका तौ अभाव है बन्ध है सो उदयरूप परिणमता ही हो है अर ताकैं सातावेदनीयका अनुभाग अनन्तगुणा हो है ताहीतैं जो असाताका भी उदय है सो सातारूप होइकरि परिनमै है। कोऊ कहै कि साता असातारूप होइ परिनमै है ऐसे क्यों न कहो? ताका उत्तर—ताका स्थितिबन्ध दोय समयका न ठहरे वा अन्य प्रकार कहैं असाता ही का बन्ध होइ तातैं तैं कह्या कहना संभवै नाहीं।

१२. निष्फल होनेके कारण असाताका उदय ही नहीं कहना चाहिए

ध १३/४.२.७.२/२४/१२ णिप्फलस्स परमाणुपुंजस्स समयं पडि परिसडंतस्स कधं उदयववएसो। ण, जीव-कम्मविवेगमेत्तफलं दट्ठूण उदयस्स फलत्तब्भुवगमादो। जदि एवं तो असादवेदणीयोदयकाले सादावेदणीयस्स उदओ णत्थि, असादावेदणीयस्सेव उदओ अत्थि त्ति ण वत्तव्वं, सगफलाणुप्पायणेण दोण्णं पि सरिसत्तुवलंभादो। ण, असादपरमाणूणं व सादपरमाणूणं सगसरूवेण णिज्जराभावादो। सादपरमाणओ असादसरूवेण विणस्संतावत्थाए परिणमिदूण विणस्संते दट्ठूण सादावेदणीयस्स उदओ णत्थि त्ति बुच्चदे। ण च असादावेदणीयस्स एसो कमो अत्थि, [असाद]-परमाणूणं सगसरूवेणेव णिज्जरुवलंभादो। तम्हा दुक्खरूवफलाभावे वि असादावेदणीयस्स उदयभावो जुज्जदि त्ति सिद्धं। -प्रश्न—बिना फल दिये ही प्रतिसमय निर्जीर्ण होनेवाले परमाणु समूहकी उदय संज्ञा कैसे हो सकती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जीव व कर्मके विवेकमात्र फलको देखकर उदयको फलरूपसे स्वीकार किया गया है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो असातावेदनीयके उदय कालमें साता वेदनीयका उदय नहीं होता, केवल असाता वेदनीयका ही उदय रहता है ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अपने फलको नहीं उत्पन्न करनेकी अपेक्षा दोनोंमें ही समानता पायी जाती है।

उत्तर—नहीं, क्योंकि, उन असातावेदनीयके परमाणुओंके समान सातावेदनीयके परमाणुओंकी अपने रूपसे निर्जरा नहीं होती। किन्तु विनाश होनेकी अवस्थामें असाता रूपसे परिणमकर उनका विनाश होता है यह देखकर सातावेदनीयका उदय नहीं है, ऐसा कहा जाता है। परन्तु असाता वेदनीयका यह क्रम नहीं है, क्योंकि उन असाताके परमाणुओंकी अपने रूपसे हो निर्जरा पायी जाती है। इस कारण दुःखरूप फलके अभावमें भी असातावेदनीयका उदय मानना युक्तियुक्त है, यह सिद्ध होता है।

ध.१३/५.४.२४/५३/५ जदि असादावेदणीयं णिप्फलं चेव, तो उदओ अत्थि त्ति किमिदि उच्चदे। ण, भूदपुव्वणयं पडुच्च तदुत्तीदो। किंच ण सहकारिकारणघादिकम्माभावेणेव सेसकम्माणिव्व पत्तणिव्वीयभावमसादावेदणीयं, किंतु सादावेदणीयबंधेण उदयसरूवेण उदयागदउक्कस्साणुभागसादावेदणीयसहकारिकारणेण पडिहयउदयत्तादो वि। ण च बंधे उदयसरूवे संते सादावेदणीयगोवुच्छा थिउक्कसंकमेण असादावेदणीयं गच्छदि, विरोहादो। थिउक्कसंकमाभावे सादासादाणमजोगिचरिमसमए संतवोच्छेदो पसज्जदि त्ति भणिदे—ण, वोच्छिण्णसादबंधम्मि अजोगिम्हि सादोदयणियमाभावादो। सादावेदणीयस्स उदयकालो अंतोमुहुत्तमेत्तो फिट्टिदूण देसूणपुव्वकोडिमेत्तो होदि चे—ण, अजोगिकेवलिं मोत्तूण अण्णत्थ उदयकालस्स अंतोमुहुत्तणियमब्भुवगमादो। ···सादावेदणीयस्स बंधो अत्थि त्ति चे ण, तस्स ट्ठिदि-अणुभागबंधाभावेण···बंधववएसविरोहादो। —प्रश्न—यदि असातावेदनीय कर्म निष्फल ही है तो वहाँ उसका उदय है, ऐसा क्यों कहा जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, भूतपूर्व नयकी अपेक्षासे वैसा कहा जाता है। दूसरे···वह न केवल निर्बीज भावको प्राप्त हुआ है किन्तु उदयस्वरूप सातावेदनीयका बन्ध होनेसे और उदयागत उत्कृष्ट अनुभाग युक्त साता वेदनीय रूप सहकारी कारण होनेसे उसका उदय भी प्रतिहत हो जाता है। प्रश्न—बन्धके उदय स्वरूप रहते हुए साता वेदनीयकर्मकी गोपुच्छा स्तिवुक संक्रमणके द्वारा असाता वेदनीयको प्राप्त होती होगी? उत्तर—ऐसा माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—यदि यहाँ स्तिवुक संक्रमणका अभाव मानते हैं, तो साता और असाताको सत्त्व व्युच्छित्ति अयोगीके अन्तिमसमय में होनेका प्रसंग आता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि साताके बन्धकी व्युच्छित्ति हो जानेपर अयोगी गुणस्थानमें साताके उदयका कोई नियम नहीं है। प्रश्न—इस तरह तो सातावेदनीयका उदयकाल अन्तर्मुहूर्त विनष्ट होकर कुछ कम पूर्वकोटि प्रमाण प्राप्त होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि अयोगिकेवली गुणस्थानको छोड़कर अन्यत्र उदयकालका अन्तर्मुहूर्त प्रमाण नियम ही स्वीकार किया गया है।···। प्रश्न—वहाँ सातावेदनीयका बन्ध है? उत्तर—नहीं क्योंकि स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धके बिना···सातावेदनीय कर्मको 'बंध' संज्ञा देनेमें विरोध आता है।

५. इन्द्रिय, मन व योग सम्बन्धो निर्देश व शंका-समाधान

१. द्रव्येन्द्रियोंकी अपेक्षा पञ्चेन्द्रियत्व है भावेन्द्रियों की अपेक्षा नहीं

रा. वा./१/३०/६/६१/१४ आर्षे हि सयोग्ययोगिकेवलिनोः पञ्चेन्द्रियत्वं द्रव्येन्द्रियं प्रति उक्तं न भावेन्द्रियं प्रति। यदि हि भावेन्द्रियमभविष्यद्, अपि तु तर्हि असंक्षीणसकलावरणत्वात् सर्वज्ञतैवास्य न्यवर्तिष्यत्। —आगममें सयोगी और अयोगो केवलोको पञ्चेन्द्रियत्व कहा है वहाँ द्रव्येन्द्रियोंकी विवक्षा है, ज्ञानावरणके क्षयोपशम रूप भावेन्द्रियोंकी नहीं। यदि भावेन्द्रियोंकी विवक्षा होती तो ज्ञानावरणका सद्भाव होनेसे सर्वज्ञता हो नहीं हो सकती थी।

ध./१/१,१/३७/२६३/५ केवलिनां निर्मूलतो विनष्टान्तरङ्गेन्द्रियाणां प्रहतबाह्येन्द्रियव्यापाराणां भावेन्द्रियजनितद्रव्येन्द्रियसत्त्वापेक्षया पञ्चेन्द्रियत्वप्रतिपादनात्। —केवलियोंके यद्यपि भावेन्द्रियाँ समूल नष्ट हो गयी हैं, और बाह्य इन्द्रियोंका व्यापार भी बन्द हो गया है, तो भी (छद्मस्थ अवस्थामें) भावेन्द्रियोंके निमित्तसे उत्पन्न हुई द्रव्येन्द्रियोंके सद्भावकी अपेक्षा उन्हें पञ्चेन्द्रिय कहा गया है।

गो.जी./जी.प्र./७०१/११३५/१२ सयोगिजिने भावेन्द्रियं न, द्रव्येन्द्रियापेक्षया षट् पर्याप्तयः। —सयोगी जिनविषै भावेन्द्रिय तौ है नाहीं, द्रव्येन्द्रियकी अपेक्षा छह पर्याप्ति हैं।

२. जातिनाम कर्मोदयकी अपेक्षा पञ्चेन्द्रिय हैं

ध.१/१,१,३६/२६४/२ पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्पञ्चेन्द्रियः। समस्ति च केवलिनां···पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयः। निरवद्यत्वात् व्याख्यानमिदं समाश्रयणीयम्। —पञ्चेन्द्रिय नामकर्मके उदयसे पञ्चेन्द्रिय जोव होते हैं। व्याख्यानके अनुसार केवलोके भी···पञ्चेन्द्रिय जाति नामकर्मका उदय होता है। अतः यह व्याख्यान निर्दोष है। अतएव इसका आश्रय करना चाहिए। (ध.७/२,१,६/१६/५)

३. पञ्चेन्द्रिय कहना उपचार है

ध. १/१,१,३७/२६३/५ केवलिनां···पञ्चेन्द्रियत्व···भूतपूर्वगतिन्यायसमाश्रयणाद्वा। —केवलीको भूतपूर्वका ज्ञान करानेवाले न्यायके आश्रयसे पञ्चेन्द्रिय कहा है।

ध. ७/२,१,१५/६७/३ एइंदियादीणमोदइयो भावो वत्तव्वो, एइंदियजादिआदिणामकम्मोदएण एइंदियादिभावोवलंभा। जदि एवं ण इच्छिज्जदि तो सजोगि-अजोगिजिणाणं पंचिंदियत्तं ण लब्भदे, खीणावरणे पंचण्हमिंदियाणं खओवसमा भावा। ण च तेसिं पंचिंदियत्ताभावो पंचिंदिएसु समुग्घादपदेण असंखेज्जेसु भागेसु सव्वलोगे वा त्ति सुत्तविरोहादो। एत्थ परिहारो वुच्चदे···सजोगिअजोगिजिणाणं पंचिंदियत्तजुज्जदि त्ति जीवट्ठाणे पि उववण्णं। किंतु खुद्दाबंधे सजोगि-अजोगिजिणाणं सुद्धणएणाणिंदियाणं पंचिंदियत्तं जदि इच्छिज्जदि तो ववहारणएण वत्तव्वं। तं जहा—पंचसु जाईसु जाणि पडिबद्धाणि पंच इंदियाणि ताणि खओवसमियाणि त्ति काऊण उवयारेण पंच वि जादीओ खओवसमियाओ त्ति कट्टु सजोगि-अजोगिजिणाणं खओवसमियं पंचिंदियत्तं जुज्जदे। अधवा खीणावरणे णट्ठे वि पंचिंदियखओवसमे खओवसमजणिदं णं पंचण्ह बज्झिंदियाणमुवयारेण लद्धखओवसमसण्णाणमत्थित्तदंसणादो सजोगि-अजोगिजिणाणं पंचिंदियत्तं साहेयव्वं। —प्रश्न—एकेन्द्रियादिको औदयिक भाव कहना चाहिए, क्योंकि एकेन्द्रिय जाति आदिक नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रियादिक भाव पाये जाते हैं। यदि ऐसा न माना जायेगा तो सयोगी और अयोगी जिनोंके पंचेन्द्रिय भाव नहीं पाया जायेगा, क्योंकि, उनके आवरणके क्षीण हो जानेपर पाँचों इन्द्रियोंके क्षयोपशमका भी अभाव हो गया है। और सयोगी और अयोगी जिनोंके पंचेन्द्रियत्वका अभाव होता नहीं है, क्योंकि वैसा माननेपर "पंचेन्द्रिय जीवोंकी अपेक्षा समुद्घातपदके द्वारा लोकके असंख्यात बहुभागोंमें अथवा सर्वलोकमें जीवोंका अस्तित्व है" इस सूत्रसे विरोध आ जायेगा? उत्तर—यहाँ उक्त शंकाका परिहार करते हैं· सयोगी और अयोगी जिनोंका पंचेन्द्रियत्व योग्य होता है, ऐसा जीवस्थान खण्डमें स्वीकार किया गया है। (षं. खं./१/१,१/सू.३७/२६२) किन्तु इस क्षुद्रकबंध खण्डमें शुद्ध नयसे अनिन्द्रिय कहे जानेवाले सयोगी और अयोगी जिनोंके यदि पंचेन्द्रियत्व कहना है, तो वह केवल व्यवहार नयसे ही कहा जा सकता है। वह इस प्रकार है—पाँच जातियोंमें जो क्रमशः पाँच इन्द्रियाँ सम्बद्ध हैं वे क्षायोपशमिक हैं ऐसा मानकर और उपचारसे पाँचों जातियोंको भी क्षायोपशमिक स्वीकार करके

सयोगी और अयोगी जिनोंके क्षायोपशमिक पंचेन्द्रियत्व सिद्ध हो जाता है। अथवा, आवरणके क्षीण होनेसे पंचेन्द्रियोंके क्षयोपशमके नष्ट हो जानेपर भी क्षयोपशमसे उत्पन्न और उपचारसे क्षायोपशमिक संज्ञाको प्राप्त पाँचों बाह्येन्द्रियोंका अस्तित्व पाये जानेसे सयोगी और अयोगी जिनोंके पंचेन्द्रियत्व सिद्ध कर लेना चाहिए।

४. भावेन्द्रियके अभाव सम्बन्धी शंका-समाधान

ध. २/१,१/४४४/५ *भाविंदियाभावादो। भाविंदियं णाम पंचण्हमिंदियाणं खओवसमो। ण सो खीणावरणे अत्थि।* –सयोगी जिनके भावेन्द्रियाँ नहीं पायी जाती हैं। पाँचों इन्द्रियावरण कर्मोंके क्षयोपशमको भावेन्द्रियाँ कहते हैं। परन्तु जिनका आवरण समूल नष्ट हो गया है उनके वह क्षयोपशम नहीं होता। (ध./२/१,१/६५८/४)

५. केवलीके मन उपचारसे होता है

ध.१/१,१,५२/२८५/३उपचारतस्तयोस्ततः समुत्पत्तिविधानात्। –उपचारसे मनके द्वारा (केवलीके) उन दोनों प्रकारके वचनोंकी उत्पत्तिका विधान किया गया है।

गो.जी./मू./२२८ *मणसहियाणं वयणं दिट्ठं तप्पुव्वमिदि सजोगम्हि। उत्तो मणोवयारेणिंदियणाणेण हीणम्मि ।२२८।* –इन्द्रिय ज्ञानियोंके वचन मनोयोग पूर्वक देखा जाता है। इन्द्रिय ज्ञानसे रहित केवली भगवान्‌के मुख्यपने तो मनोयोग नहीं है, उपचारसे कहा है।

६. केवलीके द्रव्यमन होता है भावमन नहीं

ध. १/१,१,५०/२८४/४ अतीन्द्रियज्ञानत्वान्न केवलिनो मन इति चेन्न, द्रव्यमनसः सत्त्वात्। –प्रश्न—केवलीके अतीन्द्रिय ज्ञान होता है, इसलिए उनके मन नहीं पाया जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उनके द्रव्य मनका सद्भाव पाया जाता है।

७. वहाँ मनका भावात्मक कार्य नहीं होता पर परिस्पन्दन रूप द्रव्यात्मक कार्य होता है

ध. १/१,१,५०/२८४/५ भवतु द्रव्यमनसः सत्त्वं न तत्कार्यमिति चेद्भवतु तत्कार्यस्य क्षायोपशमिकज्ञानस्याभावः, अपि तु तदुत्पादने प्रयत्नोऽस्त्येव तस्य प्रतिबन्धकत्वाभावात्। तेनात्मनो योगः मनोयोगः। विद्यमानोऽपि तदुत्पादने प्रयत्नः किमिति स्वकार्यं न विदध्यादिति चेन्न, तत्सहकारिकारणक्षयोपशमाभावात्। –प्रश्न—केवलीके द्रव्यमनका सद्भाव रहा आवे, परन्तु वहाँपर उसका कार्य नहीं पाया जाता है? उत्तर—द्रव्यमनके कार्य रूप उपयोगात्मक क्षायोपशमिक ज्ञानका अभाव भले ही रहा आवे, परन्तु द्रव्य मनके उत्पन्न करनेमें प्रयत्न तो पाया ही जाता है, क्योंकि, द्रव्य मनकी वर्गणाओंको लानेके लिए होनेवाले प्रयत्नमें कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं पाया जाता है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि उस मनके निमित्तसे जो आत्माका परिस्पन्द रूप प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं। प्रश्न—केवलीके द्रव्यमनको उत्पन्न करनेमें प्रयत्न विद्यमान रहते हुए भी वह अपने कार्यको क्यों नहीं करता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, केवलीके मानसिक ज्ञानके सहकारी कारणरूप क्षयोपशमका अभाव है, इसलिए उनके मनोनिमित्तक ज्ञान नहीं होता है। (ध. १/१,१,२२/३६७-३६८/७); (गो०जी०/मू० व० जी० प्र०/२२९)।

८. भावमनके अभावमें वचनकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है

ध. १/१,१,१२२/३६८/३ तत्र मनसोऽभावे तत्कार्यस्य वचसोऽपि न सत्त्वमिति चेन्न, तस्य ज्ञानकार्यत्वात्। अक्रमज्ञानात्कथं क्रमवतां वचनानामुत्पत्तिरिति चेन्न, घटविषयाक्रमज्ञानसमवेतकुम्भकाराद्घटस्य क्रमेणोत्पत्त्युपलम्भात्। मनोयोगाभावे सूत्रेण सह विरोधः स्यादिति चेन्न, मनःकार्यप्रथमचतुर्थवचसोः सत्त्वापेक्षयोपचारेण तत्सत्त्वोपदेशात्। जीवप्रदेशपरिस्पन्दहेतुनोकर्मजनितशक्त्यस्तित्वापेक्षया वा तत्सत्त्वान्न विरोधः। –प्रश्न—अरहन्त परमेष्ठीमें मनका अभाव होनेपर मनके कार्यरूप वचनका सद्भाव भी नहीं पाया जा सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, वचन ज्ञानके कार्य हैं, मनके नहीं। प्रश्न—अक्रम ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, घट विषयक अक्रम ज्ञानसे युक्त कुम्भकार द्वारा क्रमसे घटकी उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिए अक्रमवर्ती ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है। प्रश्न—सयोगि केवलीके मनोयोगका अभाव माननेपर "सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति। (ष० खं०/१/१,१/५०/२८२) इस सूत्रके साथ विरोध आ जायेगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि, मनके कार्यरूप प्रथम और चतुर्थ भाषाके सद्भावकी अपेक्षा उपचारसे मनके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है। अथवा, जीवप्रदेशोंके परिस्पन्दके कारणरूप मनोवर्गणारूप नोकर्मसे उत्पन्न हुई शक्तिके अस्तित्वकी अपेक्षा सयोगि केवलीमें मनका सद्भाव पाया जाता है ऐसा मान लेनेमें भी कोई विरोध नहीं आता है। (ध. १/१,१,५०/२८५/२) (ध. १/१,१,१२२/३६८/२)।

९. मन सहित होते हुए भी केवलीको संज्ञी क्यों नहीं कहते

ध. १/१,१,१७२/४०८/१० समनस्कत्वात्सयोगिकेवलिनोऽपि संज्ञिन इति चेन्न, तेषां क्षीणावरणानां मनोऽवष्टम्भबलेन बाह्यार्थग्रहणाभावतस्तदसत्त्वात्। तर्हि भवन्तु केवलिनोऽसंज्ञिन इति चेन्न, साक्षात्कृताशेषपदार्थानामसंज्ञित्वविरोधात्। असंज्ञिनः केवलिनो मनोऽनपेक्ष्य बाह्यार्थग्रहणाद्विकलेन्द्रियवदिति चेद्भवत्येवं यदि मनोऽनपेक्ष्य ज्ञानोत्पत्तिमात्रमाश्रित्यासंज्ञित्वस्य निबन्धनमिति चेन्मनसोऽभावाद् बुद्ध्यतिशयाभावः, ततो नानन्तरोक्तदोष इति। –प्रश्न—मन सहित होनेके कारण सयोगकेवली भी संज्ञी होते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि आवरण कर्मसे रहित उनके मनके अवलम्बनसे बाह्य अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है, इसलिए उन्हें संज्ञी नहीं कह सकते। प्रश्न—तो केवली असंज्ञी रहे आवें? उत्तर—नहीं, क्योंकि जिन्होंने समस्त पदार्थोंको साक्षात् कर लिया है, उन्हें असंज्ञी माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—केवली असंज्ञी होते हैं, क्योंकि, वे मनकी अपेक्षाके बिना ही विकलेन्द्रिय जीवोंकी तरह बाह्य पदार्थोंका ग्रहण करते हैं? उत्तर—यदि मनकी अपेक्षा न करके ज्ञानकी उत्पत्ति मात्रका आश्रय करके ज्ञानोत्पत्ति असंज्ञीपनेकी कारण होती तो ऐसा होता। परन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि कदाचित् मनके अभावसे विकलेन्द्रिय जीवोंकी तरह केवलीके बुद्धिके अतिशयका अभाव भी कहा जावेगा। इसलिए केवलीके पूर्वोक्त दोष लागू नहीं होता।

१०. योगोंके सद्भाव सम्बन्धी समाधान

स.सि./६/१/३१९/१ क्षयेऽपि त्रिविधवर्गणापेक्षः सयोगकेवलिन. आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगो वेदितव्यः। –वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्मके क्षय हो जानेपर भी सयोगकेवलीके जो तीन प्रकारकी वर्गणाओंको अपेक्षा आत्मप्रदेश परिस्पन्द होता है वह भी योग है ऐसा जानना चाहिए। ध. १/१,१,१२१/३६८/१)

ध. १/१,१,२७/२२०/६१ *अत्थि लोगपूरणम्हि ट्ठियकेवलीणं।* –लोकपूरण समुद्घातमें स्थित केवलियोंके भी योग प्रतिपादक आगम उपलब्ध है।

११. केवलीके पर्याप्ति, योग तथा प्राण विषयक प्ररूपणा—

(ध. २/११/४४४.३+४४६.४+६६८ ७+४११.१६); (गो० जी०/जी० प्र०/७०१/११३५.१२; ७२६/११६२.१)

निर्देश	पर्याप्तापर्याप्त विचार			प्राण (दे० उपर्युक्त प्रमाण)		पर्याप्ति (दे० पर्याप्ति/३	
	योग दे० योग/४	आहारकत्व दे० आहारक	पर्याप्तापर्याप्त दे० नीचे	सं०	विवरण	सं०	विवरण
सयोग केवली—							
सामान्य	७*	आहा., अना	पर्या., अप.	४	वचन, काय, आयु, श्वास	६	छहों पर्याप्ति, अप.
पर्याप्त	५*	आहारक	पर्याप्त	४	,,	६	,, पर्याप्ति
अपर्याप्त	२*	अनाहारक	अपर्याप्त	२	आयु तथा श्वास	६	,, अपर्याप्ति
समुद्घात केवली—	(दे० केवली/७/१२,१३)						
प्र. समय दण्ड.	औदारिक	आहारक	पर्याप्त	३	काय, आयु, श्वास	६	छहों पर्याप्ति
द्वि० ,, कपाट	औदा. मिश्र.	,,	अपर्याप्त	२	काय तथा आयु	१	आहार पर्याप्ति
तृ० ,, प्रतर	कार्मण	अनाहारक	,,	१	आयु	६	छहों अपर्याप्ति
चतु० ,, लोक पूरण	,,	,,	,,	१	,,	६	,, ,,
पंचम ,, प्रतर	,,	,,	,,	१	,,	६	,, ,,
षष्टम ,, कपाट	औदा. मिश्र	आहारक	,,	२	काय, आयु, श्वास	१	आहार पर्याप्ति
सप्तम ,, दण्ड	औदारिक	,,	पर्याप्त	३	काय, आयु, श्वास	६	छहों पर्याप्ति
अष्टम ,, शरीर प्रवेश	,,	,,	,,	४	वचन, काय, आयु, श्वास	६	,, ,,
अयोग केवली—	दे० प्राण तथा पर्याप्ति विषयक द्वि० तृ० कोष्टक)						
प्रथम समय	३*	आहारक	पर्याप्त	६	काय, आयु, श्वास (वचन निरोध)	६	छहों पर्याप्ति
अन्तिम समय	×	अनाहारक	,,	१	आयु, (श्वास निरोध)	६	,, ,,

*—७ योग = सत्य तथा अनुभय मन तथा वचन, औदा. द्विक, कार्मण
५ योग = उक्त २ मन, २ वचन औदारिक काय ३ योग = उक्त २ मन, औदारिक काय २ योग = औदारिक मिश्र तथा कार्मण

१२. द्रव्येन्द्रियोंकी अपेक्षा दश प्राण क्यों नहीं कहते

ध. २/१.१/४४४/६ अध दव्विंदियस्स जदि गहणं कीरदि तो सण्णीणम-पज्जतकाले सत्त पाणा पिंडिदूण दो चेव पाणा भवंति। पंचण्हं दव्वें-दियाणमभावादो। तम्हा सजोगिकेवलिस्स चत्तारि पाणा दो पाणा वा। = प्रश्न—द्रव्येन्द्रियोंकी अपेक्षा दश प्राण क्यों नहीं कहते? उत्तर—यदि प्राणोंमें द्रव्येन्द्रियोंका ही ग्रहण किया जावे तो संज्ञी जीवोंके अपर्याप्त कालमें सात प्राणोंके स्थानपर कुल दो ही प्राण कहे जायेंगे, क्योंकि, उनके द्रव्येन्द्रियोंका अभाव होता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि सयोगी जिनके चार अथवा दो ही प्राण होते हैं। (ध. २/१.१/६५८/५)।

१३. समुद्घातगत केवलीको चार प्राण कैसे कहते हो

ध. २/१.१/६५६/१ तेसिं कारणभूद-पज्जत्तीओ अत्थि त्ति पुणो उवरिम-छट्ठसमयप्पहुडि वचि-उस्सासपाणाणं समणा भवदि चत्तारि वि पाणा हवंति। = समुद्घातगत केवलीके वचनबल और श्वासोच्छ्वास प्राणोंकी कारणभूत वचन और आनपान पर्याप्तियाँ पायी जाती हैं, इसलिए लोकपूरण समुद्घातके अनन्तर होनेवाले प्रतर समुद्घातके पश्चात् उपरिम छठे समयसे लेकर आगे वचनबल और श्वासोच्छ्वास प्राणोंका सद्भाव हो जाता है, इसलिए सयोगिकेवलीके औदारिकमिश्र काययोगमें चार प्राण भी होते हैं।

१४. अयोगीके एक आयु प्राण होनेका क्या कारण है

ध.२/१.१/४४५/१० आउअ-पाणो एक्को चेव। केण कारणेण। ण ताव णाणा-वरण-खओवसम-लक्खण-पंचिंदियपाणा तत्थ संति, खीणावरणे खओ-वसमाभावादो। आणावाणभासा-मणपाणा वि णत्थि, पज्जत्ति-जणिद-पाण-सण्णिद-सत्ति-अभावादो। ण सरीर-बलपाणो वि अत्थि, सरीरो-दय-जणिद-कम्म-णोकम्मागमाभावादो तदो एक्को चेव पाणो। =(अयोग केवलीके) एक आयु नामक प्राण होता है। प्रश्न—एक आयु प्राणके होनेका क्या कारण है? उत्तर—ज्ञानावरण कर्मके क्षयोप-शमस्वरूप पाँच इन्द्रिय प्राण तो अयोगकेवलीके हैं नहीं, क्योंकि ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षय हो जानेपर क्षयोपशमका अभाव पाया जाता है। इसी प्रकार आनपान, भाषा और मन प्राण भी उनके नहीं हैं, क्योंकि पर्याप्ति जनित प्राण संज्ञावाली शक्तिका उनके अभाव है। उसी प्रकार उनके कायबल नामका भी प्राण नहीं है, क्योंकि उनके शरीर नामकर्मके उदय जनितकर्म और नोकर्मोंके आगमनका अभाव है। इसलिए अयोगकेवलीके एक आयु ही प्राण होता है। ऐसा सम-झना चाहिए।

६. ध्यानलेश्या आदि सम्बन्धी निर्देश व शंका-समाधान

१. केवलीके लेश्या कहना उपचार है तथा उसका कारण

स.सि /२/६/१६०/१ ननु च उपशान्तकषाये क्षीणकषाये सयोगकेवलिनि च शुक्ललेश्यास्तीत्यागमः। तत्र कषायानुरञ्जनाभावादौदयिकत्वं नोपपद्यते। नैष दोषः; पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया यासौ योगप्रवृत्तिः कषायानुरञ्जिता सैवेत्युपचारादौदयिकीत्युच्यते। तदभावादयोग-

केवल्यकेवल्यसैरय इति निरचीयते। —प्रश्न—उपशान्त कषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली गुणस्थानमें शुक्ल लेश्या है ऐसा आगम है, परन्तु वहाँपर कषायका उदय नहीं है इसलिए औदयिकपना नहीं बन सकता? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जो योग प्रवृत्ति कषायके उदयसे अनुरंजित है वही यह है इस प्रकार पूर्व भावप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानोंमें भी लेश्याको औदयिक कहा गया है। (रा.वा./२/६/८/१०१/२१); (गो.जी./मू./५३३)।

ध. ७/२,१,६१/१०४/१२ जदि कसाओदएण लेस्साओ उच्चंति तो खीण-कसायाणं लेस्साभावो पसज्जदे। सच्चमेदं जदि कसाओदयादो चेव लेस्सुप्पत्ती इच्छिज्जदि। किंतु सरीरणामकम्मोदयजणिदजोगो वि लेस्सा त्ति इच्छिज्जदि, कम्मबंधणिमित्तत्तादो। तेण कसाये फिट्टे वि जोगो अत्थि त्ति खीणकसायाणं लेस्सत्तं ण विरुज्झदे। —प्रश्न—यदि कषायोंके उदयसे लेश्याओंका उत्पन्न होना कहा जाता है तो बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवोंके लेश्याके अभावका प्रसंग आता है। उत्तर—सचमुच ही क्षीण कषाय जीवोंमें लेश्याके अभावका प्रसंग आता यदि केवल कषायोदयसे ही लेश्याकी उत्पत्ति मानी जाती। किन्तु शरीर नामकर्मोदयसे उत्पन्न योग भी तो लेश्या माना गया है, क्योंकि वह भी कर्मके बन्धमें निमित्त होता है। इस कारण कषायके नष्ट हो जानेपर भी चूँकि योग रहता है, इसलिए क्षीणकषाय जीवों-के लेश्या माननेमें कोई विरोध नहीं आता। (गो.जी./मू./५३३)।

२. केवलीके संयम कहना उपचार है तथा उसका कारण

ध. १/१,१,१२४/३७४/३ अथ स्यात् बुद्धिपूर्विका सावद्यविरतिः संयमः, अन्यथा काष्ठादिष्वपि संयमप्रसङ्गात्। न च केवलीषु तथाभूता निवृत्तिरस्ति ततस्तत्र संयमो दुर्घट इति नैष दोषः, अघातिचतुष्टय-विनाशापेक्षया समयं प्रत्यसंख्यातगुणश्रेणिकर्मनिर्जरापेक्षया च सकल-पापक्रियानिरोधलक्षणपारिणामिकगुणाविर्भावापेक्षया वा, तत्र संयमो-पचारात्। अथवा प्रवृत्त्यभावापेक्षया मुख्यसंयमोऽस्ति (न काष्ठेन व्यभिचारस्तत्र प्रवृत्त्यभावतस्तन्निवृत्त्यनुपपत्तेः। —प्रश्न—बुद्धि-पूर्वक सावद्य योगके त्यागको संयम कहना तो ठीक है। यदि ऐसा न माना जाये तो काष्ठ आदिमें भी संयमका प्रसंग आ जायेगा। किन्तु केवलीमें बुद्धिपूर्वक सावद्ययोगकी निवृत्ति तो पायी नहीं जाती है इसलिए उनमें संयमका होना दुर्घट ही है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, चार अघातिया कर्मोंके विनाश करनेकी अपेक्षा और समय-समयमें असंख्यात गुणी श्रेणीरूपसे कर्म निर्जरा करनेकी अपेक्षा सम्पूर्ण पापक्रियाके निरोधस्वरूप पारिणामिक गुण प्रगट हो जाता है, इसलिए इस अपेक्षासे वहाँ संयमका उपचार किया जाता है। अतः वहाँपर संयमका होना दुर्घट नहीं है। अथवा प्रवृत्तिके अभावकी अपेक्षा वहाँपर मुख्य संयम है। इस प्रकार जिनेन्द्रमें प्रवृत्त्यभावसे मुख्य संयमकी सिद्धि करनेपर काष्ठसे व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, काष्ठमें प्रवृत्ति नहीं पायी जाती है, तब उसकी निवृत्ति भी नहीं बन सकती है।

३. केवलीके ध्यान कहना उपचार है तथा उसका कारण

रा.वा./९/१०/५/१२५/८ यथा एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमिति छद्मस्थे ध्यानशब्दार्थो मुख्यश्चिन्ताविक्षेपवतः तन्निरोधोपपत्तेः; तदभावात् केवलिन्युपचरितः फलदर्शनात्। —एकाग्रचिन्तानिरोधरूप ध्यान छद्मस्थोंमें मुख्य है, केवलीमें तो उसका फल कर्मध्वंस देखकर उप-चारसे ही वह माना जाता है।

ध. १३/५,४,२६/८६/४ एदम्हि जोगणिरोहकाले सुहुमकिरियमप्पडिवादि ज्झाणं ज्झायदि त्ति जं भणिदं तण्ण घडदे; केवलिस्स विसईकयासे-सदव्वपज्जायस्स सगसव्वद्धाए एगरूवस्स अणिदियस्स एगवत्थुम्हि मणणिरोहाभावादो। ण च मणणिरोहेण विणा ज्झाणं संभवदि। ण एस दोसो; एगवत्थुम्हि चिंताणिरोहो ज्झाणमिदि जदि घेप्पदि तो होदि दोसो। ण च एवमेत्थ घेप्पदि।…जोगा उवयारेण चिंता; तिस्से एयग्गेण णिरोहो विणासो जम्मि तं ज्झाणमिदि एत्थ घेत्तव्वं।

ध. १३/५,४,२६/८७/१३ कधमेत्थ ज्झाणववएसो? एयग्गेण चिंताए जीवस्स णिरोहो परिप्फंदाभावो ज्झाणं णाम। —१. प्रश्न—इस योग निरोधके कालमें केवली जिन सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती ध्यानको ध्याते हैं, यह जो कथन किया है वह नहीं बनता, क्योंकि केवली जिन अशेष द्रव्य पर्यायोंको विषय करते हैं, अपने सब कालमें एक रूप रहते हैं और इन्द्रिय ज्ञानसे रहित हैं; अतएव उनका एक वस्तुमें मनका निरोध करना उपलब्ध नहीं होता। और मनका निरोध किये बिना ध्यानका होना सम्भव नहीं है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि प्रकृतमें एक वस्तुमें चिन्ताका निरोध करना ध्यान है, ऐसा ग्रहण किया जाता है तो उक्त दोष आता है। परन्तु यहाँ ऐसा ग्रहण नहीं करते हैं।…यहाँ उपचारसे योगका अर्थ चिन्ता है। उसका एकाग्र रूपसे निरोध अर्थात् विनाश जिस ध्यानमें किया जाता है, वह ध्यान है, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए। २. प्रश्न—यहाँ ध्यान संज्ञा किस कारणसे दी गयी है? उत्तर—एकाग्ररूपसे जीवके चिन्ताका निरोध अर्थात् परिस्पन्दका अभाव होना ही ध्यान है, इस दृष्टिसे यहाँ ध्यान संज्ञा दी गयी है।

पं.का./ता.वृ./१५२/२१६/१० भावमुक्तस्य केवलिनो…स्वरूपनिश्च-लत्वात्…पूर्वसंचितकर्मणां ध्यानकार्यभूतं स्थितिविनाशं गलनं च दृष्ट्वा निर्जरारूपध्यानस्य कार्यकारणमुपचर्योपचारेण ध्यानं भण्यत इत्यभिप्रायः। —स्वरूप निश्चल होनेसे भावमुक्त केवलीके ध्यानका कार्यभूत पूर्वसंचित कर्मोंकी स्थितिका विनाश अर्थात् गलन देखा जाता है। निर्जरारूप इस ध्यानके कार्य-कारणमें उपचार करनेसे केवलीको ध्यान कहा जाता है ऐसा समझना चाहिए। (चा. सा./१३१/२)।

४. केवलीके एकत्व वितर्क ध्यान क्यों नहीं कहते

ध. १३/५,४,२६/७५/७ आवरणाभावेण असेसदव्वपज्जाएसु उवजुत्तस्स केवलोवजोगस्स एगदव्वम्हि पज्जाए वा अवट्ठाणाभावदट्ठूणं तज्झा-णाभावस्स परूविदत्तादो। —आवरणका अभाव होनेसे केवली जिनका उपयोग अशेष-द्रव्य पर्यायोंमें उपयुक्त होने लगता है। इसलिए एक द्रव्यमें या एक पर्यायमें अवस्थानका अभाव देखकर उस ध्यानका (एकत्ववितर्क अविचार) अभाव कहा है।

५. तो फिर केवली क्या ध्याते हैं

प्र.सा./मू./१९७-१९८ णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू। णेयंतगदो समणो झादि कमट्ठं असंदेहो।१९७। सव्वबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो। भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं।१९८। —प्रश्न—जिसने घनघाति कर्मका नाश किया है, जो सर्व पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानते हैं, और ज्ञेयोंके पारको प्राप्त हैं, ऐसे संदेह रहित श्रमण क्या ध्याते हैं? उत्तर—अनिन्द्रिय और इन्द्रियातीत हुआ आत्मा सर्व बाधा रहित और सम्पूर्ण आत्मामें समंत (सर्व प्रकारके, परिपूर्ण) सौख्य तथा ज्ञानसे समृद्ध रहता हुआ परम सौख्यका ध्यान करता है।

६. केवलीको इच्छाका अभाव तथा उसका कारण

नि.सा./मू./१७२ जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो। केवलिणाणी तम्हा तेण दु सोऽबंधगो भणिदो।१७२। —जानते और देखते हुए भी, केवलीको इच्छापूर्वक (वर्तन) नहीं होता; इसलिए उन्हें 'केवलज्ञानी' कहा है। और इसलिए अबन्धक कहा है। (नि. सा./मू./१७५)

अष्टसहस्री/पृ.७२ (निर्णय सागर बम्बई) वस्तुतस्तु भगवतो वीतमोहत्वान्मोहपरिणामरूपाया इच्छाया तत्रासंभवात्। तथाहि—नेच्छा सर्वविदः शासनप्रकाशननिमित्तं प्रणष्टमोहत्वात्। =वास्तवमें केवली भगवान्‌के वीतमोह होनेके कारण, मोह परिणामरूप जो इच्छा है वह उनके असम्भव है। जैसे कि—सर्वज्ञ भगवान्‌को शासनके प्रकाशनकी भी कोई इच्छा नहीं है, मोहका विनाश हो जानेके कारण।

नि. सा./ता.वृ./१७३-१७४ परिणामपूर्वकं वचनं केवलिनो न भवति··· केवलीमुखारविन्दविनिर्गतो दिव्यध्वनिरनीहात्मकः। =परिणाम पूर्वक वचन तो केवलीको होता नहीं है।···केवलीके मुखारविन्दसे निकली दिव्यध्वनि समस्तजनोंके हृदयको आल्हादके कारणभूत अनिच्छात्मक होती है।

प्र.सा./त.प्र./४४ यथा हि महिलानां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्वभावभूत एव मायोपगुण्ठनागुण्ठितो व्यवहारः प्रवर्तते, तथा हि केवलिनां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्थानासनं विहरणं धर्मदेशना च स्वभावभूता एव प्रवर्तन्ते। अपि चाविरुद्धमेतदम्भोधरदृष्टान्तात्। यथा खल्वम्भोधराकारपरिणतानां पुद्गलानां गमनमवस्थानं गर्जनमम्बुवर्षं च पुरुषप्रयत्नमन्तरेणापि दृश्यन्ते, तथा केवलिनां स्थानादयोऽबुद्धिपूर्वका एव दृश्यन्ते। = प्रश्न—(बिना इच्छाके भगवान्‌को विहार स्थानादि क्रियाएँ कैसे सम्भव हैं)। उत्तर—जैसे स्त्रियोंके प्रयत्नके बिना भी, उस प्रकारकी योग्यताका सद्भाव होनेसे स्वभावभूत ही मायाके ढक्कनसे ढका हुआ व्यवहार प्रवर्तता है, उसी प्रकार केवली भगवान्‌के, बिना ही प्रयत्नके उस प्रकारकी योग्यताका सद्भाव होनेसे खड़े रहना, बैठना, विहार और धर्मदेशना स्वभावभूत ही प्रवर्तते हैं। और यह (प्रयत्नके बिना ही विहारादिका होना) बादलके दृष्टान्तसे अविरुद्ध है। जैसे बादलके आकाररूप परिणमित पुद्गलोंका गमन, स्थिरता, गर्जन और जलवृष्टि पुरुषप्रयत्नके बिना भी देखी जाती हैं, उसीप्रकार केवली भगवान्‌के खड़े रहना इत्यादि अबुद्धि पूर्वक ही (इच्छाके बिना ही) देखा जाता है।

७. केवलीके उपयोग कहना उपचार है

रा. वा./२/१०/५/१२५/१० तथा उपयोगशब्दार्थोऽपि संसारिषु मुख्यः परिणामान्तरसंक्रमात्, मुक्तेषु तदभावाद् गौणः कल्प्यते उपलब्धिसामान्यात्। =संसारी जीवोंमें उपयोग मुख्य है, क्योंकि बदलता रहता है। मुक्त जीवोंमें सतत एकसी धारा रहनेसे उपयोग गौण है वहाँ तो उपलब्धि सामान्य होती है।

७. केवली समुद्घात निर्देश

१. केवली समुद्घात सामान्यका लक्षण

स. सि./१/४४/४५७/३ लघुकर्मपरिपाचनस्याशेषकर्मरेणुपरिशातनशक्तिस्वाभाव्याद्दण्डकपाटप्रतरलोकपूरणानि स्वात्मप्रदेशविसर्पणतः ···। समुपहृतप्रदेशविसरणः। =जिनके स्वल्पमात्रामें कर्मोंका परिपाचन हो रहा है ऐसे वे अपने (केवली अपने) आत्म प्रदेशोंके फैलनेसे कर्म रजको परिशातन करनेकी शक्तिवाले दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घातको···करके अनन्तरके विसर्पणका संकोच करके···।

रा. वा./१/२०/१२/७७/१६ द्रव्यस्वभावत्वात् सुराद्रव्यस्य फेनवेगबुद्बुदाविर्भावोपशमनवद् देहस्थात्मप्रदेशानां बहिःसमुद्घातनं केवलिसमुद्घातः। =जैसे मदिरामें फेन आकर शान्त हो जाता है उसी तरह समुद्घातमें देहस्थ आत्मप्रदेश बाहर निकलकर फिर शरीरमें समा जाते हैं, ऐसा समुद्घात केवली करते हैं।

ध. १३/२/६१/३००/६ दंड-कवाड-पदर-लोगपूरणाणि केवलिसमुग्घादो णाम। =दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण रूप जीव प्रदेशोंकी अवस्थाको केवलिसमुद्घात कहते हैं। (प. का./ता.वृ./१५३/२२१)।

२. भेद-प्रभेद

ध.४/,१,३,२/२८/८ दंडकवाड-पदर-लोकपूरणभेएण चउव्विहो। =दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरणके भेदसे केवलीसमुद्घात चार प्रकारका है।

गो. जी./जी. प्र./५४४/६६३/१४ केवलिसमुद्घातः दण्डकवाटप्रतरलोकपूरणभेदाच्चतुर्धा। दण्डसमुद्घातः स्थितोपविष्टभेदाद् द्वेधा। कवाटसमुद्घातोऽपि पूर्वाभिमुखोत्तराभिमुखभेदाभ्यां स्थितः उपविष्टश्चेति चतुर्धा। प्रतरलोकपूरणसमुद्घातावेकैकावेव। =केवली समुद्घात च्यारि प्रकार दंड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण। तहाँ दंड दोय प्रकार एक स्थिति दंड. अर एक उपविष्ट दण्ड। बहुरि कपाट चारि प्रकार पूर्वाभिमुखस्थितकपाट, उत्तराभिमुखस्थितकपाट, पूर्वाभिमुख उपविष्टकपाट, उत्तराभिमुख उपविष्ट कपाट। बहुरि प्रतर अर लोकपूरण एक एक ही प्रकार हैं।

३. दण्डादि भेदोंके लक्षण

ध.४/१,३,२/२८/८ तत्थ दण्डसमुग्घादो णाम पुव्वसरीरबाहल्लेण वा तत्तिगुणबाहल्लेण वा सविक्खंभादो सादिरेयतिगुणपरिट्ठएण केवलिजीवपदेसाणं दंडागारेण देसूणचोद्दसरज्जुविसप्पणं। कवाडसमुग्घादो णाम पुव्विल्लबाहल्लायामेण वादवलयवदिरित्तसव्वखेत्तावूरणं। पदरसमुग्घादो णाम केवलिजीवपदेसाणं वादवलयरुद्धलोगखेत्तं मोत्तूण सव्वलोगावूरणं। लोगपूरणसमुग्घादो णाम केवलिजीवपदेसाणं घणलोगमेत्ताण सव्वलोगावूरणं। =जिसकी अपने विष्कंभसे कुछ अधिक तिगुनी परिधि है ऐसे पूर्व शरीरके बाहल्यरूप अथवा पूर्व शरीरसे तिगुने बाहल्यरूप दण्डाकारसे केवलीके जीव प्रदेशोंका कुछ कम चौदह राजू उत्सेधरूप फैलनेका नाम दण्ड समुद्घात है। दण्ड समुद्घातमें बताये गये बाहल्य और आयामके द्वारा पूर्व पश्चिममें वातवलयसे रहित सम्पूर्ण क्षेत्रके व्याप्त करनेका नाम कपाट समुद्घात है। केवली भगवान्‌के जीवप्रदेशोंका वातवलयसे रुके हुए क्षेत्रको छोड़कर सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त होनेका नाम प्रतर समुद्घात है। घन लोकप्रमाण केवली भगवान्‌के जीवप्रदेशोंका सर्वलोकके व्याप्त करनेको लोकपूरण समुद्घात कहते हैं। (ध./१३/५/४/२६/२)

४. सभी केवलियोंको होने न होने विषयक दो मत

भ.आ./मू./२१०६ उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा। वच्चंति समुग्घादं सेसा भज्जा समुग्घादे।२१०६। =उत्कर्षसे जिनका आयु छह महीनेका अवशिष्ट रहा है ऐसे समयमें जिनको केवलज्ञान हुआ है वे केवली नियमसे समुद्घातको प्राप्त होते हैं। बाकीके केवलियोंको आयुष्य अधिक होनेपर समुद्घात होगा अथवा नहीं भी होगा, नियम नहीं है। (पं. सं./प्रा.१/२००); (ध. १/१,१,३०/१६७); (ज्ञा./४२/४२); (वसु.श्रा./५३०)

ध.१/१,१,६०/३०२/२ यतिवृषभोपदेशात्सर्वघातिकर्मणां क्षीणकषायचरमसमये स्थितेः साम्याभावात्सर्वेऽपि कृतसमुद्घाताः सन्तो निर्वृतिमुपढौकन्ते। येषामाचार्याणां लोकव्यापिकेवलिषु विंशतिसंख्यानियमस्तेषां मतेन केचित्समुद्घातयन्ति। के न समुद्घातयन्ति। =यतिवृषभाचार्यके उपदेशानुसार क्षीणकषाय गुणस्थानके चरमसमयमें सम्पूर्ण अघातिया कर्मोंकी स्थिति समान नहीं होनेसे सभी

केवली समुद्घात करके ही मुक्तिको प्राप्त होते हैं। परन्तु जिन आचार्योंके मतानुसार लोकपूरण समुद्घात करनेवाले केवलियोंकी बोस संख्याका नियम है, उनके मतानुसार कितने ही केवली समुद्घात करते हैं और कितने नहीं करते हैं।

ध.१३/५.४.३१/१५१/१३ सव्वेसिं णिव्वुइगमणमंताणं केवलिसमुग्घादाभावादो। =मोक्ष जानेवाले सभी जीवोंके केवलि समुद्घात नहीं होता।

५. आयुके छह माह शेष रहनेपर होने न होने सम्बन्धी दो मत

ध.१/१.१.६०/१६७/३०३ छम्मासाउवसेसे उप्पण्णं जस्स केवलणाणं। स-समुग्घाओ सिज्झइ सेसा भज्जा समुग्घाए।१६७। एदिस्से गाहाए उवएसे किण्ण गहिओ। ण, भज्जत्ते कारणाणुवलंभादो। =प्रश्न—छह माह प्रमाण आयुके शेष रहनेपर जिस जीवको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है वह समुद्घातको करके ही मुक्त होता है। शेष जीव समुद्घात करते भी हैं और नहीं भी करते हैं।१६७। (भ.आ./मू./२१०६) इस पूर्वोक्त गाथाका अर्थ क्यों नहीं ग्रहण किया है? उत्तर—नहीं, क्योंकि इस प्रकार विकल्पके माननेमें कोई कारण नहीं पाया जाता है, इसलिए पूर्वोक्त गाथाका उपदेश नहीं ग्रहण किया है।

६. कदाचित् आयुके अन्तर्मुहूर्त शेष रहनेपर होता है

भ.आ./मू./२११२ अंतोमुहुत्तसेसे जंति समुग्घादमाउम्मि।२११२। =आयुकर्म जब अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहता है तब केवली समुद्घात करते हैं। (स.सि./९/४४/४५७/१); (ध.१३/५.४.२६/८४/१); (क्ष.सा./-६२०); (प्र.सा./ता.वृ./१५३/१३१)।

७. आत्मप्रदेशोंका विस्तार प्रमाण

स.सि./५/८/२७४/११ यदा तु लोकपूरणं भवति तदा मन्दरस्याधश्चित्रवज्रपटलमध्ये जीवस्याष्टौ मध्यप्रदेशा व्यवतिष्ठन्ते। इतरे ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च कृत्स्नं लोकाकाशं व्यश्नुवते। =केवलिसमुद्घातके समय जब यह (जीव) लोकको व्यापता है उस समय जीवके मध्यके आठ प्रदेश मेरु पर्वतके नीचे चित्रा पृथिवीके वज्रमय पटलके मध्यमें स्थित हो जाते हैं और शेष प्रदेश ऊपर नीचे और तिरछे समस्त लोकको व्याप्त कर लेते हैं। (रा.वा./५/८/४/४५०/१)

ध.११/४.२.५.१७/३१/११ केवली दंडं करेमाणो सव्वो सरीरत्तिगुणबाहल्लेण [ण]कुणदि, वेयणाभावादो। को पुण सरीरतिगुणबाहल्लेण दंडं कुणइ। पलियंकेण णिसण्णकेवली। =दण्ड समुद्घातको करनेवाले सभी केवली शरीरसे तिगुणे बाहल्यसे उक्त समुद्घातको नहीं करते, क्योंकि उनके वेदनाका अभाव है। प्रश्न—तो फिर कौनसे केवली शरीरसे तिगुणे बाहल्यसे दण्डसमुद्घातको करते हैं? उत्तर—पर्यंक आसनसे स्थित केवली उक्त प्रकारसे दण्ड समुद्घातको करते हैं।

गो.जी./जी.प्र./५४४/९५३ केवल भाषार्थ—दण्ड—स्थितिदण्ड समुद्घात विषे एक जीवके प्रदेश वातवलयके बिना लोककी ऊँचाई किंचित् ऊन चौदह राजू प्रमाण है सो इस प्रमाणतैं लंबे बहुरि बारह अंगुल प्रमाण चौड़े गोल आकार प्रदेश हैं। स्थितिदण्डके क्षेत्रको नवगुणा कीजिए तब उपविष्टदण्ड विषै क्षेत्र हो है। सो यहाँ ३६ अंगुल चौड़ाई है। कपाट पूर्वाभिमुख स्थित कपाट समुद्घातविषै एक जीवके प्रदेश वातवलय बिना लोक प्रमाण तो लम्बे हो हैं सो किंचित ऊन चौदह राजू प्रमाण तो लम्बे हो है, बहुरि उत्तर-दक्षिण दिशाविषै लोकको चौड़ाई प्रमाण चौड़े हो हैं सो उत्तर-दक्षिण दिशाविषै लोक सर्वत्र सात राजू चौड़ा है तातैं सात राजू प्रमाण चौड़े हो हैं। बहुरि बारह अंगुल प्रमाण पूर्व पश्चिम विषै ऊँचे हो हैं। पूर्वाभिमुख स्थित कपाटके क्षेत्र तैं तिगुना पूर्वाभिमुख उपविष्ट कपाट विषै क्षेत्र जानना। उत्तराभिमुख स्थित कपाटके चौदह राजू प्रमाण तो लम्बे पूर्व-पश्चिम दिशा विषै लोकको चौड़ाईके प्रमाण चौड़े हैं। उत्तर-दक्षिण विषै क्रमसे सात, एक, पाँच और एक राजू प्रमाण चौड़े हैं। उत्तराभिमुख उपविष्ट कपाट विषै तातै तिगुनी छत्तीस अंगुलकी ऊँचाई है। प्रतर—बहुरि प्रतर समुद्घात विषै तीन वलय बिना सर्व लोक विषै प्रदेश व्याप्त हैं तातैं तीन वातवलयका क्षेत्रफल लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण है। लोकपूरण—बहुरि लोकपूरण विषै सर्व लोकाकाश विषै प्रदेश व्याप्त हो है तातै लोकप्रमाण एक जीव सम्बन्धी लोकपूरण विषैं क्षेत्र जानना।

क्ष.सा./६२३/७३५/८-११ भाषार्थ—कायोत्सर्ग स्थित केवलीके दण्ड समुद्घात उत्कृष्ट १०८ प्रमाण अंगुल ऊँचा, १२ प्रमाणांगुल चौड़ा और सूक्ष्म परिधि ३७$\frac{१५}{११३}$ प्रमाणांगुल युक्त है। पद्मासन स्थित (उपविष्ट) दण्ड समुद्घात विषै ऊँचाई ३६ प्रमाणांगुल, और सूक्ष्म परिधि ११३$\frac{२७}{११३}$ प्रमाणांगुल युक्त है।

८. कुल आठ समय पर्यन्त रहता है

रा.वा./१/२०/१२/७७/२७ केवलिसमुद्घातः अष्टसामयिकः दण्डकवाटप्रतरलोकपूरणानि चतुर्षु समयेषु पुनः प्रतरकपाटदण्डस्वशरीरानुप्रवेशाश्चतुर्षु इति। =केवलि समुद्घातका काल आठ समय है। दण्ड, कवाट, प्रतर, लोकपूरण, फिर प्रतर, कपाट, दण्ड और स्व शरीर प्रवेश इस तरह आठ समय होते हैं।

९. प्रतिष्ठापन व निष्ठापन विधिक्रम

पं.सं./प्रा./१९७-१९८ पढमे दंडं कुणइ य बिदिए य कवाडयं तहा समए। तइए पयरं चेव य चउत्थए लोयपूरणयं।१९७। विवरं पंच समए जोई मंथाणयं तदो छट्ठे। सत्तमए य कवाडं संवरइ तदोऽट्ठमे दंडं।१९८। =समुद्घातगत केवली भगवान् प्रथम समयमें दण्डरूप समुद्घात करते हैं। द्वितीय समयमें कपाटरूप समुद्घात करते हैं। तृतीय समयमें प्रतररूप और चौथे समयमें लोक-पूरण समुद्घात करते हैं। पाँचवें समयमें वे सयोगिजिन लोकके विवरगत आत्म-प्रदेशोंका संवरण (संकोच) करते हैं। पुनः छट्ठे समयमें मन्थान (प्रतर) गत आत्म-प्रदेशोंका संवरण करते हैं। सातवें समयमें कपाट-गत आत्म-प्रदेशोंका संवरण करते हैं और आठवें समयमें दण्ड-समुद्घातगत आत्म-प्रदेशोंका संवरण करते हैं। (भ.आ./मू./२११५); (क्ष.सा./मू./६२७); (क्ष.सा./भा./६२३)।

क्ष.सा./मू./६२१ हेट्ठा दंडस्संतोमुहुत्तमावज्जिदं हवे करणं। तं च समुग्घादस्स य अहिमुहभावो जिणिंदस्स।६२१। =दण्ड समुद्घात करनेका कालके अन्तर्मुहूर्त काल आधा कहिए पहलें आवर्जित नामा करण हो है सो जिनेन्द्र देवकै जो समुद्घात क्रियाकौ सन्मुखपना सोई आवर्जितकरण कहिए।

१०. दण्ड समुद्घातमें औदारिक काययोग होता है शेषमें नहीं

पं.सं./प्रा./१९९ दंडदुगे ओरालं...।...।१९९। =केवलि समुद्घातके उक्त आठ समयोंमें से दण्ड द्विक अर्थात् पहले और सातवें समयके दोनों समुद्घातोंमें औदारिक काययोग होता है। (ध.४/१.४,८८/२६३/१)

११. प्रतर व लोकपूरणमें अनाहारक शेषमें आहारक होता है

क्ष.सा./६१९ णवरि समुग्घादगदे पदरे तह लोगपूरणे पदरे। णत्थि तिसमये णियमा णोकम्माहारयं तत्थ।६१९। =केवल समुद्घातकौं प्राप्त केवलि-विषैं दोय तौ प्रतरके समय अर एक लोक पूरणका समय इन तीन

समयनि विषैं नोकर्मका आहार नियमतैं नाहीं है अन्य सर्व सयोगी जिनका कालविषैं नोकर्मका आहार है।

१२. केवली समुद्घातमें पर्याप्तापर्याप्त सम्बन्धी नियम

गो.जी./जी.प्र./७०३/११३७/१३ सयोगे पर्याप्तिः। समुद्घाते तूभयः अयोगे पर्याप्त एव। =सयोगी विषैं पर्याप्त है, समुद्घात सहित दोऊ (पर्याप्त व अपर्याप्त) है। अयोगी विषैं पर्याप्त ही है।

गो.क./जी.प्र./५८७/७९१/१२ दण्डद्वये कालः औदारिकशरीरपर्याप्तिः, कवाटयुगले तन्मिश्रः प्रतरयोर्लोकपूरणे च कार्मण इति ज्ञातव्यः। मूलशरीरप्रथमसमयात्संज्ञिवत्पर्याप्तयः पूर्यन्ते। =दण्डका करनें वा समेटने रूप युगलविषैं औदारिक शरीर पर्याप्ति काल है। कपाटका करने समेटनेरूप युगलविषैं औदारिकमिश्रशरीर काल है अर्थात् अपर्याप्त काल है। प्रतरका करना वा समेटनाविषैं अर लोकपूरणविषैं कार्माण-काल है। मूलशरीरविषैं प्रवेश करनेका प्रथम समय तैं लगाय संज्ञी पञ्चेन्द्रियवत् अनुक्रमतैं पर्याप्ति पूर्ण करै है।

१३. पर्याप्तापर्याप्त सम्बन्धी शंका-समाधान

ध. २/१,१/४४१-४४४/१ केवली कवाड-पदर-लोगपूरणगओ पज्जत्तो अपज्जत्तो वा। ण ताव पज्जत्तो, 'ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं' इच्चेदेण सुत्तेण तस्स अपज्जत्तसिद्धीदो। सजोगिं मोत्तूण अण्णे ओरालियमिस्सकायजोगिणो अपज्जत्ता 'सम्मामिच्छाइट्ठि संजदा-संजद-संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता त्ति सुत्तणिद्देसादो। ण, आहारमिस्सकायजोगपमत्तसंजदाणं पि पज्जत्तयत्त-प्पसंगादो। ण च एवं, आहारमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं' त्ति सुत्तेण तस्स अपज्जत्त-भाव-सिद्धादो। अणवगासत्तादो एदेण सुत्तेण 'संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता' त्ति एदं सुत्तं बाहिज्जदि,...त्ति अणेयंतियादो।...किमेदेण णाणाविज्जदि।...त्ति एदं सुत्तमणिच्चमिदि...ण च सजोगम्मि सरीर-पट्ठवणमत्थि, तदो ण तस्स अपज्जत्तमिदि ण, छ-पज्जत्ति-सत्ति-वज्जियस्स अपज्जत्त-ववएसादो। =प्रश्न—कपाट, प्रतर, और लोक-पूरण समुद्घातको प्राप्त केवली पर्याप्त हैं या अपर्याप्त? उत्तर—उन्हें पर्याप्त तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि, 'औदारिक मिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है' इस सूत्रसे उनके अपर्याप्तपना सिद्ध है, इसलिए वे अपर्याप्तक ही हैं। प्रश्न—"सम्यग्मिथ्यादृष्टि संयतासंयत और संयतोंके स्थानमें जीव नियमसे पर्याप्तक होते हैं" इस प्रकार सूत्र निर्देश होनेके कारण यही सिद्ध होता है कि सयोगीको छोड़कर अन्य औदारिकमिश्रकाययोगवाले जीव अपर्याप्तक हैं। उत्तर—ऐसा नहीं है। क्योंकि (यदि ऐसा मान लें)...तो आहारक मिश्रकाययोगवाले प्रमत्तसंयतोंको भी अपर्याप्तक ही मानना पड़ेगा, क्योंकि वे भी संयत हैं। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि, 'आहारकमिश्र काययोग अपर्याप्तकों-के होता है' इस सूत्रसे वे अपर्याप्तक ही सिद्ध होते हैं। प्रश्न—यह सूत्र अनवकाश है, (क्योंकि) इस सूत्रसे संयतोंके स्थानमें जीव नियमसे पर्याप्तक होते हैं, यह सूत्र बाधा जाता है। उत्तर—...इस कथनमें अनेकान्तदोष आ जाता है। (क्योंकि अन्य सूत्रोंसे यह भी बाधा जाता है। प्रश्न—...(सूत्रमें पड़े) इस नियम शब्दसे क्या ज्ञापित होता है। उत्तर—इससे ज्ञापित होता है...कि यह सूत्र अनित्य है।...कहीं प्रवृत्त हो और कहीं न हो इसका नाम अनित्यता है। प्रश्न—सयोग अवस्थामें (नये) शरीरका आरम्भ तो होता नहीं; अतः सयोगीके अपर्याप्तपना नहीं बन सकता। उत्तर—नहीं, क्योंकि, कपाटादि समुद्घात अवस्थामें सयोगी छह पर्याप्ति रूप शक्तिसे रहित होते हैं, अतएव उन्हें अपर्याप्त कहा है।

१४. समुद्घात करनेका प्रयोजन

भ.आ./मू./२११३-२११६ ओल्लं संतं विरल्लिदं जध लहु विणिव्वादि। संवेदियं तु ण तधा तधेव कम्मं पि णादव्वं।२११३। ठिदिबंधस्स सिणेहो हेदू खीयदि य सो समुहदस्स। सउदि य खीणसिणेहं सेसं अप्पट्ठिदी होदि।२११४। ...सेलेसिमब्भुवेंतो जोगणिरोधं तदो कुणदि।२११६। =गीला वस्त्र पसारनेसे जल्दी शुष्क होता है, परन्तु वेष्टित वस्त्र जल्दी सूखता नहीं उसी प्रकार बहुत कालमें होने योग्य स्थिति अनुभागघात केवली समुद्घात-द्वारा शीघ्र हो जाता है।२११३। स्थिति बन्धका कारण जो स्नेहगुण वह इस समुद्घातसे नष्ट होता है, और स्नेहगुण कम होनेसे उसकी अल्प स्थिति होती है।२११४। अन्तमें योग निरोध वह धीर मुक्तिको प्राप्त करते हैं।२११६।

पं.का./ता.वृ./१५३/२२१/८ संसारस्थितिविनाशार्थं...केवलिसमुद्घातं। =संसारकी स्थितिका विनाश करनेके लिए केवली समुद्घात करते हैं।

१५. इसके द्वारा शुभ प्रकृतियोंका अनुभाग घात नहीं होता

ध. १२/४,२,७,१४/१८/२ सुहाणं पयडीणं विसोहीदो केवलिसमुग्घादेण जोगणिरोहेण वा अणुभागघादो णत्थि त्ति जाणावेदि। =शुभ प्रकृतियोंके अनुभागका घात विशुद्धि, केवलिसमुद्घात अथवा योगनिरोध-से नहीं होता है।

१६. जब शेष कर्मोंकी स्थिति आयुके समान न हो तब उनका समीकरण करनेके लिए किया जाता है

भ.आ./मू./२११०-२१११ जेसिं आउसमाइं णामगोदाइं वेदणीयं च। ते अकदसमुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं।२११०। जेसिं हवंति विसमाणि णामगोदाउवेदणीयाणि। ते दु कदसमुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं।२१११। =आयुके समान ही अन्य कर्मोंकी स्थितिको धारण करनेवाले केवली समुद्घात किये बिना सम्पूर्ण शीलोंके धारक बनते हैं।२११०। जिनके वेदनीय नाम व गोत्रकर्मकी स्थिति अधिक रहती है वे केवली भगवान् समुद्घातके द्वारा आयुकर्मकी बराबरीकी स्थिति करते हैं, इस प्रकार वे सम्पूर्ण शीलोंके धारक बनते हैं।२१११। (स.सि./९/४४/४५७/१); (ध. १/१,१,६०/१६८/३०४); (ज्ञा./४२/४२); (पं.का./ता.वृ./१५३/७)

ध. १/१,१,६०/३०२/६ के न समुद्घातयन्ति। येषां संसृतिव्यक्तिः कर्म-स्थित्या समाना ते न समुद्घातयन्ति, शेषाः समुद्घातयन्ति। =प्रश्न—कौनसे केवली समुद्घात नहीं करते हैं? उत्तर—जिनकी संसार-व्यक्ति अर्थात् संसारमें रहनेका काल वेदनीय आदि तीन कर्मोंकी स्थितिके समान है वे समुद्घात नहीं करते हैं, शेष केवली करते हैं।

१७. कर्मोंकी स्थिति बराबर करनेका विधिक्रम

ध. ६/१,९-८,१६/४१२-४१७/४ पढमसमए ट्ठिदिए असंखेज्जे भागे हणदि। सेसस्स च अणुभागस्स अप्पसत्थाणमणंते भागे हणदि (४१२/४)। विदियसमए...तम्हि सेसिगाए ट्ठिदीए असंखेज्जे भागे हणदि। सेसस्स च अणुभागस्स अप्पसत्थाणमणंते भागे हणदि। तदो तदियसमए मंथं करेदि। ट्ठिदि-अणुभागे तहेव णिज्जरयदि। तदो चउत्थसमए...लोगे पुण्णे एक्का वग्गणा जोगस्स समजोगजादसमए। ट्ठिदिअणुभागे तहेव णिज्जरयदि। लोगे पुण्णे, अंतोमुहुत्तट्ठिदि (४१३/१) ठवेदि संखेज्जगुणमाउआदो।...एत्तो सेसियाए ट्ठिदीए संखेज्जे भागे हणदि।...एत्तो अंतोमुहुत्तं गंतूण कायजोग...बचि-जोगं सुहुमउस्सासं णिरुंभदि (४१४/१)। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण ...इमाणि करणाणि करेदि—पढमसमय अपुव्वफड्ढयाणि करेदि पुव्व-फड्ढयाण हेट्ठादो (४१५/१) एत्तो अंतोमुहुत्तं किट्टीओ करेदि (४१६/१)। जोगम्हि णिरुद्धम्हि आउसमाणि कम्माणि भवंति (४१७/१)।

—प्रथम समयमें…आयुको छोड़कर शेष तीन अघातिया कर्मोंकी स्थितिके असंख्यात बहु भागको नष्ट करते हैं इसके अतिरिक्त क्षीण-कषायके अन्तिम समयमें घातनेसे शेष रहे अप्रशस्त प्रकृति सम्बन्धी अनुभागके अनन्त बहुभागको भी नष्ट करते हैं। द्वितीय समयमें-शेष स्थितिके असंख्यात बहुभागको नष्ट करते हैं, तथा अप्रशस्त प्रकृतियोंके शेष अनुभागके भी अनन्त बहुभागको नष्ट करते हैं। पश्चात् तृतीय समयमें प्रतर संज्ञित मन्थसमुद्घातको करते हैं। इस समुद्घातमें भी स्थिति व अनुभागको पूर्वके समान ही नष्ट करते हैं। तत्पश्चात् चतुर्थ समयमें…लोकपूरण समुद्घातमें समयोग हो जानेपर योगकी एक वर्गणा हो जाती है। इस अवस्थामें भी स्थिति और अनुभागको पूर्वके ही समान नष्ट करते हैं। लोकपूरणसमुद्घातमें आयुसे संख्यातगुणी अन्तर्मूहूर्त मात्र स्थितिको स्थापित करता है। …उतरनेके प्रथम समयसे लेकर शेष स्थितिके संख्यात बहुभागको, तथा शेष अनुभागके अनन्त बहुभागको भी नष्ट करता है।…यहाँ अन्तर्मुहूर्त जाकर तीनों योग…उच्छ्वासका निरोध करता है…पश्चात् अपूर्व स्पर्धककरण करता है…पश्चात्…अन्तर्मुहूर्तकाल तक कृष्टियोंको करता है।…फिर अपूर्व स्पर्धकोंको करता है।…योगका निरोध हो जानेपर तीन अघातिया कर्म आयुके सदृश हो जाते हैं। (ध. ११/४,२,६,२०/१३३-१३४); (क्ष.सा./६२३-६४४)।

१८ स्थिति बराबर करनेके लिए इसकी आवश्यकता क्यों

ध. १/१,१,६०/३०२/१ संसारविच्छित्तेः किं कारणम्। द्वादशाङ्गावगमः तत्तीव्रभक्तिः केवलिसमुद्घातोऽनिवृत्तिपरिणामाश्च। न चैते सर्वेषु संभवन्ति दशनवपूर्वधारिणामपि क्षपकश्रेण्यारोहणदर्शनात्। न तत्र संसारसमानकर्मस्थितयः समुद्घातेन बिना स्थितिकाण्डकानि अन्तर्मुहूर्तेन निपतनस्वभावानि पल्योपमस्यासंख्येयाभागायतानि संख्येयावलिकायतानि च निपातयन्तः आयुःसमानि कर्माणि कुर्वन्ति। अपरे समुद्घातेन समानयन्ति। न चैष संसारघातः केवलिनि प्राक् संभवति स्थितिकाण्डघातवत्समानपरिणामत्वात्। —प्रश्न—संसारके विच्छेदका क्या कारण है? उत्तर—द्वादशांगका ज्ञान, उनमें तीव्र भक्ति, केवलिसमुद्घात और अनिवृत्तिरूप परिणाम ये सब संसारके विच्छेदके कारण हैं। परन्तु ये सब कारण समस्त जीवोंमें सम्भव नहीं हैं, क्योंकि, दशपूर्व और नौपूर्वके धारी जीवोंका भी क्षपक श्रेणीपर चढ़ना देखा जाता है। अतः वहाँपर संसार-व्यक्तिके समान कर्म स्थिति पायी नहीं जाती है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तमें नियमसे नाशको प्राप्त होनेवाले पल्योपमके असंख्यातवें भागप्रमाण या संख्यात आवली प्रमाण स्थिति काण्डकोंका विनाश करते हुए कितने ही जीव समुद्घातके बिना ही आयुके समान शेष तीन कर्मोंको कर लेते हैं। तथा कितने ही जीव समुद्घातके द्वारा शेष कर्मोंको आयुके समान करते हैं। परन्तु यह संसारका घात केवलीसे पहले सम्भव नहीं है, क्योंकि, पहले स्थिति काण्डकके घातके समान सभी जीवोंके समान परिणाम पाये जाते हैं।

१९. समुद्घात रहित जीवकी स्थिति समान कैसे होती है

ध. १३/५,४,३१/१५२/१ केवलिसमुग्घादेण विणा कधं पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्तट्ठिदीए घादो जायदे। ण ट्ठिदिखंडयघादेण तग्घादुववत्तीदो। —प्रश्न—जिन जीवोंके केवलिसमुद्घात नहीं होता उनके केवलिसमुद्घात हुए बिना पल्यके असंख्यातवें भागमात्र स्थितिका घात कैसे होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि स्थितिकाण्डक घातके द्वारा उक्त स्थितिका घात बन जाता है।

२०. ९वें गुणस्थानमें ही परिणामोंकी समानता होनेपर स्थितिकी असमानता क्यों?

ध./१/१,१,६०/३०२/७ अनिवृत्त्यादिपरिणामेषु समानेषु सत्सु किमिति स्थित्योर्वैषम्यम्। न, व्यक्तिस्थितिघातहेतुष्वनिवृत्तपरिणामेषु समानेषु सत्सु संसृतेस्तत्समानत्वविरोधात्। —प्रश्न—अनिवृत्ति आदि परिणामोंके समान रहनेपर संसार—व्यक्ति स्थिति और शेष तीन कर्मोंकी स्थितिमें विषमता क्यों रहती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि संसारकी व्यक्ति और कर्मस्थितिके घातके कारणभूत परिणामोंके समान रहनेपर संसारको उसके अर्थात् तीन कर्मोंकी स्थितिके समान मान लेनेमें विरोध आता है।

केवली समुद्घात—दे० केवली/७।

केश—एक ग्रह दे० 'ग्रह'।

केशलौंच—साधुके २८ मूलगुणोंमें-से एक गुण केशलौंच भी है। जघन्य ४ महीने, मध्यम तीन महीने, और उत्कृष्ट दो महीनेके पश्चात् वह अपने बालोंको अपने हाथसे उखाड़कर फेंक देते हैं। इस परसे उसके आध्यात्मिक बलकी तथा शरीरपरसे उपेक्षा भावकी परीक्षा होती है।

१. केशलौंच विधि

मू. आ./२९…/सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो।२९। —प्रतिक्रमण सहित दिनमें उपवास किया हो जो अपने हाथसे मस्तक दाढ़ी व मूँछके केशोंका उपाड़ना वह लौंच नामा मूल गुण है। (अन. ध./९/८६); (क्रि. क./४/२६/१)।

प. प्र./मू./२/९० केण वि अप्पउ वंचिउ सिरलुंचिवि छारेण…।९०। —जिस किसीने जिनवरका वेश धारण करके भस्मसे शिरके केश लौंच किये।…।९०। [यहाँ भस्मके प्रयोगका निर्देश किया गया है।]

भ. आ./वि०/८९/२२४/२१ प्रादक्षिणावर्तः केशश्मश्रुविषयः हस्ताङ्गुलीभिरेव संपाद्य…। —मस्तक, दाढ़ी और मूँछके केशोंका लौंच हाथोंकी अंगुलियोंसे करते हैं। दाहिने बाजूसे आरम्भकर बायें तरफ आवर्त रूप करते हैं।

२. केश लौंचके योग्य उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य अन्तर काल

मू.आ./२९बिय-तिय-चउक्कमासे लोचो उक्कस्समज्झिमजहण्णो। —केशोंका उत्पाटन तीन प्रकारसे होता है—उत्तम, मध्यम व जघन्य। दो महीनेके अन्तरसे उत्कृष्ट, तीन महीने अन्तरसे मध्यम, तथा जो चार महीनेके अन्तरसे किया जाता है वह जघन्य समझना चाहिए। (भ. आ./वि./८९/२२४/२०); (अन. ध./९/८६); (क्रि. क./४/२६/१)।

३. केशलौंचकी आवश्यकता क्यों?

भ./आ./८८-८९ केसा संसज्जंति हु णिप्पडिकारस्स दुपरिहारा य। सयणादिसु ते जीवा दिट्ठा अगंतुया य तहा।८८। जूगाहिं य लिक्खाहिं य बाधिज्जंतस्स संकिलेसो य। संघट्टिज्जंति य ते कंडुयणे तेण सो लोचो।८९। —तैल लगाना, अभ्यंग स्नान करना, सुगन्धित पदार्थसे केशोंका संस्कार करना, जलसे धोना इत्यादि क्रियाएँ न करनेसे केशोंमें यूका और लिखा ये जन्तु उत्पन्न होते हैं, जब इनकी उत्पत्ति केशोंमें होती हैं, तब इनको वहाँसे निकालना बड़ा कठिन काम है।८८। जूं और लिखाओंसे पीड़ित होनेपर मनमें नवीन पापकर्मका आगमन करानेवाला अशुभ परिणाम—संक्लेश परिणाम हो जाता है। जीवोंके द्वारा भक्षण किया जानेपर शरीरमें असह्य वेदना होती है, तब मनुष्य मस्तक खुजलाता है। मस्तक खुजलानेसे

जूं लिखादिकका परस्पर मर्दन होनेसे नाश होता है। ऐसे दोषोंसे बचनेके लिए मुनि आगमानुसार केशलौंच करते हैं।

पं. वि./१/४२ काकिण्या अपि संग्रहो न विहितः क्षौरं यया कार्यते चित्तक्षेपकृदस्त्रमात्रमपि वा तत्सिद्धये नाश्रितम्। हिंसाहेतुरहो जटाद्यपि तथा यूकाभिरप्रार्थनैः वैराग्यादिविवर्धनाय यतिभिः केशेषु लोचः कृतः ।४२। –मुनिजन कौड़ी मात्र भी धनका संग्रह नहीं करते जिससे कि मुण्डनकार्य कराया जा सके; अथवा उक्त मुण्डन कार्यको सिद्ध करनेके लिए वे उस्तरा या कैंची आदि औजारका भी आश्रय नहीं लेते, क्योंकि उनसे चित्तमें क्षोभ उत्पन्न होता है। इससे वे जटाओं-को धारण कर लेते हों सो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्थामें उनके उत्पन्न होनेवाले जूं आदि जन्तुओंकी हिंसा नहीं टाली जा सकती है। इसलिए अयाचन वृत्तिको धारण करनेवाले साधुजन वैराग्यादि गुणोंको बढ़ानेके लिए बालोंका लोच किया करते हैं।

४. केशलौंच सर्वदा आवश्यक ही नहीं

ति.प./४/२३ आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जडमउडसेहरिल्लाओ। पडिमोवरिम्मि गंगा अभिसित्तुमणा व सा पउदि ।२३०। –वे आदि जिनेन्द्रकी प्रतिमाएँ जटामुकुट रूप शेखरसे सहित हैं। इन प्रति-माओंके ऊपर वह गंगा नदी मानो मनमें अभिषेककी भावनाको रखकर ही गिरती है।

प. पु./३/२८७-२८८ ततो वर्षार्द्धमात्रं स कायोत्सर्गेण निश्चलः। धरा-धरेन्द्रवत्तस्थौ कृतेन्द्रियसमस्थितिः ।२८७। वातोद्धूता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः। धूमाल्य इव सद्ध्यानवह्निसक्तस्य कर्मणः ।२८८। –तदनन्तर इन्द्रियोंकी समान अवस्था धारण करनेवाले भगवान् ऋषभदेव छह मास तक कायोत्सर्गसे सुमेरु पर्वतके समान निश्चल खड़े रहे ।२८७। हवासे उड़ी हुई उनकी अस्त-व्यस्त जटाएँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो समीचीन ध्यानरूपी अग्निसे जलते हुए कर्मके धूमकी पंक्तियाँ ही हों ।२८८। (म.पु./१/६); (म.पु./१८/७५-७६); (पं.वि. १३/१८)।

प. पु./४/५ मेरुकूटसमाकारभासुरांसः समाहितः। स रेजे भगवान् दीर्घजटाजालहृतांशुमान् ।–उनके कन्धे मेरु पर्वतके शिखरके समान ऊँचे तथा देदीप्यमान थे, उनपर बड़ी-बड़ी जटाएँ किरणोंकी भाँति सुशोभित हो रही थीं और भगवान् स्वयं बड़ी सावधानीसे ईर्या-समितिसे नीचे देखते हुए विहार करते थे ।५।

म. पु./३६/१०६ दधानः स्कन्धपर्यन्तलम्बिनीः केशवल्लरीः। सोऽन्व-गादूढकृष्णाहिमण्डलं हरिचन्दनम् ।१०६। –कन्धों पर्यन्त लटकती हुई केशरूपी लताओंको धारण करनेवाले वे बाहुबली मुनिराज अनेक काले सर्पोंके समूहको धारण करनेवाले हरिचन्दन वृक्षका अनुकरण कर रहे थे।

★ भगवान्‌की जटाएँ नहीं होतीं —दे०/चैत्य/१/१२।

५. भगवान् आदिनाथने भी प्रथम बार केशलौंच किया था

म. पु./२०/६६ क्षुरक्रियायां तद्योग्यसाधनार्जनरक्षणे। तदपाये च चिन्ता स्यात् केशोत्पाटमितीच्छते ।६६। –यदि छुरा आदिसे बाल बनवाये जायेंगे तो उसके साधन छुरा आदि लेने पड़ेंगे, उनकी रक्षा करनी पड़ेगी, और उनके खो जानेपर चिन्ता होगी ऐसा विचार कर जो भगवान् हाथसे ही केशलौंच करते थे।

६. रत्नत्रय ही चाहिए केशलौंचसे क्या प्रयोजन

भ. आ./मू./९०-९२ लोचकदे मुंडत्तं मुंडत्ते होइ णिव्वियारत्तं। तो णिव्वियारकरणो पग्गहिददरं परक्कमदि ।९०। अप्पा दमिदो लोएण होइ ण सुहे य संगमुवयादि। साधीणदा य णिद्दोसदा य देहे य णिम्ममदा ।९१। आणक्खिदा य लोचेण अप्पणो होदि धम्मसड्ढा च। उग्गो तवो य लोचो तहेव दुक्खस्स सहणं च ।९२। –शिरोमुंडन होनेपर निर्विकार प्रवृत्ति होती है। उससे वह मुक्तिके उपायभूत रत्नत्रयमें खूब उद्यमशील बनता है, अतः लौंच परम्परा रत्नत्रयका कारण है। केशलौंच करनेसे और दुःख सहन करनेकी भावनासे, मुनि-जन आत्माको स्ववश करते हैं, सुखोंमें वे आसक्ति नहीं रखते हैं। लौंच करनेसे स्वाधीनता तथा निर्दोषता गुण मिलता है तथा देह-ममता नष्ट होती है ।९०-९१। इससे धर्मके-चारित्रके ऊपर बड़ी भारी श्रद्धा व्यक्त होती है। लौंच करनेवाले मुनि उग्रतप अर्थात् काय-क्लेश नामका तप करके होनेवाला दुःख सहते हैं। जो लौंच करते है उनको दुःख सहनेका अभ्यास हो जाता है ।९२।

★ शरीरको पीड़ाका कारण होनेसे इससे पापास्रव होना चाहिए—दे० तप/५।

★ केशलौंच परीषह नहीं है—दे० परीषह/३।

केशव—म. पु./सर्ग/श्लोक पूर्व विदेहमें महावत्स देशकी सुसीमा नगरीके राजा सुविधिका पुत्र था (१०/१४५) पूर्वभवके संस्कारसे पिताको (भगवान् ऋषभका पूर्वभव) विशेष प्रेम था (१०/१४७)। अन्तमें दीक्षा धारणकर अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्र हुआ (१०/१७१)। यह श्रेयांस राजाका पूर्वका पाँचवा भव है। –दे० श्रेयांस।

केशव वर्णी—१. यह ब्रह्मचारी थे। कृति—गोम्मटसारकी संस्कृत टीका (लघु गो.सा./प्र./१ मनोहर लाल)। २. गुरुका नाम अभयचन्द्र सूरि सिद्धान्त चक्रवर्ती। कृति—गोम्मटसारकी कर्णाटक वृत्ति समय—वि. १४१६ ई. १३५९ में वृत्ति पूरी की। (जै./१/४६४)।

केशव सेन—आप एक कवि थे। कृति—कर्णामृतपुराण। समय—वि सं. १६८८ ई. १६३१। (म.पु./प्र. २० पं. पन्नालाल)।

केशाग्र—क्षेत्रका एक प्रमाण विशेष। अपरनाम बालाग्र—दे० गणित/I/१।

केशावाप क्रिया—दे० संस्कार/२।

केसरीद्रह—नील पर्वतस्थ एक ह्रद। इसमेंसे सीता व नरकान्ता नदियाँ निकलती हैं। कीर्तिदेवी इसमें निवास करती है।—दे० लोक/३/९।

कैकेय देश—दे० केकय।

कैटभ—म. पु./सर्ग/श्लोक अयोध्या नगरीमें हेमनाभ राजाका पुत्र तथा मधुका छोटा भाई था (१६०) अन्तमें दीक्षा धारण कर (२०२) घोर तपश्चरण पूर्वक अच्युत स्वर्गमें इन्द्र हुआ (२१६)। यह कृष्णके पुत्र 'शम्ब' का पूर्वका तीसरा भव है—दे० 'शंब'।

कैरल—दे० केरल।

कैलास—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० 'विद्याधर'।

कोंकण—पश्चिमी समुद्र तटपर यह प्रदेश सूरतसे रत्नगिरि तक विस्तृत है। बम्बई व कल्याण भी इसी देशमें है। (म. पु./प्र.४६ प. पन्नालाल)।

कोका—मथुरा नगरीका दूसरा नाम है। (मदन मोहन पंचशती/प्र०)

कोकिल पंचमी व्रत

व्रत विधान संग्रह—गणना—कुल समय ५ वर्षतक; उपवास २५। किशनसिंह क्रियाकोश विधि—पाँच वर्ष तक प्रतिवर्ष आषाढ़ कृ० ५

से कार्तिक कृ० ५ (चतुर्मास) की ५ पंचमीको उपवास करे। जाप— नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य।

कोट — Boundary wall.

कोटिशिला—प. पु./४८/श्लोक यह वह शिला है जिसपरसे करोड़ों मुनि सिद्ध पदको प्राप्त हुए हैं। रावणको वही मार सकता है जो इसको उठावेगा ऐसा मुनियोंका वचन था (१८६)। लक्ष्मणने इसको उठाकर अपनी शक्तिका परिचय दिया था (२१४)।

कोटेश्वर—कृति—जीवन्धर षट्पदी (कन्नड़) समय—ई. १५००। पिताका नाम-तम्मण। बहदुरका सेनापति था। जीवन्धर चम्पू/प्र. १० A.N. up. (ती./४/३११)।

कोत्किल—एक क्रियावादी—दे० क्रियावाद।

कोप्पण—निजाम हैदराबाद स्टेटके रायचूर जिलेमें वर्तमान कोप्पल नामका ग्राम। वर्तमानमें वहाँ एक दुर्ग तथा चहार दीवारी है जो चालुक्य कालीन कलाकी द्योतक समझी जाती है। (ध./२/प्र./१३)

कोश—क्षेत्रका प्रमाण विशेष। अपरनाम गव्यूति —दे० गणित/I/१/३

कोशल—दे० कोसल।

कोष्ठ बुद्धि ऋद्धि—दे० ऋद्धि/२।

कोष्ठा—ष. खं./१३/५.५/४०/२४३ धरणी धारणा ट्ठवणा कोट्ठा पदिट्ठा।४०।=धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा ये एकार्थ नाम हैं।४०। और भी —दे० ऋद्धि/२।

कोसल—१. भरत क्षेत्रस्थ मध्य आर्य खण्डका एक देश अपरनाम कौशल व कौशल्य। दे० मनुष्य/४। २. उत्तरकोसल और दक्षिण-कोसलके भेदसे इसके दो भाग थे। अयोध्या, शरावती (श्रावस्ती) लक्ष्मणपुरी (लखनऊ) आदि इसके प्रसिद्ध नगर हैं। यहाँ गोमती, तमसा और सरयू नदियाँ बहती हैं। कुशावतीका समीपवर्ती प्रदेश दक्षिणकोसल था। और अयोध्या, लखनऊ आदिके समीपवर्ती प्रदेशका नाम उत्तरकोसल था।

कौत्कुच्य—स. सि./७/३२/३६९/१४ तदेवोभयं परत्र दुष्टकायकर्म प्रयुक्तं कौत्कुच्यम्।=परिहार और असभ्यवचन इन दोनों के साथ दूसरेके लिए शारीरिक कुचेष्टाएँ करना कौत्कुच्य है। (रा. वा/७/ ३२/२/५५६)।

कौमार सप्तमी व्रत—व्रत विधान संग्रह/पृ. १२६। भादो सुदी सप्तमीके दिना, खजरी मण्डप पूजे जिना। (नवल साहकृत क्रियाकोष)।

कौरव—पा. पु./सर्ग/श्लोक धृतराष्ट्रके दुर्योधनादि १०० पुत्र कौरव कहलाते थे (८/२१७) भीष्म व द्रोणाचार्यसे शिक्षा प्राप्त कर (८/२०८) राज्य प्राप्त किया। (१०/३४)। अनेकों क्रीड़ाओं-में इनको पाण्डवों द्वारा पराजित होना पड़ा था (१०/४०)। इससे यह पाण्डवोंसे क्रुद्ध हो गये। भरी सभामें एक दिन कहा कि हमें सौको आधा राज्य और इन पाँचको आधा राज्य दिया गया यह हमारे साथ अन्याय हुआ (१२/२५)। एक समय कपटसे लाखका गृह बनाकर दिखावटी प्रेमसे पाण्डवोंको रहनेके लिए प्रदान किया (१२/६०) और अकस्मात् मौका देख उसमें आग लगवा दी। (१२/११५)। परन्तु सौभाग्यसे पाण्डव वहाँसे गुप्त रूपमें प्रवासमें रहने लगे (१२/२३५)। और ये भी दिखावटी शोक करके शान्ति पूर्वक रहने लगे (१२/१२६)। द्रौपदीके स्वयंवरमें पाण्डवोंसे मिलाप होनेपर (१५/१४३) आधा राज्य बाँटकर रहने लगे (१६/२) दुर्योधनने ईर्ष्यापूर्वक (१६/१४) युधिष्ठिरको जुएमें हराकर १२ वर्षका देश निकाला दिया (१६/१०५)। सहायवनमें पाण्डवोंके आनेपर अर्जुनके शिष्योंने दुर्योधनको बाँध लिया (१७/१०२-) परन्तु अर्जुनने दयासे उसे छोड़ दिया (१७/१४०)। इससे दुर्योधनका क्रोध अधिक प्रज्वलित हुआ। तब आधे राज्यके लालचसे कनकध्वज नामक व्यक्तिने दुर्योधनकी आज्ञासे पाण्डवोंको मारनेकी प्रतिज्ञा की, परन्तु एक देवने उसका प्रयत्न निष्फल कर दिया (१७/१४५-)। तत्पश्चात् विराट् नगरमें इन्होंने गोकुल लूटा उसमें भी पाण्डवों द्वारा हराये गये (१९/१५२)। इस प्रकार अनेकों बार पाण्डवों द्वारा इनको अपमानित होना पड़ा। अन्तमें कृष्ण व जरासन्धके युद्धमें सब पाण्डवोंके द्वारा मारे गये (२०/२६६)।

कौशल्य—दे० कोसल।

कौशांबी—वर्तमान देश प्रयागके उत्तर भागकी राजधानी। वर्तमान नाम कोसम है। (म. पु./प्र.४९ पं. पन्नालाल)।

कौशिक—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० 'विद्याधर'।

कौशिकी—पूर्व आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

कौस्तुभ—लवण समुद्रमें स्थित पर्वत—दे० लोक/५/९।

कौस्तुभाभास —लवण समुद्रमें स्थित पर्वत—दे० लोक/५/९।

क्रतु—म. पु./६७/१९३ यागो यज्ञः क्रतुः पूजा सपर्येज्याध्वरो मखः। मह इत्यपि पर्यायवचनान्यर्चनाविधेः।१९३। =याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख, और मह ये सब पूजाविधिके पर्याय वाचक शब्द हैं।१९३।

क्रम—वस्तुमें दो प्रकारके धर्म हैं क्रमवर्ती व अक्रमवर्ती। आगे-पीछे होनेके कारण पर्याय क्रमवर्ती धर्म है और युगपत् पाये जानेके कारण गुण अक्रमवर्ती या सहवर्ती धर्म है। क्रमवर्तीको ऊर्ध्व प्रचय और अक्रमवर्तीको तिर्यक् प्रचय भी कहते हैं।

१. क्रम सामान्यका लक्षण

रा.वा./६/१३/१/५२३/२६ कालभेदेन वृत्तिः क्रमः। =काल भेदसे वृत्ति होना क्रम कहलाता है।

स्या.म./५/३३/१९ क्रमो हि पौर्वापर्यम्। =पूर्वक्रम और अपरक्रम…।

स. भ. त./३३/१ यदा तावदस्तित्वादिधर्माणां कालादिभिर्भेदविवक्षा, तदास्त्यादिरूपैकशब्दस्य नास्तित्वाद्यनेकधर्मबोधने शक्त्यभावा-त्क्रमः। =जब अस्तित्व और नास्तित्व आदि धर्मोंकी देश काल आदिके भेदसे कथनकी इच्छा है तब अस्तित्व आदि रूप एक ही शब्दको नास्तित्व आदि रूप अनेक धर्मोंके बोधन करनेमें शक्ति न होनेसे नित्य पूर्वापर भाव वा अनुक्रमसे जो निरूपण है, उसको क्रम कहते हैं।

पं.ध./पू./१६७ अस्त्यत्र यः प्रसिद्धः क्रम इति धातुश्च पाद-विक्षेपे। क्रमति क्रम इति रूपस्तस्य स्वार्थानतिक्रमादेषः। =यहाँ पर पैरोंसे गमन करने रूप अर्थमें प्रसिद्ध जो क्रम यह एक धातु है उस धातुका ही पादविक्षेप रूप अपने अर्थको उल्लंघन करनेसे "जो क्रमण करे सो क्रम" यह रूप सिद्ध होता है।

२. क्रमके भेदोंका निर्देश

स.म./५/३३/२० देशक्रमः कालक्रमश्चाभिधीयते न चैकान्तविनाशिनि सास्ति। =सर्वथा अनित्य पदार्थमें देशक्रम और कालक्रम नहीं हो सकता।

पं.ध./पू./१७४ विष्कम्भ क्रम इति वा क्रमः प्रवाहस्य कारणं तस्य। =प्रतिसमय होनेवाले द्रव्यके उस उत्पाद व्ययरूप प्रवाहक्रममें जो कारण स्वकालरूप अंशकल्पना है अथवा जो विष्कम्भरूप क्रम है।…।१७४।

३. पर्याय व गुणके अर्थमें क्रम अक्रम शब्दका प्रयोग

स. सा./आ./२ क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वादुत्संगितगुणपर्यायाः। —वह क्रमरूप (पर्याय) अक्रमरूप (गुण) प्रवर्तमान अनेकों भाव जिसका स्वभाव होनेसे जिसने गुण और पर्यायोंको अंगीकार किया हो -ऐसा है।

४. क्रमवर्तित्वका लक्षण

पं.ध./पू./१६१,१७५ अयमर्थः प्रागेकं जातं उच्छिद्य जायते चैक.। अथ नष्टे सति तस्मिन्नन्योऽप्युत्पद्यते यथादेशम् ।१६१। क्रमवर्तित्वं नाम व्यतिरेकपुरस्सरं विशिष्टं च। स भवति भवति न सोऽयं भवति तथाथ च तथा न भवतीति ।१७५। —क्रमशब्दके निरूक्त्यंशका सारांश यह है कि द्रव्यत्वको नहीं छोड़ करके पहले होनेवाली एक पर्यायको नाश करके और एक अर्थात् दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है, तथा उसके नाश होनेपर और अन्य पर्याय उत्पन्न होती है। इस क्रममें कभी भी अन्तर नहीं पड़ता है, इस अपेक्षा पर्यायोंको क्रमवर्ती कहते हैं ।१६१। यह वह है किन्तु वह नहीं है अथवा यह वैसा है किन्तु वैसा नहीं है इस प्रकारके क्रममें व्यतिरेक पुरस्सर विशिष्ट ही क्रमवर्तित्व है ।१७५।

५. देश व कालक्रमके लक्षण

स्या. म./५/३३/२० नानादेशकालव्याप्तिदेशक्रमः कालक्रमश्च। —अनेक देशोंमें रहनेवाला देशक्रम और अनेक कालोंमें रहनेवाला कालक्रम।

६. ऊर्ध्व व तिर्यग् प्रचयका लक्षण

मु. अ./माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई पृ० ६० तत्र ऊर्ध्वतासामान्यं क्रमभाविषु पर्यायेष्वेकत्वान्वयप्रत्ययग्राह्यं द्रव्यम्। तिर्यक्सामान्यं नानाद्रव्येषु पर्यायेषु च सादृश्यप्रत्ययग्राह्यं सदृशपरिणामरूपम्। —क्रमभावी पर्यायोंमें एकत्वरूप अन्वयके प्रत्यय (ज्ञान) द्वारा ग्राह्य जो द्रव्य सामान्य है वही ऊर्ध्वता सामान्य है। और अनेक द्रव्योंमें अथवा अनेक पर्यायोंमें जो सादृश्यताका बोध करानेवाला सदृश परिणाम होता है वह तिर्यक् सामान्य है।

प्र.सा./त.प्र./१४१ प्रदेशप्रचयो हि तिर्यक्प्रचयः समयविशिष्टवृत्तिप्रचयस्तूर्ध्वप्रचयः। तत्राकाशस्यावस्थितानन्तप्रदेशत्वाद्धर्माधर्मयोरवस्थितासंख्येयप्रदेशत्वाज्जीवस्यानवस्थितासंख्येयप्रदेशत्वात् पुद्गलस्य द्रव्येणानेकप्रदेशत्वशक्तियुक्तैकप्रदेशत्वात्पर्यायेण द्विबहुप्रदेशत्वाच्चास्ति तिर्यक्प्रचयः। न पुनः कालस्य शक्त्या व्यक्त्या चैकप्रदेशत्वात्। ऊर्ध्वप्रचयस्तु त्रिकोटिस्पर्शित्वेन सांशत्वाद्द्रव्यवृत्तेः सर्वद्रव्याणामनिवारित एव। अयं तु विशेषसमयविशिष्टवृत्तिप्रचयः शेषद्रव्याणामूर्ध्वप्रचयः समयप्रचयः एव कालस्योर्ध्वप्रचयः। शेषद्रव्याणां वृत्तेर्हि समयादर्थान्तरभूतत्वादस्ति समयविशिष्टत्वम्। कालवृत्तेस्तु स्वतः समयभूतत्वात्तन्नास्ति। —प्रदेशोंका समूह तिर्यक् प्रचय और समय विशिष्ट वृत्तियोंका समूह ऊर्ध्वप्रचय है। वहाँ आकाश अवस्थित (स्थिर) अनन्तप्रदेश वाला है। धर्म तथा अधर्म अवस्थित असंख्य प्रदेश वाले हैं। जीव अनवस्थित असंख्य प्रदेशी है और पुद्गल द्रव्यतः अनेक प्रदेशित्वकी शक्तिसे युक्त एक प्रदेशवाला है, तथा पर्यायतः दो अथवा बहुत प्रदेशवाला है, इसलिए उनके तिर्यक्प्रचय है; परन्तु कालके (तिर्यक्प्रचय) नहीं है, क्योंकि वह शक्ति तथा व्यक्तिकी अपेक्षासे एक प्रदेशवाला है। ऊर्ध्वप्रचय तो सब द्रव्योंके अनिवार्य ही है, क्योंकि द्रव्यकी वृत्ति तीन कोटियों (भूत, वर्तमान, भविष्यत् ऐसे तीन कालों) को स्पर्श करती है, इसलिए अंशोंसे युक्त है। परन्तु इतना अन्तर है कि समय विशिष्ट वृत्तियोंका प्रचय (कालको छोड़कर) शेष द्रव्योंका ऊर्ध्वप्रचय है, और समयोंका प्रचयकाल द्रव्यका ऊर्ध्वप्रचय है; क्योंकि शेष द्रव्योंकी वृत्ति समयसे अर्थान्तरभूत (अन्य) है, इसलिए वह (वृत्ति) समय विशिष्ट है, और कालकी तो स्वतः समयभूत है, इसलिए वह समयविशिष्ट नहीं है।

प.मु./४/४-५ सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ।४। परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ।५। —समान परिणामको तिर्यक् सामान्य कहते हैं, जैसे—गोत्व सामान्य क्योंकि खाडी मुंडी आदि गौओंमें गोत्व सामान्य समानरीतिसे रहता है। स. भ. त./७७/१० में उद्धृत तथा पूर्व और उत्तर पर्यायोंमें रहनेवाले द्रव्यको ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं जैसे—मिट्टी। क्योंकि स्थास, कोश, कुसूल आदि जितनी पर्यायें हैं उन सबमें मिट्टी अनुगत रूपसे रहती है।

प्र.सा./ता.वृ./९३/१२०/१३ एककाले नानाव्यक्तिगतोऽन्वयस्तिर्यग्सामान्यं भण्यते। तत्र दृष्टान्तो यथा—नानासिद्धजीवेषु सिद्धोऽयं सिद्धोऽयमित्यनुगताकारः सिद्धजातिप्रत्ययः। नानाकालेष्वेकव्यक्तिगतोऽन्वय ऊर्ध्वतासामान्यं भण्यते। तत्र दृष्टान्तो यथा—य एव केवलज्ञानोत्पत्तिक्षणे मुक्तात्मा द्वितीयादिक्षणेष्वपि स एवेति प्रतीति। —एक कालमें नाना व्यक्तिगत अन्वयको तिर्यक् सामान्य कहते हैं जैसे—नाना सिद्ध जीवोंमें 'यह भी सिद्ध हैं, यह भी सिद्ध हैं' ऐसा अनुगताकार सिद्ध जाति सामान्यका ज्ञान। नाना कालोमें एक व्यक्तिगत अन्वयको ऊर्ध्वसामान्य कहते हैं। जैसे—केवलज्ञानके उत्पत्तिक्षणमें जो मुक्तात्मा हैं वही द्वितीयादि क्षणोंमें भी हैं ऐसी प्रतीति।

प्र.सा./ता.वृ./१३१/२००/६ तिर्यक्प्रचयाः तिर्यक्सामान्यमिति विस्तारसामान्यमिति क्रमानेकान्त इति च भण्यते। ·· ऊर्ध्वप्रचय इत्यूर्ध्वसामान्यमित्यायतसामान्यमिति क्रमानेकान्त इति च भण्यते। —तिर्यक् प्रचयको तिर्यक्सामान्य, विस्तारसामान्य और अक्रमानेकान्त भी कहते हैं।···ऊर्ध्वप्रचयको ऊर्ध्वसामान्य, आयतसामान्य वा क्रमानेकान्त भी कहते हैं।

प्रमेयकमलमार्तण्ड/पृ.२७६ महेन्द्रकुमार काशी—प्रत्येकं परिसमाप्त्या व्यक्तिषु वृत्ति अगोचरत्वात् अनेक सदृशपरिणामात्मकमेवेति तिर्यक् सामान्यमुक्तम्। —अनेक व्यक्तियोंमें, प्रत्येकमें समाप्त होनेवाली वृत्तिको देखनेसे जो सदृश परिणामात्मकपना प्राप्त होता है, वह तिर्यक्सामान्य है।

७. क्रमवर्ती व अक्रमवर्तीका समन्वय

पं.ध./पू./४१७ न विरुद्धं क्रमवर्ति च सदिति तथानादितोऽपि परिणामि। अक्रमवर्ति सदित्यपि न विरुद्धं सदैकरूपत्वात् ।४१७। —सत् क्रमवर्ती है यह भी विरुद्ध नहीं है क्योंकि वह अनादिकालसे क्रमसे परिणमनशील है और सत् अक्रमवर्ती है यह भी विरुद्ध नहीं है क्योंकि परिणमन करता हुआ भी सत् एकरूप है— सदृश है।

८. अन्य सम्बन्धित विषय

१. सहभाव व अविनाभाव —दे० अविनाभाव।
२. उपक्रम, देयक्रम, अनुलोमक्रम, प्रतिलोमक्रम —दे० वह वह नाम।
३. वस्तुमें दो प्रकारके धर्म होते हैं—सहभावी व क्रमभावी —दे० गुण/३/२।
४. पर्याय वस्तुके क्रमभावी धर्म हैं —दे० पर्याय/२।
५. गुण वस्तुके सहभावी या अक्रमभावी धर्म हैं —दे० गुण/३।
६. सत् वही जो मालाके दानों वत् क्रमवर्ती परिणमन करता रहे —दे० परिणाम/१ क।

क्रमकरण—क्ष.सा/४२२-४२७का सारार्थ—चारित्रमोहक्षपणा विधानके अन्तर्गत अनिवृत्तिकरणके कालमें जो स्थितिबन्धापसरण व स्थिति-सत्त्वापसरण किया जाता है, उसमें एक विशेष प्रकारका क्रम पड़ता है। मोहनीय तीसिय, बीसिय, वेदनीयनाम, गोत्र, इन प्रकृतियोंके स्थितिबन्ध व स्थिति सत्त्वमें परस्पर विशेष क्रम लिये अल्पबहुत्व रहता है। प्रत्येक संख्यात हजार स्थिति बन्धोंके बीत जानेपर उस अल्पबहुत्वका क्रम भी बदल जाता है। इस प्रकार स्थिति बन्ध व सत्त्व घटते-घटते अन्तमें।४२२-४२५। नाम व गोत्रसे वेदनीयका डयोढ़ा स्थितिबन्धरूप क्रम लिये अल्पबहुत्व होना, सोई <u>क्रमकरण</u> कहिए।४२६। इसी प्रकार नाम व गोत्रसे वेदनीयका स्थिति सत्त्व साधिक भया तब मोहादिक कै क्रम लिये स्थिति सत्त्वका क्रमकरण भया।४२७। दे० अपकर्षण/३/२।

क्रमण—मानुषोत्तर पर्वतस्थ कनककूटका स्वामी भवनवासी सुपर्ण-कुमार देव—दे० भवन/४, लोक/५/१०।

क्रमबद्ध—दे० नियति।

क्रमभाव—दे० अविनाभाव।

क्रियावान् द्रव्य—दे० द्रव्य/३।

क्रिया—गमन कम्पन आदि अर्थोंमें क्रिया शब्दका प्रयोग होता है। जीव व पुद्गल ये दो ही द्रव्य क्रिया शक्ति सम्पन्न माने गये हैं। संसारी जीवोंमें, और अशुद्ध पुद्गलोंकी क्रिया वैभाविक होती है। और मुक्तजीवों व पुद्गल परमाणुओंकी स्वाभाविक। धार्मिक क्षेत्रमें श्रावक व साधुजन जो कायिक अनुष्ठान करते हैं वे भी हलन-चलन होनेके कारण क्रिया कहलाते हैं। <u>श्रावककी अनेकों धार्मिक</u> क्रियाएँ आगममें प्रसिद्ध हैं।

१. क्रिया सामान्य निर्देश

१. गणितविषयक क्रिया

ध./५/प्र २७ Operation

२. क्रिया सामान्यके भेद व लक्षण

रा. वा./५/१२/७/४५५/४ क्रिया द्विविधा-कर्तृसमवायिनी कर्मसमवायिनी चेति। तत्र कर्तृसमवायिनी आस्ते गच्छतीति। कर्मसमवायिनी ओदनं पचति, कुशूलं भिनत्तीति। —क्रिया दो प्रकारकी होती है—कर्तृसमवायिनी क्रिया और कर्मसमवायिनी। आस्ते गच्छति आदि क्रियाओंको कर्तृसमवायिनी क्रिया कहते हैं। और ओदनको पकाता है, घड़ेको फोड़ता है आदि क्रियाओंको कर्मसमवायिनी क्रिया कहते हैं।

२. गतिरूप क्रिया निर्देश

१. क्रिया सामान्यका लक्षण

स. सि./५/७/२७२/१० उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानः पर्यायो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया। —अन्तरंग और बहिरंग निमित्तसे उत्पन्न होनेवाली जो पर्याय द्रव्यके एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें प्राप्त करानेका कारण है वह क्रिया कहलाती है।

रा. वा./५/२२/१६/४८१/११ द्रव्यस्य द्वितीयनिमित्तवशात् उत्पद्यमाना परिस्पन्दात्मिका क्रियेत्यवसीयते। —बाह्य और आभ्यन्तर निमित्तसे द्रव्यमें होनेवाला परिस्पन्दात्मक परिणमन क्रिया है। (रा. वा./५/७/१/४४६/१) (त.सा./३/४७)।

ध. १/१.१.१/१८/३ किरियाणाम परिप्फंदणरूवा—परिस्पन्द अर्थात् हलन चलन रूप अवस्थाको क्रिया कहते हैं। (प्र. सा./त.प्र./१२६)।

पं. ध./पू./१३४ तत्र क्रियाप्रदेशो देशपरिस्पन्दलक्षणो वा स्यात्। —प्रदेश परिस्पन्द है लक्षण जिसका ऐसे परिणमन विशेषको क्रिया कहते हैं। (पं.ध./३/३४)।

पं. का./त.प्र./९८ प्रदेशान्तरप्राप्तिहेतुः परिस्पन्दरूपपर्यायः क्रिया। —प्रदेशान्तर प्राप्तिका हेतु ऐसा जो परिस्पन्दरूप पर्याय वह क्रिया है।

पं. का./ता. वृ./२७/५७/८ क्षेत्रात् क्षेत्रान्तरगमनरूपपरिस्पन्दवती चलनवती क्रिया। —एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें गमनरूप हिलनेवाली अथवा चलनेवाली जो क्रिया है। (द्र.सं./टी./२ अध्यायकी चूलिका/पृ.७७)।

★ **परिणतिके अर्थमें क्रिया** —दे० कर्म।

२. गतिरूप क्रियाके भेद

स. सि./५/२२/२९२/८ सा द्विविधा—प्रायोगिकवैस्रसिकभेदात्। —वह परिस्पन्दात्मक क्रिया दो प्रकारकी है—प्रायोगिक और वैस्रसिक। (रा. वा./५/७/१७/४४८/१७) (रा. वा./५/२२/१९/४८१/१२)।

रा. वा./५/२४/२१/४९० सा दशप्रकारप्रयोगबन्धाभावच्छेदाभिघातावगाहनगुरुलघुसंचारसंयोगस्वभावनिमित्तभेदात्। —अथवा वह क्रिया, प्रयोग; २ बन्धाभाव; ३ छेद; ४ अभिघात; ५ अवगाहन; ६ गुरु; ७ लघु; ८ संचार; ९ संयोग; १० स्वभाव निमित्त के भेद से दस प्रकारकी है।
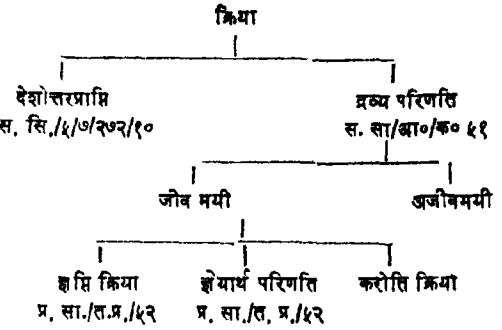
३. स्वभाव व विभाव गति क्रियाके लक्षण

नि. सा./ता. वृ./१८४ जीवानां स्वभावक्रिया सिद्धिगमनं विभावक्रिया षट्कायक्रमयुक्तत्वं, पुद्गलानां स्वभावक्रिया परमाणुगतिः विभावक्रिया द्व्यणुकादिस्कन्धगतिः। —जीवोंकी स्वभाव क्रिया सिद्धिगमन है और विभावक्रिया (अन्य भवमें जाते समय) छह दिशामें गमन है; पुद्गलोंकी स्वभावक्रिया परमाणुकी गति है और विभावक्रिया द्वि-अणुकादि स्कन्धोंकी गति है।

४. प्रायोगिक व वैस्रसिक क्रियाओंके लक्षण

स. सि./५/२२/२९२/८ तत्र प्रायोगिकी शकटादीनाम्, वैस्रसिकी मेघादीनाम्। —गाड़ी आदिकी <u>प्रायोगिकी</u> क्रिया है। और मेघ आदिककी <u>वैस्रसिकी</u>। (रा. वा./५/२२/१९/४८१/११)।

५. क्रिया व क्रियावती शक्तिका लक्षण

प्र. सा /मू०/१२९ उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स। परिणामादो जायंते संघादादो व भेदादो।१२९। —पुद्गल जीवात्मक लोकके परिणमनसे और संघात (मिलने) और भेद (पृथक् होने) से उत्पाद ध्रौव्य और व्यय होते हैं।

स. सि./५/७/२७३/१२ अधिकृतानां धर्माधर्माकाशानां निष्क्रियत्वेऽभ्युपगते जीवपुद्गलानां सक्रियत्वमर्थापन्नम्। —अधिकार प्राप्त धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यको निष्क्रिय मान लेनेपर जीव और पुद्गल सक्रिय हैं, यह प्रकरणसे अपने आप प्राप्त हो जाता है।

रा. वा./१/८/२/४१ क्रिया च परिस्पन्दात्मिका जीवपुद्गलेषु अस्ति न इतरेषु ।–परिस्पन्दात्मक क्रिया जीव और पुद्गलमें ही होती है अन्य द्रव्योंमें नहीं।

स. सा./आ०/परि० नं.४० कारकानुगतभवत्तारूपभावमयी क्रियाशक्ति । –कारकके अनुसार होनेरूप भावमयी चालीसवीं क्रियाशक्ति है।

नोट—क्रियाशक्तिके लिए और भी दे० क्रिया/२/१।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. गमनरूप क्रिया का विषय विस्तार—दे० गति,
२. क्रिया व पर्यायमें अन्तर— दे० पर्याय/२।
३. षट् द्रव्योंमें क्रियावान् अक्रियावान् विभाग—दे० द्रव्य/३।
४. ज्ञाननय व क्रियानयका समन्वय—दे० चेतना/३/८।
५. ज्ञप्ति व करोति क्रिया सम्बन्धी विषय विस्तार—दे० चेतना/३।
६. शुद्ध जीववत् शुद्ध परमाणु निष्क्रिय नहीं— दे० परमाणु/२।

३. श्रावककी क्रियाओंका निर्देश

१. श्रावककी २५ क्रियाओंका नाम निर्देश

दे० अगला शीर्षक पच्चीस क्रियाओंको कहते हैं—१ सम्यक्त्व क्रिया; २ मिथ्यात्व क्रिया; ३ प्रयोगक्रिया; ४ समादानक्रिया; ५ ईर्यापथक्रिया, ६ प्रादोषिकीक्रिया, ७ कायिकीक्रिया; ८ अधिकारिणिकी क्रिया; ९ पारितापिकीक्रिया; १० प्राणातिपातिकी क्रिया; ११ दर्शनक्रिया; १२ स्पर्शनक्रिया; १३ प्रात्ययकीक्रिया; १४ समन्तानुपातक्रिया; १५ अनाभोगक्रिया; १६ स्वहस्तक्रिया; १७ निसर्ग क्रिया; १८ विदारणक्रिया; १९ आज्ञाव्यापादिकी क्रिया; २० अनाकांक्षक्रिया; २१ प्रारम्भक्रिया;. २२ परिग्रहिकीक्रिया; २३ माया क्रिया; २४ मिथ्यादर्शनक्रिया; २५ अप्रत्याख्यानक्रिया, (रा. वा./६/५/७-११/५०९-५१०)।

२. श्रावककी २५ क्रियाओंके लक्षण

स.सि./६/५/३२१-३२३/११ पञ्चविंशतिः क्रिया उच्यन्ते-चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धनीक्रिया सम्यक्त्वक्रिया । अन्यदेवतास्तवनादिरूपामिथ्यात्वहेतुकी प्रवृत्तिर्मिथ्यात्वक्रिया। गमनागमनादिप्रवर्तनं कायादिभिः प्रयोगक्रिया [वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमे सति अङ्गोपाङ्गोपष्टम्भादात्मनः कायवाङ्मनोयोगनिर्वृत्तिसमर्थपुद्गलग्रहणं वा (रा.वा./६/५) संयतस्य सतः अविरतिं प्रत्याभिमुख्यं समादानक्रिया। ईर्यापथनिमित्तेर्यापथक्रिया । ता एता पञ्चक्रियाः । क्रोधावेशात्प्रादोषिकीक्रिया। प्रदुष्टस्य सतोऽभ्युद्यमः कायिकीक्रिया। हिंसोपकरणादानादाधिकरणिकीक्रिया। दुःखोत्पत्तितन्त्रत्वात्पारितापिकीक्रिया । आयुरिन्द्रियबलोच्छ्वासनिःश्वासप्राणानां वियोगकरणात्प्राणातिपातिकी क्रिया । ता एताः पञ्चक्रियाः। रागार्द्रीकृतत्वात्प्रमादिनोरमणीयरूपालोकनाभिप्रायो दर्शनक्रिया। प्रमादवशात्स्पृष्टव्यसनं चेतनानुबन्धः स्पर्शनक्रिया। अपूर्वाधिकरणोत्पादनात्प्रात्ययिकी क्रिया। स्त्रीपुरुषपशुसम्पातिदेशेऽन्तर्मलोत्सर्गकरणं समन्तानुपातक्रिया । अप्रमृष्टादृष्टभूमौ कायादिनिक्षेपोऽनाभोगक्रिया। ता एताः पञ्चक्रियाः। या परेण निर्वर्त्यां क्रियां स्वयं करोति सा स्वहस्तक्रिया। पापादानादिप्रवृत्तिविशेषाभ्यनुज्ञानं निसर्गक्रिया। पराचरितसावद्यादिप्रकाशनं विदारणक्रिया, यथोक्तामाज्ञावश्यकादिषु चारित्रमोहोदयात्कर्तुमशक्नुवतोऽन्यथा प्ररूपणादाज्ञाव्यापादिकी क्रिया। शाठ्यालस्याभ्यां प्रवचनोपदिष्टविधिकर्तव्यतानादरोऽनाकाङ्क्षक्रिया। ता एताः पञ्च क्रियाः। छेदनभेदनविशसनादिक्रियापरत्वमन्येन वारम्भे क्रियमाणे प्रहर्षः प्रारम्भक्रिया। परिग्रहाविनाशार्था पारिग्राहिकी क्रिया। ज्ञानदर्शनादिषु निकृतिर्वञ्चनमायाक्रिया। अन्यं मिथ्यादर्शनक्रियाकरणकारणाविष्टं प्रशंसादिभिर्दृढयति यथा साधु करोषीति सा मिथ्यादर्शनक्रिया। संयमघातिकर्मोदयवशादनिवृत्तिरप्रत्याख्यानक्रिया । ता एताः पञ्चक्रियाः। समुदिताः पञ्चविंशतिक्रियाः।–चैत्य, गुरु और शास्त्रकी पूजा आदि रूप सम्यक्त्वको बढ़ानेवाली सम्यक्त्वक्रिया है। मिथ्यात्वके उदयसे जो अन्य देवताके स्तवन आदि रूप क्रिया होती है वह मिथ्यात्वक्रिया है। शरीर आदि द्वारा गमनागमन आदि रूप प्रवृत्ति प्रयोग क्रिया है। [अथवा वीर्यान्तराय ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर अंगोपांग नामकर्मके उदयसे काय, वचन और मनोयोगकी रचनामें समर्थ पुद्गलोंका ग्रहण करना प्रयोगक्रिया है। (रा.वा./६/५/७/५०९/१८)] संयतका अविरतिके सन्मुख होना समादान क्रिया है। ईर्यापथकी कारणभूत क्रिया ईर्यापथ क्रिया है। ये पाँच क्रिया हैं।

क्रोधके आवेशसे प्रादोषिकी क्रिया होती है। दुष्टभाव युक्त होकर उद्यम करना कायिकीक्रिया है। हिंसाके साधनोंको ग्रहण करना आधिकरणिकी क्रिया है। जो दुःखकी उत्पत्तिका कारण है वह पारितापिकी क्रिया है। आयु, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वास रूप प्राणोंका वियोग करनेवाली प्राणातिपातिकी क्रिया है। ये पाँच क्रिया हैं। रागवश प्रमादीका रमणीय रूपके देखनेका अभिप्राय दर्शनक्रिया है। प्रमादवश स्पर्श करने लायक सचेतन पदार्थका अनुबन्ध स्पर्शन क्रिया है। नये अधिकरणोंको उत्पन्न करना प्रात्ययिकी क्रिया है। स्त्री, पुरुष और पशुओंके जाने, आने, उठने और बैठनेके स्थानमें भीतरी मलका त्याग करना समन्तानुपात क्रिया है। प्रमार्जन और अवलोकन नहीं की गयी भूमिपर शरीर आदिका रखना अनाभोगक्रिया है। ये पाँच क्रिया हैं। जो क्रिया दूसरों द्वारा करनेकी हो उसे स्वयं कर लेना स्वहस्त क्रिया है। पापादान आदिरूप प्रवृत्ति विशेषके लिए सम्मति देना निसर्ग क्रिया है। दूसरेने जो सावद्यकार्य किया हो उसे प्रकाशित करना विदारणक्रिया है। चारित्रमोहनीयके उदयसे आवश्यक आदिके विषयमें शास्त्रोक्त आज्ञाको न पाल सकनेके कारण अन्यथा निरूपण करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है। धूर्तता और आलस्यके कारण शास्त्रमें उपदेशी गयी विधि करनेका अनादर अनाकांक्षक्रिया है। ये पाँच क्रिया हैं। छेदना-भेदना और रचना आदि क्रियाओंमें स्वयं तत्पर रहना और दूसरेके करनेपर हर्षित होना प्रारम्भक्रिया है। परिग्रहका नाश न हो इसलिए जो क्रिया की जाती है वह पारिग्राहिकी क्रिया है। ज्ञान, दर्शन आदिके विषयमें छल करना मायाक्रिया है। मिथ्यादर्शनके साधनोंसे युक्त पुरुषकी प्रशंसा आदिके द्वारा दृढ़ करना कि 'तू ठीक करता है' मिथ्यादर्शनक्रिया है। संयमका घात करनेवाले कर्मके उदयसे त्यागरूप परिणामोंका न होना अप्रत्याख्यानक्रिया है। ये पाँच क्रिया हैं। ये सब मिलकर पच्चीस क्रियाएँ होती हैं। (रा. वा./६/५/७/१६)।

३. श्रावककी अन्य क्रियाओंका लक्षण

स सि./७/२६/३६६/१ अन्येनानुक्तमननुष्ठितं यत्किंचित्परप्रयोगवशादेवं तेनोक्तमनुष्ठितमिति वञ्चनानिमित्तं लेखनं कूटलेखक्रिया।–दूसरेने तो कुछ कहा और न कुछ किया तो भी अन्य किसीकी प्रेरणासे उसने ऐसा कहा है और ऐसा किया है इस प्रकार छलसे लिखना कूटलेखक्रिया है।

नि. सा./ता. वृ./१५२···निश्चयप्रतिक्रमणादिसत्क्रियां कुर्वन्नास्ते। –महामुमुक्षु···निश्चयप्रतिक्रमणादि सत्क्रियाको करता हुआ स्थित है। (नि. सा./ता.वृ./१५५)।

यो. सा.अ./८/२० आराधनाय लोकानां मलिनेनान्तरात्मना। क्रियते या क्रिया बालैर्लोकपङ्क्तिरसौ मता।२०।–अन्तरात्माके मलिन होनेसे

मूर्ख लोग जो लोकके रंजायमान करनेके लिए क्रिया करते हैं उसे बाल अथवा लोक पंक्तिक्रिया कहते हैं।

४. २५ क्रियाओं, कषाय व अव्रतरूप आस्रवोंमें अन्तर

रा. वा./६/५/१५/५१०/३२ कार्यकारणक्रियाकलापविशेषज्ञापनार्थ वा ।१५। निमित्तनैमित्तिकविशेषज्ञापनार्थं तर्हि पृथगिन्द्रियादिग्रहणं क्रियते; सत्यम्; स्पृशत्यादयः क्रुध्यादयः हिनस्त्यादयश्च क्रिया आस्रवः इमाः पुनस्तत्प्रभवाः पञ्चविंशतिक्रियाः सत्स्वेतेषु त्रिषु प्राच्येषु परिणामेषु भवन्ति यथा मूर्च्छा कारणं परिग्रहं कार्यं तस्मिन्सति पारिग्राहिकी-क्रिया न्यासरक्षणाविनाशसंस्कारादिलक्षणा। —निमित्त नैमित्तिक भाव ज्ञापन करनेके लिए इन्द्रिय आदिका पृथक् ग्रहण किया है। छूना आदि और हिंसा करना आदि क्रियाएँ आस्रव हैं। ये पच्चीस क्रियाएँ इन्हींसे उत्पन्न होती हैं। इनमें तीन परिणमन होते हैं। जैसे—मूर्च्छा-ममत्व परिणाम कारण हैं, परिग्रह कार्य है। इनके होने पर पारिग्राहिकी क्रिया होती है जो कि परिग्रहके संरक्षण अविनाश और संस्कारादि रूप है इत्यादि…।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

* कर्म के अर्थ में क्रिया—दे० योग।
१. श्रावककी ५३ क्रियाएँ—दे० श्रावक/४।
२. साधुकी १० या १३ क्रियाएँ—दे० साधु/२।
३. धार्मिक क्रियाएँ—दे० धर्म/१।

क्रिया ऋद्धि—क्रिया ऋद्धिके चारण व आकाशगामित्व आदि बहुत भेद हैं—दे० ऋद्धि/४।

क्रियाकलाप—१. दे० कृतिकर्म। २. अमरकोषपर पं. आशाधरजी (ई. ११७३-१२४३) कृत टीका है (दे० आशाधर)।

क्रियाकलाप ग्रन्थ—साधुओंके नित्य व नैमित्तिक प्रतिक्रमणादि क्रियाकर्म सम्बन्धी विषयोंका प्रतिपादक एक संग्रह ग्रन्थ है। यह पं. पन्नालालजी सोनीने किया है। इस ग्रन्थके प्रथम अध्यायका संग्रह तो पण्डितजी का अपना किया हुआ है और शेष संग्रह काफी प्राचीन है। सम्भवतः इसके संग्रहकर्ता पं. प्रभाचन्द्र हैं (ई. श. १४-१५)। उनके अनुसार इस ग्रन्थमें संगृहीत सर्वत्र प्राकृत भक्ति पाठ तो आ० कुन्दकुन्दके हैं और संस्कृत भक्ति पाठ आ० पूज्यपादके हैं। शेष भक्तियाँ भी वि. १४ वीं शताब्दीके पूर्व कभी लिखी गयी हैं। (स. सि./प्र. ८८/पं. फूलचन्द्र)।

क्रियाकांड—दे० कृतिकर्म।

क्रियाकोश—१. पं० किशन सिंह (ई. १७२७ कृत २९०० हिन्दी छन्दबद्ध तथा २. पं० दौलतराम (ई० १७३८) कृत हिन्दी छन्दबद्ध श्रावक-क्रिया प्रतिपादक ग्रन्थ। (ती./४/२८०, २८२)।

क्रिया नय—दे० नय/I/५।

क्रिया मंत्र—दे० मंत्र/१/६,७।

क्रियावाद—१. क्रियावादका मिथ्या रूप

रा. वा./भूमिका/६/१/२२ अपर आहुः—क्रियात एव मोक्ष इति नित्य-कर्महेतुकं निर्वाणमिति वचनात्। —कोई क्रियासे ही मोक्ष मानते हैं। क्रियावादियोंका कथन है कि नित्य कर्म करनेसे ही निर्वाणकी प्राप्ति होता है।

भा.पा./टी./१३५/२८३/१५ अशीत्यग्रं शतं क्रियावादिनां श्राद्धादिक्रिया-मन्यमानानां ब्राह्मणानां भवति। —क्रियावादियोंके १८० भेद हैं। वे श्राद्ध आदि क्रियाओंको माननेवाले ब्राह्मणोंके होते हैं।

ज्ञा./४/२५ केश्चिच्च कीर्तिता मुक्तिर्दर्शनादेव केवलम्। वादिनां खलु सर्वेषामपाकृत्य नयान्तरम् ।२४। —और कई वादियोंने अन्य समस्त वादियोंके अन्य नयपक्षोंका निराकरण करके केवल दर्शन (श्रद्धा) से ही मुक्ति होनी कही है।

गो. क./भाषा/८७८/१०६४/११ क्रियावादीनि वस्तु कूं अस्तिरूप ही मानकरि क्रियाका स्थापन करें हैं। तहाँ आपतैं कहिये अपने स्वरूप चतुष्टयकी अस्ति मानैं हैं, अर परतैं कहिए परचतुष्टयतैं भी अस्तिरूप मानैं हैं।

भा. पा./भाषा/१३७ पं. जयचन्द—केई तौ गमन करना, बैठना, खड़ा रहना, खाना, पीना सोवना उपजना, विनसना, देखना, जानना, करना, भोगना, भूलना, याद करना, प्रीति करना, हर्ष करना, विषाद करना, द्वेष करना, जीवना, मरना इत्यादि क्रिया हैं तिनिकूं जीवा-दिक पदार्थनिकै देखि कोई कैसी क्रियाका पक्ष किया है, कोई कैसी क्रियाका पक्ष किया है। ऐसे परस्पर क्रियावाद करि भेद भये हैं तिनिकै संक्षेप करि एक सौ अस्सी भेद निरूपण किये हैं, विस्तार किये बहुत होय है।

★ क्रियावादका सम्यक् रूप—दे० चारित्र/६।

२. क्रियावादियोंके १८० भेद

रा.वा./१/२०/१२/७४/३ कौत्कल-काणेविद्धि-कौशिक-हरिस्मश्रु-मांछपि-करोमश-हारीत-मुण्डाश्वलायनादीनां क्रियावाददृष्टीनामशीतिशतम्। —कौत्कल, काणेविद्धि, कौशिक, हरिस्मश्रु, मांछपिक, रोमश, हारीत, मुण्ड, आश्वलायन आदि क्रियावादियोंके १८० भेद हैं। (रा. वा./८/१/६/५६२/२); (ध. ६/४,१,४५/२०३/२); (गो.जी./जी.प्र./३६०/७७०/११)

ह. पु./१०/४९-५१ नियतिश्च स्वभावश्च कालो दैवं च पौरुषम्। पदार्था नव जीवाद्या स्वपरौ नित्यतापरौ ।४९। पञ्चभिर्नियतिपृष्टैश्चतुर्भिः स्वपरादिभिः। एकैकस्यात्र जीवादेर्योगेऽशीत्युत्तरं शतम् ।५०। निय-त्यास्ति स्वतो जीवः परतो नित्यतोऽन्यतः। स्वभावात्कालतो दैवात् पौरुषाच्च तथेतरे॥ —(अस्ति) (स्वतः, परतः, नित्य, अनित्य)। (जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष), (काल, ईश्वर, आत्म, नियति, स्वभाव), इनमें पदनिके बदलनेतैं अक्ष संचार करि १×४×९×५ के परस्पर गुणनरूप १८० क्रियावादिनि-के भंग हैं। (गो.क./मू./८७७)।

क्रियाविशाल—द्रव्य श्रुतज्ञानका १३वाँ पूर्व—दे० श्रुतज्ञान/III

क्रिस्तो संवत्—दे० इतिहास/२।

क्रीड़ापर्वत—तुलसी श्याम नामक पर्वतको लोग श्रीकृष्णका क्रीड़ा पर्वत कहते हैं। इसपर रूठी रुक्मिणीकी मूर्ति बनी हुई है। (नेमि-चरित प्रस्तावना—प्रेमीजी)।

क्रीत—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४। २. वस्तिकाका एक दोष—दे० वस्तिका।

क्रोध—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४। २. वस्तिकाका एक दोष—दे० वस्तिका।

क्रोध—१. क्रोधका लक्षण

रा.वा./८/९/५/५७४/२८ स्वपरोपघातनिरनुग्रहाहितक्रौर्यपरिणामोऽमर्षः क्रोधः। स च चतुःप्रकारः-पर्वत-पृथ्वी-वालुका-उदकराजितुल्यः। —अपने और परके उपघात या अनुपकार आदि करनेके क्रूर परिणाम क्रोध हैं। वह पर्वतरेखा, पृथ्वीरेखा, धूलिरेखा और जलरेखाके समान चार प्रकारका है।

ध. ६/१,९-१,२३/४१/४ क्रोधो रोषः संरम्भ इत्यनर्थान्तरम्। —क्रोध, रोष और संरम्भ इनके अर्थमें कोई अन्तर नहीं है। (ध. १/१,१, १११/३४९/६)

ध. १२/४,२,८,८/२८३/६ हृदयदाहाङ्गकम्पाक्षिरागेन्द्रियापाटवादिनिमित्त-जीवपरिणामः क्रोधः। —हृदयदाह, अंगकम्प, नेत्ररक्तता और

इन्द्रियोंकी अपटुता आदिके निमित्तभूत जीवके परिणामको क्रोध कहा जाता है।

स. सा./ता. वृ./१११/२७४/१२ शान्तात्मतत्त्वात्पृथग्भूत एष अक्षमारूपो भावः क्रोधः। —शान्तात्मासे पृथग्भूत यह जो क्षमा रहित भाव है वह क्रोध है।

द्र.सं./टी./३०/८८/७ अभ्यन्तरे परमोपशममूर्तिकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वभावपरमात्मस्वरूपक्षोभकारकाः बहिर्विषये तु परेषां संबन्धित्वेन क्रूरत्वाद्यावेशरूपाः क्रोध···। —अन्तरंगमें परम-उपशम-मूर्ति केवलज्ञानादि अनन्त, गुणस्वभाव परमात्मरूपमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाले तथा बाह्य विषयमें अन्य पदार्थोंके सम्बन्धसे क्रूरता आवेश रूप क्रोध···।

★ **क्रोध सम्बन्धी विषय**—दे० कषाय।

★ **जीवको क्रोधी कहनेकी विवक्षा**—दे० जीव/१।

क्रौंच—यह एक राजा थे। जिन्होंने स्वामी कार्तिकेयपर उपसर्ग किया था। **समय**—अनुमानतः वि० श० १ के लगभग, ई० श० १ का पूर्व भाग। (का.आ./प्र. ६६ P. N. up.)

क्लेश—स सि./७/११/३४९/१० असद्वेद्योदयापादितक्लेशाः क्लिश्यमानाः। —असातावेदनीयके उदयसे जो दुःखी हैं वे क्लिश्यमान कहलाते हैं।

रा.वा./७/११/७/५३८/२७ असद्वेद्योदयापादितशारीरमानसदुःखसन्तापात् क्लिश्यन्त इति क्लिश्यमानाः। —आसातावेदनीय कर्मके उदयसे, जो शरीर और मानस, दुःखसे संतापित हैं वे क्लिश्यमान कहलाते हैं।

क्वाथतोय—भरतक्षेत्र उत्तर आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

क्षणलव प्रतिबुद्धता—दे० प्रतिबुद्धता।

क्षणिकउपादान कारण—दे० उपादान।

क्षत्रवती—भरतक्षेत्र पूर्व आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

क्षत्रिय—म.पु./१६/२८४, २४३ क्षत्रियाः शस्त्रजीवितम् ।१८४। स्वदोर्भ्यां धारयन् शस्त्रं क्षत्रियानसृजद् विभुः। क्षतात्त्राणे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः ।२४३। —उस समय जो शस्त्र धारण कर आजीविका करते थे वे क्षत्रिय हुए ।२८४। उस समय भगवान्‌ने अपनी दोनों भुजाओंमें शस्त्र धारण कर क्षत्रियोंकी सृष्टि की थी, अर्थात् उन्हें शस्त्र विद्याका उपदेश दिया था, सो ठीक ही है, जो हाथोंमें हथियार लेकर सबल शत्रुओंके प्रहारसे निर्बलोंकी रक्षा करते हैं वे ही क्षत्रिय कहलाते हैं ।२४३। (म.पु./१६/१८३); (म.पु./३८/४६)

क्षत्रिय—श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप भद्रबाहु प्रथम (श्रुतकेवली) के पश्चात् तृतीय ११ अंग व चौदह पूर्वधारी हुए हैं। अपरनाम कृतिकार्य था। **समय**—वी० नि० १९१-२०८; ई० पू० ३३६-३१९ पं० कैलाश चन्द जी की अपेक्षा वी. नि. २५१-२६८ (दे० इतिहास/४/४)

क्षपक—१. क्षपकका लक्षण

स.सि./९/४५/४५९/४ स एव पुनश्चारित्रमोहक्षपणं प्रत्यभिमुखः परिणामविशुद्ध्या वर्द्धमानः क्षपकव्यपदेशमनुभवः। —पुनः वह ही (उपशामक ही) चारित्रमोहकी क्षपणाके लिए सन्मुख होता हुआ तथा परिणामोंकी विशुद्धिसे वृद्धिको प्राप्त होकर क्षपक संज्ञाको अनुभव करता है।

ध. १/१,१,२७/२२४/८ तत्थ जे कम्म-क्खवणम्हि वावादा ते जीवा खवगा उच्चंति। —जो जीव कर्म-क्षपणमें व्यापार करते हैं उन्हें क्षपक कहते हैं।

क.पा./१/१,१८/§३१५/३४७/१ खवगसेढिचडमाणेण मोहणीयस्स अंतरकरणे कदे 'खवेंतओ' त्ति भण्णदि। —क्षपक श्रेणीपर चढ़नेवाला जीव चारित्रमोहनीयका अन्तरकरण कर लेनेपर क्षपक कहा जाता है।

२. क्षपकके भेद

ध. ७/२,१,१/५/८ जे खवया ते दुविहा— अपुव्वकरणखवगा अणियट्टिकरणखवगा चेदि। —जो क्षपक हैं वे दो प्रकारके हैं—अपूर्वकरण-क्षपक और अनिवृत्तिकरण क्षपक।

क्षपकश्रेणी—दे० श्रेणी/२।

क्षपण—दर्शनमोह व चारित्रमोह क्षपणा विधान। दे० क्षय/२,३।

क्षपणसार—आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (ई० ९८१)। द्वारा रचित मोहनीयकर्मके क्षपण विषयक ६५३ गाथा प्रमाण प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ है। इसके आधारपर माधव चन्द्रविद्यदेवने एक स्वतन्त्र क्षपणसार नामका ग्रन्थ संस्कृत गद्यमें लिखा था। इसकी एक टीका पं० टोडरमलजी (ई० १७६०) कृत उपलब्ध है।

क्षपित कर्मांशिक – १. लक्षण

कर्मप्रकृति/९४-१००/पृ. ९४ पल्लासंखियभागेण कम्मट्ठिइमच्छिओ णिगोएसु। सुहमेस (सु.) भवियजोगं जहण्णयं कट्टु निग्गम्म ।९४। जोगेसु (सु.) संखवारे सम्मत्तं लभिय देसविरियं च। अट्ठक्खुत्तो विरई संजोयणहा य तइवारे ।९५।

पडसवसमित्तु मोहं लहुं खवेंतो भवे खवियकम्मो ।९६। हस्सगुणसंकमद्धाए पूरयित्ता समीससम्मत्तं। चिरसंमत्ता मिच्छत्तंगयस्सुव्वलणथोगो सि ।१००। —जो जीव पल्यके असंख्यातवें भागसे हीन सत्तरकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण कालतक सूक्ष्म निगोद पर्यायमें रहा और भव्य जीवके योग्य जघन्य प्रदेश कर्मसंचयपूर्वक सूक्ष्म निगोदसे निकलकर बादर पृथिवी हुआ और अन्तर्मुहूर्त कालमें निकलकर तथा सात माहमें ही गर्भसे उत्पन्न होकर पूर्वकोटि आयुवाले मनुष्योंमें उत्पन्न और विरतियोग्य त्रसोंमें हुआ तथा आठ वर्षमें संयमको प्राप्त करके संयमसहित ही मनुष्यायु पूर्णकर पुनः देव, बादर, पृथिवी कायिक व मनुष्योंमें अनेक बार उत्पन्न होता हुआ पल्योपमके असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यात बार सम्यक्त्व, उससे स्वल्पकालिक देशविरति, आठ बार विरतिको प्राप्त कर व आठ ही बार अनंतानुबन्धीका विसंयोजन व चार बार मोहनीयका उपशम कर शीघ्र ही कर्मोंका क्षय करता है, वह उत्कृष्ट क्षपित कर्मांशिक होता है। (ध. ६/१,९-८/१२/२५७ की टिप्पणीसे उद्धृत)

२. गुणित कर्मांशिकका लक्षण

कर्मप्रकृति/गा. ७४-८२/पृ. १८७-१९१ जो बायरतसकालेणूणं कम्मट्ठिइं तु पुढवीए। बायरा(रि) पज्जत्तापज्जत्तगदीहेअरद्धासु ।७४। जोगकसाउक्कोसो बहुसो निच्चमवि आउबंधं च। जोगजहण्णेणुवरिल्लठिइणिसेगं बहुं किच्चा ।७५। बायरतसेसु तक्कालमेव मंते य सत्तमखिईए सव्वलहुं पज्जत्तो जोगकसायाहिओ बहुसो ।७६। जोगजवमज्झुवरिं मुहुत्तमच्छित्तु जीवियवसाणे। तिचरिमदुचरिमसमए पूरित्तु कसायउक्कस्सं ।७७। जोगुक्कोसं चरिम-दुचरिमे समए य चरिमसमयम्मि। संपुण्णगुणियकम्मो पगयं तेणेह सामित्ते ।७८। संछोभणाए दोण्ह मोहाणं वेयगस्स खणसेसे। उप्पाइय सम्मत्तं मिच्छत्तगए तमतमाए ।८२। —जो जीव अनेक भवोंमें उत्तरोत्तर गुणितक्रमसे कर्म प्रदेशोंका बन्ध करता रहा है उसे गुणितकर्मांशिक कहते हैं। जो जीव उत्कृष्ट योगों सहित बादर पृथिवीकायिक एकेन्द्रिय पर्याप्त व अपर्याप्त भवोंसे लेकर पूर्वकोटिपृथक्त्वसे अधिक दो हजार सागरोपम प्रमाण बादर त्रसकायमें परिभ्रमण करके जितने बार सातवीं पृथिवीमें जाने योग्य होता है उतनी बार जाकर पश्चात् सप्तम पृथिवीमें नारक पर्यायको धारण कर शीघ्रातिशीघ्र पर्याप्त होकर उत्कृष्ट योगस्थानों व उत्कृष्ट कषायों सहित होता हुआ उत्कृष्ट कर्मप्रदेशोंका संचय करता है और अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयुके शेष रहनेपर त्रिचरम और द्विचरम समयमें वर्तमान रहकर उत्कृष्ट संक्लेशस्थानको तथा चरम और द्विचरम

समयमें उत्कृष्ट योगस्थानको भी पूर्ण करता है, वह जीव उसी नारक पर्यायके अन्तिम समयमें सम्पूर्ण गुणितकर्मांशिक होता है। (ध.६/१,६,८,१२/२५७ की टिप्पणी व विशेषार्थ से उद्धृत)

गो.जी./मू./२५१ आवासया हु भव अद्धाउस्सं जोगसंकिलेसो य। ओकट्टुक्कट्टणया छच्चेदे गुणिदकम्मंसे ।२५१। —गुणित कर्मांशिक कहिए उत्कृष्ट (कर्म प्रदेश) संचय जाकै होइ ऐसा कोई जीव तीहिं विषै उत्कृष्ट संचयको कारण ये छह आवश्यक होइ।

३. गुणित क्षपित घोलमानका लक्षण

ध.६/१,६,८,१२/२६८/११ विशेषार्थ—जो जीव उपर्युक्त प्रकारसे न गुणित कर्मांशिक है और न क्षपित कर्मांशिक है, किन्तु अनवस्थितरूपसे कर्मसंचय करता है वह गुणित क्षपित घोलमान है।

४. क्षपित कर्मांशिक क्षायिक श्रेणी ही मांडता है

पं.सं./प्रा./५/४८८ टीका—क्षपितकर्मांशो जीवः उपरि नियमेन क्षपकश्रेणिमेवारोहति। —क्षपित कर्मांशिक जीव नियमसे क्षपक श्रेणी ही मांडता है।

५. गुणित कर्मांशिकके छह आवश्यक

गो.जी./मू./२५१ आवासया हु भवअद्धाउस्संजोगसंकिलेसो य। ओकट्टुक्कट्टणया छच्चेदे गुणिदकम्मंसे। —गुणित कर्मांशिक कहिए उत्कृष्ट संचय जाकै होय ऐसा जो जीव तीहि विषै उत्कृष्ट संचय कौ कारण ये छह आवश्यक होइ, तातै उत्कृष्ट संचय करनेवाले जीवके ये छह आवश्यक कहिये—भवाद्धा, आयुर्बल, योग, संक्लेश, अपकर्षण, उत्कर्षण।

६. गुणित कर्मांशिक जीवोंमें उत्कृष्ट प्रदेशघात एक समय प्रबद्ध ही होता है इससे कम नहीं

ध.१२/४,२,१३,२२२/४४६/१४ गुणिदकम्मंसियम्मि उक्कस्सेण जदि खओ होदि तो एगसमयपबद्धो चेव णिज्जदि त्ति गुरूवदेसादो। —गुणित कर्मांशिक जीवमें उत्कृष्ट रूपसे यदि क्षय होता है तो समय प्रबद्धका ही क्षय होता है। ऐसा गुरुका उपदेश है।

क्षमा—१. उत्तम क्षमाका व्यवहार लक्षण

बा.अनु./७१ कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं। ण कुणदि किंचिवि कोहं तस्स खमा होदि धम्मोत्ति ।७१। —क्रोधके उत्पन्न होनेके साक्षात् बाहिरी कारण मिलनेपर भी जो थोड़ा भी क्रोध नहीं करता है, उसके (व्यवहार) उत्तम क्षमा धर्म होता है। (भा.पा./मू./१०७), (का.आ./मू./३६४); (चा.सा./५६/२)

नि. सा./ता. वृ./११५ अकारणादप्रियवादिनो मिथ्यादृष्टेरकारणेन मां त्रासयितुमुद्योगो विद्यते, अयमपगतो मत्पुण्येनेति प्रथमा क्षमा। अकारणेन संत्रासकरस्य ताडनवधादिपरिणामोऽस्ति, अयं चापगतो मत्सुकृतेनेति द्वितीया क्षमा। —बिना कारण अप्रिय बोलनेवाले मिथ्यादृष्टिको बिना कारण मुझे त्रास देनेका उद्योग वर्तता है, वह मेरे पुण्यसे दूर हुआ—ऐसा विचारकर क्षमा करना वह प्रथम क्षमा है। मुझे बिना कारण त्रास देनेवालेको ताड़न और वधका परिणाम वर्तता है, वह मेरे सुकृतसे दूर हुआ, ऐसा विचारकर क्षमा करना वह द्वितीय क्षमा है।

२. उत्तम क्षमाका निश्चय लक्षण

स. सि./९/६/४१२/४ शरीरस्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलान्युपगच्छतो भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोशप्रहसनावज्ञाताडनशरीरव्यापादनादीनां संनिधाने कालुष्यानुत्पत्तिः क्षमा। —शरीरकी स्थितिके कारणकी खोज करनेके लिए परकुलोंमें जाते हुए भिक्षुको दुष्टजन गाली-गलौज करते हैं, उपहास करते हैं, तिरस्कार करते हैं, मारते-पीटते हैं और शरीरको तोड़ते-मरोड़ते हैं तो भी उनके कलुषताका उत्पन्न न होना क्षमा है। (रा.वा./९/६/२/५९५/२१); (भ.आ./वि./४६/१५४/१२); (चा.सा./५६/१); (पं.वि./१/८२)

नि.सा./ता.वृ./११५ वधे सत्यमूर्तस्य परमब्रह्मरूपिणो ममापकारहानिरिति परमसमरसी भावस्थितिरुत्तमा क्षमा। —(मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा बिना कारण मेरा) वध होनेसे अमूर्त परमब्रह्मरूप ऐसे मुझे हानि नहीं होती—ऐसा समझकर परमसमरसी भावमें स्थित रहना वह उत्तम क्षमा है।

३. उत्तम क्षमाकी महिमा

कुरल.का./१६/२,१० तस्मै देहि क्षमादानं यस्तै कार्यविघातकः। विस्मृतिः कार्यहानीनां यद्यहो स्यात् तदुत्तमा ।२। महान्तः सन्ति सर्वेऽपि क्षीणकायास्तपस्विनः। क्षमावन्तमनुख्याताः किन्तु विश्वे हि तापसाः ।१०। —दूसरे लोग तुम्हें हानि पहुँचायें उसके लिए तुम उन्हें क्षमा कर दो, और यदि तुम उसे भुला सको तो यह और भी अच्छा है ।२। उपवास करके तपश्चर्या करने वाले निस्सन्देह महान् हैं, पर उनका स्थान उन लोगोंके पश्चात् ही है जो अपनी निन्दा करने वालोंको क्षमा कर देते हैं।

भा.पा./मू./१०८ पावं खवइ असेसं खमायपडिमंडिओ य मुणिपवरो। खेयरअमरणराणं पसंसणीओ धुवं होइ ।१०८। —जो मुनिप्रवर क्रोधके अभावरूप क्षमा करि मंडित है सो मुनि समस्त पापकूं क्षय करै है, बहुरि विद्याधर देव मनुष्यकरि प्रशंसा करने योग्य निश्चयकरि होय है।

अन.ध./६/५ यः क्षाम्यति क्षमोऽप्याशु प्रतिकर्तुं कृतागसः। कृतागसं तमिच्छन्ति क्षान्तिपीयूषसंजुषः ।५। —अपना अपराध करनेवालोंका शीघ्र ही प्रतिकार करनेमें समर्थ रहते हुए भी जो पुरुष अपने उन अपराधियोंके प्रति उत्तम क्षमा धारण करता है उसको क्षमारूपी अमृतका समीचीनतया सेवन करनेवाले साधुजन पापोंको नष्ट कर देनेवाला समझते हैं।

४. उत्तम क्षमाके पालनार्थ विशेष भावनाएँ

भ.आ./मू./१४२०–१४२६ जदिदा सवति असंतेण परो तं णत्थि मेत्ति खमिदव्वं। अणुकंपा वा कुज्जा पावइ पावं वरावोत्ति ।१। —सत्तो वि ण चेव हदो हदो वि ण य मारिदो ति य खमेज्ज। मारिज्जंतो विसहेज्ज चेव धम्मो ण णट्ठोत्ति ।१४२२। पुव्वं सयमुवभुत्तं काले णाएण तेत्तियं दव्वं। को धारणीओ धणियस्स दिंतओ दुक्खिओ होज्ज ।१४२५। —मैंने इसका अपराध किया नहीं तो भी यह पुरुष मेरे पर क्रोध कर रहा है, गाली दे रहा है, मैं तो निरपराधी हूँ ऐसा विचार कर उसके ऊपर क्षमा करनी चाहिए। इसने मेरे असद्दोषका कथन किया तो मेरी इसमें कुछ भी हानि नहीं है, अथवा क्रोध करनेपर दया करनी चाहिए, क्योंकि यह दीन पुरुष असत्य दोषोंका कथन करके व्यर्थ ही पापका अर्जन कर रहा है। यह पाप उसको अनेक दुःखोंको देनेवाला होगा ।१४२०। इसने मेरेको गाली ही दी है, इसने मेरेको पीटा तो नहीं है, अर्थात् न मारना यह इसमें महान् गुण है। इसने गाली दी है परन्तु गाली देनेसे मेरा तो कुछ भी नुकसान नहीं हुआ अतः इसके ऊपर क्षमा करना ही मेरे लिए उचित है ऐसा विचार कर क्षमा करनी चाहिए। इसने मेरेको केवल ताड़न ही किया है, मेरा वध तो नहीं किया है। वध करनेपर इसने मेरा धर्म तो नष्ट नहीं किया है, यह इसने मेरा उपकार किया ऐसा मानकर क्षमा ही करना योग्य है ।१४२२। ऋण चुकानेके समय जिस प्रकार अवश्य साहूकारका धन वापस देना चाहिए उसी प्रकार मैंने पूर्व जन्ममें पापोपार्जन किया था अब यह मेरेको दुःख दे रहा है यह योग्य ही है। यदि मैं इसे शान्त भावसे सहन करूँगा तो पाप

मुझसे रहित होकर सुखी होऊँगा। ऐसा विचार कर रोष नहीं करना चाहिए। (रा.वा./९/६/२७/५९९/१); (चा.सा./६१/३); (पं.वि./१/८४); (ज्ञा./१९/२६); (अन.ध./६/७-८); (रा.वा.हिं./९/६/६६५-६६६)

★ **दस धर्मों की विशेषताएँ**—(दे० धर्म/८)

क्षमावणी व्रत—व्रतविधानसं० /पृ. १०८ आसोज कृ. १ को सबसे क्षमा माँगकर कुछ फल बाँटे तथा उपवास रखे।

क्षमाश्रमण—१. श्वेताम्बराचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमणको ही कदाचित अकेले क्षमाश्रमण नामसे कहा जाता है। —दे० जिनभद्रगणी; २—यद्यपि श्वेताम्बराचार्य देवर्धिकी भी क्षमाश्रमण उपाधि थी, परन्तु अकेले क्षमाश्रमण द्वारा उनका ग्रहण नहीं होता।

क्षय—कर्मोंके अत्यन्त नाशका नाम क्षय है। तपश्चरण व साम्यभावमें निश्चलताके प्रभावसे अनादि कालके बँधे कर्म क्षण भरमें विनष्ट हो जाते हैं, और साधककी मुक्ति हो जाती है। कर्मोंका क्षय हो जानेपर जीवमें जो ज्ञाता द्रष्टा भाव व अतीन्द्रिय आनन्द प्रकट होता है वह क्षायिक भाव कहलाता है।

१. लक्षण व निर्देश

१. क्षयका लक्षण

स. सि./२/१/१४९/६ क्षय आत्यन्तिकी निवृत्तिः। यथा तस्मिन्नेवाम्भसि शुचिभाजनान्तरसंक्रान्ते पङ्कस्यात्यन्ताभावः। —जैसे उसी जलको दूसरे साफ बर्तनमें बदल देनेपर कीचड़का अत्यन्त अभाव हो जाता है, वैसे ही कर्मोंका आत्मासे सर्वथा दूर हो जाना क्षय है।

ध.१/१,१,२७/२१५/१ अट्ठण्हं कम्माणं मूलुत्तरभेय···पदेसाणं जीवादो जो णिस्सेस-विणासो तं खवणं णाम। —मूलप्रकृति और उत्तर प्रकृतिके भेदसे···आठ कर्मोंका जीवसे अत्यन्त विनाश हो जाता है उसे क्षपण (क्षय) कहते हैं।

पं.का./त.प्र./५६ कर्मणां फलदानसमर्थतः···अत्यन्तविश्लेषः क्षयः। —कर्मोंका फलदान समर्थरूपसे···अत्यन्त विश्लेष सो क्षय है।

गो.क./जी. प्र./८/२९/१४ प्रतिपक्षकर्मणां पुनरुत्पत्त्यभावेन नाशः क्षयः। —प्रतिपक्ष कर्मोंका फिर न उपजै ऐसा अभाव सो क्षय है।

२. क्षयदेशका लक्षण

गो.क./जी.प्र./४४५/५९६/४ तत्र क्षयदेशो नाम परमुखोदयेन विनश्यतां चरमकाण्डकचरमफालिः, स्वमुखोदयेन विनश्यतां च समयाधिकावलिः। —जे, प्रकृति अन्य प्रकृति रूप उदय देह विनसैं हैं ऐसी परमुखोदयी हैं तिनकैं तो अन्त काण्डककी अन्त फालि क्षयदेश है। बहुरि अपने ही रूप उदय देह विनसै है ऐसी स्वमुखोदयी प्रकृति तिनके एक-एक समय अधिक आवली प्रमाण काल क्षयदेश है।

गो. क./भाषा./४४६/५९७/७ जिस स्थानक क्षय भया सो क्षयदेश कहिए है।

३. उदयाभावी क्षयका लक्षण

रा.वा./२/५/३/१०६/३० यदा सर्वघातिस्पर्धकस्योदयो भवति तदेषदप्यात्मगुणस्याभिव्यक्तिर्नास्ति तस्मात्तदुदयस्याभावः क्षय इत्युच्यते। —जब सर्वघाति स्पर्धकोंका उदय होता है तब तनिक भी आत्माके गुणकी अभिव्यक्ति नहीं होती, इसलिए उस उदयके अभावको उदयाभावी क्षय कहते हैं।

ध./७/२,१,४६/९२/६ सव्वघादिफद्दयाणि अणंतगुणहीणाणि होदूण देसघादिफद्दयत्तणेण परिणमिय उदयमागच्छंति, तेसिमणंतगुणहीणत्तं खओ णाम। —सर्वघाती स्पर्धक अनन्तगुणे हीन होकर और देशघाती स्पर्धकोंमें परिणत होकर उदयमें आते हैं। उन सर्वघाती स्पर्धकोंका अनन्तगुण हीनत्व ही क्षय कहलाता है। (ध. ५/१,७,३९/२२०/११)।

★ **अपक्षयका लक्षण**—दे० अपक्षय।

४. अष्टकर्मोंके क्षयका क्रम

त.सू./१०/१ मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। —मोहका क्षय होनेसे तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मका क्षय होनेसे केवलज्ञान प्रकट होता है।१।

क. पा ३/३,२२/२४३/५ मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्ते खइय पच्छा सम्मत्तं खविज्जदि त्ति कम्माणक्खवणक्कम। —मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वको क्षय करके अनन्तर सम्यक्त्वका क्षय होता है।

त. सा./८/२१-२२ पूर्वार्जितं क्षपयतो यथोक्तैः क्षयहेतुभिः। संसारबीजं कार्त्स्न्येन मोहनीयं प्रहीयते।२१। ततोऽन्तरायज्ञानघ्नदर्शनघ्नान्यनन्तरम्। प्रहीयन्तेऽस्य युगपत् त्रीणि कर्माण्यशेषतः।२२। —पूर्वमें कहे हुए कर्म क्षपणके हेतुओंके द्वारा सबसे प्रथम मोहनीय कर्मका क्षय होता है। मोहनीय कर्म ही सब कर्मोंका और संसारका असली कारण है। मोह क्षय हुआ कि बादमें एक साथ अन्तराय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण ये तीन घाती कर्म समूल नष्ट हो जाते हैं।

५. मोहनीयकी प्रकृतियोंमें पहले अधिक अप्रशस्त प्रकृतियोंका क्षय होता है

क. पा./३/३,२२/§४२८/२४३/७ मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्तेसु कं पुव्वं खविज्जदि। मिच्छत्तं। कुदो, अच्चसुहत्तादो। —प्रश्न—मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वमें पहले किसका क्षय होता है। उत्तर—पहले मिथ्यात्वका क्षय होता है। प्रश्न—पहले मिथ्यात्वका क्षय किस कारणसे होता है? उत्तर—क्योंकि मिथ्यात्व अत्यन्त अशुभ प्रकृति है।

७. अप्रशस्त प्रकृतियोंका क्षय पहले होना कैसे जाना जाता है

क. पा. ३/३,२२/४९८/८ असुहस्स कम्मस्स पुव्वं चक्खवणं होदि त्ति कुदो णव्वदे। सम्मत्तस्स लोहसंजलणस्स य पच्छा खयण्णहाणुववत्तीदो। —प्रश्न—अशुभ कर्मका पहले ही क्षय होता है यह किस प्रमाणसे जाना जाता है? उत्तर—अन्यथा सम्यक्त्व व लोभ संज्वलनका पश्चात् क्षय बन नहीं सकता है, इस प्रमाणसे जाना जाता है कि अशुभ कर्मका क्षय पहले होता है।

★ **कर्मोंके क्षयकी ओघआदेशप्ररूपणा**—दे० सत्त्व।

★ **स्थिति व अनुभाग काण्डक घात**—दे० अपकर्षण/४।

२. दर्शनमोह क्षपणा विधान

१. कहाँ कालोंमें दर्शनमोहनी क्षपणा सम्भव नहीं है

ध. ६/१,९-८,१२/२४७/२ एदेण वक्खाणाभिप्पाएण दुस्सम-अइदुस्सम-सुसमसुसम-सुसमकालेसुप्पण्णाणं चेव दंसणमोहणीयक्खवणा णत्थि, अवसेसदोसु वि कालेसुप्पण्णाणमत्थि। कुदो। एइंदियादो आगंतूण तदियकालुप्पण्णवड्ढमाणकुमारादीणं दंसणमोहक्खवणदंसणादो। एदं चेवेत्थ वक्खाणं पधाणं कादव्वं। —दुषमा, अतिदुषमा, सुषमसुषमा और सुषमा कालोंमें उत्पन्न हुए जीवोंके ही दर्शनमोहनीयकी क्षपणा नहीं होती है अवशिष्ट दोनों कालोंमें उत्पन्न हुए जीवोंके दर्शनमोहनीयकी क्षपणा होती है। इसका कारण यह है कि एकेन्द्रिय पर्यायसे आकर (इस अवसर्पिणीके) तीसरे कालमें उत्पन्न हुए वर्द्धमानकुमार आदिकोंके दर्शनमोहकी क्षपणा देखी जाती है। यहाँपर यह व्याख्यान ही प्रधानतया ग्रहण करना चाहिए। विशेष दे० मोक्ष/४/३।

★ अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना—दे० विसंयोजना।

★ समुद्रोंमें दर्शनमोहक्षपण कैसे सम्भव है—दे० मनुष्य/३।

२. दर्शनमोह क्षपणाका स्वामित्व

४-७ गुणस्थान पर्यन्त कोई भी वेदकसम्यग्दृष्टि जीव, त्रिकरणपूर्वक अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करके दर्शनमोहनीयकी क्षपणा प्रारम्भ करता है। (दे० सम्यग्दर्शन/IV/५)

★ त्रिकरण विधान—दे० करण/३।

३. दर्शन मोहकी क्षपणाके लिए पुनः त्रिकरण करता है

गो.क./जी.प्र./५५०/७४४/६ तदनन्तरमन्तर्मुहूर्तं विश्रम्यानन्तानुबन्धिचतुष्कं विसंयोज्यान्तर्मुहूर्तानन्तरं करणत्रयं कृत्वा। —बहुरि ताके अनन्तरि अन्तर्मुहूर्त विश्राम लेइकरि अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन कीएं पीछे अन्तर्मुहूर्त भया तब बहुरि तीन करण करै। (ल.सा/मू./१११)

४. दर्शनमोहकी प्रकृतियोंका क्षपणाक्रम

गो.क./जी.प्र./५५०/७४४/६ अनिवृत्तिकरणकाले संख्यातबहुभागे गते शेषैकभागे मिथ्यात्वं ततः सम्यग्मिथ्यात्वं ततः सम्यक्त्वप्रकृतिं च क्रमेण क्षपयति, दर्शनमोहक्षपणाप्रारम्भप्रथमसमयस्थापितसम्यक्त्वप्रकृतिप्रथमस्थित्यामान्तर्मुहूर्तावशेषे चरमसमयप्रस्थापकः। अनन्तरसमयादाप्रथमस्थितिचरमनिषेकं निष्ठापकः। —अनिवृत्तिकरण कालका संख्यात भागनिमें एक भाग बिना बहुभाग गये एक भाग अवशेष रहैं पहिलैं मिथ्यात्वकौं पीछैं सम्यग्मिथ्यात्वकौं पीछैं सम्यक्त्व प्रकृतिकौं अनुक्रमतैं क्षय करै है। तहाँ दर्शन मोहकी क्षपणाका प्रारम्भका प्रथम समयविषैं स्थायी जो सम्यक्त्व मोहनीकी प्रथम स्थिति ताका काल विषैं अन्तर्मुहूर्त अवशेष रहैं तहाँका अन्तसमय पर्यन्त तौ प्रस्थापक कहिए। बहुरि तिसके अनंतरि समयतैं प्रथम स्थितिका अन्तनिषेकपर्यन्त निष्ठापक कहिए। (गो.जी./जी.प्र./३३५-३३६/४८६); (ल.सा./जी.प्र./१२२-१३०)

५. कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि होनेका क्रम

ल.सा./जी.प्र./१३१/१७२/३ यस्मिन् समये सम्यक्त्वप्रकृतेरष्टवर्षमात्रस्थितिमवशेषयन् चरमकाण्डकचरमफालिद्रव्यं पातयति तस्मिन्नेव समये सम्यक्त्वप्रकृत्यनुभागसत्त्वमतीतानन्तरसमयनिषेकानुभागसत्त्वादनन्तगुणहीनमवशिष्यते।

ल.सा./जी.प्र./१४५/२००/१० प्रागुक्तविधानेन अनिवृत्तिकरणचरमसमये सम्यक्त्वप्रकृतिचरमकाण्डकचरमफालिद्रव्ये अधोनिक्षिप्ते सति तदनन्तरोपरितनसमयात्…कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टिरिति जीवः संज्ञायते। —१. जिस समय विषैं सम्यक्त्वमोहनीकी अष्टवर्ष स्थिति शेष राखी अर मिश्रमोहनी सम्यक्त्वमोहनीका अन्तकाण्डककी दोय फालिका पतन भया तिसही समयविषैं सम्यक्त्व मोहनीका अनुभाग पूर्वसमयके अनुभागतैं अनन्तगुणा घटता अनुभाग अवशेष रहै है। २. अनिवृत्तिकरणके अन्त समयविषैं सम्यक्त्वमोहनीका अन्तकाण्डककी अन्तफालीका द्रव्यकौ नीचले निषेकनिविषैं निक्षेपण किये पीछैं अनन्तर समयतैं लगाय…कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टी हो है।

६. तत्पश्चात् स्थितिके निषेकोंका क्षयक्रम

ल.सा./जी.प्र./१५०/२०५/२० एवमनुभागस्यानुसमयमनन्तगुणितापवर्तनेन कर्मप्रदेशानां प्रतिसमयमसंख्यातगुणितोदीरणया च कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वप्रकृतिस्थितिमन्तर्मुहूर्तायामुच्छिष्टावलिं मुक्त्वा सर्वां प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशविनाशपूर्वकं उदयमुखेन गालयित्वा तदनन्तरसमये उदीरणारहितं केवलमनुभागसमयापवर्तनेनैव…प्रतिसमयमनन्तगुणितक्रमेण प्रवर्तमानेन प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशविनाशपूर्वकं प्रतिसमयमेकैकनिषेकं गालयित्वा तदनन्तरसमये क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्जायते जीवः। —अनुभाग तौ अनुसमय अपवर्तनकरि अर कर्म परमाणूनिकी उदीरणा करि यहु कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टी रही थी जो सम्यक्त्व मोहनीकी अन्तर्मुहूर्त स्थिति तामैं उच्छिष्टावली बिना सर्व स्थिति है सो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशनिका सर्वथा नाश लीएं जो एक-एक निषेकका एक-एक समयविषैं उदय रूप होइ निर्जरना ताकरि नष्ट हो है, बहुरि ताका अनन्तर समयविषैं उच्छिष्टावली मात्र स्थिति अवशेष रहैं उदीरणाका भी अभाव भया, केवल अनुभागका अपवर्तन है…उदय रूप प्रथम समयतैं लगाय समय-समय अनन्तगुणा क्रमकरि वर्तै है ताकरि प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेशनिका सर्वथा नाश पूर्वक समय-समय प्रति उच्छिष्टावलीके एक-एक निषेकौं गालि निर्जरा रूप करि ताका अनन्तर समय विषैं जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो है : (अधिक विस्तारसे ध. ६/१,९-८,१२/२४८-२६६)

७. दर्शनमोहकी क्षपणामें दो मत

ध. ६/१,९-८,१२/२५८/१ ताधे सम्मत्तम्हि अट्ठवस्साणि मोत्तूण सव्वमागाइदं। संखेज्जाणि वाससहस्साणि मोत्तूण आगाइदमिदि भणंता वि अत्थि। —(अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना तथा दर्शन मोहके स्थिति काण्डक घातके पश्चात् अनिवृत्तिकरणमें उस जीवने) सम्यक्त्वके स्थिति सत्त्वमें आठ वर्षोंको छोड़कर शेष सर्व स्थिति सत्त्वको (घातार्थ) किया। सम्यक्त्वके स्थिति सत्त्वमें संख्यात हजार वर्षोंको छोड़कर शेष समस्त स्थिति सत्त्वको ग्रहण किया इस प्रकारसे कहनेवाले भी कितने ही आचार्य हैं।

★ दर्शनमोह क्षपणामें मृत्यु सम्बन्धी दो मत—दे० मरण/३।

★ नवक समय प्रबद्धका एक आवली पर्यन्त क्षपण संभव नहीं—दे० उपशम/४/३।

३. चारित्रमोह क्षपणा विधान

१. क्षपणाका स्वामित्व

क्ष.सा./भाषा./३१२/४८०/१३ तीन करण विधान तैं क्षायिक सम्यग्दृष्टि होइ…चारित्रमोहकी क्षपणाको योग्य जे विशुद्ध परिणाम तिनि करि सहित होइ तै प्रमत्ततैं अप्रमत्त विषैं, अप्रमत्ततैं प्रमत्तविषैं हजारोंबार गमनागमनकरि…क्षपकश्रेणीको सन्मुख…सातिशय प्रमत्तगुणस्थान विषैं अधःकरण रूप प्रस्थान करै है।

२. क्षपणा विधिके ११ अधिकार

क्ष. सा./मू./३९२ तिकरणमुभयो सरणं कमकरणं खवणदेसमंतरयं। संकम अपुव्वफड्ढयाकिट्टीकरणाणुभवणखमणाये। —अधःकरण; अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, बंधापसरण, सत्त्वापसरण, क्रमकरण अष्ट कषाय सोलह प्रकृतिनिकी क्षपणा, देशघातिकरणं, अंतरकरण, संक्रमण, अपूर्व स्पर्धककरण, अन्तर कृष्टिकरण, सूक्ष्म-कृष्टि-अनुभवन, ऐसे ये चारित्र मोहकी क्षपणाविषैं अधिकार जानने।

३. क्षपणा विधि

क्ष.सा./भाषा/१/३९२-६००—१. यहाँ प्रथम ही अधःप्रवृत्तिकरण रूप परिणामोंको करता हुआ सातिशय अप्रमत्त संज्ञाको प्राप्त होता है। इस

वें गुणस्थानके कालमें चार आवश्यक हैं—१ प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धि; २ प्रशस्त प्रकृतियोंका अनन्तगुण क्रमसे चतुस्थानीय अनुभाग बन्ध; ३ अप्रशस्त प्रकृतियोंका अनन्तवें भागहीन क्रमसे केवल द्विस्थानीय अनुभाग बन्ध, और ४ पल्य/असं.हीन क्रमसे संख्यात सहस्र बन्धापसरण।३९४-३९६। तिस गुणस्थानके अन्तमें स्थिति बन्ध व सत्त्व दोनों ही घटकर केवल अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण रहती है।४१४। २. तदनन्तर अपूर्वकरण गुणस्थानमें प्रवेश करके तहाँके योग्य चार आवश्यक करता है—१. असंख्यात गुणक्रमसे गुण श्रेणी निर्जरा; २. असंख्यात गुणा क्रमसे ही गुण संक्रमण; ३. सर्व ही प्रकृतियोंका स्थितिकाण्डक घात और; ४. केवल अप्रशस्त प्रकृतियोंका घात। यहाँ स्थिति काण्डकायाम पल्य/सं. मात्र है, और अनुभाग काण्डक घातमें केवल अनन्त बहुभाग क्रम रहता है। इसके अतिरिक्त पल्य/सं. हीनक्रमसे संख्यात सहस्र स्थिति बन्धापसरण करता है।३९७-४१०। इस गुणस्थानके अन्तमें स्थितिबन्ध तो घटकर पृथक्त्व सहस्र सागर प्रमाण और स्थिति सत्त्व घटकर पृथक्त्व लक्ष सागर प्रमाण रहते हैं।४१४। ३. तदनन्तर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें प्रवेश करके तहाँके योग्य चार आवश्यक करता है—१. असंख्यात गुणसे गुणश्रेणी निर्जरा; २. असंख्यात गुणाक्रमसे ही गुण संक्रमण; ३. पल्य/असं. आयामवाला स्थिति काण्डक घात; ४. अनन्त बहुभाग क्रमसे अप्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग काण्डकघात। यह पल्य/असं. व अनन्त बहुभाग अपूर्वकरण वालोंकी अपेक्षा अधिक है।४११। इसके प्रथम समयमें नाना जीवोंके स्थिति खण्ड असमान होते हैं परन्तु द्वितीयादि समयोंमें सबके स्थिति सत्त्व व स्थिति खण्ड समान होते हैं।४१२-४१३। यहाँ स्थिति बन्धापसरणमें पहले पल्य/सं.हीनक्रम होता है, तत्पश्चात् पल्य/सं. बहुभाग हीनक्रम और तत्पश्चात पल्य/असं. बहुभाग हीनक्रम तक हो जाता है। इस प्रकार विशेष हीनक्रमसे घटते-घटते इस गुणस्थानके अन्तमें स्थितिबन्ध केवल पल्य/असं. वर्ष मात्र रह जाता है।४१४-४२१। स्थिति सत्त्व भी उपरोक्त क्रमसे ही परन्तु स्थिति काण्डक घात द्वारा घटता घटता उतना ही रह जाता है।४१६-४२१। तीन करणोंमें ही नहीं बल्कि आगे भी स्थिति—दे०-१. बन्ध व सत्त्वका अपसरण बराबर हुआ ही करै है। ३९५-४१८।

६. अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें ही क्रमकरण द्वारा मोहनीय, तीसिय, वीसिय, वेदनीय, नाम व गोत्र, इन सभी प्रकृतियोंके स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्वके परस्थानीय अल्प-बहुत्वमें विशेष क्रमसे परिवर्तन होता है. अन्तमें नाम व गोत्रकी अपेक्षा वेदनीयका स्थितिबन्ध व सत्त्व ड्योढ़ा रह जाता है।४२२-४२७। ७. क्षपणा अधिकारमें मध्य आठ कषायों (प्रत्य., अप्रत्या.) की स्थितिका संज्वलन चतुष्ककी स्थिति में संक्रमण करनेका विधान है। यही उन आठोंका परमुखरूपेण नष्ट करना है।४२६। तत्पश्चात् ३ निद्रा और १३ नामकर्मकी, इस प्रकार १६ प्रकृतियोंको स्वजाति अन्य प्रकृतियोंमें संक्रमण करके नष्ट करता है।४३०। ८. तदनन्तर मति आदि चार ज्ञानावरण, चक्षु आदि तीन दर्शनावरण और ५ अन्तराय इन १२ प्रकृतियोंको सर्वघातीकी बजाय देशघाती अनुभाग युक्त बन्ध व उदय होने योग्य है। ४३१-४३२।६। अनिवृत्तिकरणका संख्यात भाग शेष रहनेपर।४८४। चार संज्वलन और नव नोकषाय इन १३ प्रकृतियोंका अन्तरकरण करता है। ४३३-४३५। १०. संक्रमण अधिकारमें प्रथम ही सप्तकरण करता है। अर्थात्—'१-२. मोहनीयके अनुभाग बन्ध व उदय दोनोंको दारुसे लता स्थानीय करता है। ३. मोहनीयके स्थिति बन्धको पल्य/असं. से घटाकर केवल संख्यात वर्ष मात्र करता है; ४. मोहनीयके पूर्ववर्तीय यथा तथा संक्रमणको छोड़कर केवल आनुपूर्वीय रूप करता है; ५. लोभका जो अन्य प्रकृतियोंमें संक्रमण होता था वह अब नहीं होता; ६. नपुंसक वेदका अधःप्रवृत्ति संक्रमण द्वारा नाश करता है; ७. संक्रमणसे पहले—आवलीमात्र आबाधा व्यतीत भये उदीरणा होती थी वह अब छह आवली व्यतीत होनेपर होती है।४३६-४३७। सप्तकरणके साथ ही संज्वलन क्रोध, मान, माया व नव नोकषायों, इन १२ प्रकृतियोंका आनुपूर्वी क्रमसे गुण संक्रमण व सर्व संक्रमण द्वारा एक लोभमें परिणमाकर नाश करता है। उसका क्रम आगे कृष्टिकरण अधिकारके अनुसार जानना।४३८-४४०। यहाँ स्थिति-बन्धापसरणका प्रमाण नवीनस्थिति बन्धसे संख्यातगुणा घाट होता है। ४४१-४६१। ११. अनिवृत्तिकरणके इस कालमें संज्वलन चतुष्कका अनुभाग प्रथम काण्डकका घात भये पीछे क्रोधसे लगाय लोभ पर्यन्त अनन्त गुणा घटता और लोभसे लगाय क्रोध पर्यन्त अनन्तगुणा बधता हो है। इसे ही अश्वकर्ण करण कहते हैं। तहाँसे आगे अब उन चारोंमें अपूर्व स्पर्धकोंकी रचना करता है जिससे उनका अनुभाग अनन्त गुणा क्षीण हो जाता है। विशेष—दे० स्पर्धक व अश्वकर्ण।४६५-४६६। १२. तदनन्तर उसी अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके कालमें रहता हुआ इन अपूर्व स्पर्धकोंका संग्रहकृष्टि व अन्तरकृष्टि करण द्वारा कृष्टियोंमें विभाग करता है। साथ ही स्थिति व अनुभागका बराबर काण्डक घात द्वारा क्षीण करता है। अश्वकर्ण कालमें संज्वलन चतुष्ककी स्थिति आठ वर्ष प्रमाण थी, वह अब अन्तर्मुहूर्त अधिक चार वर्ष प्रमाण रह गयी। अवशेष कर्मोंकी स्थिति संख्यात सहस्रवर्ष प्रमाण है.। संज्वलनका स्थितिसत्त्व पहले संख्यात सहस्रवर्ष था, वह अब घटकर अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष मात्र रहा और अघातियाका संख्यात सहस्रवर्ष मात्र रहा। कृष्टिकरणमें ही सर्व संज्वलन चतुष्कके सर्व निषेक कृष्टिरूप परिणामे।४९०-५१४। विशेष—दे० कृष्टि। १३. कृष्टिकरण पूर्ण कर चुकनेपर वहाँ अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके चरम भागमें रहता हुआ इन बादर कृष्टियोंको क्रोध, मान; माया व लोभके क्रमसे वेदना करता है। तिस कालमें अपूर्वकृष्टि आदि उत्पन्न करता है। क्रोधादि कृष्टियोंके द्रव्यको लोभकीकृष्टि रूप परिणमाता है। फिर लोभकी संग्रहकृष्टिके द्रव्यको भी सूक्ष्म कृष्टि रूप करता है। यहाँ केवल संज्वलन लोभका ही अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितिबन्ध शेष रह जाता है। अन्तमें लोभका स्थिति सत्त्व भी अन्तर्मुहूर्त मात्र रह जाता है, और उसके बन्धकी व्युच्छित्ति हो जाती है। शेष घातियाका स्थितिबन्ध एक दिनसे कुछ कम और स्थिति सत्त्व संख्यात सहस्र वर्ष प्रमाण रहा।५१४-५७१। विशेष—दे० कृष्टि। १४. अब सूक्ष्म कृष्टिको वेदता हुआ सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानमें प्रवेश करता है। यहाँ सर्व ही कर्मोंका जघन्य स्थिति बन्ध होता है। तीन घातियाका स्थिति सत्त्व अन्तर्मुहूर्त मात्र रहता है। लोभका स्थिति सत्त्व क्षयके सम्मुख है। अघातियाका स्थिति सत्त्व असंख्यात वर्ष मात्र है। याके अनन्तर लोभका भी क्षय करके क्षीणकषाय गुणस्थानमें प्रवेश करै है।५८२-६००। विशेष—दे० कृष्टि।

४. चारित्रमोह क्षपणा विधानमें प्रकृतियोंके क्षय सम्बन्धी दो मत

ध/१/१,१,२७/२१७/३ अपुव्वकरण-विहाणेण गमिय अणियट्टिअद्धाए संखेज्जदि-भागे सेसे···सोलस पयडीओ खवेदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण पच्चक्खाणापच्चक्खाणावरणकोध-माण-माया-लोभे अक्कमेण खवेदि। एसो संतकम्म-पाहुड-उवएसो। कसाय-पाहुड-उवएसो। पुण अट्ठ कसाएसु खीणेसु पच्छा अंतोमुहुत्तं गंतूण सोलस कम्माणि खविज्जंति त्ति। एदे दो वि उवएसा सच्चमिदि केवि भण्णंति, तण्ण घडदे, विरुद्धत्तादो सुत्तादो। दो वि पमाणाइं ति वयणमवि ण घडदे पमाणेण पमाणाविरोहिणा होदव्वं' इदि णायादो। —अनिवृत्तिकरणके कालमें संख्यात भाग शेष रहनेपर···सोलह प्रकृतियोंका क्षय करता है। फिर अन्तर्मुहूर्त व्यतीत कर प्रत्याख्यानावरण और अप्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी क्रोध,

मान, माया और लोभ इन आठ प्रकृतियोंका एक साथ क्षय करता है यह सत्कर्म प्राभृतका उपदेश है। किन्तु कषाय प्राभृतका उपदेश तो इस प्रकार है कि पहले आठ कषायोंके क्षय हो जानेपर पीछेसे एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्वोक्त सोलह कर्म प्रकृतियाँ क्षयको प्राप्त होती हैं। ये दोनों ही उपदेश सत्य हैं, ऐसा कितने ही आचार्योंका कहना है। किन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता, क्योंकि, उनका ऐसा कहना सूत्रसे विरुद्ध पड़ता है। तथा दोनों कथन प्रमाण हैं, यह वचन भी घटित नहीं होता है, क्योंकि 'एक प्रमाणको दूसरे प्रमाणका विरोधी नहीं होना चाहिए' ऐसा न्याय है। (गो. क./मू./ ३८६, ३९१)

★ चारित्रमोह क्षपणामें मृत्युकी संभावना—दे० मरण/३।

४. क्षायिक भाव निर्देश

१. क्षायिक भावका लक्षण

स. सि./२/१/१४६/६ एवं क्षायिक।—जिस भावका प्रयोजन अर्थात् कारण क्षय है वह क्षायिक भाव है।

ध./१/१,१,८/१६१/१ कर्मणाम्...क्षयात्क्षायिकः गुणसहचरितत्वादात्मापि गुणसंज्ञां प्रतिलभते।—जो कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं। ...गुणके साहचर्यसे आत्मा भी गुणसंज्ञाको प्राप्त होता है। (ध. ५/१,७,१/१८५/१); (गो. क./मू./८१४)।

ध. ५/१,७,१०/२०६/२ कम्माणं खए जादो खइओ, खयट्ठं जाओ वा खइओ भावो इदि दुविहा सद्दउप्पत्ती घेत्तव्वा।—कर्मोंके क्षय होनेपर उत्पन्न होनेवाला भाव क्षायिक है, तथा कर्मोंके क्षयके लिए उत्पन्न हुआ भाव क्षायिक है, ऐसी दो प्रकारकी शब्द व्युत्पत्ति ग्रहण करना चाहिए।

पं का./त.प्र./५६ क्षयेण युक्तः क्षायिकः।—क्षयसे युक्त वह क्षायिक है।

गो. जी./जी.प्र./८/२९/१४ तस्मिन् (क्षये) भवः क्षायिकः।—ताकौ (क्षय) होतै जो होइ सो क्षायिक भाव है।

पं.ध./ उ./९६८ यथास्वं प्रत्यनीकानां कर्मणां सर्वतः क्षयात्। जातो यः क्षायिको भावः शुद्धः स्वाभाविकोऽस्य सः ।९६८।—प्रतिपक्षी कर्मोंके यथा-योग्य सर्वथा क्षयके होनेसे आत्मामें जो भाव उत्पन्न होता है वह शुद्ध स्वाभाविक क्षायिक भाव कहलाता है ।९६८।

स. सा./ता. वृ./३२०/४०८/२१ आगमभाषयौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकं भावत्रयं भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते।—आगममें औपशमिक, क्षायोपशमिक व क्षायिक तीन भाव कहे जाते हैं। और अध्यात्म भाषामें शुद्धआत्माके अभिमुख जो परिणाम है, उसको शुद्धोपयोग आदि नामोंसे कहा जाता है।

२. क्षायिक भावके भेद

त. सू./२/३-४ सम्यक्त्वचारित्रे ।३। ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ।४।—क्षायिक भावके नौ भेद हैं—क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र। (ध. ५/१,७,१/१९०/११); (न. च./३७२); (त. सा./२/६); (नि. सा./ता.वृ./४१); (गो.जी./मू.३००); (गो. क./मू./८१६)।

ष. खं/१४/५,६/१८/१५ जो सो खइओ अविवागपच्चइयो जीवभावबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—से खीणकोहे खीणमाणे खीणमाये खीणलोहे खीणरागे खीणदोसे, खीणमोहे खीणकसायवीयरायछदुमत्थे खइयसम्मत्तं खाइय चारित्तं खइया दाणलद्धी खइया लाहलद्धी खइया भोगलद्धी खइया परिभोगलद्धी खइया वीरियलद्धी केवलणाणं केवलदंसणं सिद्धे बुद्धे परिणिव्वुदे सव्वदुक्खाणमंतयडेत्ति जे चामण्णे एवमादिया खइया भावा सो सव्वो खइयो अविवागपच्चइयो जीवभावबंधो णाम ।१८। —जो क्षायिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभाव-बन्ध है उसका निर्देश इस प्रकार है—क्षीणक्रोध, क्षीणमान, क्षीणमाया, क्षीणलोभ, क्षीणराग, क्षीणदोष, क्षीणमोह, क्षीणकषाय-वीतराग छद्मस्थ, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, क्षायिक दानलब्धि, क्षायिक लाभलब्धि, क्षायिक भोगलब्धि, क्षायिक परिभोगलब्धि, क्षायिक वीर्य लब्धि, केवलज्ञान, केवलदर्शन, सिद्ध-बुद्ध, परिनिर्वृत्त, सर्वदुःख अन्तकृत्, इसी प्रकार और भी जो दूसरे क्षायिक भाव होते हैं वह सब क्षायिक अविपाक-प्रत्ययिक जीवभावबन्ध है ।१८।

३. नीच गतियों आदिमें क्षायिक भावका अभाव है

ध.५/१,७,२८/२१५/१ भवणवासिय-वाणवेंतर-जोदिसिय-बिदियादिछपुढविणेरइय-सव्वविगलिंदिय-लद्धिअपज्जत्तित्थीवेदेसु सम्माइट्ठीणमुववादाभावा, मणुसगइवदिरित्तण्णगईसु दंसणमोहणीयस्स खवणाभावा च।—भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क देव, द्वितीयादि छह पृथिवियोंके नारकी, सर्व विकलेन्द्रिय, सर्व लब्ध्यपर्याप्तक, और स्त्रीवेदियोंमें सम्यग्दृष्टि जीवोंकी उत्पत्ति नहीं होती है, तथा मनुष्यगतिके अतिरिक्त अन्य गतियोंमें दर्शन मोहनीय कर्मकी क्षपणाका अभाव है।

४. क्षायिक भावमें भी कथंचित् कर्म जनितत्व

पं. का./मू./५८ कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा। खइयं खओवसमियं तम्हा भाव तु कम्मकदं।

पं. का./ता.वृ./५६/१०६/१० क्षायिकभावस्तु केवलज्ञानादिरूपो यद्यपि वस्तुवृत्त्या शुद्धबुद्धैकजीवस्वभावः तथापि कर्मक्षयेणोत्पन्नत्वादुपचारेण कर्मजनित एव।—१. कर्म बिना जीवको उदय, उपशम, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक भाव नहीं होता, इसलिए भाव (चतुर्विध जीवभाव) कर्मकृत् हैं ।५८। (पं.का./त.प्र./५८) २. क्षायिकभाव तो केवलज्ञानादिरूप है। यद्यपि वस्तु वृत्तिसे शुद्ध-बुद्ध एक जीवका स्वभाव है, तथापि कर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेके कारण उपचारसे कर्मजनित कहा जाता है।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

१. अनिवृत्तिकरण आदि गुणस्थानों व संयम मार्गणामें क्षायिक भाव सम्बन्धी शंका समाधान। —दे० वह वह नाम
२. क्षायिकभावमें आगम व अध्यात्मपद्धतिका प्रयोग —दे० पद्धति
३. क्षायिक भाव जीवका निज तत्त्व है —दे० भाव/२
४. अन्तराय कर्मके क्षयसे उत्पन्न भावों सम्बन्धी शंका-समाधान —दे० वह वह नाम
५. मोहोदयके अभावमें भगवान्‌की औदयिकी क्रियाएँ भी क्षायिकी हैं —दे० उदय/६
६. क्षायिक सम्यग्दर्शन —दे० सम्यग्दर्शन/IV/५

क्षयोपशम—कर्मोंके एकदेश क्षय तथा एकदेश उपशम होनेको क्षयोपशम कहते हैं। यद्यपि यहाँ कुछ कर्मोंका उदय भी विद्यमान रहता है परन्तु उसकी शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जानेके कारण व जीवके गुणको घातनेमें समर्थ नहीं होता। पूर्ण शक्तिके साथ उदयमें न आकर, शक्ति क्षीण होकर उदयमें आना ही यहाँ क्षय या उदयाभावी क्षय कहलाता है, और सत्तावाले सर्वघाती कर्मोंका अकस्मात् उदयमें न आना ही उनका सदवस्थारूप उपशम है। यद्यपि क्षीण शक्ति या देश-

घाती कर्मोंका उदय प्राप्त होनेकी अपेक्षा यहाँ औदयिक भाव भी कहा जा सकता है, परन्तु गुणके प्रगट होनेवाले अंशकी अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव ही कहते हैं, औदयिक नहीं, क्योंकि कर्मोंका उदय गुणका घातक है साधक नहीं।

१. भेद व लक्षण निर्देश

१. क्षयोपशमका लक्षण

१. उदयाभाव क्षय आदि

स.सि./२/५/१५७/३ सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव सदुपशमाद्देशघातिस्पर्द्धकानामुदये क्षायोपशमिको भावो भवति। –वर्तमान कालमें सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उदयाभावी क्षय होनेसे और आगामी कालकी अपेक्षा उन्हींका सदवस्थारूप उपशम होनेसे देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय रहते हुए क्षायोपशमिक भाव होता है। (स.सि./१/२२/१२७/१), (रा.वा./१/२२/१/८१); (रा.वा./२/५/३/१०७/१); (द्र.सं./टी./३०/६६/२)।

पं.का./त.प्र./५६ कर्मणां फलदानसमर्थतयो···उद्भूत्यनुद्भूती क्षयोपशमः। –फलदानसमर्थ रूपसे कर्मोंका···उद्भव तथा अनुद्भव सो क्षयोपशम है।

२. क्षय उपशम आदि

रा.वा./२/१/३/१००/१६ यथा प्रक्षालनविशेषात् क्षीणाक्षीणमदशक्तिकस्य कोद्रवस्य द्विधा वृत्तिः, तथा यथोक्तक्षयहेतुसंनिधाने सति कर्मण एकदेशस्य क्षयादेकदेशस्य च वीर्योपशमादात्मनो भाव उभयात्मको मिश्र इति व्यपदिश्यते। –जैसे कोदोंको धोनेसे कुछ कोदोंकी मदशक्ति क्षीण हो जाती है और कुछकी अक्षीण, उसी तरह परिणामोंकी निर्मलतासे कर्मोंके एकदेशका क्षय और एकदेशका उपशम होना मिश्रभाव है। इस क्षयोपशमके लिए जो भाव होते हैं उन्हें क्षायोपशमिक कहते हैं। (स.सि./२/१/१४९/७)।

ध. १/१,१,८/१६१/२ तत्क्षयादुपशमाच्चोत्पन्नो गुणः क्षायोपशमिकः। –कर्मोंके क्षय और उपशमसे उत्पन्न हुआ गुण क्षायोपशमिक कहलाता है।

ध. ७/२,१,४९/९२/७ सव्वघादिफद्दयाणि अणंतगुणहीणाणि होदूण देसघादिफद्दयत्तणेण परिणमिय उदयमागच्छंति, तेसिमणंतगुणहीणत्तं खओ णाम। देसघादिफद्दयसरूवेणवट्ठाणमुवसमो। तेहि खओवसमेहिं संजुत्तोदओ खओवसमो णाम। –सर्वघाति स्पर्धक अनन्तगुणे हीन होकर और देशघाती स्पर्धकोंमें परिणत होकर उदयमें आते हैं। उन सर्वघाती स्पर्धकोंका अनन्तगुण हीनत्व ही क्षय कहलाता है, और उनका देशघाती स्पर्धकोंके रूपसे अवस्थान होना उपशम है। उन्हीं क्षय और उपशमसे संयुक्त उदय क्षयोपशम कहलाता है। (ध. १४/५,६,१९/१०/२)।

३. आवृत भावमें शेष अंश प्रगट

ध. ५/१,७,१/१८५/२ कम्मोदए संते वि जं जीवगुणक्खंडमुवलंभदि सो खओवसमिओ भावो णाम। –कर्मोंके उदय होते हुए भी जो जीवगुणका खंड (अंग) उपलब्ध रहता है वह क्षायोपशम भाव है। (ध. ७/२,१,४५/८७/१); (गो.जी./जी.प्र./८/२९/१४); (द्र.सं./टी./३४/९९/९)।

४. देशघातीके उदयसे उपजा परिणाम

ध. ५/१,७,५/२००/३ सम्मत्तस्स देसघादिफद्दयाणमुदएण सह वट्टमाणो सम्मत्तपरिणामो खओवसमिओ। –सम्यक्त्वप्रकृतिके देशघाती स्पर्धकोंके उदयके साथ रहनेवाला सम्यक्त्व परिणाम क्षायोपशमिक कहलाता है। (द्र.सं./टी./३४/९९/९)।

५. गुणका एकदेश क्षय

ध. ७/२,१,४५/८७/३ णाणस्स विणासो खओ णाम, तस्स उवसमो एकदेसक्खओ, तस्स खओवसमसण्णा। –ज्ञानके विनाशका नाम क्षय है, उस क्षयका उपशम (अर्थात् प्रसन्नता) हुआ एकदेशक्षय। इस प्रकार ज्ञानके एकदेशीय क्षयकी क्षयोपशम संज्ञा मानी जा सकती है।

२. पाँचों लक्षणोंके उदाहरण

१. उदयाभावी क्षय आदिकी अपेक्षा

दे० मिश्र/२/६/१ मिथ्यात्वका उदयाभावी क्षय तथा उसीका सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यक्त्वके सर्वघाती स्पर्धकोंका उदय, इनसे होनेके कारण मिश्र गुणस्थान क्षायोपशमिक है।

दे. मिश्र/२/६/२ सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके देशघाती स्पर्धकोंके उदयरूप क्षयसे उसीके सदवस्थारूप उपशमसे तथा उसके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयसे होनेके कारण मिश्र गुणस्थान क्षायोपशमिक है।

दे. संयत/२/३/१ प्रत्याख्यानावरणीयके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षयसे, उसीके सदवस्थारूप उपशमसे और संज्वलनरूप देशघातीके उदयसे होनेके कारण प्रमत्त व अप्रमत्त गुणस्थान क्षायोपशमिक हैं।

दे. संयतासंयत/७.१. अनन्तानुबन्धी व अप्रत्याख्यानावरणके उदयाभावी क्षयसे, उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे तथा प्रत्याख्यानावरणीय, संज्वलन और नोकषायरूप देशघाती कर्मोंके उदयसे होनेके कारण संयतासंयत गुणस्थान क्षायोपशमिक है। २. अथवा अप्रत्याख्यानावरणके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षयसे तथा उसीके सदवस्थारूप उपशमसे और प्रत्याख्यानावरणरूप देशघाती कर्मके उदयसे होनेके कारण संयतासंयत गुणस्थान क्षायोपशमिक है।

दे. योग/३/४ वीर्यान्तराय कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षयसे, उसीके सदवस्थारूप उपशमसे तथा उसीके देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे होनेके कारण योग क्षायोपशमिक है।

२. क–क्षय व उपशम युक्त उदयकी अपेक्षा

दे. संयत/२/३/२ नोकषायके सर्वघाती स्पर्धकोंकी शक्तिका अनन्तगुणा क्षीण हो जाना सो उनका क्षय, उन्हींके देशघाती स्पर्धकोंका सदवस्थारूप उपशम, इन दोनोंसे युक्त उसीके देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे होनेके कारण प्रमत्त व अप्रमत्त संयत गुणस्थान क्षायोपशमिक हैं।

दे. संयत/२/३/३ प्रत्याख्यानावरणकी देशचारित्र विनाशक शक्तिका तथा संज्वलन व नोकषायोंकी सकलचारित्र विनाशक शक्तिका अभाव सो ही उनका क्षय तथा उन्हींके उदयसे उत्पन्न हुआ देश व सकल चारित्र सो ही उनका उपशम (प्रसन्नता)। दोनोंके योगसे होनेके कारण संयतासंयत आदि तीनों गुणस्थान क्षायोपशमिक हैं।

दे. क्षयोपशम/२/१ मिथ्यात्वकर्मकी शक्तिका सम्यक्त्वप्रकृतिमें क्षीण हो जाना सो उसका क्षय तथा उसीकी प्रसन्नता अर्थात् उसके उदयसे उत्पन्न हुआ कुछ मलिन सम्यक्त्व, सो ही उसका उपशम। दोनोंके योगसे होनेके कारण वेदक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक है।

२. ख–उदय व उपशमके योगकी अपेक्षा

दे. क्षयोपशम/२/२ सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होनेसे वेदक सम्यक्त्व औदयिक है और सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभाव होनेसे औपशमिक है। दोनोंके योगसे वह उदयोपशमिक है।

दे. मिश्र/२/६/४ सम्यग्मिथ्यात्वके देशघाती स्पर्धकोंका उदय और उसीके सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावी उपशम। इन दोनोंके योगसे मिश्रगुणस्थान उदयोपशमिक है।

दे. मतिज्ञान/२/४ अपने-अपने कर्मोंके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावीरूप उपशमसे तथा उन्हींके देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण मति आदि ज्ञान व चक्षु आदि दर्शन क्षायोपशमिक हैं।

३. आवृतभावमें गुणांशकी उपलब्धि

दे. मिश्र/२/८ सम्यग्मिथ्यात्व कर्ममें सम्यक्त्वका निरन्वय घात करनेकी शक्ति नहीं है। उसका उदय होनेपर जो शबलित श्रद्धान उत्पन्न होता है, उसमें जितना श्रद्धाका अंश है वह सम्यक्त्वका अवयव है। इसलिए मिश्रगुणस्थान क्षायोपशमिक है।

४. देशघातीके उदय मात्रकी अपेक्षा

दे. क्षयोपशम/२/५ सम्यक् श्रद्धानको घातनेमें असमर्थ सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे होनेके कारण वेदक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक है।

दे. मिश्र/२/६/३ केवल सम्यग्मिथ्यात्वके उदयसे मिश्रगुणस्थान होता है, क्योंकि यहाँ मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी और सम्यक्त्वप्रकृति, इनमेंसे किसीका भी उदयाभावी क्षय नहीं है।

दे. संयतासंयत/७ संज्वलन व नोकषायके क्षयोपशम संज्ञावाले देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे होनेके कारण संयतासंयत गुणस्थान क्षायोपशमिक है।

दे. मतिज्ञान/२/४ मिथ्यात्वके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयसे तथा अपने-अपने ज्ञानावरणीयके देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे होनेके कारण मति अज्ञान आदि तीनों अज्ञान क्षायोपशमिक हैं।

५. गुणके एक देशक्षयकी अपेक्षा

(दे० उपशीर्षक नं० २ क व २ ख)

६. क्षायोपशमिकको औदयिक आदि नहीं कह सकते

दे. क्षयोपशम/२/३ देश संयत आदि तीन गुणस्थानोंको उदयोपशमिक कहनेवाला कोई उपदेश प्राप्त नहीं है।

दे. क्षयोपशम/२/४ मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी और सम्यक्त्वप्रकृति इन तीनोंका सदवस्थारूप उपशम रहनेपर भी मिश्र गुणस्थानको औपशमिक नहीं कह सकते।

दे. मिश्र/२/१० सम्यग्मिथ्यात्वके उदयसे होनेसे मिश्रगुणस्थान औदयिक नहीं हो जाता।

दे. संयत/२/४ संज्वलनके उदयसे होनेपर भी संयत गुणस्थानको औदयिक नहीं कह सकते।

३. क्षयोपशमिक भावके भेद

ष. खं./१४/५.६/१६/१८ जो सो तदुभयपच्चइयो जीवभावबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—खओवसामयं एइंदियलद्धि त्ति वा खओवसमियं बीइंदियलद्धि त्ति वा खओवसमियं तीइंदियलद्धि त्ति वा खओवसमियं चउरिंदियलद्धि त्ति वा खओवसमियं पंचिंदियलद्धि त्ति वा खओवसमियं मदिअण्णाणि त्ति वा खओवसमियं सुदअण्णाणि त्ति वा खओवसमियं विहंगणाणि त्ति वा खओवसमियं आभिणिबोहियणाणि त्ति वा खओवसमियं सुदणाणि त्ति वा खओवसमियं ओहिणाणि त्ति वा खओवसमियं मणपज्जवणाणि त्ति वा खओवसमियं चक्खुदंसणि त्ति वा खओवसमियं अचक्खुदंसणि त्ति वा खओवसमियं ओहिदंसणि त्ति वा खओवसमियं सम्मामिच्छत्तलद्धि त्ति वा खओवसमियं सम्मत्तलद्धि त्ति वा खओवसमियं संजमासंजमलद्धि त्ति वा खओवसमियं संजमलद्धि त्ति वा खओवसमियं दाणलद्धि त्ति वा खओवसमियं लाहलद्धि त्ति वा खओवसमियं भोगलद्धि त्ति वा खओवसमियं परिभोगलद्धि त्ति वा खओवसमियं वीरियलद्धि त्ति वा खओवसमियं से आयारधरे त्ति वा खओवसमियं सुदयडधरे त्ति वा खओवसमियं ठाणधरेत्ति वा खओवसमियं समवायधरे त्ति वा खओवसमियं वियाहपण्णधरे त्ति वा खओवसमियं णाहधम्मधरे त्ति वा खओवसमियं उवासयज्झेणधरे त्ति वा खओवसमियं अंतयडधरे त्ति वा खओवसमियं अणुत्तरोववादियदसधरे त्ति वा खओवसमियं पण्णवागरणधरे त्ति वा खओवसमियं विवागसुत्तधरे त्ति वा खओवसमियं दिट्ठिवादधरे त्ति वा खओवसमियं गणि त्ति वा खओवसमियं वाचगे त्ति वा खओवसमियं दसपुव्वहरे त्ति वा खओवसमियं चोद्दसपुव्वहरे त्ति वा जे चामण्णे एवमादिया खओवसमियभावा सो सव्वो तदुभयपच्चइओ जीवभावबंधो णाम।१६। —जो तदुभय (क्षायोपशमिक) जीवभावबन्ध है उसका निर्देश इस प्रकार है।—एकेन्द्रियलब्धि, द्वीन्द्रिय लब्धि, त्रीन्द्रियलब्धि, पंचेन्द्रियलब्धि, मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी, आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी, अवधिदर्शनी, सम्यग्मिथ्यात्वलब्धि, सम्यक्त्वलब्धि, संयमासंयमलब्धि, संयमलब्धि, दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, परिभोगलब्धि, वीर्यलब्धि, आचारधर, सूत्रकृद्धर, स्थानधर, समवायधर, व्याख्याप्रज्ञप्तिधर, नाथधर्मधर, उपासकाध्ययनधर, अन्तकृद्धर, अनुत्तरौपपादिकदशधर, प्रश्नव्याकरणधर, विपाकसूत्रधर, दृष्टिवादधर, गणी, वाचक, दशपूर्वधर तथा क्षायोपशमिक चतुर्दश पूर्वधर; ये तथा इसी प्रकारके और भी दूसरे जो क्षायोपशमिक भाव हैं वह सब तदुभय प्रत्ययिक जीव भावबन्ध हैं।

त. सू./२/५ ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च।५। —क्षायोपशमिक भावके १८ भेद हैं—चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच दानादि लब्धि, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम। (ध. ५/१,७,१/८/१९१); (ध. ५/११९/१,७,१/१९१/३); (म. च./३७१); (त. सा./२/४-५); (गो. जी./मू./३००); (गो. क./मू./८१७)।

४. क्षयोपशम सर्वात्मप्रदेशोंमें होता है

ध. १/१,१,२३/२३३/२ सर्वजीवावयवेषु क्षयोपशमस्योत्पत्त्यभ्युपगमात्। —जीवके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें क्षयोपशमकी उत्पत्ति स्वीकार की है।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

१. गुणस्थानों व मार्गणा स्थानोंमें क्षायोपशमिक भावोंका सत्त्व। —दे० भाव/२
२. गुणस्थानों व मार्गणा स्थानोंमें क्षायोपशमिक भावों विषयक शंका-समाधान। —दे० वह वह नाम
३. क्षायोपशमिक भावका कथंचित् मूर्तत्व। —दे० मूर्त/८
४. क्षायोपशमिक भाव बन्धका कारण नहीं, औदयिक है। —दे० भाव/२
५. क्षायोपशमिक भाव जीवका निज तत्त्व है। —दे० भाव/२
६. मिथ्याज्ञानको क्षायोपशमिक कहने सम्बन्धी। —दे० ज्ञान/III/३/४
७. क्षायोपशमिक भावको मिश्र भाव कहते हैं। —दे० भाव/२
८. क्षायोपशमिक भावको मिश्र कहने सम्बन्धी शंका-समाधान। —दे० मिश्र/२

२. क्षयोपशमके लक्षणोंका समन्वय

★ वेदक सम्यग्दर्शन—दे० सम्यग्दर्शन/IV/४।

१. वेदक सम्यग्दर्शनको क्षयोपशम कैसे कहते हो, औदयिक क्यों नहीं

ध. ५/१,७,५/२००/७ कधं पुण वढदे। जहट्ठियट्ठसद्दहणघायणसत्ती सम्मत्तफद्दएसु खीणा त्ति तेसिं खइयसण्णा। खयाणमुवसमो पसण्णदा खओवसमो। तत्थुप्पण्णत्तादो खओवसमियं वेदगसम्मत्तमिदि वढदे। —प्रश्न—(क्षयोपशमके प्रथम लक्षणके अनुसार) वेदक सम्य-

त्वमें क्षयोपशम भाव कैसे? उत्तर—यथास्थित अर्थके श्रद्धानको घात करनेवाली शक्ति जब सम्यक्त्व प्रकृतिके स्पर्धकोंमें क्षीण हो जाती है, तब उनकी क्षायिक संज्ञा है। क्षीण हुए स्पर्धकोंके उपशमको अर्थात् प्रसन्नताको क्षयोपशम कहते हैं। उसमें उत्पन्न होनेसे वेदक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक है।

ध. ७/२,१,७३/१०८/७ सम्मत्तदेसघादिफद्दयाणमणंतगुणहाणीए उदयमागदाणमइदहरदेसघादित्तणेण उवसंताणं जेण खओवसमसण्णा अत्थि तेण तदुप्पण्णजीवपरिणामो खओवसमलद्धी सण्णिदो। तीए खओवसमलद्धीए वेदगसम्मत्तं होदि।—अनन्तगुण हानिके द्वारा उदयमें आये हुए तथा अत्यन्त अल्प देशघातिरूपके रूपसे उपशान्त हुए सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृतिके देशघातिस्पर्धकोंका चूँकि क्षयोपशम नाम दिया गया है, इसलिए उस क्षयोपशमसे उत्पन्न जीव परिणामको क्षयोपशमलब्धि कहते हैं। उसी क्षयोपशम लब्धिसे वेदक सम्यक्त्व होता है।

२. क्षयोपशम सम्यग्दर्शनको कथंचित् उदयोपशमिक भी कहा जा सकता है

ध./ १४/५,६,१९/२१/११ सम्मत्तदेसघादिफद्दयाणमुदएण सम्मत्तुप्पत्तीदो ओदइयं। ओवसमियं पि तं, सव्वघादिफद्दयाणमुदयाभावादो। — सम्यक्त्वके देशघाति स्पर्धकोंके उदयसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है, इसलिए तो वह औदयिक है। और वह औपशमिक भी है, क्योंकि वहाँ सर्वघाति स्पर्धकोंका उदय नहीं पाया जाता। (दे० मिश्र/२/६/४)।

३. क्षायोपशमिक भावको उदयोपशमिकपने सम्बन्धी

ध. ५/१,७,७/२०१/६ उदयस्स विज्जमाणस्स खयव्ववएसविरोहादो। तदो एदे तिण्णि भावा उदओवसमियत्तं पत्ता। ण च एवं, एदेसिमुदओवसमियत्तपदुप्पायणसुत्ताभावा।—प्रश्न—जिस प्रकृतिका उदय विद्यमान है, उसके क्षय संज्ञा होनेका विरोध है। इसलिए ये तीनों ही भाव (देशसंयतादि) उदयोपशमिकपनेको प्राप्त होते हैं। उत्तर—नहीं, क्योंकि इन गुणस्थानोंको उदयोपशमिकपना प्रतिपादन करनेवाले सूत्रका अभाव है।

★ क्षायोपशमिक भावको औदयिक नहीं कह सकते
—दे० मिश्र/२

४. परन्तु सदवस्थारूप उपशमके कारण उसे औपशमिक नहीं कह सकते

ध.१/१/१,११/१६६/७ [उपशमसम्यग्दृष्टौ सम्यग्मिथ्यात्वगुणं प्रतिपन्ने सति सम्यग्मिथ्यात्वस्य क्षायोपशमिकत्वमनुपपन्नं तत्र सम्यग्मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनामुदयक्षयाभावात्।] तत्रोदयाभावलक्षण उपशमोऽस्तीति चेन्न, तस्यौपशमिकत्वप्रसङ्गात्। अस्तु चेन्न, तथाप्रतिपादकस्यार्षस्याभावात्। —[उपशम सम्यग्दृष्टिके सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेपर उस सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें क्षयोपशमपना नहीं बन सकता है, क्योंकि, उपशम सम्यक्त्वसे तृतीय गुणस्थानमें आये हुए जीवके ऐसी अवस्थामें सम्यक्-प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोंका उदयाभावी क्षय नहीं पाया जाता है।] प्रश्न—उपशम सम्यक्त्वसे आये हुए जीवके तृतीय गुणस्थानमें सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोंका उदयाभाव रूप उपशम तो पाया जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि इस तरह तो तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भाव मानना पड़ेगा। प्रश्न—तो तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भाव भी मान लिया जावे? उत्तर—नहीं, क्योंकि, तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भावका प्रतिपादन करनेवाला कोइ आर्ष वाक्य नहीं है।

५. फिर वेदक व क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें क्या अन्तर

ध. १/१,१,११/१७२/६ ···उप्पज्जइ जदो तदो वेदयसम्मत्तं खओवसमियमिदि केसिंचि आइरियाणं वक्खाणं तं किमिदि णेच्छिज्जदि, इदि चेत्तण्ण, पुव्वं उत्तुत्तरादो।

ध. १/१,१,११/१६६/५ वस्तुतस्तु सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणो निरन्वयेनाप्तागम पदार्थविषयरुचिहननं प्रत्यसमर्थस्योदयात्सदसद्विषयश्रद्धोत्पद्यत इति—१. प्रश्न—जब क्षयोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न होता है तब उसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। ऐसा कितने ही आचार्योंका मत है, उसे यहाँ पर क्यों नहीं स्वीकार किया गया है? उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इसका उत्तर पहले दे चुके हैं। २. यथा—वास्तवमें तो सम्यग्मिथ्यात्व कर्म निरन्वय रूपसे आप्त, आगम और पदार्थविषयक श्रद्धाके नाश करनेके प्रति असमर्थ है, किन्तु उसके उदयसे सत्-समीचीन और असत्-असमीचीन पदार्थको युगपत् विषय करने वाली श्रद्धा उत्पन्न होती है।

ध. १/१,१,१४६/३९८/१ कथमस्य वेदकसम्यग्दर्शनव्यपदेश इति चेदुच्यते। दर्शनमोहवेदको वेदकः, तस्य सम्यग्दर्शनं वेदकसम्यग्दर्शनम्। कथं दर्शनमोहोदयवतां सम्यग्दर्शनस्य सम्भव इति चेन्न, दर्शनमोहनीयस्य देशघातिन उदये सत्यपि जीवस्वभावश्रद्धानस्यैकदेशे सत्यविरोधात्। —प्रश्न—क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको वेदक सम्यग्दर्शन यह संज्ञा कैसे प्राप्त होती है? उत्तर—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका वेदन करनेवाले जीवको वेदक कहते हैं, उसके जो सम्यग्दर्शन होता है उसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। प्रश्न—जिनके दर्शनमोहनीय कर्मका उदय विद्यमान है, उनके सम्यग्दर्शन कैसे पाया जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, दर्शनमोहनीयको देशघाति प्रकृतिके उदय रहनेपर भी जीवके स्वभावरूप श्रद्धानके एकदेश रहनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

गो.जी./जी.प्र./२५/५०/१८ सम्यक्त्वप्रकृत्युदयस्य तत्त्वार्थश्रद्धानस्य मलजननमात्र एव व्यापारात् ततः कारणात् तस्य देशघातित्वं भवति। एवं सम्यक्त्वप्रकृत्युदयमनुभवतो जीवस्य जायमानं तत्त्वार्थश्रद्धानं वेदकसम्यक्त्वमित्युच्यते। इदमेव क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं नाम, दर्शनमोहसर्वघातिस्पर्धकानामुदयाभावलक्षणक्षये देशघातिस्पर्धकरूपसम्यक्त्वप्रकृत्युदये तस्यैवोपरितनानुदयप्राप्तस्पर्धकानां सदवस्थालक्षणोपशमे च सति समुत्पन्नत्वात्। —सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयका तत्त्वार्थ श्रद्धान कौं मल उपजावने मात्र ही विषैं व्यापार है तीहि कारणतैं तिस सम्यक्त्वप्रकृतिकैं देशघातिपना है ऐसैं सम्यक्त्वप्रकृतिकैं उदयकौं अनुभवता जीवके उत्पन्न भया जो तत्त्वार्थ श्रद्धान सो वेदक सम्यक्त्व है ऐसा कहिए है। यह ही वेदक सम्यक्त्व है सो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व ऐसा नाम धारक है जातैं दर्शनमोहके सर्वघाति स्पर्धकनिका उदयका अभावरूप है लक्षण जाका ऐसा क्षय होतैं बहुरि देशघातिस्पर्धकरूप सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होतैं बहुरि तिसहीका वर्तमान समय सम्बन्धीतैं ऊपरिके निषेक उदयकौं न प्राप्त भये तिनिसम्बन्धी स्पर्धकनिका सत्ता अवस्था रूप उपशम होतैं वेदक सम्यक्त्व हो है तातैं याहीका दूसरा नाम क्षायोपशमिक है भिन्न नाहीं है।

★ कर्म क्षयोपशम व आत्माभिमुख परिणाममें केवल भाषाका भेद है—दे० पद्धति।

३. क्षयोपशम सम्यक्त्व व संयमादि आरोहण विधि

१. क्षयोपशम सम्यक्त्व आरोहणमें दो करण हो हैं

ल. सा./जी.प्र./१७२/२२४/६ कर्मणां क्षयोपशमनविधाने निर्मूलक्षयविधाने चानिवृत्तिकरणपरिणामस्य व्यापारो न क्षयोपशमविधाने इति प्रवचने प्रतिपादितत्वात्। –कर्मोंके उपशम वा क्षय विधान ही विषैं अनिवृत्तिकरण हो है। क्षयोपशम विषैं होता नाहीं। ऐसा प्रवचनमें कहा है।

२. संयमासंयम आरोहणमें कथंचित् ३ व २ करण

ध./६/१,६-८,१४/२७०/१० पढमसम्मत्तं संजमासंजमं च अक्कमेण पडिवज्जमाणो वि तिण्णि वि करणाणि कुणदि।···असंजदसम्मादिट्ठी अट्ठावीससंतकम्मियवेदगसम्मत्तपाओग्गमिच्छादिट्ठी वा जदि संजमासंजमं पडिवज्जदि तो दो चेव करणाणि, अणियट्टीकरणस्स अभावादो। –प्रथमोपशम सम्यक्त्वको और संयमासंयमको एक साथ प्राप्त होने वाला जीव भी तीनों ही करणोंको करता है।··· असंयतसम्यग्दृष्टि अथवा मोहनीय कर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला वेदकसम्यक्त्व प्राप्त करनेके योग्य मिथ्यादृष्टि जीव यदि संयमासंयमको प्राप्त होता है, तो उसके दो ही करण होते, हैं क्योंकि उसके अनिवृत्तिकरण नहीं होता है। (ध ६/१,६-८,१४/२६८/६); (ल.सा /मू./१७१)।

ध.६/१,६-८,१४/२७३/६ जदि संजमासंजमादो परिणामपच्चएण णिग्गदो संतो पुणरवि अंतोमुहुत्तेण परिणामपच्चएण आणीदो संजमासंजमं पडिवज्जदि, दोण्हं करणाणमभावादो तत्थ णत्थि ट्ठिदिघादो अणुभागघादो वा। कुदो। पुव्वं दोहि करणेहिघादिदट्ठिदि-अणुभागाणं वड्ढीहि विणा संजमासंजमस्स पुणरागमणादो। –यदि परिणामोंके योगसे संयमासंयमसे निकला हुआ, अर्थात् गिरा हुआ, फिर भी अन्तर्मुहूर्तके द्वारा परिणामोंके योगसे लाया हुआ संयमासंयमको प्राप्त होता है तो अधःकरण और अपूर्वकरण, इन दोनों करणोंका अभाव होनेसे वहाँपर स्थितिघात व अनुभाग घात नहीं होता है क्योंकि पहले उक्त दोनों करणोंके द्वारा घात किये गये स्थिति और अनुभागोंकी वृद्धिके बिना वह संयमासंयमको पुन प्राप्त हुआ है।

ल. सा./मू./१७०-१७१ मिच्छो देसचरित्तं वेदगसम्मेण गेण्हमाणो हु। दुकरणचरिमे गेण्हादि गुणसेढी णत्थि तक्करणे। सम्मत्तुप्पत्तिं वा थोवबहुत्तं च होदि करणाणं। ठिदिखंडसहस्सगदे अपुव्वकरणं समप्पदि हु।१७१। –अनादि वा सादि मिथ्यादृष्टि जीव उपशमसम्यक्त्व सहित देश चारित्रको गृहै है सो दर्शनमोहका उपशम विधान जैसे पूर्वे वर्णन किया तैसे ही विधान करि तीन करणनिकी अन्त समय विषैं देश चारित्रको गृहै है।१७०। सादि मिथ्यादृष्टि जीव वेदक सम्यक्त्व सहित देश चारित्रकौ ग्रहण करै ताकै अधःकरण और अपूर्वकरण ये दो ही करण होंइ, तिनि विषैं गुणश्रेणी निर्जरा न होइ।१७१।

३. संयमासंयम आरोहण विधान

ल.सा./जी.प्र./१७०-१७६ सारार्थ–सादि अथवा अनादि मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्व सहित जब ग्रहण करता है तब दर्शनमोह विधानवत् तैसे विधान करके तीन करणनिका अन्त समयविषै देशचारित्र ग्रहै है।१७०। सादि मिथ्यादृष्टि जीव वेदक सम्यक्त्व सहित देश चारित्रको ग्रहै है ताकै अधःकरण अपूर्वकरण ए दोय ही करण होंय तिनविषैं गुणश्रेणी निर्जरा न हो है। अन्य स्थिति खण्डादि सर्व कार्योंको करता हुआ अपूर्वकरणके अन्त समयमें युगपत् वेदक सम्यक्त्व अर देशचारित्रको ग्रहण करै है। यहाँ अनिवृत्तिकरणके बिना भी इनकी प्राप्ति संभवै है। बहुरि अपूर्वकरणका कालविषैं संख्यात हजार स्थिति खण्ड भयें अपूर्वकरणका काल समाप्त हो है। असंयत वेदक सम्यग्दृष्टि भी दोय करणका अंतसमय विषैं देशचारित्रको प्राप्त हो है। मिथ्यादृष्टिका व्याख्यान तैं सिद्धान्तके अनुसारि असंयतका भी ग्रहण करना।१७१-१७२। अपूर्वकरणका अन्त समयके अनन्तरवर्ती समय विषैं जीव देशव्रती होइ करि अपने देशव्रतका काल विषै आयुके बिना अन्य कर्मनिका सर्व सत्त्व द्रव्य अपकर्षणकरि उपरितन स्थिति विषै अर बहुभाग गुणश्रेणी आयाम विषैं देना।१७३। देशसंयत प्रथम समयतैं लगाय अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त समय-समय अनन्तगुणा विशुद्धता करि बंधै है सो याकौ एकान्तवृद्धि देशसंयत कहिये। इसके अन्तर्मुहूर्त काल पश्चात् विशुद्धताकी वृद्धि रहित हो स्वस्थान देशसंयत होइ याकौं अथाप्रवृत्त देशसंयत भी कहिये।१७४। अथाप्रवृत्त देशसंयत जीव सो कदाचित् विशुद्ध होइ कदाचित् संक्लेशी होइ तहाँ विवक्षित कर्मका पूर्व समयविषै जो द्रव्य अपकर्षण कीया तातैं अनन्तर समय विषैं विशुद्धताकी वृद्धिके अनुसारि चतुःस्थान पतित वृद्धि लिये गुणश्रेणि विषैं निक्षेपण करै है।

४. क्षायोपशमिक संयममें कथंचित् ३ व २ करण

ध.६/१,६-८,१४/२८१/१ तत्थ खओवसमचारित्तपडिवज्जणविहाणं उच्चदे। तं जहा—पढमसम्मत्तं संजमं च जुगवं पडिवज्जमाणो तिण्णि वि करणाणि काऊण पडिवज्जदि।···जदि पुण अट्ठावीससंतकम्मिओ मिच्छादिट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदो वा संजमं पडिवज्जदि तो दो चेव करणाणि, अणियट्टीकरणस्स अभावादो। ···संजमादो णिग्गदो असंजमं गंतूण जदि ट्ठिदिसंतकम्मेण अवट्ठिदेण पुणो संजमं पडिवज्जदि तस्स संजमं पडिवज्जमाणस्स अपुव्वकरणाभावादो णत्थि ट्ठिदिघादो अणुभागघादो वा। असंजमं गंतूण वड्ढाविदठिदि-अणुभागसंतकम्मस्स दो वि घादा अत्थि, दोहि करणेहि विणा तस्स संजमग्गहणाभावा। –क्षायोपशमिक चारित्रको प्राप्त करनेका विधान कहते हैं। वह इस प्रकार है—प्रथमोपशम सम्यक्त्व और संयमको एक साथ प्राप्त करनेवाला जीव तीनोंही करणोंको करके (संयम को) प्राप्त होता है। पुनः मोहनीयकर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, अथवा संयतासंयत जीव संयमको प्राप्त करता है, तो दो ही करण होते हैं, क्योंकि, उसके अनिवृत्तिकरणका अभाव होता है···। संयमसे निकलकर और असंयमको प्राप्त होकर यदि अवस्थित स्थिति सत्त्वके साथ पुनः संयमको प्राप्त होनेवाले उस जीवके अपूर्वकरणका अभाव होनेसे न तो स्थिति घात होता है और न अनुभाग घात होना है। (इसलिए वह जीव संयमासंयमवत् पहले ही दोनों करणों द्वारा घात किये गये स्थिति और अनुभागकी वृद्धिके बिना ही करणोंके संयमको प्राप्त होता है) किन्तु असंयमको जाकर स्थिति सत्त्व और अनुभाग सत्त्वको बढ़ानेवाला जीवके दोनों ही घात होते हैं, क्योंकि दोनों करणोंके बिना उसके संयमका ग्रहण नहीं हो सकता।

५. क्षायोपशमिक संयम आरोहण विधान

ल. सा./मू./१८९-१९० सयलचरित्तं तिविहं खयउवसमि उवसमं च खइयं च। सम्मत्तुप्पत्तिं वा उवसमसम्मेण गिण्हदो पढमं।१८९। वेदकजोगो मिच्छो अविरददेसो य दोण्णि करणेण। देसवदं वा गिण्हदि गुणसेढी णत्थि तक्करणे।१९०।

ल. सा./जी. प्र./१९१/२४५/७ इतः परमल्पबहुत्वपर्यन्तं देशसंयते यादृशी प्रक्रिया तादृश्येवात्रापि सकलसंयते भवतीति ग्राह्यम्। अयं तु विशेषः—यत्र यत्र देशसंयत इत्युच्यते तत्र तत्र स्थाने विरत इति वक्तव्यं भवति। –१. सकल चारित्र तीन प्रकार है—क्षायोपशमिक, औपशमिक व क्षायिक। तहाँ पहला क्षायोपशमिक चारित्र सातवें वा छठे गुणस्थान

बिषै पाइये है ताकौं जो औप उपशम सम्यक्त्व सहित ग्रहण करै है सो मिथ्यात्व तैं ग्रहण करैं हैं ताका तो सर्व विधान प्रथमोपशम सम्यक्त्ववत् जानना। क्षयोपशम सम्यक्त्वको ग्रहता जीव पहले अप्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त हो है।१८१। वेदक सम्यक्त्व सहित क्षयोपशम चारित्रकौ मिथ्यादृष्टि, वा अविरत, व देशसंयत जीव देशव्रत ग्रहणवत् अधःप्रवृत्त वा अपूर्वकरण इन दोय करण करि ग्रहै है। तहाँ करण विषैं गुणश्रेणी नाहीं है। सकल संयमका ग्रहण समय तैं लगाय गुणश्रेणी हो है।१६०। २. =इहाँ तें ऊपर अल्प-बहुत्व पर्यन्त जैसैं पूर्वे देशविरतविषैं व्याख्यान किया है तैसे सर्व व्याख्यान यहाँ जानना। विशेषता इतनी—वहाँ-जहाँ देशविरत कह्या है इहाँ-तहाँ सकल विरत कहना।

६. क्षयोपशम भावमें दो ही करणोंका नियम क्यों

ल. सा./जी.प्र./१७२/२२४/६ अनिवृत्तिकरणपरिणामं बिना कथं देशचारित्रप्राप्तिरित्यपि नाशङ्कनीयं कर्मणां सर्वोपशमनविधाने निर्मूलक्षयविधाने चानिवृत्तिकरणपरिणामस्य व्यापारो न क्षयोपशमविधाने इति प्रवचने प्रतिपादितत्वात्। =प्रश्न—अनिवृत्तिकरण परिणामके बिना देशचारित्रकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? उत्तर—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि कर्मोंके उपशम व क्षय विधानमें ही अनिवृत्तिकरण परिणामका व्यापार होता है, क्षयोपशम विधानमें नहीं, ऐसा प्रवचनमें प्रतिपादित किया गया है।

७. उत्कृष्ट स्थिति व अनुभागके बन्ध वा सत्त्वमें संयमासंयम व संयमकी प्राप्ति संभव नहीं

ध. १२/४,२,१०२/३०३/१० उक्कस्सट्ठिदिसंते उक्कस्साणुभागे च संते बज्झमाणे च सम्मत्त-संजम-संजमासंजमाण गहणाभावादो। =उत्कृष्ट स्थिति सत्त्व और उत्कृष्ट अनुभाग सत्त्वके होनेपर तथा उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभागके बँधनेपर सम्यक्त्व, संयम एवं संयमासंयमका ग्रहण सम्भव नहीं है।

क्षांति—स्व. स्तो./१६/३६ क्षान्तिः क्षमा। =क्षमा व शान्ति एकार्थवाची है।

स. सि./६/१२/३३१/५ क्रोधादिनिवृत्तिः क्षान्तिः। =क्रोधादि दोषोंका निराकरण करना क्षान्ति है। (रा.वा./६/१२/६/५२३/१); (गो. क./जी. प्र./८०१/६८०/१४)।

क्षायिक उपभोग—दे० उपभोग।

क्षायिक चारित्र—दे० चारित्र/१।

क्षायिक दान—दे० दान।

क्षायिक भाव—दे० क्षय/४।

क्षायिक भोग—दे० भोग।

क्षायिक लब्धि—दे० लब्धि/१।

क्षायिक लाभ—दे० लाभ।

क्षायिक वीर्य—दे० वीर्य।

क्षायिक सम्यक्त्व—दे० सम्यग्दर्शन।

क्षायिक सम्यग्ज्ञान—दे० सम्यग्ज्ञान।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि—दे० सम्यग्दृष्टि/५/१।

क्षायिक सम्यग्दर्शन—दे० सम्यग्दर्शन/IV/५।

क्षायोपशमिक अज्ञान—दे० अज्ञान।

क्षायोपशमिक ज्ञान—दे० ज्ञान।

क्षायोपशमिक लब्धि—दे० लब्धि/२।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन—दे० सम्यग्दर्शन/IV/४।

क्षार राशि—एक ग्रह —दे० ग्रह।

क्षितिशयन—साधुका एक मूलगुण —दे० निद्रा/२।

क्षिप्र—दे० मतिज्ञान/४।

क्षीणकषाय—

१. क्षीण कषाय गुणस्थानका लक्षण

पं. सं./प्रा./१/२५-२६ णिस्सेसखीणमोहो फलिहामलभायणुदयसमचित्तो। खीणकसाओ भण्णइ णिग्गंथो वीयराएहिं।२५। जह सुद्धफलिहभायणखित्तं णीरं खु णिम्मलं सुद्धं। तह णिम्मलपरिणामो खीणकसाओ मुणेयव्वो।२६। =मोह कर्मके निःशेष क्षीण हो जानेसे जिसका चित्त स्फटिकके निर्मल भाजनमें रक्खे हुए सलिलके समान स्वच्छ हो गया है, ऐसे निर्ग्रन्थ साधुको वीतरागियोंने क्षीणकषाय संयत कहा है। जिस प्रकार निर्मली आदिसे स्वच्छ किया हुआ जल शुद्ध-स्वच्छ स्फटिकमणिके भाजनमें नितरा लेनेपर सर्वथा निर्मल एवं शुद्ध होता है, उसी प्रकार क्षीणकषाय संयतको भी निर्मल, स्वच्छ एवं शुद्ध परिणाम वाला जानना चाहिए।२५-२६। (ध. १/१, १,२१/१२३/१६०); (गो. जी./मू./६२); (पं.सं.सं./१/४८)।

रा. वा./६/१/२२/५६० सर्वस्य···क्षपणाच्च···क्षीणकषायः। =समस्त मोहका क्षय करनेवाला क्षीणकषाय होता है।

ध. १/१,१,२०/१८६/८ क्षीणः कषायो येषां ते क्षीणकषायाः। क्षीणकषायाश्च ते वीतरागाश्च क्षीणकषायवीतरागाः। छद्मनि आवरणे तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः। क्षीणकषायवीतरागाश्च ते छद्मस्थाश्च क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थाः। =जिनकी कषाय क्षीण हो गयी है उन्हें क्षीणकषाय कहते हैं। जो क्षीणकषाय होते हुए वीतराग होते हैं उन्हें क्षीणकषाय-वीतराग कहते हैं। जो छद्म अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरणमें रहते हैं उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। जो क्षीणकषाय वीतराग होते हुए छद्मस्थ होते हैं उन्हें क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं।

द्र. सं./टी०/१३/३५/६ उपशमश्रेणिविलक्षणेन क्षपकश्रेणिमार्गेण निष्कषायशुद्धात्मभावनाबलेन क्षीणकषाया द्वादशगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति। =उपशम श्रेणीसे भिन्न क्षपक श्रेणीके मार्गसे कषाय रहित शुद्धात्माकी भावनाके बलसे जिनके समस्त कषाय नष्ट हो गये हैं वे बारहवें गुणस्थानवर्ती होते हैं।

२. सम्यक्त्व व चारित्र दोनोंकी अपेक्षा इसमें क्षायिक भाव है

ध./१/१,१,२०/१६०/४ पञ्चसु गुणेषु कस्मादस्य प्रादुर्भाव इति चेद् द्रव्यभावद्वैविध्यादुभयात्मकमोहनीयस्य निरन्वयविनाशात्क्षायिकगुणनिबन्धनः। =प्रश्न—पाँच प्रकारके भावोंमेंसे किस भावसे इस गुणस्थानकी उत्पत्ति होती है? उत्तर—मोहनीयकर्मके दो भेद हैं—द्रव्यमोहनीय और भावमोहनीय। इस गुणस्थानके पहले दोनों प्रकारके मोहनीयकर्मका निरन्वय (सर्वथा) नाश हो जाता है, अतएव इस गुणस्थानकी उत्पत्ति क्षायिक गुणसे है।

३. शुभ प्रकृतियोंका अनुभाग घात नहीं होता

ध. १२/४,२,७,१४/१८/२ खीणकसाय-सजोगीसु ट्ठिदि-अणुभागघादेसु संतेसु वि सुहाणं पयडीणं अणुभागघादो णत्थि त्ति सिद्धे। =क्षीणकषाय और सयोगी गुणस्थानोंमें स्थिति घात व अनुभाग घात होनेपर भी शुभ प्रकृतियोंके अनुभागका घात वहाँ नहीं होता।

४. क्षीणकषाय गुणस्थानमें जीवोंका शरीर निगोद राशिसे शून्य हो जाता है

ष. खं /१४/५-६/ ३६२/४८७ सव्वुक्कस्सियाए गुणसेडीए मरणेण मदाण सव्वचिरेण कालेण णिल्लेविज्जमाणाणं तेसिं चरिमसमए मदावसिट्ठाणं आवलियाए असंखेज्जदिभागमेत्तो णिगोदाणं ।६३२।

ध. १४/५,६,६३/८५/१ खीणकसायस्स पढमसमए अणंता बादरणिगोदजीवा मरंति । ··· बिदियसमए विसेसाहिया जीवा मरंति···एवं तदियसमयादिसु विसेसाहिया विसेसाहिया मरंति जाव खीणकसायद्धाए पढमसमयप्पहुडि आवलियपुधत्तं गदं त्ति । तेण परं संखेज्जदि भागब्भहिया संखेज्जदि भागब्भहिया मरंति जाव खीणकसायद्धाए आवलियाए असंखेज्जदि भागो सेसो त्ति । तदो उवरिमाणंतरसमए असंखेज्जगुणा मरंति एवं असंखेज्जगुणा असंखेज्जगुणा मरंति जाव खीणकसायचरिमसमओ त्ति। ···एवमुवरि पि जाणिदूण वत्तव्वं जाव खीणकसायचरिमसमओ त्ति। =१. सर्वोत्कृष्ट गुणश्रेणि द्वारा मरणसे मरे हुए तथा सबसे दीर्घकालके द्वारा निर्लेप्य होनेवाले उन जीवोंके अन्तिम समयमें मृत होनेसे बचे हुए निगोदोंका प्रमाण आवलिके असंख्यातवें भाग प्रमाण है ।३६२। २. क्षीणकषाय हुए जीवके प्रथम समयमें अनन्त बादर निगोद जीव मरते हैं। दूसरे समयमें विशेष अधिक जीव मरते हैं।···इसी प्रकार तीसरे आदि समयों विशेष अधिक विशेष अधिक जीव मरते हैं। यह क्रम क्षीणकषायके प्रथम समयसे लेकर आवलि पृथक्त्व काल तक चालू रहता है। इसके आगे संख्यात भाग अधिक संख्यात भाग अधिक जीव मरते हैं। और यह क्रम क्षीणकषायके कालमें आवलिका संख्यातवाँ भाग काल शेष रहने तक चालू रहता है। इसके आगेके लगे हुए समयमें असंख्यात गुणे जीव मरते हैं। इस प्रकार क्षीण कषायके अन्तिम समय तक असंख्यातगुणे जीव मरते है।···इसी प्रकार आगे भी क्षीणकषायके अन्तिम समय तक जानकर कथन करना चाहिए। (ध. १४/५,६,/६३२/४८२/१०)।

ध. १४/५,६,६३/८६/१ संपहि खीणकसायपढमसमयप्पहुडि ताव बादरणिगोदजीवा उप्पज्जंति जाव तेसिं चेव जहण्णाउवकालो सेसो त्ति। तेण परं ण उप्पज्जंति। कुदो। उप्पण्णाणं जीवणीयकालाभावादो। तेण कारणेण बादरणिगोदजीवा एत्तो प्पहुडि जाव खीणकसायचरिमसमओ ति ताव सुद्धा मरंति चेव।

ध. १४/५,६,११६/१३८/३ खीणकसायपाओग्गबादरणिगोदवग्गणाणं सव्वकालमवट्ठाणाभावादो। भावे वा ण कस्स वि णिव्वुई होज्ज; खीणकसायम्मि बादरणिगोदवग्गणाए संतीए केवलणाणुप्पत्तिविरोहादो। = १. क्षीणकषायके प्रथम समयसे लेकर बादर निगोद जीव तबतक उत्पन्न होते हैं जबतक क्षीणकषायके कालमें उनका जघन्य आयुका काल शेष रहता है। इसके बाद नहीं उत्पन्न होते; क्योंकि उत्पन्न होनेपर उनके जीवित रहनेका काल नहीं रहता, इसलिए बादरनिगोदजीव यहाँ से लेकर क्षीणकषायके अन्तिम समय तक केवल मरते ही हैं। २. क्षीणकषाय प्रायोग्य बादरनिगोदवर्गणाओंका सर्वदा अवस्थान नहीं पाया जाता। यदि उनका अवस्थान होता है तो किसी भी जीवको मोक्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि क्षीण कषायमें बादर निगोदवर्गणाके रहते हुए केवलज्ञानकी उत्पत्ति होनेमें विरोध है।

५. हिंसा होते हुए भी महाव्रती कैसे हो सकते हैं

ध. १४/५,६,९३/८९/९ किमट्ठमेदे एत्थ मरंति ? ज्झाणेण णिगोदजीवुप्पत्तिट्ठिदिकारणणिरोहादो। ज्झाणेण अणंताणंतजीवरासिणिहंताणं कधं णिव्वुई। अप्पमादादो···तं करेंताणं कथमहिंसालक्खणपंचमहव्वयसंभवो। ण, बहिरंगहिंसाए आसवत्ताभावादो। = प्रश्न—ये निगोद जीव यहाँ क्यों मरणको प्राप्त होते हैं? उत्तर—क्योंकि ध्यानसे निगोदजीवोंकी उत्पत्ति और उनकी स्थितिके कारणका निरोध हो जाता है। प्रश्न—ध्यानके द्वारा अनन्तानन्त जीवराशिका हनन करनेवाले जीवोंको निर्वृत्ति कैसे मिल सकती है। उत्तर—अप्रमाद होनेसे। प्रश्न—हिंसा करनेवाले जीवोंके अहिंसा लक्षण पाँच महाव्रत (आदिरूप अप्रमाद) कैसे हो सकता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि बहिरंग हिंसासे, आस्रव नहीं होता।

अन्य सम्बन्धित विषय

* क्षपक श्रेणी —दे० श्रेणी/२।
* इस गुणस्थानमें योगकी सम्भावना व तत्सम्बन्धी शंका-समाधान —दे० योग/४।
* इस गुणस्थानके स्वामित्व सम्बन्धी जीवसमास, मार्गणास्थानादि २० प्ररूपणाएँ —दे० सत्।
* इस गुणस्थान सम्बन्धी सत् (अस्तित्व) संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ —दे० वह वह नाम।
* इस गुणस्थानमें प्रकृतियोंका बन्ध, उदय व सत्त्व। —दे० वह वह नाम।
* सभी मार्गणास्थानोंमें आयके अनुसार ही व्यय होनेका नियम —दे० मार्गणा।

क्षीरकदंब—प. पु./११/श्लोक, नारद व वसुका गुरु तथा नारदका पिता था। (१६)/शिष्योंके पढ़ाते समय मुनियोंकी भविष्यवाणी सुनकर दीक्षा धारण कर ली (२४)/ (म. पु./६७/२५८-३२६)।

क्षीररस—एक ग्रह—दे० ग्रह।

क्षीरवर—मध्यलोकका पंचम द्वीप व सागर—दे० लोक/५/१।

क्षीरस्रावी ऋद्धि—दे० ऋद्धि/८।

क्षीरोदा—अपर विदेहस्थ एक विभंगा नदी—दे० लोक/५/८।

क्षुद्रभव—एक अन्तर्मुहूर्तमें सम्भव क्षुद्रभवोंका प्रमाण—दे० आयु/७।

क्षुद्रहिमवान्—दे० हिमवान्। इसका कूट—दे० लोक/५/७।

क्षुधापरीषह— १. लक्षण

स. सि./९/९/४२०/६ भिक्षोर्निरवद्याहारगवेषिणस्तदलाभे ईषल्लाभे च अनिवृत्तवेदनस्याकाले अदेशे च भिक्षां प्रति निवृत्तेच्छस्य···संतप्तभ्राष्ट्रपतितजलबिन्दुकतिपयवत्सहसा परिशुष्कपानस्योदीर्णक्षुद्वेदनस्यापि सतो सतोभिक्षालाभादलाभमधिकगुणं मन्यमानस्य क्षुद्बाधाप्रत्यचिन्तनं क्षुद्विजयः। =जो भिक्षु निर्दोष आहारका शोध करता है। जो भिक्षा के नहीं मिलने पर या अल्प मात्रामें मिलनेपर क्षुधाकी वेदनाको प्राप्त नहीं होता, अकालमें या अदेशमें जिसे भिक्षा लेनेकी इच्छा नहीं होती···अत्यन्त गर्म भाण्डमें गिरो हुई जलकी कतिपय बूँदोंके समान जिसका जलपान सूख गया है, और क्षुधा वेदनाकी उदीरणा होनेपर भी जो भिक्षा लाभकी अपेक्षा उसके अलाभको अधिक गुणकारी मानता है, उसका क्षुधाजन्य बाधाका चिन्तन नहीं करना क्षुधापरीषहजय है। (रा.वा./९/९/२/६०८); (चा. सा./१०८/५)।

२. क्षुधा और पिपासामें अन्तर

रा. वा./९/९/४/६०८/३१ क्षुत्पिपासयोः पृथग्वचनमनर्थकम्। कुतः। ऐकार्थ्यादिति; तन्न; किं कारणम्। सामर्थ्यभेदात्। अन्यद्धि क्षुधः सामर्थ्यमन्यत्पिपासायाः। अभ्यवहारसामान्यात् एकार्थमिति; तदपि

न युक्तम्; कुतः। अधिकरणभेदात्। अन्यद्धि क्षुधः प्रतीकाराधिकरणम्, अन्यत्त पिपासायाः। – प्रश्न—क्षुधा परीषह और पिपासा परीषहको पृथक्-पृथक् कहना व्यर्थ है, क्योंकि दोनोंका एक ही अर्थ है। उत्तर—ऐसा नहीं है। क्योंकि भूख और प्यासकी सामर्थ्य जुदी-जुदी है। प्रश्न—अभ्यवहार सामान्य होनेसे दोनों एक ही हैं। उत्तर—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि दोनोंमें अधिकरण भेद है अर्थात् दोनोंकी शान्तिके साधन पृथक् पृथक् हैं।

क्षुल्लक—क्षुल्लक 'शब्दका अर्थ छोटा है। छोटे साधुको क्षुल्लक कहते हैं। अथवा श्रावकको ११ भूमिकाओंमें सर्वोत्कृष्ट भूमिकाका नाम क्षुल्लक है। उसके भी दो भेद हैं—एक क्षुल्लक और दूसरा ऐल्लक। दोनों ही साधुवत् भिक्षावृत्तिसे भोजन करते है, पर क्षुल्लकके पास एक कौपीन व एक चादर होती है, और ऐलकके पास केवल एक कोपीन। क्षुल्लक बर्तनोंमें भोजन कर लेता है पर ऐलक साधुवत् पाणिपात्रमें ही करता है। क्षुल्लक केशलौंच भी कर लेता है और कैंचीसे भी बाल कटवा लेता है पर ऐलक केश लौंच ही करता है। साधु व ऐलकमें लंगोटीमात्रका अन्तर है।

१. क्षुल्लक शब्दका अर्थ छोटा

अमरकोष/३४२/१६ विवर्णः पामरो नीचः प्राकृतश्च पृथग्जनः। निहीनोऽपसदो जाल्मः क्षुल्लकश्चेतरश्च सः। —विवर्णः, पामर, नीच, प्राकृत और पृथग्जन, निहीन, अपसद, जाल्म और क्षुल्लक ये एकार्थवाची शब्द हैं।

स्व. स्तो./५ स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां, समग्रविद्यात्मवपुर्निरंजनः। पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो, जिनोऽजितक्षुल्लकवादिशासनः।५। —जो सम्पूर्ण कर्म शत्रुओंको जीतकर 'जिन' हुए, जिनका शासन क्षुल्लकवादियोंके द्वारा अजेय और जो सर्वदर्शी है, सर्व विद्यात्म शरीर हैं, जो सत्पुरुषोंसे पूजित हैं, जो निरंजन पदको प्राप्त हैं। वे नाभिनन्दन श्री ऋषभदेव मेरे अन्तःकरणको पवित्र करें।

★ उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाका लक्षण—दे० उद्दिष्ट।

★ उत्कृष्ट श्रावकके दो भेदोंका निर्देश—दे० श्रावक/१।

★ शूद्रको क्षुल्लक दीक्षा सम्बन्धी—दे० वर्ण व्यवस्था/४

२. क्षुल्लकका स्वरूप

सा. ध./७/३८ कौपीनसंव्यान(धरः)—पहला (श्रावक) क्षुल्लक लंगोटी और कोपीनका धारक होता है।

ला. सं./७/६३ क्षुल्लकः कोमलाचारः…। एकवस्त्रं सकोपीनं…। —क्षुल्लक श्रावक ऐलककी अपेक्षा कुछ सरल चारित्र पालन करता है… एक वस्त्र, तथा एक कोपीन धारण करता है। (भावार्थ—एक वस्त्र रखनेका अभिप्राय खण्ड वस्त्रसे है। दुपट्टाके समान एक वस्त्र धारण करता है।

३. क्षुल्लकको श्वेत वस्त्र रखना चाहिए, रंगीन नहीं

प. पु./१००/३६ अंशुकेनोपवीतेन सितेन प्रचलात्मना। मृणालकाण्डजालेन नागेन्द्र इव मन्थरः।३६। —(वह क्षुल्लक) धारण किये हुए सफेद चञ्चल वस्त्रसे ऐसा जान पड़ता था मानो मृणालोंके समूहसे वेष्टित मन्द-मन्द चलनेवाला गजराज ही हो।

सा. ध./७/३८…। सितकौपीनसंव्यानः…।३८। —पहला क्षुल्लक केवल सफेद लंगोटी व ओढ़नी रखता है। (जसहर चरित्र (पुष्पदन्तकृता)/८५); (धर्मसंग्रहश्रा./८/६१)

४. क्षुल्लकको शिखा व यज्ञोपवीत रखनेका निर्देश

ला. सं./७/६३ क्षुल्लकः कोमलाचारः शिखासूत्राङ्कितो भवेत्। —यह क्षुल्लक श्रावक चोटी और यज्ञोपवीतको धारण करता है।६३। [दशवीं प्रतिमामें यदि यज्ञोपवीत व चोटीको रखा है तो क्षुल्लक अवस्थामें भी नियमसे रखनी होगी। अन्यथा इच्छानुसार कर लेता है। ऐसा अभिप्राय है। (ला.सं./७/६३ का भावार्थ)]

५. क्षुल्लकके लिए मयूरपिच्छका निषेध

सा. ध./७/३९ स्थानादिषु प्रतिलिखेद्, मृदूपकरणेन सः।३९। —वह प्रथम उत्कृष्ट श्रावक प्राणियोंको बाधा नहीं पहुँचानेवाले कोमल वस्त्रादिक उपकरणसे स्थानादिकमें शुद्धि करे।३९।

ला. सं./७/६३ …।…वस्त्रपिच्छकमण्डलुम्।६३। —वह क्षुल्लक श्रावक वस्त्रकी पीछी रखता है। [वस्त्रका छोटा टुकड़ा रखता है उसीसे पीछीका सब काम लेता है। पीछीका नियम ऐलक अवस्थासे है इसलिए क्षुल्लकको वस्त्रकी ही पीछी रखनेको कहा है। (ला. सं./७/६३ का भावार्थ)]

६. क्षुल्लक घरमें भी रह सकता है

म. पु./१०/१५८ नृपस्तु सुविधिः पुत्रस्नेहाद् गार्हस्थ्यमत्यजन्। उत्कृष्टोपासकस्थाने तपस्तेपे सुदुश्चरम् ।१५८। =राजा सुविधि (ऋषभ भगवान्‌का पूर्वका पाँचवाँ भाव) केशव पुत्रके स्नेहसे गृहस्थ अवस्थाका परित्याग नहीं कर सका था, इसलिए श्रावकके उत्कृष्ट पदमें स्थित रहकर कठिन तप तपता था ।१५८। (सा. ध./७/२६ का विशेषार्थ)

७. क्षुल्लक गृहत्यागी ही होता है

र. क. श्रा./१४७ गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य। भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ।१४७। =जो घरसे निकलकर मुनिवनको प्राप्त होकर गुरुसे व्रत धारण कर तप तपता हुआ भिक्षाचारी होता है और वह खण्डवस्त्रका धारक उत्कृष्ट श्रावक होता है।

सा. ध./७/४७ वसेन्मुनिवने नित्यं, शुश्रूषेत गुरुश्चरेत। तपो द्विधापि दशधा, वैयावृत्यं विशेषतः। =क्षुल्लक सदा मुनियोंके साथ उनके निवास भूत वनमें निवास करे। तथा गुरुओंको सेवे, अन्तरंग व बहिरंग दोनों प्रकार तपको आचरे। तथा खासकर दश प्रकार वैयावृत्यको आचरण करे ।४७।

८. पाणिपात्रमें या पात्रमें भी भोजन कर सकता है

सू. पा./मू./२१ ...। भिक्खं भमेइ पत्ते समिदीभासेण मोणेण ।२। =उत्कृष्ट श्रावक भ्रम करि भोजन करै है, बहुरि पत्ते कहिये पात्रमैं भोजन करै तथा हाथमै करै बहुरि समितिरूप प्रवर्त्तता भाषा समितिरूप बोलै अथवा मौनकरि प्रवर्त्तै। (व.सु.श्रा./३०३); (सा. ध./७/४०)

ला. सं./७/६४ भिक्षापात्रं च गृह्णीयात्कांस्यं यद्वाप्ययोमयम्। एषणादोषनिर्मुक्तं भिक्षाभोजनमेकशः ।६४। =यह क्षुल्लक श्रावक भिक्षाके लिए काँसेका अथवा लोहेका पात्र रखता है तथा शास्त्रोंमें जो भोजनके दोष बताये हैं, उन सबसे रहित एक बार भिक्षा भोजन करता है।

९. क्षुल्लककी केश उतारनेकी विधि

म. पु./१००/३४ प्रशान्तवदनो धीरो लुञ्चरञ्जितमस्तक. ।...।३४। =लव, कुशका विद्या गुरु सिद्धार्थ नामक क्षुल्लक, प्रशान्त मुख था, धीर-वीर था, केशलुंच करनेसे उसका मस्तक सुशोभित था।

व. सु. श्रा./३०२ धम्मिल्लाणं चयणं करेइ कत्तरि छुरेण वा पढमो। ठाणाइसु पडिलेहइ उवयरणेण पयडप्पा ।३०२। =प्रथम उत्कृष्ट श्रावक (जिसे क्षुल्लक कहते हैं) धम्मिल्लोंका चयन अर्थात्, हजामत कैंचीसे अथवा उस्तरेसे कराता है।...।३०२। (सा. ध./७/३८); (ला. सं./७/६५)

१०. क्षुल्लकको एकभुक्ति व पर्वोपवासका नियम

वसु. श्रा./३०३ भुंजेइ पाणिपत्तम्मि भायणे वा सइ समुवइट्ठो। उववासं पुण णियमा चउव्विहं कुणइ पव्वेसु ।३०३। =क्षुल्लक एक बार बैठकर भोजन करता है किन्तु पर्वोंमें नियमसे उपवास करता है।

११. क्षुल्लक श्रावकके भेद

सा. ध./७/४०-४६ भावार्थ, क्षुल्लक भी दो प्रकारका है, एक तो एकगृहभोजी और दूसरा अनेकगृह भोजी। (ला.सं./७/६५)

१२. एकगृहभोजी क्षुल्लकका स्वरूप

वसु. श्रा./३०९-३१० जइ एवं ण रएज्जो काउंरिसगिहम्मि चरियाए। पविसति एतभिक्ख पवित्तिणियमणं ता कुज्जा ।३०९। गंतूण गुरुसमीवं पच्चक्खाणं चउव्विहं विहिणा। गहिऊण तओ सव्वं आलोचेज्जा पयत्तेण ।३१०। =यदि किसीको अनेक गृहगोचरी न रुचे, तो वह मुनियोंकी गोचरी जानेके पश्चात् चर्याके लिए प्रवेश करे, अर्थात् एक भिक्षाके नियमवाला उत्कृष्ट श्रावक चर्याके लिए किसी श्रावक जनके घर जावे और यदि इस प्रकार भिक्षा न मिले तो उसे प्रवृत्तिनियमन करना चाहिए ।३०९। पश्चात् गुरुके समीप जाकर विधिपूर्वक चतुर्विध प्रत्याख्यान ग्रहणकर पुनः प्रयत्नके साथ सर्व दोषोंकी आलोचना करे ।३१०। (सा. ध./७/४६) और भी दे० शीर्षक नं० ७।

१३. अनेकगृहभोजी क्षुल्लकका स्वरूप

वसु. श्रा./३०४-३०८ पक्खालिऊण पत्तं पविसइ चरियाय पंगणे ठिच्चा। भणिऊण धम्मलाहं जायइ भिक्खं सयं चेव ।३०४। सिग्घं लाहालाहे अदीणवयणो णियत्तिऊण तओ। अण्णम्मि गिहे वच्चइ दरिसइ मोणेण कायं वा ।३०५। जइ अद्धवहे कोइ वि भणइ पत्थेइ भोयणं कुणह। भोत्तूण णियमभिक्खं तस्सण्ण भुंजए सेसं ।३०६। अह ण भणइ तो भिक्खं भमेज्ज णियपोट्टपूरणपमाणं। पच्छा एयम्मि गिहे जाएज्ज पासुगं सलिलं ।३०७। जं किं पि पडिय भिक्खं भुंजिज्जो सोहिऊण जत्तेण। पक्खालिऊण पत्तं गच्छिज्जो गुरुसयासम्मि ।३०८। =(अनेक गृहभोजी उत्कृष्टश्रावक) पात्रको प्रक्षालन करके चर्याके लिए श्रावकके घरमें प्रवेश करता है, और आँगनमें ठहरकर 'धर्म लाभ' कहकर (अथवा अपना शरीर दिखाकर) स्वयं भिक्षा माँगता है ।३०४। भिक्षा-लाभके अलाभमें अर्थात् भिक्षा न मिलनेपर, अदीन मुख हो वहाँसे शीघ्र निकलकर दूसरे घरमें जाता है और मौनसे अपने शरीरको दिखलाता है ।३०५। यदि अर्ध-पथमें—यदि मार्गके बीचमें ही कोई श्रावक मिले और प्रार्थना करे कि भोजन कर लीजिए तो पूर्व घरसे प्राप्त अपनी भिक्षाको खाकर, शेष अर्थात् जितना पेट खाली रहे, तत्प्रमाण उस श्रावकके अन्नको खाये ।३०६। यदि कोई भोजनके लिए न कहे, तो अपने पेटको पूरण करनेके प्रमाण भिक्षा प्राप्त करने तक परिभ्रमण करे, अर्थात् अन्य-अन्य श्रावकोंके घर जावे। आवश्यक भिक्षा प्राप्त करनेके पश्चात किसी एक घरमें जाकर प्रासुक जल माँगे ।३०७। जो कुछ भी भिक्षा प्राप्त हुई हो, उसे शोधकर भोजन करे और यत्नके साथ अपने पात्रको प्रक्षालन कर गुरुके पास जावे ।३०८। (प. पु./१००/३३-४१); (सा. ध./७/४०-४३); (ल. सं० ७/)।

१४. अनेकगृहभोजीको आहारदानका निर्देश

ला.स./६७-६८ तत्राप्यन्यतमगेहे दृष्ट्वा प्रासुकमम्बुकम्। क्षणं चातिथिभागाय संप्रेक्ष्याद्यं च भोजयेत् ।६७। दैवात्पात्रं समासाद्य दद्याद्दानं गृहस्थवत्। तच्छेषं यस्स्वयं भुङ्क्ते नोचेत्कुर्यादुपोषितम् ।६८। =वह क्षुल्लक उन पाँच घरोंमेसे ही किसी एक घरमें जहाँ प्रासुक जल दृष्टिगोचर हो जाता है, उसी घरमें भोजनके लिए ठहर जाता है तथा थोड़ी देर तक वह किसी भी मुनिराजको आहारदान देनेके लिए प्रतीक्षा करता है, यदि आहार दान देनेका किसी मुनिराजका समागम नहीं मिला तो फिर वह भोजन कर लेता है ।६७। यदि दैवयोगसे आहार दान देनेके लिए किसी मुनिराजका समागम मिल जाये अथवा अन्य किसी पात्रका समागम मिल जाये, तो वह क्षुल्लक श्रावक गृहस्थके समान अपना लाया हुआ भोजन उन मुनिराजको दे देता है। पश्चात् जो कुछ बच रहता है उसको स्वयं भोजन कर लेता है, यदि कुछ न बचे तो उस दिन नियमसे उपवास करता है ।६८।

१५. क्षुल्लकको पात्रप्रक्षालनादि क्रियाके करनेका विधान

सा.ध./७/४४ आकाङ्क्षन्संयमं भिक्षा-पात्रप्रक्षालनादिषु। स्वयं यतेत चादर्प., परथासंयमो महान् ।४४। =वह क्षुल्लक संयमकी इच्छा करता हुआ, अपने भोजनके पात्रको धोने आदिके कार्यमें अपने तप और विद्या आदिका गर्व नहीं करता हुआ स्वयं ही यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करे नहीं तो बड़ा भारी असंयम होता है।

१६. क्षुल्लकको भगवान्‌की पूजा करनेका निर्देश

ला.सं./७/६६ किंच गन्धादिद्रव्याणामुपलब्धौ सधर्मिभिः। अर्हद्बिम्बादि-साधूनां पूजा कार्या मुदात्मना।६६। —यदि उस क्षुल्लक श्रावकको किसी साधर्मी पुरुषसे जल, चन्दन, अक्षतादि पूजा करनेकी सामग्री मिल जाये तो उसे प्रसन्नचित्त होकर भगवान् अर्हन्तदेवका पूजन करना चाहिए। अथवा सिद्ध परमेष्ठी वा साधुकी पूजा कर लेनी चाहिए।६६।

१७. साधकादि क्षुल्लकोंका निर्देश व स्वरूप

ला.सं./७/७०-७३ किंच मात्र साधकाः केचित्केचिद् गूढाह्वयाः पुनः। वाणप्रस्थाख्यकाः केचित्सर्वे तद्वेषधारिणः ।७०। क्षुल्लकीवत्क्रिया तेषां नात्युग्रं नातीव मृदुः। मध्यावर्तिव्रतं तद्वत्पञ्चगुरुस्मिसाक्षिकम् ।७१। अस्ति कश्चिद्विशेषोऽत्र साधकादिषु कारणात्। अगृहीतव्रताः कुर्युर्व्रताभ्यासं व्रताशया ।७२। समभ्यस्तव्रताः केचिद् व्रतं गृह्णन्ति साहसात्। न गृह्णन्ति व्रतं केचिद् गृहे गच्छन्ति कातराः ।७३। —क्षुल्लक श्रावकोंके भी कितने ही भेद हैं। कोई साधक क्षुल्लक हैं, कोई गूढ क्षुल्लक होते हैं और कोई वाणप्रस्थ क्षुल्लक होते हैं। ये तीनों ही प्रकारके क्षुल्लक क्षुल्लकके समान वेष धारण करते हैं ।७०। ये तीनों ही क्षुल्लककी क्रियाओंका पालन करते हैं। ये तीनों ही न तो अत्यन्त कठिन व्रतोंका पालन करते है और न अत्यन्त सरल, किन्तु मध्यम स्थितिके व्रतोंका पालन करते हैं तथा पञ्च परमेष्ठीकी साक्षीपूर्वक व्रतोंको ग्रहण करते हैं ।७१। इन तीनों प्रकारके क्षुल्लकोंमें परस्पर विशेष भेद नहीं है। इनमेंसे जिन्होंने क्षुल्लकके व्रत नहीं लिये हैं किन्तु व्रत धारण करना चाहते हैं, वे उन व्रतोंका अभ्यास करते हैं ।७२। तथा जिन्होंने व्रतोंको पालन करनेका पूर्ण अभ्यास कर लिया है वे साहसपूर्वक उन व्रतोंको ग्रहण कर लेते हैं। तथा कोई कातर और असाहसी ऐसे भी होते है जो व्रतोंका ग्रहण नहीं करते किन्तु घर चले जाते हैं ।७३।

१८. क्षुल्लकके दो भेदोंका इतिहास व समन्वय

वसु.श्रा./प्र./पृ. ६२ जिनसेनाचार्यके पूर्वतक शूद्रको दीक्षा देने या न देने का कोई प्रश्न न था। जिनसेनाचार्यके समक्ष जब यह प्रश्न आया तो उन्होंने अदीक्षार्ह और दीक्षार्ह कुलोत्पन्नोंका विभाग किया।... क्षुल्लकको जो पात्र रखने और अनेक घरोंसे भिक्षा लाकर खानेका विधान किया गया है वह भी सम्भवतः उनके शूद्र होनेके कारण ही किया गया प्रतीत होता है।

★ **ऐलकका स्वरूप**—दे० ऐलक।

१९. क्षुल्लक व ऐलक रूप दो भेदोंका इतिहास व समन्वय

वसु./श्रा./प्र./६३ उक्त रूप वाले क्षुल्लकोंको किस श्रावक प्रतिमामें स्थान दिया जाये, यह प्रश्न सर्वप्रथम वसुनन्दिके सामने आया प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम ग्यारहवी प्रतिमाके भेद किये हैं। इनसे पूर्ववर्ती किसी भी आचार्यने इस प्रतिमाके दो भेद नहीं किये।...१४वीं १५वीं शताब्दी तक (वे) प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट रूपसे चलते रहे। १६वीं शताब्दीमें पं० राजमल्लजीने अपनी लाटी संहितामें सर्व प्रथम उनके लिए क्रमशः क्षुल्लक और ऐलक शब्द-का प्रयोग किया।

क्षुल्लक भव ग्रहण—दे० भव।

क्षेत्र—मध्य लोकस्थ एक-एक द्वीपमें भरतादि अनेक क्षेत्र हैं। जो वर्षधर पर्वतोंके कारण एक-दूसरेसे विभक्त हैं—दे० लोक/७।

क्षेत्र—क्षेत्र नाम स्थानका है। किस गुणस्थान तथा मार्गणा स्थानादि वाले जीव इस लोकमें कहाँ तथा कितने भागमें पाये जाते हैं, इस बातका ही इस अधिकारमें निर्देश किया गया है।

४ **क्षेत्र प्ररूपणाएँ**

१ सारणीमें प्रयुक्त संकेत परिचय ।
२ जीवोंके क्षेत्रकी ओघ प्ररूपणा ।
३ जीवोंके क्षेत्रकी आदेश प्ररूपणा ।

५. **अन्य प्ररूपणाएँ**

१. अष्टकर्मके चतुःबन्धकी अपेक्षा ओघ आदेश प्ररूपणा ।
२. अष्टकर्म सत्त्वके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश प्ररूपणा ।
३. मोहनीयके सत्त्वके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश प्ररूपणा ।
४. पाँचों शरीरोंके योग्य स्कन्धोंकी संघातन परिशातन कृतिके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश प्ररूपणा ।
५. पाँच शरीरोंमें २,३,४ आदि भंगोंके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश प्ररूपणा ।
६. २३ प्रकारकी वर्गणाओंकी जघन्य, उत्कृष्ट क्षेत्र प्ररूपणा ।
७. प्रयोग समवदान, अधः, तप, ईर्यापथ व कृतिकर्म इन षट् कर्मोंके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश प्ररूपणा ।

* उत्कृष्ट आयुवाले तिर्यन्चोंके योग्य क्षेत्र —दे० आयु/६/१ ।

१. भेद व लक्षण

१. क्षेत्र सामान्यका लक्षण

स. सि./१/८/२९/७ "क्षेत्रं निवासो वर्तमानकालविषयः ।"

स. सि./१/२५/१३२/४ क्षेत्रं यत्रस्थान्भावान्प्रतिपद्यते ।—वर्तमान काल विषयक निवासको क्षेत्र कहते हैं । (गो जी./जी.प्र/५४३/९३९/१०) जितने स्थानमें स्थित भावोंको जानता है वह (उस उस ज्ञानका) नाम क्षेत्र है । (रा. वा./१/२५।···/९५/८६) ।

क. पा./२/२,२२/§११. /१/७ खेत्तं खलु आगासं तव्विवरीयं च हवदि णोखेत्तं/१ ।—क्षेत्र नियमसे आकाश है और आकाशसे विपरीत नोक्षेत्र है ।

ध. १३/५,३,८/६/३ क्षियन्ति निवसन्ति यस्मिन्पुद्गलादयस्तत् क्षेत्र-माकाशम् ।—क्षि धातुका अर्थ 'निवास करना' है । इसलिए क्षेत्र शब्दका यह अर्थ है कि जिसमें पुद्गलादि द्रव्य निवास करते हैं उसे क्षेत्र अर्थात् आकाश कहते है । (म. पु./४/१४)

२. क्षेत्रानुगमका लक्षण

ध. १/१,१,७/१०२/१५८ अत्थित्तं पुण संतं अत्थित्तस्स य तदेव परिमाणं । पच्चुप्पण्णं खेत्तं अदीद-पदुप्पण्णाणं फसणं ।१०२।

ध. १/१,१,७/१५६/१ णिय-संखा-गुणिदोगाहणखेत्तं खेत्तं उच्चदे दि ।—१. वर्तमान क्षेत्रका प्ररूपण करनेवाली क्षेत्र प्ररूपणा है । अतीत स्पर्श और वर्तमान स्पर्शका कथन करनेवाली स्पर्शन प्ररूपणा है । २. अपनी अपनी संख्यासे गुणित अवगाहनारूप क्षेत्रको ही क्षेत्रानुगम कहते हैं ।

३. क्षेत्र जीवके अर्थमें

म. पु./२४/१०५ क्षेत्रस्वरूपमस्य स्यात्तज्ज्ञानात् स तथोच्यते ।१०५। —इसके (जीवके) स्वरूपको क्षेत्र कहते हैं और यह उसे जानता है इसलिए क्षेत्रज्ञ भी कहलाता है ।

४. क्षेत्रके भेद (सामान्य विशेष)

पं. ध./५/२७० क्षेत्रं द्विधावधानात् सामान्यमथ च विशेषमात्रं स्यात् । तत्र प्रदेशमात्रं प्रथमं प्रथमेतरं तदंशमयम् ।२७०।—विवक्षा वशसे क्षेत्र सामान्य और विशेष रूप इस प्रकारका है ।

५. लोककी अपेक्षा क्षेत्रके भेद

ध. ४/१,३,१/८/६ *दव्वट्ठियणयं च पडुच्च एगविधं । अथवा पओजण*-मभिसमिच्च दुविहं लोगागासमलोगागासं चेदि ।···अथवा देसभेएण तिविहो, मंदरचूलियादो उवरिमुड्ढलोगो, मंदरमूलादो हेट्ठा अधोलोगो, मंदरपरिच्छिण्णो मज्झलोगो त्ति ।—द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा क्षेत्र एक प्रकारका है । अथवा प्रयोजनके आश्रयसे (पर्यायार्थिक नयसे) क्षेत्र दो प्रकारका है—लोकाकाश व अलोकाकाश ।···अथवा देशके भेदसे क्षेत्र तीन प्रकारका है—मन्दराचल (सुमेरुपर्वत) की चूलिकासे ऊपरका क्षेत्र ऊर्ध्वलोक है, मन्दराचलके मूलसे नीचेका क्षेत्र अधोलोक है, मन्दराचलसे परिच्छिन्न अर्थात् तत्प्रमाण मध्यलोक है ।

६. क्षेत्रके भेद—स्वस्थानादि

ध. ४/१,३,२/२६/१ सव्वजीवाणमवत्था तिविहा भवदि, सत्थाणसमुग्घा-दुववादभेदेण । तत्थ सत्थाणं दुविहं, सत्थाणसत्थाणं विहारवदिसत्थाणं चेदि । समुग्घादो सत्तविधो, वेदणसमुग्घादो कसायसमुग्घादो वेउव्वियसमुग्घादो मारणंतियसमुग्घादो तेजासरीरसमुग्घादो आहारसमुग्घादो केवलिसमुग्घादो चेदि ।—स्वस्थान, समुद्घात और उपपादके भेदसे सर्व जीवोंकी अवस्था तीन प्रकारकी है । उनमेंसे स्वस्थान दो प्रकारका है—स्वस्थानस्वस्थान, विहारवत्स्व-स्थान । समुद्घात सात प्रकारका है—वेदना समुद्घात, कषाय समु-समुद्घात, वैक्रियक समुद्घात, मारणान्तिक समुद्घात, तैजस शरीर समुद्घात, आहारक शरीर समुद्घात और केवली समुद्घात । (गो. जी./जी.प्र./५४३/९३९/१२) ।

७. निक्षेपोंकी अपेक्षा क्षेत्रके भेद

ध. ४/१,३,१/पृ. ३-७ ।
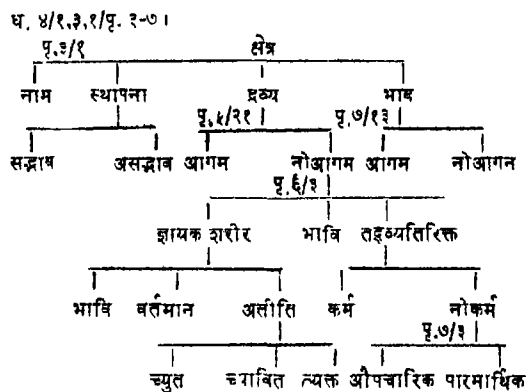
८. स्वपर क्षेत्रके लक्षण

प. का./त.प्र./४३ द्वयोरप्यभिन्नप्रदेशत्वेनैकक्षेत्रत्वात् ।—परमार्थसे गुण और गुणी दोनोंका एक क्षेत्र होनेके कारण दोनों अभिन्नप्रदेशी हैं ।

अर्थात् द्रव्यका क्षेत्र उसके अपने प्रदेश हैं, और उन्हीं प्रदेशोंमें ही गुण भी रहते हैं।

प्र. सा./ता. वृ./११५/१६१/१३ लोककाशप्रमिताः शुद्धासंख्येयप्रदेशाः क्षेत्रं भण्यते। – लोकाकाश प्रमाण जीवके शुद्ध असंख्यात प्रदेश उसका क्षेत्र कहलाता है। (अर्थापत्तिसे अन्य द्रव्योंके प्रदेश उसके परक्षेत्र हैं।)

पं. ध./पू./१४८,४४६ अपि यश्चैको देशो यावदभिव्याप्य वर्तते क्षेत्रम्। तत्तत्क्षेत्रं नान्यद्भवति तदन्यश्च क्षेत्रव्यतिरेकः ।१४८। क्षेत्रं इति वा सदधिष्ठानं च भूर्निवासश्च। तदपि स्वयं सदेव स्यादपि यावन्न सत्प्रदेशस्थम् ।४४६। – जो एक देश जितने क्षेत्रको रोक करके रहता है वह उस देशका—द्रव्यका क्षेत्र है, और अन्य क्षेत्र उसका क्षेत्र नहीं हो सकता। किन्तु दूसरा दूसरा ही रहता है, पहला नहीं। यह क्षेत्र व्यतिरेक है ।१४८। प्रदेश यह अथवा सत्का आधार और सत्की भूमि तथा सत्का निवास क्षेत्र है और वह क्षेत्र भी स्वयं सत् रूप ही है किन्तु प्रदेशोंमें रहनेवाला जितना सत् है उतना वह क्षेत्र नहीं है ।४४६।

रा. वा./हिं./१/६/४६ देह प्रमाण संकोच विस्तार लिये (जीव प्रदेश) क्षेत्र हैं।

रा. वा./हिं./६/७/६७२ जन्म योनिके भेद करि (जीव) लोकमें उपजै, लोक कूं स्पर्शे सो परक्षेत्र संसार है।

९. सामान्य विशेष क्षेत्रके लक्षण

पं. ध./पू./२७० तत्र प्रदेशमात्रं प्रथमं प्रथमेतरं तदंशमयम्। – केवल 'प्रदेश' यह तो सामान्य क्षेत्र कहलाता है, तथा यह वस्तुका प्रदेशरूप अंशमयी अर्थात् अमुक द्रव्य इतने प्रदेशवाला है इत्यादि विशेष क्षेत्र कहलाता है।

१०. क्षेत्र लोक व नोक्षेत्रके लक्षण

ध. ४/१,३,१/३-४/७ खेत्तं खलु आगासं तव्वदिरित्तं च होदि णोखेत्तं। जीवा य पोग्गला वि य धम्माधम्मत्थिया कालो ।३। आगास सपदेसं तु उड्ढाधो तिरियो विय। खेत्तलोगं वियाणाहि अणंतजिण-देसिदं ।४। – आकाश द्रव्य नियमसे तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यक्षेत्र कहलाता है और आकाश द्रव्यके अतिरिक्त जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा काल द्रव्य नोक्षेत्र कहलाते हैं ।३। आकाश सप्रदेशी है, और वह ऊपर नीचे और तिरछे सर्वत्र फैला हुआ है। उसे ही क्षेत्र लोक जानना चाहिए। उसे जिन भगवान्ने अनन्त कहा है। (क. पा. २/२,२२/§११/६/६)।

११. स्वस्थानादि क्षेत्र पदोंके लक्षण

ध. ४/१,३,२/२६/२ सत्थाणसत्थाणणाम अप्पणो उप्पण्णगामे णयरे रण्णे वा सयण-णिसीयण-चंकमणादिवावारजुत्तेणच्छणं। विहारवदि-सत्थाणं णाम अप्पणो उप्पण्णगाम-णयर-रण्णादीणि छड्डिय अण्णत्थ सयण-णिसीयण-चंकमणादिवावारेणच्छणं।

ध./४/१,३,२/२१/६ उववादो एयविहो। सो वि उप्पण्णपढमसमए चेव होदि। – १. अपने उत्पन्न होनेके ग्राममें, नगरमें, अथवा अरण्यमें,—सोना, बैठना, चलना आदि व्यापारसे युक्त होकर रहनेका नाम स्वस्थान-स्वस्थान अवस्थान है। (ध./४/१,३,५८/१२१/३) उत्पन्न होनेके ग्राम, नगर अथवा अरण्यादिको छोड़कर अन्यत्र गमन, निषीदन और परिभ्रमण आदि व्यापारसे युक्त होकर रहनेका नाम विहारवत्-स्वस्थान है। (ध./७/२,६,१/३००/५) (गो. जी./जी. प्र./५४३/६३६/११)। २. उपपाद (अवस्थान क्षेत्र) एक प्रकारका है। और वह उत्पन्न होने (जन्मने) के पहले समयमें ही होता है—इसमें जीवके समस्त प्रदेशोंका संकोच हो जाता है।

१२. निष्कुट क्षेत्रका लक्षण

स. सि./२/२८/टिप्पणी। पृ. १०८ जगरूपसहायकृत-लोकाग्रकोणं निष्कुट-क्षेत्रं। – लोक शिखरका कोण भाग निष्कुट क्षेत्र कहलाता है। (विशेष दे० विग्रह गति/६)।

१३. नो आगम क्षेत्रके लक्षण

ध. ४/१,३,१/६/१ वदिरित्तदव्वखेत्तं दुविहं, कम्मदव्वखेत्तं णोकम्मदव्व-खेत्तं चेदि। तत्थ कम्मदव्वखेत्तं णाणावरणादिअट्ठविहकम्मदव्वं। ···णोकम्मदव्वखेत्तं तु दुविहं, ओवयारियं पारमत्थियं चेदि। तत्थ ओवयारियं णोकम्मदव्वखेत्तं लोगपसिद्धं सालिखेत्तं वीहिखेत्तमेव-मादि। पारमत्थियं णोकम्मदव्वखेत्तं आगासदव्वं।

ध. ४/१,३,१/८/२ आगासं गगणं देवपथं गोज्झगाचरिदं अवगाहणलक्खणं आधेयं वियापगमाधारो भूमि त्ति एयट्ठो। – १. जो तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य क्षेत्र है वह कर्मद्रव्यक्षेत्र और नोकर्म द्रव्य क्षेत्रके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मद्रव्य-को कर्मद्रव्यक्षेत्र कहते हैं। (क्योंकि जिसमें जीव निवास करते हैं, इस प्रकारकी निरुक्तिके बलसे कर्मोंके क्षेत्रपना सिद्ध है)। नोकर्मद्रव्य क्षेत्र भी औपचारिक और पारमार्थिक के भेदसे दो प्रकार है। उनमेंसे लोकमें प्रसिद्ध शालि-क्षेत्र, व्रीहि (धान्य) क्षेत्र इत्यादि औपचारिक नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगम-द्रव्यक्षेत्र कहलाता है। आकाश द्रव्य पारमार्थिक नोकर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यक्षेत्र है। २. आकाश, गगन, देवपथ, गुह्यकाचरित (यक्षोंके विचरणका स्थान) अवगाहन लक्षण, आधेय, व्यापक, आधार और भूमि ये सब नोआगमद्रव्यके क्षेत्रके एकार्थनाम हैं।

२. क्षेत्र सामान्य निर्देश

१. क्षेत्र व अधिकरणमें अन्तर

रा. वा./१/८/१६/४३/६ स्यादेतत्-यदेवाधिकरणं तदेव क्षेत्रम्, अतस्तयोर-भेदात् पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति, तन्न; किं कारणम्। उक्तार्थत्वात्। उक्तमेतत्-सर्वभावाधिगमार्थत्वादिति। – प्रश्न—जो अधिकरण है वही क्षेत्र है, इसलिए इन दोनोंमें अभेद होनेके कारण यहाँ क्षेत्रका पृथक् ग्रहण अनर्थक है? उत्तर—अधिकृत और अनधिकृत सभी पदार्थोंका क्षेत्र बतानेके लिए विशेष रूपसे क्षेत्रका ग्रहण किया गया है।

२. क्षेत्र व स्पर्शनमें अन्तर

रा. वा./१/८/१७-१८/४३/८ यथेह सति घटे क्षेत्रे अम्बुनोऽवस्थानात् नियमाद् घटस्पर्शनम्, न होतद स्ति-'घटे अम्बु अवतिष्ठते न च घटं स्पृशति' इति। तथा आकाशक्षेत्रे जीवावस्थानं नियमादाकाश स्पर्शनमिति क्षेत्राभिधानेनैव स्पर्शनस्यार्थगृहीतत्वात् पृथग्ग्रहणम-नर्थकम्। · न वैष दोषः। किं कारणम्। विषयवाचित्वात्। विषय-वाची क्षेत्रशब्दः यथा राजा जनपदक्षेत्रेऽवतिष्ठते, न च कृत्स्नं जनपदं स्पृशति। स्पर्शनं तु कृत्स्नविषयमिति। यथा साम्प्रति-केनाम्बुना साप्रतिकं घटक्षेत्रं स्पृष्टं नातीतानागतम्, नैवमात्मनः साप्रतिकक्षेत्रस्पर्शने स्पर्शनाभिप्रायः, स्पर्शनस्य त्रिकालगोचरत्वात् ।१७-१८। – प्रश्न—जिस प्रकारसे घट रूप क्षेत्रके रहनेपर ही, जलका उसमें अवस्थान होनेके कारण, नियमसे जलका घटके साथ स्पर्श होता है। ऐसा नहीं है कि घटमें जलका अवस्थान होते हुए भी, वह उसे स्पर्श न करे। इसी प्रकार आकाश क्षेत्रमें जीवोंके अवस्थान होनेके कारण नियमसे उनका आकाशसे स्पर्श होता है। इसलिए क्षेत्रके कथन से ही स्पर्शके अर्थका ग्रहण हो जाता है। अतः स्पर्शका पृथक् ग्रहण करना अनर्थक है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि क्षेत्र शब्द विषयवाची है, जैसे राजा जनपदमें रहता है। यहाँ राजाका विषय

जनपद है न कि वह सम्पूर्ण जनपदके स्पर्श करता है। स्पर्शन तो सम्पूर्ण विषयक होता है। दूसरे जिस प्रकार वर्तमानमें जलके द्वारा वर्तमानकालवर्ती वह क्षेत्रका ही स्पर्श हुआ है, अतीत व अनागत कालगत क्षेत्रका नहीं, उसी प्रकार मात्र वर्तमान कालवर्ती क्षेत्रके साथ जीवका स्पर्श वास्तवमें स्पर्शन शब्दका अभिधेय नहीं है। क्योंकि क्षेत्र तो केवल वर्तमानवाची है और स्पर्श त्रिकालगोचर होता है।

ध.१/१.१.७/१५६/८ वट्टमाण-फासं वण्णेदि खेत्तं। फोसणं पुण अदीदं वट्टमाणं च वण्णेदि। —क्षेत्रानुगम वर्तमानकालीन स्पर्शका वर्णन करता है। और स्पर्शनानुयोग अतीत और वर्तमानकालीन स्पर्शका वर्णन करता है।

ध. ४/१.४.२/१४५/८ खेत्ताणिओगद्दारे सव्वमग्गणट्ठाणेसु अस्सिदूण सव्वगुणट्ठाणाणं वट्टमाणकालविसिट्ठं खेत्तं पदुप्पादिदं. संपदि पोसणाणिओगद्दारेण किं परूविज्जदे? चोद्दस मग्गणट्ठाणाणि अस्सिदूण सव्वगुणट्ठाणाणं अदीदकालविसेसिदखेत्तं फोसणं वुच्चदे। एत्थ वट्टमाणखेत्तं परूवणं पि सुत्तणिबद्धमेव दीसदि। तदो ण पोसणमदीदकालविसिट्ठखेत्तपदुप्पाइयं, किंतु वट्टमाणादीदकालविसेसिदखेत्तपदुप्पाइयमिदि? एत्थ ण खेत्तपरूवणं, तं वं पुव्वं खेत्ताणिओगद्दारपरूविदवट्टमाणखेत्तं संभराविय अदीदकालविसिट्ठखेत्तपदुप्पायणट्ठं तस्सुवादाणा। तदो फोसणमदीदकालविसेसिदखेत्तं पदुप्पाइयमेवेत्ति सिद्धं। प्रश्न—क्षेत्रानुयोग में सर्व मार्गणास्थानोंका आश्रय लेकर सभी गुणस्थानोंके वर्तमानकालविशिष्ट क्षेत्रका प्रतिपादन कर दिया गया है। अब पुनः स्पर्शनानुयोग द्वारसे क्या प्ररूपण किया जाता है? उत्तर—चौदह मार्गणास्थानोंका आश्रय लेकरके सभी गुणस्थानोंके अतीतकाल विशिष्ट क्षेत्रको स्पर्शन कहा गया है। अतएव यहाँ उसीका ग्रहण किया गया समझना। प्रश्न—यहाँ स्पर्शनानुयोगद्वारमें वर्तमानकाल सम्बन्धी क्षेत्रकी प्ररूपणा भी सूत्र निबद्ध ही देखी जाती है, इसलिए स्पर्शन अतीतकाल विशिष्ट क्षेत्रका प्रतिपादन करनेवाला नहीं है, किन्तु वर्तमानकाल और अतीतकालसे विशिष्ट क्षेत्रका प्रतिपादन करनेवाला है? उत्तर—यहाँ स्पर्शनानुयोगद्वारमें वर्तमानकालकी प्ररूपणा नहीं की जा रही है, किन्तु पहले क्षेत्रानुयोगद्वारमें प्ररूपित उस उस वर्तमान क्षेत्रको स्मरण कराकर अतीतकाल विशिष्ट क्षेत्रके प्रतिपादनार्थ उसका ग्रहण किया गया है। अतएव स्पर्शनानुयोगद्वारमें अतीतकालसे विशिष्ट क्षेत्रका ही प्रतिपादन करनेवाला है, यह सिद्ध हुआ।

३. वीतरागियों व सरागियोंके स्वक्षेत्रमें अन्तर

ध.४/१.३.५८/१२१/१ ण च ममेदंबुद्धीए पडिगहिदपदेसो सत्थाणं, अजोगिम्हि खीणमोहम्हि ममेदंबुद्धीए अभावादो त्ति। ण एस दोसो वीदरागाणं अप्पणो अच्छिदपदेसस्सेव सत्थाणववएसादो। ण सरागाणामेस णाओ, तत्थ ममेदंभावसंभवादो। —प्रश्न—इस प्रकार स्वस्थान पद अयोगकेवलीमें नहीं पाया जाता, क्योंकि क्षणमोही अयोगी भगवान्‌में ममेदंबुद्धिका अभाव है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वीतरागियोंके अपने रहनेके प्रदेशको ही स्वस्थान नामसे कहा गया है। किन्तु सरागियोंके लिए यह न्याय नहीं है, क्योंकि इसमें ममेदंभाव सम्भव है। (ध ४/१,३,३/४७/८)।

३. क्षेत्र प्ररूपणा विषयक कुछ नियम

१. गुणस्थानोंमें सम्भव पदोंकी अपेक्षा

१. मिथ्यादृष्टि

ध.४/१,३,२/३८/६ मिच्छाइट्ठिस्स सेस-तिण्णि विसेसणाणि ण संभवंति, तक्कारणसंजमादिगुणाणामभावादो। —मिथ्यादृष्टि जीवराशिके शेष तीन विशेषण अर्थात् आहारक समुद्घात, तैजस समुद्घात, और केवली समुद्घात सम्भव नहीं हैं, क्योंकि इनके कारणभूत संयमादि गुणोंका मिथ्यादृष्टिके अभाव है।

२. सासादन

ध.४/१,३,३/४१/६ सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी-सत्थाणसत्थाण-विहारवदिसत्थाण-वेदणकसाय-वेउव्वियसमुग्घादपरिणदा केवडि खेत्ते, लोगस्स असंखेज्जदिभागे।

ध.४/१ ३.३/४३/३ मारणंतिय-उववादगद-सासणसम्माइट्ठी-असंजदसम्माइट्ठीणमेवं चेव वत्तव्वं।

ध.४/१.४.४/१५०/१ तसजीवविरहिदेसु असंखेज्जेसु समुद्देसु णवरि सासणा णत्थि। वेरियवेंतरदेवेहि खित्ताणमत्थि संभवो, णवरि ते सत्थाणत्था ण होंति, विहारेण परिणत्तादो। —प्रश्न—१. स्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान, वेदनासमुद्घात, कषाय समुद्घात और वैक्रियक समुद्घात रूपसे परिणत हुए सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि जीव कितने क्षेत्रमें होते हैं? उत्तर—लोकके असंख्यात भागप्रमाण क्षेत्रमें। अर्थात् सासादनगुणस्थानमें यह पाँच होने सम्भव हैं। २. मारणान्तिक समुद्घात और उपपाद सासादन सम्यग्दृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टियोंका इसी प्रकार कथन करना चाहिए। अर्थात् इस गुणस्थानमें ये दो पद भी सम्भव हैं। (विशेष दे० सासादन।१। १०) ३. त्रस जीवोंसे विरहित (मानुषोत्तर व स्वयंप्रभ पर्वतोंके मध्यवर्ती) असंख्यात समुद्रोंमें सासादन सम्यग्दृष्टि जीव नहीं होते। यद्यपि वैर भाव रखनेवाले व्यन्तर देवोंके द्वारा हरण करके ले जाये गये जीवोंकी वहाँ सम्भावना है। किन्तु वे वहाँ पर स्वस्थान स्वस्थानस्थान नहीं कहलाते हैं क्योंकि उस समय वे विहार रूपसे परिणत हो जाते हैं।

३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि

ध. ४/१.३.३/४४/५ सम्मामिच्छाइट्ठियस्स मारणंतिय-उववादा णत्थि, तग्गुणस्स तदुहयविरोहित्तादो। —सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें मारणान्तिक समुद्घात और उपपाद नहीं होते हैं, क्योंकि, इस गुणस्थानका इन दोनों प्रकारकी अवस्थाओंके साथ विरोध है। नोट—स्वस्थान-स्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय व वैक्रियक समुद्घात ये पाँचों पद यहाँ होने सम्भव हैं। दे०—ऊपर सासादनके अन्तर्गत प्रमाण नं० १।

४. असंयत सम्यग्दृष्टि

(स्वस्थान-स्वस्थान, विहारवत स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियक व मारणान्तिक समुद्घात तथा उपपाद, यह सातों ही पद यहाँ सम्भव हैं—दे० ऊपर सासादनके अन्तर्गत/प्रमाण नं० १)

५. संयतासंयत

ध.४/१,३,३/४४/६ एवं संजदासंजदाणं। णवरि उववादो णत्थि, अपज्जत्तकाले संजमासंजमगुणस्स अभावादो। संजदासंजदाणं कधं वेउव्वियसमुग्घादस्स संभवो। ण, ओरालियसरीरस्स विउव्वणप्पयस्स विण्हुकुमारादिसु दंसणादो।

ध. ४/१.४.८/१६१/७ कधं संजदासंजदाणं सेसदीव-समुद्देसु संभवो। ण, पुव्ववेरियदेवेहि तत्थ खित्ताणं संभवं पडिविरोधाभावा। —१. इसी प्रकार (असंयत सम्यग्दृष्टिवत्) संयतासंयतोंका क्षेत्र जानना चाहिए। इतना विशेष है कि संयतासंयतोंके उपपाद नहीं होता है, क्योंकि अपर्याप्त कालमें संयमासंयम गुणस्थान नहीं पाया जाता है। ...प्रश्न—संयता-संयतोंके वैक्रियक समुद्घात कैसे सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, विष्णुकुमार मुनि आदिमें विक्रियात्मक औदारिक शरीर देखा जाता है। २. प्रश्न—मानुषोत्तर पर्वतसे परभागवर्ती व स्वयंप्रभाचलसे पूर्वभागवर्ती शेष द्वीप समुद्रोंमें संयतासंयत जीवोंकी संभावना कैसे है? उत्तर—नहीं, क्योंकि पूर्व भवके वैरी देवोंके

द्वारा यहाँ से आये गये तिर्यञ्च संयतासंयत जीवोंकी सम्भावनाकी अपेक्षा कोई विरोध नहीं है। (ध. १/१,१,१५८/४०२/१); (ध. ६/१, ९-९,१८/४२६/१०)

६. प्रमत्तसंयत

ध. ४/१,३,३/४५-४७/सारार्थ—प्रमत्त संयतोंमें अप्रमत्तसंयतकी अपेक्षा आहारक व तैजस समुद्घात अधिक है, केवल इतना अन्तर है। अतः दे०—अगला 'अप्रमत्तसंयत'

७. अप्रमत्तसंयत

ध. ४/१,३,३/४७/४ अप्पमत्तसंजदा सत्थाणसत्थाण-विहारवदिसत्थाणत्था केवडिखेत्ते,...मारणंतिय-अप्पमत्ताणं पमत्तसंजदभंगो। अपमत्ते सेसपदा णत्थि।—स्वस्थान स्वस्थान और विहारवत् स्वस्थान रूपसे परिणत अप्रमत्त संयत जीव कितने क्षेत्रमें रहते हैं।...मारणान्तिक समुद्घातको प्राप्त हुए अप्रमत्त संयतोंका क्षेत्र प्रमत्त संयतोंके समान होता है। अप्रमत्त गुणस्थानमें उक्त तीन स्थानको छोड़कर शेष स्थान नहीं होते।

८. चारों उपशामक

ध. ४/१,३,३/४७/६ चदुण्हमुवसमा सत्थाणसत्थाण-मारणंतियपदेसु पमत्तसमा...णत्थि वुत्तसेसपदाणि। —उपशम श्रेणीके चारों गुणस्थानवर्ती उपशामक जीव स्वस्थानस्वस्थान और मारणान्तिक समुद्घात, इन दोनों पदोंमें प्रमत्तसंयतोंके समान होते हैं।... (इन जीवोंमें) उक्त स्थानोंके अतिरिक्त शेष स्थान नहीं होते हैं। [स्वस्थान स्वस्थान सम्बन्धी शंका समाधान दे० अगला क्षपक]

९. चारों क्षपक

ध. ४/१,३,३/४७/७ चदुण्हं खवगाणं...सत्थाणसत्थाणं पमत्तसमं। खवगुवसामगाणं णत्थि वुत्तसेसपदाणि। खवगुवसामगाणं ममेदंभावविरहिदाणं कधं सत्थाणसत्थाणपदस्स संभवो। ण एस दोसो, ममेदंभावसमण्णिदगुणेसु तहा गहणादो। एत्थ पुण अवट्ठाणमेत्तगहणादो। —क्षपक श्रेणीके चार गुणस्थानवर्ती क्षपक जीवोंका स्वस्थान स्वस्थान प्रमत्तसंयतोंके समान होता है। क्षपक और उपशामक जीवोंके उक्त गुणस्थानोंके अतिरिक्त शेष स्थान नहीं होते हैं। प्रश्न—यह मेरा है, इस प्रकारके भावसे रहित क्षपक और उपशामक जीवोंके स्वस्थानस्वस्थान नामका पद कैसे सम्भव है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, जिन गुणस्थानोंमें 'यह मेरा है' इस प्रकारका भाव पाया जाता है, वहाँ वैसा ग्रहण किया है। परन्तु यहाँपर तो अवस्थान मात्रका ग्रहण किया है।

ध. ६/१,९-८,११/२४५/९ मणुसेसुप्पण्णा कधं समुद्देसु दंसणमोहक्खवणं पट्ठवेंति। ण, विज्जादिवसेण तत्थागदाणं दंसणमोहक्खवणसंभवादो। —प्रश्न—मनुष्योंमें उत्पन्न हुए जीव समुद्रोंमें दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका कैसे प्रस्थापन करते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, विद्या आदिके वशसे समुद्रोंमें आये हुए जीवोंके दर्शनमोहका क्षपण होना संभव है।

१३. सयोगी केवली

ध. ४/१,३,४/४८/३ एत्थ सजोगिकेवलियस्स सत्थाणसत्थाण-विहारवदिसत्थाणाणं पमत्तभंगो। दंडगदो केवली (पृ० ४८)...कवाडगदो केवली पृ. ४९...पदरगदो केवली (पृ. ५०)...लोगपूरणगदो केवली (पृ० ५६) केवडि खेत्ते। —सयोग केवलीका स्वस्थानस्वस्थान और विहारवत्स्वस्थान क्षेत्र प्रमत्त संयतोंके समान होता है। दण्ड समुद्घातगत केवली, ...कपाट समुद्घातगत केवली...प्रतर समुद्घातगत केवली...और लोकपूरण समुद्घातगत केवली कितने क्षेत्रमें रहते हैं।

१४. अयोग केवली

ध. ४/१,३,५७/१२०/९ सेसपदसंभवाभावादो सत्थाणे पदे। —अयोग केवलीके विहारवत् स्वस्थानादि शेष अशेष पद सम्भव न होनेसे वे स्वस्थानस्वस्थानपदमें रहते हैं।

ध. ४/१,३,५७/१२१/१ ण च ममेदंबुद्धीए पडिगहिदपदेसो सत्थाणं, अजोगिम्हि खीणमोहम्हि ममेदंबुद्धीए अभावादो त्ति। ण एस दोसो, वीदरागाणं अप्पणो अच्छिदपदेसस्सेव सत्थाणववएसादो। ण सरागाणमेस णाओ, तत्थ ममेदंभावसंभवादो। —प्रश्न—स्वस्थानपद अयोग केवलीमें नहीं पाया जाता, क्योंकि क्षीणमोही अयोगी भगवान्‌में ममेदंबुद्धिका अभाव है, इसलिए अयोगिकेवलीके स्वस्थानपद नहीं बनता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, वीतरागियोंके अपने रहनेके प्रदेशोंको ही स्वस्थान नामसे कहा गया है। किन्तु सरागियोंके लिए यह न्याय नहीं है। क्योंकि इनमें ममेदं भाव संभव है।

२. गति मार्गणामें सम्भव पदोंकी अपेक्षा

१. नरक गति

ध. ४/१,३,५/६४/१२ एवं सासणस्स। णवरि उववादो णत्थि।

ध. ४/१,३,६/६५/९ ण विदियादिपंचपुढवीणं परूवणा ओघपरूवणाए पदंपडि तुल्ला, तत्थ असंजदसम्माइट्ठीणं उववादाभावादो। ण सत्तमपुढविपरूवणा वि णिरओघपरूवणाए तुल्ला, सासणसम्माइट्ठिमारणंतियपदस्स असंजदसम्माइट्ठिमारणंतिय उववादपदाणं च तत्थ अभावादो। १. इसी प्रकार (मिथ्यादृष्टिवत् ही) सासादन सम्यग्दृष्टि नारकियोंके भी स्वस्थानस्वस्थानादि समझना चाहिए। इतनी विशेषता है कि उनके उपपाद नहीं पाया जाता है। (अर्थात् यहाँ केवल स्वस्थानस्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय, वैक्रियक व मारणान्तिक समुद्घात रूप छः पद ही सम्भव हैं। २. द्वितीयादि पाँच पृथिवियोंकी प्ररूपणा ओघ अर्थात् नरक सामान्यकी प्ररूपणाके समान नहीं है, क्योंकि इन पृथिवियोंमें असंयत सम्यग्दृष्टियोंका उपपाद नहीं होता है। सातवीं पृथिवीकी प्ररूपणा भी नारक सामान्य प्ररूपणाके तुल्य नहीं है, क्योंकि, सातवीं पृथिवीमें सासादन सम्यग्दृष्टियों सम्बन्धी मारणान्तिक पदका और असंयत सम्यग्दृष्टि सम्बन्धी मारणान्तिक और उपपाद (दोनों) पदका अभाव है।

२. तिर्यञ्च गति

ध. १/१,१,१५९/३२७/१ न तिर्यक्षूत्पन्ना अपि क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽणुव्रतान्याददते भोगभूमावुत्पन्नानां तदुपादानानुपपत्ते.। तिर्यंचोंमें उत्पन्न हुए भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव अणुव्रतोंको नहीं ग्रहण करते हैं, क्योंकि, (बद्धायुष्क) क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव यदि तिर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं तो भोगभूमिमें ही उत्पन्न होते हैं; और भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके अणुव्रतोंका ग्रहण करना बन नहीं सकता। (ध. १/१,१, १५९/४०२/९)।

ष. खं. ४/१,३/सू.१०/७३ पंचिंदियतिरिक्खअपज्जत्ता...।

ध. ४/१,३,१०/७३/५ विहारवदिसत्थाणं वेउव्वियसमुग्घादो य णत्थि।

ध. ४/१,३,९/७२/८ णवरि जोणिणीसु असंजदसम्माइट्ठीणं उववादो णत्थि।

ध. ४/१,३,२१/८७/३ सत्थाण-वेदण-कसायसमुग्घादगदपंचिंदियअपज्जत्ता...मारणंतियउववादगदा। —१-२. पंचेन्द्रिय तिर्यंच अपर्याप्त जीवोंके विहारवत् स्वस्थान और वैक्रियक समुद्घात नहीं पाया जाता (७३)। ३. योनिमति तिर्यंचोंमें असंयत सम्यग्दृष्टियोंका उपपाद नहीं होता है। ४. स्वस्थानस्वस्थान, वेदना समुद्घात, कषाय समुद्घात, मारणान्तिक समुद्घात तथा उपपादगत पंचेन्द्रिय अपर्याप्त (परन्तु वैक्रियक समुद्घात नहीं होता)।

३. मनुष्य गति

ष.खं.४/१,३/सू.१३/७४ मणुसअपज्जत्ता केवडि खेत्ते, लोगस्स असंखेज्जदि भागे ।१३।

ध. ४/१,३,१३/७६/२ सत्थाण-वेदण-कसायसमुग्घादेहि परिणदा…मारणंतियसमुग्घादो।…एवमुववादस्सावि। —अपर्याप्त मनुष्य स्वस्थान-स्वस्थान, वेदना व कषाय समुद्घातसे परिणत, मारणान्तिक समुद्घात गत तथा उपपादमें भी होते हैं। (इसके अतिरिक्त अन्य पदोंमें नहीं होते)।

ध. ४/१,३,१२/७५/७ मणुसिणीसु असंजदसम्माइट्ठीणं उववादो णत्थि। पमत्ते तेजाहारसमुग्घादा णत्थि।—मनुष्यनियोंमें असंयत सम्यग्दृष्टियोंके उपपाद नहीं पाया जाता है। इसी प्रकार उन्हींके प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें तैजस व आहारक समुद्घात नहीं पाया जाता है।

४. देव गति

ध. ४/१,३,१५/७९/३ णवरि असंजदसम्माइट्ठीणं उववादो णत्थि। वाणवेंतर-जोइसियाणं देवोघभंगो। णवरि असंजदसम्माइट्ठीणं उववादो णत्थि। —असंयत सम्यग्दृष्टियोंका भवनवासियोंमें उपपाद नहीं होता। वानव्यन्तर और ज्योतिषी देवोंका क्षेत्र देव सामान्यके क्षेत्रके समान है। इतनी विशेषता है कि असंयत सम्यग्दृष्टियोंको वानव्यन्तर और ज्योतिषियोंमें उपपाद नहीं होता है।

३. इन्द्रिय आदि शेष मार्गणाओंमें सम्भव पदोंकी अपेक्षा

१. इन्द्रिय मार्गणा

ष. खं. ४/१,३/सू. १८/८४-तीइंदिय-बीइंदिय चउरिंदिया…तस्सेव पज्जत्ता अपज्जत्ता…।१८।

ध. ४/१,३,१८/८५/१ सत्थाणसत्थाण…वेदण-कसाय समुग्घाद-परिणदा…मारणांतिय उववादगदा।

ध. ४/१,३,१७/८४/६ बादरेइंदियअपज्जत्ताणं बादरेइंदियभंगो। णवरि वेउव्वियपदं णत्थि। सुहुमेइंदिया तेसिं चेव पज्जत्तापज्जत्ता य सत्थाण-वेदण-कसाय-मारणांतिय उववादगदा सव्वलोगे।—१.२. दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा उनके पर्याप्त व अपर्याप्त जीव स्वस्थान-स्वस्थान, वेदना व कषायसमुद्घात तथा मारणान्तिक व उपपाद (पद में होते हैं। वैक्रियक समुद्घातसे परिणत नहीं होते)। ३. बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तकोंका क्षेत्र बादर एकेन्द्रिय (सामान्य) के समान है। इतनी विशेषता है कि बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तकोंके वैक्रियक समुद्घात पद नहीं होता है। (तैजस, आहारक, केवली व वैक्रियक समुद्घात तथा विहारवत्स्वस्थानके अतिरिक्त सर्वपद होते हैं) स्वस्थान-स्वस्थान, वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात, मारणान्तिकसमुद्घात, और उपपादको प्राप्त हुए सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव और उन्हींके पर्याप्त जीव सर्व लोकमें रहते हैं।

२. काय मार्गणा

ध.४/१,३,२२/९२/२ एवं बादरतेउकाइयाणं तस्सेव अपज्जत्ताणं च। णवरि वेउव्वियपदमत्थि।…एवं वाउकाइयाणं तेसिमपज्जत्ताणं च।…सव्व अपज्जत्तेसु वेउव्वियपदं णत्थि।—इसी प्रकार (अर्थात् बादर अप्कायिक व इनही के अपर्याप्त जीवोंके समान, बादर तैजसकायिक और उन्हींके अपर्याप्त जीवोंकी (स्वस्थानस्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान, वेदना व कषाय समुद्घात, मारणान्तिक व उपपाद पद सम्बन्धी) प्ररूपणा करनी चाहिए।…इतनी विशेषता है कि बादर तैजस कायिक जीवों के वैक्रियक समुद्घात पद भी होता है।…इसी प्रकार बादर वायुकायिक और उन्हींके अपर्याप्त जीवोंके पदोंका कथन करना चाहिए।…सर्व अपर्याप्तक जीवोंमें वैक्रियक समुद्घात पद नहीं होता।

३. योग मार्गणा

ध.४/१,३,२९/१०३/१ मणवचिजोगेसु उववादो णत्थि।—मनोयोगी और वचनयोगी जीवोंमें उपपाद पद नहीं होता।

ष. खं. ४/१,३/सू. ३३/१०४ ओरालियकायजोगीसु मिच्छाइट्ठी ओघं ।३३।…उववादो णत्थि (धवला टी०)।

ध. ४/१,३,३४/१०५/३ ओरालियकायजोगे…सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठीणमुववादो णत्थि। पमत्ते आहारसमुग्घादो णत्थि।

ध. ४/१,३,३६/१०६/४ ओरालियमिस्सजोगिमिच्छाइट्ठी सव्वलोगे। विहारवदिसत्थाण-वेउव्वियसमुग्घादा णत्थि, तेण तेसिं विरोहादो।

ध. ४/१,३,३६/१०७/७ ओरालियमिस्सम्हि ट्ठिदाणमोरालियमिस्सकायजोगेसु उववादाभावादो। अथवा उववादो अत्थि, गुणेण सह अक्कमेण उप्पत्तिभवसरीरपढमसमए उवलंभादो, पंचावत्थावदिरित्तओरालियमिस्सजीवाणमभावादो च। —१. औदारिक काययोगियोंमें मिथ्यादृष्टि जीवोंका क्षेत्र मूल ओघके समान सर्वलोक है।३३।…किन्तु उक्त जीवोंके उपपाद पद नहीं होता है। २. औदारिक काययोगमें…सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि जीवोंके उपपाद पद नहीं होता है। प्रमत्तगुणस्थानमें आहारक समुद्घात पद नहीं होता है। ३. औदारिक मिश्र काययोगी मिथ्यादृष्टि जीव सर्व लोकमें रहते हैं। यहाँ पर विहारवत् स्वस्थान और वैक्रियक स्वस्थान ये दो पद नहीं होते हैं, क्योंकि औदारिक मिश्र काययोगके साथ इन पदोंका विरोध है। ४. औदारिक-मिश्र काययोगमें स्थित जीवोंका पुनः औदारिकमिश्र काययोगियोंमें उपपाद नहीं हो है। (क्योंकि अपर्याप्त जीव पुनः नहीं मरता) अथवा उपपाद होता है, क्योंकि, सासादन और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानके साथ अक्रमसे उत्पन्न भव शरीरके प्रथम समयमें (अर्थात् पूर्व भवके शरीरको छोड़कर उत्तर भवके प्रथम समयमें) उसका सद्भाव पाया जाता है। दूसरी बात यह है, कि स्वस्थान-स्वस्थान, वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात, केवलिसमुद्घात और उपपाद इन पाँच अवस्थाओंके अतिरिक्त औदारिकमिश्र काययोगी जीवोंका अभाव है।

ष. खं. ७/२,६/५६,६१/३४३ वेउव्वियकायजोगी सत्थाणेण समुग्घादेण केवडि खेत्ते।।५६। उववादो णत्थि।६१।

ध. ४/१,३,३७/१०९/३ (वेउव्वियकायजोगीसु) सव्वत्थ उववादो णत्थि।

ध. ७/२,३,६४/३४४/६ वेउव्वियमिस्सेण सह-मारणांतियउववादेहि सह विरोहो। १. वैक्रियक काययोगी जीवोंके उपपाद पद नहीं होता है। २. वैक्रियक काययोगियोंमें सभी गुणस्थानोंमें उपपाद नहीं होता है। ३. वैक्रियक मिश्रयोगके साथ मारणान्तिक व उपपाद पदोंका विरोध है।

ध. ४/१,३,३९/११०/३ आहारमिस्सकायजोगिणो पमत्तसंजदा…सत्थाणगदा…।

ध. ७/२,६,६५/३४५/१० (आहारकायजोगी)- सत्थाण-विहारवदिसत्था णपरिणदा…मारणंतियसमुग्घादगदा। १. आहारक मिश्रकाययोगी स्वस्थानस्वस्थान गत (ही है। अन्य पदोंका निर्देश नहीं है)। २. आहारककाययोगी स्वस्थानस्वस्थान, विहारवत्स्वस्थानसे परिणत तथा मारणान्तिक समुद्घातगत (से अतिरिक्त अन्यपदोंका निर्देश नहीं है।)

ध. ४/१,३,४०/११०/७ सत्थाण-वेदण-कसाय-उववादगदा कम्मइयकायजोगिमिच्छाइट्ठिणो।—स्वस्थानस्वस्थान, वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात, और उपपाद इन पदोंको प्राप्त कार्माण काययोगी मिथ्यादृष्टि (तथा अन्य गुणस्थानवर्तीमें भी इनसे अतिरिक्त अन्यपदोंमें पाये जानेका निर्देश नहीं मिलता)।

४. वेद मार्गणा

ध. ४/१,३४३/१११/८ इत्थिवेद···असंजदसम्मादिट्ठिम्हि उववादो णत्थि। पमत्तसंजदे ण होंति तेजाहारा।

ध. ४/१.३,४४/११२/१ (णवुंसयवेदेसु) पमत्ते तेजाहारपदं णत्थि। —१. असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें स्त्रीवेदियोंके उपपाद पद नहीं होता है। तथा प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें तैजस समुद्घात नहीं होते हैं। २. प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें नपुंसकवेदियोंके तैजस आहारक समुद्घात ये दो पद नहीं होते हैं। (असंयत सम्यग्दृष्टिमें उपपाद पदका यहाँ निषेध नहीं किया गया है।)

५. ज्ञान मार्गणा

ध /४/१,३,१३/११८/१ विभंगणाणी मिच्छाइट्ठी···उववाद पदं णत्थि। सासणसम्मादिट्ठी···वि उववादो णत्थि। —विभंगज्ञानी मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंमें उपपाद पद नहीं होता।

६. संयम मार्गणा

ध./४/१,६१/१२१/७ (परिहारविसुद्धिसंजदेसु (मूलसूत्रमें) पमत्तसंजदे तेजाहारं णत्थि। —परिहार विशुद्धि संयतोंमें प्रमत्त गुणस्थानवर्तीको तैजस समुद्घात और आहारक समुद्घात यह दो पद नहीं होते हैं।

७. सम्यक्त्व मार्गणा

ध. ४/१,३,८२/१३१/६ पमत्तसंजदस्स उवसमसम्मत्तेण तेजाहारं णत्थि। —प्रमत्त संयतके उपशम सम्यक्त्वके साथ तैजस समुद्घात और आहारक समुद्घात नहीं होते हैं।

८. आहारक मार्गणा

ष. खं. ४/१,३./सू.८८/१३७ आहाराणुवादेण···।८८।

ध. ४/१,३,८६/१३७/६ सजोगिकेवलिस्स वि पदर-लोग-पूरणसमुग्घादा वि णत्थि, आहारित्ताभावादो। —आहारक सयोगीकेवलीके भी प्रतर और लोकपूरण समुद्घात नहीं होते हैं; क्योंकि, इन दोनों अवस्थाओं-में केवलीके आहारपनेका अभाव है।

ष. खं./४/,३/सू.६०/१३७ अणाहारएसु···।६०।

ध. ४/१,३/६२/१३८/८ पदरगतो सजोगिकेवली···लोकपूरणे—पुण··· भवदि। —अनाहारक जीवोंमें प्रतर समुद्घातगत सयोगिकेवली तथा लोकपूरण समुद्घातगत भी होते हैं।

४. मारणान्तिक समुद्घातके क्षेत्र सम्बन्धी दृष्टिभेद

ध.११/४,२,५,१२/२२/७ के वि आइरिया एवं होदि त्ति भणंति। तं जहा-अवरदिसादो मारणंतियसमुग्घादं काढूण पुव्वदिसमागदो जाव लोगणालीए अंतं पत्तो त्ति। पुणो विग्गहं करिय हेट्ठा छरज्जुपमाणं गंतूण पुणरवि विग्गहं करिय वारुणदिसाए अद्धरज्जुपमाणं गंतूण अवहिट्ठाणम्मि उप्पण्णस्स खेत्तं होदि त्ति। एदं ण घडदे, उववादट्ठाणं वोलेदूण गमणं णत्थि त्ति पवाइज्जंत उवदेसेण सिद्धत्तादो। —ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं—यथा पश्चिम दिशासे मारणान्तिक समुद्घातको करके लोकनालीका अन्त प्राप्त होने तक पूर्व दिशामें आया। फिर विग्रह करके नीचे छह राजू मात्र जाकर पुनः विग्रह करके पश्चिम दिशामें (पूर्व ↓ पश्चिम) (इस प्रकार) आध राजू प्रमाण जाकर अवधिस्थान नरकमें उत्पन्न होनेपर उसका (मारणान्तिक समुद्घातको प्राप्त महा मत्स्यका) उत्कृष्ट क्षेत्र होता है। किन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि, वह 'उपपादस्थानका अतिक्रमण करके गमन नहीं करता' इस परम्परागत उपदेशसे सिद्ध है।

४. क्षेत्र प्ररूपणाएँ

१. सारणीमें प्रयुक्त संकेत परिचय

सर्व	सर्व लोक।
त्रि	त्रिलोक अर्थात् सर्वलोक
ति	तिर्यक्लोक (एक राजू×१९०० योजन)
द्वि	ऊर्ध्व व अधो दो लोक।
च	चतु लोक अर्थात् मनुष्य लोक रहित सर्व लोक
म	मनुष्य लोक या अढ़ाई द्वीप।
असं	असंख्यात।
सं	संख्यात।
सं ब.	संख्यात बहुभाग।
सं. घ.	संख्यात घनांगुल।
/	भाग
×	गुणा।
क	पल्योपमका असंख्यात बहुभाग।
ख	पल्योपमका असंख्यातवाँ भाग।
स्व ओघ	गुणस्थान निरपेक्ष अपनी अपनी सामान्य प्ररूपणा।
मूलोघ	गुणस्थानोंकी मूल प्रथम प्ररूपण।
और भी	देखो आगे।

नोट- क २ इत्यादि को $क^2$ इत्यादि रूप ग्रहण करो

मा/क $\frac{\text{जीवोंकी स्व स्व ओघराशि}}{\text{क २}} \times \frac{\text{क}-१}{\text{क}} \times \text{क} \times \text{सं. प्रतरांगुल} \times १\ \text{राजू}$ = मारणान्तिक समुद्घात सम्बन्धी क्षेत्र।

उप/क $\frac{\text{जीवोंकी स्व स्व ओघ राशि}}{\text{क २}} \times \frac{\text{क}-१}{\text{क २}} \times \text{सं प्रतरांगुल} \times १\ \text{राजू}$ = उपपाद क्षेत्र।

मा/ख $\frac{\text{तिर्यंचोंकी स्व स्व ओघराशि}}{\text{ख २}} \times \text{क}-१ \times \text{सं. प्रतरांगुल} \times १\ \text{राजू}$ = मारणान्तिक समुद्घात सम्बन्धी क्षेत्र।

उप/ख $\frac{\text{तिर्यंचोंकी स्व स्व ओघराशि}}{\text{ख ३}} \times \text{क}-१ \times \text{संख्यात प्रतरांगुल} \times १\ \text{राजू}$ = उपपाद क्षेत्र।

मा/ग $\frac{\text{मनुष्योंकी स्व स्व ओघराशि}}{\text{क} \times \text{ख}} \times \text{क}-१ \times \text{संख्यात प्रतरांगुल} \times १\ \text{राजू}$ = मारणान्तिक समुद्घात सम्बन्धी क्षेत्र।

उप/ग $\frac{\text{मनुष्योंकी स्व स्व ओघराशि}}{\text{क} \times \text{ख २}} \times \text{क}-१ \times \text{संख्यात प्रतरांगुल} \times १\ \text{राजू}$ = उपपाद क्षेत्र।

२. जीवोंके क्षेत्रकी ओघ प्ररूपणा

संकेत—दे० क्षेत्र/४/१. प्रमाण—१. (ध. ४/१,३,२-१२/१०-१३८); २. (ध. ७/२,६,१-१२४/२९९-३६६)

प्रमाण नं. १ पृ.	प्रमाण नं. २ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थानस्वस्थान	विहारवत्स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस, आहारक व केवली समुद्घात
१०-४१		मिथ्यादृष्टि	१	सर्व पृ.३६ (देवसामान्य प्रधान)	ति/सं; द्वि/असं; म×असं	ति/सं	ति/सं; द्वि/असं; म×असं (ज्योतिष देवों प्रधान)	सर्व	मारणान्तिकवत्	
३६-४३		सासादन	२	त्रि./असं; म×असं पृ.४० (सौधर्मैशान प्रधान)	त्रि/असं;×सं.घ.; म×असं	त्रि/असं×सं.घ.; म×असं	त्रि/असं×सं.घ.; म×असं	त्रि/असं; म×असं	"	
"		सम्यग्मिथ्यात्व	३	"	"	"	"		"	
"		असंयत सम्यक्त्व	४	"	"	"	"	त्रि/असं; म×असं	"	
४४		संयतासंयत	५	"	"	"	" (विष्णुकुमार मुनिवत्)	"		
४६		प्रमत्त संयत	६	च/असं; म/सं	च/असं; म/सं	च/असं; म/सं	च/असं; म/सं.	च/असं; म/असं		आहारक : च/असं. म/सं; तैजस : आहारक/असं; केवली :
४७		अप्रमत्त संयत	७	"	"			"		
"		उपशामक	८-११	"				"		
"		क्षपक	८-१२	"						
४८		सयोग केवली	१३	"	च/असं; म/सं					दण्ड : च/असं; म×असं; कपाट : ति/सं; म×असं; प्रतर : वातावलय हीन सर्व; लोकपूर्ण सर्व
"		अयोग केवली	१४							

३. जीवोंके क्षेत्रकी आदेश प्ररूपणा

संकेत—दे० क्षेत्र/४/१. प्रमाण—१. (ध. ४/१,३,२-१२/१०-१३८); २. (ध. ७/२,६,१-१२४/२९९-३६६).

प्रमाण नं. १ पृ.	प्रमाण नं. २ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थानस्वस्थान	विहारवत्स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस, आहारक व केवली समुद्घात
१. गति मार्गणा										
	३०१-३०२	नरक गति सामान्य		(च/असं)/संख्य. ; (म×असं)/संख्य.	(च/असं)/सं. ; (म×असं)/सं.	(च/असं)/सं. ; (म×असं)/सं.	(च/असं)/सं. ; (म×असं)/सं.	(च/असं)/सं. ; (म×असं)/सं.	मारणान्तिकवत्	
४७-६६	"	१-७ पृथिवी सामान्य	१	" च/असं; म×सं	" च/असं; म×सं.	" च/असं; म×सं	" च/असं; म×सं	" च/असं; ति×असं; म×सं	"	

प्रमाण नं. १ पृ.	प्रमाण नं. २ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस, आहारक व केवली समुद्घात
६४–६५			२	च/असं; म×सं	च/असं; म×सं	च/असं; म×सं	च/असं; म×सं	च/असं; म×असं		
६५			३	,,	,,	,,	,,	,,		
६५			४	,,	,,	,,	,,		मारणान्तिकवत्	
५७		प्रथम पृथिवी	१–४	—	—	स्व ओघ (नारकी सामान्य) वत्		—	—	
६५		२–६ पृथिवी	१	च/असं; म×सं	च/असं; म×सं.	च/असं; म×सं.	च/असं; म×सं	च/असं; म×असं	मारणान्तिकवत्	
,,			२	,,	,,	,,	,,	,,		
,,			३	,,	,,	,,	,,			
,,			४	,,	,,	,,	,,	च/असं; म×असं	मारणान्तिकवत्	
,,		सप्तम पृथिवी	१	,,	,,	,,	,,	,,	,,	
,,			२	,,	,,	,,	,,			
,,			३–४	,,	,,	,,	,,			
		तिर्यंच गति								
	१०४	सामान्य		सर्व	ति/सं; त्रि/असं; म×असं	सर्व	च/असं; म×असं	सर्व	,,	
	१०६	पंचेन्द्रियतिर्यंसामान्य		त्रि/असं; म×असं	त्रि/असं; म×असं	ति/असं; म×असं	ति/असं; म×असं	ति×असं; त्रि/असं; म×असं	,,	
	,,	,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,,	,,	,,	
	,,	,, योनिमति		,,	,,	,,	,,	,,	,,	
	१०८	,, लब्ध्यपर्याप्त		च/असं; म×असं		च/असं; म×असं		,,	,,	
६६		सामान्य	१	सर्व	ति/सं; द्वि/असं	ति/सं; द्वि/असं	ति/असं	मा./क.	,,	
६७			२	च/असं; म×असं	च/असं; म×असं	च/असं; म×असं	च/असं; म×असं	,,	,,	
६८			३	,,	,,	,,	,,		,,	
६७			४	,,	,,	,,	,,	मा./क.	,,	
६८			५	,,	,,	,,	,,	मा/क; च/असं; म×असं	,,	
७०		पंचेन्द्रिय सामान्य	१	त्रि/असं; ति/सं; म×असं	स्वस्थानसे कुछ कम	स्वस्थानसे कुछ कम	च/असं; म×असं	पा./ख. (ति/असं. ति×असं	मारणान्तिकवत्	
•			२	,,	,,	,,	,,	,,	,,	
,,			३	,,	,,	,,	,,	...	...	
७०–७			४	,,	,,	,,	च/असं· म×असं	मा/ख (त्रि/असं; ति×असं)	मारणान्तिकवत	
,,			५	,,	,,	,,	,,	,,	...	
,,		पंचेन्द्रिय पर्याप्त	१-५	—	—	स्व ओघ (तिर्यंच सामान्य) वत्		—	—	
७०		,, योनिमति	१-३	—	—	—	,,	—	—	
७०–७२			४-५	—	—	—	,,	—	—	

प्रमाण नं० १ पृ	प्रमाण नं० २ पृ	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस, आहारक
७३		,, लब्ध्यपर्याप्त	१	त्रि/असं; म×असं	...	त्रि/असं;म×असं		मा/ल (त्रि/असं; म×असं)	मारणान्तिकवत्	
	३०६	मनुष्य गति:— सामान्य	...	च/असं	च/असं	च/असं; म×सं०	च/असं; म×सं	त्रि/असं; ति×असं; म×असं	,,	मूलोघवत्
	३०६-३१०	मनुष्य पर्याप्त	...	,,	,,	,,	,,	च/असं; म×असं	,,	मूलोघवत्
	,,	मनुष्यणी	...	,,	,,	,,	,,	,,	,,	
	३११	लब्ध्यपर्याप्त	...	च/असं; म×असं	...	च/असं; प×असं		त्रि/असं; ति×असं; म×असं	,,	
७४		सामान्य	१	च/असं; म/सं	च/असं; म/सं.	च/असं; म/सं	च/असं; म/सं	,,	,,	
,,			२	,,	,,	,,	,,	,,	,,	
७५			३	,,	,,	,,	,,		,,	
७४			४	,,	,,	,,	,,	त्रि/असं; ति×असं; म×अ	,,	
७५			५	,,	,,	,,	,,	,,	,,	
,,			६-१३	—	—	मूलोघवत्	—	—	—	
७४-७५		मनुष्य पर्याप्त	१-१३	—	—	स्व ओघवत्	—	—	—	
,,		मनुष्यणी	१-५	—	—	,,	—	—	४ गुणस्थानमें भी उपपाद नहीं है	
,,			६	—	—	मूलोघवत्	—	—		
,,			७-१३	—	—	,,	—	—	—	
७६		लब्ध्यपर्याप्त	१	च/असं; म/सं		च/असं; म/सं०		त्रि/असं; ति×असं; म×असं	मारणान्तिक वत्	
	३१४-३१५	देव गति:— सामान्य (ज्योतिषी प्रधान)		(त्रि/असं) / (सं ब.) ; (ति/सं) / (सं ब.) ; (म×असं) / (सं ब)	(त्रि/असं) / (सं) ; (ति/सं) / (सं) ; (म×असं) / (सं.)	(ति/असं) / (सं०) , (ति/सं) / (सं०) , (म×असं) / (सं०)	(त्रि/असं) / (सं०) , (ति/सं०) / (सं) ; (म×असं) / (सं०)	ति/असं; ति×असं; म×असं	,,	
	३१६	भवनवासी		(च/असं) / (सं ब) ; (म×असं) / (सं ब.)	(च/असं) / (सं ब.) , (म×असं) / (सं ब.)	(च/असं) / (सं) ; (म×असं) / (सं०)	(च/असं) / (सं०) ; (म×असं) / (सं)	,,	,,	
	३१७	व्यन्तर ज्योतिषी		—	—	देव सामान्यवत्	—	—	—	
	३१८	सौधर्म-ईशान		—	—	भवनवासी वत्	—	—	—	
	३१९	सनत्कुमार-अपराजित		—	—		—	—	—	

प्रमाण नं० १ पृ	प्रमाण नं० २ पृ	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवली समु०
७७	३१६	सर्वार्थसिद्धि सामान्य	१	म+सं/सं. व त्रि/असं;ति/सं; म×असं	म+सं/सं त्रि/असं; ति/सं; म×असं	म+सं/सं त्रि/असं; ति/असं; म×असं	म+सं/सं त्रि/असं/ति/सं; म×असं	म+सं/सं त्रि/असं; ति/सं; म×असं	मारणान्तिकवत् ,,	
,,			२-४	—	—	मूलोघवत्	—	—	—	
७७-७६		भवनवासी	१	च/असं, ति/असं, म×असं	च/असं, ति/असं, म×असं	त्रि/असं, ति×असं, म×असं	च/असं, ति/असं, म×असं	च/असं, ति/असं, म×असं	मारणान्तिकवत्	
७६			२-४	—	—	मूलोघवत्	—	—	४थे गुणस्थानमें उपपाद नहीं	
,,		व्यन्तर ज्योतिषी	१-४	—	—	स्वओघ (देवसामान्य)वत्		—		
७६-८०		सौधर्म ईशान	१	—	भवनवासी वत्	—	—	स्वओघ (दे०	मारणान्तिकवत्)	
८०			२-४	—		स्वओघ (देवसामान्य)वत्--		—	—	
,,		सनत्कुमार से उपरिमग्रैवेयक	१	—	—	,,	—	—	—	
			२-४	—	—	मूलोघवत्	—	—	—	
८१		अनुदिशसे जयन्त	४	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	मारणान्तिकवत्	
,,		सर्वार्थसिद्धि	४	म/सं	म/सं	म/सं	म/सं	,,	,,	
२. इन्द्रिय मार्गणाः—										
	३२१	एकेन्द्रिय सामान्य		सर्व		सर्व	च/असं	सर्व	,,	
	,,	,, सू० प० अप०		,,		,,		,,	,,	
	३२२	,, बा० प० अप०		त्रि/सं, ति×असं, म×असं		त्रि/असं, ति×असं, म×असं	पर्याप्तमें च/असं व अप० में×	,,	,,	
	३२४	विकलेन्द्रिय सामान्य		त्रि/असं; ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं		त्रि/सं, ति×असं, म×असं	,,	
	,,	,, पर्याप्त		—	—	विकलेन्द्रिय सामान्य	—	—	—	
	३२५	,, अपर्याप्त		च/असं,म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं		त्रि/असं, ति/असं, म×असं	मारणान्तिकवत्	
	३२६	पंचेन्द्रिय सामान्य		त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	,,	,,	मूलोघवत्
	,,	,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,,	,,	,,	
	,,	,, अपर्याप्त		च/असं, म×असं		च/असं,म×असं		,,	,,	
८२-८४		एकेन्द्रिय सर्व विकल्प	१	—	—	स्व सामान्यवत्	—	—	—	
८५		विकलेन्द्रिय ,, ,	१	—	—	,,	—	—	—	
८६		पंचेन्द्रिय सा० व प०	१	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति×असं, म×असं	मारणान्तिकवत्	
,,			२-१४	—	—	मूलोघवत्	—	—	—	
८७		पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	१	च/असं, म×असं		च/असं, म×असं		त्रि/असं, ति×असं, म×असं	मारणान्तिकवत्	

प्रमाण नं० १ पृ.	प्रमाण नं० २ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवली समुद्घात
१. काय मार्गणा										
	३२९	पृथिवी सूक्ष्म पर्याप्त		सर्व		सर्व		सर्व	मारणान्तिक वत्	
	,,	,, ,, अपर्याप्त		,,		,,		,,	,,	
	३३४	,, बादर पर्याप्त		च/असं, म×असं		च/असं, म×असं		त्रि/असं, ति×असं, म×असं	,,	
	३३०–३३३	,, ,, अपर्याप्त		त्रि/असं, ति×सं, म×असं		त्रि/असं, ति×सं, म×असं		सर्व	,,	
	३२९	अप. के सर्व विकल्प		—	—	पृथिवी वत्	—	—	—	—
	,,	तेज सूक्ष्म पर्याप्त		सर्व		सर्व	सर्व/असं	सर्व	मारणान्तिक वत्	
	,,	,, ,, अपर्याप्त		—	—	पृथिवी वत्	—	—	—	—
	३३५	,, बादर पर्याप्त		सर्व/असं		सर्व/असं	सर्व/असं, ति/सं	च/असं, म×असं	मारणान्तिक वत्	
	३३०–३३०	,, ,, अपर्याप्त		—	—	पृथिवी वत्	—	—	—	—
	३३६	वायु सूक्ष्म पर्याप्त		सर्व		सर्व	च/असं	सर्व	मारणान्तिक वत्	
	,,	,, ,, अपर्याप्त		—	—	पृथिवी वत्	—	—	—	—
	३३७	,, बादर पर्याप्त		त्रि/असं, ति×असं, म×असं		त्रि/असं, ति×असं, म×असं	च/असं	त्रि/सं, ति×असं, म×असं	मारणान्तिक वत्	
	३४६	,, ,, अपर्याप्त		,,		त्रि/सं, ति×असं, म×असं	,,	सर्व	,,	
	३३१	वन-अप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त		ति/सं		ति/सं		त्रि/सं, ति×असं, म×असं	,,	
	३३०–३३३	,, ,, ,, अपर्याप्त		—	—	पृथिवी वत्	—	—	—	—
	३३०–३४६	,, प्रतिष्ठित प्र० पर्याप्त		त्रि/असं, ति×सं, म×असं		त्रि/असं, ति×सं, म×असं		त्रि/असं, ति×सं, म×असं	मारणान्ति वत्	
	,,	,, ,, ,, ,, अपर्याप्त		,,		,,		,,	,,	
	,,	,, ,, ,, बा० पर्याप्त		,,		,,		,,	,,	
	,,	,, ,, ,, ,, अपर्याप्त		,,		,,		,,	,,	
	,,	,, साधारण निगोद सू० पर्याप्त		सर्व		सर्व		सर्व	,,	
	,,	,, ,, ,, ,, अपर्याप्त		,,		,,		,,	,,	
	,,	,, ,, ,, बा० पर्याप्त		,,		,,		,,	,,	
	,,	,, ,, ,, ,, अपर्याप्त		,,		,,		,,	,,	
	,,	त्रसके सर्व विकल्प		—	—	पंचेन्द्रिय वत्	—	—	—	—

प्रमाण नं० १ पृ.	प्रमाण नं० २ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवली समुद्घात
८८-१००		स्थावरके सर्व विकल्प	१	—	—	स्व स्व ओघ वत्	—	—	—	
१०१		त्रस काय पर्याप्त	१	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति×असं	मारणान्तिक वत्	
,,			२-१४	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	
,,		,, ,, अपर्याप्त	१	च/असं, म×असं		च/असं, म×असं		त्रि/असं, ति×असं	मारणान्तिक वत्	
४. योग मार्गणा										
	३४१	पाँचों मनोयोगी		त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति×असं, म×असं		तैजस आहारक मूलोघ वत्
	,,	,, वचन योगी		,,		,,	,,	,,		,,
	३४१-३४२	काय योगी सामान्य		सर्व	,,	सर्व	,,	सर्व	मारणान्तिक वत्	तीनों मूलोघ वत् केवल दण्ड समु
	३४२-३४३	औदारिक काय योगी		,,	,,	,,	च/असं, म×असं	,,		,, प्रतर ,,
	३४१-३४२	,, मिश्र ,, ,,		,,		,,		,,	मारणान्तिक वत्	
	३४३	वैक्रियक काय योगी		त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति×असं, म×असं		
	३४४	,, मिश्र ,, ,,		,,		,,				
	३४५	आहारक ,, ,,		च/असं, म/सं.	च/असं, म/सं			च/असं, म×असं		
	३४६	,, मिश्र ,, ,,		,,						
	,,	कार्माण काय योगी		सर्व		सर्व			सर्व	प्रतर व लोक पूर्ण
१०२		पाँचों मनो योगी	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
१०३			२-१३	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
१०२-१०३		पाँचों वचन योगी	१-१३	—	—	मनोयोगी वत्	—	—	—	—
१०३		काय योगी सामान्य	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
१०३-१०४			२-१३	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
१०४		औदारिक काय योगी	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—		
१०५			२-४	त्रि/असं, सं, घ, म×असं	त्रि/असं, सं, घ., म×असं	त्रि/असं, सं, घ, म×असं	त्रि/असं, सं, घ, म×असं	त्रि/असं, म×असं		
,,			४-१३	—	—	मूलोघवत	—	—	—	—
१०६		औदारिक मिश्र काय योगी	१	सर्व		सर्व		सर्व	मारणान्तिक वत्	

प्रमाण नं० १ पृ.	प्रमाण नं० २ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस, आहारक व केवली समुद्घात
१०७			२	च/असं, म×असं		च/असं, म×असं			,,	
,,			४	च/असं, म/सं		च/असं, म/सं			,,	
१०८			१३						,,	{ मूलोघ वत् केवल कपाट
,,		वैक्रियक काय योगी	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
१०९			२-४	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
,,		वैक्रियक मिश्र काय योगी	१-२	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
,,			४	च/असं, म×असं		च/असं, म×असं			मारणान्तिक वत्	
११०		आहारक काय योगी	६	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
,,		आहारक मिश्र काय योगी	६	—	—	,,	—	—	—	—
११०		कार्माण काययोगी	१	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—	
,,			२,४	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं				च/असं, म×असं	
१११			१३							{ ओघ वत् प्रतर व लोकपूर्ण
५. वेद मार्गणा—										
	१४७	स्त्रीवेदी (देवीप्रधान)		त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति×असं, म×असं	मारणान्तिक वत्	
	१४७	पुरुष वेदी		,,	,,	,,	,,	,,	,,	{ केवल तैजस व आहा. मूलोघ वत्
	१४८	नपुंसक वेदी		सर्व	,,	सर्व	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	सर्व	,,	
	,,	अपगत वेदी		च/असं, म/सं				च/असं, म×असं		
१११		स्त्री वेदी	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
,,			२-९	—	—	मूलोघ वत्	—	—	चौथेमें उपपा.नहीं	
११२		पुरुषवेदी	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	
,,			२-९	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	केवल तै० आ०
११३		नपुंसक वेदी	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
,,			२-९	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	
११४		अपगद वेदी (उप०)	९-११	च/असं, म/सं				च/असं, म×असं		
,,		,, (क्षपक)	९-१२	,,						
,,			१३-१४	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—

प्रमाण नं० १ पृ.	प्रमाण नं० २ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस, आहारक व केवली समुद्घात
६. कषाय मार्गणा—										
	३५०	चारों कषाय		सर्व	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	सर्व	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	सर्व	मारणान्तिक वत्	केवल तै० आ० मूलोघ वत्
	"	अकषाय		—	—	अपगत वेदी वत्	—	—	—	—
११५		चारों कषाय	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	
११६			२,४	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	मारणान्तिक वत्	
"			३	"	"	"	"			
"			५	"	"	"	"	च/असं, म×असं		
"			६-९	च/असं, म/सं	यथायोग्य च/सं, म/सं	यथायोग्य च/असं, म/सं	यथायोग्य च/असं, म/सं	"		केवल तै० आ० मूलोघ वत्
११७		लोभ कषाय	१०	"				त्रि/असं		
११८		अकषाय	११-१४	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
७. ज्ञान मार्गणा										
	३५०	मति श्रुत अज्ञान		सर्व	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	सर्व	ति/असं, ति/सं, म×असं	सर्व	मारणान्तिक वत्	
	३५१	विभंग ज्ञान		त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति×असं म×असं		
"	३५२	मति श्रुत ज्ञान		च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	मारणान्तिक वत्	केवल तै० आ० मूलोघ वत्
"	"	अवधि ज्ञान		"	"	"	"	"	"	"
"	३५१	मनः पर्यय ज्ञान		च/असं, म/असं	च/असं, म/असं	च/असं, म/सं		च/असं, म×असं		
"	३५२	केवल ज्ञान		"	"					केवल केवली समुद्घात मूलोघ वत्
११७		मति श्रुत अज्ञान	१	सर्व	त्रि/असं, ति/सं, द्वि/असं	सर्व	त्रि/असं, ति/सं, द्वि/असं	सर्व	मारणान्तिक वत्	
११८			२	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
"		विभंग ज्ञान	१			स्व ओघ वत्			—	—
११९			२	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, ति×असं म×असं		
"		मति श्रुत ज्ञान	४-१२	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
"		अवधि ज्ञान	४-१२			"			—	—
"		मनः पर्यय ज्ञान	६-१२			"			—	—
१२०		केवल ज्ञान	१३-१४			"			—	—

प्रमाण नं. १ पृ.	प्रमाण नं. २ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवली समुद्घात
८. संयम मार्गणा—										
	३५४	संयम सामान्य		च/असं, म/सं	च/असं, म/सं	च/अस, म/सं	च/असं, म/सं	च/असं, म×असं		मूलोघ वत् केवल तै.आ. मूलोघवत्
	„	सामायिक छेदोप०		„	„	„	„	„		
	३५२	परिहार विशुद्धि		„	„	„	„			
	„	सूक्ष्मसाम्पराय		„				च/असं, म×असं		
	३५४	यथाख्यात		च/असं, म/सं	च/असं, म/सं	च/असं, म/सं	च/असं, म/सं	च/असं, म×असं		केवल केवली समु० मूलोघ वत्
	३५५	संयतासंयत		त्रि/असं, म×असं	त्रि/असं, म×असं	त्रि/असं, म×असं	त्रि/असं, म×असं	त्रि/असं, म×असं		
	„	असंयत		—	—	नपुंसक वेद वत्	—	—	—	—
१२१		संयत सामान्य	६×१४	—	—	मूलोघवत्	—	—	—	—
१२२		सामायिक छेदोप०	६–९	—	—	„	—	—	—	—
१२३		परिहार विशुद्धि	६–७	—	—	„	—	—	—	—
१२४		सूक्ष्म साम्पराय	१०	—	—	„	—	—	—	—
„		यथाख्यात	११–१४	—	—	„	—	—	—	—
„		संयमासंयम	५	—	—	„	—	—	—	—
„		असंयम	१–४	—	—	„	—	—	—	—
९. दर्शन मार्गणा—										
	३५६	चक्षुदर्शन		त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति×असं, म×असं	मारणान्तिक वत् केवल लब्ध्यपेक्षा	तै० व आ० ओघवत् केवली समुद्घात नहीं
	„	अचक्षुदर्शन		—	—	नपुंसक वेद वत्	—	—	—	—
	३५७	अवधिदर्शन		—	—	अवधि ज्ञान वत्	—	—	—	—
	„	केवल दर्शन		—	—	केवल ज्ञान वत्	—	—	—	—
१२६		चक्षुदर्शन	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	
१२७			२–१२	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
„		अचक्षुदर्शन	१–१४	—	—	„	—	—	—	—
„		अवधिदर्शन	४–१२	—	—	अवधि ज्ञान वत्	—	—	—	—
„		केवलदर्शन	१३–१४	—	—	केवल ज्ञान वत्	—	—	—	—
१०. लेश्या मार्गणा—										
	३५७	कृष्णनील कापोत		सर्व	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	सर्व	त्रि./असं, ति/सं, म×असं	सर्व	मारणान्तिक वत्	
	३५८	तेज (देवप्रधान)		त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं/ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति×असं, म×असं	„	

प्रमाण नं. १ पृ.	प्रमाण नं. २ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवली समुद्घात
	३५६	पद्म		,, (तिर्यंच प्रधान)	त्रि/असं/ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म × असं	च/असं, म×असं (सनत्कुमार माहेन्द्र प्रधान)	त्रि/असं, ति×असं, म×असं	मारणान्तिक वत्	
	,,	शुक्ल		च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	,,	मूलोघ वत्
१२८		कृष्णनील कापोत	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
,,		,,	२-४	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	मारणान्तिक वत्	
१२६		तेज	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
१३०			२-७	—	—	मूल ओघ वत्	—	—	—	—
,,		पद्म	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
,,			२-७	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
,,		शुक्ल	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
,,			२-१३	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
११. भव्यत्व मार्गणा—										
	३६०	भव्य		—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
		अभव्य		सर्व	च/असं, म×असं	सर्व	च/असं, म×असं	सर्व	मारणान्तिक वत्	
१३१		भव्य	१-१४	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
१३२		अभव्य	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
१२. सम्यक्त्व मार्गणा—										
	३६१	सम्यक्त्व सामान्य		च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	मारणान्तिक वत्	मूलोघ वत्
	,,	क्षायिक		,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
	३६२	वेदक		,,	,,	,,	,,	,,	,,	केवल तैजस व आहारक मूलोघ वत्
	,,	उपशम		—	उपशम सम्यग्दृष्टि संख्या-में वेदकसे कुछ कम है अतः वेदक वत् अर्थात् उससे किंचित ऊन उनका क्षेत्र है					—
	,,	सासादन		च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	मारणान्तिक वत्	
	३६४	सम्यग्मिथ्यात्व		,,	,,	,,	,,			
	,,	मिथ्यात्व		—	—	नपुंसक वेद वत्	—	—	—	—
१३३		सम्यक्त्व सामान्य	४-१४	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
,,		क्षायिक	४	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
,,			५	—	—	मनुष्य पर्याप्त वत्	—	—	—	—
,,			६-१४	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
१३४		वेदक	४-७	—	—	,,	—	—	—	—

प्रमाण नं०१ पृ०	प्रमाण नं०२ पृ०	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवली समुद्घात
१३५		उपशम	४	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	मारणान्तिक वत्	
१३६			५	,,	,,	,,	,,	,,		
१३५			६-११	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	
,,		सासादन	२	—	—	,,	—	—	—	—
,,		सम्यग्मिथ्यादृष्टि	३	—	—	,,	—	—	—	—
,,		मिथ्यादृष्टि	१	—	—	,,	—	—	—	—
१३. संज्ञी मार्गणा										
	३६४	संज्ञी		त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति×असं, म×असं	मारणान्तिक वत्	मूलोघ वत्
	३६५	असंज्ञी		सर्व	,,	सर्व	,,	सर्व	,,	
१३६		संज्ञी	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
,,			२-४	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
,,		असंज्ञी	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
१४. आहारक मार्गणा										
	३६६	अहारक		सर्व	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	सर्व	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	सर्व	मारणान्तिक वत्	केवल दण्ड कपाट समु. मूलोघ वत्
	,,	अनाहारक		सर्व					सर्व	केवल प्रतर व लोक पूर्ण मूलोघ वत्
१३७		आहारक	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	
,,			२-४	—	—	मूलोघ वत्	—	—	शरीर ग्रहण के प्रथम समयमें मूलोघ वत्	केवल दण्ड व प्रतर मूलोघ वत्
,,		अनाहारक	१						सर्व	
,,			२-४						च/असं, म×असं	
,,			१३							प्रतर व लोक पूर्ण मूलोघ वत्

४. अन्य प्ररूपणाएँ

नं०	पद विशेष	प्रकृति मूल प्रकृति	प्रकृति उत्तर प्रकृति	स्थिति मूल प्रकृति	स्थिति उत्तर प्रकृति	अनुभाग मूल प्रकृति	अनुभाग उत्तर प्रकृति	प्रदेश मूल प्रकृति	प्रदेश उत्तर प्रकृति
(१)	अष्टकर्मोंके बन्धके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश क्षेत्र प्ररूपणा। प्रमाण—(म. ब/पु.नं०/§…/पृ० सं०								
१	ज. उ. पद		१/२८१-२११/१८६-१९०	२/१६१-१६६/६३-१०१	३/४७१-४७७/२१३-२१७	४/२०३-२०७/८७-९१	५/३३८-३४७/१४२-१४१		
२	भुजगारादि पद			२/३०६/१६२-१६३	३/७७२-४७४/३६५-३६७	४/२८६/१३४	५/५१०-५१२/२८३-२८५	६/१३१-१३२/६६-७१	
३	वृद्धि हानि			२/३१०/११७-११८	३/६२६-६३२/४५३-४५५	५/३६३/१६५	५/६२०/३६५		
(२)	अष्ट कर्म सत्त्वके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश क्षेत्र प्ररूपणा प्रमाण—(म.ब./पु.न./§…/पृ० नं०…)							ध.११/५३-७४	
१	ज. उ. पद								
२	भुजगारादि पद								
३	वृद्धि हानि								
(३)	मोहनीयके सत्त्वके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश क्षेत्र प्ररूपणा प्रमाण—(क.पा./पु.न./…/पृ.नं…)								
१	पिज्ज दोस सामान्य	१/३८३/३९८-३९९							
२	२४, २८ आदि स्थान		२/३६०-३६१/३२४-३२६						
३	ज. उ. पद	२/७७-८०/५३-६०	२/१७५/१६३-१६५	३/११२-११८/६४-६८	३/६१६-६२१/३६४-३६८	५/९८-१०२/६२-६५	५/३१७-३५५/३२६-३२७		
४	भुजगारादि पद	२/४५३/४०८-४०९		३/२०३-२०५/११६-११७	४/११४-११७/५९-६०	५/१५५/१०३	५/४९६/२९०-२९१		
५	वृद्धि हानि	२/५१५-५१७/४६३		३/३०६-३०७/१९८-१९९	४/३७४/२३१	५/१८०/१२१	५/५५३/३२१		

(४) पाँचों शरीरोंके योग्य स्कन्धोंकी संघातन परिशातन कृतिके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश क्षेत्र प्ररूपणा (देखो ध.९/पृ. ३६४-३७०)

(५) पाँचों शरीरोंमें २,३,४ आदि भंगोंके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश क्षेत्र प्ररूपणा (देखो ध.१४/पृ.२५३-२५६)

(६) २३ प्रकार वर्गणाओंकी जघन्य उत्कृष्ट क्षेत्र प्ररूपणा (देखो ष.खं. १४/सू १/पृ. १४६/१)

(७) प्रयोग, समवदान, अधः, तप, ईर्यापथ व कृति कर्म इन षट्कर्मोंके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश क्षेत्र प्ररूपणा (देखो ध.९/पृ. ३६४-३७०)

क्षेत्र आर्य—दे० आर्य।

क्षेत्र ऋद्धि—दे० ऋद्धि/६।

क्षेत्रज्ञ—जीवको क्षेत्रज्ञ कहनेकी विवक्षा (दे० जीव/१/२,३)

क्षेत्र परिवर्तन—दे० संसार/२।

क्षेत्रप्रवेश Locations Pointing Places ध./५/२७।

क्षेत्रप्रमाणके भेद—

रा. वा./३/३८/७/२०८/३० क्षेत्रप्रमाणं द्विविधं—अवगाहक्षेत्रं विभागनिष्पन्नक्षेत्रं चेति। तत्रावगाहक्षेत्रमनेकविधम्-एकद्वित्रिचतुःसंख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तप्रदेशपुद्गलद्रव्यावगाह्यैकाद्यसंख्येयाकाशप्रदेशभेदात्। विभागनिष्पन्नक्षेत्रं चानेकविधम्—असंख्येयाकाशश्रेणयः क्षेत्रप्रमाणाङ्गुलस्यैकोऽसंख्येयभागः, असंख्येयाः क्षेत्रप्रमाणाङ्गुलासंख्येयभागाः क्षेत्रप्रमाणाङ्गुलमेकं भवति। पादवितस्त्यादि पूर्ववद्वेदितव्यम्। = क्षेत्र प्रमाण दो प्रकारका है—अवगाह क्षेत्र और विभाग निष्पन्न क्षेत्र। अवगाह क्षेत्र एक, दो, तीन, चार, संख्येय, असंख्येय और अनन्त प्रदेशवाले पुद्गलद्रव्यको अवगाह देनेवाले आकाश प्रदेशोंकी दृष्टिसे अनेक प्रकारका है। विभाग निष्पन्नक्षेत्र भी अनेक प्रकारका है—असंख्यात आकाशश्रेणी; प्रमाणाङ्गुलका एक असंख्यातभाग, असंख्यात क्षेत्र प्रमाणांगुलके असंख्यात भाग; एकक्षेत्र प्रमाणाङ्गुल; पाद, वितस्त (बालिस्त) आदि पहलेकी तरह जानना चाहिए। विशेष दे० गणित/I/१।

क्षेत्र प्रयोग—Method of application of area (ज. प/प्र/१०६)।

क्षेत्रफल—Area ज.दे० शुद्धि।

क्षेत्रमिति—Mensuration ध./४/प्र २७।

क्षेत्रवान्—षड् द्रव्योंमें क्षेत्रवान् व अक्षेत्रवान् विभाग (दे० द्रव्य/३)

क्षेत्रविपाकी प्रकृति—दे० प्रकृतिबंध/२।

क्षेत्र शुद्धि—दे० शुद्धि।

क्षेत्रोपसंपत—दे० समाचार।

क्षेप—१. गो. क/भाषा./८३४/१००८/२ जिसको मिलाइए किसी अन्य राशिमें जोड़िए ताको क्षेप कहिए। २. अपकृष्ट द्रव्यका क्षेप करनेका विधान—दे० अपकर्षण/२।

क्षेमंकर—१ यह तृतीय कुलकर हुए हैं। विशेष परिचय—दे० शलाकापुरुष/६। २. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। ३. लौकान्तिक देवोंका एक भेद—दे० लौकान्तिक। ४. लौकान्तिक देवोंका अवस्थान—दे० लोक/७।

क्षेमंधर—१. वर्तमान कालीन चतुर्थ कुलकर। विशेष परिचय—दे० शलाकापुरुष/६। २. कृति—बृहत्कथामंजरी; समय—ई० १००० (जीवन्धर चम्पू/प्र. १८)।

क्षेम—ध.१३/५,५,६३/८ मारीदि-डमराद्यभावो खेमं णाम तव्विवरीदमक्खेमं। = मारी, ईति व राष्ट्रविप्लव आदिके अभावका नाम क्षेम है। तथा उससे विपरीत अक्षेम है। (भ. आ./वि.१५६/३७२/५)।

क्षेमकीर्ति—काष्ठासंघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) यह यशःकीर्तिके शिष्य थे। समय—वि० १०५५ ई० ९९८ (प्रद्युम्न चरित्र/प्र० प्रेमीजी); (ला. सं./१/६४-७०)। दे० इतिहास/७/६। २. यशःकीर्ति भट्टारकके शिष्य थे। इनके समयमें ही पं० राजमल्लजीने अपनी लाटी संहिता पूर्ण की थी। समय वि० १६४१ ई० १५८४। (स. सा./कलश टी०/प्र० ५ ब० शीतल)।

क्षेमचन्द्र—दिगम्बर मुनि थे। इनकी प्रार्थनापर शुभचन्द्राचार्यने अपनी कृति अर्थात् कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी टीका पूर्ण की थी। समय—वि० १६१३-१६५७, ई० १५५६-१६०१।

क्षेमपुर—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

क्षेमपुरी—पूर्व विदेहस्थ सुकच्छ देशकी मुख्य नगरी—दे० लोक/५/२।

क्षेमा—पूर्व विदेहस्थ कच्छ देशकी मुख्य नगरी—दे० लोक/५/२।

क्षोभ—प्र. सा./ता. वृ./७/९/१३ निर्विकारनिश्चलचित्तवृत्तिरूपचारित्रस्य विनाशकश्चारित्रमोहाभिधानः क्षोभ इत्युच्यते। = निर्विकार निश्चल चित्तकी वृत्तिका विनाशक जो चारित्रमोह है वह क्षोभ कहलाता है।

क्ष्वेलौषध—दे० ऋद्धि/७।

[ख]

खंड—१. उभय व मध्य खण्ड कृष्टि—दे० कृष्टि। २. अखण्ड द्रव्यमें खण्डत्व अखण्डत्व निर्देश—दे० द्रव्य/४। ३. आकाशमें खण्ड कल्पना—दे० आकाश/२। ४. परमाणुमें खण्ड कल्पना—दे० परमाणु/३।

खंडप्रपात कूट—विजयार्ध पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/४।

खंडप्रपात गुफा—विजयार्ध पर्वतकी एक गुफा, जिसमेंसे सिन्धु नदी निकलती है—दे० लोक/३/५।

खंडशलाका—Piece log ज. प./प्र. १०६।

खंडिका—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

खंडित—गणितकी भागहार विधिमें भाज्य राशिको भागहार द्वारा खण्डित किया गया कहते हैं—दे० गणित/II/१/६।

ख—अनन्त।

खचर—भा.पा./टी./७५/२१८/४ खे चरन्त्याकाशे गच्छन्तीति खचराः विद्याधरा उभयश्रेणिसंबन्धिनः। = आकाशमें जो चरते हैं, गमन करते हैं वे खचर कहलाते हैं, ऐसे विजयार्धकी उभयश्रेणि सम्बन्धी विद्याधर (खचर कहलाते हैं)।

खड—चतुर्थ नरकका षष्ठ पटल—दे० नरक/५/११।

खडखड—चतुर्थ नरकका सातवाँ पटल—दे० नरक/५/११।

खडा—दूसरे नरकका पाँचवाँ पटल—दे० नरक/५/११।

खडिका—दूसरे नरकका सातवाँ पटल—दे० लोक/५/११।

खड्ग—१. चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंमेंसे एक है—दे० शलाकापुरुष/२/२ २. भरतक्षेत्र पूर्व आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

खड्गपुरी—पूर्व विदेहस्थ आवर्तदेशकी मुख्य नगरी—दे० लोक/५/२।

खड्गा—अपरविदेहस्थ सुवल्गु देशकी मुख्य नगरी—दे० लोक/५/२।

खड्गसेन—नारनौल वासी लूणराज के पुत्र एक हिन्दी कवि जो पीछे लाहौर रहने लगे थे। वि० १७१३ में त्रिलोक दर्पण लिखा। समय वि० १६६०-१७२० (ई० १६०३-१६६३)। (ती०/४/२८०)।

खदिरसार—म.पु./७४/ श्लोक विन्ध्याचल पर्वतपर एक भील था। मुनिराजके समीप कौवेके मांसका त्याग किया (३८६-३९६) प्राण जाते भी नियमका पालन किया। अन्तमें मरकर सौधर्मस्वर्गमें देव हुआ (४१०-)। यह श्रेणिक राजाका पूर्वका तीसरा भव है।—दे० श्रेणिक

खरकर्म—दे० सावद्य/२/५।

खरदूषण—प० पु०/६/ श्लोक मेघप्रभका पुत्र था (२१)। रावणकी बहन चन्द्रनखाको हर कर (२५) उससे विवाह किया (१०/२८)।

खरभाग—१. अधोलोकके प्रारम्भमें स्थित पृथ्वी विविध प्रकारके रत्नोंसे युक्त है, इसलिए उसे चित्रा पृथिवी कहते हैं। चित्राके तीन भाग हैं; उनमेंसे प्रथम भागका नाम खरभाग है। विशेष —दे० रत्न-प्रभा/२ २. अधोलोकमें खर पंकादि पृथिवियोंका अवस्थान —दे० भवन/४।

खर्वट—दे० कर्वट।

खलीनित—कायोत्सर्गका अतिचार —दे० व्युत्सर्ग/१।

खातिका—समवशरणकी द्वितीय भूमि —दे० समवशरण।

खाद्य—मू. आ./६४४ ···/ खादति खादियं पुण···।६४४। = जो खाया जाये रोटी लड्डू आदि खाद्य है। (अन. ध./७/१३/६६७); (ला. सं./ २/१६-१७)।

खारवेल—कलिंग देशका कुरुवंशी राजा था। समय—ई. पू. १६०।

खारी—तौलका प्रमाण विशेष —दे० गणित /I/१/२।

खुशाल चन्द—सांगानेर निवासी खण्डेलवाल जैन थे। सांगानेर-वासी पं० लखमीदासके शिष्य थे। दिल्ली जयसिंहपुरामें वि० सं० १७८० ई० १७२३ में ब० जिनदास के हरिवंश के अनुसार हरिवंशपुराणका पद्यानुवाद किया है। इसके अतिरिक्त, पद्म-पुराण उत्तरपुराण, धन्यकुमार चरित्र, जम्बूचरित्र, यशोधर चरित्र। और व्रतकथा कोष। समय-वि० श० १८ उत्तरार्ध। (ती./४/३०३)।

खेट—ति. प./४/१३६८···। गिरिसरिकदपरिवेढं खेडं···। = पर्वत और नदीसे घिरा हुआ खेट कहलाता है।

ध.१३/५.५.६३/३३५/७ सरित्पर्वतावरुद्धं खेडं णाम। = नदी और पर्वत-से अवरुद्ध नगरकी खेट संज्ञा है। (म. पु./१६/१६१); (त्रि.सा./६७६)।

खेद—नि. सा. (ता. वृ./६/१४/४) अनिष्टलाभः खेदः। = अनिष्टकी प्राप्ति (अर्थात् कोई वस्तु अनिष्ट लगना) वह खेद है।

ख्याति—दे० लोकैषणा।

[ग]

गंगदेव—श्रुतावतारके अनुसार आपका नाम (दे० इतिहास) देव था। आप भद्रबाहु प्रथम (श्रुतकेवली) के पश्चात दसवें, ११वें अंग व पूर्वधारी हुए थे। समय—वी० नि० ३१५-३२६ (ई० पू० २१२-१९८)। (दे० इतिहास ४/४)।

गंगराज—पोरसल नरेश विष्णुवर्धन के मन्त्री थे। श० सं० १०४५में अपने गुरु शुभचन्द्रकी निषधका बनवायी थी। तथा श० सं० १०३७ कुचिराजकी समाधि की स्मृतिमें स्तम्भ खड़ा कराया था। समय-श० १०१५-१०५० (ई० १०६३-११२८); (ध./२/प्र. ११)।

गंगा—१. पूर्वीमध्य आर्य खण्डकी एक नदी —दे० लोक/३/११/। २. कश्मीरमें बहनेवाली कृष्ण गंगा ही पौराणिक गंगा नदी हो सकती है। (ज. प./प्र १३९ A. N. up and H.L.) —दे० कृष्ण गंगा।

गंगाकुण्ड —भरतक्षेत्रस्थ एक कुण्ड जिसमेंसे गंगा नदी निकलती है। दे० लोक/३/१०

गंगाकूट—हिमवान् पर्वतस्थ एक कूट —दे० लोक/ ५/४।

गंगादेवी—गंगाकुण्ड तथा गंगाकूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/७।

गंगा नदी— भरत क्षेत्रकी प्रधान नदी —दे० लोक/७।

गंडरादित्य—शिलाहारके राजा थे। निम्बदेव इनके सामन्त थे। समय- श० १०३०-१०५८; ई० ११०८-११३६/ष. खं. २/प्र०६ H. L. Jain).

गंडविमुक्तदेव—१. नन्दिसंघ के देशीयगण के अनुसार माघनन्दि मुनि कोल्लापुरीयके शिष्य तथा भानुकीर्ति व देवकीर्ति के गुरु थे। समय—वि० ११९०-१२२० (ई० ११३३-११६३); (ष. खं. २/प्र.४ H. L. Jain.)-दे० इतिहास/७/५। २. नन्दिसंघके देशीय-गणके अनुसार (दे० इतिहास) माघनन्दि कोल्लापुरीयके शिष्य देव-कीर्तिके शिष्य थे अपरनाम वादि चतुर्मुख था। इनके अनेक श्रावक शिष्य थे। यथा—१ माणिक्य भण्डारी मरियानी दण्डनायक, २. महाप्रधान सर्वाधिकारी ज्येष्ठ दण्डनायक भरतिमय्य; ३. हेडगे बूचिमय्यंगल, ४. जगदेकदानी हेडगे कोरय्य। तदनुसार इनका समय--ई० ११५८-११८२ होता है। दे० इतिहास/७/५।

गंध—१. गन्धका लक्षण

स. सि./२/२०/१७८/६ गन्ध्यत इति गन्धः···गन्धनं गन्धः।

स. सि./५/२३/२९४/१ गन्ध्यते गन्धनमात्रं वा गन्धः। = १. जो सूँघा जाता है वह गन्ध है।···गन्धन गन्ध है। २. अथवा जो सूँघा जाता है अथवा सूँघने मात्रको गन्ध कहते हैं। (रा. वा./२/२०/१/१३२/३१); (ध. १/१.१.३३/२४४/१); (विशेष—दे० वर्ण/ १)।

दे० निक्षेप/५/६ (बहुत द्रव्योंके संयोगसे उत्पादित द्रव्य गन्ध है)।

२. गन्ध के भेद

स. सि./५/२३/२९४/१ स द्वेधा; सुरभिरसुरभिरिति।···त एते मूलभेदाः प्रत्येकं संख्येयासंख्येयानन्तभेदाश्च भवन्ति। = सुगन्ध और दुर्गन्ध-के भेदसे वह दो प्रकारका है···ये तो मूल भेद हैं। वैसे प्रत्येकके संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं। (रा. वा./५/२३/१/ ४८५); (प.प्र./टी./१/२१/२६/१); (द्र. सं/टी./७/१९/१२); (गो. जी./जी. प्र./४७९/८८५/१५)।

३. गन्ध नामकर्मका लक्षण

स. सि./८/११/३९०/१० यदुदयप्रभवो गन्धस्तद् गन्धनाम। = जिसके उदय-से गन्धकी उत्पत्ति होती है वह गन्ध नामकर्म है। (रा. वा./८/११/ १०/५७७/१६); (गो. क./ जी. प्र./३३/२९/१३)।

ध. ६/१. ९-१,२८/५५/४ जस्स कम्मक्खंधस्स उदएण जीवसरीरे जादि-पडिणियदो गंधो उप्पज्जदि तस्स कम्मक्खंधस्स गंधसण्णा, कारणे कज्जुवयारादो। = जिस कर्म स्कन्धके उदयसे जीवके शरीरमें जातिके प्रति नियत गन्ध उत्पन्न होता है उस कर्मस्कन्धकी गन्ध यह संज्ञा कारणमें कार्यके उपचारसे की गयी है। (ध. १३/५ ५. १०१/३६४/७)।

४. गन्ध नामकर्मके भेद

ष. ख. ६/१.९-१/सू. ३८/७४ जं तं गंधणामकम्मं तं दुविहं सुरहिगंधं दुरहिगंधं चेव।३८। = जो गन्ध नामकर्म है वह दो प्रकारका है— सुरभि गन्ध और दुरभि गन्ध। (ष. ख. १३/५.५/सू. ११९/३७०); (पं. सं. प्रा./२/४/४७/३१); (स. सि./८/११/३९०/११); (रा. वा./ ८/११/१०/५७७/१७) (गो. क/जी. प्र./३२/२९/१; ३३/२९/१४)।

*** नामकर्मोंके गन्ध आदि सकारण है या निष्कारण**

—दे० वर्ण/४।

*** जल आदिमें भी गंधकी सिद्धि**

—दे० पुद्गल/१०

*** गन्ध नामकर्मके बन्ध, उदय, सत्त्व**

—दे० वह वह नाम।

गंध—तिल्लोयपण्णत्तिके अनुसार नन्दीश्वर द्वीपका रक्षक व्यन्तर देव; त्रि. सा, व ह. पु, के अनुसार इक्षुवर समुद्रका रक्षक व्यन्तर देव-दे० व्यन्तर/४।

गंधअष्टमी व्रत—३५२ दिन तक कुल २८८ उपवास तथा ६४पारणा। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य। विधि—(व्रतविधान संग्रह/पृ. ११०)।

गंधकूट—शिखरी पर्वतस्थ एक कूट व उसकी स्वामिनी देवी —दे० लोक/५/४।

गंधकुटी—समवशरणके मध्य भगवान्‌के बैठनेका स्थान। —दे० समवशरण।

गंधमादन—१. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीमें एक नगर—दे० विद्याधर। २. एक गजदन्त पर्वत दे० लोक/५/३, ३. गन्धमादन पर्वतस्थ एक कूट व उसका रक्षक देव —दे० लोक/५/४, ४. अन्धकवृष्णिके पुत्र हिमवान्‌का पुत्र नेमिनाथ भगवान्‌का चचेरा भाई —दे० इतिहास१०/१०। ५. हालार और बरड़ों प्रान्तके बीचकी पर्वत श्रेणीको 'बरड़ो' कहते हैं। सम्भवतः इसी श्रेणीके किसी पर्वतका नाम गन्धमादन है।

गंधमाली—गन्धमादन गजदन्तके गन्धमाली कूटका स्वामीदेव —दे० लोक/७।

गन्धमालिनी— १. अपर विदेहस्थ एक क्षेत्र —दे० लोक५/२ २. देवमाल वक्षारका एक कूट —दे० लोक५/४, ३. देवमाल वक्षारके गन्धमालिनी कूटका रक्षक देव —दे० लोक५/४ ४. विदेह क्षेत्रस्थ एक विभंगा नदी —दे० लोक५/८, ५. गन्धमादनविजयार्ध पर्वतस्थ एक कूट —दे० लोक५/४।

गंधर्व—१. कुन्थुनाथका शासक यक्ष—दे०तीर्थकर/५/३, पा. पु./१७/श्लोक—अर्जुनका मित्र व शिष्य था (६५-६७)। बनवासके समय सहायवनमें दुर्योधनको युद्धमें बाँध लिया था (१०२-१०४)।

गंधर्व—१. गंधर्वके वर्ण परिवार आदि—दे० व्यन्तर /१/२।

२. गन्धर्व देवका लक्षण

ध. १३/५,५,१४०/३९१/६ इन्द्रादीनां गायका. गन्धर्वाः।=इन्द्रादिकोंके गायकोंको गन्धर्व कहते हैं।

३. गन्धर्वके भेद

ति. प./६/४० हाहाहूहूणारदतुंबरवासवकदंबमहसरया। गीदरदीगीदरसा वइरवंतो होंति गंधव्वा।४०। =हाहा, हूहू, नारद, तुम्बर, वासव, कदम्ब, महास्वर, गीतरति, गीतरस और वज्रवान् ये दस गन्धर्वोंके भेद हैं। (त्रि. सा./२६३)।

गन्धर्वगुफा—सुमेरुपर्वतके नन्दनादिवनोंके पश्चिममें स्थित एक गुफा। इसमें वरुणदेव रहता है। —दे० लोक/३/६.४।

गंधर्वपुर—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर —दे० विद्याधर।

गन्धर्व विवाह—दे० विवाह।

गंधर्वसेन—१. हिन्दू धर्मके भविष्य पुराणके अनुसार राजा विक्रमादित्यके पिताका नाम गन्धर्वसेन था। (ति. प./प्र. १४ H. L. Jain.) २. शकवंशी राजा गर्दभिल्ल का अपर नाम। मालवा (मगध) देशमें गन्धर्वके स्थानपर श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार गर्दभिल्लका नाम आता है। अथवा गर्दभी विद्या जाननेके कारण यह राजा गर्दभिल्लके नामसे प्रसिद्ध हो गया था। समय—वी.नि० ३४५-४४५ (ई० पू० १८२-८२)।—दे० इतिहास ३/४।

गंधवान्—हैरण्यवत क्षेत्रके मध्यमें कूटाकार एक वैताढ्य पर्वत —दे० लोक/५/३।

गंधसमृद्ध—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

गंधहस्ती— १. आचार्य समन्तभद्र (ई० श० २) कृत- तत्त्वार्थ सूत्र (मोक्षशास्त्र) पर संस्कृत भाषामें ९६००० श्लोक प्रमाण विस्तृत भाष्य है। २. सिद्ध सेन गणी का अपर नाम। (दे० परिशिष्ट २)।

गंधा—अपर विदेहस्थ एक क्षेत्र अपर नाम वल्गु —दे० लोक/५/२।

गंधिला—१. अपर विदेहस्थ एक क्षेत्र —दे० लोक/५/२ २. देवमाल वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव —दे० लोक/५/४।

गंभीर—महोरग नामा जाति व्यन्तर देवका एक भेद – दे० महोरग।

गंभीरमालिनी—अपरविदेहस्थ एक विभंगा नदी/अपरनाम गन्धमालिनी —दे० लोक/५/८।

गंभीरा—पूर्व आर्य खण्डस्थ एक नदी —दे० मनुष्य/४।

गगनचरी—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

गगननंदन—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

गगनमंडल—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

गगनवल्लभ—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

गच्छ—ध. १३/५,४,२६/६३/८ तिपुरिसओ गणो। तदुवरि गच्छो। =तीन पुरुषोंके समुदायको गण कहते हैं और इससे आगे गच्छ कहलाता है।

गच्छपद— Number of Terms (ज. प./प्र./१०६) विशेष—दे० गणित/II/५/३/४।

गज—१. सौधर्म स्वर्गका २१ वाँ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग ५/३। २ चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंमेंसे एक—दे० शलाकापुरुष/२। ३. क्षेत्रका प्रमाण विशेष/अपरनाम रिक्कू या किष्कु —दे० गणित/I/१/३।

गजकुमार—(ह. पु./सर्ग/श्लोक—वसुदेवका पुत्र तथा कृष्णका छोटा भाई था (६०/१२६)। एक ब्राह्मणकी कन्यासे सम्बन्ध जुड़ा ही था कि मध्यमें ही दीक्षा धारण कर ली (६१/४)। तब इनके ससुरने इनके सरपर क्रोधसे प्रेरित होकर आग जला दी। उस उपसर्गको जीत मोक्षको प्राप्त किया (६१/५-७)।

गजदंत—१. विदेह क्षेत्रस्थ सुमेरु पर्वतकी चारों विदिशाओंमें सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन, माल्यवान नामक चार गजदन्ताकार पर्वत हैं। दो पर्वत सुमेरुसे निकलकर निषध पर्वत तक लम्बायमान स्थित हैं। और दो पर्वत सुमेरुसे निकलकर नील पर्वत पर्यन्त लम्बायमान स्थित हैं। विशेष —दे० लोक/३/१२। २. गजदन्तका नकशा —दे०लोक/८।

गजपुर—भरत क्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४।

गजवती— भरतक्षेत्रके वरुण पर्वतस्थ एक नदी—दे० मनुष्य/४।

गजाधरलाल— आगरा जिलेके जटौआ ग्राममें जन्म हुआ था। पिताका नाम चुन्नीलाल जैन पद्मावतीपुरवाला था। कृति—पंचविंशतिका; श्रेणिक चरित्र; तत्त्वार्थ राजवार्तिक; ४ अध्याय; विमलपुराण; मल्लिनाथ पुराण। स्वर्गवास—ई० १९३३ बम्बई (तत्त्वानुशासन/प्र० ब्र० श्री लाल)

गड्डी—ध. १४/५,६,४१/३८/१० दहरदोचक्काओ धण्णादिलहुअ दव्व-भरुव्वहणक्खमाओ गड्डीओ णाम। —जिनके दो चक्के होते हैं, और जो धान्यादि हलके भारके ढोनेमें समर्थ हैं वे गड्डी कहलाती हैं।

गण—स. सि./६/२४/४४२/६ गणः स्थविरसंततिः। —स्थविरोंकी सन्ततिको गण कहते हैं। (रा. वा./६/२४/८/६२३/२०/); (चा. सा./-१५१/३)

ध. १३/५,४,२६/६३/८ तिपुरिसओ गणो। —तीन पुरुषोंके समुदायको गण कहते हैं।

२. भिन्न परगणानुपस्थापना प्रायश्चित्त—दे० परिहार प्रायश्चित्त।

गणधर—१. गणधर देवोंके गुण व ऋद्धियाँ

ति. प./४/९६७ एदे गणधरदेवा सव्वे वि हु अट्ठरिद्धिसंपण्णा। —ये सब ही गणधर अष्ट ऋद्धियोंसे सहित होते हैं। (ध. ९/४,१,४४/गा. ४२/१२८)

ध. ९/४.१,४४/१२७/७ पंचमहव्वयधारओ तिगुत्तिगुत्तो पंचसमिदो णट्ठ-ट्ठमदो मुक्कसत्तभओ बीजकोट्ठ-पदाणुसारि-संभिण्णसोदारत्तुवल-क्खिओ उक्कट्ठोहिणाणेण…तत्ततवलद्धादो णीहारविवज्जिओ दित्त-तवलद्धिगुणेण सव्वकालोववासो वि संतो सरीरतेजुज्जोइयदसदिसो सव्वोसहिलद्धिगुणेण सव्वोसहसरूवो अणंतबलादो करंगुलियाए तिहु-वणचालणक्खमो अमियासवीलद्धिबलेण अंजलिपुडणिवदिदसयलाहारे अमियत्तेणेण परिणमणक्खमो महातवगुणेण कप्परुक्खोवमो महाण-सक्खीणलद्धिबलेण सगहत्थणिवदिदाहाराणमक्खयभावुप्पायओ अघोरतवमाहप्पेण जीवाणं मण-वयण-कायगयासेसदुत्थियत्तणिवारओ सयलविज्जाहि सेवियपादमूलो आयासचारणगुणेण रक्खियासेसजीव-णिवहो वायाए मणेण य सयलत्थसंपादणक्खमो अणिमादिअट्ठगुणेहि जियासेसदेवणिवहो वायाए मणेण य सयलत्थसंपादक्खमो अणिमादि अट्ठगुणेहि जियासेसदेवणिवहो तिहुवणजणजेट्ठओ परोवदेसेण विणा अक्खराणक्खरसरूवासेसभासंतरकुसलो समवसरणजणमेत्तरूवधारित्त-णेण अम्हम्हाणं भासाहि अम्हम्हाणं चेव कहदि त्ति सव्वेसि पच्च-उप्पायओ समवसरणजणसोदिंदिएसु सगमुहविणिग्गयाणेयभासाणं संकरेण पवेसस्स विणिवारओ गणहरदेवो गंथकत्तारो, अण्णहा गंथस्स पमाणत्तविरोहादो धम्मरसायणेण समोसरणजणपोसणाणुववत्तीदो। —पाँच महाव्रतोंके धारक, तीन गुप्तियोंसे रक्षित, पाँच समितियोंसे युक्त, आठ मदोंसे रहित, सात भयोंसे मुक्त, बीज, कोष्ठ, पदानुसारी व संभिन्नश्रोतृत्व बुद्धियोंसे उपलक्षित, प्रत्यक्षभूत उत्कृष्ट अवधिज्ञान-से युक्त…तप्त तप लब्धिके प्रभावसे मल, मूत्र रहित, दीप्त तपलब्धिके बलसे सर्वकाल उपवास युक्त होकर भी शरीरके तेजसे दशों दिशाओं-को प्रकाशित करनेवाले, सर्वौषधि लब्धिके निमित्तसे समस्त औष-धियों स्वरूप, अनन्त बलयुक्त होनेसे हाथकी कनिष्ठ अंगुली द्वारा तीनों लोकोंको चलायमान करनेमें समर्थ, अमृत-आस्रवादि ऋद्धियों-के बलसे हस्तपुटमें गिरे हुए सर्व आहारोंको अमृतस्वरूपसे परिणामेमें समर्थ, महातप गुणसे कल्पवृक्षके समान, अक्षीणमहानस लब्धिके बलसे अपने हाथमें गिरे आहारकी अक्षयताके उत्पादक अघोरतप ऋद्धिके माहात्म्यसे जीवोंके मन, वच एवं कायगत समस्त कष्टोंके दूर करने-वाले, सम्पूर्ण विद्याओंके द्वारा सेवित चरणमूलसे संयुक्त, आकाश-चारण गुणसे सब जीव समूहकी रक्षा करनेवाले, वचन और मनसे समस्त पदार्थोंके सम्पादन करनेमें समर्थ, अणिमादिक आठ गुणोंके द्वारा सब देव समूहको जीतनेवाले, तीनों लोकोंके जनोंमें श्रेष्ठ, परोपदेशके बिना अक्षर व अनक्षर रूप सब भाषाओंमें कुशल, सम-वसरणमें स्थित जनमात्रके रूपके धारी होनेसे 'हमारी हमारी भाषाओंसे हम हमको ही कहते हैं' इस प्रकार सबको विश्वास करानेवाले, तथा समवसरणस्थ जनोंके कर्ण इन्द्रियोंमें अपने मुँहसे निकली हुई अनेक भाषाओंके सम्मिश्रित प्रवेशके निवारक ऐसे गणधरदेव ग्रन्थकर्ता हैं, क्योंकि ऐसे स्वरूपके बिना ग्रन्थकी प्रामाणिकताका विरोध होनेसे धर्म रसायन द्वारा समवसरणके जनोंका पोषण बन नहीं सकता।

म. पु./४३/६७ चतुर्भिरधिकाशीतिरिति सद्गणाधिपाः एते सप्तर्द्धि-संयुक्ताः सर्वे देवानुवादिनः ॥६७॥ —ऋषभदेवके सर्व (८४) गणधर सातों ऋद्धियोंसे सहित थे और सर्वज्ञ देवके अनुरूप थे। (ह. पु./-३/४४)

२. गणधरोंकी ऋद्धियोंका सद्भाव कैसे जाना जाता है

ध. ९/४,१,७/५८/९ गणहरदेवेसु चत्तारि बुद्धिओ, अण्णहा दुवालसंगाण-मणुप्पत्तिप्पसंगादो। तं कधं। ण ताव तत्थ कोट्ठबुद्धीएअभावो, उप्पण्णसुदणाणस्स अवट्ठाणेण विणा विणासप्पसंगादो। …ताए विणावगयतित्थयर वयणविणिग्गयअक्खराणक्खरप्पयबहुलिंगालिंगिय-बीजपदाणं गणहरदेवाणं दुवालसंगाभावप्पसंगादो।… ण च तत्थ पदाणुसारिसण्णिदणाणाभावो, बीजबुद्धीए अवगयसरूवेहितो कोट्ठ-बुद्धिए पत्तावट्ठाणेहिंतो बीजपदेहिंतो ईहावाएहि विणा बीजपदुभय-दिसाविसयसुदणाणक्खरपद-वक्क-तदट्ठविसयसुदणाणुप्पत्तीए अणुवव-त्तीदो। ण संभिण्णसोदारत्तस्स अभावो, तेण विणा अक्खराणक्खप्पाए सत्तसयट्ठारसकुभास - भाससरूवाए णाणाभेदभिण्णबीजपदसरूवाए पडिक्खणमण्णण्णभावमुवगच्छंतीए दिव्वज्झुणीए गहणाभावादो दुवा-लसंगुप्पत्तीए अभावप्पसंगो त्ति। —गणधर देवोंके चार बुद्धियाँ होती हैं, क्योंकि, उनके बिना बारह अंगोंकी उत्पत्ति न हो सकनेका प्रसंग आवेगा। प्रश्न—बारह अंगोंकी उत्पत्ति न हो सकनेका प्रसंग कैसे आवेगा? उत्तर—गणधरदेवोंमें कोष्ठ बुद्धिका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होनेपर अवस्थानके बिना उत्पन्न हुए श्रुत-ज्ञानके बिनाशका प्रसंग आवेगा। क्योंकि, उसके बिना गणधर देवोंको तीर्थंकरके मुखसे निकले हुए अक्षर और अनक्षर स्वरूप बहुत लिंगादिक बीज पदोंका ज्ञान न हो सकनेसे द्वादशांगके अभावका प्रसंग आवेगा।…बीजबुद्धिके बिना भी द्वादशांगकी उत्पत्ति न हो सकती क्योंकि, ऐसा माननेमें अतिप्रसंग दोष आवेगा। उनमें पादानुसारी नामक ज्ञानका अभाव नहीं है, क्योंकि बीजबुद्धिसे जाना गया है स्वरूप जिनका तथा कोष्ठबुद्धिसे प्राप्त किया है अवस्थान जिन्होंने ऐसे बीजपदोंसे ईहा और अवायके बिना बीजपदकी उभय-दिशा विषयक श्रुतज्ञान तथा अक्षर, पद, वाक्य और उनके अर्थ विष-यक श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति बन नहीं सकती। उनमें संभिन्नश्रोतृत्वका अभाव नहीं है, क्योंकि उसके बिना अक्षरानक्षरात्मक, सात सौ कुभाषा और अठारह भाषा स्वरूप, नाना भेदोंसे भिन्न बीजपदरूप, व प्रत्येक क्षणमें भिन्न-भिन्न स्वरूपको प्राप्त होनेवाली ऐसी दिव्य-ध्वनिका ग्रहण न हो सकनेसे द्वादशांगकी उत्पत्तिके अभावका प्रसंग होगा। (अतः उनमें उपरोक्त बुद्धियाँ हैं।)

३. भगवान् ऋषभदेवके चौरासी गणधरोंके नाम

म. पु./४३/५४-६६ से उद्धृत—१. वृषभसेन; २. कुम्भ; ३. दृढरथ; ४. शतधनु; ५. देवशर्मा; ६. देवभाव; ७. नन्दन; ८. सोमदत्त; ९. सूरदत्त; १०. वायुशर्मा; ११. यशोबाहु; १२. देवाग्नि; १३. अग्नि-देव; १४. अग्निगुप्त; १५. मित्राग्नि; १६. हलभृत; १७. महीधर; १८. महेन्द्र; १९. वसुदेव; २०. वसुंधर; २१. अचल; २२. मेरु; २३. मेरु-धन; २४. मेरुभूति; २५. सर्वयश; २६. सर्वगुप्त; २७. सर्वप्रिय; २८. सर्वदेव; २९. सर्वयज्ञ; ३०. सर्वविजय; ३१. विजयगुप्त; ३२. विजय-मित्र; ३३. विजयिल; ३४. अपराजित; ३५. वसुमित्र; ३६. विश्वसेन; ३७. साधुसेन; ३८. सत्यदेव; ३९. देवसत्य; ४०. सत्यगुप्त; ४१. सत्य-मित्र. ४२. निर्मल; ४३. विनीत; ४४. संवर; ४५. मुनिगुप्त; ४६. मुनिदत्त; ४७. मुनियज्ञ; ४८. मुनिदेव; ४९. गुप्तयज्ञ; ५०. मित्रयज्ञ;

५१. स्वयंभू; ५२. भगवेव; ५३. भगवत्त; ५४; भगफल्गु; ५५. गुप्तफल्गु; ५६. मित्रफल्गु; ५७. प्रजापति; ५८. सर्वसंघ; ५९. वरुण, ६०. धनपालक; ६१, मघवान्; ६२. तेजोराशि; ६३. महावीर; ६४. महारथ; ६५. विशालाक्ष; ६६, महाबाल; ६७. शुचिशाल; ६८. वज्र; ६९. वज्रसार; ७०, चन्द्रचूल: ७१. जय; ७२. महारस; ७३; कच्छ; ७४. महाकच्छ; ७५, नमि; ७६. विनमि; ७७. बल, ७८, अतिबल; ७९. भद्रबल; ८०. नन्दी; ८१. महीभागी; ८२. नन्दिमित्र; ८३, कामदेव; ८४. अनुपम। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेवके चौरासी गणधर थे।

४. भगवान् महावीरके ११ गणधरोंके नाम

ह. पु./३/४१-४३ इन्द्रभूतिरिति प्रोक्तः प्रथमो गणधारिणाम्। अग्निभूतिर्द्वितीयश्च वायुभूतिस्तृतीयकः ॥४१॥ शुचिदत्तस्तुरीयस्तु सुधर्मः पञ्चमस्ततः। षष्ठो माण्डव्य इत्युक्तो मौर्यपुत्रस्तु सप्तमः ॥४२॥ अष्टमोऽकम्पनाख्यातिरचलो नवमो मतः। मेदार्यो दशमोऽन्यस्तु प्रभासः सर्व एव ते ।४३। = उन ग्यारह गणधरोंमें प्रथम इन्द्रभूति थे। फिर २. अग्निभूति; ३. वायुभूति. ४. शुचिदत्त; ५. सुधर्म; ६. माण्डव्य; ७. मौर्यपुत्र; ८. अकम्पन; ९. अचल; १०. मेदार्य और अन्तिम प्रभास थे। (म. पु./७४/३७३-३७४)

५. उक्त ११ गणधरोंकी आयु

म पु /६०/४८२-४८३ वीरस्य गणिनां वर्षाण्यायुर्द्वानवतिश्चतु.। विंशतिः सप्ततिश्च स्यादशीतिः शतमेव च ।४८२। त्रयोऽशीतिश्च नवतिः पञ्चभि. साष्टसप्ततिः। द्वाभ्यां च सप्ततिः षष्टिश्चत्वारिंशाच संयुताः ।४८३। —महावीर भगवान्के गणधरोंकी आयु क्रमसे ९२ वर्ष, २४ वर्ष, ७० वर्ष, ८० वर्ष, १०० वर्ष, ८३ वर्ष, ९५ वर्ष, ७८ वर्ष, ७२ वर्ष, ६० वर्ष और ४० वर्ष है ।४८२-४८३।

★ **२४ तीर्थंकरोंके गणधरोंकी संख्या**—दे० तीर्थंकर/५।

★ **गणधरका दिव्यध्वनिमें स्थान**—दे० दिव्यध्वनि।

गणधरवलययंत्र—दे० यंत्र।

गणना—संख्यात, असंख्यात, व अनन्तकी गणना—दे० वह वह नाम।

गणनानंत—Numerical infinite (ज. प./प्र १०६)।

गणनाप्रमाण—१. दे० प्रमाण/५। २. गणना प्रमाण निर्देश—दे० गणित/१।

गणपोषणकाल—दे० काल/१।

गणोपग्रहण क्रिया—दे० संस्कार/२।

गणित—यद्यपि गणित एक लौकिक विषय है परन्तु आगमके करणानुयोग विभागमें सर्वत्र इसकी आवश्यकता पड़ती है। कितनी ऊँची श्रेणीका गणित यहाँ प्रयुक्त हुआ यह बात उसको पढ़नेसे ही सम्बन्ध रखती है। यहाँ उस सम्बन्धी ही गणितके प्रमाण, प्रक्रियाएँ व सहनानी आदि संग्रह की गयी हैं।

८	घन व घनमूलकी प्रक्रिया।
९	विरलन देय घातांक गणितकी प्रक्रिया।
१०	भिन्न परिकर्माष्टक (fraction) की प्रक्रिया।
११	शून्य परिकर्माष्टककी प्रक्रिया।
२	**अर्धच्छेद या लघुरिक्थ गणित निर्देश**
१	अर्धच्छेद आदिका सामान्य निर्देश।
२	लघुरिक्थ विषयक प्रक्रियाएँ।
३	**अक्षसंचार गणित निर्देश**
१	अक्षसंचार विषयक शब्दोंका परिचय।
२	अक्षसंचार विधिका उदाहरण।
३	प्रमादके ३७५०० दोषोंके प्रस्तार यन्त्र।
४	नष्ट निकालनेकी विधि।
५	समुद्दिष्ट निकालनेकी विधि।
४	**त्रैराशिक व संयोगी भंग गणित निर्देश**
१	द्वि त्रि आदि संयोगी भंग प्राप्ति विधि।
२	त्रैराशिक गणित विधि।
५	**श्रेणी व्यवहार गणित सामान्य**
१	श्रेणी व्यवहार परिचय।
२	सर्वधारा आदि श्रेणियोंका परिचय।
३	सर्वधन आदि शब्दोंका परिचय।
४	संकलन व्यवहार श्रेणी सम्बन्धी प्रक्रियाएँ।
५	गुणन व्यवहार श्रेणी सम्बन्धी प्रक्रियाएँ।
६	मिश्रित श्रेणी व्यवहारकी प्रक्रियाएँ।
७	द्वीप सागरोंमें चन्द्र-सूर्य आदिका प्रमाण निकालनेकी प्रक्रिया।
६	**गुणहानि रूप श्रेणी व्यवहार निर्देश**
१	गुणहानि सामान्य व गुणहानि आयाम निर्देश।
२	गुणहानि सिद्धान्त विषयक शब्दोंका परिचय।
३	गुणहानि सिद्धान्त विषयक प्रक्रियाएँ।
४	कर्मस्थितिकी अन्योन्याभ्यस्त राशियें।
*	षट् गुण हानि वृद्धि —दे० वह वह नाम।
७	**क्षेत्रफल आदि निर्देश**
१	चतुरस्र सम्बन्धी।
२	वृत्त (circle) सम्बन्धी।
३	धनुष (arc) सम्बन्धी।
४	वृत्तवलय (ring) सम्बन्धी।
५	विवक्षित द्वीप सागर सम्बन्धी।
६	बेलनाकार (cylinderical) सम्बन्धी।
७	अन्य आकारों सम्बन्धी।

I गणित विषयक प्रमाण

१. द्रव्य क्षेत्र आदिके प्रमाणोंका निर्देश

१. संख्याकी अपेक्षा द्रव्यप्रमाण निर्देश

(ध.५/प्र./२२)

१. एक	१	१६. निरब्बुद	$(१०,०००,०००)^{९}$
२. दस	१०	१७. अहह	$(१०,०००,०००)^{१०}$
३. शत	१००	१८. अबब	$(१०,०००,०००)^{११}$
४. सहस्र	१०००	१९. अटट	$(१०,०००,०००)^{१२}$
५. दस सह०	१०,०००	२०. सोगन्धिक	$(१०,०००,०००)^{१३}$
६. शत सह०	१००,०००	२१. उप्पल	$(१०,०००,०००)^{१४}$
७. दसशत सहस्र	१,०००,०००	२२. कुमुद	$(१०,०००,०००)^{१५}$
८. कोटि	१०,०००,०००	२३. पुंडरीक	$(१०,०००,०००)^{१६}$
९. पकोटि	$(१०,०००,०००)^{२}$	२४. पदुम	$(१०,०००,०००)^{१७}$
१०. कोटिप्प-कोटि	$(१०,०००,०००)^{३}$	२५. कथान	$(१०,०००,०००)^{१८}$
११. नहुत	$(१०,०००,०००)^{४}$	२६. महाकथान	$(१०,०००,०००)^{१९}$
१२. निन्नहुत	$(१०,०००,०००)^{५}$	२७. असंख्येय	$(१०,०००,०००)^{२०}$
१३. अखोभिनी	$(१०,०००,०००)^{६}$	२८. पुणट्ठी = ([illegible]६)^{२} = ६५५३६	
१४. बिन्दु	$(१०,०००,०००)^{७}$	२९. बादाल = पणट्ठी^{२}	
१५. अब्बुद	$(१०,०००,०००)^{८}$	३०. एकट्ठी = बादाल^{२}	

ति.प./४/३०९-३११; (रा.वा./३/३८/५/२०६/१७); (त्रि.सा.२८-५१)

१. जघन्य संख्यात = २

२. उत्कृष्ट संख्यात = जघन्य परीतासंख्यात–१

३. मध्यम संख्यात = (जघन्य + १) से (उत्कृष्ट–१) तक

नोट—आगममें जहाँ संख्यात कहा जाता है वहाँ तीसरा विकल्प समझना चाहिए।

४. जघन्य परीतासंख्यात = अनवस्थित कुण्डोंमें अधाऊरूपसे भरे सरसोंके दानोंका प्रमाण १९९७११२९३८४५१३१६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३ $\frac{४}{२५}$ (दे० असंख्यात/९)

५. उत्कृष्ट परीतासंख्यात = जघन्य युक्तासंख्यात–१

६. मध्यम परीतासंख्यात = (जघन्य + १) से (उत्कृष्ट – १) तक

७. जघन्य युक्तासंख्यात = यदि जघन्य परीतासंख्यात = क

$$(क^{क})^{(क^{क})}$$ (दे० असंख्यात/९)

८. उत्कृष्ट युक्तासंख्यात = जघन्य असंख्यातासंख्यात–१

९. मध्य युक्तासंख्यात = (जघन्य + १) से (उत्कृष्ट – १) तक

१०. जघन्य असंख्यातासंख्यात = (जघन्य युक्ता.)$^{जघन्य\ युक्ता.}$ (दे० असंख्यात/९)

११. उत्कृष्ट असंख्याता० = जघन्य परीतानन्त—१

१२. मध्यम असंख्याता० = (जघन्य + १) से (उत्कृष्ट—१) तक

१३. जघन्य परीतानन्त = जघन्य असंख्यातासंख्यातको तीन बार वर्गित संवर्गित करके उसमें द्रव्योंके प्रदेशों आदि रूपसे कुछ राशियाँ जोड़ना (दे० अनन्त१४)

१४. उत्कृष्ट परीतानन्त = जघन्य युक्तानन्त—१

१५. मध्यम परीतानन्त = (जघन्य + १) से (उत्कृष्ट—१) तक

१६. जघन्य युक्तानन्त —जघन्य परीतानन्तको दो बार वर्गित संवर्गित राशि (दे० अनन्त ५९)
१७. उत्कृष्ट युक्तानन्त —जघन्य अनन्तानन्त—१
१८. मध्यम युक्तानन्त =(जघन्य+१) से (उत्कृष्ट−१) तक
१९. जघन्य अनन्तानन्त =(जघन्य युक्ता०)^(जघन्य युक्ता०) (दे० अनन्त ५७)
२०. उत्कृष्ट अनन्तानन्त —जघन्य अनन्तानन्तको तीन बार वर्गित संवर्गित करके उसमें कुछ राशिमें मिलान (दे० अनन्त),
२१. मध्यम अनन्तानन्त =(जघन्य+१) से (उत्कृष्ट−१) तक

२. तौलकी अपेक्षा द्रव्यप्रमाण निर्देश

रा.वा./३/३८/२०५/२६

४ महा अधिक तृण फल	=१ श्वेत सर्षप फल
१६ श्वेत सर्षप फल	=१ धान्यमाष फल
२ धान्यमाष फल	=१ गुंजाफल
२ गुंजाफल	=१ रूप्यमाष फल
१६ रूप्यमाष फल	=१ धरण
२½ धरण	=१ सुवर्ण या १ कंस
४ सुवर्ण या ४ कंस	=१ पल
१०० पल	=१ तुला या १ अर्धकंस
३ तुला या ३ अर्धकंस	=एक कुडव (पुसेरा)
४ कुडव (पुसेरे)	=१ प्रस्थ (सेर)
४ प्रस्थ (सेर)	=१ आढक
४ आढक	=१ द्रोण
१६ द्रोण	=१ खारी
२० खारी	=१ वाह

३. क्षेत्रके प्रमाणोंका निर्देश

ति. प./१/१०२-११६ (रा.वा/३/३८/६/२०७/२६); (ह.पु /७/३६-४६); (ज प./१३/१६-३४); (गो. जी./जी. प्र./११८ की उत्थानिका या उपोद्घात/२८५/७); (ध./३/प्र/३६)।

द्रव्यका अवि-भागी अंश	=परमाणु
अनन्तानन्त परमा०	=१ अवसन्नासन्न
८ अवसन्नासन्न	=१ सन्नासन्न
८ सन्नासन्न	=१ त्रुटरेणु (व्यवहाराणु)
८ त्रुटरेणु	=१ त्रसरेणु (त्रस जीवके पाँवसे उड़नेवाला अणु)
८ त्रसरेणु	=१ रथरेणु (रथसे उड़नेवाली धूलका अणु.)
८ रथरेणु	=उत्तम भोगभूमिजका बालाग्र.
८ उ.भो.भू.बा.	=मध्यम भो. भू. बा.
८ म.भो.भू.बा.	=जघन्य भो. भू.बा.
८ ज.भो.भू.बा.	=कर्मभूमिज का बालाग्र.
८क.भू.बालाग्र.	=१ लिक्षा (लीख)
८ लीख	=१ जूं
८ जूं	=१ यव
८ यव	=१ उत्सेधांगुल
५०० उ.अंगुल	=१ प्रमाणांगुल
आत्मांगुल	=भरत ऐरावत (ति. प./१/१०९/१३) क्षेत्रके चक्रवर्तीका अंगुल
६ विवक्षित अंगुल	=१ विवक्षित पाद
२ वि. पाद	=१ वि. वितस्ति
२ वि. वितस्ति	=१ वि. हस्त
२ वि. हस्त	=१ वि. किष्कु
२ किष्कु	=१ दंड, युग, धनुष, मूसल या नाली, नाड़ी
२००० दण्ड या धनु	=१ कोश
४ कोश	=१ योजन

नोट—उत्सेधांगुलसे मानव या व्यवहार योजन होता है और प्रमाणांगुलसे प्रमाण योजन।

(ति.प./१/१३१-१३२); (रा.वा./३/३८/७/२०८/१०,२३)

५०० मानव योजन	=१ प्रमाण योजन (महायोजन या दिव्य योजन) ८० लाख गज=४५४५.४५ मील
१ योजन	=७६८००० अंगुल
१ प्रमाण योजन गोल व गहरे कुण्डके आश्रयसे उत्पन्न	=१ अद्धापल्य (दे० पल्य)
(१ अद्धापल्य या प्रमाण योजन³)^छे जब कि छे=अद्धापल्यकी अर्द्धछेद राशि या log_2 पल्य	=१ सूच्यंगुल (गो.जी./जी.प्र./पृ.२८८/४)
१ सूच्यंगुल²	=१ प्रतरांगुल
१ सूच्यंगुल³	=१ घनांगुल
(१ घनांगुल)^(अद्धापल्य ÷ असं) (असं=असंख्यात)	=जगत्श्रेणी (प्रथम मत) (ध./३/१,२,४/३४/१)
(१ घनांगुल)^(छे ÷ असं.) (छे व असं.=दे० ऊपर)	=जगत्श्रेणी (द्वि. मत) =(ध./३/१,२४/३४/१)
जगत्श्रेणी ÷ ७	=१ रज्जू (दे० राजू)
(जगत्श्रेणी)²	=१ जगत्प्रतर
(जगत्श्रेणी)³	=१ जगत्घन या घनलोक
(ध./६/४,१,२/३६/४)	=(आवली ÷ असं)^(आवली ÷ असं) (आवली=आवलीके समयों प्रमाणआकाश प्रदेश)

४. सामान्य काल प्रमाण निर्देश

१. प्रथम प्रकारसे काल प्रमाण निर्देश

ति. प./४/२८५-३०१; (रा.वा./३/३८/७/२०८/३५); (ह.पु /७/१८-३१); (ध./३/१,२.६/गा.३५-३६/६५-६६); (ध./४/१,५,१/३१८/२); (म.पु./३/२१७-२२७); (जं.द्वी./१३/४-१५); (गो.जी./मू./५७४-५७६/१०१८-१०२८); (चा.पा./टी./१७/४० पर उद्धृत)

नोट—ति.प. व धवला अनुयोगद्वार आदिमें प्रयुक्त नामोंके क्रममें कुछ अन्तर है वह भी नीचे दिया गया है। (ति.प./प्र./८०/H. I. Jain) (जं.प./के अन्तमें प्रो. लक्ष्मीचन्द)

ति.प. व रा.वा. आदिमें पूर्व व पूर्वांगसे लेकर अन्तिम अचलात्मवाले विकल्प तक गुणाकारमें कुछ अन्तर दिया है वह भी नीचे दिया जाता है।

नामक्रम भेद :-

क्रमांक	१	२	३	४	५
	ति.प./४/२८५-३०६	अनुयोग द्वार सूत्र ११४-१३७	ज.प./दिग/१३/४-१४	ज.प./श्वे/पृ. ३९-४०अनु.सू. पृ. ३४२-३४३	ज्यो.क./८-१०; २९-३१; ६२-७१
१	समय	समय	समय	समय	समय
२	आवलि	आवलिका	आवली	आवली	उच्छ्वास
३	उच्छ्वास	आन	उच्छ्वास	आनप्राण	स्तोक
४	प्राण (निश्वास)	प्राणु	स्तोक	स्तोक	लव
५	स्तोक	स्तोक	लव	लव	नालिका
६	लव	लव	नाली	मुहूर्त	मुहूर्त
७	नाली	...	मुहूर्त	अहोरात्र	अहोरात्र
८	मुहूर्त	मुहूर्त	दिवस	पक्ष	पक्ष
९	दिवस	अहोरात्र	मास	मास	मास
१०	पक्ष	पक्ष	ऋतु	ऋतु	संवत्सर
११	मास	मास	अयन	अयन	पूर्वांग
१२	ऋतु	ऋतु	वर्ष	संवत्सर	पूर्व
१३	अयन	अयन	युग	युग	लतांग
१४	वर्ष	वर्ष	दशवर्ष	वर्षशत	लता
१५	युग	युग	वर्षशत	वर्षसहस्र	महालतांग
१६	वर्षदशक	...	वर्षसहस्र	वर्षशतसहस्र	महालता
१७	वर्षशत	वर्षशत	दशवर्षसहस्र	पूर्वांग	नलिनांग
१८	वर्षसहस्र	वर्षसहस्र	वर्षशतसहस्र	पूर्व	नलिन
१९	दशवर्षसह०	...	पूर्वांग	त्रुटितांग	महानलिनांग
२०	वर्ष लक्ष	वर्षशतस०	पूर्व	त्रुटित	महानलिन
२१	पूर्वांग	पूर्वांग	पर्वांग	अडडांग	पद्मांग
२२	पूर्व	पूर्व	पर्व	अडड	पद्म
२३	नियुतांग	त्रुटितांग	नयुतांग	अववांग	महापद्मांग
२४	नियुत	त्रुटित	नयुत	अवव	महापद्म
२५	कुमुदांग	अटटांग	कुमुदांग	हूहूअंग	कमलांग
२६	कुमुद	अटट	कुमुद	हूहू	कमल
२७	पद्मांग	अववांग	पद्मांग	उत्पलांग	महाकमलांग
२८	पद्म	अवव	पद्म	उत्पल	महाकमल
२९	नलिनांग	हूहूकांग	नलिनांग	पद्मांग	कुमुदांग
३०	नलिन	हूहूक	नलिन	पद्म	कुमुद
३१	कमलांग	उत्पलांग	कमलांग	नलिनांग	महाकुमुदांग
३२	कमल	उत्पल	कमल	नलिन	महाकुमुद
३३	त्रुटितांग	पद्मांग	त्रुटितांग	अस्थिनेपुरांग	त्रुटितांग
३४	त्रुटित	पद्म	त्रुटित	अस्थिनेपुर	त्रुटित
३५	अटटांग	नलिनांग	अटटांग	आउअंग (अयुतांग)	महात्रुटितांग
३६	अटट	नलिन	अटट	आउ (अयुत)	महात्रुटित
३७	अममांग	अर्थनिपुरांग	अममांग	नयुतांग	अडडांग
३८	अमम	अर्थनिपुर	अमम	नयुत	अडड
३९	हाहांग	अयुतांग	हाहांग	प्रयुतांग	महाअडडांग
४०	हाहा	अयुत	हाहा	प्रयुत	महाअडड
४१	हूहूअंग	नयुतांग	हूहू अंग	चूलितांग	ऊहांग
४२	हूहू	नयुत	हूहू	चूलित	ऊह
४३	लतांग	प्रयुतांग	लतांग	शीर्षप्रहेलिकांग	महाऊहांग
४४	लता	प्रयुत	लता	शीर्षप्रहेलिका	महाऊह
४५	महालतांग	चूलिकांग	महालतांग	...	शीर्षप्रहेलिकांग
४६	महालता	चूलिका	महालता	...	शीर्षप्रहेलिका
४७	श्रीकल्प	शीर्षप्रहेलिकांग	शीर्षप्रकंपित	...	...
४८	हस्तप्रहेलित	शीर्षप्रहेलिका	हस्तप्रहेलित	...	...
४९	अचलात्म	...	अचलात्म	...	...

काल प्रमाण .-

पूर्वोक्त प्रमाणोंमेंसे-(सर्व प्रमाण); (ध./३/३४/ H. L. Jain)

१. समय = एक परमाणुके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर मन्दगतिसे जानेका काल।

२. ज. युक्ता. असंख्यात समय = ... = १ आवली

३-४ संख्यात आवली = $\frac{२८८०}{३७७३}$ सैकेण्ड = १ उच्छ्वास या प्राण

५. ७ उच्छ्वास = ५$\frac{१८५}{५३९}$ सैकेण्ड = १ स्तोक

६. ७ स्तोक = ३७$\frac{३१}{७७}$ सैकेण्ड = १ लव

७. ३८ $\frac{१}{२}$ लव = २४ मिनिट = १ नाली (घड़ी)

८. २ नाली (घड़ी) = ४८ मिनट = १ मुहूर्त

१५१० निमेष ३७७३ उच्छ्वास (दे० मुहूर्त)

* मुहूर्त—१ समय = १ भिन्न मुहूर्त

* (भिन्न मुहूर्त — १ समय) से (आवली + १ समय) तक = १ अन्तर्मुहूर्त

९. ३० मुहूर्त २४ घण्टे = १ अहोरात्र (दिवस)

१०. १५ अहोरात्रि = १ पक्ष

पूर्वोक्त प्रमाणोंमेंसे :—नं० १, २, ३, ४, ७, (ध./५/२१/H. L. Jain)

११. २ पक्ष = १ मास

१२. २ मास = १ ऋतु

१३. ३ ऋतु = १ अयन

१४. २ अयन = १ संवत्सर (वर्ष)

१५. ५ वर्ष = १ युग

१६. १० व १०० वर्ष = १ वर्षदशक व = १ वर्ष शतक

१८. १०००;१०,०००; = १ वर्ष सहस्र व = १ वर्षदश सहस्र

२०. १००,००० वर्ष = १ वर्ष लक्ष

क्रम	रा.वा.; ह. पु.; ज.प.	ति. प; महापुराण	प्रमाण निर्देश
२१	८४ लाख वर्ष	८४ लाख वर्ष	१ पूर्वांग
२२	८४ लाख पूर्वांग	८४ लाख पूर्वांग	१ पूर्व
*		८४ पूर्व	१ पर्वांग
*		८४ लाख पर्वांग	१ पर्व
२३	८४ लाख पूर्व	८४ पर्व	१ नियुतांग
२४	८४ लाख नियुतांग	८४ लाख नियुतांग	१ नियुत
२५	८४ लाख नियुत	८४ नियुत	१ कुमुदांग
२६	८४ लाख कुमुदांग	८४ लाख कुमुदांग	१ कुमुद
२७	८४ लाख कुमुद	८४ कुमुद	१ पद्मांग
२८	८४ लाख पद्मांग	८४ लाख पद्मांग	१ पद्म
२९	८४ लाख पद्म	८४ पद्म	१ नलिनांग
३०	८४ लाख नलिनांग	८४ लाख नलिनांग	१ नलिन
३१	८४ लाख नलिन	८४ नलिन	१ कमलांग
३२	८४ लाख कमलांग	८४ लाख कमलांग	१ कमल
३३	८४ लाख कमल	८४ कमल	१ त्रुटितांग
३४	८४ लाख त्रुटितांग	८४ लाख त्रुटितांग	१ त्रुटित
३५	८४ लाख त्रुटित	८४ त्रुटित	१ अटटांग
३६	८४ लाख अटटांग	८४ लाख अटटांग	१ अटट
३७	८४ लाख अटट	८४ अटट	१ अममांग
३८	८४ लाख अममांग	८४ लाख अममांग	१ अमम
३९	८४ लाख अमम	८४ अमम	१ हाहांग
४०	८४ लाख हाहांग	८४ लाख हाहांग	१ हाहा
४१	८४ लाख हाहा	८४ हाहा	१ हूहू अंग
४२	८४ लाख हूहू अंग	८४ लाख हूहू अंग	१ हूहू
४३	८४ लाख हूहू	८४ हूहू	१ लतांग
४४	८४ लाख लतांग	८४ लाख लतांग	१ लता
४५	८४ लाख लता	८४ लता	१ महालतांग
४६	८४ लाख महालतांग	८४ लाख म. लतांग	१ महालता
	ति.प.; रा.वा.; ह.पु.;ज.प	म. पु.	प्रमाण निर्देश
४७	८४ लाख महालता	८४ महालता	१ श्रीकल्प
४८	८४ लाख श्रीकल्प	८४ लाख श्रीकल्प	१ हस्तप्रहेलित
४९	८४ लाख हस्तप्रहेलित	८४ हस्त प्रहेलित	१ अचलात्म

ति. प./४/३०८ अचलात्म = $(८४)^{३१} \times (१०)^{८०}$ वर्ष

२. दूसरे प्रकारसे काल प्रमाण निर्देश

पं. का/ता. वृ/२५/५२/५

असंख्यात समय = १ निमेष
१५ निमेष = १ काष्ठा (२ सैकेंड)
३० काष्ठा = १ कला (मिनट)
कुछ अधिक २० कला (२४ मिनट) (महाभारतकी अपेक्षा १५ कला) = १ घटिका (घड़ी)
२ घड़ी (महाभारतकी अपेक्षा ३ कला + ३ काष्ठा) = १ मुहूर्त
आगे पूर्ववत :—

एक मिनट = ६० सैकेंड
२४ सैकेंड = १ पल
६० पल (२४ मिनिट) = १ घड़ी
शेष पूर्ववत—
एक मिनिट = ५४०००० प्रतिविपलांश
६० प्रतिविपलांश = प्रतिविपल
६० प्रतिविपल = १ विपल
६० विपल = १ पल
६० पल = १ घड़ी
शेष पूर्ववत —

५. उपमा कालप्रमाण निर्देश

१. पल्य सागर आदिका निर्देश

ति. प./१/९४-१३०; (स. सि/३/३८/२३३/५); (रा. वा/३/३८/७/२०८/७); (ह. पु/७/४७-५६); (त्रि. सा/१०२); (ज. प./१३/३५-४२) (गो.जी./जी. प्र./११८ का उपोद्घात/पृ. ८६/४)।

व्यवहार पल्यके वर्ष = १ प्रमाण योजन गोल व गहरे गर्तमें १-७दिन तकके उत्तम भोगभूमिया भेड़के बच्चेके बालोंके अग्रभागों-का प्रमाण×१०० वर्ष = $\frac{१९}{२}$ $\times ४^{३} \times २०००^{३} \times २^{३} \times २^{३} \times १^{३} \times २^{३} \times ६^{३} \times ५००^{३} \times ८^{३} \times ८^{३} \times ८^{३} \times ८^{३} \times ८^{३} \times ८^{३} \times ८^{३}$ = ४५ अक्षर प्रमाण बालाग्र ×१०० वर्ष

अथवा—४१३४,५२६३,०३०८,२०३१, ७७७४, ९५१२, १९२०००००००००००००००००००×१०० वर्ष

व्यवहार पल्यके समय = उपरोक्त प्रमाण वर्ष × १×३× २ × २ × १५ × ३० × २×३८$\frac{१}{२}$×७×७×(आवलीप्रमाण संख्यात)×(जघन्य युक्तासंख्यात) समय

उद्धार पल्यके समय = उपरोक्त ४५ अक्षर प्रमाण रोमराशि प्रमाण×असंख्यात कोड़ वर्षोंके समय)।

अद्धापल्यके समय = उद्धार पल्यके उपरोक्त समय×असंख्य वर्षोंके समय।

व्यवहार उद्धार या अद्धासागर = १० कोड़ाकोड़ी विवक्षित पल्य

ति. प./४/३१५-३१६; (रा. वा/३/३८/७/२०८/२०)

१० कोड़ाकोड़ी अद्धासागर = १ अवसर्पिणीकाल या १ उत्सर्पिणीकाल

१ अवसर्पिणी या १ उत्सर्पिणी = एक कल्प काल

२ कल्प (अव०+उत०) = १ युग

एक उत्सर्पिणी या एक अवसर्पिणी = छह काल—सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमा दुषमा, दुषमा सुषमा, दुषमा, दुषमा दुषमा।

सुषमा सुषमा काल = ४ कोड़ा कोड़ी अद्धा सागर
सुषमाकाल = ३ ,, ,, ,,
सुषमा दुषमा काल = २ ,, ,, ,,
दुषमा सुषमा काल = १ को.: को. अद्धासागर–४२००० वर्ष
दुषमाकाल = २१००० वर्ष
दुषमा दुषमा काल = २१००० वर्ष

२. क्षेत्र प्रमाणका काल प्रमाणके रूपमें प्रयोग

ध. १०/४;२,४,३२/११३/१ अंगुलस्स असंखेज्जदिभागो असंखेज्जाओ ओसप्पिणी उस्सप्पिणीओ भागाहारो होदि।—अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है जो असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके समय, उतना भागाहार है। (ध. १०/४,२,४,३२/१२)।

गो. जी./भाषा/११७ का उपोद्घात/३२५/२ कालपरिमाणविषै जहाँ लोक परिमाण कहैं तहाँ लोकके जितने प्रदेश होंहि तितने समय जानने।

९. उपमा प्रमाणकी प्रयोग विधि

ति. प./१/११०-११३ उस्सेहअंगुलेणं सुराणणरतिरियणारयाणं च। उस्सेहंगुलमाणं चउदेवणिदेणयराणि ।११०। दीवो दहिसेलाणं वेदीण णदीण कुंडजगदीणं। वस्साणं च पमाणं होदि पमाणंगुलेणेव ।१११। भिंगारकलसदप्पणवेणुपडहजुगाणसयणसगडाणं। हलमूसलसत्तितोमर-सिंहासणबाणणालिअक्खाणं ।११२। चामरदुंदुहिपीढछत्ताणं णरणिवासणगराणं। उज्जाणपहुदियाणं संखा आदंगुलं णेया।११३। =उत्सेधांगुलसे देव, मनुष्य, तिर्यंच एवं नारकियोंके शरीरकी ऊँचाईका प्रमाण और चारों प्रकारके देवोंके निवास स्थान व नगरादिकका प्रमाण जाना जाता है ।११०। द्वीप, समुद्र, कुलाचल, वेदी, नदी, कुण्ड या सरोवर, जगती और भरतादि क्षेत्र इन सबका प्रमाण प्रमाणांगुलसे ही हुआ करता है ।१११। झारी, कलश, दर्पण, वेणु, भेरी, युग, शय्या, शकट (गाड़ी या रथ) हल, मूसल, शक्ति, तोमर, सिंहासन, बाण, नालि, अक्ष, चामर, दुंदुभी, पीठ, छत्र (अर्थात तीर्थंकरों व चक्रवर्तियों आदि शलाका पुरुषोंकी सर्व विभूति) मनुष्योंके निवास स्थान व नगर और उद्यान आदिकोंकी संख्या आत्मांगुलसे समझना चाहिए ।१११-११३। (रा. वा./३/३८/६/२०७/३३)

ति. प./१/९४ ववहारुद्धारद्धातियपल्ला पढमयम्मि संखाओ। बिदिये दीवसमुद्दा तदिये मिज्जेदि कम्मठिदि ।९४। =व्यवहार पल्य, उद्धार पल्य और अद्धापल्य ये पल्यके तीन भेद हैं। इनमें-से प्रथम पल्यसे संख्या (द्रव्य प्रमाण); द्वितीयसे द्वीप समुद्रादि (की संख्या) और तृतीयसे कर्मोंका (भव स्थिति, आयु स्थिति, काय स्थिति आदि काल प्रमाण लगाया जाता है। (ज. प./१३/३६); (त्रि. सा./९३)

स. सि./३/३८/२३३/५ तत्र पल्यं त्रिविधम्-व्यवहारपल्यमुद्धारपल्यमद्धापल्यमिति। अन्वर्थसंज्ञा एताः। आद्यं व्यवहारपल्यमित्युच्यते, उत्तरपल्यद्वयव्यवहारबीजत्वात्। नानेन किंचित्परिच्छेद्यमस्तीति। द्वितीयमुद्धारपल्यम्। तत उद्धृतैर्लोमकच्छेदैर्द्वीपसमुद्राः संख्यायन्त इति। तृतीयमद्धापल्यम्। अद्धा कालस्थितिरित्यर्थः।···अर्धतृतीयोद्धारसागरोपमानां यावन्तो रोमच्छेदास्तावन्तो द्वीपसमुद्राः। ···अनेनाद्धापल्येन नारकतैर्यग्योनीनां देवमनुष्याणां च कर्मस्थितिर्भवस्थितिरायुःस्थितिः कायस्थितिश्च परिच्छेत्तव्या। =पल्य तीन प्रकारका है—व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य और अद्धापल्य। ये तीनों सार्थक नाम हैं। आदिके पल्यको व्यवहारपल्य कहते हैं; क्योंकि यह आगेके दो पल्योंका मूल है। इसके द्वारा और किसी वस्तुका प्रमाण नहीं किया जाता। दूसरा उद्धारपल्य है। उद्धारपल्यमेंसे निकाले गये रोमके छेदों द्वारा द्वीप और समुद्रोंकी गिनती की जाती है। तीसरा अद्धापल्य है। अद्धा और काल स्थिति ये एकार्थवाची शब्द हैं।···ढाई उद्धार सागरके जितने रोम खण्ड हों उतने सब द्वीप और समुद्र हैं।···अद्धापल्यके द्वारा नारकी, तिर्यंच, देव और मनुष्योंकी कर्मस्थिति, भवस्थिति, आयुस्थिति और कायस्थितिकी गणना करनी चाहिए। (रा. वा./३/३८/७/२०८/७,२२); (ह. पु./७/५१-५२); (ज. प./१३/२८-३१)

रा. वा./३/३८/५/पृष्ठ/पंक्ति यत्र संख्येन प्रयोजनं तत्राजघन्योत्कृष्टसंख्येयं ग्राह्यम् ।२०६/२१। यत्रावलिकाया कार्यं तत्र जघन्ययुक्तासंख्येयं ग्राह्यम् ।२०७।३। यत्र संख्येयासंख्येया प्रयोजनं तत्राजघन्योत्कृष्टासंख्येयासंख्येयं ग्राह्यम् ।२०७/१३। अभव्यराशिप्रमाणमार्गणे जघन्ययुक्तानन्तं ग्राह्यम् ।२०७/१६। यत्राऽनन्तानन्तमार्गणा तत्राजघन्योत्कृष्टाऽनन्ताऽनन्तं ग्राह्यम् ।५०७/२३/ =जहाँ भी संख्यात शब्द आता है। वहाँ यही अजघन्योत्कृष्ट संख्यात लिया जाता है। जहाँ आवलीसे प्रयोजन होता है, वहाँ जघन्य युक्तासंख्येय लिया जाता है। असंख्यासंख्येयके स्थानोंमें अजघन्योत्कृष्ट असंख्येयासंख्येय विवक्षित होता है। अभव्य राशिके प्रमाणमें जघन्य युक्तानन्त लिया जाता है। जहाँ अनन्तानन्तका प्रकरण आता है वहाँ अजघन्योत्कृष्ट अनन्तानन्त लेना चाहिए।

ह. पु./७/२२ सोध्या द्विगुणितो रज्जुस्तनुवातोभयान्तभाग्। निष्पद्यते त्रयो लोकाः प्रमीयन्ते बुधैस्तथा ।५२। =द्वीपसागरोंके एक दिशाके विस्तारको दुगुना करनेपर रज्जुका प्रमाण निकलता है। यह रज्जु दोनों दिशाओंमें तनुवातवलयके अन्त भागको स्पर्श करती है। विद्वान् लोग इसके द्वारा तीनों लोकोंका प्रमाण निकालते हैं।

२. द्रव्य क्षेत्रादि प्रमाणोंकी अपेक्षा सहनानियाँ

१. लौकिक संख्याओंकी अपेक्षा सहनानियाँ

गो. जी./अर्थ संदृष्टि/पृ. १/११ तहाँ कहीं पदार्थनिके नाम करि सहनानी है। जहाँ जिस पदार्थका नाम लिखा होई तहाँ तिस पदार्थकी जितनी संख्या होइ तितनी संख्या जाननी। जैसे—विधु=१ क्योंकि दृश्यमान चन्द्रमा एक है। निधि=९ क्योंकि निधियोंका प्रमाण नौ है।

बहुरि कहीं अक्षरनिकौ अंकनिकी सहनानीकरि संख्या कहिए हैं। ताका सूत्र—कटपयपुरस्थवर्णैर्नवनवपञ्चाष्टकल्पितैः क्रमशः। स्वरव्यञ्जनशून्यं संख्यामात्रोपरिमाक्षरं त्याज्यम्। अर्थात् क, ख, ग, घ, (१ २ ३ ४)

ङ, च, छ, ज, झ (ये नौ), ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध (ये नौ)
५ ६ ७, ८ ९ — १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९

प, फ, ब, भ, म (ये पाँच), य, र, ल, व, श, ष, स, ह (ये आठ)
१ २ ३ ४ ५ — १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८

बहुरि अकारादि स्वर वा 'ञ' वा 'न' करि बिन्दी जाननी। वा अक्षरकी मात्रा वा कोई ऊपर अक्षर होइ जाका प्रयोजन किछु ग्रहण न करना।

(तात्पर्य यह है कि अंकके स्थानपर कोई अक्षर दिया हो तो तहाँ व्यञ्जनका अर्थ तो उपरोक्त प्रकार १, २ आदि जानना। जैसे कि—ङ, ण, म, श इन सबका अर्थ ५ है। और स्वरोंका अर्थ बिन्दी जानना। इसी प्रकार कहीं ञ या न का प्रयोग हुआ तो वहाँ भी बिन्दी जानना। मात्रा तथा संयोगी अक्षरोंको सर्वथा छोड़ देना। इस प्रकार अक्षर परसे अंक प्राप्त हो जायेगा।

(गो. सा./जी. का/की अर्थ संदृष्टि)

लक्ष	: ल	जघन्य ज्ञान	: ज. ज्ञा.
कोटि (क्रोड़)	: को.	मूल	: मूल
लक्षकोटि	: ल. को.	जघन्यको आदि लेकर अन्य भी	: ज=
कोड़ाकोड़ी	: को. को.	६५ को आदि लेकर अन्य भी	: ६५=
अन्तःकोटाकोटि	: अं. को. को.	एकट्ठी	: १८=
जघन्य	: ज०	बादाल	: ४२=
उत्कृष्ट	: उ०	पणट्ठी	: ६५=
अजघन्य	: अज०		
साधिक जघन्य	: ज		

नोट—इसी प्रकार सर्वत्र प्रकृत नामके आदि अक्षर उस उसकी सहनानी है।

२. अलौकिक संख्याओंकी अपेक्षा सहनानियाँ

(गो.सा/जी.का/की अर्थ संदृष्टि)

संख्यात	: ୨
असंख्यात	: ə(a)
अनन्त	: ख
जघन्य संख्यात	: २
जघन्य असंख्यात	: २
उत्कृष्ट असंख्यात	: १५
जघन्य अनन्त	: १६
उत्कृष्ट अनन्त	: के
जघन्य परीतासंख्यात	: १६
उत्कृष्ट परीतासंख्य.	: $२^{१६}$ –
जघन्य युक्तासंख्यात	: २
उत्कृष्ट युक्तासंख्यात	: $४^{१६}$ –
जघन्य असंख्यातासं.	: ४
उत्कृष्ट असंख्यातासं.	: $२५६^{१६}$ –
जघन्य परीतानन्त	: २५६
उत्कृष्ट परीतानन्त	: $ज.जु.अ.^{१६}$ –
जघन्य युक्तानन्त	: ज.जु.अ.
उत्कृष्ट युक्तानन्त	: $ज.जु.अ.व^{१६}$ –

जघन्य अनन्तानन्त (जघन्य युक्ता० का वर्ग)	: ज.जु.अ.व
उत्कृष्ट अनन्तानन्त (केवल ज्ञान)	: के
मध्यम अनन्तानन्त (सम्पूर्ण जीव राशि)	: १६
संसारी जीव राशि	: १३
सिद्ध जीव राशि	: ३
पुद्गल राशि (सम्पूर्ण जीव राशिका अनन्तगुणा)	: १६ख
काल समय राशि	: १६खख
आकाश प्रदेश राशि	: १६ख.ख.ख
केवलज्ञानका प्रथम मूल	: $के.मू.^{१}$
केवलज्ञानका द्वि. मूल	: $के.मू.^{२}$
केवलज्ञान	: के
ध्रुव राशि	: २५६/१३
असंख्यात लोक प्रमाण राशि	: ९
π (१६२२ या १९/६)	: $\sqrt{१०}$

३. द्रव्य गणनाकी अपेक्षा सहनानियाँ

(गो.सा/जी.का/की अर्थ संदृष्टि)

सम्पूर्ण जीव राशि	: १६
संसारी जीवराशि	: १३
मुक्त जीव राशि	: ३
पुद्गल राशि	: १६ख.
काल समय राशि	: १६ख.ख.
आकाश प्रदेश राशि	: १६ख.ख ख.

४. पुद्गल परिवर्तन निर्देशकी अपेक्षा सहनानियाँ

(गो.सा/जी.का/की अर्थ संदृष्टि)

गृहीत द्रव्य	: १
अगृहीत द्रव्य	: ०
मिश्र द्रव्य	: ×
अनेक बार गृहीत: अगृहीत या मिश्र द्रव्यका ग्रहण	दो बार-लिखना

५. एकेन्द्रियादि जीव निर्देशकी अपेक्षा

(गो.सा/जी.का/की अर्थ संदृष्टि)

एकेन्द्रिय	: ए
विकलेन्द्रिय	: बि
पंचेन्द्रिय	: पं
असंज्ञी	: अ
संज्ञी	: सं
पर्याप्त	: २
अपर्याप्त	: ३
सूक्ष्म	: सू
बादर	: बा.

६. कर्म व स्पर्धकादि निर्देशकी अपेक्षा

(गो.सा./जी. का/की अर्थ संदृष्टियाँ)

समय प्रबद्ध	: स७
उत्कृष्ट समय प्रबद्ध	: स३२
जघन्य वर्गणा	: व
स्पर्धक शलाका	: ९
एक स्पर्धकविषै वर्गणाएँ	: ४

७. क्षेत्रप्रमाणोंकी अपेक्षा सहनानियाँ

(ति. प./१/९३; १/१३२)

सूच्यंगुल		: सू	: २
प्रतरांगुल	: $सू^{२}$	: प्र	: ४
घनांगुल	: $सू^{३}$	: घ	: ६
जगश्रेणी		: ज	: —
जगत्प्रतर	: $ज^{२}$	: ज.प्र	: =
लोकप्रतर	: $ज^{२}$	: लो.प्र.	: =
घनलोक	: $ज^{३}$	: लो	: ≡

गो. सा. व. ल. सा. की अर्थ संदृष्टि

रज्जू	: जगश्रेणी/७	: $\overline{१}$	: $\overline{७}$
रज्जूप्रतर	: $रज्जू^{२}$	: $\overline{(७)}^{२}$	: $\overline{\overline{४९}}$
रज्जू घन	: $रज्जू^{३}$	: $\overline{(७)}^{३}$	: ≡ ३४३

सूच्यंगुलकी अर्धच्छेद राशि	: $(\text{पल्यकी अर्धच्छेद राशि})^{२}$	: छे छे
सूच्यंगुलकी वर्गशलाका राशि	: $(\text{पल्यकी वर्गशलाका राशि})^{२}$	: $व_{२}$
प्रतरांगुलकी अर्धच्छेद राशि	: (सूच्यंगुलकी अर्धच्छेद राशि×२)	: $छे छे_{२}$
प्रतरांगुलकी वर्गशलाका राशि		: $व_{२}^{१}$ –
घनांगुलकी अर्धच्छेद राशि		: $छे छे_{३}$
घनांगुलकी वर्गशलाका राशि		: $व_{२}$
जगश्रेणीकी अर्धच्छेद राशि	: (पल्यकी अर्धच्छेद राशि ÷ असं)×(घनांगुलकी अर्धच्छेद राशि)	: $७छे छे छे_{३}$ या $बिछेछे_{३}$ (यदि बि — विरलन राशि)
जगश्रेणीकी वर्गशलाका राशि	: घनांगुलकी वर्गशलाका + पल्यकी वर्ग. श./ज. परी. असं×२अ या $व_{२}+\frac{व}{१६×२}$	$\frac{व}{१६/२}$
जगत्प्रतरकी अर्धच्छेद राशि	: जगश्रेणीकी अर्धच्छेद राशि×२	: $७छे छे छे_{६}$
जगत्प्रतरकी वर्गशलाका राशि	: जगश्रेणीकी वर्ग-शलाका + १	$\left[व^{१}– \; १६/२ \; व_{२} \right]$
घनलोकको अर्धच्छेद राशि	: $७ छे छे छे_{६}$	: $बि छे छे_{६}$ (यदि बि — विरलन राशि)
घनलोकको वर्गशलाका राशि	:	$\left[व \; १६/२ \; व_{२} \right]$

८. कालप्रमाणोंकी अपेक्षा सहनानियाँ

(गो.सा/जी.का/की अर्थ संदृष्टि)

आवली	: आ	: २
अन्तर्मुहूर्त	: संख्यात आ	: २Q
पल्य (ध.३/पृ.८८)	: प.	: ६५५३६
सागर	: सा.	
प्रतरावली	: आवली^{२} : २^{२}	: ४
घनावली	: आवली^{३} : २^{३}	: ८
पल्यकी अर्धच्छेद राशि	: छे	
पल्यकी वर्गशलाका राशि	: व	
सागरकी अर्धच्छेद राशि	: Q/छे अथवा	Q/छे
संख्यात आवली		: २Q

३. गणितकी प्रक्रियाओंकी अपेक्षा सहनानियाँ

१. परिकर्माष्टककी अपेक्षा सहनानियाँ

(गो.सा./जी.का./की अर्थ संदृष्टि)

नोट—यहाँ 'x' को सहनानीका अंग न समझना। केवल आँकड़ोंका अवस्थान दर्शानेको ग्रहण किया है।

व्यकलन (घटाना)	: x (ऊपर ⌒)	गुणा	: x।
संकलन (जोड़ना)	: x̄	मूल	: मू.
किंचिदून	: x –	वर्ग मूल	: व. मू.
एक घाट	: १ (ऊपर ⌒)	प्रथम वर्गमूल	: मू^{१}
किंचिदधिक	: x (ऊपर ।)	द्वितीय वर्गमूल	: मू^{२}
संकलनेमें एक दो तीन आदि राशियाँ	: ।,।।,।।।	घनमूल	: घमू
ऋण राशि	: x^{०}	विरलन राशि	: वि.
पाँच घाट लक्ष	: ल—५ या ल$_{५}$)	(विशेष देखो गणित /II/१/)	

२. अलौकिक गणितकी अपेक्षा सहनानियाँ

(गो.सा./जी.का./की अर्थ संदृष्टि)

संकेत—अ.छे	: अर्धच्छेद राशि	
व.श	: वर्ग शलाका राशि	
पल्यकी अर्धच्छेद राशि	: $\log_2$ of पल्य	: प$_{२}$ (गो.क/पृ ११६)—छे
पल्यकी व.श. (जघन्य वर्गणा)	: log $\log_2$ of पल्य	: व
सागरकी अ.छे	: पल्यकी∝अर्धच्छेद+संख्यात : Q/छे	

सूच्यंगुलकी अ. छे=(पल्यकी अर्धच्छेद राशि)^{२}	छे छे
सूच्यंगुलकी व.श.=पल्यकी व.श.×२.	: व$_{२}$
प्रतरांगुलकी अ.छे=सूच्यंगुलकी अ. छे×२	: छे छे$_{२}$
प्रतरांगुलकी व.श =सूच्यंगुलकी व. श.+१	: व$_{२}$ (ऊपर १–)
घनांगुलकी अ. छे=सूच्यंगुलकी अ. छे.×३.	: छे छे$_{३}$.
घनांगुलकी व. श.=(जाते द्विरूप वर्गधारा विषै जेते स्थान गये सूच्यंगुल हो है तेते ही स्थान गये द्विरूप घन धारा विषै घनांगुल हो है	: व$_{२}$
जगश्रेणीकी अ. छे=पल्यकी अ. छे+असं/अथवा तीहि प्रमाण विरलन राशि, ताके आगे घनांगुलकी अ. छे का गुणकार जानना।	: [छे छे छे$_{३}$ / ७ या वि छे छे$_{३}$
जगश्रेणीकी व.श.=(घनांगुलकी व.श.+ज.परीता)x : २	{ व / १६/२ / व$_{२}$ }
जगप्रतरकी अ. छे=जगश्रेणीकी अ. छे×२	: [छे छे छे$_{६}$ / ७
जगप्रतरकी व. श=जगश्रेणीकी व. श+१	: { १– / व / १६/२ / व$_{२}$ }
घनलोककी अ. छे=सूच्यंगुल की अ. छे×३	: छे छे छे$_{६}$
घनलोककी व. श=जाते द्विरूप वर्ग धाराविषै जेते स्थान गये जगश्रेणी हो है, तेते ही स्थान गये द्विरूप घनधारा विषै घनलोक हो है।	: { व / १६/२ / व$_{२}$ }

३. कर्म सिद्धान्त गणितकी अपेक्षा सहनानियाँ

(गो. सा/जी. का/की अर्थ संदृष्टि)

एक गुणहानि	: ८	नाना गुणहानि	: ना
एक गुणहानि-विषै स्पर्धक	: ६	किंचिदून डयोढ़ (द्वयर्ध.) गुणहानि गुणित समयप्रबद्ध	: ७$^{१२-}$
डयोढ़ गुणहानि	: १२		
दो गुणहानि (निषेकाहार)	: १६	उत्कृष्ट समयप्रबद्ध	: स१२

४. षट्गुणवृद्धि हानिकी अपेक्षा सहनानियाँ

(गो सा/जी. का/की अर्थसंदृष्टि)

अनन्तभाग	: उ	संख्यातगुण	: ६
असंख्यात भाग	: ४	असंख्यातगुण	: ७
संख्यातभाग	: ५	अनन्त गुण	: ८

४. अक्षर व अंकक्रमकी अपेक्षा सहनानियाँ

१. अक्षरक्रमकी अपेक्षा सहनानियाँ

(पूर्वोक्त सर्व सहनानियोंके आधार पर)

संकेत—अ. छे—अर्धच्छेद राशि; व. श—वर्गशलाका राशि प्र—प्रथम; द्वि—द्वितीय; ज—जघन्य; उ—उत्कृष्ट;

सहनानी	अर्थ
अ को को	अंत:कोटाकोटी
अ	असंज्ञी
उ	उत्कृष्ट, अनन्त-भाग, अपकर्षण भागाहार
ए	एकेन्द्रिय
के	केवलज्ञान, उत्कृष्ट-अनन्तानन्त
के मू^{१}	'के'का प्र. वर्गमूल
के मू^{२}	'के'का द्वि. वर्गमूल
को	कोटि (क्रोड़)
को. को.	कोटाकोटी
ख	अनन्त
ख ख ख	अनन्तानन्त-अलोकाकाश
घ	घन, घनांगुल
घ मू	घनमूल
घ लो	घनलोक
छे	अर्द्धच्छेद तथा पल्यकी अ. छे.राशि
छे छे	सूच्यंगुलकी अ.छे.
छे छे$_{२}$	प्रतरांगुलकी अ.छे.
छे छे$_{३}$	घनांगुलकी अ.छे.
[छे छे छे$_{२}$ / ७]	जगश्रेणीकी अ.छे.
[छे छे छे$_{६}$ / ७]	जगत्प्रतरकी अ.छे.
[छे छे छे$_{६}$ / ७]	घनलोककी अ.छे.
ज	जघन्य, जगश्रेणी
ज'	साधिक जघन्य
ज—	जघन्यको आदि लेकर अन्य भी
ज जु अ	ज. युक्तानन्त
ज जु अ^{१}⌒	उ. परीतानन्त
ज जु अ व	ज. युक्तानन्तका वर्ग,ज.अनन्तानन्त
ज जु अ व^{१}⌒	उत्कृष्ट युक्तानन्त
ज. ज्ञा.	जघन्य ज्ञान
ज प्र	जगत्प्रतर
ना	नानागुणहानि
प	पल्य
प्र	प्रतरांगुल
बा	बादर
मू	मूल
मू^{१}	प्रथम मूल
मू^{२}	द्वितीय मूल
ल	लक्ष
ल को	लक्ष कोटि
लो	लोक
लो प्र	लोक प्रतर
व	वर्ग,जघन्य वर्गणा, पल्यकी वर्ग श.
व$_{२}^{१-}$	प्रतरांगुलकी व.श.
व$_{२}$	घनांगुलकी व.श.
[व / १६।२	सूच्यंगुलकी व.श., जगश्रेणीकी व.श.
[व$^{१-}$ / १६।२ / व$_{२}$]	जगत्प्रतरकी व.श.
[व / १६।२ / व$_{२}$]	घनलोककी व. श.
व. मू.	वर्गमूल
व. मू.^{१}	प्रथम वर्गमूल
व. मू.^{२}	द्वितीय वर्गमूल
वि	विरलन राशि
सं	संज्ञी
स ७	समय प्रबद्ध
स ३२	उत्कृष्ट समयप्रबद्ध
सा	सागर
सू	सूक्ष्म, सूच्यंगुल
सू^{२}	(सूच्यंगुल)^{२} प्रतरांगुल
सू^{३}	(सूच्यंगुल)^{३}, घनांगुल

२. अंकक्रमकी अपेक्षा सहनानियाँ

(पूर्वोक्त सर्व सहनानियोंके आधार पर)—

सहनानी	अर्थ
१	गृहीत पुद्गल प्रचय
२	जघन्य संख्यात, जघन्य असंख्यात, जघन्य युक्तासंख्यात, सूच्यंगुल, आवली
२ Q	अंतर्मुहूर्त, संख्य.आव
२^{१}⌒	उत्कृष्ट परीतासंख्या.
३	सिद्धजीव राशि
४	असंख्यात भाग जघन्य असंख्याता-संख्य०, एक स्पर्धक विषै वर्गणा, प्रतरांगुल प्रतरावली।
५	संख्यात भाग
६	संख्यात गुण, घनांगुल
७	असंख्यात गुण
७̄	रज्जू
७̄^{२}	रज्जूप्रतर
७̄^{३}	रज्जूघन
८	अनन्तगुण, एक गुणहानि, घनावली
९.	एक गुणहानि विषै स्पर्धक, स्पर्धकशलाका
१२	द्वयोढ़ गुणहानि
१३	संसारीजीव राशि
१५	उत्कृष्ट असंख्य,
१६	जघन्य अनन्त, सम्पूर्ण जीवराशि, दोगुणहानि, निषेकाहार
१६ ख	पुद्गल राशि
१६ ख ख	काल समय राशि
१६खखख	आकाशप्रदेश
१८	एकट्ठी
४२	बादाल
४९̄	रज्जु प्रतर
६५	घणट्ठी
≡ ३४३	रज्जूघन
२५६	जघन्य परीतानन्त
२५६^{१}⌒	उत्कृष्ट असंख्याता-संख्यात
२५६ / १३	धु.व राशि

३. आँकड़ोंकी अपेक्षा सहनानियाँ

(पूर्वोक्त सर्व सहनानियोंके आधारपर)

नोट—यहाँ 'X' को सहनामीका अंग न समझना। केवल आँकड़ोंका अवस्थान दर्शानेको ग्रहण किया है।

सहनानी	अर्थ
X̄	संकलन (जोड़ना)
X—	किंचिदून
X⌒	व्यवकलन (घटाना)
१⌒	एक घाट
X'	किंचिदधिक
I,II,III	संकलनमें एक, दो, तीन आदि राशियाँ
O	अगृहीत वर्गणा
X	मिश्र वर्गणा
२^{१}⌒	उत्कृष्ट परीतासंख्या.
४^{१}⌒	उत्कृष्ट युक्तासंख्य.
२५६^{१}⌒	उ. संख्यातासंख्य.
ज जु अ^{१}⌒	उत्कृष्ट युक्तानंत
ज'	साधिक जघन्य
व$_{२}^{१-}$	सूच्यंगुलकी वर्ग-शलाका
[व$^{१-}$ / १६/२ / व$_{२}$.]	जगत्प्रतरकी वर्ग-शलाका
—	जगश्रेणी
=	जगत्प्रतर
≡	घनलोक
—̄ ७	रज्जू
= ४९	रज्जू प्रतर
≡ ३४३	रज्जू घन

४. कर्मोंकी स्थिति व अनुभागकी अपेक्षा सहनानियाँ

(ल. सा. की अर्थसंदृष्टि)

: अचलावली या आबाधा काल		अनुभाग विषै अविभागीप्रतिच्छेदनिके प्रमाण की समानता लिये एक एक वर्ग वर्गणा विषै पाइये तिस वर्गणाकी संदृष्टि
△ : क्रमिक हानिगत निषेक, उदयावली, उच्छिष्टावली		
: कर्म स्थिति (आबाधावलीके ऊपर निषेक रचना)		वर्गनिका प्रमाण वर्गणाविषै क्रमतै हानिरूप होय।
: आबाधा काल + उदयावली + उपरितन स्थिति + उच्छिष्टावली		कर्मानुभाग

II. गणित विषयक प्रक्रियाएँ

१. परिकर्माष्टक गणित निर्देश

१. अंकोंकी गति बाम भागसे होती है

गो.जी./पूर्व परिचय/६०/१८ अङ्कानां वामतो गतिः। —अंकनिका अनुक्रम बाईं तरफसेती है। जैसे २५६ के तीन अंकनिविषै छक आदि (इकाई) अंक, पांचा दूसरा (दहाई) अंक, दुवा अंत (सैंकड़ा) अंक कहिये। (यद्यपि अंकोंको लिखते समय या राशिको मुँहसे बोलते समय भी अंक बायेंसे दायेंको लिखे या बोले जाते हैं जैसे दो सौ छप्पनमें दोका अंक अन्तमें न बोलकर पहिले बोला या लिखा गया, परन्तु अक्षरोंमें व्यक्त करनेसे उपरोक्त प्रकार पहिले इकाई फिर दहाई रूपमें इससे उलटा क्रम ग्रहण किया जाता है।)

२. परिकर्माष्टकके नाम निर्देश

गो.जी./पूर्व परिचय/पृ./पं. परिकर्माष्टकका वर्णन इहां करिए हैं। तहां संकलन, व्यकलन, गुणकार, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल ए आठ नाम जानने।५८–१७। अब भिन्न परिकर्माष्टक कहिये हैं। तहां अंश और हारनिका संकलनादि (उपरोक्त आठों) जानना (दे० आगे नं० १०)। अब शून्य परिकर्माष्टक कहिए है। (बिन्दीके संकलनादि उपरोक्त आठों शून्य परिकर्माष्टक कहलाते हैं। (दे० आगे नं० ११) ।६८–१७।

३. संकलनकी प्रक्रिया

गो.जी./पूर्व परिचय/पृ./पं. किसी प्रमाणको किसी प्रमाणविषै जोड़िये सो संकलन कहिये।५६–४। (जिसमें जोड़ा जाये उसे मूल राशि कहते हैं)। जोड़ने योग्य राशिका नाम धन है। मूलराशिको तिस करि अधिक कहिए।५६–१६।

गो.जी./अर्थ संदृष्टि—जोड़ते समय धनराशि ऊपर और मूलराशि नीचे लिखी जाती है। (जब कि अँगरेजी विधिमें मूलराशि ऊपर और धनराशि नीचे लिखकर जोड़ा जाता है)। यथा—

१००० (ऊपर ५) = १००० + ५ = १००५ या १००० (ऊपर ५—) = १००० + ५ = १००५

४. व्यकलनकी प्रक्रिया

गो.जी./पूर्व परिचय/पृ./पं. किसी प्रमाणको किसी प्रमाण विषै घटाइये तहां व्यकलन कहिये।५६–५। (जिस राशिमेंसे घटाया जाये उसे मूलराशि कहते हैं)। घटावने योग्य राशिका नाम ऋण है। मूल राशिको तिसकरि हीन, वा न्यून, वा शोधित वा स्फोटित कहिए।६०–२।

गो.जी./अंक संदृष्टि—घटाते समय निम्न विधियोंके प्रयोगका व्यवहार है :

(१)—(१००० ऊपर ५) = १००० – ५ = ९९५॥ (२)—(को ऊपर १०) = एक घाट कोटि।

(३)—(ल ऊपर १ —) = एक घाट लक्ष॥ (४)—(१० ऊपर ल) = एक घाट लक्ष॥

(५) (ल—२) = २ घाट लक्ष॥ (६) (ल〰२) = २ घाट लक्ष॥ (७)—

(७)—(ख—) = किंचिदून अनन्त॥ (८)—(ल = २) = (ल – २ – २)॥

(९)—(ल—५) = ५ घाट लक्ष॥ (१०)—(ल ऊपर ५) = ५ घाट लक्ष॥

(११)—(छे व छे) = पल्यकी अर्धच्छेदराशिमें-से पल्यकी वर्गशलाकाराशि घटाओ।

५. गुणकार प्रक्रिया

गो.जी./पूर्व परिचय/पृ./पं. किसी प्रमाणको किसी प्रमाणकरि गुणिए तहां गुणकार कहिए।५६–७। गुणकारविषै जाको गुणिए ताका नाम गुण्य कहिए। जाकरि गुणिए ताका नाम गुणकार या गुणक कहिए। गुण्य राशिको गुणकार करि गुणित, हत वा अभ्यस्त व घ्नत कहिए है। ...गुणनेका नाम गुणन वा हनन वा घात इत्यादि कहिए है।६०–४।

गो.जी./अर्थसंदृष्टि—गुणा करते समय गुणकारको ऊपर तथा गुण्यको नीचे लिख निम्न प्रकार खण्डों द्वारा गुणा करनेका व्यवहार था। यथा—

१६ २५६	१६ ३२५६	१६ ४००६
१×२=२ ६×२=१२ ५६	३२ १×५= ५ ६×५= ३० ६	४०० १×६= ६ ६×६= ३६
३२५६	४००६	फल ४०९६

१६ / २५६ = १६ × २५६ = ४०९६

६. भागहार प्रक्रिया

गो.जी./पूर्व परिचय/पृ./पं. किसी प्रमाणको किसी प्रमाणका जहाँ भाग दीजिए तहाँ भागहार कहिए।५६–८। जा विषै भाग दीजिए ताका

नाम भाज्य वा हार्य इत्यादि है। और जाका भाग दीजिए ताका नाम भागहार, हार, वा भाजक इत्यादि है। भाज्य राशिकौ भागहारकरि करि भाजित, भक्त वा हृत वा खण्डित इत्यादि कहिए। भागहारका भाग देइ एक भाग ग्रहण करना होइ तहां तैथवां भाग वा एक भाग कहिए।६०-८।

गो.जी./अर्थ संदृष्टि—भाग देते समय भाज्य ऊपर व भागहार नीचे लिखा जाता है। यथा—

$\frac{४०९६}{१६} = \frac{४०९६}{१६} = २५६$ या $\frac{को}{५} = \frac{को}{५}$ = कोटिका पाँचवाँ भाग/ या $१/\frac{१}{२} = १\frac{१}{२}$

भाजन-विधि:

४०९६	८९६	९६
१६ × २ = ३२	१६ × ५ = ८०	१६ × ६ = ९६
८९६	९६	०

१६ के तीनों गुणकारोंको क्रमसे लिखनेपर २,५,६ = २५६ लब्ध आ जाता है।

Division by Ratio

गो.जी.—प्रक्षेप योगोद्धृतमिश्रपिण्डः प्रक्षेपकाणां गुणको भवेदिति। = प्रक्षेपकौ मिलायकरि मिश्र पिंडका भाग जो प्रमाण होइ ताकौ प्रक्षेपकरि गुणै अपना-अपना प्रमाण होइ। यथा—

१०००: :५:७:८ = $\frac{१०००}{२०} \times ५$; $\frac{१०००}{२०} \times ७$; $\frac{१०००}{२०} \times ८$ = २५०; ३५०, ४००

७. वर्ग व वर्गमूलकी प्रक्रिया

गो.जी./पूर्व परिचय/पृ./पं. = किसी प्रमाणको दोय जायगां मांडि परस्पर गुणिए तहां तिस प्रमाणका वर्ग कहिए। बहुरि जो प्रमाणका जाका वर्ग कीए होय तिस प्रमाणका सो वर्गमूल कहिए। जैसे पच्चीस पाँचका वर्ग कीए होइ तातै २५ का वर्गमूल ५ है।५६-१०। बहुरि वर्गका नाम कृति भी है। बहुरि वर्गमूलका नाम कृतिमूल वा मूल वा पाद वा प्रथम मूल भी है। (तहां प्रथम बार वर्ग करनेको प्रथम वर्ग कहिए। तिस वर्गको पुनः वर्ग करनेको द्वितीय वर्ग कहिए। इसी प्रकार तृतीय चतुर्थ आदि वर्ग जानना) बहुरि प्रथम मूलके मूलको द्वितीय मूल कहिए। द्वितीय मूलके मूलको तृतीय मूल कहिए। (इसी प्रकार तृतीय चतुर्थ आदि मूल जानने)।६०-१४।

ध. ५/प्र. ७—प्रथम वर्ग = $अ^{२}$; द्वि. वर्ग = $(अ^{२})^{२} = अ^{४}$

प्रथम वर्गमूल = $अ^{\frac{१}{२}}$; द्वि. वर्गमूल = $(अ^{\frac{१}{२}})^{\frac{१}{२}} = अ^{\frac{१}{४}}$

८. घन व घनमूल प्रक्रिया

गो.जी./पूर्व परिचय/पृ./पं. किसी प्रमाणको तीन जायगां मांडि परस्पर गुणै तिस प्रमाणका घन कहिए। बहुरि जो प्रमाण जाका घन कीए होइ तिस प्रमाणका सो घनमूल कहिए। जैसे १२५ पांचका घनमूल कीए होइ तातै १२५ का घनमूल ५ है।५६-१४।

गो.जी./अर्थ संदृष्टि—गुणन विधि आदि सर्व गुणकारवत् जानना। यथा—$४/३ = ४^{३}$ या $४ \times ४ \times ४ = ४^{३} = ६४$। वर्ग व वर्गमूलकी भाँति यहाँ भी प्रथम, द्वितीय आदि घन तथा प्रथम, द्वितीय आदि घनमूल जानने। यथा प्रथम घन = $अ^{३}$; द्वि. घन = $(अ^{३})^{३} = अ^{९}$

प्रथम घनमूल = $अ^{\frac{१}{३}}$; द्वि. घनमूल = $(अ^{\frac{१}{३}})^{\frac{१}{३}} = अ^{\frac{१}{९}}$

९. विरलन देय या घातांक गणितकी प्रक्रिया

ध.५/प्र.८ धवला (व गोमट्टसार आदि करणानुयोगके ग्रन्थों) में विरलन देय 'फैलाना और देना' नामक प्रक्रियाका उल्लेख आता है। किसी संख्याका विरलन करना व फैलाना अर्थात् उस संख्याको एक-एकमें अलग-अलग करना। जैसे न के विरलनका अर्थ है—१,१, १,१,...न बार। देय का अर्थ है उपर्युक्त अंकोंमें प्रत्येक स्थानपर एक-की जगह 'न' अथवा किसी भी विवक्षित संख्याको रख देना (लिखनेमें विरलनराशि ऊपर लिखी जाती है और देय नीचे। जैसे $६^{४}$ में ६ देय है और ४ विरलन)। फिर उस विरलन—देयसे उपलब्ध संख्याओंको परस्पर गुणा कर देनेसे उस संख्याका वर्गित-संवर्गित प्राप्त हो जाता है। और यही उस संख्याका प्रथम वर्गित-संवर्गित कहलाता है। जैसे नका प्रथम वर्गित संवर्गित = $न^{न}$। विरलन-देयकी एक बार पुनः प्रक्रिया करनेसे, अर्थात् $न^{न}$ को लेकर वही विधान फिर करनेसे द्वितीय वर्गित संवर्गित $(न^{न})^{न^{न}}$ प्राप्त है। इसी विधानको पुनः एक बार करनेसे 'न'का तृतीय वर्गित

$$\left(\left\{(न^{न})^{न^{न}}\right\}^{\left\{(न^{न})^{न^{न}}\right\}}\right)$$

संवर्गित प्राप्त होता है।

धवलामें उक्त प्रक्रियाका प्रयोग तीन बारसे अधिक अपेक्षित नहीं हुआ है, किन्तु तृतीय वर्गित-संवर्गितका उल्लेख अनेक बार (ध.३/१,२,२/२० आदि) बड़ी संख्याओं व असंख्यात व अनन्तके सम्बन्धमें किया गया है। इस प्रक्रियासे कितनी बड़ी संख्या प्राप्त होती है, इसका ज्ञान इस बातसे हो सकता है कि २ का तृतीय बार वर्गित-संवर्गित रूप $२५६^{२५६}$ हो जाता है।

उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट है कि धवलाकार आधुनिक घातांक सिद्धान्त (Theory of indices या Powers) से पूर्णतः परिचित थे। यथा—

(१) $अ^{म}\, अ^{न} = अ^{म+न}$　(२) $अ^{म} / अ^{न} = अ^{म-न}$

(३) $(अ^{म})^{न} = अ^{म\,न}$—(त्रि.सा./१०५-१०७)

(४) यदि $१ \div २^{X} = Y$ तथा $२^{X+P} = Q$ तो $Y \times २^{P} = Q$

(५) यदि $२^{x} = Y$ तथा $२^{x-P} = Q$ तो $Y + २^{P} = Q$

(त्रि. सा./११०-१११)

१०. भिन्न परिकर्माष्टक प्रक्रिया

गो.जी./पूर्व परिचय/६६/१२ अब भिन्न परिकर्माष्टक कहिए हैं। तहाँ अंश अर हारनिका संकलन व्यकलन आदिक (पूर्वोक्त आठों बातें) जानैना। अंश अर हार कहा सो कहिए। तहाँ छह का पाँचवाँ भाग ($\frac{६}{५}$) में छः को अंश व लव इत्यादि कहिये और ५ को हार वा हर वा छेद आदि कहिए। तहाँ भिन्न संकलन व्यकलनके अर्थ भाग जाति, प्रभाग जाति, भागानुबंध, भागापवाह ए च्यारि जाति हैं। तिनिविषैं इहाँ विशेष प्रयोजनभूत समच्छेद विधि लिये भाग जाति कहिए है। जुदे-जुदे अंश अर तिनिके हार लिखि एक-एक हारको अन्य हारोंनके अंशनिकरि गुणिए और सर्व हारनिको परस्पर गुणिए। (यथा—$\frac{५}{६} + \frac{२}{३} + \frac{३}{४}$ में ६ को २ व ३ के साथ गुणे; ३ को ६ व ३ के साथ; ४ को ६ व २ के साथ। और तीनों हारोंको परस्पर गुणें $६ \times ३ \times ४ = ७२$। उपरोक्त रूपसे गुणित सर्व अंशोंका समान रूपसे यह

एक ही हार होता है। यथा $\left(\frac{५}{६}+\frac{२}{३}+\frac{३}{४}\right)=\left(\frac{६०}{७२}+\frac{४८}{७२}+\frac{५४}{७२}\right)$ इस प्रकार सर्व राशियोंके हारोंको समान करना समच्छेद कहलाता है) अब संकलन करना होइ तो परस्पर अंशनिकी जोड़ दीजिए और व्यकलन करना होइ मूल राशिके अंशनिविषै ऋणराशिके अंश घटाइ दीजिए। अर हार सबनिके समान भए। तातै हार परस्पर गुणे जैते भए तेते ही राखिए। ऐसे समान हार होनेतै याका नाम समच्छेद विधान है। उदाहरणार्थ—

$$\frac{५}{६}+\frac{२}{३}+\frac{३}{४}=\frac{६०}{७२}+\frac{४८}{७२}+\frac{५४}{७२}=\frac{६०+४८+५४}{७२}$$

$$=\frac{१६२}{७२}$$

$$\text{अथवा } \frac{५}{६}+\frac{२}{३}-\frac{३}{४}=\frac{६०}{७२}+\frac{४८}{७२}-\frac{५४}{७२}=\frac{६०+४८-५४}{७२}$$

$$=\frac{५४}{७२}$$

कोई सम्भवतः प्रमाणका भाग देइ भाज्य व भाजक (अंश व हार) राशिका महत प्रमाणकौं थोरा कीजिए वा निःशेष कीजिए तहाँ अपवर्तन संज्ञा जाननी।

$$\text{यथा } \frac{१६२}{७२}=२\frac{१८}{७२}=२\frac{१}{४} \text{ अथवा } \frac{५४}{७२}=\frac{३}{४}$$

गुणकार विषै गुण्य और गुणकारके अंशको अंशकरि और हार-को हारकरि गुणन करना। यथा $\frac{५}{६}\times\frac{२}{३}\times\frac{३}{४}=\frac{३०}{७२}=\frac{१५}{३६}$।

भागहार विषै भाजकके अंशको हार कीजिए और हारनिको अंश कीजिये। ऐसे पलटि भाज्य भाजकका गुण्य गुणकारवत् (उपरोक्त) विधान करना।

वर्ग और घनका विधान गुणकारवत ही जानना। अर्थात् अंशों व हारोंका पृथक्-पृथक् वर्ग व घन करके अंशके वर्ग या घनको लब्धका अंश और हारके वर्ग या घनको लब्धका हार जानना।

$$\text{यथा } \left(\frac{५}{६}\right)^{२}=\frac{५^{२}}{६^{२}}=\frac{२५}{३६} \text{ अथवा } \left(\frac{५}{६}\right)^{३}=\frac{५^{३}}{६^{३}}=\frac{१२५}{२१६}$$

वर्गमूल व घनमूल का विधान भी वर्ग व घनवत् जानना। अंशका वर्ग या घन तो लब्धका अंश है और हारका वर्ग या घन लब्धका हार है।

$$\text{यथा } \left(\frac{२५}{३६}\right)^{\frac{१}{२}}=\frac{२५^{\frac{१}{२}}}{३६^{\frac{१}{२}}}=\frac{५}{६} \text{ अथवा } \left(\frac{१२५}{२१६}\right)^{\frac{१}{३}}=\frac{१२५^{\frac{१}{३}}}{२१६^{\frac{१}{३}}}=\frac{५}{६}$$

भिन्न परिकर्माष्टक विषयक अनेकों प्रक्रियाएँ

ध.३/१,२,५/गा.२४–३२/४६ तथा (ध.५/प्र.११)—

(१) $\frac{न^{२}}{न\pm(न/प)}=न\mp\frac{न}{प\pm१}$

(२) यदि $\frac{म}{द}=क$ और $\frac{म}{द'}=क'$

तो $\frac{म}{द\pm द'}=\frac{क}{१\pm(क\div क)}$ या $\frac{क'}{(क\div क)\pm१}$

(३) यदि $\frac{म}{द}=क$ और $\frac{म'}{द}=क$

तो $(क-क')+म'=म$

(४) यदि $\frac{अ}{ब}=क$, तो $\frac{अ}{ब+\frac{ब}{न}}=क-\frac{क}{न+१}$

और $\frac{अ}{ब-\frac{ब}{न}}=क+\frac{क}{न-१}$

(५) यदि $\frac{अ}{ब}=क$ तो $\frac{अ}{ब+स}=क-\frac{क}{\frac{ब}{स}+१}$ और

$\frac{अ}{ब-स}=क+\frac{क}{\frac{ब}{स}-१}$

(६) यदि $\frac{अ}{ब}=क$ और $\frac{अ}{ब'}=क+स$, तो

$ब'=ब-\frac{ब}{\frac{क}{स}+१}$

यदि $\frac{अ}{ब'}=क-स$, तो $ब'=ब+\frac{ब}{\frac{क}{स}-१}$

(७) यदि $\frac{अ}{ब}=क$ और $\frac{अ}{ब'}$ दूसरा भिन्न है, तो

$\frac{अ}{ब}-\frac{अ}{ब'}=क\left[\frac{ब'-ब}{ब'}\right]$

(८) यदि $\frac{अ}{ब}=क$ और $\frac{अ}{ब-ख}=क+स$, तो

$ख=\frac{बस}{क-स}$

(९) यदि $\frac{अ}{ब}=क$ और $\frac{अ}{ब-ख}=क+स$, तो

$ख=\frac{बस}{क+स}$

(१०) यदि $\frac{अ}{ब}=क$ और $\frac{अ}{ब+स}=क'$, तो

$क'=क-\frac{कस}{ब+स}$

(११) यदि $\frac{अ}{ब}=क$ और $\frac{अ}{ब-स}=क'$, तो

$क'=क+\frac{कस}{ब-स}$

११. शून्य परिकर्माष्टककी प्रक्रियाएँ

गो. जी./पूर्व परिचय/६८/१७ अब शून्य परिकर्माष्टक लिखिए है। शून्य नाम बिन्दीका है। ताके संकलनादिक (पूर्वोक्त आठों) कहिए है। तहाँ—

संकलन	= अंक + ० = अंक	वर्ग	= $(०)^{२}$	= ०
व्यकलन	= अंक − ० = अंक	वर्गमूल	= $(०)^{\frac{१}{२}}$	= ०
गुणकार	= अंक × ० = ०	घन	= $(०)^{३}$	= ०
भागहार	= अंक ÷ ० = ∞ (अवक्तव्य)	घनमूल	= $(०)^{\frac{१}{३}}$	= ०

२. अर्द्धच्छेद या लघुरिक्थ गणित निर्देश

१. अर्द्धच्छेद आदिका सामान्य निर्देश

त्रि.सा./७६ दलवारा हौंति अद्धच्छिदी।—राशिका दलवार (अर्थात जितनी बार राशिको आधा-आधा करनेसे एक रह जाय) तितना तिस राशिका **अर्द्धच्छेद** जानना। जैसे $२^{म}$ के अर्द्धच्छेद म हैं। (गो. जी./भाषा/११८ का उपोद्घात/पृ. १०३/७)।

त्रि.सा./७५ वग्गसला रूवहिया सपदे पर सम सवग्गसलमेत्त। दुगमाहद-मच्छिदी तम्मेत्तदुगे गुणे रासी।७५। —अपनी वर्गशलाकाका जैता प्रमाण तितना दूवा मांड परस्पर गुणें अर्द्धच्छेद हौंहि। जैसे $(२)^{२म}$ के अर्द्धच्छेद $=२^{म}$।

ध.५/प्र.६ (अँगरेजीमें इसका नाम logarithm to the base २ अर्थात् $लघुरिक्थ_{२}$ हैं।) अर्द्धच्छेदका संकेत 'अछे' मान कर इसे आधुनिक पद्धतिमें इस प्रकार रख सकते सकते हैं। 'क' का अछे (या अछे 'क') $= लरि_{२}$ क। यहाँ लघुरिक्थका आधार दो है।

त्रि.सा./७६ वग्गिदवारा वग्गसला रासिस्स अद्धच्छेदस्स। अद्धिदवारा वा खलु···।७६। —राशिका जो वर्गितबार (दोयके वर्गतें लगाइ जितनी बार कीए विवक्षित राशि होइ (गो.जी./भाषा/११८ का उपोद्घात/३०३/२) तितनी **वर्गशलाका** राशि जाननी। अथवा राशिके जेते अर्द्धच्छेद हौंहि तिनि अर्द्धच्छेदनिके जेते अर्द्धच्छेद हौंहि तितनी तिस राशिकी वर्गशलाका जाननी।

ध.५/प्र.६ जैसे 'क' की वर्गशलाका—वश क—अछे अछे क— $लरि_{२}$ $लरि_{२}$ क। यहाँ भी लघुरिक्थका आधार २ है।

जितनी बार एक संख्या उत्तरोत्तर तीनसे विभाजित की जाती है उतने उस संख्याके **त्रिकच्छेद** होते हैं। जैसे—'क' के त्रिकच्छेद —त्रिछे क $—लरि_{३}$ क। यहाँ लघुरिक्थका आधार ३ है। (ध.१/१.२.५/५६)।

जितनी बार एक संख्या उत्तरोत्तर ४ से विभाजित की जा सकती है उतने उस संख्याके **चतुर्थच्छेद** होते हैं। जैसे 'क' के चतुर्थच्छेद—चछे क $—लरि_{४}$ क। यहाँ लघुरिक्थका आधार ४ है। (ध.३/१.२.५/५६)।

नोट—और इस प्रकार लघुरिक्थका आधार तीन या अधिक कितना भी रखा जा सकता है। आजकल प्रायः १० आधार वाला लघुरिक्थ व्यवहारमें आता है। इसे **कॉमन लॉग** कहते हैं। २ के आधार वाले लघुरिक्थका नाम **नैपीरियन लॉग** प्रसिद्ध है। जैनागम में इसीका प्रयोग किया गया है। क्योंकि तहाँ अर्द्धच्छेद व वर्ग-शलाका विधिका ही यत्रतत्र निर्देश मिलता है। अतः इन दोनों सम्बन्धी ही कुछ आवश्यक प्रक्रियाएँ नीचे दी जाती हैं।

२. लघुरिक्थ विषयक प्रक्रियाएँ

ध.५/प्र.६-११ (ध.३/१.२.२–५/पृष्ठ): (त्रि. सा./गा.)

(१) लरि $२^{म}$ — म { (राशिको जितनी बार आधा किया जा सके), (त्रि.सा/७६)

(२) लरि $(२)^{२^{म}}$ — $२^{म}$ (वर्गशलाका प्रमाण दूवोंका परस्पर गुणनफल (त्रि.सा./७५)

(३) २ लरि म — म (राशिके अर्द्धच्छेद (लरि म) प्रमाण दूवोंका परस्पर गुणनफल ध ५६)

(४) लरि (म×न) —लरि म+लरि न (त्रि. सा./१०५)

(५) लरि (म÷न) —लरि म—लरि न (ध. ६०; त्रि. १०६)

(६) लरि $(क^{ख})$ —ख लरि क (त्रि. सा/१०७)

(७) लरि $(क^{ख})^{२}$ —२ ख लरि क (ध २१)

(८) लरि $(क^{क})^{ख^{ख}}$ —$ख^{ख}$ लरि $क^{क}$ (ध २१)

(९) लरि लरि $(२)^{२^{म}}$ —म (त्रि. सा/७६)

(१०) लरि लरि $(क^{ख})^{२}$ —लरि (२ ख लरि क)
—लरि ख+लरि २+लरि लरि क
—लरि ख+१+लरि लरि क (ध २१)

(११) मान लो 'अ' एक संख्या है, तो—

'अ' का प्रथम वर्गित संवर्गित—$अ^{अ}$, —ब (मान लो)
„ „ द्वि „ „ —$ब^{ब}$, —भ („)
„ „ तृ „ „ —$भ^{भ}$ —म („)

धवलामें इस सम्बन्धमें निम्न परिणाम दिये हैं—
(ध.३/१.२.२/२१–२४)

(क) लरि ब —अ लरि अ (दे. ऊपर नं ६)
(ख) लरि लरि ब—लरि अ+लरि लरि अ
(ग) लरि भ —ब लरि ब
(घ)) लरि लरि भ—लरि ब+लरि लरि ब
—लरि अ+लरि लरि अ+अ लरि अ
(ङ) लरि म —भ लरि भ
(च) लरि लरि म —लरि भ+लरि लरि भ इत्यादि

(१२) लरि लरि म $<$ $ब^{२}$ (ध २४)

इस असाम्यतासे निम्न असाम्यता आती है—
ब लरि ब+लरि ब+लरि लरि ब $<$ $ब^{२}$

(१३) वर्गधारा, घनधारा और घनाघनधारा (दे. गणित/II/५/२) विषै स्वस्थानमें तो उत्तरोत्तर ऊपर-ऊपरके स्थानमें दुगुने-दुगुने अर्धच्छेद हो है और परस्थान विषै तिगुने अर्धच्छेद हो है। जैसे वर्गधाराके प्रथम स्थानकी अपेक्षा तिसहीके द्वितीय स्थानमें दुगुने अर्धच्छेद हैं, परन्तु वर्गधाराके प्रथमस्थानकी अपेक्षा घनधाराके द्वितीयस्थानमें तिगुने अर्धच्छेद हैं। (त्रि.सा/७४)

(१४) वर्गशलाका स्वस्थानविषै एक अधिक होइ परन्तु परस्थानविषै अपने समान होय है। जैसे वर्गधारा (दे. ऊपर नं० १३) के प्रथम-स्थानकी अपेक्षा तिसहीके द्वितीयस्थानमें एक अधिक वर्गशलाका होती है। परन्तु वर्गधाराके प्रथमस्थानमें और घनधाराके भी प्रथम-स्थानमें एक-एक ही होनेके कारण दोनों स्थानोंमें वर्गशलाका समान है। (त्रि. सा/७६)

(१५) व श जगश्रेणी = व श घनांगुल $\frac{\text{व श अद्धारपल्य}}{(२ \times \text{जघन्य परी. असं})}$

(व श = वर्गशलाका); (त्रि. सा/१०६)

३. अक्षसंचार गणित निर्देश

१. अक्षसंचार विषयक शब्दोंका परिचय

गो. जी./मू व जी. प्र./३५/६५ संखा तह पत्थारो परियट्टण णट्ठ तह समुद्दिट्ठं। एदे पंचपयारा पमदसमुक्कित्तणे णेया ।३५। प्रमादालापोत्पत्तिनिमित्ताक्षसंचारहेतुविशेषः संख्या. एषां न्यास. प्रस्तार:, अक्षसंचारः परिवर्तनं, संख्यां धृत्वा अक्षानयनं नष्टं, अक्षं धृत्वा संख्यानयनं समुद्दिष्टं। एते पंचप्रकाराः प्रमादसमुत्कीर्तने ज्ञेया भवन्ति। —संख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट, समुद्दिष्ट ए पाँच प्रकार प्रमादनिका व्याख्यानविषै जानना। (ऐसे ही साधुके ८४००'००० उत्तर गुण अथवा ८०,००० शीलके गुण इत्यादिमें भी सर्वत्र ये पाँच बातें जाननी योग्य हैं। यहाँ प्रमादका प्रकरण होनेसे केवल प्रमादके आधारपर कथन किया गया है।)

तहाँ प्रमादनिका आलापको कारणभूत जो अक्षसंचारके निमित्तका विशेष सो संख्या है।

बहुरि इनिका स्थापन करना सो प्रस्तार है।

बहुरि अक्षसंचार परिवर्तन है।

संख्या धर अक्षका ल्यावना नष्ट है।

अक्ष धर संख्याका ल्यावना समुद्दिष्ट है।

इहाँ भंगको कहनेको विधान सो आलाप है।

बहुरि भेद व भंगका नाम अक्ष जानना।

बहुरि एक भेद अनेक भंगनिविषै क्रमतैं पलटै ताका नाम अक्षसंचार जानना।

बहुरि जेथवाँ भंग होइ तीहिं प्रमाणका नाम संख्या जानना।

२. अक्षसंचार विधिका उदाहरण

मन वचन कायके कृत कारित अनुमोदनाके साथ क्रमसे पलटनेसे तीन-तीन भंग होते हैं। यही अक्ष संचार है। जैसे १, मनो कृत, २, मनो कारित, ३, मनो अनुमोदित।।१. वचन कृत, २. वचन कारित, ३, वचन अनुमोदित। १. काय कृत, २, काय कारित व ३. काय अनुमोदित।

या कुल ९ भंग हुए सो संख्या है। इन नौ भंगोंके नाम अक्ष है। इनकी ऊपर नीचे करके स्थापना करना सो प्रस्तार है। जैसे

मन १	वचन २	काय ३
कृत ०	कारित ३	अनुमोदित ६

मनो अनुमोदित तक आकर पुनः वचन कृतसे प्रारम्भ करना परिवर्तन है। सातवाँ भंग बताओ? 'कायकृत'; ऐसे संख्या धरकर अक्षका नाम बताना नष्ट है और वचन अनुमोदित कौन-सा भंग है? 'छठा'। इस प्रकार अक्षका नाम बताकर संख्या लाना समुद्दिष्ट है।

३. प्रमादके ३७५०० दोषोंके प्रस्तार यंत्र

१. प्रथम प्रस्तार—(प्रमादोंके भेद प्रभेद—वे वह वह नाम)

१ प्रमाण—(गो. जी./जी. प्र. व भाषा/४४/पृ. ८६-९१)

२. संकेत—अनं = अनन्तानुबन्धी; अप्र. = अप्रत्याख्यान; प्र. = प्रत्याख्यान; सं. = संज्वलन.

क्रम	कथा	कषाय	इन्द्रिय	निद्रा	प्रणय
१	स्त्री ०	अनं. क्रोध ०	स्पर्शन ०	स्त्यानगृद्धि ०	स्नेह १
२	अर्थ १५००	अनं. मान ६०	रसना १०	निद्रानिद्रा २	मोह २
३	भोजन ३०००	अनं. माया १२०	घ्राण २०	प्रचलाप्रचला ४	
४	राज ४५००	अनं. लोभ १८०	चक्षु ३०	निद्रा ६	
५	चोर ६०००	अप्र. क्रोध २४०	श्रोत्र ४०	प्रचला ८	
६	वैर ७५००	अप्र. मान ३००	मन ५०		
७	परपाखण्ड ९०००	अप्र. माया ३६०			
८	देश १०५००	अप्र. लोभ ४२०			
९	भाषा १२०००	प्र. क्रोध ४८०			
१०	गुणबन्ध १३५००	प्र. मान ५४०			
११	देवी १५०००	प्र. माया ६००			
१२	निष्ठुर १६५००	प्र. लोभ ६६०			
१३	परपैशुन्य १८०००	सं. क्रोध ७२०			
१४	कन्दर्प १९५००	सं. मान ७८०			
१५	देशकालानुचित २१०००	सं. माया ८४०			
१६	भण्ड २२५००	सं. लोभ ९००			
१७	मूर्ख २४०००	हास्य ९६०			
१८	आत्म प्रशंसा २५५००	रति १०२०			
१९	पर परिवाद २७०००	अरति १०८०			
२०	परजुगुप्सा २८५००	शोक ११४०			
२१	परपीड़ा ३००००	भय १२००			
२२	कलह ३१५००	जुगुप्सा १२६०			
२३	परिग्रह ३३०००	स्त्रीवेद १३२०			
२४	कृष्याद्यारंभ ३४५००	पुरुषवेद १३८०			
२५	संगीत वाद्य ३६०००	नपुंसकवेद १४४०			

२. द्वितीय प्रस्तार—

१	स्त्री १	अनं. क्रोध ०	स्पर्शन ०	स्त्यानगृद्धि ०	स्नेह ०
२	अर्थ २	अनं. मान २५	रसना ६२५	निद्रानिद्रा ३१२५०	मोह १८७५०
३	भोजन ३	अनं. माया ५०	घ्राण १२५०	प्रचलाप्रचला ७५००	
४	राज ४	अनं. लोभ ७५	चक्षु १८७५	निद्रा ११२५०	
५	चोर ५	अप्र. क्रोध १००	श्रोत्र २५००	प्रचला १५०००	
६	वैर ६	अप्र. मान १२५	मन ३१२५		
७	परपाखण्ड ७	अप्र. माया १५०			
८	देश ८	अप्र लोभ १७५			
९	भाषा ९	प्र क्रोध २००			
१०	गुणबन्ध १०	प्र. मान २२५			
११	देवी ११	प्र. माया २५०			
१२	निष्ठुर १२	प्र. लोभ २७५			
१३	पर पैशुन्य १३	सं. क्रोध ३००			
१४	कन्दर्प १४	सं. मान ३२५			
१५	देशकालानुचित १५	सं. माया ३५०			
१६	भंडु १६	सं. लोभ ३७५			
१७	मूर्ख १७	हास्य ४००			
१८	आत्म प्रशंसा १८	रति ४२५			
१९	परपरिवाद १९	अरति ४५०			
२०	परजुगुप्सा २०	शोक ४७५			
२१	परपीडा २१	भय ५००			
२२	कलह २२	जुगुप्सा ५२५			
२३	परिग्रह २३	स्त्री वेद ५५०			
२४	कृष्याद्यारम्भ २४	पुरुषवेद ५७५			
२५	संगीतवाद्य २५	नपुंसक वेद ६००			

४. नष्ट निकालनेकी विधि

गो.जी/जी.प्र./४४/८४/१० व भाषा/४४/९१/९का भावार्थ—जिस संख्याका नष्ट निकालना इष्ट है उसे भाज्य रूपसे ग्रहण करना और प्रमादके विकथा आदि पाँच मूल भेदोंकी अपनी-अपनी जो भेद संख्या हो सो भागहार रूपसे ग्रहण करना। यथा विकथाकी संख्या २५ है सो भागहार है। प्रणयकी संख्या २ है सो भागहार है।

विवक्षित प्रस्तारके क्रमके अनुसार ही क्रम से उपरोक्त भागहारों को ग्रहण करके भाज्यको भाग देना। जैसे प्रथम प्रस्तारकी अपेक्षा प्रणयवाला भागाहार प्रथम है और विकथावाला अन्तिम। तथा द्वितीय प्रस्तारकी अपेक्षा विकथावाला प्रथम है और प्रणयवाला अन्तिम

विवक्षित संख्याको पहिले प्रथम भागहार या प्रमादकी भेद संख्यासे भाग दें, पुनः जो लब्ध आवे उसे दूसरे भागाहारसे भाग दें, पुनः जो लब्ध आवे उसे तीसरे भागहारसे भाग दें···इत्यादि क्रमसे बराबर अन्तिम प्रस्तार तक भाग देते जायें।

द्वितीयादि बार भाग देनेसे पूर्व लब्धराशि में '१' जोड़ दें। परन्तु यदि अवशेष ० बचा हो तो कुछ न जोड़े।

प्रत्येक स्थानमें क्या अवशेष बचता है, इसपरसे ही उस प्रस्तारका विवक्षित अक्ष जाना जाता है। यदि ० बचा हो तो उस प्रस्तारका अन्तिम भेद या अक्ष जानना और यदि कोई अंक शेष बचा हो तो तेथवाँ अक्ष जानना। —दे० पहिले यन्त्र।

उदाहरणार्थ ३५०००वाँ आलाप बताओ।

१. प्रथम प्रस्तारकी अपेक्षा

नं.	प्रस्तार	भाज्य	भागहार	लब्ध	शेष	अक्ष
१	प्रणय	३५०००+०	२	१७५००	०	मोह
२	निद्रा	१७५००+०	५	३५००	०	प्रचला
३	इन्द्रिय	३५००+०	६	५८३	२	रसना
४	कषाय	५८३+१	२५	२३	९	प्र. क्रोध
५	विकथा	२३+१	२५	०	२४	कृष्याद्यारम्भ

अतः इष्ट आलाप=मोही प्रचलायुक्त रसना इन्द्रियके वशीभूत प्रत्याख्यानक्रोधवाला कृष्याद्यारंभ करता हुआ।

२. द्वितीय प्रस्तारकी अपेक्षा

नं०	प्रस्तार	भाज्य	भाजक	लब्ध	शेष	अक्ष
१	विकथा	३५०००+०	२५	१४००	०	संगीतवाद्य
२	कषाय	१४००+०	२५	५६	०	नपुं वेद
३	इन्द्रिय	५६+०	६	९	२	रसना
४	निद्रा	९+१	५	२	०	प्रचला
५	प्रणय	२+०	२	१	०	मोह

अतः—इष्ट आलाप=संगीतवाद्यालापी, नपुंसकवेदी, रसना इन्द्रियके वशीभूत, प्रचलायुक्त मोही।

५. समुद्दिष्ट निकालनेकी विधि

गो. जी./जी. प्र./४४/८४/१५ व भाषा/४४/९२/६ का भावार्थ—यन्त्रकी अपेक्षा साधना हो तो इष्ट आलापके अक्षोंके पृथक् पृथक् कोठोंमें दिये गये जो अंक उनको केवल जोड़ दीजिये। जो लब्ध आवे तेथवाँ अक्ष जानना। —दे० पूर्वोक्त यन्त्र।

गणितकी अपेक्षा साधना हो तो नष्ट प्राप्ति विधिसे उलटी विधिका ग्रहण करना। भागहारके स्थानपर गुणकार विधिको अपनाना। प्रस्तार क्रम भी उलटा ग्रहण करना। अर्थात् प्रथम प्रस्तारकी अपेक्षा विकथा पहिले है और प्रणय अन्तमें। द्वितीय प्रस्तारकी अपेक्षा प्रणय पहिले है और विकथा अन्तमें।

गुणकार विधिमें पहिले '१' का अंक स्थापो। इसे प्रथम विवक्षित प्रस्तारकी भेद संख्यासे गुणा करो। विवक्षित अक्षके आगे जितने कोठे या भंग शेष रहते हैं (दे० पूर्वोक्त यंत्र) तितने अंक लब्धमेंसे घटावें। जो शेष रहे उसे पुनः द्वितीय विवक्षित प्रस्तारकी भेद संख्यासे गुणा करें। लब्धमें से पुनः पूर्ववत् अंक घटावें। इस प्रकार अन्तिम प्रस्तार तक बराबर गुणा करना व घटाना करते जायें। अन्तमें जो लब्ध हो सो ही इष्ट अक्षकी संख्या जाननी।

उदाहरणार्थ स्नेहो निद्रा युक्त, मनके वशीभूत अनन्तानुबन्धी क्रोधवाला मूर्खकथालापीकी संख्या लानी हो तो—

यन्त्रकी अपेक्षा—प्रथम प्रस्तारके कोठोंमें दिये गये अंक निम्न प्रकार हैं (देखो पूर्वोक्त यन्त्र)—स्नेह=१; निद्रा=६; मन=५०; अनन्त-क्रोध=० मूर्खकथा=२४०००। सब अंकोंको जोड़े=२४०५७ पाया।

गणितकी अपेक्षा प्रथम प्रस्तारमें

{'१' (स्थापा)×२५ (विकथाकी संख्या)}—८
(पूर्व कथासे आगे ८ कोठे या भंग शेष है) =१७
इसी प्रकार १७×२५ (कषाय)—२४ =४०१
४०१×६ (इन्द्रिय)—० =२४०६
२४०६×५ (निद्रा)—१ =१२०२९
१२०२९×२ (प्रणय)—१ =२४०५७ वाँ अक्ष

इसी प्रकार द्वितीय प्रस्तारमें भी जानना। केवल क्रम बदल देना। पहिले प्रणयको २ संख्यासे '१' को गुणा करना, फिर निद्राकी पाँच संख्यासे इत्यादि। तहाँ (१×२)—१=१; (१×५)—१=४; (४×६)—०=२४; (२४×२५)—२४=५७६; (५७६×२५)—८=१४३९२

४. त्रैराशिक व संयोगी भंग गणित निर्देश

१. द्वि त्रि आदि संयोगी भंग प्राप्ति विधि

गो. क./जी. प्र/७९९/९७७ का भावार्थ—जहाँ प्रत्येक द्विसंयोगी त्रिसंयोगी इत्यादि भेद करने होंहि तहाँ विवक्षितका जो प्रमाण होहि तिस प्रमाणतैं लगाय एक एक घटता एक अंक पर्यंत अनुक्रमतै लिखने, सो ए तौ भाज्य भए। अर तिनिके नीचै एक आदि एक एक बँधता तिस प्रमाणका अंक पर्यंत अंक क्रमतैं लिखने, सो ए भागहार भए। सो भाज्यनिकौं अंश कहिए भागहारनिकौं हार कहिए। क्रमतैं पूर्व अंशनिकरि अगले अंशकौं और पूर्व हारनिकरि अगले हारकौं गुणि (अर्थात् पूर्वोक्त सर्व अंशोंको परस्पर तथा हारोंको परस्पर गुणा करनेसे उन उनका जो जो प्रमाण आवै) जो जो अंशनिका प्रमाण होइ ताकौं हार प्रमाणका भाग दीए जो जो प्रमाण आवै तितने तितने तहाँ भंग जानने।

उदाहरणार्थ—(षट्काय जीवोंकी हिंसाके प्रकरणमें किसी जीवको एक कालमें किसी एक कायकी हिंसा होती है, किसीको एक कालमें दो कायकी हिंसा होती है। किसीको ३ की…इत्यादि। वहाँ एक द्वि त्रि आदि संयोगी भंग निम्न प्रकार निकाले जा सकते हैं।

भाज्य या अंश	६	५	४	३	२	१
भाजक या हार	१	२	३	४	५	६

एक संयो० $=\frac{\text{अंश नं. १}}{\text{हार नं. १}} = \frac{६}{१} = ६$

द्वि० संयोगी $=\frac{\text{अंश नं १×२}}{\text{हार नं १×२}} = \frac{६×५}{१×२} = १५$

त्रि० संयोगी $=\frac{\text{अंश नं १×२×३}}{\text{हार नं १×२×३}} = \frac{६×५×४}{१×२×३} = २०$

चतु० संयोगी $=\frac{\text{अंश नं १×२×३×४}}{\text{हार नं १×२×३×४}} = \frac{६×५×४×३}{१×२×३×४} = १५$

पंच संयोगी $=\frac{\text{अंश नं १×२×३×४×५}}{\text{हार नं १×२×३×४×५}} = \frac{६×५×४×३×२}{१×२×३×४×५} = ६$

छः संयोगी $=\frac{\text{अंश नं. १×२×३×४×५×६}}{\text{हार नं. १×२×३×४×५×६}} = \frac{६×५×४×३×२×१}{१×२×३×४×५×६} = १$

कुल भंग $= ६+१५+२०+१५+६+१ = ६३$

२. त्रैराशिक गणित विधि

गो. जी./पूर्व परिचय/पृ. ७०/१३ त्रैराशिकका जहाँ तहाँ प्रयोजन जान स्वरूप मात्र कहिए है। तहाँ तीन राशि हो हैं—प्रमाण, फल व इच्छा। तहाँ तिस विवक्षित प्रमाणकरि जो फल प्राप्त होइ सो प्रमाण राशि व फल राशि जाननी। बहुरि अपना इच्छित प्रमाण होइ सो इच्छाराशि जाननी।

तहाँ फलकौं इच्छाकरि गुणि प्रमाणका भाग दीए अपना इच्छित प्रमाणकरि जो फल ताका प्रमाण आवै है। इसका नाम लब्ध है। इहाँ प्रमाण और इच्छाकी एक जाति जाननी। बहुरि फल और लब्धकी एक जाति जाननी।

उदाहरणार्थ—पाँच रुपयाका सात मण अन्न आवै तौ सात रुपयाका केता अन्न आवै ऐसा त्रैराशिक कीया। इहाँ प्रमाण राशि ५ (रुपया) फल राशि ७ (मण) है, इच्छा राशि ७ (रुपया) है। तहाँ फलकरि इच्छाकौ गुणि प्रमाणका भाग दीए $\frac{७×७}{५} = \frac{४९}{५}$ ९$\frac{४}{५}$ मन मात्र लब्धराशि भया।—अर्थात् $\frac{\text{फल×इच्छा}}{\text{प्रमाण}} = \text{लब्ध}$

(ध./३/१.२,६/९९ तथा १,२,१४/१००).

५. श्रेणी व्यवहारगणित सामान्य

१. श्रेणी व्यवहार परिचय

संकलन व्यकलन आदि पूर्वोक्त आठ बातोंका प्रयोग दो-चार राशियों तक सीमित न रखकर धाराबाही रूपसे करना श्रेणी व्यवहार गणित कहलाता है। अर्थात् समान वृद्धि या हानिको लिये अनेकों अंकों या राशियोंकी एक लम्बी अटूट धारा यो श्रेणीमें यह गणित काम आता है। यह दो प्रकारका है—संकलन व्यवहार श्रेणी (Arithematical Progression) और गुणन व्यवहार श्रेणी (Geometrical Progression)।

तहाँ प्रथम विधिमें १,२,३,४…∞ इस प्रकार एकवृद्धि क्रमवाली, या २,४,६,८…∞ इस प्रकार दोवृद्धि क्रमवाली, या इसी प्रकार ३,४,५ संख्यात, असंख्यात व अनन्त वृद्धि क्रमवाली धाराओंका ग्रहण किया जाता है, जो सर्वधारा, समधारा आदि अनेकों भेदरूप हैं। द्वितीय विधिमें १,२,४,८…∞ इस प्रकार दोगुणकारवाली, या १,३, ९,२७…∞ इस प्रकार तीनगुणकारवाली, या इसी प्रकार ४,५,६, संख्यात, असंख्यात व अनन्त गुणकार वृद्धि क्रमवाली धाराओंका ग्रहण किया जाता है, जो कृतिधारा, घनधारा आदि अनेक भेदरूप है। इन सब धाराओंका परिचय इस अधिकारमें दिया जायेगा।

समान-वृद्धि क्रमवाली ये धाराएँ कहींसे भी प्रारम्भ होकर तत्पश्चात् नियमित समान-वृद्धि क्रमसे कहीं तक भी जा सकती हैं। उस धारा या श्रेणीके सर्व स्थानोंमें ग्रहण किये गये अंकों या राशियोंका संकलन या गुणनफल 'सर्वधन' कहलाता है। उसके सर्व स्थान 'गच्छ', तथा समान वृद्धि 'चय' कहलाता है। इन 'सर्वधन' आदि सैद्धान्तिक शब्दोंका भी परिचय इस अधिकारमें आगे दिया जायेगा।

दो-चार अंकों या राशियोंका संकलन या गुणन तो सामान्य विधिसे भी किया जाना सम्भव है, परन्तु पचास, सौ, संख्यात, असंख्यात व अनन्त राशियोंवाली अटूट श्रेणियोंका संकलन आदि सामान्य विधिसे किया जाना सम्भव नहीं है। तिसके लिए जिन विशेष प्रक्रियाओंका प्रयोग किया जाता है, उनका परिचय भी इस अधिकारमें आगे दिया जानेवाला है।

२. सर्वधारा आदि श्रेणियोंका परिचय

त्रि. सा./मू./५३–९१ धारेत्थ सव्वसमकिदिघणमाउगहदरवेकदोविंदं। तस्स घणाघणमादी अंतं ठाणं च सव्वत्थ ॥५३॥ =चौदह धाराएँ हैं—

१. सर्वधारा, २. समधारा, ३. विषमधारा, ४. कृतिधारा, ५. अकृतिधारा, ६. घनधारा, ७. अघनधारा, ८. कृतिमातृकधारा, ९. अकृतिमातृकधारा, १०. घनमातृकधारा, ११. अघनमातृकधारा, १२. द्विरूपवर्गधारा, १३. द्विरूपघनधारा, १४. द्विरूपघनाघनधारा। इनके आदि अर अंत स्थानभेद हैं ते सर्वत्र धारानि विषै कहिए है। (गो. जी./भाषा/२१८ का उपोद्घात पृ. २९९/१०)।

संकेत – α – केवलज्ञानप्रमाण उ. अनन्तानन्त।

क्रम	धाराका नाम	विशेषता	कुलस्थान
१	सर्वधारा	१,२,३,४………………………α	α
२	समधारा	२,४,६,८………………………α	$\alpha/२$
३	विषमधारा	१,३,५,७………………………α	$\alpha/२$
४	कृतिधारा	१,४,९,१६ ($१^२, २^२, ३^२, ४^२$)… $(\alpha^{\frac{१}{२}})^२$	$\alpha^{\frac{१}{२}}$
५	अकृतिधारा	कृतिधाराकी राशियोंसे हीन सर्वधारा अर्थात् ×,२,३,×,५,६,७,८×,१०………α	$\alpha^{\frac{१}{२}}$
६	घनधारा	१,८,२७ ($१^३, २^३, ३^३$) $(\alpha^{\frac{१}{३}})^३$	$\alpha^{\frac{१}{३}}$
७	अघनधारा	घनधाराकी राशियोंसे हीन सर्वधारा अर्थात् ×,२,३,४,५,६,७,×,९,१० …… …α	α-$\alpha^{\frac{१}{३}}$
८	कृतिमातृक धारा	१,२,३ $\{(१^२)^{\frac{१}{२}}, (२^२)^{\frac{१}{२}}, (३^२)^{\frac{१}{२}}\}$……$\alpha^{\frac{१}{२}}$	$\alpha^{\frac{१}{२}}$
९	अकृतिमातृक धारा	$\alpha^{\frac{१}{२}}+१, \alpha^{\frac{१}{२}}+२, \alpha^{\frac{१}{२}}+३$……$\alpha$ (कृतिमातृकसे आगे जितने स्थान α तक शेष रहे वे सर्व)	α-$\alpha^{\frac{१}{२}}$
१०	घन मातृक धारा	१,२,३, $\{(१^३)^{\frac{१}{३}}; (२^३)^{\frac{१}{३}}; (३^३)^{\frac{१}{३}}\}$……$\alpha^{\frac{१}{३}}$	$\alpha^{\frac{१}{३}}$
११	अघन मातृक धारा	घनमातृकसे आगे जितने स्थान α तक शेष रहे वे सर्व अर्थात् $\alpha^{\frac{१}{३}}+१, \alpha^{\frac{१}{३}}+२, \alpha^{\frac{१}{३}}+३$……… . α	α-$\alpha^{\frac{१}{३}}$
१२	द्विरूप वर्ग धारा	$२^२, २^{२×२}, २^{२×२×२}$….२ लरि लरि α	लरि लरि α
१३	द्विरूप घन-धारा	$२^३, २^{२×३}, २^{२×२×३}$……… या $२^{२+१}, २^{२×२+२}, २^{२×२×२+४}, २^{२×२×२×२+८}$ …..२ लरि लरि α	लरि लरि (लरि α)
१४	द्विरूपघना-घनधारा	$(२^६)^२, (२^६)^{२×२}, (२^६)^{२×२×२}$…..	लरि लरि- α-४
१५	अर्धच्छेद-राशि	–२,४,८,१६,३२,६४……१६.	लरि α
१६	वर्गशलाका राशि	–४,१६,२५६, पणट्ठी……α	लरि लरि α

३. सर्वधन आदि शब्दोंका परिचय

गो. जी./भाषा/४९/१२१

संकलन व्यव-हारकी श्रेणी	–४+८+१२+१६+२०+२४+२८+३२=१४४
गुणन व्यव-हारकी श्रेणी	–४+१६+६४+१२८+२५६+५१२+१०२४+, २०४८=४०५२।
स्थान	–प्रथम अंकसे लेकर अन्तिम तक पृथक्-पृथक् अंकोंका अपना-अपना स्थान।
पदधन या सर्वधन	–विवक्षित सर्व स्थानकनि सम्बन्धी सर्व द्रव्य जोड़नेसे जो प्रमाण आवे। जैसे उपरोक्त श्रेणियों-में–१४४, ४०५२।
पद, गच्छ स्थान	–स्थानकनिका प्रमाण। यथा उपरोक्त श्रेणियोंमें ८ (स्थान)
मुख, आदि, प्रथम	–आदि स्थानविषै जो प्रमाण होइ। जैसे उपरोक्त श्रेणियोंमें ४।
भूमि या अन्त	–अन्त स्थानविषै जो प्रमाण होइ। जैसे उपरोक्त श्रेणियोंमें ३२,२०४८।
मध्यधन	–सर्व स्थानकनिके बीचका स्थान। जहाँ स्थानकनिका प्रमाण सम होइ तहाँ बीचके दोय स्थानकनिका द्रव्य जोड़ आधा कीए जो प्रमाण आवे तितना मध्य धन है। जैसे उपरोक्त श्रेणी नं. १ में $\frac{१६+२०}{२}=१८$
आदिधन	–जितना मुखका प्रमाण होइ तितना तितना सर्व स्थानकनिका ग्रहण करि जोड़ जो प्रमाण होई। जैसे ऊपरोक्त श्रेणी नं. १ में (४×८)=३२।
उत्तर, चय वृद्धि, विशेष	–स्थान-स्थान प्रति जितना-जितना बधै। जैसे उपरोक्त श्रेणी नं. १ में ४।
उत्तरधन या चयधन	–सर्व स्थानकनिविषै जो-जो चय बधै उन सब चयोंको जोड़ जो प्रमाण होइ। जैसे उपरोक्त श्रेणी नं. १ में १४४–३२=११२।

मध्य चयधन=बीचके स्थानपर प्रथम स्थानकी अपेक्षा वृद्धि। या मध्यमधन जैसे उपरोक्त श्रेणी नं. १ में मध्यधन १८ है। (ज.प/१२/४८) तहाँ प्रथमकी अपेक्षा १४ की वृद्धि है।

४. संकलन व्यवहार श्रेणी (Arithematical Progression) सम्बन्धी प्रक्रियाएँ

(त्रि.सा/गा.नं); (गो जी/भाषा/४९/१२१–१२४ उद्धृतसूत्र)

१. सर्वधन निकालो

(i) यदि आदिधन और उत्तरधन दिया हो तो—

आदिधन+उत्तरधन =सर्वधन

(ii) यदि मध्यधन और गच्छ दिया हो तो—

मध्यधन×गच्छ =सर्वधन

(iii) यदि मुख, गच्छ और चय दिया हो तो—
"पदमेगेण विहीणं दुभाजिदं उत्तरेण संगुणिदं।
पभवजुदं पदगुणिदं पदगुणिदं तं विजाणीहि (त्रि. सा/१६४)।

$$\left[\left\{\frac{\text{गच्छ}-१}{२}\times\text{चय}\right\}+\text{मुख}\right]\times\text{गच्छ}=\text{सर्वधन}$$

(iv) यदि मुख भूमि और गच्छ दिया हो तो—
"मुखभूमिजोगदले पदगुणिदे पदधनं होदि" (त्रि. सा/१६३)

$$\frac{\text{मुख}+\text{भूमि}}{२}\times\text{गच्छ}=\text{सर्वधन}$$

(सर्वधन $=S_n$; गच्छ $=n$; मुख $=T_1$; भूमि $=T_n$; चय $=d$)

तो $S_n=T_1+(T_1+d)+(T_1+2d)+(T_1+3d)+$
$\cdots(T_n-3d)+(T_n-2d)+(T_n-d)+T_n$

$2S_n=\overline{T_1+T_n}+\overline{T_1+T_n}+\overline{T_1+T_n}+\overline{T_1+T_n}$
$\cdots\cdots\overline{T_1+T_n}+\overline{T_1+T_n}+\overline{T_1+T_n}+\overline{T_1+T_n}$
$=n(T_1+T_n)$.

$$S_n=\frac{T_1+T_n}{२}n=\frac{\text{मुख}+\text{भूमि}}{२}\times\text{गच्छ}।$$

(१) गच्छ निकालो

(i) यदि मुख भूमि और चय दिया हो तो
"आदी अंते सुद्धे वड्ढिहिदे इगिजुदे ठाणा। (त्रि.सा/५७)"

$$\frac{\text{भूमि}-\text{मुख}}{\text{चय}}+१=\frac{T_n-T_1}{d}+1=\text{गच्छ }(n)$$

(२) चय निकालो

(i) यदि गच्छ और सर्वधन दिया हो तो
"पदकदिसंखेण भाजियं पचयं।" (गो.जी./भाषा/४६/१२३)

$$\frac{\text{सर्वधन}}{\text{गच्छ}^२}\div\text{संख्यात}=\text{चय }(d)$$

(ii) यदि सर्वधन, आदिधन व गच्छ दिया हो तो
"आदिधनोन गुणितं पदोनपदकृतिदलेन सभाजतं पचयं (गो. जी./भाषा/४६/१२३)

$$(\text{सर्वधन}-\text{आदिधन})\div\frac{\text{गच्छ}^२-\text{गच्छ}}{२}=\text{चय }(d)$$

(सर्वधन $=Sn$; मुख $=T_1$; भूमि $=T_n$; गच्छ $=n$; चय $=d$

$$S_n=\frac{T_1+T_n}{2}\times n=\frac{n\{T_1+T_1+d(n-1)\}}{2}$$

$$=\frac{n.2T_1+n(n-1)d}{2}$$

$$=\frac{2nT_1+(n^2-n)d}{2}\qquad\therefore\frac{2(S_n-nT_1)}{n^2-n/2}=d$$

(iii) यदि सर्वधन, मुख व गच्छ दिया हो तो—

$$\left\{\frac{\text{सर्वधन}}{\text{गच्छ}}-\text{मुख}\right\}\div\frac{\text{गच्छ}-१}{2}=\text{चय}$$

$$\left(\frac{S_n}{n}-T_1\right)\div\frac{n-1}{2}=d$$

(४) मुख या आदि निकालो

यदि सर्वधन, उत्तरधन व गच्छ दिया हो तो
(i) वेगपदं चयगुणिदं भूमिम्हि रिणधणं चकए। (त्रि.सा./१६३)।
भूमि − चय (गच्छ − १) $=T_n-d(n-1)$ = मुख

$$\text{(ii)}\quad\frac{\text{सर्वधन}-\text{उत्तरधन}}{\text{गच्छ}}=\frac{S_n-\left(\frac{n-1}{2}.nd\right)}{n}=\text{गच्छ}$$

(गो.जी./भाषा/४६/१२२/६)।

(५) अन्त या भूमि निकालो

(i) यदि गच्छ, चय, व मुख दिया हो तो—
व्येकं पदं चयाभ्यस्तं तदादिसहितं अंतधनं (गो.जी./भाषा/४६/१२२)

(गच्छ − १) चय + मुख $=T_1+d(n-1)$ = भूमि

(६) उत्तरधन निकालो

(i) यदि गच्छ व चय दिया हो तो—
व्येकपदार्धघ्नचयगुणो गच्छ उत्तरधनं। (गो.जी./भाषा/४६/१२३)

$$\frac{\text{गच्छ}-१}{२}\times\text{चय}\times\text{गच्छ}=\frac{n-1}{2}.nd=\text{चयधन}।$$

(ii) यदि गच्छ, चय व मुख दिया हो तो—
पदमेगेण विहीणं दुभाजिदं उत्तरेण संगुणिदं।
पभवजुदं पदगुणिदं पदगुणिदं होदि सव्वत्थ।
(गो.क./भाषा/६०४/१०८१)

$$\left\{\frac{(\text{गच्छ}-१)\times\text{चय}}{२}+\text{चय}\right\}\times\text{गच्छ}=\text{उत्तरधन}$$

(७) आदिधन निकालो

यदि गच्छ व मुख दिया हो तो—
(i) पदहतमुखमादिधनं। (गो.जी./भाषा/४६/१२२)
मुख×गच्छ = आदिधन

५. गुणन व्यवहार श्रेणी (Geometrical Progression) सम्बन्धी प्रक्रियाएँ

(१) गुणकाररूप सर्वधन निकालो

अंतधणं गुणगुणियं आदिविहीणं रुऊणुत्तरपदभजियं = गुणकारकरतां अंतविषै जो प्रमाण होइ ताकौ जितनेका गुणकार होइ ताकरि गुणिए, तिस विषै पहिले जितना प्रमाण होइ सो घटाइए। जो प्रमाण होइ ताको एकघाटि गुणकारका भाग दीजिये। यो करता जो प्रमाण होइ सो ही गुणकार रूप सर्व स्थाननिका जोड़ जानना।

$$T_n=T_1\times r^{n-1}$$

$$S_n=\frac{T_1(1-r^n)}{1-r}\text{ or }\frac{T_1(n^n-1)}{r-1}\text{। यथा—}$$

$S_n=a+ar+ar^2+ar^3\cdots ar^{n-1}$

$r.S_n=ar+ar^2+ar^3+ar^4\cdots ar^{n-1}+a$

$S_n-r.S_n=a-ar^n$

$S_n(1-r)=a(1-r^n)$

$$S_n=\frac{a(1-r^n)}{1-r}=\frac{T_1(1-r^n)}{1-r}$$

Where $a=T_1$ = मुख; r = गुणाकार

४. मिश्रित श्रेणी व्यवहारकी प्रक्रियाएँ

जैसे $a+(a+d)r+(a+2d)r^2 \cdots$

$$\{a+(n-1)d\}\ r^{n-1}$$

$$T_n = (A_r . T_n)\ r^{n-1}$$

७. द्वीप समुद्रोंमें चन्द्र-सूर्यादिका प्रमाण निकालनेकी प्रक्रिया

ज.प./१२/१४-६१ मध्य लोकमें एक द्वीप व एक सागरके क्रमसे जम्बूद्वीप व लवणसागरसे लेकर स्वयंभूरमण द्वीप व स्वयंभूरमण सागर पर्यंत असंख्यात द्वीप सागर स्थित है। अगला अगला द्वीप या सागर पिछले पिछलेकी अपेक्षा दूने दूने विस्तारवाला है।

तहाँ प्रथम ही अढ़ाई द्वीपके पाँच स्थानोंमें तो २,४,१२,४२ व ७२ चन्द्र व इतने ही सूर्य हैं। इससे आगे अर्थात् मानुषोत्तर पर्वतके परभागमें स्वयंभूरमण सागर पर्यंत प्रत्येक द्वीप व सागरमें चन्द्र व सूर्योंके अनेकों अनेकों वलय हैं। प्रत्येक वलयमें अनेकों चन्द्र व सूर्य हैं। सर्वत्र सूर्योंकी संख्या चन्द्रोंके समान है।

तहाँ आदि स्थान अर्थात् पुष्करार्ध द्वीपमें आधा द्वीप होनेके कारण १६ के आधे ८ वलय हैं परन्तु इससे आगे अन्त पर्यंत १६ के दुगुने, चौगुने आदि क्रमसे वृद्धि गत होते गये हैं। अर्थात् पूर्वोक्त श्रेणी नं०२ (देखो गणित II/५/३) के अनुसार गुणन क्रमसे वृद्धिगत है। यहाँ गुणकार २ है।

तहाँ भी प्रत्येक द्वीप या सागरके प्रथम वलयमें अपनेसे पूर्व द्वीप या सागरके प्रथम वलयसे दूने दूने चन्द्र होते हैं। तत्पश्चात् उसीके अन्तिम वलय पर्यंत ४ चयरूप वृद्धि क्रमसे वृद्धिगत होते गये हैं। तिनका प्रमाण निकालने सम्बन्धी प्रक्रियाएँ—

पुष्करार्ध द्वीपके ८ वलयोंके कुल चन्द्र तो क्योंकि १४४, १४८, १५२ ''इस प्रकार केवल संकलन व्यवहार श्रेढीके अनुसार वृद्धिगत हुए हैं अतः तहाँ उसी सम्बन्धी प्रक्रियाका प्रयोग किया गया है; अर्थात्—

$$\text{सर्वधन} = \left[\left\{\frac{\text{गच्छ}-१}{२}\times \text{चय}\right\} + \text{मुख}\right]\times \text{गच्छ}$$

$$= \left[\left\{\frac{८-१}{२}\times ४\right\} + १४४\right]\times ८ = १२६४$$

परन्तु शेष द्वीप समुद्रोंमें आदि (मुख) व गच्छ उत्तरोत्तर दुगुने दुगुने होते हैं और चय सर्वत्र चार हैं। इस प्रकार संकलन व्यवहार और श्रेणी व्यवहार दोनोंका प्रयोग किया गया है। (विशेष देखो वहाँ ही अर्थात् ग्रन्थमें ही)

६. गुणहानि रूप श्रेणीव्यवहार निर्देश

१. गुणहानि सामान्य व गुणहानि आयाम निर्देश

ध ६/१,९-६ ६/१५१/१० पढमणिसेओ अवट्ठिदहाणीए जेत्तियमद्धाणं गंतूण अद्धं होदि तमद्धाणं गुणहाणि त्ति उच्चदि। =प्रथम निषेक अवस्थित हानिसे जितनी दूर जाकर आधा होता है उस अध्वान (अन्तराल या कालको) 'गुणहानि' कहते हैं।

गो.जी./भाषा/२५१/५२९ पूर्व पूर्व गुणहानितैं उत्तर उत्तर गुणहानिविषै गुणहानिका वा निषेकनिका द्रव्य दूणा दूणा घटता होइ है, तातैं गुणहानि नाम जानना। '' गुणहानि यथायोग्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। अपने अपने योग्य अन्तर्मुहूर्तके जेते समय होंइ तितना गुणहानिका आयाम जानना। यथा—

गुणहानि आयाम	गुणहानि नं०					
	१	२	३	४	५	६
समय						
१	५१२	२५६	१२८	६४	३२	१६
२	४८०	२४०	१२०	६०	३०	१५
३	४४८	२२४	११२	५६	२८	१४
४	४१६	२०८	१०४	५२	२६	१३
५	३८४	१९२	९६	४८	२४	१२
६	३५२	१७६	८८	४४	२२	१
७	३२०	१६०	८०	४०	२०	१०
८	२८८	१४४	७२	३६	१८	९
सर्वद्रव्य	३२००	१६००	८००	४००	२००	१००
चय	३२	१६	८	४	२	१

(ध.६/१,९-६,६/१५४); (गो.जी./भाषा/५९/१५८)

२. गुणहानि सिद्धान्त विषयक शब्दोंका परिचय

प्रमाण—१. (गो.जी./भाषा/५९/१५५/१२); २. (गो.क./भाषा/९२२/११०५); ३. (गो.क./भाषा/९५५/११८१); ४. (गो.क./भाषा/९०५-९०६/१०८२); ५. (ल.सा./जी.प्र./४३/७७)।

प्रमाण नं०

१. **प्रथम गुणहानि**—अपनी अपनी द्वितीयादि वर्गणाके वर्गविषैं अपनी अपनी प्रथम वर्गणाके वर्गतैं एक एक अविभागप्रतिच्छेद बंधता अनुक्रमैं जानना। ऐसे स्पर्धकनिके समूहका नाम प्रथम-गुणहानि है।

१. **द्वितीय गुणहानि**—इस प्रथम गुणहानिके प्रथम वर्गविषै जेता परमाणु रूप पाइये है तिनितैं एक एक चय प्रमाण घटते द्वितीयादि वर्गणानिविषै वर्ग जानने। ऐसे क्रमतैं जहाँ प्रथम गुणहानिका प्रथम वर्गणाके वर्गनितैं आधा जिस वर्गणाविषैं वर्ग होइ तहाँतै दूसरी गुणहानिका प्रारम्भ भया। तहाँ-द्रव्य चय आदिका प्रमाण आधा आधा जानना।

१. **नाना गुहानि**—इस क्रमतैं जेती गुणहानि सर्व कर्म परमाणूनिविषै पाइए तिनिके समूहका नाम नाना गुणहानि है। (जैसे उपरोक्त यंत्रमें नाना गुणहानि छह है।)।

१. **गुणहानि आयाम**—एक गुणहानिविषै अनंत वर्गणा पाइये (अथवा जितना द्रव्य या काल एक गुणहानिविषै पाइए) सो गुणहानि आयाम जानना।

१. **दो गुणहानि**—याकौं (गुणहानि आयामकौं) दूना कीए जो प्रमाण होइ सो दो गुणहानि है।

* **ड्योढ़गुणहानि वा द्व्यर्धगुणहानि**—(गुणहानि आयामको ड्योढ़ा कीए जो प्रमाण होइ)।

१ **अन्योन्याभ्यस्त राशि**—नानागुणहानि प्रमाण दुवे मांडि परस्पर गुणें जो प्रमाण होइ सो अन्योन्याभ्यस्त राशि है।

२ **निषेकहार**—निषेकच्छेद कहिए दो गुणहानि।

५ **अनुकृष्टि**-प्रतिसमयपरिणामखण्डानि—प्रति समय परिणामोंमें जो खण्ड उपलब्ध होते हैं वे अनुकृष्टि कहलाते हैं (अर्थात् मुख्य गुण हानिके प्रत्येक समयके अन्तर्गत इनको पृथक् पृथक् उत्तर गुण-हानि रूप रचना होती है)। (दे० करण/४/३)।

प्रमाण नं०

* तिर्यक् गच्छ—नाना गुणहानियोंका प्रमाण।
* ऊर्ध्वगच्छ—गुणहानि आयाममें समयों या वर्गणाओं आदिका प्रमाण।
* अनुकृष्टि गच्छ—ऊर्ध्व गच्छ ÷ संख्यात।
* ऊर्ध्वचय—ऊर्ध्व गच्छमें अर्थात् मूल गुणहानिमें चय।
* अनुकृष्टि चय—ऊर्ध्वचय ÷ अनुकृष्टि गच्छ विवक्षित सर्वधन—गुणहानिका कोई एक विवक्षित समय सम्बन्धी द्रव्य।

६. गुणहानि सिद्धान्त विषयक प्रक्रियाएँ

(१) अन्तिम गुणहानिका द्रव्य

गो. क/भाषा/६५२/११७३ से उद्धृत—रूऊणण्णोण्णब्भत्थहिददव्वं।
सर्व द्रव्य ÷ (अन्योन्याभ्यस्त राशि–१)

(२) प्रथम गुणहानिका द्रव्य

गो क/भाषा/६५२/११७३/१०
अन्त गुणहानिका द्रव्य×(अन्योन्याभ्यस्त ÷ २)।

(३) प्रथम गुणहानिकी प्रथम वर्गणाका द्रव्य

गो. जी./भाषा/५६/१५६/११ दिवड्ढ गुणहाणिभाजिदे पढमा।
सर्वद्रव्य ÷ साधिक ड्योढ़ गुणहानि।
गो. क./भाषा/१५६/१४/११ पचयं तं दो गुणहाणिणा गुणिदे आदि णिसेयं तत्तो विसेसहीणकमं। चय×दो गुणहानि।

(४) विवक्षित गुणहानिका चय

(i) यदि अन्तिम या प्रथम निषेक तथा गुणहानि आयाम दिया हो तो
अन्तिम वर्गणाका द्रव्य ÷ दो गुणहानि (या निषेकहार)
(गो. जी/भाषा/५६/१५६/१३)।
अथवा—प्रथम निषेक ÷ (गुणहानि आयाम+१)
(गो. जी./भाषा/६५१/११६३/७)
(ii) यदि सर्वद्रव्य या मध्यधन व गुणहानि आयाम (गच्छ) दिया हो तो

गो. क./भाषा/१६६/१६४/१० तं रूऊणद्धाणद्धेण ऊणेण णिसेयभागहारेण मज्झिमधणमवहरिदे पचयं।

मध्यधन ÷ $\left\{ \text{दो गुणहानि} - \dfrac{\text{गुणहानि आयाम}-१}{२} \right\}$

(गो. क./भाषा/६५३/११७३/१६); (ल० सा./जी. प्र./७२/१०६)।
(गो. क/भाषा/६३०/११२३/११)।
नोट—मध्यधनके लिए देखो नीचे

(५) विवक्षित गुणहानिका मध्यधन

गो. क./भाषा/१५६/१६४/१० अद्धाणेण सव्वधणे खंडिदे-मज्झिमधण-मागच्छदि।—विवक्षित गुणहानिका सर्वद्रव्य ÷ गुणहानि आयाम।

(६) अनुकृष्टि चय

गो. क/भाषा/६५५/११८६/४ विवक्षित गुणहानिका ऊर्ध्वचय ÷ अनुकृष्टि गच्छ।

(७) अनुकृष्टिके प्रथम खण्डका द्रव्य

गो. क./भाषा/६५५/११८१/१४ तथा ११८२/१ (विवक्षित गुणहानिका सर्वद्रव्य—उसही का आदिधन ÷ अनुकृष्टि गच्छ)।

४. कर्म स्थितिकी अन्योन्याभ्यस्त राशियाँ

गो. क./मू./९३७-९३६/११३७ इट्ठसलायपमाणे दुगसंवग्गे कदे दु इट्ठस्स। पयडिस्स य अण्णोण्णाभत्थपमाणं हवे णियमा।—अपनी अपनी इष्टशलाका प्रमाण दूवे मांडि परस्पर गुणै अपनी इष्ट प्रकृतिका अन्योन्याभ्यस्त राशिका प्रमाण हो है।९३७।

नं०	प्रकृति	उत्कृष्ट स्थिति	अन्योन्याभ्यस्त राशि
१	ज्ञानावरण	३०-को-को-सा	पल्य$^{\frac{१}{४}}$ × (पल्य$^{\frac{१}{६}}$) असंख्यात
२	दर्शनावरण	,,	,,
३	वेदनीय	,,	,,
४	मोहनीय	७० को को सा.	$_{२}$(पल्य-छरि छरि पल्य)
५	आयु	३३ सागर	त्रैराशिक विधिसे मोहनीयवत्
६	नाम	२० को को सा	पल्य$^{\frac{१}{४}}$ ×असंख्यात
७	गोत्र	,,	,,
८	अन्तराय	३० को को सा	ज्ञानावरणवत्

७. क्षेत्रफल आदि निर्देश

१. चतुरस्र सम्बन्धी

क्षेत्रफल = लम्बाई×चौड़ाई
परिधि = (लम्बाई+चौड़ाई)×२
घन फल = लम्बाई×चौड़ाई×ऊँचाई

२. वृत्त (circle) सम्बन्धी

(१) बादर परिधि = ३ व्यास अर्थात् ३ dia (त्रि.सा./३११)

(२) सूक्ष्म परिधि = $(\text{व्यास}^{२}\times १०)^{\frac{१}{२}}$ अर्थात् २π r

(त्रि. सा./९६); (ज.प./१/२३;४/३४); (ति.प./१/११७)

(३) बादर या सूक्ष्म क्षेत्र फल =

बादर या सूक्ष्म परिधि×$\dfrac{\text{व्यास}}{४}$ अर्थात् π $r^{२}$

(ति. प./१/११७); (ज. प./१/२४,४/३४); (त्रि.सा/९६, ३११)

(४) वृत्त विष्कम्भ या व्यास (diameter)

(i) $\dfrac{४\,\text{बाण}^{२} + \text{जीवा}^{२}}{४\,\text{बाण}}$ या
(त्रि. सा/७६१,७६३) (ज. प/६/७).

(ii) बाण + $\dfrac{\text{जीवा}^{२}}{४\,\text{बाण}}$ या (ज. प./६/१२)

(iii) $\dfrac{(\text{धनुष पृष्ठ}^{२} \div \text{बाण}) - \text{बाण}}{२}$ (त्रि. सा/७६९).

३. धनुष (arc) सम्बन्धी

(१) जीवा (chord)–

(i) $\sqrt{(\text{व्यास}-\text{बाण})\ ४\ \text{बाण}}$

(ज. प./६/६)

(ii) $(\text{धनुष पृष्ठ}^२ - ६\ \text{बाण}^२)^{\frac{१}{२}}$ (त्रि. सा/७६६)

(२) बाण (depth of the arc)

(i) $\left\{(\text{धनुष पृष्ठ}^२ - \text{जीवा}^२) \div ६\right\}^{\frac{१}{२}}$
(त्रि. सा/७६३).

(ii) $\dfrac{\text{व्यास} - \left(\text{व्यास}^२ - \text{जीवा}^२\right)^{\frac{१}{२}}}{२}$

(त्रि. सा/७६४); (ज. प./६/११)

(iii) $\left[\text{व्यास}^२ + \left\{\dfrac{\text{धनुष पृष्ठ}^२}{२}\right\}\right]^{\frac{१}{२}} - \text{व्यास}$

(त्रि सा/७६५) ।

(३) धनुष पृष्ठ (arc)

(i) $\left\{\left(\text{व्यास} + \dfrac{\text{बाण}}{२}\right) ४\ \text{बाण}\right\}^{\frac{१}{२}}$ (त्रि. सा/७६६)

(ii) $(६\ \text{बाण}^२ + \text{जीवा}^२)^{\frac{१}{२}}$
(ज. प./६/१०); (त्रि, सा/७६०)

(४) धनुषका क्षेत्रफल

(i) बादर क्षेत्रफल = $\text{बाण} \times \dfrac{\text{जीवा} + \text{बाण}}{२}$

(त्रि. सा/७६२)

(ii) सूक्ष्म क्षेत्रफल = $\left[१०\left\{\text{जीवा} \times \dfrac{\text{बाण}}{४}\right\}^२\right]^{\frac{१}{२}}$

(त्रि. सा/७६२)

(५) क्षेत्र या पर्वतकी चूलिका

$\dfrac{\text{बड़ी जीवा} - \text{छोटी जीवा}}{२}$

(ज. प/२/३१)

४. वृत्त वलय (ring) सम्बन्धी
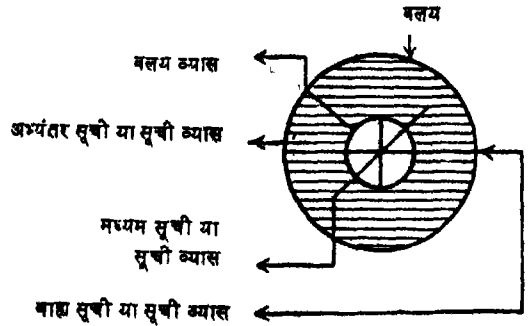
(१) अभ्यन्तर सूची या व्यास–
२ वलय व्यास-१००,०००
(त्रि. सा/३१०)

(२) मध्यम सूची या व्यास–
३ वलय व्यास—१००,०००
(त्रि. सा/३१०)

(३) बाह्य सूची या व्यास–
४ वलय व्यास—१००,०००
(त्रि. सा/३१०)

(४) वृत वलयका क्षेत्रफल–

(i) बादर क्षेत्रफल = ३ (अभ्यंतर सूची + बाह्य सूची) $\times \dfrac{\text{वलय व्यास}}{२}$
(त्रि. सा/३१५)

सूक्ष्म क्षेत्र फल =

$\sqrt{१०} \times \left\{(\text{अभ्यं० सूची} + \text{बाह्य सूची}) \times \dfrac{\text{वलय व्यास}}{२}\right\}^२$
(त्रि. सा/३१५)

(५) वृतवलयकी बाह्य परिधि–

$\text{अभ्यन्तर परिधि} \times \dfrac{\text{बाह्य सूची}}{\text{अभ्यन्तर सूची}}$

५. विवक्षित द्वीप सागर सम्बन्धी

(१) जम्बू द्वीपकी अपेक्षा विवक्षित द्वीप सागरकी परिधि

$\dfrac{\text{जम्बूद्वीपकी परिधि} \times \text{विवक्षितकी सूची}}{\text{जम्बूद्वीपका व्यास}}$
(त्रि.सा./३१४)

(२) विवक्षित द्वीप सागरकी सूची

$(२^{\text{गच्छ}+१} \times १००,०००) - ३००,०००$
(त्रि.सा./३०६)

(३) विवक्षित द्वीप सागरका वलय व्यास

$(२^{\text{गच्छ}-१} \times १००,०००) - ०$
(त्रि.सा./३०६)

(४) विवक्षित द्वीप सागरके क्षेत्रफलमें जम्बूद्वीप समान खण्ड

(i) $\frac{\text{बाह्य सूची}^2 - \text{अभ्यन्तर सूची}^2}{\text{जम्बूद्वीपका व्यास}^2}$

(त्रि. सा./३१६)

(ii) वलय व्यासकी शलाका— १२ वलय व्यास
(शलाका जैसे २००,००० की शलाका = २)
(त्रि. सा./३१८)

(iii) $\frac{(\text{बाह्य सूची} - \text{वलय व्यास}) \times 4 \text{ वलय व्यास}}{100{,}000^2}$

(त्रि. सा./३१७)

(५) विवक्षित द्वीप या सागरकी बाह्य परिधिसे घिरे हुए सर्व क्षेत्रमें जम्बू द्वीप समान खण्ड

$(\text{बाह्य सूचीकी शलाका})^2$
(शलाका जैसे २००,००० की शलाका = २)
(त्रि. सा./३१७)

६. बेलनाकार (cylinderical) सम्बन्धी

(१) क्षेत्र फल = गोल परिधि×ऊँचाई
(२) घन फल = मूल क्षेत्रफल×ऊँचाई
(अर्थात् area of the base×height)

७. अन्य आकारों सम्बन्धी

(१) मृदंगाकारका क्षेत्रफल

$\frac{\text{मुख} + \text{भूमि}}{2} \times \text{ऊँचाई}$

(ति. प./१/१६५)
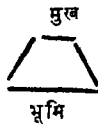
(२) शंखका क्षेत्रफल

$$२\text{ मोटाई}\left\{\left(\text{लम्बाई}^2 - \frac{\text{मुख व्यास}}{2}\right) + \left(\frac{\text{मुखव्यास}}{2}\right)^2\right\}$$

(त्रि. सा./३२७)

गणितज्ञ—Mathematicians (ध./१/प्र./२७)

गणित शास्त्र—Mathematics (ध./१/प्र./२५)

गणितसार संग्रह—महावीराचार्य (ई. ८००-८३०) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित गणित विषयक एक ग्रन्थ। (ती./३/१६)।

गणी—(ध./१४/५,६,२०/२२/७) एकादशांगविद्गणी। = ग्यारह अंगका ज्ञाता गणी कहलाता है।

गति—गति शब्दका दो अर्थोंमें प्रायः प्रयोग होता है—गमन व देवादि चार गति। छहों द्रव्योंमें जीव व पुद्गल ही गमन करनेको समर्थ हैं। उनकी स्वाभाविक व विभाविक दोनों प्रकारकी गति होती है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव ये जीवोंकी चार प्रसिद्ध गतियाँ हैं, जिनमें संसारी जीव नित्य भ्रमण करता है। इसका कारणभूत कर्म गति नामकर्म कहलाता है।

१. गमनार्थ गति निर्देश

१. गति सामान्यका लक्षण

स.सि./४/२१/२५२/५ देशाद्देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गतिः। –एक देशसे दूसरे देशके प्राप्त करनेका जो साधन है उसे गति कहते हैं। (स.सि./५/१७/२८१/१२); (रा.वा./४/२१/१/२३६/३); (रा.वा/५/१७/१/४६०/२२); (गो.जी./जी.प्र./६०५/१०६०/३)

रा.वा/४/२१/१/२३६/३ उभयनिमित्तवशात् उत्पद्यमानः कायपरिस्पन्दो गतिरित्युच्यते। –बाह्य और आभ्यन्तर निमित्तके वशसे उत्पन्न होनेवाला कायका परिस्पन्दन गति कहलाता है।

२. गतिके भेद व उनके लक्षण

रा.वा/५/२४/२१/४९०/२१ सैषा क्रिया दशप्रकारा वेदितव्या। कुतः। प्रयोगादिनिमित्तभेदात। तद्यथा, इष्वेरण्डबीजमृदङ्गशब्दजतुगोलकनौद्रव्यपाषाणालाबूसुराजलदमारुतादीनाम्। इषुचक्रकणयादीनां प्रयोगगतिः। एरण्डतिन्दुकबीजानां बन्धाभावगतिः। मृदङ्गभेरीशङ्खादिशब्दपुद्गलानां छिन्नानां गतिः छेदगतिः। जतुगोलककुम्भदारुपिण्डादीनामभिघातगतिः। नौद्रव्यपोतकादीनामवगाहनगतिः। जलदरथमुशलादीनां वायुवाजिहस्तादीनां संयोगनिमित्ता संयोगगतिः। मारुतपावकपरमाणुसिद्धज्योतिष्कादीनां स्वभावगतिः। –क्रिया प्रयोग बन्धाभाव आदिके भेदसे दस प्रकारकी है। बाण चक्र आदिकी प्रयोगगति है। एरण्डबीज आदिकी बन्धाभाव गति है। मृदंग भेरी शंखादिके शब्द जो दूर तक जाते हैं पुद्गलोंकी छिन्नगति है। गेंद आदिकी अभिघात गति है। नौका आदिकी अवगाहनगति है। पत्थर आदिकी नीचेकी ओर (जानेवाली) गुरुत्वगति है। तुंबड़ी रूई आदिकी (ऊपर जानेवाली) लघुत्वगति है। सुरा सिरका आदिकी संचारगति है। मेघ, रथ, मूसल आदिकी क्रमशः वायु, हाथी तथा हाथके संयोगसे होनेवाली संयोगगति है। वायु, अग्नि, परमाणु, मुक्तजीव और ज्योतिर्देव आदिकी स्वभावगति है।

३. ऊर्ध्वगति जीवकी स्वभाव गति है

पं.का/मू./७३ बंधेहिं सव्वदो मुक्को। उड्ढं गच्छदि। –बन्धसे सर्वांग मुक्त जीव ऊपरको जाता है।

त.सू./१०/६ तथागतिपरिणामाच्च। –स्वभाव होनेसे मुक्त जीव ऊर्ध्व गमन करता है।

रा.वा/२/७/१४/११३/७ ऊर्ध्वगतित्वमपि साधारणम्। अग्न्यादीनामूर्ध्वगतिपारिणामिकत्वात। तच्च कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात् पारिणामिकम्। एवमन्ये चात्मनः साधारणाः पारिणामिका योज्याः।

रा.वा/१०/७/४/६४५/१८ ऊर्ध्वगौरवपरिणामो हि जीव उत्पतत्येव।

रा.वा/५/२४/२१/४९०/१४ सिद्ध्यतामूर्ध्वगतिरेव। –१. अग्नि आदिमें भी ऊर्ध्वगति होती है, अतः ऊर्ध्वगतित्व भी साधारण है। क्योंकि उदयादिकी अपेक्षाका अभाव होनेके कारण वह पारिणामिक है। इसी प्रकार आत्मामें अन्य भी साधारण पारिणामिक भाव होते हैं। २. क्योंकि जीवोंको ऊर्ध्वगौरव धर्मवाला बताया है, अतः वे ऊपर ही जाते हैं। ३. मुक्त होनेवाले जीवोंकी ऊर्ध्वगति हो होती है।

रा.वा/१०/९/१४/६४९ पर उद्धृत श्लोक नं. १३-१६ ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवा इति जिनोत्तमैः।—।१३। यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च लोष्टवाय्वग्निवीचयः। स्वभावतः प्रवर्तन्ते तथोर्ध्वगतिरात्मनाम्।१४।·· ऊर्ध्वगतिमेव स्वभावेन भवति क्षीणकर्मणाम्।१६। –जीव ऊर्ध्वगौरवधर्मा बताया गया है। जिस तरह लोष्ट, वायु और अग्निशिखा स्वभावसे ही नीचे तिरछे और ऊपरको जाती है उसी तरह आत्माकी स्वभावतः ऊर्ध्वगति ही होती है। क्षीणकर्मा जीवोंकी स्वभावसे ऊर्ध्वगति ही होती है। (त.सा./८/३१-३४); (पं.का./त.प्र./२८)

द्र.सं./मू./२ सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई। –जीव स्वभावसे ऊर्ध्व-गमन करनेवाला है।

नि.सा./ता.वृ./१८४ जीवानां स्वभावक्रिया सिद्धिगमनं। –जीवोंकी स्वभाव क्रिया सिद्धिगमन है।

४. पर ऊर्ध्व गमन जीवका त्रिकाली स्वभाव नहीं

रा.वा/१०/७/९-१०/६४५/३३ स्यान्मतम्—यथोष्णस्वभावस्याग्नेरौष्ण्याभावेऽभावस्तथा मुक्तस्योर्ध्वगतिस्वभावत्वे तदभावे तस्याप्यभावः प्राप्नोतीति। तन्न; किं कारणम्। गत्यन्तरनिवृत्त्यर्थत्वात। मुक्तस्योर्ध्वमेव गमनं न दिगन्तरगमनमित्ययं स्वभावो नोर्ध्वगमनमेवेति। यथा ऊर्ध्वज्वलनस्वभावत्वेऽप्यग्नेर्वेगवद् द्रव्याभिघातात्तिर्यग्ज्वलनेऽपि नाग्नेर्विनाशो दृष्टस्तथा मुक्तस्योर्ध्वगतिस्वभावत्वेऽपि तदभावे नाभाव इति। =प्रश्न—सिद्धशिलापर पहुँचनेके बाद चूँकि मुक्त जीवमें ऊर्ध्वगमन नहीं होता, अतः उष्णस्वभावके अभावमें अग्निके अभावकी तरह मुक्तजीवका भी अभाव हो जाना चाहिए। उत्तर—'मुक्तका ऊर्ध्व ही गमन होता है, तिरछा आदि गमन नहीं' यह स्वभाव है न कि ऊर्ध्वगमन करते ही रहना। जैसे कभी ऊर्ध्वगमन नहीं करती, तब भी अग्नि बनी रहती है, उसी तरह मुक्तमें भी लक्ष्यप्राप्तिके बाद ऊर्ध्वगमन न होनेपर भी उसका अभाव नहीं होता है।

५. दिगन्तर गति जीवकी विभाव गति है

रा.वा./१०/९/१४/६४९ पर उद्धृत श्लोक नं. १५-१६ अतस्तु गतिवैकृत्यं तेषां यदुपलभ्यते। कर्मणः प्रतिघाताच्च प्रयोगाच्च तदिष्यते।१५। स्यादधस्तिर्यगूर्ध्वं च जीवानां कर्मजा गतिः। –जीवोंमें जो विकृत गति पायी जाती है, वह या तो प्रयोगसे है या फिर कर्मोंके प्रतिघातसे है।१५। जीवोंके कर्मवश नीचे, तिरछे और ऊपर भी गति होती है।१६। (त.सा./८/३३-३४)

पं.का./मू. व त. प्र./७३ सेसा विदिसावज्जं गदिं जंति।७३। बद्धजीवस्य षड्गतयः कर्मनिमित्ताः।

नि. सा./ता. वृ./१८४ जीवानां···विभावक्रिया षट्कायक्रमयुक्तत्वम्। –१. शेष (मुक्तोंसे अतिरिक्त जीव भवान्तरमें जाते हुए) विदिशाएँ छोड़कर गमन करते हैं।७३। बद्धजीवको कर्मनिमित्तक षट्दिक् गमन होता है। २. जीवोंकी विभाव क्रिया (अन्य भवमें जाते समय) छह दिशामें गमन है।

द्र. सं./टी/२/९/९ व्यवहारेण चतुर्गतिजनककर्मोदयवशेनोर्ध्वाधस्तिर्यग्गतिस्वभावः। –व्यवहारसे चार गतियोंको उत्पन्न करनेवाले (भवान्तरोंको ले जानेवाले) कर्मोंके उदयवश ऊँचा, नीचा, तथा तिरछा गमन करनेवाला है।

६. पुद्गलोंकी स्वभाव विभाव गतिका निर्देश

रा.वा/१०/९/१४/६४९ पर उद्धृत श्लोक नं. १३-१४ अधोगौरवधर्माणः पुद्गला इति चोदितम्।१३। यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च लोष्टवाय्वग्निवीचयः। स्वभावतः प्रवर्तन्ते···।१४। –पुद्गल अधोगौरवधर्मा होते हैं, यह बताया गया है।१३। लोष्ट, वायु और अग्निशिखा स्वभावसे ही नीचे-तिरछे व ऊपरको जाते हैं।१४। (त. सा./८/३१-३२)

रा.वा./२/२६/५/१३८/३ पुद्गलानामपि च या लोकान्तप्रापिणी सा नियमादनुश्रेणिगतिः। या त्वन्या सा भजनीया। –पुद्गलोंकी (परमाणुओंकी) जो लोकान्त तक गति होती है वह नियमसे अनुश्रेणी ही होती है। अन्य गतियोंका कोई नियम नहीं है।

रा. वा./५/२४/२१/४९०/१२ मारुतपावकपरमाणुसिद्धज्योतिष्कादीनां स्वभावगतिः। वायोः केवलस्य तिर्यग्गतिः। भस्त्रादियोगादनियता गतिः। अग्नेरूर्ध्वगतिः कारणवशाद्दिगन्तरगतिः। परमाणोरनियता। ...ज्योतिषां नित्यभ्रमणं लोके। —वायु, अग्नि, परमाणु, मुक्तजीव और ज्योतिर्देव आदिकी स्वभाव गति है। (तहाँ) अकेली वायुकी तिर्यक् गति है। भस्त्रादिके कारण वायुकी अनियत गति होती है। अग्निकी स्वाभाविक ऊर्ध्वगति है। कारणवश उसकी अन्य दिशाओं में भी गति होती है। परमाणुकी अनियत गति है। ज्योतिषियोंका लोकमें नित्य भ्रमण होता है।

७. जीवोंका भवान्तरके प्रति गमन छह दिशाओंमें ही होता है। ऐसा क्यों ?

ध. ४/१,१,४३/२२६/२ छक्कावक्कमणियमे संते पंच चोद्दसभागफोसणं ण जुज्जदि त्ति णासंकणिज्जं, चदुण्णं दिसाणं हेट्ठुवरिमदिसाणं च गच्छंतेहिं तदा मारणं पडिविरोहाभावादो। का दिसा णाम। सगट्ठाणादो कंडुज्जुवा दिसा णाम। ताओ छच्चेव, अण्णेसिमसंभवादो। का विदिसा णाम। सगट्ठाणादो कण्णायारेण ट्ठिदखेत्तं विदिसा। जेण सव्वे जीवा कण्णायारेण ण जंति तेण छक्कावक्कमणियमो जुज्जदे। —प्रश्न—छहों दिशाओंमें जाने-आनेका नियम होनेपर सासादन गुणस्थानवर्ती देवोंका स्पर्शनक्षेत्र ५/१४ भागप्रमाण नहीं बनता है। उत्तर—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि चारों दिशाओंको और ऊपर तथा नीचेकी दिशाओंको गमन करनेवाले जीवोंके मारणान्तिक समुद्घातके प्रति कोई विरोध नहीं है। प्रश्न—दिशा किसे कहते हैं? उत्तर—अपने स्थानसे बाणकी तरह सीधे क्षेत्रको दिशा कहते हैं। वे दिशाएँ छह ही होती हैं, क्योंकि अन्य दिशाओंका होना असम्भव है। प्रश्न—विदिशा किसे कहते हैं? उत्तर—अपने स्थानसे कर्णरेखाके आकारसे स्थित क्षेत्रको विदिशा कहते हैं। चूँकि मारणान्तिकसमुद्घात और उपपादगत सभी जीव कर्णरेखाके आकारसे अर्थात् तिरछे मार्गसे नहीं जाते हैं, इसलिए छह दिशाओंके अपक्रम अर्थात् गमनागमनका नियम बन जाता है।

२. नामकर्मज गति निर्देश

१. गति सामान्यके निश्चय व्यवहार लक्षण

१. निश्चय लक्षण

पं. सं./प्रा./१/५९ गइकम्मविणिव्वत्ता जा चेट्ठा सा गई मुणेयव्वा। —गति नामा नामकर्मसे उत्पन्न होनेवाली जो चेष्टा या क्रिया होती है उसे गति जानना चाहिए। (ध. १/१,१,४/गा ८४/१३५); (पं. सं./सं./१/१३६)

स. सि./२/६/१५९/३ नरकगतिनामकर्मोदयान्नारको भावो भवतीति नरकगतिरौदयिकी। एवमितरत्रापि। —नरक गति नामकर्मके उदयसे नारकभाव होता है, इसलिए नरक गति औदयिकी है। इसी प्रकार शेष तीन गतियोंका भी कथन करना चाहिए।

ध. १/१,१,४/१३४/४ "गम्यत इति गतिः" —जो प्राप्त की जाये उसे गति कहते हैं। (रा. वा./९/७/११/६०३/२७)

(नोट—यहाँ कषाय आदिकी प्राप्तिसे तात्पर्य है—दे० आगे गति/२/६)

पं. ध./उ./९७५-९७९ कर्मणोऽस्य विपाकाद्वा दैवादन्यतमं वपुः। प्राप्य तत्रोचितान् भावान् करोत्यात्मोदयात्मनः।९७७। यथा तिर्यगवस्थायां तद्वद्या भावसंततिः। तत्रावश्यं च नान्यत्र तत्पर्यायानुसारिणी।९७८। एवं दैवेऽथ मानुष्ये नारके वपुषि स्फुटम्। आत्मीयात्मीयभावाश्च संतत्यसाधारणा इव।९७९। —नामकर्मके उत्तरभेदोंमें प्रसिद्ध एक गति नामकर्म है और जिस कारणसे गति चार हैं, तिस कारणसे वह नामकर्म भी चार प्रकारका कहा जाता है।९७६। आत्मा दैवयोगसे इस नामकर्मके उदयके कारण उस गतिमें प्राप्त होनेवाले यथायोग्य शरीरोंमें-से किसी एक भी शरीरको पाकर सामान्य तथा उस गतिके योग्य जो औदयिकभाव होते हैं तिन्हें धारण करता है।९७७। जैसे कि तिर्यंच अवस्थामें तिर्यंचोंकी तरह तिर्यंचपर्यायके अनुरूप जो भावसंतति होती है वह उस तिर्यंच गतिमें अवश्य ही होती है, दूसरी गतिमें नहीं होती है।९७८। इसी तरह यह बात स्पष्ट है कि देव, मनुष्य व नरकगति सम्बन्धी शरीरमें होनेवाले अपने-अपने औदयिक भाव स्वतः परस्परमें असाधारणके समान होते हैं, अर्थात् उनमें अपनी-अपनी जुदी विशेषता पायी जाती है।

२. व्यवहार लक्षण

पं. सं./प्रा./१/५९ जीवा हु चाउरंगं गच्छंति हु सा गई होइ।५९। —अथवा जिसके द्वारा जीव नरकादि चारों गतियोंमें गमन करता है, वह गति कहलाती है। (ध. १/१,१,४/गा. १२४/१३५); (पं. सं./सं./१/१३६); (गो.जी./मू./१४६/३६८)

ध. १/१,१,४/१३५/३ भवाद्भवसंक्रान्तिर्वा गतिः। —अथवा एक भवसे दूसरे भवको जानेको गति कहते हैं। (ध. ७/२,१,२/६/६)

२. गति नामकर्मका लक्षण

स. सि./८/११/३८९/१ यदुदयादात्मा भवान्तरं गच्छति सा गतिः। सा चतुर्विधा। —जिसके उदयसे आत्मा भवान्तरको जाता है, वह गति है। वह चार प्रकारकी है। (रा. वा./८/११/१/५/६७६/५); (गो.क./जी. प्र./३३/२८/१३)

ध. ६/१,९-१,२८/५०/११ जम्हि जीवभावे आउकम्मादो लद्धावट्ठाणे संते सरीरादियाइं कम्माइमुदयं गच्छंति सो भावो जस्स पोग्गलक्खंधस्स मिच्छत्तादिकारणेहि पत्तस्स कम्मभावस्स उदयादो होदि तस्स कम्मक्खंधस्स गति त्ति सण्णा। —जिस जीवभावमें आयुकर्मसे अवस्थानके प्राप्त करनेपर शरीरादि कर्म उदयको प्राप्त होते हैं, वह भाव मिथ्यात्व आदि कारणोंके द्वारा कर्मभावको प्राप्त जिस पुद्गलस्कन्धसे उत्पन्न होता है, उस कर्म-स्कन्धकी 'गति' संज्ञा है।

ध. १३/५,५,१०१/३६३/९ जं णिरय-तिरिक्ख-मणुस्सदेवाणं णिव्वत्तयं कम्मं तं गदि णामं। —जो नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव पर्यायका बनानेवाला कर्म है वह गति नाम कर्म है।

३ क. गतिके भेद

ष. खं.१/१,१/सू.२४/२०१ आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्खगदी मणुस्सगदी देवगदी सिद्धगदी चेदि।२४। —आदेश-प्ररूपणाकी अपेक्षा गत्यनुवादसे नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और सिद्धगति है।

स. सि./२/६/१५९/२ गतिश्चतुर्भेदा—नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिरिति। —गति चार प्रकारकी है—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति।

रा.वा/९/७/११/६०३/२७ सा द्वेधा—कर्मोदयकृता क्षायिकी चेति। कर्मोदयकृता चतुर्विधा व्याख्याता—नरकगतिः, तिर्यग्गतिः, मनुष्यगतिः देवगतिश्चेति। क्षायिकी मोक्षगतिः। —वह गति दो प्रकारकी है—कर्मोदयकृत और क्षायिकी। तहाँ कर्मोदयकृत गति चार प्रकारकी कही गयी है—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति। क्षायिकी गति मोक्षगति है।

ध.७/२,११:१/५२०/४ गइ सामण्णेण एगविहा। सा चेव सिद्धगई (असिद्धगई) चेदि दुविहा। अहवा देवगई अदेवगई सिद्धगई चेदि तिविहा। अहवा णिरयगई तिरिक्खगई मणुसगई देवगई चेदि

चउव्विहा। अहवा सिद्धगईए सह पंचविहा। एवं गइसमासो अणेय-भेयभिण्णो।

ष.७/२.११.७/५२२/२ ताओ चेव गदीओ मणुस्सिणीओ मणुस्सा, णेरइया तिरिक्खा पंचिंदियतिरिक्खजोणिणीओ देवा देवीओ सिद्धा त्ति अट्ठहवंति। —१. गति सामान्यरूपसे एक प्रकार है। वही गति सिद्धगति और असिद्धगति इस तरह दो प्रकार है। अथवा देवगति अदेवगति और सिद्धगति इस तरह तीन प्रकार है। अथवा नरक-गति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति, इस तरह चार प्रकार है। अथवा सिद्धगतिके (उपरोक्त चार मिलकर) पाँच प्रकार है। इस प्रकार गतिसमास अनेक भेदोंसे भिन्न है। २. वे ही गतियाँ मनुष्यणी, मनुष्य, नरक, तिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमति, देव देवियाँ और सिद्ध इस प्रकार आठ होती हैं।

३ ख. गति नामकर्मके भेद

ष.खं.६/१५६-१/सूत्र२९/६७७ जे तं गदिणामकम्मं तं चउव्विहं णिरयगइ-णामं तिरिक्खगइणामं मणुस्सगदिणामं देवगदिणामं चेदि। —जो गतिनामकर्म है वह चार प्रकारका है, नरकगतिनामकर्म, तिर्यंच गति नामकर्म, मनुष्य गति नामकर्म और देवगति नामकर्म।

(ष.खं/१३/५०५/सू १०२/३६७) (पं.सं/प्रा./२/४/४६) (स.सि/८/११/३८६/१); (रा.वा/८/११/१/५७६/८); (म.ब/१/६६/२८); (गो.क./जी.प्र/३३/२८/१३) गो.क/जी.प्र/३३।

४. जीवको मनुष्यादि पर्यायोंको गति कहना उपचार है

ध.१/१,१,२४/२०२/६ अशेषमनुष्यपर्यायनिष्पादिका मनुष्यगतिः। अथवा मनुष्यगतिकर्मोदयापादितमनुष्यपर्यायकलापः कार्ये कारणोप-चारान्मनुष्यगति'।...

ध.१/१,१,२४/२०३/४ देवानां गतिर्देवगति'। अथवा देवगतिनामकर्मो-दयोऽणिमादिदेवाभिधानप्रत्ययव्यवहारनिबन्धनपर्यायोत्पादको देव-गतिः। देवगतिनामकर्मोदयजनितपर्यायो वा देवगतिः कार्ये कारणोप-चारात्। —१. जो मनुष्यकी सम्पूर्ण पर्यायोंमें उत्पन्न कराती है उसे मनुष्यगति कहते हैं। अथवा मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुए मनुष्य पर्यायोंके समूहको मनुष्य गति कहते हैं। यह लक्षण कार्यमें कारणके उपचारसे किया गया है। २. देवोंकी गतिको देव कहते हैं। अथवा जो अणिमादि ऋद्धियोंसे युक्त 'देव' इस प्रकारके शब्द, ज्ञान और व्यवहारमें कारणभूत पर्यायका उत्पादक है ऐसे देवगति नाम-कर्मके उदयको देवगति कहते हैं। अथवा देवगति नामकर्मके उत्पन्न हुई पर्यायको देवगति कहते हैं। यहाँ कार्यमें कारणके उपचारसे यह लक्षण किया गया है।

५. कर्मोदयापादित भी इसे जीवका भाव कैसे कहते हो?

पं.ध./उ./६८०-६९०;१०२५ ननु देवादिपर्यायो नामकर्मोदयात्परम्। तत्कथं जीवभावस्य हेतुः स्याद्घातिकर्मवत् ।६८०। सत्यं तन्नाम-कर्मापि लक्षणाच्चित्रकारवत्। नूनं तद्देहमात्रादि निर्मापयति चित्र-वत् ।६८१। अस्ति तत्रापि मोहस्य नैरन्तर्योदयाञ्जसा। तस्मादौ-दयिको भावः स्यात्तद्देहक्रियाकृतिः। ननु मोहोदयो नूनं स्वायत्तो-ऽस्त्येकधारया। तत्तद्वपुः क्रियाकारो नियतोऽयं कुतो नयात् ।६८३। नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि मोहस्योदयवैभवे। तत्रापि बुद्धिपूर्वं चाबुद्धि-पूर्वं स्वलक्षणात् ।६८४। तथा दर्शनमोहस्य कर्मणस्तूदयादिह। अपि यावदनात्मीयमात्मीयं मनुते कुदृक् ।६९०। तत्राप्यस्ति विवेकोऽयं श्रेयानत्राविदो यथा। वैकृतो मोहजो भावः शेषः सर्वोऽपि लौकिकः ।१०२५। —प्रश्न—जब देवादि पर्यायें केवल नामकर्मके उदयसे होती हैं तो वह नामकर्म कैसे घातिया कर्मकी तरह जीवके भावमें हेतु हो सकता है ।६८०। उत्तर—ठीक है, क्योंकि, वह नामकर्म भी चित्र-कारकी तरह गतिके अनुसार केवल जीवके शरीरादिकका ही निर्माण करता है ।६८१। परन्तु उन शरीरादिक पर्यायोंमें भी वास्तवमें मोह-का गत्यनुसार निरन्तर उदय रहता है। जिसके कारण उस उस शरीरादिककी क्रियाके आकारके अनुकूल भाव रहता है ।६८२। प्रश्न—यदि मोहनीयका उदय प्रतिसमय निर्विच्छिन्न रूपसे होता रहता है तब यह उन उन शरीरोंकी क्रियाके अनुकूल किस न्यायसे नियमित हो सकता है ।६८३। उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि तुम उन गतियोंमें मोहोदयके लक्षणानुसार बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक होनेवाले मोहोदयके वैभवसे अनभिज्ञ हो ।६८४। उसके उदयसे जीव सम्पूर्ण परपदार्थों (इन शरीरादिकों) को भी निज मानता है ।६९०। घातिया अघातिया कर्मोंके उदयसे होनेवाले औद-यिक भावोंमें यह बात विशेष है कि मोहजन्य भाव ही सच्चा विकारयुक्त भाव है और शेष सब तो लौकिक रूढ़िसे (अथवा कार्य-में कारणका उपचार करनेसे) औदयिक भाव कहे जाते हैं ।१०२५।

६. प्राप्त होनेके कारण सिद्ध भी गतिवान् बन जायेंगे

ध.१/१,१,४/१३४ गम्यत इति गतिः। नातिव्याप्तिदोषः सिद्धैः प्राप्य-गुणाभावात्। न केवलज्ञानादयः प्राप्यास्तथात्मकैकस्मिन् प्राप्य-प्रापकभावविरोधात्। कषायादयो हि प्राप्याः औपाधिकत्वात्। —जो प्राप्त की जाय उसे गति कहते हैं। गतिका ऐसा लक्षण करनेसे सिद्धोंके साथ अतिव्याप्ति दोष भी नहीं आता है, क्योंकि सिद्धोंके द्वारा प्राप्त करने योग्य गुणोंका अभाव है। यदि केवलज्ञानादि गुणोंको प्राप्त करने योग्य कहा जावे, सो भी नहीं बन सकता, क्योंकि केवलज्ञान स्वरूप एक आत्मामें प्राप्य-प्रापक भावका विरोध है। उपाधिजन्य होनेसे कषायादिक भावोंको ही प्राप्त करने योग्य कहा जा सकता है। परन्तु वे सिद्धोंमें पाये नहीं जाते हैं।

७. प्राप्त किये जानेसे द्रव्य व नगर आदि भी गति बन जायेंगे

ध.१/१,१,४/१३४/६ गम्यत इति गतिरित्युच्यमाने गमनक्रियापरिणत-जीवप्राप्यद्रव्यादीनामपि गतिव्यपदेशः स्यादिति चेन्न, गतिकर्मणः समुत्पन्नस्यात्मपर्यायस्य ततः कथंचिद्भेदादविरुद्धप्राप्तितः प्राप्तकर्म-भावस्य गतित्वाभ्युपगमे पूर्वोक्तदोषानुपपत्तेः। —प्रश्न—जो प्राप्त की जाये उसे गति कहते हैं, गतिका ऐसा लक्षण करनेपर गमनरूप क्रियामें परिणत जीवके द्वारा प्राप्त होने योग्य द्रव्यादिकको भी 'गति' यह संज्ञा प्राप्त हो जायेगी, क्योंकि गमनक्रियापरिणत जीवके द्वारा द्रव्यादिक ही प्राप्त किये जाते हैं। उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि गति नामकर्मके उदयसे जो आत्माके पर्याय उत्पन्न होती है, वह आत्मासे कथंचित् भिन्न है, अतः उसकी प्राप्ति अविरुद्ध है। और इसीलिए प्राप्तिरूप क्रियाके कर्मपनेको प्राप्त नरकादि आत्मपर्यायके गतिपना माननेमें पूर्वोक्त दोष नहीं आता है।

ध./७/२,१,२/६/४ गम्यत इति गतिः। एदीए णिरुत्तीए गाम-णयर-खेड-कव्वडादीणं पि गदित्तं पसज्जदे। ण, रूढिबलेण गदिणामकम्मणि-प्पाइयपज्जायम्मि गदिसद्दपवुत्तीदो। गदिकम्मोदयाभावा सिद्ध-गदी अगदी। अथवा भवाद् भवसंक्रान्तिर्गतिः, असंक्रान्तिः, सिद्ध-गतिः। —प्रश्न—'जहाँको गमन किया जाये वह गति है' गतिकी ऐसी निरुक्ति करनेसे तो ग्राम, नगर, खेड़ा, कर्वट, आदि स्थानोंको भी गति माननेका प्रसंग आता है। उत्तर—नहीं आता, क्योंकि रूढ़िके

बलसे नामकर्म द्वारा जो पर्याय निष्पन्न की गयी है, उसीमें गति शब्दका प्रयोग किया जाता है। गति नामकर्मके उदयके अभावके कारण सिद्धगति अगति कहलाती है। अथवा एक भवसे दूसरे भवको संक्रान्तिका नाम गति है, और सिद्ध गति असंक्रान्ति रूप है।

गद्यकथाकोश—दे० कथाकोश।

गद्यचिंतामणि—आ. वादीभसिंह ओडयदेव (ई० ७७०-८६०) द्वारा रचित यह ग्रन्थ संस्कृत गद्यमें रचा गया है और जीवधर चारित्रका वर्णन करता है। (ती. /३/३२)।

गमन—दे० गति/१।

गरिमा ऋद्धि—दे० ऋद्धि/३।

गरुड़—१. सनत्कुमार स्वर्गका चौथा पटल—दे० स्वर्ग/५/३२. शान्तिनाथ भगवान्‌का शासक यक्ष—दे० यक्ष। तीर्थंकर/५/३।

ध.१३/५,५,१४०/३९१/६ गरुडाकारविकरणप्रियाः गरुडाः। —जिन्हें गरुड़के आकाररूप विक्रिया करना प्रिय है वे गरुड़ (देव) कहलाते हैं।

ज्ञा./२१/१५ गगनगोचरामूर्त्तजयविजयभुजङ्गभूषणोऽनन्ताकृतिपरमविभुर्नभस्तलनिलीनसमस्ततत्त्वात्मकः समस्तज्वररोगविषधरोड्डामरडाकिनीग्रहयक्षकिन्नरनरेन्द्रारिमारिपरयन्त्रतन्त्रमुद्रामण्डलज्वलनहरिशरभशार्दूलद्विपदैत्यदुष्टप्रभृतिसमस्तोपसर्गनिर्मूलनकारिसामर्थ्यः परिकलितसमस्तगारुडमुद्राडम्बरसमस्ततत्त्वात्मकः सन्नात्मैव गारुडगीर्गोचरत्वमवगाहते। इति वियत्तत्त्वम्। —आकाशगामी दो सर्प हैं भूषण जिसके; आकाशवत् सर्वव्यापक; लीन हैं पृथिवी, वरुण, वह्नि व वायुनामा समस्त तत्त्व जिसमें; (नीचेसे लेकर घुटनों तक पृथिवी तत्त्व, नाभिपर्यंत अप्‌तत्त्व, हृदय पर्यंत वह्नि तत्त्व और मुखमें पवनतत्त्व स्थित है) रोग कृत, सर्प आदि विषधरों कृत, कुत्सित देवी देवताओंकृत, राजा आदि शत्रुओंकृत, व्याघ्रादि हिंस्र पशुओं कृत, समस्त उपसर्गोंको निर्मूलन करनेवाला है सामर्थ्य जिसका, रचा है समस्त गारुडमण्डलका आडम्बर जिसने तथा पृथिवी आदि तत्त्वस्वरूप हुआ है आत्मा जिसका ऐसा गारुडगीके नामको अवगाहन करनेवाला गारुड तत्त्व आत्मा ही है। इस प्रकार वियत्तत्त्वका कथन हुआ (और भी—दे० ध्यान/४/५)।

गरुडध्वज—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

गरुडपञ्चमी व्रत—पाँच वर्षतक प्रतिवर्ष श्रावण शु. ५ को उपवास करना। 'ॐ ह्रीं अर्हद्भ्यो नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य।

गरुडेन्द्र—(प.पु./३९/२३०-३१) वंशधर पर्वतपर पूर्व भवके पुत्र देशभूषण व कुलभूषण मुनियोंका राम लक्ष्मण द्वारा उपसर्ग निवारण किया जानेपर गरुडेन्द्रने उनको संकटके समय रक्षा का वर दिया।

गर्गर्षि—दे० परिशिष्ट/२।

गर्तपूरण वृत्ति—साधुकी भिक्षावृत्तिका एक भेद—दे० भिक्षा १/७

गर्दतोय—१. लौकान्तिक देवोंका एक भेद (दे० लौकांतिक)। २. उनका लोकमें अवस्थान—दे० लोक/७।

गर्दभिल्ल—मगधदेशकी राज्य वंशावलीके अनुसार यह शक जातिका एक सरदार था, जिसने मौर्यकालमें ही मगधदेशके किसी भागपर अपना अधिकार जमा लिया था। इसका असली नाम गन्धर्व था। गर्दभी विद्या जाननेके कारण गर्दभिल्ल नाम पड़ गया था। इसी कारण ह.पु./६०/४८९ में गर्दभ शब्दका पर्यायवाची रासभ शब्द इस नामके स्थानपर प्रयोग किया गया है। इनका समय वी.नि. ३४५-४४५, (ई.पू. १८२-८२) है। (इतिहास/३/४) परन्तु (क. पा./१/६५/ पं. महेन्द्र कुमार) के अनुसार वि. पू. या १३ ई. पू. ११ अनुमान किया जाता है।

गर्भ—

त.सू./२/३३ जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ।३३। —जरायुज अण्डज व पोतज जीवोंका गर्भजन्म होता है।

स. सि./२/३१/१८७/४ स्त्रिया उदरे शुक्रशोणितयोर्गरणं मिश्रणं गर्भः। मात्रुपभुक्ताहारगरणाद्वा गर्भः। —स्त्रीके उदरमें शुक्र और शोणितके परस्पर गरण अर्थात् मिश्रणको गर्भ कहते हैं। अथवा माताके द्वारा उपभुक्त आहारके गरण होनेको गर्भ कहते हैं। (रा. वा./२/३१/२-३/१४०/२५)।

गो.जी./जी.प्र./८३/२०५/१ जायमानजीवेन शुक्रशोणितरूपपिण्डस्य गरणं—शरीरतया उपादानं गर्भः। —माताका रुधिर और पिताका वीर्यरूप पुद्गलका शरीररूप ग्रहणकरि जीवका उपजना सो गर्भ जन्म है।

गर्भज जीव—दे० जन्म/२।

गर्भाधान क्रिया—दे० संस्कार/२।

गर्भान्वय की ५३ क्रियाएँ—(दे० संस्कार /२)।

गर्व—दे० गारव।

गर्हण—१. निन्दन गर्हण ही सम्यग्दृष्टिका चारित्र है—दे० सम्यग्दृष्टि/५। २. स्व निन्दा—दे० निन्दा।

गर्हा—(स. सा./ता.वृ./३०६)—गुरुसाक्षिदोषप्रकटनं गर्हा। —गुरुके समक्ष अपने दोष प्रगट करना गर्हा है।

पं. ध./उ./४७४ गर्हणं तत्परित्यागः पञ्चगुर्वात्मसाक्षिकः। निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये ।४७४। —निश्चयसे प्रमाद रहित होकर अपनी शक्तिके अनुसार उन कर्मोंके क्षयके लिए जो पंचपरमेष्ठीके सामने आत्मसाक्षिपूर्वक उन रागादि भावोंका त्याग है वह गर्हा कहलाती है।

गर्हित वचन—दे० वचन।

गलितावशेष—गलितावशेष गुणश्रेणी आयाम—दे० संक्रमण/८।

गवेषणा—ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा—और मीमांसा, ये ईहाके पर्याय नाम हैं। —दे० ऊहा

ध.१३/५,५,३८/२४२/१० गवेष्यते अनया इति गवेषणा। —जिस (ज्ञान) के द्वारा गवेषणा की जाती है वह गवेषणा है।

गव्यूति—क्षेत्रका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१ अपर नाम कोश है।

गांगेय—(पां.पु./सर्ग/श्लोक) इनका अपर नाम भीष्माचार्य था और राजा पाराशरका पुत्र था (७/८०)। पिताको धीवरकी कन्यापर आसक्त देख धीवरकी शर्त पूरी करके अपने पिताको सन्तुष्ट करनेके लिए आपने स्वयं राज्यका त्याग कर दिया और आजन्म ब्रह्मचर्यसे रहनेकी भीष्म प्रतिज्ञा की (७/९२–१०६)। कौरवों तथा पाण्डवोंको अनेकों उपयोगी विषयोंकी शिक्षा दी (८/२०८)। कौरवों द्वारा पाण्डवोंका दहन सुन दुःखी हुए (१२/१८६)। अनेकों बार कौरवोंकी ओरसे पाण्डवोंके विरुद्ध लड़े। अन्तमें कृष्ण जरासन्ध युद्धमें राजा शिखण्डी द्वारा मरणासन्न कर दिये गये। तब उन्होंने जीवनका अन्त जान सन्यास धारण कर लिया (१९/२४३)। इसी समय दो चारण मुनियोंके आजानेपर सल्लेखनापूर्वक प्राण त्याग ब्रह्म स्वर्गमें उत्पन्न हुए (१९/२५४–२७१)।

गांधार—१. एक स्वर—दे० स्वर। २. वर्तमान कन्धार या अफगानिस्तान देश। यह देश सिन्धु नदी व कश्मीरके पश्चिममें

स्थित है। इसकी प्राचीन राजधानियाँ पुरुषपुर (पेशावर) और पुष्करावर्त (हस्तनागपुर) थी। (म.पु./प्र.४०/पं. पन्नालाल) ३. सिकन्दर द्वारा भाजित पंजाबका जेहलमसे पश्चिमका भाग गांधार था (वर्तमान भारत इतिहास) ४. भरत क्षेत्र उत्तर आर्य-खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

गांधारी—१. (पां.पु./सर्ग/श्लोक) भोजकवृष्णिकी पुत्री थी और धृतराष्ट्रसे बिवाही गयी थी। (८/१०८-१११)। इसने दुर्योधन आदि सौ पुत्रोंको जन्म दिया जो कौरव कहलाये। (८/१८३-२०५)। २. भगवान् विमलनाथकी शासक यक्षिणी—दे० यक्ष। ३.—एक विद्याधर विद्या—दे० विद्या।

गारव—(भा.पा./टी./१५७/२६६।२१) गारवं शब्दगारवर्द्धिगारवसात-गारवभेदेन त्रिविधं। तत्र शब्दगारवं वर्णोच्चारगर्वः, ऋद्धिगारवं शिष्यपुस्तककमण्डलुपिच्छपट्टादिभिरात्मोद्भावनं, सात-गारवं भोजनपानादिसमुत्पन्नसौख्यलीलामदस्तैर्मोहमदगारवैः। —गारव तीन प्रकारका—शब्द गारव, ऋद्धि गारव और सात गारव। तहाँ वर्णके उच्चारणका गर्व करना शब्द गारव है। शिष्य पुस्तक कमण्डलु पिच्छी या पट्ट आदि द्वारा अपनेको ऊँचा प्रगट करना ऋद्धि गारव है। भोजन पान आदिसे उत्पन्न सुखकी लीलासे मस्त होकर मोहमद करना सात गारव है। (मो.पा./टी./२७/३२२/१)।

२. न्याय विषयक गारव दोष—दे० अति प्रसंग।

३. कायोत्सर्गका अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

गारवातिचार—दे० अतिचार/३।

गार्ग्य—एक अक्रियावादी—दे० अक्रियावाद।

गार्हपत्य अग्नि—दे० अग्नि।

गिरनार—भरत क्षेत्रका एक पर्वत। अपर नाम ऊर्जयंत। सौराष्ट्र देश जूनागढ़ स्टेटमें स्थित है—दे० मनुष्य/४।

गिरिकूट—ऐरावती नदीके पास स्थित भरत क्षेत्रका एक पर्वत —दे० मनुष्य/४।

गिरिव्रज—पंजाब देशका वर्तमान जलालपुर नगर—(म.पु./प्र. ५०/पं. पन्नालाल)।

गिरिशिखर—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर। —दे० विद्याधर।

गीतरति—गन्धर्व जातिके व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० गंधर्व।

गीतरस—गन्धर्व जातिके व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० गंधर्व।

गुंजाफल—तौलका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१/२।

गुड़—तौलका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१।

गुण—जैन दर्शनमें 'गुण' शब्द वस्तुकी किन्हीं सहभावी विशेषताओंका वाचक है। प्रत्येक द्रव्यमें अनेकों गुण होते हैं—कुछ साधारण कुछ असाधारण कुछ स्वाभाविक और कुछ विभाविक। परिणमनशील होनेके कारण गुणोंकी अखण्ड शक्तियोंकी व्यक्तियोंमें नित्य हानि वृद्धि दृष्टिगत होती है, जिसे मापनेके लिए उसमें अविभागी प्रतिच्छेदों या गुणांशोंकी कल्पना की जाती है। एक गुणमें आगे पीछे अनेकों पर्यायें देखी जा सकती हैं; परन्तु एक गुणमें कभी भी अन्य गुण नहीं देखे जा सकते हैं।

१. गुणके भेद व लक्षण

१. गुण सामान्यका लक्षण

स.सि./५/३८/३०१ पर उद्धृत गुण इदि दव्वविहाणं। —द्रव्यमें भेद करनेवाले धर्मको गुण कहते हैं।

आ.प./६ गुण्यते पृथक्क्रियते द्रव्यं द्रव्यान्तराद्यैस्ते गुणाः। —जो द्रव्यको द्रव्यान्तरसे पृथक् करता है सो गुण है।

न्या.दी./३/§७८/१२१ यावद्द्रव्यभाविनः सकलपर्यायानुवर्तिनो गुणाः वस्तुत्वरूपरसगन्धस्पर्शादयः। —जो सम्पूर्ण द्रव्यमें व्याप्त कर रहते हैं और समस्त पर्यायोंके साथ रहनेवाले हैं उन्हें गुण कहते हैं। और वे वस्तुत्व, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि हैं।

पं.ध./पू./४८ शक्तिर्लक्ष्मविशेषो धर्मो रूपं गुणः स्वभावश्च। प्रकृतिशीलं चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दाः।४८।

पं.ध./उ./४७८ लक्षणं च गुणश्चाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवाचकाः।४७८। —१. शक्ति, लक्षण, विशेष, धर्म, रूप, गुण, स्वभाव, प्रकृति, शील और आकृति ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं।४८। २. लक्षण, गुण और अंग ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं।

२. गुणके साधारण असाधारणादि मूल भेद

न.च.वृ./११ दव्वाणं सहभूदा सामण्णविसेसदो गुणा णेया। —द्रव्योंके सहभूत गुण सामान्य व विशेषके भेदसे दो प्रकारके होते हैं।

प्र.सा./त.प्र./९५ गुणा विस्तारविशेषाः, ते द्विविधाः सामान्यविशेषात्मकत्वात्। —गुण द्रव्यके विस्तार विशेष हैं। वे सामान्य विशेषात्मक होनेसे दो प्रकारके हैं। (पं.ध./पू./१६०-१६१)

प.प्र./टी./१/५८/५८/७ गुणास्त्रिविधा भवन्ति। केचन साधारणाः केचनासाधारणाः, केचन साधारणासाधारणा इति। —गुण तीन प्रकारके हैं—कुछ साधारण हैं, कुछ असाधारण हैं और कुछ साधारणासाधारण हैं।

श्लो.वा./भाषा २/१/४/५३/१५८/११ अनुजीवी प्रतिजीवी, पर्यायशक्तिरूप और आपेक्षिक धर्म इन चार प्रकारके गुणोंका समुदाय रूप ही वस्तु है।

३. साधारण व असाधारण या सामान्य व विशेष गुणोंके लक्षण

प.प्र./टी./१/५८/५८/८ ज्ञानसुखादयः स्वजातौ साधारणा अपि विजातौ पुनरसाधारणाः। —ज्ञान सुखादि गुण स्वजातिकी अर्थात् जीवकी अपेक्षा साधारण है और विजाति द्रव्योंकी अपेक्षा असाधारण है।

अध्यात्मकमल मार्तण्ड/२/७-८ सर्वेष्वविशेषेण हि ये द्रव्येषु च गुणाः प्रवर्तन्ते। ते सामान्यगुणा इह यथा सदादिप्रमाणतः सिद्धम्।७। तस्मिन्नेव विवक्षितवस्तुनि मग्नाः इहेदमिति चिज्जाः। ज्ञानादयो यथा ते द्रव्यप्रतिनियतो विशेषगुणाः।८। —सभी द्रव्योंमें विशेषता रहित जो गुण वर्तन करते हैं, वे सामान्य गुण हैं जैसे कि सत् आदि गुण प्रमाणसे सिद्ध हैं।७। उस ही विवक्षित वस्तुमें जो मग्न हो तथा 'यह वह है' इस प्रकारका ज्ञान करानेवाले गुण विशेष हैं। जैसे—द्रव्यके प्रतिनियत ज्ञानादि गुण।८।

४. स्वभाव विभाव गुणोंके लक्षण

प.प्र/टी./१/५७/५६/१२ जीवस्य यावत्कथ्यन्ते। केवलज्ञानादयः स्वभावगुणा असाधारणा इति। अगुरुलघुका स्वगुणास्ते···सर्वद्रव्यसाधारणाः। तस्यैव जीवस्य मतिज्ञानादिविभावगुणा···इति। इदानीं पुद्गलस्य कथ्यन्ते। तस्मिन्नेव परमाणौ वर्णादयः स्वभावगुणा इति। ···द्व्यणुकादिस्कन्धेषु वर्णादयो विभावगुणाः इति भावार्थः। धर्माधर्माकाशकालानां स्वभावगुणपर्यायास्ते च यथावसरं कथ्यन्ते। —जीवकी अपेक्षा कहते हैं। केवलज्ञानादि उसके असाधारण स्वभाव गुण हैं और अगुरुलघु उसका साधारण स्वभाव गुण है। उसी जीवके मतिज्ञानादि विभावगुण हैं। अब पुद्गलके कहते हैं। परमाणुके वर्णादिगुण स्वभावगुण हैं और द्व्यणुकादि स्कन्धोंके विभावगुण हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंके भी स्वभाव गुण और पर्याय यथा अवसर कहते हैं।

२. गुण निर्देश

१. गुणका अनेक अर्थोंमें प्रयोग

रा.वा./२/३४/२/४९८/१७ गुणशब्दोऽनेकस्मिन्नर्थे दृष्टप्रयोगः कश्चिद्रूपादिषु वर्तते-रूपादयो गुणा इति क्वचिद्भागे वर्तते द्विगुणा यवास्त्रिगुणा यवा इति। क्वचिदुपकारे वर्तते-गुणज्ञः साधुः उपकारज्ञ इति यावत्। क्वचिद्द्रव्ये वर्तते-गुणवानयं देश इत्युच्यते यस्मिन् गावः शस्यानि च निष्पद्यन्ते। क्वचित्समेष्ववयवेषु-द्विगुणा रज्जुः त्रिगुणा रज्जुरिति। क्वचिदुपसर्जने-गुणभूता वयमस्मिन् ग्रामे उपसर्जनभूता इत्यर्थः। —गुण शब्दके अनेक अर्थ हैं—जैसे रूपादि गुण (रूप रस गन्ध स्पर्श इत्यादि गुण) में गुणका अर्थ रूपादि है। 'दोगुणा यव त्रिगुणा यव' में गुणका अर्थ भाग है। 'गुणज्ञ साधु' में या 'उपकारज्ञ' में उपकार अर्थ है। 'गुणवानदेश' में द्रव्य अर्थ है, क्योंकि जिसमें गौयें या धान्य अच्छा उत्पन्न होता है वह देश गुणवान कहलाता है। द्वि गुण रज्जु त्रिगुणरज्जु' में समान अवयव अर्थ है। 'गुणभूता वयम्' में गौण अर्थ है। (भ. आ./वि./७/३७/४)।

ध./१/१,१,८/गा. १०४/१६१ जेहि दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहि भावेहि। जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहि।१७४।

रा.वा./७/११/६/४३८/२५ सम्यग्दर्शनादयो गुणाः।

ध. १५/१७४/१ को पुण गुणा? संजमो संजमासंजमो वा।

ध. १/१.१.८/१६१/३ गुणसहचरित्वादात्मापि गुणसंज्ञां प्रतिलभते।

ध.१/१,१,८/१६०/७ के गुणाः? औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिका इति गुणाः।

प्र.सा./त.प्र./९५ गुणा विस्तारविशेषाः।९५।

वसु. श्रा./५१३ अणिमा महिमा लघिमा पागम्म वसित्त कामरूवित्तं। ईसत्त पावणं तह अट्ठगुणा वण्णिया समए।५१३। =१. कर्मोंके उदय उपशमादिसे उत्पन्न जिन परिणामोंसे युक्त जो जीव देखे जाते हैं, वे उसी गुण संज्ञावाले कहे जाते हैं।१०४। (गो. क./मू./८१२/९८७)। २. सम्यग्दर्शनादि भी गुण हैं। ३. संजम व संजमासंजम भी गुण कहे जाते हैं। ४. गुणोंके सहवर्ती होनेसे आत्मा भी गुण कह दिया जाता है। ५. औदयिक औपशमिक आदि पाँच भाव भी गुण कहे गये हैं। ६. गुणको विस्तार विशेष भी कहा जाता है। ७. अणिमा महिमा आदि ऋद्धियाँ भी गुण कहे जाते हैं।

३. गुणांशके अर्थमें गुण शब्दका प्रयोग

त. सू./५/३३-३६ स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः।३३। न जघन्यगुणानां।३४। गुणसाम्ये सदृशा-ाम्।३५। द्व्यधिकादि गुणानां तु।३६।

स. सि./५/३५/३०५/१० गुणसाम्यग्रहणं तुल्यभागसंप्रत्ययार्थम्।

रा. वा./५/३४/२/४९८/२१ तत्रेह भागे वर्तमानः परिगृह्यते। जघन्यो गुणो येषां ते जघन्यगुणास्तेषां जघन्यगुणानां नास्ति बन्ध.।

ध. १४/५.६.५३६/४५०/५ पयगुणं त्ति किं वेप्पदि। जहण्णगुणस्स गहणं। सो च जहण्णगुणो अणंतेहि अविभागपडिच्छेदेहि णिप्पण्णो।

ध. १४/५.६.५४०/४५१/५ गुणस्स विदियअवत्थाविसेसो विदियगुणो णाम। तदियो अवत्थाविसेसो तदियगुणो णाम। =१. स्निग्धत्व और रूक्षत्वसे बन्ध होता है।।३३। जघन्य गुणवाले पुद्गलोंका बन्ध नहीं होता है।३४। समान गुण होनेपर तुल्य जातिवालोंका बन्ध नहीं होता है।३५। दो अधिक गुणवालोंका बन्ध होता है।३६। २. तुल्य शक्त्यंशोंका ज्ञान करानेके लिए 'गुणसाम्य' पदका ग्रहण किया है। ३. यहाँ भाग अर्थ विवक्षित है। जिनके जघन्य (एक) गुण होते हैं वे जघन्य गुण कहलाते हैं। उनका बन्ध नहीं होता। ४. एक गुणसे जघन्य गुण ग्रहण किया जाता है जो अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदोंसे निष्पन्न है। ५. उसके ऊपर एक आदि अविभागी प्रतिच्छेदकी वृद्धि होनेपर गुणकी द्वितीयादि अवस्था विशेषोंकी द्वितीय-गुण तृतीयगुण आदि संज्ञा होती है।ध०।

३. एक अखण्ड गुणमें अविभागी प्रतिच्छेदरूप खण्ड कल्पना

ध. १४/५.६.५३६/४५०/६ सो च जहण्णगुणो अणंतेहि अविभागपडिच्छेदेहि णिप्पण्णो। =वह जघन्यगुण अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदोंसे निष्पन्न होता है।

पं. ध./५३ तासामन्यतरस्या भवन्त्यनन्ता निरंशका अंशाः। =उन अनन्त शक्तियों या गुणोंमें-से प्रत्येक शक्तिके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं।(अध्यात्मकमलमार्तण्ड/२/६)

४. उपरोक्त खण्ड कल्पनामें हेतु तथा भेद-अभेद समन्वय

ध. १४/५,६.५३६/४५०/७ तं कथं णव्वदे। सो अणंतविस्सासुवचएहि उवचिदो त्ति सुत्तण्णहाणुववत्तीदो। ण च एक्कम्मि अविभागपडिच्छेदे संते एगविस्सासुवचयं मोत्तूण अणंताणंतविस्सासुवचयाणं तत्थ संभवो अत्थि, तेसिं संबंधस्स णिप्पच्चयप्पसंगादो। ण च तस्स विस्सासुवचएहि बंधो वि अत्थि जहण्णवज्जे त्ति सुत्तेण सह विरोहादो। =प्रश्न—यह किस प्रमाणसे जाना जाता है (कि पुद्गलके बन्ध योग्य एक जघन्य गुण अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदोंसे निष्पन्न है)? उत्तर—'वह अनन्त विस्रसोपचयोंसे उपचित है' यह सूत्र (ष. खं. १४/५.६/सू. ५३६/४५०) अन्यथा बन नहीं सकता है, इससे जाना जाता है कि वह अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदोंसे निष्पन्न होता है। प्रश्न—अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदके रहते हुए वहाँ केवल एक विस्रसोपचय (बन्धयोग्य परमाणु) न होकर अनन्त विस्रसोपचय संभव हैं (या हो जायेंगे)? उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्थामें उनका सम्बन्ध (उन परमाणुओंका बन्ध) बिना कारणके होता है, ऐसा प्रसंग प्राप्त होता है। यदि कहा जाये कि उसका विस्रसोपचयोंके साथ बन्ध भी होता है, सो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'जघन्य गुणवालोंके साथ बन्ध नहीं होता' ('न जघन्य गुणानां'/त. सू./५/३४) इस सूत्रके साथ विरोध आता है।

पं. ध./पू./५८,५९ देशच्छेदो हि यथा न तथा छेदो भवेद्गुणांशस्य। विष्कम्भस्य विभागात्स्थूलो देशस्तथा न गुणभागः।५८। तेन गुणांशेन पुनर्गणिताः सर्वे भवन्त्यनन्तास्ते तेषामात्मा गुण इति न हि ते गुणतः पृथक्त्वसत्ताकः।५९। =जैसे चौड़ाईके विभागसे देशका छेद होता है वैसे गुणांशका छेद नहीं होता। क्योंकि जैसे वह देश देशांश स्थूल होता है वैसे गुणांशस्थूल नहीं होता।५८। उस जघन्य अविभाग प्रतिच्छेदसे यदि सब गुणांश गिने जावें तो वे अनन्त होते हैं, और उन सब गुणांशोंका आत्मा ही गुण कहलाता है। तथा वे सब गुणांश निश्चयसे गुणसे पृथक् सत्तावाले नहीं हैं।५९।

५. गुणका परिणामीपना तथा तद्गत शंका

अध्यात्मकमल मार्तण्ड/२/६ अन्वयिनः किल नित्या गुणाश्च निर्गुणाऽवयवा ह्यनन्तांशाः। द्रव्याश्रया विनाशप्रादुर्भावाः स्वशक्तिभिः शश्वत्।६। =गुणोंमें नित्य ही अपनी शक्तियों द्वारा विनाश व प्रादुर्भाव होता रहता है।

पं. ध./५/११२-११९ वस्तु यथा परिणामी तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि। तस्मादुत्पादव्ययद्वयमपि भवति हि गुणानां तु।११२। ननु नित्या हि गुणा अपि भवन्त्यनित्यास्तु पर्ययाः सर्वे। तत्किं द्रव्यवदिह किल नित्यानित्यात्मकाः गुणाः प्रोक्ताः।११५। सत्यं तत्र यतः स्यादिदमेव विवक्षितं यथा द्रव्ये। न गुणेभ्यः पृथगिह तत्सदिति द्रव्यं च पर्यायाश्चेति।११६। अयमर्थः सन्ति गुणा अपि किल परिणामिनः स्वतः सिद्धाः। नित्यानित्यत्वादप्युत्पादित्रयात्मकाः सम्यक्।११९। =जैसे वस्तु परिणमनशील है वैसे ही गुण भी परिणमनशील है, इसलिए निश्चय करके गुणके भी उत्पाद और व्यय ये दोनों होते हैं।११२। प्रश्न—गुण नित्य होते हैं और सम्पूर्ण पर्यायें अनित्य होती हैं, तो फिर क्यों इस प्रकरणमें द्रव्यकी तरह गुणोंको नित्या-नित्यात्मक कहा है? उत्तर—ठीक है, क्योंकि यहाँ यही विवक्षित है कि जैसे द्रव्यमें जो 'सत' है, यह सत् गुणोंसे पृथक् नहीं है वैसे ही द्रव्य और पर्यायें भी गुणोंसे पृथक् नहीं हैं।।११६। गुण स्वयंसिद्ध है और परिणामी भी है, इसलिए वे नित्य और अनित्य रूप होनेसे उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक भी हैं।११९।

६. गुणका अर्थ अनन्त पर्यायोंका समूह

प्र. सा./त. प्र./९५ गुणा विस्तारविशेषाः। =गुण विस्तार विशेष हैं।

श्लो. वा./भाषा/२/१/६/५६/५०३/७ कालत्रयवर्ती अनंतानंत पर्यायोंका ऊर्ध्वांश समुदाय एक गुण है।

७. परिणमन करे पर गुणान्तर रूप नहीं हो सकता

रा.वा./५/२४/२५/४९०/२८ स्पर्शादीनां गुणानां परिणाम एकजातीय इत्येतस्यार्थस्य ख्यापनार्थं 'च' क्रियते पृथक्ग्रहणम्। तद्यथा स्पर्श एको गुणः काठिन्यलक्षणः स्वजात्यपरित्यागेन पूर्वोत्तरस्वगतभेदविरोधोपजननसंतत्या वर्तमानः, द्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयानन्तगुण-स्पर्शपर्यायैरेव परिणमते न मृदुगुरुलघ्वादिस्पर्शैः। एवं मृद्वादयोऽपि जोज्याः। रसश्च तिक्त एक एव गुणः रसजातिमजहत् पूर्वप्रलयोत्पादावनुभवत् द्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयानन्तगुणतिक्तरसैरेव परिणमते

न कटुकादिरसैः। एवं कटुकादयो वेदितव्याः।···अथ यदा कठिनस्पर्शो मृदुस्पर्शेन, गुरुर्लघुना, स्निग्धो रूक्षेण, शीत उष्णेन परिणमते तिक्तश्च कटुकादिभिः···इतरैश्चेतरैः, संयोगे च गुणान्तरैस्तदा कथम्। तत्रापि कठिनस्पर्शः स्पर्शजातिमजहत् मृदुस्पर्शेनैव विनाशोत्पादौ अनुभवत् परिणमते नेतरैः, एवमितरत्रापि योज्यम्। —'स्पर्शादि गुणोंका एकजातीय परिणमन होता है' इसकी सूचना करनेके लिए पृथक् सूत्र बनाया है। जैसे कठिनस्पर्श अपनी जातिको न छोड़कर पूर्व और उत्तर स्वगत भेदोंके उत्पाद विनाशको करता हुआ दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण स्पर्श पर्यायोंसे ही परिणत होता है, मृदु गुरु लघु आदि स्पर्शोंसे नहीं। इसी तरह मृदु आदि भी। तिक्त रस रसजातिको न छोड़कर उत्पाद विनाशको प्राप्त होकर भी दो तीन चार संख्यात असंख्यात अनन्त गुण तिक्तरसरूप ही परिणमन करेगा कटुक आदि रसोंसे नहीं। इसी तरह कटुक आदिमें भी समझना चाहिए। (इसी प्रकार गन्ध व वर्ण गुणमें भी लागू कर लेना)। प्रश्न—जब कठिन स्पर्श मृदुरूपमें, गुरु लघुरूपमें, स्निग्ध रूक्षमें, और शीत उष्णमें बदलता है, इसी तरह तिक्त कठिनादि रूपसे···तथा और भी परस्पर संयोगसे गुणान्तर रूपमें परिणमन करते हैं, तब यह एकजातीय परिणमनका नियम कैसे रहेगा? उत्तर—ऐसे स्थानमें कठिन स्पर्श अपनी स्पर्श जातिको न छोड़कर ही मृदु स्पर्शसे विनाश उत्पादका अनुभव करता हुआ परिणमन करता है अन्य रूपमें नहीं। इसी तरह अन्य गुणोंमें भी समझ लेना चाहिए।

८. प्रत्येक गुण अपने-अपने रूपसे पूर्ण स्वतन्त्र है

पं.ध./उ./१०१२-१०१३ न गुणः कोऽपि कस्यापि गुणस्यान्तर्भवः क्वचित्। नाधारोऽपि च नाधेयो हेतुर्नापीह हेतुमान् ।१०१२। किन्तु सर्वेऽपि स्वात्मीयाः स्वात्मीयशक्तियोगतः। नानारूपा ह्यनेकेऽपि सता सम्मिलिता मिथः ।१०१३। —प्रकृतमें कहीं भी कोई भी गुण किसी भी गुणका अन्तर्भावी नहीं है, आधार नहीं है, आधेय भी नहीं है, कारण और कार्य भी नहीं है ।१०१२। किन्तु अपनी अपनी शक्तिको धारण करनेकी अपेक्षासे सब गुण अपने अपने स्वरूपमें स्थित हैं। इस लिए यद्यपि वे नानारूप व अनेक हैं तथापि निश्चयपूर्वक वे सब गुण परस्परमें एक ही सत्के साथ अन्वयरूपसे सम्बन्ध रखते हैं।

उपादान निमित्त चिट्ठी (पं. बनारसी दास)—ज्ञान चारित्रके आधीन नहीं, चारित्र ज्ञानके आधीन नहीं। दोनों असहाय रूप हैं। ऐसी तो मर्यादा है।

९. गुणोंमें परस्पर कथंचित् भेदाभेद

पं.ध./पू./५१-५२ तदुदाहरणं चैतज्जीवे यद्दर्शनं गुणश्चैकः। तन्न ज्ञानं न सुखं चारित्रं वा न कश्चिदितरश्च ।५१। एवं यः कोऽपि गुणः सोऽपि च न स्यात्तदन्यरूपो वा। स्वयमुच्छलन्ति तदिमा मिथो विभिन्नाश्च शक्तयोऽनन्ताः ।५२। —जीवमें जो दर्शन नामका एक गुण है, वह न ज्ञान गुण है, न सुख है, न चारित्र अथवा कोई अन्य गुण ही हो सकता है। किन्तु वह 'दर्शन' दर्शन ही है ।५१। इसी तरह द्रव्यका जो कोई भी गुण है, वह भी उससे भिन्न रूपवाला नहीं हो सकता है अर्थात् सब गुण अपने अपने स्वरूपमें ही रहते हैं, इसलिए ये परस्पर भिन्न अनन्त ही शक्तियाँ द्रव्यमें स्वयं उछलती हैं—प्रतिभासित होती हैं ।५२।

१०. ज्ञानके अतिरिक्त सर्व गुण निर्विकल्प हैं

पं.ध./उ./३९२,३९५ नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता। शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा।३९२। ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सल्लक्षणाङ्किताः। सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्रकाः ।३९५। —जो आकार न हो सो अनाकार है। इसलिए वास्तवमें ज्ञानके बिना शेष अनन्त गुणोंमें निर्विकल्पता होती है। इसलिए ज्ञानके बिना शेष सब गुणोंका लक्षण अनाकार होता है ।३९२। ज्ञानके बिना शेष सब गुण केवल सत् रूप लक्षणसे ही लक्षित हैं। इसलिए सामान्य अथवा विशेष दोनों ही अपेक्षासे वास्तवमें अनाकार रूप ही होते हैं ।३९५।

११. सामान्य गुण द्रव्यके पारिणामिक भाव हैं

स.सि./२/७/१६१/५ ननु चास्तित्वनित्यत्वप्रदेशवत्त्वादयोऽपि भावाः पारिणामिकाः सन्ति, तेषामिह ग्रहणं कर्तव्यम्। न कर्तव्यम्; कृतमेव। कथम्? 'च' शब्देन समुच्चितत्वात्। यद्येवं त्रय इति संख्या विरुध्यते। न विरुध्यते, असाधारणा जीवस्य भावाः पारिणामिकास्त्रय एव। अस्तित्वादयः पुनर्जीवाजीवविषयत्वात्साधारणा इति 'च'शब्देन पृथग्गृह्यन्ते। —प्रश्न—अस्तित्व, नित्यत्व, और प्रदेशत्व आदिक भी पारिणामिक भाव हैं। उनका इस सूत्रमें ग्रहण करना चाहिए। उत्तर—उनका ग्रहण पहले ही 'च' शब्द द्वारा कर लिया गया है, अतः पुनः ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं। प्रश्न—यदि ऐसा है तो 'तीन' संख्या (जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व) विरोधको प्राप्त होती है? उत्तर—नहीं होती, क्योंकि जीवके असाधारण पारिणामिक भाव तीन ही हैं। अस्तित्वादिक तो जीव और अजीव दोनोंके साधारण हैं। इसलिए उनका 'च' शब्दके द्वारा अलगसे ग्रहण किया गया है।

१२. सामान्य व विशेष गुणोंका प्रयोजन

प्र.सा./त.प्र./१३४ चैतन्यपरिणामो चेतनत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवन् जीवमधिगमयति। एवं गुणविशेषाद्द्रव्यविशेषोऽधिगन्तव्यः। —चेतना गुण जीवका ही है। शेष पाँच द्रव्योंमें असम्भव होनेसे जीवको ही प्रगट करता है। इस प्रकार विशेष गुणोंके भेदसे द्रव्योंका भेद जाना जाता है।

पं.ध./पू./१६२ तेषामिह वक्तव्ये हेतुः साधारणैर्गुणैर्यस्मात्। द्रव्यत्वमस्ति साध्यं द्रव्यविशेषस्तु साध्यते त्वितरैः ।१६२। —यहाँपर उन गुणोंके कहनेमें प्रयोजन यह है कि जिस कारणसे साधारण गुणोंके द्वारा तो केवल द्रव्यत्व सिद्ध किया जाता है और विशेष गुणोंके द्वारा द्रव्य विशेष सिद्ध किया जाता है।

३. द्रव्य गुण सम्बन्ध

१. गुण वस्तुके विशेष हैं

पं.ध./पू./३८ अथ चैवं ते प्रदेशाः सविशेषा द्रव्यसंज्ञया भणिताः। अपि च विशेषाः सर्वे गुणसंज्ञास्ते भवन्ति यावन्तः ।३८। —विशेष गुणसहित वे प्रदेश ही द्रव्य नामसे कहे गये हैं और जितने भी विशेष हैं वे सब गुण कहे जाते हैं।

२. गुण द्रव्यके सहभावी विशेष हैं

प.प्र./मू./१/५७ सह-भुव जाणहि ताहँ गुण कमभुव पज्जउ वुत्तु। —सहभूको तो गुण जानो और क्रमभूको पर्याय। (पं.का./त.प्र./५); (पं.का./ता.वृ./५/१४/६); (प्र.सा./ता.वृ./९३/१२१/११); (नि.सा./ता.वृ./१०७); (त.अनु./११४); (पं.ध./पू.१३८)।

प्र.सा./त.प्र./२१५ सहक्रमप्रवृत्तानेकधर्मव्यापकानेकान्तमयः। —(विचित्र गुणपर्याय विशिष्ट द्रव्य) सह-क्रम-प्रवृत्त अनेक धर्मोंमें व्यापक अनेकान्तमय है।

न.च.वृ./११ दव्वाणं सहभूदा सामण्णविसेसदो गुणा णेया। –सामान्य विशेष गुण द्रव्योंके सहभूत जानने चाहिए।

आ.प./६ सहभावा गुणाः। –गुण द्रव्यके सहभाव होते हैं।

३. गुण द्रव्यके अन्वयी विशेष हैं

स./सि./५/३८/३०६/१ अन्वयिनो गुणाः। –गुण अन्वयी होते हैं। (प.प्र./टी./१/५७/५६); (प्र.सा./ता.वृ./९३/१२१/११); (अध्यात्म कमल मार्तण्ड/२/६); (पं.ध./पू./१३८)।

प्र.सा./त.प्र./८० तत्रान्वयो द्रव्यं, अन्वयविशेषणं गुण.। –वहाँ अन्वय द्रव्य है। अन्वयका विशेषण गुण है।

४. द्रव्यके आश्रय गुण रहते हैं पर गुणके आश्रय अन्य गुण नहीं रहते

वैशे. द०/१-१/सूत्र १६ द्रव्याश्रयगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ।१६। –द्रव्यके सहारे रहनेवाला हो, जिसमें कोई अन्य गुण न हो, और वस्तुओंके संयोग व विभागमें कारण न हो। क्रिया व विभागकी अपेक्षा न रखता हो। यही गुणका लक्षण है।

त. सू./५/४१ द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ।४१। –जो निरन्तर द्रव्यमें रहते हैं और अन्य गुण रहित हैं वे गुण हैं। (अध्यात्म कमल मार्तण्ड/२/६)

प्र. सा./त. प्र./१३० द्रव्यमाश्रित्य परानाश्रयत्वेन वर्तमानैर्लिङ्ग्यते गम्यते द्रव्यमेतैरिति लिङ्गानि गुणाः। –द्रव्यका आश्रय लेकर और परके आश्रयके बिना प्रवर्तमान होनेसे जिनके द्वारा द्रव्य लिंगित (प्राप्त) होता है, पहचाना जा सकता है, ऐसे लिंग गुण हैं। (प्र. सा./त. प्र./८७)

५. द्रव्योंमें सामान्य गुणोंके नाम निर्देश

न. च. वृ./११ १६ सव्वेसिं सामण्णा दह···।११। अत्थित्तं वत्थुत्तं दव्वत्तं पमेयत्तं अगुरुलहुगुत्तं। देसत्तं चेदणिदरं मुत्तममुत्तं वियाणेहि।१२। एक्केक्का अट्ठट्ठा सामण्णा हुंति सव्वदव्वाणं ।१५।

न. च. वृ./१६ की टिप्पणी–द्वौ द्वौ गुणौ हीनौ। जीवद्रव्येऽचेतनत्वं मूर्तत्वं च नास्ति, पुद्गलद्रव्ये चेतनत्वममूर्तत्वं च नास्ति। धर्माधर्माकाशकालद्रव्येषु चेतनत्वममूर्तत्वं च नास्ति। एवं द्विद्विगुणवर्जिते अष्टौ अष्टौ सामान्यगुणाः प्रत्येकद्रव्ये भवन्ति। –सर्व ही सामान्य गुण दस हैं—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व। इनमें से प्रत्येक द्रव्यमें आठ आठ होते हैं। प्रश्न—वे दो दो गुण कौनसे कम हैं। उत्तर—जीवद्रव्यमें अचेतनत्व व मूर्तत्व नहीं है। पुद्गल द्रव्यमें चेतनत्व व अमूर्तत्व नहीं हैं। धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्योंमें चेतनत्व व मूर्तत्व नहीं हैं। इस प्रकार दो गुण वर्जित आठ-आठ सामान्य गुण प्रत्येक द्रव्यमें हैं। (आ. प/२); (प्र. प/टी./१/५८/५८/८)।

प्र. सा./त. प्र./ ९५ तत्रास्तित्वं नास्तित्वमेकत्वमन्यत्वं द्रव्यत्वं पर्यायत्वं सर्वगतत्वमसर्वगतत्वं सप्रदेशत्वमप्रदेशत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं सक्रियत्वमक्रियत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं कर्तृत्वमकर्तृत्वं भोक्तृत्वमभोक्तृत्वमगुरुलघुत्वं चेत्यादयः सामान्यगुणाः। –(तहाँ दो प्रकारके गुणोंमें) अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व, सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, सक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि सामान्य गुण हैं। (नोट—इनमें कुछ आपेक्षिक धर्मोंके भी नाम हैं—जैसे नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व अभोक्तृत्व।

६. द्रव्योंमें विशेष गुणोंके नाम निर्देश

न च. वृ/११,१३, १५ सव्वेसिं सामण्णा दह भणिया सोलस विसेसा।११। णाणं दंसणसुहसत्तिरूवरसगंधफासगमणठिदी। वट्टणगाहणहेउं मुत्तममुत्तं खलु चेदणिदरं च।१३। छ वि जीवपोग्गलाणं इयराण वि सेस तितिभेदा।१५। –सर्व द्रव्योंमें विशेष गुण सोलह कहे गये हैं।११। —ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, अवगाहनाहेतुत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, चेतनत्व, और अचेतनत्व।१३। तिनिमें से जीव व पुद्गलमें तो छह-छह है और शेष चार द्रव्योंमें तीन-तीन। (विशेष देखो उस उस द्रव्यका नाम); (आ. प./२)।

प्र. सा/त.प्र/९५ अवगाहनाहेतुत्वं गतिनिमित्तता स्थितिकारणत्वं वर्तनायतनत्वं रूपादिमत्ता चेतनत्वमित्यादयो विशेषगुणाः। –अवगाहनाहेतुत्व, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, रूप-रस-गन्धादिमत्ता, चेतनत्व इत्यादि विशेष गुण हैं।

७. द्रव्योंमें साधारणासाधारण गुणोंके नामनिर्देश

न. च. वृ/१६ चेदणमचेदणा तह मुत्तममुत्ता वि चरिमे जे भणिया। समण्णा सजाईणं ते वि विसेसा विजाईणं।१६। –अन्तमें कहे गये जो चार सामान्य या विशेष गुण, अर्थात् मूर्तत्व, अमूर्तत्व, चेतनत्व अचेतनत्व ये स्वजातिकी अपेक्षा तो साधारण हैं और विजातिकी अपेक्षा विशेष हैं। यथा—(देखो निचला उद्धरण)।

प. प्र./टी/१/५८/५८/८ जीवस्य तावदुच्यन्ते।···ज्ञानसुखादयः स्वजातौ साधारणा अपि विजातौ पुनरसाधारणाः। अमूर्तत्वं पुद्गलद्रव्यं प्रत्यसाधारणमाकाशादिकं प्रति साधारणम्। प्रदेशत्वं पुनः कालद्रव्यं प्रति पुद्गलपरमाणुद्रव्यं च प्रत्यसाधारणं शेषद्रव्यं प्रति साधारणमिति संक्षेपव्याख्यानम्। एवं शेषद्रव्याणामपि यथासंभवं ज्ञातव्यमिति भावार्थः। –पहले जीवकी अपेक्षा कहते हैं।···ज्ञान सुखादि गुण स्वजातिकी अपेक्षा साधारण होते हुए भी विजातिकी अपेक्षा असाधारण हैं। (सर्व जीवोंमें सामान्यरूपसे पाये जानेके कारण जीव द्रव्यके प्रति साधारण हैं और शेष द्रव्योंमें न पाये जानेसे उनके प्रति असाधारण हैं)। अमूर्तत्व गुण पुद्गलद्रव्यके प्रति असाधारण है परन्तु आकाशादि अन्य द्रव्योंके प्रति साधारण है। प्रदेशत्व गुण काल द्रव्य व पुद्गल परमाणुके प्रति साधारण है परन्तु शेष द्रव्योंके प्रति असाधारण है। इस प्रकार जीवके गुणोंका संक्षेप व्याख्यान किया। इसी प्रकार अन्य द्रव्योंके गुणोंका भी यथासंभव जानना चाहिए।

८. द्रव्योंमें अनुजीवी और प्रतिजीवी गुणोंके नाम निर्देश

पं. ध./उ./७४,३७६ अस्ति वैभाविकी शक्तिस्तत्तद्द्रव्योपजीविनी।··· ।७४। ज्ञानानन्दौ चितो धर्मौ नित्यौ द्रव्योपजीविनौ। देहेन्द्रियाद्यभावेऽपि नाभावस्तद्द्वयोरिति।३७६। –वैभाविकी शक्ति उस उस द्रव्यके अर्थात् जीव और पुद्गलके अपने अपने लिए उपजीविनी है।७४। ज्ञान व आनन्द ये दोनों चेतन-धर्म नित्य द्रव्योपजीवी हैं, क्योंकि देह व इन्द्रियोंका अभाव हो जानेपर भी उसका अभाव नहीं हो जाता।३७६।

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका/१७८-१७९. भावस्वरूप गुणोंको अनुजीवी-गुण कहते हैं। जैसे—सम्यक्त्व, चारित्र, सुख, चेतना, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदिक।१७८। वस्तुके अभावस्वरूप धर्मको प्रतिजीवी गुण कहते हैं। जैसे—नास्तित्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व वगैरह।१७९।

श्लो. वा./भाषा/१/४/५३/१५८/८ प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव ये प्रतिजीवी गुणस्वरूप अभाव अंश माने जाते हैं।

९. द्रव्यमें अनन्त गुण हैं

ध. ६/४,१,२/२७/६ अणंतेसु वट्टमाणपज्जाएसु तत्थ आवलियाए असंखेज्जदिभागमेत्तपज्जाया जहण्णोहिणाणेण विसईकया जहण्णभावो। के वि आइरिया जहण्णदव्वस्सुवरिट्ठिदरूव-रस-गंध-फासादिसव्वपज्जाए जाणदि त्ति भणंति। तण्ण घडदे, तेसिमाणंतियादो। ण हि ओहिणाणमुक्कस्सं पि अणंतसंखावगमक्खमं, आगमे तहोवदेसाभावादो।–उस (द्रव्य) की अनन्त वर्तमान पर्यायोंमेंसे जघन्य अवधिज्ञानके द्वारा विषयीकृत आवलीके असंख्यातवें भागमात्र पर्यायें जघन्य भाव हैं। कितने आचार्य 'जघन्य द्रव्यके ऊपर स्थित रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श आदि रूप सब पर्यायोंको उक्त अवधिज्ञान जानता है' ऐसा कहते हैं। किन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि, वे अनन्त हैं। और उत्कृष्ट भी अवधिज्ञान अनन्त संख्याके जाननेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि, आगममें वैसे उपदेशका अभाव है। (नोट—अनन्त गुणोंकी ही एक समयमें अनन्त पर्यायें होनी संभव हैं)।

न. च. वृ/६६ इगवीसं तु सहावा जीवे तह जाण पोग्गले णयदो। इयराणं संभवादो णायव्वा णाणवंतेहिं ।६६। –जीव व पुद्गल में २१ स्वभाव जानने चाहिए और शेष संभव स्वभावोंको ज्ञानियोंसे जानना चाहिए।

स. सा./१/३७–वस्तुनोऽनन्तधर्मस्य प्रमाणव्यञ्जितात्मनः। –अनन्त धर्म या गुणोंके समुदायरूप वस्तुका स्वरूप प्रमाण द्वारा जाना जाता है।

का. आ./टी./२२४/१५६/११ सर्वद्रव्याणि···त्रिष्वपि कालेषु···अनन्तानन्ता सन्ति, अनन्तानन्तपर्यायात्मकानि भवन्ति, अनन्तानन्तसदसन्नित्यानित्याद्यनेकधर्मविशिष्टानि भवन्ति। अतः सर्व···द्रव्यं जिनेन्द्रैः···अनेकान्तं भणितं।–तीनों ही कालोंमें सर्व द्रव्य अनन्तानन्त हैं; अनन्तानन्त पर्यायात्मक होते हैं; अनन्तानन्त, सत्, असत्, नित्य, अनित्यादि अनेक धर्मोंसे विशिष्ट होते हैं। इसलिए जिनेन्द्र देवोंने सर्व द्रव्योंको अनेकान्त स्वरूप कहा है।

ध /पू./४६ देशस्यैका शक्तिर्या काचित् सा न शक्तिरन्या स्यात्। क्रमतो वितर्क्यमाणा भवन्त्यनन्ताश्च शक्तयो व्यक्ताः ।४६।–द्रव्यकी एक विवक्षित शक्ति दूसरी शक्ति नहीं हो सकती अर्थात् सब अपने-अपने स्वरूपसे भिन्न-भिन्न हैं, इस प्रकार क्रमसे सब शक्तियोंका विचार किया जाय तो प्रत्येक वस्तुमें अनन्तों ही शक्तियाँ स्पष्ट रूपसे प्रतीत होने लगती हैं। (पं. ध./पू/५२)।

पं.ध./उ./१०१४ गुणानां चाप्यनन्तत्वे वाग्व्यवहारगौरवात्। गुणाः केचित्समुद्दिष्टाः प्रसिद्धाः पूर्वसूरिभिः ।१०१४। –यद्यपि गुणोंमें अनन्तपना है तो भी प्राचीन आचार्योंने अति ग्रन्थ विस्तारसे गौरव-दोष आता है इसलिए संक्षेपसे प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कुछ गुणोंका नामोल्लेख किया है।

१०. जीव द्रव्यमें अनन्तगुणोंका निर्देश

स.सा./आ./क.२ अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः। अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ।२।

स.सा./आ./परि. अत एवास्य ज्ञानमात्रैकभावान्तःपातिन्योऽनन्ताः शक्तय उत्प्लवन्ते। –१. जिसमें अनन्त धर्म हैं ऐसे जो ज्ञान तथा वचन तन्मयी जो मूर्ति (आत्मा) सदा ही प्रकाशमान है।२। २. अतएव उस (आत्मा) में ज्ञानमात्र एक भावकी अन्तःपातिनी अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं।

द्र.सं./टी./१४/४३/६ एवं मध्यमरुचिशिष्यापेक्षया सम्यक्त्वादि गुणाष्टकं भणितम्। मध्यमरुचिशिष्यं प्रति पुनर्विशेषभेदेन येन निर्गतित्वं, निरिन्द्रियत्वं,···निरायुषत्वमित्यादिविशेषगुणास्तथैवास्तित्ववस्तुत्वप्रमेयत्वादिसामान्यगुणाः स्वागमाविरोधेनानन्ता ज्ञातव्याः। –इस प्रकार (सिद्धोंमें) सम्यक्त्वादि आठ गुण मध्यम रुचिवाले शिष्योंके लिए हैं। मध्यम रुचिवाले शिष्योंके प्रति विशेष भेदनयके अवलम्बनसे गति रहितता, इन्द्रियरहितता, आयुरहितता आदि विशेष गुण और इसी प्रकार अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि सामान्य गुण, इस तरह जैनागमके अनुसार अनन्त गुण जानने चाहिए।

पं.ध./उ./६४३ उच्यतेऽनन्तधर्माधिरूढोऽप्येकः सचेतनः। अर्थजातं यतो यावत्स्यादनन्तगुणात्मकम् ।६४३। –एक ही जीव अनन्त धर्म युक्त कहा जाता है, क्योंकि, जितना भी पदार्थका समुदाय है वह सब अनन्त गुणात्मक होता है।

११. गुणोंके अनन्तत्व विषयक शंका व समन्वय

स.सा./आ./क२/पं. जयचन्द—प्रश्न—आत्माको जो अनन्त धर्मवाला कहा है, सो उसमें वे अनन्त धर्म कौनसे हैं? उत्तर—वस्तुमें अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तित्व, अमूर्तित्व इत्यादि (धर्म) तो गुण हैं और उन गुणोंका तीनों कालोंमें समय समयवर्ती परिणमन होना पर्याय है, जो कि अनन्त हैं। और वस्तुमें एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भेदत्व, अभेदत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व आदि अनेक धर्म हैं। वे सामान्यरूप धर्म तो वचन गोचर हैं, किन्तु अन्य विशेषरूप अनन्त धर्म भी हैं, जो कि वचनके विषय नहीं हैं, किन्तु वे ज्ञानगम्य हैं। आत्मा भी वस्तु है इसलिए उसमें भी अपने अनन्त धर्म हैं।

१२. द्रव्यके अनुसार उसके गुण भी मूर्त या चेतन आदि कहे जाते हैं

प्र.सा./मू./१३१ मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा। दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा ।१३१। –इन्द्रियग्राह्य मूर्तगुण पुद्गलद्रव्यात्मक अनेक प्रकारके हैं। अमूर्त द्रव्योंके गुण अमूर्त जानना चाहिए।

पं.का./त.प्र./४६ मूर्तद्रव्यस्य मूर्ता गुणाः। –मूर्त द्रव्यके मूर्त गुण होते हैं।

नि.सा./ता.वृ./१६८ मूर्तस्य मूर्तगुणाः, अचेतनस्याचेतनगुणाः, अमूर्तस्यामूर्तगुणाः, चेतनस्य चेतनगुणाः। –मूर्त द्रव्यके मूर्तगुण होते हैं, अचेतनके अचेतन गुण होते हैं, अमूर्तके अमूर्त गुण होते हैं, चेतनके चेतनगुण होते हैं।

गुणक—जिस राशि द्वारा किसी अन्य राशिको गुणा किया जाये —दे० गणित/II/१/५।

गुणकार—गुणकवत्। गणित/II/१/५।

गुणकीर्ति—१. श्रेणिक पुराण, धर्मामृत, रुक्मणि हरण, पद्म पुराण और रामचन्द्र हलदुलि के रचयिता एक मराठी कवि। (ती./४/३१६) २. देशीयगणके आचार्य। समय—ई. ६६०-१०४५। दे इतिहास/७/५।

गुणत्व—(वैशे. द./१-२/सूत्र १३ तथा गुणेषु भावात् गुणत्वम् ।१३। –सम्पूर्ण गुणोंमें रहनेवाला गुणत्व द्रव्य गुण कर्मसे पृथक् है।

गुणधर—दिगम्बर आम्नाय धरसेनाचार्य की भाँति आपका स्थान पूर्वविदों की परम्परा में है। आपने भगवान वीर से आगत 'पेज्ज दोसपाहुड' के ज्ञान को १८० गाथाओं में बद्ध किया जो आगे जाकर आचार्य परम्परा द्वारा यतिवृषभाचार्य को प्राप्त हुआ। इसी को विस्तृत करके उन्होंने 'कषाय पाहुड' की रचना की। समय—वी नि.श. ६ का पूर्वार्ध (वि. पू. श. १)। (विशेष दे. कोश १/परिशिष्ट/३/२)

गुणनंदि १—नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप जयनन्दिके शिष्य तथा वज्रनन्दिके गुरु थे। समय वि. शक

स. ३५८-३६४ (ई. ४३६-४४२)। (—दे० इतिहास/७/२)। मर्कराके ताम्रपटमें इनका नाम कुन्दकुन्दान्वयमें लिया गया है। अन्वयमें छह आचार्योंका उल्लेख है, तहाँ इनका नाम सबके अन्तमें है। ताम्रपटका समय—श. ३८८ (ई. ४६६) है। तदनुसार भी इनका समय ऊपरसे लगभग मेल खाता है। (क.पा.१/प्र.६१/पं. महेन्द्र)। २. गुणनन्दि नं. २, नन्दिसंघके देशीय गणके अनुसार अकलंकदेवकी आम्नायमें देवेन्द्राचार्यके गुरु थे। समय—वि.सं. ६००-६३० (ई. ८४१-८७३)। (प.खं२/प्र.१०/ H.L. Jain); (दे० —इतिहास/७/५)।

गुणन—गणित विधिमें गुणा करनेको गुणन कहते हैं—दे० गणित/ II/१/५।

गुणनाम—दे० नाम।

गुणपर्याय—दे० पर्याय।

गुणप्रत्यय—दे० अवधिज्ञान।

गुणभद्र—१. पंचस्तूप संघी, तथा महापुराण और जयधवला शेष के रचयिता आ. जिनसेन द्वि० के शिष्य। कृति—अपने गुरु कृत महापुराण को उत्तरपुराण की रचना करके पूरा किया। आत्मानुशासन, जिनदत्त चरित। समय—शक ८२० में उत्तर पुराण की पूर्ति (ई. ८७०-६१०)। (ती./३/८, ६। २ माणिक्यसेन के शिष्य सिद्धान्तवेत्ता। कृति—धन्यकुमार चरित, ग्रन्थ रचना काल चन्देलवंशी राजा परमार्दि देव के समय (ई. ११८२)। (ती./४/५६)। ३. काष्ठा संघ माथुर गच्छ मलय कीर्ति के शिष्य 'रइधु' के समकालीन अपभ्रंश कवि। कृति—सावण बारसि विहाण कहा, पक्खइ वय कहा, आयास पंचमी कहा, चंदायण वय कहा इत्यादि १५ कथायें। समय—वि.श. १५ का अन्त १६ का पूर्व (ई. श. १५ उत्तरार्ध) (ती./४/२१६)।

गुणयोग—दे० योग।

गुणवती—(पां.पु./७/१०७-११७) वृक्षके नीचे पड़ी एक धीवरको मिली। रत्नपुरके राजा रत्नांगदकी पुत्री थी। धीवरके घर पली। भीष्मके पिताके साथ इस शर्तपर विवाही गयी कि इसकी सन्तान ही राज्यकी अधिकारिणी होगी। इसे योजनगंधा भी कहते हैं। 'व्यासदेव' इसीके पुत्र थे।

गुणवर्म—पुष्पदन्तपुराणके कर्ता। समय ई० १२३०। (वरांग चरित्र/ प्र.२२/पं. खुशालचन्द) (ती./४/३०१)

गुणव्रत—१. लक्षण

र.क.श्रा./६७ अनुबृंहणाद्गुणानामाख्यायन्ति गुणव्रताण्यार्याः।६७। —गुणोंको बढ़ानेके कारण आचार्यगण इन व्रतोंको गुणव्रत कहते हैं।

सा.ध./५/१ यद्गुणायोपकारायाणुव्रतानां व्रतानि तत्। गुणव्रतानि। —ये तीन व्रत अणुव्रतोंके उपकार करनेवाले हैं, इसलिए इन्हें गुणव्रत कहते हैं।

२. भेद

भ.आ./मू./२०८१ जं च दिसावेरमणं अणत्थदंडेहिं जं च वेरमणं। देसावगासियं पि य गुणव्वयाइं भवे ताइं।२०८१। —दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्ड व्रत ये तीन गुणव्रत हैं। (स.सि./७/२१/३५६/६); (वसु. श्रा./ २१४-२१६)।

र.क.श्रा./६७ दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणं। अनुबृंहणाद् गुणानामाख्यायान्ति गुणव्रताण्यार्याः। —दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाण व्रत ये तीनों गुणव्रत कहे गये हैं।

महा.पु./१०/१६५ दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिः स्यादणुव्रतम्। भोगोपभोगसंख्यानमप्याहुस्तद्गुणव्रतम् ।१६५। —दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत ये तीन गुणव्रत हैं। कोई कोई आचार्य भोगोपभोग परिमाण व्रतको भी गुणव्रत कहते हैं। [देश व्रतको शिक्षाव्रतोंमें शामिल करते हैं] ।१६५।

गुणश्रेणी—दे० संक्रमण/८।

गुण संक्रमण—दे० संक्रमण/७।

गुणसेन—१ लाड़बागड़ संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप वीरसेन स्वामीके शिष्य तथा उदयसेन और नरेन्द्रसेनके गुरु थे। समय वि. ११३० (ई १०७३) —दे० इतिहास/७/१०। २. लाड़बागड़संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप नरेन्द्रसेनके शिष्य थे। समय वि. ११८० (ई ११२३) —दे० इतिहास/७/१०]।

गुणस्थान—मोह और मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिके कारण जीवके अन्तरंग परिणामोंमें प्रतिक्षण होनेवाले उतार चढ़ावका नाम गुणस्थान है। परिणाम यद्यपि अनन्त हैं, परन्तु उत्कृष्ट मलिन परिणामोंसे लेकर उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों तक तथा उससे ऊपर जघन्य वीतराग परिणामसे लेकर उत्कृष्ट वीतराग परिणाम तकको अनन्तों वृद्धियोंके क्रमको वक्तव्य बनानेके लिए उनको १४ श्रेणियोंमें विभाजित किया गया है। वे १४ गुणस्थान कहलाते हैं। साधक अपने अन्तरंग प्रबल पुरुषार्थ द्वारा अपने परिणामोंको चढ़ाता है, जिसके कारण कर्मों व संस्कारोंका उपशम, क्षय वा क्षयोपशम होता हुआ अन्तमें जाकर सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय हो जाता है, वही उसकी मोक्ष है।

१	**गुणस्थानों व उनके भावोंका निर्देश**
१	गुणस्थान सामान्यका लक्षण।
२	गुणस्थानोंकी उत्पत्ति मोह और योगके कारण होती है।
३	१४ गुणस्थानोंके नाम निर्देश
*	पृथक् पृथक् गुणस्थान विशेष। —दे० वह वह नाम
४	सर्व गुणस्थानोंमें विरताविरत अथवा प्रमत्ताप्रमत्तादिपनेका निर्देश।
*	ऊपरके गुणस्थानोंमें कषाय अव्यक्त रहती है। —दे० राग/३
*	अप्रमत्त पर्यन्त सब गुणस्थानोंमें अधःप्रवृत्तिकरण परिणाम रहते हैं। —दे० करण/४।
५	चौथे गुणस्थान तक दर्शनमोहकी और इससे ऊपर चारित्रमोहकी अपेक्षा प्रधान है।
६	संयत गुणस्थानोंका श्रेणी व अश्रेणी रूप विभाजन।
*	उपशम व क्षपक श्रेणी —दे० श्रेणी।
*	गुणस्थानोंमें यथा सम्भव भाव। —दे० भाव/२
७	जितने परिणाम हैं उतने ही गुणस्थान क्यों नहीं।
८	गुणस्थान निर्देशका कारण प्रयोजन।
२	**गुणस्थानों सम्बन्धी कुछ नियम**
१	गुणस्थानोंमें परस्पर आरोहण व अवरोहण सम्बन्धी नियम।

*	प्रत्येक गुणस्थान पर आरोहण करनेके लिए त्रिकरणों-का नियम —दे० उपशम, क्षय व क्षयोपशम।
*	दर्शन व चारित्रमोहका उपशम व क्षपण विधान। —दे० उपशम व क्षय
*	गुणस्थानोंमें मृत्युकी सम्भावना असम्भावना सम्बन्धी नियम। —दे० मरण/३
*	कौन गुणस्थानसे मरकर कहाँ उत्पन्न हो, और कौन-सा गुण प्राप्त कर सके इत्यादि —दे० जन्म/६।
*	गुणस्थानोंमें उपशमादि १० करणोंका अधिकार। —दे० करण/२।
*	सभी गुणस्थानोंमें आयके अनुसार व्यय होनेका नियम —दे० मार्गणा/६।
*	१४ मार्गणाओं, जीवसमासों आदिमें गुणस्थानोंके स्वामित्वकी २० प्ररूपणाएँ। —दे० सत/२।
*	गुणस्थानोंकी सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ। —दे० वह वह नाम
*	पर्याप्तापर्याप्त तथा गतिकाय आदिमें पृथक् पृथक् गुण-स्थानोंके स्वामित्वकी विशेषताएँ —दे० वह वह नाम
*	बद्धायुष्ककी अपेक्षा गुणस्थानोंका स्वामित्व। —दे० आयु/६।
*	गुणस्थानोंमें सम्भव कर्मोंके बन्ध, उदय, सत्त्वादिकी प्ररूपणाएँ। —दे० वह वह नाम।

१. गुणस्थानों व उनके भावोंका निर्देश

१. गुणस्थान सामान्यका लक्षण

पं. सं./प्रा/१/३ जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं। जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं।३। —दर्शनमोहनीयादि कर्मोंकी उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओंके होनेपर उत्पन्न होनेवाले जिन भावोंसे जीव लक्षित किये जाते हैं, उन्हें सर्व-दर्शियोंने 'गुणस्थान' इस संज्ञासे निर्देश किया है। (पं. सं/सं/१/१२) (गो. जी./मू./८/२९)।

२. गुणस्थानोंकी उत्पत्ति मोह और योगके कारण होती है।

गो. जी./मू./३/२२ संखेओ ओघोत्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा। —संक्षेप, ओघ ऐसी गुणस्थानकी संज्ञा अनादिनिधन ऋषिप्रणीत मार्गविषै रूढ है। बहुरि सो संज्ञा दर्शन चारित्र मोह और मन वचन काय योग तिनिकरि उपजी है।

३. १४ गुणस्थानोंके नाम निर्देश

ष. खं १/१,१/सू ९-२२/१६१-१९२ ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी।९। सासण-सम्माइट्ठी।१०। सम्मामिच्छाइट्ठी।११। असंजदसम्माइट्ठी।१२। संजदासंजदा।१३। पमत्तसंजदा।१४। अप्पमत्तसंजदा।१५। अपुव्व-करण-पविट्ठ-सुद्धि संजदेसु अत्थि उवसमा खवा।१६। अणियट्टि-बादर-सांपराइय-पविट्ठसुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा।१७। सुहुम-सांप-राइय-पविट्ठ-सुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा।१८। उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था।१९। खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था।२०। सजोगकेवली।२१। अजोगकेवली।२२। —(गुण स्थान १४ होते हैं)— मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि या मिश्र, असं-यत या अविरत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत या देशविरत, प्रमत्तसंयत या प्रमत्तविरत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण या अपूर्वकरण-प्रविष्टशुद्धि-संयत, अनिवृत्तिकरण या अनिवृत्तिकरणबादरसाम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि संयत, सूक्ष्मसाम्पराय या सूक्ष्म साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत, उपशान्तकषाय या उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ, क्षीणकषाय या क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ, सयोगकेवली और अयोगकेवली (मू. आ/११९५-११९६), (पं. सं./प्रा/१/४-५), (रा. वा/९/१/११/५८८/८), (गो. जी./मू./९-१०/३०) (पं. सं/सं./१/१५-१८)।

४. सर्वगुणस्थानोंमें विरताविरतपनेका अथवा प्रमत्ता-प्रमत्तपने आदिका निर्देश

ध. १/१,१,१२-२१/पृष्ठ/पंक्ति 'असंजद' इदि जं सम्माइट्ठिस्स विसेसण-वयणं तमंतदीवयत्तादो हेट्ठिल्लाणं सयल-गुणट्ठाणाणमसंजदत्तं परू-वेदि। उवरि असंजदभावं किण्ण परूवेदि त्ति उत्ते ण परूवेदि, उवरि सव्वत्थ संजमासंजम-संजम-विसेसणोवलंभादो त्ति। (१७२/८)। एदं सम्माइट्ठि वयणं उवरिम-सव्व-गुणट्ठाणेसु अणुवट्टइ गंगा-णई-पवाहो व्व (१७३/७)। प्रमत्तवचनमन्तदीपकत्वाच्छेषातीतसर्वगुणेषु प्रमादास्तित्वं सूचयति। (१७६/६)। बादरग्रहणमन्तदीपकत्वाद् गताशेषगुणस्थानानि बादरकषायाणीति प्रज्ञापनार्थम्, 'सति संभवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवद्भवति' इति न्यायात्। (१८५/१)। छद्मस्थग्रहणमन्तदीपकत्वादतीताशेषगुणानां सावरणत्वस्य सूचक-मित्यवगन्तव्यम् (१९०/२)। सयोगग्रहणमधस्तनसकलगुणानां सयो-गत्वप्रतिपादकमन्तदीपकत्वात् (१९१/५)। —सूत्रमें सम्यग्दृष्टिके लिए जो असंयत विशेषण दिया गया है, वह अन्तदीपक है, इस-लिए वह अपनेसे नीचेके भी समस्त गुणस्थानोंके असंयतपनेका निरू-पण करता है। (इससे ऊपरवाले गुणस्थानोंमें सर्वत्र संयमासंयम या संयम विशेषण पाया जानेसे उनके असंयमपनेका यह प्ररूपण नहीं करता है। (अर्थात् चौथे गुणस्थान तक सब गुणस्थान असंयत हैं और इससे ऊपर संयतासंयत या संयत/ (१७२/८)। इस सूत्रमें जो सम्यग्दृष्टि पद है, वह गंगा नदीके प्रवाहके समान ऊपरके समस्त गुणस्थानोंमें अनुवृत्तिको प्राप्त होता है। अर्थात् पाँचवें आदि समस्त गुणस्थानोंमें सम्यग्दर्शन पाया जाता है। (१७३/७)। यहाँपर प्रमत्त शब्द अन्तदीपक है, इसलिए वह छठवें गुणस्थानसे पहिलेके सम्पूर्ण गुणस्थानोंमें प्रमादके अस्तित्वको सूचित करता है। (अर्थात् छठे गुणस्थान तक सब प्रमत्त हैं और इससे ऊपर सातवें आदि गुण-स्थान सब अप्रमत्त हैं। (१७६/६)। सूत्रमें जो 'बादर' पदका ग्रहण किया है, वह अन्तदीपक होनेसे पूर्ववर्ती समस्त गुणस्थान बादर-कषाय हैं, इस बातका ज्ञान करानेके लिए ग्रहण किया है, ऐसा सम-झना चाहिए; क्योंकि जहाँपर विशेषण संभव हो अर्थात् लागू पड़ता हो और न देनेपर व्यभिचार आता हो, ऐसी जगह दिया गया विशे-षण सार्थक होता है, ऐसा न्याय है (१८५/१)। इस सूत्रमें आया हुआ छद्मस्थ पद अन्तदीपक है, इसलिए उसे पूर्ववर्ती समस्त गुण-स्थानोंके सावरण (या छद्मस्थ)पनेका सूचक समझना चाहिए (१९०/२)। इस सूत्रमें जो सयोग पदका ग्रहण किया है, वह अन्तदीपक होनेसे नीचेके सम्पूर्ण गुणस्थानोंके सयोगपनेका प्रतिपादक है (१९१/५)।

५. चौथे गुणस्थान तक दर्शनमोहकी तथा इससे ऊपर चारित्रमोहकी अपेक्षा प्रधान है

गो.जी०/मू./१२-१३/३५ एदे भावा णियमा दंसणमोहं पडुच्च भणिदा हु। चारित्तं णत्थि जदो अविरद अंतेसु ठाणेसु ।१२। देसविरदे पमत्ते इदरे य खओवसमिय भावो दु। सो खलु चारित्तमोहं पडुच्च भणियं तहा उवरिं ।१३। =(मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानोंमें क्रमशः जो औदयिक, पारिणामिक, क्षायोपशमिक व औपशमिकादि तीनों भाव बताये गये हैं। प्रा.११।) वे नियमसे दर्शनमोहको आश्रय करके कहे गये हैं। प्रगटपनैं जातैं अविरतपर्यन्त च्यारि गुणस्थानविषै चारित्र नाहीं है। इस कारण ते चारित्रमोहका आश्रयकरि नाहीं कहे हैं ।१२। देशसंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत विषै क्षायोपशमिकभाव है, वह चारित्रमोहके आश्रयसे कहा गया है। तैसे ही ऊपर भी अपूर्वकरणादि गुणस्थाननिविषैं चारित्रमोहको आश्रयकरि भाव जानने ।१३।

६. संयत गुणस्थानोंका श्रेणी व अश्रेणी रूप विभाजन

रा.वा./६/१/१६/५८६/३० एतवादीनि गुणस्थानानि चारित्रमोहस्य क्षयोपशमादुपशमाद् क्षयाच्च भवन्ति।

रा.वा./६/१/१८/५६०/७ इत ऊर्ध्वं गुणस्थानानां चतुर्णां द्वे श्रेण्यौ भवतः उपशमकश्रेणी क्षपकश्रेणी चेति। =१. संयतासंयत आदि गुणस्थान चारित्रमोहके क्षयोपशमसे अथवा उपशमसे अथवा क्षयसे उत्पन्न होते हैं। (तहाँ भी) २. अप्रमत्त संयतसे ऊपरके चार गुणस्थान उपशम या क्षपक श्रेणीमें ही होते हैं।

७. जितने परिणाम हैं उतने ही गुणस्थान क्यों नहीं

ध.१/१,१,१७/१८४/८ यावन्तः परिणामास्तावन्तः एव गुणाः किन्न भवन्तीति चेन्न, तथा व्यवहारानुपपत्तौ द्रव्यार्थिकनयसमाश्रयणात्। =प्रश्न—जितने परिणाम होते हैं उतने ही गुणस्थान क्यों नहीं होते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जितने परिणाम होते हैं, उतने ही गुणस्थान यदि माने जायें तो (समझने समझाने या कहनेका) व्यवहार ही नहीं चल सकता है, इसलिए द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा नियत संख्यावाले ही गुणस्थान कहे गये हैं।

८. गुणस्थान निर्देशका कारण प्रयोजन

रा.वा./६/१/१०/५८८/६ तस्य संवरस्य विभावनार्थं गुणस्थानविभागवचनं क्रियते। =संवरके स्वरूपका विशेष परिज्ञान करनेके लिए चौदह गुणस्थानोंका विवेचन आवश्यक है।

२. गुणस्थानों सम्बन्धी कुछ नियम

१. गुणस्थानोंमें परस्पर आरोहण व अवरोहण सम्बन्धी नियम

गो.क./मू./५५६-५५६/७६०-७६२ चदुरेक्कदुपण पंच य छत्तिगठाणाणि अप्पमत्तंता। तिसु उवसमगे संतेत्ति य तियतिय दोण्णि गच्छंति ।५५६। सासणपमत्तवेज्जं अपमत्तंतं समल्लियइ मिच्छो। मिच्छत्तं बिदियगुणो मिस्सो पढमं चउत्थं च ।५५७। अविरदसम्मो देसो पमत्तपरिहीणमपमत्तंतं। छट्ठाणाणि पमत्तो छट्ठगुणं अप्पमत्तो दु ।५५८। उवसामगा दु सेढिं आरोहंति य पडंति य कमेण। उवसामगेसु मरिदो देवतमत्तं समल्लियई ।५५९।

ध १२/४,२,७,११/२०/११ उक्कस्साणुभागेण सह आउअबंधे संजदासंजदादिहेट्ठिमगुणट्ठाणाणं गमणाभावादो। =मिथ्यादृष्टयादिक निज निज गुणस्थानकौ छोड़ैं अनुक्रमतैं ४,१,२,५,५,६,१ गुणस्थाननिकौ अप्रमत्तपर्यन्त प्राप्त हो है। बहुरि अपूर्वकरणादिक तीन उपशमवाले तीन तीनकौं, उपशान्त कषायवाले दोय गुणस्थानकनिकौं प्राप्त हो है ।५५६। वह कैसे सो आगे कोष्ठकोंमें दर्शाया है—इतना विशेष है कि उत्कृष्ट अनुभागके साथ आयुके बाँधनेपर (अप्रमत्तादि गुणस्थानोंसे) अधस्तन गुणस्थानोंमें गमन नहीं होता है ।ध।

नोट—निम्नमेंसे किसी भी गुणस्थानको प्राप्त कर सकता है।

नं.	गुणस्थान	आरोहण क्रम	अवरोहणक्रम
१	मिथ्यादृष्टि		
	अनादि	उपशम सम्य. सहित ४,५,७	
	सादि	३,४,५,७	
२	सासादन	×	१
३	मिश्र	४	१
४	असंयत-		
	उपशम साम्य.	५,७	सासादन पूर्वक १
	क्षायिक	५,७	×
	क्षायोपशमिक	५,७	३,१
५	संयतासंयत	७	४,३,२,१
६	प्रमत्तसंयत	७	५,४,३,२,१
७	अप्रमत्त ,,	८	६ (मृत्यु होनेपर देवोंमें जन्म चौथा स्थान)
८	अपूर्वकरण	९	७ (,, ,, ,,)
९	अनिवृत्तिकरण	१०	८ (,, ,, ,,)
१०	सूक्ष्मसांपराय	११,१२	९ (,, ,, ,,)
११	उप-कषाय	×	१० (,, ,, ,,)
१२	क्षीण ,,	१३	×
१३	सयोगी	१४	×
१४	अयोगी	सिद्ध	×

गुणहानि—१. गुणहानि श्रेढी व्यवहार—दे० गणित/II/६/१ २. षट्-गुण हानि वृद्धि—दे० षट्गुण हानि वृद्धि।

गुणा—Multiplication (ध.५/प्र./२७)

गुणाधिक—

स.सि./७/११/३४६/६ सम्यग्ज्ञानादिभिः प्रकृष्टा गुणाधिकाः। =जो सम्यग्ज्ञानादि गुणोंमें बड़े-चढ़े हैं वे गुणाधिक कहलाते हैं।

गुणारोपण—दे० प्रतिष्ठा विधान।

गुणार्थिक—गुणार्थिक नयनिर्देशका निषेध —(दे० नय/I/१/६)

गुणित—गुणकार विधिमें गुण्य राशिको गुणकार द्वारा गुणित कहा जाता है—दे० गणित/II/१/५।

गुणित कर्मांशिक—दे० क्षपित।

गुणिदेश—की अपेक्षा वस्तुमें भेदाभेद—दे० सप्तभंगी/५/८।

गुणी अगुणी नय—दे० नय/I/५।

गुणोत्तर श्रेढी—Geometrical Progression (ज.प./प्र.१०६)। इस संबन्धी प्रक्रियाएँ (दे० गणित/II/५/५)।

गुण्य—जिस राशिको किसी अन्य राशि द्वारा गुणा किया जाये —दे० गणित/II/१/५।

गुप्त वंश—दे० इतिहास/३/४।

गुप्तसंघ—दे० इतिहास /५/८।

गुप्तसंवत्—दे० इतिहास /२।

गुप्ति—मन, वचन व कायकी प्रवृत्तिका निरोध करके मात्र ज्ञाता, द्रष्टा भावसे निश्चयसमाधि धारना पूर्णगुप्ति है, और कुछ शुभराग मिश्रित विकल्पों व प्रवृत्तियों सहित यथा शक्ति स्वरूपमें निमग्न रहनेका नाम आंशिकगुप्ति है। पूर्णगुप्ति ही पूर्णनिवृत्ति रूप होनेके कारण निश्चयगुप्ति है और आंशिकगुप्ति प्रवृत्ति अंशके साथ वर्तनेके कारण व्यवहारगुप्ति है।

१. गुप्तिके भेद, लक्षण व तद्गत शंका

१. गुप्ति सामान्यका निश्चय लक्षण

स. सि./९/२/४०९/७ यतः संसारकारणादात्मनो गोपनं सा गुप्तिः।—जिसके बलसे संसारके कारणोंसे आत्माका गोपन अर्थात् रक्षा होती है वह गुप्ति है। (रा. वा./९/२/१/५९१/२७) (भ. आ./वि/११५/२६६/१७)।

प्र. सं/टी/३५/१०१/५ निश्चयेन सहजशुद्धात्मभावनालक्षणे गूढस्थाने संसारकारणरागादिभयादात्मनो गोपनं प्रच्छादनं झम्पनं प्रवेशणं रक्षणं गुप्तिः।—निश्चयसे सहज-शुद्ध-आत्म-भावनारूप गुप्त स्थानमें संसारके कारणभूत रागादिके भयसे अपने आत्माका जो छिपाना, प्रच्छादन, झंपन, प्रवेशन, या रक्षण है सो गुप्ति है।

प्र. सा/ता. वृ/२४०/३३३/१२ त्रिगुप्तः निश्चयेन स्वरूपे गुप्तः परिणतः।—निश्चयसे स्वरूपमें गुप्त या परिणत होना ही त्रिगुप्तिगुप्त होना है।

स. सा/ता. व/३०७ ज्ञानिजीवाश्रितमप्रतिक्रमणं तु शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुष्ठानलक्षणं त्रिगुप्तिरूपं।—ज्ञानीजनोंके आश्रित जो अप्रतिक्रमण होता है वह शुद्धात्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व अनुष्ठान ही है लक्षण जिसका, ऐसी त्रिगुप्तिरूप होता है।

२. गुप्ति सामान्यका व्यवहार लक्षण

मू. आ./३३१ मणवचकायपउत्ती भिक्खू सावज्जकज्जसंजुत्ता। खिप्पं णिवारयंतो तीहिं दु गुत्तो हवदि एसो।३३१।—मन वचन व कायको सावद्य क्रियाओंसे रोकना गुप्ति है। (भ. आ/वि/१६/६१/१०)।

त. सू./९/४ सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः। —(मन वचन काय इन तीनों) योगोंका सम्यक् प्रकार निग्रह करना गुप्ति है।

स. सि/९/४/४११/१ योगो व्याख्यातः 'कायवाङ्मनःकर्म योगः' इत्यत्र। तस्य स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवर्तनम् निग्रहः विषयसुखाभिलाषार्थप्रवृत्तिनिषेधार्थं सम्यग्विशेषणम्। तस्मात्सम्यग्विशेषणविशिष्टात् संक्लेशाप्रादुर्भावपरात् कायादियोगनिरोधे सति तन्निमित्तं कर्म नास्रवतीति।—मन वचन काय ये तीन योग पहिले कहे गये हैं। उसकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिको रोकना निग्रह है। विषय सुखकी अभिलाषाके लिए की जानेवाली प्रवृत्तिका निषेध करनेके लिए 'सम्यक्' विशेषण दिया है। इस सम्यक् विशेषण युक्त संक्लेशको नहीं उत्पन्न होने देनेरूप योगनिग्रहसे कायादि योगोंका निरोध होनेपर तन्निमित्तक कर्मका आस्रव नहीं होता है। (रा. वा/९/४/२-४/५९३/१३), (गो. क/जी. प्र/५४७/७१४/४)।

रा. वा/१/५/६/५९४/३२ परिमितकालविषयो हि सर्वयोगनिग्रहो गुप्तिः।—परिमित कालपर्यन्त सर्व योगोंका निग्रह करना गुप्ति है।

प्र. सा//ता. वृ/२४०/३३३/१२ व्यवहारेण मनोवचनकाययोगत्रयेण गुप्तः त्रिगुप्तः।—व्यवहारसे मन वचन काय इन तीनों योगोंसे गुप्त होना सो त्रिगुप्त है।

प्र. सं./टी/३५/१०१/६ व्यवहारेण बहिरङ्गसाधनार्थं मनोवचनकायव्यापारनिरोधो गुप्तिः।—व्यवहार नयसे बहिरंग साधन (अर्थात् धर्मानुष्ठानों) के अर्थ जो मन वचन कायकी क्रियाको (अशुभ प्रवृत्ति से) रोकना सो गुप्ति है।

अन. ध/४/१५४ गोप्तुं रत्नत्रयात्मानं स्वात्मानं प्रतिपक्षतः। पापयोगान्निगृहीयाल्लोकपङ्क्त्यादिनिस्पृहः।१५४। —मिथ्यादर्शन आदि जो आत्माके प्रतिपक्षी, उनसे रत्नत्रयस्वरूप अपनी आत्माको सुरक्षित रखनेके लिए ख्याति लाभ आदि विषयोंमें स्पृहा न रखना गुप्ति है।

३. गुप्तिके भेद

स. सि./९/४/४११/६ सा त्रितयी कायगुप्तिर्वाग्गुप्तिर्मनोगुप्तिरिति।—वह गुप्ति तीन प्रकारकी है—काय गुप्ति, वचन गुप्ति और मनोगुप्ति। (रा. वा/९/४/४/५९३/२१)।

४. मन वचन काय गुप्तिके निश्चय लक्षण

नि. सा./मू./६९-७० जो रायादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ती। अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वदिगुत्ती।६९।

नि. सा/ता. वृ./६९-७० निश्चयेन मनोवाग्गुप्तिसूचनेयम्।६९। निश्चयशरीरगुप्तिस्वरूपाख्यानमेतत्। कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती। हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्तीत्ति णिद्दिट्ठा।७०। —रागद्वेषसे मन परावृत्त होना यह मनोगुप्तिका लक्षण है। असत्यभाषणादिसे निवृत्ति होना अथवा मौन धारण करना यह वचनगुप्तिका लक्षण है। औदारिकादि शरीरकी जो क्रिया होती रहती है उससे निवृत्त होना यह कायगुप्तिका लक्षण है, अथवा हिंसा चोरी वगैरह पापक्रियासे परावृत्त होना कायगुप्ति है। (ये तीनों निश्चय मन वचन कायगुप्तिके लक्षण हैं। (मू. आ./३३२-३३३) (भ. आ./मू./११८७-११८८/११७८)।

ध. १/१.१ २/११६/६ व्यलीकनिवृत्तिर्वाचां संयमत्वं वा वाग्गुप्तिः।—असत्य नहीं बोलनेको अथवा वचनसंयम अर्थात् मौनके धारण करनेको वचनगुप्ति कहते हैं।

ज्ञा./१८/१५-१८ विहाय सर्वसंकल्पान् रागद्वेषावलम्बितान्। स्वाधीनं कुरुते चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितम्।१५। सिद्धान्तसूत्रविन्यासे शश्वत्प्रेरयतोऽथवा। भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिणः।१६। साधुसंवृत्तवाग्वृत्तेर्मौनारूढस्य वा मुनेः। संज्ञादिपरिहारेण वाग्गुप्तिः स्यान्महामुनेः।१७। स्थिरीकृतशरीरस्य पर्यङ्कसंस्थितस्य वा। परीषहप्रपातेऽपि कायगुप्तिर्मता मुनेः।१८। —रागद्वेषसे अवलम्बित समस्त संकल्पोंको छोड़कर जो मुनि अपने मनको स्वाधीन करता है और समता भावमें स्थिर करता है, तथा सिद्धान्तके सूत्रकी रचनामें निरन्तर प्रेरणारूप करता है, उस बुद्धिमान मुनिके सम्पूर्ण मनोगुप्ति होती है।१५-१६। भले प्रकार वश करी है वचनोंकी प्रवृत्ति जिसने ऐसे मुनिके तथा संज्ञादि का त्याग कर मौनारूढ होनेवाले महामुनिके वचनगुप्ति होती है।१७। स्थिर किया है शरीर जिसने तथा परिषह आजानेपर भी अपने पर्यंकासनसे ही स्थिर रहे, किन्तु डिगे नहीं, उस मुनिके ही कायगुप्ति मानी गयी है।१८। (अन. ध./४/१५६/४८४)

नि. सा./ता. वृ./६९-७० सकलमोहरागद्वेषाभावादखण्डाद्वैतपरमचिद्रूपे सम्यगवस्थितिरेव निश्चयमनोगुप्तिः। हे शिष्य त्वं तावत् चलितां मनोगुप्तिमिति जानीहि। निखिलानृतभाषापरिहृतिर्वा मौनव्रतं च। ...इति निश्चयवाग्गुप्तिस्वरूपमुक्तम्।६९। सर्वेषां जनानां कायेषु बह्व्यः क्रिया विद्यन्ते, तासां निवृत्तिः कायोत्सर्गः, स एव गुप्तिर्भवति। पञ्चस्थावराणां त्रसानां हिंसानिवृत्तिः कायगुप्तिर्वा। परमसंयमधरः परमजिनयोगीश्वरः यः स्वकीयं वपुः स्वस्य वपुषा विवेश

तस्यापरिस्पन्दमूर्तिरेव निश्चयकायगुप्तिरिति ।७०। =सकल मोह-रागद्वेषके अभावके कारण अखण्ड अद्वैत परमचिद्रूपमें सम्यक् रूपसे अवस्थित रहना ही निश्चय मनोगुप्ति है। हे शिष्य! तू उसे अचलित मनोगुप्ति जान। समस्त असत्य भाषाका परिहार अथवा मौनव्रत सो वचनगुप्ति है। इस प्रकार निश्चय वचनगुप्तिका स्वरूप कहा है।६९। सर्वजनोंको काय सम्बन्धी बहुत क्रियाएँ होती हैं, उनकी निवृत्ति सो कायोत्सर्ग है। वही (काय) गुप्ति है। अथवा पाँच स्थावरोंकी और त्रसोंकी हिंसानिवृत्ति सो कायगुप्ति है। जो परम-संयमधर परमजिनयोगीश्वर अपने (चैतन्यरूप) शरीरमें अपने (चैतन्यरूप) शरीरसे प्रविष्ट हो गये, उनकी अपरिस्पन्द मूर्ति ही निश्चय कायगुप्ति है।७०। (और भी देखो व्युत्सर्ग/१ में कायोत्सर्ग)।

५. मन वचन कायगुप्तिके व्यवहार लक्षण

नि.सा./मू./६६-६८ कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाइअसुहभावाणं। परिहारो मणुगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं।६६। थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स। परिहारो वचगुत्ती अलीयादिणियत्तिवयणं वा।६७। बंधणछेदणमारणआकुंचण तह पसारणादीया कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्तित्ति।६८। =कलुषता, मोह, राग, द्वेष आदि अशुभ भावोंके परिहारको व्यवहार नयसे मनोगुप्ति कहा है।६६। पापके हेतुभूत ऐसे स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भक्तकथा इत्यादिरूप वचनोंका परिहार अथवा असत्यादिककी निवृत्तिवाले वचन, वह वचनगुप्ति है।६७। बन्धन, छेदन, मारण, आकुंचन (संकोचना) तथा प्रसारणा (फैलाना) इत्यादि कायक्रियाओंकी निवृत्तिको कायगुप्ति कहा है।६८।

६. मनोगुप्तिके लक्षण सम्बन्धी विशेष विचार

भ.आ./वि./११८७/११७७/१४ मनसो गुप्तिरिति यदुच्यते किं प्रवृत्तस्य मनसो गुप्तिरथाप्रवृत्तस्य। प्रवृत्तं चेदं शुभं मनः तस्य का रक्षा। अप्रवृत्तं तथापि असत का रक्षा।—किंच मन.शब्देन किमुच्यते द्रव्य-मन उत भावमनः। द्रव्यवर्गणामनश्चेत् तस्य कोऽपायो नाम यस्य परिहारो रक्षा स्यात्। ···अथ नोइन्द्रियमतिज्ञानावरणक्षयोपशमसंजातं ज्ञानं मन इति गृह्यते तस्य अपाय क.। यदि विनाशः स न परिहर्तुं शक्यते। ··ज्ञानानोह वीचय इवानारतमुत्पद्यन्ते न चास्ति तदविनाशोपायः। अपि च इन्द्रियमतिरपि रागादिव्यावृत्तिरिष्टैव किमुच्यते 'रागादिणियत्ती मणस्स' इति। अत्र प्रतिविधीयते—नोइन्द्रियमतिरिह मन शब्देनोच्यते। सा रागादिपरिणामैः सह एककालं आत्मनि प्रवर्तते।···वस्तुतत्त्वानुयायिना मानसेन ज्ञानेन समं रागद्वेषौ न वर्तते।···तेन मनस्तत्त्वावग्राहिणो रागादिभिरसहचारिता या सा मनोगुप्तिः।···अथवा मनःशब्देन मनुते य आत्मा स एव भण्यते तस्य रागादिभ्यो या निवृत्तिः रागद्वेषरूपेण या अपरिणतिः सा मनोगुप्तिरित्युच्यते। अथैवं न वै सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः दृष्टफलमनपेक्ष्य योगस्य वीर्यपरिणामस्य निग्रहो रागादिकार्यकरणनिरोधो मनोगुप्तिः। =प्रश्न—मनकी जो यह गुप्ति कही गयी है, वहाँ प्रवृत्त हुए मनकी गुप्ति होती है अथवा रागद्वेषमें अप्रवृत्त मनकी होती है? यदि मन शुभ कार्यमें प्रवृत्त हुआ है तो उसके रक्षण करनेकी आवश्यकता ही क्या? और यदि किसी कार्यमें भी वह प्रवृत्त ही नहीं है तो वह असद्रूप है। तब उसकी रक्षा ही क्या? और भी हम यह पूछते हैं कि मन शब्दका आप क्या अर्थ करते हैं—द्रव्यमन या भावमन? यदि द्रव्य वर्गणाको मन कहते हो तो उसका अपाय क्या चीज है, जिससे तुम उसको बचाना चाहते हो? और यदि भावमनको अर्थात् मनोमति ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न ज्ञानको मन कहते हो तो उसका अपाय ही क्या? यदि उसके नाशको उसका अपाय कहते हो तो उसका परिहार शक्य नहीं है, क्योंकि, समुद्रकी तरंगोंवत् सदा ही आत्मामें अनेकों ज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं, उनके अविनाश होनेका अर्थात् स्थिर रहनेका जगतमें कोई उपाय ही नहीं है? और यदि रागादिकोंसे व्यावृत्त होना मनोगुप्तिका लक्षण कहते हो तो वह भी योग्य नहीं है क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान रागादिकोंसे युक्त ही रहता है? (तब वह मनोगुप्ति क्या चीज है?) उत्तर—मनोमति ज्ञान रूप भावमनको हम मन कहते हैं, वह रागादि परिणामोंके साथ एक कालमें ही आत्मामें रहते हैं। जब वस्तुके यथार्थ स्वरूपका मन विचार करता है तब उसके साथ रागद्वेष नहीं रहते हैं, तब मनोगुप्ति आत्मामें है ऐसा समझा जाता है। अथवा जो आत्मा विचार करता है, उसको मन कहना चाहिए, ऐसा आत्मा जब रागद्वेष परिणामसे परिणत नहीं होता है तब उसको मनोगुप्ति कहते हैं। अथवा यदि आप यह कहो कि सम्यक् प्रकार योगोंका निरोध करना गुप्ति कहा गया है, तो वहाँ ख्याति लाभादि दृष्ट फलकी अपेक्षाके बिना वीर्य परिणामरूप जो योग उसका निरोध करना, अर्थात् रागादिकार्योंके कारणभूत योगका निरोध करना मनोगुप्ति है, ऐसा समझना चाहिए।

७. वचनगुप्तिके लक्षण सम्बन्धी विशेष विचार

भ.आ./वि./११८७/११७८/५ ननु च वाचः पुद्गलत्वात्···न चासौ संवरणे हेतुरनात्मपरिणामत्वात्।···यां वाचं प्रवर्तयत् अशुभं कर्म स्वीकरोत्यात्मा तस्या वाच इह ग्रहणं, वाग्गुप्तिस्तेन वाग्विशेषस्यानुत्पादकता वाचः परिहारो वाग्गुप्तिः। मौनं वा सकलाया वाचो या परिहृतिः सा वाग्गुप्ति.। =प्रश्न—वचन पुद्गलमय हैं, वे आत्माके परिणाम (धर्म) नहीं हैं अतः कर्मका संवर करनेको वे समर्थ नहीं हैं? उत्तर—जिससे परप्राणियोंको उपद्रव होता है, ऐसे भाषणसे आत्माका परावृत्त होना सो वाग्गुप्ति है, अथवा जिस भाषणमें प्रवृत्ति करनेवाला आत्मा अशुभ कर्मका विस्तार करता है ऐसे भाषणसे परावृत्त होना वाग्गुप्ति है। अथवा सम्पूर्ण प्रकारके वचनोंका त्याग करना या मौन धारण करना सो वाग्गुप्ति है। और भी दे—'मौन'।

८. कायगुप्तिके लक्षण सम्बन्धी विशेष विचार

भ.आ./वि./११८८/११८२/२ आसनस्थानशयनादीनां क्रियात्वात् सा चात्मनः प्रवर्तकत्वात् कथमात्मना कार्या क्रियाभ्यो व्यावृत्तिः। अथ मतं कायस्य पर्यायः क्रिया, कायाच्चार्थान्तरात्मा ततो द्रव्यान्तरपर्यायात् द्रव्यान्तरं तत्परिणामशून्यं तथापरिणतं व्यावृत्तं भवतीति कायक्रियानिवृत्तिरात्मनो भण्यते। सर्वेषामात्मनामित्थं कायगुप्तिः स्यात् न चेष्टेति। अत्रोच्यते—कायस्य सम्बन्धिनो क्रिया कायशब्देनोच्यते। तस्याः कारणभूतात्मन. क्रिया कायक्रिया तस्या निवृत्तिः। काउस्सग्गो कायोत्सर्ग··· तद्गतममतापरिहारः कायगुप्तिः। अन्यथा शरीरमायुः शृङ्खलाबद्धं त्यक्तुं न शक्यते इत्यसंभवः कायोत्सर्गस्य।···गुप्तिर्नि वृत्तिवचन इहेति सूत्रकाराभिप्रायो।···कायोत्सर्गग्रहणे निश्चलता भण्यते। यद्येवं 'कायकिरियाणिवत्ती' इति न वक्तव्यं, कायोत्सर्गः कायगुप्तिरित्येतदेव वाच्यं इति चेत् न कायविषयं ममेदंभावरहितत्वमपेक्ष्य कायोत्सर्गस्य प्रवृत्तेः। धावनगमनलङ्घनादिक्रियासु प्रवृत्तस्यापि कायगुप्तिः स्यान्न चेष्यते। अथ कायक्रियानिवृत्तिरित्येतावदुच्यते मूर्च्छापरिगतस्यापि अपरिस्पन्दता विद्यते इति कायगुप्तिः स्यात्। तत उभयोपादानं व्यभिचारनिवृत्तये। कर्मादाननिमित्तसकलकायक्रियानिवृत्तिः कायगोचरममतात्यागपरा वा कायगुप्तिरिति सूत्रार्थः। =प्रश्न—आसन स्थान शयन आदि क्रियाओंका प्रवर्तक होनेसे आत्मा इनसे कैसे परावृत्त हो सकता है? यदि आप कहो कि ये क्रियाएँ तो शरीरकी पर्यायें हैं और आत्मा शरीरसे भिन्न है। और

द्रव्यान्तरसे द्रव्यान्तरमें परिणाम हो नहीं सकता। और इस प्रकार कायकी क्रियासे निवृत्ति हो जानेसे आत्माको कायगुप्ति हो जाती है, परन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेसे तो सम्पूर्ण आत्माओंमें कायगुप्ति माननी पड़ेगी (क्योंकि सभीमें शरीर की परिणति होनी सम्भव नहीं है) उत्तर—यहाँ शरीर सम्बन्धी जो क्रिया होती है उसको 'काय' कहना चाहिए। (शरीरको नहीं)। इस क्रियाको कारणभूत जो आत्माकी क्रिया (या परिस्पन्दन या चेष्टा) होती है उसको कायक्रिया कहना चाहिए ऐसी क्रियासे निवृत्ति होना यह कायगुप्ति है। प्रश्न—कायोत्सर्गको कायगुप्ति कहा गया है? उत्तर—तहाँ शरीरगत ममताका परिहार कायगुप्ति है ऐसा समझना चाहिए। शरीरका त्याग नहीं, क्योंकि आयुकी शृंखलासे जकड़े हुए शरीरका त्याग करना शक्य न होनेसे इस प्रकार कायोत्सर्ग ही असम्भव है। यहाँ गुप्ति शब्दका 'निवृत्ति' ऐसा अर्थ सूत्रकारको इष्ट है। प्रश्न—कायोत्सर्गमें शरीरकी जो निश्चलता होती है उसे कायगुप्ति कहें तो? उत्तर—तो गाथामें "कायकी क्रियासे निवृत्ति" ऐसा कहना निष्फल हो जायेगा। प्रश्न—कायोत्सर्ग ही कायगुप्ति है ऐसा कहें तो? उत्तर—नहीं, क्योंकि, शरीर विषयक ममत्व रहितपनाकी अपेक्षासे कायोत्सर्ग (शब्द) की प्रवृत्ति होती है। यदि इतना (मात्र ममतारहितपना) ही अर्थ कायगुप्तिका माना जायगा तो भागना, जाना, कूदना आदि क्रियायोंमें प्राणीको भी कायगुप्ति माननी पड़ेगी (क्योंकि उन क्रियाओंको करते समय कायके प्रति ममत्व नहीं होता है। प्रश्न—तब 'शरीरकी क्रियाका त्याग करना कायगुप्ति है' ऐसा मान लें? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेसे मूर्च्छित व अचेत व्यक्तिको भी कायगुप्ति माननी पड़ेगी। प्रश्न—(तब काय गुप्ति किसे कहें?) उत्तर—व्यभिचार निवृत्तिके लिए दोनों रूप ही काय-गुप्ति मानना चाहिए—कर्मादानकी निमित्तभूत सकल कायकी क्रियासे निवृत्तिको तथा साथ साथ कायगत ममताके त्यागको भी।

२. गुप्ति निर्देश

१. मन वचन कायगुप्तिके अतिचार

भ.आ./वि./१६/६२/१० असमाहितचित्ततया कायक्रियानिवृत्तिः कायगुप्तेरतिचारः। एकपादादिस्थानं वा जनसंचरणदेशे, अशुभध्यानाभिनिविष्टस्य वा निश्चलता। आप्ताभासप्रतिबिम्बाभिमुखता वा तदाराधना-व्यापृत इवावस्थानं। सचित्तभूमौ संपतत्सु समंततः अशेषेषु महति वा वाते हरितेषु रोषाद्वा दर्पाद्वा तूष्णीं अवस्थानं निश्चला स्थितिः कायोत्सर्गः। कायगुप्तिरित्यस्मिन्पक्षे शरीरममताया अपरित्यागः कायोत्सर्गदोषो वा कायगुप्तेरतिचारः। रागादिसहिता स्वाध्याये वृत्तिर्मनोगुप्तेरतिचारः।—मनकी एकाग्रताके बिना शरीरकी चेष्टाएँ बन्द करना कायगुप्तिका अतिचार है। जहाँ लोक भ्रमण करते हैं ऐसे स्थानमें एक पाँव ऊपर कर खड़े रहना, एक हाथ ऊपर कर खड़े रहना, मनमें अशुभ संकल्प करते हुए अनिश्चल रहना, आप्ताभास हरिहरादिककी प्रतिमाके सामने मानो उसकी आराधना ही कर रहे हों इस ढंगसे खड़े रहना या बैठना। सचित्त जमीनपर जहाँ कि बीज अंकुरादिक पड़े हैं ऐसे स्थलपर रोषसे, वा दर्पसे निश्चल बैठना अथवा खड़े रहना, ये कायगुप्तिके अतिचार हैं। कायोत्सर्गको भी गुप्ति कहते हैं, अतः शरीरममताका त्याग न करना, किंवा कायोत्सर्गके दोषोंको (दे० व्युत्सर्ग/१) न त्यागना ये भी कायगुप्तिके अतिचार हैं। (अन.ध/४/१६१)

रागादिक विकार सहित स्वाध्यायमें प्रवृत्त होना, मनोगुप्तिके अतिचार हैं।

अन. ध/४/१५६-१६० रागाद्यनुवृत्तिर्वा शब्दार्थज्ञानवैपरीत्यं वा। दुष्प्रणिधानं वा स्यान्मलो यथास्वं मनोगुप्तेः।१५९। कार्कश्यादि-गरोद्गारो गिरः सविकथादरः। हुंकारादिक्रिया वा स्याद्वाग्गुप्ते-स्तद्वदत्ययः।१६०।—(मनोगुप्तिका स्वरूप पहिले तीन प्रकारसे बताया जा चुका है—रागादिकके त्यागरूप, समय या शास्त्रके अभ्यासरूप, और तीसरा समीचीन ध्यानरूप। इन्हीं तीन प्रकारोंको ध्यानमें रखकर यहाँ मनोगुप्तिके क्रमसे तीन प्रकारके अतिचार बताये गये हैं।)—रागद्वेषादिरूप कषाय व मोह रूप परिणामोंमें वर्तन, शब्दार्थज्ञानकी विपरीतता, आर्त रौद्र ध्यान।१५९।

(पहिले वचनगुप्तिके दो लक्षण बताये हैं—दुर्वचनका त्याग व मौन धारण। यहाँ उन्हींकी अपेक्षा वचनगुप्तिके दो प्रकारसे अतिचार बताये गये हैं)—भाषासमितिके प्रकरणमें बताये गये कर्कशादि वचनोंका उच्चारण अथवा विकथा करना यह पहिला अतिचार है। और मुखसे हुंकारादिके द्वारा अथवा खकार करके यद्वा हाथ और भृकुटिचालन क्रियाओंके द्वारा इशारा करना दूसरा अतिचार है।१६०।

* व्यवहार व निश्चय गुप्तिमें आस्रव व संवरके अंश

दे० संवर/२।

२. सम्यग्गुप्ति ही गुप्ति है

पु.सि.उ./२०२ सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य। मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमेव गम्यम्।—शरीरका भले प्रकार—पाप कार्योंसे वश करना तथा वचनका भले प्रकार अवरोध करना, और मनका सम्यक्तया निरोध करना, इन तीनों गुप्तियोंको जानना चाहिए। अर्थात् ख्याति लाभ पूजादिकी वांछाके बिना मनवचन-कायकी स्वेच्छाओंका निरोध करना ही व्यवहार गुप्ति कहलाती है। (भ.आ/वि/११५/२६६/२०)

३. प्रवृत्तिके निग्रहके अर्थ ही गुप्तिका ग्रहण है

स.सि/९/६/४१२/२ किमर्थमिदमुच्यते। आद्यं प्रवृत्तिनिग्रहार्थम्।—प्रश्न—यह किसलिए कहा है? उत्तर—संवरका प्रथम कारण (गुप्ति) प्रवृत्तिका निग्रह करनेके लिए कहा है। (रा.वा/९/६/१/५९५/१८)

४. वास्तवमें आत्मसमाधिका नाम ही गुप्ति है

प.प्र/मू/२/३८ अच्छइ जित्तउ कालु मुणि अप्प-सरूवि णिलीणु। संवर णिज्जर जाणि तुहुँ सयल-वियप्प विहीणु।३८।

प्र.प/टी/२/३५/ निश्चयेन परमाराध्यत्वाद्वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तपरम-समाधिकाले स्वशुद्धात्मस्वभाव एव देव इति।—१. मुनिराज जबतक शुद्धात्मस्वरूपमें लीन हुआ रहता है उस समय हे शिष्य! तू समस्त विकल्प समूहोंसे रहित उस मुनिको संवर निर्जरा स्वरूप जान।३८। २. निश्चयनयकर परम आराधने योग्य वीतराग निर्विकल्प त्रिगुप्तिगुप्त परमसमाधिकालमें निज शुद्धात्मस्वभाव ही देव है।

५. मनोगुप्ति व शौच धर्ममें अन्तर

रा.वा/९/६/५९५/३० स्यादेतत्—मनोगुप्तौ शौचमन्तर्भवतीति पृथगस्य ग्रहणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम्। तत्र मानसपरिस्पन्दप्रति-षेधात्।…तत्रासमर्थेषु परकीयेषु वस्तुषु अनिष्टप्रणिधानोपरमार्थ-मिदमुच्यते।—प्रश्न—मनोगुप्तिमें ही शौच धर्मका अन्तर्भाव हो जाता है, अतः इसका पृथक् ग्रहण करना अनर्थक है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, मनोगुप्तिमें मनके व्यापारका सर्वथा निरोध किया जाता है। जो पूर्ण मनोनिग्रहमें असमर्थ हैं। पर-वस्तुओं सम्बन्धी अनिष्ट विचारोंकी शान्तिके लिए शौच धर्मका उपदेश है।

६. गुप्ति समिति व दशधर्ममें अन्तर

स.सि/९/६/४१२/२ किमर्थमिदमुच्यते। आद्य (गुप्त्यादि) प्रवृत्तिनिग्रहार्थम्। तत्रासमर्थानां प्रवृत्त्युपायप्रदर्शनार्थं द्वितीयम् (एषणादि)।

इदं पुनर्दशविधधर्माख्यानं समितिषु प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहारार्थं वेदितव्यम् । ―प्रश्न―यह (दशधर्मविषयक सूत्र) किसलिए कहा है ? उत्तर―संवरका प्रथम कारण गुप्ति आदि प्रवृत्तिका निग्रह करनेके लिए कहा गया है जो वैसा करनेमें असमर्थ हैं उन्हें प्रवृत्तिका उपाय दिखलानेके लिए दूसरा कारण (ऐषणा आदि समिति) कहा गया है। किन्तु यह दश प्रकारके धर्मका कथन समितियोंमें प्रवृत्ति करनेवाले के प्रमादका परिहार करनेके लिए कहा गया है। (रा.वा/९/६/१/५९५/१८)

७. गुप्ति व ईर्याभाषा समितिमें अन्तर

रा.वा/९/५/९/५९४/३० स्यान्मतम् ईर्यासमित्यादिलक्षणावृत्तिः वाक्काय-गुप्तिरेव, गोपनं गुप्तिः रक्षणं प्राणिपीडापरिहार इत्यनर्थान्तरमिति । तन्न; किं कारणम् । तत्र कालविशेषे सर्वनिग्रहोपपत्तेः । परिमितकाल-विषयो हि सर्वयोगनिग्रहो गुप्तिः । तत्रासमर्थस्य कुशलेषु वृत्तिः समितिः । ―प्रश्न―ईर्या समिति आदि लक्षणवाली वृत्ति ही वचन व काय गुप्ति है, क्योंकि गोपन करना, गुप्ति, रक्षण, प्राणीपीडा परिहार इन सबका एक अर्थ है ? उत्तर―नहीं; क्योंकि; वहाँ कालविशेषमें सर्व निग्रहकी उपपत्ति है अर्थात् परिमित कालपर्यंत सर्व योगोंका निग्रह करना गुप्ति है। और वहाँ असमर्थ हो जानेवालोंके लिए कुशल कर्मोंमें प्रवृत्ति करना समिति है।

भ.आ/वि/११८७/११७८/६ अयोग्यवचनेऽप्रवृत्तिः प्रेक्षापूर्वकारितया योग्यं तु वक्ति वा न वा । भाषासमितिस्तु योग्यवचसः कर्तृता ततो महान्भेदो गुप्तिसमित्योः । मौनं वाग्गुप्तिरत्र स्फुटतरो वचोभेदः । योग्यस्य वचसः प्रवर्तकता । वाचः कस्याश्चिदनुत्पादकतेति ।―(वचन गुप्तिके दो प्रकार लक्षण किये गये हैं―कर्कशादि वचनोंका त्याग करना व मौन धारना) तहाँ―१. जो आत्मा अयोग्य वचनमें प्रवृत्ति नहीं करता परन्तु विचार पूर्वक योग्य भाषण बोलता है अथवा नहीं भी बोलता है यह उसकी वाग्गुप्ति है। परन्तु योग्य भाषण बोलना यह भाषा समिति है। इस प्रकार गुप्ति और समितिमें अन्तर है। २. मौन धारण करना यह वचन गुप्ति है। यहाँ―योग्य भाषणमें प्रवृत्ति करना समिति है। और किसी भाषाको उत्पन्न न करना यह गुप्ति है। ऐसा इन दोनोंमें स्पष्ट भेद है।

८. गुप्ति पालनेका आदेश

मू.आ/३३४-३३५ खेत्तस्स वई णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो । तह पापस्स णिरोहो ताओ गुत्तीओ साहुस्स ।३३४। तम्हा तिविहेण तुमं णिच्चं मणवयणकायजोगेहिं । होहिसु समाहिदमई णिरंतरं झाण-सज्झाए ।३३५।―जैसे खेतकी रक्षाके लिए बाड़ होती है, अथवा नगरकी रक्षारूप खाई तथा कोट होता है, उसी तरह पापके रोकनेके लिए संयमी साधुके ये गुप्तियाँ होती हैं ।३३४। इस कारण हे साधु ! तू कृत कारित अनुमोदना सहित मन वचन कायके योगोंसे हमेशा ध्यान और स्वाध्यायमें सावधानीसे चित्तको लगा ।३३५। (भ.आ/मू/११८९-११९०/११८४)

९. अन्य सम्बन्धित विषय

१. श्रावकको भी यथा शक्ति गुप्ति रखनी चाहिए―दे० श्रावक/४।

२. संयम व गुप्तिमें अन्तर―दे० संयम/२।

३. गुप्ति व सामायिक चारित्रमें अन्तर―दे० सामायिक /४।

४. गुप्ति व सूक्ष्म साम्परायिक चारित्रमें अन्तर ―दे० सूक्ष्म साम्पराय /४।

५. कायोत्सर्ग व काय गुप्तिमें अन्तर―दे० गुप्ति /१/८।

गुप्ति ऋद्धि―पुन्नाटसंघकी गुर्वावलीके अनुसार आप गुप्तिश्रुतिके शिष्य तथा शिवगुप्तिके गुरु थे। समय―वी. नि. ५५० (ई० २३)―दे० इतिहास /७/८।

गुप्तिगुप्त―श्रुतावतार में कथित अर्हद्बलीका अपर नाम जिनका स्मरण नन्दिसंघ बलात्कार गणकी गुर्वावली में आ. भद्रबाहु द्वि० के पश्चात् और माघनन्दि से पूर्व किया गया है। वास्तव में नन्दि संघ के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। विशेष दे० कोश खण्ड १ परिशिष्ट/२/७। समय वी. नि. ५६५-५७५ (ई. ३८-४८) (दे० इतिहास/७/२)।

समय―शक सं २६-३६ (ई० १०४-११४)― दे० इतिहास /५/१३।

गुप्तिश्रुति―पुन्नाटसंघकी गुर्वावलीके अनुसार आप विनयंधरके शिष्य तथा गुप्तिऋद्धिके गुरु थे। समय―वी. नि. ५४० (ई० १३)―दे० इतिहास /७/८।

गुमानीराम―पं. टोडरमलजीके पुत्र थे। गुमानी पन्थकी अर्थात् १३ पन्थ शुद्धाम्नायकी स्थापना की। समय―वि. १८३७ (ई १७८०)।

गुरु―गुरु शब्दका अर्थ महान् होता है। लोकमें अध्यापकोंको गुरु कहते हैं। माता पिता भी गुरु कहलाते हैं। परन्तु धार्मिक प्रकरणमें आचार्य, उपाध्याय व साधु गुरु कहलाते हैं, क्योंकि वे जीवको उप-देश देकर अथवा बिना उपदेश दिये ही केवल अपने जीवनका दर्शन कराकर कल्याणका वह सच्चा मार्ग बताते हैं, जिसे पाकर वह सदाके लिए कृतकृत्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त विरक्त चित्त सम्यग्दृष्टि श्रावक भी उपरोक्त कारणवश ही गुरु संज्ञाको प्राप्त होते हैं। दीक्षा गुरु, शिक्षा गुरु, परम गुरु आदिके भेदसे गुरु कई प्रकारके होते हैं।

१. गुरु निर्देश

१. अर्हन्त भगवान् परम गुरु हैं

प्र. सा./ता. वृ./७९/ प्रक्षेपक गाथा २/१००/२४ अनन्तज्ञानादिगुरुगुणै-स्त्रैलोकस्यापि गुरुस्तं त्रिलोकगुरुं, तमित्थंभूतं भगवंतं···।―अनन्त-ज्ञानादि महान् गुणोंके द्वारा जो तीनों लोकोंमें भी महान् हैं वे भग-वान् अर्हन्त त्रिलोक गुरु हैं। (पं. ध./उ./६२०)।

२. आचार्य उपाध्याय साधु गुरु हैं

भ. आ /वि./३००/५११/१३ शुश्रूषया गुरूणं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रै-र्गुरुतया गुरव इत्युच्यन्ते आचार्योपाध्यायसाधवः ।―सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इन गुणोंके द्वारा जो बड़े बन चुके हैं उनको गुरु कहते हैं। अर्थात् आचार्य उपाध्याय और साधु ये तीन परमेष्ठी गुरु कहे जाते हैं।

ज्ञा. सा./५ पञ्चमहाव्रतकलितो मदमथनः क्रोधलोभभयत्यक्तः । एष गुरुरिति भण्यते तस्माज्जानीहि उपदेशं ।५।―पाँच महाव्रतधारी, मद-का मथन करनेवाले, तथा क्रोध लोभ व भयको त्यागने वाले गुरु कहे जाते हैं।

पं. ध./उ/६२१,६३७ तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिणः । गुरवः स्युर्गुरोर्न्यायान्नान्योऽवस्थाविशेषभाक् ।६२१। अथास्त्येकःस सामा-न्यात्सद्विशेषात्त्रिधा मतः । एकोऽप्यग्निर्यथा तार्ण्यः पार्ण्यो दार्व्य-स्त्रिधोच्यते ।६३७।―उन सिद्ध और अर्हन्तोंकी अवस्थाके पहिले की अवस्थावाले उसी वेषके रूपधारी छठे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक रहनेवाले मुनि भी गुरु कहलाते हैं, क्योंकि वे भी भावी नैगम नयकी अपेक्षासे उक्त गुरुकी अवस्था-विशेषको धारण करनेवाले हैं, अगुरु नहीं हैं ।६२१। वह गुरु यद्यपि सामान्य रूपसे एक प्रकारका है परन्तु सत्की विशेष अपेक्षासे तीन प्रकारका माना गया है―(आचार्य, उपाध्याय व साधु) जैसे कि अग्नित्व सामान्यसे

अग्नि एक प्रकारकी होकर भी तृणकी, पत्रकी तथा लकड़ीकी अग्नि इस प्रकार तीन प्रकारकी कही जाती है।६३७।

★ **आचार्य उपाध्याय व साधु**—दे० वह वह नाम।

३. संयत साधुके अतिरिक्त अन्यको गुरु संज्ञा प्राप्त नहीं

अ. ग. श्रा/१/४३ ये ज्ञानिनश्चारुचारित्रभाजो ग्राह्या गुरूणां वचनेन तेषां। संदेहमत्यस्य बुधेन धर्मो विकल्पनीयं वचनं परेषां।४३। जे ज्ञानवान सुन्दर चारित्रके धरनेवाले हैं, तिनि गुरूनिके वचननिकरि सन्देह छोड़ धर्म ग्रहण करना योग्य है। बहुरि ऐसे गुरुनि बिना औरनिका वचन सन्देह योग्य है।

पं. ध./उ./६५८ इत्युक्तव्रततपःशीलसंयमादिधरो गणी। नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न तु गुरुर्गणी।६५८। —इस प्रकार जो आचार्य पूर्वोक्त तप-शील और संयमादिको धारण करनेवाले हैं, वही साक्षात् गुरु हैं, और नमस्कार करने योग्य हैं, किन्तु उससे भिन्न आचार्य गुरु नहीं हो सकता।

र. क. श्रा./टी./१/१० पं. सदासुखदास—जो विषयनिका लम्पटी होय सो औरनिकूं विषयनितै छुड़ाय वीतराग मार्गमें नाहीं प्रवर्तावै। संसारमार्गमें लगाय संसार समुद्रमें डुबोय देय है। तातै विषयनिकी आशाकै वश नहीं होय सो ही गुरु आराधन करने व वन्दने योग्य है। जातैं विषयनिमें जाकै अनुराग होय सो तो आत्मज्ञानरहित बहिरात्मा है, गुरु कैसे होय। बहुरि जिसकैं त्रस स्थावर जीवनिका घातक आरम्भ होय तिसकै पापका भय नहीं, तदि पापिष्ठकै गुरुपना कैसे सम्भवै। बहुरि जो चौदह प्रकार अन्तरंग परिग्रह और दस प्रकार बहिरंग परिग्रहकरि सहित होय सो गुरु कैसे होय? परिग्रही तो आप ही संसारमें फँस रह्या, सो अन्यका उद्धार करनेवाला गुरु कैसे होय?

दे. विनय/४ असंयत सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि साधु आदि वन्दने योग्य नहीं है।

★ **मिथ्यादृष्टि साधुको गुरु मानना मूढ़ता है**—दे० मूढ़ता।

★ **कुगुरु निषेध**—दे० कुदेव।

४. सदोष साधु भी गुरु नहीं है

पं. ध./उ./६५७ यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम्। तावत्कालं स नाचार्योऽप्यस्ति चान्तर्व्रताच्च्युतः।६५७। —जो मोह-से अथवा प्रमादसे जितने काल तक लौकिक क्रियाको करता है, उतने काल तक वह आचार्य नहीं है और अन्तरंगमें व्रतोंसे च्युत भी है।६५७।

५. निर्यापकाचार्यको शिक्षा गुरु कहते हैं

प्र. सा./ता. वृ./२१०/२८४/१५ छेदयोर्ये प्रायश्चित्तं दत्वा संवेगवैराग्य-जनकपरमागमवचनैः संवरणं कुर्वन्ति ते निर्यापकाः शिक्षागुरवः श्रुतगुरवश्चेति भण्यते। —देश व सकल इन दोनों प्रकारके संयमके छेदकी शुद्धिके अर्थ प्रायश्चित्त देकर संवेग व वैराग्य जनक परमा-गमके वचनों द्वारा साधुका संवरण करते हैं वे निर्यापक हैं। उन्हें ही शिक्षा गुरु या श्रुत गुरु भी कहते हैं।

६. निश्चयसे अपना आत्मा ही गुरु है

इ. उ./३४ स्वस्मिन्सदाभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः। स्वयं हि प्रयो-क्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः।३४। —वास्तवमें आत्माका गुरु आत्मा ही है, क्योंकि वही सदा मोक्षकी अभिलाषा करता है, मोक्ष सुखका ज्ञान करता है और स्वयं ही उसे परम हितकर जान उसकी प्राप्तिमें अपने-को लगाता है।

स. श./७५ नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च। गुरुरात्मात्मन-स्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः।७५। —आत्मा ही आत्माको देहादिमें ममत्व करके जन्म मरण कराता है, और आत्मा ही उसे मोक्ष प्राप्त कराता है। इसलिए निश्चयसे आत्माका गुरु आत्मा ही है, दूसरा कोई नहीं।

ज्ञा./३२/८१ आत्मात्मना भवं मोक्षमात्मनः कुरुते यतः। अतो रिपुर्गुरुश्चायमात्मैव स्फुटमात्मनः।८१। —यह आत्मा अपने ही द्वारा अपने संसारको या मोक्षको करता है। इसलिए आप ही अपना शत्रु और आप ही अपना गुरु है।

पं. ध./उ./६२८ निर्जरादिनिदानं यः शुद्धो भावश्चिदात्मनः। परमार्हः स एवास्ति तद्वानात्मा परं गुरुः।६२८। —वास्तवमें आत्माका शुद्ध-भाव ही निर्जरादिका कारण है, वही परमपूज्य है, और उस शुद्ध-भावसे युक्त आत्मा ही केवल गुरु कहलाता है।

७. उपकारी जनोंको भी कदाचित् गुरु माना जाता है

ह. पु./२१/१२८-१३१ अक्रमस्य तदा हेतुं खेचरौ पर्यपृच्छताम्। देवा-वृषिमतिक्रम्य प्राग्नतौ श्रावकं कुतः।१२८। त्रिदशावूचतुर्हेतुं जिन-धर्मोपदेशकः। चारुदत्तो गुरुः साक्षादावयोरिति बुध्यताम्।१२९। तत्कथं कथमित्युक्ते छागपूर्वः सुरोऽभणीत। श्रूयतां मे कथा तावत् कथ्यते खेचरौ! स्फुटम्।१३०। —(उस रत्नद्वीपमें जब चारण मुनि-राजके समक्ष चारुदत्त व दो विद्याधर विनय पूर्वक बैठे थे, तब स्वर्ग-लोकसे दो देव आये जिन्होंने मुनिको छोड़कर पहिले चारुदत्तको नमस्कार किया) विद्याधरोंने उस समय उस अक्रमका कारण पूछा कि हे देवो, तुम दोनोंने मुनिराजको छोड़कर श्रावकको पहिले नमस्कार क्यों किया? देवोंने इसका कारण कहा कि इस चारुदत्तने हम दोनोंको जिन धर्मका उपदेश दिया है, इसलिए यह हमारा साक्षात् गुरु है। यह समझिए।१२८-१२९। यह कैसे? इस प्रकार पूछने पर जो पहिले बकराका जीव था वह बोला कि हे विद्याधरो! सुनिए मैं अपनी कथा स्पष्ट कहता हूँ।१३०।

म. पु./९/१७२ महाबलभवेऽप्यासीत् स्वयंबुद्धो गुरो स नः। वितीर्य दर्शनं सम्यक् अधुना तु विशेषतः।१७२। —महाबलके भवमें भी वे मेरे स्वयं-बुद्ध (मन्त्री) नामक गुरु हुए थे और आज इस भवमें भी सम्यग्दर्शन देकर (प्रीतिंकर मुनिराजके रूपमें) विशेष गुरु हुए हैं।१७२।

★ **अणुव्रती श्रावक भी गृहस्थाचार्य या गुरु संज्ञाको प्राप्त हो जाता है।** —दे० आचार्य/२।

★ **गुरुकी विशेषता** —दे० वक्ता/४।

२. गुरु शिष्य सम्बन्ध

१. शिष्यके दोषोंके प्रति उपेक्षित मृदु भी 'गुरु' गुरु नहीं

मू. आ./१६८ जदि इदरो सोऽजोग्गो छेदमुवट्ठावणं च कादव्वं। जदि णेच्छदि छंडेज्जो अह गेण्हदि सोवि छेदरिहो।१६८। —आगन्तुक साधु या चरणकरणसे अशुद्ध हो तो संघके आचार्यको उसे प्रायश्चि-त्तादि देकर छेदोपस्थापना करना योग्य है। यदि वह छेदोपस्थापना स्वीकार न करे तो उसका त्याग कर देना योग्य है। यदि अयोग्य साधुको भी मोहके कारण ग्रहण करे और उसे प्रायश्चित्त न दे तो वह आचार्य भी प्रायश्चित्तके योग्य है।

भ. आ./मू./४८१/७०३ जिब्भाए वि लिहंतो ण भद्दओ जत्थ सारणा णत्थि। —जो शिष्योंके दोष देखकर भी उन दोषोंको निवारण नहीं करते और जिह्वासे मधुर भाषण बोलते हैं तो भी वे भद्र नहीं हैं अर्थात् उत्तम गुरु नहीं हैं।

आ. अनु./१४२ दोषान् कांश्चन तान्प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं, सार्धं तैः सहसा म्रियेद्यदि गुरुः पश्चात् करोत्येष किम्। तस्मान्मे न

गुरुर्गुरुर्गुरुतराद् कृत्वा सर्पूरथ स्फुटं, न ते य' सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सद्गुरुः ।१४२। — जो गुरु शिष्योंके चारित्रमें लगते हुए अनेक दोषोंको देखकर भी उनकी तरफ दुर्लक्ष्य करता है व उनके महत्त्वको न समझकर उन्हें छिपाता चलता है वह गुरु हमारा गुरु नहीं है। वे दोष तो साफ न हो पाये हों और इतनेमें ही यदि शिष्य का मरण हो गया तो वह गुरु पीछेसे उस शिष्यका सुधार कैसे करेगा ? किन्तु जो दुष्ट होकर भी उसके दोष प्रगट करता है वह उसका परम कल्याण करता है। इसलिए उससे अधिक और कौन उपकारी गुरु हो सकता है।

२. शिष्यके दोषोंका निग्रह करनेवाला कठोर भी 'गुरु'—गुरु है

भ.आ./मू./४७६-४८३ पिल्लेदूण रडंत पि जहा बालस्स मुहं विदारित्ता। पज्जेइ घदं माया तस्सेव हिदं विचिंतंती ।७६। तह आयरिओ वि अणुज्जस्स खवयस्स दोसणीहरणं। कुणदि हिदं से पच्छा होहिदि कडुओसहं वत्ति ।८०। ...। पाएण वि ताडिंतो स भद्दओ जत्थ सारणा अत्थि ।८१। आदट्ठमेव जे चिंतेदुमुट्ठिदा जे परट्ठमवि लोगे। कडुय फरुसेहिं ते हु अदिदुल्लहा लोए ।४८३। —जो जिसका हित करना चाहता है वह उसको हितके कार्यमें बलात्कारसे प्रवृत्त करता है, जैसे हित करनेवाली माता अपने रोते हुए भी बालकका मुँह फाड़ कर उसे घी पिलाती है ।४७६। उसी प्रकार आचार्य भी मायाचार धारण करनेवाले क्षपकको जबरदस्ती दोषोंकी आलोचना करनेमें बाध्य करते हैं तब वह दोष कहता है जिससे कि उसका कल्याण होता है जैसे कि कड़वी औषधी पीनेके अनन्तर रोगीका कल्याण होता है ।४८०। लातोंसे शिष्योंको ताड़ते हुए भी जो शिष्यको दोषोंसे अलिप्त रखता है वही गुरु हित करनेवाला समझना चाहिए ।४८१। जो पुरुष आत्महितके साथ-साथ, कटु व कठोर शब्द बोलकर परहित भी साधते हैं वे जगत्में अतिशय दुर्लभ समझने चाहिए ।४८३।

★ **कठोर व हितकारी उपदेश देनेवाला गुरु श्रेष्ठ है** —दे० उपदेश/३।

३. गुरु शिष्यके दोषोंको अन्यपर प्रगट न करे

भ.आ./मू./४८८ आयरियाणं वीसत्थदाए भिक्खू कहेदि सगदोसे। कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेसि कहेदि ते दोसे ।४८८। —आचार्यपर विश्वास करके ही भिक्षु अपने दोष उससे कह देता है। परन्तु यदि कोई आचार्य उन दोषोंको किसी अन्यसे कहता है तो उसे जिनधर्म बाह्य समझना चाहिए।

★ **गुरु विनयका माहात्म्य** —दे० विनय/२।

३. दीक्षागुरु निर्देश

१. दीक्षा गुरुका लक्षण

प्र.सा./मू./२१० लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि ।...।

प्र. सा./त.प्र./२१० लिङ्गग्रहणकाले निर्विकल्पसामायिकसंयमप्रतिपादकत्वेन यः किलाचार्यः प्रव्रज्यादायकः स गुरु.।

प्र.सा./ता.वृ./२१०/२८४/१२ योऽसौ प्रव्रज्यादायकः स एव दीक्षागुरुः। —१. लिंग धारण करते समय जो निर्विकल्प सामायिक चारित्रका प्रतिपादन करके शिष्यको प्रव्रज्या देते हैं वे आचार्य दीक्षा गुरु हैं।

२. दीक्षा गुरु ज्ञानी व वीतरागी होना चाहिए

प्र.सा./मू./२५६ छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो। ण लहदि अपुणब्भावं सादप्पगं लहदि ।२५६।

प्र.सा./ता.वृ./२५६/३४६/१५ ये केचन निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गं न जानन्ति पुण्यमेव मुक्तिकारणं भणन्ति ते छद्मस्थशब्देन गृह्यन्ते न च गणधरदेवादयः। तैः छद्मस्थैरज्ञानिभिः शुद्धात्मोपदेशशून्यैर्ये दीक्षितास्तानि छद्मस्थविहितवस्तूनि भण्यन्ते। —जो कोई निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गको तो नहीं जानते और पुण्यको ही मोक्षका कारण बताते हैं वे यहाँ 'छद्मस्थ' शब्दके द्वारा ग्रहण किये गये हैं। (यहाँ सिद्धान्त ग्रन्थोंमें प्ररूपित १२वें गुणस्थान पर्यन्त छद्मस्थ संज्ञाको प्राप्त) गणधरदेवादिसे प्रयोजन नहीं हैं। ऐसे शुद्धात्माके उपदेशसे शून्य अज्ञानी छद्मस्थों द्वारा दीक्षाको प्राप्त जो साधु हैं उन्हें छद्मस्थविहित वस्तु कहा गया है। ऐसी छद्मस्थ विहित वस्तुओंमें जो पुरुष व्रत, नियम, पठन, ध्यान, दानादि क्रियाओं युक्त है वह पुरुष मोक्षको नहीं पाता किन्तु पुण्यरूप उत्तम देवमनुष्य पदवीको पाता है।

★ **व्रत धारणमें गुरु साक्षीकी प्रधानता**—दे० व्रत/१/६।

३. स्त्रीको दीक्षा देनेवाले गुरुकी विशेषता

मू.आ./१८३-१८५ पियधम्मो दढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो। संगहणुग्गहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो ।१८३। गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य। चिरपव्वइ गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि ।१८४। —आर्यिकाओंका गणधर ऐसा होना चाहिए, कि उत्तम क्षमादि धर्म जिसको प्रिय हों, दृढ़ धर्मवाला हो, धर्ममें हर्ष करनेवाला हो, पापसे डरता हो, सब तरहसे शुद्ध हो अर्थात् अखण्डित आचरणवाला हो, दीक्षाशिक्षादि उपकारकर नया शिष्य बनाने व उसका उपकार करनेमें चतुर हो और सदा शुभ क्रियायुक्त हो हितोपदेशी हो ।१८३। गुणोंकर अगाध हो, परवादियोंसे दबनेवाला न हो, थोड़ा बोलनेवाला हो, अल्प विस्मय जिसके हो, बहुत कालका दीक्षित हो, और आचार प्रायश्चित्तादि ग्रन्थोंका जाननेवाला हो, ऐसा आचार्य आर्यिकाओंको उपदेश दे सकता है ।१८४। इन पूर्वकथित गुणोंसे रहित मुनि जो आर्यिकाओंका गणधरपना करता है उसके गणपोषण आदि चारकाल तथा गच्छ आदिकी विराधना होती है ।१८५।

गुरु तत्त्व विनिश्चय—श्वेताम्बराचार्य यशोविजय (ई. १६३८-१६८८) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित न्याय विषयक ग्रन्थ।

गुरुत्व—(त.सा./भाषा/३२)—कुछ लोग गुरुत्व शब्दका अर्थ ऐसा करते हैं कि जो नीचेकी तरफ चीजको गिराता है वह गुरुत्व है, परन्तु हम इसका अर्थ करते हैं कि जो किसी भी तरफ किसी चीजको ले जाये वह गुरुत्व है। वह चाहे नीचेकी तरफ ले जानेवाला हो अथवा ऊपरकी तरफ। नीचेकी तरफ ले जानेका सामर्थ्य तथा ऊपरको तरफ ले जानेका सामर्थ्य उसी गुरुत्वके उत्तर भेद हो सकते है। (जैसे)—पुद्गल अधोगुरुत्व धर्मवाले होते हैं और जीव ऊर्ध्व गुरुत्व धर्मवाले होते हैं।

गुरु परम्परा—दे० इतिहास/४।

गुरु पूजन क्रिया—दे० क्रिया/३।

गुरु मत—दे० मीमांसा दर्शन।

गुरु मूढता—दे० मूढता।

गुरु स्थानाभ्युपगमन क्रिया—दे० क्रिया/३।

गुर्जर नरेन्द्र—जगतुङ्ग अर्थात् गोविन्द तृतीयका अपर नाम (क.पा.१/प्र.७३/पं. महेन्द्र कुमार)।

गुर्वावली—दे० इतिहास/४,५।

गुल्म—सेनाका एक अंग—दे० सेना।

गुहिल—सम्भवतः यही जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिके कर्ता आचार्य शक्ति कुमार हैं। (ति.प./प्र.८/A-N.up); (जैन साहित्य इतिहास/ पृ.५७१)।

गुह्यक—भगवान् महावीरका शासक यक्ष—दे० तीर्थंकर ५/३।

गूढ ब्रह्मचारी—दे० ब्रह्मचारी।

गृद्धपिच्छ—१. कुन्दकुन्दका अपर नाम—दे० कुन्दकुन्द। २. उमास्वामीका अपर नाम (ध.१/५६) H. L. Jain); (तत्त्वार्थ सूत्र प्रशस्ति) (विशेष दे० कोश भाग १ परिशिष्ट/४/४)

गृद्धपिच्छ मरण—दे० मरण/१।

गृह—(ध.१४/५,६,४१/३६/३) कडियाहि वक्कुडा उवरि वंसिकट्ठण्णा गिहा णाम।—जिसकी भीत लकड़ियोंसे बनायी जाती हैं। और जिसका छप्पर बाँस और तृणसे छाया जाता है, वह गृह कहलाता है।

गृह कर्म—दे० निक्षेप /४।

गृहक्रिया—दे० संस्कार /२।

गृहपति—चक्रवर्तीका एक रत्न—दे० शलाका पुरुष /२।

गृहस्थ धर्म—दे० सागार।

गृहस्थाचार्य—दे० आचार्य /२।

गृहीत मिथ्यात्व—दे० मिथ्यादर्शन /१।

गृहीता स्त्री—दे० स्त्री।

गृहीशिता क्रिया—दे० संस्कार /२।

गोक्षीर फेन—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका ए.. नगर—दे० विद्याधर।

गोचरी वृत्ति—दे० भिक्षा /१/७।

गोणसेन—द्रविड संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप सिद्धान्त देवके शिष्य तथा अनन्तवीर्यके गुरु थे। समय—ई० ९५०-१००० —दे० इतिहास/६/३।

गोत्र कर्म—दे० वर्ण व्यवस्था /१।

गोदावरी—भरत क्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य /४।

गोपसेन—लाडबागडसंघकी पट्टावलीके अनुसार आप शान्तिसेनके शिष्य और भावसेनके गुरु थे। समय—वि. १००५ (ई० ९४८)—दे० इतिहास /७/१०।

गोपुच्छक— दिगम्बर साधुओंका एक संघ—दे० इतिहास /५/६

गोपुच्छा—(क्ष सा/भाषा/५६३)—(गुणश्रेणी क्रमको छोड़) जहाँ विशेष (चय) घटता क्रम लीएँ (अल्पबहुत्व) होइ तहाँ गोपुच्छा संज्ञा है। (क्ष.सा/भाषा/५२४)—विवक्षित एक संग्रह कृष्टिविषै जो अन्तरकृष्टीनिके विशेष (चय) घटता क्रम पाइये है सो यहाँ स्वस्थान गोपुच्छा कहिए है। और निचली विवक्षित संग्रह कृष्टिकी अन्तकृष्टितै ऊपरकी अन्य संग्रहकृष्टिकी आदि कृष्टिके विशेष घटता क्रम पाइए है सो यहाँ परस्थान गोपुच्छा हिए।

गोपुर— ध./१४/५,६,४२/३९/४ पायाराणं बारे बद्धिदगिहा गोवुरं णाम।—कोटोंके दरवाजोंपर जो घर बने होते हैं—वह गोपुर कहलाते हैं।

गोप्य—दिगम्बर साधुसंघ—दे० इतिहास /६/७।

गोमट्ट—दे० चामुण्डराय।

गोमट्टसार—मन्त्री चामुण्डरायके अर्थ आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (ई० श ११ पूर्वार्ध) द्वारा रचित कर्म सिद्धान्त प्ररूपक प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ दो भागोंमें विभक्त है—जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड। जीवकाण्डमें जीवका गति आदि २० प्ररूपणाओं द्वारा वर्णन है और कर्मकाण्डमें कर्मोंकी ८ व १४८ मूलोत्तर प्रकृतियोंके बन्ध, उदय, सत्त्व आदि सम्बन्धी वर्णन है। कहा जाता है कि चामुण्डराय जो आ. नेमिचन्द्रके परम भक्त थे, एक दिन जब उनके दर्शनार्थ आये तब वे धवला शास्त्रका स्वाध्याय कर रहे थे। चामुण्डरायको देखते ही उन्होंने शास्त्र बन्द कर दिया। पूछनेपर उत्तर दिया कि तुम अभी इस शास्त्रको पढ़नेके अधिकारी नहीं हो। तब उनकी प्रार्थनापर उन्होंने उस शास्त्रके संक्षिप्त सारस्वरूप यह ग्रन्थ रचा था। जीवकाण्डमें २० अधिकार और ७३५ गाथाएँ हैं तथा कर्मकाण्डमें ८ अधिकार और ९७२ गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थपर निम्न टीकाएँ लिखी गयीं—१. अभयनन्दि आचार्य (ई. श. १०-११) कृत टीका। २. चामुण्डराय (ई. श. १०-११) कृत कन्नड़ वृत्ति 'वीर मार्तण्डी।' ३. आ. अभयचन्द्र (ई० १३३३-१३४३) कृत मन्दप्रबोधिनी नामक संस्कृत टीका। ४. ब्र. केशव वर्णी (ई० १३५९) कृत कर्णाटक वृत्ति। ५. आ. नेमिचन्द्र नं० ५ (ई. श. १६ पूर्वार्ध) कृत जीवतत्त्व प्रबोधिनी नामकी संस्कृत टीका। ६. पं० हेमचन्द्र (ई० १६४३-१६७०) कृत भाषा वचनिका। ७. पं० टोडरमल्ल (ई० १७३६) द्वारा रचित भाषा वचनिका। (जै./१/३८१, ३८५-३९३)।

गोमट्टसार पूजा—पं० टोडरमल्ल (ई० १७३६) कृत गोमट्टसार ग्रन्थकी भाषा पूजा।

गोमती—भरतक्षेत्र पूर्वी मध्य आर्यखण्डकी एक नदी।—दे० मनुष्य /४।

गोमूत्रिका—दे० विग्रहगति /२।

गोमेध—नमिनाथ भगवान्‌का शासक यक्ष—दे० तीर्थंकर/५/३

गोरस—दे० रस।

गोरस शुद्धि—दे० भक्ष्याभक्ष्य /३।

गोलाचार्य—नन्दिसंघ देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप देशीय गण के अग्रणी थे। गोलल देशके अधिपति होनेके कारण आपका नाम गोलाचार्य प्रसिद्ध हुआ। आप त्रैकाल्य-योगीके गुरु और आविद्धकरण-पद्मनन्दि-कौमारदेव-सैद्धान्तिकके दादा गुरु थे। समय—वि० ९५७-९७७ (ई० ९००-९२०)।—दे० इतिहास /७ ५।

गोवदन— भगवान् ऋषभदेवका शासक यक्ष—दे० तीर्थंकर/५/३

गोवर्द्धन—श्रुतावतारकी गुर्वावलीके अनुसार भगवान् वीरके पश्चात् चौथे श्रुतकेवली हुए। समय—वी. नि ११४-१३३ (ई० पू० ४१३-३९४)—दे० इतिहास /४/४।

गोवर्द्धन दास—पानीपत निवासी एक प्रसिद्ध पण्डित थे। पिता नन्दलाल थे। शिष्यका नाम लक्ष्मीचन्द था। 'शकुन विचार' नामकी एक छोटी-सी पुस्तक भी लिखी है। समय वि० १७६२ (ई० १७०५)। (हिन्दी जैन साहित्य इतिहास /पृ १७९/ कामताप्रसाद)।

गोविन्द—१—कृष्णराज प्रथमका ही दूसरा नाम गोविन्द प्रथम था—दे० कृष्णराज प्रथम। २—राजा कृष्णराज प्रथमका पुत्र 'श्री वल्लभ' गोविन्द द्वि० प्रसिद्ध हुआ—दे० श्री वल्लभ। ३—गोविन्द द्वि० के राज्यपर अधिकार कर लेनेके कारण राजा अमोघवर्षके पिता जगत्तुंगको गोविन्द तृ० 'जगत्तुंग' कहते हैं। (दे० जगत्तुंग)। ४—शंकराचार्यके गुरु। समय—ई० ७८०—दे० वेदान्त।

गोशाल— एक मिथ्यामत प्रवर्तक—दे० पूरनकश्यप।

गोशीर्ष—भरतक्षेत्रके मध्य आर्यखण्डमें मलयगिरिके निकट स्थित एक पर्वत—दे० मनुष्य /४।

गोसर्ग काल—(मू.आ/भाषाकार/२७०) दो घड़ी दिन चढ़नेके बादसे लेकर मध्याह्नकालमें दो घड़ी कम रहें उतने कालको गोसर्गिक काल कहते हैं।

गौड़—१. भरतक्षेत्र आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४)। २. वर्तमान बंगालका उत्तर भाग। अपर नाम पुण्ड्र'/ (म.पु./प्र.४८/पं पन्नालाल)।

गौड़पाद—शंकराचार्यके दादा गुरु/समय—ई०७८०/—दे० वेदांत।

गौण—गौणका लक्षण व मुख्य गौणव्यवस्था—दे० स्याद्वाद/१।

गौतम—१. श्रुतावतारकी गुर्वावलीके अनुसार भगवान् वीरके पश्चात् प्रथम केवली हुए। आप भगवान्के गणधर थे। आपका पूर्वक नाम इन्द्रभूति था।—दे० इन्द्रभूति। समय—वी० नि०-१२ (ई० पू० ५२७-५१५) ।—दे० इतिहास /४/४। २. (ह पु./१८/१०२-१०६) हस्तिनापुर नगरीमें कापिष्ठलायन नामक ब्राह्मणका पुत्र था। इसके उत्पन्न होते ही माता पिता मर गये थे। भूखा मरता फिरता था कि एक दिन मुनियोंके दर्शन हुए और दीक्षा ले ली (श्लो ५०)। हजारवर्ष पर्यन्त तप करके छठें ग्रैवेयकके सुविशाल नामक विमानमें उत्पन्न हुआ। यह अन्धकवृष्णिका पूर्व भव है—दे० अन्धक वृष्णि।

गौतम ऋषि—नैयायिक मतके आदि प्रवर्तक थे। 'न्यायसूत्र' ग्रन्थकी रचना की।—दे० न्याय /१/७।

गौरव—दे० गारव।

गौरिकूट—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

गौरिव—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर।—दे० विद्याधर।

गौरी—१. भगवान् वासुपूज्यकी शासक यक्षिणी—दे० तीर्थंकर ५/३। २. एक विद्याधर विद्या।—दे० विद्या।

ज्ञ—जीवको 'ज्ञ' कहनेकी विवक्षा—दे० जीव /१/२.३।

ज्ञप्ति—ज्ञप्ति क्रियाका लक्षण—दे० चेतना /१। ज्ञप्ति व करोति क्रियामें परस्पर विरोध—दे० चेतना /३।

ज्ञात—(रा.वा./६/६/१/५१२/१) हिनस्मि इत्यसति परिणामे प्राणव्यपरोपणे ज्ञातमात्रं मया व्यापादित इति ज्ञातम्। अथवा 'अयं प्राणी हन्तव्य:' इति ज्ञात्वा प्रवृत्तेः ज्ञातमित्युच्यते।—मारनेके परिणाम न होनेपर भी हिंसा हो जानेपर 'मैंने मारा' यह जान लेना ज्ञात है। अथवा, 'इस प्राणीको मारना चाहिए' ऐसा जानकर प्रवृत्ति करना ज्ञात है।

ज्ञातृ कथांग—द्वादशांग श्रुतज्ञानका छठा अंग—दे० श्रुतज्ञान/ III

ज्ञान—ज्ञान जीवका एक विशेष गुण है जो स्व व पर दोनोंको जाननेमें समर्थ है। वह पाँच प्रकारका है—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञान। अनादि कालसे मोहमिश्रित होनेके कारण यह स्व व परमें भेद नहीं देख पाता। शरीर आदि पर पदार्थोंको ही निजस्वरूप मानता है, इसीसे मिथ्याज्ञान या अज्ञान नाम पाता है। जब सम्यक्त्वके प्रभावसे परपदार्थोंसे भिन्न भिन्न स्वरूपको जानने लगता है तब भेदज्ञान नाम पाता है। वही सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान वास्तवमें सम्यक् मिथ्या नहीं होता, परन्तु सम्यक्त्व या मिथ्यात्वके सहकारीपनेसे सम्यक् मिथ्या नाम पाता है। सम्यग्ज्ञान ही श्रेयोमार्गकी सिद्धि करनेमें समर्थ होनेके कारण जीवको इष्ट है। जीवका अपना प्रतिभास तो निश्चय सम्यग्ज्ञान है और उसको प्रगट करनेमें निमित्तभूत आगमज्ञान व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहलाता है। तहाँ निश्चय सम्यग्ज्ञान ही वास्तवमें मोक्षका कारण है, व्यवहार सम्यग्ज्ञान नहीं।

I ज्ञान सामान्य

१. भेद व लक्षण

१. ज्ञानका सामान्य लक्षण

स.सि./१/१/६/१ जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञप्तिमात्रं वा ज्ञानम्। —जो जानता है वह ज्ञान है (कर्तृ साधन); जिसके द्वारा जाना जाय सो ज्ञान है (करण साधन); जाननामात्र ज्ञान है (भाव साधन)। (रा.वा./१/१/२४/६/१; २६/६/१२); (ध.१/१,१,११६/३६३/१०); (स्या.म./१६/२१५/२७)।

रा.वा./१/१/५/५/१ एवंभूतनयवक्तव्यवशात् ज्ञानदर्शनपर्यायपरिणतात्मैव ज्ञानं दर्शनं च तत्स्वभाव्यात्। —एवंभूतनयकी दृष्टिमें ज्ञानक्रियामें परिणत आत्मा ही ज्ञान है, क्योंकि, वह ज्ञानस्वभावी है।

दे० आकार/१/५ साकारोपयोगका नाम ज्ञान है।

दे० विकल्प/२ सविकल्प उपयोगका नाम ज्ञान है।

दे० दर्शन/१/३ बाह्य चित्प्रकाशका तथा विशेष ग्रहणका नाम ज्ञान है।

२. भूतार्थ ग्रहणका नाम ज्ञान है

ध.१/१,१,४/१४२/३ भूतार्थप्रकाशनं ज्ञानम्।'' अथवा सद्भाव विनिश्चयोपलम्भकं ज्ञानम्।...शुद्धनयविवक्षायां तत्त्वार्थोपलम्भकं ज्ञानम्।...द्रव्यगुणपर्यायाननेन जानातीति ज्ञानम्। —१. सत्यार्थका प्रकाश करनेवाली शक्ति विशेषका नाम ज्ञान है। २. अथवा सद्भाव अर्थात् वस्तुस्वरूपका निश्चय करनेवाले धर्मको ज्ञान कहते हैं। शुद्धनयकी विवक्षामें वस्तुस्वरूपका उपलम्भ करनेवाले धर्मको ही ज्ञान कहा है। ३. जिसके द्वारा द्रव्य गुण पर्यायोंको जानते हैं उसे ज्ञान कहते हैं। (पं.७/२,१,३/७।२)।

स्या.म./१६/२२१/२८ सम्यगर्थैपरीत्येन विद्यतेऽवगम्यते वस्तुस्वरूपमनयेति संवित्। —जिससे यथार्थ रीतिसे वस्तु जानी जाय उसे संवित् (ज्ञान) कहते हैं।

दे० ज्ञान/III/२/११ सम्यग्ज्ञान की ही ज्ञान संज्ञा है।

३. मिथ्यादृष्टिका ज्ञान भूतार्थ ग्राहक कैसे हो सकता है

ध.१/१/१,१,४/१४२/३ मिथ्यादृष्टीनां कथं भूतार्थप्रकाशकमिति चेन्न, सम्यङ्मिथ्यादृष्टीनां प्रकाशस्य समानतोपलम्भात्। कथं पुनस्तेऽज्ञानिन इति चेन्न (दे० ज्ञान/III/३/१)—विपर्ययः कथं भूतार्थप्रकाशकमिति चेन्न, चन्द्रमस्युपलभ्यमानद्वित्वस्यान्यत्र सत्त्वतस्तस्य भूतत्वोपपत्तेः। —प्रश्न—मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान भूतार्थ प्रकाशक कैसे हो सकता है ? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के प्रकाशमें समानता पायी जाती है। प्रश्न—यदि दोनोंके प्रकाशमें समानता पायी जाती है तो फिर मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानी कैसे हो सकता है ? उत्तर—(दे० पृ० २६६ व.) प्रश्न—(मिथ्यादृष्टिका ज्ञान विपर्यय होता है) वह सत्यार्थका प्रकाशक कैसे हो सकता है ? उत्तर—ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, चन्द्रमामें पाये जानेवाले द्वित्वका दूसरे पदार्थोंमें सत्त्व पाया जाता है। इसलिए उस ज्ञानमें भूतार्थता बन जाती है।

४. अनेक प्रकारसे ज्ञानके भेद

१. ज्ञान मार्गणाकी अपेक्षा आठ भेद

ष. खं/१/१,१/सू. ११५/३५३ णाणाणुवादेण अत्थि मदिअण्णाणी सुद-अण्णाणी विभंगणाणी आभिणिबोहियणाणी सुदणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी केवलणाणी चेदि। —ज्ञानमार्गणाके अनुवादसे मत्य-ज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी, विभंगज्ञानी, आभिनिबोधिक ज्ञानी (मति ज्ञानी), श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी

जीव होते हैं। (मू.आ./२२८) (पं.का./मू./४१); (रा.वा./६/७/११/६०४/८) (द्र.सं./टी./४२)।

२. प्रत्यक्ष परोक्षकी अपेक्षा भेद

ध. १/१,१,११५/पृ./पं. तदपि ज्ञानं द्विविधम् प्रत्यक्षं परोक्षमिति। परोक्षं द्विविधम्, मतिः श्रुतमिति। (३५३/१२)। प्रत्यक्षं त्रिविधम्, अवधिज्ञानं, मनःपर्ययज्ञानं, केवलज्ञानमिति। (३५८।१)।—वह ज्ञान दो प्रकारका है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्षके दो भेद हैं—मतिज्ञान व श्रुतज्ञान। प्रत्यक्षके तीन भेद हैं—अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। (विशेष देखो प्रमाण/१ तथा प्रत्यक्ष व परोक्ष)।

३. निक्षेपोंकी अपेक्षा भेद

ध.६/४,१,४५/१८४/७ णामट्ठवणादव्वभावभेएण चउव्विहं णाणं।—नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे ज्ञान चार प्रकारका है—(विशेष दे० निक्षेप।

४. विभिन्न अपेक्षाओंसे भेद

रा.वा./१/६/५/३४/२१ चैतन्यशक्तेर्द्वाविकारौ ज्ञानाकारो ज्ञेयाकारश्च।

रा.वा./१/७/१४/४१/२ सामान्यादेकं ज्ञानम् प्रत्यक्षपरोक्षभेदाद् द्विधा, द्रव्यगुणपर्यायविषयभेदात् त्रिधा नामादिविकल्पाच्चतुर्धा, मत्यादिभेदात् पञ्चधा इत्येवं संख्येयासंख्येयानन्तविकल्पं च भवति ज्ञेयाकारपरिणतिभेदात्।—चैतन्य शक्तिके दो आकार हैं—ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार।…सामान्यरूपसे ज्ञान एक है, प्रत्यक्ष व परोक्षके भेदसे दो प्रकारका है, द्रव्य गुण पर्याय रूप विषयभेदसे तीन प्रकारका है। नामादि निक्षेपोंके भेदसे चार प्रकारका है। मति आदिकी अपेक्षा पाँच प्रकारका है। इस प्रकार ज्ञेयाकार परिणतिके भेदसे संख्यात असंख्यात व अनन्त विकल्प होते हैं।

द्र.सं./टी./४२/१८३/५ संक्षेपेण हेयोपादेयभेदेन द्विधा व्यवहारज्ञानमिति।—संक्षेपसे हेय व उपादेय भेदोंसे व्यवहार ज्ञान दो प्रकारका है।

२. ज्ञान निर्देश

१. ज्ञानकी सत्ता इन्द्रियोंसे निरपेक्ष है

क.पा/१/१,१/§३४/४६/४ करणजणिदत्तादो णेदं णाणं केवलणाणमिदि चे; ण; करणवावारादो पुव्वं णाणाभावेण जीवाभावप्पसंगादो। अत्थि तत्थणाणसामण्णं ण णाणविसेसो तेण जीवाभावो ण होदि त्ति चे; ण; तव्भावलक्खणसामण्णादो पुधभूदणाणविसेसाणुवलंभादो।—प्रश्न—इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेके कारण मतिज्ञान आदिको केवलज्ञान (के अंश—दे० आगे ज्ञान /I/४/) नहीं कहा जा सकता? उत्तर—नहीं, क्योंकि यदि ज्ञान इन्द्रियोंसे ही पैदा होता है, ऐसा मान लिया जाये, तो इन्द्रिय व्यापारके पहिले जीवके गुणस्वरूप ज्ञानका अभाव हो जानेसे गुणी जीवके भी अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। प्रश्न—इन्द्रिय व्यापारके पहिले जीवमें ज्ञानसामान्य रहता है, ज्ञानविशेष नहीं, अतः जीवका अभाव नहीं प्राप्त होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, तद्भावलक्षण सामान्यसे अर्थात् ज्ञानसामान्यसे ज्ञानविशेष पृथग्भूत नहीं पाया जाता है।

क.पा/१/१-१/५४/३ जीवदव्वस्स इंदियेहिंतो उप्पत्ती मा होउ णाम, किंतु तत्तो णाणमुप्पज्जदि त्ति चे; ण; जीवदव्वदिरित्तणाणाभावेण जीवस्स वि उप्पत्तिप्पसंगादो। होदु च; ण; अणेयंतप्पयस्स जीवदव्वस्स पत्तजच्चंतरभावस्स णाणदंसणलक्खणस्स एअंतवाइविसईकय-उप्पाय-वयधुत्ताणमभावादो।—प्रश्न—इन्द्रियोंसे जीव द्रव्यकी उत्पत्ति मत होओ, किन्तु उनसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, यह अवश्य मान्य है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जीवसे अतिरिक्त ज्ञान नहीं पाया जाता है, इसलिए इन्द्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति मान लेनेपर उनसे जीवकी भी उत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त होता है। प्रश्न—यदि यह प्रसंग प्राप्त होता है तो होओ? उत्तर—नहीं; क्योंकि अनेकान्तात्मक जात्यन्तर भावको प्राप्त और ज्ञानदर्शन लक्षणवाले जीवमें एकान्तवादियोंद्वारा माने गये सर्वथा उत्पाद व्यय व ध्रुवत्वका अभाव है।

३. ज्ञानका स्वपर प्रकाशकपना

१. स्वपर प्रकाशकपनेकी अपेक्षा ज्ञानका लक्षण

प्र.सा/त.प्र/१२४ स्वपरविभागेनावस्थितं विश्वं विकल्पस्तदाकारावभासनं। यस्तु मुकुरुन्दहृदयाभोग इव युगपदवभासमानस्वपराकारार्थविकल्पस्तद् ज्ञानं।—स्वपरके विभागपूर्वक अवस्थित विश्व 'अर्थ' है। उसके आकारोंका अवभासन 'विकल्प' है। और दर्पणके निज-विस्तारकी भाँति जिसमें एक ही साथ स्व-पराकार अवभासित होते हैं, ऐसा अर्थ विकल्प 'ज्ञान' है। (पं.ध/पू/५४१) (पं.ध/उ./३९१, ८३७)।

२. स्वपर प्रकाशक ज्ञान ही प्रमाण है

स.सि/१/१०/९८/४ यथा घटादीनां प्रकाशने प्रदीपो हेतुः स्वस्वरूपप्रकाशनेऽपि स एव, न प्रकाशान्तरं मृग्यं तथा प्रमाणमपीति अवश्यं चैतदभ्युपगन्तव्यम्।—जिस प्रकार घटादि पदार्थोंके प्रकाश करनेमें दीपक हेतु है, और अपने स्वरूपके प्रकाश करनेमें भी वही हेतु है, इसके लिए प्रकाशान्तर नहीं ढूँढना पड़ता। उसी प्रकार प्रमाण भी है, यह बात अवश्य मान लेनी चाहिए। (रा.वा/१/१०/२/४९/२३)।

प.मु/१/१ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं /१/।—स्व व अपूर्व (पहिलेसे जिसका निश्चय न हो ऐसे) पदार्थका निश्चय करानेवाला ज्ञान प्रमाण है। (सि.वि/मू१/३/१२)।

प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार—स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।—स्व-पर व्यवसायी ज्ञानको प्रमाण कहते हैं।

न.दी/१/§२८/२२ तस्मात्स्वपरावभासनसमर्थं सविकल्पकमगृहीतग्राहकं सम्यग्ज्ञानमेवाज्ञानमर्थे निवर्तयत्प्रमाणमित्यार्हतं मतम्।—अतः यही निष्कर्ष निकला कि अपने तथा परका प्रकाश करनेवाला सविकल्पक और अपूर्वार्थग्राही सम्यग्ज्ञान ही पदार्थोंके अज्ञानको दूर करनेमें समर्थ है। इसलिए वही प्रमाण है। इस तरह जैन मत सिद्ध हुआ।

३. प्रमाण स्वयं प्रमेय भी है

रा.वा./१/१०/१३/५०/३२ ततः सिद्धमेतत्—प्रमेयम् नियमात् प्रमेयम्, प्रमाणं तु स्यात्प्रमाणं स्यात्प्रमेयम् इति।—निष्कर्ष यह है कि 'प्रमेय' नियमसे प्रमेय ही है, किन्तु 'प्रमाण' प्रमाण भी है और प्रमेय भी। *विशेष दे० प्रमाण/४।*

४. निश्चय व व्यवहार दोनों ज्ञान कथंचित् स्वपर प्रकाशक हैं

नि.सा/ता.वृ/१५९ अत्र ज्ञानिनः स्वपरस्वरूपप्रकाशकत्वं कथंचिदुक्तम्। …पराश्रितो व्यवहारः इति वचनात्।…ज्ञानस्य धर्मोऽयं तावत् स्वपरप्रकाशकत्वं प्रदीपवत्। घटादिप्रमितेः प्रकाशो दीपस्तावद्भिन्नोऽपि स्वयं प्रकाशस्वरूपत्वात् स्वं परं च प्रकाशयति। आत्मापि व्यवहारेण जगत्त्रयं कालत्रयं च परं ज्योतिःस्वरूपत्वात् स्वयंप्रकाशात्मकमात्मानं च प्रकाशयति।…अथ निश्चयपक्षेऽपि स्वपरप्रकाशकत्वमस्त्येवेति सततनिरुपरागनिरञ्जनस्वभावनिरतत्वात् स्वाश्रितो निश्चयः इति वचनात्। सहजज्ञानं तावत् आत्मनः सकाशात् संज्ञालक्षणप्रयोजनेन भिन्नाभिधानलक्षणलक्षितमपि भिन्नं भवति न वस्तुवृत्त्या चेति। अतः कारणात् एतदात्मगतदर्शनसुखचारित्रादि

जानाति स्वात्मानं कारणपरमात्मस्वरूपमपि जानाति।—यहाँ ज्ञानीको स्व-पर स्वरूपका प्रकाशकपना कथंचित् कहा है। पराश्रितो व्यवहार:' ऐसा वचन होनेसे···इस ज्ञानका धर्म तो, दीपककी भाँति स्वपर प्रकाशकपना है। घटादिकी प्रमितिसे प्रकाश व दीपक दोनों कथंचित् भिन्न होनेपर भी स्वयं प्रकाशस्वरूप होनेसे स्व और परको प्रकाशित करता है; आत्मा भी ज्योति स्वरूप होनेसे व्यवहारसे त्रिलोक और त्रिकाल रूप परको तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्माको प्रकाशित करता है। अब 'स्वाश्रितो निश्चय:' ऐसा वचन होनेसे सतत निरुपरागनिरंजन स्वभावमें लीनताके कारण निश्चय पक्षसे भी स्वपरप्रकाशकपना है ही। (वह इस प्रकार) सहजज्ञान आत्मासे संज्ञा लक्षण और प्रयोजनकी अपेक्षा भिन्न जाना जाता है, तथापि वस्तुवृत्तिसे भिन्न नहीं है। इस कारणसे यह आत्मगत दर्शन सुख चारित्रादि गुणोंको जानता है और स्वात्माको अर्थात् कारण परमात्माके स्वरूपको भी जानता है। (पं.ध/उ./१६७-१६६) (और भी दे० — अनुभव/४/१)।

पं.ध/पू/६६५-६६६ विधिपूर्व: प्रतिषेध: प्रतिषेधपुरस्सरो विधिस्त्वनयो:। मैत्री प्रमाणमिति वा स्वपराकारावगाहि यज्ज्ञानम् ।६६५। अयमर्थोऽर्थविकल्पो ज्ञानं किल लक्षणं स्वतस्तस्य। एकविकल्पो नयसादुभयविकल्प: प्रमाणमिति बोध: ।६६६।—विधि पूर्वक प्रतिषेध और प्रतिषेध पूर्वक विधि होती है, किन्तु इन दोनों नयोंकी मैत्री प्रमाण है। अथवा स्वपर व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है।६६५। सारांश यह है कि निश्चय करके अर्थके आकार रूप होना जो ज्ञान है वह प्रमाणका स्वयंसिद्ध लक्षण है। तथा एक (स्व या परके) विकल्पात्मक ज्ञान नयाधीन है और उभयविकल्पात्मक प्रमाणाधीन है। दे० दर्शन२/६-ज्ञान व दर्शन दोनों स्वपर प्रकाशक हैं।

५. ज्ञानके स्व प्रकाशकत्वमें हेतु

स.सि/१/१०/६८/६ प्रमेयवत्प्रमाणस्य प्रमाणान्तरपरिकल्पनायां स्वाधिगमाभावात् स्मृत्यभाव:। तदभावाद्व्यवहारलोप: स्यात् ।—यदि प्रमेयके समान प्रमाणके लिए अन्य प्रमाण माना जाता है तो स्वका ज्ञान नहीं होनेसे स्मृतिका अभाव हो जाता है। और स्मृतिका अभाव हो जानेसे व्यवहारका लोप हो जाता है।

लघीयस्त्रय/५९ स्वहेतुजनितोऽप्यर्थ: परिच्छेद्य: स्वतो यथा। तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वत:।—अपने ही कारणसे उत्पन्न होनेवाले पदार्थ जिस प्रकार स्वत: ज्ञेय होते हैं, उसी प्रकार अपने कारणसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी स्वत: ज्ञेयात्मक है। (न्या.वि/१/३/६८/१५)।

प.मु/१/६-७,१०-१२ स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसाय: ।६। अर्थस्येव तदुन्मुखतया ।७। शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ।१०। को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ।११। प्रदीपवत् ।१२।—जिस प्रकार पदार्थकी ओर झुकनेपर पदार्थका ज्ञान होता है, उसी प्रकार ज्ञान जिस समय अपनी ओर झुकता है तो उसे अपना भी प्रतिभास होता है। इसीको स्व व्यवसाय अर्थात् ज्ञानका जानना कहते हैं।६-७। जिस प्रकार घटपटादि शब्दोंका उच्चारण न करनेपर भी घटपटादि पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार 'ज्ञान' ऐसा शब्द न कहने पर भी ज्ञानका ज्ञान हो जाता है।१०। घटपटादि पदार्थोंका और अपना प्रकाशक होनेसे जैसा दीपक स्वपरप्रकाशक समझा जाता है, उसी प्रकार ज्ञान भी घट पट आदि पदार्थोंका और अपना जाननेवाला है, इसलिए उसे भी स्वपर-स्वरूपका जाननेवाला समझना चाहिए। क्योंकि ऐसा कौन लौकिक व परीक्षक है जो ज्ञानसे जाने पदार्थको तो प्रत्यक्षका विषय माने और स्वयं ज्ञानको प्रत्यक्षका विषय न माने।११-१२।

६. ज्ञानके परप्रकाशकपनेकी सिद्धि

प. मु./१/८-९ घटमहमात्मना वेद्मि।८। कर्मवत्कर्तृ करणक्रियाप्रतीते:।९। —मैं अपने द्वारा घटको जानता हूँ इस प्रतीतिमें कर्मकी तरह कर्ता, करण व क्रियाकी भी प्रतीति होती है। अर्थात् कर्मकारक जो 'घट' उसही की भाँति कर्ताकारक 'मैं' व 'अपने द्वारा जानना' रूप करण व क्रिया की पृथक् प्रतीति हो रही है।

४. ज्ञानके पाँचों भेदों सम्बन्धी

१. ज्ञानके पाँचों भेद पर्याय हैं

ध. १/१,१,१/३७/१ पर्यायत्वात्केवलादीनां —केवलज्ञानादि (पाँचों-ज्ञान) पर्यायरूप हैं···

२. पाँचों भेद ज्ञानसामान्यके अंश हैं

ध. १/१,१,१/३७/१ पर्यायत्वात्केवलादीनां न स्थितिरिति चेन्न, अनुस्यूतज्ञानसंतानापेक्षया तत्स्थैर्यस्य विरोधाभावात्। —प्रश्न—केवलज्ञानादि पर्यायरूप हैं, इसलिए आवृत अवस्थामें उसका (केवलज्ञानका) सद्भाव नहीं बन सकता है? उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि, कभी भी नहीं टूटनेवाली ज्ञानसन्तानकी (ज्ञान सामान्यकी) अपेक्षा केवलज्ञानके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है। (दे० ज्ञान/I/४/७)।

स. सा./ आ/२०४ यदेतत्तु ज्ञानं नामैकं पदं स एष परमार्थ: साक्षान्मोक्षोपाय:। न चाभिनिबोधिकादयो भेदा इदमेकं पदमिह भिन्दन्ति, किंतु तेऽपीदमेवैकं पदमभिनन्दन्ति।—यह ज्ञान (सामान्य) नामक एक पद परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्षका उपाय है। यहाँ मतिज्ञानादि (ज्ञानके) भेद इस एक पदको नहीं भेदते किन्तु वे भी इसी एक पदका अभिनन्दन करते हैं। (ध. १/१,१,१/३७/५)।

ज्ञानबिन्दु / पृ. १ केवलज्ञानावरण पूर्णज्ञानको आवृत करनेके अतिरिक्त मन्दज्ञानको उत्पन्न करनेमें भी कारण है।

३. ज्ञान सामान्यके अंश होने सम्बन्धी शंका

ध. ६/१,६-१,५/७/१ ण सव्वावयवेहि णाणस्सुवलंभो होदु त्ति वोत्तुं जुत्तं, आवरिदणाणभागाणमुवलंभविरोहा। आवरिदणाणभागा सावरणे जीवे किमत्थि आहो णत्थि त्ति।···दव्वट्ठियणए अवलंबिज्जमाणे आवरिदणाणभागा सावरणे वि जीवे अत्थि जीवदव्वादो पुधभूदणाणाभावा, विज्जमाणणाणभागादो आवरिदणाणभागाणमभेदादो वा। आवरिदाणावरिदाणं कधमेगत्तमिदि चे ण, राहु-मेहेहि आवरिदाणावरिदसुज्जिंदुमंडलभागाणमेगत्तुवलंभा।—प्रश्न—यदि सर्व जीवोंके ज्ञानका अस्तित्व सिद्ध है, तो फिर सर्व अवयवोंके साथ ज्ञान उपलम्भ होना चाहिए? उत्तर—यह कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि, आवरण किये गये ज्ञानके भागोंका उपलम्भ माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—आवरणयुक्त जीवमें आवरण किये गये ज्ञानके भाग हैं अथवा नहीं हैं (सत् हैं या असत् हैं)? उत्तर—द्रव्यार्थिक नयके अवलम्बन करनेपर आवरण किये गये ज्ञानके अंश सावरण जीवमें भी होते हैं, क्योंकि, जीवसे पृथग्भूत ज्ञानका अभाव है। अथवा विद्यमान ज्ञानके अंशसे आवरण किये गये ज्ञानके अंशोंका कोई भेद नहीं है। प्रश्न—ज्ञानके आवरण किये गये और आवरण नहीं किये गये अंशोंके एकता कैसे हो सकती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, राहु और मेघोंके द्वारा सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डलके आवरित और अनावरित भागोंके एकता पायी जाती है। (रा. वा/८/६/४-५/५७१/४)।

४. मतिज्ञानादि भेद केवलज्ञानके अंश हैं

क. पा./१/१,१/§३१/४४/१ ण च केवलणाणमसिद्धं; केवलणाणस्स ससंवेयणपच्चक्खेण णिव्वाहेणुवलंभादो।—यदि कहा जाय कि केवल-

ज्ञान असिद्ध है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि, स्वसंवेद्य प्रत्यक्षके द्वारा केवलज्ञानके अंशरूप ज्ञानकी (मति आदि ज्ञानोंकी) निर्बाध रूपसे उपलब्धि होती है।

क. पा १/१,१/§३७/५६/७ केवलणाणसेसावयवाणमत्थित्तं गम्मदे। तदो आवरिदावयवी सव्वपज्जओ पच्चक्खाणुमाणविसओ होदूण सिद्धो। —केवलज्ञानके प्रगट अंशों (मतिज्ञानादि) के अतिरिक्त शेष अवयवोंका अस्तित्व जाना जाता है। अतः सर्वपर्यायरूप केवलज्ञान अवयवी जिसके कि प्रगट अंशोंके अतिरिक्त शेष अवयव आवृत हैं, प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा सिद्ध है। अर्थात् उसके प्रगट अंश (मतिज्ञानादि) स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा सिद्ध हैं और आवृत अंश अनुमान प्रमाणके द्वारा सिद्ध हैं।

नन्दि सूत्र/४५ केवलज्ञानावृत केवल या सामान्य ज्ञानकी भेद-किरणें भी मत्यावरण, श्रुतावरण आदि आवरणोंसे चार भागोंमें विभाजित हो जाती हैं, जैसे मेघ आच्छादित सूर्यकी किरणें चटाई आदि आवरणोंसे छोटे बड़े रूप हो जाती हैं। (ज्ञान बिन्दु/पृ. १)।

५. मतिज्ञानादिका केवलज्ञानके अंश होनेकी विधि साधक शंका समाधान

दे. ज्ञान/२/१ प्रश्न—इन्द्रिय ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले मतिज्ञान आदिका केवलज्ञानके अंश नहीं कह सकते? उत्तर—(ज्ञान सामान्यका अस्तित्व इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं करता।)

ध. १/१,१,१/३७/४ रजोजुषां ज्ञानदर्शने न मंगलीभूतकेवलज्ञानदर्शनयोरवयवाविति चेन्न, ताभ्यां व्यतिरिक्तयोस्तयोरसत्त्वात्। मत्यादयोऽपि सन्तीति चेन्न तदवस्थानां मत्यादिव्यपदेशात्। तयोः केवलज्ञानदर्शनाङ्कुरयोर्मङ्गलत्वे मिथ्यादृष्टिरपि मंगलं तत्रापि तौ स्त इति चेद्भवतु तद्रूपतया मंगलं, न मिथ्यात्वादीनां मंगलम्।...कथं पुनस्तज्ज्ञानदर्शनयोर्मङ्गलत्वमिति चेन्न ...पापक्षयकारित्वस्य तयोरुपपत्तेः। —प्रश्न—आवरणसे युक्त जीवोंके ज्ञान और दर्शन मंगलीभूत केवलज्ञान और केवलदर्शनके अवयव ही नहीं हो सकते हैं? उत्तर ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, केवलज्ञान और केवलदर्शनसे भिन्न ज्ञान और दर्शनका सद्भाव नहीं पाया जाता। प्रश्न—उनसे अतिरिक्त भी ज्ञानादि तो पाये जाते हैं। इनका अभाव कैसे किया जा सकता है? उत्तर—उस (केवल) ज्ञान और दर्शन सम्बन्धी अवस्थाओंकी मतिज्ञानादि नाना संज्ञाएँ हैं। प्रश्न—केवलज्ञानके अंकुररूप छद्मस्थोंके ज्ञान और दर्शनको मंगलरूप मान लेनेपर मिथ्यादृष्टि जीव भी मंगल संज्ञाको प्राप्त होता है, क्योंकि, मिथ्यादृष्टि जीवमें भी वे अंकुर विद्यमान हैं? उत्तर—यदि ऐसा है तो भले ही मिथ्यादृष्टि जीवको ज्ञान और दर्शनरूपसे मंगलपना प्राप्त हो, किन्तु इतनेसे ही (उसके) मिथ्यात्व अविरति आदिको मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता है। प्रश्न—फिर मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनको मंगलपना कैसे है? उत्तर—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, सम्यग्दृष्टियोंके ज्ञानदर्शनकी भाँति मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनमें पापका क्षयकारीपना पाया जाता है।

ध. १३/५,५,२१/२१३/६ जीवो किं पंचणाणसहावो आहो केवलणाणसहावो त्ति।...जीवो केवलणाणसहावो चेव। ण च सेसावरणाणमावरणिज्जाभावेण अभावो, केवलणाणावरणीएण आवरिदस्स वि केवलणाणस्स रूविदव्वाणं पच्चक्खग्गहणक्खमाणमवयवाणं संभवदंसणादो...एदेसिं चदुण्णं णाणाणं जमावारयं कम्मं तं मदिणाणावरणीयं सुदणाणावरणीयं ओहिणाणावरणीयं मणपज्जवणाणावरणीयं च भण्णदे। तदो केवलणाणसहावे जीवे संते वि णाणावरणीयपंचभावो त्ति सिद्धं। केवलणाणावरणीयं किं सव्वघादी आहो देसघादी।...ण ताव केवलणाणावरणीयं देसघादी, किंतु सव्वघादी चेव; णिस्सेसमावरिदकेवलणाणत्तादो। ण च जीवाभावो, केवलणाणे आवरिदे वि चदुण्णं णाणाणं सत्तुवलंभादो। जीवम्मि एक्कं केवलणाणं, तं च णिस्सेसमावरिदं। कत्तो पुण चदुण्णं णाणाणं संभवो। ण, छारच्छण्णग्गीदो बप्फुप्पत्तीए इव सव्वघादिणा आवरणेण आवरिदकेवलणाणादो चदुण्णं णाणाणमुप्पत्तीए विरोहाभावादो। —प्रश्न—जीव क्या पाँच ज्ञान स्वभाववाला है या केवलज्ञान स्वभाववाला है? उत्तर—जीव केवलज्ञान स्वभाववाला ही है। फिर भी ऐसा माननेपर आवरणीय शेष ज्ञानोंका (स्वभाव रूपसे) अभाव होनेसे उनके आवरण कर्मोंका अभाव नहीं होता, क्योंकि केवलज्ञानावरणीयके द्वारा आवृत हुए भी केवलज्ञानके (विषयभूत) रूपी द्रव्योंको प्रत्यक्ष ग्रहण करनेमें समर्थ कुछ (मतिज्ञानादि) अवयवोंकी सम्भावना देखी जाती है।...इन चार ज्ञानोंके जो जो आवरक कर्म है वे मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय और मनःपर्ययज्ञानावरणीय कर्म कहे जाते हैं। इसलिए केवलज्ञानस्वभाव जीवके होनेपर भी ज्ञानावरणीयके पाँच भेद हैं, यह सिद्ध होता है। प्रश्न—केवलज्ञानावरणीय कर्म क्या सर्वघाती है या देशघाती? उत्तर—केवल ज्ञानावरणीय देशघाती तो नहीं है, किन्तु सर्वघाती ही है, क्योंकि वह केवलज्ञानका निःशेष आवरण करता है। फिर भी जीवका अभाव नहीं होता, क्योंकि केवलज्ञानके आवृत होनेपर भी चार ज्ञानोंका अस्तित्व उपलब्ध होता है। प्रश्न—जीवमें एक केवलज्ञान है। उसे जब पूर्णतया आवृत कहते हो, तब फिर चार ज्ञानोंका सद्भाव कैसे सम्भव हो सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि जिस प्रकार राखसे ढकी हुई अग्निसे बाष्पकी उत्पत्ति होती है उसी प्रकार सर्वघाती आवरणके द्वारा केवलज्ञानके आवृत होनेपर भी उससे चार ज्ञानोंकी उत्पत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

६. मत्यादि ज्ञान केवलज्ञानके अंश नहीं हैं

ध.७/२,१,४७/९०/३ ण च छारेणोट्ठद्धग्गिविणिग्गयबप्फाए अग्गिववएसो अग्गिबुद्धी वा अग्गिववहारो वा अत्थि अणुवलंभादो। तदो णेदाणि णाणाणि केवलणाणं। —भस्मसे ढकी हुई अग्नि (देखो ऊपरवाली शंका) से निकले हुए बाष्पको अग्नि नाम नहीं दिया जा सकता, न उसमें अग्निकी बुद्धि उत्पन्न होती है, और न अग्निका व्यवहार ही, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता। अतएव ये सब मति आदि ज्ञान केवलज्ञान नहीं हो सकते।

७. मत्यादि ज्ञानोंका केवलज्ञानके अंश होने व न होनेका समन्वय।

ध.१३/५,५,२१/२१५/४ एदाणि चत्तारि वि णाणाणि केवलणाणस्स अवयवा ण होंति, विगलाणं परोक्खाणं सक्खयाणं सवड्ढीणं सगलपच्चक्खक्खयवड्ढिहाणिविवज्जिदकेवलणाणस्स अवयवत्तविरोहादो। पुव्वं केवलणाणस्स चत्तारि वि णाणाणि अवयवा इदि उत्तं, तं कधं घडदे। ण, णाणसामण्णमवेक्खिय तदवयवत्तं पडि विरोहाभावादो। —प्रश्न—ये चारों ही ज्ञान केवलज्ञानके अवयव नहीं, क्योंकि ये विकल हैं, परोक्ष हैं, क्षय सहित हैं और वृद्धिहानि युक्त हैं। अतएव इन्हें सकल, प्रत्यक्ष तथा क्षय और वृद्धिहानिसे रहित केवल ज्ञानके अवयव माननेमें विरोध आता है। इसलिए जो पहिले केवलज्ञानके चारों ही ज्ञान अवयव कहे हैं, वह कहना कैसे बन सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ज्ञानसामान्यको देखते हुए चार ज्ञानको उसके अवयव माननेमें कोई विरोध नहीं आता। —दे० ज्ञान/I/४/१।

८. सामान्य ज्ञान केवलज्ञानके बराबर है

प्र.सा./त.प्र./४८ समस्तं ज्ञेयं जानन् ज्ञाता समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकज्ञानाकारं चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षमात्मानं परिणमति। एवं किल द्रव्यस्वभावः। —(समस्त ज्ञाताकार-

पर्यायरूप परिणमित सकल एक ग्रहण वह) समस्त ज्ञेयको जानता हुआ ज्ञाता (केवलज्ञानी) समस्त ज्ञेयहेतुक समस्तज्ञेयाकारपर्यायरूप परिणमित सकल एक ज्ञान जिसका (स्वरूप) है, ऐसे निजरूपसे जो चेतनाके कारण स्वानुभव प्रत्यक्ष है, उसरूप परिणमित होता है। इस प्रकार वास्तवमें द्रव्यका स्वभाव है।

पं.ध./पू./६६०-६६१ न घटाकारेऽपि चितः शेषांशानां निरन्वयो नाशः। लोकाकारेऽपि चितो नियतांशानां न चासदुत्पत्तिः। – ज्ञानको घटके आकारके बराबर होनेपर भी उसके घटाकारसे अतिरिक्त शेष अंशोंका जिस प्रकार नाश नहीं हो जाता। इसी प्रकार ज्ञानके नियत अंशोंको लोकके बराबर होनेपर भी असत्की उत्पत्ति नहीं होती ।६६१। किन्तु घटाकार वही ज्ञान लोकाकाशके बराबर होकर केवल-ज्ञान नाम पाता है ।६६०।

९. पाँचों ज्ञानोंको जाननेका प्रयोजन

नि.सा./ता.वृ./१२ उक्तेषु ज्ञानेषु साक्षान्मोक्षमूलमेकं निजपरमतत्त्वनिष्ठ-सहजज्ञानमेव। अपि च पारिणामिकभावस्वभावेन भव्यस्य परमस्व-भावत्वात् सहजज्ञानादपरमुपादेयं न समस्ति। – उक्त ज्ञानोंमें साक्षात् मोक्षका मूल निजपरमतत्त्वमें स्थित ऐसा एक सहज ज्ञान ही है। तथा सहजज्ञान पारिणामिकभावरूप स्वभावके कारण भव्यका परमस्वभाव होनेसे, सहजज्ञानके अतिरिक्त अन्य कुछ उपादेय नहीं है।

१०. पाँचों ज्ञानोंका स्वामित्व

(ष. खं.१/१०१/सू.११६-१२२/३६१-३६७)

सूत्र	ज्ञान	जीव समास	गुणस्थान
११६	कुमति व कुश्रुति	सर्व १४ जीवसमास	१–२
११७-११८	विभंगावधि	संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	१–२
१२०	मति, श्रुति, अवधि	संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच व मनुष्य पर्या. अपर्या.	४–१२
१२१	मनः पर्यय	संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मनु.	६–१२
१२२	केवलज्ञान	संज्ञी पर्याप्त, अयोगी-की अपेक्षा	१३,१४, सिद्ध
११६	मति, श्रुत, अवधि ज्ञान अज्ञान मिश्रित	संज्ञी पर्याप्त	३.

(विशेष–दे० सत्)।

११. एक जीवमें युगपत् सम्भव ज्ञान

त.सू./१/३० एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।३०।

रा.वा./१/३०/४,६/९०-९१ एते हि मतिश्रुते सर्वकालमव्यभिचारिणी नारदपर्वतवत्। (४/९०/२६)। एकस्मिन्नात्मन्येकं केवलज्ञानं क्षायि-कत्वात् ।(१०/९१/२४)। एकस्मिन्नात्मनि द्वे मतिश्रुते। क्वचित् त्रीणि मतिश्रुतावधिज्ञानानि, मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानानि वा क्वचिच्चत्वारि मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानानि। न पञ्चैकस्मिन् युगपत् संभवन्ति ।(६/९१/२७)। – १. एकको आदि लेकर युगपत् एक आत्मामें चार तक ज्ञान होने सम्भव हैं। २. वह ऐसे—मति और श्रुत तो नारद और पर्वतकी भाँति सदा एक साथ रहते हैं। एक आत्मामें एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है क्योंकि वह क्षायिक है, दो हों तो मति-श्रुत; तीन हों तो मति, श्रुत, अवधि अथवा मति, श्रुत, मनःपर्यय; चार हों तो मति, श्रुत, अवधि, और मनःपर्यय। एक आत्मामें पाँचों ज्ञान युगपत् कदापि सम्भव नहीं है।

II भेद व अभेद ज्ञान

१. भेद व अभेद ज्ञान

१. भेद ज्ञानका लक्षण

स. सा./मू./१८१–१८३ उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो। कोहो कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ।१८१। अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो। उवओगम्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ।१८२। एयं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स। तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ।१८३।

स.सा./आ./१८१–१८३ ततो ज्ञानमेव ज्ञाने एव क्रोधादय एव क्रोधादि-ष्वेवेति साधु सिद्धं भेदविज्ञानम्। – उपयोग उपयोगमें है क्रोधादि (भावकर्मों) में कोई भी उपयोग नहीं है। और क्रोध (भाव कर्म) क्रोधमें ही है, उपयोगमें निश्चयसे क्रोध नहीं है ।१८१। आठ प्रकारके (द्रव्य) कर्मोंमें और नोकर्ममें उपयोग नहीं है और उपयोगमें कर्म तथा नोकर्म नहीं है ।१८२। ऐसा अविपरीत ज्ञान जब जीवके होता है तब वह उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा उपयोगके अतिरिक्त अन्य किसी भी भावको नहीं करता ।१८३। इसलिए उपयोग उपयोगमें ही है और क्रोध क्रोधमें ही है, इस प्रकार भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हो गया।

चा.पा./मू./३८ जीवाजीवविहत्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी। रायादिदोसरहिओ जिणसासणे मोक्खमग्गुत्ति ।३८। –जो पुरुष जीव और अजीव (द्रव्य कर्म, भावकर्म व नोकर्म) इनका भेद जानता है वह सम्यग्ज्ञानी होता है। रागादि दोषोंसे रहित वह भेद ज्ञान ही जिनशासनमें मोक्षमार्ग है। (मो.पा./मू./४१)।

प्र.सा./ता.वृ./२/६/११ रागादिभ्यो भिन्नोऽयं स्वात्मोत्थसुखस्वभावः परमात्मेति भेदविज्ञानं। – रागादि भिन्न यह स्वात्मोत्थ सुखस्व-भावी आत्मा है, ऐसा भेद विज्ञान होता है।

स्व.स्तो/टी./२२/५५ जीवादितत्त्वे सुखादिभेदप्रतीतिर्भेदज्ञानं। – जीवादि सातों तत्त्वोंमें सुखादिकी अर्थात् स्वतत्त्वकी स्वसंवेदनगम्य पृथक् प्रतीति होना भेदज्ञान है।

२. अभेद ज्ञानका लक्षण

बृ.द्र.सं./टी./२२/५५ सुखादौ, बालकुमारादौ च स एवाहमित्यात्मद्रव्य-स्याभेदप्रतीतिरभेदज्ञानं। – इन्द्रिय सुख आदिमें अथवा बाल कुमार आदि अवस्थाओंमें, 'यह ही मैं हूँ' ऐसी आत्मद्रव्यकी अभेद प्रतीति होना अभेद ज्ञान है।

३. भेद ज्ञानका तात्पर्य षट्कारकी निषेध

प्र.सा./मू./१६० णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं। कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ।१६०। – मैं न देह हूँ, न मन हूँ, और न वाणी हूँ। उनका कारण नहीं हूँ, कर्ता नहीं हूँ, करानेवाला नहीं हूँ और कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ। (स.सा./मू./५४)।

स./सा/आ./३२१/क २०० नास्ति सर्वोऽपि संबन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः। कर्तृकर्मत्वसंबन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ।२००।

स.सा/आ/३२९/क२०१ एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं संबन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः। तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम् ।२०१। – पर द्रव्य और आत्मतत्त्व-का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, तब फिर उनमें कर्ताकर्म सम्बन्ध कैसे हो सकता है। और उसका अभाव होनेसे आत्माके परद्रव्यका कर्तृत्व कहाँसे हो सकता है ।२००। क्योंकि इस लोकमें एक वस्तुका अन्य वस्तुके साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध ही निषेध किया गया है, इस-लिए जहाँ वस्तुभेद है अर्थात् भिन्न वस्तुएँ हैं वहाँ कर्ताकर्मपना

घटित नहीं होता। इस प्रकार मुनि जन और लौकिकजन तत्त्वको अकर्ता देखो ।२०१।

४. स्वभावभेदसे ही भेद ज्ञानकी सिद्धि है

स्या.म/१६/२००/११ स्वभावभेदमन्तरेणान्यव्यावृत्तिभेदस्यानुपपत्तेः ।— वस्तुओंमें स्वभावभेद माने बिना उन वस्तुओंमें व्यावृत्ति नहीं बन सकती।

५. संज्ञा लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा अभेदमें भी भेद

पं.का/ता.वृ/५०/९९/७ गुणगुणिनोः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावादपृथग्भूतत्वं भण्यते ।—गुण और गुणीमें संज्ञा लक्षण प्रयोजनादिसे भेद होनेपर भी प्रदेशभेदका अभाव होनेसे उनमें अपृथक्भूतपना कहा जाता है।

पं.का/ता.वृ/१५४/२२४/११ सहजशुद्धसामान्यविशेषचैतन्यात्मकजीवास्तित्वात्सकाशात्संज्ञालक्षणप्रयोजनभेदेऽपि द्रव्यक्षेत्रकालभावैरभेदादिति…। —सहज शुद्ध सामान्य तथा विशेष चैतन्यात्मक जीवके दो अस्तित्वोंमें (सामान्य तथा विशेष अस्तित्वमें) संज्ञा लक्षण व प्रयोजनसे भेद होनेपर भी द्रव्य क्षेत्र काल व भावसे उनमें अभेद है। (प्र.सा/त.प्र/९७)

III सम्यक् मिथ्या ज्ञान

१. भेद व लक्षण

१. सम्यक् व मिथ्याकी अपेक्षा ज्ञानके भेद

त.सू/१/९,३१ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।९। मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ।३१।—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान हैं ।९। मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान विपर्यय अर्थात् मिथ्या भी होते हैं ।३१। (पं.का/मू/४१/) । (द्र.सं/मू/५)।

गो.जी/मू/३००-३०१/६५० पंचेव होंति णाणा मदिसुदओहिमणं च केवलयं। खयउवसमिया चउरो केवलणाणं हवे खइयं ।३००। अण्णाणतियं होदि हु सण्णाणतियं खु मिच्छअणउदये ।…।३०१।—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये सम्यग्ज्ञान पाँच ही हैं। जे सम्यग्दृष्टिकैं मति श्रुत अवधि ए तीन सम्यग्ज्ञान हैं तेई तीनों मिथ्यात्व वा अनन्तानुबन्धी कोई कषायके उदय होते तत्त्वार्थका अश्रद्धानरूप परिणया जीव कैं तीनों मिथ्याज्ञान हो है। उनके कुमति, कुश्रुत और विभंग ये नाम हो हैं।

२. सम्यग्ज्ञानका लक्षण

१. तत्त्वार्थके यथार्थ अधिगमकी अपेक्षा

पं.का/मू./१०७ तेसिमधिगमो णाणं ।…।१०७। उन नौ पदार्थोंका या सात तत्त्वोंका अधिगम सम्यग्ज्ञान है। (मो.पा./मू./३८)।

स.सि./१/१/५/६ येन येन प्रकारेण जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेन तेनावगमः सम्यग्ज्ञानम् ।—जिस जिस प्रकारसे जीवादि पदार्थ अवस्थित हैं उस उस प्रकारसे उनका जानना सम्यग्ज्ञान है। (रा.वा/१/१/२/४/६)। (प.प्र./मू/२/२९) (ध.१/१,१,१२०/३६४/५)।

रा.वा /१/१/९/४/३ नयप्रमाणविकल्पपूर्वको जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम् ।—नय व प्रमाणके विकल्प पूर्वक जीवादि पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। (न.च वृ./३२६)।

स.सा./आ./१५५ जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानम्। जीवादि पदार्थोंके ज्ञानस्वभावरूप ज्ञानका परिणमन कर सम्यग्ज्ञान है।

२. संशयादि रहित ज्ञानकी अपेक्षा

र.क.श्रा./४२ अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्। निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ।४२।—जो ज्ञान वस्तुके स्वरूपको न्यूनतारहित तथा अधिकतारहित, विपरीततारहित, जैसाका तैसा, सन्देह रहित जानता है, उसको आगमके ज्ञाता पुरुष सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

स.सि./१/१/६/७ विमोहसंशयविपर्ययनिवृत्त्यर्थं सम्यग्विशेषणम्। —ज्ञानके पहिले सम्यग्विशेषण विमोह (अनध्यवसाय) संशय और विपर्यय ज्ञानोंका निराकरण करनेके लिए दिया गया है। (रा.वा/१/१/२/४/७)। (न.दी./१/§८/९)।

द्र.सं./मू/४२ संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स। गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं तु ।४२।—आत्मस्वरूप और अन्य पदार्थके स्वरूपका जो संशय विमोह और विभ्रम (विपर्यय) रूप कुज्ञानसे रहित जानना है वह सम्यग्ज्ञान है। (स.सा./ता.वृ./१५५)।

३. भेद ज्ञानकी अपेक्षा

मो.पा./मू/४१ जीवाजीवविहत्ती जोइ जाणेइ जिणवरमएणं। तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरिसीहिं ।४१। जो योगी मुनि जीव अजीव पदार्थका भेद जिनवरके मतकरि जाणै है सो सम्यग्ज्ञान सर्वदर्शी कह्या है सो ही सत्यार्थ है। अन्य छद्मस्थका कह्या सत्यार्थ नाहीं। (चा.पा./मू./३८)।

सि.वि./वृ./१०/१९/६८४/२३ सदसद्व्यवहारनिबन्धनं सम्यग्ज्ञानम्।— सत् और असत् पदार्थोंमें व्यवहार करनेवाला सम्यग्ज्ञान है।

नि.सा /ता.वृ./५१ तत्र जिनप्रणीतहेयोपादेयतत्त्वपरिच्छित्तिरेव सम्यग्ज्ञानम्।—जिन प्रणीत हेयोपादेय तत्त्वोंका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

द्र.सं./टी./४२/१८३/३ सप्ततत्त्वनवपदार्थेषु 'मध्य' निश्चयनयेन स्वकीयशुद्धात्मद्रव्यं…उपादेयः। शेषं च हेयमिति संक्षेपेण हेयोपादेयभेदेन द्विधा व्यवहारज्ञानमिति। —सात तत्त्व और नौ पदार्थोंमें निश्चयनयसे अपना शुद्धात्मद्रव्य ही उपादेय है। इसके सिवाय शुद्ध या अशुद्ध परजीव अजीव आदि सभी हेय है। इस प्रकार संक्षेपसे हेय तथा उपादेय भेदोंसे व्यवहार ज्ञान दो प्रकारका है।

स.सा./ता.वृ./१५५ तेषामेव सम्यक्परिच्छित्तिरूपेण शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चयः सम्यग्ज्ञानं।—उन नवपदार्थोंका ही सम्यक् परिच्छित्ति रूप शुद्धात्मासे भिन्नरूपमें निश्चय करना सम्यग्ज्ञान है। और भी देखो ज्ञान /II/१—(भेद ज्ञानका लक्षण)

४. स्वसंवेदकी अपेक्षा निश्चय लक्षण

त.सा./१/१८ सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थव्यवसायात्मकं विदुः ।…।१८। —ज्ञानमें अर्थ (विषय) प्रतिबोधके साथ-साथ यदि अपना स्वरूप भी प्रतिभासित हो और वह भी यथार्थ हो तो उसको सम्यग्ज्ञान कहना चाहिए।

प्र.सा./त.प्र /५ सहजशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावात्मतत्त्वश्रद्धानावबोधलक्षणसम्यग्दर्शनज्ञानसंपादकमाश्रमं…।—सहज शुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभाववाले आत्मतत्त्वका श्रद्धान और ज्ञान जिसका लक्षण है, ऐसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका सम्पादक है…

नि.सा./ता.वृ./३ ज्ञानं तावत् तेषु त्रिषु परद्रव्यनिरवलम्बनत्वेन निःशेषतोऽन्तर्मुखयोगशक्तेः सकाशात् निजपरमतत्त्वपरिज्ञानम् उपादेयं भवति। —परद्रव्यका अवलम्बन लिये बिना निःशेष रूपसे अन्तर्मुख योगशक्तिमें-से उपादेय (उपयोगको सम्पूर्णरूपसे अन्तर्मुख करके ग्रहण करने योग्य) ऐसा जो निज परमात्मतत्त्वका परिज्ञान सो ज्ञान है।

स.सा./ता.वृ./३८ तस्मिन्नेव शुद्धात्मनि स्वसंवेदनं सम्यग्ज्ञानं।—उस शुद्धात्ममें ही स्वसंवेदन करना सम्यग्ज्ञान है। (प्र.सा./ता.वृ./२४०/३३३/१६)।

द्र.सं./टी./४२/१८४/४ निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानमेव निश्चयज्ञानं भण्यते। —निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान ही निश्चयज्ञान है।

द्र.सं./टी./४२/१८४/११ तस्यैव शुद्धात्मनो निरुपाधिस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानेन मिथ्यात्वरागादिपरभावेभ्यः पृथक्परिच्छेदनं सम्यग्ज्ञानं ।–उस शुद्धात्माको उपाधिरहित स्वसंवेदनरूप भेदज्ञानद्वारा मिथ्या-रागादि परभावोंसे भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान है।

द्र.सं./टी./४०/१६३/११ तस्यैव सुखस्य समस्तविभावेभ्यः पृथक् परिच्छेदनं सम्यग्ज्ञानम् ।–उसी (अतीन्द्रिय) सुखका रागादि समस्त विभावोंसे स्वसंवेदन ज्ञानद्वारा भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान है। दे० अनुभव/१/५ (स्वसंवेदनका लक्षण)।

३. मिथ्याज्ञान सामान्यका लक्षण

स. सि./१/३१/१३७/३ विपर्ययो मिथ्येत्यर्थः ।···कुतः पुनरेषां विपर्ययः। मिथ्यादर्शनेन सहैकार्थसमवायात् सरजस्ककटुकालाबुगतदुग्धवत् ।–('मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च') इस सूत्रमें आये हुए विपर्यय शब्द-का अर्थ मिथ्या है। मति श्रुत व अवधि ये तीनों ज्ञान मिथ्या भी हैं और सम्यक् भी। प्रश्न—ये विपर्यय क्यों हैं? उत्तर—क्योंकि मिथ्यादर्शनके साथ एक आत्मामें इनका समवाय पाया जाता है। जिस प्रकार रज सहित कड़वी तूंबड़ीमें रखा दूध कड़वा हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यादर्शनके निमित्तसे ये मिथ्या हो जाते हैं। (रा. वा./१/३१/१/९१/३०)।

श्लो. वा. ४/१/३१/८/११५ स च सामान्यतो मिथ्याज्ञानमत्रोपवर्ण्यते। संशयादिविकल्पानां त्रयाणां संगृहीयते ।८।–सूत्रमें विपर्यय शब्द सामान्य रूपसे सभी मिथ्याज्ञानों-स्वरूप होता हुआ मिथ्याज्ञानके संशय विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीन भेदोंके संग्रह करनेके लिए दिया गया है।

ध. १२/४,२,८,१०/२८६/५ बौद्ध-नैयायिक-सांख्य-मीमांसक-चार्वाक-वैशेषिकादिदर्शनरुच्यनुविद्धं ज्ञानं मिथ्याज्ञानम् ।–बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, मीमांसक, चार्वाक और वैशेषिक आदि दर्शनोंकी रुचिसे सम्बद्ध ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है।

न. च. वृ./२३८ ण मुणइ वत्थुसहावं अहविवरीयं णिरवेक्खदो मुणइ। तं इह मिच्छणाणं विवरीयं सम्मरूवं खु ।२३८। –जो वस्तुके स्वभावको नहीं पहचानता है अथवा उलटा पहिचानता है या निरपेक्ष पहिचानता है वह मिथ्याज्ञान है। इससे विपरीत सम्यग्ज्ञान होता है।

नि. सा/ ता. वृ/९१ तत्रैवावस्तुनि वस्तुबुद्धिर्मिथ्याज्ञानं ।···अथवा स्वात्मपरिज्ञानविमुखत्वमेव मिथ्याज्ञान··· ।–उसी (अर्हन्तमार्गसे प्रतिकूल मार्गमें) कही हुई अवस्तुमें वस्तुबुद्धि वह मिथ्याज्ञान है, अथवा निजात्माके परिज्ञानसे विमुखता वही मिथ्याज्ञान है।

द्र. सं/टी/५/१४/१० अष्टविकल्पमध्ये मतिश्रुतावधयो मिथ्यात्वोदयवशाद्विपरीताभिनिवेशरूपाण्यज्ञानानि भवन्ति।–उन आठ प्रकारके ज्ञानोंमें मति, श्रुत, तथा अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्यात्वके उदयसे विपरीत अभिनिवेशरूप अज्ञान होते हैं।

२. सम्यक् व मिथ्याज्ञान निर्देश

१. सम्यग्ज्ञानके आठ अंगोंका नाम निर्देश

मू. आ./२६९ काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे। वंजण अत्थ तदुभयं णाणाचारो दु अट्ठविहो ।२६९।–स्वाध्यायका काल, मनवचनकायसे शास्त्रका विनय, यत्न करना पूजासत्कारादिसे पाठादिक करना, तथा गुरु या शास्त्रका नाम न छिपाना, वर्ण पद वाक्य-को शुद्ध पढ़ना, अनेकान्त स्वरूप अर्थको ठीक ठीक समझना, तथा अर्थको ठीक ठीक समझते हुए पाठादिक शुद्ध पढ़ना इस प्रकार (क्रमसे काल, विनय, उपधान, बहुमान, तथा निह्नव, व्यञ्जन शुद्धि, अर्थ शुद्धि, तदुभय शुद्धि; इन आठ अंगोंका विचार रखकर स्वाध्याय करना ये) ज्ञानाचारके आठ भेद है। (और भी दे० विनय/१/६) (पु.सि.उ./३६)।

२. सम्यग्ज्ञानकी भावनाएँ

म.पु./२१/९६ वाचनापृच्छने सानुप्रेक्षणं परिवर्तनम्। सद्धर्मदेशनं चेति ज्ञातव्याः ज्ञानभावनाः ।९६। –जैन शास्त्रोंका स्वयं पढ़ना, दूसरोंसे पूछना, पदार्थके स्वरूपका चिन्तवन करना, श्लोक आदि कण्ठ करना तथा समीचीन धर्मका उपदेश देना ये पाँच ज्ञानकी भावनाएँ जाननी चाहिए।

नोट—(इन्हींको त.सू./९/२५ में स्वाध्यायके भेद कहकर गिनाया है।)

३. पाँचों ज्ञानोंमें सम्यग्मिथ्यापनेका नियम

त.सू./१/९,३१ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।९। मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ।३१।–मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय व केवल ये पाँच ज्ञान हैं ।९। इनमें से मति श्रुत और अवधि ये तीन मिथ्या भी होते हैं और सम्यक् भी (शेष दो सम्यक् ही होते हैं) ।३१।

श्लो.वा./४/१/३१/श्लो.३–१०/११४ मत्यादयः समाख्यातास्त एवेत्यवधारणात्। संगृह्यते कदाचिन्न मनःपर्ययकेवले ।३। नियमेन तयोः सम्यग्भावनिर्णयतः सदा। मिथ्यात्वकारणाभावाद्विशुद्धात्मनि सम्भवात् ।४। मतिश्रुतावधिज्ञानत्रिकं तु स्यात्कदाचन। मिथ्येति ते च निर्दिष्टा विपर्यय इहाङ्गिनाम् ।७। समुच्चिनोति चस्तेषां सम्यक्त्वं व्यवहारिकम्। मुख्यं च तदनुक्तौ तु तेषां मिथ्यात्वमेव हि ।९। ते विपर्यय एवेति सूत्रे चेन्नावधार्यते। चशब्दमन्तरेणापि सदा सम्यक्त्वमत्वतः ।१०।–मति आदि तीन ज्ञान ही मिथ्या रूप होते हैं: मनःपर्यय व केवलज्ञान नहीं, ऐसी सूचना देनेके लिए ही सूत्रमें अवधारणार्थ 'च' शब्दका प्रयोग किया है ।३। ये दोनों ज्ञान नियमसे सम्यक् ही होते हैं, क्योंकि मिथ्यात्वके कारणभूत मोहनीयकर्मका अभाव होनेसे विशुद्धात्मामें ही सम्भव है ।४। मति, श्रुत व अवधि ये तीन ज्ञान तो कभी कभी मिथ्या हो जाते हैं। इसी कारण सूत्रमें उन्हें विपर्यय भी कहा है ।७। 'च' शब्दसे ऐसा भी संग्रह हो जाता है कि यद्यपि मिथ्यादृष्टिके भी मति आदि ज्ञान व्यवहारमें समीचीन कहे जाते हैं, परन्तु मुख्यरूपसे तो वे मिथ्या ही हैं ।९। यदि सूत्रमें च शब्दका ग्रहण न किया जाता तो वे तीनों भी सदा सम्यक्रूप समझे जा सकते थे। विपर्यय और च इन दोनों शब्दोंसे उनके मिथ्यापनेकी भी सूचना मिलती है ।१०।

४. सम्यग्दर्शन पूर्वक ही सम्यग्ज्ञान होता है

र.सा./४७ सम्मविणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेण।–सम्यग्दर्शनके बिना सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र नियमसे नहीं होते हैं।

स.सि./१/१/७/२ कथमभ्यर्हितत्वं। ज्ञानस्य सम्यग्व्यपदेशहेतुत्वात्। –प्रश्न—सम्यग्दर्शन पूज्य क्यों है? उत्तर—क्योंकि सम्यग्दर्शनसे ज्ञानमें समीचीनता आती है। (पं.ध./उ./७६७)।

पु.सि.उ./२१,३२ तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन। तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चारित्रं च ।२१। पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य। लक्षणभेदेन यतो नानात्वं संभवत्यनयोः ।३२।–इन तीनों दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें पहिले समस्त प्रकारके उपायोंसे सम्यग्दर्शन भलेप्रकार अंगीकार करना चाहिए, क्योंकि इसके अस्तित्वमें ही सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र होता है ।२१। यद्यपि सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान ये दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं, तथापि इनमें लक्षण भेदसे पृथकता सम्भव है ।३२।

अन.ध./३/६५/२६४ आराध्यं दर्शनं ज्ञानमाराध्यं तत्फलत्वतः । सहभावेऽपि ते हेतुफले दीपप्रकाशवत् ।६५। –सम्यग्दर्शनकी आराधना करके ही सम्यग्ज्ञान की आराधना करनी चाहिए, क्योंकि ज्ञान सम्यग्दर्शनका फल है। जिस प्रकार प्रदीप और प्रकाश साथ ही उत्पन्न होते हैं, फिर भी प्रकाश प्रदीपका कार्य है, उसी प्रकार यद्यपि सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान साथ साथ होते हैं, फिर भी सम्यग्ज्ञान कार्य है और सम्यग्दर्शन उसका कारण।

५. सम्यग्दर्शन भी कथंचित् ज्ञानपूर्वक होता है

स.सा./मू./१७-१८ जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि । तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ।१७। एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो । अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ।१८। –जैसे कोई धनका अर्थी पुरुष राजाको जानकर (उसकी) श्रद्धा करता है और फिर प्रयत्नपूर्वक उसका अनुचरण करता है अर्थात् उसकी सेवा करता है, उसी प्रकार मोक्षके इच्छुकको जीव रूपी राजाको जानना चाहिए, और फिर इसी प्रकार उसका श्रद्धान करना चाहिए। और तत्पश्चात् उसी का अनुचरण करना चाहिए अर्थात् अनुभवके द्वारा उसमें तन्मय होना चाहिए।

न.च.वृ./२४८ सामण्ण अह विसेसं दव्वे णाणं हवेइ अविरोहो । साहइ तं सम्मत्तं णहु पुण तं तस्स विवरीयं ।२४८। –सामान्य तथा विशेष द्रव्य सम्बन्धी अविरुद्धज्ञान ही सम्यक्त्वकी सिद्धि करता है। उससे विपरीत ज्ञान नहीं।

६. सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञानकी व्याप्ति है पर ज्ञानके साथ सम्यक्त्वकी नहीं।

भ.आ./मू./४/२२ दंसणमाराहंतेण णाणमाराहिदं भवे णियमा ।...। णाणं आराहंतस्स दंसणं हो.इ भयणिज्जं ।४। –सम्यग्दर्शनकी आराधना करनेवाले नियमसे ज्ञानाराधना करते हैं, परन्तु ज्ञानाराधना करनेवालेको दर्शनकी आराधना हो भी अथवा न भी हो।

७. सम्यक्त्व हो जाने पर पूर्वका ही मिथ्याज्ञान सम्यक् हो जाता है

स.सि./१/१/६/७ ज्ञानग्रहणमादौ न्याय्यं, दर्शनस्य तत्पूर्वकत्वात् अल्पाक्षरत्वाच्च । नैतद् युक्तं, युगपदुत्पत्तेः । यदा...आत्मा सम्यग्दर्शनपर्यायेणाविर्भवति तदैव तस्य मत्यज्ञानश्रुताज्ञाननिवृत्तिपूर्वकं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं चाविर्भवति घनपटलविगमे सवितुः प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिवत् । –प्रश्न–सूत्रमें पहिले ज्ञानका ग्रहण करना उचित है, क्योंकि एक तो दर्शन ज्ञानपूर्वक होता है और दूसरे ज्ञानमें दर्शन शब्दकी अपेक्षा कम अक्षर हैं? उत्तर–यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि दर्शन और ज्ञान युगपत् उत्पन्न होते हैं। जैसे मेघपटलके दूर हो जाने पर सूर्य के प्रताप और प्रकाश एक साथ प्रगट होते हैं, उसी प्रकार जिस समय आत्माकी सम्यग्दर्शन पर्याय उत्पन्न होती है उसी समय उसके मति-अज्ञान और श्रुत अज्ञानका निराकरण होकर मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान प्रगट होते हैं। (रा.वा./१/१/२८-३०/६/११) (पं.ध./उ./७६८)।

८. वास्तवमें ज्ञान मिथ्या नहीं होता, मिथ्यात्वके कारण ही मिथ्या कहलाता है

स.सि./१/३१/१३७/४ कथं पुनरेषां विपर्ययः। मिथ्यादर्शनेन सहैकार्थसमवायात् सरजस्ककटुकालाबुगतदुग्धवत् । ननु च तत्राधारदोषाद् दुग्धस्य रसविपर्ययो भवति । न च तथा मत्यज्ञानादीनां विषयग्रहणे विपर्ययः। तथा हि, सम्यग्दृष्टिर्यथा चक्षुरादिभी रूपादीनुपलभते तथा मिथ्यादृष्टिरपि मत्यज्ञानेन यथा च सम्यग्दृष्टिः श्रुतेन रूपादीन् जानाति निरूपयति च तथा मिथ्यादृष्टिरपि श्रुताज्ञानेन। यथा चावधिज्ञानेन सम्यग्दृष्टिः रूपिणोऽर्थानवगच्छति तथा मिथ्यादृष्टिर्विभङ्गज्ञानेनेति। अत्रोच्यते–"सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ।(त.सू./१/३२)।"...तथा हि, कश्चिन्मिथ्यादर्शनपरिणाम आत्मन्यवस्थितो रूपाद्युपलब्धौ सत्यामपि कारणविपर्यासं भेदाभेदविपर्यासं स्वरूपविपर्यासं च जनयति। ...एवमन्यानपि परिकल्पनाभेदान् दृष्टेष्टविरुद्धान्मिथ्यादर्शनोदयात्कल्पयन्ति तत्र च श्रद्धानमुत्पादयन्ति। ततस्तन्मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभंगज्ञानं च भवति। सम्यग्दर्शनं पुनस्तत्त्वार्थाधिगमे श्रद्धानमुत्पादयति। ततस्तन्मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं च भवति। –प्रश्न–यह (मति, श्रुत व अवधिज्ञान) विपर्यय क्यों है? उत्तर–क्योंकि मिथ्यादर्शनके साथ एक आत्मामें इनका समवाय पाया जाता है। जिस प्रकार रजसहित कड़वी तूँबड़ीमें रखा गया दूध कड़वा हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्यादर्शनके निमित्तसे यह विपर्यय होता है। प्रश्न–कड़वी तूँबड़ीमें आधारके दोषसे दूधका रस मीठेसे कड़वा हो जाता है यह स्पष्ट है, किन्तु इस प्रकार मत्यादि ज्ञानोंकी विषयके ग्रहण करनेमें विपरीता नहीं मालूम होती। खुलासा इस प्रकार है–जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि चक्षु आदिके द्वारा रूपादिक पदार्थोंको ग्रहण करता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी मतिज्ञानके द्वारा ग्रहण करता है। जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि श्रुतके द्वारा रूपादि पदार्थोंको जानता है और उनका निरूपण करता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी श्रुत अज्ञानके द्वारा रूपादि पदार्थोंको जानता है और उनका निरूपण करता है। जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानके द्वारा रूपी पदार्थोंको जानता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी विभंग ज्ञानके द्वारा रूपी पदार्थोंको जानता है। उत्तर–इसीका समाधान करनेके लिए यह अगला सूत्र कहा गया है कि "वास्तविक और अवास्तविकका अन्तर जाने बिना, जब जैसा जीमें आया उस रूप ग्रहण होनेके कारण, उन्मत्तवत् उसका ज्ञान भी अज्ञान ही है।" (अर्थात् वास्तवमें सत क्या है, और असत क्या है, चैतन्य क्या है और जड़ क्या है, इन बातोंका स्पष्ट ज्ञान न होनेके कारण कभी सत्को असत् और कभी असतको सत् कहता है। कभी चैतन्यको जड़ और कभी जड़ (शरीर) को चैतन्य कहता है। कभी कभी सतको सत और चैतन्यको चैतन्य इस प्रकार भी कहता है। उसका यह सब प्रलाप उन्मत्तकी भाँति है। जैसे उन्मत्त माताको कभी स्त्री और कभी स्त्रीको माता कहता है। वह यदि कदाचित् माताको माता भी कहे तो भी उसका कहना समीचीन नहीं समझा जाता उसी प्रकार मिथ्यादृष्टिका उपरोक्त प्रलाप भले ही ठीक क्यों न हो समीचीन नहीं समझा जा सकता है) खुलासा इस प्रकार है कि आत्मामें स्थित कोई मिथ्यादर्शनरूप परिणाम रूपादिककी उपलब्धि होनेपर भी कारणविपर्यास, भेदाभेद विपर्यास और स्वरूपविपर्यासको उत्पन्न करता रहता है। इस प्रकार मिथ्यादर्शनके उदयसे ये जीव प्रत्यक्ष और अनुमानके विरुद्ध नाना प्रकारकी कल्पनाएँ करते हैं, और उनमें श्रद्धान उत्पन्न करते हैं। इसलिए इनका यह ज्ञान मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंग ज्ञान होता है। किन्तु सम्यग्दर्शन तत्त्वार्थके ज्ञानमें श्रद्धान उत्पन्न करता है, अतः इस प्रकारका ज्ञान मति ज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होता है। (रा.वा./१/३१/२-३/९२/१) तथा (रा.वा./१/३२/पृ.९२); (विशेषावश्यक भाष्य/११५ से स्याद्वाद मंजरी/२३/२७४ पर उद्धृत) (पं.वि./१/७७)।

ध.७/२,१,४४/८५/५ किमट्ठं पुण सम्माइट्ठीणाणस्स पडिसेहो ण कीरदे विहि-पडिसेहभावेण दोण्हं णाणाणं विसेसाभावा। ण परदो वदिरित्त-भावसामण्णमवेक्खिय एत्थ पडिसेहो होज्ज, किंतु अप्पणो अवगयत्थे जम्हि जीवे सद्दहणं ण उप्पज्जदि अवगयत्थविवरीयसद्दहुप्पायणमिच्छत्तुदयबलेण तत्थ जं णाणं तमण्णाणमिदि भण्णइ, णाणफलाभावादो।

घड-पडत्थंभादिसु मिच्छाइट्ठीणं जहावगमं सद्दहणमुवलब्भदे चे; ण, तत्थ वि तस्स अणज्झवसायदंसणादो। ण चेदमसिद्धं 'इदमेवं चेवेत्ति' णिच्छयाभावा। अथवा जहा दिसामूढो वण्ण-गंध-रस-फास-जहावगमं सद्दहंतो वि अण्णाणी वुच्चदे जहावगमदिसासद्दहणाभावादो, एवं थंभादिपयत्थे जहावगमं सद्दहंतो वि अण्णाणी वुच्चदे जिणवयणेण सद्दहणाभावादो। —प्रश्न—यहाँ सम्यग्दृष्टिके ज्ञानका भी प्रतिषेध क्यों न किया जाय, क्योंकि, विधि और प्रतिषेध भावसे मिथ्यादृष्टिज्ञान और सम्यग्दृष्टिज्ञानमें कोई विशेषता नहीं है। उत्तर—यहाँ अन्य पदार्थोंमें परत्वबुद्धिके अतिरिक्त भावसामान्यकी अपेक्षा प्रतिषेध नहीं किया गया है, जिससे कि सम्यग्दृष्टिज्ञानका भी प्रतिषेध हो जाय। किन्तु ज्ञात वस्तुमें विपरीत श्रद्धा उत्पन्न करानेवाले मिथ्यात्वोदयके बलसे जहाँपर जीवमें अपने जाने हुए पदार्थमें श्रद्धान नहीं उत्पन्न होता, वहाँ जो ज्ञान होता है वह अज्ञान कहलाता है, क्योंकि उसमें ज्ञानका फल नहीं पाया जाता। शंका—घट पट स्तम्भ आदि पदार्थोंमें मिथ्यादृष्टियोंके भी यथार्थ श्रद्धान और ज्ञान पाया जाता है? उत्तर—नहीं पाया जाता, क्योंकि, उनके उसके उस ज्ञानमें भी अनध्यवसाय अर्थात् अनिश्चय देखा जाता है। यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, 'यह ऐसा ही है' ऐसे निश्चयका वहाँ अभाव होता है। अथवा, यथार्थ दिशाके सम्बन्धमें विमूढ जीव वर्ण, गंध, रस और स्पर्श इन इन्द्रिय विषयोंके ज्ञानानुसार श्रद्धान करता हुआ भी अज्ञानी कहलाता है, क्योंकि, उसके यथार्थ ज्ञानकी दिशामें श्रद्धानका अभाव है। इसी प्रकार स्तम्भादि पदार्थोंमें यथाज्ञान श्रद्धा रखता हुआ भी जीव जिन भगवान्‌के वचनानुसार श्रद्धानके अभावसे अज्ञानी ही कहलाता है।

स.सा./आ./७२ आकुलत्वोत्पादकत्वाद्दुःखस्य कारणानि खल्वास्रवाः, भगवानात्मा तु नित्यमेवानाकुलत्वस्वभावेनाकार्यकारणत्वाद्दुःखस्याकारणमेव। इत्येवं विशेषदर्शनेन यदैवायमात्मास्रवयोर्भेदं जानाति तदैव क्रोधादिभ्य आस्रवेभ्यो निवर्तते, तेभ्योऽनिवर्तमानस्य पारमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः। ततः क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्यविनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवाज्ञानजस्य पौद्गलिकस्य कर्मणो बन्धनिरोधः सिध्येत्। —आस्रव आकुलताके उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिए दुःखके कारण हैं, और भगवान् आत्मा तो, सदा ही निराकुलता-स्वभावके कारण किसीका कार्य तथा किसीका कारण न होनेसे, दुःखका अकारण है।' इस प्रकार विशेष (अन्तर) को देखकर जब यह आत्मा, आत्मा और आस्रवोंके भेदको जानता है, उसी समय क्रोधादि आस्रवोंसे निवृत्त होता है, क्योंकि, उनसे जो निवृत्ति नहीं है उसे आत्मा और आस्रवोंके पारमार्थिक भेदज्ञानकी सिद्धि ही नहीं हुई। इसलिए क्रोधादि आस्रवोंसे निवृत्तिके साथ जो अविनाभावी है ऐसे ज्ञानमात्रसे ही, अज्ञानजन्य पौद्गलिक कर्मके बन्धका निरोध होता है। (तात्पर्य यह कि मिथ्यादृष्टिको शास्त्रके आधारपर भले ही आस्रवादि तत्त्वोंका ज्ञान हो गया हो पर मिथ्यात्ववश स्वतत्त्व दृष्टिसे ओझल होनेके कारण वह उस ज्ञानको अपने जीवनपर लागू नहीं कर पाता। इसीसे उसे उस ज्ञानका फल भी प्राप्त नहीं होता और इसीलिए उसका वह ज्ञान मिथ्या है। इससे विपरीत सम्यग्दृष्टिका तत्त्वज्ञान अपने जीवन पर लागू होनेके कारण सम्यक् है)।

स.सा./पं. जयचन्द/७२ प्रश्न—अविरत सम्यग्दृष्टिको यद्यपि मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी प्रकृतियोंका आस्रव नहीं होता, परन्तु अन्य प्रकृतियोंका तो आस्रव होकर बन्ध होता है; इसलिए ज्ञानी कहना या अज्ञानी? उत्तर—सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी ही है, क्योंकि वह अभिप्राय पूर्वक आस्रवोंसे निवृत्त हुआ है।

और भी दे० ज्ञान/III/३/१ मिथ्यादृष्टिका ज्ञान भी भूतार्थग्राही होनेके कारण यद्यपि कथंचित् सम्यक् है पर ज्ञानका असली कार्य (आस्रव निरोध) न करनेके कारण वह अज्ञान ही है।

९. मिथ्यादृष्टिका शास्त्रज्ञान भी मिथ्या व अकिंचित्कर है

दे. ध्यान/IV/१/२—[आत्मज्ञानके बिना सर्व आगमज्ञान अकिंचित्कर है]

दे. राग/६/१ [परमाणु मात्र भी राग है तो सर्व आगमधर भी आत्माको नहीं जानता]

स.सा./मू./३१७ ण मुयइ पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइऊण सत्थाणि। गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति। —भलीभाँति शास्त्रोंको पढ़कर भी अभव्य जीव प्रकृतिको (अपने मिथ्यात्व स्वभावको) नहीं छोड़ता। जैसे मीठे दूधको पीते हुए भी सर्प निर्विष नहीं होते। (स. सा./मू./२७४)

र. सा./मू./४ सम्मत्तरयणभट्ठा जाणंता बहुविहाई सत्थाई। आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥४॥ —सम्यक्त्व रत्नसे भ्रष्ट भले ही बहुत प्रकारके शास्त्रोंको जानो परन्तु आराधनासे रहित होनेके कारण संसारमें ही नित्य भ्रमण करता है।

यो. सा. अ./७/४४ संसारः पुत्रदारादिः पुंसां संमूढचेतसाम्। संसारो विदुषां शास्त्रमध्यात्मरहितात्मनाम् ॥४४॥ —अज्ञानीजनोंका संसार तो पुत्र स्त्री आदि है और अध्यात्मज्ञान शून्य विद्वानोंका संसार शास्त्र है।

द्र. सं./टी./५०/२१५/७ पर उद्धृत—यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्। लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ॥ —जिस पुरुषके स्वयं बुद्धि नहीं है उसका शास्त्र क्या उपकार कर सकता है। क्योंकि नेत्रोंसे रहित पुरुषका दर्पण क्या उपकार कर सकता है। अर्थात् कुछ नहीं कर सकता।

स्या. म./२१/२७४/१५ तत्परिगृहीतं द्वादशाङ्गमपि मिथ्याश्रुतमामनन्ति। तेषामुपपत्ति निरपेक्षं यदृच्छया वस्तुतत्त्वोपलम्भसंरम्भात्। —मिथ्यादृष्टि बारह (१) अंगोंको पढ़कर भी उन्हें मिथ्या श्रुत समझता है, क्योंकि, वह शास्त्रोंको समझे बिना उनका अपनी इच्छाके अनुसार अर्थ करता है। (और भी देखो पीछे इसीका नं० ८)

पं. ध./उ./७७० यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृक्। न तज्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥७७०॥ —जो सम्यग्दर्शनके बिना द्रव्यचारित्र तथा श्रुतज्ञान होता है वह न सम्यग्ज्ञान है और न सम्यग्चारित्र है। यदि है तो वह ज्ञान तथा चारित्र केवल कर्मबन्धको ही करनेवाला है।

१०. सम्यग्दृष्टिका कुशास्त्र ज्ञान भी कथंचित् सम्यक् है

स्या. म./२१/२७४/१६ सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं तु मिथ्याश्रुतमपि सम्यक्श्रुततया परिणमति सम्यग्दृशाम्। सर्वविदुपदेशानुसारिप्रवृत्तितया मिथ्याश्रुतोक्तस्याप्यर्थस्य यथावस्थितविधिनिषेधविषयतोन्नयनात्। —सम्यग्दृष्टि मिथ्याशास्त्रोंको पढ़कर उन्हें सम्यक्श्रुत समझता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि सर्वज्ञदेवके उपदेशके अनुसार चलता है, इसलिए वह मिथ्या आगमोंका भी यथोचित विधि निषेधरूप अर्थ करता है।

११. सम्यग्ज्ञानको ही ज्ञान संज्ञा है

मू. आ./२६७-२६८ जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि। जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥२६७॥ जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि। जेण मेत्ती पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥२६८॥ —जिससे वस्तुका यथार्थ स्वरूप जाना जाय, जिससे मनका व्यापार रुक जाय, जिससे आत्मा विशुद्ध हो,' जिनशासनमें उसे ही ज्ञान कहा गया है ॥२६७॥ जिससे रागसे विरक्त हो, जिससे श्रेयस मार्गमें रक्त हो, जिससे सर्व प्राणियोंमें मैत्री प्रवर्ते, वही जिनमतमें ज्ञान कहा गया है ॥२६८॥

पं. सं./प्रा./१/११७ जाणई तिकालसहिए दव्वगुणपज्जए बहुब्भेए। पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाण त्ति णं बिंति ॥११७॥ = जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक सर्व द्रव्य, उनके समस्त गुण और उनकी बहुत भेदवाली पर्यायोंको प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे जानता है, उसे निश्चयसे ज्ञानीजन ज्ञान कहते हैं। (ध. १/१,१,४/गा ९१/१४४), (पं. सं. सं./१/२१३), (गो. जी./मू./२९९/६४८)

स. सा./पं. जयचन्द/७४ मिथ्यात्व जानेके बाद उसे विज्ञान कहा जाता है। (और भी दे. ज्ञानीका लक्षण)

३. सम्यक् व मिथ्याज्ञान सम्बन्धी शंका-समाधान व समन्वय

१. तीनों अज्ञानोंमें कौन-कौन-सा मिथ्यात्व घटित होता है

श्लो. वा. ४/१/३१/१३/११८/६ मतौ श्रुते च त्रिविधं मिथ्यात्वं बोद्धव्यं मतेरिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तकत्वनियमात्। श्रुतस्यानिन्द्रियनिमित्तकत्वनियमाद्‌ द्विविधमवधौ संशयाद्विना विपर्ययानध्यवसायाविरयर्थः। = मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें तीनों प्रकारका मिथ्यात्व (संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय) समझ लेना चाहिए। क्योंकि मतिज्ञानके निमित्तकारण इन्द्रिय और अनिन्द्रिय हैं ऐसा नियम है तथा श्रुतज्ञानका निमित्त नियमसे अनिन्द्रिय माना गया है। किन्तु अवधिज्ञानमें संशयके बिना केवल विपर्यय व अनध्यवसाय सम्भवते हैं (क्योंकि यह इन्द्रिय अनिन्द्रियकी अपेक्षा न करके केवल आत्मासे उत्पन्न होता है और संशय ज्ञान इन्द्रिय व अनिन्द्रियके बिना उत्पन्न नहीं हो सकता।)

२. अज्ञान कहनेसे क्या यहाँ ज्ञानका अभाव इष्ट है

ध. ७/२,१,४४/८४/१० एत्थ चोदओ भणदि—अण्णाणमिदि वुत्ते किं णाणस्स अभावो घेप्पदि आहो ण घेप्पदि त्ति। णाइल्लो पक्खो मदिणाणाभावे मदिपुव्वं सुदमिदि कट्टु सुदणाणस्स वि अभावप्पसंगादो। ण चेदं पि णाणमभावे सव्वणाणाणमभावप्पसंगादो। णाणाभावे ण दंसणं पि दोण्णमण्णोण्णाविणाभावादो। णाणदंसणाभावे ण जीवो वि, तस्स तल्लक्खणत्तादो त्ति। ण विदियपक्खो वि, पडिसेहस्स फलाभावप्पसंगादो त्ति। एत्थ परिहारो वुच्चदे—ण पढमपक्खदोससंभवो, पसज्जपडिसेहेण एत्थ पओजणाभावा। ण विदियपक्खुत्तदोसो वि, अप्पेहितो विदिरित्तासेसदव्वेसु सविहिवहर्सठिएसु पडिसेहस्स फलभावुवलंभादो। किमट्ठं पुण सम्माइट्ठीणाणस्स पडिसेहो ण कीरदे। = प्रश्न—अज्ञान कहनेपर क्या ज्ञानका अभाव ग्रहण किया है या नहीं किया है? प्रथम पक्ष तो बन नहीं सकता, क्योंकि मतिज्ञानका अभाव माननेपर 'मतिपूर्वक ही श्रुत होता है' इसलिए श्रुतज्ञानके अभावका भी प्रसंग आ जायेगा। और ऐसा भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, मति और श्रुत दोनों ज्ञानोंके अभावमें सभी ज्ञानोंके अभावका प्रसंग आ जाता है। ज्ञानके अभावमें दर्शन भी नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान और दर्शन इन दोनोंका अविनाभावी सम्बन्ध है। और ज्ञान और दर्शनके अभावमें जीव भी नहीं रहता, क्योंकि जीवका तो ज्ञान और दर्शन ही लक्षण है। दूसरा पक्ष भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि, यदि अज्ञान कहनेपर ज्ञानका अभाव न माना जाये तो फिर प्रतिषेधके फलाभावका प्रसंग आ जाता है? उत्तर—प्रथम पक्षमें कहे गये दोषकी प्रस्तुत पक्षमें सम्भावना नहीं है, क्योंकि यहाँपर प्रसज्यप्रतिषेध अर्थात् अभावमात्रसे प्रयोजन नहीं है। दूसरे पक्षमें कहा गया दोष भी नहीं आता, क्योंकि, यहाँ जो अज्ञान शब्दसे ज्ञानका प्रतिषेध किया गया है, उसकी, आत्माको छोड़ अन्य समीपवर्ती प्रदेशमें स्थित समस्त द्रव्योंमें स्व व पर विवेकके अभावरूप सफलता पायी जाती है। अर्थात् स्व पर विवेकसे रहित जो पदार्थ ज्ञान होता है उसे ही यहाँ अज्ञान कहा है। प्रश्न—तो यहाँ सम्यग्दृष्टिके ज्ञानका भी प्रतिषेध क्यों न किया जाय? उत्तर—दे० ज्ञान/III/२/८।

३. मिथ्याज्ञानकी अज्ञान संज्ञा कैसे है ?

ध. १/१,१,४/१४२/४ कथं पुनस्तेऽज्ञानिन इति चेन्न, मिथ्यात्वोदयात्प्रतिभासितेऽपि वस्तुनि संशयविपर्ययानध्यवसायानिवृत्तितस्तेषामज्ञानितोक्तः। एवं सति दर्शनावस्थायां ज्ञानाभावः स्यादिति चेन्नैष दोषः, इष्टत्वात्।…एतेन संशयविपर्ययानध्यवसायावस्थासु ज्ञानाभावः प्रतिपादितः स्यात्, शुद्धनयविवक्षायां तत्त्वार्थोपलम्भकं ज्ञानम्। ततो मिथ्यादृष्टयो न ज्ञानिनः। = प्रश्न—यदि सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि दोनोंके प्रकाशमें (ज्ञानसामान्यमें) समानता पायी जाती है, तो फिर मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानी कैसे हो सकते हैं? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वकर्मके उदयसे वस्तुके प्रतिभासित होनेपर भी संशय, विपर्यय और अनध्यवसायकी निवृत्ति नहीं होनेसे मिथ्यादृष्टियोंको अज्ञानी कहा है। प्रश्न—इस तरह मिथ्यादृष्टियोंको अज्ञानी माननेपर दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानका अभाव प्राप्त हो जायेगा? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानोपयोगका अभाव इष्ट ही है। यहाँ संशय विपर्यय और अनध्यवसायरूप अवस्थामें ज्ञानका अभाव प्रतिपादित हो जाता है। कारण कि शुद्धनिश्चयनयकी विवक्षामें वस्तुस्वरूपका उपलम्भ करानेवाले धर्मको ही ज्ञान कहा है। अतः मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानी नहीं हो सकते हैं।

ध. ५/१,७,४५/२२४/३ कधं मिच्छादिट्ठिणाणस्स अण्णाणत्तं। णाणकज्जाकरणादो। किं णाणकज्जं। णादत्थसद्दहणं। ण तं मिच्छादिट्ठिम्हि अत्थि। तदो णाणमेव अणाणं, अण्णहा जीवविणासप्पसंगा। अवगयदवधम्मणाइसु मिच्छादिट्ठिम्हि सद्दहणमुवलंभए चे ण, अत्तागमपयत्थसद्दहणविरहियस्स दवधम्मणाइसु जहट्ठसद्दहणविरोहा। ण च एस ववहारो लोगे अप्पसिद्धो, पुत्तकज्जमकुणंते पुत्ते वि लोगे अपुत्तववहारदंसणादो। = प्रश्न—मिथ्यादृष्टि जीवोंके ज्ञानको अज्ञानपना कैसे कहा? उत्तर—क्योंकि, उनका ज्ञान ज्ञानका कार्य नहीं करता है। प्रश्न—ज्ञानका कार्य क्या है? उत्तर—जाने हुए पदार्थका श्रद्धान करना ज्ञानका कार्य है। इस प्रकारका ज्ञान मिथ्यादृष्टि जीवमें पाया नहीं जाता है। इसलिए उनके ज्ञानको ही अज्ञान कहा है। अन्यथा जीवके अभावका प्रसंग प्राप्त होगा। प्रश्न—दयाधर्मको जाननेवाले ज्ञानियोंमें वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीवमें तो श्रद्धान पाया जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, दयाधर्मके ज्ञाताओंमें भी, आप्त आगम और पदार्थके प्रति श्रद्धानसे रहित जीवके यथार्थ श्रद्धानके होनेका विरोध है। ज्ञानका कार्य नहीं करनेपर ज्ञानमें अज्ञानका व्यवहार लोकमें अप्रसिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, पुत्रके कार्यको नहीं करनेवाले पुत्रमें भी लोकके भीतर अपुत्र कहनेका व्यवहार देखा जाता है। (ध. २/१,१,११५/३५३/७)।

४. मिथ्याज्ञान क्षायोपशमिक कैसे है ?

ध. ७/२,१,४५/८६/७ कधं मदिअण्णाणिस्स खओवसमिया लद्धी। मदिअण्णाणावरणस्स देसघादिफद्दयाणमुदएण मदिअणाणित्तुवलंभादो। जदि देसघादिफद्दयाणमुदएण अण्णाणित्तं होदि तो तस्स ओदइयत्तं पसज्जदे। ण, सव्वघादिफद्दयाणमुदयाभावा। कधं पुण खओवसमियत्तं (दे० क्षयोपशम/१ में क्षयोपशमके लक्षण)। = प्रश्न—मति अज्ञानी जीवके क्षायोपशमिक लब्धि कैसे मानी जा सकती है? उत्तर—क्योंकि, उस जीवके मति अज्ञानावरण कर्मके देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे मति अज्ञानित्व पाया जाता है। प्रश्न—यदि

देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे अज्ञानित्व होता है तो अज्ञानित्वको औदयिक भाव माननेका प्रसंग आता है ? उत्तर—नहीं आता, क्योंकि, वहाँ सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयका अभाव है। प्रश्न—तो फिर अज्ञानित्वमें क्षायोपशमिकत्व क्या है ? उत्तर—(दे० क्षयोपशमका लक्षण)।

५. मिथ्याज्ञान दर्शानेका प्रयोजन

स. सा./ता.वृ/२२/५१/१ एवमज्ञानिज्ञानिजीवलक्षणं ज्ञात्वा निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणे भेदज्ञाने स्थित्वा भावना कार्येति तामेव भावनां दृढयति।—इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी जीवका लक्षण जानकर, निर्विकार स्वसंवेदन लक्षणवाला जो भेदज्ञान, उसमें स्थित होकर भावना करनी चाहिए तथा उसी भावनाको दृढ़ करना चाहिए।

IV निश्चय व्यवहार सम्यग्ज्ञान

१. निश्चय सम्यग्ज्ञान निर्देश

१. निश्चय सम्यग्ज्ञानका माहात्म्य

प्र. सा./मू./८० जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त गुणत्त पज्जत्तेहिं। सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ।८०।—जो अर्हन्तको द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने जानता है, वह आत्माको जानता है और उसका मोह अवश्य लयको प्राप्त होता है।

र. सा./१४४ दव्वगुणपज्जएहिं जाणइ परसमयससमयादिविभेयं। अप्पाणं जाणइ सो सिवगइपहणायगो होई ।१४४।—आत्माके दो भेद हैं—एक स्वसमय और दूसरा परसमय। जो जीव इन दोनों को द्रव्य, गुण व पर्यायसे जानता है, वह ही वास्तवमें आत्माको जानता है। वह जीव ही शिवपथका नायक होता है।

भ. आ./मू./७६८-७६९ णाणुज्जोवो जोवो णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो। दीवेइ खेत्तमप्पं सूरो णाणं जगमसेसं ।७६८। णाणं पयासओ सो वओ तओ संजमो य गुत्तियरो। तिण्हंपि समाओगे मोक्खो जिनसासणे दिट्ठो ।७६९।—ज्ञानप्रकाश ही उत्कृष्ट प्रकाश है, क्योंकि किसीके द्वारा भी इसका प्रतिघात नहीं हो सकता। सूर्यका प्रकाश यद्यपि उत्कृष्ट समझा जाता है, परन्तु वह भी अल्पमात्र क्षेत्रको ही प्रकाशित करता है। ज्ञान प्रकाश समस्त जगत्को प्रकाशित करता है ।७६८। ज्ञान संसार और मुक्ति दोनोंके कारणोंको प्रकाशित करता है। व्रत, तप, गुप्ति व संयमको प्रकाशित करता है, तथा तीनोंके संयोगरूप जिनोपदिष्ट मोक्षको प्रकाशित करता है ।७६९।

यो.सा.अ./९/३१ अनुष्ठानास्पदं ज्ञानं ज्ञानं मोहतमोऽपहम्। पुरुषार्थकरं ज्ञानं ज्ञानं निर्वृतिसाधनम् ।३१।—'ज्ञान' अनुष्ठानका स्थान है, मोहान्धकारका विनाश करनेवाला है, पुरुषार्थका करनेवाला है, और मोक्षका कारण है।

ज्ञा./७/२१-२३ यत्र बालश्चरत्यस्मिन्पथि तत्रैव पण्डितः। बालः स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्वविद्ध्रुवम् ।२१। दुरिततिमिरहंसं मोक्षलक्ष्मीसरोजं मदनभुजगमन्त्रं चित्तमातङ्गसिंहं व्यसनघनसमीरं विश्वतत्त्वैकदीपं, विषयशफरजालं ज्ञानमाराधय त्वम् ।२२। अस्मिन्संसारकक्षे यमभुजगविषाक्रान्तनिःशेषसत्त्वे, क्रोधाद्युत्तुङ्गशैले कुटिलगतिसरित्पातसंतापभीमे। मोहान्धाः संचरन्ति स्खलनविधुरताः प्राणिनस्तावदेते, यावद्विज्ञानभानुर्भवभयदमिदं नोच्छिनत्त्यन्धकारम् ।२३। —जिस मार्गमें अज्ञानी चलते हैं उसी मार्गमें विद्वज्जन चलते हैं, परन्तु अज्ञानी तो अपनी आत्माको बाँध लेता है और तत्त्वज्ञानी बन्धरहित हो जाता है, यह ज्ञानका माहात्म्य है ।२१। हे भव्य तू ज्ञानका आराधन कर, क्योंकि, ज्ञान पापरूपी तिमिर नष्ट करनेके लिए सूर्यके समान है, और मोक्षरूपी लक्ष्मीके निवास करनेके लिए कमलके समान है। कामरूपी सर्पके कीलनेको मन्त्रके समान है, मनरूपी हस्तीको सिंहके समान है, आपदारूपी मेघोंको उड़ानेके लिए पवनके समान है, समस्त तत्त्वोंको प्रकाश करनेके लिए दीपकके समान है तथा विषयरूपी मत्स्योंको पकड़नेके लिए जालके समान है ।२२। जबतक इस संसाररूपी वनमें सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य उदित होकर संसारभयदायक अज्ञानान्धकारका उच्छेद नहीं करता तबतक ही मोहान्ध प्राणी निज स्वरूपसे च्युत हुए गिरते पड़ते चलते हैं। कैसा है संसाररूपी वन ?—जिसमें कि पापरूपी सर्पके विषसे समस्त प्राणी व्याप्त हैं, जहाँ क्रोधादि पापरूपी बड़े-बड़े पर्वत हैं, जो वक्र-गमनवाली दुर्गतिरूपी नदियोंमें गिरनेसे उत्पन्न हुए सन्तापसे अतिशय भयानक है। ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाश होनेसे किसी प्रकारका दुःख व भय नहीं रहता है ।२३।

२. भेदविज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है

इ. उ./३३ गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरान्तरम्। जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ।३३।—जो कोई प्राणी गुरूपदेशसे अथवा शास्त्राभ्याससे या स्वात्मानुभवसे स्व व परके भेदको जानता है वही पुरुष सदा मोक्षसुखको जानता है।

स. सा./आ./२०० एवं सम्यग्दृष्टिः सामान्येन विशेषेण च, परस्वभावेभ्यो भावेभ्यो सर्वेभ्योऽपि विविच्य टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावमात्मनस्तत्त्वं विजानाति।

स. सा./आ./३१४ स्वपरयोर्विभागज्ञानेन ज्ञायको भवति।—इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सामान्यतया और विशेषतया परभावस्वरूप सर्व भावोंसे विवेक (भेदज्ञान) करके टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव जिसका स्वभाव है ऐसा जो आत्मतत्त्व उसको जानता है।...आत्मा स्व परके भेदविज्ञानसे ज्ञायक होता है।

३. अभेद ज्ञान या इन्द्रियज्ञान अज्ञान है

स. सा./३१४ स्वपरयोरेकत्वज्ञानेनाज्ञायको भवति।—स्व परके एकत्व ज्ञानसे आत्मा अज्ञायक होता है।

प्र. सा./त./प्र./५५ परोक्षं हि ज्ञानं...आत्मनः स्वयं परिच्छेत्तुमर्थमसमर्थस्योपात्तानुपात्तपरप्रत्ययसामग्रीमार्गणव्यग्रतयात्यन्तविसंष्ठुलत्वमवलम्बमानमनन्तायाः शक्तेः...परमार्थतोऽर्हति। अतस्तद्धेयम्। —परोक्षज्ञान आत्मपदार्थको स्वयं जाननेमें असमर्थ होनेसे उपात्त और अनुपात्त परपदार्थ रूप सामग्रीको ढूँढनेकी व्यग्रतासे अत्यन्त चंचल-तरल-अस्थिर वर्तता हुआ, अनन्त शक्तिसे च्युत होनेसे अत्यन्त खिन्न होता हुआ...परमार्थतः अज्ञानमें गिने जाने योग्य है; इसलिए वह हेय है।

४. आत्म ज्ञानके बिना सर्व आगमज्ञान अकिंचित्कर है

मो. पा./मू./१०० जदि पढदि बहुसुदाणि य जदि काहिदि बहुविहे य चारित्ते। तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीयं ।१००।—आत्म स्वभावसे विपरीत बहुत प्रकारके शास्त्रोंका पढ़ना और बहुत प्रकारके चारित्रका पालन भी बाल श्रुत बालचरण है। (मू. आ./८९७)।

मू. आ./८९४ धीरो वइरागपरो थोवं हि य सिक्खिदूण सिज्झदि हु। ण हि सिज्झहि वेरग्गविहीणो पढिदूण सव्वसत्थाइं।—धीर और वैराग्यपरायण तो अल्पमात्र शास्त्र पढ़ा हो तो भी मुक्त हो जाता है, परन्तु वैराग्य विहीन सर्व शास्त्र भी पढ़ ले तो भी मुक्त नहीं होता।

स. श./९४ विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते। देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ।९४।—शरीरमें आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा सम्पूर्ण शास्त्रोंको जान लेनेपर भी मुक्त नहीं होता और देहसे भिन्न आत्माका अनुभव करनेवाला अन्तरात्मा सोता और उन्मत्त हुआ भी मुक्त हो जाता है। (यो. सा. यो/९६) (ज्ञा./३२/१००)।

प.प्र./मू./२/८४ बोह णिमित्तें सत्थु किल लोइ पढिज्जइ इत्थु। तेण वि बोहु ण जासु वर सो किं मूढु ण तत्थु।८४। – इस लोकमें नियमसे ज्ञानके निमित्त शास्त्र पढ़े जाते हैं परन्तु शास्त्रके पढ़नेसे भी जिसको उत्तम ज्ञान नहीं हुआ, वह क्या मूढ़ नहीं है? है ही।

प.प्र./मू. २/१६१ घोरु करन्तु वि तवचरणु सयल वि सत्थ मुणंतु। परम-समाहि-विवज्जियउ णवि देक्खइ सिउ संतु।१६१। – महा दुर्धर तपश्चरण करता हुआ और सब शास्त्रोंको जानता हुआ भी, जो परम समाधिसे रहित है वह शान्तरूप शुद्धात्माको नहीं देख सकता।

न.च.वृ/२८४ में उद्धृत "णियदव्वजाणणट्ठं इयरं कहियं जिणेहिं छद्दव्वं। तम्हा परछद्दव्वे जाणगभावो ण होइ सण्णाणं।" – जिनेन्द्र भगवान्‌ने निजद्रव्यको जाननेके लिए ही अन्य छह द्रव्योंका कथन किया है, अतः मात्र उन पररूप छः द्रव्योंका जानना सम्यग्ज्ञान नहीं है।

आराधनासार/मू/१११, ५४ अस्ति करोतु तपः पालयतु संयमं पठतु सकलशास्त्राणि। यावन्न ध्यायत्यात्मानं तावन्न मोक्षो जिनो भवति १११। सकलशास्त्रसेवितां सूरिसंघानदृढयतु च तपश्चाभ्यस्तु स्फीत-योगम्। चरतु विनयवृत्तिं बुध्यतां विश्वतत्त्वं यदि विषयविलासः सर्वमेतन्न किंचित्।५४।" – तप करो, संयम पालो, सकल शास्त्रोंको पढ़ो परन्तु जबतक आत्माको नहीं ध्याता तबतक मोक्ष नहीं होता।१११। सकलशास्त्रोंका सेवन करनेमें भले आचार्य संघको दृढ़ करो, भले ही योगमें दृढ़ होकर तपका अभ्यास करो, विनयवृत्तिका आचरण करो, विश्वके तत्त्वोंको जान जाओ, परन्तु यदि विषय विलास है तो सबका सब अकिंचित्कर है।५४।

यो.सा. अ/७/४३ आत्मध्यानरतिर्ज्ञेयं विद्वत्तायाः परं फलम्। अशेष-शास्त्रशास्तृत्वं संसारोऽभाषि धीधनैः।४३। – विद्वान् पुरुषोंने आत्मध्यानमें प्रेम होना विद्वत्ताका उत्कृष्ट फल बतलाया है और आत्मध्यानमें प्रेम न होकर केवल अनेक शास्त्रोंको पढ़ लेना संसार कहा है। (प्र. सा/त. प्र/२७१)

स. सा/आ/२७७ नाचारादिशब्दश्रुतमेकान्तेन ज्ञानस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽ-प्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन ज्ञानस्याभावात्। – मात्र आचारांगादि शब्द श्रुत ही (एकान्तसे) ज्ञानका आश्रय नहीं है, क्योंकि उसके सद्भावमें भी अभव्योंको शुद्धात्माके अभावके कारण ज्ञानका अभाव है।

का. अ./मू/४६६ जो णवि जाणदि अप्पं णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं। सो णवि जाणदि सत्थं आगमपाढं कुणंतो वि।४६६। – जो ज्ञान-स्वरूप आत्माको शरीरसे भिन्न नहीं जानता वह आगमका पठन-पाठन करते हुए भी शास्त्रको नहीं जानता।

स. सा/ता. वृ/ १०१, पुद्गलपरिणामः······व्याप्यव्यापकभावेन······न करोति···इति यो जानाति···निर्विकल्पसमाधौ स्थितः सन् स ज्ञानी भवति। न च परिज्ञान मात्रेण। – 'आत्मा व्याप्यव्यापकभावसे पुद्गलका परिणाम नहीं करता है' यह बात निर्विकल्प समाधिमें स्थित होकर जो जानता है वह ज्ञानी होता है। परिज्ञान मात्रसे नहीं।

प्र. सा. /ता. वृ/२३७ जीवस्यापि परमागमाधारेण सकलपदार्थज्ञेया-कारकरावलम्बितविशदैकज्ञानरूपं स्वात्मानं जानतोऽपि ममात्मैवो-पादेय इति निश्चयरूपं यदि श्रद्धानं नास्ति तदास्य प्रदीपस्थानीय आगमः किं करोति न किमपि। – परमागमके आधारसे, सकल-पदार्थोंके ज्ञेयाकारसे अवलम्बित विशद एक ज्ञानरूप निजआत्माको जानकर भी यदि मेरी यह आत्मा ही उपादेय है ऐसा निश्चयरूप श्रद्धान न हुआ तो उस जीवको प्रदीपस्थानीय यह आगम भी क्या करे।

पं. ध/उ./४६३ स्वात्मानुभूतिमात्रं स्यादास्तिक्यं परमो गुणः। भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रं परत्वतः।४६३। – केवल स्वात्माकी अनुभूतिरूप आस्तिक्य ही परमगुण है। किन्तु परद्रव्यमें वह आस्तिक्य केवल स्वानुभूतिरूप हो अथवा न भी हो।

और भी दे ज्ञान/III/२/६ (मिथ्यादृष्टिका आगमज्ञान अकिंचित्कर है।)

२ व्यवहार सम्यग्ज्ञान निर्देश

१. व्यवहारज्ञान निश्चयका साधन है तथा इसका कारण

न. च. वृ/२६७ (उद्धृत) उक्तं चान्यत्र ग्रन्थे:—दव्वसुयादो भावं तत्तो उहयं हवेइ संवेदं। तत्तो संवित्ती खलु केवलणाणं हवे तत्तो।२६७।" – अन्यत्र ग्रन्थमें कहा भी है कि द्रव्य श्रुतके अभ्याससे भाव होते हैं, उससे बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकारका संवेदन होता है, उससे शुद्धात्माकी संवित्ति होती है और उससे केवलज्ञान होता है।

द्र. सं. /टी/४२/१८३/६. तेनैव विकल्परूपव्यवहारज्ञानेन साध्यं निश्चय-ज्ञानं कथ्यते।—निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानमेव निश्चय ज्ञानं भण्यते (पृ० १८४।४)। – उस विकल्परूप व्यवहार ज्ञानके द्वारा साध्य निश्चय ज्ञानका कथन करते हैं। निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानको ही निश्चय-ज्ञान कहते हैं। (और भी दे० समयसार)।

२. आगमज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहना उपचार है

प्र. सा/त. प्र/३४ श्रुतं हि तावत्सूत्रम्।···तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानम्। श्रुतं तु तत्कारणत्वात् ज्ञानत्वेनोपचर्यत एव।" – श्रुत ही सूत्र है। उस (शब्द ब्रह्मरूप सूत्र) की ज्ञप्ति सो ज्ञान है। श्रुत (सूत्र) उसका कारण होनेसे ज्ञानके रूपमें उपचारसे ही कहा जाता है।

३. व्यवहारज्ञान प्राप्तिका प्रयोजन

स. सा/मू/४१५ जो समयपाहुडमिणं पढिऊण अत्थतच्चओ णाउं। अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सोक्खं।४१५। – जो आत्मा इस समयप्राभृतको पढ़कर अर्थ और तत्त्वको जानकर उसके अर्थमें स्थित होगा, वह उत्तम सौख्यस्वरूप होगा।

प्र. सा/मू ८८, १५४, २३२ जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्ह-मुवदेसं। सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण। ८८। सब्भा-वणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं। जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि।१५४। एयग्गदो समणो एयग्गं णिच्छिद-दस्स अत्थेसु। णिच्छित्ती आगमदो आगम चेट्ठा तदो जेट्ठा।२३२। – जो जिनेन्द्रके उपदेशको प्राप्त करके मोह, राग, द्वेषको हनता है वह अल्पकालमें सर्व दुःखोंसे मुक्त होता है।८८। जो जीव उस अस्तित्वनिष्पन्न तीन प्रकारसे कथित द्रव्यस्वभावको जानता है वह अन्य द्रव्यमें मोहको प्राप्त नहीं होता।१५४। श्रमण एकाग्रताको प्राप्त होता है, एकाग्रता पदार्थोंके निश्चयवानके होती है, निश्चय आगम द्वारा होता है अतः आगममें व्यापार मुख्य है।२३२।

प्र. सा/मू/१२६ कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो। परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं।१२६। – यदि श्रमण कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा है, ऐसा निश्चयवाला होता हुआ अन्य रूप परिणमित न ही हो तो वह शुद्ध आत्माको उपलब्ध करता है। (प्र. सा/मू/१६०).

पं. का/मू/१०३ एवं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं वियाणित्ता। जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं।१०३।" – इस प्रकार प्रवचनके सारभूत 'पंचास्तिकायसंग्रह' को जानकर जो रागद्वेषको छोड़ता है वह दुःखसे परिमुक्त होता है।

न. च. वृ/२८४ में उद्धृत—णियदव्वजाणणट्ठ इयरं कहियं जिणेहिं छद्दव्वं। – निज द्रव्यको जाननेके लिए ही जिनेन्द्र भगवान्‌ने अन्य छह द्रव्योंका कथन किया है।

आ. अनु/१७४-१७५ ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः। तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ।१७४। ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम्। अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ।१७५। – मुक्तिकी अभिलाषा करनेवालेको मात्र ज्ञान-भावनाका चिन्तवन करना चाहिए कि जिससे अविनश्वर ज्ञानकी प्राप्ति होती है परन्तु अज्ञानी प्राणी ज्ञानभावनाका फल ऋद्धि आदिकी प्राप्ति समझते हैं, सो उनके प्रबल मोहकी महिमा है।

स. सा/आ/१५३/क १०५ यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं, शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति। अतोऽन्यद्बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत्, ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ।१०५। – जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुवरूपसे और अचल-रूपसे ज्ञानस्वरूप होता हुआ या परिणमता हुआ भासित होता है, वही मोक्षका हेतु है, क्योंकि वह स्वयमेव मोक्षस्वरूप है। उसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है वह बन्धका हेतु है, क्योंकि वह स्वयमेव बन्धस्वरूप है। इसलिए आगममें ज्ञानस्वरूप होनेका अर्थात् अनु-भूति करनेका ही विधान है।

पं. का/त. प्र/१७३ द्विविधं किल तात्पर्यम्-सूत्रतात्पर्यं शास्त्रतात्पर्यं चेति। तत्र सूत्रतात्पर्यं प्रतिसूत्रमेव प्रतिपादितम्। शास्त्रतात्पर्य त्विदं प्रतिपाद्यते। अस्य खलु पारमेश्वरस्य शास्त्रस्य…साक्षान्मोक्षकारणभूतपरमवीतरागत्वविश्रान्तसमस्तहृदयस्य, परमार्थतो वीतरागत्वमेव तात्पर्यमिति। – तात्पर्य दो प्रकारका होता है– सूत्र तात्पर्य और शास्त्र तात्पर्य। उसमें सूत्र तात्पर्य प्रत्येक सूत्रमें प्रतिपादित किया गया है और शास्त्र तात्पर्य अब प्रतिपादित किया जाता है। साक्षात् मोक्षके कारणभूत परमवीतरागपनेमें जिसका समस्त हृदय स्थित है ऐसे इस (पंचास्तिकाय, षट्द्रव्य सप्ततत्त्व व नवपदार्थके प्रतिपादक) यथार्थ पारमेश्वर शास्त्रका, परमार्थसे वीतरागपना ही तात्पर्य है। (नि. सा./ता. वृ./१८७)।

प्र. सा./त. प्र./१४ सूत्रार्थज्ञानबलेन स्वपरद्रव्यविभागपरिज्ञानश्रद्धान-विधानसमर्थत्वात्सुविदितपदार्थसूत्र.। – सूत्रोंके अर्थके ज्ञानबलसे स्वद्रव्य और परद्रव्यके विभागके परिज्ञानमें, श्रद्धानमें और विधानमें समर्थ होनेसे जो श्रमण पदार्थोंको और सूत्रोंको जिन्होंने भलीभाँति जान लिया है…।

पं. का./त. प्र./३ ज्ञानसमयप्रसिद्ध्यर्थं शब्दसमयसंबोधनार्थसमयोऽभिधातुमभिप्रेत.। – ज्ञानसमयकी प्रसिद्धिके लिए शब्दसमयके सम्बन्धसे अर्थसमयका कथन करना चाहते हैं।

प्र. सा./ता. वृ./८९,९०/१११/१६ ज्ञानात्मकमात्मानं जानाति यदि।… परं च यथोचितचेतनाचेतनपरकीयद्रव्यत्वेनाभिसंबद्धम्। कस्मात् निश्चयतः निश्चयानुकूलं भेदज्ञानमाश्रित्य। यः स…मोहस्य क्षयं करोतीति सूत्रार्थः। अथ पूर्वसूत्रे यदुक्तं स्वपरभेदविज्ञानं तदागमतः सिद्ध्यतीति प्रतिपादयति। – यदि कोई पुरुष ज्ञानात्मक आत्माको तथा यथोचितरूपसे परकीय चेतनाचेतन द्रव्योंको निश्चयके अनुकूल भेदज्ञानका आश्रय लेकर जानता है तो वह मोहका क्षय कर देता है। और यह स्व-परभेदविज्ञान आगमसे सिद्ध होता है।

पं. का./ता वृ./१७३/२५४/१६ श्रुतभावनायाः फलं जीवादितत्त्वविषये संक्षेपेण हेयोपादेयतत्त्वविषये वा संशयविमोहविभ्रमरहितो निश्चल-परिणामो भवति। – श्रुतभावनाका फल, जीवादि तत्त्वोंके विषयमें अथवा हेयोपादेय तत्त्वके विषयमें संशय विमोह व विभ्रम रहित निश्चल परिणाम होना है।

द्र. सं./टी./१/७/७ प्रयोजनं तु व्यवहारेण षड्द्रव्यादिपरिज्ञानम्, निश्चयेन निजनिरञ्जनशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नपरमानन्दैकलक्षण-सुखामृतरसास्वादरूपं स्वसंवेदनज्ञानम्। – इस शास्त्रका प्रयोजन व्यवहारसे तो षट्द्रव्य आदिका परिज्ञान है और निश्चयसे निज-निरंजनशुद्धात्मसंवित्तिसे उत्पन्न परमानन्दरूप एक लक्षणवाले सुखा-मृतके रसास्वादरूप स्वसंवेदन ज्ञान है।

द्र. सं./टी./३/१०/६ शुद्धनयाश्रितं जीवस्वरूपमुपादेयं शेषं चहेयम्। इति हेयोपादेयरूपेण भावार्थोऽप्यवबोद्धव्यः। – शुद्ध नयके आश्रित जो जीवका स्वरूप है, वह तो उपादेय है और शेष सब हेय है। इस प्रकार हेयोपादेय रूपसे भावार्थ भी समझना चाहिए।

३. निश्चय व्यवहार ज्ञानका समन्वय

१. निश्चय ज्ञानका कारण प्रयोजन

स. सा./आ./२९५ एतदेव किलात्मबन्धयोर्द्विधाकरणस्य प्रयोजनं यद्बन्ध-त्यागेन शुद्धात्मोपादानम्। – वास्तवमें यही आत्मा और बन्धके द्विधा करनेका प्रयोजन है कि बन्धके त्यागसे शुद्धात्माको ग्रहण करना है।

पं. का./त. प्र./१२७ एवमिह जीवाजीवयोर्वास्तवो भेदः सम्यग्ज्ञानिनां मार्गप्रसिद्ध्यर्थं प्रतिपादित इति। – इस प्रकार यहाँ जीव और अजीवका वास्तविक भेद सम्यग्ज्ञानियोंके मार्गकी प्रसिद्धिके हेतु प्रतिपादित किया गया है।

स. सा./ता. वृ./२५ एवं देहात्मनोर्भेदज्ञानं ज्ञात्वा मोहोदयोत्पन्नसमस्त-विकल्पजालं त्यक्त्वा निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्रे निजपरमात्मतत्त्वे भावना कर्तव्येति तात्पर्यम्। – इस प्रकार देह और आत्माके भेदज्ञान-को जानकर, मोहके उदयसे उत्पन्न समस्त विकल्पजालको त्यागकर निर्विकार चैतन्यचमत्कार मात्र निजपरमात्म तत्त्वमें भावना करनी चाहिए, ऐसा तात्पर्य है।

प्र. सा./ता. वृ./१८२/२४६/१७ भेदविज्ञाने जाते सति मोक्षार्थी जीवः स्वद्रव्ये प्रवृत्तिं परद्रव्ये निवृत्तिं च करोतीति भावार्थः। – भेद विज्ञान हो जानेपर मोक्षार्थी जीव स्वद्रव्यमें प्रवृत्ति और परद्रव्यमें निवृत्ति करता है, ऐसा भावार्थ है।

द्र. सं/टी./४२/१८३/३ निश्चयेन स्वकीयशुद्धात्मद्रव्यं…उपादेयः। शेषं च हेयमिति संक्षेपेण हेयोपादेयभेदेन द्विधा व्यवहारज्ञानमिति।… तेनैव विकल्परूपव्यवहारज्ञानेन साध्यं निश्चयज्ञानं…।…स्वस्य सम्यग्निर्विकल्परूपेण वेदनं…निश्चयज्ञानं भण्यते। – निश्चयसे स्वकीय शुद्धात्मद्रव्य उपादेय है और शेष सब हेय है। इस प्रकार संक्षेपसे हेयोपादेयके भेदसे दो प्रकार व्यवहारज्ञान है। उसके विकल्प-रूप व्यवहारज्ञानके द्वारा निश्चयज्ञान साध्य है। सम्यक् व निर्वि-कल्प अपने स्वरूपका वेदन करना निश्चयज्ञान है।

२. निश्चय व्यवहारज्ञानका समन्वय

[illegible]।. वृ./२६३/३५४/२३ बहिरङ्गपरमागमाभ्यासेनाभ्यन्तरे स्वसंवे-[illegible]नं सम्यग्ज्ञानम्। – बहिरंग परमागमके अभ्याससे अभ्यन्तर स्वसंवेदन ज्ञानका होना सम्यग्ज्ञान है।

प. प्र./टी./२/२९/१४९/२ अयमत्र भावार्थः। व्यवहारेण सविकल्पा-वस्थायां तत्त्वविचारकाले स्वपरपरिच्छेदकं ज्ञानं भण्यते। निश्चय-नयेन पुनर्वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाले बहिरुपयोगो यद्यप्यनीहित-वृत्त्या निरस्तस्तथापीहापूर्वकविकल्पाभावाद्गौणत्वमिति कृत्वा स्व-संवेदनज्ञानमेव ज्ञानमुच्यते। – यहाँ यह भावार्थ है कि व्यवहारनयसे तो तत्त्वका विचार करते समय सविकल्प अवस्थामें ज्ञानका लक्षण स्वपरपरिच्छेदक कहा जाता है। और निश्चयनयसे वीतराग निर्वि-कल्प समाधिके समय यद्यपि अनीहित वृत्तिसे उपयोगमें से बाह्य-पदार्थोंका निराकरण किया जाता है—फिर भी ईहापूर्वक विकल्पों-का अभाव होनेसे उसे गौण करके स्वसंवेदन ज्ञानको ही ज्ञान कहते हैं।

स. सा./ता. वृ./९६/१५४/८ हे भगवन्, धर्मास्तिकायोऽयं जीवोऽयमित्यादि-ज्ञेयतत्त्वविचारकाले क्रियमाणे यदि कर्मबन्धो भवतीति तर्हि ज्ञेय-तत्त्वविचारो वृथेति न कर्तव्यः। नैवं वक्तव्यं। त्रिगुप्तिपरिणतनिर्वि-

कल्पसमाधिकाले यद्यपि न कर्तव्यस्तथापि तस्य त्रिगुप्तिध्यानस्याभावे शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा आगमभाषया पुनः मोक्षमुपादेयं कृत्वा सरागसम्यक्त्वकाले विषयकषायवञ्चनार्थं कर्तव्यः। =प्रश्न—हे भगवन् ! 'यह धर्मास्तिकाय है, यह जीव है' इत्यादि ज्ञेयतत्त्वके विचारकालमें किये गये विकल्पोंसे यदि कर्मबन्ध होता है तो ज्ञेयतत्त्वका विचार करना वृथा है, इसलिए वह नहीं करना चाहिए ? उत्तर—ऐसा नहीं कहना चाहिए। यद्यपि त्रिगुप्तिगुप्तनिर्विकल्पसमाधिके समय वह नहीं करना चाहिए तथापि उस त्रिगुप्तिरूप ध्यानका अभाव हो जानेपर शुद्धात्मको उपादेय समझते हुए या आगमभाषामें एक मात्र मोक्षको उपादेय करके सरागसम्यक्त्वके कालमें विषयकषायसे बचनेके लिए अवश्य करना चाहिए। (न. च. लघु/७७)।

और भी दे० नय/V/६/४ (निश्चय व व्यवहार सम्यग्ज्ञानमें साध्य-साधन भाव)।

ज्ञानज्ञेय अद्वैतनय—दे० नय/i/५।

ज्ञानचन्द्र—वि० १७७५ (ई० १७१८) के एक भट्टारक। आपने पंचास्तिकायकी टीका लिखी है। (पं. का./प्र. ३/पं. पन्नालाल)।

ज्ञानचेतना—दे० चेतना।

ज्ञानदान—दे० दान।

ज्ञानदीपक—आ० ब्रह्मदेव (ई० १२९२-१३२३) द्वारा संस्कृत भाषामें रचा गया एक आध्यात्मिक ग्रन्थ।

ज्ञानदीपिका—पं० आशाधर (ई० ११७३-१२४३) की संस्कृत भाषा बद्ध एक आध्यात्मिक रचना।

ज्ञाननय—दे० नय/I/४।

ज्ञानपंचमी—कवि विश्णु (ई० १३६६) कृत हिन्दी छन्दबद्ध रचना, जिसमें श्रुतपंचमी व्रतका माहात्म्य दर्शाया है।

ज्ञानपच्चीसी व्रत—चौदह पूर्वोंकी १४ चतुर्दशी और ग्यारह अंगोंकी ११ एकादशी इस प्रकार २५ उपवास करने। "ॐ ह्रीं द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञानाय नमः" इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य। (व्रत विधान संग्रह/ पृ० १७३) (किशन सिंह क्रियाकोश)।

ज्ञान प्रवाद—अंग प्रविष्ट श्रुतज्ञानका पाँचवाँ पूर्व —दे० श्रुतज्ञान/III।

ज्ञानभूषण—१. नन्दिसंघ ईडरगद्दी। पहले विमलकीर्ति के और पीछे भुवनकीर्ति के शिष्य हुए। कृतियाँ—आत्म सम्बोधन काव्य तत्त्वज्ञान तरंगिणी, नेमि निर्वाण काव्य की पञ्जिका टीका, पूजाष्टक टीका, भक्तामर पूजा, श्रुतपूजा, सरस्वती पूजा, समय—तत्त्वज्ञान तरंगिणी का रचना काल वि. १५६०। भट्टारक काल वि. १५००-१५६२ (ई. १४४३-१५०५)। दे. इतिहास/७/४। (ती./३/३४८)। २. सूरतगद्दी वीरचन्द्र के शिष्य/सुमति कीर्ति की कृतियों का शोधन तथा उनके साथ कर्म प्रकृति, टीका लिखी। समय वि. १५८५-१६१६/ दे. इतिहास/७/४। जै./२।

ज्ञान मति—भूतकालीन २१वें तीर्थंकर—दे० तीर्थंकर/५।

ज्ञानमद—दे० मद।

ज्ञानवाद—दे० वाद।

ज्ञानविनय—दे० विनय।

ज्ञानशक्ति—(स. सा./आ./प्रशस्ति/शक्ति नं० ४) साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्तिः। =(ज्ञेय पदार्थोंके विशेष रूपमें उपयुक्त होनेवाली आत्माकी एक) साकारोपयोगमयी शक्ति अर्थात् ज्ञान।

ज्ञानशुद्धि—दे० शुद्धि।

ज्ञानसमय—दे० समय।

ज्ञानसागर—काष्ठा संघ नन्दितट गच्छ। गुरु परम्परा—देवसेन विद्याभूषण, ज्ञान सागर। एक ब्रह्मचारी थे। कृतियें—अक्षर बावनी आदि हिन्दी रचनायें, कथा संग्रह तथा ब्र० मतिसागर के पठनार्थ एक गुटका। समय—वि.श. १७ (ई. श. १७ पूर्व)। (ती./३/४४२), (हिन्दी जैन साहित्य इतिहास/१७/डा० कामता प्रसाद)।

ज्ञानसार—१. आ० देवसेन (ई० ९३३-९५५) द्वारा रचित प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ। २. मुनि पद्मसिंह (ई. १०८६) कृत ६३ गाथा और ७४ श्लोक प्रमाण ग्रन्थ। विषय—कर्महेतुक संसार भ्रमण। (ती./३)

ज्ञानाचार—दे० आचार।

ज्ञानार्णव—आ० शुभचन्द्र (ई० १००३-११६८) द्वारा संस्कृत श्लोकोंमें रचित एक आध्यात्मिक व ध्यान विषयक ग्रन्थ है। इसमें ४२ प्रकरण है और कुल २५०० श्लोक प्रमाण है। इस ग्रन्थपर निम्न टीकाएँ लिखी गयीं—(१) आ० श्रुतसागर (ई. १४८१-१४९९) ने 'तत्त्वत्रय प्रकाशिका' टीका इसके गद्यभागपर लिखी, जिसमें शिवतत्त्व, गरुडतत्त्व और कामतत्त्व इन तीनों तत्त्वोंका वर्णन है।—(२) पं० जयचन्द छाबड़ा (ई० १८१२) कृत भाषा वचनिका।

ज्ञानावरण—जीवके ज्ञानको आवृत करनेवाले एक कर्म विशेषका नाम ज्ञानावरणीय है। जितने प्रकारका ज्ञान है, उतने ही प्रकारके ज्ञानावरणीय कर्म भी है और इसीलिए इस कर्मके संख्यात व असंख्यात भेद स्वीकार किये गये हैं।

१. ज्ञानावरणीय कर्म निर्देश

१. ज्ञानावरणीय सामान्यका लक्षण

स. सि./८/४/३८०/३ आवृणोत्यावियतेऽनेनेति वा आवरणम्।

स. सि./८/३/३७८/१० ज्ञानावरणस्य का प्रकृतिः। अर्थानवगमः। =जो आवृत करता है या जिसके द्वारा आवृत किया जाता है वह आवरण कहलाता है।४। ज्ञानावरण कर्मकी क्या प्रकृति (स्वभाव) है ? अर्थका ज्ञान न होना। (रा. वा./८/४/२/५६७/३२), (८/३/४/५६७/२)

ध. १/१,१,१३१/३८१/९ बहिरङ्गार्थविषयोपयोगप्रतिबन्धकं ज्ञानावरणमिति प्रतिपत्तव्यम्। =बहिरंग पदार्थको विषय करनेवाले उपयोगका प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म है, ऐसा जानना चाहिए।

ध. ६/१,९-१,५/६/८ णाणमवबोहो अवगमो परिच्छेदो इदि एयट्ठो। तमावरेदि त्ति णाणावरणीयं कम्मं। =ज्ञान, अवबोध, अवगम, और परिच्छेद ये सब एकार्थवाचक नाम हैं. उस ज्ञानको जो आवरण करता है, वह ज्ञानावरणीय कर्म है।

द्र. सं./टी./३१/९०/१ सहजशुद्धकेवलज्ञानमभेदेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतं ज्ञानशब्दवाच्यं परमात्मानं वा आवृणोतीति ज्ञानावरणं। =सहज शुद्ध केवलज्ञानको अथवा अभेदनयसे केवलज्ञान आदि अनन्तगुणोंके आधारभूत 'ज्ञान' शब्दसे कहने योग्य परमात्माको जो आवृत करे यानि ढके सो ज्ञानावरण है।

★ **ज्ञानावरण कर्मका उदाहरण**—दे० प्रकृति बन्ध/३।

२. ज्ञानावरण कर्मके सामान्य पाँच भेद

ष. खं. १३/५,५/सू. २१/२०९ णाणावरणीयस्स कम्मस्स पंच पयडीओ—आभिणिबोहियणाणावरणीयं सुदणाणावरणीयं, ओहिणाणावरणीयं

मणपज्जवणाणावरणीयं केवलणाणावरणीयं चेदि ।२१। –ज्ञानावरण कर्मकी पाँच प्रकृतियाँ हैं—आभिनिबोधिक (मति) ज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्ययज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय ।२१। (ष. खं. ६/१,६-१/सू. १४/१५), (मू. आ./१२२४); (त. सू./८/६), (पं. सं /प्रा./२/४), (त. सा /५/२४)

★ ज्ञानावरण व मोहनीयमें अन्तर—दे० मोहनीय/१

३. ज्ञानावरणके संख्यात व असंख्यात भेद

१. ज्ञानावरण सामान्यके असंख्यात भेद

ष. खं. १२/४,२.१४/सू. ४/४७१ णाणावरणीयदंसणावरणीयकम्मस्स असंखेज्जलोगपयडीओ ।४। –ज्ञानावरण और दर्शनावरणकी असंख्यात प्रकृतियाँ हैं। (रा. वा./१/१५/१३/६१/३०), (रा. वा /८/१३/३/५८१/४),

ध. १२/४,२.१४,४/४७१/४ कुदो एत्तियाओ होंति त्ति णव्वदे। आवरणिज्जणाण-दंसणाणमसंखेज्जलोगमेत्त भेदुवलंभादो। –प्रश्न—उनकी प्रकृतियाँ इतनी हैं, यह कैसे जाना? उत्तर—चूँकि आवरणके योग्य ज्ञान व दर्शनके असंख्यात लोकमात्र भेद पाये जाते हैं।

स्या.म /१७/२३८/अस्वज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषवशादेवास्य नैयत्येन प्रवृत्तेः। –ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम होनेपर उनकी (प्रत्यक्ष, स्मृति, शब्द व अनुमान प्रमाणोंकी) निश्चित पदार्थोंमें प्रवृत्ति होती है। (अर्थात् जिस समय जिस विषयको रोकनेवाला कर्म नष्ट हो जाता है उस समय उसी विषयका ज्ञान प्रकाशित हो सकता है, अन्य नहीं।)

२. मतिज्ञानावरणके संख्यात व असंख्यात भेद

ष. खं. १३/५,५/सू. ३५/२३४ एवमाभिणिबोहियणाणावरणीयस्स कम्मस्स चउव्विहं वा चदुवीसदिविधं वा अट्ठावीसदिविधं वा बत्तीसदिविधं वा अडदालीसविधं वा चोद्दाल-सदविधं वा अट्ठसट्ठि-सदविधं वा बाणउदि-सदविधं वा बेसद-अट्ठासीदिविधं वा तिसद-छत्तीसदिविधं वा तिसद-चुलसीदिविधं वा णादव्वाणि भवंति ।३५। –इस प्रकार आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय कर्मके चार भेद (अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणावरणीय); चौबीस (उपरोक्त चारोंको ६ इन्द्रियोंसे गुणा करनेसे २४); अट्ठाईस भेद, बत्तीस भेद, अड़तालीस भेद, १४४ भेद, १६८ भेद, १९२ भेद, २८८ भेद, ३३६ भेद, और ३८४ भेद ज्ञातव्य हैं (विशेष देखो मतिज्ञान/१)

ध. १२/४,२.१५,४/५०१/१३ मदिणाणावरणीयपयडीओ…असंखेज्जलोगमेत्ताओ। –मतिज्ञानावरणकी प्रकृतियाँ असंख्यात लोकमात्र हैं।

म. पु./६३/७१ लब्धबोधिर्मतिज्ञानक्षयोपशमनावृत ।७१। –मतिज्ञानके क्षयोपशमसे युक्त होकर आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया।

प. ध./उ./४०७,८५५,८५६ (स्वानुभूत्यावरण कर्म)।

३. श्रुतज्ञानावरणीयके संख्यात व असंख्यात भेद

ष. खं. १३/५,५/४४,४५,४८,२४७,२६० सुदणाणावरणीयस्स कम्मस्स संखेज्जाओ पयडीओ ।४४। जावदियाणि अक्खराणि अक्खरसंजोगा वा ।४५। तस्सेव सुदणाणावरणीयस्स कम्मस्स वीसदिविधा परूवणा कायव्वा भवदि ।४७। पज्जयावरणीयं पज्जयसमासावरणीयं अक्खरावरणीयं अक्खरसमासावरणीयं पदावरणीयं पदसमासावरणीयं संघादावरणीयं संघादसमासावरणीयं पडिवत्तिआवरणीयं पडिवत्तिसमासावरणीयं अणियोगद्दारावरणीयं अणियोगद्दारसमासावरणीयं पाहुडपाहुडावरणीयं पाहुडपाहुडसमासावरणीयं पाहुडावरणीयं पाहुडसमासावरणीयं वत्थुआवरणीयं वत्थुसमासावरणीयं पुव्वावरणीयं पुव्वसमासावरणीयं ।४८। –श्रुतज्ञानावरणीय कर्मकी संख्यात प्रकृतियाँ है ।४४। जितने अक्षर हैं और जितने अक्षर संयोग हैं (दे० अक्षर) उतनी श्रुतज्ञानावरणीय कर्मकी प्रकृतियाँ हैं ।४५। उसी श्रुतज्ञानावरणीयकी २० प्रकारकी प्ररूपणा करनी चाहिए ।४७। पर्यायावरणीय, पर्यायसमासावरणीय, अक्षरावरणीय, अक्षरसमासावरणीय, पदावरणीय, पदसमासावरणीय, संघातावरणीय, संघातसमासावरणीय, प्रतिपत्ति आवरणीय, प्रतिपत्ति समासावरणीय, अनुयोगद्वारावरणीय, अनुयोगद्वारसमासावरणीय, प्राभृतप्राभृतावरणीय, प्राभृतप्राभृतसमासावरणीय, प्राभृतावरणीय, प्राभृतसमासावरणीय, वस्तुआवरणीय, वस्तुसमासावरणीय, पूर्वावरणीय, पूर्वसमासावरणीय, ये श्रुतज्ञानावरणके २० भेद हैं।

ध. १२/४,२,१५,४/५०२/२ सुदणाणावरणीयपयडीओ असंखेज्जालोगमेत्ताओ। –श्रुतज्ञानावरणीयकी प्रकृतियाँ असंख्यात लोकमात्र हैं।

४ अवधिज्ञानावरणीयके संख्यात व असंख्यात भेद

ष. खं. १३/५.५/सूत्र ५२/२८९ ओहिणाणावरणीयस्स कम्मस्स असंखेज्जाओ पयडीओ ।५२।

ध. १३/५.५.५२/२८९/१२ असंखेज्जाओ त्ति कुदोवगम्मदे। आवरणिज्जस्स ओहिणाणस्स असंखेज्जवियप्पत्तादो। –अवधिज्ञानावरण कर्मकी असंख्यात प्रकृतियाँ हैं ।५२। प्रश्न—असंख्यात हैं, यह किस प्रमाणसे जाना जाता है, उत्तर—क्योंकि, आवरणीय अवधिज्ञानके असंख्यात विकल्प हैं। (विशेष दे० अवधिज्ञानके भेद) ध.१२/४,२,१५,४/५०१/११)

५. मनःपर्ययज्ञानावरणीयके संख्यात व असंख्यात भेदः—

ष. खं. १३/५.५/सूत्र ६०-६२,७०/३२८-३२६,३४०।
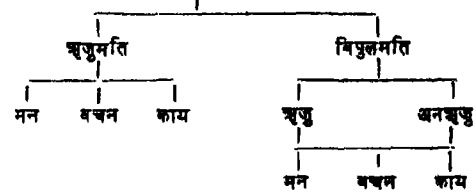
ध. १२/४,२,१५.४/५०२/३ मणपज्जवणाणावरणीयपयडीओ असंखेज्जकप्पमेत्ताओ। –मनःपर्ययज्ञानावरणीयकी प्रकृतियाँ असंख्यात कल्पमात्र हैं।

४. केवलज्ञानावरणकी एक ही प्रकृति है

ष. खं./१३/५.५/सूत्र ८०/३४५ केवलणाणावरणीयस्स कम्मस्स एया चेव पयडी ।८०। –केवलज्ञानावरणीय कर्मकी एक ही प्रकृति है।

५. ज्ञानावरण व दर्शनावरणके बन्ध योग्य परिणाम

दे० वचन। १—(अभ्याख्यान आदि वचनोंसे ज्ञानावरणीयकी वेदना होती है।

त. सू./६/१० तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ।१०।

स /सि/६/१०/३२८/५ एतेन ज्ञानदर्शनवत्सु तत्साधनेषु च प्रदोषादयो योज्याः, तन्निमित्तत्वात्। ज्ञानविषयाः प्रदोषादयो ज्ञानावरणस्य। दर्शनविषयाः प्रदोषादयो दर्शनावरणस्येति। –ज्ञान और दर्शनके विषयमें [1]प्रदोष, [2]निह्नव, [3]मात्सर्य, [4]अन्तराय, [5]आसादन, और [6]उपघात ये ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रव हैं ।१०। ज्ञान और दर्शनवालोंके विषयमें तथा उनके साधनोंके विषयमें प्रदोषादिकी योजना करनी चाहिए, क्योंकि ये उनके निमित्तसे होते हैं। अथवा ज्ञान सम्बन्धी प्रदोषादिक ज्ञानावरणके आस्रव हैं और दर्शन सम्बन्धी प्रदोषादिक दर्शनावरणके आस्रव हैं (गो. क./मू./८००/९७९)

रा. वा./६/१०/२०/५१९/१० अपि च, आचार्योपाध्यायप्रत्यनीकत्वअकालाध्ययन-श्रद्धाभाव-अभ्यासालस्य-अनादरार्थ-श्रावण-तीर्थोपरोध-बहुश्रुतगर्व-मिथ्योपदेश-बहुश्रुतावमान-स्वपक्षपरिग्रहपण्डितत्व-पक्षपरित्याग-अबद्धप्रलाप-उत्सूत्रवाद-साध्यपूर्वकज्ञानाधिगमशास्त्र-विक्रय-प्राणातिपातादयः ज्ञानावरणस्यास्रवाः। दर्शनमात्सर्यान्तराय-नेत्रोत्पाटनेन्द्रियप्रत्यनीकत्व-दृष्टिगौरव-आयतस्वापिता-दिवाशयनालस्य-नास्तिक्यपरिग्रह-सम्यग्दृष्टिसंदूषण-कुतीर्थप्रशंसा, प्राणव्यपरोपण-यतिजनजुगुप्सादयो दर्शनावरणस्यास्रवाः, इत्यस्ति आस्रवभेदः। – (उपरोक्तसे अतिरिक्त और भी ज्ञानावरण व दर्शनावरणके कुछ आस्रवोंका निर्देश निम्न प्रकार है) ७. आचार्य और उपाध्यायके प्रतिकूल चलना; ८. अकाल अध्ययन; ९. अश्रद्धा; १० अभ्यासमें आलस्य; ११. अनादरसे अर्थ सुनना; १२. तीर्थोपरोध अर्थात् दिव्यध्वनिके समय स्वयं व्याख्या करने लगना; १३. बहुश्रुतपनेका गर्व; १४. मिथ्योपदेश; १५ बहुश्रुतका अपमान करना; १६. स्वपक्षका दुराग्रह; १७. दुराग्रहवश असम्बद्ध प्रलाप करना १८ स्वपक्ष परित्याग या सूत्र विरुद्ध बोलना; १९ असिद्धसे ज्ञानप्राप्ति २० शास्त्र-विक्रय; और २१. हिंसा आदि ज्ञानावरणके आस्रवके कारण हैं। ७. दर्शन मात्सर्य; ८ दर्शन अन्तराय; ९. आँखें फोड़ना; १०. इन्द्रियोंके विपरीत प्रवृत्ति; ११. दृष्टिका गर्व, १२. दीर्घ निद्रा; १३. दिनमें सोना; १४. आलस्य; १५. नास्तिकता; १६. सम्यग्दृष्टिमें दूषण लगाना; १७. कुतीर्थकी प्रशंसा; १८. हिंसा; और १९. यतिजनोंके प्रति ग्लानिके भाव आदि भी दर्शनावरणीयके आस्रवके कारण हैं। इस प्रकार इन दोनोंके आस्रवमें भेद भी है। (त. सा./४/१३-१९)।

★ ज्ञानावरण प्रकृतिकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणा

—दे० वह वह नाम

★ ज्ञानावरणका सर्व व देशघातीपना। —दे० अनुभाग

२. ज्ञानावरणीय विषयक शंका-समाधान

१. ज्ञानावरणको ज्ञान विनाशक कहें तो ?

ध. ६/१,९-१,५/६/९ णाणविणासयमिदि किण्ण उच्चदे। ण, जीवलक्खणाणं णाणदंसणाणं विणासाभावा। विणासे वा जीवस्स वि विणासो होज्ज, लक्खणरहियलक्खाणुवलंभा। णाणस्स विणासाभावे सव्वजीवाणं णाणत्थित्तं पसज्जदे चे, होदु णाम विरोहाभावा; अक्खरस्स अणंतभाओ णिच्चुग्घाडियओ इदि सुत्ताणुकूलत्तादो वा। ण सव्वावयवेहि णाणस्सुवलंभो होदु त्ति वोत्तुं जुत्तं, आवरिदणाणभागाणमुवलंभविरोहा। – प्रश्न—'ज्ञानावरण' नामके स्थानपर 'ज्ञानविनाशक' ऐसा नाम क्यों नहीं कहा ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जीवके लक्षणस्वरूप ज्ञान और दर्शनका विनाश नहीं होता है। यदि ज्ञान और दर्शनका विनाश माना जावे, तो जीवका भी विनाश हो जायेगा, क्योंकि, लक्षणसे रहित लक्ष्य पाया नहीं जाता। प्रश्न—ज्ञानका विनाश नहीं माननेपर सभी जीवोंके ज्ञानका अस्तित्व प्राप्त होता है ? उत्तर—ज्ञानका विनाश नहीं माननेपर यदि सर्व जीवोंके ज्ञानका अस्तित्व प्राप्त होता है तो होने दो, उसमें कोई विरोध नहीं है। अथवा 'अक्षरका अनन्तवाँ भाग ज्ञान नित्य उद्घाटित रहता है' इस सूत्रके अनुकूल होनेसे सर्व जीवोंके ज्ञानका अस्तित्व सिद्ध है। प्रश्न—तो फिर सर्व अवयवोंके साथ ज्ञानका उपलम्भ होना चाहिए (हीन ज्ञानका नहीं) ? उत्तर—यह कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि, आवरण किये गये ज्ञानके भागोंका उपलम्भ माननेमें विरोध आता है।

२. ज्ञानावरण कर्म सद्भूतज्ञानांशका आवरण करता है या असद्भूतका

रा. वा./८/६/४-६/५७१/४ इदमिह संप्रधार्यम्—सतां मत्यादीनां कर्म आवरणं भवेत्, असतां वेति। किं चातः यदि सताम्; परिप्राप्तात्मलाभत्वात् सत्त्वादेव आवृत्तिर्नोपपद्यते। अथासताम्; नन्वावरणाभावः। न हि खरविषाणवदसदावियते ।४। न वैष दोषः। किं कारणम्। आदेशवचनात्।...द्रव्यार्थादेशेन सतां मत्यादीनामावरणम्, पर्यायार्थादेशेनासताम् ।५।...न कूटीभूतानि मत्यादीनि कानिचित् सन्ति येषामावरणात् मत्याद्यावरणानाम् आवरणत्वं भवेत् किन्तु मत्याद्यावरणसंनिधाने आत्मा मत्यादिज्ञानपर्यायैर्नोत्पद्यते इत्यतो मत्याद्यावरणानाम् आवरणत्वम् ।६। – प्रश्न—कर्म विद्यमान मत्यादिका आवरण करता है या अविद्यमानका ? यदि विद्यमानका तो जब वह स्वरूपलाभ करके विद्यमान ही है तो आवरण कैसा ? और यदि अविद्यमानका तो भी खरविषाणकी तरह उसका आवरण कैसा ? उत्तर—द्रव्यार्थदृष्टिसे सत और पर्यायदृष्टिसे असत मति आदिका आवरण होता है। अथवा मति आदिका कहीं प्रत्यक्षीभूत ढेर नहीं लगा है जिसको ढक देनेसे मत्यावरण आदि कहे जाते हों, किन्तु मत्यावरण आदिके उदयसे आत्मामें मति आदि ज्ञान उत्पन्न नहीं होते इसलिए उन्हें आवरण संज्ञा दी गयी है। (प्रत्याख्यानावरणकी भाँति)। (ध. ६/१,९-१,५/७/३)।

★ आवृत व अनावृत ज्ञानांशोंमें एकत्व कैसे

—दे० ज्ञान/I/४/३।

★ अभव्यमें केवल व मनःपर्यय ज्ञानावरणका सत्त्व कैसे

—दे० भव्य/३/१।

३. सात ज्ञानोंके सात ही आवरण क्यों नहीं

ध. ७/२,१,४५/८७/७ सत्तण्हं णाणाणं सत्त चेव आवरणाणि किण्ण होदि त्ति चे। ण, पंचणाणवदिरित्तणाणाणुवलंभा। मदि अण्णाण-सुदअण्णाण-विभंगणाणमभावो वि णत्थि, जहाकमेण आभिणिबोहिय-सुद-ओहिणाणेसु तेसिमंतब्भावादो। – प्रश्न—इन सातों ज्ञानोंके सात ही आवरण क्यों नहीं ? उत्तर—नहीं होते, क्योंकि, पाँच ज्ञानोंके अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान पाये नहीं जाते। किन्तु इससे मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञानका अभाव नहीं हो जाता, क्योंकि, उनका यथाक्रमसे आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, और अवधिज्ञानमें अन्तर्भाव होता है।

४. ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवोंमें समानता कैसे हो सकती है

रा.वा./७/१०-१२/५१८/४ स्यान्मतम्–तुल्यास्रवत्वादनयोरेकत्वं प्राप्नोति, तुल्यकारणानां हि लोके एकत्वं दृष्टमिति; तन्न; किं कारणम्। तुल्यहेतुत्वेऽपि वचनं स्वपक्षस्य साधकमेव परपक्षस्य दूषकमेवेति न साधकदूषकधर्मयोरेकत्वमिति मतम् ।१०।...यस्य तुल्यहेतुकानामेकत्वं यस्य मृत्पिण्डादितुल्यहेतुकानां घटशरावादीनां नानात्वं व्याहन्यत इति दृष्टव्याघातः ।११।...आवरणात्यन्तसंक्षये केवलिनि युगपत् केवलज्ञानदर्शनयोः साहचर्यं भास्करे प्रतापप्रकाशसाहचर्यवत्। ततश्चानयोस्तुल्यहेतुत्वं युक्तम् ।१२। – प्रश्न—ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवके कारण तुल्य हैं, अतः दोनोंको एक ही कहना चाहिए, क्योंकि, जिनके कारण तुल्य होते हैं वे एक देखे जाते हैं ? उत्तर—तुल्य कारण होनेसे कार्यैक्य माना जाये तो एक हेतुक होनेपर भी वचन स्वपक्षके ही साधक तथा परपक्षके ही दूषक होते हैं इस प्रकार साधक और दूषक दोनों धर्मोंमें एकत्व प्राप्त होता है। एक मिट्टी रूप कारणसे ही घट घटी शराव सकोरा आदि अनेक कार्योंकी प्रत्यक्ष सिद्धि है। आवरणके अत्यन्त संक्षय होनेपर केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों, सूर्यके प्रताप और प्रकाशकी तरह प्रगट हो जाते हैं, अतः इनमें तुल्य कारणोंसे आस्रव मानना उचित है।

ज्ञानी—१. लक्षण

स. सा/मू/७५ 'कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं। ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी। —जो आत्मा इस कर्मके परिणामको तथा नोकर्मके परिणामको नहीं करता किन्तु जानता है, वह ज्ञानी है।

आ. अनु/२१०-२११ "रसादिराद्यो भागः स्याज्ज्ञानावृत्यादिरन्वतः। ज्ञानादयस्तृतीयस्तु संसार्येवं त्रयात्मकः।२१०। भागत्रयमयं नित्य-मात्मानं बन्धवर्तिनम्। भागद्वयात्पृथक्कर्तुं यो जानाति स तत्त्व-वित्।२११। —संसारी प्राणीके तीन भाग हैं—सप्तधातुमय शरीर, ज्ञानावरणादि कर्म और ज्ञान।२१०। इन तीन भागोंमें-से जो ज्ञानको अन्य दो भागोंसे करनेका विधान जानता है वह तत्त्वज्ञानी है।२११।

स. सा./पं. जयचन्द/१७७-१७८ ज्ञानी शब्द मुख्यतया तीन अपेक्षाओं-को लेकर प्रवृत्त होता है—(१) प्रथम तो जिसे ज्ञान हो वह ज्ञानी कहलाता है, इस प्रकार सामान्य ज्ञानकी अपेक्षासे सभी जीव ज्ञानी हैं। (२) यदि सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानकी अपेक्षासे विचार किया जाय तो सम्यग्दृष्टिको सम्यग्ज्ञान होता है, इसलिए उस अपेक्षासे वह ज्ञानी है, और मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। (३) सम्पूर्ण ज्ञान और अपूर्णज्ञानकी अपेक्षासे विचार किया जाय तो केवली भगवान् ज्ञानी हैं और छद्मस्थ अज्ञानी हैं।

* **जीवको ज्ञानी कहनेकी विवक्षा**—दे० जीव/१/२,३।
* **ज्ञानीका विषय**—दे० सम्यग्दृष्टि।
* **श्रुतज्ञानी**—दे० श्रुतकेवली।
* **ज्ञानीकी धार्मिक क्रियाएँ**—दे० मिथ्यादृष्टि/४।

ज्ञानेश्वर—भूतकालीन १७वें तीर्थंकर। दे० तीर्थंकर/५।

ज्ञायक—१. ज्ञायक शरीर—दे० निक्षेप/५। २. ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध। दे० सम्बन्ध।

ज्ञेय—१. ज्ञानमें ज्ञेयोंका आकार। दे० केवलज्ञान/६। २. ज्ञान ज्ञेय सम्बन्ध। दे० संबन्ध।

ज्ञेयार्थ—१. ज्ञेयार्थ परिणमन क्रिया—दे० परिणमन।

ग्रन्थ—१. ग्रन्थ सामान्यका लक्षण

ध. ९/४,१,५४/२५६/१० "गणहरदेवविरइददव्वसुदं गंथो"। —गणधर देवसे रचा गया द्रव्यश्रुत ग्रन्थ कहा जाता है।

ध. ९/४,१,६७/३२३/७ ववहारणयं पडुच्च खेत्तादी गंथो, अब्भंतरगंथ-कारणत्तादो। एदस्स परिहरणं णिग्गंथत्तं। णिच्छयणयं पडुच्च मिच्छ-त्तादी गंथो, कम्मबंधकारणत्तादो। तेसिं परिच्चागो णिग्गंथत्तं। —व्यवहार नयकी अपेक्षा क्षेत्रादि ग्रन्थ हैं, क्योंकि वे अभ्यन्तर ग्रन्थके कारण हैं और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है। निश्चयनयकी अपेक्षा मिथ्यात्वादिक ग्रन्थ हैं, क्योंकि वे कर्मबन्धके कारण हैं और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है।

भ. आ./वि./४३/१४१/२० ग्रन्थन्ति रचयन्ति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रन्थाः। मिथ्यादर्शनं मिथ्याज्ञानं असंयमः कषायाः अशुभयोगत्रयं चेत्यमी परिणामाः। —जो संसारको गूँथते हैं अर्थात् जो संसारकी रचना करते हैं, जो संसारको दीर्घकाल तक रहनेवाला करते हैं, उनको ग्रन्थ कहना चाहिए। (तथा)—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असंयम, कषाय, अशुभ मन वचन काय योग, इन परिणामोंको आचार्य ग्रन्थ कहते हैं।

२. ग्रन्थके भेद-प्रभेद—
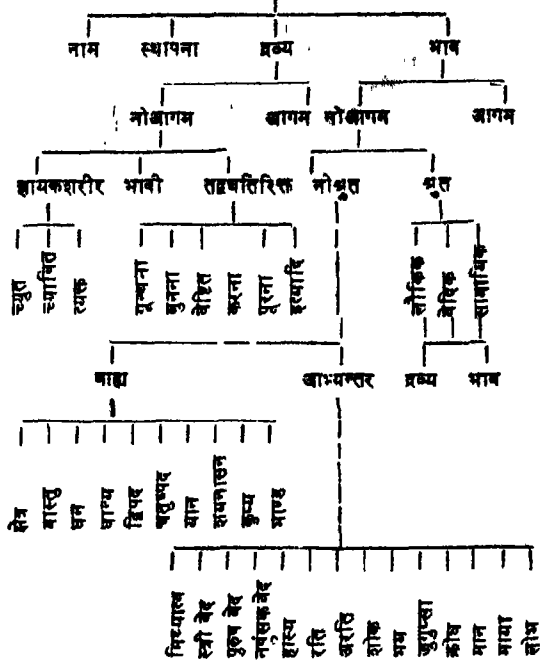
(मू.आ./४०७-४०८); (भ.आ./मू./१११८—१११९/११२४); (पु.सि.उ. ११६ में केवल अन्तरंगवाले १४ भेद); (ज्ञानार्णव/१६/४+६में उद्धृत)।

त. सू./७/२९ क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणाति-क्रमाः।२९। —क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य इन नौके परिमाणका अतिक्रम करना परिग्रह प्रमाणव्रतके पाँच अतिचार हैं। (प.प्र./पू./२/४९)

द.पा./टी./१४/१५ पर उद्धृत—क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतु-ष्पदं। कुप्यं भाण्डं हिरण्यं च सुवर्णं च बहिर्दश।१। —क्षेत्र-वास्तु; धन-धान्य; द्विपद-चतुष्पद; कुप्य-भाण्ड; हिरण्य-सुवर्ण—ये दश बाह्य परिग्रह है।

३. ग्रन्थके भेदोंके लक्षण

ध.९/४,१,६७/३२२/१० हस्त्यश्व-तन्त्र-कौटिल्य-वात्स्यायनादिबोधो लौकिकभावश्रुतग्रन्थः। द्वादशाङ्गादिबोधो वैदिकभावश्रुतग्रन्थः। नैयायिकवैशेषिकलोकायतसांख्यमीमांसकबौद्धादिदर्शनविषयबोधः सामायिकभावश्रुतग्रन्थः। एदेसिं सद्दपबंधा अक्खरकव्वादीणं जा च गंथरयणा अक्खरकाव्यैर्ग्रन्थरचना प्रतिपाद्यविषया सा सुदगंथकदी णाम। —(नाम स्थापना आदि भेदोंके लक्षणोंके लिए दे० निक्षेप)—हाथी, अश्व, तन्त्र, कौटिल्य, अर्थशास्त्र और वात्स्यायन कामशास्त्र आदि विषयक ज्ञान लौकिक भावश्रुत ग्रन्थकृति है। द्वादशांगादि विषयक बोध वैदिक भावश्रुत ग्रन्थकृति है। तथा नैयायिक, वैशेषिक, लोकायत, सांख्य, मीमांसक और बौद्ध इत्यादि दर्शनोंको विषय करनेवाला बोध सामायिक भावश्रुत ग्रन्थकृति है। इनकी शब्द सन्दर्भ रूप अक्षरकाव्यों द्वारा प्रतिपाद्य अर्थको विषय करनेवाली जो ग्रन्थरचना की जाती है। वह श्रुतग्रन्थकृति कही जाती है। (निक्षेपों रूप भेदों सम्बन्धी—दे० निक्षेप)।

* **परिग्रह सम्बन्धी विषय**—दे० परिग्रह।

ग्रन्थसम—ग्रन्थ निक्षेपका एक भेद —दे० निक्षेप/५/८।

ग्रन्थि—एक ग्रह—दे० ग्रह।

ग्रन्थिम—ग्रन्थ निक्षेपका एक भेद —दे० निक्षेप/५/६।

ग्रह—१. अठासी ग्रहोंका नाम निर्देश

ति.प./७/१५-२२ का भावार्थ—१. बुध; २. शुक्र; ३. बृहस्पति; ४. मंगल; ५. शनि; ६. काल; ७. लोहित; ८. कनक; ९. नील; १०. विकाल; ११. केश (कोश); १२. कवयव (कचयव); १३. कनक-संस्थान; १४. दुन्दुभक (दुन्दुभि); १५. रक्तनिभ; १६. नीलाभास; १७. अशोक संस्थान; १८. कंस; १९. रूपनिभ (रूपनिर्भास); २०. कंसकवर्ण (कंस वर्ण) २१. शंखपरिणाम; २२. तिलपुच्छ; २३. शंखवर्ण; २४. उदकवर्ण (उदय); २५. पंचवर्ण; २६. उत्पात; २७. धूमकेतु; २८. तिल; २९. नभ; ३०. क्षारराशि; ३१. विजिष्णु (विजयिष्णु); ३२. सदृश; ३३. संधि (शान्ति); ३४. कलेवर; ३५. अभिन्न (अभिन्न सन्धि); ३६. ग्रन्थि; ३७. मानवक (मान); ३८. कालक; ३९. कालकेतु; ४०. निलय; ४१. अनय; ४२. विद्युज्जिह्व; ४३. सिंह; ४४. अलक; ४५. निर्दुःख; ४६. काल; ४७. महाकाल; ४८. रुद्र; ४९. महारुद्र; ५०. सन्तान; ५१. विपुल; ५२. संभव; ५३. स्वार्थी; ५४. क्षेम (क्षेमंकर); ५५. चन्द्र; ५६. निर्मन्त्र; ५७. ज्योतिष्माण; ५८. दिशसंस्थित (दिशा); ५९. विरत (विरज); ६०. वीतशोक; ६१. निश्चल; ६२. प्रलम्ब; ६३. भासुर; ६४. स्वयंप्रभ; ६५. विजय; ६६. वैजयन्त; ६७. सीमंकर; ६८. अपराजित; ६९. जयन्त; ७०. विमल; ७१. अभयंकर; ७२. विकस; ७३. काष्ठी (करिकाष्ठ); ७४. विकट; ७५. कज्जली; ७६. अग्निज्वाल; ७७. अशोक; ७८. केतु; ७९. क्षीररस; ८०. अघ; ८१. श्रवण; ८२. जलकेतु; ८३. केतु (राहु); ८४. अंतरद; ८५. एकसंस्थान; ८६. अश्व; ८७. भावग्रह; ८८. महाग्रह, इस प्रकार ये ८८ ग्रहोंके नाम हैं।

नोट—ब्रैकेटमें दिए गए नाम त्रिलोक सारकी अपेक्षा है। नं. १७; २६; ३८; ३९; ४४; ५१; ५५; ७५; ७७ ये नौ नाम त्रि सा में नहीं हैं। इनके स्थानपर अन्य नौ नाम दिये हैं—अश्वस्थान; धूम; अक्ष; चतुपाद; वस्तून; त्रस्त; एकजटी; श्रवण; (त्रि. सा./३६३-३७०)

★ **ग्रहोंकी संख्या व उनका लोकमें अवस्थान—**

(दे० ज्योतिष देव/२)।

ग्रहण—१. ज्ञानके अर्थमें—

रा. वा./१/१/१/३/२५ आहितमात्मसात्कृतं परिगृहीतम् इत्यनर्थान्तरम्। —आहित, आत्मसात् किया गया या परिगृहीत ये एकार्थवाची हैं।

२. इन्द्रियके अर्थमें

रा. वा./२/८/११/१२२/२५ यान्यमूनि ग्रहणानि पूर्वकृतकर्मनिर्वर्तितानि हिताहितस्वभावसामर्थ्यजनितभेदानि रूपरसगन्धस्पर्शशब्दग्राहकाणि चक्षुरसनघ्राणत्वक्श्रोत्राणि। —जो यह पूर्वकृतकर्मसे निर्मित, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श व शब्दको ग्रहण करनेवाली, चक्षु रसन घ्राण त्वक् और श्रोत्र रूप 'ग्रहणानि' अर्थात् इन्द्रियाँ हैं।

३. सूर्य व चन्द्र ग्रहणके अर्थमें

त्रि. सा./३३९/भाषा टीका—राहु तो चन्द्रमाको आच्छादे है और केतु सूर्यको आच्छादे है, याहीका नाम ग्रहण कहिए है। विशेष दे० ज्योतिषलोक/८।

★ **ग्रहण के अवसर पर स्वाध्याय करनेका निषेध—**

—दे० स्वाध्याय/२।

ग्रहावती—पूर्व विदेहकी एक विभंगा नदी—दे० लोक/७।

ग्राम—(ति. प./४/१३९८), वइपरिवेढो गामो।—वृत्ति (बाड़) से वेष्टित ग्राम होता है। (ध.१३/५,५,६४/३३६/३) (त्रि. सा/६७६)।

म. पु./१६/१६४-१६६ ग्रामवृत्तिपरिक्षेपमात्राः स्युरुचिता श्रियाः। शूद्र-कर्षकभूयिष्ठाः सारामाः सजलाशयाः।१६४। ग्रामाः कुलशतेनेष्टो निकृष्टः समधिष्ठितः। परस्तत्पञ्चशत्या स्यात् सुसमृद्धकृषीबलः।१६५। क्रोशा-द्विक्रोशसीमानो ग्रामा, स्युरधमोत्तमाः। संपन्नसस्यसुक्षेत्रा प्रभूत-यवसोदकाः।१६६।—जिसमें बाड़से घिरे हुए घर हों, जिसमें अधिक-तर शूद्र और किसान लोग रहते हों, तथा जो बगीचा और तालाबोंसे सहित हों, उन्हें ग्राम कहते हैं।१६४। जिसमें सौ घर हों उसे छोटा गाँव तथा जिसमें ५०० घर हों और जिसके किसान धन-सम्पन्न हों उसे बड़ा गाँव कहते हैं।१६५। छोटे गाँवकी सीमा एक कोसकी और बड़े गाँवकी सीमा दो कोसकी होती है।१६६।

ग्रास—(ह. पु /११/१२५) सहस्रसिक्थ कवलो।—१००० चावलोंका एक कवल होता है। (ध. १३/५,४,२६/५६/६)।

★ **स्वस्थ मनुष्योंके आहारमें ग्रासोंका प्रमाण**

—दे० आहार/I/३।

ग्राह्य—१ ग्राह्य ग्राहक संबंध—दे० संबंध। २ ग्राह्य वर्गणा—(दे० वर्गणा)।

ग्रीवावनमन—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

ग्रीवोन्नमन—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

ग्रैवेयक—कल्पातीत स्वर्गोंका एक भेद—दे० स्वर्ग/१/४; ५/२।

रा. वा./४/१९/२/२० लोकपुरुषस्य ग्रीवास्थानीयत्वात् ग्रीवा', ग्रीवासु भवानि ग्रैवेयकाणि विमानानि, तत्साहचर्यात् इन्द्रा अपि ग्रैवेयका'। —लोक पुरुषके ग्रीवाकी तरह ग्रैवेयक हैं। जो ग्रीवामें स्थित हों वे ग्रैवेयक विमान हैं। उनके साहचर्यसे वहाँके इन्द्र भी ग्रैवेयक हैं।'

ग्लान—(स.सि./९/२४/४४२/८) रुजादिक्लिष्टशरीरो ग्लानः।—रोग आदिसे क्रान्त शरीरवाला ग्लान कहलाता है। (रा. वा./९/२४/७/६२३/१९) (चा. सा /१५१/३)।

ग्लानि—१. घृणा या ग्लानिका निषेध—दे० निर्विचिकित्सा। २. मोक्ष-मार्गमें जुगुप्साकी कथंचित इष्टता अनिष्टता—दे० सूतक।

[घ]

घटा—चौथे नरकका ७वाँ पटल—दे० नरक/५/११।

घटिका—कालका एक प्रमाण (अपर नाम घड़ी या नाली)

—दे० गणित/I/१/४।

घड़ी—कालका एक प्रमाण (अपर नाम घटिका या नाली)

—दे० गणित/I/१/४।

घन—Cube अर्थात् किसी राशिको तीन बार परस्पर गुणना।

घनधारा— १. घनधारा, २. द्विरूप घनधारा, ३. घनमातृकाधारा; ४. द्विरूप घनाघनधारा—दे० गणित/II/५/२।

घन प्रायोगिक शब्द—(दे० शब्द)।

घनफल—(ज. प./प्र./१०६) Volume —दे० गणित/II/७/१।

घनफल निकालनेका प्रक्रिया—दे० गणित/II/७/१।

घनमूल—Cube root—दे० गणित /II/१/८। (ज. प्र./प्र. १०६); (ध. ५/प्र. २७)।

घनलोक—Volume of Universe (दे० गणित/I/१/३)(दे० प्रमाण/५). (ज. प./प्र. १०६) ।

घनवात—Atmosphere—दे० वातवलय) (ज. प./प्र. १०६)

घनांगुल—(अंगुल)³—दे० गणित/I/३।

घनाकार—Cube (ज.प./प्र १०६)।

घनाघन—द्विरूप घनाघनधारा– दे० गणित II/५।

घनोदधि वात—दे० वातवलय।

घम्मा—प्रथम नरककी पृथिवी - दे० रत्नप्रभा तथा नरक/५/१।

घाटा—चौथे नरकका ६ठा पटल—दे० नरक/५/११

घात—१. दूसरे नरकका ५वाँ पटल—दे० नरक/५/११२. परस्पर गुणा करना—दे० गणित/II/१/५। ३. घात निकालना=Raising of numbes to given Power' ध./पु. ५/प्र २७।

* **अनुभाग व स्थिति काण्डक घात**—दे० अपकर्षण/४।

घातकृष्टि—दे० कृष्टि।

घातांक—Theory of indices या Powers. (ध./पु.५/प्र. २७) विशेष दे० गणित/II/१/६।

घातायुष्क—दे० मिथ्यादृष्टि।

घाती—१. घाती, देशघाती व सर्वघाती प्रकृतियाँ—दे० अनुभाग। २. देश व सर्वघाती स्पर्धक—दे० स्पर्धक।

घुटुक—(पा. पु./सर्ग/श्लो.)। विद्याधर कन्या हिडिम्बासे भीमका पुत्र था (१४/५१-६५) महाभारत युद्धमें अश्वत्थामा द्वारा मारा गया (२०/२१८-२१)।

घृणा—घृणा करनेका निषेध—दे० निर्विचिकित्सा। मोक्षमार्गमें जुगुप्सा भावकी कथंचित् इष्टता अनिष्टता—दे० सूतक।

घृतवर—१. मध्यलोकका ६टाँ द्वीप व सागर—दे० लोक/५। २. उत्तर घृतवरद्वीपका अधिपति व्यंतर देव—दे० व्यंतर/४।

घृतस्रावी—दे० ऋद्धि/८।

घोटकपाद—कायोत्सर्गका अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

घोटमान—दे० घोलमान।

घोर गुण ब्रह्मचर्य—दे० ऋद्धि/५।

घोर तप—दे० ऋद्धि/५।

घोर पराक्रम—दे० ऋद्धि/५।

घोलमान—हानि वृद्धि सहित अनवस्थित भावका नाम घोलमान है—विशेष देखो घोलमान योगस्थान—दे० योग/५; और गुणित क्षपित घोलमान कर्मांशिक (क्षपित)।

घोष—ध. १३/५,५,६३/३३६/२ घोषो नाम व्रज। =घोषका अर्थ व्रज है।

म पु./१६/१७६ तथा घोषकरादीनामपि लक्ष्म विकल्प्यताम्।—इसी प्रकार घोष तथा आकर आदिके लक्षणोंकी भी कल्पना कर लेनी चाहिए, अर्थात् जहाँ पर बहुत घोष (अहीर) रहते हैं उसे (उस ग्राम को) घोष कहते हैं।

घोष प्रायोगिक शब्द—दे० शब्द।

घोषसम द्रव्यनिक्षेप—दे० निक्षेप/५/८।

घ्नत—गणितकी गुणकार विधिमें गुण्यको गुणकार द्वारा घ्नत किया कहा जाता है—दे० गणित/II/१/५।

घ्राण—दे० इन्द्रिय/१।

[च]

चंचत—सौधर्म स्वर्गका ११ वाँ पटल—दे० स्वर्ग/५/३।

चंड—ई० पू० ३ का एक प्राकृत विद्वान् जिन्होंने 'प्राकृत लक्षण' नामका एक प्राकृत व्याकरण लिखा है। (ध. प्र. ११८)।

चंडवेगा—भरत क्षेत्रके वरुण पर्वतपर स्थित एक नदी —दे० मनुष्य/४।

चंडशासन—(म. पु./६०/५२-५३) मलय देशका राजा था। एक समय पोदनपुरके राजा वसुषेणसे मिलने गया, तब वहाँ उसकी रानीपर मोहित होकर उसे हर ले गया।

चंद—अपर विदेहस्थ देवमाल वक्षारका कूट व देव—दे० लोक/७।

चंदन कथा—आ० शुभचन्द्र५(ई० १५१६-१५५६) द्वारा रचित संस्कृत छन्दबद्ध ग्रन्थ।(दे० शुभचन्द्र)।

चंदन षष्ठी व्रत—६ वर्ष तक प्रतिवर्ष भाद्रपद कृष्णा ६ को उपवास करे। उस दिन तीन काल नमस्कार मंत्रका जाप्य करे। श्वेताम्बरोंकी अपेक्षा उस दिन उपवासकी बजाय चन्दन चर्चित भोजन किया जाता है। (व्रत-विधान संग्रह/पृ. ८६, १२६) (किशन सिंह क्रिया कोश) (नवल साहकृत वर्धमान पुराण)।

चंदना—(म. पु/७५/श्लोक नं) — पूर्वभव नं० ३ में सोमिला ब्राह्मणी थी।७३। पूर्वभव नं० २ में कनकलता नामकी राजपुत्री थी।८३। पूर्वभव नं० १ में पद्मलता नामकी राजपुत्री थी।६८। वर्तमानभवमें चन्दना नामकी राजपुत्री हुई।१७०। —वर्तमान भवमें राजा चेटककी पुत्री थी, एक विद्याधर कामसे पीड़ित होकर उसे हर ले गया और अपनी स्त्रीके भयसे महा अटवीमें उसे छोड़ दिया। किसी भीलने उसे वहाँसे उठाकर एक सेठको दे दी। सेठकी स्त्री उससे शंकित होकर उसे कांजी मिश्रित कोदोंका आहार देने लगी। एक समय भगवान् महावीर सौभाग्यसे चर्याके लिए आये, तब चन्दनाने उनको कोदोंका ही आहार दे दिया, जिसके प्रतापसे उसके सर्व बन्धन टूट गये तथा वह सर्वांगसुन्दर हो गयी। (म.पु./७४/३३८-३४७)। तथा (म.पु./७५/६-७,३५-७०) (म.पु./७५/श्लो. नं.)—स्त्रीलिंग छेदकर अगले भवमें अच्युत स्वर्गमें देव हुआ।१७७। वहाँसे चयकर मनुष्य भव धारण कर मोक्ष पाएगा।१७७। (ह.पु./२/७०)।

चंद्र—१. अपर विदेहस्थ देवमाल वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव; —(दे० लोक/५/१०। २. सुमेरु पर्वतके नन्दन आदि वनोंके उत्तर भागमें स्थित कुबेरका भवन व गुफा—दे० लोक/३/६,४; ३. रुचक पर्वतका एक कूट —दे० लोक/५/१३. ४. सौधर्म स्वर्गका ५रा व ३रा पटल —दे० स्वर्ग/५/३; ५. दक्षिण अरुणवरद्वीपका रक्षक व्यन्तर देव —दे० व्यन्तर/४; ६. एक ग्रह। दे० ग्रह।

२. चन्द्रग्रह सम्बन्धी विषय—दे० ज्योतिष देव/४।

चंद्रऋषि महत्तर—दे. परिशिष्ट/१।

चंद्रकल्याणक व्रत—दे० कल्याणक व्रत।

चंद्रकीर्ति—१. नन्दिसंघके देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप मल्लधारीदेवके शिष्य और दिवाकर नन्दिके गुरु थे। समय—वि.

११००-११३० (ई० १०४३-१०७३)—दे० इतिहास/७/५। २. वि. १६५४-१६८१ (ई० १५९७-१६२४) के एक भट्टारक थे जिन्होंने वृषभ देवपुराण, पद्मपुराण पार्श्व पुराण और पार्श्व पूजा लिखे। (ती./३/४४१)

चंद्रगिरि—श्रवणबेलगोलामें दो पर्वत स्थित हैं—एक विन्ध्य और दूसरा चन्द्रगिरि। इस पर्वतपर आचार्य भद्रबाहु द्वितीय और उनके शिष्य चन्द्रगुप्त (सम्राट्) की समाधि हुई थी।

चन्द्रगुप्त १—मगधा के राजा [illegible] जिन्होंने मन्त्री शाकटाल तथा चाणक्य की सहायता से वी. नि. २१५ में नन्दवंश का नाश करके मौर्यवंश की स्थापना की थी। (भद्रबाहु चरित्र/३/८)। (दे. इतिहास/३/४)। ई. पू. ३०५ (वि. नि. २२२) में पश्चात प्रान्त में स्थित सिकन्दर के सूबेदार सिल्यूकस को परास्त करके उसकी कन्या से विवाह किया था। ति. प./४/१४८१ के अनुसार ये अन्तिम मुकुट-धारी राजा थे जिन्होंने जिनदीक्षा धारण की थी। हरिषेण कृत कथा कोष में कथा नं० १३१ के अनुसार आप पंचम श्रुतकेवली भद्रबाहु प्र. के शिष्य विशाखाचार्य थे। (कोश १ परिशिष्ट/२/१) तिलोय पण्णत्ति में तथा नन्दि संघ की पट्टावली में कथित श्रुतधरों की परम्परा से इस मत की पुष्टि होती है। (दे. इतिहास/४/४)। श्रवण बेल गोल से प्राप्त शिलालेख नं. ६४ में भी इन्हें भद्रबाहु प्र. का शिष्य बताया गया है (ष. ख. १/प्र. ४/H. L. Jain)। सम्भवतः जैन होने के कारण इनको हिन्दू पुराणों ने मुरा नामक दासी का पुत्र कह दिया है, और मुद्रा राक्षस नाटक में चाणक्य के मुख से इन्हें वृषल कहलाया गया है। परन्तु वास्तव में ये ब्राह्मण थे। (जै०./पी./३५२)। इनसे पूर्ववर्ती नन्द वंश के राजाओं को भी शूद्राका अथवा नाई का पुत्र कहा गया है। दे. आगे नन्दवंश। समय—जैनागम के अनुसार वी. नि. २१५-२५५ (ई० पू० ३१२-२७२); जैन इतिहास के अनुसार ई. पू. ३२६-३०२, भारतीय इतिहास के अनुसार ई. पू. ३२२-२१८। (दे० इतिहास/३/४)।

चन्द्रगुप्त २—मगध सम्राट अशोक के प्रपौत्र सम्प्रतिका अपर नाम। समय—जैन इतिहास के अनुसार ई. पू. २२०-२११ (दे. इति./३/४)।

चन्द्रगुप्त ३—गुप्तवंश का प्रथम राजा जिसने गुप्तों की बिखरी हुई शक्ति को समेटकर मगध की विस्तृत भूमि पर एक छत्र साम्राज्य की स्थापना की और उसके उपलक्ष्य में गुप्त संवत् प्रचलित किया। समय—ई. ३२०-३३०। (दे. इतिहास/३/४)।

चन्द्रगुप्त ४—गुप्त वंश का तृतीय पराक्रमी सम्राट, अपर नाम विक्रमादित्य। समय—वी. नि. ९०१-९३९ (ई. ३७५-४१३)। (दे० इतिहास/३/४)।

चंद्रग्रह—उत्तरकुरुके दस ग्रहोंमेंसे दोका नाम चन्द्र है—दे० लोक/५/६

चंद्रनंदि—१. भगवती आराधनाकार शिवार्य के दादागुरु। अपर नाम कर्म प्रकृत्याचार्य। समय—ई. श. १ का प्रारम्भ। (भ. आ./प्र. १९/प्रेमी जी)। २. कुमारनन्दि के गुरु। शक ६३८ (ई. ७१६)। (जै०/२/८७)।

चंद्रनखा—(प.पु./७/२२४) रत्नश्रवाकी पुत्री और रावणकी बहन थी। (प.पु./७/४३) खरदूषणकी स्त्री थी। (पं.पु./७८/९५) रावणकी मृत्युपर दीक्षा धारण कर ली।

चंद्रपर्वत—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

चंद्रपुर—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

चंद्रप्रज्ञप्ति—१. अंग श्रुतज्ञानका एक भेद—दे० श्रुतज्ञान III/१/४.२। २. सूर्य प्रज्ञप्ति की नकल मात्र एक श्वेताम्बर ग्रन्थ। जै./२/६६, ६०) ३. आ० अमितगति (ई० ९९३-१०१६) द्वारा रचित संस्कृत ग्रन्थ।

चंद्रप्रभ—आप जयसिंह सूरिके शिष्य थे। आपने प्रमेयरत्नकोष तथा दर्शनशुद्धि नामक न्याय विषयक ये दो ग्रन्थ लिखे हैं। समय ई० ११०२—(न्यायावतार/प्र.४/ सतीशचन्द्र विद्या-भूषण)।

चंद्रप्रभ चरित्र—१. आ. वीरनन्दि (ई. ९५०-९९९) कृत महा-काव्य (ती./३/५५)। २. आ. श्रीधर (ई० श० १४) का प्राकृत रचना। ३. आ० शुभचन्द्र (ई० १५१६-१५५६) की संस्कृत रचना (ती/३६७)

चंद्रप्रभु—(म.पु./५४/श्लोक नं.) पूर्वभव नं० ७ में पुष्करद्वीप पूर्वमेरु के पश्चिममें सुगन्धि देशके श्रीवर्मा नामके राजा थे।७३-७६। पूर्वभव नं० ६ में श्रीप्रभ विमानमें श्रीधर नामक देव हुए।८२। पूर्वभव नं० ५ में धातकीखण्ड द्वीप पूर्वमेरुके भरत क्षेत्रमें अलकादेशस्थ अयोध्याके अजितसेन नामक राजा हुए।९६-९७। पूर्वभव नं० ४ में अच्युतेन्द्र हुए।१२२-१२६। पूर्व भव न० ३ में पूर्वधातकीखण्डमें मंगलावती देशके रत्नसंचय नगरके पद्मनाभ नामक राजा हुए।१४३। पूर्व भव नं० २ में वैजयन्त विमानमें अहमिन्द्र हुए।१५८-१६२। और वर्तमान भवमें आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभुनाथ हुए- दे० तीर्थंकर/५।

चंद्रभागा—पंजाबकी वर्तमान चिनाब नदी (म.पु/प्र.५०/पं. पन्नालाल)।

चंद्रवंश—दे० इतिहास/१०/६।

चंद्रशेखर—(पा.पु./१७/श्लोक नं.) विशालाक्ष विद्याधरका पुत्र था।४६। अर्जुनने वनवासके समय इसको हराकर अपना सारथी बनाया था।३७-३८। तब इसकी सहायतासे विजयार्धपर राजा इन्द्रकी सहायता की थी।५८।

चंद्रसेन—पंचस्तूप संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप आर्यनन्दिके गुरु थे। समय—ई० ७४२-७७३। (आ. अनु/प्र.८/A. N. Up); (सि.वि/प्र./४२ पं. महेन्द्र); (और भी दे० इतिहास/७/७)।

चंद्राभ—१ विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। २. लौकान्तिक देवोंकी एक जाति—दे० लौकान्तिक। ३. ११वें कुलकर—दे० शलाका पुरुष/९।

चंद्रोदय—आ. प्रभाचन्द्र नं. ६ (ई०७९७)का न्याय विषयक ग्रन्थ।

चंपा—१. विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। २. वर्तमान भागलपुर (म.पु./प्र.४६/पं. पन्नालाल)।

चक्र—१. सनत्कुमार स्वर्गका प्रथम पटल—दे० स्वर्ग/५/३; २. चक्रवर्ती का एक प्रधान रत्न—दे० शलाका पुरुष/२; ३. धर्मचक्र—दे० धर्मचक्र।

चक्रक—वादोका बात करते हुए पुनः-पुनः घूमकर वहीं आ जाना चक्रक दोष है। (श्लो. वा/४/न्या. ४५६/५५५)।

चक्रपुर—भरतक्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य ४।

चक्रपुरी—अपर विदेहके वल्गु क्षेत्रकी प्रधान नगरी—दे० लोक/५/२।

चक्रवर्ती—बारह चक्रवर्तियोंका परिचय—दे० शलाकापुरुष/"।

चक्रवान्—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

चक्रायुध १—(म. पु./सर्ग/श्लोक न.)। पूर्वभव नं. १३ में मगध देशके राजा श्रीषेणकी स्त्री आनन्दिता थी। (६२/५०)। पूर्वभव नं १२ में भोगिज आर्य था। (६२/३५७-३५८)। पूर्वभव नं. ११ में सौधर्म स्वर्गमें विमलप्रभ देव हुआ। (६२/३७६)। पूर्वभव नं. १० में त्रिपृष्ठ नारायणका पुत्र श्रीविजय हुआ। (६२/१५३)। पूर्वभव नं. ९ में तेरहवें स्वर्गमें मणिचूलदेव हुआ। (६२/४११) पूर्वभव नं. ८ में वत्सकावती देशकी प्रभाकरी नगरीके राजा स्तिमितसागरका पुत्र नारायण 'अनन्तवीर्य' हुआ। (६२/४१४)। पूर्वभव नं. ७ में रत्नप्रभा नरकमें नारकी हुआ। (६३/२५)। पूर्वभव नं. ६ में विजयार्धपर गगनवल्लभनगरके राजा मेघवाहनका पुत्र मेघनाद हुआ। (६३/२८-२९)। पूर्वभव नं. ५ में अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्र हुआ (६३/३६)। पूर्वभव नं. ४ में वज्रायुधका पुत्र सहस्रायुध हुआ। (६३/४५) पूर्वभव नं. ३ में अधोग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुआ। (६३/१३८-१४१)। पूर्वभव नं. २ में पुष्कलावती देशमें पुण्डरीकनी नगरीके राजा धनरथका पुत्र दृढ़रथ हुआ। (६३/१४२-१४४)। पूर्व भव नं. १ में सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ। (६३/३३६-३७)। वर्तमान भवमें राजा विश्वसेन-का पुत्र शान्तिनाथ भगवान्‌का सौतेला भाई (६३/४१४) हुआ। शान्तिनाथ भगवान्‌के साथ दीक्षा धारण की (६३/४७६)। शान्ति-नाथ भगवान्‌के प्रथम प्रधान गणधर बने। (६३/४८९)। अन्तमें मोक्ष प्राप्त किया (६३/५०१)। (म. पु./६३/५०५-५०७) में इनके उपरोक्त सर्व भवोंका युगपत् वर्णन किया है।

चक्रायुध २—(म. पु./५९/श्लोक न.)—पूर्वभव नं. ३ में भद्रमित्र सेठ; पूर्वभव नं. २ में सिंहचन्द्र, पूर्वभव नं. १ में प्रीतिंकर देव था। (३१६)। वर्तमान भवमें जम्बूद्वीपके चक्रपुर नगरका राजा अपरा-जितका पुत्र हुआ।२३९। राज्यकी प्राप्ति कर।२४४। कुछ समय पश्चात् अपने पुत्र रत्नायुधको राज्य दे दीक्षा धारण कर मोक्ष प्राप्त की।२४५।

चक्रायुध ३—स्व. चिन्तामणिके अनुसार यह इन्द्रायुधका पुत्र था। वत्सराजके पुत्र नागभट्ट द्वि. ने इसको युद्धमें जीतकर इससे कन्नौजका राज्य छीन लिया था। नागभट्ट व इन्द्रायुधके समयके अनुसार इसका समय वि. ८४०-८५७ (ई. ७८३-८००) आता है। (ह. पु./प्र.५/पं. पन्नालाल)।

चक्रेश्वरी—भगवान् ऋषभदेवकी शासक यक्षिणी-दे० तीर्थंकर/५/३

चक्षु—१. चक्षु इन्द्रिय—दे० इन्द्रिय; २. चक्षुदर्शन—दे० दर्शन/५। ३. चक्षु दर्शनावरण—दे० दर्शनावरण।

चक्षुष्मान्—१. दक्षिण मानुषोत्तर पर्वतका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर।४। २. अपर पुष्करार्धका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर।४। ३ आठवें कुलकर—दे० शलाका पुरुष।९।

चतुरंक—ध. १२/४,२,७,२१४/१७०/६ एत्थ असंखेज्जभागवड्ढीए-चत्तारि अंको।—असंख्यातभाग वृद्धिकी चतुरंक संज्ञा है। (गो. जी./मू./३२५/६८४)।

चतुरिन्द्रिय—१. चतुरिन्द्रिय जीव—दे० इन्द्रिय।४। २. चतुरिन्द्रिय-जाति नामकर्म—दे० जाति।१।

चतुर्थच्छेद—Number of times that a number can be devided by 4. (ध/५/प्र.२७) विशेष—दे० गणित/II/२/१।

चतुर्थभक्त—एक उपवास—दे० प्रोषधोपवास।१।

चतुर्दश—१. चतुर्दश गुणस्थान—दे० गुणस्थान; २. चतुर्दश जीव-समास—दे० समास; ३. चतुर्दश पूर्व—दे० श्रुतज्ञान/III/ ४. चतु-र्दश पूर्वित्व ऋद्धि—दे० ऋद्धि।१। ५. चतुर्दश पूर्वी—दे० श्रुतकेवली; ६. चतुर्दश मार्गणा—दे० मार्गणा।

चतुर्दशीव्रत—१४ वर्ष पर्यन्त प्रतिमासकी दोनों चतुर्दशियोंको १६ पहरका उपवास करे। लौंदके मासों सहित कुल ३४४ उपवास होते हैं। 'ॐ ह्रीं अनन्तनाथाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य। (चतुर्दशी व्रत कथा); (व्रत विधान संग्रह/पृ. १२४)।

चतुर्द्वीप—भारतके सीमान्तपर तीन और देश माने जाते हैं—सोदिया, बैक्ट्रिया, एरियाना। भारत सहित यह चारों मिलकर चतुर्द्वीप कहलाते हैं। तहाँ सोदिया तो 'भद्राश्व' द्वीप है; और बैक्ट्रिया, एरियान व उत्तरकुरुमें 'केतुमाल' द्वीप हैं। (ज. प./प्र. १३८/A.N. Up व. H. L. Jain).

चतुर्भुज—यह जयपुर निवासी थे। बैरागीके नामसे प्रसिद्ध थे। प्रायः लाहौर जाते थे, तब वहाँ कवि खरगसेनसे मिला करते थे। समय—वि. १६८५ (ई. १६२८) में लाहौर गये थे। (हि. जैन. साहित्य इतिहास/पृ. १५५/ कामता प्रसाद)।

चतुर्भुज समलम्ब—Trapezium. (ज. प./प्र.१०६)।

चतुर्मास—१. साधुओंके लिए चतुर्मास करनेकी आज्ञा—दे० पाद्य स्थिति कल्प; २. चतुर्मासधारण विधि—दे० कृतिकर्म/४।

चतुर्मुख—

भा. पा./टी./१४९/२९३/१२ चतुर्दिक्षु सर्वसभ्यानां सम्मुखस्य दृश्यमान-त्वात् सिद्धावस्थायां तु सर्वत्रावलोकनशीलत्वात् चतुर्मुखः।—अर्हन्त अवस्थामें तो समवशरणमें सर्व सभाजनोंको चारों ही दिशाओंमें उनका मुख दिखाई देता है इसलिए तथा सिद्धावस्थामें सर्वत्र सर्व दिशाओंमें देखनेके स्वभाववाले होनेके कारण भगवान्‌का नाम चतुर्मुख है।

चतुर्मुख—मगधकी राज्य वंशावलीके अनुसार यह राजा शिशुपाल-का पुत्र था। वी. नि. १००३ में इसका जन्म हुआ था। ७० वर्षकी कुल आयु थी। ४० वर्ष राज्य किया। अत्यन्त अत्याचारी होनेके कारण कल्की कहलाता था। हूणवंशी मिहिर कुल ही चतुर्मुख था। समय—वी. नि. १०३३-१०७३ (ई. ५०६-५४६)।—दे० इतिहास/३/२, ४।

चतुर्मुख देव—पद्धडियाबद्ध और हरिवंश पुराणके कर्ता एक अपभ्रंश कवि। समय—कवि स्वयम्भू (ई. ७३४) से पूर्ववर्ती (ती./४/१४)।

चतुर्मुख पूजा—दे० पूजा/१।

चतुर्मुखी—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

चतुर्विंशति—१. चतुर्विंशति तीर्थंकर (दे० तीर्थंकर)। २. चतु-र्विंशति पूजा—दे० पूजा); ३. चतुर्विंशति स्तव द्रव्यश्रुतज्ञानका दूसरा अंग बाह्य—दे० श्रुतज्ञान/III/१/३। ४ चतुर्विंशतिस्तव विधि—दे० भक्ति/३।

चतुःशिर—शिरोनतिके अर्थमें प्रयुक्त होता है—दे० नमस्कार।

चतुष्टय—चतुष्टय नाम चौकड़ीका है। आगममें कई प्रकारसे चौक-ड़ियाँ प्रसिद्ध हैं—द्रव्यके स्वभावभूत स्व चतुष्टय, द्रव्यमें विरोधी धर्मों रूप युग्म चतुष्टय, जीवके ज्ञानादि प्रधान गुणोंकी अनन्त शक्ति व व्यक्ति रूप कारण अनन्त चतुष्टय व कार्य अनन्त चतुष्टय।

१. स्वचतुष्टयके नामनिर्देश

पं. ध./पू./२६३ अथ तद्यथा यदस्ति हि तदेव नास्तीति तच्चतुष्कं च। द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेन तथाऽथवाऽपिभावेन।२६३।—द्रव्यके द्वारा, क्षेत्रके द्वारा, कालके द्वारा और भावके द्वारा जो है वह परद्रव्य क्षेत्रादिसे नहीं है, इस प्रकार अस्ति नास्ति आदिका चतुष्टय हो जाता है। और भी दे० श्रुतज्ञान/III में समवायांग।

२. स्वपरचतुष्टयके लक्षण व उनकी योजना विधि

रा. वा./४/४२/१५/२५१/१६ यदस्ति तत् स्वायत्तद्रव्यक्षेत्रभावरूपेण भवति नेतरेण तस्याप्रस्तुतत्वात्। यथा घटो द्रव्यतः पार्थिवत्वेन, क्षेत्रतया इहत्यतया, कालतो वर्तमानकालसंबन्धितया, भावतो रक्तत्वादिना, न परायत्तैर्द्रव्यादिभिस्तेषामप्रसक्तत्वात् इति।... कथम्।...=जो अस्ति है वह अपने द्रव्य क्षेत्रकाल भावसे ही है, इतर द्रव्यादिसे नहीं क्योंकि वे अप्रस्तुत हैं। जैसे घड़ा पार्थिवरूपसे, इस क्षेत्रसे, वर्तमानकाल या पर्यायरूपसे तथा रक्तादि वर्तमान भावोंसे है पर अन्यसे नहीं क्योंकि वे अप्रस्तुत हैं। (अर्थात् जलरूपसे, अन्य-क्षेत्रसे, अतीतानागत पर्यायोंरूप पिण्ड कपाल आदिसे तथा श्वेतादि भावोंसे नहीं है। यहाँ पृथिवी उसका स्व द्रव्य है और जलादि पर द्रव्य, उसका अपना क्षेत्र स्वक्षेत्र है और उससे अतिरिक्त अन्य क्षेत्र पर क्षेत्र, वर्तमान पर्याय स्वकाल है और अतीतानागत पर्याय पर काल, रक्तादि भाव स्वभाव है और श्वेतादि भाव परभाव)। (विशेष देखो 'द्रव्य', 'क्षेत्र', 'काल' व 'भाव'।)।

३. स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षा वस्तुमें भेदाभेद तथा अस्तित्व नास्तित्व—दे० सप्तभंगी/५।

४. स्वकाल और स्वभावमें भिन्नत्व व एकत्व

ध. ९/४,१,२/२७/११ तीदाणागदपज्जायाणं किण्ण भावववएसो। ण, तेसिं कालत्तब्भुवगमादो। =प्रश्न—अतीत और अनागत पर्यायोंकी भाव संज्ञा क्यों नहीं है? उत्तर—नहीं है, क्योंकि, उन्हें काल स्वीकार किया गया है।

ध. ९/४,१,३/४३/४ होदु कालपरूवणा एसा, ण भावपरूवणा; कालभावाणमेयत्तविरोहादो। ण एस दोसो, अदीदाणागयपज्जया तीदाणागयकालो वट्टमाणपज्जया वट्टमाणकालो। तेसिं चेव भावसण्णा वि, वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः' इदि पओअदंसणादो। तीदाणागयकालेहिंतो वट्टमाणकालो भावसण्णिदो कालत्तणेण अभिण्णो त्ति काल-भावाणमेयत्ताविरोहादो। =प्रश्न—यह काल प्ररूपणा भले ही हो, किन्तु भाव प्ररूपणा नहीं हो सकती, क्योंकि, काल और भावकी एकताका विरोध है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, अतीत और अनागत पर्यायें अतीत अनागत काल हैं, तथा वर्तमान पर्यायें वर्तमान काल हैं। उन्हीं पर्यायोंकी ही भाव संज्ञा भी है, क्योंकि 'वर्तमान पर्यायसे उपलक्षित द्रव्य भाव है; ऐसा प्रयोग देखा जाता है। अतीत और अनागतकालसे चूँकि भाव संज्ञा वाला वर्तमान कालस्वरूपसे अभिन्न है, अतः काल और भावकी एकतामें कोई विरोध नहीं है।

५. स्वपर चतुष्टय ग्राहक द्रव्यार्थिक नय (दे० नय/IV/२)।

६. युगपत्चतुष्टय निर्देश व उनकी योजना विधि—

-दे० अनेकान्त/४, ५।

७. कारण व कार्यरूप अनन्त चतुष्टय निर्देश

नि. सा./ता. वृ. १५ सहजशुद्धनिश्चयेन अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजज्ञान-सहजदर्शन-सहजचारित्र-सहजपरमवीतरागसुखात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपस्वभावानन्तचतुष्टयस्वरूपेण ··· । साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुखकेवलशक्तियुक्तफलरूपानन्तचतुष्टयेन···।=सहज शुद्ध निश्चयनयसे, अनादि-अनन्त, अमूर्त-अतीन्द्रिय स्वभाववाले और शुद्ध ऐसे सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहजपरमवीतरागसुखात्मक-शुद्ध अन्तःतत्त्वस्वरूप जो स्वभाव अनन्तचतुष्टयका स्वरूप···। तथा सादि, अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभाववाले शुद्धसद्भूत व्यवहारसे केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख, केवलशक्तियुक्त फलरूप अनन्त चतुष्टय···।

८. अनन्त चतुष्टयमें अनन्तत्व कैसे है—दे अनन्त/२।

चमकदशमी व्रत—चमक दशमि और चमकाय। जो भोजन नहि तो अन्तराय। (यह व्रत श्वेताम्बर व स्थानकवासी आम्नायमें प्रचलित है। (व्रत विधान संग्रह/पृ० १३०) (नवलसाह कृत वर्द्धमान पुराण)।

चमत्कार—१. लौकिक चमत्कारोंसे विमोहित होना सम्यग्दर्शनका दोष है—दे० 'अमूढदृष्टि' का व्यवहार लक्षण। २. लौकिक चमत्कारोंके प्रति आकर्षित होना लोकमूढता है—दे० मूढता।

चमर—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

चमरेन्द्र—(प. पु./सर्ग/श्लोक नं) शत्रुघ्न द्वारा राजा मधुके मारे जाने पर अपने शूलरत्नको विफल हुआ देख। (९०/३) इसने क्रोधवश मथुरामें महामारी रोग फैलाया था। (९०/२२)। जो पीछे सप्त ऋषियोंके आगमनके प्रभावसे नष्ट हुआ। (९२/६)।

चमू—सेनाका एक अंग—दे० सेना।

चय—(Common difference) (ज. प./प्र. १०६) विशेष देखो गणित/II/५/३)।

चयधन—दे० गणित/II/५ ३।

चरण—दे० चारित्र।

चरणसार—आ० पद्मनन्दि (ई. श. ११ उत्तरार्ध) कृत प्राकृत ग्रन्थ।

चरणानुयोग—दे० अनुयोग/१।

चरम—**१. चरमोत्तम देह**

स. सि./२/५३/२०१/४ चरमशब्दोऽन्त्यवाची। उत्तम उत्कृष्टः। चरम-उत्तमो देहो येषां ते चरमोत्तमदेहाः। परीतसंसारास्तज्जन्मनिर्वाणार्हा इत्यर्थः। =चरम शब्द अन्त्यवाची है, उत्तम शब्दका अर्थ उत्कृष्ट है। जिनका शरीर चरम और उत्तम है वे चरमोत्तम देहवाले कहे जाते हैं। जिनका संसार निकट है अर्थात् उसी भवसे मोक्षको प्राप्त होनेवाले जीव चरमोत्तम देहवाले कहलाते हैं। (रा. वा/२/५३/२/१५७/१५)।

२. द्विचरम देह

रा. वा./४/२६/२-५/२४४/२० चरमशब्द उक्तार्थः। द्वौ चरमौ देहौ येषां ते द्विचरमाः, तेषां भावो द्विचरमत्वम्। एतन्मनुष्यदेहद्वयापेक्षमवगन्तव्यम्। विजयादिभ्यः च्युता अप्रतिपतितसम्यक्त्वा मनुष्येषूत्पद्य संयममाराध्य पुनर्विजयादिषूत्पद्य च्युता मनुष्यभवमवाप्य सिद्ध्यन्ति इति द्विचरमदेहत्वम्। कुतः पुनः मनुष्यदेहस्य चरमत्वमिति चेत्। उच्यते।२। यतो मनुष्यभवमाप्य देवनारकतैर्यग्योनाः सिध्यन्ति न तेभ्य एवेति मनुष्यदेहस्य चरमत्वम्।३। स्यान्मतम्-एकस्य भवस्य चरमत्वम् अन्त्यत्वात्, न द्वयोस्ततो द्विचरमत्वमयुक्तमिति; तन्न; किं कारणम्; औपचारिकत्वात्। येन देहेन साक्षान्मोक्षोऽवाप्यते स मुख्यश्चरमः तस्य प्रत्यासन्नो मनुष्यभवः तत्प्रत्यासत्तेश्चरम इत्युपचर्यते।४। स्यान्मतम्-विजयादिषु द्विचरमत्वमार्षविरोधि। कुतः। त्रिचरमत्वात्।...सर्वार्थसिद्धाः च्युता मनुष्येषूत्पद्य तेनैव भवेन सिध्यन्तीति, न लौकान्तिकवदेकभविका एवेति विजयादिषु द्विचरमत्वं नार्षविरोधि, कल्पान्तरोत्पत्त्यनपेक्षत्वात्, प्रश्नस्येति।५। =चरम-का अर्थ कह दिया गया है अर्थात् अन्तिम। दो अन्तिम देह हों सो द्विचरम है। दो मनुष्य देहोंकी अपेक्षा यहाँ द्विचरमत्व समझना

चाहिए, विजयादि विमानोंसे च्युत सम्यक्त्व छूटे बिना मनुष्योंमें उत्पन्न हो संयम धार पुनः विजयादि विमानोंमें उत्पन्न हो, वहाँसे चयकर पुनः मनुष्यभव प्राप्त कर मुक्त होते हैं, ऐसा द्विचरम देहत्वका अर्थ है। प्रश्न—मनुष्यदेहके ही चरमपना कैसे है? उत्तर—क्योंकि तीनों गतिके जीव मनुष्यभवको पाकर ही मुक्त होते हैं, उन उन भवोंसे नहीं, इसलिए मनुष्यभवके द्विचरमपना है। प्रश्न—चरम शब्द अन्त्यवाची है इसलिए एक ही भव चरम हो सकता है दो नहीं, इसलिए द्विचरमत्व कहना युक्त नहीं है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यहाँ उपचार-से द्विचरमत्व कहा गया है। चरमके पासमें अव्यवहित पूर्वका मनुष्य-भव भी उपचारसे चरम कहा जा सकता है। प्रश्न—विजयादिकोंमें द्विचरमत्व कहनेमें आर्ष विरोध आता है। क्योंकि, उसे त्रिचरमत्व प्राप्त है? उत्तर—सर्वार्थसिद्धिसे च्युत होनेवाले मनुष्य पर्यायमें आते हैं तथा उसी पर्यायसे मोक्ष लाभ करते हैं। विजयादिक देव लौका-न्तिककी तरह करते हैं। विजयादिक देव लौकान्तिककी तरह एक-भविक नहीं हैं किन्तु द्विभविक हैं। इसके बीचमें यदि कल्पान्तरमें उत्पन्न हुआ है तो उसकी विवक्षा नहीं है।

★ **चरमदेहीकी उत्पत्ति योग्य काल**—दे० मोक्ष/४/३।

चर्चा—१. वीतराग व विजिगीषु कथाके लक्षण—दे० कथा; २. वाद सम्बन्धी चर्चा—दे० वाद। ३. चौथे नरकका चतुर्थ पटल—दे० नरक/५/११।

चर्चिका—कालका प्रमाण विशेष। अपरनाम अचलात्म व अचलात्म—दे० गणित/I/१।

चर्म—चक्रवर्तीका एक रत्न—दे० शलाका पुरुष/२।

चर्मण्वती—भरतक्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

चर्या—म. पु./३९/१४७-१४८ चर्या तु देवतार्थं वा मन्त्रसिद्ध्यर्थमेव वा। औषधाहारक्लृप्त्यै वा न हिंस्यामीति चेष्टितम् ।१४७। तत्राकाम-कृतेः शुद्धिः प्रायश्चित्तैर्विधीयते। पश्चाच्चात्मालयं सूनौ व्यवस्थाप्य गृहोज्झनम् ।१४८।—किसी देवताके लिए, किसी मन्त्रकी सिद्धिके लिए, अथवा किसी ओषधि या भोजन बनवानेके लिए मैं किसी जीवकी हिंसा नहीं करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा करना चर्या कहलाती है ।१४७। इस प्रतिज्ञामें यदि कभी इच्छा न रहते हुए प्रमादसे दोष लग जावे तो प्रायश्चित्तसे उसकी शुद्धि की जाती है ।१४८।

चर्या परिषह—

स. सि/९/९/४२३/४ निराकृतपादावरणस्य परुषशर्कराकण्टकादिव्यधन-जातचरणखेदस्यापि सतः पूर्वोचितयानवाहनादिगमनमस्मरतो यथाकालमावश्यकापरिहाणिमास्कन्दतश्चर्यापरिषहसहनमवसेयम्।—जिसका शरीर तपश्चरणादिके कारण अत्यन्त अशक्त हो गया है, जिसने खड़ाऊँ आदिका त्याग कर दिया है, तीक्ष्ण कंकड़ और काँटे आदिके बिंधनेसे चरणमें खेदके उत्पन्न होनेपर भी पूर्व में भोगे यान और वाहन आदिसे गमन करनेका जो स्मरण नहीं करता है, तथा जो यथाकाल आवश्यकोंका परिपूर्ण परिपालन करता है उसके चर्या परिषहजय जानना चाहिए। (रा. वा./९/९/१४/६१०/१६) (चा. सा./११८/१)।

२. चर्या निषद्या व शय्या परिषहमें अन्तर

रा.वा./९/१७/७/६१६/११/ स्यान्मतम्—चर्यादीनां त्रयाणां परीषहाणाम-विशेषादेकत्र नियमाभावादेकत्वमिरयेकान्नविंशतिवचनं क्रियते इति; तन्न, किं कारणम्। अरतौ परीषहजयाभावात्। अथवा रतिर्नास्ति परीषहजय एवास्य व्युच्छिद्यते। तस्माद्यथोक्तप्रतिद्वन्द्विसन्निध्यात् परीषहस्वभावाश्रयपरिणामात्मलाभनिमित्तविचक्षणस्य तत्परित्यागा-यादरप्रवृत्त्यर्थमौपोद्घातिकं प्रकरणमुक्तम्।—प्रश्न—चर्या आदि तीन परीषह समान हैं, एक साथ नहीं हो सकतीं, क्योंकि बैठनेमें परीषह आनेपर सो सकता है, सोनेमें परीषह आनेपर चल सकता है, और सहनविधि एक जैसी है, तब इन्हें एक परिषह मान लेना चाहिए? और इस प्रकार २२ की बजाय १९ परीषह कहनी चाहिए? उत्तर—अरति यदि रहती है, तो परीषहजय नहीं कहा जा सकता। यदि साधु चर्याकष्टसे उद्विग्न होकर बैठ जाता है या बैठनेसे उद्विग्न होकर लेट जाता है तो परीषह जय कैसा? यदि परीषहोंको जीतूँगा इस प्रकारकी रुचि नहीं है, तो वह परीषहजयी नहीं कहा जा सकता। अतः तीनों क्रियाओंके कष्टोंको जीतना और एकके कष्टके निवारणके लिए दूसरेकी इच्छा न करना ही परीषहजय है।

चर्या श्रावक—दे० श्रावक/१।

चल—सम्यग्दर्शनका चल दोष

गो.जी./जी.प्र./२५/५१/५ में उद्धृत—नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलं स्मृतम्। लसत्कल्लोलमालासु जलमेकमवस्थितम्। नानात्मीयविशेषेषु आप्तागमपदार्थश्रद्धानविकल्पेषु चलतीति चलं स्मृतं। तद्यथा—स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते। अन्यस्यायमिति भ्राम्यन् मोहाच्छ्राद्धोऽपि चेष्टते।—नानाप्रकार अपने ही विशेष कहिए आप्तआगमपदार्थरूप श्रद्धानके भेद तिनिविषै जो चलै चंचल होइ सो चल कह्या है सोई कहिए है। अपना कराया अर्हंतप्रतिबिम्बा-दिकविषैं यहु मेरा देव है ऐसे ममत्वकरि, बहुरि अन्यकरि कराया अर्हंतप्रतिबिम्बादिकविषै यहु अन्यका है ऐसे परका मानकरि भेदरूप करै है तातै चल कह्या है। इहाँ दृष्टान्त कहै हैं—जैसे नाना प्रकार कल्लोल तरंगनिकी पंक्तिविषैं जल एक ही अवस्थित है, तथापि नानारूप होइ चलै है तैसैं मोह जो सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय तातै श्रद्धान हैं सो भ्रमणरूप चेष्टा करै है। भावार्थ—जैसे जल तरंगनि-विषै चंचल होइ परन्तु अन्यभावकौं न भजै, तैसे वेदक सम्यग्दृष्टि अपना वा अन्यका कराया जिनबिम्बादि विषैं यहु मेरा यहु अन्यका इत्यादि विकल्प करै परन्तु अन्य देवादिककौं नाहीं भजै है। (अन.ध./२/६०-६१/१८३)।

अन.ध./२/६१/१८४/पर उद्धृत-कियन्तमपि यत्कालं स्थित्वा चलति तच्चलम्।—जो कुछ कालतक स्थिर रहकर चलायमान हो जाता है उसको चल कहते हैं।

चल शील—

भ.आ./वि./१८०/३९८/२ कंदर्पकौत्कुच्याभ्यां चलशीलः।—कंदर्प और कौत्कुच्य इन दो प्रकारके वचनोंका पुनः पुनः प्रयोग करना चल शीलता है।

चलसंख्या—Varriable quantities in the equation as in ($ax^2+bx+c=o$) a, b, c are constant and 'x' is varriable.

चलितप्रदेश—दे० जीव/४।

चलितरस—दे० भक्ष्याभक्ष्य/२।

चल्लितापी—भरतक्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

चांवराय—मालवके राजा थे। समय—ई० १४२८ (प.प्र./प्र.१११/A. N. Up)।

चातुर्मास—दे० वर्षायोग।

चाप—arc या धनुष पृष्ठ।

चामुंडराय १—आपका घरू नाम गोमट्ट था, गो. जी. ७३५ में आपको इस नाम से आशीर्वाद दिया गया है। इसीके कारण

श्रवणबेलगोलपर इनके द्वारा स्थापित विशालकाय भगवान् बाहुबली की प्रतिमाका नाम गोमटेश्वर पड़ गया, और इनकी प्रेरणासे आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्वारा रचित सिद्धान्त ग्रन्थका नाम भी गोमट्टसार पड़ गया (गो क./मू./९६७-९७१),(जै /१/३८६), ती./४/२७)। आप गंगवंशी राजा राजमल्लके मन्त्री थे, तथा एक महान् योद्धा भी। आप आचार्य अजितसेनके शिष्य थे तथा स्वयं बड़े सिद्धान्तवेत्ता थे। पीछेसे आ. नेमिचन्द्रके भी शिष्य रहे हैं। इन्हींके निमित्त गोमट्टसार ग्रन्थकी रचना हुई थी। निम्न रचनाएँ इनकी अपूर्व देन हैं-वीरमार्तण्डी (गोमट्टसारकी कन्नड़ वृत्ति); तत्त्वार्थ राजवार्तिक संग्रह; चारित्रसार; त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित। समय—१. राजा राजमल्ल (वि.सं. १०३१-१०४०) के समयके अनुसार आपका समय वि.श. ११का पूर्वार्ध (ई० श० १०-११ आता है। २. बाहुबलिचरित श्लोक ०४३ में कल्की शक सं ६००(ई. ९८१)मे बाहुबली भगवान्की प्रतिमाकी प्रतिष्ठा करानेका उल्लेख है। उसके अनुसार भी लगभग यही समय सिद्ध होता है, क्योंकि एक दृष्टिसे कल्कीका राज्य वी. नि. ९०८ में प्रारम्भ हुआ था। (ती /४/२७)। ३. शक सं० ९०० (ई. ९७८) में लिखा इनका चामुण्डराय पुराण प्रसिद्ध है। (ती. /४/२८)। ४. परन्तु प्रामस्त की राइसके अनुसार इनके द्वारा मैसूर प्रान्त में विष्णुवर्धन नामक राजवंश की स्थापना घटित नहीं होती क्योंकि उसका अस्तित्व ई. ७१४ में पाया जाता है (जैन साहित्य इति./पृ. २६७)।

चामुंडराय पुराण—शक सं. ९०० (ई. ९७८) मे लिखित चामुंडराय की एक कृति। (ती./४/२८) (म.पु./प्र. २०)।

चार—चारकी संख्या कृति कहलाती है—दे० कृति।

चारक्षेत्र—Motion space (ज.प./प्र.१०६)।

चारण ऋद्धि—दे० ऋद्धि/४।

चारणकूट व गुफा—सुमेरु पर्वतके नन्दन आदिक वनोंके दक्षिण में स्थित यमदेवका कूट व गुफा—दे० लोक/७।

चारित्र—चारित्र मोक्षमार्गका एक प्रधान अंग है। अभिप्रायके सम्यक् व मिथ्या होनेसे वह सम्यक् व मिथ्या हो जाता है। निश्चय, व्यवहार सराग, वीतराग, स्व, पर आदि भेदोंसे वह अनेक प्रकारसे निर्दिष्ट किया जाता है, परन्तु वास्तवमें वे सब भेद प्रभेद किसी न किसी एक वीतरागता रूप निश्चय चारित्रके पेटमें समा जाते हैं। ज्ञाता द्रष्टा मात्र साक्षीभाव या साम्यताका नाम वीतरागता है। प्रत्येक चारित्रमें उसका अंश अवश्य होता है। उसका सर्वथा लोप होनेपर केवल बाह्य वस्तुओंका त्याग आदि चारित्र संज्ञाको प्राप्त नहीं होता। परन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं कि बाह्य व्रतत्याग आदि बिलकुल निरर्थक है, वह उस वीतरागताके अविनाभावी है तथा पूर्व भूमिका वालोंको उसके साधक भी।

१. चारित्र निर्देश

(१) चारित्र सामान्य निर्देश

१. चरणका लक्षण

पं. ध./उ./४१२-४१३ चरणं क्रिया ।४१२। चरणं वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु ।४१३। – तत्त्वार्थकी प्रतीतिके अनुसार क्रिया करना चरण कहलाता है। अर्थात् मन, वचन, कायसे शुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति करना चरण है।

२. चारित्र सामान्यका लक्षण

स. सि./१/१/६/२ चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम् । – जो आचरण करता है, अथवा जिसके द्वारा आचरण किया जाता है अथवा आचरण करना मात्र चारित्र है। (रा. वा./१/१/४/२५; १/१ २४/८/३४; १/१/२६/६/१२) (गो. क./जी.प्र./३३/२७/२३)।

भ. आ./वि./८/४१/११ चरति याति तेन हितप्राप्तिं अहितनिवारणं चेति चारित्रम् । चर्यते सेव्यते सज्जनैरिति वा चारित्रं सामायिकादिकम् । – जिससे हितको प्राप्त करते हैं और अहितका निवारण करते हैं, उसको चारित्र कहते हैं। अथवा सज्जन जिसका आचरण करते हैं, उसको चारित्र कहते हैं, जिसके सामायिकादि भेद हैं।

और भी देखो चारित्र १/११/१ संसारकी कारणभूत बाह्य और अन्तरंग क्रियाओंसे निवृत्त होना चारित्र है।

३. चारित्रके एक दो आदि अनेक विकल्प

रा. वा./१/७/१४/४१/८ चारित्रनिर्देशः…सामान्यादेकम्, द्विधा बाह्याभ्यन्तरनिवृत्तिभेदात्, त्रिधा औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकविकल्पात्, चतुर्धा चतुर्यमभेदात्, पञ्चधा सामायिकादिविकल्पात् । इत्येवं संख्येयासंख्येयानन्तविकल्पं च भवति परिणामभेदात् ।

रा. वा./६/१७/७/६१६/१८ यदवोचाम चारित्रम्, तच्चारित्रमोहोपशमक्षयक्षयोपशमलक्षणात्मविशुद्धिलब्धिसामान्यापेक्षया एकम्। प्राणिपीडापरिहारेन्द्रियदर्पनिग्रहशक्तिभेदाद् द्विविधम् । उत्कृष्टमध्यमजघन्यविशुद्धिप्रकर्षापकर्षयोगात्तृतीयमवस्थानमनुभवति । विकलज्ञानविषयसरागवीतराग-सकलावबोधगोचरसयोगायोगविकल्पाच्चातुर्विध्यमश्नुते । पञ्चतयीं च वृत्तिमास्कन्दति तद्यथा—

त. सू./६/१८ सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातमिति चारित्रम् ।१८। – सामान्यपने एक प्रकार चारित्र है अर्थात् चारित्रमोहके उपशम क्षय व क्षयोपशमसे होनेवाली आत्मविशुद्धिकी दृष्टिसे चारित्र एक है। बाह्य व अभ्यन्तर निवृत्ति अथवा व्यवहार व निश्चयकी अपेक्षा दो प्रकारका है। या प्राणसंयम व इन्द्रियसंयमकी अपेक्षा दो प्रकारका है। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकके भेदसे तीन प्रकारका है; अथवा उत्कृष्ट मध्यम व जघन्य विशुद्धिके भेदसे तीन प्रकारका है। चार प्रकारके यतिकी दृष्टिसे या चतुर्यमकी अपेक्षा चार प्रकारका है, अथवा छद्मस्थोंका सराग और वीतराग तथा सर्वज्ञोंका सयोग और अयोग इस तरह चार प्रकारका है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यातके भेदसे पाँच प्रकारका है। इसी तरह विविध निवृत्ति रूप परिणामोंकी दृष्टिसे संख्यात असंख्यात और अनन्त विकल्परूप होता है।

जैनसिद्धान्त प्र./२२२ चार हैं—स्वरूपाचरण चारित्र, देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यात चारित्र।

४. चारित्रके १३ अंग

द्र. सं./मू./४५ वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियम् । – वह चारित्र व्यवहारनयसे पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति इस प्रकार १३ भेद रूप है।

५. चारित्रकी भावनाएँ

म. पु./२१/९८ ईर्यादिविषया यत्ना मनोवाक्कायगुप्तयः । परीषहसहिष्णुत्वम् इति चारित्रभावना ।९८। – चलने आदिके विषयमें यत्न रखना अर्थात् ईर्यादि पाँच समितियोंका पालन करना, मन, वचन व कायकी गुप्तियोंका पालन करना, तथा परीषहोंको सहन करना। ये चारित्र की भावनाएँ जाननी चाहिए।

६. चारित्र जीवका स्वभाव है पर संयम नहीं

ध. ७/२,१,५६/९६/१ संजमो णाम जीवसहावो, तदो ण सो अण्णेहि विणासिज्जदि तव्विणासे जीवदव्वस्स वि विणासप्पसंगादो। ण; उवजोगस्सेव संजमस्स जीवस्स लक्खणत्ताभावादो। – प्रश्न-संयम तो जीवका स्वभाव ही है, इसीलिए वह अन्यके द्वारा अर्थात् कर्मोंके द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका विनाश होनेपर जीव द्रव्यके भी विनाशका प्रसंग आता है? उत्तर—नहीं आयेगा, क्योंकि, जिस प्रकार उपयोग जीवका लक्षण माना गया है, उस प्रकार संयम जीवका लक्षण नहीं होता।

प्र. सा./त. प्र./७ स्वरूपे चरणं चारित्रं । स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः । तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः । – स्वरूपमें रमना सो चारित्र है। स्वसमयमें अर्थात् स्वभावमें प्रवृत्ति करना यह इसका अर्थ है। यह वस्तु (आत्मा) का स्वभाव होनेसे धर्म है।

पु. सि. उ./३९ चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् । सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् । – क्योंकि समस्त पापयुक्त मन, वचन, कायके योगोंके त्यागसे सम्पूर्ण कषायोंसे रहित अतएव, निर्मल, परपदार्थोंसे विरक्ततारूप चारित्र होता है, इसलिए वह आत्माका स्वरूप है।

७. स्व व पर अथवा सम्यक् मिथ्याचारित्र निर्देश

नि. सा./मू./११ मिच्छादंसणणाणचरित्तं…सम्मत्तणाणचरणं । – मिथ्यादर्शन-ज्ञान चारित्र · सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र।

पं. का./त. प्र./१५४ द्विविधं हि किल संसारिषु चरितं – स्वचरितं परचरितं च । स्वसमयपरसमयावित्यर्थः । – संसारियोंका चारित्र वास्तवमें दो प्रकारका है—स्वचारित्र अर्थात् सम्यक्चारित्र और परचारित्र अर्थात् मिथ्याचारित्र। स्वसमय और परसमय ऐसा अर्थ है। (विशेष दे. समय) (यो. सा./अ./८/९६)।

८. स्वपर चारित्रके लक्षण

पं. का./मू./१५६-१५९ जो परदव्वम्मि सुहं असुहं रागेण कुणदि जदि भावं । सो सगचरित्तभट्ठो परचरियचरो हवदि जीवो ।१५६। आसवदि जेण पुण्णं पावं वा अप्पणोध भावेण । सो तेण परचरित्तो हवदि त्ति जिणा परूवं ति ।१५७। जो सव्वसंगमुक्को णण्णमणो अप्पणं सहावेण । जाणदि पस्सदि णियदं सो सगचरियं चरदि जीवो ।१५८। चरियं चरदि सगं सो जो परदव्वप्पभावरहिदप्पा । दंसणणाणवियप्पं अवियप्पं चरदि अप्पादो ।१५९। – जो रागसे परद्रव्यमें शुभ या अशुभ भाव करता है वह जीव स्वचारित्र भ्रष्ट ऐसा परचारित्रका आचरण करनेवाला है।१५६। जिस भावसे आत्माको पुण्य अथवा पाप आस्रवित होते हैं उस भाव द्वारा वह (जीव) परचारित्र है।१५७। जो सर्वसंगमुक्त और अनन्य मनवाला वर्तता हुआ आत्माको (ज्ञानदर्शनरूप) स्वभाव द्वारा नियत रूपसे जानता देखता है वह जीव स्वचारित्र आचरता है।१५८। जो परद्रव्यात्मक भावोंसे रहित स्वरूप वाला वर्तता हुआ, दर्शन ज्ञानरूप भेदको आत्मासे अभेदरूप आचरता है वह स्वचारित्रको आचरता है।१५९। (ति. प./९/२२)।

पं. का./त. प्र./१५४/ तत्र स्वभावावस्थितास्तित्वस्वरूपं स्वचरितं, परभावावस्थितास्तित्वस्वरूपं परचरितम् । – तहाँ स्वभावमें अव-

स्थित अस्तित्वस्वरूप वह स्वचारित्र है और परभावमें अवस्थित अस्तित्वस्वरूप वह परचारित्र है।

पं. का/ता. वृ./१५६-१५६ यः कर्ता:···शुद्धात्मद्रव्यात्परिभ्रष्टो भूत्वा··· रागभावेन परिणम्य···शुद्धोपयोगाद्विपरीतः समस्तपरद्रव्येषु शुभमशुभं वा भावं करोति स ज्ञानानन्दैकस्वभावात्मा···स्वकीयचारित्राद्भ्रष्टः सन् स्वसंवित्यनुष्ठानविलक्षणपरचारित्रचरो भवतीति सूत्राभिप्रायः।१५६। निजशुद्धात्मसंवित्यनुचरणरूपं परमागमभाषया वीतरागपरमसामायिकसंज्ञं स्वचरितम्।१५८। पूर्वं सविकल्पावस्थायां ज्ञाताहं द्रष्टाहमिति यद्विकल्पद्वयं तन्निर्विकल्पसमाधिकालेऽनन्तज्ञानादिगुणस्वभावादात्मनः सकाशादभिन्नं चरतीति सूत्रार्थः।१५६। —जो व्यक्ति शुद्धात्म द्रव्यसे परिभ्रष्ट होकर, रागभाव रूपसे परिणमन करके, शुद्धोपयोगसे विपरीत समस्त परद्रव्योंमें शुभ व अशुभ भाव करता है, वह ज्ञाननन्दरूप एकस्वभावात्मक स्वकीय चारित्रसे भ्रष्ट हो, स्वसंवेदनसे विलक्षण परचारित्रको आचरनेवाला होता है, ऐसा सूत्रका तात्पर्य है।१५६। निज शुद्धात्माके संवेदनमें अनुचरण करने रूप अथवा आगमभाषामें वीतराग परमसामायिक नामवाला अर्थात् समता भावरूप स्वचारित्र होता है।१५८। पहले सविकल्पावस्थामें 'मैं ज्ञाता हूँ', मैं द्रष्टा हूँ' ऐसे जो दो विकल्प रहते थे वे अब इस निर्विकल्प समाधिकालमें अनन्तज्ञानादि गुणस्वभाव होनेके कारण आत्मासे अभिन्न ही आचरण करता है, ऐसा सूत्रका अर्थ है।१५६। और भी देखो 'समय' के अन्तर्गत स्वसमय व परसमय।

९. सम्यक् व मिथ्या चारित्रके लक्षण

मो. पा. मू./१०० जदि काहि बहुविहे य चारित्ते। तं बाल···चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं। —बहुत प्रकारसे धारण किया गया भी चारित्र यदि आत्मस्वभावसे विपरीत है तो उसे बालचारित्र अर्थात् मिथ्याचारित्र जानना।

नि. सा./ता. वृ./९१ भगवदर्हत्परमेश्वरमार्गप्रतिकूलमार्गाभास·· तन्मार्गाचरणं मिथ्याचारित्रं च।·· अथवा स्वात्म···अनुष्ठानरूपविमुखत्वमेव मिथ्या···चारित्रं। —भगवान् अर्हंत परमेश्वरके मार्गसे प्रतिकूल मार्गाभासमें मार्गका आचरण करना वह मिथ्याचारित्र है। अथवा निज आत्माके अनुष्ठानके रूपसे विमुखता वही मिथ्याचारित्र है।

नोट—सम्यक्चारित्रके लक्षणके लिए देखो चारित्र सामान्यका, अथवा निश्चय व्यवहार चारित्रका अथवा सराग वीतराग चारित्रका लक्षण।

१०. निश्चय व्यवहार चारित्र निर्देश

चारित्र यद्यपि एक प्रकारका है परन्तु उसमें जीवके अन्तरंग भाव व बाह्य त्याग दोनों बातें युगपत् उपलब्ध होने के कारण, अथवा पूर्व भूमिका और ऊँची भूमिकाओंमें विकल्प व निर्विकल्पताकी प्रधानता रहनेके कारण, उसका निरूपण दो प्रकारसे किया जाता है—निश्चय चारित्र व व्यवहारचारित्र।

तहाँ जीवकी अन्तरंग विरागता या साम्यता तो निश्चय चारित्र और उसका बाह्य वस्तुओंका त्यागरूप व्रत, बाह्य क्रियाओंमें यत्नाचार रूप समिति और मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको नियन्त्रित करने रूप गुप्ति ये व्यवहार चारित्र हैं। व्यवहार चारित्रका नाम सराग चारित्र भी है। और निश्चय चारित्रका नाम वीतराग चारित्र। निचली भूमिकाओंमें व्यवहार चारित्रकी प्रधानता रहती है और ऊपर ऊपरकी ध्यानस्थ भूमिकाओंमें निश्चय चारित्रकी।

११. निश्चय चारित्रका लक्षण

१. बाह्याभ्यन्तर क्रियाओंसे निवृत्ति—

मो. पा./ मू./३७ तच्चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं। —पुण्य व पाप दोनोंका त्याग करना चारित्र है। (न. च. वृ./३७८)।

स. सि./१/१/५/८ संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम्। —जो ज्ञानी पुरुष संसारके कारणोंको दूर करनेके लिए उद्यत है उसके कर्मोंके ग्रहण करनेमें निमित्तभूत क्रियाके त्यागको सम्यक्चारित्र कहते हैं। (रा. वा./१/१/३/४/६; १/७/१४/४१/५); (भ. आ./वि/६/३२/१२) (पं. ध./उ./७६४) (ला. सं/४/२६३/१६१)।

द्र. सं. मू./४६ व्यवहारचारित्रेण साध्यं निश्चयचारित्रं निरूपयति— बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं। णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं।४६। —व्यवहार चारित्रसे साध्य निश्चय चारित्रका निरूपण करते हैं—ज्ञानी जीवके जो संसारके कारणोंको नष्ट करनेके लिए बाह्य और अन्तरंग क्रियाओंका निरोध होता है वह उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र है।

प. वि./१/७२ चारित्रं विरतिः प्रमादविलसत्कर्मास्रवाद्योगिनां। —योगियोंका प्रमादसे होनेवाले कर्मास्रवसे रहित होनेका नाम चारित्र है।

२. ज्ञान व दर्शनकी एकता ही चारित्र है

चा. पा./मू./३ जं जाणइ तं णाणं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं। णाणस्स पिच्छयस्स य समवण्णा होइ चारित्तं।३। —जो जानै सो ज्ञान है, बहुरि जो देखे सो दर्शन है, ऐसा कह्या है। बहुरि ज्ञान और दर्शनके समायोग तैं चारित्र होय है।

३. साम्यता या ज्ञाता द्रष्टाभावका नाम चारित्र है

प्र. सा./मू./७ चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो। मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।७। —चारित्र वास्तवमें धर्म है। जो धर्म है वह साम्य है, ऐसा कहा है। साम्य मोह क्षोभ-रहित आत्माका परिणाम है।७। (मो. पा./मू./५०); (पं. का./मू./१०७)

म. पु./२४/११६ माध्यस्थलक्षणं प्राहुश्चारित्रं वितृषो मुनेः। मोक्षकामस्य निर्मुक्तचेलसाहिंसकस्य तत्।११६। —इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमें समता भाव धारण करनेको सम्यक्चारित्र कहते हैं। वह सम्यक्चारित्र यथार्थ रूपसे तृष्णा रहित, मोक्षकी इच्छा करनेवाले वस्त्ररहित और हिंसाका सर्वथा त्याग करनेवाले मुनिराजके ही होता है।

न. च. वृ./३५६ समदा तह मज्झत्थं सुद्धो भावो य वीयरायत्तं। तह चारित्तं धम्मो सहाव आराहणा भणिया।३५६। —समता, माध्यस्थ्य, शुद्धोपयोग, वीतरागता, चारित्र, धर्म, स्वभावकी आराधना ये सब एकार्थवाची हैं। (पं. ध./उ./७६४); (ला. सं./४/२६३/१६१)

प्र. सा./त. प्र./२४२ ज्ञेयज्ञातृक्रियान्तरनिवृत्तिसूत्र्यमाणद्रष्टृज्ञातृतत्त्ववृत्तिलक्षणेन चारित्रपर्यायेण···। —ज्ञेय और ज्ञाताकी क्रियान्तरसे अर्थात् अन्य पदार्थोंके जानने रूप क्रियासे निवृत्तिके द्वारा रचित दृष्टि ज्ञातृतत्त्वमें (ज्ञाता द्रष्टा भावमें) परिणति जिसका लक्षण है वह चारित्र पर्याय है।

४. स्वरूपमें चरण करना चारित्र है

स. सा./आ./३८६ स्वस्मिन्नेव खलु ज्ञानस्वभावे निरन्तरचरणाच्चारित्रं भवति। —अपनेमें अर्थात् ज्ञानस्वभावमें ही निरन्तर चरनेसे चारित्र है।

प्र. सा./त. प्र./७ स्वरूपे चरणं चारित्रं स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः। —स्वरूपमें चरण करना चारित्र है, स्वसमयमें प्रवृत्ति करना इसका अर्थ है। यही वस्तुका (आत्माका) स्वभाव होनेसे धर्म है।

पं. का./ता. वृ./१५४/२२४/१४ जीवस्वभावनियतचारित्रं भवति। तदपि कस्मात्। स्वरूपे चरणं चारित्रमिति वचनात्। —जीव स्वभावमें अवस्थित रहना ही चारित्र है, क्योंकि, स्वरूपमें चरण करनेको चारित्र कहा है। (द्र. सं./टी./३५/१४७/३)

५. स्वात्मामें स्थिरता चारित्र है

पं. का./मू./१६२ जै चरदि णाणी पेच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं। सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि।१६२। —जो (आत्मा) अनन्यमय आत्माको आत्मासे आचरता है वह आत्मा ही चारित्र है।

मो. पा./मू./८३ णिच्छयणयस्स एवं अप्पम्मि अप्पणे सुरदो। सो होदि हु सुचरित्तो जोइ सो लहइ णिव्वाणं।८३। —जो आत्मा आत्मा ही विषै आपहीके अर्थि भले प्रकार रत होय है। सो योगी ध्यानी मुनि सम्यग्चारित्रवान् भया संता निर्वाण कूँ पावै है।

स. सा./आ./१५५ रागादिपरिहरणं चरणं। —रागादिकका परिहार करना चारित्र है। (ध. १३/३५८/२)

प. प्र./मू./२/३० जाणवि मण्णवि अप्पपरु जो परभाउ चएहि। सो णियसुद्धउ भावडउ णाणिहिं चरणु हवेइ।३०। —अपनी आत्माको जानकर व उसका श्रद्धान करके जो परभावको छोड़ता है, वह निजात्माका शुद्धभाव चारित्र होता है। (मो. पा./मू./३७)

मोक्ष. पंचाशत/मू./४५ निराकुलत्वजं सौख्यं स्वयमेवावतिष्ठतः। यदात्मनैव संवेद्यं चारित्रं निश्चयात्मकम्।४५। —आत्मा द्वारा संवेद्य जो निराकुलताजनक सुख सहज ही आता है, वह निश्चयात्मक चारित्र है।

न. च. वृ./३५४ सामण्णे णियबोहे वियलियपरभावपरमसब्भावे। तत्थाराहणजुत्तो भणिओ खलु सुद्धचारित्ती। —परभावोंसे रहित परम स्वभावरूप सामान्य निज बोधमें अर्थात् शुद्धचैतन्य स्वभावमें तत्त्वाराधना युक्त होनेवाला शुद्ध चारित्री कहलाता है।

यो. सा. अ./८/९५ विविक्तचेतनध्यानं जायते परमार्थत। —निश्चयनयसे विविक्त चेतनध्यान-निश्चय चारित्र मोक्षका कारण है। (प्र. सा./ता. वृ./२४४/३३८/१७)

का. अ./मू./९९ अप्पसरूवं वत्थु चत्तं रायादिएहिं दोसेहिं। सज्झाणम्मि णिलीणं तं जाणसु उत्तमं चरणं।९९। —रागादि दोषोंसे रहित शुभ ध्यानमें लीन आत्मस्वरूप वस्तुको उत्कृष्ट चारित्र जानो।९९।

नि. सा./ता. वृ./५५ स्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपं सहजनिश्चयचारित्रम्। —निज स्वरूपमें अविचल स्थितिरूप सहज निश्चय चारित्र है। (नि. सा./ता. वृ./३)

प्र. सा./ता. वृ./६/७/१४ आत्माधीनज्ञानसुखस्वभावे शुद्धात्मद्रव्ये यन्निश्चलनिर्विकारानुभूतिरूपमवस्थानं, तल्लक्षणनिश्चयचारित्राज्जीवस्य समुत्पद्यते। — आत्माधीन ज्ञान व सुखस्वभावरूप शुद्धात्म द्रव्यमें निश्चल निर्विकार अनुभूतिरूप जो अवस्थान है, वही निश्चय चारित्रका लक्षण है। (स. सा./ता. वृ./३८), (सा.सा./ता.वृ./१५५), (द्र. सं./टी./४६/१९७/८)

द्र. सं./टी./४०/१६३/१३ संकल्पविकल्पजालत्यागेन तत्रैव सुखे रतस्य संतुष्टस्य तृप्तस्यैकाकारपरमसमरसीभावेन द्रवीभूतचित्तस्य पुनः पुनः स्थिरीकरणं सम्यक्चारित्रम्। —समस्त संकल्प विकल्पोंके त्याग द्वारा, उसी (वीतराग) सुखमें सन्तुष्ट तृप्त तथा एकाकार परम समता भावसे द्रवीभूत चित्तका पुनःपुनः स्थिर करना सम्यक्चारित्र है। (प. प्र./टी./२/३० की उत्थानिका)

१२. व्यवहार चारित्रका लक्षण

स./सा./मू./३८६ णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं पडिकम्मदि यो य। णिच्चं आलोचेयइ सो हु चारित्तं हवइ चेया।३८६। —जो सदा प्रत्याख्यान करता है, सदा प्रतिक्रमण करता है और सदा आलोचना करता है, वह आत्मा वास्तवमें चारित्र है।३८६।

भ. आ./मू./६/४५ कायव्वमिणमकायव्वयत्ति णाऊण होइ परिहारो। —यह करने योग्य कार्य है ऐसा ज्ञान होनेके अनन्तर अकर्तव्यका त्याग करना चारित्र है।

र. क. श्रा./४९ हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च। पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रं।४९। —हिंसा, असत्य, चोरी, तथा मैथुनसेवा और परिग्रह इन पाँचों पापोंकी प्रणालियोंसे विरक्त होना चारित्र है। (ध. ६/१,९-१,२२/४०/५), (नि. सा./ता.वृ./५२), (मो. पा./टी./३७,३८/३२८)

यो. सा./अ./८/९५ कारणं निर्वृतेरेतच्चारित्रं व्यवहारतः।···।९५। व्रतादिका आचरण करना व्यवहार चारित्र है।

पु. सि. उ./३९ चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्। सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्।३९। —समस्त पापयुक्त मन, वचन, कायके त्यागसे सम्पूर्ण कषायोंसे रहित अतएव निर्मल परपदार्थोंसे विरक्तता रूप चारित्र होता है। इसलिए वह चारित्र आत्माका स्वभाव है।

भ. आ./वि./६/३३/१ एवं स्वाध्यायो ध्यानं च अविरतिप्रमादकषायत्यजनरूपतया। इत्थं चारित्राराधनयोक्तया···। —अविरति, प्रमाद, कषायोंका त्याग स्वाध्याय करनेसे तथा ध्यान करनेसे होता है, इस वास्ते वे भी चारित्र रूप हैं।

द्र. सं./मू./४५ असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं। वदसमिदिगुत्तिरूवववहारणयादु जिण भणियं।४५। —अशुभ कार्योंसे निवृत्त होना और शुभकार्योंमें प्रवृत्त होना है, उसको चारित्र जानना चाहिए। व्यवहार नयसे उस चारित्रको व्रत, समिति और गुप्तिस्वरूप कहा है।

त. अनु./२७ चेतसा वचसा तन्वा कृतानुमतकारितैः। पापक्रियाणां यस्त्यागः सच्चारित्रमुषन्ति तत्।२७। —मनसे, वचनसे, कायसे, कृत कारित अनुमोदनाके द्वारा जो पापरूप क्रियाओंका त्याग है उसको सम्यग्चारित्र कहते हैं।

१३. सराग वीतराग चारित्र निर्देश

[वह चारित्र अन्य प्रकारसे भी दो भेद रूप कहा जाता है—सराग व वीतराग। शुभोपयोगी साधुका व्रत, समिति, गुप्तिके विकल्पोंरूप चारित्र सराग है, और शुद्धोपयोगी साधुके वीतराग संवेदनरूप ज्ञाता द्रष्टा भाव वीतराग चारित्र है।]

१४. सराग चारित्रका लक्षण

स. सि./६/१२/३३१/२ संसारकारणविनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णोऽक्षीणाशयः सराग इत्युच्यते। प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः। सरागस्य संयमः सरागो वा संयमः सरागसंयमः। —जो संसारके कारणोंके त्यागके प्रति उत्सुक है, परन्तु जिसके मनसे रागके संस्कार नष्ट नहीं हुए हैं, वह सराग कहलाता है। प्राणी और इन्द्रियोंके विषयमें अशुभ प्रवृत्तिके त्यागको संयम कहते हैं। सरागी जीवका संयम सराग है। (रा. वा./६/१२/५-६/५२२/२१)

न. च. वृ./३३४ मूलुत्तरसमणगुणा धारण कहणं च पंच आयारो। सो ही तहव सणिट्ठा सरायचरिया हवइ एवं।३३४। —श्रमण जो मूल व उत्तर गुणोंको धारण करता है तथा पंचाचारोंका कथन करता है अर्थात् उपदेश आदि देता है, और आठ प्रकारकी शुद्धियोंमें निष्ठ रहता है, वह उसका सराग चारित्र है।

द्र. सं./मू./४५/१९४ वीतरागचारित्रस्य साधकं सरागचारित्रं प्रतिपादयति।···"असुहादो विणिवत्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्त। वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियं।४५।—वीतराग चारित्रके परम्परा साधक सराग चारित्रको कहते हैं—जो अशुभ कार्यसे निवृत्त होना और शुभकार्यमें प्रवृत्त होना है, उसको चारित्र जानना चाहिए, व्यवहार नयसे उसको व्रत, समिति, गुप्ति स्वरूप कहा है।

प्र. सा./ता.वृ./२३०/३१५/१० तत्रासमर्थः पुरुषः—शुद्धात्मभावनासहकारिभूतं किमपि प्रासुकाहारज्ञानोपकरणादिकं गृह्णातीत्यपवादो 'व्यवहारनय'एकदेशपरित्यागस्तथा चापहृतसंयमः सरागचारित्रं

शुभोपयोग इति यावदेकार्थः ।—वीतराग चारित्रमें असमर्थ पुरुष शुद्धात्म भावनाके सहकारीभूत जो कुछ प्रासुक आहार तथा ज्ञानादिके उपकरणोंका ग्रहण करता है, वह अपवाद मार्ग,—व्यवहार नय या व्यवहार चारित्र, एकदेश परित्याग, अपहृत संयम, सराग चारित्र या शुभोपयोग कहलाता है। यह सब शब्द एकार्थवाची है।

नोटः—और भी—दे० चारित्र/१/१२ में व्यवहार चारित्र-संयम/१ में अपहृत संयम, 'अपवाद' में अपवादमार्ग।

१५. वीतराग चारित्रका लक्षण

न. च.वृ./३७८ सुहअसुहाण णिवित्ति चरणं साहुस्स वीयरायस्स।—शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके योगोंसे निवृत्ति, वीतराग साधुका चारित्र है।

नि. सा./ता.वृ./१५२ स्वरूपविश्रान्तिलक्षणे परमवीतरागचारित्रे।—स्वरूपमें विश्रान्ति सो ही परम वीतराग चारित्र है।

द्र. सं./टी./५२/२१६/१ रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वाभाविकसुखस्वादेन निश्चलचित्तं वीतरागचारित्रं तत्राचरणं परिणमनं निश्चयचारित्राचारः—उस शुद्धात्मामें रागादि विकल्परूप उपाधिसे रहित स्वाभाविक सुखके आस्वादनसे निश्चल चित्त होना वीतराग चारित्र है। उसमें जो आचरण करना सो निश्चय चारित्राचार है। (स.सा./ता. वृ./२/८/१०) (द्र. सं./टी./२२/६७/१)।

प्र. सा./ता.वृ./२३०/३१५/८ शुद्धात्मनः सकाशादन्यबाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरूपं सर्वं त्याज्यमित्युत्सर्गो 'निश्चय नयः' सर्वपरित्यागः परमोपेक्षासंयमो वीतरागचारित्रं शुद्धोपयोग इति यावदेकार्थः।—शुद्धात्माके अतिरिक्त अन्य बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह रूप पदार्थोंका त्याग करना उत्सर्ग मार्ग है। उसे ही निश्चयनय या निश्चयचारित्र व शुद्धोपयोग भी कहते हैं, इन सब शब्दोंका एक ही अर्थ है।

नोटः—और भी देखें चारित्र/१/११ में निश्चय चारित्र; संयम/१ में उपेक्षा संयम; अपवादमें उत्सर्ग मार्ग।

१६. स्वरूपाचरण व संयमाचरण चारित्र निर्देश

चा. पा./मू.५ जिणणाणदिट्ठिसुद्धपढमं सम्मत्तं चरणचारित्तं। बिदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि ।५।—पहला तो, जिनदेवके ज्ञान दर्शन व श्रद्धाकरि शुद्ध ऐसा सम्यक्त्वाचरण चारित्र है और दूसरा संयमाचरण चारित्र है।

चा. पा./टी./३/३२/३ द्विविधं चारित्रं—दर्शनाचारचारित्राचारलक्षणं।—दर्शनाचार और चारित्राचार लक्षणवाला चारित्र दो प्रकारका है।

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका/२२३ शुद्धात्मानुभवनसे अविनाभावी चारित्र-विशेषको स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं।

१७. अधिगत व अनधिगत चारित्र निर्देश व लक्षण

रा. वा./३/३६/२/२०१/८ चारित्रार्या द्वेधा अधिगतचारित्रार्या अनधिगतचारित्रार्याश्चेति। तद्भेदः अनुपदेशोपदेशापेक्षभेदकृतः। चारित्रमोहस्योपशमात् क्षयाच्च बाह्योपदेशानपेक्षा आत्मप्रसादादेव चारित्रपरिणामास्कन्दिनः उपशान्तकषायाः क्षीणकषायाश्चाधिगतचारित्रार्याः अन्तश्चारित्रमोहक्षयोपशमसद्भावे सति बाह्योपदेशनिमित्तविरतिपरिणामा अनधिगमचारित्रार्याः।—असावद्यकर्मार्य दो प्रकारके हैं—अधिगत चारित्रार्य और अनधिगत चारित्रार्य। जो बाह्य उपदेशके बिना स्वयं ही चारित्रमोहके उपशम वा क्षयसे प्राप्त आत्म प्रसादसे चारित्र परिणामको प्राप्त हुए हैं, ऐसे उपशान्तकषाय और क्षीण कषाय गुणस्थानवर्ती जीव अधिगत चारित्रार्य हैं। और जो अन्दरमें चारित्रमोहका क्षयोपशम होनेपर बाह्योपदेशके निमित्तसे विरति परिणामको प्राप्त हुए हैं वे अनधिगत चारित्रार्य हैं। तात्पर्य यह है कि उपशम व क्षायिकचारित्र तो अधिगत कहलाते हैं और क्षयोपशम चारित्र अनधिगत।

१८. क्षायिकादि चारित्र निर्देश

ध. ६/१,९-८,१४/२८१/१ सयलचारित्तं तिविहं खओवसमियं, ओवसमियं खइयं चेदि।—क्षयोपशमिक, औपशमिक व क्षायिकके भेदसे सकल चारित्र तीन प्रकारका है। (ल. सा./मू./१८९/२४३)।

१९. औपशमिक चारित्रका लक्षण

रा. वा./२/३/३/१०५/१७ अष्टाविंशतिमोहविकल्पोपशमादौपशमिकं चारित्रम्—अनन्तानुबन्धी आदि १६ कषाय और हास्य आदि नव नोकषाय, इस प्रकार २५ तो चारित्रमोहकी और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति ये तीन दर्शनमोहनीयकी—ऐसे मोहनीयकी कुल २८ प्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक चारित्र होता है। (स. सि./२/३/१५३/७)।

२०. क्षायिक चारित्रका लक्षण

रा. वा/२/४/७/१०७/११ पूर्वोक्तस्य दर्शनमोहत्रिकस्य चारित्रमोहस्य च पञ्चविंशतिविकल्पस्य निरवशेषक्षयात् क्षायिके सम्यक्त्वचारित्रे भवतः।—पूर्वोक्त (देखो ऊपर औपशमिक चारित्रका लक्षण) दर्शन मोहकी तीन और चारित्रमोहकी २५; इन २८ प्रकृतियोंके निरवशेष विनाशसे क्षायिक चारित्र होता है। (स. सि./२/४/१५५/१)

२१. क्षायोपशमिक चारित्रका लक्षण

स. सि./२/५/१५७/८ अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानद्वादशकषायोदयक्षयात्सदुपशमाच्च संज्वलनकषायचतुष्टयान्यतमदेशघातिस्पर्धकोदये नोकषायनवकस्य यथासंभवोदये च निवृत्तिपरिणाम आत्मनः क्षायोपशमिकं चारित्रम्—अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानावरण इन बारह कषायोंके उदयाभावी क्षय होनेसे और इन्हींके सदवस्थारूप उपशम होनेसे तथा चार संज्वलन कषायोंमेंसे किसी एक देशघाती प्रकृतिके उदय होनेपर और नव नोकषायोंका यथा सम्भव उदय होनेपर जो त्यागरूप परिणाम होता है, वह क्षायोपशमिक चारित्र है। (रा. वा./२/५/८/१०८/३) इस विषयक विशेषताएँ व तर्क आदि। दे० क्षयोपशम।

२२. सामायिकादि चारित्र पञ्चक निर्देश

त. सू./९/१८ सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातमिति चारित्रम्—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात—ऐसे चारित्र पाँच प्रकारका है। (और भी—दे० संयम/१।

२. मोक्षमार्गमें चारित्रकी प्रधानता

१. चारित्र ही धर्म है

प्र. सा./मू./७ चारित्तं खलु धम्मो—चारित्र वास्तवमें धर्म है (मो. पा./मू./५०) (पं. का./मू०/१०७)।

२. चारित्र साक्षात् मोक्षका कारण है

चा. पा./मू०/८-९ तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय। जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तं चरणचारित्तं ॥८॥ सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा। णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं ॥९॥—प्रथम सम्यक्त्व चरणचारित्र मोक्षस्थानके अर्थ है ॥८॥ जो अमूढदृष्टि होकर सम्यक्त्वचरण और संयमाचरण दोनोंसे विशुद्ध होता है, वह शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त करता है।

स. सि./९/१८/४३६/४ चारित्रमन्ते गृह्यन्ते मोक्षप्राप्तेः साक्षात्कारणमिति ज्ञापनार्थं—चारित्र मोक्षका साक्षात् कारण है यह बात जाननेके लिए सूत्रमें इसका ग्रहण अन्तमें किया है।

प्र. सा./त. प्र./६ संपद्यते हि दर्शनज्ञानप्रधानाच्चारित्राद्वीतरागान्मोक्षः। तत एव च सरागाद्देवासुरमनुजराजविभवक्लेशरूपो बन्धः—दर्शन ज्ञान प्रधान चारित्रसे यदि वह वीतराग हो तो मोक्ष प्राप्त होता है, और उससे ही यदि वह सराग हो तो देवेन्द्र, असुरेन्द्र, व नरेन्द्रके वैभव क्लेशरूप बन्धकी प्राप्ति होती है, (यो. सा. अ/६/१२)

प. ध./उ./७६१ चारित्रं निर्जरा हेतुर्न्यायादप्यस्त्यबाधितम्। सर्वस्वार्थ-क्रियामर्हन् , सार्थनामास्ति दीपवत् ॥७६१॥—वह चारित्र (पूर्व श्लोकमें कथित शुद्धोपयोग रूप चारित्र) निर्जराका कारण है, यह बात न्यायसे भी अबाधित है। वह चारित्र अन्वर्थ क्रियामें समर्थ होता हुआ दीपककी तरह अन्वर्थ नामधारी है।

३. चारित्राराधनामें अन्य सर्व आराधनाएँ गर्भित हैं

भ. आ./मू./८/४१ अहवा चारित्राराहणाए आहारियं सव्वं। आराहणाए सेसस्स चारित्राराहणा भज्जा ॥८॥—चारित्रकी आराधना करनेसे दर्शन, ज्ञान व तप, यह तीनों आराधनाएँ भी हो जाती हैं। परन्तु दर्शनादिकी आराधनासे चारित्रकी आराधना हो या न भी हो।

४. चारित्रसहित ही सम्यक्त्व, ज्ञान व तप सार्थक है

शी.पा./मू./५ णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं। संजमहीणो य तवो तइ चरइ णिरत्थयं सव्वं ॥५॥—चारित्ररहित ज्ञान और सम्यक्त्वरहित लिंग तथा संयमहीन तप ऐसे सबका आचरण निरर्थक है। (मो. पा./मू./५७,५९,९७) (मू. आ./९५०) (अ. आ./मू./७७०/९२१); (आराधनासार/५४/१२१)।

मू.आ./८९७ थोवम्मि सिक्खिदे जिणइ बहुसुदं जो चारित्तं। संपुण्णो जो पुण चरित्तहीणो किं तस्स सुदेण बहुएण ।८९७। =जो मुनि चारित्रसे पूर्ण है, वह थोड़ा भी पढ़ा हुआ हो तो भी दशपूर्वके पाठीको जीत लेता है। (अर्थात् वह तो मुक्ति प्राप्त कर लेता है, और संयमहीन दशपूर्वका पाठी संसारमें ही भटकता है) क्योंकि जो चारित्ररहित है, वह बहुतसे शास्त्रोंका जाननेवाला हो जाये तो भी उसके बहुत शास्त्र पढ़े होनेसे क्या लाभ (मू.आ./८९४)।

भ.आ./मू./१२/५६ चक्खुस्स दंसणस्स य सारो सप्पादिदोसपरिहरणं। चक्खू होइ णिरत्थं दट्ठूण बिले पडंतस्स ।५२।

भ.आ./वि./१२/५६/१७ ननु ज्ञानमिष्टानिष्टमार्गोपदर्शि तथा चोक्तं ज्ञानस्यो-पकारित्वमभिधातुं इति चेन्न ज्ञानमात्रेणेष्टार्थासिद्धिः यतो ज्ञानं प्रवृत्तिहीनं असत्समं। =नेत्र और उससे होनेवाला जो ज्ञान उसका फल सर्पदंश, कंटकव्यथा इत्यादि दुःखोंका परिहार करना है। परन्तु जो बिल आदिक देखकर भी उसमें गिरता है, उसका नेत्र ज्ञान वृथा है ।२। प्रश्न—ज्ञान इष्ट अनिष्ट मार्गको दिखाता है, इसलिए उसको उपकारपना युक्त है (परन्तु क्रिया आदिका उपकारक कहना उपयुक्त नहीं)। उत्तर—यह कहना योग्य नहीं है, क्योंकि ज्ञान मात्रसे इष्ट सिद्धि नहीं होती, कारण कि प्रवृत्ति रहित ज्ञान नहीं हुएके समान है। जैसे नेत्रके होते हुए भी यदि कोई कुएँ में गिरता है, तो उसके नेत्र व्यर्थ हैं।

स.श./८१ शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात्। नात्मानं भाव-येद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक् ।८१। —आत्माका स्वरूप उपाध्याय आदिके मुखसे खूब इच्छानुसार सुननेपर भी, तथा अपने मुखसे दूसरोंको बतलाते हुए भी जबतक आत्मस्वरूपकी शरीरादि पर-पदार्थोंसे भिन्न भावना नहीं की जाती, तबतक यह जीव मोक्षका अधिकारी नहीं हो सकता।

प.प्र./मू./२/८१ बुज्झइ सत्थइं तउ चरइ पर परमत्थु ण वेइ। ताव ण मुंचइ जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ ।८२। —शास्त्रोंको खूब जानता हो और तपस्या करता हो, लेकिन परमात्माको जो नहीं जानता या उसका अनुभव नहीं करता, तबतक वह नहीं छूटता।

स.सा./आ./७२ यत्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति। —यदि आत्मा और आस्रवोंका भेदज्ञान होनेपर भी आस्रवोंसे निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है।

प्र.सा./ता.वृ./२३७ अयं जीवः श्रद्धानज्ञानसहितोऽपि पौरुषस्थानीय-चारित्रबलेन रागादिविकल्परूपादसंयमाद्यपि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं ज्ञानं वा किं कुर्यान्न किमपि। —यह जीव श्रद्धान या ज्ञान सहित होता हुआ भी यदि चारित्ररूप पुरुषार्थके बलसे रागादि विकल्परूप असंयमसे निवृत्त नहीं होता तो उसका वह श्रद्धान व ज्ञान उसका क्या हित कर सकता है। कुछ भी नहीं।

मो.पा./पं. जयचन्द/९८ जो ऐसैं श्रद्धान करै, जो हमारे सम्यक्त्व तो है ही, बाह्य मूलगुण बिगड़ै तौ बिगड़ौ, हम मोक्षमार्गी ही हैं, तौ ऐसे श्रद्धान तै तौ जिनाज्ञा होनेतै सम्यक्त्वका भंग होय है। तब मोक्ष कैसे होय।

शी.पा./पं. जयचन्द/९८ सम्यक्त्व होय तब विषयनितै विरक्त होय ही होय। जो विरक्त न होय तो संसार मोक्षका स्वरूप कहा जानना।

५. चारित्रधारणा ही सम्यग्ज्ञानका फल है

ध.१/१,१,११५/३५३/८ किं तद्ज्ञानकार्यमिति चेत्तत्त्वार्थे रुचिः प्रत्ययः श्रद्धा चारित्रस्पर्शनं च। —प्रश्न—ज्ञानका कार्य क्या है? उत्तर—तत्त्वार्थमें रुचि, निश्चय, श्रद्धा और चारित्रका धारण करना कार्य है।

द्र सं./टी./३६/१५३/५ यस्तु रागादिभेदविज्ञाने जाते सति रागादिकं त्यजति तस्य भेदविज्ञानफलमस्ति। —जो रागादिकका भेद विज्ञान हो जानेपर रागादिकका त्याग करता है, उसे भेद विज्ञानका फल है।

३. चारित्रमें सम्यक्त्वका स्थान

१. सम्यक् चारित्रमें सम्यक् पदका महत्त्व

स.सि./१/१/५/१ अज्ञानपूर्वकाचरणनिवृत्त्यर्थं सम्यग्विशेषणम्। =अज्ञान पूर्वक आचरणके निराकरणके अर्थ सम्यक् विशेषण दिया गया है।

२. चारित्र सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही होता है

स.सा./मू./१८,३४ एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहदव्वो। अणु-चरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ।१८। सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णादूणं। तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वा ।३४। —मोक्षके इच्छुकको पहले जीवराजाको जानना चाहिए, फिर उसी प्रकार उसका श्रद्धान करना चाहिए, और तत्पश्चात् उसका आचरण करना चाहिए ।१८। अपने अतिरिक्त सर्व पदार्थ पर हैं, ऐसा जानकर प्रत्याख्यान करता है, अतः प्रत्याख्यान ज्ञान ही है (पं.का./मू./१०४)।

स.सि./१/१/७/३ चारित्रात्पूर्वं ज्ञानं प्रयुक्तं, तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य। =सूत्रमें चारित्रके पहले ज्ञानका प्रयोग किया है, क्योंकि चारित्र ज्ञानपूर्वक होता है। (रा वा./१/१/३२/९/३२), (पु.सि.उ./३८)।

ध १३/५.५,५०/२८८/६ चारित्राच्छ्रुतं प्रधानमिति अग्र्यम्। कथं तत् श्रुतस्य प्रधानता। श्रुतज्ञानमन्तरेण चारित्रानुपपत्तेः। —चारित्रमे श्रुत प्रधान है, इसलिए उसकी अग्र्य संज्ञा है। प्रश्न—चारित्रसे श्रुतकी प्रधानता किस कारणसे है? उत्तर—क्योंकि श्रुतज्ञानके बिना चारित्र-की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए चारित्रकी अपेक्षा श्रुतकी प्रधानता है।

स.सा./आ./३४ य एव पूर्वं जानाति स एव पश्चात्प्रत्याचष्टे न पुन-रन्य···प्रत्याख्यानं ज्ञानमेव इत्यनुभवनीयम्। —जो पहले जानता है वही त्याग करता है, अन्य तो कोई त्याग करनेवाला नहीं है, इसलिए प्रत्याख्यान ज्ञान ही हो।

३. चारित्र सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है

चा.पा./मू./८ जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ।८।

चा.पा./टी./८/३५/१६ द्वयोर्दर्शनाचारचारित्राचारयोर्मध्ये सम्यक्त्वाचार-चारित्रं प्रथमं भवति। =दर्शनाचार और चारित्राचार इन दोनोंमें सम्यक्त्वाचरण चारित्र पहले होता है।

र.सा./७३ पुव्वं सेवइ मिच्छामलसोहणहेउ सम्मभेसज्जं। पच्छा सेवइ कम्मामयणासणचरियसम्मभेसज्जं ।७३। =भव्य जीवोंको सम्यक्त्व-रूपी रसायन द्वारा पहले मिथ्यामलका शोधन करना चाहिए, पुनः चारित्ररूप औषधका सेवन करना चाहिए। इस प्रकार करनेसे कर्म-रूपी रोग तत्काल ही नाश हो जाता है।

मो.मा./मू./८ तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय। जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ।८। =जिनका सम्यक्त्व विशुद्ध होय ताहि यथार्थ ज्ञान करि आचरण करै, सो प्रथम सम्यक्त्वाचरण चारित्र है, सो मोक्षस्थानके अर्थ होय है ।८।

स.सि./२/३/१५३/७ सम्यक्त्वस्यादौ वचनं, तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य। ='सम्यक्त्वचारित्रे' इस सूत्रमें सम्यक्त्व पदको आदिमें रखा है, क्योंकि चारित्र सम्यक्त्वपूर्वक होता है। (भ.आ./वि./११६/२७३/१०)।

रा.वा./२/३/४/१०५/२१ पूर्वं सम्यक्त्वपर्यायेणाविर्भाव आत्मनस्ततः क्रमाच्चारित्रपर्याय आविर्भवतीति सम्यक्त्वस्यादौ ग्रहणं क्रियते। =पहले औपशमिक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। तत्पश्चात् क्रमसे आत्मामें औपशमिक चारित्र पर्यायका प्रादुर्भाव होता है, इसीसे सम्यक्त्वका ग्रहण सूत्रके आदिमें किया गया है।

पु.सि.उ./२१ तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन। तस्मिन्सत्येव यतो भवति ज्ञानं चारित्रं च ।२१। =इन तीनों (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) के पहले समस्त प्रकारसे सम्यग्दर्शन भले प्रकार अंगीकार करना चाहिए, क्योंकि इसके अस्तित्व होते हुए ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है।

आ.अनु./१२०-१२१ प्राक् प्रकाशप्रधानः स्यात् प्रदीप इव संयमी। पश्चात्तापप्रकाशाभ्यां भास्वानिव हि भासताम् ।१२०। भूत्वा दीपोपमो धीमान् ज्ञानचारित्रभास्वरः। स्वमन्यं भासयत्येष प्रोद्वमत्कर्मकज्जलम् ।१२१। =साधु पहले दीपके समान प्रकाशप्रधान होता है। तत्पश्चात् वह सूर्यके समान ताप और प्रकाश दोनोंसे शोभायमान होता है ।१२०। वह बुद्धिमान साधु (सम्यक्त्व द्वारा) दीपकके समान होकर ज्ञान और चारित्रसे प्रकाशमान होता है, तब वह कर्म रूप काजलको उगलता हुआ स्वके साथ परको प्रकाशित करता है।

४. सम्यक्त्व हो जानेपर पहला ही चारित्र सम्यक् हो जाता है

पं.ध./उ./७६८ अर्थोऽयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानं चारित्रमत्र यत्। भूतपूर्वं भवेत्सम्यक् सूते वाभूतपूर्वकम् ।७६८। =सम्यग्दर्शनके होते ही जो भूतपूर्व ज्ञान व चारित्र था, वह सम्यक् विशेषण सहित हो जाता है। अतः सम्यग्दर्शन अभूतपूर्वके समान ही सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को उत्पन्न करता है, ऐसा कहा जाता है।

५. सम्यक्त्व हो जानेके पश्चात् क्रमशः चारित्र स्वतः हो जाता है

पं.ध./उ./६४० स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्ञानं स्वानुभवाह्वयम्। वैराग्यं भेद-विज्ञानमित्याद्यस्तीह किं बहु ।६४०। =सम्यग्दर्शनके होनेपर आत्मामें प्रत्यक्ष, स्वानुभव नामका ज्ञान, वैराग्य और भेद विज्ञान इत्यादि गुण प्रगट हो जाते हैं।

शी.पा./पं. जयचन्द/४० सम्यक्त्व होय तो विषयनितैं विरक्त होय ही होय। जो विरक्त न होय तौ संसार मोक्षका स्वरूप कहा जान्या?

६. सम्यग्दर्शन सहित ही चारित्र होता है

चा.पा./मू./३ णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं।

मो.पा./मू./२० संजमसंजुत्तस्स य सुज्झाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स। णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं। =ज्ञान और दर्शनके समायोगसे चारित्र होता है ।३। संयम करि संयुक्त और ध्यानके योग्य ऐसा जो मोक्षमार्ग ताका लक्ष्य जो अपना निज स्वरूप सो ज्ञानकरि पाइये है तातै ऐसे लक्ष्यकूं जाननेकूं ज्ञानकूं जानना ।२०।

ध.१२/४,२,७,१७७/८१/१० सो संजमो जो सम्माविणाभावीण अण्णो। तत्थ गुणसेढिणिज्जराकज्जणुवलंभादो। तदो संजमग्गहणादेव सम्मत्त-सहायसंजमसिद्धी जादा। =संयम वही है, जो सम्यक्त्वका अविना-भावी है, अन्य नहीं। क्योंकि, अन्यमें गुणश्रेणी निर्जरारूप कार्य नहीं उपलब्ध होता। इसलिए संयमके ग्रहण करनेसे ही सम्यक्त्व सहित संयमकी सिद्धि हो जाती है।

७. सम्यक्त्व रहितका चारित्र चारित्र नहीं है

स.सि./६/२१/३३६/७ सम्यक्त्वाभावे सति तद्व्यपदेशाभावात्तदुभय-मप्यत्रान्तर्भवति। =सम्यक्त्वके अभावमें सराग संयम और संयमा-संयम नहीं होते, इसलिए उन दोनोंका यहीं (सूत्रके 'सम्यक्त्व' शब्दमें) अन्तर्भाव होता है।

रा.वा./६/२१/२/५२८/४ नासतिसम्यक्त्वे सरागसंयम-संयमासंयम-व्यपदेश इति। =सम्यक्त्वके न होनेपर सरागसंयम और संयमासंयम ये व्यपदेश ही नहीं होता। (पु.सि.उ./३८)।

श्लो.वा./संस्कृत/६/२३/७/पृ.५५६ संसाराद् भीरुताभीक्ष्णं संवेगः। सिद्धयताम् यतः न तु मिथ्यादृशाम्। तेषाम् संसारस्य अप्रसिद्धितः। =बुद्धिमानोंमें ऐसी सम्मति है कि संसारभीरु निरन्तर संविग्न रहता है। परन्तु यह बात मिथ्यादृष्टियोंमें नहीं है। उन बुद्धिमानों-में संसारकी प्रसिद्धि नहीं है।

ध.१/१,१,४/१४४/४ संयमनं संयमः। न द्रव्ययमः संयमस्तस्य 'सं' शब्देनापादितत्वात्। =संयमन करनेको संयम कहते हैं, संयमका इस प्रकार लक्षण करनेपर द्रव्य यम अर्थात् भाव चारित्र शून्य द्रव्य चारित्र संयम नहीं हो सकता। क्योंकि संयम शब्दमें ग्रहण किये गये 'सं' शब्दसे उसका निराकरण कर दिया गया है। (ध.१/१,१,१४/१७७/४)।

प्र.सा./ता.वृ./२३६/३२६/११ यदि निर्दोषिनिजपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यक्त्वं नास्ति तर्हि...पञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषषड्जीव-वधव्यावर्तोऽपि संयतो न भवति। =निर्दोष निज परमानन्द ही उपा-देय है, यदि ऐसा रुचि रूप सम्यक्त्व नहीं है, तब पंचेन्द्रियोंके विषयोंकी अभिलाषाका त्याग रूप इन्द्रिय संयम तथा षट्कायके जीवोंके वधका त्यागरूप प्राणि संयम ही नहीं होता।

मार्गणा—[मार्गणा प्रकरणमें सर्वत्र भाव मार्गणा इष्ट है]।

८. सम्यक्त्वके बिना चारित्र सम्भव नहीं

र.सा./४७ सम्मत्तं विणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइ णियमेण। =सम्य-ग्दर्शनके बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नियम पूर्वक नहीं होते हैं ।४७। (और भी—दे० लिंग/२) (स.सि./६/२१/३३६/७); (रा.वा./६/२१/२/५२८/४)।

ध.१/१,१,१३/१७५/३ तान्यन्तरेणाप्रत्याख्यानस्योत्पत्तिविरोधात्। सम्यक्त्वमन्तरेणापि देशयतयो दृश्यन्त इति चेन्न, निर्गतमुक्तिकाङ्क्ष-स्यानिवृत्तविषयपिपासस्याप्रत्याख्यानानुपपत्तेः।

ध.१/१,१,१३०/३७८/७ मिथ्यादृष्टयोऽपि केचित्संयता दृश्यन्त इति चेन्न, सम्यक्त्वमन्तरेण संयमानुपपत्तेः। =१. औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक इन तीनोंमेंसे किसी एक सम्यग्दर्शनके बिना अप्रत्या-ख्यान चारित्रका (संयमासंयमका) प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। प्रश्न—सम्यग्दर्शनके बिना भी देश संयमी देखनेमें आते हैं? उत्तर—नहीं,

क्योंकि जो जीव मोक्षकी आकांक्षासे रहित हैं, और जिनकी विषय पिपासा दूर नहीं हुई है, उनको अप्रत्याख्यान संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्रश्न—कितने ही मिथ्यादृष्टि संयत देखे जाते हैं? उत्तर—नहीं; क्योंकि सम्यग्दर्शनके बिना संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

भ. आ./वि./८/४१/१७ मिथ्यादृष्टिस्त्वनशनादावुद्यतोऽपि न चारित्रमाराधयति।

भ. आ./वि./११६/२७३/१० न श्रद्धानं ज्ञानं चान्तरेण संयमः प्रवर्तते। अजानतः श्रद्धानरहितस्य चासंयमपरिहारो न संभाव्यते।— १. मिथ्यादृष्टिको अनशनादि तप करते हुए भी चारित्रकी आराधना नहीं होती। २. श्रद्धान और ज्ञानके बिना संयमकी प्रवृत्ति ही नहीं होती, । क्योंकि जिसको ज्ञान नहीं होता, और जो श्रद्धान रहित है, वह असंयमका त्याग नहीं करता है।

प्र. सा./त. प्र./२३६ इह हि सर्वस्यापि···तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणया दृष्ट्या शून्यस्य स्वपरविभागाभावात् कायकषायैः सहैक्यमध्यवसतो··· सर्वतो निवृत्त्यभावात् परमात्मज्ञानाभावाद्···ज्ञानरूपात्मतत्त्वैकाग्र्यप्रवृत्त्यभावाच्च संयम एव न तावत् सिद्ध्येत्।—इस लोकमें वास्तवमें तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षणवाली दृष्टिसे जो शून्य है, उन सभीको संयम ही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि स्वपर विभागके अभावके कारण काया और कषायोंकी एकताका अध्यवसाय करनेवाले उन जीवोंके सर्वतः निवृत्तिका अभाव है, तथापि उनके परमात्मज्ञानके अभावके कारण आत्मतत्त्वमें एकाग्रताकी प्रवृत्तिकेअभावमें संयम ही सिद्ध नहीं होता।

९. सम्यक्त्व शून्य चारित्र मोक्ष व आत्मप्राप्तिका कारण नहीं है

चा॰ पा./मू./१० सम्मत्तचरणभट्टा संजमचरणं चरंति जे वि णरा। अण्णाणणाणमूढा तह वि ण पावंति णिव्वाणं ।१०।—जो पुरुष सम्यक्त्व चरण चारित्र (स्वरूपाचरण चारित्र) करि भ्रष्ट हैं, अर संयम आचरण करें हैं तोऊ ते अज्ञानकरि मूढ दृष्टि भए सन्ते निर्वाणकूं नहीं पावें हैं।

प. प्र./मू./२/८२ बुज्झइ सत्थइँ तउ चरइ पर परमत्थु ण वेइ। ताव ण मुंचइ जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ ।८। —शास्त्रोंको जानता है, तपस्या करता है, लेकिन परमात्माको नहीं जानता, और जबतक पूर्व प्रकारसे उसको नहीं जानता तबतक नहीं छूटता।

यो. सा./अ./२/५० अजीवतत्त्वं न विदन्ति सम्यक् यो जीवत्वाद्विधिनाविभक्तं। चारित्रवंतोऽपि न ते लभन्ते विविक्तमात्मानमपास्तदोषम्।—जो विधि पूर्वक जीव तत्त्वसे सम्यक् प्रकार विभक्त (भिन्न किये गये) अजीव तत्त्वको नहीं जानते वे चारित्रवन्त होते हुए भी निर्दोष परमात्मतत्त्वको नहीं प्राप्त होते।

पं. वि./७/२६/ भाषाकार—मोक्षके अभिप्रायसे धारे गये व्रत ही सार्थक हैं।

दे. मिथ्यादृष्टि/४ (सांगोपांग चारित्रका पालन करते हुए भी मिथ्यादृष्टि मुक्त नहीं होता)।

१०. सम्यक्त्व रहित चारित्र मिथ्या है अपराध है इत्यादि

स. सा./मू./२७३ वदसमिदिगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं। कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छादिट्ठी दु ।२७३।—जिनेन्द्र देवके द्वारा कथित व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तप करता हुआ भी अभव्य जीव अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है। (भ. आ./मू./७७१/९२६)।

मो. पा./मू./१०० जदि पढदि बहुसुदाणि जदि कहिदि बहुविहं य चारित्तं। तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं।—जो आत्म स्वभावसे विपरीत बाह्य बहुत शास्त्रोंको पढेगा और बहुत प्रकारके चारित्रको आचरेगा तो वह सब बालश्रुत व बालचारित्र होगा।

म. पु./२४/१२२ चारित्रं दर्शनज्ञानविकलं नार्थकृन्मतम्। प्रपातायैव तद्धि स्यात् अन्धस्येव विवल्गितम् ।१२२। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे रहित चारित्र कुछ भी कार्यकारी नहीं होता, किन्तु जिस प्रकार अन्धे पुरुषका दौड़ना उसके पतनका कारण होता है उसी प्रकार वह उसके पतनका कारण होता है अर्थात् नरकादि गतियोंमें परिभ्रमणका कारण होता है।

न. च. लघु/८ बुज्झहता जिणवयणं पच्छा णिजकज्जसंजुआ होह। अहवा तंदुलरहियं पलालसंधुणाणं सव्वं।—पहिले जिन-वचनोंको जानकर पीछे निज कार्यसे अर्थात् चारित्रसे संयुक्त होना चाहिए, अन्यथा सर्व चारित्र तप आदि तन्दुल रहित पलाल कूटनेके समान व्यर्थ है।

न. च./श्रुत/पृ. ६२ स्वकार्यविरुद्धा क्रिया मिथ्याचारित्रं।—निजकार्यसे विरुद्ध क्रिया मिथ्याचारित्र है।

स. सा./आ./३०६ अप्रतिक्रमणादिरूपा तृतीया भूमिस्तु···साक्षात्स्वयममृतकुम्भो भवति।···तथैव च निरपराधो भवति चेतयिता। तदभावे द्रव्यप्रतिक्रमणादिरप्यपराध एव।—जो अप्रतिक्रमणादि रूप अर्थात् प्रतिक्रमण आदिके विकल्पोंसे रहित) तीसरी भूमिका है वह स्वयं साक्षात् अमृत कुम्भ है। उससे ही आत्मा निरपराध होता है। उसके अभावमें द्रव्य प्रतिक्रमणादि भी अपराध ही है।

पं. वि./१/७०···दर्शनं यद्विना स्यात्। मतिरपि कुमतिर्नु दुश्चरित्रं चरित्रं ।७०।—वह सम्यग्दर्शन जयवन्त वर्तो, कि जिसके बिना मती भी कुमति है और चारित्र भी दुश्चरित्र है।

ज्ञा./४/२७ में उद्धृत—हतं ज्ञानं क्रिया शून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया। धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पंगुकः।—क्रिया रहित तो ज्ञान नष्ट है और अज्ञानीकी क्रिया नष्ट हुई। देखो दौड़ता दौड़ता तो अन्धा (ज्ञान रहित क्रिया) नष्ट हो गया और देखता देखता पंगुल (क्रिया रहित ज्ञान) नष्ट हो गया।

अन. ध./४/३/२७७ ज्ञानमज्ञानमेव यद्विना सद्दर्शनं यथा। चारित्रमप्यचारित्रं सम्यग्ज्ञानं विना तथा ।२।—जिस प्रकार सम्यग्दर्शनके बिना चारित्र भी अचारित्र ही माना जाता है ।३।

४. निश्चय चारित्रकी प्रधानता

१. शुभ-अशुभसे अतीत तीसरी भूमिका ही वास्तविक चारित्र है

स.सा./आ/३०६ यस्तावदज्ञानिजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादिः स शुद्धात्मसिद्ध्यभावस्वभावत्वेन स्वमेवापराधत्वाद्विषकुम्भ एव; किं तस्य विचारेण। यस्तु द्रव्यरूपः प्रक्रमणादिः स सर्वापराधदोषापकर्षणसमर्थत्वेनामृतकुम्भोऽपि प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणादिविलक्षणाप्रतिक्रमणादिरूपां तार्तीयिकीं भूमिमपश्यतः स्वकार्याकारित्वाद्विषकुम्भ एव स्यात्। अप्रतिक्रमणादिरूपा तृतीया भूमिस्तु स्वयं शुद्धात्मसिद्धिरूपत्वेन सर्वापराधविषदोषाणां सर्वंकषत्वात् साक्षात्स्वयममृतकुम्भो भवतीति।—प्रथम तो अज्ञानी जनसाधारणके प्रतिक्रमणादि (असंयमादि) हैं वे तो शुद्धात्माकी सिद्धिके अभावरूप स्वभाववाले हैं; इसलिए स्वयमेव अपराध रूप होनेसे विषकुम्भ ही हैं; उनका विचार यहाँ करनेसे प्रयोजन ही क्या?—और जो द्रव्य प्रतिक्रमणादि हैं वे सब अपराधरूपी विषके दोषको (क्रमशः) कम करनेमें समर्थ होनेसे यद्यपि व्यवहार आचारशास्त्रके अनुसार अमृत कुम्भ है तथापि प्रतिक्रमण अप्रतिक्रमणादिसे विलक्षण (अर्थात् प्रतिक्रमणादिके विकल्पोंसे दूर और लौकिक असंयमके भी अभाव स्वरूप पूर्ण ज्ञाता द्रष्टा भावस्वरूप निर्विकल्प समाधि दशारूप) जो तीसरी साम्य भूमिका है, उसे न देखनेवाले पुरुषको वे द्रव्य प्रतिक्रमणादि (अपराध काटनेरूप) अपना कार्य करनेको असमर्थ होनेसे और

विपक्ष (अर्थात् बन्धका) कार्य करते होनेसे विषकुम्भ ही हैं।—जो अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमि है वह स्वयं शुद्धात्माकी सिद्धिरूप होनेके कारण समस्त अपराधरूपी विषके दोषोंको सर्वथा नष्ट करनेवाली होनेसे, साक्षात् स्वयं अमृत कुम्भ है।

२. चारित्र वास्तवमें एक ही प्रकारका है

प. प्र./टी./२/६७ उपेक्षासंयमापहृतसंयमौ वीतरागसरागापरनामानौ तावपि तेषामेव (शुद्धोपयोगिनामेव) संभवतः। अथवा सामायिकछेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातभेदेन पञ्चधा संयमः सोऽपि लभ्यते तेषामेव।…येन कारणेन पूर्वोक्ता संयमादयो गुणाः शुद्धोपयोगे लभ्यन्ते तेन कारणेन स एव प्रधान उपादेयः।" —उपेक्षा संयम या वीतराग चारित्र और अपहृत संयम या सराग चारित्र ये दोनों भी एक उसी शुद्धोपयोगमें प्राप्त होते हैं। अथवा सामायिकादि पाँच प्रकारके संयम भी उसीमें प्राप्त होते हैं। क्योंकि उपरोक्त संयमादि समस्त गुण एक शुद्धोपयोगमें प्राप्त होते हैं, इसलिए वही प्रधानरूपसे उपादेय है।

प्र. सा./ता. वृ./११/१३/१६ धर्मशब्देनाहिंसालक्षणः सागारानागाररूपस्तथोत्तमक्षमादिलक्षणो रत्नत्रयात्मको वा, तथा मोहक्षोभरहित आत्मपरिणामः शुद्धवस्तुस्वभावश्चेति गृह्यते। स एव धर्मः पर्यायान्तरेण चारित्रं भण्यते। —धर्म शब्दसे—अहिंसा लक्षणधर्म, सागार-अनागारधर्म, उत्तमक्षमादिलक्षणधर्म, रत्नत्रयात्मकधर्म, तथा मोह क्षोभ रहित आत्माका परिणाम या शुद्ध वस्तु स्वभाव ग्रहण करना चाहिए। वह ही धर्म पर्यायान्तर शब्द द्वारा चारित्र भी कहा जाता है।

३. निश्चय चारित्रसे ही व्यवहार चारित्र सार्थक है, अन्यथा वह अचारित्र है

प्र. सा./मू./७९ चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि। ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं।७९। —पापारम्भको छोड़कर शुभ चारित्रमें उद्यत होनेपर भी यदि जीव मोहादिको नहीं छोड़ता है तो वह शुद्धात्माको नहीं प्राप्त होता है।

नि. सा./मू./१४४ जो चरदि संजदो खलु सुहभावो सो हवेइ अण्णवसो। तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे।१४४। —जो जीव संयत रहता हुआ वास्तवमें शुभभावमें प्रवर्तता है, वह अन्यवश है। इसलिए उसे आवश्यक स्वरूप कर्म नहीं है।१४४। (नि. सा./ता. वृ./१४८)

स. सा./मू./१५२ परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई। तं सव्वं बालतवं बालवदं बिंति सव्वण्हू।१५२। —परमार्थमें अस्थित जो जीव तप करता है और व्रत धारण करता है, उसके उन सब तप और व्रतको सर्वज्ञदेव बालतप और बालव्रत कहते हैं।

र. सा./७१ उवसमभवभावजुदो णाणी सो भावसंजदो होई। णाणी कसायवसगो असंजदो होइ स ताव।७१। —उपशम भावसे धारे गये व्रतादि तो संयम भावको प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु कषाय वश किये गये व्रतादि असंयम भावको ही प्राप्त होते हैं। (प. प्र./मू./२/४१)

मू. आ./९९५ भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुगई होई। विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी।९९५। —जो अन्तरंगमें विरक्त है वही विरक्त है, बाह्य वृत्तिसे विरक्त होनेवालेकी शुभ गति नहीं होती। इसलिए मनरूपी हाथीको जो कि क्रीड़ावनमें लंपट है रोकना चाहिए।९९५।

प. प्र./मू./२/६६ वंदिउ णिंदउ पडिकमउ भाउ असुद्धउ जासु। पर तसु संजमु अत्थि णवि जं मणसुद्धि ण तासु।६६। —निःशंक वन्दना करो, निन्दा करो, प्रतिक्रमणादि करो लेकिन जिसके जबतक अशुद्ध परिणाम है, उसके नियमसे संयम नहीं हो सकता।६६।

स. सा./आ./२७७ शुद्ध आत्मैव चारित्रस्याश्रयः षड्जीवनिकायसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव चारित्रस्य सद्भावात्।

स. सा./आ./२७३ निश्चयचारित्रोऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिरेव निश्चयचारित्रहेतुभूतज्ञानश्रद्धानशून्यत्वात्। —शुद्ध आत्मा ही चारित्रका आश्रय है, क्योंकि छह जीव निकायके सद्भावमें या असद्भावमें उसके सद्भावसे ही चारित्रका सद्भाव होता है।२७७। —निश्चय चारित्रका अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है, क्योंकि वह निश्चय चारित्रके ज्ञान श्रद्धानसे शून्य है।

स. सा./आ./३०६ अप्रतिक्रमणादितृतीयभूमिस्तु … साक्षात्स्वयममृतकुम्भो भवतीति व्यवहारेण द्रव्यप्रतिक्रमणादेरपि अमृतकुम्भत्वं साधयति।…तदभावे द्रव्यप्रतिक्रमणादिरप्यपराध एव। —अप्रतिक्रमणादिरूप जो तीसरी भूमि है, वही स्वयं साक्षात् अमृतकुम्भ होती हुई, द्रव्यप्रतिक्रमणादिको अमृत कुम्भपना सिद्ध करती है। अर्थात् विकल्पात्मक दशामें किये गये द्रव्यप्रतिक्रमणादि भी तभी अमृतकुम्भरूप हो सकते हैं जब कि अन्तरंगमें तीसरी भूमिका अंश या झुकाव विद्यमान हो। उसके अभावमें द्रव्य प्रतिक्रमणादि भी अपराध हैं।

प्र. सा./त. प्र./२४१ ज्ञानात्मन्यात्मन्यचलितवृत्तेर्यत्किल सर्वतः साम्यं तत्सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यस्य संयतस्य लक्षणमालक्षणीयम्। —ज्ञानात्मक आत्मामें जिसकी परिणति अचलित हुई है, उस पुरुषको वास्तवमें जो सर्वतः साम्य है, सो संयतका लक्षण समझना चाहिए, कि जिस संयतके आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान संयतत्वकी युगपतताके साथ आत्म ज्ञानकी युगपतता सिद्ध हुई है।

ज्ञा./२२/१४ मनःशुद्ध्यैव शुद्धिः स्याद्देहिनां नात्र संशयः। वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम्।१४। —निःसन्देह मनकी शुद्धिसे ही जीवोंके शुद्धता होती है, मनकी शुद्धिके बिना केवल कायको क्षीण करना वृथा है।

दे. चारित्र/३/८ (मिथ्यादृष्टि संयत नहीं हो सकता)।

४. निश्चय चारित्र वास्तवमें उपादेय है

ति. प./९/२३ णाणम्मि भावना खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य। ते पुण आदा तिण्णि वि तम्हा कुण भावणं आदे।२३। —ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें भावना करना चाहिए, चूँकि वे तीनों आत्मस्वरूप हैं, इसलिए आत्मामें भावना करो।

प. सा./त. प्र./६ मुमुक्षुणेष्टफलत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयम्। —मुमुक्षु जनोंको इष्ट फल रूप होनेके कारण वीतरागचारित्र उपादेय है। (प्र. सा./त. प्र./५, ११) (नि. सा./ता. वृ./१०५)।

पं. ध./उ./७६१ नासौ वरं वरं यः स नापकारोपकारकृत्। —यह (शुभोपयोग बन्धका कारण होनेसे) उत्तम नहीं है, क्योंकि जो उपकार व अपकार करनेवाला नहीं है, ऐसा साम्य या शुद्धोपयोग ही उत्तम है।

५. व्यवहार चारित्रकी गौणता

१. व्यवहार चारित्र वास्तवमें चारित्र नहीं

प्र. सा./त. प्र./२०२ अहो मोक्षमार्गप्रवृत्तिकारणपञ्चमहाव्रतोपेतकायवाङ्मनोगुप्तीर्याभाषैषणादाननिक्षेपणप्रतिष्ठापनलक्षणचारित्राचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि। —अहो! मोक्षमार्गमें प्रवृत्तिके कारणभूत पंच महाव्रत सहित मनवचनकाय-गुप्ति और ईर्यादि समिति रूप चारित्राचार! मैं यह निश्चयसे जानता हूँ कि तू शुद्धात्माका नहीं है!

पं. ध./उ./७६० रूढेः शुभोपयोगोऽपि ख्यातश्चारित्रसंज्ञया। स्वार्थक्रियामकुर्वाणः सार्थनामा न निश्चयात् ।७६०। —यद्यपि लोकरूढिसे शुभोपयोगको चारित्र नामसे कहा जाता है, परन्तु निश्चयसे वह चारित्र स्वार्थ क्रियाको नहीं करनेसे अर्थात् आत्मलीनता अर्थका धारी न होनेसे अन्वर्थनामधारी नहीं है।

२. व्यवहार चारित्र वृथा व अपराध है

न.च.वृ./३४५ आलोयणादि किरिया जं विसकुंभेत्ति सुद्धचरियस्स। भणियमिह समयसारे तं जाण एएण अत्थेण। —आलोचनादि क्रियाओंको समयसार ग्रन्थमें शुद्धचारित्रवान्‌के लिए विषकुम्भ कहा है, ऐसा तू श्रुतज्ञान द्वारा जान (स. सा./आ./३०६); (नि.सा./ता.वृ./१६२); (नि. सा./ता. वृ./१०६/ कलश १५१) और भी दे० चारित्र/४,२।

यो. सा./अ./६/३९ रागद्वेषप्रवृत्तस्य प्रत्याख्यानादिकं वृथा। रागद्वेषाप्रवृत्तस्य प्रत्याख्यानादिकं वृथा। —राग-द्वेष करके जो युक्त है उनके लिए प्रत्याख्यानादिक करना व्यर्थ है। और राग-द्वेष करके जो रहित हैं उनको भी प्रत्याख्यानादिक करना व्यर्थ है।

३. व्यवहार चारित्र बन्धका कारण है

रा. वा./८/ उत्थानिका/५६१/१३ षष्ठसप्तमयोः विविधफलानुग्रहतन्त्रास्रवप्रकरणवशात् सप्रपञ्चमात्मनः कर्मबन्धहेतवो व्याख्याताः। —विविध प्रकारके फलोंको प्रदान करनेवाले आस्रव होनेके कारण, जिनका छठे सातवें अध्यायमें विस्तारसे वर्णन किया गया है वे (व्रतादि भी) आत्माको कर्मबन्धके हेतु हैं।

क. पा./१/१-१/§३/८/७ पुण्णबंधहेउत्तं पडिविसेसाभावादो। —देशव्रत और सरागसंयममें पुण्यबन्धके कारणोंके प्रति कोई विशेषता नहीं है।

त. सा./४/१०१ हिंसानृतचुराब्रह्मसंगसंन्यासलक्षणम्। व्रतं पुण्यास्रवोत्थानं भावेनेति प्रपञ्चितम् ॥१०॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहके त्यागको व्रत कहते हैं, ये व्रत पुण्यास्रवके कारणरूप भाव समझने चाहिए।

प्र. सा./त. प्र./५ जीवत्कषायकणतया पुण्यबन्धसंप्राप्तिहेतुभूतं सरागचारित्रम्। —जिसमें कषायकण विद्यमान होनेसे जीवको जो पुण्य बन्धकी प्राप्तिका कारण है ऐसे सराग चारित्रको–(प्र. सा./त. प्र./६)

द्र. सं./टी./३८/१५८/२ पुण्यं पापं च भवन्ति खलु स्फुटं जीवा.। कथंभूताः सन्तः...पञ्चव्रतरक्षां कोपचतुष्कस्य निग्रहं परमम्। दुर्दान्तेन्द्रियविजयं तपःसिद्धिविधौ कुरूद्योगम् ॥२॥ इत्यार्याद्वयकथितलक्षणेन शुभोपयोगपरिणामेन तद्विलक्षणा शुभोपयोगपरिणामेन च युक्ताः परिणताः। —कैसे होते हुए जीव पुण्य-पापको धारण करते हैं। 'पंचमहाव्रतोंका पालन करो, क्रोधादि कषायोंका निग्रह करो और प्रबल इन्द्रिय शत्रुओंको विजय करो तथा बाह्य व अभ्यन्तर तपको सिद्ध करनेमें उद्योग करो इस आर्या छन्दमें कहे अनुसार शुभाशुभ उपयोग रूप परिणामसे युक्त जीव हैं वे पुण्य-पापको धारण करते हैं।

पं. ध./उ./७६२ विरुद्धकार्यकारित्वं नास्त्यसिद्धं विचारणात्। बन्धस्यैकान्ततो हेतुः शुद्धादन्यत्र संभवात्। —नियमसे शुद्ध क्रियाको छोड़कर शेष क्रियाएँ बन्धकी ही जनक होती हैं, इस हेतुसे विचार करनेपर इस शुभोपयोगको विरुद्ध कार्यकारित्व असिद्ध नहीं है।

४. व्यवहार चारित्र निर्जरा व मोक्षका कारण नहीं

पं. ध./उ./७६३ नोह्यं प्रज्ञापराधत्वं निर्जराहेतुरंशतः। अस्ति नाबन्धहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहात्। —बुद्धिकी मन्दतासे यह भी आशंका नहीं करनी चाहिए कि शुभोपयोग एक देशसे निर्जराका कारण हो सकता है, कारण कि निश्चयनयसे शुभोपयोग भी संसारका कारण होनेसे निर्जरादिकका हेतु नहीं हो सकता है।

५. व्यवहार चारित्र विरुद्ध व अनिष्टफल प्रदायी है

प्र. सा./त. प्र./६,११ अनिष्टफलत्वात्सरागचारित्रं हेयम् ।६। यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या संगच्छते तदा सप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणासमर्थः कथंचिद्विरुद्धकार्यकारिचारित्रः शिखितप्तघृतोपसिक्तपुरुषो दाहदुःखमिव स्वर्गसुखबन्धमवाप्नोति ॥११॥ —अनिष्ट फलप्रदायी होनेसे सराग चारित्र हेय है ॥६॥ जो वह धर्म परिणत स्वभाव वाला होनेपर भी शुभोपयोग परिणतिके साथ युक्त होता है, तब जो विरोधी शक्ति सहित होनेसे स्वकार्य करनेमें असमर्थ है, और कथंचित् विरुद्ध कार्य (अर्थात् बन्धको) करनेवाला है ऐसे चारित्रसे युक्त होनेसे, जैसे अग्निसे गर्म किया घी किसी मनुष्यपर डाल दिया जाये तो वह उसकी जलनसे दुःखी होता है, उसी प्रकार वह स्वर्ग सुखके बन्धको प्राप्त होता है। (पं. का./त. प्र./१६४); (नि. सा./ता. वृ./१४७)।

६. व्यवहार चारित्र कथंचित् हेय है

भा. पा./मू./९० भंजसु इंदियसेणं भंजसु मणमक्कडं पयत्तेण। मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस तं कुणसु ॥९०॥ —इन्द्रियोंकी सेनाको भजनकर, मनरूपी बन्दरको वशकर, लोकरञ्जक बाह्य वेष मत धारण कर।

स. श./मू./८३ अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः। अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥८३॥ हिंसादि पाँच अव्रतोंसे पाँच पापका और अहिंसादि पाँच व्रतोंसे पुण्यका बन्ध होता है। पुण्य और पाप दोनों कर्मोंका विनाश मोक्ष है, इसलिए मोक्षके इच्छुक भव्य पुरुषको चाहिए कि अव्रतोंकी तरह व्रतोंको भी छोड़ दे।—(दे० चारित्र/४/१); (ज्ञा./३२/८७); (द्र. सं./टी./५७/२२६/५)

न.च.वृ./३८१ णिच्छयदो खलु मोक्खो बन्धो ववहारचारिणो जम्हा। तम्हा णिव्वुदिकायो ववहारो चयदु तिविहेण ॥३८१॥ —निश्चय चारित्रसे मोक्ष होता है और व्यवहार चारित्रसे बन्ध। इसलिए मोक्षके इच्छुकको मन, वचन, कायसे व्यवहार छोड़ना चाहिए।

प्र. सा./त. प्र./६ अनिष्टफलत्वात्सरागचारित्रं हेयम्। —अनिष्ट फल वाला होनेसे सराग चारित्र हेय है।

नि. सा./ता. वृ./१४७/क. २५५ यद्येवं चरणं निजात्मनियतं संसारदुःखापहं, मुक्तिश्रीललनासमुद्भवसुखस्योच्चैरिदं कारणम्। बुद्ध्वेत्थं समयस्य सारमनघं जानाति यः सर्वदा, सोऽयं त्यक्तक्रियो मुनिपतिः पापाटवीपावकः ॥२५५॥ —जिनात्मनियत चारित्रको, संसारदुःख नाशक और मुक्ति श्रीरूपी सुन्दरीसे उत्पन्न अतिशय सुखका कारण जानकर, सदैव समयसारको ही निष्पाप माननेवाला, बाह्य क्रियाको छोड़नेवाला मुनिपति पापरूपी अटवीको जलानेवाला होता है।२५५।

६. व्यवहार चारित्रकी कथंचित् प्रधानता

१. व्यवहार चारित्र निश्चयका साधन है

न. च. वृ./३२६ णिच्छय सज्झसरूवं सराय तस्सेव साहणं चरणं। —निश्चय चारित्र साध्य स्वरूप है और सराग चारित्र उसका साधन है। (द्र. सं./टी./४५-४६ की उत्थानिका १६४, १६७)

२. व्यवहार चारित्र निश्चयका या मोक्षका परम्परा कारण है

द्र. सं./टी./४५/१६४ की उत्थानिका—वीतरागचारित्रस्य पारम्पर्येण साधकं सरागचारित्रं प्रतिपादयति। —वीतराग चारित्रका परम्परा साधक सराग चारित्र है। उसका प्रतिपादन करते हैं।

प्र. सा./ता. वृ./६/८/१ सरागचारित्रात् ··· मुख्यवृत्त्या विशिष्टपुण्यबन्धो भवति, परम्परया निर्वाणं चेति। – सराग चारित्रसे मुख्य वृत्तिसे विशिष्ट पुण्यका बन्ध होता है और परम्परासे निर्वाण भी। देखो धर्म ७/११ परम्परा कारण कहनेका प्रयोजन।

३. दीक्षा धारण करते समय पंचाचार अवश्य धारण किया जाता है

प्र. सा./मू./२०२ आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं। आसिज्ज णाणदंसणचारित्ततववीरियायारं ।२०२। – (श्रामण्यार्थी) बन्धुवर्गसे विदा माँगकर बड़ोंसे तथा स्त्रीसे और पुत्रसे मुक्त होता हुआ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारको अंगीकार करके···

४. व्यवहारपूर्वक ही निश्चय चारित्रकी उत्पत्तिका क्रम है

स. श./मू./८६, ८७ अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः। त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ।८४। अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायण.। परात्मज्ञानसंपन्न. स्वयमेव परो भवेत्। – हिंसादि पाँच अव्रतोंको छोड़कर अहिंसादि पाँच व्रतोंमें निष्ठ हो, पीछे आत्माके राग-द्वेषादि रहित परम वीतराग पदको प्राप्त करके उन व्रतोंको भी छोड़ देवे ।८४। अव्रतोंमें अनुरक्त मनुष्यको ग्रहण करके अव्रतावस्थामें होनेवाले विकल्पोंका नाश करे और फिर अरहन्त अवस्थामें केवलज्ञानसे युक्त होकर स्वयं ही बिना किसीके उपदेशके सिद्धपदको प्राप्त करे ।८६।

५. तीर्थंकरों व भरत चक्रीने भी चारित्र धारण किया था

मो. पा./मू./६० धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं। णाऊण धुवं उज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ।६०। – देखो – जिसको नियमसे मोक्ष होनी है और चार ज्ञान करि युक्त है, ऐसा तीर्थंकर भी तपश्चरण करे है। ऐसा निश्चय करके ज्ञान युक्त होते हुए भी तप करना योग्य है।

द्र. सं./टी./५७/२३१ योऽपि घटिकाद्वयेन मोक्षं गतो भरतचक्री सोऽपि जिनदीक्षां गृहीत्वा विषयकषायनिवृत्तिरूपं क्षणमात्रं व्रतपरिणामं कृत्वा पश्चाच्छुद्धोपयोगत्वरूपरत्नत्रयात्मके निश्चयव्रताभिधाने वीतरागसामायिकसंज्ञे निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा केवलज्ञानं लब्धवानिति। परं किन्तु तस्य स्तोककालत्वाल्लोका व्रतपरिणामं न जानन्तीति। – जो दीक्षाके पश्चात् दो घड़ी कालमें भरतचक्रीने मोक्ष प्राप्त की है, उन्होंने भी जिन दीक्षा ग्रहण करके, थोड़े समय तक विषय और कषायोंकी निवृत्तिरूप जो व्रतका परिणाम है उसको करके तदनन्तर शुद्धोपयोगरूप, रत्नत्रय स्वरूप निश्चय व्रत नामक वीतराग सामायिक नाम धारक निर्विकल्प ध्यानमें स्थित होकर केवलज्ञानको प्राप्त हुए हैं। किन्तु भरतके जो थोड़े समय व्रत परिणाम रहा, इस कारण लोक उनके व्रत परिणामको जानते नहीं हैं। (प. प्र./टी./२/५२/१७४/२)

६. व्यवहार चारित्रमें गुणश्रेणी निर्जरा

क.पा.१/१-१/§३/६/१ सरागसंजमो गुणसेढिणिज्जराए कारणं तेण बंधादो मोक्खो असंखेज्जगुणो त्ति सरागसंजमे मुणीणं वट्टणं जुत्तमिदि ण पच्चवट्ठमाणं कायव्वं। अरहंतणमोक्कारो संपहियबंधादो असंखेज्जगुणकम्मक्खयकारओ त्ति तत्थ वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो। – यदि कहा जाय कि सराग संयम गुणश्रेणी निर्जराका कारण है, क्योंकि, उससे बन्धकी अपेक्षा मोक्ष अर्थात् कर्मोंकी निर्जरा असंख्यात गुणी होती है, अतः अर्हंत नमस्कारकी अपेक्षा सराग संयममें ही मुनियोंकी प्रवृत्तिका होना योग्य है, सो ऐसा भी निश्चय नहीं करना चाहिए, क्योंकि अर्हन्त नमस्कार तत्कालीन बन्धकी अपेक्षा असंख्यात गुणी कर्म निर्जराका कारण है, इसलिए सराग संयमके समान उसमें भी मुनियोंकी प्रवृत्ति प्राप्त होती है।

७. व्यवहार चारित्रकी इष्टता

मो.पा./मू.२५ वरवयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं। छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ।२५। – व्रत और तपसे स्वर्ग होता है और अव्रत व अतपसे नरकादि गतिमें दुख होते हैं। इसलिए व्रत श्रेष्ठ है और अव्रत श्रेष्ठ नहीं है। जैसे कि छाया व आतपमें खड़े होनेवालेके प्रतिपालक कारणोंमें बड़ा भेद है (इ.उ./मू ३)।

प्र.सा./त.प्र./२०२ अहो मोक्षमार्गप्रवृत्तिकारण···चारित्रचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धात्मानमुपलभे। – अहो! मोक्षमार्गमें प्रवृत्तिके कारणभूत (महाव्रत समिति गुप्तिरूप १३ विध) चारित्राचार! मैं यह निश्चयसे जानता हूँ कि तू शुद्धात्माका नहीं, तथापि तुझे तभी तक अंगीकार करता हूँ, जब तक कि तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको उपलब्ध कर लूँ।

सा ध./२/७७ यावन्न सेव्या विषयास्तावत्तानप्रवृत्तितः। व्रतयेत्सव्रतो दैवान्मृतोऽमुत्र सुखायते ।७७। – पंचेन्द्रिय सम्बन्धी स्त्री आदिक विषय जब तक या जबसे सेवनमें आना शक्य न हो तब तक या तबसे उन विषयोंको फिरसे उन विषयोंमें प्रवृत्ति न होनेके समय तक छोड़ देना चाहिए। क्योंकि व्रत सहित मरा हुआ व्यक्ति परलोकमें सुखी होता है।

प.प्र./टी./२/५२/१७४/१ कश्चिदाह। व्रतेन किं प्रयोजनमात्मभावनया मोक्षो भविष्यति। भरतेश्वरेण किं व्रतं कृतम्। घटिकाद्वयेन मोक्षं गत इति। अथ परिहारमाह।···अथेदं मतं वयमपि तथा कुर्मोऽवसानकाले। नैवं वक्तव्यम्। यद्येकस्यान्धस्य कथंचिन्निधानलाभो जातस्तर्हि किं सर्वेषां भवतीति भावार्थः। – प्रश्न – व्रतसे क्या प्रयोजन। भावना मात्रसे मोक्ष हो जायेगी। क्या भरतेश्वरने व्रत धारण किये थे। उसे दो घड़ीमें बिना व्रतोंके ही मोक्ष हो गयी? उत्तर – भरतेश्वरने भी व्रत अवश्य धारण किये थे पर स्तोक काल होनेसे उसका पता न चला (दे० चारित्र ६/५) प्रश्न – तब तो हम भी मरण समय थोड़े कालके लिए व्रत धारण कर लेंगे? उत्तर – यदि किसी अन्धेको किसी प्रकार निधिका लाभ हो जाय तो क्या सबको हो जायेगा।

८. मिथ्यादृष्टियोंका चारित्र भी कथंचित् चारित्र है

रा.वा./७/२१/२५/५४९/३३ एवं च कृत्वा अभव्यस्यापि निर्ग्रन्थलिङ्गधारिणः एकादशाङ्गाध्यायिनो महाव्रतपरिपालनाद्देशसंयतसंयताभावस्यापि उपरिमग्रैवेयकविमानवासितोपपन्ना भवति। – इसलिए निर्ग्रन्थ लिंगधारी और एकादशांगपाठी अभव्यकी भी बाह्य महाव्रत पालन करनेसे देशसंयत भाव और संयतभावका अभाव होनेपर भी उपरिम ग्रैवेयक तक उत्पत्ति बन जाती है।

ध.६/१,९-९,१३२/४६५/८ उवरि किण्ण गच्छंति। ण तिरिक्खसम्माइट्ठीसु संजमाभावा। संजमेण विणा ण च उवरि गमणमत्थि। ण मिच्छाइट्ठीहि तत्थुप्पज्जंतेहि विउचारो, तेसि पि भावसंजमेण विणा दव्वसंजमस्स संभवा। – प्रश्न – संख्यात वर्षायुष्क असंयत सम्यग्दृष्टि मरकर आरण अच्युत कल्पसे ऊपर क्यों नहीं जाते? उत्तर – नहीं, क्योंकि तिर्यंच सम्यग्दृष्टि जीवोंमें असंयमका अभाव पाया जाता है, और संयमके बिना आरण अच्युत कल्पसे ऊपर गमन

होता नहीं है। इस कथनसे आरण अच्युत कल्पसे ऊपर उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवोंके साथ व्यभिचार दोष भी नहीं आता, क्योंकि उन मिथ्यादृष्टियोंके भी भाव संयम रहित द्रव्य संयम पाया जाता है।

गो.क./जी.प्र./८०७/९८३/१३ यः सम्यग्दृष्टिर्जीवः स केवलं सम्यक्त्वेन साक्षादणुव्रतमहाव्रतैर्वा देवायुर्बध्नाति। यो मिथ्यादृष्टिर्जीवः स उपचाराणुव्रतमहाव्रतैर्बालतपसा अकामनिर्जरया च देवायुर्बध्नाति। —सम्यग्दृष्टि जीव तो केवल सम्यक्त्व द्वारा अथवा साक्षात् अणुव्रत व महाव्रतों द्वारा देवायु बाँधता है, और मिथ्यादृष्टि जीव उपचार अणुव्रत महाव्रतों द्वारा अथवा बालतप और अकामनिर्जरा द्वारा देवायु बाँधता है (और भी दे० आयु/३/११)।

७. निश्चय व्यवहार चारित्र समन्वय

१. निश्चय चारित्रकी प्रधानताका कारण

न.च.वृ./३४४,३६६ जह सुह णासइ असुहं तहवासुद्धं सुद्धेण खलु चरिए। तम्हा सुद्धुवजोगी मा वट्टउ णिंदणादीहिं।३४४। असुद्धसंवेयणेण अप्पा बंधेइ कम्मणोकम्मसुद्धसंवेयणेण अप्पा मुंचेइ कम्मं णोकम्मं।३६६। —जिस प्रकार शुभोपयोगसे अशुभोपयोगका नाश होता है उसी प्रकार शुद्ध चारित्रसे अशुद्धका नाश होता है, इसलिए शुद्धोपयोगीको आलोचना, निन्दा, गर्हा आदि करनेकी कोई आवश्यकता नहीं।१४४। अशुद्ध संवेदनसे आत्मा कर्म व नोकर्मका बन्ध करता है, और शुद्ध संवेदनसे कर्म व नोकर्मसे छूटता है।३६६।

२. व्यवहार चारित्रके निषेधका कारण व प्रयोजन

प.प्र./टी./२/५२ में उद्धृत—रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम्। तौ च बाह्यार्थसंबन्धौ तस्मात्तांस्तु परित्यजेत्। —राग और द्वेष दोनों प्रवृत्तियाँ है तथा इनका निषेध वह निवृत्ति है। ये दोनों (राग व द्वेष) अपने नहीं हैं, अन्य पदार्थके सम्बन्धसे हैं। इस लिए इन दोनोंको छोड़ो।

द्र.सं./टी./४५-४६/१९६,१९७ पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिरूपमप्यपहृतसंयमाख्यं शुभोपयोगलक्षणं सरागचारित्राभिधानं भवति।४५-१९६। बहिर्विषये शुभाशुभवचनकायव्यापाररूपस्य तथैवाभ्यन्तरे शुभाशुभमनोविकल्परूपस्य च क्रियाव्यापारस्य योऽसौ निरोधस्त्यागः स च किमर्थं···संसारस्य व्यापारकारणभूतो योऽसौ शुभाशुभकर्मास्रवस्तस्य प्रणाशार्थम्। —पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति रूप, अपहृत संयम नामवाला शुभोपयोग लक्षण सराग चारित्र होता है। प्रश्न—बाह्य विषयोंमें शुभ व अशुभ वचन व कायके व्यापार रूप और इसी तरह अन्तरंगमें शुभ-अशुभ मनके विकल्प रूप क्रियाके व्यापारका जो निरोध है, वह किस लिए है? उत्तर—संसारके व्यापारका कारणभूत शुभ अशुभ कर्मास्रव, उसके विनाशके लिए है।

द्र.सं./टी./५७/२३०/२ अयं तु विशेष :—व्यवहाररूपाणि यानि प्रसिद्धान्येकदेशव्रतानि तानि त्यक्तानि। यानि पुनः सर्वशुभाशुभनिवृत्तिरूपाणि निश्चयव्रतानि तानि त्रिगुप्तिलक्षणस्वशुद्धात्मसंवित्तिरूपनिर्विकल्पध्याने स्वीकृतान्येव न च त्यक्तानि। —व्रतोंके त्यागमें यह विशेष है कि ध्यानावस्थामें व्यवहार रूप प्रसिद्ध एकदेश व्रतोंका अर्थात् महाव्रतोंका (दे० व्रत) त्याग किया है। किन्तु समस्त त्रिगुप्तिरूप स्व-शुद्धात्मरूप निर्विकल्प ध्यानमें शुभाशुभकी निवृत्तिरूप निश्चय व्रत स्वीकार किये गये हैं। उनका त्याग नहीं किया गया है।

३. व्यवहारको निश्चय चारित्रका साधन कहनेका कारण

द्र.सं./टी./४५-४६/१९६/१० (व्रत समिति आदि) शुभोपयोगलक्षणं सरागचारित्राभिधानं भवति। तत्र योऽसौ बहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयपरित्यागः स उपचरितासद्भूतव्यवहारेण, यच्चाभ्यन्तररागादिपरिहारः स पुनरशुद्धनिश्चयनयेनेति नयविभागो ज्ञातव्यः। एवं निश्चयचारित्रसाधकं व्यवहारचारित्रं व्याख्यातमिति। तेनैव व्यवहारचारित्रेण साध्यं परमोपेक्षा लक्षणशुद्धोपयोगाविनाभूतं परमं सम्यक्चारित्रं ज्ञातव्यम्। —(व्रत समिति आदि) शुभोपयोग लक्षणवाला सराग चारित्र होता है। (उसमें युगपत् दो अंग प्राप्त हैं—एक बाह्य और एक आभ्यन्तर) तहाँ बाह्य विषयोंमें पाँचों इन्द्रियोंके विषयादिका त्याग है सो उपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे चारित्र है। और जो अन्तरंगमें रागादिकका त्याग है वह अशुद्ध निश्चय नयसे चारित्र है। इस तरह नय विभाग जानना चाहिए। ऐसे निश्चय चारित्रको साधनेवाले व्यवहार चारित्रका व्याख्यान किया। अब उस व्यवहार चारित्रसे साध्य परमोपेक्षा लक्षण शुद्धोपयोगसे अविनाभूत होनेसे उत्कृष्ट सम्यग्चारित्र जानना चाहिए। (अर्थात् व्यवहारचारित्रके अभ्यास द्वारा क्रमशः बाह्य और आभ्यन्तर दोनों क्रियाओंका रोध होते-होते अन्तमें पूर्ण निर्विकल्प दशा प्राप्त हो जाती है। यही इनका साध्यसाधन भाव है।)

द्र. सं./टी./३५/१४९/१२ त्रिगुप्तिलक्षणनिर्विकल्पसमाधिस्थानां यतीनां तयैव पूर्यते तत्रासमर्थानां पुनर्बहुप्रकारेण संवरप्रतिपक्षभूतो मोहो विजृम्भते, तेन कारणेन व्रतादिविस्तरं कथयन्त्याचार्याः। —मन, वचन काय इन तीनोंकी गुप्ति स्वरूप निर्विकल्प ध्यानमें स्थित मुनिके तो उस संवर अनुप्रेक्षासे ही संवर हो जाता है, किन्तु उसमें असमर्थ जीवोंके अनेक प्रकारसे संवरका प्रतिपक्षभूत मोह उत्पन्न होता है, इस कारण आचार्य व्रतादिका कथन करते हैं।

पं. का./ता. वृ./१०७।१७१/१२ व्यवहारचारित्रं बहिरङ्गसाधकत्वेन वीतरागचारित्रभावनोत्पन्नपरमामृततृप्तिरूपस्य निश्चयसुखस्य बीजं, तदपि निश्चयसुखं पुनरक्षयानन्तसुखस्य बीजमिति। अत्र यद्यपि साध्यसाधकभावज्ञापनार्थं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गस्यैव मुख्यत्वमिति भावार्थः। —व्यवहार चारित्र बहिरंग साधक रूपसे वीतराग चारित्र भावनासे उत्पन्न परमात्म तृप्तिरूप निश्चय सुखका बीज है और वह निश्चय सुख भी अक्षयानन्त सुखका बीज है। ऐसा निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्गमें साध्यसाधक भाव जानना चाहिए। (और भी दे० शीर्षक नं० १०)।

४. व्यवहार चारित्रको चारित्र कहनेका कारण

र. क. श्रा./४७-४८ मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः। रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।४७। रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादिनिवर्तनाकृता भवन्ति। अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन्।४८। —सम्यग्दृष्टि जीव रागद्वेषकी निवृत्तिके लिए सम्यग्चारित्रको धारण करता है और रागद्वेषादिकी निवृत्ति हो जानेपर हिंसादिसे निवृत्ति पूर्ण हो जाती है, क्योंकि नहीं है आजीविकाकी इच्छा जिसको ऐसा कौन पुरुष है, जो राजाओंकी सेवा करे।

स. सा./ता. वृ./२७६ षट्जीवनिकायरक्षा चारित्राश्रयत्वात् हेतुत्वात् व्यवहारेण चारित्रं भवति। एवं पराश्रितत्वेन व्यवहारमोक्षमार्गः प्रोक्त इति। —चारित्रका (अर्थात् रागद्वेषसे निवृत्ति रूप वीतरागताका) आश्रय होनेके कारण छह कायके जीवोंकी रक्षा भी व्यवहारसे चारित्र कहलाती है। पराश्रित होनेसे यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

५. व्यवहार चारित्रकी उपादेयताका कारण व प्रयोजन

र. क. श्रा./४६ रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।४६। —सम्यग्दृष्टि जीव राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिए सम्यग्चारित्रको धारण करता है।

प्र. सा./त. प्र./२०२ अहो! मोक्षमार्गप्रवृत्तिकारणपञ्चमहाव्रतोपेत···गुप्ति···समितिलक्षणचारित्राचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मान-

मुपलभे ।—अहो, मोक्षमार्गमें प्रवृत्तिके कारणभूत, पंचमहाव्रत सहित गुप्ति समिति स्वरूप चारित्राचार ! मैं यह निश्चयसे जानता हूँ कि तू शुद्धात्माका नहीं है, तथापि तुझे तब तक अंगीकार करता हूँ जब तक कि तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको उपलब्ध कर लूँ।

नि.सा./ता.वृ./१४८ अत्र व्यवहारनयेनापि समतास्तुतिवन्दनाप्रत्याख्यानादिषडावश्यकपरिहीणः श्रमणश्चारित्रभ्रष्ट इति यावत् ।—(शुद्धोपयोग सम्मुख जीवको शिक्षा दी जाती है कि) यहाँ (इस लोकमें) व्यवहार नयसे भी समता, स्तुति, वन्दना, प्रत्याख्यानादि छह आवश्यकसे रहित श्रमण चारित्रपरिभ्रष्ट (चारित्रसे सर्वथा भ्रष्ट) है।

देखो चारित्र/७/३/द्र. सं/टी० त्रिगुप्तिमें असमर्थ जनोंके लिए व्यवहार चारित्रका उपदेश किया जाता है।

६. बाह्य व आभ्यन्तर चारित्र परस्पर अविनाभावी हैं

प्र. सा./मू./गा. चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि। पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ।२१४। पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदिसंवुडो जिदकसाओ। दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ।२४०। समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो। समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ।२४१।—जो श्रमण सदा ज्ञान व दर्शनमें प्रतिबद्ध तथा मूलगुणोंमें प्रयत्नशील है वह परिपूर्ण श्रामण्य वाला है ।२१४। पाँच समिति, पंचेन्द्रिय संवर व तीन गुप्ति सहित तथा कषायजयी और दर्शन ज्ञानसे परिपूर्ण जो श्रमण है वह संयत माना गया है ।२४०। शत्रु व बन्धुवर्गमें, सुख व दुःखमें, प्रशंसा व निन्दामें, लोहे व सोनेमें तथा जीवन व मरणमें जो सम है वह श्रमण है ।२४१।

चा. पा./मू./६ सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा। णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं ।६।—जो ज्ञानी अमूढदृष्टि होकर सम्यक्त्वचरण चारित्रसे शुद्ध होते हैं वे यदि संयमचरण चारित्रसे भी शुद्ध हो जायें तो शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त होते हैं ।६।

न. च. वृ./३५३ हेयोपादेयविदो संजमतववीयरायसंजुत्तो। जियदुक्खाइ तहं चिय सामग्गी सुद्धचरणस्स ।३५३।—हेय व उपादेयको जाननेवाला हो संयम तप व वीतरागता संयुक्त हो, दुःखादिको जीतनेवाला हो अर्थात् सुख दुःख आदिमें सम हो, यह सब शुद्ध चारित्रकी सामग्री है।

न. च. वृ./२०४ जं विय सरायचरणे [सरागकाले] भेदुवयारेण भिण्णचारित्तं। तं चेव वीयराये विपरीयं होइ कायव्वं। उक्तं च—चरिय चरदि सगं सो जो परदव्वप्पभावरहिदप्पा। दंसणणाणवियप्पा अवियप्पं चावियप्पादो। —सराग अवस्थामें भेदोपचार रूप जिस चारित्रका आचरण किया जाता है, उसीका वीतराग अवस्थामें अभेद व अनुपचारसे करना चाहिए। (अर्थात् सराग व वीतराग चारित्रमें इतना ही अन्तर है कि सराग चारित्रमें बाह्य क्रियाओंका विकल्प रहता है और वीतराग अवस्थामें उनका विकल्प नहीं रहता, सराग चारित्रमें वृत्ति बाह्य त्यागके प्रति जाती है और वीतराग अवस्थामें अन्तरंगकी ओर) कहा भी है कि—

स्व चारित्र अर्थात् वीतराग चारित्रका आचरण वही करता है जो परद्रव्यके प्रभावसे रहित हो, तथा दर्शन, ज्ञान, चारित्रके विकल्पोंसे जो अविकल्प हो गया हो।

ध. १/१,१,४/१४४/४ संयमनं संयमः। न द्रव्ययमः संयमस्तस्य 'सं' शब्देनापादितत्वात्। यमेन समितयः सन्ति, तास्वसतीषु संयमोऽनुपपन्न इति चेन्न, 'सं'शब्देनात्मसात्कृताशेषसमितित्वात्। अथवा व्रतसमितिकषायदण्डेन्द्रियाणां धारणानुपालननिग्रहत्यागजयाः संयमः।—'संयमन करनेको संयम कहते हैं' संयमका इस प्रकार लक्षण करनेपर भाव चारित्र शून्य द्रव्य चारित्र संयम नहीं हो सकता, क्योंकि 'सं' शब्दसे उसका निराकरण कर दिया गया। प्रश्न—यहाँ पर 'यम' से समितियोंका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि समितियोंके नहीं होनेपर संयम नहीं बन सकता? उत्तर—ऐसी शंका ठीक नहीं है क्योंकि 'सं' शब्दसे सम्पूर्ण समितियोंका ग्रहण हो जाता है। अथवा पाँच व्रतोंका धारण करना, पाँच समितियोंका पालन करना, क्रोधादि कषायोंका निग्रह करना, मन, वचन और काय रूप तीन दण्डोंका त्याग करना और पाँच इन्द्रियोंके विषयोंका जीतना संयम है।

प्र. सा./त. प्र./२४७ शुभोपयोगिनां हि शुद्धात्मानुरागयोगिचारित्रतया समधिगतशुद्धात्मवृत्तिषु श्रमणेषु वन्दननमस्करणाभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिप्रवृत्तिः शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ताश्रमापनयनप्रवृत्तिश्च न दुष्येत्।—शुभोपयोगियोंके शुद्धात्माके अनुरागयुक्त चारित्र होता है, इसलिए जिनने शुद्धात्म परिणति प्राप्त की है ऐसे श्रमणोंके प्रति जो वन्दन-नमस्कार-अभ्युत्थान, अनुगमन रूप विनीत वर्तनकी प्रवृत्ति तथा शुद्धात्मपरिणतिकी रक्षाकी निमित्तभूत जो श्रम दूर करनेकी (वैयावृत्ति रूप) प्रवृत्ति है, वह शुभोपयोगियोंके लिए दूषित नहीं है।

प्र. सा./त. प्र./२००/क. १२ द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्। तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ।१२।—चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है, इस प्रकार वे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। इसलिए या तो द्रव्यका अर्थात् अन्तरंग प्रवृत्तिका आश्रय लेकर अथवा चरणका अर्थात् बाह्य निवृत्तिका आश्रय लेकर मुमुक्षु मोक्षमार्गमें आरोहण करो।

और भी देखो चारित्र/४/२ (चारित्रके सर्व भेद-प्रभेद एक शुद्धोपयोगमें समा जाते हैं।)

७. एक ही चारित्रमें युगपत् दो अंश होते हैं

मो. पा./पं. जयचन्द/४२ चारित्र निश्चय व्यवहार भेदकरि दो भेद रूप है; तहाँ महाव्रत समिति गुप्तिके भेद करि कह्या है सो तो व्यवहार है। तिनिमें प्रवृत्ति रूप क्रिया है सो शुभ बन्ध करै है, और इन क्रियानिमें जेता अंश निवृत्तिका है ताका फल बन्ध नाहीं है। ताका फल कर्मकी एक देश निर्जरा है। और सर्व कर्म तै रहित अपना आत्म स्वरूपमें लीन होना सो निश्चय चारित्र है, ताका फल कर्मका नाश ही है।

और भी देखो उपयोग/II/३/२ (जितना रागांश है उतना बंध है, और जितना वीतरागांश है उतना संवर निर्जरा है।)

और भी देखो व्रत/३/७,६ (सम्यग्दृष्टिकी बाह्य प्रवृत्तिमें अवश्य निवृत्तिका अंश विद्यमान रहता है।)

और भी देखो उपयोग/II/३/१ (शुभोपयोगमें अवश्य शुद्धोपयोगका अंश मिश्रित रहता है।)

८. निश्चय व्यवहार चारित्रकी एकार्थताका नयार्थ

नि. सा./ता. वृ./१४८ व्यवहारनयेनापि···षडावश्यकपरिहीणः श्रमणश्चारित्रपरिभ्रष्टः इति यावत्, शुद्धनिश्चयेन···निर्विकल्पसमाधिस्वरूपपरमावश्यकक्रियापरिहीणश्रमणो निश्चयचारित्रभ्रष्ट इत्यर्थः। पूर्वोक्तस्ववशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य निश्चयावश्यकक्रमेण स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यानस्वरूपेण सदावश्यकं करोतु परममुनिरिति।—व्यवहार नयसे तो छह आवश्यकोंसे रहित श्रमण चारित्र परिभ्रष्ट है और शुद्ध निश्चयनयसे निर्विकल्प-समाधि स्वरूप परमावश्यक क्रियासे रहित श्रमण निश्चय चारित्र भ्रष्ट है। ऐसा अर्थ है। (इसलिए) स्व वश परमजिन योगीश्वरके निश्चय आवश्यकका जो क्रम पहले कहा गया है (आत्मस्थितिरूप समता, वन्दना, प्रतिक्रमणादि) उस क्रमसे स्वात्माश्रित ऐसे निश्चय धर्म-

ध्यान तथा निश्चयशुक्लध्यानस्वरूपसे परम मुनि सदा आवश्यक करो।

९. व्रतादि बन्धके कारण नहीं बल्कि उनमें अध्यवसान ही बन्धका कारण है

स. सा./मू./२६४, २७० तह वि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव। कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पुण्णं।२६४। एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि। ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति।२७०।=इसी प्रकार (हिंसादि पाँचों अव्रतोंवत् ही) सत्यमें, अचौर्यमें, ब्रह्मचर्यमें और अपरिग्रहमें जो अध्यवसान किया जाता है उससे पुण्यका बन्ध होता है।२६४। ये (अव्रतों और व्रतोंवाले पूर्वकथित) तथा ऐसे ही और भी, अध्यवसान जिनके नहीं हैं, वे मुनि अशुभ या शुभ कर्मसे लिप्त नहीं होते।२७०। (मो. मा. प्र./७/३७३/३)

१०. व्रतोंको त्यागनेका उपाय व क्रम

स. श./८४, ८६ अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः। त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः।८४। अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः। परात्मज्ञानसंपन्नः स्वयमेव परो भवेत्।८६।=हिंसादि पाँच अव्रतोंको छोड़ करके अहिंसादि व्रतोंका दृढ़तासे पालन करे। पीछेसे आत्माके परम वीतराग पदको प्राप्त करके उन व्रतोंको (व्रतोंके अध्यवसानको) भी छोड़ देवे।८४। हिंसादि पाँच अव्रतोंमें अनुरक्त हुआ मनुष्य पहले व्रतोंको ग्रहण करके व्रती बने। पीछे ज्ञान भावनामें लीन होकर केवलज्ञानसे युक्त हो स्वयं ही परमात्मा हो जाता है। (ज्ञा०/३२।८८); (द्र. सं./टी./५७/२२६/१०); (प. प्र./टी./२/५५/१७७/४)

नि.सा./ता, वृ./१०३ भेदोपचारचारित्रम्, अभेदोपचारं करोमि, अभेदोपचारम् अभेदानुपचारं करोमि, इति त्रिविधं सामायिकमुत्तरोत्तरस्वीकारेण सहजपरमतत्त्वाविचलस्थितिरूपसहजचारित्रं, निराकारतत्त्वनिरतत्वान्निराकारचारित्रमिति।=भेदोपचारित्रको अभेदोपचार करता हूँ। तथा अभेदोपचार चारित्रको अभेदानुपचार करता हूँ—इस प्रकार त्रिविध सामायिकको (चारित्रको) उत्तरोत्तर स्वीकृत करनेसे सहज परम तत्त्वमें अविचल स्थितिरूप सहज निश्चय चारित्र होता है, कि जो निराकार तत्त्वमें लीन होनेसे निराकार चारित्र है। (और भी दे० धर्मध्यान/६/६)

द्र, सं/टी/५७/२३०/८ त्यागः कोऽर्थः। यथैव हिंसादिरूपाव्रतेषु निवृत्तिस्तथैकदेशव्रतेष्वपि। कस्मादिति चेत्—त्रिगुप्तावस्थायां प्रवृत्ति-निवृत्तिरूपविकल्पस्य स्वयमेवावकाशो नास्ति।=प्रश्न—व्रतोंके त्यागका क्या अर्थ है? उत्तर—गुप्तिरूप अवस्थामें प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप विकल्पको रंचमात्र स्थान नहीं है। अहिंसादिक महाव्रत विकल्परूप हैं अतः वे ध्यानमें नहीं रह सकते।

चारित्र पाहुड़—आ. कुन्दकुन्द (ई. १२७-१७९) द्वारा रचित सम्यग्चारित्र विषयक, ४४ प्राकृत गाथाओंमें निबद्ध एक ग्रन्थ। इस पर आ. श्रुतसागर (ई०१४८१-१४९९) कृत संस्कृत टीका तथा पं. जयचन्द छाबड़ा (ई० १८१०) कृत भाषा वचनिका उपलब्ध हैं।

चारित्र भूषण—इनके मुखसे ही स्वामी समन्तभद्र कृत देवागम स्तोत्रका पाठ सुनकर श्लोकवार्तिककार श्री विद्यानन्दि आचार्य जिन दीक्षित हो गये थे। आ० विद्यानन्दिजीके अनुसार आपका समय ई० ७५०-८१५ आता है।

चारित्र मोहनीय—मोहनीयकर्मका एक भेद—दे० मोहनीय/१।

चारित्र लब्धि—दे० लब्धि।

चारित्रवाद—दे० क्रियावाद।

चारित्र विनय—दे० विनय।

चारित्र शुद्धि—दे० शुद्धि।

चारित्र शुद्धि व्रत—चारित्रके निम्न १२३४ अंगोंके उपलक्षमें एक उपवास एक पारणा क्रमसे ६ वर्ष, १० मास ८ दिनमें १२३४ उपवास पूरे करे—(१) अहिंसाव्रत=१४ जीव समास×नवकोटि (मन वचन काय×कृत कारित अनुमोदना)=१२६। (२) सत्य व्रत=भय, ईर्ष्या, स्वपक्षपात, पैशुन्य, क्रोध, लोभ, आत्मप्रशंसा और परनिन्दा ये ८×९ कोटि=७२। (३) अचौर्य व्रत=ग्राम, अरण्य, खल, एकान्त, अन्यत्र, उपधि, अमुक्त, पृष्ठ ग्रहण ऐसे ८ पदार्थ×९ कोटि=७२। (४) ब्रह्मचर्य=मनुष्यणी, देवांगना, तिर्यंचिनी व अचेतनी ये चार स्त्रियाँ×९ कोटि×५ इन्द्रिय=१८०। (५) परिग्रह त्याग=२४ प्रकार परिग्रह×९ कोटि=२१६। (६) गुप्ति=३×९ कोटि=२७। (७) समिति ईर्या, आदान-निक्षेपण व उत्सर्ग ये ३×९ कोटि=२७+भाषा समिति के १० प्रकार सत्य×९ कोटि=९०+एषणा समितिके ४६ दोष×९ कोटि=४१४=१२३४ ओं ह्रीं अ सि आ उ सा चारित्रशुद्धिव्रतेभ्यो नमः इस मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे (ह.पु./३४/१००-११०), (व्रत विधान संग्रह/पृ.५९)।

चारित्रसार—चामुण्डराय (ई०श० १०-११) द्वारा रचित, संस्कृत गद्यबद्ध ग्रन्थ। इसमें मुनियोंके आचारका संक्षिप्त वर्णन है। कुल ६००० श्लोक प्रमाण है। (ती./४/२८)।

चारित्राचार—दे० आचार।

चारित्राराधना—दे० आराधना।

चारित्रार्य—दे० आर्य।

चारुदत्त—(ह.पु./२१/श्लोक नं०) भानुदत्त वैश्यका पुत्र (६-१०); मित्रावतीसे विवाह हुआ (३८); संसारसे विरक्त रहता था (३९); चचा रुद्रदत्तने उसे वेश्यामें आसक्त कर दिया (४०-६४); अन्तमें तिरस्कार पाकर वेश्याके घरसे निकला और अपने घर आया (६४-७४); व्यापारके लिए रत्नद्वीपमें गया (७५); मार्गमें अनेकों कष्ट सहे (११२); वहाँ मुनिराजके दर्शन किये (११३-१२६); बहुत धन लेकर घर लौटा (१२७)।

चारुदत्त चरित्र—आ. सोमकीर्ति भट्टारक (ई०१४७४) कृत संस्कृत भाषामें रचा गया ग्रन्थ है। तत्पश्चात् इसके आधारपर कई रचनाएँ हुई—१. कवि भारामल (ई० १७५६) ने चौपाई-दोहेमें एक कृति रची।

चार्वाक—

१. सामान्य परिचय

स्या.मं./परि. छ./४४३-४४४=सर्वजनप्रिय होनेके कारण इसे 'चार्वाक' संज्ञा प्राप्त है। सामान्य लोगोंके आचरणमें आनेमें कारण इसे 'लोकायत' कहते हैं। आत्मा व पुण्य-पाप आदिका अस्तित्व न माननेके कारण यह मत 'नास्तिक' कहलाता है। धार्मिक क्रियानुष्ठानोंका लोप करनेके कारण 'अक्रियावादी'। इसके मूल प्रवर्तक बृहस्पति आचार्य हुए हैं, जिन्होंने बृहस्पति सूत्रकी रचना की थी। आज यद्यपि इस मतका अपना कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है, परन्तु ई० पूर्व ५५०-५०० के अजितकेश कम्बली कृत बौद्ध सूत्रोंमें तथा महाभारत जैसे प्राचीन ग्रन्थोंमें भी इसका उल्लेख मिलता है।

इनके साधु कापालिक होते हैं। अपने सिद्धान्तके अनुसार वे मद्य व मांसका सेवन करते हैं। प्रतिवर्ष एकत्रित होकर स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा करते हैं। (षड्दर्शन समुच्चय/८०-८२/७४-७७)।

२. जैनके अनुसार इस मतकी उत्पत्तिका इतिहास

धर्म परीक्षा/१८/५५-५६ भगवान् आदिनाथके साथ दीक्षित हुए अनेक राजा आदि जब क्षुधा आदिकी बाधा न सह सके तो भ्रष्ट हो गये। कच्छ-महाकच्छ आदि राजाओंने फल-मूल आदि भक्षण करना प्रारम्भ कर दिया और उसीको धर्म बताकर प्रचार किया। शुक्र और बृहस्पति राजाओंने चार्वाक मतकी प्रवृत्ति की।

३. इस मतके भेद

ये दो प्रकारके हैं—धूर्त व सुशिक्षित। पहले तो पृथिवी आदि भूतोंके अतिरिक्त आत्माको सर्वथा मानते ही नहीं और दूसरे उसका अस्तित्व स्वीकार करते हुए भी मृत्युके समय शरीरके साथ उसको भी विनष्ट हुआ मानते हैं (स्या. मं./परि. छ./पृ.४४३)।

४. प्रमाण व सिद्धान्त

केवल इन्द्रिय प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानते हैं, इस लिए इस लोक तथा ऐन्द्रिय सुखको ही सार मानकर खाना-पीना व मौज उड़ाना ही प्रधान धर्म मानते हैं (स्या.मं./परि.छ./पृ.४५४)।

यु.अनु./३५ मद्याङ्गवद्भूतसमागमे ज्ञ., शक्त्यन्तर-व्यक्तिरदैवसृष्टिः। इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैर्निर्ह्रीभयैर्हा ! मृदवः प्रलब्धाः।३५। —जिस प्रकार मद्यांगोंके समागमपर मदशक्तिकी उत्पत्ति अथवा आविर्भूति होती है उसी तरह पृथिवी, जल आदि पंचभूतोंके समागमपर चैतन्य अभिव्यक्त होता है, कोई दैवी सृष्टि नहीं है। इस प्रकार यह जिन (चार्वाकों) का मत है, उन अपने शिश्न और उदरकी पुष्टिमें ही सन्तुष्ट रहनेवाले, अर्थात् खाओ, पीओ, मौज उड़ाओके सिद्धान्तवाले, उन निर्लज्जों तथा निर्भयों द्वारा हा ! कोमलबुद्धि ठगे गये हैं (षट्दर्शन समुच्चय/८४-८५/७८); (सं.भ.त./६२/१)।

दे० अनेकान्त/२/६ (यह मत व्यवहार नयाभासी है)।

चालिसिय—(ल.सा./भाषा/२२८/२८५/३) जाकी चालीस कोड़ाकोड़ी सागरको उत्कृष्ट स्थिति ऐसा चारित्रमोह ताकौं चालिसिय कहिए।

चालुक्य जयसिंह—ई० १०२४ के एक राजा (सि वि./प्र./७५/ शिलालेख)।

चिंता—१. लक्षण

त.सू./१/१३ मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्। =मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ये पर्यायवाची नाम हैं। (ष.खं.१३/५०५/सू.४१/२४४)।

स.सि./१/१३/१०६/५ चिन्तनं चिन्ता = चिन्तन करना चिन्ता है। (ध.१३/१,१,४१/२४४/३)।

स.सि./६/२७/४४४/७ नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती। —नाना पदार्थोंका अवलम्बन लेनेसे चिन्ता परिस्पन्दवती होती है।

रा.वा./६/२७/४/६२५/२५ अन्तःकरणस्य वृत्तिरर्थेषु चिन्तेत्युच्यते। —अन्तःकरणकी वृत्तिका पदार्थोंमें व्यापार करना चिन्ता कहलाती है।

ध.१३/५,५,६३/३३३/६ वट्टमाणत्थविसयमदिणाणेण विसेसिदजीवो चिंता णाम। —वर्तमान अर्थको विषय करनेवाले मतिज्ञानसे विशेषित जीवकी चिन्ता संज्ञा है।

स.सि./पं. जयचन्द/१/१३/१५४ किसी चिह्नको देखकर यहाँ इस चिह्नवाला अवश्य होगा ऐसा ज्ञान, तर्क, व्याप्ति वा ऊह ज्ञान चिन्ता है।

२. स्मृति चिन्ता आदि ज्ञानोंकी उत्पत्तिका क्रम व इनकी एकार्थता—दे० मतिज्ञान/३।

३. चिन्ता व ध्यानमें अन्तर—दे० धर्मध्यान/३।

चिंतागति—(म.पु./७०/श्लोक नं.) पुष्करार्ध द्वीपके पश्चिममेरुके पास गन्धिल नामके देशके विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें सूर्यप्रभ नगरके राजा सूर्यप्रभका पुत्र था।२६-२८। अजितसेना नामा कन्या द्वारा गतियुद्धमें हरा दिया जानेपर।३०-३१। दीक्षा धारण कर ली और स्वर्गमें सामानिक देव हुआ।३६-३७। यह नेमिनाथ भगवान्‌का पूर्वका सातवाँ भव है।

चिकित्सा—१. आहारका दोष (दे० आहार/II/४) २ वस्तिकाका दोष—दे० वस्तिका।

चित्—

न्या.वि./वृ./१/८/१४८/६ चिदिति चिच्छक्तिरनुभव इत्यर्थः। —चित अर्थात् चिद् शक्ति या अनुभव।

अन.ध./२/३४/१५१ अन्वितमहमिकाया प्रतिनियतार्थावभासिबोधेषु। प्रतिभासमानमखिलैर्यद्रूपं वेदयते सदा सा चित्। —अन्वित और 'अहम्' इस प्रकारके संवेदनके द्वारा अपने स्वरूपको प्रकाशित करनेवाले जिस रूपका सदा स्वयं अनुभव करते हैं उसीको चिद् या चेतन कहते हैं।

चिति—(स.सा./आ./परि./शक्ति नं.२) अजडत्वात्मिका चितिशक्तिः। —अजड़त्व अर्थात् चेतनत्व स्वरूप चितिशक्ति है।

चित्त—

स.सि./२/३२/१८७/१० आत्मनश्चैतन्यविशेषपरिणामश्चित्तम्। —आत्माके चैतन्यविशेषरूप परिणामको चित्त कहते हैं (रा.वा/२/३२/१४१/ २२)।

सि.वि./वृ./७/२२/४६२/२० स्वसंवेदनमेव लक्षणं चित्तस्य। —चित्तका लक्षण स्वसंवेदन ही है।

नि.सा./ता.वृ./११६ बोधो ज्ञानं चित्तमित्यनर्थान्तरम्। —बोध, ज्ञान व चित्त ये भिन्न पदार्थ नहीं हैं।

द्र.सं./टी./१४/४६/१० हेयोपादेयविचारकचित्त···। —हेयोपादेयको विचारनेवाला चित्त होता है।

सं.श./टी./५/२२५/३ चित्तं च विकल्पः। —विकल्पका नाम चित्त है।

२. भक्ष्याभक्ष्य पदार्थोंका सचित्ताचित्त विचार

—दे० सचित्त।

चित्प्रकाश—अन्तर चित्प्रकाश दर्शन है और बाह्य चित्प्रकाश ज्ञान है—दे० दर्शन/२।

चित्र—

न्या.वि./वृ./१/८/१४८/६ चिदिति चिच्छक्तिरनुभव इत्यर्थः। सैव त्राणं त्रा परिरक्षणं यस्य तच्चित्रम्।···अनुभवप्रसिद्धं खलु अनुभवपरिरक्षितं भवति। —चित्शक्ति या अनुभवका नाम चित है। वह चित् ही जिसका त्राण या रक्षण है, उसे चित्र कहते हैं। अनुभव प्रसिद्ध होना ही अनुभव परिरक्षित होना है।

चित्रकर्म—दे० निक्षेप/४।

चित्रकारपुर—भरतक्षेत्रका एक नगर —दे० मनुष्य/४।

चित्रकूट—१. पूर्व विदेहका एक वक्षार पर्वत तथा उसका स्वामी देव—दे० लोक५/३ २. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे०

विद्याधर । ३. वर्तमानका 'चित्तौड़गढ़ नगर' (प. सं./प्र. ४१/A.N. Up. तथा H. L. Jain.

चित्रगुप्त—भावी १७वें तीर्थंकर—दे० तीर्थंकर/५ ।

चित्रगुप्ता—रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/५/१३ ।

चित्रभवन—सुमेरु पर्वतके नन्दन आदि वनोंमें स्थित कुबेरका भवन व गुफा—दे० लोक/३/६.४ ।

चित्रवती—पूर्व आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४ ।

चित्रांगद—(पा. पु./१७/श्लोक नं.) अर्जुनका प्रधान शिष्य था (६५); वनवासके समय सहाय वनमें नारद द्वारा, पाण्डवोंपर दुर्योधनकी चढ़ाईका समाचार जानकर (८६) उसे वहाँ जाकर बाँध लिया ।

चित्रा—१. एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र २. रुचक पर्वतके विमल कूटपर बसनेवाली एक विद्युत्कुमारी देवी—दे० लोक५/१३ ३.रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी—दे० लोक५/१३ ४.अनेक प्रकारके वर्णोंसे युक्त धातुएँ), वज्रक (मरकत), वकमणि (पुष्पराग), मोचमणि (कदलीवर्णाकार नीलमणि) और मसारगल्ल (विद्रुमवर्ण मसृण-पाषाण मणि) धातुएँ हैं, इसलिए इस पृथिवीका 'चित्रा' इस नामसे वर्णन किया गया है। (अर्थात् मध्य लोक की १००० योजन मोटी पृथिवी चित्रा कहलाती है।) —दे० रत्नप्रभा ।

चिद्विलास—पं. दीपचन्दजी शाह (ई० १७२२) द्वारा रचित हिन्दी भाषा बद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ। इसपर कवि देवदास (ई० १७-५५-१७६७) ने भाषा वचनिका लिखी है। (ती./४/२९३)

चिन्ह—१. Trace-(ध./पु.५/प्र. २७)। २. चिन्हसे चिन्हीका ज्ञान—दे० अनुमान। ३. चिन्ह नामक निमित्त ज्ञान—दे० निमित्त/२; ४. अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके स्थानभूत करण चिन्ह—दे० अवधिज्ञान/५ ।

चिलात—उत्तर भरतक्षेत्रके मध्यम्लेच्छखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४ ।

चिलात पुत्र—भगवान् वीरके तीर्थके एक अनुत्तरोपपादक साधु—दे० अनुत्तरोपपादक ।

चुलुलित—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१ ।

चूड़ामणि—दे० परिशिष्ट १ ।

चूर्ण—१. द्रव्य निक्षेपका एक भेद—दे० निक्षेप/५/६ । २. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४; ३. वस्तिकाका एक दोष—दे० वस्तिका ।

चूर्णी—दे० परिशिष्ट १ ।

चूर्णोपजीवन—वस्तिकाका एक दोष—दे० वस्तिका ।

चूलिका—१. पर्वतके ऊपर क्षुद्र पर्वत सरीखी चोटी; Top (ज. प./प्र. १०६); २. दृष्टिप्रवाद अंगका ५वाँ भेद—दे० श्रुतज्ञान/III । ३.

ध. ७/२,११,१/५७५/७ ण च एसो णियमो सव्वाणिओगद्दारसूइदत्थाणं विसेसपरूविणा चूलिया णाम, किंतु एक्केण दोहि सव्वेहि वा अणिओगद्दारेहिं सूइदत्थाणं विसेसपरूविणा चूलिया णाम—सर्व अनुयोगद्वारोंसे सूचित अर्थोंकी विशेष प्ररूपणा करनेवाली ही चूलिका हो, यह कोई नियम नहीं है, किन्तु एक, दो अथवा सब अनुयोगद्वारोंसे सूचित अर्थोंकी विशेष प्ररूपणा करना चूलिका है (ध. ११/४,२,६,३६/१४०/११)।

स. सा./ता. वृ. ३२१ विशेषव्याख्यानं उक्तानुक्तव्याख्यानं, उक्तानुक्तसंकीर्णव्याख्यानं चेति त्रिधा चूलिकाशब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः—विशेष व्याख्यान, उक्त या अनुक्त व्याख्या अथवा उक्तानुक्त अर्थका संक्षिप्त व्याख्यान (Summary), ऐसे तीन प्रकार चूलिका शब्दका अर्थ जानना चाहिए। (गो. क./जी. प्र./३९८/५६३/७); (द्र.सं./टी./अधिकार २ की चूलिका पृ. ८०/३)।

चेटक—(म. पु./७५/श्लोक नं.) पूर्व भव नं. २में विद्याधर (१११); पूर्वभव नं. १ में देव (१३१-१३५) वर्तमान भवमें वैशाली नगरीका राजा चन्दनाका पिता (३-८,१६८)।

चेटिका—दे० स्त्री ।

चेतन—द्रव्यमें चेतन अचेतनकी अपेक्षा भेद—दे० द्रव्य/३ ।

चेतना—स्वसंवेदनगम्य अन्तरंग प्रकाशस्वरूप भाव विशेषको चेतना कहते हैं। वह दो प्रकारकी है—शुद्ध व अशुद्ध। ज्ञानी व वीतरागी जीवोंका केवल जानने रूप भाव शुद्धचेतना है। इसे ही ज्ञान चेतना भी कहते हैं। इसमें ज्ञानकी केवल ज्ञप्ति रूप क्रिया होती है। ज्ञाता द्रष्टा भावसे पदार्थोंको मात्र जानना, उनमें इष्टानिष्ट बुद्धि न करना यह इसका अर्थ है। अशुद्ध चेतना दो प्रकारकी है—कर्म चेतना व कर्मफल चेतना। इष्टानिष्ट बुद्धि सहित परपदार्थोंमें करने-धरनेके अहंकार सहित जानना सो कर्म चेतना है और इन्द्रियजन्य सुख-दुःखमें तन्मय होकर 'सुखी दुःखी' ऐसा अनुभव करना कर्मफल चेतना है। सर्व संसारी जीवोंमें यह दोनों कर्म व कर्मफल चेतना ही मुख्यतः पायी जाती है। तहाँ भी बुद्धिहीन असंज्ञी जीवोंमें केवल कर्मफल चेतना है, क्योंकि वहाँ केवल सुख-दुःखका भोगना मात्र है, बुद्धिपूर्वक कुछ करनेका उन्हें अवकाश नहीं।

१. भेद व लक्षण

१. चेतना सामान्यका लक्षण

रा. वा./१/४/१४/२६/११ जीवस्वभावश्चेतना।·· यत्संनिधानादात्मा ज्ञाता द्रष्टा कर्ता भोक्ता च भवति तल्लक्षणो जीवः।—जिस शक्तिके सान्निध्यसे आत्मा ज्ञाता, द्रष्टा अथवा कर्ता-भोक्ता होता है वह चेतना है और वही जीवका स्वभाव होनेसे उसका लक्षण है।

न. च. वृ./६४ अणुहवभावो चेयणम्।—अनुभवरूप भावका नाम चेतन है। (आ. प./६) (नय चक्र श्रुत/५७)।

स. सा./आ./२९८-२९९ चेतना तावत्प्रतिभासरूपा; सा तु तेषामेव वस्तूनां सामान्यविशेषात्मकत्वात् द्वैरूप्यं नातिक्रामति। ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने।—चेतना प्रतिभास रूप होती है। वह चेतना द्विरूपताका उल्लंघन नहीं करती, क्योंकि समस्त वस्तुएँ सामान्य विशेषात्मक हैं। उसके जो दो रूप हैं वे दर्शन और ज्ञान हैं।

पं. का./त. प्र./३९ चेतनानुभूत्युपलब्धिवेदनानामेकार्थत्वात्।—चेतना, अनुभूति, उपलब्धि, वेदना इन सबका एक अर्थ है।

२. चेतनाके भेद दर्शन व ज्ञान

स. सा/आ./२९८-२९९ ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने।—उस चेतनाके जो दो रूप हैं वे दर्शन और ज्ञान हैं।

* उपयोग व लब्धि रूप चेतना—दे० उपयोग/I ।

३. चेतनाके भेद शुद्ध व अशुद्ध आदि

प्र. सा./मू./१२३ परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा। सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा।—आत्मा चेतना रूपसे परिणमित होता है। और चेतना तीन प्रकारसे मानी गयी है—ज्ञानसम्बन्धी, कर्मसम्बन्धी अथवा कर्मफलसम्बन्धी। (पं. का./मू./३८)

स. सा./आ व. ता. वृ./३८७ ज्ञानाज्ञानभेदेन चेतना तावद्द्विविधा भवति (ता. वृ.)। अज्ञानचेतना। सा द्विधा कर्मचेतना कर्मफलचेतना च। —ज्ञान और अज्ञानके भेदसे चेतना दो प्रकार की है। तहाँ अज्ञान चेतना दो प्रकार की है—कर्मचेतना और कर्मफलचेतना।

प्र. सा./ता. वृ./१२४ अथ ज्ञानकर्मकर्मफलरूपेण त्रिधा चेतनां विशेषेण विचारयति। ज्ञानं मत्यादिभेदेनाष्टविकल्पं भवति।···कर्म शुभाशुभ-शुद्धोपयोगभेदेनानेकविधं त्रिविधं भणितम्। —ज्ञान, कर्म व कर्म-फल ऐसी जो तीन प्रकार चेतना उसका विशेष विचार करते हैं। ज्ञान मति ज्ञान आदि रूप आठ प्रकारका है। कर्म शुभ अशुभ व शुद्धोपयोग आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है अथवा इन्हीं तीन भेद-रूप है।

पं ध./उ./१९२-१९५ स्वरूपं चेतना जन्तोः सा सामान्यात्सदेकधा। सद्विशेषादपि द्वेधा क्रमात्सा नाक्रमादिह ।१९२। एकधा चेतना शुद्धा-शुद्धस्यैकविधत्वतः। शुद्धाशुद्धोपलब्धित्वाज्ज्ञानत्वाज्ज्ञानचेतना ।१९४। अशुद्धा चेतना द्वेधा तद्यथा कर्मचेतना। चेतनत्वात्फलस्यास्य स्यात्कर्मफलचेतना ।१९५। —जीवके स्वरूपको चेतना कहते हैं, और वह सामान्यरूपसे अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे सदा एक प्रकारकी होती है। परन्तु विशेषरूपसे अर्थात् पर्याय दृष्टिसेवह ही दो प्रकार होती है—शुद्ध चेतना और अशुद्ध चेतना ।१९२। शुद्धात्माको विषय करनेवाला शुद्धज्ञान एक ही प्रकारका होनेसे शुद्ध चेतना एक ही प्रकारकी है।१९४। अशुद्धचेतना दो प्रकारकी है—कर्मचेतना व कर्मफल चेतना ।१९५।

४. ज्ञान व अज्ञान चेतनाके लक्षण

स. सा./आ./गा. नं. ज्ञानी हि···ज्ञानचेतनामयत्वेन केवलं ज्ञातृत्वात्कर्म-बन्धं कर्मफलं च शुभमशुभं वा केवलमेव जानाति ।३१९। चारित्रं तु भवत् स्वस्य ज्ञानमात्रस्य चेतनात् स्वयमेव ज्ञानचेतना भवतीति भावः ।३८६। ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनं अज्ञानचेतना ।३८७। —ज्ञानी तो ज्ञानचेतनामय होनेके कारण केवल ज्ञाता ही है, इसलिए वह शुभ तथा अशुभ कर्मबन्धको तथा कर्मफलको मात्र जानता ही है ।३१९। चारित्रस्वरूप होता हुआ (वह आत्मा) अपनेको अर्थात् ज्ञानमात्रको चेतता है इसलिए स्वयं ही ज्ञानचेतना है। ज्ञानसे अन्य (भावोंमें) 'यह मैं हूँ' ऐसा अनुभव करना सो अज्ञानचेतना है।

पं ध./उ./१९६-१९७ अत्रात्मा ज्ञानशब्देन वाच्यस्तन्मात्रतः स्वयं। स चेत्यते अनया शुद्धः शुद्धा सा ज्ञानचेतना ।१९६। अर्थाज्ज्ञानं गुणः सम्यक् प्राप्तावस्थान्तरं यदा। आत्मोपलब्धिरूपं स्याद्युच्यते ज्ञान-चेतना ।१९७। —इस ज्ञानचेतना शब्दमें ज्ञानशब्दसे आत्मा वाच्य है, क्योंकि वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है और वह शुद्धात्मा इस चेतनाके द्वारा अनुभव होता है, इसलिए वह ज्ञान चेतना शुद्ध कहलाती है ।१९६। अर्थात् मिथ्यात्वोदयके अभावमें सम्यक्त्व युक्त ज्ञान ज्ञानचेतना है ।१९७।

५. शुद्ध व अशुद्ध चेतनाका लक्षण

पं. का./त प्र./१६ ज्ञानानुभूतिलक्षणा शुद्धचेतना, कार्यानुभूतिलक्षणा कर्मफलानुभूतिलक्षणा चाशुद्धचेतना। —ज्ञानानुभूतिस्वरूप शुद्ध चेतना है और कार्यानुभूतिस्वरूप तथा कर्मफलानुभूति स्वरूप अशुद्धचेतना है।

द्र. सं./टी./१५/५०/८ केवलज्ञानरूपा शुद्धचेतना। —केवलज्ञानरूप शुद्ध चेतना है।

पं. ध./उ./१९३ एका स्याच्चेतना शुद्धा स्यादशुद्धा परा ततः। शुद्धा स्यादात्मनस्तत्त्वमस्त्यशुद्धात्मकर्मजा ।१९३। —एक शुद्ध चेतना है और उससे विपरीत दूसरी अशुद्ध चेतना है। उनमें-से शुद्ध चेतना आत्माका स्वरूप है और अशुद्ध चेतना आत्मा और कर्मके संयोगसे उत्पन्न होनेवाली है।

पं. ध./उ./१९६,२१३ शुद्धा सा ज्ञानचेतना ।१९६। अशुद्धोपलब्धिः सा ज्ञानाभासाच्चिदन्वयात्। न ज्ञानचेतना किन्तु कर्म तत्फलचेतना ।२१३। —ज्ञानचेतना शुद्ध कहलाती है ।१९६। अशुद्धोपलब्धि शुद्धात्मा-के आभासरूप होती है। चिदन्वयसे अशुद्धात्माके प्रतिभासरूप होने-से ज्ञानचेतनारूप नहीं कही जा सकती है, किन्तु कर्मचेतना तथा कर्मफल चेतना स्वरूप कही जाती है ।२१३।

६. कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाके लक्षण

स. सा./आ./३८७ तत्राज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना। ज्ञानादन्यत्रेदं वेदयेऽहमिति चेतनं कर्मफलचेतना। —ज्ञानसे अन्य (भावोंमें) ऐसा अनुभव करना कि 'इसे मैं करता हूँ' सो कर्म चेतना है, और ज्ञानसे अन्य (भावोंमें) ऐसा अनुभव करना कि 'इसे मैं भोगता हूँ' सो कर्मफल चेतना है।

प्र. सा./त. प्र./१२३-१२४ कर्मपरिणतिः कर्म चेतना, कर्मफलपरिणतिः कर्मफलचेतना ।१२३। 'क्रियमाणमात्मना कर्म।'' तस्य कर्मणो यन्निष्पाद्यं सुखदुःखं तत्कर्मफलम् ।१२४। —कर्म परिणति कर्मचेतना और कर्मफलपरिणति कर्मफल चेतना है ।१२३। आत्माके द्वारा किया जाता है वह कर्म है और उस कर्मसे उत्पन्न किया जानेवाला सुख-दुःख कर्मफल है ।१२४।

द्र. सं./टी./१५/५०/६ अव्यक्तसुखदुःखानुभवनरूपा कर्मफलचेतना।··· स्वेहापूर्वेष्टानिष्टविकल्परूपेण विशेषरागद्वेषपरिणमनं कर्मचेतना। —अव्यक्तसुखदुःखानुभव स्वरूप कर्मफल चेतना है, तथा निजचेष्टा-पूर्वक अर्थात् बुद्धिपूर्वक इष्ट अनिष्ट विकल्परूपसे विशेष रागद्वेषरूप जो परिणाम हैं वह कर्मचेतना है।

२. ज्ञान अज्ञान चेतना निर्देश

१. सम्यग्दृष्टिको ज्ञानचेतना ही इष्ट है

पं. ध./उ./८२२ प्रकृतं तद्यथास्ति स्वं स्वरूपं चेतनात्मनः। सा त्रिधात्राप्युपादेया सदृष्टेर्ज्ञानचेतना ।८२२। —चेतना निजस्वरूप है और वह तीन प्रकारकी है। तो भी सम्यग्दर्शनका लक्षण करते समय सम्यग्दृष्टिको एक ज्ञानचेतना ही उपादेय होती है। (स. सा./आ./३८७)

२. ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टिको ही होती है

पं. ध./उ./१९८ सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः। न स्यान्मि-थ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसंभवात्। —निश्चयसे वह ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टि जीवके होती है, क्योंकि, मिथ्यात्वका उदय होनेपर उस आत्मोपलब्धिका होना असम्भव है, इसलिए वह ज्ञानचेतना मिथ्या-दृष्टि जीवके किसी भी अवस्थामें नहीं होती।

३. निजात्म तत्त्वको छोड़कर ज्ञानचेतना अन्य अर्थोंमें नहीं प्रवर्तती

पं. ध./उ./८५० सत्यं हेतोर्विपक्षत्वे वृत्तित्वाद्व्यभिचारिता। यतोऽत्रा-न्यात्मनोऽन्यत्र स्वात्मनि ज्ञानचेतना। —ठीक है—हेतुके विपक्षमें वृत्ति होनेसे उसमें व्यभिचारीपना आता है क्योंकि यहाँपर पर-पदार्थसे भिन्न अपने इस स्वात्मामें ज्ञानचेतना होती है।

४. मिथ्यादृष्टिको कर्म व कर्मफल चेतना ही होती है

पं. ध./उ./२२३ यद्वा विशेषरूपेण स्वदते तत्कुदृष्टिनाम्। अर्थात् सा चेतना नूनं कर्मकार्येऽथ कर्मणि ।२२३। —अथवा मिथ्यादृष्टियोंको विशेषरूपसे अर्थात् पर्यायरूपसे उस सत्का स्वाद आता है, इसलिए वास्तवमें उनकी वह चेतना कर्मफलमें और कर्ममें ही होती है।

५. अज्ञानचेतना संसारका बीज है

स.सा./आ./३८७-३८९ सा तु समस्तापि संसारबीजं. संसारबीजस्याष्टविधकर्मणो बीजत्वात्। – वह समस्त अज्ञान चेतना संसारका बीज है, क्योंकि संसारके बीजभूत अष्टविध कर्मोंकी वह बीज है।

६. त्रस स्थावर आदिकी अपेक्षा तीनों चेतनाओंका स्वामित्व

पं.का./मू./३९ सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं। पाणित्तमदिक्कंता णाणं विंदंति ते जीवा। – सर्व स्थावर जीव वास्तवमें कर्मफलको वेदते हैं, त्रस कर्म व कर्मफल इन दो चेतनाओंको वेदते हैं और प्राणित्वका अतिक्रम कर गये हैं ऐसे केवलज्ञानी ज्ञानचेतनाको वेदते हैं।

७. अन्य सम्बन्धित विषय

१. ज्ञान चेतनाकी निर्विकल्पता—दे० विकल्प।

२. सम्यग्दृष्टिकी कर्म व कर्मफल चेतना भी ज्ञान चेतना ही है —दे० सम्यग्दृष्टि/२।

३. लौकिक कार्य करते भी सम्यग्दृष्टिको ज्ञान चेतना रहती है —दे० सम्यग्दृष्टि/२।

४. सम्यग्दृष्टिको ज्ञान चेतना अवश्य होती है—दे० अनुभव/५।

५. शुद्ध व अशुद्ध चेतना निर्देश—दे० उपयोग/II।

६. ज्ञप्ति व करोति क्रिया निर्देश—दे० चेतना/३/५।

३. ज्ञातृत्व कर्तृत्व विचार

१ ज्ञान क्रिया व अज्ञान क्रिया निर्देश

स.सा./आ./७० आत्मज्ञानयोरविशेषाद्भेदमपश्यन्नविशङ्कमात्मतया ज्ञाने वर्तते तत्र वर्तमानश्च ज्ञानक्रियायाः स्वभावभूतत्वेनाप्रतिषिद्धत्वाज्जानाति···। तदत्र योऽयमात्मा स्वयमज्ञानभवने···ज्ञानभवनव्याप्रियमाणत्वेभ्यो भिन्नं क्रियमाणत्वेनान्तरुत्प्लवमानं प्रतिभाति क्रोधादि तत्कर्म। – आत्मा और ज्ञानमें विशेष न होनेसे उनके भेदको न देखता हुआ निःशंकपने ज्ञानमें आत्मपनेसे प्रवर्तता है, और वहाँ प्रवर्तता हुआ वह ज्ञानक्रियाका स्वभावभूत होनेसे निषेध नहीं किया गया है, इसलिए जानता है, जानने रूपमें परिणमित होता है।···जो यह आत्मा अपने अज्ञानभावसे ज्ञानभवनरूप प्रवृत्तिसे भिन्न जो क्रियमाणरूपसे अन्तरंग उत्पन्न होते हुए प्रतिभासित होते हैं ऐसे क्रोधादि वे (उस आत्मारूप कर्ताके) कर्म है।

२. परद्रव्योंमें अध्यवसान करनेके कारण ही जीव कर्ता प्रतिभासित होता है

न.च.वृ./३०६ भेदुवयारे जइया वट्टदि सो विय सुहासुहाधीणो। तइया कत्ता भणिदो संसारी तेण सो आदा।३०६। – शुभ और अशुभके आधीन भेद उपचार जबतक वर्तता है तबतक संसारी आत्मा कर्ता कहा जाता है। (ध.१/१,१,२/११९/१)।

स.सा./आ./३१२-३१३ अयं हि आसंसारत एव प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानेन परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता। – यह आत्मा अनादि संसारसे ही (अपने और परके भिन्न-भिन्न) निश्चित स्वलक्षणोंका ज्ञान न होनेसे दूसरेका और अपना एकत्वका अध्यास करनेसे कर्ता होता है। (स.सा./आ./३१४-३१५) (अन.ध./८/६/७३४)।

स.सा./आ./९७ ·येनायमज्ञानात्परात्मनोरेकत्वविकल्पमात्मनः करोति तेनात्मा निश्चयतः कर्ता प्रतिभाति···आसंसारप्रसिद्धेन मिलितस्वादस्वादनेन मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिरनादित एव स्यात्; ततः परात्मनावेकत्वेन जानाति, ततः क्रोधोऽहमित्यादिविकल्पमात्मनः करोति; ततो निर्विकल्पादकृतकादेकस्माद्विज्ञानघनात्प्रभ्रष्टो वारंवारमनेकविकल्पैः परिणमनकर्ता प्रतिभाति। – क्योंकि यह आत्मा अज्ञानके कारण परके और अपने एकत्वका आत्मविकल्प करता है, इसलिए वह निश्चयसे कर्ता प्रतिभासित होता है। अनादि संसारसे लेकर मिश्रित स्वादका स्वादन या अनुभवन होनेसे जिसकी भेद संवेदनकी शक्ति संकुचित हो गयी है ऐसा अनादिसे ही है। इसलिए वह स्वपरका एकरूप जानता है; इसलिए मैं क्रोध हूँ इत्यादि आत्मविकल्प करता है; इसलिए निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन (स्वभाव) से भ्रष्ट होता हुआ, बारम्बार अनेक विकल्परूप परिणमित होता हुआ कर्ता प्रतिभासित होता है। (स.सा./आ./९२,७०,२८३-२८५)।

पं.का./ता.वृ./१४७/२१३/१५ यद्ययमात्मा निश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावोऽपि व्यवहारेणानादिबन्धनोपाधिवशाद्रक्तः सन् निर्मलज्ञानानन्दादिगुणास्पदशुद्धात्मस्वरूपपरिणतेः पृथग्भूतामुदयागतं शुभाशुभं वा स्वसंवित्तिश्च्युतो भूत्वा भावं परिणामं करोति तदा स आत्मा तेन रागपरिणामेन कर्तृभूतेन बन्धो भवति। – यद्यपि निश्चयनयसे यह आत्मा शुद्धबुद्ध एकस्वभाव है, तो भी व्यवहारसे अनादि बन्धकी उपाधिके वशसे अनुरक्त हुआ, निर्मल ज्ञानानन्द आदि गुणरूप शुद्धात्मस्वरूप परिणतिसे पृथग्भूत उदयागत शुभाशुभ कर्मको अथवा स्वसंवित्तिसे च्युत होकर भावों या परिणामोंको करता है, तब वह आत्मा उस कर्ताभूत रागपरिणामसे बन्धरूप होता है।

३. स्वपर भेद ज्ञान होनेपर वही ज्ञाता मात्र रहता हुआ अकर्ता प्रतिभासित होता है

न.च.वृ./३७७ जइया तव्विवरीए आदसहावेहि संठियो होदि। तइया किंच ण कुव्वदि सहावलाहो हवे तेण।३७७। – उस शुभाशुभ रूप भेदोपचार परिणतिसे विपरीत जब वह आत्मा स्वभावमें स्थित होकर कुछ नहीं करता तब उसे स्वभाव (ज्ञाताद्रष्टापने) का लाभ होता है।

स.सा./आ./३१४-३१५ यदा त्वयमेव प्रतिनियतस्वलक्षणनिर्ज्ञानात्···परात्मनोरेकत्वाध्यासस्याकरणादकर्ता भवति। – जब यही आत्मा (अपने और परके भिन्न-भिन्न) निश्चित स्वलक्षणोंके ज्ञानके कारण स्व परके एकत्वका अध्यास नहीं करता तब अकर्ता होता है।

स.सा./आ./९७ ज्ञानी तु सन्···निखिलरसान्तरविविक्तात्यन्तमधुरचैतन्यैकरसोऽयमात्मा भिन्नरसाः कषायास्तैः सह यदेकत्वविकल्पकरणं तदज्ञानादित्येवं नानात्वेन परात्मानौ जानाति, ततोऽकृतकमेकं ज्ञानमेवाहं न पुनः कृतकोऽनेकः क्रोधादिरपीति · ततो निर्विकल्पोऽकृतक एको विज्ञानघनो भूतोऽत्यन्तमकर्ता प्रतिभाति। – जब आत्मा ज्ञानी होता है तब समस्त अन्य रसोंसे विलक्षण अत्यन्त मधुर चैतन्य रस ही एक जिसका रस है ऐसा आत्मा है और कषायें उससे भिन्न रसवाली हैं, उनके साथ जो एकत्वका विकल्प करना है वह अज्ञानसे है, इस प्रकार परको और अपनेको भिन्नरूप जानता है, इसलिए अकृत्रिम (नित्य) एक ज्ञान ही मैं हूँ, किन्तु कृत्रिम (अनित्य) अनेक जो क्रोधादिक हैं वह मैं नहीं हूँ ऐसा जानता हुआ; निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक, विज्ञानघन होता हुआ अकर्ता प्रतिभासित होता है। (स.सा./भा./९३;७१,२८३-२८५)।

स.सा./आ./९७/क.५९ ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो, जानाति हंस इव वाः पयसोर्विशेषम्। चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो, जानीत एव हि करोति न किंचनापि। – जैसे हंस दूध और पानीके विशेषको जानता है, उसी प्रकार जो जीव ज्ञानके कारण विवेकवाला होनेसे परके और अपने विशेषको जानता है, वह अचल चैतन्य धातुमें

आरूढ़ होता हुआ, मात्र जानता ही है, किंचित् मात्र भी कर्ता नहीं होता।

स.सा./आ./७२/क. ४७ परपरिणतिमुज्झत् खण्डयद्भेदवादानिदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः। ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्तेरिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः। –परपरणतिको छोड़ता हुआ, भेदके कथनोंको तोड़ता हुआ, यह अत्यन्त अखण्ड और प्रचण्ड ज्ञान प्रत्यक्ष उदयको प्राप्त हुआ है। अहो! ऐसे ज्ञानमें कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अवकाश कैसे हो सकता है? तथा पौद्गलिक कर्मबन्ध भी कैसे हो सकता है।

४. ज्ञानी जीव कर्म कर्ता हुआ भी अकर्ता ही है

स.सा./आ./२२७/क.१५३ त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं, किंत्वस्यापि कुतोऽपि किंचिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्। तस्मिन्नापतिते त्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो, ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः।१५३। –जिसने कर्मका फल छोड़ दिया है, वह कर्म करता है ऐसी प्रतीति तो हम नहीं कर सकते। किन्तु वहाँ इतना विशेष है कि—उसे (ज्ञानीको) भी किसी कारणसे कोई ऐसा कर्म अवशतासे आ पड़ता है। उसके आ पड़नेपर भी जो अकम्प परमज्ञानमें स्थित है, ऐसा ज्ञानी कर्म करता है या नहीं यह कौन जानता है?

यो.सा./अ./६/५६ यः कर्म मन्यते कर्माऽकर्म वाऽकर्म सर्वथा। स सर्वकर्मणां कर्ता निराकर्ता च जायते।५६। –जो बुद्धिमान पुरुष सर्वथा कर्मको कर्म और अकर्मको अकर्म मानता है वह समस्त कर्मोंका कर्ता भी अकर्ता है।

सा.ध./१/१३ भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया, हेयं वैषयिकं सुखं निजमुपादेयं त्विति श्रद्दधत्। चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणेवात्मनिन्दादिमान्, शर्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोऽप्यघैः। –जो सर्वज्ञदेवकी आज्ञासे वैषयिक सुखोंको हेय और निजात्म तत्त्वको उपादेय रूप श्रद्धान करता है। कोतवालके द्वारा पकड़े गये चोरकी भाँति सदा अपनी निन्दा करता है। भूरेखा सदृश अप्रत्याख्यान कर्मके उदयसे यद्यपि रागादि करता है तो भी मोक्षको भजनेवाला वह कर्मोंसे नहीं लिपता।

पं.ध./उ./२६५ यथा कश्चित्परायत्तः कुर्वाणोऽनुचितां क्रियाम्। कर्ता तस्याः क्रियायाश्च न स्यादस्ताभिलाषवान्। –जैसे कि अपनी इच्छाके बिना कोई पराधीन पुरुष अनुचित क्रियाको करता हुआ भी वास्तवमें उस क्रियाका कर्ता नहीं माना जाता, (उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव कर्मोंके आधीन कर्म करता हुआ भी अकर्ता ही है।)

और भी दे० राग/६ (विषय सेवता हुआ भी नहीं सेवता)।

५. वास्तवमें जो करता है वह ज्ञाता नहीं और जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं

स.सा./आ./९६-९७ यः करोति स करोति केवलं, यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्। यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित्, यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित्।९६। ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः, ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः। ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने, ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च।९७। –जो करता है सो मात्र करता ही है। और जो जानता है सो जानता ही है। जो करता है वह कभी जानता नहीं और जो जानता है वह कभी करता नहीं।९६। करनेरूप क्रियाके भीतर जानने रूप क्रिया भासित नहीं होती और जानने रूप क्रियाके भीतर करनेरूप क्रिया भासित नहीं होती। इसलिए ज्ञप्ति क्रिया और करोति क्रिया दोनों भिन्न हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं है।९७।

६. कर्मधारामें ही कर्तापना है ज्ञानधारामें नहीं

स.सा./आ./३४४/क.२०५ माकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः, कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः। ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं, पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम्। –यह जैनमतानुयायी सांख्यमतियोंकी भाँति आत्माको (सर्वथा) अकर्ता न मानो। भेदज्ञान होनेसे पूर्व उसे निरन्तर कर्ता मानो, और भेदज्ञान होनेके बाद, उद्धत ज्ञानधाम (ज्ञानप्रकाश) में निश्चित इस स्वयं प्रत्यक्ष आत्माको कर्तृत्व रहित, अचल, एक परम ज्ञाता ही देखो।

७. जब तक बुद्धि है, तब तक अज्ञानी है

स.सा./मू./२४७ जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं। सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो। –जो यह मानता है कि मैं परजीवोंको मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं, वह मूढ़ है, अज्ञानी है और इससे विपरीत ज्ञानी है।

स. सा./आ./७४/क.४८ अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान्।४८। –अज्ञानसे उत्पन्न हुई कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिके अभ्याससे उत्पन्न क्लेशोंसे निवृत्त हुआ, स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ जगतका साक्षी पुराण पुरुष अब यहाँसे प्रकाशमान होता है।

स.सा./आ./२५६/क.१६९ अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य, पश्यन्ति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम्। कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते, मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति। –इस अज्ञानको प्राप्त करके जो पुरुष परसे परके मरण, जीवन, दुःख, सुखको देखते हैं, वे पुरुष—जो कि इस प्रकार अहंकाररससे कर्मोंको करनेके इच्छुक हैं, वे नियमसे मिथ्यादृष्टि हैं, अपने आत्माका घात करनेवाले हैं।

स.सा./आ./३२१ ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यन्ति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तन्ते। –जो आत्माको कर्ता ही देखते हैं, वे लोकोत्तर हों तो भी लौकिकताको अतिक्रमण नहीं करते।

८. वास्तवमें ज्ञप्तिक्रियायुक्त ही ज्ञानी है

स.सा./आ./१६१-१६३/क१११ मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति यन्मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः। विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं, ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च।१११। –कर्मनयके आलम्बनमें तत्पर पुरुष डूबे हुए हैं, क्योंकि वे ज्ञानको नहीं जानते। ज्ञाननयके इच्छुक पुरुष भी डूबे हुए हैं, क्योंकि वे स्वच्छन्दतासे अत्यन्त मन्द उद्यमी हैं। वे जीव विश्वके ऊपर तैरते हैं, जो कि स्वयं निरन्तर ज्ञानरूप होते हुए (ज्ञानरूप परिणमते हुए) कर्म नहीं करते और कभी प्रमादके वश भी नहीं होते।

स. सा./आ./परि./क. २६७ स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां, यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः। ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः। –जो पुरुष स्याद्वादमें प्रवीणता तथा सुनिश्चल संयम—इन दोनोंके द्वारा अपनेमें उपयुक्त रहता हुआ प्रतिदिन अपनेको भाता है, वही एक ज्ञाननय और क्रियानयकी परस्पर तीव्र मैत्रीका पात्ररूप होता हुआ, इस भूमिकाका आश्रय करता है।

९. कर्ताबुद्धि छोड़नेका उपाय

स.सा./आ./७१ ज्ञानस्य यद्भवनं तन्न क्रोधादेरपि भवनं यतो यथा ज्ञानभवने ज्ञानं भवद्विभाव्यते न तथा क्रोधादिरपि, यत्तु क्रोधादेर्भवनं तन्न ज्ञानस्यापि भवनं यतो यथा क्रोधादिभवने क्रोधा-

दयो भवन्तो विभाव्यन्ते न तथा ज्ञानमपि इत्यात्मनः क्रोधादीनां च न खल्वेकवस्तुत्वं इत्येवमात्मात्मास्रवयोर्विशेषदर्शनेन यदा भेदं जानाति तदास्यानादिरप्यज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिर्निवर्तते। —जो ज्ञानका परिणमन है वह क्रोधादिका परिणमन नहीं है, क्योंकि जैसे ज्ञान होने पर ज्ञान ही हुआ मालूम होता है वैसे क्रोधादिक नहीं मालूम होते। जो क्रोधादिका परिणमन है, वह ज्ञानका परिणमन नहीं है, क्योंकि, क्रोधादिक होनेपर जैसे क्रोधादिक हुए प्रतीत होते हैं वैसे ज्ञान हुआ प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार क्रोध (राग, द्वेषादि) और ज्ञान इन दोनोंके निश्चयसे एक वस्तुत्व नहीं है। इस प्रकार आत्मा और आस्रवोंका भेद देखनेसे जिस समय भेद जानता है उस समय इसके अनादिकालसे उत्पन्न हुई परमें कर्ता कर्मकी प्रवृत्ति निवृत्त हो जाती है।

चेदि—१. मालवा प्रान्त (इन्दौर आदि) की वर्तमान चन्देरी नगरी के समीपवर्ती प्रदेश। अब यह गवालियर राज्यमें है। (म.पु./प्र.५०/पं. पन्नालाल)। २. भरतक्षेत्र आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४। ३. विन्ध्याचल पर स्थित एक नगर —दे० मनुष्य/४।

चेर—मध्य आर्यखण्डका एक देश —दे० मनुष्य/४।

चेलना—१. (म.पु./७५/श्लोक नं.) राजा चेटककी पुत्री थी।६-८। राजा श्रेणिकसे विवाही गयीं, तथा उसकी पटरानी बनी।३४। २. (बृहत्कथाकोश/कथा नं. ८/पृ. नं. २६) वैशाख नामा मुनि राजगृहमें एक महीनेके उपवाससे आये। मुनिकी स्त्री जो व्यन्तरी हो गयी थी, उसने मुनिराजके पड़गाहनेके समय उनकी इन्द्री बढ़ा दी। तब चेलनाने उनके आगे कपड़ा ढँककर उनका उपसर्ग व अवर्णवाद दूर करके उनको आहार दिया।२६।

चेष्टा—न्या.द./भा./१-१/११/१८ ईप्सितं जिहासितं वा अर्थमधिकृत्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य तदुपायानुष्ठानलक्षणसमीहा चेष्टा। —किसी वस्तुके लेने व छोड़नेकी इच्छासे उस वस्तुमें ग्रहण करने या छोड़नेके लिए जो उपाय किया जाता है उसको चेष्टा कहते हैं।

चैत्य चैत्यालय—जिन प्रतिमा व उनका स्थान अर्थात् मन्दिर चैत्य व चैत्यालय कहलाते हैं। ये मनुष्यकृत भी होते हैं और अकृत्रिम भी। मनुष्यकृत चैत्यालय तो मनुष्यलोकमें ही मिलने सम्भव हैं, परन्तु अकृत्रिम चैत्यालय चारों प्रकारके देवोंके भवन प्रासादों व विमानोंमें तथा स्थल-स्थल पर इस मध्यलोकमें विद्यमान हैं। मध्यलोकके १३ द्वीपोंमें स्थित जिन चैत्यालय प्रसिद्ध हैं।

१ चैत्य या प्रतिमा निर्देश

१. निश्चय स्थावर जंगम चैत्य या प्रतिमा निर्देश

बो.पा./मू./८,१० चेइय बंधं मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयं तस्स।८। सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं। णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा।१०। —बन्ध, मोक्ष, दुःख व सुखको भोगनेवाला आत्मा चैत्य है।८। दर्शनज्ञान करके शुद्ध है आचरण जिनका ऐसे वीतराग निर्ग्रन्थ साधुका देह उसकी आत्मासे पर होनेके कारण जिनमार्गमें जंगम प्रतिमा कही जाती है। अथवा ऐसे साधुओंके लिए अपनी और अन्य जीवोंकी देह जंगम प्रतिमा है।

बो.पा./मू./११,१३ जो चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं। सो होइ वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा।११। णिरुवममचलमखोहा णिम्मिविया जंगमेण रूवेण। सिद्धठाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा सिद्धा।१३। —जो शुद्ध आचरणको आचरै, बहुरि सम्यग्ज्ञानकरि यथार्थ वस्तुकूं जानै है, बहुरि सम्यग्दर्शनकरि अपने स्वरूपकूं देखे है, ऐसे निर्ग्रन्थ संयमस्वरूप प्रतिमा है सो वंदिबे योग्य है।११। जो निरुपम हैं, अचल हैं, अक्षोभ हैं, जो जंगमरूपकरि निर्मित हैं, अर्थात् कर्मसे मुक्त हुए पीछे एक समयमात्र जिनको गमन होता है, बहुरि सिद्धालयमें विराजमान, सो व्युत्सर्ग अर्थात् कायरहित प्रतिमा है।

द. पा./मू./३५/२७ विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठसुलक्खणेहिं संजुत्तो। चउतीसअइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया।३५।

द. पा./टी./३५/२७/११ सा प्रतिमा प्रतियातना प्रतिबिम्बं प्रतिकृतिः स्थावरा भणिता इह मध्यलोके स्थितत्वात् स्थावरप्रतिमेत्युच्यते। मोक्षगमनकाले एकस्मिन् समये जिनप्रतिमा जङ्गमा कथ्यते।—केवलज्ञान भये पीछे जिनेन्द्र भगवान् १००८ लक्षणोंसे युक्त जेतेकाल इस लोकमें विहार करते हैं तेतै तिनिका शरीर सहित प्रतिबिम्ब, तिसकूं 'थावर प्रतिमा' कहिए।३५। प्रतिमा, प्रतियातना, प्रतिबिम्ब, प्रतिकृति ये सब एकार्थ वाचक नाम हैं। इस लोकमें स्थित होनेके कारण वह प्रतिमा स्थावर कहलाती है और मोक्षगमनकालमें एक समयके लिए वही जंगम जिनप्रतिमा कहलाती है।

२. व्यवहार स्थावर जंगम चैत्य या प्रतिमा निर्देश

भ. आ./वि./४६/१५४/४ चैत्यं प्रतिबिम्बं इति यावत्। कस्य। प्रत्यासत्तेः श्रुतयोरेवार्हत्सिद्धयोः प्रतिबिम्बग्रहणं। —चैत्य अर्थात् प्रतिमा। चैत्य शब्दसे प्रस्तुत प्रसंगमें अर्हत असिद्धोंके प्रतिमाओंका ग्रहण समझना।

द. पा./टी./३५/२७/१३ व्यवहारेण तु चन्दनकनकमहामणिस्फटिकादिघटिता प्रतिमा स्थावरा। समवशरणमण्डिता जंगमा जिनप्रतिमा प्रतिपाद्यते। —व्यवहारसे चन्दन कनक महामणि स्फटिक आदिसे घड़ी गयी प्रतिमा स्थावर है और समवशरण मण्डित अर्हत भगवान् सो जंगम जिनप्रतिमा है।

३. व्यवहार प्रतिमा विषयक धातु-माप-आकृति व अंगोपांग आदिका निर्देश

वसुनन्दि प्रतिष्ठापाठ/मू./परि. ४/श्लो. नं. अथ बिम्बं जिनेन्द्रस्य कर्तव्यं लक्षणान्वितम्। ऋज्वायतसुसंस्थानं तरुणाङ्गं दिगम्बरम्।१। श्रीवृक्षभूषितोरस्कं जानुप्राप्तकराग्रजम्। निजाङ्गुलप्रमाणेन साष्टाङ्गुलशतायुतम्।२। मानं प्रमाणमुन्मानं चित्रलेपशिलादिषु। प्रत्यङ्गपरिणाहोर्ध्वं यथासंख्यमुदीरितम्।३। कक्षादिरोमहीनाङ्गं श्मश्रुरेखाविवर्जितम्। ऊर्ध्वं प्रलम्बकं दत्त्वा समाप्त्यन्तं च धारयेत्।४। तालं मुखं वितस्तिः स्यादेकार्थं द्वादशाङ्गुलम्। तेन मानेन तद्बिम्बं नवधा प्रविकल्पयेत्।५। लक्षणैरपि संयुक्तं बिम्बं दृष्टिविवर्जितम्। न शोभते यतस्तस्मात्कुर्याद्दृष्टिप्रकाशनम्।७२। नात्यन्तोन्मीलिता स्तब्धा न विस्फारितमीलिता। तिर्यगूर्ध्वमधो दृष्टिं वर्जयित्वा प्रयत्नतः।७३। नासाग्रनिहिता शान्ता प्रसन्ना निर्विकारिका। वीतरागस्य मध्यस्था कर्तव्याधोत्तमा तथा।७४। —(१) लक्षण—जिनेन्द्रकी प्रतिमा सर्व लक्षणोंसे युक्त बनानी चाहिए। वह सीधी, लम्बायमान, सुन्दर संस्थान, तरुण अंगवाली व दिगम्बर होनी चाहिए।१। श्रीवृक्ष लक्षणसे भूषित वक्षस्थल और जानुपर्यंत लम्बायमान बाहुवाली होनी चाहिए।२। कक्षादि अंग रोमहीन होने चाहिए तथा मूछ व झुर्रियों आदिसे रहित होने चाहिए।४। (२) माप—प्रतिमाकी अपनी अंगुलीके मापसे वह १०८ अंगुलकी होनी चाहिए।२। चित्रमें या लेपमें या शिला आदिमें प्रत्येक अंगका मान, प्रमाण व उन्मान नीचे व ऊपर सर्व ओर यथाकथित रूपसे लगा लेना चाहिए।३। ऊपरसे नीचेतक सौल डालकर शिलापर सीधे निशान लगाने चाहिए।४। प्रतिमाकी तौल या माप निम्न प्रकार जानने चाहिए। उसका मुख उसकी अपनी अंगुलीके मापसे १२ अंगुल या एक बालिश्त होना चाहिए। और उसी मानसे

अन्य भी नौ प्रकारका माप जानना चाहिए ।६। (३) मुद्रा—लक्षणोंसे संयुक्त भी प्रतिमा यदि नेत्ररहित हो या मुन्दी हुई आँखवाली हो तो शोभा नहीं देती, इसलिए उसे उसकी आँख खुली रखनी चाहिए ।७२। अर्थात् न तो अत्यन्त मुन्दी हुई होनी चाहिए और न अत्यन्त फटी हुई। ऊपर नीचे अथवा दायें-बायें दृष्टि नहीं होनी चाहिए ।७३। बल्कि शान्त नासाग्र प्रसन्न व निर्विकार होनी चाहिए। और इसी प्रकार मध्य व अधोभाग भी वीतराग प्रदर्शक होने चाहिए ।७४।

४. सदोष प्रतिमासे हानि

वसुनन्दि प्रतिष्ठापाठ/परि. ४/श्लो. नं. अर्थनाशं विरोधं च तिर्यग्दृष्टिर्भयं तथा। अधस्तात्सुतनाशं च भार्यामरणमूर्ध्वगा ।७५। शोकमुद्वेगसंतापं स्तब्धा कुर्याद्धनक्षयम्. शान्ता सौभाग्यपुत्रार्थाशाभिवृद्धिप्रदा भवेत् ।७६। सदोषार्चा न कर्त्तव्या यतः स्यादशुभावहा। कुर्याद्रौद्रा प्रभोर्नाशं कृशाङ्गी द्रव्यसंक्षयम् ।७७। संक्षिप्ताङ्गी क्षयं कुर्याच्चिपिटा दुःखदायिनी। विनेत्रा नेत्रविध्वंसं हीनवक्त्रा त्वशोभनी ।७८। व्याधिं महोदरी कुर्याद् हृद्रोगं हृदये कृशा। अंसहीनानुजं हन्याच्छुष्कजङ्घा नरेन्द्रहा ।७९। पादहीना जनं हन्यात्कटिहीना च वाहनम्। ज्ञात्वैवं कारयेज्जैनीं प्रतिमां दोषवर्जिताम् ।८०। —दायीं-बायीं दृष्टिसे अर्थका नाश, अधो दृष्टिमे भय तथा ऊर्ध्व दृष्टिसे पुत्र व भार्याका मरण होता है ।७५। स्तब्ध दृष्टिसे शोक, उद्वेग, संताप तथा धनका क्षय होता है। और शान्त दृष्टि सौभाग्य, तथा पुत्र व अर्थकी आशामें वृद्धि करनेवाली है ।७६। सदोष प्रतिमाकी पूजा करना अशुभदायी है, क्योंकि उससे पूजा करनेवालेका अथवा प्रतिमाके स्वामीका नाश, अंगोंका कृश हो जाना अथवा धनका क्षय आदि फल प्राप्त होते हैं ।७७। अंगहीन प्रतिमा क्षय व दुःखको देनेवाली है। नेत्रहीन प्रतिमा नेत्रविध्वंस करनेवाली तथा मुखहीन प्रतिमा अशुभकी करनेवाली है ।७८। हृदयसे कृश प्रतिमा महोदर रोग या हृदयरोग करती है। अंस या अंगहीन प्रतिमा पुत्रको तथा शुष्क जंघावाली प्रतिमा राजाको मारती है ।७९। पाद रहित प्रतिमा प्रजाका तथा कटिहीन प्रतिमा वाहनका नाश करती है। ऐसा जानकर जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिमा दोषहीन बनानी चाहिए ।८०।

५. पाँचों परमेष्ठियोंकी प्रतिमा बनानेका निर्देश

भ. आ./वि./४६/१५४/४ कस्य। प्रत्यासत्तेः श्रुतयोरेवार्हत्सिद्धयोः प्रतिबिम्बग्रहणं। अथवा मध्यप्रक्षेपः पूर्वोत्तरगोचरस्थापनापरिग्रहार्थस्तेन साध्वादिस्थापनापि गृह्यते। —प्रश्न—प्रतिबिम्ब किसका होता है? उत्तर—प्रस्तुत प्रसंगमें अर्हत और सिद्धोंके प्रतिमाओंका ग्रहण समझना चाहिए। अथवा यह मध्य प्रक्षेप है, इसलिए पूर्व विषयक और उत्तर विषयक स्थापनाका यहाँ ग्रहण होता है। अर्थात् पूर्व विषय तो अर्हत और सिद्ध है ही और उत्तर विषय (इस प्रकरणमें आगे कहे जानेवाले विषय) श्रुत, शास्त्र, धर्म, साधु, परमेष्ठी, आचार्य, उपाध्याय वगैरह है। इनका भी यहाँ संग्रह होनेसे, इनकी भी प्रतिमाएँ स्थापना होती है।

६. पाँचों परमेष्ठियोंकी प्रतिमाओंमें अन्तर

वसुनन्दि प्रतिष्ठापाठ/परि. ४/६९-७० प्रातिहार्याष्टकोपेतं संपूर्णावयवं शुभम्। भावरूपानुविद्धाङ्गं कारयेद्बिम्बमर्हतः ।६९। प्रातिहार्यैर्विना शुद्धं सिद्धबिम्बमपीदृशम्। सूरीणां पाठकानां च साधूनां च यथागमम्। —आठ प्रातिहार्योंसे युक्त तथा सम्पूर्ण शुभ अवयवोंवाली, वीतरागताके भावसे पूर्ण अर्हन्तकी प्रतिबिम्ब करनी चाहिए ।६९। प्रातिहार्योंसे रहित सिद्धोंकी शुभ प्रतिमा होती है। आचार्यों, उपाध्यायों व साधुओंकी प्रतिमाएँ भी आगमके अनुसार बनानी चाहिए ।७०। (वरहस्त सहित आचार्यकी, शास्त्रसहित उपाध्यायकी तथा केवल पिच्छी कमण्डलु सहित साधुकी प्रतिमा होती है। शेष कोई भेद नहीं है)।

७. शरीर रहित सिद्धोंकी प्रतिमा कैसे सम्भव है

भ. आ./वि./४६/१५३/१९ ननु सशरीरस्यात्मनः प्रतिबिम्बं युज्यते, अशरीराणां तु शुद्धात्मनां सिद्धानां कथं प्रतिबिम्बसंभवः। पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया…शरीरसंस्थानवच्चिदात्मापि संस्थानवानेव संस्थानवतोऽव्यतिरिक्तत्वाच्छरीरस्थात्मवत्। स एव चायं प्रतिपन्नसम्यक्त्वाद्यगुण इति स्थापनासंभवः। —प्रश्न—शरीरसहित आत्माका प्रतिबिम्ब मानना तो योग्य है, परन्तु शरीर रहित शुद्धात्मस्वरूप सिद्धोंकी प्रतिमा मानना कैसे सम्भव है? उत्तर—पूर्वभावप्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे सिद्धोंकी प्रतिमाएँ स्थापना कर सकते हैं, क्योंकि जो अब सिद्ध हैं वही पहले सयोगी अवस्थामें शरीर सहित थे। दूसरी बात यह है कि जैसी शरीरकी आकृति रहती है वैसी ही चिदात्मा सिद्धकी भी आकृति रहती है। इसलिए शरीरके समान सिद्ध भी संस्थानवान् हैं। अतः सम्यक्त्वादि अष्टगुणोंसे विराजमान सिद्धोंकी स्थापना सम्भव है।

८. दिगम्बर ही प्रतिमा पूज्य है

चैत्यभक्ति/३२ निराभरणभासुरं विगतरागवेगोदयान्निरम्बरमनोहरं प्रकृतिरूपनिर्दोषतः। निरायुधसुनिर्भयं विगतहिंस्यहिंसाक्रमान्निरामिषसुतृप्तिमद्विविधवेदनानां क्षयात् ।३२। —हे जिनेन्द्र भगवान्! आपका रूप रागके आवेगके उदयके नष्ट हो जानेसे आभरण रहित होनेपर भी भासुर रूप है; आपका स्वाभाविक रूप निर्दोष है इसलिए वस्त्ररहित नग्न होनेपर भी मनोहर है; आपका यह रूप न औरोंके द्वारा हिंस्य है और न औरोंका हिंसक है, इसलिए आयुध रहित होने पर भी अत्यन्त निर्भय स्वरूप है; तथा नाना प्रकारकी क्षुत्पिपासादि वेदनाओंके विनाश हो जानेसे आहार न करते हुए भी तृप्तिमान है।

बो. पा./टी./१०/७८/१८ स्वकीयशासनस्य या प्रतिमा सा उपादेया ज्ञातव्या। या परकीया प्रतिमा सा हेया न वन्दनीया। अथवा सपरा-स्वकीयशासनेऽपि या प्रतिमा परा उत्कृष्टा भवति सा वन्दनीया न तु अनुत्कृष्टा। का उत्कृष्टा का वानुत्कृष्टा इति चेदुच्यन्ते या पञ्चजैनाभासैरञ्जलिकारहितापि नग्नमूर्तिरपि प्रतिष्ठिता भवति सा न वन्दनीया न चार्चनीया च। या तु जैनाभासरहितैः साक्षादार्हत्संघैः प्रतिष्ठिता चक्षुःस्तनादिषु विकाररहिता समुपन्यस्ता सा वन्दनीया। तथा चोक्तम् इन्द्रनन्दिना भट्टारकेण—चतुःसंघसंहिताया जैनं बिम्बं प्रतिष्ठितं। नमेन्नापरसंघाया यतो न्यासविपर्ययः ।१। —स्वकीय शासनकी प्रतिमा ही उपादेय है और परकीय प्रतिमा हेय है, वन्दनीय नहीं है। अथवा स्वकीय शासनमें भी उत्कृष्ट प्रतिमा वन्दनीय है अनुत्कृष्ट नहीं। प्रश्न—उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट प्रतिमा क्या? उत्तर—पंच जैनाभासोंके द्वारा प्रतिष्ठित अंजलिका रहित तथा नग्न भी मूर्ति वन्दनीय नहीं है। जैनाभासोंसे रहित साक्षात् आर्हत संघोंके द्वारा प्रतिष्ठित तथा चक्षु व स्तन आदि विकारोंसे रहित प्रतिमा ही वन्दनीय है। इन्द्रनन्दि भट्टारक ने भी कहा है—नन्दिसंघ, सेनसंघ, देवसंघ और सिंहसंघ इन चार संघोंके द्वारा प्रतिष्ठित जिनबिंब ही नमस्कार की जाने योग्य है, दूसरे संघोंके द्वारा प्रतिष्ठित नहीं, क्योंकि वे न्याय व नियमसे विरुद्ध हैं।

९. रंगीन अंगोपांगों सहित प्रतिमाओंका निर्देश

ति. प./४/१८७२-१८७४ भिण्णिंदणीलमरगयकुंतलभूवग्गदिण्णसोहाओ। फलिहिंदणीलणिम्मिदधवलासिदणेत्तजुयलाओ ।१८७२। वज्जमयदंतपंतीपहाओ पल्लवसरिच्छअधराओ। हीरमयवरणहाओ पउमा-

रूपपाणिचरणाओ ।९८७३। अट्ठुत्तरसयसहस्सप्पमाणवंजणसमूहसहिदाओ । बत्तीसलक्खणेहिं जुत्ताओ जिणेसपडिमाओ ।९८७४। —(पाण्डुक वनमें स्थित) ये जिनेन्द्र प्रतिमाएँ भिन्नइन्द्रनीलमणि व मरकतमणिमय कुंतल तथा भृकुटियोंके अग्रभागसे शोभाको प्रदान करनेवाली, स्फटिक व इन्द्रनीलमणिसे निर्मित धवल व कृष्ण नेत्र युगलसे सहित, वज्रमय दन्तपंक्तिकी प्रभासे संयुक्त, पल्लवके सदृश अधरोष्ठसे सुशोभित, हीरेसे निर्मित उत्तम नखोंसे विभूषित, कमलके समान लाल हाथ पैरोंसे विशिष्ट, एक हजार आठ व्यंजनसमूहोंसे सहित और बत्तीस लक्षणोंसे युक्त हैं। (त्रि. सा./९८६)

रा. वा/३/१०/१३/१७८/३४ कनकमयदेहास्तपनीयहस्तपादतलतालुजिह्वा-लोहिताक्षमणिपरिक्षिप्ताङ्कस्फटिकमणिनयना अरिष्टमणिमयनयनतारकारजतमयदन्तपङ्क्तयः विद्रुमच्छायाधरपुटा अञ्जनमूलमणिमयाक्षपक्ष्मभ्रूलता नीलमणिविरचितासिताग्रकेशाः···भव्यजनस्तवनवन्दनपूजनार्हा अर्हत्प्रतिमा अनादिनिधना···। —(सुमेरु पर्वतके भद्रशाल वनमें स्थित चार चैत्यालयोंमें स्थित जिनप्रतिमाओं) की देह कनकमयी है; हाथ-पाँवके तलवे-तालु व जिह्वा तपे हुए सोनेके समान लाल हैं; लोहिताक्ष मणि अंकमणि व स्फटिकमणिमयी आँखें हैं; अरिष्टमणिमयी आँखोंके तारे हैं; रजतमयी दन्तपंक्ति है; विद्रुममणिमयी होंठ हैं; अंजनमूल मणिमयी आँखोंकी पलकें व भ्रूलता है; नीलमणि रचित सरके केश हैं। ऐसी अनादिनिधन तथा भव्यजनोंके स्तवन, वन्दन, पूजनादिके योग्य अर्हत्प्रतिमा है।

१०. सिंहासन व यक्षों आदि सहित प्रतिमाओंका निर्देश

ति.प./३/५२ सिंहासणादिसहिदा चामरकरणागजक्खमिहुणजुदा । णाणाविहरयणमया जिणपडिमा तेसु भवणेसु ।५२। —उन (भवनवासी देवोंके) भवनोंमें सिंहासनादिकसे सहित, हाथमें चमर लिये हुए नागयक्षयुगलसे युक्त और नाना प्रकारके रत्नोंसे निर्मित, ऐसी जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं। (रा.वा/३/१०/१३/१७६/२); (ह.पु/५/३६३), (त्रि.सा./९८६-९८७)

११. प्रतिमाओंके पासमें अष्ट मंगल द्रव्य तथा १०८ उपकरण रहनेका निर्देश

ति. प./४/१८७९-१८८० ते सव्वे उवयरणा घंटापहुदीओ तह य दिव्वाणि । मंगलदव्वाणि पुढं जिणिंदपासेसु रेहंति ।१८७९। भिंगारकलसदप्पणचामरधयवियणछत्तसुपयट्ठा । अट्ठुत्तरसयसंखा पत्तेक्कं मंगला तेसुं ।१८८०। —घंटा प्रभृति वे सब उपकरण तथा दिव्य मंगल द्रव्य पृथक्-पृथक् जिनेन्द्रप्रतिमाओंके पासमें सुशोभित होते हैं ।१८७९। भृंगार, कलश, दर्पण, चँवर, ध्वजा, बीजना, छत्र और सुप्रतिष्ठ—ये आठ मंगल द्रव्य हैं, इनमेंसे प्रत्येक वहाँ १०८ होते हैं ।१८८०। (ज.प./१३/११२—अर्हंतके प्रकरणमें अष्ट मंगलद्रव्य); (त्रि.सा./९८९); (द.पा./टी./३५/२१/१) अर्हंतके प्रकरणमें अष्टद्रव्य।

ह.पु./५/३६४-३६५ भृंगारकलशादर्शपात्रीशङ्खाः समुद्गकाः । पालिकाधूपनीदीपकूर्चाः पाटलिकादयः ।३६४। अष्टोत्तरशतं ते पि कंसतालनकादयः । परिवारोऽत्र विज्ञेयः प्रतिमानां यथायथम् ।३६५। —झारी कलश, दर्पण, पात्री, शंख, सुप्रतिष्ठक, ध्वजा, धूपनी, दीप, कूर्च, पाटलिका आदि तथा झाँझ, मजीरा आदि १०८ उपकरण प्रतिमाओंके परिवारस्वरूप जानना चाहिए, अर्थात् ये सब उनके समीप यथा योग्य विद्यमान रहते हैं।

१२. प्रतिमाओंके लक्षणोंकी सार्थकता

ध.९/४,१,४४/१०७/४ कधमेदम्हादो सरीरादो गंथस्स पमाणत्तमवगम्मदे । उच्चदे—णिराउहत्तादो जाणाविदकोह-माण-माया-लोह-जाइ-जरा-मरण-भय-हिंसाभावं, णिप्फंदक्खेक्खणादो जाणाविदति-वेदोदयाभावं । णिराहरणत्तादो जाणाविदरागाभावं, भिउडिविरहादो जाणाविदकोहाभावं । , वग्गण-णच्चण-हसण-फोडणक्खसुत्त-जडा-मउड-णरसिरमालाधरणविरहादो मोहाभावलिंगं । णिरंबरत्तादो लोहाभावलिंगं । ···अग्गि—विसासणि-वज्जाउहादीहि बाहाभावादो घाइकम्माभावलिंगं । ···वलियावलोयणाभावादो सगासेसजीवपदेस-ट्ठियणाण-दंसणावरणाणं णिस्सेसाभावलिंगं । ···आगासगमणेण पहापरिवेढेण तिहुवणभवणवित्थारिणा सुरहिसोहेण च जाणाविद-अमाणुसभावं । ···तदो एदं सरीरं राग-दोस-मोहाभावं जाणावेदि । —प्रश्न—इस (भगवान् महावीरके) शरीरसे ग्रन्थकी प्रमाणता कैसे जानी जाती है? उत्तर—(१) निरायुध होनेसे क्रोध मान माया लोभ, जन्म, जरा, मरण, भय और हिंसाके अभावका सूचक है। (२) स्पन्दरहित नेत्र दृष्टि होनेसे तीनों वेदोंके उदयके अभावका ज्ञापक है। (३) निराभरण होनेसे रागका अभाव। (४) भृकुटिरहित होनेसे क्रोधका अभाव। (५) गमन, नृत्य, हास्य, विदारण, अक्षसूत्र, जटा मुकुट और नरमुण्डमालाको न धारणा करनेसे मोहका अभाव। (६) वस्त्ररहित होनेसे लोभका अभाव। (७) अग्नि, विष, अशनि और वज्रायुधादिकोंसे बाधा न होनेके कारण घातिया कर्मोंका अभाव। (८) कुटिल अवलोकनके अभावसे ज्ञानावरण व दर्शनावरणका पूर्ण अभाव। (९) गमन, प्रभामण्डल, त्रिलोकव्यापी सुरभिसे अमानुषता। इस कारण यह शरीर राग-द्वेष एवं मोहके अभावका ज्ञापक है। (इस वीतरागतासे ही उनकी सत्य भाषा व प्रामाणिकता सिद्ध होती है)।

१३. अन्य सम्बन्धी विषय

१. प्रतिमामें देवत्व— दे० देव/I/१/३
२. देव प्रतिमामें नहीं हृदयमें है—दे० पूजा/३
३. प्रतिमाकी पूजाका निर्देश—दे० पूजा/३
४. जटा सहित प्रतिमाका निर्देश—दे० केश लौंच/४

२. चैत्यालय निर्देश

१. निश्चय व्यवहार चैत्यालय निर्देश

बो.पा./मू./८/९ बुद्धं जं बोहंतो अप्पाणं चेतयाइं अण्णं च । पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं ।८। चेइहरं जिणमग्गे छक्कायहियंकरं भणियं ।९।

बो.पा./टी./८/७६/१३ कर्मतापन्नानि भव्यजीववृन्दानि बोधयन्तमात्मान चैत्यगृहं निश्चयचैत्यालयं हे जीव ! त्वं जानीहि निश्चयं कुरु।··· व्यवहारनयेन निश्चयचैत्यालयप्राप्तिकारणभूतेनान्यत्र दृषदिष्टका-काष्ठादिरचिते श्रीमद्भगवत्सर्वज्ञवीतरागप्रतिमाधिष्ठितं चैत्यगृहं । —स्व व परकी आत्मा को जाननेवाला ज्ञानी आत्मा जिसमें बसता हो ऐसा पंचमहाव्रत संयुक्त मुनि चैत्यगृह है।८। जिनमार्गमें चैत्यगृह षट्काय जीवोंका हित करनेवाला कहा गया है।९। कर्मबद्ध भव्यजीवोंके समूहको जाननेवाला आत्मा निश्चयसे चैत्यगृह या चैत्यालय है तथा व्यवहार नयसे निश्चय चैत्यालयके प्राप्तिका कारणभूत अन्य जो ईंट, पत्थर व काष्ठादि से बनाये जाते हैं तथा जिनमें भगवत सर्वज्ञ वीतराग की प्रतिमा रहती है वह चैत्यगृह है।

★ चैत्यालयमें देवत्व—दे० देव/I/१/३

२. भवनवासी देवोंके चैत्यालयोंका स्वरूप

ति.प./३/गा.नं./भावार्थ—सर्व जिनालयोंमें चार चार गोपुरोंसे युक्त तीन कोट, प्रत्येक वीथी (मार्ग) में एकमें एक मानस्तम्भ व नौ स्तूप तथा

(कोटोंके अन्तरालमें) क्रमसे वनभूमि, ध्वजभूमि और चैत्यभूमि होती है ।४४। वन भूमिमें चैत्यवृक्ष है ।४५। ध्वज भूमिमें गज आदि चिन्हों युक्त ८ महा ध्वजाएँ है। एक एक महाध्वजाके आश्रित १०८ क्षुद्र ध्वजाएँ हैं ।६४। जिनमन्दिरोंमें देवच्छन्दके भीतर श्रीदेवी, श्रुतदेवी तथा सर्वान्ह तथा सनत्कुमार यक्षोंकी मूर्तियाँ एवं आठ मंगल द्रव्य होते हैं ।४८। उन भवनोंमें सिंहासनादिसे सहित हाथमें चँवर लिये हुए नाग यक्ष युगलसे युक्त और नाना प्रकारके रत्नोंसे निर्मित ऐसी जिन प्रतिमाएँ विराजमान हैं ।५२।

३. व्यंतर देवोंके चैत्यालयोंका स्वरूप

ति.प./६/गा.नं./सारार्थ—प्रत्येक जिनेन्द्र प्रासाद आठ मंगल द्रव्योंसे युक्त है ।१३। ये दुंदुभी आदिसे मुखरित रहते हैं ।१४। इनमें सिंहासनादि सहित, प्रातिहार्यों सहित, हाथमें चँवर लिये हुए नाग यक्ष देवयुगलोंसे संयुक्त ऐसी अकृत्रिम जिनप्रतिमाएँ हैं ।१५।

ति प./५/गा.नं./सारार्थ—प्रत्येक भवनमें ६ मण्डल हैं। प्रत्येक मण्डलमें राजांगणके मध्य (मुख्य) प्रासादके उत्तर भागमें सुधर्मा सभा है। इसके उत्तरभागमें जिनभवन है ।१६०-२००। देव नगरियोंके बाहर पूर्वादि दिशाओंमें चार वन खण्ड हैं। प्रत्येकमें एक-एक चैत्य वृक्ष है। इस चैत्यवृक्षकी चारों दिशाओंमें चार जिनेन्द्र प्रतिमाएँ हैं ।२३०।

४. कल्पवासी देवोंके चैत्यालयोंका स्वरूप

ति.प./८/गा.नं./सारार्थ—समस्त इन्द्र मन्दिरोंके आगे न्यग्रोध वृक्ष होते हैं, इनमें एक-एक वृक्ष पृथिवी स्वरूप व पूर्वोक्त जम्बू वृक्षके सदृश होते हैं ।४०५। इनके मूलमें प्रत्येक दिशामें एक एक जिन प्रतिमा होती है ।४०६। सौधर्म मन्दिरकी ईशान दिशामें सुधर्मा सभा है ।४०७। उसके भी ईशान दिशामें उपपाद सभा है ।४१०। उसी दिशामें पाण्डुक वन सम्बन्धी जिनभवनके सदृश उत्तम रत्नमय जिनेन्द्र-प्रासाद है ।४११।

५. पांडुक वनके चैत्यालयका स्वरूप

ह.पु./५/३६६-३७२ का संक्षेपार्थ—यह चैत्यालय झरोखा, जाली, झालर, मणि व घंटियों आदिसे सुशोभित है। प्रत्येक जिनमन्दिरका एक उन्नत प्राकार (परकोटा) है। उसकी चारों दिशाओंमें चार गोपुर द्वार हैं। चैत्यालयकी दशों दिशाओंमें १०८,१०८ इस प्रकार कुल १०८० ध्वजाएँ हैं। ये ध्वजाएँ सिंह, हंस आदि दश प्रकारके चिन्होंसे चिन्हित हैं। चैत्यालयोंके सामने एक विशाल सभा मण्डप (सुधर्मा सभा) है। आगे नृत्य मण्डप है। उनके आगे स्तूप हैं। उनके आगे चैत्य वृक्ष है। चैत्य वृक्षके नीचे एक महामनोज्ञ पर्यंक आसन प्रतिमा विद्यमान है। चैत्यालयसे पूर्व दिशामें जलचर जीवों रहित सरोवर है। (ति.प./४/१८५५-१९३५); (रा.वा./३/१०/१३/१७८/२५), (ज.प./४/४६-५३,६६), (ज.प./५/१/५६), (त्रि.सा./९८३-१०००)।

६. मध्य लोकके अन्य चैत्यालयोंका स्वरूप

ज.प./५/गा.नं. का संक्षेपार्थ—जम्बूद्वीपके सुमेरु सम्बन्धी जिनभवनोंके समान ही अन्य चार मेरुओंके, कुलपर्वतोंके, वक्षार पर्वतोंके तथा नन्दन वनोंके जिनभवनोंका स्वरूप जानना चाहिए ।८९-९०। इसी प्रकार ही नन्दीश्वर द्वीपमें, कुण्डलवर द्वीपमें और मानुषोत्तर पर्वत व रुचक पर्वतपर भी जिनभवन हैं। भद्रशाल वनवाले जिनभवनके समान ही उनका तथा नन्दन, सौमनस व पाण्डुक वनोंके जिनभवनों का वर्णन जानना चाहिए ।१२०-१२३।

७. जिन भवनोंमें रति व कामदेवकी मूर्तियाँ तथा उनका प्रयोजन

ह.पु./२९/२-५ अत्रैव कामदेवस्य रतेश्च प्रतिमां व्यधात्। जिनागारे समस्तायाः प्रजायाः कौतुकाय सः ।२। कामदेवरतिप्रेक्षाकौतुकेन जगज्जनाः। जिनायतनमागत्य प्रेक्ष्य तत्प्रतिमाद्वयम् ।३। संविधान-कमाकर्ण्य तद्भाद्रकमृगध्वजम्। बहवः प्रतिपद्यन्ते जिनधर्ममहर्दिवम् ।४। प्रसिद्धं गृहं जैनं कामदेवगृहाख्यया। कौतुकागतलोकस्य जातं जिनमताप्तये ।५। —सेठने इसी मन्दिरमें समस्त प्रजाके कौतुकके लिए कामदेव और रतिकी भी मूर्ति बनवायी ।२। कामदेव और रतिको देखनेके लिए कौतूहलसे जगत्‌के लोग जिनमन्दिरमें आते हैं और वहाँ स्थापित दोनों प्रतिमाओंको देखकर मृगध्वज केवली और महिषका वृत्तान्त सुनते हैं, जिससे अनेकों पुरुष प्रतिदिन जिनधर्मको प्राप्त होते हैं ।३-४। यह जिनमन्दिर कामदेवके मन्दिरके नामसे प्रसिद्ध है। और कौतुकवश आये हुए लोगोंके जिनधर्मकी प्राप्तिका कारण है ।५।

८. चैत्यालयोंमें पुष्पवाटिकाएँ लगानेका विधान

ति.प./४/१५७-१५९ का संक्षेपार्थ—उज्जाणेहिं सोहदि विविहेहिं जिणिंदपासादो ।१५७। तस्सिं जिणिंदपडिमा···।१५९। —(भरत क्षेत्रके विजयार्धपर स्थित) जिनेन्द्र प्रासाद विविध प्रकारके उद्यानोंसे शोभायमान है ।१५७। उस जिनमन्दिरमें जिनप्रतिमा विराजमान है ।१५९।

सा.ध./२/४० सत्रमप्यनुकम्प्यानां सृजेदनुजिघृक्षया। चिकित्साशालवद्दुष्येन्नेज्यायै वाटिकाद्यपि ।४०। —पाक्षिक श्रावकोंको जीव दयाके कारण औषधालय खोलना चाहिए, उसी प्रकार सदाव्रत शालाएँ व प्याऊ खोलनी चाहिए और जिनपूजाके लिए पुष्पवाटिकाएँ बावड़ी व सरोवर आदि बनवानेमें भी हर्ज नहीं है।

३. चैत्यालयोंका लोकमें अवस्थान, उनकी संख्या व विस्तार

१. देव भवनोंमें चैत्यालयोंका अवस्थान व प्रमाण

ति.प./अधि./गा.नं. संक्षेपार्थ—भवनवासीदेवोंके ७,७२०००,०० भवनों-की वेदियोंके मध्यमें स्थित प्रत्येक कूटपर एक एक जिनेन्द्र भवन है। (३।४३) (त्रि.सा./२०८) रत्नप्रभा पृथिवीमें स्थित व्यन्तरदेवोंके ३०,००० भवनोंके मध्य वेदीके ऊपर स्थित कूटोंपर जिनेन्द्र प्रासाद हैं (६।१२)। जम्बूद्वीपमें विजय आदि देवोंके भवन जिनभवनोंसे विभूषित हैं (५।१८१)। हिमवान पर्वतके १० कूटोंपर व्यन्तरदेवोंके नगर हैं, इनमें जिन भवन हैं (४।१६५७)। पद्म ह्रदमें कमल पुष्पोंपर जितने देवोंके भवन कहे हैं उतने ही वहीं जिनगृह है (४।१६९२)। महाह्रदमें जितने ही देवीके प्रासाद हैं उतने ही जिनभवन हैं (४।१७२६)। लवण समुद्रमें ७२०००+४२०००+२८००० व्यंतर नगरियाँ है। उनमें जिनमन्दिर हैं (४।२४५५)। जगत्प्रतरके संख्यात भागमें ३०० योजनोंके वर्गका भाग देनेपर जो लब्ध आवे उतना व्यन्तर लोकमें जिनपुरोंका प्रमाण है (६।१०२)। व्यंतर देवोंके भवनों आदिका अवस्थान व प्रमाण—(दे० व्यंतर/४)। ज्योतिष देवोंमें प्रत्येक चन्द्र विमानमें (७।४२); प्रत्येक सूर्यविमानमें (७।७१); प्रत्येक ग्रह विमानमें (७।८७); प्रत्येक नक्षत्र विमानमें (७।१०६); प्रत्येक तारा विमानमें (७।११३); राहुके विमानमें (७।२०४); केतु विमानमें (७।२७५) जिनभवन स्थित हैं। इन चन्द्रादिकोंकी निज निज राशिका जो प्रमाण है उतना ही अपने-अपने नगरों व जिन भवनोंका प्रमाण है (७।११४)। इस प्रकार ज्योतिष लोकमें असंख्यात चैत्यालय

है। चन्द्रादिकोंके विमानोंका प्रमाण-(दे० ज्योतिष/२/२/४)। कल्पवासी समस्त इन्द्र भवनोंमें जिनमन्दिर हैं (८।४०५-४११) (त्रि.सा./५०२-५०३) कल्पवासी इन्द्रों व देवों आदिका प्रमाण व अवस्थान —दे० स्वर्ग/५।

२. मध्य लोकमें चैत्यालयोंका अवस्थान व प्रमाण

ति.प./४/२३६२-२३६३ कूडवणसंडसरियासुरणयरीसेलतोरणद्दारा। विज्जाहरवरसेढीणयरज्जाखंडणयरीओ।२३६२। दहपंचपुव्वावरविदेहगामादिसम्मलीरुक्खा। जेत्तिय मेत्ता जंबूरुक्खाइं य तेत्तिया जिणणिकेदा।२३६३। —कुण्ड, वन समूह, नदियाँ, देव नगरियाँ, पर्वत, तोरणद्वार, विद्याधर श्रेणियोंके नगर, आर्यखण्डकी नगरियाँ, द्रह पंचक, पूर्वापर विदेहोंके ग्रामादि, शाल्मलीवृक्ष और जम्बूवृक्ष जितने हैं उतने ही जिनभवन भी हैं।२३६२-२३६३। विशेषार्थ—जम्बूद्वीपमें कुण्ड=९०; नदी=१७९२०९०; देव नगरियाँ=असंख्यात; पर्वत=३११; विद्याधर श्रेणियोंके नगर=३७४०; आर्यखण्डकी प्रधान नगरियाँ=३४; द्रह=२६; पूर्वापर विदेहोंके ग्रामादि=संख्यात; शाल्मली व जम्बू वृक्ष=२ कुल प्रमाण=१७९६२९३+संख्यात+असंख्यात। धातकी व पुष्करार्ध द्वीपके सर्व मिलकर उपरोक्तसे पंचगुणे अर्थात्=८९८१४६५+संख्यात+असंख्यात। नन्दीश्वर द्वीपमें ५२, रुचकवर द्वीपमें ४ और कुण्डलवर द्वीपमें ४। इस प्रकार कुल ८९८१५२५+संख्यात+असंख्यात चैत्यालय हैं। विशेष—दे० लोक/३, ४। सुमेरु के १६ चैत्यालय—दे. लोक/३/६.४।

त्रि.सा./५६१-५६२ णमह णरलोयजिणघर चत्तारि सयाणि दोविहीणाणि। बावण्णं चउचउरो णंदीसुर कुंडले रुचगे।५६१। मंदरकुलवक्खारिसुमणुसुत्तररुप्पजंबुसामलिसु। सीदी तीसं तु सगं चउ चउ सत्तरिसयं दुपणं।५६२। —मनुष्य लोकविषै ३९८ जिनमन्दिर हैं—नन्दीश्वर द्वीपमें ५२; कुण्डलगिरिपर ४; रुचकगिरिपर ४; पाँचों मेरुपर ८०; तीस कुलाचलों पर ३०; बीस गजदन्तोंपर २०; अस्सी वक्षारोंपर ८०; चार इष्वाकारोंपर ४; मानुषोत्तरपर ४; एक सौ सत्तर विजयार्धोंपर १७०; जम्बू वृक्षपर ५; और शाल्मली वृक्षपर ५। कुल मिलाकर ३९८ होते हैं।

३. अकृत्रिम चैत्यालयोंके व्यासादिका निर्देश

त्रि, सा./९७८-९८२ आयमदलं वासं उभयदलं जिणघराणमुच्चत। दारुदयदलवासं आणिद्दाराणि तस्सद्धं।९७८। वरमज्झिमअवराणं दलक्कमं भद्दसालणंदणगा। णंदीसरगविमाणगजिणालया होंति जेट्ठा दु।९७९। सोमणसरुचगकुंडलवक्खारिसुगारमाणुसुत्तुंगा। कुलगिरिजा वि य मज्झिम जिणालया पांडुगा अवरा।९८०। जोयणसयआयाम दलगाढं सोलसं तु दारुदयं। जेट्ठाणं गिहपासे आणिद्दाराणि दो दो दु।९८१। वेयड्ढजंबुसामलिजिणभवणाणं तु कोस आयामं। सेसाणं सगजोग्गं आयामं होदि जिणदिट्ठं।९८२।

ति. प./४/१७१० उच्छेहप्पहुदीसुं संपहि अम्हाण णत्थि उवदेसो।

१. सामान्य निर्देश

उत्कृष्टादि चैत्यालयोंका जो आयाम, ताका आधा तिनिका व्यास है और दोनों (आयाम व व्यास) को मिलाय ताका आधा उनका उच्चत्व है।९७८। उत्कृष्ट मध्यम व जघन्य चैत्यालयनिका व्यासादिक क्रम तैं आधा आधा जानहु।९७९। उत्कृष्ट जिनालयनिका आयाम १०० योजन प्रमाण है, आध योजन अवगाध कहिये पृथिवी माहीं नींव है। १६ योजन उनके द्वारोंका उच्चत्व है।९८१। —अकृत्रिम चैत्यालयोंको विस्तारकी अपेक्षा तीन भागोंमें विभाजित किया जा सकता है—उत्कृष्ट, मध्य व जघन्य। उनकी लम्बाई चौड़ाई व ऊँचाई क्रम से निम्न प्रकार बतायी गयी है—

उत्कृष्ट=१०० योजन×५० योजन×७५ योजन।
मध्यम=५० योजन×२५ योजन×$३७\frac{१}{२}$ योजन।
जघन्य=२५ योजन×$१२\frac{१}{२}$ योजन×$१८\frac{३}{४}$ योजन।

चैत्यालयोंके द्वारोंकी ऊँचाई व चौड़ाई—
उत्कृष्ट=१६ योजन×८ योजन
मध्यम=८ योजन×४ योजन
जघन्य=४ योजन×२ योजन

चैत्यालयोंकी नींव—
उत्कृष्ट×२ कोश, मध्यम=१ कोश; जघन्य=$\frac{१}{२}$।

२. देवोंके चैत्यालयोंका विस्तार

वैमानिक देवों के विमानोंमें तथा द्वीपों में स्थित व्यंतरोंके आवासों आदिमें प्राप्त जिनालय उत्कृष्ट विस्तारवाले हैं।९७९।

३. जम्बूद्वीपके चैत्यालयोंका विस्तार

नन्दनवनस्थ भद्रशालवनके चैत्यालय=उत्कृष्ट
सौमनस वनका चैत्यालय =मध्यम
कुलाचल व वक्षार गिरि =मध्यम
पाण्डुक वन =जघन्य
विजयार्ध पर्वत तथा जम्बू व शाल्मली वृक्षके चैत्यालयोंका विस्तार =१ कोश×$\frac{१}{२}$ कोश×$\frac{३}{४}$ कोश (ह. पु./५/३५४-३५६). (ज. प/५/५,६४,६५); (ज. प/५/६) (त्रि. सा./९७९-९८१)।
गजदन्त व यमक पर्वतके चैत्यालय=जघन्य
(ति. प./४/२०४१-२०८७)
दिग्गजेन्द्र पर स्थित चैत्यालय (ति. प/४/२११०)=उत्कृष्ट

४. धातकी खण्ड व पुष्करार्ध द्वीपके चैत्यालय

इष्वाकार पर्वतके चैत्यालय (त्रि. सा/९८०)=मध्यम
शेष सर्व चैत्यालय=जम्बूद्वीपमें कथित उस उस चैत्यालयसे दूना विस्तार (ह. पु./५/५०८-५११)।
मानुषोत्तर पर्वतके चैत्यालय (त्रि. सा./९८०)=मध्यम।

५. नन्दीश्वर द्वीपके चैत्यालयोंका विस्तार

अञ्जनगिरि, रतिकर व दधिमुख तीनोंके चैत्यालय=उत्कृष्ट (ह. पु./५/६७७); (ति. सा./९७९)।
६. कुण्डलवर पर्वत व रुचकवर पर्वत के चैत्यालय=उत्कृष्ट (त्रि. सा./९८०) (ह पु./५/६९६, ७२८)।

चैत्यप्रासाद भूमि—समवशरणकी प्रथम भूमि।

चैत्य वृक्ष—दे० वृक्ष।

चोर कथा—दे० कथा।

चोरी—दे० अस्तेय।

चोल—१. मध्य आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४। २. कर्णाटकका दक्षिणपूर्व भाग अर्थात् मद्रास नगर, उसके उत्तरके कुछ प्रदेश और मैसूर स्टेटका बहुत कुछ भाग पहिले चोल देश कहलाता था—(म. प्र. प्र./२०/ पं० पन्नालाल)। ३. राजा कुलोत्तुंगका अपरनाम—दे० कुलोत्तुंग।

चौंतीस अतिशय—१. भगवान्‌के चौंतीस अतिशय—दे० अर्हंत/६

चौंतीस अतिशय व्रत—निम्न प्रकार ६५ उपवास कुल २ वर्ष ८ मास १५ दिनमें पूरे होते हैं। (१) जन्मके १० अतिशयोंके लिए १० दशमियाँ; (२) केवलज्ञानके १० अतिशयोंके लिए १० दशमियाँ;

(३) देवकृत १४ अतिशयोंके लिए १४ चतुर्दशियाँ; (४) चार अनन्त चतुष्टयोंके लिए ४ चौथ; (५) आठ प्रातिहार्योंके लिए ८ अष्टमियाँ; (६) पंच ज्ञानोंके लिए ५ पंचमियाँ; (७) तथा ६ षष्ठियाँ—इस प्रकार कुल ६५ उपवास। 'ओं ह्रीं णमो अर्हंताणं' मंत्रका त्रिकाल जाप्य। (व्रत विधान संग्रह, पृ. १०६), (किशन सिंह क्रिया कोश)।

चौबीसी पूजा—दे० पूजा।

च्यवन कल्प—

भ. आ./मू./२८५/५०१/८ वर्जय अतिचारप्रकारं ज्ञानदर्शनचारित्रविषयं ...च्यवनकल्पेनोच्यन्ते। =दर्शन ज्ञान चारित्रके अतिचारोंका टालना च्यवनकल्पके द्वारा कहा जाता है।

च्यावित शरीर—दे० निक्षेप/५।

च्युत शरीर—दे० निक्षेप/५।

[छ]

छंदन—दे० समाचार।

छंद बद्ध चिट्ठी—पं० जयचन्द छाबड़ा (ई० १८३३) द्वारा लिखा गया अध्यात्म रहस्यपूर्ण एक पत्र।

छंद शतक—कवि वृन्दावन (ई० १८००-१८४८) द्वारा रचित भाषा पद संग्रह।

छंद शास्त्र—जैनाचार्योंने कई छन्दशास्त्र रचे हैं। (१) आ० पूज्यपाद (ई० श० ५) द्वारा रचित; (२) श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र सूरि (ई० १०८८-११७३) कृत काव्यानुशासन; (३) छन्दोलंकार पर पं० आशाधर (ई० ११७३-१२४३) कृत एक टीका; (४) पं० राजमल (ई० १५७५-१५९३) द्वारा रचित 'पिंगल' नामका ग्रन्थ।

छत्र—१. चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंमेंसे एक—दे० शलाका पुरुष/२)। २. भगवान्‌के आठ प्रातिहार्योंमेंसे एक—दे० अर्हन्त/८।

छत्र चूडामणि— वादीभ सिंह ओडयदेव (ई० ७७०-८६०) कृत जीवन्धर स्वामी की कथा। विस्तार ६२५ श्लोक, ११ लम्ब। (ती०/३/३१)।

छत्रपति—आप एक कवि थे। कोका (मथुरा) के पद्मावतीपुरवार थे। कृतियाँ—१. द्वादशानुप्रेक्षा, २. उद्यमप्रकाश, ३. शिक्षाप्रधान पद्य; ४. मनमोदन पंचशती। समय—मनमोदन पंचशतीकी प्रशस्तिके अनुसार वि० १९१६ पौष शु. १ है। (मन मोदन पंचशती/ प्र० सोनपाल / प्रेमीजीके आधार पर)।

छद्म—(ध. १/१,१,१९/१८८/१०) छद्म ज्ञानदृगावरणे—ज्ञानावरण और दर्शनावरणको छद्म कहते हैं। (ध./११/४,२,६/४५ ॥ ११६/८) (द्र. सं/टी./४४/१८६/३)।

छद्मस्थ—१. लक्षण

ध./१/१,१,१९/१८८/१० छद्म ज्ञानदृगावरणे, तत्र तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः। =छद्म ज्ञानावरण और दर्शनावरणको कहते हैं। उसमें जो रहते हैं, उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। (ध. ११/४,२,६,१५/११६/८), (द्र. सं./टी./४४/१८६/३)।

ध./१३/५,४,१७/४४/१० संसरन्ति अनेन घातिकर्मकलापेन चतसृषु गतिष्विति घातिकर्मकलापः संसारः। तस्मिन् तिष्ठन्तीति संसारस्थाः छद्मस्थाः।—जिस घातिकर्मसमूहके कारण जीव चारों गतियोंमें संसरण करते हैं वह घातिकर्मसमूह संसार है। और इसमें रहनेवाले जीव संसारस्थ या छद्मस्थ हैं।

२. छद्मस्थके भेद

(छद्मस्थ दो प्रकारके हैं—मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि। सर्वलोकमें मिथ्यादृष्टि छद्मस्थ भरे पड़े हैं। सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ दो प्रकारके हैं—सराग व वीतराग। ४-१० गुणस्थान तक सराग छद्मस्थ हैं। और ११-१२ गुणस्थानवाले वीतराग छद्मस्थ हैं।

ध./७/२,१,१/५/२ छदुमत्था ते दुविहा—उवसंतकसाया खीणकसाया चेदि।=(वीतराग) छद्मस्थ दो प्रकारके हैं—उपशान्त कषाय और क्षीणकषाय।

३. कृतकृत्य छद्मस्थ

क्ष. सा./६०३ चरिमे खंडे पडिदे कदकरणिज्जोत्ति भण्णदे ऐसो।=(क्षीणकषाय गुणस्थानमें मोहरहित तीन घातिया प्रकृतियोंका काण्डक घात होता है। तहाँ अंत कांडकका घात होतें याकौं कृतकृत्य छद्मस्थ कहिये। (क्योंकि तिनिका कांडकघात होनेके पश्चात भी कुछ द्रव्य शेष रहता है, जिसका काण्डकघात सम्भव नहीं। इस शेष द्रव्यको समय-समय प्रति उदयावलीको प्राप्त करके एक-एक निषेकके क्रमसे अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा अभाव करता है। इस अन्तर्मुहूर्त कालमें कृतकृत्य छद्मस्थ कहलाता है।

छल—१. छल सामान्यका लक्षण

न्या. सू./मू./१-२/१० वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्।—वादीके वचनसे दूसरा अर्थ कल्पनाकर उसके वचनमें दोष देना छल है। (रा वा/१/६/८/३६/३); (श्लो. वा. १/न्या. २७८/४३०/१६); (सि. वि./वृ./५/२/३१५/७); (स्या. म./१०/१११/१६); (स. भ. त./७६/११)

२. छलके भेद

न्या. सू./मू/१-२/११ तत्त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं चेति।११। =वह तीन प्रकारका है—वाक्छल, सामान्य छल व उपचार छल। (श्लो. वा./४/न्या. २७८/४३०/२१), (सि. वि./वृ./५/२/३१७/१३); (स्या. म./१०/१११/१६)

३. वाक्छलका लक्षण

न्या. सू./मू./१-२/१२ अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्। यथा—

स्या.म./१०/१११/२१ नवकम्बलोऽयं माणवक इति नूतनविवक्षया कथिते, परः संख्यामारोप्य निषेधति कुतोऽस्य नव कम्बलाः इति।—वक्ताके किसी साधारण शब्दके प्रयोग करनेपर उसके विवक्षित अर्थकी जानबूझकर उपेक्षा कर अर्थान्तरकी कल्पना करके वक्ताके वचनके निषेध करनेको वाक्छल कहते हैं। जैसे वक्ताने कहा कि इस ब्राह्मणके पास नवकम्बल है। यहाँ हम जानते हैं कि 'नव' कहनेसे वक्ताका अभिप्राय नूतनसे है, फिर भी दुर्भावनासे उसके वचनोंका निषेध करनेके लिए हम 'नव' शब्दका अर्थ 'नौ संख्या' करके पूछते हैं कि इस ब्राह्मणके पास नौ कंबल कहाँ हैं। (श्लो. वा. ४/न्या. २७६/४३१/१२), (सि. वि./वृ./५/२/३१७/१४)

४. सामान्य छलका लक्षण

न्या. सू./मू./१-२/१३/५० संभवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसंभूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम्।१३।

न्या. सू./भा./१-२/१३/५०/४ अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्न इत्युक्ते कश्चिदाह संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपदिति। अस्य वचनस्य विघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या असभूतार्थकल्पनया क्रियते। यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपत्संभवति व्रात्येऽपि संभवेत व्रात्योऽपि

ब्राह्मण सोऽप्यस्तु विद्याचरणसंपन्न इति । =सम्भावना मात्रसे कही गयी बातको सामान्य नियम बनाकर वक्ताके वचनोंके निषेध करनेको सामान्यछल कहते हैं। जैसे 'आश्चर्य है, कि यह ब्राह्मण विद्या और आचरणसे युक्त है,' यह कहकर कोई पुरुष ब्राह्मणकी स्तुति करता है, इसपर कोई दूसरा पुरुष कहता है कि विद्या और आचरणका ब्राह्मणमें होना स्वाभाविक है। यहाँ यद्यपि ब्राह्मणत्वका सम्भावनामात्रसे कथन किया गया है, फिर भी छलवादी ब्राह्मणमें विद्या और आचरणके होनेके सामान्य नियम बना करके कहता है, कि यदि ब्राह्मणमें विद्या और आचरणका होना स्वाभाविक है, तो विद्या और आचरण व्रात्य (पतित) ब्राह्मणमें भी होना चाहिए, क्योंकि व्रात्यब्राह्मण भी ब्राह्मण है। (श्लो. वा. ४/न्या. २६१/४४५/४), (सि. वि./वृ//५/२/३१७/११)

५. उपचारछलका लक्षण

न्या. सू./मू./१-२/१४/५१ धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् ।१४।

न्या. सू./भा./१-२/१४/५१/७ यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति अर्थसद्भावेन प्रतिषेधः। मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति न तु मञ्चाः क्रोशन्ति। =उपचार अर्थमें मुख्य अर्थका निषेध करके वक्ताके वचनोंको निषेध करना उपचार छल है। जैसे कोई कहे, कि मंच रोते हैं, तो छलवादी उत्तर देता है, कहीं मंच जैसे अचेतन पदार्थ भी रो सकते हैं, अतएव यह कहना चाहिए कि मंचपर बैठे हुए आदमी रोते हैं। (श्लो. वा. ४/न्या. ३०२/४४८/२१), (सि. वि./वृ./५/२/३१७/२६)

छहढाला—पं० दौलतराम (ई. १७९८—१८६६) कृत तात्त्विक रचना (दे. दौलतराम)।

छहार दशमीव्रत—छहार दशमिव्रत इह परकार। छह सुपात्रको देय आहार। (यह व्रत श्वेताम्बर आम्नायमें प्रचलित है)। (व्रत विधान संग्रह/पृ० १३०), (नवलसाह कृत वर्द्धमान पुराण)

छाया—(रा. वा./५/२४/१६-१७/४८६/६)···प्रकाशावरणं शरीरादि यस्या निमित्तं भवति सा छाया।१६। सा छाया द्वेधा व्यवतिष्ठते। कुतः। तद्वर्णादिविकाराद प्रतिबिम्बमात्रग्रहणाच्च। आदर्शतलादिषु प्रसन्नद्रव्येषु मुखादिच्छाया तद्वर्णादिपरिणता उपलभ्यते। इतरत्र प्रतिबिम्बमात्रमेव। =प्रकाशके आवरणभूत शरीर आदिसे छाया होती है। छाया दो प्रकारकी है—दर्पण आदि स्वच्छ द्रव्योंमें आदर्शके रंग आदिकी तरह मुखादिका दिखना तद्वर्णपरिणता छाया है, तथा अन्यत्र प्रतिबिम्बमात्र होती है। (स. सि./५/२४/२९६/२); (त. सा./३/६९); (द्र. सं./टी./१६/५३/१०)

छाया संक्रामिणी विद्या—दे० विद्या।

छिन्ननिमित्त ज्ञान—दे० निमित्त/२।

छूआछूत—(१) सूतकपातक विचार—(दे० सूतक), (२) जुगुप्सा भावका विधि निषेध—(दे० सूतक)। (३) शूद्रादि विचार—(दे० वर्ण व्यवस्था)।

छेद—१. Section. (ज. प./प्र. १०६)

२. छेद सामान्यका लक्षण

स. सि./७/२५/३६६/३ कर्णनासिकादीनामवयवानामपनयनं छेदः। =कान और नाक आदि अवयवोंका भेदना छेद है। (रा. वा./७/२५/३/५५३/२०)

३. धर्मसम्बन्धी छेदका लक्षण

स्या. म./१९/३४२/२१ पर उद्धृत हरिभद्रसूरिकृत पञ्चवस्तुक चतुर्थद्वारका श्लो. नं.—"वज्झाणुट्ठाणेणं जेण ण बाहिज्जए तयं णियमा। संभवइ य परिसुद्धं सो पुण धम्मम्मि छेउत्ति।" =जिन बाह्यक्रियाओंसे धर्ममें बाधा न आती हो, और जिससे निर्मलताकी वृद्धि हो उसे छेद कहते हैं।

भ. आ./वि./६/३२/२१ असंयमजुगुप्सार्थमेव। असंयम के प्रति की जुगुप्सा ही छेद है।

४. संयम सम्बन्धी छेदके भेद व लक्षण

प्र. सा./त. प्र./२११-२१२ द्विविधः किल संयमस्य छेदः, बहिरङ्गोऽन्तरङ्गश्च। तत्र कायचेष्टामात्राधिकृतो बहिरङ्गः उपयोगाधिकृतः पुनरन्तरङ्गः।

प्र. सा./त. प्र./२१७ अशुद्धोपयोगोऽन्तरङ्गच्छेदः परप्राणव्यपरोपो बहिरङ्गः। =संयमका छेद दो प्रकारका है; बहिरंग और अन्तरंग। उसमें मात्र कायचेष्टा सम्बन्धी बहिरंग है और उपयोग सम्बन्धी अन्तरंग।२११-२१२। अशुद्धोपयोग अन्तरंगछेद है; परप्राणोंका व्यपरोप बहिरंगच्छेद है।

छेद गणित—Logarithm (ज. प./प्र. १०६)(गणित/II/१/१०)।

छेदना—१. छेदना सामान्यका लक्षण

ध. १४/५,६,५१३/४३५/७ छिद्यते पृथक्क्रियतेऽनेनेति छेदना। =जिसके द्वारा पृथक् किया जाता है उसकी छेदना संज्ञा है।

२. छेदनाके भेद

ष. खं. १४/५,६/सू. ५१३-५१४/४३५ छेदणा पुण दसविहा।५१३। णाम ट्ठवणा दवियं सरीरबंधणगुणप्पदेसा य। वल्लरि अणुत्तडेसु य उप्पइया पण्णभावे य।५१४। =छेदना दस प्रकारकी है।५१३।—नामछेदना, स्थापनाछेदना, द्रव्यछेदना, शरीरबन्धनगुणछेदना, प्रदेशछेदना, वल्लरिछेदना, अणुछेदना, तटछेदना उत्पातछेदना, और प्रज्ञाभावछेदना।५१४।

३. छेदनाके भेदोंके लक्षण

ध. १४/५,६,५१४/४३५/११ तत्थ सचित्त-अचित्तदव्वाणि अण्णेहिंतो पुध काऊण सण्णा जाणावेदि त्ति णामच्छेदणा। ट्ठवणा दुविहा सब्भावासब्भावट्ठवणभेदेण। सा वि छेदणा होदि, ताए अण्णेसिं दव्वाणं सरूवावगमादो। दवियं णाम उप्पादट्ठिदिभंगलक्खणं। तं पि छेदणा होदि, दव्वादो दव्वंतरस्स परिच्छेददंसणादो। ण च एसो असिद्धो" दंडादो जायणादीणं परिच्छेदुवलंभादो। पंचण्णं सरीराणं बंधणगुणो वि छेदणा णाम, पण्णाए छिज्जमाणत्तादो, अविभागपडिच्छेदपमाणेण छिज्जमाणत्तादो वा। पदेसो वा छेदणा होदि, उड्ढाहोमज्झादिपदेसेहि सव्वदव्वाणं छेददंसणादो। कुडारादीहि अडइरुक्खादिखंडणं वल्लरिच्छेदो णाम। परमाणुगदएगादिदव्वसंखाए अण्णेसिं दव्वाणं संखावगमो अणुच्छेदो णाम। अथवा पोग्गलागासादीणं णिव्विभागच्छेदो अणुच्छेदो णाम। दो हि वि तडेहि णदीपमाणपरिच्छेदो अथवादव्वाणं सममेव छेदो तडच्छेदो णाम। रत्तीए इंदाउहधूमकेउआदीणमुप्पत्ती पडिमारोहो भूमिकंप-रुहिरवरिसादओ च उप्पाइया छेदणा णाम, एतैरुत्पातैः राष्ट्रभङ्ग-नृपपातादितर्कणात्। मदिसुदओहिमणपज्जवकेवलणाणेहि दव्वावगमो पण्णभावच्छेदणा णाम। =१. सचित्त और अचित्त द्रव्योंको अन्य द्रव्योंसे पृथक् करके जो संज्ञाका ज्ञान कराती है वह नाम छेदना है। २. स्थापना दो प्रकारकी है—सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना। वह भी छेदना है, क्योंकि, उस द्वारा अन्य द्रव्योंके स्वरूपका ज्ञान होता है। ३. जो उत्पाद स्थिति और व्यय लक्षणवाला है वह द्रव्य कहलाता है। वह भी छेदना है, क्योंकि एक द्रव्यसे दूसरे द्रव्यका ज्ञान होता हुआ देखा जाता है। यह असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, दण्डसे योजनादिका परि-

ज्ञान होता हुआ उपलब्ध होता है। ४. पाँच शरीरोंका बन्धनगुण भी छेदना है, क्योंकि, उसका प्रज्ञा द्वारा छेद किया जाता है। या अविभागप्रतिच्छेदके प्रमाणसे उसका छेद किया जाता है। ५. प्रदेश भी छेदना होती है, क्योंकि, ऊर्ध्व प्रदेश, अधः प्रदेश और मध्य प्रदेश आदि प्रदेशोंके द्वारा सब द्रव्योंका छेद देखा जाता है। ६. कुठार आदि द्वारा जंगलके वृक्ष आदिका खण्ड करना वल्लरिछेदना कहलाती है। ७. परमाणुगत एक आदि द्रव्योंकी संख्याद्वारा अन्य द्रव्योंकी संख्याका ज्ञान होना अणुच्छेदना कहलाती है। अथवा पुद्गल और आकाश आदिके निर्विभाग छेदका नाम अणुच्छेदना है। ८. दोनों ही तटोंके द्वारा नदीके परिमाणका परिच्छेद करना अथवा द्रव्योंका स्वयं ही छेद होना तटच्छेदना है। ९. रात्रिमें इन्द्रधनुष और धूमकेतु आदिकी उत्पत्ति तथा प्रतिमारोध, भूमिकम्प और रुधिरकी वर्षा आदि उत्पादछेदना है, क्योंकि इन उत्पातोंके द्वारा राष्ट्रभंग और राजाका पतन आदिका अनुमान किया जाता है। १०. मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानके द्वारा छह द्रव्योंका ज्ञान होना प्रज्ञाभावछेदना है।

४. तट वल्लरि व अणुच्छेदनामें अन्तर

ध.१४/५.६.५१४/४३६/७ ण च पदेसच्छेदे एसो पददि, तस्स बुद्धिकज्जत्तादो। ण वल्लरिच्छेदे पददि, तस्स पउरुसेयत्तादो। णाणुच्छेदे पददि, परमाणुपज्जंतच्छेदाभावादो। —इस (तटच्छेदना) का प्रदेशछेदमें अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि वह बुद्धिका कार्य है। वल्लरिच्छेदनामें भी अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि वह पौरुषेय होता है। अणुच्छेदमें भी अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि इसका परमाणु पर्यंत छेद नहीं होता।

छेद प्रायश्चित्त—१. छेद प्रायश्चित्तका लक्षण

स.सि./९/२२/४४०/९ दिवसपक्षमासादिना प्रवज्याहापनं छेदः। —दिवस, पक्ष, महीना आदिकी प्रवज्याका छेद करना छेदप्रायश्चित्त है। (रा.वा./९/२२/८/६२१/३०); (भ.आ./वि./६/३२/२१), (त.सा./७/२६), (चा.सा./१४३/१)।

ध.१३/५.४.२६/६१/८ दिवस-पक्ख-मास-उदु-अयण-संवच्छरादिपरियायं छेत्तूण इच्छिदपरियायादो हेट्ठिमभूमीए ठवणं छेदो णाम पायच्छित्तं। —एक दिन, एक पक्ष, एक मास, एक ऋतु, एक अयन और एक वर्ष आदि तककी दीक्षा पर्यायका छेद कर इच्छित पर्यायसे नीचेकी भूमिकामें स्थापित करना छेद नामका प्रायश्चित्त है।

२. छेद प्रायश्चित्तके अतिचार

भ.आ./वि./४८७/७०७/२४ एवं छेदस्यातिचारः न्यूनो जातोऽहमिति संक्लेशः। ='मैं न्यून हो गया हूँ' ऐसा मनमें संक्लेश करना छेद प्रायश्चित्त है।

३. छेद प्रायश्चित्त किसको किस अपराधमें दिया जाता है—

दे० प्रायश्चित्त/४।

छेद विधि—Mediation Method (ज. प/प्र. १०६).

छेदोपस्थापक—

यो. सा/अ. ८/१ प्रव्रज्यादायकः सूरिः संयतानां निगीर्यते। निर्यापकाः पनः शेषाश्छेदोपस्थापका मताः ॥१॥ —जो मुनि इतर मुनियोंको दीक्षा प्रदान करता है वह आचार्य कहा जाता है और शेष मुनि छेदोपस्थापक कहे जाते है। (विशेष देखो छेदोपस्थापना) (दे. निर्यापक/२).

छेदोपस्थापना—यद्यपि दीक्षा धारण करते समय साधु पूर्णतया साम्य रहनेकी प्रतिज्ञा करता है, परन्तु पूर्ण निर्विकल्पतामें अधिक देर टिकनेमें समर्थ न होनेपर व्रत समिति गुप्ति आदि रूप व्यवहार चारित्र तथा क्रियानुष्ठानोंमें अपनेको स्थापित करता है। पुनः कुछ समय पश्चात् अवकाश पाकर साम्यतामें पहुँच जाता है और पुनः परिणामोंके गिरनेपर विकल्पोंमें स्थित होता है। जबतक चारित्रमोहका उपशम या क्षय नहीं करता तबतक इसी प्रकार झूलेमें झूलता रहता है। तहाँ निर्विकल्प व साम्य चारित्रका नाम सामायिक या निश्चय चारित्र है, और विकल्पात्मक चारित्रका नाम छेदोपस्थापना या व्यवहार चारित्र है।

१. छेदोपस्थापना चारित्रका लक्षण

प्र. सा/मू/२०९ एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता। तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ।२०९। —ये (व्रत समिति आदि) वास्तवमें श्रमणोंके मूलगुण हैं, उनमें प्रमत्त होता हुआ श्रमण छेदोपस्थापक है। (यो, सा/अ/८/८/).

पं. सं./प्रा/१/१३० छेत्तूण य परियायं पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं। पंचजमे धम्मे सो छेदोवट्ठावगो जीवो ।१३०। —सावद्य पर्यायरूप पुरानी पर्यायको छेदकर अहिंसादि पाँच प्रकारके यमरूप धर्ममें अपनी आत्माको स्थापित करना छेदोपस्थापना संयम है। (ध.१/१/१/१२३। गा० १८८/३७२); (पं. सं. सं, १/२४०); (गो. जी/मू/४७१/८८०).

स. सि/९/१८/४३६/७ प्रमादकृतानर्थप्रबन्धविलोपे सम्यक्प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना विकल्पनिवृत्तिर्वा। —प्रमादकृत अनर्थप्रबन्धका अर्थात् हिंसादि अव्रतोंके अनुष्ठानका विलोप अर्थात् सर्वथा त्याग करनेपर जो भले प्रकार प्रतिक्रिया अर्थात् पुनः व्रतोंका ग्रहण होता है वह छेदोपस्थापना चारित्र है, अथवा विकल्पोंकी निवृत्तिका नाम छेदोपस्थापना चारित्र है। (रा. वा/९/१८/६-७/६१७/११) (चा. सा/८३/४) (गो० क/जी.प्र/५४७/७१४/६).

यो. सा./यो/१०१ हिंसादि उपरिहारु करि जो अप्पा हु ठवेइ। सो बियऊ चारित्तु मुणि जो पंचमगइ णेइ ।१०१। —हिंसादिकका त्याग कर जो आत्माको स्थिर करता है, उसे दूसरा (छेदोपस्थापना) समझो। यह पञ्चम गतिको ले जाने वाला है।

ध. १/१,१,१२३/३७०/१ तस्यैकस्य व्रतस्य छेदेन द्वित्र्यादिभेदेनोपस्थापनं व्रतसमारोपणं छेदोपस्थापनशुद्धिसंयमः। —उस एक (सामायिक) व्रतका छेद करनेको अर्थात् दो तीन आदिके भेदसे उपस्थापन करनेको अर्थात् व्रतोंके आरोपण करनेको छेदोपस्थापना-शुद्धि-संयम कहते हैं।

त. सा/५/४६ यत्र हिंसादिभेदेन त्यागः सावद्यकर्मणः। व्रतलोपे विशुद्धिर्वा छेदोपस्थापनं हि तत् ।४६। =जहाँपर हिंसा चोरी इत्यादि विशेष रूपसे भेदपूर्वक पाप क्रियाका त्याग किया जाता है और व्रत भंग हो जानेपर उसकी (प्रायश्चित्तादिसे) शुद्धि की जाती है उसको छेदोपस्थापना कहते हैं।

प्र. सा/त/प्र/२०९ तेषु यदा निर्विकल्पसामायिकसंयमाधिरूढत्वेनानभ्यस्तविकल्पत्वात्प्रमाद्यति तदा केवलकल्याणमात्रार्थिनः कुण्डलवलयाङ्गुलीयादिपरिग्रहः किल श्रेयान्, न पुनः सर्वथा कल्याणलाभ एवेति संप्रधार्य विकल्पेनात्मानमुपस्थापयन् छेदोपस्थापको भवति। —जब (श्रमण) निर्विकल्प सामायिक संयममें आरूढ़ताके कारण जिसमें विकल्पोंका अभ्यास (सेवन) नहीं है ऐसी दशामेंसे च्युत होता है, तब 'केवल सुवर्ण मात्रके अर्थीको कुण्डल कंकण अंगूठी आदिको ग्रहण करना (भी) श्रेय है, किन्तु ऐसा नहीं है कि (कुण्डल इत्यादिका ग्रहण कभी न करके) सर्वथा सुवर्णकी ही प्राप्ति करना श्रेय है, ऐसा विचारे। इसी प्रकार वह श्रमण मूलगुणोंमें विकल्परूपसे (भेदरूपसे) अपनेको स्थापित करता हुआ छेदोपस्थापक होता है। (अन० ध/४/१७६/५०९).

द्र सं/टी/३५/१४७/८ अथ छेदोपस्थापनं कथयति—यदा युगपत्समस्तविकल्पत्यागरूपे परमसामायिके स्थातुमशक्तोऽयं जीवस्तदा—पञ्चप्रकारविकल्पभेदेन व्रतच्छेदेन रागादिविकल्परूपसावद्येभ्यो निवर्त्य निजशुद्धात्मन्यात्मानमुपस्थापयतीति छेदोपस्थापनम्। अथवा छेदे व्रतखण्डे सति निर्विकारसंवित्तिरूपनिश्चयप्रायश्चित्तेन तत्साधकबहिरङ्गव्यवहारप्रायश्चित्तेन वा स्वात्मन्युपस्थापनं छेदोपस्थानमिति। —अब छेदोपस्थापनाका कथन करते हैं—जब एक ही समय समस्त विकल्पोंके त्यागरूप परम सामायिकमें, स्थित होनेमें यह जीव असमर्थ होता है, तब विकल्प भेदसे पाँच व्रतोंका छेदन होनेसे (अर्थात् एक सामायिक व्रतका पाँच व्रतरूपसे भेद हो जानेके कारण) रागादि विकल्परूप सावद्योंसे अपने आपको छुड़ाकर निज शुद्धात्मामें उपस्थापन करना; –अथवा छेद यानी व्रतका भंग होनेपर निर्विकार निज आत्मानुभवरूप निश्चय प्रायश्चित्तके बलसे अथवा व्यवहार प्रायश्चित्तसे जो निज आत्मामें स्थित होना सो छेदोपस्थापना है।

२. सामायिक व छेदोपस्थापनामें कथंचित् भेद व अभेद

ध. १/१,१,१२३।३७०/२. सकलव्रतानामेकत्वमापाद्य एकयमोपादानाद् द्रव्यार्थिकनयः सामायिकशुद्धिसंयमः। तदेवैकं व्रतं पञ्चधा बहुधा वा विपाट्य धारणात् पर्यायार्थिकनयः छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयमः। निशितबुद्धिजनानुग्रहार्थं द्रव्यार्थिकनयादेशना, मन्दधियामनुग्रहार्थं पर्यायार्थिकनयादेशना। ततो नानयोः संयमयोरनुष्ठानकृतो विशेषोऽस्तीति द्वितयदेशनानुगृहीत एक एव संयम इति चेन्नैष दोषः, इष्टत्वात्।—सम्पूर्ण व्रतोंको सामान्यकी अपेक्षा एक मानकर एक यमको ग्रहण करनेवाला होनेसे सामायिक-शुद्धिसंयम द्रव्यार्थिकनयरूप है, और उसी एक व्रतके पाँच अथवा अनेक प्रकारके भेद करके धारण करनेवाला होनेसे छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयम पर्यायार्थिकनयरूप है। यहाँपर तीक्ष्ण बुद्धि मनुष्योंके अनुग्रहके लिए द्रव्यार्थिक नयका उपदेश दिया गया है और मन्द बुद्धि प्राणियोंका अनुग्रह करनेके लिए पर्यायार्थिक नयका उपदेश दिया गया है। इसलिए इन दोनों संयमोंमें अनुष्ठानकृत कोई विशेषता नहीं है। प्रश्न—तब तो उपदेशकी अपेक्षा संयमको भले ही दो प्रकारका कह लिया जावे पर वास्तवमें तो वह एक ही है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह कथन हमें इष्ट ही है। (देखो आगे नं० ४ भी); (स. सि /७/१/३४३/५); (रा. वा./७/१/६/५३४/१२) (ध. ३/१.२,१४६/४४७/७)।

ध. ३/१ २,१४६/४४८/१ तदो जे सामाइयसुद्धिसंजदा ते चेय छेदोवट्ठावणसुद्धिसंजदा होंति। जे छेदोवट्ठावणसुद्धिसंजदा ते चेय सामाइयसुद्धिसंजदा होंति त्ति।—इसलिए जो सामायिकशुद्धिसंयत जीव हैं, वे ही छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत होते हैं। तथा जो छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत जीव हैं, वे ही सामायिकशुद्धिसंयत होते हैं।

३. सामायिक व छेदोपस्थापनाका परिहारविशुद्धिसे कथंचित् भेद

ध. १/१,१,१२६/३७५/७ परिहारशुद्धिसंयतः किमु एकयम उत पञ्चयम इति। किंचातो यद्येकयमः सामायिकेऽन्तर्भवति। अथ यदि पंचयमः छेदोपस्थापनेऽन्तर्भवति। न च संयममादधानस्य पुरुषस्य द्रव्यपर्यायार्थिकाभ्यां व्यतिरिक्तस्यास्ति संभवस्ततो न परिहारसंयमोऽस्तीति न, परिहारर्द्ध्यतिशयोत्पत्त्यपेक्षया ताभ्यामस्य कथंचिद्भेदात्। तद्रूपापरित्यागेनैव परिहारर्द्धिपर्यायेण परिणतत्वान्न ताभ्यामन्योऽयं संयम इति चेन्न, प्रागविद्यमानपरिहारर्द्ध्यपेक्षया ताभ्यामस्य भेदात्। ततः स्थितमेतत्ताभ्यामन्यः परिहारसंयमः इति। —प्रश्न—परिहारशुद्धि संयम क्या एक यमरूप है या पाँच यमरूप? इनमेंसे यदि एक यमरूप है तो इसका सामायिकमें अन्तर्भाव होना चाहिए और यदि पाँच यमरूप है तो छेदोपस्थापनामें अन्तर्भाव होना चाहिए। संयमको धारण करनेवाले पुरुषके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा इन दोनों संयमोंसे भिन्न तीसरे संयमकी सम्भावना तो है नहीं, इसलिए परिहार शुद्धि संयम नहीं बन सकता? उत्तर—नहीं, क्योंकि, परिहार ऋद्धि रूप अतिशयकी उत्पत्तिकी अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापनासे परिहारविशुद्धि संयमका कथंचित् भेद है। प्रश्न—सामायिक और छेदोपस्थापनारूप अवस्थाका त्याग न करते हुए ही परिहारशुद्धिरूप पर्यायसे यह जीव परिणत होता है, इसलिए सामायिक और छेदोपस्थापनासे भिन्न यह संयम नहीं हो सकता? उत्तर—नहीं, क्योंकि, पहिले अविद्यमान परन्तु पीछेसे उत्पन्न हुई परिहार ऋद्धिकी अपेक्षा उन दोनों संयमोंसे इसका भेद है, अतः यह बात निश्चित हो जाती है कि सामायिक और छेदोपस्थापनासे परिहारशुद्धि संयम भिन्न है।

४. सामायिक छेदोपस्थापना व सूक्ष्मसाम्परायमें कथंचित् भेद व अभेद

ध. १/१,१,१२७/३७६/७ सूक्ष्मसांपरायः किमु एकयम उत पञ्चयम इति। किंचातो यद्येकयमः पञ्चयमान्न मुक्तिरुपशमश्रेण्यारोहणं वा सूक्ष्मसांपरायगुणप्राप्तिमन्तरेण तदुदयाभावात्। अथ पञ्चयमः एकयमानां पूर्वोक्तदोषौ समाढौकेते। अथोभययमः एकयमपञ्चयमभेदेन सूक्ष्मसांपरायाणां द्वैविध्यमापतेदिति। नाद्यौ विकल्पावनभ्युपगमात्। न तृतीयविकल्पोक्तदोषः संभवति पञ्चैकयमभेदेन संयमभेदाभावात्। यद्येकयमपञ्चयमौ संयमस्य न्यूनाधिकभावस्य निबन्धनावेवाभविष्यतां संयमभेदोऽप्यभविष्यत्। न चैवं संयमं प्रति द्वयोरविशेषात्। ततो न सूक्ष्मसांपरायसंयमस्य तद्द्वारेण द्वैविध्यमिति। तद्द्वारेण संयमस्य द्वैविध्याभावे पञ्चविधसंयमोपदेशः कथं घटत इति चेन्मा घटिष्ट। तर्हि कतिविधः संयमः। चतुर्विधः पञ्चमस्य संयमस्यानुपलम्भात्।—प्रश्न—सूक्ष्मसांपरायसंयम क्या एक यमरूप (सामायिक रूप) है अथवा पंचयमरूप (छेदोपस्थापनारूप)? इनमेंसे यदि एकयमरूप है तो पंचयमरूप छेदोपस्थापनासे मुक्ति अथवा उपशमश्रेणीका आरोहण नहीं बन सकता है, क्योंकि, सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानकी प्राप्तिके बिना ये दोनों ही बातें नहीं बन सकेंगी? यदि यह पंचयमरूप है तो एकयमरूप सामायिकसंयमको धारण करनेवाले जीवोंके पूर्वोक्त दोनों दोष प्राप्त होते हैं। यदि इसे उभय यमरूप मानते हैं तो एक यम और पंचयमके भेदसे इसके दो भेद हो जायेंगे? उत्तर—आदिके दो विकल्प तो ठीक नहीं हैं, क्योंकि, वैसा हमने माना नहीं है (अर्थात् यह केवल एक यमरूप या केवल पंचयमरूप नहीं है)। इसी प्रकार तीसरे विकल्पमें दिया गया दोष भी सम्भव नहीं, क्योंकि, पंचयम और एकयमके भेदसे संयममें कोई भेद ही सम्भव नहीं है। यदि एकयम और पंचयम, संयमके न्यूनाधिकभावके कारण होते तो संयममें भेद भी हो जाता। परन्तु ऐसा तो है, नहीं, क्योंकि, संयमके प्रति दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है। अतः सूक्ष्मसांपराय संयमके उन दोनों (एकयमरूप सामायिक तथा पंचयमरूप छेदोपस्थापना) की अपेक्षा दो भेद नहीं हो सकते। प्रश्न—तो पाँच प्रकारके संयमका उपदेश कैसे बन सकता है? उत्तर—यदि पाँच प्रकारका संयम घटित नहीं होता है तो मत होओ। प्रश्न—तो संयम कितने प्रकारका है? उत्तर—संयम चार प्रकारका है, क्योंकि पाँचवाँ संयम पाया ही नहीं जाता है। विशेषार्थ—सामायिक और छेदोपस्थापना संयममें विवक्षा भेदसे ही भेद है, वास्तवमें नहीं, अतः वे दोनों मिलकर एक और शेष तीन (परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात) इस प्रकार संयम चार प्रकारके होते हैं।

५. सामायिक व छेदोपस्थापनाका स्वामित्व सामान्य

ष. खं १/१,१/सूत्र १२५/३७४ सामाइयच्छेदोवट्ठावणसुद्धि-संजदा पमत्त-संजद-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ।=सामायिक और छेदोपस्थापना रूप शुद्धिको प्राप्त संयत जीव प्रमत्तसंयतसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होते हैं। (गो. जी./मू./४६७/८७८; ६८६/११२८) (द्र. सं/टी./३५/१४८/६)।

म. पु./७४/३१४ चतुर्थज्ञाननेत्रस्य निसर्गबलशालिनः। तस्याद्यमेव चारित्रं द्वितीयं तु प्रमादिनाम् ।३१४।=मनःपर्ययज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले और बलसे सुशोभित उन भगवान्के पहिला सामायिक चारित्र ही था, क्योंकि दूसरा छेदोपस्थापना चारित्र प्रमादी जोवोंके ही होता है। (म. पु./२०/१७०-१७२)।

(देखो अगला शीर्षक) (उत्तम संहननधारी जिनकल्पी मुनियोंको सामायिक चारित्र होता है तथा हीनसंहनन वाले स्थविरकल्पी मुनियोंको छेदोपस्थापना)।

६. कालकी अपेक्षा सामायिक व छेदोपस्थापनाका स्वामित्व

मू.आ./५३३-५३५ बावीसं तित्थयरा सामाइयसंजमं उवदिसंति। छेदुवट्ठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य ।५३३। आदीए दुव्विसोधण णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपाले य। पुरिमा य पच्छिमा वि हु कप्पाकप्पं ण जाणंति ।५३५।=अजितनाथको आदि लेकर भगवान् पार्श्वनाथ पर्यंत बावीस तीर्थंकर सामायिक संयमका उपदेश करते हैं और भगवान् ऋषभदेव तथा महावीर स्वामी छेदोपस्थापना संयमका उपदेश करते हैं।५३३। आदि तीर्थमें शिष्य सरलस्वभावी होनेसे दुःखकर शुद्ध किये जा सकते हैं। इसी तरह अन्तके तीर्थमें शिष्य कुटिल स्वभावी होनेसे दुःखकर पालन कर सकते हैं। जिस कारण पूर्वकालके शिष्य और पिछले कालके शिष्य प्रगटरीतिसे योग्य अयोग्य नहीं जानते इसी कारण अन्त तीर्थमें छेदोपस्थापनाका उपदेश है ।५३५। (अन.ध/६/८७/६१७) (और भी दे प्रतिक्रमण/२)

गो.क./जी.प्र./५४७/७१४/५ तत एव श्रीवर्द्धमानस्वामिना प्रोक्तोत्तमसंहननजिनकल्पाचरणपरिणतेषु तदेकधा चारित्रं। पञ्चमकालस्थविरकल्पाल्पसंहननसंयमिषु त्रयोदशधोक्तं=ताहीतैं श्रीवर्द्धमान स्वामीकरि पूर्वले उत्तम संहननके धारी जिनकल्प आचरणरूप परिणए मुनि तिनके सो सामायिकरूप एक प्रकार ही चारित्र कहा है। बहुरि पंचमकाल विषै स्थविरकल्पी हीनसंहननके धारी तिनिको सो चारित्र तेरह प्रकार कहा है।

दे० निर्यापक/१ में भ० आ./मू./६७१ कालानुसार चारित्रमें हीनाधिकता आती रहती है।

७. जघन्य व उत्कृष्ट लब्धिकी अपेक्षा सामायिक छेदोपस्थापनाका स्वामित्व

ध.७/२,११,१६८/५६४/३ एवं सव्वजहण्णं सामाइयच्छेदोवट्ठावणसुद्धिसंजमस्स लद्धिट्ठाणं कस्स होदि मिच्छत्तं पडिवज्जमाणसंजदस्स चरिमसमए।

ध.७/२,११,१७१/५६६/८ एसा कस्स होदि। चरिमसमयअणियट्टिस्स।=प्रश्न--सामायिक-छेदोपस्थापना-शुद्धिसंयमका यह सर्व जघन्य लब्धिस्थान किसके होता है? उत्तर—यह स्थान मिथ्यात्वको प्राप्त होनेवाले संयतके अन्तिम समयमें होता है। प्रश्न--(सामायिक-छेदोपस्थापना शुद्धिसंयमकी) यह (उत्कृष्ट) लब्धि किसके होती है? उत्तर—अन्तिम समयवर्ती अनिवृत्तिकरणके होती है।

८. अन्य सम्बन्धित विषय

१. दोनोंमें क्षयोपशम व उपशम भावके अस्तित्व सम्बन्धी शंका। —(दे० संयत/२)।

२. इस संयममें आयके अनुसार ही व्यय होता है। —(दे० मार्गणा)।

३. छेदोपस्थापनामें गुणस्थान मार्गणास्थान आदिके अस्तित्व सम्बन्धी २० प्ररूपणाएँ। —(दे० सत)।

४. सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ। — दे० वह वह नाम)।

५. इस संयममें कर्मोंके बन्ध उदय सत्त्व विषयक प्ररूपणाएँ। —(दे० वह वह नाम)।

[ज]

जंघाचारण—दे० ऋद्धि/४

जंतु—

म.पु./२४/१०३,१०५ जीवः प्राणी च जन्तुश्च क्षेत्रज्ञः पुरुषस्तथा। पुमानात्मान्तरात्मा च ज्ञो ज्ञानीत्यस्य पर्ययाः ।१०३। जन्तुश्च जन्मभाक् ।१०५।=जीव, प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, आत्मा, अन्तरात्मा, ज्ञ और ज्ञानी ये सब जीवके पर्यायवाचक नाम हैं ।१०३। क्योंकि यह बार बार अनेक जन्म धारण करता है, इसलिए इसे जन्तु कहते हैं ।१०५।

स.सा./२/६० भव्याभव्यविभेदेन द्विविधाः सन्ति जन्तवः।=भव्य और अभव्यके भेदसे जन्तु या जीव दो प्रकारके हैं।

गो.जी./जी.प्र./३६५/७७६/११ चतुर्गतिसंसारे नानायोनिषु जायत इति जन्तुः संसारी इत्यर्थः।=चतुर्गतिरूप संसारकी नाना योनियोंमें जन्म धारण करता है, इसलिए संसारी जीवको जन्तु कहा जाता है। ध.१/१,१,२/१२०/२)।

जंबूदीव पण्णत्ति—१. आ. पद्मनन्दि नं. ४ (ई० ९७७-१०४३) द्वारा रचित, लोकस्वरूप प्रतिपादक, २४२१ प्राकृत गाथाबद्ध, १३ अधिकारों युक्त ग्रन्थ। (जै./२/७५,७६)।

जंबूदीव संघायणी—श्वेताम्बराचार्य श्रीहरिभद्रसूरि (ई० ४८०-५२८) कृत, लोकस्वरूप प्रतिपादक, प्राकृत गाथाबद्ध एक ग्रन्थ।

जंबूद्वीप—१. यह मध्यलोकका प्रथम द्वीप है (देखो लोक/३/१)।

२. जम्बूद्वीप नामकी सार्थकता

स.सि./३/६/२१२/८ कोऽसौ। जम्बूद्वीपः। कथं जम्बूद्वीपः। जम्बूवृक्षोपलक्षितत्वात्। उत्तरकुरूणां मध्ये जंबूवृक्षोऽनादिनिधनः पृथिवीपरिणामोऽकृत्रिमः सपरिवारस्तदुपलक्षितोऽयं द्वीपः।=प्रश्न—इसे जम्बूद्वीप क्यों कहते हैं? उत्तर—उत्तरकुरुमें अनादिनिधन पृथिवीमयी अकृत्रिम और परिवार वृक्षोंसे युक्त जम्बूवृक्ष है, जिसके कारण यह जम्बूद्वीप कहलाता है। (रा वा./३/७/१/१६६/१४)।

जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति—१. अंग श्रुतज्ञानका एक भेद—दे० श्रुतज्ञान/III २. आ. अमितगति (ई० ९९३-१०१६) द्वारा रचित, लोकस्वरूप

प्रतिपादक, संस्कृत श्लोकबद्ध, एक ग्रन्थ। ३. आ. शक्तिकुमार (ई० श. ११) द्वारा रचित लोकस्वरूप प्रतिपादक, संस्कृतश्लोकबद्ध एक ग्रन्थ।

जंबूद्वीप समास—आ. उमास्वामी (ई० श० १-२) कृत, लोकस्वरूप प्रतिपादक, संस्कृत गद्यम ... एक ग्रन्थ।

जंबूमति—भरतक्षेत्र आर्यखण्डकी नदी—दे० मनुष्य/४।

जंबूवृक्ष—१. जम्बूद्वीपके उत्तरकुरुमें स्थित एक अनादिनिधन वृक्ष तथा इसका परिवार। दे. लोक/३/१३। २. यह वृक्ष पृथिवीकायिक है वनस्पतिकायिक नहीं—दे० वृक्ष।

जंबूशंकुपुर—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

जंबूस्वामी—(म.पु./७६/श्लोक नं०) पूर्वभवमें ब्रह्मस्वर्गका इन्द्र (३१) वर्तमान भवमें सेठ अर्हद्दासका। माता पिता भोगोंमें फँसानेका प्रयत्न करते हैं, पर स्वभावसे ही विरक्त होनेके कारण भोगोंकी बजाय जिनदीक्षाको धारण कर अन्तिम केवली हुए (३६-१२२)। श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार आप भगवान् वीरके पश्चात् तृतीय केवली हुए। समय—वी. नि. २४-६२ (ई० पू० ५०३-४६५।-दे० इतिहास/४/४

जंबूस्वामी चरित्र—पं० राजमल्ल (ई० १५७५-१५९३) द्वारा रचित संस्कृत काव्य। २४०० पद्य १३ सर्ग। (ती./४/७९)।

जगजीवन—बादशाह जहाँगीरके समयमें हुए थे। वि.१७०१ में आपने पं० बनारसीदासजी बिखरी हुई कविताओंका 'बनारसी विलास' के रूपमें संग्रह किया है। समय—वि. श. १७ का अन्त १८ का पूर्व। (ती./४/२६०)।

जगत—लोक।

जगत कुसुम—रुचक पर्वतका एक कूट (दे० लोक ५/१३।

जगतघन—(जगत श्रेणी)^3 =३४३ राजू। (रा. वा./३/३८/७/२०८/२८) (ज.प्र./प्र./२०६) (ध. ४/पृ० ११/विशेषार्थ)।

जगतप्रतर—(जगत श्रेणी)^2 =४९ राजू World surface, a measure of area. (रा. वा /३/३८/७/२०८/२८) (ज. प्र./प्र/२०६) (ध. ४/पृ० ११/विशेषार्थ)।

जगतश्रेणी—७ राजू प्रमाण लोक पंक्ति (ध. ४/पृ० ११/विशेषार्थ) (ज. प./प्र/२०६)।

रा.वा./३/३८/७/२०८/२६ घनांगुल (अद्धापल्य/असं-वर्षके समय)।

जगत्सुंदरीप्रयोगमाला—आ. यशःकीर्ति (ई० श० १३) की एक रचना।

जगत्तुंग—राष्ट्रकूटका राजा था। इसने अपने भाई इन्द्रराजकी सहायतासे कृष्णराज प्रथमके पुत्र श्रीवल्लभ (गोविन्द द्वितीय) को युद्धमें परास्त करके श. सं ७१६ में उसका राज्य (वर्द्धमानपुरकी दक्षिण दिशा) छीन लिया था। इसीलिए इसका नाम गोविन्द तृतीय भी कहा जाता है। अमोघवर्ष प्रथम इसीका पुत्र था। राज्यकाल—श. सं. ७१६-७३५ (ई० ७९४-८१३)—दे० इतिहास /३/५। (ष. खं १/प्र. ii/A.N. up); (ष.खं १/प्र.३६/H.L. Jain (आ. अनु/प्र. १०/A.N. up & H.L. Jain); (क. पा. १/प्र. ७३/पं० महेन्द्र) (म. पु. प्र/प्र४१/पं० पन्नालाल)।

जगदेकमल्ल—ई० १०२४ के एक राजा थे (सि. वि./प्र./७५/शिलालेख।

जगमोहनदास—धर्मरत्नोद्योतके कर्ता, आरा निवासी एक हिन्दी कवि। समय—लगभग वि. १८६५ (ई. १८०७)। (ती./४/३०५)।

जटायु—(प. पु./४१/श्लोक नं०) सीता द्वारा वनमें श्री सुगुप्ति मुनिराजके आहारदानके अवसरपर (२४) वृक्षपर बैठे गृद्ध पक्षीको अपने पूर्व भव स्मरण हो आये (३३) भक्तिसे आकर वह मुनिराजके चरणोंमें गिर पड़ा और उनके चरण प्रक्षालनका जल पीने लगा।४२-४३। सीताके पूछने पर मुनिराजने उसके पूर्व भव कहे। और पक्षीको उपदेश दिया।१४९। तदनन्तर मुनिराजके आदेशानुसार रामने उसका पालन किया।१५०। मुनिराजके प्रतापसे उसका शरीर स्वर्णमय बन गया और उसमें से किरणें निकलने लगीं। इससे उसका नाम जटायु पड़ गया।१६४। फिर रावण द्वारा सीता हरणके अवसर पर सीताकी सहायता करते हुए रावण द्वारा शक्तिसे मारा गया। ८५-८६।

जटासिंहनन्दि— जटासिंहनन्दिका दूसरा नाम जटाचार्य भी था। आपके सरपर अवश्य ही लम्बी लम्बी जटाएँ रही होंगी, जिससे कि इनका नाम जटासिंह पड़ा था। आप 'कोषण' देशके रहने वाले थे। वहाँ 'पल्लव' नामकी 'गुण्डु' नामकी पहाड़ीपर आपके चरण बने हुए हैं। आप अपने समयमें बहुत प्रसिद्ध विरागी थे। इसीलिए आपका स्मरण जिनसेन नयसेन आदि, अनेकों प्राचीन आचार्यों ने किया है। कृति—वराङ्ग चारित्र। समय—कवि भारवी (ई. श. ७) के पश्चात् और उद्योतन सूरि (ई. श. ९) के पूर्व। अत. ई. श ७-८ के मध्य। (ती./२/२९२-२९४)।

जटिल—(म.पु./७४/६८) एक ब्राह्मण पुत्र। यह वर्द्धमान भगवान्का दूरवर्ती पूर्वभव है। देखो 'वर्द्धमान'।

जड़—जीवको कथंचित जड़ कहना—दे० जीव/१/३।

जतुकर्ण—एक विनयवादी—दे० वैनयिक।

जनक—१—(प.पु./२६/१२१) मिथिलापुरीके राजा सीताके पिता। २—विदेहका राजा था। अपर नाम उग्रसेन था। समय—ई.पू. १४२० (भारती इतिहास/पु.१/पृ.२८६)

जनकपुरी—मिथिलापुरी जो अब दरभंगा (विदेह) में है। (म.पु/प्र.५०/पं. पन्नालाल)।

जनपद—

ध.१३/५.५.६३/३३५/५ देसस्स एगदेसो जणवओ णाम, जहा सूरसेण-गान्धार-कासी-अवन्ति-आदओ। =(अंग, बंग आदि देश कहलाते हैं) देशका एकदेश जनपद कहलाता है। यथा—शूरसेन, गान्धार, काशी, अवन्ती आदि।

जनपद सत्य—दे० सत्य/१।

जन्नाचार्य—रन्न तथा पोन्न के समकक्ष कन्नड कवि। कृति—अनन्त नाथ पुराण। समय—ई. ११७०-१२२५ (ती./४/३०९)।

जन्म—जीवोंका जन्म तीन प्रकार माना गया है, गर्भज, संमूर्च्छन व उपपादज। तहाँ गर्भज भी तीन प्रकारका है जरायुज, अण्डज, पोतज। तहाँ मनुष्य तिर्यंचोंका जन्म गर्भज व संमूर्च्छन दो प्रकारसे होता है और देव नारकियोंका केवल उपपादज। माताके गर्भसे उत्पन्न होना गर्भज है, जो जेर सहित या अण्डेमें उत्पन्न होते हैं वे जरायुज व अण्डज हैं, तथा जो उत्पन्न होते ही दौड़ने लगते हैं वे पोतज हैं। इधर-उधरसे कुछ परमाणुओंके मिश्रणसे जो स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं जैसे मेंढक, वे संमूर्च्छन हैं। देव नारकी अपने उत्पत्ति स्थानमें इस प्रकार उत्पन्न होते हैं, मानो सोता हुआ व्यक्ति जाग गया हो, वह उपपादज जन्म है।

सम्यग्दर्शन आदि गुण विशेषोंका अथवा नारक, तिर्यंचादि पर्याय विशेषोंमें व्यक्तिका जन्मके साथ क्या सम्बन्ध है वह भी इस अधिकारमें बताया गया है।

३	मनुष्य व तिर्यंचगतिसे च्यवकर देवगतिमें उत्पत्ति सम्बन्धी।
४	नरकगतिमें उत्पत्तिकी विशेष प्ररूपणा।
५	गतियोंमें प्रवेश व निर्गमन सम्बन्धी गुणस्थान।
६	गतिमार्गणाकी अपेक्षा गति प्राप्ति।
*	इन्द्रिय काय व योगकी अपेक्षा गति प्राप्ति। —दे० जन्म/६/६ में तिर्यंचगति।
*	वेद मार्गणाकी अपेक्षा गति प्राप्ति —दे० जन्म/६/५।
*	कषाय मार्गणाकी अपेक्षा गति प्राप्ति —दे० जन्म/५/६।
*	ज्ञान व संयम मार्गणाकी अपेक्षा गति प्राप्ति —दे० जन्म/६/३।
७	लेश्याकी अपेक्षा गति प्राप्ति।
*	सम्यक्त्व मार्गणाकी अपेक्षा गति प्राप्ति —दे० जन्म/३/४।
*	भव्यत्व, संज्ञित्व व आहारकत्वकी अपेक्षा गति प्राप्ति —दे० जन्म/६/६।
८	संहननकी अपेक्षा गति प्राप्ति।
९	शलाका पुरुषोंकी अपेक्षा गति प्राप्ति।
१०	नरकगतिमें पुनः पुनः भवधारणकी सीमा।
*	लब्ध्यपर्याप्तकोंमें पुनः-पुनः भवधारणकी सीमा —दे० आयु/७।
*	सम्यग्दृष्टिकी भवधारण सीमा —दे० सम्यग्दर्शन/I/५।
*	सल्लेखनागत जीवकी भवधारण सीमा —दे० सल्लेखना/१।
११	गुणोत्पादन तालिका किस गतिसे किस गतिमें उत्पन्न होकर कौन गुण उत्पन्न करे

१. जन्म सामान्य निर्देश

१. जन्मका लक्षण

रा. वा/२/३४/१/५ देवादिशरीरनिर्वृत्तौ हि देवादिजन्मेष्टम्। —देव आदिकोंके शरीरकी निवृत्तिको जन्म कहा जाता है।

रा. वा/४/४२/४/२५०/१५ उभयनिमित्तवशादात्मलाभमापद्यमानो भावः जायत इत्यस्य विषयः। यथा मनुष्य गत्यादिनामकर्मोदयापेक्षया आत्मा मनुष्यादित्वेन जायत इत्युच्यते। —बाह्य आभ्यन्तर दोनों निमित्तोंसे आत्मलाभ करना जन्म है, जैसे मनुष्यगति आदिके उदयसे जीव मनुष्य पर्यायरूपसे उत्पन्न होता है।

भ. आ/वि/२५/८५/१४ प्राणग्रहणं जन्म। —प्राणोंको ग्रहण करना जन्म है।

२. जन्म धारणसे पहिले जीवप्रदेशोंके संकोचका नियम

ध. ४/१,३,२/२९/६ उववादो एयविहो। सो वि उप्पण्णपढमसमए चेव होदि। तत्थ उज्जुगदीए उप्पण्णाणं खेत्तं बहुअं ण लब्भदि, संकोचिदासेसजीवपदेसादो। —उपपाद एक प्रकारका है, और वह भी उत्पन्न होनेके पहिले समयमें ही होता है। उपपादमें ऋजुगतिसे उत्पन्न हुए जीवोंका क्षेत्र बहुत नहीं पाया जाता है, क्योंकि इसमें जीवके समस्त प्रदेशोंका संकोच हो जाता है।

३. विग्रहगतिमें ही जीवका नवीन जन्म नहीं मान सकते

रा. वा/२/३४/१/१४५/३ मनुष्यस्तैर्यग्योनो वा छिन्नायुः कार्मणकाययोगस्थो देवादिगत्युदयाद् देवादिव्यपदेशभागिति कृत्वा तदैवास्य जन्मेति मतमिति; तन्न; किं कारणम्। शरीरनिर्वर्तकपुद्गलाभावात्। देवादिशरीरनिवृत्तौ हि देवादिजन्मेष्टम्। —प्रश्न—मनुष्य व तिर्यंचायुके छिन्न हो जानेपर कार्मणकाययोगमें स्थित अर्थात् विग्रह गतिमें स्थित जीवको देवगतिका उदय हो जाता है; और इस कारण उसको देवसंज्ञा भी प्राप्त हो जाती है। इसलिए उस अवस्थामें ही उसका जन्म मान लेना चाहिए? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि शरीरयोग्य पुद्गलोंका ग्रहण न होनेसे उस समय जन्म नहीं माना जाता। देवादिकोंके शरीरकी निष्पत्तिको ही जन्म संज्ञा प्राप्त है।

२. गर्भज आदि जन्म विशेषोंका निर्देश

१. जन्मके भेद

त. सू/२/३१ सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म। ३१।

स. सि./२/३१/१८७/५ एते त्रयः संसारिणां जीवानां जन्मप्रकाराः। —सम्मूर्च्छन, गर्भज और उपपादज ये (तीन) जन्म हैं। संसारी जीवोंके ये तीनों जन्मके भेद हैं। (रा. वा/२/३१/४/१४०/३०)।

२. बोये गये बीजमें बीजवाला ही जीव या अन्य कोई जीव उत्पन्न हो सकता है

गो.जी./मू./१८७/४२५ बीजे जोणीभूदे जीवो चंकमदि सो व अण्णो वा। जे वि य मूलादीया ते पत्तेया पढमदाए। —मूलको आदि देकर जितने बीज कहे गये हैं वे जीवके उपजनेके योनिभूत स्थान हैं। उसमें जल व काल आदिका निमित्त पाकर या तो उस बीज वाला ही जीव और या कोई अन्य जीव उत्पन्न हो जाता है।

३. उपपादज व गर्भज जन्मोंका स्वामित्व

ति. प/४/२९४८ उप्पत्ती मणुवाणं गब्भजसम्मुच्छियं खु दो भेदा ।२९४८।

ति.प./५/२९३ उप्पत्ती तिरियाणं गब्भजसम्मुच्छिमो त्ति पत्तेक्कं। —मनुष्योंका जन्म गर्भ व सम्मूर्च्छनके भेदसे दो प्रकारका है।२९४८। तिर्यंचोंकी उत्पत्ति गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्मसे होती है।२९३।

गो.जी.मू./९०-९२/२१२ उववादा सुरणिरिया गब्भजसम्मुच्छिमा हु णरतिरिया।...।९०। पंचिक्खतिरिक्खाओ गब्भजसम्मुच्छिमा तिरिक्खाणं। भोगभूमा गब्भभवा णरपुण्णा गब्भजा चेव।९१। उववादगब्भजेसु य लद्धिअपज्जत्तगा ण णियमेण।...।९२। —देव और नारकी उपपाद जन्मसंयुक्त है। मनुष्य और तिर्यंच यथासम्भव गर्भज और सम्मूर्च्छन होता है। पंचेन्द्रिय तिर्यंच गर्भज और सम्मूर्च्छन दोनों प्रकारके होते हैं (विकलेन्द्रिय व एकेन्द्रिय सम्मूर्च्छन ही होते हैं) तिर्यंच योनिमें भोगभूमिया तिर्यंच गर्भज ही होते हैं और पर्याप्त मनुष्य भी गर्भज ही होते हैं। उपपादज और गर्भज जीवोंमें नियमसे अपर्याप्तक नहीं है (सम्मूर्च्छनोंमें ही होते हैं)।

सू./२/३४ देवनारकाणामुपपादः ।३४। —देव व नारकियोंका जन्म उपपादज ही होता है। (मू. आ/११३१)

४. उपपादज जन्मकी विशेषताएँ

ति.प./२/३१३-३१४ पावेणं णिरयबिले जादूणं ता मुहुत्तगंमेत्ते। छप्पज्जत्ती पाविय आकस्सियभयजुदो होदि।३१३। भीदीए कंपमाणो चलिदुं दुक्खेण पट्ठिओ संतो। छत्तीसाऊहमज्झे पडिदूणं तत्थ उप्पलइ।३१४। =नारकी जीव पापसे नरकबिलमें उत्पन्न होकर और एक मुहूर्त मात्र कालमें छह पर्याप्तियोंको प्राप्त कर आकस्मिक भयसे युक्त होता है।३१३। पश्चात् वह नारकी जीव भयसे काँपता हुआ बड़े कष्टसे चलनेके लिए प्रस्तुत होकर और छत्तीस आयुधोंके मध्यमें गिरकर वहाँसे उछलता है (उछलनेका प्रमाण—दे० नरक/२)।

ति प./८/५६७ जायंते सुरलोए उववादपुरे महारिहे सयणे। जादा य मुहुत्तेणं छप्पज्जत्तीओ पावंति।५६७। = देव सुरलोकके भीतर उपपादपुरमें महार्घ शय्यापर उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होने पर एक मुहूर्त में ही छह पर्याप्तियोंको भी प्राप्त कर लेते हैं।५६७।

५. वीर्यप्रवेशके सात दिन पश्चात् तक जीव गर्भमें आ सकता है

यशोधर चरित्र/ पृ० १०६ वीर्य तथा रज मिलनेके पश्चात् ७ दिन तक जीव उसमें प्रवेश कर सकता है, तत्पश्चात् वह स्रवण कर जाता है।

६. इसीलिए कदाचित् अपने वीर्यसे स्वयं भी अपना पुत्र होना सम्भव है

यशोधर चरित्र / पृ० १०६. अपने वीर्य द्वारा बकरीके गर्भमें स्वयं मरकर उत्पन्न हुआ।

७. गर्भवासका काल प्रमाण

ध १०/४,२,४,५८/२७८/८ गब्भम्मिपदिदपढमसमयप्पहुडि के वि सत्तमासे गब्भे अच्छिदूण गब्भादो णिस्सरंति, केवि अट्ठमासे, केवि णवमासे, के वि दसमासे, अच्छिदूण गब्भादो णिप्फिडंति। =गर्भमें आनेके प्रथम समयसे लेकर कोई सात मास गर्भमें रहकर उससे निकलते हैं, कोई आठ मास, कोई नौ मास और कोई दस मास रहकर गर्भसे निकलते हैं।

८. रज व वीर्यसे शरीर निर्माणका क्रम

भ.आ./मू./१००७-१०१७ कललगदं दसरत्तं अच्छदि कलुसकिदं च दसरत्तं। थिरभूदं दसरत्तं अच्छदि गब्भम्मि तं बीयं।१००७। तत्तो मासं बुब्बुदभूदं अच्छदि पुणो वि घणभूदं। जायदि मासेण तदो मंसप्पेसी य मासेण।१००८। मासेण पंचपुलगा तत्तो हुंति हु पुणो वि मासेण। अंगाणि उवंगाणि य णरस्स जायंति गब्भम्मि।१००९। मासम्मि सत्तमे तस्स होदि चम्मणहरोमणिप्पत्ती। फंदणमट्ठममासे णवमे दसमे य णिग्गमणं।१०१०। आमासयम्मि पक्कासयस्स उवरिं अमेज्झमज्झम्मि। वत्थिपडलपच्छण्णो अच्छइ गब्भे हु णवमासं।१०१२। दन्तेहिं चव्विदं बोलणं च सिंभेण मेलिदं संतं। मायाहारियमण्णं जुत्तं पित्तेण कडुएण।१०१५। वमिगं अमेज्झसरिसं वादविओजिदरसं खलं गब्भे। आहारेदि समंता उवरिं थिप्पंतगं णिच्चं।१०१६। तो सत्तमम्मि मासे उप्पलणालसरिसी हवइ णाही। तत्तो पाए वमियं तं आहारेदि णाहीए।१०१७। =माताके उदरमें वीर्यका प्रवेश होनेपर वीर्यका कलल बनता है, जो दस दिन तक काला रहता है और अगले १० दिनतक स्थिर रहता है।१००७। दूसरे मास वह बुदबुदरूप हो जाता है, तीसरे मासमें उसका घट्ट बनता है और चौथे मासमें मांसपेशीका रूप धर लेता है।१००८। पाँचवें मास उसमें पाँच पुलव (अंकुर) उत्पन्न होते हैं। नीचेके अंकुरोंसे दो पैर, ऊपरके अंकुरसे मस्तक और बीचके अंकुरोंसे दो हाथ उत्पन्न होते हैं। छठे मास उक्त पाँच अंगोंकी और आँख, कान आदि उपांगोंकी रचना होती है।१००९। सातवें मास उन अवयवोंपर चर्म व रोम उत्पन्न होते हैं और आठवें मास वह गर्भमें ही हिलने-डुलने लगता है। नवमें या दसवें मास वह गर्भसे बाहर आता है।१०१०। आमाशय और पक्वाशयके मध्य वह जेरसे लिपटा हुआ नौ मास तक रहता है।१०१२। दाँतसे चबाया गया कफसे गीला होकर मिश्रित हुआ ऐसा, माता द्वारा भुक्त अन्न माताके उदरमें पित्तसे मिलकर कडुआ हो जाता है।१०१५। वह कडुआ अन्न एक-एक बिन्दु करके गर्भस्थ बालकपर गिरता है और वह उसे सर्वांगसे ग्रहण करता रहता है।१०१६। सातवें महीनेमें जब कमलके डंठलके समान दीर्घ नाल पैदा हो जाता है तब उसके द्वारा उपरोक्त आहारको ग्रहण करने लगता है। इस आहारसे उसका शरीर पुष्ट होता है।१०१७।

३. सम्यग्दर्शनमें जीवके जन्म सम्बन्धी नियम

१. अबद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि उच्च कुल व गतियों आदिमें ही जन्मता है नीचमें नहीं

र. क.श्रा/३५-३६ सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि। दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः।३५। ओजस्तेजो विद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः। महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः।३६। —जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हैं वे व्रतरहित होनेपर भी नरक, तिर्यच, नपुंसक व स्त्रीपनेको तथा नीचकुल, विकलांग, अल्पायु और दरिद्रपनेको प्राप्त नहीं होते हैं।३५। शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव कान्ति, प्रताप, विद्या, वीर्य, यशकी वृद्धि, विजय विभवके स्वामी उच्चकुली धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके साधक मनुष्योंमें शिरोमणि होते हैं।३६। (द्र. सं./टी./४१/१७८/८ पर उद्धृत)।

द्र. सं./टी./४१/१७८/७ इदानीं येषां जीवानां सम्यग्दर्शनग्रहणात्पूर्वमायुर्बन्धो नास्ति तेषां व्रताभावेऽपि नरनारकादिकुत्सितस्थानेषु जन्म न भवतीति कथयति। —अब जिन जीवोंके सम्यग्दर्शन ग्रहण होनेसे पहले आयुका बन्ध नहीं हुआ है, वे व्रत न होनेपर भी निन्दनीय नर नारक आदि स्थानोंमें जन्म नहीं लेते, ऐसा कथन करते हैं। (आगे उपरोक्त श्लोक उद्धृत किये हैं। अर्थात् उपरोक्त नियम अबद्धायुष्कके लिए जानना बद्धायुष्कके लिए नहीं)।

का. अ./मू./३२७ सम्माइट्ठी जीवो दुग्गदि हेदुं ण बंधदे कम्मं। जं बहु भवेसु बद्धं दुक्कम्मं तं पि णासेदि।३२७। —सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे कर्मोंका बन्ध नहीं करता जो दुर्गतिके कारण हैं बल्कि पहले अनेक भवोंमें जो अशुभ कर्म बाँधे हैं उनका भी नाश कर देता है।

२. बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टिकी चारों गतियोंमें उत्पत्ति संभव है

गो. जी./जी. प्र./१२७/३३८/१५ मिथ्यादृष्ट्यसंयतगुणस्थानमृताश्चतुर्गतिषु...चोत्पद्यन्ते। —मिथ्यादृष्टि और असंयत गुणस्थानवर्ती चारों गतियोंमें उत्पन्न होते हैं।

३. परन्तु बद्धायुष्क उन-उन गतियोंके उत्तम स्थानोंमें ही उत्पन्न होते हैं नीचोंमें नहीं

पं. सं. प्रा./१/१९३ छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु जोइसवणभवणसव्व इत्थीसु। बारस मिच्छावादे सम्माइट्ठीसु णत्थि उववादो। –प्रथम पृथिवियोंके बिना अधस्थ छहों पृथिवियोंमें, ज्योतिषी व्यन्तर भवन-वासी देवोंमें सर्व प्रकारकी स्त्रियोंमें अर्थात् तिर्यंचिनी मनुष्यणी और देवियोंमें तथा बारह मिथ्यावादोंमें अर्थात् जिनमें केवल मिथ्यात्व गुणस्थान ही सम्भव है ऐसे एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असंज्ञीपंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके बारह जीवसमासोंमें, सम्यग्दृष्टि जीवका उत्पाद नहीं है, अर्थात् सम्यक्त्व सहित ही मरकर इनमें उत्पन्न नहीं होता है। (ध. १/१,१,२६/गा. १३३/२०९); (गो. जी./मू./१२९/३१९)।

द्र. सं./टी./४१/१७६/२ इदानीं सम्यक्त्वग्रहणात्पूर्वं देवायुष्कं विहाय ये बद्धायुष्कास्तान् प्रति सम्यक्त्वमाहात्म्यं कथयति। हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसवणभवणसव्वइत्थीणं। पुण्णिदरे ण हि समणो णारयापुण्णे। (गो. जी./मू./१३८/३१९)। तमेवार्थं प्रकारान्तरेण कथयति—ज्योतिर्भावनभौमेषु षट्स्वधः श्वभ्रभूमिषु। तिर्यक्षु नृसुरस्त्रीषु सद्दृष्टिर्नैव जायते। –अब जिन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण करनेके पहले ही देवायुको छोड़कर अन्य किसी आयुका बन्ध कर लिया है उनके प्रति सम्यक्त्वका माहात्म्य कहते हैं। (यहाँ दो गाथाएँ उद्धृत की हैं)। (गो. जी./मू./१२८/३३९ से)—प्रथम नरकको छोड़कर अन्य छह नरकोंमें; ज्योतिषी, व्यन्तर व भवनवासी देवोंमें, सब स्त्री लिंगोंमें और तिर्यंचोंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते। (गो. जी./मू./१२८)। इसी आशयको अन्य प्रकारसे कहते हैं—ज्योतिषी, भवनवासी और व्यन्तर देवोंमें, नीचेके ६ नरकोंकी पृथिवियोंमें, तिर्यंचोंमें और मनुष्यणियों व देवियोंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते।

४. बद्धायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि चारों ही गतियोंके उत्तम स्थानोंमें उत्पन्न होता है

क. पा./२/१/§२४०/२१३/३ खीणदंसणमोहणीयं चउग्गईसु उप्पज्जमाणं पेक्खिदूण। –जिनके दर्शनमोहनीयका क्षय हो गया है ऐसे जीव चारों गतियोंमें उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं।

ध. २/१,१/४८१/१ मणुस्सा पुव्वबद्ध-तिरिक्खयुगापच्छा सम्मत्तं घेत्तूण दंसणमोहणीय खविय खइय सम्माइट्ठी होदूण असंखेज्ज-वस्सायुगेसु तिरिक्खेसु उप्पज्जंति ण अणत्थ। –जिन मनुष्योंने सम्यग्दर्शन होनेसे पहले तिर्यंचायुको बाँध लिया वे पीछे सम्यक्त्वको ग्रहण कर और दर्शनमोहनीयका क्षपण करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर असंख्यात वर्षकी आयुवाले भोगभूमिके तिर्यंचोंमें ही उत्पन्न होते हैं अन्यत्र नहीं। (विशेष दे० तिर्यंच/२)।

ध. १/१,१,२५/२०५/८ सम्यग्दृष्टीनां बद्धायुषां तत्रोत्पत्तिरस्तीति तत्रासंयतसम्यग्दृष्टयः सन्ति। –बद्धायुष्क (क्षायिक) सम्यग्दृष्टियोंकी नरकमें उत्पत्ति होती है, इसलिए नरकमें असंयत सम्यग्दृष्टि पाये जाते हैं।

ध. १/१,१,२५/२०७/१ प्रथमपृथिव्युत्पत्तिं प्रति निषेधाभावात्। प्रथमपृथिव्यामिव द्वितीयादिषु पृथिवीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यक्त्वस्य तत्रतन्न्यापर्याप्ताद्धया सह विरोधात्। –सम्यग्दृष्टि मरकर प्रथम पृथिवीमें उत्पन्न होते हैं, इसका आगममें निषेध नहीं है। प्रश्न—प्रथम पृथिवीकी भाँति द्वितीयादि पृथिवियोंमें भी वे क्यों उत्पन्न नहीं होते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, द्वितीयादि पृथिवियोंकी अपर्याप्त अवस्थाके साथ सम्यग्दर्शनका विरोध है। (विशेष —दे० नरक/४।

५. कृतकृत्य वेदक सहित जीवोंके उत्पत्ति क्रम सम्बन्धी नियम

क. पा./२/२-/§२४२/२१५/७ पढमसमयकदकरणिज्जो जदि मरदि णियमो देवेसु उव्वज्जदि। जदि णेरइएसु तिरिक्खेसु मणुस्सेसु वा उववज्जदि तो णियमा अंतोमुहुत्तकदकरणिज्जो त्ति जइवसहाइरियपरूविद चुण्णिसुत्तादो। –कृतकृत्यवेदक जीव यदि कृतकृत्य होनेके प्रथम समयमें मरण करता है तो नियमसे देवोंमें उत्पन्न होता है। किन्तु जो कृतकृत्यवेदक जीव नारकी तिर्यंचों और मनुष्योंमें उत्पन्न होता है वह नियमसे अन्तर्मुहूर्त काल तक कृतकृत्यवेदक रहकर ही मरता है। इस प्रकार यतिवृषभाचार्यके द्वारा कहे चूर्ण सूत्रसे जाना जाता है।

ध. २/१,१/४८१/४ तत्थ उप्पज्जमाण कदकरणिज्जं पडुच्च वेदगसम्मत्त लब्भदि। –उन्हीं भोग भूमिके तिर्यंचोंमें उत्पन्न होनेवाले (बद्धायुष्क —देखो अगला शीर्षक) जीवोंके कृतकृत्य वेदककी अपेक्षा वेदक सम्यक्त्व भी पाया जाता है।

गो. क./मू./५६२/७६४ देवेसु देवमणुवे सुरणरतिरिये चउगईसुंपि। कदकरणिज्जुप्पत्ती कमसो अंतोमुहुत्तेण ॥५६२॥ –कृतकृत्य वेदकका काल अन्तर्मुहूर्त है। ताका चार भाग कीजिए। तहाँ क्रमतैं प्रथमभागका अन्तर्मुहूर्तकरि मरया हुआ देवविषै उपजै है, दूसरे भागका मरा हुआ देवविषै व मनुष्यविषै, तीसरे भागका देव मनुष्य व तिर्यंचविषै, चौथे भागका देव, मनुष्य, तिर्यंच व नारक (इन चारोंमें से) किसी एक विषै उपजै है। (ल. सा./मू./१४६/२००)।

६. सम्यग्दृष्टि मरनेपर पुरुषवेदी ही होता है

ध. २/१,१/५१०/१० देव णेरइय मणुस्स-असंजदसम्माइट्ठिणो जदि मणुस्सेसु उप्पज्जंति तो णियमा पुरिसवेदेसु चेव उप्पंज्जंति ण अण्णवेदेसु तेण पुरिसवेदो चेव भणिदो। –देव नारकी और मनुष्य असंयत सम्यग्दृष्टि जीव मरकर यदि मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं, तो नियमसे पुरुषवेदी मनुष्योंमें ही उत्पन्न होते हैं; अन्य वेदवाले मनुष्योंमें नहीं। इससे असंयत सम्यग्दृष्टि अपर्याप्तके एक पुरुषवेद ही कहा है (विशेष दे० पर्याप्ति)।

ध. १/१,१,९३/३३२/१० हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्ते इति चेन्न, उत्पद्यन्ते। कुतोऽवसीयते? अस्मादेवार्षात्। –प्रश्न—हुण्डावसर्पिणीकाल सम्बन्धी स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि जीव क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि उनमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होते हैं। प्रश्न—यह किस प्रमाणसे जाना जाता है? उत्तर—इसी (ष.खं.) आगमप्रमाणसे जाना जाता है।

४. सासादन गुणस्थानमें जीवोंके जन्म सम्बन्धी मतभेद

१. नरकमें जन्मनेका सर्वथा निषेध है

ध. ६/१,९-९/४७/४३८/८ सासणसम्माइट्ठीणं च णिरयगदिम्हि पवेसो णत्थि। एत्थ पवेसापदुप्पायण अण्णहाणुववत्तीदो। –सासादन सम्यग्दृष्टियोंका नरकगतिमें प्रवेश ही नहीं है, क्योंकि यहाँ प्रवेशके प्रतिपादन न करनेकी अन्यथा उपपत्ति नहीं बनती। (सूत्र नं. ४६ में

मिथ्यादृष्टिके नरकमें प्रवेश विषयक प्ररूपणा करके सूत्र नं० ४७ में सम्यग्दृष्टिके प्रवेश विषयक प्ररूपणा की गयी है। बीचमें सासादन व मिश्र गुणस्थानकी प्ररूपणाएँ छोड़ दी हैं)।

ध.१/१,१,२५/२०५/६ न सासादनगुणवतां तत्रोत्पत्तिस्तद्गुणस्य तत्रोत्पत्त्या सह विरोधात्।...किमित्यपर्याप्तया विरोधश्चेत्स्वभावोऽयं, न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः। —सासादन गुणस्थानका नरकमें उत्पत्तिके साथ विरोध है। प्रश्न—नरकगतिमें अपर्याप्तावस्थाके साथ दूसरे (सासादन) गुणस्थानका विरोध क्यों है। उत्तर—यह नारकियोंका स्वभाव है, और स्वभाव दूसरेके प्रश्नके योग्य नहीं होते।

गो.क./जी.प्र./१२७/३३८/१५ सासादनगुणस्थानमृता नरकवर्जितगतिषु —ोत्पद्यन्ते। —सासादन गुणस्थानमें मरा हुआ जीव नरक रहित शेष तीन गतियोंमें उत्पन्न होते हैं।

२. अन्य तीन गतियोंमें उत्पन्न होने योग्य कालविशेष

ध. ५/१ ६,३८/३५/३ सासणं पडिवण्णबिदिए समए जदि मरदि, तो णियमेण देवगदीए उववज्जदि। एवं जाव आवलियाए असंखेज्जदिभागो देवगदिपाओग्गो कालो होदि। तदो उवरि मणुसगदिपाओग्गो आवलियाए असंखेज्जदिभागमेत्तो कालो होदि। एवं सण्णिपंचिंदियतिरिक्ख-चउरिंदिय-तेइंदिय-बेइंदिय-एइंदियपाओग्गो होदि। एसो णियमो सव्वत्थ सासणगुणं पडिवज्जमाणाणं। —सासादन गुणस्थानको प्राप्त होनेके द्वितीय समयमें यदि वह जीव मरता है तो नियमसे देवगतिमें उत्पन्न होता है। इस प्रकार आवलीके असंख्यातवें भागप्रमाणकाल देवगतिमें उत्पन्न होनेके योग्य होता है। उसके ऊपर मनुष्यगति (में उत्पन्न होने) के योग्यकाल आवलीके असंख्यातवेंभाग प्रमाण है। इसी प्रकारसे आगे-आगे संज्ञी पंचेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होने योग्य (काल) होता है। यह नियम सर्वत्र सासादन गुणस्थानको प्राप्त होनेवालोंका जानना चाहिए।

३. पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें गर्भज संज्ञी पर्याप्तमें ही जन्मता है अन्यमें नहीं

ष.खं./६/१,९-९/सू. १२२-१२५/४६१ पंचिंदिएसु गच्छंता सण्णीसु गच्छंति, णो असण्णीसु।१२२। सण्णीसु गच्छंता गब्भोवक्कंतिएसु गच्छंता, णो सम्मुच्छिमेसु।१२३। गब्भोवक्कंतिएसु गच्छंता पज्जयत्तएसु, णो अपज्जत्तएसु।१२४। पज्जत्तएसु गच्छंता संखेज्जवासाउएसु वि गच्छंति असंखेज्जवासाउवेसु वि।१२५। —तिर्यंचोंमें जानेवाले संख्यात वर्षायुष्क सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंच।११९। पंचेन्द्रियोंमें भी जाते हैं।१२०। पंचेन्द्रियोंमें भी संज्ञियोंमें ही जाते हैं असंज्ञियोंमें नहीं।१२२। संज्ञियोंमें भी गर्भजोंमें जाते हैं संमूर्च्छिमोंमें नहीं।१२३। गर्भजोंमें भी पर्याप्तकोंमें जाते हैं अपर्याप्तकोंमें नहीं।१२४। पर्याप्तकोंमें जानेवाले वे संख्यात वर्षायुष्कोंमें भी जाते हैं और असंख्यात वर्षायुष्कोंमें भी।१२५। (देखो आगे गति अगति चूलिका नं. ३ शेष गतियोंसे आनेवाले जीवोंके लिए भी उपरोक्त ही नियम है।) (ध.२/१,१/४२७)।

४. असंज्ञियोंमें भी जन्मता है

गो. जी./जी.प्र./६९५/११३१/१३ सासादने ... संज्ञ्यसंज्ञ्यपर्याप्तसंज्ञिपर्याप्ता...। द्वितीयोपशम सम्यक्त्वविराधकस्य सासादनत्वप्राप्तिपक्षे च संज्ञिपर्याप्तदेवापर्याप्ताविति द्वौ। —सासादनविषै जीवसमास असंज्ञी अपर्याप्त और संज्ञी पर्याप्त व अपर्याप्त भी होते हैं और द्वितीयोपशम सम्यक्त्वतैं पड़ जो सासादनको भया होइ ताकि अपेक्षा तहाँ सैनी पर्याप्त और देव अपर्याप्त ये दो ही जीव समास हैं। (गो.जी./जी.प्र./७०३/११३७/१४); (गो.क./जी.प्र./५५१/७५३/४)।

५. विकलेन्द्रियोंमें नहीं जन्मता

ध.६/१,९-९/सू.१२०/४५६ तिरिक्खेसु गच्छंता एइंदिए पंचिंदिएसु गच्छंति णो विगलिंदिएसु।१२०। —तिर्यंचोंमें जानेवाले संख्यातवर्षायुष्क सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंच एकेन्द्रिय व पंचेन्द्रियोंमें जाते हैं व विकलेन्द्रियोंमें नहीं।१२०।

ध.६/१,९-९/सूत्र ७६-७८; १५०-१५२;१७५ (नरक, मनुष्य व देवगतिसे आकर तिर्यंचोंमें उपजनेवाले सासादन सम्यग्दृष्टियोंके लिए भी उपरोक्त ही नियम कहा गया है)।

ध.२/१,१/५७६,५८० (विकलेन्द्रिय पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों अवस्थाओंमें एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही कहा गया है)।

(दे० इन्द्रिय/४/४) विकलेन्द्रियोंमें एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही कहा गया है।

६. विकलेन्द्रियोंमें भी जन्मता है

पं.सं/प्रा./४/५६ मिच्छा सादा दोण्णि य इगि वियले होंति ताणि णायव्वा।

पं.सं./प्रा.टी./४/५६/९६/१ तेषेकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणां पर्याप्तकाले एकं मिथ्यात्वम्। तेषां केषांचित् अपर्याप्तकाले उत्पत्तिसमये सासादनं संभवति। —इन्द्रिय मार्गणाकी अपेक्षा एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवोंमें मिथ्यात्व और सासादन ये दो गुणस्थान होते हैं। यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि उक्त जीवोंमें सासादन गुणस्थान निर्वृत्यपर्याप्त दशामें ही सम्भव है अन्यत्र नहीं, क्योंकि पर्याप्त दशामें तो तहाँ एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही पाया जाता है।

गो.जी./जी.प्र./६९५/११३१/१३ सासादने बादरैकद्वित्रिचतुरासंज्ञ्य संज्ञ्यसंज्ञ्यपर्याप्तसंज्ञिपर्याप्ताः सप्त। —सासादन विषै बादर एकेन्द्री बेंद्री तेंद्री चौइंद्री व असैनी तो अपर्याप्त और सैनी पर्याप्त व अपर्याप्त ए सात जीव समास होते हैं। (गो.जी./जी.प्र./७०३/११३७/११), (गो.क./जी.प्र./५५१/७५३/४)।

७. एकेन्द्रियोंमें जन्मता है

ष.खं.६/१,९-९/सूत्र १२०/४५६ तिरिक्खेसु गच्छंता एइंदिया पंचिंदिएसु गच्छंति, णो विगलिंदिएसु।१२०। —तिर्यंचोंमें जानेवाले संख्यात वर्षायुष्क सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंच एकेन्द्रिय व पञ्चेन्द्रियमें जाते हैं, परन्तु विकलेन्द्रियमें नहीं जाते।

ष.खं.६/१,९-९/सूत्र ७६-७८; १५०-१५२; १७५ सारार्थ (नरक मनुष्य व देवगतिसे आकर तिर्यंचोंमें उत्पन्न होनेवाले सासादन सम्यग्दृष्टियोंके लिए भी उपरोक्त ही नियम कहा गया है)।

गो.जी./जी.प्र./६९५/११३१/१३ सासादने बादरैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञ्यपर्याप्तसंज्ञिपर्याप्ताः सप्त। —सासादनमें बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीवसमास भी होता है। (गो.जी./जी.प्र./७०३/११३७/११); (गो.क./जी.प्र./५५१/७५३/४)।

८. एकेन्द्रियोंमें नहीं जन्मता

दे० इन्द्रिय/४/४ एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय पर्याप्त व अपर्याप्त सबमें एक मिथ्यात्व गुणस्थान बताया है।

ध.४/१,४,४,/१६५/७ जे पुण देवसासणा एइंदिएसुप्पज्जंति त्ति भणंति तेसिमभिप्पाएण, बारहचोद्दसभागा देसूणा उववादफोसणं होदि, एदं पि वक्खाणं संत-दव्वसुत्तविरुद्धं ति ण घेत्तव्वं।—जो ऐसा कहते हैं कि सासादनसम्यग्दृष्टि देव एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं, उनके अभिप्रायसे कुछ कम १२/१४ भाग उपपादपदका स्पर्शन होता है। किन्तु यह भी व्याख्यान सत्प्ररूपणा और द्रव्यानुयोगद्वारके सूत्रोंके विरुद्ध पड़ता है, इसलिए उसे नहीं ग्रहण करना चाहिए।

ध.७/२,७,२६२/४५७/२ ण, सासणाणमेइंदिएसु उववादाभावादो। —सासादन सम्यग्दृष्टियोंकी एकेन्द्रियोंमें उत्पत्ति नहीं है।

९. बादर पृथिवी अप् व प्रत्येक वनस्पतिमें जन्मता है अन्य कायोंमें नहीं

ष.खं. ६/१,९-९/सूत्र १२१/४६० एइंदिएसु गच्छंता बादरपुढवीकाइया-बादरआउकाइया-बादरवणप्फइकाइयपत्तेयसरीर पज्जत्तएसु गच्छंति णो अपज्जत्तेसु।१२१। —एकेन्द्रियोंमें जानेवाले वे जीव (संख्यात वर्षायुष्क सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंच) बादर पृथिवीकायिक, बादर जलकायिक, बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर पर्याप्तकोंमें ही जाते हैं अपर्याप्तोंमें नहीं।

ष.खं. ६/१,९-९/सू./१४३,१७६ मनुष्य व देव गतिसे आनेवालोंके लिए भी उपरोक्त ही नियम है।

पं.सं./प्रा./४/५९-६० भूदयहरिएसु दोण्णि पढमाणि।५९। तेऊ वाऊकाए मिच्छं...।६०।

पं.सं./प्रा./टी./४/६०/९९/५ तयोरेकं कथम्? सासादनस्थो जीवो मृत्वा तेजोवायुकायिकयोर्मध्ये न उत्पद्यते, इति हेतोः। —काय मार्गणाकी अपेक्षा पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोंमें आदिके दो गुणस्थान होते हैं। तेजस्कायिक और वायुकायिकमें एक मिथ्यात्व गुणस्थान होता है, क्योंकि सासादन सम्यग्दृष्टि जीव मरकर तेज व वायुकायिकोंमें उत्पन्न नहीं होते।

गो.क./मू./११५/१०५ ण हि सासणो अपुण्णे साहारणसुहुमगे य तेउदुगे।...।११५। —लब्धि अपर्याप्त, साधारणशरीरयुक्त, सर्व सूक्ष्म जीव, तथा वातकायिक तेजस्कायिक विषैं सासादन गुणस्थान न पाइए है।

गो.क./जी.प्र./३०६/४३८/८ गुणस्थानद्वयं। कुतः। "ण हि सासणो अपुण्णे...।" इति पारिशेषात् पृथ्व्यप्प्रत्येकवनस्पतिषु सासादनस्योत्पत्तेः। —प्रश्न—पृथिवी आदिकोंमें दो गुणस्थान कैसे होते हैं? उत्तर—"ण हि सासण अपुण्णो—" इत्यादि उपरोक्त गाथा नं० ११५ में अपर्याप्तकादि स्थानोंका निषेध किया है। परिशेष न्यायसे उनसे बचे जो पृथिवी, अप् और प्रत्येक वनस्पतिकायिक उनमें सासादनकी उत्पत्ति जानी जाती है। (गो.जी./जी.प्र./७०३/११३७/१४); (गो.क./जी.प्र./५५१/७५३/४)

१०. बादर पृथिवी आदि कायिकोंमें भी नहीं जन्मते

ध. २/१,१/६०७,६१०,६१५ सारार्थ (बादरपृथिवीकायिक, बादरवायुकायिक व प्रत्येक वनस्पतिकायिक पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों अवस्थाओंमें सर्वत्र एक मिथ्यात्व ही गुणस्थान बताया गया है।)

दे. काय/२/४ पृथिवी आदि सभी स्थावर कायिकोंमें केवल एक मिथ्यात्वगुणस्थान ही बताया गया है।

११. एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न नहीं होते बल्कि उनमें मारणान्तिक समुद्घात करते हैं

ध. ४/१,४,४/१६२/१० जदि सासणा एइंदिएसु उप्पज्जंति, तो तत्थ दो गुणट्ठाणाणि होंति। ण च एवं, संताणिओगद्दारे तत्थ एक्कमिच्छादिट्ठिगुणप्पदुप्पायणादो दव्वाणिओगद्दारे वि तत्थ एगगुणट्ठाणदव्वस्स पमाणपरूवणादो च। को एवं भणदि जधा सासणा एइंदिएसुप्पज्जंति त्ति। किंतु ते तत्थ मारणंतियं मेल्लंति त्ति अम्हाणं णिच्छओ। ण पुण ते तत्थ उप्पज्जंति त्ति, छिण्णाउकाले तत्थ सासणगुणाणुवलंभादो। जत्थ सासणाणमुववादो णत्थि, तत्थ वि जदि सासणा मारणंतियं मेल्लंति, तो सत्तमपुढविणेरइया वि सासणगुणेण सह पंचिंदियतिरिक्खेसु मारणंतियं मेल्लंतु, सासणत्तं पडि विसेसाभावादो। ण एस दोसो, भिण्णजादित्तादो। एदे सत्तमपुढविणेरइया पंचिंदियतिरिक्खेसु गब्भोवक्कंतिएसु चेव उप्पज्जणसहावा, ते पुण देवा पंचिंदिएसु एइंदिएसु य उप्पज्जणसहावा, तदो ण समाणजादीया। ...तम्हा सत्तमपुढविणेरइया सासणगुणेण सह देवा इव मारणंतियं ण करेंति त्ति सिद्धं।...वाउकाइएसु सासणा मारणंतियं किण्ण करेंति। ण, सयलसासणाणं देवाणं व तेउ-वाउकाइएसु मारणंतियाभावादो, पुढविपरिणाम-विमाण-तल-सिला-थंभ-थूभतल-उब्भसालहंजिया-कुड्ड-तोरणादीणं तदुप्पत्तिजोगाणं दंसणादो च। —प्रश्न—यदि सासादन सम्यग्दृष्टि जीव एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं तो उनमें वहाँपर दो गुणस्थान प्राप्त होते हैं। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि सत्प्ररूपणा अनुयोग द्वारमें एकेन्द्रियोंमें एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही कहा गया है, तथा द्रव्यानुयोगद्वारमें भी उनमें एक ही गुणस्थानके द्रव्यका प्रमाण प्ररूपण किया गया है? उत्तर—कौन ऐसा कहता है कि सासादन सम्यग्दृष्टि जीव एकेन्द्रियोंमें होते हैं! किन्तु वे उस एकेन्द्रियमें मारणान्तिक समुद्घातको करते हैं; ऐसा हमारा निश्चय है। न कि वे अर्थात् सासादनसम्यग्दृष्टि जीव एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं; क्योंकि, उनमें आयुके छिन्न होनेके समय सासादन गुणस्थान नहीं पाया जाता है। प्रश्न—जहाँपर सासादनसम्यग्दृष्टियोंका उत्पाद नहीं है, वहाँ पर भी यदि (वे देव) सासादन सम्यग्दृष्टि जीव मारणान्तिक समुद्घातको करते हैं, तो सातवीं पृथिवीके नारकियोंको सासादन गुणस्थानके साथ पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें मारणान्तिक समुद्घात करना चाहिए, क्योंकि, सासादन गुणस्थानकी अपेक्षा दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, देव और नारकी इन दोनोंकी भिन्न जाति है, ये सातवीं पृथिवीके नारकी गर्भजन्मवाले पंचेन्द्रियोंमें ही उपजनेके स्वभाववाले हैं, और वे देव पंचेन्द्रियोंमें तथा एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होनेरूप स्वभाववाले हैं, इसलिए दोनों समान जातीय नहीं हैं।...इसलिए सातवीं पृथिवीके नारकी देवोंकी तरह मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते हैं। प्रश्न—सासादन सम्यग्दृष्टि जीव वायुकायिकोंमें मारणान्तिक समुद्घात क्यों नहीं करते? उत्तर—नहीं, क्योंकि, सकल सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंका देवोंके समान तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवोंमें मारणान्तिक समुद्घातका अभाव माना गया है। और पृथिवीके विकाररूप विमान, शय्या, शिला, स्तम्भ और स्तूप, इनके तलभाग तथा खड़ी हुई शालभंजिका (मिट्टीकी पुतली) भित्ति और तोरणादिक उनकी उत्पत्तिके योग्य देखे जाते हैं।

१२. दोनों दृष्टियोंमें समन्वय

ध. ७/२,७,२६६/४६७/२ सामणाणमेइंदिएसु उववादाभावादो । मारणंतियमेइंदिएसु गदसासणा तत्थ किण्ण उप्पज्जंति । ण मिच्छत्तमागंतूण सासणगुणेण उप्पत्तिविरोहादो ।–सासादनसम्यग्दृष्टियोंकी एकेन्द्रियोंमें उत्पत्ति नहीं है। प्रश्न—एकेन्द्रियोंमें मारणान्तिक समुद्धातको प्राप्त हुए सासादन सम्यग्दृष्टि जीव उनमें उत्पन्न क्यों नहीं होते ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, आयुके नष्ट होनेपर उक्त जीव मिथ्यात्व गुणस्थानमें आ जाते हैं, अतः मिथ्यात्वमें आकर सासादन गुणस्थानके साथ उत्पत्तिका विरोध है।

ध. ६/१,६,६,१२०/४५६/८ जदि एइंदिएसु सासणसम्माइट्ठी उप्पज्जदि तो पुढवीकायादिसु दो गुणट्ठाणाणि होंति त्ति चे ण, छिण्णाउअपढमसमए सासणगुणविणासादो ।–प्रश्न—यदि एकेन्द्रियोंमें सासादन सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं तो पृथिवीकायिकादिक जीवोंमें मिथ्यात्व और सासादन ये दो गुणस्थान होने चाहिए। उत्तर—नहीं, क्योंकि, आयु क्षीण होनेके प्रथम समयमें ही सासादन गुणस्थानका विनाश हो जाता है।

ध./१/१,१,३६/२६१/८ एइंदिएसु सासणगुणट्ठाणं पि सुणिज्जदि तं कधं घडदे । ण एदम्हि सुत्ते तस्स णिसिद्धत्तादो । विरुद्धाणं कधं दोण्हं पि सुत्ताणमिदि ण, दोण्हं एक्कदरस्स सुत्तादो । दोण्हं मज्झे इदं सुत्तमिदं च ण भव्वदीदि कधं णव्वदि । उवदेसमंतरेण तदवगमाभावा दोण्हं पि संगहो कायव्वो ।=प्रश्न—एकेन्द्रिय जीवोंमें सासादन-गुणस्थान भी सुननेमें आता है, इसलिए उनके केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके कथन करनेसे वह कैसे बन सकेगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि, इस खण्डागम सूत्रमें एकेन्द्रियादिकोंके सासादन गुणस्थानका निषेध किया है। प्रश्न—जब कि दोनों वचन परस्पर विरोधी हैं तो उन्हें सूत्रपना कैसे प्राप्त हो सकता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि दोनों वचन सूत्र नहीं हो सकते हैं, किन्तु उन दोनों वचनोंमेंसे किसी एक वचन-को ही सूत्रपना प्राप्त हो सकता है। प्रश्न—दोनों वचनोंमें यह सूत्ररूप है और यह नहीं, यह कैसे जाना जाये। उत्तर—उपदेशके बिना दोनोंमेंसे कौन वचन सूत्ररूप है यह नहीं जाना जा सकता है, इसलिए दोनों वचनोंका संग्रह करना चाहिए (आचार्योंपर श्रद्धान करके ग्रहण करनेके कारण इससे संशय भी उत्पन्न होना सम्भव नहीं। —दे० श्रद्धान/३)।

५. जीवोंके उपपाद सम्बन्धी कुछ नियम

१. चरम शरीरियोंका व रुद्र आदिकोंका उपपाद चौथे कालमें ही होता है

ज.प./२/१८५ रुद्दा य कामदेवा गणहरदेवा य चरमदेहधरा दुस्समसुसमे काले उप्पत्ती ताण बोद्धव्वो ।१८५। –रुद्र, कामदेव, गणधरदेव और जो चरमशरीरी मनुष्य हैं, उनकी उत्पत्ति दुषमसुषमा कालमें जानना चाहिए।

२. अच्युत कल्पसे ऊपर संयमी ही जाते हैं

ध.६/१,६-६,१३३/४६५/६ उवरिं किण्ण गच्छंति । ण तिरिक्खसम्माइट्ठीसु संजमाभावा। संजमेण विणा ण च उवरिं गमणमत्थि । ण मिच्छाइट्ठीहि तत्थुप्पज्जंतेहि विउचारो, तेसिं पि भावसंजमेण विणा दव्वसंजमस्स संभवा ।–प्रश्न—संख्यात वर्षायुष्क असंयतसम्यग्दृष्टि तिर्यंच मर कर आरण अच्युत कल्पसे ऊपर क्यों नहीं जाते ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, तिर्यच सम्यग्दृष्टि जीवोंमें संयमका अभाव पाया जाता है। और संयमके बिना आरण अच्युत कल्पसे ऊपर गमन होता नहीं है। इस कथनसे आरण अच्युत कल्पसे ऊपर (नव-ग्रैवेयक पर्यन्त) उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवोंके साथ व्यभिचार दोष भी नहीं आता, क्योंकि, उन मिथ्यादृष्टियोंके भी भाव-संयम रहित द्रव्य संयम होना सम्भव है।

३. लौकान्तिक देवोंमें जन्मने योग्य जीव

ति.प./८/६४५-६५१ भत्तिपसत्ता सज्झयसाधीणा सव्वकालेसुं ।६४५। इह खेत्ते वेरग्गं बहुभेयं भाविदूण बहुकालं ।६४६। थुइणिंदासु समाणो सुदुक्खेसुं सबंधुरिउवग्गे ।६४७। जे णिरवेक्खा देहे णिद्दंदा णिम्ममा णिरारंभा । णिरवज्जा समणवरा ...।६४८। संजोगविप्पयोगे लाहालाहम्मि जीविदे मरणे ।६४९। अणवरदसमं पत्ता संजमसमिदीसुं झाणजोगेसुं । तिव्वतवचरणजुत्ता समणा ।६५०। पंचमहव्वय सहिदा पंचसु समिदीसु चिरम्मि चेट्ठंति । पंचक्खविसयविरदा रिसिणो लोयंतिया होंति ।६५१। —जो भक्तिमें प्रशक्त और सर्वकाल स्वाध्यायमें स्वाधीन होते हैं।६४५। बहुत काल तक बहुत प्रकारके वैराग्यको भाकर संयमसे युक्त होते हैं।६४६। जो स्तुति-निन्दा, सुख दुःख और बन्धु-रिपुमें समान होते हैं।६४७। जो देहके विषयमें निरपेक्ष निर्द्वन्द, निर्मम, निरारम्भ और निरवद्य हैं।६४८। जो संयोग व वियोगमें, लाभ व अलाभमें तथा जीवित और मरणमें सम्यग्दृष्टि होते हैं।६४९। जो संयम, समिति, ध्यान, समाधि व तप आदिमें सदा सावधान हैं।६५०। पंच महाव्रत, पंच समिति, पंच इन्द्रिय निरोधके प्रति चिरकाल तक आचरण करनेवाले हैं, ऐसे विरक्त ऋषि लौकान्तिक होते हैं।६५१।

४. संयतासंयत नियमसे स्वर्गमें जाता है

म. पु /२६/१०३ सम्यग्दृष्टिः पुनर्जन्तुः कृत्वाणुव्रतधारणम् । लभते परमाम्भोगान् ध्रुवं स्वर्गनिवासिनाम् ।१०३। —यदि सम्यग्दृष्टि मनुष्य अणुव्रत धारण करता है तो वह निश्चित ही देवोंके उत्कृष्ट भोग प्राप्त करता है। और भी (दे० जन्म/६/३)।

५. निगोदसे आकर उसी भवसे मोक्षकी सम्भावना

भ.आ./मू./१७/६६ दिट्ठा अणादिमिच्छादिट्ठी जम्हा खणेण सिद्धा य । आरणा चरित्तस्स तेण आराहणा सारो ।१७।

भ.आ./वि/१७/६६/६ भद्दणादयो राजपुत्रास्तस्मिन्नेव भवे त्रसतामापन्नाः अतएव अनादिमिथ्यादृष्टयः प्रथमजिनपादमूले श्रुतधर्मसाराः समारोपितरत्नत्रयाः,...क्षणेन क्षणग्रहणं कालस्याल्पत्वोपलक्षणार्थम्...सिद्धाश्च परिप्राप्ताशेषज्ञानादिस्वभावाः... दृष्टाः आराधनासंपादकाः, चारित्रस्य। =चारित्रकी आराधना करनेवाले अनादिमिथ्यादृष्टि जीव भी अल्पकालमें सम्पूर्ण कर्मोंका नाश करके मुक्त हो गये ऐसा देखा गया है। अतः जीवोंको आराधनाका अपूर्व फल मिलता है ऐसा समझना चाहिए।

अनादिकालसे मिथ्यात्वका तीव्र उदय होनेसे अनादिकालपर्यन्त जिन्होंने नित्य निगोदपर्यायका अनुभव लिया था ऐसे ९२३ जीव निगोदपर्याय छोड़कर भरत चक्रवर्तीके भद्रविवर्धनादि नाम धारक पुत्र उत्पन्न हुए थे। वे इसी भवसे त्रस पर्यायको प्राप्त हुए थे। भगवान् आदिनाथके समवशरणमें द्वादशांग वाणीका सार सुनकर रत्नत्रयकी

आराधनाके अल्पकालमें ही मोक्ष प्राप्त किया है। ध. ६/१,६-८,११/२४७/४)।

ह.सं./टी./३५/१०६/६ अनुपमद्वितीयमनादिमिथ्यादृशोऽपि भरतपुत्रास्त्रयोविंशत्यधिकनवशतपरिमाणास्ते च नित्यनिगोदवासिनः क्षपितकर्माणः इन्द्रगोपाः संजातास्तेषां च पञ्जीभूतानामुपरि भरतहस्तिना पादो दत्तस्ततस्ते मृत्वापि वर्द्धमानकुमारादयो भरतपुत्रा जातास्ते... तपो गृहीत्वा क्षणस्तोककालेन मोक्षं गताः। —यह वृत्तान्त अनुपम और अद्वितीय है कि नित्यनिगोदवासी अनादि मिथ्यादृष्टि ६२३ जीव कर्मोंकी निर्जरा होनेसे इन्द्रगोप हुए। सो उन सबके ढेरपर भरतके हाथीने पैर रख दिया। इससे वे मरकर भरतके वर्द्धमान कुमार आदि पुत्र हुए। वे तप ग्रहण करके थोड़े ही कालमें मोक्ष चले गये।

देखो जन्म/६/११ (सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक व निगोदको आदि लेकर सभी १४ प्रकारके तिर्यंच अनन्तर भवमें मनुष्यपर्याय प्राप्त करके मुक्त हो सकते हैं, पर शलाकापुरुष नहीं बन सकते)।

ध./१०/४,२,४,५६/२७६/४ सुहुमणिगोदेहितो अण्णत्थ अणुप्पाइजय मणुस्सेसु उप्पण्णस्स संजमासंजम-सम्मत्ताणं चेव गाहणपाओग्गत्तुवलंभादो ...ण सुहुमणिगोदेहिंतो णिग्गयस्स सव्वलहुएण कालेण, संजमासंजमग्गहणाभावादो। —सूक्ष्म निगोद जीवोंमेंसे अन्यत्र न उत्पन्न होकर मनुष्योंमें उत्पन्न हुए जीवके संयमासंयम और सम्यक्त्वके ही ग्रहण की योग्यता पायी जाती है। सूक्ष्म निगोदोंमेंसे निकले हुए जीवके सर्वलघु काल द्वारा संयमासंयमका ग्रहण नहीं पाया जाता।

६. कौनसी कषायमें मरा हुआ जीव कहाँ जन्मता है

ध./४/१,५,२५०/४४५/५ कोहेण मदो णिरयगदीए ण उप्पादेदव्वो, तत्थुप्पण्णजीवाणं पढमं कोधोदयस्सुवलंभा। माणेण मदो मणुसगदीए ण उप्पादेदव्वो, तत्थुप्पण्णाणं पढमसमए माणोदय णियमोवदेसा। मायाए मदो तिरिक्खगदीए ण उप्पादेदव्वो, तत्थुप्पण्णाणं पढमसमए मायोदय णियमोवदेसा। लोभेण मदो देवगदीये ण उप्पादेदव्वो, तत्थुप्पण्णाणं पढमं चेय लोहादओ होदि त्ति आइरियपरंपरागदुवदेसा। —क्रोध कषायके साथ मरा हुआ जीव नरक गतिमें नहीं (?) उत्पन्न कराना चाहिए, क्योंकि नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके सर्व प्रथम क्रोध कषायका उदय पाया जाता है। मानकषायसे मरा हुआ जीव मनुष्यगतिमें नहीं (?) उत्पन्न कराना चाहिए, क्योंकि मनुष्योंमें उत्पन्न हुए जीवोंके प्रथम समयमें मानकषायके उदयका उपदेश देखा जाता है। माया कषायसे मरा हुआ जीव तिर्यग्गतिमें नहीं (?) उत्पन्न कराना चाहिए, क्योंकि तिर्यंचोंके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें माया कषायके उदयका नियम देखा जाता है। लोभकषायसे मरा हुआ जीव देवगतिमें नहीं (?) उत्पन्न कराना चाहिए, क्योंकि उनमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके सर्वप्रथम लोभ कषायका उदय होता है; ऐसा आचार्य परम्परागत उपदेश है।

देखो जन्म/६/११ (सभी प्रकारके सूक्ष्म या बादर तिर्यंच अनन्तर भव से मुक्तिके योग्य हैं।)

देखो कषाय/२/६ उपरोक्त कषायोंके उदयका नियम कषायप्राभृत सिद्धान्तके अनुसार है, भूतबलिके अनुसार नहीं। नोट—(उपरोक्त कथनमें विरोध प्रतीत होता है। सर्वत्र ही 'नहीं' शब्द नहीं होना चाहिए ऐसा लगता है। शेष विचारज्ञ स्वयं विचार लें।)

७. लेश्याओंमें जन्म सम्बन्धी सामान्य नियम

गो.जी./भाषा/५२८/९२६/१० जिस गति सम्बन्धी पूर्वे आयु बान्धा होइ तिस ही गति विषै जो मरण होतै लेश्या होइ ताके अनुसारि उपजै है, जैसे मनुष्यके पूर्वे देवायुका बन्ध भया, बहुरि मरण होते कृष्णादि अशुभ लेश्या होइ तौ भवनत्रिक विषै ही उपजै है, ऐसे ही अन्यत्र जानना।

दे. सल्लेखना/२/५ [जिस लेश्या सहित जीवका मरण होता है, उसी लेश्या सहित उसका जन्म होता है।]

६. गति-अगति चूलिका

१. तालिकाओंमें प्रयुक्त संकेत

प.—पर्याप्त;	अप.—अपर्याप्त;	बा.—बादर
सू.—सूक्ष्म;	सं.—संज्ञी;	असं.—असंज्ञी
एके.—एकेन्द्रिय;	द्वी.—द्वीन्द्रिय;	त्री.—त्रीन्द्रिय
चतु.—चतुरिन्द्रिय;	पं.—पंचेन्द्रिय;	पृ०—पृथिवी
जल—अप्;	ते.—तेज;	वायु—वायु
वन.—वनस्पति;	प्र.—प्रत्येक,	ति.—तिर्यंच
मनु.—मनुष्य;	वि.—विकलेन्द्रिय;	ग.—गर्भज

संख्य—संख्यातवर्षायुष्क अर्थात् कर्मभूमिज।

असंख्य—असंख्यातवर्षायुष्क अर्थात् भोगभूमिज।

सौ—सौधर्म; सौ. द्वि—सौधर्म, ईशान स्वर्ग।

२. गुणस्थानसे गति सामान्य

अर्थात्—किस गुणस्थानसे मरकर किस गतिमें उत्पन्न हो सकता है और किसमें नहीं।

गुण स्थान	*नरक गति	तिर्यंच गति		मनु. गति		देव गति		देखो
		संख्या	असंख्या	संख्या	असंख्या	सामान्य	विशेष	
मिथ्या	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	हाँ	विशेष देखो आगे जन्म ६/३	गो.जी./जी.प्र. १२७/३३८
सासा.-दृष्टि.१.	×	×	एके., पृ., अप प्र-वन, त्रि, सं-असं-पंचे.	हाँ	हाँ	हाँ		जन्म/४
दृष्टि.२.	×	×	सं. पंचे.	हाँ	हाँ	×		
मिश्र			मरणका अभाव					मरण/३
अविरत	प्रथम नरक	हाँ	×	हाँ	हाँ	हाँ		जन्म/२
देशविरत	×	×	×	×	×	हाँ		जन्म/५
प्रमत्त	×	×	×	×	×	हाँ		
७-१२			मरणका अभाव					

* नरकगतिकी विशेष प्ररूपणाके लिए देखो आगे (जन्म/६/४)

३. मनुष्य व तिर्यंचगतिसे चयकर देवगतिमें उत्पत्ति की विशेष प्ररूपणा

अर्थात्—किस भूमिका वाला मनुष्य या तिर्यंच किस प्रकारके देवों में उत्पन्न होता है।

गुणस्थान	किस प्रकारका जीव	मू. आ./ ११६६–११७७	ति. प./ ८/५५६–५६४	रा. वा./ ४/२१/१०/ ५३७/५	ह. पु./ ६/१०३–१०७	त्रि./सा./ ५४५–५४७
१	संज्ञी-सामान्य	भ०,व्यन्तर	भवनत्रिक (३/२००)	सहस्रार तक	—	—
	सं.पं.ति.	—	सहस्रारतक	,,	—	—
	असंख्या.	भवनत्रिक	—	भवनत्रिक	—	भवनत्रिक
	असंज्ञी	भ०,व्यन्तर	भवनत्रिक	भ०,व्यन्तर	—	—
	निर्ग्रन्थ	उपरि. ग्रैवे.	उपरि. ग्रैवे.	उपरि. ग्रैवे.	उपरि. ग्रैवे.	ग्रैवेयक
	दूषित-चरित्री	—	अल्प-ऋद्धिक	—	—	—
	क्रूरउन्मार्गी	—	,,	—	—	—
	सनिदान	—	,,	—	—	—
	मन्दकषायी	—	,,	—	—	—
	मधुरभाषी	—	,,	—	—	—
	चरक	—	भवनसे ब्रह्मतक	—	—	ब्रह्मोत्तर तक
	परिव्राजक संन्यासी	ब्रह्मतक	,,	ब्रह्मतक	ब्रह्मतक	,,
	आजीवक	सहस्रार तक	भवनसे अच्युत	सहस्रार तक	सहस्रार तक	अच्युत तक
	तापस	भवनत्रिक	—	भवनत्रिक	ज्योतिषी तक	भवनत्रिक
२	ति. संख्य०	जन्म/६/६			सहस्रारतक	
	ति. असंख्य	,,	,,	—	भवनत्रिक	
	मनु. संख्य	,,	,,	—	ग्रैवेयक तक	
	मनु. असंख्य	,,	,,	—	भवनत्रिक	
३	सं.पं.ति. संख्य०	— जन्म ६/६	—	सौधर्मसे अच्युत	—	अच्युत तक
	असंख्य० ति	देव जन्म ६/६	—	सौधर्म-ईशान	—	सौधर्म-द्विक
४	मनु. संख्य०	,,	,,	—	सर्वार्थसिद्धितक	
	मनु असंख्य	,,	,,	—	सौधर्मद्विकतक	
५	पुरुष (श्रावक)	अच्युत तक	सौधर्मसे अच्युत	सौधर्मसे अच्युत	सौधर्मसे अच्युत	अच्युत कल्प
	स्त्री	,,	अच्युततक	—	—	—
६	सामान्य	उ.ग्रै.से. सर्वार्थ सि.	उ. ग्रै. से. सर्वार्थसि.	उ. ग्रै. से. सर्वार्थसि.	उ. ग्रै. से. सर्वार्थ सि.	उ. ग्रै. से. सर्वार्थ सि.
	दशपूर्व-धर	—	सौधर्मसे सर्वार्थ	—	—	—
	चतुर्दश पूर्वधर	—	लान्तवसे सर्वार्थ	—	—	—
७	पुलाकबकुश आदि	दे. साधु/५.				

४. नरकगतिमें उत्पत्तिकी विशेष प्ररूपणा

(मू.आ./११५३–११५४); (ति.प./२/२८४–२८६); (रा.वा./३/६/७/१६८/१५); (ह.पु./४/३७३–३७७); (त्रि.सा/२०५)।

अर्थात्—किस प्रकारका मनुष्य या तिर्यंच किस नरकमें उपजै और उत्कृष्ट कितनी बार उपजै।

कौन जीव	नरक	उत्कृष्ट बार	कौन जीव	नरक	उत्कृष्ट बार
असं. पं. ति.	१	८	भुजंगादि	१–४	५
सरीसृप. (गोह, केर्कटा आदि)	१–२	७	सिंहादि	१–५	४
			स्त्री	१–६	३
पक्षी (भेरुण्ड आदि)	१–३	६	मनुष्य व मत्स्य	१–७	२

५. गतियोंमें प्रवेश व निर्गमन सम्बन्धी गुणस्थान

अर्थात्—किस गतिमें कौन गुणस्थान सहित प्रवेश सम्भव है, तथा किस विवक्षित गुणस्थान सहित प्रवेश करने वाला जीव वहाँसे किस गुणस्थान सहित निकल सकता है। (ष.खं.६/१,९–९/सू.४४–७५/४३७–४४६); (रा.वा/३/६/७/१६८/१८)।

सूत्र नं.	गति विशेष	सूत्र नं.	प्रवेशकालीन गुणस्थान	निर्गमन कालीन गुणस्था.	सूत्र नं.	गति विशेष	सूत्र नं.	प्रवेशकालीन गुणस्थान	निर्गमन कालीन गुणस्था.
	नरक गति—								
४८	प्रथम	४४–४६	१	१,२,४	६१	मनुष्यणी	६१–६३	१	१,२,४
		४७	४	४			६४	२	१,४
४९	१–६	४९–५१	१	१,२,४					
५२	७	४९, ५२	१	१		देवगति—			
	तिर्यंच गति—				६१	भवनत्रिक देव देवियाँ सौधर्मद्वि. की देवियाँ	६१–६३ ६४	१ २	१,२,४ १,४
६०	पं. ति.	५३–५५	१	१,२,४					
६०	पं. ति. प.	५६–५७	२	१,२,४					
६०	पं. ति. अप.	५७	४	४					
६१	पं. ति. योनिमति	६१–६४	१	१,२,४	६६	सौधर्मसे ग्रैवेयक	६६–६८	१	१,२,४
							६९–७१	२	१,२,४
			२	४			७२–७४	४	१,२,४
—	,, अप.	पृ. ४४४	१	१					
	मनुष्यगति—				७५	अनुदिशसे सर्वार्थ.	७५	४	४
६६	मनुष्य सा.	६६–६८	१	१,२,४					
	मनु. प०	६९–७१	२	१,२,४					
	मनु. अप.	७२–७४	४	१,२,४					

८. गतिमार्गणाकी अपेक्षा गति प्राप्ति

अर्थात्– कौन जीव किस गतिसे किस गुणस्थान सहित निकलकर किस गतिमें उत्पन्न होता है। (ष.खं.६/१,९-९/सू.७६-२०२/४३७-४८४);

सूत्र नं.	निर्गमन गति विशेष	गुणस्थान	सूत्र नं.	नरक गति	तिर्यंच गति	मनुष्य गति	देव गति
			प्राप्तव्य गति विशेष				
	नरकगति –(रा.वा/३/६/७/१६८/२३); (ह.पु./४/३७८); (त्रि.सा./२०३)						
९२	१–६	१	७६–८५	×	पं.सं.ग.प.-संख्या०	ग.प.-संख्या०	×
		२	,,	×	,,	,,	×
		३	मरण भाव (दे० मरण/३)				
		४	८८–९१	×		ग.प.-संख्या०	×
९३	७	१	९४-९९	×	पं.सं.ग.प.-संख्या०	×	×
			(मू.आ./११५६)–श्वापद, भुजंग, व्याघ्र, सिंह, सूकर, गीध आदि होते हैं, तथा– (ह.पु./४/३७८)–पुनः तीसरे भवमें नरक जाता है।				
	तिर्यंचगति–						
१०१	सं. पं. प. संख्य०	१	१०२-१०६	सर्व	सर्व	सर्व	भवनसे सहस्रार
१०७	असं.पं.प.	१	१०८–१११	प्रथ.	सर्व संख्य०	सर्व-संख्य०	भवन व व्यन्तर
११२	पं.सं.असं. प. व अप.	१	११३–११४	×	,,	,,	×
,,	पृ.जल वन निगोद बा. सू. प. व अप.	१	,,	×	,,	,,	×
,,	वन.बा.प्र. प. व अप.	१	,,	×	,,	,,	×
,,	विकलत्रय	१	,,	×	,,	,,	×
११५	तेज, वायु, बा.सू.प. व अप.	१	११६–११७	×	,,	×	×
११८	सं. पं. प. संख्य०	२	११९–१२९		एके (पृ.-जल, वन-प्र. बा.सू.) पंसं.ग.प.-संख्य०	ग प.-संख्य० असं-ख्य०	भवनसे सहस्रार
१३०	संख्य०	३	१३७		मरणाभाव (दे० मरण/३)		
१३७	असंख्य०	३	१३७		,,		
१३१	संख्य०	४-५	१३२–१३३	×	×	×	सौ-अच्युत
१३४	असंख्या०	१	१३५-१३६	×	×	×	भवनत्रिक
,,	,,	२	,,	×	×	×	,,
१३८	,,	४	१३९-१४०	×	×	×	सौ० द्वि०
	मनुष्यगति–						
१४१	संख्या०	१	१४२-१४६	सर्व	सर्व	सर्व	ग्रैवेयकतक
	,, प०	१	,,	,,	,,	,,	,,
१४७	संख्य० अप०	२	१५१-१६०		एके (बा. पृ.-जल. वन-प्र-प.) पं सं. ग-प. संख्य०व असंख्य०	ग. प. संख्य० असंख्य०	भवनसे नव ग्रैवेयकतक
१६१	संख्य०	३	१६२	–	मरणाभाव (दे मरण/३)—		
१६३	संख्य०	४ ६	१६४-१६५	×	×	×	सौ० से सर्वार्थ०
१६६	असंख्य०	१	१६७-१६८	×	×	×	भवनत्रिक
,,	,,	२	,,	×	×	×	,,
१६९	,,	३	१६९	–	मरणाभाव (देखो मरण/३)—		
१७०	,,	४	१७१-१७२	×	×	×	सौ. द्वि.
–	कुमानुष	–	ति.प /४/२५१४-२८-१५–उपरोक्त असंख्यातवत्–				
	देवगति–						
१९०	- भवनत्रिक		१७८-१८३	×	एके(बा. पृ. जल. वन) स. पं ग प	ग. प. संख्य०	×
१७३	सौ. द्वि.	१					
,,	,,	२	,,	×	,,	,,	×
१८४	,,	३	१८४	–	मरणाभाव (दे. मरण/३)		
१८५	,,	४	१८६-१८९	×	×	ग. प. संख्य०	×
१९१	सनत्कुमार से सहस्रार	१	१९१	×	पं. सं. ग.प संख्य०	ग. प. संख्य०	×
,,	,,	२	,,	×	,,	,,	×
,,	,,	३			मरणाभाव (दे मरण/३) –		
,,	,,	४	,,	×	,,	ग. प. संख्य०	×
१९२	आनतसे नव ग्रैवेयक	१	१९३-१९६	×	×	,,	×
	,,	२	,,	×	×	,,	×
१९७	,,	३	१९७	–	मरणाभाव (देखो मरण/३)—		
१९२	,,	४	१९३-१९६	×	×	ग. प. संख्य०	×
१९८	अनुदिशसे सर्वार्थ सि०	४	१९९-२०२	×	×	,,	×

७. लेश्याकी अपेक्षा गति प्राप्ति

अर्थात्—किस लेश्यासे मरकर किस गतिमें उत्पन्न हो।
(रा.वा./४/२२/१०/२००/६) (गो.जी./मू/५१९-५२८/९२०-९२६)

निर्गमन लेश्यांश	देवगति	निर्गमन लेश्यांश	नरकगति	देव व तिर्यंच
	शुक्ललेश्या—		कृष्णलेश्या—	
उत्कृष्ट	सर्वार्थ सिद्धि	उत्कृष्ट	७वीं पृ० के अप्रतिष्ठान इन्द्रकमें	
मध्यम	आनतसे अपराजित			
जघन्य	शुक्रसे सहस्रारतक	मध्यम	छठी पृ. के प्रथम पटल से ७वीं के श्रेणी बद्ध तक	भवन-त्रिक यथा-योग्य पाँचों स्थावर
	पद्मलेश्या—			
उत्कृष्ट	सहस्रारतक			
मध्यम	ब्रह्मसे शतारतक			
जघन्य	सानत्कुमार माहेन्द्र तक			
	पीतलेश्या—	जघन्य	५वीं पृ० के चरम पटलतक	
			नीललेश्या—	
उत्कृष्ट	सानत्कुमार माहेन्द्र के चरम पटलतक	उत्कृष्ट	५वीं पृ. के द्विचरम पटलतक	
मध्यम	सानत्कुमार माहेन्द्रके द्विचरम पटलतक तथा	मध्यम	५वीं पृ.के तीसरे पटलसे ३री पृ. के २रे पटलतक	,,
	भवनत्रिक व यथा-योग्य पाँचों स्थावरोंमें	जघन्य	३री पृ. के १ले पटलतक	
			कापोतलेश्या—	
		उत्कृष्ट	३री पृ. के चरम पटलमें	
जघन्य	सौधर्म द्विकके १ले पटल तक	मध्यम	३री पृ. के द्विचरम पटल से १ली पृ के ३रे पटल तक	,,
		जघन्य	१ली पृ. के १ले पटलतक	

८. संहननकी अपेक्षा गति प्राप्ति

अर्थात्—किस संहननसे मरकर किस गतितक उत्पन्न होना सम्भव है।

(गो.क./मू./२९-३१/२४) (गो.क./जी. प्र./५४६/७२५/१४)

संकेत—१=वज्रऋषभनाराच; २=वज्रनाराच; ३=नाराच; ४=अर्ध-नाराच; ५—कीलित; ६—सृपाटिका।

संहनन	प्राप्तव्य स्वर्ग	संहनन	विशेष	प्राप्तव्य नरक पृ०
१	पंच अनुत्तरतक	१	मनु व मत्स्य	७वीं पृ. तक
१,२	नव अनुदिशतक	१-४	स्त्री + उपरोक्त	६ठी पृ. तक
१,२,३	नव ग्रैवेयकतक	१-५	सिंह + उपरोक्त सर्व	५वीं पृ. तक
१,२,३,४	अच्युततक	,,	भुजंग + ,,	४थी पृ. तक
१-५	सहस्रारतक	१-६	पक्षी + ,,	३री पृ. तक
१-६	सौधर्मसे कापिष्ठ	,,	सरीसृप + ,,	२री पृ. तक
		,,	असंज्ञी + ,,	१ली. पृ. तक

९. शलाका पुरुषोंकी अपेक्षा गति प्राप्ति

अर्थात्—शलाका पुरुष कौन गति नियमसे प्राप्त करते हैं—
(ति.प./४/गा.नं०)।

१४२३—प्रति नारायण —नरकगति।

१४३६—नारायण —नरकगति।

,,—बलदेव —स्वर्ग व मोक्ष।

१४४२—रुद्र —नरकगति।

१४७०—नारद —नरकगति।

१०. नरकगतिमें पुनः पुनर्भव धारणकी सीमा

ध./७/२,२,२७/१२७/११ देव णेरइयाणं भोगभूमितिरिक्खमणुस्साणं मुदाणं पुणो तत्थे वाणंतरमुप्पत्तीए अभावादो। —देव, नारकी, भोगभूमिज तिर्यंच और भोगभूमिज मनुष्य, इनके मरनेपर पुनः उसी पर्यायमें उत्पत्ति नहीं पायी जाती, क्योंकि, इसका अत्यन्त अभाव है। नोट—परन्तु बीचमें एक-एक अन्य भव धारण करके पुनः उसी पर्यायमें उत्पन्न होना सम्भव है। वह उत्कृष्ट कितनी बार होना सम्भव है, वही बात निम्न तालिकामें बतायी जाती है।

प्रमाण—ति.प./२/२८६-२८७; रा.वा./३/६/७/१६८/१२ में (इसमें केवल अन्तर निरन्तर भव नहीं); ह. पु./४/३७१, ३७५-३७७; त्रि.सा /२०५-२०६—

नरक	कितनी बार	उत्कृष्ट अन्तर	नरक	कितनी बार	उत्कृष्ट अन्तर
प्रथम पृ.	८ बार	२४ मुहूर्त	पंचम पृ.	४ बार	२ मास
द्वि. पृ.	७ बार	७ दिन	षष्ठ पृ.	३ बार	४ मास
तृ. पृ०	६ बार	१ पक्ष	सप्तम पृ.	२ बार	६ मास
चतु. पृ.	५ बार	१ मास			

११. गुणोत्पादन सारणी— अर्थात् कौन गतिसे किस गतिमें उत्पन्न होकर कौन-कौनसे गुण उत्पन्न करनेके योग्य होना सम्भव है तथा शलाका पुरुषोंमेंसे क्या-क्या बनना सम्भव है।

संकेत— × = नहीं होता; उ. = उत्पन्न कर सकते हैं; नि.उ. = नियमसे उत्पन्न करते हैं; नि.र. = नियमसे रहता है; वि.र. = विकल्पसे रहता है। शेष संकेतोंके लिए देखो जन्म/६/१।

सूत्र नं. ष.ख./६	किस गतिसे	किस गतिमें आकर	सूत्र नं० ष.ख. पु. ६	कौनसे गुण उत्पन्न कर सकता है														
				ज्ञान					सम्यक्त्व		संयम		शलाका पुरुष				मोक्ष	योग जोड़
				मति	श्रुत	अवधि	मनःपर्यय	केवल	सम्यक् मिथ्यात्व	सम्यक्त्व	संयमासंयम	संयम	बलदेव	वासुदेव	चक्रवर्ती	तीर्थंकर		
	१. नरक गतिसे—(ष.ख.६/१,९-९/सूत्र २०३-२२०/४८४-४९२); (मू.आ./११५५-११६१); (रा.वा./३/६/७/१६८/३०); (ह.पु./४/३७९-३८२); (त्रि.सा./२०४)।																	
२०३-२०४	सप्तम पृथिवीसे	तिर्यंच	२०५	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
२०५-२०७	षष्ठ पृथिवीसे	तिर्यंच	२०८	उ.	उ.	उ.	×	×	उ.	उ.	उ.	×	×	×	×	×	×	६
		मनुष्य	,,	,,	,,	,,	×	×	,,	,,	,,	×	×	×	×	×	×	६
२०९-२१०	पंचम पृथिवीसे	तिर्यंच	२११	,,	,,	,,	×	×	,,	,,	,,	×	×	×	×	×	×	६
		मनुष्य	२१२	,,	,,	,,	उ.	×	,,	,,	,,	उ.	×	×	×	×	×	८
२१३-२१४	चतुर्थ पृथिवीसे	तिर्यंच	२१५	,,	,,	,,	×	×	,,	,,	,,	×	×	×	×	×	×	६
		मनुष्य	२१६	,,	,,	,,	उ.	उ.	,,	,,	,,	उ.	×	×	×	×	उ.	१०
२१७-२१८	तृ० द्वि० प्र० पृथिवीसे	तिर्यंच	२१९	,,	,,	,,	×	×	,,	,,	,,	×	×	×	×	×	×	६
		मनुष्य	२२०	,,	,,	,,	उ.	उ.	,,	,,	,,	उ.	×	×	×	उ.	उ.	११
	२. तिर्यंच गतिसे—(ष.ख./६/१,९-९/सूत्र २२१-२२५/४९२-४९३); (ति.प./५/३१०-३१४); (त्रि.सा./५४९)																	
२२१-२२२	सामान्य ति. संख्य०	नरक	२२३	उ.	उ.	उ.	×	×	उ.	उ	×	×	×	×	×	×	×	५
		तिर्यंच	२२४	,,	,,	,,	×	×	,,	,,	उ.	×	×	×	×	×	×	६
		मनुष्य	२२५	,,	,,	,,	उ.	उ.	,,	,,	,,	उ.	×	×	×	×	उ.	१०
		देव	२२३	,,	,,	,,	×	×	,,	,,	×	×	×	×	×	×	×	५
ति.प./५/३१४	सभी ३४ प्रकारके सू. बा. आदि ति. (दे० जीव समास)	मनुष्य संख्य०	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	×	×	×	×	उ.	
—	ति. असंख्य०	देव नारक	—	ति. संख्यावत् ही जानना														
	३. मनुष्य गतिसे—(ष.ख.६/१,९-९/सूत्र २२१-२२५/४९२-४९३)																	
२२१-२२२		चारों		—— उपरोक्त तिर्यंचवत् ——														
	४. देवगतिसे—(ष.ख.६/१,९-९/सूत्र २२६-२४३/४९४-५००)																	
२२६-२२७	देव सामान्य	तिर्यंच	२२८	उ.	उ.	उ.	×	×	उ.	उ.	उ.	×	×	×	×	×	×	६
		मनुष्य	२२९	,,	,,	,,	उ.	उ.	,,	,,	,,	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	सर्व
२३०-२३१	भवनत्रिक देवदेवी सौधर्म द्विको देवी	तिर्यंच	२३२	,,	,,	,,	×	×	,,	,,	,,	×	×	×	×	×	×	६
		मनुष्य	२३३	,,	,,	,,	उ.	उ.	,,	,,	,,	उ.	×	×	×	×	उ.	१०
२३४	सौधर्मसे सहस्रार सहस्रार तकके देव	तिर्यंच	२३४	,,	,,	,,	×	×	,,	,,	,,	×	×	×	×	×	×	६
		मनुष्य	,,	,,	,,	,,	उ.	उ.	,,	,,	,,	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	उ.	१४
२३५-२३६	आनतसे अन्त ग्रैवे०	मनुष्य	२३७	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	१४
२३८-२३९	अनुदिशसे अपराजित	,,	२४०	नि.र.	नि.र.	वि.र.	,,	,,	×	नि.र.	,,	नि.उ	,,	×	,,	,,	,,	१२
२४१-२४२	सर्वार्थ सिद्धि देव	,,	२४२	,,		नि.र.	,,	नि.उ	×	,,	,,	,,	,,	×	,,	,	नि.उ	१९

जन्मेजय—कुरुवंशी राजा परीक्षितका पुत्र और शतानीकका पिता था। पांचालदेश (कुरुक्षेत्र) का राजा था। समय—ई० पू० १४५०–१४२० (विशेष—दे० इतिहास/३/२); (भारतीय इतिहास/पु.१/पृ.२८६)।

जयंत—१. कल्पातीत देवोंका एक भेद—दे० स्वर्ग२/१ २. इन देवोंका लोकमें अवस्थान—दे० स्वर्ग/५/४ ३. एक ग्रह—दे० ग्रह। ४. एक यक्ष—दे० यक्ष। ५. जम्बूद्वीपकी वेदिकाका पश्चिम द्वार—दे० लोक३/१ ६. विजयार्धकी दक्षिण व उत्तर श्रेणीके दो नगर—दे० विद्याधर।

जयंत भट्ट—ई० ८४० के 'न्याय मंजरी' ग्रन्थके कर्ता नैयायिक विद्वान्। आपने मीमांसकोंका बहुत खण्डन किया है (सि.वि./प्र.३०/पं. महेन्द्र कुमार); (स्याद्वाद सिद्धि/प्र.२२/पं. दरबारीलाल कोठिया)।

जयंतिकी—रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी महत्तरिका—दे० लोक/५/१३।

जयंती—१. रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी देवी—दे० लोक५/१३; २. नन्दीश्वरद्वीपकी पश्चिम दिशामें स्थित वापी—दे० लोक५/११; ३. अपर विदेहस्थ महावप्र क्षेत्रकी मुख्य नगरी—दे० लोक५/२; ४. भरतक्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४; ५. एक मन्त्रविद्या—दे० विद्या।

जय—न्याय सम्बन्धी वादमें जय-पराजय व्यवस्था—दे० न्याय/२।

जय—१. भाविकालीन २१ वें तीर्थंकर—दे० तीर्थंकर/५; २. (वृ. कथा कोश/कथा नं.६/पृ.) सिंहलद्वीपके राजा गगनादित्यका पुत्र था (१७) पिताकी मृत्युके पश्चात् उसके एक मित्र उज्जयिनी नगरीके राजाके पासमें रहने लगा। वहाँ एक दिन भोजन करते समय अपने भाईके मुखसे सुना कि यह भोजन 'विषान्न' है। 'विषान्न' कहनेसे उसका तात्पर्य पौष्टिकका था, पर वह इसका अर्थ विषमिश्रित लगा बैठा और इसीलिए केवल विष खानेकी कल्पनाके कारण मर गया।१७-१८।

जयकीर्ति—अपर नाम प्रश्नकीर्ति था। आप भाविकालीन १०वें तीर्थंकर है—दे० तीर्थंकर/५।

जयकुमार—(म.पु./सर्ग/श्लोक) कुरुजांगल देशमें हस्तिनागपुरके राजा व राजा श्रेयांसके भाई सोमप्रभके पुत्र थे (४३/७६)। राज्य पानेके पश्चात् (४३/८७) आप भरत चक्रवर्तीके प्रधान सेनापति बन गये। दिग्विजयके समय मेघ नामा देवको जीतनेके कारण आपका नाम मेघेश्वर पड़ गया (३२/६७-७४; ४३/३१२-१३)। राजा अकम्पनकी पुत्री सुलोचनाके साथ विवाह हुआ (४३/३२६-३२१)। सुलोचनाके लिए भरतके पुत्र अर्ककीर्तिके साथ युद्ध किया (४४/७१-७२)। जिसमें आपने अर्ककीर्तिको नागपाशमें बाँध लिया (४४/३४४-३४५)। अकम्पन व भरत दोनोंने मिलकर उनका मनमिटाव कराया (४५/१०-७२)। एक देवी द्वारा परीक्षा किये जानेपर भी शीलसे न डिगे (४७/५६-७३)। अन्तमें भगवान् ऋषभदेवके ७१वें गणधर बने (४७/२८५-२८६)। पूर्व भव नं. ४ में आप सेठ अशोकके पुत्र सुकान्त थे (४६/१०६,८८)। पूर्व भव नं. ३ में 'रतिवर' (४६/८८)। पूर्व भव नं. २ में राजा आदित्य-गतिके पुत्र हिरण्यवर्मा (४६/१४५-१४६)। और पूर्व भव नं. १ में देव थे (४६/२५०-२५२)। नोट—युगपत् पूर्वभवके लिए (दे० ४६/३६४-६८)

जयचंद—

जयपुर के पास फागी ग्राम में जन्मे। पं० टोडरमल का प्रवचन सुनने जयपुर आये। अपने पुत्र नन्दलाल से एक विदेशी विद्वान को परास्त कराया। ढुंढारी भाषा में अनेक ग्रन्थों पर वचनिकायें लिखी यथा—सर्वार्थ सिद्धि (वि. १८६१), प्रमेयरत्नमाला (वि. १८६३), कार्तिकेयानुप्रेक्षा (वि. १८६३), द्रव्य संग्रह (वि. १८६३), समयसार (वि. १८६४), अष्टपाहुड़ (वि. १८६७), ज्ञानार्णव (वि. १८६९) भक्तामर कथा (वि० १८७०), चन्द्र प्रभचरित के द्वि. सर्ग का न्याय भाग 'मतसमुच्चय' (वि. १८७४), आप्त मीमांसा (वि. १८८६), धन्य कुमार चरित, सामायिक पाठ। इनके अतिरिक्त हिन्दी भाषा में अपनी स्वतंत्र रचनायें भी कीं। यथा-पदसंग्रह, अध्यात्म रहस्यपूर्ण चिट्ठी (वि. १८७०) समय—वि. १८२०-१८८६ (ई. १७६३-१८२६)। (हि. जै.सा.इ./पृ. १८६/कामताप्रसाद); (र.क.श्रा./प्र. पृ. १६/पं. परमानन्द); (न.दी./प्र.७/ रामप्रसाद जैन बम्बई)। (ती./४/२६०)

जयद्रथ—(पा. पु./सर्ग/श्लोक) कौरवोंकी तरफसे पाण्डवोंके साथ लड़ा था (१६/५३)। युद्धमें अभिमन्युको अन्याय पूर्वक मारा (२०/३०)। अर्जुनकी जयद्रथ वधकी प्रतिज्ञासे भयभीत हो जानेपर (२०/६८) द्रोणाचार्यने धैर्य बँधाया (२०/६८)। अन्तमें अर्जुन द्वारा मारा गया। (२०/१६८)।

जयधवला—आ. यतिवृषभ (ई.१५०-१८०) कृत कषाय पाहुड़ ग्रन्थकी ६०,००० श्लोक प्रमाण विस्तृत टीका है। इसमेंसे २०,००० श्लोक प्रमाण भाग तो आ. वीरसेन स्वामी (ई. ७७०-८२७) कृत है और शेष ४०,००० श्लोक प्रमाण भाग उनके शिष्य आ. जिनसेन स्वामी ने ई. ८३७ में पूरा किया। (दे. परिशिष्ट १)।

जयनंदि—नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप देवनन्दिके शिष्य तथा गुणनन्दिके गुरु थे। समय—विक्रम शक सं. ३०८-३५८ (ई. ३८६-४३६)—दे० इतिहास/७/२।

जयपाल—श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार आप ११ अंगधारियोंमें द्वितीय थे। अपर नाम यशपाल या जसपाल था। समय—वी. नि. ३६३-३८३ (ई. पू. १६४-१४४)—दे० इतिहास/४/४।

जयपुर—भरत क्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४।

जयपुरी—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

जयबाहु—श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार आप आठ अंगधारी थे। दूसरी मान्यताके अनुसार आप केवल आचारांगधारी थे। अपर नाम भद्रबाहु या यशोबाहु था। (विशेष देखो भद्रबाहु-द्वितीय)।

जयमित्र—सप्त ऋषियोंमेंसे एक—दे० सप्त ऋषि।

जयराशि—ई. ७२५-८२५ के, 'तत्त्वोपप्लव सिंह' के कर्ता एक अजैन नैयायिक विद्वान्।

जयवराह—पश्चिममें सौराष्ट्र देशका राजा था। अनुमानतः चालुक्यवंशी था। इसीके समय श्री श्रीजिनसेनाचार्यने अपना हरिवंशपुराण (श. ७०५ में) लिखना प्रारम्भ किया था। समय—श. सं. ७००-७२५ (ई. ७७८-८०३); (ह. पु./६६/५२-५३); (ह. पु./प्र.६/पं. पन्नालाल)।

जयवर्मा—(म.पु./५/ श्लोक नं.) गन्धिला देशमें सिंहपुरनगरके राजा श्रीषेणका पुत्र था।२०५। पिता द्वारा छोटे भाईको राज्य दिया जानेके कारण विरक्त हो दीक्षा धारण कर ली।२०७-२०८। आकाशमेंसे जाते हुए महीधर नामके विद्याधरको देखकर विद्याधरोंके भोगोंकी प्राप्तिका निदान किया। उसी समय सर्पदंशके निमित्तसे मरकर महाबल नामका विद्याधर हुआ।२०९-२११। यह ऋषभदेवके पूर्वका दसवाँ भव है—दे० ऋषभ।

जयवान्—सप्त ऋषियोंमेंसे एक—दे० सप्त ऋषि।

जयविलास—श्वेताम्बराचार्य यशोविजय (ई. १६३८-१६८८) द्वारा रचित भाषा पदसंग्रह।

जयसिंह—१. जयसिंहराज प्रथम भोजवंशी राजा थे। भोजवंशकी वंशावलीके अनुसार यह राजा भोजके पुत्र व उदयादित्यके पिता थे। इनका देश मालवा (मगध) तथा राजधानी उज्जैनी (धारा नगरी)

थी। समय—वि.—११११-१११५; (ई. १०५५-१०५८)।—विशेष दे० इतिहास/३/१ (स. सा./प्र./२१/ पं. जुगल किशोर)। २. जयसिंहराज द्वि. भोजवंशी राजा थे। भोजवंशकी वंशावलीके अनुसार राजा देवपालके पुत्र थे। अपर नाम जैतुगिदेव था। इनका देश मालवा (मगध) तथा राजधानी उज्जैनी (धारा नगरी) थी। समय—वि० १२८५-१२९६ (ई. १२२८-१२३९)—दे० इतिहास/३/१। ३. सिद्धराज जयसिंह गुजरात देशकी राजधानी अणहिल्लपुर पाटणके राजा थे। आप पहले शैव मतावलम्बी थे, पीछे श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रसे प्रभावित होकर जैन हो गये थे। समय—ई. १०८८-११८३। (स. म./प्र. ११)। ४. जयसिंह सवाई जयपुरके राजा थे। वि. १७८४ में आपने ही जयपुर नगर बसाया था। समय—वि. १७६०-१८०० (ई. १७०३-१७४३) (मो. मा. प्र./प्र.१७/पं. परमानन्द)।

जयसेन—१. (म. पु./४८/श्लो. नं.)। जम्बूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें वत्सकावतीका राजा था।५८। पुत्र रतिषेणकी मृत्युपर विरक्त हो दीक्षा धर ली/६२-६७। अन्तमें स्वर्गमें महाबल नामका देव हुआ/६८। यह सगर चक्रवर्तीका पूर्व भव नं. २ है।—दे० सगर। २. (म.पु./६९/श्लो. नं.) पूर्व भव नं. २ में श्रीपुर नगरका राजा वसुन्धर था।७४। पूर्व-भव नं. १ में महाशुक्र विमानमें देव था।७७। वर्तमान भवमें ११वाँ चक्रवर्ती हुआ।७८। अपर नाम जय था।—दे० शलाका पुरुष/२।

जयसेन—१. श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार आप भद्रबाहु श्रुत-केवलीके पश्चात् चौथे ११ अंग व १४ पूर्वधारी थे। समय—वी. नि. २०८-२२१ (ई. पू./३१९-२९८) दृष्टि नं. ३ के अनुसार वी. नि. २६८-२८१।—दे० इतिहास/४/४। २. पुन्नाटसंघ- की गुर्वावली के अनुसार आप शान्तिसेनके शिष्य तथा अमितसेनके गुरु थे। समय—वि. ७८०-८३० (ई. ७२३-७७३)।—दे० इतिहास/७/८। ३. पंचस्तूप संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप आर्यनन्दिके शिष्य तथा धवलाकार श्री वीरसेनके सधर्मा थे। समय—ई. ७७०-८२७ —दे० इतिहास/७/७। ४. लाड़बागड़ संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप भावसेनके शिष्य तथा ब्रह्मसेनके गुरु थे। कृति-धर्म-रत्नाकर श्रावकाचार। समय—वि. १०५५ (ई. ९९८)।—दे० इतिहास/७/१०। (जै /१/३७५) ५. आचार्य वसुनन्दि (वि. ११२५-११७५; ई. १०६८- १११८) का अपर नाम। प्रतिष्ठापाठ आदिके रचयिता।—दे० वसुनन्दि/३ ६. लाड़बागड़संघकी गुर्वावलीकेअनुसार आप नरेन्द्रसेनकेशिष्य तथा गुणसेन नं.२ व उदय-सेन नं. २ के सधर्मा थे। समय-वि. ११८०—दे० इतिहास ७/१०।
वीरसेन के प्रशिष्य सोमसेन के शिष्य। कृतियें—समयसार, प्रवचन-सार और पञ्चास्तिकाय पर सरल संस्कृत टीकायें। समय—पं. कैलाश चन्द जी के अनुसार वि. श. १३ का पूर्वार्ध, ई. श. १२ का उत्तरार्ध। डा० नेमिचन्द के अनुसार ई. श. ११ का उत्तरार्ध १२ का पूर्वार्ध। (जै./२/११४), (ती./३/१४३)।

जया—१. अरहनाथ भगवान्की शासक यक्षिणी—दे० तीर्थंकर/५/३ २. एक विद्याधर विद्या व एक मन्त्र विद्या—दे० विद्या। ३. वाचना या व्याख्यानका एक भेद—दे० वाचना।

जयावह—विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर।—(दे. विद्याधर).

जरत्कुमार—१. (ह. पु/सर्ग/श्लोक)—रानी जरासे वसुदेवका पुत्र था। (४८/६३) भगवान् नेमिनाथके मुखसे अपनेको कृष्णकी मृत्युका कारण जान जंगलमें जाकर रहने लगा (६१/३०)। द्वारिका जलनेपर जब कृष्ण वनमें आये तो दूरसे उन्हें हिरन समझकर बाण मारा, जिससे वह मर गये (६२/२७-६१)। पाण्डवोंको जाकर सब समाचार बताया (६३/४६)। और उनके द्वारा राज्य प्राप्त किया (६३/७२)। इनसे यादव वंशकी परम्परा चली। अन्तमें दीक्षा धारण कर ली। (६६/३)। २. द्वारका दहनके पश्चात् कलिंगका राजा हुआ। इसकी सन्ततिमें ही राजा वसुध्वज हुए।—दे० इतिहास ७/१०।

जरा—
(नि. सा/ता. वृ/६) तिर्यङ्मानवानां वयःकृतदेहविकार एव जरा। = तिर्यंचों और मनुष्योंका आयुकृत देहविकार जरा है।

जरापल्ली—जरापल्ली पार्श्वनाथ स्तोत्र भट्टारक पद्मनन्दि नं. १० (ई. १३२८-१३९३) की एक १० पद्यों वाली रचना है। (ती./३/३२५)।

जरायु—(स. सि/२/३३/१८९/१२) यज्जालवत्प्राणिपरिवरणं वित-तमांसशोणितं तज्जरायुः। = जो जालके समान प्राणियोंका आवरण है और जो मांस और शोणितसे बना है उसे जरायु कहते हैं (रा. वा/२/३३/१/१४३/३०); (गो. जी./जी प्र./८४/२०७/४).

जरासंध—(ह. पु/सर्ग/श्लोक)—राजगृह नगरके स्वामी बृहद्रथका पुत्र था (१८/२१-२२)। राजगृह नगरका हरिवंशीय राजा था। (३३/२)। अपनी पुत्री जीवद्यशाका विवाह कंसके साथ करके उसे अपना सेनापति बना लिया (३३/२४)। कृष्ण द्वारा कंस मारा गया। (३६/४५)। युद्धमें स्वयं भी कृष्ण द्वारा मारा गया (५२/८३-८४)। यह तीन खण्डका स्वामी ९वाँ प्रतिनारायण था (१८/२३) विशेष दे० शलाका पुरुष/५)।

जल—जैनाम्नायमें जलको भी एकेन्द्रिय जीवकाय स्वीकार किया गया है।

१. जलके पर्यायगत भेद

मू.आ/२१० ओसाय हिमग महिगा हरदणु सुद्धोदगे घणुदगे य। ते जाण आउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा।२१०। = ओस, बर्फ, धुआँके समान पाला, स्थूलबिन्दु रूपजल, सूक्ष्मबिन्दु रूप जल, चन्द्रकान्त मणिसे उत्पन्न शुद्ध जल, झरनेसे उत्पन्न जल, मेघका जल वा घनोदधिवात जल—ये सब जलकायिक जीव हैं। (पं.स./प्रा./१/७८); (ध./१/१,१,४२ गा१५०/२७३); (भ.आ/वि/६०८/८०५/१७); (त.सा/२/६२)।

२. प्राणायाम सम्बन्धी अप्मण्डल

ज्ञा./२९/२० अर्द्धचन्द्रसमाकारं वारुणाक्षरलक्षितम्। स्फुरत्सुधाम्बुसंसिक्तं चन्द्राभं वारुणं पुरम्।२०। = आकारसे आधे चन्द्रमाके समान, वारुण बीजाक्षरसे चिह्नित और स्फुरायमान अमृतस्वरूप जलसे सींचा हुआ ऐसा चन्द्रमा सरीखा शुक्लवर्ण वरुणपुर है। यह अप्-मण्डलका स्वरूप कहा।

३. अन्य सम्बन्धित विषय

१. जलके काय कायिकादि चार भेद—दे० पृथिवी।
२. बादर जलकायिकोंका भवनवासी देवोंके भवनों तथा नरक पृथिवियोंमें अवस्थान।—दे० काय/२/५।
३. जलमें पुद्गलके सर्वगुणोंका अस्तित्व।—दे० पुद्गल/[illegible]।
४. मार्गणा प्रकरणमें भावमार्गणाकी इष्टता तथा वहाँ आयके अनुसार ही व्ययका नियम।—दे० मार्गणा।
५. जलकायिक सम्बन्धी गुणस्थान, मार्गणास्थान व जीवसमास आदि २० प्ररूपणाएँ—दे० सत।
६. जलकायिक सम्बन्धी सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्प-बहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ—दे० वह-वह नाम।
७. जलकायिक नामकर्मका बन्ध उदयसत्त्व —दे० वह-वह नाम।
८. जलका वर्ण धवल ही होता है—दे० लेश्या/३।

जलकाय व जलकायिक—दे० जल।

जलकेतु—एक ग्रह—दे० ग्रह।

जलगता चूलिका—द्वादशांग श्रुतज्ञानका एक भेद —दे० श्रुतज्ञान/III।

जल गति—एक औषधि विद्या—दे० विद्या।

जल गालन—जैन मार्गमें जलको छानकर ही प्रयोगमें लाना, यह एक बड़ा गौरवशाली धर्म समझा जाता है। जलकी शुद्धि, अशुद्धि सम्बन्धी नियम इस प्रकरणमें निर्दिष्ट हैं।

१. प्रासुक जल निर्देश

१. वर्षाका जल प्रासुक है

भ.आ./वि./१११/२६१/२१. वर्षाकाले तरुमूले तिष्ठ। वृक्षपर्णोपरि पतित्वा यज्जलं यत्युपरि पतति तस्य प्रासुकत्वान्निराधाप्कायिकानां जीवानां न भवति।—यतिजन वर्षाऋतुमें वर्षायोग धारण करते हैं। वर्षाकालमें वृक्षके नीचे बैठकर ध्यान करते हैं। उस समय वृक्षके पत्तोंपर पड़ा हुआ वर्षाका जो जल यतिके शरीरपर पड़ता है उससे उसको अप्-कायिक जीवोंकी विराधनाका दोष नहीं लगता, क्योंकि वह जल प्रासुक होता है।

२. रूप रस परिणत ही ठण्डा जल प्रासुक होता है

दे.आहार/II/४/४/३ तिल, चावल, तुष या चना आदिका धोया हुआ जल अथवा गरम करके ठण्डा हो गया जल या हरड आदिसे अपरिणत जल, उसे लेनेसे साधुको अपरिणत दोष लगता है।

भ.आ.हि.पं. दौलतराम/२५०/पृ० १२६ या पृ० ११० तिलनिके प्रक्षालिनका जल, तथा चावल धावनेका जल तथा जो जल तप्त होय करि ठण्डा हो गया होय तथा चणाके धोवनेका जल तथा तुष धोवनेका जल तथा हरड़का चूर्ण जामें मिला होय, ऐसा जो आपका रस गन्धकूं नहीं पलटया, सो अपरिणत दोष सहित है। अर जो वर्ण रस गन्ध इत्यादि जामें पलटि गया होय सो परिणत है, साधुके लेने योग्य है।

★ **गर्म जल प्रासुक होता है**—दे० जल गालन/१/४।

३. शौच व स्नानके लिए तो ताड़ित जल या बावड़ीका ताजा जल भी प्रासुक है

रत्नमाला/६३-६४ पाषाणोत्स्फरितं तोयं घटीयन्त्रेण ताडितम्। सद्यः संतप्तवापीनां प्रासुकं जलमुच्यते।६३। देवर्षीणां प्रशौचाय स्नानाय च गृहस्थिनाम्। अप्रासुक परं वारि महातीर्थजमप्यदः।६४।—पाषाणको फोड़कर निकला हुआ अर्थात् पर्वतीय झरनोंका, अथवा रहट द्वारा ताड़ित हुआ और वापियोंका गरम-गरम ताजा जल प्रासुक है। इसके सिवाय अन्य सब जल, चाहे महातीर्थ गंगा आदिका क्यों न हो, अप्रासुक है।६३। यह जल देवर्षियोंको तो शौचके लिए और गृहस्थोंको स्नानके लिए वर्जनीय नहीं है।६४।

४. जलको प्रासुक करने की विधि व उसकी मर्यादा

व्रत-विधान संग्रह/३१ पर उद्धृत रत्नमालाका श्लोक—मुहूर्तं गालितं तोयं प्रासुकं प्रहरद्वयम्। उष्णोदमहोरात्रमगालितमिवोच्यते।—छना हुआ जल दो घड़ी तक, हरड़े आदिसे प्रासुक किया गया (देखो ऊपर नं० २) दो पहर या छह घण्टे तक तथा उबाला हुआ जल २४ घण्टे तक प्रासुक या पीने योग्य रहता है, और उसके पश्चात् बिना छनेके समान हो जाते हैं।

★ **जलका वर्ण धवल ही होता है**—दे० लेश्या/३।

२. जल गालन निर्देश

१. सभी तरल पदार्थ छानकर प्रयोगमें लाने चाहिए

ला.सं./२/२३ गालितं दृढवस्त्रेण सर्पिस्तैलं पयो द्रवम्। तोयं जिनागमाम्नायाद्हारेत्स न चान्यथा।२३। —घी, तेल, दूध, पानी आदि पतले पदार्थोंको बिना छाने कभी काममें नहीं लाना चाहिए।

२. दो घड़ी पीछे पुनः छानने चाहिए

सा.ध./३/१६ मुहूर्तयुग्मोर्ध्वमगालनम्।—छने हुए पानीको भी दो मुहूर्त अर्थात् चार घड़ी पीछे छाना हुआ नहीं मानना चाहिए।

श्लो. वा./२/१/२/१२/३५/२८/भाषाकार पं. माणिकचन्द।—दो घड़ी पीछे जलको पुनः छानना चाहिए।

३. जल छानकर उसकी जिवानी करनेकी विधि

सा.ध./३/१६ अन्यत्र वा गालितशेषितस्य न्यासो निपानेऽस्य न तद्व्रतेऽर्च्यः।१६। —छाननेके पश्चात् शेष बचे हुए जलको जिस स्थानका जल है उसमें न डालकर अन्य जलाशयमें छोड़ना (या वैसे ही नालीमें बहा देना) जलगालनव्रतमें योग्य नहीं।

४. छलनेका प्रमाण व स्वरूप

सा.ध./३/१६ वा दुर्वाससा गालनमम्बुनो⋯स तद्व्रतेऽर्च्यः। —छोटे, छेदवाले या पुराने कपड़ेसे छानना योग्य नहीं।

ला.स./२/२३ गालितं दृढवस्त्रेण।—घी, तेल, जल आदिको दृढ़ वस्त्रमेंसे छानना चाहिए।

व्रत.विधानसंग्रह/३० पर उद्धृत-षट्त्रिंशदङ्गुलं वस्त्रं चतुर्विंशतिविस्तृतम्। तद्वस्त्रं द्विगुणीकृत्य तोयं तेन तु गालयेत्।—३६ अंगुल लम्बे और २४ अंगुल चौड़े वस्त्रको दोहरा करके उसमेंसे जल छानना चाहिए।

क्रिया कोष/पं.दौलतराम/२४४ रंगे वस्त्र न छाने नीरा। पहिरे वस्त्र न गाले वीरा।२४४। —रंगे हुए वा पहने हुए वस्त्रमेंसे जल नहीं छानना चाहिए।

५. जल गालनके अतिचार

सा.ध./३/१६ मुहूर्तयुग्मोर्ध्वमगालनं वा दुर्वाससा गालनमम्बुनो वा। अन्यत्र वा गालितशेषितस्य न्यासो निपाने।—छने हुए पानीको भी दो मुहूर्त अर्थात् चार घड़ी पीछे नहीं छानना, तथा छोटे, छेदवाले, मैले, और पुराने कपड़ेसे छानना; और छाननेके पश्चात बचे हुए पानीको किसी दूसरे जलाशयमें डालना। ये जलगालन व्रतके अतिचार हैं, दार्शनिक श्रावकको ये नहीं लगाने चाहिए।

६. जल गालनका कारण जलमें सूक्ष्म जीवोंका सद्भाव

व्रत.विधान संग्रह ३१ पर उद्धृत—एक बिन्दूद्भवा जीवाः पारावतसमा यदि। भूत्वोच्चरन्ति चेज्जम्बूद्वीपोऽपि पूर्यते च तैः।—जलकी एक बूँदमें जितने जीव हैं वे कबूतरके बराबर होकर यदि उड़ें तो उनके द्वारा यह जम्बूद्वीप लबालब भर जाये।

जगदीशचन्द्र बोस—(एक बूँद जलमें आधुनिक विज्ञानके आधारपर उन्होंने ३६४५० बैक्टीरिया जीवोंकी सिद्धि की है। इनके अतिरिक्त जिन जलकायिक जीवोंके शरीररूप वह बिन्दु है वे उनकी दृष्टिका विषय ही नहीं है। उनका प्रमाण अंगुल असंख्यातमें कहा गया है)।

७. जल गालनका प्रयोजन राग व हिंसाका वर्जन

सा.ध./२/१४ रागजीववधापायं भूयस्त्वात्तद्वदुत्सृजेत्। रात्रिभक्तं तथा युंज्यान्न पानीयमगालितम्।१४। —धर्मात्मा पुरुषोंको मद्यादिकी तरह,

राग तथा जीवहिंसासे बचनेके लिए रात्रिभोजनका त्याग करना चाहिए। जो दोष रात्रि भोजनमें लगते हैं वही दोष अगालित पेय पदार्थोंमें भी लगते हैं, यह जानकर बिना छने जल, दूध, घी, तेल आदि पेय पदार्थोंका भी उनको त्याग करना चाहिए। और भी दे० रात्रि भोजन।

जल चारण—दे० ऋद्धि/४।

जलपथ—पा.पु./१६/७ प्रवाससे लौटनेपर पाण्डव नकुल जलपथ नगर-में रहने लगे। नोट—कुरुक्षेत्रके निकट होनेसे वर्तमान पानीपत ही 'जलपथ' प्रतीत होता है।

जल शुद्धि— दे० जल गालन।

जलावर्त—विजयार्धकी दक्षिणश्रेणीका एक नगर —दे० विद्याधर।

जलौषध—दे० ऋद्धि/७।

जल्प—१. लक्षण

न्या.सू.मू./२-२/२ यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपलम्भो जल्पः/२।

न्या.सू./भा./२-२/२/४३/१० यत्तत्प्रमाणैरर्थस्य साधनं तत्र छलजाति-निग्रहस्थानामङ्गभावो रक्षणार्थत्वात् तानि हि प्रयुज्यमानानि परपक्ष-विघातेन स्वपक्षं रक्षन्ति। —पूर्वोक्त लक्षणसहित 'छल' 'जाति और 'निग्रहस्थान' से साधनका निषेध जिसमें किया जाये उसे जल्प कहते हैं। यद्यपि छल, जाति व निग्रहस्थान साक्षात् अपने पक्षके साधक नहीं होते, तथापि दूसरेके पक्षका खण्डन करके अपने पक्षकी रक्षा करते हैं, इसलिए नैयायिक लोग उनका प्रयोग करके भी दूसरेके साधनका निषेध करना न्याय मानते हैं। इसी प्रयोगका नाम जल्प है।

सि.वि./मू./५/२/३११ समर्थवचनं जल्पम्।

सि.वि./वृ./५/२/३११/२८ छलजातिनिग्रहस्थानानां भेदो लक्षणं च नेह प्रतन्यते।—(जिनमार्गमें क्योंकि अन्यायका प्रयोग अत्यन्त निषिद्ध है, इसलिए यहाँ जल्पका लक्षण नैयायिकोंसे भिन्न प्रकारका है।) समर्थवचनको जल्प कहते हैं। यहाँ छल, जाति व निग्रहस्थानके भेद रूप लक्षण इष्ट नहीं किया जाता है।

२. जल्पके चार अंग

सि.वि./मू./५/२/३११ जल्पं चतुरङ्गं विदुर्बुधाः।

सि.वि./वृ./५/२/३१३/१२ तत्राह 'चतुरङ्गम्' इति। चत्वारि वादि-प्रतिवादि-प्राश्निक-परिषद्विलक्षणानि अङ्गानि, नावयवाः, वचनस्य तदनवयवत्वात्। —विद्वान् लोग जल्पको चार अंगवाला जानते हैं। वे चार अंग इस प्रकार हैं—वादी, प्रतिवादी, प्राश्निक और परिषद् या सभासद। इन्हें अवयव नहीं कह सकते हैं क्योंकि अनुमानके वचन या वाक्यकी भाँति यहाँ वचनके अवयव नहीं होते।

३. जल्पका प्रयोजन व फल

दे० वितंडा। —नैयायिक लोग केवल जीतनेकी इच्छासे जल्प व वितण्डाका प्रयोग भी न्याय समझते हैं। (परन्तु जैन लोग।)

सि.वि./मू./५/२८/३४६ तदेवं जल्पस्वरूपं निरूप्य अधुना सदसि तदु-पन्यासप्रयोजनं दर्शयन्नाह—स्याद्वादेन समस्तवस्तुविषयेणैकान्तवा-देष्वभिव्यस्तेष्वेकमुखीकृता मतिमतां नैयायिकी शेमुषी। तत्त्वार्था-भिनिवेशिनी निरूपणं चारित्रमासादयन्त्यज्ञानन्तचतुष्टयस्य महतो हेतुर्विनिश्चीयते।२८।

सि.वि./मू./५/२/३११ पक्षनिर्णयपर्यन्तं फलं मार्गप्रभावना। —इस प्रकार जल्पस्वरूपका निरूपण करके अब उसका कथन करनेका प्रयोजन दिखाते हैं—समस्त वस्तुको विषय करनेवाले तथा समस्त एकान्त-वादोंका निराकरण करनेवाले स्याद्वादके द्वारा अन्य कथाओंसे निवृत्त होकर बुद्धिमानोंकी बुद्धि एक विषयके प्रति अभिमुख होती है। और न्यायमें नियुक्त होकर तत्त्वका निर्णय करनेके लिए वादी और प्रतिवादी दोनोंके पक्षोंमें मध्यस्थताको धारण करती हुई शीघ्र ही अनुपम तत्त्वका निश्चय कर लेती है।२८। पक्षका निर्णय जब तक नहीं होता तब मार्ग प्रभावना होती है। यही जल्पका प्रयोजन व फल है।२।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

१. जय पराजय व्यवस्था—दे० न्याय/२।
२. वाद जल्प व वितंडामें अन्तर—दे० वाद।
३. बाह्य और अन्तर जल्प—दे० वचन/१।
४. नैयायिकों द्वारा जल्प प्रयोगका समर्थन—दे० वितंडा।

जल्पनिर्णय—आ. विद्यानन्दि (ई० ७७५-८४०) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित न्याय विषयक एक ग्रन्थ।

जसफल—दे० जयपाल।

जांबूनदा— एक विद्या—दे० विद्या।

जागृत—दे० निद्रा/१/३

जाति(सामान्य)—१. लक्षण

न्याय.सू./मू./२/२/६६ समानप्रसवात्मिका जातिः।६६। —द्रव्योंके आपस-में भेद रहते भी जिससे समान बुद्धि उत्पन्न हो उसे जाति कहते हैं।

रा.वा./१/३३/५/६५/२६ बुद्ध्यभिधानानुप्रवृत्तिलिङ्गं सादृश्यं स्वरूपा-नुगमो वा जातिः, सा चेतनाचेतनाद्यात्मिका शब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन प्रतिनियमात् स्वार्थव्यपदेशभाक्। —अनुगताकार बुद्धि और अनुगत शब्द प्रयोगका विषयभूत सादृश्य या स्वरूप जाति है। चेतनकी जाति चेतनत्व और अचेतनकी जाति अचेतनत्व है क्योंकि यह अपने-अपने प्रतिनियत पदार्थके ही द्योतक है।

ध./१/१,१,१/१७/५ तत्थ जाई तब्भवसारिच्छ-लक्खण-सामण्णं।

ध./१/१,१,१/१८/३ तत्थ जाइणिमित्तं णाम गो-मणुस्स-घड-पड-त्थंभ-वेत्तादि। —तद्भव और सादृश्य लक्षणवाले सामान्यको जाति कहते हैं। गौ, मनुष्य, घट, पट, स्तम्भ और वेत इत्यादि जाति निमित्तक नाम है।

२. जीवोंकी जातियोंका निर्देश

ध./२/१,१/४११/४ एइंदियादी पंच जादीओ, अदीदजादि वि अत्थि। —एकेन्द्रियादि पाँच जातियाँ होती हैं और अतीत जातिरूप स्थान भी है।

३. चार उत्तम जातियोंका निर्देश

म.पु./३९/१६८ जातिरैन्द्री भवेद्दिव्या चक्रिणां विजयाश्रिता। परमा जातिरार्हन्त्ये स्वात्मोत्था सिद्धिमीयुषाम्। —जाति चार प्रकारकी हैं—दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वा। इन्द्रके दिव्या जाति होती है, चक्रवर्तियोंके विजयाश्रिता, अर्हन्तदेवके परमा और मुक्त जीवोंको स्वा जाति होती है।

जाति (नामकर्म)—१. लक्षण

स.सि./८/११/३८९/३ तासु नरकादिगतिष्वव्यभिचारिणा सादृश्येनैकी-कृतोऽर्थात्मा जातिः। तन्निमित्तं जाति नाम। —उन नारकादि गतियोंमें जिस अव्यभिचारी सादृश्यसे एकपनेका बोध होता है, वह जाति है। और इसका निमित्त जाति नामकर्म है। (रा.वा./८/११/२/५७६/१०); (गो.क./जी.प्र./३३/२८/१६)

ध.६/१,९-१,२८/५१/३ तदो जत्तो कम्मक्खंधादो जीवाणं भूओ सरिसत्त-मुप्पज्जदे सो कम्मक्खंधो कारणे कज्जुवयारादो जादि त्ति भण्णदे।

—जिस कर्मस्कन्धसे जीवोंके अत्यन्त सदृशता उत्पन्न होती है, वह कर्मस्कन्ध कारणमें कार्यके उपचारसे 'जाति' इस नामवाला कहलाता है।

ध./१३/५.५,१०१/३६३/६ एइंदिय-बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिय-पंचिंदियभावणिव्वत्तयं जं कम्मं तं जादि णामं।—जो कर्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय भावका बनानेवाला है वह जाति नामकर्म है।

२. नामकर्मके भेद

ष.खं. ६/१,६-१/सूत्र ३०/६७ जं तं जादिणामकम्मं तं पंचविहं, एइंदियजादिणामकम्मं, बीइंदियजादिणामकम्मं, तीइंदियजादिणामकम्मं, चउरिंदियजादिणामकम्मं, पंचिंदियजादिणामकम्मं चेदि।—जो जाति नामकर्म है वह पाँच प्रकारका है—एकेन्द्रियजातिनामकर्म, द्वीन्द्रियजातिनामकर्म, त्रीन्द्रियजातिनामकर्म, चतुरिन्द्रियजातिनामकर्म और पंचेन्द्रियजातिनामकर्म (ष. खं.१३/५,५/सू.१०३/३६७); (पं. सं./प्रा/२/४/४६/२७); (स. सि./८/११/३८६/४); (रा. वा./८/११/२/५७६/११); (गो. क/जी. प्र./३३/२८/१६)। और भी—दे० नाम कर्म—असंख्यात भेद हैं—

३. एकेन्द्रियादि जाति नामकर्मोंके लक्षण

स. सि/८/११/३८६/५ यदुदयात्मा एकेन्द्रिय इति शब्द्यते तदेकेन्द्रियजातिनाम। एवं शेषेष्वपि योज्यम्।—जिसके उदयसे आत्मा एकेन्द्रिय कहा जाता है वह एकेन्द्रिय जाति नामकर्म है। इसी प्रकार शेष जातियोंमें भी लागू कर लेना चाहिए। (रा. वा./८/११/२/५७६/१३)।

४. जाति नामकर्मके अस्तित्व की सिद्धि

ध. ६/१,६-१,२८/५१/४ जदि परिणामिओ सरिसपरिणामो णत्थि तो सरिसपरिणामकज्जण्णहाणुववत्तीदो तक्कारणकम्मस्स अत्थित्तं सिज्झेज्ज। किंतु गंगावालुवादिसु परिणामिओ सरिसपरिणामो उवलब्भदे, तदो अणेयंतियादो सरिसपरिणामो अप्पणो कारणीभूदकम्मस्स अत्थित्तं ण साहेदि त्ति। ण एस दोसो गंगावालुआणं पुढविकाइयणामकम्मोदएण सरिसपरिणामत्तब्भुवगमादो।…किं च जदि जीवपडिग्गहिदपोग्गलक्खंदसरिसपरिणामो पारिणामिओ वि अत्थि, तो हेऊ अणेयंतिओ होज्ज। ण च एवं, तहाणुवलंभा। जदि जीवाणं सरिसपरिणामो कम्मायत्तो ण होज्ज, तो चउरिंदिया हय-हत्थि-वय-वग्घ-छवल्लादि-संठाणा होज्ज, पंचिंदिया वि भमर-मक्कुण-सलहिंदगोव-खुल्लक्ख-रुक्खसंठाणा होज्ज। ण चेवमणुवलंभा. पडिणियदसरिसपरिणामेसु अवट्ठिदरुक्खादीणमुवलंभा च।—प्रश्न—यदि पारिणामिक अर्थात् परिणमन करानेवाले कारणके सदृश परिणाम नहीं होता है, तो सदृश परिणामरूप कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता, इस अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुसे उसके कारणभूत कर्मका अस्तित्व भले ही सिद्ध होवे। किन्तु गंगा नदीकी बालुका आदिमें पारिणामिक (स्वाभाविक) सदृश परिणाम पाया जाता है, इसलिए हेतुके अनैकान्तिक होनेसे सदृश परिणाम अपने कारणीभूत कर्मके अस्तित्वको नहीं सिद्ध करता। उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, गंगानदीकी बालुकाके (भी) पृथिवीकायिक नामकर्मके उदयसे सदृश परिणामता मानी गयी है।…दूसरी बात यह है, कि यदि जीवके द्वारा ग्रहण किये गये पुद्गल-स्कन्धोंका सदृशपरिणाम पारिणामिक भी हो, तो हेतु अनैकान्तिक होवे। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि, इस प्रकारका अनुपलम्भ है। यदि जीवोंका सदृश परिणाम कर्मके अधीन न होवे, तो चतुरिन्द्रिय जीव घोड़ा, हाथी, भेड़िया, बाघ और छवल्ल आदिके आकारवाले हो जायेंगे। तथा पंचेन्द्रिय जीव भी भ्रमर, मत्कुण, शलभ, इन्द्रगोप, क्षुल्लक, अक्ष और वृक्ष आदिके आकारवाले हो जायेंगे। किन्तु इस प्रकार है नहीं, क्योंकि, इस प्रकारके वे पाये नहीं जाते तथा प्रतिनियत सदृश परिणामोंमें अवस्थित वृक्ष आदि पाये जाते हैं।

ध. १३/५.५/१०१/३६३/१० जादी णाम सरिसपच्चयगेज्झा। ण च तणतरुवरेसु सरिसत्तमत्थि, दोवंचिवलियासु (?) सरिसभावाणुवलंभादो? ण जलाहारग्गहणेण दोण्णं पि समाणत्तदंसणादो।—प्रश्न—जाति तो सदृशप्रत्ययसे ग्राह्य है, परन्तु तृण और वृक्षोंमें समानता है नहीं? उत्तर—नहीं, क्योंकि जल व आहार ग्रहण करनेकी अपेक्षा दोनोंमें ही समानता देखी जाती है।

५. एकेन्द्रिय जातिके बन्धयोग्य परिणाम

पं. का./ता. वृ/११०/१७५/१० स्पर्शनेन्द्रियविषयलाम्पट्यपरिणतेन जीवेन यदुपार्जितं स्पर्शनेन्द्रियजनकमेकेन्द्रियजातिनामकर्म। — स्पर्शनेन्द्रियके विषयकी लम्पटतारूपसे परिणत होनेके द्वारा जीव स्पर्शनेन्द्रिय जनक एकेन्द्रिय जाति नामकर्म बाँधता है।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. जाति नामकर्मकी बन्ध उदय सत्त्वरूप प्ररूपणाएं
—दे० वह-वह नाम।

जाति (न्याय)—१. लक्षण

न्या. सू. मू./१/२/१८ साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः १८।—साधर्म्य और वैधर्म्यसे जो प्रत्यवस्थान (दूषण) दिया जाता है उसको जाति कहते हैं (श्लो. वा./४/न्या/३०६/४५६.)

न्या. वि./मू./२/२०३/२३३ तत्र मिथ्योत्तरं जातिः [यथानेकान्तविद्विषाम्] २०३।

न्या. वि./वृ./२/२०३/२३३/३ प्रमाणोपपन्ने साध्ये धर्मे यस्मिन् मिथ्योत्तरं भूतदोषस्योद्भावयितुमशक्यत्वेनासद्दूषणोद्भावनं सा जातिः।—एकान्तवादियोंकी भाँति मिथ्या उत्तर देना जाति है। अर्थात् प्रमाणसे उपपन्न साध्यरूप धर्ममें सद्भूत दोषका उठाना तो सम्भव नहीं है, ऐसा समझ कर असद्भूत ही दोष उठाते हुए मिथ्या उत्तर देना जाति है। (श्लो. वा. /४/ न्या. ४५६/५५०/६).

स्या.म./१०/११२/१८ सम्यग्हेतौ हेत्वाभासे वा वादिना प्रयुक्ते, झटिति तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्रायं किमपि प्रत्यवस्थानं जातिः दूषणाभास इत्यर्थः।—वादीके द्वारा सम्यग् हेतु अथवा हेत्वाभासके प्रयोग करनेपर, वादीके हेतुकी सदोषताकी बिना परीक्षा किये हुए हेतुके समान मालूम होनेवाला शीघ्रतासे कुछ भी कह देना जाति है।

२. जातिके भेद

न्या. सू./मू./५/१/१/पृ. ५८६ साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः।१।—जाति २४ प्रकार की है—१. साधर्म्यसम; २. वैधर्म्यसम; ३. उत्कर्षसम; ४. अपकर्षसम; ५. वर्ण्यसम; ६. अवर्ण्यसम; ७. विकल्पसम; ८. साध्यसम; ९. प्राप्तिसम; १०. अप्राप्तिसम; ११. प्रसंगसम; १२. प्रतिदृष्टान्तसम; १३. अनुत्पत्तिसम; १४. संशयसम; १५. प्रकरणसम; १६. हेतुसम; १७. अर्थापत्तिसम; १८. अविशेषसम; १९. उपपत्तिसम; २०. उपलब्धिसम; २१. अनुपलब्धिसम; २२. नित्यसम; २३. अनित्यसम और २४ कार्यसम। (श्लो० वा. ४/न्या. ३१९/४६१/३).

न्या.वि./मू./२/२०७/२३४ मिथ्योत्तराणामानन्त्याच्छास्त्रे वा विस्तरोक्तितः। साधर्म्यादिसमत्वेन जातिर्नेह प्रतन्यते।२०७।—(जैन नैयायिक जातिके २४ भेद ही नहीं मानते) क्योंकि मिथ्या उत्तर अनन्त

हो सकते हैं, जिनका विस्तार श्री पात्रकेसरी रचित त्रिलक्षण कदर्थ-शास्त्रमें दिया गया है। अतः यहाँ उसका विस्तार नहीं किया गया है।

३. उपरोक्त २४ जातियोंके लक्षण—दे० वह-वह नाम।

जाति आर्य—दे० आर्य।

जाति-विजाति उपचार— दे० उपचार।

जाति मंत्र—दे० मन्त्र १/६।

जाति मद—दे० मद।

जालंधर—(पा. पु./१८/श्लोक नं.), अर्जुन द्वारा कीचकके मारे जानेपर पाण्डवोंके विनाशके लिए जालन्धर युद्धको प्रस्तुत हुआ।११। तहाँ पाण्डवोंने राजा विराट्को युद्धमें बाँध लिया।२२। और गुप्तवेदी अर्जुन द्वारा बाँध लिया गया।४०।.

जाल—औदारिक शरीरमें जालोंका प्रमाण।—दे० औदारिक/१/७।

जिज्ञासा—

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य/१/१५ ईहा ऊहा तर्क परीक्षा विचारणा जिज्ञासा इत्यनर्थान्तरम्।—ईहा, ऊहा, तर्क, परीक्षा, विचारणा और जिज्ञासा ये सब एकार्थवाची हैं।

न्या. दर्शन/भाष्य/१/१/३२/३३/१७ तत्राप्रतीयमानेऽर्थे प्रत्ययार्थस्य प्रवर्त्तिका जिज्ञासा।—अज्ञात पदार्थके जाननेकी इच्छाका नाम जिज्ञासा है।

जित कषाय—प्र. सा/ता. वृ/२४०/३३३/१४ व्यवहारेण क्रोधादिकषायजयेन जितकषायः निश्चयेन चाकषायात्मभावनारतः।—व्यवहारसे क्रोधादि कषायोंके जीतनेसे और निश्चयसे अकषायस्वरूप शुद्धात्मभावनामें रत रहनेसे जितकषाय है।

जितदंड—पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप नागहस्तीके शिष्य तथा नन्दिषेणके गुरु थे।—दे० इतिहास/७/८।

जित द्रव्य निक्षेप—दे० निक्षेप/५।

जितमोह—

(स. सा./मू/३२) जो मोहं तु जिणत्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं। तं जिदमोहं साहू परमट्ठवियाणया विंति।—जो मुनि मोहको जीतकर अपने आत्माको ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्य द्रव्यभावोंसे अधिक जानता है, उस मुनिको परमार्थके जाननेवाले जितमोह कहते हैं।

जितशत्रु—१. (ह. पु./३४/श्लो. नं.) पूर्वभव नं. ३. में भानुसेठका पुत्र शूरसेन था।९७-९८। पूर्वभव नं. २ में चित्रचूल विद्याधरका पुत्र हिमचूल था।१३२-१३३। पूर्वभव नं. १ में राजा गङ्गदेवका पुत्र नन्दिषेण था।१४२-१४३। (ह. पु./सर्ग/श्लो. नं.)—वर्तमान भवमें वसुदेवका पुत्र हुआ (३५/७)। देवने जन्मते ही सुदृष्टि सेठके यहाँ पहुँचा दिया (३५/७)। वहाँ पर पोषण हुआ। पीछे दीक्षा धारण कर ली (५९/११५-२०)। घोर तप किया (६०/७)। अन्तमें गिरनार पर्वतसे मोक्ष सिधारे (६५/१६-१७)। २. (ह. पु/६६/५-१०) जितशत्रु भगवान् महावीरके पिता राजा सिद्धार्थकी छोटी बहनसे विवाहे गये थे। इनको यशोधा नामकी एक कन्या थी, जिसका विवाह उन्होंने भगवान् वीरसे करना चाहा। पर भगवान्ने दीक्षा धारण कर ली। पश्चात ये भी दीक्षा धार मोक्ष गये। ३. द्वितीय रुद्र थे—दे० शलाका पुरुष /७।

जितेन्द्रिय—

स. सा./मू/३१ जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं। तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू।३१।—जो इन्द्रियोंको जीतकर ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्य द्रव्यसे अधिक आत्माको जानते हैं, उन्हें जो निश्चयनयमें स्थित साधु हैं वे वास्तवमें जितेन्द्रिय कहते हैं।

त. अनु/७६ इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभुः। मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः।७६। —इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंमें मन प्रभु है, इसलिए मनको ही जीतना चाहिए। मनके जीतनेपर मनुष्य जितेन्द्रिय होता है।

२. इन्द्रिय व मनको जीतनेका उपाय—दे० संयम/२।

जिन—१. जिन सामान्यका लक्षण

मू. आ./५६१ जिदकोहमाणमाया जिदलोहा तेण ते जिणा होंति।—क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायोंको जीत लेने के कारण अर्हन्त भगवान् जिन हैं। (द्र. सं. टी./१४/४७/१०)।

भ. आ/वि./३१८/५३१/२२ कर्मैकदेशानां च जयात धर्मोऽपि कर्माण्यभिभवति इति जिनशब्देनोच्यते। —धर्म भी कर्मोंका पराभव करता है अतः उसको भी जिन कहते हैं।

नि. सा./ता. वृ/१ अनेकजन्माटवीप्रापणहेतून् समस्तमोहरागद्वेषादीन् जयतीति जिनः।—अनेक जन्मरूप अटवीको प्राप्त करानेके हेतुभूत समस्त मोहरागद्वेषादिकको जो जीत लेता है वह जिन है।

पं. का./ता. वृ./१/४/१८ अनेकभवगहनविषयव्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयतीति जिनः।—अनेक भवोंके गहन विषयोंरूप संकटोंकी प्राप्तिके कारणभूत कर्मरूपी शत्रुओंको जीतता है, वह जिन है। (स.श./टी./२/२२३/५)।

२. जिनके भेद

१. सकलजिन व देशजिन

ध. ९/४,१,१/१०/७ जिणा दुविहा सयलदेसजिणभेएण। —सकलजिन व देशजिनके भेदसे जिन दो प्रकार हैं।

२. निक्षेपोंरूप भेद

ध. ९/४,१,१/६८८ (निक्षेप सामान्यके भेदोंके अनुरूप है)।

३. सकल व देश जिनके लक्षण

ध. ९/४,१,१/१०/७ खवियघाइकम्मा सयलजिणा। के ते। अरहंत सिद्धा। अवरे आइरिय उवज्झाय साहू देसजिणा तिव्वकसाइंदिय—मोहविजयादो।—जो घातिया कर्मोंका क्षय कर चुके हैं वे सकल जिन हैं। वे कौन हैं—अर्हन्त और सिद्ध। इतर आचार्य, उपाध्याय और साधु तीव्र कषाय, इन्द्रिय एवं मोहके जीत लेनेके कारण देश जिन हैं।

नि. सा./ता. वृ./क. २४३,२५३ स्ववशो जीवन्मुक्तः किंचिन्न्यूनो जिनेश्वरादेषः।२४३। सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिनः। न कामपि भिदां क्वापि तां विद्मो हा जडा वयम्।२५३।—जो जीव स्ववश हैं वे जीवन्मुक्त हैं, जिनेश्वरसे किंचित् न्यून हैं।२४३। सर्वज्ञ वीतरागमें और इस स्ववश योगीमें कभी कुछ भी भेद नहीं है, तथापि अरेरे! हम जड़ हैं कि उनमें भेद मानते हैं।२५३।

प्र. सा./ता. वृ./२०१/२७१/१३ सासादनादिक्षीणकषायान्ता एकदेशजिना उच्यन्ते।—सासादन गुणस्थानसे लेकर क्षीण कषाय गुणस्थान पर्यन्त एकदेश जिन कहलाते हैं।

द्र. सं./टी./१/५/१० जितमिथ्यात्वरागादित्वेन एकदेशजिनाः असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयः।—मिथ्यात्व तथा रागादिको जीतनेके कारण असंयत सम्यग्दृष्टि आदि (देश संयत श्रावक व सकल संयत साधु) एकदेशी जिन हैं।

४. अवधि व विद्याधर जिनोंके लक्षण

ध. ९/४,१,१/४०/५ अवधयश्च ते जिनाश्च अवधिजिनाः।

ध. ९/४,१,१/७८/७ सिद्धविज्जाणं पेसणं जे ण इच्छंति केवलं धरंति चेव अण्णाणणिवित्तीए ते विज्जाहरजिणा णाम। – अवधिज्ञान स्वरूप जो जिन वे अवधि जिन हैं। जो सिद्ध हुई विद्याओंसे काम लेनेकी इच्छा नहीं करते, केवल अज्ञानकी निवृत्तिके लिए उन्हे धारण करते हैं, वे विद्याधर जिन हैं।

५. निक्षेपों रूप जिनोंके लक्षण

ध. ९/४,१,१/६-८ सारार्थ (निक्षेपोंके लक्षणोंके अनुरूप हैं)।

६. पाँचों परमेष्ठी तथा अन्य सभी सम्यग्दृष्टियोंको जिन संज्ञा प्राप्त है—दे० जिन/३।

जिनकल्प—१. जिनकल्प साधुका स्वरूप

भ. आ./वि./१५५/३५६/१७ जिनकल्पो निरूप्यते—जितरागद्वेषमोहा उपसर्गपरीषहारिवेगसहाः, जिना इव विहरन्ति इति जिनकल्पिका एक एवेत्यतिशयो जिनकल्पिकानाम्। इतरो लिङ्गादिराचारः प्रायेण व्यावर्णितरूप एव। – जिन्होंने राग-द्वेष और मोहको जीत लिया है, उपसर्ग और परीषहरूपी शत्रुके वेगको जो सहते हैं, और जो जिनेन्द्र भगवान्‌के समान विहार करते हैं, ऐसे मुनियोंको जिनकल्पी मुनि कहते हैं। इतनी ही विशेषता इन मुनियोंमें रहती है। बाकी सब लिंगादि आचार प्रायः जैसा पूर्वमें वर्णन किया है, वैसा ही इनका भी समझना चाहिए। (अर्थात् अट्ठाईस मूल गुण आदिका पालन ये भी अन्य साधुओंवत् करते हैं।) (और भी—दे० एकलविहारी)।

२. जिनकल्पी साधु उत्तम संहनन व सामायिक चारित्र-वाला ही होता है

गो. क./जी. प्र./५४७/७१४/५ श्रीवर्द्धमानस्वामिना प्राक्तनोत्तमसंहननजिनकल्पाचारणपरिणतेषु तदेकधा चारित्रम्। – श्री वर्द्धमानस्वामीसे पहिले उत्तम संहननके धारी जिनकल्प आचरणरूप परिणते मुनि तिनके सामायिकरूप एक ही चारित्र कहा है।

जिनगुण संपत्ति व्रत—

इस व्रतकी तीन विधि है – उत्तम, मध्य व जघन्य,

१. उत्तम विधि—अर्हन्त भगवान्‌के १. जन्मके १० अतिशयोंकी १० दशमियाँ; २. केवलज्ञानके १० अतिशयोंकी दश दशमियाँ; ३. देवकृत १४ अतिशयोंकी १४ चतुर्दशियाँ; ८ प्रातिहार्योंकी ८ अष्टमियाँ; ५. षोडशकारण भावनाओं की १६ प्रतिपदाएँ; ६. पाँच कल्याणकोंकी ५ पंचमियाँ; इस प्रकार ६३ तिथियोंके ६३ उपवास १० मासमें पूरे करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (ह. पु /३४/१२२); व्रत विधान संग्रह/पृ. ६४); (किशनसिंह क्रियाकोश)। २. मध्यम विधि—६६ दिनमें निम्नक्रमसे ३६ उपवास व ३० पारणा करे। 'ओं ह्रीं अर्हन्त परमेष्ठिने नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। क्रम—(;व.) के स्थान पर पारणा समझना—२,१,१,१,१,१; २,१,१,१,१,१; २,१,१,१,१,१; २,१,१,१,१,१; २,१,१,१,१,२। (वर्द्धमान पुराण); (व्रत विधान संग्रह/पृ. ६५)। ३. जघन्य विधि—उपरोक्त ६३ गुणोंके उपलक्ष्यमें ६३ दिन तक एकाशना करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत-विधान संग्रह/पृ. ६६); (किशन सिंह क्रियाकोश)।

जिनचन्द्र—

१. नन्दिसंघ की पट्टावली के अनुसार आप भद्रबाहु द्वि० के पशिष्य आ० माघनन्दि थे और उनके शिष्य जिनचन्द्र कुन्दकुन्द के गुरु थे। समय—प्र० दृष्टि के अनुसार श. सं. ४०-४९ (वी. नि. ६४५-६५४)। द्वि० दृष्टि के अनुसार वी. नि. ६१४-६५४। दूसरी ओर एक जिन चन्द्र भद्रबाहु गणी के प्रशिष्य थे जिन्होंने वि सं. १३६ (वी. नि ६०६) में श्वेताम्बर संघ की नींव डाली थी। विशेष दे. कोश १/परिशिष्ट ४/३)। २. मुनि चन्द्रनन्दि के शिष्य। कन्नड़ कवि पोम्न के शान्ति पुराण में उल्लिखित। पोम्न (वि. १००७, ई. ९५०) से पूर्व। (जै./२/१६५)। ३. भास्कर नन्दि के गुरु। कृति—सिद्धान्तसार। ई. श. ११ का उत्तरार्ध १२ का पूर्व। (ती./३/१८६)। ४. श्रवण बेल के शिलालेख नं० ५५ या ६६ (वि ११५७) में माघनन्दि (वि. १२५०) के पश्चात् उल्लिखित। वि. १२७५ (ई. १२१८)। (जै./२/३६६)। ५. तत्त्वार्थ सूत्र की सुखबोधिनी टीका के रचयिता। समय—लगभग वि. १३५३ (ई. १२९६)। (जै./१/४६१)। ६. नन्दिसंघ बलात्कारगण दिल्ली गद्दी के भट्टारक। कृति—सिद्धान्तसार चतुर्विंशति स्तोत्र। समय—वि. १५०७-१५७१ (ई० १४५०-१५१४)। (ती./३/३८१)।

जिनदत्त चरित्र—आ० गुणभद्र (ई.८७०-९१०) द्वारा रचित संस्कृत श्लोकबद्ध एक रचना। इसमें ९ सन्धि, व ८०० श्लोक हैं। पीछे दिल्ली निवासी पं० बखतावर सिंहने इसका भाषामें पद्यानुवाद किया है। (दे. गुण भद्र)। (ती./३/१४)।

जिनदास—

१. नन्दि संघ बलात्कार गण ईडरगद्दी सकलकीर्ति के शिष्य एक मुनि। कृतियें—जम्बू स्वामी चरित, राम चरित, हरिवंश पुराण, पुष्पाञ्जलिव्रत कथा; जलयात्रा विधि, सार्द्ध द्वय द्वीप पूजा, सप्तर्षि पूजा; ज्येष्ठ जिनवर पूजा, गुरु पूजा, अनन्तव्रत पूजा। वि. १४५०-१५२५ (ई. १३९३-१४६८)। ती./३/३३८)। २. आयुर्वेद के पण्डित। कृतियें—होलीरेणुका चरित, ज्ञानसूर्योदय। वि. १६००-१६५० (ई० १५४३-१५९३)। (ती./४/८३)। ३. मराठी के प्रथम ज्ञात कवि भुवनकीर्ति के शिष्य। कृति—हरिवंश पुराण। समय वि० १७७८-१७९७ (ई १७२१-१७४०) (ती./४/३१८)। ४. स्वर्गगत मित्र से प्राप्त आकाशगामी विद्या सेठ सोमदत्त को दी। (बृहद कथा कोष/४)।

जिननंदि (आर्य)—भगवती आराधनाके कर्ता शिवकोटिके गुरु थे। समय—ई श. १ का पूर्वपाद। (भ.आ./प्र.२,३/प्रेमीजी)

जिनपालित—षट्खण्डागमके कर्ता पुष्पदन्त आचार्यके मामा थे। आप वनवास देशके राजा थे। पीछे पुष्पदन्त आचार्य द्वारा सम्बोधित होकर दीक्षा ले ली। तदनुसार आपका समय—वी.नि. ६३३ वि. ६३ (ई. ६) के आसपास आता है (दे. (पुष्पदन्त)

जिनपूजा-पुरंदरव्रत— किसी भी मासकी शुक्ला १ से लेकर ८ तक उपवास या एकाशना करे। नमस्कार मन्त्र का त्रिकाल जाप्य करे। (व्रतविधान संग्रह/पृ.६२); (किशनसिंह क्रियाकोश)

जिनभद्र—आप एक श्वेताम्बराचार्य थे। गणी व क्षमाश्रमणकी उपाधिसे विभूषित थे। निम्न रचनाएँ की हैं—१. विशेषावश्यक भाष्य, २. बृहत्क्षेत्रसमास, ३. बृहत्संग्रहिणी विशेषवती आदि। (वर्तमानमें उपलब्ध बृहत्संग्रहिणी चन्द्रमहर्षि कृत है। समय—विशेषावश्यक भाष्य का रचनाकाल वि. ६५०, अवसान काल वि. श. ७ का अन्त। अतः ई. ५९०-६४३। (जै./२/६२)।

जिनमुखावलोकनव्रत—भाद्रपद कृ. १ से आसौज कृ. १ तक, एक मास पर्यन्त प्रति दिन प्रातः उठकर अन्य किसीका मुख देखे बिना भगवान्‌के दर्शन करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे; (व्रतविधान संग्रह/पृ.१०); (किशनसिंह क्रियाकोश)।

जिनमुद्रा—दे० मुद्रा।

जिनयज्ञ कल्प—दे० पूजा पाठ

जिनरात्रि व्रत—१४ वर्ष पर्यन्त प्रत्येक वर्ष फाल्गुन कृ. १४ को उपवास करे। रात्रिको जागरण करे। पहर-पहरमें जिनदर्शन करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (वर्द्धमान पुराण), (व्रतविधान संग्रह/पृ.६१)।

जिनरूपता क्रिया—दे० क्रिया/३।

जिनवर वृषभ—

प्र. सा./ता.वृ./२०१/२७१/११ सासादनादिक्षीणकषायान्ता एकदेशजिना उच्यन्ते, शेषाश्चानगारकेवलिनो जिनवरा भण्यन्ते। तीर्थंकरपरमदेवाश्च जिनवरवृषभाः ॥ =सासादनादि क्षीणकषायपर्यन्त एकदेश जिन कहलाते हैं, शेष अनगारकेवली अर्थात् सामान्य केवली जिनवर तथा तीर्थंकर परमदेव जिनवर वृषभ कहलाते हैं।

द्र. सं./टी./१/५/१० एकदेशजिनाः असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयस्तेषां वराः गणधरदेवास्तेषां जिनवराणां वृषभः प्रधानो जिनवरवृषभस्तीर्थंकरपरमदेवः। =असंयत सम्यग्दृष्टि आदि एकदेश जिन हैं। उनमें जो वर श्रेष्ठ हैं वे जिनवर यानी गणधरदेव हैं। उन जिनवरोंमें भी जो प्रधान हैं, वे जिनवरवृषभ अर्थात् तीर्थंकर परमदेव हैं।

जिनसंहिता—आ. देवसेन कृत दर्शनसारकी भाषा वचनिका।

जिन सहस्रनाम—दे० म.पु./२५/१००-२१७

जिनसागर—

देवेन्द्र कीर्ति के शिष्य। कृतियें—जीवन्धर पुराण जिन कथा पद्मावती कथा आदि। वि. १७८१-१८०१। (ती./३/४४६)।

जिनसेन—

१. पुन्नाटसंघकी गुर्वावलीके अनुसार आप आ. भीमसेनके शिष्य तथा शान्तिसेनके गुरु थे। समय ई. श. ७ का अन्त—दे० इतिहास /७/८, २. पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप श्री कीर्तिषेणके शिष्य थे। कृति——हरिवंश पुराण। समय—ग्रन्थ का रचनाकाल शक सं० ७०५ (ई ७८३)। अत: लगभग ई. ७४८-८१८। (ती /३/३)। (दे० इतिहास/७/८)। ३. पंचस्तूप संघ। वीरसेन स्वामी के शिष्य आगर्भ दिगम्बर। कृतियें—अपने गुरु की २०००० श्लोक प्रमाण अधूरी जयधवला टीका को ४०००० श्लोक प्रमाण अपनी टीका द्वारा पूरा किया। इनकी स्वतन्त्र रचना है आदि पुराण जिसे इनके शिष्य गुणभद्र ने उत्तर पुराण रचकर पूरा किया। इसके अतिरिक्त पार्श्वाभ्युदय तथा वर्द्धमान पुराण। समय—जयधवला का समाप्तिकाल शक स. ७५६। उत्तर पुराण का समाप्तिकाल शक सं. ८२०। अत: शक सं. ७४०-८०० (ई. ८१८-८७८)। (ती./२/३३६-३४०)। (दे० इतिहास/७/७)। ४. भट्टारक यशः कीर्ति के शिष्य। कृति—नेमिनाथ रास। ग्रन्थ रचना काल वि. १५५८ (ई. १५०१) (ती./३/३८१)। ५ सेनसंघी सोमसेन भट्टारक के शिष्य। समय— शक १५७७-१५८०, १५८१ में मुर्तियें प्रतिष्ठित कराई। अत: शक सं० १५७०-१५८५ (ई० १५१३-१५२८)। (ती./३/३८६)। (दे. इति./७/६)।

जिनस्तुति शतक—१. आ. समन्तभद्र (ई.श./२) कृत संस्कृत छन्दबद्ध एक ललित स्तोत्र जिसमें १०० श्लोकों द्वारा जिनेन्द्र भगवान्का स्तवन किया गया है। २. आ. वसुनन्दि (ई. १०४३-१०५३) द्वारा भी एक 'जिन शतक' नामक स्तोत्रकी रचना हुई थी।

जिनेंद्र बुद्धि—आ. पूज्यपादका अपर नाम—दे० पूज्यपाद।

जिवानी—जलको छानकर उसके गालितशेषको तिस ही जलाशयमें पहुँचाना। —विशेष दे० जलगालन/२।

जिह्वा—१. दूसरे नरकका ७वाँ पटल—दे० नरक/५/११। २. रसना इन्द्रिय—दे० रसना।

जिह्विक—१. दूसरे नरकका ८वाँ पटल—दे० नरक/५/११। २. गंगा नदीका वृषभाकार कूट—दे० वृषभ।

जीत—शास्त्रार्थमें जीत-हार सम्बन्धी—दे० न्याय/२।

जीरापल्ली पार्श्वनाथ स्तोत्र—दे. जरापल्ली।

जीवंधर—(म.पु./७५/श्लो. नं.) राजा सत्यन्धरका पुत्र था। श्मशानमें जन्म हुआ था, गन्धोत्कट सेठ अपने मृत पुत्रको छोड़कर वहाँसे इनको उठा लाया। आ. आर्यवर्मासे शिक्षा प्राप्त की। अनेकों कन्याओंको स्वयंवरोंमें जीता।२२८। पिताके घातक मन्त्री काष्ठांगारको मारकर राज्य प्राप्त किया।६६६। अन्तमें दीक्षाधार (६७६-६८२) मोक्ष सिधारे (६८५-६८७)। पूर्व भव नं. २ में आप पुण्डरीकिणी नगरीके राजा जयन्धरके 'जयद्रथ' नामके पुत्र थे। इन्होंने एक हंसके बच्चेको आकाशसे पकड़ लिया था तथा उसके पिता (हंस) को मार दिया था। उसीके फलस्वरूप इस भवमें जन्मते ही इनका पिता मारा गया, तथा १६ वर्ष तक मातासे पृथक् रहना पड़ा।५३४-५४२।—वहाँसे चयकर पूर्वभव नं. १ में सहस्रार स्वर्गमें देव हुए।५४२-५४४। और वर्तमान भवमें जीवन्धर हुए।

जीवंधर चंपू—उपरोक्त जीवन्धर स्वामीके चरित्रको वर्णन करनेवाले कई ग्रन्थ हैं आ. वादीभसिंह सूरि नं. २ (ई. ७७०-८६०) द्वारा रचित गद्यचूड़ामणि तथा क्षत्रचूड़ामणिके आधारपर कवि हरिचन्द (ई.श १० का मध्य)ने जीवन्धर चम्पूकी रचना की। इसमें संस्कृतका काव्य सौन्दर्य कूट-कूटकर भरा हुआ है। इसमें ११ आश्वास हैं तथा ८०४ श्लोक प्रमाण हैं। इतना ही गद्यभाग भी है। (ती०/४/२०)।

जीवंधर चरित्र— १. कवि रइधू (ई. १४३६) कृत अपभ्रंश काव्य ग्रन्थ। २. आ. शुभचन्द्र (ई. १५४६) कृत संस्कृत छन्दबद्ध ग्रन्थ। (ती /४/३६७)।

जीवंधर पुराण—आ. जिनसागर (ई. १७३०) की एक रचना।

जीवंधर शतपदी—आ. कोटेश्वर (ई. १५००) की एक रचना।

जीव—संसार या मोक्ष दोनोंमें जीव प्रधान तत्त्व है। यद्यपि ज्ञानदर्शन स्वभावी होनेके कारण वह आत्मा ही है फिर भी संसारी दशामें प्राण धारण करनेसे जीव कहलाता है। वह अनन्तगुणोंका स्वामी एक प्रकाशात्मक अमूर्तीक सत्ताधारी पदार्थ है, कल्पना मात्र नहीं है, न ही पंचभूतोंके मिश्रणसे उत्पन्न होनेवाला कोई संयोगी पदार्थ है। संसारी दशामें शरीरमें रहते हुए भी शरीरसे पृथक्, लौकिक विषयोंको करता व भोगता हुआ भी वह उनका केवल ज्ञाता है। वह यद्यपि लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशी है परन्तु संकोचविस्तार शक्तिके कारण शरीरप्रमाण होकर रहता है। कोई एक ही सर्वव्यापक जीव हो ऐसा जैन दर्शन नहीं मानता। वे अनन्तानन्त हैं। उनमें से जो भी साधना विशेषके द्वारा कर्मों व संस्कारोंका क्षय कर देता है वह सदा अतीन्द्रिय आनन्दका भोक्ता परमात्मा बन जाता है। तब वह विकल्पोंसे सर्वथा शून्य हो केवल ज्ञाता द्रष्टाभावमें स्थिति पाता है। जैनदर्शनमें उसीको ईश्वर या भगवान् स्वीकार किया है उससे पृथक् किसी एक ईश्वरको वह नहीं मानता।

१. भेद, लक्षण व निर्देश

१. जीव सामान्यका लक्षण

१. दश प्राणोंसे जीवे सो जीव

प्र. सा./मू./१४७ पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं। सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता।१४७। =जो चार प्राणोंसे (या दश प्राणोंसे) जीता है, जियेगा, और पहले जीता था वह जीव है, फिर भी प्राण तो पुद्गल द्रव्योंसे निष्पन्न हैं। (पं. का./मू/३०); (ध./१/१,१,२/११६/१); (म.पु/२४/१०४); (न. च. वृ./११०); (द्र. सं./मू/३); (नि. सा./ता/वृ./६); (पं. का./ता. वृ./२७/५६/१७); (द्र. सं./टी./२/८/६); (स्या० म./२६/३२६/११)।

रा. वा./१/४/७/२५/२७ दशसु प्राणेषु यथोपात्तप्राणपर्यायेण त्रिषु कालेषु जीवनानुभवनात् 'जीवति, अजीवीत्, जीविष्यति' इति वा जीवः। —दश प्राणोंमेंसे अपनी पर्यायानुसार गृहीत यथायोग्य प्राणोंके द्वारा जो जीता है, जीता था व जीवेगा इस त्रैकालिक जीवनगुण-वालेको जीव कहते हैं।

२. उपयोग, चैतन्य, कर्ता, भोक्ता आदि

पं. का./मू./२७ जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो···। —आत्मा जीव है, चेतयिता है, उपयोग विशेष वाला है। (पं. का.मू./१०६) (प्र. सा./मू./१२७)।

स. सा./मू./४६ अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं। जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।४६। —हे भव्य! तू जीवको रस रहित रूप रहित, गन्ध रहित, अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियसे अगोचर, चेतना-गुणवाला, शब्द रहित, किसी भी चिह्नको अनुमान ज्ञानसे ग्रहण न होनेवाला और आकार रहित जान। (पं. का./मू/१२७); (प्र. सा./मू/१७२); (भा. पा./मू./६४); (ध. ३/१,२,१/गा.१/२)।

भा. पा./मू./१४८ कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणो य। दंसणणाणुवओगो णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहिं।१४८। —जीव कर्ता है, भोक्ता है, अमूर्तीक है, शरीरप्रमाण है, अनादि-निधन है, दर्शन ज्ञान उप-योगमयी है. ऐसा जिनवरेन्द्र द्वारा निर्दिष्ट है। (पं. का./मू./२७); (प. प्र./मू/१/३१); (रा. वा./१/४/१४/२६/११); (म. पु/२४/६२); (ध. १/१,१.२/गा. १/११८); (न.च.वृ./१०६); (द्र.सं./मू./२);

त. सू./२/८ उपयोगो लक्षणम्। —उपयोग जीवका लक्षण है। (न.च.वृ./११६)।

स. सि./१/४/१४/३ तत्र चेतनालक्षणो जीवः। —जीवका लक्षण चेतना है। (ध. १५/३३/६)।

न. च. वृ./३६० लक्खणमिह भणियमादा ज्झेओ सब्भावसंगदो सोवि। चेयण उवलद्धी दंसण णाणं च लक्खणं तस्स। —आत्माका लक्षण चेतना तथा उपलब्धि है, और वह उपलब्धि ज्ञान दर्शन लक्षण-वाली है।

द्र. सं./मू./३ णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स।३। —निश्चय नयसे जिसके चेतना है वही जीव है।

द्र. सं./टी./३/८/५ शुद्धनिश्चयनयेन···शुद्धचैतन्यलक्षणनिश्चयप्राणेन यद्यपि जीवति, तथाप्यशुद्धनयेन···द्रव्यभावप्राणैर्जीवतीति जीवः —शुद्ध निश्चयसे यद्यपि शुद्धचैतन्य लक्षण निश्चय प्राणोंसे जीता है, तथापि अशुद्धनयसे द्रव्य व भाव प्राणोंसे जीता है। (पं. का./ता. वृ./२७/५६/१६; ६०/६७/१२)।

गो. जी./जी.प्र./२/२१/८ कर्मोपाधिसापेक्षज्ञानदर्शनोपयोगचैतन्यप्राणेन जीवन्तीति जीवाः। —(अशुद्ध निश्चयनयसे) कर्मोपाधि सापेक्ष ज्ञानदर्शनोपयोग रूप चैतन्य प्राणोंसे जीते हैं वे जीव हैं। (गो. जी./जी./प्र./१२६/३४१/३)।

३. औपशमिकादि भाव ही जीव है

रा. वा./१/७/३;८/३८ औपशमिकादिभावपर्यायो जीवः पर्यायादेशात् ।३। पारिणामिकभावसाधनो निश्चयतः ।८। औपशमिकादिभावसाध-नश्च व्यवहारतः ।६। —पर्यायार्थिक नयसे औपशमिकादि भावरूप जीव है।३। निश्चयनयसे जीव अपने अनादि पारिणामिक भावोंसे ही स्वरूपलाभ करता है।८। व्यवहारनयसे औपशमिकादि भावोंसे तथा माता-पिताके रजवीर्य आहार आदिसे भी स्वरूप लाभ करता है।

त. सा./२/२ अन्यासाधारणा भावाः पञ्चौपशमिकादयः। स्वतत्त्वं यस्य तत्त्वस्य जीवः स व्यपदिश्यते।२। —औपशमिकादि पाँच भाव (दे० भाव) जिस तत्त्वके स्वभाव हों वही जीव कहाता है।

४. जीवके पर्यायवाची नाम

ध. १/१,१,२/गा. ८१,८२/११८-११६ जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो। वेदो विण्हू सयंभू य सरीरी तह माणवो।८१। सत्ता जंतू य माणी य माई जोगी य संकडो। असंकडो य खेत्तण्हू अंतरप्पा तहेव य।८२। —जीव कर्ता है, वक्ता है, प्राणी है, भोक्ता है, पुद्गलरूप है, वेत्ता है, विष्णु है, स्वयंभू है, शरीरी है, मानव है, सक्ता है, जन्तु है, मानी है, मायावी है, योगसहित है, संकुट है, असंकुट है, क्षेत्रज्ञ है और अन्तरात्मा है।८१-८२।

म.पु./२४/१०३ जीवः प्राणी च जन्तुश्च क्षेत्रज्ञः पुरुषस्तथा। पुमानात्मा-न्तरात्मा च ज्ञो ज्ञानीत्यस्य पर्यय.।१०३। —जीव, प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, आत्मा, अन्तरात्मा, ज्ञ और ज्ञानी ये सब जीव-के पर्यायवाचक शब्द हैं।

५. जीवको अनेक नाम देनेकी विवक्षा

१. जीव कहनेकी विवक्षा दे० जीवका लक्षण नं. १।

२. अजीव कहनेकी विवक्षा

दे. जीव/२/१ में ध./१४ 'सिद्ध' जीव नहीं हैं, अधिकसे अधिक उनको जीवितपूर्व कह सकते हैं।

न.च.वृ./१२१ जो हु अमुत्तो भणिओ जीवसहावो जिणेहिपरमत्थो। उवयरियसहावादो अचेयणो मुत्तिसंजुत्तो।१२१। —जीवका जो स्वभाव जिनेन्द्र भगवान् द्वारा अमूर्त कहा गया है वह उपचरित स्वभावरूपसे मूर्त व अचेतन भी है, क्योंकि मूर्तीक शरीरसे संयुक्त है।

३. जड़ कहनेकी विवक्षा

प.प्र./मू./१/५३ जे णियबोहपरिट्ठियहँ जीवहँ तुट्टइ णाणु। इंदिय जणियउ जोइया तिं जिउ जडु वि वियाणु।५३। —जिस अपेक्षा आत्मा ज्ञानमें ठहरे हुए (अर्थात् समाधिस्थ) जीवोंके इन्द्रियजनित ज्ञान नाशको प्राप्त होता है, हे योगी! उसी कारण जीवको जड़ भी जानो।

आराधनासार/८१ अद्वैतापि हि चेता जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्, तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत्। तत्त्यागं जड़ता चितोऽपि भवति व्याप्यो बिना व्यापक.।...।८१। —इस जगत्में जो योगी अद्वैत दशाको प्राप्त हो गये हैं, वे दर्शन व ज्ञानके भेदको ही त्याग देते हैं, अर्थात् वे केवल चेतनस्वरूप रह जाते हैं। और सामान्य (दर्शन) तथा विशेष (ज्ञान) के अभावसे वे एक प्रकारसे अपने अस्तित्वका ही त्याग कर देते हैं। उसके त्यागसे चेतन भी वे जड़ता-को प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि व्याप्यके बिना व्यापक भी नहीं होता।

द्र. सं./टी./१०/२७/२ पञ्चेन्द्रियमनोविषयविकल्परहितसमाधिकाले स्व-संवेदनलक्षणबोधसद्भावेऽपि बहिर्विषयेन्द्रियबोधाभावाज्जडः, न च सर्वथा सांख्यमतवद्। —पाँचों इन्द्रियों और मनके विषयोंके विकल्पोंसे रहित समाधिकालमें, आत्माके अनुभवरूप ज्ञानके विद्यमान होनेपर भी बाहरी विषयरूप इन्द्रियज्ञानके अभावसे आत्मा जड़ माना गया है, परन्तु सांख्यमतकी तरह आत्मा सर्वथा जड़ नहीं है।

४. शून्य कहनेकी विवक्षा

प.प्र./मू./१/५५ अट्ठ वि कम्मइँ बहुविहइँ णवणव दोस ण जेण। सुद्धहँ एक्कु वि अत्थि णवि सुण्णु वि वुच्चइ तेण। =जिस कारण आठों ही अनेक भेदोंवाले कर्म तथा अठारह दोष, इनमेंसे एक भी शुद्धात्माओंके नहीं है, इसलिए उन्हें शून्य भी कहा जाता है।

दे० शुक्लध्यान/१/४ [शुक्लध्यानके उत्कृष्ट स्थानको प्राप्त करके योगी शून्य हो जाता है, क्योंकि, रागादिसे रहित स्वभाव स्थित ज्ञान ही शून्य कहा गया है। वह वास्तवमें रत्नत्रयकी एकता स्वरूप तथा बाह्य पदार्थोंके अवलम्बनसे रहित होनेके कारण ही शून्य कहलाता है।]

त.अनु./१७२-१७३ तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि। अन्यत्र किंचनाभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः।१७२। अतएवान्यशून्योऽपि नात्मा शून्यः स्वरूपतः। शून्याशून्यस्वभावोऽयमात्मनैवोपलभ्यते।१७३। =उस समाधिकालमें स्वात्मामें देखनेवाले योगीकी परम एकाग्रताके कारण बाह्यपदार्थोंके विद्यमान होते हुए भी उसे आत्माके अतिरिक्त और कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता।१७२। इसीलिए अन्य बाह्यपदार्थोंसे शून्य होता हुआ भी आत्मा स्वरूपसे शून्य नहीं होता। आत्माका यह शून्यता और अशून्यतामय स्वभाव आत्माके द्वारा ही उपलब्ध होता है।

द्र.सं./टी./१०/२७/३ रागादिविभावपरिणामापेक्षया शून्योऽपि भवति न चानन्तज्ञानाद्यपेक्षया बौद्धमतवत्। =आत्मा राग, द्वेष आदि विभाव परिणामोंकी अपेक्षासे शून्य होता है, किन्तु बौद्धमतके समान अनन्त ज्ञानादिकी अपेक्षा शून्य नहीं है।

४. प्राणी, जन्तु आदि कहनेकी विवक्षा

म.पु./२४/१०५-१०८ प्राणा दशास्य सन्तीति प्राणी जन्तुश्च जन्मभाक्। क्षेत्रं स्वरूपमस्य स्यात्तज्ज्ञानात्स तथोच्यते।१०५। पुरुषः पुरुभोगेषु शयनात् परिभाषितः। पुनात्यात्मानमिति च पुमानिति निगद्यते।१०६। भवेष्वतति सातत्याद् एतीत्यात्मा निरुच्यते। सोऽन्तरात्माष्टकर्मान्तर्वर्तित्वादभिलप्यते।१०७। ज्ञः स्याज्ज्ञानगुणोपेतो ज्ञानी च तत एव सः। पर्यायशब्दैरेभिस्तु निर्णेयोऽन्यैश्च तद्विधैः। =दश प्राण विद्यमान रहनेसे यह जीव <u>प्राणी</u> कहलाता है, बार-बार जन्म धारण करनेसे जन्तु कहलाता है। इसके स्वरूपको क्षेत्र कहते हैं, उस क्षेत्रको जाननेसे यह क्षेत्रज्ञ कहलाता है।१०५। पुरु अर्थात् अच्छे-अच्छे भोगोंमें शयन करनेसे अर्थात् प्रवृत्ति करनेसे यह पुरुष कहा जाता है, और अपने आत्माको पवित्र करनेसे <u>पुमान्</u> कहा जाता है।१०६। नर नारकादि पर्यायोंमें 'अतति' अर्थात् निरन्तर गमन करते रहनेसे आत्मा कहा जाता है। और ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके अन्तर्वर्ती होनेसे <u>अन्तरात्मा</u> कहा जाता है।१०७। ज्ञान गुण सहित होनेसे '<u>ज्ञ</u>' और <u>ज्ञानी</u> कहा जाता है। इसी प्रकार यह जीव अन्य भी अनेक शब्दोंसे जानने योग्य है।१०८।

५. कर्ता भोक्ता आदि कहनेकी विवक्षा

ध.१/१,१,२/११६/३ सच्चमसच्चं संतमसंतं वददीदि वत्ता। पाणा एयस्स संतीति पाणी। अमर-णर-तिरिय-णारय-भेएण चउव्विहे संसारे कुसलमकुसलं भुंजदि त्ति भोत्ता। छव्विह-संठाणं बहुविह-देहेहि पूरदि गलदि त्ति पोग्गलो। सुख-दुक्खं वेदेदि त्ति वेदो, वेत्ति जानातीति वा वेद.। उपात्तदेहं व्याप्नोतीति विष्णुः। स्वयमेव भूतवानिति स्वयंभू। सरीरमेयस्स अत्थि त्ति सरीरी। मनुः ज्ञानं तत्र भव इति मानव.। सजण-संबंध-मित्त-वग्गादिसु संजदि त्ति सत्ता। चउग्गइ-संसारे जायदि जणयदि त्ति जंतू। माणो एयस्स अत्थि त्ति माणी। माया अत्थि त्ति मायी। जोगो अत्थि त्ति जोगी। अइसण्ह-देह-पमाणेण संकुडदि त्ति संकुडो। सव्वं लोगागासं वियापदि त्ति असंकुडो। क्षेत्रं स्वरूपं जानातीति क्षेत्रज्ञः। अट्ठ-कम्मब्भंतरो त्ति अंतरप्पा। =सत्य, असत्य और योग्य, अयोग्य वचन बोलनेसे <u>वक्ता</u> है; दश प्राण पाये जानेसे <u>प्राणी</u> है; चार गतिरूप संसारमें पुण्यपापके फलको भोगनेसे <u>भोक्ता</u> है; नाना प्रकारके शरीरों द्वारा छह संस्थानोंको पूरण करने व गलानेसे <u>पुद्गल</u> है; सुख और दुःखका वेदन करनेसे <u>वेद</u> है; <u>अथवा</u> जाननेके कारण वेद है; प्राप्त हुए शरीरको व्याप्त करनेसे <u>विष्णु</u> है, स्वतः ही उत्पन्न होनेसे <u>स्वयंभू</u> है; संसारावस्थामें शरीरसहित होनेसे <u>शरीरी</u> है; मनु ज्ञानको कहते हैं, उसमें उत्पन्न होनेसे <u>मानव</u> है; स्वजन सम्बन्धी मित्र आदि वर्गमें आसक्त रहनेसे <u>सक्ता</u> है; चतुर्गतिरूप संसारमें जन्म लेनेसे <u>जन्तु</u> है; मान कषाय पायी जानेसे <u>मानी</u> है; माया कषाय पायी जानेसे <u>मायी</u> है; तीन योग पाये जानेसे <u>योगी</u> है। अतिसूक्ष्म देह मिलनेसे संकुचित होता है, इसलिए <u>संकुट</u> है; सम्पूर्ण लोकाकाशको व्याप्त करता है, इसलिए <u>असंकुट</u> है; लोकालोकरूप क्षेत्रको अथवा अपने स्वरूपको जाननेसे क्षेत्रज्ञ है; आठ कर्मोंमें रहनेसे अन्तरात्मा है (गो.जी./जी./३६५-३६६/७७६/२)।

दे० चेतना/३ (जीवको कर्ता व अकर्ता कहने सम्बन्धी—)

४. जीवके भेद प्रभेद

१. संसारी व मुक्त दो भेद

त.सू./२/१० संसारिणो मुक्ताश्च।१०। =जीव दो प्रकारके हैं संसारी और मुक्त। (पं.का./मू./१०९), (मू.आ./२०४), (न.च.वृ./१०५)।

२. संसारी जीवोंके अनेक प्रकारसे भेद

त.सू./२/११-१४,७ जीवभव्याभव्यत्वानि च।७। समनस्कामनस्काः।११। संसारिणस्त्रसस्थावराः।१२। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः।१३। द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः।१४। =जीव दो प्रकारके हैं <u>भव्य</u> और <u>अभव्य</u>।७। (पं.का./मू./१२०) मनसहित अर्थात् <u>संज्ञी</u> और मनरहित अर्थात् <u>असंज्ञी</u>के भेदसे भी दो प्रकारके हैं।११। (द्र.सं/मू./१२/२९) संसारी जीव <u>त्रस</u> और <u>स्थावर</u>के भेदसे दो प्रकारके हैं (न.च./वृ./१२३) तिनमें स्थावर पाँच प्रकारके हैं—<u>पृथिवी</u>, <u>अप्</u>, <u>तेज</u>, <u>वायु</u>, व <u>वनस्पति</u>।१३। (और भी देखो 'स्थावर') त्रस जीव चार प्रकार हैं—<u>द्वीन्द्रिय</u>, <u>त्रीन्द्रिय</u>, <u>चतुरिन्द्रिय</u> व <u>पंचेन्द्रिय</u>।१४। (और भी दे० इन्द्रिय/४)।

रा.वा./५/१५/५/४५८/२ द्विविधा जीवाः बादराः सूक्ष्माश्च। =जीव दो प्रकारके हैं—<u>बादर</u> और <u>सूक्ष्म</u>—(दे० सूक्ष्म)।

दे. आत्मा—<u>बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा</u>की अपेक्षा ३ प्रकार हैं।

दे. काय/२/१ पाँच स्थावर व एक त्रस, ऐसे कायकी अपेक्षा ६ भेद हैं।

दे. गति/२/३ <u>नारक, तिर्यंच, मनुष्य व देवगति</u> की अपेक्षा चार प्रकारका है।

गो.जी./मू.६२२/१०७५ <u>पुण्यजीव व पापजीवका</u> निर्देश है। (दे० आगे पुण्य व पाप जीवका लक्षण)।

ष.खं./१२/४/२.६/सू.३/२९६ सिया णोजीवस्स वा/३/—'कथंचित् वह नोजीवके होती है' इस सूत्रमें <u>नोजीवका</u> निर्देश किया गया है।

दे० पर्याप्त—जीवके <u>पर्याप्त</u>, <u>निर्वृत्त्यपर्याप्त</u> व <u>लब्ध्यपर्याप्त</u> रूप तीन भेद हैं।

दे. जीवसमास—एकेन्द्रिय आदि तथा पृथिवी अप् आदि तथा सूक्ष्म बादर, तथा उनके ही पर्याप्तापर्याप्त आदि विकल्पोंसे अनेकों भंग बन जाते हैं।

ध.१/४,१,४५/गा.७६-७७/१९८ एको चेव महप्पा सो दुवियप्पो त्ति लक्खणो भणिदो। चदुसंकमणाजुत्तो पंचग्गगुणप्पहाणो य।७६। छक्कापक्कमजुत्तो उवजुत्तो सत्तभंगिसब्भावो। अट्ठासवो णवट्ठो जीवो दस-

ठाणिओ भणिदो ।७३।—वह जी। महात्मा चैतन्य या उपयोग सामान्यकी अपेक्षा एक प्रकार है। ज्ञान, दर्शन, या संसारी-मुक्त, या भव्य-अभव्य, या पाप-पुण्यकी अपेक्षा दो प्रकार है। ज्ञान चेतना, कर्म चेतना कर्मफल चेतना, या उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, या द्रव्य-गुण पर्यायकी अपेक्षा तीन प्रकार है। चार गतियोंमें भ्रमण करनेकी अपेक्षा चार प्रकार है। औपशमिकादि पाँच भावोंकी अपेक्षा या एकेन्द्रिय आदिकी अपेक्षा पाँच प्रकार है। छह दिशाओंमें अपक्रम युक्त होनेके कारण छह प्रकारका है। सप्तभंगीसे सिद्ध होनेके कारण सात प्रकारका है। आठकर्म या सम्यक्त्वादि आठ गुणयुक्त होनेके कारण आठ प्रकारका है। नौ पदार्थोंरूप परिणमन करनेके कारण नौ प्रकार का है। पृथिवी आदि पाँच तथा एकेन्द्रियादि पाँच इन दस स्थानोंको प्राप्त होनेके कारण दस प्रकारका है।

५. जीवोंके जलचर, स्थलचर आदि भेद

मू. आ./२११ सकलिंदिया य जलथलखचरा···।—पंचेन्द्रिय जीव जलचर, स्थलचर व नभचरके भेदसे तीन प्रकार हैं। (पं. का/मू./११७) (का. अ./मू./१२९)।

६. जीवोंके गर्भज आदि भेद

पं. सं./प्रा./१/७३ अंडज पोदज जरजा रसजा संसेदिमा य सम्मुच्छा। उब्भिदिमोववादिम णेया पंचिदिया जीवा ।७३। —अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, स्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उद्भेदिम और औपपादिक जीवोंको पंचेन्द्रिय जानना चाहिए। (ध.१/१,१,३३/गा,१३६/२४६), (का. अ./मू./१३०)।

७. कार्य कारण जीवके लक्षण

नि. सा./ता. वृ./९ शुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतत्वात्कार्यशुद्धजीवः। ·· शुद्धनिश्चयेन सहजज्ञानादिपरमस्वभावगुणानामाधारभूतत्वात्कारणशुद्धजीवः।—शुद्ध सद्भूत व्यवहारसे केवलज्ञानादि शुद्ध गुणोंका आधार होनेके कारण 'कार्य शुद्धजीव' (सिद्ध पर्याय) है। शुद्ध निश्चयनयसे सहजज्ञानादि परमस्वभाव-गुणोंका आधार होनेके कारण (त्रिकाली शुद्ध चैतन्य) कारण शुद्ध-जीव है।

८. पुण्य-पाप जीवका लक्षण

गो. जी./मू./६२२-६२३/१०७५ जीवदुगं उत्तट्ठं जीवा पुण्णा हु सम्मगुणसहिदा। वदसहिदा वि य पावा तव्विवरीया हवंति त्ति। मिच्छाइट्ठी पावा णंताणंता य सासणगुणा वि।

गो. जी./जी. प्र./६४३/१०९५/१ मिश्राः पुण्यपापमिश्रजीवाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्वमिश्रपरिणामपरिणतत्वात्। —पहले दो प्रकारके जीव कहे गये हैं। उनमेंसे जो सम्यक्त्व गुण युक्त या व्रतयुक्त होय सो पुण्य जीव हैं और इनसे विपरीत पाप जीव हैं। मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानवर्ती जीव पापजीव हैं। सम्यक्त्वमिथ्यात्वरूप मिश्रपरिणामोंसे युक्त मिश्र गुणस्थानवर्ती, पुण्यपापमिश्र जीव हैं।

९. नोजीवका लक्षण

ध. १३/५,३,६,३/२९६/८ णोजीवो णाम अणंताणंतविस्सासुवचएहि उवचिदकम्मपोग्गलक्खंधो पाणधारणाभावादो णाणदंसणाभावादो वा। तत्थतणजीवो वि सिया णोजीवो, तत्तो पुधभूतस्स तस्स अणुवलंभादो।—अनन्तानन्त विस्रसोपचयोंसे उपचयको प्राप्त कर्मपुद्गल-स्कन्ध (शरीर) प्राणधारण अथवा ज्ञानदर्शनसे रहित होनेके कारण नोजीव कहलाता है। उससे सम्बन्ध रखनेवाला जीव भी कथंचित नोजीव है, क्योंकि, वह उससे पृथग्भूत नहीं पाया जाता है।

२. निर्देश विषयक शंकाएँ व मतार्थ आदि

१. मुक्त जीवमें जीवत्ववाला लक्षण कैसे घटित होता है

रा. वा./१/४/७/२५/२७ तथा सति सिद्धानामपि जीवत्वं सिद्धं जीवितपूर्वत्वात्। संप्रति न जीवन्ति सिद्धा भूतपूर्वगत्या जीवत्वमेषामौपचारिकत्वं, मुख्यं चेष्यते; नैष दोषः भावप्राणज्ञानदर्शनानुभवनात् सांप्रतिकमपि जीवत्वमस्ति। अथवा रूढिशब्दोऽयम्। रूढौ वा क्रिया व्युत्पत्यर्थं वेति कादाचित्कं जीवनमपेक्ष्य सर्वदा वर्तते गोशब्दवत्। —प्रश्न—'जो दशप्राणोंसे जीता है···' आदि लक्षण करनेपर सिद्धोंके जीवत्व घटित नहीं होता। उत्तर—सिद्धोंके यद्यपि दशप्राण नहीं हैं, फिर भी वे इन प्राणोंसे पहले जीये थे, इसलिए उनमें भी जीवत्व सिद्ध हो जाता है। प्रश्न—सिद्ध वर्तमानमें नहीं जीते। भूतपूर्वगतिकी उनमें जीवत्व कहना औपचारिक है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, भावप्राणरूप ज्ञानदर्शनका अनुभव करनेसे वर्तमानमें भी उनमें मुख्य जीवत्व है। अथवा रूढिवश क्रियाकी गौणतासे जीव शब्दका निर्वचन करना चाहिए। रूढिमें क्रिया गौण हो जाती है। जैसे कभी-कभी चलती हुई देखकर गौमें सर्वदा गो शब्दकी वृत्ति देखी जाती है, वैसे ही कादाचित्क जीवनकी अपेक्षा करके सर्वदा जीव शब्दकी वृत्ति हो जाती है। (भ. आ. वि./३७/१३१/१३) (म. पु./२४/१०४)।

२. औपचारिक होनेसे सिद्धोंमें जीवत्व नहीं है।

ध. १४/५,६,१६/१३/३ तं च अजोगिचरिमसमयादो उवरि णत्थि, सिद्धेसु पाणणिबंधणट्ठकम्माभावादो। तम्हा सिद्धा ण जीवा जीविदपुव्वा इदि। सिद्धाणं पि जीवत्तं किण्ण इच्छिज्जदे। ण, उवयारस्स सच्चत्ताभावादो। सिद्धेसु पाणाभावण्णहाणुववत्तीदो जीवत्तं ण पारिणामियं किंतु कम्मविवागजं। —आयु आदि प्राणोंका धारण करना जीवन है। वह अयोगीके अन्तिम समयसे आगे नहीं पाया जाता, क्योंकि, सिद्धोंके प्राणोंके कारणभूत आठों कर्मोंका अभाव है। इसलिए सिद्ध जीव नहीं हैं, अधिकसे अधिक वे जीवितपूर्व कहे जा सकते हैं। प्रश्न—सिद्धोंके भी जीवत्व क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, सिद्धोंमें जीवत्व उपचारसे है, और उपचारको सत्य मानना ठीक नहीं है। सिद्धोंमें प्राणोंका अभाव अन्यथा बन नहीं सकता, इससे मालूम पड़ता है, कि जीवत्व पारिणामिक नहीं है, किन्तु वह कर्मोंके विपाकसे उत्पन्न होता है।

३. मार्गणास्थानादि जीवके लक्षण नहीं हैं

यो. सा./अ./१/५७ गुणजीवादयः सन्ति विंशतिर्या प्ररूपणा। कर्मसंबन्धनिष्पन्नास्ता जीवस्य न लक्षणम् ।५७।—गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणास्थान, पर्याप्ति आदि जो २० प्ररूपणाएँ हैं वे भी कर्मके संबन्धमें उत्पन्न हैं, इसलिए वे जीवका लक्षण नहीं हो सकतीं।

४. तो फिर जीवकी सिद्धि कैसे हो

स. सि./५/१९/२८८/८ अत एवात्मास्तित्वसिद्धिः। यथा यन्त्रप्रतिमाचेष्टितं प्रयोक्तुरस्तित्वं गमयति तथा प्राणापानादिकर्मापि क्रियावन्तमात्मानं साधयति।—इसीसे आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि होती है। जैसे यन्त्रप्रतिमाकी चेष्टाएँ अपने प्रयोक्ताके अस्तित्वका ज्ञान कराती हैं उसी प्रकार प्राण और अपान आदिरूप कार्य भी क्रियावाले आत्माके साधक हैं। (स्या. म./७/२३४/२०)।

रा. वा./२/८/१९/१२१/१३ 'नास्त्यात्मा अकारणत्वात् मण्डूकशिखण्डवत्' इति। हेतुरयमसिद्धो विरुद्धोऽनैकान्तिकश्च। कारणवानेवात्मा इति निश्चयो नः, नरकादिभवव्यतिरिक्तद्रव्यार्थाभावात्, तस्य च

मिथ्यादर्शनादिकारणत्वादसिद्धता। अतएव द्रव्यार्थाभावात् च पर्यायान्तरानाश्रयत्वात् आश्रयाभावादप्यसिद्धता। अकारणमेव ह्यस्ति सर्वं घटादि, तेनायं द्रव्यार्थिकस्य विरुद्ध एव। सतोऽकारणत्वात् यदस्ति तन्नियमेनैवाकारणम्, न हि किंचिदस्ति च कारणवच्च। यदि तदस्त्येव किमस्य कारणेन नित्यवृत्तत्वात्। कारणवत्त्वं चासत एव कार्यार्थत्वात् कारणस्येति विरुद्धार्थता। मण्डूकशिखण्डकादीनाम् असत्प्रत्ययहेतुत्वेन परिच्छिन्नसत्त्वानामभ्युपगमात्तेषां च कारणाभावात् उभयपक्षवृत्तेरनैकान्तिकत्वम्।

दृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनोभयधर्मविकल' ··· एकजीवसंबन्धित्वात मण्डूकशिखण्ड इत्यस्ति।···

नास्त्यात्मा अप्रत्यक्षत्वाच्छशशृङ्गवदिति; अयमपि न हेतुः असिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वाप्रच्युते'। सकलविमलकेवलज्ञानप्रत्यक्षत्वाच्छुद्धात्मा प्रत्यक्ष', कर्मनोकर्मपरतन्त्रपिण्डात्मा च अवधिमनःपर्ययज्ञानयोरपि प्रत्यक्ष इति 'अप्रत्यक्षत्वात्' इत्यसिद्धो हेतुः। इन्द्रियप्रत्यक्षाभावादप्रत्यक्ष इति चेत्; न; तस्य परोक्षत्वाभ्युपगमात्। अप्रत्यक्षा घटादयोऽग्राहकनिमित्तग्राह्यत्वात् धूमाद्यनुमिताग्निवत्।··· असति च शशशृङ्गादौ सति च विज्ञानादौ अप्रत्यक्षत्वस्य वृत्तेरनैकान्तिकता। अथ विज्ञानादेः स्वसंवेद्यत्वात् योगिप्रत्यक्षत्वाच्च हेतोरभाव इति चेत्; आत्मनि कोऽपरितोष'। दृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनोभयधर्मविकल' पूर्वोक्तेन विधिना अप्रत्यक्षत्वस्य नास्तित्वस्य चासिद्धेः।

रा.वा./२/८/१९/१२२/२९ ग्रहणविज्ञानासंभविफलदर्शनाद् गृहीतृसिद्धिः ।१९। यान्यमूनि ग्रहणानि···यानि च ज्ञानानि तत्संनिकर्षजानि तानि, तेष्वसंभविफलमुपलभ्यते। किं पुनस्तत्। आत्मस्वभावस्थानज्ञानविषयसंप्रतिपत्तिः। तदेतद् ग्रहणानां तावन्न संभवति; अचेतनत्वात्, क्षणिकत्वाच्च···ततो व्यतिरिक्तेन केनचिद्भवितव्यमिति गृहीतृसिद्धि'।

रा.वा./२/८/२०/१२३/१ योऽयमस्माकम् 'आत्माऽस्ति' इति प्रत्ययः स संशयानध्यवसायविपर्ययसम्यक्प्रत्ययेषु यः कश्चित् स्यात्, सर्वेषु च विकल्पेष्विष्ट' सिध्यति। न तावत्संशय' निर्णयात्मकत्वात्। सत्यपि संशये तदालम्बनात्मसिद्धि'। न हि अवस्तुविषयः संशयो भवति। नाप्यनध्यवसायो जात्यन्धबधिररूपशब्दवत्; अनादिसंप्रतिपत्ते'। स्याद्विपर्ययः; एवमप्यात्मास्तित्वसिद्धिः पुरुषे स्थाणुप्रतिपत्तौ स्थाणुसिद्धिवत्। स्यात्सम्यक्प्रत्ययः; अविवादमेतत्—आत्मास्तित्वमिति सिद्धो न पक्ष.। —प्रश्न—उत्पादक कारणका अभाव होनेसे, मण्डूकशिखावत आत्माका भी अभाव है? उत्तर—आपका हेतु असिद्ध, विरुद्ध व अनैकान्तिक तीनों दोषोंसे युक्त है। (१) नरनारकादि पर्यायोंसे पृथक् आत्मा नहीं मिलता, और वे पर्याएँ मिथ्यादर्शनादि कारणोंसे होती हैं, अतः यह हेतु असिद्ध है। पर्यायोंको छोड़कर पृथक् आत्मद्रव्यकी सत्ता न होनेसे यह हेतु आश्रयासिद्ध भी है। (२) जितने घटादि सत पदार्थ हैं वे सब स्वभावसे ही सत् हैं न कि किसी कारण विशेषसे। जो सत है वह तो अकारण ही होता है। जो स्वयं सत है उसकी नित्यवृत्ति है अतः उसे अन्य कारणसे क्या प्रयोजन। जिसका कोई कारण होता है वह असद् होता है, क्योंकि वह कारणका कार्य होता है, अतः यह हेतु विरुद्ध है। (३) मण्डूकशिखण्ड भी 'नास्ति' इस प्रत्ययके होनेसे सत तो है पर इसके उत्पादक कारण नहीं है, अतः यह हेतु अनैकान्तिक भी है। मण्डूकशिखण्ड दृष्टान्त भी साध्य, साधन व उभय धर्मोंसे विकल होनेके कारण दृष्टान्ताभास है। क्योंकि उसके भी किसी अपेक्षासे कारण बन जाते हैं और वह कथंचित् सत भी सिद्ध हो जाता है। प्रश्न—आत्मा नहीं है, क्योंकि गधेके सींगवत् वह प्रत्यक्ष नहीं है? उत्तर—यह हेतु भी असिद्ध, विरुद्ध व अनैकान्तिक तीनों दोषोंसे दूषित है। (४) शुद्धात्मा तो सकल विमल केवलज्ञानके प्रत्यक्ष है और कर्म नोकर्म संयुक्त अशुद्धात्मा अवधि व मनःपर्यय ज्ञानके भी प्रत्यक्ष है अतः उपरोक्त हेतु असिद्ध है। प्रश्न—इन्द्रिय प्रत्यक्ष न होनेसे वह अप्रत्यक्ष है? उत्तर—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्षको परोक्ष ही माना गया है। घटादि परोक्ष हैं क्योंकि वे अग्राहक निमित्तसे ग्राह्य होते हैं, जैसे कि धूमसे अनुमित अग्नि। असद्भूत शशशृङ्गादि तथा सद्भूत विज्ञानादि दोनों ही अप्रत्यक्ष हैं, अतः उपरोक्त हेतु अनैकान्तिक है। यदि बौद्ध लोग यह कहें कि विज्ञान तो स्वसंवेदन तथा योगियोंके प्रत्यक्ष है इसलिए आपका हेतु ठीक नहीं है, तो हम कह सकते हैं कि फिर आत्माको ही स्वसंवेदन व योगिप्रत्यक्ष माननेमें क्या हानि है। शशशृंगका दृष्टान्त भी साध्य, साधन व उभय धर्मोंसे विकल होनेके कारण दृष्टान्ताभास है, क्योंकि मण्डूक शिखावत् शशशृंग भी कथंचित् सत् है। इसलिए उसे अप्रत्यक्ष कहना असिद्ध है। (५) इन्द्रियों और तज्जनित ज्ञानोंमें जो सम्भव नहीं है ऐसा जो, 'जो मैं देखनेवाला था वही चखनेवाला हूँ' यह एकत्वविषयक फल सभी विषयों व ज्ञानोंमें एकसूत्रता रखनेवाले गृहीता आत्माके सद्भावको सिद्ध करता है। आत्मस्वभावके होनेपर ही ज्ञानकी व विषयोंकी प्राप्ति होती है, इन्द्रियोंके उसका संभवपना नहीं है, क्योंकि वे अचेतन व क्षणिक हैं। इसलिए उन इन्द्रियोंसे व्यतिरिक्त कोई न कोई ग्रहण करनेवाला होना चाहिए, यह सिद्ध होता है। (स्या.म./१७/२३३/१६); (६) यह जो हम सबको 'आत्मा है' इस प्रकारका ज्ञान होता है, वह संशय, अनध्यवसाय, विपर्यय या सम्यक् इन चार विकल्पोंमेंसे कोई एक तो होना ही चाहिए। कोई सा भी विकल्प हमारे इष्टकी सिद्धि कर देता है। यदि यह ज्ञान संशयरूप है तो भी आत्माकी सत्ता सिद्ध होती है, क्योंकि अवस्तुका संशय नहीं होता। अनादिकालसे प्रत्येक व्यक्ति आत्माका अनुभव करता है, अतः यह ज्ञान अनध्यवसाय नहीं हो सकता। यदि इसे विपरीत कहते हैं, तो भी आत्माकी क्वचित् सत्ता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि अप्रसिद्ध पदार्थका विपर्यय ज्ञान नहीं होता। और सम्यक् रूपमें तो आत्मसाधक है ही।

स्या.म./१७/२३२/५ अहं सुखी अहं दुःखी इति अन्तर्मुखस्य प्रत्ययस्य आत्मालम्बनतयैवोपपत्तेः।···यत्पुनः अहं गौर' अहं श्याम इत्यादि बहिर्मुखः प्रत्यय. स खल्वात्मोपकारकत्वेन लक्षणया शरीरे प्रयुज्यते। यथा प्रियभृत्येऽहमिति व्यपदेशः।

स्या.म/१७/२३२/२६ यच्च. अहंप्रत्ययस्य कादाचित्कत्वम् तत्रेयं वासना। ···यथा बीजं···न तस्याङ्कुरोत्पादने कादाचित्केऽपि तदुत्पादनशक्तिरपि कादाचित्की। तस्याः कथंचिन्नित्यत्वात्। एवमात्मा सदा संनिहितत्वेऽप्यहंप्रत्ययस्य कादाचित्कत्वम्। ···रूपाद्युपलब्धिः सकर्तृका, क्रियात्वात्, छिदिक्रियावत्। यश्चास्या. कर्ता स आत्मा। न चात्र चक्षुरादीनां कर्तृत्वम्। तेषां कुठारादिवत् करणत्वेनास्वतन्त्रत्वात्। करणत्वं चैषां पौद्गलिकत्वेनाचेतनत्वात्, परप्रेर्यत्वात्, प्रयोक्तृव्यापारानिरपेक्षप्रवृत्त्यभावात्।

स्या.म./१७/२३४/२० तथा च साधनोपादानपरिवर्जनद्वारेण हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्था चेष्टा प्रयत्नपूर्विका, विशिष्टक्रियात्वात्, रथक्रियावत्। शरीरं च प्रयत्नवदधिष्ठितम्, विशिष्टक्रियाश्रयत्वात्, रथवत्। यश्चास्याधिष्ठाता स आत्मा, सारथिवत्।

स्या.म/१७/२३५/१४ तथा प्रेर्यं मनः अभिमतविषयसंबन्धनिमित्तक्रियाश्रयत्वात्, दारकहस्तगतगोलकवत्। यश्चास्य प्रेरकः स आत्मा इति।··· तथा अस्त्यात्मा, असमस्तपर्यायवाच्यत्वात्। यो योऽसाङ्केतिकशुद्धपर्यायवाच्यः, स सोऽस्तित्वं न व्यभिचरति, यथा घटादिः।···तथा सुखादीनि द्रव्याश्रितानि, गुणत्वात्, रूपवत्। योऽसौ गुणी स आत्मा। इत्यादिलिङ्गानि। तस्मादनुमानतोऽप्यात्मा सिद्धः। (७)

—मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ ऐसे अन्तर्मुखी प्रत्ययोंकी आत्माके आलम्बनसे ही उत्पत्ति होती है। और मैं गोरा, मैं काला ऐसे बहिर्मुखी प्रत्यय भी शरीर मात्रके सूचक नहीं हैं, क्योंकि प्रिय नौकरमें अहं बुद्धिकी भाँति यहाँ भी अहं प्रत्ययका प्रयोग आत्माके उपकार करनेवालेमें किया गया है। (पं.ध./उ./५,५०); (८) अहंप्रत्ययमें कादाचित्कत्वके प्रति भी उत्तर यह है कि जिस प्रकार बीजमें अंकुरकी अनित्यताको देखकर उसमें अंकुरोत्पादनकी शक्तिको कादाचित्क नहीं कह सकते, उसी प्रकार अहंप्रत्ययके अनित्य होनेसे उसे कादाचित्क नहीं कह सकते हैं (अर्थात् भले ही उपयोगमें अहं प्रत्यय कादाचित्क हो, पर लब्धरूपसे वह नित्य रहता है)। (९) क्रिया होनेके कारण रूपादिकी उपलब्धिका कोई कर्ता होना चाहिए. जैसे कि लकड़ी काटनेरूप क्रियाका कोई न कोई कर्ता अवश्य देखा जाता है। जो इसका कर्ता है वही आत्मा है। यहाँ चक्षु आदि इन्द्रियोंमें कर्तापना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे तो ज्ञानके प्रति करण होनेसे परतन्त्र हैं, जैसे कि छेदन-क्रियाके प्रति कुठारादि। इनका करणत्व भी असिद्ध नहीं है, क्योंकि पौद्गलिक होनेके कारण ये अचेतन हैं और परके द्वारा प्रेरित की जाती हैं। इसका भी कारण यह है कि प्रयोक्ताके व्यापारसे निरपेक्ष करणकी प्रवृत्ति नहीं होती। (१०) हितरूप साधनोंका ग्रहण और अहितरूप साधनोंका त्याग प्रयत्नपूर्वक ही होता है, क्योंकि यह क्रिया है, जैसे कि रथकी क्रिया। विशिष्ट क्रियाका आश्रय होनेसे शरीर प्रयत्नवान्‌का आधार है जैसे रथ सारथीका आधार है। और जो इस शरीरकी क्रियाका अधिष्ठाता है वह आत्मा है, जैसे कि रथकी क्रियाका अधिष्ठाता सारथी है। (११) जिस प्रकार बालकके हाथका पत्थरका गोला उसकी प्रेरणासे ही नियत स्थानपर पहुँच सकता है, उसी प्रकार नियत पदार्थोंकी ओर दौड़नेवाला मन आत्माकी प्रेरणासे ही पदार्थोंकी ओर जाता है। अतएव मनके प्रेरक आत्माको स्वतन्त्र द्रव्य स्वीकार करना चाहिए। (१२) 'आत्मा' शुद्ध-निर्विकार पर्यायका वाचक है, इसलिए उसका अस्तित्व अवश्य होना चाहिए। जो शब्द बिना संकेतके शुद्ध पर्यायके वाचक होते हैं उनका अस्तित्व अवश्य होता है, जैसे घट आदि। जिनका अस्तित्व नहीं होता उनके वाचक शब्द भी नहीं होते। (१३) सुख-दुःख आदि किसी द्रव्यके आश्रित हैं, क्योंकि वे गुण हैं। जो गुण होते हैं वे द्रव्यके आश्रित रहते हैं, जैसे रूप। जो इन गुणोंसे युक्त है वही आत्मा है। इत्यादि अनेक साधनोंसे अनुमान द्वारा आत्माकी सिद्धि होती है।

५. जीव एक ब्रह्मका अंश नहीं है

पं.का./ता. वृ./७१/१२३/२१ कश्चिदाह। यथैकोऽपि चन्द्रमा बहुषु जलघटेषु भिन्नभिन्नरूपो दृश्यते तथैकोऽपि जीवो बहुशरीरेषु भिन्नभिन्नरूपेण दृश्यत इति। परिहारमाह। बहुषु जलघटेषु चन्द्रकिरणोपाधिवशेन जलपुद्गला एव चन्द्राकारेण परिणता न चाकाशस्थचन्द्रमा। अत्र दृष्टान्तमाह। यथा देवदत्तमुखोपाधिवशेन नानादर्पणानां पुद्गला एव नानामुखाकारेण परिणमन्ति, न च देवदत्तमुखं नानारूपेण परिणमति, यदि परिणमति तदा दर्पणस्थं मुखप्रतिबिम्बं चैतन्यं प्राप्नोति; न च तथा। तथैकचन्द्रमा अपि नानारूपेण न परिणमतीति। किं च। न चैकब्रह्मनामा कोऽपि दृश्यते प्रत्यक्षेण यश्चन्द्रवन्नानारूपेण भविष्यति इत्यभिप्रायः। = प्रश्न—जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा बहुतसे जलके घड़ोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे दिखाई देता है, वैसे एक भी जीव बहुतसे शरीरोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे दिखाई देता है। उत्तर—बहुतसे जलके घड़ोंमें तो वास्तवमें चन्द्रकिरणोंकी उपाधिके निमित्तसे जलरूप पुद्गल ही चन्द्राकार रूपसे परिणत होता है, आकाशस्थ चन्द्रमा नहीं। जैसे कि देवदत्तके मुखका निमित्त पाकर नाना दर्पणोंके पुद्गल ही नाना मुखाकार रूपसे परिणमन कर जाते हैं न कि देवदत्तका मुख स्वयं नाना रूप हो जाता है। यदि ऐसा हुआ होता तो दर्पणस्थ मुखके प्रतिबिम्बोंको चैतन्यपना प्राप्त हो जाता, परन्तु ऐसा नहीं होता है। इसी प्रकार एक चन्द्रमाका नानारूप परिणमन नहीं समझना चाहिए दूसरी बात यह भी तो है कि उपरोक्त दृष्टान्तोंमें तो चन्द्रमा व देवदत्त दोनों प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, तब उनका प्रतिबिम्ब जल व दर्पणमें पड़ता है, परन्तु ब्रह्म नामका कोई व्यक्ति तो प्रत्यक्ष दिखाई ही नहीं देता, जो कि चन्द्रमाकी भाँति नानारूप होवे। (प. प्र/टी/२/९९).

६. पूर्वोक्त लक्षणोंका मतार्थ

पं.का./मू. ३७ तथा ता. वृ. में उसका उपोद्घात /७६/८ अथ जीवाभावो मुक्तिरिति सौगतमतं विशेषेण निराकरोति—"सस्सदमध उच्छेदं भव्वमभव्वं च सुण्णमिदरं च। विण्णाणमविण्णाणं ण वि जुज्जदि असदि सब्भावे।३७।"

पं.का/ता. वृ./२७/६१/६ सामान्यचेतनाव्याख्यानं सर्वमतसाधारणं ज्ञातव्यम्; अभिन्नज्ञानदर्शनोपयोगव्याख्यानं तु नैयायिकमतानुसारिशिष्यप्रतिबोधनार्थं; मोक्षोपदेशकमोक्षसाधकप्रभुत्वव्याख्यानं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतं वचनं प्रमाणं भवतीति, "रयणदिवदिणयरु दहिउ दुद्धु घीउ पाहाणु। सुण्णउ रुप्पउ फलिहउ अगणि णव दिट्ठंता जाणु" इति दोहकसूत्रकथितनवदृष्टान्तैर्भट्टचार्वाकमताश्रिताशिष्यापेक्षया सर्वज्ञसिद्ध्यर्थं; शुद्धाशुद्धपरिणामकर्तृत्वव्याख्यानं तु नित्यकर्तृत्वैकान्तसांख्यमतानुयायिशिष्यसंबोधनार्थं, भोक्तृत्वव्याख्यानं कर्ता कर्मफलं न भुङ्क्त इति बौद्धमतानुसारिशिष्यप्रतिबोधनार्थं; स्वदेहप्रमाणं व्याख्यानं नैयायिकमीमांसककपिलमतानुसारिशिष्यसंदेहविनाशार्थं; अमूर्तत्वव्याख्यानं भट्टचार्वाकमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं; द्रव्यभावकर्मसंयुक्तव्याख्यानं च सदामुक्तनिराकरणार्थमिति मतार्थो ज्ञातव्यः। = १. जीवका अभाव ही मुक्ति है ऐसा माननेवाले सौगत (बौद्धमत) का निराकरण करनेके लिए कहते हैं—कि यदि मोक्षमें जीवका सद्भाव न हो तो शाश्वत या नाशवंत, भव्य या अभव्य, शून्य या अशून्य तथा विज्ञान या अविज्ञान घटित ही नहीं हो सकते।३७। अथवा कर्ता स्वयं अपने कर्मके फलको नहीं भोगता ऐसा माननेवाले बौद्धमतानुसारी शिष्यके जीवको भोक्ता कहा गया है। २. सामान्य चैतन्यका व्याख्यान सर्वमत साधारणके जाननेके लिए है। ३. अभिन्न ज्ञानदर्शनोपयोगका व्याख्यान नैयायिक मतानुसारी शिष्यके प्रतिबोधनार्थ है। (क्योंकि वे ज्ञानदर्शनको जीवसे पृथक् मानते हैं)। ४. स्वदेह प्रमाणका व्याख्यान नैयायिक, मीमांसक व कपिल (सांख्य) मतानुसारी शिष्यका सन्देह दूर करनेके लिए है, (क्योंकि वे जीवको विभु या अणु प्रमाण मानते हैं)। ५. शुद्ध व अशुद्ध परिणामोंके कर्तापनेका व्याख्यान सांख्यमतानुयायी शिष्यके संबोधनार्थ है, (क्योंकि वे जीव या पुरुषको नित्य अकर्ता या अपरिणामी मानते हैं।) ६. द्रव्य व भावकर्मोंसे संयुक्तपनेका व्याख्यान सदाशिव वादियोंका निराकरण करनेके लिए है, (क्योंकि वे जीवको सर्वथा शुद्ध व मुक्त मानते हैं)। ७. मोक्षोपदेशक, मोक्षसाधक, प्रभु, तथा वीतराग सर्वज्ञके वचन प्रमाण होते हैं, ऐसा व्याख्यान; अथवा रत्न, दीप, सूर्य, दही, दूध, घी, पाषाण, सोना, चाँदी, स्फटिकमणि और अग्नि ये जीवके नौ दृष्टान्त चार्वाक् मताश्रित शिष्यकी अपेक्षा सर्वज्ञकी सिद्धि करनेके लिए किये गये हैं। अथवा—अमूर्तत्वका

व्याख्यान भी इन्हींके सम्बोधनार्थ किया गया है। (क्योंकि वे किसी चेतन व अमूर्त जीवको स्वीकार नहीं करते, बल्कि पृथिवी आदि पाँच भूतोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला एक क्षणिक तत्त्व कहते हैं)।

७. जीवके भेद-प्रभेदादि जाननेका प्रयोजन

पं. का./ता.वृ./१२/६३/१८ अत्र जीविताशारूपरागादिविकल्पत्यागेन सिद्धजीवसदृशः परमाह्लादरूपसुखरसास्वादपरिणतनिजशुद्धजीवास्तिकाय एवोपादेयमिति भावार्थः। –यहाँ (जीवके संसारी व मुक्तरूप भेदोंमेंसे) जीनेकी आशारूप रागादि विकल्पोंका त्याग करके सिद्धजीव सदृश परमाह्लादरूप सुखरसास्वादपरिणत निजशुद्धजीवास्तिकाय ही उपादेय है, ऐसा अभिप्राय समझना। (द्र. सं./टी/२/१०/६)।

३. जीवके गुण व धर्म

जीवके २१ सामान्य विशेष स्वभावोंका नाम निर्देश

आ. प./४ स्वभावाः कथ्यन्ते—अस्तिस्वभावः, नास्तिस्वभावः, नित्यस्वभावः, अनित्यस्वभावः, एकस्वभावः, अनेकस्वभावः, भेदस्वभावः, अभेदस्वभावः, भव्यस्वभावः, अभव्यस्वभावः, परमस्वभावः—द्रव्याणामेकादशसामान्यस्वभावाः। चेतनस्वभावः, अचेतनस्वभावः, मूर्तस्वभावः, अमूर्तस्वभावः, एकप्रदेशस्वभावः, अनेकप्रदेशस्वभावः, विभावस्वभावः, शुद्धस्वभावः, अशुद्धस्वभावः, उपचरितस्वभावः—एते द्रव्याणां दश विशेषस्वभावाः। जीवपुद्गलयोरेकविंशतिः। 'एकविंशतिभावाः स्युर्जीवपुद्गलयोर्मताः।' टिप्पणी—जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेणाचेतनस्वभावः, जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेण मूर्तस्वभावः। तत्कालपर्यायाक्रान्तं वस्तुभावोऽभिधीयते। तस्य एकप्रदेशसंभवात्। –स्वभावोंका कथन करते हैं—अस्तिस्वभाव, नास्तिस्वभाव, नित्यस्वभाव, अनित्यस्वभाव, एकस्वभाव, अनेकस्वभाव, भव्यस्वभाव, अभव्यस्वभाव, और परमस्वभाव ये ग्यारह सामान्य स्वभाव हैं। और—चेतनस्वभाव, अचेतनस्वभाव, मूर्तस्वभाव, अमूर्तस्वभाव, एकप्रदेशस्वभाव, अनेकप्रदेशस्वभाव, विभावस्वभाव, शुद्धस्वभाव, अशुद्धस्वभाव और उपचरित स्वभाव ये दस विशेष स्वभाव हैं। कुल मिलकर २१ स्वभाव हैं। इनमेंसे जीव व पुद्गलमें २१ के २१ हैं। प्रश्न—(जीवमें अचेतन स्वभाव, मूर्तस्वभाव और एक प्रदेशस्वभाव कैसे सम्भव है)। उत्तर—असद्भूत व्यवहारनयसे जीवमें अचेतन व मूर्त स्वभाव भी सम्भव है क्योंकि संसारावस्थामें यह अचेतन व मूर्त शरीरसे बद्ध रहता है। एक प्रदेशस्वभाव भावकी अपेक्षासे है। वर्तमान पर्यायाक्रान्त वस्तुको भाव कहते हैं। सूक्ष्मताकी अपेक्षा यह एकप्रदेशी कहा जा सकता है।

२. जीवके गुणोंका नाम निर्देश

१. ज्ञान दर्शन आदि विशेष गुण

दे० जीव/१/१ (चेतना व उपयोग जीवके लक्षण हैं)।

आ.प./२ षोडशविशेषगुणेषु जीवपुद्गलयोः षडिति। जीवस्य ज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि चेतनत्वममूर्तत्वमिति षट्। –सोलह विशेष गुणोंमेंसे (दे० गुण/३) जीव व पुद्गलमें छह छह हैं। तहाँ जीवमें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व ये छह हैं।

पं.ध./उ./१४५ तद्यथायथं जीवस्य चारित्रं दर्शनं सुखम्। ज्ञानं सम्यक्त्वमित्येते स्युर्विशेषगुणाः स्फुटम् ।१४५। – चारित्र, दर्शन, सुख, ज्ञान और सम्यक्त्व ये पाँच स्पष्ट रीतिसे जीवके विशेष गुण हैं।

२. वीर्य अवगाह आदि सामान्य गुण

पं.ध./उ./१४६ वीर्यं सूक्ष्मोऽवगाहः स्यादव्याबाधश्चिदात्मकः। स्यादगुरुलघुसंज्ञं च स्युः सामान्यगुणा इमे। –चैतन्यात्मक वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाधत्व और अगुरुलघुत्व ये पाँच जीवके सामान्य गुण हैं।

दे० मोक्ष/३ (सिद्धोंके आठ गुणोंमें भी इन्हें गिनाया है)।

जीवके अन्य अनेकों गुण व धर्म

पं.का./मू./२७ जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता भोत्ता य देहमेत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ।२७। –आत्मा जीव है, चेतयिता है, उपयोगलक्षित है, प्रभु है, कर्ता है, भोक्ता है, देहप्रमाण है, अमूर्त है और कर्मसंयुक्त है। (पं.का./मू./१०९); (भ.आ./मू./१९७); (भा.पा./मू./१४८); (प.प्र./मू./१/११); (रा.वा./१/४/१४/२५/११); (म.पु./२४/९२); (न च.वृ./१०६); (द्र.सं./मू./२)।

स.सा./आ./परि.—अत एवास्य ज्ञानमात्रैकभावान्तःपातिन्योऽनन्ताः शक्तयः उत्प्लवन्ते— –इस (आत्मा) के ज्ञानमात्र एक भावकी अन्तःपातिनी (ज्ञान मात्र एक भावके भीतर समा जानेवाली) अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं—उनमेंसे कितनी ही (४७) शक्तियाँ निम्न प्रकार हैं—१. जीवत्व शक्ति, २. चितिशक्ति, ३. दृशिशक्ति, ४. ज्ञानशक्ति, ५. सुखशक्ति, ६. वीर्यशक्ति, ७. प्रभुत्वशक्ति, ८. विभुत्वशक्ति, ९. सर्वदर्शित्वशक्ति, १०. सर्वज्ञत्वशक्ति, ११. स्वच्छत्वशक्ति, १२. प्रकाशशक्ति, १३. असंकुचितविकासत्वशक्ति, १४. अकार्यकारणशक्ति, १५. परिणम्यपरिणामकत्वशक्ति, १६. त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति, १७. अगुरुलघुत्वशक्ति, १८. उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति, १९. परिणामशक्ति, २०. अमूर्तत्वशक्ति, २१. अकर्तृत्वशक्ति, २२. अभोक्तृत्वशक्ति, २३. निष्क्रियत्वशक्ति, २४. नियतप्रदेशत्वशक्ति, २५. सर्वधर्मव्यापकत्वशक्ति, २६. साधारण असाधारण साधारणासाधारण धर्मत्वशक्ति, २७. अनन्तधर्मत्वशक्ति, २८. विरुद्धधर्मत्वशक्ति, २९. तत्त्वशक्ति, ३०. अतत्त्वशक्ति, ३१. एकत्वशक्ति, ३२. अनेकत्वशक्ति, ३३. भावशक्ति, ३४. अभावशक्ति, ३५. भावाभावशक्ति, ३६. अभावभावशक्ति, ३७. भावभावशक्ति, ३८. अभावाभावशक्ति, ३९. भावशक्ति, ४०. क्रियाशक्ति, ४१. कर्मशक्ति, ४२. कर्तृशक्ति, ४३. करणशक्ति, ४४. सम्प्रदानशक्ति, ४५. अपादानशक्ति, ४६. अधिकरणशक्ति, ४७. सम्बन्धशक्ति। नोट—इन शक्तियोंके अर्थोंके लिए—दे० वह वह नाम।

दे० जीव/१/२-३ कर्ता, भोक्ता, विष्णु, स्वयंभू, प्राणी, जन्तु आदि अनेकों अन्वर्थक नाम दिये हैं। नोट—उनके अर्थ जीव/१/३ में दिये हैं।

दे. गुण/३. जीवमें अनन्त गुण हैं।

जीवमें सूक्ष्म महान् आदि विरोधी धर्मोंका निर्देश

पं. वि/८/१३ यत्सूक्ष्मं च महच्च शून्यमपि यन्नो शून्यमुत्पद्यते, नश्यत्येव च नित्यमेव च तथा नास्त्येव चास्त्येव च। एकं यदनेकमेव तदपि प्राप्ते प्रतीतिं दृढां, सिद्धज्योतिरमूर्तिचित्सुखमयं केनापि तल्लक्ष्यते ।१३। –जो सिद्धज्योति सूक्ष्म भी है और स्थूल भी है, शून्य भी है और परिपूर्ण भी है, उत्पादविनाशशाली भी है और नित्य भी है, सद्भावरूप भी है और अभावरूप भी है, तथा एक भी है और अनेक भी है, ऐसी वह दृढ प्रतीतिको प्राप्त हुई अमूर्तिक, चेतन एवं सुखस्वरूप सिद्धज्योति किसी विरले ही योगी जनके द्वारा देखी जाती है ।१३। (पं वि/१०/१४)।

५. जीवमें कथंचित् शुद्धत्व व अशुद्धत्वका निर्देश

द्र. सं./मू./१३ मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया। विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ।१३। – संसारी जीव अशुद्ध-नयकी दृष्टिसे चौदह मार्गणा तथा चौदह गुणस्थानोंसे चौदह-चौदह प्रकारके होते हैं और शुद्धनयसे सभी संसारी जीव शुद्ध हैं। (स. सा./मू./३८-३८)।

प्र. सा./ता. वृ/८/१०/११ तच्च पुनरुपादानकारणं शुद्धाशुद्धभेदेन द्विधा। रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानमागमभाषया शुक्लध्यानं वा केवल-ज्ञानोत्पत्तौ शुद्धोपादानकारणं भवति। अशुद्धात्मा तु रागादिना अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानकारणं भवतीति सूत्रार्थः। – वह उपादान कारणरूप जीव शुद्ध और अशुद्धके भेदसे दो प्रकारका है। रागादि-विकल्प रहित स्वसंवेदज्ञान अथवा आगम भाषाकी अपेक्षा शुक्लध्यान-केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें शुद्धउपादानकारण है और अशुद्धनिश्चयनयसे रागादिसे अशुद्ध हुआ अशुद्ध आत्मा अशुद्ध उपादान कारण है। ऐसा तात्पर्य है।

६. जीव कथंचित् सर्वव्यापी है

प्र. सा/२३,२६ आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं। णेयं लोया-लोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ।२३। सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा। णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिया ।२६। – १. आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण कहा गया है, ज्ञेय लोकालोक है, इसलिए ज्ञान सर्वगत है ।२३। (पं. वि/८/५) २. जिनवर सर्वगत हैं और जगतके सर्वपदार्थ जिनवरगत हैं; क्योंकि जिन ज्ञानमय हैं, और वे सर्वपदार्थ ज्ञानके विषय हैं, इसलिए जिनके विषय कहे गये हैं (का. अ/मू/२५४/२५५)।

प. प्र./मू.//१/५२ अप्पा कम्मविवज्जियउ केवलणाणेण जेण। लोयालोउ वि मुणइ जिय सव्वगु वुच्चइ तेण ।५२। – यह आत्मा कर्मरहित होकर केवलज्ञानसे जिस कारण लोक और अलोकको जानता है इसी लिए हे जीव! वह सर्वगत कहा जाता है।

दे. केवली ७/७ (केवली समुद्घातके समय आत्मा सर्वलोकमें व्याप जाता है)।

७. जीव कथंचित् देह प्रमाण है

पं. का./मू./३३ जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं। तह देही देहत्थो सदेहमित्तं पभासयदि ।३३। – जिस प्रकार पद्मरागरत्न दूधमें डाला जानेपर दूधको प्रकाशित करता है उसी प्रकार देही देहमें रहता हुआ स्वदेहप्रमाण प्रकाशित होता है।

स. सि./५/८/२७४/६ जीवस्तावत्प्रदेशोऽपि संहरणविसर्पणस्वभावत्वा-त्कर्मनिर्वर्तितं शरीरमणुमहद्वाधितिष्ठंस्तावदवगाह्य वर्तते। – यद्यपि जीवके प्रदेश धर्म व अधर्म या लोकाकाशके बराबर हैं, तो वह संकोच और विस्तार स्वभाववाला होनेके कारण, कर्मके निमित्त से छोटा या बड़ा जैसा शरीर मिलता है, उतनी अवगाहनाका होकर रहता है। (रा. वा./५/८/४/४४९/३३); (का. अ./मू./१७६)।

पं. का./ता. वृ./३४/७२/१३ सर्वत्र देहमध्ये जीवोऽस्ति न चैकदेशे। – देहके मध्य सर्वत्र जीव है, उसके किसी एकदेशमें नहीं।

८. सर्वव्यापीपनेका निषेध व देहप्रमाणपनेकी सिद्धि

रा. वा/१/१०/१६/५१/१३ यदि हि सर्वगत आत्मा स्यात्; तस्य क्रिया-भावात् पुण्यपापयोः कर्तृत्वाभावे तत्पूर्वकसंसारः तदुपरतिरूपश्च मोक्षो न मोक्ष्यते इति। – यदि आत्मा सर्वगत होता तो उसके क्रियाका अभाव हो जानेके कारण पुण्य व पापके ही कर्तृत्वका अभाव हो जाता। और पुण्य व पापके अभावसे संसार व मोक्ष इन दोनोंकी भी कोई योजना न बन सकती, क्योंकि पुण्य-पाप पूर्वक ही संसार होता है और उनके अभावसे मोक्ष।

श्लो वा./२/१/४ श्लो. ४५/१४६ क्रियावान् पुरुषोऽसर्वगतद्रव्यत्वतो यथा। पृथिव्यादि स्वसंवेद्य' साधनं सिद्धमेव नः ।४५। – आत्मा क्रियावान् है, क्योंकि अव्यापक है, जैसे पृथिवी जल आदि। और यह हेतु स्वसंवेदनसे प्रत्यक्ष है।

प्र. सा./त. प्र./१३७ अमूर्तसंवर्तविस्तारसिद्धिश्च स्थूलकृशशिशुकुमार-शरीरव्यापित्वादस्ति स्वसंवेदनसाध्यैव। – अमूर्त आत्माके संकोच विस्तारकी सिद्धि तो अपने अनुभवसे ही साध्य है, क्योंकि जीव स्थूल तथा कृश शरीरमें तथा बालक और कुमारके शरीरमें व्याप्त होता है।

का. अ./मू./१७७ सव्व-गओ जदि जीवो सव्वत्थ वि दुक्खसुक्खसंपत्ती। जाइज्ज ण सा दिट्ठी णियतणुमाणो तदो जीवो। – यदि जीव व्यापक है तो इसे सर्वत्र सुखदुःखका अनुभव होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। अतः जीव अपने शरीरके बराबर है।

अन. ध./२/३१/१४६ स्वाङ्ग एव स्वसंवित्त्या स्वात्मा ज्ञानसुखादिमान्। यतः संवेद्यते सर्वैः स्वदेहप्रमितिस्ततः ।३१। – ज्ञान दर्शन सुख आदि गुणों और पर्यायोंसे युक्त अपनी आत्माका अपने अनुभवसे अपने शरीरके भीतर ही सब जीवोंको संवेदन होता है। अतः सिद्ध है कि जीव शरीरप्रमाण है।

९. जीव संकोच विस्तार स्वभावी है

त.सू./५/१६ प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्। – दीपके प्रकाशके समान जीवके प्रदेशोंका संकोच विस्तार होता है। (स. सि./५/८/-२७४/६); (रा.वा./५/८/४/४४९/३३); (प्र.सा./त.प्र./१३६,१३७), (का. अ./मू./१७६)

१०. संकोच विस्तार धर्मकी सिद्धि

रा.वा./५/१६/४-६/४५८/३२ सावयवत्वात् प्रदेशविशरणप्रसंग इति चेत्; न; अमूर्तस्वभावापरित्यागात् ।४।···अनेकान्तात् ।५। यो ह्येकान्तेन संहारविसर्पवानेवात्मा सावयवश्चेति वा ब्रूयात् तं प्रत्ययमुपालम्भो घटामुपेयात्। यस्य त्वनादिपारिणामिकचैतन्यजीवद्रव्योपयोगादि-द्रव्यार्थादेशात् स्यान्न प्रवेशसंहारविसर्पवान्, द्रव्यार्थादेशाच्च स्यान्नि-रवयवः, प्रतिनियतसूक्ष्मबादरशरीरापेक्षनिर्माणनामोदयपर्यायार्था-देशात् स्यात् प्रदेशसंहारविसर्पवान्, अनादिकर्मबन्धपर्यायार्थादेशाच्च स्यात् सावयवः, तं प्रत्यनुपालम्भः। किंच—तत्प्रदेशानामकारणपूर्व-कत्वादणुवत् ।६। – प्रश्न—प्रदेशोंका संहार व विसर्पण माननेसे आत्माको सावयव मानना होगा तथा उसके प्रदेशोंका विशरण (झरन) मानना होगा और प्रदेश विशरणसे शून्यताका प्रसंग आयेगा? उत्तर—१. बन्धकी दृष्टिसे कार्मण शरीरके साथ एकत्व होने-पर भी आत्मा अपने निजी अमूर्त स्वभावको नहीं छोड़ता, इसलिए उपरोक्त दोष नहीं आता। २. सर्वथा संहारविसर्पण व सावयव माननेवालोंपर यह दोष लागू होता है, हमपर नहीं। क्योंकि हम अनेकान्तवादी हैं। पारिणामिक चैतन्य जीवद्रव्योपयोग आदि द्रव्यार्थदृष्टिसे हम न तो प्रदेशोंका संहार या विसर्प मानते हैं और न उसमें सावयवपना। हाँ, प्रतिनियत सूक्ष्म बादर शरीरको उत्पन्न करनेवाले निर्माण नामकर्मके उदयरूप पर्यायकी विवक्षासे प्रदेशों-का संहार व विसर्प माना गया है और अनादि कर्मबन्धरूपी पर्याया-र्थादेशसे सावयवपना। और भी—३. जिस पदार्थके अवयव कारण पूर्वक होते हैं उसके अवयवविशरणसे विनाश हो सकता है जैसे तन्तुविशरणसे कपड़ेका। परन्तु आत्माके प्रदेश अकारणपूर्वक होते हैं, इसलिए अणुप्रदेशवद् वह अवयवविश्लेषसे अनित्यताको प्राप्त नहीं होता।

४. जीवके प्रदेश

१. जीव असंख्यात प्रदेशी है

त.सू./५/८ असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ।८। —धर्म, अधर्म और एकजीव द्रव्यके असंख्यात प्रदेश हैं। (नि.सा./मू./३५); (प.प्रा./मू./२/२४); (द्र.सं./मू./२५)

प्र.सा./त.प्र./१३५ अस्ति च संवर्तविस्तारयोरपि लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशापरित्यागाज्जीवस्य। —संकोच विस्तारके होनेपर भी जीव लोकाकाश तुल्य असंख्य प्रदेशोंको नहीं छोड़ता, इसलिए वह प्रदेशवान् है। (गो.जी./मू./५८४/१०२५)

२. संसारी जीवके अष्ट मध्यप्रदेश अचल हैं और शेष चल व अचल दोनों प्रकारके

ष.खं. १४/५,६/सू.६३/४६ जो अणादियसरीरिबंधो णाम यथा अट्ठण्णं जीवमज्झपदेसाणं अण्णोण्णपदेसबंधो भवदि सो सव्वो अणादियसरीरिबंधो णाम ।६३। —जो अनादि शरीरबन्ध है। यथा—जीवके आठ मध्यप्रदेशोंका परस्पर प्रदेशबन्ध होता है, यह सब अनादि शरीरबन्ध है।

ष.खं.१२/४,२,११/सूत्र५–७/३६७ वेयणीयवेयणा सिया ट्ठिदा ।५। सिया अट्ठिदा ।६। सिया ट्ठिदाट्ठिदा ।७। —वेदनीय कर्मकी वेदना कथंचित् स्थित है ।५। कथंचित् वे अस्थित हैं ।६। कथंचित् वह स्थितअस्थित हैं ।७।

ध.१/१ १,३३/२३३/१ में उपरोक्त सूत्रोंका अर्थ ऐसा किया है—कि 'आत्म प्रदेश चल भी है, अचल भी है और चलाचल भी है'।

भ.आ./मू./१७७१ अट्ठपदेसे मुत्तूण इमो सेसेसु सगपदेसेसु। तत्तंपि अद्धरणं उव्वत्तपरत्तणं कुणदि ।१७७१। —जैसे गरम जलमें पकते हुए चावल ऊपर-नीचे होते रहते हैं, वैसे ही इस संसारी जीवके आठ रुचकाकार मध्यप्रदेश छोड़कर बाकीके प्रदेश सदा ऊपर-नीचे घूमते हैं।

रा.वा./५/८/१६/४५१/१३ में उद्धृत—सर्वकालं जीवाष्टमध्यप्रदेशा निरपवादाः सर्वजीवानां स्थिता एव, …व्यायामदुःखपरितापोद्रेकपरिणतानां जीवानां यथोक्ताष्टमध्यप्रदेशवर्जितानाम् इतरे प्रदेशाः अस्थिता एव, शेषाणां प्राणिनां स्थिताश्चास्थिताश्च' इति वचनान्मुख्याः एव प्रदेशाः। —जीवके आठ मध्यप्रदेश सदा निरपवादरूपसे स्थित ही रहते हैं। व्यायामके समय या दुःख परिताप आदिके समय जीवोंके उक्त आठ मध्यप्रदेशोंको छोड़कर बाकी प्रदेश अस्थित होते हैं। शेष जीवोंके स्थित और अस्थित दोनों प्रकारके हैं। अतः ज्ञात होता है कि द्रव्योंके मुख्य ही प्रदेश हैं, गौण नहीं।

ध.१२/४,२,११,३/३६६/५ वाहिवेयणासज्झसादिकिलेसविरहियस्स छदुमत्थस्स जीवपदेसाणं केसिं पि चलणाभावादो तत्थ ट्ठिदकम्मक्खंधा वि ट्ठिदा चेव होंति, तत्थेव केसिं जीवपदेसाणं संचालुवलंभादो तत्थ ट्ठिदकम्मक्खंधा वि संचलंति, तेण ते अट्ठिदा त्ति भण्णंति। —व्याधि, वेदना एवं भय आदिक क्लेशोंसे रहित छद्मस्थके किन्हीं जीवप्रदेशोंका चूँकि संचार नहीं होता अतएव उनमें स्थित कर्म-प्रदेश भी स्थित ही होते हैं। तथा उसी छद्मस्थके किन्हीं जीव-प्रदेशोंका चूँकि संचार पाया जाता है, अतएव उनमें स्थित कर्म-प्रदेश भी संचारको प्राप्त होते हैं, इसलिए वे अस्थित कहे जाते हैं।

गो.जी./मू./५९२/१०३१ सव्वमरूवी दव्वं अवट्ठिदं अचलिआ पदेसावि। रूवी जीवा चलिया तिवियप्पा होंति हु पदेसा ।५९२। —सर्व ही अरूपी द्रव्योंके त्रिकाल स्थित अचलित प्रदेश होते हैं और रूपी अर्थात् संसारी जीवके तीन प्रकारके होते हैं—चलित, अचलित व चलिताचलित।

३. शुद्ध द्रव्यों व शुद्ध जीवके प्रदेश अचल ही होते हैं

रा.वा./५/८/१६/४५१/१३ में उद्धृत—केवलिनामपि अयोगिनां सिद्धानां च सर्वे प्रदेशाः स्थिता एव। —अयोगकेवली और सिद्धोंके सभी प्रदेश स्थित हैं।

ध.१२/४,२,११,५/३६७/१२ अजोगिकेवलिम्मि जीवपदेसाणं संकोचविकोचाभावेण अवट्ठाणुवलंभादो। —अयोग केवली जिनमें समस्त योगोंके नष्ट हो जानेसे जीव प्रदेशोंका संकोच व विस्तार नहीं होता है, अतएव वे वहाँ अवस्थित पाये जाते हैं।

गो.जी./मू./५९२/१०३१ सव्वमरूवी दव्वं अवट्ठिदं अचलिआ पदेसावि। रूवी जीवा चलिया तिवियप्पा होंति हु पदेसा ।५९२।

गो.जी./जी.प्र./५९२/१०३१/१५ अरूपिद्रव्यं मुक्तजीवधर्माधर्माकाशकालभेदं सर्वम्–अवस्थितमेव स्थानचलनाभावात्। तत्प्रदेशा अपि अचलिताः स्युः। —सर्व अरूपी द्रव्य अर्थात् मुक्तजीव और धर्म-अधर्म आकाश व काल, ये अवस्थित हैं, क्योंकि ये अपने स्थानसे चलते नहीं हैं। इनके प्रदेश भी अचलित ही हैं।

४. विग्रहगतिमें जीवके प्रदेश चलित ही होते हैं

गो./जी./जी.प्र./५९२/१०३१/१६ विग्रहगतौ चलिताः। —विग्रह गतिमें जीवके प्रदेश चलित होते हैं।

५. जीवप्रदेशोंके चलितपनेका तात्पर्य परिस्पन्द व भ्रमण आदि

ध.१/१,१,३३/२३३/१ वेदनासूत्रतोऽवगतभ्रमणेषु जीवप्रदेशेषु प्रचलत्सु…

ध.१२/४,२,११,१/३६४/५ जीवपदेसेसु जोगवसेण संचरमाणेसु…

ध.१२/४,२,११,३/३६६/५ जीवपदेसाणं केसिं पि चलणाभावादो… केसिं जीवपदेसाणं संचालुवलंभादो…

ध.१२/४,२,११ ३/३६६/११ ण च परिप्फंदविरहियजीवपदेसेसु…

ध. १२/४,२,११,५/३६७/१२ जीवपदेसाणं संकोचविकोचाभावेण…। —१. वेदनाप्राभृतके सूत्रसे आत्मप्रदेशोंका भ्रमण अवगत हो जानेपर…

२. योगके कारण जीवप्रदेशोंका संचरण होनेपर…

३. किन्हीं जीवप्रदेशोंका क्योंकि चलन नहीं होता…किन्हीं जीवप्रदेशोंका क्योंकि संचालन होता है…

४. परिस्पन्दनसे रहित जीव प्रदेशोंमें…

५. जीवप्रदेशोंका (अयोगीमें) संकोच विस्तार नहीं पाया जाता…

६. जीवप्रदेशोंकी अनवस्थितिका कारण योग है

ध./१२/४,२,११,५/३६७/१२ अजोगकेवलिम्मि णट्ठासेसजोगम्मि जीवपदेसाणं संकोचविकोचाभावेण अवट्ठाणुवलंभादो। —अयोगकेवली जिनमें समस्त योगोंके नष्ट हो जानेसे जीवप्रदेशोंका संकोच व विस्तार नहीं होता, अतएव वे वहाँ अवस्थित पाये जाते हैं।

७. चलाचल प्रदेशों सम्बन्धी शंका समाधान

ध.१/१,१,३३/२३३/१ भ्रमत्सु जीवप्रदेशेषु प्रचलत्सु सर्वजीवानामान्ध्यप्रसङ्गादिति, नैष दोषः, सर्वजीवावयवेषु क्षयोपशमस्योत्पत्त्यभ्युपगमात्। …कर्मस्कन्धैः सह सर्वजीवावयवेषु भ्रमत्सु तत्समवेतशरीरस्यापि तद्वद्भ्रमो भवेदिति चेन्न, तद्भ्रमणावस्थायां तत्समवाया-

भावात। शरीरेण समवायाभावे मरणमाढौकत इति चेन्न, आयुषः क्षयस्य मरणहेतुत्वात्। पुनः कथं संघटत इति चेन्नानाभेदोपसंहृतजीवप्रदेशानां पुनः संघटनोपलम्भात्, द्वयोर्मूर्तयोः संघटने विरोधाभावाच्च, तत्संघटनहेतुकर्मोदयस्य कार्यवैचित्र्यादवगतवैचित्र्यस्य सत्त्वाच्च। द्रव्येन्द्रियप्रमितजीवप्रदेशानां न भ्रमणमिति किन्नेष्यत इति चेन्न, तद्भ्रमणमन्तरेणाशुभ्रमज्जीवानां भ्रमद्भूम्यादिदर्शनानुपपत्तेः इति। —प्रश्न—जीवप्रदेशोंकी भ्रमणरूप अवस्थामें सम्पूर्ण जीवोंको अन्धपनेका प्रसंग आ जायेगा, अर्थात् उस समय चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूपादिको ग्रहण नहीं कर सकेंगी? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीवोंके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें क्षयोपशमकी उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। प्रश्न—कर्मस्कन्धोंके साथ जीवके सम्पूर्ण प्रदेशोंके भ्रमण करनेपर जीवप्रदेशोंसे समवाय सम्बन्धको प्राप्त शरीरका भी जीवप्रदेशोंके समान भ्रमण होना चाहिए? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, जीवप्रदेशोंकी भ्रमणरूप अवस्थामें शरीरका उनसे समवाय सम्बन्ध नहीं रहता है। प्रश्न—ऐसा माननेपर मरण प्राप्त हो जायेगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि, आयुकर्मके क्षयको मरणका कारण माना है। प्रश्न—तो जीवप्रदेशोंका फिरसे समवाय सम्बन्ध कैसे हो जाता है? उत्तर—(१) इसमें भी कोई बाधा नहीं है, क्योंकि, जिन्होंने नाना अवस्थाओंका उपसंहार कर लिया है, ऐसे जीवोंके प्रदेशोंका फिरसे समवाय सम्बन्ध होता हुआ देखा ही जाता है। तथा दो मूर्त पदार्थोंका सम्बन्ध होनेमें कोई विरोध भी नहीं है। (२) अथवा, जीवप्रदेश व शरीर संघटनके हेतुरूप कर्मोदयके कार्यकी विचित्रतासे यह सब होता है। प्रश्न—द्रव्येन्द्रिय प्रमाण जीवप्रदेशोंका भ्रमण नहीं होता, ऐसा क्यों नहीं मान लेते हो? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यदि द्रव्येन्द्रिय प्रमाण जीव प्रदेशोंका भ्रमण नहीं माना जावे, तो अत्यन्त द्रुतगतिसे भ्रमण करते हुए जीवोंको भ्रमण करती हुई पृथिवी आदिका ज्ञान नहीं हो सकता।

८. जीव प्रदेशोंके साथ कर्मप्रदेश भी तदनुसार ही चल व अचल होते हैं

ध.१२/४,२,११,२/३६५/११ देसे इव जीवपदेसेसु वि अट्ठिदत्ते अब्भुवगममाणे पुव्वुत्तदोसप्पसंगादो च। अट्ठण्णं मज्झिमजीवपदेसाणं संकोचो विकोचो वा णत्थि त्ति तत्थ ट्ठिदकम्मपदेसाणं पि अट्ठिदत्तं णत्थि त्ति। तदो सव्वे जीवपदेसा कम्हि वि काले अट्ठिदा होंति त्ति सुत्तवयणं ण घडदे। ण एस दोसो, ते अट्ठमज्झिमजीवपदेसे मोत्तूण सेसजीवपदेसे अस्सिदूण एदस्स सुत्तस्स पवुत्तीदो।

ध.१२/४,२,११,३/३६६/५ जीवपदेसाणं केसिं पि चलणाभावादो तत्थट्ठिदकम्मक्खंधा वि ट्ठिदा चेव होंति, तत्थेव केसिं जीवपदेसाणं संचालुवलंभादो तत्थ ट्ठिदकम्मक्खंधा वि संचलंति, तेण ते अट्ठिदा त्ति भण्णंति। —दूसरे देशके समान जीवप्रदेशोंमें भी कर्मप्रदेशोंको अवस्थित स्वीकार करनेपर पूर्वोक्त दोषका प्रसंग आता है। इससे जाना जाता है कि जीव प्रदेशोंके देशान्तरको प्राप्त होनेपर उनमें कर्म प्रदेश स्थित ही रहते हैं। प्रश्न—यतः जीवके आठ मध्य प्रदेशोंका संकोच एवं विस्तार नहीं होता, अतः उनमें स्थित कर्मप्रदेशोंका भी अस्थित (चलित) पना नहीं बनता और इसलिए सब जीव प्रदेश किसी भी समय अस्थित होते हैं, यह सूत्रवचन घटित नहीं होता? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीवके उन आठ मध्य प्रदेशोंको छोड़कर शेष जीवप्रदेशोंका आश्रय करके इस सूत्रकी प्रवृत्ति होती है।…किन्हीं जीवप्रदेशोंका क्योंकि संचार नहीं होता, इसलिए उनमें स्थित कर्मप्रदेश भी स्थित ही होते हैं। तथा उसी जीवके किन्हीं जीवप्रदेशोंका क्योंकि संचार पाया जाता है, अतएव उनमें स्थित कर्मप्रदेश भी संचारको प्राप्त होते हैं, इसलिए वे अस्थित (चलित) कहे जाते हैं।

जीव आस्रव—दे० आस्रव/१।

जीव कर्म—दे० कर्म/२।

जीव चारण ऋद्धि—दे० ऋद्धि/४/८।

जीवतत्त्व— दे० तत्त्व।

जीव तत्त्व प्रबोधिका— १. आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (ई. ९८१) कृत गोमट्टसार पर ब्रह्मचारी केशव वर्णी (ई.१३५९) कर्णाटक वृत्ति। २. अभयचन्द्र कृत मन्द प्रबोधिनी के आधार पर ज्ञानभूषण के शिष्य नेमिचन्द्र द्वारा ई. १५१५ में रचित संस्कृत की गोमट्टसार टीका। इस पर से पं० टोडर मल जी ने सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका टीका रची। (जै. १/४७०, ४७७),

जीवत्व—जीवके स्वभावका नाम जीवत्व है। पारिणामिक होनेके कारण यह न द्रव्य कहा जा सकता है न गुण या पर्याय। इसे केवल चैतन्य कह सकते हैं। किसी अपेक्षा यह औदयिक भी है और इसीलिए मुक्त जीवोंमें इसका अभाव माना जाता है।

१. लक्षण

स. सि./२/७/१६१/३ जीवत्वं चैतन्यमित्यर्थः। —जीवत्वका अर्थ चैतन्य है।

स. सा./आ./परि/शक्ति नं. १ आत्मद्रव्यहेतुभूतचैतन्यमात्रभावधारणलक्षणा जीवत्वशक्तिः। —आत्मद्रव्यके कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्र भावका धारण जिसका लक्षण है अर्थात् स्वरूप है, ऐसी जीवत्व शक्ति है।

२. जीवत्व भाव पारिणामिक है

रा.वा/२/७/३-५/११०/२४ आयुद्रव्यापेक्षं जीवत्वं न पारिणामिकमिति चेत्; न; पुद्गलद्रव्यसंबन्धे सत्यन्यद्रव्यसामर्थ्याभावात् ।३। सिद्धस्याजीवत्वप्रसंगात् ।४। जीवे त्रिकालविषयविग्रहदर्शनादिति चेत्; न; रूढिशब्दस्य निष्पत्त्यर्थत्वात् ।५। अथवा, चैतन्यं जीवशब्देनाभिधीयते, तच्चानादिद्रव्यभवननिमित्तत्वात् पारिणामिकम्। —प्रश्न—जीवत्व तो आयु नाम द्रव्यकर्मकी अपेक्षा करके वर्तता है, इसलिए वह पारिणामिक नहीं है? उत्तर—ऐसा नहीं है; उस पुद्गलात्मक आयुद्रव्यका सम्बन्ध तो धर्मादि अन्य द्रव्योंसे भी है, अतः उनमें भी जीवत्व नहीं है ।३। और सिद्धोंमें कर्म सम्बन्ध न होनेसे जीवत्वका अभाव होना चाहिए। शंका—'जो प्राणों द्वारा जीता है, जीता था और जीवेगा' ऐसी जीवत्व शब्दकी व्युत्पत्ति है? उत्तर—नहीं, वह केवल रूढ़िसे है। उससे कोई सिद्धान्त फलित नहीं होता। जीवका वास्तविक अर्थ तो चैतन्य ही है और वह अनादि पारिणामिक द्रव्य निमित्तक है।

३. जीवत्व भाव कथंचित् औदयिक है

ध.१४/५,६,१६/१३/१ जीवभव्वाभव्वत्तादि पारिणामिया वि अत्थि, ते एत्थ किण्ण परूविदा। वुच्चदे—आउआदिपाणाणं धारणं जीवणं तं च अजोगिचरिमसमयादो उवरि णत्थि, सिद्धेसु पाणणिबंधणट्ठकम्माभावादो।…सिद्धेसु पाणाभावण्णहाणुववत्तीदो जीवत्तं ण पारिणामियं किं कम्मविवागजं; यद्यस्य भावाभावानुविधानतो भवति तत्तस्येति वदन्ति तद्विद इति न्यायात्। तत्तो जीवभावो ओदइओ त्ति सिद्धं। —प्रश्न—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व आदिक जीवभाव पारिणामिक भी हैं, उनका यहाँ क्यों कथन नहीं किया? उत्तर—कहते हैं—आयु आदि प्राणोंका धारण करना जीवन है। वह अयोगीके अन्तिम समयसे आगे नहीं पाया जाता, क्योंकि, सिद्धोंके

प्राणोंके कारणभूत आठ कर्मोंका अभाव है।...सिद्धोंमें प्राणोंका अभाव अन्यथा बन नहीं सकता, इससे मालूम पड़ता है कि जीवत्व पारिणामिक नहीं है। किन्तु वह कर्मके विपाकसे उत्पन्न होता है, क्योंकि जो जिसके सद्भाव व असद्भावका अविनाभावी होता है, वह उसका है, ऐसा कार्यकारणभावके ज्ञाता कहते हैं, ऐसा न्याय है। इसलिए जीवभाव (जीवत्व) औदयिक है यह सिद्ध होता है।

४. पारिणामिक व औदयिकपनेका समन्वय

ध.१४/५.६.१६/१३/७ तच्चत्थे जं जीवभावस्स पारिणामियत्तं परूविदं तं पाणधारणत्तं पडुच्च ण परूविदं, किंतु चेदणगुणमवलंबिय तत्थ परूवणा कदा। तेण तं पि ण विरुज्झइ। —तत्त्वार्थसूत्रमें जीवत्वको जो पारिणामिक कहा है, वह प्राणोंको धारण करनेकी अपेक्षा न कहकर चैतन्यगुणकी अपेक्षासे कहा है। इसलिए वह कथन विरोधको प्राप्त नहीं होता।

५. मोक्षमें भव्यत्व भावका अभाव हो जाता है पर जीवत्वका नहीं

त. सू./१०/३ औपशमिकादिभव्यत्वानाञ्च ।३।

रा. वा./१०/३/१/६४२/७ अन्येषां जीवत्वादीनां पारिणामिकानां मोक्षावस्थायामनिवृत्तिज्ञापनार्थं भव्यत्व-ग्रहणं क्रियते। तेन पारिणामिकेषु भव्यत्वस्य औपशमिकादीनां च भावानामभावान्मोक्षो भवतीत्यवगम्यते। —भव्यत्वका ग्रहण सूत्रमें इसलिए किया है कि जीवत्वादि अन्य पारिणामिक भावोंकी निवृत्तिका प्रसंग न आ जावे। अतः पारिणामिक भावोंमें से तो भव्यत्व और औपशमिकादि शेष ४ भावोंमें से सभीका अभाव होनेसे मोक्ष होता है, यह जाना जाता है।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. मोक्षमें औदयिकभावरूप जीवत्वका अभाव हो जाता है—दे० जीव/२/२। २. मोक्षमें भी कथंचित् जीवत्वकी सिद्धि—दे० जीव/२/१।

जीवद्यशा—(ह. पु./सर्ग/श्लोक)—राजगृह नगरके राजा जरासन्ध (प्रतिनारायण) की पुत्री थी। कंसके साथ विवाही गयी। (३३/२४) अपनी ननद देवकीके रजोवस्त्र अतिमुक्तक मुनिको दिखानेपर मुनिने इसे श्राप दिया कि देवकीके पुत्र द्वारा ही उसका पति व पुत्र दोनों मारे जायेंगे। (३३/३२-३६)। और ऐसा ही हुआ। (३६/४५)।

जीवन—

स. सि./५/२०/२८८/१३ भवधारणकारणायुराख्यकर्मोदयाद्भवस्थितिमादधानस्य जीवस्य पूर्वोक्तप्राणापानक्रियाविशेषाव्युच्छेदो जीवितमित्युच्यते। —पर्यायके धारण करनेमें कारणभूत आयुकर्मके उदयसे भवस्थितिको धारण करनेवाले जीवके पूर्वोक्त प्राण और अपानरूप क्रिया विशेषका विच्छेद नहीं होना जीवित है। (रा. वा./५/२०/३/४७४/२६); (गो. जी./जी. प्र./६०६/१०६२/१५)।

ध. १४/५.६.१६/१३/२ आउआदिपाणाणं धारणं जीवणं। —आयु आदि प्राणोंका धारण करना जीवन है।

ध. १३/५.५.६३/३३३/११ आउपमाणं जीविदं णाम —आयुके प्रमाणका नाम जीवित है।

भ. आ./वि./२५/८५/१ जीवितं स्थितिरविनाशोऽवस्थितिरिति यावत्। —जीवन पर्यायके ही स्थिति, अविनाश, अवस्थिति ऐसे नाम हैं।

जीव निर्जरा—दे० निर्जरा/१ में भाव निर्जरा।

जीवन्मुक्त—दे० मोक्ष/१।

जीव बंध—दे० बन्ध/१।

जीव मोक्ष—दे० मोक्ष/१ में भाव मोक्ष।

जीव विचय—दे० धर्मध्यान/१।

जीव विपाकी—दे० प्रकृति बन्ध/२।

जीव संवर—दे० संवर/१ में भाव संवर।

जीव समास—१. लक्षण

पं. सं./प्रा./१/३२ जेहिं अणेया जीवा णज्जंते बहुविहा वि तज्जादी। ते पुण संगहिदत्था जीवसमासे त्ति विण्णेया ।३२। —जिन धर्मविशेषोंके द्वारा नाना जीव और उनकी नाना प्रकारकी जातियाँ, जानी जाती हैं, पदार्थोंका संग्रह करनेवाले उन धर्मविशेषोंको जीवसमास जानना चाहिए। (गो. जी./मू./७०/१८४)।

ध. १/१.१.२/१३१/२ जीवाः समस्यन्ते एष्विति जीवसमासाः।

ध./१/१.१.८/१६०/६ जीवाः सम्यगासतेऽस्मिन्निति जीवसमासाः। क्वासते। गुणेषु। के गुणाः। औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिका इति गुणाः। —१. अनन्तानन्त जीव और उनके भेद प्रभेदोंका जिनमें संग्रह किया जाये उन्हें जीवसमास कहते हैं। २. अथवा जिसमें जीव भले प्रकार रहते हैं अर्थात् पाये जाते हैं उसे जीवसमास कहते हैं। प्रश्न—जीव कहाँ रहते हैं? उत्तर—गुणोंमें जीव रहते हैं। प्रश्न—वे गुण कौनसे हैं? उत्तर—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये पाँच प्रकारके गुण अर्थात् भाव हैं, जिनमें जीव रहते हैं।

गो. जी./मू./७१/१८६ तसचदुजुगाणमज्झे अविरुद्धेहिंजुदजादिकम्मुदये। जीवसमासा होंति हु तब्भवसारिच्छसामण्णा ।७१। —त्रस-स्थावर, बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण ऐसी नामकर्मकी प्रकृतियोंके चार युगलोंमें यथासम्भव परस्पर विरोधरहित जो प्रकृतियाँ, उनके साथ मिला हुआ जो एकेन्द्रिय आदि जातिरूप नामकर्मका उदय, उसके होनेपर जो तद्भावसादृश्य सामान्यरूप जीवके धर्म, वे जीवसमास हैं।

२. जीव समासोंके अनेक प्रकार भेद-प्रभेद १,२ आदि भेद

जीवसामान्यकी अपेक्षा	एक प्रकार है।
संसारी जीवके त्रस-स्थावर भेदोंकी अपेक्षा	२ प्रकार है।
एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय, व सकलेन्द्रियकी अपेक्षा	३ प्रकार है।
एकें० विक०, संज्ञी पंचे०, असंज्ञी पंचे०, की अपेक्षा	४ प्रकार है।
एकें० द्वी०, त्री०, चतु० पंचेन्द्रियकी अपेक्षा	५ प्रकार है।
पृथिवी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति व त्रसकी अपेक्षा	६ प्रकार है।
पृथिवी आदि पाँच स्थावर तथा विकलेन्द्रिय सकलेन्द्रिय	७ प्रकार है
उपरोक्त ७ में सकलेन्द्रियके संज्ञी असंज्ञी होने से	८ प्रकार है
स्थावर पाँच तथा त्रसके द्वी०, त्री०, चतु व पंचे०—ऐसे	९ प्रकार है
उपरोक्त ९ में पंचेन्द्रियके संज्ञी-असंज्ञी होनेसे	१० प्रकार है
पाँचों स्थावरोंके बादर सूक्ष्मसे १० तथा त्रस—	११ प्रकार है
उपरोक्त स्थावरके १० + विकलें० व सकलेन्द्रिय—	१२ प्रकार है
उपरोक्त १२ में सकलेन्द्रियके संज्ञी व असंज्ञी होनेसे	१३ प्रकार है
स्थावरोंके बादर सूक्ष्मसे १० तथा त्रसके द्वी०, त्री०, चतु०, पं० ये चार मिलने से	१४ प्रकार है
उपरोक्त १४ में पंचेन्द्रियके संज्ञी-असंज्ञी होनेसे	१५ प्रकार है
पृ० अप्, तेज, वायु, साधारण वनस्पतिके नित्य व इतर निगोद ये छह स्थावर इनके बादर सूक्ष्म—१२ + प्रत्येक वन०, विकलेन्द्रिय, संज्ञी व असंज्ञी—	१६ प्रकार है

स्थावरके उपरोक्त १३+द्वी० त्री० चतु० पंचें०— १७ प्रकार है

उपरोक्त १७ में पंचें० के संज्ञी और असंज्ञी होनेसे १८ प्रकार है

पृ० अप्० तेज० वायु, साधारण वन०के नित्य व इतर निगोद इन छह के बादर सूक्ष्म १२+प्रतिष्ठित व अप्रतिष्ठित प्रत्येक ये स्थावरके १४ समास+त्रसके द्वी०, त्री०, चतु० संज्ञी पंचें० असंज्ञी पंचें०— १९ प्रकार है

(गो. जी./मू. व जी. प्र./७५-७७/१९२)।

ध. १/१,१/५९१ में थोड़े भेदसे उपरोक्त सर्व विकल्प कहे हैं।

संकेत—बा—बादर; सू—सूक्ष्म; प—पर्याप्त; अ—अपर्याप्त; पृ—पृथिवी, अप्—अप्; तै—तेज; वन—वनस्पति; प्रत्येक—प्रत्येक; सा—साधारण; प्र—प्रतिष्ठित; अप्र—अप्रतिष्ठित; एके—एकेन्द्रिय; द्वी—द्वीन्द्रिय; त्री—त्रीन्द्रिय; चतु—चतुरिन्द्रिय; पं—पंचेन्द्रिय।

१४. जीव समास इन्द्रिय मार्गणाकी अपेक्षा

(ष. खं. १/१,१/सूत्र ३३-३५/२३१); (पं. सं./प्रा./१/३४); (रा. वा./९/७/४/६०४/७); (ध. २/१,१/४१६/१), (स. सा./आ./५५); (गो. जी./मू./७२/१८९)।
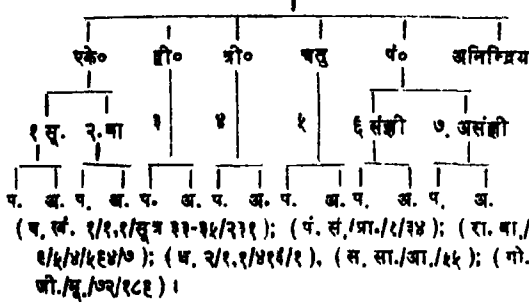
२१. भेद उपरोक्त सातों विकल्पोंमें प्रत्येकके पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त—२१। (पं. सं./प्रा./१/३५).

२४. भेद काय मार्गणाकी अपेक्षा
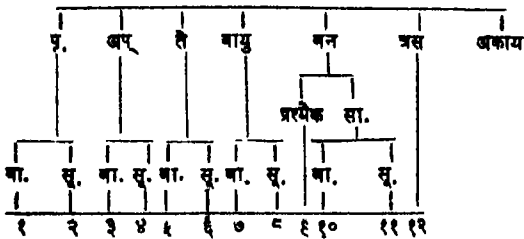
उपरोक्त १२ विकल्पोंके पर्याप्त व अपर्याप्त—२४।
(ष. खं. १/१,१/सू. ३९-४२/२६४-२७२)

३०. भेद त्रस व स्थावरकी अपेक्षा
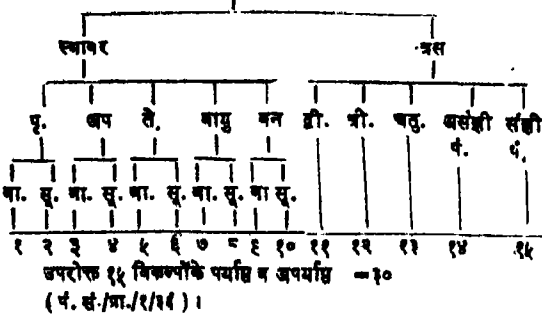
उपरोक्त १५ विकल्पोंके पर्याप्त व अपर्याप्त —३०
(पं. सं./प्रा./१/३६)।

३२. भेद

उपरोक्त ३० भेदोंमें वनस्पतिके २ की बजाय ३ विकल्प कर देनेसे कुल १६। इनके पर्याप्त व अपर्याप्त—३२
(पं. सं./प्रा./१/३७)
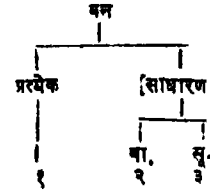
३४. भेद
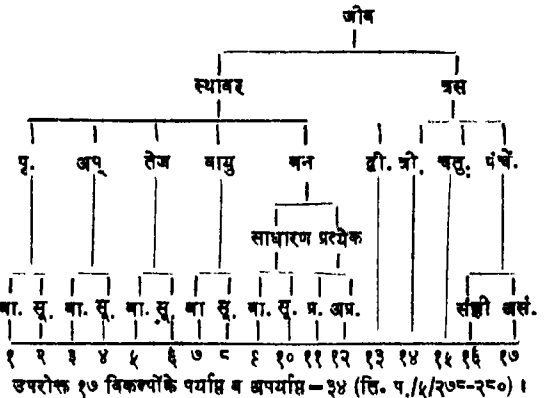
उपरोक्त १७ विकल्पोंके पर्याप्त व अपर्याप्त—३४ (ति. प./५/२७८-२८०)।

३६. भेद—उपरोक्त ३० भेदोंमें वनस्पतिके दो विकल्पोंकी बजाय ये पाँच विकल्प लगानेसे कुल विकल्प—१८ इनके पर्याप्त व अपर्याप्त—३६ (पं. सं/प्रा./१/३८)।
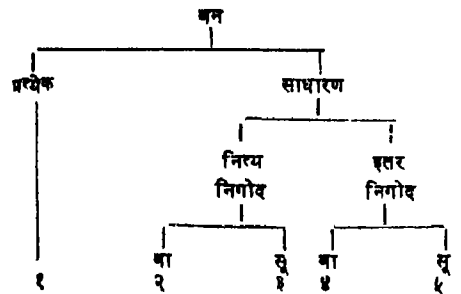
३८. भेद—उपरोक्त ३० भेदोंमें वनस्पतिके दो विकल्पोंकी बजाय ये छह विकल्प लगानेसे कुल विकल्प—१९ इनके पर्याप्त व अपर्याप्त—३८ (पं. सं/प्रा./१/३९); (गो. जी/मू./७७-७८/१९५-१९६)।
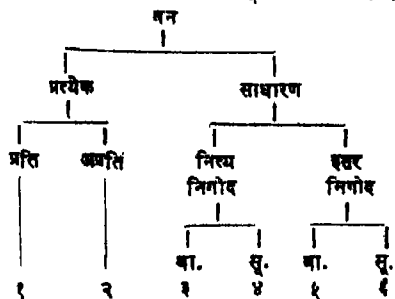
४८. भेद—३२ भेदोंवाले १६ विकल्पोंके पर्याप्त निवृत्त्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त—४८। (पं.सं./प्रा./१/४०)

५४. भेद—३६ भेदों वाले १८ विकल्पोंके पर्याप्त निवृत्त्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त—५४। (पं.सं./प्रा./१/४१)

५७. भेद—३८ भेदोंवाले १९ विकल्पोंके पर्याप्त निवृत्त्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त—५७। (पं.सं./प्रा./१/४२); (गो.जी./मू./७२/१९० तथा ७८/१९९)

८५. भेद
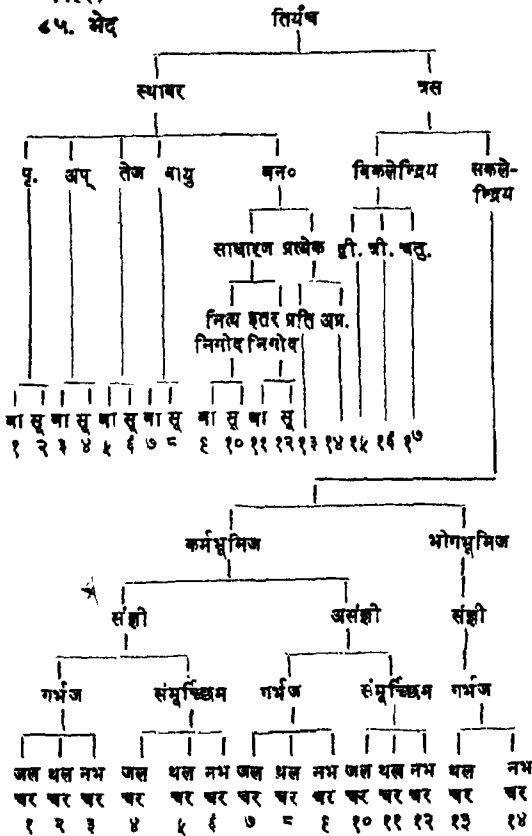
उपरोक्त सर्व विकल्पोंमें स्थावर व विकलेन्द्रिय सम्बन्धी १७ विकल्प केवल संमूर्च्छिम जन्म वाले हैं। वे १७ तथा सकलेन्द्रियके संमूर्च्छिम वाले ६ मिलकर २३ विकल्प संमूर्च्छिमके हैं। इनके पर्याप्त, निवृत्त्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त—६९—गर्भजके उपरोक्त ८ विकल्पों-के पर्याप्त व अपर्याप्त—१६

६९+१६=८५

(गो.जी./मू./७९/१९८); (का.आ./मू./१२३-१३१)

९८. भेद

तिर्यंचोंमें उपरोक्त —८५

मनुष्योंमें आर्यखण्डके पर्याप्त निवृत्त्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त ये ३+म्लेच्छखण्ड, भोगभूमि व कुभोगभूमिके पर्याप्त व निवृत्त्यपर्याप्त ये ३×२=६। कुल—९

देव व नारकियोंमें पर्याप्त व निवृत्त्यपर्याप्त —४

(गो.जी./मू. व जी.प्र./७९-८०/१९८) ९८

(का.अ./मू./१२३-१३२)

४०६. भेद

शुद्ध पृथिवी, खर पृथिवी, अप्, तेज, वायु, साधारण वनस्पतिके नित्य व इतरनिगोद, इन सातोंके बादर व सूक्ष्म—१४; प्रत्येक वनस्पतिमें तृण, बेल, छोटे वृक्ष, बड़े वृक्ष और कन्दमूल ये ५। इनके प्रतिष्ठित व अप्रतिष्ठित भेदसे १०। ऐसे एकेन्द्रियके विकल्प—२४ विकलेन्द्रियके द्वी, त्री व चतु इन्द्रिय, ऐसे विकल्प—३ इन २७ विकल्पोंके पर्याप्त, निवृत्त्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त रूप तीन-तीन भेद करनेसे कुल—८१।

पंचेन्द्रिय तिर्यचके कर्मभूमिज संज्ञी-असंज्ञी, जलचर, थलचर, नभचरके भेदसे छह। तिन छहके गर्भज पर्याप्त व निवृत्त्यपर्याप्त १२ तथा तिन्हीं छहके संमूर्च्छिम पर्याप्त निवृत्त्यपर्याप्त व लब्ध्यपर्याप्त १८। उत्कृष्ट मध्यम जघन्य भोगभूमिमें संज्ञी गर्भज थलचर व नभचर ये छह, इनके पर्याप्त निवृत्त्यपर्याप्त ऐसे १२। इस प्रकार कुल विकल्प—४२।

मनुष्योंमें संमूर्च्छिम मनुष्यका आर्यखण्डका केवल एक विकल्प तथा गर्भजके आर्यखण्ड, म्लेच्छखण्ड; उत्कृष्ट, मध्य व जघन्य भोगभूमि; तथा कुभोगभूमि इन छह स्थानोंमें गर्भजके पर्याप्त व निवृत्त्यपर्याप्त ये १२। कुल विकल्प—१३।

देवोंमें १० प्रकार भवनवासी, ८ प्रकार व्यन्तर, ५ प्रकार ज्योतिषी और ६३ पटलोंके ६३ प्रकार वैमानिक। ऐसे ८६ प्रकार देवोंके पर्याप्त व निवृत्त्यपर्याप्त —१७२

नारकियोंमें ४९ पटलोंके पर्याप्त व निवृत्त्यपर्याप्त —९८

सब—८१+४२+१३+१७२+९८ —४०६

(गो.जी./मू. व जी.प्र./८० के पश्चात्की तीन प्रक्षेपक गाथाएँ/२००)

३. जीवसमास बतानेका प्रयोजन

प्र. सं./टी./१२/३१/५ अत्रैतेभ्यो भिन्नं निजशुद्धात्मतत्त्वमुपादेयमिति भावार्थः।—इन जीवसमासों, प्राणों व पर्याप्तियोंसे भिन्न जो अपना शुद्ध आत्मा है उसको ग्रहण करना चाहिए।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

१. जीव समासोंका काय मार्गणामें अन्तर्भाव—दे० मार्गणा। २. जीव समासोंके स्वामित्व विषयक प्ररूपणाएँ—दे० सत्।

जीवसिद्धि—आ. समन्तभद्र (ई० श० २) द्वारा रचित यह ग्रन्थ संस्कृत छन्दबद्ध है। इसमें न्याय व युक्तिपूर्वक जीवके अस्तित्वकी सिद्धि की गयी है।

जीवा—Chord (ज.प./प्र. १०६) —जीवा निकालनेकी प्रक्रिया—दे० गणित/II/७/३।

जीवाराम—शोलापुरके एक धनाढ्य दोशीकुलके रत्न थे। आपका जन्म ई० १८८० में हुआ था। केवल अँगरेजीकी तीसरी और मराठी-की ५वीं तक पढ़े। बड़े समाजसेवी व धर्मवत्सल थे। ई० १९०८ में एलक पन्नालालजीसे श्रावकके व्रत लिये। ई० १९५४ में कुंथलगिरिपर नवमी प्रतिमा धारण की। और ई. १९६१ में स्वर्ग सिधार गये। ई. १९४० में स्वयं ३०,०००) रु० देकर जीवराज जैन ग्रन्थमालाकी स्थापना की, जो जैन वाङ्मयकी बहुत सेवा कर रही है।

जीविका—अग्निजीविका, वनजीविका, अनोजीविका, स्फोटजीविका और भाटकजीविका।—दे० सावद्य/२।

जुगुप्सा—१. जुगुप्सा व जुगुप्सा प्रकृतिका लक्षण

स.सि./८/६/३८६/२ यदुदयादात्मदोषसंवरणं परदोषाविष्करणं सा जुगुप्सा। —जिसके उदयसे अपने दोषोंका संवरण (ढँकना) और परदोषोंका आविष्करण (प्रगट करना) होता है वह जुगुप्सा है। (गो.क./जी.प्र./३३/२८/८)

रा.वा/८/६/४/५७४/१८ कुत्साप्रकारो जुगुप्सा। ...आत्मीयदोषसंवरणं जुगुप्सा, परकीयकुलशीलादिदोषाविष्करणावक्षेपणभर्त्सनप्रवणा कुत्सा। —कुत्सा या ग्लानिको जुगुप्सा कहते हैं। तहाँ अपने दोषों-को ढाँकना जुगुप्सा है, तथा दूसरेके कुल-शील आदिमें दोष लगाना, आक्षेप करना भर्त्सना करना कुत्सा है।

ध.६/१,६-१,२४/४८/१ जुगुप्सनं जुगुप्सा जैसि कम्माणमुदएण दुगुंछा उप्पज्जदि तैसि दुगुंछा इदि सण्णा। —ग्लानि होनेको जुगुप्सा कहते हैं। जिन कर्मोंके उदयसे ग्लानि होती है उनकी 'जुगुप्सा' यह संज्ञा है।

२. अन्य सम्बन्धित विषय

१. जुगुप्साके दो भेद—लौकिक व लोकोत्तर —दे० सूतक।
२. मोक्षमार्गमें जुगुप्साकी इष्टता, अनिष्टता —दे० सूतक।
३. जुगुप्सा द्वेष है —दे० कषाय/४।
४. घृणित पदार्थोंसे या परिषहों आदिसे।
५. जुगुप्सा प्रकृतिके बन्ध योग्य परिणाम —दे० मोहनीय/३/६।
६. जुगुप्सा व घृणाका निषेध —दे० निर्विचिकित्सा।

जूं—क्षेत्रका प्रमाण विशेष। अपर नाम यूक। —दे० गणित/I/१/३।

जूआ—दे० द्यूत।

जैतुगिदेव—भोजवंशी ाजा था। भोजवंशकी वंशावलीके अनुसार राजा देवपालका पुत्र था। मालवा (मगध) देशपर राज्य करता था। धारा या उज्जैनी राजधानी थी। इसका अपर नाम जयसिंह था। समय—वि. १२८५-१२९६ (ई. १२२८-१२३९)। —दे० इतिहास/३/१।

जैन—(नि. सा./ता. वृ./१३९) सकलजिनस्य भगवतस्तीर्थाधिनाथस्य पादपद्मोपजीविनो जैनाः, परमार्थतो गणधरदेवादयः इत्यर्थः। —सकल जिन ऐसे भगवान् तीर्थाधिनाथके चरणकमलकी सेवा करनेवाले वे जैन हैं। परमार्थसे गणधरदेवादि ऐसा उसका अर्थ है।

प्र. सा./ता. वृ./२०६ जिनस्य संबन्धीदं जिनेन प्रोक्तं वा जैनम्। —जिन भगवान्से सम्बन्धित अथवा जिन भगवान्के द्वारा कथित (जो लिंग, वह) जैन है।

२. एकान्तवादी जैन वास्तवमें जैन नहीं

स. सा./आ./३२१ ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यन्ति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तन्ते; लौकिकानां परमात्मा विष्णुः सुरनारकादिकार्याणि करोति, तेषां तु स्वात्मा तानि करोतीत्यपसिद्धान्तस्य समत्वात्। —जो आत्माको कर्ता ही देखते या मानते हैं वे लोकोत्तर हों तो भी लौकिकताको अतिक्रमण नहीं करते, क्योंकि लौकिक जनोंके मतमें, परमात्मा विष्णु, नर नारकादि कार्य करता है और उनके (श्रमणोंके) मतमें अपना आत्मा वह कार्य करता है। इस प्रकार (दोनोंमें) अपसिद्धान्तकी समानता है।

स. सा./ आ./३३२-३४४ यत एवं समस्तमपि कर्म करोति, कर्म ददाति, कर्म हरति च, ततः सर्व एव जीवाः नित्यमेवैकान्तेनाकर्तार एवेति निश्चिनुमः।...एवमीदृशं सांख्यसमयं स्वप्रज्ञापराधेन सूत्रार्थमबुध्यमानाः केचिच्छ्रमणाभासाः प्ररूपयन्ति। तेषां प्रकृतेरेकान्तेन कर्तृत्वाभ्युपगमेन सर्वेषामेव जीवानामेकान्तेनाकर्तृत्वापत्तेः 'जीवः कर्तै श्रुतेः कोपो दुःशक्यः परिहर्तुम्। —इस प्रकार स्वतन्त्रतया सब कर्म ही कर्ता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हर लेता है, इसलिए यह निश्चय करते हैं कि सभी जीव सदा एकान्तसे अकर्ता ही इस प्रकार ऐसे सांख्यमतको, अपनी प्रज्ञाके अपराधसे सूत्रके अर्थ न जाननेवाले कुछ श्रमणाभास प्ररूपित करते हैं। उनकी एका प्रकृति कर्तृत्वकी मान्यतासे समस्त जीवोंके एकान्तसे अकर्तृत्व जाता है। इसलिए 'जीवकर्ता है' ऐसी जो श्रुति है, उसका कोप करना अशक्य हो जाता है।

जैनतर्क—श्वेताम्बराचार्य यशोविजय (ई० १६३८-१६८८) द्वा संस्कृत भाषामें रचित न्यायविषयक ग्रन्थ।

जैनतर्क वार्तिक—शान्त्याचार्य (ई० ९९३-१११८) द्वारा संस छन्दोंमें रचित न्यायविषयक ग्रन्थ।

जैन दर्शन—१. जैन दर्शन परिचय

रागद्वेष विवर्जित, तथा अनन्त ज्ञान दर्शन समग्र परमार्थोपदेश अर्हंत व सिद्ध भगवान् ही देव या ईश्वर हैं, इनसे अतिरिक्त अ कोई जगत्व्यापी एक ईश्वर नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति कर्मोंका स क्षय करके परमात्मा बन सकता है। जीव, अजीव, पुण्य, पा आस्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा व मोक्ष—ये नौ तत्त्व या पदार्थ हैं। च चैतन्य लक्षण जीव है जो शुभाशुभ कर्मोंका कर्ता व उनके फल भोक्ता है। इससे विपरीत जड़ पदार्थ अजीव है। वह भी पुद्गल, ध अधर्म, आकाश व कालके भेदसे पाँच प्रकारका है। पुद्गलसे जी शरीरों व कर्मोंका निर्माण होता है। सत्कर्मोंको पुण्य और अ स्कर्मोंको पाप कहते हैं। मिथ्यात्व व रागादि हेतुओंसे जीव पुद्ग कर्म व शरीरके साथ बन्धको प्राप्त होकर संसारमें भ्रमण करता तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान करके बाह्य प्रवृत्तिका निरोध करना संवर उस संवर पूर्वक मनको अधिकाधिक स्वरूपमें एकाग्र करना गु ध्यान या समाधि कहलाते हैं। उससे पूर्वबद्ध संस्कार व कर्मों धीरे-धीरे नाश होना सो निर्जरा है। स्वरूपमें निश्चल होकर बाह्य बाधाओं व परिषहोंकी परवाह न करना तप है, उससे अनन्तगु निर्जरा प्रतिक्षण होती है और लघुमात्र कालमें ही अनादिके भस्म हो जानेसे जीवको मोक्ष प्राप्त हो जाता है। फिर वह संसा कभी भी नहीं आता। यह सिद्ध दशा है। तत्त्वोंके श्रद्धान व ज्ञ रूप सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान सहित धारा गया चारित्र व तप आ बस मोक्षकी प्राप्तिका उपाय है। अतः सम्यग्दर्शन ज्ञान चा रत्नत्रय कहलाते हैं।

सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है। वह दो प्रकार है—प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रत्यक्ष भी दो प्रकार है—सांव्यवहारिक व पारमार्थिक। इन्द्रिय ज्ञ सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञान पारम र्थिक प्रत्यक्ष। तिनमें भी अवधि व मनःपर्यय विकल प्रत्यक्ष है अ केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष। यह ज्ञान क्षीणकर्मा अर्हन्त और सिद्धों ही होता है। सत् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होनेसे प्रत्येक पदा अनन्तधर्मात्म है, जो प्रमाण व नयके द्वारा भली भाँति जाना जा है। प्रमाणके अंशको नय कहते हैं, वह वस्तुके एकदेश या एकध को जानता है। बिना नय विवक्षाके वस्तुका सम्यक् प्रकार निर्ण होना सम्भव नहीं है। (तत्त्वार्थ सूत्र); (षट् दर्शन समुच्चय/४५-५ ३६-६२)।

२ सर्वदर्शन मिलकर एक जैन दर्शन बन जाता है

—दे० अनेकान्त/२/६।

जैन शतक—कविवर भूधरदास (वि. १७८१) द्वारा १०७ भा छन्दोंमें रचित एक आध्यात्मिक कृति (ती./४/२७१)

जैनाभासी संघ—दे० इतिहास/6/1।

जैनाभिषेक—दे० पूजापाठ

जैनेन्द्र व्याकरण—दे० व्याकरण।

जैमिनी—मीमांसादर्शनके आद्यप्रवर्तक। समय ई० पू० 200। दे० मीमांसादर्शन।

जोइंदु—दे० योगेंदु।

जोड़—Addition (ध. 5/प्र. 27)। प्रक्रिया—दे० गणित/II/1।

जोणी पाहुड—आ. धरसेन (वी. नि. 600) कृत मन्त्र तन्त्र विषयक ग्रन्थ। (जै./2/122)।

जोधराज गोदी—सांगानेर निवासी थे। आपने हिन्दी पद्यमें निम्न कृतियाँ रची हैं—1. धर्म सरोवर, 2. सम्यक्त्व कौमुदी भाष्य; (वि. 1724); 3. प्रीतंकर चारित्र (वि० 1721); 4. कथाकोश (वि० 1722); 5. प्रवचनसार; 6. भावदीपिका वचनिका (गद्य); 7. ज्ञान समुद्र। समय—वि० 1700-1760। (ती./4/303) (हिन्दी जैन साहित्य/पृ० 155। कामताप्रसादजी)।

जोनशाह—मुहम्मद तुगलकका दूसरा नाम जोनशाह था। इन्होंने जोनपुर बसाया था और इसलिए पं० बनारसीदास इन्हें जोनाशाह लिखते हैं।—विशेष दे० मुहम्मद तुगलक।

ज्यामिति—1. ज्यामिति=Geometry. 2. ज्यामिति अवधारणाएँ=Geometrical Concepts 3. ज्यामिति विधाएँ=Geometrical methods (ज. प./प्र. 106)।

ज्येष्ठ—किन्नर जातीय व्यन्तरदेवका एक भेद—दे० किन्नर।

ज्येष्ठ जिनवर व्रत—उत्तम 24 वर्षतक, मध्यम 12 वर्षतक और जघन्य एक वर्षतक प्रति वर्ष ज्येष्ठ कृ० व शु० 1 को उपवास करे और उस महीनेके शेष 28 दिनोंमें एकाशना करे। 'ॐ ह्रीं ऋषभजिनाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (वर्द्धमान पुराण)। (व्रत विधान संग्रह/पृ. 43)।

ज्येष्ठ स्थिति कल्प—

भ. आ./वि./421/615/6 पञ्चमहाव्रतधारिण्याश्चिरप्रव्रजिताया अपि ज्येष्ठो भवति अधुना प्रव्रजितः पुमान्। इत्येष सप्तमः स्थितिकल्पः पुरुषज्येष्ठत्वं। पुरुषत्वं नाम उपकारं, रक्षां च कर्तुं समर्थः। पुरुषप्रणीतश्च धर्मः इति तस्य ज्येष्ठता। ततः सर्वाभिः संयताभिः विनयः कर्तव्यो विरतस्य। येन च स्त्रियो लघ्व्यः परप्रार्थनीया, पररक्षोपेक्षिण्यः, न तथा पुमांस इति च पुरुषस्य ज्येष्ठत्वं उक्तं च—'जेणिच्छी हु लघुसिगा परप्पसज्झा य पच्छणिज्जा य। भीरु पररक्खणज्जेत्ति तेण पुरिसो भवदि जेट्ठो'—जिसने पाँच महाव्रत धारण किये हैं वह ज्येष्ठ है और बहुत वर्षकी दीक्षित आर्यिकासे भी आजका दीक्षित मुनि ज्येष्ठ है। पुरुष संग्रह, उपकार, और रक्षण करता है, पुरुषने ही धर्मकी स्थापना की है, इसलिए उसकी ज्येष्ठता मानी है। इसलिए सर्व आर्यिकाओंको मुनिका विनय करना चाहिए। स्त्री पुरुषसे कनिष्ठ मानी गयी है, क्योंकि वह अपना रक्षण स्वयं नहीं कर सकती, दूसरों द्वारा वह इच्छा की जाती है और ऐसे अवसरों पर वह उसका प्रतिकार भी नहीं कर सकती। उनमें स्वभावतः भय व कमजोरी रहती है। पुरुष ऐसा नहीं है, अतः वह ज्येष्ठ है। यही अभिप्राय उपरोक्त उद्धृत सूत्रका भी समझना।

ज्येष्ठा—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

ज्योति—परम ज्योतिके अपर नाम—दे० मोक्षमार्ग/2/5।

ज्योतिर्ज्ञान विधि—आ. श्रीधर (ई. 799) कृत 10 प्रकरणों में विभक्त ज्योतिष शास्त्र (ती./4/161)।

ज्योतिष्करण्ड—जिनभद्रगणी (वि. 650) से पूर्व वल्लभी वाचनालय के अनुयायी किसी श्वेताम्बर आचार्य द्वारा रचित ज्योतिर्लोक तथा काल गणना विषयक सूत्रबद्ध अर्धमागधी ग्रन्थ (जै./2/56, 60)।

ज्योतिष चारण—दे. ऋद्धि/4।

ज्योतिषदेव—ज्योतिष्मान् होनेके कारण चन्द्र-सूर्यआदि ज्योतिषी कहे जाते हैं, जिनको जैन दर्शनकार देवोंकी एक जाति विशेष मानते हैं। ये सब मिलकर असंख्यात हैं।

1. ज्योतिषीदेवका लक्षण

स./सि.4/12/244/5 ज्योतिस्स्वभावत्वादेषां पञ्चानामपि 'ज्योतिष्का' इति सामान्यसंज्ञा अन्वर्था। सूर्यादयस्तद्विशेषसंज्ञा नामकर्मोदयप्रत्ययाः। —ये सब पाँचों प्रकारके देव ज्योतिर्मय हैं, इसलिए इनकी ज्योतिषी यह सामान्य संज्ञा सार्थक है। तथा सूर्य आदि विशेष संज्ञाएँ विशेष नामकर्मके उदयसे उत्पन्न होती हैं। (ति.प./7/38), (रा.वा/4/12/1/218/8)

2. ज्योतिषी देवोंके भेद

त. सू./4/12 ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च। —ज्योतिषदेव पाँच प्रकारके होते हैं—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे। (ति.प./7/7) (त्रि.सा./302)

3. ज्योतिषी देवोंकी शक्ति उत्सेध आदि

ति. प.7/616-618 आहारो उस्सासो उच्छेहो ओहिणाणसत्तीओ। जीवाणं उप्पत्तीमरणाइं एक्कसमयम्मि।616। आउगबंधणभावं दंसणगहणस्स कारणं विविहं। गुणठाणादिपवण्णणभावणलोए व्व वत्तव्वं।617। —आहार, उच्छ्वास, उत्सेध, अवधिज्ञान, शक्ति, एकसमयमें जीवोंकी उत्पत्ति व मरण, आयुके बन्धक भाव, सम्यग्दर्शन ग्रहणके विविध कारण और गुणस्थानादिकका वर्णन भावनलोकके समान कहना चाहिए।617। विशेष यह है कि ज्योतिषियोंकी ऊँचाई सात धनुष प्रमाण और अवधिज्ञानका विषय उनसे असंख्यात गुणा है।618।

त्रि.सा./341 चंदिण बारसहस्सा पादा सीयल खरा य सुक्के दु। अड्ढाइज्जसहस्सा तिव्वा सेसा हु मंदकरा।341। —चन्द्रमा और सूर्य इनके बारह-बारह हजार किरणें हैं। तहाँ चन्द्रमाकी किरणें शीतल हैं और सूर्यकी किरण तीक्ष्ण है। शुक्रकी 2500 किरणें हैं। ते उज्ज्वल हैं। अवशेष ज्योतिषी मन्दप्रकाश संयुक्त हैं। (ति. प./7/37, 66,90)

नोट—(उपरोक्त अवगाहना आदिके लिए —दे० अवगाहना/2/4; अवधिज्ञान/9/3; जन्म/6; आयु/3, सम्यग्दर्शन/III/3; सत् प्ररूपणा; भवन./1)।

4. ज्योतिषी देवोंके इन्द्रोंका निर्देश

ति.प./7/61 सयलिंदाण पडिंदा एक्केक्का होंति ते वि आइच्चा। —उन सब इन्द्रों (चन्द्रों) के एक-एक प्रतीन्द्र होते हैं और वे प्रतीन्द्र सूर्य हैं।

दे. इन्द्र/5 (ज्योतिषी देवोंमें दो इन्द्र होते हैं।—चन्द्र व सूर्य।)

५. ज्योतिषी देवोंका परिवार

त. सू./४/५ त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः। –व्यन्तर और ज्योतिषदेव त्रायस्त्रिंश और लोकपाल इन दो भेदोंसे रहित हैं। (सामानिक आदि शेष आठ विकल्प (दे० देव/१) यहाँ भी पाये जाते हैं।) (त्रि.सा./२२५)

ति.प./७/गा. प्रत्येक चन्द्रके परिवारमें एक सूर्य। (१४)। ८८ ग्रह। (१४)। २८ नक्षत्र। (१५)। और ६६९७५ कोड़ाकोड़ी तारे होते हैं। (३१)। (ह.पु./६/२८–२९) (ज.प./१२/८७–८८) (त्रि.सा./३६२)

ति.प./७/गा	देवका नाम	देवियाँ		सामानिक पारिषद आत्मरक्ष	अनीक प्रकीर्णक किल्बिष	आभियोग्य	
		पट देवी	प्रत्येक देवीका परिवार			प्रत्येक दिशामें विमान वाहक	कुल
५७–६३	चन्द्र	४	४०००	संख्य.	संख्य.	४०००	१६०००
७६–८१	सूर्य	४	४०००	,,	,,	४०००	१६०००
८७	ग्रह		३२*			२०००	८०००
१०७	नक्षत्र		३२*			१०००	४०००

(ज.प./१०/६–१२ में केवल अभियोगोंका निर्देश है और त्रि.सा./४४७–४४८ में केवल देवियोंका निर्देश है)

*त्रि.सा./४४६ सव्वणिगिट्ठसुराणा बत्तीसा होंति देवीओ। –सबसे निकृष्ट देवोंमें ३२,३२ देवांगनाएँ होती हैं।

६. चन्द्र सूर्यकी पटदेवियोंके नाम

ति. प./७/५८,७६ चंदाभसुसीमाओ पहंकरा अच्चिमालिणीताणं ।५८। जुदिसुदिपहंकराओ सुरपहाअच्चि मालिणीओ वि। पत्तेकं चत्तारो दुमणीणं अग्गदेवीओ ।७६। –चन्द्राभा, प्रभंकरा, सुसीमा और अर्चिमालिनी ये उनकी (चन्द्रकी) अग्रदेवियोंके नाम हैं।५८। द्युति-श्रुति, प्रभंकरा, सूर्यप्रभा, और अर्चिमालिनी ये चार प्रत्येक सूर्यकी अग्रदेवियाँ होती हैं।७६। (त्रि.सा./४४७–४४८)

७. अन्य सम्बन्धित विषय

१. ज्योतिषी देवोंकी संख्या—दे० ज्योतिषी-/२/३-६।
२. ग्रह व नक्षत्रोंके भेद व लक्षण —दे० वह वह नाम।
३. ज्योतिषी देवोंका शरीर, आहार, सुख, दुःख, सम्यक्त्व आदि —दे० देव/II/२,३
४. ज्योतिष देवोंमें सम्भव कषाय, वेद, लेश्या, पर्याप्ति आदि —दे० वह वह नाम।
५. ज्योतिषी देव मरकर कहाँ उत्पन्न हो, और कौन-सा गुण या पद पावे —दे० जन्म/६/११।
६. ज्योतिष देवोंकी अवगाहना —दे० अवगाहना/२।
७. ज्योतिष देवोंमें मार्गणा, गुणस्थान, जीव-समास आदिके स्वामित्व विषयक २० प्ररूपणाएँ —दे० सत्।
८. ज्योतिष देवों सम्बन्धी सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व प्ररूपणाएँ —दे० वह वह नाम।
९. ज्योतिष देवोंमें कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व —दे० वह वह नाम।

ज्योतिष लोक—ज्योतिष देवों के विमान मध्य लोक के ही अन्तर्गत चित्रा पृथिवी से ७९० योजन ऊपर जाकर स्थित हैं। इनमें से कुछ चर हैं और कुछ अचर।

१. ज्योतिष लोक सामान्य निर्देश

स.सि./४/१२/२४४/१३ स एष ज्योतिर्गणगोचरो नभोऽवकाशो दशाधिकयोजनशतबहलस्तिर्यगसंख्यातद्वीपसमुद्रप्रमाणो घनोदधिपर्यन्तः। –ज्योतिषियोंसे व्याप्त नभःप्रदेश ११० योजन मोटा और घनोदधि पर्यन्त असंख्यात द्वीपसमुद्र प्रमाण लम्बा है।

ति.प./७/५–८ {१ राजू^{2}×११०} –अगम्यक्षेत्र १३०३२९२५०१५ योजन प्रमाण क्षेत्रमें सर्व ज्योतिषी देव रहते हैं। लोकके अन्तमें पूर्व-पश्चिम दिशामें घनोदधि वातवलयको छूते हैं। उत्तर-दक्षिण दिशामें नहीं छूते।

भावार्थ—१ राजू लम्बे व चौड़े सम्पूर्ण मध्यलोककी चित्रा पृथिवीसे ७९० योजन ऊपर जाकर ज्योतिष लोक प्रारम्भ होता है, जो उससे ऊपर ११० योजन तक आकाशमें स्थित है। इस प्रकार चित्रा पृथिवीसे ७९० योजन ऊपर १ राजू लम्बा, १ राजू चौड़ा ११० योजन मोटा आकाश क्षेत्र ज्योतिषी देवोंके रहने व संचार करनेका स्थान है, इससे ऊपर नीचे नहीं। तिसमें भी मध्यमें मेरुके चारों तरफ १३०३२९२५०१५ योजन अगम्य क्षेत्र है, क्योंकि मेरुसे ११२१ योजन परे रहकर वे संचार करते हैं, उसके भीतर प्रवेश नहीं करते।

ज्योतिष लोकमें चन्द्र सूर्यादिका अवस्थान

चित्रा पृथिवीसे ऊपर निम्न प्रकार क्रमसे स्थित है। तिसमें भी दो दृष्टियाँ हैं—

दृष्टि नं. १–(स. सि./४/१२/२४४/८); (ति. प./७/३६–१०८); (ह. पु./६/१–६); (त्रि. सा./३३२–३३४); (ज. प./१२/९४); (द्र. सं./टी./३५/१३४/२)।
दृष्टि नं. २–(रा. वा./४/१२/१०/२१९/१)।

ति. प./७/गा.	कितने ऊपर जाकर	कौन विमान	प्रमाण	कितने ऊपर जाकर	कौन विमान
	दृष्टि नं० १–		(रा० वा./४/१२/१०/२१९/१)	दृष्टि नं० २–	
१०८	७९० यो.	तारे		७९० यो.	तारे
६५	८०० ,,	सूर्य		८०० ,,	सूर्य
३६	८८० ,,	चन्द्र		८८० ,,	चन्द्र
१०४	८८४ ,,	नक्षत्र		८८३ ,,	नक्षत्र
८३	८८८ ,,	बुध		८८६ ,,	बुध
८९	८९१ ,,	शुक्र		८८९ ,,	शुक्र
९३	८९४ ,,	बृहस्पति		८९२ ,,	बृहस्पति
९६	८९७ ,,	मंगल		८९५ ,,	मंगल
९९	९०० ,,	शनि		९०० ,,	शनि
१०१	८८८-९०० ,,	शेष ग्रह			

त्रि.सा./३४० राहुअरिट्ठविमाणधयादुवरि पमाणअंगुलचउक्कं। गंतूण ससिविमाणा सूर विमाणा कमे होंति। –राहु और केतुके विमाननिका जो ध्वजादण्ड ताके ऊपर च्यार प्रमाणांगुल जाइ क्रमकरि चन्द्रके विमान अर सूर्यके विमान हैं। राहु विमानके ऊपर चन्द्रमाका और केतु विमानके ऊपर सूर्यका विमान है। (ति. प./७/२०१, २७२)।
नोट—विशेषताके लिए दे० पृ० ३४८-वाला चित्र।

२. ज्योतिष-विमानोंमें चर-अचर विभाग

स. सि./४/१३/२४५/८ अर्धतृतीयेषु द्वीपेषु द्वयोश्च समुद्रयोर्ज्योतिष्का नित्यगतयो नान्यत्रेति। –अढाई द्वीप और दो समुद्रोंमें (अर्थात्

ज्योतिष लोक

मध्य लोक में ज्योतिषी विमानों का अवस्थान,

संकेत :- आ० = आवर्त ; यो०-योजन

नोट :— ऊपर से मध्यलोक को देखने पर.

अचर विमान — चर विमान — अचर विमान

शनीचर विमान

मंगल विमान

बृहस्पति विमान

शुक्र विमान

बुध विमान

नक्षत्र विमान

अन्य ग्रह — अन्य ग्रह

चन्द्र विमान

सूर्य विमान

सितारों के विमान

स्वयम्भू रमण — असंख्य समुद्र — पुष्कर समुद्र — जम्बू द्वीप — पुष्कर समुद्र — असंख्य समुद्र — स्वयम्भू रमण

आगे के असंख्य द्वीप समुद्र — अढ़ाई द्वीप — आगे के असंख्य द्वीप समुद्र

द्वीप समुद्रों के सुमेरु से पश्चिमवर्ती अर्द्ध भाग — द्वीप समुद्रों के सुमेरु से पूर्ववर्ती अर्द्ध भाग

ज्योतिष विमानों का आकार

नोट—शेष ज्योतिषी विमानोंके आकार भी इसीके तरह हैं। विशेषता यह कि उनका विस्तार, किरणें, वाहक प्रमाण व वर्ण अन्य-अन्य हैं यथा—

दे० ज्योतिष/२/१०						ज्योतिष १/५	दे० ज्योतिष/२/१०						त्रि.सा./३४१
नाम	आकार	तल व्यास	गहराई	रंग	किरणें	वाहक	नाम	आकार	तल विस्तार	गहराई	रंग	किरणें	वाहक
चन्द्र	←अर्द्ध गोलाकार→	५६/६१ यो.	←विस्तारसे आधा→	मणि	१२०००	१६०००	तारे—	←अर्द्ध गोलाकार→		विस्तारसे आधा			
सूर्य		४८/६१ ,,		,,	,,	,,	उत्कृष्ट		१ को.			मंद	५००
बुध		१/२ को.		सुवर्ण	मंद	८०००	मध्यम		१/२ को.			,,	,,
शुक्र		१ को.		रजत	२५००	,,	,,		१/४ को.			,,	,,
बृहस्पति		कुछ कम १ को.		स्फटिक	मंद	,,	जघन्य		१/४ को.			,,	,,
मंगल		१/२ को.		रक्त	मंद	,,	राहु		१ यो.	२५० ध	अंजन		
शनि		,,		सुवर्ण	,,	,,	केतु		,,		,,		
नक्षत्र		१ को.		सूर्यवत्	,,	१०००							

नोट—सर्वत्र पूर्वादि दिशाओंमें क्रमसे सिंह, हाथी, बैल व अश्वके आकारवाले वाहक देव उक्त प्रमाणसे चौथाई-चौथाई होते हैं।

जम्बूद्वीपसे लेकर मानुषोत्तर पर्वत तकके मनुष्य लोकमें पाँचों प्रकार-के) ज्योतिषी देव निरन्तर गमन करते रहते हैं अन्यत्र नहीं। (ति. प./७/११६); (रा. वा./४/१३/४/२२०/११)।

ति. प./७/६११-६१२ सव्वे कुणंति मेरुं पदाहिणं जंबुदीवजोदिगणा। अद्धपमाणा धादइसंडे तह पोक्खरद्धम्मि।६११। मणुसुत्तरादो परदो संभूरमणो त्ति दीवउवहीणं। अचरसरूवठिदाणं जोइगणाणं परूवेमो।६१२। –जम्बूद्वीपमें सब ज्योतिषीदेवोंके समूह मेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं, तथा धातकी खण्ड और पुष्करार्ध द्वीपमें आधे ज्योतिषीदेव मेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं।६११। मानुषोत्तर पर्वतसे आगे, स्वयंभू-रमण पर्यंत द्वीप समुद्रोंमें अचर स्वरूपसे स्थित ज्योतिषी देवोंके समूहका निरूपण करते हैं।६१२।

३. ज्योतिष विमानोंका प्रमाण

संकेत—सं. प्र. अं—संख्यात प्रतरांगुल; ज. श्रे.—जगश्रेणी।

प्रमाण—प्रत्येक विकल्पका प्रमाण उसके निचे दिया गया है। जहाँ केवल ब्रैकेटमें नं० दिया है वहाँ ति. प./७/गा. समझना।

लोकके किस भागमें	चन्द्र	सूर्य	ग्रह	नक्षत्र	तारे: अचर तारे	तारे: कुल तारे कोड़ाकोड़ी
प्रत्येक चन्द्रका परिवार	१	१.	८८	२८		६६९७५.
	→ ज्योतिषी /१/५ ←					(ज्योतिषी/१/५)
नोट-(यहाँ से आगे केवल चन्द्र व अचर ताराओंका प्रमाण दिया गया है, शेष विकल्प उपरोक्त अनुपात के गुणाकार से प्राप्त हो जाते हैं।)(ज.प/१२/८७)						
जंबू द्वी.	२ (११६)	२	१७६	५६	३६(५९९)	१३३९५० (※)
लवण.	४ (५५०)	४	३५२	११२	१३९(६०८)	२६७९००
धातकी	१२ (")	१२	१०५६	३३६	१०१०(")	८०३७००
कालोद	४२ (")	४२	३६९६	११७६	४११२०(")	२८१२९५०
पुष्करार्द्ध	७२ (")	७२	६३३६	२०१६	५३२३०(")	४८२२२००
	(ह. पु/६/२६-२७), (ज.प/१२/१०६-१०७) (त्रि.सा/३४६)				(त्रि.सा/३४७)	
मनुष्य-लोक	१३२	१३२	११६१६	३६९६	—	८८४०७००
	→		(ति प/७/६०६-६०९).			←
सर्वलोक	ज.श्रे²÷(सं.प्र.अं×६५५३६०० ...) ... [see below]					

सर्वलोक	
चन्द्र	ज.श्रे²÷(सं.प्र.अं×६३८९२७ ३६०००००००००३३२४८) (ति प/७/१२-१३)
सूर्य	चन्द्र के बराबर (१४)
ग्रह	ज.श्रे²÷(सं.प्र.अं×५७८६ ५९२०००००००००१६६५६)×११ (ति.प्र.(७/२३)
नक्षत्र	ज.श्रे²÷(सं.प्र.अं×१०७३१८४ ०००००००००११३३३१२)×७ (ति.प/७/२९-३०)
अचर तारे	
कुल तारे	ज.श्रे²÷(सं.प्र.अं×२६७९ ००००००००००४७२)×४९ ८७८२९५८९८४३७५ (ति.प/७/३३-३५)

※—ताराओंका विशेष अवस्थान दे. अगला शीर्षक

हैं। ज्योतिषी/२/१) जितने विमान आदि हैं उतने ही देव हैं।

नोट—विशेषताके लिए दे० पृष्ठ ३४७का चित्र।

४. क्षेत्र व पर्वतों आदिपर ताराओंके प्रमाणका विभाग

त्रि. सा./३७१ णउदिसयभजिदतारा सगदुगुणसलागसमभत्था। भरहादि विदेहोत्ति य तारा वस्से य वस्सधरे। –(जम्बूद्वीपके कुल १३३९५० कोड़ाकोड़ी तारोंका क्षेत्रों व कुलाचल पर्वतोंकी अपेक्षा विभाग करते हैं।) जम्बूद्वीपके दो चन्द्रों सम्बन्धी तारे १३३९५० को. को. हैं। इनको १९० का भाग दीजिए जो प्रमाण होय ताको भरतादिक्षेत्र या कुलाचलकी १/२/४/८/१६/३२/६४/३२/१६/८/४/२/१ शलाका करि गुणें उन उनके ताराओंका प्रमाण होता है। अर्थात उपरोक्त सर्व ताराओं-की राशिको उपरोक्त अनुपात (Ratio) से विभाजित करनेपर क्रमसे भरतादि क्षेत्रों व कुलाचलोंके तारोंका प्रमाण प्राप्त होता है।

५. अचर ज्योतिष विमान

ह. पु./६/३१-३४ सारार्थ—मानुषोत्तर पर्वतसे ५०,००० योजन आगे चल-कर सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिषी वलयके रूपमें स्थित हैं। अर्थात मानुषोत्तरसे ५०,००० यो० चलकर ज्योतिषियोंका पहला वलय है। उसके आगे एक-एक लाख योजन चलकर ज्योतिषियोंके वलय (अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त) है। प्रत्येक वलयमें चार-चार सूर्य और चार-चार चन्द्र अधिक हैं, एवं एक दूसरेकी किरणें निरन्तर परस्परमें मिली हुई हैं। ३१-३४।)

(अन्तिम वलय स्वयंभूरमण समुद्रकी वेदीसे ५०,००० योजन इधर ही रह जाता है। प्रत्येक द्वीप या समुद्रके अपने-अपने वलयोंमें प्रथम वलयसे लेकर अन्तिम वलय तक चन्द्र व सूर्योंका प्रमाण उत्तरो-त्तर चार चय करि अधिक होता गया है। इससे आगे अगले द्वीप या समुद्रका प्रथम वलय प्राप्त होता है। प्रत्येक द्वीप या सागरके प्रथम वलयमें अपनेसे पूर्ववाले द्वीप या सागरके प्रथम वलयसे दुगुने चन्द्र और सूर्य होते हैं। यह क्रम अपर पुष्करार्धके प्रथम वलयसे स्वयंभू-रमण सागरके अन्तिम वलय तक ले जाना चाहिए।) (ति. प./७/६१२-६१३ पद्य व गद्य। पृ० ७६१-७६७); (ज. प./१२/९५-८६); (त्रि. सा./३४९ ३६१)।

द्वीप या सागर	वलय	प्रथम वलयमें चन्द्र	द्वीप या सागर	वलय	प्रथम वलयमें चन्द्र
पुष्करार्द्ध	८	१४४	नंदीश्वर द्वी.	१६३८४	१४७४५६
पुष्करोद	३२	२८८	नंदी सा.	३२७६८	२९४९१२
वारुणीद्वी.	६४	५७६	स्वयंभू रमण सा.		ज. श्रे. ÷ २८ लाख + ७/४ (ति. प.)
वारुणी सा.	१२८	११५२			
क्षीरवर द्वी.	२५६	२३०४	सब वलय	ज. श्रे ÷ १४लाख − १३ (ति. प.)	
क्षीरवर सा.	५१२	४६०८			
घृतवर द्वी.	१०२४	९२१६			
घृतवर सा.	२०४८	१८४३२			
क्षौद्रवर द्वी.	४०९६	३६८६४	(ति. प./७/६१२-६१३ गद्य)		
क्षौद्रवर सा.	८१९२	७३७२८	(त्रि. सा./३४९-३६१ गद्य)		
(ज. प./१२/२१-४०)			(ज. प./१२/८८-९१)		

४. चर ज्योतिष विमानोंका चार क्षेत्र—

टिप्पण—गमनशील बिम्ब मनुष्यक्षेत्र अर्थात् जम्बूद्वीप, लवणोदसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोद समुद्र और पुष्करार्धद्वीपमें ही है (त. सू./४/१३-१५); (स. सि./४/१३/२४५/११); (ह. पु./६/२५); (त्रि. सा./३४५); (ज. प/१२/१३)। तिनमें पृथक्-पृथक् चन्द्र आदिकोंका प्रमाण पहले बताया गया है (दे. ज्योतिषी/२/३)। ये सभी ज्योतिषी देव ११२१ योजन छोड़कर मेरुओंको प्रदक्षिणा रूपसे स्व-स्व मार्गमें गमन करते रहते हैं।

उनके गमन करनेके मार्गको चार क्षेत्र कहते हैं। अर्थात् आकाशके इतने भागमें ही ये गमन करते हैं इसके बाहर नहीं। यद्यपि चन्द्रादिकी संख्या आगे-आगेके द्वीपोंमें बढ़ती गयी है पर उनके चार क्षेत्रका विस्तार सर्वत्र एक ही है। दो-दो चन्द्र व सूर्य का एक ही चारक्षेत्र है। अतः चन्द्रों व सूर्योंकी संख्याको दोसे भाग देनेपर उस-उस द्वीप व सागरमें उनके चार क्षेत्रोंका प्रमाण प्राप्त हो जाता है। (देखो नीचे सारिणो)

चन्द्रमा व सूर्य दोनों ही के चार क्षेत्र सर्वत्र ५१०$\frac{४८}{६१}$ योजन चौड़े तथा उस-उस द्वीप व सागरकी परिधि प्रमाण होते हैं। चन्द्रमाके प्रत्येक चार क्षेत्रमें १५ तथा सूर्यके प्रत्येक चार क्षेत्रमें १८४ गलियाँ कल्पित की गयी हैं। चन्द्रमाकी गलियोंके बीच अन्तराल सर्वत्र ही ३५$\frac{२१४}{४२७}$ योजन तथा सूर्यकी गलियोंके बीच २ योजन होता है, क्योंकि चारक्षेत्र समान होते हुए गलियाँ हीनाधिक हैं। प्रत्येक गलीका विस्तार अपने-अपने बिम्बके विस्तारके जितना ही समझना चाहिए अर्थात् चन्द्र पथका विस्तार $\frac{५६}{६१}$ × $\frac{२८}{६१}$ योजन तथा सूर्य पथका विस्तार $\frac{४८}{६१}$ × $\frac{२४}{६१}$ योजन चौड़ा व ऊँचा है। (दे० नीचे सारिणी)

चन्द्र व सूर्य प्रतिदिन आधी-आधी गलीका अतिक्रमण करते हुए अगली-अगली गलीको प्राप्त होते रहते हैं शेष आधी गलीमें वे नहीं जाते हैं, क्योंकि वह द्वितीय चन्द्र व सूर्यसे भ्रमित होता है (ति. प./७/२०१)। यहाँ तक कि १५वे दिन चन्द्रमा और १८४वें दिन सूर्य अन्तिम गलीमें पहुँच जाते हैं। वहाँसे पुनः भीतरकी गलियोंकी ओर लौटते हैं, और क्रमसे एक-एक दिनमें एक-एक गलीका अतिक्रमण करते हुए एक महीनेमें चन्द्र और एक वर्षमें सूर्य अपने पहली गलीको पुनः प्राप्त कर लेते हैं।

नोट—राहुकेतुके गमनके लिए (देखो ज्योतिषी/२/८)।

ति.प./७/गा./सारार्थ—जम्बू द्वीप सम्बन्धी सूर्य व चन्द्रमा १८० योजन तो द्वीप विषै और ३३०$\frac{४८}{६१}$ योजन लवण समुद्र विषै विचरते हैं, अर्थात् उनके ५१०$\frac{४८}{६१}$ यो. प्रमाण चार क्षेत्रका इतना इतना भाग द्वीप व समुद्रकी प्रणिधियोंमें पड़ता है। ११८,२१८। (त्रि.सा./३७५)।

(सभी) द्वीप व समुद्रोंके अपने-अपने चन्द्रोंमेंसे आधे एक भागमें अर्थात् पूर्व दिशामें और आधे दूसरे भागमें अर्थात् पश्चिम दिशामें पंक्तिक्रमसे संचार करते हैं।५५१। पश्चात् चन्द्रबिम्ब अग्निदिशासे लांघकर वीथीके अर्धभागमें जाता है। द्वितीय चन्द्रसे भ्रमित होनेके कारण शेष अर्ध भागमें नहीं जाता।२०६। (इसी प्रकार) अपने-अपने सूर्योंमें से आधे एक भागमें और दूसरे आधे दूसरे भागमें पंक्तिक्रमसे संचार करते हैं।५७२।

अठासी ग्रहोंका एक ही चार क्षेत्र है (अर्थात् प्रत्येक चन्द्र सम्बन्धी ८८ ग्रहोंका पूर्वोक्त ही चार क्षेत्र है।) जहाँ प्रत्येक वीथीमें उनके योग्य वीथियाँ हैं और परिधियाँ हैं। (चन्द्रमावाली वीथियोंके बीचमें ही यथायोग्य ग्रहोंकी वीथियाँ है) वे ग्रह इन परिधियोंमें संचार करते हैं। इनका मेरु पर्वतसे अन्तराल तथा और भी जो पूर्वमें कहा जा चुका है इसका उपदेश कालवश नष्ट हो चुका है।४५७-४५८।

चन्द्रकी १५ गलियोंके मध्य उन २८ नक्षत्रोंकी ८ ही गलियाँ होती हैं। अभिजित आदि ६ (देखो नक्षत्र), स्वाति, पूर्वाफाल्गुनी और उत्तराफाल्गुनी ये १२ नक्षत्र चन्द्रके प्रथम मार्गमें संचार करते हैं। चन्द्रके तृतीय पथमें पुनर्वसु और मघा, ७वेंमें रोहिणी और चित्रा, ६ठेमें कृत्तिका और ८वेंमें विशाखा नक्षत्र संचार करता है। १०वेंमें अनुराधा, ११वेंमें ज्येष्ठा, और १५वें मार्गमें हस्त, मूल, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़, मृगशिरा, आर्द्रा, पुष्य और आश्लेषा ये आठ नक्षत्र संचार करते हैं। (शेष २,४,५,६,१२,१३,१४ इन सात मार्गोंमें कोई नक्षत्र संचार नहीं करता) ।४५६-४६२। स्वाति, भरणी, मूल, अभिजित और कृत्तिका ये पाँच नक्षत्र अपने-अपने मार्गमें क्रमसे ऊर्ध्व, अधः, दक्षिण, उत्तर और मध्यमें संचार करते हैं ।४६१। तथा (त्रि.सा./३४४)। ये नक्षत्र मन्दर पर्वतके प्रदक्षिणा क्रमसे अपने अपने मार्गोंमें नित्य ही संचार करते हैं।४६२। नक्षत्र व तारे एक ही पथ विषै गमन करते हैं, अन्य अन्य वीथियोंको प्राप्त नहीं होते हैं (त्रि.सा./३४५)।

नक्षत्रोंके गमनसे सब ताराओंका गमन अधिक जानना चाहिए। इसके नामादिकका उपदेश इस समय नष्ट हो गया।४९६।

लवणोद आदिके ज्योतिषी मण्डलकी कुछ विशेषताएँ

जम्बूद्वीपमें सब ज्योतिषी देवोंके समूह, मेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं तथा धातकीखण्ड और पुष्करार्धद्वीपमें आधे ज्योतिषी मेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं (आधे नहीं करते)।६११। लवण समुद्र आदि चारमें जो सूर्य व चन्द्र हैं उनकी किरणें अपने अपने क्षेत्रोंमें ही जाती हैं अन्य क्षेत्रमें कदापि नहीं जातीं।२८६।

(उपरोक्त कुल कथन त्रि.सा/३७४-३७६ में भी दिया है)।

नोट—निम्न सारणीमें ब्रैकेटमें रहे अंक ति.प./७/की गाथाओंको सूचित करते हैं। प्रत्येक विकल्पका प्रमाण उसके नीचे ब्रैकेटमें दिया गया है।

संकेत—उप—चन्द्र या सूर्यका अपना अपना उपरोक्त विकल्प।

८. अमावस्या, ग्रहण, दिन-रात्रि आदिका उत्पत्ति क्रम

१. अमावस्या, पूर्णिमा व चन्द्र ग्रहण—

ति. प./७/गा. चन्द्रके नगरतलसे चार प्रमाणांगुल नीचे जाकर राहु विमानके ध्वज दण्ड होते हैं। २०१। दिन और पर्वके भेदसे राहुओंके पुरतलोंके गमन दो प्रकार होते हैं। इनमेंसे दिन राहुकी गति चन्द्र सदृश होती है।२०५। एक वीथीको लाँघकर दिन राहु और चन्द्र-बिम्ब जम्बूद्वीपकी आग्नेय और वायव्य दिशासे तदनन्तर वीथीमें आते हैं।२०७। राहु प्रतिदिन एक-एक पथमें चन्द्रमण्डलके सोलह भागोंमें से एक-एक कला (भाग) को आच्छादित करता हुआ क्रमसे पन्द्रह कला पर्यंत आच्छादित करता है।२०८,२११। इस प्रकार अन्तमें जिस मार्गमें चन्द्रकी केवल एक कला दिखाई देती है वह अमावस्या दिवस होता है।२१२। चान्द्र दिवसका प्रमाण ३१ ३३/६२ मुहूर्त प्रमाण है।२१३। प्रतिपदाके दिनसे वह राहु एक-एक वीथीमें गमन विशेषसे चन्द्रमाकी एक-एक कलाको छोड़ता है।२१४। यहाँ तक कि मनुष्य-लोकमें उनमेंसे जिस मार्गमें चन्द्रबिम्ब परिपूर्ण दिखता है वह पूर्णिमा नामक दिवस होता है।२०६। अथवा चन्द्रबिम्ब स्वभावसे ही १५ दिनों तक कृष्ण कान्ति स्वरूप और इतने ही दिनों तक शुक्ल कान्ति स्वरूप परिणमता है।२१५। पर्वराहु नियमसे गतिविशेषोंके कारण छह मासोंमें पूर्णिमाके अन्तमें पृथक्-पृथक् चन्द्रबिम्बोंको आच्छादित करते हैं। (इससे चन्द्र ग्रहण होता है)।२१६।

२. दिन व रात

सूर्यके नगरतलसे चार प्रमाणांगुल नीचे जाकर अरिष्ट (केतु) विमानोंके ध्वजदण्ड होते हैं।२७२। सूर्यके प्रथम पथमें स्थित रहनेपर १८ मुहूर्त दिन और १२ मुहूर्त रात्रि होती है।२७७। तदन्तर द्वितीयादि पथोंमें रहते हुए बराबर दिनमें २/६१ की हानि और रात्रिमें इतनी ही वृद्धि होती जाती है। २८०। यहाँ तक कि बाह्य मार्गमें स्थित रहते समय सब परिधियोंमें १८ मुहूर्तकी रात्रि और १२ मुहूर्तका दिन होता है।२७८। सूर्यके बाह्य पथसे आदि पथकी ओर आते समय पूर्वोक्त दिन व रात्रि क्रमशः (पूर्वोक्त वृद्धिसे) अधिक व हीन होते जाते हैं (४५३); (त्रि. सा./३७६-३८१)।

३. अयन व वर्ष

सूर्य, चन्द्र, और जो अपने-अपने क्षेत्रमें संचार करनेवाले ग्रह हैं, उनके अयन होते हैं। नक्षत्र समूह व ताराओंका इस प्रकार अयनोंका नियम नहीं है।४९८। सूर्यके प्रत्येक अयनमें १८३ दिन-रात्रियाँ और चन्द्रके अयनमें १३ ४४/६७ दिन होते हैं।४४६। सब सूर्यों-का दक्षिणायन आदिमें और उत्तरायन अन्तमें होता है। चन्द्रोंके अयनोंका क्रम इससे विपरीत है।५००। अभिजित आदि दै करि पुष्य पर्यन्त जे जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट नक्षत्र तिनके १८३ दिन उत्तरायणके हो हैं। बहुरि इनतैं अधिक ३ दिन एक अयन विषै गत दिवस हो है। (त्रि० सा./४०७)।

४. तिथियोंमें हानि-वृद्धि व अधिक (लौंद) मास

त्रि. सा./गा. एक मास विषै एक दिनकी वृद्धि होइ, एक वर्ष विषै बारह दिनकी वृद्धि होइ अढाई वर्ष विषै एक मास अधिक होइ। पंचवर्षीय युग विषै दो मास अधिक हो है। ।१४०। आषाढ मास विषै पूर्णिमाके दिन अपराह्न समय उत्तरायणकी समाप्तिपर युगपूर्ण होता है।४११।

९. ज्योतिषी देवोंके निवासों व विमानोंका स्वरूप व संख्या

ति. प./७/गा. चन्द्र विमानों (नगरों) में चार-चार गोपुर द्वार, कूट, वेदी व जिन भवन हैं।४१-४२। विमानोंके कूटोंपर चन्द्रोंके प्रासाद होते हैं।५०। इन भवनोंमें उपपाद मन्दिर, अभिषेकपुर, भूषणगृह, मैथुनशाला, क्रीड़ाशाला, मन्त्रशाला और सभा भवन हैं।५२। प्रत्येक भवनमें सात-आठ भूमियाँ (मंजिलें) होती हैं।५४। चन्द्र विमानों व प्रासादोंवत् सूर्यके विमान व प्रासाद हैं।७०-७४। इसी प्रकार ग्रहोंके विमान व प्रासाद।८६-८७। नक्षत्रोंके विमान व प्रासाद।१०६। तथा ताराओंके विमानों व प्रासादोंका भी वर्णन जानना।११३। राहु व केतुके नगरों आदिका वर्णन भी उपरोक्त प्रकार ही जानना।२०४, २७५।

चन्द्रादिकोंकी निज-निज राशिका जो प्रमाण है, उतना ही अपने-अपने नगरों, कूटों और जिन भवनोंका प्रमाण है।११४।

१०. ज्योतिषी देवोंके विमानोंका विस्तार व रंग आदि—

(ति. प./७/गा.); (त्रि. सा./३३७-३३६)।
संकेत :—यो.—योजन, को.—कोश।

नाम	प्रमाण ति.प./७/गा.	आकार	व्यास	गहराई	रंग
चन्द्र	३७-३६	अर्धगोल	५६/६१ यो.	२८/६१ यो.	मणिमय
सूर्य	६६-६८	,,	४८/६१ यो.	२४/६१ यो.	,,
बुध	८४-८५	,,	१/२ को.	१/४ को.	स्वर्ण
शुक्र	६०-६१	,,	१ को.	१/२ को.	रजत
बृहस्पति	६४-६५	,,	कुछ कम १ को	१/२ को.	स्फटिक
मंगल	६७-६८	,,	१/२ को.	१/४ को.	रक्त
शनि	६६-१०१	,,	१/२ को.	१/४ को.	स्वर्ण
नक्षत्र	१०६	,,	१ को.	१/२ को.	सूर्यवत्
तारे उत्कृष्ट	१०६-११०	,,	१ को.	१/२ को.	...
,, मध्यम	१०६-१११	,,	१/२, ३/४ को.	१/४, ३/८ को.	...
,, जघन्य	१०६-१११	,,	१/४ को.	१/८ को.	...
राहु	२०२-२०३	,,	१ यो.	२५० धनु	अंजन
केतु	२७३-२७४	,,	,,	,,	,,

नोट—चन्द्रके आकार व विस्तार आदिका चित्र—दे० पृ० ३४८।

ज्योतिष विद्या—१. ज्योतिष देवों (चन्द्र सूर्य आदि) की गति-विधि पर से भूत भविष्यत् को जानने वाला एक महानिमित्त ज्ञान *Astronomy* (ध. ६/ध.-२७)। २. साधुजन को ज्योतिष विद्या के प्रयोग का कथंचित् विधि निषेध।—दे. मंत्र।

ज्वाला मालिनी कल्प—
भट्टारक इन्द्र नन्दि (वि. ६६६) कृत १० परिच्छेद ३७२ पद्य वाला तान्त्रिक ग्रन्थ। (ती./३/१८०)।

ज्वालिनी कल्प—
भट्टारक मल्लिषेण (ई. १०४७) कृत १४ पद्यों वाला लघुकाय तान्त्रिक ग्रन्थ। (ती./३/१७६)।

[झ]

झंझावात—(भ० आ०/ भाषा/६०८/८०६/१८)–जलवृष्टि सहित जो वायु बहती है उसे झंझावात कहते हैं।

झष—५ वें नरकका ३रा पटल—दे० नरक/५/११।

झाब दशमीव्रत—झाब दशमीव्रत दश दशपुरी। दश श्रावक दे भोजन करी।

नोट—यह व्रत श्वेताम्बर व स्थानकवासी आम्नायमें प्रचलित है। (नवलसाह कृत वर्द्धमान पुराण); (व्रत विधान संग्रह/पृ० १३०)

झूठ—दे० असत्य।

[ट]

टंक—(ध. १४/५,६,६४१/४९५/४)—सिलामयपव्वएसु उक्किण्णवावी-कूव-तलाय-जिणधरादीणि टंकाणि णाम।—शिलामय पर्वतोंमें उकीरे गये वापी, कुँआ, तालाब, और जिनघर आदि टंक कहलाते हैं।

टंकण—ऐरावती नदी व गिरिकूट पर्वतके निकट स्थित एक नगर—दे० मनुष्य/४।

टंकोत्कीर्ण—(प्र. सा./त. प्र./५१) क्षायिकं हि ज्ञानं···तट्टङ्कोत्कीर्ण-न्यायावस्थित समस्तवस्तुज्ञेयाकारतयाधिरोपितनित्यत्वम्। —वास्तव में क्षायिक (केवल) ज्ञान अपनेमें समस्त वस्तुओंके ज्ञेयाकार टंकोत्कीर्ण न्यायसे स्थित होनेसे जिसने नित्यत्व प्राप्त किया है।

टिप्पणी—गणित विषयक Notes (ध. ५/प्र. २७)।

टीका—(क. पा. २/१.२२/§२१/१४/८) वित्तिसुत्तविवरणाए टीकाववएसादो।—वृत्तिसूत्रके विशद व्याख्यानको टीका कहते हैं।

टोडर मल—नगर जयपुर, पिताका नाम जोगीदास, माताका नाम रम्भादेवी, गोत्र गोदीका (बड़ जातीया), जाति खण्डेलवाल, पंथ-तेरापंथ, गुरु बंशीधर थे। व्यवसाय साहूकारी था। जैन आम्नायमें आप अपने समयमें एक क्रान्तिकारी पण्डित हुए हैं। आपके दो पुत्र थे हरिचन्द्र व गुमानीराम। आपने निम्न रचनाएँ की हैं—१. गोमट्टसार; २. लब्धिसार; ३. क्षपणसार; ४. त्रिलोकसार; ५. आत्मानुशासन, ६. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय—इन छह ग्रन्थोंकी टीकाएँ। ७. गोमट्टसार व लब्धिसारकी अर्थ संदृष्टियाँ, ८. गोम्मट्टसार पूजा, ९. मोक्षमार्ग प्रकाशक; १०. रहस्यपूर्ण चिट्ठी। आप शास्त्र रचनामें इतने संलग्न रहते थे कि ६ महीने तक, जब तक कि गोम्मट्टसारकी टीका पूर्ण न हो गयी, आपको यह भी भान न हुआ कि माता भोजनमें नमक नहीं डालती है। आप अत्यन्त विरक्त थे। उनकी विद्वत्ता व अजेय तर्कोंसे चिढ़कर किसी विद्वेषीने राजासे उनकी चुगुली खायी। फल स्वरूप केवल ३२ वर्षकी आयुमें उन्हें हाथीके पाँव तले रौंदकर मार डालनेका दण्ड दिया गया, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार ही न किया बल्कि इस पापकार्यमें प्रवृत्ति न करते हुए हाथीको स्वयं सम्बोधकर प्रवृत्ति भी करायी। समय—जन्म वि. १७९७ मृत्यु वि. १८२४ (ई. १७४०-१७६७)। (मो. मा. प्र./प्र. ६/ पं० परमानन्द जी शास्त्री), (ती/४/२८३)।

[ढ]

ढड्ढा—चित्रकूट (चित्तौड़गढ़) के निवासी एक पण्डित थे। श्रीपलाके पुत्र तथा प्राग्वाट (पोरवाड या परवार) जातीय वैश्य थे। आपने दिगम्बर पंच संग्रहके आधारपर एक संस्कृत पंचसंग्रह नामक ग्रन्थ लिखा है। समय—वि० श० १७। (पं. सं. प्र. ४१/ A. N. up) वि. श. ११ पूर्वार्ध (जै./१/३७५)।

ढूंढिया मत—दे० श्वेताम्बर।

[ण]

णमोकार पैंतीसी व्रत—आषाढ़ शु७ से आसौज शु ७ तक ७ सप्तमियाँ; कार्तिक कृ० ५ से पौष कृ० ५ तक ५ पंचमियाँ; पौष कृ० १४ से आषाढ़ शु० १४ तक १४ चतुर्दशियाँ; श्रावण कृ० ९ से आसौज कृ० ९ तक ९ नवमियाँ, इस प्रकार ३५ तिथियोंमें ३५ उपवास करे। णमोकार मन्त्रकी त्रिकाल जाप्य करे। नमस्कार मन्त्रकी ही पूजा करे। (व्रत विधान संग्रह/पृ. ४५)।

णमोकार मन्त्र—दे० मन्त्र/२।

णिक्खोविम—दे० निक्षेप/५/९।

[त]

तंडुल मत्स्य—दे० सम्मूर्च्छन/७

तंतुचारण ऋद्धि—दे० ऋद्धि/४।

तंत्र—दे० मंत्र।

तंत्र सिद्धांत—तंत्र सिद्धांतके लक्षण व भेदादि—दे० सिद्धांत।

तक्षशिला—वर्तमान टैक्सिला। उत्तर पंजाबका एक प्रसिद्ध नगर। (म.पु./प्र.४९ पं. पन्नालाल)। सिन्ध नदीसे जेहलम तकके समस्त प्रदेशका नाम तक्षशिला था। जिसपर सिकन्दरके समय राजा अम्भी राज्य करता था। (वर्तमान भारतका इतिहास)

ततक—द्वितीय नरकका प्रथम पटल। दे० नरक/५।

तत्—स.सि./१/२/८/३ तदिति सर्वनामपदम्। सर्वनाम च सामान्ये वर्तते। —'तत' यह सर्वनाम पद है। और सर्वनाम सामान्य पदमें रहता है। (रा.वा/१/२/५/१९/१९); (ध.१३/५.५,५०/२८५/११)
ध.१/१,१,३/१३२/४ तच्छब्दः पूर्वप्रकान्तपरामर्शी इति। —'तत' शब्द पूर्व प्रकरणमें आये हुए अर्थका परामर्शक होता है।
पं.ध./३१२ 'तद्···भावविचारे परिणामो···सदृशो वा। —तत्के कथनमें सदृश परिणाम विवक्षित होता है।
२. द्रव्यमें तत धर्म—दे० अनेकान्त/४।

तत्त्व—चौथे नरकका चौथा पटल—दे० नरक/५।

तत्त्व—प्रयोजनभूत वस्तुके स्वभावको तत्त्व कहते हैं। परमार्थमें एक शुद्धात्मा ही प्रयोजनभूत तत्त्व है। वह संसारावस्थामें कर्मोंसे बँधा हुआ है। उसको उस बन्धनसे मुक्त करना इष्ट है। ऐसे हेय व उपादेयके भेदसे वह दो प्रकारका है अथवा विशेष भेद करनेसे वह सात प्रकारका कहा जाता है। यद्यपि पुण्य व पाप दोनों ही आस्रव हैं, परन्तु संसारमें इन्हीं दोनोंकी प्रसिद्धि होनेके कारण इनका पृथक निर्देश करनेसे वे तत्त्व नौ हो जाते हैं।

१. भेद व लक्षण

१. तत्त्वका अर्थ

१. वस्तुका निज स्वरूप

स.सि./२/१/१५०/११ तद्भावस्तत्त्वम्। –जिस वस्तुका जो भाव है वह तत्त्व है। (स.सि./५/४२/३१७/५); (ध.१३/५,५,५०/२८५/११); (मो.मा.प्र./४/८०/१४)

रा.वा/२/१/६/१००/२५ स्वं तत्त्वं स्वतत्त्वं, स्वोभावोऽसाधारणो धर्मः। –अपना तत्त्व स्वतत्त्व होता है, स्वभाव असाधारण धर्मको कहते हैं। अर्थात् वस्तुके असाधारण रूप स्वतत्त्वको तत्त्व कहते हैं।

ज्ञा.श./टी./३५/२३५ आत्मनस्तत्त्वमात्मनःस्वरूपम्। –आत्म तत्त्व अर्थात् आत्माका स्वरूप।

स.सा./आ./३५६/४११/७ यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति…इति तत्त्व सम्बन्धे जीवति। –जिसका जो होता है वह वही होता है…ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित होनेसे…।

२. यथावस्थित वस्तु स्वभाव

स.सि./१/२/८/३ तत्त्वशब्दो भावसामान्यवाची। कथम्? तदिति सर्वनामपदम्। सर्वनाम च सामान्ये वर्तते। तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्य कस्य? योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः। –तत्त्व शब्द भाव सामान्य वाचक है, क्योंकि 'तत्' यह सर्वनाम पद है और सर्वनाम सामान्य अर्थमें रहता है अतः उसका भाव तत्त्व कहलाया। यहाँ तत्त्व पदसे कोई भी पदार्थ लिया गया है। आशय यह कि जो पदार्थ जिस रूपसे अवस्थित है, उसका उस रूप होना यही यहाँ तत्त्व शब्दका अर्थ है। (रा.वा/१/२/१/१९/६); (रा.वा/१/२/५/१९/१९); (भ.आ./वि./४६/१५०/१६); (स्या.म./२५/२९६/१५)

३. सत्, द्रव्य, कार्य इत्यादि

न.च./४ तच्चं तह परमट्ठं दव्वसहावं तहेव परमपरं। धेयं सुद्धं परमं एयट्ठा हुंति अभिहाणा ।४। –तत्त्व, परमार्थ, द्रव्यस्वभाव, परमपरम, ध्येय, शुद्ध और परम ये सब एकार्थवाची शब्द हैं।

गो.जी./जी.प्र./५६१/१००६ आर्या नं.१ प्रदेशप्रचयात्कायाः द्रवणाद्द्रव्यनामकाः। परिच्छेद्यत्वतस्तेऽर्थाः तत्त्वं वस्तु स्वरूपतः ।१। –बहुत प्रदेशनिका प्रचय समूहकौं धरैं है तातैं काय कहिये। बहुरि अपने गुण पर्यायनिकौं द्रवैं है तातैं द्रव्यनाम कहिए। जीवनकरि जानने योग्य हैं तातैं अर्थ कहिए, बहुरि वस्तुस्वरूपपनाकौं धरै हैं तातैं तत्त्व कहिए।

पं.ध./पू./८ तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्। तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च ।८। –तत्त्वका लक्षण सत् है अथवा सत् ही तत्त्व है। जिस कारणसे कि वह स्वभावसे ही सिद्ध है, इसलिए वह अनादि निधन है, वह स्वसहाय है और निर्विकल्प है।

४. अविपरीत विषय

रा.वा./१/२/१/१९/८ अविपरीतार्थविषयं तत्त्वमित्युच्यते। –अविपरीत अर्थके विषयको तत्त्व कहते हैं।

५. श्रुतज्ञानके अर्थमें

ध.१३/५,५,५०/२८५/११ तदिति विधिस्तस्य भावस्तत्त्वम्। कथं श्रुतस्य विधिव्यपदेशः? सर्वनयविषयाणामस्तित्वविधायकत्वात्। तत्त्वं श्रुतज्ञानम्। –'तत्' इस सर्वनामसे विधिकी विवक्षा है, 'तत्' का भाव तत्त्व है। प्रश्न—श्रुतकी विधि संज्ञा कैसे है? उत्तर—चूँकि वह सब नयोंके विषयके अस्तित्व विधायक है, इसलिए श्रुतकी विधि संज्ञा उचित ही है। तत्त्व श्रुतज्ञान है। इस प्रकार तत्त्वका विचार किया गया है।

२. तत्त्वार्थका अर्थ

नि.सा./मू./९ जीवापोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं। तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता ।९। –जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल और आकाश, यह तत्त्वार्थ कहे हैं, जो कि विविध-गुणपर्यायोंसे संयुक्त है।

स.सि./१/२/८/५ अर्यते इत्यर्थो निश्चीयत इति यावत्। तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः अथवा भावेन भाववतोऽभिधानम्, तदव्यतिरेकात्। तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थः। –अर्थ शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है – अर्यते निश्चीयते इत्यर्थः–जो निश्चय किया जाता है। यहाँ तत्त्व और अर्थ इन दोनों शब्दोंके संयोगसे तत्त्वार्थ शब्द बना है जो 'तत्त्वेन अर्थः तत्त्वार्थः' ऐसा समास करनेपर प्राप्त होता है। अथवा भाव द्वारा भाववाले पदार्थका कथन किया जाता है, क्योंकि भाव भाववालेसे अलग नहीं पाया जाता है। ऐसी हालतमें इसका समास होगा 'तत्त्वमेव अर्थः तत्त्वार्थः।'

रा.वा./१/२/६/१९/२३ अर्यते गम्यते ज्ञायते इत्यर्थः, तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः। येन भावेनार्थो व्यवस्थितस्तेन भावेनार्थस्य ग्रहणं (तत्त्वार्थः)। –अर्थ माने जो जाना जाये। तत्त्वार्थ माने जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित है उसका उसी रूपसे ग्रहण।

३. तत्त्वोंके ३,७ वा ९ भेद

त.सू./१/४ जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।४। –जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। (न.च./१५०)

नि.सा./ता.वृ./५/१२/१ तत्त्वानि बहिस्तत्त्वान्तस्तत्त्वपरमात्मतत्त्वभेदभिन्नानि अथवा जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षाणां भेदात्सप्तधा भवन्ति। –तत्त्व बहिस्तत्त्व और अन्तस्तत्त्व रूप परमात्म तत्त्व ऐसे (दो) भेदों वाले हैं। अथवा जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ऐसे भेदोंके कारण सात प्रकारके हैं। (इन्हींमें पुण्य, पाप और मिला देनेपर तत्त्व नौ कहलाते हैं)। नौ तत्त्वोंका नाम निर्देश—दे० पदार्थ।

* **गरुड़ तत्त्व आदि ध्यान योग्य तत्त्व**—दे० वह वह नाम।

* **परम तत्त्वके अपर नाम**—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

२. सप्त तत्त्व व नव पदार्थ निर्देश

१. तत्त्व वास्तवमें एक है

स.सि./१/४/१६/१ तत्त्वशब्दो भाववाचीत्युक्तः। स कथं जीवादिभिर्द्रव्यवचनैः समानाधिकरण्यं प्रतिपद्यते? अव्यतिरेकात्तद्भावाध्यारोपाच्च समानाधिकरण्यं भवति। यथा उपयोग एवात्मा इति। यद्येवं तत्लिङ्गसङ्ख्यानुव्यतिक्रमो न भवति। –प्रश्न—तत्त्व शब्द भाववाची है इसलिए उसका द्रव्यवाची जीवादि शब्दोंके साथ समानाधिकरण कैसे हो सकता है? उत्तर—एक तो भाव द्रव्यसे अलग नहीं पाया जाता, दूसरा भावमें द्रव्यका अध्यारोप कर लिया जाता है इसलिए समानाधिकरण बन जाता है। जैसे—'उपयोग ही आत्मा है' इस वचनमें गुणवाची उपयोगके साथ द्रव्यवाची आत्मा शब्दका समानाधिकरण है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए। प्रश्न—यदि ऐसा है, तो विशेष्यका जो लिंग और संख्या है वही विशेषणको भी प्राप्त होते हैं? उत्तर—व्याकरणका ऐसा नियम है कि 'विशेषण विशेष्य सम्बन्धके रहते हुए भी शब्द शक्तिकी अपेक्षा जिसने जो लिंग और संख्या प्राप्त कर ली है उसका उल्लंघन नहीं होता' अतः यहाँ विशेष्य और विशेषणके लिंगके पृथक्-पृथक् रहनेपर भी कोई दोष नहीं है। (रा.वा./१/४/२९-३०/२७)

रा.वा./२/१/१६/१०१/२७ औपशमिकादिपञ्चतयभावसामानाधिकरण्यात्तत्त्वस्य बहुवचनं प्राप्नोतीति; तन्न; किं कारणम् । भावस्यैकत्वात्, 'तत्त्वम्' इत्येष एको भावः । =प्रश्न—औपशमिकादि पाँच भावोंके समानाधिकरण होनेसे 'तत्त्व' शब्दके बहुवचन प्राप्त होता है। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि सामान्य स्वतत्त्वकी दृष्टिसे यह एकवचन निर्देश है।

पं.ध./उ./१८६ ततोऽनर्थान्तरं तेभ्यः किंचिच्छुद्धमनीदृशम् । शुद्धं नव पदान्येव तद्विकारादृते परम् ।१८६। =शुद्ध तत्त्व कुछ उन तत्त्वोंसे विलक्षण अर्थान्तर नहीं है, किन्तु केवल नव सम्बन्धी विकारको छोड़कर नव तत्त्व ही शुद्ध हैं। (पं.ध./उ./१५५)

२. सात तत्त्व या नौपदार्थोंमें केवल जीव व अजीव ही प्रधान हैं

स.सा./आ./१३/३१ विकार्यविकारकोभयं पुण्यं तथा पापम्, आस्राव्यास्रावकोभयमास्रवः, संवार्यसंवारकोभयं संवरः, निर्जर्यनिर्जरकोभयं निर्जरा, बन्ध्यबन्धकोभयं बन्धः, मोच्यमोचकोभयं मोक्षः, स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षानुपपत्तेः । तदुभयं च जीवाजीवाविति। =विकारी होने योग्य और विकार करनेवाला दोनों पुण्य हैं तथा दोनों पाप हैं, आस्रव होने योग्य और आस्रव करनेवाला दोनों आस्रव हैं, संवर रूप होने योग्य और संवर करनेवाला—दोनों संवर हैं; निर्जरा होनेके योग्य और निर्जरा करनेवाला दोनों निर्जरा हैं, बँधनेके योग्य और बन्धन करनेवाला—दोनों बन्ध हैं, और मोक्ष होने योग्य और मोक्ष करनेवाला—दोनों मोक्ष हैं; क्योंकि एकके ही अपने आप पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्षकी उत्पत्ति नहीं बनती। वे दोनों जीव और अजीव हैं।

पं.ध./उ./१५२ तद्यथा नव तत्त्वानि केवलं जीवपुद्गलौ । स्वद्रव्याद्यैरनन्यत्वाद्वस्तुतः कर्तृकर्मणोः ।१५२। =ये नव तत्त्व केवल जीव और पुद्गल रूप हैं, क्योंकि वास्तवमें अपने द्रव्य क्षेत्रादिकके द्वारा कर्ता तथा कर्ममें अन्यत्व है—अनन्यत्व नहीं है।

३. शेष ५ तत्त्वों या ७ पदार्थोंका आधार एक जीव ही है

पं.ध./उ./२१ आस्रवाद्या यतस्तेषां जीवोऽधिष्ठानमन्वयात् ।

पं.ध./उ./१५५ अर्थान्नवपदीभूय जीवश्चैको विराजते । तदात्वेऽपि परं शुद्धस्तद्विशिष्टदशामृते ।१५५। =आस्रवादि शेष तत्त्वोंमें जीवका आधार है ।२१। अर्थात् एक जीव ही जीवादिक नव पदार्थ रूप होकरके विराजमान है, और उन नव पदार्थोंकी अवस्थामें भी यदि विशेष दशाकी विवक्षा न की जावे तो केवल शुद्ध जीव ही अनुभवमें आता है। (पं.ध./उ./१३८)

४. शेष ५ तत्त्व या सात पदार्थ जीव अजीवकी ही पर्याय हैं

पं.का./ता.वृ./१२८-१३०/१९२/११ यतस्तेऽपि तयोः एव पर्याया इति। =आस्रवादि जीव व अजीवकी पर्याय हैं।

द्र.सं./मू. व टी./२८/८५ आसव बंधण संवर णिज्जर मोक्खा सपुण्णपावा जे। जीवाजीवविसेसा ते वि समासेण पभणामो ।२८। चैतन्या अशुद्धपरिणामा जीवस्य, अचेतनाः कर्मपुद्गलपर्याया अजीवस्येत्यर्थः।

द्र.सं./चूलिका/२८/८५/२ आस्रवबन्धपुण्यपापपदार्थाः जीवपुद्गलसंयोगपरिणामरूपविभावपर्यायेणोत्पद्यन्ते । संवरनिर्जरामोक्षपदार्थाः पुनर्जीवपुद्गलसंयोगपरिणामविनाशोत्पन्नेन विवक्षितस्वभावपर्यायेणेति स्थितम्। =जीव, अजीवके भेदरूप जो आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य तथा पाप ऐसे सात पदार्थ हैं ।२८। चैतन्य आस्रवादि तो जीवके अशुद्ध परिणाम हैं और जो अचेतन कर्मपुद्गलोंकी पर्याय हैं वे अजीवके हैं। आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप ये चार पदार्थ जीव और पुद्गलके संयोग परिणामस्वरूप जो विभाव पर्याय हैं उनसे उत्पन्न होते हैं। और संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये तीन पदार्थ जीव और पुद्गलके संयोग रूप परिणामके विनाशसे उत्पन्न जो विवक्षित स्वभाव पर्याय है, उससे उत्पन्न होते हैं, यह निर्णीत हुआ।

श्लो.वा २/१/४/४८/१५६/६ जीवाजीवौ हि धर्मिणौ तद्धर्मास्त्वास्रवादय इति । धर्मिधर्मात्मकं तत्त्वं सप्तविधमुक्तम्। =सात तत्त्वोंमें जीव और अजीव दो तत्त्व तो नियमसे धर्मी हैं। तथा आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पाँच उन जीव तथा अजीवके धर्म हैं। इस प्रकार दो धर्मी स्वरूप और पाँच धर्म स्वरूप ये सात प्रकारके तत्त्व उमास्वामी महाराजने कहे हैं।

५. जीव पुद्गलके निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धसे इनकी उत्पत्ति होती है

द्र.सं./चूलिका/२८/८१-८२/६ कथंचित्परिणामित्वे सति जीवपुद्गलसंयोगपरिणतिनिर्वृत्तत्वादास्रवादिसप्तपदार्थाः घटन्ते । =इनके कथंचित् परिणामित्व (सिद्ध) होनेपर जीव और पुद्गलके संयोगसे बने हुए आस्रवादि सप्त पदार्थ घटित होते हैं।

पं.ध./उ./१५४ किन्तु संबन्धयोरेव तद्द्वयोरितरेतरम् । नैमित्तिकनिमित्ताभ्यां भावा नव पदा अमी ।१५४। =परस्परमें सम्बन्धको प्राप्त उन दोनों जीव और पुद्गलोंके ही नैमित्तिक निमित्त सम्बन्धसे होनेवाले भाव ये नव पदार्थ है। और भी —दे० ऊपर शीर्षक नं. ४।

६. पुण्य पापका आस्रव बन्धमें अन्तर्भाव करनेपर ९ पदार्थ ही सात तत्त्व बन जाते हैं

द्र.सं./चूलिका/२८/८१/११ नव पदार्थाः । पुण्यपापपदार्थद्वयस्याभेदनयेन कृत्वा पुण्यपापयोर्बन्धपदार्थस्य वा मध्ये अन्तर्भावविवक्षया सप्ततत्त्वानि भण्यन्ते। =नौ पदार्थोंमें पुण्य और पाप दो पदार्थोंका सात पदार्थोंसे अभेद करनेपर अथवा पुण्य और पाप पदार्थका बन्ध पदार्थमें अन्तर्भाव करनेपर सात तत्त्व कहे जाते है।

पुण्य व पापका आस्रवमें अन्तर्भाव—दे० पुण्य/२/४।

३. तत्त्वोपदेशका कारण व प्रयोजन

१. सप्त तत्त्व निर्देश व उसके क्रमका कारण

स.सि./१/४/१४/६/सर्वस्य फलस्यात्माधीनत्वात्तदनन्तरमास्रवग्रहणम्। तत्पूर्वकत्वात्तदनन्तरं बन्धाभिधानम्। संवृतस्य बन्धाभावात्तत्प्रत्यनीकप्रतिपत्त्यर्थं तदनन्तरं संवरवचनम्। संवरे सति निर्जरोपपत्तेस्तदन्तिके निर्जरावचनम्। अन्ते प्राप्यत्वान्मोक्षस्यान्ते वचनम् ।... इह मोक्षः प्रकृतः सोऽवश्यं निर्देष्टव्यः । स च संसारपूर्वकः संसारस्य प्रधानहेतुरास्रवो बन्धश्च। मोक्षस्य प्रधानहेतुः संवरो निर्जरा च। अतः प्रधानहेतुहेतुमत्फलनिदर्शनार्थत्वात्पृथगुपदेशः कृतः। =सब फल जीवको मिलता है। अतः सूत्रके प्रारम्भमें जीवका ग्रहण किया है। अजीव जीवका उपकारी है यह दिखलानेके लिए जीवके बाद अजीवका कथन किया है। आस्रव जीव और अजीव दोनोंको विषय करता है अतः इन दोनोंके बाद आस्रवका ग्रहण किया है। बन्ध आस्रव पूर्वक होता है, इसलिए आस्रवके बाद बन्धका कथन किया है। संवृत जीवके बन्ध नहीं होता, अतः संवर बन्धका

उत्पन्न हुआ इस बातका ज्ञान करानेके लिए बन्धके बाद संवरका कथन किया है। संवरके होनेपर निर्जरा होती है इसलिए संवरके पास निर्जरा कही है। मोक्ष अन्तमें प्राप्त होता है। इसलिए उसका अन्तमें कथन किया है। अथवा क्योंकि यहाँ मोक्षका प्रकरण है। इसलिए उसका कथन करना आवश्यक है। वह संसार पूर्वक होता है, और संसारके प्रधान कारण आस्रव और बन्ध हैं तथा मोक्षके प्रधान कारण संवर और निर्जरा हैं अतः प्रधान हेतु, हेतुवाले और उनके फलके दिखलानेके लिए अलग-अलग उपदेश किया है। (रा.वा./१/४/३/२५/६)

द्र.सं./चूलिका/२८/८२/३ यथैवाभेदनयेन पुण्यपापपदार्थद्वयस्यान्तर्भावो जातस्तथैव विशेषाभेदनयविवक्षायामास्रवादिपदार्थानामपि जीवाजीवद्वयमध्येऽन्तर्भावे कृते जीवाजीवौ द्वावेव पदार्थाविति। तत्र परिहारः—हेयोपादेयतत्त्वपरिज्ञानप्रयोजनार्थमास्रवादिपदार्थाः व्याख्येया भवन्ति। तदेव कथयति—उपादेयतत्त्वमक्षयानन्तसुखं तस्य कारणं मोक्षो। मोक्षस्य कारणं संवरनिर्जराद्वयं, तस्य कारणं विशुद्ध··· निश्चयरत्नत्रयस्वरूपमात्मा। ···आकुलोत्पादकं नारक आदि दुःखं निश्चयेनेन्द्रियसुखं च हेयतत्त्वम्। तस्य कारणं संसारः संसारकारणमास्रवबन्धपदार्थद्वयं, तस्य कारणं···मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रत्रयमिति। एवं हेयोपादेयतत्त्वव्याख्याने कृते सति सप्ततत्त्वनवपदार्थाः स्वयमेव सिद्धाः। —प्रश्न—अभेदनयकी अपेक्षा पुण्य, पाप, इन दो पदार्थोंका सात पदार्थोंमें अन्तर्भाव हुआ है उसी तरह विशेष अभेद नयकी अपेक्षासे आस्रवादि पदार्थोंका भी इन दो पदार्थोंमें अन्तर्भाव कर लेनेसे जीव तथा अजीव दो ही पदार्थ सिद्ध होते हैं? उत्तर—'कौन तत्त्व हेय है और कौन तत्त्व उपादेय है' इस विषयका परिज्ञान करानेके लिए आस्रवादि पदार्थ निरूपण करने योग्य हैं। इसीको कहते हैं—अविनाशी अनन्तसुख उपादेय तत्त्व है। उस अनन्त सुखका कारण मोक्ष है, मोक्षके कारण संवर और निर्जरा हैं। उन संवर और निर्जराका कारण, विशुद्ध···निश्चय रत्नत्रय स्वरूप आत्मा है। अब हेयतत्त्वको कहते हैं—आकुलताको उत्पन्न करनेवाला नरकगति आदिका दुख तथा इन्द्रियोंमें उत्पन्न हुआ सुख हेय यानी—त्याज्य है, उसका कारण संसार है और उसके कारण आस्रव तथा बन्ध ये दो पदार्थ हैं, और उस आस्रवका तथा बन्धका कारण पहले कहे हुए···मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र हैं। इस प्रकार हेय और उपादेय तत्त्वका निरूपण करनेपर सात तत्त्व तथा नौ पदार्थ स्वयं सिद्ध हो गये हैं। (प.का./ता.वृ./१२८-१३०/१९२/११)

२. सप्त तत्त्व नव पदार्थके उपदेशका कारण

पं.का./त.प्र./१२७ एवमिह जीवाजीवयोर्वास्तवो भेदः सम्यग्ज्ञानिनां मार्गप्रसिद्ध्यर्थं प्रतिपादित इति। —यहाँ जीव और अजीवका वास्तविक भेद सम्यग्ज्ञानियोंके मार्गकी प्रसिद्धिके हेतु प्रतिपादित किया गया है।

पं.ध./उ./१७५ तदसत्सर्वतस्त्यागः स्यादसिद्धः प्रमाणतः। तथा तेभ्योऽतिरिक्तस्य, शुद्धस्यानुपलब्धितः।१७५। —उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उनका सर्वथा त्याग अर्थात् अभाव प्रमाणसे असिद्ध है तथा उन नव पदार्थोंको सर्वथा हेय माननेपर उनके बिना शुद्धात्माकी उपलब्धि नहीं हो सकती है।

३. हेय तत्त्वोंके व्याख्यानका कारण

द्र.सं./टी./१४/४६/१० हेयतत्त्वपरिज्ञाने सति पश्चादुपादेयस्वीकारो भवतीति। —पहले हेय तत्त्वका ज्ञान होनेपर फिर उपादेय पदार्थ स्वीकार होता है।

पं.ध./उ./१७६,१७८ नावश्यं वाच्यता सिद्ध्येत्सर्वतो हेयवस्तुनि। नान्धकारेऽप्रविष्टस्य प्रकाशानुभवो मनाक्।१७६। न स्यात्तेभ्योऽतिरिक्तस्य सिद्धिः शुद्धस्य सर्वतः। साधनाभावतस्तस्य तद्यथानुपलब्धितः।१७८। —सर्वथा हेय वस्तुमें अभावात्मक वस्तुमें वाच्यता अवश्य सिद्ध नहीं हो सकती है। क्योंकि अन्धकारमें प्रवेश नहीं करनेवाले मनुष्यको कुछ भी प्रकाशका अनुभव नहीं होता है।१७६। नौ पदार्थोंसे अतिरिक्त सर्वथा शुद्ध द्रव्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि साधनका अभाव होनेसे उस शुद्ध द्रव्यकी उपलब्धि नहीं हो सकती।

४. सप्त तत्त्व व नव पदार्थोंके व्याख्यानका प्रयोजन शुद्धात्मोपादेयता

नि.सा./मू./३८ जीवादि बहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा। कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरित्तो।३८। —जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं, कर्मोपाधिजनित गुणपर्यायोंसे व्यतिरिक्त आत्मा आत्माको उपादेय है।

इ.उ./मू./५० जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः। यदन्यदुच्यते किंचित् सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः।५०। —जीव शरीरादिक पुद्गलसे भिन्न है और पुद्गल जीवसे भिन्न है यही तत्त्वका संग्रह है, इसके अतिरिक्त जो कुछ भी कहा जाता है वह सब इसहीका विस्तार है। —दे० सम्यग्दर्शन/II/१/३ (पर व स्वमें हेयोपादेय बुद्धि पूर्वक एक शुद्धात्माका आश्रय करना)।

मोक्ष पंचाशत्/३७-३८ जीवे जीवार्पितो बन्धः परिणामविकारकृत्। आस्रवादात्मनोऽशुद्धपरिणामात्प्रजायते।३७। इति बुद्ध्वास्रवं रुन्ध्या कुरु संवरमुत्तमम्। जहीहि पूर्वकर्माणि तपसा निर्वृत्तिं व्रज।३८। —जीवमें जीवके द्वारा किया गया बन्ध परिणामोंमें विकार पैदा करता है और आत्माके अशुद्ध परिणामोंसे कर्मोंका आस्रव होता है। ऐसा जानकर आस्रवको रोको, उत्तम संवरको करो, तपके द्वारा पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करो और मोक्षको प्राप्त करो।

का.अनु./मू./२०४ उत्तम-गुणाण धामं सव्व-दव्वाण उत्तमं दव्वं। तच्चाण परम-तच्चं जीवं जाणेहि णिच्छयदो।२०४। —जीव ही उत्तम गुणोंका धाम है, सब द्रव्योंमें उत्तम द्रव्य है और सब तत्त्वोंमें परम तत्त्व है, यह निश्चयसे जानो।२०।

स.सा./ता.वृ./३८१/४८०/८ व्यावहारिकनवपदार्थमध्ये भूतार्थनयेन शुद्धजीव एक एव वास्तव. स्थित इति। —व्यावहारिक नव पदार्थमें निश्चयनयसे एक शुद्ध जीव ही वास्तवमें उपादेय है।

पं.का./ता.वृ./१२८-१३०/१९१/११ रागादिपरिणामानां कर्मणश्च योऽसौ परस्परं कार्यकारणभावः स एव वक्ष्यमाणपुण्यादिपदार्थानां कारणमिति ज्ञात्वा पूर्वोक्तसंसारचक्रविनाशार्थमव्याबाधानन्तसुखादिगुणानां चक्रभूते समूहरूपे निजात्मस्वरूपे रागादिविकल्पपरिहारेण भावना कर्तव्येति। —रागादि परिणामों और कर्मोंका जो परस्पर में कार्यकारण भाव है वही यहाँ वक्ष्यमाण पुण्यादि पदार्थोंका कारण है। ऐसा जानकर संसार चक्रके विनाश करनेके लिए अव्याबाध अनन्त सुखादि गुणोंके समूह रूप निजात्म स्वरूपमें रागादि भावोंके परिहारसे भावना करनी चाहिए।

नि.सा./ता.वृ./३८ निजपरमात्मानमन्तरेण न किंचिदुपादेयमस्तीति। —निज परमात्माके अतिरिक्त (अन्य) कुछ उपादेय नहीं है।

प.प्र./१/७/१४/४ नवपदार्थेषु मध्ये शुद्धजीवास्तिकायशुद्ध जीवद्रव्यशुद्धजीवतत्त्वशुद्धजीवपदार्थसंज्ञस्वशुद्धात्मभावमुपादेयं तस्मादन्यच्च हेयं। —नवपदार्थोंमें, शुद्ध जीवास्तिकाय निजशुद्ध जीवद्रव्य, निजशुद्ध जीवतत्त्व, निज शुद्ध जीवपदार्थ जो आप शुद्धात्मा है, वही उपादेय है, अन्य सब त्यागने योग्य है (द्र.सं./टी./५३/२२०/८)।

पं.ध./उ./४५७ तत्रायं जीवसंज्ञो यः स्वयं (यं) वेद्यश्चिदात्मकः। सोऽहमन्ये तु रागाद्या हेयाः पौद्गलिका अमी।४५७। —उन नव तत्त्वोंमें जो यह

स्वसंवेदन प्रत्यक्षका विषय चैतन्यात्मक और जीव संज्ञा वाला है वह मैं उपादेय हूँ तथा ये मुझसे भिन्न पौद्गलिक रागादिक भाव त्याज्य हैं।

प्र.सं./चूलिका/२८/८२/५ हेयोपादेयतत्त्वपरिज्ञानप्रयोजनार्थमास्रवादि-पदार्थाः व्याख्येया भवन्ति। —कौन तत्त्व हेय है और कौन तत्त्व उपादेय है इस विषयके परिज्ञानके लिए आस्रवादि तत्त्वोंका व्याख्यान करने योग्य है।

मो.मा.प्र./७/३३१/१३ यहु जीवकी क्रिया है, ताका पुद्गल निमित्त है, यहु पुद्गलकी क्रिया है, ताका जीव निमित्त है इत्यादि भिन्न-भिन्न भाव भासे नाहीं…तातैं जीव अजीव जाननेका प्रयोजन तो यही था।

भा.पा./टी./११४पं. जयचन्द —प्रथम जीव तत्त्वकी भावना करनी, पीछै 'ऐसा मैं हूँ' ऐसे आत्म तत्त्वकी भावना करनी। दूसरे अजीव तत्त्वकी भावना…करनी जो यह मैं…नाहीं हूँ। तीसरा आस्रव तत्त्व…तैं संसार होय है तातै तिनिका कर्ता न होना। चौथा बन्धतत्त्व…तै मेरे विभाव तथा पुद्गल कर्म सर्व हेय है.. (अतः) मोकूं राग द्वेष मोह न करना। पाँचवाँ तत्त्व संवर है…सो अपना भाव है…याही करि भ्रमण मिटै है ऐसे इन पाँच तत्त्वनि की भावना करनमें आत्म-तत्त्व की भावना प्रधान है। (इस प्रकार) आत्म भाव शुद्ध अनुक्रम तैं होना तो निर्जरा तत्त्व भया। और (तिन दुहका फलरूप) सर्व कर्मका अभाव होना मोक्ष भया।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

१. सप्त तत्त्व नव पदार्थके व्याख्यानका प्रयोजन कर्ता कर्म रूप भेद विज्ञान —दे० ज्ञान/II/१।

२. सप्त तत्त्व श्रद्धानका सम्यग्दर्शनमें स्थान —दे० सम्यग्दर्शन/II/१।

३. सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टिके तत्त्वोंका कर्तृत्व —दे० मिथ्यादृष्टि/४।

४. मिथ्यादृष्टिका तत्त्व विचार मिथ्या है —दे० मिथ्यादृष्टि/३।

५. तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान करनेका उपाय —दे० न्याय।

तत्त्वज्ञान तरंगिनी—आचार्य ज्ञानभूषण (ई० १४४७-१४६५) द्वारा रचित शुद्ध चैतन्य प्रतिपादक ग्रन्थ है। इसमें १७ अधिकार हैं तथा कुल ५३६ श्लोक हैं (ती./३/३५२)।

तत्त्वत्रय प्रकाशिका—आचार्य शुभचन्द्र (ई० १००३-११८) कृत ज्ञानार्णवके गद्य भागपर की गयी भट्टारक श्रुतसागर(ई०१४८७-१४९९) कृत संस्कृत टीका जिसमें शिवतत्त्व, गरुड़ तत्त्व और काम तत्त्व, इन तत्त्वोंका वर्णन है (ती./३/३९८)।

तत्त्व दीपिका— आ० ब्रह्मदेव (वि श. १२ पूर्व) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित एक आध्यात्मिक ग्रन्थ।

तत्त्व निर्णय—आ० शुभचन्द्र (ई० १५१६-१५५६) द्वारा रचित न्याय विषयक ग्रन्थ।

तत्त्व प्रकाशिका—आ० योगीन्दुदेव (ई० श० ६) द्वारा रचित तत्त्वार्थ सूत्रकी प्राकृत भाषा बद्ध टीका है।

तत्त्व प्रदीपिका—प्रवचनसार व पंचास्तिकाय दोनों ग्रन्थोंकी आ० अमृतचन्द्र (ई० ९६२-१०५५) द्वारा रचित संस्कृत टीकाओंका यही नाम है।— दे. अमृत चन्द्र

तत्त्ववतीधारणा—

ज्ञा./३७/२८/३८५ सप्तधातुविनिर्मुक्तं पूर्णचन्द्रामलत्विषम्। सर्वज्ञकल्प-मात्मानं ततः स्मरति संयमी।२८। —तत्पश्चात् (वारुणी धारणाके पश्चात्) संयमी मुनि सप्त धातुरहित, पूर्णचन्द्रमाके समान है निर्मल प्रभा जिसकी ऐसे सर्वज्ञ समान अपने आत्माका ध्यान करै।२८।

विशेष—दे० पिंडस्थ ध्यान का लक्षण।

★ ध्यान सम्बन्धी ६ तत्त्व—दे० ध्येय।

★ प्राणायाम सम्बन्धी तत्त्व—दे० ध्येय।

तत्त्व शक्ति—स.सा./आ./परि० शक्ति नं० २९ तद्रूपभवनरूपा तत्त्वशक्तिः। —तत्स्वरूप होना जिसका स्वरूप है ऐसी उनतीसवीं तत्त्वशक्ति है, जो वस्तुका स्वभाव है उसे तत्त्व कहते हैं वही तत्त्व-शक्ति है। (जै./२/१८६)।

तत्त्वसार—आ० देवसेन (ई० ९३३-९५५) द्वारा रचित प्राकृत गाथा-बद्ध ग्रन्थ है।

तत्त्वानुशासन—१. आ० समन्तभद्र (ई०श० २) द्वारा रचित यह ग्रन्थ न्याय पूर्वक तत्त्वोंका अनुशासन करता है। आज उपलब्ध नहीं है। (ती./२/१९८)। २. आ० रामसेन (ई०श० १२उत्तरार्ध) द्वारा रचित संस्कृत छन्द बद्ध ध्यान विषयक ग्रन्थ। इसमें २५९ श्लोक हैं। (ती./३/२१८)।

तत्त्वार्थ—दे० तत्त्व/१।

तत्त्वार्थ बोध—पं. बुधजन (ई० १८१४) द्वारा रचित भाषा छन्द बद्ध तत्त्वार्थ विषयक कृति।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक—दे० राजवार्तिक।

तत्त्वार्थसार—राजवार्तिकालंकारके आधारपर लिखा गया यह ग्रन्थ तत्त्वार्थका प्ररूपक है। आ० अमृतचन्द्र (ई० ९०५-९५५) द्वारा संस्कृत श्लोकोंमें रचा गया है। इसमें ९ अधिकार और कुल ७२० श्लोक हैं।

तत्त्वार्थसार दीपक—आ० सकलकीर्ति (ई० १४०६-१४४२) कृत सप्त तत्त्व विवेचना। संस्कृत ग्रन्थ। (ती./३/३३५)।

तत्त्वार्थ सूत्र—आ० उमास्वामी (ई. श. ३) कृत मोक्षमार्ग, तत्त्वार्थ दर्शन विषयक १० अध्यायोंमें सूत्रबद्ध ग्रन्थ है। कुल सूत्र ३५७ हैं। इसीको मोक्षशास्त्र भी कहते हैं। दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनोंको समान रूपसे मान्य है। जैन आम्नायमें यह सर्व प्रधान सिद्धान्त ग्रन्थ माना जाता है। जैन दर्शन प्ररूपक होनेके कारण यह जैन बाइबलके रूपमें समझा जाता है। इसके मंगलाचरण रूप प्रथम श्लोकपर ही आ० समन्तभद्र (ई०श० २) ने आप्तमीमांसा (देवागम स्तोत्र) की रचना की थी, जिसकी पीछे अकलंकदेव (ई० ६२०-६८०) ने ८०० श्लोक प्रमाण अष्टशती नामकी टीका की। आगे आ० विद्यानन्दि नं० १ (ई० ७७५-८४०) ने इस अष्टशतीपर भी ८००० श्लोक प्रमाण अष्टसहस्री नामकी व्याख्या की। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थपर अनेकों भाष्य व टीकाएँ उपलब्ध हैं—१. श्वेताम्बराचार्य वाचकउमास्वामीकृततत्त्वार्थाधिगम भाष्य (संस्कृत); २. आ० समन्त-भद्र (ई० २) विरचित ९६०० श्लोक प्रमाण गन्धहस्ति महाभाष्य; ३. श्री पूज्यपाद (ई० श० ५) विरचित सर्वार्थसिद्धि; ४ योगीन्द्र देव विरचित तत्त्व प्रकाशिका (ई० श० ६) ५. श्री अकलंक भट्ट (ई० ६२०-६८०) विरचित तत्त्वार्थ राजवार्तिक; ६. श्री अभयनन्दि (ई० श० १०-११) विरचित तत्त्वार्थ वृत्ति; ७. श्री विद्यानन्दि (ई० ७७५-८४०) विरचित श्लोकवार्तिक। ८. आ० शिवकोटि (ई०श० ११) द्वारा रचित रत्नमाला नामकी टीका। ९. आ० भास्करनन्दि (ई० श० १२) कृत सुखबोध नामक टीका। १०. आ० बालचन्द्र (ई०श० १३) कृत कन्नड़ टीका। ११. विबुधसेनाचार्य (?) विरचित तत्त्वार्थ टीका। १२. योग देव(ई.१५७९) विरचित तत्त्वार्थ वृत्ति। १३. प्रभाचन्द्र नं० ८ (ई. १४३२) कृत तत्त्वार्थ रत्न प्रभाकर भट्टारक

श्रुतसागर (वि श. १६) कृत तत्त्वार्थ वृत्ति (श्रुत सागरी)। १५. द्वितीय श्रुतसागर विरचित तत्त्वार्थ सुखबोधिनी। १६. पं. सदासुख (ई० १७९३-१८६३) कृत अर्थ प्रकाशिका नाम टीका। (विशेष दे० परिशिष्ट/१)। उपर्युक्त मूल तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार प्रभाचन्द्र द्वारा रचित द्वितीय रचना (ती./३/३००)।

तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान—दे० 'प्रत्यभिज्ञान'।

तत्प्रदोष—गो.क./जी.प्र./८००/९७६/६ तत्प्रदोषस्तत्त्वज्ञाने हर्षाभावः। —तत्त्वज्ञानमें हर्षका न होना तत्प्रदोष कहलाता है।

तत्प्रमाण—दे० प्रमाण/५।

तत्प्रायोगिक शब्द—दे० 'शब्द'।

तथाविधत्व—प्र.सा./ता.वृ./९५/१२५/१५ तथाविधत्वं कोऽर्थः, उत्पादव्ययध्रौव्यगुणपर्यायस्वरूपेण परिणमन्ति तथा सर्वद्रव्याणि स्वकीयस्वकीययथोचितोत्पादव्ययध्रौव्यैस्तथैव गुणपर्यायैश्च सह यद्यपि संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभिर्भेदं कुर्वन्ति तथापि सत्तास्वरूपेण भेदं न कुर्वन्ति, स्वभावत एव तथाविधत्वमवलम्बते। —प्रश्न—तथाविधत्वका क्या अर्थ है? उत्तर—(द्रव्य) उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, और गुण पर्यायों स्वरूपसे परिणमन करते हैं। वो ऐसे—सर्व ही द्रव्य अपने-अपने यथोचित उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यके साथ और गुण पर्यायोंके साथ यद्यपि संज्ञा, लक्षण और प्रयोजनादिसे भेदको प्राप्त होते हैं, तथापि सत्तास्वरूप द्रव्यसे भेदको प्राप्त नहीं होते हैं। स्वभावसे ही उस स्वरूपका अवलम्बन करते हैं।

तदाहृतादान—स.सि./७/२७/३६७/४ अप्रयुक्तेनाननुमतेन च चोरेणानीतस्य ग्रहणं तदाहृतादानम्। —अपने द्वारा अप्रयुक्त और असंमत चोरके द्वारा लायी हुई वस्तुका ले लेना तदाहृतादान है। (रा.वा./७/२७/२/५५४/८)।

तदुभय प्रायश्चित्त—दे० प्रायश्चित्त/१।

तद्भव मरण—दे० मरण/१।

तद्भवस्थ केवली—दे० केवली/१।

तद्भाव—दे० अभाव।

तद्व्यतिरिक्त द्रव्य निक्षेप—दे० निक्षेप/५।

तद्व्यतिरिक्त संयमलब्धिस्थान—दे० लब्धि/५।

तनक—दूसरे नरकका द्वितीय पटल—दे० नरक/५/११।

तनु वातवलय—दे० वातवलय।

तप—तप नाम यद्यपि कुछ भयावह प्रतीत होता है, परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है, यदि अन्तरंग वीतरागता व साम्यताकी रक्षा व वृद्धिके लिए किया जाये तो तप एक महान् धर्म सिद्ध होता है, क्योंकि वह दुःखदायक न होकर आनन्द प्रदायक होता है। इसीलिए ज्ञानी शक्ति अनुसार तप करनेकी नित्य भावना भाते रहते हैं और प्रमाद नहीं करते। इतना अवश्य है कि अन्तरंग साम्यतासे निरपेक्ष किया गया तप कायक्लेश मात्र है, जिसका मोक्षमार्गमें कोई स्थान नहीं। तप द्वारा अनादिके बँधे कर्म व संस्कार क्षण भरमें विनष्ट हो जाते हैं। इसलिए सम्यक् तपका मोक्षमार्गमें एक बड़ा स्थान है। इसी कारण गुरुजन शिष्योंके दोष दूर करनेके लिए कदाचित् प्रायश्चित्त रूपमें भी उन्हें तप करनेका आदेश दिया करते हैं।

५	**शंका-समाधान**
१	देवादि पदोंकी प्राप्तिका कारण तप निर्जराका कारण कैसे।
*	तपकी प्रवृत्तिमें निवृत्तिका अंश ही संवरका कारण है —दे० संवर/२/५
२	दुःख प्रदायक तपसे असाताका आस्रव होना चाहिए।
३	तपसे इन्द्रिय दमन कैसे होता है।
६	**तप धर्म भावना व प्रायश्चित्त निर्देश**
*	धर्मसे पृथक् पुनः तपका निर्देश क्यों —दे० निर्जरा/२/४।
*	कायक्लेश तप व परिषहजयमें अन्तर —दे० कायक्लेश।
१	शक्तितस्तप भावनाका लक्षण
२	शक्तितस्तप भावनामें शेष १५ भावनाओंका समावेश
*	शक्तितस्तप भावनासे ही तीर्थंकर प्रकृतिका संभव —दे० भावना/२।
३	तप प्रायश्चित्तका लक्षण।
*	तप प्रायश्चित्तके अतिचार —दे० वह वह नाम।
*	तप प्रायश्चित्त किस अपराधमें तथा किसको दिया जाता है। —दे० प्रायश्चित्त/४।

१. भेद व लक्षण

१. तपका निश्चय लक्षण—१-निरुक्त्यर्थ।

स. सि./९/६/४१२/११ कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः।—कर्मक्षयके लिए जो तपा जाता है वह तप है। (रा. वा./९/६/१७/५९८/३); (त. सा./६/१८/३४४)।

रा. वा./९/१९/१८/६१९/३१ कर्मदहनात्तपः।१८।—कर्मको दहन अर्थात् भस्म कर देनेके कारण तप कहा जाता है।

पं. वि./१/९८ कर्ममलविलयहेतोर्बोधदृशा तप्यते तपः प्रोक्तम्।—सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले साधुके द्वारा जो कर्मरूपी मैलको दूर करनेके लिए तपा जाता है उसे तप कहा गया है (चा. सा./१३३/४)।

२. आत्मनि प्रतपनः

वा. अ./७७ विसयकसायविणिग्गहभावं काउण झाणसिज्झीए। जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण।७७।—पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंको तथा चारों कषायोंको रोककर शुभध्यानकी प्राप्तिके लिए जो अपनी आत्माका विचार करता है, उसके नियमसे तप होता है।

प्र. सा./त. प्र./१४/१६/३ स्वरूपविश्रान्तनिस्तरङ्गचैतन्यप्रतपनाच्च···तपः।—स्वरूप विश्रान्त निस्तरंग चैतन्य प्रतपन होनेसे···तपयुक्त है। (प्र. सा./ता. वृ./७९/१००/१२); (द्र. सं./५२/२१९/३)।

नि. सा./ता. वृ./५५,११८, १२३ सहजनिश्चयनयात्मकपरमस्वभावात्मकपरमात्मनि प्रतपनं तपः।५५। प्रसिद्धशुद्धकारणपरमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुखतया प्रतपनं यत्तत्तपः।११८। आत्मानमात्मन्यात्मना संधत्त इत्यध्यात्मं तपनम्।—सहज निश्चय नयात्मक परमस्वभावस्वरूप परमात्मामें प्रतपन सो तप है।५५। प्रसिद्ध शुद्ध कारण परमात्म तत्त्वमें सदा अन्तर्मुख रहकर जो प्रतपन वह तप···है।११८। आत्माको आत्मामें आत्मासे धारण कर रखता है—टिका रखता है—जोड़ रखता है वह अध्यात्म है और वह अध्यात्म सो तप है।

३. इच्छा निरोध

मोक्ष पंचाशत्/४८ तस्माद्वीर्यसमुद्रेकादिच्छारोधस्तपो विदुः। बाह्यं वाक्कायसंभूतमान्तरं मानसं स्मृतम्।४८। —वीर्यका उद्रेक होनेके कारणसे इच्छा निरोधको तप कहते हैं।···

ध. १३/५,४,२६/५४/१२ तिण्णं रयणाणमाविब्भावट्ठमिच्छाणिरोहो।—तीनों रत्नोंको प्रगट करनेके लिए इच्छानिरोधको तप कहते हैं। (चा. सा./१३३/४)।

नि. सा./ता. वृ./६/१५ में उद्धृत···तवो विसयणिग्गहो जत्थ।— तप वह है जहाँ विषयोंका निग्रह है।

प्र. सा./ता. वृ./७९/१००/१२ समस्तभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः।—भावोंमें समस्त इच्छाके त्यागसे स्व-स्वरूपमें प्रतपन करना, विजयन करना सो तप है।

द्र. सं./२१/६३/४ समस्तबहिर्द्रव्येच्छानिवृत्तिलक्षणतपश्चरण।—संपूर्ण बाह्य द्रव्योंकी इच्छाको दूर करनेरूप लक्षणका धारक तपश्चरण। (द्र. सं./३६/१५१/७); (द्र. सं./५२/२१९/३)।

अन. ध./७/२/६५९ तपो मनोऽक्षकायाणां तपनात् संनिरोधनात्। निरुच्यते दृगाद्याविर्भावायेच्छानिरोधनम्।२।—तप शब्दका अर्थ समीचीनतया निरोध करना होता है। अतएव रत्नत्रयका आविर्भाव करनेके लिए इष्टानिष्ट इन्द्रिय विषयोंकी आकांक्षाके निरोधका नाम तप है।

४. चारित्रमें उद्योग

भ. आ./मू./१० चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य आउंजणा य जो होई। सो चेव जिणेहिं तवो भणिदो असढं चरंतस्स।१०।—चारित्रमें जो उद्योग और उपयोग किया जाता है जिनेन्द्र भगवान् उसको ही तप कहते हैं।

२. तपका व्यवहार लक्षण

कुरल. का./२७/१ सर्वेषामेव जीवानां हिंसाया विरतिस्तथा। शान्त्या हि सर्वदुःखानां सहनं तप इष्यते।१।—शान्तिपूर्वक दुःख सहन करना और जीवहिंसा न करना, बस इन्हींमें तपस्याका समस्त सार है।

स. सि./६/२४/३३८/१२ अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः।—शक्तिको न छिपाकर मोक्षमार्गके अनुकूल शरीरको क्लेश देना यथाशक्ति तप है। (रा. वा./६/२४/७/५२९)।

रा. वा./९/१९/२१/६१९/३३ देहस्येन्द्रियग्राणां च तापं करोतीत्यनशनादि-[अतः] तप इत्युच्यते। —देह और इन्द्रियोंकी विषय प्रवृत्तिको रोककर उन्हें तपा देते हैं। अतः ये तप कहे जाते हैं।

रा. वा./६/२४/७/५२९/१२ यथाशक्ति मार्गाविरोधिकायक्लेशानुष्ठानं तप इति निश्चीयते।—अपनी शक्तिको न छिपाकर मार्गाविरोधी कायक्लेश आदि करना तप है। (चा. सा./१३३/३); (भा. पा./टी./७७/२२१/८)।

का. अ./मू./४०० इह-पर-लोय-सुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि सम-भावो। विविहं काय-किलेसं तवधम्मो णिम्मलो तस्स।—जो समभावी इस लोक और परलोकके सुखकी अपेक्षा न करके अनेक प्रकारका कायक्लेश करता है उसके निर्मल तपधर्म होता है।

३. श्रावककी अपेक्षा तपके लक्षण

प. पु./१४/२४२-२४३ नियमश्च तपश्चेति द्वयमेतन्न भिद्यते।२४२। तेन युक्तो जनः शक्त्या तपस्वीति निगद्यते। तत्र सर्वं प्रयत्नेन मतिः कार्या

सुमेधसा ।२४३। —नियम और तप ये दो पदार्थ जुदे जुदे नहीं हैं। ।२४२। जो मनुष्य नियमसे युक्त है वह शक्तिके अनुसार तपस्वी कहलाता है। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्यको सब प्रकारसे नियम अथवा तपमें प्रवृत्त रहना चाहिए ।२४३।

पं. वि./६/२५ पर्वस्वथ यथाशक्ति भुक्तित्यागादिकं तपः। वस्त्रपूतं पिबेत्तोयं रात्रिभोजनवर्जनम्। —श्रावकको पर्वदिनों (अष्टमी एवं चतुर्दशी आदि) में अपनी शक्तिके अनुसार भोजनके परित्याग आदि रूप (अनशनादि) तपोंको करना चाहिए। इसके साथ ही उन्हें रात्रि भोजनको छोड़कर वस्त्रसे छना हुआ जल भी पीना चाहिए।

४. तपके भेद-प्रभेद

१. तप सामान्यके भेद

मू. आ./३४५ दुविहो य तवाचारो बाहिर अब्भंतरो मुणेयव्वो। एक्केक्को वि छद्धा जधाकम्मं तं परुवेमो ।३४५। —तपाचारके दो भेद हैं—बाह्य, आभ्यन्तर। उनमें भी एक-एकके छह-छह भेद जानना। (स. सि./९/१९/४३८/२); (चा. सा./१३३/३); (रा. वा./९/१९ की उत्थानिका/६१८/११)।

२. बाह्य तपके भेद

त.सू./९/१९ अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ।१९। अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश यह छह प्रकारका बाह्य तप है। (मू. आ./३४६); (भ. आ./मू./२०८); (द्र. सं./५७/२२८)।

३. आभ्यन्तर तपके भेद

त. सू./९/२० प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ।२०। —प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छह प्रकारका आभ्यन्तर तप है। (मू. आ./३६०) (द्र. सं./५७/२२८)।

५. बाह्य-आभ्यन्तर तपके लक्षण

स. सि./९/१९/४३९/३ बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम्।

स. सि./९/२०/४३९/६ कथमस्याभ्यन्तरत्वम्। मनोनियमनार्थत्वात्। —बाह्यतप बाह्यद्रव्यके अवलम्बनसे होता है और दूसरोंके देखनेमें आता है, इसलिए इसे बाह्य तप कहते हैं। (रा. वा./९/१९/१७-१८/६१९/२६) (अन. ध./७/६) और मनका नियमन करनेवाला होनेसे प्रायश्चित्तादिको अभ्यंतर तप कहते हैं।

रा. वा./९/१९/१९/६१९/२९ अनशनादि हि तीर्थ्यैर्गृहस्थैश्च क्रियते ततोऽप्यस्य बाह्यत्वम्।

रा. वा./९/२०/१-३/६२० अन्यतीर्थ्यानभ्यस्तत्वादुत्तरत्वम् ।१। अन्तःकरणव्यापारात् ।२। बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वाच्च ।३। —(उपरोक्तके अतिरिक्त) बाह्यजन अन्य मतवाले और गृहस्थ भी चूँकि इन तपोंको करते हैं, इसलिए इनको बाह्य तप कहते हैं। (भ. आ./वि/१०७/२५८/३); (अन. ध./७/६) प्रायश्चित्तादि तप चूँकि बाह्य द्रव्योंकी अपेक्षा नहीं करते, अन्तःकरणके व्यापारसे होते हैं। अन्यमतवालोंसे अनभ्यस्त और अप्राप्तपार हैं अतः ये उत्तर अर्थात् अभ्यन्तर तप हैं।

भ. आ./वि./१०७/२५४/४ सन्मार्गज्ञा अभ्यन्तराः। तदवगम्यत्वात् घटादिवत्तैराचरितत्वाद्वा बाह्याभ्यन्तरमिति। —रत्नत्रयको जाननेवाले मुनि जिसका आचरण करते हैं, ऐसे तप 'आभ्यन्तर तप' इस शब्दसे कहे जाते हैं।

अन. ध./७/३३ बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात् स्वसंवेद्यत्वतः परैः। अनध्यासात्तपः प्रायश्चित्ताद्यभ्यन्तरं भवेत् ।३३। —प्रायश्चित्तादि तपोंमें बाह्यद्रव्यकी अपेक्षा नहीं रहती है। अन्तरंग परिणामोंकी मुख्यता रहती है तथा इनका स्वयं ही संवेदन होता है। ये देखनेमें नहीं आते तथा इसको अनार्हत लोग धारण नहीं कर सकते, इसलिए प्रायश्चित्तादिको अन्तरंग तप माना है।

६. बाल तपका लक्षण

स. सा./मू./१५२ परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई। तं सव्वं बालतवं बालवदं बिंति सव्वण्हू ।१५२। —परमार्थमें अस्थित जो जीव तप करता है और व्रत धारण करता है, उसके उन सब तपों और व्रतोंको सर्वज्ञदेव बालतप और बालव्रत कहते हैं।

स. सि./६/२०/३३६/१ बालतपो मिथ्यादर्शनोपेतमनुपायकायक्लेशप्रचुरं निकृतिबहुलव्रतधारणम्। —मिथ्यात्वके कारण मोक्षमार्गमें उपयोगी न पड़नेवाले कायक्लेश बहुल मायासे व्रतोंका धारण करना बालतप है। (रा. वा./६/२०/१/५२७/१८); (गो. क./जी. प्र./५४८/७१७/२३)

रा. वा./६/१२/७/५१२/२८ यथार्थप्रतिपत्त्यभावादज्ञानिनो बाला मिथ्यादृष्ट्यादयस्तेषां तपः बालतपः अग्निप्रवेश-कारीष-साधनादि प्रतीतम्। —यथार्थ ज्ञानके अभावमें अज्ञानी मिथ्यादृष्टियोंके अग्निप्रवेश, पंचाग्नितप आदि तपको बालतप कहते हैं।

स. सा./आ./१५२ अज्ञानकृतयोर्व्रततपःकर्मणोः बन्धहेतुत्वाद्बालव्यपदेशेन प्रतिषिद्धत्वे सति। —अज्ञानपूर्वक किये गये व्रत, तप, आदि कर्मबन्धके कारण हैं, इसलिए उन कर्मोंको 'बाल' संज्ञा देकर उनका निषेध किया है।

२. तप निर्देश

१. तप भी संयमका एक अंग है

भ. आ./मू./६/३२ संयममाराहंतेण तवो आराहिओ हवे णियमा। आराहंतेण तवं चारित्तं होइ भयणिज्जं ।६। —जो चारित्र अर्थात् संयमकी आराधना करते हैं उनको अवश्य ही नियमसे तपकी भी आराधना हो जाती है। और जो तपकी आराधना करते हैं उनको चारित्रकी आराधना भजनीय होती है।

भ. आ./वि/६/३३/१ एवं स्वाध्यायो ध्यानं च अविरतिप्रमादकषायत्यजनरूपतया। इत्थं चारित्राराधनयोक्त्या प्रयेतु शक्त्या तपसाराधना...त्रयोदशात्मके चारित्रे सर्वथा प्रयत्नः संयमः स च बाह्यतप संस्कारिताभ्यन्तरतपसा विना न संभवति। तदुपकृतात्मकत्वात्संयमस्वरूपस्येति। —अविरति, प्रमाद, कषायोंका त्याग स्वाध्याय करनेसे तथा ध्यान करनेसे होता है इस वास्ते वे भी चारित्र रूप हैं। अतः सब तपोंका चारित्राराधनामें अन्तर्भाव हो जाता है।...तेरह प्रकारके चारित्रमें सर्वथा प्रयत्न करना वह संयम है। वह संयम बाह्य व आभ्यन्तर तपसे सुसंस्कृत होता है तब प्राप्त होता है उसके बिना नहीं होता। अतः संयम बाह्य व आभ्यन्तर तपसे सुसंस्कृत होता है।

पु. सि. उ./१९७ चारित्रान्तर्भावात् तपोऽपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम्। अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः। —जैन सिद्धान्तमें चारित्रके अन्तर्वर्ती होनेसे तप भी मोक्षका अंग कहा गया है अतएव अपने पराक्रमको नहीं छिपानेवाले तथा सावधान चित्तवाले पुरुषोंको वह तप भी सेवन करने योग्य है।

२. तप मतिज्ञान पूर्वक होता है

ध./१/४, १, ५/५१/२ संपदि-सुद-मणपज्जवणाणत्तवाइं मदिणाणपुव्वा इदि। —अब श्रुत और मनःपर्ययज्ञान तथा तपादि चूँकि मतिज्ञान पूर्वक होते हैं।

३. तप मनुष्यगतिमें ही सम्भव है

ध./१३/५, ४, २१/६१/५ णेरइएसु ओरालियसरीरस्स उदयाभावादो पंचमहव्वयाभावादो।…तिरिक्खेसु महव्वयाभावादो। —(नारकी देव, तथा तिर्यंचोंमें तपकर्म नहीं होते) क्योंकि नारकी व देवोंके औदारिक शरीरका उदय तथा पंचमहाव्रत नहीं होते तथा… तिर्यंचोंमें महाव्रत नहीं होते।

४. गृहस्थके लिए तप करनेका विधि निषेध

भ. आ./मू./७ सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि। होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्चुदगं व तं तस्स ॥७॥ —अविरत सम्यग्दृष्टि पुरुषका तप महान् उपकार करनेवाला नहीं होता है, वह उसका तप हाथीके स्नानके सदृश होता है। अथवा बर्मासे जैसे छेद पाड़ते (करते) समय डोरी बाँधकर घुमाते हैं तो वह डोरी एक तरफसे खुलती है दूसरी तरफसे दृढ़ बँध जाती है। (मू. आ./६४०)

सा. ध./७/५० श्रावको वीर्यचर्याहः-प्रतिमातापनादिषु। स्यान्नाधिकारी…॥५०॥ —श्रावक वीर्यचर्या, दिनमें प्रतिमायोग धारण करना आदि रूप मुनियोंके करने योग्य कार्योंके विषयमें…अधिकारी नहीं है। और भी दे० तप/१/३।

५. तप शक्तिके अनुसार करना चाहिए

मू. आ./६६७ बलवीरियमासेज्ज य खेत्ते काले सरीरसंहडणं। काओसग्गं कुज्जा इमे दु दोसे परिहरंतो ॥६६७॥ —बल और आत्मशक्तिका आश्रयकर क्षेत्र, काल, शरीरके संहनन—इनके बलकी अपेक्षा कर कायोत्सर्गके कहे जानेवाले दोषोंका त्याग करता हुआ कायोत्सर्ग करे। (मू. आ./६७१)

अन. ध./५/६५ द्रव्यं क्षेत्रं बलं कालं भावं वीर्यं समीक्ष्य च। स्वास्थ्याय वर्ततां सर्वविद्धशुद्धाशनैः सुधीः ॥६५॥ —विचारक साधुओंको आरोग्य और आत्मस्वरूपमें अवस्थान करनेके लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, बल और वीर्य, इन छह बातोंका अच्छी तरह पर्यालोचन करके सर्वाशन, विद्धाशन और शुद्धाशनके द्वारा आहारमें प्रवृत्ति करना चाहिए।

६. तपमें फलेच्छा नहीं होनी चाहिए

रा. वा /९/१९/१६/६१९/२४ इत्यतः सम्यग्ग्रहणमनुवर्त्तते, तेन दृष्टफल-निवृत्तिः कृता भवति सर्वत्र। —'सम्यक्' पदकी अनुवृत्ति आनेसे दृष्टफल निरपेक्षताका होना तपोंमें अनिवार्य है।

७. पंचमकालमें तपकी अप्रधानता

म. पु./४१/६६ करीन्द्रभारनिर्भुग्नपृष्ठस्याश्वस्य वीक्षणात्। कृत्स्नान् तपोगुणान्वोढुं नालं दुष्षमसाधवः ॥६६॥ —भगवान् ऋषभदेवने भरत चक्रवर्तीके स्वप्नोंका फल बताते हुए कहा कि 'बड़े हाथीके उठाने योग्य बोझसे जिसकी पीठ झुक गयी है, ऐसे घोड़ेके देखनेसे मालूम होता है कि पंचमकालके साधु तपश्चरणके समस्त गुणोंको धारण करनेमें समर्थ नहीं हो सकेंगे।

८. तप धर्म पालनार्थ विशेष भावनाएँ

भ. आ./मू./१४५३,१४६२ अप्पा य वंचिओ तेण होई विरियं च गूहियं भवदि। सुह सीलदाए जीवो बंधदि हु असादवेदणीयं ॥१४५३॥ संसारमहाडाहेण उज्झमाणस्स होइ सीयधरं। सुत्तवोदाहेण जहा सीयधरं उज्झमाणस्स ॥१४६२॥ —शक्त्यनुरूप तपमें जो प्रवृत्ति नहीं करता है, उसने अपने आत्माको फँसाया है और अपनी शक्ति भी छिपा दी है ऐसा मानना चाहिए, सुखासक्त होनेसे जीवको असाता वेदनीयका अनेक भवमें तीव्र दुःख देनेवाला, तीव्र पापबंध होता है ॥१४५३॥ जैसे सूर्यकी प्रचंड किरणोंसे संतप्त मनुष्यका शरीरदाह धारागृहसे नष्ट होता है वैसे संसारके महादाहसे दग्ध होनेवाले भव्योंके लिए तप जलगृहके समान शान्ति देनेवाला है। तपमें सांसारिक दुःख निर्मूलन करना यह गुण है ऐसा यह गाथा कहती है। (भ. आ./टी./१४५०-१४७५); (पं. वि./१/९८-१००)

दे. तप./४/७ (तपकी महिमा अपार है। जो तप नहीं करता वह तृणके समान है।)

३. बाह्याभ्यन्तर तपका समन्वय

१. सम्यक्त्व सहित ही तप तप है

मो.पा./मू./५९ तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो। —जो ज्ञान तप रहित है, और जो तप है सो भी ज्ञान रहित है तो दोऊही अकार्य है।

का.अ./१०२ बारस-विहेण तवसा णियाण-रहियस्स णिज्जरा होदि। वेरग्ग-भावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स।१०२।—निदान रहित, निरभिमानी, ज्ञानी पुरुषके वैराग्यकी भावनासे अथवा वैराग्य और भावनासे बारह प्रकारके तपके द्वारा कर्मोंकी निर्जरा होती है।

२. सम्यक्त्व रहित तप अकिंचित्कर है

नि.सा./मू./१२४ किं काहदि वणवासो कायकलेसो विचित्त उववासो। अज्झयमौणपहुदी समदारहियस्स समणस्स।१२४। —वनवास, कायक्लेश रूप अनेक प्रकारके उपवास, अध्ययन मौन आदि समता रहित मुनिको क्या करते हैं—क्या लाभ करते हैं? अर्थात् कुछ नहीं।

द.पा./मू./५सम्मत्तविरहियाणं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंताणं। ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं।५। सम्यक्त्व बिना करोड़ों वर्ष तक उग्र तप भी तपै तो भी बोधिकी प्राप्ति नाहीं (मो पा./५७,५९); (र.सा./१०३), (मू.आ./९००)।

मो.पा./९९ किं काहिदि बहिकम्मं किं काहिदि बहुविहं च खवणं तु। किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो।९९। —आत्म स्वभावतैं विपरीत प्रतिकूल बाह्यकर्म जो क्रियाकांड सो कहा करैगा? कछू मोक्षका कार्य तौ किंचिन्मात्र भी नाहीं करैगा, बहुरि अनेक प्रकार क्षमण कहिए उपवासादिक कहा करैगा? आतापनयोगादि कायक्लेश कहा करैगा? कछू भी नाहीं करैगा।

स.श./३३ यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्। लभते स न निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः।३३। —जो अविनाशी आत्माको शरीरसे भिन्न नहीं जानता है, वह घोर तपश्चरण करके भी मोक्षको नहीं प्राप्त करता है (ज्ञा./३२/४७)।

यो.सा.अ./६/१० बाह्यमाभ्यन्तरं द्वेधा प्रत्येकं कुर्वता तपः। नैनो निर्जीर्यते शुद्धमात्मतत्त्वमजानता।१०। —जो पुरुष शुद्ध आत्मस्वरूपको नहीं जानता है वह चाहे बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकारके तप करै वा एक प्रकारका करै, कभी कर्मोंकी निर्जरा नहीं कर सकता।

पं.वि./१/६७ कालत्रये बहिरवस्थितिजातवर्षाशीतातपप्रमुखसंघटितोग्रदुःखे। आत्मप्रबोधविकले सकलोऽपि कायक्लेशो वृथा वृतिरिवोज्झितशालिवप्रे।६७।—साधु जिन तीन कालोंमें घर छोड़कर बाहिर रहने से उत्पन्न हुए वर्षा, शीत्य और धूप आदिके तीव्र दुःखको सहता है वह यदि उन तीन कालोंमें अध्यात्म ज्ञानसे रहित होता है तो उसका यह सब ही कायक्लेश इस प्रकार व्यर्थ होता है जिस प्रकार कि धान्यांकुरोंसे रहित खेतोंमें बाँसों या काँटों आदिसे बाढ़का निर्माण करना।६७। (पं.वि./१/५०)।

३. संयम बिना तप निरर्थक है

शी.पा./मू./५ संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं ।५। –बहुरि संयमरहित तप होय सो निरर्थक है। ऐसें ए आचरण करै तो सर्व निरर्थक है (मू.आ./७७०)।

मू.आ./६५० सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि। होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्छिदकम्म तं तस्स ।६५०। –संयम रहित तप… महान् उपकारी नहीं। उसका तप हस्तिस्नानकी भाँति जानना, अथवा दही मथने के। रस्सीकी तरह जानना। (भ.आ./मू./७)।

भ.आ./मू./७७०…संजमहीणो य तवो जो कुणदि णिरत्थयं कुणदि। –संयम रहित तप करना निरर्थक है, अर्थात् उससे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती।

४. अंतरंग तपके बिना बाह्य तप निरर्थक है

प.प्र./मू./१६१ घोरु करंतु वि तवचरणु सयल वि सत्थ मुणंतु। परम-समाहिविवज्जियउ णवि देक्खइ सिउ संतु ।१६१। –घोर तपश्चरण करता हुआ भी और सब शास्त्रोंको जानता हुआ भी जो परम समाधिसे रहित है वह शान्तरूप शुद्धात्माको नहीं देख सकता।

भ.आ./वि./१३४८/१३०६/१ यद्यि यदर्थं तत्प्रधानं इति प्रधानताभ्यन्तर-तपसः। तच्च शुभशुद्धपरिणामात्मकं तेन विना न निर्जरायै बाह्यमलम्। –आभ्यन्तर तपके लिए बाह्य तप है। अत: आभ्यन्तर तप प्रधान है। यह आभ्यन्तर तप शुभ और शुद्ध परिणामोंसे युक्त रहता है इसके बिना बाह्य तप कर्म निर्जरा करनेमें असमर्थ है।

प्र.सा./आ./२०४/क. १४२ क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः, क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपो भारेण भग्नाश्चिरम्। साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं, ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते नहि ।१४२। –कोई जीव दुष्करतर और मोक्षसे पराङ्मुख कर्मोंके द्वारा स्वयमेव क्लेश पाते हैं तो पाओ और अन्य कोई जीव महाव्रत और तपके भारसे बहुत समय तक भग्न होते हुए क्लेश प्राप्त करें तो करो, जो साक्षात् मोक्ष स्वरूप है, निरामय पद है, और स्वयं संवेद्यमान है, ऐसे इस ज्ञानको ज्ञानगुणके बिना किसी भी प्रकारसे वे प्राप्त नहीं कर सकते।

ज्ञा./२२/१४/२३४ मनःशुद्ध्यैव शुद्धिः स्याद्देहिनां नात्र संशयः। वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम् ।१४। –निःसन्देह मनकी शुद्धिसे ही जीवोंके शुद्धता होती है, मनकी शुद्धिके बिना केवल कायको क्षीण करना वृथा है (ज्ञा./२२/२८)।

आचारांग/१११ अति करोतु तपः पालयतु संयमं पठतु सकलशास्त्राणि। यावन्न ध्यायत्यात्मानं तावन्न मोक्षो जिनो भणति।

आ.सा./५४/१२६ सकलशास्त्रं सेवितां सूरिसंघात् दृढयतु च तपश्चा-भ्यस्तु स्फीतयोगं। चरतु विनयवृत्तिं बुध्यतां विश्वतत्त्वं यदि विषयविलासः सर्वमेतन्न किंचित्। –१. अति तप भी करे, संयमका पालन भी करे, और सकल शास्त्रोंका अध्ययन भी करे, परन्तु जब तक आत्माको नहीं ध्याता है, तब तक मोक्ष नहीं होती है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है ।११। २. सकल शास्त्रको पढ़े, आचार्यके संघको दृढ़ करे, और निश्चल योगकर तपश्चरण भी करे, विनय वृत्ति धारण करे, तथा समस्त विश्वके तत्त्वोंको भी जाने, परन्तु यदि विषय विलास है तो ये सर्व निरर्थक हैं।

मो.मा.प्र./७/३४०/१ जो बाह्य तप तो करै अर अन्तरंग तप न होय, तौ उपचार तै भी वाकों तप संज्ञा नहीं।

मो.मा.प्र./७/३४२/८ वीतराग भावरूप तपको न जानैं अर इन्हींको तप जानि संग्रह करै तो संसार ही में भ्रमै।

५. अंतरंग सहित ही बाह्य तप कार्यकारी है

ध.१३/५,४,२६/५५/३ ण च चउव्विहआहारपरिच्चागो चेव अणेसणं, रागादिहिं सह तच्चागस्स अणेसणभावब्भुवगमादो। –पर इसका (अनशनादिका) यह अर्थ नहीं कि चारों प्रकारके आहारका त्याग ही अनेषण कहलाता है क्योंकि रागादिके साथ ही उन चारोंके (चार प्रकारका आहार) त्यागको अनेषण रूपसे स्वीकार किया है।

६. बाह्य तप केवल पुण्य बन्धका कारण है

ज्ञा./८/७/४२ सुगुप्तेन सुकायेन कायोत्सर्गेण वानिशम्। संचिनोति शुभं कर्म काययोगेन संयमी ।७। –भले प्रकार गुप्त रूप किये हुए, अर्थात् अपने वशीभूत किये हुए कायसे तथा निरन्तर कायोत्सर्गसे संयमी मुनि शुभकर्मको संचय करते हैं।

७. बाह्य तपोंको तप कहनेका कारण

अन.ध./७/६,८ देहाक्षतपनात्कर्मदहनादान्तरस्य च। तपसो वृद्धिहेतुत्वात् स्यात्तपोऽनशनादिकम् ।६। बाह्यैस्तपोभिः कायस्य कर्शनादक्षमर्दने। छिन्नबाहो भट इव विक्रामति कियन्मनः ।८। –अनशनादि तप इसलिए हैं कि इनके होनेपर शरीर इन्द्रियाँ उद्रिक्त नहीं हो सकतीं किन्तु कृश हो जाती हैं। दूसरे इनके निमित्तसे सम्पूर्ण अशुभकर्म अग्निके द्वारा ईंधनकी तरह भस्मसात् हो जाते हैं। तीसरे आभ्यन्तर प्रायश्चित्त आदि तपोंके बढ़ानेमें कारण हैं ।६। बाह्य तपोंके द्वारा शरीरका कर्षण हो जानेसे इन्द्रियोंका मर्दन हो जाता है, इन्द्रिय दलनसे मन अपना पराक्रम किस तरह प्रगट कर सकता है कैसा भी योद्धा हो प्रतियोद्धा द्वारा अपना घोड़ा मारा जानेपर अवश्य निर्बल हो जायेगा।

मो.मा.प्र./७/३४०/१ बाह्य साधन भए अन्तरंग तपकी वृद्धि हो है। तातै उपचार करि इनको तप कहे हैं।

८. बाह्य अभ्यन्तर तपका समन्वय

स्व. स्तो./८३ बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्व-माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्। ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन्, ध्यान-द्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ।३। –आपने आध्यात्मिक तपकी परिवृद्धिके लिए परम दुश्चर बाह्य तप किया है। और आप आर्तरौद्र रूप दो कलुषित ध्यानोंका निराकरण करके उत्तरवर्ती दो सातिशय ध्यानोंमें प्रवृत्त हुए हैं। (भ.आ./वि./१३४८/१३०६/१)।

भ.आ./मू./१३५० लिंगं च होदि आब्भंतरस्स सोधीए बाहिरा सोधी। भिउडीकरणं लिंगं जहसंतो जदकोधस्स ।१३५०। –अभ्यंतर परिणाम शुद्धिका अनशनादि बाह्य तप चिह्न है। जैसे किसी मनुष्यके मनमें जब क्रोध उत्पन्न होता है, तब उसकी भौंहे चढ़ती हैं इस प्रकार इन तपोंमें लिंग लिंगी भाव है।

द्र.सं./टी./५७/२२८/११ द्वादशविधं तपः। तेनैव साध्यं शुद्धात्मस्वरूपे प्रतपनं विजयनं निश्चयतपश्च। –बारह प्रकारका तप है। उसी (व्यवहार) तपसे सिद्ध होने योग्य निज शुद्ध आत्म स्वरूपमें प्रतपन अर्थात् विजय करने रूप निश्चय तप है।

मो.मा.प्र./७/३४०/१ बाह्य साधन होते अंतरंग तपकी वृद्धि होती है। इससे उपचारसे उसको तप कहते हैं। परन्तु जो बाह्य तप तो करैं अर अंतरंग तप न होय तो उपचारसे भी उसको तप संज्ञा प्राप्त नहीं।

४. तपके कारण व प्रयोजनादि

१. तप करनेका उपदेश

मो. पा /मू./६० धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं। णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ।६०। –आचार्य कहै है– देखो जाकै नियमकरि मोक्ष होनी है अर च्यार ज्ञान मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय इनिकरि युक्त है ऐसा तीर्थंकर है सो भी तपश्चरण करै है, ऐसे निश्चय करि जानि ज्ञान करि युक्त होतैं भी तप करना योग्य है।

२. तपके उपदेशका कारण

भ. आ./मू./१९१,२३७-२४५ पुव्वमकारिदजोग्गो समाधिकामो तहा मरणकाले । ण भवदि परीसहसहो विसयसुहपरम्मुहो जीवो ।१९१। सो णाम बाहिरतवो जेण मणो दुक्कडं ण उट्ठेदि । जेण य सड्ढा जायदि जेण य जोगा ण हायंति ।२३६। बाहिरतवेण होदि हु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता । सल्लिहिद च सरीरं ठविदो अप्पा य संवेगे ।२३७। —यदि पूर्व कालमें तपश्चरण नहीं किया होय तो मरण कालमें समाधिको इच्छा करता हुआ भी परीषहोंको सहन नहीं करता है, तथा विषय सुखों में आसक्त हो जाता है ।१९१। जिस तपके आचरणसे मन दुष्कर्मके प्रति प्रवृत्त नहीं होता है, तथा जिसके आचरणसे अभ्यन्तर प्रायश्चित्तादि तपोंमें श्रद्धा होती है जिसके आचरणसे पूर्वके धारण किये हुए व्रतोंका नाश नहीं होता है, उसी तपका अनुष्ठान करना योग्य है ।२३६। तपसे सम्पूर्ण सुख स्वभावका त्याग होता है। बाह्य तप करनेसे शरीर सल्लेखनाके उपायकी प्राप्ति होती है और आत्मा संसारभीरुता नामक गुणमें स्थिर होता है। (भ. आ./मू./१९३) (भ. आ./मू. १८९)।

मो. पा./मू. ६२ सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि । तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए ।६२। —जो सुखकरि भाया हुआ ज्ञान है सो उपसर्ग परीषहादिक करि दुखकूं उपजतें नष्ट हो जाय है तातै यह उपदेह है जो योगी ध्यानी मुनि है सो तपश्चरणादिकके कष्ट दुखसहित आत्माकूं भावै । (स. श./मू०/१०२) (ज्ञा०/३२/१०२/३३४)।

अन. ध./७/१ ज्ञाततत्त्वोऽपि वैतृष्ण्यादृते नाप्नोति तत्पदम् । ततस्तत्सिद्धये धीरस्तपस्तप्येत नित्यशः ।१। तत्त्वोंका ज्ञाता होनेपर भी, वीतरागताके बिना अनन्तचतुष्टय रूप परम पदको प्राप्त नहीं हो सकता। अत: वीतरागताकी सिद्धिके अर्थ धीर वीर साधुओंको तपका नित्य ही संचय करना चाहिए।

३. तपको तप कहनेका कारण

रा. वा /९/१९/२०-२१/६१९/३१ यथाग्निः संचितं तृणादि दहति तथा कर्म मिथ्यादर्शनाद्यर्जितं निर्दहतीति तप इति निरुच्यते ।२०। देहेन्द्रियतापाद्वा ।२१। —जैसे-अग्नि संचित तृणादि इन्धनको भस्म कर देती है उसी तरह अनशनादि अर्जित मिथ्यादर्शनादि कर्मोंका दाह करते हैं। तथा देह और इन्द्रियोंकी विषय प्रवृत्ति रोककर उन्हें तपा देते हैं अतः ये तप कहे जाते हैं।

४. तपसे बलकी वृद्धि होती है

ध. ९/४,१,२२/८९/१ आधादाउआ वि छम्मासोववासा चेव होंति, तदुवरि संकिलेसुप्पत्तीदो त्ति ण तवोबलेणुप्पण्णविरियंतराइयक्खओवसमाणं तब्बलेणेव मंदीकयासादावेदणीओदयाणमेस णियमो तत्थ तव्विरोहादो। —प्रश्न—अघातायुष्क भी छह मास तक उपवास करनेवाले ही होते हैं, क्योंकि इसके आगे संक्लेश उत्पन्न हो जाता है। उत्तर—…तपके बलसे उत्पन्न हुए वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे संयुक्त तथा उसके बलसे ही असाता वेदनीयके उदयको मन्द कर चुकनेवाले साधुओंके लिए यह नियम नहीं है। क्योंकि उनमें इसका विरोध है।

५. तप निर्जरा व संवरका कारण है

त. सू./९/३ तपसा निर्जरा च ।३। —तपसे संवर और निर्जरा होती है।

रा. वा./८/२३/७/५८४ पर उद्धृत—कायमणोवचिगुत्तो जो तवसा चेट्ठदे अणेयविहं। सो कम्मणिज्जराए विपुलाए वट्टदे मणुस्सोत्ति। —काय, मन और वचन गुप्तिसे युक्त होकर जो अनेक प्रकारके तप करता है वह मनुष्य विपुल कर्म निर्जराको करता है।

न. च./वृ./३/५४/३३७ तपसश्च प्रभावेन निर्जीर्णं कर्म जायते ।५४। —तपके प्रभावसे कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं।

दे० निर्जरा/२/४ [तप निर्जराका ही नहीं संवरका भी कारण है।]।

६. तप दुखका कारण नहीं आनन्दका कारण है

स. श./३४ आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः। तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ।३४। —आत्म और शरीरके भेद-विज्ञानसे उत्पन्न हुए आनन्दसे जो आनन्दित है वह तपके द्वारा उदयमें लाये हुए भयानक दुष्कर्मोंके फलको भोगता हुआ भी खेदको प्राप्त नहीं होता है।

इ. उ./४८ आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम्। न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः ।४८। —वह परमानन्द सदा आनेवाली कर्म रूपी ईंधनको जला डालता है। उस समय ध्यान मग्न योगीके बाह्य पदार्थोंसे जायमान दुखोंका कुछ भी भान न होनेके कारण कोई खेद नहीं होता।

ज्ञा./३२/४८/३२४ स्वपरान्तरविज्ञानसुधास्यन्दाभिनन्दितः। खिद्यते न तपः कुर्वन्नपि क्लेशैः शरीरजैः ।४८। —भेद-विज्ञानी मुनि आत्मा और परके अन्तर्भेदी विज्ञानरूप अमृतके वेगसे आनन्दरूप होता हुआ व तप करता हुआ भी शरीरसे उत्पन्न हुए खेद क्लेशादिसे खिन्न नहीं होता है ।४८।

७. तपकी महिमा

भ. आ./मू./१४७२-१४७३ तं णत्थि जं ण लब्भइ तवसा सम्मं कएण पुरिसस्स। अग्गीव तणं जलिओ कम्मतणं डहदि य तवग्गी ।१४७२। सम्मं कदस्स अपरिस्सवस्स ण फलं तवस्स वण्णेदुं। कोई अत्थि समत्थो जस्स वि जिब्भासयसहस्सं ।१४७३। —निर्दोष तपसे जो प्राप्त न होगा ऐसा पदार्थ जगतमें है नहीं। अर्थात तपसे पुरुषको सर्व उत्तम पदार्थोंकी प्राप्ति होती है। जैसे प्रज्वलित अग्नि तृणको जलाती है वैसे तपरूप अग्नि कर्म रूप तृणको जलाती है ।१४७२। उत्तम प्रकारसे किया गया और कर्मास्रव रहित तपका फल वर्णन करनेमें जिसको हजार जिह्वा हैं ऐसा भी कोई शेषादि देव समर्थ नहीं है। (भ. आ./मू./१४५०-१४७५)।

कुरल०/२७/७ यथा भवति तीक्ष्णाग्निस्तथैवोज्ज्वलकाञ्चनम्। तपस्येव यथाकष्टं मनःशुद्धिस्तथैव हि ।७। —सोनेको जिस आगमें पिघलाते हैं वह जितनी ही तेज होती है, सोनेका रंग उतना ही अधिक उज्ज्वल निकलता है। ठीक इसी तरह तपस्वी जितने ही बड़े कष्टोंको सहता है उसके उतने ही अधिक आत्मिक भाव निर्मल होते हैं।

आराधना सार/७/२९ निकाचितानि कर्माणि तावद्भस्मीभवन्ति न। यावत्प्रवचने प्रोक्तस्तपोवह्निर्न दीप्यते ।७। —निकाचित कर्म तब तक भस्म नहीं होते हैं, जब तक कि प्रवचनमें कही गयी तप रूपी अग्नि दीप्त नहीं होती है।

रा. वा./९/६/२७/५९९/२२ तपः सर्वार्थसाधनम्। तत एव ऋद्धयः संजायन्ते। तपस्विभिरध्युषितान्येव क्षेत्राणि लोके तीर्थतामुपगतानि। तद्यस्य न विद्यते स तृणाल्लघुर्लक्ष्यते। मुञ्चन्ति तं सर्वे गुणाः। नासौ मुञ्चति संसारम्। —तपसे सभी अर्थोंकी सिद्धि होती है। इससे ऋद्धियोंकी प्राप्ति होती है। तपस्वियोंकी चरणरजसे पवित्र स्थान ही तीर्थ बने हैं। जिसके तप नहीं वह तिनकेसे भी लघु है। उसे सब गुण छोड़ देते हैं वह संसारसे मुक्त नहीं हो सकता।

आ. अनु./११४ इहैव सहजान् रिपून् विजयते प्रकोपादिकान्, गुणाः परिणमन्ति यानसुभिरप्ययं वाञ्छति। पुरश्च पुरुषार्थसिद्धिरचिरात्स्वयं यायिनी, नरो न रमते कथं तपसि तापसंहारिणि ।११४। —इसके अतिरिक्त वह तप इसी लोकमें क्षमा, शान्ति, एवं विशिष्ट ऋद्धि आदि दुर्लभ गुणोंको भी प्राप्त कराता है। वह चूँकि परलोक-मोक्ष पुरुषार्थको सिद्ध कराता है अतएव वह परलोकमें भी हितका

साधक है। इस प्रकार विचार करके जो विवेकी जीव हैं वे उभय-लोकके सन्तापको दूर करने वाले उस तपमें अवश्य प्रवृत्त होते हैं।

प. वि./१/९९-१०० कषायविषयोद्भटप्रचुरतस्करौघो हठात् तपः-सुभटताडितो विघटते यतो दुर्जयः। अतो हि निरुपद्रवश्चरति तेन धर्मश्रिया, यतिः समुपलक्षितः पथि विमुक्तिपुर्याः सुखम् ॥९९॥ मिथ्यात्वादेर्यदिह भविता दुःखमग्रं तपोभ्यो, जातं तस्मादुदककणिकैकेव सर्वाब्धिनीरात्। स्तोकं तेन प्रभवमखिलं कृच्छ्रलब्धे नरत्वे, यद्येतर्हि स्खलति तदहो का क्षतिर्जीव ते स्यात् ॥१००॥ =जो क्रोधादि कषायों और पंचेन्द्रिय विषयोंरूपी उद्भट एवं बहुतसे चोरोंका समुदाय बड़ी कठिनतासे जीता जा सकता है वह चूंकि तपरूपी सुभटके द्वारा बलपूर्वक ताड़ित होकर नष्ट हो जाता है। अतएव उस तपसे तथा धर्मरूपी लक्ष्मीसे संयुक्त साधु मुक्तिरूपी नगरीके मार्गमें सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे रहित होकर सुख-पूर्वक गमन करता है ॥९९॥ लोकमें मिथ्यात्व आदिके निमित्तसे जो तीव्र दुख प्राप्त होनेवाला है उसकी अपेक्षा तपसे उत्पन्न होनेवाला दुख इतना अल्प होता है कि समुद्रके सम्पूर्ण जलकी अपेक्षा उसकी एक बूंद होती है। उस तपसे सब कुछ आविर्भूत हो जाता है। इसलिए हे जीव! कष्टसे प्राप्त होनेवाली मनुष्य पर्याय प्राप्त होनेपर भी यदि तुम तपसे भ्रष्ट होते हो तो फिर तुम्हारी कौन-सी हानि होगी। अर्थात् सब लुट जायेगा ॥१००॥

५. शंका समाधान

१. देवादि पदोंकी प्राप्तिका कारण तप निर्जराका कारण कैसे

रा. वा./९/३/४-५/५९३ तपसोऽभ्युदयहेतुत्वान्निर्जराङ्गत्वाभाव इति चेत्, न; एकस्यानेककार्यारम्भदर्शनात् ॥४॥ गुणप्रधानफलोपपत्तेर्वा कृषीबलवत् ॥५॥ यथा कृषीवलस्य कृषिक्रियायाः पलालशस्यफलगुण-प्रधानफलाभिसंबन्धः तथा मुनेरपि तपःक्रियायां प्रधानोपसर्जनाभ्यु-दयनिःश्रेयसफलाभिसंबन्धोऽभिसन्धिवशाद् वेदितव्यः। =प्रश्न—तप देवादि स्थानोंकी प्राप्तिका कारण होनेसे निर्जराका कारण नहीं हो सकता? उत्तर—एक कारणसे अनेक कार्य होते हैं। जैसे एक ही अग्नि पाक और भस्म करना आदि अनेक कार्य करती है। अथवा जैसे किसान मुख्यरूपसे धान्यके लिए खेती करता है, पयाल तो उसे यों ही मिल जाता है। उसी तरह मुख्यतः तप क्रिया कर्मक्षयके लिए है, अभ्युदयकी प्राप्ति तो पयालकी तरह आनुषंगिक ही है, गौण है। किसीको विशेष अभिप्रायसे उसकी सहज प्राप्ति हो जाती है।

२. दुख प्रदायक तपसे तो असाताका आस्रव होना चाहिए

रा. वा./६/११/१६-२०/५२१/१६ स्यादेतत्-यदि दुःखाधिकरणमसद्वेद्यहेतुः, ननु नाग्न्यलोचानशनादितपःकरणं दुःखहेतुरिति तदनुष्ठानोपदेशनं स्वतीर्थकरस्य विरुद्धम्, तदविरोधे च दुःखादीनामसद्वेद्यास्रवस्यायुक्ति-रिति; तन्नः किं कारणम्।...यथा अनिष्टद्रव्यसंपर्काद् द्वेषोत्पत्तौ दुःखोत्पत्तिः न तथा बाह्याभ्यन्तरतपःप्रवृत्तौ धर्मध्यानपरिणतस्य यतेरनशनकेशलुञ्चनादिकरणकारणापादितकायक्लेशेऽस्ति द्वेषसंभवः तस्मान्नासद्वेद्यबन्धोऽस्ति। क्रोधाद्यावेशे हि सति स्वपरोभयदुःखा-दीनां पापास्रवहेतुत्वमिष्टं न केवलानाम्।...तथा अनादिसांसारिक-जातिजरामरणवेदनाजिघांसां प्रत्यागूर्णो यतिः तदुपाये प्रवर्तमानः स्वपरस्य दुःखादिहेतुत्वे सत्यपि क्रोधाद्यभावात् पापस्याबन्धकः। =प्रश्न—यदि दुखके कारणोंसे असाता वेदनीयका आस्रव होता है तो नग्न रहना केशलुंचन और अनशन आदि तपोंका उपदेश भी दुखके कारणोंका उपदेश हुआ? उत्तर—क्रोधादिके आवेशके कारण द्वेषपूर्वक होनेवाले स्व पर और उभयके दुखादि पापास्रवके हेतु होते हैं न कि स्वेच्छासे आत्मशुद्ध्यर्थ किये जानेवाले तप आदि। जैसे अनिष्ट द्रव्यके सम्पर्कसे द्वेषपूर्वक दुख उत्पन्न होता है उस तरह बाह्य और अभ्यंतर तपकी प्रवृत्तिमें धर्म ध्यान परिणत मुनिके अन-शन केशलुंचनादि करने या करानेमें द्वेषकी सम्भावना नहीं है अतः असाताका बन्ध नहीं होता।.. अनादि कालीन सांसारिक जन्म मरणकी वेदनाको नाश करनेकी इच्छासे तप आदि उपायोंमें प्रवृत्ति करनेवाले यतिके कार्योंमें स्वपर-उभयमें दुखहेतुता दीखनेपर भी क्रोधादि न होनेके कारण पापका बन्धक नहीं होता। (स. सि./६/११/-३२९/६)

३. तपसे इन्द्रिय दमन कैसे होता है

भ आ./वि./१८८/४०६/५ ननु चानशनादौ प्रवृत्तस्याहारदर्शने तद्वार्ता-श्रवणे तदासेवायां चादरो नितान्तं प्रवर्तते ततोऽयुक्तमुच्यते तपो-भावनया दान्तानीन्द्रियाणीति। इन्द्रियविषयरागकोपपरिणामानां कर्मास्रवहेतुतया अहितत्वप्रकाशनपरिज्ञानपुरःसरतपोभावनया विषयसुखपरित्यागात्मकेन अनशनादिना दान्तानि भवन्ति इन्द्रि-याणि। पुनः पुनः सेव्यमानं विषयसुखं रागं जनयति। न भाव-नान्तरात्मन्यहितमिति मन्यते। =प्रश्न—उपवासादि तपोंमें प्रवृत्त हुए पुरुषको आहारके दर्शनसे और उसकी कथा सुननेसे, उसको भक्षण करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। अतः तपोभावनासे इन्द्रियोंका दमन होता है। यह कहना अयोग्य है? उत्तर—इन्द्रियोंके इष्टानिष्ट स्पर्शादि विषयोंपर आत्मा रागी और द्वेषी जब होता है तब उसके राग द्वेष परिणाम कर्मागमनके हेतु बनते हैं। ये राग जोवनका अहित करते हैं, ऐसा सम्यग्ज्ञान जीवको बतलाता है। सम्यग्ज्ञान युक्त तपो-भावनासे जो कि विषय सुखोंका त्यागरूप और अनशनादि रूप है, इन्द्रियोंका दमन करती हैं। पुन पुन विषय सुखका सेवन करनेसे राग भाव उत्पन्न होता है परन्तु तपोभावनासे जब आत्मा सुसंस्कृत होता है तब इन्द्रियाँ विषय सुखकी तरफ दौड़ती नहीं हैं।

६. तपधर्म, भावना व प्रायश्चित्त निर्देश

१. शक्तितस्तप भावनाका लक्षण

स. सि./६/२४/३३९/१२ अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधि कायक्लेश-स्तपः। =शक्तिको न छिपाकर मोक्षमार्गके अनुकूल शरीरको क्लेश देना यथाशक्ति तप है। (भा. पा./टी./७७-२२१) (चा. सा./५४/३)

रा. वा./६/२४/७/५२९/३० शरीरमिदं दुःखकारणमनित्यमशुचि, नास्य यथेष्टभोगविधिना परिपोषो युक्तः, अशुच्यपीदं गुणरत्नसंचयोपका-रीति विचिन्त्य विनिवृत्तविषयसुखाभिष्वङ्गस्य स्वकार्यं प्रत्येतद्भृत-कमिव नियुञ्जानस्य यथाशक्ति मार्गाविरोधि कायक्लेशानुष्ठानं तप इति निश्चीयते। =अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर मार्गा-विरोधी कायक्लेशादि करना तप है। यह शरीर दुःखका कारण है, अशुचि है, कितना भी भोग भोगो पर इसकी तृप्ति नहीं होती। यह अशुचि होकर भी शीलव्रत आदि गुणोंके संचयमें आत्माकी सहायता करता है यह विचारकर विषय विरक्त हो आत्म कार्यके प्रति शरीर-का नौकरकी तरह उपयोग कर लेना उचित है। अतः मार्गाविरोधी कायक्लेशादि करना यथाशक्ति तप भावना है।

२. एक शक्तितस्तपमें ही १५ भावनाओंका समावेश

ध. ८/३,४१/८९/११ जहाथामतवे सयलसेसतित्थयरकारणाण संभवादो, जदो जहाथामो णाम ओघबलस्स धीरस्स णाणदंसणकलिदस्स होदि। ण च तस्य दंसणविसुज्झदादीणमभावो, तहा तब्भंतस्स अण्ण-हाणुववत्तीदो।" =प्रश्न—(शक्तितस्तपमें शेष भावनाएँ कैसे

संभव हैं ? उत्तर—यथाशक्ति तपमें तीर्थंकर नामकर्मके बन्धके सभी शेष कारण सम्भव हैं, क्योंकि, यथाथाम तप ज्ञान, दर्शनसे युक्त सामान्य बलवान और धीर व्यक्तिके होता है, और इसलिए उसमें दर्शनविशुद्धतादिकोंका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होनेपर यथाथाम तप बन नहीं सकता।

६. तपप्रायश्चित्तका लक्षण

ध. ८/३,४,२९/६१/५ खवणायंबिलणिव्वियडि म पुरिमंडलेयट्ठाणाणि तवो णाम। —उपवास, आचाम्ल, निर्विकृति, और दिवसके पूर्वार्धमें एकासन तप (प्रायश्चित्त) है।

चा. सा./१४२/५ सत्त्वादिगुणालंकृतेन कृतापराधेनोपवासैकस्थानाचाम्ल-निर्विकृत्यादिभिः क्रियमाणं तप इत्युच्यते। —जो शारीरिक व मानसिक बल आदि गुणोंसे परिपूर्ण हैं, और जिनसे कुछ अपराध हुआ है ऐसे मुनि उपवास, एकासन, आचाम्ल आदिके द्वारा जो तपश्चरण करते हैं उसे तप प्रायश्चित्त कहते हैं।

स. सि./९/२२/४४०/८ अनशनावमौदर्यादिलक्षणं तपः। — अनशन, अवमौदर्य आदि करना तप प्रायश्चित्त है। (रा. वा./९/२२/७/६२१/२६)।

तप ऋद्धि—दे० ऋद्धि/५।

तपन—१.तीसरे नरकका तीसरा पटल—दे० नरक/५/११; २. विद्युत्प्रभ गजदन्त का कूट तथा देव—दे० लोक/५/४; ३. रुचक पर्वत का कूट—दे. लोक/५/१३।

तपनतापि—आकाशोपपन्न देव—दे० देव/II/३।

तपनीय—१. मानुषोत्तर पर्वतस्थ एक कूट —दे० लोक/५/१०। २. सौधर्म स्वर्गका १६वाँ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३।

तप प्रायश्चित्त—दे० तप/६।

तपमद—दे० मद।

तपविद्या—दे० विद्या।

तपविनय—दे० विनय/१।

तपस्वी—र.क. श्रा./१० विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः। ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते।१०। —जो विषयोंकी आशाके वशसे रहित हो, चौबीस प्रकारके परिग्रहसे रहित और ज्ञान-ध्यान-तपमें लवलीन हो, वह तपस्वी गुरु प्रशंसाके योग्य है।

स.सि./९/२४/४४२/८ महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी। —महोपवासादिका अनुष्ठान करनेवाला तपस्वी कहलाता है। (रा.वा./९/२४/५/६२३); (चा.सा./१५१/१)

तपाचार—दे० आचार।

तपाराधना—दे० आराधना।

तपित—तीसरे नरकका द्वितीय पटल—दे० नरक/५/११।

तपोनिधि व्रत—इस व्रतकी दो प्रकार विधि वर्णन की गयी है—बृहद् व लघु।

बृहद्विधि—ह.पु./३४/९२-९५ १ उपवास, १ ग्रास, २ ग्रास। इसी प्रकार एक ग्रास वृद्धि क्रमसे सातवें दिन ७ ग्रास। आठ दिनोंका यह क्रम ७ बार दोहराएँ। पीछेसे अन्तमें एक उपवास करें और अगले दिन पारणा। यह 'सप्त सप्त' तपो विधि हुई। इसी प्रकार अष्टम अष्टम, नवम नवम आदि रूपसे द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशत् (३२-३२) पर्यंत करना। जेतवीं तप विधि हो उतने ही ग्रास तक वृद्धि करे, और उतनी ही बार क्रमको दोहराये।

इस प्रकार करते करते सप्तम सप्तमके (८×७)+१=५७ दिन; अष्टम अष्टमके (९×८)+१=७३ दिन; नवम नवमके (१०×९)+१=९१ दिन…द्वात्रिंशत्तम द्वात्रिंशत्तमके (३३×३२)+१=१०५७ दिन।

लघुविधि—ह.पु./३४/९२-९५ उपरोक्तवत् ही विधि है। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ उपवास का ग्रहण न करने। केवल ग्रासोंका वृद्धिक्रम ग्रहण करना।

तपो भावना—दे० भावना/१।

तपोशुद्धि व्रत—ह.पु./३४/१०० मन्त्र—२,१,१,५,१,१+१६,१०,१०,५,२,१। विधि—अनशनके २; अवमौदर्यका १; वृत्ति परिसंख्यानका १; रसपरित्यागके ५; विविक्त शय्यासनका १; कायक्लेशका १; इस प्रकार बाह्य तपके ११ उपवास। प्रायश्चित्तके १९; विनयके १०, वैयावृत्तिके १०, स्वाध्यायके ५; व्युत्सर्गके २; ध्यानका १; इस प्रकार अन्तरंग तपके ६७ उपवास। कुल—७८ उपवास बीचके १२ स्थानोंमें एक पारणा।

तप्त—१. प्रथम नरकका नवाँ पटल—दे०नरक/५/११ तथा रत्नप्रभा २. तृतीय पृथिवीका प्रथम पटल—दे० नरक/५ तथा लोक/२/८।

तप्तजला— पूर्व विदेहकी एक विभंगा नदी—दे० लोक/५/८।

तप्ततप ऋद्धि—दे० ऋद्धि/५।

तम—स.सि./५/२४/२९६/८ तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणं प्रकाशविरोधि। —जिससे दृष्टिमें प्रतिबन्ध होता और जो प्रकाशका विरोधी है वह तम कहलाता है। (रा.वा./५/२४/१५/४८९/७); (त.सा./३/६८/१६१); (द्र.सं./१६/५३/११)

रा. वा./५/२४/१/४८५/१४ पूर्वोपात्ताशुभकर्मोदयात् ताम्यति आत्मा, तम्यतेऽनेन, तमनमात्रं वा तमः। —पूर्वोपात्त अशुभकर्मके उदयसे जो स्वरूपको अन्धकारावृत करता है या जिसके द्वारा किया जाता है, या तमन मात्रको तम कहते हैं।

तमःप्रभा—लक्षण व नामकी सार्थकता

स.सि./३/१/२०१/६ तमःप्रभासहचरिता भूमिस्तमःप्रभाः। —जिसकी प्रभा अन्धकारके समान है वह तमःप्रभा भूमि है। (ति.प./२/२१); (रा.वा/३/१/३/१५९/११)

रा.वा./३/१/४-६/१५९/२१ तमः प्रभेति विरुद्धमिति चेत्; न; स्वात्मप्रभोपपत्तेः।४।…न दीप्तिरूपैव प्रभा… द्रव्याणां स्वात्मैव मृजा प्रभा यत्संनिधानात् मनुष्यादीनामयं संव्यवहारो भवति स्निग्धकृष्णप्रभमिदं रूक्षकृष्णप्रभमिदमिति, ततस्तमसोऽपि स्वात्मैव कृष्णा प्रभा अस्तीति नास्ति विरोधः। बाह्यप्रकाशापेक्षा सेति चेत्; अविशेषप्रसङ्गः स्यात्। अनादिपारिणामिकसंज्ञानिर्देशाद्वा इन्द्रगोपवत्।५। भेदरूढिशब्दानामगमकत्वमवयवार्थाभावादिति चेत्; न; सूत्रस्य प्रतिपादनोपायत्वात्। —प्रश्न—तमः और प्रभा कहना यह विरुद्ध है? उत्तर—नहीं; तमकी एक अपनी आभा होती है। केवल दीप्तिका नाम ही प्रभा नहीं है, किन्तु द्रव्योंका जो अपना विशेष विशेष सलोनापन होता है, उसीसे कहा जाता है कि यह स्निग्ध कृष्ण-प्रभावाला है, यह रूक्ष कृष्ण प्रभावाला है। जैसे—मखमली कीड़ेकी 'इन्द्रगोप' संज्ञा रूढ़ है, इसमें व्युत्पत्ति अपेक्षित नहीं है। उसी तरह तमःप्रभा आदि संज्ञाएँ अनादि पारिणामिकी रूढ़ समझनी चाहिए। यद्यपि ये रूढ़ शब्द हैं फिर भी ये अपने प्रतिनियत अर्थोंको रखती हैं।

★ **तमःप्रभा पृथिवीका आकार व विस्तारादि** —दे. नरक/५/११।

★ **तमःप्रभा पृथिवीका नकशा**—दे० लोक/२/८।

★ **अपर नाम मघवा**—दे० नरक/५।

तमक—१. चतुर्थ नरकका पंचम पटल—दे० नरक/५/११ २.पाँचवें नरकका पहला पटल—दे. नरक/५/११।

तमका—चौथे नरकका पाँचवा पटल—दे० नरक/५/११।

तमसा—भरतक्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

तमिस्र—१. पाँचवें नरक का पाँचवां पटल—दे. नरक/५/११।
२. विजयार्ध पर्वत की गुफा—दे० लोक/३/५।

तमो—पाँचवें नरकका पहला पटल—दे० नरक/५/११।

तमोर दशमी व्रत—व्रतविधान सं./पृ. १३० 'तम्बोल दशमि व्रत-को यह थोर, दश सुपात्रको देय तमोर।' (यह व्रत श्वेताम्बर व स्थानकवासी आम्नायमें प्रचलित है।)

तर्क—का लक्षण

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य/१/१५ ईहा, ऊहा तर्कः परीक्षा विचारणा जिज्ञासा इत्यनर्थान्तरम्।—ईहा, ऊहा, तर्क, परीक्षा, विचारणा और जिज्ञासा यह सब शब्द एक अर्थवाले हैं।

श्लो. वा./३/१/१३/११६/२६८/२२ साध्यसाधनसंबन्धाज्ञाननिवृत्तिरूपे साक्षात् स्वार्थनिश्चयने फले साधकतमस्तर्कः। —साध्य और साधन-के अविनाभावरूप सम्बन्धके अज्ञानकी निवृत्ति करना रूप स्वार्थ निश्चयस्वरूप अव्यवहित फलको उत्पन्न करनेमें जो प्रकृष्ट उपकारक है, उसे तर्क कहते हैं।

प.मु./३/११-१३ उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः।११। इदम-स्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च।१२। यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च।१३।—उपलब्धि और अनुपलब्धिकी सहायतासे होनेवाले व्याप्तिज्ञानको तर्क कहते हैं, और उसका स्वरूप है कि इसके होते ही यह होता है इसके न होते होता ही नहीं, जैसे अग्निके होते ही धुआँ होता है और अग्निके न होते होता ही नहीं है।

न्या. दी./३/§१५-१६/६२/१ व्याप्तिज्ञानं तर्कः। साध्यसाधनयोर्गम्य-गमकभावप्रयोजको व्यभिचारगन्धासहिष्णुः संबन्धविशेषो व्याप्तिर-विनाभाव इति च व्यपदिश्यते। तत्सामर्थ्यात्खल्वग्न्यादि धूमादि-रेव गमयति न तु घटादिः तदभावात्। तस्याश्चाविनाभावापर-नाम्न्याः व्याप्तेः; प्रमितौ यत्साधकतमं तदिदं तर्काख्यं प्रमाणमि-त्यर्थः।...यत्र यत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्राग्निमत्त्वमिति। —व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहते हैं। साध्य और साधनमें गम्य और गमक (बोध्य और बोधक) भावका साधक और व्यभिचारीकी गन्धसे रहित जो सम्बन्ध विशेष है, उसे व्याप्ति कहते हैं। उसीको अविनाभाव भी कहते हैं। उस व्याप्तिके होनेसे अग्नि आदिको धूमादिक ही जनाते हैं, घटादिक नहीं। क्योंकि घटादिककी अग्नि आदिके साथ व्याप्ति नहीं है। इस अविनाभाव रूप व्याप्तिके ज्ञानमें जो साधकतम है वह यही तर्क नामका प्रमाण है।...उदाहरण—जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है।

स्या. म./२८/३२१/२७ उपलम्भानुपलम्भसंभवं त्रिकालीकलितसाध्य-साधनसंबन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदन-मूहस्तर्कापरपर्यायः। यथा यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवतीति तस्मिन्नसति असौ न भवत्येवेति वा। —उपलम्भ और अनुपलम्भसे उत्पन्न तीन कालमें होनेवाले साध्य साधनके सम्बन्ध आदिसे होनेवाले, इसके होनेपर यह होता है, इस प्रकारके ज्ञानको ऊह अथवा तर्क कहते हैं जैसे—अग्निके होनेपर ही धूम होता है, अग्निके न होनेपर धूम नहीं होता है।

२. तर्काभासका लक्षण

प. मु./६/१०/५५ असंबद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासं।१०। —जिन पदार्थोंका आपसमें सम्बन्ध नहीं उनका सम्बन्ध मानना तर्काभास है।

३. तर्कमें पर समयकी मुख्यतासे व्याख्यान होता है

द्र. सं./टी./४४/१९२/४ तर्के मुख्यवृत्त्यापरसमयव्याख्यानं। —तर्कमें मुख्यतासे अन्य मतोंका व्याख्यान होता है।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

* मतिज्ञानके तर्क प्रत्यभिज्ञान आदि भेद व इनकी उत्पत्तिका क्रम। —दे० मतिज्ञान/३
* आगम प्रमाणमें तर्क नहीं चलता। —दे० आगम/६
* आगम सुतर्क द्वारा बाधित नहीं होता। —दे० आगम/५
* आगम विरुद्धतर्क तर्क ही नहीं। —दे० आगम/५
* तर्क आगम व सिद्धान्तोंमें अन्तर। —दे० पद्धति
* स्वभावमें तर्क नहीं चलता। —दे० स्वभाव/२

तर्जित—कायोत्सर्गका एक अतिचार —दे० व्युत्सर्ग/१

तलवर—त्रि. सा./टी./६८३ तलवर कहिये कोटवाल।

तात्पर्यवृत्ति—इस नामकी कई टीकाएँ उपलब्ध हैं—१. आ० अभयनन्दि (ई० ९३०-९५०) कृत तत्त्वार्थ सूत्रकी टीका; २. आ० विद्यानन्दि कृत अष्ट सहस्रीकी लघु समन्तभद्र (ई० १०००) कृत वृत्ति; ३. आचार्य जयसेन (ई० श०११-१२) कृत समयसार, प्रवचनसार व पंचास्तिकायकी टीकाएँ।

तादात्म्य संबन्ध— स.सा./आ/५७,६१ अग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसंबन्धः।५७। यत्किल सर्वास्वप्यवस्थासु यदात्म-कत्वेन व्याप्तं भवति तदात्मकत्वव्याप्तिशून्यं न भवति तस्य तैः सह तादात्म्यलक्षणसंबन्धः स्यात्। —अग्नि और उष्णताके साथ तादात्म्य रूप सम्बन्ध है।५७। जो निश्चयसे समस्त ही अवस्थाओंमें यह—आत्मकपनेसे अर्थात् जिस स्वरूपपनेसे व्याप्त हो और तद्—आत्मक-पनेकी अर्थात् उस स्वरूपपनेकी व्याप्तिसे रहित न हो उसका उनके साथ तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध होता है।

ताप—स.सि./६/११/३२९/१ परिवादादिनिमित्तादाविलान्तःकरणस्य तीव्रानुशयस्तापः। —अपवाद आदिके निमित्तसे मनके खिन्न होने पर जो तीव्र अनुशय सन्ताप होता है, वह ताप है। (रा.वा./६/११/३/५१९)।

स्या.म./३२/३४२/ पर उद्धृत श्लो० ३ जीवाइभाववाओ बंधाइपसाहगो इदं तावो। —जीवोंसे सम्बद्ध दुःख और बन्धको सहना करना ताप है।

तापन— तीसरे नरकका चौथा पटल— दे० नरक/५/११।

तापस—१. एक विनयवादी—दे० वैनयिक; २. भरतक्षेत्र पश्चिम आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

तापी— भरत क्षेत्रस्थ आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

तामस दान—दे० दान।

तामिल वेद—एलाचार्य (अपरनाम कुन्दकुन्द) द्वारा रचित कुरल-काव्यका अपरनाम है।

ताम्रलिप्ती—वर्तमान ताम्रलूक नगर। सुह्म देशकी राजधानी थी (म.पु./प्र.४९/पं. पन्नालाल)।

ताम्रा—पूर्व आर्यखण्डस्थ एक नदी—दे० मनुष्य/४।

तार—चतुर्थ नरकका तृतीय पटल—दे० नरक/५/११।

तारक—१. पिशाच जातीय व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० पिशाच; २. म.पु./५८/६१ भरतक्षेत्रके मलय देशका राजा विन्ध्यशक्ति था। चिरकाल तक अनेकों योनियोंमें भ्रमणकर वर्तमान भवमें द्वितीय प्रतिनारायण हुआ। विशेष परिचय—दे० शलाकापुरुष/५; ३. पा. पु./१७/६५— अर्जुन (पाण्डव) का शिष्य एवं मित्र था। बनवासके समय सहायवनमें दुर्योधन द्वारा चढ़ाई करनेपर अपना शौर्य प्रगट किया।

तारे—१. तारोंके नाम उपलब्ध नहीं हैं

ति.प./७/३२ संपहि कालवसेणं ताराणामाणं णत्थि उवदेसो...।३२।—इस समय कालके वशसे ताराओंके नामोंका उपदेश नहीं है।

*** ताराओंकी संख्या, भेद व उनका लोकमें अवस्थान** —दे० ज्योतिषदेव/२।

ताल प्रलंब—

भ.आ./वि./११२३/११३०/११ तालशब्दो न तरुविशेषवचनः किंतु वनस्पत्येकदेशस्तरुविशेष उपलक्षणाय वनस्पतीनां गृहीतं ···प्रलम्बं द्विविधं मूलप्रलम्बं, अग्रप्रलम्बं च। कन्दमूलफलाख्यं, भूम्यनुप्रवेशि-कन्दमूलप्रलम्बं अङ्कुरप्रवालफलपत्राणि अग्रप्रलम्बानि। तालस्य प्रलम्बं तालप्रलम्बं वनस्पतेरङ्कुरादिकं च लभ्यत इति।—ताल प्रलम्ब इस सामासिक शब्दमें जो ताल शब्द है उसका अर्थ ताड़का वृक्ष इतना ही लोक नहीं समझते हैं। किन्तु वनस्पतिका एकदेश रूप जो ताड़का वृक्ष वह इन वनस्पतियोंका उपलक्षण रूप समझकर उससे सम्पूर्ण वनस्पतिओंका ग्रहण करते हैं।···

'ताल प्रलम्ब' इस शब्दमें जो प्रलम्ब शब्द है उसका स्पष्टीकरण करते हैं—प्रलम्बके मूल प्रलम्ब, अग्र प्रलम्ब ऐसे दो भेद है। कन्दमूल और अंकुर जो भूमिमें प्रविष्ट हुए हैं उनको मूलप्रलम्ब कहते हैं। अंकुर, कोमल पत्ते, फल और कठोर पत्ते इनको अग्रप्रलम्ब कहते हैं। अर्थात् तालप्रलम्ब इस शब्दका अर्थ उपलक्षणसे वनस्पतियोंके अंकुरादिक ऐसा होता है (ध.१/१,१,१/६ पर विशेषार्थ)।

तिगिंच्छ—निषध पर्वतस्थ एक ह्रद। इसमेंसे हरित व सीतोदा नदियाँ निकलती हैं। धृतिदेवी इसमें निवास करती हैं।—दे० लोक/३/८।

तितिणदा—तितिणदा अतिचार सामान्य—दे० अतिचार/३।

तिमिस्र—१. विजयार्ध पर्वतकी कूट तथा देव—दे० लोक/५/४। २ पाँचवें नरकका पाँचवाँ पटल—दे० नरक/५/११।

तिरस्कारिणी—एक विद्या—दे० विद्या।

तिरुत्तक्क देवर—

गद्य चिन्तामणि, छत्र चूडामणि व जीवन्धर चम्पू के आधार पर रचित जीवक चिन्तामणि। समय—ई. श. ७। (ती./४/३१३)।

तिर्यंच—पशु, पक्षी, कीट, पतंग यहाँ तक कि वृक्ष, जल, पृथिवी, व निगोद जीव भी तिर्यंच कहलाते हैं। एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय पर्यन्त अनेक प्रकारके कुछ जलवासी कुछ थलवासी और कुछ आकाशचारी होते हैं। इनमेंसे असंज्ञी पर्यन्त सब सम्मूर्छिम व मिथ्यादृष्टि होते हैं। परन्तु संज्ञी तिर्यंच सम्यक्त्व व देशव्रत भी धारण कर सकते हैं। तिर्यंचोंका निवास मध्य लोकके सभी असंख्यात द्वीप समुद्रोंमें है। इतना विशेष है कि अढ़ाई द्वीपसे आगेके सभी समुद्रोंमें जलके अतिरिक्त अन्य कोई जीव नहीं पाये जाते और उन द्वीपोंमें विकलत्रय नहीं पाये जाते। अन्तिम स्वयम्भूरमण सागरमें अवश्य संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच पाये जाते हैं। अतः यह सारा मध्यलोक तिर्यक लोक कहलाता है।

१. भेद व लक्षण

१. तिर्यंच सामान्यका लक्षण

त. सू./४/२७ औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ।२७। — उपपाद जन्मवाले और मनुष्योंके सिवा शेष सब जीव तिर्यंचयोनि वाले हैं ।२७।

ध. १/१,१,२४/गा. १२९/२०२ तिरियंति कुडिल-भावं सुवियड-सण्णा-णिगिट्ठमण्णाणा। अच्चंत-पाव-बहुला तम्हा तेरिच्छया णाम। — जो मन, वचन और कायकी कुटिलताको प्राप्त हैं, जिनकी आहारादि संज्ञाएँ सुव्यक्त हैं, जो निकृष्ट अज्ञानी हैं और जिनके अत्यधिक पाप-की बहुलता पायी जावे उनको तिर्यंच कहते हैं ।१२९। (प. सं./प्रा./१/६१); (गो. जी./मू /१४८)।

रा. वा./४/२७/३/२४५/ तिरोभावो न्यग्भावः उपवाह्यत्वमित्यर्थः, तत कर्मोदयापादितभावा तिर्यग्योनिरित्याख्यायते। तिरश्चां योनिर्येषां ते तिर्यग्योनयः। — तिरोभाव अर्थात नीचे रहना—बोझा ढोनेके लायक। कर्मोदयसे जिनमें तिरोभाव प्राप्त हो वे तिर्यग्योनि हैं।

ध./१३/५,५,१४०/३९२/२ तिरः अञ्चन्ति कौटिल्यमिति तिर्यञ्चः। 'तिरः' अर्थात कुटिलताको प्राप्त होते हैं वे तिर्यंच कहलाते हैं।

२. जलचर आदिकी अपेक्षा तिर्यंचोंके भेद

रा. वा./३/३९/५/२०९/३० पञ्चेन्द्रियाः तैर्यग्योनयः पञ्चविधाः—जलचराः, परिसर्पाः, उरगाः, पक्षिण, चतुष्पादश्चेति। — पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच पाँच प्रकारके होते हैं—जलचर-(मछली आदि), परिसर्प (गोह नकुलादि); उरग-सर्प; पक्षी, और चतुष्पद।

पं. का./ता. वृ./११८/१८१/११ पृथिव्याद्येकेन्द्रियभेदेन शम्बूकयूकोद्दंशकादिविकलेन्द्रियभेदेन जलचरस्थलचरखचरद्विपदचतुःपदादि-पञ्चेन्द्रियभेदेन तिर्यञ्चो बहुप्रकारा। — तिर्यंचगतिके जीव पृथिवी आदि एकेन्द्रियके भेदसे; शम्बूक, जूँ व मच्छर आदि विकलेन्द्रियके भेदसे; जलचर, स्थलचर, आकाशचर, द्विपद, चतुष्पदादि पञ्चेन्द्रियके भेदसे बहुत प्रकारके होते हैं।

३. गर्भजादिकी अपेक्षा तिर्यंचोंके भेद

का. आ./१२९-१३० पंचक्खा वि य तिविहा जल-थल-आयासगामिणो तिरिया। पत्तेयं ते दुविहा मणेण जुत्ता अजुत्ता य ।१२९। ते वि पुणो वि य दुविहा गब्भजजम्मा तहेव संमुच्छा। भोगभुवा गब्भ-भुवा थलयर-णह-गामिणो सण्णी ।१३०। — पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवोंके भी तीन भेद हैं—जलचर, थलचर और नभचर। इन तीनोंमें से प्रत्येकके दो-दो भेद हैं—सैनी और असैनी ।१२९। इन छह प्रकारके तिर्यंचोंके भी दो भेद हैं—गर्भज, दूसरा सम्मूर्छिम जन्मवाले··· ।

४. मार्गणाकी अपेक्षा तिर्यंचोंके भेद

ध. १/१,१,२६/२०८/३ तिर्यञ्चः पञ्चविधाः, तिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः, पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्च, पञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिरश्च्यः। पञ्चेन्द्रियापर्याप्त-तिर्यञ्च इति। — तिर्यंच पाँच प्रकारके होते हैं—सामान्य तिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंच, पंचेन्द्रियपर्याप्ततिर्यञ्च, पंचेन्द्रिय पर्याप्त-योनि-मती, पंचेन्द्रिय अपर्याप्त-तिर्यंच। (गो. जी./मू. १५०)।

२. तिर्यंचोंमें सम्यक्त्व व गुणस्थान निर्देश व शंकाएँ

१. तिर्यंच गतिमें सम्यक्त्वका स्वामित्व

ष. खं./१/१,१/सू. १५६-१६१/४०१ तिरिक्खा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा त्ति ।१५६। एवं जाव सव्व दीव-समुद्देसु ।१५७। तिरिक्खा असंजदसम्मा-इट्ठि-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्मा-इट्ठी ।१५८। तिरिक्खा संजदासंजदट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि अवसेसा अत्थि ।१५९। एवं पंचिंदियतिरिक्खा-पज्जत्ता ।१६०। पंचिं-दिय-तिरिक्ख-जोणिणीसु असंजदसम्माइट्ठी-संजदासंजदट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि, अवसेसा अत्थि ।१६१। — तिर्यंच मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत होते हैं ।१५६। इस प्रकार समस्त द्वीप-समुद्रवर्ती तिर्यंचोंमें समझना चाहिए ।१५७। तिर्यंच असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि, वेदक सम्यग्दृष्टि और उपशम सम्यग्दृष्टि होते हैं ।१५८। तिर्यंच संयतासंयत गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं। शेषके दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं ।१५९। इसी प्रकार पंचेन्द्रिय तिर्यंच और पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच भी होते हैं ।१६०। योनिमती पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके असंयत सम्यग्दृष्टि और संयता-संयतगुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव नहीं होते हैं। शेषके दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं ।१६१।

२. तिर्यंचोंमें गुणस्थानोंका स्वामित्व

ष. खं. १/१,१/सू. ८४-८८/३२६ तिरिक्खा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता ।८४। सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजदट्ठाणे-णियमा पज्जत्ता ।८५। एवं पंचिदिय-तिरिक्खापज्जत्ता ।८६। पंचिदियतिरिक्ख-जोणिणीसु मिच्छाइट्ठिसासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ।८७। सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ।८८। =तिर्यंच मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, और असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं अपर्याप्त भी होते हैं ।८४। तिर्यंच सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयत गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ।८५। तिर्यंच सम्बन्धी सामान्य प्ररूपणाके समान पंचेन्द्रिय तिर्यंच और पर्याप्त-पंचेन्द्रिय तिर्यंच भी होते हैं ।८६। योनिमती-पंचेन्द्रिय-तिर्यंच मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ।८७। योनिमती तिर्यंच सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ।८८।

ष. खं. १/१,१/सू. २६/२०७ तिरिक्खा पंचसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठि असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा त्ति ।२६। =मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत इन पाँच गुणस्थानोंमें तिर्यंच होते हैं ।२६।

ति. प./५/२९९-३०३ तेतीसभेदसंजुदतिरिक्खजीवाण सव्वकालम्मि। मिच्छत्तगुणट्ठाणं वोच्छं सण्णीण तं माणं ।२९९। पणपणअज्जाखंडे भरहेरावदखिदिम्मि मिच्छत्तं । अवरे वरम्मि पण गुणठाणाणि कयाइ दीसंति ।३००। पंचविदेहे सट्ठिसमण्णिदसदअज्जवखंडए तत्तो। विज्जाहरसेढीए बाहिरभागे सयंपहगिरीदो ।३०१। सासणमिस्सविहीणा तिगुणट्ठाणाणि थोवकालम्मि। अवरे वरम्मि पण गुणठाणाइ कयाइ दीसंति ।३०२। सव्वेसु वि भोगभुवे दो गुणठाणाणि थोवकालम्मि। दीसंति चउवियप्पं सव्व मिलिच्छम्मि मिच्छत्तं ।३०३। =संज्ञी जीवोंको छोड़ शेष तेतीस प्रकारके भेदोंसे युक्त तिर्यंच जीवोंके सब कालमें एक मिथ्यात्व गुणस्थान रहता है। संज्ञीजीवोंके गुणस्थान प्रमाणको कहते हैं ।२९९। भरत और ऐरावत क्षेत्रके भीतर पाँच-पाँच आर्यखण्डोंमें जघन्य रूपसे एक मिथ्यात्व गुणस्थान और उत्कृष्ट रूपसे कदाचित पाँच गुणस्थान भी देखे जाते हैं ।३००। पाँच विदेहोंके भीतर एकसौ साठ आर्यखण्डोंमें विद्याधर श्रेणियोंमें और स्वयंप्रभ पर्वतके बाह्य भागमें सासादन एवं मिश्र गुणस्थानको छोड़ तीन गुणस्थान जघन्य रूपसे स्तोक कालके लिए होते हैं। उत्कृष्ट रूपसे पाँच गुणस्थान भी कदाचित देखे जाते हैं ।३०१-३०२। सर्व भोगभूमियोंमें दो गुणस्थान और स्तोक कालके लिए चार गुणस्थान देखे जाते हैं। सर्व म्लेच्छखण्डोंमें एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहता है ।३०३।

ध.१/१,१,२६/२०८/६ लब्ध्यपर्याप्तेषु मिथ्यादृष्टिव्यतिरिक्तशेषगुणासंभवात्...शेषेषु पञ्चापि गुणस्थानानि सन्ति,...तिरश्चीष्वपर्याप्ताद्धायां मिथ्यादृष्टिसासादना एव सन्ति, न शेषास्तत्र तन्निरूपकार्षाभावात्। =लब्ध्यपर्याप्तकोंमें एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोड़कर शेष गुणस्थान असम्भव हैं...शेष चार प्रकारके तिर्यंचोंमें पाँचों ही गुणस्थान होते हैं।...तिर्यंचनियोंके अपर्याप्त कालमें मिथ्यादृष्टि और सासादन ये दो गुणस्थानवाले ही होते हैं, शेष तीन गुणस्थानवाले नहीं होते हैं। विशेष—दे० सत्।

३. क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयतासंयत मनुष्य ही होते हैं तिर्यंच नहीं

ध.८/३,२७८/३६३/१० तिरिक्खेसु खइयसम्माइट्ठीसु संजदासंजदाणमणुवलंभादो। =तिर्यंच क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंमें संयतासंयत जीव पाये नहीं जाते।

गो.क./जी.प्र./३२६/४७१/५ क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्देशसंयतो मनुष्य एव ततः कारणात्तत्र तिर्यगायुरुद्योतस्तिर्यग्गतिश्चेति त्रीण्युदये न सन्ति। =क्षायिक सम्यग्दृष्टि देशसंयत मनुष्य ही होता है, इसलिए तिर्यगायु, उद्योत, तिर्यग्गति, पंचम गुणस्थान विषै नाहीं।

४. तिर्यंच संयतासंयतोंमें क्षायिक सम्यक्त्व क्यों नहीं

ध.१/१,१,१५८/४०२/१ तिर्यक्षु क्षायिकसम्यग्दृष्टयः संयतासंयताः किमिति न सन्तीति चेन्न, क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां भोगभूमिमन्तरेणोत्पत्तेरभावात्। न च भोगभूमावुत्पन्नानामणुव्रतोपादानं संभवति तत्र तद्विरोधात्। =प्रश्न—तिर्यंचोंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संयतासंयत क्यों नहीं होते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, तिर्यंचोंमें यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं तो वे भोगभूमिमें ही उत्पन्न होते हैं दूसरी जगह नहीं। परन्तु भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके अणुव्रतकी उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि वहाँपर अणुव्रतके होनेमें आगमसे विरोध आता है। (ध.१/१,१,८५/३२७/१) (ध.२/१,१/४८२/२)।

५. तिर्यंचिनीमें क्षायिक सम्यक्त्व क्यों नहीं

स.सि./१/७/२३/३ तिरश्चीनां क्षायिकं नास्ति। कुत इत्युक्ते मनुष्यकर्मभूमिज एव दर्शनमोहक्षपणाप्रारम्भको भवति। क्षपणाप्रारम्भकालात्पूर्वं तिर्यक्षु बद्धायुष्कोऽपि उत्कृष्टभोगभूमितिर्यक्पुरुषेष्वेवोत्पद्यते न तिर्यक्स्त्रीषु द्रव्यवेदस्त्रीणां तासां क्षायिकासंभवात्। =तिर्यंचनियोंमें क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता है? प्रश्न—क्यों? उत्तर—कर्मभूमिज मनुष्य ही दर्शन मोहकी क्षपणा प्रारम्भ करता है। क्षपणा कालके प्रारम्भसे पूर्व यदि कोई तिर्यंचायु बद्धायुष्क हो तो वह उत्कृष्ट भोगभूमिके पुरुषवेदी तिर्यंचोंमें ही उत्पन्न होता है, स्त्रीवेदी तिर्यंचोंमें नहीं। क्योंकि द्रव्य स्त्रीवेदी तिर्यंचोंके क्षायिक सम्यक्त्वकी असम्भावना है।

ध.१/१,१,१६१/४०३/५ तत्र क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामुत्पत्तेरभावात्तत्र दर्शनमोहनीयस्य क्षपणाभावाच्च। =योनिमती पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव मरकर उत्पन्न नहीं होते। तथा उनमें दर्शन मोहनीयकी क्षपणाका अभाव है।

६. अपर्याप्त तिर्यंचिनीमें सम्यक्त्व क्यों नहीं

ध.१/१,१,२६/२०९/५ भवतु नामसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतानां तत्रासत्त्वं पर्याप्ताद्धायामेवेति नियमोपलम्भात्। कथं पुनरसंयतसम्यग्दृष्टीनामसत्त्वमिति न, तत्रासंयतसम्यग्दृष्टीनामुत्पत्तेरभावात्। =प्रश्न—तिर्यंचनियोंके अपर्याप्त कालमें सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयत इन दो गुणस्थानवालोंका अभाव रहा आवे, क्योंकि ये दो गुणस्थान पर्याप्त कालमें ही पाये जाते हैं, ऐसा नियम मिलता है। परन्तु उनके अपर्याप्त कालमें असंयतसम्यग्दृष्टि जीवोंका अभाव कैसे माना जा सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि तिर्यंचनियोंमें असंयत सम्यग्दृष्टिकी उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए उनके अपर्याप्त कालमें चौथा गुणस्थान नहीं पाया जाता है।

७. अपर्याप्त तिर्यंचोंमें सम्यक्त्व कैसे सम्भव है

ध.१/१,१,८४/३२५/४ भवतु नाम मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टीनां तिर्यक्षु पर्याप्तापर्याप्तद्वयोः सत्त्वं तयोस्तत्रोत्पत्यविरोधात्। सम्यग्दृष्टयस्तु पुनर्नोत्पद्यन्ते तिर्यगपर्याप्तपर्यायेण सम्यग्दर्शनस्य विरोधादिति। न विरोधः, अस्यार्षस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात्। क्षायिकसम्यग्दृष्टिः सेविततीर्थकरः क्षपितसप्तप्रकृतिः कथं तिर्यक्षु दुःखभूयस्सूत्पद्यते इति चेन्न, तिरश्चां नारकेभ्यो दुःखाधिक्याभावात्। नारकेष्वपि सम्यग्दृष्टयो नोत्पत्स्यन्त इति चेन्न, तेषां तत्रोत्पत्तिप्रतिपादकार्षोपलम्भात्। किमिति ते तत्रोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यग्दर्शनोपादानात् प्राङ् मिथ्यादृष्टयवस्थायां बद्धतिर्यङ्नरकायुष्कत्वात्। सम्यग्दर्शनेन तत् किमिति न छिद्यते। इति चेत् किमिति तन्न छिद्यते। अपि तु न तस्य निर्मूलच्छेदः। तदपि कुतः। स्वाभाव्यात्। = प्रश्न—मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंकी तिर्यंचों सम्बन्धी पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थामें भले ही सत्ता रही आवे, क्योंकि इन दो गुणस्थानोंकी तिर्यंच सम्बन्धी पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थामें उत्पत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं आता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव तो तिर्यंचोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं; क्योंकि तिर्यंचोंकी अपर्याप्त पर्यायके साथ सम्यग्दर्शनका विरोध है। उत्तर—विरोध नहीं है, फिर भी यदि विरोध माना जावे तो ऊपरका सूत्र अप्रमाण हो जायेगा। प्रश्न—जिसने तीर्थंकरकी सेवा की है और जिसने मोहनीयकी सात प्रकृतियोंका क्षय कर दिया है ऐसा क्षायिक-सम्यग्दृष्टि जीव दुःख बहुल तिर्यंचोंमें कैसे उत्पन्न होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि तिर्यंचों के नारकियोंकी अपेक्षा अधिक दुख नहीं पाये जाते हैं। प्रश्न—तो फिर नारकियोंमें भी सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होंगे? उत्तर—नहीं, क्योंकि, सम्यग्दृष्टियोंकी नारकियोंमें उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाला आगम प्रमाण पाया जाता है। प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीव नारकियोंमें क्यों उत्पन्न होते है? उत्तर—नहीं, क्योंकि जिन्होंने सम्यग्दर्शनको ग्रहण करनेके पहले मिथ्यादृष्टि अवस्थामें तिर्यंचायु और नरकायुका बन्ध कर लिया है उनकी सम्यग्दर्शनके साथ वहाँपर उत्पत्ति माननेमें कोई आपत्ति नहीं आती है। प्रश्न—सम्यग्दर्शनकी सामर्थ्यसे उस आयुका छेद क्यों नहीं हो जाता है? उत्तर—उसका छेद क्यों नहीं होता है? अवश्य होता है। किन्तु उसका समूल नाश नहीं होता है। प्रश्न—समूल नाश क्यों नहीं होता है? उत्तर—आगेके भवके बाँधे हुए आयुकर्मका समूल नाश नहीं होता है, इस प्रकारका स्वभाव ही है।

ध.२/१,१/४८१/१ मणुस्सा पुव्वबद्ध-तिरिक्खयुगा पच्छा सम्मत्तं घेत्तूण··· खइयसम्माइट्ठी होदूण असंखेज्ज-वस्सायुगेसु तिरिक्खेसु उप्पज्जंति ण अण्णत्थ, तेण भोगभूमि-तिरिक्खेसुप्पज्जमाणं पेक्खिऊण असंजद-सम्माइट्ठि-अपज्जत्तकाले खइयसम्मत्तं लब्भदि। तत्थ उप्पज्ज-माण-कदकरणिज्जं पडुच्च वेदगसम्मत्तं लब्भदि। = (इन क्षायिक व क्षायोपशमिक) दो सम्यक्त्वोंके (वहाँ) होनेका कारण यह है कि जिन मनुष्योंने सम्यग्दर्शन होनेके पहले तिर्यंच आयुको बाँध लिया है वे पीछे सम्यक्त्वको ग्रहणकर···क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर असंख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यंचोंमें ही उत्पन्न होते हैं अन्यत्र नहीं। इस कारण भोगभूमिके तिर्यंचोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी अपेक्षासे असंयत सम्यग्दृष्टिके अपर्याप्त कालमें क्षायिक सम्यक्त्व पाया जाता है। और उन्हीं भोग भूमिके तिर्यंचोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके कृतकृत्य वेदककी अपेक्षा वेदक सम्यक्त्व भी पाया जाता है।

८. अपर्याप्त तिर्यंचोंमें संयमासंयम क्यों नहीं

ध १/१,१,८५/३२६/५ मनुष्याः मिथ्यादृष्ट्यवस्थायां बद्धतिर्यगायुषः पश्चात्सम्यग्दर्शनेन सहात्ताप्रत्याख्यानाः क्षपितसप्तप्रकृतयस्तिर्यक्षु किन्नोत्पद्यन्ते। इति चेत् किंचातोऽप्रत्याख्यानगुणस्य तिर्यगपर्याप्तेषु सत्त्वापत्तिः। न, देवगतिव्यतिरिक्तगतित्रयसंबद्धायुषोपलक्षितानामणुव्रतोपादानबुद्ध्यनुत्पत्तेः। = प्रश्न—जिन्होंने मिथ्यादृष्टि अवस्थामें तिर्यंचायुका बन्ध करनेके पश्चात् देशसंयमको ग्रहण कर लिया है और मोहकी सात प्रकृतियोंका क्षय कर दिया है ऐसे मनुष्य तिर्यंचोंमें क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं? यदि होते हैं तो इससे तिर्यंच अपर्याप्तोंमें देशसंयमके प्राप्त होनेकी क्या आपत्ति आती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, देवगतिको छोड़कर शेष तीन गति सम्बन्धी आयुबन्धसे युक्त जीवोंके अणुव्रतको ग्रहण करनेकी बुद्धि ही उत्पन्न नहीं होती है।

९. तिर्यंच संयत क्यों नहीं होते

ध. १/१,१,१५६/४०१/८ संन्यस्तशरीरत्वात्त्यक्ताहाराणां तिरश्चां किमिति संयमो न भवेदिति चेन्न, अन्तरङ्गायाः सकलनिवृत्तेरभावात्। किमिति तदभावश्चेज्जातिविशेषात्। = प्रश्न—शरीरसे संन्यास ग्रहण कर लेनेके कारण जिन्होंने आहारका त्याग कर दिया है ऐसे तिर्यंचोंके संयम क्यों नहीं होता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, आभ्यन्तर सकल निवृत्तिका अभाव है। प्रश्न—उसके आभ्यन्तर सकल निवृत्तिका अभाव क्यों है? उत्तर—जिस जातिमें वे उत्पन्न हुए हैं उसमें संयम नहीं होता यह नियम है, इसलिए उनके संयम नहीं पाया जाता है।

१०. सर्व द्वीपसमुद्रोंमें सम्यग्दृष्टि व संयतासंयत तिर्यंच कैसे सम्भव हैं

ध. १/१,१,१५७/४०२/१ स्वयंप्रभादारान्मानुषोत्तरात्परतो भोगभूमिसमानत्वान्न तत्र देशव्रतिनः सन्ति तत एतत्सूत्रं न घटत इति न, वैरसंबन्धेन देवैर्दानवैर्वोत्क्षिप्य क्षिप्तानां सर्वत्र सत्त्वाविरोधात्। = प्रश्न—स्वयंभूरमण द्वीपवर्ती स्वयंप्रभ पर्वतके इस ओर और मानुषोत्तर पर्वतके उस ओर असंख्यात द्वीपोंमें भोगभूमिके समान रचना होनेसे वहाँपर देशव्रती नहीं पाये जाते हैं, इसलिए यह सूत्र घटित नहीं होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, वैरके सम्बन्धसे देवों अथवा दानवोंके द्वारा कर्मभूमिसे उठाकर लाये गये कर्मभूमिज तिर्यंचोंका सब जगह सद्भाव होनेमें कोई विरोध नहीं आता है, इसलिए वहाँपर तिर्यंचोंके पाँचों गुणस्थान बन जाते हैं। (ध. ४/१,४,८/१६६/७); (ध. ६/१,६,६,२०/४२६/१०)।

११. ढाई द्वीपसे बाहर क्षायिक सम्यक्त्वकी उत्पत्ति क्यों नहीं

ध. ६/१,६-८,११/२४४/२ अड्ढाइज्जा दीवेसु दंसणमोहणीयकम्मस्स खवणमाढवेदि त्ति, णो सेसदीवेसु। कुदो। सेसदीवट्ठिदजीवाणं तक्खवणसत्तीए अभावादो। लवण-कालोदइसण्णिदेसु दोसु समुद्देसु दंसणमोहणीयं कम्मं खवेंति, णो सेससमुद्देसु, तत्थ सहकारिकारणाभावा।···'जम्हि जिणा तित्थयर' त्ति विसेसणेण पडिसिद्धत्तादो। = अढाई द्वीपोंमें ही दर्शनमोहनीय कर्मके क्षपणको आरम्भ करता है, शेष द्वीपोंमें नहीं। इसका कारण यह है कि शेष द्वीपोंमें स्थित जीवोंके दर्शन मोहनीय कर्मके क्षपणकी शक्तिका अभाव होता है। लवण और कालोदक संज्ञावाले दो समुद्रोंमें जीव दर्शनमोहनीयकर्मका क्षपण करते हैं, शेष समुद्रोंमें नहीं, क्योंकि उनमें दर्शनमोहके क्षपण करनेके सहकारी कारणोंका अभाव है।...'जहाँ जिन तीर्थंकर सम्भव हैं' इस विशेषणके द्वारा उसका प्रतिषेध कर दिया गया है।

१२. कर्मभूमिया तिर्यंचोंमें क्षायिक सम्यक्त्व क्यों नहीं

ध. ६/१,९-८,११/२४५/१ कम्मभूमीसु ट्ठिद-देव-मणुसतिरिक्खाणं सव्वेसिं पि गहणं किण्ण पावेदि त्ति भणिदे ण पावेदि, कम्मभूमी-सुप्पण्णमणुस्साणमुवयारेण कम्मभूमीववदेसादो। तो वि तिरिक्खाणं गहणं पावेदि, तेसिं तत्थ वि उप्पत्तिसंभवादो। ण, जेसिं तत्थेव उप्पत्ती, ण अण्णत्थ संभवो अत्थि, तेसिं चेव मणुस्साणं पण्णारसकम्म-भूमिववएसो, ण तिरिक्खाणं सयंपहणगिंदपरभागे उप्पज्जणेण सव्व-हिचाराणं।—प्रश्न—(सूत्रमें तो) 'पन्द्रह 'कर्मभूमियोंमें' ऐसा सामान्य पद कहनेपर कर्मभूमियोंमें स्थित, देव मनुष्य और तिर्यंच, इन सभीका ग्रहण क्यों नहीं प्राप्त होता है? उत्तर—नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि, कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए मनुष्योंकी उपचार-से 'कर्मभूमि' यह संज्ञा दी गयी है। प्रश्न—यदि कर्मभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंको 'कर्मभूमि' यह संज्ञा है, तो भी तिर्यंचोंका ग्रहण प्राप्त होता है, क्योंकि, उनकी भी कर्मभूमिमें उत्पत्ति सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जिनकी वहाँपर ही उत्पत्ति होती है, और अन्यत्र उत्पत्ति सम्भव नहीं है, उनही मनुष्योंके पन्द्रह कर्मभूमियोंका व्यपदेश किया गया है, न कि स्वयंप्रभ पर्वतके परभागमें उत्पन्न होने-से व्यभिचारको प्राप्त तिर्यंचोंके।

३. तिर्यंच लोक निर्देश

१. तिर्यंच लोक सामान्य निर्देश

स. सि./४/१९/२५०/१२ बाहल्येन तत्प्रमाणस्तिर्यक्प्रसृतस्तिर्यग्लोकः। —मेरु पर्वतकी जितनी ऊँचाई है, उतना मोटा और तिरछा फैला हुआ तिर्यग्लोक है।

ति. प./५/६-७ मंदरगिरिमूलादो इगिलक्खं जोयणाणि बहलम्मि। रज्जूय पदरखेत्ते चिट्ठेदि तिरियतसलोओ।६। पणुवीसकोडाकोडी-पमाण उद्धारपल्लरोमसमा। दिओवहीणसंखा तस्सद्धं दीवजलणिही कमसो।७। —मंदर पर्वतके मूलसे एक लाख योजन बाहल्य रूप राजु-प्रतर अर्थात् एक राजू लम्बे चौड़े क्षेत्रमें तिर्यक्त्रस लोक स्थित है।६। पच्चीस कोड़ाकोड़ी उद्धार पल्योंके रोमोंके प्रमाण द्वीप व समुद्र दोनोंकी संख्या है। इसकी आधी क्रमशः द्वीपोंकी और आधी समुद्रोंकी संख्या है। (गो. जी/भाषा/५४३/९४५/१८)।

२. तिर्यग्लोकके नामका सार्थक्य

रा. वा./३/७/उत्थानिका/१६९/९ कुतः पुनरियं तिर्यग्लोकसंज्ञा प्रवृत्तेति। उच्यते—यतोऽसंख्येया स्वयंभूरमणपर्यन्तास्तिर्यक्प्रचयविशेषेणा-वस्थिता द्वीपसमुद्रास्ततः तिर्यग्लोक इति। —प्रश्न—इसको तिर्यक् लोक क्यों कहते हैं? उत्तर—चूँकि स्वयम्भूरमण पर्यन्त असंख्यात द्वीप समुद्र तिर्यक्-समभूमिपर तिरछे व्यवस्थित हैं अतः इसको तिर्यक् लोक कहते हैं।

३. तिर्यंच लोककी सीमा व विस्तार सम्बन्धी दृष्टि भेद

ध.३/१,२,४/३४/४ का विशेषार्थ—कितने ही आचार्योंका ऐसा मत है कि स्वयंभूरमण समुद्रकी बाह्य वेदिकापर जाकर रज्जू समाप्त होती है। तथा कितने ही आचार्योंका ऐसा मत है कि असंख्यात द्वीपों और समुद्रोंकी चौड़ाईसे रुके हुए क्षेत्रसे संख्यात गुणे योजन जाकर रज्जू-की समाप्ति होती है। स्वयं वीरसेन स्वामीने इस मतको अधिक महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि ज्योतिषियोंके प्रमाणको लाने-के लिए २५६ अंगुलके वर्ग प्रमाण जो भागाहार बतलाया है उससे यही पता चलता है कि स्वयंभूरमण समुद्रसे संख्यातगुणे योजन जाकर मध्यलोककी समाप्ति होती है।

ध. ४/१,३,३/४१/८ तिण्हं लोगाणमसंखेज्जदिभागे तिरियलोगो होदि त्ति के वि आइरिया भणंति। तं ण घडदे।—तीनों लोकोंके असं-ख्यातवें भाग क्षेत्रमें तिर्यक् लोक है। ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं, परन्तु उनका इस प्रकार कहना घटित नहीं होता।

ध. ११/४,२,५,८/१७/४ सयंभूरमणसमुद्दस्स बाहिरिल्लतडो णाम तदवय-वभूदबाहिरवेइयाए, तत्थ महामच्छो अच्छिदो त्ति के वि आइरिया भणंति। तण्ण घडदे, 'कायलेस्सियाए लग्गो' त्ति उवरि भण्णमाण-सुत्तेण सह विरोहादो। ण च सयंभुरमणसमुद्दबाहिरवेइयाए संबद्धा तिण्णि वि वादवलया, तिरियलोयविक्खंभस्स एगरज्जुपमाणादो-ऊणत्तप्पसंगादो। —स्वयम्भूरमण समुद्रके बाह्य तटका अर्थ उसकी अंगभूत बाह्य वेदिका है, वहाँ स्थित महामत्स्य ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं, किन्तु वह घटित नहीं होता क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर...'तनुवातवलयसे संलग्न हुआ' इस सूत्रके साथ विरोध आता है। कारण कि स्वयम्भूरमणसमुद्रकी बाह्य वेदिकासे तीनों ही वातवलय सम्बद्ध नहीं हैं, क्योंकि वैसा माननेपर तिर्यग्लोक सम्बन्धी विस्तार प्रमाणके एक राजूसे हीन होनेका प्रसंग आता है।

४. विकलेन्द्रिय जीवोंका अवस्थान

ह. पु./५/६३३ मानुषोत्तरपर्यन्ता जन्तवो विकलेन्द्रियाः। अन्त्यद्वीपा-र्द्धतः सन्ति परस्तात्ते यथा परे ॥६३३॥ —इस ओर विकलेन्द्रिय जीव मानुषोत्तर पर्वत तक ही रहते हैं। उस ओर स्वयम्भूरमण द्वीपके अर्धभागसे लेकर अन्ततक पाये जाते हैं ॥६३३॥

ध. ४/१,३,२/३३/२ भोगभूमीसु पुण विगलिंदिया णत्थि। पंचिंदिया वि तत्थ सुट्ठु थोवा, सुहकम्माइ जीवाणं बहुणामसंभवादो। —भोगभूमिमें तो विकलत्रय जीव नहीं होते हैं, और वहाँपर पंचे-न्द्रिय जीव भी स्वल्प होते हैं, क्योंकि शुभकर्मकी अधिकतावाले बहुत जीवोंका होना असम्भव है।

का. अ./टी./१४२ बि-ति-चउरक्खा जीवा हवंति णियमेण कम्म-भूमीसु। चरिमे दीवे अद्धे चरम-समुद्दे वि सव्वेसु ।१४२। —दो-इन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौइन्द्रिय जीव नियमसे कर्मभूमिमें ही होते हैं। तथा अन्तके आधे द्वीपमें और अन्तके सारे समुद्रमें होते हैं।१४२।

५. पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंका अवस्थान

ध. ७/२, ७, १९/३७९/३ अथवा सव्वेसु दीव-समुद्देसु पंचिंदियतिरिक्ख-अपज्जत्ता होंति। कुदो। पुव्ववइरियदेवसंबंधेण कम्मभूमिपडिभागु-प्पण्णपंचिंदियतिरिक्खाणं एगबंधणबद्धछज्जीवणिकाओगाढ ओरा-लिय देहाणं सव्वदीवसमुद्देसु पंचिंदियतिरिक्खअपज्जत्ता होंति। —अथवा सभी द्वीप समुद्रोंमें पंचेन्द्रिय तिर्यंच अपर्याप्त जीव होते हैं, क्योंकि, पूर्वके वैरी देवोंके सम्बन्धसे एक बन्धनमें बद्ध छह जीवनिकायोंसे व्याप्त औदारिक शरीरको धारण करनेवाले कर्मभूमि प्रतिभागमें उत्पन्न हुए पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंका सर्व समुद्रोंमें अवस्थान देखा जाता है।

६. जलचर जीवोंका अवस्थान

मू. आ./१०८१ लवणे कालसमुद्दे सयंभुरमणे य होंति मच्छा दु। अवसे-सेसु समुद्देसु णत्थि मच्छा य मयरा वा ॥१०८१॥ —लवणसमुद्र और कालसमुद्र तथा स्वयंभूरमण समुद्रमें तो जलचर आदि जीव रहते हैं, और शेष समुद्रोंमें मच्छ-मगर आदि कोई भी जलचर जीव नहीं रहता है। (ति.प./५/३१); (रा. वा./३/३२/८/१९४/१८); (ह. पु/-५/६३०); (ज. प./११/६१); (का. अ./मू. १४४)

ति. प./४/१७७१ ...। भोगवणीण णदीओ सरपहुदी जलयरविहीणा। —भोगभूमियोंकी नदियाँ, तालाब आदिक जलचर जीवोंसे रहित हैं ॥१७७२॥

ध. ६/१, ९-९,२०/४२६/१० णचि णचा वा मगरा वा त्ति जेण तस-जीवपडिसेहो भोगभूमिपडिभागिएसु समुद्देसु कदो, तेण तत्थ पढमसम्मत्तस्स उप्पत्ती ण जुज्जदि त्ति। ण एस दोसो, पुव्ववइरिय-देवेहि खित्तपंचिंदियतिरिक्खाणं तत्थ संभवादो। —प्रश्न—चूँकि 'भोगभूमिके प्रतिभागी समुद्रोंमें मत्स्य या मगर नहीं हैं' ऐसा वहाँ त्रस जीवोंका प्रतिषेध किया गया है, इसलिए उन समुद्रोंमें प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति मानना उपयुक्त नहीं है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, पूर्वके बैरी देवोंके द्वारा उन समुद्रोंमें डाले गये पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंकी सम्भावना है।

त्रि. सा./३२० जलयरजीवा लवणे कालेयंतिमसयंभुरमणे य। कम्ममही पडिबद्धे ण हि सेसे जलयरा जीवा ॥३२०॥ —जलचर जीव लवण समुद्रविषै बहुरि कालोदक विषै बहुरि अन्तका स्वयम्भूरमण विषै पाइये है। जातै ये तीन समुद्र कर्मभूमि सम्बन्धी हैं। बहुरि अवशेष सर्व समुद्र भोगभूमि सम्बन्धी हैं। भोगभूमि विषै जलचर जीवोंका अभाव है। तातै इन तीन बिना अन्य समुद्र विषै जलचर जीव नाहीं।

७. बैरी जीवोंके कारण विकलत्रय सर्वत्र तिर्यक् लोक में होते हैं

ध. ४/१, ४, ५६/२४३/८ सेसपदेहि वइरिसंबंधेण विगलिंदिया सव्वत्थ तिरियपदरब्भंतरे होंति त्ति। —बैरी जीवोंके सम्बन्धसे विकलेन्द्रिय जीव सर्वत्र तिर्यक्प्रतरके भीतर ही होते हैं।

ध. ७/२, ७, ६२/३६७/४ अथवा पुव्ववेरियदेवपओगेण भोगभूमि पडि-भागदीव-समुद्दे पदिदतिरिक्खकलेवरेसु तस अपज्जत्ताणमुप्पत्ती अत्थि त्ति भणंताणमहिप्पाएण। —[विकलेन्द्रिय अपर्याप्त जीवों-का अवस्थान क्षेत्र स्वयंप्रभपर्वतके परभागमें ही है क्योंकि भोगभूमि प्रतिभागमें उनकी उत्पत्तिका अभाव है] अथवा पूर्व बैरीके प्रयोगसे भोगभूमि प्रतिभागरूप द्वीप समुद्रोंमें पड़े हुए तिर्यंच शरीरोंमें त्रस अपर्याप्तोंकी उत्पत्ति होती है ऐसा कहनेवाले आचार्योंके अभिप्रायसे...।

तिर्यंचायु—दे० आयु।

तिर्यंचिनी—दे० वेद/३।

तिर्यक् आयत चतुरस्र—Cubaid (ज. प./प्र. १०६)

तिर्यक् क्रम—दे० क्रम/१।

तिर्यक् गच्छ—गुण हानियोंका प्रमाण। विशेष —दे० गणित/-II/६।

तिर्यक् प्रचय—दे० क्रम/१।

तिर्यक् प्रतर—राजू² (ध. १३/५, ५, ११६/३७३/१०)

तिर्यक् लोक—दे० तिर्यंच/३।

तिल—एक ग्रह। —दे० 'ग्रह'।

तिलक—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर। —दे० विद्याधर।

तिलपुच्छ—एक ग्रह। —दे० 'ग्रह'।

तिलोय पण्णत्ति—आ० यतिवृषभ (ई० १७६) द्वारा रचित लोकके स्वरूपका प्रतिपादक प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ है। उसमें ९ अधिकार और लगभग ६००० गाथाएँ हैं। (जै./२/३६, ४०)।

तीन—तीनकी संख्या कृति कहलाती है। —दे० कृति।

तीन चौबीसी व्रत—प्रतिवर्ष तीन वर्ष तक भाद्रपद कृ० ३ को उपवास करे। तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य। (व्रतविधान सं./पृ० ८१) किशनसिंह क्रियाकोष।

तीर्णकर्ण—भरत क्षेत्रके उत्तर आर्य खण्डका एक देश। —दे० मनुष्य/४

तीर्थंकर—महापरिनिर्वाण सूत्र, महावग्ग दिव्यावदान आदि बौद्ध ग्रन्थोंके अनुसार महात्मा बुद्धके समकालीन छह तीर्थंकर थे—
१. भगवान् महावीर; २. महात्मा बुद्ध; ३. मस्करीगोशाल; ४. पूरन कश्यप...।

तीर्थंकर—संसार सागरको स्वयं पार करने तथा दूसरोंको पार करानेवाले महापुरुष तीर्थंकर कहलाते हैं। प्रत्येक कल्पमें वे २४ होते हैं। उनके गर्भावतरण, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञानोत्पत्ति व निर्वाण इन पाँच अवसरोंपर महान् उत्सव होते हैं जिन्हें पंच कल्याणक कहते हैं। तीर्थंकर बननेके संस्कार षोडशकारण रूप अत्यन्त विशुद्ध भावनाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं, उसे तीर्थंकर प्रकृतिका बँधना कहते हैं। ऐसे परिणाम केवल मनुष्य भवमें और वहाँ भी किसी तीर्थंकर या केवलीके पादमूलमें ही होने सम्भव हैं। ऐसे व्यक्ति प्रायः देवगतिमें ही जाते हैं। फिर भी यदि पहलेसे नरकायुका बंध हुआ हो और पीछे तीर्थंकर प्रकृति बँधे तो वह जीव केवल तीसरे नरक तक ही उत्पन्न होते हैं, उससे अनन्तर भवमें वे अवश्य मुक्तिको प्राप्त करते हैं।

१	तीर्थंकर निर्देश
१	तीर्थंकरका लक्षण।
२	तीर्थंकर माताका दूध नहीं पीते।
३	गृहस्थावस्थामें अवधिज्ञान होता है पर उसका प्रयोग नहीं करते।
४	तीर्थंकरोंके पाँच कल्याणक होते हैं।
*	तीर्थंकरके जन्मपर रत्नवृष्टि आदि अतिशय। —दे० कल्याणक।
५	कदाचित् तीन व दो कल्याणक भी संभव हैं अर्थात् तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करके उसी भवसे मुक्त हो सकता है?
६	तीर्थंकरोंके शरीरकी विशेषताएँ।
*	केवलज्ञानके पश्चात् शरीर ५००० धनुष ऊपर चला जाता है। —दे० केवली/२।
*	तीर्थंकरोंका शरीर मृत्युके पश्चात् कपूरवत् उड़ जाता है। —दे० मोक्ष/५।
७	हुंडावसर्पिणीमें तीर्थंकरोंपर कदाचित् उपसर्ग भी होता है।
*	तीर्थंकर एक कालमें एक क्षेत्रमें एक ही होता है। उत्कृष्ट १७० व जघन्य २० होते हैं। —दे० विदेह/१।
*	दो तीर्थंकरोंका परस्पर मिलाप सम्भव नहीं है। —दे० शलाका पुरुष/१।
८	तीसरे कालमें भी तीर्थंकरकी उत्पत्ति सम्भव है।
*	तीर्थंकर दीक्षित होकर सामायिक संयम ही ग्रहण करते हैं। —दे० छेदोपस्थापना/५।
*	प्रथम व अन्तिम तीर्थोंमें छेदोपस्थापना चारित्रकी प्रधानता। —दे० छेदोपस्थापना।

१. तीर्थंकर निर्देश

१. तीर्थंकरका लक्षण

ध.१/१,१,१/गा.४४/५८ सकलभुवनैकनाथस्तीर्थकरो वर्ण्यते मुनिवरिष्ठैः। विधुधवलचामराणां तस्य स्याद्वै चतुःषष्टिः ।४४। —जिनके ऊपर चन्द्रमाके समान धवल चौसठ चँवर ढुरते हैं, ऐसे सकल भुवनके अद्वितीय स्वामीको श्रेष्ठ मुनि तीर्थंकर कहते हैं।

भ.आ./मू./३०२/५१६ णित्थयरो चदुणाणी सुरमहिदो सिज्झिदव्वय-धुवम्मि।

भ. आ./वि./३०२/५१६/७ श्रुतं गणधरा...तदुभयकरणात्तीर्थकरः।... मार्गो रत्नत्रयात्मकः उच्यते तत्करणात्तीर्थकरो भवति। —मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ऐसे चार ज्ञानोंके धारक, स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और दीक्षा कल्याणादिकोंमें चतुर्णिकाय देवोंसे जो पूजे गये हैं, जिनको नियमसे मोक्ष प्राप्ति होगी ऐसे तीर्थंकर...। श्रुत और गणधरको भी जो कारण हैं उनको तीर्थंकर कहते हैं। ...अथवा रत्नत्रयात्मक मोक्ष-मार्गको जो प्रचलित करते हैं उनको तीर्थंकर कहते हैं।

स.श./टी./२/२२२/२४ तीर्थकृतः संसारोत्तरणहेतुभूतत्वात्तीर्थमिव तीर्थ-मागमः तत्कृतवतः। —संसारसे पार होनेके कारणको तीर्थ कहते हैं, उसके समान होनेसे आगमको तीर्थ कहते हैं, उस आगमके कर्ताको तीर्थंकर है।

त्रि.सा./६८६ सयलभुवणेक्कणाहो तित्थयरो कोमुदीव कुदं वा। धवलेहिं चामरेहिं चउसट्ठिहिं विज्जमाणो सो ।६८६। —जो सकल लोकका एक अद्वितीय नाथ है। बहुरि गङ्गलनी समान वा कुन्देका फूलके समान श्वेत चौसठि चमरनि करि बीज्यमान है सो तीर्थंकर जानना।

२. तीर्थंकर माताका दूध नहीं पीते

म.पु./१४/१६५ धात्र्यो नियोजितास्चास्य देव्यः शक्रेण सादरम्। मज्जने मण्डने स्तन्ये संस्कारे क्रीडनेऽपि च ।१६५। —इन्द्रने आदर सहित भगवान्‌को स्नान कराने, वस्त्राभूषण पहनाने, दूध पिलाने, शरीरके संस्कार करने और खिलानेके कार्य करनेमें अनेकों देवियोंको धाय बनाकर नियुक्त किया था ।१६५।

३. गृहस्थावस्थामें ही अवधिज्ञान होता है पर उसका प्रयोग नहीं करते

ह.पु./४३/७८ योऽपि नेमिकुमारोऽत्र ज्ञानत्रयविलोचन। जानन्नपि न स ब्रूयान्न विद्मो केन हेतुना ।७८। —[कृष्णके पुत्र प्रद्युम्नके धूमकेतु नामक असुर द्वारा चुराये जानेपर नारद कृष्णसे कहता है]...यहाँ जो तीन ज्ञानके धारक नेमिकुमार (नेमिनाथ) हैं वे जानते हुए भी नहीं कहेंगे। किस कारणसे नहीं कहेंगे? यह मैं नहीं जानता।

४. तीर्थंकरोंके पाँच कल्याणक होते हैं

गो.जी./जी.प्र./३८१/६ अथ तृतीयभवे हन्ति तदा नियमेन देवायुरेव बद्ध्वा देवो भवेद् तस्य पञ्चकल्याणानि स्युः। यो बद्धनारकायु-स्तीर्थसत्त्वः स प्रथमपृथ्व्यां द्वितीयायां तृतीयायां वा जायते। तस्य षण्मासावशेषे बद्धमनुष्यायुष्कस्य नारकोपसर्गनिवारणं गर्भावतरण-कल्याणादयश्च भवन्ति। —तीसरा भव विषै घाति कर्म नाश करै तो नियम करि देवायु ही बाँधै तहाँ देवपर्याय विषै देवायु सहित एकसौ अठतीस सत्त्व पाइये, तिसकै छः महीना अवशेष रहैं मनुष्यायुका बन्ध होइ अर पंच कल्याणक ताकैं होइ। बहुरि जाकै मिथ्यादृष्टि विषैं नरकायुका बंध भया था अर तीर्थंकरका सत्त्व होइ तौ वह जीव नरक पृथ्वीविषै उपजै तहाँ नरकायु सहित एक सौ अठतीस सत्त्व पाइये, तिसके छह महीना आयुका अवशेष रहे मनुष्यायुका बन्ध होई अर नारक उपसर्गका निवारण होइ अर गर्भ कल्याणादिक होई। (गो.क./जी.प्र./५४६/७०८/११); (गो.क./जी.प्र./-५४६/७०८/११)

५. कदाचित् तीन व दो कल्याणक भी सम्भव हैं

गो.क./जी.प्र./५४६/७०८/११ तीर्थबन्धप्रारम्भश्चरमाङ्गाणां संयतदेश-संयतयोस्तदा कल्याणानि निष्क्रमणादीनि त्रीणि, प्रमत्ताप्रमत्तयोस्तदा ज्ञाननिर्वाणे द्वे। —तीर्थंकर बन्धका प्रारम्भ चरम शरीरीनिकैं असंयत देशसंयत गुणस्थानविषैं होइ तो तिनकैं तप कल्याणादि तीन ही कल्याण होंइ अर प्रमत्त अप्रमत्त विषैं होई तो ज्ञान निर्वाण दो ही कल्याण होइं (गो.क./जी.प्र./३८१/५४६/५)।

६. तीर्थंकरोंके शरीरकी विशेषताएँ

बो.पा./टी./३२/६८ पर उद्धृत—तित्थयरा तप्पियरा हलहरचक्की य अद्धचक्की य। देवा य भूयभूमा आहारो अत्थि णत्थि नीहारो ।१। तथा तीर्थकराणां स्मश्रूणी कूर्चश्च न भवति, शिरसि कुन्तलास्तु भवन्ति। —तीर्थंकरोंके, उनके पिताओंके, बलदेवोंके, चक्रवर्तीके, अर्धचक्रवर्तीके, देवोंके तथा भोगभूमिजोंके आहार होता है परन्तु नीहार नहीं होता है। तथा तीर्थंकरोंके मूछ-दाढी नहीं होती परन्तु शिरपर बाल होते हैं। निगोद से रहित होता है।

७. हुंडावसर्पिणीमें तीर्थंकरोंपर कदाचित् उपसर्ग भी होता है

ति.प./४/१६२० सत्तमतेवीसंतिमतित्थयराणं च उवसग्गो ।१६२०। —(हुंडावसर्पिणी कालमें) सातवें, तेईसवें और अन्तिम तीर्थंकरके उपसर्ग भी होता है।

८. तीसरे कालमें भी तीर्थंकरकी उत्पत्ति सम्भव

ति.प./४/१६१७ तक्काले जायंते पढमजिणो पढमचक्की य ।१६१७। —(हुंडावसर्पिणी) कालमें प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती भी उत्पन्न हो जाते हैं ।१६१७।

९. सभी तीर्थंकर आठ वर्षकी आयुमें देशव्रती हो जाते हैं

म.पु./५३/३५ स्वायुराद्यष्टवर्षेभ्यः सर्वेषां परतो भवेत्। उदिताष्टकषायाणां तीर्थेशां देशसंयमः ।३५। —जिनके प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन सम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन आठ कषायोंका ही केवल उदय रह जाता है, ऐसे सभी तीर्थंकरोंके अपनी आयुके आठ वर्षके बाद देश संयम हो जाता है।

२. तीर्थंकर प्रकृति बन्ध सामान्य निर्देश

१. तीर्थंकर प्रकृतिका लक्षण

स.सि./८/११/३९२/७ आर्हन्त्यकारणं तीर्थकरत्वनाम। —आर्हन्त्यका कारण तीर्थंकर नामकर्म है। (रा.वा./८/११/४०/५८०); (गो.क./जी.प्र./३३/३०/१२)।

ध.६/१,९-१,३०/६७/१ जस्स कम्मस्स उदएण जीवस्स तिलोगपूजा होदि तं तित्थयरं णाम। —जिस कर्मके उदयसे जीवकी त्रिलोकमें पूजा होती है वह तीर्थंकर नामकर्म है।

ध. ११/५.१०१/३६६/७ जस्स कम्मस्सुदएण जीवो पंचमहाकल्लाणाणि पाविदूण तित्थं दुवालसंगं कुणदि तं तित्थयरणामं। —जिस कर्मके उदयसे जीव पाँच महा कल्याणकोंको प्राप्त करके तीर्थ अर्थात् बारह अंगोंकी रचना करता है वह तीर्थंकर नामकर्म है।

२. इसका बन्ध तीनों वेदोंमें सम्भव है पर उदय केवल पुरुष वेदमें ही

गो.क./जी.प्र./११९/११९/१९ स्त्रीषंढवेदयोरपि तीर्थाहारकबंधो न विरुध्यते उदयस्यैव पुंवेदिषु नियमात्। —स्त्रीवेदी अर नपुंसकवेदी कैं तीर्थंकर अर आहारक द्विकका उदय तो न होइ पुरुषवेदी ही के होइ अर बंध होने विषै किछू विरोध नाहीं।

दे० वेद/७/६ षोडशकारण भावना भानेवाला सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं हो सकता।

३. परन्तु देवियोंके इसका बन्ध सम्भव नहीं

गो.क./जी.प्र./१११/९८/६ कल्पस्त्रीषु च तीर्थबन्धाभावात्। —कल्पवासिनी देवांगनाके तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध सम्भव नाहीं (गो.क./जी.प्र./११२/९९/१३)।

४. मिथ्यात्वके अभिमुख जीव तीर्थंकर प्रकृतिका उत्कृष्ट बन्ध करता है

म.बं./२/§७०/२५७/८ तित्थयरं उक्क० ट्ठिदि० कस्स। अण्णद० मणुसस्स असंजदसम्मादिट्ठिस्स सागार-जागार० तप्पाओग्गसं० मिच्छादिट्ठिमुहस्स। —प्रश्न—तीर्थंकर प्रकृतिके उत्कृष्ट स्थिति बन्धका स्वामी कौन है? उत्तर—जो साकार जागृत है, त प्रायोग्य संक्लेश परिणामवाला है और मिथ्यात्वके अभिमुख है ऐसा अन्यतर मनुष्य असंयत सम्यग्दृष्टि जीव तीर्थंकर प्रकृतिके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका स्वामी है।

५. अशुभ लेश्याओंमें इसका बन्ध सम्भव है

म.बं./१/§१८७/१३२/४ किण्णणीलासु तित्थयरं-सयुत्तं कादव्वं। —कृष्ण और नील लेश्याओंमें तीर्थंकर···को संयुक्त करना चाहिए।

गो.क./जी.प्र./३५४/५०९/८ अशुभलेश्यात्रये तीर्थबन्धप्रारम्भाभावात्। बद्धनारकायुषोऽपि द्वितीयतृतीयपृथ्व्योः कपोतलेश्ययैव गमनात्। —अशुभ लेश्या विषै तीर्थंकरका प्रारम्भ न होय बहुरि जाकैं नरकायु बँध्या होइ सो दूसरी तीसरी पृथ्वी विषै उपजै तहाँ भी कपोत लेश्या पाइये।

६. तीर्थंकर संतकर्मिक तीसरे भव अवश्य मुक्ति प्राप्त करता है

ध.८/३,३८/७५/१ पारद्धतित्थयरबंधभवादो तदियभवे तित्थयरसंतकम्मियजीवाणं मोक्खगमणणियमादो। —जिस भवमें तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध प्रारम्भ किया है उससे तीसरे भवमें तीर्थंकर प्रकृतिके सत्त्व युक्त जीवोंके मोक्ष जानेका नियम है।

७. तीर्थंकर प्रकृतिका महत्त्व

ह.पु./२/२४ प्रच्छन्नोऽभासयद्गर्भस्तो रविः प्रावृषं यथा।२४। —जिस प्रकार मेघमालाके भीतर छिपा हुआ सूर्य वर्षा ऋतुको सुशोभित करता है। उसी प्रकार माता प्रियकारिणीको वह प्रच्छन्नगर्भ सुशोभित करता था।

म.पु./१२/९६-९७,१६३ षण्मासानिति सापप्तत् पुण्ये नाभिनृपालये। स्वर्गावतरणाद् भर्तुः प्राक्तरां द्युम्नसंततिः।९६। पश्चाच्च नवमासेषु वसुधारा तदा मता। अहो महान् प्रभावोऽस्य तीर्थकृत्त्वस्य भाविनः।९७। तदा प्रभृति सुत्रामशासनात्ताः सिषेविरे। दिक्कुमार्योऽनुचारिण्यः तत्कालोचितकर्मभिः।१६३। —कुबेरने स्वामी वृषभदेवके स्वर्गावतरणसे छह महीने पहलेसे लेकर अतिशय पवित्र नाभिराजके घरपर रत्न और सुवर्णकी वर्षा की थी।९६। और इसी प्रकार गर्भावतरणसे पीछे भी नौ महीने तक रत्न तथा सुवर्णकी वर्षा होती रही थी। सो ठीक है क्योंकि होनेवाले तीर्थंकरका आश्चर्यकारक बड़ा भारी प्रभाव होता है।९७। उसी समयसे लेकर इन्द्रकी आज्ञासे दिक्कुमारी देवियाँ उस समय होने योग्य कार्योंके द्वारा दासियोंके समान मरुदेवीकी सेवा करने लगीं।१६३। और भी—दे० कल्याणक।

३. तीर्थंकर प्रकृतिबन्धमें गति, आयु व सम्यक्त्व सम्बन्धी नियम

१. तीर्थंकर प्रकृतिबन्धकी प्रतिष्ठापना सम्बन्धी नियम

ध. ८/३,४०/७८/७ तत्थ मणुस्सगदीए चेव तित्थयरकम्मस्स बंधपारंभो होदि, ण अण्णत्थेत्ति। ···केवलणाणोवलक्खियजीवदव्वसहकारिकारणस्स तित्थयरणामकम्मबंधपारंभस्स तेण विणा समुप्पत्तिविरोहादो। —मनुष्य गतिमें ही तीर्थंकर कर्मके बन्धका प्रारम्भ होता है, अन्यत्र नहीं।·· क्योंकि अन्य गतियोंमें उसके बन्धका प्रारम्भ नहीं होता, कारण कि तीर्थंकर नामकर्मके बन्धके प्रारम्भका सहकारी कारण केवलज्ञानसे उपलक्षित जीवद्रव्य है, अतएव, मनुष्यगतिके बिना उसके बन्ध प्रारम्भकी उत्पत्तिका विरोध है। गो. क./जी. प्र./९३/७८/७)।

२. प्रतिष्ठापनाके पश्चात् निरन्तर बन्ध रहनेका नियम

ध. ८/३,३८/७४/४ णिरंतरो बंधो, सगबंधकारणे संते अद्धाक्खएण बंधुवरमाभावादो। —बन्ध इस प्रकृतिका निरन्तर है, क्योंकि अपने कारणके होनेपर कालक्षयसे बन्धका विश्राम नहीं होता।

गो. क./जी. प्र./९३/७८/१० न च तिर्यग्वर्जितगतित्रये तीर्थबन्धाभावोऽस्ति तद्बन्धकालस्य उत्कृष्टेन अन्तर्मुहूर्ताधिकाष्टवर्षोनपूर्वकोटिद्वयाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपममात्रत्वात्। —तिर्यंच गति बिना तीनों गति विषै तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध है। ताकौ प्रारम्भ कहिये तिस समयतैं लगाय समय समय विषै समयप्रबद्ध रूप बन्ध विषै तीर्थंकर प्रकृतिका भी बंध हुआ करै है। सो उत्कृष्टपने अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष घाटि दोय कोडि पूर्व अधिक तेतीस सागर प्रमाणकाल पर्यन्त बन्ध हो है (गो. क./भाषा./७४५/९०५/१५); (गो. क./भाषा./३६७/५२९/८)।

३. नरक व तिर्यंच गति नामकर्मके बन्धके साथ इसके बन्धका विरोध है

ध. ८/३,३८/७४/१ तित्थयरबंधस्स णिरय-तिरिक्खगइबंधेहि सह विरोहादो। —तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धका नरक व तिर्यंच गतियोंके बन्धके साथ विरोध है।

४. इसके साथ केवल देवगति बँधती है

ध. ८/३,३८/७४/६ उवरिमा देवगइसंजुत्तं, मणुसगइट्ठियजीवाणं तित्थयरबंधस्स देवगइं मोत्तूण अण्णगईहि सह विरोहादो। —उपरिम जीव देवगतिसे संयुक्त बाँधते हैं, क्योंकि, मनुष्यगतिमें स्थित जीवोंके तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धका देवगतिको छोड़कर अन्य गतियोंके साथ विरोध है।

५. इसके बन्धके स्वामी

ध. ८/३,३८/७४/७ तिगदि असंजदसम्मादिट्ठी सामी, तिरिक्खगईए तित्थयरस्स बंधाभावादो। —तीन गतियोंके असंयत सम्यग्दृष्टि जीव इसके बन्धके स्वामी हैं, क्योंकि तिर्यग्गतिके साथ तीर्थंकरके बन्धका अभाव है।

६. मनुष्य व तिर्यगायु बन्धके साथ इसकी प्रतिष्ठापना-का विरोध है

गो. क./जी प्र./३६६/५२४/११ बद्धतिर्यग्मनुष्यायुष्कयोस्तीर्थसत्त्वा-भावात्।···देवनारकासंयतेऽपि तद्बंध···संभवात्। —मनुष्यायु तिर्यंचायुका पहले बन्ध भया होइ ताकैं तीर्थंकरका बन्ध न होइ।···देव-नारकी विषै तीर्थंकरका बन्ध सम्भवै है।

७. सभी सम्यक्त्वोंमें तथा ४-८ गुणस्थानोंमें बन्धनेका नियम

गो. क./मू./९३/७८ पढमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादिचत्तारि। तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलिदुगंते।९३।

गो.क./जी. प्र./९३/७७/१२ तीर्थबन्ध असंयताद्यपूर्वकरणषष्ठभागान्तसम्य-ग्दृष्टिष्वेव। —प्रथमोपशम सम्यक्त्व विषै वा अवशेष द्वितीयोपशम सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक, क्षायिक सम्यक्त्व विषै असंयततैं लगाइ अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त मनुष्य ही तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धको प्रारम्भ करे है। तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध असंयमते लगाई अपूर्वकरणका छठा भाग पर्यन्त सम्यग्दृष्टि विषै ही हो है।

८. तीर्थंकर बंधके पश्चात् सम्यक्त्व च्युतिका अभाव

गो. क./जी. प्र./५५०/७४३/३ प्रारब्धतीर्थबन्धस्य बद्धदेवायुष्कवदबद्धा-युष्कस्यापि सम्यक्त्वप्रच्युत्याभावात्। —देवायुका बन्ध सहित तीर्थंकर बन्धवालेके जैसे सम्यक्त्वतैं भ्रष्टता न होइ तैसें अबद्धायु देवके भी न होइ।

गो. क./जी. प्र./७४५/६ प्रारब्धतीर्थबन्धस्यान्यत्र बद्धनरकायुष्कात्सम्य-क्त्वाप्रच्युतिर्नेति तीर्थबन्धस्य नैरन्तर्यात्: —तीर्थंकर बन्धका प्रारम्भ भये पीछे पूर्वे नरक आयु बन्ध बिना सम्यक्त्व तैं भ्रष्टता न होइ अर तीर्थकरका बन्ध निरन्तर है।

९. बद्ध नरकायुष्क मरण कालमें सम्यक्त्वसे च्युत होता है

ध. ८/३,५४/१०८/५ तित्थयरं बंधमाणसम्माइट्ठीणं मिच्छत्तं गंतूणं तित्थयरसंतकम्मेण सह बिदिय-तदियपुढवीसु व उप्पज्जमाणाणम-भावादो। —तीर्थंकर प्रकृतिको बाँधनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्या-त्वको प्राप्त होकर तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्ताके साथ द्वितीय व तृतीय पृथिवियोंमें उत्पन्न होते हैं वैसे इन पृथिवियोंमें उत्पन्न नहीं होते।

गो. क./जी. प्र./३३६/४८७/३ मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने कश्चिदाहारकद्वय-मुद्वेल्य नरकायुर्बध्वाऽसंयतो भूत्वा तीर्थं बद्ध्वा द्वितीयतृतीय-पृथ्वीगमनकाले पुनर्मिथ्यादृष्टिर्भवति। —मिथ्यात्व गुणस्थानमें आय आहारकद्विकका उद्वेलन किया, पीछै नरकायुका बन्ध किया, तहाँ पीछै असंयत गुणस्थानवर्ती होइ तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कीया पीछै दूसरी वा तीसरी नरक पृथ्वीकौं जानेका कालविषै मिथ्या-दृष्टी भया।

गो. क./जी. प्र./५४९/७२५/१८ बंशामेघयोः सतीर्था पर्याप्तत्वे नियमेन मिथ्यात्वं त्यक्त्वा सम्यग्दृष्टयो भूत्वा। —बंशा मेघा विषै तीर्थंकर सत्त्व सहित जीव सो पर्याप्ति पूर्ण भए नियमकरि मिथ्यात्वकौं छोडि सम्यग्दृष्टि होइ।

१० उत्कृष्ट आयुवाले जीवोंमें तीर्थंकर सत्कर्मिक मिथ्यादृष्टि नहीं जाते

ध. ८/३,२५८/३३२/४ ण च उक्कस्साउएसु तित्थयरसंतकम्मियमिच्छा-इट्ठीणमुववादो अत्थि, तहोवदेसाभावादो। —उत्कृष्ट आयुवाले जीवोंमें तीर्थंकर सत्त्वकर्मिक मिथ्यादृष्टियोंका उत्पाद है नहीं, क्योंकि वैसा उपदेश नहीं है।

११. नरकमें भी तीसरे नरकके मध्यम पटलसे आगे नहीं जाते

ध. ८/३, २५८/३३२/३ तत्थ हेट्ठिमइंदए णीललेस्सासहिए तित्थयर-संतकम्मियमिच्छाइट्ठीणमुववादाभावादो। कुदो तत्थ तिस्से पुढवीए उक्कस्साउवंसणादो। —(तीसरी पृथिवी में) नील लेश्या युक्त अधस्तन इन्द्रकमें तीर्थंकर प्रकृतिके सत्त्ववाले मिथ्यादृष्टियोंकी उत्पत्तिका अभाव है। इसका कारण यह है कि वहाँ उस पृथिवीकी उत्कृष्ट आयु देखी जाती है। (ध. ८/३, ५४/१०५/६); (गो. क./जी. प्र./३८१/५४६/७)।

१२. वहाँ अन्तिम समय उपसर्ग दूर हो जाता है

त्रि. सा./१९५ तित्थयरसंतकम्मुवसग्गं णिरए णिवारयंति सुरा। छम्मा-साउगसेसे सग्गे अमलाणमालंको।१९५। —तीर्थंकर प्रकृतिके सत्त्ववाले जीवके नरकायु विषै छह महीना अवशेष रहे देव नरक विषै ताका उपसर्ग निवारण करै है। बहुरि स्वर्ग विषै छह महीना आयु अवशेष रहे मालाका मलिन होना चिन्ह न हो है।

गो. क./जी. प्र./३८१/५४६/७ यो बद्धनारकायुस्तीर्थसत्त्वः···तस्य षण्मा-सावशेषे बद्धमनुष्यायुष्कस्य नारकोपसर्गनिवारणं गर्भावतरणकल्या-णादयश्च भवन्ति। —जिस जीवके नरकायुका बन्ध तथा तीर्थंकरका सत्त्व होइ, तिसके छह महीना आयुका अवशेष रहे मनुष्यायुका बन्ध होइ अर नारक उपसर्गका निवारण अर गर्भ कल्याणादिक होई।

१३. तीर्थंकर संतकर्मिकको क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है

ध.६/१-९-८, १२/२४७/१७ विशेषार्थ—पूर्वोक्त व्याख्यानका अभिप्राय यह है कि सामान्यतः तो जीव दुषम-सुषम कालमें तीर्थंकर, केवली या चतुर्दशपूर्वीके पादमूलमें ही दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका प्रारम्भ करते हैं, किन्तु जो उसी भवमें तीथकर या जिन होनेवाले हैं वे तीर्थंकरादिकी अनुपस्थितिमें तथा सुषमदुषम कालमें भी दर्शन-मोहका क्षपण करते हैं। उदाहरणार्थ—कृष्णादि व वर्धनकुमार।

१४. नरक व देवगतिसे आये जीव ही तीर्थंकर होते हैं

ष. खं. ६/१, ९-९/सू. २२०, २२१ मणुसेसु उववण्णल्लया मणुस्सा···केई तित्थयरत्तमुप्पाएंति···।२२०। मणुसेसु उववण्णल्लया मणुसा···केई तित्थयरत्तमुप्पाएंति।२२१। मणुसेसु उववण्णल्लया मणुसा···णो तित्थयरमुप्पाएंति। —ऊपरकी तीन पृथिवियोंसे निकलकर मनुष्यों-में उत्पन्न होनेवाले मनुष्य···कोई तीर्थंकरत्व उत्पन्न करते हैं।२२०। देवगतिसे निकलकर मनुष्योंमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य···कोई तीर्थं-करत्व उत्पन्न करते हैं।२२१। भवनवासी आदि देव-देवियाँ मनुष्योंमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य होकर···तीर्थंकरत्व उत्पन्न नहीं करते हैं।२२२। [इसी प्रकार तिर्यञ्च व मनुष्य तथा चौथी आदि पृथिवियों-से मनुष्योंमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य तीर्थंकरत्व उत्पन्न नहीं करते हैं।]

रा. वा./३/६/७/१६९/२ उपरि तिसृभ्य उद्वर्तिता···मनुष्येषूत्पन्नाः···केचि-त्तीर्थकरत्वमुत्पादयन्ति। —तीसरी पृथ्वीसे निकलकर मनुष्योंमें उत्पन्न होनेवाले कोई तीर्थंकरत्वको उत्पन्न करते हैं।

४. तीर्थंकर प्रकृति सम्बन्धी शंका-समाधान

१. मनुष्यगतिमें ही इसकी प्रतिष्ठापना क्यों

ध. ८/३, ४०/७८/८ अण्णगदीसु किण्ण पारंभो होदित्ति वुत्ते—ण होदि, केवलणाणोवलक्खियजीवदव्वसहकारिकारणस्स तित्थयरणामकम्म-बंधपारंभस्स तेण विणा समुप्पत्तिविरोहादो। —प्रश्न—मनुष्य-गतिके सिवाय अन्य गतियोंमें इसके बन्धका प्रारम्भ क्यों नहीं होता? उत्तर—अन्य गतियोंमें इसके बन्धका प्रारम्भ नहीं होता, कारण कि तीर्थंकर नामकर्मके प्रारम्भका सहकारी कारण केवलज्ञानसे उपलक्षित जीव द्रव्य है, अतएव मनुष्य गतिके बिना उसके बन्ध प्रारम्भकी उत्पत्तिका विरोध है।

गो. क./जी. प्र./९३/७८/१० नरा इति विशेषणं शेषगतिजानमपाकरोति विशिष्टप्रणिधानक्षयोपशमादिसामग्रीविशेषाभावात्। —बहुरि मनुष्य कहनेका अभिप्राय यह है जो और गतिवाले जीव तीर्थंकर बंधका प्रारंभ न करें जातै और गतिवाले जीवनिकै विशिष्ट विचार क्षयो-पशमादि सामग्रीका अभाव है सो प्रारंभ तौ मनुष्य विषै ही है।

२. केवलीके पादमूलमें ही बन्धनेका नियम क्यों

गो. क./जी. प्र./९३/७८/११ केवलिद्वयान्ते एवेति नियमः तदन्यत्र तादृग्-विशुद्धिविशेषासंभवात्। —प्रश्न—[केवलीके पादमूलमें ही बन्धने का नियम क्यों?] उत्तर—बहुरि केवलिके निकट कहनेका अभिप्राय यह है जो और ठिकानै ऐसी विशुद्धता होई नाहीं, जिसतैं तीर्थंकर बंधका प्रारंभ होई।

३. अन्य गतियोंमें तीर्थंकरका बन्ध कैसे सम्भव है

गो.क./जी. प्र./५२४/१२ देवनारकासंयतेऽपि तद्बन्धः कथं। सम्यक्त्वा-प्रच्युतावुत्कृष्टतन्निरन्तरबन्धकालस्यान्तर्मुहूर्ताधिकाष्टवर्षन्यूनपूर्वको-टिद्वयाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपममात्रत्वेन तत्रापि संभवात्। —प्रश्न—जो मनुष्य ही विषै तीर्थंकर बंधका प्रारम्भ कहा तो देव, नारकीकै असंयतविषैं तीर्थंकर बन्ध कैसे कहा? उत्तर—जो पहिलैं तीर्थंकर बंधका प्रारंभ तौ मनुष्य ही कै होइ पीछैं जो सम्यक्त्वस्यौं भ्रष्ट न होइ तो समय समय प्रति अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष घाटि दोय-कोडि पूर्व अधिक तेतीस सागर पर्यन्त उत्कृष्ट पनैं तीर्थंकर प्रकृति-का बंध समयप्रबद्धविषैं हुआ करै तातै देव नारकी विषैं भी तीर्थं-करका बंध संभवै है।

४. तिर्यंचगतिमें इसके बन्धका सर्वथा निषेध क्यों

ध. ८/३, ३८/७४/८ मा होदु तत्थ तित्थयरकम्मबंधस्स पारंभो, जिणा-णमभावादो। किंतु पुव्वं बद्धतिरिक्खाउआणं पच्छा पडिवण्णसम्म-त्तादिगुणेहि तित्थयरकम्मं बंधमाणाणं पुणो तिरिक्खेसुप्पण्णाणं तित्थयरस्स बंधस्स सामित्तं लब्भदि त्ति वुत्ते—ण, बद्धतिरिक्ख-मणुस्साउआणं जीवाणं बद्धणिरय-देवाउआणं जीवाणं व तित्थयर-कम्मस्स बंधाभावादो। तं पि कुदो। पारद्धतित्थयरबंधभवादो तदिय भवे तित्थयरसंतकम्मियजीवाणं मोक्खगमण-णियमादो। ण च तिरिक्ख-मणुस्सेसुप्पण्णमणुससम्माइट्ठीणं देवेसु अणुप्पज्जिय देवणेर-इएसुप्पण्णाणं व मणुस्सेसुप्पत्ती अत्थि जेण तिरिक्ख-मणुस्सेसुप्पण्ण-मणुससम्माइट्ठीणं तदियभवे णिव्वुई होज्ज। तम्हा तिगइअसंजद-सम्माइट्ठिणो चेव सामिया त्ति सिद्धं। —प्रश्न—तिर्यग्गतिमें तीर्थंकर कर्मके बन्धका प्रारम्भ भले ही न हो, क्योंकि वहाँ जिनोंका अभाव है। किन्तु जिन्होंने पूर्वमें तिर्यगायुको बान्ध लिया है, उनके पीछे सम्यक्त्वादि गुणोंके प्राप्त हो जानेसे तीर्थंकर कर्मको बान्धकर पुनः तिर्यञ्चोंमें उत्पन्न होनेपर तीर्थंकरके बन्धका स्वामीपना पाया जाता है? उत्तर—ऐसा होना सम्भव नहीं है, क्योंकि जिन्होंने पूर्वमें तिर्यंच व मनुष्यायुका बन्ध कर लिया है उन जीवोंके नरक व देव आयुओंके बन्धसे संयुक्त जीवोंके समान तीर्थंकर कर्मके बन्धका अभाव है। प्रश्न—वह भी कैसे सम्भव है? उत्तर—क्योंकि जिस भवमें तीर्थंकर प्रकृतिका बंध प्रारम्भ किया है उससे तृतीय भवमें तीर्थंकर प्रकृतिके सत्त्वयुक्त जीवोंके मोक्ष जानेका नियम है। परन्तु तिर्यंच और मनुष्योंमें उत्पन्न हुए मनुष्य सम्यग्दृष्टियोंकी देवोंमें उत्पन्न न होकर देव नारकियोंमें उत्पन्न हुए जीवोंके समान मनुष्योंमें उत्पत्ति होती नहीं, जिससे कि तिर्यंच व मनुष्योंमें उत्पन्न हुए मनुष्य सम्यग्दृष्टियोंकी तृतीय भवमें मुक्ति हो सके। इस कारण तीन गतियोंके असंयत सम्यग्दृष्टि ही तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धके स्वामी हैं।

५. नरकगतिमें उसका बन्ध कैसे सम्भव है।

गो. क./जी. प्र./५५०/७४२/२० नन्वविरदादिचत्तारितित्थयरबंधपारंभया णरा केवलि दुगंते इत्युक्तं तदा नारकेषु तद्युक्तस्थानं कथं बध्नाति। तन्न। प्राग्बद्धनरकायुषां प्रथमोपशमसम्यक्त्वे वेदकसम्यक्त्वे वा प्रारब्धतीर्थबन्धानां मिथ्यादृष्टित्वेन मृत्वा तृतीयपृथ्व्यन्तं गतानां शरीरपर्याप्तेरुपरि प्राप्ततदन्यतरसम्यक्त्वानां तद्बन्धस्यावश्यं-भावात्। —प्रश्न—"अविरतादि चत्तारि तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलिदुगंते" इस वचन तै अविरतादि च्यारि गुणस्थानवाले मनुष्य ही केवली द्विककैं निकटि तीर्थंकर बंधके प्रारंभक कहे नरक विषैं कैसे तीर्थंकरका बंध है? उत्तर—जिनके पूर्वें नरकायुका बंध होइ, प्रथमोपशम वा वेदक सम्यग्दृष्टि होय तीर्थंकरका बन्ध प्रारम्भ मनुष्य करै पीछे मरण समय मिथ्यादृष्टि होइ तृतीय पृथ्वीपर्यंत उपजै तहाँ शरीर पर्याप्त पूर्ण भए पीछे तिन दोऊनि मैं स्यौं किसी सम्यक्त्वको पाई समय प्रबद्ध विषैं तीर्थंकरका भी बंध करै है।

६. कृष्ण व नील लेश्यामें इसके बन्धका सर्वथा निषेध क्यों

ध. ८/३, २५८/३३२/३ तत्थ हेट्ठिमइंदए णीललेस्सासहिए तित्थयर-संतकम्मियमिच्छाइट्ठीणमुववादाभावादो। ... तित्थयरसंतकम्मिय-मिच्छाइट्ठीणं णेरइएसुववज्जमाणाणं सम्माइट्ठीणं व काउलेस्सं मोत्तूण अण्णलेस्साभावादो वा। ण णीलकिण्हलेस्साए तित्थयरसंत-कम्मिया अत्थि। —प्रश्न—[कृष्ण, नीललेश्यामें इसका बंध क्यों सम्भव नहीं है।] उत्तर—नील लेश्या युक्त अधस्तन इन्द्रक-में तीर्थंकर प्रकृतिके सत्त्ववाले मिथ्यादृष्टियोंकी उत्पत्तिका अभाव है।...अथवा नारकियोंमें उत्पन्न होनेवाले तीर्थंकर संतकर्मिक मिथ्यादृष्टि जीवोंके सम्यग्दृष्टियोंके समान कापोत लेश्याको छोड़कर अन्य लेश्याओंका अभाव होनेसे नील और कृष्ण लेश्यामें तीर्थंकरकी सत्तावाले जीव नहीं होते हैं। (गो. क./जी. प्र./३५४/५०६/८)

७. प्रथमोपशम सम्यक्त्वमें इसके बन्ध सम्बन्धी दृष्टि भेद

गो. क./जी. प्र./९३/७८/८ अत्र प्रथमोपशमसम्यक्त्वे इति भिन्नविभक्ति-करणं तत्सम्यक्त्वे स्तोकान्तर्मुहूर्तकालत्वात् षोडशभावनासमृद्ध्य-भावात् तद्बन्धप्रारम्भो न इति केषांचित्पक्षं ज्ञापयति। —इहाँ प्रथमोपशम सम्यक्त्वका जुदा कहनेका अभिप्राय ऐसा है जो कोई आचार्यनिका मत है कि प्रथमोपशमका काल थोरा अंतर्मुहूर्त मात्र है तातैं षोडश भावना भाई जाइ नाहीं, तातैं प्रथमोपशम विषैं तीर्थंकर प्रकृतिके बंधका प्रारंभ नाहीं है।

५. तीर्थंकर परिचय सारणी

१. भूत भावी तीर्थंकर परिचय

नं०	जम्बू द्वीप भरत क्षेत्रस्थ चतुर्विंशतितीर्थंकरोंका परिचय								अन्य द्वीप व अन्य क्षेत्रस्थ
	१. भूतकालीन	२. भावि कालीनका नाम निर्देश					३. भावि तीर्थंकरोंके पूर्व अनन्त भवके नाम		तीर्थंकरोंका परिचय
नं०	जयसेन प्रतिष्ठा पाठ/४७०-४६३	ति.प./४/१५७६-१५८१	त्रि० सा०/८७३-८७५	ह०पु०/६०/५५८-५६२	म०पु०/७६/४७६-४८०	जय सेन प्रतिष्ठा पाठ/५२०-५४३	ति.प./४/१५८३-१५८६	म.पु./७६/४७१-४७५	ति.प./४/२३६६
१	निर्वाण	महापद्म	महापद्म	महापद्म	महापद्म	महापद्म	श्रेणिक	श्रेणिक	कबहि किसीसे तहिसं सलागापुरिसा भवंति के कोई। ताणं णामापहुदिसु उवदेसो संपइ पणट्ठो।२३६६। विशेष यह कि उस (विराकार) क्षेत्रमें जो कोई शलाका पुरुष होते हैं उनके नामादि विषयक उपदेश नष्ट हो चुका है।
२	सागर	सुरदेव	सुरदेव	सुरदेव	सुरदेव	सुरप्रभ	सुपार्श्व	सुपार्श्व	
३	महासाधु	सुपार्श्व	सुपार्श्व	सुपार्श्व	सुपार्श्व	सुप्रभ	उदंङ्क	उदङ्क	
४	विमलप्रभ	स्वयंप्रभ	स्वयंप्रभ	स्वयंप्रभ	स्वयंप्रभ	स्वयंप्रभ	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	
५	शुद्धाभदेव	सर्वप्रभ	सर्वात्मभूत	सर्वात्मभूत	सर्वात्मभूत	सर्वायुध	कृतसूय	कटपू	
६	श्रीधर	देवसुत	देवपुत्र	देवदेव	देवपुत्र	जयदेव	क्षत्रिय	क्षत्रिय	
७	श्रीदत्त	कुलसुत	कुलपुत्र	प्रभोदय	कुलपुत्र	उदयप्रभ	पाविल	श्रेष्ठी	
८	सिद्धाभदेव	उदङ्क	उदङ्क	उदङ्क	उदङ्क	प्रभादेव	शङ्ख	शङ्ख	
९	अमलप्रभ	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	प्रश्नकीर्ति	प्रोष्ठिल	उदंक	नन्द	नन्दन	
१०	उद्धारदेव	जयकीर्ति	जयकीर्ति	जयकीर्ति	जयकीर्ति	प्रश्नकीर्ति	सुनन्द	सुनन्द	
११	अग्निदेव	मुनिसुव्रत	मुनिसुव्रत	सुव्रत	मुनिसुव्रत	जयकीर्ति	शशाङ्क	शशाङ्क	
१२	संयम	अर	अर	अर	अरनाथ	पूर्णबुद्धि	सेवक	सेवक	
१३	शिव	अपाप	निष्पाप	पुण्यमूर्ति	अपाप	निःकषाय	प्रेमक	प्रेमक	
१४	पुष्पांजलि	निःकषाय	निःकषाय	निःकषाय	निःकषाय	विमलप्रभ	अतोरण	अतोरण	
१५	उत्साह	विपुल	विपुल	विपुल	विपुल	बहुलप्रभ	रैवत	रैवत	
१६	परमेश्वर	निर्मल	निर्मल	निर्मल	निर्मल	निर्मल	कृष्ण	वासुदेव	
१७	ज्ञानेश्वर	चित्रगुप्त	चित्रगुप्त	चित्रगुप्त	चित्रगुप्त	चित्रगुप्ति	सीरी	भगलि	
१८	विमलेश्वर	समाधिगुप्त	समाधिगुप्त	मनाधिगुप्त	समाधिगुप्त	समाधिगुप्ति	भगलि	वागलि	
१९	यशोधर	स्वयम्भू	स्वयम्भू	स्वयम्भू	स्वयम्भू	स्वयम्भू	विगलि	द्वैपायन	
२०	कृष्णमति	अनिवर्तक	अनिवर्तक	अनिवर्तक	अनिवर्तक	कंदर्प	द्वीपायन	कनकपाद	
२१	ज्ञानमति	जय	जय	जय	विजय	जयनाथ	माणवक	नारद	
२२	शुद्धमति	विमल	विमल	विमल	विमल	विमल	नारद	चारुपाद	
२३	श्रीभद्र	देवपाल	देवपाल	दिव्यपाद	देवपाल	दिव्यवाद	सुरूपदत्त	सत्यकिपुत्र	
२४	अनन्तवीर्य	अनन्तवीर्य	अनन्तवीर्य	अनन्तवीर्य	अनन्तवीर्य	अनन्तवीर्य	सत्यकिपुत्र	एक कोई अन्य	

३. वर्तमान चौबीसीके पूर्व भव नं० २ (देवसे पूर्व) का परिचय

नं०	१. वर्तमानका नाम निर्देश: प्रमाण (दे० अगली सूची)	२. पूर्व भव नं० २ (देव गतिसे पूर्व) के नाम: महापुराण सर्ग/श्लो०	नाम	प.पु./२०/१८-२४	ह.पु./६०/१५०-१५५	३. क्या थे: म.पु./सर्ग/श्लो०		४. पिताओंके नाम: प.पु./२०/२५-३०	ह.पु./६०/१५८-१६३	५. पूर्व भवके देश व नगरके नाम (१. प.पु./२०/१४-१७; २. ह.पु./६०/१४२-१४६): म.पु./सर्ग/श्लो०		प्रमाण नं०	विशेष
१	ऋषभनाथ	४७/३१७	वज्रनाभि	वज्रनाभि	वज्रनाभि	११/५५	चक्रवर्ती	वज्रसेन	वज्रसेन	११/८	जम्बू वि. पुण्डरीकिणी		
२	अजितनाथ	४८/१४	विमलवाहन	विमलवाहन	विमल	४८/४	मण्डलेश्वर	महातेज	अरिन्दम	४८/४	,, ,, सुसीमा	१	पुण्डरीकिणी
३	सम्भवनाथ	४९/५६	विमलवाहन	विपुलख्याति	विपुलवाहन	४९/२	,,	रिपुंदम	स्वयंप्रभ	४९/२	,, ,, क्षेमपुरी	१-२	१. ,, २. रत्नसंचय
४	अभिनन्दन	५०/६६	महाबल	विपुलवाहन	महाबल	५०/३	,,	स्वयंप्रभ	विमलवाहन	५०/३	,, ,, रत्नसंचय	१	सुसीमा
५	सुमतिनाथ	५१/८६	रतिषेण	महाबल	अतिबल	५१/३	,,	विमलवाहन	सीमन्धर	५१/३	धात. वि. पुण्डरीकिणी	१	,,
६	पद्मप्रभु	५२/७०	अपराजित	अतिबल	अपराजित	५२/२	,,	सीमन्धर	पिहितास्रव	५२/२	,, ,, सुसीमा		
७	सुपार्श्व	५३/५६	नन्दिषेण	अपराजित	नन्दिषेण	५३/२	,,	पिहितास्रव	अरिन्दम	५३/२	,, ,, क्षेमपुरी		
८	चन्द्रप्रभ	५४/२७६	पद्मनाभ	नन्दिषेण	पद्म	५४/१४३	,,	अरिन्दम	युगन्धर	५४/१३०	,, ,, रत्नसंचय	१	क्षेमा
९	पुष्पदन्त	५५/६२	महापद्म	पद्म	महापद्म	५५/२	,,	युगन्धर	सर्वजनानन्द	५५/२	पुष्कर. वि. पुण्डरीकिणी	१	क्षेमा
१०	शीतलनाथ	५६/[illegible]	पद्मगुल्म	महापद्म	पद्मगुल्म	५६/२	,,	सर्वजनानन्द	उभयानन्द	५६/२	,, ,, सुसीमा	१	रत्नसंचयपुरी
११	श्रेयान्स	५७/६६	नलिनप्रभ	पद्मोत्तर	नलिनगुल्म	५७/३	,,	अभयानन्द	वज्रदत्त	५७/२	,, ,, क्षेमपुरी	१	,,
१२	वासुपूज्य	५८/५८	पद्मोत्तर	पङ्कजगुल्म	पद्मोत्तर	५८/२	,,	वज्रदन्त	वज्रनाभि	५८/२	,, ,, रत्नसंचय		
१३	विमलनाथ	५९/६१	पद्मसेन	नलिनगुल्म	पद्मासन	५९/३	,,	वज्रनाभि	सर्वगुप्त	५९/३	धात. विदेह महानगर		
१४	अनन्तनाथ	६०/५८	पद्मरथ	पद्मासन	पद्म	६०/३	,,	सर्वगुप्ति	त्रिगुप्त	६०/२	,, ,, अरिष्टा		
१५	धर्मनाथ	६१/१४	दशरथ	पद्मरथ	दशरथ	६१/३	,,	गुप्तिमान्	चित्तरक्ष	६१/२	,, ,, सुसीमा	१-२	१. सुभाद्रिका २. भद्रिलपुर
१६	शान्तिनाथ	६३/५०४	मेघरथ	दृढरथ	मेघरथ	६३/३८४	,,	चिन्तारक्ष (घनरथ तीर्थंकर १६४)	विमलवाहन	६३/१४२	जम्बू वि. पुण्डरीकिणी		
१७	कुन्थु नाथ	६४/१४	सिंहरथ	महामेघरथ	सिंहरथ	६४/३	,,	विपुलवाहन	घनरथ	६४/२	,, ,, सुसीमा	२	रत्नसंचय
१८	अरहनाथ	६५/५०	धनपति	सिंहरथ	धनपति	६५/२	,,	घनरव	संवर	६५/२	,, ,, क्षेमपुरी		
१९	मल्लिनाथ	६६/६६	वैश्रवण	वैश्रवण	वैश्रवण	६६/२	,,	धीर	वरधर्म	६६/२	,, ,, वीतशोका		
२०	मुनिसुव्रत	६७/६०	हरिवर्मा	श्रीधर्म	श्रीधर्म	६७/२	,,	संवर	सुनन्द	६७/२	,, भरत चम्पापुरी		
२१	नमिनाथ	६९/७१	सिद्धार्थ	सुरश्रेष्ठ	सिद्धार्थ	६९/९-१०	,,	त्रिलोकीय	नन्द	६८/२	,, ,, कौशाम्बी		
२२	नेमिनाथ	७२/२७०	सुप्रतिष्ठ	सिद्धार्थ	सुप्रतिष्ठ	७०/५४	,,	सुनन्द	व्यतीतशोक	७०/५०	,, ,, हस्तनागपुर	१	नागपुर
२३	पार्श्वनाथ	७३/१६६	आनन्द	आनन्द	आनन्द	७३/६१	,,	डामर	दामर	७३/४१	,, ,, अयोध्या		
२४	वर्द्धमान	७४/२४३	नन्द	सुनन्द	नन्दन	७४/२४३	,,	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	७४/२४२	,, ,, छत्रपुर		

३. वर्तमान चौबीसीके वर्तमान भवका परिचय—(सामान्य)

	१. नाम निर्देश				२. पूर्व भवका स्थान (देव भव)				३. वर्तमान भवकी जन्म नगरी				४. चिह्न	५. यक्ष	६. यक्षिणी
	१. ति.प./४/५१२-५१४ २. प.पु./२०/८-१० ३. ह.पु./६०/१३८-१४१				१. ति.प./४/५२२-५२५ २. प.पु./२०/३१-३५ ३. ह.पु./६०/१६४-१६८				१. ति.प./४/५२६-५४६ २. प.पु./२०/३६-६० ३. ह.पु./६०/१८२-२०५				ति.प./४/६०४	ति.प./४/-९३४-९३६	ति.प./४/-९३७-९३९
	४. म.पु. सर्ग/श्लो.	सामान्य नाम	विशेष प्रमाण नं.	विशेष नाम	म.पु./ सर्ग/श्लो	सामान्य नाम	विशेष प्रमाण नं.	विशेष नाम	४. म.पु/ सर्ग/श्लो	सामान्य नाम	विशेष प्रमाण नं.	विशेष नाम			
१	१४/१६०	ऋषभ			११/१११	सर्वार्थ सिद्धि			१२/८३	अयोध्या	१	विनीता	बैल	गोवदन	चक्रेश्वरी
२	४८/१	अजित			४८/१३	विजय	२	वैजयन्त	४८/२०	,,	१,२	साकेता	गज	महायक्ष	रोहिणी
३	४६/१	सम्भव			४६/६	अ. ग्रैवेयक			४६/१४	श्रावस्ती			अश्व	त्रिमुख	प्रज्ञप्ति
४	५०/१	अभिनन्दन			५०/१३	विजय	२	वैजयन्त	५०/१६	अयोध्या	१	साकेता	बन्दर	यक्षेश्वर	वज्रशृंखल
५	५१/१	सुमति			५१/१५	वैजयन्त	१	जयन्त	५१/१६-२०	,,	१,२	,,	चकवा	तुम्बुरव	वज्राङ्कुशा
६	५२/१	पद्मप्रभु			५२/१४	ऊ. ग्रैवेयक			५२/१८	कौशाम्बी	२	वत्स	कमल	मातङ्ग	अप्रतिचक्रेश्वरी
७	५३/१	सुपार्श्व			५३/१५	म. ग्रैवेयक			५३/१८	काशी	१	वाराणसी	नन्द्यावर्त	विजय	पुरुषदत्ता
८	५४/१	चन्द्रप्रभु			५४/१६२	वैजयन्त			५४/१६३	चन्द्रपुर			अर्धचन्द्र	अजित	मनोवेगा
९	५५/१	सुविधि	१	पुष्पदन्त	५५/२०	प्राणत	१,३	आरण २ अपराजित	५५/२३	काकन्दी			मगर	ब्रह्म	काली
१०	५६/१	शीतलनाथ			५६/१८	आरण	१,३	अच्युत	५६/२४	भद्रपुर	३	भद्रिल	स्वस्तिक	ब्रह्मेश्वर	ज्वालामालिनी
११	५७/१	श्रेयान्सनाथ	३	श्रेयोनाथ	५७/१४	पुष्पोत्तर			५७/१७	सिंहपुर	३	सिंहनादपुर	गैंडा	कुमार	महाकाली
१२	५८/१	वासुपूज्य			५८/१३	महाशुक्र	२	कापिष्ठ	५८/१७	चम्पा			भैंसा	शन्मुख	गौरी
१३	५९/१	विमलनाथ			५९/६	सहस्रार	१,३	शतार २. महाशुक्र	५९/१४	काम्पिल्य			शूकर	पाताल	गान्धारी
१४	६०/२	अनन्तनाथ	३	अनन्तजित	६०/१२	पुष्पोत्तर	२	सहस्रार	६०/१६	अयोध्या	२	विनीता	सेही	किन्नर	वैरोटी
१५	६१/१	धर्मनाथ			६१/१९	सर्वार्थ सि.	२	पुष्पोत्तर	६१/१३	रत्नपुर			वज्र	किंपुरुष	सोलसा(अनं त०)
१६	६२/१	शान्तिनाथ			६३/३३७	,,			६३/३६३	हस्तनागपुर			हरिण	गरुड	मानसी
१७	६४/१	कुन्थुनाथ			६४/१०	,,			६४/१२	,,			छाग	गन्धर्व	महामानसी
१८	६५/१	अरनाथ			६५/८	जयन्त	१ २	{ अपराजित { सर्वार्थ सिद्धि	६५/१४	,,			मत्स्य	कुबेर	जया
१९	६६/१	मल्लिनाथ			६६/१४	अपराजित	२	विजय १. अपराजित	६६/२०	मिथिला			कलश	वरुण	विजया
२०	६७/१	मुनिसुव्रत	१,२	सुव्रतनाथ	६७/१५	प्राणत (१ आनत)	२ ३	{ अपराजित { सहस्रार	६७/२०	राजगृह	२-३	कुशाग्रनगर	कूर्म	भृकुटि	अपराजिता
२१	६९/१	नमिनाथ			६९/१६	अपराजित	२	प्राणत	६९/१६	मिथिला			उत्पल (नीलकमल)	गोमेध	बहुरूपिणी
२२	७०/१	नेमिनाथ			७०/५७	जयन्त	१ २	{ अपराजित { आनत	७१/२८	द्वारावती	१-३	शौरीपुर	शङ्ख	पार्श्व	कुष्माण्डी
२३	७३/१	पार्श्वनाथ			७३/६८	प्राणत	२ ३	{ वैजयन्त { सहस्रार	७३/७५	बनारस	१-३	वाराणसी	सर्प	मातङ्ग	पद्मा
२४	७४/१	वर्द्धमान	२,३	महावीर	७४/२४६	पुष्पोत्तर			७४/१५२	कुण्डलपुर	१-३	कुण्डलपुर	सिंह	गुह्यक	सिद्धायिनी

१ गर्भावतरण

नं.	४. म. पु./पर्व/श्लो.	७. पिताके नाम (१. ति.प./४/५२६-५४९; २. म. पु./२०/३६-६०; ३. ह. पु./६०/१८२-२०५) ४. म.पु./पूर्ववत् सामान्य	प्रमाण नं.	विशेष	८. माताका नाम (१. ति. प./४/५२६-५४९; २. प. पु./२७/३६-६०; ३. ह. पु./६०/१८२-२०५) ४. म.पु./पूर्ववत् सामान्य	प्रमाण नं.	विशेष	९. वंश ति. प./४/५५०	त्रि. सा./८४८-८४९	१०. गर्भ तिथि म. पु./पूर्ववत् सामान्य	११. गर्भ-नक्षत्र म. पु./पूर्ववत् सामान्य	१२. गर्भ-काल म. पु./पूर्ववत् सामान्य
१	१२/१८६-१६३	नाभिराय			मरुदेवी			इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु	आषाढ कृ. २	उत्तराषाढ	
२	४८/१८-२५	जितशत्रु			विजयसेना			,,	,,	ज्येष्ठ कृ. १५	रोहिणी	ब्रह्ममुहूर्त
३	४९/१४-१९	दृढराज्य	१-३	जितारि	सुषेणा	१-३	सेना	,,	,,	फा. शु. ८	मृगशिरा	प्रातः
४	५०/१६-१८	स्वयंवर	१-३	संवर	सिद्धार्था			,,	,,	वैशा. शु. ६	पुनर्वसु	
५	५१/१९-२१	मेघरथ	१-३	मेघप्रभ	मंगला	२-३	सुमंगला	,,	,,	श्रा. शु. २	मघा	
६	५२/१८-२१	धरण			सुसीमा			,,	,,	माघ कृ. ६	चित्रा	प्रातः
७	५३/१८-२०	सुप्रतिष्ठ			पृथ्वीषेणा			,,	,,	भाद्र. शु. ६	विशाखा	
८	५४/१६४-१६६	महासेन			लक्ष्मणा	१	लक्ष्मीमती	,,	,,	चैत्र कृ. ५	...	पिछली रात्रि
९	५५/२४-२५	सुग्रीव			जयरामा	१-३	रामा	,,	,,	फा. कृ. ९	मूल	प्रभात
१०	५६/२४-२६	दृढरथ			सुनन्दा	१	नन्दा	,,	,,	चैत्र कृ. ८	पूर्वाषाढा	अन्तिम रात्रि
११	५७/१७-१९	विष्णु			,,	१	वेणुश्री	,,	,,	ज्येष्ठ कृ. ६	श्रवण	प्रातः
						२,३	विष्णुश्री	,,	,,			...
१२	५८/१७-१८	वसुपूज्य			जयावती	१	विजया	,,	,,	आषा. कृ. ६	शतभिषा	अन्तिम रात्रि
१३	५९/१४-१७	कृतवर्मा			जयश्यामा	२-३	शर्मा	,,	,,	ज्येष्ठ कृ. १०	उत्तरभाद्रपदा	प्रातः
१४	६०/१६-१८	सिंहसेन			,,	१-३	सर्वश्यामा	,,	,,	कार्ति. कृ. १	रेवती	
१५	६१/१३-१५	भानु	२	भानुराज	सुप्रभा	१-३	सुव्रता	कुरु	,,	वैशा. शु. १३	,,	,,
१६	६३/३८४-३८६	विश्वसेन			ऐरा			इक्ष्वाकु	,,	भाद्र. कृ. ७	भरणी	अन्तिम रात्रि
१७	६४/१३-१४	सूरसेन	३	सूर्य	श्रीकान्ता	१-३	श्रीमती	कुरु	,,	श्रा. कृ. १०	कृत्तिका	,,
१८	६५/१५-१६	सुदर्शन			मित्रसेना			,,	,,	फा. कृ. ३	रेवती	,,
१९	६६/२०-२२	कुम्भ			प्रजावती	१	प्रभावती	इक्ष्वाकु	,,	चैत्र शु. १	अश्विनी	प्रातः
						२,३	रक्षिता					
२०	६७/२०-२१	सुमित्र			सोमा	१-३	पद्मावती	यादव	हरिवंश	श्रा. कृ. २	श्रवण	
२१	६९/१९,२५,२६	विजय			महादेवी	२-३	वप्रा	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु	आश्वि. कृ. २	अश्विनी	अन्तिम रात्रि
						१	वप्रिला					
२२	७१/३०-३१	समुद्रविजय			शिवदेवी			यादव	हरिवंश	कार्ति.शु. ६	उत्तराषाढा	,,
२३	७३/७५-७६	विश्वसेन	१-३	अश्वसेन	ब्राह्मी	१-३	वर्मिला (नामा)	उग्र	उग्र	वैशा. कृ. २	विशाखा	प्रातः
						२-३	वर्मा					
२४	७४/२५२-२५४	सिद्धार्थ			प्रियकारिणी			नाथ	नाथ	आषा. शु. ६	उत्तराषाढा	अन्तिम रात्रि

२ जन्मावतरण

नं०	म० पु०/सर्ग/श्लो०	१३ जन्म तिथि (१. ति. प./४/५२६-५४९; २. ह पु./६६१-१८०) सामान्य	प्रमाण नं०	विशेष	१४ जन्म नक्षत्र (१. ति. प./४/५२६-५४९; २. प. पु./२०/३६-६०; ३. ह. पु./६०/१८२-२०५; ४ म. पु./पूर्ववत्) सामान्य	प्रमाण नं०	विशेष	१५ योग (१ म. पु./ जन्म तिथिवत्)	१६ उत्सेध (१. ति प./४/५८५-५८७; २. त्रि. सा./८०४; ३. प. पु./२०/११२-११५; ४. ह. पु./६०/३०४-३०५; ५. म. पु./पर्व/श्लो.)	धनुष	१७ वर्ण (१. ति. प./४/५८८-५८६; २. त्रि. सा./८४७-८४८; ३. प. पु./२०/६३-६६; ४. ह. पु./६०/२१०-२१३; ५. म. पु./उत्सेधवत्) सामान्य	प्रमाण नं०	विशेष
१	१३/२	चैत्र कृ. ६			उत्तराषाढा					१०० ,,	स्वर्ण		
२	४८/२५	माघ शु. १०			रोहिणी			प्रजेशयोग	४८/२८-३१	४५० ,,	,,		
३	४६/१८-१६	कार्ति.शु. १५	१-२	मार्ग. शु. १५	ज्येष्ठा	२ ४	पूर्वाषाढा मृगशिरा	साम्ययोग	४६/२६-२८	४०० ,,	,,		
४	५०/१६	माघ शु. १२			पुनर्वसु			अदितियोग	५०/२६-२७	३५० ,,	,,	५	बालचन्द्र
५	५१/२२	चैत्र शु. ११	१-२	श्रा. शु. ११	मघा	४	चित्रा	पितृ	५१/२६	३०० ,,	,,		
६	५२/२१	कार्ति कृ. १३	१	आश्वि. कृ. १३	चित्रा			त्वष्ट्रयोग	५२/३५	२५० ,,	रक्त		
७	५३/२२	ज्येष्ठ शु. १२	१		विशाखा			अग्निमित्र	५३/२५	२०० ,,	हरित	२	नील
८	५४/१७०	पौष कृ. ११			अनुराधा			शक्र	५४/१७६	१५० ,,	धवल		
९	५५/२७	मार्ग. शु. १			मूल			जैत्र	५५/३०	१०० ,,	,,		
१०	५६/२८	माघ कृ. १२			पूर्वाषाढा			विश्व	५६/३१	९० ,,	स्वर्ण		
११	५७/२१	फा. कृ. ११			श्रवण			विष्णु	५७/३८	८० ,,	,,		
१२	५८/१६-२०	फा. कृ. १४	१	फा. शु. १४	विशाखा	२,३	शतभिषा	वारुण	५८/२४	७० ,,	रक्त		
१३	५६/२१ (प्रति.ख.ग.)	माघ शु. ४ ,, ,, १४	१-२	माघ शु. १४	पूर्वभाद्रपदा	२-३	उत्तरा भाद्रपदा	अहिर्बुध्न	५६/२४	६० ,,	स्वर्ण		
१४	६०/२१	ज्येष्ठ कृ.१२			रेवती			पूषा	६०/२४	५० ,,	,,		
१५	६१/१८	माघ शु. १३			पुष्य			गुरु	६१/२३	४५ ,,	,,		
१६	६३/३८७	ज्येष्ठ कृ. १४	१	ज्येष्ठ शु. १२	भरणी			याम्य	६३/४१३	४० ,,	,,		
१७	६४/२२	वैशा.शु. १			कृत्तिका			आग्नेय	६४/२६	३५ ,,	,,		
१८	६५/२१	मार्ग. शु. १४			रोहिणी	४	पुष्य		६५/२६	३० ,,	,,		
१९	६६/३१	मार्ग. शु. ११			अश्विनी				६६/३७	२५ ,,	,,		
२०	६७/४१		१,२ २/१६/१२	आश्वि. शु. १२ माघ कृ. १२	श्रवण				६७/२६	२० ,,	नील	२	कृष्ण
२१	६९/३०	आषा. कृ. १०	१	आषा. शु. १०	अश्विनी	४	स्वाति		६९/३३	१५ ,,	स्वर्ण		
२२	७१/३८	श्रा. शु. ६	१-२	वैशा. शु. १३	चित्रा			ब्रह्म	७१/५०	१० ,,	नील	२	कृष्ण
२३	७३/९०	पौष कृ. ११			विशाखा			अनिल	७३/६५	९ हाथ	हरित	२-४	नील,श्यामल
२४	७४/२६२	चैत्र शु. १३			उत्तरा-फाल्गुनी			अर्यमा	७४/२८०	७ ,,	स्वर्ण		

३ दीक्षा धारण

नं०	१८ वैराग्य कारण: ति. प./४/६०७-६११	म. पु./सर्ग/श्लो.	विषय	म. पु./सर्ग/श्लो.	१९ दीक्षा तिथि (१ ति. प./४/६४४-६६७; २. ह. पु./६०/२२६-२३६): सामान्य	प्रमाण नं	विशेष	२० दीक्षा नक्षत्र: ति. प./४/६४४-६६७	म. पु. दीक्षा तिथिवत्	२१ दीक्षा काल (१. ति. प./४/६४४-६६७; २. ह. पु./६०/२१७-२१८; ३. म. पु./ दीक्षा तिथिवत्): सामान्य	प्रमाण नं०	विशेष	२२. दीक्षोपवास: ति. प./४/६४४-६६७	ह./पु. ६०/५१६.
१	नीलाञ्जना मरण	१७/८	नीलाञ्जना मरण	१७/२०३	चैत्र कृ. ९			उत्तराषाढा	उत्तराषाढा	अपराह्न	३	सायंकाल	षष्ठोपवास	बेला
२	उल्कापात	४८/३२	उल्कापात	४८/३७-३९	माघ शु. ९			रोहिणी	रोहिणी	,,	३	,,	अष्ट भक्त	,,
३	मेघ			४९/३६-३७		१,२	मार्ग. शु. १५	ज्येष्ठा		,,			तृतीय उप.	,,
४	गन्धर्व नगर	५०/४५	मेघ	५०/५१-५४	माघ शु. १२			पुनर्वसु		पूर्वाह्न	२-३	अपराह्न सायंकाल	,, ,,	,,
५	जातिस्मरण			५१/७०-७२	वैशा.शु. ९			मघा	मघा	,,	३	प्रातः	,, ,,	तेला
६	,,			५२/५१-५४	कार्ति कृ. १३			चित्रा	चित्रा	अपराह्न	२	सन्ध्या	,, भक्त	बेला
७	पतझड	५३/३७	ऋतु परिवर्तन	५३/४१-४३	ज्येष्ठ शु. १२			विशाखा	विशाखा	पूर्वाह्न	२-३	अपराह्न सन्ध्या	,, ,,	,,
८	तड़िद्	५४/३७	ऋतु परि०	५४/२१६-२१८	पौष कृ. ११			अनुराधा	अनुराधा	अपराह्न	३		,, उप.	,,
९	उल्का	५५/३७	उल्कापात	५५/४६-४८	मार्ग. शु. १	१	पौष शु. ११	,,		,,	३	सायंकाल	,, भक्त	,,
१०	हिमनाश	५६/३६	हिम	५६/४४-४७	मार्ग. कृ. १२			मूल	पूर्वाषाढा	,,	३	सायंकाल	,, उप.	,,
११	पतझड़	५७/४३	बसन्त-वि०	५७/४८-५०	फा. कृ. ११			श्रवण	श्रवण	पूर्वाह्न	३	प्रातः	,, भक्त	,,
१२	जातिस्मरण	५८/३०	चिन्तवन	५८/३७-४०	फा. कृ. १४			विशाखा	विशाखा	अपराह्न	३	सायंकाल	एक उप.	१ उपवास
१३	मेघ	५९/३२	हिम	५९/४०/४२	माघ शु. ४			उ. भाद्रपदा	उ. भाद्रपदा	,,	३	,,	तृतीय ,,	बेला
१४	उल्कापात	६०/२६	उल्कापात	६०/३२-३४	ज्येष्ठ कृ. १२			रेवती		,,	३	,,	,, भक्त	,,
१५	,,	६१/३०	,,	६१/३७-४०	माघ शु. १३	१	भाद्र. शु. १३	पुष्य	पुष्य	,,	३	,,	,, ,,	,,
१६	जातिस्मरण	६३/४६२	दर्पण	६३/४७०-४७६	ज्येष्ठ कृ. १४	२	ज्येष्ठ कृ. १३	भरणी	भरणी	,,			,, उप.	,,
१७	,,	६४/३६	जातिस्मरण	६४/३८-४१	वैशा शु. १			कृत्तिका	कृत्तिका	,,	३	सायंकाल	,, भक्त	,,
१८	मेघ	६५/३१	मेघ	६५/३३-३५	मार्ग. शु. १०			रेवती	रेवती	,,	३	सन्ध्या	,, ,,	,,
१९	तड़िद्	६६/४०	जातिस्मरण	६६/४७-५०	मार्ग. शु. ११	२	मार्ग. शु. १	अश्विनी	अश्विनी	पूर्वाह्न	३	सायंकाल	षष्ठ भक्त	तेला
२०	जातिस्मरण	६७/३७	हाथीका संयम	६७/४१-४५	वैशा कृ. १०	२	वैशा.कृ. ९ श्रा.शु.७ १९ + ५६	श्रवण	श्रवण	अपराह्न	३	,,	तृतीय उप.	बेला
२१	,,	३६/४५	जातिस्मरण	६९/५३-५६	आषा. कृ. १०	२	श्रा. शु. ४	अश्विनी	अश्विनी	,,	३	,,	,, भक्त	,,
२२	,,	७१/१६४	पशुक्रन्दन	७१/१६९-१७६	श्रा. शु. ६	१	माघ शु. ११	चित्रा		,,	२-३	पूर्वाह्न सायंकाल	,,	,,
२३	,,	७३/१२४	जातिस्मरण	७३/१२७-१३३	पौष कृ. ११			विशाखा		पूर्वाह्न	३	प्रातः	षष्ठ भक्त	एक उपवास
२४	,,	७४/२९७	,,	७४/३०२-३०४	मार्ग. कृ. १०			उत्तरा फा०	उत्तरा फा	अपराह्न	३	सन्ध्या	तृतीय ,,	बेला

४ ज्ञानावतरण

नं०	२३ दीक्षा वन: ति. प./४/ ६४४-६६७	२३ दीक्षा वन: म. पु./ दीक्षातिथिवत् दे० नं० १६	२४ दीक्षा वृक्ष: प. पु./२०/ ३६-६०	२४ दीक्षा वृक्ष: म. पु./ दीक्षातिथिवत् दे० नं० १६	२५ सह दीक्षित: १-ति.प/४/६६८ २ ह.पु./६०/३५० ३ म.पु /दीक्षा-तिथिवत् दे० नं. १६	२५ सह दीक्षित: म. पु / सर्ग/श्लो०	२६ केवलज्ञान तिथि: ति. प./४/ ६७९-७०१	२६ केवलज्ञान तिथि: ह. पु./४/ २५७-२६५	२६ केवलज्ञान तिथि: म. पु./ पूर्ववत्	२७ केवलज्ञान नक्षत्र: ति. प./४/ ६७९-७०१	२७ केवलज्ञान नक्षत्र: म. पु./ पूर्ववत्	२८ केवलोत्पत्ति काल: ति. प./४/ ६७९-७०१	२८ केवलोत्पत्ति काल: ह. पु./६०/३५६	२८ केवलोत्पत्ति काल: म. पु./ पूर्ववत्
१	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ (१७/१८२)	वट		४०००	२०/२६८	फा. कृ. ११	फा. कृ. ११	फा. कृ. ११	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा	पूर्वाह्न	पूर्वाह्न	
२	सहेतुक	सहेतुक	सप्तपर्ण	सप्तपर्ण	१०००	४८/४२	पौष शु. १४	फा. कृ. ११	पौष शु. ११	रोहिणी	रोहिणी	अपराह्न	अपराह्न	सन्ध्या
३	,,	,,	शाल	शाल्मलि	,,	४९/४०-४१	का. कृ. ५	का. कृ. ५	का. कृ. ४	ज्येष्ठा	मृगशिरा	,,	,,	,,
४	उग्र	अग्रोद्यान	सरल	असन	,,	५०/५६	का. शु. ५	पौष शु. १५	पौष शु. १४	पुनर्वसु	पुनर्वसु	,,	,,	,,
५	सहेतुक	सहेतुक	प्रियङ्गु	प्रियङ्गु	,,	५१/७५	पौष शु. १५	चैत्र शु. १०	चैत्र शु. ११	हस्त	...	,,	,,	सूर्यास्त
६	मनोहर	मनोहर	प्रियङ्गु	...	,,	५२/५६-५०	वै. शु. १०	,, ,, ,,	चैत्र शु. १५	चित्रा	चित्रा	,,	,,	अपराह्न
७	सहेतुक	सहेतुक	श्रीष	श्रीष	,,	५३/४५	फा. कृ. ७	फा. कृ. ७	फा. कृ. ६	विशाखा	विशाखा	,,	,,	सायं
८	सर्वार्थ	सुवर्तक	नाग	नाग	,,	५४/२२३-२२४	,, ,, ,,	,,	फा. कृ. ७	अनुराधा	अनुराधा	,,	,,	,,
९	पुष्प	पुष्पक	साल	नाग	,,	५५/४९	का. शु. ३	का. शु. ३	का. शु. २	मूल	मूल	,,	,,	,,
१०	सहेतुक	सहेतुक	प्लक्ष	बेल	,,	५६/४८-४९	पौष कृ. १४	पौष कृ. १४	पौष कृ. १४	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा	,,	,,	,,
११	मनोहर	मनोहर	तेन्दु	तुम्बुर	,,	५७/५१-५२	माघ कृ. १५	माघ कृ. १५	माघ कृ. १५	श्रवण	श्रवण	,,	पूर्वाह्न	,,
१२	,,	,,	पाटला	कदम्ब	६०६	५८/४२	माघ शु. २	माघ शु. २	माघ शु. २	विशाखा	विशाखा	,,	अपराह्न	,,
१३	सहेतुक	सहेतुक	जम्बू	जम्बु	१०००	५९/४४-४५	पौष शु. १०	पौष शु. १०	माघ शु. ६	उत्तराषाढा	उत्तराभाद्र	,,	,,	,,
१४	,,	,,	पीपल	अश्वत्थ	,,	६०/३५-३६	चैत्र कृ. १५	चैत्र कृ. १५	चैत्र कृ. १५	रेवती	रेवती	,,	,,	,,
१५	शालि	शाल	दधिपर्ण	सप्तच्छद	,,	६१/४२-४३	पौष शु. १५	पौष शु. १५	पौष शु. १५	पुष्य	पुष्य	,,	,,	,,
१६	आम्रवन	सहस्राम्र	नन्द	नन्द्यावर्त	,,	६३/४८१-४८२	पौष शु. ११	पौष शु. ११	पौष शु. १०	भरणी		,,	,,	,,
१७	सहेतुक	सहेतुक	तिलक	तिलक	,,	६४/४२-४३	चैत्र शु. ३	चैत्र शु. ३	चैत्र शु. ३	कृत्तिका	कृत्तिका	,,	,,	,,
१८	,,	,,	आम्र	आम्र	,,	६५/३७-३८	का. शु. १२	का. शु. १२	का. शु. १२	रेवती	रेवती	,,	,,	,,
१९	शालि	श्वेत	अशोक	अशोक	३००	६६/५१-५२	फा. कृ. १२	फा. कृ. १२	मार्ग. शु. ११	अश्विनी	अश्विनी	,,	पूर्वाह्न	प्रातः
२०	नील	नीलोद्यान	चम्पक	चम्पक	१०००	६७/४६-४७	फा. कृ. ६	मार्ग. शु. ५ (१६/६४)	चैत्र कृ. १०	श्रवण	श्रवण	पूर्वाह्न	अपराह्न	सायं
२१	चैत्र	चैत्रोद्यान	बकुल	बकुल	,,	६९/५७-५९	चैत्र शु. ३	चैत्र शु. ३	मार्ग. शु. ११	अश्विनी		अपराह्न	,,	,,
२२	सहकार	सहसार	मेषशृंग	बांस	,,	७१/१७९-१८१	आश्वि. शु. १	आश्वि. शु. १	आश्वि. कृ. १	चित्रा	चित्रा	पूर्वाह्न	पूर्वाह्न	प्रातः
२३	अश्वत्थ	अश्ववन	धव	देवदारु	३००	७३/१३४-१४३	चैत्र कृ. ४	चैत्र कृ. ४	चैत्र कृ. १३	विशाखा	विशाखा	,,	,,	,,
२४	नाथ	षण्डवन	साल	साल	एकाकी	७४/३५०	वै. शु. १०	वै. शु. १०	वै. शु. १०	मघा	हस्त व उत्तरा-फागुनी	अपराह्न	अपराह्न	अपराह्न

न०	म. पु./सर्ग/श्लो.	२९. केवल स्थान		३० केवल वन		३१ केवल वृक्ष (अशोक वृक्ष)		३२ समवसरण	३३. योग निवृत्ति काल		
		ह. पु./६०/ २१४-२५६	म. पु./पूर्ववत्	ति. पं./४/ ६७९-७०१	म. पु./पूर्ववत	१. ति. प./४/- ९१५-९१८ २. ह. पु./६०/- १८२-२०५	म. पु./पूर्ववत	ति. प./४/ ७१६-७१९	म.पु./सर्ग/श्लो०		ति. प./४/ १२०९
१	२०/२१९-२२०	पूर्वतालका	पुरिमताल	पुरिमताल	शकट	न्यग्रोध	वट	१२ यो०	४७/३३९	१४ दिन पूर्व	१४ दिन पूर्व
२	४८/४०	अयोध्या	साकेत	सहेतुक	×	सप्तपर्ण	×	११ १/२ „	४८/५१	१ मास पूर्व	१ मास पूर्व
३	४९/३८-४१	श्रावस्ती	श्रावस्ती	„	×	शाल	शाल्मलि	११ „	४९/५५	„	„
४	५०/५४-५५	अयोध्या	अयोध्या	उग्रवन	×	सरल	असन	१० १/२ „	५०/६५	„	„
५	५१/७४	„	×	सहेतुक	सहेतुक	प्रियंगु	प्रियंगु	१० „	५१/८४	„	„
६	५२/५३	कौशाम्बी	वर्धमान व.	मनोहर	×	„	×	९ १/२ „	५२/६५-६६	„	„
७	५३/४३-४४	काशी	×	सहेतुक	सहेतुक	शीष	शीष	९ „	५३/५२	„	„
८	५४/२२३	चन्द्रपुरी	×	सर्वार्थ	सुवर्तक	नाग	नाग	८ १/२ „	५४/२७०	„	„
९	५५/५०	काकन्दी	×	पुष्प	पुष्प	अक्ष (बहेड़ा)	नाग	८ „	५५/५४-५५	„	„
१०	५६/४८	भद्दिल	×	सहेतुक	×	धूलीशाल	बेल	७ १/२ „	५६/५६-५७		१ मास पूर्व
११	५७/५१	सिंहनादपुर	×	मनोहर	मनोहर	तेन्दू	तुम्बुर	७ „	५७-६०	१ मास पूर्व	„
१२	५८/४१-४२	चम्पापुरी	×	„	„	पाटल	कदम्ब	६ १/२ „	५८/५१	„	„
१३	५९/४४	कम्पिला	×	सहेतुक	सहेतुक	जम्बू	जम्बू	६ „	५९/५४	„	„
१४	६०/३५	अयोध्या	×	„	„	पीपल	पीपल	५ १/२ „	६०/४४	„	„
१५	६१/४२	रत्नपुर	×	„	शाल	दधिपर्ण	सप्तच्छद	५ „	६१/५१	„	„
१६	६३/४८९	हस्तनागपुर	×	आम्रवन	सहस्राम्र	नन्दी	नन्दी	४ १/२ „	६३/४९६	„	„
१७	६४/४२	„	×	सहेतुक	सहेतुक	तिलक	तिलक	४ „	६४/५१	„	„
१८	६५/३७		×	„	„	आम्र	आम्र	३ १/२ „	६५/४५	„	„
१९	६६/५१	मि[illegible]	×	मनोहर	श्वेत	कंकेलि (अशोक)	अशोक	३ „	६६/६१	„	„
२०	६७/४६	कुशाग्रनगर	×	नील	नील	चम्पक	चम्पक	२ १/२ „	६७/५५	„	„
२१	६९/५७	मिथिला	×	चित्र	चित्र	बकुल	बकुल	२ „	६९/६७	„	„
२२	७१/१७९-१८०	गिरनार	गिरनार		सहस्रार	मेषशृंग	बांस	१ १/२ „	७२/२७३	„	„
२३	७३/१३४	आश्रमकेस	×		अश्ववन	धव	देवदारु	१ १/४ „	७३/१५५	„	„
२४	७४/३४९-३५०	ऋजुकूला	ऋजुकूला		षण्डवन	शाल	शाल	१ „	७४/५१०	दो दिन पूर्व	„

५ निर्वाण-प्राप्ति

नं.	म.पु./सर्ग/श्लो.	३४. निर्वाण तिथि (१. ति.प./४/११८५-१२०८ २. ह.पु./६०/२६६-२७५ ३. म.पु./पूर्ववत्) सामान्य	प्रमाण	विशेष	३५. निर्वाण नक्षत्र (१. ति.प./४/११८५-१२०८ २. ह.पु./६०/२०७-२०८ ३. म.पु./पूर्ववत्) सामान्य	प्रमाण नं.	विशेष	३६. निर्वाण काल (१. ति.प./४/११८५-१२०८ २. ह.पु./६०/२७६-२७६ ३. म.पु./पूर्ववत्) सामान्य	प्रमाण नं.	विशेष	३७. निर्वाण क्षेत्र (१. ति.प./४/११८५-१२०८ २. प.पु./२०/६१ ३. ह.पु./६०/१८२-२०५ ४. म.पु./पूर्ववत्)	३८. सह मुक्त १. ति.प./४/११८५-१२००	२. ह.पु./६०/२८७-२८५	३. म.पु./पूर्ववत्
१	४७/३३६-३३८	माघ. कृ. १४			उत्तराषाढा	३	अभिजित्	पूर्वाह्न	३	सूर्योदय	कैलास	१०,०००	१०,०००	
२	४८/५१-५३	चैत्र शु. ५			भरणी	२,३	रोहिणी	,,	३	प्रातः	सम्मेद	१०००	१०००	
३	४९/५५-५६	चैत्र शु. ६			ज्येष्ठा	३	मृगशिरा	अपराह्न	३	सूर्यास्त	,,	,,	,,	१०००
४	५०/६५-६६	वै. शु. ७	३	वै. शु. ६	पुनर्वसु			पूर्वाह्न	३	प्रातः	,,	,,	,,	अनेक
५	५१/८४	चैत्र शु. १०	३	चैत्र शु. ११	मघा			,,	३	सन्ध्या	,,	,,	,,	१०००
६	५२/६५-६८	फा. कृ. ४			चित्रा			अपराह्न	३	×	,,	३२४	३८००	,,
७	५३/५२-५३	,, ,, ६	३	फा. कृ. ७	अनुराधा	३	विशाखा	पूर्वाह्न	३	सूर्योदय	,,	५००	५००	,,
८	५४/२६९-२७१	भाद्र. शु. ७	३	फा. शु. ७	ज्येष्ठा			,,	३	सायंकाल	,,	१०००	१०००	,,
९	५५/५८-५९	आश्वि. शु. ८	२,३	भाद्र. शु. ८	मूल			अपराह्न	३	,,	,,	,,	,,	,,
१०	५६/५७-५८	का. शु. ५	२	आश्वि. शु. ५	पूर्वाषाढा			पूर्वाह्न	३	,,	,,	,,	,,	,,
			३	,, ,, ८	धनिष्ठा									
११	५७/६०-६१	श्रा. शु. १५						,,	२	,,	,,	,,	,,	,,
१२	५८/५०-५३	फा. कृ. ५	३	माघ. शु. १४	अश्विनी	३	विशाखा	अपराह्न		,,	चम्पापुर	६०१	६०१	६४
१३	५९/५४-५५	आषा. शु. ८			पूर्व भाद्रपद	२	उत्तरा भाद्र.	सायं	३	प्रातः	सम्मेद।	६००	६०००	८६००
		चैत्र कृ. ११				३	उत्तराषाढा							
१४	६०/४३-४४				रेवती			,,			,,	७०००	७०००	६१००
१५	६१/५१-५२	ज्येष्ठ कृ. १४	२,३	ज्येष्ठ शु. ४	पुष्य			प्रातः	३	अन्तिम रात्रि	,,	८०१	८०१	९००
१६	६३/४९९-५०१	,, ,, ,,			भरणी			सायं			,,	९००	९००	९०००
१७	६४/५१-५२	वै. शु. १			कृत्तिका			,,			,,	१०००	१०००	१०००
१८	६५/४५-४६	चैत्र कृ. १५			रोहिणी	३	रेवती	प्रातः	३	पूर्व रात्रि	,,	,,	,,	,,
१९	६६/६१-६२	फा. कृ. ५	३	फा. शु. ७	भरणी			सायं			,,	५००	५००	५०००
२०	६७/५५-५६	फा. कृ. १२	२	माघ शु. १३	श्रवण	२	पुष्य १६/७६	,,	३	अपर रात्रि	,,	१०००	१०००	१०००
				१६/७६		३			२	अपराह्न १६/७६	,,	,,	,,	,,
२१	६९/६७-६८	वै. कृ. १४			अश्विनी			प्रातः	३	अन्तिम रात्रि				
२२	७२/२७१-२७२	आषा. कृ. ८	२	आषा. शु. ८	चित्रा			सायं			ऊर्जयन्त	५३६	५३६	५३३
			३	आषा. शु. ७										
२३	७४/१५६-१५७	श्रा. शु ७			विशाखा			,,	३	प्रातः	सम्मेद	३६	,,	३६
२४	७६/५१०-५१२	का. कृ. १४			स्वाति			प्रातः	३	अन्तिम रात्रि	पावापुरी	एकाकी	३६	

६ संघ

नं.	म.पु./सर्ग/श्लो०	३९. पूर्वधारी १. ति.प./४/१०६८-११६१ २. ह.पु./६०/३५८-४३१ ३. म.पु./पूर्ववत्			४०. शिक्षक १. ति.प./४/१०६८-११६१ २. ह.पु./६०/३५८-४३१ ३. म.पु./पूर्ववत्			४१. अवधि ज्ञानी १. ति.प./४/१०६८-११६१ २. ह.पु./६०/३५८-४३१ ३. म.पु./पूर्ववत्			४२. केवली १. ति.प./४/१०६८-११६१ २. ह.पु./६०/३५८-४३१ ३. म.पु./पूर्ववत्			४३. विक्रियाधारी १. ति.प./४/१०६८-११६१ २. ह.पु./६०/३५८-४३१ ३. म.पु./पूर्ववत्		
		सामान्य	प्रमाण	विशेष	सामान्य	प्रमाण	विशेष	सामान्य	प्रमाण	विशेष	सामान्य	प्रमाण	विशेष	सामान्य	प्रमाण	विशेष
			नं.			नं.			नं.			नं.			नं.	
१	४७/२१०-२१४	४७५०			४१५०			६०००			२००००			२०६००		
२	४८/४३-४८	३७५०			२१६००			६४००			२००००			२०४००	२ ३	२०४५० २०४००
३	४९/४३-४६	२१५०			१२९३००			९६००			१५०००			१९८००	२	१९८५०
४	५०/५७-६३	२५००			२३००५०			९८००			१६०००			१९०००		
५	५१/७६-८१	२४००			२५४३५०			११०००			१३०००			१८४००		
६	५२/५८-६४	२३००			२६९०००			१००००			१२०००	२	१२८००	१६८००	२	१६३००
७	५३/४६-५१	२०३०			२४४९२०			९०००			११०००	२	११३००	१५३००	२	१५१५०
८	५४/२४४-२४८	४०००	२,३	२०००	२१०४००	२,३	२००४००	२०००	२,३	८०००	१८०८८	२,३	१००००	६००	२ ३	१०४०० १४०००
९	५५/५२-५७	१५००	२	५०००	१५५५००			८४००			७५००	३	७०००	१३०००		
१०	५६/५०-५५	१४००			५९२००			७२००			७०००			१२०००		
११	५७/५४-५९	१३००			४८२००			६०००			६५००			११०००		
१२	५८/४४-४९	१२००			३९२००			५४००			६०००			१००००		
१३	५९/४८-५३	११००			३८५००			४८००			५५००			९०००		
१४	६०/४०-४२	१०००			३९५००			४३००			५०००			८०००		
१५	६१/४४	९००			४०७००			३६००			४५००			७०००		
१६	६३/४०९-४९५	८००			४१८००			३०००			४०००			६०००		
१७	६४/४४-४९	७००			४३१५०			२५००			३२००			५१००		
१८	६५/३९-४३	६१०			३५८३५			२८००			२८००			४३००		
१९	६६/६३-६९	५५०	२	७५०	२९०००			२२००			२२००	२	२६५०	२९००	२	१४००
२०	६७/४९-५३	५००			२१०००			१८००			१८००			२२००		
२१	६९/६०-६५	४५०			१२६००			१६००			१६००			१५००		
२२	७१/१८२-१८७	४००			११८००			१५००			१५००			११००		
२३	७३/१४९-१५२	३५०			१०९००			१४००			१०००			१०००		
२४	७४/३७३-३७८	३००			९९००			१३००			७००			९००		

नं०	म. पु./ सर्ग/श्लो०	४४ मन पर्ययज्ञानी १. ति. प./४/१०९८-११६ २. ह. पु./६०/३५८-४३१ ३. म. पु./पूर्ववत			४५ वादी १. ति. प./४/१०९८-११६१ २. ह. पु./६०/३५८-४३१ ३. म. पु./पूर्ववत			४६ सर्व ऋषि संख्या १. ति. प./४/१०९२-१०९७ २. ह. पु./६०/३५२-३५६ ३. म. पु./पूर्ववत			४७ गणधर संख्या १. ति.प./४/९६१-९६३ २. ह. पु./३४१-३४५ ३. म. पु./ पूर्ववत			४८ मुख्य गणधर १. ति. प./४/९६४-९६६ २. ह. पु./६०/३४६-३४९ ३. म. पु./पूर्ववत		
		सामान्य	प्रमाण नं.	विशेष	सामान्य	प्रमाण नं०	विशेष	सामान्य	प्रमाण नं०	विशेष	सामान्य	प्रमाण नं०	विशेष	सामान्य	प्रमाण नं०	विशेष
१	४७/३६०-३६४	१२७५०			१२७५०			८४०००	३	८४०८४	८४			वृषभसेन	२,३ ३	{ वृषभसेन ,, २४/१७२
२	४८/४३-४८	१२४५०	२	१२४००	१२४००			१०००००			९०			केसरिसेन	२,३	सिंहसेन
३	४९/४३-४९	१२१५०		१२०००	१२०००	२	१२१००	२०००००			१०५			चारुदत्त	३	चारुसेन
४	५०/५७-६३	२११६५०	२, ३	११६५०	१०००	२, ३	{ ११६५० ११०००	३०००००			१०३			वज्रचमर	२,३	वज्र, वज्रनाभि
५	५१/७६-८१	१०४००			१०४५०			३२००००			११६			वज्र	२,३	चमर, अमर
६	२/५८-६४	१०३००	२	१०६००	९६००	२	६०३०	३३०			१११	३	११०	चमर	२ ३	{ वज्रचमर चामर
७	५३/४६-५१	९१५०	२	९६००	८६००	२	८०००	३०००००			९५			{ बलदत्त बलिदत्त	२,३	बलि, बल
८	५४/२४४-२४८	८०००			७०००	२,३	७६००	२५००००			९३			वैदर्भ	२,३	दत्तक, दत्त
९	५५/५२-५७	७५००	२	६५००	६६००	२	७६००	२०००००			८८			नाग(अनगार)	२,३	वैदर्भ, वि
१०	५६/५०-५५	,,			५७००			१०००००			८७	२,३	८१	कुन्थु	२,३	अनगार
११	५७/४४-४९	६०००			५०००			८४०००			७७			धर्म	२,३	कुन्थु
१२	५८/४४-४९	,,			४२००			७२०००			६६			मन्दिर	२,३	सुधर्म, धर्म
१३	५९/४८-५३	५५००	२	६०००	३६००			६८०००			५५			जय	२,३	मन्दरार्य, मन्दर
१४	६०/३७-४२	५०००			३२००			६६०००			५०			अरिष्ट	२,३	जय
१५	६१/४४	४५००			२८००			६४०००			४३			सेन	२,३	अरिष्टसेन
१६	६३/४७१-४६१	४०००			२४००			६२०००			३६			चक्रायुध		
१७	६४/४४-४९	३३५०	३	३३००	२०००	३	२०५०	६००००			३५			स्वयंभू		
१८	६५/३९-४३	२०५५			१६००			५००००			३०			कुम्भ	२	कुन्थु
१९	६६/५३-५९	१७५०	२	२२००	१४००	२	२२००	४००००			२८			विशाख		
२०	६७/४९-५३	१५००			१२००			३००००			१८			मल्लि		
२१	६९/६०-६५	१२५०			१०००			२००००			१७			सप्रभ	२	सोमक
२२	७१/१८२-१८७	९००			८००			१८०००			११			वरदत्त		
२३	७३/१४९-१५३	७५०			६००			१६०००			१०			स्वयंभू		
२४	७४/३७३-३७८	५००			४००			१४०००			११			इन्द्रभूति		

नं०	म. पु./ सर्ग/श्लो.	४९ आर्यिका संख्या — १. ति. प./४/११६६-११७६ २. ह. पु./६०/४३२-४४० ३. म. पु./पूर्ववत्			६० मुख्य आर्यिका — १. ति. प./४/११७८-११८० २. म. पु./ पूर्ववत्			६१ श्रावक संख्या — १. ति. प./४/११८१-११८२ २. ह. पु./६०/४४१- ३. म. पु./ पूर्ववत्			६२ श्राविका संख्या — १. ति. प./४/११८३ २. ह. पु./ ६०/४४१ ३. म. पु./ पूर्ववत्		
		सामान्य	प्रमाण नं.	विशेष	सामान्य	प्रमाण नं.	विशेष	सामान्य	प्रमाण नं.	विशेष	सामान्य	प्रमाण नं.	विशेष
१	४७/२६०-२६४	३५००००			ब्राह्मी			३०००००			५०००००		
२	४८/४३-४८	३२००००			प्रकुब्जा	२	कुब्जा	,,			,,		
३	४९/४३-४९	३३००००	३	३२००००	धर्मश्री	२	धर्मार्या	,,			,,		
४	५०/५७-६३	३३०६००	३	३३००००	मेरुषेणा			,,			,,		
५	५१/७६-८१	३३००००			अनन्ता	२	अनन्तमती	,,			,,		
६	५२/५८-६४	४२००००			रतिषेणा						,,		
७	५३/४६-५१	३३००००			मीना	२	मीनार्या				,,		
८	५४/२४४-२४८	३८००००			वरुना			,,			,,		
९	५५/५२-५७	,,			घोषा	२	घोषार्या	२०००००			४०००००	३	५०००००
१०	५६/५०-५५	,,			धरणा			,,			,,		
११	५७/५४-५९	१३००००	२,३	१२००००	चारणा	२	धारणा	,,			,,		
१२	५८/४४-४९	१०६०००			वरसेना	२	सेना	,,			,,		
१३	५९/४८ ५३	१०३०००			पद्मा			,,			,,		
१४	६०/३७-४२	१०८०००			सर्वश्री			,,			,,		
१५	६१/४४	६२४००			सुव्रता			,,			,,		
१६	३/४७१-४६५	६०३००			हरिषेणा			,,			,,		
१७	६४/४	६०३५०			भाविता			१०००००			३०००००		
१८	६५/३९-४३	६००००			कुन्थुसेना	२	यक्षिला	,,	३	१६०,०००	,,		
१९	६६/५३-५९	५५०००			मधुसेना	२	बन्धुसेना	,,			,,		
२०	६७/४९-५३	५००००			पूर्वदत्ता	२	पुष्पदन्ता	,,			,,		
२१	६९/६०-६५	४५०००			मार्गिणी	२	मंगिनी	,,			,,		
२२	७१/१८२-१८७	४००००			यक्षिणी	२	राजमती	,,			,,		
२३	७३/१५१-१५२	३८०००	३	३६०००	सुलोका	२	सुलोचना	,,			.		
२४	[illegible]	३६०००	२	३५०००	चन्दना			,,			,,		

४. वर्तमान चौबीसीके आयुकालका विभाग परिचय

ला० = लाख; को० = कोड़ि; सा० = सागर; प० = पल्य

नं०	५३. आयु १. ति.प./४/५७६-५८२ २. त्रि.सा./८०५-८०६ ३. प.पु./२०/११८-१२२ ४. ह.पु./६०/३१२-३१६ ५. म.पु./ सर्ग/श्लो०		५४. कुमारकाल १. ति.प./४/५८३-५८४ २. ह.पु./६०/३२५-३३१ ३. म.पु./सर्ग/श्लो		५५. विशेषता १. ति.प./४/५९०-६०३ २. त्रि.सा./८४८ ३. प.पु./२०/६२-६७ ४. ह.पु./६०/२०६		५६. राज्यकाल १. ति.प./४/५९०-६०३ २. ह.पु./६०/३२५-३३१ ३. म.पु./ सर्ग/श्लो.		५७. छद्मस्थ काल १. ति.प./४/६७५-६७८ २. ह.पु./३३०/३३७-३४० ३. म.पु./सर्ग/श्लो.		५८. केवलिकाल १. ति.प./४/६४३-६६० २. ह.पु./६०/३३२-३४०
	सर्ग/श्लो.	सामान्य	सर्ग/श्लो.	सामान्य	विवाह	राज्य	सर्ग/श्लो.	सामान्य	सर्ग/श्लो.	सामान्य	सामान्य
१		८४ ला० पूर्व	१६/१२६	२० ला० पूर्व		मण्डलीक	१६/२६७	६३ ला० पूर्व		१००० वर्ष	१ ला० पू०—१००० वर्ष
२	४८/२८-३१	७२ ,, ,,	४८/११	१८ ,, ,,		,,	४८/२८-३१	५३ ला० पूर्व + १ पूर्वांग	४८/४२	१२ वर्ष	१ ,, ,,—(१ पूर्वांग १२ ,,)
३	४९/२६-२८	६० ,, ,,	४९/२६-२८	१५ ,, ,,		,,	४९/	४४ ,, ,, + ४ ,,	४९/४०-४१	१४ ,,	१ ,, ,,—(४ ,, १४ ,,)
४	५०/२६-२७	५० ,, ,,	५०/२८	१२½ ,, ,,		,,	५०/४५	३६½ ,, ,, + ८ ,,	५०/५५	१८ ,,	१ ,, ,,—(८ ,, १८ ,,)
५	५१/२६	४० ,, ,,	५१/५५	१० ,, ,,		,,	५१/६८	२९ ,, ,, + १२ ,,	५१/७४	२० ,,	१ ,, ,,—(१२ ,, २० ,,)
६	५२/३५	३० ,, ,,	५२/३५-३६	७½ ,, ,,		,,	५२/	२१½ ,, ,, + १६ ,,	५२/५५	६ मास	१ ,, ,,—(१६ ,, ६ मास)
७	५३/२५	२० ,, ,,	५३/२६	५ ,, ,,		,,	५३/३७	१४ ,, ,, + २० ,,	५३/४४	९ वर्ष	१ ,, ,,—(२० ,, ९ वर्ष)
८	५४/१७९	१० ,, ,,	५४/१९५	२½ ,, ,,		,,	५४/२०२	६½ ,, ,, + २४ ,,	५४/२२३	३ मास	१ ,, ,,—(२४ ,, ३ मास)
९	५५/३०	२ ,, ,,	५५/३०	५०००० पूर्व		,,	५५/३६	½ ,, ,, + २८ ,,	५५/४९	४ वर्ष*	१ ,, ,,— २८ ,, ४ वर्ष*
१०	५६/३१	१ ,, ,,	५६/३२	२५००० ,,		,,	५६/३५	५०,००० पूर्व	५६/४८	३ ,,*	२५००० पु.—३ वर्ष*
११	५७/३६	८४ ला० वर्ष	५७/३८	२१ ला० वर्ष		,,	५७/४३	४२ ला० वर्ष	५७/५१	२ ,,*	२०९९९९८ वर्ष*
१२	५८/२४	७२ ,, ,,	५८/३०	१८ ,, ,,	कुमारश्रमण	त्याग	५८/		५८/४१	१ ,,*	५३९९९९९ वर्ष*
१३	५९/२४	६० ,, ,,	५९/२५	१५ ,, ,,		मण्डलीक	५९/३१	३० ला० वर्ष	५९/४४	३ ,,*	१४९९९९७ ,, *
१४	६०/२४	३० ,, ,,	६०/२५	७½ ,, ,,		,,	६०/२६	१५ ,, ,,	६०/३५	२ ,,*	७४९९९८ ,, *
१५	६१/२३	१० ,, ,,	६१/२३	२½ ,, ,,		,,	६१/३०	५ ,, ,,	६१/४२	१ ,,*	२४९९९९ ,, *
१६	६३/४१२	१ ,, ,,	६३/४५५	२५००० वर्ष		चक्रवर्ती	६३/४५०,४६१	मण्डलेश + चक्रवर्ती २५००० + २५०००	६३/४८५	१६ ,,	२४९८४ ,,
१७	६४/२६	९५००० वर्ष	६४/२७	२३७५० ,,		,,	६४/२८,३५	२३७५० + २३७५०	६४/४१	,, ,,	२३७३४ ,,
१८	६५/२५	८४००० ,,	६५/२९	२१००० ,,		,,	६५/२९-३०	२१००० + २१०००	६५/३६	,, ,,	२०९८४ ,,
१९	६६/३७	५५००० ,,	६६/३८	१०० ,,	कुमारश्रमण	त्याग	६६/		६६/५१	६ दिन	५४९०० वर्ष—६ दिन
२०	६७/२९	३०००० ,,	६७/३०	७५०० ,,		मण्डलीक	६७/३१	१५००० वर्ष	६७/४६	११ मास	७४९९ ,, + १ मास
२१	६९/३३	१०००० ,,	६९/३४	२५०० ,,		•	६९/३५	५००० ,,	६९/५७	९ वर्ष	२४९१ वर्ष
२२	७१/५०	१००० ,,	७१/१७०	३०० ,,	कुमारश्रमण	त्याग	७१/		७१/१७९	५६ दिन	६९९ ,, १० मास ४ दिन
२३	७३/९४	१०० ,,	७३/११६	३० ,,		,,			७३/१३४	४ मास	६९ ,, ८ ,,
२४	७४/१८०	७२ ,,	७४/२९६	३० ,,		,,			७४/३४८	१२ वर्ष	३० ,,

* हरिवंश पुराण में छद्मस्थ-काल सामान्यमें वर्षकी जगह मास लिखे हैं।

नं०	म.पु./पर्व/श्लो.	५९. जन्मान्तरालकाल 1. ति.प./४/५५१-५७७ 2. त्रि.सा./८०७-८८१	५९. जन्मान्तरालकाल 3. प.पु./२०/८३-९१	५९. जन्मान्तरालकाल 4. म.पु./पूर्ववत्	६०. केवलोत्पत्ति अन्तराल 1. ति.प./४/७०२-७०३	६१. निर्वाण अन्तर० 1. ति.प./४/१२५०-१२४९ 2. त्रि.सा./८०७ 3. ह.पु./६०/४६७-४७२
		चौथे कालमें ८४ ला० पू० ३ वर्ष ८$\frac{1}{2}$ मास शेष रहनेपर उत्पन्न हुए।				
१	४८/२६	५० ला०.को० सा० + १२ ला० पू०	५० ला० को० सा०	५० ला० को० सा०	५० ला० को० सा० + ८३९९०१२ वर्ष	५० ला० को० सा०
२	४९/२६	३० ,, ,, ,, + १२ ,, ,,	३० ,, ,, ,,	३० ,, ,, ,,	३० ,, ,, ,, + ३ पूर्वांग २ वर्ष	३० ,, ,, ,,
३	५०/२६	१० ,, ,, ,, + १० ,, ,,	२० ,, ,, ,,	१० ,, ,, ,,	१० ,, ,, ,, + ४ ,, ४ ,,	१० ,, ,, ,,
४	५१/२५	९ ,, ,, ,, + १० ,, ,,	९ ,, ,, ,,	९ ,, ,, ,,	९ ,, ,, ,, + ४ ,, २ ,,	९ ,, ,, ,,
५	५२/३४	९०,००० ,, ,, + १० ,, ,,	९०,००० ,, ,,	९०,००० ,, ,,	९०,००० ,, ,, + ३ पूर्वांग ८३९९९८०$\frac{1}{2}$ वर्ष	९०,००० को० सा०
६	५३/२४	९००० ,, ,, + १० ,, ,,	९००० ,, ,,	९००० ,, ,,	९००० ,, ,, + ४ ,, ८$\frac{1}{2}$,,	९००० ,, ,,
७	५४/१७८	९०० ,, ,, + १० ,, ,,	९०० ,, ,,	९०० ,, ,,	९०० ,, ,, + ३ ,, ८३९९९९१$\frac{1}{4}$,,	९०० ,, ,,
८	५५/२९	९० ,, ,, + ८ ,, ,	९० ,, ,,	९० ,, ,,	९० ,, ,, + ४ ,, ३$\frac{3}{4}$,,	९० ,, ,,
९	५६/३०	९ ,, ,, + १ ,, ,,	९ ,, ,,	९ ,, ,,	९ को० सा० ७४९९९ पूर्व ८३९९९९१ पूर्वांग ८३९९९९९ वर्ष	९ ,, ,,
१०	५७/३६	१ को०सा० + १ला० पू०— (१०० सा० + १५०२६००० वर्ष)	१ को० सा.—१००सा.	१ क.सा.—(१०० सा. + ६६२६००० वर्ष)	९९९९९०० सा० २४९९९ पूर्व ७०५५९९९१२७३९९९ वर्ष	३३७३९०० सा०
११	५८/२३	५४ सा० + १२ ला० वर्ष	५४ सा०	५४ सा०	५४ सा० ३३००००१ वर्ष	५४ सा०
१२	५९/२१	३० ,, + १२ ,, ,,	३० ,,	३० ,,	३० ,, ३९००००२ वर्ष	३० ,,
१३	६०/२३	९ ,, + ३० ,, ,,	९ ,,	९ ,,	९ ,, ७४९९९९ ,,	९ ,,
१४	६१/२०	४ ,, + २० ,, ,,	४ ,,	४ ,,	४ ,, ४९९९९९ ,,	४ ,,
१५	६२/४११	(३ सा० ९ ला० वर्ष)—३/४ पल्य	३ सा०—३/४ पल्य	३ सा०—३/४ पल्य	३ ,, २२५०१५ वर्ष—३/४ पल्य	३ सा०—३/४ पल्य
१६	६४/२५	१/२ पल्य + ५००० वर्ष	१/२ पल्य	१/२ पल्य	१/२ पल्य १२५० वर्ष	१/२ पल्य
१७	६५/२४	१/४ पल्य — ९९९९९८९००० वर्ष	१/४ प.—१००० को. वर्ष	१/४ प०—१०० को० वर्ष	१/४ ,,—९९९९९९०२५० वर्ष	१/४ प० — १००० को० वर्ष
१८	६६/३६	१०००००२९००० वर्ष	१००० को० सा०— ६५८४००० वर्ष	१००० को० वर्ष	९९९९९६६०८४ वर्ष ६ दिन	१००० को० वर्ष
१९	६७/२७	५४२५००० ,,	५४००००० वर्ष	५४००००० वर्ष	५४४७४०० वर्ष १० मास २४ दिन	५४ ला० वर्ष
२०	६९/३२	६२०,००० ,,	६००००० ,,	६०,००,००० वर्ष (!)	६०५००८ वर्ष १ मास	६ ,, ,,
२१	७१/४९	५०९००० ,,	५०,००० ,,	५०००,००० वर्ष	५०१७९९ वर्ष ५९ दिन	५ ,, ,,
२२	७१/९३	८४६५० ,,	८४,००० ,,	८३७५० वर्ष	८४३८० वर्ष २ मास ४ दिन	८३७५० वर्ष
२३	७४/२७६	२७८ ,,	२५०	२५० वर्ष	२७९ ,, ८ मास	२५० ,,
२४		चतुर्थकालमें ७५ वर्ष ८$\frac{1}{2}$ मास शेष रहने पर उत्पन्न हुए थे।				

५. वर्तमान चौबीसीके तीर्थंकाल व तत्कालीन प्रसिद्ध पुरुष

संकेत— ला०=लाख, को०=कोड़ि, सा०=सागर, प०=पल्य

नं०	६२ तीर्थकाल (१. ति. प./४/१२५०-१२७४)	६३ तीर्थ व्युच्छित्ति (१. ति. प./४/१२७६; २. त्रि. सा./८१४; ३. ह. पु./६०/४७४-४७५): ४ म. पु./सर्ग/श्लो.	काल
१	५० ला० को० सा० + १ पूर्वांग	. . . . .	अज्ञात
२	३० " " " + ३ "	. . . . .	"
३	१० " " " + ४ "	. . . . .	"
४	९ " " " + ४ "	. . . . .	"
५	९०,००० " " + ४ "	. . . . .	"
६	९,००० " " + ४ "	. . . . .	"
७	९०० " " + ४ "	. . . . .	"
८	९० " " + ४ "	. . . . .	"
९	(९ को० सा० – १/४ प०) + (१ ला० पूर्व – २८ पूर्वांग)	५६/३०	१/४ पल्य
१०	१ को० सा० – {(१०० सा० – १/२ प०) + (२५००० पूर्व – ६६२६००० वर्ष)}	५७/३६	१/२ पल्य
११	(५४ सा० + २१ ला० वर्ष) - ३/४ पल्य	५८/२१	(१/३१)३/४ प०
१२	(३० सा० + ५४ ला० वर्ष) – १ पल्य	५९/२३ (टिप्पणी)	१ पल्य
१३	(९ सा० + १५ ला० वर्ष) - ३/४ पल्य	६०/२३	३/४ पल्य
१४	(४ सा० + ७५०००० वर्ष) – ३/४ पल्य	६१/२०	१/२ पल्य
१५	(३ सा० + २५०००० वर्ष) – १ पल्य	६३/४११	१/४ पल्य
१६	१/२ पल्य + १२५० वर्ष	. . . . .	अज्ञात
१७	१/४ पल्य – ९९९९९९७२५० वर्ष	. . . . .	"
१८	९९९९९९९१०० वर्ष	. . . . .	"
१९	५४५७४०० वर्ष	. . . . .	"
२०	६०५००० वर्ष	. . . . .	"
२१	५०१८०० वर्ष	. . . . .	"
२२	८४३८० वर्ष	. . . . .	"
२३	२७८ वर्ष	. . . . .	"
२४	२१०४२ वर्ष	. . . . .	"

६४ सामयिक शलाका पुरुष (१. ति. प./४/१२८३-१२८९, १४११-१४४३; २. त्रि. सा./८४९-८४९, ३. ह. पु./६०/२९४-३०१): नाम तीर्थंकर	चक्रवर्ती	बलदेव	नारायण	प्रतिनारायण	रुद्र	६५ मुख्य श्रोता (ह. पु./६०/[illegible]): मुख्य
१ ऋषभ	भरत	×	×	×	भीमावलि	भरत
२ अजित	सगर	×	×	×	जितशत्रु	सगर
३ सम्भव	×	×	×	×	×	सत्यवीर्य
४ अभिनन्दन	×	×	×	×	×	मित्रभाव
५ सुमति	×	×	×	×	×	मित्रवीर्य
६ पद्मप्रभु	×	×	×	×	×	धर्मवीर्य
७ सुपार्श्व	×	×	×	×	×	दानवीर्य
८ चन्द्रप्रभु	×	×	×	×	×	मघवा
९ पुष्पदन्त	×	×	×	×	रुद्र	बुद्धिवीर्य
१० शीतल	×	×	×	×	वैश्वानर	सीमंधर
११ श्रेयांस	×	विजय	त्रिपृष्ठ	अश्वग्रीव	सुप्रतिष्ठ	त्रिपृष्ठ
१२ वासुपूज्य	×	अचल	द्विपृष्ठ	तारक	अचल	स्वयम्भू
१३ विमल	×	धर्म	स्वयंभू	मेरक	पुण्डरीक	पुरुषोत्तम
१४ अनन्त	×	सुप्रभ	पुरुषोत्तम	मधु कै०	अजितंधर	पुरुष पुण्डरीक
१५ धर्म	×	सुदर्शन	पुरुषसिंह	निशुम्भ	अजितनाभि	सत्यदत्त
	मघवा	×	×	×	×	×
	सनत्कुमार	×	×	×	×	×
१६ शान्ति	स्वयं	×	×	×	पीठ	कुनाल
१७ कुन्थु	"	×	×	×	×	नारायण
१८ अर	"	×	×	×	×	×
	सुभौम	×	×	×	×	सुभौम
	×	नन्दी	पुण्डरीक	बलि	×	×
१९ मल्लि	×	×	×	×	×	सार्वभौम
	×	नन्दिमित्र	पुरुषदत्त	प्रहरण	×	×
	पद्म	×	×	×	×	×
२० सुव्रत	×	×	×	×	×	अजितञ्जय
	हरिषेण	×	×	×	×	×
	×	राम	लक्ष्मण	रावण	×	×
२१ नमि	×	×	×	×	×	विजय
	जयसेन	×	×	×	×	×
२२ नेमि	×	पद्म	कृष्ण	जरासिंध	×	उग्रसेन
	ब्रह्मदत्त	×	×	×	×	×
२३ पार्श्व	×	×	×	×	×	महासेन
२४ वर्द्धमान	×	×	×	×	सात्यकि	श्रेणिक

४. विदेहक्षेत्रस्थ तीर्थंकरोंका परिचय

	१ जयसेन प्रतिष्ठा पाठ/५४५-५४४					१. त्रि. सा./६८१ २. म. पु./७६/४९६ ३. जयसेन प्रतिष्ठा पाठ/५४५
	१ नाम	२ चिह्न	३ नगरी	४ पिता	५ माता	६ विदेहस्थ तीर्थंकरोंकी संख्या
१	सीमन्धर	ऋषभ	पुण्डरीकणी	हंस		सिद्धसयलणयरी सट्ठिसयं पुहवरेण अवरेण। वीसं वीसं सयले खेत्ते सत्तरिसयं वरदो।६८१। तीर्थंकर पृथक्-पृथक् एक एक विदेह देशविषै एक एक होइ तब उत्कृष्टपनै करि एकसौ साठि होंइ। बहुरि जघन्यपने करि सीता सीतोदाका दक्षिण उत्तर तट विषै एक एक होइ ऐसे एक मेरु अपेक्षा च्यारि होंहि। सब मिलि करि पंच मेरुके विदेह अपेक्षाकरि बीस हो है।
२	युगमन्धर			श्री रुह		
३	बाहु	हरिण	सुसीमा	सुग्रीव	विजया	
४	सुबाहु		अयोध्या		सुनन्दा	
५	संजात	सूर्य	अलकापुरी	देवसेन		
६	स्वयंप्रभ	चन्द्रमा	मंगला			
७	ऋषभानन		सुसीमा		वीरसेना	
८	अनन्तवीर्य					
९	सूरिप्रभ	ऋषभ				
१०	विशालप्रभ	इन्द्र	पुण्डरीकणी	वीर्य	विजया	
११	वज्रधर	शंख		पद्मरथ	सरस्वती	
१२	चन्द्रानन	गो	पुण्डरीकणी		दयावती	
१३	चन्द्रबाहु	कमल			रेणुका	
१४	भुजंगम	चन्द्रमा		महाबल		
१५	ईश्वर		सुसीमा	गलसेन	ज्वाला	
१६	नेमिप्रभ	सूर्य				
१७	वीरसेन		पुण्डरीकणी	भूमिपाल	वीरसेना	
१८	महाभद्र		विजया	देवराज	उमा	
१९	देवयश		सुसीमा	स्तवभूति	गंगा	
२०	अजितवीर्य	कमल		कनक		

तीर्थंकर बेलाव्रत—व्रत विधान संग्रह/११० वृषभनाथका ७-८ का बेला तथा ९ को तीन अंजुली शर्बतका पारणा। अजितनाथका १३-१४ का बेला तथा १५ को तीन अंजुली दूधका पारणा। सम्भवनाथका वृषभनाथवत् तथा अभिनन्दन नाथका अजितनाथवत्। इसी प्रकार आगे भी तीर्थंकर नं० ५,७,९,११,१३,१५,१७,१९,२१,२३ का वृषभनाथवत और तीर्थंकर नं. ६,८,१०,१२,१४,१६,१८,२०,२२,२४ का अजितनाथवत जानना। जाप्य—"ओं ह्रीं वृषभादिचतुर्विंशति-तीर्थंकराय नमः" इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य।

तीर्थंकरव्रत—व्रत विधान संग्रह/४८—२४ तीर्थंकरोंके नामसे २४ दिन तक लगातार २४ उपवास। जाप्य—"ओं ह्रीं वृषभादिचतुर्विंशतितीर्थंकरेभ्यो नमः" इस मन्त्रका त्रिकाल जाप।

तीर्थ—१. निश्चय तीर्थका लक्षण

बो. पा./मू./२६-२७ वयसंमत्तविसुद्धे पंचेंदियसंजदे णिरावेक्खो। ण्हाएउ मुणी तित्थे दिक्खासिक्खा सुण्हाणेण ।२६। [शुद्धबुद्धैकस्वभाव-लक्षणे निजात्मस्वरूपे संसारसमुद्रतारणसमर्थे तीर्थे स्नातु विशुद्धो भवतु] जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं णाणं। तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि संतिभावेण ।२७। —सम्यक्त्व करि विशुद्ध, पाँच इन्द्रिय-संयत संवर सहित, निरपेक्ष ऐसा आत्मस्वरूप तीर्थ विषै दीक्षा शिक्षा रूप स्नान करि पवित्र होओ ।२६। [शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव है लक्षण जिसका ऐसे निजात्म स्वरूप रूप तीर्थमें जो कि संसार समुद्र-से पार करनेमें समर्थ है। स्नान करके विशुद्ध होओ। ऐसा भाव है। बो. पा./टी./२६/९२/२१)] जिन मार्ग विषैं जो निर्मल उत्तम क्षमादि धर्म निर्दोष सम्यक्त्व, निर्मल संयम, बारह प्रकार निर्मल तप, और पदार्थनिका यथार्थ ज्ञान ये तीर्थ हैं। ये भी जो शान्त भाव सहित होय कषाय भाव न होय तब निर्मल तीर्थ है।

मू. आ./५५७...। "सुदधम्मो एत्थ पुण तित्थं। —श्रुत धर्म तीर्थ कहा जाता है।

ध. ८/३,४२/९२/७ धम्मो णाम सम्मद्दंसण-णाणचरित्ताणि। एदेहि संसारसायरं तरंति त्ति एदाणि तित्थं। —धर्मका अर्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। चूँकि इनसे संसार सागरको तरते हैं इसलिए इन्हें तीर्थ कहा है।

भ. आ./वि. ३०२/५१६/६ तरंति संसारं येन भव्यास्तत्तीर्थं केचन तरन्ति श्रुतेन गणधरैर्वालम्बनभूतैरिति श्रुतं गणधरा वा तीर्थमित्यु-च्यते। —जिसका आश्रय लेकर भव्य जीव संसारसे तिरकर मुक्तिको प्राप्त होते हैं उसको तीर्थ कहते हैं। कितनेक भव्य जीव श्रुतसे अथवा गणधरकी सहायतासे संसारसे उत्तीर्ण होते हैं, इसलिए श्रुत और गणधरको तीर्थ कहते हैं। (स्व. स्तो./टी./१०९/२२९)।

स. श./टी./२/२२२/२४ तीर्थकृतः संसारोत्तरणहेतुभूतत्वात्तीर्थमिव तीर्थमागमः। —संसारसे पार उतरनेके कारणको तीर्थ कहते हैं, उसके समान होनेसे आगमको तीर्थ कहते हैं।

प्र. सा./ता./वृ./१/३/२३ दृष्टश्रुतानुभूतविषयसुखाभिलाषरूपनीरप्रवेश-रहितेन परमसमाधिपोतेनोत्तीर्णसंसारसमुद्रत्वात्, अन्येषां तरणोपाय-भूतत्वाच्च तीर्थम्। —दृष्ट, श्रुत और अनुभूत ऐसे विषय-सुखकी अभिलाषा रूप जलके प्रवेशसे जो रहित है ऐसी परम समाधि रूप नौकाके द्वारा जो संसार समुद्रसे पार हो जानेके कारण तथा दूसरोंके लिए पार उतरनेका उपाय अर्थात् कारण होनेसे (वर्द्धमान भगवान्) परम तीर्थ हैं।

२. व्यवहार तीर्थका लक्षण

बो. पा./टी./२७/९३/७ तज्जगत्प्रसिद्धं निश्चयतीर्थप्राप्तिकारणं मुक्त-मुनिपादस्पृष्टं तीर्थं ऊर्जयन्तशत्रुंजयलाटदेशपावागिरि...तीर्थंकर-पञ्चकल्याणस्थानानि चैत्यादिमार्गे यानि तीर्थानि वर्तन्ते तानि कर्मक्षयकारणानि वन्दनीयानि। —निश्चय तीर्थकी प्राप्तिका जो कारण है ऐसे जगत प्रसिद्ध तथा मुक्तजीवोंके चरणकमलोंसे स्पृष्ट ऊर्जयन्त, शत्रुञ्जय, लाटदेश, पावागिरि आदि तीर्थ हैं। वे तीर्थं-करोंके पंचकल्याणकोंके स्थान हैं। ये जितने भी तीर्थ इस पृथिवी-पर वर्त रहे हैं वे सब कर्मक्षयके कारण होनेसे वन्दनीय हैं। (बो. पा./भाषा./४३/१३९/१०)।

३. तीर्थके भेद व लक्षण

मू. आ./५५८-५६० दुविहं च होइ तित्थं णादव्वं दव्वभावसंजुत्तं। एदेसिं दोण्हंपि य पत्तेय परूवणा होदि ।५५८। दाहोपसमणं तण्हा छेदो मलपंकपवहणं चेव। तिहिं कारणेहिं जुत्तो तम्हा तं दव्वदो तित्थं ।५५९। दंसणणाणचरित्ते णिज्जुत्ता जिणवरा दु सव्वेपि। तिहि कारणेहिं जुत्ता तम्हा ते भावदो तित्थं ।५६०। —तीर्थके दो भेद हैं—द्रव्य और भाव। इन दोनोंकी प्ररूपणा भिन्न भिन्न है ऐसा जानना ।५५८। संताप शान्त होता है, तृष्णाका नाश होता है, मल पंककी शुद्धि होती है, ये तीन कार्य होते हैं इसलिए यह द्रव्य तीर्थ है ।५५९। सभी जिनदेव दर्शन ज्ञान चारित्र कर संयुक्त हैं। इन तीन कारणोंसे युक्त हैं इसलिए वे जिनदेव भाव तीर्थ हैं ।५६०।

* **भगवान् वीर का धर्मतीर्थ**—दे० महावीर/२।

तीर्थंकृद् भावना क्रिया—दे० संस्कार/२।

तीव्रका लक्षण—

ध. ११/४,२,६,२४६/३४९/११ तिव्व-मंददा णाम तेसिं जहण्णुक्कस्सपरि-णामाणमविभागपडिच्छेदाणमप्पाबहुगं परूवेदि। —तीव्र-मन्दता अनुयोग द्वार उन (स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानों) के जघन्य व उत्कृष्ट परिणामोंके अविभाग प्रतिच्छेदोंके अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा करता है।

★ **कषायकी तीव्रता मन्दता**—दे० कषाय।

★ **परिणामोंकी तीव्रता मन्दता**—दे० परिणाम।

तीसिय—ल. सा./भाषा./२१९/२७६/१ जिन (कर्मनि) की तीस कोड़ाकोड़ी (सागर) की उत्कृष्ट स्थिति है ऐसे ज्ञानावरण, दर्शना-वरण, अन्तराय, वेदनीय तिनकौं तीसीय कहिये।

तुंबर—गन्धर्व नामा व्यन्तर जातिका एक भेद—दे० गन्धर्व।

तुंबुरव—सुमतिनाथ भगवान्का शासक यक्ष—दे० तीर्थंकर/५/३।

तुंबूलाचार्य—आपके असली नामका पता नहीं। तुंबूलर ग्राममें रहनेके कारण आपका यह नाम ही प्रसिद्ध है। आप शामकुण्ड आचार्य के कुछ पश्चात् हुए हैं। कृति—आपने षट्खण्डके प्रथम पाँच खण्डोंपर चूड़ामणि नामकी टीका लिखी है। समय—ई. श. ३-४ (ष. खं./प्र. ४९ (H. L. Jain)

तुरुष्क—वर्तमान तुर्किस्तान (म. पु./प्र. ५० पन्नालाल)।

तुलसीदास—आपको सन्त गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं। कृति—रामायण, नवदुर्गाविधान। समय—वि० १६८० (हि. जै. सा. इ/११९ कामताप्रसाद)।

तुला—तोलका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१/२।

तुलिंग—भरत क्षेत्रस्थ आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

तुल्य—तुल्य बल विरोध—दे० विरोध।

तुषित—१. लौकान्तिक देवोंका एक भेद—दे० लौकान्तिक।

तूर्यांग—तूर्यांग जातिका कल्पवृक्ष—दे० वृक्ष/१।

तूष्णीक—पिशाच जातीय व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० पिशाच।

तृणचारण ऋद्धि—दे० ऋद्धि/४/८।

तृणफल—तोलका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/ १।

तृणस्पर्शपरिषह—स. सि./९/९/४२६/१ तृणग्रहणमुपलक्षणं कस्यचिद्व्यधनदुःखकारणस्य। तेन शुष्कतृणपरुषशर्करा—आदि व्यधनकृतपादवेदनाप्राप्तौ सत्यां तत्राप्रहितचेतसश्चर्याशय्यानिषद्यासु प्राणिपीडापरिहारे नित्यमप्रमत्तचेतसस्तृणादिस्पर्शबाधापरिषहविजयो वेदितव्यः।—जो कोई बिधने रूप दुखका कारण है उसका 'तृण' पदका ग्रहण उपलक्षण है। इसलिए सूखा तिनका, कठोर, कंकड़...आदिके बिधनेसे पैरोंमें वेदनाके होनेपर उसमें जिसका चित्त उपयुक्त नहीं है तथा चर्या शय्या और निषद्यामें प्राणि-पीड़ाका परिहार करनेके लिए जिसका चित्त निरन्तर प्रमाद रहित है उसके तृण स्पर्शादि बाधा परिषह जय जानना चाहिए। (रा. वा./९/९/२२/६११/२९) (चा. सा./१२५/३)।

तृतीय भक्त—दे० प्रोषधोपवास/१।

तृषापरीषह—दे० पिपासा।

तृष्णा—दे० राग तथा अभिलाषा।

तेज—आतप तेज व उद्योतमें अन्तर—दे० आतप। २. अग्नि के अर्थ में दे. अग्नि।

तेजांग कल्पवृक्ष—दे० वृक्ष/१।

तेजोज— दे० ओज।

तेला व्रत—व्रत विधान सं./१२३ पहले दिन दोपहरको एकाशन करके मन्दिरमें जाये। तीन दिन तक उपवास करे। पाँचवें दिन दोपहरको एकलठाना (एक स्थानपर मौनसे भोजन करे)।

तैजस—स्थूल शरीरमें दीप्ति विशेषका कारण भूत एक अत्यन्त सूक्ष्म शरीर प्रत्येक जीवको होता है, जिसे तैजस शरीर कहते हैं। इसके अतिरिक्त तप व ऋद्धि विशेषके द्वारा भी दायें व बायें कन्धेसे कोई विशेष प्रकारका प्रज्वलित पुतला सरीखा उत्पन्न किया जाता है उसे तैजस समुद्घात कहते हैं। दायें कन्धेवाला तैजस रोग दुर्भिक्ष आदिको दूर करनेके कारण शुभ और बायें कन्धेवाला सामनेके पदार्थों व नगरी आदिके भस्म करनेके कारण अशुभ होता है।

१. तैजस शरीर निर्देश

१. तैजस शरीर सामान्यका लक्षण

ष.खं.१४/५,६/सू.२४०/३२७ तेयप्पहगुणजुत्तमिदि तेजइयं। —तेज और प्रभा रूप गुणसे युक्त है इसलिए तैजस है।२४०।

स.सि./२/३६/१९१/८ यत्तेजोनिमित्तं तेजसि वा भवं तत्तैजसम्। —जो दीप्तिका कारण है या तेजमें उत्पन्न होता है उसे तैजस शरीर कहते हैं। (रा.वा./२/३६/८/१४६/११)

रा.वा/२/४९/८/१५३/१४ शङ्खधवलप्रभालक्षणं तैजसम्। —शंखके समान शुभ्र तैजस होता है।

ध.१४/५.६.२४०/३२७/१३ शरीरस्कन्धस्य पद्मरागमणिवर्णस्तेजः शरीरान्निर्गतरश्मिकलाप्रभा, तत्र भवं तैजसं शरीरम्। —शरीर स्कन्धके पद्मराग मणिके समान वर्णका नाम तेज है। तथा शरीरसे निकली हुई रश्मि कलाका नाम प्रभा है। इसमें जो हुआ है वह तैजस शरीर है। तेज और प्रभागुणसे युक्त तैजस शरीर है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

२. तैजस शरीरके भेद

ध १४/५.६.४०/३२८/१ तं तेजइयशरीरं णिस्सरणप्पयमणिस्सरणप्पयं चेदि दुविहं। तत्थ जं तं णिस्सरणप्पयं तं दुविहं—सुहमसुहं चेदि। —तैजस शरीर निःसरणात्मक और अनिःसरणात्मक इस तरह दो प्रकारका है। (रा.वा./२/४/१५३/१५) उसमें जो निःसरणात्मक तैजस शरीर है वह दो प्रकारका है—शुभ और अशुभ। (ध.४/१,३,२/२७/७)

ध.७/२,६,१/३००/४ तेजासरीरं दुविहं पसत्थमप्पसत्थं चेदि। —तैजस शरीर प्रशस्त और अप्रशस्तके भेदसे दो प्रकारका है।

३. अनिःसरणात्मक तैजस शरीरका लक्षण

रा.वा./२/४९/८/१५३/१५ औदारिकवैक्रियिकाहारकदेहाभ्यन्तरस्थं देहस्य दीप्तिहेतुरनिःसरणात्मकम्। —औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरमें रौनक लानेवाला अनिःसरणात्मक तैजस है।

ध.१४/५,६,२४०/३२८/८ जं तमणिस्सरणप्पयं तेजइयसरीरं तं भुत्तण्णपाणप्पाचयं होदूण अच्छदि अंतो। —जो अनिःसरणात्मक तैजस शरीर है वह भुक्त अन्नपानका पाचक होकर भीतर स्थित रहता है।

४. तैजस शरीर तप द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है

त.सू./२/४८,४९ लब्धिप्रत्ययं च।४८। तैजसमपि।४९। —तैजस शरीर लब्धिसे पैदा होता है।४८–४९।

५. तैजस शरीर योगका निमित्त नहीं है

स. सि./२/४४/१९६/३ तैजसं शरीरं योगनिमित्तमपि न भवति। —तैजस शरीर योगमें निमित्त नहीं होता। (रा.वा./२/४४/३/१५१)

६. तैजस व कार्माण शरीरका सादि अनादिपना

त.सू./२/४१ अनादिसम्बन्धे च ।४१। –तैजस और कार्माण शरीर आत्माके साथ अनादि सम्बन्ध वाले हैं।

रा.वा./२/४१/२-५/१४९ बन्धसंतत्यपेक्षया अनादिः संबन्धः। सादिश्च विशेषतो बीजवृक्षवत् ।२। एकान्तेनादिमत्त्वे अभिनवशरीरसंबन्धाभावो निर्निमित्तत्वात् ।३। मुक्तात्माभावप्रसङ्गश्च ।४। एकान्तेनानादित्वे चानिर्मोक्षप्रसङ्गः ।५।...तस्मात् साधूक्तं केनचित्प्रकारेण अनादिः संबन्धः, केनचित्प्रकारेणादिमानिति। –ये दोनों शरीर अनादिसे इस जीवके साथ हैं। उपचय-अपचयकी दृष्टिसे इनका सम्बन्ध भी सादि होता है। बीज और वृक्षकी भाँति। जैसे वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्ष इस प्रकार बीज वृक्ष अनादि होकर भी तद्बीज और तद्वृक्षकी अपेक्षा सादि है। यदि सर्वथा आदिमान् मान लिया जाये तो अशरीर आत्माके नूतन शरीरका सम्बन्ध ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि शरीर सम्बन्धका कोई निमित्त ही नहीं है। यदि निर्निमित्त होने लगे तो मुक्तात्माके साथ भी शरीरका सम्बन्ध हो जायेगा ।२-४। यदि अनादि होनेसे अनन्त माना जायेगा तो भी किसीको मोक्ष नहीं हो सकेगा ।५। अतः सिद्ध होता है कि किसी अपेक्षासे अनादि है तथा किसी अपेक्षासे सादि है।

७. तैजस व कार्माण शरीर आत्मप्रदेशोंके साथ रहते हैं

रा.वा./२/४९/८/१५४/१९ तैजसकार्मणे जघन्येन यथोपात्तौदारिकशरीरप्रमाणे, उत्कर्षेण केवलिसमुद्घाते सर्वलोकप्रमाणे। –तैजस और कार्माण शरीर जघन्यसे अपने औदारिक शरीरके बराबर होते हैं और उत्कृष्टसे केवलिसमुद्घातमें सर्वलोक प्रमाण होते हैं।

८. तैजस कार्माण शरीरका निरुपभोगत्व

त.सू./२/४४ निरुपभोगमन्त्यम् ।४४। –अन्तिम अर्थात् तैजस और कार्माण शरीर उपभोग रहित हैं।

स.सि./२/४४/१९५/८ अन्ते भवमन्त्यम्। किं तत्। कार्मणम्। इन्द्रियप्रणालिकया शब्दादीनामुपलब्धिरुपभोगः। तदभावान्निरुपभोगम्। विग्रहगतौ सत्यामपि इन्द्रियलब्धौ द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्त्यभावाच्छब्दाद्युपभोगाभाव इति। ननु तैजसमपि निरुपभोगम्। तत्र किमुच्यते निरुपभोगमन्त्यमिति। तैजसं शरीरं योगनिमित्तमपि न भवति, ततोऽस्योपभोगविचारेऽनधिकारः। –जो अन्तमें होता है वह अन्त्य कहलाता है। प्रश्न–अन्तका शरीर कौन है? उत्तर–कार्मण। इन्द्रिय रूपी नलियोंके द्वारा शब्दादिके ग्रहण करनेको उपभोग कहते हैं। यह बात अन्तके शरीरमें नहीं पायी जाती; अतः वह निरुपभोग है। विग्रहगतिमें लब्धिरूप भावेन्द्रियोंके रहते हुए भी द्रव्येन्द्रियोंकी रचना न होनेसे शब्दादिकका उपभोग नहीं होता। प्रश्न–तैजस शरीर भी निरुपभोग है इसलिए वहाँ यह क्यों कहते हो कि अन्तका शरीर निरुपभोग है? उत्तर–तैजस शरीर योगमें निमित्त भी नहीं होता, इसलिए इसका उपभोगके विचारमें अधिकार नहीं है। (रा.वा./२/४४/२-३/१५१)

९. तैजस व कार्मण शरीरोंका स्वामित्व

त.सू./२/४२ सर्वस्य ।४२। –तैजस व कार्मण शरीर सर्व संसारी जीवोंके होते हैं।

नोट–तैजस कार्मण शरीरके उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट प्रदेशाग्रोंका स्वामित्व –दे० (ष.खं./१४/५,६/सू./४५८-४७८/४१६-४२२) तैजस व कार्मण शरीरोंके जघन्य व अजघन्य प्रदेशाग्रोंके संचयका स्वामित्व। –दे० (ष.खं./१४/५,६/सू.४१९-४६१/३२८)

१०. अन्य सम्बन्धित विषय

१. तैजस व कार्मण शरीर अप्रतिघाती हैं। –दे० शरीर/२/५।

२. पाँचों शरीरोंकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मता व उनका स्वामित्व। –दे० शरीर/१/५।

३. तैजस शरीरकी सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व आठ प्ररूपणाएँ। –दे० वह वह नाम।

४. तैजस शरीरकी संघातन परिशातन कृति। –दे० ध./९/३५५-४५१।

५. मार्गणा प्रकरणमें भाव मार्गणाकी इष्टता तथा आयके अनुसार व्यय होनेका नियम। –दे० मार्गणा।

२. तैजस समुद्घात निर्देश

१. तैजस समुद्घात सामान्यका लक्षण

रा.वा./१/२०/१२/७७/१५ जीवानुग्रहोपघातप्रवणतेजःशरीरनिर्वर्तनार्थस्तैजससमुद्घातः। –जीवोंके अनुग्रह और विनाशमें समर्थ तैजस शरीर-की रचनाके लिए तैजस समुद्घात होता है।

ध.४/१,३,२/२७/७ तेजासरीरसमुग्घादो णाम तेजइयसरीरविउव्वणं। –तैजस शरीरके विसर्पणका नाम तैजस्कशरीरसमुद्घात है।

★ तैजस समुद्घातके भेद

निस्सरणात्मक तैजस शरीरवत्–दे० तैजस/१/२।

२. अशुभ तैजस समुद्घातका लक्षण

रा. वा./२/४९/८/१५३/१६ यतेरुग्रचारित्रस्यातिक्रुद्धस्य जीवप्रदेशसंयुक्तं बहिर्निष्क्रम्य दाह्यं परिवृत्त्यावतिष्ठमानं निष्पावहरितफलपरिपूर्णां स्थालीमिव पचति, पक्त्वा च निवर्तते, अथ चिरमवतिष्ठते अग्निसाद् दाह्योऽर्थो भवति, तदेतन्निःसरणात्मकम्। –निःसरणात्मक तैजस उग्रचारित्रवाले अतिक्रोधी यतिके शरीरसे निकलकर जिसपर क्रोध है उसे घेरकर ठहरता है और उसे शाककी तरह पका देता है, फिर वापिस होकर यतिके शरीरमें ही समा जाता है। यदि अधिक देर ठहर जाये तो उसे भस्मसात् कर देता है।

ध. १४/५,६,२४१/३२८/५ कोधं गदस्स संजदस्स वामंसादो बारहजोयणायामेण णवजोयणविक्खंभेण सूचिअंगुलस्स संखेज्जदिभागमेत्तबाहल्लेण जासवणकुसुमवण्णेण णिस्सरिदूण सगक्खेत्तब्भंतरट्ठियसत्तविणासं काऊण पुणो पविसमाणं तं चेव संजदमावूरेदि तमसुहं णाम। –क्रोधको प्राप्त हुए संयतके वाम कंधेसे बारह योजन लम्बा, नौ योजन चौड़ा और सूच्यंगुलके संख्यातवें भाग प्रमाण मोटा तथा जपाकुसुमके रंगवाला शरीर निकलकर अपने क्षेत्रके भीतर स्थित हुए जीवोंका विनाश करके पुनः प्रवेश करते हुए जो उसी संयतको व्याप्त करता है वह अशुभ तैजस शरीर है। (ध./४/१,३,२/२८/१)

द्र. सं./टी./१०/२५/८ स्वस्य मनोऽनिष्टजनकं किंचित्कारणान्तरमवलोक्य समुत्पन्नक्रोधस्य संयमनिधानस्य महामुनेर्मूलशरीरमपरित्यज्य सिन्दूरपुञ्जप्रभो दीर्घत्वेन द्वादशयोजनप्रमाणः सूच्यङ्गुलसंख्येयभागमूलविस्तारो नवयोजनाग्रविस्तारः काहलाकृतिपुरुषो वामस्कन्धान्निर्गत्य वामप्रदक्षिणेन हृदये निहितं विरुद्धं वस्तु भस्मसात्कृत्य तेनैव संयमिना सह स च भस्म व्रजति द्वीपायनमुनिवत्। असावशुभतैजःसमुद्घातः। –अपने मनको अनिष्ट उत्पन्न करनेवाले किसी कारणको देखकर क्रोधी संयमके निधान महामुनिके बायें कन्धेसे सिन्दूरके ढेर जैसी कान्तिवाला; बारह योजन लम्बा सूच्यंगुलके संख्यात भाग प्रमाण मूल विस्तार और नौ योजनके अग्र विस्तारवाला; काहल (बिलाव) के आकारका धारक पुरुष निकल करके बायीं प्रदक्षिणा देकर, मुनि जिसपर क्रोधी हो उस पदार्थको भस्म करके और उसी मुनिके साथ आप भी भस्म हो जावे जैसे द्वैपायन मुनि। सो अशुभ तैजस समुद्घात है।

३. शुभ तैजस समुद्घातका लक्षण

ध./१४/५,६,२४०/३२८/१ संजदस्स उग्गचरितस्स दयापुरंगम-अणुकंपा-पूरिदस्स इच्छाए दक्खिणंसादो हंससंखवण्णं णिस्सरिदूण मारीदि-रमरवाहिवेयणादुब्भिक्खुवसग्गादिपसमणदुवारेण सव्वजीवाणं संजदस्स य जं सुहमुप्पादयदि तं सुहं णाम। —उग्र चारित्रवाले तथा दयापूर्वक अनुकम्पासे आपूरित संयतके इच्छा होनेपर दाहिने कंधेसे हंस और शंखके वर्णवाला शरीर निकलकर मारी, विरमर, व्याधि, वेदना, दुर्भिक्ष और उपसर्ग आदिके प्रशमन द्वारा सब जीवों और संयतके जो सुख उत्पन्न करता है वह शुभ तैजस कहलाता है। (ध. ४/१,१,२/२८/३) (ध. ७/२,६,१/३००/१)।

द्र. सं./टी./१०/२६ लोकं व्याधिदुर्भिक्षादिपीडितमवलोक्य समुत्पन्नकृपस्य परमसंयमनिधानस्य महर्षेर्मूलशरीरमपरित्यज्य शुभाकृतिः प्रागुक्तदेहप्रमाणः पुरुषो दक्षिणप्रदक्षिणेन व्याधिदुर्भिक्षादिकं स्फोटयित्वा पुनरपि स्वस्थाने प्रविशति, असौ शुभरूपस्तेजःसमुद्घातः। —जगत्‌को रोग दुर्भिक्ष आदिसे दुःखित देखकर जिसको दया उत्पन्न हुई ऐसे परम संयमनिधान महाऋषिके मूल शरीरको न त्यागकर पूर्वोक्त देहके प्रमाण, सौम्य आकृतिका धारक पुरुष दायें कन्धेसे निकलकर दक्षिण प्रदक्षिणा देकर रोग, दुर्भिक्षादिको दूर कर फिर अपने स्थानमें आकर प्रवेश करे वह शुभ तैजस समुद्घात है।

४. तैजस समुद्घातका वर्ण शक्ति आदि

प्रमाण—दे० उपरोक्त लक्षण

विषय	अप्रशस्त	प्रशस्त
वर्ण	जपाकुसुमवत् रक्त	हंसवत् धवल
शक्ति	भूमि व पर्वतको जलानेमें समर्थ	रोग मारी आदिके प्रशमन करनेमें समर्थ
उत्पत्ति-स्थान	बायाँ कंधा	दायाँ कन्धा
विसर्पण	इच्छित क्षेत्र प्रमाण अथवा १२ यो×९ यो. = सूच्यंगुलके = संख्यात भाग प्रमाण	अप्रशस्तवत्
निमित्त	रोष	प्राणियोंके प्रति अनुकंपा

५. तैजस समुद्घातका स्वामित्व

द्र. सं./टी./१०/२५/६ संयमनिधानस्य। —संयमके निधान महामुनिके तैजस समुद्घात होता है।

ध. ४/१, ३, ८२/१३५/६ णवरि पमत्तसंजदस्स उवसमसम्मत्तेण तेजाहारं णत्थि। —प्रमत्त संयतके उपशम सम्यक्त्वके साथ तैजस समुद्घात ...नहीं होते हैं।

ध./७/२, ६, १/२९९/७ तेजइयसमुग्घादो...विणा महव्वएहि तदभावादो। —बिना महाव्रतोंके तैजस समुद्घात नहीं होता।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. सातों समुद्घातोंके स्वामित्वकी ओघ आदेश प्ररूपणा। —दे० समुद्घात।

२. तैजस समुद्घातका फैलाव दशों दिशाओंमें होता है। —दे० समुद्घात।

३. तैजस समुद्घातकी स्थिति संख्यात समय है। —दे० समुद्घात।

४. परिहारविशुद्धि संयमके साथ तैजस व आहारक समुद्घातका विरोध। —दे० परिहारविशुद्धि।

तैजसकाय—दे० अग्नि।

तैजस वर्गणा—दे० वर्गणा।

तैजस शरीर—दे० तैजस/१।

तैजस समुद्घात—दे० तैजस/२।

तैतिल—भरत क्षेत्रस्थ एक देश। —दे० मनुष्य/४।

तैला—भरत क्षेत्र आर्य खण्डस्थ एक नदी। —दे० मनुष्य/४।

तैलिपदेव—कल्याण (बम्बई) के राजा थे। इनके हाथसे राजा मुंजकी युद्धमें मृत्यु हुई थी। समय—वि. सं. १०५८ (ई० १००१) (द. सं./प्र. ३६ प्रेमी)।

तोयंधरा—नन्दनवनमें स्थित विजयकूटकी स्वामिनी दिक्कुमारी देवी। —दे० लोक/५/५।

तोरण—ध. १४/५, ६, ५१/३९/४ पुराणं पुराणं पासादाणं वंदणमालबंधणट्ठं पुरदो ट्ठविदरुक्खविसेसा तोरणं णाम। —प्रत्येक पुर प्रासादोंपर वन्दनमाला बाँधनेके लिए आगे जो वृक्ष विशेष रखे जाते हैं वह तोरण कहलाता है।

तोरणाचार्य—राष्ट्रकूटवंशी राजा गोविन्द तृ० के समयके अर्थात् शक सं० ७२४ व ७१९ के दो ताम्रपत्र उपलब्ध हुए हैं। उनके अनुसार आप कुन्दकुन्दान्वयमें-से थे। और पुष्पनन्दिके गुरु तथा प्रभाचन्द्रके दादागुरु थे। तदनुसार आपका समय श० सं० ६०० (ई० ६७८) के लगभग आता है। (प. प्रा./प्र. ४-५ प्रेमीजी) (स. सा./प्र. K. B. Pathak) (जै./२/११३)।

तोरमाण—मगधदेशकी राज्य वंशावलीके अनुसार (—दे० इतिहास) यह हूणवंशका राजा था। इसने ई० ५०० में गुप्त साम्राज्य (भानुगुप्त-की) शक्तिको कमजोर पाकर समस्त पंजाब व मालवा प्रदेशपर अपना अधिकार कर लिया था। पीछे इसीका पुत्र मिहिरकुल हुआ। जिसने गुप्तवंशको प्रायः नष्ट कर दिया था। यह राजा अत्यन्त अत्याचारी होनेके कारण कल्की नामसे प्रसिद्ध था। (—दे० कल्की)। समय—वी० नि० १०००-१०३३ (ई० ४७४-५०७) विशेष —दे० इतिहास/३/४।

त्यक्त शरीर—दे० निक्षेप/५।

त्याग—वीतराग श्रेयस्मार्गमें त्यागका बड़ा महत्त्व है इसीलिए इसका निर्देश गृहस्थोंके लिए दानके रूपमें तथा साधुओंके लिए परिग्रह त्यागव्रत व त्यागधर्मके रूपमें किया गया है। अपनी शक्तिको न छिपाकर इस धर्मकी भावना करनेवाला तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करता है।

१. त्याग सामान्यका लक्षण

निश्चय त्यागका लक्षण

बा.अ./७८ णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु। जो तस्स हवे च्चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ।७८। —जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है कि, जो जीव सारे परद्रव्योंके मोह छोड़कर संसार, देह और भोगोंसे उदासीन रूप परिणाम रखता है, उसके त्याग धर्म होता है।

स.सि./९/२६/४४३/१० व्युत्सर्जनं व्युत्सर्गस्त्यागः। —व्युत्सर्जन करना व्युत्सर्ग है। जिसका अर्थ त्याग होता है।

स.सा./भाषा/३४ पं. जयचन्द—पर भावको पर जानना, और फिर परभावका ग्रहण न करना सो यही त्याग है।

२. व्यवहार त्यागका लक्षण

स.सि./९/६/४१३/१ संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्यागः। —संयतके योग्य ज्ञानादिका दान करना त्याग कहलाता है (रा.वा./९/६/२०/५९८/१३); (त.सा./६/१९/३४५)।

रा.वा./९/६/१८/५९८/५ परिग्रहस्य चेतनाचेतनलक्षणस्य निवृत्तिस्त्याग इति निश्चीयते। —सचेतन और अचेतन परिग्रहकी निवृत्तिको त्याग कहते हैं।

भ.आ./वि./४६/१५४/१६ संयतप्रायोग्याहारादिदानं त्यागः। —मुनियों-के लिए योग्य ऐसे आहारादि चीजें देना सो त्यागधर्म है।

पं.वि./१/१०१/४० व्याख्या यत् क्रियते श्रुतस्य यतये यद्दीयते पुस्तकं, स्थानं संयमसाधनादिकमपि प्रीत्या सदाचारिणा। स त्यागो···।१०१। —सदाचारी पुरुषके द्वारा मुनिके लिए जो प्रेमपूर्वक आगमका व्याख्यान किया जाता है, पुस्तक दी जाती है, तथा संयमकी साधन-भूत पीछी आदि भी दी जाती है उसे त्यागधर्म कहा जाता है। (अन.ध./६/५२-५३/१०६)।

का.अ./मू./१४०१ जो चयदि मिट्ठ-भोज्जं उवयरणं राय-दोस-संजणयं। वसदिं ममत्तहेदुं चाय-गुणो सो हवे तस्स। —जो मिष्ट भोजनको, रागद्वेषको उत्पन्न करनेवाले उपकरणको, तथा ममत्वभावके उत्पन्न होनेमें निमित्त वसतिको छोड़ देता है उस मुनिके त्यागधर्म होता है।

प्र.सा./ता.वृ./२३९/३३२/१३ निजशुद्धात्मपरिग्रहं कृत्वा बाह्याभ्यन्तर-परिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः। —निज शुद्धात्माको ग्रहण करके बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहकी निवृत्ति सो त्याग है।

३. त्यागके भेद

स.सि./९/२६/४४३/१० स द्विविधः—बाह्योपधित्यागोऽभ्यन्तरोपधि-त्यागश्चेति। — त्याग दो प्रकारका है—बाह्यउपधिका त्याग और आभ्यन्तरउपधिका त्याग।

रा.वा./९/२६/५/६२४/३५ स पुनर्द्विविधः-नियतकालो यावज्जीवं चेति। —आभ्यन्तर त्याग दो प्रकारका है—यावत् जीवन व नियत काल।

पु.सि.उ./७६ कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा। औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा। —उत्सर्ग रूप निवृत्ति त्याग कृत, कारित अनुमोदनारूप मन, वचन व काय करके नव प्रकारकी कही है और यह अपवाद रूप निवृत्ति तो अनेक रूप है।

★ बाह्याभ्यन्तर त्यागके लक्षण— दे० उपधि।

★ एकदेश व सकलदेश त्यागके लक्षण— दे० संयम/१/६।

३. शक्तितस्त्याग या साधुप्रासुक परित्यागताका लक्षण

रा.वा./६/२४/६/५२९/२७ परप्रीतिकरणातिसर्जनं त्यागः।६। आहारो दत्तः पात्राय तस्मिन्नहनि तत्प्रीतिहेतुर्भवति, अभयदानमुपपादितमेक-भवव्यसननोदनम्, सम्यग्ज्ञानदानं पुनः अनेकभवशतसहस्रदुःखोत्तरण-कारणम्। अत एतत्त्रिविधं यथाविधि प्रतिपद्यमानं त्यागव्यपदेश-भाग्भवति। —परकी प्रीतिके लिए अपनी वस्तुको देना त्याग है। आहार देनेसे पात्रको उस दिन प्रीति होती है। अभयदानसे उस भवका दुःख छूटता है, अतः पात्रको सन्तोष होता है। ज्ञानदान तो अनेक सहस्र भवोंके दुःखसे छुटकारा दिलानेवाला है। ये तीनों दान यथाविधि दिये गये त्याग कहलाते हैं (स.सि./६/२४/३३८/११); (चा.सा./५३/६)।

ध.८/३.४१/८७/३ साहूणं पासुअपरिच्चागदाए-अणंतणाण-दंसण-वीरिय-विरइ-खइयसम्मत्तादीणं साहया साहू णाम। पगदा ओसरिदा आसवा जम्हा तं पासुअं, अथवा जं णिरवज्जं तं पासुअं। किं। णाण-दंसण-चरित्तादि। तस्स परिच्चागो विसज्जणं, तस्स भावो पासुअपरिच्चागदा। दयाबुद्धिये साहूणं णाण-दंसण-चरित्तपरिच्चागो दाणं पासुअपरिच्चागदा णाम। —साधुओंके द्वारा विहित प्रासुक अर्थात् निरवद्यज्ञान दर्शनादिकके त्यागसे तीर्थंकर नामकर्म बन्धता है—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, विरति और क्षायिक सम्यक्त्वादि गुणोंके जो साधक हैं वे साधु कहलाते हैं। जिससे आस्रव दूर हो गये हैं उसका नाम प्रासुक है, अथवा जो निरवद्य है उसका नाम प्रासुक है। वह ज्ञान, दर्शन व चारित्रादिक ही तो हो सकते हैं। उनके परित्याग अर्थात् विसर्जनको प्रासुकपरित्याग और इसके भावको प्रासुकपरित्यागता कहते हैं। अर्थात् दया बुद्धिसे साधुओंके द्वारा किये जानेवाले ज्ञान, दर्शन व चारित्रके परित्याग या दानका नाम प्रासुक परित्यागता है।

भा.पा./टी./७७/२२१/८ स्वशक्त्यनुरूपं दानं। —अपनी शक्तिके अनुरूप दान देना सो शक्तितस्त्याग भावना है।

४. यह भावना गृहस्थोंके सम्भव नहीं

ध.८/३.४१/८७/७ ण चेदं कारणं घरत्थेसु संभवदि, तत्थ चरित्ताभावादो। तिरयणोवदेसो वि ण घरत्थेसु अत्थि, तेसिं दिट्ठिवादादि-उवरिमसुत्तोवदेसणे अहियाराभावादो तदो एदं कारणं महेसिणं चेव होदि। —[साधु प्रासुक परित्यागता] गृहस्थोंमें सम्भव नहीं है, क्योंकि, उनमें चारित्रका अभाव है। रत्नत्रयका उपदेश भी गृहस्थोंमें सम्भव नहीं है, क्योंकि, दृष्टिवादादिक उपरिमश्रुतके उपदेश देनेमें उनका अधिकार नहीं है। अतएव यह कारण महर्षियोंके ही होता है।

५. एक त्याग भावनामें शेष १५ भावनाओंका समावेश

ध.८/३.४१/८७/१० ण च एत्थ सेसकारणाणमसंभवो। ण च अरहंतादिसु अ-भत्तिमंते णवपदत्थविसयसद्दहणेमुम्मुक्के सादिचारसीलव्वदे परिहीण-वासए णिरवज्जो णाण-दंसण-चरित्तपरिच्चागो संभवदि, विरोहादो। तदो एदमट्ठं कारणं। —प्रश्न—[शक्तितस्त्यागमें शेष भावनाएँ कैसे सम्भव हैं?] उत्तर—इसमें शेष कारणोंकी असम्भावना नहीं है। क्योंकि अरहंतादिकोंमें भक्तिसे रहित, नौ पदार्थ विषयक श्रद्धानसे उन्मुक्त, सातिचार शीलव्रतोंसे सहित और आवश्यकोंकी हीनतासे संयुक्त होनेपर निरवद्य ज्ञान, दर्शन व चारित्रका परित्याग विरोध होनेसे सम्भव ही नहीं है। इस कारण यह तीर्थंकर नामकर्मबन्धका आठवाँ कारण है।

६. त्यागधर्म पालनार्थ विशेष भावनाएँ

रा.वा./९/६/२७/५९९/२५ उपधित्यागः पुरुषहितः। यतो यतः परिग्रहाद-पेतः ततस्ततोऽस्य खेदो व्यपगतो भवति। निरवद्यं मनःप्रणिधानं पुण्यविधानं। परिग्रहाशा बलवती सर्वदोषप्रसवयोनिः। न तस्या उपधिभिः तृप्तिरस्ति सलिलैरिव सलिलनिधेरिह वडवायाः। अपि च, कः पूरयति दुःपूरमाशागर्तम्। दिने दिने यत्रास्तमस्तमाधेयमा-धारत्वाय कल्पते। शरीरादिषु निर्ममत्वः परमनिवृत्तिमवाप्नोति। शरीरादिषु कृताभिष्वङ्गस्य सर्वकालमभिष्वङ्ग एव संसारे। —परिग्रह-का त्याग करना पुरुषके हितके लिए है। जैसे जैसे वह परिग्रहसे रहित होता है वैसे वैसे उसके खेदके कारण हटते जाते हैं। खेदरहित मनमें उपयोगकी एकाग्रता और पुण्यसंचय होता है। परिग्रहकी आशा बड़ी बलवती है। वह समस्त दोषोंकी उत्पत्तिका स्थान है। जैसे पानीसे समुद्रका बड़वानल शान्त नहीं होता उसी तरह परिग्रहसे आशासमुद्रकी तृप्ति नहीं हो सकती। यह आशा का गड्ढा दुष्पूर है। इसका भरना बहुत कठिन है। प्रतिदिन जो उसमें डाला जाता है वही समाकर मुँह बाने लगता है। शरीरादिसे ममत्वशून्यव्यक्ति परम सन्तोषको प्राप्त होता है। शरीर आदिमें राग करनेवालेके सदा संसार परिभ्रमण सुनिश्चित है (रा.वा./हि/९/६/६६५-६६६)।

७. त्याग धर्मकी महिमा

कुरल/३५/१,६ मन्ये ज्ञानी प्रतिज्ञाय यद् किञ्चित् परिमुञ्चति। तदुत्पन्न-महादुःखान्निजात्मा तेन रक्षितः ।१। अहं ममेति संकल्पो गर्वस्वार्थित्व-संभृतः। जेतास्य याति तं लोकं स्वर्गादुपपरिवर्तिनम् ।६। =मनुष्य-ने जो वस्तु छोड़ दी है उससे पैदा होनेवाले दुःखसे उसने अपनेको मुक्त कर लिया है।१। 'मैं' और 'मेरे' के जो भाव हैं, वे घमण्ड और स्वार्थपूर्णताके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। जो मनुष्य उनका दमन कर लेता है वह देवलोकसे भी उच्चलोकको प्राप्त होता है।६।

८. अन्य सम्बन्धित विषय

१. अकेले शक्तितस्त्याग भावनासे तीर्थंकरत्व प्रकृतिबन्धकी सम्भावना। —दे० भावना/२।
२. व्युत्सर्ग तप व त्याग धर्ममें अन्तर। —दे० व्युत्सर्ग/२।
३. त्याग व शौच धर्ममें अन्तर। —दे० शौच।
४. अन्तरंग व बाह्य त्याग समन्वय। —दे० परिग्रह/५/६-७।
५. दस धर्म सम्बन्धी विशेषताएँ। —दे० धर्म/८।

त्रस—अपनी रक्षार्थ स्वयं चलने-फिरनेकी शक्तिवाले जीव त्रस कहलाते हैं। दो इन्द्रियसे लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक अर्थात् लट्, चींटी आदिसे लेकर मनुष्यदेव आदि सब त्रस हैं। ये जीव यद्यपि अपर्याप्त होने सम्भव हैं पर सूक्ष्म कभी नहीं होते। लोकके मध्यमें १ राजू विस्तृत और १४ राजू लम्बी जो त्रस नाली कल्पित की गयी है, उससे बाहरमें ये नहीं रहते, न हो जा सकते हैं।

१. त्रस जीव निर्देश

१. त्रस जीवका लक्षण

स.सि./२/१२/१७१/३ त्रसनामकर्मोदयवशीकृतास्त्रसाः। =जिनके त्रस नामकर्मका उदय है वे त्रस कहलाते हैं।

रा.वा./२/१२/१/१२६ जीवनामकर्मणो जीवविपाकिन उदयापादित वृत्ति-विशेषाः त्रसा इति व्यपदिश्यन्ते। =जीवविपाकी त्रस नामकर्मके उदयसे उत्पन्न वृत्ति विशेषवाले जीव त्रस कहे जाते हैं। (ध.१/१,१,३९/२६५/८)

२. त्रस जीवोंके भेद

त.सू./२/१४ द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ।१४। =दो इन्द्रिय आदिक जीव त्रस हैं।१४।

मू.आ./२१८ दुविधा तसा य उत्ता विगला सगलेंदिया मुणेयव्वा। बिति चउरिंदिय विगला सेसा सगलिंदिया जीवा।२१८। =त्रसकाय दो प्रकार कहे हैं—विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय। दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इन तीनोंको विकलेन्द्रिय जानना और शेष पंचेन्द्रिय जीवोंको सकलेन्द्रिय जानना।२१८। (ति.प./५/२८०); (रा.वा./३/३९/४/२०१); (का.अ./१२८)

पं.सं./प्रा./१/८६ विहिं तिहिं चउहिं पंचहिं सहिया जे इंदिएहिं लोयम्हि। ते तस काया जीवा णेया वीरोवदेसेण।८६। =लोकमें जो दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रियसे सहित जीव दिखाई देते हैं उन्हें वीर भगवान्के उपदेशसे त्रसकायिक जानना चाहिए।८६। (ध.१/१,१,४६/गा.१५४/२७४) (पं.सं./सं./१/१६०); (गो.जी./मू./१९८); (द्र.सं./मू./११)

न.च./१२३···।···चदु तसा तह य।१२३। =त्रस जीव चार प्रकारके हैं—दो, तीन व चार तथा पाँच इन्द्रिय।

३. सकलेन्द्रिय व विकलेन्द्रियके लक्षण

मू.आ./२१९ संखो गोभी भमरादिआ दु विकलिंदिया मुणेदव्वा। सकलिंदिया य जलथलखचरा सुरणारयणरा य।२१९। =शंख आदि, गोपालिका चींटी आदि, भौंरा आदि, जीव दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चार इन्द्रिय विकलेन्द्रिय जानना। तथा सिंह आदि स्थलचर, मच्छ आदि जलचर, हंस आदि आकाशचर तिर्यंच और देव, नारकी, मनुष्य—ये सब पंचेन्द्रिय हैं।२१९।

४. त्रस दो प्रकार हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त

ष.खं./११/सू.४२/२७२ तसकाइया दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता।४२। =त्रस कायिक जीव दो प्रकार होते हैं पर्याप्त अपर्याप्त।

५. त्रस जीव बादर ही होते हैं

ध.१/१,१,४२/२७२ किं त्रसाः सूक्ष्मा उत बादरा इति। बादरा एव न सूक्ष्माः। कुतः। तत्सौक्ष्म्यविधायकार्षाभावात्। =प्रश्न—त्रस जीव क्या सूक्ष्म होते हैं अथवा बादर? उत्तर—त्रस जीव बादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं होते। प्रश्न—यह कैसे जाना जाये? उत्तर—क्योंकि, त्रस जीव सूक्ष्म होते हैं, इस प्रकार कथन करनेवाला आगम प्रमाण नहीं पाया जाता है। (ध./६/४,१,७१/३४३/६); (का.अ./मू./१२५)

६. त्रस जीवोंमें कथंचित् सूक्ष्मत्व

ध.१०/४,२,४,१४/४७/८ सुहुमणामकम्मोदयजणिदसुहुमत्तेण विणा विग्गह-गदीए वट्टमाणतसाणं सुहुमत्तब्भुवगमादो। कधं ते सुहुमा। अणंता-णंतविस्ससोवचएहि उवचियओरालियणोकम्मक्खंधादो विणिग्गय-देहत्तादो। =यहाँपर सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे जो सूक्ष्मता उत्पन्न होती है, उसके बिना विग्रहगतिमें वर्तमान त्रसोंकी सूक्ष्मता स्वीकार की गयी है। प्रश्न—वे सूक्ष्म कैसे है? उत्तर—क्योंकि उनका शरीर अनन्तानन्त विस्रसोपचयोंसे उपचित औदारिक नोकर्म-स्कन्धोंसे रहित है, अतः वे सूक्ष्म हैं।

७. त्रसोंमें गुणस्थानोंका स्वामित्व

ष.खं./१/१,१/सू.३६-४४ एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया असण्णिपंचिंदिया एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठिट्ठाणे।३६। पंचिंदिया असण्णि पंचिंदिय-मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति।३७। तसकाइया बीइंदिया-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति।४४। =एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीइन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मिथ्यादृष्टिनामक प्रथम गुणस्थानमें ही होते हैं।३६। असंज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवलि गुणस्थानतक पंचेन्द्रिय जीव होते हैं।३७। द्वीन्द्रियादिसे लेकर अयोगिकेवलीतक त्रसजीव होते हैं।४४।

रा.वा./९/७/११/६०५/२४ एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु एक-मेव गुणस्थानमाद्यम्। पञ्चेन्द्रियेषु संज्ञिषु चतुर्दशापि सन्ति। =एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रियमें एक ही पहला मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। पंचेन्द्रिय संज्ञियोंमें चौदह ही गुणस्थान होते हैं।

गो.जी./जी.प्र./६९५/११३१/१३ सासादने बादरैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियसंज्ञ्य-पर्याप्तसंज्ञिपर्याप्ताः सप्त। =सासादन विषै बादर एकेन्द्रिय, बेन्द्रिय तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व संज्ञी और असंज्ञी पर्याप्त ए सात पाइए। (गो.जी./जी.प्र./७०३/११३७/१४); (गो.क./जी.प्र./५५१/७५३/७)

(विशेष दे. जन्म/४)।

८. त्रसके लक्षण सम्बन्धी शंका समाधान

रा. वा./२/१२/२/१२६/२७ स्यान्मतम्-त्रसेरुद्वेजनक्रियस्य त्रस्यन्तीति त्रसा इति। तन्न; किं कारणम्। गर्भादिषु तदभावात्। अत्र सत्त्वप्रसङ्गात्। गर्भाण्डजमूर्च्छितसुषुप्तादीनां त्रसानां बाह्यभयनिमित्तोपनिपाते सति चलनाभावादत्र सत्त्वं स्यात्। कथं तर्ह्यस्य निष्पत्तिः 'त्रस्यन्तीति त्रसाः' इति। व्युत्पत्तिमात्रमेव नार्थः प्राधान्येनाश्रीयते गोशब्दप्रवृत्तिवत्। —प्रश्न—भयभीत होकर गति करे सो त्रस ऐसा लक्षण क्यों नहीं करते? उत्तर—नहीं, क्योंकि ऐसा लक्षण करनेसे गर्भस्थ, अण्डस्थ, मूर्च्छित, सुषुप्त आदिमें अत्रसत्वका प्रसंग आ जायेगा। अर्थात् त्रस जीवोंमें बाह्यभयके निमित्त मिलनेपर भी हलन-चलन नहीं होता अतः इनमें अत्रसत्व प्राप्त हो जायेगा। प्रश्न—तो फिर भयभीत होकर गति करे सो त्रस, ऐसी निष्पत्ति क्यों की गयी। उत्तर—यह केवल रूढिवश ग्रहण की गयी है। 'जो चले सो गऊ,' ऐसी व्युत्पत्ति मात्र है। इसलिए चलन और अचलनकी अपेक्षा त्रस और स्थावर व्यवहार नहीं किया जा सकता। कर्मोदयकी अपेक्षासे ही किया गया है। यह बात सिद्ध है। (स.सि./२/१२/१७१/४); (ध.१/१,१,४०/२६६/२)

९. अन्य सम्बन्धित विषय

१. त्रसजीवके भेद-प्रभेदोंका लोकमें अवस्थान।
—दे० इन्द्रिय, काय, मनुष्यादि।

२. वायु व अग्निकायिकोंमें कथंचित् त्रसपना।
—दे० स्थावर/१।

३. त्रसजीवोंमें कर्मोंका बन्ध, उदय व सत्त्व।
—दे० वह वह नाम।

४. मार्गणा प्रकरणमें भावमार्गणाकी इष्टता और वहाँ आयके अनुसार ही व्यय होनेका नियम। —दे० मार्गणा।

५. त्रसजीवोंके स्वामित्व सम्बन्धी गुणस्थान जीवसमास, मार्गणास्थान आदि २० प्ररूपणाएँ। —दे० सत्।

६. त्रसजीवोंमें प्राणोंका स्वामित्व। —दे० प्राण/१।

७. त्रसजीवोंके सत् (अस्तित्व) संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्प-बहुत्वरूप आठ प्ररूपणाएँ।
—दे० वह वह नाम।

२. त्रस नामकर्म व त्रसलोक

१. त्रस नामकर्मका लक्षण

स. सि./८/११/३९१/१० यदुदयाद् द्वीन्द्रियादिषु जन्म तत् त्रसनाम। —जिसके उदयसे द्वीन्द्रियादिकमें जन्म होता है वह त्रस नामकर्म है। (रा.वा/८/१२/२१/५७८/२७) (ध.६/१,९-१,२८/६१/४) (गो.क./जी.प्र./३३/२९/११)

ध.१३/५,५.१०१/३६५/३ जस्स कम्मस्सुदएण जीवाणं संचरणासंचरणभावो होदि तं कम्मं तसणामं। —जिस कर्मके उदयसे जीवोंके गमनागमनभाव होता है वह त्रस नामकर्म है।

२. त्रसलोक निर्देश

ति.प./५/६ मंदरगिरिमूलादो इगिलक्खजोयणाणि बहलम्मि। रज्जूय पदरखेत्ते चिट्ठेदि तिरियतसलोओ।६। —मन्दरपर्वतके मूलसे एक लाख योजन बाहल्यरूप राजुप्रतर अर्थात् एक राजु लम्बे-चौड़े क्षेत्रमें तिर्यक् त्रसलोक स्थित है।

३. त्रसनाली निर्देश

ति.प./२/६ लोयबहुमज्झदेसे तरुम्मि सारं व रज्जुपदरजुदा। तेरसरज्जुच्छेहा किंचूणा होदि तसणाली।६। —जिस प्रकार ठीक मध्यभागमें सार हुआ करता है, उसी प्रकार लोकके बहु मध्यभाग अर्थात् बीचमें एक राजु लम्बी-चौड़ी और कुछ कम तेरह राजु ऊँची त्रसनाली (त्रस जीवोंका निवासक्षेत्र) है।

४. त्रसजीव त्रसनालीसे बाहर नहीं रहते

ध.४/१,४,४/१४९/६ तसजीवलोगणालीए अब्भंतरे चेव होंति, णो बहिद्धा। —त्रसजीव त्रसनालीके भीतर होते हैं बाहर नहीं। (का. अ./मू./१२२)

गो.जी./मू./१९९ उववादमारणंतियपरिणदतसमुज्झिऊण सेसतसा। तसणालिबाहिरम्मि य णत्थित्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं।१९९। —उपपाद और मारणान्तिक समुद्घातके सिवाय शेष त्रसजीव त्रसनालीसे बाहर नहीं हैं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है।

५. कथंचित् सारा लोक त्रसनाली है

ति.प./२/८ उववादमारणंतियपरिणदतसलोयपूरणेण गदो। केवलिणो अवलंबिय सव्वजगो होदि तसनाली।८। —उपपाद और मारणान्तिक समुद्घातमें परिणत त्रस तथा लोकपूरण समुद्घातको प्राप्त केवलीका आश्रय करके सारा लोक ही त्रसनाली है।८।

★ त्रस नामकर्मकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणाएँ
—दे० वह वह नाम।

★ त्रस नामकर्मके असंख्यातों भेद सम्भव हैं
—दे० नामकर्म।

त्रसरेणु—क्षेत्रका प्रमाण विशेष। अपरनाम त्रटरेणु —दे० गणित/I/१/३।

त्रसित— प्रथम नरकका दसवाँ पटल —दे० नरक/५/११।

त्रस्त—१. प्रथम नरकका दसवाँ पटल —दे० नरक/५/११, २. तृतीय नरकका दूसरा पटल —दे० नरक/५/११।

त्रायस्त्रिंश—१. त्रायस्त्रिंश देवका लक्षण

स.सि./४/४/२३९/३ मन्त्रिपुरोहितस्थानीयास्त्रायस्त्रिंशाः। त्रयस्त्रिंशदेव त्रायस्त्रिंशाः। —जो मन्त्री और पुरोहितके समान हैं वे त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं। ये तेतीस ही होते हैं इसलिए त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं। (रा.वा./४/४/२/४१२): (म.पु./२२/२५)

ति.प./३/६५···। पुत्तणिहा तेत्तीसत्तिदसा···।६५। —त्रायस्त्रिंश देव पुत्रके सदृश होते हैं। (त्रि.सा./२२४)

★ भवनवासी व स्वर्गवासी इन्द्रोंके परिवारोंमें त्रायस्त्रिंश देवोंका निर्देश —दे० भवनवासी आदि भेद।

२. कल्पवासी इन्द्रोंके त्रायस्त्रिंशदेवोंका परिमाण

ति.प./८/२८६,३१९ पडिइंदाणं सामाणियाण तेत्तीससुरवराणं च। दसभेदा परिवारा णियइंदसमा य पत्तेक्कं।२८६। पडिइंदादितियस्स य णियणियइंदेहिं सरिसदेवीओ। संखाए णामेहिं विक्किरियारिद्धि चत्तारि।३१९। तप्परिवारा कमसो चउएक्कसहस्सयाणि पंचसया। अड्ढाइज्जसयाणि तद्दलतेसट्ठिबत्तीसं।३२०। —प्रतीन्द्र, सामानिक और त्रायस्त्रिंश देवोंमें से प्रत्येकके दश प्रकारके परिवार अपने इन्द्रके समान होते हैं।२८६। प्रतीन्द्रादिक तीनकी देवियाँ संख्या, नाम, विक्रिया और ऋद्धि, इन चारोंमें अपने-अपने इन्द्रोंके सदृश हैं।३१९। (दे०—स्वर्ग/३)। उनके परिवारका प्रमाण क्रमसे ४०००,२०००,१०००,५००,२५०,१२५,६३,३२ है।

त्रिकच्छेद—Number of times that a number can be divided by 3. (ध.५/प्र./२७) विशेष—दे० गणित/II/२/१।

त्रिकरण—१. भरतक्षेत्रका एक पर्वत —दे० मनुष्य/४। २. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर —दे० मनुष्य/४। ३. पूर्व विदेहका एक वक्षार उसका एक कूट तथा रक्षकदेव —दे० लोक/७। ४. पूर्व विदेहस्थ आत्माञ्जन वक्षारका एक कूट व उसका रक्षकदेव —दे० लोक/७। ५. अधःकरण आदि —दे० करण/३।

त्रिकलिंग—मध्य आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

त्रिकाल—श्रुतज्ञानादिकी त्रिकालज्ञता—दे० वह वह नाम।

त्रिकृत्वा—ध.१३/५,४,२८/८९/१ पदाहिणणमंसणादिकिरियाणं तिण्णिवारकरणं तिक्खुत्तं णाम। अथवा एक्कम्मि चेव दिवसे जिणगुरुरिसिवंदणाओ तिण्णिवारं किज्जंति त्ति तिक्खुत्तं णाम। =प्रदक्षिणा और नमस्कारादि क्रियाओंका तीन बार करना त्रिःकृत्वा है। अथवा एक ही दिनमें जिन, गुरु और ऋषियोंकी वन्दना तीन बार की जाती है, इसलिए इसका नाम त्रिःकृत्वा है।

त्रिखण्ड—भरतादि क्षेत्रोंमें छह-छह खण्ड हैं। विजयार्धके एक ओर तीन म्लेक्षखण्ड हैं और दूसरी ओर एक आर्यखण्ड व दो म्लेक्षखण्ड हैं। इन तीन म्लेक्षखण्डोंको ही त्रिखण्ड कहते हैं, जिसे अर्धचक्रवर्ती जीतता है।

त्रिगर्त—भरतक्षेत्र मध्य आर्यखण्डका एक देश —दे० मनुष्य/४।

त्रिगुणसारव्रत— व्रतविधान सं./५९ क्रमशः १,१,२,३,४ ५,४,४,३,२,१ इस प्रकार ३० उपवास करे। बीचके १० स्थान व अन्तमें एक-एक पारणा करे। जाप—नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य।

त्रिज्या—Radius (ध.५/प्र.२७)।

त्रिपर्वा—एक औषधी विद्या —दे० विद्या।

त्रिपातिनी—एक औषधी विद्या —दे० विद्या।

त्रिपुर—भरतक्षेत्र विन्ध्याचलका एक देश—दे० मनुष्य/४।

त्रिपृष्ठ—म.पु./सर्ग/श्लोक—यह अपने पूर्वभवमें पुरुरवा नामक एक भील था। मुनिराजसे अणुव्रतोंके ग्रहण पूर्वक सौधर्म स्वर्गमें उत्पन्न हुआ। फिर भरत चक्रवर्तीके मरीचि नामक पुत्र हुआ, जिसने मिथ्या मार्गको चलाया था। तदनन्तर चिरकालतक भ्रमण कर (६२/८५-९०) राजगृह नगरके राजा विश्वभूतिका पुत्र विश्वनन्दि हुआ (५७/७२)। फिर महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ (५७/८२) तत्पश्चात वर्तमान भवमें श्रेयांसनाथ भगवान्‌के समयमें प्रथम नारायण हुए (५७/८९); (८२/९०) विशेष परिचय- दे० शलाका पुरुष/४। यह वर्धमान भगवान्‌का पूर्वका दसवाँ भव है। (७६/५३४-५४३); (७४/२४१-२६०) —दे० महावीर।

त्रिभंगीसार— विभिन्न आचार्यों द्वारा रचित आस्रव बन्धसत्त्व आदि नाम वाली ६ त्रिभंगियों का संग्रह। (जै./१/४४२)।

त्रिभुवन चूड़ामणि—भद्रशाल वनमें स्थित दो सिद्धायन कूट —दे० लोक/३/१९।

त्रिमुख—संभवनाथ भगवान्‌का शासक यक्ष। —दे० तीर्थंकर/५/३।

त्रिराशि गणित—दे० गणित/II/४।

त्रिलक्षण कदर्थन—पात्रकेशरी नं० १ (ई. श. ६-७) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित न्यायविषयक ग्रन्थ। (ती./२/२४१)।

त्रिलोक तीज व्रत—व्रत विधान सं./१०६ तीन वर्षतक प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ला तीजको उपवास। जाप--ओं ह्रीं त्रिलोक सम्बन्धी अकृत्रिमजिन चैत्यालयेभ्यो नमः। इस मन्त्रका त्रिकाल जाप।

त्रिलोक बिन्दुसार—अंग श्रुतज्ञानका चौदहवाँ पूर्व।—दे० श्रुतज्ञान/III।

त्रिलोकमंडन—प. पु./सर्ग/श्लोक अपने पूर्वके मुनिभवमें अपनी झूठी प्रशंसाको चुपचाप सुननेके फलसे हाथी हुआ। रावणने इसको मदमस्त अवस्थामें पकड़कर इसका त्रिलोकमण्डन नाम रखा (८/४३२) एक समय मुनियोंसे अणुव्रत ग्रहणकर चार वर्षतक उग्र तप किया (८७-१-७)। अन्तमें सल्लेखना धारणकर ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें देव हुआ (८७/७)।

त्रिलोकसार—आ० नेमिचन्द्र (ई० श० ११ पूर्व) द्वारा रचित लोक प्ररूपक प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ है। गाथा प्रमाण १०१८ है। इस ग्रन्थपर निम्न टीकाएँ प्राप्त हैं—१. आ. माधवचन्द्र त्रिविद्यदेव-कृत संस्कृत टीका, २. पं० टोडरमलजी कृत भाषा टीका (ई० १७५९)।

त्रिलोकसार व्रत—

ह. पु./३४/५९-६१ क्रमशः त्रिलोकाकार रचनाके अनुसार नीचेसे ऊपरकी ओर ५, ४, ३, २, १, २, ३, ४, ३, २, १. इस प्रकार ३० उपवास व बीचके स्थानोंमें ११ पारणा।

रचना त्रिलोकाकार

o
oo
ooo
oooo
ooo
oo
o
oo
ooo
oooo
ooooo
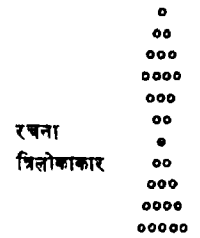
त्रिवर्ग—१. निक्षेप आदि त्रिवर्ग निर्देश

न. च. वृ./१६८ णिक्खेवणयपमाणा छद्दव्वं सुद्ध एव जो अप्पा। तक्कं पवयणणामा अज्झप्पं होइ हु तिवग्गं ॥१६८॥ =निक्षेप नय प्रमाण तो तर्क या युक्ति रूप प्रथम वर्ग है। छह द्रव्योंका निरूपण प्रवचन या आगम रूप दूसरा वर्ग है। और शुद्ध आत्मा अध्यात्मरूप तीसरा वर्ग है।

२. धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्गका निर्देश

म. पु./२/३१-३२ धर्मस्य धर्मतरोरर्थः फलं कामस्तु तद्रसः। सत्रिवर्गत्रयस्यास्य मूलं पुण्यकथाश्रुति ॥३१॥ धर्मादर्थश्च कामश्च स्वर्गश्चेत्यविमानतः। धर्मः कामार्थयोः सूतिरित्यायुष्मन्विनिश्चिनु ॥३२॥ =हे श्रेणिक! देखो, यह धर्म एक वृक्ष है। अर्थ उसका फल है और काम उसके फलोंका रस है। धर्म, अर्थ, और काम इन तीनोंको त्रिवर्ग कहते हैं, इस त्रिवर्गकी प्राप्तिका मूलकारण धर्मका सुनना है ॥३१॥ तुम यह निश्चय करो कि धर्मसे ही अर्थ, काम-स्वर्गकी प्राप्ति होती है सचमुच यह धर्म ही अर्थ और कामका उत्पत्ति स्थान है ॥३२॥

त्रिवर्ग महेन्द्र मातलि जल्प—आ० सोमदेव (ई० ९४३-९६८) कृत न्याय विषयक ग्रन्थ है।

त्रिवर्गवाद—त्रिवर्गवादका लक्षण

ध./१/४, १, ४५/गा. ८०/२०८ एक्केक्कं तिण्णि जणा दो हो यण इच्छदे तिवग्गम्मि। एक्को तिण्णि ण इच्छइ सत्तवि पावेंति मिच्छत्तं ॥८०॥ =तीनजन त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काममें एक-एककी इच्छा करते हैं। दूसरे तीन जन उनमें दो-दोकी इच्छा करते हैं। कोई एक तीनकी इच्छा नहीं करता है। इस प्रकार ये सातोंजन मिथ्यात्वको प्राप्त होते हैं।

त्रिवर्णाचार — सोमदेव भट्टारक (ई. १६१०) कृत पूजा अभिषेक के याज्ञिक विधि विधान विषयक ग्रन्थ। (जै./१/४६३)।

त्रिवलित—कायोत्सर्गका अतिचार। —दे० व्युत्सर्ग/१

त्रिशिरा—१. कुण्डल पर्वतस्थ वज्रकूटका स्वामी एक नागेन्द्रदेव। —दे० लोक/५/१२।२. रुचक पर्वतके स्वयंप्रभकूटपर रहनेवाली विद्युत्कुमारी देवी। —दे० लोक/५/१३।

त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र—१. चामुण्डराय द्वारा रचित संस्कृत भाषाबद्ध रचना है। समय—(ई० श० १०-११ २. श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र द्वारा रचित। समय ई १०८८-११७३।

त्रींद्रिय—१. त्रीन्द्रिय जीव विषयक। —दे० इन्द्रिय/४। २. त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म। —दे० जाति (नामकर्म)

त्रुटरेणु—क्षेत्रका एक प्रमाण —दे० गणित/I/१/३।

त्रुटित—कालका एक प्रमाण —दे० गणित/I/१/४।

त्रुटिताङ्ग—कालका एक प्रमाण —दे० गणित/I/१/४।

त्रेपन क्रियाव्रत—व्रत विधान सं./४६ १. आठमूलगुणकी आठ अष्टमी; २. पाँच अणुव्रतको पाँच पंचमी; ३. तीन गुणव्रतकी तीन तीज ४. चार शिक्षाव्रतकी चार चौथ; ५. बारह तपकी १२ द्वादशी; ६. समता भावकी १ पडिमा, ७. ग्यारह प्रतिमाकी ११ एकादशी; ८. चार दानकी चार चौथ, ९. जल गालनकी एक पडिमा; १० रात्रि भोजन त्यागकी एक पडिमा; ११. तीन रत्नत्रयकी तीन तीज। इस प्रकार त्रेपन तिथियोंके ५३ उपवास। जाप—नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप।

त्रैकाल्य योगी—संघके देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार (—दे० इतिहास) आप गोलाचार्यके शिष्य तथा अभयनन्दि केरु गुरु थे।था समय—वि० ९२०-९३० (ई० ८६३-८७३); (ष खं /२/प्र./४ H. L. Jain); (पं. वि./प्र/२८ A N up) —दे० इतिहास/७/५।

त्रैराशिक—Rule of three (ध./५/प्र. २७) विशेष—दे० गणित/II/४।

त्रैराशिकवाद—नन्दिसूत्र/२३६ गोशालप्रवर्तिता आजीविकापाखण्डिनस्त्रैराशिका उच्यन्ते। कस्मादिति चेदुच्यते, इह ते सर्वं वस्तु त्र्यात्मकमिच्छन्ति। तद्यथा जीवोऽजीवो जीवाजीवाश्च, लोका अलोका लोकालोकाश्च, सदसत्सदसत्। नयचिन्तायामपि त्रिविधं नयमिच्छन्ति। तद्यथा, द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिकमुभयास्तिकं च। ततस्त्रिभो राशिभिश्चरन्तीति त्रैराशिका। —गोशालके द्वारा प्रवर्तित पाखण्डी आजीवक और त्रैराशिक कहलाते हैं। ऐसा क्यों कहलाते हैं? क्योंकि वे सर्व ही वस्तुओंको त्र्यात्मक मानते हैं। इस प्रकार है जैसे कि—जीव अजीव व जीवाजीव; लोक, अलोक व लोकालोक; सत् असत् व सदसत्। नयकी विचारणामें तीन प्रकारकी नय मानते हैं। वह इस प्रकार—द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक व उभयार्थिक। इस प्रकार तीन राशियों द्वारा चरण करते हैं, इसलिए त्रैराशिक कहलाते हैं।

ध./१/१, १, २/गा. ७६/११२ अट्ठासी-अहियारेसु चउण्हमहियाराणमत्थि णिद्देसो। पढमो अबधयाणं विदिओ तेरासियाणं बोद्धव्वो ॥७६॥ —(दृष्टिवाद अंगके) सूत्र नामक अर्थाधिके अठासी अर्थाधिकारोंका नामनिर्देश मिलता है। ... उसमें दूसरा त्रैराशिक वादियोंका जानना।

त्रैलिंग—वर्तमान तैलंगदेश जो हैदराबाद दक्षिणके अन्तर्गत है। (म. पु./प्र./५० पं. पन्नालाल)

त्रैविध्यदेव—१. नन्दिसंघके देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास/७/५)। पाँच आचार्योंकी उपाधि त्रैविध्यदेव थी। १. मेघचन्द्र प्र ई. ९३०-९५०; २. मेघचन्द्र द्वि. ई. १०१०-११५५; ३. माघनन्दि ई. ११३३-११६३; ४. अकलंक द्वि. ई. ११५८-८२; ५. रामचन्द्र ई. ११५८-११८२। इनके अतिरिक्त भी दो अन्य आचार्य इस नाम से प्रसिद्ध थे—६. माधव चन्द्र वि श. ११ का पूर्व; ७. पद्मनन्दि नं० ७ (वि. १३७३ में स्वर्गवास) के गुरु वि. १३००-१३५० (ई. १२४३-१२९८)। दे. इतिहास/७/५)।

त्वक्—दे० स्पर्श/१।

त्वचा—**१. त्वचा व नोत्वचाका लक्षण**

ध./१३/५, ३, २०/१६/८ तयो णाम रूक्खाणं गच्छाणं कंधाणं वा बक्कलं। तस्सुवरि पप्पदकलाओ णोतयं। सूरणल्लयपलंडुहलिद्दादीणं वा बज्झ पप्पदकलाओ णोतयं णाम। —वृक्ष, गच्छ या स्कन्धोंकी छालको त्वचा कहते हैं और उसके ऊपर जो पपड़ीका समूह होता है उसे नोत्वचा कहते हैं। अथवा सूरण, अदरख, प्याज और हलदी आदिकी जो बाह्य पपड़ी समूह है उसे नोत्वचा कहते हैं।

★ औदारिक शरीरमें त्वचाओंका प्रमाण—दे० औदारिक/२/७

[थ]

थिउक्क संक्रमण—दे० संक्रमण/१०।

[द]

दंड—१. चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंमेंसे एक—दे० शलाका पुरुष/२; २. क्षेत्रका प्रमाण विशेष—अपरनाम धनुष, मूसल, युग, नाली —दे० गणित/I/१/३।

दंड—**१. भेद व लक्षण**

चा. सा./९६/५ दण्डस्त्रिविधः, मनोवाक्कायभेदेन। तत्र रागद्वेषमोहविकल्पात्मानसो दण्डस्त्रिविधः। ...अनृतोपघातपैशून्यपरुषाभिशंसनपरितापहिंसनभेदाद्वाग्दण्ड. सप्तविधः। प्राणिवधचौर्यमैथुनपरिग्रहारम्भताडनोग्रवेशविकल्पात्कायदण्डोऽपि च सप्तविधः। —मन, वचन, कायके भेदसे दण्ड तीन प्रकारका है, और उसमें भी राग, द्वेष, मोहके भेद सेमानसिक दण्डभोतीनप्रकारकाहै।...झूठबोलना,वचनसे कहकर किसीके ज्ञानका घात करना, चुगली करना, कठोर वचन कहना, अपनी प्रशंसा करना, संताप उत्पन्न करनेवाला वचन कहना और हिंसाके वचन कहना, यह सात तरहका वचन दण्ड कहलाता है। प्राणियोंका बध करना, चोरी करना, मैथुन करना, परिग्रह रखना, आरम्भ करना, ताडन करना, और उग्रवेष (भयानक) धारण करना इस तरह कायदण्ड भी सात प्रकारका कहलाता है।

दंडपति—त्रि. सा./भाषा./६८३ दण्डपति कहिये समस्त सेनाका नायक।

दंडभूत सहस्रक—विद्याधर विद्या है—दे० विद्या।

दंडसमुद्घात—दे० केवली/७।

दंडाध्यक्षगण—विद्याधर विद्या है—दे० विद्या।

दंतकर्म—दे० निक्षेप/४।

दंशमशक परीषह—**१. का लक्षण**

स. सि./९/९/४२१/१० दंशमशकग्रहणमुपलक्षणम्।...तेन दंशमशकमक्षिकापिशुकपुत्तिकामत्कुणकीटपिपीलिकावृश्चिकादयो गृह्यन्ते।

तत्कृतां बाधामप्रतीकारां सहमानस्य तेषां बाधां त्रिधाप्यकुर्वाणस्य निर्वाणप्राप्तिमात्रसंकल्पप्रवणस्य तद्वेदनासहनं दंशमशकपरिषहक्षमेत्युच्यते। =सूत्रमें 'दंशमशक' पदका ग्रहण उपलक्षण है।···दंशमशक पदसे दंशमशक, मक्खी, पिस्सू, छोटी मक्खी, खटमल, कीट, चींटी और बिच्छू आदिका ग्रहण होता है। जो इनके द्वारा की गयी बाधाको बिना प्रतिकार किये सहन करता है, मन, वचन और कायसे उन्हें बाधा नहीं पहुँचाता है और निर्वाणकी प्राप्ति मात्र संकल्प ही जिसका ओढना है उसके उनकी वेदनाको सह लेना दंशमशक परीषहजय है। (रा. वा./९/९/८-९/६०८/१८); (चा. सा./११३/३)।

२. दंश व मशक की एकता

रा. वा./९/१७/४-६/६१६ दंशमशकस्य युगपत्प्रवृत्तेरेकान्नविंशतिविकल्प इति चेद्; न; प्रकारार्थत्वान्मशकशब्दस्य।४। दंशग्रहणात्तुल्यजातीयसंप्रत्यय इति चेत्; न; श्रुतिविरोधात्।५।···अन्यतरेण परीषहस्य निरूपितत्वात्।६। =प्रश्न—दंश और मशकको जुदी-जुदी मानकर और प्रज्ञा व अज्ञानको एक मानकर, इस प्रकार एक जीवके युगपत् १९ परीषह कही जा सकती हैं? उत्तर—यह समाधान ठीक नहीं है। क्योंकि 'दंशमशक' एक ही परीषह है। मशक शब्द तो प्रकारवाची है। प्रश्न—दंश शब्दसे ही तुल्य जातियोंका बोध हो जाता है? अतः मशक शब्द निरर्थक है? उत्तर—ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि इससे श्रुतिविरोध होता है।···दंश शब्द प्रकारार्थक तो है नहीं। यद्यपि मशक शब्दका सीधा प्रकार अर्थ नहीं होता, पर जब दंश शब्द डांस अर्थको कहकर परीषहका निरूपण कर देता है तब मशक शब्द प्रकार अर्थका ज्ञापन करा देता है।

दक्ष—ह. पु./१७/श्लोक—मुनिसुव्रतनाथ भगवान्‌का पोता तथा सुव्रत राजाका पुत्र था (१-२)। अपनी पुत्रीपर मोहित होकर उससे व्यभिचार किया। (१५)।

दक्षिण प्रतिपत्ति—आगममें आचार्य परम्परागत उपदेशोंको ऋजु व सरल होनेके कारण दक्षिणप्रतिपत्ति कहा गया है। धवलाकार श्री-वीरसेनस्वामी इसको प्रधानता देते हैं। (ध. ५/१,६,३७/३२/६); (ध. १/प्र. ५७); (ध. २/प्र. १५)।

दक्षिणाग्नि—दे० अग्नि।

दत्त—म. पु./६६/१०३-१०६ पूर्वके दूसरे भवमें पिताका विशेष प्रेम न था। इस कारण युवराजपद प्राप्त न कर सके। इसलिए पितासे द्वेषपूर्वक दीक्षा धारणकर सौधर्म स्वर्गमें देव हुए। वहाँसे वर्तमान भवमें सप्तम नारायण हुए।—दे० शलाका पुरुष/४।

दत्ति—दे० दान।

दधिमुख—नन्दीश्वर द्वीपमें पूर्वादि चारों दिशाओंमें स्थित चार-चार बावड़ियाँ हैं। प्रत्येक बावड़ीके मध्यमें एक-एक ढोलाकार (Cylinderical) पर्वत है। धवलवर्ण होनेके कारण इनका नाम दधिमुख है। इस प्रकार कुल १६ दधिमुख हैं। जिनमेंसे प्रत्येकके शीशपर एक-एक जिन मन्दिर है। विशेष -दे० लोक/४/५।

दमितारी—म. पु./६२/श्लोक—पूर्व विदेहक्षेत्रमें शिवमन्दिरका राजा था (४३४)। नारदके कहनेपर दो सुन्दर नर्तकियोंके लिए अनन्तवीर्य नारायणसे युद्ध किया (४३६)। उस युद्धमें चक्र द्वारा मारा गया (४८४)।

दया—दे० करुणा।

दयादत्ति—दे० दान।

दयासागर— १. धर्मदत्त चरित्र के कर्ता। समय—ई. १४२९। (जै. सा. इ./५५)। २. हनुमान पुराण के कर्ता मराठी कवि। समय—शक, १७३५, ई. १८१३। (ती./४/३२२)।

दर्प—भ. आ./वि./६१३/८१२/३ दर्पोऽनेकप्रकारः। क्रीडासंघर्षं, व्यायामकुहकं, रसायनसेवा, हास्य, गीतशृङ्गारवचनं, प्लवनमित्यादिको दर्पः। =दर्पके अनेक प्रकार हैं—क्रीडामें स्पर्धा, व्यायाम, कपट, रसायन सेवा, हास्य, गीत और शृंगारवचन, दौड़ना और कूदना ये दर्पके प्रकार हैं।

दर्शन—१. दक्षिण धातकीखण्डका स्वामीदेव —दे० व्यन्तर/४। २. दर्शन (उपयोग)—दे० आगे।

दर्शन—(षड्दर्शन) **१. दर्शनका लक्षण**

षड्दर्शन समुच्चय/पृ. २/१८ दर्शनं शासनं सामान्यावबोधलक्षणम्। =दर्शन सामान्यावबोध लक्षणवाला शासन है। (दर्शन शब्द 'दृश' देखना) धातुसे करण अर्थमें 'ल्युट्' प्रत्यय लगाकर बना है। इसका अर्थ है जिसके द्वारा देखा जाये। अर्थात जीवन व जीवनविकासका ज्ञान प्राप्त किया जाये।

षड्दर्शन समुच्चय/३/१० देवतातत्त्वभेदेन ज्ञातव्यानि मनीषिभिः।३। =वह दर्शन देवता और तत्त्वके भेदसे जाना जाता है। ऐसा ऋषियोंने कहा है। और भी—दे० दर्शन(उपयोग)/१/१

२. दर्शनके भेद

षड्दर्शनसमुच्चय/मू./२-३ दर्शनानि षडेवात्र मूलभेदव्यपेक्षया···।२। बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा। जैमिनीयं च नामानि दर्शनानाममून्यहो।३। =मूल भेदकी अपेक्षा दर्शन छह ही होते हैं। उनके नाम यह हैं—बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनीय।

षड्दर्शनसमुच्चय/टी./२/३/१२ अत्र जगति प्रसिद्धानि षडेव दर्शनानि, एव शब्दोऽवधारणे, यद्यपि भेदप्रभेदतया बहूनि दर्शनानि प्रसिद्धानि। =जगत प्रसिद्ध छह ही दर्शन हैं। एव शब्द यहाँ अवधारण अर्थमें है। परन्तु भेद-प्रभेदसे बहुत प्रसिद्ध हैं।

३. वैदिक दर्शनका परिचय

वैदिक दर्शन भारतीय संस्कृति में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। आकाश की भांति विभु परन्तु एक ऐसा तत्त्व इसका प्रतिपाद्य है जो कि स्वयं निराकार होते हुए भी जगत के रूप साकार सा हुआ प्रतीत होता है, स्वयं स्थिर होता हुआ भी इस जगत के रूप अस्थिर सा हुआ प्रतीत होता है। यह अखिल विस्तार इसकी क्षुद्र स्फुरण मात्र है जो सागर की तरंगों की भांति उसी प्रकार इसमें से उदित हो होकर लीन होता रहता है जिस प्रकार कि हमारे चित्त में वैकल्पिक जगत। इस प्रकार यह इस अखिल बाह्याभ्यन्तर विस्तार का मूल कारण है। बुद्धि पूर्वक कुछ न करते हुए भी इसका कर्ताधर्ता तथा संहर्ता है, धाता विधाता तथा नियन्ता है। इसलिये यह इस सारे जगत का आत्मा है, ईश्वर है, ब्रह्म है।

किसी प्राथमिक अथवा अनिष्णात शिष्य को अत्यन्त गुह्य इस तत्त्व का परिचय देना शक्य न होने से यह दर्शन एक होते हुए भी छः भागों में विभाजित हो गया है—वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक, सांख्य, योग और वेदान्त। यद्यपि व्यवहार भूमि पर ये छहों अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते प्रतीत होते हैं, तदपि परमार्थतः एक दूसरे से पृथक कुछ न होकर ये एक अखण्ड वैदिक

दर्शन के उत्तरोत्तर उन्नत छः सोपान हैं। अपने अपने प्रतिपाद्य को सिद्ध करने में दक्ष होने के कारण यद्यपि इनके तर्क हेतु तथा युक्ति एक दूसरे का निराकरण करते हैं तदपि परमार्थतः ये एक दूसरे के पूरक हैं। एक अखण्ड तत्त्व सहसा कहना अथवा समझना शक्य न होने से ये भेदभाव से प्रारम्भ होकर धीरे धीरे अभेदवाद की ओर जाते हैं, अनेक तत्त्ववाद से प्रारम्भ करके धीरे धीरे एक तत्त्ववाद की ओर जाते हैं। कार्य पर से प्रारम्भ होकर धीरे धीरे कारण की ओर जाते हैं, स्थूल पर से प्रारम्भ होकर धीरे धीरे सूक्ष्म की ओर जाते हैं।

४. वैदिक दर्शनोंका क्रमिक विकास

वैशेषिक दर्शन इसका सर्व प्रथम सोपान है, यही कारण है कि जगत की तात्त्विक व्यवस्था का विधान करने के लिए इसे जड़ चेतन तथा चिदाभासी अनेक द्रव्यों की सत्ता मानकर चलना पड़ता है। इन द्रव्यों का स्वरूप दर्शाने के लिये भी गुण-गुणी में, अवयव अवयवी में तथा पर्याय पर्यायी में इसे भेद मानना अनिवार्य है। इसी कारण इसका 'वैशेषिक' नाम अन्वर्थक है। इसके द्वारा स्थापित तत्त्वों को युक्ति पूर्वक सिद्ध करके उनके प्रति श्रद्धा जाग्रत करना 'नैयायिक' दर्शन का प्रयोजन है। इसलिये प्रमेय तथा प्रमाण के अतिरिक्त इन दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है। दोनों प्रायः समकक्ष हैं।

१ वैशेषिक दर्शन

स्थूल जगत्

पृथिवी जल तेजस् वायु आकाश दिक् मन आत्म काल

परमाणु + गंध | परमाणु + रस | परमाणु + रूप | परमाणु + स्पर्श

गंध तन्मात्रा | रस तन्मात्रा | रूप तन्मात्रा | स्पर्श तन्मात्रा | शब्द तन्मात्रा — २ सांख्य दर्शन

अहंकार

बुद्धि

पुरुष (चैतन्य) — अशुद्ध प्रकृति

सत्त्व तमस् रजस्

सत्त्वादि गुणोंकी साम्यावस्था

शुद्ध प्रकृति

पुरुष — शुद्ध सत्त्व — ३ शैव दर्शन

ब्रह्म — माया — ४ अद्वैत दर्शन

माया के पाँच कञ्चुक

कला विद्या राग काल नियति

इस अवस्था में 'मैं' और 'यह' दोनों समान बल वाले हैं

शुद्ध विद्या या सद्विद्या (मैं = यह हूँ)

ईश्वर तत्त्व (यह = मैं हूँ) यहाँ 'यह' अंश प्रधान और 'मैं' अंश (गौण है)

सदाशिव तत्त्व (मैं हूँ का बोध)

शक्ति तत्त्व (मैं का बोध)

परमशिव तत्त्व (शिव-शक्ति का सामरस्य) यही अखण्ड तत्त्व है।

'मीमांसा' दर्शन के तीन अवान्तर भेद हैं जो वैशेषिक मान्य भेदभाव को धीरे धीरे अभेद की ओर ले जाते हैं। अन्तिम भूमि के प्राप्त होने पर वह इतना कहने के लिये समर्थ हो जाता है कि परमार्थतः ब्रह्म ही एक पदार्थ है परन्तु व्यवहार भूमि पर धर्म धर्मी आधार व प्रदेश ऐसे चार तत्त्वों को स्थापित करके उसे समझा जा सकता है।

'सांख्य' की उन्नत भूमि में पदार्पण हो जाने पर जड तथा चेतन ऐसे दो तत्त्व ही शेष रह जाते हैं। धर्म धर्मी में भेद करने की इसे आवश्यकता नहीं। 'योग' दर्शन ध्यान धारण समाधि आदि के द्वारा इन दो तत्त्वों का साक्षात् करने का उपाय सुझाता है। इसलिये वैशेषिक तथा नैयायिक की भाँति सांख्य तथा योग भी परमार्थतः समतन्त्र हैं। सांख्य के द्वारा स्थापित तत्त्व साध्य हैं और योग उनके साक्षात्कार का साधन। 'वेदान्त' इस ध्यान समाधिकी वह चरम भूमि है जहाँ पहुँचने पर चित्त शून्य हो जाता है। जिसके कारण सांख्य कृत जड चेतन का विभाग भी अस्ताचल को चला जाता है। यद्यपि इस विभाग को लेकर इसमें चार सम्प्रदाय उत्पन्न हो जाते हैं, तदपि अन्त में पहुँचकर ये सब अपने विकल्पों को उस एक के चरणों में समर्पित कर देते हैं। (विशेष दे. वह वह नाम)।

५. बौद्ध दर्शन

अद्वैतवादी होने के कारण बौद्ध दर्शन भी वैदिक दर्शन के समकक्ष है। विशेषता यह है कि वैदिक दर्शन जहाँ समस्त भेदों तथा विशेषों को एक महा सामान्य में लीन करके समाप्त करता है वहाँ बौद्ध दर्शन एक सामान्य को विश्लिष्ट करता हुआ उस महा विशेष को प्राप्त करता है जिसमें अन्य कोई विशेष देखा जाना सम्भव नहीं हो सकता। इसलिये जिस प्रकार वैदिक दर्शन का तत्त्व एक अखण्ड तथा निर्विशेष है उसी प्रकार इस दर्शन का तत्त्व भी एक अखण्ड तथा निर्विशेष है। यह अपने तत्त्व को ब्रह्म न कहकर विज्ञान कहता है जो द्रव्य प्रमाण की अपेक्षा एक क्षेत्र प्रमाण की अपेक्षा अणु प्रमाण, काल की अपेक्षा क्षण स्थायी और भाव की अपेक्षा स्वलक्षण मात्र है। व्यवहार भूमि पर दिखने वाला यह विस्तार वास्तव में भ्रान्ति है जो क्षण क्षण प्रति उत्पन्न हो होकर नष्ट होते रहने वाले विज्ञानाणुओं के अटूट प्रवाह के कारण प्रतीति का विषय बन रही है।

★ सर्व दर्शन किसी न किसी नयमें गर्भित हैं।

—(दे० अनेकान्त/२।६)।

६. जैन दर्शन

जैन दर्शन अपनी जाति का स्वयं है। यद्यपि आचार के क्षेत्र में यह भी जीव अजीव आदि सात तत्त्वों की व्यवस्था करता है, तदपि दार्शनिक क्षेत्र में सत् असत्, भेद-अभेद, नित्य-अनित्य आदि पक्षों को पकड़कर एक दूसरे का निराकरण करने में प्रवृत्त हुए उक्त सर्व दर्शनों में सामञ्जस्य की स्थापना करके मैत्री की भावना जागृत करना इसका प्रधान प्रयोजन है। वैदिक दर्शन अपने निर्विकल्प तत्त्व का अध्ययन कराने के लिये जहाँ वैशेषिक आदि छः दर्शनों की स्थापना करता है, वहाँ जैन दर्शन स्वमत मान्य तथा अन्यमत मान्य पदार्थों में सामञ्जस्य उत्पन्न करने के लिये दृष्टिवाद या नयवाद की स्थापना करता है। किसी भी एक पदार्थ को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने में दक्ष ये नयें एक दूसरी का निराकरण न करके परस्पर में एक दूसरी की पूरक होकर रहती हैं। इस कारण यह दर्शन नयवादी, अपेक्षावादी, स्याद्वादी अथवा समन्वयवादी के नाम से प्रसिद्ध है। इसका विशाल हृदय उक्त सभी दर्शनों को, किसी न किसी नय में संग्रह करके आत्मसात कर लेने के लिये समर्थ है।
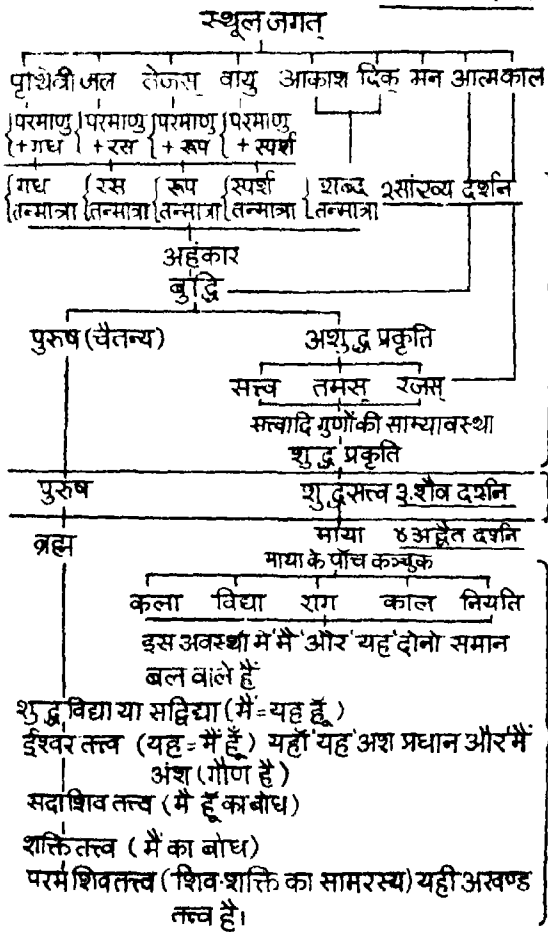
७. जैन दर्शन व वैदिक दर्शनोंका समन्वय

भले हो साम्प्रदायिकताके कारण सर्वदर्शन एक-दूसरेके तत्त्वों-का खण्डन करते हों। परन्तु साम्यवादी जैन दर्शन सबका खण्डन करके उनका समन्वय करता है। या यह कहिए कि उन सर्वदर्शन-मयी ही जैन दर्शन है, अथवा वे सर्वदर्शन जैनदर्शनके ही अंग हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि जिस अद्वैत शुद्धतत्त्वका परिचय देनेके लिए वेद कर्ताओंको पाँच या सात दर्शनोंकी स्थापना करनी पड़ी, उसीका परिचय देनेके लिए जैनदर्शन नयोंका आश्रय लेता है। तहाँ वैशेषिक व नैयायिक दर्शनोंके स्थानपर असद्भूत व सद्भूत व्यवहार नय है। सांख्य व योगदर्शनके स्थानपर शुद्ध व अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय हैं। अद्वैतदर्शनके स्थानपर शुद्ध संग्रहनय है। इनके मध्यके अनेक विकल्पोंके लिए भी अनेकों नय व उपनय हैं, जिनसे तत्त्वका सुन्दर व स्पष्ट परिचय मिलता है। प्ररूपणा करनेके ढंगमें अन्तर होते हुए भी, दोनों एक ही लक्ष्यको प्राप्त करते हैं। अद्वैतदर्शनकी जिस निर्विकल्प दशाका ऊपर वर्णन कर आये हैं वही जैनदर्शनकी कैवल्य अवस्था है। पूर्वमीमांसाके स्थानपर यहाँ दान व पूजा विधानादि, मध्य मीमांसाके स्थानपर यहाँ जिनेन्द्र भक्ति रूप व्यवहार धर्म तथा उत्तरमीमांसाके स्थानपर धर्म व शुक्लध्यान हैं। तहाँ भी धर्मध्यान तो उसकी पहली व दूसरी अवस्था है और शुक्लध्यान उसकी तीसरी व चौथी अवस्था है।

★ **सब एकान्तदर्शन मिलकर एक जैनदर्शन है**—दे० अनेकांत/२।

दर्शन उपयोग—जीवकी चैतन्यशक्ति दर्पणकी स्वच्छत्ववत् शक्ति-वत् है। जैसे—बाह्य पदार्थोंके प्रतिबिम्बोंके बिनाका दर्पण पाषाण है, उसी प्रकार ज्ञेयाकारोंके बिनाकी चेतना जड है। तहाँ दर्पणकी निजी स्वच्छतावत् चेतनका निजी प्रतिभास दर्शन है और दर्पणके प्रतिबिम्बोंवत् चेतनामें पड़े ज्ञेयाकार ज्ञान है। जिस प्रकार प्रति-बिम्ब विशिष्ट स्वच्छता परिपूर्ण दर्पण है उसी प्रकार ज्ञान विशिष्ट दर्शन परिपूर्ण चेतना है। तहाँ दर्शनरूप अन्तर चित्प्रकाश तो सामान्य व निर्विकल्प है, और ज्ञानरूप बाह्य चित्प्रकाश विशेष व सविकल्प है। यद्यपि दर्शन सामान्य होनेके कारण एक है परन्तु साधारण जनोंको समझानेके लिए उसके चक्षु आदि भेद कर दिये गये हैं। जिस प्रकार दर्पणको देखनेपर तो दर्पण व प्रतिबिम्ब दोनों युगपत् दिखाई देते हैं, परन्तु पृथक्-पृथक् पदार्थोंको देखनेसे वे आगे-पीछे दिखाई देते हैं, इसी प्रकार आत्म समाधिमें लीन महायोगियों-को तो दर्शन व ज्ञान युगपत् प्रतिभासित होते हैं, परन्तु लौकिक-जनोंको वे क्रमसे होते हैं। यद्यपि सभी संसारी जीवोंको इन्द्रिय-ज्ञानसे पूर्व दर्शन अवश्य होता है, परन्तु क्षणिक व सूक्ष्म होनेके कारण उसकी पकड़ वे नहीं कर पाते। समाधिगत योगी उसका प्रत्यक्ष करते हैं। निज स्वरूपका परिचय या स्वसंवेदन क्योंकि दर्शनोपयोगसे ही होता है, इसलिए सम्यग्दर्शनमें श्रद्धा शब्दका प्रयोग न करके दर्शन शब्दका प्रयोग किया है। चेतना दर्शन व ज्ञान स्वरूप होनेके कारण ही सम्यग्दर्शनको सामान्य और सम्यग्-ज्ञानको विशेष धर्म कहा है।

२ केवलीके दर्शनज्ञानकी अक्रमवृत्तिमें हेतु।
* अक्रमवृत्ति होनेपर भी केवलदर्शनका उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त रहनेका कारण। —दे० दर्शन/३/२/४।
३ छद्मस्थोंके दर्शनज्ञानकी क्रमवृत्तिमें हेतु।
* दर्शनपूर्वक ईहा आदि ज्ञान होनेका क्रम। —दे० मतिज्ञान/३।

४ दर्शनोपयोग सिद्धि

* दर्शन प्रमाण है। —दे० दर्शन/४/१।
१ आत्मग्रहण अनध्यवसायरूप नहीं है।
२ दर्शनके लक्षणमें सामान्यपदका अर्थ आत्मा।
३ सामान्य शब्दका अर्थ यहाँ निर्विकल्परूपसे सामान्य विशेषात्मक ग्रहण है।
४ सामान्यविशेषात्मक आत्मा केवल सामान्य कैसे कहा जा सकता है।
* दर्शनका अर्थ स्वरूप संवेदन करनेपर सभी जीव सम्यग्दृष्टि हो जायेंगे। —दे० सम्यग्दर्शन/I/१।
* यदि आत्मग्राहक ही दर्शन है तो चक्षु आदि दर्शनोंकी बाह्यार्थाश्रित प्ररूपणा क्यों की। —दे० दर्शन/५/३, ४।
* यदि दर्शन बाह्यार्थको नहीं जानता तो सर्वान्धत्वका प्रसंग आता है। —दे० दर्शन/२/७।
५ दर्शन सामान्यके अस्तित्वकी सिद्धि।
* अनाकार व अव्यक्त उपयोगके अस्तित्वकी सिद्धि। —दे० आकार/२/३।
६ दर्शनावरण प्रकृति भी स्वरूप संवेदनको घातती है।
७ सामान्यग्रहण व आत्मग्रहणका समन्वय।

५ दर्शनोपयोगके भेदोंका निर्देश

१ दर्शनोपयोगके भेदोंका नाम निर्देश।
२ चक्षु आदि दर्शनोंके लक्षण।
३ बाह्यार्थाश्रित प्ररूपणा परमार्थसे अन्तरंग विषयको ही बताती है।
४ बाह्यार्थाश्रित प्ररूपणाका कारण।
५ चक्षुदर्शन सिद्धि।
६ दृष्टकी स्मृतिका नाम अचक्षु दर्शन नहीं।
७ पाँच दर्शनोंके लिए एक अचक्षुदर्शन नाम क्यों?
* चक्षु, अचक्षु व अवधिदर्शन क्षायोपशमिक कैसे हैं। —दे० मतिज्ञान/२/४।
८ केवलज्ञान व दर्शन दोनों कथंचित् एक हैं।
९ केवलज्ञानसे भिन्न केवलदर्शनकी सिद्धि।
१० आवरणकर्मके अभावसे केवलदर्शनका अभाव नहीं होता।

६ श्रुत विभंग व मनःपर्ययके दर्शनों सम्बन्धी

१ श्रुतदर्शनके अभावमें युक्ति।
२ विभंगदर्शनके अस्तित्वका कथंचित् विधि-निषेध।
३ मनःपर्यय दर्शनके अभावमें युक्ति।
४ मतिज्ञान ही श्रुत व मनःपर्ययका दर्शन है।

७ दर्शनोपयोग सम्बन्धी कुछ प्ररूपणाएँ

* ज्ञान दर्शन उपयोग व ज्ञान-दर्शनमार्गणामें अन्तर। —दे० उपयोग/I/२।
१ दर्शनोपयोग अन्तर्मुहूर्त अवस्थायी है।
२ लब्ध्यपर्याप्त दशामें चक्षुदर्शनका उपयोग नहीं होता पर निवृत्त्यपर्याप्त दशामें कथंचित् होता है।
३ मिश्र व कार्माणकाययोगियोंमें चक्षुदर्शनोपयोगका अभाव।
* उत्कृष्ट संक्लेश व विशुद्ध परिणामोंमें दर्शनोपयोग संभव नहीं। —दे० विशुद्धि।
४ दर्शन मार्गणामें गुणस्थानोंका स्वामित्व।
* दर्शन मार्गणा विषयक गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणास्थान आदिके स्वामित्वकी २० प्ररूपणा। —दे० सत्।
* दर्शन विषयक सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व। —दे० वह वह नाम।
* दर्शनमार्गणामें आयके अनुसार ही व्यय होनेका नियम। —दे० मार्गणा।
* दर्शन मार्गणामें कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व। —दे० वह वह नाम।

१. दर्शनोपयोग निर्देश

१. दर्शनका आध्यात्मिक अर्थ

द. पा./मू. १४ दुविहं पि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि। णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होई।१४। =बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग होय, तीनों योगविषै संयम होय, तीन करण जामें शुद्ध होय, ऐसा ज्ञान होय, बहुरि निर्दोष खड़ा पाणिपात्र आहार करै, ऐसे मूर्तिमंत दर्शन होय।

बो. पा./मू./१४ दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तसंयमं सुधम्मं च। णिग्गंथणाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं।१४।—जो मोक्षमार्गको दिखावे सो दर्शन है। वह मोक्षमार्ग सम्यक्त्व, संयम और उत्तमक्षमादि सुधर्म रूप है। तथा बाह्यमें निर्ग्रन्थ और अन्तरंगमें ज्ञानमयी ऐसे मुनिके रूपको जिनमार्गमें दर्शन कहा है।

द. पा./पं. जयचन्द/१/३/१० दर्शन कहिये मत (द. पा./पं. जयचन्द/१४/२६/३)।

द. पा./पं. जयचन्द/२/५/२ दर्शन नाम देखनेका है। ऐसे (उपरोक्त प्रकार) धर्मकी मूर्ति (दिगम्बर मुनि) देखनेमें आवै सो दर्शन है, सो प्रसिद्धतासे जामें धर्मका ग्रहण होय ऐसा मतकूं दर्शन ऐसा नाम है।

२. दर्शनका व्युत्पत्ति अर्थ

स. सि./१/१/६/१ पश्यति दृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्रं वा दर्शनम् ।=दर्शन शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जो देखता है, जिसके द्वारा देखा जाय अथवा देखनामात्र। (गो. जी./जी. प्र./४८३/८८६/२)।

रा. वा./१/१/ वार्तिक नं. पृष्ठ नं./पंक्ति नं. पश्यति वा येन तद् दर्शनं। (१/१/४/४/२४)। एवंभूतनयवक्तव्यवशात्—दर्शनपर्यायपरिणत आत्मैव···दर्शनम् (१/१/५/५/१) पश्यतीति दर्शनम्। (१/१/२४/-६/१)। दृष्टिर्दर्शनम्/ (१/१/२६/६/१२)।—जिससे देखा जाये वह दर्शन है। एवम्भूतनयकी अपेक्षा दर्शनपर्यायसे परिणत आत्मा ही दर्शन है। जो देखता है सो दर्शन है। देखना मात्र ही दर्शन है।

ध. १/१.१.४/१४५/३ दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्। —जिसके द्वारा देखा जाय या अवलोकन किया जाय उसे दर्शन कहते हैं।

३. दर्शनोपयोगके अनेकों लक्षण

१. विषयविषयी सन्निपात होनेपर 'कुछ है' इतना मात्र ग्रहण।

स. सि./१/१५/१११/३ विषयविषयिसंनिपाते सति दर्शनं भवति।—विषय और विषयीका सन्निपात होनेपर दर्शन होता है। (रा. वा./१/१५/१/६०/२); (तत्त्वार्थवृत्ति/१/१५)।

ध. १/१.१.४/१४६/२ विषयविषयिसंपातात् पूर्वावस्था दर्शनमित्यर्थः।

ध. १३/५.५.८५/३५४/७ सा बज्झत्थग्गहणुम्मुहावस्था चेव दंसणं, किंतु बज्झत्थग्गहणुवसंहरणपढमसमयप्पहुडि जाव बज्झत्थअग्गहणचरिमसमिओ त्ति दंसणुवजोगो त्ति घेत्तव्वं। —१. विषय और विषयीके योग्य देशमें होनेकी पूर्वावस्थाको दर्शन कहते हैं। बाह्य अर्थके ग्रहणके उन्मुख होनेरूप जो अवस्था होती है, वही दर्शन हो, ऐसी बात भी नहीं है; किन्तु बाह्यार्थग्रहणके उपसंहारके प्रथम समयसे लेकर बाह्यार्थके अग्रहणके अन्तिम समय तक दर्शनोपयोग होता है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। (विशेष दे० दर्शन/२/६)।

स. भं. त./४७/६ दर्शनस्य किंचिदित्यादिरूपेणाकारग्रहणम् स्वरूपम्। —विशेषण विशेष्यभावसे शून्य 'कुछ है' इत्यादि आकारका ग्रहण दर्शनका स्वरूप है।

२. सामान्य मात्रका ग्राही

पं. सं./प्रा./१/१३८ जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टु आयारं। अविसेसिऊण अत्थं दंसणमिदि भण्णदे समए। —सामान्य विशेषात्मक पदार्थोंके आकार विशेषको ग्रहण न करके जो केवल निर्विकल्प रूपसे अंशका या स्वरूपमात्रका सामान्य ग्रहण होता है, उसे परमागममें दर्शन कहते हैं। (ध. १/१.१.४/गा. ९३/१४९); (ध. ७/५.५.५६/गा. ११/१००); (प. प्र./मू./२/३४); (गो. जी. मू./४८२/८८८); (द्र. सं./मू./४३)।

दे. दर्शन/४/३/ (यह अमुक पदार्थ है यह अमुक पदार्थ है, ऐसी व्यवस्था किये बिना जानना ही आकारका न ग्रहण करना है)।

गो. जी./मू./४८३/८८९ भावाणं सामण्णविसेसयाणं सरूवमेत्तं जं। वण्णहीणग्गहणं जीवेण य दंसणं होदि।४८३।—सामान्य विशेषात्मक जे पदार्थ तिनिका स्वरूपमात्र भेद रहित जैसे है तैसे जीवकरि सहित जो स्वपर सत्ताका प्रकाशना सो दर्शन है।

द्र. सं./टी./४३/१८६/१० अयमत्र भावः—यदा कोऽपि किमप्यवलोकयति पश्यति; तदा यावत् विकल्पं न करोति तावत् सत्तामात्रग्रहणं दर्शनं भण्यते। पश्चाच्छुक्लादिविकल्पे जाते ज्ञानमिति। —तात्पर्य यह है कि—जब कोई भी किसी पदार्थको देखता है, तब जब तक वह देखनेवाला विकल्प न करे तबतक तो जो सत्तामात्रका ग्रहण है उसको दर्शन कहते हैं। और फिर जब यह शुक्ल है, यह कृष्ण इत्यादि रूपसे विकल्प उत्पन्न होते हैं तब उसको ज्ञान कहते हैं।

स्या. म./१/१०/२२ सामान्यप्रधानमुपसर्जनीकृतविशेषमर्थग्रहणं दर्शनमुच्यते। तथा प्रधानविशेषमुपसर्जनीकृतसामान्यं च ज्ञानमिति।—सामान्यकी मुख्यतापूर्वक विशेषको गौण करके पदार्थके जाननेको दर्शन कहते हैं और विशेषकी मुख्यतापूर्वक सामान्यको गौण करके पदार्थके जाननेको ज्ञान कहते हैं।

३. उत्तर ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए व्यापार विशेष

ध. १/१.१.४/१४६/१ प्रकाशवृत्तिर्वा दर्शनम्। अस्य गमनिका, प्रकाशो ज्ञानम्। तदर्थमात्मनो वृत्तिः प्रकाशवृत्तिस्तद्दर्शनमिति। —अथवा प्रकाश वृत्तिको दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ इस प्रकार है, कि प्रकाश ज्ञानको कहते हैं, और उस ज्ञानके लिए जो आत्माका व्यापार होता है, उसे प्रकाश वृत्ति कहते हैं। और वही दर्शन है।

ध. ३/१.२.१६१/४५७/२ उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्तप्रयत्नविशिष्टस्वसंवेदनस्य दर्शनत्वात्। —उत्तरज्ञानकी उत्पत्तिके निमित्तभूत प्रयत्नविशिष्ट स्वसंवेदनको दर्शन माना है। (द्र. सं./टी./४४/१८६/५)

ध. ६/१.६-१, १६/३२/८ ज्ञानोत्पादकप्रयत्नानुविद्धस्वसंवेदो दर्शनं आत्मविशेषोपयोग इत्यर्थः। नात्र ज्ञानोत्पादकप्रयत्नस्य तन्त्रता, प्रयत्नरहितक्षीणावरणान्तरङ्गोपयोगस्स अदर्शनत्वप्रसंगात्। —ज्ञानका उत्पादन करनेवाले प्रयत्नसे सम्बद्ध स्वसंवेदन, अर्थात् आत्मविषयक उपयोगको दर्शन कहते हैं। इस दर्शनमें ज्ञानके उत्पादक प्रयत्नकी पराधीनता नहीं है। यदि ऐसा न माना जाय तो प्रयत्न रहित क्षीणावरण और अन्तरंग उपयोगवाले केवलीके अदर्शनत्वका प्रसंग आता है।

४. आलोचन या स्वरूप संवेदन

रा. वा./९/७/११/६०४/११ दर्शनावरणक्षयक्षयोपशमाविर्भूतवृत्तिरालोचनं दर्शनम्।—दर्शनावरणके क्षय और क्षयोपशमसे होनेवाला आलोचन दर्शन है।

ध. १/१.१.४/१४८/६ आलोकनवृत्तिर्वा दर्शनम्। अस्य गमनिका, आलोकत इत्यालोकनमात्मा, वर्तनं वृत्तिः, आलोकनस्य वृत्तिरालोकनवृत्तिः स्वसंवेदनं, तद्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः।—आलोकन अर्थात् आत्माके व्यापारको दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जो आलोकन करता है उसे आलोकन या आत्मा कहते हैं और वर्तन अर्थात् वृत्तिको आत्माकी वृत्ति कहते हैं। तथा आलोकन अर्थात् आत्माकी वृत्ति अर्थात् वेदनरूप व्यापारको आलोकन वृत्ति या स्वसंवेदन कहते हैं। और उसीको दर्शन कहते हैं। यहाँपर दर्शन इस शब्दसे लक्ष्यका निर्देश किया है।

ध. १३/५.५.८५/३५५/२ अंतरंगउवजोगो।······बज्झत्थगहणसंते विसिट्ठसगसरूवसंवयणं दंसणमिदि सिद्धं। —अन्तरंग उपयोगको दर्शनोपयोग कहते हैं। बाह्य अर्थका ग्रहण होनेपर जो विशिष्ट आत्मस्वरूपका वेदन होता है वह दर्शन है। (ध. ६/१.६-१,६/६/३); (ध. १५/६/१)।

५. अन्तश्चित्प्रकाश

ध. १/१.१.४/१४५/४ अन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्दर्शनज्ञानव्यपदेशभाजो···।=अन्तश्चित्प्रकाशको दर्शन और बहिश्चित्प्रकाशको ज्ञान माना है। नोट—(इस लक्षण सम्बन्धी विशेष विस्तारके लिए देखो आगे दर्शन/२।

२. ज्ञान व दर्शनमें अन्तर

१. दर्शनके लक्षणमें देखनेका अर्थ ज्ञान नहीं है

ध. १/१.१.४/१४५/३ दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्। नाक्ष्णालोकेन चातिप्रसङ्गयोरनात्मधर्मत्वात्। दृश्यते ज्ञायतेऽनेनेति दर्शनमित्युच्यमाने ज्ञान-

दर्शनयोरविशेषः स्यादिति चेन्न, अन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्दर्शन-ज्ञानव्यपदेशभाजोरेकत्वविरोधात् ।—प्रश्न—'जिसके द्वारा देखा जाय अर्थात् अवलोकन किया जाये उसे दर्शन कहते हैं', दर्शनका इस प्रकार लक्षण करनेसे, चक्षु इन्द्रिय व आलोक भी देखनेमें सहकारी होनेसे, उनमें दर्शनका लक्षण चला जाता है, इसलिए अतिप्रसंग दोष आता है ? उत्तर—नहीं आता, क्योंकि इन्द्रिय और आलोक आत्माके धर्म नहीं हैं। यहाँ चक्षुसे द्रव्य चक्षुका ही ग्रहण करना चाहिए। प्रश्न—जिसके द्वारा देखा जाय, जाना जाय उसे दर्शन कहते हैं। दर्शनका इस प्रकार लक्षण करने पर, ज्ञान और दर्शनमें कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अर्थात् दोनों एक हो जाते हैं ? उत्तर—नहीं, क्योंकि अन्तर्मुख चित्प्रकाशको दर्शन और बहिर्मुख-चित्काशको ज्ञान माना है, इसलिए इन दोनोंके एक होनेमें विरोध आता है ।

२. अन्तर्मुख व बहिर्मुख चित्प्रकाशका तात्पर्य—अना-कार व साकार ग्रहण

ध.१/१,१,४/१४५/६ स्वतो व्यतिरिक्तबाह्यार्थावगतिः प्रकाश इत्यन्त-र्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्जानात्यनेनात्मानं बाह्यार्थमिति च ज्ञान-मिति सिद्धत्वादेकत्वम्, ततो न ज्ञानदर्शनयोर्भेद इति चेन्न, ज्ञाना-दिव दर्शनात् प्रतिकर्मव्यवस्थाभावात् । —प्रश्न—अपनेसे 'भिन्न बाह्यपदार्थोंके ज्ञानको प्रकाश कहते हैं, इसलिए अन्तर्मुख चैतन्य और बहिर्मुख प्रकाशके होने पर जिसके द्वारा यह जीव अपने स्वरूप-को और पर पदार्थोंको जानता है उसे ज्ञान कहते हैं। इस प्रकारकी व्याख्याके सिद्ध हो जानेसे ज्ञान और दर्शनमें एकता आ जाती है, इसलिए उनमें भेद सिद्ध नहीं हो सकता है ? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि जिस तरह ज्ञानके द्वारा 'यह घट है', यह पट है' इत्यादि विशेष रूपसे प्रतिनियत व्यवस्था होती है उस तरह दर्शनके द्वारा नहीं होती है, इसलिए इन दोनोंमें भेद है।

क.पा १/१-१५/§३०६/३३७/२ अंतरंगविसयस्स उवजोगस्स दंसणत्तब्भुव-गमादो। तं कथं णव्वदे। अणायारत्तण्णहाणुववत्तीदो। —अन्त-रंग पदार्थको विषय करनेवाले उपयोगको दर्शन स्वीकार किया है। प्रश्न—दर्शन उपयोगका विषय अन्तरंग पदार्थ है यह कैसे जाना जाता है ? उत्तर—यदि दर्शनोपयोगका विषय अन्तरंग पदार्थ न माना जाय तो वह अनाकार नहीं बन सकता।

दे० आकार/२/३('मैं इस पदार्थको जानता हूँ' इस प्रकारका पृथग्भूत कर्ता कर्म नहीं पाये जानेसे अन्तरंग व निराकार उपयोग विषया-कार नहीं होता)

द्र.सं./टी/४४/१८९/७ यथा कोऽपि पुरुषो घटविषयविकल्पं कुर्वन्नास्ते, पश्चात् पटपरिज्ञानार्थं चित्ते जाते सति घटविकल्पाद् व्यावृत्य यत् स्वरूपे प्रयत्नमवलोकनं परिच्छेदनं करोति तद्दर्शनमिति। तदनन्तरं पटोऽयमिति निश्चयं यद्बहिर्विषयरूपेण पदार्थग्रहणविकल्पं करोति तद् ज्ञानं भण्यते। —जैसे कोई पुरुष पहिले घटके विषयका विकल्प (मैं इस घटको जानता हूँ अथवा यह घट लाल है, इत्यादि) करता हुआ बैठा है। फिर उसी पुरुषका चित्त जब पटके जाननेके लिए होता है, तब वह पुरुष घटके विकल्पसे हटकर जो स्वरूपमें प्रयत्न अर्थात् अवलोकन करता है, उसको दर्शन कहते हैं। उसके अनन्तर 'यह पट है' इस प्रकारसे निश्चय रूप जो बाह्य विषय रूपसे पदार्थ-ग्रहणस्वरूप विकल्पको करता है वह विकल्प ज्ञान कहलाता है।

३. केवल सामान्य ग्राहक दर्शन और केवल विशेष-ग्राही ज्ञान—ऐसा नहीं है

ध.१/१,१,४/१४६/३ तर्हास्त्वन्तर्बाह्यसामान्यग्रहणं दर्शनम्, विशेषग्रहणं ज्ञानमिति चेन्न, सामान्यविशेषात्मकस्य वस्तुनो विक्रमेणोपलम्भात्। सोऽप्यस्तु न कश्चिद्विरोध इति चेन्न, 'हंदि दुवे णत्थि उवजोगा' इत्यनेन सह विरोधात्। अपि च न ज्ञानं प्रमाणं सामान्यव्यतिरिक्त-विशेषस्यार्थक्रियाकर्तृत्वं प्रत्यसमर्थत्वतोऽवस्तुनो ग्रहणात्। न तस्य ग्रहणमपि सामान्यव्यतिरिक्ते विशेषे ह्यवस्तुनि कर्तृकर्मरूपा-भावात्। तत् एव न दर्शनमपि प्रमाणम्। —प्रश्न—यदि ऐसा है तो (यदि दर्शन द्वारा प्रतिनियत घट पट आदि पदार्थोंको नहीं जानता तो) अन्तरंग सामान्य और बहिरंग सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन है, और अन्तर्बाह्य विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है, ऐसा मान लेना चाहिए ? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि सामान्य और विशेषात्मक वस्तुका क्रमके बिना ही ग्रहण होता है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो होने दो, क्योंकि क्रमके बिना भी सामान्य व विशेषका ग्रहण माननेमें कोई विरोध नहीं है ? उत्तर—१. ऐसा नहीं है, क्योंकि, 'छद्मस्थोंके दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते हैं' इस कथनके साथ पूर्वोक्त कथनका विरोध आता है। (इस सम्बन्धी विशेष देखो आगे 'दर्शन/३'), (ध.१३/५,५,१९/२०८/१); (ध.६/१,९-१, १६/३३/८) २. दूसरी बात यह है कि सामान्यको छोड़कर केवल विशेष अर्थ क्रिया करनेमें असमर्थ है। और जो अर्थ क्रिया करनेमें असमर्थ होता है वह अवस्तु रूप पड़ता है। (क.पा./१/§३२४/३५१/३) (ध.१/१,१,४/१४८/२); (ध.६/१,९-१,१६/३३/९), (दे० सामान्य) ३. उस (अवस्तु) का ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता, और केवल विशेषका ग्रहण भी तो नहीं हो सकता है, क्योंकि, सामान्य रहित केवल विशेषमें कर्ता कर्म रूप व्यवहार (मैं इसको जानता हूँ ऐसा भेद) नहीं बन सकता है। इस तरह केवल विशेष-को ग्रहण करनेवाले ज्ञानमें प्रमाणता सिद्ध नहीं होनेसे केवल सामान्यको ग्रहण करने वाले दर्शनको भी प्रमाण नहीं मान सकते हैं। (ध.६/१,९-१,१६/३३/१०), (द्र.सं./टी./४४/१९०/८) ४. और इस प्रकार दोनों उपयोगोंका ही अभाव प्राप्त होता है। (दे० आगे शीर्षक नं. ४) ५. (द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयके बिना वस्तुका ग्रहण होनेमें विरोध आता है) (ध.१३/५,५,१९/२०८/४)

ध.६/१,९-१,१६/३३/६ बाह्यार्थसामान्यग्रहणं दर्शनमिति केचिदाचक्षते; तन्न; सामान्यग्रहणास्तित्वं प्रत्यविशेषत: श्रुतमनःपर्यययोरपि दर्शन-स्यास्तित्वप्रसंगात्। —६. बाह्य पदार्थको सामान्य रूपसे ग्रहण करना दर्शन है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। किन्तु वह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि सामान्य ग्रहणके अस्तित्वके प्रति कोई विशेषता न होनेसे, श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान, इन दोनोंको भी दर्शनके अस्तित्वका प्रसंग आता है। (तथा इन दोनोंके दर्शन माने नहीं गये हैं (दे० आगे दर्शन/४)

४. ज्ञान व दर्शनको केवल सामान्य या विशेषग्राही माननेसे द्रव्यका जानना ही अशक्य है

ध.७/२,१,५६/९७/१ ण चासेसविसेसमेत्तग्गाही केवलणाणं चेव जेण सयल-त्थसामण्णं केवलदंसणस्स विसओ होज्ज, संसारावत्थाए आवरणवसेण कमेण पवट्टमाणणाणदंसणाणं दव्वागमाभावप्पसंगादो। कुदो। ण णाणं दव्वपरिच्छेदयं, सामण्णविदिरित्तविसेसेसु तस्स वावारादो। ण दंसणं पि दव्वपरिच्छेदयं, तस्स विसेसविदिरित्तसामण्णम्मि वावारादो। ण केवलं संसारावत्थाए चेव दव्वग्गहणाभावो, किंतु ण केवलिम्हि वि दव्वग्गहणमत्थि, सामण्णविसेसेसु एयंत दुरंतपंथ-संठिएसु वावदाणं केवलदंसणणाणाणं दव्वम्मि, वावारविरोहादो। ण च एयंत सामण्णविसेसा अत्थि जेण तेसिं विसओ होज्ज। असं-तस्स पमेयत्ते इच्छिज्जमाणे गद्दहसिंगं पि पमेयत्तमल्लिएज्ज, अभावं पडिविसेसाभावादो। पमेयाभावे ण पमाणं पि, तस्स तण्णिबंध-णादो। —अशेष विशेषमात्रको ग्रहण करने वाला केवलज्ञान हो,

ऐसा नहीं है, जिससे कि सकल पदार्थोंका ज्ञान सामान्य धर्म केवल दर्शनका विषय हो जाय। क्योंकि ऐसा माननेसे, ज्ञान दर्शनकी क्रमप्रवृत्ति वाली संसारावस्थामें द्रव्यके ज्ञानका अभाव होनेका प्रसंग आता है। कैसे ?—ज्ञान तो द्रव्यको न जान सकेगा, क्योंकि सामान्य रहित केवल विशेषमें ही उसका व्यापार परिमित हो गया है। दर्शन भी द्रव्यको नहीं जान सकता, क्योंकि विशेषोंसे रहित केवल सामान्यमें उसका व्यापार परिमित हो गया है। केवल संसारावस्थामें ही नहीं किन्तु केवलीमें भी द्रव्यका ग्रहण नहीं हो सकेगा, क्योंकि, एकान्तरूपी दुरन्तपथमें स्थित सामान्य व विशेष-में प्रवृत्त हुए केवलदर्शन और केवलज्ञानका (उभयरूप) द्रव्य-मात्रमें व्यापार माननेमें विरोध आता है। एकान्ततः पृथक् सामान्य व विशेष तो होते नहीं हैं, जिससे कि वे क्रमशः केवलदर्शन और केवलज्ञानके विषय हो सकें। और यदि असत्को भी प्रमेय मानोगे तो गधेका सींग भी प्रमेय कोटिमें आ जायेगा, क्योंकि अभावकी अपेक्षा दोनोंमें कोई विशेषता नहीं रही। प्रमेयके न होने पर प्रमाण भी नहीं रहता, क्योंकि प्रमाण तो प्रमेयमूलक ही होता है। (क.पा./-१/१-२०/§३२२/३५३/१; §३२४/३५६/१)

५. सामान्य विशेषात्मक उभयरूप ही अन्तरंग ग्रहण दर्शन और बाह्यग्रहण ज्ञान है

ध.१/१,१,४/१४७/२ ततः सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थग्रहणं ज्ञानं तदात्मकस्वरूपग्रहणं दर्शनमिति सिद्धम्। —अतः सामान्य विशेषा-त्मक बाह्यपदार्थको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है और सामान्य विशेषा-त्मक स्वरूपको ग्रहण करनेवाला दर्शन है यह सिद्ध हो जाता है। (क.पा./१/१-२०/§३२५/३५६/१)

ध.१/१,१,१३१/३८०/३ अन्तरङ्गार्थोऽपि सामान्यविशेषात्मक इति। तद्विधिप्रतिषेधसामान्ययोरुपयोगस्य क्रमेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरक्रमेण तत्रोपयोगस्य प्रवृत्तिरङ्गीकर्तव्या। तथा च न सोऽन्तरङ्गोपयोगोऽपि दर्शनं तस्य सामान्यविशेषविषयत्वादिति चेन्न, सामान्यविशेषात्मक-स्यात्मनः सामान्यशब्दवाच्यत्वेनोपादानात्। —अन्तरंग पदार्थ भी सामान्य विशेषात्मक होता है, इसलिए विधि सामान्य और प्रति-षेध सामान्यमें उपयोगकी क्रमसे प्रवृत्ति नहीं बनती है, अतः उनमें उपयोगकी अक्रमसे प्रवृत्ति स्वीकार करना चाहिए। अर्थात् दोनोंका युगपत् ही ग्रहण होता है। प्रश्न—इस कथनको मान लेने पर वह अन्तरंग उपयोग दर्शन नहीं हो सकता है, क्योंकि (यहाँ) उस अन्तरंग उपयोगको सामान्य विशेषात्मक पदार्थको विषय करनेवाला मान लिया गया है (जब कि उसका लक्षण केवल सामान्य-को विषय करना है (दे०—दर्शन/१/३/२)। उत्तर—नहीं, क्योंकि, यहाँ पर सामान्य विशेषात्मक आत्माका सामान्य शब्दके वाच्य-रूपसे ग्रहण किया है। (विशेष दे० आगे दर्शन/3)

६. दर्शन व ज्ञानकी स्व-पर ग्राहकताका समन्वय

नि.सा./मू./१६१-१७१ णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव। अप्पा सपरपयासो होदि त्ति हि मण्णदे जदि हि ।१६१। णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं। ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ।१६२। अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं। ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ।१६३। णाणं परप्पयासं ववहारणयएण दंसणं तम्हा। अप्पा पर-प्पयासो ववहारणयएण दंसणं तम्हा ।१६४। णाणं अप्पपयासं णिच्छय-णयएण दंसणं तम्हा। अप्पा अप्पपयासो णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ।१६५। —एकान्तसे ज्ञानको परप्रकाशक, दर्शनको स्वप्रकाशक तथा आत्माको स्वपरप्रकाशक यदि कोई माने तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि वैसा माननेमें विरोध आता है ।१६१। ज्ञानको एकान्तसे परप्रकाशक माननेपर वह दर्शनसे भिन्न ही एक पदार्थ बन बैठेगा, क्योंकि दर्शनको वह सर्वथा परद्रव्यगत नहीं मानता ।१६२। इसी प्रकार ज्ञानकी अपेक्षा आत्माको एकान्तसे परप्रकाशक माननेपर भी वह दर्शनसे भिन्न हो जायेगा, क्योंकि दर्शनको वह सर्वथा परद्रव्य-गत नहीं मानता ।१६३। (ऐसे ही दर्शनको या आत्माको एकान्तसे स्वप्रकाशक मानने पर वे ज्ञानसे भिन्न हो जायेंगे, क्योंकि ज्ञानको वह सर्वथा स्वप्रकाशक न मान सकेगा। अतः इसका समन्वय अने-कान्त द्वारा इस प्रकार किया जाना चाहिए, कि –) क्योंकि व्यवहार-नयसे अर्थात् भेद विवक्षासे ज्ञान व आत्मा दोनों परप्रकाशक हैं, इसलिए दर्शन भी पर प्रकाशक है। इसी प्रकार, क्योंकि निश्चय-नयसे अर्थात् अभेद विवक्षासे ज्ञान व आत्मा दोनों स्वप्रकाशक हैं इसलिए दर्शन भी स्वप्रकाशक है ।१६५। (तात्पर्य यह कि दर्शन, ज्ञान व आत्मा ये तीनों कोई पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ तो हैं नहीं जो कि एकका धर्म दूसरेसे सर्वथा अस्पृष्ट रहे। तीनों एक पदार्थ-स्वरूप होनेके कारण एक रस हैं। अतः ज्ञान ज्ञाता ज्ञेयको अथवा दर्शन द्रष्टा दृश्यको भेद विवक्षा होनेपर तीनों ही परप्रकाशक हैं तथा उन्हींमें अभेद विवक्षा होने पर जो ज्ञान है, वही ज्ञाता है, वही ज्ञेय है, वही दर्शन है, वही द्रष्टा है और वही दृश्य है। अतः ये तीनों ही स्वप्रकाशक हैं।) (अथवा—जब दर्शनके द्वारा आत्माका ग्रहण होता है, तब स्वतः ज्ञानका तथा उसमें प्रतिबिम्बित पर पदार्थोंका भी ग्रहण कैसे न होगा, होगा ही।) (दे० आगे शीर्षक नं० ७); (केवलज्ञान/६/१) (दे० अगले दोनों उद्धरण भी)

ध.६/१,९-१,१६/३४/४ तम्मादात्मा स्वपरावभासक इति निश्चेतव्यम्। तत्र स्वावभासः केवलदर्शनम्, परावभासः केवलज्ञानम्। तथा सति कथं केवलज्ञानदर्शनयोः साम्यमिति इति चेन्न, ज्ञेयप्रमाणज्ञानात्मका-त्मानुभवस्य ज्ञानप्रमाणत्वाविरोधात्। —इसलिए (उपरोक्त व्याख्या-के अनुसार) आत्मा ही (वास्तवमें) स्व-पर अवभासक है, ऐसा निश्चय करना चाहिए। उसमें स्वप्रतिभासको केवल दर्शन कहते हैं और पर प्रतिभासको केवलज्ञान कहते हैं। (क.पा.१/१-२०/§३२६/३५८/२); (ध. ७/२,१,५६/९९/१०) प्रश्न—उक्त प्रकारकी व्यवस्था मानने पर केवलज्ञान और केवलदर्शनमें समानता कैसे रह सकेगी ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ज्ञेयप्रमाण ज्ञानात्मक आत्मानुभवके ज्ञानको प्रमाण होनेमें कोई विरोध नहीं है। (ध.१/१,१,१३५/३८५/७)

द्र.सं./टी./४४/१८९/११ अत्राह शिष्यः—यद्यात्मग्राहकं दर्शनं, परग्राहकं ज्ञानं भण्यते, तर्हि यथा नैयायिकमते ज्ञानमात्मानं न जानाति; तथा जैनमतेऽपि ज्ञानमात्मानं न जानातीति दूषणं प्राप्नोति। अत्र परिहारः। नैयायिकमते ज्ञानं पृथग्दर्शनं पृथगिति गुणद्वयं नास्ति; तेन कारणेन तेषामात्मपरिज्ञानाभावदूषणं प्राप्नोति। जैनमते पुन-र्ज्ञानगुणेन परद्रव्यं जानाति, दर्शनगुणेनात्मानं च जानातीत्यात्मपरि-ज्ञानाभावदूषणं न प्राप्नोति। कस्मादिति चेत्—यथैकोऽप्यग्निर्दह-तीति दाहकः, पचतीति पाचको, विषयभेदेन द्विधा भिद्यते। तथै-वाभेदनयेनैकमपि चैतन्यं भेदनयविवक्षायां यदात्मग्राहकत्वेन प्रवृत्तं तदा तस्य दर्शनमिति संज्ञा, पश्चात् यच्च परद्रव्यग्राहकत्वेन प्रवृत्तं तस्य ज्ञानसंज्ञेति विषयभेदेन द्विधा भिद्यते। —प्रश्न—यदि अपनेको ग्रहण करनेवाला दर्शन और पर पदार्थको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है, तो नैयायिकोंके मतमें जैसे ज्ञान अपनेको नहीं जानता है, वैसे ही जैनमतमें भी 'ज्ञान आत्माको नहीं जानता है' ऐसा दूषण आता है ? उत्तर—नैयायिकमतमें ज्ञान और दर्शन दो अलग-अलग गुण नहीं माने गये हैं, इसलिए उनके यहाँ तो उपरोक्त दूषण प्राप्त हो सकता है; परन्तु जैनसिद्धान्तमें 'आत्मा' ज्ञान गुणसे तो पर पदार्थको जानता है, और दर्शन गुणसे आत्माको जानता है, इस कारण यहाँ यह दूषण प्राप्त नहीं होता। प्रश्न—यह दूषण क्यों नहीं होता ? उत्तर—जैसे कि एक ही अग्नि दहनगुणसे जलाता होनेसे दाहक

कहलाता है, और पाचन गुणसे पकाता होनेसे पाचक कहलाता है। इस प्रकार विषय भेदसे वह एक भी दाहक व पाचक रूप दो प्रकारका है। उसी प्रकार अभेदनयसे एक ही चैतन्य भेदनयकी विवक्षामें जब आत्मग्रहण रूपसे प्रवृत्त हुआ तब तो उसका नाम दर्शन हुआ; जब परपदार्थको ग्रहण करने रूप प्रवृत्त हुआ तब उस चैतन्यका नाम ज्ञान हुआ; इस प्रकार विषयभेदसे वह एक भी चैतन्य दो प्रकारका होता है।

७. दर्शनमें भी कथंचित् बाह्य पदार्थोंका ग्रहण होता है

द्र.सं./टी./४४/१९१/३ अथ मतं—यदि दर्शनं बहिर्विषये न प्रवर्तते तदान्धवत् सर्वजनानामन्धत्वं प्राप्नोतीति। नैवं वक्तव्यम्। बहिर्विषये दर्शनाभावेऽपि ज्ञानेन विशेषेण सर्वं परिच्छिनत्तीति। अयं तु विशेषः—दर्शनेनात्मनि गृहीते सत्यात्माविनाभूतं ज्ञानमपि गृहीतं भवति; ज्ञाने च गृहीते सति ज्ञानविषयभूतं बहिर्वस्त्वपि गृहीतं भवतीति। =प्रश्न—यदि दर्शन बाह्य विषयको ग्रहण नहीं करता तो अन्धेकी तरह सब मनुष्योंके अन्धेपनेकी प्राप्ति होती है? उत्तर—ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि यद्यपि बाह्य विषयमें दर्शनका अभाव है, तो भी आत्मज्ञान द्वारा विशेष रूपसे सब पदार्थोंको जनाता है। उसका विशेष खुलासा इस प्रकार है, कि—जब दर्शनसे आत्माका ग्रहण होता है, तब आत्मामें व्याप्त जो ज्ञान है, वह भी दर्शन द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है; और जब दर्शनसे ज्ञानको ग्रहण किया तो ज्ञानका विषयभूत जो बाह्य वस्तु है उसका भी (स्वतः) ग्रहण कर लिया (या हो गया)। (और भी—दे० दर्शन/५/८)

८. दर्शनका विषय ज्ञानकी अपेक्षा अधिक है

ध./१/१, १, १३५/३८५/८ स्वजीवस्थपर्यायैर्ज्ञानाद्दर्शनमधिकमिति चेन्न, इष्टत्वात्। कथं पुनस्तेन तस्य समानत्वम्। न; अन्योन्यात्मकयोस्तदविरोधात्। =प्रश्न—(ज्ञान केवल बाह्य पदार्थोंको ही ग्रहण करता है, आत्माको नहीं; जबकि दर्शन आत्माको व कथंचित बाह्यपदार्थोंको भी ग्रहण करता है। तो) जीवमें रहनेवाली स्वकीय पर्यायोंकी अपेक्षा ज्ञानसे दर्शन अधिक है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यह बात इष्ट ही है। प्रश्न—ज्ञानके साथ दर्शनकी समानता कैसे हो सकती है? उत्तर—समानता नहीं हो सकती यह बात नहीं है, क्योंकि एक दूसरेकी अपेक्षा करनेवाले उन दोनोंमें (कथंचित्) समानता मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

९. दर्शन और अवग्रह ज्ञानमें अन्तर

रा. वा./१/१५/१३/६१/१३ कश्चिदाह—यदुक्तं भवता विषय-विषयिसंनिपाते दर्शनं भवति, तदनन्तरमवग्रह इति; तदयुक्तम्; अवैलक्षण्यात्। ...अत्रोच्यते—न; वैलक्षण्यात्। कथम्। इह चक्षुषा 'किंचिदेतद्वस्तु' इत्यालोकनमनाकारं दर्शनमित्युच्यते, बालवत्। यथा जातमात्रस्य बालस्य प्राथमिक उन्मेषोऽसौ अविभावितरूपद्रव्यविशेषालोचनादर्शनं विवक्षितं तथा सर्वेषाम्। ततो द्वित्रादिसमयभाविषून्मेषेषु... 'रूपमिदम्' इति विभावितविशेषोऽवग्रहः। यत प्रथमसमयोन्मेषितस्य बालस्य दर्शनं तद्व यदि अवग्रहजातीयत्वात् ज्ञानमिष्टम्; तन्मिथ्याज्ञानं वा स्यात्, सम्यग्ज्ञानं वा। मिथ्याज्ञानत्वेऽपि संशयविपर्ययानध्यवसायात्मक (वा) स्यात्। तत्र न तावत् संशयविपर्ययात्मकं वाऽचेष्टि; तस्य सम्यग्ज्ञानपूर्वकत्वात्। प्राथमिकत्वाच्च तत्रास्तीति। न चानध्यवसायरूपम्; जात्यन्धबधिरशब्दवत् वस्तुमात्रप्रतिपत्तेः। न सम्यग्ज्ञानम्, अर्थाकारावलम्बनाभावात्। किं च—कारणनानात्वात् कार्यनानात्वसिद्धेः। यथा मृत्तन्तुकारणभेदात् घटपटकार्यभेदः तथा दर्शनज्ञानावरणक्षयोपशमकारणभेदात् तत्कार्यदर्शनज्ञानभेद इति। =प्रश्न—विषय विषयीके सन्निपात होनेपर प्रथम क्षणमें दर्शन होता है और तदनन्तर अवग्रह, आपने जो ऐसा कहा है, सो युक्त नहीं है, क्योंकि दोनोंके लक्षणोंमें कोई भेद नहीं है? उत्तर—१. नहीं, क्योंकि दोनोंके लक्षण भिन्न हैं। वह इस प्रकार कि—चक्षु इन्द्रियसे 'यह कुछ है' इतना मात्र आलोकन दर्शन कहा गया है। इसके बाद दूसरे आदि समयोंमें 'यह रूप है' 'यह पुरुष है' इत्यादि रूपसे विशेषांशका निश्चय अवग्रह कहलाता है। जैसे कि जातमात्र बालकका ज्ञान जातमात्र बालकके प्रथम समयमें होनेवाले सामान्यालोचनको यदि अवग्रह जातीय ज्ञान कहा जाये तो प्रश्न होता है कि कौन-सा ज्ञान है—मिथ्याज्ञान या सम्यग्ज्ञान? मिथ्याज्ञान है तो संशयरूप है, या विपर्ययरूप, या अनध्यवसाय रूप? तहाँ वह संशय और विपर्यय तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि ये दोनों ज्ञान सम्यग्ज्ञान पूर्वक होते हैं। अर्थात् जिसने पहले कभी स्थाणु, पुरुष आदिका निश्चय किया है उसे ही वर्तमानमें देखे गये पदार्थमें संशय या विपर्यय हो सकता है। परन्तु प्राथमिक होनेके कारण उस प्रकारका सम्यग्ज्ञान यहाँ होना सम्भव नहीं है। यह ज्ञान अनध्यवसायरूप भी नहीं है; क्योंकि जन्मान्ध और जन्मबधिरकी तरह रूपमात्र व शब्दमात्रका तो स्पष्ट बोध हो ही रहा है। इसे सम्यग्ज्ञान भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसे किसी भी अर्थ विशेषके आकारका निश्चय नहीं हुआ है। (ध. ६/१,९-१,१४/१४५/६)। २. जिस प्रकार मिट्टी और तन्तु ऐसे विभिन्न कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण घट व पट भिन्न हैं, उसी प्रकार दर्शनावरण और ज्ञानावरणके क्षयोपशमरूप विभिन्न कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण दर्शन व ज्ञानमें भेद है। (और भी दे० दर्शन/५/५)।

१०. दर्शन व संग्रहनयमें अन्तर

श्लो. वा ३/१/१५/१५/४४५/२५ न हि सन्मात्रग्राही संग्रहो नयो दर्शनं स्यादित्यतिव्याप्तिः शंकनीया तस्य श्रुतभेदत्वादस्पष्टावभासितया नयत्वोपपत्तेः, श्रुतभेदा नया इति वचनात्। =सम्पूर्ण वस्तुओंकी संग्रहीत केवल सत्ताको ग्रहण करनेवाला संग्रहनय दर्शनोपयोग हो जायेगा, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह संग्रहनय तो श्रुतज्ञानका भेद है। अविशद प्रतिभासवाला होनेसे उसे नयपना बन रहा है। और ग्रन्थोंमें श्रुतज्ञानके भेदको नयज्ञान कहा गया है।

३. दर्शन व ज्ञानकी क्रम व अक्रम प्रवृत्ति

१. छद्मस्थोंके दर्शन व ज्ञान क्रम पूर्वक होते हैं और केवलीको अक्रम

नि. सा./मू. १६० जुगवं वट्टइ णाणं केवलिणाणिस्स दंसणं च तहा। दिणयरपयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ।१६०। =केवलज्ञानीको ज्ञान तथा दर्शन युगपत् वर्तते हैं। सूर्यके प्रकाश व ताप जिस प्रकार वर्तते हों, उसी प्रकार जानना।

ध. १३/५,५,८५/३५६/१ छदुमत्थणाणाणि दंसणपुव्वाणि केवलणाणं पुण केवलदंसणसमकालभावी णिरावरणत्तादो। =छद्मस्थोंके ज्ञान दर्शन पूर्वक होते हैं परन्तु केवलज्ञान केवलदर्शनके समान कालमें होता है; क्योंकि, उनके ज्ञान और दर्शन ये दोनों निरावरण हैं। (रा. वा./२/९/३/१२४/११); (प. प्र./मू./२/३५); (ध. ३/१,२,१६१/४५७/२); (द्र. सं./मू. ४४)।

२. केवल दर्शन व केवलज्ञानकी युगपत् प्रवृत्तिमें हेतु

क. पा. १/१-२०/ प्रकरण/पृष्ठ/पंक्ति—केवलणाणकेवलदंसणाणमुक्कस्स उवजोगकालो जेण 'अंतोमुहुत्तमेत्तो' त्ति भणिदो तेण णव्वदे जहा केवलणाणदंसणाणमक्कमेण उत्ती ण होदि त्ति। (§ ३१९/३५१/२)। अथ

परिहारो उच्चदे । तं जहा केवलणाणदंसणावरणाणं किमक्कमेणक्खओ, आहो कमेणेत्ति । ··अक्कमेण विणासे संते केवलणाणेण सह केवलदंसणेण वि उप्पज्जेयव्वं, अक्कमेण अविकलकारणे संते तेसिं कमुप्पत्तिविरोहादो ।···तम्हा अक्कमेण उप्पण्णत्तादो ण केवलणाणदंसणाणं कमउत्ती त्ति । (§ ३२०/३५१/६) होउ णाम केवलणाणदंसणाणमक्कमेणुप्पत्ती; अक्कमेण विणट्ठावरणत्तादो, किंतु केवलणाणं दंसणुवजोगो कमेण चेव होंति, सामण्णविसेसयत्तेण अव्वत्त वत्त-सरूवाणमक्कमेण पउत्तिविरोहादो त्ति । (§ ३२१/३५२/७)। होदि एसो दोसो जदि केवलणाणं विसेसविसयं चेव केवलदंसणं पि सामण्णविसयं चेव । ण च एवं, दोण्हं पि विसयाभावेण अभावप्पसंगादो । (§ ३२२/३५३/१)। तदो सामण्णविसेसविसयत्ते केवलणाण-दंसणाणमभावो होज्ज णिव्विसयत्तादो त्ति सिद्धं । उत्तं च—अद्दिट्ठं अण्णादं केवलि एसो हु भासइ सया वि । एएयसमयम्मि हंदि हु वयणविसेसो ण संभवइ ।१४०। अण्णादं पासंतो अदिट्ठमरहा सया तो वियाणंतो । किं जाणइ किं पासइ कह सव्वणहो त्ति वा होइ ।१४१। (§३२४/३५६/३)। ण च दोण्हमुवजोगाणमक्कमेण वुत्ती विरुद्धा; कम्मकयस्स कम्मस्स तदभावेण अभावमुवगयस्स तत्थ सत्तविरोहादो । (§३२५/३५६/१०)। एवं संते केवलणाणदंसणाणमुक्कस्सेण अंतोमुहुत्तमेत्तकालो कथं जुज्जदे । सहि वग्घ-छवल्ल-सिव-सियालाईहि खज्जमाणेसु उप्पण्ण केवलणाण-दंसणुक्कस्सकालग्गहणादो जुज्जदे । (§३२६/३६०/६)।—प्रश्न—चूँकि केवलज्ञान और केवलदर्शनका उत्कृष्ट उपयोगकाल अन्तर्मुहूर्त कहा है, इससे जाना जाता है कि केवलज्ञान और केवलदर्शनकी प्रवृत्ति एक साथ नहीं होती ? उत्तर—१. उक्त शंकाका समाधान करते हैं। हम पूछते है कि केवलज्ञानावरण व केवलदर्शनावरणका क्षय एक साथ होता है या क्रमसे होता है ? (क्रमसे तो होता नहीं है, क्योंकि आगममें ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय इन तीनों कर्मोंकी सत्त्व व्युच्छित्ति १२ वें गुणस्थानके अन्तमें युगपत् बतायी है (दे० सत्त्व)। यदि अक्रमसे क्षय माना जाये तो केवलज्ञानके साथ केवलदर्शन भी उत्पन्न होना चाहिए, क्योंकि केवलज्ञान और केवलदर्शनकी उत्पत्तिके सभी अविकल कारणोंके एक साथ मिल जानेपर उनकी क्रमसे उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। और क्योंकि वे अक्रमसे उत्पन्न होते है इसलिए उनकी प्रवृत्ति भी क्रमसे नहीं बन सकती। २. प्रश्न— केवलज्ञान व केवलदर्शनकी उत्पत्ति एक साथ रही आओ क्योंकि उनके आवरणोंका विनाश एक साथ होता है। किन्तु केवलज्ञानोपयोग और केवलदर्शनोपयोग क्रमसे ही होते हैं, क्योंकि केवलदर्शन सामान्यको विषय करनेवाला होनेसे अव्यक्तरूप है और केवलज्ञान विशेषको विषय करनेवाला होनेसे व्यक्त रूप है, इसलिए उनकी एक साथ प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है। उत्तर—यदि केवलज्ञान केवल विशेषको और केवलदर्शन केवल सामान्यको विषय करता, तो यह दोष सम्भव होता, पर ऐसा नहीं है, क्योंकि केवल सामान्य और केवल विशेषरूप विषयका अभाव होनेसे उन दोनों (ज्ञान व दर्शन) के भी अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। अतः जब कि सामान्य विशेषात्मक वस्तु है तो केवलदर्शनको केवल सामान्यको विषय करनेवाला और केवलज्ञानको केवल विशेषको विषय करनेवाला माननेपर दोनों उपयोगोंका अभाव प्राप्त होता है, क्योंकि केवल सामान्य और केवल विशेष रूप पदार्थ नहीं पाये जाते। कहा भी है—यदि दर्शनका विषय केवल सामान्य और ज्ञानका विषय केवल विशेष माना जाये तो जिनमें जो अदृष्ट है ऐसे ज्ञात पदार्थको तथा जो अज्ञात है ऐसे दृष्ट पदार्थको ही सदा कहते हैं, ऐसी आपत्ति प्राप्त होगी। और इसलिए 'एक समयमें ज्ञात और दृष्ट पदार्थको केवली जिन कहते हैं' यह वचन विशेष नहीं बन सकता है ।१४०। अज्ञात पदार्थको देखते हुए और अदृष्ट पदार्थको जानते हुए अरहंत देव क्या जानते हैं और क्या देखते हैं ? तथा उनके सर्वज्ञता भी कैसे बन सकती है ? ।१४१। (और भी दे० दर्शन/२/३,४)। ३. दोनों उपयोगोंकी एक साथ प्रवृत्ति माननेमें विरोध भी नहीं आता है, क्योंकि, उपयोगोंकी क्रमवृत्ति कर्मका कार्य है, और कर्मका अभाव हो जानेसे उपयोगोंकी क्रमवृत्तिका भी अभाव हो जाता है, इसलिए निरावरण केवलज्ञान और केवलदर्शनकी क्रमवृत्तिके माननेमें विरोध आता है। ४. प्रश्न—यदि ऐसा है तो इन दोनोंका उत्कृष्टरूपसे अन्तर्मुहूर्तकाल कैसे बन सकता है ? उत्तर—चूँकि, यहाँपर सिंह, व्याघ्र, छव्वल, शिवा और स्याल आदिके द्वारा खाये जानेवाले जीवोंमें उत्पन्न हुए केवलज्ञान दर्शनके उत्कृष्टकालका ग्रहण किया है, इसलिए इनका अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल बन जाता है।

३. छद्मस्थोंके दर्शनज्ञानकी क्रमवृत्तिमें हेतु

ध. १/१,१,१३३/३८४/३ भवतु छद्मस्थायामप्यक्रमेण क्षीणावरणे इव तयोः प्रवृत्तिरिति चेन्न, आवरणाविरुद्धाक्रमयोरक्रमप्रवृत्तिविरोधात्। अस्वसंविद्रूपो न कदाचिदप्यात्मोपलभ्यत इति चेन्न, बहिरङ्गोपयोगावस्थायामन्तरङ्गोपयोगानुपलम्भात्।—प्रश्न—आवरण कर्मसे रहित जीवोंमें जिस प्रकार ज्ञान और दर्शनकी युगपत् प्रवृत्ति पायी जाती है, उसी प्रकार छद्मस्थ अवस्थामें भी उन दोनोंकी एक साथ प्रवृत्ति होओ ? उत्तर—१. नहीं क्योंकि आवरण कर्मके उदयसे जिनकी युगपत् प्रवृत्ति करनेकी शक्ति रुक गयी है, ऐसे छद्मस्थ जीवोंके ज्ञान और दर्शनमें युगपत् प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—२ अपने आपके संवेदनसे रहित आत्माकी तो कभी भी उपलब्धि नहीं होती है ? (अर्थात् निज संवेदन तो प्रत्येक जीवको हर समय रहता ही है) ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, बहिरंग पदार्थोंके उपयोगरूप अवस्थामें अन्तरंग पदार्थका उपयोग नहीं पाया जाता है।

४. दर्शनोपयोग सिद्धि

१. आत्म ग्रहण अनध्यवसाय रूप नहीं है

ध. १/१,१,४/१४८/३ सत्येवमनध्यवसायो दर्शनं स्यादिति चेन्न, स्वाध्यवसायस्यानध्यवसितबाह्यार्थस्य दर्शनत्वात्। दर्शनं प्रमाणमेव अविसंवादित्वात्, प्रभासः प्रमाणं चाप्रमाणं च विसंवादाविसंवादोभयरूपस्य तत्रोपलम्भात्।—प्रश्न—दर्शनके लक्षणको इस प्रकारका (सामान्य आत्म पदार्थ ग्राहक) मान लेनेपर अनध्यवसायको दर्शन मानना पड़ेगा ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, बाह्यार्थका निश्चय न करते हुए भी स्वरूपका निश्चय करनेवाला दर्शन है, इसलिए वह अनध्यवसायरूप नहीं है। ऐसा दर्शन अविसंवादी होनेके कारण प्रमाण ही है। और अनध्यवसायरूप जो प्रतिभास है वह प्रमाण भी है और अप्रमाण भी है, क्योंकि उसमें विसंवाद और अविसंवाद दोनों पाये जाते हैं। ('कुछ है' ऐसा अनध्यवसाय निश्चयात्मक या अविसंवादी है और 'क्या है' ऐसा अनध्यवसाय अनिश्चयात्मक या विसंवादी है)।

२. दर्शनके लक्षणमें 'सामान्य' पदका अर्थ आत्मा ही है

ध. १/१,१,४/१४७/३ तथा च 'जं सामण्णं गहणं तं दंसणं' इति वचनेन विरोधः स्यादिति चेन्न, तत्रात्मनः सकलबाह्यार्थसाधारणत्वतः सामान्यव्यपदेशभाजो ग्रहणात्।—प्रश्न—उक्त प्रकारसे दर्शन और ज्ञानका स्वरूप मान लेनेपर अन्तरंग सामान्य विशेषका ग्रहण दर्शन, बाह्य सामान्य विशेषका ग्रहण ज्ञान (दे० दर्शन/२/३.४) 'वस्तुका जो सामान्य ग्रहण होता है उसको दर्शन कहते हैं' परमागमके इस

वचनके साथ (दे० दर्शन/ १/३/२) विरोध आता है ! उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, आत्मा सम्पूर्ण बाह्य पदार्थोंमें साधारण रूपसे पाया जाता है (अर्थात् सर्व पदार्थ प्रतिभासात्मक है), इसलिए उक्त-वचनमें सामान्य संज्ञाको प्राप्त आत्माका ही सामान्य पदसे ग्रहण किया है। (ध. १/१,१,१३१/३८०/५); (ध. ७/२, १, ५६/१००/७); (ध. १३/५,५,८५/३५४/११); (क. पा. १/१-२०/§३२६/३६०/३); (द्र. सं./टी /४४/१९१/६)—(विशेष दे० दर्शन/२/३,४)।

३. सामान्य शब्दका अर्थ निर्विकल्प रूपसे सामान्य-विशेषात्मक ग्रहण है

ध. १/१,१,४/१४७/४ तदपि कथमवसीयत इति चेन्न, 'भावाणं णेव कट्टु आयारं' इति वचनात्। तद्यथा भावानां बाह्यार्थानामाकारं प्रतिकर्मव्यवस्थामकृत्वा यद्ग्रहणं तद्दर्शनम्। अस्यैवार्थस्य पुनरपि दृढी-करणार्थं, 'अविसेसिऊण उट्ठे' इति, अर्थानविशेष्य यद्ग्रहणं तद्दर्शनमिति। न बाह्यार्थगतसामान्यग्रहणं दर्शनमित्याशङ्कनीयं तस्या-वस्तुनः कर्मत्वाभावात्। न च तदन्तरेण विशेषो ग्राह्यत्वमास्कन्दत्यत्य-तिप्रसङ्गात्। —प्रश्न—यह कैसे जाना जाये कि यहाँपर सामान्य पदसे आत्माका ही ग्रहण किया है ? उत्तर—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, 'पदार्थोंके आकार अर्थात् भेदको नहीं करके' सूत्रमें कहे गये इस वचनसे उक्त कथनकी पुष्टि होती है। इसीको स्पष्ट करते हैं, भावोंके अर्थात् बाह्य पदार्थोंके, आकाररूप प्रति कर्म व्यवस्थाको नहीं करके, अर्थात् भेदरूपसे प्रत्येक पदार्थको ग्रहण नहीं करके, जो (सामान्य) ग्रहण होता है, उसको दर्शन कहते हैं। फिर भी इसी अर्थको दृढ़ करनेके लिए सूत्रकार कहते हैं (दे० दर्शन/१/३/२) कि 'यह अमुक पदार्थ है, यह अमुक पदार्थ है' इत्यादि रूपसे पदार्थोंकी विशेषता न करके जो ग्रहण होता है, उसे दर्शन कहते हैं। इस कथनसे यदि कोई ऐसी आशंका करे कि बाह्य पदार्थोंमें रहनेवाले सामान्यको ग्रहण करना दर्शन है, तो उसको ऐसा आशंका करनी भी ठीक नहीं है, क्योंकि विशेषकी अपेक्षा रहित केवल सामान्य अवस्तुरूप है, इसलिए वह दर्शनके विषयभावको नहीं प्राप्त कर सकता है। उसी प्रकार सामान्यके बिना केवल विशेष भी ज्ञानके द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकता, क्योंकि, अवस्तुरूप केवल सामान्य अथवा केवल विशेषका ग्रहण मान लिया जाये तो अतिप्रसंग दोष आता है। (और भी दे० दर्शन/२/३)।

४. सामान्य विशेषात्मक आत्मा केवल सामान्य कैसे कहा जा सकता है

क. पा. १/१-२०/§ ३२६/३६०/४ सामण्णं[illegible] जीवो कधं सामण्णं। ण असेसत्थपयासभावेण रायदोसाणमभावेण य तस्स समाणत्तदंसणादो। —प्रश्न—जीव सामान्य विशेषात्मक है, वह केवल सामान्य कैसे हो सकता है ? उत्तर—१. क्योंकि, जीव समस्त पदार्थोंको बिना किसी भेद-भावके जानता है और उसमें राग-द्वेषका अभाव है, इसलिए जीवमें समानता देखी जाती है। (ध. १३/५,५, ८५/३५५/१)।

द्र. सं./टी./४४/१९१/८ आत्मा वस्तुपरिच्छित्तिं कुर्वन्निदं जानामीदं न जानामीति विशेषपक्षपातं न करोति; किन्तु सामान्येन वस्तु परि-च्छिनत्ति, तेन कारणेन सामान्यशब्देन आत्मा भण्यते। —वस्तुका ज्ञान करता हुआ जो आत्मा है वह 'मैं इसको जानता हूँ' और 'इसको नहीं जानता हूँ', इस प्रकार विशेष पक्षपातको नहीं करता है किन्तु सामान्य रूपसे पदार्थको जानता है। इस कारण 'सामान्य' इस शब्दसे आत्मा कहा जाता है।

ध. १/१,१,४/१४७/४ आत्मनः सकलबाह्यार्थसाधारणत्वतः सामान्य-व्यपदेशभाजः। —आत्मा सम्पूर्ण बाह्य पदार्थोंमें साधारण रूपसे पाया जाता है, इसलिए 'सामान्य' शब्दसे आत्माका व्यपदेश किया गया है।

ध. ७/२,१,५६/१००/५ ण च जीवस्स सामण्णत्तमसिद्धं णियमेण विणा विसईकयत्तिकालगोयराणंतत्थवेंजणपज्जओवचियबज्झंतरंगाणं तत्थ सामण्णत्ताविरोहादो। —जीवका सामान्यत्व असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि नियमके बिना ज्ञानके विषयभूत किये गए त्रिकाल गोचर अनन्त अर्थ और व्यंजन पर्यायोंसे संचित बहिरंग और अन्तरंग पदार्थोंका, जीवमें सामान्यत्व माननेमें विरोध नहीं आता।

५. दर्शन सामान्यके अस्तित्वकी सिद्धि

ध.७/२,१,५६/पृष्ठ/पंक्ति ण दंसणमत्थि विसयाभावादो। ण बज्झत्थ-सामण्णग्गहणं दंसणं, केवलदंसणस्साभावप्पसंगादो। कुदो। केवल-णाणेण तिकालगोयराणंतत्थवेंजणपज्जयसरूवस्स सव्वदव्वेसु अवगएसु केवलदंसणस्स विसयाभावा (९६।८)। ण णासेसविसेसग्गाही केवलणाणं जेण सयलत्थसामण्णं केवलदंसणस्स विसओ होज्ज। (९७।१) तम्हा ण दंसणमत्थि त्ति सिद्धं (९७।१०)।

एत्थ परिहारो उच्चदे—अत्थि दंसणं, अट्ठकम्मणिद्देसादो।…ण चासंते आवरणिज्जे आवयरमत्थि, अण्णत्थतहाणुवलंभादो।…ण चावरणिज्जं णत्थि, चक्खुदंसणी अचक्खुदंसणी ओहिदंसणी खओवसमियाए, केवलदंसणी खइयाए लद्धीए त्ति तदत्थित्तपदुप्पायण-जिणवयणदंसणादो —(९८।१)।

एओ मे सस्सदो अप्पा णाणदंसण लक्खणो ।१६। इच्चादि उवसंहारसुत्तदंसणादो च (९८।१०)।

आगमपमाणेण होदु णाम दंसणस्स अत्थित्तं, ण जुत्तीए च। ण, जुत्ती हि आगमस्स बाहाभावादो। आगमेण वि जच्चा जुत्ती ण बाहिज्ज त्ति चे। सच्चं ण बाहिज्जदि जच्चा जुत्ती, किंतु इमा बाहिज्जदि जच्चदाभावादो। तं जहा—ण णाणेण विसेसो चेव घेप्पदि सामण्णविसेसप्पयत्तणेण पत्तजच्चंतरदव्वुवलंभादो (९८।१०)।

ण च एवं संते दंसणस्स अभावो, बज्झत्थे मोत्तूण तस्स अंत-रंगत्थे वावारादो। ण च केवलणाणमेव सत्तिदुवसंजुत्तत्तादो बहि-रंतरंगत्थपरिच्छेदयं,… तम्हा अंतरंगोवजोगादो बहिरंगुवजोगेण पुधभूदेण होदव्वमण्णहा सव्वण्हुत्ताणुववत्तीदो। अंतरंग बहिरंगुव-जोगसण्णिदुवसत्तीजुत्तो अप्पा इच्छिदव्वो। 'जं सामण्णं ग्गहणं…' ण च एदेण सुत्तेणेदं वक्खाणं विरुज्झदे, अप्पत्थम्मि पउत्तसामण्ण-सद्दग्गहणादो।(९९।७)।

होदु णाम सामण्णेण दंसणस्स सिद्धी, केवलदंसणस्स सिद्धी च, ण सेस दंसणाणं।(१००।६)।

—प्रश्न—दर्शन है ही नहीं, क्योंकि, उसका कोई विषय नहीं है। बाह्य पदार्थोंके सामान्यको ग्रहण करना दर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि वैसा माननेपर केवलदर्शनके अभावका प्रसंग आ जायेगा। इसका कारण यह है कि जब केवलज्ञानके द्वारा त्रिकाल गोचर अनन्त अर्थ और व्यंजन पर्याय स्वरूप समस्त द्रव्योंको जान लिया जाता है, तब केवल दर्शनके (जाननेके) लिए कोई विषय ही (शेष) नहीं रहता। यह भी नहीं हो सकता कि समस्त विशेषमात्रका ग्रहण करने-वाला ही केवलज्ञान हो, जिससे कि समस्त पदार्थोंका सामान्य धर्म दर्शनका विषय हो जाये (क्योंकि इसका पहले ही निराकरण कर दिया गया—दे० दर्शन/२/३) इसलिए दर्शनकी कोई पृथक् सत्ता है ही नहीं यह सिद्ध हुआ ? उत्तर—१. अब यहाँ उक्त शंकाका परिहार करते हैं। दर्शन है, क्योंकि सूत्रमें आठकर्मोंका निर्देश किया गया है। आवरणीयके अभावमें आवरण हो नहीं सकता, क्योंकि अन्यत्र वैसा

पाया नहीं जाता। (क.पा.१/१-२०/§३२७/३५१/१) (और भी —दे० अगला शीर्षक)। २. आवरणीय है ही नहीं, सो बात भी नहीं है, 'चक्षुदर्शनी', अचक्षुदर्शनी और अवधिदर्शनी क्षायोपशमिक लब्धिसे और केवलदर्शनी क्षायिक लब्धिसे होते हैं (ष.ख.७/२,१/सूत्र ५७-५६/१०२,१०३)। ऐसे आवरणीयके अस्तित्वका प्रतिपादन करनेवाले जिन भगवान्‌के वचन देखे जाते हैं। तथा—'ज्ञान और दर्शन लक्षणवाला मेरा एक आत्मा ही शाश्वत है' इस प्रकारके अनेक उपसंहारसूत्र देखनेसे भी यही सिद्ध होता है, कि दर्शन है। प्रश्न २—आगम-प्रमाणसे भले ही दर्शनका अस्तित्व हो, किन्तु युक्तिसे तो दर्शनका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता? उत्तर—होता है, क्योंकि युक्तियोंसे आगमको बाधा नहीं होती। प्रश्न—आगमसे भी तो उत्तम युक्तिकी बाधा नहीं होनी चाहिए? उत्तर—सचमुच ही आगमसे उत्तम युक्ति-की बाधा नहीं होती, किन्तु प्रस्तुत युक्तिकी बाधा अवश्य होती है, क्योंकि वह (ऊपर दी गयी युक्ति) उत्तम युक्ति नहीं है। ३. वह इस प्रकार है—ज्ञान द्वारा केवल विशेषका ग्रहण नहीं होता, क्योंकि सामान्य विशेषात्मक होनेसे ही द्रव्यका जात्यंतर स्वरूप पाया जाता है (विशेष दे० दर्शन/२/३,४)। ४. इस प्रकार आगम और युक्ति दोनों से दर्शनका अस्तित्व सिद्ध होनेपर उसका अभाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि दर्शनका व्यापार बाह्य वस्तुको छोड़कर अन्तरंग वस्तुमें होता है। (विशेष दे० दर्शन/२/१)। ५. यहाँ यह भी नहीं कह सकते कि केवलज्ञान ही दो शक्तियोंसे संयुक्त होनेके कारण, बहिरंग और अंतरंग दोनों वस्तुओंका परिच्छेदक है (क्योंकि इसका निराकरण पहले ही कर दिया जा चुका है) (दे० दर्शन/५/१)। ६. इसलिए अन्तरंग उपयोगसे बहिरंग उपयोगको पृथक् ही होना चाहिए अन्यथा सर्वज्ञत्वकी उपपत्ति नहीं बनती। अतएव आत्माको अंतरंग उपयोग और बहिरंग उपयोग ऐसी दो शक्तियोंसे युक्त मानना अभीष्ट सिद्ध होता है (विशेष दे० दर्शन/२/६)। ७. ऐसा माननेपर 'वस्तुसामान्यका ग्राहक दर्शन है' इस सूत्रसे प्रस्तुत व्याख्यान विरुद्ध भी नहीं पड़ता है, क्योंकि उक्त सूत्रमें 'सामान्य' शब्दका प्रयोग आत्म पदार्थके लिए ही किया गया है (विशेष दे० दर्शन/४/२-४)। प्रश्न८—इस प्रकारसे सामान्यसे दर्शनकी सिद्धि और केवलदर्शनकी सिद्धि भले हो जाये, किन्तु उससे शेष दर्शनोंकी सिद्धि नहीं होती, क्योंकि (सूत्रवचनोंमें उनकी प्ररूपणा बाह्यार्थ विषयक रूपसे की गयी है)। उत्तर—(अन्य दर्शनोंकी सिद्धि भी अवश्य होती है, क्योंकि वहाँ की गयी बाह्या-र्थाश्रित प्ररूपणा भी वास्तवमें अन्तरंग विषयको ही बताती है—दे० दर्शन/५/३)।

६. दर्शनावरण प्रकृति भी स्वरूपसंवेदनको घातती है

ध.६/१,९-१,१६/३२/६ कधमेदेसि पंचण्हं दंसणावरणववएसो। ण, चेयणमवहरंतस्स सव्वदंसणविरोहिणो दंसणावरणत्तपडिविरोहाभावा। किं दर्शनम्? ज्ञानोत्पादकप्रयत्नानुविद्धस्वसंवेदो दर्शनं आत्म-विषयोपयोग इत्यर्थः। —प्रश्न—इन पाँचों निद्राओंको दर्शनावरण संज्ञा कैसे है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, आत्माके चेतन गुणको अपहरण करनेवाले और सर्वदर्शनके विरोधी कर्मके दर्शनावरणत्वके प्रति कोई विरोध नहीं है। —प्रश्न—दर्शन किसे कहते हैं? उत्तर—ज्ञानको उत्पादन करनेवाले प्रयत्नसे संबद्ध स्व-संवेदन अर्थात् आत्म विषयक उपयोगको दर्शन कहते हैं।

ध.७/२,१,५६/३५५/२ एदासिं पंचण्णपयडीणं बहिरंतरंगत्थगहणपडि-कूलाणं कधं दंसणावरणसण्णा। दोण्णमावारयाणमेगावारयत्तविरोहादो। ण, एदाओ पंच वि पयडीओ दंसणावरणीयं चेव, सगसंवेयण-विणासणकारणादो। बहिरंगत्थगहणाभावो वि तत्तो चेव होदि त्ति ण वोत्तुं जुत्तं, दंसणाभावेण तव्विणासादो। किमट्ठं दंसणाभावेण णाणाभावो। णिद्दाए विणासिद बज्झत्थगहणजणणसत्तित्तादो। ण च तज्जणणसत्ती णाणं, तिस्से दंसणप्पयजीवत्तादो। —प्रश्न—ये पाँचों (निद्रादि) प्रकृतियाँ बहिरंग और अंतरंग दोनों ही प्रकारके अर्थके ग्रहणमें बाधक हैं, इसलिए इनकी दर्शनावरण संज्ञा कैसे हो सकती है, क्योंकि दोनोंको आवरण करनेवालोंको एकका आवरण करनेवाला माननेमें विरोध आता है? उत्तर—नहीं, ये पाँचों ही प्रकृतियाँ दर्शनावरणीय ही हैं, क्योंकि वे स्वसंवदेनका विनाश करती हैं (ध.५/११/६/१) प्रश्न—बहिरंग अर्थके ग्रहणका अभाव भी तो उन्हीं-से होता है? उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उसका विनाश दर्शनके अभावसे होता है। प्रश्न—दर्शनका अभाव होनेसे ज्ञानका अभाव क्यों होता है? उत्तर—कारण कि निद्रा बाह्य अर्थके ग्रहणको उत्पन्न करनेवाली शक्ति (प्रयत्न विशेष) की विनाशक है। और यह शक्ति ज्ञान तो हो नहीं सकती, क्योंकि, वह दर्शनात्मक जीव स्वरूप है (दे० दर्शन/१/३/३)।

७. सामान्य ग्रहण व आत्मग्रहणका समन्वय

द्र. सं./टी./४४/१९२/२ किं बहुना यदि कोऽपि तर्कार्थं सिद्धार्थं च ज्ञात्वैकान्तदुराग्रहत्यागेन नयविभागेन मध्यस्थवृत्त्या व्याख्यानं करोति, तदा द्वयमपि घटत इति। कथमिति चेत्—तर्के मुख्यवृत्त्या परसमयव्याख्यानं, तत्र यदा कोऽपि परसमयी पृच्छति जैनागमे दर्शनं ज्ञानं चेति गुणद्वयं जीवस्य कथ्यते तत्कथं घटत इति। तदा तेषामात्मग्राहकं दर्शनमिति कथिते सति ते न जानन्ति। पश्चादा-चार्यैस्तेषां प्रतीत्यर्थं स्थूलव्याख्यानेन बहिर्विषये यत्सामान्यपरि-च्छेदनं तस्य सत्तावलोकनदर्शनसंज्ञा स्थापिता, यच्च शुक्लमिद-मित्यादिविशेषपरिच्छेदनं तस्य ज्ञानसंज्ञा स्थापितेति दोषो नास्ति। सिद्धान्ते पुनः स्वसमयव्याख्यानं मुख्यवृत्त्या। तत्र सूक्ष्मव्याख्यानं क्रियमाणे सत्याचार्यैरात्मग्राहकं दर्शनं व्याख्यातमित्यत्रापि दोषो नास्ति। —अधिक कहनेसे क्या—यदि कोई भी तर्क और सिद्धान्त-के अर्थको जानकर, एकान्त दुराग्रहको त्याग करके, नयोंके विभागसे मध्यस्थता धारण करके, व्याख्यान करता है तब तो सामान्य और आत्मा ये दोनों ही घटित होते है। सो कैसे?—तर्कमें मुख्यतासे अन्यमतको दृष्टिमें रखकर कथन किया जाता है। इसलिए उसमें यदि कोई अन्यमतावलम्बी पूछे कि जैन सिद्धान्तमें जीवके 'दर्शन और ज्ञान' ये जो दो गुण कहे जाते है, वे कैसे घटित होते हैं? तब इसके उत्तरमें यदि उसे कहा जाय कि 'आत्मग्राहक दर्शन है' तो वह समझेगा नहीं। तब आचार्योंने उनको प्रतीति करनेके लिए विस्तृत व्याख्यानसे 'जो बाह्य विषयमें सामान्य जानना है उसका नाम 'दर्शन' स्थापित किया और जो 'यह सफेद है' इत्यादि रूपसे बाह्य में विशेषका जानना है उसका नाम 'ज्ञान' ठहराया, अतः दोष नहीं है। सिद्धान्तमें मुख्यतासे निजसमयका व्याख्यान होता है, इसलिए सिद्धान्तमें जब सूक्ष्म व्याख्यान किया गया तब आचार्योंने 'आत्म-ग्राहक दर्शन है' ऐसा कहा। अतः इसमें भी दोष नहीं है।

५. दर्शनोपयोगके भेदोंका निर्देश

१. दर्शनके भेदोंके नाम निर्देश

ष. खं./१।१, १/सूत्र १३१/३७८ दंसणाणुवादेण अत्थि चक्खुदंसणी अच-क्खुदंसणी ओधिदंसणी केवलदंसणी चेदि। —दर्शनमार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन धारण करनेवाले जीव होते है। (पं. का./मू./४२), (नि. सा./मू./१३/१४) स. सि./२/९/१६३/९), (रा. वा./२/९/३/१२४/९), (द्र. सं./टी./१३/-३८/४), (प. प्र./२/३४/१५५/२)

१. चक्षु आदि दर्शनोंके लक्षण

पं. सं./१/१३६-१४१ चक्खूणाजं पयासइ दीसइ तं चक्खुदंसणं विंति। सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खु त्ति ॥१३६॥ परमाणुआदियाइं अंतिमखंध त्ति मुत्तदव्वाइं। तं ओहिदंसणं पुण जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं ॥१४०॥ बहुविह बहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्हि खेत्तम्हि। लोयालोयवितिमिरो सो केवलदंसणुज्जोवो ॥१४१॥ =चक्षु इन्द्रियके द्वारा जो पदार्थका सामान्य अंश प्रकाशित होता है, अथवा दिखाई देता है, उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। शेष चार इन्द्रियोंसे और मनसे जो सामान्य प्रतिभास होता है उसे अचक्षुदर्शन जानना चाहिए ॥१३६॥ सबलघु परमाणुसे आदि लेकर सर्वमहान् अन्तिम स्कन्ध तक जितने मूर्त द्रव्य हैं, उन्हें जो प्रत्यक्ष देखता है, उसे अवधिदर्शन कहते हैं ॥१४०॥ बहुत जातिके और बहुत प्रकारके चन्द्र सूर्य आदिके उद्योत तो परिमित क्षेत्रमें ही पाये जाते हैं। अर्थात् वे थोड़ेसे ही पदार्थोंको अल्प परिमाण प्रकाशित करते हैं। किन्तु जो केवल दर्शन उद्योत है, वह लोकको और अलोकको भी प्रकाशित करता है, अर्थात् सर्व चराचर जगत्को स्पष्ट देखता है ॥१४१॥ (ध.१/१,१,१३१/गा १९५-१९७/३८२), (ध.७/५,५,५६/गा.२०-२१/१००), (गो. जी./मू./४८४-४८६/८८९)।

पं. का./त. प्र./४२ तदावरणक्षयोपशमाच्चक्षुरिन्द्रियावलम्बाच्च मूर्तद्रव्यं विकलं सामान्येनावबुध्यते तच्चक्षुर्दर्शनम्। यत्तदावरणक्षयोपशमाच्चक्षुर्वर्जितेतरचतुरिन्द्रियानिन्द्रियावलम्बाच्च मूर्तामूर्तद्रव्यं विकलं सामान्येनावबुध्यते तदचक्षुर्दर्शनम्। यत्तदावरणक्षयोपशमादेव मूर्तद्रव्यं विकलं सामान्येनावबुध्यते तदवधिदर्शनम्। यत्सकलावरणात्यन्तक्षये केवल एव मूर्त्तामूर्त्तद्रव्यं सकलं सामान्येनावबुध्यते तत्स्वाभाविकं केवलदर्शनमिति स्वरूपाभिधानम्। =अपने आवरणके क्षयोपशमसे और चक्षुइन्द्रियके आलम्बनसे मूर्त द्रव्यको विकलरूपसे (एकदेश) जो सामान्यतः अवबोध करता है वह चक्षुदर्शन है। उस प्रकारके आवरणके क्षयोपशमसे तथा चक्षुसे अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों और मनके अवलम्बनसे मूर्त अमूर्त द्रव्योंको विकलरूपसे (एकदेश) जो सामान्यतः अवबोध करता है, वह अचक्षुदर्शन है। उस प्रकारके आवरणके क्षयोपशमसे ही (बिना किसी इन्द्रियके अवलम्बनके) मूर्त द्रव्यको विकलरूपसे (एकदेश) जो सामान्यतः अवबोधन करता है, वह अवधिदर्शन है। समस्त आवरणके अत्यंत क्षयसे केवल (आत्मा) ही मूर्त अमूर्त द्रव्यको सकलरूपसे जो सामान्यतः अवबोध करता है वह स्वाभाविक केवलदर्शन है। इस प्रकार (दर्शनोपयोगोंके भेदोंका) स्वरूपकथन है। (नि. सा./ता. वृ./१३, १४); (द्र. सं./टी /४/१३/६)।

३. बाह्यार्थाश्रित प्ररूपणा परमार्थसे अन्तरंग विषयको ही बताती है

ध.७/२, १, ५६/१००/१२ इदि बज्झत्थविसयदंसणपरूवणादो। ण एदाणं गाहाणं परमत्थत्थाणुवगमादो। को सो परमत्थत्थो। बुच्चदे—यत् चक्षुषां प्रकाशते चक्षुषा दृश्यते वा तत् चक्षुर्दर्शनमिति ब्रुवते। चक्खिदियणाणादो जो पुव्वमेव सुवसत्तीए सामण्णए अणुहओ चक्खुणाणुप्पत्तिणिमित्तो तं चक्खुदंसणमिदि उत्तं होदि। गाहाए जलभंजणमकाऊण उज्जुवत्थो किण्ण घेप्पदि। ण, तत्थ पुव्वुत्तासेसदोसप्पसंगादो।

सेसेन्द्रियैः प्रतिपन्नस्यार्थस्य यस्मात् अवगमनं ज्ञातव्यं तत् अचक्षुर्दर्शनमिति। सेसिंदियणाणुप्पत्तीदो जो पुव्वमेव सुवसत्तीए अप्पणो विसयम्मि पडिबद्धाए सामण्णेण संवेदो अचक्खुणाणुप्पत्तिणिमित्तो तमचक्खुदंसणमिदि उत्तं होदि।

परमाण्वादिकानि आ पश्चिमस्कन्धादिति मूर्तिद्रव्याणि यस्मात् पश्यति जानीते तानि साक्षात् तत् अवधिदर्शनमिति द्रष्टव्यम्। परमाणुमादिं कादूण जाव पच्छिमखंधो त्ति ट्ठिदपोग्गलदव्वाणमवगमादो पच्चक्खादो जो पुव्वमेव सुवसत्तीविसयउवजोगो ओहिणाणुप्पत्तिणिमित्तो तं ओहिदंसणमिदि घेतव्वं। अण्णहा णाणदंसणाणं भेदाभावादो। =प्रश्न—इन सूत्रवचनोंमें (दे० पहिलेवाला शीर्षक नं० २) दर्शनकी प्ररूपणा बाह्यार्थविषयक रूपसे की गयी है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, तुमने इन गाथाओंका परमार्थ नहीं समझा। प्रश्न—वह परमार्थ कौन-सा है? उत्तर—कहते हैं—१. (गाथाके पूर्वार्धका इस प्रकार है) जो चक्षुओंको प्रकाशित होता अर्थात् दिखता है, अथवा आँख द्वारा देखा जाता है, वह चक्षुदर्शन है'—इसका अर्थ ऐसा समझना चाहिए कि चक्षु इन्द्रियज्ञानसे जो पूर्व ही सामान्य स्वशक्तिका अनुभव होता है, जो कि चक्षु ज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्तरूप है, वह चक्षुदर्शन है। प्रश्न—गाथाका गला न घोंटकर सीधा अर्थ क्यों नहीं करते? उत्तर—नहीं करते, क्योंकि वैसा करनेसे पूर्वोक्त समस्त दोषोंका प्रसंग आता है। २—गाथाके उत्तरार्धका अर्थ इस प्रकार है—'जो देखा गया है, अर्थात् जो पदार्थ शेष इन्द्रियोंके द्वारा जाना गया है' उससे जो ज्ञान होता है, उसे अचक्षुदर्शन जानना चाहिए। (इसका अर्थ ऐसा समझना चाहिए कि—) चक्षु इन्द्रियको छोड़कर शेष इन्द्रियज्ञानोंकी उत्पत्तिसे पूर्व ही अपने विषयमें प्रतिबद्ध स्वशक्तिका, अचक्षुज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत जो सामान्यसे संवेदन या अनुभव होता है, वह अचक्षुदर्शन है। ३—द्वितीय गाथाका अर्थ इस प्रकार है—'परमाणुसे लगाकर अन्तिम स्कन्ध पर्यन्त जितने मूर्त द्रव्य हैं, उन्हें जिसके द्वारा साक्षात् देखता है या जानता है, वह अवधिदर्शन है।' इसका अर्थ ऐसा समझना चाहिए, कि—परमाणुसे लेकर अन्तिम स्कन्ध पर्यन्त जो पुद्गलद्रव्य स्थित हैं, उनके प्रत्यक्ष ज्ञानसे पूर्व ही जो अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका निमित्तभूत स्वशक्ति विषयक उपयोग होता है, वही अवधिदर्शन है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा ज्ञान और दर्शनमें कोई भेद नहीं रहता। (ध. ६/१,९-१, १६/३३/२); (ध. १३/५, ५, ८५/३५५/७)।

४. बाह्यार्थाश्रित प्ररूपणाका कारण

ध. १५/६/११ पुव्वं सव्वं पि दंसणमज्झत्थविसयमिदि परूविदं, संपहि चक्खुदंसणस्स बज्झत्थविसत्तं परूविदं ति णेदं घडदे, पुव्वावरविरोहादो। ण एस दोसो, एवंविहेसु बज्झत्थेसु पडिबद्धसगसत्तिसंवेयणं चक्खुदंसणं ति जाणावणट्ठं बज्झत्थविसयपरूवणाकरणादो। =प्रश्न १—सभी दर्शन अध्यात्म अर्थको विषय करनेवाले हैं, ऐसी प्ररूपणा पहिले की जा चुकी है। किन्तु इस समय बाह्यार्थको चक्षुदर्शनका विषय कहा है, इस प्रकार यह कथन संगत नहीं है, क्योंकि इससे पूर्वापर विरोध होता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि इस प्रकारके बाह्यार्थमें प्रतिबद्ध आत्म शक्तिका संवेदन करनेको चक्षुदर्शन कहा जाता है, यह बतलानेके लिए उपर्युक्त बाह्यार्थ विषयताकी प्ररूपणा की गई है।

ध.७/२,१,५६/१०१/४ कधमतरंगाए चक्खिदियविसयपडिबद्धाए सत्तीए चक्खिदियस्स पउत्ती। ण अंतरंगे बहिरंगत्थोवयारेण बालजणबोहणट्ठं चक्खूणं च दिस्सदि तं चक्खुदंसणमिदि परूवणादो। —प्रश्न २—उस चक्षु इन्द्रियसे प्रतिबद्ध अन्तरंग शक्तिमें चक्षु इन्द्रियकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? उत्तर—नहीं, यथार्थमें तो चक्षु इन्द्रियकी अन्तरंगमें ही प्रवृत्ति होती है, किन्तु बालक जनोंके ज्ञान करानेके लिए अन्तरंगमें बाह्यार्थके उपचारसे 'चक्षुओंको जो दिखता है, वही चक्षुदर्शन है, ऐसा प्ररूपण किया गया है।

क.पा.१/१-२०/§३२५/३५७/३ इदि मज्झत्थणिद्देसादो ण दंसणमंतरंगत्थ-विसयमिदि णासंकणिज्जं, विसयणिद्देसदुवारेण विसयिणिद्देसादो अण्णेण पयारेण अंतरंगविसयणिरूवणाणुववत्तीदो। =प्रश्न ३—इसमें (पूर्वोक्त अवधिदर्शनकी व्याख्यामें) दर्शनका विषय बाह्य पदार्थ बतलाया है, अतः दर्शन अन्तरंग पदार्थको विषय करता है, यह कहना ठीक नहीं है? उत्तर—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि गाथामें विषयके निर्देश द्वारा विषयीका निर्देश किया गया है। क्योंकि अन्तरंग विषयका निरूपण अन्य प्रकारसे किया नहीं जा सकता है।

५. चक्षुदर्शन सिद्धि

ध.१/१,१,१३१/३७६/१ अथ स्याद्विषयविषयिसंपातसमनन्तरमाद्यग्रहणं अवग्रहः। न तेन बाह्यार्थगतविधिसामान्यं परिच्छिद्यते तस्यावस्तुनः कर्मत्वाभावात्।'' तस्माद्विधिनिषेधात्मकबाह्यार्थग्रहणमवग्रहः। न स दर्शनं सामान्यग्रहणस्य दर्शनव्यपदेशात्। ततो न चक्षुर्दर्शनमिति। अत्र प्रतिविधीयते, नैते दोषाः दर्शनमाढौकन्ते तस्यान्तरङ्गार्थविषयत्वात्। ...सामान्यविशेषात्मकस्यात्मनः सामान्यशब्दवाच्यत्वेनोपादानात्। तस्य कथं सामान्यतेति चेदुच्यते। चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमो हि नाम रूप एव नियमितस्ततो रूपविशिष्टस्यैवार्थग्रहणस्योपलम्भात्। तत्रापि रूपसामान्य एव नियमितस्ततो नीलादिष्वेकरूपेणैव विशिष्टवस्त्वनुपलम्भात्। तस्माच्चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमो रूपविशिष्टार्थं प्रति समानः आत्मव्यतिरिक्तक्षयोपशमाभावादात्मापि तद्द्वारेण समानः। तस्य भावः सामान्यं तद्दर्शनस्य विषय इति स्थितम्।

अथ स्याच्चक्षुषा यत्प्रकाशते तद्दर्शनम्। न चात्मा चक्षुषा प्रकाशते तथानुपलम्भात्। प्रकाशते च रूपसामान्यविशेषविशिष्टार्थः। न स दर्शनमर्थस्योपयोगरूपत्वविरोधात्। न तस्योपयोगोऽपि दर्शनं तस्य ज्ञानरूपत्वात्। ततो न चक्षुर्दर्शनमिति, न, चक्षुर्दर्शनावरणीयस्य कर्मणोऽस्तित्वान्यथानुपपत्तेराधार्याभावे आधारकस्याप्यभावात्। तस्माच्चक्षुर्दर्शनमन्तरङ्गविषयमित्यङ्गीकर्तव्यम्। =प्रश्न १—विषय और विषयीके योग्य सम्बन्धके अनन्तर प्रथम ग्रहणको जो अवग्रह कहा है। सो उस अवग्रहके द्वारा बाह्य अर्थमें रहनेवाले विधि-सामान्यका ज्ञान तो हो नहीं सकता है, क्योंकि, बाह्य अर्थमें रहनेवाला विधि सामान्य अवस्तु है। इसलिए वह कर्म अर्थात् ज्ञानका विषय नहीं हो सकता है। इसलिए विधिनिषेधात्मक बाह्यपदार्थको अवग्रह मानना चाहिए। परन्तु वह अवग्रह दर्शनरूप तो हो नहीं सकता, क्योंकि जो सामान्यको ग्रहण करता है उसे दर्शन कहा है (दे० दर्शन/१/३/२) अतः चक्षुदर्शन नहीं बनता है? उत्तर—ऊपर दिये गये ये सब दोष (चक्षु) दर्शनको नहीं प्राप्त होते हैं, क्योंकि वह अन्तरंग पदार्थको विषय करता है। और अन्तरंग पदार्थ भी सामान्य विशेषात्मक होता है।...(दे० दर्शन/२/४)। और वह उस सामान्यविशेषात्मक आत्माका ही 'सामान्य' शब्दके वाच्यरूपमें ग्रहण किया है। प्रश्न २—उस (आत्मा) को सामान्यपना कैसे है? उत्तर—चक्षुइन्द्रियावरणका क्षयोपशम रूपमें ही नियमित है। इसलिए उससे रूपविशिष्ट ही पदार्थका ग्रहण पाया जाता है। वहाँपर भी चक्षुदर्शनमें रूपसामान्य ही नियमित है, इसलिए उससे नीलादिकमें किसी एक रूपके द्वारा ही विशिष्ट वस्तुकी उपलब्धि नहीं होती है। अतः चक्षुइन्द्रियावरणका क्षयोपशम रूपविशिष्ट अर्थके प्रति समान हैं। आत्माको छोड़कर क्षयोपशम पाया नहीं जाता है, इसलिए आत्मा भी क्षयोपशमकी अपेक्षा समान है। उस समानके भावको सामान्य कहते हैं। वह दर्शनका विषय है। प्रश्न ३—चक्षु इन्द्रियसे जो प्रकाशित होता है उसे दर्शन कहते हैं। परन्तु आत्मा तो चक्षु इन्द्रियसे प्रकाशित होता नहीं है, क्योंकि, चक्षु इन्द्रियसे आत्माकी उपलब्धि होती हुई नहीं देखी जाती है। ४. चक्षु इन्द्रियसे रूप सामान्य और रूपविशेषसे युक्त पदार्थ प्रकाशित होता है। परन्तु पदार्थ तो उपयोगरूप हो नहीं सकता, क्योंकि, पदार्थको उपयोगरूप माननेमें विरोध आता है। ५. पदार्थका उपयोग भी दर्शन नहीं हो सकता है, क्योंकि उपयोग ज्ञानरूप पड़ता है। इसलिए चक्षुदर्शनका अस्तित्व नहीं बनता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, यदि चक्षुदर्शन नहीं हो तो चक्षुदर्शनावरण कर्म नहीं बन सकता है, क्योंकि, आधार्यके अभावमें आधारकका भी अभाव हो जाता है। इसलिए अन्तरंग पदार्थको विषय करनेवाला चक्षुदर्शन है, यह बात स्वीकार कर लेना चाहिए।

६. दृष्टकी स्मृतिका नाम अचक्षुदर्शन नहीं है

ध.१/१,१,१३१/३८३/८ दृष्टान्तस्मरणमचक्षुर्दर्शनमिति केचिदाचक्षते तन्न घटते एकेन्द्रियेषु चक्षुरभावतोऽचक्षुर्दर्शनस्याभावासंजननात्। दृष्टशब्द उपलंभवाचक इति चेन्न उपलब्धार्थविषयस्मृतेर्दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे मनसो निर्विषयतापत्तेः। ततः स्वरूपसंवेदनं दर्शनमित्यङ्गीकर्तव्यम्। =दृष्टान्त अर्थात् देखे हुए पदार्थका स्मरण करना अचक्षुदर्शन है, इस प्रकार कितने ही पुरुष कहते हैं, परन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर एकेन्द्रियजीवोंमें चक्षु[illegible]का अभाव होनेसे (पदार्थको पहिले देखना ही असम्भव होनेके कारण) उनके अचक्षुदर्शनके अभावका प्रसंग आ जायगा। प्रश्न—दृष्टान्तमें 'दृष्ट' शब्द उपलम्भवाचक ग्रहण करना चाहिए? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उपलब्ध पदार्थको विषय करनेवाली स्मृतिको दर्शन स्वीकार कर लेनेपर मनको विषय रहितपनेकी आपत्ति आ जाती है। इसलिए स्वरूपसंवेदन (अचक्षु) दर्शन है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

७. पाँच दर्शनोंके लिए एक अचक्षुदर्शन नाम क्यों

ध.१५/१०/२ पंचण्णं दंसणाणमचक्खुदंसणमिदि एगणिद्देसो किमट्ठं कदो। तेसिं पच्चासत्ती अत्थि त्ति जाणावणट्ठं कदो। कधं तेसिं पच्चासत्ती। विसईदो पुधभूदस्स अक्कमेण सग-परपच्चक्खस्स चक्खुदंसणविसयस्सेव तेसिं विसयस्स परेसिं जाणावणोवायाभावं पडि समाणत्तादो। =प्रश्न—(चक्षु इन्द्रियसे अतिरिक्त चार इन्द्रिय व मन विषयक) पाँच दर्शनोंके लिए अचक्षुदर्शन ऐसा एक निर्देश किस लिए किया। (अर्थात् चक्षुदर्शनवत् इनका भी रसना दर्शन आदि रूपसे पृथक्-पृथक् व्यपदेश क्यों न किया)? उत्तर—उनकी परस्परमें प्रत्यासत्ति है, इस बातके जतलानेके लिए वैसा निर्देश किया गया है। प्रश्न—उनकी परस्परमें प्रत्यासत्ति कैसे है? उत्तर—विषयीसे [illegible] युगपत् स्व और परको प्रत्यक्ष होनेवाले ऐसे चक्षुदर्शनके विषयके समान उन पाँचों दर्शनोंके विषयका दूसरोंके लिए ज्ञान करानेका कोई उपाय नहीं है। इसकी समानता पाँचों ही दर्शनोंमें है। यही उनमें प्रत्यासत्ति है।

८. केवल ज्ञान व दर्शन दोनों कथंचित् एक हैं

क. पा. १/१-२०/गा. १४३/३५७ मणपज्जवणाणंतो णाणस्स य दंसणस्स य विसेसो। केवलियं णाणं पुण णाणं त्ति य दंसणं त्ति य समाणं ।१४३। =मनःपर्यय ज्ञानपर्यन्त ज्ञान और दर्शन इन दोनोंमें विशेष अर्थात् भेद है, परन्तु केवलज्ञानकी अपेक्षासे तो ज्ञान और दर्शन दोनों समान हैं। नोट—यद्यपि अगले शीर्षक नं०९ के अनुसार इनकी एकताको स्वीकार नहीं किया जाता है और उपरोक्त गाथाका भी खण्डन किया गया है, परन्तु ध./१ में इसी बातकी पुष्टि की है। यथा—)। (ध.६/३४/२)।

ध. १/१,१,१३५/३८५/६ अनन्तत्रिकालगोचरबाह्येऽर्थे प्रवृत्तं केवलज्ञानं (स्वतोऽभिन्नवस्तुपरिच्छेदकं च दर्शनमिति) कथमनयोः समानतेति चेत्कथ्यते। ज्ञानप्रमाणमात्मा ज्ञानं च त्रिकालगोचरानन्तद्रव्यपर्याय-परिमाणं ततो ज्ञानदर्शनयोः समानत्वमिति। —प्रश्न—त्रिकाल-गोचर अनन्त बाह्यपदार्थोंमें प्रवृत्ति करनेवाला ज्ञान है और स्वरूप मात्रमें प्रवृत्ति करनेवाला दर्शन है, इसलिए इन दोनोंमें समानता कैसे हो सकती है? उत्तर—आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान त्रिकालके विषयभूत द्रव्योंकी अनन्त पर्यायोंको जाननेवाला होनेसे तत्परिमाण है, इसलिए ज्ञान और दर्शनमें समानता है। (ध. ७/२,१,५६/१०२/६) (ध. ६/१,६-१,१७/३४/६) (और भी दे० दर्शन/२/७)।

दे० दर्शन/२/८ (यद्यपि स्वकीय पर्यायोंकी अपेक्षा दर्शनका विषय ज्ञानसे अधिक है, फिर भी एक दूसरेकी अपेक्षा करनेके कारण उनमें समानता बन जाती है)।

९. केवलज्ञानसे भिन्न केवल दर्शनकी सिद्धि

क. पा. १/१-२०/प्रकरण/पृष्ठ/पंक्ति जेण केवलणाणं सपरपयासयं, तेण केवलदंसणं णत्थि त्ति के वि भणंति। एत्थुवउज्जंतीओ गाहाओ—"मणपज्जवणाणंतो—"(§३२५/३५७/४)। एदं पि ण घडदे; केवलणाणस्स पज्जायस्स पज्जायाभावादो। ण पज्जायस्स पज्जाया अत्थि अण-वत्थाभावप्पसंगादो। ण केवलणाणं जाणइ पस्सइ वा; तस्स कत्तारत्ता-भावादो। तम्हा सपरप्पयासओ जीवो त्ति इच्छियव्वं। ण च दोण्हं पयासाणमेयत्तं; बज्झं तरंगत्थविसयाणं सायार-अणायारणमे-यत्तविरोहादो। (§३२६/३५७/८)। केवलणाणादो केवलदंसणमभिण्ण-मिदि केवलदंसणस्स केवलणाणत्तं किण्ण होज्ज। ण एवं संते विसेसा-भावेण णाणस्स वि दंसणप्पसंगादो (§३२७/३५८/४)। —प्रश्न—चूंकि केवलज्ञान स्व और पर दोनोंका प्रकाशक है, इसलिए केवल दर्शन नहीं है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। और इस विषयकी उपयुक्त गाथा देते हैं—मनःपर्ययज्ञानपर्यन्त··· (दे० दर्शन/५/८) उत्तर—परन्तु उनका ऐसा कहना भी नहीं बनता है। १. क्योंकि केवलज्ञान-स्वयं पर्याय है, इसलिए उसकी दूसरी पर्याय नहीं हो सकती है। पर्यायकी पर्याय नहीं होती, क्योंकि, ऐसा माननेपर अनवस्था दोष आता है। (ध. ६/१,६-१,१७/३४/२)। (ध. ७/२,१,५६/६६/८)। २. केवलज्ञान स्वयं तो न जानता ही है और न देखता ही है, क्योंकि वह स्वयं जानने व देखनेका कर्ता नहीं है (आत्मा ही उसके द्वारा जानता है)। इसलिए ज्ञानको अन्तरंग व बहिरंग दोनोंका प्रकाशक न मानकर जीव स्व व परका प्रकाशक है, ऐसा मानना चाहिए। (विशेष दे० दर्शन/२/६)। ३—केवल दर्शन व केवलज्ञान ये दोनों प्रकाश एक हैं, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि बाह्य पदार्थोंको विषय करनेवाले साकार उपयोग और अन्तरंग पदार्थको विषय करनेवाले अनाकार उपयोगको एक माननेमें विरोध आता है। (ध. १,१,१३३/३८३/११); (ध. ७/२,१,५६/६६/६)। ४. प्रश्न—केवलज्ञानसे केवलदर्शन अभिन्न है, इसलिए केवलदर्शन केवलज्ञान क्यों नहीं हो जाता? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऐसा होनेपर ज्ञान और दर्शन इन दोनोंमें कोई विशेषता नहीं रहती है, इसलिए ज्ञानको भी दर्शन-पनेका प्रसंग प्राप्त होता है। (विशेष दे० दर्शन/२)।

१०. आवरण कर्मके अभावसे केवलदर्शनका अभाव नहीं होता

क. पा. १/१-२०/§ ३२८-३२६/३५६/२ मइणाणं व जेण दंसणमावरणणि-बंधणं तेण खीणावरणिज्जे ण दंसणमिदि के वि भणंति। एत्थुव-उज्जंती गाहा—'भण्णइ खीणावरणे···' (§३२८)। एदं पि ण घडदे; आवरणकयस्स मइणाणस्सेव होउ णाम आवरणकयचक्खुअचक्खु-ओहिदंसणाणमावरणाभावेण अभावो ण केवलदंसणस्स तस्स कम्मेण अजणिदत्तादो। ण कम्मजणिदं केवलदंसणं, सगसरूवपयासेण विणा णिच्चेयणस्स जीवस्स णाणस्स वि अभावप्पसंगादो। —चूंकि दर्शन मतिज्ञानके समान आवरणके निमित्तसे होता है, इसलिए आवरणके नष्ट हो जानेपर दर्शन नहीं रहता है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। इस विषयमें उपयुक्त गाथा इस प्रकार है—'जिस प्रकार ज्ञानावरणसे रहित जिनभगवान्में···इत्यादि'···पर उनका ऐसा कहना भी नहीं बनता है, क्योंकि जिस प्रकार मतिज्ञान आवरणका कार्य है, इसलिए अवरणके नष्ट हो जानेपर मतिज्ञानका अभाव हो जाता है। उसी प्रकार आव-रणका अभाव होनेसे आवरणके कार्य चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शनका भी अभाव होता है तो होओ पर इससे केवल दर्शनका अभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि केवल दर्शन कर्मजनित नहीं है। उसे कर्मजनित मानना भी ठीक नहीं है, ऐसा माननेसे, दर्शनावरण-का अभाव हो जानेसे भगवान्को केवलदर्शनकी उत्पत्ति नहीं होगी, और उसकी उत्पत्ति न होनेसे वे अपने स्वरूपको न जान सकेंगे, जिससे वे अचेतन हो जायेंगे और ऐसी अवस्थामें उसके ज्ञानका भी अभाव प्राप्त होगा।

६. श्रुत विभंग व मन:पर्ययके दर्शन सम्बन्धी

१. श्रुतदर्शनके अभावमें युक्ति

ध. १/१,१,१३३/३८४/५ श्रुतदर्शनं किमिति नोच्यते इति चेन्न, तस्य मतिपूर्वकस्य दर्शनपूर्वकत्वविरोधात्। यदि बहिरङ्गार्थसामान्यविषयं दर्शनमभविष्यत्तदा श्रुतज्ञानदर्शनमपि समभविष्यत्। —प्रश्न—श्रुतदर्शन क्यों नहीं कहा? उत्तर—१. नहीं, क्योंकि, मतिज्ञान पूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञानको दर्शनपूर्वक माननेमें विरोध आता है। (ध. ३/१,२,१६१/४५६/१०); (ध. १३/५,५,८५/३५६/२) (और भी दे० आगे दर्शन/६/४) २. दूसरे यदि बहिरंग पदार्थको सामान्य रूपसे विषय करनेवाला दर्शन होता तो श्रुतज्ञान सम्बन्धी दर्शन भी होता। परन्तु ऐसा नहीं (अर्थात् श्रुत ज्ञानका व्यापार बाह्य पदार्थ है अन्त-रंग नहीं, जब कि दर्शनका विषय अन्तरंग पदार्थ है) इसलिए श्रुत-ज्ञानके पहिले दर्शन नहीं होता।

ध. ३/१,२,१६१/४५७/१ जदि सरूवसंवेदणं दंसणं तो एदेसि पि दंसणस्स अत्थित्तं पसज्जदे चेन्न, उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्तप्रयत्नविशिष्टस्वसंवे-दनस्य दर्शनत्वात्। ३. प्रश्न—यदि स्वरूपसंवेदन दर्शन है, तो इन दोनों (श्रुत व मनःपर्यय) ज्ञानोंके भी दर्शनके अस्तित्वकी प्राप्ति होती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उत्तरज्ञानकी उत्पत्तिके निमित्तभूत प्रयत्न-विशिष्ट स्वसंवेदनको दर्शन माना गया है। (यहाँ वह कार्य दर्शनकी अपेक्षा मतिज्ञानसे सिद्ध होता है।

२. विभंग दर्शनके अस्तित्वका कथंचित् विधि निषेध

दे. सत प्ररूपणा' (विभंगज्ञानीको अवधि दर्शन नहीं होता)।

ध. १/१,१,१३४/३८५/१ विभङ्गदर्शनं किमिति पृथग् नोपदिष्टमिति चेन्न, तस्यावधिदर्शनेऽन्तर्भावात्। —विभङ्ग दर्शनका पृथक्रूपसे उपदेश क्यों नहीं किया? उत्तर—नहीं, क्योंकि उसका अवधि दर्शनमें अन्तर्भाव हो जाता है। (ध. १३/५,५,८५/३५६।

ध. १३/५,५,८५/३५६/४ तथा सिद्धिविनिश्चयेऽप्युक्तम्—अवधिविभंग-योरवधिदर्शनम्' इति। —ऐसा ही सिद्धिविनिश्चयमें भी कहा है, —'अवधिज्ञान व विभंगज्ञानके अवधिदर्शन ही होता है'।

३. मनःपर्ययदर्शनके अभावमें युक्ति

रा.वा./६/१० वार्तिक/पृष्ठ/पंक्ति—यथा अवधिज्ञानं दर्शनपूर्वकं तथा मनःपर्ययज्ञानेनापि दर्शनपुरस्सरेण भवितव्यमिति चेत्; तन्न; किं कारणम्। कारणाभावात्। न मनःपर्ययदर्शनावरणमस्ति। दर्शनावरणचतुष्टयोपदेशात्, तदभावात् तत्क्षयोपशमाभावे तन्निमित्तमनःपर्ययदर्शनोपयोगाभावः। (§१८/५१८/३२)। मनःपर्ययज्ञानं स्वविषये अवधिज्ञानवत् न स्वमुखेन वर्तते। कथं तर्हि। परकीयमनःप्रणालिकया। ततो यथा मनोऽतीतानागतार्थांश्चिन्तयति न तु पश्यति तथा मनःपर्ययज्ञान्यपि भूतभविष्यन्तौ वेत्ति न पश्यति। वर्तमानमतिमनोविषयविशेषाकारेणैव प्रतिपद्यते, ततः सामान्यपूर्वकवृत्त्यभावात् मनःपर्ययदर्शनाभावः (§ १६/५१६/३)। —प्रश्न—जिस प्रकार अवधिज्ञान दर्शन पूर्वक होता है, उसी प्रकार मनःपर्ययज्ञानको भी दर्शन पूर्वक होना चाहिए? उत्तर—१. ऐसा नहीं है, क्योंकि, तहाँ कारणका अभाव है। मनःपर्यय दर्शनावरण नहीं है, क्योंकि चक्षु आदि चार ही दर्शनावरणोंका उपदेश उपलब्ध है। और उसके अभावके कारण उसके क्षयोपशमका भी अभाव है, और उसके अभावमें तन्निमित्तक मनःपर्ययदर्शनोपयोगका भी अभाव है। २. मनःपर्ययज्ञान अवधिज्ञानकी तरह स्वमुखसे विषयोंको नहीं जानता, किन्तु परकीय मनःप्रणालीसे जानता है। अतः जिस प्रकार मन अतीत व अनागत अर्थोंका विचार चिन्तन तो करता है पर देखता नहीं, उसी तरह मनःपर्ययज्ञानी भी भूत और भविष्यतको जानता तो है, पर देखता नहीं। वह वर्तमान भी मनको विषयविशेषाकारसे जानता है, अतः सामान्यावलोकन पूर्वक प्रवृत्ति न होनेसे मनःपर्यय दर्शन नहीं बनता।

ध. १/१,१,१३४/३८५/२ मनःपर्ययदर्शनं तर्हि वक्तव्यमिति चेन्न, मतिपूर्वकत्वात्तस्य दर्शनाभावात्। —प्रश्न—मनःपर्यय दर्शनको भिन्न रूपसे कहना चाहिए? उत्तर—१. नहीं, क्योंकि, मनःपर्ययज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, इसलिए मनःपर्यय दर्शन नहीं होता। (ध. ३/१,२,१६१/४५६/१०); (ध.१३/५,५,८५/३५६/५); (ध.६/१,६-१,१४/२१/२); (ध. ६/४,१,६/५३/१)।

दे. ऊपर श्रुत दर्शन सम्बन्धी —(उत्तर ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारणभूत प्रयत्नरूप स्वसंवेदनको दर्शन कहते हैं, परन्तु यहाँ उत्तर ज्ञानकी उत्पत्तिका कार्य मतिज्ञान ही सिद्ध कर देता है।)

४. मति ज्ञान ही श्रुत व मनःपर्ययका दर्शन है

द्र.सं./टी./४४/१८८/६ श्रुतज्ञानमनःपर्ययज्ञानजनकं यदवग्रहेहादिरूपं मतिज्ञानं भणितम्, तदपि दर्शनपूर्वकत्वात्तदुपचारेण दर्शनं भण्यते, यतस्तेन कारणेन श्रुतज्ञानमनःपर्ययज्ञानद्वयमपि दर्शनपूर्वकं ज्ञातव्यमिति। —यहाँ श्रुतज्ञानको उत्पन्न करनेवाला जो अवग्रह और मनःपर्ययज्ञानको उत्पन्न करनेवाला ईहारूप मतिज्ञान कहा है; वह मतिज्ञान भी दर्शनपूर्वक होता है इसलिए वह मतिज्ञान भी उपचारसे दर्शन कहलाता है। इस कारण श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन दोनोंको भी दर्शन पूर्वक जानना चाहिए।

७. दर्शनोपयोग सम्बन्धी कुछ प्ररूपणाएँ

१. दर्शनोपयोग अन्तर्मुहूर्त अवस्थायी है

ध. १३/५,५,२३/२१६/१३ ज्ञानोत्पत्तेः पूर्वावस्था विषयविषयिसंपातः ज्ञानोत्पादनकारणपरिणामविशेषसंतत्युत्पत्त्युपलक्षितः अन्तर्मुहूर्तकालः दर्शनव्यपदेशभाक्। —ज्ञानोत्पत्तिकी पूर्वावस्था विषय व विषयीका सम्पात (सम्बन्ध) है, जो दर्शन नामसे कहा जाता है। यह दर्शन ज्ञानोत्पत्तिके कारणभूत परिणाम विशेषकी सन्ततिकी उत्पत्तिसे उपलक्षित होकर अन्तर्मुहूर्त कालस्थायी है।)

दे. दर्शन/३/२ (केवलदर्शनोपयोग भी तद्भवस्थ उपसर्ग केवलियोंकी अन्तर्मुहूर्त कालस्थायी है) नोट—(उपरोक्त अन्तर्मुहूर्तकाल दर्शनोपयोगकी अपेक्षा है और काल प्ररूपणामें दिये गये काल क्षयोपशम सामान्यकी अपेक्षासे है, अतः दोनोंमें विरोध नहीं है।

२. लब्ध्यपर्याप्त दशामें चक्षुदर्शनोपयोग संभव नहीं पर निवृत्त्यपर्याप्त दशामें संभव है

ध. ४/१,३,६७/१२६/८ यदि एवं, तो लद्धिअपज्जत्ताणं पि चक्खुदंसणित्तं पसज्जदे। तं च णत्थि, चक्खुदंसणिअवहारकालस्स पदरंगुलस्स असंखेज्जदिभागमेत्तपमाणप्पसंगादो। ण एस दोसो, णिव्वत्तिअपज्जत्ताणं चक्खुदंसणमत्थि; उत्तरकाले णिच्छएण चक्खुदंसणोवजोगसमुप्पत्तीए अविणाभाविचक्खुदंसणखओवसमदंसणादो। चउरिंदियपंचिंदियलद्धिअपज्जत्ताणं चक्खुदंसणं णत्थि, तत्थ चक्खुदंसणोवओगसमुप्पत्तीए अविणाभाविचक्खुदंसणखओवसमाभावादो। —प्रश्न—यदि ऐसा है (अर्थात् अपर्याप्तककालमें भी क्षयोपशमकी अपेक्षा चक्षुदर्शन पाया जाता है) तो लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंमें भी चक्षुदर्शनीपनेका प्रसंग प्राप्त होता है। किन्तु लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंके चक्षुदर्शन होता नहीं है। यदि लब्ध्यपर्याप्त जीवोंके भी चक्षुदर्शनोपयोगका सद्भाव माना जायेगा, तो चक्षुदर्शनी जीवोंके अवहारकालको प्रतरांगुलके असंख्यातवें भागमात्र प्रमाणपनेका प्रसंग प्राप्त होता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, निवृत्त्यपर्याप्त जीवोंके चक्षुदर्शन होता है। इसका कारण यह है, कि उत्तरकालमें, अर्थात् अपर्याप्त काल समाप्त होनेके पश्चात् निश्चयसे चक्षुदर्शनोपयोगकी समुत्पत्तिका अविनाभावी चक्षुदर्शनका क्षयोपशम देखा जाता है। हाँ चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त जीवोंके चक्षुदर्शन नहीं होता, क्योंकि, उनमें चक्षुदर्शनोपयोगकी समुत्पत्तिका अविनाभावी चक्षुदर्शनावरणकर्मके क्षयोपशमका अभाव है। (ध. ४/१,५,२७८/४५४/६)।

३. मिश्र व कार्माणकाययोगियोंमें चक्षुदर्शनोपयोगका अभाव

पं. सं./प्रा./४/२७-२६ ओरालमिस्स-कम्मे मणपज्जविहंगचक्खुहीणा ते ।२७। तम्मिस्से केवलदुग मणपज्जविहंगचक्खूणा ।२८। केवलदुयमणपज्जव-अण्णाणेतिएहि होंति ते ऊणा। आहारजुयलजोए···।२६। —योगमार्गणाकी अपेक्षा औदारिक मिश्र व कार्माण काययोगमें मनःपर्ययज्ञान विभंगावधि और चक्षुदर्शन इन तीन रहित ६ उपयोग होते हैं।२६। वैक्रियक मिश्र काययोगमें केवलद्विक, मनःपर्यय, विभंगावधि और चक्षुदर्शन इन पाँचको छोड़कर शेष ७ उपयोग होते हैं।२८। आहारक मिश्रकाय योगमें केवलद्विक, मनःपर्ययज्ञान और अज्ञानत्रिक, इन छहको छोड़कर शेष छ उपयोग होते हैं (अर्थात् आहारमिश्रमें चक्षुदर्शनोपयोग होता है)।

४. दर्शनमार्गणामें गुणस्थानोंका स्वामित्व

ष. खं. १/१,१/सू. १३२-१३५/३८३-३८५ चक्खुदंसणी चउरिंदियप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्थात्ति ।१३३। अचक्खुदंसणी एइंदियप्पहुडि जाव खीणकसायवीयराय छदुमत्था त्ति ।१३३। ओधिदंसणी असंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्थात्ति ।१३४। केवलदंसणी तिसु ट्ठाणेसु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ।१३५। —चक्षुदर्शन उपयोगवाले जीव चतुरिन्द्रिय (मिथ्यादृष्टि) से लेकर (संज्ञी पंचेन्द्रिय) क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं।१३२। अचक्षुदर्शन उपयोगवाले जीव एकेन्द्रिय (मिथ्यादृष्टि) से लेकर (संज्ञी पंचेन्द्रिय) क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुण-

स्थान तक होते हैं।१३३। अवधिदर्शन वाले जीव (संज्ञी पंचेन्द्रिय हो) असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुण-स्थान तक होते हैं।१३४। केवल दर्शनके धारक जीव (संज्ञी पंचेन्द्रिय व अनिन्द्रिय सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध इन तीन स्थानोंमें होते हैं।१३५।

दर्शनकथा—कवि भारामल (ई० १७५६) द्वारा हिन्दी भाषामें रचित कथा।

दर्शनक्रिया—दे० क्रिया/३/२।

दर्शनपाहुड़—आ० कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७९) कृत सम्यग्दर्शन विषयक ३६ प्राकृत गाथाओंमें निबद्ध ग्रन्थ है। इस पर आ० श्रुत-सागर (ई० १४८१-१४९९) कृत संस्कृत टीका और पं० जयचन्द छाबड़ा (ई० १८००) कृत भाषा वचनिका उपलब्ध है। (ती./२/१९४)।

दर्शनप्रतिमा—श्रावककी ११ भूमिकाओंमें-से पहलीका नाम दर्शन प्रतिमा है। इस भूमिकामें यद्यपि वह यमरूपसे १२ व्रतोंको धारण नहीं कर पाता पर अभ्यास रूपसे उनका पालन करता है। सम्यग्-दर्शनमें अत्यन्त दृढ हो जाता है और अष्टमूलगुण आदि भी निरति-चार पालने लगता है।

१. दर्शन प्रतिमाका लक्षण

१. संसार शरीर भोग से निर्विण्ण पंचगुरु भक्ति

चा. सा./३/५ दार्शनिकः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः पञ्चगुरुचरणभक्तः सम्यग्दर्शनविशुद्धश्च भवति। =दर्शन प्रतिमावाला संसार और शरीर भोगोंसे विरक्त पाँचों परमेष्ठियोंके चरणकमलोंका भक्त रहता है और सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध रहता है।

२. संवेगादि सहित साष्टांग सम्यग्दृष्टि

सुभाषितरत्नसन्दोह/८३३ शंकादिदोषनिर्मुक्तं संवेगादिगुणान्वितं। यो धत्ते दर्शनं सोऽत्र दर्शनी कथितो जिनैः ॥८३३॥ =जो पुरुष शंकादि दोषोंसे निर्दोष संवेगादि गुणोंसे संयुक्त सम्यग्दर्शनको धारण करता है, वह सम्यग्दृष्टि (दर्शन प्रतिमावाला) कहा गया है ॥८३३॥

२ दर्शन प्रतिमाधारीके गुण व व्रतादि

१. निशि भोजनका त्यागी

वसु. श्रा./३१४ एयारसेसु पढमं वि जदो णिसि भोयणं कुणंतस्स। ठाणं ण ठाइ तम्हा णिसि भुत्तिं परिहरे णियमा ॥३१४॥ =चूँकि रात्रिको भोजन करनेवाले मनुष्यके ग्यारह प्रतिमाओंमें-से पहली भी प्रतिमा नहीं ठहरती है, इसलिए नियमसे रात्रि भोजनका परिहार करना चाहिए। (ला. सं./२/४५)।

२. सप्त व्यसन व पंचुदंबर फलका त्यागी

वसु. श्रा./२०५ पंचुंबरसहियाइं परिहरेइ इय जो सत्त विसणाइं। सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावओ भणिओ ॥२०५॥ =जो सम्यग्दर्शन-से विशुद्ध बुद्धि जीव इन पाँच उदुम्बर सहित सातों व्यसनोंका परित्याग करता है, वह प्रथम प्रतिमाधारी दर्शन श्रावक कहा गया है ॥२०५॥ (वसु. श्रा./५६-५८) (गुणभद्र श्रा./११२) (गो. जी./जी. प्र./४७७/८८४ में उद्धृत)

३. मद्य मांसादिका त्यागी

का. अ./मू./३२८-३२९ बहु-तस-समण्णिदं जं मज्जं मंसादि णिंदिदं दव्वं। जो ण य सेवदि णियदं सो दंसण-सावओ होदि ॥३२८॥ जो दिढचित्तो कीरदि एवं पि वयणियाणपरिहीणो। वेरग्ग-भावियमणो सो वि य दंसण-गुणो होदि ॥३२९॥ =बहुत त्रसजीवोंसे युक्त मद्य, मांस आदि निन्दनीय वस्तुओंका जो नियमसे सेवन नहीं करता वह दार्शनिक श्रावक है ॥३२८॥ वैराग्यसे जिसका मन भीगा हुआ है ऐसा जो श्रावक अपने चित्तको दृढ करके तथा निदानको छोड़कर उक्त व्रतोंको पालता है वह दार्शनिक श्रावक है ॥३२९॥ (का. अ./मू./२०५)।

४. अष्टमूल गुणधारी, निष्प्रयोजन हिंसाका त्यागी

र. क. श्रा./मू./१३७ सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः। पञ्च-गुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः। =जो संसार भोगोंसे विरक्त हो, जिसका सम्यग्दर्शन विशुद्ध अर्थात् अतिचार रहित हो, जिसके पंचपरमेष्ठीके चरणोंकी शरण हो,तथा जो व्रतोंके मार्गमें मद्यत्यागादि आठ मूलगुणोंका ग्रहण करनेवाला हो, वह दर्शन प्रतिमाधारी दर्शनिक है ॥१३७॥

द्र. सं./टी./४५/१९५/९ सम्यक्त्वपूर्वकत्वेन मद्यमांसमधुत्यागोदुम्बरपञ्चक-परिहाररूपाष्टमूलगुणसहितः सन् संग्रामादिप्रवृत्तोऽपि पापर्द्ध्यादि-भिर्निष्प्रयोजनजीवघातादेः निवृत्तः प्रथमो दार्शनिकश्रावको भण्यते। =सम्यग्दर्शन पूर्वक मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागरूप आठ मूलगुणोंको पालता हुआ जो जीव युद्धादिमें प्रवृत्त होनेपर भी पापको बढ़ानेवाले शिकार आदिके समान बिना प्रयोजन जीव घात नहीं करता, उसको प्रथम दार्शनिक श्रावक कहते हैं।

५. अष्टमूलगुण धारण व सप्त व्यसनका त्याग

ला. सं./२/९ अष्टमूलगुणोपेतो द्यूतादिव्यसनोज्झितः। नरो दार्शनिकः प्रोक्तः स्याच्चेत्सद्दर्शनान्वितः ॥९॥ =जो जीव सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला हो और फिर वह यदि आठों मूलगुणोंको धारण कर ले तथा जूआ, चोरी आदि सातों व्यसनोंका त्याग कर दे तो वह दर्शन प्रतिमाको धारण करनेवाला कहलाता है ॥९॥

६. निरतिचार अष्टगुणधारी

सा. ध./३/७-८ पाक्षिकाचारसंस्कार-दृढीकृतविशुद्धदृक्। भवाङ्गभोग-निर्विण्णः, परमेष्ठिपदैकधीः ॥७॥ निर्मूलयन्मलान्मूलगुणेष्वग्रगुणो-त्सुकः। न्याय्यां वृत्तिं तनुस्थित्यै, तन्वन् दार्शनिको मतः ॥८॥ =पाक्षिक श्रावकके आचरणोंके संस्कारसे निश्चल और निर्दोष हो गया है सम्यग्दर्शन जिसका ऐसा संसार शरीर और भोगोंसे अथवा संसारके कारण भूत भोगोंसे विरक्त पंचपरमेष्ठीके चरणोंका भक्त मूल गुणोंमें-से अतिचारोंको दूर करनेवाला व्रतिक आदि पदोंको धारण करनेमें उत्सुक तथा शरीरको स्थिर रखनेके लिए न्यायानुकूल आजीविकाको करनेवाला व्यक्ति दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक माना गया है।

७. सप्त व्यसन व विषय तृष्णाका त्यागी

क्रिया कोष/१०४२ पहिली पड़िमा धर बुद्धा सम्यग्दर्शन शुद्धा। त्यागे जो सातों व्यसना छोड़े विषयनिकी तृष्णा ॥१०४२॥ =प्रथम प्रतिमा-का धारी सम्यग्दर्शनसे शुद्ध होता है, तथा सातों व्यसनोंको और विषयोंकी तृष्णाको छोड़ता है।

८. स्थूल पंचाणुव्रतधारी

र. सा./८ उहयगुणवसणभयमलवेरग्गाइचार भत्तिविग्घं वा। एदे सत्त-त्तरिया दंसणसावयगुणा भणिया ॥८॥ =आठ मूलगुण और बारह उत्तरगुणों (बारह व्रत अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत) का प्रतिपालन, सात व्यसन और पच्चीस सम्यक्त्वके दोषोंका परित्याग, बारह वैराग्य भावनाका चिंतवन, सम्यग्दर्शनके पाँच अतीचारोंका परि-त्याग, भक्ति भावना इस प्रकार दर्शनको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टि श्रावकके सत्तर गुण हैं।

रा. वा. हि./७/२०/५५८ प्रथम प्रतिमा विषै ही स्थूल त्याग रूप पाँच अणुव्रतका ग्रहण है...तहाँ ऐसा समझना जो...पंच उदम्बर फलमें तो त्रसके मारनेका त्याग भया। ऐसा अहिंसा अणुव्रत भया। चोरी तथा परस्त्री त्यागमें दोऊ अचौर्य व ब्रह्मचर्य अणुव्रत भये। द्यूत कर्मादि अति तृष्णाके त्यागतैं असत्यका त्याग तथा परिग्रहकी अति चाह मिटी (सत्य व परिग्रह परिणाम अणुव्रत हुए)। मांस, मद्य, शहदके त्यागतैं त्रस कूं मारकरि भक्षण करनेका त्याग भया (अहिंसा अणुव्रत हुआ) ऐसे पहिली प्रतिमामें पाँच अणुव्रतकी प्रवृत्ति सम्भवे है। अर इनिके अतिचार दूर करि सके नाहीं तातैं व्रत प्रतिमा नाम न पावै अतिचारके त्यागका अभ्यास यहाँ अवश्य करे। (चा. पा./भाषा/२१)।

३. अविरत सम्यग्दृष्टि व दर्शन प्रतिमामें अन्तर

प. पु./११८/१५-१६ इयं श्रीधर ते नित्यं दयिता मदिरोत्तमा। इमां तावत् पिब न्यस्तां चषके विकचोत्पले॥१५॥ इत्युक्त्वा तां मुखे न्यस्य चकार सुमहादरः। कथं विशतु सा तत्र चार्वी संक्रान्तचेतने॥१६॥ —हे लक्ष्मीधर! तुम्हें यह उत्तम मदिरा निरन्तर प्रिय रहती थी सो खिले हुए नील कमलसे सुशोभित पानपात्रमें रखी हुई इस मदिराको पिओ॥१५॥ ऐसा कहकर उन्होंने बड़े आदरके साथ वह मदिरा उनके मुखमें रख दी पर वह सुन्दर मदिरा निश्चेतन मुखमें कैसे प्रवेश करती॥१६॥

प. प्र./टी./२/१३३ गृहस्थावस्थायां दानशीलपूजोपवासादिरूपसम्यक्त्व-पूर्वको गृहिधर्मो न कृतः, दार्शनिकव्रतिकाद्येकादशविधश्रावकधर्म-रूपो वा। —गृहस्थावस्थामें जिसने सम्यक्त्व पूर्वक दान, शील, पूजा, उपवासादिरूप गृहस्थका धर्म नहीं किया, दर्शन प्रतिमा व्रत प्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमाके भेदरूप श्रावकका धर्म नहीं धारण किया।

वसु. श्रा./५६-५७ एरिसगुण अट्ठजुयं सम्मत्तं जो धरेइ दिढचित्तो। सो हवइ सम्मदिट्ठी सद्दहमाणो पयत्थे य॥५६॥ पंचुंबरसहियाइं सत्त वि विसणाइं जो विवज्जेइ। सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावओ भणिओ॥५७॥ —जो जीव दृढचित्त होकर जीवादिक पदार्थोंका श्रद्धान करता हुआ उपर्युक्त इन आठ (निशंकितादि) गुणोंसे युक्त सम्यक्त्वको धारण करता है, वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है॥५६॥ और जो सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध है बुद्धि जिसकी, ऐसा जो जीव पांच उदुम्बर फल सहित सातों ही व्यसनोंका त्याग करता है वह दर्शन श्रावक कहा गया है॥५७॥

ला.सं./३/१३१ दर्शनप्रतिमा नास्य गुणस्थानं न पञ्चमम्। केवलपाक्षिकः सः स्याद्गुणस्थानादसंयतः।१३१। —जो मनुष्य मद्यादि तथा सप्त व्यसनोंका सेवन नहीं करता परन्तु उनके सेवन न करनेका नियम भी नहीं लेता, उसके न तो दर्शन प्रतिमा है और न पाँचवाँ गुणस्थान ही होता है। उसको केवल पाक्षिक श्रावक कहते हैं, उसके असंयत नामा चौथा गुणस्थान होता है। भावार्थ—जो सम्यग्दृष्टि मद्य मांसादिके त्यागका नियम नहीं लेता, परन्तु कुल क्रमसे चली आयी परिपाटीके अनुसार उनका सेवन भी नहीं करता उसके चौथा गुणस्थान होता है।

का.अ./भाषा पं. जयचन्द/३०७ पच्चीस दोषोंसे रहित निर्मल सम्यग्दर्शन का धारक अविरत सम्यग्दृष्टि है तथा अष्टमूल गुण धारक तथा सप्त व्यसन त्यागी शुद्ध सम्यग्दृष्टि है।

४. दर्शन प्रतिमा व व्रत प्रतिमामें अन्तर

रा.वा./हि./७/२०/५५८ पहिली प्रतिमामें पाँच अणुव्रतोंकी प्रवृत्ति सम्भवै है अर इनके अतिचार दूर कर सके नाहीं तातैं व्रत प्रतिमा नाम न पावै।

चा.पा./पं. जयचन्द/२१/४३ दर्शन प्रतिमाका धारक भी अणुव्रती ही है···याकैं अणुव्रत अतिचार सहित होय है तातैं व्रती नाम न कह्या दूजी प्रतिमामें अणुव्रत अतिचार रहित पालै तातैं व्रत नाम कह्या इहाँ सम्यक्त्वकैं अतीचार टालै है सम्यक्त्व ही प्रधान है तातैं दर्शन प्रतिमा नाम है (क्रिया कोष/१०४२-१०४३)।

५. दर्शन प्रतिमाके अतिचार

चा.पा./टी./२१/४३/१० (नोट—मूलके लिए दे० सांकेतिक स्थान)। समस्त कन्दमूलका त्याग करता है, तथा पुष्प जातिका त्याग करता है।(दे० भक्ष्याभक्ष्य/४/३)। नमक तेल आदि अमर्यादित वस्तुओंका त्याग करता है (दे०—भक्ष्याभक्ष्य/२) तथा मांसादिसे स्पर्शित वस्तुका त्याग (दे०—भक्ष्याभक्ष्य/२) एवं द्विदलका दूधके संग त्याग करता है (भक्ष्याभक्ष्य/३) तथा रात्रिको ताम्बूल, औषधादि और जलका त्याग करता है। (दे० रात्रि भोजन)। अन्तराय टालकर भोजन करता है। (दे० अन्तराय/२) उपरोक्त त्यागमें यदि कोई दोष लगे तो वह दर्शन प्रतिमाका अतिचार कहलाता है। विशेष दे० भक्ष्याभक्ष्य।

सप्त व्यसनके अतिचार—दे० वह वह नाम।

★ **दर्शन प्रतिमामें प्रासुक पदार्थोंके ग्रहणका निर्देश** —दे० सचित्त।

दर्शनमोह—दे० मोहनीय।

दर्शनवाद—दे० श्रद्धानवाद।

दर्शन विनय—दे० विनय/१।

दर्शनविशुद्धि— तीर्थंकरत्वकी कारणभूत षोडश भावनाओंमें सर्व प्रथम व सर्व प्रधान भावना दर्शनविशुद्धि है। इसके बिना शेष १५ भावनाएँ निरर्थक हैं। क्योंकि दर्शनविशुद्धि ही आत्मस्वरूप संवेदनके प्रति एक मात्र कारण है। सम्यग्दर्शनका अत्यन्त निर्मल व दृढ हो जाना ही दर्शनविशुद्धि है।

१. दर्शनविशुद्धि भावनाका लक्षण

१. तत्त्वार्थके श्रद्धान द्वारा शुद्ध सम्यग्दर्शन

प्र.सा./ता.वृ./८२/१०४/१८ निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वसाधकेन मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितेन तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणेन दर्शनेन शुद्धा दर्शनशुद्धा पुरुषाः। —निज शुद्धात्मकी रुचि रूप सम्यक्त्वका जो साधक है ऐसा तीन मूढताओं और २५ मलसे रहित तत्त्वार्थके श्रद्धान रूप लक्षणवाले दर्शनसे जो शुद्ध हैं वे पुरुष दर्शनशुद्ध कहे जाते हैं।

२. साष्टांग सम्यग्दर्शन

रा.वा./६/२४/१/५/२१ जिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थे मोक्षवर्त्मनि रुचिः निःशङ्कितत्वाद्यष्टाङ्गा दर्शनविशुद्धिः।१। —जिनोपदिष्ट निर्ग्रन्थ मोक्षमार्गमें रुचि तथा निशंकितादि आठ अंग सहित होना सो दर्शनविशुद्धि है (स.सि./६/२४/३३८/५)।

भ. आ./वि./१६७/३८०/१० निःशंकितत्वादिगुणपरिणतिर्दर्शनविशुद्धिः तस्यां सत्यां शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सादीनां अशुभपरिणामानां परिग्रहाणां त्यागो भवति। —निशंकित वगैरह गुणोंकी आत्मामें परिणति होना यह दर्शनशुद्धि है। यह शुद्धि होनेसे कांक्षा, विचिकित्सा वगैरह अशुभ परिणामरूपी परिग्रहोंका त्याग होता है।

३. निर्दोष सम्यग्दर्शन

ध.८/३,४१/७९/१ दंसणं सम्मद्दंसणं, तस्स विसुज्झदा दंसणविसुज्झदा, तीए दंसणविसुज्झदाए जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति। तिमूढावोढ-अट्ठ-मलवदिरित्तसम्मद्दंसणभावो दंसणविसुज्झदा णाम। —'दर्शन' का अर्थ सम्यग्दर्शन है। उसकी विशुद्धताका नाम दर्शनविशुद्धता है।···उस दर्शनविशुद्धिसे जीव तीर्थंकर नामकर्मका

बन्ध करते हैं। तीन मूढ़ताओंसे रहित और आठ मलोंसे व्यतिरिक्त जो सम्यग्दर्शनभाव है उसे दर्शनविशुद्धता कहते हैं (चा.सा./५१/६)।

४. अभक्ष्य भक्षणके त्याग सहित साष्टांग सम्यग्दर्शन

भा. पा./टी./७७/२२१/२ एतैः (निशङ्कितत्वादि) अष्टभिर्गुणैर्युक्तत्वं चर्मजलतैलघृतभूतनाशनाप्रयोगत्वं मूलकगर्जरसूरणकन्दगृञ्जनपलाण्डुविशदौरिधककलिङ्गपञ्चपुष्पसधानककौसुम्भपत्रपत्रशाकमांसादि-भक्षकभाजनभोजनादिपरिहरणं च दर्शनविशुद्धिः। =सम्यग्दर्शनके आठ गुणोंसे युक्त होना। चर्मकी वस्तुमें रखे जल, तेल, घी आदि खानेकी वस्तुओंका प्रयोग न करना। कन्द, मूली, गाजर आदि जमीकन्द, आलू, बड़फलादि तरबूज, पंच पुष्प, आचार, कौसुंभ पत्र और पत्तेके शाक तथा मांसादिके खानेवालोंके बर्तनोंमें रखे हुए भोजनको त्यागना यह दर्शनविशुद्धि है।

५ सम्यग्दर्शनकी ओर अविचल झुकाव

ध ८/३,४१/८०/२ ण तिमूढा वोढत्तट्ठमलवदिरेगेहि चेव दंसणविसुज्झदा सुद्धणयाहिप्पाएण होदि, किंतु पुव्विल्लगुणेहि सरूवं लद्धूण ट्ठिद-सम्मदंसणस्स साहूणं पासु अपरिच्चागे·· पयट्टावणं विसुज्झदा णाम। =शुद्ध नयके अभिप्रायसे तीन मूढ़ताओं और आठ मलोंसे रहित होनेपर ही दर्शनविशुद्धता नहीं होती, किन्तु पूर्वोक्त गुणोंसे अपने निज स्वरूपको प्राप्तकर स्थित सम्यग्दर्शनकी साधुओंकी प्रासुक परित्याग आदि···की युक्ततामें प्रवर्तनेका नाम विशुद्धता है।

२. सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा दर्शनविशुद्धि निर्देशका कारण

चा.सा /५२/१ विशुद्धि बिना दर्शनमात्रादेव तीर्थंकरनामकर्मबंधो न भवति त्रिमूढापोढाष्टमदादिरहितत्वात् उपलब्धनिजस्वरूपस्य सम्यग्दर्शनस्य···शेषभावनानां तत्रैवान्तर्भावादिति दर्शनविशुद्धता व्याख्याता। =प्रश्न—(सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा दर्शनविशुद्धि निर्देश क्यों किया?) उत्तर—क्योंकि, सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके बिना केवल सम्यग्दर्शन होने मात्रसे तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध नहीं होता। वह विशुद्ध सम्यग्दर्शनमें (चाहे तीनमेंसे कोई सा भी हो) तीन मूढ़ता और आठ मदोंसे रहित होनेके कारण अपने आत्माका निज-स्वरूप प्रत्यक्ष होना चाहिए। बाकीकी पन्द्रह भावनाएँ भी उसी एक दर्शनविशुद्धिमें ही शामिल हो जाती हैं, इसलिए दर्शन-विशुद्धताका व्याख्यान किया।

३. सोलह भावनाओंमें दर्शनविशुद्धिकी प्रधानता

भ.आ./मू./७४० सुद्धे सम्मत्ते अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणामं। जादो दु सेणिगो आगमेसि अरुहो अविरदो वि।७४०। =शंका, कांक्षा वगैरह अतिचारोंसे रहित अविरत सम्यग्दृष्टिकी भी तीर्थंकर नाम-कर्मका बंध होता है। केवल सम्यग्दर्शनकी सहायतासे ही श्रेणिक राजा भविष्यत्कालमें अरहंत हुआ।

द्र.सं/टी /३८/१५६/४ षोडशभावनासु मध्ये परमागमभाषया पञ्चविंशति-मलरहिता तथाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूपा सम्यक्त्व-भावनैव मुख्येति विज्ञेयं। =इन सोलह भावनाओंमें, परमागम भाषासे···२५ दोषोंसे रहित तथा अध्यात्म भाषासे निजशुद्ध आत्मामें उपादेय रूप रुचि ऐसी सम्यक्त्वकी भावना ही मुख्य है, ऐसा जानना चाहिए।

४. एक दर्शनविशुद्धिसे ही तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कैसे सम्भव है

ध ८/३,४१/८०/१ कधं ताए एक्काए चेव तित्थयरणामकम्मस्स बंधो, सव्वसम्माइट्ठीणं तित्थयरणामकम्मबधपसंगादो त्ति। वुच्चदे—ण तिमूढावोढत्तट्ठमलवदिरेगेहि चेव दंसणविसुज्झदा सुद्धणयाहिप्पाएण होदि, किंतु पुव्विल्लगुणेहि सरूवं लद्धूण ट्ठिदसम्मदंसणस्स साहूणं पासुअपरिच्चागे साहूणं समाहिसंधारणे साहूणं वेज्जावच्चजोगे अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणे पहावणे अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तत्तणे पयट्टावणं विसुज्झदा णाम। तीए दंसणविसुज्झदाए एक्काए वि तित्थयरकम्मं बंधंति।

ध. ८/३,४१/८६/५ अरहंतवुत्ताणुट्ठाणाणुवत्तणं तदणुट्ठाणपासो वा अरहंतभत्ती ण म। ण च एसा दंसणविसुज्झदादीहि विणा संभवइ, विरोहादो। =प्रश्न—केवल उस एक दर्शनविशुद्धतासे ही तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध कैसे सम्भव है, क्योंकि, ऐसा माननेसे सब सम्यग्दृष्टियोंके तीर्थंकर नामकर्मके बन्धका प्रसंग आवेगा? उत्तर—इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि शुद्ध नयके अभिप्रायसे तीन मूढ़ताओं और आठ मलोंसे रहित होनेपर ही दर्शनविशुद्धता नहीं होती, किन्तु पूर्वोक्त गुणोंसे (तीन मूढ़ताओं व आठ मलों रहित) अपने निज स्वरूपको प्राप्तकर स्थित, सम्यग्दर्शनके, साधुओंको प्रासुक परित्याग, साधुओंकी समाधिसधारणा, साधुओंकी वैयावृत्तिका सयोग, अरहन्त भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति, प्रवचन वत्सलता, प्रवचन प्रभावना, और अभीक्ष्णज्ञानोपयोग युक्ततामें प्रवर्तनेका नाम विशुद्धता है। उस एक ही दर्शनविशुद्धतासे ही तीर्थंकर कर्म-को बाँधते हैं। (चा सा./५२/४) अरहन्तके द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठानके अनुकूल प्रवृत्ति करने या उक्त अनुष्ठानके स्पर्शको अर्हंत भक्ति कहते है। और यह दर्शनविशुद्धतादिकोंके बिना सम्भव नहीं है।

दर्शनविशुद्धि व्रत—औपशमिकादि (उपशम, क्षयोपशम व क्षायिक) तीनों सम्यक्त्वोंके आठ अंगोंकी अपेक्षा २४ अग होते हैं। एक उपवास एक पारणा क्रमसे २४ उपवास पूरे करे। जाप—नमोकार मन्त्रका त्रिकाल जाप, (ह. पु./३४/९९)। (व्रत विधान संग्रह/१०७) (सुदृष्टितरंगिणी/)

दर्शनशुद्धि— आ० चन्द्रप्रभ सूरि (ई० ११०२) द्वारा रचित सम्यक्त्व विषयक न्यायपूर्ण ग्रन्थ। न्यायावतार/प्र० ४/सतीश चन्द्र

दर्शनसार—आ० देवसेन (ई० ९३३) द्वारा रचित प्राकृत गाथा बद्ध ग्रन्थ है। इसमें मिथ्या मतों व जैनाभासोंका संक्षिप्त वर्णन किया गया है। गाथा प्रमाण ५१ हैं। (ती./२/३६६), (जै/१/४२०)।

दर्शनाचार—दे० आचार।

दर्शनाराधना—दे० आराधना।

दर्शनावरण—१. दर्शनावरण सामान्यका लक्षण

स. सि./८/३/३७८/१० दर्शनावरणस्य का प्रकृतिः। अर्थानालोकनम्।

स. सि./८/४/३८०/३ आवृणोत्यावियतेऽनेनेति वा ज्ञानावरणम्। =दर्शनावरण कर्मकी क्या प्रकृति है? अर्थका आलोकन नहीं होना। जो आवृत करता है या जिसके द्वारा आवृत किया जाता है वह आवरण कहलाता है। (रा. वा./८/३/२/५६७)।

ध. १/१,१,१३१/३८१/८ अन्तरङ्गार्थविषयोपयोगप्रतिबन्धकं दर्शना-वरणीयम्। =अन्तरंग पदार्थको विषय करनेवाले उपयोगका प्रति-बन्धक दर्शनावरण कर्म है।

ध. ६/१,९-१,७/१०/३ एदं दंसणमावारेदि त्ति दंसणावरणीयं। जो पोग्गलक्खंधो···जीवसमवेदो दंसणगुणपडिबंधओ सो दंसणावरणीय-मिदि घेत्तव्वो। =जो दर्शनगुणको आवरण करता है, वह दर्शना-वरणीय कर्म है। अर्थात् जो पुद्गल स्कन्ध···जीवके साथ समवाय संबन्धको प्राप्त है और दर्शनगुणका प्रतिबन्ध करनेवाला है, वह दर्शनावरणीय कर्म है।

गो. क./जी प्र./२०/१३/१२ दर्शनमावृणोतीति दर्शनावरणीयं तस्य का प्रकृतिः। दर्शनप्रच्छादनता। किंवत्। राजद्वारप्रतिनियुक्तप्रतीहार-वत्। =दर्शनको आवरै सो दर्शनावरणीय है। याकी यह प्रकृति है

जैसे राजद्वारविषै तिष्ठता राजपाल राजाकौ देखने दे नाहीं तैसे दर्शनावरण दर्शनको आच्छादै है। (द्र. सं./टी./३३/९१/१)

२. दर्शनावरणके ९ भेद

प. खं. ६/१,९-१/सू. १६/३१ णिद्दाणिद्दा पयलापयला थीणगिद्धी णिद्दा पयला य, चक्खुदंसणावरणीयं अचक्खुदंसणावरणीयं ओहिदंसणावरणीयं केवलदंसणावरणीयं चेदि ।१६।—निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, निद्रा और प्रचला; तथा चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय, और केवलदर्शनावरणीय ये नौ दर्शनावरणीय कर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ हैं ।१६। (प. खं १३/५,५/सू. ८४/३५३) (त. सू./८/७) (मू. आ./१२२५) (पं. स./प्रा./४/४५/८) (मं. बं./प्र. १/§ ५/२८/१) (त. सा./३/२५-२६.३२१) (गो. क./जी. प्र./३३/२७/६)।

३. दर्शनावरणके असंख्यात भेद

ध. १२/४.२,१४,४/४७६/३ णाणावरणीयस्स दंसणावरणीयस्स च कम्मस्स पयडीओ सहावा सत्तीओ 'असंखेज्जलोगमेत्ता। कुदो एत्तियाओ होंति त्ति णव्वदे। आवरणिज्जणाण-दंसणाणमसंखेज्जलोगमेत्तभेदुवलंभादो।—चूँकि आवरणके योग्य ज्ञान व दर्शनके असंख्यात लोकमात्र भेद पाये जाते हैं। अतएव उनके आवरक उक्त कर्मोंकी प्रकृतियाँ भी उतनी ही होनी चाहिए।

४. चक्षु अचक्षु दर्शनावरणके असंख्यात भेद हैं

ध. १२/४.२,१५,४/५०१/१३ चक्खु-अचक्खुदंसणावरणीयपयडीओ च पुध-पुध असंखेज्जलोगमेत्ताओ होदूण।—चक्षु व अचक्षु दर्शनावरणीयकी प्रकृतियाँ पृथक् पृथक् असंख्यात लोक मात्र हैं।

५. अवधि दर्शनावरणके असंख्यात भेद

ध. १२/४,२,१५,४/५०१/११ ओहिदंसणावरणीयपयडीओ च पुध पुध असंखेज्जलोगमेत्ता होदूण।—अवधिदर्शनावरणकी प्रकृतियाँ पृथक्-पृथक् असंख्यात लोकमात्र हैं।

६. केवलदर्शनावरणकी केवल एक प्रकृति है

ध. १२/४,२,१५,४/५०२/६ केवलदंसणस्स एक्का पयडी अत्थि।—केवलदर्शनावरणीयकी एक प्रकृति है।

७. चक्षुरादि दर्शनावरणके लक्षण

रा. वा./८/८/१२-१६/५७३ चक्षुरचक्षुर्दर्शनावरणोदयात् चक्षुरादीन्द्रियालोचनविकलः ।१२। ···पञ्चेन्द्रियत्वेऽप्युपहतेन्द्रियालोचनसामर्थ्यश्च भवति। अवधिदर्शनावरणोदयादवधिदर्शनविप्रमुक्तः ।१३। केवलदर्शनावरणोदयादाविर्भूतकेवलदर्शनः ।१४। निद्रा-निद्रानिद्रोदयात्तमोमहातमोऽवस्था ।१५। प्रचला-प्रचलोदयाच्चलनातिचलनभावः ।१६। —चक्षुदर्शनावरण और अचक्षुदर्शनावरणके उदयसे आत्माके चक्षुरादि इन्द्रियजन्य आलोचन नहीं हो पाता। इन इन्द्रियोंसे होनेवाले ज्ञानके पहिले जो सामान्यालोचन होता है उसपर इन दर्शनावरणोंका असर होता है। अवधिदर्शनावरणके उदयसे अवधिदर्शन और केवलदर्शनावरणके उदयसे केवलदर्शन नहीं हो पाता। निद्राके उदयसे तम-अवस्था और निद्रा-निद्राके उदयसे महातम अवस्था होती है। प्रचलाके उदयसे बैठे-बैठे ही घूमने लगता है, नेत्र और शरीर चलने लगते हैं, देखते हुए भी देख नहीं पाता। प्रचला प्रचलाके उदयसे अत्यन्त ऊँघता है,

८. चक्षुरादि दर्शनावरण व निद्रादि दर्शनावरणमें अन्तर

स. सि./८/७/३८३/४ चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानामिति दर्शनावरणापेक्षया भेदनिर्देशः चक्षुर्दर्शनावरण···निद्रादिभिर्दर्शनावरणं सामानाधिकरण्येनाभिसंबध्यते निद्रादर्शनावरणं निद्रानिद्रादर्शनावरणमित्यादि।—चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलका दर्शनावरणकी अपेक्षा भेदनिर्देश किया है। यथा चक्षुदर्शनावरण इत्यादि।···यहाँ निद्रादि पदोंके साथ दर्शनावरण पदका समानाधिकरण रूपसे सम्बन्ध होता है। यथा निद्रादर्शनावरण, निद्रानिद्रादर्शनावरण इत्यादि।

९. निद्रानिद्रा आदिमें द्वित्वकी क्या आवश्यकता

रा. वा./८/७/७/५७२/२२ वीप्साभावाद् असति द्वित्वे निद्रानिद्रा प्रचला-प्रचलेति निर्देशो नोपपद्यत इति, तन्न; किं कारणम्। कालादिभेदाद् भेदोपपत्तेः वीप्सा युज्यते।···अथवा मुहुर्मुहुर्वृत्तिराभीक्ष्ण्यं तस्य विवक्षायां द्वित्वं भवति यथा गेहमनुप्रवेशमनुप्रवेशमास्ते इति।—प्रश्न—वीप्सार्थक द्वित्वका अभाव होनेसे निद्रानिद्रादि निर्देश नहीं बनता है? उत्तर—ऐसा नहीं है; क्योंकि कालभेदसे द्वित्व होकर वीप्सार्थक द्वित्व बन जायेगा। अथवा अभीक्ष्ण—सततप्रवृत्ति—बार-बार प्रवृत्ति अर्थमें द्वित्व होकर निद्रा-निद्रा प्रयोग बन जाता है जैसे कि घरमें घुस-घुसकर बैठा है अर्थात् बार-बार घरमें घुस जाता है यहाँ।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

* दर्शनावरणका उदाहरण—दे० प्रकृति बंध/३।
* दर्शनावरण प्रकृतियोंका घातिया, सर्व घातिया व देश घातियापना। —दे० अनुभाग /४।
* दर्शनावरणके बंध योग्य परिणाम—दे० ज्ञानावरण/५।
* निद्रादि प्रकृतियों सम्बन्धी—दे० निद्रा।
* निद्रा आदि प्रकृतियोंको दर्शनावरण क्यों कहते हैं। —दे० दर्शन/४/६।
* दर्शनावरणकी बन्ध, उदय व सत्त्व प्ररूपणा—दे० वह वह नाम।

दल—आधा करना। दे० गणित/२/१।

दवप्रवा कर्म—दे० सावद्य/५।

दशकरण—दे० करण/२।

दशपर्वा—एक औषधि विद्या—दे० विद्या।

दशपुर—वर्तमान मन्दौर (म. पु./प्र. ४६ पं. पन्नालाल)

दशपूर्वित्व ऋद्धि—दे० ऋद्धि/२।

दशपूर्वी—दे० श्रुतकेवली।

दशभक्ति—१. दे० भक्ति। २. दशभक्तिकी प्रयोगविधि। —दे० कृतिकर्म/४।

दशमभक्त—चोला —दे० प्रोषधोपवास/१।

दशमलव—Decimal (ज. प्र./प्र. १०७)।

दशमान—१ Decimal Place Value Notation (ध. ५/प्र. २७); २. Scaleoften (ध. ५/प्र. २७)।

दशमिनिमानीव्रत—भादों सुदी दशमीको व्रत धारण करके और फिर आदर सहित दूसरेके घर आहार करें। (यह व्रत श्वेताम्बर व

स्थानकवासी आम्नायमें प्रचलित है) (व्रतविधान संग्रह/१२६) (नवलसाहकृत वर्द्धमान पुराण)।

दशरथ—१. पंचस्तूप संघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप धवलाकार वीरसेन स्वामीके शिष्य थे। समय—ई० ८२०-८७० (म. पु./प्र.३१ पं० पन्नालाल) —दे० इतिहास/७/ ७। २. म. पु./६१/२-६ पूर्वधातकीखण्ड द्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें वत्स नामक देशमें सुसीमा नगरका राजा था। महारथ नामक पुत्रको राज्य देकर दीक्षा धारण की। तब ग्यारह अंगोंका अध्ययन कर सोलह कारणभावनाओं का चिन्तवन कर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। अन्तमें समाधि-मरण पूर्वक सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ। यह धर्मनाथ भगवान्‌का पूर्वका तीसरा भव है। (दे० धर्मनाथ) ३. प. पु./सर्ग/श्लोक रघुवंशी राजा अनरण्यके पुत्र थे (२२/१६२)। नारद द्वारा यह जान कि 'रावण इनको मारनेको उद्यत है (२३/२६) देशसे बाहर भ्रमण करने लगे। वह केकयीको स्वयंवरमें जीता (२४/१०४)। तथा अन्य राजाओंका विरोध करनेपर केकयीकी सहायतासे विजय प्राप्त की, तथा प्रसन्न होकर केकयीको वरदान दिया (२४/१२०)। राम, लक्ष्मण, भरत व शत्रुघ्न यह इनके चार पुत्र थे (२५/२२-३६)। अन्तमें केकयीके वरके फलमें रामको वनवास मांगनेपर दीक्षा धारण कर ली। (२५/८०)।

दशलक्षणव्रत—इस व्रतकी विधि तीन प्रकारसे वर्णन की गयी है—उत्तम, मध्यम व जघन्य। उत्तम—१० वर्ष तक प्रतिवर्ष तीन बार माघ, चैत्र व भाद्रपदकी शु० ५ से शु० १४ तकके दश दिन दश लक्षण धर्मके दिन कहलाते हैं। इन दश दिनोंमें उपवास करना। मध्यम—वर्षमें तीन बार दश वर्ष तक ५, ८, ११, १४ इन तिथियोंको उपवास और शेष ६ दिन एकाशन। जघन्य—वर्षमें तीन बार दश वर्ष तक दशों दिन एकाशन करना। जाप्य—ओं ह्रीं अर्हन्मुख-कमलसमुद्भूतोत्तमक्षमादिदशलक्षणैकधर्माय नमः' का त्रिकाल जाप्य।

दशवैकालिक—द्वादशांग ज्ञानके चौदह पूर्वोंमें-से सातवां अंग बाह्य। —दे० श्रुतज्ञान/III।

दशार्ण—१. मालवाका पूर्व भाग। इस देशमें वेत्रवती (वेतवा) नदी बहती है। कुछ स्थानोंमें दशार्ण (धसान) नदी भी बहती है और अन्तमें चलकर वेत्रवतीमें जा मिलती है। विदिशा (भेलसा) इसकी राजधानी है। २. भरतक्षेत्र आर्य खण्डका एक देश —दे० मनुष्य/४

दशार्णक—भरत क्षेत्र विन्ध्याचलका एक देश। —दे० मनुष्य/४।

दशोक्त—भरत क्षेत्र उत्तर आर्य खण्डका एक देश। —दे० मनुष्य/४।

दही शुद्धि—दे० भक्ष्याभक्ष्य/३

दांडीक—भरत क्षेत्र दक्षिण आर्य खण्डका एक देश। —दे० मनुष्य/४।

दांत—१. दांतका लक्षण

दे० साधु/१ उत्तम चारित्रवाले मुनियोंके ये नाम हैं—श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदंत, दांत और यति।... पंचेन्द्रियोंके रोकनेमें लीन वह दांत कहा जाता है।

★ **औदारिक शरीरमें दांतोंका प्रमाण**—दे० औदारिक/१/७।

दाता—आहार दानके योग्य दातार —दे० आहार/II/५।

दातृ—वस्तिकाका एक दोष —दे० वस्तिका।

दान—शुद्ध धर्मका अवकाश न होनेसे गृहस्थ धर्ममें दानकी प्रधानता है। वह दान दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है—अलौकिक व लौकिक। अलौकिक दान साधुओंको दिया जाता है जो चार प्रकारका है—आहार, औषध, ज्ञान व अभय तथा लौकिक दान साधारण व्यक्तियोंको दिया जाता है जैसे समदत्ति, करुणादत्ति, औषधालय, स्कूल, सदाव्रत, प्याऊ आदि खुलवाना इत्यादि।

निरपेक्ष बुद्धिसे सम्यक्त्व पूर्वक सत्पात्रको दिया गया अलौकिक दान दातारको परम्परा मोक्ष प्रदान करता है। पात्र, कुपात्र व अपात्रको दिये गये दानमें भावोंकी विचित्रताके कारण फलमें बड़ी विचित्रता पड़ती है।

*	मन्दिरमें घंटी, चमर आदिके दानका महत्त्व व फल। —दे० पूजा/४/२।
१०	दानके प्रकृष्ट फलका कारण।
५	**विधि, द्रव्य, दातृ, पात्रादि निर्देश**
*	भक्ति पूर्वक ही पात्रको दान देना चाहिए। —दे० आहार/II/१।
*	दानकी विधि अर्थात् नवधा भक्ति। —दे० भक्ति/६।
१	दान योग्य द्रव्य।
*	साधुको दान देने योग्य दातार। —दे० आहार/II/५।
*	दान योग्य पात्र कुपात्र आदि निर्देश। —दे० पात्र।
*	दानके लिए पात्रकी परीक्षाका विधि निषेध। —दे० विनय/५।
२	दान प्रति उपकारकी भावनासे निरपेक्ष देना चाहिए।
३	गाय आदिका दान योग्य नहीं।
४	मिथ्यादृष्टिको दान देनेका निषेध।
५	कुपात्र व अपात्रको करुणा बुद्धिसे दान दिया जाता है।
६	दुखित भुखितको भी करुणा बुद्धिसे दान दिया जाता है।
७	ग्रहण व संक्रान्ति आदिके कारण दान देना योग्य नहीं।
६	**दानार्थ धन संग्रहका विधि निषेध**
१	दानके लिए धनकी इच्छा अज्ञान है।
२	दान देनेकी बजाय धनका ग्रहण ही न करे।
३	दानार्थ धन संग्रहकी कथंचित् इष्टता।
४	आयका वर्गीकरण।

१. दान सामान्य निर्देश

१. दान सामान्यका लक्षण

त.सू./७/३८ अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ।३८। स्वपरोपकारोऽनुग्रह (स.सि./७/३८)। =स्वयं अपना और दूसरेके उपकारके लिए अपनी वस्तुका त्याग करना दान है।

स.सि./६/१२/३३०/१४ परानुग्रहबुद्ध्या स्वस्यातिसर्जनं दानम्। =दूसरेका उपकार हो इस बुद्धिसे अपनी वस्तुका अर्पण करना दान है। (रा.वा./६/१२/४/५२२)

ध.१३/५,५,१३७/३८६/१२ रत्नत्रयवद्भ्यः स्ववित्तपरित्यागो दानं रत्नत्रयसाधनादित्सा वा। =रत्नत्रयसे युक्त जीवोंके लिए अपने वित्तका त्याग करने या रत्नत्रयके योग्य साधनोंके प्रदान करनेकी इच्छाका नाम दान है।

२. दानके भेद

र.क.श्रा./मू./११७ आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ।११७। =चार ज्ञानके धारक गणधर आहार, औषधके तथा ज्ञानके साधन शास्त्रादिक उपकरण और स्थानके (वस्तिकाके) दानसे चार प्रकारका वैयावृत्य कहते हैं ।११७। (ज.प./२/१४८) (वसु.श्रा./२३३) (पं.वि./२/५०)

स.सि./६/२४/३३८/११ त्यागो दानम्। तत्त्रिविधम्—आहारदानमभयदानं ज्ञानदानं चेति। =त्याग दान है। वह तीन प्रकारका है—आहारदान, अभयदान और ज्ञानदान।

म.पु./३८/३५...। चतुर्धा वर्णिता दत्तिः दयापात्रसमान्वये ।३५। =दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और अन्वय दत्ति ये चार प्रकारकी दत्ति कही गयी है। (चा.सा./४३/६)

सा.ध./५/४७ में उद्धृत—तीन प्रकारका दान कहा गया है—सात्त्विक, राजस और तामस दान।

३. औषधालय सदाव्रत आदि खुलवानेका विधान

सा.ध./२/४० सत्रमप्यनुकम्प्यानां, सृजेदनुजिघृक्षया। चिकित्साशालवद्दुष्येन्नेज्यायै वाटिकाद्यपि ।४०। =पाक्षिक श्रावक, औषधालयकी तरह दुखी प्राणियोंके उपकारकी चाहसे अन्न और जल वितरणके स्थानको भी बनवाये और जिनपूजाके लिए पुष्पवाटिकाएँ बावड़ी व सरोवर आदि बनवानेमें भी हर्ज नहीं है।

४. दया दत्ति आदिके लक्षण

म.पु./३८/३६-४१ सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणिवृन्देऽभयप्रदा। त्रिशुद्ध्यनुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधैः ।३६। महातपोधनायार्चाप्रतिग्रहपुरःसरम्। प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यते ।३७। समानायात्मनान्यस्मै क्रियामन्त्रव्रतादिभिः। निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनम् ।३८। समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतामिते। समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्ता श्रद्धयान्विता ।३९। आत्मान्वयप्रतिष्ठार्थं सूनवे यदशेषतः। समं समयवित्ताभ्यां स्ववर्गस्यातिसर्जनम् ।४०। सैषा सकलदत्तिः...।४१। =अनुग्रह करने योग्य प्राणियोंके समूह पर दयापूर्वक मन, वचन, कायकी शुद्धिके साथ उनके भय दूर करनेको पण्डित लोग दयादत्ति मानते हैं ।३६। महा तपस्वी मुनियोंके लिए सत्कार पूर्वक पड़गाह कर जो आहार आदि दिया जाता है उसे पात्र दत्ति कहते हैं ।३७। क्रिया, मन्त्र और व्रत आदिमें जो अपने समान हैं तथा जो संसार समुद्रसे पार कर देने वाला कोई अन्य उत्तम गृहस्थ है उसके लिए (कन्या, हस्ति, घोड़ा, रथ, रत्न (चा.सा.) पृथिवी सुवर्ण आदि देना अथवा मध्यम पात्रके लिए समान बुद्धिसे श्रद्धाके साथ जो दान दिया जाता है वह समान दत्ति कहलाता है ।३८-३९। अपने वंशकी प्रतिष्ठाके लिए पुत्रको समस्त कुल पद्धति तथा धनके साथ अपना कुटुम्ब समर्पण करनेको सकल दत्ति (वा अन्वयदत्ति) कहते हैं ।४०। (चा.सा./४३/६); (सा.ध./७/२७-२८)

वसु.श्रा./२३४-२३८ असणं पाणं खाइयं साइयमिदि चउविहो वराहारो। पुव्वुत्त-णव-विहाणेहिं तिविहपत्तस्स दायव्वो ।२३४। अइवुड्ढ-बाल-मूयंध-बहिर-देसंतरीय-रोडाणं। जह जोग्गं दायव्वं करुणादाणं त्ति भणिऊण ।२३५। उववास-वाहि-परिसम-किलेस-परिपीडयं मुणेऊण। पत्थं सरीरजोग्गं भेसजदाणं पि दायव्वं ।२३६। आगम-सत्थाइं लिहाविऊण दिज्जंति जं जहाजोग्गं। तं जाण सत्थदाणं जिणवयणज्झावणं च तहा ।२३७। जं कीरइ परिरक्खा णिच्चं मरण-भयभीरुजीवाणं। तं जाण अभयदाणं सिहामणि सव्वदाणाणं ।२३८। =अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ये चार प्रकारका श्रेष्ठ आहार पूर्वोक्त नवधा भक्तिसे तीन प्रकारके पात्रको देना चाहिए ।२३४। अति, बालक, मूक (गूँगा), अन्ध, बधिर (बहिरा), देशान्तरीय (परदेशी) और रोगी दरिद्री जीवोंको 'करुणादान दे रहा हूँ' ऐसा कहकर अर्थात् समझकर यथायोग्य आहार आदि देना चाहिए ।२३५। उपवास, व्याधि, परिश्रम और क्लेशसे परिपीड़ित

जीवको जानकर अर्थात् देखकर शरीरके योग्य पथ्यरूप औषधदान भी देना चाहिए ।२३६। जो आगम-शास्त्र लिखाकर यथायोग्य पात्रोंको दिये जाते हैं, उसे शास्त्रदान जानना चाहिए तथा जिन-वचनोंका अध्यापन कराना पढ़ाना भी शास्त्रदान है ।२३७। मरणसे भयभीत जीवोंका जो नित्य परिरक्षण किया जाता है, वह सब दानोंका शिखामणिरूप अभयदान जानना चाहिए ।२३८।

चा.सा./४३/६ दयादत्तिरनुकम्पयाऽनुग्राह्येभ्यः प्राणिभ्यस्त्रिशुद्धिभिरभयदानं । =जिस पर अनुग्रह करना आवश्यक है ऐसे दुखी प्राणियों-को दयापूर्वक मन, वचन, कायकी शुद्धतासे अभयदान देना दया-दत्ति है।

प.प्र./२/१२७/२४३/१० निश्चयेन वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनपरिणाम-रूपमभयप्रदानं स्वकीयजीवस्य व्यवहारेण प्राणरक्षारूपमभयप्रदानं परजीवानां । =निश्चयनयकर वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन परि-णाम रूप जो निज भावोंका अभयदान निज जीवकी रक्षा और व्यवहार नयकर परप्राणियोंके प्राणोंकी रक्षारूप अभयदान यह स्वदया परदयास्वरूप अभयदान है।

५. सात्त्विक राजसादि दानोंके लक्षण

सा.ध./५/४७ में उद्धृत—आतिथेयं हितं यत्र यत्र पात्रपरीक्षणं । गुणाः श्रद्धादयो यत्र तद्दानं सात्त्विकं विदुः। यदात्मवर्णनप्रायं क्षणिका-हार्यविभ्रमं । परप्रत्ययसंभूतं दानं तद्राजसं मतं । पात्रापात्रसमा-वेक्षमसत्कारमसस्तुतं । दासभृत्यकृतोद्योगं दानं तामसमूचिरे । =जिस दानमें अतिथिका कल्याण हो, जिसमें पात्रकी परीक्षा वा निरीक्षण स्वयं किया गया हो और जिसमें श्रद्धादि समस्त गुण हों उसे सात्त्विक दान कहते हैं। जो दान केवल अपने यशके लिए किया गया हो, जो थोड़े समयके लिए ही सुन्दर और चकित करने वाला हो और दूसरेसे दिलाया गया हो उसको राजस दान कहते है। जिसमें पात्र अपात्रका कुछ खयाल न किया गया हो, अतिथिका सत्कार न किया गया हो, जो निन्द्य हो, और जिसके सब उद्योग दास और सेवकोंसे कराये गये हों, ऐसे दानको तामसदान कहते हैं।

६. सात्त्विकादि दानोंमें परस्पर तरतमता

सा.ध./५/४७ में उद्धृत—उत्तमं सात्त्विकं दानं मध्यमं राजसं भवेत्। दानानामेव सर्वेषां जघन्यं तामसं पुन.। =सात्त्विक दान उत्तम है, राजस मध्यम है, और सब दानोंमें तामस दान जघन्य है।

७. तिर्यंचोंके लिए भी दान देना सम्भव है

ध.७/२,२,१६/१२३/४ कध तिरिक्खेसु दाणस्स संभवो। ण, तिरिक्ख-संजदासंजदाणं सचित्तभंजणे गहिदपच्चक्खाणं सल्लइपल्लवादि देंततिरिक्खाणं तदविरोधादो। =प्रश्न—तिर्यंचोंमें दान देना कैसे सम्भव हो सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि जो तिर्यंच संयतासंयत जीव सचित्त भंजनके प्रत्याख्यान अर्थात् व्रतको ग्रहण कर लेते हैं उनके लिए सल्लकीके पत्तों आदिका दान करने वाले तिर्यंचोंके दान देना मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता।

२. क्षायिक दान निर्देश

१. क्षायिक दानका लक्षण

स.सि./२/४/१५४/४ दानान्तरायस्यात्यन्तक्षयादनन्तप्राणिगणानुग्रहकरं क्षायिकमभयदानम्। =दानान्तरायकर्मके अत्यन्त क्षयसे अनन्त प्राणियोंके समुदायका उपकार करने वाला क्षायिक अभयदान होता है। (रा.वा./२/४/२/१०५/२८)

२. क्षायिक दान सम्बन्धी शंका समाधान

ध.१४/५,६,१८/१७/१ अरहंता खीणदाणंतराइया सव्वेसिं जीवाणमिच्छिदत्थे किण्ण देंति। ण, तेसिं जीवाणं लाहंतराइयभावादो। =प्रश्न—अरिहन्तोंके दानान्तरायका तो क्षय हो गया है, फिर वे सब जीवोंको इच्छित अर्थ क्यों नहीं देते? उत्तर—नहीं, क्योंकि उन जीवोंके लाभान्तराय कर्मका सद्भाव पाया जाता है।

३. सिद्धोंमें क्षायिक दान क्या है

स.सि./२/४/१५५/१ यदि क्षायिकदानादिभावकृतमभयदानादि, सिद्धेष्वपि तत्प्रसङ्गः, नैष दोष., शरीरनामतीर्थकरनामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात्। तेषां तदभावे तदप्रसङ्गः। कथं तर्हि तेषां सिद्धेषु वृत्तिः। परमानन्दाव्याबाधरूपेणैव तेषां तत्र वृत्तिः। केवलज्ञानरूपेणानन्तवीर्यवृत्तिवत्। =प्रश्न—यदि क्षायिक दानादि भावोंके निमित्तसे अभय दानादि कार्य होते हैं तो सिद्धोंमें भी उनका प्रसंग प्राप्त होता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि इन अभयदानादि-के होनेमें शरीर नामकर्म और तीर्थंकर नामकर्मके उदयकी अपेक्षा रहती है। परन्तु सिद्धोंके शरीरनामकर्म और तीर्थंकर नामकर्म नहीं होते अतः उनके अभयदानादि नहीं प्राप्त होते। प्रश्न—तो सिद्धोंमें क्षायिक दानादि भावोंका सद्भाव कैसे माना जाय? उत्तर—जिस प्रकार सिद्धोंके केवलज्ञान रूपसे अनन्त वीर्यका सद्भाव माना गया है उसी प्रकार परमानन्दके अव्याबाध रूपसे ही उनका सिद्धोंके सद्भाव है।

३. गृहस्थोंके लिए दान-धर्मकी प्रधानता

१. सद्पात्रको दान देना ही गृहस्थका धर्म है

र.सा./मू./११ दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेणविणा।...।११। =सुपात्रमें चार प्रकारका दान देना और श्री देवशास्त्र गुरुकी पूजा करना श्रावकका मुख्य धर्म है। नित्य इन दोनोंको जो अपना मुख्य कर्तव्य मानकर पालन करता है वही श्रावक है, धर्मात्मा व सम्य-ग्दृष्टि है। (र.सा./मू./१३) (पं.वि/७/७)

प.प्र./टी./२/१११/४/२३१/१४ गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मः। =गृहस्थोंके तो आहार दानादिक ही बड़े धर्म हैं।

२. दान देकर खाना ही योग्य है

र.सा./मू./२२ जो मुणिभुत्तवसेसं भुंजइसो भुंजए जिणवहिट्ठं। संसार-सारसोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं। =जो भव्य जीव मुनीश्वरों-को आहारदान देनेके पश्चात् अवशेष अन्नको प्रसाद समझ कर सेवन करता है वह संसारके सारभूत उत्तम सुखोंको प्राप्त होता है और क्रमसे मोक्ष सुखको प्राप्त होता है।

का.अ./मू./१२-१३...लच्छी दिज्जउ दाणे दया-पहाणेण। जा जल-तरंग-चवला दो तिण्णि दिणाइ चिट्ठेइ।१२। जो पुण लच्छिं संचदि ण य...देदि पत्तेसु। सो अप्पाणं वंचदि मणुयत्तं णिप्फलं तस्स।१३। =यह लक्ष्मी पानीमें उठनेवाली लहरोंके समान चंचल है, दो तीन दिन ठहरने वाली है तब इसे...दयालु होकर दान दो।१२। जो मनुष्य लक्ष्मीका केवल संचय करता है...न उसे जघन्य, मध्यम अथवा उत्तम पात्रोंमें दान देता है, वह अपनी आत्माको ठगता है, और उसका मनुष्य पर्यायमें जन्म लेना वृथा है।

३. दान दिये बिना खाना योग्य नहीं

कुरल/९/२ यदि देवाद् गृहे वासो देवस्यातिथिरूपिण.। पीयूषस्यापि पानं हि तं बिना नैव शोभते २। =जब घरमें अतिथि हो तब चाहे अमृत ही क्यों न हो, अकेले नहीं पीना चाहिए।

क्रिया कोष/१६८६ जानौ गृद्ध समान ताके सुतदारादिका। जो नहीं करै सुदान ताके धन आमिष समा।१६८६। —जो दान नहीं करता है उसका धन मांसके समान है, और उसे खाने वाले पुत्र स्त्री आदिक गिद्ध मण्डलीके समान हैं।

४. दान देनेसे ही जीवन व धन सफल है

का.अ./मू./१४.१६-२० जो संचिऊण लच्छि धरणियले संठवेदि अइदूरे। सो पुरिसो तं लच्छि पाहाण-सामाणियं कुणदि।१४। जो वड्ढमाण-लच्छि अणवरयं देदि धम्म-कज्जेसु। सो पंडिएहि थुव्वदि तस्स वि सयला हवे लच्छी।१६। एवं जो जाणित्ता विहलिय-लोयाण धम्मजुत्ताणं। णिरवेक्खो तं देदि हु तस्स हवे जीवियं सहलं।२०। —जो मनुष्य लक्ष्मीका संचय करके पृथिवीके गहरे तलमें उसे गाड़ देता है, वह मनुष्य उस लक्ष्मीको पत्थरके समान कर देता है।१४। जो मनुष्य अपनी बढ़ती हुई लक्ष्मीको सर्वदा धर्मके कामोंमें देता है, उसकी लक्ष्मी सदा सफल है और पण्डित जन भी उसकी प्रशंसा करते हैं।१६। इस प्रकार लक्ष्मीको अनित्य जानकर जो उसे निर्धन धर्मात्मा व्यक्तियोंको देता है और बदलेमें प्रत्युपकारकी वांछा नहीं करता, उसीका जीवन सफल है।२०।

५. दानको परम धर्म कहनेका कारण

पं.वि./२/१३ नानागृहव्यतिकरार्जितपापपुञ्जैः खञ्जीकृतानि गृहिणो न तथा व्रतानि। उच्चैः फलं विदधतीह यथैकदापि प्रीत्यातिशुद्धमनसा कृतपात्रदानम्।१३। —लोकमें अत्यन्त विशुद्ध मन वाले गृहस्थके द्वारा प्रीति पूर्वक पात्रके लिए एक बार भी किया गया दान जैसे उन्नत फलको करता है वैसे फलको गृहकी अनेक झंझटोंसे उत्पन्न हुए पाप समूहोंके द्वारा कुबड़े अर्थात् शक्तिहीन किये गये गृहस्थके व्रत नहीं करते हैं।१३।

प्र.सा./टी./२/१११,४/२३१/१५ कस्मात् स एव परमो धर्म इति चेत्, निरन्तरविषयकषायाधीनतया आर्तरौद्रध्यानरतानां निश्चयरत्नत्रयलक्षणस्य शुद्धोपयोगपरमधर्मस्यावकाशो नास्तीति। —प्रश्न—श्रावकोंका दानादिक ही परम धर्म कैसे है? उत्तर—वह ऐसे है, कि ये गृहस्थ लोग हमेशा विषय कषायके अधीन हैं, इससे इनके आर्त, रौद्र ध्यान उत्पन्न होते रहते हैं, इस कारण निश्चय रत्नत्रयरूप शुद्धोपयोग परमधर्मका तो इनके ठिकाना ही नहीं है। अर्थात् अवकाश ही नहीं है।

४. दानका महत्त्व व फल

१. पात्र दान सामान्यका महत्त्व

र.सा./१६-२१ दिण्णइ सुपत्तदाणं विसमतो होइ भोगसग्ग मही। णिव्वाणसुहं कमसो णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहि।१६। खेत्तविसमे काले वविय सुवीयं फलं जहा विउलं। होइ तहा तं जाणइ पत्तविसेसेसु दाणफलं।१७। इह णियसुवित्तवीयं जो ववइ जिणुत्त सत्तखेत्तेसु। सो तिहुवणरज्जफलं भुंजदि कल्लाणपंचफलं।१८। मादुपिदुपुत्तमित्तं कलत्त-धणधण्णवत्थु वाहणविसयं। संसारसारसोक्खं जाणउ सुपत्तदाणफलं।१९। सत्तंगरज्ज णवणिहिभंडार सडंगबलचउद्दहरयणं। छण्णवदिसहसित्थिविहउ जाणउ सुपत्तदाणफलं।२०। सुकलसुरूवसुलक्खण सुमइ सुसिक्खा सुसील सुगुण चारित्त। सुहलेसं सुहणामं सुहसादं सुपत्तदाणफलं।२१। —सुपात्रको दान प्रदान करनेसे भोगभूमि तथा स्वर्गके सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है। और अनुक्रमसे मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है।१६। जो मनुष्य उत्तम खेतमें अच्छे बीजको बोता है तो उसका फल मनवांछित पूर्ण रूपसे प्राप्त होता है। इसी प्रकार उत्तम पात्रमें विधिपूर्वक दान देनेसे सर्वोत्कृष्ट सुखकी प्राप्ति होती है।१७। जो भव्यात्मा अपने द्रव्यको सात क्षेत्रोंमें विभाजित करता है वह पंचकल्याणकसे सुशोभित त्रिभुवनके राज्यसुखको प्राप्त होता है।१८। माता, पिता, पुत्र, स्त्री, मित्र आदि कुटुम्ब परिवारका सुख और धन-धान्य, वस्त्र-अलंकार, हाथी, रथ, महल तथा महाविभूति आदिका सुख एक सुपात्र दानका फल है।१९। सात प्रकार राज्यके अंग, नवनिधि, चौदह रत्न, माल खजाना, गाय, हाथी, घोड़े, सात प्रकार की सेना, षट्खण्डका राज्य और छयानवे हजार रानी ये सर्व सुपात्र दानका ही फल है।२०। उत्तम कुल, सुन्दर स्वरूप, शुभ लक्षण, श्रेष्ठ बुद्धि, उत्तम निर्दोष शिक्षा, उत्तमशील, उत्तम उत्कृष्ट गुण, अच्छा सम्यक्चारित्र, उत्तम शुभ लेश्या, शुभ नाम और समस्त प्रकारके भोगोपभोगकी सामग्री आदि सर्व सुखके साधन सुपात्र दानके फलसे प्राप्त होते हैं।२१।

र.क.श्रा./मू./११५-११६ उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा। भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु।११५। क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले। फलति च्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्।११६। —तपस्वी मुनियोंको नमस्कार करनेसे उच्चगोत्र, दान देनेसे भोग, उपासना करनेसे प्रतिष्ठा, भक्ति करनेसे सुन्दर रूप और स्तवन करनेसे कीर्ति होती है।११५। जीवोंको पात्रमें गया हुआ थोड़ा-सा भी दान समयपर पृथ्वीमें प्राप्त हुए वट बीजके छाया विभव वाले वृक्षकी तरह मनोवांछित बहुत फलको फलता है।११६। (पं.वि./२/८-११)

पु.सि.उ./१७४ कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः। अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव।१७४। —इस अतिथि संविभाग व्रतमें द्रव्य अहिंसा तो परजीवोंका दुःख दूर करनेके निमित्त प्रत्यक्ष ही है, रही भावित अहिंसा वह भी लोभ कषायके त्यागकी अपेक्षा समझनी चाहिए।

पं.वि./२/१५-४४ प्रायः कुतो गृहगते परमात्मबोधः शुद्धात्मनो भुवि यतः पुरुषार्थसिद्धिः। दानात्पुनर्ननु चतुर्विधतः करस्था सा लीलयैव कृतपात्रजनानुषङ्गात्।१५। किं ते गुणाः किमिह तत्सुखमस्ति लोके सा किं विभूतिरथ या न वशं प्रयाति। दानव्रतादिजनितो यदि मानवस्य धर्मो जगत्त्रयवशीकरणैकमन्त्रः।४३। सौभाग्यशौर्यसुखरूपविवेकिताद्या विद्यावपुर्धनगृहाणि कुले च जन्म। संपद्यतेऽखिलमिदं किल पात्रदानात् तस्मात् किमत्र सततं क्रियते न यत्नः।४४। —जगत्में जिस आत्मस्वरूपके ज्ञानसे शुद्ध आत्माके पुरुषार्थकी सिद्धि होती है, वह आत्मज्ञान गृहमें स्थित मनुष्योंके प्रायः कहाँसे होती है? अर्थात् नहीं हो सकती? किन्तु वह पुरुषार्थकी सिद्धि पात्र जनोंमें किये गये चार प्रकारके दानसे अनायास ही हस्तगत हो जाती है।१५। यदि मनुष्यके पास तीनों लोकोंको वशीभूत करनेके लिए अद्वितीय वशीकरण मन्त्रके समान दान एवं व्रतादिसे उत्पन्न हुआ धर्म विद्यमान है तो ऐसे कौनसे गुण हैं जो उसके वशमें न हो सकें, तथा वह कौन-सी विभूति है जो उसके अधीन न हो अर्थात् धर्मात्मा मनुष्यके लिए सब प्रकारके गुण, उत्तम सुख और अनुपम विभूति भी स्वयमेव प्राप्त हो जाती है।४३। सौभाग्य, शूरवीरता, सुख, सुन्दरता, विवेक, बुद्धि, आदि विद्या, शरीर, धन, और महल तथा उत्तम कुलमें जन्म होना यह सब निश्चयसे पात्रदानके द्वारा ही प्राप्त होता है। फिर हे भव्य जन! तुम इस पात्रदानके विषयमें क्यों नहीं यत्न करते हो।४४।

२. आहार दानका महत्त्व

र.क.श्रा./मू./११४ गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्। अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि।११४। —जैसे जल निश्चय करके रुधिरको धो देता है, तैसे ही गृहरहित अतिथियोंका प्रतिपूजन करना अर्थात् नवधाभक्ति-पूर्वक आहारदान

करना भी निश्चय करके गृहकार्योंसे संचित हुए पापको नष्ट करता है ।११४। (पं.वि./७/१३)

कुरल./५/४ परनिन्दाभयं यस्य विना दानं न भोजनम् । कृतिनस्तस्य निर्बीजो वंशो नैव कदाचन ।४।

कुरल./३३/२ इदं हि धर्मसर्वस्वं शास्तृणां वचने द्वयम् । क्षुधार्तेन समं भुक्तिः प्राणिनां चैव रक्षणम् ।२। = जो बुराईसे डरता है और भोजन करनेसे पहले दूसरोंको दान देता है, उसका वंश कभी निर्बीज नहीं होता ।४। क्षुधाबाधितोंके साथ अपनी रोटी बाँटकर खाना और हिंसासे दूर रहना, यह सब धर्म उपदेष्टाओंके समस्त उपदेशोंमें श्रेष्ठतम उपदेश है ।२। (पं.वि./६/३१)

पं.वि./७/८ सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत्तन्मोक्ष एव स्फुटम् । दृष्ट्यादित्रय एव सिद्ध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम् । तद्वृत्तिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरशनात्तद्दीयते श्रावकैः काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते ।८। = सब प्राणी सुखकी इच्छा करते है, वह सुख स्पष्टतया मोक्षमें ही है. वह मोक्ष सम्यग्दर्शनादि स्वरूप रत्नत्रयके होनेपर ही सिद्ध होता है. वह रत्नत्रय साधुके होता है, उक्त साधुकी स्थिति शरीरके निमित्तसे होती है, उस शरीरकी स्थिति भोजनके निमित्तसे होती है, और वह भोजन श्रावकोंके द्वारा दिया जाता है। इस प्रकार इस अतिशय क्लेशयुक्त कालमें भी मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति प्रायः उन श्रावकोंके निमित्तसे हो हो रही है ।८।

का.अ./मू./३६३-३६४ भोयण दाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि । भुक्ख-तिसाए वाही दिणे दिणे होंति देहीणं ।३६३। भोयण-बलेण साहू सत्थं सेवेदि रत्तिदिवसं पि । भोयणदाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया होंति ।३६४। = भोजन दान देनेपर तीनो दान दिये होते है। क्योंकि प्राणियोंको भूख और प्यास रूपी व्याधि प्रतिदिन होती है। भोजनके बलसे ही साधु रात दिन शास्त्रका अभ्यास करता है और भोजन दान देनेपर प्राणोंकी भी रक्षा होती है ।३६३-३६४। भावार्थ--आहार दान देनेसे विद्या, धर्म, तप, ज्ञान, मोक्ष सभी नियमसे दिया हुआ समझना चाहिए।

अमि.श्रा /११/२५,३० केवलज्ञानतो ज्ञानं निर्वाणसुखतः सुखम् । आहारदानतो दानं नोत्तमं विद्यते परम् ।२५। बहुनात्र किमुक्तेन बिना सकलवेदिना । फलं नाहारदानस्य परः शक्नोति भाषितुम् ।३१। = केवलज्ञानतें दूजा उत्तम ज्ञान नहीं, अर मोक्ष सुखतें और दूजा सुख नहीं और आहारदानतें और दूजा उत्तम दान नाहीं ।२५। जो किछु वस्तु तीन लोकविषै सुन्दर देखिये है सो सर्व वस्तु अन्नदान करता जो पुरुष ताकरि लीलामात्र करि शीघ्र पाइये है। (अमि.श्रा./११/१४-४१)।

सा.ध./पृ. १६१ पर फुट नोट—आहाराद्भोगवान् भवेत् । = आहार दानसे भोगोपभोग मिलता है।

३. औषध व ज्ञान दानका महत्त्व

अमि.श्रा./११/३७-४० आजन्म जायते यस्य न व्याधिस्तनुतापकः । किं सुखं कथ्यते तस्य सिद्धस्येव महात्मनः ।३७। निधानमेष कान्तीनां कीर्तीनां कुलमन्दिरम् । लावण्यानां नदीनाथो भैषज्यं येन दीयते ।३८। लभ्यते केवलज्ञानं यतो विश्वावभासकम् । अपरज्ञानलाभेषु कीदृशी तस्य वर्णना ।४७। शास्त्रदायी सतां पूज्यः सेवनीयो मनीषिणाम् । वादी वाग्मी कविर्मान्यः ख्यातशिक्षः प्रजायते ।५०। = जाके जन्म तैं लगाय शरीरको ताप उपजावनैवाला रोग न होय है तिस सिद्धसमान महात्माका सुख कहिये। भावार्थ—इहाँ सिद्ध समान कह्या सो जैसे सिद्धनिकै रोग नाहीं तैसे याके भी रोग नाहीं, ऐसी समानता देखी उपमा दीनि है ।३७। जा पुरुषकरि औषध दीजिये है सो यहु पुरुष कान्ति कहिये दीप्तिनिका तौ भण्डार होय है, और कीर्तिनिका कुल मन्दिर होय है जामें यशकीर्ति सदा बसै है, बहुरि सुन्दरतानिका समुद्र होय है ऐसा जानना ।३८। जिस शास्त्रदान करि पवित्र मुक्ति दीजिये है ताकै संसारकी लक्ष्मी देते कहा श्रम है ।४६। शास्त्रको देनेवाला पुरुष संतनिके पूजनीक होय है अर पंडितनिके सेवनीक होय है, वादीनिके जीतनेवाला होय है, सभाको रंजायमान करनेवाला वक्ता होय है, नवीन ग्रन्थ रचनेवाला कवि होय है अर मानने योग्य होय है अर विख्यात है शिक्षा जाकी ऐसा होय है ।५०।

पं.वि./७/६-१० स्वेच्छाहारविहारजल्पनतया नीरुग्वपुर्जायते । साधूनां तु न सा ततस्तदपटु प्रायेण संभाव्यते ॥ कुर्यादौषधपथ्यवारिभिरिदं चारित्रभारक्षमं यत्तस्मादिह वर्तते प्रशमिनां धर्मो गृहस्थोत्तमात् ।६। व्याख्याता पुस्तकदानमुन्नतधियां पाठाय भव्यात्मनां । भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिदं दानं तदाहुर्बुधाः । सिद्धेऽस्मिन् जननान्तरेषु कतिषु त्रैलोक्यलोकोत्सवश्रीकारिप्रकटीकृताखिलजगत्कैवल्यभाजो जनाः ।१०। = शरीर इच्छानुसार भोजन, गमन और सम्भाषणसे नीरोग रहता है। परन्तु इस प्रकारकी इच्छानुसार प्रवृत्ति साधुओंके सम्भव नहीं है। इसलिए उनका शरीर प्रायः अस्वस्थ हो जाता है। ऐसी अवस्थामें चूँकि श्रावक उस शरीरको औषध पथ्य भोजन और जलके द्वारा व्रतपरिपालनके योग्य करता है अतएव यहाँ उन मुनियोंका धर्म उत्तम श्रावकके निमित्तसे ही चलता है ।६। उन्नत बुद्धिके धारक भव्य जीवोंको जो भक्तिसे पुस्तकका दान किया जाता है अथवा उनके लिए तत्त्वका व्याख्यान किया जाता है, इसे विद्वद्जन श्रुतदान (ज्ञानदान) कहते हैं। इस ज्ञानदानके सिद्ध हो जानेपर कुछ थोड़ेसे ही भवोंमें मनुष्य उस केवलज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं जिसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व साक्षात देखा जाता है। तथा जिसके प्रगट होनेपर तीनो लोकोंके प्राणी उत्सवकी शोभा करते है ।१०।

सा.ध /पृ.१६१ पर फुट नोट---आरोग्यमौषधाज्ज्ञेयं श्रुतात्स्यात् श्रुतकेवली ॥ = औषध दानसे आरोग्य मिलता है तथा शास्त्रदान अर्थात् (विद्यादान) देनेसे श्रुतकेवली होता है।

४. अभयदानका महत्त्व

मू.आ./६३६ मरणभयभीरु आणं अभयं जो देदि सव्वजीवाणं । तं दाणाणवि तं दाण पुण जोगेसु मूलजोग पि ।६३६। --मरणभयसे भययुक्त सब जीवोंको जो अभय दान है वही दान सब दानोंमें उत्तम है और वह दान सब आचरणोंमें प्रधान आचरण है ।६३६।

ज्ञा./८/५४ किं न तप्तं तपस्तेन किं न दत्तं महात्मना । वितीर्णमभयं येन प्रीतिमालम्ब्य देहिनाम् ।५४। = जिस महापुरुषने जीवोंको प्रीतिका आश्रय देकर अभयदान दिया उस महात्माने कौनसा तप नहीं किया और कौनसा दान नहीं दिया। अर्थात् उस महापुरुषने समस्त तप, दान किया। क्योंकि अभयदानमें सब तप, दान आ जाते है।

अमि. श्रा./१३ शरीरं ध्रियते येन शममेव महाव्रतम् । कस्तस्याभयदानस्य फलं शक्नोति भाषितुम् ।१३। = जिस अभयदान करि जीवनिका शरीर पोषिए है जैसे समभावकरि महाव्रत पोषिए तैसें सो, तिस अभयदानके फल कहनेको कौन समर्थ है ।१३।

पं.वि./७/११ सर्वेषामभयं प्रवृद्धकरुणैर्यद्दीयते प्राणिनां, दानं स्यादभयादि तेन रहितं दानत्रयं निष्फलम् । आहारौषधशास्त्रदानविधिभिः क्षुद्रोगजाड्याद्भयं यत्तत्पात्रजने विनश्यति ततो दानं तदेकं परम् ।११। = दयालुपुरुषोंके द्वारा जो सब प्राणियोंको अभयदान दिया जाता है, वह अभयदान कहलाता है उससे रहित तीन प्रकारका दान व्यर्थ होता है। चूँकि आहार, औषध और शास्त्रके दानकी विधिसे क्रमसे क्षुधा, रोग और अज्ञानताका भय ही नष्ट होता है अतएव वह एक अभयदान ही श्रेष्ठ है ।११। भावार्थ—अभयदानका अर्थ प्राणियोंके सर्व प्रकारके भय दूर करना है, अतः आहारादि दान अभयदानके ही अन्तर्गत आ जाते हैं।

५. सत्पात्रको दान देना सम्यग्दृष्टिको मोक्षका कारण है

अमि.श्रा./११/१०२,१२३ पात्राय विधिना दत्त्वा दानं मृत्वा समाधिना। अच्युतान्तेषु कल्पेषु जायन्ते शुद्धदृष्टयः।१०२। निषेव्य लक्ष्मीमिति शर्मकारिणीं प्रथीयसीं द्वित्रिभवेषु कल्मषम्। प्रदह्यते ध्यानकृशानुनाखिलं श्रयन्ति सिद्धिं विधुतापदं सदा।१२३। –पात्रके अर्थि दान देकरि समाधि सहित मरकैं सम्यग्दृष्टि जीव हैं ते अच्युतपर्यंत स्वर्गनिविषैं उपजै हैं।१०२। (अमि. श्रा./१०२) या प्रकार सुखकी करनेवाली महान् लक्ष्मी कौं भोगके दोय तीन भवनिविषैं समस्त कर्मनिकौं ध्यान अग्निकरि जरायके ते जीव आपदारहित मोक्ष अवस्थाकौ सदा सेवै हैं।१२३। (प.प्र./टी./२/१११-४/२३१/१५)।

बसु./श्रा./२४६-२६६ बद्धाउगा सुदिट्ठी अणुमोयणेण तिरिया वि। णियमेणुववज्जंति य ते उत्तमभोगभूमीसु २४६। जे पुण सम्माइट्ठी विरयाविरया वि तिविहपत्तस्स। जायंति दाणफलओ कप्पेसु महड्ढिया देवा।२६५। पडिबुद्धिऊण चइऊण णिवसिरि संजमं च धित्तूण। उप्पाइऊण णाणं केई गच्छंति णिव्वाणं।२६८। अण्णे उ सुदेवत्तं सुमाणुसत्तं पुणो पुणो लहिऊण। सत्तट्ठभवेहि तओ तरंति कम्मक्खयं णियमा।२६९। –बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि अर्थात् जिसने मिथ्यात्व अवस्थामें पहिले मनुष्यायुको बाँध लिया है, और पीछे सम्यग्दर्शन उत्पन्न किया है, ऐसे मनुष्य पात्रदान देनेसे और उक्त प्रकारके ही तिर्यंच पात्रदानकी अनुमोदना करनेसे नियमसे वे उत्तम भोगभूमियोंमें उत्पन्न होते हैं।२४६। जो अविरत सम्यग्दृष्टि और देशसंयत जीव हैं, वे तीनों प्रकारके पात्रोंका दान देनेके फलसे स्वर्गोंमें महर्द्धिक देव होते हैं।२६५। (उक्त प्रकारके सभी जीव मनुष्योंमें आकर चक्रवर्ती आदि होते हैं।) तब कोई वैराग्यका कारण देखकर प्रतिबुद्ध हो, राज्यलक्ष्मीको छोड़कर और संयमको ग्रहण कर कितने ही केवलज्ञानको उत्पन्न कर निर्वाणको प्राप्त होते हैं। और कितने ही जीव सुदेवत्व और सुमानुषत्वको पुन पुन प्राप्त कर सात आठ भवमें नियमसे कर्मक्षयको करते हैं (२६८-२६९)।

६. सत्पात्र दान मिथ्यादृष्टिको सुभोगभूमिका कारण है

म.पु./९/८५ दानाद्दानानुमोदाद्वा यत्र पात्रसमाश्रितात्। प्राणिनः सुखमेधन्ते यावज्जीवमनामयाः।८५। –उत्तम पात्रके लिए दान देने अथवा उनके लिए दिये हुए दानकी अनुमोदनासे जीव जिस भोगभूमिमें उत्पन्न होते हैं उसमें जीवन पर्यन्त नीरोग रहकर सुखसे बढ़ते रहते हैं।८५।

अमि. श्रा./९२ पात्रेभ्यो य प्रकृष्टेभ्यो मिथ्यादृष्टिः प्रयच्छति। स याति भोगभूमीषु प्रकृष्टासु महोदयः॥९२॥ –जो मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट पात्रनिके अर्थि दान देय है सो महान् है उदय जाका ऐसा उत्कृष्ट भोग भूमि कौ जाय है। (बसु. श्रा./२४५)

बसु श्रा./२४६-२४७ जो मज्झिमम्मि पत्तम्मि देइ दाणं खु वामदिट्ठी वि। सो मज्झिमासु जीवो उप्पज्जइ भोयभूमीसु॥२४६॥ जो पुण जहण्णपत्तम्मि देइ दाणं तहाविहो वि णरो। जायइ फलेण जहण्णसु भोयभूमीसु सो जीवो॥२४७॥ –और जो मिथ्यादृष्टि भी पुरुष मध्यमपात्रमें दान देता है वह जीव मध्यम भोगभूमिमें उत्पन्न होता है॥२४६॥ और जो जीव तथाविध अर्थात् उक्त प्रकारका मिथ्यादृष्टि भी मनुष्य जघन्य पात्रमें दानको देता है, वह जीव उस दानके फलसे जघन्य भोग भूमियोंमें उत्पन्न होता है॥२४७॥

७. कुपात्र दान कुभोग भूमिका कारण है

प्र. सा./मू./२५६ छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो। ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि॥ –जो जीव छद्मस्थविहित वस्तुओंमें (देव, गुरु धर्मादिकमें) व्रत-नियम-अध्ययन-ध्यान-दानमें रत होता है वह मोक्षको प्राप्त नहीं होता, (किन्तु) सातात्मक भावको प्राप्त होता है॥२५६॥

ह. पु./७/११५ कुपात्रदानतो भूत्वा तिर्यञ्चो भोगभूमिषु। संभुञ्जतेऽन्तरं द्वीपं कुमानुषकुलेषु वा॥११५॥ –कुपात्र दानके प्रभावसे मनुष्य, भोगभूमियोंमें तिर्यञ्च होते हैं अथवा कुमानुष कुलोंमें उत्पन्न होकर अन्तर द्वीपोंका उपभोग करते हैं॥११५॥

अमि.श्रा./८४-८८ कुपात्रदानतो याति कुत्सितां भोगमेदिनीम्। उप्ते कः कुत्सिते क्षेत्रे सुक्षेत्रफलमश्नुते॥८४॥ येऽन्तरद्वीपजाः सन्ति ये नरा म्लेच्छखण्डजाः। कुपात्रदानतः सर्वे ते भवन्ति यथायथम्॥८५॥ वर्यमध्यजघन्यासु तिर्यञ्चः सन्ति भूमिषु। कुपात्रदानवृक्षोत्थं भुञ्जते तेऽखिलाः फलम्॥८६॥ दासीदासद्विपम्लेच्छसारमेयादयोऽत्र ये। कुपात्रदानतो भोगस्तेषां भोगवतां स्फुटम्॥८७॥ दृश्यन्ते नीचजातीनां ये भोगा भोगिनामिह। सर्वे कुपात्रदानेन ते दीयन्ते महोदयाः॥८८॥ –कुपात्रके दानतैं जीव कुभोगभूमिकौ प्राप्त होय है, इहां दृष्टांत कहै है—खोटा क्षेत्रविषै बीज बोये संते सुक्षेत्रके फलकौ कौन प्राप्त होय, अपितु कोई न होय है॥८४॥ (बसु. श्रा./२४८)। जे अन्तरद्वीप लवण समुद्रविषैं वा कालोद समुद्र विषैं छयानवैं कुभोग भूमिके टापू परे हैं, तिनविषै उपजे मनुष्य हैं अर म्लेच्छ खण्ड विषैं उपजै मनुष्य है ते सर्व कुपात्र दानतैं यथायोग होय हैं॥८५॥ उत्तम, मध्यम, जघन्य भोग भूमिन विषै जे तिर्यंच हैं ते सर्व कुपात्र दान रूप वृक्षतैं उपज्या जो फल ताहि खाय हैं॥८६॥ इहां आर्य खण्डमें जो दासी, दास, हाथी, म्लेच्छ, कुत्ता आदि भोगवंत जीव हैं तिनका जो भोगै सो प्रगटपने कुपात्र दानतैं हैं, ऐसा जानना॥८७॥ इहां आर्य खण्ड विषै नीच जातिके भोगी जीवनिके जे भोग महाउदय रूप देखिये है ते सर्व कुपात्र दान करि दीजिये है॥८८॥

८. अपात्र दानका फल अत्यन्त अनिष्ट है

प्र. सा./मू./२५७ अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु। जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु॥२५७॥ –जिन्होंने परमार्थको नहीं जाना है, और जो विषय कषायमें अधिक है, ऐसे पुरुषोंके प्रति सेवा, उपकार या दान कुदेवरूपमें और कुमानुष रूपमें फलता है॥२५७॥

ह. पु./७/११८ अम्बु निम्बद्रुमे रौद्रं कोद्रवे मदकृद् यथा। विषं व्यालमुखे क्षीरमपात्रे पतितं तथा॥११८॥ –जिस प्रकार नीमके वृक्षमें पड़ा हुआ पानी कडुवा हो जाता है, कोदोमें दिया पानी मदकारक हो जाता है, और सर्पके मुखमें पड़ा दूध विष हो जाता है, उसी प्रकार अपात्रके लिये दिया हुआ दान विपरीत फलको करनेवाला हो जाता है॥११८॥ (अमि श्रा./८९-९९) (बसु श्रा./२४३)।

बसु. श्रा./२४२ जह उसरम्मि खित्ते पइण्णबीयं ण किं पि रुहेइ। फलवज्जियं वियाणइ अपत्तदिण्णं तहा दाणं॥२४२॥ –जिस प्रकार ऊसर खेतमें बोया गया बीज कुछ भी नहीं उगता है, उसी प्रकार अपात्रमें दिया गया दान भी फल रहित जानना चाहिए॥२४२॥

९. विधि, द्रव्य, दाता व पात्रके कारण दानके फलमें विशेषता आ जाती है

त. सू./७/३९ विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः॥३९॥ –विधि, देयवस्तु, दाता और पात्रकी विशेषतासे दानकी विशेषता है॥३९॥

कुरल./९/७ आतिथ्यपूर्णमाहात्म्यवर्णने न क्षमा वयम्। दातृपात्रविधिद्रव्यैस्तस्मिन्नस्ति विशेषता॥७॥ –हम किसी अतिथि सेवाके माहात्म्यका वर्णन नहीं कर सकते कि उसमें कितना पुण्य है। अतिथि यज्ञका महत्त्व तो अतिथिकी योग्यता पर निर्भर है।

प्र. सा./मू./२५५ रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं। णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि॥ –जैसे इस जगत्‌में

अनेक प्रकारकी भूमियोंमें पड़े हुए बीज धान्य कालमें विपरीततया फलित होते हैं, उसी प्रकार प्रशस्तभूत राग वस्तु भेदसे (पात्र भेदसे) विपरीततया फलता है ॥२५५॥

स. सि./७/३६/३७३/५ प्रतिग्रहादिक्रमो विधिः । प्रतिग्रहादिष्वादरानादरकृतो भेदः । तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेषः । अनसूयाविषादादिर्दातृविशेषः । मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः । ततश्च पुण्यफलविशेषः क्षित्यादिविशेषाद् बीजफलविशेषवत् । =प्रतिग्रह आदि करनेका जो क्रम है वह विधि है।...प्रतिग्रह आदिमें आदर और अनादर होनेसे जो भेद होता है वह विधि विशेष है। जिससे तप और स्वाध्याय आदिकी वृद्धि होती है वह द्रव्य विशेष है। अनसूया और विषाद आदिका न होना दाताकी विशेषता है। तथा मोक्षके कारणभूत गुणोंसे युक्त रहना पात्रकी विशेषता है। जैसे पृथिवी आदिमें विशेषता होनेसे उससे उत्पन्न हुए बीजमें विशेषता आ जाती है वैसे ही विधि आदिक की विशेषतासे दानसे प्राप्त होनेवाले पुण्य फलमें विशेषता आ जाती है। (रा. वा./७/३६/१-६/५५६) (अमि. श्रा./१०/५०) (वसु. श्रा./२४०-२४१)।

१०. दानके प्रकृष्ट फलका कारण

र. क. श्रा./११६ ननु एवंविधं विशिष्टं फलं स्वल्पं दानं कथं संपादयतीत्याशङ्क्यापनोदार्थमाह —क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले। फलतिच्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृतां ॥११६॥ =प्रश्न—स्वल्प मात्र दानसे इतना विशिष्ट फल कैसे हो सकता है? उत्तर—जीवोंको पात्रमें गया हुआ अर्थात मुनि अर्जिका आदिके लिए दिया हुआ थोड़ा-सा भी दान समय पर पृथ्वीमें प्राप्त हुए वट बीजके छाया विभववाले वृक्षकी तरह मनोवांछित फलको फलता है ॥११६॥ (वसु. श्रा./२४०) (चा. सा./२६/१)।

पं. वि./२/३८ पुण्यक्षयात्क्षयमुपैति न दीयमाना लक्ष्मीरतः कुरुत सततपात्रदानम्। कूपे न पश्यत जलं गृहिणः समन्तादाकृष्यमाणमपि वर्धत एव नित्यम् ॥३८॥ =सम्पत्ति पुण्यके क्षयसे क्षयको प्राप्त होती है, न कि दान करनेसे। अतएव हे श्रावको! आप निरन्तर पात्र दान करें। क्या आप यह नहीं देखते कि कुएँसे सब ओरसे निकाला जानेवाला भी जल नित्य बढ़ता ही रहता है।

५. विधि द्रव्य दातृ पात्र आदि निर्देश

१. दान योग्य द्रव्य

र. सा./२३-२४ सीदुण्ह वाउपिउलं सिलेसियं तह परीसमव्वाहिं। कायकिलेसुव्वासं जाणिज्जे दिण्णए दाणं ॥२३॥ हियमियमण्णपाणं णिरवज्जोसहिंणिराउलं ठाणं। सयणासणमुवयरणं जाणिज्जा देइ मोक्खरवो ॥२४॥ =मुनिराजकी प्रकृति, शीत, उष्ण, वायु, श्लेष्म या पित्त रूपमें-से कौन-सी है। कायोत्सर्ग वा गमनागमनसे कितना परिश्रम हुआ है, शरीरमें ज्वरादि पीड़ा तो नहीं है। उपवाससे कण्ठ शुष्क तो नहीं है इत्यादि बातोंका विचार करके उसके उपचार स्वरूप दान देना चाहिए ॥२३॥ हित-मित प्रासुक शुद्ध अन्न, पान, निर्दोष हितकारी औषधि, निराकुल स्थान, शयनोपकरण, आसनोपकरण, शास्त्रोपकरण आदि दान योग्य वस्तुओंको आवश्यकताके अनुसार सुपात्रमें देता है वह मोक्षमार्गमें अग्रगामी होता है ॥२४॥

पु. सि. उ./१७० रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं न यत्कुरुते। द्रव्यं तदेव देयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥१७०॥ =दान देने योग्य पदार्थ-जिन वस्तुओंके देनेसे राग द्वेष, मान, दुःख, भय, आदिक पापोंकी उत्पत्ति होती है, वह देने योग्य नहीं। जिन वस्तुओंके देनेसे तपश्चरण, पठन, पाठन स्वाध्यायादि कार्योंमें वृद्धि होती है, वही देने योग्य हैं ॥१७०॥ (अमि. श्रा./९/४४) (सा. ध./५/४५)।

चा. सा./२८/३ दीयमानेऽन्नादौ प्रतिगृहीतुस्तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिकरणत्वाद्द्रव्यविशेषः। =भिक्षामें जो अन्न दिया जाता है वह यदि आहार लेनेवाले साधुके तपश्चरण स्वाध्याय आदिको बढ़ानेवाला हो तो वही द्रव्यकी विशेषता कहलाती है।

२. दान प्रति उपकारकी भावनासे निरपेक्ष देना चाहिए

का. अ./२० एवं जो जाणित्ता विहलिय-लोयाण धम्मजुत्ताणं। णिरवेक्खो तं देदि हु तस्स हवे जीवियं सहलं ॥२०॥ =इस प्रकार लक्ष्मीको अनित्य जानकर जो उसे निर्धन धर्मात्मा व्यक्तियोंको देता है और उसके बदलेमें उससे प्रत्युपकारकी वाञ्छा नहीं करता, उसीका जीवन सफल है ॥२०॥

३. गाय आदिका दान योग्य नहीं

पं. वि./२/५० नान्यानि गोकनकभूमिरथाङ्गनादिदानानि निश्चितमवद्यकराणि यस्मात् ॥५०॥ - आहारादि चतुर्विध दानसे अतिरिक्त गाय, सुवर्ण, पृथिवी रथ और स्त्री आदिके दान, महान् फलको देनेवाले नहीं हैं ॥५०॥

सा. ध./५/५३ हिंसार्थत्वान्न भूगेह-लोहगोऽश्वादिनैष्ठिकः। न दद्याद् ग्रहसंक्रान्ति-श्राद्धादौ वा सुदृग्द्रुहि ॥५३॥ =नैष्ठिक श्रावक प्राणियोंकी हिंसाके निमित्त होनेसे भूमि, शस्त्र, गौ, बैल, घोड़ा वगैरह हैं आदिमें जिनके ऐसे कन्या, सुवर्ण, और अन्न आदि पदार्थोंको दान नहीं देवे। (सा. ध./५/४९-५१)।

४. मिथ्यादृष्टिको दान देनेका निषेध

द. पा./टी /२/३/१ दर्शनहीन... तस्यान्नदानादिकमपि न देयं। उक्तं च—मिथ्यादृग्भ्यो ददद्दानं दाता मिथ्यात्ववर्धकः। =मिथ्यादृष्टिको अन्नादिक दान भी नहीं देना चाहिए। कहा भी है—मिथ्यादृष्टिको दिया गया दान दाताको मिथ्यात्वका बढ़ानेवाला है।

अमि० श्रा०/५० तद्यो नाष्टपदं यस्य दीयते हितकाम्यया। स तस्याष्टापदं मन्ये दत्ते जीवितशान्तये ।५०। =जैसे कोऊ जीवनेके अर्थ काहूको अष्टापद हिंसक जीवको देय तो ताका मरन ही होय है तैसें धर्मके अर्थ मिथ्यादृष्टीनको दिया जो सुवर्ण तातैं हिंसादिक होने तैं परके वा आपके पाप ही होय है ऐसा जानना ।५०।

सा. ध./२/६४/१४६ फुट नोट—मिथ्यात्वग्रस्तचित्तेषु चारित्राभासभागिषु। दोषायैव भवेद्दानं पयः पानमिवाहिषु। =चारित्राभासको धारण करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंको दान देना सर्पको दूध पिलानेके समान केवल अशुभके लिए ही होता है।

५. कुपात्र व अपात्रको करुणा बुद्धिसे दान दिया जाता है

पं. ध./उ./७३० कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम्। पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया ।७३०। कुपात्रके लिए और अपात्रके लिए भी यथायोग्य दान देना चाहिए क्योंकि कुपात्र तथा अपात्रके लिए केवल पात्र बुद्धिसे दान देना निषिद्ध है, करुणा बुद्धि से दान देना निषिद्ध नहीं है ।७३०। (ला. सं./३/१६१) (ला. सं./६/२२५)।

६. दुखित भुखितको भी करुणाबुद्धिसे दान दिया जाता है

पं. ध./उ./७३१ दीनेभ्यः क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात्। दीनेभ्योऽभयदानादि दातव्यं करुणार्णवैः ।७३१। =दयालु श्रावकोंको अशुभ कर्मके उदयसे क्षुधा, तृषा, आदिसे दुखी दीन दीन प्राणियोंके लिए भी अभय दानादिक देना चाहिए ।७३१। (ला. सं./३/१६२)।

७. ग्रहण व संक्रान्ति आदिके कारण दान देना योग्य नहीं

अमि. श्रा./६०-६१ यः संक्रान्तौ ग्रहणे वारे वित्तं ददाति मूढमतिः। सम्यक्त्ववनं छित्त्वा मिथ्यात्ववनं वपत्येषः।६०। ये ददते मृततृप्त्यै बहुधादानानि नूनमस्तधियः। पल्लवयितुं तरुं ते भस्मीभूतं निषिञ्चन्ति।६१। —जो मूढबुद्धि पुरुष संक्रान्तिविषैं आदित्यवारादि (ग्रहण) वार विषैं धनको देय है सो सम्यक्त्व वनको छेदिकै मिथ्यात्व वनको बोवै है।६०। जे निर्बुद्धि पुरुष मरे जीवकी तृप्तिके अर्थ बहुत प्रकार दान देय है ते निश्चयकरि अग्निकरि भस्मरूप वृक्षकों पत्र सहित करनेकों सींचै है।६१।

सा. ध./५/५३ हिंसार्थत्वान्न भूगेह-लोहगोऽश्वादिनैष्ठिकः। न दद्याद् ग्रहसंक्रान्ति-श्राद्धादौ वा सुदृग्द्रुहि।५३। —नैष्ठिक श्रावक प्राणियोंकी हिंसामें निमित्त होनेसे भूमि आदि...को दान नहीं देवे। और जिनको पर्व माननेसे सम्यक्त्वका घात होता है ऐसे ग्रहण, संक्रान्ति, तथा श्राद्ध वगैरहमें अपने द्रव्यका दान नहीं देवे।५३।

६. दानार्थ धन संग्रहका विधि निषेध

१. दानके लिए धनकी इच्छा अज्ञान है

इ. उ./मू./१६ त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः। स्वशरीरं स पङ्केन स्नास्यामीति विलिम्पति।१६। —जो निर्धन मनुष्य पात्रदान, देवपूजा आदि प्रशस्त कार्योंके लिए अपूर्व पुण्य प्राप्ति और पाप विनाशकी आशासे सेवा, कृषि और वाणिज्य आदि कार्योंके द्वारा धन उपार्जन करता है वह मनुष्य अपने निर्मल शरीरमें 'नहा लूँगा' इस आशासे कीचड़ लपेटता है।१६।

२. दान देनेकी अपेक्षा धनका ग्रहण ही न करे

आ. अनु./१०२ अधिभ्यस्तृणवद्विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छ्रियं दत्तवान् पापं तामवितर्पिणीं विगणयन्नादात् परस्त्यक्तवान्। प्रागेव कुशलां विमृश्य सुभगोऽप्यन्यो न पर्यग्रहीत् एते ते विदितोत्तरोत्तरवराः सर्वोत्तमास्त्यागिनः।१०२। —कोई विद्वान् मनुष्य विषयोंको तृणके समान तुच्छ समझकर लक्ष्मीको याचकोंके लिए दे देता है, कोई पाप रूप समझकर किसीको बिना दिये ही त्याग देता है। सर्वोत्तम वह है जो पहिलेसे ही अकल्याणकारी जानकर ग्रहण नहीं करता।१०२।

३. दानार्थ धन संग्रहकी कथंचित् इष्टता

कुरल./२३/६ आर्तक्षुधाविनाशाय नियमोऽयं शुभावहः। कर्तव्यो धनिभिर्नित्यमात्मे वित्तसंग्रहः।६। —गरीबोंके पेटकी ज्वालाको शान्त करनेका यही एक मार्ग है कि जिसमें श्रीमानोंको अपने पास विशेष करके धन संग्रह कर रखना चाहिए।६।

४. आयका वर्गीकरण

पं. वि./२/३२ ग्रासस्तदर्धमपि देयमथार्धमेव तस्यापि संततमणुव्रतिना यथर्द्धि। इच्छानुरूपमिह कस्य कदात्र लोके द्रव्यं भविष्यति सदुत्तमदानहेतुः।३२। —अणुव्रती श्रावकको निरन्तर अपनी सम्पत्तिके अनुसार एक ग्रास, आधा ग्रास उसके भी आधे भाग अर्थात चतुर्थांशको भी देना चाहिए। कारण यह है कि यहाँ लोकमें इच्छानुसार द्रव्य किसके किस समय होगा जो कि उत्तम दानको दे सके, यह कुछ नहीं कहा जा सकता।३२।

ला. ध./६/११/२२ पर फुट नोट—पादमायान्निधिं कुर्यात्पादं वित्ताय खट्वयेत। धर्मोपभोगयोः पादं पादं भर्तव्यपोषणे। अथवा-आयार्द्धं च नियुञ्जीत धर्मे समाधिकं ततः। शेषेण शेषं कुर्वीत यत्नतस्तुच्छमैहिकं। —गृहस्थ अपने कमाये हुए धनके चार भाग करे, उसमेंसे एक भाग तो जमा रखे, दूसरे भागसे बर्तन वस्त्रादि घरकी चीजें खरीदे, तीसरे भागसे धर्मकार्य और अपने भोग उपभोगमें खर्च करे और चौथे भागसे अपने कुटुम्बका पालन करे। अथवा अपने कमाये हुए धनका आधा अथवा कुछ अधिक धर्मकार्यमें खर्च करे और बचे हुए द्रव्यसे यत्नपूर्वक कुटुम्ब आदिका पालन पोषण करे।

दानकथा—कवि भारामल (ई० १७५६) द्वारा हिन्दी भाषामें रचित कथा।

दानांतराय कर्म—दे० अन्तराय/१।

दामनन्दि—नन्दि संघके देशीयगण—गुणनन्दि शाखा के अनुसार आप सर्वचन्द्रके शिष्य और वीरनन्दिके गुरु थे। समय—वि. १०००-१०३० ई० ९४३-९७३। २. इसी संघ की नयकीर्ति शाखा के अनुसार आप रविचन्द्र के शिष्य व श्रीधरदेव के गुरु थे। —दे० इतिहास/७/५.१

दायक—१. आहारका एक दोष। दे० आहार/II/४; २. वस्तिकाका एक दोष। दे० वस्तिका।

दारुवेणी—आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

दासी—दासी पत्नी। दे० स्त्री।

दिक्—१. दिशाएँ—दे० दिशा। २. लवण समुद्रमें स्थित एक पर्वत दे० लोक/५/६।

दिक्कुमार—१. भवनवासी देवोंका एक—भेद—दे० भवन/१/४ २. दिक्कुमार भवनवासी देवोंका अवस्थान—दे० भवन/४/१।

दिक्कुमारी—१. आठ दिक्कुमारी देवियाँ नंदन वनमें स्थित आठ कूटोंपर रहती हैं—सुमेधा, मेघमालिनी, तोयंधरा, विचित्रा, मणिमालिनी, (पुष्पमाला) आनन्दिता, मेघंकरी।—दे० लोक/३/६ ४ब; लोक/७।४४। दिक्कुमारी देवियाँ रुचक पर्वतके कूटोंपर निवास करती हैं। जो गर्भके समय भगवान्की माताकी सेवा करती हैं।—दे० लोक/४/७। कुछ अन्य देवियोंके नाम निर्देश—जया, विजया, अजिता, अपराजिता, जम्भा, मोहा, स्तम्भा, स्तम्भिनी। (प्रतिष्ठासारोद्धार/३/२१७-२४)। श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, शान्ति व पुष्टि। (प्रतिष्ठासारोद्धार/४/२७)।

दिक्पालदेव—दे० लोकपाल।

दिक्वास—लवण समुद्रमें स्थित एक पर्वत—दे० लोक/५/६

दिक्व्रत—दे० दिग्व्रत।

दिगंतरक्षित— १. एक लौकान्तिक देव—दे० लौकान्तिक।

दिगंबर—१. अचेल मुद्रा का उपासक जिन प्रणीतमार्ग। २. मूल दि० साधु संघ (दे० इतिहास/५.१).३. श्वेताम्बर मान्य नवीन उत्पत्ति—दे० श्वेताम्बर।

दिगिंद्र—दे० इन्द्र।

दिग्गजेंद्र—१. विदेह क्षेत्रमें सुमेरु पर्वतके दोनों ओर भद्रशाल वनमें सीता व सीतोदा नदीके प्रत्येक तटपर दो-दो दिग्गजेन्द्र पर्वत हैं। इनके अंजन शैल, कुमुद शैल, स्वस्तिक शैल, पलाशगिरि, रोचक, पद्मोत्तर, नील ये नाम हैं।—दे० लोक/३/८। २. उपरोक्त कूटोंपर दिग्गजेन्द्र देव रहते हैं।—दे० व्यंतर/४/५ लोक/३/८ इनके अतिरिक्त रुचक पर्वतके चार कूटोंपर भी चार दिग्गजेन्द्र देव रहते हैं।—दे० व्यंतर/४/५,लोक/४/७।

दिग्नाग—एक बौद्ध विद्वान्। कृति—न्यायप्रवेश। समय—ई० सं० ४२५ (सि. वि./२१ पं० महेन्द्र)

दिग्पट चौरासी—श्वेताम्बराचार्य यशोविजय (ई० १६३८-१६८८) द्वारा भाषा छन्दोंमें रचित ग्रन्थ है। जिसमें दिगम्बर मतपर चौरासी आक्षेप किये गये हैं।

दिग्विजय—चक्रवर्ती व नारायणकी दिग्विजयका परिचय—दे० शलाका पुरुष/२, ४।

दिग्व्रत – १ दिग्व्रतका लक्षण

र. क. श्रा./६८-६९ दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि। इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै।६८। मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि मर्यादाः। प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि।६९। —मरण पर्यन्त सूक्ष्म पापोंकी विनिवृत्तिके लिए दशों दिशाओंका परिमाण करके इससे बाहर मैं नहीं जाऊँगा इस प्रकार संकल्प करना या निश्चय कर लेना सो दिग्व्रत है।६८। दशों दिशाओंके त्यागमें प्रसिद्ध-प्रसिद्ध, समुद्र, नदी, पर्वत, देश और योजन पर्यन्तकी मर्यादा कहते हैं।६९। (स. सि./७/२१/३५९/१०); (रा. वा./७/२१/१९/५४८/२६); (सा. ध./५/२); (का. अ./मू./३४२)

वसु. श्रा./२१४ पुव्वुत्तर-दक्खिण-पच्छिमासु काऊण जोयणपमाणं। परदो गमणणियत्ती दिसि विदिसि गुणव्वयं पढमं।—पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम दिशाओंमें योजनोंका प्रमाण करके उससे आगे दिशाओं और विदिशाओंमें गमन नहीं करना, यह प्रथम दिग्व्रत नामका गुणव्रत है।२१४।

२. दिग्व्रतके पाँच अतिचार

त. सू./७/३० ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि।३०। —ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये दिग्विरति व्रतके पाँच अतिचार हैं।३०।

र. क. श्रा./७३ ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनां। विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पञ्च मन्यन्ते।७३। —अज्ञान व प्रमादसे ऊपरकी, नीचेकी तथा विदिशाओंकी मर्यादाका उल्लंघन करना, क्षेत्रकी मर्यादा बढ़ा लेना और की हुई मर्यादाओंका भूल जाना, ये पाँच दिग्व्रतके अतिचार माने गये हैं।

३. परिग्रह परिमाण व्रत और क्षेत्रवृद्धि अतिचारमें अन्तर

रा. वा./७/३०/५-६/५५५/२१ अभिगृहीताया दिशो लोभावेशादाधिक्याभिसन्धिः क्षेत्रवृद्धिः।५।... ...स्यादेतत्—इच्छापरिणामे पञ्चमेऽणुव्रते अस्यान्तर्भावात् पुनर्ग्रहणं पुनरुक्तमिति, तन्न; किं कारणम्। तस्यान्याधिकरणत्वात्। इच्छापरिणामं क्षेत्रवास्त्वादिविषयम्, इदं पुन दिग्विरमणमभ्यार्थम्। अस्यां दिशि लाभे जीवितलाभे च मरणमतोऽन्यत्र लाभेऽपि न गमनमिति, न तु दिशि क्षेत्रादिष्विव परिग्रहबुद्ध्यात्मसात्करणात् परिणामकरणमस्ति, ततोऽर्थविशेषोऽस्यावसेयः।—लोभ आदिके कारण स्वीकृत मर्यादाका बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि है। प्रश्न—इच्छा परिमाण नामक पाँचवें अणुव्रतमें इसका अन्तर्भाव हो जाने के कारण इनका पुनः ग्रहण करना पुनरुक्त है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, उसका अधिकरण अन्य है। इच्छाका परिमाण क्षेत्र, वास्तु आदि विषयक है, परन्तु यह दिशा विरमण उससे अन्य है। इस दिशामें लाभ होगा अन्यत्र लाभ नहीं होगा और लाभालाभसे जीवन-मरणकी समस्या जुटी है फिर भी स्वीकृत दिशा मर्यादासे आगे लाभ होनेपर भी गमन नहीं करना दिग्विरति है। दिशाओंका क्षेत्र वास्तु आदिकी तरह परिग्रह बुद्धिसे अपने आधीन करके प्रमाण नहीं किया जाता। इसलिए इन दोनोंमें भेद जानने योग्य है।

★ **दिग्व्रत व देशव्रतमें अन्तर** : —दे० देशव्रत।

४. दिग्व्रतका प्रयोजन व महत्त्व

र. क. श्रा./७०-७१ अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम्। पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते।७०। प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः। सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते।७१। —मर्यादासे बाहर सूक्ष्म पापोंकी निवृत्ति (त्याग) होनेसे दिग्व्रतधारियोंके अणुव्रत पंच महाव्रतोंकी सदृशताको प्राप्त होते हैं।७०। प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभके मन्द होनेसे अतिशय मन्द रूप चारित्र मोहनीय परिणाम महाव्रतकी कल्पनाको उत्पन्न करते हैं अर्थात् महाव्रत सरीखे प्रतीत होते हैं। और वे परिणाम बड़े कष्टसे जाननेमें आने योग्य है। अर्थात् वे कषाय परिणाम इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनका अस्तित्व भी कठिनतासे प्रतीत होता है।७१।

रा. वा./७/२१/१७-१९/५४८/२९ अगमनेऽपि तदन्तरावस्थितप्राणिवधाभ्यनुज्ञानं प्रसक्तम्, अन्यथा वा दिक्परिमाणमनर्थकमिति; तन्न, किं कारणम्। निवृत्त्यर्थत्वात्। कार्त्स्न्येन निवृत्तिं कर्तुमशक्नुवतः शक्त्या प्राणिवधविरतिं प्रत्यागूर्णस्यात्र प्राणयात्रा भवतु वा मा वा भूत्। सत्यपि प्रयोजनभूयस्त्वे परिमितदिगवधेर्बहिर्नाभिगमिष्यामीति प्रणिधानान्न दोषः। प्रवृद्धेच्छस्य आत्मनस्तस्यां दिशि विना यत्नात् मणिरत्नादिलाभोऽस्तीत्येवम्। अन्येन प्रोत्साहितस्यापि मणिरत्नादिसंप्राप्तितृष्णाप्राकाम्यनिरोधः कथं तन्निरतो भवेदिति दिग्विरतिः श्रेयसी। अहिंसाद्यणुव्रतधारिणोऽप्यस्य परिमितादिगवधेर्बहिर्मनोवाक्काययोगैः कृतकारितानुमतविकल्पैः हिंसादिसर्वसावद्यनिवृत्तिरिति महाव्रतत्वमवसेयम्।—प्रश्न—(परिमाणित) दिशाओंके (बाहर) भागमें गमन न करने पर भी स्वीकृत क्षेत्र मर्यादाके कारण पापबंध होता है। इसलिए दिशाओंका परिमाण अनर्थक हो जायेगा? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि दिग्विरतिका उद्देश्य निवृत्ति प्रधान होनेसे बाह्य क्षेत्रमें हिंसादिकी निवृत्ति करनेके कारण कोई दोष नहीं है। जो पूर्णरूपसे हिंसादिकी निवृत्ति करनेमें असमर्थ है पर उस सकलविरतिके प्रति आदरशील है वह श्रावक जीवन निर्वाह हो या न हो, अनेक प्रयोजन होनेपर भी स्वीकृत क्षेत्र मर्यादाको नहीं लाँघता अतः हिंसा निवृत्ति होनेसे वह व्रती है। किसी परिग्रही व्यक्तिको 'इस दिशामें अमुक जगह जानेपर बिना प्रयत्नके मणि-मोती आदि उपलब्ध होते हैं,' इस प्रकार प्रोत्साहित करनेपर भी दिग्व्रतके कारण बाहर जानेकी और मणि-मोती आदिकी सहज प्राप्तिकी लालसाका निरोध होनेसे दिग्व्रत श्रेयस्कर है। अहिंसाणुव्रती भी परिमित दिशाओंसे बाहर मन, वचन, काय व कृत, कारित, अनुमोदना सभी प्रकारोंके द्वारा हिंसादि सर्व सावद्योंसे विरक्त होता है। अतः वहाँ उसके महाव्रत ही माना जाता है।

स. सि./७/२१/३५९/१० ततो बहिस्त्रसस्थावरव्यपरोपणनिवृत्तेर्महाव्रतत्वमवसेयम्। तत्र लाभे सत्यपि परिणामस्य निवृत्तेर्लोभनिरासश्च कृतो भवति।—उस (दिग्व्रतमें की गयी) मर्यादाके बाहर त्रस और स्थावर हिंसाका त्याग हो जानेसे उतने अंशमें महाव्रत होता है। और मर्यादाके बाहर उसमें परिणाम न रहनेके कारण लोभका त्याग हो जाता है। (रा. वा./७/२१/१५-१६/५४८); (पु. सि. उ./१३८); (का. अ./मू./३४१)।

दिन—दिन-रात्रि प्रगट होनेका क्रम—दे० ज्योतिष/२/८।

दिवाकरनंदि— नन्दि संघके देशीय गणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप चन्द्रकीर्तिके शिष्य तथा शुभचन्द्रके गुरु थे। समय—वि० ११२५-११५५ (ई० १०६८-१०९८); (प. खं. २/प्र. १० H. L. Jain)—दे० इतिहास/७/५।

दिवाकर सेन—सेन संघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप इन्द्रसेनके शिष्य तथा अर्हत सेनके गुरु थे। समय—वि ६४०-६८० (ई. ५८३-६२३); (म पु १२३/१८८ प्रशस्ति); (प. पु /प. १६ पं. पन्नालाल), दे० इतिहास/७/६।

दिव्य तिलक—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

दिव्यध्वनि—केवलज्ञान होनेके पश्चात् अर्हंत भगवान्के सर्वांगसे एक विचित्र गर्जना रूप ॐकारध्वनि खिरती है जिसे दिव्यध्वनि कहते हैं। भगवान्की इच्छा न होते हुए भी भव्य जीवोंके पुण्यसे सहज खिरती है पर गणधर देवकी अनुपस्थितिमें नहीं खिरती। इसके सम्बन्धमें अनेकों मतभेद हैं जैसे कि-यह मुखसे होती है, मुखसे नहीं होती, भाषात्मक होती है, भाषात्मक नहीं होती इत्यादि। उन सबका समन्वय यहाँ किया गया है।

१. दिव्यध्वनि सामान्य निर्देश

१. दिव्यध्वनि देवकृत नहीं होती—

ह. पु./८/१६-१८ केवल भावार्थ—(यहाँ इसके दो भेद कर दिये गये हैं—एक दिव्यध्वनि दूसरी सर्वमागधी भाषा। उनमें से दिव्यध्वनिको प्रातिहार्योंमें और सर्वमागधी भाषाको देवकृत अतिशयोंमें गिनाया है। और भी देखो दिव्यध्वनि/२/७।

★ दिव्यध्वनि कथंचित् देवकृत है—दे० दिव्यध्वनि/२/१३

२. दिव्यध्वनि इच्छापूर्वक नहीं होती

प्र. सा./मू./४४ ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं। अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं॥४४॥ =उन अर्हन्त भगवन्तोंके उस समय खड़े रहना, बैठना, विहार और धर्मोपदेश स्त्रियोंके मायाचारकी भाँति स्वाभाविक ही प्रयत्नके बिना ही होता है। (स्व. स्तो./मू./७४). (न. श./मू./२)।

म. पु./२४/८४ विवक्षामन्तरेणास्य विविक्तासीत् सरस्वती। =भगवान्की वह वाणी बोलनेकी इच्छाके बिना ही प्रकट हो रही थी। (म. पु./१/१८६). (नि. सा./ता. वृ./१७४)।

३. इच्छाके अभावमें भी दिव्यध्वनि कैसे सम्भव है

अष्टसहस्री/पृ. ७३ निर्णयसागर बम्बई [इच्छामन्तरेण वाक् प्रवृत्तिर्न सम्भवति'] न च 'इच्छामन्तरेण वाक्प्रवृत्तिर्न सम्भवति' इति वाच्यं नियमाभावात्। नियमाभ्युपगमे सुषुप्त्यादावपि निरभिप्राय-प्रवृत्तिर्न स्यात्। न हि सुषुप्तौ गोत्रस्खलनादौ वाग्व्यवहारादि-हेतुरिच्छास्ति, चैतन्यकरणपाटवयोरेव साधकतमत्वम्।..(इच्छा वाग्प्रवृत्तिर्हेतुर्न) तत्प्रकर्षापकर्षानुविधानाभावात् बुद्ध्यादिवत्। न हि यथा बुद्धेः शक्तेश्चाप्रकर्षे वाण्याः प्रकर्षोऽपकर्षः एव यते तथा दोषजातेः (इच्छायाः) अपि, तत्प्रकर्षे वाचोऽपकर्षस्य तदपकर्षे एव तत्प्रकर्षात्। ततो वचनं दोषजाति (इच्छा) अनुमापयेत्। विज्ञानगुणदोषाभ्यामेव वाग्वृत्तेर्गुणदोषवत्ता व्यवतिष्ठते न पुनर्विवक्षातो दोषजातेर्वा, तदुक्तम्—विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता। वाञ्छन्तो न च वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः॥

न्यायविनिश्चय/२५४-३५५ विवक्षामन्तरेणापि वाग्वृत्तिर्जातु वीक्ष्यते। वाञ्छन्तो न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः॥३५४॥ प्रज्ञा येषु पटीयस्यः प्रायो वचनहेतवः। विवक्षानिरपेक्षास्ते पुरुषार्थं प्रचक्षते॥३५५॥ ='इच्छाके बिना वचन प्रवृत्ति नहीं होती' ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि इस प्रकारके नियमका अभाव है। यदि ऐसा नियम स्वीकार करते हैं तो सुषुप्ति आदिमें बिना अभिप्रायके प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। सुषुप्तिमें या गोत्र स्खलन आदिमें वचन व्यवहारकी हेतु इच्छा नहीं है। चैतन्य और इन्द्रियोंकी पटुता ही उसमें प्रमुख कारण है इच्छा वचन प्रवृत्तिका हेतु नहीं है। उसके प्रकर्ष और अपकर्षके साथ वचन प्रवृत्तिका प्रकर्ष और अपकर्ष नहीं देखा जाता जैसा बुद्धिके साथ देखा जाता है। जैसे बुद्धि और शक्तिका प्रकर्ष होनेपर वाणीका प्रकर्ष और अपकर्ष होने पर अपकर्ष देखा जाता है उस प्रकार दोष जातिका नहीं। दोष जातिका प्रकर्ष होनेपर वचनका अपकर्ष देखा जाता है दोष जातिका अपकर्ष होनेपर ही वचन प्रवृत्तिका प्रकर्ष देखा जाता है इसलिए वचन प्रवृत्तिसे दोष जातिका अनुमान नहीं किया जा सकता। विज्ञानके गुण और दोषोंसे ही वचन प्रवृत्तिकी गुण दोषता व्यवस्थित होती है, विवक्षा या दोष जातिसे नहीं। कहा है–विज्ञानके गुण और दोष द्वारा वचन प्रवृत्तिमें गुण और दोष होते है। इच्छा रखते हुए भी मन्दबुद्धिवाले शास्त्रोंके वक्ता नहीं होते हैं। कभी विवक्षा (बोलनेकी इच्छा) के बिना भी वचनकी प्रवृत्ति देखी जाती है। इच्छा रखते हुए भी मन्दबुद्धिवाले शास्त्रोंके वक्ता नहीं होते हैं। जिनमें वचनकी कारण कुशल प्रज्ञा होती है वे प्रायः विवक्षा रहित होकर भी पुरुषार्थका उपदेश देते हैं।

प्र. सा./त. प्र./४४ अपि चाविरुद्धमेतदम्भोधरदृष्टान्तात्। यथा खल्वम्भोधराकारपरिणतानां पुद्गलानां गमनमवस्थानं गर्जनमम्बुवर्षं च पुरुषप्रयत्नमन्तरेणापि दृश्यन्ते तथा केवलिनां स्थानादयोऽबुद्धिपूर्वका एव दृश्यन्ते। =यह (प्रयत्नके बिना ही विहारादिकका होना) बादलके दृष्टान्तसे अविरुद्ध है। जैसे बादलके आकार रूप परिणमित पुद्गलोंका गमन, स्थिरता, गर्जन और जलवृष्टि पुरुष प्रयत्नके बिना भी देखी जाती है उसी प्रकार केवली भगवान्के खड़े रहना इत्यादि अबुद्धिपूर्वक ही (इच्छाके बिना ही) देखा जाता है।

४. केवलज्ञानियोंको ही होती है

ति. प./१/७४ जादे अणंतणाणे णट्ठे छदुमट्ठिदियम्मि णाणम्मि। णवविहपदत्थसारा दिव्वझुणी कहइ सुत्तत्थं॥७४॥ =अनन्तज्ञान अर्थात् केवलज्ञानकी उत्पत्ति और छद्मस्थ अवस्थामें रहनेवाले मति श्रुत, अवधि तथा मन पर्यय रूप चार ज्ञानोंका अभाव होनेपर नौ प्रकारके पदार्थोंके सारको विषय करनेवाली दिव्यध्वनि सूत्रार्थको कहती है॥७४॥ (ति. व./१/१२). (ध./१/१, १, १/गा. ६०/६४)।

५. सामान्य केवलियोंके भी होती सम्भव है

म. पु./३६/२०३ इत्थं स विश्वविद्विश्वं प्रीणयन् स्ववचोऽमृतैः। कैलासमचलं प्रापत् पूतं संनिधिना गुरोः॥२०३॥ =इस प्रकार समस्त पदार्थोंको जाननेवाले बाहुबली अपने वचनरूपी अमृतके द्वारा समस्त संसारको सन्तुष्ट करते हुए, पूज्य पिता भगवान् वृषभदेवके सामीप्यसे पवित्र हुए कैलाश पर्वतपर जा पहुँचे॥२०३॥

म. पु./४७/३६८ विहृत्य सुचिरं विनेयजनतोपकृत्स्वायुषो, मुहूर्तपरमास्थितौ विहितसत्क्रियो विच्युतौ।...॥३६८॥ =चिरकाल तक विहार कर जिन्होंने शिक्षा देने योग्य जनसमूहका भारी कल्याण किया है ऐसे भरत महाराजने अपनी आयुकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति रहनेपर योग निरोध किया।...॥३६८॥

★ अन्य केवलियोंका उपदेश समवशरणसे बाहर होता है। —दे० समवशरण।

६. मनके अभावमें वचन कैसे सम्भव है

ध. १/१, १, ५०/२८४/२ असतो मनसः कथं वचनद्वितयसमुत्पत्तिरिति चेन्न, उपचारतस्तयोस्ततः समुत्पत्तिविधानात्। =प्रश्न—जबकि केवलीके यथार्थमें अर्थात् क्षायोपशमिक मन नहीं पाया जाता है, तो उससे सत्य और अनुभय इन दो वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उपचारसे मनके द्वारा इन दोनों प्रकारके वचनोंकी उत्पत्तिका विधान किया गया है।

ध. १/१, १, १२२/३६८/३ तत्र मनसोऽभावे तत्कार्यस्य वचसोऽपि न सत्त्वमिति चेन्न, तस्य ज्ञानकार्यत्वात्। –प्रश्न—अरहंत परमेष्ठीमें मनका अभाव होनेपर मनके कार्यरूप वचनका सद्भाव भी नहीं पाया जा सकता? उत्तर—नहीं, क्योंकि वचन ज्ञानके कार्य हैं, मनके नहीं।

७. अक्रम ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति कैसे सम्भव है

ध. १/१, १, १२२/३६८/४ अक्रमज्ञानात्कथं क्रमवतां वचनानामुत्पत्तिरिति चेन्न, घटविषयक्रमज्ञानसमवेतकुम्भकाराद्घटस्य क्रमेणोत्पत्त्युपलम्भात्। –प्रश्न—अक्रम ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि घटविषयक अक्रम ज्ञानसे युक्त कुम्भकार द्वारा क्रमसे घटकी उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिए अक्रमवर्ती ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

★ **सर्वज्ञत्वके साथ दिव्यध्वनिका विरोध नहीं है—**
—दे० केवलज्ञान/५/५।

८. दिव्यध्वनि किस कारणसे होती है

का./ता. वृ./१/६/१५ वीतरागसर्वज्ञदिव्यध्वनिशास्त्रे प्रवृत्ते कि कारणम्। भव्यपुण्यप्रेरणात्। –प्रश्न—वीतराग सर्वज्ञके दिव्यध्वनि रूप शास्त्रकी प्रवृत्ति किस कारणसे हुई? उत्तर—भव्य जीवोंके पुण्यकी प्रेरणा से।

९. गणधरके बिना दिव्यध्वनि नहीं खिरती

ध. ६/४, १, ४४/१२०/१० दिव्वज्झुणीए किमट्ठं तत्थापउत्ती। –गणधरका अभाव होनेसे·· दिव्यध्वनिकी प्रवृत्ति नहीं (होती है)।
दे. निःशंकित/३ (गणधरके संशयको दूर करनेके लिए होती है)।

१० जिनपादमूलमें दीक्षित मुनिकी उपस्थितिमें भी होती है

क. पा. १/१-१/७६/३ सगपादमूलम्मि पडिवण्णमहव्वयं मोत्तूण अण्णमुद्दिसिय दिव्वज्झुणी किण्ण पयट्टदे। साहावियादो। –प्रश्न—जिसने अपने पादमूलमें महाव्रत स्वीकार किया है, ऐसे पुरुषको छोड़कर अन्यके निमित्तसे दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरती? उत्तर—ऐसा ही स्वभाव है। (ध. ६/४, १, ४४/१२१/२)।

११. दिव्यध्वनिका समय, अवस्थान अन्तर व निमित्तादि

ति. प./४/६०३-६०४ पठादीए अक्खलिओ संझत्तिदय णवमुहुत्ताणि। णिस्सरदि णिरुवमाणो दिव्वझुणी जाव जोयणयं ॥६०३॥ सेसेसुं समएसुं गणहरदेविदचक्कवट्टीणं। पण्हाणुरूवमत्थं दिव्वझुणी अ सत्तभंगीहिं ॥६०४॥ –भगवान् जिनेन्द्रकी स्वभावतः अस्खलित और अनुपम दिव्यध्वनि तीनों संध्याकालोंमें नव मुहूर्त तक निकलती है और एक योजन पर्यन्त जाती है। इसके अतिरिक्त गणधर देव इन्द्र अथवा चक्रवर्तीके प्रश्नानुरूप अर्थके निरूपणार्थ वह दिव्यध्वनि शेष समयोंमें भी निकलती है॥६०३-६०४॥ (क. पा. १/१, १/§६६/१२६/२)।

गो. जी./जी. प्र./३५६/७६१/१० तीर्थंकरस्य पूर्वाह्णमध्याह्नापराह्णार्धरात्रेषु षट्षट्घटिकाकालपर्यन्तं द्वादशगणसभामध्ये स्वभावतो दिव्यध्वनिरुद्गच्छति अन्यकालेऽपि गणधरशक्रचक्रधरप्रश्नानन्तरं यावद्भवति एवं समुद्भूतो दिव्यध्वनिः। –तीर्थंकरकै पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न अर्धरात्रि कालमें छह-छह घड़ी पर्यन्त बारह सभाके मध्य सहज ही दिव्यध्वनि होय है। बहुरि गणधर इन्द्र चक्रवर्ति इनके प्रश्न करने तें और काल विषै भी दिव्यध्वनि होय है।

★ **भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनि खिरनेकी तिथि—**
—दे० महावीर।

२. दिव्यध्वनिका भाषात्मक व अभाषात्मकपना

१. दिव्यध्वनि मुखसे नहीं होती है

ति.प./१/६२ एदासिं भासाणं तालुवदंतोट्ठकंठवावारं। परिहरिय एक्ककालं भव्यजणाणं दरभासो ॥६२॥ –तालु, दन्त, ओष्ठ तथा कण्ठके हलन-चलन रूप व्यापारसे रहित होकर एक ही समयमें भव्यजनोंको आनन्द करनेवाली भाषा (दिव्यध्वनि) के स्वामी है॥६२॥ (स. श./मू./२); (ति. प./७/६०२); (ह. पु./२/११३); (ह. पु./६/२२४); (ह. पु./५६/११६); (ह. पु/६/२२३); (म. पु/१/१८४); (म. पु./२४/८२); (पं. का./ता. वृ./१/४/६ पर उद्धृत); (पं. का./ता. वृ./२/८/५ पर उद्धृत)।

क. पा./१/१, १/§ ६९/१२६/१४ विशेषार्थ—जिस समय दिव्यध्वनि खिरती है उस समय भगवान्का मुख बन्द रहता है।

२. दिव्यध्वनि मुखसे होती है

रा. मा /२/११/१०/१३२/७ सकलज्ञानावरणसंक्षयाविर्भूतातीन्द्रियकेवलज्ञानः रसनापष्टम्भमात्रादेव वक्तृत्वेन परिणतः। सकलान् श्रुतविषयानर्थानुपदिशति। –सकल ज्ञानावरणके क्षयसे उत्पन्न अतीन्द्रिय केवलज्ञान जिह्वा इन्द्रियके आश्रय मात्रसे वक्तृत्व रूप परिणत होकर सकलश्रुत विषयक अर्थोंके उपदेश करता है।

ह. पु./५८/३ तत्प्रश्नानन्तर धातुश्चतुर्मुखविनिर्गता। चतुर्मुखफला सार्था चतुर्वर्णाश्रमाश्रया ॥३॥ –गणधरके प्रश्नके अनन्तर दिव्यध्वनि खिरने लगी। भगवान्की दिव्यध्वनि चारों दिशाओंमें दिखनेवाले चारमुखोंसे निकलती थी, चार पुरुषार्थरूप चार फलको देनेवाली थी, सार्थक थी।

म. पु./२३/६६ दिव्यमहाध्वनिरस्य मुखाब्जान्मेघरवानुकृतिर्निरगच्छत्। भव्यमनोगतमोहतमोघ्नन् अद्युतदेष यथैव तमोरिः ॥६६॥

म. पु./२४/८३ स्फुरद्गिरिगुहोद्भूतप्रतिश्रुद्ध्वनिसंनिभः। प्रस्पष्टवर्णो निरगाद्ध्वनिः स्वायम्भुवान्मुखात् ॥८३॥ –भगवान्के मुखरूपी कमलसे बादलोंकी गर्जनाका अनुकरण करनेवाली अतिशययुक्त महादिव्यध्वनि निकल रही थी और वह भव्य जीवोंके मनमें स्थित मोहरूपी अंधकारको नष्ट करती हुई सूर्यके समान सुशोभित हो रही थी॥६६॥ जिसमें सब अक्षर स्पष्ट हैं ऐसी वह दिव्यध्वनि भगवान्के मुखसे इस प्रकार निकल रही थी जिस प्रकार पर्वतकी गुफाके अग्रभागसे प्रतिध्वनि निकलती है॥८३॥

नि. सा./ता. वृ./१७४ केवलिमुखारविन्दविनिर्गतो दिव्यध्वनिः। –केवलीके मुखारविन्दसे निकलती हुई दिव्यध्वनि···।

स्या. म./३०/३३५/२० उत्पादव्ययध्रौव्यप्रपञ्चः समयः। तेषां च भगवता साक्षान्मातृकापदरूपतयाभिधानात्। –उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यके वर्णनको समय कहते हैं, उनके स्वरूपको साक्षात् भगवान्‌ने अपने मुखसे अक्षररूप कहा।

३. दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक होती है

पं. का./ता. वृ./१/४/६ पर उद्धृत—यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं। –जो सबका हित करनेवाली तथा वर्ण विन्याससे रहित है (ऐसी दिव्यध्वनि···)।

पं. का./ता. वृ./७६/१३५/६ भाषात्मको द्विविधोऽक्षरात्मकोऽनक्षरात्मकश्चेति। अक्षरात्मकः संस्कृत··, अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादिशब्दरूपो दिव्यध्वनिरूपश्च। –भाषात्मक शब्द दो प्रकारके होते है। –अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। अक्षरात्मक शब्द संस्कृतादि भाषाके हेतु है। अनक्षरात्मक शब्द द्वीन्द्रियादिके शब्द रूप और दिव्य ध्वनि रूप होते हैं।

४. दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक नहीं होती

ध.१/१,१,५०/२८३/८ तीर्थंकरवचनमनक्षरत्वाद् ध्वनिरूपं तत एव तदेकम्। एकत्वान्न तस्य द्वैविध्यं घटत इति चेन्न, तत्र स्यादित्यादि असत्यमोषवचनसत्त्वतस्तस्य ध्वनेरनक्षरत्वासिद्धेः। = प्रश्न—तीर्थंकरके वचन अनक्षर रूप होनेके कारण ध्वनिरूप है, और इसलिए वे एक रूप है, और एक रूप होनेके कारण वे सत्य और अनुभय इस प्रकार दो प्रकारके नहीं हो सकते? उत्तर—नहीं, क्योंकि केवलीके वचनमें 'स्यात्' इत्यादि रूपसे अनुभय रूप वचनका सद्भाव पाया जाता है, इसलिए केवलीकी ध्वनि अनक्षरात्मक है यह बात असिद्ध है।

म.पु./२३/७३ साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगतिर्जगति स्यात्। = दिव्य ध्वनि अक्षररूप ही है, क्योंकि अक्षरोंके समूहके बिना लोकमें अर्थका परिज्ञान नहीं हो सकता।७३।

म.पु./१/१८० यत्पृष्टमादितस्तेन तत्सर्वमनुपूर्वशः। वाचस्पतिरनायासाद्भरतं प्रत्यबूबुधत्।१८०। = भरतने जो कुछ पूछा उसको भगवान् ऋषभदेव बिना किसी कष्टके क्रमपूर्वक कहने लगे।१८०।

५. दिव्यध्वनि सर्व भाषास्वभावी है

स्व.स्तो./मू./९७ तव वागमृतं श्रीमत्सर्व-भाषा स्वभावकम्। प्रीणयत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि।९७। = सर्व भाषाओंमें परिणत होनेके स्वभावको लिये हुए और समवशरण सभामें व्याप्त हुआ आपका श्री सम्पन्न वचनामृत प्राणियोंको उसी प्रकार तृप्त करता है जिस प्रकार कि अमृत पान।९७। (क.पा.१/१,१/१२६/१) (ध.१/१,१,५०/२८४/२) (चन्द्रप्रभ चरित/१८/१), (अन गार धिन्तामणि/१/६६)

ध.९/४,१,४/६१/१ योजनान्तरदूरसमीपस्थाष्टादशभाषासप्तशतकुभाषायुत-तिर्यग्देवमनुष्यभाषाकारन्यूनाधिकभावातीतमधुरमनोहरगम्भीरविशदवागतिशयसंपन्नः… महावीरोऽर्थकर्ता। = एक योजनके भीतर दूर अथवा समीप बैठे हुए अठारह महाभाषा और सातसौ लघु भाषाओंसे युक्त ऐसे तिर्यंच, मनुष्य, देवोंकी भाषाके रूपमें परिणत होने वाली तथा न्यूनता और अधिकतासे रहित, मधुर, मनोहर, गम्भीर और विशद ऐसी भाषाके अतिशयको प्राप्त श्री महावीर तीर्थंकर अर्थकर्ता है। (क.पा.१/१,१/§५४/७२/३) (पं.का./ता.वृ./१/४/६ पर उद्धृत)

ध.९/४,१,४४/६२/३ एदेहितो संखेज्जगुणभासासमिलिदतित्थयरवयणविणिग्गयज्झुणि…। = इनसे (चार अक्षौहिणी अक्षर-अनक्षर भाषाओंसे) संख्यातगुणी भाषाओंसे भरी हुई तीर्थंकरके मुखसे निकली दिव्यध्वनि…। (पं.का./ता.वृ./२/८/६ पर उद्धृत)

द.पा./टी./३५/२८/१२ अर्द्धं च सर्वभाषात्मकं। = दिव्यध्वनि आधी सर्वभाषा रूप थी। (क्रि.क./३-१६/२४८/२)

६. दिव्यध्वनि एक भाषा स्वभावी है

म.पु./२३/७० एकतयोऽपि च सर्वनृभाषाः। = यद्यपि वह दिव्य-ध्वनि एक प्रकारकी (अर्थात् एक भाषा रूप) थी तथापि भगवान्‌के माहात्म्यसे सर्व मनुष्योंकी भाषा रूप हो रही थी।

७. दिव्यध्वनि आधी मागधी भाषा व आधी सर्वभाषा रूप है

द.पा./टी./३५/२८/१२ अर्द्धं भगवद्भाषाया मगधदेशभाषात्मकं। अर्द्धं च सर्वभाषात्मकं। = तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि आधी मगध देशकी भाषा रूप और आधी सर्व भाषा रूप होती है। (चन्द्रप्रभचरित/१८/१) (क्रि.क./३-१६/२४८/२)

८. दिव्यध्वनि बीजाक्षर रूप होती है

क.पा.१/१,१/§६६/१२६/२ अणंतत्थगब्भबीजपदघडियसरीरा…। = जो अनन्त पदार्थोंका वर्णन करती है, जिसका शरीर बीजपदोंसे गढ़ा गया है।

ध.९/४,१,४४/१२७/१ संखित्तसद्दरयणमणंतत्थावगमहेदुभूदाणेगलिंगसंगयं बीजपदं णाम। तेसिमणेयाणं बीजपदाणं दुवालसंगप्पयाणमट्ठारससत्तसयभास-कुभासरूवाणं परूवओ अत्थकत्तारो णाम। = संक्षिप्त शब्द रचनासे सहित व अनन्त अर्थोंके ज्ञानके हेतुभूत अनेक चिह्नोंसे सहित बीजपद कहलाता है। अठारह भाषा व सात सौ कुभाषा स्वरूप द्वादशांगात्मक उन अनेक बीजपदोंका प्ररूपक अर्थकर्ता है। (ध.९/४,१,५४/२५९/७)

९. दिव्यध्वनि मेघ गर्जना रूप होती है

म.पु./२३/६९ दिव्यमहाध्वनिरस्य मुखाब्जान्मेघरवानुकृतिर्निरगच्छत्। = भगवान्‌के मुख रूपी कमलसे बादलोंकी गर्जनाका अनुकरण करने वाली अतिशय युक्त महादिव्यध्वनि निकल रही थी।

१०. दिव्यध्वनि अक्षर अनक्षर उभयस्वरूप थी

क.पा./१/१,१/§६६/१२६/२ अक्खराणक्खरप्पिया। = (दिव्यध्वनि) अक्षर-अनक्षरात्मक है।

११. दिव्यध्वनि अर्थ निरूपक है

ति.प./४/९०५ छद्दव्वणवपयत्थे पंचट्ठीकायसत्ततच्चाणि। णाणाविहहेदूहिं दिव्वझुणी भणइ भव्वाणं।९०५। = यह दिव्यध्वनि भव्य जीवोंको छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्वोंका नाना प्रकारके हेतुओं द्वारा निरूपण करता है।९०५। (क.पा./१/१,१/§६६/१२६/२)

पं.का./ता.वृ./२/८/६ स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथनम्। = जो दिव्यध्वनि उस उसको अभीष्ट वस्तुका स्पष्ट कथन करनेवाली है।

१२. श्रोताओंकी भाषारूप परिणमन कर जाती है

ह.पु./५८/१५ अमूर्तात्मापि तद्‌वृत्तं नानापात्रगुणाश्रयम्। सभायां दृश्यते नानादिव्यमम्बु यथावनौ।१५। = जिस प्रकार आकाशसे बरसा पानी एक रूप होता है, परन्तु पृथिवी पर पड़ते ही वह नाना रूप दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार भगवान्‌की वह वाणी यद्यपि एक रूप थी तथापि सभामें सब जीव अपनी अपनी भाषामें उसका भाव पूर्णतः समझते थे। (म.पु./१/१८७)

म.पु./२३/७० एकतयोऽपि च सर्वनृभाषाः सोऽन्तरनेष्टबहूश्च कुभाषाः। अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्त्वं बोधयन्ति स्म जिनस्य महिम्ना।७०। = यद्यपि वह दिव्यध्वनि एक प्रकारकी थी तथापि भगवान्‌के माहात्म्यसे समस्त मनुष्योंकी भाषाओं और अनेक कुभाषाओंको अपने अन्तर्भूत कर रही थी अर्थात् सबकी अपनी-अपनी भाषारूप परिणमन कर रही थी, और लोगोंका अज्ञान दूर कर उन्हें तत्त्वोंका बोध करा रही थी।७०। (क.पा.१/१,१/§५४/७२/४) (ध.१/१,१,५०/२८४/२) (पं.का./ता.वृ./१/४/६)

गो.जी./जी.प्र./२२७/४८८/१५ अनक्षरात्मकत्वेन श्रोतृश्रोत्रप्रदेशप्राप्तिसमयपर्यंत…तदनन्तर च श्रोतृजनाभिप्रेतार्थेषु संशयादिनिराकरणेन सम्यग्ज्ञानजनकं…। = केवलीको दिव्य ध्वनि सुनने वालेके कर्ण प्रदेशको यावत् प्राप्त न होइ तावत् काल पर्यंत अनक्षर ही है…जब सुनने वालेके कर्ण विषै प्राप्त हो है तब अक्षर रूप होइ यथार्थ वचनका अभिप्राय रूप संशयादिकको दूर करै है।

१३. देव उसे सर्व भाषा रूप परिणमाते हैं

क.पा./टी /३५/२८/१३ कथमेवं देवोपनीतत्वमिति चेत्। मागधदेवसंनिधाने तथा परिणामतया भाषया संस्कृतभाषया प्रवर्तते। –प्रश्न–यह देवोपनीत कैसे है? उत्तर–यह देवोपनीत इसलिए है कि मागध देवोंके निमित्तसे संस्कृत रूप परिणत हो जाती है। (क्रि क./टी./३-१६/२४८/१)

१४. यदि अक्षरात्मक है तो ध्वनि रूप क्यों कहते हैं

ध.१/१,१,५०/२८४/३ तथा च कथं तस्य ध्वनित्वमिति चेन्न, एतद्भाषारूपमेवेति निर्देष्टुमशक्यत्वत: तस्य ध्वनित्वसिद्धे। –प्रश्न–जब कि वह अनेक भाषा रूप है तो उसे ध्वनि रूप कैसे माना जा सकता है? उत्तर–नहीं, केवलीके वचन इसी भाषा रूप ही हैं, ऐसा निर्देश नहीं किया जा सकता है, इसलिए उनके वचन ध्वनिरूप है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

१५. अनक्षरात्मक है तो अर्थ प्ररूपक कैसे हो सकता है

ध.९/४,१,४४/१२६/८ वयणेण विणा अत्थपदुप्पायणं ण संभवइ, सुहुमअत्थाणं सण्णाए परूवणाणुववत्तीदो ण चाणक्खराए झुणीए अत्थपदुप्पायणं जुज्जदे, अणक्खरभासतिरिक्खे मोत्तूणण्णेसिं तत्तो अत्थावगमाभावादो। ण च दिव्वज्झुणी अणक्खरप्पिया चेव, अट्ठारससत्तसयभास-कुभासप्पियत्तादो। ...तेसिमणेयाणं बीजपदाणं दुवालसंगप्पयाणमट्ठारस-सत्तसयभास-कुभासरूवाणं परूवओ अत्थकत्तारणाम, बीजपदणिलीणत्थपरूवयाणं दुवाल-संगाणं कारओ, गणहरभडारओ गंथकत्तारओ त्ति अब्भुवगमादो। –प्रश्न–वचनके बिना अर्थका व्याख्यान सम्भव नहीं, क्योंकि सूक्ष्म पदार्थोंकी संज्ञा अर्थात् संकेत द्वारा प्ररूपणा नहीं बन सकती। यदि कहा जाय कि अनक्षरात्मक ध्वनि द्वारा अर्थकी प्ररूपणा हो सकती है, सो भी योग्य नहीं है; क्योंकि, अनक्षर भाषायुक्त तिर्यंचोंको छोड़कर अन्य जीवोंको उससे अर्थ ज्ञान नहीं हो सकता है। और दिव्य-ध्वनि अनक्षरात्मक ही हो, सो भी बात नहीं है; क्योंकि वह अठारह भाषा व सात सौ कुभाषा स्वरूप है। उत्तर–अठारह भाषा व सात सौ कुभाषा स्वरूप द्वादशांगात्मक उन अनेक बीज पदोंका प्ररूपक अर्थकर्ता है। तथा बीज पदोंमें लीन अर्थके प्ररूपक बारह अंगोंके कर्ता गणधर भट्टारक ग्रन्थकर्ता है, ऐसा स्वीकार किया गया है। अभिप्राय यह है कि बीजपदोंका जो व्याख्याता है वह ग्रन्थकर्ता कहलाता है। (और भी दे० वक्ता/३)

ध.९/४,१,७/५८/१० ण बीजबुद्धीये अभावो, ताए विणा अवगयतित्थयरवयणविणिग्गयअक्खराणक्खरप्पयबहुलिंगबीजपदाणं गणहरदेवाण दुवालसंगा भावप्पसंगादो। –बीजबुद्धिका अभाव नहीं हो सकता क्योंकि उसके बिना गणधर देवोंका तीर्थकरके मुखसे निकले हुए अक्षर और अनक्षर स्वरूप बीजपदोंका ज्ञान न होनेसे द्वादशांगके अभावका प्रसंग आयेगा।

१६. एक ही भाषा सर्व श्रोताओंकी भाषा कैसे बन सकती है

ध.९/४,१,४४/१२८/६ परोवदेसेण विणा अक्खरणक्खरसरूवासेसभासंतरकुसलो समवसरणजणमेत्तरूवधारित्तणेण अम्हम्हाणं भासाहि अम्हम्हाणं चेव कहदि त्ति सव्वेसिं पच्चउप्पायओ समवसरणजणसोदिंदिएसु सगमुहविणिग्गयाणेयभासाण संकरेण पवेसस्स णिवारओ गणहरदेवो गंथकत्तारो। –प्रश्न–एक ही बीजपद रूप भाषा सर्व जीवोंको उन उनकी भाषा रूपसे ग्रहण होनी कैसे सम्भव है। उत्तर–परोपदेशके बिना अक्षर व अनक्षर रूप सब भाषाओंमें कुशल समवसरणमें स्थित जन मात्ररूपके धारी होनेसे 'हमारी हमारी भाषासे हम-हमको ही कहते हैं' इस प्रकार सबको विश्वास करानेवाले, तथा समवसरणस्थ जनोंके कर्ण इन्द्रियोंमें अपने मुँहसे निकली हुई अनेक भाषाओंके सम्मिश्रित प्रवेशके निवारक ऐसे गणधर देव ग्रन्थकर्ता हैं। (वास्तवमें गणधर देव ही जनताको उपदेश देते हैं।

★ गणधर द्विभाषियेके रूपमें काम करते हैं –दे० दिव्यध्वनि /२/१५

दिव्ययोजन–क्षेत्रका प्रमाण विशेष–दे० गणित/I/१।

दिव्यलक्षण पंक्ति व्रत–दे० पंक्ति व्रत।

दिव्यापथ–विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर–दे० विद्याधर।

दिश संस्थित–एक ग्रह–दे० ग्रह।

दिशा–१. दिशाका लक्षण

भ.आ./वि/६८/१९६/८ दिसा परलोकदिग्उपदर्शपरः सूरिणा स्थापितः भवति दिश मोक्षवर्त्मन्याश्रयत्यादिशतीति या सूरिः स दिशा इत्युच्यते। –दिशा अर्थात् आचार्यने अपने स्थानपर स्थापित किया हुआ शिष्य जो परलोकका उपदेश करके मोक्षमार्गमें भव्योंको स्थिर करता है। सङ्घाधिपति आचार्यने यावज्जीव आचार्य पदवीका त्याग करके अपने पदपर स्थापा हुआ और आचार्यके समान जिसका गुणसमुदाय है ऐसा जो उनका शिष्य उनको दिशा अर्थात् बालाचार्य कहते हैं।

दिशा–१. दिशा व विदिशाका लक्षण

स.सि./५/३/२६९/१० आदित्योदयाद्यपेक्षया आकाशप्रदेशपङ्क्तिषु इत इदमिति व्यवहारोपपत्तेः। –सूर्यके उदयादिककी अपेक्षा आकाशप्रदेश पंक्तियोंमें यहाँसे यह दिशा है इस प्रकारके व्यवहारकी उत्पत्ति होती है।

ध.४/१,४,७३/२२६/४ सगट्ठाणादो कडुज्जुवा दिसा णाम। ताओ छच्चेव, अण्णेसिमसंभवादो। ...सगट्ठाणादो कण्णायारेण ट्ठिदखेत्तं विदिसा। –अपने स्थानसे बाणकी तरह सीधे क्षेत्रका दिशा कहते है। ये दिशाएँ छह ही होती है, क्योंकि अन्य दिशाओंका होना असम्भव है...अपने स्थानसे कर्णरेखाके आकारसे स्थित क्षेत्रको विदिशा कहते है–

२. दिशा विदिशाओंके नाम व क्रम
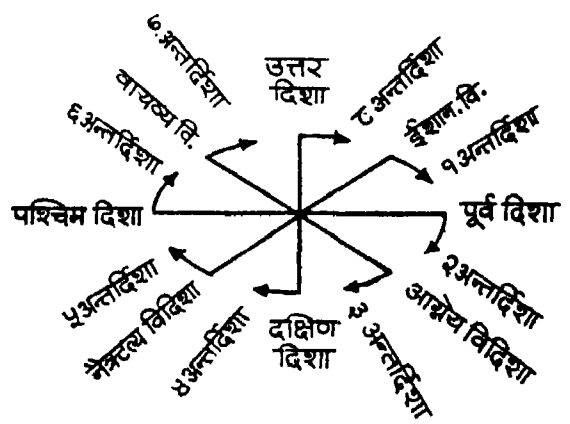
३. शुभ कार्योंमें पूर्व व उत्तर दिशाकी प्रधानताका कारण

भ. आ./वि./५६०/७७१/३ तिमिरापसारणपरस्य धर्मरश्मेरुदयदिगिति उदयार्थी तद्वदस्मत्कार्याभ्युदयो यथा स्यादिति लोकः प्राङ्मुखो भवति।...उदङ्मुखता तु स्वयंप्रभादितीर्थकृतो विदेहस्थान् चेतसि कृत्वा तदभिमुखतया कार्यसिद्धिरिति। —अन्धकारका नाश करनेवाले सूर्यका पूर्व दिशामें उदय होता है अतः पूर्व दिशा प्रशस्त है। सूर्यके उदयके समान हमारे कार्यमें भी दिन प्रतिदिन उन्नति होवे ऐसी इच्छा करनेवाले लोक पूर्व दिशाकी तरफ अपना मुख करके अपना इष्ट कार्य करते हैं।...विदेहक्षेत्रमें स्वयंप्रभादि तीर्थंकर हो गये हैं, विदेह क्षेत्र उत्तर दिशाकी तरफ है अतः उन तीर्थंकरोंको हृदयमें धारणकर उस दिशाकी तरफ आचार्य अपना मुख कार्य सिद्धिके लिए करते हैं।

दिशामन्त्य—
दिशामादि—
दिशामुत्तर—
} सुमेरु पर्वतके अपर नाम—दे० सुमेरु

दीक्षा—दे० प्रव्रज्या।

दीति—ह. पु./२२/५१-५५ यह धरणेन्द्रकी देवी है। इसने धरणेन्द्रकी आज्ञासे तपभ्रष्ट नमि तथा विनमिको विद्याएँ तथा औषधियाँ दी थीं।

दीपचंदशाह—सांगानेर (जयपुर) के निवासी एक पण्डित थे। कृति—चिद्विलास, आत्मावलोकन व अनुभवप्रकाश आदि। समय—वि. १७७९ ई० १७२२। (ती /४/२१)।
मो, मा, प्र./प्र. २ परमानन्द शास्त्री।

दीपदशमी व्रत—व्रतविधान संग्रह/१३० दीपदशमी दश दीप बनाय, जिनहिं चढ़ाय आहार कराय॥—दश दीपक बनाकर भगवान्को चढ़ाये फिर आहार करे। यह व्रत श्वेताम्बर आम्नायमें प्रचलित है।

दीपमालिका व्रत—व्रतविधान संग्रह/१०८ कार्तिक कृ० ३० को वीरनिर्वाणके दिन दीपावलि मनायी जाती है। उस दिन उपवास करे व सायंकाल दीप जलाये। जाप—'ओं ह्रीं श्रीमहावीरस्वामिने नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जप करे।

दीपसेन—पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप नन्दिसेनके शिष्य तथा धरसेन (श्रुतावतार वालेसे भिन्न) के गुरु थे।—दे० इतिहास /७/८।

दीपांग—कल्पवृक्षोंका एक भेद—दे० वृक्ष/१।

दीप्ततप ऋद्धि—दे० ऋद्धि/५।

दीर्घस्वर—दे० अक्षर।

दुःख—दुःखसे सब डरते हैं। शारीरिक, मानसिक आदिके भेदसे दुःख कई प्रकारका है। तहाँ शारीरिक दुःखको ही लोकमें दुःख माना जाता है। पर वास्तवमें वह सबसे तुच्छ दुःख है। उससे ऊपर मानसिक और सबसे बड़ा स्वाभाविक दुःख होता है, जो व्याकुलता रूप है। उसे न जाननेके कारण ही जीव नारक, तिर्यंचादि योनियोंके विविध दुःखोंको भोगता रहता है। जो उसे जान लेता है वह दुःखसे छूट जाता है।

१. भेद व लक्षण

१. दुःखका सामान्य लक्षण

स. सि./५/२०/२८८/१२ सदसद्वेद्योदयेऽन्तरङ्गहेतौ सति बाह्यद्रव्यादिपरिपाकनिमित्तवशादुत्पद्यमानः प्रीतिपरितापरूपः परिणामः सुखदुःखमित्याख्यायते।

स. सि./६/११/३२८/१२ पीडालक्षणः परिणामो दुःखम्।—साता और असाता रूप अन्तरंग हेतुके रहते हुए बाह्य द्रव्यादिके परिपाकके निमित्तसे प्रीति और परिताप रूप परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे सुख और दुःख कहे जाते हैं। अथवा-पीड़ा रूप आत्माका परिणाम दुःख है। (रा. वा./६/११/१/५१९); (रा वा /५/२०/२/४७४); (गो. जी./जी. प्र./६०६/१०६२/१५)।

ध. १३/५,५,६३/३३४/५ अणिट्ठत्थसमागमो इट्ठत्थवियोगो च दुःखं णाम। —अनिष्ट अर्थके समागम और इष्ट अर्थके वियोगका नाम दुःख है।

ध. १५/६/६ सिरोवेयणादी दुक्खं णाम।—सिरकी वेदनादिका नाम दुःख है।

२. दुःखके भेद

भा, पा,/मू./११ आगंतुकं माणसियं सहजं सारीरियं चत्तारि। दुक्खाइं...॥११/—आगंतुक, मानसिक, स्वाभाविक तथा शारीरिक, इस प्रकार दुःख चार प्रकार का होता है।

न. च./६३ सहजं...नैमित्तिकं · देहजं ···मानसिकम्।६३।—दुःख चार प्रकारका होता है—सहज, नैमित्तिक, शारीरिक और मानसिक।

का, अ./मू./३५ असुरोदीरिय-दुक्खं-सारीरं-माणसं तहा तिविहं' खित्तुब्भवं च तिव्वं अण्णोण्ण-कयं च पंचविहं।३५।—पहला असुरकुमारोंके द्वारा दिया गया दुःख, दूसरा शारीरिक दुःख, तीसरा मानसिक दुःख, चौथा क्षेत्रसे उत्पन्न होनेवाला अनेक प्रकारका दुःख, पाँचवाँ परस्परमें दिया गया दुःख, ये दुःखके पाँच प्रकार हैं।३५।

३. मानसिकादि दुःखोंके लक्षण

न. च./६३ सहजखुधाइजादं णयमित्तं सीदवादमादीहिं। रोगादिआ य देहज अणिट्ठजोगे तु माणसियं।६३।—क्षुधादिसे उत्पन्न होनेवाला दुःख स्वाभाविक, शीत, वायु आदिसे उत्पन्न होनेवाला दुःख नैमित्तिक, रोगादिसे उत्पन्न होनेवाला शारीरिक तथा अनिष्ट वस्तुके संयोग हो जानेपर उत्पन्न होनेवाला दुःख मानसिक कहलाता है।

★ **पीड़ारूप दुःख**—दे० वेदना।

२. दुःख निर्देश

१. चतुर्गतिके दुःखका स्वरूप

भ. आ./मू./१५७९-१५९९ पगलंतरुधिरधारो पलंबचम्मो पभिन्नपोट्टसिरो। पउलिदहिदओ जं फुडिदत्थो पडिचूरियंगो च।१५७९। ताडणतासणबंधणवाहणलंछणविहेडणं दमणं। कण्णच्छेदणणासावेहणणिल्लंछणं चेव।१५८२। रोगा विविहा बाधाओ तह य णिच्चं भयं च सव्वत्तो। तिव्वाओ वेदणाओ धाडणपादाभिघादाओ।१५८५। दंडणमुंडणताडणधरिसणपरिमोससंकिलेसा य। धणहरणदारधरिसणघरदाहजलादिधणनासं।१५९२। देवो माणी संतो पासिय देवे महड्ढिए अण्णे। जं दुक्खं संपत्तो घोरं भग्गेण माणेण।१५९९।—जिसके शरीरमेंसे रक्तकी धारा बह रही है, शरीरका चमड़ा नीचे लटक रहा है, जिसका पेट और मस्तक फूट गया है, जिसका हृदय तप्त हुआ है, आँखें फूट गयी हैं, तथा सब शरीर चूर्ण हुआ है, ऐसा तू नरकमें अनेक बार दुःख भोगता था।१५७९। लाठी वगैरहसे पीटना, भय दिखाना, डोरी वगैरहसे बाँधना, बोझा लादकर देशान्तरमें ले जाना,

शंख-पद्मादिक आकारसे उनके शरीरपर दाह करना, तकलीफ देना, कान नाक छेदना, अंडका नाश करना इत्यादिक दुःख तिर्यग्गतिमें भोगने पड़ते हैं ।१५८२। इस पशुगतिमें नाना प्रकारके रोग, अनेक तरहकी वेदनाएँ तथा निरय चारों तरफसे भय भी प्राप्त होता है। अनेक प्रकारके घावसे रगड़ना, ठोकना इत्यादि दुःखोंकी प्राप्ति तुझे पशुगतिमें प्राप्त हुई थी ।१५८५। मनुष्यगतिमें अपराध होनेपर राजादिकसे धनापहार होता है यह दंडन दुःख है। मस्तकके केशोंका मुण्डन करवा देना, फटके लगवाना, धर्षणा अर्थात् आक्षेप सहित दोषारोपण करनेसे मनमें दुःख होता है। परिमोष अर्थात् राजा धन लुटवाता है। चोर द्रव्य हरण करते हैं तब धन हरण दुःख होता है। भार्याका जबरदस्ती हरन होनेपर, घर जलनेसे, धन नष्ट होने इत्यादिक कारणोंसे मानसिक दुःख उत्पन्न होते हैं ।१५९२। मानी देव अन्य ऋद्धिशाली देवोंको देखकर जिस घोर दुःखको प्राप्त होता है वह मनुष्य गतिके दुःखोंकी अपेक्षा अनन्तगुणित है। ऋद्धिशाली देवोंका देखकर उसका गर्व शतशः चूर्ण होनेसे वह महाकष्टी होता है ।१५९९। (भा पा./मू/१५)।

भा. पा./मू./१०-१२ खणणुत्तावणवालणवेयणविच्छेयणाणिरोहं च। पत्तोसि भावरहिओ तिरियगईए चिरं कालं ।१०। सुरणिलयेसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिव्वं। संपत्तोसि महाजस दुक्खं सुहभावणारहिओ ।१२। —हे जीव ! तै तिर्यंचगति विषैं खनन, उत्तापन, ज्वलन, वेदन, व्युच्छेदन, निरोधन इत्यादि दुःख बहुत काल पर्यन्त पाये। भाव रहित भया संता। हे महाजस ! तै देवलोक विषैं प्यारी अप्सराका वियोग काल विषै वियोग सम्बन्धी दुःख तथा इन्द्रादिक बड़े ऋद्धिधारीनिकूं आपकूं हीन मानना ऐसा मानसिक दुःख, ऐसे तीव्र दुःख शुभ भावना करि रहित भये सन्ते पाया ।१२।

२. संज्ञीसे असंज्ञी जीवोंमें दुःखकी अधिकता

पं. ध./उ./३४१ महच्चेत्संज्ञिनां दुःखं स्वल्पं चासंज्ञिनां न वा। यतो नीचपदादुच्चैः पदं श्रेयस्तथा मतम् ।३४१। —यदि कदाचित यह कहा जाये कि संज्ञी जीवोंको बहुत दुःख होता है, और असंज्ञी जीवोंको बहुत थोड़ा दुःख होता है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि नीच पदसे वैसा अर्थात् संज्ञी कैसे ऊँच पद श्रेष्ठ माना जाता है ।३४१। इसलिए सैनीसे असैनीके कम दुःख सिद्ध नहीं हो सकता है किन्तु उल्टा असैनीको ही अधिक दुःख सिद्ध होता है। (पं.ध./उ./ ३४१-३४४)।

३. संसारी जीवोंको अबुद्धि पूर्वक दुःख निरन्तर रहता है

पं. ध./उ./३१८-३१९ अस्ति संसारि जीवस्य नूनं दुःखमबुद्धिजम्। सुखस्यादर्शनं स्वस्य सर्वतः कथमन्यथा ।३१८। ततोऽनुमीयते दुःखमस्ति नूनमबुद्धिजम्। अवश्यं कर्मबद्धस्य नैरन्तर्योदयादितः ।३१९। —पर पदार्थमें मूर्छित संसारी जीवोंके सुखके अदर्शनमें भी निश्चयसे अबुद्धिपूर्वक दुःख कारण है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो उनके आत्माके सुखका अदर्शन कैसे होता—क्यों होता ।३१८। इसलिए निश्चय करके कर्मबद्ध संसारी जीवके निरन्तर कर्मके उदय आदिके कारण अवश्य ही अबुद्धि पूर्वक दुःख है, ऐसा अनुमान किया जाता है ।३१९।

★ **लौकिक सुख वास्तवमें दुःख है**—दे० सुख।

४. शारीरिक दुःखसे मानसिक दुःख बड़ा है

का. अ./मू./६० सारीरिय-दुक्खादो माणस-दुक्खं हवेइ अइपउरं। माणस-दुक्ख-जुदस्स हि विसया वि दुहावहा हुंति ।६०। —शारीरिक दुःखसे मानसिक दुःख बड़ा होता है। क्योंकि जिसका मन दुःखी है, उसे विषय भी दुःखदायक लगते हैं ।६०।

५. शारीरिक दुःखोंकी गणना

का. अ./टी./२८८/२०७ शारीरं शरीरोद्भवं शीतोष्णक्षुत्पिपासाकोटिपञ्चषष्टिलक्षनवनवतिसहस्रपञ्चशतचतुरशीतिव्याध्यादि जं — शरीरसे उत्पन्न होनेवाला दुःख शारीरिक कहलाता है। भूख प्यास, शीत उष्णके कष्ट तथा पाँच करोड़ अड़सठ लाख निन्यानवे हजार पाँच सौ चौरासी व्याधियोंसे उत्पन्न होनेवाले शारीरिक दुःख होते हैं।

३. दुःखके कारणादि

१. दुःखका कारण शरीर व बाह्य पदार्थ

स. श./मू./१५ मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः। त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ।१५। —इस जड़ शरीरमें आत्मबुद्धिका होना ही संसारके दुःखोंका कारण है। इसलिए शरीरमें आत्मत्वकी मिथ्या कल्पनाको छोड़कर बाह्य विषयोंमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको रोकता हुआ अन्तरंगमें प्रवेश करे ।१५।

आ. अनु./१९५ आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि काङ्क्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च माने। हानिप्रयासभयपापकुयोनिदाः स्युर्मूलं ततस्तनुरनर्थपरं पराणाम् ।१९५। —प्रारम्भमें शरीर उत्पन्न होता है, इस शरीरसे दुष्ट इन्द्रियाँ होती हैं, वे अपने-अपने विषयोंको चाहती हैं; और वे विषय मानहानि, परिश्रम, भय, पाप एवं दुर्गतिको देनेवाले हैं। इस प्रकारसे समस्त अनर्थोंकी परम्पराका मूल कारण वह शरीर ही है ।१९५।

ज्ञा./७/११ भवोद्भवानि दुःखानि यानि यानीह देहिभिः। सह्यन्ते तानि तान्युच्चैर्वपुरादाय केवलम् ।११। —इस जगतमें संसारसे उत्पन्न जो जो दुःख जीवोंको सहने पड़ते हैं, वे सब इस शरीरके ग्रहणसे ही सहने पड़ते हैं। इस शरीरसे निवृत्त होनेपर फिर कोई भी दुःख नहीं है। ।११। (ज्ञा./७/१०)।

२. दुःखका कारण ज्ञानका ज्ञेयार्थ परिणमन

पं. ध./उ./२७८-२७९ नूनं यत्परतो ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्। व्याकुलं मोहसंपृक्तमर्थाद्दुःखमनर्थवत् ।२७८। सिद्धं दुःखत्वमस्योच्चैर्व्याकुलत्वोपलब्धितः। ज्ञातशेषार्थसद्भावे तद्बुभुत्सादिदर्शनात् ।२७९। —निश्चयसे जो ज्ञान इन्द्रियादिके अवलम्बनसे होता है और जो ज्ञान प्रत्येक अर्थके प्रति परिणमनशील रहता है अर्थात् प्रत्येक अर्थके अनुसार परिणामी होता है वह ज्ञान व्याकुल तथा राग-द्वेष सहित होता है इसलिए वास्तवमें वह ज्ञान दुःखरूप तथा निष्प्रयोजनके समान है ।२७८। प्रत्यर्थ परिणामी होनेके कारण ज्ञानमें व्याकुलता पायी जाती है इसलिए ऐसे इन्द्रियजन्य ज्ञानमें दुःखपना अच्छी तरह सिद्ध होता है। क्योंकि जाने हुए पदार्थके सिवाय अन्य पदार्थोंके जाननेकी इच्छा रहती है ।२७९।

३. दुःखका कारण क्रमिक ज्ञान

प्र.सा./त.प्र./६० खेदस्यायतनानि घातिकर्माणि, न नामकेवलं परिणाममात्रम्। घातिकर्माणि हि···परिच्छेद्यमर्थं प्रत्यात्मानं यतः परिणामयति, ततस्तानि तस्य प्रत्यर्थं परिणम्य परिणम्य श्राम्यतः खेदनिदानतां प्रतिपद्यन्ते। —खेदके कारण घातिकर्म हैं, केवल परिणमन मात्र नहीं। वे घातिकर्म प्रत्येक पदार्थके प्रति परिणमित हो-हो कर थकने वाले आत्माके लिए खेदके कारण होते हैं।

प्र.सा./ता.वृ./६०/७९/१२ क्रमकरणव्यवधानग्रहणे खेदो भवति। —इन्द्रियज्ञान क्रमपूर्वक होता है, इन्द्रियोंके आश्रयसे होता है, तथा प्रकाशादिका आश्रय ले कर होता है, इसलिए दुःखका कारण है।

पं.ध./उ./२८१ प्रमत्तं मोहयुक्तत्वान्निकृष्टं हेतुगौरवात्। व्युच्छिन्नं क्रमवर्तित्वात्कृच्छ्रं चेहाद्युपक्रमात् ।२८१। —वह इन्द्रियजन्य ज्ञान

मोहसे युक्त होनेके कारण प्रमत्त, अपनी उत्पत्तिके बहुतसे कारणोंकी अपेक्षा रखनेसे निकृष्ट, क्रमपूर्वक पदार्थोंको विषय करनेके कारण व्युच्छिन्न और ईहा आदि पूर्वक होनेसे दुःखरूप कहलाता है ।२८१।

४. दुःखका कारण जीवके औदयिक भाव

पं.ध./उ./३२० नावाच्यता यथोक्तस्य दुःखजातस्य साधने। अर्थाद्-बुद्धिमात्रस्य हेतोरौदयिकत्वतः ।३२०। —वास्तवमें सम्पूर्ण अबुद्धि पूर्वक दुःखोंका कारण जीवका औदयिक भाव ही है इसलिए उपर्युक्त सम्पूर्ण अबुद्धि पूर्वक दुःखके सिद्ध करनेमें अवाच्यता नहीं है।

★ **दुःखका सहेतुकपना**—दे० विभाव/३।

५. क्रोधादि भाव स्वयं दुःखरूप हैं

स.सा./मू./७४ जीवणिबद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य। दुक्खा दुक्खफला त्ति य णादूण णिवत्तए तेहिं ।७४। —यह आस्रव जीवके साथ निबद्ध है, अध्रुव है, अनित्य है तथा अशरण है और वे दुःखरूप हैं, दुःख ही जिनका फल है ऐसे हैं—ऐसा जानकर ज्ञानी उनसे निवृत्त होता है।

६. दुःख दूर करनेका उपाय

स.श./मू./४१ आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति। नायतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः ।४१। —शरीरादिकमें आत्म बुद्धिरूप विभ्रमसे उत्पन्न होनेवाला दुःख-कष्ट शरीरादिसे भिन्नरूप आत्म स्वरूपके करनेसे शान्त हो जाता है। अतएव जो पुरुष भेद विज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें प्रयत्न नहीं करते वे उत्कृष्ट तप करके भी निर्वाणको प्राप्त नहीं करते ।४१।

आ.अनु./१८६-१८७ हानेः शोकस्ततो दुःखं लाभाद्रागस्ततः सुखम्। तेन हानावशोकः सन् सुखी स्यात्सर्वदा सुधीः ।१८६।···सुखं सकलसंन्यासो दुःखं तस्य विपर्ययः ।१८७। —इष्ट वस्तुकी हानिसे शोक और फिर उससे दुःख होता है, तथा फिर उसके लाभसे राग तथा फिर उससे सुख होता है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषको इष्टकी हानिमें शोकसे रहित होकर सदा सुखी रहना चाहिए ।१८६। समस्त इन्द्रिय विषयोंसे विरक्त होनेका नाम सुख और उनमें आसक्त होनेका नाम ही दुःख है। (अतः विषयोंसे विरक्त होनेका उपाय करना चाहिए) ।१८७।

★ **असाताके उदयमें औषध आदि भी सामर्थ्यहीन हैं**
—दे० कारण/III/५/४।

दुःपक्व—आहारमें एक दोष—दे० भोगोपभोग /५

दुःशासन—पा.पु./सर्ग/श्लोक धृतराष्ट्रका गान्धारीसे पुत्र था।(८/१९२)। भीष्म तथा द्रोणाचार्यसे क्रमसे शिक्षा तथा धनुर्विद्या प्राप्त की।(८/२०८)। पाण्डवोंसे अनेकों बार युद्ध किया।(१९/९१)। अन्तमें भीम द्वारा मारा गया।(२०/२६६)।

दुःश्रुति—अनर्थदण्डका एक भेद—दे० अनर्थदण्ड।

दुःस्वर—दे० स्वर।

दुंदभुक्—एक ग्रह—दे० ग्रह।

दुखमा—अपरनाम दुषमा—दे० काल/४।

दुखहरण व्रत—इस व्रतकी विधि दो प्रकारसे वर्णन की गयी है—लघु व बृहद्।

लघु विधि—एक उपवास एक पारण क्रमसे १२० उपवास पूरे करे। जाप्य—नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य (व्रत विधान सं./६२) (वर्द्धमान पुराण)।

ह.पु./३४/११६ जघन्य व उत्कृष्ट आयुकी अपेक्षा सर्वत्र बेला होता है। तहाँ—सात नरकोंके ७; पर्याप्त-अपर्याप्तके २; पर्याप्त-अपर्याप्त मनुष्यके २; सौधर्म-ईशान स्वर्गका १; सनत्कुमारसे अच्युत पर्यन्तके ११; नव-ग्रैवेयकके ९; नव अनुदिशका १; पाँच अनुत्तरोंका एक। इस प्रकार ३४ बेले। बीचके ३४ स्थानों में एक एक पारणा।

दुगुंछा—दे० जुगुप्सा।

दुग्धरसी व्रत— व्रत विधान सं./१०२ भाद्रपद शुक्ला १२ को केवल दूधका आहार ले। सारा समय धर्मध्यानमें व्यतीत करे। इस प्रकार १२ वर्ष पर्यन्त करे। जाप्य—नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य।

दुग्धशुद्धि—दे० भक्ष्याभक्ष्य/३।

दुर्गंधा—पा.पु./२४/श्लोक—सुबन्धी नामक वैश्यकी पुत्री थी (२४-२५)। इसके स्वाभाविक दुर्गन्धके कारण इसका पति जिनदत्त इसे छोड़ कर भाग गया (४२-४४)। पीछे आर्यिकाओंको आहार दिया तथा उनसे दीक्षा धारण कर ली (६४-६७)। घोर तपकर अन्तमें अच्युत स्वर्गमें देव हुई (६८-७१)। यह द्रौपदीका पूर्वका दूसरा भव है।—दे० द्रौपदी।

दुर्ग—१. भरत क्षेत्र पश्चिम आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४; २. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

दुर्गाटवी—त्रि.सा./भाषा/६७६ पर्वतके उपरि जो होइ सो दुर्गाटवी है।

दुर्दर—१. कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१; २. भरत-क्षेत्र मध्य आर्यखण्डके मलयगिरिके निकटस्थ एक पर्वत—दे० मनुष्य/४।

दुर्धर—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

दुर्भग—दे० सुभग।

दुर्भाषा—दे० भाषा।

दुर्मुख—यह सप्तम नारद थे। अपरनाम चतुर्मुख। विशेष—दे० शलाका पुरुष/६।

दुर्योधन—पा.पु./सर्ग/श्लोक—धृतराष्ट्रका पुत्र था (८/१८३)। भीष्म तथा द्रोणाचार्यसे क्रमसे शिक्षण प्राप्त किया (८/२०८)। पाण्डवोंके साथ अनेकों बार अन्यायपूर्ण युद्ध किये। अन्तमें भीम द्वारा मारा गया (२०/२६४)।

दुर्विनीत—यह पूज्यपाद द्वितीयके शिष्य थे। गंग वंशी राजा अविनीतके पुत्र थे। समय—वि. ५३५-५७० (ई० ४७८-५१३); (स.सि./प्र.९५ पं. फूलचन्द्र); (स.श./प्र.१० पं. जुगलकिशोर); (द.सा./प्र.३८ प्रेमी)।

दुषमा—अपरनाम दुखमा—दे० काल/४।

दुष्पक्व—आहारमें एक दोष—दे० भोगोपभोग/५

दुष्प्रणिधान—सामायिक व्रतका एक अतिचार—दे० सामायिक/३।

दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण—दे० अधिकरण।

दूत—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४। २. वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका।

दूध शुद्धि—दे० भक्ष्याभक्ष्य/३।

दूरस्थ—दे० दूरार्थ।

दूरास्पर्श ऋद्धि—
दूराद् घ्राण ऋद्धि—
दूराद्दर्शन ऋद्धि—
दूराद् श्रवण ऋद्धि— } —दे० ऋद्धि/२/६।

दूरापकृष्टि—१. दूरापकृष्टि सामान्य व लक्षण

ल.सा./जी.प्र./१२०/१६१/६ पल्ये उत्कृष्टसंख्यातेन भक्ते यल्लब्धं तस्मादेकैकहान्या जघन्यपरिमितासंख्यातेन भक्ते पल्ये यल्लब्धं तस्मादेकोत्तरवृद्ध्या यावन्तो विकल्पास्तावन्तो दूरापकृष्टिभेदाः। —पल्यको उत्कृष्ट असंख्यातका भाग दिये जो प्रमाण आवै तातै एक एक घटता क्रम करि पल्यकौ जघन्य परीतासंख्यातका भाग दिये जो प्रमाण आवै तहाँ पर्यन्त एक-एक वृद्धिके द्वारा जितने विकल्प हैं, ते सब दूरापकृष्टिके भेद हैं।

२. दूरापकृष्टि स्थिति बन्धका लक्षण

क्ष.सा./भाषा/४११/५००/१५ पल्य/अंस-मात्र स्थितिबन्धको दूरापकृष्टि नाम स्थितिबन्ध कहिये।

दूरार्थ—न्या. दी./२§२२/४१/६ दूरा (अर्थाः) देशविप्रकृष्टा मेर्वादयः। —दूर वे हैं जो देशसे विप्रकृष्ट हैं, जैसे मेरु आदि। अर्थात् जो पदार्थ क्षेत्रसे दूर हैं वे दूरार्थ कहलाते हैं।

पं.ध./उ./४८४ दूरार्था भाविनोऽतीता रामरावणचक्रिणः। —भूत भविष्यत कालवर्ती राम, रावण, चक्रवर्ती आदि कालकी अपेक्षासे अत्यन्त दूर होनेसे दूरार्थ कहलाते हैं।

दूरास्वादन ऋद्धि—दे० ऋद्धि/२/६।

दूष्य क्षेत्र—Cubical (ज.प./प्र./१०७)

दृढरथ—म.पु./६३/श्लोक—पुष्कलावती देशमें पुण्डरीकिणी नगरीके राजा घनरथका पुत्र था (१४२-)। राज्य लेना अस्वीकार कर दीक्षा धारण कर ली (३०७-)। अन्तमें एक माहके उपवास सहित संन्यास मरणकर स्वर्गमें अहमिन्द्र हुआ (३३६-)। यह शान्तिनाथ भगवान्‌के प्रथम गणधर चक्रायुधका पूर्वका दूसरा भव है।—दे० चक्रायुध।

दृश्यक्रम—क्ष.सा./४८० अपूर्व स्पर्धक करण कालका प्रथमादि समयनिविषै दृश्य कहिये देखनेमें आवै ऐसा परमाणूनिका प्रमाण ताका अनुक्रम सो दृश्यक्रम कहिये। (तहाँ पूर्वमें जो नवीन देय द्रव्य मिलकर कुल द्रव्य होता है वह द्रव्य द्रव्य जानना।) प्रथम वर्गणासे लगाय अन्तिम वर्गणा पर्यन्त एक एक चय या विशेष घटता दृश्य चय होता है, तातै प्रथम वर्गणातै लगाय पूर्व स्पर्धकनिको अन्तिम वर्गणा पर्यन्त एक गोपुच्छा भया।

दृश्यमान द्रव्य—क्ष.सा./मू./५०५ का भावार्थ-किसी भी स्पर्धक या कृष्टि आदिमें पूर्वका द्रव्य या निषेक या वर्गणाएँ तथा नया मिलाया गया द्रव्य दोनों मिलकर दृश्यमान द्रव्य होता है। अर्थात् वर्तमान समयमें जितना द्रव्य दिखाई दे रहा है, वह दृश्यमान द्रव्य है।

दृष्ट—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

दृष्टान्त—हेतुकी सिद्धिमें साधनभूत कोई दृष्ट पदार्थ जिससे कि वादी व प्रतिवादी दोनों सम्मत हों, दृष्टान्त कहलाता है। और उसको बतानेके लिए जिन वचनोंका प्रयोग किया जाता है वह उदाहरण कहलाता है। अनुमान ज्ञानमें इसका एक प्रमुख स्थान है।

१. दृष्टान्त व उदाहरणोंके भेद व लक्षण

१. दृष्टान्त व उदाहरण सामान्यका लक्षण

न्या. सू./मू./१/१/२५/३० लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः।२५। —लौकिक (शास्त्रसे अनभिज्ञ) और परीक्षक (जो प्रमाण द्वारा शास्त्रकी परीक्षा कर सकते हैं) इन दोनोंके ज्ञानकी समता जिसमें हो उसे दृष्टान्त कहते हैं।

न्या. वि./मू./२/२११/२४० संबन्धो यत्र निर्ज्ञातः साध्यसाधनधर्मयोः। स दृष्टान्तस्तदाभासाः साध्यादिविकलादयः।२११। —जहाँ या जिसमें साध्य व साधन इन दोनों धर्मोंके अविनाभावी सम्बन्धकी प्रतिपत्ति होती है वह दृष्टान्त है।

न्या. दी./३/§३२/७८/३ व्याप्तिपूर्वकदृष्टान्तवचनमुदाहरणम्।

न्या. दी./३/§६४-६५/१०४/१ उदाहरणं च सम्यग्दृष्टान्तवचनम्। कोऽयं दृष्टान्तो नाम? इति चेत्; उच्यते; व्याप्तिसंप्रतिपत्तिप्रदेशो दृष्टान्तः।...तस्याः संप्रतिपत्तिनामवादिनोर्बुद्धिसाम्यम्। सैषा यत्र संभवति स सम्प्रतिपत्तिप्रदेशो महानसादिर्ह्रदादिश्च तत्रैव धूमादौ सति नियमेनाऽग्न्यादिरस्ति, अग्न्याद्यभावे नियमेन धूमादिर्नास्तीति संप्रतिपत्तिसंभवात्।...दृष्टान्तौ चैतौ दृष्टावन्तौ धर्मौ साध्यसाधनरूपौ यत्र स दृष्टान्त इत्यर्थानुवृत्तेः। उक्त लक्षणस्यास्य दृष्टान्तस्य यत्सम्यग्वचनं तदुदाहरणम्। न च वचनमात्रमयं दृष्टान्त इति। किन्तु दृष्टान्तत्वेन वचनम्। तद्यथा—यो यो धूमवानसावसावग्निमान् यथा महानस इति। यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति, यथा महाह्रद इति च। एवंविधेनैव वचनेन दृष्टान्तस्य दृष्टान्तत्वेन प्रतिपादनसंभवात्। —व्याप्तिको कहते हुए दृष्टान्तके कहनेको उदाहरण कहते हैं। अथवा—यथार्थ दृष्टान्तके कहनेको उदाहरण कहते हैं। यह दृष्टान्त क्या है? जहाँ साध्य और साधनकी व्याप्ति दिखलायी जाती है उसे दृष्टान्त कहते हैं।...वादी और प्रतिवादीकी बुद्धि साम्यताको व्याप्तिकी सम्प्रतिपत्ति कहते हैं। और सम्प्रतिपत्ति जहाँ सम्भव है वह सम्प्रतिपत्ति प्रदेश कहलाता है जैसे—रसोई घर आदि, अथवा तालाब आदि। क्योंकि 'वहीं धूमादि होनेपर नियमसे अग्नि आदि पाये जाते हैं, और अग्न्यादिके अभावमें नियमसे धूमादि नहीं पाये जाते' इस प्रकारकी बुद्धिसाम्यता सम्भव है।...ये दोनों ही दृष्टान्त हैं, क्योंकि साध्य और साधनरूप अन्त अर्थात् धर्म जहाँ देखे जाते हैं वह दृष्टान्त कहलाता है, ऐसा 'दृष्टान्त' शब्दका अर्थ उनमें पाया जाता है। इस उपर्युक्त दृष्टान्तका जो सम्यक् वचन है—प्रयोग है वह उदाहरण है। 'केवल' वचनका नाम उदाहरण नहीं है, किन्तु दृष्टान्त रूपसे जो वचन प्रयोग है वह उदाहरण है। जैसे—जो-जो धूमवाला होता है वह-वह अग्निवाला होता है, जैसे रसोईघर, और जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है जैसे--तालाब। इस प्रकारके वचनके साथ ही दृष्टान्तका दृष्टान्तरूपसे प्रतिपादन होता है।

२. दृष्टान्त व उदाहरणके भेद

न्या. वि./वृ.२/२११/२४०/२५ स च द्वेधा साधर्म्येण वैधर्म्येण च। —दृष्टान्तके दो भेद हैं, साधर्म्य और वैधर्म्य।

प. मु./३/४७/२१ दृष्टान्तो द्वेधा, अन्वयव्यतिरेकभेदात्।४७। —दृष्टान्तके दो भेद हैं—एक अन्वय दृष्टान्त दूसरा व्यतिरेक दृष्टान्त। (न्या. दी./३§३२/७८/७); (न्या. दी./३/§६४/१०४/८)।

३. साधर्म्य और वैधर्म्य सामान्यका लक्षण

न्या. सू./मू.व. टी./१/१/३६/३७/३५ साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्।३६।...शब्दोऽप्युत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः स्थाल्यादिवदि-

स्युदाह्रियते ।टीका। तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् ।३७।…अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात् अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमात्मादि सोऽयमात्मादिर्दृष्टान्तः ।—साध्यके साथ तुल्य धर्मतासे साध्यका धर्म जिसमें हो ऐसे दृष्टान्तको (साधर्म्य) उदाहरण कहते हैं ।३६। शब्द अनित्य है, क्योंकि उत्पत्ति धर्मवाला है, जो-जो उत्पत्ति धर्मवाला होता है वह-वह अनित्य होता है जैसे कि 'घट'। यह अन्वयी (साधर्म्य) उदाहरणका लक्षण कहा। साध्यके विरुद्ध धर्मसे विपरीत (वैधर्म्य) उदाहरण होता है, जैसे शब्द अनित्य है, उत्पत्त्यर्थवाला होनेसे, जो उत्पत्ति धर्मवाला नहीं होता है, वह नित्य देखा गया है, जैसे—आकाश, आत्मा, काल आदि।

न्या. बि./टी./२/२११/२४०/२० तत्र साधर्म्येण कृतकत्वादनित्यत्वे साध्ये घटः, तत्रान्वयमुखेन तयोः संबन्धप्रतिपत्तेः। वैधर्म्येणाकाशं तत्रापि व्यतिरेकद्वारेण तयोस्तत्परिज्ञानात् ।—कृतक होनेसे अनित्य है जैसे कि 'घट'। इस हेतुमें दिया गया दृष्टान्त साधर्म्य है। यहाँ अन्वयकी प्रधानतासे कृतकत्व और अनित्यत्व इन दोनोंकी व्याप्ति दर्शायी गयी है। अकृतक होनेसे अनित्य नहीं है जैसे कि 'आकाश', यहाँ व्यतिरेक द्वारा कृतक व अनित्यत्व धर्मोंकी व्याप्ति दर्शायी गयी है। (न्या. दी./३§१२/७८/७।

प./मु./३/४८-४६/२१ साध्यं व्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः ।४८। साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ।४६।—जहाँ हेतुकी मौजूदगीसे साध्यकी मौजूदगी बतलायी जाये उसे अन्वय दृष्टान्त कहते हैं। और जहाँ साध्यके अभावमें साधनका अभाव कहा जाय उसे व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं ।४८-४६।

न्या. दी./३/§३२/७८/३ यो यो धूमवानसावसावग्निमान्, यथा महानस इति साधर्म्योदाहरणम्। यो योऽग्निमान्न भवति स स धूमवान्न भवति, यथा महाह्रद इति वैधर्म्योदाहरणम्। पूर्वत्रोदाहरणभेदे हेतोरन्वयव्याप्तिः प्रदर्श्यते द्वितीये तु व्यतिरेकव्याप्तिः। तद्यथा—अन्वयव्याप्तिप्रदर्शनस्थानमन्वयदृष्टान्तः, व्यतिरेकव्याप्तिप्रदर्शनप्रदेशो व्यतिरेकदृष्टान्तः।

न्या. दी./३/§६४/१०४/७ धूमादौ सति नियमेनाग्न्यादिरस्ति, अग्न्याद्यभावे नियमेन धूमादिर्नास्तीति तत्र महानसादिरन्वयदृष्टान्तः। अत्र साध्यसाधनयोर्भावरूपान्वयसंप्रतिपत्तिसंभवात् ह्रदादिस्तु व्यतिरेकदृष्टान्तः। अत्र साध्यसाधनयोरभावरूपव्यतिरेकसंप्रतिपत्तिसंभवात्। —जो जो धूमवाला है वह वह अग्नि वाला है जैसे— रसोईघर। यह साधर्म्य उदाहरण है। जो जो अग्निवाला नहीं होता वह वह धूमवाला नहीं होता जैसे—तालाब। यह वैधर्म्य उदाहरण है। उदाहरणके पहले भेदमें हेतुकी अन्वय व्याप्ति (साध्यकी मौजूदगीमें साधनकी मौजूदगी) दिखायी जाती है और दूसरे भेदमें व्यतिरेकव्याप्ति (साध्यकी गैरमौजूदगीमें साधनकी गैरमौजूदगी) बतलायी जाती है। जहाँ अन्वय व्याप्ति प्रदर्शित की जाती है उसे अन्वय दृष्टान्त कहते हैं, और जहाँ व्यतिरेक व्याप्ति दिखायी जाती है उसे व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं। धूमादिके होनेपर नियमसे अग्नि आदि पाये जाते हैं, और अग्न्यादिके अभावमें नियमसे धूमादिक नहीं पाये जाते'। उनमें रसोईशाला आदि दृष्टान्त अन्वय हैं, क्योंकि उससे साध्य और साधनके सद्भावरूप अन्वय बुद्धि होती है। और तालाबादि व्यतिरेक दृष्टान्त हैं, क्योंकि उससे साध्य और साधन के अभावरूप व्यतिरेकका ज्ञान होता है।

४. उदाहरणाभास सामान्यका लक्षण व भेद

न्या.दी./३/§६६/१०५/१० उदाहरणलक्षणरहित उदाहरणवदवभासमान उदाहरणाभासः। उदाहरणलक्षणराहित्यं द्वेधा संभवति, दृष्टान्तस्यासम्यग्वचनेनादृष्टान्तस्य सम्यग् वचनेन वा। —जो उदाहरणके लक्षणसे रहित है किन्तु उदाहरण जैसा प्रतीत होता है वह उदाहरणाभास है। उदाहरणके लक्षणकी रहितता (अभाव) दो तरहसे होता है—१. दृष्टान्तका सम्यग्वचन न होना और दूसरा जो दृष्टान्त नहीं है उसका सम्यग्वचन होना।

५. उदाहरणाभासके भेदोंके लक्षण

न्या.दी./३/§६५/१०५/१२ तत्राद्यं यथा, यो योऽग्निमान् स स धूमवान्, यथा महानस इति, यत्र यत्र धूमो नास्ति तत्र तत्राग्निर्नास्ति, यथा महाह्रद इति च व्याप्यव्यापकयोर्वैपरीत्येन कथनम्।

न्या.दी./३/§६८/१०८/७ अदृष्टान्तवचनं तु, अन्वयव्याप्तौ व्यतिरेकदृष्टान्तवचनम्, व्यतिरेकव्याप्तावन्वयदृष्टान्तवचनं च, उदाहरणाभासौ। स्पष्टमुदाहरणम्। —उनमें पहलेका उदाहरण इस प्रकार है—जो-जो अग्निवाला होता है वह-वह धूमवाला होता है, जैसे रसोईघर। जहाँ-जहाँ धूम नहीं है वहाँ-वहाँ अग्नि नहीं है जैसे—तालाब। इस तरह व्याप्य और व्यापकका विपरीत (उलटा) कथन करना दृष्टान्तका असम्यग्वचन है। 'अदृष्टान्त वचन' (जो दृष्टान्त नहीं है उसका सम्यग्वचन होना) नामका दूसरा उदाहरणाभास इस प्रकार है—अन्वय व्याप्तिमें व्यतिरेक दृष्टान्त कह देना, और व्यतिरेक व्याप्तिमें अन्वय दृष्टान्त बोलना, उदाहरणाभास है, इन दोनोंके उदाहरण स्पष्ट हैं।

६. दृष्टान्ताभास सामान्यके लक्षण

न्या.बि./मू./२/२११/२४० सम्बन्धो यत्र निर्ज्ञातः साध्यसाधनधर्मयोः। स दृष्टान्तस्तदाभासाः साध्यादिविकलादयः। —जो दृष्टान्त न होकर दृष्टान्तवत् प्रतीत होवें वे दृष्टान्ताभास हैं।

पं. ध./पू./४१० दृष्टान्ताभासा इति निक्षिप्ताः स्वेष्टसाध्यशून्यत्वात् ।…।४१०।—इस प्रकार दिये हुए दृष्टान्त अपने इष्ट साध्यके द्वारा शून्य होनेसे अर्थात् अपने इष्ट साध्यके साधक न होनेसे दृष्टान्ताभास हैं… ।४१०।

७. दृष्टान्ताभासके भेद

न्या.बि./टी./२/२११/२४०/२६ भावार्थ—साधर्म्यदृष्टान्ताभास नौ प्रकारका है—साध्य विकल, साधन विकल, उभय विकल, सन्दिग्धसाध्य, सन्दिग्धसाधन, सन्दिग्धोभय, अन्वयासिद्ध, अप्रदर्शितान्वय और विपरीतान्वय।

इसी प्रकार वैधर्म्य दृष्टान्ताभास भी नौ प्रकारका होता है—साध्य विकल, साधन विकल, उभय-विकल सन्दिग्ध, साध्य, सन्दिग्धसाधन, सन्दिग्धोभय, अव्यतिरेक, अप्रदर्शित व्यतिरेक, विपरीत व्यतिरेक।

प. मु./६/४०,४४ दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः ।४०। व्यतिरेकसिद्धतद्व्यतिरेकाः ।४५। —अन्वयदृष्टान्ताभास तीन प्रकारका है—साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल ।४०। व्यतिरेकदृष्टान्ताभासके तीन भेद हैं—साध्यव्यतिरेकविकल, साधनव्यतिरेकविकल एवं साध्यसाधन उभय व्यतिरेकविकल।

८. दृष्टान्ताभासके भेदोंके लक्षण

न्या.बि./वृ./२/२११/२४०/२८ तत्र नित्यशब्दोऽमूर्तत्वादिति साधने कर्मवदिति साध्यविकलं निदर्शनम् अनित्यत्वात् कर्मणः। परमाणुवदिति साधनविकलं मूर्तत्वात् परमाणूनाम्। घटवदित्युभयविकलम् अनित्यत्वान्मूर्तत्वाच्च घटस्य। 'रागादिमान् सुगतः कृतकत्वात्' इत्यत्र रथ्यापुरुषवदिति संदिग्धसाध्यं रथ्यापुरुषे रागादिमत्त्वस्य निश्चेतुमशक्यत्वात् प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेः व्यापारादेश्च रागादिप्रभवस्यान्यथापि संभवात्, वीतरागाणामपि सरागवच्चेष्टोपपत्तेः। मरणधर्मायं रागादिमत्त्वात् इत्यत्र संदिग्धसाधनं तत्र रागादिमत्त्वाऽ-

निश्चयस्योक्तत्वात् । अतएव असर्वज्ञोऽयं रागादिमत्त्वादित्यन्त-संदिग्धोभयम् । रागादिमत्त्वे वक्तृत्वादित्यनन्वयम्, रागादिमत्त्व-स्यैव तत्रासिद्धौ तत्रान्वयस्यासिद्धेः । अप्रदर्शितान्वयं यथा शब्दोऽ-नित्यः कृतकत्वात् घटादिवदिति । न ह्यत्र 'यद्यत्कृतकं तत्तद-नित्यम्' इत्यन्वयदर्शनमस्ति । विपरीतान्वयं यथा यदनित्यं तत्कृ-तकमिति । तदेवं नव साधर्म्येण दृष्टान्ताभासाः । वैधर्म्येणापि नवैव । तद्यथा नित्यः शब्दः अमूर्तत्वात् यदनित्यं न भवति तदमूर्तमपि न भवति परमाणुवदिति साध्यव्यावृत्तं परमाणुषु साधनव्यावृत्तावपि साध्यस्य नित्यत्वस्याव्यावृत्तेः । कर्मवदिति साधनाव्यावृत्तं तत्र साध्यव्यावृत्तावपि साधनस्य अमूर्तत्वस्या-व्यावृत्तेः आकाशवदित्युभयावृत्तम् अमूर्तत्वनित्यत्वयोरुभयोर-प्याकाशादव्यावृत्ते' । संदिग्धसाध्यव्यतिरेकं यथा सुगतः सर्व-ज्ञोऽनुपदेशादिप्रमाणोपपन्नतत्त्ववचनात्, यस्तु न सर्वज्ञो नासौ तद्वचनो यथा वीथी पुरुष इति तत्र सर्वज्ञत्वव्यतिरेकस्यानिश्चयात् परचेतोवृत्तीनामित्थंभावेन दुरवबोधत्वात् । संदिग्धसाधनव्यतिरेकं यथा अनित्यः शब्द' सत्त्वात् यदनित्यं न भवति तत्सदपि न भवति यथा गगनमिति, गगने हि सत्त्वव्यावृत्तिरनुपलम्भात्, तस्य च न गमकत्वमदृश्यविषयत्वात् । संदिग्धोभयव्यतिरेकं यथा य' संसारी स न तद्वान् यथा बुद्ध इति, बुद्धात् संसारित्वा-विद्यादिमत्त्वव्यावृत्तेः अनवधारणात् । तस्य च तृतीये प्रस्तावे निरू-पणात् । अव्यतिरेकं यथा नित्यः शब्दः अमूर्तत्वात् यन्न नित्यं न तदमूर्तं यथा घट इति घटे साध्यनिवृत्तेर्भावेऽपि हेतुव्यतिरेकस्य तत्प्रयुक्तत्वाभावात् कर्मण्यनित्येऽप्यमूर्तत्वभावात् ।अप्रदर्शितव्यतिरेकं यथा अनित्य' शब्द' सत्त्वात् वैधर्म्येण आकाशपुष्पवदिति । विपरीत व्यतिरेकं यथा अत्रैव साध्ये यत्सन्न भवति तदनित्यमपि न भवति यथा व्योमेति साधनव्यावृत्त्या साध्यनिवृत्तेरुपदर्शनात् । —१. **अन्वयदृष्टान्ताभासके लक्षण**—१. 'अमूर्त होनेसे शब्द अनित्य है' इस हेतुमें दिया गया 'कर्मवत्' ऐसा दृष्टान्त साध्यविकल है, क्योंकि कर्म अनित्य है, नित्यत्व रूप साध्यसे विपरीत है। २. 'परमाणुवत्' ऐसा दृष्टान्त देना साधनविकल्प है, क्योंकि वह मूर्त है और अमू-र्तत्व रूप साधनसे (हेतुसे) विपरीत है। ३. 'घटवत्' ऐसा दृष्टान्त देना उभय विकल है। क्योंकि घट मूर्त व अनित्य है। यह अमूर्तत्व-रूप साधन तथा अनित्यत्व रूप साध्यसे विपरीत है। ४. 'सुगत (बुद्धदेव) रागवाला है, क्योंकि वह कृतक है' इस हेतुमें दिया गया—'रथ्या पुरुषवत्' ऐसा दृष्टान्त सन्दिग्ध साध्य है, क्योंकि रथ्या-पुरुषमें रागादिमत्त्वका निश्चय होना अशक्य है। उसके व्यापार या चेष्टादि परसे भी उसके रागादिमत्त्वकी सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि वीतरागियोंमें भी शरीरवत् चेष्टा पायी जाती है। ५. तहाँ रागादिमत्त्वकी सिद्धिमें 'मरणधर्मापनेका' दृष्टान्त देना सन्दिग्ध साधन है, क्योंकि मरणधर्मा होते हुए भी रागादिधर्मापनेका निश्चय नहीं है। ६. 'असर्वज्ञपनेका' दृष्टान्त देना सन्दिग्धसाध्य व सन्दिग्ध साधन उभय रूप है। ७. वक्तृत्वपनेका दृष्टान्त देना अनन्वय है, क्योंकि रागादिमत्त्वके साथ वक्तृत्वका अन्वय नहीं है। ८. 'कृतक होनेसे शब्द अनित्य है' इस हेतुमें दिया गया 'घटवत्' यह दृष्टान्त अप्रदर्शितान्वय है। क्योंकि जो जो कृतक हो वह वह नियमसे अनित्य होता है, ऐसा अन्वय पद दर्शाया नहीं गया। ९. जो जो अनित्य होता है वह-वह कृतक होता है, यह विपरीतान्वय है। २. **व्यतिरेक दृष्टाताभासके लक्षण**—१. 'अमूर्त होनेसे शब्द अनित्य है, जो-जो नित्य नहीं होता वह-वह अमूर्त नहीं होता' इस हेतुमें दिया गया 'परमाणुवत्' यह दृष्टान्त साध्य विकल है, क्योंकि परमाणुमें साधनरूप अमूर्तत्वकी व्यावृत्ति होनेपर भी साध्य रूप नित्यत्वकी व्यावृत्ति नहीं है। २. उपरोक्त हेतुमें दिया गया 'कर्मवत्' यह दृष्टान्त साधन विकल है, क्योंकि यहाँ साध्यरूप नित्यत्वकी व्यावृत्ति होनेपर भी साधन रूप अमूर्तत्वकी व्यावृत्ति नहीं है। ३ उपरोक्त हेतुमें ही दिया गया 'आकाशवत्' यह दृष्टान्त उभय विकल है, क्योंकि यहाँ न तो साध्यरूप नित्यत्वकी व्यावृत्ति है, और न साधन रूप नित्यत्वकी। ४. 'सुगत सर्वज्ञ है क्योंकि उसके वचन प्रमाण हैं, जो-जो सर्वज्ञ नहीं होता, उसके वचन भी प्रमाण नहीं होते, इस हेतुमें दिया गया 'वीथी पुरुषवत्' यह दृष्टान्त सन्दिग्ध साध्य है, क्योंकि वीथी पुरुषमें साध्यरूप सर्वज्ञत्वके व्यतिरेकका निश्चय नहीं है, दूसरे अन्यके चित्तकी वृत्तियोंका निश्चय करना शक्य नहीं है। ५. 'सत्त्व होनेके कारण शब्द अनित्य है, जो जो अनित्य नहीं होता वह वह सत् भी नहीं होता' इस हेतुमें दिया गया 'आकाश-वत्' यह दृष्टान्त सन्दिग्ध साधन है, क्योंकि आकाशमें न तो साधन रूप सत्त्वकी व्यावृत्ति पायी जाती है, और अदृष्ट होनेके कारणसे न ही उसके सत्त्वका निश्चय हो पाता है। ६. 'अविद्यामत् होनेके कारण हरि हर आदि संसारी हैं, जो जो संसारी नहीं होता वह वह अविद्यामत् भी नहीं होता। इस हेतुमें दिया गया 'बुद्धवत्' यह दृष्टान्त सन्दिग्धोभय व्यतिरेकी है। क्योंकि बुद्धके साथ साध्यरूप संसारीपनेकी और साधन रूप' 'अविद्यामत्पने' दोनों ही की व्यावृत्तिका कोई निश्चय नहीं है। ७. अमूर्त होनेके कारणसे शब्द नित्य है, जो जो नित्य नहीं होता वह वह अमूर्त भी नहीं होता, इस हेतुमें दिया गया 'घटवत्' यह दृष्टान्त अव्यतिरेकी है, क्योंकि घटमें साध्यरूप नित्यत्वकी निवृत्तिका स्वभाव होते हुए भी साधन रूप अमूर्तत्वकी निवृत्तिका अभाव है। ८. 'सत् होनेके कारण शब्द अनित्य है, जो-जो अनित्य नहीं होता, वह-वह सत् भी नहीं होता' इस हेतुमें दिया गया 'आकाशपुष्पवत्' यह दृष्टान्त अप्रदर्शित व्यतिरेकी है, क्योंकि आकाशमें साध्यरूप अनित्यत्वके साथ साधन रूप सत्त्वका विरोध दर्शाया नहीं गया है। ९. 'जो जो सत् नहीं होता, वह वह अनित्य नहीं होता, इस हेतुमें दिया गया आकाशपुष्पवत् यह दृष्टान्त विपरीत व्यतिरेकी है, क्योंकि यहाँ आकाशमें साधन रूप सत्की व्यावृत्तिके द्वारा साध्यरूप नित्यत्वको निवृत्ति दिखायी गयी है न कि अनित्यत्वकी।

प. मु./६/४१-४५ अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत् ।४१। विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्तं । विद्युदादिनाति-प्रसंगात् ।४२-४३। व्यतिरेकसिद्धतद्व्यतिरेका' परमाण्विन्द्रियसुखा-काशवत् विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्तं तन्नापौरुषेयं ।४४-४५।

१. **अन्वयदृष्टान्ताभासके लक्षण**—१. 'शब्द अपौरुषेय है क्योंकि वह अमूर्त है' इस हेतुमें दिया गया—'इन्द्रियसुखवत्' यह दृष्टान्त साध्य विकल है क्योंकि इन्द्रिय सुख अपौरुषेय नहीं है किन्तु पुरुषकृत ही है। २. 'परमाणुवत्' यह दृष्टान्त साधन विकल है क्योंकि परमाणुमें रूप, रस, गन्ध आदि रहते हैं इसलिए वह मूर्त है अमूर्त नहीं है। ३. 'घटवत्' यह दृष्टान्त उभय विकल है, क्योंकि घट पुरुषकृत् है, और मूर्त्त है, इसलिए इसमें अपौरुषेयत्व साध्य एवं अमूर्तत्व हेतु दोनों ही नहीं रहते। ४. उपर्युक्त अनुमानमें जो जो अमूर्त होता है वह वह अपौरुषेय होता है, ऐसी व्याप्ति है, परन्तु जो जो अपौरुषेय होता है वह वह अमूर्त होता है ऐसी उलटी व्याप्ति दिखाना भी अन्वयदृष्टान्ताभास है, क्योंकि बिजली आदि-से व्यभिचार आता है, अर्थात् बिजली अपौरुषेय है परन्तु अमूर्त नहीं है ।४२-४३।

२. **व्यतिरेक दृष्टान्ताभासके लक्षण**—१. 'शब्द अपौरुषेय है क्योंकि अमूर्त है' इस हेतुमें दिया 'परमाणुवत्' यह दृष्टान्त साध्य विकल है, क्योंकि अपौरुषेयत्व रूप साध्यका व्यतिरेक (अभाव) पौरुषेयत्व परमाणुमें नहीं पाया जाता। २. 'इन्द्रियसुखवत्' यह दृष्टान्त साधन विकल है, क्योंकि अमूर्तत्व रूप साधनका व्यतिरेक इसमें नहीं पाया जाता। ३. 'आकाशवत्' यह दृष्टान्त उभय विकल है, क्योंकि इसमें पौरुषेयत्व मूर्तत्व दोनों ही नहीं रहते। ४. जो मूर्त नहीं है वह अपौरुषेय भी नहीं है इस प्रकार व्यतिरेकदृष्टान्ताभास है।

क्योंकि व्यतिरेकमें पहले साध्याभाव और पीछे साधनाभाव कहा जाता है परन्तु यहाँ पहले साधनाभाव और पीछे साध्याभाव कहा गया है इसलिए व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है।४४-४५।

९. विषम दृष्टान्तका लक्षण

न्या. वि./मू./१/४२/११२ विषमोऽप्यमुपन्यासस्तयोश्चेत्सदसत्त्वतः…।४२। —दृष्टान्तके सदृश न हो उसे विषम दृष्टान्त कहते हैं, और वह विषमता भी देश और कालके सत्त्व और असत्त्वकी अपेक्षासे दो प्रकारकी हो जाती है। ज्ञान वाले क्षेत्रमें असत् होते हुए भी ज्ञानके कालमें उसकी व्यक्तिका सद्भाव हो अथवा क्षेत्रकी भाँति ज्ञानके कालमें भी उसका सद्भाव न हो ऐसे दृष्टांत विषम कहलाते हैं।

२. दृष्टान्त-निर्देश

१. दृष्टान्त सर्वदेशी नहीं होता

ध.१३/५.५.१२०/३८०/६ ण, सव्वप्पणा सरिसदिट्ठंताभावादो। भावे वा चंदमुही कण्णे त्ति ण घडदे, चंदम्मि भ्रमुहक्खि-णासादीणमभावादो। —दृष्टान्त सर्वात्मना सदृश नहीं पाया जाता। यदि कहो कि सर्वात्मना सदृश दृष्टान्त होता है तो 'चन्द्रमुखी कन्या' यह घटित नहीं हो सकता, क्योंकि चन्द्रमें भ्रू, मुख, आँख और नाक आदिक नहीं पाये जाते।

२. अनिष्णातजनोंके लिए ही दृष्टान्तका प्रयोग होता है

प. मु./३/४६ बालव्युत्पत्त्यर्थं—तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादे, अनुपयोगात् ।४६। —दृष्टान्तादिके स्वरूपसे सर्वथा अनभिज्ञ बालकोंके समझानेके लिए यद्यपि दृष्टान्त आदि (उपनयनिगमन) कहना उपयोगी है, परन्तु शास्त्रमें ही उनका स्वरूप समझना चाहिए, वादमें नहीं, क्योंकि वाद व्युत्पन्नोंका ही होता है।४६।

३. व्यतिरेक रूप ही दृष्टान्त नहीं होते

न्या.वि./मू /२/२१२/२४१ सर्वत्रैव न दृष्टान्तोऽनन्वयेनापि साधनात्। अन्यथा सर्वभावानामसिद्धोऽयं क्षणक्षयः ।२१२। —सर्वत्र अन्वय को ही सिद्ध करने वाले दृष्टान्त नहीं होते, क्योंकि दूसरेके द्वारा अभिमत सर्व ही भावोंकी सिद्धि उससे नहीं होती, सपक्ष और विपक्ष इन दोनों धर्मियोंका अभाव होने से।

दृष्टि अमृतरस ऋद्धि—दे० ऋद्धि/८।

दृष्टि निर्विष औषध ऋद्धि—दे० ऋद्धि/७।

दृष्टि प्रवाद—ध.९/४.१.४५/२०५/६ दिट्ठिवादो त्ति गुणणामं, दिट्ठीओ वददि त्ति सद्दणिप्पत्तीदो। —दृष्टिवाद यह गुणनाम है, क्योंकि दृष्टियोंको जो कहता है, वह दृष्टिवाद है, इस प्रकार दृष्टिवाद शब्दकी सिद्धि है। यह द्वादशांग श्रुत ज्ञानका १२वाँ अंग है। विशेष दे० श्रुतज्ञान/III।

दृष्टिभेद— यद्यपि अनुभवगम्य आध्यात्मिक विषयमें आगममें कहीं भी पूर्वापर विरोध या दृष्टिभेद होना सम्भव नहीं है, परन्तु सूक्ष्म दूरस्थ व अन्तरित पदार्थोंके सम्बन्धमें कहीं-कहीं आचार्योंका मतभेद पाया जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञानियोंके अभावमें उनका निर्णय दुरन्त होनेके कारण धवलाकार श्री वीरसेन स्वामीका सर्वत्र यही आदेश है कि दोनों दृष्टियोंका यथायोग्य रूपमें ग्रहण कर लेना योग्य है। यहाँ कुछ दृष्टिभेदोंका निर्देश मात्र निम्न सारणी द्वारा किया जाता है। उनका विशेष कथन उस उस अधिकारमें ही दिया है।

नं.	विषय	दृष्टि नं० १	दृष्टि नं० २	दे०—
	मार्गणाओंकी अपेक्षा			
१	स्वर्गवासी इन्द्रोंकी संख्या	२४	२८	स्वर्ग/२
२	ज्योतिषी देवोंका अवस्थान	नक्षत्रादि ३ योजन की दूरी पर	४ योजनकी दूरीपर	ज्योतिषी
३	देवोंकी विक्रिया	स्व अवधि क्षेत्र प्रमाण	घटित नहीं होता	देव/II/२/८
४	देवोंका मरण	मूल शरीरमें प्रवेश करके ही मरते हैं	नियम नहीं	मरण/५/५
५	सासादन सम्यग्दृष्टि देवोंका जन्म	एकेन्द्रियोंमें होता है	नहीं होता	जन्म
६	प्राप्यकारी इन्द्रियोंका विषय	९ योजन तकके पुद्गलोंसे संबंध करके जान सकती है	नहीं	इन्द्रिय
७	बादर तैजसकायिक जीवोंका लोकमें अवस्थान	ढाई द्वीप व अर्ध-स्वयंभूरमण द्वीपमें ही होते हैं।	सर्व द्वीप समुद्रोंमें सम्भव है	काय/२
८	लब्धि अपर्याप्तके 'परिणाम योग'	आयुबन्ध कालमें होता है	घटित नहीं होता	योग
९	चारों गतियोंमें कषायोंकी प्रधानता	एक एक कषाय प्रधान है	नियम नहीं	कषाय
१०	द्रव्य श्रुतके अध्ययनकी अपेक्षा भेद	सूत्र समादि अनेकों भेद हैं	नहीं है	निक्षेप/५
११	द्रव्य श्रुतज्ञानमें षट्-गुणहानि वृद्धि	अक्षर श्रुतज्ञान ६ वृद्धियोंसे बढ़ता है	नहीं	श्रुतज्ञान
१२	अक्षर श्रुतज्ञानसे आगेके श्रुतज्ञानोंमें वृद्धि क्रम	दुगुने-तिगुने आदि क्रमसे होती है	सर्वत्र षट्स्थान वृद्धि होती है	"
१३	संज्ञी संमूर्च्छनोंमें अवधिज्ञान	होता है	नहीं होता	अवधिज्ञान
१४	क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य अवधिज्ञानका विषय	एक श्रेणी रूप ही जानता है	नहीं	"
१५	क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य अवधिज्ञानका विषय	सूक्ष्म निगोदियाकी अवगाहना प्रमाण आकाशकी अनेक श्रेणियोंको जानता है	नहीं	"
१६	सर्वावधिका क्षेत्र	परमावधिसे असं० गुणित है	नहीं	"
१७	अवधिज्ञानके करण-चिह्न	करणचिह्नोंका स्थान अवस्थित है	नहीं है	"
१८	क्षेत्रकी अपेक्षा मनःपर्यय ज्ञानका विषय	एकाकाश श्रेणीमें ही जानता है	नहीं	मनःपर्यय ज्ञान
१९	क्षेत्रकी अपेक्षा मनःपर्यय ज्ञानका विषय	मनुष्य क्षेत्रके भीतर भीतर ही जानता है	नहीं	"
२०	जन्मके पश्चात् तिर्यंचोंमें संयमासंयम ग्रहणकी योग्यता	मुहूर्त पृथक्त्व अधिक दो माससे पहले संभव नहीं	तीन पक्ष तीन दिन और अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् भी संभव है	संयम

नं.	विषय	दृष्टि नं० १	दृष्टि नं० २	दे०—
२१	जन्मके पश्चात् मनुष्योंमें संयम व संयमासंयम ग्रहण-की योग्यता	अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्षसे पहले संभव नहीं	आठ वर्ष पश्चात भी संभव है	संयम
२२	जन्मके पश्चात मनुष्योंमें संयम व संयमासंयम ग्रहण-की योग्यता	गर्भसे लेकर आठ वर्ष पश्चात् बीत जानेके पश्चात संभव है	जन्मसे लेकर आठ वर्षके पश्चात् सम्भव है	,,
२३	केवलदर्शनका अस्तित्व	केवलज्ञान ही है दर्शन नहीं	दोनों है	दर्शन
२४	लेश्या	द्रव्यलेश्याके अनु-सार ही भावलेश्या होती है	नियम नहीं	लेश्या
२५	लेश्या	बकुशादिकी अपेक्षा संयमियोंमें भी अशुभ लेश्या सम्भव है	नहीं	,,
२६	द्वितीयोपशमकी प्राप्ति	४-७ गुणस्थान तक सम्भव है	केवल ७वें गुण-स्थानमें ही संभव है	सम्य-ग्दर्शन
२७	सासादन सम्य-ग्दर्शनकी प्राप्ति	द्वितीयोपशम सम्य० से गिरकर प्राप्त होना सम्भव है	नहीं	सासादन
२८	सासादन पूर्वक मरण करके जन्म संबन्धी	एके० विक०में उत्पन्न नहीं होता	हो सकता है	जन्म
२९	सर्वार्थसिद्धिके देवोंकी संख्या	पर्याप्त मनुष्यनीसे तिगुनी है	सात गुणी है	संख्या/२
३०	उपशामक जीवों-की संख्या	८ समय अधिक वर्ष पृथक्त्वमें ३०० होते हैं	३०४ होते हैं या २९९ होते हैं	,,
३१	तैजसकायिक जीवों-की संख्या	चौथी बार स्थापित शलाका राशिके अर्ध भागसे ऊपर होती है	नहीं	,,
३२	बादर निगोदकी एक श्रेणी वर्गणाओं का गुणकार	जगत श्रेणीके असं० वें भाग	असंख्यात प्रत-रावली	,,
३३	विग्रहगतिमें जीव-का गमन	उपपादस्थानको अतिक्रमण नहीं करता	कर जाता है	क्षेत्र/३/४
३४	कषायोंका जघन्य काल	एक समय है	अन्तर्मुहूर्त है	काल
३५	सिद्धोंकी अल्पबहुत्व	सिद्ध कालकी अपेक्षा सिद्ध जीव असं-ख्यात गुणे हैं	विशेषाधिक है	अल्प-बहुत्व/-१/४
३६	जघन्य व बादर निगोद वर्गणामें अल्प-बहुत्वका गुणकार	जगत श्रेणीके असं-ख्यातवें भाग	आवलीके असं-ख्यातवें भाग	,, १/५
३७	प्रत्येक शरीर वर्गणा व ध्रुव शून्य वर्गणामें अल्प-बहुत्व-का गुणकार	घनावलीके असं-ख्यातवें भाग	अनन्तलोक	अल्प-बहुत्व १/५
३८	आहारक वर्गणाके अल्प-बहुत्वका गुण-कार।	परस्पर अनंतगुणा	भागाहारोंसे अनन्तगुणा	अल्प-बहुत्व/ १/५
३९	दर्शनमोह प्रकृतियों-का अल्प-बहुत्व	सम्य० मिथ्यात्वसे सम्यक प्र० की अन्तिम फालि असंख्यात गुणी है	विशेषाधिक है	अल्प-बहुत्व/ १/७
४०	प्रकृति बंध	नरकगतिके साथ उदय योग्य प्रकृ०-का बंध भी नरक-गतिके साथ ही होता है	नियम नहीं	प्रकृति-बंध
४१	,,	बन्धयोग्य प्रकृति १२० हैं	१४८ हैं	,,
४२	अनिवृत्तिकरणमें बंध व्युच्छित्ति	मान व मायाकी बन्ध व्युच्छित्ति क्रमसे सं० भाग काल व्यतीत होने-पर होती है	नियम नहीं	,,
४३	आयुका अपवर्तन	उत्कृष्ट आयुक अपवर्तन नहीं होता	होता है	आयु ५/३
४४	आठ अपकर्षोंमें आयु न बंधे तो	आयुमें आवलीका असं० भाग शेष रहनेपर बंधती है	समयघाट मुहूर्त शेष रहनेपर बंधती है	आयु/ ४/३.४
४५	तीर्थकर प्र० का स्थिति बंध	३३+२ प्र० को + २ वर्ष है	घटित नहीं होता	स्थिति बन्ध
४६	परमाणुओंका पर-स्पर बंध	समगुणवर्ती विषम परमाणुओंका बन्ध नहीं होता	होता है	स्कन्ध
४७	परमाणुओंका पर-स्पर बंध	एक गुणके अन्तरसे बंध नहीं होता	विषम परमा-णुओंमें होता है	,,
४८	उदय व्युच्छित्ति	एके० आदि प्रकृ०की उदय व्युच्छित्ति पहले गुणस्थानमें हो जाती है	दूसरे गुणस्थानमें होती है	उदय
४९	उदय योग्य प्रकृति	१२२ हैं	१४८ हैं	उदय १/७
५०	प्रकृतियोंकी सत्ता	सासादनमें आहारक चतुष्कका सत्त्व है	नहीं है	सत्त्व
५१	,,	८वें गुण०में ८ प्रकृ० का सत्त्व स्थान नहीं है	है	,,
५२	,,	मायाके सत्त्व रहित ४ स्थान ९वें गुण० तक हैं।	१० वें गुणस्थान तक है	,,

नं.	विषय	दृष्टि नं० १	दृष्टि नं० २	दे०—
		मिश्रगुणस्थानमें तीर्थंकरका सत्त्व नहीं	है	सत्त्व
५३	प्रकृतियोंकी सत्त्व	९वें गुणस्थानमें पहले ८ कषायोंकी व्युच्छित्ति होती है पीछे १६ प्रकृ० की	पहले १६ प्रकृ० की व्युच्छित्ति होती है पीछे ८ कषायोंकी	,,
५४	१४ वें गुणस्थानमें नामकर्मकी प्रकृ०की सत्त्व व्युच्छित्ति	उपान्त समयमें ७२ की चरम समयमें १३ की	उपान्त समयमें ७३ चरम समय में १२	,,
५५	उत्कर्षण विधानमें उत्कृष्ट निषेक सम्बन्धी	दो मत हैं।	—	उत्कर्षण
५६	अनिवृत्तिकरणमें सम्यक्त्व प्रकृतिकी क्षपणा	८ वर्षों को छोड़कर शेष सर्व स्थिति सत्त्वका ग्रहण	सख्यात हजार वर्षोंको छोड़कर शेष सर्व स्थिति सत्त्वका ग्रहण	क्षय/२/९
५७	महामत्स्यका शरीर	मुख और पूँछपर अतिसूक्ष्म है	घटित नहीं होता	संमूर्छन
५८	अवगाहना	सुखमाकालके आदिमें ९ हाथ होती है	३½ हाथ होती है	काल
५९	मरण	जिस गुणस्थानमें आयु बंधी है उसी में मरण होता है	नियम नहीं है	मरण/३
६०	,,	मरण समय सभी देव अशुभ तीन लेश्याओंमें आ जाते हैं	केवल कापोत लेश्यामें आते है	मरण/३
६१	,,	द्वितीयोपशमसे प्राप्त सासादनमें मरण नहीं होता है	होता है	,,
६२	,,	कृतकृत्य वेदक जीव मरण नहीं करता	करता है	,,
६३	,,	जघन्य आयुवाले जीवोंका मरण नहीं होता	होता है	,,
६४	मारणान्तिक समु० गत महामत्स्यका जन्म	निगोद व नरक दो जगह सम्भव है	घटित नहीं होता	मरण/५/६
६५	तिर्यग्लोकका अन्त	वातवलयोंके अंतमें होता है	भीतर-भीतर ही रहता है	तिर्यंच ३/३
६६	वातवलयोंका क्रम	घनोदधि घन व तनु	घन घनोदधि तनु	लोक/२/४
६७	देव व उत्तर कुरुमें स्थित द्रह व कांचन गिरि	सीता व सीतोदा नदीके दोनों किनारोंपर पाँच द्रह हैं, कुल २० द्रह हैं	सीता व सीतोदा नदीके मध्य पाँच द्रह हैं ऐसे १० द्रह हैं	लोक/३/१
६८	,,	प्रत्येक द्रहके दोनों तरफ ५,५ कांचन गिरि हैं, कुल १०० हैं	प्रत्येकके दोनों तरफ १०-१० कांचन गिरि हैं कुल १०० हैं	
६९	लवण समुद्रमें देवों की नगरियाँ	आकाशमें भी हैं और सागरके दोनों किनारोंपर पृथ्वी पर भी	पृथ्वीपर नगरियाँ नहीं हैं	लोक/४/१
७०	नंदीश्वर द्वीपस्थ रतिकर पर्वत	प्रत्येक दिशामें आठ रतिकर हैं	१६ रतिकर हैं	लोक/४/५
७१	नंदीश्वर द्वीपकी विदिशाओंमें स्थित अंजन शैल	है	नहीं है	,,
७२	कुण्डलवर द्वीपस्थ जिनेन्द्र कूट	चार हैं	आठ हैं	लोक/४/६
७३	कुमानुष द्वीपोंकी स्थिति	जम्बू द्वीपकी वेदिकासे इनका अन्तराल बताया जाता है	विभिन्न प्रकार से बताया जाता है	लोक/४/१
७४	पाण्डुशिलाका विस्तार	१००×५०×८ यो० है	५००×२५०×४ योजन है	लोक/३/७
७५	सौमनस वनमें स्थित बलभद्र नामा कूट	१००×१००×५० यो०	१०००×१००×५०० योजन	लोक/३/६
७६	गजदंतोंका विस्तार	सर्वत्र ५०० योजन	मेरुके पास ५०० और कुलधरके पास २५० यो०	लोक/३/८
७७	लवण समुद्रका विस्तार	पृथ्वीसे ७०० यो० ऊँचे	११०० यो० ऊँचे	लोक/४/१
७८	शुक्ल व कृष्ण पक्ष में लवण समुद्रकी वृद्धि-हानि	२०० कोश बढ़ता है	५००० यो० बढ़ता है	लोक/४/१
७९	गगा नदीका विस्तार	मुखपर २५ यो० है	६¼ यो० है	लोक/६/७
८०	चक्रवर्तीके रत्नोंकी उत्पत्ति	आयुधशालादिमें उत्पन्न होते हैं	कोई नियम नहीं है	शलाका पुरुष
८१	बीज बुद्धि ऋद्धि	पहले बीजपदका अर्थ जानते हैं फिर उसका विस्तार जानते हैं	दोनों एक साथ जानते है	ऋद्धि/२/२
८२	केवली समुद्घात	सभी केवलियोंको होता है	किसी-किसीको होता है	केवली/७/४
८३	,,	६ माह आयु शेष रहनेपर समुद्घात होता है	अन्तर्मुहूर्त शेष रहनेपर भी हो जाता है	केवली/४/६
८४	स्पर्शादि गुणोंके भंग	परस्पर संयोगसे अनेक भंग बन जाते हैं	नहीं बँधते हैं	ध./पु. १३/२५
८५	वीर निर्वाण पश्चात राजा शकको उत्पत्ति	४६१ वर्ष पश्चात	९७८५ वर्ष पश्चात	इतिहास/२/६
८६	,,	१४७९३ वर्ष पश्चात	६०५ वर्ष पश्चात	,,
८७	,,	७९९५ वर्ष पश्चात		,,
८८	कषाय पाहुड़ ग्रन्थ	१८० गाथाएँ नागहस्ती आचार्यने रची	कुल ग्रन्थ गुणधर आचार्यने रचा है	कषाय पाहुड़
८९	सुग्रीवका भाई बाली	दीक्षा धारण कर ली	लक्ष्मणके हाथसे मारा गया	बाली

दृष्टि विष रस ऋद्धि—ऋद्धि/८।

दृष्टि शक्ति—स.सा./आ./परि./शक्ति नं. ३ अनाकारोपयोगमयी दृशिशक्तिः। —यह तीसरी दर्शन क्रिया रूप शक्ति है। कैसी है? जिसमें ज्ञेय रूप आकारका विशेष नहीं है ऐसे दर्शनोपयोगमयी (सत्तामात्र पदार्थसे उपयुक्त होने स्वरूप) है।

देय—गणितकी विरलन देय विधि—दे० गणित/II/१/६।

देयक्रम—(क्ष.सा./भाषा/४७६/५६६/६) अपकर्षण कीया द्रव्यको जैसे दीया तैसे जो अनुक्रम सो देयक्रम है।

देयद्रव्य—जो द्रव्य निषेकों व कृष्टियों आदिमें जोड़ा जाता है उसे देय द्रव्य कहते हैं।

देव—श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार आप भद्रबाहु प्रथम (श्रुत केवली) के पश्चात् दसवें ११ अंग व १० पूर्वके धारी हुए। आपका अपर नाम गंगदेव था। समय—वी.नि./३१५-३२६ (ई.पू. २११-१९७) —दे० इतिहास/४/४।

देव—देव शब्दका प्रयोग वीतरागी भगवान् अर्थात् अर्हंत सिद्धके लिए तथा देव गतिके ससारी जीवोंके लिए होता है। अतः कथनके प्रसंगको देखकर देव शब्दका अर्थ करना चाहिए। इनके अतिरिक्त पंच परमेष्ठी, चैत्य, चैत्यालय, शास्त्र तथा तीर्थक्षेत्र ये नौ देवता माने गये हैं। देवगतिके देव चार प्रकारके होते हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी व स्वर्गवासी। इन सभीके इन्द्र सामानिक आदि दश श्रेणियाँ होती हैं। देवोंके चारों भेदोंका कथन तो उन उनके नामके अन्तर्गत किया गया है, यहाँ तो देव सामान्य तथा उनके सामान्य भेदोंका परिचय दिया जाता है।

१	देवगतिमें सम्यक्त्वका स्वामित्व ।
*	देवगतिमें वेद, पर्याप्ति, लेश्यादि—दे० वह वह नाम ।
२	देवगतिमें गुणस्थानोंका स्वामित्व ।
*	जन्म-मरण कालमें सम्भव गुणस्थानोंका परस्पर सम्बन्ध—दे० जन्म/६/६ ।
३	अपर्याप्त देवोंमें उपशम सम्यक्त्व कैसे सम्भव है ।
४	अनुदिशादि विमानोंमें पर्याप्तावस्थामें उपशम सम्यक्त्व क्यों नहीं ।
५	फिर इन अनुदिशादि विमानोंमें उपशम सम्यक्त्वका निर्देश क्यों ।
६	भवनवासी देव-देवियों व कल्पवासी देवियोंमें सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं उत्पन्न होते ।
७	भवनत्रिक देव-देवी व कल्पवासी देवीमें क्षायिक सम्यक्त्व क्यों नहीं होता ।
८	फिर उपशमादि सम्यक्त्व भवनत्रिक देव व सर्व देवियोंमें कैसे सम्भव हैं ।

I देव (भगवान्)

१. देव निर्देश

१. देव का लक्षण

र.क./श्रा./मू./५ आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना । भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ।५। —नियमसे वीतराग, सर्वज्ञ और आगमका ईश ही आप्त होता है, निश्चय करके किसी अन्य प्रकार आप्तपना नहीं हो सकता ।५। (ज.प./१३/८४/६५) ।

बो.पा./मू./२४-२५ सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च । सो देइ जस्स अत्थि हु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा ।२४। देवो ववगय-मोहो उदययरो भव्वजीवाणं ।२५। —जो धन, धर्म, भोग और मोक्षका कारण ज्ञानको देवे सो देव है । तहाँ ऐसा न्याय है जो जाकै वस्तु होय सो देवे अर जाकै जो वस्तु न होय सो कैसें दे, इस न्यायकरि अर्थ, धर्म, स्वर्गके भोग अर मोक्षका कारण जो प्रव्रज्या जाकै होय सो देव है ।२४। बहुरि देव है सो नष्ट भया है मोह जाका ऐसा है सो भव्य जीवनिकै उदयका करने वाला है ।

का अ./मू./३०२ जो जाणदि पच्चक्खं तियाल-गुण-पज्जएहिं संजुत्तं । लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देवो ।३०२। —जो त्रिकालवर्ती गुण पर्यायोंसे संयुक्त समस्त लोक और अलोकको प्रत्यक्ष जानता है वह सर्वज्ञ देव है ।

का.अ./टी./१/१/१५ दीव्यति क्रीडति परमानन्दे इति देवः, अथवा दीव्यति कर्माणि जेतुमिच्छति इति देवः, वा दीव्यति कोटि-सूर्याधिकतेजसा द्योतत इति देवः अर्हन्, वा दीव्यति धर्मव्यवहारं विदधाति देवः, वा दीव्यति लोकालोकं गच्छति जानाति, ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था इति वचनात्, इति देवः, सिद्धपरमेष्ठी वा दीव्यति स्तौति स्वचिद्रूपमिति देवः सूरिपाठकसाधुरूपस्तम् । —देव शब्द 'दिव' धातुसे बना है, और 'दिव्' धातु के 'क्रीड़ा करना' जयकी इच्छा करना' आदि अनेक अर्थ होते हैं । अतः जो परमसुखमें क्रीड़ा करता है सो देव है, या जो कर्मोंको जीतनेकी इच्छा करता है वह देव है, अथवा जो करोड़ों सूर्योंके भी अधिक तेजसे देदीप्यमान होता है वह देव है जैसे—अर्हन्त परमेष्ठी । अथवा जो धर्मयुक्त व्यवहारका विधाता है, वह देव है । अथवा जो लोक अलोकको जानता है, वह देव है जैसे सिद्ध परमेष्ठी । अथवा जो अपने आत्मस्वरूपका स्तवन करता है वह देव है जैसे—आचार्य, उपाध्याय, साधु ।

पं. ध./उ./६०३-६०४ दोषो रागादिसद्भावः स्यादावरणं च कर्म तत् । तयोरभावोऽस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते ।६०३। अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम् । वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम् ।६०४। —रागादिकका सद्भाव रूप दोष प्रसिद्ध ज्ञानावरणादिकर्म, इन दोनोंका जिनमें सर्वथा अभाव पाया जाता है वह देव कहलाता है ।६०३। उनके देवमें केवलज्ञान, केवल दर्शन, अनन्तसुख और अनन्त वीर्य, इस प्रकार अनन्त चतुष्टय प्रगट हो जाता है ।६०४। (द. पा./२/१२/२०) ।

२. देवके भेदोंका निर्देश

पं. का./ता. वृ./१/५/८ त्रिधा देवता कथ्यते । केन । इष्टाधिकृताभिमत-भेदेन—तीन प्रकारके देवता कहे गये हैं । १. जो मुझको इष्ट हों; २ जिसका प्रकरण हो; ३. जो सबको मान्य हों ।

पं.ध.उ./६०६ एको देवो स द्रव्यार्थात्सिद्धः शुद्धोपलब्धितः । अर्हन्निति सिद्धश्च पर्यायार्थाद्द्विधा मतः ।६०६। —वह देव शुद्धोपलब्धि रूप द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे एक प्रकारका प्रसिद्ध है, और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे अर्हंत तथा सिद्ध दो प्रकारका माना गया है ।

३. नव देवता निर्देश

र. क. श्रा./११९/१६८ पर उद्धृत—अरहंतसिद्धसाहूतियं जिणधम्मवयण पडिमाहू । जिण णिलया इदिराए णवदेवता दिंतु मे बोहि । —पंच परमेष्ठी, जिनधर्म, वचन, प्रतिमा व मन्दिर, ये नव देवता मुझे रत्नत्रयकी पूर्णता देवो ।

४. आचार्य उपाध्याय साधुमें भी कथंचित् देवत्व

नि.सा./ता.वृ./१४६/क.२५३/२६६ सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिनः । न कामपि भिदां क्वापि तां विद्मो हा जडा वयम् । —सर्वज्ञ-वीतरागमें और इस स्ववश योगीमें कभी कुछ भी भेद नहीं है, तथापि अरेरे ! हम जड हैं कि उनमें भेद मानते हैं ।२५३।

द.देव./१/१/भो.पा. धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा उनकी कारणभूत प्रव्रज्याको देनेवाले ऐसे आचार्यादि देव हैं ।

५. आचार्यादिमें देवत्व सम्बन्धी शंका समाधान

ध.१/१.१.१/५२/२ युक्तः प्राप्तात्मस्वरूपाणामर्हतां सिद्धानां च नमस्कारः, नाचार्यादीनामप्राप्तात्मस्वरूपत्वतस्तेषां देवत्वाभावादिति न, देवो हि नाम त्रीणि रत्नानि स्वभेदतोऽनन्तभेदभिन्नानि, तद्विशिष्टो जीवोऽपि देवः अन्यथा शेषजीवानामपि देवत्वापत्तेः । तत आचार्यादयोऽपि देवा रत्नत्रयास्तित्वं प्रत्यविशेषात् । नाचार्यादिस्थितरत्नानां सिद्ध-स्थरत्नेभ्यो भेदो रत्नानामाचार्यादिस्थितानामभावापत्तेः । न कारण-कार्यत्वाद्भेदः सत्स्वेवाचार्यादिस्थरत्नावयवेष्वन्यस्य तिरोहितस्य रत्नाभोगस्य स्वावरणविगमत आविर्भावोपलम्भात् । न परोक्षा-परोक्षकृतो भेदो वस्तुपरिच्छित्ति प्रत्येकत्वात् । नैकस्य ज्ञानस्या-वस्थाभेदतो भेदो निर्मलानिर्मलावस्थावस्थितदर्पणस्यापि भेदापत्तेः । नावयवावयविकृतो भेदः अवयवस्यावयविनोऽव्यतिरेकात् । सम्पूर्ण-रत्नानि देवो न तदेकदेश इति चेन्न, रत्नैकदेशस्य देवत्वाभावे समस्तस्यापि तदसत्त्वापत्तेः । न चाचार्यादिस्थितरत्नानि कृत्स्न-कर्मक्षयकर्तॄणि रत्नैकदेशत्वादिति चेन्न, अग्निसमूहकार्यस्य

पलालराशिदाहस्य तत्कणादप्युपलम्भात्। तस्मादाचार्यादयोऽपि देवा इति स्थितम्। —प्रश्न—जिन्होंने आत्म स्वरूपको प्राप्त कर लिया है, ऐसे अरहन्त, सिद्ध, परमेष्ठीको नमस्कार करना योग्य है, किन्तु आचार्यादिक तीन परमेष्ठियोंने आत्म स्वरूपको प्राप्त नहीं किया है, इसलिए उनमें देवपना नहीं आ सकता है, अतएव उन्हें नमस्कार करना योग्य नहीं है? उत्तर—ऐसा नहीं है, १. क्योंकि अपने-अपने भेदोंसे अनन्त भेदरूप रत्नत्रय ही देव है, अतएव रत्नत्रयसे युक्त जीव भी देव है, अन्यथा सम्पूर्ण जीवोंको देवपना प्राप्त होनेकी आपत्ति आ जायेगी, इसलिए यह सिद्ध हुआ कि आचार्यादिक भी रत्नत्रयके यथायोग्य धारक होनेसे देव हैं, क्योंकि अरहन्तादिकसे आचार्यादिकमें रत्नत्रयके सद्भावकी अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है, इसलिए आंशिक रत्नत्रयकी अपेक्षा इनमें भी देवपना बन जाता है। २. आचार्यादिकमें स्थित तीन रत्नोंका सिद्धपरमेष्ठीमें स्थित रत्नोंसे भेद भी नहीं है, यदि दोनोंके रत्नत्रयमें सर्वथा भेद मान लिया जावे, तो आचार्यादिकमें स्थित रत्नोंके अभावका प्रसंग आ जावेगा। ३ आचार्यादिक और सिद्धपरमेष्ठीके सम्यग्दर्शनादिक रत्नोंमें कारण कार्यके भेदसे भी भेद नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, आचार्यादिकमें स्थित रत्नोंके अवयवोंके रहनेपर ही तिरोहित, दूसरे रत्नावयवोंका अपने आवरण कर्मके अभाव हो जानेके कारण आविर्भाव पाया जाता है। इसलिए उनमें कार्य-कारणपना भी नहीं बन सकता है। ४. इसी प्रकार आचार्यादिक और सिद्धोंके रत्नोंमें परोक्ष और प्रत्यक्ष जन्य भेद भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि वस्तुके ज्ञान सामान्यकी अपेक्षा दोनों एक है। ५ केवल एक ज्ञानके अवस्था भेदसे भेद नहीं माना जा सकता। यदि ज्ञानमें उपाधिकृत अवस्था भेदसे भेद माना जावे तो निर्मल और मलिन दशाको प्राप्त दर्पणमें भी भेद मानना पड़ेगा। ६. इसी प्रकार आचार्यादिक और सिद्धोंके रत्नोंमें अवयव और अवयवीजन्य भेद भी नहीं है, क्योंकि अवयव अवयवीसे सर्वथा अलग नहीं रहते हैं। प्रश्न—पूर्णताको प्राप्त रत्नोंको ही देव माना जा सकता है, रत्नोंके एक देशको देव नहीं माना जा सकता? उत्तर—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, रत्नोंके एक देशमें देवपनाका अभाव मान लेनेपर रत्नोंको समग्रता (पूर्णता) में भी देवपना नहीं बन सकता है। प्रश्न - आचार्यादिकमें स्थित रत्नत्रय समस्त कर्मोंके क्षय करनेमें समर्थ नहीं हो सकते हैं, क्योंकि उनके रत्न एकदेश हैं? उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार पलाल राशिका अग्नि-समूहका कार्य एक कणसे भी देखा जाता है, उसी प्रकार यहाँ पर भी समझना चाहिए। इसलिए आचार्यादिक भी देव हैं, यह बात निश्चित हो जाती है। (ध. ६/४,१,१/११/१)।

II. देव (गति)

१. भेद व लक्षण

१. देवका लक्षण

स.सि./४/१/२३६/५ देवगतिनामकर्मोदये सत्यभ्यन्तरे हेतौ बाह्यविभूतिविशेषैः द्वीपसमुद्रादिप्रदेशेषु यथेष्टं दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः। —अभ्यन्तर कारण देवगति नामकर्मके उदय होनेपर नाना प्रकारकी बाह्य विभूतिसे द्वीप समुद्रादि अनेक स्थानोंमें इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं वे देव कहलाते हैं। (रा.वा.४/१/१/२०१/६)।

पं.सं./प्रा./१/६३ कीडंति जदो णिच्चं गुणेहिं अट्ठेहिं दिव्वभावेहिं। भासंतदिव्वकाया तम्हा ते वण्णिया देवा।६३। —जो दिव्यभाव-युक्त अणिमादि आठ गुणोंसे नित्य क्रीड़ा करते रहते हैं, और जिनका प्रकाशमान दिव्य शरीर है, वे देव कहे गये हैं।६३। (ध. १/१,१,२४/१३१/२०३); (गो.जी./मू./१५१); (पं.सं./सं./१/१४०); (ध. १३/५,५,१४१/३९२/१)।

२. देवोंके भवनवासी आदि ४ भेद

त.सू.४/१ देवाश्चतुर्णिकायाः।१। के पुनस्ते। भवनवासिनो व्यन्तरा ज्योतिष्का वैमानिकाश्चेति। (स.सि./४/१/२३७/१)। —देव चार निकायवाले हैं।१। प्रश्न—इन चार निकायोंके क्या नाम हैं? उत्तर—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। (पं.का./मू./११८); (रा.वा./४/१/३/२११/१५); (नि.सा./ता.वृ./१६-१७)।

रा.वा./४/२३/४/२४२/१३ षण्णिकायाः (अपि) संभवन्ति भवनपातालव्यन्तरज्योतिष्ककल्पोपपन्नविमानाधिष्ठानात्। ···अथवा सप्त देवनिकायाः। त एवाकाशोपपन्नैः सह। —देवोंके भवनवासी, पातालवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, कल्पवासी और विमानवासीके भेदसे छह प्रकार हैं। इन छहमें ही आकाशोपपन्न देवोंको और मिला देनेसे सात प्रकारके देव बन जाते हैं।

३. आकाशोपपन्न देवोंके भेद

रा.वा./४/२३/४/२४२/१७ आकाशोपपन्नाश्च द्वादशविधाः। पांशुतापि-लक्षणतापि-तपनतापि - भवनतापि-सोमकायिक-यमकायिक-वरुण - कायिक - वैश्रवणकायिक-पितृकायिक-अनलकायिक - रिष्ट-अरिष्ट - संभवा इति। —आकाशोपपन्न देव बारह प्रकारके हैं—पांशुतापि, लक्षणतापि, तपनतापि, भवनतापी, सोमकायिक, यमकायिक, वरुणकायिक, वैश्रवणकायिक, पितृकायिक, अनलकायिक, रिष्टक, अरिष्टक और सम्भव।

४. पर्याप्तापर्याप्तकी अपेक्षा भेद

का.अ.मू./१३३···देवा वि ते दुविहा।१३३। पर्याप्ता निर्वृत्त्यपर्याप्ताश्चेति।टी०। —देव और नारकी निर्वृत्त्यपर्याप्तक और पर्याप्तकके भेदसे दो प्रकारके होते हैं।

२. देव निर्देश

१. देवोंमें इन्द्र सामानिकादि दश विभाग

त.सू./४/४ इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः।४। —(चारों निकायके देव क्रमसे १०,८,५,१२ भेदवाले हैं—दे० वह वह नाम) इन उक्त दश आदि भेदोंमें प्रत्येकके इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिकरूप हैं।४। (ति.प./३/६२-६३)।

त्रि.सा./२२३ इंदपडिंददिगिंदा तेत्तीससुरा समाणतणुरक्खा। परिसत्तय-आणीया पइण्णगभियोगकिब्भिसिया।२२३। —इन्द्र, प्रतीन्द्र, दिगीन्द्र कहिये लोकपाल, त्रायस्त्रिंशद्देव, सामानिक, तनुरक्षक, तीन प्रकार पारिषद, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य, किल्विषिक ऐसैं भेद जाननें।२२३।

२. कन्दर्प आदि देव नीच देव हैं

मू.आ./६३ कंदप्पमाभिजोग्गं किब्भिस संमोहमासुरत्तं च। ता देवदुग्गईओ मरणम्मि विराहिए होंति।६३। —मृत्युके समय सम्यक्त्वका विनाश होनेसे कंदर्प, आभियोग्य, कैल्बिष, संमोह और आसुर—ये पाँच देव दुर्गतियाँ होती हैं।६३।

३. सर्व देव नियमसे जिनेन्द्र पूजन करते हैं

ति.प./३/२२८-२२९ णिस्सेसकम्मक्खवणेक्कहेदुं मण्णंतया तत्थ जिणिंदपूजं। सम्मत्तविरया कुव्वंति णिच्चं देवा महाणंतविसोहिपुव्वं।२२८। कुलाहिदेवा इव मण्णमाणा पुराणदेवाण पबोधणेण। मिच्छाजुदा ते य जिणिंदपूजं भत्तीए णिच्चं णियमा कुणंति।२२९। —वहाँ पर अविरत सम्यग्दृष्टि देव जिनपूजाको समस्त कर्मोंके क्षय करनेमें अद्वितीय

कारण समझकर नित्य ही महान् अनन्तगुणी विशुद्धि पूर्वक उसे करते हैं।२२८। पुराने देवोंके उपदेशसे मिथ्यादृष्टि देव भी जिन प्रतिमाओंको कुलाधिदेवता मानकर नित्य ही नियमसे भक्ति पूर्वक जिनेन्द्रार्चन करते हैं।२२९। (ति.प./८/५८८-५८९); (त्रि.सा./५५२-५५३)।

४. देवोंके शरीरकी दिव्यता

ति.प./३/२०८ अट्ठिसिरारुहिरवसामुत्तपुरीसाणि केसलोमाइं। चम्मडमंसप्पहुडी ण होइ देवाण संघडणे।२०८। देवोंके शरीरमें हड्डी, नस, रुधिर, चर्बी, मूत्र, मल, केश, रोम, चमड़ा और मांसादिक नहीं होता। (ति.प./८/५६८)।

ध. १४/५,६,९१/८१/८ देव...पत्तेयसरीरा बुच्चंति एदेसिं णिगोदजीवेहिं सह संबंधाभावादो। = देव...प्रत्येक शरीरवाले होते हैं, क्योंकि इनका निगोद जीवोंके साथ सम्बन्ध नहीं होता।

ज.प./११/२५४ अट्ठगुणमहिड्ढीओसुहविउव्वणविसेससंजुत्तो। समचउरंससुसंठिय संघदणेसु य असंघदणो।२५४। = अणिमा, महिमादि आठ गुणों व महा-ऋद्धिसे सहित, शुभ विक्रिया विशेषसे संयुक्त, समचतुरस्र शरीर संस्थानसे युक्त, छह संहननोंमें संहननसे रहित, (सौधर्मेन्द्रका शरीर) होता है।

मो.मा./टी./३०/६०/१५ पर उद्धृत—देवा...आहारो अत्थि णत्थि नीहारो।१। निक्कुंचिया हौंति।१। = देवोंके आहार होता है, परन्तु निहार नहीं होता, तथा देव मूंछ-दाढ़ीसे रहित होते हैं। इनके शरीर निगोद से रहित होते हैं।

५. देवोंका दिव्य आहार

ति.प./८/५५१ उवहिउवमाणजीवीवरिससहस्सेण दिव्वअमयमयं। भुंजदि मणसाहारं निरूवमयं तुट्ठिपुट्ठिकरं।५५१। (तेसु कवलासणं णत्थि॥ ति.प./६/८७) = देवोंके दिव्य, अमृतमय, अनुपम और तुष्टि एवं पुष्टिकारक मानसिक आहार होता है।५५१। उनके कवलाहार नहीं होता। (ति.प./६/८७)।

६. देवोंके रोग नहीं होता

ति.प./३/२०९ वण्णरसगंधफासे अइसयवेकुव्वदिव्वखंदा हि। णेदेसु रोयवादिउवठिदी कम्माणुभावेण।२०९। = चूँकि वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्शके विषयमें अतिशयको प्राप्त वैक्रियक दिव्य स्कन्ध होते हैं, इसलिए इन देवोंके कर्मके प्रभावसे रोग आदिकी उपस्थिति नहीं होती।२०९। (ति.प./८/५६९)।

७. देवगतिमें सुख व दुःख निर्देश

ति.प./३/१४१-२३८ चमरिंदो सोहम्मे ईसदि वइरोयणो य ईसाणे। भूदाणंदे वेणू धरणाणंदम्मि वेणुधारि त्ति।१४१। एवं अट्ठ सुरिंदा अण्णोण्णं बहुविहाओ भूदीओ। दट्ठूण मच्छरेणं ईसंति सहावदो केई।१४२। विविहरतिकरणभाविदविसुद्धबुद्धीहि दिव्वरूवेहिं। णाणाविकुव्वणं बहुविलाससंपत्तिजुत्ताहिं।२३१। मायाचारविवज्जिदपकिदिपसण्णाहिं अच्छाराहिं समं। णियणियविभूदिजोग्गं संकप्पवसंगदं सोक्खं।२३२। पडुपडहप्पहुदीहिं सत्तसराभरणमहुरगीदेहिं। वरललितणच्चणेहिं देवा भुंजंति उवभोग्गं।२३३। ओहिं पि विजाणंतो अण्णोण्णुप्पण्णपेम्ममूलमणा। कामंधा ते सव्वे गदं पि कालं ण याणंति।२३४। वररयणकंचणाए विचित्तसयलुज्जलम्मि पासादे। कालागुरुगंधड्ढे रागणिधाणे रमंति सुरा।२३५। सयणाणि आसणाणि मउवाणि विचित्तरूवरइदाणि। तणुमणवयणाणंदणजणणाणि होंति देवाणं।२३६। फासरसरूवसद्दधुणिगंधेहिं बड्ढियाणि सोक्खाणि। उवभुंजंता देवा तित्तिं ण लहंति णिमिसं पि।२३। दीवेसु णदिदेसुं भोगखिदीए वि णंदणवणेसुं। वरपोक्खरिणीपुलिणत्थलेसु कीडंति राएण।२३८। = चमरेन्द्र सौधर्मसे ईर्षा करता है, वैरोचन ईशानसे, वेणु भूतानन्दसे और वेणुधारी धरणानन्दसे। इस प्रकार ये आठ सुरेन्द्र परस्पर नाना प्रकारकी विभूतियोंको देखकर मात्सर्यसे, व कितने ही स्वभावसे ईर्षा करते हैं।१४१-१४२।

(त्रि.सा./२१२); (भ.आ./मू./१५९८-१६०१) वे देव विविध रतिके प्रकटीकरणमें चतुर, दिव्यरूपोंसे युक्त, नाना प्रकारकी विक्रिया व बहुत बिलास सम्पत्तिसे सहित... स्वभावसे प्रसन्न रहनेवाली ऐसी अप्सराओंके साथ अपनी-अपनी विभूतिके योग्य एवं संकल्पमात्रसे प्राप्त होनेवाले उत्तम पटह आदि वादित्र... एवं उत्कृष्ट सुन्दर नृत्यका उपभोग करते हैं।२३१-२३३। ...कामांध होकर बीते हुए समयको भी नहीं जानते हैं।... सुगन्धसे व्याप्त रागके स्थान भूत प्रासादमें रमण करते हैं।२३४-२३५। देवोंके शयन और आसन मृदुल, विचित्र रूपसे रचित, शरीर एवं मनको आनन्दोत्पादक होते हैं।२३६। ये देव स्पर्श, रस, रूप, सुन्दर शब्द और गंधसे वृद्धिको प्राप्त हुए सुखोंको अनुभव करते हुए क्षणमात्र भी तृप्तिको प्राप्त नहीं होते हैं।२३७। ये कुमारदेव रागसे द्वीप, कुलाचल, भोगभूमि, नन्दनवन और उत्तम बावड़ी अथवा नदियोंके तटस्थानोंमें भी क्रीडा करते हैं।२३८।

त्रि.सा./२१९ अट्ठगुणिड्ढिविसिट्ठ णाणामणि भूसणेहीं दित्तंगा। भुंजंति भोगमिट्ठं सगपुव्वतवेण तत्थ सुरा।२१९।' (ति.प./८/५९०-५९४)। = तहाँ जे देव हैं ते अणिमा, महिमादि आठ गुण ऋद्धि करि विशिष्ट हैं, अर नाना प्रकार मणिका आभूषणनि करि प्रकाशमान हैं अंग जिनका ऐसे हैं। ते अपना पूर्व कीया तपका फल करि इष्ट भोगकौं भोगवैं हैं।२१९।

८. देवोंके गमनागमनमें उनके शरीर सम्बन्धी नियम

ति.प./८/५९५-५९६ गब्भावयारपहुदिसु उत्तरदेहासुराणगच्छंति। जम्मण ठाणेसु सुहं मूलसरीराणि चेट्ठंति।५९५। णवरि विसेसो एसो सोहम्मीसाणजाददेवीणं। वच्चंति मूलदेहा णियणियकप्पामराण पासम्मि।५९६। = गर्भ और जन्मादि कल्याणकोंमें देवोंके उत्तर शरीर जाते हैं, उनके मूल शरीर सुख पूर्वक जन्म स्थानमें रहते हैं।५९५। विशेष यह है कि सौधर्म और ईशान कल्पमें हुई देवियोंके मूलशरीर अपने अपने कल्पके देवोंके पासमें जाते हैं।५९६।

ध. ४/१,३,१५/७९/६ अप्पणो ओहिखेत्तमेत्तं देवा विउव्वंति त्ति जं आइरियवयणं तण्ण घडदे। = देव अपने अपने अवधिज्ञानके क्षेत्र प्रमाण विक्रिया करते हैं, इस प्रकार जो अन्य आचार्योंका वचन है, वह घटित नहीं होता।

९. ऊपर-ऊपरके स्वर्गोंमें सुख अधिक और विषय सामग्री हीन होती जाती है

त.सू./४/२०–२१ स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः।२०। गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः।२१। = स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रिय विषय और अवधिविषयकी अपेक्षा ऊपर-ऊपरके देव अधिक हैं।२०। गति, शरीर, परिग्रह और अभिमानकी अपेक्षा ऊपर-ऊपरके देव हीन हैं।२१।

१०. ऊपर-ऊपरके स्वर्गोंमें प्रविचार भी हीन-हीन होता है और उसमें उनका वीर्यक्षरण नहीं होता

त.सू./४/७-९ कायप्रविचारा आ ऐशानात्।७। शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः।८। परेऽप्रवीचाराः।९। = (भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष और) ऐशान तकके देव काय प्रवीचार अर्थात् शरीरसे विषयसुख भोगने वाले होते हैं।७। शेष देव, स्पर्श, रूप, शब्द और मनसे विषय सुख भोगने वाले होते हैं।८। बाकीके सब देव विषय सुखसे रहित होते हैं।९। (मू.आ./११३६–११४४); (ध.१/१,१,९८/३३८/५), (ति.प./-३३६–३३७)

ति.प./३/१३०-१३१ असुरादिभवणसुरा सव्वे ते होंति कायपविचारा। वेदस्सुदीरणाए अनुभवणं माणुससमाणं।१३०। धाउविहीणत्तादो रेदविणिग्गमणमत्थि ण हु ताणं। संकप्प सुहं जायदि वेदस्स उदीरणाविगमे।१३१। —वे सब असुरादि भवनवासी देव (अर्थात् काय प्रविचार वाले समस्त देव) कायप्रविचारसे युक्त होते हैं तथा वेद नोकषायकी उदीरणा होनेपर वे मनुष्योंके समान कामसुखका अनुभव करते हैं। परन्तु सप्त धातुओंसे रहित होनेके कारण निश्चय से उन देवोंके वीर्यका क्षरण नहीं होता। केवल वेद नोकषायकी उदीरणा शान्त होनेपर उन्हें संकल्प सुख होता है।

३. सम्यक्त्वादि सम्बन्धी निर्देश व शंका-समाधान

१. देवगतिमें सम्यक्त्वका स्वामित्व

ष खं १/१,१/सू.१६६-१७१/४०५ देवा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति।१६६। एवं जाव उवरिम-गेवेज्ज-विमाण-वासिय-देवा त्ति।१६७। देवा असंजदसम्माइट्ठिठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदयसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठि त्ति।१६८। भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसिय-देवा देवीओ च सोधम्मीसाण-कप्पवासीय-देवीओ च असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि अवसेसा अत्थि अवसेसियाओ अत्थि।१६९। सोधम्मीसाण-प्पहुडि जाव उवरिम-उवरिम गेवज्ज-विमाण-वासिय-देवा असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी।१७०। अणुदिस-अणुत्तर-विजय-वइजयंत-जयंतावराजिदसवट्ठसिद्धि-विमाण-वासिय-देवा असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी।१७१। — देव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि होते हैं।१६६। इस प्रकार उपरिम ग्रैवेयकके उपरिम पटल तक जानना चाहिए।१६७। देव असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें, क्षायिक सम्यग्दृष्टि, वेदगसम्यग्दृष्टि और उपशम सम्यग्दृष्टि होते हैं।१६८। भवनवासी, वाणव्यन्तर और ज्योतिषी देव तथा उनकी देवियाँ और सौधर्म तथा ईशान कल्पवासी देवियाँ असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं होते है या नहीं होती हैं। शेष दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं या होती हैं।१६९। सौधर्म और ऐशान कल्पसे लेकर उपरिम ग्रैवेयकके उपरिम भाग तक रहने वाले देव असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि, वेदग सम्यग्दृष्टि और उपशम सम्यग्दृष्टि होते हैं।१७०। नव अनुदिशोंमें और विजय, वैजयन्त, और जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तरोंमें रहने वाले देव असंयत सम्यग्दृष्टिगुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदगसम्यग्दृष्टि और उपशम सम्यग्दृष्टि होते हैं।१७१।

२. देवगतिमें गुणस्थानोंका स्वामित्व

ष. खं./१/१,१/सू./पृष्ठ देवा चदुसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति। (२८।२६५) देवा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।९४। सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता।९५। भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसिय-देवा देवीओ सोधम्मीसाण-कप्पवासिय-देवीओ च मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता, सिया अप्पज्जत्ता, सिया पज्जत्तिओ सिया अपज्जत्तिओ।९६। सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता णियमा पज्जत्तियाओ।९७। सोधम्मीसाण-प्पहुडि जाव उवरिम-उवरिम गेवज्जं ति विमाणवासिय-देवेसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।९८। सम्माइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता।९९। अणुदिस-अणुत्तर-विजय-वइजयंत-जयंतावराजितसव्वट्ठसिद्धि-विमाण-वासिय-देवा असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।१००। (९४-१००/३३५) —मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानोंमें देव पाये जाते हैं।२८। देव मिथ्यादृष्टि सासादन सम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं।९४। देव सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं।९५। भवनवासी वाणव्यन्तर और ज्योतिषी देव और उनकी देवियाँ तथा सौधर्म और ईशान कल्पवासिनी देवियाँ ये सब मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं, और अपर्याप्त भी।९६। सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पूर्वोक्त देव नियमसे पर्याप्तक होते हैं (गो जी./जी.प्र./७०३/-११३७/६) और पूर्वोक्त देवियाँ नियमसे पर्याप्त होती हैं।९७। सौधर्म और ईशान स्वर्गसे लेकर उपरिम ग्रैवेयकके उपरिम भाग तक विमानवासी देवों सम्बन्धी मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें जीव पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं।९८। सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें देव नियमसे पर्याप्त होते हैं।९९। नव अनुदिशमें और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तर विमानोंमें रहनेवाले देव असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं।१००। [इन विमानोंमें केवल असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान ही होता है, शेष नहीं। ध.३/१,२,७२/२८२/१], (गा.जी./जी.प्र./७०३/११३७/८)।

ध.४/१,५,२९३/४६३/६ अंतोमुहुत्तूणड्ढाइज्जसागरोवमेसु उप्पण्णसम्मादिट्ठिस्स सोहम्मणिवासिस्स मिच्छत्तगमणे संभवाभावादो। —अन्तर्मुहूर्त कम अढाई सागरोपमकी स्थिति वाले देवोंमें उत्पन्न हुए सौधर्म निवासी सम्यग्दृष्टिदेवके मिथ्यात्वमें जानेकी सम्भावनाका अभाव है।

गो.क./जी.प्र./५५१/७५३/१ का भावार्थ —सासादन गुणस्थानमें भवनत्रिकादि सहस्रार स्वर्ग पर्यन्तके देव पर्याप्त भी होते हैं, और अपर्याप्त भी होते हैं।

३. अपर्याप्त देवोंमें उपशम सम्यक्त्व कैसे सम्भव है

ध.२/१,१/५५६/४ देवासंजदसम्माइट्ठीणं कधमपज्जत्तकाले उवसमसम्मत्तं लब्भदि। वुच्चदे —वेदगसम्मत्तमुवसामिय उवसमसेढिमारुहिय पुणो ओदरियपमत्तापमत्तसंजद-असंजद-संजदासंजद-उवसमसम्माइट्ठि-ट्ठाणेहिं मज्झिमतेउलेस्सं परिणमिय कालं काऊण सोधम्मीसाण-देवेसुप्पण्णाणं अपज्जत्तकाले उवसमसम्मत्तं लब्भदि। अध ते चेव ... सणक्कुमारमाहिंदे...बम्ह-बम्होत्तर-लांतव-काविट्ठ-सुक्क महासुक्क- सदारसहस्सारदेवेसु उप्पज्जति। अध उवसमसेढिं चढिय पुणो दिण्णा चेव मज्झिम-सुक्कलेस्साए परिणदा संता जदि कालं करेंति तो उवसमसम्मत्तेण सह आणद-पाणद आरणच्चुद-णवगेवज्जविमाणवासिय देवेसुप्पज्जति। पुणो ते चेव उक्कस्स-सुक्कलेस्सं परिणमिय जदि कालं करेंति तो उवसमसम्मत्तेण सह णवाणुदिस-पंचाणुत्तर विमाणदेवेसुप्पज्जंति। तेण सोधम्मादि-उवरिमसव्वदेवासंजदसम्माइट्ठीणमपज्जत्तकाले उवसमसम्मत्तं लब्भदि त्ति। —प्रश्न—असंयत सम्यग्दृष्टि देवोंके अपर्याप्त कालमें औपशमिक सम्यक्त्व कैसे पाया जाता है? उत्तर—वेदक सम्यक्त्वको उपशमा करके और उपशम श्रेणीपर चढ़कर फिर वहाँसे उतरकर प्रमत्त संयत, अप्रमत्त संयत, असंयत, संयतासंयत, उपशम सम्यग्दृष्टि गुणस्थानोंसे मध्यम तेजोलेश्याको परिणत होकर और मरण करके सौधर्म ऐशान कल्पवासी देवोंमें उत्पन्न होने वाले जीवोंके अपर्याप्त कालमें औपशमिकसम्यक्त्व पाया जाता है। तथा उपर्युक्त गुणस्थानवर्ती ही जीव (यथायोग्य उत्तरोत्तर विशुद्ध लेश्यासे मरण करें तो)

सनत्कुमार और माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पवासी देवोंमें उत्पन्न होते हैं। तथा उपशम श्रेणीपर चढ़ करके और पुनः उतर करके मध्य शुक्ल लेश्यासे परिणत होते हुए यदि मरण करते हैं तो उपशम सम्यक्त्वके साथ आनत, प्राणत, आरण, अच्युत और नौ ग्रैवेयक विमानवासी देवोंमें उत्पन्न होते हैं। तथा पूर्वोक्त उपशम सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्कृष्ट शुक्ल लेश्याको परिणत होकर यदि मरण करते हैं, तो उपशम सम्यक्त्वके साथ नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानवासी देवोंमें उत्पन्न होते हैं। इस कारण सौधर्म स्वर्गसे लेकर ऊपरके सभी असंयतसम्यग्दृष्टि देवोंके अपर्याप्त कालमें औपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है (स.सि./१/७/२३/७)।

४. अनुदिशादि विमानोंमें पर्याप्तावस्थामें भी उपशम सम्यक्त्व क्यों नहीं

ध.२/१,१/५६६/१ केण कारणेण (अनुदिशादिसु) उवसमसम्मत्तं णत्थि। वुच्चदे—तत्थ ट्ठिदा देवा ण ताव उवसमसम्मत्तं पडिवज्जंति तत्थ मिच्छाइट्ठीणमभावादो। भवदु णाम मिच्छाइट्ठीणमभावो उवसमसम्मत्तं पि तत्थ ट्ठिदा देवा पडिवज्जंति को तत्थ विरोधो। इदि ण 'अणंतरं पच्छदो य मिच्छत्तं' इदि अणेण पाहुडसुत्तेण सह विरोहादो। ण तत्थ ट्ठिद-वेदगसम्माइट्ठिणो उवसमसम्मत्तं पडिवज्जंति मणुसगदि-वदिरित्तण्णगदीसु वेदगसम्माइट्ठिजीवाणं दंसणमोहुवसमणहेदु परिणामाभावादो। ण य वेदगसम्माइट्ठित्तं पडि मणुस्सेहिंतो विसेसाभावादो मणुस्साणं व दंसणमोहुवसमणजोगपरिणामेहिं तत्थ णियमेण होदव्वं मणुस्स-संजम-उवसमसेढिसमारूहणजोगत्तणेहि भेददंसणादो। उवसम-सेढिम्हि कालं काऊणुवसमसम्मत्तेण सह देवेसुप्पण्णजीवा ण उवसमसम्मत्तेण सह छ पज्जत्तीओ समाणेंति तत्थ तणुवसमसम्मत्तकालादो छ-पज्जत्तीणं समाणकालस्स बहुत्तुवलंभादो। तम्हा पज्जत्तकाले ण एदेसु देवेसु उवसमसम्मत्तमत्थि त्ति सिद्धं। =प्रश्न—नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानोंके पर्याप्त कालमें औपशमिक सम्यक्त्व किस कारणसे नहीं होता? उत्तर—वहाँपर विद्यमान देव तो उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होते नहीं हैं, क्योंकि वहाँपर मिथ्यादृष्टि जीवोंका अभाव है। प्रश्न—भले ही वहाँ मिथ्यादृष्टि जीवोंका अभाव रहा आवे, किन्तु यदि वहाँ रहनेवाले देव औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करें तो, इसमें क्या विरोध है? उत्तर—१. 'अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके प्रथमोपशम सम्यक्त्वके पश्चात् मिथ्यात्वका उदय नियमसे होता है परन्तु सादि मिथ्यादृष्टिके भाज्य है' इस कषायप्राभृतके गाथासूत्रके साथ पूर्वोक्त कथनका विरोध आता है। २. यदि कहा जाये कि वहाँ रहनेवाले वेदक सम्यग्दृष्टि देव औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त होते हैं, सो भी बात नहीं है, क्योंकि मनुष्यगतिके सिवाय अन्य तीन गतियोंमें रहनेवाले वेदक सम्यग्दृष्टि जीवोंके दर्शनमोहनीयके उपशमन करनेके कारणभूत परिणामोंका अभाव है। ३. यदि कहा जाये कि वेदक सम्यग्दृष्टिके प्रति मनुष्योंसे अनुदिशादि विमानवासी देवोंके कोई विशेषता नहीं है, अतएव जो दर्शनमोहनीयके उपशमन योग्य परिणाम मनुष्योंके पाये जाते हैं वे अनुदिशादि विमानवासी देवोंके नियमसे होना चाहिए, सो भी कहना युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि संयमको धारण करनेकी तथा उपशमश्रेणीके समारोहण आदिकी योग्यता मनुष्योंमें होनेके कारण दोनोंमें भेद देखा जाता है। ४. तथा उपशमश्रेणीमें मरण करके औपशमिक सम्यक्त्वके साथ देवोंमें उत्पन्न होनेवाले जीव औपशमिक सम्यक्त्वके साथ छह पर्याप्तियोंको समाप्त नहीं कर पाते हैं, क्योंकि, अपर्याप्त अवस्थामें होनेवाले औपशमिक सम्यक्त्वके कालसे छहों पर्याप्तियोंके समाप्त होनेका काल अधिक पाया जाता है, इसलिए यह बात सिद्ध हुई कि अनुदिश और अनुत्तर विमानवासी देवोंके पर्याप्त कालमें औपशमिक सम्यक्त्व नहीं होता है।

५. फिर इन अनुदिशादि विमानोंमें उपशम सम्यक्त्वका निर्देश क्यों

ध.१/१,१,१७१/४०७/७ कथं तत्रोपशमसम्यक्त्वस्य सत्त्वमिति चेत्कथं च तत्र तस्यासत्त्वं। तत्रोत्पन्नेभ्यः क्षायिकक्षायोपशमिकसम्यग्दर्शनेभ्यस्तदनुत्पत्तेः। नापि मिथ्यादृष्टय उपात्तौपशमिकसम्यग्दर्शनाः सन्तस्तत्रोत्पद्यन्ते तेषां तेन सह मरणाभावात्। न, उपशमश्रेण्यारूढानामारुह्योत्तीर्णानां च तत्रोत्पत्तितस्तत्र तत्सत्त्वाविरोधात्। =प्रश्न—अनुदिश और अनुत्तर विमानोंमें उपशम सम्यग्दर्शन सद्भाव कैसे पाया जाता है? प्रतिशंका—वहाँपर उसका सद्भाव कैसे नहीं पाया जा सकता है? उत्तर—वहाँपर जो उत्पन्न होते हैं उनके क्षायिक, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पाया जाता है, इसलिए उनके उपशम सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। और मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यग्दर्शनको ग्रहण करके वहाँपर उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि उपशम सम्यग्दृष्टियोंका उपशम सम्यक्त्वके साथ मरण नहीं होता। उत्तर—नहीं, क्योंकि उपशम श्रेणी चढ़नेवाले और चढ़कर उतरनेवाले जीवोंकी अनुदिश और अनुत्तरोंमें उत्पत्ति होती है, इसलिए वहाँपर उपशम सम्यक्त्वके सद्भाव रहनेमें कोई विरोध नहीं आता है। दे०-मरण/३ द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें मरण सम्भव है परन्तु प्रथमोपशम सम्यक्त्वमें मरण नहीं होता है।

६. भवनवासी देव देवियों व कल्पवासी देवियोंमें सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं उत्पन्न होते

ध.१/१,१,९७/३३६/५ भवतु सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्तत्रानुत्पत्तिस्तस्य तद्गुणेन मरणाभावात्। किन्त्वेतन्न घटते यदसंयतसम्यग्दृष्टिर्मरणवान्सन्नत्र नोत्पद्यत इति न, जघन्येषु तस्योत्पत्तेरभावात्। नारकेषु तिर्यक्षु च कनिष्ठेषूत्पद्यमानास्तत्र तेभ्योऽधिकेषु किमिति नोत्पद्यन्त इति चेन्न, मिथ्यादृष्टीनां प्राग्बद्धायुष्काणां पश्चादात्तसम्यग्दर्शनानां नारकाद्युत्पत्तिप्रतिबन्धनं प्रति सम्यग्दर्शनस्यासामर्थ्यात्। तद्वद्देवेष्वपि किन्न स्यादिति चेत्सत्यमिष्टत्वात्। तथा च भवनवास्यादिष्वप्यसंयतसम्यग्दृष्टेरुत्पत्तिरास्कन्देदिति चेन्न, सम्यग्दर्शनस्य बद्धायुषां प्राणिनां तत्तद्गत्यायुःसामान्येनाविरोधिनस्तत्तद्गतिविशेषोत्पत्तिविरोधित्वोपलम्भात्। तथा च भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिक...उत्पत्त्या विरोधो असंयतसम्यग्दृष्टेः सिद्धयेदिति तत्र ते नोत्पद्यन्ते। =प्रश्न—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवकी उक्त देव देवियोंमें उत्पत्ति मत होओ, क्योंकि इस गुणस्थानमें मरण नहीं होता है। परन्तु यह बात नहीं घटती कि मरनेवाला असंयत सम्यग्दृष्टि जीव उक्त देव-देवियोंमें उत्पन्न नहीं होता है? उत्तर—नहीं क्योंकि सम्यग्दृष्टिकी जघन्य देवोंमें उत्पत्ति नहीं होती। प्रश्न—जघन्य अवस्थाको प्राप्त नारकियोंमें और तिर्यंचोंमें उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव उनसे उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त भवनवासी देव और देवियोंमें तथा कल्पवासिनी देवियोंमें क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जो आयुकर्मका बन्ध करते समय मिथ्यादृष्टि थे और जिन्होंने अनन्तर सम्यग्दर्शनको ग्रहण किया है, ऐसे जीवोंकी नरकादि गतिमें उत्पत्तिके रोकनेका सामर्थ्य सम्यग्दर्शनमें नहीं है। प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीवोंकी जिस प्रकार नरकगति आदिमें उत्पत्ति होती है उसी प्रकार देवोंमें क्यों नहीं होती है। उत्तर—यह कहना ठीक है, क्योंकि यह बात इष्ट ही है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो भवनवासी आदिमें भी असंयत सम्यग्दृष्टि जीवोंकी उत्पत्ति प्राप्त हो जायेगी? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जिन्होंने पहले आयु कर्मका बन्ध

कर लिया है ऐसे जीवोंके सम्यग्दर्शनका उस गति सम्बन्धी आयु सामान्यके साथ विरोध न होते हुए भी उस-उस गति सम्बन्धी विशेषमें उत्पत्तिके साथ विरोध पाया है। ऐसी अवस्थामें भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्बिषिक देवोंमें ...असंयतसम्यग्दृष्टिका उत्पत्तिके साथ विरोध सिद्ध हो जाता है।

७. भवनत्रिक देव-देवी व कल्पवासी देवीमें क्षायिक सम्यक्त्व क्यों नहीं होता

ध. १/१.१.१६१/४०६/५ किमिति क्षायिकसम्यग्दृष्टयस्तत्र न सन्तीति चेन्न, देवेषु दर्शनमोहक्षपणाभावात्क्षपितदर्शनमोहकर्मणामपि प्राणिनां भवनवास्यादिष्वधमदेवेषु सर्वदेवीषु चोत्पत्तेरभावाच्च। = **प्रश्न**—क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उक्त स्थानोंमें (भवनत्रिक देव तथा सर्व देवियोंमें) क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं? **उत्तर**—नहीं, क्योंकि, एक तो वहाँपर दर्शनमोहनीयका क्षपण नहीं होता है। दूसरे जिन जीवोंने पूर्व पर्यायमें दर्शन मोहका क्षय कर दिया है उनकी भवनवासी आदि अधम देवोंमें और सभी देवियोंमें उत्पत्ति नहीं होती है।

८. फिर उपशमादि सम्यक्त्व भवनत्रिक देव व सर्व देवियोंमें कैसे सम्भव है

ध. १/१.१, १६६/४०६/७ शेषसम्यक्त्वद्वयस्य तत्र कथं सम्भव इति चेन्न, तत्रोत्पन्नजीवानां पश्चात्पर्यायपरिणतेः सत्त्वात्। = **प्रश्न**—शेषके दो सम्यग्दर्शनोंका उक्त स्थानोमे (भवनत्रिक देव तथा सर्व देवियोंमें) सद्भाव कैसे सम्भव है? **उत्तर**—नहीं, क्योंकि, वहाँपर उत्पन्न हुए जीवोंके अनन्तर सम्यग्दर्शनरूप पर्याय हो जाती है, इसलिए शेषके दो सम्यग्दर्शनोंका वहाँ सद्भाव पाया जाता है।

देव ऋद्धि—आचारांग आदि आगम के संकलयिता प्रधान श्वेताम्बराचार्य। वलहिपुरम्मिह नयरे देवट्ठिपमुहसयलसंघेहिं। आगमपुत्थे लिहिओ णवसय असीआओ वरिओ। (कल्पसूत्र में उद्धृत) इसके अनुसार आप सकल संघ सहित वल्लभीपुर में वी. नि. ९८० (ई. ४५३) में आये थे। ई. ९९३ के विशेषावश्यक भाष्य में आपका नामोल्लेख है। समय—श्वेताम्बर संघ के संस्थापक जिनचन्द्र (ई. ७९) और वि. आ. भा. (ई. ५९३) के मध्य। (द. सा./प्र. ११/प्रेमी जी)।

देव ऋषि—दे० ऋषि।

देवकीर्ति—१. द्रविड़ संघ की गुर्वावलीके अनुसार आप अनन्तवीर्यके शिष्य व गुणकीर्ति के सहधर्मा थे। समय—ई. ९९०-१०४० (दे. इतिहास/७/८ ख)। २. नन्दिसंघके देशीयगणकी गुर्वावलीकेअनुसारआप माघनन्दि कोल्लापुरीयके शिष्य तथा गण्ड, विमुक्त, वादि, चतुर्मुख आदि अनेक साधुओं व श्रावकोंके गुरु थे। आपने कोल्लापुरकी रूप-नारायण बसदिके आधीन केल्लगेरेय प्रतापपुरका पुनरुद्धार कराया था। तथा जिननाथपुरमें एक दानशाला स्थापित की थी। इनके शिष्य हुल्लराज मन्त्रीने इनके पश्चात् इनकी निषद्या बनवायी थी। समय—वि ११९०-१२२० (ई.११३३-११६३); (ष. खं.२/प्र. ४ H. L. Jain)—दे० इतिहास/७/५। ३. नन्दिसंघके देशीयगणकी गुर्वावली-के अनुसार (दे० इतिहास) आप गण्डविमुक्तदेवके शिष्य थे। समय—शक १०८५में समाधि (ई.११३५-११६३); (ष.खं.२/प्र.४ H L. Jain) —दे० इतिहास/७/५।

देवकुरु— १. विदेह क्षेत्रस्थ एक उत्तम भोगभूमि जिसके दक्षिणमें निषध, उत्तरमें सुमेरु, पूर्वमें सौमनस गजदन्त व पश्चिममें विद्युत्प्रभ गजदन्त है। २. इसका अवस्थान व विस्तार —दे० लोक/३/१२ ३. इसमें काल परिवर्तन आदि विशेषताएँ —दे० काल/४

देवकुरु— १. गन्धमादनके उत्तरकुरु कूटका स्वामी देव —दे० लोक/५/४ २. विद्युत्प्रभ गजदन्तस्थ एक कूट —दे० लोक/५/४ ३. सौमनस गजदन्तस्थ एक कूट—दे० लोक/५/४ ४. सौमनस गजदन्तस्थ देवकुरु कूटका स्वामी देव—दे० लोक/५/४ ५. देवकुरुमें स्थित द्रहका नाम—दे० लोक/५/६

देव कूट—१. अपर विदेहस्थ चन्द्रगिरि वक्षारका एक कूट —दे० लोक/७; २. उपरोक्त कूटका रक्षक एक देव—दे० लोक/७।

देवचंद्र— १. नन्दिसंघ देशीयगण के अनुसार आप माघनन्दि कोल्हापुरीय के शिष्य, एक कुशल तान्त्रिक थे। समय—वि. ११९०-१२२० (ई० ११३३-११६३)। दे०—इतिहास/७/५। २. पासणाह चरित्र के रचयिता एक गृहत्यागी। गुरु परम्परा—श्रुतकीर्ति, देवकीर्ति, मौनीदेव, माधवचन्द्र, अभयनन्दि, वासवचन्द्र। समय—वि.श. १२ का मध्य (ती०/४/१८०)। ३. राजबलि कथे (कन्नड़ ग्रन्थ) के रचयिता। समय—वि० १८९६ (ई० १८३९)। (भ०आ०/प्र० ४/प्रेमी जी)।

देव जी—कृति—सम्मेद शिखर विलास, परमात्म-प्रकाशकी भाषा टीका। समय—वि १७३४। (हि.जै सा.इ./१६५ कामता)।

देवता—१ देवी-देवता —दे० देव/II। २. नव देवता निर्देश। —दे० देव/I।

देवनंदि—१ नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप यशोनन्दिके शिष्य थे और जयनन्दिके गुरु थे। समय—वि. श. २११-२५८ (ई ३३६-३८१)। —दे० इतिहास/७/२। २. आ० पूज्यपाद (ई० श० ५) का अपरनाम। ३. रोहिणीविहाण कहा के रचयिता एक अपभ्रंश कवि। समय—वि.श. १५ (ई.श. १५ पूर्व)। (ती०/४/२४१)।

देवपाल - १. भावि कालीन तेईसवें तीर्थंकर हैं। अपरनाम दिव्य-पाद। —दे० तीर्थंकर/५। २. ह.पु./सर्ग/श्लोक पूर्वके तीसरे भवमें भानुदत्त सेठका पुत्र भानुषेण था (३४/९७)। फिर दूसरे भवमें चित्र-चूल विद्याधरका सेनकान्त नामक पुत्र हुआ (३४/१३२)। फिर गंग-देव राजाका पुत्र गंगदत्त हुआ (३४-१४२)। वर्तमान भवमें वसुदेवका पुत्र था (३४/३)। सुदृष्टि नामक सेठके घर इनका पालन हुआ (३४/-४-५)। नेमिनाथ भगवान्के समवशरणमें धर्म श्रवण कर, दीक्षा ले ली (तथा घोर तप किया); (५९/११५;६०/७), (अन्तमें मोक्ष प्राप्त की (६५/१६)। ३. भोजवंशी राजा था। भोजवंश वंशावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप राजा वर्मके पुत्र और जैतुगिदके पिता थे। मालवा (मागध) देशके राजा थे। धारी व उज्जैनी आपकी राजधानी थी। समय—ई. १२१८-१२२८ (दे०सा./प्र.३६-३७ प्रेमी.जी)—दे० इतिहास/३/१।

देवमाल—अपर विदेहस्थ एक वक्षार। अपरनाम मेघमाल। —दे० लोक/५/३

देवमूढता—दे० मूढता।

देवराय— विजयनगरका राजा था। समय—ई. १४१८-१४४६।

देवलोक—१. देवलोक निर्देश—दे० स्वर्ग/५। २.देवलोकमें पृथिवी कायिकादि जीवोंकी सम्भावना—दे० काय/२/५।

देववर—मध्यलोकके अन्तमें तृतीय सागर व द्वीप—दे० लोक/५/१।

देव विमान—१. देवोंके विमानोंका स्वरूप —दे० विमान। २. देव विमानोंमें चैत्य चैत्यालयका निर्देश—दे० चैत्य/चैत्यालय/२।

देवसुत—भाविकालीन छठें तीर्थंकर हैं। अपरनाम देवपुत्र व जयदेव—दे० तीर्थंकर/५।

देवसेन—१. पंचस्तूप संघकी गुर्वावलीके अनुसार—दे० इतिहास। आप वीरसेन (धवलाकार) के शिष्य थे। समय—ई. ८२०-८७० (म. पु./प्र./३१ पं. पन्नालाल)—दे० इतिहास /७/७। २. माथुर संघी आ० विमल गणी के शिष्य तथा अमितगति प्र० के गुरु। कृतियें—दर्शनसार, भावसंग्रह, आराधनासार, नयचक्र, आलापपद्धति, तत्त्वार्थसार, ज्ञानसार, धर्मसंग्रह, सावय धम्मदोहा। समय—वि. ९९०-१०१२ (ई० ९३३-९५५)। दर्शनसार का रचनाकाल वि० ९९०। (ती०/२/३६९)। (दे० इतिहास/७/११)। (जै०/२/३६६)। ३. पं० परमानन्द जी के अनुसार सुलोचना चरित्र के कर्ता देवसेन ही भावसंग्रह के कर्ता थे, देवसेन द्वि० नहीं। समय—वि. ११३२-११९२ (ई० १०७५-११३५)। (ती./२/३६८, ४/१५१) ४. ह.पु./१८/१६ भोजकवृष्णिका पुत्र उग्रसेनका छोटा भाई था। ५. वरांगचरित /सर्ग/ श्लोक ललितपुरके राजा थे, तथा वरांगके मामा लगते थे (१६/१३)। वरांगको युद्धमें विजय देख उसके लिए अपना आधा राज्य व कन्या प्रदान की (१६/३०)।

देवागम स्तोत्र—दे०—आप्तमीमांसा

देवारण्यक—उत्तर कुरु, देव कुरु व पूर्व विदेहके वनखण्ड—दे० लोक /३/६,१४।

देवीदास—आप झाँसी निवासी एक प्रसिद्ध हिन्दी जैन कवि थे। कवि वृन्दावनके समकालीन थे। हिन्दीके ललित छन्दोंमें निबद्ध आपकी निम्न रचनाएँ उपलब्ध हैं—१ प्रवचनसार; २ परमानन्द विलास; ३. चिद्विलास वचनिका; ४ चौबीसी पूजापाठ। समय—आपने प्रवचनसार ग्रन्थ वि. १८२४ में लिखा था। वि. १८१२-१८२४ (ई. १७५५-१७६७) (वृन्दावन विलास/प्र.१४ प्रेमी जी) (हि.जै.सा.इ./२१८ कामता)।

देवेंद्र—आप नन्दिसंघके देशीयगणकी गुर्वावली (—दे० इतिहास) के अनुसार गुणनन्दिके शिष्य तथा वसुनन्दिके गुरु थे /श.सं./७८२ के ताम्रपत्रके अनुसार मान्यखेटके राजा अमोघवर्ष द्वारा एक देवेन्द्र आचार्यको दान देनेका उल्लेख मिलता है। सम्भवतः यह वही हों। समय— शक.७८०-८२०; वि. ९१५-९५५; (ई. ८५८-८९८) (म.पु./प्र. ४१ पं. पन्नालाल) (ष.खं.२/प्र.१० H.L. Jain)—दे० इतिहास/७/५।

देवेंद्र कीर्ति—१. नन्दिसंघ सूरत शाखा के आद्य भट्टारक। समय—वि. १४५०—१४९९ (ई० १३९३-१४४२)। दे० इतिहास/७/४। २. कथाकोष आदि के रचयिता सांगानेर के भट्टारक। समय—वि. १६४०—१६६२। (भद्रबाहु चरित्र / प्र० ४/उदयलाल)। ३. कल्याण मन्दिर तथा विषापहार पूजा के रचयिता कारंजाशाखा के भट्टारक। समय—वि. १७७८-१७८६। (ती./३/४४८)। ४. कालिका पुराण के रचयिता मराठी कवि जो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा गुजराती भाषा में भी दक्ष थे। (ती./४/३२१)।

देवेंद्र सूरि—कर्मविपाक, कर्मस्तव, बन्धस्वामित्व, षडशीति, शतक तथा इन पाँचों की स्वोपज्ञ टीका के रचयिता गुरु जगच्चन्द्र सूरि। समय—वि. श० १३ के अन्त से वि० १३२७ तक। (जै०/१/४३६)।

देश—१. देशका लक्षण

१. देश सामान्य

ध.१३/५,५,६३/३३५/३ अंग-बंग-कलिंग-मगधादओ देसो णाम। —अंग, बंग, कलिंग और मगध आदि देश कहलाते हैं।

२. देश द्रव्य

पं.ध./पू./१४७ का भावार्थ—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल तथा स्वभाव इन सबके समुदायका नाम देश है।

३. देश अवयव

रा. वा./७/२/१/५३५/१८ कुतश्चिदवयवाद्द दिश्यत इति देशः प्रदेशः, एकदेश इत्यर्थः। —कहींपर देश शब्द अवयव अर्थमें होता है। जैसे -देश अर्थात् एक भाग।

ध.१३/५,३,१८/१८/६ एगस्स दव्वस्स देसं अवयवं। —एकद्रव्यका देश अर्थात अवयव।

गो.क./जी.प्र./७८९/९५१/५ देशेन लेशेन एकमसंयमं विशति परिहरतीति देशैकदेशः देशसंयतः। —देश कहिए लेश किंचित एक जु है असंयम ताकौ परिहारै है ऐसा देशैकदेश कहिए देशसंयत।

४. देशसम्यक्त्व

ध.१३/५,५,५९/३२३/७ देस सम्मत्तं। —देशका अर्थ सम्यक्त्व है।

२. एकदेश लक्षण

पं.ध./पू./१ नामैकदेशेन नामग्रहणं। —नामके एकदेश ग्रहणसे पूर्ण देशका ग्रहण हो जाता है, उसे एकदेश न्याय कहते हैं।

देशक्रम—दे० क्रम/१।

देशघाती प्रकृति—अनुभाग/४।

देशघाती स्पर्धक—दे० स्पर्धक।

देशचारित्र—दे० संयतासंयत।

देशनालब्धि—दे० लब्धि/३।

देशप्रत्यक्ष—दे० प्रत्यक्ष/१।

देशभूषण—प.पु /३९/श्लोकवंशधर पर्वतपर ध्यानारूढ थे (३३)। पूर्व वैरसे अग्निप्रभ नाम देवने घोर उपसर्ग किया (१५), जो कि वनवासी रामके आनेपर दूर हुआ (७३)। तदनन्तर इनको केवलज्ञान हो गया (७५)।

देशविरत—दे० विरताविरत।

देशव्रत—१. देशव्रतका लक्षण

र.क.श्रा./९२-९४ देशावकाशिकं स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य। प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य।९२। गृहहारिग्रामाणां क्षेत्रनदीदावयोजनानां च। देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः।९३। संवत्सरमृतुरयनं मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च। देशावकाशिकस्य प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः।९४। —दिग्व्रतमें प्रमाण किये हुए विशाल देशमें कालके विभागसे प्रतिदिन त्याग करना सो अणुव्रतधारियोंका देशावकाशिक व्रत होता है।९२। तपसे वृद्धरूप जे गणधरादिक हैं, वे देशावकाशिकव्रतके क्षेत्रकी मर्यादा अमुक घर, गली अथवा कटकछावनी ग्राम तथा खेत, नदी, वन और किसी योजन तककी स्मरण करते हैं अर्थात कहते हैं।९३। गणधरादिक ज्ञानी पुरुष देशावकाशिक व्रतकी एक वर्ष, दो मास, छह मास, एक मास, चार मास, एक पक्ष और नक्षत्र तक कालकी मर्यादा कहते हैं।९४। (सा.ध./५/२५) (ला.सं./६/१२२)

स.सि./७/२१/३६१/१२ ग्रामादीनामवधृतपरिमाणः प्रदेशो देशः। ततो-बहिर्निवृत्तिर्देशविरतिव्रतम्। =ग्रामादिककी निश्चित मर्यादारूप प्रदेश देश कहलाता है। उससे बाहर जानेका त्याग कर देना देशविरतिव्रत कहलाता है। (रा.वा./७/२१/३/५४७/२७), (पु.सि.उ./१३६)

का.अ./मू./३६७-३६८ पुव्व-पमाण-कदाणं सव्वदिसीणं पुणो वि संवरणं। इंदियविसयाण तहा पुणो वि जो कुणदि संवरणं।३६७। वासादिकयपमाणं दिणे दिणे लोह-काम-समणट्ठं।३६८। =जो श्रावक लोभ और कामको घटानेके लिए तथा पापको छोड़नेके लिए वर्ष आदिकी अथवा प्रतिदिनकी मर्यादा करके, पहले दिग्व्रतमें किये हुए दिशाओंके प्रमाणको, भोगोपभोग परिमाणव्रतमें किये हुए इन्द्रियोंके विषयोंके परिमाणको और भी कम करता है वह देशावकाशिक नामका शिक्षाव्रत है।

वसु.श्रा./२१५ वयभंग-कारणं होइ जम्मि देसम्मि तत्थ णियमेण। कीरइ गमणणियत्ती तं जाणा गुणव्वयं विदियं।२१५। =जिस देशमें रहते हुए व्रत भंगका कारण उपस्थित हो, उस देशमें नियमसे जो गमन निवृत्ति की जाती है, उसे दूसरा देशव्रत नामका गुणव्रत जानना चाहिए।२१५। (गुण.श्रा./१४१)

ला.सं./६/१२३ तद्विषयो गतिस्त्यागस्तथा चाशनवर्जनम्। मैथुनस्य परित्यागो यद्वा मौनादिधारणम्।१२३। =देशावकाशिक व्रतका विषय गमन करनेका त्याग, भोजन करनेका त्याग, मैथुन करनेका त्याग, अथवा मौन धारण करना आदि है।

जैनसिद्धान्त प्रवेशिका/२२४ श्रावकके व्रतोंको देशचारित्र कहते हैं।

२. देशव्रतके पाँच अतिचारोंका निर्देश

त.सू./७/३१ आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः।३१। =आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये देशविरतिव्रतके पाँच अतिचार हैं।३१। (र.क.श्रा./मू./९६)

३. दिग्व्रत व देशव्रतमें अन्तर

रा.वा./७/२१/२०/३ अयमनयोर्विशेषः–दिग्विरतिः सार्वकालिकी देशविरतिर्यथाशक्ति कालनियमेनेति। =दिग्विरति यावज्जीवन–सर्वकालके लिए होती है जबकि देशव्रत शक्त्यानुसार नियतकालके लिए होता है। (चा.सा./१६/१)

४. देशव्रतका प्रयोजन व महत्त्व

स.सि./७/२१/३६१/१३ पूर्ववद्बहिर्महाव्रतत्वं व्यवस्थाप्यम्। =यहाँ भी पहलेके (दिग्व्रतके) समान मर्यादाके बाहर महाव्रत होता है। (रा.वा./७/२१/२०/५४९/२)

र.क.श्रा./९५ सीमान्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात्। देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते।९५। =सीमाओंके परे स्थूल सूक्ष्मरूप पाँचों पापोंका भले प्रकार त्याग हो जानेसे देशावकाशिकव्रतके द्वारा भी महाव्रत साधे जाते हैं।९५। (पु.सि.उ./१४०)

देशसंयत—दे० संयतासंयत।

देशसत्य—दे० सत्य/१।

देशस्कंध—दे० स्कंध/१।

देशस्पर्श—दे० स्पर्श/१।

देशातिचार—अतिचारका एक भेद—दे० अतिचार/३।

देशावधिज्ञान—दे० अवधिज्ञान/१।

देशीनाममाला—दे० शब्दकोष।

देशीयगण—नन्दिसंघकी एक शाखा—दे० इतिहास/५/२,७/५।

देह—१. दे० शरीर; २. पिशाच जातीय व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० पिशाच।

दैव—दे० नियति/३।

दो—१. यह जघन्य संख्या समझी जाती है। २. दोकी संख्या अवक्तव्य कहलाती है।—दे० अवक्तव्य।

दोलायित—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

दोष—१. सम्यक्त्वके २५ दोष निर्देश—दे० सम्यग्दर्शन I/२ २. संसारियोंके अठारह दोष—दे० अर्हंत/३। ३. आप्तमें सर्वदोषोंका अभाव सम्भव है।—दे० मोक्ष/६/४। ४. आहार सम्बन्धी ४६ दोष—दे० आहार/II/४। ५. न्याय सम्बन्धी दोष—दे० न्याय/१।

दोष—१. जीवके दोष रागादि हैं

स.श./टी./५/२२५/३ दोषाश्च रागादयः। =रागादि दोष कहलाते हैं। (पं.ध./उ./६०३)

द्र.सं./टी./१४/४६/११ निर्दोषपरमात्मनो भिन्ना रागादयो दोषाः। निर्दोष परमात्मासे भिन्न रागादि दोष कहलाते हैं।

दोहा पाहुड़—१. योगेन्दुदेव (ई०श० ६ उत्तरार्ध) कृत अपभ्रंश आध्यात्मिक ग्रन्थ। २. देवसेन कृत। समय— ई० १०००। (H.L. Jain), (जै०/२/१८३)।

दोहासार—दे० योगसार नं. ३।

दौलतराम—१. जयपुर राज्य के वकील बनकर उदयपुर गए और वहाँ ३० वर्ष रहे। कृतियें—अनेक पुराणों की वचनिकायें, परमात्मप्रकाश वचनिका। आत्मबत्तीसी, अध्यात्म बारहखड़ी, सार समुच्चय, तत्त्वार्थसूत्र भाषा, चौबीस दण्डक, क्रियाकोष। टोडरमल कृत पुरुषार्थ सिद्ध्युपायकी टीका पूर्ण की। समय—वि० १७७७—१८२९। २ हाथरस वासी कपड़ा छापने का व्यवसाय। पल्लीवाल जाति। हाथरस से मथुरा और वहाँ से लश्कर चले गये। कृतियें—छहढाला, पदसंग्रह। समय—जन्म वि० १८५५, मृत्यु वि० १९२३। (ती०/४/२८९)।

द्यानतराय—आगरा निवासी गोयल गोत्री अग्रवाल श्रावक थे। कृतियें—धर्मविलास (पदसंग्रह), पूजापाठ व भक्तिस्तोत्र, रूपक, काव्य, प्रकीर्णक काव्य। समय—वि० १७३३—१७८५। (ती./४/२७६)।

द्युति—स.सि./४/२०/२५१/८ शरीरवसनाभरणादिदीप्तिः द्युतिः। =शरीर, वस्त्र और आभूषण आदिकी कान्तिको द्युति कहते हैं। (रा.वा./४/२०/४/२३५/१७)

द्यूतक्रीड़ा—१. द्यूतके अतिचार

सा.ध./३/१९ दोषो होढाद्यपि मनो-विनोदार्थं पणोज्झिनः। हर्षोऽमर्षोदयाङ्गत्वात्, कषायो ह्यंहसेऽञ्जसा।१९। =जूआके त्याग करनेवाले श्रावकके मनोविनोदके लिए भी हर्ष और विनोदकी उत्पत्तिका कारण होनेसे शर्त लगाकर दौड़ना, जूआ देखना आदि अतिचार होता है, क्योंकि वास्तवमें कषायरूप परिणाम पापके लिए होता है।१९।

ला.सं./२/११४,१२० अक्षपाशादिनिक्षिप्तं वित्ताज्जयपराजयम्। क्रियायां विद्यते यत्र सर्वं द्यूतमिति स्मृतम् ।११४। अन्योन्यस्येर्ष्यया यत्र विजिगीषा द्वयोरिति। व्यवसायादृते कर्म द्यूतातीचार इष्यते ।१२०। —जिस क्रियामें खेलनेके पासे डालकर धनकी हार-जीत होती है, वह सब जूआ कहलाता है अर्थात् हार-जीतकी शर्त लगाकर ताश खेलना, चौपड़ खेलना, शतरंज खेलना, आदि सब जूआ कहलाता है ।११४। अपने-अपने व्यापारके कार्योंके अतिरिक्त कोई भी दो पुरुष परस्पर एक-दूसरेकी ईर्ष्यासे किसी भी कार्यमें एक-दूसरेको जीतना चाहते हों तो उन दोनोंके द्वारा उस कार्यका करना भी जूआ खेलनेका अतिचार कहलाता है ।१२०।

★ रसायन सिद्धि शर्त लगाना आदि भी जूआ है

—दे० द्यूतक्रीड़ा/१।

२. द्यूतका निषेध तथा उसका कारण

पु.सि.उ./१४६ सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः। दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् ।१४६। —सप्त व्यसनोंका प्रथम यानी सम्पूर्ण अनर्थोंका मुखिया, सन्तोषका नाश करनेवाला, मायाचारका घर, और चोरी तथा असत्यका स्थान जूआ दूर होसे त्याग कर देना चाहिए ।१४६। (ला.सं./२/११८)

सा.ध./२/१७ द्यूते हिंसानृतस्तेयलोभमायामये सजन्। क्व स्वं क्षिपति नानर्थे वेश्याखेटान्यदारवत् ।१७। —जूआ खेलनेमें हिंसा, झूठ, चोरी, लोभ और कपट आदि दोषोंकी अधिकता होती है। इसलिए जैसे वेश्या, परस्त्री सेवन और शिकार खेलनेसे यह जीव स्वयं नष्ट होता है तथा धर्म-भ्रष्ट होता है, इसी प्रकार जूआ खेलनेवाला अपनेको किस-किस आपत्तिमें नहीं डालता।

ला.सं./२/११५ प्रसिद्धं द्यूतकर्मेदं सद्यो बन्धकरं स्मृतम्। यावदापन्मयं ज्ञात्वा त्याज्यं धर्मानुरागिणा ।११५। —जूआ खेलना संसार भरमें प्रसिद्ध है। उसी समय महा अशुभकर्मका बन्ध करनेवाला है, समस्त आपत्तियोंको उत्पन्न करनेवाला है, ऐसा जानकर धर्मानुरागियोंको इसे छोड़ देना चाहिए ।११५।

द्योतन—दे० उद्योत।

द्रमिल—दक्षिण भारतका वह भाग है, जो मद्राससे सेरिंगपट्टम और कामोरिम तक फैला हुआ है। और जिसकी पुरानी राजधानी कांचीपुर है। (ध.१/प्र.३२/H.L. Jain)

द्रविड़ देश—दक्षिण प्रान्तका एक देश है जिसमें आचार्य कुन्दकुन्द हुए हैं।—दे० कुन्दकुन्द।

द्रविड़ संघ— दिगम्बर साधुओंका संघ। —दे० इतिहास/६/३।

द्रव्य—लोक द्रव्योंका समूह है और वे द्रव्य छह मुख्य जातियोंमें विभाजित हैं। गणनामें वे अनन्तानन्त हैं। परिणमन करते रहना उनका स्वभाव है, क्योंकि बिना परिणमनके अर्थक्रिया और अर्थक्रियाके बिना द्रव्यके लोपका प्रसंग आता है। यद्यपि द्रव्यमें एक समय एक ही पर्याय रहती है पर ज्ञानमें देखनेपर वह अनन्तों गुणों व उनकी त्रिकाली पर्यायोंका पिण्ड दिखाई देता है। द्रव्य, गुण व पर्यायमें यद्यपि कथन क्रमकी अपेक्षा भेद प्रतीत होता है पर वास्तवमें उनका स्वरूप एक रसात्मक है। द्रव्यकी यह उपरोक्त व्यवस्था स्वतः सिद्ध है, कृतक नहीं है।

१. द्रव्यके भेद व लक्षण

१. द्रव्यका निरुक्त्यर्थ

पं. का./मू./९ दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं। दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो।९। —उन उन सद्भाव पर्यायोंको जो द्रवित होता है, प्राप्त होता है, उसे द्रव्य कहते हैं जो कि सत्तासे अनन्यभूत है। (रा. वा./१/३३/१/९५/४)।

स. सि./१/५/१७/५ गुणैर्गुणान्वा द्रुतं गतं गुणैर्द्रोष्यते, गुणान्द्रोष्यतीति वा द्रव्यम्।

स. सि./५/२/२६६/१० यथास्वं पर्यायैर्द्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानि इति द्रव्याणि। —जो गुणोंके द्वारा प्राप्त किया गया था अथवा गुणोंको प्राप्त हुआ था, अथवा जो गुणोंके द्वारा प्राप्त किया जायगा या गुणोंको प्राप्त होगा उसे द्रव्य कहते हैं। जो यथायोग्य अपनी अपनी पर्यायोंके द्वारा प्राप्त होते हैं या पर्यायोंको प्राप्त होते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं। (रा. वा./५/२/१/४३६/१४); (ध. १/१,१,१/१८३/११); (ध. ३/१,२,१/२/१) (ध. ६/४,१,४५/१६७/१०); (ध. १५/३३/६); (क. पा. १/१,१४/§१७७/२११/४); (न च. वृ./३६); (आ. प./६), (यो. सा./अ/२/५)।

रा. वा./५/२/२/४३६/२६ अथवा द्रव्यं भव्ये [जैनेन्द्र व्या. /४/१/१५८] इत्यनेन निपातितो द्रव्यशब्दो वेदितव्यः। द्रु इव भवतीति द्रव्यम्। क उपमार्थः। द्रु इति दारु नाम यथा अग्रन्थि अजिह्मं दारु तक्ष्णोपकल्प्यमानं तेन तेन अभिलषितेनाकारेण आविर्भवति, तथा द्रव्यमपि आत्मपरिणामगमनसमर्थं पाषाणखननोदकवदविभक्तकर्तृकरणमुभयनिमित्तवशोपनीतात्मना तेन तेन पर्यायेण द्रु इव भवतीति द्रव्यमित्युपमीयते। —अथवा द्रव्य शब्दको इवार्थक निपात मानना चाहिए। 'द्रव्यं भव्य' इस जैनेन्द्र व्याकरणके सूत्रानुसार 'द्रु' की तरह जो हो वह 'द्रव्य' यह समझ लेना चाहिए। जिस प्रकार बिना गाँठकी सीधी द्रु अर्थात् लकड़ी बढ़ई आदिके निमित्तसे टेबल कुर्सी आदि अनेक आकारोंको प्राप्त होती है, उसी तरह द्रव्य भी उभय (बाह्य व आभ्यन्तर) कारणोंसे उन उन पर्यायोंको प्राप्त होता रहता है। जैसे 'पाषाण खोदनेसे पानी निकलता है' यहाँ अविभक्त कर्तृ-करण है उसी प्रकार द्रव्य और पर्यायमें भी समझना चाहिए।

२. द्रव्यका लक्षण सत् तथा उत्पादव्ययध्रौव्य

त. सू./५/२९ सत् द्रव्यलक्षणम्।२९। —द्रव्यका लक्षण सत् है।

पं. का./मू./१० दव्वं सल्लक्खणयं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं। —जो सत् लक्षणवाला तथा उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त है उसे द्रव्य कहते हैं। (प्र. सा./मू./९५-९६) (न. च. वृ./३७) (आ. प./६) (यो.सा. अ./२/६) (पं. ध./पू./८, ८६) (दे. सत्)।

प्र. सा./त.प्र./९६ अस्तित्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः, तत्पुनरन्य साधननिरपेक्षत्वादनाद्यनन्ततयाहेतुकयैकरूपया वृत्त्या नित्यप्रवृत्तत्वात्... द्रव्येण सहैकत्वमवलम्बमानं द्रव्यस्य स्वभाव एव कथं न भवेत्। —अस्तित्व वास्तवमें द्रव्यका स्वभाव है, और वह अन्य साधनसे निरपेक्ष होनेके कारण अनाद्यनन्त होनेसे तथा अहेतुक एकरूप वृत्तिसे सदा ही प्रवर्तता होनेके कारण द्रव्यके साथ एकत्वको धारण करता हुआ, द्रव्यका स्वभाव ही क्यों न हो?

३. द्रव्यका लक्षण गुण समुदाय

स. सि./५/२/२६७/४ गुणसमुदायो द्रव्यमिति। —गुणोंका समुदाय द्रव्य होता है।

पं. का./त. प्र./४४. द्रव्यं हि गुणानां समुदायः। —वास्तवमें द्रव्य गुणोंका समुदाय है। (पं. ध./पू./७३)।

४. द्रव्यका लक्षण गुणपर्यायवान्–

त. सू./५/३८ गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ।३८। गुण और पर्यायोंवाला द्रव्य है। (नि. सा. मू./९); (प्र. सा./मू /९५) (पं. का./मू./१०) (न्या. वि./मू./२/११५/४२८) (न. च./वृ./३७) (आ. प./६), (का. अ./मू./२४२), (त. अनु./१००) (पं. ध./पू./४३८)।

स. सि./५/३८/३०९ पर उद्धृत—गुण इदि दव्वविहाणं दव्वविकारो हि पज्जवो भणिदो। तेहि अणूणं दव्वं अजुदपसिद्धं हवे णिच्चं। – द्रव्यमें भेद करनेवाले धर्मको गुण और द्रव्यके विकारको पर्याय कहते हैं। द्रव्य इन दोनोंसे युक्त होता है। तथा वह अयुतसिद्ध और नित्य होता है।

प्र. सा./त. प्र./२३ समगुणपर्यायं द्रव्यं इति वचनात्। = 'युगपत् सर्व-गुणपर्याये ही द्रव्य हैं' ऐसा वचन है। (पं. ध./पू. ७३)।

पं. ध./पू. ७२ गुणपर्ययसमुदायो द्रव्यं पुनरस्य भवति वाक्यार्थः। = – गुण और पर्यायोंके समूहका नाम ही द्रव्य है और यही इस द्रव्यके लक्षणका वाक्यार्थ है।

पं.ध./पू./७३ गुणसमुदायो द्रव्यं लक्षणमेतावताऽप्युशन्ति बुधाः। समगुणपर्यायो वा द्रव्यं कैश्चिन्निरूप्यते वृद्धैः। = गुणोंके समुदायको द्रव्य कहते हैं; केवल इतनेसे भी कोई आचार्य द्रव्यका लक्षण करते हैं, अथवा कोई कोई वृद्ध आचार्यों द्वारा युगपत सम्पूर्ण गुण और पर्याय ही द्रव्य कहा जाता है।

५. द्रव्यका लक्षण ऊर्ध्व व तिर्यगंश आदिका समूह

न्या. वि./मू./१/११५/४२८ गुणपर्ययवद्द्रव्यं ते सहक्रमप्रवृत्तय। – गुण और पर्यायोंवाला द्रव्य होता है और वे गुण पर्याय क्रमसे सह प्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त होते हैं।

प्र.सा./त.प्र./१० वस्तु पुनरूर्ध्वतासामान्यलक्षणे द्रव्ये सहभाविविशेष-लक्षणेषु गुणेषु क्रमभाविविशेषलक्षणेषु पर्यायेषु व्यवस्थितमुत्पादव्यय-ध्रौव्यमयास्तित्वेन निर्वर्तितनिर्वृत्तिमच्च। = वस्तु तो ऊर्ध्वता-सामान्यरूप द्रव्यमें, सहभावी विशेषस्वरूप गुणोंमें तथा क्रमभावी विशेषस्वरूप पर्यायोंमें रही हुई और उत्पादव्ययध्रौव्यमय अस्तित्वसे बनी हुई है।

प्र.सा./त.प्र./९३ इह खलु यः कश्चन परिच्छिद्यमानः पदार्थः स सर्व एव विस्तारायत-सामान्यसमुदायात्मना द्रव्येणाभिनिर्वृत्तत्वाद्द्रव्यमयः। – इस विश्वमें जो कोई जाननेमें आनेवाला पदार्थ है, वह समस्त ही विस्तारसामान्य समुदायात्मक (गुणसमुदायात्मक) और आयतसामान्य समुदायात्मक (पर्यायसमुदायात्मक) द्रव्यसे रचित होनेसे द्रव्यमय है।

६. द्रव्यका लक्षण त्रिकाली पर्यायोंका पिंड

ध.१/१,१,१३६/गा.१९९/३८६ एय दवियम्मि जे अत्थपज्जया वयण पज्जया वावि। तीदाणागयभूदा तावदियं तं हवइ दव्वं ।१९९। – एक द्रव्यमें अतीत अनागत और 'अपि' शब्दसे वर्तमान पर्यायरूप जितनी अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय हैं, तत्प्रमाण वह द्रव्य होता है। (ध.३/१,२,१/गा.४/६) (ध.९/४,१,४५/गा.६७/१८३) (क.पा.१/१,१४/गा.१०८/२५३) (गो.जी./मू./५८२/१०२३)।

आप्त. मी./१०७ नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः। अविभ्राड्भावसंबन्धो द्रव्यमेकमनेकधा।१०७। – जो नैगमादिनय और उनकी शाखा उपशाखारूप उपनयोंके विषयभूत त्रिकालवर्ती पर्यायोंका अभिन्न सम्बन्धरूप समुदाय है उसे द्रव्य कहते हैं। (ध.३/१,२,१/गा.३/५); (ध.९/४,१,४५/गा.६६/१८३) (ध.१३/५,५,५९/गा.३२/३१०)।

श्लो.वा.२/१/५/६३/२६९/३ पर्ययवद्द्रव्यमिति हि सूत्रकारेण वदता त्रिकालगोचरानन्तक्रमभाविपरिणामाश्रियं द्रव्यमुक्तम्। – पर्यायवाला द्रव्य होता है इस प्रकार कहनेवाले सूत्रकारने तीनों कालोंमें क्रमसे होनेवाली पर्यायोंका आश्रय हो रहा द्रव्य कहा है।

प्र. सा./त.प्र./३६ ज्ञेयं तु वृत्तवर्तमानवर्तिष्यमाणविचित्रपर्यायपरम्परा-प्रकारेण त्रिधाकालकोटिस्पर्शित्वादनाद्यनन्तं द्रव्यं। – ज्ञेय—वर्त-चुकी, वर्तरही और वर्तनेवाली ऐसी विचित्र पर्यायोंके परम्पराके प्रकारसे त्रिधा कालकोटिको स्पर्श करता होनेसे अनादि अनन्त द्रव्य है।

७. द्रव्यके अन्वय सामान्यादि अनेकों नाम

स.सि./१/३३/१४०/९ द्रव्यं सामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरित्यर्थः। द्रव्यका अर्थ सामान्य उत्सर्ग और अनुवृत्ति है।

पं.ध./पू./१४३ सत्ता सत्त्वं सद्वा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु। अर्थो विधिरविशेषादेकार्थवाचका अमी शब्दाः। = सत्ता, सत् अथवा सत्त्व, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि ये नौ शब्द सामान्य-रूपसे एक द्रव्यरूप अर्थके ही वाचक हैं।

८. द्रव्यके छह प्रधान भेद

नि.सा./मू./९ जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं। तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता।९। = जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये तत्त्वार्थ कहे हैं जो कि विविध गुण और पर्यायोंसे संयुक्त है।

त.सू./५/१-३,३९ अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः।१। द्रव्याणि।२। जीवाश्च।३। कालश्च।३९। = धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये अजीवकाय हैं।१। ये चारों द्रव्य हैं।२। जीव भी द्रव्य है।३। काल भी द्रव्य है।३९। (यो.सा./अ./२।१) (द्र.स./मू./१५।५०)।

९. द्रव्यके दो भेद संयोग व समवाय द्रव्य

ध.१/१,१,१/१८/६ दव्वं दुविहं, संजोगदव्वं समवायदव्वं चेदि। (नाम निक्षेपके प्रकरणमें) द्रव्य-निमित्तके दो भेद हैं—संयोगद्रव्य और समवायद्रव्य।

१०. संयोग व समवाय द्रव्यके लक्षण

ध.१/१,१,१/१७/६ तत्थ संजोयदव्वं णाम पुध पुध पसिद्धाणं दव्वाणं संजोगेण णिप्पण्णं। समवायदव्वं णाम जं दव्वम्मि समवेदं।... संजोगदव्वणिमित्तं णाम दंडी छत्ती मोली इच्चेवमादि। समवाय-णिमित्तं णाम गलगंडो काणो कुंडो इच्चेवमाइ। – अलग-अलग सत्ता रखनेवाले द्रव्योंके मेलसे जो पैदा हो उसे संयोग द्रव्य कहते हैं। जो द्रव्यमें समवेत हो अर्थात् कथंचित तादात्म्य रखता हो उसे समवायद्रव्य कहते हैं। दण्डी, छत्री, मौली इत्यादि संयोगद्रव्य निमित्तक नाम हैं; क्योंकि दण्डा, छत्री, मुकुट इत्यादि स्वतन्त्र सत्तावाले पदार्थ हैं और उनके संयोगसे दण्डी, छत्री, मौली इत्यादि नाम व्यवहारमें आते है। गलगण्ड, काना, कुबड़ा इत्यादि समवाय-द्रव्यनिमित्तक नाम हैं, क्योंकि जिसके लिए गलगण्ड इस नामका उपयोग किया गया है उससे गलेका गण्ड उससे भिन्न सत्तावाला नहीं है। इसी प्रकार काना, कुबड़ा आदि नाम समझ लेना चाहिए।

११. स्व व पर द्रव्यके लक्षण

प्र.सा./ता.वृ./११५/१६१/१० विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन तच्चतुष्टयं, शुद्धजीवविषये कथ्यते। शुद्धगुणपर्यायाधारभूतं शुद्धात्म-द्रव्यं द्रव्यं भण्यते।...यथा शुद्धात्मद्रव्ये दर्शितं तथा यथासंभवं सर्वपदार्थेषु द्रष्टव्यमिति। – विवक्षितप्रकारसे स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव, ये चार बातें स्वचतुष्टय कहलाती हैं। तहाँ शुद्ध जीवके विषयमें कहते हैं। शुद्ध गुणपर्यायोंका आधारभूत शुद्धात्म

द्रव्यको स्वद्रव्य कहते हैं। जिस प्रकार शुद्धात्मद्रव्यमें दिखाया गया उसी प्रकार यथासम्भव सर्वपदार्थोंमें भी जानना चाहिए।

पं.ध./पू./७४,२६४ अयमत्राभिप्रायो ये देशाः सद्गुणास्तदंशाश्च। एकालापेन समं द्रव्यं नाम्ना त एव निःशेषम् ।७४। एका हि महासत्ता सत्ता वा स्यादवान्तराख्या च। पृथक्प्रदेशवत्त्वं स्वरूपभेदोऽपि नानयोरेव ।२६४। =देश सत्‌रूप अनुजीवीगुण और उसके अंश देशांश तथा गुणांश हैं। वे ही सब युगपत्‌एकालापके द्वारा नामसे द्रव्य कहे जाते हैं ।७४। निश्चयसे एक महासत्ता तथा दूसरी अवान्तर नामकी सत्ता है। इन दोनों ही में पृथक् प्रदेशपना नहीं है तथा स्वरूपभेद भी नहीं है।

२. द्रव्य निर्देश व शंका समाधान

१. एकान्त पक्षमें द्रव्यका लक्षण सम्भव नहीं

रा.वा./५/२/१२/४४१/१ द्रव्यं भव्ये इत्ययमपि द्रव्यशब्दः एकान्तवादिनां न संभवति, स्वतोऽसिद्धस्य द्रव्यस्य भव्यार्थासंभवात्। संसर्गवादिनस्तावत् गुणकर्म...सामान्यविशेषेभ्यो द्रव्यस्यात्यन्तमन्यत्वे खरविषाणकल्पस्य स्वतोऽसिद्धत्वात् न भवनक्रियायाः कर्तृत्वं युज्यते।... अनेकान्तवादिनस्तु गुणसन्द्रावो द्रव्यम्, द्रव्यं भव्ये इति चोत्पद्यत, पर्यायिपर्याययोः कथंचिद्भेदोपपत्तेरित्युक्तं पुरस्तात्। =एकान्त अभेदवादियों अथवा गुण कर्म आदिसे द्रव्यको अत्यन्त भिन्न माननेवाले एकान्त संसर्गवादियोंके हाँ द्रव्य ही सिद्ध नहीं है जिसमें कि भवन क्रियाकी कल्पना की जा सके। अतः उनके हाँ 'द्रव्यं भव्ये' यह लक्षण भी नहीं बनता। (इसी प्रकार 'गुणपर्ययवद् द्रव्यं' या 'गुणसमुदायो द्रव्यं' भी वे नहीं कह सकते—दे० द्रव्य/१/४) अनेकान्तवादियोंके मतमें तो द्रव्य और पर्यायमें कथंचित् भेद होनेसे 'गुणसन्द्रावो द्रव्यं' और 'द्रव्यं भव्ये' (अथवा अन्य भी) लक्षण बन जाते हैं।

२. द्रव्यमें त्रिकाली पर्यायोंका सद्भाव कैसे सम्भव है

श्लो.वा.२/१/५/२६६/१ नन्वनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणमयुक्तं, गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति तस्य सूत्रितत्वात्, तदागमविरोधादिति कश्चित्, सोऽपि सूत्रार्थानभिज्ञः। पर्ययवद्द्रव्यमिति हि सूत्रकारेण वदता त्रिकालगोचरानन्तक्रमभाविपर्यायाश्रितं द्रव्यमुक्तम्। तच्च यदानागतपरिणामविशेषं प्रत्यभिमुखं तदा वर्तमानपर्यायाक्रान्तं परित्यक्तपूर्वपर्यायं च निश्चीयतेऽन्यथानागतपरिणामाभिमुख्यानुपपत्तेः खरविषाणादिवत्।—निक्षेपप्रकरणे तथा द्रव्यलक्षणमुक्तम्। =प्रश्न—'भविष्यमें आनेवाले विशेष परिणामोंके प्रति अभिमुखपनेको ग्रहण करनेवाला द्रव्य है' इस प्रकार द्रव्यका लक्षण करनेसे 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' इस सूत्रके साथ विरोध आता है। उत्तर—आप सूत्रके अर्थसे अनभिज्ञ हैं। द्रव्यको गुणपर्यायवान् कहनेसे सूत्रकारने तीनों कालोंमें क्रमसे होनेवाली अनन्त पर्यायोंका आश्रय हो रहा द्रव्य कहा है। वह द्रव्य जब भविष्यमें होनेवाले विशेष परिणामके प्रति अभिमुख है, तब वर्तमानकी पर्यायोंसे तो घिरा हुआ है और भूतकालकी पर्यायको छोड़ चुका है, ऐसा निर्णीतरूपसे जाना जा रहा है। अन्यथा खरविषाणके समान भविष्य परिणामके प्रति अभिमुखपना न बन सकेगा। इस प्रकारका लक्षण यहाँ निक्षेपके प्रकरणमें किया गया है। (इसलिए) क्रमशः—

ध. १३/५,५,७०/३७०/११ तीदाणागयपज्जायाणं सगसरूवेण जीवे संभवादो। =(जिसका भविष्यमें चिन्तवन करेंगे उसे भी मनःपर्ययज्ञान जानता है) क्योंकि, अतीत और अनागत पर्यायोंका अपने स्वरूपसे जीवमें पाया जाना सम्भव है।

(दे० केवलज्ञान/५।२)—(पदार्थमें शक्तिरूपसे भूत और भविष्यत्‌की पर्याय भी विद्यमान ही रहती है, इसलिए, अतीतानागत पदार्थोंका ज्ञान भी सम्भव है। तथा ज्ञानमें भी ज्ञेयाकाररूपसे वे विद्यमान रहती हैं, इसलिए कोई विरोध नहीं है)।

३. षट्द्रव्योंकी संख्याका निर्देश

गो. जी./मू./५८८/१०२७ जीवा अणंतसंखाणंतगुणा पुग्गला हु तत्तो दु। धम्मतियं एक्केक्कं लोगपदेसप्पमा कालो ।५८८। =द्रव्य प्रमाणकरि जीवद्रव्य अनन्त हैं, बहुरि तिनितैं पुद्गल परमाणु अनन्त हैं, बहुरि धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य एक-एक ही हैं, जातैं ये तीनों अखण्ड द्रव्य हैं। बहुरि जेते लोकाकाशके (असंख्यात) प्रदेश हैं तितने कालाणु हैं। (त. सू./५।६)।

४. षट्द्रव्योंको जाननेका प्रयोजन

प. प्र./मू./२/२७ दुक्खहँ कारणु मुणिवि जिय दव्वहँ एहु सहाउ। होयवि मोक्खहँ मग्गि लहु गम्मिज्जइ परलोउ ।२७। =हे जीव परद्रव्योंके ये स्वभाव दुःखके कारण जानकर मोक्षके मार्गमें लगकर शीघ्र ही उत्कृष्टलोकरूप मोक्षमें जाना चाहिए।

न. च. वृ./२८४ में उद्धृत—णियदव्वजाणणट्ठं इयरं कहियं जिणेहिं छद्दव्वं। तम्हा परछद्दव्वे जाणगभावो ण होइ सण्णाणं।

न. च. वृ./१० णायव्वं दवियाणं लक्खणसंसिद्धिहेउगुणणियरं। तह पज्जायसहावं एयंतविणासणट्ठा वि ।१०। =निजद्रव्यके ज्ञापनार्थ ही जिनेन्द्र भगवान्‌ने षट्द्रव्योंका कथन किया है। इसलिए अपनेसे अतिरिक्त पर षट्द्रव्योंको जाननेसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। एकान्तके विनाशार्थ द्रव्योंके लक्षण और उनकी सिद्धिके हेतुभूत गुण व पर्याय स्वभाव है, ऐसा जानना चाहिए।

का. आ./मू./२०४ उत्तमगुणाणधामं सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं। तच्चाण परमतच्चं जीवं जाणेह णिच्छयदो ।२०४। =जीव ही उत्तमगुणोंका धाम है, सब द्रव्योंमें उत्तम द्रव्य है और सब तत्त्वोंमें परमतत्त्व है, यह निश्चयसे जानो।

पं. का./ता. वृ./१५/३३/१६ अत्र षट्द्रव्येषु मध्ये ...शुद्धजीवास्तिकायाभिधानं शुद्धात्मद्रव्यं ध्यातव्यमित्यभिप्रायः। =छह द्रव्योंमेंसे शुद्ध जीवास्तिकाय नामवाला शुद्धात्मद्रव्य ही ध्यान किया जाने योग्य है, ऐसा अभिप्राय है।

द्र. सं./टी./अधिकार २ की चूलिका/पृ.७६/८ अतः ऊर्ध्वं पुनरपि षट्द्रव्याणां मध्ये हेयोपादेयस्वरूपं विशेषेण विचारयति। तत्र शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वात्सर्वे जीवा उपादेया भवन्ति। व्यक्तिरूपेण पुनः पञ्चपरमेष्ठिन एव। तत्राप्यर्हत्सिद्धद्वयमेव। तत्रापि निश्चयेन सिद्ध एव। परमनिश्चयेन तु...परमसमाधिकाले सिद्धसदृशः स्वशुद्धात्मैवोपादेयः शेषद्रव्याणि हेयानीति तात्पर्यम्। =तदनन्तर छह द्रव्योंमेंसे क्या हेय है और क्या उपादेय इसका विशेष विचार करते हैं। वहाँ शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा शक्तिरूपसे शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावके धारक सभी जीव उपादेय हैं, और व्यक्तिरूपसे पंचपरमेष्ठी ही उपादेय हैं। उनमें भी अर्हन्त और सिद्ध ये दो ही उपादेय हैं। इन दो में भी निश्चयनय की अपेक्षा सिद्ध ही उपादेय हैं। परम निश्चयनयसे परम समाधिके कालमें सिद्ध समान निज शुद्धात्मा ही उपादेय है। अन्य द्रव्य हेय हैं ऐसा तात्पर्य है।

३. षट्द्रव्य विभाजन

१. चेतनाचेतन विभाग

प्र. सा./मू./१२७ दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ। पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अज्जीवं। =द्रव्य जीव और अजीवके भेदसे दो प्रकार हैं। उसमें चेतनामय तथा उपयोगमय जीव है और

पुद्गलद्रव्यादिक अचेतन द्रव्य हैं। (ध. ३/१,२,१/२/२) (वसु.श्रा./२९) (पं. का/ता. वृ. ५६/१५) (द्र. सं./टी./अधि २ की चूलिका/७६/८) (न्या. दी./३/§७६/१२२)।

पं. का./मू./१२४ आगासकालपुग्गलधम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा। तेसिं अचेदणत्थं भणिदं जीवस्स चेदणदा।१२४। =आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्ममें जीवके गुण नहीं है, उन्हें अचेतनपना कहा है। जीवको चेतनता है। अर्थात् छह द्रव्योंमें पाँच अचेतन हैं और एक चेतन। (त. सू./५/१-४) (पं. का./त प्र./९७)

२. मूर्तामूर्त विभाग

पं. का./मू./९७ आगासकालजीवा धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा। मुत्तं पुग्गलदव्वं जीवो खलु चेदणो तेसु। =आकाश, काल, जीव, धर्म, और अधर्म अमूर्त हैं। पुद्गलद्रव्य मूर्त है। (त. सू./५/५) (वसु. श्रा./२८) (द्र. सं./टी./अधि २ की चूलिका/७७/२) (पं. का./ता वृ./२७/५६/१८)।

ध. ३/१,२ १/२/ पंक्ति नं.—तं च दव्वं दुविहं, जीवदव्वं अजीवदव्वं चेदि।२। जं तं अजीवदव्वं तं दुविहं, रूवि अजीवदव्वं अरूवि अजीवदव्वं चेदि। तत्थ जं तं रूविअजीवदव्वं···पुद्गला रूपि अजीवदव्वं शब्दादि।६। जं तं अरूवि अजीवदव्वं तं चउव्विहं, धम्मदव्वं, अधम्मदव्वं, आगासदव्वं कालदव्वं चेदि।४। =वह द्रव्य दो प्रकारका है—जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य। उनमेंसे अजीवद्रव्य दो प्रकारका है—रूपी अजीवद्रव्य और अरूपी अजीवद्रव्य। तहाँ रूपी अजीवद्रव्य तो पुद्गल व शब्दादि हैं, तथा अरूपी अजीवद्रव्य चार प्रकारका है—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य। (गो. जी./मू./५६३-५६४/१००८)।

३. क्रियावान् व भाववान् विभाग

त. सू./५/७ निष्क्रियाणि च/७/

स. सि./५/७/२७३/१२ अधिकृतानां धर्माधर्माकाशानां निष्क्रियत्वेऽभ्युपगमे जीवपुद्गलानां सक्रियत्वमर्थादापन्नम्। =धर्माधर्मादिक निष्क्रिय है। अधिकृत धर्म अधर्म और आकाशद्रव्यको निष्क्रिय मान लेनेपर जीव और पुद्गल सक्रिय हैं यह बात अर्थापत्तिसे प्राप्त हो जाती है। (वसु. श्रा./३२) (द्र. सं./टी./अधि २ की चूलिका/७७) (पं. का./ता. वृ./२७/५७/८)।

प्र. सा./त. प्र./१२९ क्रियाभाववत्त्वेन केवलभाववत्त्वेन च द्रव्यस्यास्ति विशेषः। तत्र भाववन्तौ क्रियावन्तौ च पुद्गलजीवौ परिणामाद्भेदसंघाताभ्यां चोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वात्। शेषद्रव्याणि तु भाववन्त्येव परिणामादेवोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वादिति निश्चयः। तत्र परिणामलक्षणो भावः, परिस्पन्दलक्षणा क्रिया। तत्र सर्वद्रव्याणि परिणामस्वभावत्वात् भाववन्ति भवन्ति। पुद्गलास्तु परिस्पन्दस्वभावत्वात्···क्रियावन्तश्च भवन्ति। तथा जीवा अपि परिस्पन्दस्वभावत्वात्···क्रियावन्तश्च भवन्ति। =क्रिया व भाववान् तथा केवलभाववान्की अपेक्षा द्रव्योंके दो भेद हैं। तहाँ पुद्गल और जीव तो क्रिया व भाव दोनोंवाले हैं, क्योंकि परिणाम द्वारा तथा संघात व भेद द्वारा दोनों प्रकारसे उनके उत्पाद, व्यय व स्थिति होती हैं और शेष द्रव्य केवल भाववाले ही हैं क्योंकि केवल परिणाम द्वारा ही उनके उत्पादादि होते हैं। भावका लक्षण परिणाममात्र है और क्रियाका लक्षण परिस्पन्दन। समस्त ही द्रव्य भाववाले हैं, क्योंकि परिणाम स्वभावी है। पुद्गल क्रियावान् भी होते हैं, क्योंकि परिस्पदन स्वभाववाले हैं। तथा जीव भी क्रियावान् भी होते हैं, क्योंकि वे भी परिस्पन्दन स्वभाववाले हैं। (पं. ध./उ./२५)।

गो. जी./मू./५६६/१०१२ गदिठाणोग्गहकिरिया जीवाणं पुग्गलाणमेव हवे। धम्मतिये ण हि किरिया मुक्खा पुण साधगा होंति।५६६। =गति स्थिति और अवगाहन ये तीन क्रिया जीव और पुद्गलके ही पाइये हैं। बहुरि धर्म अधर्म आकाशविषै ये क्रिया नाहीं हैं। बहुरि वे तीनों द्रव्य उन क्रियाओंके केवल साधक हैं।

पं. का./ता. वृ./२७/५७/६ क्रियावन्तौ जीवपुद्गलौ धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि पुनर्निष्क्रियाणि। =जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य क्रियावान् हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारों निष्क्रिय हैं। (पं. ध./उ./१३३)।

दे. जीव/३/८ (असर्वगत होनेके कारण जीव क्रियावान् है; जैसे कि पृथिवी, जल आदि असर्वगत पदार्थ)।

४. एक अनेककी अपेक्षा विभाग

रा.वा./५/६/६/४४५/२७ धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्यं च द्रव्यत एकैकमेव।··· एकमेवाकाशमिति न जीवपुद्गलवदेषां बहुत्वम्, नापि धर्मादिवत् जीवपुद्गलानामेकद्रव्यत्वम्। ='धर्म' और 'अधर्म' द्रव्यकी अपेक्षा एक ही हैं, इसी प्रकार आकाश भी एक ही है। जीव व पुद्गलोंकी भाँति इनके बहुत्वपना नहीं है। और न ही धर्मादिकी भाँति जीव व पुद्गलोंके एक द्रव्यपना है। (द्र.सं./टी./अधि २ की चूलिका/७७/६); (पं.का./ता.वृ./२७/५७/६)।

वसु.श्रा./३० धम्माधम्मागासा एगसरूवा पएसअविओगा। ववहारकाल-पुग्गल-जीवा हु अणेयरूवा ते।३०। =धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य एक स्वरूप हैं अर्थात् अपने स्वरूपको बदलते नहीं, क्योंकि इन तीनों द्रव्योंके प्रदेश परस्पर अवियुक्त हैं अर्थात् लोकाकाशमें व्याप्त हैं। व्यवहारकाल, पुद्गल और जीव ये तीन द्रव्य अनेक स्वरूप हैं, अर्थात् वे अनेक रूप धारण करते हैं।

५. परिणामी व नित्यकी अपेक्षा विभाग

वसु.श्रा./२७,३३ वंजणपरिणइविरहा धम्मादीआ हवे अपरिणामा। अत्थपरिणामभासिय सव्वे परिणामिणो अत्था।२७। मुत्ता जीवं कायं णिच्चा सेसा पयासिया समये। वजणमपरिणामचुया इयरे तं परिणयं-पत्ता।३। =धर्म, अधर्म, आकाश और चार द्रव्य व्यंजनपर्यायके अभावसे अपरिणामी कहलाते है। किन्तु अर्थपर्यायकी अपेक्षा सभी पदार्थ परिणामी माने जाते हैं, क्योंकि अर्थपर्याय सभी द्रव्योंमें होती है।२७। जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंको छोड़कर शेष चारों द्रव्योंको परमागममें नित्य कहा गया है, क्योंकि उनमें व्यंजनपर्यायें नहीं पायी जाती हैं। जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें व्यंजनपर्याय पायी जाती है, इसलिए वे परिणामी व अनित्य हैं।३३। (द्र.सं./टी./अधि. २ की चूलिका/७६-७; ७७-१०) (प.का./ता.वृ./२७/५७/६)।

६. सप्रदेशी व अप्रदेशीकी अपेक्षा विभाग

वसु. श्रा./२६ सपएसपंचकालं मुत्तूण पएससंचया णेया। अपएसो खलु कालो पएसबंधच्चुदो जम्हा।२६। =कालद्रव्यको छोड़कर शेष पाँच द्रव्य सप्रदेशी जानना चाहिए, क्योंकि, उनमें प्रदेशोंका संचय पाया जाता है। कालद्रव्य अप्रदेशी है, क्योंकि वह प्रदेशोंके बन्ध या समूहसे रहित है, अर्थात् कालद्रव्यके कालाणु भिन्न-भिन्न ही रहते हैं (द्र.सं./टी./अधि. २ की चूलिका/७७/४); (पं.का./ता.वृ./२७/५७/४)। (विशेष दे० अस्तिकाय)

७. क्षेत्रवान् व अक्षेत्रवान्की अपेक्षा विभाग

वसु.श्रा./३१ आगासमेव खित्तं अवगाहणलक्खणं जदो भणियं। सेसाणि पुणोऽखित्तं अवगाहणलक्खणाभावा। =एक आकाश द्रव्य ही

क्षेत्रवान् है क्योंकि उसका अवगाहन लक्षण कहा गया है। शेष पाँच द्रव्य क्षेत्रवान् नहीं हैं, क्योंकि उनमें अवगाहन लक्षण नहीं पाया जाता (पं.का./ता.वृ./२७/५७/७) (द्र.सं./टी./अधि. २ की चूलिका/७७/७)। **(विशेष दे० आकाश/१)।**

८. सर्वगत व असर्वगतकी अपेक्षा विभाग

वसु.श्रा./३६ सव्वगदत्ता सव्वगमं आसं णेव सेसगं दव्वं। =सर्वव्यापक होनेसे आकाशको सर्वगत कहते है। शेष कोई भी सर्वगत नहीं है।

द्र.सं/टी./अधि. २ की चूलिका/७८/११ सर्वगतं लोकालोकव्याप्त्यपेक्षया सर्वगतमाकाशं भण्यते। लोकव्याप्त्यपेक्षया धर्माधर्मौ च। जीवद्रव्यं पुनरेकजीवापेक्षया लोकपूर्णावस्थायां विहाय असर्वगतं, नानाजीवापेक्षया सर्वगतमेव भवति। पुद्गलद्रव्यं पुनर्लोकरूपमहास्कन्धापेक्षया सर्वगतं, शेषपुद्गलापेक्षया सर्वगतं न भवति। कालद्रव्यं पुनरेककालाणुद्रव्यापेक्षया सर्वगतं न भवति, लोकप्रदेशप्रमाणनानाकालाणुविवक्षया लोके सर्वगतं भवति। =लोकालोकव्यापक होनेकी अपेक्षा आकाश सर्वगत कहा जाता है। लोकमें व्यापक होनेकी अपेक्षा धर्म और अधर्म सर्वगत हैं। जीवद्रव्य एकजीवकी अपेक्षा लोकपूरण समुद्घातके सिवाय असर्वगत है। और नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वगत ही हैं। पुद्गलद्रव्य लोकव्यापक महास्कन्धकी अपेक्षा सर्वगत है और शेष पुद्गलोंकी अपेक्षा असर्वगत है। एक कालाणुद्रव्यकी अपेक्षा तो कालद्रव्य सर्वगत नहीं है, किन्तु लोकप्रदेशके बराबर असंख्यात कालाणुओंकी अपेक्षा कालद्रव्य लोकमें सर्वगत है (पं का./ता.वृ./२७/५७/२१)।

९. कर्ता व भोक्ताकी अपेक्षा विभाग

वसु.श्रा./३५ कत्ता सुहासुहाणं कम्माणं फलभोयओ जम्हा। जीवो तप्फलभोया सेसा ण कत्तारा ।३५।

द्र.सं./टी./अधि. २ की चूलिका/७८/६ शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि··· घटपटादीनामकर्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनिश्चयेन···पुण्यपापबन्धयोः कर्ता तत्फलभोक्ता च भवति। मोक्षस्यापि कर्ता तत्फलभोक्ता चेति। शुभाशुभशुद्धपरिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं सर्वत्र ज्ञातव्यमिति। पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणां च स्वकीय-स्वकीयपरिणामेन परिणमनमेव कर्तृत्वम्। वस्तुवृत्त्या पुनः पुण्यपापादिरूपेणाकर्तृत्वमेव। =१. जीव शुभ और अशुभ कर्मोंका कर्ता तथा उनके फलका भोक्ता है, किन्तु शेष द्रव्य न कर्मोंके कर्ता है न भोक्ता ।३५। २. शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे यद्यपि जीव घटपट आदिका अकर्ता है, तथापि अशुद्धनिश्चयनयसे पुण्य, पाप व बन्ध, मोक्ष तत्त्वोंका कर्ता तथा उनके फलका भोक्ता है। शुभ, अशुभ और शुद्ध परिणामोंका परिणमन ही सर्वत्र जीवका कर्तापना जानना चाहिए। पुद्गलादि पाँच द्रव्योंका स्वकीय-स्वकीय परिणामोंके द्वारा परिणमन करना ही कर्तापना है। वस्तुतः पुण्य पाप आदि रूपसे उनके अकर्तापना है। (पं.का./ता.वृ./२७/५७/१५)।

१०. द्रव्यके या वस्तुके एक दो आदि भेदोंकी अपेक्षा विभाग

विकल्प	द्रव्यकी अपेक्षा (क.पा.१/१-१४/§२०७/२११-२१५)	वस्तुकी अपेक्षा (ध.९/४,१,४५/१६८-१६९)
१	सत्ता	सत्
२	जीव, अजीव	जीवभाव-अजीवभाव। विधि-निषेध। मूर्त-अमूर्त। अस्तिकाय-अनस्तिकाय
३	भव्य, अभव्य, अनुभय	द्रव्य, गुण, पर्याय
४	(जीव)=संसारी, असंसारी (अजीव)=पुद्गल, अपुद्गल	बद्ध, मुक्त, बन्धकारण, मोक्षकारण
५	(जीव)=भव्य, अभव्य, अनुभय (अजीव)=मूर्त, अमूर्त	औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक
६	जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म काल व आकाश	द्रव्यवत्
७	जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा मोक्ष	बद्ध, मुक्त, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल व आकाश
८	जीवास्रव, अजीवास्रव, जीवसंवर, अजीवसंवर जीवनिर्जरा, अजीवनिर्जरा जीवमोक्ष, अजीवमोक्ष	भव्य संसारी, अभव्य संसारी, मुक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल
९	जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष	द्रव्यवत्
१०	(जीव)=एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय (अजीव)=पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश, काल	द्रव्यवत्
११	(जीव)=पृथिवी, अप, तेज, वायु, वनस्पति, व त्रस तथा (अजीव)=पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल	द्रव्यवत्
१२	(जीव)=पृथिवी, अप, तेज, वायु, वनस्पति, संज्ञी, असंज्ञी; तथा (अजीव)=पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल	——
१३	(जीव)=भव्य, अभव्य, अनुभय; (पुद्गल)=बादर-बादर, बादर, बादरसूक्ष्म, सूक्ष्मबादर, सूक्ष्म, सूक्ष्म-सूक्ष्म; (अमूर्त अजीव)=धर्म, अधर्म, आकाश, काल	——

४. सत् व द्रव्यमें कथंचित् भेदाभेद

१. सत् या द्रव्यकी अपेक्षा द्वैत-अद्वैत

१. एकान्त अद्वैतपक्षका निरास

जगत्में एक ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं, ऐसा 'ब्रह्माद्वैत' माननेसे—प्रत्यक्ष गोचर कर्ता, कर्म आदिके भेद तथा शुभ-अशुभ कर्म, उनके सुख-दुःखरूप फल, सुख-दुःखके आश्रयभूत यह लोक व परलोक, विद्या व अविद्या तथा बन्ध व मोक्ष इन सब प्रकारके द्वैतोंका सर्वथा अभाव ठहरे। (आप्त मी./२४-२५)। बौद्धदर्शनका प्रतिभासाद्वैत तो किसी प्रकार सिद्ध ही नहीं किया जा सकता। यदि ज्ञेयभूत वस्तुओंको प्रतिभासमें गर्भित करनेके लिए हेतु देते हो तो हेतु और साध्यरूप द्वैतकी स्वीकृति करनी पड़ती है और आगम प्रमाणसे मानते हो तो वचनमात्रसे ही द्वैतता आ जाती है। (आप्त. मी./२६) दूसरी बात यह भी तो है कि जैसे 'हेतु' के बिना 'अहेतु' शब्दकी उत्पत्ति नहीं होती वैसे ही द्वैतके बिना अद्वैतकी प्रतिपत्ति कैसे होगी। (आप्त. मी./२७)।

२. एकान्त द्वैतपक्षका निरास

वैशेषिक लोग द्रव्य, गुण, कर्म आदि पदार्थोंको सर्वथा भिन्न मानते हैं। परन्तु उनकी यह मान्यता युक्त नहीं है, क्योंकि जिस पृथक्त्व नामा गुणके द्वारा वे ये भेद करते हैं, वह स्वयं ही बेचारा द्रव्यादिसे पृथक् होकर, निराश्रय हो जानेके कारण अपनी सत्ता खो बैठेगा, तब दूसरोंको पृथक् कैसे करेगा। और यदि उस पृथक्त्वको द्रव्यसे अभिन्न मानकर अपने प्रयोजनकी सिद्धि करना चाहते हो तो उन गुण, कर्म आदिको द्रव्यसे अभिन्न क्यों नहीं मान लेते। (आ. मी /२८) इसी प्रकार भेदवादी बौद्धोंके यहाँ भी सन्तान, समुदाय, व प्रेत्यभाव (परलोक) आदि पदार्थ नहीं बन सकेंगे। परन्तु ये सब बातें प्रमाण सिद्ध हैं। दूसरी बात यह है कि भेद पक्षके कारण वे ज्ञेयको ज्ञानसे सर्वथा भिन्न मानते हैं। तब ज्ञान ही किसे कहोगे? ज्ञानके अभावमें ज्ञेयका भी अभाव हो जायेगा। (आ. मी./२९-३०)

३. कथंचित् द्वैत व अद्वैतका समन्वय

अतः दोनोंको सर्वथा निरपेक्ष न मानकर परस्पर सापेक्ष मानना चाहिए, क्योंकि, एकत्वके बिना पृथक्त्व और पृथक्त्वके बिना एकत्व प्रमाणताको प्राप्त नहीं होते। जिस प्रकार हेतु अन्वय व व्यतिरेक दोनों रूपोंको प्राप्त होकर ही साध्यकी सिद्धि करता है, इसी प्रकार एकत्व व पृथक्त्व दोनोंसे पदार्थकी सिद्धि होती है। (आप्त मी /३३) सत सामान्यकी अपेक्षा सर्व द्रव्य एक है और स्व स्व लक्षण व गुणों आदिको धारण करनेके कारण सब पृथक्-पृथक् है। (प्र सा /मू व त प्र /९७-९८); (आप्त मी /३४); (का. अ./२३६) प्रमाणगोचर होनेसे उपरोक्त द्वैत व अद्वैत दोनों सत्स्वरूप हैं उपचार नहीं इसलिए गौण मुख्य विवक्षासे उन दोनोंमें अविरोध है। (आप्त. मी./३६) (और भी देखो क्षेत्र, काल व भावकी अपेक्षा भेदाभेद)।

२. क्षेत्र या प्रदेशोंकी अपेक्षा द्रव्यमें भेद कथंचित् भेदाभेद

१. द्रव्यमें प्रदेशकल्पनाका निर्देश

जिस पदार्थमें न एक प्रदेश है और न बहुत वह शून्य मात्र है। (प्र. सा./मू./१४४-१४५) आगममें प्रत्येक द्रव्यके प्रदेशोंका निर्देश किया है (दे० वह वह नाम)—आत्मा असंख्यात प्रदेशी है, उसके एक-एक प्रदेशपर अनन्तानन्त कर्मप्रदेश, एक-एक कर्मप्रदेशमें अनन्तानन्त औदारिक शरीर प्रदेश, एक-एक शरीरप्रदेशमें अनन्तानन्त विस्रसोपचय परमाणु हैं। इसी प्रकार धर्मादि द्रव्योंमें भी प्रदेश भेद जान लेना चाहिए। (रा. वा./५/८/१५/४५१/७)।

२. आकाशके प्रदेशत्वमें हेतु

१. घटका क्षेत्र पटका नहीं हो जाता। तथा यदि प्रदेशभिन्नता न होती तो आकाश सर्वव्यापी न होता। (रा. वा./५/८/५/४५०/३); (पं. का./त.प्र./५)। २. यदि आकाश अप्रदेशी होता तो पटना मथुरा आदि प्रतिनियत स्थानोंमें न होकर एक ही स्थानपर हो जाते। (रा. वा./५/८/१९/४५१/२१)। ३. यदि आकाशके प्रदेश न माने जायें तो सम्पूर्ण आकाश ही श्रोत्र बन जायेगा। उसके भीतर आये हुए प्रतिनियत प्रदेश नहीं। तब सभी शब्द सभीको सुनाई देने चाहिए। (रा. वा./५/८/१६/४५१/२७)। ४. एक परमाणु यदि पूरे आकाशसे स्पर्श करता है तो आकाश अणुवत् बन जायेगा अथवा परमाणु विभु बन जायेगा, और यदि उसके एक देशसे स्पर्श करता है तो आकाशके प्रदेश मुख्य ही सिद्ध होते हैं, औपचारिक नहीं। (रा. वा./५/८/१६/४५१/२८)। ५. एक आश्रयसे हटाकर दूसरे आश्रयमें अपने आधारको ले जाना, यह वैशेषिक मान्य 'कर्म' पदार्थका स्वभाव है। आकाशमें प्रदेशभेदके बिना यह प्रदेशान्तर संक्रमण नहीं बन सकता। (रा. वा./५/८/२०/४५१/३१)। ६. आकाशमें दो उँगलियाँ फैलाकर इनका एक क्षेत्र कहनेपर—यदि आकाश अभिन्नांशवाला अविभागी एक द्रव्य है तो दोमें से एकवाले अंशका अभाव हो जायेगा, और इसी प्रकार अन्य अन्य अंशोंका भी अभाव हो जानेसे आकाश अणुमात्र रह जायेगा। यदि भिन्नांशवाला एक द्रव्य है तो फिर आकाशमें प्रदेशभेद सिद्ध हो गया।—यदि उँगलियोंका क्षेत्र भिन्न है तो आकाशको सविभागी एक द्रव्य माननेपर उसे अनन्तपना प्राप्त होता है और अविभागी एकद्रव्य माननेपर उसमें प्रदेश भेद सिद्ध होता है (प्र. सा /त. प्र /१४०) (विशेष दे० आकाश/२)

३. जीव द्रव्यके प्रदेशत्वमें हेतु

१. आगममें जीवद्रव्य प्रदेशोंका निर्देश किया है। (दे० जीव/४/१); (रा. वा /५/८/१५/४५१/७)। २ आगममें जीवके प्रदेशोंमें चल व अचल प्रदेशरूप विभाग किया है (दे० जीव/४)। ३. आगममें चक्षु आदि इन्द्रियोंमें प्रतिनियत आत्मप्रदेशोंका अवस्थान कहा है। (दे० इन्द्रिय/३/५)। उनका परस्परमें स्थान संक्रमण भी नहीं होता। (रा. वा /५/८/१७/४५१/१८)। ४. अनादि कर्मबन्धनबद्ध संसारी जीवमें सावयवपना प्रत्यक्ष है। (रा वा./५/८/२२/४५२/८)। ५. आत्माके किसी एक देशमें परिणमन होनेपर उसके सर्वदेशमें परिणमन पाया जाता है। (पं. ध./६६४)।

४ द्रव्योंका यह प्रदेशभेद उपचार नहीं है

१. मुख्यके अभावमें प्रयोजनवश अन्य प्रसिद्ध धर्मका अन्यमें आरोप करना उपचार है। यहाँ सिंह व माणवकवत् पुद्गलादिके प्रदेशवत्त्वमें मुख्यता और धर्मादि द्रव्योंके प्रदेशवत्त्वमें गौणता हो ऐसा नहीं है, क्योंकि दोनों ही अवगाहकी अपेक्षा तुल्य हैं। (रा. वा./५/८/११/४५०/२६)। २. जैसे पुद्गल पदार्थोंमें 'घटके प्रदेश' ऐसा सोपपद व्यवहार होता है, वैसा ही धर्मादिमें भी 'धर्मद्रव्यके प्रदेश' ऐसा सोपपद व्यवहार होता है। 'सिंह' व 'माणवक सिंह' ऐसा निरुपपद व सोपपदरूप भेद यहाँ नहीं है। (रा. वा./५/८/११/४५०/२९)। ३. सिंहमें मुख्य क्रूरता आदि धर्मोंको देखकर उसके माणवकमें उपचार करना बन जाता है, परन्तु यहाँ पुद्गल और धर्मादि सभी द्रव्योंके मुख्य प्रदेश होनेके कारण, एकका दूसरेमें उपचार करना नहीं बनता। (रा. वा./५/८/१३/४५०/३२)। ४. पौद्गलिक घटादिक द्रव्य प्रत्यक्ष हैं। इसलिए उनमें ग्रीवा पेंदा आदि निज अवयवों द्वारा प्रदेशोंका व्यवहार बन जाता है, परन्तु धर्मादि द्रव्य परोक्ष होनेसे

ऐसा व्यवहार सम्भव नहीं है। इसलिए उनमें मुख्य प्रदेश विद्यमान रहनेपर भी परमाणुके नामसे उनका व्यवहार किया जाता है।

५. प्रदेशभेद करनेसे द्रव्य खण्डित नहीं होता

१. घटादिकी भाँति धर्मादि द्रव्योंमें विभागी प्रदेश नहीं हैं। अतः अविभागी प्रदेश होनेसे वे निरवयव हैं। (रा. वा./५/८/६/४५०/८)।

२. प्रदेशको ही स्वतन्त्र द्रव्य मान लेनेसे द्रव्यके गुणोंका परिणमन भी सर्वदेशमें न होकर देशांशोंमें ही होगा। परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता, क्योंकि, देहके एकदेशमें स्पर्श होनेपर सर्व शरीरमें इन्द्रियजन्य ज्ञान पाया जाता है। एक सिरेपर हिलाया बाँस अपने सर्व पर्वोंमें बराबर हिलता है। (पं.ध./पू./३१-३५)

३. यद्यपि परमाणु व कालाणु एकप्रदेशी भी द्रव्य हैं, परन्तु वे भी अखण्ड हैं। (पं.ध./पू./३६)

४. द्रव्यके प्रत्येक प्रदेशमें 'यह वही द्रव्य है' ऐसा प्रत्यय होता है। (पं.ध./पू./३६)

६. सावयव व निरवयवपनेका समन्वय

१. पुरुषकी दृष्टिसे एकत्व और हाथ-पाँव आदि अंगोंकी दृष्टिसे अनेकत्वकी भाँति आत्माके प्रदेशोंमें द्रव्य व पर्याय दृष्टिसे एकत्व अनेकत्वके प्रति अनेकान्त है। (रा. वा/५/८/२१/४५२/१) २. एक पुरुषमें लावक पाचक आदि रूप अनेकत्वकी भाँति धर्मादि द्रव्योंमें भी द्रव्यकी अपेक्षा और प्रतिनियत प्रदेशोंकी अपेक्षा अनेकत्व है। (रा.वा/५/८/२१/४५२/३) ३. अखण्ड उपयोगस्वरूपकी दृष्टिसे एक होता हुआ भी व्यवहार दृष्टिसे आत्मा संसारावस्थामें सावयव व प्रदेशवान् है।

३. कालकी या पर्याय-पर्यायीकी अपेक्षा द्रव्यमें कथंचित् भेदाभेद

१. कथंचित् अभेद पक्षमें युक्ति

१. पर्यायसे रहित द्रव्य (पर्यायी) और द्रव्यसे रहित पर्याय पायी नहीं जाती, अतः दोनों अनन्य हैं। (पं.का./मू./१२) २. गुणों व पर्यायोंकी सत्ता भिन्न नहीं है। (प्र.सा./मू./१०७); (ध.८/३,४/६/४); (पं.ध./पू./११७)

२. कथंचित् भेद पक्षमें युक्ति

१. जो द्रव्य है, सो गुण नहीं और जो गुण है सो पर्याय नहीं, ऐसा इनमें स्वरूप भेद पाया जाता है। (प्र.सा./त.प्र./१३०)

३. भेदाभेदका समन्वय

१. लक्षणकी अपेक्षा द्रव्य (पर्यायी) व पर्यायमें भेद है, तथा वह द्रव्यसे पृथक् नहीं पायी जाती इसलिए अभेद है। (क.पा. १/१-१४/§२४३-२४४/२८८/१); (क.पा.१/१-२१/§३६४/३८३/३) २. धर्म-धर्मीरूप भेद होते हुए भी वस्तुस्वरूपसे पर्याय व पर्यायीमें भेद नहीं है। (पं.का/त.प्र./१२); (का.अ./मू./२४५) ३. सर्व पर्यायोंमें अन्वयरूपसे पाया जानेके कारण द्रव्य एक है, तथा अपने गुण-पर्यायोंकी अपेक्षा अनेक है। (ध.३/१,२,१/श्लो. ५/६) ४. त्रिकाली पर्यायोंका पिण्ड होनेसे द्रव्य कथंचित् एक व अनेक है। (ध.३/१,२, १/श्लो.३/५); (ध.१/४,१,४५/श्लो.६६/१८३) ५. द्रव्यरूपसे एक तथा पर्याय रूपसे अनेक है। (रा.वा./१/१/१६/७/२१); (न.दी./३/§७६/१२१)

४. भावकी अर्थात् धर्म-धर्मीकी अपेक्षा द्रव्यमें कथंचित् भेदाभेद

१. कथंचित् अभेदपक्षमें युक्ति

१. द्रव्य, गुण व पर्याय ये तीनों ही धर्म प्रदेशोंसे पृथक्-पृथक् होकर युतसिद्ध नहीं हैं बल्कि तादात्म्य हैं। (पं.का/मू./५०); (स.सि./५/३८/३० पर उद्धृत गाथा); (प्र.सा./त.प्र./९८,१०६) २. अयुतसिद्ध पदार्थोंमें संयोग व समवाय आदि किसी प्रकारका भी सम्बन्ध सम्भव नहीं है। (रा.वा/५/२/१०/४३६/२५); (क.पा/१/१-२०/§३२२/३५४/१) ३. गुण द्रव्यके आश्रय रहते हैं। धर्मीके बिना धर्म और धर्मके बिना धर्मी टिक नहीं सकता। (पं.का./मू./१३); (आप्त.मी./७५); (ध./१/४,१,२/४०/६); (पं.ध/पू./७) ४. यदि द्रव्य स्वयं सत् नहीं तो वह द्रव्य नहीं हो सकता। (प्र.सा./मू./१०५) ५. तादात्म्य होनेके कारण गुणोंको आत्मा या उनका शरीर ही द्रव्य है। (आप्त.मी./७५); (पं.ध./पू./३६,४३८) ६. यह कहना भी युक्त नहीं है कि अभेद होनेसे उनमें परस्पर लक्ष्य-लक्षण भाव न बन सकेगा, क्योंकि जैसे अभेद होनेपर भी दीपक और प्रकाशमें लक्ष्य-लक्षण भाव बन जाता है, उसी प्रकार आत्मा व ज्ञानमें तथा अन्य द्रव्यों व उनके गुणोंमें भी अभेद होते हुए लक्ष्य-लक्षण भाव बन जाता है। (रा.वा./५/२/११/४४०/१) ७. द्रव्य व उसके गुणोंमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा अभेद है। (पं.का./ता.वृ./४२/८५/८)।

२. कथंचित् भेदपक्षमें युक्ति

१ जो द्रव्य होता है सो गुण व पर्याय नहीं होता और जो गुण पर्याय है वे द्रव्य नहीं होते, इस प्रकार इनमें परस्पर स्वरूप भेद है। (प्र.सा./त.प्र./१३०) २. यदि गुण-गुणी रूपसे भी भेद न करें तो दोनोंमें-से किसीके भी लक्षणका कथन सम्भव नहीं। (ध ३/१,२,१/६/३); (का.अ/मू./१८०)।

३ भेदाभेदका समन्वय

१ लक्ष्य-लक्षण रूप भेद होनेपर भी वस्तु स्वरूपसे गुण व गुणी अभिन्न है। (पं.का/त.प्र./१) २ विशेष्य-विशेषणरूप भेद होते हुए भी दोनों वस्तुतः अपृथक् हैं। (क.पा.१/१-१४/§२४२/२८६/३) ३. द्रव्यमें गुण गुणी भेद प्रादेशिक नहीं बल्कि अतद्भाविक है अर्थात् उस उसके स्वरूपकी अपेक्षा है। (प्र.सा./त.प्र/९८) ४. संज्ञा आदिका भेद होनेपर भी दोनों लक्ष्य-लक्षण रूपसे अभिन्न हैं। (रा.वा.२/८/६/११६/२२) ५. संज्ञाकी अपेक्षा भेद होनेपर भी सत्ताकी अपेक्षा दोनोंमें अभेद है। (पं.का./त.प्र./१३) ६. संज्ञा आदिका भेद होनेपर भी स्वभावसे भेद नहीं है। (पं.का./मू./५१-५२) ७. संज्ञा लक्षण प्रयोजनसे भेद होते हुए भी दोनोंमें प्रदेशोंसे अभेद है। (पं.का./मू./४५-४६); (आप्त.मी./७१-७२); (स.सि./५/२/२६७/७); (पं.का./त.प्र/५०-५२) ८. धर्मीके प्रत्येक धर्मका अन्य अन्य प्रयोजन होता है। उनमेंसे किसी एक धर्मके मुख्य होनेपर शेष गौण हो जाते हैं। (आप्त.मी./२२); (ध.१/४,१,४५/श्लो.६८/१८३) ९. द्रव्यार्थिक दृष्टिसे द्रव्य एक व अखण्ड है, तथा पर्यायार्थिक दृष्टिसे उसमें प्रदेश, गुण व पर्याय आदिके भेद हैं। (पं.ध./पू./८४)

५. एकान्त भेद या अभेद पक्षका निरास

१. एकान्त अभेद पक्षका निरास

१. गुण व गुणीमें सर्वथा अभेद हो जानेपर या तो गुण ही रहेंगे, या फिर गुणी ही रहेगा। तब दोनोंका पृथक्-पृथक्

व्यपदेश भी सम्भव न हो सकेगा। (रा. वा/५/२/६/४३६/१२) २. अकेले गुणके या गुणीके रहनेपर—यदि गुणी रहता है तो गुणका अभाव होनेके कारण वह निःस्वभावी होकर अपना भी विनाश कर बैठेगा। और यदि गुण रहता है तो निराश्रय होनेके कारण वह कहाँ टिकेगा। (रा.वा/५/२/६/४३६/१३). (रा.वा/५/२/१२/४४०/१०) ३. द्रव्यको सर्वथा गुण समुदाय मानने वालोंसे हम पूछते हैं, कि वह समुदाय द्रव्यसे भिन्न है या अभिन्न? दोनों ही पक्षोंमें अभेद व भेदपक्षमें कहे गये दोष आते हैं। (रा.वा/५/२/१/४४०/१४)

२. एकान्त भेद पक्षका निरास

१. गुण व गुणी अविभक्त प्रदेशी हैं, इसलिए भिन्न नहीं हैं। (पं.का./मू./४५) २. द्रव्यसे पृथक् गुण उपलब्ध नहीं होते। (रा.वा/५/३८/४/५०१/२०) ३. धर्म व धर्मीको सर्वथा भिन्न मान लेनेपर कारणकार्य, गुण-गुणी आदिमें परस्पर 'यह इसका कारण है और यह इसका गुण है' इस प्रकारकी वृत्ति सम्भव न हो सकेगी। या दण्ड दण्डीकी भाँति युतसिद्धरूप वृत्ति होगी। (आप्त. मी./६२-६३) ४. धर्म-धर्मीको सर्वथा भिन्न माननेसे विशेष्य-विशेषण भाव घटित नहीं हो सकते। (स.म./४/१७/१८) ५. द्रव्यसे पृथक् रहनेवाला गुण निराश्रय होनेसे असत् हो जायेगा और गुणसे पृथक् रहनेवाला द्रव्य निःस्वरूप होनेसे कल्पना मात्र बनकर रह जायेगा। (पं.का/मू./४४-४५) (रा.वा/५/२/६/४३६/१५) ६. क्योंकि नियमसे गुण द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं, इसलिए जितने गुण होंगे उतने ही द्रव्य हो जायेंगे। (पं. का./मू./४४) ७. आत्मा ज्ञानसे पृथक् हो जानेके कारण जड़ बनकर रह जायेगा। (रा.वा/१/६/११/४६/१५)

३. धर्म-धर्मीमें संयोग सम्बन्धका निरास

अब यदि भेद पक्षका स्वीकार करनेवाले वैशेषिक या बौद्ध दण्ड-दण्डीवत् गुणके संयोगसे द्रव्यको 'गुणवान्' कहते हैं तो उनके पक्षमें अनेकों दूषण आते हैं—१. द्रव्यत्व या उष्णत्व आदि सामान्य धर्मोंके योगसे द्रव्य व अग्नि द्रव्यत्ववान् या उष्णत्ववान् बन सकते हैं पर द्रव्य या उष्ण नहीं। (रा. वा./५/२/४/४३/३२); (रा. वा/१/१/१२/६/४)। २ जैसे 'घट', 'पट' को प्राप्त नहीं कर सकता अर्थात् उस रूप नहीं हो सकता, तब 'गुण', 'द्रव्य' को कैसे प्राप्त कर सकेगा (रा. वा./५/२/११/४३६/३१)। ३. जैसे कच्चे मिट्टीके घड़ेके अग्निमें पकनेके पश्चात् लाल रंग रूप पाकज धर्म उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार पहले न रहनेवाले धर्म भी पदार्थमें पीछेसे उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार 'पिठर पाक' सिद्धान्तको बतानेवाले वैशेषिकोंके प्रति कहते हैं कि इस प्रकार गुणको द्रव्यसे पृथक् मानना होगा, और वैसा माननेसे पूर्वोक्त सर्व दूषण स्वतः प्राप्त हो जायेंगे। (रा. वा./५/२/१०/४३६/२२)। ४. और गुण-गुणीमें दण्ड-दण्डीवत् युतसिद्धत्व दिखाई भी तो नहीं देता। (प्र. सा./ता. वृ./९८)। ५. यदि युतसिद्धपना मान भी लिया जाये तो हम पूछते हैं, कि गुण जिसे निष्क्रिय स्वीकार किया गया है, संयोगको प्राप्त होनेके लिए चलकर द्रव्यके पास कैसे जायेगा। (रा. वा./५/२/६/४३६/१६) ६. दूसरी बात यह भी है कि संयोग सम्बन्ध तो दो स्वतन्त्र सत्ताधारी पदार्थोंमें होता है, जैसे कि देवदत्त व फरसेका सम्बन्ध। परन्तु यहाँ तो द्रव्य व गुण भिन्न सत्ताधारी पदार्थ ही प्रसिद्ध नहीं है, जिनका कि संयोग होना सम्भव हो सके। (स. सि./५/२/२६६/१०) (रा. वा./१/१/५/७/५/८); (रा. वा./१/६/११/४६/१६); (रा. वा./५/२/१०/४३६/२०); (रा. वा./५/२/३/४३६/३१); (क. पा. १/१-२०/§ ३२२/३५३/६)। ७. गुण व गुणीके संयोगसे पहले न गुणका लक्षण किया जा सकता है और न गुणीका। तथा न निराश्रय गुणकी सत्ता रह सकती है और न निःस्वभावी गुणी की। (पं. ध./पू./४१-४४)। ८. यदि उष्ण गुणके संयोगसे अग्नि उष्ण होती है तो वह उष्णगुण भी अन्य उष्णगुणके योगसे उष्ण होना चाहिए। इस प्रकार गुणके योगसे द्रव्यको गुणी माननेसे अनवस्थादोष आता है। (रा. वा/१/१/१०/५/२५); (रा. वा/२/८/५/११६/१७)। ९. यदि जिनका अपना कोई भी लक्षण नहीं है ऐसे द्रव्य व गुण, इन दो पदार्थोंके मिलनेसे एक गुणवान् द्रव्य उत्पन्न हो सकता है तो दो अन्धोंके मिलनेसे एक नेत्रवान् हो जाना चाहिए। (रा. वा./१/६/११/४६/२०); (रा. वा./५/२/३/४३७/५)। १०. जैसे दीपकका संयोग किसी जात्यंध व्यक्तिको दृष्टि प्रदान नहीं कर सकता उसी प्रकार गुण किसी निर्गुण पदार्थमें अनहुई शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकता। (रा. वा./१/१०/६/५०/१५)।

४. धर्म व धर्मीमें समवाय सम्बन्धका निरास

यदि यह कहा जाये कि गुण व गुणीमें संयोग सम्बन्ध नहीं है बल्कि समवाय सम्बन्ध है जो कि समवाय नामक 'एक', 'विभु', व 'नित्य' पदार्थ द्वारा कराया जाता है, तो वह भी कहना नहीं बनता —क्योंकि, १. पहले तो वह समवाय नामका पदार्थ ही सिद्ध नहीं है (दे० समवाय)। २. और यदि उसे मान भी लिया जाये तो, जो स्वयं ही द्रव्यसे पृथक् होकर रहता है ऐसा समवाय नामका पदार्थ भला गुण व द्रव्यका सम्बन्ध कैसे करा सकता है। (आप्त. मी./६४, ६६); (रा. वा./१/१/१४/६/१६)। ३. दूसरे एक समवाय पदार्थकी अनेकोंमें वृत्ति कैसे सम्भव है। (आप्त. मी. ६५) (रा. वा./१/३३/५/९६/१७)। ४. गुणका सम्बन्ध होनेसे पहले वह द्रव्य गुणवान् है, या निर्गुण? यदि गुणवान् तो फिर समवाय द्वारा सम्बन्ध करानेकी कल्पना ही व्यर्थ है, और यदि वह निर्गुण है तो गुणके सम्बन्धसे भी वह गुणवान् कैसे बन सकेगा। क्योंकि किसी भी पदार्थमें असत् शक्तिका उत्पाद असम्भव है। यदि ऐसा होने लगे तो ज्ञानके सम्बन्धसे घट भी चेतन बन बैठेगा। (पं. का./मू./४८-४९); (रा. वा./१/१/६/५/२१), (रा. वा./१/३३/५/९६/३); (रा. वा./५/२/३/४३७/७)। ५. ज्ञानका सम्बन्ध जीव से ही होगा घटसे नहीं यह नियम भी तो नहीं किया जा सकता। (रा. वा./१/१/१३/६/८), (रा. वा/१/६/११/४६/१६)। ६. यदि कहा जाये कि समवाय सम्बन्ध अपने समवायिकारणमें ही गुणका सम्बन्ध कराता है, अन्यमें नहीं और इसलिए उपरोक्त दूषण नहीं आता तो हम पूछते हैं कि गुणका सम्बन्ध होनेसे पहले जब द्रव्यका अपना कोई स्वरूप ही नहीं है, तो समवायिकारण ही किसे कहोगे। (रा. वा./५/२/३/४३७/१७)।

५. द्रव्यकी स्वतन्त्रता

१. द्रव्य अपना स्वभाव कभी नहीं छोड़ता

पं. का/मू./७ अण्णोण्णं पविस्संता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स। मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति।—छहों द्रव्य एक दूसरेमें प्रवेश करते हैं, एक दूसरेको अवकाश देते हैं, परस्पर (क्षीरनीरवत्) मिल जाते हैं, तथापि सदा अपने-अपने स्वभावको नहीं छोड़ते। (प. प्र./मू./२/२५)। (सं. सा./आ/३)।

पं. का./त. प्र./३७ द्रव्यं स्वद्रव्येण सदाशून्यमिति।—द्रव्य स्वद्रव्यसे सदा अशून्य है।

२. एक द्रव्य अन्य रूप परिणमन नहीं करता

प. प्र./मू./१/६७ अप्पा अप्पु जि परु जि परु अप्पा परु जि ण होइ। परु जि कयाइ वि अप्पु णवि णियमें पभणहिं जोइ।—निजवस्तु आत्मा ही है, देहादि पदार्थ पर ही हैं। आत्मा तो परद्रव्य नहीं होता और परद्रव्य आत्मा नहीं होता, ऐसा निश्चय कर योगीश्वर कहते हैं।

न. च. वृ./७ अवरोप्परं विमिस्सा तह अण्णोण्णावगासदो णिच्चं। संतो वि एयखेत्ते ण परसहावेहि गच्छंति ।७। = परस्परमें मिले हुए तथा एक दूसरेमें प्रवेश पाकर नित्य एकक्षेत्रमें रहते हुए भी इन छहों द्रव्योंमेंसे कोई भी अन्य द्रव्यके स्वभावको प्राप्त नहीं होता। (स. सा./आ./३)।

यो. सा./अ./६/४६ सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थिताः। न शक्यन्तेऽन्यथा कर्तुं ते परेण कदाचन। = समस्त पदार्थ स्वभावसे ही अपने स्वरूपमें स्थित हैं, वे कभी अन्य पदार्थोंसे अन्यथा नहीं किये जा सकते।

पं. ध./पू./४६१ न यतोऽशक्यविवेचनमेकक्षेत्रावगाहिनां चास्ति। एकत्वमनेकत्वं न हि तेषां तथापि तदयोगात्॥ = यद्यपि ये सभी द्रव्य एक क्षेत्रावगाही हैं, तो भी उनमें एकत्व नहीं है, इसलिए द्रव्योंमें क्षेत्रकृत एकत्व अनेकत्व मानना युक्त नहीं है। (पं. ध./पू./५६६)।

पं. का./त. प्र./३७ द्रव्यमन्यद्रव्यैः सदा शून्यमिति। = द्रव्य अन्य द्रव्योंसे सदा शून्य है।

३. द्रव्य अनन्यशरण है

का. अ./११ जाइजरमरणरोगभयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा। तम्हा आदा सरणं बंधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो ।११। = जन्म, जरा, मरण, रोग और भय आदिसे आत्मा ही अपनी रक्षा करता है, इसलिए वास्तवमें जो कर्मोंकी बन्ध उदय और सत्ता अवस्थासे भिन्न है, वह आत्मा ही इस संसारमें शरण है।

पं. ध./पू./८, ५२८ तत्त्वं सल्लक्षणिकं···स्वसहायं निर्विकल्पं च ।८। अस्तमितसर्वसंकरदोषं क्षतसर्वशून्यदोषं वा। अणुरिव वस्तुसमस्तं ज्ञानं भवतीत्यनन्यशरणम् ।५२८। = तत्त्व सत् लक्षणवाला, स्वसहाय व निर्विकल्प होता है ।८। सम्पूर्ण संकर व शून्य दोषोंसे रहित सम्पूर्ण वस्तु सद्भूत व्यवहारनयसे अणुकी तरह अनन्य शरण है, ऐसा ज्ञान होता है।

४. द्रव्य निश्चयसे अपनेमें ही स्थित है, आकाशस्थित कहना व्यवहार है

रा. वा./५/१२/५-६/४५४/२८ एवंभूतनयादेशात् सर्वद्रव्याणि परमार्थतया आत्मप्रतिष्ठानि···।५। अन्योन्याधारताव्याघात इति; चेन्न; व्यवहारतस्तत्सिद्धेः ।६। = एवंभूतनयकी दृष्टिसे देखा जाये तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित ही हैं, इनमें आधाराधेय भाव नहीं है, व्यवहारनयसे ही परस्पर आधार-आधेयभावकी कल्पना होती है। जैसे कि वायुके लिए आकाश, जलको वायु, पृथिवीको जल आधार माने जाते हैं।

द्रव्य आस्रव—दे० आस्रव/१।

द्रव्य इन्द्रिय—दे० इन्द्रिय/१।

द्रव्य कर्म—दे० कर्म/२।

द्रव्यत्व—वैशे. द./१/२/११/४६ अनेकद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यत्वमुक्तम्। = अनेक द्रव्योंमें रहनेवाला एक तथा नित्य धर्म, जिसके द्वारा द्रव्यको गुण व कर्म (पर्याय) से पृथक् पहचान होती है।

द्रव्य नय—दे० नय/I/५।

द्रव्य निक्षेप—दे० निक्षेप/५।

द्रव्य निर्जरा—दे० निर्जरा/१।

द्रव्य नैगम नय—दे० नय/III/२।

द्रव्य परमाणु—दे० परमाणु/१।

द्रव्य परिवर्तनरूप संसार—दे० संसार/२।

द्रव्य पर्याय—दे० पर्याय/१।

द्रव्य पूजा—दे० पूजा/४।

द्रव्य बंध—दे० बंध/२।

द्रव्य मूढ—दे० मूढ।

द्रव्य मोक्ष—दे० मोक्ष/१।

द्रव्य लिंग—दे० लिंग/३,५।

द्रव्य लेश्या—दे० लेश्या/३।

द्रव्यवाद—दे० सांख्यदर्शन।

द्रव्य शुद्धि—दे० शुद्धि।

द्रव्य श्रुतज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/III।

द्रव्य संग्रह— नेमिचन्द्र सिद्धान्तिक देवकी तत्त्व व द्रव्य प्रतिपादक एक प्रसिद्ध प्राकृत गाथाबद्ध रचना। पहले २६ गाथा प्रमाण लघु संग्रह रचा, पीछे उसमें दो अधिकार और जोड़कर ५८ गाथा प्रमाण बृहत् संग्रह रचा। दो टीकायें हैं। एक प्रभाचन्द्र (वि० श० १२) कृत और दूसरी ब्रह्मदेव कृत। समय—ई०श० ११ (जै/१/३३७, ३४१, ३४३)।

द्रव्य संवर—दे० संवर/१।

द्रव्यानुयोग—दे० अनुयोग/१।

द्रव्यार्थिकनय—१. द्रव्यार्थिकनयके भेद व लक्षण आदि—दे० नय IV/१-२। २. द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिकसे पृथक् गुणार्थिक नय नहीं होती—दे० नय/I/१/५। ३. निक्षेपोंका यथायोग्य द्रव्यार्थिकनयमें अन्तर्भाव—दे० निक्षेप/२।

द्रह—उत्तर कुरु व देव कुरुमें स्थित २० द्रह हैं जिनके दोनों तरफ कांचनगिरि पर्वत है—दे० लोक/३/१२।

द्रहवती—पूर्वविदेहकी एक विभगा नदी। —दे० लोक/५/८।

द्रुमसेन—दे० ध्रुवसेन।

द्रोण—तौलका एक प्रमाण। —दे० गणित/I/१/२।

द्रोणमुख—

ति. प./४/१४०० दोणमुहाभिधाणं सरिवइवेलाए वेढिय जाण। = समुद्रकी वेलासे वेष्टित द्रोणमुख होता है।

ध. १३/५.५.६३/३३५/१० समुद्रनिम्नगासमीपस्थमवतरन्नौ निवहं द्रोणमुखं नाम। = जो समुद्र और नदीके समीपमें स्थित है, और जहाँ नौकाएँ आती जाती हैं, उसकी द्रोणमुख संज्ञा है।

म. पु./१६/१७३,१७५ भवेद् द्रोणमुखं नाम्ना निम्नगातटमाश्रितम्।··· ।१७३। शतान्यष्टौ च चत्वारि द्वे च स्युर्ग्रामसंख्यया। राजधान्यास्तथा द्रोणमुखकर्वटयोः क्रमात् ।१७५। = जो किसी नदीके किनारेपर हो उसे द्रोणमुख कहते हैं ।१७३। एक द्रोणमुखमें ४०० गाँव होते हैं ।१७५।

त्रि. सा./६७४-६७६ (नदी करि वेष्टित द्रोण है।)

द्रोणाचार्य—(पा. पु./सर्ग./श्लो.) कौरव तथा पाण्डवके गुरु थे। (८/२१०-२१२)। अश्वत्थामा इनका पुत्र था। (१०/१४६-१५२)। पाण्डवोंका कौरवों द्वारा मायामहलमें जलाना सुनकर दुःखी हुए। (१२/१६७) कौरवोंकी ओरसे अनेक बार पाण्डवोंसे लड़े। (१६/६१)। अन्तमें स्वयं शस्त्र छोड़ दिये। (२०/२२२-२३२)। धृष्टार्जुन द्वारा मारे गये (२०/२३३)।

द्रौपदी—१. (पां. पु./सर्ग/श्लो.)—दूरवर्ती पूर्वभवमें नागश्री ब्राह्मणी थी। (२३/८२)। फिर दृष्टिविष नामक सर्प हुई। (२४/२-६)। वहाँसे मर द्वितीय नरकमें गयी। (२४/६)। तत्पश्चात् त्रस, स्थावर योनियोंमें कुछ कम दो सागर पर्यन्त भ्रमण किया। (२४/१०)। पूर्वके भव नं० ३ में अज्ञानी 'मातंगी' हुई (२४/११)। पूर्वभव नं० २ में 'दुर्गन्धा' नामकी कन्या हुई (२४/२४)। पूर्वभव नं० १ में अच्युत स्वर्गमें देवी हुई (२४/७१)। वर्तमान भवमें द्रौपदी हुई (२४/७८)। यह माकन्दी नगरीके राजा द्रुपदकी पुत्री थी। (१५/४३)। गाण्डीव धनुष चढ़ाकर अर्जुनने इसे स्वयंवरमें जीता। अर्जुनके गलेमें डालते हुए द्रौपदीके हाथकी माला टूटकर उसके फूल पाँचों पाण्डवोंकी गोदमें जा गिरे, जिससे इसे पंचभर्तारीपनेका अपवाद सहना पड़ा। (१५/१०५,११२)। शीलमें अत्यन्त दृढ़ रही। (१५/२२५)। जूएमें युधिष्ठिर द्वारा हारी जाने पर दु:शासनने इसे घसीटा। (१६/१२६)। भीष्मने कहकर इसे छुड़ाया। (१६/१२६)। पाण्डव बनवासके समय जब वे विराट् नगरमें रहे तब राजा विराटका साला कीचक इसपर मोहित हो गया। (१७/२४५)। भीमने कीचकको मारकर इसकी रक्षा की। (१७/२७८)। नारदने इससे क्रुद्ध होकर (२१/१४) धातकीखण्डमें पद्मनाभ राजासे जा इसके रूपकी चर्चा की (२१/३२)। विद्या सिद्धकर पद्मनाभने इसका हरण किया। (२१/५७-६४)। पाण्डव इसे पुन वहाँसे छुड़ा लाये। (२१/१४०)। अन्तमें नेमिनाथके मुखसे अपने पूर्वभव सुनकर दीक्षा ले ली। (२५/१५)। स्त्री पर्यायका नाश कर १६वें स्वर्गमें देव हुई। (२५/२४१)।

द्वंद्व—मो.पा./टी./१२/३१२/१२ द्वन्द्व कलहयुग्मयो। =द्वन्द्वका अर्थ कलह व युग्म (जोड़ा) होता है।

द्वात्रिंशतिका—१. श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेन दिवाकर (वि श.७-८) द्वारा विरचित अध्यात्म भावना पूर्ण ३२ श्लोक प्रमाण एक रचना। २. आ अमितगति (ई ९९३-१०१६) द्वारा रचित समताभावोत्पादक ३२ श्लोक प्रमाण सामायिक पाठ। ३—श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रसूरि (ई. १०८८-११७३) कृत अयोग व्यवच्छेद नामक न्यायविषयक ३२ श्लोक प्रमाण ग्रन्थ, जिसपर स्याद्वादमंजरी नामक टीका उपलब्ध है। (वे. उस उस आचार्य का नाम)।

द्वादशी व्रत—१२ वर्ष पर्यन्त प्रति वर्ष भाद्रपद शु. १२ को उपवास करे। "ॐ ह्रीं अर्हद्भ्यो नमः" इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत-विधान संग्रह/पृ १२२); (जैन व्रत कथा)

द्वारपाल—दे० लोकपाल।

द्वारवंग—वर्तमान दरभंगा जिला। (म.पु./प्र.५०/पं. पन्नालाल)

द्विकावली व्रत—इसकी तीन प्रकार विधि है बृहद्, मध्यम व जघन्य। —तहाँ एक बेला एक पारणाके क्रमसे ४८ बेले करना बृहद् विधि है। एक वर्ष पर्यन्त प्रतिमास शुक्ल १-२, ५-६; ८-९ व १४-१५ तथा कृष्ण ४-५; ८-९; १४-१५ इस प्रकार ७ बेले करे। १२ मासके ८४ बेले करना मध्यम विधि है। एक बेला, २ पारणा, १ एकाशनाका क्रम २४ बार दोहराये। इस प्रकार १२० दिनमें २४ बेले करना जघन्य विधि है। —सर्वत्र नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (ह पु./३४/६८—केवल बृहद् विधि); (व्रत-विधान संग्रह/पृ. ७७-७८); (नवलसाह कृत वर्धमान पुराण)

द्विगुण क्रम—Operation of Duplication (ध.५/प्र.२७)

द्विचरम—दे० चरम।

द्विज—दे० ब्राह्मण।

द्वितीयस्थिति—दे० स्थिति/१।

द्वितीयावली—दे० आवली।

द्वितीयोपशम—द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका विधान—दे० उपशम/२; इस सम्बन्धी विषय—दे० सम्यग्दर्शन/IV/१।

द्विपर्वा—एक औषध विद्या—दे० विद्या।

द्विपृष्ठ—(म.पु/५८/श्लोक नं०) पूर्व भव नं० ३ में भरतक्षेत्र स्थित कनकपुरका राजा 'सुषेण' था (६१)। पूर्वभव नं. २में प्राणत स्वर्गमें देव हुआ।(७६)। वर्तमानभवमें द्वितीय नारायण हुए।—दे० शलाका पुरुष/४।

द्विविस्तारात्मक—Two Dimensional, Superficial (ध ५/प्र./२७)।

द्वींद्रिय जाति—दे० जाति/ (नामकर्म)।

द्वींद्रिय जीव—दे० इन्द्रिय/४।

द्वीप—१. लक्षण—मध्य लोकमें स्थित तथा समुद्रोंसे वेष्टित जम्बू द्वीपादि भूखण्डोंको द्वीप कहते हैं। एकके पश्चात् एकके क्रमसे ये असंख्यात हैं। इनके अतिरिक्त सागरोंमें स्थित छोटे-छोटे भूखण्ड अन्तर्द्वीप कहलाते हैं, जिनमें कुभोगभूमिकी रचना है। लवण सागरमें ये ४८ हैं। अन्य सागरोंमें ये नहीं हैं।

२. द्वीपोंमें कालवर्तन आदि सम्बन्धी विशेषताएँ

असंख्यात द्वीपोंमेंसे मध्यके अढ़ाई द्वीपोंमें भरत ऐरावत आदि क्षेत्र व कुलाचल पर्वत आदि हैं। तहाँ सभी भरत व ऐरावत क्षेत्रोंमें षट् काल वर्तन होता है (दे० भरतक्षेत्र)। हैमवत व हैरण्यवत क्षेत्रोंमें जघन्य भोगभूमि, हरि व रम्यक क्षेत्रोंमें मध्यम भोगभूमि तथा विदेह क्षेत्रके मध्य उत्तर व देवकुरुमें उत्तम भोगभूमियोंकी रचना है। विदेहके ३२, ३२ क्षेत्रोंमें तथा सर्व विद्याधर श्रेणियोंमें दुषमासुषमा नामक एक ही काल होता है। भरत व ऐरावत क्षेत्रोंमें एक-एक आर्य खण्ड और पाँच-पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं। तहाँ सर्व ही आर्य खण्डोंमें तो षट्-कालवर्तन है, परन्तु सभी म्लेच्छखण्डोंमें केवल एक दुषमासुषमाकाल रहता है। (दे० वह वह नाम) सभी अन्तर्द्वीपोंमें कुभोगभूमि अर्थात् जघन्य भोगभूमिकी रचना है (दे० भूमि/५) अढ़ाई द्वीपोंसे आगे नागेन्द्र पर्वत तकके असंख्यात द्वीपमें एकमात्र जघन्य भोगभूमिकी रचना है तथा नागेन्द्र पर्वतसे आगे अन्तिम स्वयम्भूरमण द्वीपमें एकमात्र दु:खमा काल अवस्थित रहता है (दे० भूमि/५)।

★ **द्वीपोंका अवस्थान व विस्तार आदि**—दे० लोक।

द्वीपकुमार—भवनवासी देवोंका एक भेद व उनका लोकमें अवस्थान —दे० भवन/१/४ २/२

द्वीप सागर प्रज्ञप्ति—अंग श्रुतज्ञानका एक भेद—दे० श्रुतज्ञान/III।

द्वीपायन—दे० द्वैपायन।

द्वेष—१. **द्वेषका लक्षण**

स.सा./आ/५१ अप्रीतिरूपो द्वेष.।

प्र.सा./त.प्र./८५ मोहम्—अनभीष्टविषयाप्रीत्याद्वेषमिति।

नि.सा./ता.वृ./६६ असह्यजनेषु वापि चासह्यपदार्थसार्थेषु वा वैरस्य परिणामो द्वेष। =१. अनिष्ट विषयोंमें अप्रीति रखना भी मोहका

ही एक भेद है। उसे द्वेष कहते हैं। २. असह्यजनोंमें तथा असह्य-पदार्थोंके समूहमें बैरके परिणाम रखना द्वेष कहलाता है। और भी दे० राग/२।

२. द्वेषके भेद

क.पा.१/१-१४/चूर्ण सूत्र/§२२६/२७७ दोसो णिक्खिवियव्वो णामदोसो ट्ठवदोसो दव्वदोसो भावदोसो चेदि। =नामदोष, स्थापनादोष, द्रव्यदोष और भावदोष इस प्रकार दोष (द्वेष) का निक्षेप करना चाहिए। (इनके उत्तर भेदोंके लिए दे० निक्षेप)।

दे० कषाय/४ क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, व जुगुप्सा ये छह कषाय द्वेषरूप हैं।

३. द्वेषके भेदोंके लक्षण

क.पा.१/१-१४/चूर्ण सूत्र/§२३८-२३३/२८०-२८३ णामट्ठवणा-आगमदव्व-णोआगमदव्वजाणुगसरीर-भविय-णिक्खेवा सुगमा त्ति कट्टु तेसिमत्थमभणिय तव्वदिरित्त-णोआगमदव्वदोससरूवपरूवणट्ठमुत्तरसुत्तं भणदि। —णोआगमदव्वदोसो णाम जं दव्वं जेण उवघादेण उवभोगं ण एदि तस्स दव्वस्स सो उवघादो दोसो णाम।—तं जहा—सादियए अग्गिदद्धं वा मूसयभक्खियं वा एवमादि। =नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, आगमद्रव्यनिक्षेप और नोआगम-द्रव्यनिक्षेपके दो भेद ज्ञायकशरीर और भावी ये सब निक्षेप सुगम हैं (दे० निक्षेप)। ऐसा समझकर इन सब निक्षेपोंके स्वरूपका कथन नहीं करके तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यदोषके स्वरूपका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—जो द्रव्य जिस उपघातके निमित्तसे उपभोगको नहीं प्राप्त होता है वह उपघात उस द्रव्यका दोष है। इसे ही तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यदोष समझना चाहिए। वह उपघात दोष कौन-सा है? साड़ीका अग्निसे जल जाना अथवा चूहोंके द्वारा खाया जाना तथा इसी प्रकार और दूसरे भी दोष हैं।

★ **द्वेष सम्बन्धी अन्य विषय**—दे० राग।

★ **द्वेषका स्वभाव विभावपना तथा सहेतुक अहेतुकपना** —दे० विभाव/२,५।

द्वैत—(पं.वि/४/३३) बन्धमोक्षौ रतिद्वेषौ कर्मात्मानौ शुभाशुभौ। इति द्वैताश्रिता बुद्धिरसिद्धिरभिधीयते। =बन्ध और मोक्ष, राग और द्वेष, कर्म और आत्मा, तथा शुभ और अशुभ, इस प्रकार-की बुद्धि द्वैतके आश्रयसे होती है।

★ **द्वैत व अद्वैतवादका विधि निषेध व समन्वय** —दे० द्रव्य/४।

द्वैताद्वैतवाद—दे० वेदान्त/३,५,६

द्वैपायन—(ह.पु./६१/श्लो.) रोहिणीका भाई बलदेवका मामा भगवान्से यह सुनकर कि उसके द्वारा द्वारिका जलेगी; तो वह विरक्त होकर मुनि हो गया (२८)। कठिन तपश्चरणके द्वारा तैजस ऋद्धि प्राप्त हो गयी, तब भ्रान्तिवश बारह वर्षसे कुछ पहले ही द्वारिका देखनेके लिए आये (४४)। मदिरा पीनेके द्वारा उन्मत्त हुए कृष्णके भाइयोंने उसको अपशब्द कहे तथा उसपर पत्थर मारे (५५)। जिसके कारण उसे क्रोध आ गया और तैजस समुद्घात द्वारा द्वारिकाको भस्म कर दिया। बड़ी अनुनय और विनय करनेके पश्चात् केवल कृष्ण व बलदेव दो ही बचने पाये (५६-८६)। यह भावि-कालकी चौबीसीमें स्वयम्भू नामके १६वें तीर्थंकर होंगे। —दे० तीर्थंकर/५।

२. द्वैपायनके उत्तरभव सम्बन्धी

ह.पु./६१/६६ मृत्वा क्रोधाग्निर्दग्धतपःसारधनश्च सः। बभूवाग्नि-कुमाराख्यो मिथ्यादृग्भवनामरः।६६। =क्रोधरूपी अग्निके द्वारा जिनका तपरूप श्रेष्ठ धन भस्म हो चुका था ऐसे द्वैपायन मुनि मरकर अग्निकुमार नामक मिथ्यादृष्टि भवनवासी देव हुए। (ध १२/४,२,७,१६/२१/४)

द्व्याश्रय महाकाव्य—श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र सूरि (ई. १०८८-११७३) की एक रचना।

[ध]

धनंजय—१. विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। २. दिगम्बराम्नायके एक कवि थे। आपने द्विसन्धानकाव्य और नाममाला कोश लिखे हैं। समय—डॉ० के. बी. पाठकके अनुसार आपका समय ई. ११२३-११४० है। परन्तु पं. महेन्द्र कुमार व पं. पन्नालालके अनुसार ई. श. ८। (सि.वि/प्र.३७/पं. महेन्द्र), (ज्ञा./प्र. ६/पं. पन्नालाल)

धन—१. लक्षण

स.सि./७/२६/३६८/६ धनं गवादि। =धनसे गाय आदिका ग्रहण होता है। (रा वा/७/२६/५५५/६), (चा.पा/टी/४६/१११/८)

★ **आयका वर्गीकरण**—दे० दान/६।

★ **दानार्थ भी धन संग्रहका कथंचित् विधि निषेध** —दे० दान/६।

★ **पदधन, सर्वधन आदि**—दे० गणित/II/५/३।

धनद—दे० कुबेर।

धनद कलशव्रत— भाद्रपद कृ. १ से शु. १५ तक पूरे महीने प्रतिदिन चन्दनादि मंगलद्रव्ययुक्त कलशोंसे जिनभगवान्का अभिषेक व पूजन करे। णमोकार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत-विधान संग्रह/पृ. ८८)

धनदेव—(म.पु/सर्ग/श्लोक) जम्बूद्वीपके पूर्व विदेहमें स्थित पुष्कलावती देशकी पुण्डरीकिणी नगरीके निवासी कुबेरदत्त नामक वणिक्का पुत्र था (११/१४)। चक्रवर्ती वज्रनाभिकी निधियोंमें गृहपति नामका तेजस्वी रत्न हुआ।११/५७। चक्रवर्तीके साथ-साथ इन्होंने भी दीक्षा धारण कर ली।११/६१-६२।

धनपति—(म. पु/६५/श्लोक) कच्छदेशमें क्षेमपुरीका राजा था। ।२। पुत्रको राज्य दे दीक्षा धारण की।६-७। ग्यारह अंगोंका ज्ञान प्राप्त कर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। समाधिमरण कर जयन्त विमानमें अहमिन्द्र हुए।८-६। यह अरहनाथ भगवान्का पूर्वका दूसरा भव है—दे० अरनाथ।

धनपाल—यक्ष जातिके व्यन्तरदेवोंका एक भेद—दे० यक्ष।

धनराशि—जिस राशिको मूलराशिमें जोड़ा जाये उसे धनराशि कहते हैं।—दे० गणित/II/१।

धनानन्द—नन्दवंशका अन्तिम राजा था, जिसे चन्द्रगुप्तमौर्यने परास्त करके मगध देशपर अधिकार किया था। समय—ई०पू० ३३८-३२६. दे०—इतिहास/३/४ (वर्तमानका भारतीय इतिहास)।

धनिष्ठा—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

धनुष—१. क्षेत्रका एक प्रमाण। अपर नाम दण्ड, युग, मूसल, नाली —दे० गणित/I/१/३ २. arc (ज. प./प्र. १०६); (गणित/II/७/३)

धनुषपृष्ठ—धनुषपृष्ठ निकालनेकी प्रक्रिया—दे० गणित/II/७/३

धन्य—भगवान् महावीरके तीर्थके १० अनुत्तरोपपादकोंमेंसे एक—दे० अनुत्तरोपपादक।

धन्यकुमार चरित्र—आ. गुणभद्र (ई. ११८२) द्वारा रचित ७ परिच्छेदप्रमाण। संस्कृत श्लोकबद्ध एक चरित्र ग्रन्थ। पीछेसे अनेक कवियोंने इसका भाषामें रूपान्तर किया है। (ती०/४/६०)।

धम्मरसायण—मुनि पद्मनन्दि (ई० ९७७) कृत संसार देह भोग से विरक्ति विषयक १९३ गाथा प्रमाण मुक्तककाव्य। (ती./३/१२१)।

धरण—तोलका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१/२।

धरणी—१

ध. १३/५,५/सूत्र ४०/२४३ धरणी धरणाट्ठवणा कोट्ठा पदिट्ठा ।४०।= धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा, और प्रतिष्ठा ये एकार्थवाची नाम है। २. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

धरणीतिलक—भरतक्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४।

धरणीधर—(प पु /५/श्लोक) भगवान् ऋषभदेवका युग समाप्त हो जानेपर इक्ष्वाकुवंशमें अयोध्या नगरीका राजा ।५६-६०। तथा अजितनाथ भगवान्के पड़बाबा थे ।६३।

धरणीवराह— राजा महीपालका अपरनाम—दे० महीपाल

धरणेन्द्र—१ एक लोकपाल—दे० लोकपाल। २. (प पु /३/३०७), (ह. पु /२२/५१-५५)। नमि और विनमि जब भगवान् ऋषभनाथसे राज्यकी प्रार्थना कर रहे थे तब इसने आकर उनका अपनी दिति व अदिति नामक देवियोंसे विद्याकोष दिलवाकर सन्तुष्ट किया था। ३. (म पु /७३/श्लोक) अपनी पूर्वपर्यायमें एक सर्प था। महिपाल (दे० कमठके जीवका आठवाँ भव) द्वारा पञ्चाग्नि तपके लिए जिस लक्कड़में आग लगा रखी थी, उसीमें यह बैठा था। भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा बताया जानेपर जब उसने वह लक्कड़ काटा तो वह घायल होकर मर गया ।१०१-१०३। मरते समय भगवान् पार्श्वनाथने उसे जो उपदेश दिया उसके प्रभावसे वह भवनवासी देवोंमें धरणेन्द्र हुआ ।११८-११९। जब कमठने भगवान् पार्श्वनाथपर उपसर्ग किया तो इसने आकर उनकी रक्षा की ।१३९-१४१।

धरसेन—आचार्य अर्हद्बली के समकालीन, पूर्वविद, षट्खण्डागम के मूल, पुष्पदन्त तथा भूतबली के गुरु। समय—वी. नि. ५६५-६३३ (ई० ३८-१०६)। (विशेष दे० कोश १/परिशिष्ट २/१०)। २. पुन्नाट-संघ की पट्टावली के अनुसार दीपसेन के शिष्य, सुधर्मसेन के गुरु समय—ई. श. ५ (दे. इतिहास/७/८)।

धराधर—विजयार्धकी दक्षिणश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

धर्म—१. (म पु /५९/श्लोक नं०) पूर्वभव नं. २ में भरतक्षेत्रके कुणालदेशमें श्रावस्ती नगरीका राजा था ।७२। पूर्वभव नं० १ में लान्तव स्वर्गमें देव हुआ ।८५। और वहाँसे चयकर वर्तमानभवमें तृतीय बलभद्र हुए। –दे० शलाकापुरुष/३। २ (म पु./१७/श्लोक नं) यह एक देव था। कृत्याविद्या द्वारा पाण्डवोंके भस्म किये जानेका षड्यन्त्र जानकर उनके रक्षणार्थ आया था ।१५६-१६२। उसने द्रौपदीका ता वहाँसे हरण कर लिया और पाण्डवोंको सरोवरके जलसे मूर्छित कर दिया। कृत्याविद्याके आनेपर भीलका रूप बना पाण्डवोंके शरीरोंको मृत बताकर उसे धोकेमें डाल दिया। विद्याने वहाँ से लौटकर क्रोधसे अपने साधकोंको ही मार दिया। अन्तमें वह देव पाण्डवोंको सचेत करके अपने स्थानपर चला गया ।१६३-२२५।

धर्म—धर्म नाम स्वभाव का है। जीवका स्वभाव आनन्द है, ऐन्द्रिय सुख नहीं। अत वह अतीन्द्रिय आनन्द ही जीवका धर्म है, या कारणमें कार्यका उपचार करके, जिस अनुष्ठान विशेषसे उस आनन्दकी प्राप्ति हो उसे भी धर्म कहते हैं। वह दो प्रकार का है—एक बाह्य दूसरा अन्तरंग। बाह्य अनुष्ठान तो पूजा, दान, शील, संयम, व्रत, त्याग आदि करना है और अन्तरंग अनुष्ठान साम्यता व वीतरागभावमें स्थितिकी अधिकाधिक साधना करना है। तहाँ बाह्य अनुष्ठानको व्यवहारधर्म कहते हैं और अन्तरंगको निश्चयधर्म। तहाँ निश्चयधर्म तो साक्षात समता स्वरूप होनेके कारण वास्तविक है और व्यवहार धर्म उसका कारण होनेसे औपचारिक। निश्चयधर्म तो सम्यक्त्व सहित ही होता है, पर व्यवहार धर्म सम्यक्त्व सहित भी होता है और उससे रहित भी। उनमेंसे पहला तो निश्चयधर्मसे बिलकुल अस्पष्ट रहता है और दूसरा निश्चयधर्मके अंश सहित होता है। पहला कृत्रिम है और दूसरा स्वाभाविक। पहला तो साम्यताके अभिप्रायसे न होकर पुण्य आदिके अभिप्रायोंसे होता है और दूसरा केवल उपयोगको बाह्य विषयोंसे रक्षाके लिए होता है। पहलेमें कृत्रिम उपायोंसे बाह्य विषयोंके प्रति अरुचि उत्पन्न कराना इष्ट है और दूसरेमें वह अरुचि स्वाभाविक होती है। इसलिए पहला धर्म बाह्यसे भीतरकी ओर जाता है जब कि दूसरा भीतरसे बाहरकी ओर निकलता है। इसलिए पहला तो आनन्द प्राप्तिके प्रति अकिंचित्कर रहता है और दूसरा उसका परम्परा साधन होता है, क्योंकि वह साधकको धीरे-धीरे भूमिकानुसार साम्यताके प्रति अधिकाधिक झुकाता हुआ अन्तमें परम लक्ष्यके साथ घुल-मिलकर अपनी सत्ता खो देता है। पहला व्यवहार धर्म भी कदाचित निश्चयधर्मरूप साम्यताका साधक हो सकता है, परन्तु तभी जब कि अन्य सब प्रयोजनोंको छोड़कर मात्र साम्यताकी प्राप्तिके लिए किया जाये तो। निश्चय सापेक्ष व्यवहारधर्म भी साधककी भूमिकानुसार दो प्रकारका होता है—एक सागार दूसरा अनगार। सागारधर्म गृहस्थ या श्रावकके लिए है और अनगारधर्म साधुके लिए। पहलेमें विकल्प अधिक होनेके कारण निश्चयका अंश अत्यन्त अल्प होता है और दूसरेमें साम्यताकी वृद्धि हो जानेके कारण वह अंश अधिक होता है। अत पहलेमें निश्चय धर्म अप्रधान और दूसरेमें वह प्रधान होता है। निश्चयधर्म अथवा निश्चयसापेक्ष व्यवहार धर्म दोनोंमें ही यथायोग्य क्षमा, मार्दव आदि दस लक्षण प्रकट होते है, जिसके कारण कि धर्मको दसलक्षण धर्म अथवा दशविध धर्म कह दिया जाता है।

६	केवल व्यवहारधर्म मोक्षका नहीं बन्धका कारण है।
७	व्यवहारधर्म पुण्यबन्धका कारण है।
८	परन्तु सम्यक् व्यवहारधर्मसे उत्पन्न पुण्य विशिष्ट प्रकारका होता है।
*	मिथ्यात्व युक्त ही व्यवहारधर्म संसारका कारण है सम्यक्त्व सहित नहीं। —दे० मिथ्यादृष्टि/४।
९	सम्यक् व्यवहारधर्म निर्जराका तथा परम्परा मोक्षका कारण है।
*	देव पूजा असंख्यातगुणी निर्जराका कारण है। दे० पूजा/२।
*	सम्यक् व्यवहारधर्ममें संवरका अंश अवश्य रहता है। —दे० संवर/२।
१०	परन्तु निश्चय सहित ही व्यवहार मोक्षका कारण है रहित नहीं।
११	यद्यपि मुख्यरूपसे पुण्यबन्ध ही होता है, पर परम्परासे मोक्षका कारण पड़ता है।
१२	परम्परा मोक्षका कारण कहनेका तात्पर्य।
८	**दशधर्म निर्देश**
१	धर्मका लक्षण उत्तम क्षमादि।
*	दशधर्मोंके नाम निर्देश। —दे० धर्म/१/६।
२	दशधर्मोंके साथ 'उत्तम' विशेषणकी सार्थकता।
३	ये दशधर्म साधुओंके लिए कहे गये हैं।
४	परन्तु यथासम्भव मुनि व श्रावक दोनोंको होते हैं।
५	इन दशोंको धर्म कहनेमें हेतु।
*	दशों धर्म विशेष। —दे० वह वह नाम।
*	गुप्ति, समिति व दशधर्मोंमें अन्तर। —दे० गुप्ति/२।
*	**धर्मविच्छेद व पुनः उसकी स्थापना** —दे० कल्की।

१. धर्मके भेद व लक्षण

१. संसारसे रक्षा करे व स्वभावमें धारण करे सो धर्म

र.क.श्रा./२ देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम्। संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।२। =जो प्राणियोंको संसारके दुःखसे उठाकर उत्तम सुख (वीतराग सुख) में धारण करे उसे धर्म कहते हैं। वह धर्म कर्मोंका विनाशक तथा समीचीन है। (म.पु./२/३७) (ज्ञा./२-१०/१५)

स.सि./९/२/४०९/११ इष्टस्थाने धत्ते इति धर्मः। =जो इष्ट स्थान (स्वर्ग मोक्ष) में धारण करता है उसे धर्म कहते हैं। (रा.वा./९/२/३/५९१/३२)।

प.प्र./मू./२/६८ भाउ विसुद्धणु अप्पणउ धम्मु भणेविणु लेहु। चउगइ दुक्खहँ जो धरइ जीउ पडंतउ एहु।६८। =निजी शुद्धभावका नाम ही धर्म है। वह संसारमें पड़े हुए जीवोंको चतुर्गतिके दुःखोंसे रक्षा करता है। (म.पु./४७/३०२); (चा.सा./३/१)

प्र.सा./ता.वृ./७/९/१ मिथ्यात्वरागादिसंसरणरूपेण भावसंसारे प्राणिनमुद्धृत्य निर्विकारशुद्धचैतन्ये धरतीति धर्मः। =मिथ्यात्व व रागादिमें नित्य संसरण करने रूप भावसंसारसे प्राणि को उठाकर जो निर्विकार शुद्ध चैतन्यमें धारण करदे, वह धर्म है।

द्र.सं./टी./३५/१०१/८ निश्चयेन संसारे पतन्तमात्मानं धरतीति विशुद्धज्ञान दर्शन लक्षण निज शुद्धात्म भावनात्मको धर्मः, व्यवहारेण तत्साधनार्थं देवेन्द्रनरेन्द्रादिवन्द्यपदे धरतीत्युत्तमक्षमादि…दशप्रकारो धर्मः। =निश्चयसे संसारमें गिरते हुए आत्माको जो धारण करे यानी रक्षा करे सो विशुद्धज्ञानदर्शन लक्षणवाला निजशुद्धात्माकी भावनास्वरूप धर्म है। व्यवहारनयसे उसके साधनके लिए इन्द्र चक्रवर्ती आदिका जो वन्दने योग्य पद है उसमें पहुँचानेवाला उत्तम क्षमा आदि दश प्रकारका धर्म है।

पं.ध./उ./७१५ धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम्। तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदव्ययः।७१५। =जो धर्मात्मा पुरुषोंको नीचपदसे उच्चपदमें धारण करता है वह धर्म कहलाता है। तथा उनमें संसार नीचपद है और मोक्ष उच्चपद है।

२. धर्मका लक्षण अहिंसा व दया आदि

बो.पा./मू./२५ धम्मो दयाविसुद्धो। =धर्म दया करके विशुद्ध होता है। (नि.सा./ता.वृ./६ में उद्धृत); (पं.वि./१/८), (द.पा./टी २/२/२०)

स.सि./९/७/४१९/२ अयं जिनोपदिष्टो धर्मोऽहिंसालक्षणः सत्याधिष्ठितो विनयमूलः। क्षमाबलो ब्रह्मचर्यगुप्तः उपशमप्रधानो नियतिलक्षणो निष्परिग्रहतावलम्बनः। =जिनेन्द्रदेवने जो यह अहिंसा लक्षण धर्म कहा है—सत्य उसका आधार है, विनय उसकी जड़ है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्यसे रक्षित है, उपशम उसकी प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है, निष्परिग्रहता उसका अवलम्बन है।

रा.वा./६/१३/५/५२४/६ अहिंसादिलक्षणो धर्मः। =धर्म अहिंसा आदि लक्षण वाला है। (द्र.सं./टी./३५/१४५/३)

का.अ./मू./४७८ जीवाणं रक्खणं धम्मो। =जीवोंकी रक्षा करनेको धर्म कहते हैं। (द.पा./टी./९/८/५)

३. धर्मका लक्षण रत्नत्रय

र.क.श्रा./३ सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः। =गणधरादि आचार्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्रको धर्म कहते हैं। (का.अ./मू./४७८); (त.अनु./५१) (द्र.सं./टी./१४५/३)

४. व्यवहार धर्मके लक्षण

प्र.सा./ता.वृ./८/९/१८ पञ्चपरमेष्ठ्यादिभक्तिपरिणामरूपो व्यवहारधर्मस्तावदुच्यते। =पंचपरमेष्ठी आदिकी भक्तिपरिणामरूप व्यवहार धर्म होता है।

प.प्र./टी./२/३/११६/१६ धर्मशब्देनात्र पुण्यं कथ्यते। =धर्मशब्दसे यहाँ (धर्म पुरुषार्थके प्रकरणमें) पुण्य कहा गया है।

प.प्र./टी./२/१११-४/२३१/१४ गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मस्तेनैव सम्यक्त्वपूर्वेण परंपरया मोक्षं लभन्ते। =आहार दान आदिक ही गृहस्थोंका परम धर्म है। सम्यक्त्व-पूर्वक किये गये उसी धर्मसे परम्परा मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है।

प.प्र./टी./२/१३४/२५१/२ व्यवहारधर्मे च पुनः षडावश्यकादिलक्षणे गृहस्थापेक्षया दानपूजादिलक्षणे वा शुभोपयोगस्वरूपे रतिं कुरु। =साधुओंकी अपेक्षा षडावश्यक लक्षणवाले तथा गृहस्थोंकी अपेक्षा दान पूजादि लक्षणवाले शुभोपयोग स्वरूप व्यवहारधर्ममें रति करो।

५. निश्चयधर्मका लक्षण

१. साम्यता व मोहक्षोभ विहीन परिणाम

प्र.सा./मू./७ चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो। मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो। =चारित्र ही धर्म

है। जो धर्म है सो साम्य है और साम्य मोहक्षोभ रहित (रागद्वेष तथा मन, वचन, कायके योगों रहित) आत्माके परिणाम हैं। (मो.पा./मू./५०)

भा.पा./मू./८३ मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो। —मोह व क्षोभ रहित अर्थात् रागद्वेष व योगों रहित आत्माके परिणाम धर्म हैं। (स.म./३२/३४२/२२ पर उद्धृत), (प.प्र./मू./२/६८) (त.अनु./५२)

न.च.वृ./३५६ समदा तह मज्झत्थं सुद्धोभावो य वीयरायत्तं। तह चारित्तं धम्मो सहावाराहणा भणिया। —समता, माध्यस्थता, शुद्ध-भाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म, स्वभावकी आराधना ये सब एकार्थ-वाची शब्द हैं।

पं.ध./उ./७५५ अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः। अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल। —वस्तुस्वरूपकी अपेक्षा रागादि ही हिंसा, अधर्म व अव्रत है। और उनका त्याग ही अहिंसा, धर्म व व्रत है।

२. शुद्धात्म परिणति

भा.पा./मू./८५ अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो। संसारतरणहेदू धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो। —रागादि समस्त-दोषोंसे रहित होकर आत्माका आत्मामें ही रत होना धर्म है।

प्र.सा./त.प्र./११ निरुपरागतत्त्वोपलम्भलक्षणो धर्मोपलम्भो। —निरुप-रागतत्त्वकी उपलब्धि लक्षणवाला धर्म...।

प्र.सा./त.प्र./७,८ वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः। शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः ।७।...ततोऽयमात्मा धर्मेण परिणतो धर्म एव भवति। —वस्तुका स्वभाव धर्म है। शुद्ध चैतन्यका प्रकाश करना यह इसका अर्थ है। इसलिए धर्मसे परिणत आत्मा ही धर्म है।

पं.का./ता.वृ./८५/१४३/११ रागादिदोषरहितः शुद्धात्मानुभूतिसहितो निश्चयधर्मो। —रागादि दोषोंसे रहित तथा शुद्धात्माकी अनुभूति सहित निश्चयधर्म होता है। (पं.वि./१/७), (पं.प्र./टी./२/१३४/२५१/१), (पं.ध./उ./४३२)

६. धर्मके भेद

बा.अ./७० उत्तमखममद्दवज्जवसच्चसउच्चं च संजमं चेव। तवतागम-किंचण्हं बम्हा इति दसविहं होदि ।७०। —उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्म-चर्य ये दशभेद मुनिधर्मके हैं। (त.सू./९/६), (भ.आ./वि./४६/१५४/१० पर उद्धृत)

मू.आ./५५७ तिविहो य होदि धम्मो सुदधम्मो अत्थिकायधम्मो य। तदिओ चरित्तधम्मो सुदधम्मो एत्थ पुण तित्थं। —धर्मके तीन भेद हैं—श्रुतधर्म, अस्तिकायधर्म, चारित्रधर्म। इन तीनोंमेंसे श्रुतधर्म तीर्थ कहा जाता है।

पं.वि./६/४ संपूर्णदेशभेदाभ्यां स च धर्मो द्विधा भवेत्। —सम्पूर्ण और एक देशके भेदसे वह धर्म दो प्रकार है। अर्थात् मुनि व गृहस्थ धर्म या अनगार व सागार धर्मके भेदसे दो प्रकारका है। (बा.अ./६८) (का.अ./मू./३०४), (चा.सा./३/१), (पं.ध./उ./७१७)

पं.वि./१/७ धर्मो जीवदया गृहस्थशमिनोर्भेदाद् द्विधा च त्रयं। रत्नानां परमं तथा दशविधोत्कृष्टक्षमादिस्ततः।...। —दयास्वरूप धर्म, गृहस्थ और मुनिके भेदसे दो प्रकारका है। वही धर्म सम्यग्दर्शन, सम्य-ग्ज्ञान व सम्यग्चारित्ररूप उत्कृष्ट रत्नत्रयके भेदसे तीन प्रकारका है, तथा उत्तम क्षमादिके भेदसे दश प्रकारका है। (द्र.सं./टी./३५/१४५/३)

२. धर्ममें सम्यग्दर्शनका स्थान

१. सम्यग्दर्शन ही धर्मका मूल है

द.पा./मू./२ दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं। —सर्वज्ञ-देवने अपने शिष्योंको 'दर्शन' धर्मका मूल है ऐसा उपदेश दिया है। (पं.ध./उ./७१६)

२. धर्म सम्यक्त्व पूर्वक ही होता है

बा.अ./६८ एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं। सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं ।६८। —श्रावकों व मुनियोंका जो धर्म है वह सम्यक्त्व पूर्वक होता है। (पं.ध./उ./७१७)।

३. सम्यक्त्वयुक्त धर्म ही मोक्षका कारण है रहित नहीं

बा.अणु./५७ जण्णाणवसं किरिया मोक्खणिमित्तं परंपरया। —जो क्रिया ज्ञानपूर्वक होती है वही परम्परा मोक्षका कारण होती है।

र.सा./१० दाणं पूजा सीलं उववासं बहुविहंपि खिवणं पि। सम्मजुदं मोक्खसुहं सम्मविणा दीहसंसारं ।१०। —दान, पूजा, ब्रह्मचर्य, उप-वास, अनेक प्रकारके व्रत और मुनिलिंग धारण आदि सर्व एक सम्य-ग्दर्शन होनेपर मोक्षमार्गके कारणभूत हैं और सम्यग्दर्शनके बिना संसारको बढ़ानेवाले हैं।

यो.सा./यो./१८ गिहि-वावार परिट्ठिया हेयाहेउ मुणंति। अणुदिणु झायहि देउ जिणु लहु णिव्वाणु लहंति। —जो गृहस्थीके धन्धेमें रहते हुए भी हेयाहेयको समझते हैं और जिनभगवान्‌का निरन्तर ध्यान करते हैं, वे शीघ्र ही निर्वाणको पाते हैं।

भावसंग्रह/४०४,६१० सम्यग्दृष्टेः पुण्यं न भवति संसारकारणं नियमात्। मोक्षस्य भवति हेतुः यदि च निदानं स न करोति ।४०४। आवश्यकानि कर्म वैयावृत्यं च दानपूजादि। यत्करोति सम्यग्दृष्टि-स्तत्सर्वं निर्जरानिमित्तम् ।६१०। —सम्यग्दृष्टिका पुण्य नियमसे संसारका कारण नहीं होता है। और यदि व निदान न करे तो मोक्ष-का कारण होता है ।४०४। षडावश्यक क्रिया, वैयावृत्य, दान, पूजा आदि जो कुछ भी धार्मिक क्रिया सम्यग्दृष्टि करता है वह सब उसके लिए निर्जराके निमित्त हैं ।६१०।

स.सा./ता.वृ./१४५ की उत्थानिका/२०८/११ वीतरागसम्यक्त्वं विना व्रतदानादिकं पुण्यबन्धकारणमेव न च मुक्तिकारणं। सम्यक्त्वसहितं पुनः परंपरया मुक्तिकारणं च भवति। —वीतरागसम्यक्त्वके बिना व्रत दानादिक पुण्यबन्धके कारण हैं, मुक्तिके नहीं। परन्तु सम्यक्त्व सहित वे ही पुण्य बन्धके साथ-साथ परम्परासे मोक्षके कारण भी हैं। (प्र.सा./ता.वृ./२५५/३४८/२०) (नि.सा./ता.वृ./१८/क.३२) (प्र.सा./ता.वृ./२५६/३४८/२)। (प.प्र./टी./१८/२३/४) (प.प्र./टी./१११/२६७/१)।

४. सम्यक्त्वरहित क्रियाएँ वास्तविक व धर्मरूप नहीं हैं

यो.सा./यो./४७-४८ धम्मु ण पढियइँ होइ धम्मु ण पोत्थापिच्छियइँ। धम्मु ण मढिय-पएसि धम्मु ण मत्था लुँचियइँ ।४७। राय-रोस बे परिहरिवि जो अप्पाणि वसेइ। सो धम्मु वि जिण उत्तियउ जो पंचम-गइ णेइ ।४८। —पढ़ लेनेसे धर्म नहीं होता, पुस्तक और पीछी-से भी धर्म नहीं होता, किसी मठमें रहनेसे भी धर्म नहीं है, तथा केशलोंच करनेसे भी धर्म नहीं कहा जाता ।४७। जो राग और द्वेष दोनोंको छोड़कर निजात्मामें वास करना है, उसे ही जिनेन्द्रदेवने धर्म कहा है। वह धर्म पंचम गतिको ले जाता है।

ध.१/४,१,१/६/३ ण च सम्मत्तेण विरहियाणं णाणज्झाणाणमसंखेज्जगुण-सेढिकम्मणिज्जराए अणिमित्ताणं णाणज्झाणववएसो परमत्थिओ

अस्थि।–सम्यक्त्वसे रहित ध्यानके असंख्यात गुणश्रेणीरूप कर्म-निर्जराके कारण न होनेसे 'ज्ञानध्यान' यह संज्ञा वास्तविक नहीं है।

स. सा./आ./२७५ भोगनिमित्तं शुभकर्ममात्रमभूतार्थमेव। – भोगके निमित्तभूत शुभकर्ममात्र जो कि अभूतार्थ है (उनकी ही अभव्य श्रद्धा करता है)।

अन. ध./१/१०६ व्यवहारमभूतार्थं प्रायो भूतार्थ-विमुखजनमोहात्। केवलमुपयुञ्जानो व्यञ्जनवद्भ्रश्यति स्वार्थात्।–भूतार्थसे विमुख रहनेवाले व्यक्ति मोहवश अभूतार्थ व्यवहार क्रियाओंमें ही उपयुक्त रहते हुए, स्वर रहित व्यञ्जनके प्रयोगवत् स्वार्थ से भ्रष्ट हो जाते हैं।

पं. ध./उ./४४४ नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थत।–मिथ्या-दृष्टिके केवल क्रियारूप धर्मका पाया जाना भी धर्म नहीं हो सकता।

पं. ध./उ./७१७ न धर्मस्तद्विना क्वचित्।–सम्यग्दर्शनके बिना कहीं भी वह (सागार या अनगार धर्म) धर्म नहीं कहलाता।

७. सम्यक्त्व रहित धर्म परमार्थसे अधर्म व पाप है

स. सा./आ./२००/क. १३७ सम्यग्दृष्टिः स्वयमहं जातु बंधो न मे स्यादि-त्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु। आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा, आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ।१३७।–यह मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बन्ध नहीं होता, ऐसा मानकर जिनका मुख गर्वसे ऊँचा और पुलकित हो रहा है, ऐसे रागी जीव भले ही महाव्रतादिका आचरण करें तथा समितियोंकी उत्कृ-ष्टताका आलम्बन करें, तथापि वे पापी ही हैं, क्योंकि वे आत्मा और अनात्माके ज्ञानसे रहित होनेसे सम्यक्त्व रहित हैं।

पं. ध./उ./४४४ नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः। नित्य रागादिसद्भावात् प्रत्युताधर्म एव सः ।४४४। – मिथ्यादृष्टिके सदा रागादि भावोंका सद्भाव रहनेसे केवल क्रियारूप धर्मका पाया जाना भी वास्तवमें धर्म नहीं हो सकता, किन्तु व अधर्म ही है।

८. सम्यक्त्व रहित धर्म वृथा व अकिंचित्कर है

स. सा./मू./१५२ परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई। तं सव्वं बालतवं बालवदं बिंति सव्वण्हू ।१५२। –परमार्थमें अस्थित जो जीव तप करता है और व्रत धारण करता है, उसके उन सब तप और व्रतको सर्वज्ञ देव बाल तप और बालव्रत कहते हैं।

मो. पा./मू./९९ किं काहिदि बहिकम्मं किं काहिदि बहुविहं च खवणं तु। किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो ।९९। –आत्म-स्वभावसे विपरीत क्रिया क्या करेगी, अनेक प्रकारके उपवासादि तप भी क्या करेंगे, तथा आतापन योगादि कायक्लेश भी क्या करेगा।

भ. आ./मू./ गा. नं. १ जे वि अहिंसादिगुणा मरणे मिच्छत्तकडुगिदा होंति। ते तस्स कडुगदोद्धियगदं च दुद्धं हवे अफला ।५७। तह मिच्छत्तकडुगिदे जीवे तवणाणचरणविरियाणि। णासंति वंतमिच्छ-त्तम्मि य सफलाणि जायंति ।७३४। घोडगलिंडसमाणस्स तस्स अब्भं-तरम्मि कुधिदस्स। बहिरकरणं किं से काहिदि बगणिहुदकरणस्स। ।१३४७।–अहिंसा आदि आत्माके गुण हैं, परन्तु मरण समय ये मिथ्यात्वसे युक्त हो जायें तो कड़वी तूम्बीमें रखे हुए दूधके समान व्यर्थ होते हैं ।५७। मिथ्यात्वके कारण विपरीत, श्रद्धानी बने हुए इस जीवमें तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य ये गुण नष्ट होते हैं, और मिथ्यात्व रहित तप आदि मुक्तिके उपाय हैं ।७३४। घोड़ेकी लीद दुर्गन्धियुक्त रहती है परन्तु बाहरसे वह स्निग्ध कान्तिसे युक्त होती है। अन्दर भी वह वैसी नहीं होती। उपर्युक्त दृष्टान्तके समान किसी पुरुषका—मुनिका आचरण ऊपरसे अच्छा—निर्दोष दीख पड़ता है परन्तु उसके अन्दरके विचार कषायसे मलिन—अर्थात् गन्दे रहते हैं। यह बाह्याचरण उपवास, अवमोदर्यादिक तप उसकी कुछ उन्नति नहीं करता है क्योंकि इन्द्रिय कषायरूप, अन्तरंग मलिन परिणामोंसे उसका अभ्यन्तर तप नष्ट हुआ है, जैसे बगुला ऊपरसे स्वच्छ और ध्यान धारण करता हुआ दीखता परन्तु अन्तरंगमें मत्स्य मारनेके गन्दे विचारोंसे युक्त ही होता है ।१३४७।

यो. सा./यो./३१ वउतउसंजमुसीलु जिय ए सव्वइँ अकयत्थु। जाव ण जाणइ इक्क पर सुद्धउ भाउ पवित्तु ।३१। –जब तक जीवको एक परमशुद्ध पवित्रभावका ज्ञान नहीं होता, तब तक व्रत, तप, संयम और शील ये सब कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं।

आ. अनु./१५ शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः। पूज्यं महा-मणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ।१५। – पुरुषके सम्यक्त्वसे रहित शान्ति, ज्ञान, चारित्र और तप इनका महत्त्व पत्थरके भारीपनके समान व्यर्थ है। परन्तु वही उनका महत्त्व यदि सम्यक्त्वसे सहित है तो मूल्यवान् मणिके महत्त्वके समान पूज्य है।

पं. वि./१/५० अभ्यस्यतान्तरदृशं किमु लोकभक्त्या, मोहं कृशीकुरुत किं वपुषा कृशेन। एतद्द्वयं यदि न किं बहुभिर्नियोगैः, क्लेशैश्च किं किमपरैः प्रचुरैस्तपोभिः ।५०। –हे मुनिजन ! सम्यग्ज्ञानरूप अभ्य-न्तरनेत्रका अभ्यास कीजिए। आपको लोकभक्तिसे क्या प्रयोजन है। इसके अतिरिक्त आप मोहको कृश करें। केवल शरीरको कृश करनेसे कुछ भी लाभ नहीं है। कारण कि यदि उक्त दोनों नहीं हैं तो फिर उनके बिना बहुतसे यम नियमोंसे, कायक्लेशोंसे और दूसरे प्रचुर तपोंसे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

द्र. सं./टी./४१/१६६/७ एवं सम्यक्त्वमाहात्म्येन ज्ञानतपश्चरणव्रतो-पशमध्यानादिकं मिथ्यात्वरूपमपि सम्यग्भवति। तदभावे विषयुक्त-दुग्धमिव सर्वं वृथेति ज्ञातव्यम्।–सम्यक्त्वके माहात्म्यसे मिथ्याज्ञान, तपश्चरण, व्रत, उपशम तथा ध्यान आदि हैं वे सम्यक् हो जाते हैं। और सम्यक्त्वके बिना विष मिले हुए दूधके समान ज्ञान तपश्चर-णादि सब वृथा हैं, ऐसा जानना चाहिए।

३. निश्चयधर्मकी कथंचित् प्रधानता

१. निश्चय धर्म ही भूतार्थ है

स.सा./आ./२७५ ज्ञानमात्रं भूतार्थं धर्मं न श्रद्धते। –अभव्य व्यक्ति ज्ञानमात्र भूतार्थ धर्मकी श्रद्धा नहीं करता।

२. शुभ अशुभसे अतीत तीसरी भूमिका ही वास्तविक धर्म है

प्र.सा./मू./१८१ सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पाव त्ति भणियमण्णेसु। परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये। –परके प्रति शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है। और दूसरेके प्रति प्रवर्तमान नहीं है ऐसा परिणाम, आगममें दुःख क्षयका कारण कहा है। (प.प्र./२/७१)

स. श./८३ अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः। अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ।८३। –हिंसादि अव्रतोंसे पाप तथा अहिंसादि व्रतोंसे पुण्य होता है। पुण्य व पाप दोनों कर्मोंका विनाश मोक्ष है। अतः मुमुक्षुको अव्रतोंकी भाँति व्रतोंको भी छोड़ देना चाहिए। (यो.सा./यो./३२) (आ.अनु./१८१) (ज्ञा./३२/८७)

यो.सा./अ./६/७२ सर्वत्र यः सदोदास्ते न च द्वेष्टि न च रज्यते। प्रत्या-ख्यानादतिक्रान्तः स दोषाणामशेषतः ।७२। –जो महानुभाव सर्वत्र उदासीनभाव रखता है, तथा न किसी पदार्थमें द्वेष करता है और न राग, वह महानुभाव प्रत्याख्यानके द्वारा समस्त दोषोंसे रहित हो जाता है।

दे० चारित्र/४/१ (प्रत्याख्यान व अप्रत्याख्यानसे अतीत अप्रत्याख्यान-रूप तीसरी भूमिका ही अमृतकुम्भ है)

३. एक शुद्धोपयोगमें धर्मके सब लक्षण गर्भित हैं

प.प्र./टी./२/६८/१९०/८ धर्मशब्देनात्र निश्चयेन जीवस्य शुद्धपरिणाम एव ग्राह्यः। तस्य तु मध्ये वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन सर्वे धर्मा अन्तर्भूता लभ्यन्ते। यथा अहिंसालक्षणो धर्मः सोऽपि जीवशुद्धभावं बिना न संभवति। सागारानगारलक्षणो धर्मः सोऽपि तथैव। उत्तमक्षमादिदशविधो धर्मः सोऽपि जीवशुद्धभावमपेक्षते। 'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः' इत्युक्तं यद्धर्मलक्षणं तदपि तथैव। रागद्वेषमोहरहितः परिणामो धर्मः सोऽपि जीवशुद्धस्वभाव एव। वस्तुस्वभावो धर्मः सोऽपि तथैव।...अत्राह शिष्यः। पूर्वसूत्रे भणितं शुद्धोपयोगमध्ये संयमादयः सर्वे गुणाः लभ्यन्ते। अतएव तु भणितमात्मनः शुद्धपरिणाम एव धर्मः, तत्र सर्वे धर्माश्च लभ्यन्ते। को विशेषः। परिहारमाह। तत्र शुद्धोपयोगसंज्ञा मुख्या, अत्र तु धर्मसंज्ञा मुख्या एतावान् विशेषः। तात्पर्यं तदेव। –यहाँ धर्म शब्दसे निश्चयसे जीवके शुद्धपरिणाम ग्रहण करने चाहिए। उसमें ही नयविभागरूपसे वीतरागसर्वज्ञप्रणीत सर्व धर्म अन्तर्भूत हो जाते हैं। वह ऐसे कि—१. अहिंसा लक्षण धर्म है सो जीवके शुद्ध-भावके बिना सम्भव नहीं। (दे० अहिंसा/२/१)। २. सागार अन-गार लक्षणवाला धर्म भी वैसा ही है। ३. उत्तमक्षमादि दशप्रकार-के लक्षणवाला धर्म भी जीवके शुद्धभावकी अपेक्षा करता है। ४. रत्नत्रय लक्षणवाला धर्म भी वैसा ही है। ५. रागद्वेषमोहके अभाव-रूप लक्षणवाला धर्म भी जीवका शुद्ध स्वभाव ही बताता है। और ६. वस्तुस्वभाव लक्षणवाला धर्म भी वैसा ही है। प्रश्न—पहले सूत्रमें तो शुद्धोपयोगमें सर्व गुण प्राप्त होते हैं, ऐसा बताया गया है, (दे० धर्म/३/७)। और यहाँ आत्माके शुद्ध परिणामको धर्म बता-कर उसमें सर्व धर्मोंकी प्राप्ति कही गयी। इन दोनोंमें क्या विशेष है? उत्तर—वहाँ शुद्धोपयोग संज्ञा मुख्य थी और यहाँ धर्म संज्ञा मुख्य है। इतना ही इन दोनोंमें विशेष है। तात्पर्य एक ही है। (प्र.सा./ता.वृ./११/१६) (और भी दे० आगे धर्म/३/७)

४. निश्चय धर्मकी व्याप्ति व्यवहार धर्मके साथ है पर व्यवहारकी निश्चयके साथ नहीं

भ.आ./मू./१३४९/१३०६ अब्भंतरसोधीए सुद्धं णियमेण बहिरं करणं। अब्भंतरदोसेण हु कुणदि णरो बहिरंगदोसं। –अभ्यन्तर शुद्धिपर नियमसे बाह्यशुद्धि अवलम्बित है। क्योंकि अभ्यन्तर (मनके) परिणाम निर्मल होनेपर वचन व कायकी प्रवृत्ति भी निर्दोष होती है। और अभ्यन्तर (मनके) परिणाम मलिन होने पर वचन व काय-की प्रवृत्ति भी नियमसे सदोष होती है।

लि.पा./मू./२ धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती। जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो।२। –धर्मसे लिंग होता है, पर लिंगमात्रसे धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। हे भव्य! तू भावरूप धर्म-को जान। केवल लिंगसे तुझे क्या प्रयोजन है।

(दे० लिंग/२) (भावलिंग होनेपर द्रव्यलिंग अवश्य होता है पर द्रव्य-लिंग होने पर भावलिंग भजितव्य है)

प्र.सा./मू./२४५ समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्मि।

प्र.सा./त.प्र./२४५ अस्ति तावच्छुभोपयोगस्य धर्मेण सहैकार्थसमवायः। –शास्त्रोंमें ऐसा कहा है कि जो शुद्धोपयोगी श्रमण होते हैं वे शुभो-पयोगी भी होते हैं। इसलिए शुभोपयोगका धर्मके साथ एकार्थ समवाय है।

५. निश्चय रहित व्यवहार धर्म वृथा है

भा.पा./मू./८९ बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो। सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं।८९। –भावरहित व्यक्तिके बाह्यपरिग्रहका त्याग, गिरि-नदी-गुफामें बसना, ध्यान, आसन, अध्ययन आदि सब निरर्थक है। (अन.ध./१/२१/८७१)

६. निश्चय रहित व्यवहार धर्मसे शुद्धात्माकी प्राप्ति नहीं होती

स.सा./मू./१५६ मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति। परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ। –निश्चयके विषयको छोड़कर विद्वान् व्यवहार [शुभ कर्मों (त.प्र. टीका)] द्वारा प्रवर्तते हैं किन्तु परमार्थके आश्रित योगीश्वरोंके ही कर्मोंका नाश आगममें कहा है।

स.सा./आ./२०४/क १४२ क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः, क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्। साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं, ज्ञानं ज्ञानगुणं बिना कथमपि प्राप्तुं क्षमं ते न हि। –कोई मोक्षसे पराङ्मुख हुए दुष्करतर कर्मोंके द्वारा स्वयमेव क्लेश पाते हैं तो पाओ और अन्य कोई जीव महाव्रत और तपके भारसे बहुत समय तक भग्न होते हुए क्लेश प्राप्त करें तो करो; जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, निरामय पद है और स्वयं संवेद्यमान है, ऐसे इस ज्ञानको ज्ञानगुणके बिना किसी भी प्रकारसे वे प्राप्त नहीं कर सकते।

ज्ञा./२२/१४ मनःशुद्ध्यैव शुद्धिः स्याद्देहिनां नात्र संशयः। वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम्।१४। –निःसन्देह मनकी शुद्धिसे ही जीवोंकी शुद्धि होती है, मनकी शुद्धिके बिना केवल कायको क्षीण करना वृथा है।

७. निश्चयधर्मका माहात्म्य

प.प्र./मू./१/११४ जइ णिविसद्धु वि कुवि करइ परमप्पइ अणुराउ। अग्गिकणी जिम कट्ठगिरी डहइ असेसु वि पाउ।११४।

प.प्र./मू./२/६७ सुद्धहँ संजमु सीलु तउ सुद्धहँ दंसणु णाणु। सुद्धहँ कम्मक्खउ हवइ सुद्धउ तेण पहाणु।६७। –जो आधे निमेषमात्र भी कोई परमात्मामें प्रीतिको करे, तो जैसे अग्निकी कणी काठके पहाड़-को भस्म करती है, उसी तरह सब ही पापोंको भस्म कर डाले।११४। शुद्धोपयोगियोंके ही संयम, शील और तप होते हैं, शुद्धोंके ही सम्य-ग्दर्शन और वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान होता है, शुद्धोपयोगियोंके ही कर्मोंका नाश होता है, इसलिए शुद्धोपयोग ही जगत्में मुख्य है।

यो.सा./यो./६५ सागारु वि णागारु कु वि जो अप्पाणि वसेइ। सो लहु पावइ सिद्धि-सुहु जिणवरु एम भणेइ। –गृहस्थ हो या मुनि हो, जो कोई भी निज आत्मामें वास करता है, वह शीघ्र ही सिद्धिसुख-को पाता है, ऐसा जिनभगवान्‌ने कहा है।

न. च. वृ./४१२-४१४ एदेण सयलदोसा जीवाणासंति रायमादीया। मोत्तूण विविहभावं एत्थे विय संठिया सिद्धा। –इस (परम चैतन्य तत्त्वको जानने) से जीव रागादिक सकल दोषोंका नाश कर देता है। और विविध विकल्पोंसे मुक्त होकर, यहाँ ही, इस संसार-में ही सिद्धवत् रहता है।

ज्ञा./२२/२६ अनन्तजन्मजानेककर्मबन्धस्थितिर्दृढा। भावशुद्धिं प्रपन्नस्य मुनेः प्रक्षीयते क्षणात्। –जो अनन्त जन्मसे उत्पन्न हुई दृढ़ कर्मबन्ध-की स्थिति है सो भावशुद्धिको प्राप्त होनेवाले मुनिके क्षणभरमें नष्ट हो जाती है, क्योंकि कर्मक्षय करनेमें भावोंकी शुद्धता ही प्रधान कारण है।

४. व्यवहार धर्मकी कथंचित् गौणता

१. व्यवहार धर्म ज्ञानी व अज्ञानी दोनोंको सम्भव है

पं.का./त.प्र./१३६ अर्हत्सिद्धादिषु भक्तिः, धर्मे व्यवहारचारित्रानुष्ठाने वासनाप्रधाना चेष्टा,...अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्या-

ज्ञानिनो भवति । उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थानराग-निषेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति । —धर्ममें अर्थात् व्यवहारचारित्रके अनुष्ठानमें भावप्रधान चेष्टा।··· यह (प्रशस्त राग) वास्तवमें जो स्थूल लक्ष्यवाले होनेसे मात्र भक्ति प्रधान हैं ऐसे अज्ञानीको होता है। उच्चभूमिकामें स्थिति प्राप्त न की हो तब, अस्थान (अस्थिति) का राग रोकनेके हेतु अथवा तीव्र राग ज्वर मिटानेके हेतु कदाचित ज्ञानीको भी होता है। (पं.का./ता.वृ./१०५)

२. व्यवहाररत जीव परमार्थको नहीं जानते

स.सा./मू./४१३ पासंडोलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुपयारेसु। कुव्वंति जे ममत्तं तेहिं ण णायं समयसारं ।४१३। —जो बहुत प्रकारके मुनि-लिंगोंमें अथवा गृहीलिंगोंमें ममता करते हैं, अर्थात् यह मानते हैं कि द्रव्य लिंग ही मोक्षका कारण है उन्होंने समयसारको नहीं जाना।

३. व्यवहारधर्ममें रुचि करना मिथ्यात्व है

पं. का./ता. वृ./१६५/२३८/१६ यदि पुनः शुद्धात्मभावनासमर्थोऽपि तां त्यक्त्वा शुभोपयोगादेव मोक्षो भवतीत्येकान्तेन मन्यते तदा स्थूलपर-समयपरिणामेनाज्ञानी मिथ्यादृष्टिर्भवति। —यदि शुद्धात्माकी भावना-में समर्थ होते हुए भी कोई उसे छोड़कर शुभोपयोगसे ही मोक्ष होता है, ऐसा एकान्तसे मानता है, तब स्थूल परसमयरूप परिणामसे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि होता है।

४. व्यवहार धर्म परमार्थसे अपराध अग्नि व दुःखस्व-रूप है

पु. सि. उ./२२० रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य। आस्र-वति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः। —इस लोकमें रत्नत्रयरूप धर्म निर्वाणका ही कारण है, अन्य गतिका नहीं। और जो रत्नत्रयमें पुण्यका आस्रव होता है, यह अपराध शुभोपयोगका है। (और भी देखो चारित्र /४/३)।

प्र. सा./त. प्र./७७, ७९ यस्तु पुन····धर्मानुरागमवलम्बते स खलूपरक्त-चित्तभित्तितया तिरस्कृतशुद्धोपयोगशक्तिरासंसारं शरीरं दुःखमेवा-नुभवति ।७७। यः खलु···शुभोपयोगवृत्त्या बकाभिसारिकयेवाभिसार्य-माणो न मोहवाहिनीविधेयतामवकिरति स किल समासन्नमहादुःख-संकटः कथमात्मानमविप्लुतं लभते ।७९। —जो जीव (पुण्यरूप) धर्मा-नुरागपर अत्यन्त अवलम्बित है, वह जीव वास्तवमें चित्तभूमिके उपरक्त होनेसे (उपाधिसे रंगी होनेसे) जिसने शुद्धोपयोग शक्तिका तिरस्कार किया है, ऐसा वर्तता हुआ संसार पर्यन्त शारीरिक दुःख-का ही अनुभव करता है ।७७। जो जीव धूर्त अभिसारिका की भाँति शुभोपयोग परिणतिसे अभिसार (मिलन) को प्राप्त हुआ मोहकी सेनाकी वशवर्तिताको दूर नहीं कर डालता है, तो जिसके महादुःख-संकट निकट है वह, शुद्ध आत्माको कैसे प्राप्त कर सकता है ।७९।

पं. का./त. प्र./१७२ अर्हदादिगतमपि रागं चन्दनगसङ्गतमग्निमिव सुरलोकादिक्लेशप्राप्त्यात्यन्तमन्तर्दाहाय कल्पमानमाकलय···। — अर्हन्तादिगत रागको भी, चन्दनवृक्षसंगत अग्निकी भाँति देवलो-कादिके क्लेश प्राप्ति द्वारा अत्यन्त अन्तर्दाहका कारण समझकर (प्र. सा./त. प्र /११) (यो. सा./अ./६/२१), (नि. सा./ता. वृ. /१४४)।

पं. का./त. प्र./१६८ रागकलिविलासमूल एवायमनर्थसंतान इति। —यह (भक्ति आदि रूप रागपरिणति) अनर्थसंततिका मूल रागरूप क्लेशका विलास ही है।

५. व्यवहार धर्म मोह व पापरूप है

प्र. सा./मू./८५ अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु। विस-एसु च पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि। —पदार्थका अयथाग्रहण, तिर्यंच मनुष्योंके प्रति करुणाभाव और विषयोंकी संगति, ये सब मोहके चिह्न हैं। (अर्थात् पहला तो दर्शन मोहका, दूसरा शुभरागरूप मोहका तथा तीसरा अशुभरागरूप मोहका चिह्न है।) (पं. का. मू./१३५/१३६)।

पं. वि./७/२५ तस्मात्तत्पदसाधनत्वधरणो धर्मोऽपि नो संमतः। यो भोगादिनिमित्तमेव स पुनः पापं बुधैर्मन्यते। —जो धर्म पुरुषार्थ मोक्षपुरुषार्थका साधक होता है वह तो हमें अभीष्ट है, किन्तु जो धर्म केवल भोगादिका ही कारण होता है उसे विद्वज्जन पाप ही समझते हैं।

६. व्यवहारधर्म अकिंचित्कर है

स. सा./आ./१५३ अज्ञानमेव बन्धहेतुः, तदभावे स्वयं ज्ञानभूतानां ज्ञानिनां बहिर्व्रतनियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्मासद्भावेऽपि मोक्षसद्भा-वात्। —अज्ञान ही बन्धका कारण है, क्योंकि उसके अभावमें स्वयं ही ज्ञानरूप होनेवाले ज्ञानियोंके बाह्य व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभ कर्मोंका असद्भाव होनेपर भी मोक्षका सद्भाव है।

ज्ञा./२२/२७ यस्य चित्तं स्थिरीभूतं प्रसन्नं ज्ञानवासितम्। सिद्धमेव मुनेस्तस्य साध्यं किं कायदण्डनैः ।२७। जिस मुनिका चित्त स्थिरी-भूत है, प्रसन्न है, रागादिकी कलुषतासे रहित तथा ज्ञानकी वासनासे युक्त है, उसके सब कार्य सिद्ध हैं, इसलिए उस मुनिको कायदण्ड देनेसे क्या लाभ है।

७. व्यवहार धर्म कथंचित् हेय है

स. सा./आ./२७१/क. १७३ सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनैस्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः। — सर्व वस्तुओंमें जो अध्यवसान होते हैं वे सब जिनेन्द्र भगवान्ने त्यागने योग्य कहे हैं, इसलिए हम यह मानते हैं कि पर जिसका आश्रय है ऐसा व्यवहार ही सम्पूर्ण छुड़ाया है।

प्र. सा./त. प्र./१६७ स्वसमयप्रसिद्ध्यर्थं पिञ्जनलग्नतूलन्यासन्याय-मविधताऽर्हदादिविषयोऽपि क्रमेण रागरेणुरपसारणीय इति। —जीव-को स्वसमयकी प्रसिद्धिके अर्थ, धुनकीमें चिपकी हुई रूईके न्यायसे, अर्हंत आदि विषयक भी रागरेणु क्रमशः दूर करने योग्य है। (अन्यथा जैसे वह थोड़ी-सी भी रूई जिस प्रकार अधिकाधिक रूई-को अपने साथ चिपटाती जाती है और अन्तमें धुनकीको धुनने नहीं देती उसी प्रकार अल्पमात्र भी वह शुभ राग अधिकाधिक रागकी वृद्धिका कारण बनता हुआ जीवको संसारमें गिरा देता है।)

८. व्यवहार धर्म बहुत कर लिया अब कोई और मार्ग ढूँढ

अमृताशीति/५९ गिरिगहनगुहाद्यारण्यशून्यप्रदेश-स्थितिकरणनिरोध-ध्यानतीर्थोपसेवा। पठनजपनहोमैर्ब्रह्मणो नास्ति सिद्धिः, मृगय तदपरं त्वं भोः प्रकारं गुरुभ्यः। —गिरि, गहन, गुफा, आदि तथा शून्यवन प्रदेशोंमें स्थिति, इन्द्रियनिरोध, ध्यान, तीर्थसेवा, पाठ, जप, होम आदिकोंसे ब्रह्म (व्यक्ति) को सिद्धि नहीं हो सकती। अतः हे भव्य! गुरुओंके द्वारा कोई अन्य ही उपाय खोज।

९. व्यवहारको धर्म कहना उपचार है

स. सा./आ./४१४ यः खलु श्रमणश्रमणोपासकभेदेन द्विविधं द्रव्यलिंगं भवति मोक्षमार्ग इति प्ररूपणप्रकारः, स केवलं व्यवहार एव, न पर-मार्थः। —अनगार व सागार, ऐसे दो प्रकारके द्रव्य लिंगरूप मोक्षमार्ग-का प्ररूपण करना व्यवहार है परमार्थ नहीं।

मो. मा. प्र./७/३६७-१५; ३६५/२९ ; ३७२/३ ; ३७६/६; ३७७/११ निम्न भूमि में शुभोपयोग और शुद्धोपयोग का सहवर्तीपना होने से,

तथा सम्यग्दृष्टि को शुभोपयोग होने पर निकट में ही शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो जाती है इसलिये, व्रतादिरूप शुभोपयोग को उपचार से मोक्षमार्ग कह दिया जाता है।

५. व्यवहार धर्मकी कथंचित् प्रधानता

१. व्यवहार धर्म निश्चयका साधन है

द्र.सं./टी./३५/१०२/६ अथ निश्चयरत्नत्रयपरिणतं शुद्धात्मद्रव्यं तद्बहिरङ्गसहकारिकारणभूतं पञ्चपरमेष्ठ्याराधनं च शरणम्। = निश्चय रत्नत्रयसे परिणत जो स्वशुद्धात्मद्रव्य है वह और उसका बहिरंगसहकारीकारणभूत पंचपरमेष्ठियोंका आराधन है।

२. व्यवहारकी कथंचित् इष्टता

प्र.सा./मू./२६० असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा। णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो।२६०। = जो अशुभोपयोग रहित वर्तते हुए शुद्धोपयुक्त अथवा शुभोपयुक्त होते हैं वे (श्रमण) लोगोंको तार देते हैं। उनकी भक्ति से प्रशस्त पुण्य होता है।२६०।

दे. पुण्य/४/४ (भव्य जीवोंको सदा पुण्यरूप धर्म करते रहना चाहिए।)

कुरल काव्य/४/६ करिष्यामीति संकल्पं त्यक्त्वा धर्मी भवद्रुतम्। धर्म एव परं मित्रं यन्मृतौ सह गच्छति।६। = यह मत सोचो कि मैं धीरे-धीरे धर्म मार्गका अवलम्बन करूँगा। किन्तु अभी बिना विलम्ब किये ही शुभ कर्म करना प्रारम्भ कर दो, क्योंकि, धर्म ही वह अमर मित्र है, जो मृत्युके समय तुम्हारा साथ देनेवाला होगा।

स्व. स्तो/५८ पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जिनस्य, सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ। दोषायनाऽलं कणिका विषस्य, न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ।५८। हे पूज्य श्री वासुपूज्य स्वामी! जिस प्रकार विष की एक कणिका सागर के जल को दूषित नहीं कर सकती, उसी प्रकार आपकी पूजा में होने वाला लेशमात्र सावद्य योग उससे प्राप्त बहुपुण्य राशि को दूषित नहीं कर सकता।

रा.वा./६/३/७/५०७/३४ उत्कृष्टः शुभपरिणामः अशुभजघन्यानुभागबन्धहेतुत्वेऽपि भूयसः शुभस्य हेतुरिति शुभः पुण्यस्येत्युच्यते, यथा अल्पापकारहेतुरपि बहूपकारसद्भावादुपकार इत्युच्यते। = यद्यपि शुभ परिणाम अशुभके जघन्य अनुभागबन्धके भी कारण होते हैं, पर बहुत शुभके कारण होनेसे 'शुभः पुण्यस्य' यह सूत्र सार्थक है। जैसे कि थोड़ा अपकार करनेपर भी बहुत उपकार करनेवाला उपकारक ही माना जाता है।

प.प्र./टी./२/५५/१७७/४ अत्राह प्रभाकरभट्टः। तर्हि ये केचन पुण्यपापद्वयं समानं कृत्वा तिष्ठन्तीति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति। भगवानाह यदि शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं···समाधिं लब्ध्वा तिष्ठन्ति तदा संमतमेव। यदि पुनस्तथाविधमवस्थामलभमाना अपि सन्तो गृहस्थावस्थायां दानपूजादिकं त्यजन्ति तपोधनावस्थायां षडावश्यकादिकं च त्यक्त्वोभयभ्रष्टाः सन्तः तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम्। = प्रश्न—यदि कोई पुण्य व पाप दोनोंको समान समझकर व्यवहार धर्मको छोड़ तिष्ठे तो उसे क्या दूषण है? उत्तर—यदि शुद्धात्मानुभूतिरूप समाधिको प्राप्त करके ऐसा करता है, तब तो हमें सम्मत ही है। और यदि उस प्रकारकी अवस्थाको प्राप्त किये बिना ही गृहस्थावस्थामें दान पूजादिक तथा साधुकी अवस्थामें षडावश्यकादि छोड़ देता है तो उभय भ्रष्ट हो जानेसे उसे दूषण ही है।

प्र.सा./ता.वृ./२५०/३४४/१३ इदमत्र तात्पर्यम्। योऽसौ स्वशरीरपोषणार्थं शिष्यादिमोहेन वा सावद्यं नेच्छति तस्येदं व्याख्यानं शोभते, यदि पुनरन्यत्र सावद्यमिच्छति, वैयावृत्त्यादिस्वकीयावस्थायोग्ये धर्मकार्ये नेच्छति तदा तस्य सम्यक्त्वमेव नास्ति। = यहाँ यह तात्पर्य समझना कि जो व्यक्ति स्वशरीर पोषणार्थ या शिष्यादिके मोहवश सावद्यकी इच्छा नहीं करते उनको ही यह व्याख्यान (वैयावृत्ति आदिमें रत रहनेवाला साधु गृहस्थके समान है) शोभा देता है। किन्तु जो अन्यत्र तो सावद्यको इच्छा करे और धर्म कार्यों के सावद्य का त्याग करे, उसे तो सम्यक्त्व ही नहीं है।

द.पा./टी./३/४/१३ इति ज्ञात्वा···दानपूजादिसत्कर्म न निषेधनीयं, आस्तिकभावेन सदा स्थातव्यमित्यर्थः। (द.पा./टी./५/५/२२)

भा.पा.टी./८/१३३/१० एवमर्थं ज्ञात्वा ये जिनपूजनस्नपनस्तवननवजीर्णचैत्यचैत्यालयोद्धारणयात्राप्रतिष्ठादिकं महापुण्यं कर्म···प्रभावनाङ्गं गृहस्थाः सन्तोऽपि निषेधन्ति ते पापात्मनो मिथ्यादृष्टयो···अनन्तसंसारिणो भवन्तीति···। = १. ऐसा जानकर दान पूजादि सत्कर्म निषेध करने योग्य नहीं हैं, बल्कि आस्तिक भावसे स्थापित करने योग्य है। (द.पा./टी./५/५/२२) २. जिनपूजन, अभिषेक, स्तवन, नये या पुराने चैत्य चैत्यालयका जीर्णोद्धार, यात्रा प्रतिष्ठादिक महापुण्य कर्म रूप प्रभावना अंगको यदि गृहस्थ होते हुए भी निषेध करते हैं तो वे पापात्मा मिथ्यादृष्टि अनन्त संसारमें भ्रमण करते हैं। (प.प्र./७३६-७३६)

३. अन्यके प्रति व्यक्तिका कर्तव्य-अकर्तव्य

ज्ञा./२-१०/२१ यद्यत्स्वस्यानिष्टं तत्तद्वाक्चित्तकर्मभिः कार्यम्। स्वप्नेऽपि नो परेषामिति धर्मस्याग्रिमं लिङ्गम्।२१। = धर्मका मुख्य चिह्न यह है कि, जो जो क्रियाएँ अपनेको अनिष्ट लगती हों, सो सो अन्यके लिए मन वचन कायसे स्वप्नमें भी नहीं करना चाहिए।

४. व्यवहार धर्मका महत्त्व

आ.अनु./२२४,२२६ विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः, शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः। नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता, भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति।२२४। समाधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः, स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः। स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः, कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः।२२६। = इन्द्रिय विषयोंसे विरक्ति, परिग्रहका त्याग, कषायोंका दमन, शम, यम, दम आदि तथा तत्त्वाभ्यास, तपश्चरणका उद्यम, मनकी प्रवृत्तिपर नियन्त्रण, जिनभगवान्में भक्ति, और दयालुता, ये सब गुण उसी पुण्यात्मा जीवके होते हैं, जिसके कि संसाररूप समुद्रका किनारा निकट आ चुका है।२२४। जो समस्त हेयोपादेय तत्त्वोंके जानकार, सर्वसावद्यसे दूर, आत्महितमें चित्तको लगाकर समस्त इन्द्रियव्यापारको शान्त करनेवाले हैं, स्व व परके हितकर वचनका प्रयोग करते हैं, तथा सब संकल्पोंसे रहित हो चुके हैं, ऐसे मुनि कैसे मुक्तिके पात्र न होंगे?।२२६।

का.अ./मू./४३१ उत्तमधम्मेण जुदो होदि तिरिक्खो वि उत्तमो देवो। चंडालो वि सुरिंदो उत्तमधम्मेण संभवदि।४३१। = उत्तम धर्मसे युक्त तिर्यंच भी देव होता है, तथा उत्तम धर्मसे युक्त चाण्डाल भी सुरेन्द्र हो जाता है।

ज्ञा./२-१०/४,११ चिन्तामणिर्निधिर्दिव्यः स्वर्धेनुः कल्पपादपाः। धर्मस्यैते श्रिया सार्द्धं मन्ये भृत्याश्चिरन्तनाः।४। धर्मो गुरुश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च बान्धवः। अनाथवत्सलः सोऽयं संत्राता कारणं विना।११। = लक्ष्मीसहित चिन्तामणि, दिव्य नवनिधि, कामधेनु और कल्पवृक्ष, ये सब धर्मके चिरकालसे किंकर हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।४। धर्म गुरु है, मित्र है, स्वामी है, बान्धव है, हितू है, और धर्म ही बिना कारण अनाथोंका प्रीतिपूर्वक रक्षा करनेवाला है। इसलिए प्राणीको धर्मके अतिरिक्त और कोई शरण नहीं है।११।

६. निश्चय व व्यवहारधर्म समन्वय

१. निश्चय धर्मकी प्रधानताका कारण

प.प्र./मू./२/६७ सुद्धहं संजमु सीलु तउ सुद्धहँ दंसणु णाणु। सुद्धहँ कम्म-

कखउ हवइ सुद्धउ तेण पहाणु ।६७। –वास्तवमें शुद्धोपयोगियोंको ही संयम, शील, तप, दर्शन, ज्ञान व कर्मका क्षय होता है इसलिए शुद्धोपयोग ही प्रधान है। (और भी दे० धर्म/३/३)

२. व्यवहारधर्म निषेधका कारण

मो.पा./मू./३१,३२ जो सुत्तो ववहारे सो जोइ जग्गए सकज्जम्मि। जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ।३१। इदि जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं। झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिंदेहिं ।३२। –जो योगी व्यवहारमें सोता है सो अपने स्वरूपके कार्यमें जागता है और जो व्यवहारविषै जागता है, वह अपने आत्मकार्य विषै सोता है। ऐसा जानकर वह योगी सर्व व्यवहारको सर्व प्रकार छोड़ता है, और सर्वज्ञ देवके कहे अनुसार परमात्मस्वरूपको ध्याता है। (स.श./७८)

प.प्र./मू./२/१९४ जामु सुहासुह-भावड़ा णवि सयल वि तुट्टंति। परम समाहि ण तामु मुणि केवलि एमु भणंति। –जब तक सकल शुभाशुभ परिणाम दूर नहीं हो जाते, तब तक रागादि विकल्प रहित शुद्ध चित्तमें परम समाधि नहीं हो सकती, ऐसा केवली भगवान् कहते हैं। (यो.सा./यो./३७)

न.च.वृ./३८१ णिच्छयदो खलु मोक्खो बंधो ववहारचारिणो जम्हा। तम्हा णिव्वुदिकामो ववहारं चयदु तिविहेण। –क्योंकि व्यवहारचारीको बन्ध होता है और निश्चयसे मोक्ष होता है, इसलिए मोक्षकी इच्छा करनेवाला व्यवहारका मन वचन कायसे त्याग करता है।

पं.वि./४/३२ निश्चयेन तदेकत्वमद्वैतममृतं परम्। द्वितीयेन कृतं द्वैतं संसृतिर्व्यवहारतः ।३२। –निश्चयसे जो वह एकत्व है वही अद्वैत है, जो कि उत्कृष्ट अमृत और मोक्ष स्वरूप है। किन्तु दूसरे (कर्म व शरीरादि) के निमित्तसे जो द्वैताभाव उदित होता है, वह व्यवहारकी अपेक्षा रखनेसे संसारका कारण होता है।

(दे० धर्म/४/नं०) व्यवहार धर्मकी रुचि करना मिथ्यात्व है ।३। व्यवहार धर्म परमार्थसे अपराध व दुःखस्वरूप है ।४। परमार्थसे मोह व पाप है ।५। इन उपरोक्त कारणोंसे व्यवहार त्यागने योग्य है ।८।

दे० चारित्र/५/६ अनिष्ट(स्वर्ग)फलप्रदायी होने से सराग चारित्र हेय है।

दे० चारित्र/६/४ पहले अशुभ को छोड़कर व्रतादि धारण करे। पीछे शुद्ध की उपलब्धि हो जाने पर उसे भी छोड़ दे। (और भी दे० चारित्र ७/१०)।

दे०धर्म/३/२। शुद्धोपयोगी मुमुक्षु अव्रतों की भाँति व्रतों को भी छोड़ दे।

दे० धर्म/५/२। शुद्धोपलब्धि होने पर शुभ का त्याग न्याय है, अन्यथा उभय पथ से भ्रष्ट होकर नष्ट होता है।

दे० धर्म/६/४। जिस प्रकार शुभ से अशुभ का निरोध होता है। उसी प्रकार शुद्ध से शुभ का भी निरोध होता है।

दे० धर्म/७/४। व्यवहार धर्म मोक्ष का नहीं संसार(स्वर्ग) का कारण है।

दे० धर्म/७/५। व्यवहार धर्म बन्ध (पुण्य बन्ध) का कारण है।

दे० धर्म/७/६। व्यवहार धर्म मोक्ष का नहीं बन्ध (पुण्य बन्ध) का कारण है।

दे०धर्मध्यान/६/६। व्यवहार पूर्वक क्रम से गुणस्थान आरोहण होता है।

दे० नय/३/६। स्वरूपाराधना के समय निश्चय व्यवहार के समस्त विकल्प या पक्ष स्वतः शान्त हो जाते हैं।

३. व्यवहार धर्मके निषेधका प्रयोजन

का.अ./मू./४०९ एदे दहप्पयारा पावं कम्मस्स णासया भणिया। पुण्णस्स य संजणया पर पुणत्थं ण कायव्वा। –ये धर्मके दश भेद पापकर्मका नाश करनेवाले तथा पुण्यकर्मका बन्ध करनेवाले कहे हैं। किन्तु इन्हें पुण्यके लिए नहीं करना चाहिए।

पं.का./ता.वृ./१७२/२४६/१ मोक्षाभिलाषी भव्योऽर्हदादिविषयेऽपि स्वसंवित्तिलक्षणरागं मा करोतु। –मोक्षाभिलाषी भव्य अर्हन्तादि विषयोंमें स्वसंवित्ति लक्षणवाला राग मत करो, अर्थात् उनके साथ तन्मय होकर अपने स्वरूपको न भूलो।

मो० मा० प्र०/७/३७३/३ व्रतादि के त्याग मात्र से धर्म का लोप नहीं हो जाता।

दे० मिथ्यादृष्टि/४/४ व्यवहारधर्म का प्रयोजन विषयकषाय से बचना है।

दे० चारित्र/७/१ व्रत पक्ष के त्याग मात्र से कर्म लिप्त नहीं हो जाते।

४. व्यवहारधर्मके त्यागका उपाय व क्रम

प्र.सा./मू./१५१,१५६ जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि। कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति ।१५१। असुहोवओगरहिओ सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि। होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए ।१५६। –जो इन्द्रियादिका विजयी होकर उपयोग मात्र आत्माका ध्यान करता है कर्मोंके द्वारा रंजित नहीं होता, उसे प्राण कैसे अनुसरण कर सकते हैं ।१५१। अन्य द्रव्यमें मध्यस्थ होता हुआ मैं अशुभोपभोग तथा शुभोपभोगसे युक्त न होकर ज्ञानात्मक आत्माको ध्याता हूँ। (इ.उ./२२)

न.च.वृ./३४७ जह वि णिरुद्धं असुहं सुहेण सुहमवि तहेव सुद्धेण। तम्हा एण कमेण य जोई ज्झाएउ णियआदं ।३४७। –जिस प्रकार शुभसे अशुभका निरोध होता है। उसी प्रकार शुद्धसे शुभका निरोध होता है। इसलिए इस क्रमसे ही योगी निजात्माको ध्याओ अर्थात् पहिले अशुभको छोड़नेके लिए शुभका आचरण करना और पीछे उसे भी छोड़कर शुद्धमें स्थित होना। (और भी दे० चारित्र/७/१०)

आ.अनु./१२२ अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्यादयमागमात्। रवेरप्राप्तसंध्यस्य तमसो न समुद्गमः ।१२२। –यह आराधक भव्य जीव आगमज्ञानके प्रभावसे अशुभसे शुभरूप होता हुआ शुद्ध हो जाता है, जैसे कि बिना सन्ध्या (प्रभात) को प्राप्त किये सूर्य अन्धकारका विनाश नहीं कर सकता।

पं.का/ता.वृ./१६७/२४०/१५ पूर्वं विषयानुरागं त्यक्त्वा तदनन्तरं गुणस्थानसोपानक्रमेण रागादिरहितनिजशुद्धात्मनि स्थित्वा चार्हदादिविषयेऽपि रागस्त्याज्य इत्यभिप्रायः। –पहिले विषयोंके अनुरागको छोड़कर, तदनन्तर गुणस्थान सोपानके क्रमसे रागादि रहित निजशुद्धात्मामें स्थित होता हुआ अर्हन्तादि विषयोंमें भी रागको छोड़ना चाहिए ऐसा अभिप्राय है।

प.प्र./टी./२/३१/१५१/३ यद्यपि व्यवहारेण सविकल्पावस्थायां चित्तस्थिरीकरणार्थं देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिविभूतिविशेषकारणं परंपरया शुद्धात्मप्राप्तिहेतुभूतं पञ्चपरमेष्ठिरूपस्तववस्तुस्तवगुणस्तवादिकं वचनेन स्तुत्यं भवति मनसा च तदक्षररूपादिकं प्राथमिकानां ध्येयं भवति, तथापि पूर्वोक्तनिश्चयरत्नत्रयपरिणतिकाले केवलज्ञानाद्यनन्तगुणपरिणतः स्वशुद्धात्मैव ध्येय इति। –यद्यपि व्यवहारसे सविकल्पावस्थामें चित्तको स्थिर करनेके लिए, देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि विभूति विशेषको कारण तथा परम्परासे शुद्धात्माकी प्राप्तिका हेतुभूत पंचपरमेष्ठीका वचनों द्वारा रूप वस्तु व गुण स्तवनादिक तथा मन द्वारा उनके वाचक अक्षर व उनके रूपादिक प्राथमिक जनोंके लिए ध्येय होते हैं, तथापि पूर्वोक्त निश्चय रत्नत्रयरूप परिणतिके कालमें केवलज्ञान आदि अनन्तगुणपरिणत स्वशुद्धात्मा ही ध्येय है।

५. व्यवहारको उपादेय कहनेका कारण

प्र.सा./त.प्र./२५४ एवमेष शुद्धात्मानुरागयोगिप्रशस्तचर्यारूप उपवर्णितः शुभोपयोगः तदयं…गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन…कषायसद्भावात्प्रवर्तमानोऽपि स्फटिकसंपर्केणार्कतेजस इवैधसां रागसंयोगेन शुद्धा-

स्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणकत्वाच्च मुख्यः । —इस प्रकार शुद्धात्मानुरागयुक्त (अर्थात् सम्यग्दृष्टिकी) प्रशस्तचर्यारूप जो यह शुभोपयोग वर्णित किया गया है वह शुभोपयोग (श्रमणोंके तो गौण होता है पर) गृहस्थोंके तो, सर्वविरतिके अभावसे शुद्धात्म-प्रकाशनका अभाव होनेसे कषायके सद्भावके कारण प्रवर्तमान होता हुआ भी मुख्य है, क्योंकि जैसे ईन्धनको स्फटिकके सम्पर्कसे सूर्य-के तेजका अनुभव होता है और वह क्रमशः जल उठता है, उसी प्रकार गृहस्थको रागके संयोगसे शुद्धात्माका अनुभव होता है, और क्रमशः परम निर्वाणसौख्यका कारण होता है। (प्र.सा./ता.वृ./ २५४)

पं. वि./१/३० चारित्रं यदभाणि केवलदृशा देव त्वया मुक्तये, पुंसा तत्खलु मादृशेन विषमे काले कलौ दुर्धरम्। भक्तिर्या समभूदिह त्वयि दृढा पुण्यैः पुरोपार्जितैः संसारार्णवतारणे जिन ततः सैवास्तु पोतो मम ।३०। —हे जिन देव केवलज्ञानी ! आपने जो मुक्तिके लिए चारित्र बतलाया है, उसे निश्चयसे मुझ जैसा पुरुष इस विषम पंचम कालमें धारण नहीं कर सकता है। इसलिए पूर्वोपार्जित महान् पुण्यसे यहाँ जो मेरी आपके विषयमें दृढभक्ति हुई है वही मुझे इस संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिए जहाजके समान होवे।

(और भी दे० मोक्षमार्ग/४/१-६ व्यवहार निश्चयका साधन है)

६. व्यवहार धर्म साधुको गौण व गृहस्थको मुख्य होता है

दे० वैयावृत्त्य/८ (बाल वृद्ध आदि साधुओंको वैयावृत्त्य करना साधुओं-के लिए गौण है और गृहस्थोंके लिए प्रधान है।)

दे० साधु/२/५ [दान पूजा आदि गृहस्थोंके लिए प्रधान है और ध्याना-ध्ययन मुनियोंके लिए।]

दे० संयम/१/६ [व्रत समिति गुप्ति आदि साधुका धर्म है और पूजा दया दान आदि गृहस्थोंका।]

दे० धर्म/६/५ (गृहस्थोंको व्यवहार धर्मको मुख्यताका कारण यह है कि उनके रागकी प्रकर्षताके कारण निश्चय धर्मकी शक्तिका वर्त-मानमें अभाव है।

७. उपरोक्त नियम चारित्रकी अपेक्षा है श्रद्धाकी अपेक्षा नहीं

प्र. सा./पं. जयचन्द/२५४ दर्शनापेक्षासे तो श्रमणका तथा सम्यग्दृष्टि गृहस्थको शुद्धात्माका ही आश्रय है। परन्तु चारित्रकी अपेक्षासे श्रमणके शुद्धात्मपरिणति मुख्य होनेसे शुभोपयोग गौण होता है और सम्यग्दृष्टि गृहस्थके मुनि योग्य शुद्धपरिणतिको प्राप्त न हो सकनेसे अशुभ वंचनार्थ शुभोपयोग मुख्य है।

मो.मा.प्र./७/३३२/१४ सो ऐसी (वीतराग) दशा न होई, तावत् प्रशस्त रागरूप प्रवर्तौ। परन्तु श्रद्धान तो ऐसा राखौ—यहु (प्रशस्तराग) भी बन्धका कारण है, हेय है। श्रद्धान विषै याकौ मोक्षमार्ग जानै मिथ्यादृष्टि ही है।

८. निश्चय व व्यवहार परस्पर सापेक्ष ही धर्म है निरपेक्ष नहीं

पं. वि./६/६० अन्तस्तत्त्वविशुद्धात्मा बहिस्तत्त्वं दयाङ्गिषु । द्वयोः सन्मीलने मोक्षस्तस्माद्द्वितयमाश्रयेत् ।६०। —अभ्यन्तर तत्त्व तो विशुद्धात्मा और बाह्य तत्त्व प्राणियोंकी दया, इन दोनोंके मिलने पर मोक्ष होता है। इसलिए उन दोनोंका आश्रय करना चाहिए।

प.प्र./टी./२/१३३/२५०/५ इदमत्र तात्पर्यम्। गृहस्थेनाभेदरत्नत्रयपर-स्वरूपमुपादेयं कृत्वा भेदरत्नत्रयात्मकः श्रावकधर्मः कर्तव्यः, यतिना तु निश्चयरत्नत्रये स्थित्वा व्यावहारिकरत्नत्रयबलेन विशिष्टतप-श्चरणं कर्तव्यं। —इसका यह तात्पर्य है कि गृहस्थ तो अभेद रत्न-त्रयके स्वरूपको उपादेय मानकर भेदरत्नत्रयात्मक श्रावकधर्मको करे और साधु निश्चयरत्नत्रयमें स्थित होकर व्यावहारिक रत्नत्रयके बलसे विशिष्ट तपश्चरण करे।

पं.का./ता.वृ./१७२/२४७/१२ तत्र वीतरागत्वं निश्चयव्यवहारनयाभ्यां साध्यसाधकरूपेण परस्परसापेक्षाभ्यामेव भवति मुक्तिसिद्धये न पुन-र्निरपेक्षाभ्यामिति वार्त्तिकम्। तद्यथा- -ये केचन···निश्चयमोक्षमार्ग-निरपेक्षं केवलशुभानुष्ठानरूपं व्यवहारनयमेव मोक्षमार्गं मन्यन्ते तेन तु सुरलोकादिक्लेशपरंपरया संसारं परिभ्रमन्तीति, यदि पुनः शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं निश्चयमोक्षमार्गं मन्यन्ते निश्चयमोक्षमार्गा-नुष्ठानशक्त्यभावान्निश्चयसाधकं शुभानुष्ठानं च कुर्वन्ति तर्हि···पर-परया मोक्षं लभन्ते; इति व्यवहारैकान्तनिराकरणमुख्यत्वेन वाक्यद्वयं गतं। येऽपि केवलनिश्चयनयावलम्बिनः सन्तोऽपि···शुद्धात्मानमलभ-माना अपि तपोधनाचरणयोग्यं षडावश्यकाद्यनुष्ठानं श्रावकाचरण-योग्यं दानपूजाद्यनुष्ठानं च दूषयन्ते तेऽप्युभयभ्रष्टा सन्तो···पापमेव बध्नन्ति। यदि पुनः शुद्धात्मानुष्ठानरूपं निश्चयमोक्षमार्गं तत्साधकं व्यवहारमोक्षमार्गं मन्यन्ते तर्हि चारित्रमोहोदयात् शक्त्यभावेन शुभाशुभानुष्ठानरहितापि यद्यपि शुद्धात्मभावनासापेक्षशुभानुष्ठानरत-पुरुषसदृशा न भवन्ति तथापि···परंपरया मोक्षं च लभन्ते इति निश्चयैकान्तनिराकरणमुख्यत्वेन वाक्यद्वयं गतं। ततः स्थितमेतत्-निश्चयव्यवहारपरस्परसाध्यसाधकभावेन रागादिविकल्परहितपरम-समाधिबलेनैव मोक्षं लभन्ते। —वह वीतरागता साध्यसाधकभावसे परस्पर सापेक्ष निश्चय व व्यवहार नयोंके द्वारा ही साध्य है निर-पेक्षके द्वारा नहीं। वह ऐसे कि—(नयोंकी अपेक्षा साधकोंको तीन कोटियोंमें विभाजित किया जा सकता है—केवल व्यवहारावलम्बी, केवल निश्चयावलम्बी और नयातीत। इनमें-से भी पहिलेके दो भेद हैं—निश्चय निरपेक्ष व्यवहार और निश्चय सापेक्ष व्यवहार। इसी प्रकार दूसरेके भी दो भेद हैं—व्यवहार निरपेक्ष निश्चय और व्यवहार सापेक्ष निश्चय। इन पाँच विकल्पोंका ही यहाँ स्वरूप दर्शाकर विषयका समन्वय किया गया है।) १. जो कोई निश्चय मोक्षमार्गसे निरपेक्ष केवल शुभानुष्ठानरूप व्यवहारनयको ही मोक्ष-मार्ग मानते हैं, वे उससे सुरलोकादिकी क्लेशपरम्पराके द्वारा संसार-में ही परिभ्रमण करते हैं। २. यदि वे ही श्रद्धामें शुद्धानुभूति लक्षणवाले मोक्षमार्गको मानते हुए, चारित्रमें निश्चयमोक्षमार्गके अनुष्ठान (निर्विकल्प समाधि) की शक्तिका अभाव होनेके कारण; निश्चयको सिद्ध करनेवाले ऐसे शुभानुष्ठानको करें तो परम्परासे मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार एकान्त व्यवहारके निराकरणकी मुख्यतासे दो विकल्प कहे। ३. जो कोई केवल निश्चयनयावलम्बी होकर, शुद्धात्माकी प्राप्ति न होते हुए भी, साधुओंके योग्य षडा-वश्यकादि अनुष्ठानको और श्रावकोंके योग्य दान पूजादि अनुष्ठान-को दूषण देते हैं, तो उभय भ्रष्ट हुए केवल पापका ही बन्ध करते हैं। ४. यदि वे ही श्रद्धामें शुद्धात्माके अनुष्ठानरूप निश्चयमोक्षमार्ग-को तथा उसके साधक व्यवहार मोक्षमार्गको मानते हुए; चारित्रमें चारित्रमोहोदयवश शुद्धचारित्रकी शक्तिका अभाव होनेके कारण, अन्य साधारण शुभ व अशुभ अनुष्ठानसे रहित वर्तते हुए भी; शुद्धा-त्मभावना सापेक्ष शुभानुष्ठानरत पुरुषके सदृश न होनेपर भी, पर-म्परासे मोक्षको प्राप्त करते हैं। इस प्रकार एकान्त निश्चयके निरा-करणकी मुख्यतासे दो विकल्प कहे। ५. इसलिए यह सिद्ध होता है कि निश्चय व व्यवहारके साध्यसाधकभावसे प्राप्त निर्विकल्प समाधि-के बलसे मोक्ष प्राप्त करते हैं।

(और भी दे० चारित्र/७/७) (और भी दे० मोक्षमार्ग/४/६)

७. निश्चय व्यवहारधर्ममें कथंचित् मोक्ष व बन्धका कारणपना

१. निश्चयधर्म साक्षात् मोक्षका कारण

स.सा./मू./१५६ मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति। परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ॥ =निश्चयके विषयको छोड़कर विद्वान् लोग व्यवहार [व्रत तप आदि शुभकर्म—(टीका)] द्वारा प्रवर्तते हैं। परन्तु परमार्थके आश्रित यतीश्वरोंके ही कर्मोंका नाश आगममें कहा है।

यो.सा./यो./१६,४८ अप्पा-दंसणु एक्कु परु अण्णु ण किं पि वियाणि। मोक्खहँ कारण जोइया णिच्छइँ एहउ जाणि ।१६। रायरोस बे परिहरिवि जो अप्पाणि वसेइ। सो धम्मु वि जिण उत्तियउ जो पंचमगइ णेइ ।४८। =हे योगिन्! एक परम आत्मदर्शन ही मोक्षका कारण है, अन्य कुछ भी मोक्षका कारण नहीं, यह तू निश्चय समझ ।१६। जो राग और द्वेष दोनोंको छोड़कर निजात्मामें वसता है, उसे ही जिनेन्द्रदेवने धर्म कहा है। वह धर्म पंचम गतिको ले जानेवाला है। (नि.सा./ता.वृ./१८/क.३४)।

प.प्र./मू./२/३८/१५६ अच्छइ जित्तिउ कालु मुणि अप्प-सरूवि णिलीणु। संवरणिज्जर जाणि तुहुं सयल वियप्प विहीणु। =मुनिराज जबतक आत्मस्वरूपमें लीन हुआ रहता है, सकल विकल्पोंसे रहित उस मुनिको ही तू संवर निर्जरा स्वरूप जान।

न.च.वृ./३६६ सुद्धसंवेयणेण अप्पा मुचेइ कम्म णोकम्मं। =शुद्ध संवेदनसे आत्मा कर्मों व नोकर्मोंसे मुक्त होता है (पं.वि./१/८१)।

२. केवल व्यवहार मोक्षका कारण नहीं

स.सा./मू./१५३ वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता। परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ।१५३। =व्रत और नियमोंको धारण करते हुए भी तथा शील और तप करते हुए भी जो परमार्थसे बाहर हैं, वे निर्वाणको प्राप्त नहीं होते (मू.पा./मू./१५): (यो.सा./यो./मू./१/४८); (यो.सा./अ./१/४८)।

र.सा./७० ण हु दंडइ कोहाइं देहं दंडेइ कहं खवइ कम्मं। सप्पो किं मुवइ तहा वम्मिउ मारिउ लाए ।७०। =हे बहिरात्मा! तू क्रोध, मान, मोह आदिका त्याग न करके जो व्रत तपश्चरणादिके द्वारा शरीरको दण्ड देता है, क्या इससे तेरे कर्म नष्ट हो जायेंगे। कदापि नहीं। इस जगत्में क्या कभी बिलको पीटनेसे भी सर्प मरता है। कदापि नहीं।

३. व्यवहारको मोक्षका कारण मानना अज्ञान है

पं.का./मू./१६५ अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो। हवदि त्ति दुक्खमोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो। =शुद्धसंप्रयोग अर्थात् शुभ भक्तिभावसे दुःखमोक्ष होता है, ऐसा यदि अज्ञानके कारण ज्ञानी माने तो वह परसमयरत जीव है।

४. वास्तवमें व्यवहार मोक्षका नहीं संसारका कारण है

भा.पा./मू./८४ अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाई णिरवसेसाणि। तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भमदि। =जो आत्माको तो प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं करते और सर्व ही प्रकारके पुण्यकार्योंको करते हैं, वे भी मोक्षको प्राप्त न करके संसारमें ही भ्रमण करते हैं (स.सा./मू./१५४)।

बा.अणु./५६ पारंपज्जएण दु आसवकिरियाए णत्थि णिव्वाणं। संसार-गमणकारणमिदि णिंदं आसवो जाण। =कर्मोंका आस्रव करनेवाली (शुभ) क्रियासे परम्परासे भी निर्वाण नहीं हो सकता। इसलिए संसारमें भटकानेवाले आस्रवको बुरा समझना चाहिए।

न.च.वृ./२९९ असुह सुहं चिय कम्मं दुविहं तं दव्वभावभेयगयं। तं पिय पडुच्च मोह संसारो तेण जीवस्स ।२९९। =द्रव्य व भाव दोनों प्रकारके शुभ व अशुभ कर्मोंसे मोहके निमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण, संसार भ्रमण होता है (न.च.वृ./३७६)।

५. व्यवहारधर्म बन्धका कारण है

न.च.वृ./२८४ ण हु सुहमसुहं हु तं पिय बंधो हवे णियमा।

न.च.वृ./३६६ असुद्धसंवेयणेण अप्पा बंधेइ कम्म णोकम्म। =शुभ और अशुभ रूप अशुद्ध संवेदनसे जीवको नियमसे कर्म व नोकर्मका बन्ध होता है (पं.वि./१/८१)।

पं.ध./उ./५५८ सरागे वीतरागे वा नूनमौदयिकी क्रिया। अस्ति बन्ध-फलावश्यं मोहस्यान्यतमोदयात्। =मोहके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण, सरागकी या वीतरागकी जितनी भी औदयिक क्रियाएँ हैं वे अवश्य ही बन्ध करनेवाली हैं।

६. केवल व्यवहारधर्म मोक्षका नहीं बन्धका कारण है

पं.का./मू./१६६ अरहंतसिद्धचेदियपवयणगणणाणभत्तिसंपण्णो। बंधदि पुण्णं बहुसो ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि। =अरहंत, सिद्ध चैत्य, प्रवचन (शास्त्र) और ज्ञानके प्रति भक्तिसम्पन्न जीव बहुत पुण्य बाँधता है परन्तु वास्तवमें कर्मोंका क्षय नहीं करता (प.प्र./मू./२/६१); (वसु.श्रा./४०)।

स.सा./मू./२७५ सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि। धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं। =अभव्य जीव भोगके निमित्तरूप धर्मकी (अर्थात् व्यवहारधर्मकी) ही श्रद्धा, प्रतीति व रुचि करता है, तथा उसे ही स्पर्श करता है, परन्तु कर्मक्षयके निमित्तरूप (निश्चय) धर्मको नहीं।

ध.१३/५,४,२८/८८/११ पराहीणभावेण किरिया कम्मं किण्ण कीरदे। ण तहा किरियाकम्मं कुणमाणस्स कम्मक्खयाभावादो॥ जिणिंदादि-अच्चासणदुवारेण कम्मबंधसंभवादो च। =प्रश्न—पराधीन भावसे क्रिया-कर्म क्यों नहीं किया जाता? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उस प्रकार क्रियाकर्म करनेवालेके कर्मोंका क्षय नहीं होता और जिनेन्द्रदेव आदिकी आसादना होनेसे कर्मोंका बन्ध होता है।

७. व्यवहारधर्म पुण्यबन्धका कारण है

प्र.सा./मू./१५६ उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि। असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि। =उपयोग यदि शुभ हो तो जीवका पुण्य संचयको प्राप्त होता है, और यदि अशुभ हो तो पाप संचय होता है। दोनोंके अभावमें संचय नहीं होता (प्र.सा./मू./१८१)।

पं.का./मू./१३५ रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदा य परिणामो। चित्तम्हि णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्स आसवदि। =जिस जीवको प्रशस्त राग है, अनुकम्पा युक्त परिणाम हैं और चित्तमें कलुषताका अभाव है उस जीवको पुण्यका आस्रव होता है (यो.सा./अ./४/३७)।

का.अ./मू./४८ विरलो अज्जदि पुण्णं सम्मादिट्ठी वएहिं संजुत्तो। उवसमभावे सहिदो णिंदण गरहाहिं संजुत्तो। =सम्यग्दृष्टि, व्रती, उपशमभावसे युक्त तथा अपनीनिन्दा और गर्हा करनेवाले विरले जन ही पुण्यकर्मका उपार्जन करते हैं।

पं.का./ता.वृ./२६४/२३७/११ स्वभावेन मुक्तिकारणान्यपि पञ्चपरमेष्ठ्यादिप्रशस्तद्रव्याश्रितानि साक्षात्पुण्यबन्धकारणानि भवन्ति। =सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय यद्यपि स्वभावसे मोक्षके कारण हैं, परन्तु यदि पंचपरमेष्ठी आदि प्रशस्त द्रव्योंके आश्रित हों तो साक्षात् पुण्य-बन्धके कारण होते हैं।

८. परन्तु सम्यक् व्यवहारधर्मसे उत्पन्न पुण्य विशिष्ट प्रकारका होता है

द्र.सं./टी./३६/१५२/५ तच्चैव तीर्थंकरप्रकृत्यादि विशिष्टपुण्यबन्धकारणं भवति। —(सम्यग्दृष्टिकी शुभ क्रियाएँ) उस भवमें तीर्थंकर प्रकृति आदि रूप विशिष्ट पुण्यबन्धकी कारण होती हैं (द्र.सं./टी./३८/१६०/२); (प्र.सा./ता.वृ./६/८/१०), (प.प्र./टी./२/६/७१/११६/६)।

प.प्र./टी./२/६०/१८२/१ इदं पूर्वोक्तं पुण्यं भेदाभेदरत्नत्रयाराधनारहितेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धपरिणामसहितेन जीवेन यदुपार्जितं पूर्वभवे तदेव ममकाराहंकारं जनयति, बुद्धिविनाशं च करोति। न च पुनः सम्यक्त्वादिगुणसहितं भरतसगररामपाण्डवादिपुण्यबन्धवत्। यदि पुनः सर्वेषां मदं जनयति तर्हि ते कथं पुण्यभाजनाः सन्तो मदाहंकारादिविकल्पं त्यक्त्वा मोक्षं गता इति भावार्थः। —जो यह पुण्य पहले कहा गया है वह सर्वत्र समान नहीं होता। भेदाभेद रत्नत्रयकी आराधनासे रहित तथा दृष्ट श्रुत व अनुभूत भोगोंकी आकांक्षारूप निदानबन्धवाले परिणामोंसे सहित ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवोंके द्वारा जो पूर्वभवमें उपार्जित किया गया पुण्य होता है, वह ही ममकार व अहंकारको उत्पन्न करता है तथा बुद्धिका विनाश करता है। परन्तु सम्यक्त्व आदि गुणोंके सहित उपार्जित पुण्य ऐसा नहीं करता, जैसे कि भरत, सगर, राम, पाण्डव आदिका पुण्य। यदि सभी जीवोंका पुण्य मद उत्पन्न करता होता तो पुण्यके भाजन होकर भी वे मद अहंकारादि विकल्पोंको छोड़कर मोक्ष कैसे जाते।

(और भी—दे० मिथ्यादृष्टि/४); (मिथ्यादृष्टिका पुण्य पापानुबन्धी होता है पर सम्यग्दृष्टिका पुण्य पुण्यानुबन्धी होता है)।

९. सम्यक व्यवहारधर्म निर्जराका तथा परम्परा मोक्षका कारण है

प्र.सा./मू. प्रक्षेपक/७९-२ तं देवदेवं जदिवरवसहं गुरु तिलोयस्स। पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति। —जो त्रिलोकगुरु यतिवरवृषभ उस देवाधिदेवको नमस्कार करते हैं, वे मनुष्य अक्षय सुख प्राप्त करते हैं।

भाव संग्रह/४०४,६१० सम्यग्दृष्टेः पुण्यं न भवति संसारकारणं नियमात्। मोक्षस्य भवति हेतुः यदि च निदानं न करोति।४०४। आवश्यकादि कर्म वैयावृत्त्यं च दानपूजादि। यत्करोति सम्यग्दृष्टिस्तत्सर्वं निर्जरानिमित्तम्।६१०। —सम्यग्दृष्टिका पुण्य नियमसे संसारका कारण नहीं होता, बल्कि यदि वह निदान न करे तो मोक्षका कारण है।४०४। आवश्यक आदि या वैयावृत्ति या दान पूजा आदि जो कुछ भी शुभक्रिया सम्यग्दृष्टि करता है, वह सबकी सब उसके लिए निर्जराकी निमित्त होती है।

पु.सि.उ./२११ असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः। स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः।२११। —भेदरत्नत्रयकी भावनासे जो पुण्य कर्मका बन्ध होता है वह यद्यपि रागकृत है, तो भी वे मिथ्यादृष्टिकी भाँति उसे संसारका कारण नहीं हैं बल्कि परम्परासे मोक्षका ही कारण हैं।

नि.सा./ता.वृ./७६/क. १०७ शीलमपवर्गयोषिदनङ्गसुखस्यापि मूलमाचार्याः। प्राहुर्व्यवहारात्मकवृत्तमपि तस्य परम्पराहेतुः। —आचार्योंने शीलको मुक्तिसुन्दरीके अनंगसुखका मूल कारण कहा। व्यवहारात्मक चारित्र भी उसका परम्परा कारण है।

द्र.सं./टी./३६/१५२/६ पारम्पर्येण मुक्तिकारणं चेति। —(वह विशिष्ट पुण्यबन्ध) परम्परासे मुक्तिका कारण है।

१०. परन्तु निश्चय सहित ही व्यवहार मोक्षका कारण है रहित नहीं

स.सा./मू./१५६ मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति। परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ। —निश्चयके विषयको छोड़कर विद्वान् व्यवहारके द्वारा प्रवर्तते हैं, परन्तु परमार्थके आश्रित यतीश्वरोंके ही कर्मोंका नाश आगममें कहा गया है।

स.श./७१ मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः। तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः। —जिस पुरुषके चित्तमें आत्मस्वरूपकी निश्चल धारणा है, उसकी नियमसे मुक्ति होती है, और जिस पुरुषको आत्मस्वरूपमें निश्चल धारणा नहीं है, उसकी अवश्यम्भाविनी मुक्ति नहीं होती है (अर्थात् हो भी और न भी हो)।

प.प्र./टी./२/१९१ यदि निजशुद्धात्मैवोपादेय इति मत्वा तत्साधकत्वेन तदनुकूलं तपश्चरणं करोति, तत्परिज्ञानसाधकं च पठति तदा परम्परया मोक्षसाधकं भवति, नो चेत् पुण्यबन्धकारणं तमेवेति। —यदि 'निज शुद्धात्मा ही उपादेय है' ऐसी श्रद्धा करके, उसके साधकरूपसे तदनुकूल तपश्चरण (चारित्र) करता है, और उसके ही विशेष परिज्ञानके लिए शास्त्रादि पढ़ता है तो वह भेद रत्नत्रय परम्परासे मोक्षका साधक होता है। यदि ऐसा न करके केवल बाह्य क्रिया करता है तो वही पुण्यबन्धका कारण है। (पं.का./ता.वृ./१७२/२४६/६); (प्र.सा./ता.वृ./२५५/३४६/९)।

११. यद्यपि मुख्यरूपसे पुण्यबन्ध ही होता पर परम्परासे मोक्षका कारण पड़ता है

प्र.सा./ता.वृ./२५५/३४८/२० यदा पूर्वसूत्रकथितन्यायेन सम्यक्त्वपूर्वकः शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परंपरया निर्वाणं च। —जब पूर्वसूत्रमें कहे अनुसार सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग होता है तब मुख्यरूपसे तो पुण्यबन्ध होता है, परन्तु परंपरासे निर्वाण भी होता है।

१२. परम्परा मोक्षका कारण कहनेका तात्पर्य

पं.का./ता.वृ./१७०/२४३/१५ तेन कारणेन यद्यप्यनन्तसंसारछेदं करोति कोऽप्यचरमदेहस्तद्भवे कर्मक्षयं न करोति तथापि…भवान्तरे पुनर्देवेन्द्रादिपदं लभते। तत्र…पञ्चविदेहेषु गत्वा समवशरणे वीतरागसर्वज्ञान् पश्यति…तदनन्तरं विशेषेण दृढधर्मो भूत्वा चतुर्थगुणस्थानयोग्यमात्मभावनामपरित्यजन् सन् देवलोके कालं गमयति ततोऽपि जीवितान्ते स्वर्गादागत्य मनुष्यभवे चक्रवर्त्यादिविभूतिं लब्ध्वापि पूर्वभवभावितशुद्धात्मभावनाबलेन मोहं न करोति ततश्च विषयसुखं परिहृत्य जिनदीक्षां गृहीत्वा निर्विकल्पसमाधिविधानेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे निजशुद्धात्मनि स्थित्वा मोक्षं गच्छतीति भावार्थः। —उस पूजादि शुभानुष्ठानके कारणसे यद्यपि अनन्तसंसारकी स्थितिका छेद करता है, परन्तु कोई भी अचरमदेही उसी भवमें कर्मक्षय नहीं करता। तथापि भवान्तरमें देवेन्द्रादि पदोंको प्राप्त करता है। तहाँ पंचविदेहोंमें जाकर समवशरणमें तीर्थंकर भगवान्‌के साक्षात् दर्शन करता है। तदनन्तर विशेष रूपसे दृढधर्मा होकर चतुर्थ गुणस्थानके योग्य आत्मभावनाको न छोड़ता हुआ देवलोकमें काल गँवाता है। जीवनके अन्तमें स्वर्गसे चयकर मनुष्य भवमें चक्रवर्ती आदिकी विभूतिको प्राप्त करके भी पूर्वभवमें भावित शुद्धात्मभावनाके बलसे मोह नहीं करता। और विषयसुखको छोड़कर जिनदीक्षा ग्रहण करके निर्विकल्पसमाधिकी विधिसे विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी निजशुद्धात्मामें स्थित होकर मोक्षको प्राप्त करता है। (द्र.सं./टी./३८/१६०/१); (द्र.सं./टी./३५/१४५/६); (धर्मध्यान/५/१); (भा.पा./टी./८१/२३३/६)।

८. दशधर्म निर्देश

१. धर्मका लक्षण उत्तम क्षमादि

ज्ञा./२-१०/२ दशलक्ष्मयुतः सोऽयं जिनैर्धर्मः प्रकीर्तितः। —जिनेन्द्र भगवान्‌ने धर्मको दश लक्षण युक्त कहा है (पं.वि./१/७); (का.अ./४७८); (द्र.सं./टी./३५/१०१/८); (द्र.सं./टी./३५/१४५/३); (द.पा.टी./६/८/४)।

२. दशधर्मोंके साथ 'उत्तम' विशेषणकी सार्थकता

स.सि./९/६/४१३/५ दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम्। —दृष्ट प्रयोजनकी निवृत्तिके अर्थ इनके साथ 'उत्तम' विशेषण दिया है। (रा.वा/९/६/२६/५९८/१९)।

चा.सा./५८/१ उत्तमग्रहणं ख्यातिपूजादिनिवृत्त्यर्थं। —ख्याति व पूजादिकी भावनाकी निवृत्तिके अर्थ उत्तम विशेषण दिया है। अर्थात् ख्याति पूजा आदिके अभिप्रायसे धारी गयी क्षमा आदि उत्तम नहीं है।

३. ये दशधर्म साधुओंके लिए कहे गये हैं

बा.अनु./६८ एयारस दसभेयं धम्मं सम्मत्त पुव्वयं भणियं। सागारणगाराणं उत्तम सुहसंपजुत्तेहिं ।६८। —उत्तम सुखसंयुक्त जिनेन्द्रदेवने सागर धर्मके ग्यारह भेद और अनगार धर्मके दश भेद कहे हैं। (का.अ./मू.३०४); (चा.सा./५८/१)।

४. परन्तु यथासम्भव मुनि व श्रावक दोनोंको ही होते हैं

पं.वि./६/५९ आद्योत्तमक्षमा यत्र सो धर्मो दशभेदभाक्। श्रावकैरपि सेव्योऽसौ यथाशक्ति यथागमम् ।५९। —उत्तम क्षमा है आदिमें जिसके तथा जो दश भेदोंसे युक्त है, उस धर्मका श्रावकोंको भी अपनी शक्ति और आगमके अनुसार सेवन करना चाहिए।

रा.वा/हिं/९/६/६६८ ये धर्म अविरत सम्यग्दृष्टि आदिके जैसे क्रोधादिकी निवृत्ति होय तैसे यथा सम्भव होय हैं, अर मुनिनिके प्रधानपने होय हैं।

५. इन दशोंको धर्म कहनेमें हेतु

रा.वा/९/६/२४/५९८/२२ तेषां संवरणधारणसामर्थ्याद्धर्म इत्येषा संज्ञा अन्वर्थेति। —इन धर्मोंमें चूँकि संवरको धारण करनेकी सामर्थ्य है, इसलिए 'धारण करनेसे धर्म' इस सार्थक संज्ञाको प्राप्त होते हैं।

धर्मकथा—दे० कथा।

धर्मकीर्ति—१. त्रिमलय देशमें उत्पन्न एक प्रकाण्ड बौद्ध नैयायिक थे। आप नालन्दा विश्वविद्यालयके आचार्य धर्मपालके शिष्य तथा प्रज्ञागुप्तके गुरु थे। आपके पिताका नाम कोरुनन्द था। आपकी निम्न कृतियाँ न्यायक्षेत्रमें अतिप्रसिद्ध हैं—१. प्रमाण वार्तिक, २. प्रमाणविनिश्चय, ३. न्यायबिन्दु, ४. सन्तानान्तर सिद्धि, ५. सम्बन्ध परीक्षा, ६. वादन्याय, ७. हेतु-बिन्दु। समय—ई. ६२५-६५०। (जै./२/३३१)। २. पद्मपुराण व हरिवंश पुराण के रचयिता बलात्कार गणीय भट्टारक। गुरु परम्परा-त्रिभुवन कीर्ति, पद्मनन्दि, यशःकीर्ति, ललितकीर्ति, धर्मकीर्ति। समय—वि० १६४५-१६८२। (ती०/३/४४१)।

धर्मचंद्र—आप रत्नकीर्तिभट्टारकके गुरु थे। तदनुसार आपका समय वि. १२७१ (ई. १२१४) आता है। (बाहुबलिचरित्र/प्र.७/ज्ञानलाल)

धर्मचक्र—(म.पु./२२/२९२-२९३) तां पीठिकामलंचक्रुः अष्टमङ्गलसंपदः। धर्मचक्राणि चोढानि प्रांशुभिर्यक्षमूर्धभिः ।२९२। सहस्राराणि सान्युद्यद्रत्नरश्मीनि रेजिरे। भानुबिम्बानिवोद्यन्ति पीठिकोदयपर्वतात् ।२९३। —उस (समवशरण स्थित) पीठिकाको अष्टमंगलरूपी सम्पदाएँ और यक्षोंके ऊँचे-ऊँचे मस्तकोंपर रखे हुए धर्मचक्र अलंकृत कर रहे थे ।२९२। जिनमें लगे हुए रत्नोंकी किरणें ऊपरकी ओर उठ रही हैं ऐसे, हजार-हजार आरोंवाले वे धर्मचक्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पीठिकारूपी उदयाचलसे उदय होते हुए सूर्यके बिम्ब ही हों ।२९३।

धर्मचक्रव्रत—इस व्रतकी तीन प्रकार विधि है—बृहद्, मध्यम व लघु

१. बृहद् विधि—धर्मचक्रके १००० आरोंकी अपेक्षा एक उपवास एक पारणाके क्रमसे १००० उपवास करे। आदि अन्तमें एक एक बेला पृथक् करे। इस प्रकार कुछ २००४ दिनोंमें (५½ वर्षमें) यह व्रत पूरा होता है। त्रिकाल नमस्कार मन्त्रका जाप्य करे। (ह.पु./३४/१२४)। २. मध्यम विधि—१०१० दिन तक प्रतिदिन एकाशना करे। त्रिकाल नमस्कार मन्त्रका जाप्य करे। (व्रतविधान संग्रह/पृ.१६३); (नवलसाह कृत वर्द्धमान पुराण) ३. लघु विधि—क्रमशः १,२,३,४,५,१ इस प्रकार कुल १६ उपवास करे। बीचके स्थानोंमें सर्वत्र एक-एक पारणा करे। त्रिकाल नमस्कार मन्त्रका जाप्य करे। (व्रतविधान संग्रह/पृष्ठ १६३); (किशन सिंह क्रियाकोश)।

धर्मतीर्थ—धर्मतीर्थ की उत्पत्ति—दे० महावीर/२

धर्मदत्तचरित्र—आ. दयासागर सूरि (ई. १४२९) कृत एक चरित्र ग्रन्थ।

धर्मद्रव्य—दे० धर्माधर्म।

धर्मधर—१. नागकुमार चरित तथा श्रीपाल चरित के रचयिता। मूल संघ सरस्वती गच्छ। महादेव के प्रपुत्र, आशपाल के पुत्र। समय—वि० १५११। (ती०/४/५७)।

धर्मध्यान—मनको एकाग्र करना ध्यान है। वैसे तो किसी न किसी विषयमें हर समय ही मन अटका रहनेके कारण व्यक्तिको कोई न कोई ध्यान बना ही रहता है, परन्तु राग-द्वेषमूलक होनेसे श्रेयोमार्गमें वे सब अनिष्ट हैं। साधक साम्यताका अभ्यास करनेके लिए जिस ध्यानको ध्याता है, वह धर्मध्यान है। अभ्यास दशा समाप्त हो जाने पर पूर्ण ज्ञाताद्रष्टा भावरूप शुक्लध्यान हो जाता है। इसलिए किसी अपेक्षा धर्म व शुक्ल दोनों ध्यान समान हैं। धर्मध्यान दो प्रकारका है—बाह्य व आध्यात्मिक। वचन व कायपरसे सर्व प्रत्यक्ष होने वाला बाह्य और मानसिक चिन्तवनरूप आध्यात्मिक है। वह आध्यात्मिक भी आज्ञा, अपाय आदिके चिन्तवनके भेदसे दस भेदरूप है। ये दसों भेद जैसा कि उनके लक्षणोंपरसे प्रगट है, आज्ञा, अपाय विपाक व संस्थान इन चारमें गर्भित हो जाते हैं—उपाय विचय तो अपायमें समा जाता है और जीव, अजीव, भव, विराग व हेतु विचय-संस्थान विचयमें समा जाते हैं। तहाँ इन सबको भी दोमें गर्भित किया जा सकता है—व्यवहार व निश्चय। आज्ञा, अपाय व विपाक तो परावलम्बी ही होनेसे व्यवहार ही है पर संस्थानविचय चार भेदरूप है—पिंडस्थ (शरीराकृतिका चिन्तवन); पदस्थ (मन्त्राक्षरोंका चिन्तवन), रूपस्थ (पुरुषाकार आत्माका चिन्तवन) और रूपातीत अर्थात् मात्र ज्ञाता द्रष्टाभाव। यहाँ पहले तीन धर्मध्यानरूप हैं और अन्तिम शुक्लध्यानरूप। पहले तीनोंमें 'पिण्डस्थ' व 'पदस्थ' तो परावलम्बी होनेसे व्यवहार है और 'रूपस्थ' स्वावलम्बी होनेसे निश्चय है। निश्चयध्यान ही वास्तविक है पर व्यवहार भी उसका साधन होनेसे इष्ट है।

१. धर्मध्यान व उसके भेदोंका सामान्य निर्देश

१. धर्मध्यान सामान्यका लक्षण

१. धर्मसे युक्त ध्यान

भ. आ./मू./१७०६/१५४१ धम्मस्स लक्खणं से अज्जवलहुगत्तमद्दवोवसमा। उवदेसणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रुचीओ दे ।१७०६। —जिससे धर्मका परिज्ञान होता है वह धर्मध्यानका लक्षण समझना चाहिए। आर्जव, लघुत्व, मार्दव और उपदेश ये इसके लक्षण हैं। (मू. आ./६७६)।

स. सि./९/२८/४४५/११ धर्मो व्याख्यात। धर्मादनपेतं धर्म्यम्। —धर्मका व्याख्यान पहले कर आये हैं (उत्तम क्षमादि लक्षणवाला धर्म है) जो धर्मसे युक्त होता है वह धर्म्य है। (स.सि./९/३६/४५०/४); (रा. वा./९/२८/३/६२७/३०); (रा.वा./९/३६/११/६३२/११); (म. पु./२१/१३३); (त.अनु./५४); (भा. पा./टी./७८/२२६/१७)।

नोट—यहाँ धर्मके अनेकों लक्षणोंके लिए देखो धर्म/१) उन सभी प्रकारके धर्मोंसे युक्त प्रवृत्तिका नाम धर्मध्यान है, ऐसा समझना चाहिए। इस लक्षणकी सिद्धिके लिए—दे० (धर्मध्यान/४/५/२)।

२. शास्त्र, स्वाध्याय व तत्त्व चिन्तवन

र. सा./मू./६७ पावारंभणिवित्ती पुण्णारंभपउत्तिकरणं पि। णाणं धम्मज्झाणं जिणभणियं सव्वजीवाणं ।६७। —पाप कार्यकी निवृत्ति और पुण्य कार्योंमें प्रवृत्तिका मूलकारण एक सम्यग्ज्ञान है, इसलिए मुमुक्षु जीवोंके लिए सम्यग्ज्ञान (जिनागमाभ्यास-गा. ६८) ही धर्मध्यान श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है।

भ. आ./मू./१७१० आलंबणं च वायण पुच्छण परिवट्टणाणुपेहाओ। धम्मस्स तेण अविसुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ।१७१०। =वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और परिवर्तन ये स्वाध्यायके भेद हैं। ये भेद धर्मध्यानके आधार भी हैं। इस धर्मध्यानके साथ अनुप्रेक्षाओंका अविरोध है। (भ. आ./मू./१८७५/१६८०); (ध. १३/५,४,२६/गा. २१/६७); (त. अनु./८१)।

ज्ञा. सा./१७ जीवादयो ये पदार्थाः ध्यातव्याः ते यथास्थिताः चैव। धर्मध्यानं भणितं रागद्वेषौ प्रमुच्य···।१७। —रागद्वेषको त्यागकर अर्थात् साम्यभावसे जीवादि पदार्थोंका, वे जैसे-जैसे अपने स्वरूपमें स्थित हैं, वैसे-वैसे ध्यान या चिन्तवन करना धर्मध्यान कहा गया है।

ज्ञा./३/२९ पुण्याशयवशाज्जातं शुद्धलेश्यावलम्बनात्। चिन्तनाद्वस्तुतत्त्वस्य प्रशस्तं ध्यानमुच्यते ।२९। —पुण्यरूप आशयके वशसे तथा शुद्धलेश्याके अवलम्बनसे और वस्तुके यथार्थ स्वरूप चिन्तवनसे उत्पन्न हुआ ध्यान प्रशस्त कहलाता है। (ज्ञा./२५/१८)।

३. रत्नत्रय व संयम आदिमें चित्तको लगाना

मू. आ./६७८-६८० दंसणणाणचरित्ते उवओगे संजमे विउस्सग्गे। पच्चक्खाणे करणे पणिधाणे तह य समिदीसु ।६७८। विज्जाचरणमहव्वदसमाधिगुणबंभचेरछक्काए। खमणिग्गह अज्जवमद्दवमुत्ती विणए च सद्दहणे ।६७९। एवंगुणो महत्थो मणसंकप्पो पसत्थ वीसत्थो। संकप्पोत्ति वियाणह जिणसासणसम्मदं सव्वं ।६८०। —दर्शन ज्ञान चारित्रमें, उपयोगमें, संयममें, कायोत्सर्गमें, शुभ योगमें, धर्मध्यानमें, समितिमें, द्वादशांगमें, भिक्षाशुद्धिमें, महाव्रतोंमें, संन्यासमें, गुणमें, ब्रह्मचर्यमें, पृथिवी आदि छह काय जीवोंकी रक्षामें, क्षमामें, इन्द्रियनिग्रहमें, आर्जवमें, मार्दवमें, सब परिग्रह त्यागमें, विनयमें, श्रद्धानमें; इन सबमें जो मनका परिणाम है, वह कर्मक्षयका कारण है, सबके विश्वास योग्य है। इस प्रकार जिनशासनमें माना गया सब संकल्प है; उसको तुम शुभ ध्यान जानो।

४. परमेष्ठी आदिकी भक्ति

द्र.सं./टी./४८/२०५/३ पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादितदनुकूलशुभानुष्ठानं पुनर्बहिरङ्गधर्मध्यानं भवति। —पंच परमेष्ठीकी भक्ति आदि तथा उसके अनुकूल शुभानुष्ठान (पूजा, दान, अभ्युत्थान, विनय आदि) बहिरंग धर्मध्यान होता है। (पं. का./ता. वृ./१५०/२१७/१६)।

२. धर्मध्यानके चिह्न

ध. १३/५,४,२६/गा. ५४-५५/७६ आगमउवदेसाणा णिसग्गदो जं जिणप्पणीयाणं। भावाणं सद्दहणं धम्मज्झाणस्स तल्लिंगं ।५४। जिणसाहु-गुणक्कित्तण-पसंसणा-विणय-दाणसंपण्णा। सुद सीलसंजमरदा धम्मज्झाणे मुणेयव्वा ।५५। —आगम, उपदेश और जिनाज्ञाके अनुसार निसर्गसे जो जिन भगवान्के द्वारा कहे गये पदार्थोंका श्रद्धान होता है वह धर्मध्यानका लिंग है ।५४। जिन और साधुके गुणोंका कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय-दानसम्पन्नता, श्रुत, शील और संयममें रत होना, ये सब बातें धर्मध्यानमें होती हैं ।५५।

म. पु./२१/१५९-१६१ प्रसन्नचित्तता धर्मसंवेगः शुभयोगता सुश्रुतत्वं समाधानं आज्ञाधिगमजाः रुचिः ।१५९। भवन्त्येतानि लिङ्गानि धर्म्यस्यान्तर्गतानि वै। सानुप्रेक्षाश्च पूर्वोक्ता विविधाः शुभभावनाः ।१६०। बाह्यं च लिङ्गमङ्गानां संनिवेशः पुरोदितः। प्रसन्नवक्त्रता सौम्या दृष्टिश्चेत्यादि लक्ष्यताम् ।१६१। —प्रसन्नचित्त रहना, धर्मसे प्रेम करना, शुभयोग रखना, उत्तम शास्त्रोंका अभ्यास करना, चित्त स्थिर रखना और शास्त्राज्ञा तथा स्वकीय ज्ञानसे एक प्रकारकी विशेष रुचि (प्रतीति अथवा श्रद्धा) उत्पन्न होना, ये धर्मध्यानके बाह्य चिह्न हैं, और अनुप्रेक्षाएँ तथा पहले कही हुई अनेक प्रकारकी शुभ भावनाएँ उसके अन्तरंग चिह्न हैं ।१५९-१६०। पहले कहा हुआ अंगोंका सन्निवेश होना, अर्थात् पहले जिन पर्यंकादि आसनोंका वर्णन कर चुके हैं (दे० 'कृतिकर्म') उन आसनोंको धारण करना, मुखकी प्रसन्नता होना, और दृष्टिका सौम्य होना आदि सब भी धर्मध्यानके बाह्य चिह्न समझने चाहिए।

ज्ञा./४१/१५-१ में उद्धृत—अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम्। कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम् ।१। —विषय लम्पटताका न होना, शरीर नीरोग होना, निष्ठुरताका न होना, शरीरमेंसे शुभ गन्ध आना, मलमूत्रका अल्प होना, शरीरकी कान्ति शक्तिहीन न होना, चित्तकी प्रसन्नता, शब्दोंका उच्चारण सौम्य होना—ये चिह्न योगकी प्रवृत्ति करनेवालेके अर्थात् ध्यान करनेवालेके प्रारम्भ दशामें होते हैं। (विशेष दे० ध्याता)।

३. धर्मध्यान योग्य सामग्री

द्र. सं./टी./५७/२२९/३ में उद्धृत—'तथा चोक्तं—वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता। परीषहजयश्चेति पञ्चैते ध्यानहेतवः।' —ऐसा ही कहा है कि—वैराग्य, तत्त्वोंका ज्ञान, परिग्रहत्याग, साम्यभाव और परीषहजय ये पाँच ध्यानके कारण हैं।

त. अनु./७५, २१८ संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम्। मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्रीध्यानजन्मनि ।७५। ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम्। गुरूपदेशः श्रद्धानं सदाभ्यासः स्थिरं मनः ।२१८। —परिग्रह त्याग, कषायनिग्रह, व्रतधारण, इन्द्रिय व मनोविजय, ये सब ध्यानकी उत्पत्तिमें सहायभूत सामग्री हैं ।७५। गुरूपदेश, श्रद्धान, निरन्तर अभ्यास और मनकी स्थिरता, ये चार ध्यानकी सिद्धिके मुख्य कारण हैं। (ज्ञा./३/१५-२५)।

दे. ध्यान/३ (धर्मध्यानके योग्य उत्कृष्ट मध्यम व जघन्य द्रव्यक्षेत्रकाल-भावरूप सामग्री विशेष)।

४. धर्मध्यानके भेद

१. आज्ञा, अपाय, विचय आदि ध्यान

त. सू./९/३६ आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ।३६। —आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान, इनकी विचारणाके लिए मनको एकाग्र करना धर्म्यध्यान है। (भ. आ./मू./१७०८/१५३६); (मू. आ./३९८); (ज्ञा./३३/५); (ध.१३/५.४.२६/७०/१२); (म.पु./२१/१३४), (ज्ञा./३३/५); (त.अनु./९८); (द्र. स./टी./४८/२०२/३); (भा. पा./टी./११९/२६९/२४); (का.अ./टी./४८०/३६६/४)।

रा. वा./१/७/१४/४०/१६ धर्मध्यानं दशविधम्।

चा. सा./१७२/४ स्वसंवेद्यमाध्यात्मिकम्। तद्दशविधं अपायविचयं, उपायविचयं, जीवविचयं, अजीवविचयं, विपाकविचयं, विरागविचयं, भवविचयं, संस्थानविचयं, आज्ञाविचयं, हेतुविचयं चेति। —आध्यात्मिक धर्मध्यान दश प्रकारका है—अपायविचय, उपायविचय, जीवविचय, अजीवविचय, विपाकविचय, विरागविचय, भवविचय, संस्थानविचय, आज्ञाविचय और हेतुविचय। (ह पु./५६/३८-५०), (भा. पा. टी. ११९/२७०/२)।

२. निश्चय व्यवहार या बाह्य व आध्यात्मिक आदि भेद

चा. सा./१७२/३ धर्म्यध्यानं बाह्याध्यात्मिकभेदेन द्विप्रकारम्। —धर्म्यध्यान बाह्य और आध्यात्मिकके भेदसे दो प्रकारका है। (ह. पु./५६/३६)।

त. अनु./४७-४९,९६ मुख्योपचारभेदेन धर्म्यध्यानमिह द्विधा ।४७। ध्यानान्यपि त्रिधा ।४८। उत्तमम्...जघन्यं...मध्यमम् ।४९। निश्चयाद्व्यवहाराच्च ध्यानं द्विविधमागमे। ...।९६। —मुख्य और उपचारके भेदसे धर्म्यध्यान दो प्रकारका है ।४७। अथवा उत्कृष्ट मध्यम व जघन्य के भेदसे तीन प्रकारका है ।४९। अथवा निश्चय व व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका है ।९६।

५. आज्ञा विचय आदि ध्यानोंके लक्षण

१. अजीव विचय

ह. पु./५६/४४ द्रव्याणामप्यजीवानां धर्माधर्मादिसंज्ञिनाम्। स्वभावचिन्तनं धर्म्यमजीवविचयं मतम् ।४४। —धर्म-अधर्म आदि अजीव द्रव्योंके स्वभावका चिन्तवन करना, सो अजीव विचय नामका धर्म्यध्यान है ।४४।

२-३. अपाय व उपाय विचय

भ.आ./मू./१७१२/१५४४ कल्लाणपावगाण उपाये विचिणादि जिणमदमुवेच्च। विचिणादि व अवाए जीवाण सुभे य असुभे य ।१७१२। —जिनमतको प्राप्त कर कल्याण करनेवाले जो उपाय हैं उनका चिन्तवन करता है, अथवा जीवोंके जो शुभाशुभ भाव होते हैं, उनसे अपायका चिन्तवन करता है। (मू.आ./४००); (ध.१३/५.४.२६/गा.४०/७२)।

ध.१३/५.४.२६/गा.३९/७२ रागद्दोसकसायासवादिकिरियासु वट्टमाणाणं। इहपरलोगावाए ज्झाएज्जो वज्जपरिवज्जी ।३९। —पापका त्याग करनेवाला साधु राग, द्वेष, कषाय और आस्रव आदि क्रियाओंमें विद्यमान जीवोंके इहलोक और परलोकसे अपायका चिन्तवन करे।

स.सि./९/३६/४४९/११ जात्यन्धवन्मिथ्यादृष्टयः सर्वज्ञप्रणीतमार्गाद्विमुखमोक्षार्थिनः सम्यङ्मार्गापरिज्ञानात् सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः। अथवा—मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्यः कथं नाम इमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः। —मिथ्यादृष्टि जीव जन्मान्ध पुरुषके समान सर्वज्ञ प्रणीत मार्गसे विमुख होते हैं, उन्हें सन्मार्गका परिज्ञान न होनेसे वे मोक्षार्थी पुरुषोंको दूरसे ही त्याग देते हैं, इस प्रकार सन्मार्गके अपायका चिन्तवन करना अपायविचय धर्म्यध्यान है। अथवा—ये प्राणी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे कैसे दूर होंगे इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करना अपाय विचय धर्मध्यान है। (रा.वा./९/३६/६-७/६३०/१६); (म.पु./२१/१४१-१४२); (भ.आ./वि/१७०८/१५३६/१८); (त.सा./७/४१); (ज्ञा./३४/१-१७)।

ह. पु./५६/३९-४१ संसारहेतवः प्रायस्त्रियोगानां प्रवृत्तयः। अपायो वर्जनं तासां स मे स्यात्कथमित्यलम् ।३९। चिन्ताप्रबन्धसंबन्धः शुभलेश्यानुरञ्जितः। अपायविचयाख्यं तत्प्रथमं धर्म्यमभीप्सितम् ।४०। उपायविचयं तासां पुण्यानामात्मसात्क्रिया। उपायः स कथं मे स्यादिति संकल्पसंततिः ।४१। —मन, वचन और काय इन तीन योगोंकी प्रवृत्ति ही, प्रायः संसारका कारण है सो इन प्रवृत्तियोंका मेरे अपाय अर्थात् त्याग किस प्रकार हो सकता है, इस प्रकार शुभलेश्यासे अनुरंजित जो चिन्ताका प्रबन्ध है वह अपायविचय नामका प्रथम धर्म्यध्यान माना गया है ।३९-४०। पुण्य रूप योगप्रवृत्तियोंको अपने आधीन करना उपाय कहलाता है, वह उपाय मेरे किस प्रकार हो सकता है, इस प्रकारके संकल्पोंकी जो सन्तति है वह उपाय विचय नामका दूसरा धर्म्यध्यान है ।४१। (चा.सा./१७३/३), (भ.आ./वि/१७०८/१५३६/१७), (द्र.सं./टी./४८/२०२/९)।

४. आज्ञाविचय

भ.आ./मू./१७११/१५४३ पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाए दव्वमण्णे य। आणागज्झे भावे आणाविचएण विचिणादि। —पाँच अस्तिकाय, छह जीवनिकाय, काल, द्रव्य तथा इसी प्रकार आज्ञाग्राह्य अन्य जितने पदार्थ हैं, उनका यह आज्ञाविचय ध्यानके द्वारा चिन्तवन करता है। (मू.आ./३९९), (ध.१३/५.४.२६/गा.३८/७१) (म पु./२१/१३५-१४०)।

ध.१३/५.४.२६/गा ३५-३७/७१ तत्थमइदुब्बलेण य तव्विज्जाइरियविरहदो वा वि। णेयगहणत्तणेण य णाणावरदिएणं च ।३५। हेदूदाहरणासंभवे य सरिसुट्ठुज्जाणबुज्झेज्जो। सव्वणुमयमवितत्थं तहाविहं चिंतए मदिमं ।३६। अणुवगहपराग्गहपरायणा जं जिणा जयप्पवरा। जियरायदोसमोहा ण अण्णहावाइणो तेण ।३७। —मतिकी दुर्बलता होनेसे, अध्यात्म विद्याके जानकार आचार्योंका विरह होनेसे, ज्ञेयकी गहनता होनेसे, ज्ञानको आवरण करनेवाले कर्मकी तीव्रता होनेसे, और हेतु तथा उदाहरण सम्भव न होनेसे, नदी और सुखोद्यान आदि चिन्तवन करने योग्य स्थानमें मतिमान् ध्याता 'सर्वज्ञ प्रतिपादित मत सत्य है' ऐसा चिन्तवन करे ।३५-३६। यतः जगत्में श्रेष्ठ जिन भगवान्, जो उनको नहीं प्राप्त हुए ऐसे अन्य जीवोंका भी अनुग्रह करनेमें तत्पर रहते हैं, और उन्होंने राग-द्वेष और मोहपर विजय प्राप्त कर ली है, इसलिए वे अन्यथा वादी नहीं हो सकते ।३७।

स.सि./९/३६/४४९/६ उपदेष्टुरभावान्मन्दबुद्धित्वात्कर्मोदयात्सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतुदृष्टान्तोपरमे सति सर्वज्ञप्रणीतमागमं प्रमाणीकृत्य इत्थमेवेदं नान्यथावादिनो जिनाः' इति गहनपदार्थश्रद्धानादर्थावधारणमाज्ञाविचयः। अथवा स्वयं विदितपदार्थतत्त्वस्य सतः परं प्रति पिपादयिषोः स्वसिद्धान्ताविरोधेन तत्त्वसमर्थनार्थं तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यते ।४४९। —उपदेष्टा आचार्योंका अभाव होनेसे, स्वयं मन्दबुद्धि होनेसे, कर्मोंका उदय होनेसे और पदार्थोंके सूक्ष्म होनेसे, तथा तत्त्वके समर्थनमें हेतु तथा दृष्टान्तका अभाव होनेसे, सर्वज्ञप्रणीत आगमको प्रमाण करके, 'यह इसी प्रकार है, क्योंकि जिन अन्यथावादी नहीं होते', इस प्रकार गहनपदार्थके श्रद्धान द्वारा अर्थका अवधारण करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। अथवा स्वयं पदार्थोंके रहस्यको जानता है, और दूसरोंके प्रति उसका प्रतिपादन करना चाहता है, इसलिए स्वसिद्धान्तके अविरोध

द्वारा तत्त्वका समर्थन करनेके लिए, उसके जो तर्क नय और प्रमाण की योजनारूप निरन्तर चिन्तन होता है, वह सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रकाशित करनेवाला होनेसे आज्ञाविचय कहा जाता है। (रा.वा/६/३६/४-५/६३०/८); (ह.पु./५६/४६); (चा.सा./२०१/५); (त.सा./७/४०); (ज्ञा./३३/६-२२); (द्र.सं./टी./४८/२०२/६)।

५. जीवविचय

ह.पु./५६/४२-४३ अनादिनिधना जीवा द्रव्यार्थादन्यथान्यथा। असंख्येयप्रदेशास्ते स्वोपयोगत्वलक्षणाः ।४२। अचेतनोपकरणाः स्वकृतोचितभोगिनः। इत्यादिचेतनाध्यानं यज्जीवविचयं हि तत् ।—द्रव्यार्थिकनयसे जीव अनादि निधन है, और पर्यायार्थिक नयसे सादि-सनिधन है, असंख्यात प्रदेशी है, उपयोग लक्षणस्वरूप है, शरीर-रूप अचेतन उपकरणसे युक्त है, और अपने द्वारा किये गये कर्मके फलको भोगते हैं...इत्यादि रूपमे जीवका जो ध्यान करना है वह जीवविचय नामका तीसरा धर्मध्यान है। (चा.सा./१७३/५)

६. भवविचय

ह.पु./५६/४७ प्रेत्यभावो भवोऽमीषां चतुर्गतिषु देहिनाम्। दुःखात्मेत्यादिचिन्ता तु भवादिविचयं पुनः ।४७। —चारों गतियोंमें भ्रमण करनेवाले इन जीवोंको मरनेके बाद जो पर्याय होती है वह भव कहलाता है। यह भव दुःखरूप है। इस प्रकार चिन्तवन करना सो भवविचय नामका सातवाँ धर्म्यध्यान है। (चा.सा./१७६/१)

७. विपाकविचय

भ.आ./मू./१७१३/१५४५ एयाणेयभवगदं जीवाणं पुण्णपावकम्मफलं। उदओदीरण संकमबन्धे मोक्खं च विचिणादि। —जीवोंको जो एक और अनेक भवमें पुण्य और पापकर्मका फल प्राप्त होता है उसका तथा उदय, उदीरणा, संक्रम, बन्ध और मोक्षका चिन्तवन करता है। (मू.आ./४०१); (ध.१३/५,४,२६/गा.४२/७२); (स.सि./९/३६/-४५०/२); (रा.वा./९/३६/८-९/६३०-६३२ में विस्तृत कथन), (भ.आ./वि./१७०८/१५३६/२१); (म.पु./२१/१४३-१४७); (त.सा./७/४२); (ज्ञा०/३५/१-३१); (द्र.सं./टी./४८/२०२/१०)।

ह.पु./५६/४५ यच्चतुर्विधबन्धस्य कर्मणोऽष्टविधस्य तु विपाकचिन्तनं धर्म्यं विपाकविचयं विदुः ।४५। —ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके प्रकृति, स्थिति और अनुभाग रूप चार प्रकारके बन्धोंके विपाकफलका विचार करना, सो विपाकविचय नामका पाँचवाँ धर्मध्यान है। (चा.सा./१७४/२)।

८. विराग विचय

ह.पु./५६/४६ शरीरमशुचिर्भोगा किंपाकफलपाकिनः। विरागबुद्धिरित्यादि विरागविचयं स्मृतम् ।४६। —शरीर अपवित्र है और भोग किंपाकफलके समान तदात्व मनोहर हैं, इसलिए इनसे विरक्तबुद्धिका होना ही श्रेयस्कर है, इत्यादि चिन्तन करना विरागविचय नामका छठा धर्म्यध्यान है। (चा.सा./१७१/१)

९. संस्थान विचय

(देखो आगे पृथक् शीर्षक)

१०. हेतु विचय

ह.पु./५६/५० तर्कानुसारिणः पुंसः स्याद्वादप्रक्रियाश्रयात्। सन्मार्गाश्रयणध्यानं यद्धेतुविचयं हि तत् ।५०। —और तर्कका अनुसरण पुरुष स्याद्वादकी प्रक्रियाका आश्रय लेते हुए समीचीन मार्गका आश्रय करते हैं, इस प्रकार चिन्तवन करना सो हेतुविचय नामका दसवाँ धर्म्यध्यान है। (चा.सा./२०२/३)

६. संस्थानविचय धर्मध्यानका स्वरूप

ध.१३/५,४,२६/गा. ४३-५०/७२/१३ तिण्णं लोगाणं संठाणपमाणाआउयादिचिंतणं संठाणविचयं णाम चउत्थं धम्मज्झाणं। एत्थ गाहाओ—

जिणदेसियाइ लक्खणसंठाणासणविहाणमाणाई। उप्पादट्ठिदिभंगादिपज्जया जे य दव्वाणं ।४३। पंचत्थिकायमइयं लोयमणाइणिहणं जिणक्खादं। णामादिभेयविहियं तिविहमहोलोगभागादिं ।४४। खिदिवलयदीवसायरणयरविमाणभवणादिसंठाणं। वोमादि पडिट्ठाणं णिययं लोगट्ठिदिविहाणं ।४५। उवजोगलक्खणमणाइणिहणमत्थंतरं सरीरादो। जीवमरूविं कारिं भोइं च सयस्स कम्मस्स ।४६। तस्स य सकम्मजणियं जम्माइजलं कसायपायालं। वसणसयसावमीणं मोहावत्तं महाभीमं ।४७। णाणमयकण्णहारं वरचारित्तमयमहापोयं। संसारसागरमणोरपारमसुहं विचिंतेज्जो ।४८। सव्वणयसमूहमयं ज्झायज्जो समयसब्भावं ।४९। ज्झाणोवरमे वि मुणी णिच्चमणिच्चादि चिंतणापरमो। होइ सुभावियचित्तो धम्मज्झाणे जिह व पुव्वं ।५०। —१. तीन लोकोंके संस्थान, प्रमाण और आयु आदिका चिन्तवन करना संस्थान विचय नामका चौथा धर्म ध्यान है। (स.सि./९/३६/४५०/३); (रा.वा./९/३६/१०/६३२/९); (भ.आ./वि./१७०८/१५३६/२३); (त.सा./७/४३); (ज्ञा./३६/१८४,१८६); (द्र.सं.टी./४८/२०३/२)। २. जिनदेवके द्वारा कहे गये छह द्रव्योंके लक्षण, संस्थान, रहनेका स्थान, भेद, प्रमाण उनकी उत्पाद स्थिति और व्यय आदिरूप पर्यायोंका चिन्तवन करना ।४३। पंचास्तिकायका चिन्तवन करना ।४४। (दे० पीछे जीव-अजीव विचयके लक्षण)। ३. अधोलोक आदि भागरूपसे तीन प्रकारके (अधो, मध्य व ऊर्ध्व) लोकका, तथा पृथिवी, वलय, द्वीप, सागर, नगर, विमान, भवन आदिके संस्थानों (आकारों) का एवं उसका आकाशमें प्रतिष्ठान, नियत और लोक-स्थिति आदि भेदका चिन्तवन करे ।४४-४५। (भ.आ./मू./१७१४/१५४५) (मू.आ./४०२); (ह.पु./५६/४८०); (म.पु./२१/१४८-१५०), (ज्ञा./३६/१-१०,८२-९०); (विशेष दे० लोक) ४. जीव उपयोग लक्षणवाला है, अनादिनिधन है, शरीरसे भिन्न है, अरूपी है, तथा अपने कर्मोंका कर्ता और भोक्ता है ।४६। (म.पु./२१/१५१) (और दे० पीछे 'जीव विचय' का लक्षण) ५. उस जीवके कर्मसे उत्पन्न हुआ जन्म, मरण आदि यही जल है, कषाय यही पाताल है, सैकड़ों व्यसनरूपी छोटे मत्स्य हैं; मोहरूपी आवर्त हैं, और अत्यन्त भयंकर है, ज्ञानरूपी कर्णधार है, उत्कृष्ट चारित्रमय महापोत है। ऐसे इस अशुभ और अनादि अनन्त (आध्यात्मिक) संसारका चिन्तवन करे ।४७-४८। (म.पु./२१/१५२-१५३) ६. बहुत कहनेसे क्या लाभ, यह जितना जीवादि पदार्थोंका विस्तार कहा है, उस सबसे युक्त और सर्वनय-समूहमय समयसद्भावका (द्वादशांगमय सकल श्रुतका) ध्यान करे ।४९। (म.पु./२१/१५४) ७. ऐसा ध्यान करके उसके अन्तमें मुनि निरन्तर अनित्यादि भावनाओंके चिन्तवनमें तत्पर होता है। जिससे वह पहलेकी भाँति धर्मध्यानमें सुभावितचित्त होता है ।५०। (भ.आ./मू./१७१४/१५४५); (मू.आ./४०२); (चा.सा./१७७/१); (विराग विचयका लक्षण) नोट—(अनुप्रेक्षाओंके भेद व लक्षण—दे० अनुप्रेक्षा) ज्ञा./३६/श्ल. नं. ८. (नरकके दुःखोंका चिन्तवन करे) ।११-८१। (विशेष देखो नरक) (भव विचयका लक्षण) ९. (स्वर्गके सुख तथा देवेन्द्रोंके वैभव आदिका चिन्तवन ।९०-१८२। (विशेष दे० स्वर्ग) १०. (सिद्धलोकका तथा सिद्धोंके स्वरूपका चिन्तवन करे ।१८३। ११. (अन्तमें कर्ममलसे रहित अपनी निर्मल आत्माका चिन्तवन करे) ।१८५।

७. संस्थान विचयके पिण्डस्थ आदि भेदोंका निर्देश

ज्ञा./३७/१ तथा भाषाकारकी उत्थानिका—पिण्डस्थं च पदस्थं च स्वरूपस्थं रूपवर्जितम्। चतुर्धा ध्यानमाम्नातं भव्यराजीवभास्करैः।

।१। =इस संस्थान विचय नामा धर्मध्यानमें चार भेद कहे हैं, उनका वर्णन किया जाता है—जो भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिए सूर्यके समान योगीश्वर हैं उन्होंने ध्यानको पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ऐसे चार प्रकारका कहा है। (भा पा /टी./८६/२३६/१३)

द्र.सं./टी./४८/२०५/३ में उद्धृत—पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्। रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीत निरञ्जनम्।

द्र.सं./टी./४६/२०६/७ पदस्थपिण्डस्थरूपस्थध्यानत्रयस्य ध्येयभूतमर्हत्सर्वज्ञस्वरूपं दर्शयामीति। =मन्त्रवाक्योंमें स्थित पदस्थ, निजात्माका चिन्तवन पिंडस्थ, सर्वचिद्रूपका चिन्तवन रूपस्थ और निरंजनका (त्रिकाली शुद्धात्माका) ध्यान रूपातीत है। (भा.पा./टी./८६/२३६ पर उद्धृत) पदस्थ, पिंडस्थ व रूपस्थमें अर्हंत सर्वज्ञ ध्येय होते है। नोट—उपरोक्त चार भेदोंमें पिंडस्थ ध्यान तो अर्हंत भगवान्‌की शरीराकृतिका विचार करता है, पदस्थ ध्यान पंचपरमेष्ठोके वाचक अक्षरों व मन्त्रोंका अनेक प्रकारसे विचार करता है, रूपस्थ ध्यान निज आत्माका पुरुषाकाररूपसे विचार करता है और रूपातीत ध्यान विचार व चिन्तवनसे अतीत मात्र ज्ञाता द्रष्टा रूपसे ज्ञानका भवन है (दे० उन-उनके लक्षण व विशेष) तहाँ पहिले तीन ध्यान तो धर्मध्यानमें गर्भित हैं और चौथा ध्यान पूर्ण निर्विकल्प होनेसे शुक्लध्यान रूप है (दे० शुक्लध्यान) इस प्रकार संस्थान विचय धर्मध्यानका विषय बहुत व्यापक है।

८. बाह्य व आध्यात्मिक ध्यानका लक्षण

ह.पु./५६/३६-३८ लक्षणं द्विविधं तस्य बाह्याध्यात्मिकभेदत। सूत्रार्थमार्गणं शील गुणमालानुरागिता।३६। जम्भाजृम्भाक्षुतोद्गारप्राणापानादिमन्दता। निभृतात्मव्रतात्मत्व तत्र बाह्य प्रकीर्तितम्।३७। दशधाऽऽध्यात्मिकं धर्म्यमपायविचयादिकम्।...।३८। =बाह्य और अभ्यन्तरके भेदसे धर्म्यध्यानका लक्षण दो प्रकारका है। शास्त्रके अर्थकी खोज करना, शीलव्रतका पालन करना, गुणोंके समूहमें अनुराग रखना अँगड़ाई जमुहाई छींक डकार और श्वासोच्छ्वासमें मन्दता होना, शरीरको निश्चल रखना तथा आत्माको व्रतोंसे युक्त करना, यह धर्म्यध्यानका बाह्य लक्षण है। और आभ्यन्तर लक्षण अपाय विचय आदिके भेदसे दस प्रकारका है।

चा.सा./१७२/३ धर्म्यध्यानं बाह्याध्यात्मिकभेदेन द्विप्रकारम्। तत्र परानुमेयं बाह्यं सूत्रार्थगवेषणं दृढव्रतशीलगुणानुरागानिभृतकरचरणवदनकायपरिस्पन्दवाग्व्यापारं जृम्भजृम्भोदारक्षवथुप्राणपातोद्रेकादिविरमणलक्षणं भवति। स्वसंवेद्यमाध्यात्मिकम्, तद्दशविधम्—। =बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे धर्मध्यान दो प्रकारका है। जिसे अन्य लोग भी अनुमानसे जान सकें उसे बाह्य धर्मध्यान कहते है। सूत्रोंके अर्थकी गवेषणा (विचार व मनन), व्रतोंको दृढ रखना, शील गुणोंमें अनुराग रखना, हाथ पेर मुँह कायका परिस्पन्दन और वचनव्यापारका बन्द करना, जभाई, जभाईके उद्गार प्रगट करना, छींकना तथा प्राण-अपानका उद्रेक आदि सब क्रियाओंका त्याग करना बाह्य धर्मध्यान है। जिसे केवल अपना आत्मा ही जान सके उसे आध्यात्मिक कहते है। वह आज्ञाविचय आदिके भेदसे दस प्रकारका है।

२. धर्मध्यानमें सम्यक्त्व व भावों आदिका निर्देश

१. धर्मध्यानमें विषय परिवर्तन निर्देश

प्र.सा./ता.वृ./१९६/२६२/६ अथ ध्यानसंतानः कथ्यते—यत्रान्तर्मुहूर्त्तपर्यन्तं ध्यानं तदनन्तरमन्तर्मुहूर्तपर्यन्ते तत्त्वचिन्ता, पुनरप्यन्तर्मुहूर्तपर्यन्तं ध्यानम्। पुनरपि तत्त्वचिन्तेति प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानवदन्तर्मुहूर्तेऽन्तर्मुहूर्ते गते सति परावर्तनमस्ति स ध्यानसंतानो भण्यते। —ध्यानकी सन्तान बताते है—जहाँ अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त ध्यान होता है, तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त तत्त्वचिन्ता होती है। पुनः अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त ध्यान होता है, पुनः तत्त्वचिन्ता होती है। इस प्रकार प्रमत्त व अप्रमत्त गुणस्थानकी भाँति अन्तर्मुहूर्तमे परावर्तन होता रहता है, उसे ही ध्यानकी सन्तान कहते है। (चा.सा./२०५/२)।

२. धर्मध्यानमें सम्भव भाव व लेश्याएँ

ध.१३/५.४.२६/५३/७६ होंति कम्मविसुद्धाओ लेस्साओ पीय पउम-सुक्काओ। धम्मज्झाणोवगयस्स तिव्वमंदादिभेयाओ।५३। =धर्मध्यानको प्राप्त हुए जीवके तीव्र मन्द आदि भेदोंको लिये हुए, क्रमसे विशुद्धिको प्राप्त हुई पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ होती है। (म.पु./२१/१५६)।

चा.सा./२०३ सर्वमेतत् धर्मध्यानं पीतपद्मशुक्ललेश्याबलाधानम्... परोक्षज्ञानत्वात् क्षायोपशमिकभावम्। =सब ही प्रकारके धर्मध्यान पीत पद्म व शुक्ललेश्याके बलसे होते हैं, तथा परोक्षज्ञानगोचर होनेसे क्षयोपशमिक हैं। (म.पु./२१/१५६-१५७)

ज्ञा./४१/१४ धर्मध्यानस्य विज्ञेया स्थितिरान्तर्मुहूर्तकी। क्षायोपशमिको भावो लेश्या शुक्लैव शाश्वती।१४। =इस धर्मध्यानकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त है, इसका भाव क्षायोपशमिक है और लेश्या सदा शुक्ल ही रहती है। (यहाँ धर्मध्यानके अन्तिम पायेसे अभिप्राय है)।

३. वास्तविक धर्मध्यान मिथ्यादृष्टिको सम्भव नहीं

न.च.वृ./१७९ झाणस्स भावणाविय ण हु सो आराहओ हवे नियमा। जो ण विजाणइ वत्थु पमाणणयणिच्छयं किच्चा। =जो प्रमाण व नयके द्वारा वस्तुका निश्चय करके उसे नहीं जानता, वह ध्यानकी भावनाके द्वारा भी आराधक नहीं हो सकता। ऐसा नियम है।

ज्ञा./६/४ 'रत्नत्रयमनासाद्य यः साक्षाद्ध्यातुमिच्छति। खपुष्पैः कुरुते मूढ स वन्ध्यासुतशेखरम्/४।

ज्ञा./४/१९,३० दुर्दृशामपि न ध्यानसिद्धिः स्वप्नेऽपि जायते। गृह्णतां दृष्टिवैकल्याद्वस्तुजातं यदृच्छया।१८। ध्यानतन्त्रे निषेध्यन्ते नैते मिथ्यादृशः परम्। मुनयोऽपि जिनेशाज्ञाप्रत्यनीकाश्चलाशयाः/३०। =जो पुरुष साक्षात् रत्नत्रयको प्राप्त न होकर ध्यान करना चाहता है, वह मूर्ख आकाशके फूलोंसे वन्ध्यापुत्रके लिए सेहरा बनाना चाहता है।४। दृष्टिकी विकलतासे वस्तुसमूहको अपनी इच्छानुसार ग्रहण करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंके ध्यानकी सिद्धि स्वप्नमें भी नहीं होती है।१८। सिद्धान्तने ध्यानमात्र केवल मिथ्यादृष्टियोंके ही नहीं निषेधते हैं, किन्तु जो जिनेन्द्र भगवान्‌की आज्ञासे प्रतिकूल हैं तथा जिनका चित्त चलित है और जैन साधु कहाते है, उनके भी ध्यानका निषेध किया जाता है, क्योंकि उनके ध्यानकी सिद्धि नहीं होती/३०।

पं.ध./उ./२०१ नोपलब्धिरसिद्धास्य स्वादुसंवेदनात्स्वयम्। अन्यादेशस्य संस्कारमन्तरेण सुदर्शनात्।२०१। =संसारी जीवोंके मै सुखी दुःखी इत्यादि रूपसे सुख-दुःखके स्वादका अनुभव होनेके कारण अशुद्धोपलब्धि असिद्ध नहीं है, क्योंकि उनके स्वयं ही दूसरी अपेक्षाका (स्वरूपसंवेदनका) संस्कार नहीं होता है।

४. गुणस्थानोंकी अपेक्षा धर्मध्यानका स्वामित्व

स.सि./९/३६/४५०/५ धर्म्यध्यानं चतुर्विकल्पमवसेयम्। तदविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां भवति।

स.सि./९/३७/४५३/६ श्रेण्यारोहणात्प्राग्धर्म्यं श्रेण्योः शुक्ले इति व्याख्याते। =१. धर्मध्यान चार प्रकारका जानना चाहिए। यह अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त संयत जीवोंके होता है। (रा.वा./९/३६/१३/६३२/१८); (ज्ञा./२८/२८)। =२. श्रेणी चढ़नेसे पूर्व धर्मध्यान

होता है और दोनों श्रेणियोंमें आदिके दो शुक्लध्यान होते हैं। (रा.वा./९/३७/२/६३३/३)।

ध.१३/५.४.२६/७४/१० असंजदसम्मादिट्ठि-संजदासंजदपमत्तसंजद-अप्पमत्तसंजद-अपुव्वसंजद-अणियट्टिसंजद-सुहुमसांपराइयखवगोव - सामएसु धम्मज्झाणस्स पवुत्ती होदि त्ति जिणोवएसादो। =३. असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, क्षपक व उपशामक अपूर्वकरणसंयत, क्षपक व उपशामक अनिवृत्तिकरण-संयत, क्षपक व उपशामक सूक्ष्मसाम्परायसंयत जोवोंके धर्मध्यानकी प्रवृत्ति होती है; ऐसा जिनदेवका उपदेश है। (इससे जाना जाता है कि धर्मध्यान कषाय सहित जोवोंके होता है और शुक्लध्यान उपशान्त या क्षीणकषाय जोवोंके) (स सि /९/३७/४५३/४); (रा.वा/९/३७/२/६३२/३२)।

५. धर्मध्यानके स्वामित्व सम्बन्धी शंकाएँ

१. मिथ्यादृष्टियोंको भी तो धर्मध्यान देखा जाता है

रा.वा./हिं/९/३६/७४७ प्रश्न—मिथ्यादृष्टि अन्यमती तथा भद्रपरिणामी व्रत, शील, संयमादि तथा जीवनिकी दयाका अभिप्रायकरि तथा भगवान्‌की सामान्य भक्ति करि धर्मबुद्धितैं चित्तकूं एकाग्रकरि चिन्तवन करै है, तिनिकै शुभ धर्मध्यान कहिये कि नाहीं? उत्तर—इहाँ मोक्षमार्गका प्रकरण है। तातैं जिस ध्यान तैं कर्मकी निर्जरा होय सो ही यहाँ गिणिये है। सो सम्यग्दृष्टि बिना कर्मको निर्जरा होय नाहीं। मिथ्यादृष्टिके शुभध्यान शुभबन्ध होका कारण है। अनादि तै कई बार ऐसा ध्यानकरि शुभकर्म बान्धे हैं, परन्तु निर्जरा बिना मोक्षमार्ग नाहीं। तातैं मिथ्यादृष्टिका ध्यान मोक्षमार्गमें सराह्य नाहीं। (र.क.श्रा./प.सदासुखदास/पृ. ३१६)।

म पु./२१/१५५ का भाषाकारकृत भावार्थ—धर्मध्यानको धारण करनेके लिए कमसे कम सम्यग्दृष्टि अवश्य होना चाहिए। मन्दकषायी मिथ्यादृष्टि जोवोंके जो ध्यान होता है उसे शुभ भावना कहते हैं।

२. प्रमत्तजनोंको ध्यान कैसे सम्भव है

रा.वा./९/३६/१३/६३२/१७ कश्चिदाह—धर्म्यमप्रमत्तसंयतस्यैवेति, तन्न; किं कारणम्। पूर्वेषां विनिवृत्तिप्रसङ्गात्। असंयतसम्यग्दृष्टिसंयता-संयत-प्रमत्तसंयतानामपि धर्मध्यानमिष्यते सम्यक्त्वप्रभवत्वात्। =प्रश्न—धर्मध्यान तो अप्रमत्तसंयतोंके ही होता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेसे पहलेके गुणस्थानोंमें धर्मध्यानका निषेध प्राप्त होता है। परन्तु सम्यक्त्वके प्रभावसे असंयत सम्यग्दृष्टि, संयता-संयत और प्रमत्तसंयतजनोंमें भी धर्मध्यान होना इष्ट है।

३. कषाय रहित जीवोंमें ही ध्यान मानना चाहिए

रा.वा./९/३६/१४/६३२/२१ कश्चिदाह—उपशान्तक्षीणकषाययोश्च धर्म्यध्यानं भवति न पूर्वेषामेवेति; तन्न, किं कारणम्। शुक्लाभाव-प्रसङ्गात्। उपशान्तक्षीणकषाययोर्हि शुक्लध्यानमिष्यते तस्याभावः प्रसज्येत। =प्रश्न—उपशान्त व क्षीणकषाय इन दो गुणस्थानोंमें धर्म्यध्यान होता, इससे पहिले गुणस्थानोंमें बिलकुल नहीं होता? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेसे शुक्लध्यानके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। उपशान्त व क्षीण कषायगुणस्थानमें शुक्लध्यान होना इष्ट है।

३. धर्मध्यान व अनुप्रेक्षादिमें अन्तर

१. ध्यान, अनुप्रेक्षा, भावना व चिन्तामें अन्तर

भ.आ./मू./१७१०/१५४३ (दे धर्मध्यान/१/१/२)—धर्मध्यान आधेय है और अनुप्रेक्षा उसका आधार है। अर्थात् धर्मध्यान करते समय अनुप्रेक्षाओंका चिन्तवन किया जाता है। (भ.आ./मू./१७१४/१५४५)।

ध.१३/५.४.२६/गा. १२/६४ जं थिरमज्झवसाणं तं ज्झाणं जं चलंतयं चित्तं। तं होइ भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिन्ता।१२। =जो परिणामोंकी स्थिरता होती है उसका नाम ध्यान है, और जो चित्तका एक पदार्थसे दूसरे पदार्थमें चलायमान होना है वह या तो भावना है, या अनुप्रेक्षा है या चिन्ता है।१२। (म. पु./२१/९)। (दे. शुक्ल-ध्यान/१/४)।

रा.वा./९/३६/१२/६३२/१४ स्यादेतत्-अनुप्रेक्षा अपि धर्मध्यानेऽन्तर्भ-वन्तीति पृथगासामुपदेशोऽनर्थक इति; तन्न; किं कारणम्। ज्ञान-प्रवृत्तिविकल्पत्वात्। अनित्यादिविषयचिन्तन यदा ज्ञानं तदा अनुप्रेक्षाव्यपदेशो भवति, यदा तत्रैकाग्रचिन्तानिरोधस्तदा धर्म्यध्या-नम्। =प्रश्न—अनुप्रेक्षाओंका भी ध्यानमें ही अन्तर्भाव हो जाता है, अतः उनका पृथक् व्यपदेश करना निरर्थक है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ध्यान व अनुप्रेक्षा ये दोनों ज्ञानप्रवृत्तिके विकल्प हैं। जब अनित्यादि विषयोंमें बार-बार चिन्तनधारा चालू रहती है तब वे ज्ञानरूप हैं और जब उनमें एकाग्र चिन्तानिरोध होकर चिन्तनधारा केन्द्रित हो जाती है, तब वे ध्यान कहलाती हैं।

ज्ञा./२५/१६ एकाग्रचिन्तानिरोधो यस्तद्ध्यानभावनापरा। अनुप्रेक्षार्थ-चिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते।१६। =ज्ञानका एक ज्ञेयमें निश्चल ठहरना ध्यान है और उससे भिन्न भावना है, जिसे विज्ञजन अनुप्रेक्षा या अर्थचिन्ता भी कहते हैं।

भा.पा टी./७८/२२६/१ एकस्मिन्निष्टे वस्तुनि निश्चला मतिर्ध्यानम्। आर्तरौद्रधर्मापेक्षया तु मतिश्चञ्चला अशुभा शुभा वा सा भावना कथ्यते, चित्तं चिन्तनं अनेकनययुक्तानुप्रेक्षणं ख्यापनं श्रुतज्ञानपदा-लोचनं वा कथ्यते न तु ध्यानम्। =किसी एक इष्ट वस्तुमें मतिका निश्चल होना ध्यान है। आर्त, रौद्र और धर्मध्यानकी अपेक्षा अर्थात् इन तीनों ध्यानोंमें मति चंचल रहती है उसे वास्तवमें अशुभ या शुभ भावना कहना चाहिए। अनेक नययुक्त अर्थका पुनः-पुनः चिन्तन करना अनुप्रेक्षा, ख्यापन श्रुतज्ञानके पदोंकी आलोचना कहलाता है, ध्यान नहीं।

२. अथवा अनुप्रेक्षादिको अपायविचय धर्मध्यानमें गर्भित समझना चाहिए

म.पु./२१/१४२ तदपायप्रतिकारचिन्तोपायानुचिन्तनम्। अत्रैवान्तर्गतं ध्येयं अनुप्रेक्षादिलक्षणम्।१४२। =अथवा उन अपायों (दुःखों) के दूर करनेकी चिन्तासे उन्हें दूर करनेवाले अनेक उपायोंका चिन्तवन करना भी अपायविचय कहलाता है। बारह अनुप्रेक्षा तथा दशधर्म आदिका चिन्तवन करना इसी अपायविचय नामके धर्मध्यानमें शामिल समझना चाहिए।

३. ध्यान व कायोत्सर्गमें अन्तर

ध.१३/५.४.२७/८८/३ ट्ठियस्स णिसण्णस्स णिव्वण्णस्स वा साहुस्स कसाएहि सह देहपरिच्चागो काउसग्गो णाम। णेदं ज्झाणस्संतो णिवददि; बारहाणुवेक्खासु वावदचित्तस्स वि काओस्सग्गुवलंभादो। एवं तवोकम्मं परूविदं। =स्थित या बैठे हुए कायोत्सर्ग करनेवाले साधुका कषायोंके साथ शरीरका त्याग करना कायोत्सर्ग नामका तपः-कर्म है। इसका ध्यानमें अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि जिसका बारह अनुप्रेक्षाओंके चिन्तवनमें चित्त लगा हुआ है, उसके भी कायोत्सर्गकी उत्पत्ति देखी जाती है। इस प्रकार तपःकर्मका कथन समाप्त हुआ।

४. माला जपना आदि ध्यान नहीं

रा. वा./९/२७/२४/६२७/१० स्यान्मतं मात्रकालपरिगणनं ध्यानमिति; तन्न; किं कारणम्। ध्यानातिक्रमात्। मात्राभिर्यदि कालगणनं क्रियते ध्यानमेव न स्याद्वैयग्र्यात्। =प्रश्न—समयमात्राओंका

गिनना ध्यान है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेसे ध्यानके लक्षणका अतिक्रमण हो जाता है, क्योंकि, इसमें एकाग्रता नहीं है। गिनती करनेमें व्यग्रता स्पष्ट ही है।

५. धर्मध्यान व शुक्लध्यानमें कथंचित् भेदाभेद

१. विषय व स्थिरता आदिकी अपेक्षा दोनों समान हैं

का.अनु./६४ सुद्धुवजोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स। तम्हा संवरहेदू झाणोत्ति विचिंतये णिच्चं।६४। =१. शुद्धोपयोगसे ही जीवको धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान होते हैं। इसलिए संवरका कारण ध्यान है, ऐसा निरन्तर विचारते रहना चाहिए। (दे० मोक्षमार्ग/२/४); (त.अनु./१८०)

ध.१३/५,४,२६/७४/१ जदि सव्वो समयसब्भावो धम्मज्झाणस्सेव विसओ होदि तो सुक्कज्झाणेण णिव्विसएण होदव्वमिदि? ण एस दोसो दोण्णं पि ज्झाणाणं विसयं पडिभेदाभावादो। जदि एवं तो दोण्णं ज्झाणाणमेयत्तं पसज्जदे। कुदो। …वग्घज्जंतो वि…फाडिज्जंतो वि …कवलिज्जंतो वि…लालिज्जंतओ वि जिस्से अवत्थाए ज्झेयादो ण चलदि सा जीवावत्था ज्झाणं णाम। एसो वि थिरभावो उभयत्थ सरिसो, अण्णहा ज्झाणभावाणुववत्तीदो त्ति। एत्थ परिहारो बुच्चदे—सच्चं एदेहि दोहि विसरूवेहि दोण्णं ज्झाणाणं भेदाभावादो। =प्रश्न—२. यदि समस्त समयसद्भाव (संस्थानविचय) धर्म्यध्यानका ही विषय है तो शुक्लध्यानका कोई विषय शेष नहीं रहता? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि दोनों ही ध्यानोंमें विषयकी अपेक्षा कोई भेद नहीं है। (चा. सा./२१०/३) प्रश्न—यदि ऐसा है तो दोनों ही ध्यानोंमें अभेद प्राप्त होता है? क्योंकि (व्याघ्रादि द्वारा) भक्षण किया गया भी, (करोंतों द्वारा) फाड़ा गया भी, (दावानल द्वारा) ग्रसा गया भी, (अप्सराओं द्वारा) लालित किया गया भी, जो जिस अवस्थामें ध्येयसे चलायमान नहीं होता, वह जीवकी अवस्था ध्यान कहलाती है। इस प्रकारका यह भाव दोनों ध्यानोंमें समान है, अन्यथा ध्यानरूप परिणामकी उत्पत्ति नहीं हो सकती? उत्तर—यह बात सत्य है, कि इन दोनों प्रकारके स्वरूपोंकी अपेक्षा दोनों ही ध्यानोंमें कोई भेद नहीं है।

म.पु./२१/१३१ साधारणमिदं ध्येयं ध्यानयोर्धर्म्यशुक्लयोः। =विषयकी अपेक्षा तो अभीतक जिन ध्यान करने योग्य पदार्थोंका (दे० धर्मध्यान सामान्य व विशेषके लक्षण) वर्णन किया गया है, वे सब धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान इन दोनों ही ध्यानोंके साधारण ध्येय हैं। (त.अनु./१८०)

२. स्वामी, स्थितिकाल, फल व विशुद्धिकी अपेक्षा भेद है

ध.१३/५,४,२६/७५/८ तदो सकसायाकसायसामिभेदेण अचिरकालचिरकालावट्ठाणेण य दोण्णं ज्झाणाणं सिद्धो भेओ।

ध.१३/५,४,२६/८०/१३ अट्ठावीसभेयभिण्णमोहणीयस्स सव्वुवसमावट्ठाणफलं पुधत्तविदक्कवीचारसुक्कज्झाणं। मोहसव्वुवसमो पुण धम्मज्झाणफलं; सकसायत्तणेण धम्मज्झाणिणो सुहुमसांपराइयस्स चरिमसमए मोहणीयस्स सव्वुवसमुवलंभादो। तिण्णं घादिकम्माणं णिम्मूलविणासफलमेयत्तविदक्कअवीचारज्झाणं। मोहणीय विणासो पुण धम्मज्झाणफलं; सुहुमसांपरायचरिमसमए तस्स विणासुवलंभादो। =१. सकषाय और अकषायरूप स्वामीके भेदसे तथा—(चा.सा./२१०/४)। २. अचिरकाल और चिरकाल तक अवस्थिति रहनेके कारण इन दोनों ध्यानोंका भेद सिद्ध है। (चा. सा./२१०/४)। ३. अट्ठाईस प्रकारके मोहनीय कर्मकी सर्वोपशमना हो जानेपर उसमें स्थित रखना पृथक्त्व-वितर्कवीचार नामक शुक्लध्यानका फल है, परन्तु मोहनीयका सर्वोपशमन करना धर्मध्यानका फल है। क्योंकि, कषायसहित धर्मध्यानीके सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तिम समयमें मोहनीय कर्मकी सर्वोपशमना देखी जाती है। ४. तीन घातिकर्मोंका समूलविनाश करना एकवितर्क अवीचार (शुक्ल) ध्यानका फल है, परन्तु मोहनीयका विनाश करना धर्मध्यानका फल है। क्योंकि, सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तिम समयमें उसका विनाश देखा जाता है।

म.पु./२१/१३१ विशुद्धिस्वामिभेदात्तु तद्विशेषोऽवधार्यताम्। =५. इन दोनोंमें स्वामी व विशुद्धिके भेदसे परस्पर विशेषता समझनी चाहिए। (त.अनु./१८०)

दे० धर्मध्यान/४/५/३ ६. धर्मध्यान शुक्लध्यानका कारण है।

दे० समयसार—धर्मध्यान कारण समयसार है और शुक्लध्यान कार्य समयसार है।

४. धर्मध्यानका फल पुण्य व मोक्ष तथा उनका समन्वय

१. धर्मध्यानका फल अतिशय पुण्य

ध. १३/५,४,२६/५६/७७ होंति सुहासव संवर णिज्जरामरसुहाइं विउलाइं। ज्झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स। =उत्कृष्ट धर्मध्यानके शुभास्रव, संवर, निर्जरा, और देवोंका सुख ये शुभानुबन्धी विपुल फल होते हैं।

ज्ञा./४१/१६ अथावसाने स्वतनुं विहाय ध्यानेन संन्यस्तसमस्तसङ्गाः। ग्रैवेयकानुत्तरपुण्यवासे सर्वार्थसिद्धौ च भवन्ति भव्याः। =जो भव्य पुरुष इस पर्यायके अन्त समयमें समस्त परिग्रहोंको छोड़कर धर्मध्यानसे अपना शरीर छोड़ते हैं, वे पुरुष पुण्यके स्थानरूप ऐसे ग्रैवेयक व अनुत्तर विमानोंमें तथा सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न होते हैं।

२. धर्मध्यानका फल संवर निर्जरा व कर्मक्षय

ध. १३/५,४,२६/२६,५७/६८,७७ णवकम्माणादाणं, पोराणवि णिज्जरासुहादाणं। चारित्तभावणाए ज्झाणमयत्तेण य समेइ।२६। जह वा घणसघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति। ज्झाणप्पवणोवहया तह कम्मघणा विलिज्जंति।५७। =चारित्र भावनाके बलसे जो ध्यानमें लीन है, उसके नूतन कर्मोंका ग्रहण नहीं होता, पुराने कर्मोंकी निर्जरा होती है और शुभ कर्मोंका आस्रव होता है।२६। (ध/१३/५/४/२६/५६/७७—दे० ऊपरवाला शीर्षक) अथवा जैसे मेघपटल पवनसे ताड़ित होकर क्षणमात्रमें विलीन हो जाते हैं, वैसे ही (धर्म्य) ध्यानरूपी पवनसे उपहत होकर कर्ममेघ भी विलीन हो जाते हैं।५७।

(दे० आगे धर्म्यध्यान/६/३ में ति. प.), (स्वभावसंसक्त मुनिका ध्यान निर्जराका हेतु है।)

(दे० पीछे/धर्म्यध्यान/३/५/२); (सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तमें कर्मोंकी सर्वोपशमना तथा मोहनीकर्मका क्षय धर्म्यध्यानका फल है।)

ज्ञा./२२/१२ ध्यानशुद्धिं मनःशुद्धिः करोत्येव न केवलम्। विच्छिनत्त्यपि निःशङ्कं कर्मजालानि देहिनाम्।१२। =मनकी शुद्धता केवल ध्यानकी शुद्धताको ही नहीं करती है, किन्तु जीवोंके कर्मजालको भी निःसन्देह काटती है।

पं.का./ता.वृ./१७३/२५३/२५ पर उद्धृत—एकाग्रचिन्तनं ध्यानं फलं संवरनिर्जरे। =एकाग्र चिन्तवन करना तो (धर्म्य) ध्यान है और संवर निर्जरा उसका फल है।

३. धर्म्यध्यानका फल मोक्ष

त. सू./९/२९ परे मोक्षहेतू ।२९। =अन्तके दो ध्यान (धर्म्य व शुक्ल-ध्यान) मोक्षके हेतु हैं।

भा. सा./१७२/२ संसारलतामूलोच्छेदनहेतुभूतं प्रशस्तध्यानं। तद्द्विविधं, धर्म्यं शुक्लं चेति। =संसारलताके मूलोच्छेदका हेतुभूत प्रशस्त ध्यान है। वह दो प्रकारका है—धर्म्य व शुक्ल।

४. एक धर्मध्यानसे मोहनीयके उपशम व क्षय दोनों होनेका समन्वय

ध. १३/५.४.२६/८१/३ मोहणीयस्स उवसमो जदि धम्मज्झाणफलो तो ण क्खवो, एयादो दोण्णं कज्जाणमुप्पत्तिविरोहादो। ण धम्मज्झाणादो अणेयभेयभिण्णादो अणेयकज्जाणमुप्पत्तीए विरोहाभावादो। =प्रश्न—मोहनीय कर्मका उपशम करना यदि धर्म्यध्यानका फल हो तो इसीसे मोहनीयकाक्षय नहीं हो सकता। क्योंकि एक कारणसे दो कार्योंकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि धर्म्यध्यानअनेक प्रकारका है। इसलिए उससे अनेक प्रकारके कार्योंकी उत्पत्ति माननेमें कोई विरोध नहीं आता।

५. धर्म्यध्यानसे पुण्यास्रव व मोक्ष दोनों होनेका समन्वय

१. साक्षात् नहीं परम्परा मोक्षका कारण है

ज्ञा./३/३२ शुभध्यानफलोद्भूतां श्रियं त्रिदशसंभवाम्। निर्विशन्ति नरा नाके क्रमाद्यान्ति परं पदम् ।३२। =मनुष्य शुभध्यानके फलसे उत्पन्न हुई स्वर्गको लक्ष्मीको स्वर्गमें भोगते है और क्रमसे मोक्षको प्राप्त होते हैं। (और भी दे० आगे धर्म्यध्यान/५/२)।

२. अचरम शरीरियोंको स्वर्ग और चरम शरीरियोंको मोक्षप्रदायक है

ध. १३/५.४.२६/७७/१ किंफलमेदं धम्मज्झाणं। अक्खवएसु विउलामरसुहफलं गुणसेडीए कम्मणिज्जरा फलं च। खवएसु पुण असंखेज्ज-गुणसेडीए कम्मपदेसणिज्जरणफलं सुहकम्माणमुक्कस्साणुभागविहाण-फलं च। अतएव धर्मादनपेतं धर्म्यध्यानमिति सिद्धम्। =प्रश्न—इस धर्म्यध्यानका क्या फल है? उत्तर—अक्षपक जीवोंको (या अचरम शरीरियोंको) देवपर्याय सम्बन्धी विपुलसुख मिलना उसका फल है, और गुणश्रेणीमें कर्मोंकी निर्जरा होना भी उसका फल है। तथा क्षपक जीवोंके तो असंख्यात गुणश्रेणीरूपसे कर्मप्रदेशोंकी निर्जरा होना और शुभकर्मोंके उत्कृष्ट अनुभागका होना उसका फल है। अतएव जो धर्मसे अनपेत है व धर्मध्यान है यह बात सिद्ध होती है।

त. अनु./१९७, २२४ ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमाङ्गस्य मुक्तये। तद्ध्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये ।१९७। ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण त्रुटयन्मोहस्य योगिनः। चरमाङ्गस्य मुक्तिः स्यात्तदैवान्यस्य च क्रमात् ।२२४। =अर्हद्रूप अथवा सिद्धरूपसे ध्यान किया गया (यह आत्मा) चरमशरीरी ध्याताके मुक्तिका और उससे भिन्न अन्य ध्याताके भुक्ति (भोग) का कारण बनता है, जिसने उस ध्यानसे विशिष्ट पुण्यका उपार्जन किया है।१९७। ध्यानके अभ्यासकी प्रकर्षतासे मोहको नाश करनेवाले चरमशरीरी योगीके तो उस भवमें मुक्ति होती है और जो चरम शरीरी नहीं है उनके क्रमसे मुक्ति होती है।२२४।

३. क्योंकि मोक्षका साक्षात् हेतुभूत शुक्लध्यान धर्म्यध्यान पूर्वक ही होता है।

ज्ञा./४२/३ अथ धर्म्यमतिक्रान्तः शुद्धिं चात्यन्तिकीं श्रितः। ध्यातुमारभते वीरः शुक्लमत्यन्तनिर्मलम् ।३। =इस धर्म्यध्यानके अनन्तर धर्म्यध्यानसे अतिक्रान्त होकर अत्यन्त शुद्धताको प्राप्त हुआ धीर वीर मुनि अत्यन्त निर्मल शुक्लध्यानके ध्यावनेका प्रारम्भ करता है। विशेष दे० धर्मध्यान/६/६। (पं० का/१५०) —(दे० 'समयसार')— धर्मध्यान कारण समयसार है और शुक्लध्यान कार्यसमयसार।

६. परपदार्थोंके चिन्तवनसे कर्मक्षय कैसे सम्भव है

ध. १३/५.४.२६/७०/४ कधं ते णिग्गुणा कम्मक्खयकारिणो। ण तेसिं रागादिणिरोहे णिमित्तकारणाणं तदविरोहादो। =प्रश्न—जब कि नौ पदार्थ निर्गुण होते हैं, अर्थात् अतिशय रहित होते हैं, ऐसी हालतमें वे कर्मक्षयके कर्ता कैसे हो सकते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि वे रागादिके निरोध करनेमें निमित्तकारण हैं, इसलिए उन्हें कर्मक्षयका निमित्त माननेमें विरोध नहीं आता। (अर्थात् उन जीवादि नौ पदार्थोंके स्वभावका चिन्तवन करनेसे साम्यभाव जागृत होता है।)

५. पंचमकालमें भी धर्मध्यानकी सफलता

१. यदि ध्यानसे मोक्ष होता है तो अब क्यों नहीं होता

प. प्र./टी./१/९७/९२/४ यद्यन्तर्मुहूर्तपरमात्मध्यानेन मोक्षो भवति तर्हि इदानीं अस्माकं तद्ध्यानं कुर्वाणानां किं न भवति। परिहारमाह—यादृशं तेषां प्रथमसंहननसहितानां शुक्लध्यानं भवति तादृशमिदानीं नास्तीति। =प्रश्न—यदि अन्तर्मुहूर्तमात्र परमात्मध्यानसे मोक्ष होता है तो ध्यान करनेवाले भी हमें आज वह क्यों नहीं होता? उत्तर—जिस प्रकारका शुक्लध्यान प्रथम संहननवाले जीवोंको होता है वैसा अब नहीं होता।

२. यदि इस कालमें मोक्ष नहीं तो ध्यान करनेसे क्या प्रयोजन

द्र. सं./टी./५७/२३३/११ अथ मतं—मोक्षार्थं ध्यानं क्रियते, न चाद्यकाले मोक्षोऽस्ति, ध्यानेन किं प्रयोजनम्। नैवं अद्यकालेऽपि परम्परया मोक्षोऽस्ति। कथमिति चेत्, स्वशुद्धात्मभावनाबलेन संसारस्थितिं स्तोकं कृत्वा देवलोकं गच्छति, तस्मादागत्य मनुष्यभवे रत्नत्रय-भावनां लब्ध्वा शीघ्रं मोक्षं गच्छतीति। येऽपि भरतसगररामपाण्डवादयो मोक्षं गतास्तेऽपि पूर्वभवेऽभेदरत्नत्रयभावनया संसारस्थितिं स्तोकं कृत्वा पश्चान्मोक्षं गताः। तद्भवे सर्वेषां मोक्षो भवतीति नियमो नास्ति। =प्रश्न—मोक्षके लिए ध्यान किया जाता है, और मोक्ष इस पंचमकालमें होता नहीं है, इस कारण ध्यानके करनेसे क्या प्रयोजन? उत्तर—इस पंचमकालमें भी परम्परासे मोक्ष है। प्रश्न—सो कैसे है? उत्तर—ध्यानी पुरुष निज शुद्धात्माकी भावनाके बलसे संसारकी स्थितिको अल्प करके स्वर्गमें जाता है। वहाँसे मनुष्यभवमें आकर रत्नत्रयकी भावनाको प्राप्त होकर शीघ्र ही मोक्षको चला जाता है। जो भरतचक्रवर्ती, सगरचक्रवर्ती, रामचन्द्र तथा पाण्डव युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम आदि मोक्षको गये हैं, उन्होंने भी पूर्वभवमें अभेद-रत्नत्रयकी भावनासे अपने संसारको स्थितिको घटा लिया था। इस कारण उसी भवमें मोक्ष गये। उसी भवमें सबको मोक्ष हो जाता हो, ऐसा नियम नहीं है। (और भी देखो/७/१२)।

३. पंचमकालमें अध्यात्मध्यानका कथंचित् सद्भाव व असद्भाव

न. च. वृ./३४३ मज्झिमजहण्णुक्कस्सा सराय इव वीयरायसामग्गी। तम्हा सुद्धचरित्ता पंचमकाले वि देसदो अत्थि ।३४३। =सरागकी भाँति वीतरागताकी सामग्री जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट होती है। इसलिए पंचमकालमें भी शुद्धचरित्र कहा गया है। (और भी दे० अनुभव/१/२)।

नि. सा./ता. वृ./१५४/क. २६४ असारे संसारे कलिविलसिते पापबहुले, न मुक्तिमार्गेऽस्मिन्ननघजिननाथस्य भवति। अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवन्निर्मलधियां निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम्। ।२६४। = असार संसार में, पापसे भरपूर कलिकालका विलास होनेपर, इस निर्दोष जिननाथके मार्गमें मुक्ति नहीं है। इसलिए इस कालमें अध्यात्मध्यान कैसे हो सकता है? इसलिए निर्मल बुद्धिवाले भव-भयका नाश करनेवाली ऐसी इस निजात्मश्रद्धाको अंगीकृत करते हैं।

४. परन्तु इस कालमें ध्यानका सर्वथा अभाव नहीं है

मो. पा./मू./७६ भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स। तं अप्पसहावट्ठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।७६। = इस भरतक्षेत्रमें दुःषमकाल अर्थात् पंचमकालमें भी आत्मस्वभावस्थित साधुको धर्मध्यान होता है। जो ऐसा नहीं मानता वह अज्ञानी है। (र. सा./६०); (त. अनु./८२)।

ज्ञा./४/३७ दुःषमत्वादयं कालः कार्यसिद्धेर्न साधकम्। इत्युक्त्वा स्वस्य चान्येषां कैश्चिद्ध्यानं निषिध्यते।३७। = कोई-कोई साधु ऐसा कहकर अपने तथा परके ध्यानका निषेध करते हैं कि इस दुःषमा पंचमकालमें ध्यानकी योग्यता किसीके भी नहीं है। (उन अज्ञानियोंके ध्यानकी सिद्धि कैसे हो सकती है?)।

५. पंचमकालमें शुक्लध्यान नहीं पर धर्मध्यान अवश्य सम्भव है

त. अनु./८३ अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः। धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां प्राग्विवर्तिनाम्।८३। = यहाँ (भरत क्षेत्रमें) इस (पंचम) कालमें जिनेन्द्रदेव शुक्लध्यानका निषेध करते हैं परन्तु श्रेणीसे पूर्ववर्तियोंके धर्मध्यान बतलाते है। (द्र. स./टी./५७/२३१/११) (पं. का./ता. वृ./१४६/२११/१७)।

६. निश्चय व्यवहार धर्मध्यान निर्देश

१. निश्चय धर्मध्यानका लक्षण

मो. पा./मू./८४ पुरिसायारो अप्पा जोई वरणाणदंसणसमग्गा। जो ज्झायदि सो जोई पावहरो भवदि णिद्दंदो।८४। = जो योगी शुद्धज्ञान-दर्शन समग्र पुरुषाकार आत्माको ध्याता है वह निर्द्वन्द्व तथा पापोंका विनाश करनेवाला होता है।

द्र.सं./मू./५५-५६ जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू। लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं णिच्छयं झाणं।५५। मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो। अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं।५६। = ध्येयमें एकाग्र चित्त होकर जिस-किसी भी पदार्थका ध्यान करता हुआ साधु जब निस्पृह वृत्ति होता है उस समय वह उसका ध्यान निश्चय होता है।५५। हे भव्य पुरुषो! तुम कुछ भी चेष्टा मत करो, कुछ भी मत बोलो और कुछ भी मत विचारो, अर्थात् काय, वचन व मन तीनोंकी प्रवृत्तिको रोको; जिससे कि तुम्हारा आत्मा अपने आत्मामें स्थिर होवे। आत्मामें लीन होना परमध्यान है।५६।

का.अ./मू./४८२ वज्जिय-सयल-वियप्पो अप्पसरूवे मणं णिरुंधंतो। जं चिंतदि साणंदं तं धम्मं उत्तमं ज्झाणं।४८२। = सकल विकल्पोंको छोड़कर और आत्मस्वरूपमें मनको रोककर आनन्दसहित जो चिन्तन होता है वही उत्तम धर्मध्यान है।

त.अनु./श्लो.नं./ भावार्थ—निश्चयादधुना स्वात्मालम्बनं तन्निरुच्यते।१४३। पूर्वं श्रुतेन संस्कारं स्वात्मन्यारोपयेत्ततः। तत्रैकाग्र्यं समासाद्य न किंचिदपि चिन्तयेत्।१४४। = अब निश्चयनयसे स्वात्मालम्बन स्वरूप-ध्यानका निरूपण करते हैं।१४३। श्रुतके द्वारा आत्मामें आत्मसंस्कार-को आरोपित करके, तथा उसमें ही एकाग्रताको प्राप्त होकर अन्य कुछ भी चिन्तवन न करे।१४४। शरीर और मैं अन्य-अन्य हैं।१४६। मैं सदा सत्, चित, ज्ञाता, द्रष्टा, उदासीन, देह परिमाण व आकाशवत अमूर्तिक हूँ।१५३। यह जगत् न इष्ट है न द्विष्ट किन्तु उपेक्ष्य है।१५७। इस प्रकार अपने आत्माको अन्य शरीरादिकसे भिन्न करके अन्य कुछ भी चिन्तवन न करे।१५९। यह चिन्ताभाव तुच्छाभाव रूप नहीं है, बल्कि समतारूप आत्माके स्वसंवेदनरूप है।१६०। (ज्ञा./३१/२०-३७)।

द्र.टी./४८/२०४/११ मैं अनन्त ज्ञानादिका धारक तथा अनन्त सुखरूप हूँ, इत्यादि भावना अन्तरंग धर्मध्यान है। (पं.का./ता.वृ./१५०-१५१/२१८/१)।

२. व्यवहार धर्मध्यानका लक्षण

त.अनु./१४१ व्यवहारनयादेवं ध्यानमुक्तं पराश्रयम्। = इस प्रकार व्यवहार नयसे पराश्रित धर्मध्यानका लक्षण कहा है। (अर्थात् धर्म-ध्यान सामान्य व उसके आज्ञा अपाय विचय आदि भेद सब व्यवहार ध्यानमें गर्भित हैं।)

३. निश्चय ही ध्यान सार्थक है व्यवहार नहीं

प्र.सा./१९३-१९४ देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाधसत्तुमित्तजणा। जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा।१९३। जो एवं जाणित्ता ज्झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा। साकारोऽनाकारः क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम्।१९४। = शरीर, धन, सुख, दुःख अथवा शत्रु, मित्र-जन ये सब ही जीवके कुछ नहीं हैं, ध्रुव तो उपयोगात्मक आत्मा है।१९३। जो ऐसा जानकर विशुद्धात्मा होता हुआ परम आत्माका ध्यान करता है, वह साकार हो या अनाकार, मोहदुर्ग्रन्थिका क्षय करता है।

ति.प./९/२१,४० दंसणणाणसमग्गं ज्झाणं णो अण्णदव्वसंसत्तं। जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साहुस्स।२१। ज्झाणे जदि णियआदा णाणादो णावभासदे जस्स। ज्झाणं होदि ण तं पुण जाण पमादो, हु मोहमुच्छा वा।४०। = शुद्ध स्वभावसे सहित साधुका दर्शन-ज्ञानसे परिपूर्ण ध्यान निर्जराका कारण होता है, अन्य द्रव्योंसे संसक्त वह निर्जराका कारण नहीं होता।२१। जिस जीवके ध्यानमें यदि ज्ञानसे निज आत्माका प्रतिभास नहीं होता है तो वह ध्यान नहीं है। उसे प्रमाद, मोह अथवा मूर्च्छा ही जानना चाहिए।४०। (त.अनु./१६६)

आराधनासार/८३ यावद्विकल्पः कश्चिदपि जायते योगिनो ध्यानयुक्तस्य। तावन्न शून्यं ध्यानं, चिन्ता वा भावनाथवा।८३। = जब तक ध्यानयुक्त योगीको किसी प्रकारका भी विकल्प उत्पन्न होता रहता है, तब तक उसे शून्य ध्यान नहीं है, या तो चिन्ता है या भावना है। (और भी दे० धर्म्यध्यान/३/१)

ज्ञा./२९/१९ अविक्षिप्तं यदा चेतः स्वतत्त्वाभिमुखं भवेत्। मनस्तदैव निर्विघ्ना ध्यानसिद्धिरुदाहृता।१९। = जिस समय मुनिका चित्त क्षोभरहित हो आत्मस्वरूपके सम्मुख होता है, उस काल ही ध्यानकी सिद्धि निर्विघ्न होती है।

प्र.सा./त.प्र./१९४ अमुना यथोदितेन विधिना शुद्धात्मानं ध्रुवमधिगच्छतस्तस्मिन्नेव प्रवृत्तेः शुद्धात्मत्वं स्यात्। ततोऽनन्तशक्तिचिन्मात्रस्य परमस्यात्मन एकाग्रसंचेतनलक्षणं ध्यानं स्यात्। = इस यथोक्त विधिके द्वारा जो शुद्धात्माको ध्रुव जानता है, उसे उसीमें प्रवृत्तिके द्वारा शुद्धात्मत्व होता है, इसलिए अनन्त शक्तिवाले चिन्मात्र परम आत्माका एकाग्रसंचेतन लक्षण ध्यान होता है (प्र.सा./त.प्र./१९६), (नि.सा./ता.वृ./११९)

प्र.सा./त.प्र./२४३ यो हि न खलु ज्ञानात्मानमात्मानमेकमग्रं भावयति सोऽवश्यं ज्ञेयभूतं द्रव्यमन्यदासीदति।...तथाभूतश्च बध्यत एव न तु मुच्यते। —जो वास्तवमें ज्ञानात्मक आत्मारूप एक अग्रको नहीं भाता, वह अवश्य ज्ञेयभूत अन्य द्रव्यका आश्रय करता है और ऐसा होता हुआ बन्धको ही प्राप्त होता है, परन्तु मुक्त नहीं होता।

नि.सा./ता.वृ./१४४, यः खलु व्यावहारिकधर्मध्यानपरिणतः अत एव चरणकरणप्रधानः...किन्तु स निरपेक्षतपोधनः साक्षान्मोक्षकारणं स्वात्माश्रयावश्यककर्म निश्चयतः परमात्मतत्त्वविश्रान्तिरूपं निश्चयधर्मध्यानं शुक्लध्यानं च न जानीते, अतः परद्रव्यगतत्वादन्यवश इत्युक्तः। —जो वास्तवमें व्यावहारिक धर्मध्यानमें परिणत रहता है, इसलिए चरणकरणप्रधान है; किन्तु वह निरपेक्ष तपोधन साक्षात् मोक्षके कारणभूत स्वात्माश्रित आवश्यककर्मको, निश्चयसे परमात्मतत्त्वमें विश्रान्तिरूप निश्चयधर्मध्यानको तथा शुक्लध्यानको नहीं जानता, इसलिए परद्रव्यमें परिणत होनेसे उसे अन्यवश कहा गया है।

४. व्यवहार ध्यान कथंचित् अज्ञान है

स.सा./आ./१९१ एतेन कर्मबन्धविषयचिन्ताप्रबन्धात्मकविशुद्धधर्मध्यानान्धबुद्धयो बोध्यन्ते। —इस कथनसे कर्मबन्धमें चिन्ताप्रबन्धस्वरूप विशुद्ध धर्मध्यानसे जिनकी बुद्धि अन्धी है, उनको समझाया है।

५. व्यवहार ध्यान निश्चयका साधन है

द्र.सं./टी./४९/२०९/४ निश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं यच्छुभोपयोगलक्षणं व्यवहारध्यानम्। —निश्चयध्यानका परम्परासे कारणभूत जो शुभोपयोग लक्षण व्यवहारध्यान है। (द्र.सं./टी./५३/२२१/२)

६. निश्चय व व्यवहार ध्यानमें साध्यसाधकपनेका समन्वय

ध. १३/५,४,२६/२२/६७ विसमं हि समारोहइ दव्वालंबणो जहा पुरिसो। सुत्तादिकयालंबो तह झाणवरं समारुहइ।२२। —जिस प्रकार कोई पुरुष नसैनी (सीढ़ी) आदि द्रव्यके आलम्बनसे विषमभूमिपर भी आरोहण करता है, उसी प्रकार ध्याता भी सूत्र आदिके आलम्बनसे उत्तम ध्यानको प्राप्त होता है। (भ.आ./वि./१८७७/१६८१/१२)

ज्ञा./३३/२,४ अविद्यावासनावेशविशेषविवशात्मनाम्। योज्यमानमपि स्वस्मिन् न चेतः कुरुते स्थितिम्।२। अलक्ष्यं लक्ष्यसंबन्धात् स्थूलात्सूक्ष्मं विचिन्तयेत्। सालम्बाच्च निरालम्बं तत्त्ववित्तत्त्वमञ्जसा।४। —आत्माके स्वरूपको यथार्थ जानकर, अपनेमें जोड़ता हुआ भी अविद्याकी वासनासे विवश है आत्मा जिनका, उनका चित्त स्थिरताको नहीं धारण करता है।२। तब लक्ष्यके सम्बन्धसे अलक्ष्यको अर्थात् इन्द्रियगोचरके सम्बन्धसे इन्द्रियातीत पदार्थोंको तथा स्थूलके आलम्बनसे सूक्ष्मको चिन्तवन करता है। इस प्रकार सालम्ब ध्यानसे निरालम्बके साथ तन्मय हो जाता है।४। (और भी दे० चारित्र/७/१०)

पं.का./ता.वृ./१५२/२२०/९ अयमत्र भावार्थ —प्राथमिकानां चित्तस्थिरीकरणार्थं विषयाभिलाषरूपध्यानवञ्चनार्थं च परम्परया मुक्तिकारण पञ्चपरमेष्ठ्यादिपरद्रव्यं ध्येयं भवति, दृढतरध्यानाभ्यासेन चित्ते स्थिरे जाते सति निजशुद्धात्मस्वरूपमेव ध्येयं।...इति परस्परसापेक्षनिश्चयव्यवहारनयाभ्यां साध्यसाधकभावं ज्ञात्वा ध्येयविषये विवादो न कर्तव्यः। —प्राथमिक जनोंको चित्त स्थिर करनेके लिए तथा विषयाभिलाषरूप दुर्ध्यानसे बचनेके लिए परम्परा मुक्तिके कारणभूत पंच परमेष्ठी आदि परद्रव्य ध्येय होते हैं। तथा दृढतर ध्यानके अभ्यास द्वारा चित्तके स्थिर हो जानेपर निजशुद्ध आत्मस्वरूप ही ध्येय होता है। ऐसा भावार्थ है। इस प्रकार परस्पर सापेक्ष निश्चय व्यवहारनयोंके द्वारा साध्यसाधक भावको जानकर ध्येयके विषयमें विवाद नहीं करना चाहिए। (द्र.सं./टी./५५/२२३/१२), (प.प्र./टी./२/३३/१५४/२)

पं.का./ता.वृ./१५०/२१७/१४ यदायं जीवः...सरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादिरूपेण पराश्रितधर्म्यध्यानबहिरङ्गसहकारित्वेनानन्तज्ञानादिस्वरूपोऽहमित्यादिभावनास्वरूपमात्माश्रितं धर्म्यध्यानं प्राप्य आगमकथितक्रमेणासंयतसम्यग्दृष्ट्यादिगुणस्थानचतुष्टयमध्ये क्वापि गुणस्थाने दर्शनमोहक्षयेणक्षायिक सम्यक्त्वं कृत्वा तदनन्तरमपूर्वकरणादिगुणस्थानेषु प्रकृतिपुरुषनिर्मलविवेकज्योतिरूपप्रथमशुक्लध्यानमनुभूय...मोहक्षपणं कृत्वा भावमोक्षं प्राप्नोति। —अनादिकालसे अशुद्ध हुआ यह जीव सरागसम्यग्दृष्टि होकर पंचपरमेष्ठी आदिकी भक्ति आदि रूपसे पराश्रित धर्म्यध्यानके बहिरंग सहकारीपनेसे 'मैं अनन्त ज्ञानादि स्वरूप हूँ' ऐसे आत्माश्रित धर्मध्यानको प्राप्त होता है, तत्पश्चात् आगम कथित क्रमसे असंयत सम्यग्दृष्टि आदि अप्रमत्तसंयत पर्यन्तके चार गुणस्थानोंमेंसे किसी एक गुणस्थानमें दर्शनमोहका क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। तदनन्तर अपूर्वकरण आदि गुणस्थानोंमें प्रकृति व पुरुष (कर्म व जीव) सम्बन्धी निर्मल विवेक ज्योतिरूप प्रथम शुक्लध्यानका अनुभव करनेके द्वारा वीतराग चारित्रको प्राप्त करके मोहका क्षय करता है, और अन्तमें भावमोक्ष प्राप्त कर लेता है।

७. निश्चय व व्यवहार ध्यानमें निश्चय शब्दकी आंशिक प्रवृत्ति

द्र.सं./टी./५५-५६/२२४/६ निश्चयशब्देन तु प्राथमिकापेक्षया व्यवहाररत्नत्रयानुकूलनिश्चयो ग्राह्यः। निष्पन्नयोगपुरुषापेक्षया तु शुद्धोपयोगलक्षणविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयो ग्राह्यः। विशेषनिश्चयः पुनरग्रे वक्ष्यमाणस्तिष्ठतीति सूत्रार्थः।५५। 'मा चिट्ठह...।' इदमेवात्मसुखरूपे तन्मयत्वं निश्चयेन परमुत्कृष्टध्यानं भवति। —'निश्चय' शब्दसे अभ्यास करनेवाले पुरुषकी अपेक्षासे व्यवहार रत्नत्रयके अनुकूल निश्चय ग्रहण करना चाहिए और जिसके ध्यान सिद्ध हो गया है उस पुरुषकी अपेक्षा शुद्धोपयोगरूप विवक्षित एकदेशशुद्ध निश्चय ग्रहण करना चाहिए। विशेष निश्चय आगेके सूत्रमें कहा है, कि मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको रोककर आत्माके सुखरूपमें तन्मय हो जाना निश्चयसे परम उत्कृष्ट ध्यान है। (विशेष दे० अनुभव/५/७)

८. निरीहभावसे किया गया सभी उपयोग एक आत्म उपयोग ही है

पं.ध./उ./८६१-८६५ अस्ति ज्ञानोपयोगस्य स्वभावमहिमोदयः। आत्मपरोभयाकारभावकश्च प्रदीपवत्।८६१। निर्विशेषाद्यथात्मानमिव ज्ञेयमवैति च। तथा मूर्तानमूर्तांश्च धर्मादीनवगच्छति।८६२। स्वस्मिन्नेवोपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि। परस्मिन्नुपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि।८६३। स्वस्मिन्नेवोपयुक्तोऽपि नोत्कर्षाय स वस्तुतः। उपयुक्तः परत्रापि नापकर्षाय तत्त्वतः।८६४। तस्मात् स्वस्थितयेऽन्यस्मादेकाकारचिकीर्षया। मासीदसि महाप्राज्ञः सार्थमर्थमवैहि भोः।८६५। —निजमहिमासे ही ज्ञान प्रदीपवत् स्व, पर व उभयका युगपत् अवभासक है।८६१। वह किसी प्रकारका भी भेदभाव न करके अपनी तरह ही अपने विषयभूत मूर्त व अमूर्त धर्म अधर्मादि द्रव्योंको भी

जानता है ।८६२। अतः केवलनिजात्मोपयोगी अथवा परपदार्थोपयोगी ही न होकर निश्चयसे वह उभयविषयोपयोगी है ।८६३। उस सम्यग्दृष्टिको स्वमें उपयुक्त होनेसे कुछ उत्कर्ष (विशेष संवर निर्जरा) और परमें उपयुक्त होनेसे कुछ अपकर्ष (बन्ध) होता हो, ऐसा नहीं है ।८६४। इसलिए परपदार्थोंके साथ अभिन्नता देखकर तुम दुःखी मत होओ । प्रयोजनभूत अर्थको समझो। और भी दे. ध्यान/४/५ (अर्हंतका ध्यान वास्तवमें तद्गुणपूर्ण आत्माका ध्यान ही है) ।

धर्मनाथ—(म. पु./६१/श्लोक)—पूर्वभव नं० २ में पूर्व धातकीखण्डके पूर्वविदेहके वत्सदेशकी सुसीमा नगरीके राजा दशरथ थे। (२-३)। पूर्वभव नं० १ में सर्वार्थसिद्धिमें देव थे। (६)। वर्तमानभवमें १५ वें तीर्थंकर हुए ।१३-५५। (विशेष दे० तीर्थंकर/५) ।

धर्मपत्नी—दे० स्त्री ।

धर्मपरीक्षा—१. आ. अमितगति द्वारा वि० १०७० में रचित संस्कृत श्लोक बद्ध एक कथानक जिसमें वैदिक मान्यताओंका उपहास किया गया है ।(ती /२/३९३), (जै. /१/३८१) । २. कवि वृत्ति विलास (ई. श. १२ पूर्वार्ध)कृत उपर्युक्त विषयक कन्नड रचना। ३. श्रुतकीर्ति (वि श. १६) कृत १७६ अपभ्रंशकडवक प्रमाण उपर्युक्त विषयक रचना। (ती./३/४३२)।

धर्मपाल—नालन्दा विश्वविद्यालयके आचार्य एक बौद्ध नैयायिक थे। समय—ई० ६००-६४२। (सि. वि./प्र. २५/पं. महेन्द्र) ।

धर्मभूषण—१. इनके आदेशसे ही ब्र० केशव वर्णीने गोमट्टसारपर कर्णाटक भाषामें वृत्ति लिखी थी। **समय**—वि० १४१६ (ई० १३५९)। २. न्याय दीपिका के रचयिता नन्दि संघीय भट्टारक। गुरु परम्परा देवेन्द्र कीर्ति, विशाल कीर्ति, शुभ कीर्ति, धर्मभूषण प्र०, अमरकीर्ति, धर्मभूषण द्वि०, धर्मभूषण तृ०। समय—प्रथम का शक १२२०-१२४५; द्वि. का शक १२७०-१२९५; तृ. का सायण (शक १३१२) के समकालीन (ई १३५८-१४१८)। (ती /३/३५५-३५७)

धर्ममूढ़ता—दे० मूढ़ता ।

धर्मरत्नाकर—आ० जयसेन (ई० ९९८) कृत सप्ततत्त्व निरूपक एक संस्कृत श्लोकबद्ध श्रावकाचार (जै./१/३७५) ।

धर्म विलास—पं० द्यानत राय (ई० १७३३) द्वारा रचित एक पदसंग्रह ।

धर्मशर्माभ्युदय—१ कवि असग (ई. ९८८) कृत २१ सर्ग प्रमाण धर्मनाथ तीर्थंकर चरित।(ती./४/२०)। २. कवि हरिचन्द (ई १० का मध्य) कृत उपर्युक्त विषयक १७५४ श्लोक प्रमाण संस्कृत काव्य ।

धर्मसंग्रहश्रावकाचार— १० अधिकारों में बद्ध कवि मेधावी (वि. १५४१) का रचना। (ती./४/६८) ।

धर्मसूरि—महेन्द्रसूरिके शिष्य थे। हिन्दी भाषामें 'जम्बूस्वामी रासा' नामक ग्रन्थकी रचना की। **समय**—वि० १२६६ (ई० १२०९)। (हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास/पृ. ५५। कामताप्रसाद) ।

धर्मसेन—१. श्रुतावतारके अनुसार आप भद्रबाहु प्रथमके पश्चात् ११ वें एकादशांग पूर्वधारी थे। **समय**—वी० नि० ३२९-३४५ (ई०पू० १९८-१८२) दृष्टि न.३ की अपेक्षा वी.नि.३८९-४०५ —दे० इतिहास/४/४। २. श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं० ७ केअनुसार आप श्रीबालचन्द्रके गुरु थे। **समय**—वि. ७३२ (ई. ६७५) (भ. आ./प्र. १९/प्रेमीजी)। ३. लाड़बागड़ संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप श्रीशान्तिसेनके गुरु थे। **समय**—वि. ९५५ (ई. ८९८)—दे० इतिहास/७/१०

धर्मसेन—(वरांग चरित/सर्ग/श्लोक)। उत्तमपुरके भोजवंशीय राजा थे। (१/४९)। वरांगकुमारके पिता थे। (२/२)। वरांगको युवराजपद दे दिया तब दूसरे पुत्रने छलपूर्वक वरांगको वहाँसे गायब कर दिया। इसपर आप बहुत दुःखी हुए। (२०/७)।

धर्माकरदत्त—अर्चट कविका अपर नाम ।

धर्मानुकंपा—दे० अनुकम्पा ।

धर्मानुप्रेक्षा—दे० अनुप्रेक्षा ।

धर्माधर्म—लोकमें छह द्रव्य स्वीकार किये गये हैं (दे० द्रव्य)। तहाँ धर्म व अधर्म नामके दो द्रव्य हैं। दोनों लोकाकाशप्रमाण व्यापक असंख्यात प्रदेशी अमूर्त द्रव्य हैं। ये जीव व पुद्गलके गमन व स्थितिमें उदासीन रूपसे सहकारी हैं, यही कारण है कि जीव व पुद्गल स्वयं समर्थ होते हुए भी इनकी सीमासे बाहर नहीं जाते, जैसे मछली स्वयं चलनेमें समर्थ होते हुए भी जलसे बाहर नहीं जा सकती। इस प्रकार इन दोनोंके द्वारा ही एक अखण्ड आकाश लोक व अलोक रूप दो विभाग उत्पन्न हो गये हैं।

१. धर्माधर्म द्रव्योंका लोक व्यापक रूप

१. दोनों अमूर्तीक अजीव द्रव्य हैं

त सू./५/१,२,४ अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ।१। द्रव्याणि ।२। नित्यावस्थितान्यरूपाणि ।४। =धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चारों अजीवकाय हैं ।१। चारों ही द्रव्य हैं ।२। और नित्य अवस्थित व अरूपी है ।४। (नि.सा./मू /३७), (गो.जी./मू./५८३,५९२)

पं.का /मू./८३ धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं। =धर्मास्तिकाय अस्पर्श, अरस, अगन्ध, अवर्ण और अशब्द है।

२. दोनों असंख्यात प्रदेशी हैं

त.सू./५/८ असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानां ।८। =धर्म, अधर्म, और एक जीव इन तीनोंके असंख्यात प्रदेश हैं। (प्र. सा./मू./१३५), (नि.सा./मू./३५), (पं.का./मू./८३); (प प्र./मू./२/२४); (द्र सं./मू./२५), (गो.जी./मू./५९१/१०२९)

★ **द्रव्योंमें प्रदेश कल्पना व युक्ति**—दे० द्रव्य/४ ।

★ **दोनों एक-एक व निष्क्रिय हैं**—दे० द्रव्य/३ ।

★ **दोनों अस्तिकाय हैं**—दे० अस्तिकाय ।

★ **दोनोंकी संख्या**—दे० द्रव्य/२।

३. दोनों एक एक व अखण्ड हैं

त.सू./५/६ आ आकाशादेकद्रव्याणि ।६। =धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों एक-एक द्रव्य है। (गो.जी./मू./५८८/१०२७)

गो.जी./जी.प्र./५८८/१०२७/१८ धर्माधर्माकाशाः एकैक एव अखण्डद्रव्यत्वात्। =धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक हैं, क्योंकि अखण्ड हैं। (पं.का./त.प्र./८३)

४. दोनों लोकमें व्यापकर स्थित हैं

त. सू /५/१२,१३ लोकाकाशेऽवगाहः ।१२। धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ।१३। =इन धर्मादिक द्रव्योंका अवगाह लोकाकाशमें है ।१२। धर्म और अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाशमें व्याप्त हैं ।१३। (पं.का./मू./८३), (प्र. सा./मू./१३६)

स.सि./५/८–१८/मू. पृष्ठ-पंक्ति—धर्माधर्मौ निष्क्रियौ लोकाकाशं व्याप्य स्थितौ। (८/२७४/६)। उक्तानां धर्मादीनां द्रव्याणां लोकाकाशेऽवगाहो न बहिरित्यर्थः। (१२/२७७/१)। कृत्स्नवचनमशेषव्याप्तिप्रदर्शनार्थम्। अगारे यथा घट इति यथा तथा धर्माधर्मयोर्लोकाकाशेऽवगाहो न भवति। किं तर्हि। कृत्स्ने तिलेषु तैलवदिति। (१३/२७८/१०)। धर्माधर्मावपि अवगाहक्रियाभावेऽपि सर्वत्रव्याप्तिदर्शनादवगाहिनावित्युपचर्यते। (१८/२८४/६)। =धर्म और अधर्म द्रव्य

निष्क्रिय हैं और लोकाकाश भरमें फैले हुए हैं।८। धर्मादिक द्रव्यों-का लोकाकाशमें अवगाह है बाहर नहीं, यह इस सूत्रका तात्पर्य है।१२। सब लोकाकाशके साथ व्याप्ति दिखलानेके लिए सूत्रमें कृत्स्न पद रखा है। घरमें जिस प्रकार घट अवस्थित रहता है, उस प्रकार लोकाकाशमें धर्म व अधर्म द्रव्योंका अवगाह नहीं है। किन्तु जिस प्रकार तिलमें तैल रहता है उस प्रकार सब लोकाकाशमें धर्म और अधर्मका अवगाह है।१३। यद्यपि धर्म और अधर्म द्रव्यमें अवगाहन-रूप क्रिया नहीं पायी जाती, तो भी लोकाकाशमें सर्वत्र व्यापनेसे वे अवगाही हैं, ऐसा उपचार किया जाता है।१८। (रा.वा./५/१३/१/४५६/१४), (पं.का./त.प्र./८३), (प्र.सा./त.प्र./१३६), (गो.जी./जी.प्र./५८३/१०२४/८)

५. व्याप्त होते हुए भी पृथक् सत्ताधारी हैं

पं.का./मू./९६ धम्माधम्मागासाअपुधब्भूदा समाणपरिमाणा। अपुधगुण-लद्धिविसेसा करिंति एगत्तमण्णत्तं।९६। =धर्म, अधर्म और आकाश, समान परिमाणवाले तथा अपृथग्भूत होनेसे, तथा पृथक् उपलब्धि-विशेषवाले होनेसे एकत्व तथा अन्यत्वको करते हैं। (पं. का./मू./-व टी./८७)

स.सि./५/१३/२७८/११ अन्योऽन्यप्रदेशप्रवेशव्याघाताभावः अवगाहन-शक्तियोगाद्वेदितव्य.। =यद्यपि ये एक जगह रहते हैं, तो भी अवगाहनशक्तिके योगसे, इनके प्रदेश परस्पर प्रविष्ट होकर व्याघात-को प्राप्त नहीं होते। (रा.वा/५/१३/२-३/४५६/१८)

रा.वा/५/१६/१०-११/४६०/१ न धर्मादीनां नानात्वम्, कुतः। देश-संस्थानकालदर्शनस्पर्शनावगाहनाद्यभेदात।१०। न अतस्तत्सिद्धेः।११। यत एव धर्मादीनां देशादिभि अविशेषस्त्वया चोद्यते अत एव नानात्वसिद्धिः, यतो नासति नानात्वेऽविशेषसिद्धिः। न ह्येकस्या-विशेषोऽस्ति। किं च, यथा रूपरसादीनां तुल्यदेशादित्वे नैकत्वं तथा धर्मादीनामपि नानात्वमिति। =प्रश्न—जिस देशमें धर्म द्रव्य है उसी देशमें अधर्म और आकाशादि स्थित हैं, जो धर्मका आकार है वही अधर्मादिका भी है, और इसी प्रकार कालकी अपेक्षा, स्पर्शनकी अपेक्षा, केवलज्ञानका विषय होनेकी अपेक्षा और अरूपत्व-द्रव्यत्व तथा ज्ञेयत्व आदिकी अपेक्षा इनमें कोई विशेषता न होनेसे धर्मादि द्रव्योंमें नानापना घटित नहीं होता। उत्तर—जिस कारण तुमने धर्मादि द्रव्योंमें एकत्वका प्रश्न किया है, उसी कारण उनकी भिन्नता स्वयं सिद्ध है। जब वे भिन्न-भिन्न हैं तभी तो उनमें अमुक दृष्टियोंसे एकत्वकी सम्भावना की गयी है। यदि ये एक होते तो यह प्रश्न ही नहीं उठता। तथा जिस तरह रूप, रस आदिमें तुल्य देशकालत्व आदि होनेपर भी अपने-अपने विशिष्ट लक्षणके होनेसे अनेकता है, उसी तरह धर्मादि द्रव्योंमें भी लक्षणभेदसे अनेकता है। (दे० आगे धर्माधर्म/२/१)

६. लोकव्यापी माननेमें हेतु

रा.वा/५/१७/…/४६०/१४ अणुस्कन्धभेदात् पुद्गलानाम्, असंख्येयदेश-त्वाच्च आत्मनाम्, अवगाहिनाम्, एकप्रदेशादिषु पुद्गलानाम्, असंख्येय-भागादिषु च जीवानामवस्थानं युक्तमुक्तम्। तुल्ये पुनरसंख्येये प्रदेशत्वे कृत्स्नलोकव्यापित्वमेव धर्माधर्मयो न पुनरसंख्येयभागादिवृत्ति-रित्येतत्कथमनपदिष्टहेतुकमवसातुं शक्यमिति? अत्र ब्रूमः— अव-सेयमसंशयम्। यथा मत्स्यगमनस्य जलमुपग्रहकारणमिति नासति जले मत्स्यगमनं भवति, तथा जीवपुद्गलानां प्रयोगविस्रसा परि-णामनिमित्ताहितप्रकारां गतिस्थितिलक्षणां क्रियां स्वत एवाऽऽरभमा-णानां सर्वत्रभावात् तदुपग्रहकारणाभ्यामपि धर्माधर्माभ्यां सर्व-गताभ्यां भवितव्यम्; नासतोस्तयोर्गतिस्थितिवृत्तिरिति। =प्रश्न— अणु स्कन्ध भेदरूप पुद्गल तथा असंख्यप्रदेशी जीव, ये तो अवगाही द्रव्य हैं। अतः एक प्रदेशादिकमें पुद्गलोंका और लोकके असंख्या-तवें भाग आदिमें जीवोंका अवस्थान कहना तो युक्त है। परन्तु जो तुल्य असंख्यात प्रदेशी तथा लोकव्यापी हैं, ऐसे धर्म और अधर्म द्रव्योंकी लोकके असंख्येय भाग आदिमें वृत्ति कैसे हो सकती है? उत्तर—निःसंशय रूपसे हो सकती है।

जैसे जल मछलीके तैरनेमें उपकारक है, जलके अभावमें मछलीका तैरना सम्भव नहीं है, वैसे ही जीव और पुद्गलोंकी प्रायोगिक और स्वाभाविक गति और स्थिति रूप परिणमनमें धर्म और अधर्म सहायक होते हैं (दे० आगे धर्माधर्म/२)। क्योंकि स्वतः ही गति-स्थिति लक्षणक्रियाको आरम्भ करनेवाले जीव व पुद्गल लोकमें सर्वत्र पाये जाते हैं, अतः यह जाना जाता है कि उनके उपकारक कारणोंको भी सर्वगत ही होना चाहिए। क्योंकि उनके सर्वगत न होनेपर उनकी सर्वत्र वृत्ति होना सम्भव नहीं है।

प्र.सा./त.प्र./१३६ धर्माधर्मौ सर्वत्रलोके तन्निमित्तगमनस्थानानां जीव-पुद्गलानां लोकाद्बहिस्तदेकदेशे च गमनस्थानासंभवात्। =धर्म और अधर्म द्रव्य सर्वत्र लोकमें है, क्योंकि उनके निमित्तसे जिनकी गति और स्थिति होती है, ऐसे जीव और पुद्गलोंकी गति या स्थिति लोकसे बाहर नहीं होती, और न लोकके एकदेशमें होती है।

७. इन दोनोंसे ही लोक व अलोकके विभागकी व्यवस्था है

पं.का./मू./८७ जादो अलोगलोगो जेसिं सब्भावदो य गमणठिदी। =जीव व पुद्गलकी गति, स्थिति तथा अलोक और लोकका विभाग उन दो द्रव्योंके सद्भावसे होता है।

स.सि./५/१२/२७८/३ लोकालोकविभागश्च धर्माधर्मास्तिकायसद्भावा-सद्भावाद्विज्ञेयः। असति हि तस्मिन्धर्मास्तिकाये जीवपुद्गलानां गतिनियमहेतुत्वभावाद्विभागो न स्यात्। असति चाधर्मास्तिकाये स्थितेराश्रयनिमित्ताभावात् स्थितेरभावो लोकालोकविभागाभावो वा स्यात्। तस्मादुभयसद्भावासद्भावाल्लोकालोकविभागसिद्धिः। =यह लोकालोकका विभाग धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षासे जानना चाहिए। अर्थात् धर्मा-स्तिकाय और अधर्मास्तिकाय जहाँ तक पाये जाते हैं, वह लोका-काश है और इससे बाहर अलोकाकाश है, यदि धर्मास्तिकायका सद्भाव न माना जाये तो जीव और पुद्गलोंकी गतिके नियमका हेतु न रहनेसे लोकालोकका विभाग नहीं बनता। उसी प्रकार यदि अधर्मास्तिकायका सद्भाव न माना जाये तो स्थितिका निमित्त न रहनेसे जीव और पुद्गलोंकी स्थितिका अभाव होता है, जिससे लोकालोकका विभाग नहीं बनता। इसलिए इन दोनोंके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा लोकालोकके विभागकी सिद्धि होती है। (स.सि./१०/८/४७१/४); (रा.वा./५/१/२१/४३५/३); (न.च.वृ./१३५)

२. दोनोंके लक्षण व गुण गतिस्थितिहेतुत्व

१. दोनोंके लक्षण व विशेष गुण

प्र.सा./मू./१३३ आगासस्सवगाहो धम्मदव्वस्स गमणहेदुत्तं। धम्मेदर-दव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा। =…धर्म द्रव्यका गमनहेतुत्व और अधर्म द्रव्यका गुण स्थान कारणता है। (नि.सा./मू./३०); (पं.का./मू./८४-८६), (त.सू./५/१७); (ध./१५/३३/६); (गो.जी./मू./६०५/१०६०), (नि.सा./ता.वृ./९)

आ. प./२ धर्मद्रव्ये गतिहेतुत्वममूर्तत्वमचेतनत्वमेते त्रयो गुणाः। अधर्मद्रव्ये स्थितिहेतुत्वममूर्तत्वमचेतनत्वमिति। =धर्मद्रव्यमें गतिहेतुत्व, अमूर्तत्व व अचेतनत्व ये तीन गुण हैं और अधर्म द्रव्यमें स्थितिहेतुत्व, अमूर्तत्व व अचेतनत्व ये तीन गुण हैं। नोट :—इनके अतिरिक्त अस्तित्वादि १० सामान्य गुण या स्वभाव होते हैं। —(दे० गुण/३)

२. दोनोंका उदासीन निमित्तपना

पं.का./मू./८५-८६ उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहकरं हवदि लोए। तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणाहि।८५। जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं। ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव।८६। =जिस प्रकार जगत्‌में पानी मछलियोंको गमनमें अनुग्रह करता है, उसी प्रकार धर्मद्रव्य जीव पुद्गलोंको गममें अनुग्रह करता है ऐसा जानो।८५। जिस प्रकार धर्म द्रव्य है उसी प्रकारका अधर्म नामका द्रव्य भी है, परन्तु वह स्थिति क्रियायुक्त जीव पुद्गलोंको पृथिवीकी भाँति (उदासीन) कारणभूत है।

स.सि./५/१७/२८२/५ गतिपरिणामिनां जीवपुद्गलानां गत्युपग्रहे कर्तव्ये धर्मास्तिकायः साधारणाश्रयो जलवन्मत्स्यगमने। तथा स्थितिपरिणामिनां जीवपुद्गलानां स्थित्युपग्रहे कर्तव्ये अधर्मास्तिकायः साधारणाश्रयः पृथिवीधातुरिवाश्वादिस्थिताविति। =जिस प्रकार मछलीके गमनमें जल साधारण निमित्त है, उसी प्रकार गमन करते हुए जीव और पुद्गलोंके गमनमें धर्मास्तिकाय साधारण निमित्त है। तथा जिस प्रकार घोड़ा आदिके ठहरनेमें पृथिवी साधारण निमित्त है (या पथिकको ठहरनेके लिए वृक्षकी छाया साधारण निमित्त है द्र.स.) उसी प्रकार ठहरनेवाले जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें अधर्मास्तिकाय साधारण निमित्त है। (रा.वा./५/१/१९-२०/४३३/३०); (द्र.सं./मू./१७-१८); (गो.जी./जी.प्र./६०५/१०६०/३); (विशेष दे० कारण/III/२/२)

३. धर्माधर्म दोनोंकी कथंचित् प्रधानता

भ.आ./मू./२१३४/१८३५ धम्माभावेण दु लोगग्गे पडिहम्मदे अलोगेण। गदिमुवकुणदि हु धम्मो जीवाणं पोग्गलाणं।२१३४। =धर्मास्तिकायका अभाव होनेके कारण सिद्धभगवान् लोकसे ऊपर नहीं जाते। इसलिए धर्मद्रव्य ही सर्वदा जीव पुद्गलकी गतिको करता है। (नि.सा./मू./१८४); (त.सू./१०/८)

भ.आ./मू./२१३६/१८३८ कालमणंतमधम्मोपग्गहिदो ठादि गयणमोगाढे। सो उवकारो इट्ठो अठिदि समावेण जीवाणं।२१३६। =अधर्म द्रव्यके निमित्तसे ही सिद्धभगवान् लोकशिखरपर अनन्तकाल निश्चल ठहरते हैं। इसलिए अधर्म ही सर्वदा जीव व पुद्गलकी स्थितिके कर्ता है।

स.सि./१०/८/४७१/२ आह—यदि मुक्त ऊर्ध्वगतिस्वभावो लोकान्तादूर्ध्वमपि कस्मान्नोत्पततीत्यत्रोच्यते—गत्युपग्रहकारणभूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभाव.। तदभावे च लोकालोकविभागाभावः प्रसज्यते। =प्रश्न—यदि मुक्त जीव ऊर्ध्वगति स्वभाववाला है तो लोकान्तसे ऊपर भी किस कारणसे गमन नहीं करता है? उत्तर—गतिरूप उपकारका कारणभूत धर्मास्तिकाय लोकान्तके ऊपर नहीं है, इसलिए अलोकमें गमन नहीं होता। और यदि अलोकमें गमन माना जाता है तो लोकालोकके विभागका अभाव प्राप्त होता है। (दे० धर्माधर्म/१/७); (रा.वा./१०/८/१/६४६/६); (ध.१३/५,५,२६/२२१/३); (त.सा./८/४४)

पं.का./त.प्र./८७ तत्र जीवपुद्गलौ स्वरसत एव गतितत्पूर्वस्थितिपरिणामापन्नौ। तयोर्यदि गतिपरिणामं तत्पूर्वस्थितिपरिणामं वा स्वयमनुभवतोर्बहिरङ्गहेतू धर्माधर्मौ न भवेताम्, तदा तयोर्निरर्गलगतिस्थितिपरिणामत्वादलोकेऽपि वृत्तिः केन वार्यते। ततो न लोकालोकविभागः सिध्येत। =जीव व पुद्गल स्वभावसे ही गति परिणामको तथा गतिपूर्वक स्थिति परिणामको प्राप्त होते हैं। यदि गति परिणाम और गतिपूर्वक स्थिति परिणामका स्वयं अनुभव करनेवाले उन जीव पुद्गलको बहिरंगहेतु धर्म और अधर्म न हों, तो जीव पुद्गलके निरर्गल गतिपरिणाम और स्थितिपरिणाम होनेसे, अलोकमें भी उनका होना किससे निवारा जा सकता है। इसलिए लोक और अलोकका विभाग सिद्ध नहीं होता। (पं.का./त.प्र./९२). (दे० धर्माधर्म/३/५)

३. धर्माधर्म द्रव्योंकी सिद्धि

१. दोनोंमें नित्य परिणमन होनेका निर्देश

पं.का./मू./८४,८६ अगुरुलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं। गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं।८४। जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं···।८६। =वह (धर्मास्तिकाय) अनन्त ऐसे जो अगुरुलघुगुण उन रूप सदैव परिणमित होता है। नित्य है, गतिक्रियायुक्त द्रव्योंको क्रियामें निमित्तभूत है और स्वयं अकार्य है। जैसा धर्मद्रव्य होता है वैसा ही अधर्मद्रव्य होता है। (गो.जी./मू./५६९/१०१५)

२. परस्परमें विरोध विषयक शंकाका निरास

स.सि./५/१७/२८३/६ तुल्यबलत्वात्तयोर्गतिस्थितिप्रतिबन्ध इति चेत्। न, अप्रेरकत्वात्। =प्रश्न—धर्म और अधर्म ये दोनों द्रव्यतुल्य बलवाले हैं, अतः गतिसे स्थितिका और स्थितिसे गतिका प्रतिबन्ध होना चाहिए? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ये अप्रेरक हैं। (विशेष दे० कारण/III/२/२)

३. प्रत्यक्ष न होने सम्बन्धी शंकाका निरास

स.सि./५/१७/२८३/६ अनुपलब्धेर्न तौ स्तः खरविषाणवदिति चेत्। न; सर्वप्रतिवादिनः प्रत्यक्षाप्रत्यक्षानर्थानभिवाञ्छन्ति। अस्मान्प्रति हेतोरसिद्धेश्च। सर्वज्ञेन निरतिशयप्रत्यक्षज्ञानचक्षुषा धर्मादयः सर्वे उपलभ्यन्ते। तदुपदेशाच्च श्रुतज्ञानिभिरपि। =प्रश्न—धर्म और अधर्म द्रव्य नहीं हैं, क्योंकि, उनकी उपलब्धि नहीं होती, जैसे गधेके सींग? उत्तर—नहीं, क्योंकि, इसमें सब वादियोंको विवाद नहीं है। जितने भी वादी हैं, वे प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकारके पदार्थोंको स्वीकार करते हैं। इसलिए इनका अभाव नहीं किया जा सकता। दूसरे हम जैनोंके प्रति 'अनुपलब्धि' हेतु असिद्ध है, क्योंकि जिनके सातिशय प्रत्यक्ष ज्ञानरूपी नेत्र विद्यमान है, ऐसे सर्वज्ञ देव सब धर्मादिक द्रव्योंको प्रत्यक्ष जानते हैं और उनके उपदेशसे श्रुतज्ञानी भी जानते हैं। (रा.वा./५/१७/२८-३०/४६४/१६)

४. दोनोंके अस्तित्वकी सिद्धिमें हेतु

स.सि./१०/८/४७१/४ तदभावे च लोकालोकविभागाभावः प्रसज्यते। =१. उनका अभाव माननेपर लोकालोकके विभागके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है।—(विशेष दे० धर्माधर्म/१/७)

प्र.सा./त.प्र./१३३ तथैकवारमेव गतिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामालोकाद्गमनहेतुत्वमप्रदेशत्वात्कालपुद्गलयोः समुद्घातान्यत्र लोकासंख्येयभागमात्रत्वाज्जीवस्य लोकालोकसीम्नोऽचलितत्वादाकाशस्य विरुद्धकार्यहेतुत्वादधर्मस्यासंभवाद्धर्ममधिगमयति। तथैकवारमेव स्थितिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामालोकात्स्थानहेतुत्वम्···अधर्ममधिगमयति। =२. एक ही कालमें गतिपरिणत समस्त जीव-पुद्गलोंको लोकतक गमनका हेतुत्व धर्मको बतलाता है, क्योंकि काल

और पुद्गल अप्रदेशी हैं, इसलिए उनके वह सम्भव नहीं है; जीव द्रव्य समुद्घातको छोड़कर अन्यत्र लोकके असंख्यातवें भाग मात्र है, इसलिए उसके वह सम्भव नहीं है। लोक अलोककी सीमा अचलित होनेसे आकाशके वह सम्भव नहीं है और विरुद्ध कार्यका हेतु होनेसे अधर्मके वह सम्भव नहीं है। इसी प्रकार एक ही कालमें स्थिति-परिणत समस्त जीव-पुद्गलोंको लोकतक स्थितिका हेतुत्व अधर्म द्रव्यको बतलाता है। (हेतु उपरोक्तवत् ही है) (विशेष दे० धर्माधर्म/१/६)

५. आकाशके गति हेतुत्वका निरास

पं का /मू./९२-९५ आगासं अवगासं गमणट्ठिदिकारणेहिं देदि जदि। उड्ढंगदिप्पधाणा सिद्धा चिट्ठन्ति किध तत्थ।९२। जम्हा उवरिट्ठाणं सिद्धाणं जिणवरेहि पण्णत्तं। तम्हा गमणट्ठाणं आयासे जाण णत्थि त्ति।९३। जदि हवदि गमणहेदू आगासं ठाणकारणं तेसिं। पसजदि अलोगहाणी लोगस्स च अंतपरिवड्ढी।९४। तम्हा धम्माधम्मा गमणट्ठिदिकारणाणि णागासं। इदि जिणवरेहिं भणिदं लोगसहावं सुणंताणं।९५। —१. यदि आकाश ही अवकाश हेतुकी भाँति गतिस्थिति हेतु भी हो तो ऊर्ध्वगतिप्रधान सिद्ध उसमें (लोकमें) क्यों स्थित हो। (आगे क्यों गमन न करें) ।९२। क्योंकि जिनवरोंने सिद्धोंकी स्थिति लोक शिखरपर कही है, इसलिए गति स्थिति (हेतुत्व) आकाशमें नहीं होता, ऐसा जानो ।९३। २. यदि आकाश जीव व पुद्गलोंको गतिहेतु और स्थितिहेतु हो तो अलोककी हानिका और लोकके अन्तकी वृद्धिका प्रसंग आये ।९४। इसलिए गति और स्थितिके कारण धर्म और अधर्म हैं, आकाश नहीं है, ऐसा लोकस्वभावके श्रोताओंसे जिनवरोंने कहा है। (और भी दे० धर्माधर्म/१/७) (रा.वा./५/१७/२१/४६२/३१)

स.सि./५/१७/२८३/१ आह धर्माधर्मयोर्य उपकारः स आकाशस्य युक्तः, सर्वगतत्वादिति चेत्। तदयुक्तम्; तस्यान्योपकारसद्भावात्। सर्वेषां धर्मादीनां द्रव्याणामवगाहनं तत्प्रयोजनम्। एकस्यानेकप्रयोजनकल्पनायां लोकालोकविभागाभावः। —प्रश्न—३. धर्म और अधर्म द्रव्यका जो उपकार है, उसे आकाशका मान लेना युक्त है, क्योंकि आकाश सर्वगत है? उत्तर—यह कहना युक्त नहीं है; क्योंकि, आकाशका अन्य उपकार है। सब धर्मादिक द्रव्योंको अवगाहन देना आकाशका प्रयोजन है। यदि एक द्रव्यके अनेक प्रयोजन माने जाते है तो लोकालोकके विभागका अभाव प्राप्त होता है। (रा वा./५/१७/२०/४६२/२३)

रा. वा./५/१७/२०-२१/४६२/२६ न चान्यस्य धर्मोऽन्यस्य भवितुमर्हति। यदि स्यात्, अप्तेजोगुणा द्रवदहनादयः पृथिव्या एव कल्प्यन्ताम्। किं च ...यथा अनिमिषस्य मज्या जलोपग्रहाद्भवति, जलाभावे च भुवि न भवति सत्यप्याकाशे। यद्याकाशोपग्रहात् मीनस्य गतिर्भवेत् भुवि अपि भवेत्। तथा गतिस्थितिपरिणामिनाम् आत्मपुद्गलानां धर्मोऽधर्मोपग्रहात् गतिस्थिती भवतो नाकाशोपग्रहात्। —४. अन्य द्रव्यका धर्म अन्य द्रव्यका नहीं हो सकता, क्योंकि, ऐसा माननेसे तो जल और अग्निके द्रवता और उष्णतागुण पृथिवीके भी मान लेने चाहिए। (रा. वा /५/१७/२३/४६२/६) (पं.का/ता. वृ./२४/५१/४)। ५. जिस प्रकार मछलीकी गति जलमें होती है, जलके अभावमें पृथिवीपर नहीं होती, यद्यपि आकाश विद्यमान है। इसी प्रकार आकाशके रहनेपर भी धर्माधर्मके होनेपर ही जीव व पुद्गलकी गति और स्थिति होती है। यदि आकाशको निमित्त माना जाये तो मछलीकी गति पृथिवी पर भी होनी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए धर्म व अधर्म ही गतिस्थितिमें निमित्त हैं आकाश नहीं।

६. भूमि जल आदिके गतिहेतुत्वका निरास

स. सि./५/१७/२८३/३ भूमिजलादीन्येव तत्प्रयोजनसमर्थानि नार्थो धर्माधर्माभ्यामिति चेत्। न; साधारणाश्रय इति विशिष्योक्तत्वात्। अनेककारणसाध्यत्वाच्चैकस्य कार्यस्य। —प्रश्न—१. धर्म अधर्म द्रव्यके जो प्रयोजन हैं, पृथिवी व जल आदिक ही उनके करनेमें समर्थ हैं, अतः धर्म और अधर्म द्रव्यका मानना ठीक नहीं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, धर्म और अधर्म द्रव्य गति और स्थितिके साधारण कारण हैं, और यह (प्रश्न) विशेषरूपसे कहा है। (रा. वा./५/१७/२२/४६३/१)। २. तथा एक कार्य अनेक कारणोंसे होता है इसलिए धर्म अधर्म द्रव्यको मानना युक्त है।

रा. वा./५/१७/२७/४६४/८ यथा नायमेकान्तः—सर्वश्चक्षुष्मान् बाह्यप्रकाशोपग्रहाद् रूपं गृह्णातीति। यस्माद् द्वीपमार्जारादयः...विनापि बाह्यप्रदीपाद्युपग्रहाद्रूपग्रहणसमर्थाः,...यथा वा नायमेकान्तः सर्व एव गतिमन्तो यष्ट्याद्युपग्रहात् गतिमारभन्ते न वेति,...तथा नायमेकान्तः—सर्वेषामात्मपुद्गलानां सर्वे बाह्योपग्रहहेतवः सन्तीति, किन्तु केषांचित् पतत्त्रिप्रभृतीनां धर्माधर्मावेव, अपरेषां जलादयोऽपीत्यनेकान्तः। —३. जैसे यह कोई एकान्तिक नियम नहीं है कि सभी आँखवालोंको रूप ग्रहण करनेके लिए बाह्य प्रकाशका आश्रय हो ही, क्योंकि व्याघ्र बिल्लो आदिको बाह्य प्रकाशकी आवश्यकता नहीं भी रहती। जैसे यह कोई नियम नहीं कि सभी चलनेवाले लाठीका सहारा लेते ही हों। उसी प्रकार यह कोई नियम नहीं कि सभी जीव और पुद्गलोंको सर्वबाह्य पदार्थ निमित्त हो हों, किन्तु पक्षी आदिकोंको धर्म व अधर्म ही निमित्त है और किन्हीं अन्यको धर्म व अधर्मके साथ जल आदिक भी निमित्त है, ऐसा अनेकान्त है।

७ अमूर्तिकरूप हेतुका निरास

रा. वा./५/१७/४०-४१/४६६/३ अमूर्तत्वाद्गतिस्थितिनिमित्तत्वानुपपत्तिरिति चेत्। न; दृष्टान्ताभावात्।...न हि दृष्टान्तोऽस्ति येनामूर्तत्वात् गतिस्थितिहेतुत्वं व्यावर्तेत। किं च—आकाशप्रधानविज्ञानादिवत्तत्सिद्धेः।...यथा वा अपूर्वाख्यो धर्मः क्रियया अभिव्यक्तः सन्नमूर्त्तोऽपि पुरुषस्योपकारी वर्तते, तथा धर्माधर्मयोरपि गतिस्थित्युपग्रहोऽवसेयः। —प्रश्न—अमूर्त होनेके कारण धर्म व अधर्ममें गति व स्थितिके निमित्तपनेकी उपपत्ति नहीं बनती? उत्तर—१. नहीं, क्योंकि, ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं जिससे कि अमूर्तत्वके कारण गति-स्थितिका अभाव किया जा सके। २. जिस प्रकार अमूर्त भी आकाश सब द्रव्योंको अवकाश देनेमें निमित्त होता है, जिस प्रकार अमूर्त भी सांख्यमतका प्रधान तत्त्व पुरुषके भोगका निमित्त होता है, जिस प्रकार अमूर्त भी बौद्धोंका विज्ञान नाम रूपकी उत्पत्तिका कारण है, जिस प्रकार अमूर्त भी मीमांसकोंका अदृष्ट पुरुषके उपभोगका का साधन है, उसी प्रकार अमूर्त भी धर्म और अधर्म गति और स्थितिमें साधारण निमित्त हो जाओ।

★ **निष्क्रिय होनेके हेतुका निरास**—दे० कारण/III/२,२।

★ **स्वभावसे गति स्थिति होनेका निरास**

—दे० काल/२/११।

धर्मामृत—आ० नयसेन (ई. ११२५) कृत १४ कथाओं का संग्रह।

धर्मास्तिकाय—दे० धर्माधर्म।

धर्मी—दे० पक्ष।

धर्मोत्तर—अर्चटका शिष्य एक बौद्ध-नैयायिक। समय—ई. श. ७ का अन्तिम भाग। कृतियाँ—१. न्यायबिन्दुकी टीका, २. प्रमाण-

परीक्षा, ३. अपोह प्रकरण, ४. परलोकसिद्धि, ५. क्षणभंगसिद्धि, ६. प्रमाणविनिश्चय टीका।

धवल—अपभ्रंश भाषाबद्ध हरिवंश पुराणके कर्ता एक कवि। समय—वि.श. १०-११। (हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास/२७। कामता प्रसाद) (ती./४/११६)।

धवल सेठ—कौशाम्बी नगरका एक सेठ था। सागरमें जहाज रुक गया तब एक मनुष्यको बलि देनेको तैयार हो गया। तब श्रीपाल- ने जहाज चलाया। मार्गमें चोरोंने उसे बाँध लिया। तब श्रीपाल- ने उसे छुड़ाया। इतने उपकारी उसी श्रीपालकी स्त्री रैनमंजूषा पर मोहित होकर उसे सागरमें धक्का दे दिया। एक देवने रैन मंजूषा- की रक्षा की और सेठको खूब मारा। पीछे श्रीपालका संयोग होने- पर उससे क्षमा माँगी। (श्रीपाल चरित्र)

धवला—आ. भूतबलि (ई १३६-१५६) कृत षट्खण्डागम ग्रन्थके प्रथम ५ खण्डों पर ७२००० श्लोकप्रमाण एक विस्तृत टीका है, जिसे आ. वीरसेन स्वामीने ई. ८१६ में लिखकर पूरी की। (दे०परिशिष्ट १)

धवलाचार्य—हरिवंशके कर्ता एक मुनि। समय—ई.श.११। (वरांग चरित्र/प्र.२१-२२/पं. खुशालचन्द)

धातकीखंड—मध्यलोकमें स्थित एक द्वीप है।

ति.प./४/२६०० उत्तरदेवकुरूसं खेत्तेसुं तत्थ धादईरुक्खा। चेट्ठंति य गुणणामो तेण पुढं धादईखंडो ।२६००। —धातकीखण्ड द्वीपके भीतर उत्तरकुरु और देवकुरु क्षेत्रोंमें धातकी वृक्ष स्थित हैं, इसी कारण इस द्वीपका 'धातकी खण्ड' यह सार्थक नाम है। (स.सि./३/३३/२२७/६), (रा.वा./३/३३/६/१९६/३) नोट—इस द्वीप सम्बन्धी विशेष (दे० लोक/४/२)।

धातु—शरीरमें धातु उपधातुओंका निर्देश—दे० औदारिक/१।

धात्री—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४। २. वस्तिका- का एक दोष—दे० वस्तिका।

धान्य रस—दे० रस।

धारणा—१. मतिज्ञान विषयक धारणाका लक्षण

ष.खं.१३/५,५/सूत्र ४०/२४३ धरणी धारणा ट्ठवणा कोट्ठा पदिट्ठा। —धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा ये एकार्थ नाम हैं।

स.सि./१/१५/१११/७ अवेतस्य कालान्तरेऽविस्मरणकारणं धारणा। यथा—सैवेयं बलाका पूर्वाह्ने यामहमद्राक्षमिति। —अवाय ज्ञानके द्वारा जानी गयी वस्तुका जिस (संस्कारके ध./१) कारणसे काला- न्तरमें विस्मरण नहीं होता उसे धारणा कहते हैं। (रा.वा.१/१५/४/६०/८); (ध.१/१,१,११५/३५४/४), (ध.६/१, ९-१,१४/१८/७); (ध.९/४, १,४५/१४४/७), (ध. १३/५,५,३३/२३३/४); (गो. जी./मू.३०९/६६५), (न्या.दी./२/§११/३२/७)

२. धारणा ईहा व अवायरूप नहीं है

ध.१३/५,५,३३/२३३/१ धारणापच्चओ किं ववसायसरूवो किं णिच्छय- सरूवो त्ति। पढमपक्खे धारणेहापच्चयाणमेयत्तं, भेदाभावादो। विदिए धारणावायपच्चयाणमेयत्तं, णिच्छयभावेण दोण्णं भेदाभावादो त्ति। ण एस दोसो, अवेदवत्थुलिंगग्गहणदुवारेण कालंतरे अविस्मरणहेदु- संस्कारजणणं विण्णाणं धारणेत्ति अब्भुवगमादो। —प्रश्न—धारणा ज्ञान क्या व्यवसायरूप है या क्या निश्चयस्वरूप है? प्रथमपक्षके स्वीकार करने पर धारणा और ईहा ज्ञान एक हो जाते हैं, क्योंकि उनमें कोई भेद नहीं रहता। दूसरे पक्षके स्वीकार करनेपर धारणा और अवाय ये दोनों ज्ञान एक हो जाते हैं, क्योंकि निश्चयभावकी अपेक्षा दोनोंमें कोई भेद नहीं है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि अवायके द्वारा वस्तुके लिंगको ग्रहण करके उसके द्वारा उसके द्वारा कालान्तरमें अविस्मरणके कारणभूत संस्कारको उत्पन्न करने- वाला विज्ञान धारणा है, ऐसा स्वीकार किया है।

३. धारणा अप्रमाण नहीं है

ध.१३/५,५,३३/२३३/५ ण चेदं गहिदग्गाहि त्ति अप्पमाणं, अविस्सरण- हेदुलिंगग्गाहिस्स गहिदगहणत्ताभावादो। —यह गृहीतग्राही होने- से अप्रमाण है, ऐसा नहीं माना जा सकता है; क्योंकि अविस्मरणके हेतुभूत लिंगको ग्रहण करनेवाला होनेसे यह गृहीतग्राही नहीं हो सकता।

४. ध्यान विषयक धारणाका लक्षण

म.पु./२१/२२७ धारणा श्रुतनिर्दिष्टबीजानामवधारणम्। —शास्त्रोंमें बत- लाये हुए बीजाक्षरोंका अवधारण करना धारणा है।

स.सा./ता.वृ./३०६/३८८/११ पञ्चनमस्कारप्रभृतिमन्त्रप्रतिमादिबहिर्द्रव्या- वलम्बनेन चित्तस्थिरीकरणं धारणा। —पंचनमस्कार आदि मन्त्र तथा प्रतिमा आदि बाह्य द्रव्योंके आलम्बनसे चित्तको स्थिर करना धारणा है।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

१. धारणाके ज्ञानपनेकी सिद्धि। —दे० ईहा/३।
२. धारणा व श्रुतज्ञानमें अन्तर। —दे० श्रुतज्ञान/I/३।
३. धारणाज्ञानको मतिज्ञान कहने सम्बन्धी शंका समाधान —दे० मतिज्ञान/३।
४. अवग्रह आदि तीनों ज्ञानोंकी उत्पत्तिका क्रम। —दे० मतिज्ञान/३
५. धारणा ज्ञानका जघन्य व उत्कृष्ट काल। —दे० ऋद्धि/२/३।
६. ध्यान योग्य पाँच धारणाओंका निर्देश। —दे० पिण्डस्थ।
७ आग्नेयी आदि धारणाओंका स्वरूप। —दे० वह वह नाम।

धारणी—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

धारा—सर्व धारा, वर्गधारा आदि अनेकों विकल्प। दे० गणित/II/५/२।

धारा चारण—एक ऋद्धि—दे० ऋद्धि/४/७।

धारा नगरी—वर्तमान 'धार'—(म.पु/प्र.४१/पं. पन्नालाल)

धारा वाहिक ज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/I/१।

धारिणी—एक औषध विद्या—दे० विद्या।

धीर—

नि.सा./ता.वृ./७३ निखिलघोरोपसर्गविजयोपार्जितधीरगुणगम्भीराः। —समस्त घोर उपसर्गोंपर विजय प्राप्त करते हैं, इसलिए धीर और गुणगम्भीर (वे आचार्य) होते हैं।

भा.पा./टी./४३/१५६/१२ ध्येयं प्रति धियं बुद्धिमीरयति प्रेरयतीति धीर इति व्युपदिश्यते। —ध्येयोंके प्रति जिनकी बुद्धि गमन करती है या प्रेरणा करती है उन्हें धीर कहते हैं।

धुवसेन—दे० ध्रुवसेन।

धूप दशमी व्रत—धूपदशमि वत धूप दशांग। खेवो जिन ठिग भाव अभंग। (यह व्रत श्वेताम्बर आम्नायमें प्रचलित है।) (व्रत- विधान संग्रह/पृ. १३०); (नवलसाहकृत वर्धमान पुराण)

धूमकेतु—१. एक ग्रह—दे० ग्रह। २. (ह.पु./४३/श्लोक) पूर्वभवमें वरपुरका राजा वीरसेन था।१६३। वर्तमान भवमें स्त्री वियोगके

कारण अज्ञानतप करके देव हुआ ।२२१। पूर्व वैरके कारण इसने प्रद्युम्नको चुराकर एक पर्वतकी शिलाके नीचे दबा दिया ।२२२।

धूम चारण—दे० ऋद्धि/४।

धूम दोष—१. आहारका एक दोष —दे० आहार/II/४ । २. वस्तिकाका एक दोष—दे० वस्तिका।

धूमप्रभा—

स.सि./३/१/२०३/८ धूमप्रभा सहचरिता भूमिर्धूमप्रभा । —जिस पृथिवीकी प्रभा धुआँके समान है वह भूमि धूमप्रभा है। (ति. प./२/२१), (रा.वा./३/१/३/१५६/१६)

ज. प./११/१२१ अवसेसा पुढवीओ बोद्धव्वा होंति पंकबहुलाओ। —रत्नप्रभाको छोड़कर (नरककी) शेष छः पृथिवियोंको पंक बहुल जानना चाहिए।

★ **इस पृथिवीका विस्तार** —दे० लोक ५।

★ **इसके अवस्थान नकशे**—दे० लोक/७।

धूलिकलशाभिषेक—दे० प्रतिष्ठा विधान ।

धूलिशाल—समवशरणका प्रथम कोट—दे० समवशरण ।

धृतराष्ट्र—(पा.पु./सर्ग/श्लोक) भीष्मके सौतेले भाई व्यासका पुत्र था। (७/११७)। इसके दुर्योधन आदि सौ कौरव पुत्र थे। (८/१८३-२०५)। मुनियोंसे भावी युद्धमें उन पुत्रोंकी मृत्यु जानकर दीक्षित हो गया। (१०/१२-१६)

धृति—दे० संस्कार/२।

धृति (देवी)—१. निषध पर्वतपर स्थित तिगिंछ ह्रद व धृति कूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक ५/४ २. रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी देवी। —दे० लोक/५/१३।

धृति भावना—दे० भावना/२।

धृतिषेण—श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार आप भद्रबाहु प्रथम (श्रुतकेवली) के पश्चात् सातवें ११ अंग १० पूर्वधारी थे। समय—वी.नि. २६४-२८२; (ई.पू. २६३-२४५)—दे० इतिहास/४/४।

धैवत—दे० स्वर।

धैर्या—भरत क्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी। —दे० मनुष्य/४।

ध्याता—धर्म व शुक्लध्यानोंको ध्यानेवाले योगीको ध्याता कहते हैं। उसीकी विशेषताओंका परिचय यहाँ दिया गया है।

१. प्रशस्त ध्यातामें ज्ञान सम्बन्धी नियम व स्पष्टीकरण

त.सू./९/३७ शुक्ले चाद्ये पूर्वविद: ।३७।

स.सि./९/३७/४५३/४ आद्ये शुक्लध्याने पूर्वविदो भवत. श्रुतकेवलिन इत्यर्थः। (नेतरस्य (रा.वा.)) चशब्देन धर्म्यमपि समुच्चीयते। —शुक्लध्यानके भेदोंमेंसे आदिके दो शुक्लध्यान (पृथक्त्व व एकत्व वितर्कवीचार) पूर्वविद अर्थात् श्रुतकेवलीके होते हैं अन्यके नहीं। सूत्रमें दिये गये 'च' शब्दसे धर्म्यध्यानका भी समुच्चय होता है। (अर्थात् शुक्लध्यान तो पूर्वविद्को ही होता है परन्तु धर्मध्यान पूर्वविद्को भी होता है और अल्पश्रुतको भी।) (रा.वा./९/३७/१/६३२/१०)

ध.१३/५,४,२६/६४/६ चउदसपुव्वहरो वा [दस] णवपुव्वहरो वा, णाणेण विणा अणवगय-णवपयत्थस्स झाणाणुववत्तीदो।...चोद्दस-दस-णवपुव्वेहि विणा थोवेण वि गंथेण णवपयत्थावगमोवलंभादो। ण, थोवेण गंथेण णिस्सेसमवगंतुं बीजबुद्धिमुणिणो मोत्तूण अण्णेसिमुवायाभावादो।...ण च दव्वसुदेण एत्थ अहियारो, पोग्गलवियारस्स जडस्स णाणोवलिंगभूदस्स सुदत्तविरोहादो। थोवदव्वसुदेण अवगयासेस-णवपयत्थाणं सिवभूदिआदिबीजबुद्धीणं ज्झाणाभावेण मोक्खाभावप्पसंगादो। थोवेण णाणेण जदि ज्झाणं होदि तो खवगसेढि-उवसमसेढिणमप्पाओग्गधम्मज्झाणं चेव होदि। चोद्दस-दस-णवपुव्वहरा पुण धम्मसुक्कज्झाणं दोण्णं पि सामित्तमुवणमंति, अविरोहादो। तेण तेसिं चेव एत्थ णिद्देसो कदो। —जो चौदह पूर्वोंको धारण करनेवाला होता है, वह ध्याता होता है, क्योंकि इतना ज्ञान हुए बिना, जिसने नौ पदार्थोंको भली प्रकार नहीं जाना है, उसके ध्यानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है? प्रश्न—चौदह, दस और नौ पूर्वोंके बिना स्तोकग्रन्थसे भी नौ पदार्थ विषयक ज्ञान देखा जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि स्तोक ग्रन्थसे बीजबुद्धि मुनि ही पूरा जान सकते हैं, उनके सिवा दूसरे मुनियोंको जाननेका कोई साधन नहीं है। (अर्थात् जो बीजबुद्धि नहीं हैं वे बिना श्रुतके पदार्थोंका ज्ञान करनेको समर्थ नहीं हैं) और द्रव्यश्रुतका यहाँ अधिकार नहीं है। क्योंकि ज्ञानके उपलिंगभूत पुद्गलके विकारस्वरूप जड़वस्तुको श्रुत (ज्ञान) माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—स्तोक द्रव्यश्रुतसे नौ पदार्थोंको पूरी तरह जानकर शिवभूति आदि बीजबुद्धि मुनियोंके ध्यान नहीं माननेसे मोक्षका अभाव प्राप्त होता है? उत्तर—स्तोक ज्ञानसे यदि ध्यान होता है तो वह क्षपक व उपशमश्रेणीके अयोग्य धर्मध्यान ही होता है (धवलाकार पृथक्त्व वितर्कवीचारको धर्मध्यान मानते हैं—दे० धर्मध्यान/२/४-५) परन्तु चौदह, दस और नौ पूर्वोंके धारी तो धर्म और शुक्ल दोनों ही ध्यानोंके स्वामी होते हैं। क्योंकि ऐसा माननेमें कोई विरोध नहीं आता। इसलिए उन्हींका यहाँ निर्देश किया गया है।

म.पु./२१/१०१-१०२ स चतुर्दशपूर्वज्ञो दशपूर्वधरोऽपि वा। नवपूर्वधरो वा स्याद् ध्याता सम्पूर्णलक्षण. ।१०१। श्रुतेन विकलेनापि स्याद् ध्याता सामग्रीं प्राप्य पुष्कलाम्। क्षपकोपशमश्रेण्यो. उत्कृष्टं ध्यानमृच्छति ।१०४। —यदि ध्यान करनेवाला मुनि चौदह पूर्वका, या दश पूर्वका, या नौ पूर्वका जाननेवाला हो तो वह ध्याता सम्पूर्ण लक्षणोंसे युक्त कहलाता है ।१०१। इसके सिवाय अल्पश्रुतज्ञानी अतिशय बुद्धिमान् और श्रेणीके पहले पहले धर्मध्यान धारण करनेवाला उत्कृष्ट मुनि भी उत्तम ध्याता कहलाता है ।१०२।

स.सा./ता.वृ./१०/२२/११ ननु तर्हि स्वसंवेदनज्ञानबलेनास्मिन् कालेऽपि श्रुतकेवली भवति। तन्न; यादृशं पूर्वपुरुषाणां शुक्लध्यानरूपं स्वसंवेदनज्ञानं तादृशमिदानीं नास्ति किन्तु धर्मध्यानयोग्यमस्तीति। —प्रश्न—स्वसंवेदनज्ञानके बलसे इस कालमें भी श्रुतकेवली होने चाहिए? उत्तर—नहीं, क्योंकि जिस प्रकारका शुक्लध्यान रूप स्वसंवेदन पूर्वपुरुषोंके होता था, उस प्रकारका इस कालमें नहीं होता। केवल धर्मध्यान योग्य होता है।

द्र.सं/टी./५७/२३२/६ यथोक्तं दशचतुर्दशपूर्वगतश्रुतज्ञानेन ध्यानं भवति तदप्युत्सर्गवचनम्। अपवादव्याख्यानेन पुनः पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकसारभूतश्रुतेनापि ध्यानं भवति। —तथा जो ऐसा कहा है, कि 'दश तथा चौदह पूर्वतक श्रुतज्ञानसे ध्यान होता है, वह उत्सर्ग वचन है। अपवाद व्याख्यानसे तो पाँच समिति और तीन गुप्तिको प्रतिपादन करनेवाले सारभूतश्रुतज्ञानसे भी ध्यान होता है। (पं.का./ता.वृ/१४६/२१२/९); (और भी दे० श्रुतकेवली)

२. प्रशस्त ध्यानसामान्य योग्य ध्याता

ध.१३/५,४,२६/६४/६ तत्थ उत्तमसंघडणो ओघबलो ओघसूरो चोद्दसपुव्वहरो वा [दस] णवपुव्वहरो वा। —जो उत्तम संहननवाला, निसर्गसे बलशाली और शूर, तथा चौदह या दस या नौ पूर्वको धारण करनेवाला होता है वह ध्याता है। (म.पु./२१/८५)

म.पु./२१/८६-८९ दारोरसारितदुर्ध्यानो दुर्लेश्या. परिवर्जयन् । लेश्याविशुद्धिमालम्ब्य भावयन्नप्रमत्तताम् ।८६। प्रज्ञापारमितो योगी ध्याता स्याद्धीबलान्वितः । सूत्रार्थालम्बनो धीरः सोढाशेषपरीषह. ।८७। अपि चोद्भूतसंवेग: प्राप्तनिर्वेदभावनः । वैराग्यभावनोत्कर्षात् पश्यन् भोगानतर्पकान् ।८८। सम्यग्ज्ञानभावनापास्तमिथ्याज्ञानतमोघनः । विशुद्धदर्शनापोढगाढमिथ्यात्वशल्यकः ।८९। =आर्त व रौद्र ध्यानोंसे दूर, अशुभ लेश्याओंसे रहित, लेश्याओंकी विशुद्धतासे अवलम्बित, अप्रमत्त अवस्थाकी भावना भानेवाला ।८६। बुद्धिके पारको प्राप्त, योगी, बुद्धिबलयुक्त, सूत्रार्थ अवलम्बी, धीर वीर, समस्त परीषहोंको सहनेवाला ।८७। संसारसे भयभीत, वैराग्य भावनाएँ भानेवाला, वैराग्यके कारण भोगोपभोगकी सामग्रीको अतृप्तिकर देखता हुआ ।८८। सम्यग्ज्ञानकी भावनासे मिथ्याज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारको नष्ट करनेवाला, तथा विशुद्ध सम्यग्दर्शन द्वारा मिथ्या शल्यको दूर भगानेवाला, मुनि ध्याता होता है ।८९। (दे० ध्याता/४ त. अनु.)

द्र सं./मू./५७ तवसुदवदवं चेदा झाणरह धुरंधरो हवे जम्हा । तम्हा तत्तिय णिरदा तल्लद्धीए सदा होह । =क्योंकि तप व्रत और श्रुतज्ञानका धारक आत्मा ध्यानरूपी रथकी धुराको धारण करनेवाला होता है, इस कारण हे भव्य पुरुषो ! तुम उस ध्यानकी प्राप्तिके लिए निरन्तर तप श्रुत और व्रतमें तत्पर होओ ।

पा.सा./१९७/२ ध्याता · गुप्तेन्द्रियश्च । =प्रशस्त ध्यानका ध्याता मन वचन कायको वशमें रखनेवाला होता है ।

ज्ञा./४/६ मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्ण शान्तचित्तो वशी स्थिर. । जिताक्ष' संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते ।६। =मुमुक्षु हो, संसारसे विरक्त हो, शान्तचित्त हो, मनको वश करनेवाला हो, शरीर व आसन जिसका स्थिर हो, जितेन्द्रिय हो, चित्त संवरयुक्त हो (विषयोंमें विकल न हो), धीर हो, अर्थात् उपसर्ग आनेपर न डिगे, ऐसे ध्याताका ही शास्त्रोंमें प्रशंसा की गयी है । (म पु /२१/९०-९५), (ज्ञा./२७/३)

३. ध्याता न होने योग्य व्यक्ति

ज्ञा./४/ श्लोक नं. केवल भावार्थ—जो मायाचारी हो ।३२। मुनि होकर भी जो परिग्रहधारी हो ।३३। ख्याति लाभ पूजाके व्यापारमें आसक्त हो ।३५। 'नौ सौ चूहे खाके बिल्ली हजको चली' इस उपाख्यानको सत्य करनेवाला हो ।४२। इन्द्रियोंका दास हो ।४३। विरागताको प्राप्त न हुआ हो ।४४। ऐसे साधुओंको ध्यानकी प्राप्ति नहीं होती ।

ज्ञा./४/६२ एते पण्डितमानिन शमदमस्वाध्यायचिन्तायुता', रागादिग्रहवञ्चिता यतिगुणप्रध्वंसतृष्णानना' । व्याकृष्टा विषयैर्मदै प्रमुदिता' शङ्काभिरङ्गीकृता, न ध्यान न विवेचनं न च तप कर्तुं वराका' क्षमा' ।६२। =जो पण्डित तो नहीं है, परन्तु अपनेको पण्डित मानते हैं, और शम, दम, स्वाध्यायसे रहित तथा रागद्वेषादि पिशाचोंसे वंचित हैं, एवं मुनिपनेके गुण नष्ट करके अपना मुंह काला करनेवाले हैं, विषयोंसे आकर्षित, मदोंसे प्रसन्न और शंका सन्देह शल्यादिसे ग्रस्त हों, ऐसे रंक पुरुष न ध्यान करनेको समर्थ है, न भेदज्ञान करनेको समर्थ हैं और न तप ही कर सकते हैं ।

दे० मंत्र—(मन्त्र यन्त्रादिकी सिद्धि द्वारा वशीकरण आदि कार्योंकी सिद्धि करनेवालोंको ध्यानकी सिद्धि नहीं होती)

दे० धर्मध्यान/२/३ (मिथ्यादृष्टियोंकोयथार्थ धर्म व शुक्लध्यान होना सम्भव नहीं है)

दे० अनुभव/५/५ (साधुको ही निश्चयध्यान सम्भव है गृहस्थको नहीं, क्योंकि प्रपंचग्रस्त होनेके कारण उसका मन सदा चंचल रहता है ।

४. धर्मध्यानके योग्य ध्याता

का.अ./मू./४७९ धम्मे एयग्गमणो जो णवि वेदेदि पंचहा विसयं । वेरग्गमओ णाणी धम्मज्झाणं हवे तस्स ।४७९। =जो ज्ञानी पुरुष धर्ममें एकाग्रमन रहता है, और इन्द्रियोंके विषयोंका अनुभव नहीं करता, उनसे सदा विरक्त रहता है, उसीके धर्मध्यान होता है । (दे० ध्याता/२ में ज्ञा./४/६)

त. अनु./४१-४५ तत्रासन्नीभवन्मुक्तिः किंचिदासाद्य कारणम् । विरक्त' कामभोगेभ्यस्त्यक्त-सर्वपरिग्रहः ।४१। अभ्येत्य सम्यगाचार्यं दीक्षां जैनेश्वरीं श्रित' । तपःसंयमसंपन्न' प्रमादरहिताशय' ।४२। सम्यग्निर्णीतजीवादिध्येयवस्तुव्यवस्थिति । आर्तरौद्रपरित्यागाल्लब्धचित्तप्रसत्तिक. ।४३। मुक्तलोकद्वयापेक्ष' सोढाऽशेषपरीषह' । अनुष्ठितक्रियायोगो ध्यानयोगे कृतोद्यमः ।४४। महासत्त्व. परित्यक्तदुर्लेश्याऽशुभभावना' । इतीदृग्लक्षणो ध्याता धर्मध्यानस्य संमत. ।४५। =धर्मध्यानका ध्याता इस प्रकारके लक्षणोंवाला माना गया है—जिसकी मुक्ति निकट आ रही हो, जो कोई भी कारण पाकर कामसेवा तथा इन्द्रियभोगोंसे विरक्त हो गया हो, जिसने समस्त परिग्रहका त्याग किया हो, जिसने आचार्यके पास जाकर भले प्रकार जैनेश्वरी दीक्षा धारण की हो, जो जैनधर्ममें दीक्षित होकर मुनि बना हो, जो तप और संयमसे सम्पन्न हो, जिसका आशय प्रमाद रहित हो, जिसने जीवादि ध्येय वस्तुकी व्यवस्थितिको भले प्रकार निर्णीत कर लिया हो, आर्त और रौद्र ध्यानोंके त्यागसे जिसने चित्तकी प्रसन्नता प्राप्त की हो, जो इस लोक और परलोक दोनोंकी अपेक्षासे रहित हो, जिसने सभी परिषहोंको सहन किया हो, जो क्रियायोगका अनुष्ठान किये हुए हो (सिद्धभक्ति आदि क्रियाओंके अनुष्ठानमें तत्पर हो ।) ध्यानयोगमें जिसने उद्यम किया हो (ध्यान लगानेका अभ्यास किया हो), जो महासामर्थ्यवान हो, और जिसने अशुभ लेश्याओं तथा बुरी भावनाओंका त्याग किया हो । (ध्याता/२/में म पु.)

और भी दे० धर्म्यध्यान/१/२ जिनाज्ञापर श्रद्धान करनेवाला, साधुका गुण कीर्तन करनेवाला, दान, श्रुत, शील, संयममें तत्पर, प्रसन्न चित्त, प्रेमी, शुभ योगी, शास्त्राभ्यासी, स्थिरचित्त, वैराग्य भावनामें भानेवाला ये सब धर्मध्यानीके बाह्य व अन्तरंग चिह्न है । शरीरकी नीरोगता, विषय लम्पटता व निष्ठुरताका अभाव, शुभ गन्ध, मलमूत्र अल्प होना, इत्यादि भी उसके बाह्य चिह्न है ।

दे० धर्मध्यान/१/३ वैराग्य, तत्त्वज्ञान, परिग्रह त्याग, परिषहजय, कषाय निग्रह आदि धर्मध्यानकी सामग्री है ।

५. शुक्लध्यान योग्य ध्याता

ध.१३/५,४,२६/गा.६७—७१/८२ अभयासंमोहविवेगविसग्गा तस्स होंति लिगाइं । लिंगिज्जइ जेहि मुणी सुक्कज्झाणेवगयचित्तो ।६७। चालिज्जइ बीहेइ व धीरो ण परीसहोवसग्गेहि । सुहुमेसु ण सम्मुज्झइ भावेसु ण देवमायासु ।६८। देह विचित्तं पेच्छइ अप्पाणं तह य सव्वसंजोए । देहोवहिवोसग्गं णिस्संगो सव्वदो कुणदि ।६९। ण कसायसमुत्थेहि वि बाहिज्जइ माणसेहि दुक्खेहि । ईसाविसायसोगादिएहि झाणोवगयचित्तो ।७०। सीयायवादिएहि मि सारीरेहिं बहुप्पयारेहिं । णो बाहिज्जइ साहू झेयम्मि मुणिच्चलो सता ।७१। =अभय, असंमोह, विवेक और विसर्ग ये शुक्लध्यानके लिंग हैं, जिनके द्वारा शुक्लध्यानको प्राप्त हुआ चित्तवाला मुनि पहिचाना जाता है ।६७। वह धीर परिषहों और उपसर्गोंसे न तो चलायमान होता है और न डरता है, तथा वह सूक्ष्म भावों व देवमायामें भी मुग्ध नहीं होता है ।६८। वह देहको अपनेसे भिन्न अनुभव करता है, इसी प्रकार सब तरहके संयोगोंसे अपनी आत्माको भी भिन्न अनुभव करता है, तथा निःसंग हुआ वह सब प्रकारसे देह व उपाधिका उत्सर्ग करता है ।६९। ध्यानमें अपने चित्तको लीन करनेवाला, वह कषायोंसे उत्पन्न हुए ईर्ष्या, विषाद और शोक आदि मानसिक दुःखोंसे भी नहीं बाँधा जाता है ।७०। ध्येयमें निश्चल हुआ वह साधु शीत व आतप आदि बहुत प्रकारकी बाधाओंके द्वारा भी नहीं बाँधा जाता है ।७१।

त.अनु./३५ वज्रसंहननोपेताः पूर्वश्रुतसमन्विताः । दध्युः शुक्लमिहातीताः श्रेण्यारोहणक्षमाः ।३५। —वज्रऋषभ संहननके धारक, पूर्वनामक श्रुतज्ञानसे संयुक्त और उपशम व क्षपक दोनों श्रेणियोंके आरोहण-में समर्थ, ऐसे अतीत महापुरुषोंने इस भूमण्डलपर शुक्लध्यानको ध्याया है।

६. ध्याताओंके उत्तम आदि भेद निर्देश

पं.का./ता.वृ./१७३/२५३/२६ तत्त्वानुशासनध्यानग्रन्थादौ कथितमार्गेण जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन त्रिधा ध्यातारो ध्यानानि च भवन्ति । तदपि कस्मात् । तत्रैवोक्तमास्ते द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपा ध्यानसामग्री जघन्यादिभेदेन त्रिधेति वचनात् । अथवातिसंक्षेपेण द्विधा ध्यातारो भवन्ति शुद्धात्मभावना प्रारम्भकाः पुरुषाः सूक्ष्मसविकल्पावस्थायां प्रारब्धयोगिनो भण्यन्ते, निर्विकल्पशुद्धात्मावस्थायां पुनर्निष्पन्न-योगिन इति संक्षेपेणाध्यात्मभाषया ध्यातृध्यानध्येयानि···ज्ञातव्या. । —तत्त्वानुशासन नामक ध्यानविषयक ग्रन्थके आदिमें (दे० ध्यान/३/१) कहे अनुसार ध्याता व ध्यान जघन्य मध्यम व उत्कृष्टके भेदसे तीन-तीन प्रकारके हैं क्योंकि वहाँ ही उनका द्रव्य क्षेत्र काल व भावरूप सामग्रीकी अपेक्षा तीन-तीन प्रकारका बताया गया है। अथवा अतिसंक्षेपसे कहें तो ध्याता दो प्रकारका है—प्रारब्धयोगी और निष्पन्नयोगी। शुद्धात्मभावनाको प्रारम्भ करनेवाले पुरुष सूक्ष्म सविकल्पावस्थामें प्रारब्धयोगी कहे जाते हैं। और निर्विकल्प शुद्धात्मावस्थामें निष्पन्नयोगी कहे जाते हैं। इस प्रकार संक्षेपसे अध्यात्मभाषामें ध्याता ध्यान व ध्येय जानने चाहिए।

७. अन्य सम्बन्धित विषय

१. पृथक्त्व एकत्व वितर्क विचार आदि शुक्लध्यानोंके ध्याता। —दे० शुक्लध्यान।

२. धर्म व शुक्लध्यानके ध्याताओंमें संहनन सम्बन्धी चर्चा। —दे० संहनन।

३. चारों ध्यानोंके ध्याताओंमें भाव व लेश्या आदि। —दे० वह वह नाम।

४. चारों ध्यानोंका गुणस्थानोंकी अपेक्षा स्वामित्व। —दे० वह वह नाम।

५. आर्त रौद्र ध्यानोंके बाह्य चिह्न। —दे० वह वह नाम।

ध्यान—

एकाग्रताका नाम ध्यान है। अर्थात् व्यक्ति जिस समय जिस भाव-का चिन्तवन करता है, उस समय वह उस भावके साथ तन्मय होता है। इसलिए जिस किसी भी देवता या मन्त्र, या अर्हन्त आदिका ध्याता है, उस समय वह अपनेको वह ही प्रतीत होता है। इसीलिए अनेक प्रकारके देवताओंको ध्याकर साधक जन अनेक प्रकारके ऐहिक फलोंकी प्राप्ति कर लेते है। परन्तु वे सब ध्यान आर्त व रौद्र होनेके कारण अप्रशस्त है। धर्म शुक्ल ध्यान द्वारा शुद्धात्माका ध्यान करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, अतः वे प्रशस्त है। ध्यानके प्रकरणमें चार अधिकार होते हैं—ध्यान, ध्याता, ध्येय व ध्यानफल। चारोंका पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया है। ध्यानके अनेकों भेद हैं, सबका पृथक्-पृथक् निर्देश किया है।

४	ध्यानकी तन्मयता सम्बन्धी सिद्धान्त
१	ध्याता अपने ध्यानभावसे तन्मय होता है।
२	जैसा परिणमन करता है उस समय आत्मा वैसा ही होता है।
३	आत्मा अपने ध्येयके साथ समरस हो जाता है।
४	अर्हतको ध्याता हुआ स्वयं अर्हत होता है।
५	गरुड आदि तत्त्वोंको ध्याता हुआ स्वयं गरुड आदि रूप होता है।
*	गरुड आदि तत्त्वोंका स्वरूप। —दे० वह वह नाम।
*	जिस देव या शक्तिको ध्याता है उसी रूप हो जाता है। —दे० ध्यान/२/४.५।
६	अन्य ध्येय भी आत्मामें आलेखितवत् प्रतीत होते हैं।

१. ध्यानके भेद व लक्षण

१. ध्यान सामान्यका लक्षण

१. ध्यानका लक्षण-एकाग्र चिन्ता निरोध

त.सू./९/२७ उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमाऽन्तर्मुहूर्तात् ।२७। —उत्तम संहननवालेका एक विषयमें चित्तवृत्तिका रोकना ध्यान है, जो अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है। (म.पु./२१/८), (चा सा./१६६/६), (प्र.सा./त.प्र./१०२), (त.अनु./५६)

स.सि./९/२०/४३९/८ चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम्। —चित्तके विक्षेपका त्याग करना ध्यान है।

त.अनु./५९ एकाग्रग्रहणं चात्र वैयग्र्यविनिवृत्तये। व्यग्रं हि ज्ञानमेव स्याद् ध्यानमेकाग्रमुच्यते ।५९। —इस ध्यानके लक्षणमें जो एकाग्रका ग्रहण है वह व्यग्रताकी विनिवृत्तिके लिए है। ज्ञान ही वस्तुतः व्यग्र होता है, ध्यान नहीं। ध्यानको तो एकाग्र कहा जाता है।

पं.ध./उ./८४२ यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित्। अस्ति तद्ध्यानमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमोऽर्थतः ।८४२। —किसी एक विषयमें निरन्तर रूपसे ज्ञानका रहना ध्यान है, और वह वास्तवमें क्रमरूप ही है अक्रम नहीं।

२. ध्यानका निश्चय लक्षण-आत्मस्थित आत्मा

पं.का./मू./१४६ जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो। तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी। —जिसे मोह और रागद्वेष नहीं हैं तथा मन वचन कायरूप योगोंके प्रति उपेक्षा है, उसे शुभाशुभको जलानेवाली ध्यानमय अग्नि प्रगट होती है।

त.अनु./७४ स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः। षट्कारकमयस्तस्माद्ध्यानमात्मैव निश्चयात् ।७४। —चूँकि आत्मा अपने आत्माको, अपने आत्मामें, अपने आत्माके द्वारा, अपने आत्माके लिए, अपने-अपने आत्महेतुसे ध्याता है, इसलिए कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ऐसे षट्कारकरूप परिणत आत्मा ही निश्चयनयकी दृष्टिसे ध्यानस्वरूप है।

अन.ध./१/११४/११७ इष्टानिष्टार्थमोहादिच्छेदाच्चेतः स्थिरं ततः। ध्यानं रत्नत्रयं तस्मान्मोक्षस्ततः सुखम् ।११४। —इष्टानिष्ट बुद्धिके मूल मोहका छेद हो जानेसे चित्त स्थिर हो जाता है। उस चित्तकी स्थिरताको ध्यान कहते हैं।

२. एकाग्र चिन्ता निरोध लक्षणके विषयमें शंका

स.सि./९/२७/४४५/१ चिन्ताया निरोधो यदि ध्यानं, निरोधश्चाभावः, तेन ध्यानमसत्खरविषाणवत्स्यात्। नैष दोषः अन्यचिन्तानिवृत्त्यपेक्षयाऽसदिति चोच्यते, स्वविषयाकारप्रवृत्तेः सदिति च; अभावस्य भावान्तरत्वाद्धेत्वङ्गत्वादिभिरभावस्य वस्तुधर्मत्वसिद्धेश्च। अथवा नायं भावसाधनः, निरोधनं निरोध इति। किं तर्हि। कर्मसाधनः 'निरुध्यत इति निरोधः'। चिन्ता चासौ निरोधश्च चिन्तानिरोध इति। एतदुक्तं भवति—ज्ञानमेवापरिस्पन्दाग्निशिखावदवभासमानं ध्यानमिति। —प्रश्न—यदि चिन्ताके निरोधका नाम ध्यान है और निरोध अभावस्वरूप होता है, इसलिए गधेके सींगके समान ध्यान असत ठहरता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अन्य चिन्ताकी निवृत्तिकी अपेक्षा वह असत् कहा जाता है और अपने विषयरूप प्रवृत्ति होनेके कारण वह सत् कहा जाता है। क्योंकि अभाव भावान्तर स्वभाव होता है (तुच्छाभाव नहीं)। अभाव वस्तुका धर्म है यह बात सपक्ष सत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति इत्यादि हेतुके अंग आदिके द्वारा सिद्ध होती है (दे० सप्तभंगी)। अथवा यह निरोध शब्द 'निरोधनं निरोधः' इस प्रकार भावसाधन नहीं है, तो क्या है? 'निरुध्यत निरोधः'—जो रोका जाता है, इस प्रकार कर्मसाधन है। चिन्ताका जो निरोध वह चिन्तानिरोध है। आशय यह है कि निश्चल अग्निशिखाके समान निश्चल रूपसे अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है। (रा.वा/९/२७/१६-१७/६२६/२४), (विशेष दे० एकाग्र चिन्ता निरोध)

दे० अनुभव/२/३ अन्य ध्येयोंसे शून्य होता हुआ भी स्वसंवेदनकी अपेक्षा शून्य नहीं है।

३. ध्यानके भेद

१. प्रशस्त व अप्रशस्तकी अपेक्षा सामान्य भेद

चा सा./१६७/२ तदेतच्चतुरङ्गध्यानमप्रशस्त-प्रशस्तभेदेन द्विविधं। —वह (ध्याता, ध्यान, ध्येय व ध्यानफल रूप) चार अंगवाला ध्यान अप्रशस्त और प्रशस्तके भेदसे दो प्रकारका है। (म. पु/२१/२७), (ज्ञा/२५/१७)

ज्ञा./३/२७-२८ संक्षेपरुचिभिः सूत्रात्तन्निरूप्यात्मनिश्चयात्। त्रिधैवाभिमतं कैश्चिद्यतो जीवाशयस्त्रिधा ।२७। तत्र पुण्याशयः पूर्वस्तद्विपक्षोऽशुभाशयः। शुद्धोपयोगसंज्ञो यः स तृतीयः प्रकीर्तितः ।२८। —कितने ही संक्षेपरुचिवालोंने तीन प्रकारका ध्यान माना है, क्योंकि, जीवका आशय तीन प्रकारका ही होता है ।२७। उन तीनोंमें प्रथम तो पुण्यरूप शुभ आशय है और दूसरा उसका विपक्षी पापरूप आशय है और तीसरा शुद्धोपयोग नामा आशय है।

२. आर्त रौद्रादि चार भेद तथा इनका अप्रशस्त व प्रशस्तमें अन्तर्भाव—

त. सू./९/२८ आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ।२८। —ध्यान चार प्रकारका है—आर्त रौद्र धर्म्य और शुक्ल। (भ. आ. मू/१६९९-१७००) (म. पु./२१/२८); (ज्ञा. सा/१०); (त. अनु/३४); (अन. ध./७/१०३/७२७)।

मू. आ./३९४ अट्टं च रुद्दसहियं दोण्णिवि झाणाणि अप्पसत्थाणि। धम्मं सुक्कं च दुवे पसत्थझाणाणि णेयाणि ।३९४। —आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दो तो अप्रशस्त हैं और धर्म्यशुक्ल ये दो ध्यान प्रशस्त हैं। (रा. वा./९/२८/४/६२७/३३); (ध. १३/५.४.२६/७०/११ में केवल प्रशस्तध्यानके ही दो भेदोंका निर्देश है); (म. पु./२१/२७); (चा. सा./१६७/३ तथा १७२/२) (ज्ञा सा./२५/२०) (ज्ञा./२५/२०)

४. अप्रशस्त प्रशस्त व शुद्ध ध्यानोंके लक्षण

मू. आ./६८१-६८२ परिवारइड्ढिसक्कारपूयणं असणपाण हेऊ वा। लयणसयणासणं भत्तपाणकामट्ठहेऊ वा।६८१। आज्ञाणिद्देसमाणकित्तीवण्णणपहावणगुणट्ठं। झाणमिणमसत्थं मणसंकप्पो दु विसत्थो।६८२।

ज्ञा./३/२९-३१ पुण्याशयवशाज्जातं शुक्ललेश्यावलम्बनात्। चिन्तनाद्वस्तुतत्त्वस्य प्रशस्तं ध्यानमुच्यते।२९। पापाशयवशान्मोहान्मिथ्यात्वाद्वस्तुविभ्रमात्। कषायाज्जायतेऽजस्रमसद्ध्यानं शरीरिणाम्।३०। क्षीणे रागादिसंताने प्रसन्ने चान्तरात्मनि। यः स्वरूपोपलम्भः स्यात्स शुद्धाख्य प्रकीर्तितः।३१। = १. पुत्रशिष्यादिके लिए, हाथी घोड़ेके लिए, आदरपूजनके लिए, भोजनपानके लिए, खुदी हुई पर्वतकी जगहके लिए, शयन-आसन-भक्ति व प्राणोंके लिए, मैथुनकी इच्छाके लिए, आज्ञानिर्देश प्रामाणिकता-कीर्ति प्रभावना व गुणविस्तार के लिए—इन सभी अभिप्रायोंके लिए यदि कायोत्सर्ग करे तो मनका वह संकल्प अशुभ ध्यान है /मू. आ./ जीवोंके पापरूप आशयके वशसे तथा मोह मिथ्यात्वकषाय और तत्त्वोंके अयथार्थ रूप विभ्रमसे उत्पन्न हुआ ध्यान अप्रशस्त व असमीचीन है।३०। (ज्ञा./२५/१९) (और भी दे० अपध्यान)। २. पुण्यरूप आशयके वशसे तथा शुक्ललेश्याके आलम्बनसे और वस्तुके यथार्थ स्वरूप चिन्तवनसे उत्पन्न हुआ ध्यान प्रशस्त है।२९। (विशेष दे० धर्मध्यान/१/१)। ३. रागादिकी सन्तानके क्षीण होनेपर अन्तरंग आत्माके प्रसन्न होनेसे जो अपने स्वरूपका अवलम्बन है, वह शुद्धध्यान है।३१। (दे० अनुभव)।

२. ध्यान निर्देश

१. ध्यान व योगके अंगोंका नाम निर्देश

ध १३/५,४,२६/६४/५ तत्थज्झाणे चत्तारि अहियारा होंति ध्याता, ध्येय, ध्यानं, ध्यानफलमिति। = ध्यानके विषयमें चार अधिकार हैं—ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यानफल। (चा. सा./१६७/१) (म. पु/२१/८४) (ज्ञा/४/५) (त. अनु/३७)।

म. पु/२१/२२३-२२४ षड्भेदं योगवादी यः सोऽनुयोज्यः समाहितैः। योगः कः किं समाधानं प्राणायामश्च कीदृशः।२२३। का धारणा किमाध्यानं किं ध्येयं कीदृशी स्मृतिः। किं फलं कानि बीजानि प्रत्याहारोऽस्य कीदृशः।२२४। = जो छह प्रकारसे योगोंका वर्णन करता है, उस योगवादीसे विद्वान् पुरुषोंको पूछना चाहिए कि योग क्या है? समाधान क्या है? प्राणायाम कैसा है? धारणा क्या है? आध्यान (चिन्तवन) क्या है? ध्येय क्या है? स्मृति कैसी है? ध्यानका फल क्या है? ध्यानका बीज क्या है? और इसका प्रत्याहार कैसा है।२२३-२२४।

ज्ञा./२२/१ अथ कश्चिद्यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधय इत्यष्टावङ्गानि योगस्य स्थानानि।१। तथान्यैर्यमनियमावपास्यासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधय इति षट्।२। उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात्संतोषात्तत्त्वदर्शनात्। मुनेर्जनपदत्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति।१। = कई अन्यमती 'आठ अंग योगके स्थान हैं' ऐसा कहते हैं—१ यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७ ध्यान और ८. समाधि। किन्हीं अन्यमतियोंने यम नियमको छोड़कर छह कहे हैं—१. आसन, २. प्राणायाम, ३. प्रत्याहार, ४. धारणा, ५. ध्यान, ६. समाधि। किसी अन्यने अन्य प्रकार कहा है—१. उत्साहसे, २. निश्चयसे, ३. धैर्यसे, ४. सन्तोषसे, ५. तत्त्वदर्शनसे, और देशके त्यागसे योगकी सिद्धि होती है।

२. ध्यान अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं टिक सकता

ध. १३/५,४,२६/५१/७६ अंतोमुहुत्तमेत्तं चिंतावत्थाणमेगवत्थुम्हि। छदुमत्थाणं ज्झाणं जोगणिरोहो जिणाणं तु।५१। = एक वस्तुमें अन्तर्मुहूर्तकालतक चिन्ताका अवस्थान होना छद्मस्थोंका ध्यान है और योग निरोध जिन भगवान्‌का ध्यान है।५१।

त. सू./९/२७ ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्।२७।

स. सि./९/२७/४४५/१ इत्यनेन कालावधिः कृतः। ततः परं दुर्धरत्वादेकाग्रचिन्तायाः।

रा. वा./९/२७/२२/६२७/५ स्यादेतद् ध्यानोपयोगेन दिवसमासाद्यवस्थानं नान्तर्मुहूर्तादिति; तन्न; किं कारणम्। इन्द्रियोपघातप्रसंगात्। = ध्यान अन्तर्मुहूर्ततक होता है। इससे कालकी अवधि कर दी गयी। इससे ऊपर एकाग्रचिन्ता दुर्धर है। प्रश्न—एक दिन या महीने भर तक भी तो ध्यान रहनेकी बात सुनी जाती है? उत्तर—यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि, इतने कालतक एक ही ध्यान रहनेमें इन्द्रियों का उपघात ही हो जायेगा।

३. ध्यान व ज्ञान आदिमें कथंचित् भेदाभेद

म. पु./२१/१५-१६ यद्यपि ज्ञानपर्यायो ध्यानाख्यो ध्येयगोचरः। तथाप्येकाग्रसंदृष्टो धत्ते बोधादि मान्यताम्।१५। हर्षामर्षादिवत् सोऽयं चिद्धर्मोऽप्यवबोधितः। प्रकाशते विभिन्नात्मा कथंचित् स्तिमितात्मकः।१६। = यद्यपि ध्यान ज्ञानकी ही पर्याय है और वह ध्येयको विषय करनेवाला होता है। तथापि सहवर्ती होनेके कारण वह ध्यान-ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यरूप व्यवहारको भी धारण कर लेता है।१५। परन्तु जिस प्रकार चित्त धर्मरूपसे जाने गये हर्ष व क्रोधादि भिन्न-भिन्न रूपसे प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार अन्तःकरणका संकोच करनेरूप ध्यान भी चैतन्यके धर्मोंसे कथंचित भिन्न है।१६।

४. ध्यान द्वारा कार्य सिद्धिका सिद्धान्त

त. अनु./२०० यो यत्कर्मप्रभुर्देवस्तद्ध्यानाविष्टमानसः। ध्याता तदात्मको भूत्वा साधयत्यात्म वाञ्छितम्।२००। = जो जिस कर्मका स्वामी अथवा जिस कर्मके करनेमें समर्थ देव है उसके ध्यानसे व्याप्त चित्त हुआ ध्याता उस देवतारूप होकर अपना वांछित अर्थ सिद्ध करता है।

दे० धर्मध्यान/६/८ (एकाग्रतारूप तन्मयताके कारण जिस-जिस पदार्थका चिन्तवन जीव करता है, उस समय वह अर्थात उसका ज्ञान तदाकार हो जाता है।—(दे० आगे ध्यान/४)।

५. ध्यानसे अनेकों लौकिक प्रयोजनोंकी सिद्धि

ज्ञा./३८/श्लो. सारार्थ—अष्टपत्र कमलपर स्थापित स्फुरायमान आत्मा व णमो अर्हंताणंके आठ अक्षरोंको प्रत्येक दिशाके सम्मुख होकर क्रमसे आठ रात्रि पर्यन्त प्रतिदिन ११०० बार जपनेसे सिंह आदि क्रूर जन्तु भी अपना गर्व छोड़ देते है।९५-९९। आठ रात्रियाँ व्यतीत हो जानेपर इस कमलके पत्रों पर वर्तनेवाले अक्षरोंको अनुक्रमसे निरूपण करके देखें। तत्पश्चात् यदि प्रणव सहित उसी मन्त्रको ध्यावै तो समस्त मनोवाञ्छित सिद्ध हों और यदि प्रणव (ॐ) से वर्जित ध्यावे तो मुक्ति प्राप्त करे।१००-१०२। (इसी प्रकार अनेक प्रकारके मन्त्रोंका ध्यान करनेसे, राजादिका विनाश, पापका नाश, भोगोंकी प्राप्ति तथा मोक्ष प्राप्ति तक भी होती है।१०३-११२।

ज्ञा./४०/२ मन्त्रमण्डलमुद्रादिप्रयोगैर्ध्यातुमुद्यतः सुरासुरनरव्रातं क्षोभयत्यखिलं क्षणात्।२। = यदि ध्यानी मुनि मन्त्र मण्डल मुद्रादि प्रयोगोंसे ध्यान करनेमें उद्यत हो तो समस्त सुर असुर और मनुष्योंके समूहको क्षणमात्रमें क्षोभित कर सकता है।

त. अनु./श्लो. नं. का सारार्थ—महामन्त्र महामण्डल व महामुद्राका आश्रय लेकर धारणाओं द्वारा स्वयं पार्श्वनाथ होता हुआ ग्रहोंके विघ्न दूर करता है।२०२। इसी प्रकार स्वयं इन्द्र होकर (दे० ऊपर नं. ४ वाला शीर्षक) स्तम्भन कार्योंको करता है।२०३-२०४। गरुड होकर विषको दूर करता है, कामदेव होकर जगत्को वश करता है, अग्निरूप होकर शीतज्वरको हरता है, अमृतरूप होकर दाहज्वरको हरता है, क्षीरोदधि होकर जगको पुष्ट करता है।२०५-२०८।

त.अनु./२०६ किमत्र बहुनोक्तेन यद्यत्कर्म चिकीर्षति। तद्देवतामयो भूत्वा तत्तन्निर्वर्तयत्ययम् ।२०६। —इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या, यह योगी जो भी काम करना चाहता है, उस उस कर्मके देवतारूप स्वयं होकर उस उस कार्यको सिद्ध कर लेता है।२०६।

त.अनु./श्लो.का सारार्थ-शान्तात्मा होकर शान्तिकर्मोंको और क्रूरात्मा होकर क्रूरकर्मोंको करता है।२१०। आकर्षण, वशीकरण, स्तम्भन, मोहन, उच्चाटन आदि अनेक प्रकारके चित्र विचित्र कार्य कर सकता है।२११-२१६।

६. परन्तु ऐहिक फलवाले ये सब ध्यान अप्रशस्त हैं

ज्ञा./४०/४ बहूनि कर्माणि मुनिप्रवीरैर्विद्यानुवादात्प्रकटीकृतानि। असंख्यभेदानि कुतूहलार्थं कुमार्गकुध्यानगतानि सन्ति ।४। —ज्ञानी मुनियोंने विद्यानुवाद पूर्वसे असंख्य भेदवाले अनेक प्रकारके विद्वेषण उच्चाटन आदि कर्म कौतूहलके लिए प्रगट किये हैं, परन्तु वे सब कुमार्ग व कुध्यानके अन्तर्गत हैं।४।

त.अनु./२२० तद्ध्यानं रौद्रमार्तं वा यदैहिकफलार्थिनाम्। —ऐहिक फलको चाहनेवालोंके जो ध्यान होता है, वह या तो आर्तध्यान है या रौद्रध्यान।

७. अप्रशस्त व प्रशस्त ध्यानोंमें हेयोपादेयताका विवेक

म.पु./२१/२६ हेयमाद्यं द्वयं विद्धि दुर्ध्यानं भववर्धनम्। उत्तरं द्वितयं ध्यानम् उपादेयन्तु योगिनाम् ।२६। —इन चारों ध्यानोंमेंसे पहलेके दो अर्थात् आर्त रौद्रध्यान छोड़नेके योग्य हैं, क्योंकि वे खोटे ध्यान हैं और संसारको बढ़ानेवाले हैं, तथा आगेके दो अर्थात् धर्म्य और शुक्लध्यान मुनियोंको ग्रहण करने योग्य हैं।२६। (भ.आ./मू./१६६६-१७००/१५२०), (ज्ञा./२५/२१); (त.अनु./३४,२२०)

ज्ञा./४०/६ स्वप्नेऽपि कौतुकेनापि नासत्ध्यानानि योगिभिः। सेव्यानि यान्ति बीजत्वं यतः सन्मार्गहानये ।६। —योगी मुनियोंको चाहिए कि (उपरोक्त ऐहिक फलवाले) असमीचीन ध्यानोंको कौतुकसे स्वप्न में भी न विचारें, क्योंकि वे सन्मार्गकी हानिके लिए बीजस्वरूप हैं।

८. ऐहिक ध्यानोंका निर्देश केवल ध्यानकी शक्ति दर्शानेके लिए किया गया है

ज्ञा./४०/४ प्रकटीकृतानि असंख्येयभेदानि कुतूहलार्थम्। —ध्यानके ये असंख्यात भेद कुतूहल मात्रके लिए मुनियोंने प्रगट किये हैं। (ज्ञा./२८/१००)।

त.अनु./२१६ अत्रैव माग्रह कार्षुर्यद्ध्यानफलमैहिकम्। इदं हि ध्यान-माहात्म्यख्यापनाय प्रदर्शितम् ।२११। —इस ध्यानफलके विषयमें किसीको यह आग्रह नहीं करना चाहिए कि ध्यानका फल ऐहिक ही होता है, क्योंकि यह ऐहिक फल तो ध्यानके माहात्म्यकी प्रसिद्धिके लिए प्रदर्शित किया गया है।

९. पारमार्थिक ध्यानका माहात्म्य

भ.आ./मू./१८९१-१९०२ एवं कसायजुद्धंमि हवदि खवयस्स आउधं झाणं।...।१८९२। रणभूमीए कवचं होदि ज्झाणं कसायजुद्धम्मि/... ।१८९३। वइरं रदणेसु जहा गोसीसं चंदणं व गंधेसु। वेरुलियं व मणीणं तह ज्झाणं होइ खवयस्स ।१८९४। —कषायोंके साथ युद्ध करते समय ध्यान क्षपकके लिए आयुध व कवचके तुल्य है ।१८९२-१८९३। जैसे रत्नोंमें वज्ररत्न श्रेष्ठ है, सुगन्धि पदार्थोंमें गोशीर्ष चन्दन श्रेष्ठ है, मणियोंमें वैडूर्यमणि उत्तम है, वैसे ही ज्ञान दर्शन चारित्र और तपमें ध्यान ही सारभूत व सर्वोत्कृष्ट है।१८९४।

ज्ञा.सा./३६ पाषाणेऽस्वर्णं काष्ठेऽग्निः विनाप्रयोगैः। न यथा दृश्यन्ते इमानि ध्यानेन विना तथात्मा ।३६। —जिस प्रकार पाषाणमें स्वर्ण और काष्ठमें अग्नि बिना प्रयोगके दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार ध्यानके बिना आत्मा दिखाई नहीं देता।

अ.ग.श्रा./१५/९६ तपांसि रौद्राण्यनिशं विधत्तां, शास्त्राण्यधीतामखिलानि नित्यम्। धत्तां चरित्राणि निरस्ततन्द्रो, न सिध्यति ध्यानमृते तथाऽपि ।९६। —निशदिन घोर तपश्चरण भले करो, नित्य ही सम्पूर्ण शास्त्रोंका अध्ययन भले करो, प्रमाद रहित होकर चारित्र भले धारण करो, परन्तु ध्यानके बिना सिद्धि नहीं।

ज्ञा./४०/३,५ क्रुद्धस्याप्यस्य सामर्थ्यमचिन्त्यं त्रिदशैरपि। अनेक-विक्रियासारध्यानमार्गावलम्बितः ।३। असावनन्तप्रथितप्रभावः स्व-भावतो यद्यपि यन्त्रनाथः। नियुज्यमानः स पुनः समाधौ करोति विश्वं चरणाग्रलीनम् ।५। —अनेक प्रकारकी विक्रियारूप असार ध्यानमार्गको अवलम्बन करनेवाले क्रोधीके भी ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जिसका देव भी चिन्तवन नहीं कर सकते ।३। स्वभावसे ही अनन्त और जगत्प्रसिद्ध प्रभावका धारक यह आत्मा यदि समाधिमें जोड़ा जाये तो समस्त जगत्को अपने चरणोंमें लीन कर लेता है। (केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है) ।५। (विशेष दे० धर्म्य-ध्यान/४)

१०. सर्व प्रकारके धर्म एक ध्यानमें अन्तर्भूत हैं

द्र.सं./मू./४७ दुविहं पि मोक्खहेउं ज्झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा। तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ।४७। —मुनिध्यानके करनेसे जो नियमसे निश्चय व व्यवहार दोनों प्रकारके मोक्षमार्गको पाता है, इस कारण तुम चित्तको एकाग्र करके उस ध्यानका अभ्यास करो। (त.अनु./३३)

(और भी दे० मोक्षमार्ग/२५/; धर्म/३/३)

नि.सा./ता.वृ./११९ अतः पंचमहाव्रतपंचसमितित्रिगुप्तिप्रत्याख्यानप्रायश्चित्तालोचनादिकं सर्वं ध्यानमेवेति। —अतः पंच महाव्रत, पंचसमिति, त्रिगुप्ति, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त और आलोचना आदि सब ध्यान ही हैं।

३. ध्यानकी सामग्री व विधि

१. ध्यानकी द्रव्य क्षेत्रादि सामग्री व उसमें उत्कृष्टादि विकल्प

त.अनु./४८-४९ द्रव्यक्षेत्रादिसामग्री ध्यानोत्पत्तौ यतस्त्रिधा। ध्यातारस्त्रिविधास्तस्मात्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा ।४८। सामग्रीतः प्रकृष्टाया ध्यातरि ध्यानमुत्तमम्। स्याज्जघन्यं जघन्याया मध्यमायास्तु मध्यमम् ।४९। —ध्यानकी उत्पत्तिके कारणभूत द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदि सामग्री क्योंकि तीन प्रकार की है, इसलिए ध्याता व ध्यान भी तीन प्रकारके हैं ।४८। उत्तम सामग्रीसे ध्यान उत्तम होता है, मध्यम- से मध्यम और जघन्यसे जघन्य ।४९। (ध्याता/६)

२. ध्यानका कोई निश्चित काल नहीं है

ध. १३/५,४,२६/६६/६७ व टीका पृ.६६/६ अणियदकालो—सव्वकालेसु सुहपरिणामसंभवादो। एत्थ गाहाओ—'कालो वि सो च्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ। ण हु दिवसणिसावेलाविणियमणं ज्झाइणो

समए ।९९। —उस (ध्याता) के ध्यान करनेका कोई नियत काल नहीं होता, क्योंकि सर्वदा शुभ परिणामोंका होना सम्भव है। इस विषयमें गाथा है ''काल भी वही योग्य है जिसमें उत्तम रीतिसे योगका समाधान प्राप्त होता हो। ध्यान करनेवालोंके लिए दिन रात्रि और बेला आदि रूपसे समयमें किसी प्रकारका नियम नहीं किया जा सकता है। (म.पु./२१/८१)

और भी दे० कृतिकर्म/३/८ (देश काल आसन आदिका कोई अटल नियम नहीं है।)

३. उपयोगके आलम्बनभूत स्थान

रा.वा./९/४४/१/६३४/२४ इत्येवमादिकृतपरिकर्मा साधुः, नाभेरूर्ध्वं हृदये मस्तकेऽन्यत्र वा मनोवृत्तिं यथापरिचयं प्रणिधाय मुमुक्षुः प्रशस्तध्यानं ध्यायेत्। =इस प्रकार (आसन, मुद्रा, क्षेत्रादि द्वारा दे० कृतिकर्म/३) ध्यानकी तैयारी करनेवाला साधु नाभिके ऊपर, हृदयमें, मस्तकमें या और कहीं अभ्यासानुसार चित्त वृत्तिको स्थिर रखनेका प्रयत्न करता है। (म.पु./२१/६३)

ज्ञा./३०/१३ नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे, वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते। ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे, तेष्वेकस्मिन्विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम् ।१३। =निर्मल बुद्धि आचार्योंने ध्यान करनेके लिए—१. नेत्रयुगल, २. दोनों कान, ३. नासिकाका अग्रभाग, ४. ललाट, ५. मुख, ६. नाभि, ७. मस्तक, ८. हृदय, ९. तालु, १०. दोनों भौंहोंका मध्यभाग, इन दश स्थानोंमेंसे किसी एक स्थानमें अपने मनको विषयोंसे रहित करके आलम्बित करना कहा है। (वसु.श्रा./४६८); (गु.श्रा./२३६)

४. ध्यानकी विधि सामान्य

ध.१३/५,४,२६/२८–२९/६८ किंचिद्दिट्ठिमुपावत्तइत्तु ज्झेये णिरुद्धदिट्ठीओ। अप्पाणम्मि सदिं संधित्तु संसारमोक्खट्ठं ।२८। पच्चाहरित्तु विसएहि इंदियाणं मणं च तेहिंतो अप्पाणम्मि मणं तं जोगं पणिधाय धारेदि ।२९। —१. जिसकी दृष्टि ध्येय (दे० ध्येय) में रुकी हुई है, वह बाह्य विषयसे अपनी दृष्टिको कुछ क्षणके लिए हटाकर संसारसे मुक्त होनेके लिए अपनी स्मृतिको अपनी आत्मामें लगावे ।२८। इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर और मनको भी विषयोंसे दूरकर, समाधिपूर्वक उस मनको अपनी आत्मामें लगावे ।२९। (त.अनु./९४–९५)

ज्ञा./३०/५ प्रत्याहृतं पुनः स्वस्थं सर्वोपाधिविवर्जितम्। चेतः समत्वमापन्नं स्वस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ।५। =२. प्रत्याहार (विषयोंसे हटाकर मनको ललाट आदि पर धारण करना—दे० 'प्रत्याहार') से ठहराया हुआ मन समस्त उपाधि अर्थात् रागादिकरूप विकल्पोंसे रहित समभावको प्राप्त होकर आत्मामें ही लयको प्राप्त होता है।

ज्ञा./३१/३७,३९ अनन्यशरणीभूय स तस्मिन्लीयते तथा। ध्यातृध्यानोभयाभावे ध्येयेनैक्यं यथा व्रजेत् ।३७। अनन्यशरणस्तद्धि तत्संलीनैकमानसः। तद्गुणस्तत्स्वभावात्मा स तादात्म्याच्च संवसन् ।३९।

ज्ञा./३३/२–३ अविद्यावासनावेशविशेषविवशात्मनाम्। योज्यमानमपि स्वस्मिन् न चेतः कुरुते स्थितिम् ।२। साक्षात्कर्तुमतः क्षिप्रं विश्वतत्त्वं यथास्थितम्। विशुद्धिं चात्मनः शश्वद्वस्तुधर्मे स्थिरीभवेत् ।३। —३. वह ध्यान करनेवाला मुनि अन्य सबका शरण छोड़कर उस परमात्मस्वरूपमें ऐसा लीन होता है, कि ध्याता और ध्यान इन दोनोंके भेदका अभाव होकर ध्येयस्वरूपसे एकताको प्राप्त हो जाता है ।३७। जब आत्मा परमात्माके ध्यानमें लीन होता है, तब एकीकरण कहा है, सो यह एकीकरण अनन्यशरण है। वह तद्गुण है अर्थात् परमात्माके ही अनन्त ज्ञानादि गुणरूप है, और स्वभावसे आत्मा है। इस प्रकार तादात्म्यरूपसे स्थित होता है ।३९। ४. अपनेमें जोड़ता हुआ भी, अविद्यावासनासे विवश हुआ चित्त जब स्थिरताको धारणा नहीं करता ।२। तो साक्षात् वस्तुओंके स्वरूपका यथास्थित तत्काल साक्षात् करनेके लिए तथा आत्माकी विशुद्धि करनेके लिए निरन्तर वस्तुके धर्मका चिन्तवन करता हुआ उसे स्थिर करता है।

विशेष दे० ध्येय—अनेक प्रकारके ध्येयोंका चिन्तवन करता है, अनेक प्रकारकी भावनाएँ भाता है तथा धारणाएँ धारता है।

५. अर्हंतादिके चिन्तवन द्वारा ध्यानकी विधि

ज्ञा./४०/१७–२० वदन्ति योगिनो ध्यानं चित्तमेवमनाकुलम्। कथं शिवत्वमापन्नमात्मानं संस्मरेन्मुनिः ।१७। विवेच्य तद्गुणग्रामं तत्स्वरूपं निरूप्य च। अनन्यशरणो ज्ञानी तस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ।१८। तद्गुणग्रामसंपूर्णं तत्स्वभावैकभावितः। कृत्वात्मानं ततो ध्यानी योजयेत्परमात्मनि ।१९। द्वयोर्गुणैर्मतं साम्यं व्यक्तिशक्तिव्यपेक्षया। विशुद्धेतरयोः स्वात्मतत्त्वयोः परमागमे ।२०। —प्रश्न—चित्तके क्षोभरहित होनेको ध्यान कहते हैं, तो कोई मुनि मोक्ष प्राप्त आत्माका स्मरण कैसे करे? ।१७। उत्तर—प्रथम तो उस परमात्माके गुण समूहोंको पृथक्-पृथक् विचारे और फिर उन गुणोंके समुदायरूप परमात्माको गुण गुणीका अभेद करके विचारे और फिर किसी अन्यकी शरणसे रहित होकर उसी परमात्मामें लीन हो जावे ।१८। परमात्माके स्वरूपसे भावित अर्थात् मिला हुआ ध्यानी मुनि उस परमात्माके गुण समूहोंसे पूर्णरूप अपने आत्माको करके फिर उसे परमात्मामें योजन करे ।१९। आगममें कर्म रहित व कर्म सहित दोनों आत्म-तत्त्वोंमें व्यक्ति व शक्तिकी अपेक्षा समानता मानी गयी है ।२०।

त.अनु./१८९–१९३ तन्न चोद्यं यतोऽस्माभिर्भावार्हन्नयमर्पितः। स चार्हद्ध्याननिष्ठात्मा ततस्तत्रैव तद्ग्रहः ।१८९। अथवा भाविनो भूताः स्वपर्यायास्तदात्मिकाः। आसते द्रव्यरूपेण सर्वद्रव्येषु सर्वदा ।१९२। ततोऽयमर्हत्पर्यायो भावी द्रव्यात्मना सदा। भव्येष्वास्ते सतश्चास्य ध्याने को नाम विभ्रमः ।१९३। —हमारी विवक्षा भाव अर्हंतसे है और अर्हंतके ध्यानमें लीन आत्मा ही है, अतः अर्हद्ध्यान लीन आत्मामें अर्हंतका ग्रहण है ।१८९। अथवा सर्वद्रव्योंमें भूत और भावी स्वपर्यायें तदात्मक हुई द्रव्यरूपसे सदा विद्यमान रहती हैं। अतः यह भावी अर्हंत पर्याय भव्य जीवोंमें सदा विद्यमान है, तब इस सत् रूपसे स्थिर अर्हत्पर्यायके ध्यानमें विभ्रमका क्या काम है ।१९२–१९३।

४. ध्यानकी तन्मयता सम्बन्धी सिद्धान्त

१. ध्याता अपने ध्यानभाव से तन्मय होता है

प्र.सा./मू./८ परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं…।८। =जिस समय जिस भावसे द्रव्य परिणमन करता है, उस समय वह उस भावके साथ तन्मय होता है) (त.अनु./१९१)

त.अनु./१९१ येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्। तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ।१९१। —आत्मज्ञानी आत्माको जिस भावसे जिस रूप ध्याता है, उसके साथ वह उसी प्रकार तन्मय हो जाता है। जिस प्रकार कि उपाधिके साथ स्फटिक ।१९१। (ज्ञा./३९/४३ में उद्धृत)।

२. जैसा परिणमन करता है उस समय आत्मा वैसा ही होता है

प्र.सा./मू./८–९…। तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ।८। जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो। सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ।९। —इस प्रकार वीतरागचारि

रूप धर्मसे परिणत आत्मा स्वयं धर्म होता है।८। जब वह जीव शुभ अथवा अशुभ परिणामोंरूप परिणमता है तब स्वयं शुभ और अशुभ होता है और जब शुद्धरूप परिणमन करता है तब स्वयं शुद्ध होता है।९।

३. आत्मा अपने ध्येयके साथ समरस हो जाता है

त.अनु /१३७ सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम्। एतदेव समाधिः स्याल्लोकद्वयफलप्रदः।१३७। —उन दोनों ध्येय और ध्याताका जो यह एकीकरण है, वह समरसीभाव माना गया है, यही एकीकरण समाधिरूप ध्यान है, जो दोनों लोकोंके फलको प्रदान करनेवाला है। (ज्ञा./३१/३८)।

४. अर्हंतको ध्याता हुआ स्वयं अर्हंत होता है

ज्ञा./३९/४१-४३ तद्गुणग्रामसंलीनमानसस्तद्गताशयः। तद्भावभावितो योगी तन्मयत्वं प्रपद्यते।४१। यदाभ्यासवशात्तस्य तन्मयत्वं प्रजायते। तदात्मानमसौ ज्ञानी सर्वज्ञीभूतमीक्षते।४२। एष देवः स सर्वज्ञः सोऽहं तद्रूपतां गतः। तस्मात्स एव नान्योऽहं विश्वदर्शीति मन्यते।४३। —उस परमात्मामें मन लगानेसे उसके ही गुणोंमें लीन होकर, उसमें ही चित्तको प्रवेश करके उसी भावसे भावित योगी उसीकी तन्मयताको प्राप्त होता है।४१। जब अभ्यासके वशसे उस मुनिके उस सर्वज्ञके स्वरूपसे तन्मयता उत्पन्न होती है उस समय वह मुनि अपने असर्वज्ञ आत्माको सर्वज्ञ स्वरूप देखता है।४२। उस समय वह ऐसा मानता है, कि यह वही सर्वज्ञदेव है, वही तत्त्वरूपताको प्राप्त हुआ मैं हूँ, इस कारण वही विश्वदर्शी मैं हूँ, अन्य मैं नहीं हूँ।४३।

त. अनु./१९० परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति। अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हन् स्यात्स्वयं तस्मात्। —जो आत्मा जिस भावरूप परिणमन करता है, वह उस भावके साथ तन्मय होता है (और भी देखो शीर्षक नं. १), अतः अर्हद्ध्यानसे व्याप्त आत्मा स्वयं भाव अर्हंत होता है।१९०।

५. गरुड आदि तत्त्वोंको ध्याता हुआ आत्मा ही स्वयं उन रूप होता है

ज्ञा./२१/६-१७ शिवोऽयं वैनतेयश्च स्मरश्चात्मैव कीर्तितः। अणिमादिगुणानर्घ्यरत्नवार्धिर्बुधैर्मतः।६। उक्तं च, ग्रन्थान्तरे—आत्यन्तिकस्वभावोत्थानन्तज्ञानसुखः पुमान्। परमात्मा विपः कन्तुरहो माहात्म्यमात्मनः।६। ···तदेवं यदिह जगति शरीर विशेष समवेतं किमपि सामर्थ्यमुपलभामहे तत्सकलमात्मन एवेति विनिश्चयः। आत्मप्रवृत्तिपरम्परोत्पादितत्वाद्विग्रहग्रहणस्येति।१७। —विद्वानोंने इस आत्माको ही शिव, गरुड व काम कहा है, क्योंकि यह आत्मा ही अणिमा महिमा आदि अमूल्य गुणरूपी रत्नोंका समूह है।६। अन्य ग्रन्थमें भी कहा है—अहो! आत्माका माहात्म्य कैसा है, अविनश्वर स्वभावसे उत्पन्न अनन्त ज्ञान व सुखस्वरूप यह आत्मा ही शिव, गरुड व काम है।—(आत्मा ही निश्चयसे परमात्म (शिव) व्यपदेशका धारक होता है।१०। गारुडीविद्याको जाननेके कारण गारुडगी नामको अवगाहन करनेवाला यह आत्मा ही गरुड नाम पाता है।१५। आत्मा ही कामकी संज्ञाको धारण करनेवाला है।१६।) इस कारण शिव गरुड व कामरूपसे इस जगत्में शरीरके साथ मिली हुई जो कुछ सामर्थ्य हम देखते हैं, वह सब आत्माकी ही है। क्योंकि शरीरको ग्रहण करनेमें आत्माकी प्रवृत्ति ही परम्परा हेतु है।१७।

त. अनु./१३५-१३६ यदा ध्यानबलाद्ध्याता शून्यीकृत्स्वविग्रहम्। ध्येयस्वरूपाविष्टत्वात्तादृक् संपद्यते स्वयम्।१३५। तदा तथाविधध्यानसंवित्तिः—ध्वस्तकल्पनः। स एव परमात्मा स्याद्वैनतेयश्च मन्मथः।१३६। —जिस समय ध्याता पुरुष ध्यानके बलसे अपने शरीरको शून्य बनाकर ध्येयस्वरूपमें आविष्ट या प्रविष्ट हो जानेसे अपनेको तत्सदृश बना लेता है, उस समय उस प्रकारकी ध्यान संवित्तिसे भेद विकल्प को नष्ट करता हुआ वह ही परमात्मा (शिव) गरुड अथवा कामदेव है।

नोट—(तीनों तत्त्वोंके लक्षण—देखो वह वह नाम।

६. अन्य ध्येय भी आत्मामें आलेखितवत् प्रतीत होते हैं

त. अनु./१३३ ध्याने हि बिभ्रति स्थैर्यं ध्येयरूपं परिस्फुटम्। आलेखितमिवाभाति ध्येयस्यासंनिधावपि।१३३। ध्यानमें स्थिरताके परिपुष्ट हो जानेपर ध्येयका स्वरूप ध्येयके सन्निकट न होते हुए भी, स्पष्ट रूपसे आलेखित जैसा प्रतिभासित होता है।

ध्यानशुद्धि—दे० शुद्धि।

ध्येय—क्योंकि पदार्थोंका चिन्तक ही जीवोंके प्रशस्त या अप्रशस्त भावोंका कारण है, इसलिए ध्यानके प्रकरणमें यह विवेक रखना आवश्यक है, कि कौन व कैसे पदार्थ ध्यान किये जाने योग्य हैं और कौन नहीं।

१. ध्येय सामान्य निर्देश

१. ध्येयका लक्षण

चा. सा./१६७/२ ध्येयमप्रशस्तप्रशस्तपरिणामकारणं ।—जो अशुभ तथा शुभ परिणामोंका कारण हो उसे ध्येय कहते हैं।

२. ध्येयके भेद

म. पु./२१/१११ श्रुतमर्थाभिधानं च प्रत्ययश्चेत्यदस्त्रिधा। —शब्द, अर्थ और ज्ञान इस तरह तीन प्रकारका ध्येय कहलाता है।

त. अनु./९८, ९९, १३१ आज्ञापायो विपाकं च संस्थानं भुवनस्य च। यथागममविक्षिप्तचेतसा चिन्तयेन्मुनिः।९८। नाम च स्थापना द्रव्यं भावश्चेति चतुर्विधम्। समस्तं व्यस्तमप्येतद् ध्येयमध्यात्मवेदिभिः।९९। एवं नामादिभेदेन ध्येयमुक्तं चतुर्विधम्। अथवा द्रव्यभावाभ्यां द्विधैव तदवस्थितम्।१३१। — मुनि आज्ञा, अपाय, विपाक और लोकसंस्थानका आगमके अनुसार चित्तकी एकाग्रताके साथ चिन्तवन करे।९८। अध्यात्मवेत्ताओंके द्वारा नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप चार प्रकारका ध्येय समस्त तथा व्यस्त दोनों रूपसे ध्यानके योग्य माना गया है।९९। अथवा द्रव्य और भावके भेदसे वह दो प्रकारका ही अवस्थित है।

* **आज्ञा अपाय आदि ध्येय निर्देश**—दे० धर्मध्यान/१।

३. नाम व स्थापनारूप ध्येय निर्देश

त. अनु./१०० वाच्यस्य वाचकं नाम प्रतिमा स्थापना मता।—वाच्यका जो वाचक शब्द वह नामरूप ध्येय है और प्रतिमा स्थापना मानी गयी है।

और भी दे० पदस्थ ध्यान (नामरूप ध्येय अर्थात् अनेक प्रकारके मन्त्रों व स्वरव्यंजनआदिका ध्यान)।

* **पाँच धारणाओंका निर्देश**—दे० पिण्डस्थ ध्यान

* **आग्नेयी आदि धारणाओंका स्वरूप**—दे० वह वह नाम।

२. द्रव्यरूप ध्येय निर्देश

१. प्रतिक्षण प्रवाहित वस्तु व विश्व ध्येय है

त. अनु./११०-११५ गुणपर्ययवद्द्रव्यम्।१००। यथैकमेकदा द्रव्यमुत्पित्सु स्थास्नु नश्वरम्। तथैव सर्वदा सर्वमिति तत्त्वं विचिन्तयेत्।११०। अनादिनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्। उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले।११२। यद्विवृत्तं यथा पूर्वं यच्च पश्चाद्विवर्त्स्यति। विवर्तते यदत्राद्य तदेवेदमिदं च तत्।११३। सहवृत्ता गुणास्तत्र पर्यायाः क्रमवर्तिनः। स्यादेतदात्मकं द्रव्यमेते च स्युस्तदात्मकाः।११४। एवंविधमिदं वस्तु स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकम्। प्रतिक्षणमनाद्यनन्तं सर्वं ध्येयं यथा स्थितम्।११५। —द्रव्यरूप ध्येय गुणपर्यायवान् होता है।१००। जिस प्रकार एकद्रव्य एकसमयमें उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप होता है, उसी प्रकार सर्वद्रव्य सदा काल उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप होते रहते हैं।११०। द्रव्य जो कि अनादि निधन है, उसमें प्रतिक्षण स्व पर्यायें जलमें कल्लोलोंकी तरह उपजती तथा विनशती रहती हैं।११२। जो पूर्व क्रमानुसार विवर्तित हुआ है, होगा और हो रहा है वही सब यह (द्रव्य) है और यही सब उन सबरूप है।११३। द्रव्यमें गुण सहवर्ती और पर्यायें क्रमवर्ती हैं। द्रव्य इन गुणपर्यायात्मक है और गुणपर्याय द्रव्यात्मक है।११४। इस प्रकार यह द्रव्य नामकी वस्तु जो प्रतिक्षण स्थिति, उत्पत्ति और व्ययरूप है तथा अनादिनिधन है वह सब यथावस्थित रूपमें ध्येय है।११५। (ज्ञा./३१/१७)।

२. चेतनाचेतन पदार्थोंका यथावस्थितरूप ध्येय है

ज्ञा./३१/१८ अमी जीवादयो भावाश्चिदचिल्लक्षलाञ्छिताः। तत्स्वरूपाविरोधेन ध्येया धर्मे मनीषिभिः।१८। —जो जीवादिक षट् द्रव्य चेतन अचेतन लक्षणसे लक्षित हैं, अविरोधरूपसे उन यथार्थ स्वरूप ही बुद्धिमान् जनों द्वारा धर्मध्यानमें ध्येय होता है। (ज्ञा. सा./१७); (त. अनु./१११, १३२)।

३. सात तत्त्व व नौ पदार्थ ध्येय हैं

ध. १३/५,४,२६/३ जिणउवइट्ठणवपयत्था वा ज्झेयं होंति।—जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट नौ पदार्थ ध्येय हैं।

म. पु./२०/१०८ अहं ममास्रवो बन्धः संवरो निर्जराक्षयः। कर्मणामिति तत्त्वार्था ध्येयाः सप्त नवाथवा।१०८। — मैं अर्थात् जीव और मेरे अजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा कर्मोंका क्षय होनेरूप मोक्ष इस प्रकार ये सात तत्त्व या पुण्य पाप मिला देनेसे नौ पदार्थ ध्यान करने योग्य है।

४. अनीहित वृत्तिसे समस्त वस्तुएँ ध्येय हैं

ध. १३/५,४,२६/३२/७० आलंबणेहि भरियो लोगो ज्झाइदुमणस्स खवगस्स। जं जं मणसा पेच्छइ तं तं आलंबणं होइ। — यह लोक ध्यानके आलम्बनोंसे भरा हुआ है। ध्यानमें मन लगानेवाला क्षपक मनसे जिस-जिस वस्तुको देखता है, वह वह वस्तु ध्यानका आलम्बन होती है।

म.पु./२१/१७ ध्यानस्यालम्बनं कृत्स्नं जगत्तत्त्वं यथास्थितम्। विनात्मात्मीयसङ्कल्पाद् औदासीन्ये निवेशितम्। —जगत्‌के समस्त तत्त्व जो जिस रूपसे अवस्थित हैं और जिनमें मैं और मेरेपनका संकल्प न होनेसे जो उदासीनरूपसे विद्यमान हैं वे सब ध्यानके आलम्बन हैं।१७। म.पु./२१/१६-२१); (द्र.सं./मू./५५); (त.अनु./१३८)।

पं. का./ता. वृ./१७३/२५३/२५ में उद्धृत—ध्येयं वस्तु यथास्थितम्। —अपने-अपने स्वरूपमें यथा स्थित वस्तु ध्येय है।

३. पंच परमेष्ठीरूप ध्येय निर्देश

१. सिद्धका स्वरूप ध्येय है

ध.१३/५,४,२६/६९/४ को ज्झाइज्जइ। जिणो वीयरायो केवलणाणेण अवगयतिकालगोयराणंतपज्जाओवचियछद्दव्वो णवकेवललद्धिप्पहुडिअणंतगुणेहि आरद्धदिव्वदेहधरो अजरो अमरो अजोणिसंभवो··· सव्वलक्खणसंपुण्णदप्पणसंकंतमाणुसच्छायागारो संतो वि सयलमाणुसपहावुत्तिण्णो अव्वओ अक्खओ। ···सगसरूवे दिण्णचित्तजीवाणमसेसपावपणासओ···ज्झेयं होंति। —प्रश्न—ध्यान करने योग्य कौन है? उत्तर—जो वीतराग है, केवलज्ञानके द्वारा जिसने त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायोंसे उपचित छह द्रव्योंको जान लिया है, नव केवललब्धि आदि अनन्त गुणोंके साथ जो आरम्भ हुए दिव्य देहको धारण करता है, जो अजर है, अमर है, अयोनि सम्भव है, अदग्ध है, अछेद्य है···(तथा अन्य भी अनेकों) समस्त लक्षणोंसे परिपूर्ण है, अतएव दर्पणमें संक्रान्त हुई मनुष्यकी छायाके समान होकर भी समस्त मनुष्योंके प्रभावसे परे हैं, अव्यय हैं, अक्षय हैं। (तथा सिद्धोंके प्रसिद्ध आठ या बारह गुणोंसे समवेत है (दे० मोक्ष/३))। जिन जीवोंने अपने स्वरूपमें चित्त लगाया है उनके समस्त पापोंका नाश करनेवाला ऐसा जिनदेव ध्यान करने योग्य है। (म.पु./२१/१११-११९); (त.अनु./१२०-१२२)।

ज्ञा./३१/१७ शुद्धध्यानविशीर्णकर्मकवचो देवश्च मुक्तेर्वरः। सर्वज्ञः सकलः शिवः स भगवान्सिद्धः परो निष्कलः।१७। –शुद्धध्यानसे नष्ट हुआ है कर्मरूप आवरण जिनका ऐसे मुक्तिके वर सर्वज्ञदेव सकल अर्थात् शरीर सहित तो अर्हंत भगवान् है अर्थात् निष्कल सिद्ध भगवान् है। (त.अनु./११९)

२. अर्हंतका स्वरूप ध्येय है

म.पु./२१/१२०–१३० अथवा स्नातकावस्थां प्राप्तो घातिव्यपायतः। जिनोऽर्हन् केवली ध्येयो बिभ्रत्तेजोमयं वपुः।१२०। –घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेसे जो स्नातक अवस्थाको प्राप्त हुए हैं, और जो तेजोमय परम औदारिक शरीरको धारण किये हुए हैं ऐसे केवलज्ञानी अर्हंत जिन ध्यान करने योग्य हैं।१२०। वे अर्हंत हैं, सिद्ध हैं, विश्वदर्शी व विश्वज्ञ हैं।१२१–१२२। अनन्तचतुष्टय जिनको प्रगट हुआ है।१२३। समवशरणमें विराजमान व अष्टप्रातिहार्यों युक्त हैं।१२४। शरीर सहित होते हुए भी ज्ञानसे विश्वरूप हैं।१२५। विश्वव्यापी, विश्वतोमुख, विश्वचक्षु, लोकशिखामणि हैं।१२६। सुखमय, निर्भय, निःस्पृह, निर्बाध, निराकुल, निरपेक्ष, नीरोग, नित्य, कर्मरहित।१२७–१२८। नव केवललब्धियुक्त, अभेद्य, अच्छेद्य, निश्चल।१२९। ऐसे लक्षणोंसे लक्षित, परमेष्ठी, परंतत्त्व, परंज्योति, व अक्षर स्वरूप अर्हंत भगवान् ध्येय हैं।१३०। (त. अनु./१२३–१२६)।

ज्ञा./३१/१७ शुद्धध्यानविशीर्णकर्मकवचो देवश्च मुक्तेर्वरः। सर्वज्ञः सकलः शिवः स भगवान्सिद्धः परो निष्कलः। –शुद्धध्यानसे नष्ट हुआ है कर्मरूपी आवरण जिनका ऐसे मुक्तिके वर, सर्वज्ञ, देहसहित समस्त कल्याणके पूरक अर्हंतभगवान् ध्येय हैं।

३. अर्हंतका ध्यान पदस्थ पिंडस्थ व रूपस्थ तीनों ध्यानामें होता है

द्र.सं./टी./५० को पातनिका/२०९/८ पदस्थपिण्डस्थरूपस्थध्यानत्रयस्य ध्येयभूतमर्हत्सर्वज्ञस्वरूपं दर्शयामीति···। –पदस्थ, पिण्डस्थ और रूपस्थ इन तीन ध्यानोंके ध्येयभूत जो श्री अर्हंत सर्वज्ञ हैं उनके स्वरूपको दिखलाता हूँ।

४. आचार्य उपाध्याय साधु भी ध्येय हैं

त.अनु./१३० सम्यग्ज्ञानादिसंपन्नाः प्राप्तसप्तमहर्द्धयः। यथोक्तलक्षणा ध्येया सूर्युपाध्यायसाधवः।१३०। –जो सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रयसे सम्पन्न हैं, तथा जिन्हें सात महा ऋद्धियाँ या लब्धियाँ प्राप्त हुई हैं, और जो यथोक्त लक्षणके धारक हैं ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधु ध्यानके योग्य हैं।

५. पंचपरमेष्ठीरूप ध्येयकी प्रधानता

त.अनु./११९,१४० तत्रापि तत्त्वतः पञ्च ध्यातव्याः परमेष्ठिनः।११९। संक्षेपेण यदत्रोक्तं विस्तारात्परमागमे। तत्सर्वं ध्यातमेव स्याद् ध्यातेषु परमेष्ठिषु।१४०। –आत्माके ध्यानमें भी वस्तुतः पंच परमेष्ठी ध्यान किये जानेके योग्य हैं।११९। जो कुछ यहाँ संक्षेपरूपसे तथा परमागममें विस्ताररूपसे कहा गया है वह सब परमेष्ठियोंके ध्याये जानेपर ध्यात हो जाता है। अथवा पंचपरमेष्ठियोंका ध्यान कर लिया जानेपर सभी श्रेष्ठ व्यक्तियों व वस्तुओंका ध्यान उसमें समाविष्ट हो जाता है।१४०।

* पंच परमेष्ठीका स्वरूप—दे० वह वह नाम।

४. निज शुद्धात्मारूप ध्येय निर्देश

१. निज शुद्धात्मा ध्येय है

ति.प./९/४१ णट्ठ सित्थमूसगब्भायारो रयणत्तयादिगुणजुत्तो। णियआदा ज्झायव्वो खयरहिदो जीवघणदेसो।४१। –मोमरहित मूषकके अभ्यन्तर आकाशके आकार, रत्नत्रयादि गुणोंयुक्त, अनश्वर और जीवघनदेशरूप निजात्माका ध्यान करना चाहिए।४१।

रा.वा./९/२७/७/६२५/३४ एकस्मिन् द्रव्यपरमाणौ भावपरमाणौ वार्थे चिन्तानियमो इत्यर्थः/···। –एक द्रव्यपरमाणु या भावपरमाणु (आत्माकी निर्विकल्प अवस्था) में चित्तवृत्तिको केन्द्रित करना ध्यान है। (दे० परमाणु)

म.पु./२१/१९,२२८ अथवा ध्येयमध्यात्मतत्त्वं मुक्तेतरात्मकम्। तत्तत्त्वचिन्तनं ध्यातः उपयोगस्य शुद्धये।१९। ध्येयं स्याद् परमं तत्त्वमवाङ्मानसगोचरम्।२२८। –संसारी व मुक्त ऐसे दो भेदवाले आत्म तत्त्वका चिन्तवन ध्याताके उपयोगकी विशुद्धिके लिए होता है।१९। मन वचनके अगोचर शुद्धात्म तत्त्व ध्येय है।२२८।

ज्ञा./३१/२०-२१ अथ लोकत्रयीनाथममूर्त्तं परमेश्वरम्। ध्यातुं प्रक्रमते साक्षात्परमात्मानमव्ययम्।२०। त्रिकालविषयं साक्षाच्छक्तिव्यक्तिविवक्षया। सामान्येन नयेनैकं परमात्मानमामनेत्।२१। –तीन लोकके नाथ अमूर्तीक परमेश्वर परमात्मा अविनाशीका ही साक्षात् ध्यान करनेका प्रारम्भ करे।२०। शक्ति और व्यक्तिकी विवक्षासे तीन कालके गोचर साक्षात् सामान्य (द्रव्यार्थिक) नयसे एक परमात्माका ध्यान व अभ्यास करे।२१।

२. शुद्धपारिणामिक भाव ध्येय है

नि.सा./ता.वृ./४१ पञ्चानां भावानां मध्ये···पूर्वोक्तभावचतुष्टयं सावरणसंयुक्तत्वात् न मुक्तिकारणम्। त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपनिरंजननिजपरमपञ्चमभावभावनया पञ्चमगतिं मुमुक्षवो यान्ति यास्यन्ति गताश्चेति। –पाँच भावोंमेंसे पूर्वोक्त चार भाव आवरण संयुक्त होनेसे मुक्तिके कारण नहीं है। निरुपाधि निजस्वरूप है, ऐसे निरंजन निज परमपंचमभावकी भावनासे पंचमगति (मोक्ष) में मुमुक्षु जाते हैं जायेंगे और जाते थे।

द्र.सं./टी./५७/२३६/८ यस्तु शुद्धद्रव्यशक्तिरूपः शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणपरमनिश्चयमोक्षः स पूर्वमेव जीवे तिष्ठतीदानीं भविष्यतीत्येवं न। स एव रागादिविकल्परहिते मोक्षकारणभूते ध्यानभावनापर्याये ध्येयो भवति। –जो शुद्धद्रव्यकी शक्तिरूप शुद्धपरम पारिणामिकभावरूप परमनिश्चय मोक्ष है, वह तो जीवमें पहले ही विद्यमान है, अब प्रगट होगी ऐसा नहीं है। रागादि विकल्पोंसे रहित मोक्षका कारणभूत ध्यान भावनापर्यायमें वही मोक्ष (त्रिकाल निरुपाधि शुद्धात्मस्वरूप) ध्येय होता है। (द्र.सं./टी./१३/३९/१०)

३. आत्मा रूप ध्येयकी प्रधानता

त.अनु./११७-११८ पुरुषः पुद्गलः कालो धर्माधर्मौ तथाम्बरम्। षड्विधं द्रव्यमाख्यातं तत्र ध्येयतमः पुमान्।११७। सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं ध्येयतां प्रतिपद्यते। ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतमः स्मृतः।११८। –पुरुष (जीव), पुद्गल, काल, धर्म, अधर्म और आकाश ऐसे छह भेदरूप द्रव्य कहा गया है। उन द्रव्यभेदोंमें सबसे अधिक ध्यानके योग्य पुरुषरूप आत्मा है।११७। ज्ञाताके होनेपर ही, ज्ञेय ध्येयताको प्राप्त होता है, इसलिए ज्ञानस्वरूप यह आत्मा ही ध्येयतम है।११८।

५. भावरूप ध्येय निर्देश

१. भावरूप ध्येयका लक्षण

त.अनु./१००,१३२ भावः स्याद्गुणपर्ययौ ।१००। भावध्येयं पुनर्ध्येय-संनिभध्यानपर्ययः ।१३२। = गुण व पर्याय दोनों भावरूप ध्येय है ।१००। ध्येयके सदृश ध्यानकी पर्याय भावध्येयरूपसे परिगृहीत है।१३२।

२. सभी द्रव्योंके यथावस्थित गुणपर्याय ध्येय हैं

ध.१३/५,४,२६/७० बारसअणुपेक्खाओ उवसमसेडिखवगसेडिचडविहाणं तेवीसवग्गणाओ पंचपरियट्टाणि ट्ठिदिअणुभागपयडिपदेसादि सव्वं पि ज्झेयं होदि त्ति दट्ठव्वं । = बारह अनुप्रेक्षाएँ, उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणीपर आरोहणविधि, तेईस वर्गणाएँ, पाँच परिवर्तन, स्थिति अनुभाग प्रकृति और प्रदेश आदि ये सब ध्यान करने योग्य हैं।

त.अनु./११६ अर्थव्यञ्जनपर्याया: मूर्तामूर्ता गुणाश्च ये । यत्र द्रव्ये यथावस्थास्तांश्च तत्र तथा स्मरेत् ।११६। = जो अर्थ तथा व्यंजन-पर्यायें और मूर्तीक तथा अमूर्तीक गुण जिस द्रव्यमें जैसे अवस्थित हैं, उनको वहाँ उसी रूपमें ध्याता चिन्तन करे।

३. रत्नत्रय व वैराग्यकी भावनाएँ ध्येय हैं

ध.१३/५,४,२६/२३/६८ पुव्वकयब्भासो भावणाहि ज्झाणस्स जोग्गद-मुवेदि । ताओ य णाणदंसणचरित्तवेरग्गजणियाओ।२३। – जिसने पहले उत्तम प्रकारसे अभ्यास किया है, वह पुरुष ही भावनाओं द्वारा ध्यान-को योग्यताको प्राप्त होता है। और वे भावनाएँ ज्ञान दर्शन चारित्र और वैराग्यसे उत्पन्न होती हैं। (म.पु./२१/६४-६५)

नोट—(सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्रकी भावनाएँ—दे० वह वह नाम और वैराग्य भावनाएँ—दे० अनुप्रेक्षा)

४. ध्यानमें माने योग्य कुछ भावनाएँ

मो.पा./मू./८१ उद्धद्धमज्झलोए केइ मज्झं ण अहममेगागी । इइ भावणाए जोई पावंति हु सासयं ठाणं ।८१। = ऊर्ध्व मध्य और अधो इन तीनों लोकोंमें, मेरा कोई भी नहीं, मैं एकाकी आत्मा हूँ। ऐसी भावना करनेसे योगी शाश्वत स्थानको प्राप्त करता है। (ति.प./९/३५)

र.क.श्रा./१०४ अशरणमशुभमनित्यं दु:खमनात्मानमावसामि भवं । मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायं तु सामयिके ।१०४। = मैं अशरणरूप, अशुभरूप, अनित्य, दु:खमय और पररूप संसारमें निवास करता हूँ और मोक्ष इससे विपरीत है, इस प्रकार सामायिकमें ध्यान करना चाहिए।

इ.उ./२७ एकोऽहं निर्मम: शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः । बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ।२७। = मैं एक हूँ, निर्मम हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, ज्ञानी योगीन्द्रोंके ज्ञानका विषय हूँ। इनके सिवाय जितने भी स्त्री धन आदि संयोगीभाव हैं वे सब मुझसे सर्वथा भिन्न हैं। (सामायिक पाठ/अ./२६), (स.सा./ता.वृ./१८७/२५७/१४ पर उद्धृत)

ति.प./९/२४-६५ अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणप्पगो सदारूवी णवि अत्थि मज्झि किंचिवि अण्णं परमाणुमेत्तं पि ।२४। णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को । इदि जो झायदि झाणे सो मुच्चइ अट्ठकम्मेहिं ।२६। णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं । एवं खलु जो भाओ सो पावइ सासयं ठाणं ।२८। णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किं पि । एवं खलु जो भावइ सो पावइ सव्व-कल्लाणं ।३४। केवलणाणसहावो केवलदंसणसहावो सुहमइओ । केवल-विरियसहाओ सो हं इदि चिंतए णाणी ।४६। = मैं निश्चयसे सदा एक, शुद्ध, दर्शनज्ञानात्मक और अरूपी हूँ। मेरा परमाणुमात्र भी अन्य कुछ नहीं है।२४। मैं न परपदार्थोंका हूँ, और न परपदार्थ मेरे हैं, मैं तो ज्ञानस्वरूप अकेला ही हूँ।२६। न मैं देह हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ और न उनका कारण ही हूँ।२८। (प्र.सा./१६०); (आराधनासार/१०१)। न मैं परपदार्थोंका हूँ, और न परपदार्थ मेरे हैं। यहाँ मेरा कुछ भी नहीं है।३४। जो केवलज्ञान व केवलदर्शन स्वभावसे युक्त, सुखस्वरूप और केवल वीर्यस्वभाव है वही मैं हूँ, इस प्रकार ज्ञानी जीवको विचार करना चाहिए।४६। (न.च.वृ./३६१-३६७, ४०४-४०८); (सामायिक पाठ/अ./२४); (ज्ञा./१८/२६); (त.अनु./१४७-१५६)

ज्ञा./३१/१-१६ स्वविभ्रमसमुद्भूतै रागाद्यतुलबन्धनैः । बद्धो विडम्बितः कालमनन्तं जन्मदुर्गमे ।२। परमात्मा परंज्योतिर्जगज्ज्येष्ठोऽपि वञ्चितः । आपातमात्ररम्यैस्तैर्विषयैरन्तनीरसैः ।८। मम शक्त्या गुणग्रामो व्यक्त्या च परमेष्ठिनः । एतावानावयोर्भेदः शक्तिव्यक्ति-स्वभावतः ।१०। अहं न नारको नाम न तिर्यग्नापि मानुषः । न देवः किन्तु सिद्धात्मा सर्वोऽयं कर्मविक्रमः ।१२। अनन्तवीर्यविज्ञानदृगा-नन्दात्मकोऽप्यहम् । किं न प्रोन्मूलयाम्यद्य प्रतिपक्षविषद्रुमम् ।१३। – मैंने अपने ही विभ्रमसे उत्पन्न हुए रागादिक अतुलबन्धनोंसे बँधे हुए अनन्तकाल पर्यन्त संसाररूप दुर्गम मार्गमें विडम्बनारूप होकर विपरीताचरण किया ।२। यद्यपि मेरा आत्मा परमात्मा है, परंज्योति है, जगत्श्रेष्ठ है, महान् है, तो भी वर्तमान देखनेमात्रको रमणीक और अन्तमें नीरस ऐसे इन्द्रियोंके विषयोंसे ठगाया गया हूँ ।८। अनन्त चतुष्टयादि गुणसमूह मेरे तो शक्तिकी अपेक्षा विद्यमान है और अर्हंत सिद्धोंमें वे ही व्यक्त हैं। इतना ही हम दोनोंमें भेद है ।१०। न तो मैं नारकी हूँ, न तिर्यंच हूँ और न मनुष्य या देव ही हूँ किन्तु सिद्धस्वरूप हूँ। ये सब अवस्थाएँ तो कर्मविपाकसे उत्पन्न हुई हैं ।१२। मैं अनन्तवीर्य, अनन्तविज्ञान, अनन्तदर्शन व अनन्त-आनन्दस्वरूप हूँ। इस कारण क्या विषवृक्षके समान इन कर्म-शत्रुओंको जड़मूलसे न उखाड़ूँ।१३।

स.सा./ता.वृ./२८५/३६५/१३ बंधस्य विनाशार्थं विशेषभावनामाह— सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोऽहं, उदासीनोऽहं, निरंजननिजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्म-कनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानन्दरूपसुखानुभूतिमात्रलक्ष-णेन स्वसंवेदनज्ञानेन संवेद्यो, गम्यः, प्राप्यो, भरितावस्थोऽहं, रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभ-पञ्चेन्द्रियविषयव्यापारः, मनोवचन-कायव्यापार-भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्मख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूत-भोगाकाङ्क्षारूपनिदानमायामिथ्याशल्यत्रयादि सर्वविभावपरिणाम-रहितः । शून्योऽहं जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारिता-नुमतैश्च शुद्धनिश्चयेन, तथा सर्वे जीवाः इति निरन्तरं भावना कर्तव्या । – बन्धका विनाश करनेके लिए विशेष भावना कहते हैं— मैं तो सहजशुद्धज्ञानानन्दस्वभावी हूँ, निर्विकल्प तथा उदासीन हूँ। निरंजन निज शुद्ध आत्माके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान व अनुष्ठानरूप निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न वीतरागसहजा-नन्दरूप सुखानुभूति ही है लक्षण जिसका, ऐसे स्वसंवेदनज्ञानके गम्य हूँ। भरितावस्था वत् परिपूर्ण हूँ। राग द्वेष मोह क्रोध मान माया व लोभसे तथा पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे, मनोवचनकायके व्यापारसे, भाव-कर्म द्रव्यकर्म व नोकर्मसे रहित हूँ। ख्याति पूजा लाभसे देखे सुने व अनुभव किये हुए भोगोंकी आकांक्षारूप निदान तथा माया मिथ्या इन तीन शल्योंको आदि लेकर सर्व विभाव परिणामोंसे रहित हूँ। तिहुँलोक तिहुँकालमें मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदनाके द्वारा शुद्ध निश्चयसे मैं शून्य हूँ। इसी प्रकार सब जीवोंको भावना करनी चाहिए। (स.सा./ता.वृ./परि. का अन्त)

ध्रुव—१. उत्पाद व्यय ध्रुव विषयक दे० उत्पाद व्यय ध्रौव्य ।

ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ—दे० प्रकृतिबंध/२।

ध्रुव मतिज्ञान—दे० मतिज्ञान/४।

ध्रुवराज—(दक्षिणमें लाटदेशके नरेश कृष्णराज प्रथमका पुत्र था। राजा श्रीवल्लभका छोटा भाई था। इसने अवन्तीके राजा वत्सराजको युद्धमें हराकर उसका देश छीन लिया था। पीछे मदोन्मत्त हो जानेसे राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्षके प्रति भी विद्रोह किया। फलस्वरूप अमोघवर्षने अपने चचा इन्द्रराजके पुत्र कर्कराजकी सहायतासे इसे हराकर इसका सब देश अपने राज्यमें मिला लिया। यह राजा प्रतिहारवंशी था। समय—श. ७०२-७५७ (ई० ७८०-८३५) दे० इतिहास/३/४ (ह.पु./६६/५२-५३), (ह.पु./प्र./५/पं. पन्नालाल)।

ध्रुव वर्गणा—दे० वर्गणा।

ध्रुव शून्य वर्गणा—दे० वर्गणा।

ध्रुवसेन—श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार महावीर भगवान्‌की मूल परम्परामें चौथे ११ अंगधारी थे। आपके अपरनाम ध्रुवसेन तथा द्रुमसेन भी थे। समय—वी. नि./४२३-४३६ (ई.पू. १०५-९१) दृष्टि नं. ३ के अनुसार वी. नि. ४४२-४५४।-दे० इतिहास/४/४।

ध्वजभूमि—समवशरणकी पाँचवीं भूमि—दे० समवशरण।

ध्वान—Range (ज.प./प्र./१०६)

[न]

नंद—आरा निवासी व गोयलगोत्री एक हिन्दी भाषाके कवि थे। आपने वि. १६६३ (ई. १३०६] में सुदर्शनचरित्र और वि० १६७० (ई० १६१३) में चौपाईबद्ध यशोधरचरित्र लिखा है।)। (हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास।१२६। श्री कामता प्रसाद)।

नंदन—१. वर्द्धमान भगवान्‌का पूर्वका दूसरा भव। एक सज्जनके पुत्र थे—दे० महावीर. २. भगवान्‌के तीर्थमें एक अनुत्तरोपपादिक—दे० अनुत्तरोपपादिक, ३. सौधर्म स्वर्गका सातवाँ पटल—दे० स्वर्ग/५/३; ४. मानुषोत्तर पर्वतका एक कूट व उसपर निवासिनी एक सुपर्णकुमारी देवी। (दे० लोक ५/१०) ५. सुमेरु पर्वतका द्वितीय वन जिसके चारों दिशाओंमें चार चैत्यालय हैं—दे० लोक/३/६। ६. सौमनस व नन्दन वनका एक कूट—दे० लोक/५/५,७.विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर। —दे० विद्याधर।

नंद वंश—मगध देशका एक प्रसिद्ध राज्यवंश था। मगधदेशकी राज्यवंशावलीके अनुसार इसका राज्य राजा पालकके पश्चात् प्रारम्भ हुआ और मौर्यवंशके प्रथम राजा चन्द्रगुप्त द्वारा इसके अन्तिम राजा धनानन्दके परास्त हो जानेपर इसका नाश हो गया। अवन्ती या उज्जैनी नगरी इसकी राजधानी थी, और मगधदेशमें इसकी सत्ता थी। समय—राजा विक्रमादित्यके अनुसार वी. नि. ६०-२१५ (ई० पू० ४६७-३१२); तथा इतिहासकारोंके अनुसार नवनन्दों का काल (ई० पू० ५२६-३२२)—दे० इतिहास/३/४।

(विशेष दे० परिशिष्ट २)।

नंदसप्तमी व्रत—सात वर्ष तक प्रतिवर्ष भादों सुदी ७ को उपवास करे। नमस्कारमन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (निर्दोष सप्तमी व्रतकी भी यही विधि है।), (व्रत-विधान संग्रह/पृ. १०५ तथा ८६). (किशन सिंह क्रियाकोश)।

नंदा—१. भरतक्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी। - दे० मनुष्य/४। २. नन्दीश्वर द्वीपके पूर्व दिशामें स्थित एक वापी—दे० लोक/५/५।३. रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी—दे० लोक/५/१३।

नंदावती—नन्दीश्वर द्वीपकी पूर्वदिशामें स्थित एक वापी—दे० लोक/७।

नंदा व्याख्या—दे० वाचना।

नंदि—नन्दीश्वरद्वीपका तथा दक्षिण नन्दीश्वर द्वीपका रक्षक देव —दे० व्यन्तर/४। २. अपरनाम विष्णुनन्दि था—दे० विष्णुनन्दि।

नंदिघोषा—१. नन्दीश्वरद्वीपकी पूर्वदिशामें स्थित एक वापी—दे० लोक/५/११। २. रुचकवर पर्वतवासिनी दिक्कुमारी—दे० लोक/५/१३

नंदिनी—विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

नंदिप्रभ—उत्तर नन्दीश्वरद्वीपका रक्षकदेव—दे० व्यन्तर/४।

नंदिमित्र—१. श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार आप द्वितीय श्रुत-केवली थे। समय—वी. नि. ७६-९२ (ई. पू./४५१-४३५) दृष्टि नं. ३ के अनुसार वी. नि. ८८-११६ —दे० इतिहास/४/४। २. (म. पु./६६/श्लोक)—पूर्व भव. नं. २ में पिता द्वारा इनके चाचा को युवराज पद दिया गया। इन्होंने इसमें मन्त्रीकाहाथ समझ उससेवैर बाँध लिया और, दीक्षा ले ली तथा मरकर सौधर्म स्वर्गमें उत्पन्न हुए।१०३-१०५। वर्तमान भवमें सप्तम बलभद्र हुए।१०६। (विशेष परिचयके लिए—दे० शलाकापुरुष/३।

नंदिवर्धन—मगध देशका एक शिशुनागवंशी राजा। समय—ई. पू./४६०।

नंदिवर्द्धना—रुचक पर्वत निवासिनी दो दिक्कुमारी देवियाँ—दे० लोक/५/१३।

नंदिषेण—१. पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप जितदण्डके शिष्य और दीपसेनके गुरु थे—दे० इतिहास/७/८। २. छठे बलभद्र थे (विशेष परिचयके लिए—दे० शलाकापुरुष/३); (म. पु./६५/१७४)। ३. (म. पु./५३/श्लोक) धातकीखण्डके पूर्व विदेहस्थ सुकच्छदेशकी क्षेमपुरी नगरीका राजा था। धनपति नामक पुत्र-को राज्य दे दीक्षा धारण कर ली। और अर्हन्नन्दन मुनिके शिष्य हो गये।१२-१३। तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करके मध्यम ग्रैवेयकके मध्य विमानमें अहमिन्द्र हुए।१४-१५। यह भगवान् सुपार्श्वनाथके पूर्वका भव न, २ है—दे० सुपार्श्व नाथ। ४. (ह. पु./१८/१२७-१७४) एक ब्राह्मण पुत्र था। जन्मते ही माँ-बाप मर गये। मासीके पास गया तो वह भी मर गयी। मामाके यहाँ रहा तो इसे गन्दा देखकर उसकी लड़कियोंने इसे वहाँसे निकाल दिया। तब आत्महत्याके लिए पर्वतपर गया। वहाँ मुनिराजके उपदेशसे दीक्षा धर तप किया। निदानबन्ध सहित महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ। यह वसुदेव बलभद्रका पूर्वका दूसरा भव है।—दे० वसुदेव।

नंदिसंघ—दिगम्बर साधुओंका एक संघ।- दे० इतिहास/५/२।

नंदीश्वर कथा—आ. शुभचन्द्र (ई. १५१६-१५५६) द्वारा रचित संस्कृत छन्दबद्ध एक ग्रन्थ। (दे० शुभचन्द्र)।

नंदीश्वर द्वीप—यह मध्यलोकका अष्टम द्वीप है (दे० लोक/४/१) इस द्वीपमें १६ वापियाँ, ४ अंजनगिरि, १६ दधिमुख और ३२ रतिकर नामके कुल ५२ पर्वत हैं। प्रत्येक पर्वतपर एक-एक चैत्यालय है। प्रत्येक अष्टाह्निक पर्वमें अर्थात् कार्तिक, फाल्गुन व आषाढ़ मासके अन्तिम आठ-आठ दिनोंमें देवलोग उस द्वीपमें जाकर तथा मनुष्य-लोग अपने मन्दिरों व चैत्यालयोंमें उस द्वीपकी स्थापना करके, खूब भक्ति-भावसे इन ५२ चैत्यालयोंकी पूजा करते हैं। इस द्वीपकी विशेष रचनाके लिए—दे० लोक/४/५

नंदीश्वर पंक्तिव्रत—एक अंजनगिरिका एक बेला, ४ दधिमुख-के ४ उपवास और आठ रतिकरके ८ उपवास। इस प्रकार चारों दिशाओं सम्बन्धी ४ बेला व ४८ उपवास करे। बीचके ५२ स्थानोंमें एक-एक पारणा करे। इस प्रकार यह व्रत कुल १०८ दिनमें पूरा होता है। 'ॐ ह्रीं नन्दीश्वरद्वीपस्य द्वापञ्चाशज्जिनालयेभ्यो नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (ह. पु./३४/८४) (वसु. श्रा./३७३-३७५); (व्रतविधान संग्रह/पृ. ११७); (किशनसिंह क्रियाकोश)।

नंदीश्वर सागर—नन्दीश्वरके आगेवाला आठवाँ सागर—दे० लोक/५/१।

नंदीसंघ—एक संघ।- दे० इतिहास/७/४,५।

नंदीसूत्र—वल्लभी वाचना के समय वि सं० ५११ में रचा गया (जै. सा. इ./१/३१०)।

नंदोत्तरा—१. नन्दीश्वरद्वीपकी पूर्वदिशामें स्थित एक वापी। —दे० लोक५/११ २. मानुषोत्तर पर्वतके लोहिताक्षकूटका स्वामी एक सुपर्णकुमार देव—दे० लोक५/१० ३. रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/५/१३।

नंद्यावर्त—१. सौधर्म स्वर्गका २६ वाँ पटल।—दे० स्वर्ग/५/३, २. रुचक पर्वतका एक कूट। दे० लोक/५/१३।

नकुल—(पा. पु./सर्ग / श्लोक)। मद्री रानीसे राजा पाण्डुका पुत्र था। (८/१७४-१७५)। ताऊ भीष्मसे तथा गुरु द्रोणाचार्यसे धनुष-विद्या प्राप्त की। (८/२०८-२१४)। (विशेष दे० पाण्डव)। अन्तमें अपना पूर्वभव सुन दीक्षा धारण कर ली। (२५/१२)। घोर तप किया (२५/१७-५१)। दुर्योधनके भानजे कुर्युधर द्वारा शत्रुंजयगिरि पर्वतपर घोर उपसर्ग सहा और सर्वार्थसिद्धि गये (२५/५२-१३६)। पूर्व भव नं. २ में यह धनश्री ब्राह्मणी था। (२३।८२)। और पूर्व भव नं. १ में अच्युतस्वर्गमें देव। (२३/११४)। वर्तमान भवमें नकुल हुए। (२४/७७)।

नक्रश्वा—भरतक्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी।—दे० मनुष्य/४।

नक्षत्र—श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार आप प्रथम ११ अंगधारी थे। समय—वी. नि. ३४५-३६३ (ई. पू./१८२-१६४)। दृष्टि नं. ३ के अनुसार वी. नि. ४०५-४१७ —दे० इतिहास ४/४।

नक्षत्र—१. नक्षत्र परिचय तालिका

नं०	नाम (ति.प./७/२६-२८) (त्रि. सा./४३२-३३)	अधिपति देवता (त्रि.सा./४३४-३५)	आकार (ति.प./७/४६५-४६७) (त्रि.सा./४४२-४४४)	मूल तारोंका प्रमाण (ति.प./७/४६३-४६४) (त्रि.सा./४४०-४४१)	परिवार तारोंका प्रमाण (ति.प./७/४६८-४६९) (त्रि. सा./४४५)
१	कृत्तिका	अग्नि	बीजना	६	६६६६
२	रोहिणी	प्रजापति	गाड़ीकी उद्धि	५	५५५५
३	मृगशिरा	सोम	हिरणका शिर	३	३३३३
४	आर्द्रा	रुद्र	दीप	१	११११
५	पुनर्वसु	दिति	तोरण	६	६६६६
६	पुष्य	देवमन्त्री (बृहस्पति)	छत्र	३	३३३३
७	आश्लेषा	सर्प	चींटी आदि कृत मिट्टीका पुंज	६	६६६६
८	मघा	पिता	गोमूत्र	४	४४४४
९	पूर्वाफाल्गुनी	भग	शर युगल	२	२२२२
१०	उत्तराफाल्गु.	अर्यमा	हाथ	२	२२२२
११	हस्त	दिनकर	कमल	५	५५५५
१२	चित्रा	त्वष्टा	दीप	१	११११
१३	स्वाति	अनिल	अधिकरण (अहिरिणी)	१	११११
१४	विशाखा	इन्द्राग्नि	हार	४	४४४४
१५	अनुराधा	मित्र	वीणा	६	६६६६
१६	ज्येष्ठा	इन्द्र	सींग	३	३३३३
१७	मूल	नैर्ऋति	बिच्छू	९	९९९९
१८	पूर्वाषाढ़ा	जल	जीर्ण वापी	४	४४४४
१९	उत्तराषाढ़ा	विश्व	सिंहका शिर	४	४४४४
२०	अभिजित	ब्रह्मा	हाथीका शिर	३	३३३३
२१	श्रवण	विष्णु	मृदंग	३	३३३३
२२	धनिष्ठा	वसु	पतित पक्षी	५	५५५५
२३	शतभिषा	वरुण	सेना	१११	१२३३२१
२४	पूर्वाभाद्रपदा	अज	हाथीका अगला शरीर	२	२२२२
२५	उत्तराभाद्रप.	अभिवृद्धि	हाथीका पिछला शरीर	२	२२२२
२६	रेवती	पूषा	नौका	३२	३५५५२
२७	अश्विनी	अश्व	घोड़ेका शिर	५	५५५५
२८	भरणी	यम	चूल्हा	३	३३३३

२. नक्षत्रोंके उदय व अस्तका क्रम

ति. प./७/४६३ एदि मघा मज्झण्हे कित्तियरिक्खस्स अत्थमणसमए। उदए अणुराहाओ एवं जाणेज्ज सेसाओ।४६३। —कृत्तिका नक्षत्रके अस्तमन कालमें मघा मध्याह्नको और अनुराधा उदयको प्राप्त होता है, इसी प्रकार शेष नक्षत्रोंके भी उदयादिको जानना चाहिए (विशेषार्थ—जिस समय किसी विवक्षित नक्षत्रका अस्तमन होता है, उस समय उससे आठवाँ नक्षत्र उदयको प्राप्त होता है। इस नियमके अनुसार कृत्तिकादिकके अतिरिक्त शेष नक्षत्रोंके भी अस्तमन मध्याह्न और उदयको स्वयं ही जान लेना चाहिए।)

त्रि. सा./४३६ कित्तियपडतिसमए अट्ठम मघरिक्खमेदि मज्झण्हं। अणुराहारिक्खुदओ एवं सेसे वि भासिज्जो ।४३६। –कृत्तिका नक्षत्रके अस्तके समय इससे आठवाँ मघा नक्षत्र मध्याह्नको प्राप्त होता है अर्थात् बोचमें होता है और उस मघासे आठवाँ नक्षत्र उदयको प्राप्त होता है। ऐसे ही रोहिणी आदि नक्षत्रोंमें-से जो विवक्षित नक्षत्र अस्तको प्राप्त होता है उससे आठवाँ नक्षत्र मध्याह्नको और उससे भी आठवाँ नक्षत्र उदयको प्राप्त होता है।

★ **नक्षत्रोंकी कुल संख्या, उनका लोकमें अवस्थान व संचार विधि**—दे० ज्योतिषदेव /२/३,६,७।

नक्षत्रमाला व्रत—प्रथम अश्विनी नक्षत्रसे लेकर एकान्तरा क्रमसे ५४ दिनमें २७ उपवास पूरे करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत-विधान-संग्रह/पृ. ५३); (किशन सिंह क्रियाकोश)।

नगर—(ति. प./४/१३६८)– णयरं चउगोउरेहिं रमणिज्जं। –चार गोपुरों (व कोट) से रमणीय नगर होता है। (ध. १३/५,५,६३/३३४/१२); (त्रि. सा./६७४-६७६)।

म. पु./१६/१६९-१७० परिखागोपुराट्टालवप्राकारमण्डितम्। नानाभवनविन्यासं सोद्यानं सजलाशयम् ।१६९। पुरमेवंविधं शस्तं उचितोद्देशसुस्थितम्। पूर्वोत्तर-प्लवाम्भस्कं प्रधानपुरुषोचितम् ।१७०। –जो परिखा, गोपुर, अटारी, कोट और प्राकारसे सुशोभित हो, जिसमें अनेक भवन बने हुए हों, जो बगीचे और तालाबोंसे सहित हो, जो उत्तम रीतिसे अच्छे स्थानपर बसा हुआ हो, जिसमें पानीका प्रवाह ईशान दिशाकी ओर हो और जो प्रधान पुरुषोंके रहनेके योग्य हो वह प्रशंसनीय पुर अथवा नगर कहलाता है ।१६९-१७०।

नग्नता—दे० अचेलत्व।

नघुष—(प. पु./२२/श्लोक) हिरण्यगर्भका पुत्र तथा सुकौशलका पोता था ।११३। शत्रुको वश करनेके कारण इसे सुदास भी कहते थे। ।१३१। मांसभक्षी बन गया। रसोइयेने मरे हुए बच्चेका मांस खिला दिया ।१३८। नरमांस खानेका व्यसनी हो जानेसे अन्तमें रसोइयेको ही खा गया ।१४६। प्रजाने विद्रोह करके देशसे निकाल दिया। तब अणुव्रत धारण किये ।१४८। राजाका पटबन्ध हाथी उसे उठाकर ले गया, जिस कारण उसे पुनः राज्यपद मिला ।१४१। फिर उसने अपने पुत्रको जीतकर, समस्त राज्य उसीको सौंप स्वयं दीक्षा धारण कर ली ।१५२।

नति—दे० नमस्कार।

नदी—१. लोक स्थित नदियोंका निर्देश व विस्तार आदि—दे० लोक३/६; २. नदियोंका लोकमें अवस्थान—दे० लोक/ ३/११।

नदीस्रोत न्याय—

ध. १/१,१,१६/१८०/७ नदीस्रोतोन्यायेन सन्तीत्यनुवर्तमाने। –नदी स्रोतन्यास 'सन्ति' इस पदकी अनुवृत्ति चली आती है।

नन्नराज—आप वर्द्धमानपुरके राजा थे, इनके समयमें ही वर्द्धमानपुरके श्रीपार्श्वनाथके चैत्यालयमें श्रीमज्जिनसेनाचार्यने हरिवंशपुराणकी रचना प्रारम्भ की थी। समय—श ७००-७२५ (ई० ७७८-८०३); (ह. पु./६६/५२-५३)।

नपुंसक—१. भाव नपुंसक निर्देश

पं. सं./प्रा./१/१०७ णेवित्थि णेव पुरिसो णउंसओ उभयलिंगवदिरित्तो। इट्टावग्गिसमाणो वेदणगरुओ कलुसचित्तो। –जो भावसे न स्त्रीरूप है न पुरुषरूप, जो द्रव्यकी अपेक्षा तो स्त्रीलिंग व पुरुषलिंगसे रहित है। ईंटोंके पकानेवाली अग्निके समान वेदकी प्रबल वेदनासे युक्त है, और सदा कलुषचित्त है, उसे नपुंसकवेद जानना चाहिए। (ध. १/१,१,१०१/१७१/३४२); (गो. जी./मू./२७५/५९६)।

स. सि./२/५२/२००/७ नपुंसकवेदोदयात्तदुभयशक्तिविकलं नपुंसकम्। –नपुंसकवेदके उदयसे जो (स्त्री व पुरुष) दोनों शक्तियोंसे रहित है वह नपुंसक है। (ध. ६/१,९-१/२४/४६/१)।

ध. १/१,१,१०१/३४१/११ न स्त्री न पुमान्नपुंसकमुभयाभिलाष इति यावत्। –जो न स्त्री है और न पुरुष है, उसे नपुंसक कहते हैं, अर्थात् जिसके स्त्री और पुरुष विषयक दोनों प्रकारकी अभिलाषा रूप (मैथुन संज्ञा) पायी जाती है, उसे नपुंसक कहते हैं। (गो. जी./जी. प्र./२७१/५९१/१७)।

२. द्रव्य नपुंसक निर्देश

पं. सं./प्रा./१/१०७ उभयलिंगवदिरित्तो। –स्त्री व पुरुष दोनों प्रकारके लिंगोंसे रहित हो वह नपुंसक है। (ध. १/१,१,१०१/१७२/३४२); (गो. जी./मू./२७५/५९६)।

गो. जी./जी. प्र./२७१/५९२/१ नपुंसकवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्ताङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयेन उभयलिङ्ग व्यतिरिक्तदेहाङ्कितो भवप्रथमसमयमादिं कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यन्तं द्रव्यनपुंसकं जीवो भवति।

गो. जी./जी./प्र./२७५/५९७/४ उभयलिङ्गव्यतिरिक्तः श्मश्रुस्तनादिपुंस्त्रीद्रव्यलिंगरहितः·· जीवो नपुंसकमिति। – नपुंसकवेदके उदयसे तथा निर्माण नामकर्म सहित अंगोपांग नामकर्मके उदयसे स्त्री व पुरुष दोनों लिंगोंसे रहित अर्थात् मूँछ, दाढ़ी व स्तनादि, पुरुष व स्त्री योग्य द्रव्य लिंगसे रहित देहसे अंकित जीव, भवके प्रथम समयसे लेकर उस भवके चरम समय पर्यन्त द्रव्य नपुंसक होता है।

३. नपुंसक वेदकर्म निर्देश

स. सि./८/९/३८६/३ यदुदयान्नपुंसकान्भावानुपव्रजति स नपुंसकवेदः। –जिसके उदयसे नपुंसक सम्बन्धी भावोंको प्राप्त होता है (दे० भाव नपुंसक निर्देश), वह नपुंसक वेद है। (रा.वा./८/९/४/५७४/२१) (गो. क./जी. प्र./३३/२८/१)।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

१. द्रव्य भाव नपुंसकवेद सम्बन्धी विषय। —दे० वेद।
२. नपुंसकवेदी भी 'मनुष्य' कहलाता है। —दे० वेद/२।
३. साधुओंको नपुंसककी संगति वर्जनीय है। —दे० संगति।
४. नपुंसकवेद प्रकृतिके बन्ध योग्य परिणाम। —दे० मोहनीय/३/६।
५. नपुंसकको दीक्षा व मोक्षका निषेध। —दे० वेद/७।

नभःसेन—दे० नरवाहन।

नभ—एक ग्रह—दे० ग्रह।

नभस्तिलक—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका नगर —दे० विद्याधर।

नमस्कार—१. नमस्कार व प्रणाम सामान्य

मू.आ./२५ अरहंतसिद्धपडिमातवसुदगुणगुरूण रादीणं। किदियम्मेणिदरेण य तियरणसंकोचणं पणमो ।२५। –अर्हंत व सिद्ध प्रतिमाको, तप व श्रुत व अन्य गुणोंमें प्रधान जो तपगुरु, श्रुतगुरु और गुणगुरु उनको तथा दीक्षा व शिक्षा गुरुको, सिद्धभक्ति आदि कृतिकर्म द्वारा (दे० कृतिकर्म/४/३) अथवा बिना कृतिकर्मके, मन, वचन व काय तीनोंका संकोचना या नमस्कार करना प्रणाम कहलाता है।

भ.आ./मू./७५४/६१८ मणसा गुणपरिणामो वाचा गुणभासणं च पचण्हं। काएण संपणामो एस पयत्थो णमोक्कारो। —मनके द्वारा अर्हंतादि पंचपरमेष्ठीके गुणोंका स्मरण करना, वचनके द्वारा उनके गुणोंका वर्णन करना, शरीरसे उनके चरणोंमें नमस्कार करना यह नमस्कार शब्दका अर्थ है। (भ आ./वि/५०१/७२८/१३)

ध.८/३/४२/९२/७ पंचहि मुट्ठीहि जिणिदचलणेसु णिवदणं णमंसणं। —पाँच मुष्टियों अर्थात् पाँच अंगोंसे जिनेन्द्रदेवके चरणोंमें गिरनेको नमस्कार कहते हैं।

२. एकांगी आदि नमस्कार विशेष

अन.ध./८/९४-९५/८९६ योगैः प्रणामस्त्रेधार्हज्ज्ञानादेः कीर्तनात्त्रिभिः। कं करौ ककरं जानुकरं ककरजानु च।९४। नम्रमेकद्वित्रिचतुःपञ्चाङ्गः कायिकैः क्रमात्। प्रणामः पञ्चधा वाचि यथास्थानं क्रियते सः।९५।

टीकामें उद्धृत—मनसा वचसा तन्वा कुरुते कीर्तनं मुनिः। ज्ञानादीनां जिनेन्द्रस्य प्रणामस्त्रिविधो मतः। एकाङ्गो नमने मूर्ध्नो द्व्यङ्गः स्यात् करयोरपि। त्र्यङ्गः करशिरोनामे प्रणामः कथितो जिनैः। करजानुविनामेऽसौ चतुरङ्गो मनीषिभिः। करजानुशिरोनामे पञ्चाङ्गः परिकीर्तितः। प्रणामः कायिको ज्ञात्वा पञ्चधेति मुमुक्षुभिः। विधातव्यो यथास्थानं जिनसिद्धादिवन्दने। —जिनेन्द्रके ज्ञानादिकका कीर्तन करना, मन, वचन, कायकी अपेक्षा तीन प्रकारका है। जिसमें कायिक प्रणाम पाँच तरहका है। केवल शिरके नमानेपर एकांग, दोनों हाथोंको नमानेसे द्व्यंग, दोनों हाथ और शिरके नमानेपर त्र्यंग, दोनों हाथ और दोनों घुटने नमानेपर चतुरंग तथा दोनों हाथ, दोनों घुटने व मस्तक नमानेपर पंचांग प्रणाम या नमस्कार कहा जाता है। सो इन पाँचोंमें कैसा प्रणाम कहाँ करना चाहिए ऐसा जानकर यथास्थान यथायोग्य प्रणाम करना चाहिए।

३. अवनमन या नति

ध.१३/५,४,२८/८९/५ ओणदं अवनमनं भूमावासनमित्यर्थः। —ओणदका अर्थ अवनमन अर्थात् भूमिमें बैठना है।

४. शिरोनति

ध./१३/५,४,२८/८९/१२ जं जिणिदं पडि सीसणमणं तमेगं सिरं। —जिनेन्द्रदेवको शिर नवाना एक सिर अर्थात् शिरोनति कहलाती है।

अन. ध./८/९०/८९७ प्रत्यावर्तत्रयं भक्त्या नन्नमत् क्रियते शिरः। यत्पाणिकुड्मलाङ्कं तत् क्रियायां स्याच्चतुःशिरः। —प्रकृतमें शिर या शिरोनति शब्दका अर्थ भक्ति पूर्वक मुकुलित हुए दोनों हाथोंसे संयुक्त मस्तकका तीन-तीन आवर्तोंके अनन्तर नम्रीभूत होना समझना चाहिए।

५. कृतिकर्ममें नमस्कार व नति करनेकी विधि

ध.१३/५,४,२८/८९/५ तं च तिण्णिवारं कीरदे त्ति तियोणदमिदि भणिदं। तं जहा—सुद्धमणो धोदपादो जिणिंददंसणजणिदहरिसेण पुलइदंगो संतो जं जिणस्स अग्गे बइसदि तमेगमोणदं। जमुट्ठिऊण जिणिदादीणं विण्णत्ति कादूण बइसणं तं बिदियमोणदं। पुणो उट्ठिय सामाइयदंडएण अप्पसुद्धि काऊण सकसायदेहुस्सग्गं करिय जिणाणंतगुणे ज्झाइय चउवीसतित्थयराणं वंदणं काऊण पुणो जिणजिणालयगुरवाणं संथवं काऊण जं भूमीए बइसणं तं तदियमोणदं। एवं एक्केक्कम्हि किरियाकम्मे कीरमाणे तिण्णि चेव ओणमणाणि होंति। सव्वकिरियाकम्मं चदुसिरं होदि। तं जहा सामाइयस्स आदीए जं जिणिदं पडि सीसणमणं तमेगं सिरं। तस्सेव अवसाणे जं सीसणमणं तं बिदियं सीसं। थोस्सामिदंडयस्स आदीए जं सीसणमणं तं तदियं सिरं। तस्सेव अवसाणे जं णमणं तं चउत्थं सिरं। एवमेगं किरियाकम्मं चदुसिरं होदि। …अथवा सव्वं पि किरियाकम्मं चदुसिरं चदुप्पहाणं होदि; अरहंतसिद्धसाहुधम्मे चेव पहाणभूदे कादूण सव्वकिरियाकम्माणं पउत्ति दंसणादो। —वह (अवनमन या नमस्कार) तीन बार किया जाता है, इसलिए तीन बार अवनमन करना कहा है। यथा—शुद्धमन, धौतपाद और जिनेन्द्रके दर्शनसे उत्पन्न हुए हर्षसे पुलकित वदन होकर जो जिनदेवके आगे बैठना (पंचांग नमस्कार करना), प्रथम अवनति है। तथा जो उठकर जिनेन्द्र आदिके सामने विज्ञप्ति (प्रतिज्ञा) कर बैठना यह दूसरी अवनति है। फिर उठकर सामायिक दण्डकके द्वारा आत्मशुद्धि करके, कषायसहित देहका उत्सर्ग करके अर्थात् कायोत्सर्ग करके, जिनदेवके अनन्तगुणोंका ध्यान करके, चौबीस तीर्थंकरोंकी वन्दना करके, फिर जिन, जिनालय और गुरुकी स्तुति करके जो भूमिमें बैठना (नमस्कार करना) वह तीसरी अवनति है। इस प्रकार एक-एक क्रियाकर्म करते समय तीन ही अवनति होती हैं। सब क्रियाकर्म चतुःशिर होता है। यथा सामायिक (दण्डक) के आदिमें जो जिनेन्द्रदेवको सिर नवाना वह एकसिर है। उसीके अन्तमें जो सिर नवाना वह दूसरा सिर है। त्थोस्सामि दण्डकके आदिमें जो सिर नवाना वह तीसरा सिर है। तथा उसीके अन्तमें जो नमस्कार करना वह चौथा सिर है। इस प्रकार एक क्रियाकर्म चतुःशिर होता है। अथवा सभी क्रियाकर्म चतुःशिर अर्थात् चतुःप्रधान होता है, क्योंकि अर्हंत, सिद्ध, साधु और धर्मको प्रधान करके सब क्रियाकर्मोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है। (अन. ध./८/९३/८९९)।

अन.ध./८/९१/८९७ प्रतिभ्रामरि वार्चादिस्तुतौ दिश्येकश्चरेत्। त्रीनावर्तान् शिरश्चैकं तदाधिक्यं न दुष्यति। —चैत्यादिकी भक्ति करते समय प्रत्येक प्रदक्षिणामें पूर्वादि चारों दिशाओंकी तरफ प्रत्येक दिशामें तीन आवर्त और एक शिरोनति करनी चाहिए।

विशेष टिप्पणी—दे० कृतिकर्म/२ तथा ४/२।

★ अधिक बार करनेका निषेध नहीं—दे० कृतिकर्म/२/६।

६. नमस्कारके आध्यात्मिक भेद

भ. आ./वि./७२२/८९७/२ नमस्कारो द्विविधः द्रव्यनमस्कारो भावनमस्कारः।

भ. आ./वि/७५३/९१६/५ नमस्कारः नामस्थापनाद्रव्यभावविकल्पेन चतुर्धा व्यवस्थितः। —नमस्कार दो प्रकारका है—द्रव्य नमस्कार व भाव नमस्कार। अथवा नाम, स्थापना, द्रव्य व भावकी अपेक्षा नमस्कार चार प्रकारका है।

पं. का./ता.वृ./१/५/६ आशीर्वस्तुनमस्क्रियाभेदेन नमस्कारस्त्रिधा। —आशीर्वाद, वस्तु और नमस्क्रियाके भेदसे नमस्कार तीन प्रकारका होता है।

७. द्रव्य व भाव नमस्कार सामान्य निर्देश

भ.आ./वि/७२२/८९७/२ नमस्तस्मै इत्यादि शब्दोच्चारणं, उत्तमाङ्गावनतिः, कृताञ्जलिता द्रव्यनमस्कारः। नमस्कर्तव्यानां गुणानुरागो भावनमस्कारस्तत्र रतिः। —श्री जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो ऐसा मुखसे कहना, मस्तक नम्र करना और हाथ जोड़ना यह द्रव्य नमस्कार है और नमस्कार करने योग्य व्यक्तियोंके गुणोंमें अनुराग करना, यह भाव नमस्कार है। नोट—द्रव्य नमस्कार विशेषके लिए—दे० शीर्षक ५ तथा भाव नमस्कार विशेषके लिए—दे० आगे नं० ८। नाम व स्थापनादि चार भेदोंके लक्षण—दे० निक्षेप।

८. भेद अभेद भाव नमस्कार निर्देश

प्र.सा./त.प्र./२०० स्वयमेव भवतु चास्यैवं दर्शनविशुद्धिमूलया सम्यग्ज्ञानोपयुक्ततयात्यन्तमव्याबाधरतत्वात्साधोरपि साक्षात्सिद्धभूतस्य

स्यात्मनस्तथाभूतानां परमात्मनां च नित्यमेव तदेकपरायणत्वलक्षणो भावनमस्कारः ।

प्र.सा./त.प्र./२७४ मोक्षसाधनतत्त्वस्य शुद्धस्य परस्परमङ्गाङ्गिभावपरिणतभाव्यभावकभावत्वात्प्रत्यस्तमितस्वपरविभागो भावनमस्कारोऽस्तु । —इस प्रकार दर्शनविशुद्धि जिसका मूल है ऐसी, सम्यग्ज्ञानमें उपयुक्तताके कारण अत्यन्त अव्याबाध (निर्विघ्न व निश्चल) लीनता होनेसे, साधु होनेपर भी साक्षात् सिद्धभूत निज आत्माको तथा सिद्धभूत परमात्माओंको, उसीमें एकपरायणता जिसका लक्षण है ऐसा भाव नमस्कार सदा ही स्वयमेव हो । अथवा मोक्षके साधन तत्त्वरूप 'शुद्ध' को जिसमें-से परस्पर अङ्ग-अङ्गीरूपसे परिणमित भाव्यभावकताके कारण स्व-परका विभाग अस्त हुआ है ऐसा भाव नमस्कार हो । (अर्थात् अभेद रत्नत्रय रूप शुद्धोपयोग परिणति ही भाव नमस्कार है ।)

प्र.सा./ता.वृ./५/६/१६ अहमाराधकः, एते च अर्हदादयः आराध्या इत्याराध्याराधकविकल्परूपो द्वैतनमस्कारो भण्यते । रागाद्युपाधिरहितपरमसमाधिबलेनात्मन्येवाराध्याराधकभावः पुनरद्वैतनमस्कारो भण्यते । —'मैं आराधक हूँ और ये अर्हंत आदि आराध्य हैं,' इस प्रकार आराध्य-आराधकके विकल्परूप द्वैत नमस्कार है, तथा रागादिरूप उपाधिके विकल्पसे रहित परमसमाधिके बलसे आत्मामें (तन्मयतारूप) आराध्य-आराधक भावका होना अद्वैत नमस्कार कहलाता है ।

द्र.सं./टी./१/४/१२ एकदेशशुद्धनिश्चयनयेन स्वशुद्धात्माराधनलक्षणभावस्तवनेन, असद्भूतव्यवहारनयेन तत्प्रतिपादकवचनरूपद्रव्यस्तवनेन च 'वन्दे' नमस्करोमि । परमशुद्धनिश्चयनयेन पुनर्वन्द्यवन्दकभावो नास्ति । —एकदेश शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षासे निज शुद्धात्माका आराधन करनेरूप भावस्तवनसे और असद्भूत व्यवहार नयकी अपेक्षा उस निजशुद्धात्माका प्रतिपादन करनेवाले वचनरूप द्रव्यस्तवनसे नमस्कार करता हूँ । तथा परम शुद्धनिश्चयनयसे वन्द्य-वन्दक भाव नहीं है ।

पं.का./ता.वृ./१/४/२० अनन्तज्ञानादिगुणस्मरणरूपभावनमस्कारोऽशुद्धनिश्चयनयेन, नमो जिनेभ्य इति वचनात्मद्रव्यनमस्कारोऽप्यसद्भूतव्यवहारनयेन शुद्धनिश्चयनयेन स्वस्मिन्नेवाराध्याराधकभावः । —भगवान्‌के अनन्तज्ञानादि गुणोंके स्मरणरूप भावनमस्कार अशुद्ध निश्चयनयसे है । 'जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार हो' ऐसा वचनात्मक द्रव्यनमस्कार भी असद्भूत व्यवहारनयसे है । शुद्धनिश्चयनयसे तो अपनेमें ही आराध्य-आराधक भाव होता है । विशेषार्थ—वचन और कायसे किया गया द्रव्य नमस्कार व्यवहार नयसे नमस्कार है । मनसे किया गया भाव नमस्कार तीन प्रकारका है—भगवान्‌के गुण चिन्तवनरूप, निजात्माके गुण चिन्तवनरूप तथा शुद्धात्म संवेदन रूप । तहाँ पहला और दूसरा भेद या द्वैतरूप हैं और तीसरा अभेद व अद्वैत रूप । पहला अशुद्ध निश्चयनयसे नमस्कार है, दूसरा एकदेश शुद्धनिश्चयनयसे नमस्कार है और तीसरा साक्षात् शुद्ध निश्चय नयसे नमस्कार है ।

★ साधुओं आदिको नमस्कार करने सम्बन्धी

—दे० विनय ।

नमस्कार मन्त्र—दे० मन्त्र ।

नमि—१. (प.पु./३/३०६-३०८)—नमि और विनमि ये दो भगवान् आदिनाथके सालेके पुत्र थे । ध्यानस्थ अवस्थामें भगवान्‌से भक्ति पूर्वक राज्यकी याचना करनेपर धरणेन्द्रने प्रगट होकर इन्हें विजयार्धकी श्रेणियोंका राज्य दे दिया और साथ ही कुछ विद्याएँ भी प्रदान की । इन्हींसे ही विद्याधर वंशकी उत्पत्ति हुई । —दे० इतिहास/७/१४—म.पु./१८/९१-१४१ । २. भगवान् वीरके तीर्थका एक अन्तकृत् केवली —दे० अन्तकृत ।

नमिनाथ—(म.पु./६९/श्लोक)—पूर्वभव नं. २ में कौशाम्बी नगरीके राजा पार्थिवके पुत्र सिद्धार्थ थे ।२-४। पूर्वभव नं. १ में अपराजित विमानमें अहमिन्द्र हुए ।१६। वर्तमान भवमें २१वें तीर्थंकर हुए । (युगपत् सर्वभव दे० म.पु./६९/७१) । इनका विशेष परिचय —दे० तीर्थंकर/५ ।

नमित—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर ।

नमुचि—राजा पद्मका मन्त्री । विशेष—दे० बलि ।

नय—अनन्त धर्मात्मक होनेके कारण वस्तु बड़ी जटिल है (दे. अनेकान्त) । उसको जाना जा सकता है, पर कहा नहीं जा सकता । उसे कहनेके लिए वस्तुका विश्लेषण करके एक-एक धर्म द्वारा क्रमपूर्वक उसका निरूपण करनेके अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं है । कौन धर्मको पहले और कौनको पीछे कहा जाये यह भी कोई नियम नहीं है । यथा अवसर ज्ञानी वक्ता स्वयं किसी एक धर्मको मुख्य करके उसका कथन करता है । उस समय उसकी दृष्टिमें अन्य धर्म गौण होते हैं पर निषिद्ध नहीं । कोई एक निष्पक्ष श्रोता उस प्ररूपणाको क्रम-पूर्वक सुनता हुआ अन्तमें वस्तुके यथार्थ अखण्ड व्यापकरूपको ग्रहण कर लेता है । अतः गुरु-शिष्यके मध्य यह न्याय अत्यन्त उपकारी है । अतः इस न्यायको सिद्धान्तरूपसे अपनाया जाना न्याय संगत है । यह न्याय श्रोताको वस्तुके निकट ले जानेके कारण 'नयतीति नयः' के अनुसार नय कहलाता है । अथवा वक्ताके अभिप्रायको या वस्तुके एकांश ग्राही ज्ञानको नय कहते हैं । सम्पूर्ण वस्तुके ज्ञानको प्रमाण तथा उसके अंशको नय कहते हैं ।

अनेक धर्मोंको युगपत् ग्रहण करनेके कारण प्रमाण अनेकान्तरूप व सकलादेशी है, तथा एक धर्मके ग्रहण करनेके कारण नय एकान्तरूप व विकलादेशी है । प्रमाण ज्ञानकी अर्थात् अन्य धर्मोंकी अपेक्षाको बुद्धिमें सुरक्षित रखते हुए प्रयोग किया जानेवाला नय ज्ञान या नय वाक्य सम्यक् है और उनकी अपेक्षाको छोड़कर उतनी मात्र ही वस्तुको जाननेवाला नय ज्ञान या नय वाक्य मिथ्या है । वक्ता या श्रोताको इस प्रकारकी एकान्त हठ या पक्षपात करना योग्य नहीं, क्योंकि वस्तु उतनी मात्र है ही नहीं—दे० एकान्त ।

यद्यपि वस्तुका व्यापक यथार्थ रूप नयज्ञानका विषय न होनेके कारण नयज्ञानका ग्रहण ठीक नहीं, परन्तु प्रारम्भिक अवस्थामें उसका आश्रय परमोपकारी होनेके कारण वह उपादेय है । फिर भी नयका पक्ष करके विवाद करना योग्य नहीं है । समन्वय दृष्टिसे काम लेना ही नयज्ञानकी उपयोगिता है—दे० स्याद्वाद ।

पदार्थ तीन कोटियोंमें विभाजित हैं—या तो वे अर्थात्मक अर्थात् वस्तुरूप हैं, या शब्दात्मक अर्थात् वाचकरूप हैं और या ज्ञानात्मक अर्थात् प्रतिभास रूप हैं । अतः उन-उनको विषय करनेके कारण नय ज्ञान व नय वाक्य भी तीन प्रकारके हैं—अर्थनय, शब्दनय व ज्ञाननय । मुख्य गौण विवक्षाके कारण वक्ताके अभिप्राय भी अनेक प्रकारके होते हैं, जिससे नय भी अनेक प्रकारके हैं । वस्तुके सामान्यांश अर्थात् द्रव्यको विषय करनेवाला नय द्रव्यार्थिक और उसके विशेषांश अर्थात् पर्यायको विषय करनेवाला नय पर्यायार्थिक होता है । इन दो मूल भेदोंके भी आगे अनेकों उत्तर-भेद हो जाते हैं । इसी प्रकार वस्तुके अन्तरंगरूप या स्वभावको विषय करनेवाला निश्चय और उसके बाह्य या संयोगी रूपको विषय करनेवाला नय व्यवहार कहलाता है अथवा गुण-गुणीमें अभेदको विषय करनेवाला निश्चय और उनमें कथंचित् भेदको विषय करनेवाला व्यवहार कहलाता है । तथा इसी प्रकार अन्य भेद-प्रभेदोंका यह नयचक्र उतना ही जटिल है जितनी कि उसकी विषयभूत वस्तु । उस सबका परिचय इस अधिकारमें दिया जायेगा ।

I नय सामान्य

१. नय सामान्य निर्देश

१. नय सामान्यका लक्षण

१. निरुक्त्यर्थ—

ध. १/१,१,१/ ३,४/१० उच्चारियमत्थपदं णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण। अत्थं णयंति पच्चंतमिदि तदो ते णया भणिया।३। णयदि त्ति णयो भणिओ बहूहि गुण-पज्जएहि जं दव्वं। परिणामखेत्तकालंतरेसु अविणट्ठसब्भावं।४। —उच्चारण किये अर्थ, पद और उसमें किये गये निक्षेपको देखकर अर्थात् समझकर पदार्थको ठीक निर्णय तक पहुँचा देते हैं, इसलिए वे नय कहलाते हैं।३। क. पा. १/१३-१४/§२१०/गा. ११८/२५६)। अनेक गुण और अनेक पर्यायोंसहित, अथवा उनके द्वारा, एक परिणामसे दूसरे परिणाममें, एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें और एक कालसे दूसरे कालमें अविनाशी स्वभावरूपसे रहनेवाले द्रव्यको जो ले जाता है, अर्थात् उसका ज्ञान करा देता है, उसे नय कहते हैं।४।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य/१/३५ जीवादीन् पदार्थान् नयन्ति प्राप्नुवन्ति, कारयन्ति, साधयन्ति, निर्वर्तयन्ति, निर्भासयन्ति, उपलम्भयन्ति, व्यञ्जयन्ति इति नयाः। —जीवादि पदार्थोंको जो लाते हैं, प्राप्त कराते हैं, बनाते हैं, अवभास कराते हैं, उपलब्ध कराते हैं, प्रगट कराते हैं, वे नय हैं।

आ. प./६ नानास्वभावेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्स्वभावे वस्तु नयति प्रापयतीति वा नयः। —नाना स्वभावोंसे हटाकर वस्तुको एक स्वभावमें जो प्राप्त कराये उसे नय कहते हैं। (न. च. श्रुत/पृ. १) (न. च. वृत्ति/पृ.५२६) (नयचक्रवृत्ति/सूत्र ६) (न्यायावतार टीका/पृ. ८२), स्या. म./२८/३१०/१०)।

स्या. म./२७/३०५/२८ नीयते एकदेशविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिविषयमाभिरिति नीतयो नयाः। —जिस नीतिके द्वारा एकदेश विशिष्ट पदार्थ लाया जाता है अर्थात् प्रतीतिके विषयको प्राप्त कराया जाता है, उसे नय कहते हैं। (स्या. म./२८/३०७/१५)।

२. वक्ताका अभिप्राय

ति. प./१/८३ णाणं होदि पमाणं णओ वि णादुस्स हिदियभावत्थो।८३। —सम्यग्ज्ञानको प्रमाण और ज्ञाताके हृदयके अभिप्रायको नय कहते हैं। (सि. वि./मू./१०/२/६६३)।

ध. १/१,१,१/ ११/१७ ज्ञानं प्रमाणमित्याहुरुपायो न्यास उच्यते। नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः।११। सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, और ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं। लघीयस्त्रय/का ५२); (लघीयस्त्रय स्व वृत्ति/का. ३०); प्रमाण संग्रह/श्लो. ८६); (क. पा. १/१३-१४/§१६८/ श्लो ७५/२००) (ध. ३/१,२,२/ १५/१८) (ध. ६/४,१,४५/१६२/७) (पं. का./ता. वृ./४३/८६/१२)।

आ. प./६ ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः। —ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं। (न. च. वृ./१७४) (न्या. दी./३/§८२/१२५)।

प्रमेयकमलमार्तण्ड/पृ. ६७६ अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः। —प्रतिपक्षी अर्थात् विरोधी धर्मोंका निराकरण न करते हुए वस्तुके एक अंश या धर्मको ग्रहण करनेवाला ज्ञाताका अभिप्राय नय है।

प्रमाणनय तत्त्वालंकार/७/१ (स्या. म./२८/३१६/११ पर उद्धृत) प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नय इति। —वक्ताके अभिप्राय विशेषको नय कहते हैं। (स्या. म./२८/३१०/१२)।

३. एकदेश वस्तुग्राही

स. सि./१/३३/१४०/७ वस्तन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणः प्रयोगो नयः। —अनेकान्तात्मक वस्तुमें विरोधके बिना हेतुकी मुख्यतासे साध्यविशेषकी यथार्थताको प्राप्त करानेमें समर्थ प्रयोगको नय कहते हैं। (ह. पु./५८/३९)।

सारसंग्रहसे उद्धृत (क. पा. १/१३-१४/२१०/१)—अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्युक्तयपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नयः। —अनन्तपर्यायात्मक वस्तुकी किसी एक पर्यायका ज्ञान करते समय निर्दोष युक्तिकी अपेक्षासे जो दोषरहित प्रयोग किया जाता है वह नय है। (ध. ६/४,१,४५/१६७/२)।

श्लो. वा. २/१/६/४/३२१ स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः।४। —अपनेको और अर्थको एकदेशरूपसे जानना नयका लक्षण माना गया है। (श्लो. वा. २/१/६/१७/३६०/११)।

न. च. वृ./१७४ वत्थुअंससंगहणं। तं इह णयं...।...)। —वस्तुके अंशको ग्रहण करनेवाला नय होता है। (न. च. वृ./१७२) (का. अ./मू./२६३)।

प्र. सा./ता. वृ./१८९/२५५/१२ वस्त्वेकदेशपरीक्षा तावन्नयलक्षणं। —वस्तुकी एकदेश परीक्षा नयका लक्षण है। (पं. का./ता. वृ./४६/८६/१२)।

का. अ./मू./२६४ णाणाधम्मजुदं पि य एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं। तस्सेय विवक्खादो णत्थि विवक्खा हु सेसाणं।२६४। —नाना धर्मोंसे युक्त भी पदार्थके एक धर्मको ही नय कहता है, क्योंकि उस समय उस ही धर्मकी विवक्षा है, शेष धर्मकी विवक्षा नहीं है।

पं. का./पू./५०४ इत्युक्तलक्षणेऽस्मिन् विरुद्धधर्मद्वयात्मके तत्त्वे। तत्राप्यन्यतरस्य स्यादिह धर्मस्य वाचकश्च नयः। —दो विरुद्धधर्मवाले तत्त्वमें किसी एक धर्मका वाचक नय होता है।

और भी देखो – पीछे निरुक्त्यर्थमें—'आ-प' तथा 'स्या. म.'। तथा वस्तु अभिप्रायमें 'प्रमेयकमलमार्तण्ड'।

४. प्रमाणगृहीत वस्तुका एकअंश ग्राही

आप्त. मी./१०६ सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः। स्याद्वाद-प्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः ॥१०६॥ =साधर्मीका विरोध न करते हुए, साधर्म्यसे ही साध्यको सिद्ध करनेवाला तथा स्याद्वादसे प्रकाशित पदार्थोंकी पर्यायोंको प्रगट करनेवाला नय है। (ध. ६/४, १,४५/गा. ६१/१६७) (क. पा. १/१३-१४/§ १७४/८३/२१०—तत्त्वार्थ-भाष्यसे उद्धृत)।

स. सि./१/६/२०/७ एवं ह्युक्तं प्रगृह्य प्रमाणतः परिणतिविशेषादर्थाव-धारणं नयः। =आगममें ऐसा कहा है कि वस्तुको प्रमाणसे जानकर अनन्तर किसी एक अवस्था द्वारा पदार्थका निश्चय करना नय है।

रा. वा./१/३३/१/६४/२१ प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः। = प्रमाण द्वारा प्रकाशित किये गये पदार्थका विशेष प्ररूपण करनेवाला नय है। (श्लो० वा. ४/१/३३/श्लो. ६/२१८)।

आ. प./६ प्रमाणेन वस्तुसंगृहीतार्थैकांशो नयः। =प्रमाणके द्वारा संगृहीत वस्तुके अर्थके एक अंशको नय कहते हैं। (नयचक्र/श्रुत/-पृ. २)। (न्या. दी./३/§८२/१२५/७)।

प्रमाणनयतत्त्वालंकार/७/१ से स्या. म./२८/३१६/२७ पर उद्धृत—नीयते येन श्रुताख्यानप्रमाणविषयीकृतस्य अर्थस्य अंशस्तदितरांशौदा-सीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः इति। =श्रुतज्ञान प्रमाणसे जाने हुए पदार्थोंका एक अंश जानकर अन्य अंशोंके प्रति उदासीन रहते हुए वक्ताके अभिप्रायको नय कहते हैं। (नय रहस्य/पृ. ७१); (जैन तर्क/भाषा/पृ. २१) (नय प्रदीप/यशोविजय/पृ. ९७)।

ध. १/१,१,१/८३/६ प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो नयः। =प्रमाणके द्वारा ग्रहण की गयी वस्तुके एक अंशमें वस्तुका निश्चय करनेवाले ज्ञानको नय कहते हैं। (ध. ६/४,१,४५/१६३/१) (क. पा. १/१३-१४/§१६८/१९९/४)।

ध. ६/४,१,४५/६ तथा प्रभाचन्द्रभट्टारकैरप्यभाणि—प्रमाणव्यपाश्रयपरि-णामविकल्पवशीकृतार्थविशेषप्ररूपणप्रवणः प्रणिधिर्यः स नय इति। प्रमाणव्यपाश्रयस्तत्परिणामविकल्पवशीकृतानां अर्थविशेषाणां प्ररूपणे प्रवण. प्रणिधानं प्रणिधिः प्रयोगो व्यवहारात्मा प्रयोक्ता वा स नयः।, —प्रभाचन्द्र भट्टारकने भी कहा है—प्रमाणके आश्रित परिणामभेदोंसे वशीकृत पदार्थ विशेषोंके प्ररूपणमें समर्थ जो प्रयोग हो है वह नय है। उसीको स्पष्ट करते हैं—जो प्रमाणके आश्रित है तथा उसके आश्रयसे होनेवाले ज्ञाताके भिन्न-भिन्न अभिप्रायोंके अधीन हुए पदार्थ-विशेषोंके प्ररूपणमें समर्थ है, ऐसे प्रणिधान अर्थात् प्रयोग अथवा व्यवहार स्वरूप प्रयोक्ताका नाम नय है। (क. पा. १/१३-१४/§-१७५/२१०)।

स्या. म./२८/३१०/६ प्रमाणप्रतिपन्नार्थैकदेशपरामर्शो नयः।...प्रमाण-प्रवृत्तेरुत्तरकालभावी परामर्श इत्यर्थः। =प्रमाणसे निश्चित किये हुए पदार्थोंके एक अंश ज्ञान करनेको नय कहते हैं। अर्थात् प्रमाण द्वारा निश्चय होने जानेपर उसके उत्तरकालभावी परामर्शको नय कहते हैं।

५. श्रुतज्ञानका विकल्पः—

श्लो. वा. २/१/६/श्लो. २७/३६७ श्रुतमूला नयाः सिद्धा...। =श्रुतज्ञानको मूलकारण मानकर ही नयज्ञानोंकी प्रवृत्ति होना सिद्ध माना गया है।

आ. प./६ श्रुतविकल्पो वा (नयः) =श्रुतज्ञानके विकल्पको नय कहते हैं। (न. च. वृ./१७४) (का. अ./मू./२६३)।

२. उपरोक्त लक्षणोंका समीकरण

ध. ६/४,१,४५/१६२/७ को नयो नाम। ज्ञातुरभिप्रायो नयः। अभिप्राय इत्यस्य कोऽर्थः। प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशवस्त्वध्यवसायः अभि-प्रायः। युक्तितः प्रमाणात् अर्थपरिग्रहः द्रव्यपर्याययोरन्यतरस्य अर्थ इति परिग्रहो वा नयः। प्रमाणेन परिच्छिन्नस्य वस्तुन. द्रव्ये पर्याये वा वस्त्वध्यवसायो नय इति यावत्। =प्रश्न—नय किसे कहते हैं? उत्तर—ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं। प्रश्न—अभि-प्राय इसका क्या अर्थ है? उत्तर—प्रमाणसे गृहीत वस्तुके एक देशमें वस्तुका निश्चय ही अभिप्राय है। (स्पष्ट ज्ञान होनेसे पूर्व तो) युक्ति अर्थात् प्रमाणसे अर्थके ग्रहण करने अथवा द्रव्य और पर्यायोंमें-से किसी एकको ग्रहण करनेका नाम नय है। (और स्पष्ट ज्ञान होनेके पश्चात्) प्रमाणसे जानी हुई वस्तुके द्रव्य अथवा पर्यायमें अर्थात् सामान्य या विशेषमें वस्तुके निश्चयको नय कहते हैं, ऐसा अभि-प्राय है। और भी दे० नय III/२/२। (प्रमाण गृहीत वस्तुमें नय प्रवृत्ति सम्भव है)

३. नयके मूल भेदोंके नाम निर्देश

त. सू./१/३३ नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः। = नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय हैं। (ह.पु./५८/४१), (ध.१/१.१.१/८०/५), (न.च.वृ./१८५), (आ.प./५); (स्या.म./२८/३१०/१५); (इन सबके विशेष उत्तर भेद देखो नय/III)।

स. सि./१/३३/१४०/८ स द्वेधा द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति। = उस (नय) के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। (स.सि/ १/६/२०/१), (रा.वा/१/१/२/४/४), (रा.वा/१/३३/१/६४/२५), (ध.१/१, १,१/८३/१०); (ध.६/४,१,४५/१६७/१०), (क.पा./१३-१४/§१७७/२११/-४), (आ.प./५/गा.४), (न.च.वृ./१४८), (स.सा./आ./१३/क. ८ की टीका), (पं.का./त.प्र./४), (स्या.म./२८/३१७/१), (इनके विशेष उत्तर भेद दे० नय/IV)।

आ.प./५/गा.४ णिच्छयववहारणया मूलभेयाण ताण सव्वाणं। =सब नयोंके मूल दो भेद हैं—निश्चय और व्यवहार (न.च.वृ./१८३), (इनके विशेष उत्तर भेद दे० नय/V)।

का.अ./मू./२६५ सो च्चिय एक्को धम्मो वाचयसद्दो वि तस्स धम्मस्स। जं जाणदि तं णाणं ते तिण्णि वि णय विसेसा य। =वस्तुका एक धर्म अर्थात् 'अर्थ' इस धर्मका वाचक शब्द और उस धर्मको जाननेवाला ज्ञान ये तीनों ही नयके भेद हैं। (इन नयों सम्बन्धी चर्चा दे० नय/I/४)।

पं.ध./पू./५०५ द्रव्यनयो भावनयः स्यादिति भेदाद्द्विधा च सोऽपि यथा। =द्रव्यनय और भावनयके भेदसे नय दो प्रकारका है। (इन सम्बन्धी लक्षण दे० नय/I/४)।

दे० नय/I/५ (वस्तुके एक-एक धर्मको आश्रय करके नयके संख्यात, असंख्यात व अनन्त भेद हैं)।

४ नयोंके भेद प्रभेदोंका चार्ट:-
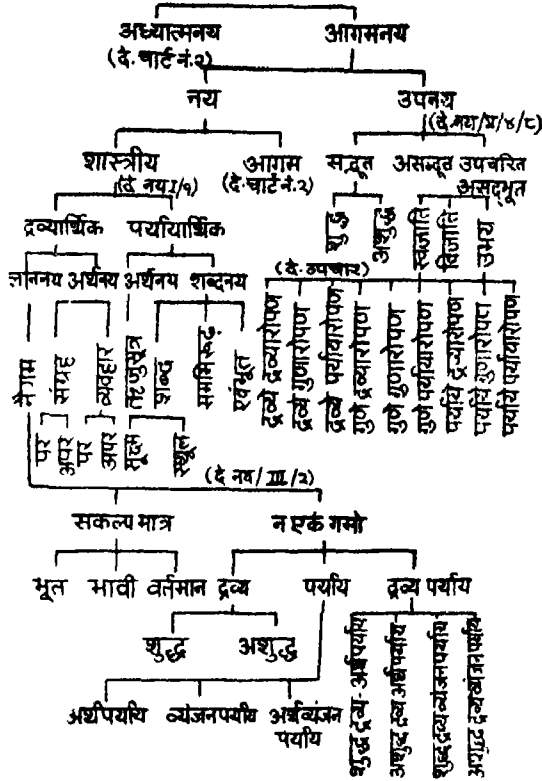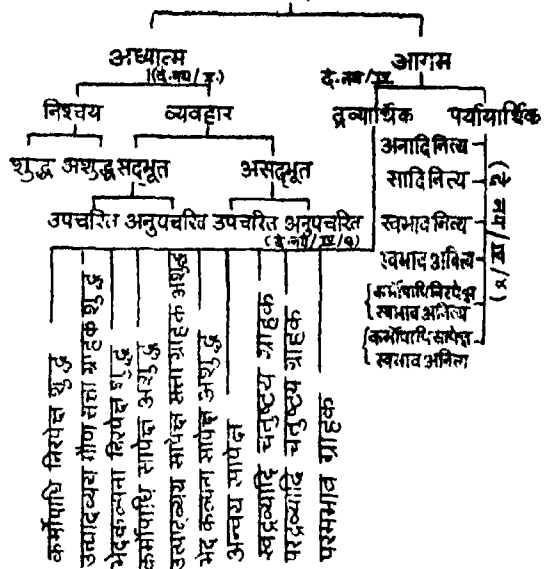
५. द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक तथा निश्चय व्यवहार ही मूल भेद हैं

ध. १/१.१.१/गा.५/१२ तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवायरणी । दव्वट्ठियो य पज्जयणयो य सेसा वियप्पा सिं ।५। —तीर्थंकरोंके वचनोंके सामान्य प्रस्तारका मूल व्याख्यान करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है, और उन्हीं वचनोंके विशेष प्रस्तारका मूल व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है। शेष सभी नय इन दोनों नयोंके विकल्प अर्थात् भेद हैं। (श्लो.वा/४/१/३३/श्लो.§१२/२२३), (ह.पु./५८/४०)।

ध.५/१.६,१/३/१० दुविहो णिद्देसो दव्वट्ठिय पज्जवट्ठिय णयाव-लंबणेण। तिविहो णिद्देसो किण्ण होज्ज। ण तइजस्स णयस्स अभावा। —दो प्रकारका निर्देश है; क्योंकि वह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयका अवलंबन करनेवाला है। प्रश्न—तीन प्रकार-का निर्देश क्यों नहीं होता है? उत्तर—नहीं; क्योंकि तीसरे प्रकारका कोई नय ही नहीं है।

आ.प./५/गा.४ णिच्छयववहारणया मूलमेयाण ताण सव्वाणं। णिच्छय-साहणहेओ दव्वयपज्जत्थिया मुणह ।४। —सर्व नयोंके मूल निश्चय व व्यवहार ये दो नय हैं। द्रव्यार्थिक या पर्यायार्थिक ये दोनों निश्चयनयके साधन या हेतु हैं। (न.च.वृ./१८३)।

६. गुणार्थिक नयका निर्देश क्यों नहीं

रा.वा/५/३८/३/५०१/६ यदि गुणोऽपि विद्यते, ननु चोक्तम् तद्विषयस्तृतीयो मूलनयः प्राप्नोतीति; नैष दोषः; द्रव्यस्य द्वावात्मानौ सामान्यं विशेषश्चेति। तत्र सामान्यमुत्सर्गोऽन्वयः गुण इत्यनर्थान्तरम्। विशेषो भेदः पर्याय इति पर्यायशब्द। तत्र सामान्यविषयो नयः द्रव्यार्थिकः। विशेषविषयः पर्यायार्थिकः। तदुभयं समुदितमयुत-सिद्धरूपं द्रव्यमित्युच्यते, न तद्विषयस्तृतीयो नयो भवितुमर्हति, विकलादेशत्वान्नयानाम्। तत्समुदयोऽपि प्रमाणगोचरः सकलादेश-त्वात्प्रमाणस्य। —प्रश्न—(द्रव्य व पर्यायसे अतिरिक्त) यदि गुण नामका पदार्थ विद्यमान है तो उसको विषय करनेवाली एक तीसरी (गुणार्थिक नामकी) मूलनय भी होनी चाहिए? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि द्रव्यके सामान्य और विशेष ये दो स्वरूप हैं। सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय और गुण ये एकार्थ शब्द हैं। विशेष, भेद और पर्याय ये पर्यायवाची (एकार्थ) शब्द हैं। सामान्यको विषय करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है, और विशेषको विषय करने-वाला पर्यायार्थिक। दोनोंसे समुदित अयुतसिद्धरूप द्रव्य है। अतः गुण जब द्रव्यका ही सामान्यरूप है तब उसके ग्रहणके लिए द्रव्या-र्थिकसे पृथक् गुणार्थिक नयकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि, नय विकलादेशी है और समुदायरूप द्रव्य सकलादेशी प्रमाणका विषय होता है। (श्लो.वा. ४/१/३३/श्लो.८/२२०); (प्र.सा/त.प्र/११४)।

ध. ५/१.६.१./३/११ तं पि कधं णव्वदे। संगहासंगहवदिरित्तणिय-सयाणुवलंभादो। =प्रश्न—यह कैसे जाना कि तीसरे प्रकारका कोई नय नहीं है? उत्तर—क्योंकि संग्रह और असंग्रह अथवा सामान्य और विशेषको छोड़कर किसी अन्य नयका विषयभूत कोई पदार्थ नहीं पाया जाता।

२. नय-प्रमाण सम्बन्ध

१. नय व प्रमाणमें कथंचित् अभेद

ध.१/१,१,१/८०/६ कथं नयानां प्रामाण्यं। न प्रमाणकार्याणां नयानामुपचारतः प्रामाण्याविरोधात्। =प्रश्न—नयोंमें प्रमाणता कैसे सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि नय प्रमाणके कार्य हैं (दे० नय/II/२), इसलिए उपचारसे नयोंमें प्रमाणताके मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता।

स्या.म./२८/३०६/२१ मुख्यवृत्त्या च प्रमाणस्यैव प्रामाण्यम्। यच्च अत्र नयानां प्रमाणतुल्यकक्षताख्यापनं तत् तेषामनुयोगद्वारभूततया प्रज्ञापनाङ्गत्वज्ञापनार्थम्। =मुख्यतासे तो प्रमाणको ही प्रमाणता (सत्यपना) है, परन्तु अनुयोगद्वारसे प्रज्ञापना तक पहुँचनेके लिए नयोंको प्रमाणके समान कहा गया है। (अर्थात् सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारणभूत होनेसे नय भी उपचारसे प्रमाण है।)

पं.ध./पू./६७६ ज्ञानविशेषो नय इति ज्ञानविशेषः प्रमाणमिति नियमात्। उभयोरन्तर्भेदो विषयविशेषान्न वस्तुतो। =जिस प्रकार नय ज्ञानविशेष है उसी प्रकार प्रमाण भी ज्ञान विशेष है, अतः दोनोंमें वस्तुत कोई भेद नहीं है।

२. नय व प्रमाणमें कथंचित् भेद

ध.१/४,१,४५/१६३/४ प्रमाणमेव नयः इति केचिदाचक्षते, तन्न घटते; नयानामभावप्रसंगात्। अस्तु चेन्न नयाभावे एकान्तव्यवहारस्य दृश्यमानस्याभावप्रसङ्गात्। =प्रमाण ही नय है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। परन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि ऐसा माननेपर नयोंके अभावका प्रसंग आता है। यदि कहा जाये कि नयोंका अभाव हो जाने दो, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसे देखे जानेवाले (जगत्प्रसिद्ध) एकान्त व्यवहारके (एक धर्म द्वारा वस्तुका निरूपण करनेरूप व्यवहारके) लोपका प्रसंग आता है।

दे० सप्तभंगी/२ (स्यात्कारयुक्त प्रमाणवाक्य होता है और उससे रहित नय-वाक्य)।

पं.ध./पू./५०७,६७६ ज्ञानविकल्पो नय इति तत्रेयं प्रक्रियापि संयोज्या। ज्ञानं ज्ञानं न नयो नयोऽपि न ज्ञानमिह विकल्पत्वात् ।५०७। उभयोरन्तर्भेदो विषयविशेषान्न वस्तुतः ।६७६। =ज्ञानके विकल्पको नय कहते हैं, इसलिए ज्ञान ज्ञान है और नय नय है। ज्ञान नय नहीं और नय ज्ञान नहीं। (इन दोनोंमें विषयकी विशेषतासे ही भेद हैं, वस्तुतः नहीं)।

३. श्रुत प्रमाणमें ही नय होती है अन्य ज्ञानोंमें नहीं

श्लो.वा.२/१/६/श्लो.२४-२७/३६६ मतेरवधितो वापि मनःपर्ययतोपि वा। ज्ञातस्यार्थस्य नांशोऽस्ति नयानां वर्तनं ननु ।२४। निःशेषदेशकालार्थागोचरत्वविनिश्चयात्। तस्येति भाषितं कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टितम् ।२५। त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वृत्तितः। केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषां न युज्यते ।२६। परोक्षाकारतावृत्तेः स्पष्टत्वात् केवलस्य तु। श्रुतमूला नयाः सिद्धा वक्ष्यमाणाः प्रमाणवत् ।२७। —प्रश्न—(नय I/१/१/४ में ऐसा कहा गया है कि प्रमाणसे जान ली गयी वस्तुके अंशोंमें नय ज्ञान प्रवर्तता है) किन्तु मति, अवधि व मनःपर्यय इन तीन ज्ञानोंसे जान लिये गये अर्थके अंशोंमें तो नयोंकी प्रवृत्ति नहीं हो रही है, क्योंकि वे तीनों सम्पूर्ण देश व कालके अर्थोंको विषय करनेको समर्थ नहीं हैं, ऐसा विशेषरूपसे निर्णीत हो चुका है। (और नयज्ञानकी प्रवृत्ति सम्पूर्ण देशकालवर्ती वस्तुका समीचीन ज्ञान होनेपर ही मानी गयी है—दे० नय/II/२)। उत्तर—आपकी बात युक्त है और वह हमें इष्ट है। प्रश्न—त्रिकालगोचर अशेष पदार्थोंके अंशोंमें वृत्ति होनेके कारण केवलज्ञानको नयका मूल मान लें तो? उत्तर—यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि अपने विषयोंकी परोक्षरूपसे विकल्पना करते हुए ही नयकी प्रवृत्ति होती है, प्रत्यक्ष करते हुए नहीं। किन्तु केवलज्ञानका प्रतिभास तो स्पष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष होता है। अतः परिशेष न्यायसे श्रुतज्ञानको मूल मानकर ही नयज्ञानोंकी प्रवृत्ति होना सिद्ध है।

४. प्रमाण व नयमें कथंचित् प्रधान व अप्रधानपना

स.सि./१/६/२०/६ अभ्यर्हितत्वात्प्रमाणस्य पूर्वनिपातः। …कुतोऽभ्यर्हितत्वम्। नयप्ररूपणप्रभवयोनित्वात्। =सूत्रमें 'प्रमाण' शब्द पूज्य होनेके कारण पहले रखा गया है। नय प्ररूपणाका योनिभूत होनेके कारण प्रमाण श्रेष्ठ है। (रा.वा/१/६/१/३३/४)

न.च./श्रुत/३२ न ह्येवं, व्यवहारस्य पूज्यतरत्वान्निश्चयस्य तु पूज्यतमत्वात्। ननु प्रमाणलक्षणो योऽसौ व्यवहारः स व्यवहारनिश्चयमनुभयं च गृह्णन्नप्यधिकविषयत्वात्कथं न पूज्यतमो। नैवं नयपक्षातीतमात्मानं कर्तुमशक्यत्वात्। तद्यथा। निश्चयं गृह्णन्नपि अन्ययोगव्यवच्छेदनं न करोतीत्यन्ययोगव्यवच्छेदाभावे व्यवहारलक्षणभावक्रियां निरोद्धुमशक्तः। अत एव ज्ञानचैतन्ये स्थापयितुमशक्य एवात्मानमिति। =व्यवहारनय पूज्यतर है और निश्चयनय पूज्यतम है। (दोनों नयोंकी अपेक्षा प्रमाण पूज्य नहीं है)। प्रश्न—प्रमाण ज्ञान व्यवहारको, निश्चयको, उभयको तथा अनुभयको विषय करनेके कारण अधिक विषय वाला है। फिर भी उसको पूज्यतम क्यों नहीं कहते? उत्तर—नहीं, क्योंकि इसके द्वारा आत्माको नयपक्षसे अतीत नहीं किया जा सकता वह ऐसे कि—निश्चयको ग्रहण करते हुए भी वह अन्यके मतका निषेध नहीं करता है, और अन्यमत निराकरण न करनेपर वह व्यवहारलक्षण भाव व क्रियाको रोकनेमें असमर्थ होता है, इसीलिए यह आत्माको चैतन्यमें स्थापित करनेके लिए असमर्थ रहता है।

५. प्रमाणका विषय सामान्य विशेष दोनों है—

प.मु./४/१,२ सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ।१। अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकारापरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ।२। = सामान्य विशेषस्वरूप अर्थात् द्रव्य और पर्यायस्वरूप पदार्थ प्रमाणका विषय है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थमें अनुवृत्तप्रत्यय (सामान्य) और व्यावृत्तप्रत्यय (विशेष) होते हैं। तथा पूर्व आकारका त्याग, उत्तर आकारकी प्राप्ति और स्वरूपकी स्थितिरूप परिणामोंसे अर्थक्रिया होती है।

६. प्रमाण अनेकान्तग्राही है और नय एकान्तग्राही

स्व. स्तो./१०३ अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः। अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ।१८। —आपके मतमें अनेकान्त भी प्रमाण और नय साधनोंको लिये हुए अनेकान्त स्वरूप है। प्रमाणकी दृष्टिसे अनेकान्त रूप सिद्ध होता है और विवक्षित नयकी अपेक्षासे एकान्तरूप सिद्ध होता है।

रा. वा./१/६/७/३५/२८ सम्यगेकान्तो नय इत्युच्यते। सम्यगनेकान्तः प्रमाणम्। नयार्पणादेकान्तो भवति एकनिश्चयप्रवणत्वात्, प्रमाणार्पणादनेकान्तो भवति अनेकनिश्चयाधिकरणत्वात्। —सम्यगेकान्त

नय कहलाता है और सम्यगनेकान्त प्रमाण। नय विवक्षा वस्तुके एक धर्मका निश्चय करानेवाली होनेसे एकान्त है और प्रमाणविवक्षा वस्तुके अनेक धर्मोंको निश्चय स्वरूप होनेके कारण अनेकान्त है। (न. दी./३/§ ८५/१२६/१)। (स. भ. त./७४/४) (पं. ध./उ./३३४)।

ध. ९/४,१,४५/१६३/६ किं च न प्रमाणं नयः तस्यानेकान्तविषयत्वात्। न नयः प्रमाणम्, तस्यैकान्तविषयत्वात्। न च ज्ञानमेकान्तविषयमस्ति, एकान्तस्य नीरूपत्वतोऽवस्तुनः कर्मरूपत्वाभावात्। न चानेकान्तविषयो नयोऽस्ति, अवस्तुनि वस्त्वर्पणाभावात्। —प्रमाण नय नहीं हो सकता, क्योंकि उसका विषय अनेक धर्मात्मक वस्तु है। न नय प्रमाण हो सकता है, क्योंकि, उसका एकान्त विषय है। और ज्ञान एकान्तको विषय करनेवाला है नहीं, क्योंकि, एकान्त नीरूप होनेसे अवस्तुस्वरूप है, अतः वह कर्म (ज्ञानका विषय) नहीं हो सकता। तथा नय अनेकान्तको विषय करनेवाला नहीं है, क्योंकि, अवस्तुमें वस्तुका आरोप नहीं हो सकता।

प्र. सा./त.प्र./परि०का अन्त—प्रत्येकमनन्तधर्मव्यापकानन्तनयैर्निरूप्यमाणं…अनन्तधर्माणां परस्परमतद्भावमात्रेणाशक्यविवेचनत्वादमेचकस्वभावैकधर्मव्यापकैकधर्मित्वाद्यथोदितैकान्तात्मात्मद्रव्यम्। युगपदनन्तधर्मव्यापकानन्तनयव्याप्यैकश्रुतज्ञानलक्षणप्रमाणेन निरूप्यमाणं तु…अनन्तधर्माणां वस्तुत्वेनाशक्यविवेचनत्वान्मेचकस्वभावानन्तधर्मव्याप्यैकधर्मित्वात् यथोदितानेकान्तात्मात्मद्रव्यं। —एक एक धर्ममें एक एक नय, इस प्रकार अनन्त धर्मोंमें व्यापक अनन्त नयोंसे निरूपण किया जाय तो, अनन्तधर्मोंको परस्पर अतद्भावमात्रसे पृथक् करनेमें अशक्य होनेसे, आत्मद्रव्य अमेचकस्वभाववाला, एकधर्ममें व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होनेसे यथोक्त एकान्तात्मक है। परन्तु युगपत् अनन्त धर्मोंमें व्यापक ऐसे अनन्त नयोंमें व्याप्त होनेवाला एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाणसे निरूपण किया जाय तो, अनन्तधर्मोंको वस्तुरूपसे पृथक् करना अशक्य होनेसे आत्मद्रव्य मेचकस्वभाववाला, अनन्त धर्मोंमें व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होनेसे यथोक्त अनेकान्तात्मक है।

७. प्रमाण सकलादेशी है और नय विकलादेशी

स. सि./१/६/२०/८ में उद्धृत—सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति। —सकलादेश प्रमाणका विषय है और विकलादेश नयका विषय है। (रा.वा./१/६/३/३३/१), (पं.का./ता.वृ./१४/३२/१६) (और भी दे. सप्तभंगी/२) (विशेष दे० सकलादेश व विकलादेश)।

८. प्रमाण सकल वस्तुग्राहक है और नय तदंशग्राहक

न. च. वृ./२४७ इदि तं पमाणविसयं सत्तारूवं खु जं हवे दव्वं। णयविसयं तस्संसं सियभणिदं तं पि पुव्वुत्तं।२४७। —केवल सत्तारूप द्रव्य अर्थात् सम्पूर्ण धर्मोंकी निर्विकल्प अखण्ड सत्ता प्रमाणका विषय है और जो उसके अंश अर्थात् अनेकों धर्म कहे गये हैं वे नयके विषय हैं। (विशेष दे./नय/I/१/१/३)।

आ. प./६ सकलवस्तुग्राहकं प्रमाणं। —सकल वस्तु अर्थात् अखण्ड वस्तु ग्राहक प्रमाण है।

ध. ९/४,१,४५/१६६/१ प्रकर्षेण मानं प्रमाणम्, सकलादेशीत्यर्थः। तेन प्रकाशितानां प्रमाणपरिगृहीतानामित्यर्थः। तेषामर्थानामस्तित्वनास्तित्व-नित्यत्वानित्यत्वाद्यनन्तात्मकानां जीवादीनां ये विशेषाः पर्यायाः तेषां प्रकर्षेण रूपकः प्ररूपकः निरुद्धदोषानुषङ्गद्वारेणेत्यर्थः। —प्रकर्षसे अर्थात् संशयादिसे रहित वस्तुका ज्ञान प्रमाण है। अभिप्राय यह है कि जो समस्त धर्मोंको विषय करनेवाला हो वह प्रमाण है, उससे प्रकाशित उन अस्तित्वादि व नित्यत्व अनित्यत्वादि अनन्त धर्मात्मक जीवादिक पदार्थोंके जो विशेष अर्थात् पर्यायें हैं, उनका प्रकर्षसे अर्थात् संशय आदि दोषोंसे रहित होकर निरूपण करनेवाला नय है। (क. पा. १/१३-१४/§ १७४/२१०/३)।

पं. ध./पू./६६६ अयमर्थोऽर्थविकल्पो ज्ञानं किल लक्षणं स्वतस्तस्य। एकविकल्पो नयस्यादुभयविकल्पः प्रमाणमिति बोधः।६६६। तत्रोक्तं लक्षणमिह सर्वस्वग्राहकं प्रमाणमिति। विषयो वस्तुसमस्तं निरंशदेशादिभूरुदाहरणम्।६७६। —ज्ञान अर्थाकार होता है। वही प्रमाण है। उसमें केवल सामान्यात्मक या केवल विशेषात्मक विकल्प नय कहलाता है और उभयविकल्पात्मक प्रमाण है।६६६। वस्तुका सर्वस्व ग्रहण करना प्रमाणका लक्षण है। समस्त वस्तु उसका विषय है और निरंशदेश आदि 'भू' उसके उदाहरण हैं।६७६।

९. प्रमाण सब धर्मोंको युगपत् ग्रहण करता है तथा नय क्रमसे एक एकको

ध. ९/४,१,४५/१६३ किं च, न प्रमाणेन विधिमात्रमेव परिच्छिद्यते, परव्यावृत्तिमनादधानस्य तस्य प्रवृत्ते साङ्कर्यप्रसङ्गादप्रतिपत्तिसमानताप्रसङ्गो वा। न प्रतिषेधमात्रम्, विधिमपरिच्छिदानस्य इदमस्माद् व्यावृत्तमिति गृहीतुमशक्यत्वात्। न च विधिप्रतिषेधौ मिथो भिन्नौ प्रतिभासेते, उभयदोषानुषङ्गात्। ततो विधिप्रतिषेधात्मकं वस्तु प्रमाणसमधिगम्यमिति नास्त्येकान्तविषयं विज्ञानम्।…प्रमाणपरिगृहीतवस्तुनि यो व्यवहार एकान्तरूपः नयनिबन्धनः। ततः सकलो व्यवहारो नयाधीनः। —प्रमाण केवल विधि या केवल प्रतिषेधको नहीं जानता; क्योंकि, दूसरे पदार्थोंकी व्यावृत्ति किये बिना ज्ञानमें संकरताका या अज्ञानरूपताका प्रसंग आता है, और विधिको जाने बिना 'यह इससे भिन्न है' ऐसा ग्रहण करना अशक्य है। प्रमाणमें विधि व प्रतिषेध दोनों भिन्न-भिन्न भी भासित नहीं होते हैं, क्योंकि ऐसा होनेपर पूर्वोक्त दोनों दोषोंका प्रसंग आता है। इस कारण विधि प्रतिषेधरूप वस्तु प्रमाणका विषय है। अतएव ज्ञान एकान्त (एक धर्म) को विषय करनेवाला नहीं है। —प्रमाणसे गृहीत वस्तुमें जो एकान्त रूप व्यवहार होता है वह नय निमित्तक है। (नय/V/९/४) (पं. ध./पू./६६५)।

न. च. वृ./७१ इत्थित्ताइसहावा सव्वा सब्भाविणो ससब्भावा। उहयं जुगवपमाणं गहइ णओ गउणमुक्खभावेण।७१। —अस्तित्वादि जितने भी वस्तुके निज स्वभाव हैं, उन सबको अथवा विरोधी धर्मोंको युगपत् ग्रहण करनेवाला प्रमाण है, और उन्हें गौण मुख्य भावसे ग्रहण करनेवाला नय है।

स्या. दी./३/§ ८५/१२६/१ अनियतानेकधर्मवद्वस्तुविषयत्वात्प्रमाणस्य, नियतैकधर्मवद्वस्तुविषयत्वाच्च नयस्य। —अनियत अनेक धर्म विशिष्ट वस्तुको विषय करनेवाला प्रमाण है और नियत एक धर्म विशिष्ट वस्तुको विषय करनेवाला नय है। (पं. ध./पू./६८०)। (और भी दे०—अनेकान्त/३/१)।

१०. प्रमाण स्यात्पद युक्त होनेसे सर्व नयात्मक होता है

स्व. स्तो./६५ नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपविद्धा इव लोहधातवः। भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः। —जिस प्रकार रसोंके संयोगसे लोहा अभीष्ट फलका देनेवाला बन जाता है, इसी तरह नयोंमें 'स्यात्' शब्द लगानेसे भगवान्के द्वारा प्रतिपादित नय इष्ट फलको देते हैं। (स्या. म./२८/३२१/३ पर उद्धृत)।

रा. वा./१/७/५/३८/१५ तदुभयसंग्रहः प्रमाणम्। —द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक दोनों नयोंका संग्रह प्रमाण है। (पं. सं./पू./६६५)।

स्या. म./२८/३२१/१ प्रमाणं तु सम्यगर्थनिर्णयलक्षणं सर्वनयात्मकम्। स्याच्छब्दलाञ्छितानां नयानामेव प्रमाणव्यपदेशभाक्त्वात्। तथा

व श्रीविमलनाथस्तवे श्रीसमन्तभद्रः। –सम्यक् प्रकारसे अर्थके निर्णय करनेको प्रमाण कहते हैं। प्रमाण सर्वनय रूप होता है। क्योंकि नय-वाक्योंमें 'स्यात्' शब्द लगाकर बोलनेको प्रमाण कहते हैं। श्रीसमन्त स्वामीने भी यही बात स्वयंभू स्तोत्रमें विमलनाथ स्वामीकी स्तुति करते हुए कही है। (दे० ऊपर प्रमाण नं. १)।

११. प्रमाण व नयके उदाहरण

पं. ध./पू./७४७-७४७ तत्त्वमनिर्वचनीयं शुद्धद्रव्यार्थिकस्य मतम्। गुणपर्ययवद्द्रव्यं पर्यायार्थिकनयस्य पक्षोऽयम् ।७४७। यदिदमनिर्वचनीयं गुणपर्ययवत्तदेव नास्त्यन्यत्। गुणपर्ययवद्यदिदं तदेव तत्त्वं तथा प्रमाणमिति ।७४८। –'तत्त्व अनिर्वचनीय है' यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है और 'द्रव्य गुणपर्यायवान है' यह पर्यायार्थिक नयका पक्ष है ।७४७। जो यह अनिर्वचनीय है वही गुणपर्यायवान है, कोई अन्य नहीं, और जो यह गुणपर्यायवान है वही तत्त्व है, ऐसा प्रमाणका पक्ष है ।७४८।

१२. नयके एकान्तग्राही होनेमें शंका

ध.९/४,१,४७/२३९/५ एयंतो अवत्थू कधं ववहारकारणं। एयंतो अवत्थूण संववहारकारणं किंतु तक्कारणमणेयंतो पमाणविसईकओ, वत्थुत्तादो। कधं पुण णओ सव्वसंववहाराणं कारणमिदि। वुच्चदे–को एवं भणदि णओ सव्वसंववहाराणं कारणमिदि। पमाणं पमाणविसईकयट्ठा च सयलसंववहाराणंकारणं। किंतु सव्वो संववहारो पमाणणिबंधणो णयसरूवो त्ति परूवेमो, सव्वसंववहारेसु गुण-पहाणभावोवलंभादो। –प्रश्न–जब कि एकान्त अवस्तुस्वरूप है, तब वह व्यवहारका कारण कैसे हो सकता है? उत्तर–अवस्तुस्वरूप एकान्त संव्यवहारका कारण नहीं है, किन्तु उसका कारण प्रमाणसे विषय किया गया अनेकान्त है, क्योंकि वह वस्तुस्वरूप है। प्रश्न–यदि ऐसा है तो फिर सब संव्यवहारोंका कारण नय कैसे हो सकता है? उत्तर–इसका उत्तर कहते हैं–कौन ऐसा कहता है कि नय सब संव्यवहारोंका कारण है, या प्रमाण तथा प्रमाणसे विषय किये गये पदार्थ भी समस्त संव्यवहारोंके कारण हैं? किन्तु प्रमाण-निमित्तक सब संव्यवहार नय स्वरूप हैं, ऐसा हम कहते हैं, क्योंकि सब संव्यवहारोंमें गौणता प्रधानता पायी जाती है। विशेष–दे० नय/II/२।

३. नयकी कथंचित् हेयोपादेयता

१. तत्त्व नय पक्षोंसे अतीत है

स.सा./मू./१४२ कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं। पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ।१४२। –जीवमें कर्म बद्ध है अथवा अबद्ध है इस प्रकार तो नयपक्ष जानो, किन्तु जो पक्षातिक्रान्त कहलाता है वह समयसार है। (न.च./श्रुत/२९/१)।

न.च./श्रुत/३२–प्रत्यक्षानुभूतिर्नयपक्षातीतः। –प्रत्यक्षानुभूति ही नय पक्षातीत है।

२. नय पक्ष कथंचित् हेय है

स. सा./आ./परि/क.२७० चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा, सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः। तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेकमेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोस्मि ।२७०। –आत्मामें अनेक शक्तियाँ हैं, और एक-एक शक्तिका ग्राहक एक-एक नय है, इसलिए यदि नयोंकी एकान्त दृष्टिसे देखा जाये तो आत्माका खण्ड-खण्ड होकर उसका नाश हो जाये। ऐसा होनेसे स्याद्वादी, नयोंका विरोध दूर करके चैतन्यमात्र वस्तुको अनेकशक्तिसमूहरूप सामान्यविशेषरूप सर्व शक्तिमय एक ज्ञानमात्र अनुभव करता है। ऐसा ही वस्तुका स्वरूप है, इसमें कोई विरोध नहीं है। (विशेष दे० अनेकान्त/५), (पं. ध./पू./५१०)।

३. नय केवल ज्ञेय है पर उपादेय नहीं

स.सा./मू./१४३ दोण्हविणयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो। ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो। –नयपक्षसे रहित जीव समयसे प्रतिबद्ध होता हुआ, दोनों ही नयोंके कथनको मात्र जानता ही है, किन्तु नयपक्षको किंचित्मात्र भी ग्रहण नहीं करता।

४. नय पक्षको हेय कहनेका कारण व प्रयोजन

स. सा./आ./१४४/क ९३-९५ आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना, सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम्। विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्, ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोऽप्ययम् ।९३। दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो, दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात्। विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन्, आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ।९४। विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम्। न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ।९५। –नयोंके पक्षोंसे रहित अचल निर्विकल्प भावको प्राप्त होता हुआ, जो समयका सार प्रकाशित करता है, वह यह समयसार, जो कि आत्मलीन पुरुषोंके द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है, वह विज्ञान ही जिसका एक रस है ऐसा भगवान् है, पवित्र पुराण पुरुष है। उसे चाहे ज्ञान कहो या दर्शन वह तो यही (प्रत्यक्ष) ही है, अधिक क्या कहें? जो कुछ है, सो यह एक ही है।९३। जैसे पानी अपने समूहसे च्युत होता हुआ दूर गहन वनमें बह रहा हो, उसे दूरसे ही ढालवाले मार्गके द्वारा अपने समूहकी ओर बल पूर्वक मोड़ दिया जाये, तो फिर वह पानी, पानीको पानीके लिए समूहकी ओर खेंचता हुआ प्रवाह-रूप होकर अपने समूह मे आ मिलता है। इसी प्रकार यह आत्मा अपने विज्ञानघनस्वभावसे च्युत होकर प्रचुर विकल्पजालोंके गहन वनमें दूर परिभ्रमण कर रहा था। उसे दूर से ही विवेकरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा अपने विज्ञानघनस्वभावकी ओर बलपूर्वक मोड दिया गया। इसलिए केवल विज्ञानघनके ही रसिक पुरुषो को जो एक विज्ञान रसवाला ही अनुभवमें आता है ऐसा वह आत्मा, आत्माका आत्मामें खींचता हुआ, सदा विज्ञानघनस्वभावमें आ मिलता है।९४। (स. सा./आ./१४४)। विकल्प करनेवाला ही केवल कर्ता है, और विकल्प ही केवल कर्म हैं, जो जीव विकल्प सहित है, उसका कर्ताकर्मपना कभी नष्ट नहीं होता।९५।

नि. सा./ता. वृ./४९/क. ७२ शुद्धाशुद्धविकल्पना भवति सा मिथ्यादृशि प्रत्यहं, शुद्धं कारणकार्यतत्त्वयुगलं सम्यग्दृशि प्रत्यहं। इत्थं यः परमागमार्थमतुलं जानाति सद्दृक् स्वयं, सारासारविचारचारुधिषणा वन्दामहे तं वयम् ।७२। –शुद्ध अशुद्धकी जो विकल्पना वह मिथ्यादृष्टिको सदैव होती है; सम्यग्दृष्टिको तो सदा कारणतत्त्व और कार्यतत्त्व दोनों शुद्ध हैं। इस प्रकार परमागमके अतुल अर्थको, सारासारके विचारवाली सुन्दर बुद्धि द्वारा, जो सम्यग्दृष्टि स्वयं जानता है, उसे हम वन्दन करते हैं।

स. सा./ता. वृ./१४४/२०२/१३ समस्तमतिज्ञानविकल्परहितः सन् बद्धाबद्धादिनयपक्षपातरहितः समयसारमनुभवन्नेव निर्विकल्पसमाधिस्थैः पुरुषैर्दृश्यते ज्ञायते च यत आत्मा ततः कारणात् नवरि केवलं सकलविमलकेवलदर्शनज्ञानरूपव्यपदेशसंज्ञां लभते। न च बद्धाबद्धादिव्यपदेशाविति। –समस्त मतिज्ञानके विकल्पोंसे रहित होकर बद्धाबद्ध आदि नयपक्षपातसे रहित समयसारका अनुभव करके ही, क्योंकि,

निर्विकल्प समाधिमें स्थित पुरुषों द्वारा आत्मा देखा जाता है, इसलिए वह केवलदर्शन ज्ञान संज्ञाको प्राप्त होता है, बद्ध या अबद्ध आदि व्यपदेशको प्राप्त नहीं होता। (स. सा./ता. वृ /१३/३२/७)।

पं. ध./पू./५०६ यदि वा ज्ञानविकल्पो नयो विकल्पोऽस्ति सोऽप्यपरमार्थः। नयतो ज्ञानं गुण इति शुद्धं ज्ञेयं च किंतु तद्योगात् ।५०६। —अथवा ज्ञानके विकल्पका नाम नय है और वह विकल्प भी परमार्थभूत नहीं है, क्योंकि वह ज्ञानके विकल्परूप नय न तो शुद्ध ज्ञानगुण ही है और न शुद्ध ज्ञेय ही, परन्तु ज्ञेयके सम्बन्धसे होनेवाला ज्ञानका विकल्प मात्र है।

स. सा./पं. जयचन्द/१२/क. ६ का भावार्थ—यदि सर्वथा नयोंका पक्षपात हुआ करे तो मिथ्यात्व ही है।

५. परमार्थसे निश्चय व व्यवहार दोनों हो का पक्ष विकल्परूप होनेसे हेय है

स. सा./आ./१४२ यस्तावज्जीवे बद्धं कर्मेति विकल्पयति स जीवेऽबद्धं कर्मेति एकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति। यस्तु जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पयति सोऽपि जीवे बद्धं कर्मेत्येकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति। यः पुनर्जीवे बद्धमबद्धं च कर्मेति विकल्पयति स तु तं द्वितयमपि पक्षमनतिक्रामन्न विकल्पमतिक्रामति। ततो य एव समस्तनयपक्षमतिक्रामति स एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति। य एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति स एव समयसारं विन्दति।८। —'जीवमें कर्म बन्धा है' जो ऐसा एक विकल्प करता है, वह यद्यपि 'जीवमें कर्म नहीं बन्धा है' ऐसे एक पक्षको छोड़ देता है, परन्तु विकल्पको नहीं छोड़ता। जो 'जीवमें कर्म नहीं बन्धा है' ऐसा विकल्प करता है, वह पहले 'जीव में कर्म बन्धा है' इस पक्षको यद्यपि छोड़ देता है, परन्तु विकल्पको नहीं छोड़ता। जो 'जीवमें कर्म कथंचित् बन्धा है और कथंचित् नहीं भी बन्धा है' ऐसा उभयरूप विकल्प करता है, वह तो दोनों ही पक्षोंको नहीं छोड़नेके कारण विकल्पको नहीं छोड़ता है। (अर्थात् व्यवहार या निश्चय इन दोनोंमेंसे किसी एक नयका अथवा उभय नयका विकल्प करनेवाला यद्यपि उस समय अन्य नयका पक्ष नहीं करता पर विकल्प तो करता ही है), समस्त नयपक्षका छोड़नेवाला हो विकल्पोंको छोड़ता है और वही समयसारका अनुभव करता है।

पं. ध./पू./६४५-६४८ ननु चैवं परसमयः कथं स निश्चयनयावलम्बी स्यात्। अविशेषादपि स यथा व्यवहारनयावलम्बी यः।६४५। —प्रश्न—व्यवहार नयावलम्बी जैसे सामान्यरूपसे भी परसमय होता है, वैसे ही निश्चयनयावलम्बी परसमय कैसे हो सकता है।६४५। उत्तर—(उपरोक्त प्रकार यहाँ भी दोनों नयोंको विकल्पात्मक कहकर समाधान किया है) ।६४६-६४८।)

६. प्रत्यक्षानुभूतिके समय निश्चयव्यवहारके विकल्प नहीं रहते

न. च. वृ./२६६ तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण। णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहओ जम्हा। —तत्त्वान्वेषण कालमें ही युक्तिमार्गसे अर्थात् निश्चय व्यवहार नयों द्वारा आत्मा जाना जाता है, परन्तु आत्माकी आराधनाके समय वे विकल्प नहीं होते, क्योंकि उस समय तो आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष ही है।

न. च./ श्रुत/३२ एवमात्मा यावद्व्यवहारनिश्चयाभ्यां तत्त्वानुभूतिः तावत्परोक्षानुभूतिः। प्रत्यक्षानुभूतिः नयपक्षातीतः। —आत्मा जबतक व्यवहार व निश्चयके द्वारा तत्त्वका अनुभव करता है तबतक उसे परोक्ष अनुभूति होती है, प्रत्यक्षानुभूति तो नय पक्षोंसे अतीत है।

स.सा./आ./१४३ तथा किल यः व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः···परपरिग्रहप्रतिनिवृत्तौत्सुक्यतया स्वरूपमेव केवलं जानाति न तु ··चिन्मयसमयप्रतिबद्धतया तदात्वे स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वात् समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कथंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति स खलु निखिलविकल्पेभ्यः परमात्मा ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योतिरात्मख्यातिरूपोऽनुभूतिमात्रः समयसारः। —जो श्रुतज्ञानी, परका ग्रहण करनेके प्रति उत्साह निवृत्त हुआ होनेसे, व्यवहार व निश्चय नयपक्षोंके स्वरूपको केवल जानता ही है, परन्तु चिन्मय समयसे प्रतिबद्धताके द्वारा, अनुभवके समय स्वयं ही विज्ञानघन हुआ होनेसे, तथा समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर हुआ होनेसे, किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करता, वह वास्तवमें समस्त विकल्पोंसे पर, परमात्मा, ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप अनुभूतिमात्र समयसार है।

पु.सि.उ./८ व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः। प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः।' —जो जीव व्यवहार और निश्चय नयके द्वारा वस्तुस्वरूपको यथार्थरूप जानकर मध्यस्थ होता है अर्थात् उभय नयके पक्षसे अतिक्रान्त होता है, वही शिष्य उपदेशके सकल फलको प्राप्त होता है।

स.सा./ता.वृ./१४२ का अन्तिम वाक्य/१९९/११ समयाख्यानकाले या बुद्धिर्नयद्वयात्मिका वर्तते, बुद्धतत्त्वस्य सा स्वस्थस्य निवर्तते, हेयोपादेयतत्त्वे तु विनिश्चित्य नयद्वयात्, त्यक्त्वा हेयमुपादेयेऽवस्थानं साधुसम्मतं। —तत्त्वके व्याख्यानकालमें जो बुद्धि निश्चय व व्यवहार इन दोनों रूप होती है, वही बुद्धि स्वमें स्थित उस पुरुषको नहीं रहती जिसने वास्तविक तत्त्वका बोध प्राप्त कर लिया होता है, क्योंकि दोनों नयोंसे हेय व उपादेय तत्त्वका निर्णय करके हेयको छोड़ उपादेयमें अवस्थान पाना ही साधुसम्मत है।

७. परन्तु तत्त्व निर्णयार्थ नय कार्यकारी है

त सू./१/६ प्रमाणनयैरधिगमः। —प्रमाण और नयसे पदार्थका ज्ञान होता है।

ध.१/१,१,१/गा.१०/१६ प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते। युक्तं चायुक्तवद्भाति तस्यायुक्तं च युक्तवत् ।१०। —जिस पदार्थका प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा नयोंके द्वारा या निक्षेपोंके द्वारा सूक्ष्म दृष्टिसे विचार नहीं किया जाता है, वह पदार्थ कभी युक्त होते हुए भी अयुक्त और कभी अयुक्त होते हुए भी युक्तकी तरह प्रतीत होता है।१०। (ध.३/१,२,१५/गा.६१/१२६), (ति.प./१/८२)

ध.१/१,१,१/गा.६८-६९/९१ णत्थि णएहि विहूणं सुत्तं अत्थो व्व जिणवरमदम्हि। तो णयवादे णिउणा मुणिणो सिद्धंतिया होंति ।६८। तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसंपायणम्हि जइयव्वं। अत्थगई वि य णयवादगहणलीणा दुरहियम्मा ।६९। —जिनेन्द्र भगवान्‌के मतमें नयवादके बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है। इसलिए जो मुनि नयवादमें निपुण होते हैं वे सच्चे सिद्धान्तके ज्ञाता समझने चाहिए ।६८। अतः जिसने सूत्र अर्थात् परमागमको भले प्रकार जान लिया है, उसे ही अर्थ संपादनमें अर्थात् नय और प्रमाणके द्वारा पदार्थका परिज्ञान करनेमें, प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि पदार्थोंका परिज्ञान भी नयवादरूपी जंगलमें अन्तर्निहित है अतएव दुरधिगम्य है ।६९।

क.पा.१/१३-१४/§१७६/गा.८५/२११ स एष याथात्म्योपलब्धिनिमित्तत्वाद्भावानां श्रेयोऽपदेशः।८५। —यह नय, पदार्थोंका जैसा स्वरूप है उस रूपसे उनके ग्रहण करनेमें निमित्त होनेसे मोक्षका कारण है। (ध.९/४,१,४५/१६६/९)।

ध.१/१,१,१/८३/९ नयैर्विना लोकव्यवहारानुपपत्तेर्नया उच्यन्ते। —नयोंके बिना लोक व्यवहार नहीं चल सकता है। इसलिए यहाँपर नयोंका वर्णन करते हैं।

क. पा १/१३–१४/§ १७४/२०६/७ प्रमाणादिव नयवाक्याद्वस्त्ववगममवलोक्य प्रमाणनयैर्वस्त्वधिगमः इति प्रतिपादितत्वाद्। –जिस प्रकार प्रमाणसे वस्तुका बोध होता है, उसी प्रकार नयसे भी वस्तुका बोध होता है, यह देखकर तत्त्वार्थसूत्रमें प्रमाण और नयोंसे वस्तुका बोध होता है, इस प्रकार प्रतिपादन किया है।

न.च.वृ./गा.नं. जम्हा णयेण ण विणा होइ णरस्स सियवायपडिवत्ती। तम्हा सो णायव्वो एयन्तं हंतुकामेण।१७५। झाणस्स भावणाविय ण हु सो आराहओ हवे णियमा। जो ण विजाणइ वत्थुं पमाणणयणिच्छयं किच्चा।१७६। णिक्खेव णयपमाणं णादूणं भावयंति ते तच्चं। ते तत्थतच्चमग्गेलहंति लग्गा हु तत्थयं तच्चं।२८१। –क्योंकि नय ज्ञानके बिना स्याद्वादकी प्रतिपत्ति नहीं होती, इसलिए एकान्त बुद्धिका विनाश करनेकी इच्छा रखनेवालोंको नय सिद्धान्त अवश्य जानना चाहिए।१७५। जो प्रमाण व नय द्वारा निश्चय करके वस्तुको नहीं जानता, वह ध्यानकी भावनासे भी आराधक कदापि नहीं हो सकता।१७६। जो निक्षेप नय और प्रमाणको जानकर तत्त्वको भाते हैं, वे तथ्य तत्त्वमार्गमें तत्थतत्त्व अर्थात् शुद्धात्मतत्त्वको प्राप्त करते हैं।१८१।

न. च./श्रुत/२६/१० परस्परविरुद्धधर्माणामेकवस्तुन्यविरोधसिद्ध्यर्थं नय। –एक वस्तुके परस्पर विरोधी अनेक धर्मोंमें अविरोध सिद्ध करनेके लिए नय होता है।

८. सम्यक् नय ही कार्यकारी है, मिथ्या नहीं

न. च./श्रुत/पृ.६३/११ दुर्नयैकान्तमारूढा भावा न स्वार्थिकाहिता। स्वार्थिकास्तद्विपर्यस्ता निःकलङ्कास्तथा यत।१। =दुर्नयरूप एकान्तमें आरूढ भाव स्वार्थ क्रियाकारी नहीं है। उससे विपरीत अर्थात् सुनयके आश्रित निष्कलंक तथा शुद्धभाव ही कार्यकारी है।

का. अ./मू./२६६ सयलववहारसिद्धि सुणयादो होदि। –सुनयसे ही समस्त संव्यवहारोंकी सिद्धि होती है। (विशेषके लिए दे० ध.१/४, १,४७/२३६/४)।

९. निरपेक्ष नय भी कथंचित् कार्यकारी है

स.सि./१/३३/१४६/६ अथ तन्त्वादिषु पटादिकार्यं शक्त्यपेक्षया अस्तीत्युच्यते। नयेष्वपि निरपेक्षेषु बुद्ध्यभिधानरूपेषु कारणवशात्सम्यग्दर्शनहेतुत्वविपरिणतिसद्भावात् शक्त्यात्मनास्तित्वमिति साम्यमेवोपन्यासस्य। =(परस्पर सापेक्ष रहकर ही नयज्ञान सम्यक् है, निरपेक्ष नहीं, जिस प्रकार परस्पर सापेक्ष रहकर ही तन्तु आदिक पटरूप कार्यका उत्पादन करते है। ऐसा दृष्टान्त दिया जानेपर शंकाकार कहता है।) प्रश्न—निरपेक्ष रहकर भी तन्तु आदिकमें तो शक्तिकी अपेक्षा पटादि कार्य विद्यमान है (पर निरपेक्ष नयमें ऐसा नहीं है; अत दृष्टान्त विषम है)। उत्तर—यही बात ज्ञान व शब्दरूप नयोंके विषयमें भी जानना चाहिए। उनमें भी ऐसी शक्ति पायी जाती है, जिससे वे कारणवश सम्यग्दर्शनके हेतुरूपसे परिणमन करनेमें समर्थ हैं। इसलिए दृष्टान्तका दार्ष्टान्तके साथ साम्य ही है। (रा.वा./१/३३/१२/६६/२६)

१० नय पक्षको हेयोपादेयताका समन्वय

पं.ध./पू./५०८ उन्मज्जति नयपक्षो भवति विकल्पो हि यदा। न विवक्षितो विकल्पः स्वयं निमज्जति तदा हि नयपक्षः। –जिस समय विकल्प विवक्षित होता है, उस समय नयपक्ष उदयको प्राप्त होता है और जिस समय विकल्प विवक्षित नहीं होता उस समय वह (नय पक्ष) स्वयं अस्तको प्राप्त हो जाता है।

और भी दे. नय/I/३/६ प्रत्यक्षानुभूतिके समय नय विकल्प नहीं होते।

४. शब्द, अर्थ व ज्ञाननय निर्देश

१. शब्द अर्थ व ज्ञानरूप तीन प्रकारके पदार्थ हैं

श्लो. वा./२/१/५/६८/२७८/३३ में उद्धृत समन्तभद्र स्वामीका वाक्य—बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचकाः। –जगत्के व्यवहारमें कोई भी पदार्थ बुद्धि (ज्ञान) शब्द और अर्थ इन तीन भागोंमें विभक्त हो सकता है।

रा. वा./४/४२/१५/२५६/२५ जीवार्थो जीवशब्दो जीवप्रत्ययः इत्येतत्त्रितयं लोके अविचारसिद्धम्। –जीव नामक पदार्थ, 'जीव' यह शब्द और जीव विषयक ज्ञान ये तीन इस लोकमें अविचार सिद्ध हैं अर्थात् इन्हें सिद्ध करनेके लिए कोई विचार विशेष करनेकी आवश्यकता नहीं। (श्लो.वा.२/१/५/६८/२७८/१६)।

पं. का./ता.वृ./३/६/२४ शब्दज्ञानार्थरूपेण त्रिधाभिधेयतां समयशब्दस्य···। =शब्द, ज्ञान व अर्थ ऐसे तीन प्रकारसे भेदको प्राप्त समय अर्थात् आत्मा नामका अभिधेय या वाच्य है।

२. शब्दादि नय निर्देश व लक्षण

रा. वा./१/६/४/३३/११ अधिगमहेतुर्द्विविध. स्वाधिगमहेतु. पराधिगमहेतुश्च। स्वाधिगमहेतुर्ज्ञानात्मकः प्रमाणनयविकल्पः, पराधिगमहेतुः वचनात्मकः। =पदार्थोंका ग्रहण दो प्रकारसे होता है—स्वाधिगम द्वारा और पराधिगम द्वारा। तहाँ स्वाधिगम हेतुरूप प्रमाण व नय तो ज्ञानात्मक है और पराधिगम हेतुरूप वचनात्मक है।

रा. वा./१/३३/८/६८/१० शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्याययतीति शब्दः।८। उच्चरितः शब्दः कृतसंगीतेः पुरुषस्य स्वाभिधेये प्रत्ययमादधाति इति शब्द इत्युच्यते। =जो पदार्थको बुलाता है अर्थात् उसे कहता है या उसका निश्चय कराता है, उसे शब्दनय कहते हैं। जिस व्यक्तिने संकेत ग्रहण किया है उसे अर्थबोध करानेवाला शब्द होता है। (स्या. म./२८/३१३/२६)।

ध. १/१,१,१/८६/६ शब्दपृष्ठतोऽर्थग्रहणप्रवणः शब्दनयः। –शब्दको ग्रहण करनेके बाद अर्थके ग्रहण करनेमें समर्थ शब्दनय है।

ध. १/१,१,१/८६/१ तत्रार्थव्यञ्जनपर्यायैर्विभिन्नलिङ्गसंख्याकालकारकपुरुषोपग्रहभेदैरभिन्नं वर्तमानमात्रं वस्त्वध्यवस्यन्तोऽर्थनयाः, न शब्दभेदेनार्थभेद इत्यर्थः। व्यञ्जनभेदेन वस्तुभेदाध्यवसायिनो व्यञ्जननयाः। –अर्थपर्याय और व्यंजनपर्यायसे भेदरूप और लिंग, संख्या, काल, कारक और उपग्रहके भेदसे अभेदरूप केवल वर्तमान समयवर्ती वस्तुके निश्चय करनेवाले नयोंको अर्थनय कहते है, यहाँपर शब्दोंके भेदसे अर्थमें भेदकी विवक्षा नहीं होती। व्यंजनके भेदसे वस्तुमें भेदका निश्चय करनेवाले नयको व्यंजन नय कहते हैं।

नोट—(शब्दनय सम्बन्धी विशेष—दे. नय/III/६-८)।

क. प्रा. १/१३-१४/§१८४/२२२/३ वस्तुनः स्वरूपं स्वधर्मभेदेन भिन्दानो अर्थनयः, अभेदको वा। अभेदरूपेण सर्वं वस्तु इयर्ति एति गच्छति इत्यर्थनयः। ..वाचकभेदेन भेदको व्यञ्जननयः। –वस्तुके स्वरूपमें वस्तुगत धर्मोंके भेदसे भेद करनेवाला अथवा अभेद रूपसे (उस अनन्त धर्मात्मक) वस्तुको ग्रहण करनेवाला अर्थनय है तथा वाचक शब्दके भेदसे भेद करनेवाला व्यंजननय है।

न. च. वृ./२१४ अहवा सिद्धे सद्दे कीरइ जं किंपि अत्थववहरणं। सो खलु सद्दे विसओ देवो सद्देण जह देवो।२१४। –व्याकरण आदि द्वारा सिद्ध किये गये शब्दसे जो अर्थका ग्रहण करता है सो शब्दनय है, जैसे—'देव' शब्द कहनेपर देवका ग्रहण करना।

३. वास्तवमें नय ज्ञानात्मक ही है, शब्दादिको नय कहना उपचार है।

ध. ६/४,१,४५/१६४/५ प्रमाणनयाभ्यामुत्पन्नवाक्येऽप्युपचारतः प्रमाणनयौ, ताभ्यामुत्पन्नबोधौ विधिप्रतिषेधात्मकवस्तुविषयत्वात प्रमाणतामदधानावपि कार्ये कारणोपचारत: प्रमाणनयाविस्यस्मिन् सूत्रे परिगृहीतौ। —प्रमाण और नयसे उत्पन्न वाक्य भी उपचारसे प्रमाण और नय हैं, उन दोनों (ज्ञान व वाक्य) से उत्पन्न उभय बोध विधि प्रतिषेधात्मक वस्तुको विषय करनेके कारण प्रमाणताको धारण करते हुए भी कार्यमें कारणका उपचार करनेसे नय है। (पं. ध./पू./५१३)।

का० अ./टी./२६५ ते त्रयो नयविशेषाः ज्ञातव्याः। ते के। स एव एको धर्मः नित्योऽनित्यो वा…इत्याद्येकस्वभावः नयः। नयग्राह्यत्वात इत्येकनयः। …तत्प्रतिपादकशब्दोऽपि नयः कथ्यते। ज्ञानस्य करणे कार्ये च शब्दे नयोपचारात् इति द्वितीयो वाचकनयः तं नित्याद्येकधर्मं जानाति तत् ज्ञानं तृतीयो नयः। सकलवस्तुग्राहकं प्रमाणम्, तदेकदेशग्राहको नयः, इति वचनात्। —नयके तीन रूप हैं—अर्थ रूप, शब्दरूप और ज्ञानरूप। वस्तुका नित्य अनित्य आदि एकधर्म अर्थरूपनय है। उसका प्रतिपादक शब्द शब्दरूपनय है। यहाँ ज्ञानरूप कारणमें शब्दरूप कार्यका तथा ज्ञानरूप कार्यमें शब्दरूप कारणका उपचार किया गया है। उसी नित्यादि धर्मको जानता होनेसे तीसरा वह ज्ञान भी ज्ञाननय है। क्योंकि 'सकल वस्तु ग्राहक ज्ञान प्रमाण है और एकदेश ग्राहक ज्ञान नय है, ऐसा आगमका वचन है।

४. तीनों नयोंमें परस्पर सम्बन्ध

श्लो. वा /४/१/३३/श्लो. ६६-६७/२८८ सर्वे शब्दनयास्तेन परार्थप्रतिपादने। स्वार्थप्रकाशने मातुरिमे ज्ञाननयाः स्थिताः।६६। वैधीयमानवस्त्वंशाः कथ्यन्तेऽर्थनयाश्च ते। त्रैविध्यं व्यवतिष्ठन्ते प्रधानगुणभावतः।६७। —श्रोताओंके प्रति वाच्य अर्थका प्रतिपादन करनेपर तो सभी नय शब्दनय स्वरूप है, और स्वयं अर्थका ज्ञान करनेपर सभी नय स्वार्थप्रकाशी होनेसे ज्ञाननय हैं।६६। 'नीयतेऽनेन इति नयः' ऐसी करण साधनरूप व्युत्पत्ति करनेपर सभी नय ज्ञाननय हो जाती हैं। और 'नीयते ये इति नयः' ऐसी कर्म साधनरूप व्युत्पत्ति करनेपर सभी नय अर्थनय हो जाते है, क्योंकि नयोंके द्वारा अर्थ ही जाने जाते हैं। इस प्रकार प्रधान और गौणरूपसे ये नय तीन प्रकारसे व्यवस्थित होते है। (और भी दे. नय/III/१/४)।

नोट—अर्थनयों व शब्दनयोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता (दे नय/III/१/७)।

५. शब्दनयका विषय

ध. १/४,१,४५/१८६/७ पज्जवट्ठिए खणक्खएण सद्दत्थविसेसभावेण संकेतकरणाणुववत्तीए वाचियवाचयभेदाभावादो। कधं सद्दणएसु तिसु वि सद्दववहारो। अणप्पिदअत्थगयभेयाणमप्पिदसद्दणिबंधणभेयाणं तेसि तदविरोहादो। —पर्यायार्थिक नय क्योंकि क्षणक्षयी होता है इसलिए उसमें शब्द और अर्थकी विशेषतासे संकेत करना न बन सकनेके कारण वाच्यवाचक भेदका अभाव है। (विशेष दे. नय/IV/३/८/५) प्रश्न—तो फिर तीनों ही शब्दनयोंमें शब्दका व्यवहार कैसे होता है? उत्तर—अर्थगत भेदकी अप्रधानता और शब्द निमित्तक भेदकी प्रधानता रखनेवाले उक्त नयोंके शब्दव्यवहारमें कोई विरोध नहीं है। (विशेष दे. निक्षेप/३/६)।

दे. नय/III/१/६ (शब्दनयोंमें दो अपेक्षासे शब्दोंका प्रयोग ग्रहण किया जाता है—शब्दभेदसे अर्थमें भेद करनेकी अपेक्षा और अर्थ भेद होनेपर शब्दभेदकी अपेक्षा इस प्रकार भेदरूप शब्द व्यवहार; तथा दूसरा अनेक शब्दोंका एक अर्थ और अनेक अर्थोंका वाचक एक शब्द इस प्रकार अभेदरूप शब्द व्यवहार)।

दे. नय/III/६,७,८ (तहाँ शब्दनय केवल लिंगादि अपेक्षा भेद करता है पर समानलिंगी आदि एकार्थवाची शब्दोंमें अभेद करता है। समभिरूढनय समान लिंगादिवाले शब्दोंमें भी व्युत्पत्ति भेद करता है, परन्तु रूढि वश हर अवस्थामें पदार्थको एक ही नामसे पुकारकर अभेद करता है। और एवंभूतनय क्रियापरिणतिके अनुसार अर्थ भेद स्वीकार करता हुआ उसके वाचक शब्दमें भी सर्वथा भेद स्वीकार करता है। यहाँ तक कि पद समास या वर्णसमास तकको स्वीकार नहीं करता)।

दे. आगम/४/४ (यद्यपि यहाँ पदसमास आदिकी सम्भावना न होनेसे शब्द व वाक्योंका होना सम्भव नहीं, परन्तु क्रम पूर्वक उत्पन्न होनेवाले वर्णों व पदोंसे उत्पन्न ज्ञान क्योंकि अक्रमसे रहता है; इसलिए, तहाँ वाच्यवाचक सम्बन्ध भी बन जाता है)।

६. शब्दादि नयोंके उदाहरण

ध.१/१,१,१११/३४८/१० शब्दनयाश्रयणे क्रोधकषाय इति भवति तस्य शब्दपृष्ठतोऽर्थप्रतिपत्तिप्रवणत्वात्। अर्थनयाश्रयणे क्रोधकषायीति स्याच्छब्दोऽर्थस्य भेदाभावात्। —शब्दनयका आश्रय करनेपर 'क्रोध कषाय' इत्यादि प्रयोग बन जाते हैं, क्योंकि शब्दनय शब्दानुसार अर्थज्ञान करानेमें समर्थ है। अर्थनयका आश्रय करनेपर 'क्रोध कषायी' इत्यादि प्रयोग होते हैं, क्योंकि इस नयकी दृष्टिमें शब्दसे अर्थका कोई भेद नहीं है।

पं.ध./पू./५१४ अथ तद्यथा यथाऽग्नेरौष्ण्यं धर्मं समक्षतोऽपेक्ष्य। उष्णोऽग्निरिति वागिह तज्ज्ञानं वा नयोपचारः स्यात्।५१४। —जैसे अग्निके उष्णता धर्मरूप 'अर्थ' को देखकर 'अग्नि उष्ण है' इत्याकारक ज्ञान और उस ज्ञानका वाचक 'उष्णोऽग्निः' यह वचन दोनों ही उपचारसे नय कहलाते हैं।

७. द्रव्यनय व भावनय निर्देश

पं.ध./पू./५०५ द्रव्यनयो भावनयः स्यादिति भेदाद्द्विधा च सोऽपि यथा। पौद्गलिकः किल शब्दो द्रव्यं भावश्च चिदिति जीवगुणः।५०५। —द्रव्यनय और भावनयके भेदसे नय दो प्रकार है, जैसे कि निश्चयसे पौद्गलिक शब्द द्रव्यनय कहलाता है, तथा जीवका ज्ञान गुण भावनय कहलाता है। अर्थात उपरोक्त तीन भेदोंमेंसे शब्दनय तो द्रव्यनय है और ज्ञाननय भावनय है।

५. अन्य अनेकों नयोंका निर्देश

१. भूत भावि आदि प्रज्ञापन नयोंका निर्देश

स. सि./५/२६/३१२/१० अणोरप्येकप्रदेशस्य पूर्वोत्तरभावप्रज्ञापननयापेक्षयोपचारकल्पनया प्रदेशप्रचय उक्तः।

स. सि./२/६/१६०/२ पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया योऽसौ योगप्रवृत्तिः कषायानुरञ्जिता सैवेत्युपचारादौदयिकीत्युच्यते।

स.सि./१०/९/पृष्ठ/पंक्ति भूतग्राहिनयापेक्षया जन्म प्रति पञ्चदशसु कर्मभूमिषु, संहरणं प्रति मानुषक्षेत्रे सिद्धिः।(४७१/१२)। प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया एकसमये सिद्धयन् सिद्धो भवति। भूतप्रज्ञापननयापेक्षया जन्मतोऽविशेषेणोत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्जातः सिध्यति विशेषेणावसर्पिण्यां सुषमादुषमायां अन्त्यभागे संहरणतः सर्वस्मिन्काले। (४७२/१)। भूतपूर्वनयापेक्षया तु…क्षेत्रसिद्धा द्विविधा—जन्मतः संहरणतश्च।(४७३/६)। —पूर्व और उत्तरभाव प्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे उपचार कल्पना द्वारा एकप्रदेशी भी अणुको प्रदेश प्रचय (बहु प्रदेशी) कहा

है। पूर्वभावप्रज्ञापननयकी अपेक्षासे उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानोंमें भी शुक्ललेश्याको औदयिकी कहा है, क्योंकि जो योगप्रवृत्ति कषायके उदयसे अनुरंजित थी वही यह है। भूतग्राहिनयकी अपेक्षा जन्मसे १५ कर्मभूमियोंमें और संहरणकी अपेक्षा सर्व मनुष्यक्षेत्रसे सिद्धि होती है। वर्तमानग्राही नयकी अपेक्षा एक समयमें सिद्ध होता है। भूत प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा जन्मसे सामान्यतः उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमें सिद्ध होता है, विशेषकी अपेक्षा सुषमादुषमाके अन्तिम भागमें और संहरणकी अपेक्षा सब कालोंमें सिद्ध होता है। भूतपूर्व नयकी अपेक्षासे क्षेत्रसिद्ध दो प्रकार है—जन्मसे व संहरणसे। (रा.वा./१०/६); (त.सा./८/४२)।

रा.वा./१०/६/वार्तिक/पृष्ठ/पंक्ति (उपरोक्त नयोंका ही कुछ अन्य प्रकार निर्देश किया है)—वर्तमान विषय नय (५/६४६/३२); अतीतगोचरनय (५/६४६/३३); भूत विषय नय (५/६४७/१) प्रत्युत्पन्न भावप्रज्ञापन नय (१४/६४८/२३)···

क.पा.१/१३-१४/§२१७/२७०/१ भूदपुव्वगईए आगमववएसुववत्तीदो। —जिसका आगमजनित संस्कार नष्ट हो गया है ऐसे जीवमें भी भूतपूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा आगम संज्ञा बन जाती है।

गो. जी./मू./५३३/६२६ अट्ठकसाये लेस्या उच्चदि सा भूदपुव्वगदिणाया। —उपशान्त कषाय आदिक गुणस्थानोंमें भूतपूर्वन्यायसे लेश्या कही गयी है।

द्र सं./टी./१४/४८/१० अन्तरात्मावस्थायां तु बहिरात्मा भूतपूर्वन्यायेन घृतघटवत्। परमात्मस्वरूपं तु शक्तिरूपेण, भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च। —अन्तरात्माकी अवस्थामें अन्तरात्मा भूतपूर्व न्यायसे घृतके घटके समान और परमात्माका स्वरूप शक्तिरूपसे तथा भावीनैगम नयकी अपेक्षा व्यक्तिरूपसे भी जानना चाहिए।

नोट—कालकी अपेक्षा करनेपर नय तीन प्रकारकी है—भूतग्राही, वर्तमानग्राही और भावीकालग्राही। उपरोक्त निर्देशोंमें इनका विभिन्न नामोंमें प्रयोग किया गया है। यथा—१. पूर्वभाव प्रज्ञापन नय, भूतग्राही नय, भूत प्रज्ञापन नय, भूतपूर्व नय, अतीतगोचर नय, भूतविषय नय, भूतपूर्व प्रज्ञापननय, भूतपूर्व न्याय आदि। २. उत्तरभावप्रज्ञापननय, भाविनैगमनय, ३. प्रत्युत्पन्न या वर्तमानग्राहीनय, वर्तमानविषयनय, प्रत्युत्पन्न भाव प्रज्ञापन नय, इत्यादि। तहाँ ये तीनों काल विषयक नयें द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयोंमें गर्भित हो जाती हैं—भूत व भावि नयें तो द्रव्यार्थिकनयमें तथा वर्तमाननय पर्यायार्थिकमें। अथवा नैगमादि सात नयोंमें गर्भित हो जाती हैं—भूत व भावी नयें तो नैगमादि तीन नयोंमें और वर्तमान नय ऋजुसूत्रादि चार नयोंमें। अथवा नैगम व ऋजुसूत्र इन दो में गर्भित हो जाती हैं—भूत व भावि नयें तो नैगमनयमें और वर्तमाननय ऋजुसूत्रमें। श्लोक वार्तिकमें कहा भी है—

श्लो. वा.४/१/३३/३ ऋजुसूत्रनयः शब्दभेदाश्च त्रय: प्रत्युत्पन्नविषयग्राहिणः। शेषा नया उभयभावविषयाः। —ऋजुसूत्र नयको तथा तीन शब्दनयोंको प्रत्युत्पन्ननय कहते हैं। शेष तीन नयोंको प्रत्युत्पन्न भी कहते हैं और प्रज्ञापननय भी।

(भूत व भावि प्रज्ञापन नयें तो स्पष्ट ही भूत भावी नैगम नय हैं। वर्तमानग्राही दो प्रकार की हैं—एक अर्ध निष्पन्नमें निष्पन्नका उपचार करनेवाली और दूसरी साक्षात् शुद्ध वर्तमानके एक समयमात्र को सत्तरूपसे अंगीकार करनेवाली। तहाँ पहली तो वर्तमान नैगम नय है और दूसरी सूक्ष्म ऋजुसूत्र। विशेषके लिए देखो आगे नय/III में नैगमादि नयोंके लक्षण भेद व उदाहरण)।

२. अस्तित्वादि सप्तभंगी नयोंका निर्देश

प्र.सा./त.प्र./परि० नय नं० ३-६ अस्तित्वनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्ववत्।३। नास्तित्वनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्नास्तित्ववत्।४। अस्तित्वनास्तित्वनयेन···प्राक्तनविशिखवत् क्रमतः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्वनास्तित्ववत्।५। अवक्तव्यनयेन···प्राक्तनविशिखवत् युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरवक्तव्यम्।६। अस्तित्वावक्तव्यनयेन...प्राक्तनविशिखवत्··· अस्तित्ववदवक्तव्यम्।७। नास्तित्वावक्तव्यनयेन ··· प्राक्तनविशिखवत् ··· नास्तित्ववदवक्तव्यम्।८। अस्तित्वनास्तित्वावक्तव्यनयेन···प्राक्तनविशिखवत्···अस्तित्वनास्तित्ववदवक्तव्यम्।६। —१. आत्मद्रव्य अस्तित्वनयसे स्वद्रव्यक्षेत्र काल व भावसे अस्तित्ववाला है। जैसे कि द्रव्यकी अपेक्षा लोहमयी, क्षेत्रकी अपेक्षा प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें निहित, कालकी अपेक्षा सन्धान दशामें रहे हुए और भावकी अपेक्षा लक्ष्योन्मुख बाणका अस्तित्व है।३। (पं.ध./पू./७५६) २. आत्मद्रव्य नास्तित्वनयसे परद्रव्य क्षेत्र काल व भावसे नास्तित्ववाला है। जैसे कि द्रव्यकी अपेक्षा अलोहमयी, क्षेत्रकी अपेक्षा प्रत्यंचा और धनुषके बीचमें अनिहित, कालकी अपेक्षा सन्धान दशामें न रहे हुए और भावकी अपेक्षा अलक्ष्योन्मुख पहलेवाले बाणका नास्तित्व है, अर्थात् ऐसे किसी बाणका अस्तित्व नहीं है।४। (पं.ध./पू./७५७) ३. आत्मद्रव्य अस्तित्वनास्तित्व नयसे पूर्वके बाणकी भाँति ही क्रमशः स्व व पर द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अस्तित्व नास्तित्ववाला है।५। ४. आत्मद्रव्य अवक्तव्य नयसे पूर्वके बाणको भाँति ही युगपत् स्व व पर द्रव्य क्षेत्र काल और भावसे अवक्तव्य है।६। ५. आत्म द्रव्य अस्तित्व अवक्तव्य नयसे पूर्वके बाणकी भाँति (पहले अस्तित्व रूप और पीछे अवक्तव्य रूप देखनेपर) अस्तित्ववाला तथा अवक्तव्य है।७। ६. आत्मद्रव्य नास्तित्व अवक्तव्य नयसे पूर्वके बाणकी भाँति ही (पहले नास्तित्वरूप और पीछे अवक्तव्यरूप देखनेपर) नास्तित्ववाला तथा अवक्तव्य है।८। ७. आत्मद्रव्य अस्तित्व नास्तित्व अवक्तव्य नयसे पूर्वके बाणकी भाँति ही (क्रमसे तथा युगपत् देखनेपर) अस्तित्व व नास्तित्ववाला अवक्तव्य है।६। (विशेष दे० सप्तभंगी)।

३. नामादि निक्षेपरूप नयोंका निर्देश

प्र. सा./त. प्र./परि./नय नं. १२-१५ नामनयेन तदात्मवत् शब्दब्रह्मामर्शि।१२। स्थापनानयेन मूर्तित्ववत्सकलपुद्गलावलम्बि।१३। द्रव्यनयेन माणवकश्रेष्ठिश्रमणपार्थिववदनागतातीतपर्यायोद्भासि।१४। भावनयेन पुरुषायितप्रवृत्तयोषिद्वत्तदात्वपर्यायोल्लासि।१५। —आत्मद्रव्य नाम नयसे, नामवाले (किसी देवदत्त नामक व्यक्ति) की भाँति शब्दब्रह्मको स्पर्श करनेवाला है; अर्थात् पदार्थको शब्द द्वारा कहा जाता है।१२। आत्मद्रव्य स्थापनानय मूर्तित्वकी भाँति सर्व पुद्गलोंका अवलम्बन करनेवाला है। (अर्थात् आत्माकी मूर्ति या प्रतिमा काष्ठ पाषाण आदिमेंसे बनायी जाती है)।१३। आत्मद्रव्य द्रव्यनयसे बालक सेठकी भाँति और श्रमण राजाकी भाँति अनागत व अतीत पर्यायसे प्रतिभासित होता है। (अर्थात् वर्तमानमें भूत या भावि पर्यायका उपचार किया जा सकता है।१४। आत्मद्रव्य भावनयसे पुरुषके समान प्रवर्तमान स्त्रीकी भाँति तत्कालकी (वर्तमानकी) पर्याय रूपसे प्रकाशित होता है।१५। (विशेष दे० निक्षेप)।

४. सामान्य विशेष आदि धर्मोंरूप ४७ नयोंका निर्देश

प्र. सा./त. प्र./ परि./नय नं० तत्तु द्रव्यनयेन पटमात्रवच्चिन्मात्रम् ।१। पर्यायनयेन तन्तुमात्रवद्दर्शनज्ञानादिमात्रम् ।२। विकल्पनयेन शिशुकुमारस्थविरैकपुरुषवत्सविकल्पम् ।१०। अविकल्पनयेनैकपुरुषमात्रवदविकल्पम् ।११। सामान्यनयेन हारस्रग्दामसूत्रवद्व्यापि ।१६। विशेषनयेन तदेकमुक्ताफलवदव्यापि ।१७। नित्यनयेन नटवदवस्थायि ।१८। अनित्यनयेन रामरावणवदनवस्थायि ।१९। सर्वगतनयेन विस्फुरिताक्षचक्षुर्वत्सर्ववर्ति ।२०। असर्वगतनयेन मीलिताक्षचक्षुर्वदात्मवर्ति ।२१। शून्यनयेन शून्यागारवत्केवलोद्भासि ।२२। अशून्यनयेन लोकाक्रान्तनौवन्मिलितोद्भासि ।२३। ज्ञानज्ञेयाद्वैतनयेन महदिन्धनभारपरिणतधूमकेतुवदेकम् ।२४। ज्ञानज्ञेयद्वैतनयेन परप्रतिबिम्बसंपृक्तदर्पणवदनेकम् ।२५। नियतिनयेन नियमितौष्ण्य वह्नि वन्नियत स्वभाव भासि ।२६। अनियतिनयेन नित्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभावभासि ।२७। स्वभावनयेनानिशिततीक्ष्णकण्टकवत्संस्कारानर्थक्यकारि ।२८। अस्वभावनयेनायस्कारनिशिततीक्ष्णविशिखवत्ससंस्कारसार्थक्यकारि ।२९। कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमानसहकारफलवत्समयायत्तसिद्धि ।३०। अकालनयेन कृत्रिमोष्मपाच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धि.।३१। पुरुषाकारनयेन पुरुषाकारोपलब्धमधुकुक्कुटीकपुरुषकारवादीवद्यत्नसाध्यसिद्धि ।३२। दैवनयेन पुरुषाकारवादिदत्तमधुकुक्कुटीगर्भलब्धमाणिक्यदैववादिवदयत्नसाध्यसिद्धिः ।३३। ईश्वरनयेन धात्रीहटावलेह्यमानपान्थबालकवत्पारतन्त्र्यभोक्तृ ।३४। अनीश्वरनयेन स्वच्छन्ददारितकुरङ्गकण्ठीरववत्स्वातन्त्र्यभोक्तृ ।३५। गुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकवद्गुणग्राहि ।३६। अगुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमाराध्यक्षवत् केवलमेव साक्षि ।३७। कर्तृनयेन रञ्जकवद्रागादिपरिणामकर्तृ ।३८। अकर्तृनयेन स्वकर्मप्रवृत्तरञ्जकाध्यक्षवत्केवलमेव साक्षि ।३९। भोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधितवत्सुखदुःखादिभोक्तृ ।४०। अभोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधिताध्यक्षधन्वन्तरिचरवत् केवलमेव साक्षी ।४१। क्रियानयेन स्थाणुभिन्नमूर्धजातदृष्टिलब्धनिधानान्धवदनुष्ठानप्राधान्यसाध्यसिद्धि.।४२। ज्ञाननयेन चणकमुष्टिक्रीतचिन्तामणिगृहकोणवाणिजवद्विवेकप्राधान्यसाध्यसिद्धि ।४३। व्यवहारनयेन बन्धकमोचकपरमाण्वन्तरसंयुज्यमानवियुज्यमानपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोर्द्वैतानुवर्ति ।४४। निश्चयनयेन केवलबध्यमानमुच्यमानबन्धमोक्षोचितस्निग्धरूक्षत्वगुणपरिणतपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोरद्वैतानुवर्ति ।४५। अशुद्धनयेन घटशरावविशिष्टमृण्मात्रवत्सोपाधिस्वभावम् ।४६। शुद्धनयेन केवलमृण्मात्रवन्निरुपाधिस्वभावम् ।४७। = १. आत्मद्रव्य <u>द्रव्यनयसे</u>, पटमात्रकी भाँति चिन्मात्र है। २. <u>पर्यायनयसे</u> वह तन्तुमात्रकी भाँति दर्शनज्ञानादि मात्र है। ३. <u>विकल्पनयसे</u> बालक, कुमार, और वृद्ध ऐसे एक पुरुषकी भाँति सविकल्प है। ४. <u>अविकल्पनयसे</u> एकपुरुषमात्रकी भाँति अविकल्प है। ५. <u>सामान्यनयसे</u> हार माला कण्ठीके डोरेकी भाँति व्यापक है। ६. <u>विशेष नयसे</u> उसके एक मोतीकी भाँति, अव्यापक है। ७. <u>नित्यनयसे</u>, नटकी भाँति अवस्थायी है। ८. <u>अनित्यनयसे</u> राम-रावणकी भाँति अनवस्थायी है। (पं. ध./पू./७६०-७६१)। ९. <u>सर्वगतनयसे</u> खुली हुई आँखकी भाँति सर्ववर्ती है। १०. <u>असर्वगतनयसे</u> मिची हुई आँखकी भाँति आत्मवर्ती है। ११. <u>शून्यनयसे</u> शून्य-घरकी भाँति एकाकी भासित होता है। १२. <u>अशून्यनयसे</u> लोगोंसे भरे हुए जहाजकी भाँति मिलित भासित होता है। १३. ज्ञानज्ञेय <u>अद्वैतनयसे</u> महान् ईन्धनसमूहरूप परिणत अग्निकी भाँति एक है। १४. ज्ञानज्ञेय <u>द्वैतनयसे</u>, परके प्रतिबिम्बोंसे संपृक्त दर्पणकी भाँति अनेक है। १५. आत्मद्रव्य <u>नियतिनयसे</u> नियतस्वभाव रूप भासित होता है, जिसकी उष्णता नियमित होती है ऐसी अग्निकी भाँति। १६. <u>अनियतनयसे</u> अनियतस्वभावरूप भासित होता है, जिसकी उष्णता नियमित नहीं है ऐसे पानीकी भाँति। १७. <u>स्वभावनयसे</u> संस्कारको निरर्थक करनेवाला है, जिसकी किसीसे नोक नहीं निकाली जाती, ऐसे पैने काँटेकी भाँति। १८. <u>अस्वभावनयसे</u> संस्कारको सार्थक करनेवाला है, जिसकी लुहारके द्वारा नोक निकाली गयी है, ऐसे पैने बाणकी भाँति। १९. <u>कालनयसे</u> जिसकी सिद्धि समयपर आधार रखती है ऐसा है, गर्मीके दिनोंके अनुसार पकनेवाले आम्र फलकी भाँति। २०. <u>अकालनयसे</u> जिसकी सिद्धि समयपर आधार नहीं रखती ऐसा है, कृत्रिम गर्मीसे पकाये गये आम्रफलकी भाँति। २१. <u>पुरुषाकारनयसे</u> जिसकी सिद्धि यत्नसाध्य है ऐसा है, जिसे पुरुषाकारसे नींबूका वृक्ष प्राप्त होता है, ऐसे पुरुषाकारवादीकी भाँति। २२. <u>दैवनयसे</u> जिसकी सिद्धि अयत्नसाध्य है ऐसा है, पुरुषाकारवादी द्वारा प्रदत्त नींबूके वृक्षके भीतरसे जिसे माणिक प्राप्त हो जाता है, ऐसे दैववादीकी भाँति। २३. <u>ईश्वरनयसे</u> परतंत्रता भोगनेवाला है, धायकी दुकानपर दूध पिलाये जानेवाले राहगीरके बालककी भाँति। २४. <u>अनीश्वरनयसे</u> स्वतन्त्रता भोगनेवाला है, हिरनको स्वच्छन्दतापूर्वक फाड़कर खा जानेवाले सिंहकी भाँति। २५. आत्मद्रव्य <u>गुणीनयसे</u> गुणग्राही है, शिक्षकके द्वारा जिसे शिक्षा दी जाती है ऐसे कुमारकी भाँति। २६. <u>अगुणीनयसे</u> केवल साक्षी ही है। २७. <u>कर्तृनयसे</u> रंगरेजकी भाँति रागादि परिणामोंका कर्ता है। २८. <u>अकर्तृनयसे</u> केवल साक्षी ही है, अपने कार्यमें प्रवृत्त रंगरेजको देखनेवाले पुरुषकी भाँति। २९. <u>भोक्तृनयसे</u> सुख-दुखादिका भोक्ता है, हितकारी-अहितकारी अन्नको खानेवाले रोगीकी भाँति। ३०. <u>अभोक्तृनयसे</u> केवल साक्षी ही है, हितकारी-अहितकारी अन्नको खानेवाले रोगीको देखनेवाले वैद्यकी भाँति। ३१. <u>क्रियानयसे</u> अनुष्ठानकी प्रधानतासे सिद्धि साधित हो ऐसा है, खम्भेसे सिर फूट जानेपर दृष्टि उत्पन्न होकर जिसे निधान प्राप्त हो जाय, ऐसे अन्धेकी भाँति। ३२. <u>ज्ञाननयसे</u> विवेककी प्रधानतासे सिद्धि साधित हो ऐसा है; मुट्ठीभर चने देकर चिन्तामणि रत्न खरीदनेवाले घरके कोनेमें बैठे हुए व्यापारीकी भाँति। ३३. आत्मद्रव्य <u>व्यवहारनयसे</u> बन्ध और मोक्षमें द्वैतका अनुसरण करनेवाला है; बन्धक और मोचक अन्य परमाणुके साथ संयुक्त होनेवाले और उससे वियुक्त होनेवाले परमाणुकी भाँति। ३४. <u>निश्चयनयसे</u> बन्ध और मोक्षमें अद्वैतका अनुसरण करनेवाला है; अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बन्ध मोक्षोचित स्निग्धत्व रूक्षत्वगुणरूप परिणत परमाणुकी भाँति। ३५. <u>अशुद्धनयसे</u> घट और रामपात्रसे विशिष्ट मिट्टी मात्रकी भाँति सोपाधि स्वभाववाला है। ३६. <u>शुद्धनयसे</u>, केवलमिट्टी मात्रकी भाँति, निरुपाधि स्वभाववाला है।

पं. ध./पू./श्लोक – अस्ति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्यायस्तत्त्रयं मिथोऽनेकम्। व्यवहारैकविशिष्टो नयः स वानेकसंज्ञको न्यायात् ।७५२। एकं सदिति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्ययोऽथवा नाम्ना। इतरद्वयमन्यतरं लब्धमनुक्तं स एकनयपक्षः ।७५३। परिणममानेऽपि तथाभूतैर्भावैर्विनश्यमानेऽपि। नायमपूर्वो भावः पर्यायार्थिकविशिष्टभावनयः ।७६५। अभिनवभावपरिणतेर्योऽयं वस्तुन्यपूर्वसमयो यः। इति यो वदति स कश्चित्पर्यायार्थिकनयेष्वभावनयः ।७६४। अस्तित्वं नामगुणः स्यादिति साधारणः स तस्य। तत्पर्ययश्च नयः समासतोऽस्तित्वनय इति वा ।५६३। कर्तृत्वं जीवगुणोऽस्त्वथ वैभाविकोऽथवा भावः। तत्पर्यायविशिष्टः कर्तृत्वनयो यथा नाम ।५६४। – ३७. <u>व्यवहार नयसे</u> द्रव्य, गुण, पर्याय अपने अपने स्वरूपसे परस्परमें पृथक्-पृथक् हैं, ऐसी <u>अनेकनय</u> है ।७५२। ३८. नामकी अपेक्षा पृथक्-पृथक् हुए

जो द्रव्य गुण पर्याय तीनों सामान्यरूपसे एक सत् हैं, इसलिए किसी एकके कहनेपर शेष अनुक्तका ग्रहण हो जाता है। यह एकनय है। ।७६३। ३६. परिणमन होते हुए पूर्व पूर्व परिणमनका विनाश होनेपर भी यह कोई अपूर्व भाव नहीं है, इस प्रकारका जो कथन है वह पर्यायार्थिक विशेषण विशिष्ट भावनय है ।७६५। ४०. तथा नवीन पर्याय उत्पन्न होनेपर जो उसे अपूर्वभाव कहता ऐसा पर्यायार्थिक नय रूप अभाव नय है ।७६४। ४१. अस्तित्वगुणके कारण द्रव्य सत् है, ऐसा कहनेवाला अस्तित्व नय है ।५६३। ४२. जीवका वैभाविक गुण ही उसका कर्तृत्वगुण है। इसलिए जीवको कर्तृत्व गुणवाला कहना सो कर्तृत्व नय है ।५६४।

५. अनन्तों नय होनी सम्भव हैं

ध.१/१,१,१/गा.६७/८० जावदिया वयण-वहा तावदिया चेव होंति णय-वादा। = जितने भी वचनमार्ग हैं, उतने ही नयवाद अर्थात् नयके भेद हैं। (ध.१/४,१,४५/गा.६२/१८१), (क. पा.१/१३-१४/§२०२/गा. ६३/२४५), (ध.१/१,१,६/गा.१०५/१६२), (ह.पु./५८/५२), (गो.क./मू./-८६४/१०७३), (प्र. सा./त. प्र./परि. में उद्धृत); (स्या. म./२८/३१०/१३ में उद्धृत)।

स.सि./१/३३/१४५/७ द्रव्यस्यानन्तशक्तेः प्रतिशक्ति विभिद्यमानाः बहुविकल्पा जायन्ते। = द्रव्यकी अनन्त शक्ति है। इसलिए प्रत्येक शक्तिकी अपेक्षा भेदको प्राप्त होकर ये नय अनेक (अनन्त) विकल्प रूप हो जाते हैं। (रा. वा/१/३३/१२/६६/१८), (प्र. सा./त. प्र./परि. का अन्त), (स्या.म./२८/३१०/११); (पं.ध./पू./५८६,५६५)।

श्लो.वा.४/१/३३/श्लो. ३-४/२१५ संक्षेपाद्द्वौ विशेषेण द्रव्यपर्यायगोचरौ ।३। विस्तरेणेति सप्तैते विज्ञेया नैगमादयः। तथातिविस्तरेणोक्तद्भेदाः संख्यातविग्रहाः ।४। = संक्षेपसे नय दो प्रकार हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ।३। विस्तारसे नैगमादि सात प्रकार हैं और अति विस्तारसे संख्यात शरीरवाले इन नयोंके भेद हो जाते हैं। (स.म./२८/३१७/१)।

ध.१/१,१,१/६१/१ एवमेते संक्षेपेण नयाः सप्तविधाः। अवान्तरभेदेन पुनरसंख्येयाः। = इस तरह संक्षेपसे नय सात प्रकारके हैं और अवान्तर भेदोंसे असंख्यात प्रकारके समझना चाहिए।

II. सम्यक् व मिथ्या नय

१. नय सम्यक् भी है और मिथ्या भी

न.च.वृ./१८१ एयंतो एयणयो होइ अणेयंतमस्स सम्मूहो। तं खलु णाणवियप्पं सम्मं मिच्छं च णायव्वं ।१८१। = एक नय तो एकान्त है और उसका समूह अनेकान्त है। वह ज्ञानका विकल्प सम्यक् भी होता है और मिथ्या भी। ऐसा जानना चाहिए। (पं. ध./पू./-५५८,५६०)।

२. सम्यक् व मिथ्या नयोंके लक्षण

स्या.म./७४/४ सम्यगेकान्तो नयः मिथ्यैकान्तो नयाभासः। = सम्यगेकान्तको नय कहते हैं और मिथ्या एकान्तको नयाभास या मिथ्या नय। (दे० एकान्त/१), (विशेष दे० अगले शीर्षक)।

स्या. म./मू व टीका/२८/३०७,१० सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो मीयते दुर्नीतिनयप्रमाणैः। यथार्थदर्शी तु नयप्रमाणपथेन दुर्नीतिपथं त्वमास्थः ।२८।...मीयते परिच्छिद्यते एकदेशविशिष्टोऽर्थ आभिरिति नीतयो नयाः। दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नया इत्यर्थः। = पदार्थ 'सर्वथा सत् है', 'सत् है' और 'कथंचित् सत् है' इस प्रकार क्रमसे दुर्नय, नय और प्रमाणसे पदार्थोंका ज्ञान होता है। यथार्थ मार्गको देखनेवाले आपने ही नय और प्रमाणमार्गके द्वारा दुर्नयवादका निराकरण किया है ।२८। जिसके द्वारा पदार्थोंके एक अंशका ज्ञान हो उसे नय (सम्यक् नय) कहते हैं। खोटे नयोंको या दुर्नीतियोंको दुर्नय कहते हैं। (स्या.म./२७/३०५/२८)।

और भी दे० (नय/I/१/१), (पहिले जो नय सामान्यका लक्षण किया गया वह सम्यक् नयका है।)

और भी दे० अगले शीर्षक—(सम्यक् व मिथ्या नयके विशेष लक्षण अगले शीर्षकोंमें स्पष्ट किये गये हैं)।

३. अन्य पक्षका निषेध न करे तो कोई भी नय मिथ्या नहीं होता

क.पा.१/१३-१४/§२०६/२५७/१ त चैकान्तेन नयाः मिथ्यादृष्टयः एव; परपक्षानिराकरिष्णूनां सपक्षसत्त्वावधारणे व्यापृतानां स्यात्सम्यग्दृष्टित्वदर्शनात्। उक्तं च—णिययवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा। ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा ।११७। = द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय सर्वथा मिथ्यादृष्टि ही हैं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो नय परपक्षका निराकरण नहीं करते हुए (विशेष दे० आगे नय/II/४) ही अपने पक्षका निश्चय करनेमें व्यापार करते हैं उनमें कथंचित् समीचीनता पायी जाती है। कहा भी है—ये सभी नय अपने विषयके कथन करनेमें समीचीन हैं, और दूसरे नयोंके निराकरण करनेमें मूढ़ हैं। अनेकान्त रूप समयके ज्ञाता पुरुष 'यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है' इस प्रकारका विभाग नहीं करते हैं ।११७।

न.च.वृ./२६२ ण दु णयपक्खो मिच्छा तं पिय णेयंतदव्वसिद्धियरा। सियसद्दसमारूढं जिणवयणविणिग्गयं सुद्धं। = नयपक्ष मिथ्या नहीं होता, क्योंकि वह अनेकान्त द्रव्यकी सिद्धि करता है। इसलिए 'स्यात्' शब्दसे चिह्नित तथा जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट नय शुद्ध हैं।

४. अन्य पक्षका निषेध करनेसे ही मिथ्या हो जाता है

ध.६/४,१,४५/१८२/१ त एव दुरवधीरता मिथ्यादृष्टयः प्रतिपक्षनिराकरणमुखेन प्रवृत्तत्वात्। = ये (नय) ही जब दुराग्रहपूर्वक वस्तुस्वरूपका अवधारण करनेवाले होते हैं, तब मिथ्या नय कहे जाते हैं, क्योंकि वे प्रतिपक्षका निराकरण करनेकी मुख्यतासे प्रवृत्त होते हैं। (विशेष दे०/एकान्त/१/२), (ध.६/४,१,४५/१८३/१०), (क.पा.१/२२/§५१३/-२६२/२)।

प्रमाणनयतत्त्वालंकार/७/१/ (स्या. म./२८/३१६/२६ पर उद्धृत) स्वाभिप्रेताद् अंशाद् इतरांशापलापी पुनर्दुर्नयाभासः। = अपने अभीष्ट धर्मके अतिरिक्त वस्तुके अन्य धर्मोंके निषेध करनेको नयाभास कहते हैं।

स्या.म./२८/३०८/१ 'अस्त्येव घटः' इति। अयं वस्तुनि एकान्तास्तित्वमेव अभ्युपगच्छन् इतरधर्माणां तिरस्कारेण स्वाभिप्रेतमेव धर्मं व्यवस्थापयति। = किसी वस्तुमें अन्य धर्मोंका निषेध करके अपने अभीष्ट एकान्त अस्तित्वको सिद्ध करनेको दुर्नय कहते हैं, जैसे 'यह घट ही है'।

५. अन्य पक्षका संग्रह करनेपर वही नय सम्यक् हो जाते हैं

स्व.स्तो./६२ यथैकशः कारकमर्थसिद्धये, समीक्ष्य शेषं स्वसहायकारकम्। तथैव सामान्यविशेषमातृका नयास्तवेष्टा गुणमुख्यकल्पतः ।६२। = जिस प्रकार एक-एक कारक शेष अन्यको अपना सहायकरूप कारक अपेक्षित करके अर्थकी सिद्धिके लिए समर्थ होता है, उसी प्रकार आपके मतमें सामान्य और विशेषसे उत्पन्न होनेवाले

अथवा सामान्य और विशेषको विषय करनेवाले जो नय हैं वे मुख्य और गौणकी कल्पनासे इष्ट हैं।

ध.९/४,१,४५/१८२/१ ते सर्वेऽपि नयाः अनवधृतस्वरूपाः सम्यग्दृष्टय' प्रतिपक्षानिराकरणात्।

ध.९/४,१,४५/२३१/४ सुणया कथं सविसया। एयंतेण पडिवक्खणिसेहाकरणादो गुणपहाणभावेण ओसादिदपमाणबाहादो। –ये सभी नय वस्तुस्वरूपका अवधारण न करनेपर समीचीन नय होते हैं, क्योंकि वे प्रतिपक्ष धर्मका निराकरण नहीं करते। प्रश्न—सुनयोंके अपने विषयोंकी व्यवस्था कैसे सम्भव है? उत्तर—चूँकि सुनय सर्वथा प्रतिपक्षभूत विषयोंका निषेध नहीं करते, अतः उनके गौणता और प्रधानताकी अपेक्षा प्रमाणबाधाके दूर कर देनेसे उक्त विषय व्यवस्था भले प्रकार सम्भव है।

स्या.म./२८/३०८/४ स हि 'अस्ति घटः' इति घटे स्वाभिमतमस्तित्वधर्म प्रसाधयत् शेषधर्मेषु गजनिमिलिकामालम्बते। न चास्य दुर्नयत्वं धर्मान्तरातिरस्कारात्। –वस्तुमें इष्ट धर्मको सिद्ध करते हुए अन्य धर्मोंमें उदासीन होकर वस्तुके विवेचन करनेको नय कहते हैं। जैसे 'यह घट है'। नयमें दुर्नयकी तरह एक धर्मके अतिरिक्त अन्य धर्मोंका निषेध नहीं किया जाता, इसलिए उसे दुर्नय नहीं कहा जा सकता।

६. जो नय सर्वथाके कारण मिथ्या है वही कथंचित्के कारण सम्यक् है

स्व. स्तो/१०१ सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च यो नयाः। सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते।१०१। –सत, एक, नित्य, वक्तव्य तथा असत, अनेक, अनित्य, व अवक्तव्य ये जो नय पक्ष हैं वे यहाँ सर्वथारूपमें तो अति दूषित हैं और स्यातरूपमें पुष्टिको प्राप्त होते हैं।

गो. क./मू./८९४-८९५/१०७३ जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया।८९४। परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा। जेणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचिव वयणादो।८९५। –जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं। परसमयवालोंके वचन 'सर्वथा' शब्द सहित होनेसे मिथ्या होते हैं और जैनोंके वही वचन 'कथंचित' शब्द सहित होनेसे सम्यक् होते हैं। (दे०नय/I/५ में ध.१)

न.च.वृ/२६२ ण दु णयपक्खो मिच्छा तं पिय णेयंतदव्वसिद्धियरा। सियसद्दसमारूढं जिणवयणविणिग्गयं सुद्धं। –अनेकान्त द्रव्यकी सिद्धि करनेके कारण नयपक्ष मिथ्या नहीं होता। स्यात् पदसे अलंकृत होकर वह जिनवचनके अन्तर्गत आनेसे शुद्ध अर्थात् समीचीन हो जाता है। (न.च.वृ./२४९)

स्या.म./३०/३३६/१३ ननु प्रत्येकं नयानां विरुद्धत्वे कथं समुदितानां निर्विरोधिता। उच्यते। यथा हि समीचीनं मध्यस्थं न्यायनिर्णेतारमासाद्य परस्परं विवादमाना अपि वादिनो विवादाद् विरमन्ति एवं नया अन्योऽन्यं वैरायमाणा अपि सर्वज्ञशासनमुपेत्य स्याच्छब्दप्रयोगोपशमितविप्रतिपत्तयः सन्तः परस्परमत्यन्तं सुहृद्भूयावतिष्ठन्ते। –प्रश्न—यदि प्रत्येक नय परस्पर विरुद्ध हैं, तो उन नयोंके एकत्र मिलानेसे उनका विरोध किस प्रकार नष्ट होता है? उत्तर—जैसे परस्पर विवाद करते हुए वादी लोग किसी मध्यस्थ न्यायीके द्वारा न्याय किये जानेपर विवाद करना बन्द करके आपसमें मिल जाते हैं, वैसे ही परस्पर विरुद्ध नय सर्वज्ञ भगवान्‌के शासनकी शरण लेकर 'स्यात्' शब्दसे विरोधके शान्त हो जानेपर परस्पर मैत्री भावसे एकत्र रहने लगते हैं।

पं. ध./पू./३३६-३३७ ननु किं नित्यमनित्यं किमथोभयमनुभयं च तत्त्वं स्यात्। व्यस्तं किमथ समस्तं क्रमतः किमथाक्रमादेतत्।३३६। सत्यं स्वपरनिहत्यै सर्वं किल सर्वथेति पदपूर्वम्। स्वपरोपकृतिनिमित्तं सर्वं स्यात्स्यात्पदाङ्कितं तु पदम्।३३७। –प्रश्न—तत्त्व नित्य है या अनित्य, उभय या अनुभय, व्यस्त या समस्त, क्रमसे या अक्रमसे? उत्तर—'सर्वथा' इस पद पूर्वक सब ही कथन स्वपर घातके लिए हैं, किन्तु स्यात् पदके द्वारा युक्त सब ही पद स्वपर उपकारके लिए हैं।

७. सापेक्षनय सम्यक् और निरपेक्षनय मिथ्या होती है

आ.मी./१०८ निरपेक्षया नयाः मिथ्या सापेक्षा वस्तुतोऽर्थकृत। –निरपेक्षनय मिथ्या है और सापेक्ष नय वस्तुस्वरूप है। (श्लो.वा.४/१/३३/श्लो.८०/२६८)।

स्व. स्तो./६१ य एव नित्यक्षणिकादयो नयाः, मिथोऽनपेक्षाः स्व-परप्रणाशिनः। त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः, परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः।६१। –जो ये नित्य व क्षणिकादि नय हैं वे परस्पर निरपेक्ष होनेसे स्वपर प्रणाशी हैं। हे प्रत्यक्षज्ञानी विमलजिन! आपके मतमें वे ही सब नय परस्पर सापेक्ष होनेसे स्व व परके उपकारके लिए हैं।

क. पा./१/१३-१४/§२०५/गा. १०२/२४९ तम्हा मिच्छादिट्ठी सव्वे वि णया सपक्खपडिबद्धा। अण्णोण्णणिस्सिया उण लहंति सम्मत्तसब्भावं।१०२। –केवल अपने-अपने पक्षसे प्रतिबद्ध ये सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं। परन्तु यदि परस्पर सापेक्ष हों तो सभी नय समीचीनपनेको प्राप्त होते हैं, अर्थात् सम्यग्दृष्टि होते हैं।

स. सि./१/३३/१४५/६ ते एते गुणप्रधानतया परस्परतन्त्राः सम्यग्दर्शनहेतवः पुरुषार्थक्रियासाधनसामर्थ्यात्तन्त्वादय इव यथोपायं विनिवेश्यमानाः पटादिसंज्ञाः स्वतन्त्राश्चासमर्थाः। –ये सब नय गौण-मुख्यरूपसे एक दूसरेकी अपेक्षा करके ही सम्यग्दर्शनके हेतु हैं। जिस प्रकार पुरुषकी अर्थक्रिया और साधनोंकी सामर्थ्यवश यथायोग्य निवेशित किये गये तन्तु आदिक पट संज्ञाको प्राप्त होते हैं। (तथा पटरूपमें अर्थक्रिया करनेको समर्थ होते हैं। और स्वतन्त्र रहनेपर (पटरूपमें) कार्यकारी नहीं होते, वैसे हो ये नय भी समझने चाहिए। (त. सा./१/५१)।

सि. वि./मू./१०/२७/६६१ सापेक्षा नयाः सिद्धा, दुर्नया अपि लोकत। स्याद्वादिनां व्यवहारात् कुक्कुटग्रामवासितम्। –लोकमें प्रयोग की जानेवाली जो दुर्नय हैं वे भी स्याद्वादियोंके ही सापेक्ष हो जानेसे सुनय बन जाती हैं। यह बात आगमसे सिद्ध है। जैसे कि एक किसी घरमें रहनेवाले अनेक गृहवासी परस्पर मैत्री पूर्वक रहते हैं।

लघीयस्त्रय/३० भेदाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः। ये तेऽपेक्षानपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते नयदुर्नयाः।३०। –भेदाभेदात्मक ज्ञेयमें भेदव अभेदपनेकी अभिसन्धि होनेके कारण, उनको बतलानेवाले नय भी सापेक्ष होनेसे नय और निरपेक्ष होनेसे दुर्नय कहलाते हैं। (पं.ध./पू./५९०)।

न.च.वृ/२४८ सियसावेक्खा सम्मा मिच्छारूवा हु तेहि णिरवेक्खा। तम्हा सियसद्दादो विसयं दोण्हं पि णायव्वं। –क्योंकि सापेक्ष नय सम्यक् और निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं, इसलिए प्रमाण व नय दोनों प्रकारके वाक्योंके साथ स्यात् शब्द युक्त करना चाहिए।

का.अ./मू./२६६ ते सावेक्खा सुणया णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति। सयलववहारसिद्धी सुणयादो होदि णियमेण। –ये नय सापेक्ष हों तो सुनय होते हैं और निरपेक्ष हों तो दुर्नय होते हैं। सुनयसे ही समस्त व्यवहारोंकी सिद्धि होती है।

८. मिथ्या नय निर्देशका कारण व प्रयोजन

स्या.म./२७/३०६/१ यद्व व्यसनम् अत्यासक्तिः औचित्यनिरपेक्षा प्रवृत्तिरिति यावद् दुर्नीतिवादव्यसनम्। –दुर्नयवाद एक व्यसन है। व्यसनका अर्थ यहाँ अति आसक्ति अर्थात् अपने पक्षकी हठ है, जिसके कारण उचित और अनुचितके विचारसे निरपेक्ष प्रवृत्ति होती है।

पं.ध./पू./५६६ अथ सन्ति नयाभासा यथोपचाराख्यहेतुदृष्टान्ताः। अत्रोच्यन्ते केचिद्धेयतया वा नयादिशुद्ध्यर्थम्। – उपचारके अनुकूल संज्ञा हेतु और दृष्टान्तवाली जो नयाभास हैं, उनमें-से कुछका कथन यहाँ त्याज्यपनेसे अथवा नय आदिकी शुद्धिके लिए कहते हैं।

९. सम्यग्दृष्टिकी नय सम्यक् है और मिथ्यादृष्टिकी मिथ्या

प.का./ता.वृ./४३ की प्रक्षेपक गाथा नं. ६/८७ मिच्छत्ता अण्णाणं अविरदिभावो य भावआवरणा। णेयं पडुच्चकाले तह दुण्णं दुप्पमाणं च।६। – जिस प्रकार मिथ्यात्वके उदयसे ज्ञान अज्ञान हो जाता है, अविरतिभाव उदित होते हैं, और सम्यक्त्वरूप भाव ढक जाता है, वैसे ही सुनय दुर्नय हो जाती है और प्रमाण दुःप्रमाण हो जाता है।

न.च.वृ./२३७ भेदुवयारं णिच्चय मिच्छादिट्ठीण मिच्छरूवं खु। सम्मे सम्मा भणिया तेहि दु बंधो व मोक्खो वा।२३७। – मिथ्यादृष्टियोंके भेद या उपचारका ज्ञान नियमसे मिथ्या होता है। और सम्यक्त्व हो जानेपर वही सम्यक् कहा गया है। तहाँ उस मिथ्यारूप ज्ञानसे बन्ध और सम्यक्रूप ज्ञानसे मोक्ष होता है।

१०. प्रमाण ज्ञान होनेके पश्चात् ही नय प्रवृत्ति सम्यक् होती है, उसके बिना नहीं

स.सि./१/६/२०/५ कुतोऽभ्यर्हितत्वम्। नयप्ररूपणप्रभवयोनित्वात्। एवं ह्युक्तं 'प्रगृह्य प्रमाणतः परिणतिविशेषादर्थावधारणं नयः' इति। – प्रश्न—प्रमाण श्रेष्ठ क्यों है? उत्तर—क्योंकि प्रमाणसे ही नय प्ररूपणाकी उत्पत्ति हुई है, अतः प्रमाण श्रेष्ठ है। आगममें ऐसा कहा है कि वस्तुको प्रमाणसे जानकर अनन्तर किसी एक अवस्था द्वारा पदार्थका निश्चय करना नय है।

दे० नय/I/१/१/४ (प्रमाण गृहीत वस्तुके एक देशको जानना नयका लक्षण है।)

रा.वा./१/६/२/३३/६ यतः प्रमाणप्रकाशितेष्वर्थेषु नयप्रवृत्तिर्व्यवहार-हेतुर्भवति नान्येषु अतोऽस्याभ्यर्हिततरम्। – क्योंकि प्रमाणसे प्रकाशित पदार्थोंमें ही नयकी प्रवृत्तिका व्यवहार होता है, अन्य पदार्थोंमें नहीं, इसलिए प्रमाणको श्रेष्ठता प्राप्त है।

श्लो.वा./२/१/६/श्लो.२३/३६५ नाशेषवस्तुनिर्णीते प्रमाणादेव कस्यचित्। तादृक् सामर्थ्यशून्यत्वात् सन्नयस्यापि सर्वदा।२३। – किसी भी वस्तुका सम्पूर्णरूपसे निर्णय करना प्रमाण ज्ञानसे ही सम्भव है। समीचीनसे भी समीचीन किसी नयकी तिस प्रकार वस्तुका निर्णय करलेनेकी सर्वदा सामर्थ्य नहीं है।

ध.६/४.१.४७/२४०/२ पमाणादो णयाणमुप्पत्ती, अणवगयट्ठे गुणप्पहाण-भावाहिप्पायाणुप्पत्तीदो। – प्रमाणसे नयोंकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि, वस्तुके अज्ञात होनेपर, उसमें गौणता और प्रधानताका अभिप्राय नहीं बनता है।

आ.प./८/गा. १० नानास्वभावसंयुक्तं द्रव्यं ज्ञात्वा प्रमाणतः। तच्च सापेक्षसिद्ध्यर्थं स्यान्नयमिश्रितं कुरु।१०। – प्रमाणके द्वारा नाना-स्वभावसंयुक्त द्रव्यको जानकर, उन स्वभावोंमें परस्परसापेक्षताकी सिद्धिके अर्थ (अथवा उनमें परस्पर निरपेक्षतारूप एकान्तके विनाशार्थ) (न.च.वृ./१७३), उस ज्ञानको नयोंसे मिश्रित करना चाहिए। (न.च.वृ./१७३)।

III नैगम आदि सात नय निर्देश

१. सातों नयोंका समुदित सामान्य निर्देश

१. सातोंमें द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक विभाग

स.सि./१/३३/१४०/८ स द्वेधा द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति।... तयोर्भेदा नैगमादयः। – नयके दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इन दोनों नयोंके उत्तर भेद नैगमादि हैं। (रा.वा./१/३३/१/९४/२५) (दे० नय/I/१/४)

ध.६/४.१.४५/पृष्ठ/पंक्ति—स एवंविधो नयो द्विविधः, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति।(१६७/१०)। तत्र योऽसौ द्रव्यार्थिकनयः स त्रिविधो नैगमसंग्रहव्यवहारभेदेन।(१६८/४)। पर्यायार्थिको नयश्चतु-र्विधः ऋजुसूत्रशब्द-समभिरूढैवंभूतभेदेन। (१७१/७)। – इस प्रकारकी वह नय दो प्रकार है—द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक। तहाँ जो द्रव्यार्थिक-नय है वह तीन प्रकार है—नैगम, संग्रह व व्यवहार। पर्यायार्थिकनय चार प्रकार है—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ व एवंभूत (ध.१/१.१.१/गा. ५-७/१२-१३), (क.पा.१/१३-१४/§१८१-१८२/गा. ८७-८८/२१९-२२०), (श्लो.वा.४/१/३३/श्लो ३/२१५) (ह.पु./५८/४२), (ध.९/४.१.१/—८३/१०+८४/२+८५/२+८६/३+८६/६); (क.पा.१/१३-१४—§१७७/२११/४+§१८२/२१९/१+§१८४/२२२/१+§१८७/२३५/१); (न.च.वृ./श्रुत/२१७) (न.च./पृ.२०) (त.सा./१/४१-४२/३६); (स्या.म./२८/३१७/१+३१८/२२)।

२. इनमें द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक विभागका कारण

ध.१/१.१.१/८४/७ एते त्रयोऽपि नयाः नित्यवादिनः स्वविषये पर्यायाभा-वतः सामान्यविशेषकालयोरभावात्। द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोः किंकृतो भेदश्चेद् उच्यते ऋजुसूत्रवचनविच्छेदो मूलाधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः। विच्छिद्यतेऽस्मिन्काल इति विच्छेदः। ऋजुसूत्रवचनं नाम वर्तमानवचनं, तस्य विच्छेदः ऋजुसूत्रवचनविच्छेदः। स कालो मूलाधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः। ऋजुसूत्रवचनविच्छेदादारभ्य आ एक समयाद्वस्तुस्थित्यध्यवसायिनः पर्यायार्थिका इति यावत्। – ये तीनों ही (नैगम, संग्रह और व्यवहार) नय नित्यवादी हैं, क्योंकि इन तीनों ही नयोंका विषय पर्याय न होनेके कारण इन तीनों नयों-के विषयमें सामान्य और विशेषकालका अभाव है। (अर्थात् इन तीनों नयोंमें कालकी विवक्षा नहीं होती।) प्रश्न—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकमें किस प्रकार भेद है? उत्तर—ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोंका विच्छेद जिस कालमें होता है, वह (काल) जिन नयोंका मूल आधार है, वे पर्यायार्थिक नय हैं। विच्छेद अथवा अन्त जिस-कालमें होता है, उस कालको विच्छेद कहते हैं। वर्तमान वचनको ऋजुसूत्रवचन कहते हैं और उसके विच्छेदको ऋजुसूत्रवचनविच्छेद कहते हैं। वह ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोंका विच्छेदरूप काल जिन नयोंका मूल आधार है उन्हें पर्यायार्थिकनय कहते हैं। अर्थात् ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोंके विच्छेदरूप समयसे लेकर एकसमय पर्यन्त वस्तुकी स्थितिका निश्चय करनेवाले पर्यायार्थिक नय हैं। (भावार्थ—'देवदत्त' इस शब्दका अन्तिम अक्षर 'त' मुखसे निकल चुकनेके पश्चात्से लेकर एक समय आगे तक ही देवदत्त नामका व्यक्ति है, दूसरे समयमें वह कोई अन्य हो गया है। ऐसा पर्यायार्थिक-नयका मन्तव्य है। (क.पा.१/१३-१४/§१८८/२२३/३)

३. सातोंमें अर्थ शब्द व ज्ञाननय विभाग

रा.वा./४/४२/१७/२६१/२ संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रा अर्थनयाः। शेषाः शब्द-नयाः। – संग्रह, व्यवहार, व ऋजुसूत्र ये अर्थनय हैं और शेष

(शब्द, समभिरूढ और एवंभूत) शब्द या व्यंजननय हैं। (ध.९/४,१,४५/१८१/१)।

श्लो.वा.४/१/३३/श्लो.८१/२६९ तत्रर्जुसूत्रपर्यन्ताश्चत्वारोऽर्थनया मताः। त्रयः शब्दनयाः शेषाः शब्दवाच्यार्थगोचराः।८१। —इन सातोंमेंसे नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय तो अर्थनय मानी गयी हैं, और शेष तीन (शब्द, समभिरूढ और एवंभूत) वाचक शब्द द्वारा अर्थको विषय करनेवाले शब्दनय हैं। (ध.१/१,१,१/८६/३), (क.पा.१/§१८४/२२२/१+§१९७/१), (न.च.वृ./२१७) (न.च./श्रुत/पृ.२०) (त.सा./१/४३) (स्या.प्र./२८/३१९/२१)।

नोट—(यद्यपि ऊपर कहीं भी ज्ञाननयका जिक्र नहीं किया गया है, परन्तु जैसा कि आगे नैगमनयके लक्षणों परसे विदित है, इनमेंसे नैगमनय ज्ञाननय व अर्थनय दोनों रूप है। अर्थको विषय करते समय यह अर्थनय है और संकल्प मात्रको ग्रहण करते समय ज्ञाननय है। इसके भूत, भावी आदि भेद भी ज्ञान को ही आश्रय करके किये गये हैं, क्योंकि वस्तुकी भूत भावी पर्यायें वस्तुमें नहीं ज्ञानमें रहती है (दे० नय/III/३/६ में श्लो.वा.)। इसके अतिरिक्त भी ऊपरके दो प्रमाणोंमें प्रथम प्रमाणमें इस नयको अर्थनयरूपसे ग्रहण न करनेका भी यही कारण प्रतीत होता है। दूसरे प्रमाणमें इसे अर्थनय कहना भी विरोधको प्राप्त नहीं होता क्योंकि यह ज्ञाननय होनेके साथ-साथ अर्थनय भी अवश्य है।)

४. सातोंमें अर्थ, शब्दनय विभागका कारण

ध.१/१,१,१/८६/३ अर्थनय. ऋजुसूत्रः। कुत.। ऋजु प्रगुणं सूत्रयतीति तत्सिद्धे।...सन्त्वेतेऽर्थनया अर्थव्यापृतत्वात्।—(शब्दभेदकी विवक्षा न करके केवल पदार्थके धर्मोंका निश्चय करनेवाला *अर्थनय है, और शब्दभेदसे उसमें भेद करनेवाला व्यंजननय है—दे० नय/I/४/२) यहाँ* ऋजुसूत्रनयको अर्थनय समझना चाहिए। क्योंकि ऋजु सरल अर्थात् वर्तमान समयवर्ती पर्याय मात्रको जो ग्रहण करे उसे ऋजुसूत्रनय कहते हैं। इस तरह वर्तमान पर्यायरूपसे अर्थको ग्रहण करनेवाला होनेके कारण यह नय अर्थनय है, यह बात सिद्ध हो जाती है। अर्थको विषय करनेवाले होनेके कारण नैगम, संग्रह और व्यवहार भी अर्थनय हैं। *(शब्दभेदकी अपेक्षा करके अर्थमें भेद डालनेवाले होनेके कारण शेष तीन नय व्यंजननय हैं।)*

स्या.म./२८/३१०/१६ अभिप्रायस्तावद् अर्थद्वारेण शब्दद्वारेण वा प्रवर्तते, गत्यन्तराभावात्। तत्र ये केचनार्थनिरूपणप्रवणाः प्रमात्राभिप्रायास्ते सर्वेऽपि आद्ये नयचतुष्टयेऽन्तर्भवन्ति। ये च शब्दविचारचतुरास्ते शब्दादिनयत्रये इति। —अभिप्राय प्रगट करनेके दो ही द्वार हैं—अर्थ या शब्द। क्योंकि, इनके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। तहाँ प्रमाताके जो अभिप्राय अर्थका प्ररूपण करनेमें प्रवीण हैं वे तो अर्थनय हैं जो नैगमादि चार नयोंमें अन्तर्भूत हो जाते हैं और जो शब्द विचार करनेमें चतुर हैं वे शब्दादि तीन व्यंजननय हैं। (स्या.म./२८/३१९/२९)

दे० *नय/I/४/५* शब्दनय केवल शब्दको विषय करता है अर्थको नहीं।

५. नौ भेद कहना भी विरुद्ध नहीं

ध.९/४,१,४५/१८१/४ नव नयाः क्वचिच्छ्रूयन्त इति चेन्न नयानामियत्तासंख्यानियमाभावात्। —**प्रश्न**—कहींपर नौ नय सुने जाते हैं? **उत्तर**—नहीं, क्योंकि 'नय इतने हैं' ऐसी संख्याके नियमका अभाव है। (विशेष दे० *नय/I/५/५*) (क.पा./१/१३-१४/§२०२/२४५/२)

६. पूर्व पूर्वका नय अगले अगलेका कारण है

स.सि./१/३३/१४५/७ एषां क्रमः पूर्वपूर्वहेतुकत्वाच्च।—पूर्व पूर्वका नय अगले-अगले नयका हेतु है, इसलिए भी यह क्रम (नैगम, संग्रह, व्यवहार एवंभूत) कहा गया है। (रा.वा./१/३३/१२/९९/१७) (श्लो.वा./पु.४/१/३३/श्लो.८२/२६९)

७. सातोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता

स.सि./१/३३/१४५/७ उत्तरोत्तरसूक्ष्मविषयत्वादेषां क्रमः...। एवमेते नयाः पूर्वपूर्वविरुद्धमहाविषया उत्तरोत्तरानुकूलाल्पविषयाः। —उत्तरोत्तर सूक्ष्मविषयवाले होनेके कारण इनका यह क्रम कहा है। इस प्रकार ये नय पूर्व पूर्व विरुद्ध महा विषयवाले और उत्तरोत्तर अनुकूल अल्प विषयवाले हैं (रा.वा./१/३३/१२/९९/१७), (श्लो.वा.४/१/३३/श्लो.८२/२६९), (ह.पु./५८/५०), (त.सा./१/४३)

श्लो. वा./४/१/३३/श्लो.९८,१००/२८९ यत्र प्रवर्त्तते स्वार्थे नियमादुत्तरो नयः। पूर्वपूर्वनयस्तत्र वर्तमानो न वार्यते।९८। पूर्वत्र नोत्तरा संख्या यथायातानुवर्त्यते। तथोत्तरनयः पूर्वनयार्थसकले सदा।१००। —जहाँ जिस अर्थको विषय करनेवाला उत्तरवर्ती नय नियमसे प्रवर्तता है तिस तिसमें पूर्ववर्तीनयकी प्रवृत्ति नहीं रोकी जा सकती।९८। परन्तु उत्तरवर्ती नयें पूर्ववर्ती नयोंके पूर्ण विषयमें नहीं प्रवर्तती हैं। जैसे बड़ी संख्यामें छोटी संख्या समा जाती है *पर छोटीमें बड़ी नहीं (पूर्व पूर्वका विरुद्ध विषय और उत्तर उत्तरका* अनुकूल विषय होनेका भी यही अर्थ है (रा. वा./हि./१/३३/१२/४६४)

श्लो. वा./४/१/३३/श्लो. ८२-८९/२६९ पूर्वः पूर्वो नयो भूमविषयः कारणात्मकः। परः परः पुनः सूक्ष्मगोचरो हेतुमानिह।८२। सन्मात्रविषयत्वेन संग्रहस्य न युज्यते। महाविषयताभावाभावार्थान्नैगमान्नयात्।८३। यथा हि सति संकल्पस्यैवासति वेद्यते। तत्र प्रवर्तमानस्य नैगमस्य महार्थता।८४। संग्रहाद्व्यवहारोऽपि सद्विशेषावबोधकः। न भूमविषयोऽशेषसत्समूहोपदर्शिनः।८५। नर्जुसूत्रः प्रभूतार्थो वर्तमानार्थगोचरः। कालत्रितयवृत्त्यर्थगोचराद्व्यवहारतः।८६। कालादिभेदतोऽप्यर्थमभिन्नमुपगच्छतः। नर्जुसूत्रान्महार्थोऽत्र शब्दस्तद्विपरीतवित्।८७। शब्दात्पर्यायभेदेनाभिन्नमर्थमभीप्सितः। न स्यात्समभिरूढोऽपि महार्थस्तद्विपर्ययः।८८। क्रियाभेदेऽपि चाभिन्नमर्थमभ्युपगच्छतः। नैवंभूत प्रभूतार्थो नयः समभिरूढतः।८९। =इन नयोंमें पहले पहलेके नय अधिक विषयवाले हैं, और आगे आगेके नय सूक्ष्म विषयवाले हैं। १. संग्रहनय *सन्मात्रको जानता है और नैगमनय* संकल्प द्वारा विद्यमान व अविद्यमान दोनोंको जानता है, इसलिए संग्रहनयकी अपेक्षा नैगमनयका अधिक विषय है। २. व्यवहारनय संग्रहसे जाने हुए पदार्थको विशेष रूपसे जानता है और संग्रह समस्त सामान्य पदार्थोंको जानता है, इसलिए संग्रह नयका विषय व्यवहारनयसे अधिक है। ३. व्यवहारनय तीनों कालोंके पदार्थोंको जानता है और ऋजुसूत्रसे केवल वर्तमान पदार्थोंका ज्ञान होता है, अतएव व्यवहारनयका विषय ऋजुसूत्रसे अधिक है। ४. शब्दनय काल आदिके भेदसे वर्तमान पर्यायको जानता है (अर्थात वर्तमान पर्यायके वाचक अनेक पर्यायवाची शब्दोंमेंसे काल, लिंग, संख्या, पुरुष आदि रूप व्याकरण सम्बन्धी विषमताओंका निराकरण करके मात्र समान काल, लिंग आदि वाले शब्दोंको ही एकार्थवाची स्वीकार करता है)। ऋजुसूत्रमें काल आदिका कोई भेद नहीं। इसलिए शब्दनयसे ऋजुसूत्रनयका विषय अधिक है। ५. समभिरूढनय इन्द्र शक्र आदि (समान काल, लिंग आदि वाले) एकार्थवाची शब्दोंको भी व्युत्पत्तिकी अपेक्षा भिन्नरूपसे जानता है, (अथवा उनमेंसे किसी एक ही शब्दको वाचकरूपसे रूढ करता है), परन्तु शब्दनयमें यह सूक्ष्मता नहीं रहती, अतएव समभिरूढसे शब्दनयका विषय अधिक है। ६. समभिरूढनयसे जाने हुए पदार्थोंमें क्रियाके भेदसे वस्तुमें भेद मानना (अर्थात् समभिरूढ द्वारा रूढ शब्दको उसी समय उसका वाचक मानना जबकि वह वस्तु तदनुकूल क्रियारूपसे परिणत हो)

एवंभूत है। जैसे कि समभिरूढ़की अपेक्षा पुरन्दर और शचीपति (इन शब्दोंके अर्थ) में भेद होनेपर भी नगरोंका नाश न करनेके समय भी पुरन्दर शब्द इन्द्रके अर्थमें प्रयुक्त होता है, परन्तु एवंभूतकी अपेक्षा नगरोंका नाश करते समय ही इन्द्रको पुरन्दर नामसे कहा जा सकता है।) (अतएव एवंभूतसे समभिरूढ़नयका विषय अधिक है। ७. (और अन्तिम एवंभूतका विषय सर्वतः स्तोक है; क्योंकि, इसके आगे वाचक शब्दमें किसी अपेक्षा भी भेद किया जाना सम्भव नहीं है।) (स्या. म./२८/३१६/३०) (रा. वा.हि./१/३३/४६३) (और भी देखो आगे शीर्षक नं० ६)।

ध. १/१.१.१/१३/११ (विशेषार्थ)—वर्तमान समयवर्ती पर्यायको विषय करना ऋजुसूत्रनय है, इसलिए जब तक द्रव्यगत भेदोंकी ही मुख्यता रहती है तबतक व्यवहारनय चलता है (दे० नय/V/४.४.३), और जब कालकृत भेद प्रारम्भ हो जाता है, तभीसे ऋजुसूत्रनयका प्रारम्भ होता है। शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन तीनों नयोंका विषय भी वर्तमान पर्यायमात्र है। परन्तु उनमें ऋजुसूत्रके विषयभूत अर्थके वाचक शब्दोंकी मुख्यता है, इसलिए उनका विषय ऋजुसूत्रसे सूक्ष्म सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम माना गया है। अर्थात् ऋजुसूत्रके विषयमें लिंग आदिसे भेद करनेवाला शब्दनय है। शब्दनयसे स्वीकृत (समान) लिंग वचन आदि वाले शब्दोंमें व्युत्पत्तिभेदसे अर्थभेद करनेवाले समभिरूढनय हैं। और पर्यायशब्दको उस शब्दसे ध्वनित होनेवाला क्रियाकालमें ही वाचक मानने वाला एवंभूतनय समझना चाहिए। इस तरह ये शब्दादिनय उस ऋजुसूत्रकी शाखा उपशाखा हैं।

८. सातोंकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मताका उदाहरण

ध. ७/२.१.४/गा. १-६/२८-२९ णयाणामभिप्पाओ एत्थ उच्चदे। तं जहा—कं पि णरं दठ्ठूण य पावजणसमागमं करेमाणं। णेगमणएण भण्णई णेरइओ एस पुरिसो त्ति।१। ववहारस्स दु वयणं जइया कोदंडकंडगयहत्थो। भमइ मए मग्गंतो तइया सो होइ णेरइओ।२। उज्जुसुदस्स दु वयणं जइया इर ठाइदूण ठाणम्मि। आहणदि मए पावो तइया सो होइ णेरइओ।३। सद्दणयस्स दु वयणं जइया पाणेहि मोइदो जन्तू। तइया सो णेरइओ हिंसाकम्मेण संजुत्तो।४। वयणं तु समभिरूढं णारयकम्मस्स बंधगो जइया। तइया सो णेरइओ णारयकम्मेण संजुत्तो।५। णिरयगइं संपत्तो जइया अणुहवइ णारयं दुक्खं। तइया सो णेरइओ एवंभूदो णओ भणदि।६। =यहाँ (नरक गतिके प्रकरणमें) नयोंका अभिप्राय बतलाते हैं। वह इस प्रकार है—१ किसी मनुष्यको पापी लोगोंका समागम करते हुए देखकर नैगमनयसे कहा जाता है कि यह पुरुष नारकी है।१। २ (जब वह मनुष्य प्राणिवध करनेका विचार कर सामग्री संग्रह करता है तब वह संग्रहनयसे नारकी कहा जाता है)। ३. व्यवहारनयका वचन इस प्रकार है—जब कोई मनुष्य हाथमें धनुष और बाण लेकर मृगोंकी खोजमें भटकता फिरता है, तब वह नारकी कहलाता है।२। ४. ऋजुसूत्रनयका वचन इस प्रकार है—जब आखेटस्थानपर बैठकर पापी मृगोंपर आघात करता है तब वह नारकी कहलाता है।३। ५. शब्दनयका वचन इस प्रकार है—जब जन्तु प्राणोंसे विमुक्त कर दिया जाता है, तभी वह आघात करनेवाला हिंसा कर्मसे संयुक्त मनुष्य नारकी कहा जाता है।४। ६. समभिरूढ़नयका वचन इस प्रकार है—जब मनुष्य नारक (गति व आयु) कर्मका बन्धक होकर नारक कर्मसे संयुक्त हो जाये तभी वह नारकी कहा जाये।५। ७. जब वही मनुष्य नरकगतिको पहुँचकर नरकके दुःख अनुभव करने लगता है, तभी वह नारकी है, ऐसा एवंभूतनय कहता है।६। नोट—(इसी प्रकार अन्य किसी भी विषयपर यथा योग्य रीतिसे ये सातों नय लागू की जा सकती हैं)।

९. शब्दादि तीन नयोंमें अन्तर

रा. वा./४/४२/१७/२६१/११ व्यञ्जनपर्यायास्तु शब्दनया द्विविधं वचनं प्रकल्पयन्ति—अभेदेनाभिधानं भेदेन च। यथा शब्दे पर्यायशब्दान्तरप्रयोगेऽपि तस्यैवार्थस्याभिधानादभेदः। समभिरूढे वा प्रवृत्तिनिमित्तस्य अप्रवृत्तिनिमित्तस्य च घटस्याभिन्नस्य सामान्येनाभिधानात्। एवंभूतेषु प्रवृत्तिनिमित्तस्य भिन्नस्यैकस्यैवार्थस्याभिधानात् भेदेनाभिधानम्।

अथवा, अन्यथा द्वैविध्यम् – एकस्मिन्नर्थेऽनेकशब्दवृत्तिः, प्रत्यर्थं वा शब्दविनिवेश इति। यथा शब्दे अनेकपर्यायशब्दवाच्य एकः समभिरूढे वा नैमित्तिकत्वात् शब्दस्यैकशब्दवाच्य एकः। एवंभूते वर्तमाननिमित्तशब्द एकवाच्य एकः। =१. वाचक शब्दकी अपेक्षा—शब्दनय (वस्तुकी) व्यंजनपर्यायोंको विषय करते हैं (शब्दका विषय बनाते हैं) वे अभेद तथा भेद दो प्रकारके वचन प्रयोगको सामने लाते हैं (दो प्रकारके वाचक शब्दोंका प्रयोग करते हैं।) शब्दनयमें पर्यायवाची विभिन्न शब्दोंका प्रयोग होनेपर भी उसी अर्थका कथन होता है अतः अभेद है। समभिरूढनयमें घटन क्रियामें परिणत या अपरिणत, अभिन्न ही घटका निरूपण होता है। एवंभूतमें प्रवृत्तिनिमित्तसे भिन्न ही अर्थका निरूपण होता है। २. वाच्य पदार्थकी अपेक्षा—अथवा एक अर्थमें अनेक शब्दोंकी प्रवृत्ति या प्रत्येकमें स्वतन्त्र शब्दोंका प्रयोग, इस तरह भी दो प्रकार हैं। शब्दनयमें अनेक पर्यायवाची शब्दोंका वाच्य एक ही होता है। समभिरूढमें चूँकि शब्द नैमित्तिक है, अतः एक शब्दका वाच्य एक ही होता है। एवंभूत वर्तमान निमित्तको पकड़ता है। अतः उसके मतमें भी एक शब्दका वाच्य एक ही है।

२. नैगमनयके भेद व लक्षण

१. नैगमनय सामान्यके लक्षण

१. निगम अर्थात् संकल्पग्राही

स.सि./१/३३/१४१/२ अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। =अनिष्पन्न अर्थमें संकल्प मात्रको ग्रहण करनेवाला नय नैगम है। (रा.वा/१/३३/२/९५/१३); (श्लो.वा/४/१/३३/श्लो.१७/२३०); (ह.पु./५८/४३); (त.सा./१/४४)।

रा. वा/१/३३/२/९५/१२ निर्गच्छन्ति तस्मिन्निति निगमनमात्रं वा निगमः, निगमे कुशलो भवो वा नैगमः। =उसमें अर्थात् आत्मामें जो उत्पन्न हो या अवतारमात्र निगम कहलाता है। उस निगममें जो कुशल हो अर्थात् निगम या संकल्पको जो विषय करे उसे नैगम कहते हैं।

श्लो.वा ४/१/३३/श्लो.१८/२३० संकल्पो निगमस्तत्र भवोऽयं तत्प्रयोजनः। =नैगम शब्दको भव अर्थ या प्रयोजन अर्थमें तद्धितका अण् प्रत्यय कर बनाया गया है। निगमका अर्थ संकल्प है, उस संकल्पमें जो उपजे अथवा वह संकल्प जिसका प्रयोजन हो वह नैगम नय है। (आ.प./६); (नि.सा./ता.वृ./१९)।

का.अ./मू./२७१ जो साहेदि अदीदं वियप्परूवं भविस्समट्ठं च। संपडि कालाविट्ठं सो हु णओ णेगमो णेओ।२७१। =जो नय अतीत, अनागत और वर्तमानको विकल्परूपसे साधता है वह नैगमनय है।

२. 'नैकं गमो' अर्थात् द्वैतग्राही

श्लो.वा/४/१/३३/श्लो.२१/२३२ यद्वा नैकं गमो योऽत्र सतां नैगमो मतः। धर्मयोर्धर्मिणोर्वापि विवक्षा धर्मधर्मिणोः। —जो एकको विषय नहीं करता उसे नैगमनय कहते हैं। अर्थात् जो मुख्य गौण-रूपसे दो धर्मोंको, दो धर्मियोंको अथवा धर्म व धर्मी दोनोंको विषय करता है वह नैगम नय है। (ध.६/४.१.४५/१८१/२); (ध.१३/५, ५.७/१९९/१); (स्या.म./२८/–३११/३.३१७/२)।

स्या.म./२८/३१५/१४ में उद्धृत—अन्यदेव हि सामान्यमभिन्नज्ञानकारणम्। विशेषोऽप्यन्य एवेति मन्यते नैगमो नयः। —अभिन्न ज्ञान-का कारण जो सामान्य है, वह अन्य है और विशेष अन्य है, ऐसा नैगमनय मानता है।

दे० आगे नय/*III*/३/२ (संग्रह व व्यवहार दोनोंको विषय करता है।)

२. 'संकल्पग्राही' लक्षण विषयक उदाहरण

स.सि./१/३३/१४१/२ कश्चित्पुरुषं परिगृहीतपरशुं गच्छन्तमवलोक्य कश्चित्पृच्छति किमर्थं भवान्गच्छतीति। स आह प्रस्थमानेतु-मिति। नासौ तदा प्रस्थपर्यायः संनिहितः तदभिनिवृत्तये संकल्प-मात्रे प्रस्थव्यवहारः। तथा एधोदकाद्याहरणे व्याप्रियमाणं कश्चि-त्पृच्छति किं करोति भवानिति स आह ओदनं पचामीति। न तदौ-दनपर्यायः संनिहितः, तदर्थे व्यापारे स प्रयुज्यते। एवं प्रकारो लोक-संव्यवहारोऽनभिनिवृत्तार्थसंकल्पमात्रविषयो नैगमस्य गोचरः। —१. हाथमें फरसा लिये जाते हुए किसी पुरुषको देखकर कोई अन्य पुरुष पूछता है, 'आप किस कामके लिए जा रहे हैं।' वह कहता है कि प्रस्थ लेनेके लिए जा रहा हूँ। उस समय वह प्रस्थ पर्याय, सन्निहित नहीं है। केवल उसके बनानेका संकल्प होनेसे उसमें (जिस काठको लेने जा रहा है उस काठमें) प्रस्थ-व्यवहार किया गया है। २. इसी प्रकार ईंधन और जल आदिके लानेमें लगे हुए किसी पुरुषसे कोई पूछता है, कि 'आप क्या कर रहे हैं। उसने कहा, भात पका रहा हूँ। उस समय भात पर्याय सन्निहित नहीं है, केवल भातके लिए किये गये व्यापारमें भातका प्रयोग किया गया है। इस प्रकारका जितना लोकव्यवहार है वह अनिष्पन्न अर्थके आलम्बनसे संकल्पमात्रको विषय करता है, वह सब नैगमनयका विषय है। (रा.वा/१/३३/२/९५/१३); (श्लो.वा/४/१/३३/श्लो.१८/२३०)।

३. 'द्वैतग्राही' लक्षण विषयक उदाहरण

ष.खं./१२/४,२,६/सू.२/२९५ १. णेगमववहाराणं णाणावरणीयवेयणा सिया जीवस्स वा।२। —नैगम और व्यवहार नयकी अपेक्षा ज्ञाना-वरणीयकी वेदना कथंचित् जीवके होती है। (यहाँ जीव तथा उसका कर्मानुभव दोनोंका ग्रहण किया है। वेदना प्रधान है और जीव गौण)।

ष.खं.१०/४,२,३/सू.१/१३ २. णेगमववहाराणं णाणावरणीयवेयणा दंसणावरणीयवेयणा वेयणीवेयणा···।—नैगम व व्यवहारनयसे वेदना ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय···(आदि आठ भेदरूप है)। (यहाँ वेदना सामान्य गौण और ज्ञानावरणीय आदि भेद प्रधान—ऐसे दोनोंका ग्रहण किया है।)

क.पा.१/१३-१४/§२५७/२९७/१ ३—जं मणुस्सं पडुच्च कोहो समुप्पणो सो तत्तो पुधभूदो संतो कधं कोहो। होंत ऐसो दोसो जदि संगहादि-णया अवलंबिदा, किन्तु णइगमणओ जइवसहाइरिएण जेणावलंबिदो तेण ण एस दोसो। तत्थ कधं ण दोसो। कारणम्मि णिलीणकज्ज-ब्भुवगमादो। —प्रश्न—जिस मनुष्यके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न हुआ है, वह मनुष्य उस क्रोधसे अलग होता हुआ भी क्रोध कैसे कहला सकता है। उत्तर—यदि यहाँ पर संग्रह आदि नयोंका अवलम्बन लिया होता, तो ऐसा होता, अर्थात् संग्रह आदि नयोंकी अपेक्षा क्रोधसे भिन्न मनुष्य आदिक क्रोध नहीं कहलाये जा सकते हैं। किन्तु यतिवृषभाचार्यने चूँकि यहाँ नैगमनयका अवलम्बन लिया है, इस-लिए यह कोई दोष नहीं है। प्रश्न—दोष कैसे नहीं है? उत्तर—क्योंकि नैगमनयकी अपेक्षा कारणमें कार्यका सद्भाव स्वीकार किया गया है। (और भी दे०—उपचार/५/३)

ध.६/४.१.४५/१७१/५ ४. परस्परविभिन्नोभयविषयालम्बनो नैगमनयः; शब्द-शील-कर्म-कार्य-कारणाधाराधेय-भूत-भावि-भविष्यद्वर्तमान-मेयोन्मेयादिकमाश्रित्य स्थितोपचारप्रभव इति यावत्। —परस्पर भिन्न (भेदाभेद) दो विषयोंका अवलम्बन करनेवाला नैगमनय है। अभिप्राय यह कि जो शब्द, शील, कर्म, कार्य, कारण, आधार, आधेय, भूत, भविष्यत्, वर्तमान, मेय व उन्मेयादिकका आश्रय-कर स्थित उपचारसे उत्पन्न होनेवाला है, वह नैगमनय कहा जाता है। (क.पा./१/१३-१४/§१८३/२२१/१)।

ध.१३/५,३,१२/१३/१ ५. धम्मदव्वं धम्मदव्वेण पुस्सज्जदि, असंगहिय-णेगमणयमस्सिदूण लोगागासपदेसमेत्तधम्मदव्वपदेसाणं पुध-पुध लद्धदव्ववएसाणमण्णोण्णं पासुवलंभादो। अधम्मदव्वमधम्म-दव्वेण पुसिज्जदि, तक्खंध-देस-पदेस-परमाणूणमसंगहियणेगमणएण पत्तदव्वभावाणमेयत्तदंसणादो। —धर्म द्रव्य धर्मद्रव्यके द्वारा स्पर्श-को प्राप्त होता है, क्योंकि असंग्राहिक नैगमनयकी अपेक्षा लोका-काशके प्रदेशप्रमाण और पृथक्-पृथक् द्रव्य संज्ञाको प्राप्त हुए धर्म-द्रव्यके प्रदेशोंका परस्परमें स्पर्श देखा जाता है। अधर्मद्रव्य अधर्म-द्रव्यके द्वारा स्पर्शको प्राप्त होता है, क्योंकि असंग्राहिक नैगमनय-की अपेक्षा द्रव्यभावको प्राप्त हुए अधर्मद्रव्यके स्कन्ध, देश, प्रदेश, और परमाणुओंका एकत्व देखा जाता है।

स्या. म./२८/३१७/२ ६. धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जन-भावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः। सत् चैतन्यमात्मनीति धर्मयोः। वस्तुपर्यायवद्द्रव्यमिति धर्मिणोः। क्षणमेकं सुखी विषया-सक्तजीव इति धर्मधर्मिणोः। —दो धर्म और दो धर्मी अथवा एक धर्म और एक धर्मीमें प्रधानता और गौणताकी विवक्षाको नैगम-नय कहते हैं। जैसे (१) सत् और चैतन्य दोनों आत्माके धर्म हैं। यहाँ सत् और चैतन्य धर्मोंमें चैतन्य विशेष्य होनेसे प्रधान धर्म है और सत् विशेषण होनेसे गौण धर्म है। (२) पर्यायवान् द्रव्यको वस्तु कहते हैं। यहाँ द्रव्य और वस्तु दो धर्मियोंमें द्रव्य मुख्य और वस्तु गौण है। अथवा पर्यायवान् वस्तुको द्रव्य कहते हैं, यहाँ वस्तु मुख्य और द्रव्य गौण है। (३) विषयासक्तजीव क्षण भरके लिए सुखी हो जाता है। यहाँ विषयासक्त जीवरूप धर्मी मुख्य और सुखरूप धर्म गौण है।

स्या.म./२८/३११/३ तत्र नैगमः सत्तालक्षणं महासामान्यं, अवान्तर-सामान्यानि च, द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादीनि; तथान्त्यान् विशेषान् सकलासाधारणरूपलक्षणान्, अवान्तरविशेषांश्चापेक्षया पररूपव्या-वृत्तनक्षमान् सामान्यात् अत्यन्तविनिर्लुठितस्वरूपानभिप्रैति। —नैगमनय सत्तारूप महासामान्यको; अवान्तरसामान्यको; द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व आदिको; सकल असाधारणरूप अन्त्य विशेषोंको; तथा पररूपसे व्यावृत और सामान्यसे भिन्न अवान्तर विशेषोंको, अत्यन्त एकमेकरूपसे रहनेवाले सर्व धर्मोंको (मुख्य गौण करके) जानता है।

४. नैगमनयके भेद

श्लो. वा./४/१/३३/४८/२३६/१८ त्रिविधस्तावन्नैगमः। पर्यायनैगमः द्रव्यनैगमः, द्रव्यपर्यायनैगमश्चेति। तत्र प्रथमस्त्रेधा। अर्थपर्याय-नैगमो व्यञ्जनपर्यायनैगमोऽर्थव्यञ्जनपर्यायनैगमश्च इति। द्वितीयो द्विधा-शुद्धद्रव्यनैगमः अशुद्धद्रव्यनैगमश्चेति। तृतीयश्चतुर्धा।

शुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगमः, शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायनैगमः, अशुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगमः, अशुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायनैगमश्चेति नवधा नैगमः साभास उदाहृतः परीक्षणीयः। —नैगमनय तीन प्रकारका है—पर्यायनैगम, द्रव्यनैगम, द्रव्यपर्यायनैगम। तहाँ पर्यायनैगम तीन प्रकारका है—अर्थपर्यायनैगम, व्यञ्जनपर्यायनैगम और अर्थव्यञ्जनपर्यायनैगम। द्रव्यनैगमनय दो प्रकार का है—शुद्धद्रव्यनैगम और अशुद्धद्रव्यनैगम। द्रव्यपर्यायनैगम चार प्रकार है—शुद्ध द्रव्यार्थपर्याय नैगम, शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायनैगम, अशुद्ध द्रव्यार्थपर्याय नैगम, अशुद्ध द्रव्यव्यञ्जनपर्यायनैगम। ऐसे नौ प्रकारका नैगमनय और इन नौ ही प्रकारका नैगमाभास उदाहरण पूर्वक कहे गये हैं। (क. पा. १/१३-१४/§ २०२/२४४/१); (ध. ६/४,१,४५/१८१/३)।

आ. प./५ नैगमस्त्रेधा भूतभाविवर्तमानकालभेदात्। —भूत, भावि और वर्तमानकालके भेदसे (संकल्पग्राही) नैगमनय तीन प्रकार का है। (नि. सा./ता. वृ./१९)।

५. भूत भावी व वर्तमान नैगमनयके लक्षण

आ. प./५ अतीते वर्तमानारोपणं यत्र स भूतनैगमो। ...भाविनि भूतवत्कथनं यत्र स भाविनैगमो। ... कर्तुमारब्धमीषन्निष्पन्नमनिष्पन्नं वा वस्तु निष्पन्नवत्कथ्यते यत्र स वर्तमाननैगमो। — अतीत कार्यमें 'आज हुआ है' ऐसा वर्तमानका आरोप या उपचार करना भूत नैगमनय है। होनेवाले कार्यको 'हो चुका' ऐसा भूतवत् कथन करना भावी नैगमनय है। और जो कार्य करना प्रारम्भ कर दिया गया है, परन्तु अभी तक जो निष्पन्न नहीं हुआ है, कुछ निष्पन्न है और कुछ अनिष्पन्न उस कार्यको 'हो गया' ऐसा निष्पन्नवत् कथन करना वर्तमान नैगमनय है (न. च. वृ./२०६-२०८); (न. च./श्रुत/पृ. १२)।

६. भूत भावी व वर्तमान नैगमनयके उदाहरण

१. भूत नैगम

आ. प./५ भूतनैगमो यथा, अद्य दीपोत्सवदिने श्रीवर्द्धमानस्वामी मोक्षं गतः। —आज दीपावलीके दिन भगवान् वर्द्धमान मोक्ष गये हैं, ऐसा कहना भूत नैगमनय है। (न. च. वृ./२०६); (न. च./श्रुत/पृ. १०)।

नि. सा./ता. वृ./१९ भूतनैगमनयापेक्षया भगवतां सिद्धानामपि व्यञ्जनपर्यायत्वमशुद्धत्वं च संभवति। पूर्वकाले ते भगवन्तः संसारिण इति व्यवहारात्। —भूत नैगमनयकी अपेक्षासे भगवन्त सिद्धोंको भी व्यञ्जनपर्यायवानपना और अशुद्धपना सम्भावित होता है, क्योंकि पूर्वकालमें वे भगवन्त संसारी थे ऐसा व्यवहार है।

द्र. सं./टी./१४/४८/६ अन्तरात्मावस्थायां तु बहिरात्मा भूतपूर्वन्यायेन घृतघटवत्...परमात्मावस्थायां पुनरन्तरात्मबहिरात्मद्वयं भूतपूर्वनयेनेति। — अन्तरात्माकी अवस्थामें बहिरात्मा और परमात्माकी अवस्थामें अन्तरात्मा व बहिरात्मा दोनों घीके घड़ेवत भूतपूर्व न्यायसे जानने चाहिए।

२. भावी नैगमनय

आ. प./५ भावि नैगमो यथा—अर्हन् सिद्ध एव। — भावी नैगमनयकी अपेक्षा अर्हन्त भगवान् सिद्ध ही हैं।

न. च. वृ./२०७ णिप्पण्णमिव पर्जपदि भाविपदत्थं णरो अणिप्पण्णं। अप्पत्थे जह पत्थं भण्णइ सो भाविणइगमत्ति णओ।२०७। —जो पदार्थ अभी अनिष्पन्न है, और भावी कालमें निष्पन्न होनेवाला है, उसे निष्पन्नवत् कहना भावी नैगमनय है। जैसे—जो अभी प्रस्थ नहीं बना है ऐसे काठके टुकड़ेको ही प्रस्थ कह देना। (न. च./श्रुत/पृ. ११) (और भी—दे० पीछे संकल्पग्राही नैगमका उदाहरण)।

ध. १२/४,२,१०,२/३०३/१ उदीर्णस्य भवतु नाम प्रकृतिव्यपदेशः, फलदातृत्वेन परिणतत्वात्। न बध्यमानोपशान्तयोः, तत्र तदभावादिति। न, त्रिष्वपि कालेषु प्रकृतिशब्दसिद्धेः। ...भूदभविस्सपज्जायाणं वट्टमाणत्तब्भुवगमादो वा णेगमणयम्मि एसा वुप्पत्ती घडदे। —प्रश्न – उदीर्ण कर्मपुद्गलस्कन्धकी प्रकृति संज्ञा भले ही हो, क्योंकि, वह फलदान स्वरूपसे परिणत है। बध्यमान और उपशान्त कर्म पुद्गलस्कन्धोंकी यह संज्ञा नहीं बन सकती, क्योंकि, उनमें फलदान स्वरूपका अभाव है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, तीनों ही कालोंमें प्रकृति शब्दकी सिद्धि की गयी है। भूत व भविष्यत् पर्यायोंको वर्तमान रूप स्वीकार कर लेनेसे नैगमनयमें व्युत्पत्ति बैठ जाती है।

दे० अपूर्वकरण/४ (भूत व भावी नैगमनयसे ८वें गुणस्थानमें उपशामक व क्षपक संज्ञा बन जाती है, भले ही वहाँ एक भी कर्मका उपशम या क्षय नहीं होता।

द्र. सं./टी./१४/४८/८ बहिरात्मावस्थायामन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च विज्ञेयम्, अन्तरात्मावस्थायां...परमात्मस्वरूपं तु शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च। —बहिरात्माकी दशामें अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूपसे तो रहते ही हैं, परन्तु भाविनैगमनयसे व्यक्तिरूपसे भी रहते हैं। इसी प्रकार अन्तरात्माकी दशामें परमात्मस्वरूप शक्तिरूपसे तो रहता ही है, परन्तु भाविनैगमनयसे व्यक्तिरूपसे भी रहता है।

पं. ध./उ./६२१ तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिणः। गुरवः स्युर्गुरोर्न्यायान्नान्योऽवस्थाविशेषभाक्।६२१। —देव होनेसे पहले भी, छद्मस्थ रूपमें विद्यमान मुनिको देवरूपका धारी होने करि गुरु कह दिया जाता है। वास्तवमें तो देव ही गुरु हैं। ऐसा भावि नैगमनयसे ही कहा जा सकता है। अन्य अवस्था विशेषमें तो किसी भी प्रकार गुरु संज्ञा घटित होती नहीं।

३. वर्तमान नैगमनय

आ. प./५ वर्तमाननैगमो यथा—ओदनः पच्यते। —वर्तमान नैगमनयसे अधपके चावलों को भी 'भात पकता है' ऐसा कह दिया जाता है। (न. च./श्रुत/पृ. ११)।

न. च. वृ./२०८ पारद्धा जा किरिया पयणविहाणादि कहइ जो सिद्धा। लोएसे पुच्छमाणे भण्णइ तं वट्टमाणणयं।२०८। —पाकक्रियाके प्रारम्भ करनेपर ही किसीके पूछनेपर यह कह दिया जाता है, कि भात पक गया है या भात पकाता हूँ, ऐसा वर्तमान नैगमनय है। (और भी दे० पीछे संकल्पग्राही नैगमनयका उदाहरण)।

७. पर्याय, द्रव्य व उभयरूप नैगमसामान्यके लक्षण

ध. ६/४,१,४५/१८१/२ न एकगमो नैगम इति न्यायात् शुद्धाशुद्धपर्यायार्थिकनयद्वयविषयः पर्यायार्थिकनैगमः; द्रव्यार्थिकनयद्वयविषयः द्रव्यार्थिकनैगमः; द्रव्यपर्यायार्थिकनयद्वयविषयः नैगमो द्वन्द्वजः। —जो एकको विषय न करे अर्थात भेद व अभेद दोनोंको विषय करे वह नैगमनय है' इस न्यायसे जो शुद्ध व अशुद्ध दोनों पर्यायार्थिकनयोंके विषयको ग्रहण करनेवाला हो वह पर्यायार्थिकनैगमनय है। शुद्ध व अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयोंके विषयको ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिक नैगमनय है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंके विषयको ग्रहण करनेवाला द्वंद्वज अर्थात द्रव्य पर्यायार्थिक नैगमनय है।

क. पा. १/१३-१४/§ २०२/२४४/३ युक्त्यवष्टम्भबलेन संग्रहव्यवहारनयविषयः द्रव्यार्थिकनैगमः। ऋजुसूत्रादिनयचतुष्टयविषयं युक्त्यवष्टम्भबलेन प्रतिपन्नः पर्यायार्थिकनैगमः। द्रव्यार्थिकनयविषयं पर्यायार्थिकविषयं च प्रतिपन्नः द्रव्यपर्यायार्थिकनैगमः। —युक्तिरूप आधारके बलसे संग्रह और व्यवहार इन दोनों (शुद्ध व अशुद्ध द्रव्यार्थिक) नयोंके विषयको स्वीकार करनेवाला द्रव्यार्थिक नैगमनय है। ऋजुसूत्र आदि चार नयोंके विषय को स्वीकार करने वाला पर्यायार्थिक नय है तथा द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक इन दोनों के विषय को स्वीकार करने वाला द्रव्यपर्यायार्थिक नैगमनय है

८. द्रव्य व पर्याय आदि नैगमनयके भेदोंके लक्षण व उदाहरण

१. अर्थ, व्यञ्जन व तदुभय पर्याय नैगम

श्लो. वा./४/१/३३/श्लो. २८-३५/३४ अर्थपर्याययोस्तावद्गुणमुख्यस्वभावतः। क्वचिद्वस्तुन्यभिप्रायः प्रतिपत्तुः प्रजायते।२८। यथा प्रतिक्षणं ध्वंसि सुखसंविच्छरीरिणः। इति सत्तार्थपर्यायो विशेषणतया गुणः।२९। संवेदनार्थपर्यायो विशेष्यत्वेन मुख्यताम्। प्रतिगच्छन्नभिप्रेतो नान्यथैवं वचो गतिः।३०। कश्चिद्व्यञ्जनपर्यायौ विषयीकुरुतेऽञ्जसा। गुणप्रधानभावेन धर्मिण्येकत्र नैगमः।३२। सच्चैतन्यं नरीत्येवं सत्त्वस्य गुणभावतः। प्रधानभावतश्चापि चैतन्यस्याभिसिद्धितः।३३। अर्थव्यञ्जनपर्यायौ गोचरीकुरुते परः। धार्मिके सुखजीवित्वमित्येवमनुरोधतः।३५। —एक वस्तुमें दो अर्थपर्यायोंको गौण मुख्यरूपसे जाननेके लिए नयज्ञानीका जो अभिप्राय उत्पन्न होता है, उसे <u>अर्थ पर्यायनैगम नय</u> कहते हैं। जैसे कि शरीरधारी आत्माका सुखसंवेदन प्रतिक्षणध्वंसी है। यहाँ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप सत्ता सामान्यकी अर्थपर्याय तो विशेषण हो जानेसे गौण है, और संवेदनरूप अर्थपर्याय विशेष्य होनेसे मुख्य है। अन्यथा किसी कथन द्वारा इस अभिप्रायको ज्ञप्ति नहीं हो सकती।२८-३०। एक धर्मीमें दो व्यंजनपर्यायोंको गौण मुख्यरूपसे विषय करनेवाला <u>व्यंजनपर्यायनैगमनय</u> है। जैसे 'आत्मामें सत्त्व और चैतन्य है'। यहाँ विशेषण होनेके कारण सत्ताकी गौणरूपसे और विशेष्य होनेके कारण चैतन्यकी प्रधानरूपसे ज्ञप्ति होती है।३२-३३। एक धर्मीमें अर्थ व व्यंजन दोनों पर्यायोंको विषय करनेवाला <u>अर्थव्यञ्जनपर्याय नैगमनय</u> है, जैसे कि धर्मात्मा व्यक्तिमें सुखपूर्वक जीवन वर्त रहा है। (यहाँ धर्मात्मारूप धर्मीमें सुखरूप अर्थपर्याय तो विशेषण होनेके कारण गौण है और जीवीपनारूप व्यञ्जनपर्याय विशेष्य होनेके कारण मुख्य है।३५। (रा. वा./हिं/१/३३/१९८-१९९)।

२. शुद्ध व अशुद्ध द्रव्य नैगम

श्लो.वा.४/१/३३/श्लो, ३७-३९/२३६ शुद्धद्रव्यमशुद्धं च तथाभिप्रैति यो नय। स तु नैगम एवेह संग्रहव्यवहारतः।३७। सद्द्रव्यं सकलं वस्तु तथान्वयविनिश्चयात्। इत्येवमवगन्तव्यः…।३८। यस्तु पर्यायवद्द्रव्यं गुणवद्वेति निर्णयः। व्यवहारनयाज्जातः सोऽशुद्धद्रव्यनैगमः।३९। —शुद्धद्रव्य या अशुद्धद्रव्यको विषय करनेवाले संग्रह व व्यवहार नयसे उत्पन्न होनेवाले अभिप्राय ही क्रमसे <u>शुद्धद्रव्यनैगम</u> और <u>अशुद्धद्रव्यनैगमनय</u> हैं। जैसे कि अन्वयका निश्चय हो जानेसे सम्पूर्ण वस्तुओंको 'सत् द्रव्य' कहना <u>शुद्धद्रव्य नैगमनय</u> है।३७-३८। (यहाँ 'सत्' तो विशेषण होनेके कारण गौण है और 'द्रव्य' विशेष्य होनेके कारण मुख्य है।) जो नय 'पर्यायवान् द्रव्य है' अथवा 'गुणवान् द्रव्य है' इस प्रकार निर्णय करता है, वह व्यवहारनयसे उत्पन्न होनेवाला <u>अशुद्धद्रव्यनैगमनय</u> है। (यहाँ 'पर्यायवान्' तथा 'गुणवान्' ये तो विशेषण होनेके कारण गौण हैं और 'द्रव्य' विशेष्य होनेके कारण मुख्य है।) (रा.वा./हि./१/३३/१९८) नोट—(संग्रह व्यवहारनय तथा शुद्ध, अशुद्ध द्रव्यनैगमनयमें अन्तरके लिए—दे० आगे नय/*III*/३)।

३. शुद्ध व अशुद्ध द्रव्यपर्याय नैगम

श्लो.वा.४/१/३३/श्लो.४१-४६/२३७ शुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगमोऽस्ति परो यथा। सत्सुखं क्षणिकं शुद्धं संसारेऽस्मिन्नितीरणम्।४१। क्षणमेकं सुखी जीवो विषयीति विनिश्चयः। विनिर्दिष्टोऽर्थपर्यायोऽशुद्धद्रव्यार्थनैगमः।४३। गोचरीकुरुते शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्ययौ। नैगमोऽन्यो यथा सच्चित्सामान्यमिति निर्णयः।४५। विद्यते चापरो शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्ययौ। अर्थीकरोति यः सोऽत्र ना गुणीति निगद्यते।४६। —(शुद्धद्रव्य व उसकी किसी एक अर्थपर्यायको गौण मुख्यरूपसे विषय करनेवाला <u>शुद्धद्रव्य अर्थपर्याय-नैगमनय</u> है) जैसे कि संसारमें सुख पदार्थ शुद्ध सत्स्वरूप होता हुआ क्षणमात्रमें नष्ट हो जाता है। (यहाँ उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप सत्पना तो शुद्ध द्रव्य है और सुख अर्थपर्याय है। तहाँ विशेषण होनेके कारण सत् तो गौण है और विशेष्य होनेके कारण सुख मुख्य है।४१।) (अशुद्ध द्रव्य व उसकी किसी एक अर्थ पर्यायको गौण मुख्य रूपसे विषय करनेवाला <u>अशुद्धद्रव्यअर्थपर्याय-नैगमनय</u> है।) जैसे कि संसारी जीव क्षणमात्रको सुखी है। (यहाँ सुखरूप अर्थपर्याय तो विशेषण होनेके कारण गौण है और संसारी जीवरूप अशुद्धद्रव्य विशेष्य होनेके कारण मुख्य है)।४३। शुद्धद्रव्य व उसकी किसी एक व्यंजनपर्यायको गौण मुख्य रूपसे विषय करनेवाला <u>शुद्धद्रव्य-व्यंजनपर्याय-नैगमनय</u> है। जैसे कि यह सत् सामान्य चैतन्यस्वरूप है। (यहाँ सत् सामान्यरूप शुद्धद्रव्य तो विशेषण होनेके कारण गौण है और उसकी चैतन्यपनेरूप व्यञ्जन पर्याय विशेष्य होनेके कारण मुख्य है)।४५। अशुद्धद्रव्य और उसकी किसी एक व्यञ्जन पर्यायको गौण मुख्यरूपसे विषय करनेवाला <u>अशुद्धद्रव्य-व्यञ्जनपर्याय-नैगमनय</u> है। जैसे 'मनुष्य गुणी है' ऐसा कहना। (यहाँ 'मनुष्य' रूप अशुद्धद्रव्य तो विशेष्य होनेके कारण मुख्य है और 'गुणी' रूप व्यंजनपर्याय विशेषण होनेके कारण गौण है।४६।) (रा.वा./हि/१/३३/१९९)

९. नैगमाभास सामान्यका लक्षण व उदाहरण

स्या.म./२८/३१७/५ धर्मद्वयादीनामैकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिर्नैगमाभासः। यथा आत्मनि सत्त्वचैतन्ये परस्परमत्यन्तपृथग्भूते इत्यादिः। —दो धर्म, दो धर्मी अथवा एक धर्म व एक धर्मीमें सर्वथा भिन्नता दिखानेको नैगमाभास कहते हैं। जैसे—आत्मामें सत् और चैतन्य परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं ऐसा कहना। (विशेष देखो अगला शीर्षक)

१०. नैगमाभास विशेषोंके लक्षण व उदाहरण

श्लो.वा.४/१/३३/श्लो. नं./पृष्ठ २३५-२३९ सर्वथा सुखसंविन्योर्नानात्वेऽभिमतिः पुनः। स्वाश्रयाच्चार्थपर्यायनैगमाभोऽप्रतीतितः।३१। तयोरत्यन्तभेदोक्तिरन्योन्यं स्वाश्रयादपि। ज्ञेयो व्यञ्जनपर्यायनैगमाभो विरोधतः।३४। भिन्ने तु सुखजीवित्वे योऽभिमन्येत सर्वथा। सोऽर्थव्यञ्जनपर्यायनैगमाभास एव नः।३६। सद्द्रव्यं सकलं वस्तु तथान्वयविनिश्चयात्। इत्येवमवगन्तव्यस्तद्भेदोक्तिस्तु दुर्नयः।३८। तद्भेदैकान्तवादस्तु तदाभासोऽनुमन्यते। तथोक्तेर्बहिरन्तश्च प्रत्यक्षादिविरोधतः।४०। सत्त्वं सुखार्थपर्यायाद्भिन्नमेवेति संमतिः। दुर्नीतिः स्यात्सबाधत्वादिति नीतिविदो विदु.।४२। सुखजीवभिदोक्तिस्तु सर्वथा मानबाधिता। दुर्नीतिरेव बोद्धव्या शुद्धबोधैरसंशयात्।४४। भिदाभिदाभिरत्यन्तं प्रतीतेरपलापतः। पूर्ववन्नैगमाभासौ प्रत्येतव्यौ तयोरपि।४७। —१.(नैगमाभासके सामान्य लक्षणवत् यहाँ भी धर्मधर्मी आदिमें सर्वथा भेद दर्शाकर पर्यायनैगम व द्रव्यनैगम आदिके आभासोंका निरूपण किया गया है।) जैसे—२ शरीरधारी आत्मामें सुख व संवेदनका सर्वथा नानापनेका अभिप्राय रखना <u>अर्थपर्यायनैगमाभास</u> है। क्योंकि द्रव्यके गुणोंका परस्परमें अथवा अपने आश्रयभूत द्रव्यके साथ ऐसा भेद प्रतीतिगोचर नहीं है।३१। ३. आत्मासे सत्ता और चैतन्यका अथवा सत्ता और चैतन्यका परस्परमें अत्यन्त भेद मानना <u>व्यञ्जनपर्याय नैगमाभास</u> है।३४। ४. धर्मात्मा पुरुषमें सुख व जीवनपनेका सर्वथा भेद मानना <u>अर्थव्यञ्जनपर्याय-नैगमाभास</u> है।३६। ५. सब द्रव्योंमें अन्वयरूपसे रहनेका निश्चय किये बिना द्रव्यपने और सत्पनेको सर्वथा भेदरूप

कहना शुद्धद्रव्यनैगमाभास है ।३८। ६. पर्याय व पर्यायवान्‌में सर्वथा भेद मानना अशुद्ध-द्रव्यनैगमाभास है । क्योंकि घट पट आदि बहिरंग पदार्थोंमें तथा आत्मा ज्ञान आदि अन्तरंग पदार्थोंमें इस प्रकारका भेद प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरुद्ध है ।४०। ७. सुखस्वरूप अर्थपर्यायसे सत्त्व-स्वरूप शुद्धद्रव्यको सर्वथा भिन्न मानना शुद्धद्रव्यार्थपर्याय नैगमाभास है। क्योंकि इस प्रकारका भेद अनेक बाधाओं सहित है ।४२। ८. सुख और जीवको सर्वथा भेदरूपसे कहना अशुद्धद्रव्यार्थपर्याय नैगमाभास है । क्योंकि गुण व गुणीमें सर्वथा भेद प्रमाणोंसे बाधित है ।४४। ६. सत् व चेतन्यके सर्वथा भेद या अभेदका अभिप्राय रखना शुद्ध द्रव्य व्यञ्जनपर्याय-नैगमाभास है ।४७। १०. मनुष्य व गुणीका सर्वथा भेद या अभेद मानना अशुद्ध द्रव्य व्यञ्जनपर्याय नैगमाभास है ।४७।

३. नैगमनय निर्देश

१. नैगम नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है

श्लो.वा.४/१/३३/श्लो. १७/२३० तत्र संकल्पमात्रो ग्राहको नैगमो नय. । सोपाधिरित्यशुद्धस्य द्रव्यार्थिकस्याभिधानात् ।१७। =संकल्पमात्र ग्राही नैगमनय अशुद्ध द्रव्यका कथन करनेसे सोपाधि है । (क्योंकि सत्त्व प्रस्थादि उपाधियाँ अशुद्धद्रव्यमें ही सम्भव हैं और अभेदमें भेद विवक्षा करनेमे भी उसमें अशुद्धता आती है।) (और भी दे० नय/III/२/१-२) ।

२. शुद्ध व अशुद्ध सभी नय नैगमके पेटमें समा जाते हैं

ध. १/१.१.१/८४/६ यदस्ति न तद् द्वयमतिलङ्घ्य वर्तत इति नैकगमो नैगमः, संग्रहासंग्रहस्वरूपद्रव्यार्थिको नैगम इति यावत् ।=जो है वह उक्त दोनों (संग्रह और व्यवहार नय) को छोड़कर नहीं रहता है । इस तरह जो एकको ही प्राप्त नहीं होता है, अर्थात अनेकको प्राप्त होता है उसे नैगमनय कहते हैं । अर्थात् संग्रह और असंग्रहरूप जो द्रव्यार्थिकनय है वही नैगम नय है । (क. पा. १/२१/§३१३/३७६/३) । (और भी दे० नय /III/३/३) ।

ध. ६/४.१.४५/१७१/४ यदस्ति न तद् द्वयमतिलङ्घ्य वर्तते इति संग्रह व्यवहारयो: परस्परविभिन्नोभयविषयावलम्बनो नैगमनय: =जो है वह भेद व अभेद दोनोंको उल्लंघन कर नहीं रहता, इस प्रकार संग्रह और व्यवहार नयोंके परस्पर भिन्न (भेदाभेद) दो विषयोंका अवलम्बन करनेवाला नैगमनय है। (ध.१२/४.२.१०.२/३०३/१); (क. पा /१/१३-१४/§१८३/२३१/१); (और भी दे० नय /III/२/३) ।

ध. १३/५.५.७/१९९/१ नैकगमो नैगमः, द्रव्यपर्यायद्वयं मिथो विभिन्न-मिच्छन् नैगम इति यावत् ।=जो एकको नहीं प्राप्त होता अर्थात् अनेकको प्राप्त होता है वह नैगमनय है । जो द्रव्य और पर्याय इन दोनोंको आपसमें अलग-अलग स्वीकार करता है वह नैगम नय है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है ।

ध. १३/५.३.७/४/६ णेगमणयस्स असंगहियस्स एदे तेरसविफासा होंति त्ति बाद्धव्वा, परिग्गहिदसव्वणयविसयत्तादो ।=असंग्राहिक नैगम-नयके ये तेरहके तेरह स्पर्श विषय होते हैं, ऐसा यहाँ जानना चाहिए; क्योंकि, यह नय सब नयोंके विषयोंको स्वीकार करता है) ।

दे. निक्षेप/३-(यह नय सब निक्षेपोंको स्वीकार करता है ।)

३. नैगम तथा संग्रह व व्यवहार नयमें अन्तर

श्लो. वा. ४/१/३३/६०/२४५/१७ न चैवं व्यवहारस्य नैगमत्वप्रसक्तिः संग्रहविषयप्रविभागपरत्वात्, सर्वस्य नैगमस्य तु गुणप्रधानोभय-विषयत्वात् ।=इस प्रकार वस्तुके उत्तरोत्तर भेदोंको ग्रहण करनेवाला होनेसे इस व्यवहारनयको नैगमपना प्राप्त नहीं हो जाता; क्योंकि, व्यवहारनय तो संग्रह गृहीत पदार्थका व्यवहारोपयोगी विभाग करनेमें तत्पर है, और नैगमनय सर्वदा गौण प्रधानरूपसे दोनोंको विषय करता है ।

क. पा. १/२१/§३५४-३५५/३७६/८ ऐसो णेगमो संगमो संगहिओ असंगहिओ चेदि जइ दुविहो तो णत्थि णेगमो; विसयाभावादो।... ण च संगहविसेसेहिंतो वदिरित्तो विसओ अत्थि, जेण णेगमणयस्स अत्थित्तं होज्ज। एत्थ परिहारो वुच्चदे—संगह-ववहारणयविसएसु अक्कमेण वट्टमाणो णेगमो।...ण च एगविसएहि दुविसओ सरिसो; विरोहादो। तो क्वहि 'दुविहो णेगमो' त्ति ण घटदे, ण; एयम्मि वट्टमाणअहिप्पायस्स आलंबणभेएण दुब्भावं गयस्स आधारजीवस्स दुब्भावत्ताविरोहादो ।=प्रश्न—यह नैगमनय संग्राहिक और असंग्राहिकके भेदसे यदि दो प्रकारका है, तो नैगमनय कोई स्वतन्त्र नय नहीं रहता है । क्योंकि, संग्रहनयके विषयभूत सामान्य और व्यवहारनयके विषयभूत विशेषसे अतिरिक्त कोई विषय नहीं पाया जाता, जिसको विषय करनेके कारण नैगमनयका अस्तित्व सिद्ध होवे। उत्तर—अब इस शंकाका समाधान कहते हैं—नैगमनय संग्रहनय और व्यवहारनयके विषयमें एक साथ प्रवृत्ति करता है, अतः वह उन दोनोंमें अन्तर्भूत नहीं होता है । केवल एक-एकको विषय करनेवाले उन नयोंके साथ दोनोंको (युगपत्) विषय करनेवाले इस नयकी समानता नहीं हो सकती है, क्योंकि ऐसा माननेपर विरोध आता है । (श्लो. वा. /४/१/३३/श्लो २४/२३३) । प्रश्न—यदि ऐसा है, तो संग्रह और असंग्रहरूप दो प्रकारका नैगमनय नहीं बन सकता ? उत्तर—नहीं, क्योंकि एक जीवमें विद्यमान अभिप्राय आलम्बनके भेदसे दो प्रकारका हो जाता है, और उससे उसका आधारभूत जीव तथा यह नैगमनय भी दो प्रकारका हो जाता है ।

४. नैगमनय व प्रमाणमें अन्तर

श्लो.वा.४/१/३३/श्लो. २२-२३/२३२ प्रमाणात्मक एवायमुभयग्राहकत्वतः इत्ययुक्तं इव ज्ञप्तेः प्रधानगुणभावत: ।२। प्राधान्येनोभयात्मानमथ गृह्णद्धि वेदनम् । प्रमाणं नान्यदित्येतत्प्रपञ्चेन निवेदितम् ।२३। =प्रश्न—धर्म व धर्मी दोनोंका (अक्रमरूपसे) ग्राहक होनेके कारण नैगमनय प्रमाणात्मक है ? उत्तर—ऐसा कहना युक्त नहीं है; क्योंकि, यहाँ गौण मुख्य भावसे दोनोंकी ज्ञप्ति की जाती है । और धर्म व धर्मी दोनोंको प्रधानरूपसे ग्रहण करते हुए उभयात्मक वस्तुके जानने-को प्रमाण कहते हैं। अन्य ज्ञान अर्थात् केवल धर्मीरूप सामान्यको जाननेवाला संग्रहनय या केवल धर्मरूप विशेषको जाननेवाला व्यवहारनय, या दोनोंको गौणमुख्यरूपसे ग्रहण करनेवाला नैगमनय, प्रमाणज्ञानरूप नहीं हो सकते ।

श्लो. वा.२/१/६/श्लो.१९-२०/३६१ तत्रांशिन्यापि निःशेषधर्माणां गुण-तागतौ । द्रव्यार्थिकनयस्यैव व्यापारान्मुख्यरूपतः ।१९। धर्मिधर्म-समूहस्य प्राधान्यार्पणया विदः । प्रमाणत्वेन निर्णीते प्रमाणादपरो नय: ।२०।=जब सम्पूर्ण अंशोंको गौण रूपसे और अंशीको प्रधान-रूपसे जानना इष्ट होता है, तब मुख्यरूपसे द्रव्यार्थिकनयका व्यापार होता है, प्रमाणका नहीं ।१९। और जब धर्म व धर्मी दोनोंके समूहको (उनके अखण्ड व निर्विकल्प एकरसात्मक रूपको) प्रधानपनेकी विवक्षासे जानना अभीष्ट हो, तब उस ज्ञानको प्रमाणपनेसे निर्णय किया जाता है ।२०। जैसे—(देखो अगला उद्धरण) ।

पं. ध./पू./७५४-७५५ न द्रव्यं नापि गुणो न च पर्यायो निरंशदेशत्वात् । व्यक्तं न विकल्पादपि शुद्धद्रव्यार्थिकस्य मतमेतत् ।७५४। द्रव्यगुण-पर्यायाख्यैर्यदनेकं सद्विभिद्यते हेतोः । तदभेद्यमनंशत्वादेकं सदिति प्रमाणमतमेतत् ।७५५। =अखण्डरूप होनेसे वस्तु न द्रव्य है, न गुण है,

न पर्याय है, और न वह किसी अन्य विकल्पके द्वारा व्यक्त की जा सकती है, यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका मत है। युक्तिके वशसे जो सत् द्रव्य, गुण व पर्यायोंके नामसे अनेकरूपसे भेदा जाता है, वही सत् अंशरहित होनेसे अभेद्य एक है, इस प्रकार प्रमाणका पक्ष है।७५५।

५. भावी नैगम नय निश्चित अर्थमें ही लागू होता है

दे. अपूर्वकरण /४ (क्योंकि मरण यदि न हो तो अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती साधु निश्चितरूपमें कर्मोंका उपशम अथवा क्षय करता है, इसलिए ही उसको उपशामक व क्षपक संज्ञा दी गयी है, अन्यथा अतिप्रसंग दोष प्राप्त हो जाता)।

दे. पर्याप्ति/२ (शरीरकी निष्पत्ति न होनेपर भी निर्वृत्यपर्याप्त जीवको नैगमनयसे पर्याप्त कहा जा सकता है। क्योंकि वह नियमसे शरीरकी निष्पत्ति करनेवाला है)।

दे. दर्शन/७/२. (लब्ध्यपर्याप्त जीवोंमें चक्षुदर्शन नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनमें उसकी निष्पत्ति सम्भव नहीं, परन्तु निर्वृत्यपर्याप्त जीवोंमें वह अवश्य माना गया है, क्योंकि उत्तरकालमें उसकी समुत्पत्ति वहाँ निश्चित है)।

द्र. सं./टी./१४/४८/१ मिथ्यादृष्टिभव्यजीवे बहिरात्माव्यक्तिरूपेण अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेणैव भाविनैगमनयापेक्षया व्यक्तिरूपेण च। अभव्यजीवे पुनर्बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेणैव न च व्यक्तिरूपेण भाविनैगमनयेनेति। — मिथ्यादृष्टि भव्यजीवमें बहिरात्मा तो व्यक्तिरूपमे रहता है और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूपसे रहते हैं, एवं भावि नैगम नयकी अपेक्षा व्यक्तिरूपसे भी रहते हैं। मिथ्यादृष्टि अभव्य जीवमें बहिरात्मा व्यक्तिरूपसे और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्ति रूपसे ही रहते हैं। वहाँ भाविनैगमनयकी अपेक्षा भी ये व्यक्तिरूपमें नहीं रहते।

पं. ध./पू./६२३ भाविनैगमनयायत्तो भूष्णुस्तद्वानिवेष्यते। अवश्यंभावतो व्याप्तेः सद्भावात्सिद्धिसाधनात्। — भाविनैगमनयकी अपेक्षा होनेवाला हो चुके हुएके समान माना जाता है, क्योंकि ऐसा कहना अवश्यम्भावी व्याप्तिके पाये जानेसे युक्तियुक्त है।

६. कल्पनामात्र होते हुए भी भावीनैगम व्यर्थ नहीं है

रा. वा./१/३३/३/९५/२१ स्यादेतत् नैगमनयवक्तव्ये उपकारो नोपलभ्यते, भाविसंज्ञाविषये तु राजादावुपलभ्यते ततो नायं युक्त इति। तन्न, किं कारणम्। अप्रतिज्ञानात्। नैतदस्माभिः प्रतिज्ञातम् — 'उपकारे सति भवितव्यम्' इति। किं तर्हि। अस्य नयस्य विषयः प्रदर्श्यते। अपि च, उपकारं प्रत्यभिमुखत्वादुपकारवानेव। — प्रश्न — भाविसंज्ञामें तो यह आशा है कि आगे उपकार आदि हो सकते हैं, पर नैगमनयमें तो केवल कल्पना ही कल्पना है, इसके वक्तव्यमें किसी भी उपकारकी उपलब्धि नहीं होती अतः यह संव्यवहारके योग्य नहीं है? उत्तर — नयोंके विषयके प्रकरणमें यह आवश्यक नहीं है कि उपकार या उपयोगिताका विचार किया जाये। यहाँ तो केवल उनका विषय बताना है। इस नयसे सर्वथा कोई उपकार न हो ऐसा भी तो नहीं है, क्योंकि संकल्पके अनुसार निष्पन्न वस्तुसे, आगे जाकर उपकारादिककी भी सम्भावना है ही।

श्लो. वा./४/१/३३/श्लो. १९-२०/२३१ नन्वयं भाविनीं संज्ञां समाश्रित्योपचर्यते। अप्रस्थादिषु तद्भावस्तण्डुलेष्वोदनादिवत् ।१९। इत्यसद्बहिरर्थेषु तथानध्यवसानतः। स्ववेद्यमानसंकल्पे सत्येवास्य प्रवृत्तितः ।२०। — प्रश्न — भावी संज्ञाका आश्रय कर वर्तमानमें भविष्यका उपचार करना नैगमनय माना गया है। प्रस्थादिके न होनेपर भी काठके टुकड़ेमें प्रस्थकी अथवा भातके न होनेपर भी चावलोंमें भातकी कल्पना मात्र कर ली गयी है? उत्तर — वास्तवमें बाह्य पदार्थोंमें उस प्रकार भावी संज्ञाका अध्यवसाय नहीं किया जा रहा है, परन्तु अपने द्वारा जाने गये संकल्पके होनेपर ही इस नयकी प्रवृत्ति मानी गयी है (अर्थात् इस नयमें अर्थकी नहीं ज्ञानकी प्रधानता है, और इसलिए यह नयज्ञान नय मानी गयी है।)

४. संग्रहनय निर्देश

१. संग्रह नयका लक्षण

स. सि./१/३३/१४१/८ स्वजात्यविरोधेनैकत्वमुपानीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात्संग्रहः। — भेद सहित सब पर्यायों या विशेषोंको अपनी जातिके अविरोध द्वारा एक मानकर सामान्यसे सबको ग्रहण करनेवाला नय संग्रहनय है। (रा.वा. १/३३/५/९५/२६); (श्लो.वा./४/१/३३/श्लो.४९/२४०); (ह.पु./५८/४४); (न.च./श्रुत/पृ.१३); (त.सा./१/४५)।

श्लो. वा./४/१/३३/श्लो.५०/२४० समेकीभावसम्यक्त्वे वर्तमानो हि गृह्यते। निरुक्त्या लक्षणं तस्य तथा सति विभाव्यते। — सम्पूर्ण पदार्थोंका एकीकरण और समीचीनपन इन दो अर्थोंमें 'सम' शब्द वर्तता है। उसपर-से ही 'संग्रह' शब्दका निरुक्त्यर्थ विचारा जाता है, कि समस्त पदार्थोंको सम्यक् प्रकार एकीकरण करके जो अभेद रूपसे ग्रहण करता है, वह संग्रहनय है।

ध.९/४,१,४५/१७०/५ सत्तादिना यः सर्वस्य पर्यायकलङ्काभावेन अद्वैतमध्यवस्यति शुद्धद्रव्यार्थिकः सः संग्रहः। — जो सत्ता आदिकी अपेक्षासे पर्यायरूप कलंकका अभाव होनेके कारण सबकी एकताको विषय करता है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक संग्रह है। (क.पा.१/१३-१४/§१८२/२१९/१)।

ध.१३/५,५,७/१९९/२ व्यवहारमनपेक्ष्य सत्तादिरूपेण सकलवस्तुसंग्राहकः संग्रहनयः। — व्यवहारकी अपेक्षा न करके जो सत्तादिरूपसे सकल पदार्थोंका संग्रह करता है वह संग्रहनय है। (ध.१/१,१,१/८४/३)।

आ.प./९ अभेदरूपतया वस्तुजातं संगृह्णातीति संग्रहः। — अभेद रूपसे समस्त वस्तुओंको जो संग्रह करके, जो कथन करता है, वह संग्रह नय है।

का.अ./मू./२७२ जो संगहेदि सव्वं देसं वा विविहदव्वपज्जायं। अणुगमलिंगविसिट्ठं सो वि णओ संगहो होदि ।२७२। — जो नय समस्त वस्तुका अथवा उसके देशका अनेक द्रव्यपर्यायसहित अन्वयलिंगविशिष्ट संग्रह करता है, उसे संग्रहनय कहते हैं।

स्या.म./२८/३११/७ संग्रहस्तु अशेषविशेषतिरोधानद्वारेण सामान्यरूपतया विश्वमुपादत्ते। — विशेषोंकी अपेक्षा न करके वस्तुको सामान्यसे जाननेको संग्रह नय कहते हैं। (स्या.म./२८/३१७/६)।

२. संग्रह नयके उदाहरण

स.सि./१/३३/१४१/९ सत्, द्रव्यं, घट इत्यादि। सदित्युक्ते सदिति वाग्विज्ञानानुप्रवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताधारभूतानामविशेषेण सर्वेषां संग्रहः। द्रव्यमित्युक्तेऽपि द्रवति गच्छति तांस्तान्पर्यायानित्युपलक्षितानां जीवाजीवतद्भेदप्रभेदानां संग्रहः। तथा 'घट' इत्युक्तेऽपि घटबुद्ध्यभिधानानुगमलिङ्गानुमितसकलार्थसंग्रहः। एवंप्रकारोऽन्योऽपि संग्रहनयस्य विषयः। — यथा — सत्, द्रव्य और घट आदि। 'सत्' ऐसा कहनेपर 'सत्' इस प्रकारके वचन और विज्ञानकी अनुवृत्तिरूप लिंगसे अनुमित सत्ताके आधारभूत सब पदार्थोंका सामान्यरूपसे संग्रह हो जाता है। 'द्रव्य' ऐसा कहनेपर भी 'उन-उन पर्यायोंको द्रवता है अर्थात् प्राप्त होता है' इस प्रकार इस व्युत्पत्तिसे युक्त जीव, अजीव और उनके सब भेद-प्रभेदोंका संग्रह हो जाता है। तथा 'घट' ऐसा कहनेपर भी 'घट' इस प्रकारकी बुद्धि और 'घट' इस प्रकारके शब्दकी अनुवृत्तिरूप लिंगसे अनुमित (मृद्घट सुवर्णघट आदि) सब घट पदार्थोंका संग्रह हो जाता है। इस प्रकार अन्य भी संग्रहनयका विषय समझ लेना। (रा.वा./१/३३/५/९५/३०)।

स्या.म./२८/३१५/में उद्धृत श्लोक नं. २ सद्रूपतानतिक्रान्तं स्वस्वभावमिदं जगत्। सत्तारूपतया सर्वं संगृह्णन् संग्रहो मतः ।२। –अस्तित्व-धर्मको न छोड़कर सम्पूर्ण पदार्थ अपने-अपने स्वभावमें अवस्थित हैं। इसलिए सम्पूर्ण पदार्थोंके सामान्यरूपसे ज्ञान करनेको संग्रहनय कहते हैं। (रा.वा./४/४२/१७/२६१/४)।

३. संग्रहनयके भेद

श्लो.वा/४/१/३३/श्लो.५१,५५/२४० (दो प्रकारके संग्रह नयके लक्षण किये हैं—पर संग्रह और अपर संग्रह)। (स्या.म./२८/३१७/७)।

आ.प./५ संग्रहो द्विविधः । सामान्यसंग्रहो···विशेषसंग्रहो। –संग्रह दो प्रकारका है—सामान्य संग्रह और विशेष संग्रह। (न. च./श्रुत/-पृ. १३)।

न. च. वृ./१८६,२०६ दुविहं पुण संगहं तत्थ ।१८६। सुद्धसंगहेण··· ।२०६। –संग्रहनय दो प्रकारका है—शुद्ध संग्रह और अशुद्धसंग्रह।

नोट—पर, सामान्य व शुद्ध संग्रह एकार्थवाची हैं और अपर, विशेष व अशुद्ध संग्रह एकार्थवाची हैं।

४. पर अपर तथा सामान्य व विशेष संग्रहनयके लक्षण व उदाहरण

श्लो. वा./४/१/३३/श्लो. ५१,५५,५६ शुद्धद्रव्यमभिप्रैति सन्मात्रं संग्रहः परः । स चाशेषविशेषेषु सदौदासीन्यभागिह ।५१। द्रव्यत्वं सकलद्रव्यव्याप्यभिप्रैति चापरः। पर्यायत्वं च निःशेषपर्यायव्यापिसंग्रहः ।५५। तथैवावान्तरान् भेदान् संगृह्यैकत्वतो बहुः। वर्ततेऽयं नयः सम्यक् प्रतिपक्षानिराकृतेः ।५६। –सम्पूर्ण जीवादि विशेष पदार्थोंमें उदासीनता धारण करके जो सबको 'सत् है' ऐसा एकपने रूपसे (अर्थात महासत्ता मात्रको) ग्रहण करता है वह पर संग्रह (शुद्ध संग्रह) है ।५१। अपनेसे प्रतिकूल पक्षका निराकरण न करते हुए जो परसंग्रहके व्याप्य-भूत सर्व द्रव्यों व सर्व पर्यायोंको द्रव्यत्व व पर्यायत्वरूप सामान्य धर्मों द्वारा, और इसी प्रकार उनके भी व्याप्यभूत अवान्तर भेदोंका एकपनेसे संग्रह करता है वह अपर संग्रह नय है (जैसे नारक मनुष्यादिकोंका एक 'जीव' शब्द द्वारा; और 'खट्टा', 'मीठा' आदिका एक 'रस' शब्द द्वारा ग्रहण करना—); (न.च. वृ./२०६); (स्या.म./२८/३१७/७)।

न.च./श्रुत/पृ.१३ परस्पराविरोधेन समस्तपदार्थसंग्रहैकवचनप्रयोगचातुर्येण कथ्यमानं सर्वं सदित्येतत् सेना वनं नगरमित्येतत प्रभृत्यनेकजातिनिश्चयमेकवचनेन स्वीकृत्य कथनं सामान्यसंग्रहनयः। जीवनिचयाजीवनिचयहस्तिनिचयतुरगनिचयरथनिचयपदातिनिचय इति निम्बुजंबीरजंबूमाकंदनालिकेरनिचय इति । द्विजवर, वणिग्वर, तलवराद्यष्टादशश्रेणीनिचय इत्यादि दृष्टान्तैः प्रत्येकजातिनिचयमेकवचनेन स्वीकृत्य कथनं विशेषसंग्रहनयः। तथा चोक्त—'यदन्योऽन्याविरोधेन सर्वं सर्वस्य वक्ति यः। सामान्यसंग्रहः प्रोक्तश्चैकजातिविशेषकः ।' –परस्पर अविरोधरूपसे सम्पूर्ण पदार्थोंके संग्रहरूप एकवचनके प्रयोगके चातुर्यसे कहा जानेवाला 'सब सत स्वरूप है', इस प्रकार सेना-समूह, वन, नगर वगैरहको आदि लेकर अनेक जातिके समूहको एकवचनरूपसे स्वीकार करके कथन करनेको सामान्य संग्रह नय कहते हैं। जीवसमूह, अजीवसमूह; हाथियोंका झुण्ड, घोड़ोंका झुण्ड, रथोंका समूह, पियादे सिपाहियोंका समूह; निम्बू, जामुन, आम, वा नारियलका समूह; इसी प्रकार द्विजवर, वणिक्श्रेष्ठ, कोटपाल वगैरह अठारह श्रेणिका समूह इत्यादिक दृष्टान्तोंके द्वारा प्रत्येक जातिके समूहको नियमसे एकवचनके द्वारा स्वीकार करके कथन करनेको विशेष संग्रह नय कहते हैं। कहा भी है— जो परस्पर अविरोधरूपसे सबके सबको कहता है वह सामान्य संग्रहनय बतलाया गया है, और जो एक जातिविशेषका ग्राहक अभिप्रायवाला है वह विशेष संग्रहनय है।

ध.१२/४,२,६,११/२९९-३०० संगहणयस्स णाणावरणीयवेयणा जीवस्स। (मूल सू. ११)।···एवं सुद्धसंगहणयवयणं, जीवाणं तेहिं सह णोजीवाणं च एयत्तब्भुवगमादो। ···संपहि असुद्धसंगहविसए सामित्तपरूवणट्ठमुत्तरसुत्तं भणदि। 'जीवाणं' वा। (मू. सू. १२)। संगहिय णोजीव-जीवबहुत्तब्भुवगमादो। एदमसुद्धसंगहणयवयणं। –'संग्रहनयकी अपेक्षा ज्ञानावरणीयकी वेदना जीवके होती है।सू. ११।" यह कथन शुद्ध संग्रहनयकी अपेक्षा है, क्योंकि जीवोंके और उनके साथ नोजीवोंकी एकता स्वीकार की गयी है। ···अथवा जीवोंके होती है।सू.१२। कारण कि संग्रह अपेक्षा नोजीव और जीव बहुत स्वीकार किये गये हैं। यह अशुद्ध संग्रह नयकी अपेक्षा कथन है।

पं.का/ता.वृ./७१/१२३/१६ सर्वजीवसाधारणकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणसमूहेन शुद्धजीवजातिरूपेण संग्रहनयेनैकश्चैव महात्मा। –सर्व जीवसामान्य, केवलज्ञानादि अनन्तगुणसमूहके द्वारा शुद्ध जीव जातिरूपसे देखे जायें तो संग्रहनयकी अपेक्षा एक महात्मा ही दिखाई देता है।

५. संग्रहाभासके लक्षण व उदाहरण

श्लो. वा.४/१/३३/श्लो. ५२-५७ निराकृतविशेषस्तु सत्ताद्वैतपरायणः। तदाभासः समाख्यातः सद्भिर्दृष्टेष्टबाधनात् ।५२। अभिन्नं व्यक्तिभेदेभ्यः सर्वथा बहुधानकम्। महासामान्यमित्युक्तिः केषाञ्चिद्दुर्नयस्तथा ।५३। शब्दब्रह्मेति चान्येषां पुरुषाद्वैतमित्यपि। संवेदनाद्वयं चेति प्रायशोऽन्यत्र दर्शितम् ।५४। स्वव्यक्त्यात्मकतैकान्तस्तदाभासोऽप्यनेकधा। प्रतीतिबाधितो बोध्यो निःशेषोऽप्यनया दिशा ।५७। –सम्पूर्ण विशेषोंका निराकरण करते हुए जो सत्ताद्वैतवादियोंका 'केवल सत् है,' अन्य कुछ नहीं, ऐसा कहना; अथवा सांख्य मतका 'अहंकार तन्मात्रा आदिसे सर्वथा अभिन्न प्रधान नामक महासामान्य है' ऐसा कहना; अथवा शब्दाद्वैतवादी वैयाकरणियोंका 'केवल शब्द है', पुरुषाद्वैतवादियोंका 'केवल ब्रह्म है', संविदाद्वैतवादी बौद्धोंका 'केवल संवेदन है' ऐसा कहना, सब परसंग्रहाभास है। (स्या.म./२८/३१६/१ तथा ३१७/१)। अपनी व्यक्ति व जातिसे सर्वथा एकात्मकपनेका एकान्त करना अपर संग्रहाभास है, क्योंकि वह प्रतीतियोंसे बाधित है।

स्या. म./२८/३१७/१२ तद्द्रव्यत्वादिकं प्रतिजानानस्तद्विशेषान्निह्नुवानस्तदाभासः। –धर्म अधर्म आदिकोंको केवल द्रव्यत्व रूपसे स्वीकार करके उनके विशेषोंके निषेध करनेको अपर संग्रहाभास कहते हैं।

६. संग्रहनय शुद्धद्रव्यार्थिक नय है

ध.१/१,१,१/गा.६/१२ दव्वट्ठिय-णय-पवई सुद्धा संगह परूवणा विसयो। –संग्रहनयकी प्ररूपणाको विषय करना द्रव्यार्थिक नयकी शुद्ध प्रकृति है। (श्लो.वा४/१/३३/श्लो.३७/२३४); (क.पा.१/१३-१४/गा.८६/-२२०); (विशेष दे०/नय/IV/१)।

और भी दे० नय/III/१/१-२ यह द्रव्यार्थिकनय है।

* व्यवहारनय निर्देश —दे० पृ. ५५६

५. ऋजुसूत्रनय निर्देश

१. ऋजुसूत्र नयका लक्षण

१. निरुक्त्यर्थ

स.सि./१/३३/१४२/१ ऋजुं प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयतीति ऋजुसूत्रः। –ऋजुका अर्थ प्रगुण है। ऋजु अर्थात सरलको सूत्रित करता है

अर्थात् स्वीकार करता है. वह ऋजुसूत्र नय है। (रा.वा./१/३३/७/९६/३०) (क.पा.१/१३-१४/§१८५/२२३/३) (आ.प./९)

२. वर्तमानकालमात्र ग्राही

स. सि./१/३३/१४२/६ पूर्वापरांस्त्रिकालविषयानतिशय्य वर्तमानकालविषयानादत्ते अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्। —यह नय पहिले और पीछेवाले तीनों कालोंके विषयोंको ग्रहण न करके वर्तमान कालके विषयभूत पदार्थोंको ग्रहण करता है, क्योंकि अतीतके विनष्ट और अनागतके अनुत्पन्न होनेसे उनमें व्यवहार नहीं हो सकता। (रा.वा./१/३३/७/९६/११), (रा.वा./४/४२/१७/२६१/५), (ह.पु./५८/४९), (ध.९/४,१,४५/१७१/७) (स्या.टी./२/§८५/१२८)। और भी दे० (नय/III/१/२) (नय/IV/३)

२. ऋजुसूत्र नयके भेद

ध.६/४,१,४६/२४४/२ उजुसुदो दुविहो सुद्धो असुद्धो चेदि। —ऋजुसूत्रनय शुद्ध और अशुद्धके भेदसे दो प्रकारका है।

आ.प./५ ऋजुसूत्रो द्विविधः। सूक्ष्मर्जुसूत्रो···स्थूलर्जुसूत्रो। —ऋजुसूत्रनय दो प्रकारका है—सूक्ष्म ऋजुसूत्र और स्थूल ऋजुसूत्र।

३. सूक्ष्म व स्थूल ऋजुसूत्रनयके लक्षण

ध.६/४,१,४६/२४४/२ तत्थ सुद्धो वसईकयअत्थपज्जाओ पडिक्खणं विवट्टमाणासेसत्थो अप्पणो विसयादो ओसारिदसारिच्छ-तब्भाव-लक्खणसामण्णो। "···तत्थ जो असुद्धो उजुसुदणओ सो चक्खुपासिय बेंजणपज्जयविसओ।" —अर्थपर्यायको विषय करनेवाला शुद्ध ऋजुसूत्र नय है। वह प्रत्येक क्षणमें परिणमन करनेवाले समस्त पदार्थोंको विषय करता हुआ अपने विषयसे सादृश्यसामान्य व तद्भावरूप सामान्यको दूर करनेवाला है। जो अशुद्ध ऋजुसूत्र नय है, वह चक्षु इन्द्रियकी विषयभूत व्यंजन पर्यायोंको विषय करनेवाला है।

आ.प./५ सूक्ष्मर्जुसूत्रो यथा—एकसमयावस्थायी पर्यायः। स्थूलर्जुसूत्रो यथा—मनुष्यादिपर्यायास्तदायुःप्रमाणकालं तिष्ठन्ति। —सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय एकसमय अवस्थायी पर्यायको विषय करता है। और स्थूल ऋजुसूत्रको अपेक्षा मनुष्यादि पर्यायें स्व स्व आयुप्रमाणकाल पर्यन्त ठहरती हैं। (न.च.वृ./२११-२१२) (न.च./श्रुत/पृ.१९)

का.अ./मू./२७४ जो वट्टमाणकाले अत्थपज्जायपरिणदं अत्थं। संतं साहदि सव्वं तं पि णयं उज्जुयं जाण।२७४। —वर्तमानकालमें अर्थ पर्यायरूप परिणत अर्थको जो सत रूप साधता है वह ऋजुसूत्र नय है। (यह लक्षण यद्यपि सामान्य ऋजुसूत्रके लिए किया गया है, परन्तु सूक्ष्मऋजुसूत्रपर घटित होता है)

४. ऋजुसूत्राभासका लक्षण

श्लो.वा.४/१/३३/श्लो.६२/२४८ निराकरोति यद्द्रव्यं बहिरन्तश्च सर्वथा। स तदाभोऽभिमन्तव्यः प्रतीतेरपलापतः।···एतेन चित्राद्वैतं, संवेदनाद्वैतं क्षणिकमित्यपि मननमृजुसूत्राभासमायातोयुक्तं वेदितव्यं।(पृ. २५३/४)। —बहिरंग व अन्तरंग दोनों द्रव्योंका सर्वथा अपलाप करनेवाले चित्राद्वैतवादी, विज्ञानाद्वैतवादी व क्षणिकवादी बौद्धोंकी मान्यतामें ऋजुसूत्रनयका आभास है, क्योंकि उनकी सब मान्यताएँ प्रतीति व प्रमाणसे बाधित हैं। (विशेष दे० श्लो.वा.४/१/३३/श्लो. ६३-६७/२४८-२५५); (स्या. म./२८/३१८/२४)

५. ऋजुसूत्रनय शुद्ध पर्यायार्थिक है

स्या.टी./२/§८५/१२८/७ ऋजुसूत्रनयस्तु परमपर्यायार्थिकः। —ऋजुसूत्रनय परम (शुद्ध) पर्यायार्थिक नय है। (सूक्ष्म ऋजुसूत्र शुद्ध पर्यायार्थिक नय है और स्थूल ऋजुसूत्र अशुद्ध पर्यायार्थिक—नय/IV/3) (और भी दे०/नय/III/१/१-२)

६. ऋजुसूत्रनयको द्रव्यार्थिक कहनेका कथंचित् विधि निषेध

१. कथंचित् निषेध

ध.१०/४,२,२,३/११/४ तब्भवसारिच्छसामण्णप्पयदव्वमिच्छंतो उजुसुदो कधं ण दव्वट्ठियो। ण, घड-पडत्थंभादिवंजणपज्जायपरिच्छिण्ण-सगपुव्वावरभावविरहियउजुवट्टविसयस्स दव्वट्ठियणयत्तविरोहादो। —प्रश्न—तद्भावसामान्य व सादृश्यसामान्यरूप द्रव्यको स्वीकार करनेवाला ऋजुसूत्रनय (दे० स्थूल ऋजुसूत्रनयका लक्षण) द्रव्यार्थिक कैसे नहीं है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऋजुसूत्रनय घट, पट व स्तम्भादि स्वरूप व्यंजनपर्यायोंसे परिच्छिन्न ऐसे अपने पूर्वापर भावोंसे रहित वर्तमान मात्रको विषय करता है, अतः उसे द्रव्यार्थिक नय माननेमें विरोध आता है

२. कथंचित् विधि

ध.१०/४,२,२,३/१५/६ उजुसुदस्स पज्जवट्ठियस्स कधं दव्वं विसओ। ण, बंजणपज्जायमहिट्ठियस्स दव्वस्स तव्विसयत्ताविरोहादो। ण च उप्पादविणासलक्खणत्तं तव्विसयदव्वस्स विरुज्झदे, अप्पिदपज्जायभावाभावलक्खण-उप्पादविणासविदिरित्त अवट्ठाणाणुवलंभादो। ण च पढमसमए उप्पण्णस्स विदियादिसमएसु अवट्ठाणं, तत्थ पढमविदियादिसमयकप्पणए कारणाभावादो। ण च उप्पादो चेव अवट्ठाणं, विरोहादो उप्पादलक्खणभावविदिरित्तअवट्ठाणलक्खणाणुवलंभादो च। तदो अवट्ठाणाभावादो उप्पादविणासलक्खणं दव्वमिदि सिद्धं। —प्रश्न—ऋजुसूत्र चूँकि पर्यायार्थिक है, अतः उसका द्रव्य विषय कैसे हो सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, व्यंजन पर्यायको प्राप्त द्रव्य उसका विषय है, ऐसा माननेमें कोई विरोध नहीं आता। (अर्थात अशुद्ध ऋजुसूत्रको द्रव्यार्थिक माननेमें कोई विरोध नहीं है—ध./६) (ध.६/४,१,५८/२६५/६), (ध.१२/४,२,८,१४/२९०/५) (निक्षेप/३/४) प्रश्न—ऋजुसूत्रके विषयभूत द्रव्यको उत्पाद विनाश लक्षण माननेमें विरोध आता है? उत्तर—सो भी बात नहीं है; क्योंकि, विवक्षित पर्यायका सद्भाव ही उत्पाद है और उसका अभाव ही व्यय है। इसके सिवा अवस्थान स्वतन्त्र रूपसे नहीं पाया जाता। प्रश्न—प्रथम समयमें पर्याय उत्पन्न होती है और द्वितीयादि समयोंमें उसका अवस्थान होता है? उत्तर—यह बात नहीं बनती; क्योंकि उसमें प्रथम व द्वितीयादि समयोंकी कल्पनाका कोई कारण नहीं है। प्रश्न—फिर तो उत्पाद ही अवस्थान बन बैठेगा? उत्तर—सो भी बात नहीं है; क्योंकि, एक तो ऐसा माननेमें विरोध आता है, दूसरे उत्पादस्वरूप भावको छोड़कर अवस्थानका और कोई लक्षण पाया नहीं जाता। इस कारण अवस्थानका अभाव होनेसे उत्पाद व विनाश स्वरूप द्रव्य है, यह सिद्ध हुआ। (वही व्यंजन पर्यायरूप द्रव्य स्थूल ऋजुसूत्रका विषय है।

ध.१२/४,२,१४/२९०/६ वट्टमाणकालविसयउजुसुदवत्थुस्स दवणाभावादो ण तत्थ दव्वमिदि णाणावरणीयवेयणा णत्थि त्ति वुत्ते—ण, वट्टमाणकालस्स बंजणपज्जाए पडुच्च अवट्ठियस्स सगासेसावयवाणं गदस्स दव्वत्तं पडि विरोहाभावादो। अप्पिदपज्जाएण वट्टमाणत्तमावण्णस्स वत्थुस्स अणप्पिदपज्जाएसु दवणविरोहाभावादो वा अत्थि उजुसुदणयविसए दव्वमिदि। —प्रश्न—वर्तमानकाल विषयक ऋजुसूत्रनयकी विषयभूत वस्तुका द्रवण नहीं होनेसे चूँकि उसका विषय, द्रव्य नहीं हो सकता है, अतः ज्ञानावरणीय वेदना उसका विषय नहीं है? उत्तर—ऐसा पूछनेपर उत्तर देते हैं, कि ऐसा नहीं है, क्योंकि वर्तमानकाल व्यंजन पर्यायोंका आलम्बन करके अवस्थित है (दे०

अगला शीर्षक), एवं अपने समस्त अवयवोंको प्राप्त है, अतः उसके द्रव्य होनेमें कोई विरोध नहीं है। अथवा विवक्षित पर्यायसे वर्तमानताको प्राप्त वस्तुकी अविवक्षित पर्यायोंमें द्रव्यका विरोध न होनेसे, ऋजुसूत्रके विषयमें द्रव्य सम्भव है ही।

क.पा.१/१,१३-१४/§२१३/२६३/६ वंजणपज्जायविसयस्स उजुसुदस्स बहुकालावट्ठाणं होदि त्ति णासंकणिज्जं; अप्पिदवंजणपज्जायअवट्ठाणकालस्स दव्वस्स वि वट्टमाणत्तणेण गहणादो। —यदि कहा जाय कि व्यंजन पर्यायको विषय करनेवाला ऋजुसूत्रनय बहुत कालतक अवस्थित रहता है; इसलिए, वह ऋजुसूत्र नहीं हो सकता है; क्योंकि उसका काल वर्तमानमात्र है। सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है; क्योंकि, विवक्षित पर्यायके अवस्थान कालरूप द्रव्यको भी ऋजुसूत्रनय वर्तमान रूपसे ही ग्रहण करता है।

७. सूक्ष्म व स्थूल ऋजुसूत्रकी अपेक्षा वर्तमान कालका प्रमाण

दे० नय/III/१/२ वर्तमान वचनको ऋजुसूत्र वचन कहते हैं। ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोंके विच्छेद रूप समयसे लेकर एक समय पर्यन्त वस्तुकी स्थितिका निश्चय करनेवाले पर्यायार्थिक नय हैं। (अर्थात् मुखद्वारसे पदार्थका नामोच्चारण हो चुकनेके पश्चात्से लेकर एक समय पर्यन्त ही उस पदार्थकी स्थितिका निश्चय करनेवाला पर्यायार्थिक नय है।

ध. ६/४,१,४५/१७२/१ कोऽत्र वर्तमानकालः। आरम्भात्प्रभृत्या उपरमादेष वर्तमानकालः। एष चानेकप्रकारः, अर्थव्यञ्जनपर्यायास्थितेरनेकविधत्वात्।

ध. ६/४,१,४६/२४४/२ तत्थ सुद्धो विसईकयअत्थपज्जाओ पडिक्खणं विवट्टमाण···जो सो असुद्धो·· तेसि कालो जहण्णेण अंतोमुहुत्तमुक्कस्सेण छम्मासा संखेज्जा वासाणि वा। कुदो। चक्खिंदियगेज्झवंजणपज्जायाणमप्पहाणीभूददव्वाणमेत्तियं कालमवट्ठाणुवलंभादो। जदि एरिसो वि पज्जवट्ठियणओ अत्थि तो—उप्पज्जंति वियंति य भावा णियमेण पज्जवणयस्स। इच्चेण्ण सम्मइसुत्तेण सह विरोहो होदि त्ति उत्ते ण होदि, असुद्धउजुसुदेण विसईकयवंजणपज्जाए अप्पहाणीकयसेसपज्जाए पुव्वावरकोटीणमभावेण उप्पत्तिविणासे मोत्तूण अवट्ठाणमुवलंभादो। —प्रश्न—यहाँ वर्तमानकालका क्या स्वरूप है? उत्तर—विवक्षित पर्यायके प्रारम्भकालसे लेकर उसका अन्त होनेतक जो काल है वह वर्तमान काल है। अर्थ और व्यंजन पर्यायोंकी स्थितिके अनेक प्रकार होनेसे यह काल अनेक प्रकार है। तहाँ शुद्ध ऋजुसूत्र प्रत्येक क्षणमें परिणमन करनेवाले पदार्थोंको विषय करता है (अर्थात् शुद्ध ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा वर्तमानकालका प्रमाण एक समय मात्र है) और अशुद्ध ऋजुसूत्रके विषयभूत पदार्थोंका काल जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्षसे छः मास अथवा संख्यात वर्ष है, क्योंकि, चक्षु इन्द्रियसे ग्राह्य व्यंजनपर्यायें द्रव्यकी प्रधानतासे रहित होती हुई इतने कालतक अवस्थित पायी जाती हैं। प्रश्न—यदि ऐसा भी पर्यायार्थिकनय है तो—पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, इस सन्मतिसूत्रके साथ विरोध होगा? उत्तर—नहीं होगा; क्योंकि, अशुद्ध ऋजुसूत्रके द्वारा व्यंजन पर्यायें ही विषय की जाती हैं, और शेष पर्यायें अप्रधान हैं। (किन्तु प्रस्तुत सूत्रमें शुद्धऋजुसूत्रकी विवक्षा होनेसे) पूर्वापर कोटियोंका अभाव होनेके कारण उत्पत्ति व विनाशको छोड़कर अवस्थान पाया ही नहीं जाता।

६. शब्दनय निर्देश

१. शब्दनयका सामान्य लक्षण

आ. प./६ शब्दात् व्याकरणात् प्रकृतिप्रत्ययद्वारेण सिद्धः शब्दः शब्दनयः। —शब्द अर्थात् व्याकरणसे प्रकृति व प्रत्यय आदिके द्वारा सिद्ध कर लिये गये शब्दका यथा योग्य प्रयोग करना शब्दनय है।

दे. नय/I/४/२ (शब्द परसे अर्थका बोध करानेवाला शब्दनय है)।

२. अनेक शब्दोंका एक वाच्य मानता है।

रा. वा./४/४२/१७/२६१/१६ शब्दे अनेकपर्यायशब्दवाच्यः एकः। —शब्दनयमें अनेक पर्यायवाची शब्दोंका वाच्य एक होता है।

स्या. म./२८/३१३/२ शब्दस्तु रूढितो यावन्तो ध्वनयः कस्मिंश्चिदर्थे प्रवर्तन्ते यथा इन्द्रशक्रपुरन्दरादयः सुरपतौ तेषां सर्वेषामप्येकमर्थमभिप्रैति किल प्रतीतिवशात्। —रूढिसे सम्पूर्ण शब्दोंके एक अर्थमें प्रयुक्त होनेको शब्दनय कहते हैं। जैसे इन्द्र शक्र पुरन्दर आदि शब्द एक अर्थके द्योतक हैं।

३. पर्यायवाची शब्दोंमें अभेद मानता है

रा. वा./४/४२/१७/२६१/११ शब्दे पर्यायशब्दान्तरप्रयोगेऽपि तस्यैवार्थस्याभिधानादभेदः। —शब्दनयमें पर्यायवाची विभिन्न शब्दोंका प्रयोग होनेपर भी, उसी अर्थका कथन होता है, अतः अभेद है।

स्या. म./२८/३१३/२६ न च इन्द्रशक्रपुरन्दरादयः पर्यायशब्दा विभिन्नार्थवाचितया कदाचन प्रतीयन्ते। तेभ्यः सर्वदा एकाकारपरामर्शोत्पत्तेरस्खलितवृत्तितया तथैव व्यवहारदर्शनात्। तस्मादेक एव पर्यायशब्दानामर्थ इति। शब्द्यते आहूयतेऽनेनाभिप्रायेणार्थः इति निरुक्तात् एकार्थप्रतिपादनाभिप्रायेणैव पर्यायध्वनीनां प्रयोगात्। —इन्द्र, शक्र और पुरन्दर आदि पर्यायवाची शब्द कभी भिन्न अर्थका प्रतिपादन नहीं करते, क्योंकि, उनसे सर्वदा अस्खलित वृत्तिसे एक ही अर्थके ज्ञान होनेका व्यवहार देखा जाता है। अतः पर्यायवाची शब्दोंका एक ही अर्थ है। 'जिस अभिप्रायसे शब्द कहा जाय या बुलाया जाय उसे शब्द कहते हैं', इस निरुक्ति परसे भी उपरोक्त ही बात सिद्ध होती है, क्योंकि एकार्थ प्रतिपादनके अभिप्रायसे ही पर्यायवाची शब्द कहे जाते है।

दे. नय/III/७/४ (परन्तु यह एकार्थता समान काल व लिंग आदिवाले शब्दोंमें ही है, सब पर्यायवाचियोंमें नहीं)।

४. पर्यायवाची शब्दोंके प्रयोगमें लिंग आदिका व्यभिचार स्वीकार नहीं करता

स. सि./१/३३/१४३/४ लिङ्गसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दनयः। —लिंग, संख्या, साधन आदि (पुरुष, काल व उपग्रह) के व्यभिचारकी निवृत्ति करनेवाला शब्दनय है। (रा. वा./१/३३/६/६८/१२); (ह. पु./५८/४७); (ध. १/१,१,१/८७/१); (ध. ६/४,१, ४५/१७६/५); (क. पा. १/१३-१४/§ १६७/२३५); (त. सा./१/४८)।

रा. वा./१/३३/६/६८/२३ एवमादयो व्यभिचारा अयुक्ताः। कुतः। अन्यार्थस्यान्यार्थेन संबन्धाभावात्। यदि स्यात् घटः पटो भवतु पटो वा प्रासाद इति। तस्माद्यथालिङ्गं यथासंख्यं यथासाधनादि च न्याय्यमभिधानम्। —इत्यादि व्यभिचार (दे० आगे) अयुक्त हैं, क्योंकि अन्य अर्थका अन्य अर्थसे कोई सम्बन्ध नहीं है। अन्यथा घट पट हो जायेगा और पट मकान बन बैठेगा। अतः यथालिंग यथावचन और यथासाधन प्रयोग करना चाहिए। (स. सि./१/३३/१४४/१) (श्लो. वा. ४/१/३३/श्लो. ७३/२५६) (ध. १/१,१,१/८६/१) (ध. ६/४,१,४५/१७८/३); (क. पा. १/१३-१४/§ १९७/२३७/३)।

श्लो. वा. ४/१/३३/श्लो. ६८/२५५ कालादिभेदतोऽर्थस्य भेदं यः प्रतिपादयेत्। सोऽत्र शब्दनयः शब्दप्रधानत्वादुदाहृतः। —जो नय काल कारक आदिके भेदसे अर्थके भेदको समझता है, वह शब्द प्रधान होनेके कारण शब्दनय कहा जाता है। (प्रमेय कमल मार्तण्ड/पृ. २०६) (का. अ./मू. २७५)।

न. च. वृ./२१३ जो वहणं ण मण्णइ एयत्थे भिण्णलिंग आईणं । सो सद्दणओ भणिओ णेओ पुंसाइआण जहा ।२१३। —जो भिन्न लिंग आदिवाले शब्दोंकी एक अर्थमें वृत्ति नहीं मानता वह शब्दनय है, जैसे पुरुष, स्त्री आदि ।

न. च./श्रुत/पृ. १७ शब्दप्रयोगस्यार्थं जानामीति कृत्वा तत्र एकार्थमेकशब्देन ज्ञाने सति पर्यायशब्दस्य अर्थक्रमो यथेति चेत् पुष्यतारका नक्षत्रमित्येकार्थो भवति । अथवा दाराः कलत्रं भार्या इति एकार्थो भवतीति कारणेन लिङ्गसंख्यासाधनादिव्यभिचारं मुक्त्वा शब्दानुसारार्थं स्वीकर्तव्यमिति शब्दनयः । उक्तं च—लक्षणस्य प्रवृत्तौ वा स्वभावाविष्टालिङ्गतः । शब्दो लिङ्गं स्वसंख्यां च न परित्यज्य वर्तते । —'शब्दप्रयोगके अर्थको मैं जानता हूँ' इस प्रकारके अभिप्रायको धारण करके एक शब्दके द्वारा एक अर्थके जान लेनेपर पर्यायवाची शब्दोंके अर्थक्रमको (भी भली भाँति जान लेता है)। जैसे पुष्य तारका और नक्षत्र, भिन्न लिंगवाले तीन शब्द (यद्यपि) एकार्थवाची हैं' अथवा दारा कलत्र भार्या ये तीनों भी (यद्यपि) एकार्थवाची हैं। परन्तु कारणवशात् लिंग संख्या साधन वगैरह व्यभिचारको छोड़कर शब्दके अनुसार अर्थका स्वीकार करना चाहिए इस प्रकार शब्दनय है। कहा भी है—लक्षणकी प्रवृत्तिमें या स्वभावसे आविष्ट-युक्त लिंगसे शब्दनय, लिंग और स्वसंख्याको न छोड़ते हुए रहता है। इस प्रकार शब्दनय बतलाया गया है।

भावार्थ—(यद्यपि 'भिन्न लिंग आदि वाले शब्द भी व्यवहारमें एकार्थवाची समझे जाते हैं,' ऐसा यह नय जानता है, और मानता भी है; परन्तु वाक्यमें उनका प्रयोग करते समय उनमें लिंगादिका व्यभिचार आने नहीं देता। अभिप्रायमें उन्हें एकार्थवाची समझते हुए भी वाक्यमें प्रयोग करते समय कारणवशात लिंगादिके अनुसार ही उनमें अर्थभेद स्वीकार करता है।) (आ. प./५)।

स्या. म./२८/३१३/१० यथा चायं पर्यायशब्दानामेकमर्थमभिप्रैति तथा 'तटस्तटी तटम्' इति विरुद्धलिङ्गलक्षणधर्माभिसंबन्धाद् वस्तुनो भेदं चाभिधत्ते। न हि विरुद्धधर्मकृतं भेदमनुभवतो वस्तुनो विरुद्धधर्मायोगो युक्तः। एवं संख्याकालकारकपुरुषादिभेदाद् अपि भेदोऽभ्युपगन्तव्यः।

स्या. मं./२८/३१६ पर उद्धृत श्लोक नं. ५ विरोधिलिङ्गसंख्यादिभेदाद् भिन्नस्वभावताम्। तस्यैव मन्यमानोऽयं शब्दः प्रत्यवतिष्ठते ।५। —जैसे इन्द्र शक्र पुरन्दर ये तीनों समान लिंगी शब्द एक अर्थको द्योतित करते हैं; वैसे तटः, तटी, तटम् इन शब्दोंसे विरुद्ध लिंगरूप धर्मसे सम्बन्ध होनेके कारण, वस्तुका भेद भी समझा जाता है। विरुद्ध धर्मकृत भेदका अनुभव करनेवाली वस्तुमें विरुद्ध धर्मका सम्बन्ध न मानना भी युक्त नहीं है। इस प्रकार संख्या काल कारक पुरुष आदिके भेदसे पर्यायवाची शब्दोंके अर्थमें भेद भी समझना चाहिए।

ध. १/१,१,१/गा.७/१३ मूलणिमेणं पज्जवणयस्स उजुसुदवयणविच्छेदो। तस्स दु सद्दादीया साह पसाहा सुहुमभेया। —ऋजुसूत्र वचनका विच्छेदरूप वर्तमानकाल ही पर्यायार्थिक नयका मूल आधार है, और शब्दादि नय शाखा उपशाखा रूप उसके उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेद हैं।

श्लो. वा.४/१/३३/६८/२६६/१७ कालकारकलिङ्गसंख्यासाधनोपग्रहभेदाद्भिन्नमर्थं शपतीति शब्दो नयः शब्दप्रधानत्वादुदाहृतः। यस्तु व्यवहारनयः कालादिभेदेऽप्यभिन्नमर्थमभिप्रैति। —काल, कारक, लिंग, संख्या, साधन और उपग्रह आदिके भेदोंसे जो नय भिन्न अर्थको समझाता है वह नय शब्द प्रधान होनेसे शब्दनय कहा गया है, और इसके पूर्व जो व्यवहारनय कहा गया है वह तो (व्याकरण शास्त्रके अनुसार) काल आदिके भेद होनेपर भी अभिन्न अर्थको समझानेका अभिप्राय रखता है। (नय/III/१/७ तथा निक्षेप/३/७)।

५. शब्दनयाभासका लक्षण

स्या. मं./२८/३१८/२९ तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः। यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्नकाला शब्दा भिन्नमेव अर्थमभिदधति भिन्नकालशब्दत्वात् तादृक्सिद्धान्यशब्दवत् इत्यादिः। —काल आदिके भेदसे शब्द और अर्थको सर्वथा अलग माननेको शब्दनयाभास कहते हैं। जैसे—सुमेरु था, सुमेरु है, और सुमेरु होगा आदि भिन्न भिन्न कालके शब्द, भिन्न कालवाची होनेसे, अन्य भिन्नकालवाची शब्दोंकी भाँति ही, भिन्न भिन्न अर्थोंका ही प्रतिपादन करते हैं।

६. लिंगादि व्यभिचारका तात्पर्य

नोट—यद्यपि व्याकरण शास्त्र भी शब्द प्रयोगके दोषोंको स्वीकार नहीं करता, परन्तु कहीं-कहीं अपवादरूपसे भिन्न लिंग आदि वाले शब्दोंका भी सामानाधिकरण्य रूपसे प्रयोग कर देता है। तहाँ शब्दनय उन दोषोंका भी निराकरण करता है। वे दोष निम्न प्रकार हैं—

रा. वा./१/३३/९/९८/१४ तत्र लिङ्गव्यभिचारस्तावत्स्त्रीलिङ्गे पुंल्लिङ्गाभिधानं तारका स्वातिरिति। पुंल्लिङ्गे स्त्र्यभिधानम् अवगमो विद्येति। स्त्रीत्वे नपुंसकाभिधानम् वीणा आतोद्यमिति। नपुंसके स्त्र्यभिधानम् आयुधं शक्तिरिति। पुंल्लिङ्गे नपुंसकाभिधानं पटो वस्त्रमिति। नपुंसके पुंल्लिङ्गाभिधानं द्रव्यं परशुरिति। संख्याव्यभिचारः—एकत्वे द्वित्वम्—गोदौ ग्राम इति। द्वित्वे बहुत्वम् पुनर्वसू पञ्चतारका इति। बहुत्वे एकत्वम्—आम्रा वनमिति। बहुत्वे द्वित्वम्—देवमनुष्या उभौ राशी इति। साधनव्यभिचारः—एहि मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि यातस्ते पितेति। आदिशब्देन कालादिव्यभिचारो गृह्यते। विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता, भावि कृत्यमासीदिति कालव्यभिचारः। संतिष्ठते प्रतिष्ठते विरमत्युपरमतीति उपग्रहव्यभिचारः। —१. स्त्रीलिंगके स्थानपर पुंलिंगका कथन करना और पुंलिंगके स्थानपर स्त्रीलिंगका कथन करना आदि लिंग व्यभिचार हैं। जैसे—(१)—'तारका स्वाति' स्वाति नक्षत्र तारका है। यहाँपर तारका शब्द स्त्रीलिंग और स्वाति शब्द पुंलिंग है। इसलिए स्त्रीलिंगके स्थानपर पुंलिंग कहनेसे लिंग व्यभिचार है। (२) 'अवगमो विद्या' ज्ञान विद्या है। यहाँपर अवगम शब्द पुंलिंग और विद्या शब्द स्त्रीलिंग है। इसलिए पुंल्लिंगके स्थानपर स्त्रीलिंग कहनेसे लिंग व्यभिचार है। इसी प्रकार (३) 'वीणा आतोद्यम्' वीणा बाजा आतोद्य कहा जाता है। यहाँ पर वीणा शब्द स्त्रीलिंग और आतोद्य शब्द, नपुंसकलिंग है। (४) 'आयुधं शक्तिः' शक्ति आयुध है। यहाँपर आयुध शब्द नपुंसकलिंग और शक्ति शब्द स्त्रीलिंग है। (५) 'पटो वस्त्रम्' पट वस्त्र है। यहाँपर पट शब्द पुंल्लिंग और वस्त्र शब्द नपुंसकलिंग है। (६) 'आयुधं परशुः' फरसा आयुध है। यहाँ पर आयुध शब्द नपुंसकलिंग और परशु शब्द पुंलिंग है। २. एकवचनकी जगह द्विवचन आदिका कथन करना संख्या व्यभिचार है। जैसे (१) 'नक्षत्रं पुनर्वसू' पुनर्वसू नक्षत्र है। यहाँपर नक्षत्र शब्द एकवचनान्त और पुनर्वसू शब्द द्विवचनान्त है। इसलिए एकवचनके स्थानपर द्विवचनका कथन करनेसे संख्या व्यभिचार है। इसी प्रकार—(२) 'नक्षत्रं शतभिषजः' शतभिषज नक्षत्र है। यहाँ पर नक्षत्र शब्द एकवचनान्त और शतभिषज् शब्द बहुवचनान्त है। (३) 'गोदौ ग्रामः' गायोंको देनेवाला ग्राम है। यहाँपर गोद शब्द द्विवचनान्त और ग्राम शब्द एकवचनान्त है। (४) 'पुनर्वसू पञ्चतारकाः' पुनर्वसू पाँच तारे हैं। यहाँपर पुनर्वसू द्विवचनान्त और पंचतारका शब्द बहुवचनान्त है। (५) 'आम्राः वनम्' आमोंके वृक्ष वन हैं। यहाँपर आम्र शब्द बहुवचनान्त और वन शब्द एकवचनान्त है। (६) 'देवमनुष्या उभौ राशी' देव और मनुष्य ये दो राशि हैं। यहाँपर देवमनुष्य शब्द बहुवचनान्त और राशि शब्द द्विवचनान्त है। ३. भविष्यत आदि कालके स्थानपर भूत आदि

कालका प्रयोग करना कालव्यभिचार है। जैसे—(१) 'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता' जिसने समस्त विश्वको देख लिया है ऐसा इसके पुत्र उत्पन्न होगा। यहाँपर विश्वका देखना भविष्यत् कालका कार्य है, परन्तु उसका भूतकालके प्रयोग द्वारा कथन किया गया है। इसलिए भविष्यत् कालका कार्य भूत कालमें कहनेसे कालव्यभिचार है। इसी तरह (२) 'भाविकृत्यमासीत' आगे होनेवाला कार्य हो चुका। यहाँपर भूतकालके स्थानपर भविष्य कालका कथन किया गया है। ४. एक साधन अर्थात् एक कारकके स्थानपर दूसरे कारकके प्रयोग करनेको साधन या कारक व्यभिचार कहते हैं। जैसे—'ग्राममधिशेते' वह ग्रामोंमें शयन करता है। यहाँ पर सप्तमीके स्थानपर द्वितीया विभक्ति या कारकका प्रयोग किया गया है, इसलिए यह साधन व्यभिचार है। ५. उत्तम पुरुषके स्थानपर मध्यम पुरुष और मध्यम पुरुषके स्थानपर उत्तम पुरुष आदिके कथन करनेको पुरुषव्यभिचार कहते हैं। जैसे—'एहि मन्ये रथेन यास्यसि नहि यास्यसि यातस्ते पिता' आओ, तुम समझते हो कि मैं रथसे जाऊँगा परन्तु अब न जाओगे, क्योंकि तुम्हारा पिता चला गया। यहाँ पर उपहास करनेके लिए 'मन्यसे' के स्थान पर 'मन्ये' ऐसा उत्तम पुरुषका और 'यास्यामि' के स्थानपर 'यास्यसि' ऐसा मध्यम पुरुषका प्रयोग हुआ है। इसलिए पुरुषव्यभिचार है। ६. उपसर्गके निमित्तसे परस्मैपदके स्थानपर आत्मनेपद और आत्मनेपदके स्थानपर परस्मैपदका कथन कर देनेको उपग्रह व्यभिचार कहते हैं। जैसे 'रमते' के स्थानपर 'विरमति'; 'तिष्ठति' के स्थानपर 'संतिष्ठते' और 'विशति' के स्थानपर 'निविशते' का प्रयोग व्याकरणमें किया जाना प्रसिद्ध है। (स. सि./१/३३/१४३/४); (श्लो. वा. ४/१/३३/श्लो. ६०-७१/२५५); (ध.१/१,१,१/८१/१); (ध. ६/४,१,४५/१७६/६); (क. पा. १/१३-१४/§१९७/२३५/३)।

७. उक्त व्यभिचारोंमें दोष प्रदर्शन

श्लो. वा./४/१/३३/७२/२५७/१६ यो हि वैयाकरणव्यवहारनयानुरोधेन 'धातुसंबन्धे प्रत्ययः' इति सूत्रमारभ्य विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता भाविकृत्यमासीदित्यत्र कालभेदेऽप्येकपदार्थमादृता यो विश्वं द्रक्ष्यति सोऽस्य पुत्रो जनितेति भविष्यत्कालेनातीतकालस्याभेदोऽभिमतः तथा व्यवहारदर्शनादिति। तन्न श्रेयः परीक्षायां मूलक्षतेः कालभेदेऽप्यर्थस्याभेदेऽतिप्रसङ्गात् रावणशङ्खचक्रवर्तिनोरप्यतीतानागतकालयोरेकत्वापत्तेः। आसीद्रावणो राजा शङ्खचक्रवर्ती भविष्यतीति शब्दयोर्भिन्नविषयत्वान्नैकार्थतेति चेत्, विश्वदृश्वा जनितेत्यनयोरपि मा भूत् तत एव। न हि विश्वं दृष्टवानिति विश्वदृश्वेति शब्दस्य योऽर्थोऽतीतकालस्य जनितेति शब्दस्यानागतकालः। पुत्रस्य भाविनोऽतीतत्वविरोधात्। अतीतकालस्याप्यनागतत्वाध्यारोपादेकार्थताभिप्रेतेति चेत्, तर्हि न परमार्थतः कालभेदेऽप्यभिन्नार्थव्यवस्था। तथा करोति क्रियते इति कारकयोः कर्तृकर्मणोर्भेदेऽप्यभिन्नमर्थत एवाद्रियते स एव करोति किंचित् स एव क्रियते केनचिदिति प्रतीतेरिति। तदपि न श्रेयः परीक्षायां। देवदत्तः कटं करोतीत्यत्रापि कर्तृकर्मणोर्देवदत्तकटयोरभेदप्रसङ्गात्। तथा पुष्यस्तारकेत्यत्र व्यक्तिभेदेऽपि तत्कृतार्थमेकमाद्रियन्ते, लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वादि। तदपि न श्रेयः, पटकुटीत्यत्रापि कुटकुट्योरेकत्वप्रसङ्गात् तल्लिङ्गभेदाविशेषात्। तथापोऽम्भ इत्यत्र संख्याभेदेऽप्येकमर्थं जलाख्यमादृताः संख्याभेदस्याभेदकत्वात् गुर्वादिवदिति। तदपि न श्रेयः परीक्षायाम्। घटस्तंतव इत्यत्रापि तथाभावानुषङ्गात् संख्याभेदाविशेषात्। एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि स यातस्ते पिता इति साधनभेदेऽपि पदार्थमभिन्नमादृताः "प्रहसे मन्यवाचि युष्मन्मन्यतरस्मादेकवच्च" इति वचनात्। तदपि न श्रेयः परीक्षायां, अहं पचामि त्वं पचसीत्यत्रापि अस्मद्युष्मत्साधनाभेदेऽप्येकार्थत्वप्रसङ्गात्। तथा 'संतिष्ठते अवतिष्ठते' इत्यत्रोपसर्गभेदेऽप्यभिन्नमर्थमादृता उपसर्गस्य धात्वर्थमात्रद्योतकत्वादिति। तदपि न श्रेयः। तिष्ठति प्रतिष्ठते इत्यत्रापि स्थितिगतिक्रिययोरभेदप्रसङ्गात्। ततः कालादिभेदाद्भिन्न एवार्थोऽन्यथातिप्रसङ्गादिति शब्दनयः प्रकाशयति। तद्भेदेऽप्यर्थाभेदे दूषणान्तरं च दर्शयति—तथा कालादिनानात्वकल्पनं निष्प्रयोजनम्। सिद्धं कालादिनैकेन कार्यस्येष्टस्य तत्त्वतः।७३। कालाद्यन्यतमस्यैव कल्पनं तैर्विधीयताम्। येषां कालादिभेदेऽपि पदार्थैकत्वनिश्चयः।७४। शब्दकालादिभिर्भिन्नाभिन्नार्थप्रतिपादकः। कालादिभिन्नशब्दत्वात्सिद्धान्यशब्दवत् ।७५। —१. काल व्यभिचार विषयक—वैयाकरणीजन व्यवहारनयके अनुरोधसे 'धातु सम्बन्धसे प्रत्यय बदल जाते हैं' इस सूत्रका आश्रय करके ऐसा प्रयोग करते हैं कि 'विश्वको देख चुकनेवाला पुत्र इसके उत्पन्न होवेगा' अथवा 'होनेवाला कार्य हो चुका'। इस प्रकार कालभेद होनेपर भी वे इनमें एक ही वाच्यार्थका आदर करते हैं। 'जो आगे जाकर विश्वको देखेगा ऐसा पुत्र इसके उत्पन्न होगा' ऐसा न कहकर उपरोक्त प्रकार भविष्यत कालके साथ अतीत कालका अभेद मान लेते हैं, केवल इसलिए कि लोकमें इस प्रकारके प्रयोगका व्यवहार देखा जाता है। परीक्षा करनेपर उनका यह मन्तव्य श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि एक तो ऐसा माननेसे मूलसिद्धान्तकी क्षति होती है और दूसरे अतिप्रसंग दोष प्राप्त होता है। क्योंकि, ऐसा माननेपर भूतकालीन रावण और अनागत कालीन शंख चक्रवर्तीमें भी एकपना प्राप्त हो जाना चाहिए। वे दोनों एक बन बैठेंगे। यदि तुम यह कहो कि रावण राजा हुआ था और शंख चक्रवर्ती होगा, इस प्रकार इन शब्दोंकी भिन्न विषयार्थता बन जाती है, तब तो विश्वदृश्वा और जनिता इन दोनों शब्दोंकी भी एकार्थता न होओ। क्योंकि 'जिसने विश्वको देख लिया है' ऐसे इस अतीतकालवाची विश्वदृश्वा शब्दका जो अर्थ है, वह 'उत्पन्न होवेगा' ऐसे इस भविष्यकालवाची जनिता शब्दका अर्थ नहीं है। कारण कि भविष्यत् कालमें होनेवाले पुत्रको अतीतकाल सम्बन्धीपनेका विरोध है। फिर भी यदि यह कहो कि भूतकालमें भविष्य कालका अध्यारोप करनेसे दोनों शब्दोंका एक अर्थ इष्ट कर लिया गया है, तब तो काल-भेद होनेपर भी वास्तविकरूपसे अर्थोंके अभेदकी व्यवस्था नहीं हो सकती। और यही बात शब्दनय समझा रहा है। २. साधन या कारक व्यभिचार विषयक—तिस ही प्रकार वे वैयाकरणी जन कर्ताकारक वाले 'करोति' और कर्मकारक वाले 'क्रियते' इन दोनों शब्दोंमें कारक भेद होनेपर भी, इनका अभिन्न अर्थ मानते हैं; कारण कि, 'देवदत्त कुछ करता है' और 'देवदत्तके द्वारा कुछ किया जाता है' इन दोनों वाक्योंका एक अर्थ प्रतीत हो रहा है। परीक्षा करनेपर इस प्रकार मानना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो 'देवदत्त चटाईको बनाता है' इस वाक्यमें प्रयुक्त कर्ताकारक रूप देवदत्त और कर्मकारक रूप चटाईमें भी अभेदका प्रसंग आता है। ३. लिंग व्यभिचार विषयक—तिसी प्रकार वे वैयाकरणी जन 'पुष्यनक्षत्र तारा है' यहाँ लिंग भेद होनेपर भी, उनके द्वारा किये गये एक ही अर्थका आदर करते हैं, क्योंकि लोकमें कई तारकाओंसे मिलकर बना एक पुष्य नक्षत्र माना गया है। उनका कहना है कि शब्दके लिंगका नियत करना लोकके आश्रयसे होता है। उनका ऐसा कहना श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे तो पुल्लिंगी पट, और स्त्रीलिंगी झोंपड़ी इन दोनों शब्दोंके भी एकार्थ हो जानेका प्रसंग प्राप्त होता है। ४. संख्या व्यभिचार विषयक—तिसी प्रकार वे वैयाकरणी जन 'आपः' इस स्त्रीलिंगी बहुवचनान्त शब्दका और 'अम्भः' इस नपुंसकलिंगी एकवचनान्त शब्दका, लिंग व संख्या भेद होनेपर भी, एक जल नामक अर्थ ग्रहण करते हैं। उनके यहाँ संख्याभेदसे अर्थमें भेद नहीं पड़ता जैसे कि गुरुत्व साधन आदि शब्द। उनका ऐसा मानना श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर तो एक घट और अनेक तन्तु इन दोनोंका भी एक ही अर्थ होनेका प्रसंग प्राप्त होता है। ५. पुरुष व्यभिचार विषयक—

"हे विदूषक, इधर आओ। तुम मनमें मान रहे होगे कि मैं रथ द्वारा मेलेमें जाऊँगा, किन्तु तुम नहीं जाओगे, क्योंकि तुम्हारा पिता भी गया था।" इस प्रकार यहाँ साधन या पुरुषका भेद होनेपर भी वे वैयाकरणी जन एक ही अर्थका आदर करते हैं। उनका कहना है कि उपहासके प्रसंगमें 'मन्य' धातुके प्रकृतिभूत होनेपर दूसरी धातुओंके उत्तमपुरुषके बदले मध्यम पुरुष हो जाता है, और मन्यति धातुको उत्तमपुरुष हो जाता है, जो कि एक अर्थका वाचक है। किन्तु उनका यह कहना भी उत्तम नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे तो 'मैं पका रहा हूँ', 'तु पकाता है' इत्यादि स्थलोंमें भी अस्मद् और युष्मद् साधनका अभेद होनेपर एकार्थपनेका प्रसंग होगा। ६. उपसर्ग व्यभिचार विषयक—तिसी प्रकार वैयाकरणीजन 'संस्थान करता है', 'अवस्थान करता है' इत्यादि प्रयोगोंमें उपसर्गके भेद होनेपर भी अभिन्न अर्थको पकड़ बैठे हैं। उनका कहना है कि उपसर्ग केवल धातुके अर्थका द्योतन करनेवाले होते हैं। वे किसी नवीन अर्थके वाचक नहीं हैं। उनका यह कहना भी प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि इस प्रकार तो 'तिष्ठति' अर्थात् ठहरता है और 'प्रतिष्ठते' अर्थात् गमन करता है, इन दोनों प्रयोगोंमें भी एकार्थताका प्रसंग आता है।

७. इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक दूषण आते हैं। (१) लकार या कृदन्तमें अथवा लौकिक वाक्य प्रयोगोंमें कालादिके नानापनेकी कल्पना व्यर्थ हो जायेगी, क्योंकि एक ही काल या उपसर्ग आदिसे वास्तविक रूपसे इष्टकार्यकी सिद्धि हो जायेगी।७३। काल आदिके भेदसे अर्थभेद न माननेवालोंको कोई सा एक काल या कारक आदि ही मान लेना चाहिए।७४। काल आदिका भिन्न-भिन्न स्वीकार किया जाना हो उनकी भिन्नार्थताका द्योतक है।७५।

९. सर्व प्रयोगोंको दूषित बतानेसे तो व्याकरणशास्त्रके साथ विरोध आता है?

स. सि./१/३३/१४४/१ एवं प्रकारं व्यवहारमन्याय्यं मन्यते; अन्यार्थस्यान्यार्थेन संबन्धाभावात्। लोकसमयविरोध इति चेत्। विरुध्यताम्। तत्त्वमिह मीमांस्यते, न भैषज्यमातुरेच्छानुवर्ति। =यद्यपि व्यवहारमें ऐसे प्रयोग होते हैं, तथापि इस प्रकारके व्यवहारको शब्दनय अनुचित मानता है, क्योंकि पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे अन्य अर्थका अन्य अर्थके साथ सम्बन्ध नहीं बन सकता। प्रश्न—इससे लोक समयका (व्याकरण शास्त्रका) विरोध होता है। उत्तर—यदि विरोध होता है तो होने दो, इससे हानि नहीं है, क्योंकि यहाँ तत्त्वकी मीमांसा की जा रही है। दवाई कुछ रोगीकी इच्छाका अनुकरण करनेवाली नहीं होती। (रा. वा./१/३३/९/९८/२५)।

७. समभिरूढ नय निर्देश

१. समभिरूढ नयके लक्षण

१. अर्थ भेदसे शब्द भेद (रूढ शब्द प्रयोग)

स.सि./१/३३/१४४/४ नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः। यतो नानार्थान्समतीत्यैकमर्थमाभिमुख्येन रूढः समभिरूढः। गौरित्ययं शब्दो वागादिष्वर्थेषु वर्तमानः पशावभिरूढः। =नाना अर्थोंका समभिरोहण करनेवाला होनेसे समभिरूढ नय कहलाता है। चूँकि जो नाना अर्थोंको 'सम' अर्थात् छोड़कर प्रधानतासे एक अर्थमें रूढ होता है वह समभिरूढ नय है। उदाहरणार्थ—'गो' इस शब्दकी वचन, पृथिवी आदि ११ अर्थोंमें प्रवृत्ति मानी जाती है, तो भी इस नयकी अपेक्षा वह एक पशु विशेषके अर्थमें रूढ है। (रा.वा./१/३३/१०/९८/२६); (आ.प./५); (न.च.वृ./२१५); (न.च./श्रुत/पृ.१८); (त.सा./१/४९); (का.अ./मू./२७६)।

रा.वा./४/४२/१७/२६१/१२ समभिरूढे वा प्रवृत्तिनिमित्तस्य च घटस्याभिन्नस्य सामान्येनाभिधानात् (अभेदः)। =समभिरूढ नयमें घटनक्रियासे परिणत या अपरिणत, अभिन्न ही घटका निरूपण होता है। अर्थात् जो शब्द जिस पदार्थके लिए रूढ कर दिया गया है, वह शब्द हर अवस्थामें उस पदार्थका वाचक होता है।

न. च./श्रुत/पृ. १८ एकबारमष्टोपवासं कृत्वा मुक्तेऽपि तपोधनं रूढिप्रधानतया यावज्जीवमष्टोपवासीति व्यवहरन्ति स तु समभिरूढनयः। =एक बार आठ उपवास करके मुक्त हो जानेपर भी तपोधनको रूढिकी प्रधानतासे यावज्जीव अष्टोपवासी कहना समभिरूढ नय है।

२. शब्दभेदसे अर्थभेद

स.सि./१/३३/१४४/५ अथवा अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः। तत्रैकस्यार्थस्यैकेन गतार्थत्वात्पर्यायशब्दप्रयोगोऽनर्थकः। शब्दभेदश्चेदस्ति अर्थभेदेनाप्यवश्यं भवितव्यमिति। नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः। इन्दनादिन्द्रः, शकनाच्छक्रः, पूर्दारणात् पुरन्दर इत्येवं सर्वत्र। =अथवा अर्थका ज्ञान करानेके लिए शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। ऐसी हालतमें एक अर्थका एक शब्दसे ज्ञान हो जाता है। इसलिए पर्यायवाची शब्दोंका प्रयोग करना निष्फल है। यदि शब्दोंमें भेद है तो अर्थभेद अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार नाना अर्थोंका समभिरोहण करनेवाला होनेसे समभिरूढ नय कहलाता है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर ये तीन शब्द होनेसे इनके अर्थ भी तीन हैं। क्योंकि व्युत्पत्तिकी अपेक्षा ऐश्वर्यवान् होनेसे इन्द्र, समर्थ होनेसे शक्र और नगरोंका दारण करनेसे पुरन्दर होता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए। (रा.वा./१/३३/१०/९८/३०), (श्लो.वा.४/१/३३/श्लो.७६-७७/२६३); (ह.पु./५८/४८); (ध.१/१,१,१/९/४); (ध.६/४,१,४५/१७९/१); (क.पा.१/१३-१४/§२००/२३९/६); (न.च.वृ./२१५); (न.च./श्रुत/पृ.१८); (स्या.म./२८/३१४/१५; ३१६/३; ३१८/२८)।

रा.वा./४/४२/१७/२६१/१६ समभिरूढे वा नैमित्तिकत्वात् शब्दस्यैकशब्दवाच्य एकः। =समभिरूढ नय चूँकि शब्दनैमित्तिक है अतः एक शब्दका वाच्य एक ही होता है।

३. वस्तुका निजस्वरूपमें रूढ रहना

स.सि./१/३३/१४४/८ अथवा यो यत्राभिरूढः स तत्र समेत्याभिमुख्येनारोहणात्समभिरूढः। यथा क्व भवानास्ते। आत्मनीति। कुतः। वस्त्वन्तरे वृत्त्यभावात्। यद्यन्यस्यान्यत्रवृत्तिः स्यात्, ज्ञानादीनां रूपादीनां चाकाशे वृत्तिः स्यात्। =अथवा जो जहाँ अभिरूढ है वह वहाँ 'सम्' अर्थात् प्राप्त होकर प्रमुखतासे रूढ होनेके कारण समभिरूढ नय कहलाता है। यथा—आप कहाँ रहते हैं? अपनेमें, क्योंकि अन्य वस्तुकी अन्य वस्तुमें वृत्ति नहीं हो सकती। यदि अन्यकी अन्यमें वृत्ति होती है, ऐसा माना जाये तो ज्ञानादिककी और रूपादिककी आकाशमें वृत्ति होने लगे। (रा.वा./१/३३/१०/९९/२)।

२. यद्यपि रूढिगत अनेक शब्द एकार्थवाची हो जाते हैं

आ.प./९ परस्परेणाभिरूढाः समभिरूढाः। शब्दभेदेऽप्यर्थभेदो नास्ति। शक्र इन्द्रः पुरन्दर इत्यादयः समभिरूढाः। =जो शब्द परस्परमें अभिरूढ या प्रसिद्ध हैं वे समभिरूढ हैं। उन शब्दोंमें भेद होते हुए भी अर्थभेद नहीं होता। जैसे—शक्र, इन्द्र व पुरन्दर ये तीनों शब्द एक देवराजके लिए अभिरूढ या प्रसिद्ध हैं। (विशेष दे० मतिज्ञान/३/४)।

३. परन्तु यहाँ पर्यायवाची शब्द नहीं हो सकते

स. सि./१/३३/१४४/६ तत्रैकस्यार्थस्यैकेन गतार्थत्वात्पर्यायशब्दप्रयोगोऽनर्थकः। शब्दभेदश्चेदस्ति अर्थभेदेनाप्यवश्यं भवितव्यमिति। —जब एक अर्थका एक शब्दसे ज्ञान हो जाता है तो पर्यायवाची शब्दोंका प्रयोग करना निष्फल है। यदि शब्दोंमें भेद है तो अर्थभेद अवश्य होना चाहिए। (रा.वा./१/३३/१०/९८/३०)।

क. पा.१/१३-१४/§२००/२४०/१ अस्मिन्नये न सन्ति पर्यायशब्दाः प्रतिपदमर्थभेदाभ्युपगमात्। न च द्वौ शब्दावेकस्मिन्नर्थे वर्तेते; भिन्नयोरेकार्थवृत्तिविरोधात्। न च समानशक्तित्वात्तत्र वर्तेते; समानशक्त्योः शब्दयोरेकत्वापत्तेः। ततो वाचकभेदादवश्यं वाच्यभेदेन भाव्यमिति। —इस नयमें पर्यायवाची शब्द नहीं पाये जाते हैं, क्योंकि यह नय प्रत्येक पदका भिन्न अर्थ स्वीकार करता है। दो शब्द एक अर्थमें रहते हैं, ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि भिन्न दो शब्दोंका एक अर्थमें सद्भाव माननेमें विरोध आता है। यदि कहा जाये कि उन दोनों शब्दोंमें समान शक्ति पायी जाती है, इसलिए वे एक अर्थमें रहते हैं, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि दो शब्दोंमें सर्वथा समान शक्ति माननेसे वे वास्तवमें दो न रहकर एक हो जायेंगे। इसलिए जब वाचक शब्दोंमें भेद पाया जाता है तो उनके वाच्यभूत अर्थमें भी भेद होना ही चाहिए। (ध.१/१,१,१/८९/५)।

ध.९/४,१,४५/१८०/१ न स्वतो व्यतिरिक्ताशेषार्थव्यवच्छेदकः शब्दः अयोग्यत्वात्। योग्यः शब्दो योग्यार्थस्य व्यवच्छेदक इति···न च शब्दद्वयोर्द्वैविध्ये तत्सामर्थ्ययोरेकत्वं न्याय्यम्, भिन्नकालोत्पन्नद्रव्योपादानभिन्नाधारयोरेकत्वविरोधात्। न च सादृश्यमपि तयोरेकत्वापत्तेः। ततो वाचकभेदादवश्यं वाच्यभेदेनापि भवितव्यमिति। —शब्द अपनेसे भिन्न समस्त पदार्थोंका व्यवच्छेदक नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें वैसी योग्यता नहीं है, किन्तु योग्य शब्द योग्य अर्थका व्यवच्छेदक होता है। दूसरे, शब्दोंके दो प्रकार होनेपर उनकी शक्तियोंको एक मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि भिन्न कालमें उत्पन्न व उपादान एवं भिन्न आधारवाली शब्दशक्तियोंके अभिन्न होनेका विरोध है। इनमें सादृश्य भी नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होनेपर एकताकी आपत्ति आती है। इस कारण वाचकके भेदसे वाच्य भेद अवश्य होना चाहिए।

नोट—शब्द व अर्थमें वाच्य-वाचक सम्बन्ध व उसकी सिद्धिके लिए दे० आगम/४।

४. शब्द व समभिरूढ नयमें अन्तर

श्लो. वा./४/१/३३/७६/२६३/२१ विश्वदृश्वा सर्वदृश्वेति पर्यायभेदेऽपि शब्दोऽभिन्नार्थमभिप्रेति भविता भविष्यतीति च कालभेदाभिमननात्। क्रियते विधीयते करोति विदधाति पुष्यस्तिष्यः तारकोडुः आपो वाः अम्भः सलिलमित्यादिपर्यायभेदेऽपि चाभिन्नमर्थं शब्दो मन्यते कारकादिभेदादेवार्थभेदाभिमननात्। समभिरूढः पुनः पर्यायभेदेऽपि भिन्नार्थानामभिप्रैति। कथं-इन्द्रः पुरन्दरः शक्र इत्याद्याभिन्नगोचराः। यद्वा विभिन्नशब्दत्वाद्वाजिवारणशब्दवत् ।७७। —जो विश्वको देख चुका है या जो सबको देख चुका है इन शब्दोंमें पर्यायभेद होनेपर भी शब्द नय इनके अर्थको अभिन्न मानता है। भविता (लुट्) और भविष्यति (लृट्) इस प्रकार पर्यायभेद होनेपर भी, कालभेद न होनेके कारण शब्दनय दोनोंका एक अर्थ मानता है। तथा किया जाता है, विधान किया जाता है इन शब्दोंका तथा इसी प्रकार; पुष्य व तिष्य इन दोनों पुंल्लिंगी शब्दोंका; तारका व उडुका इन दोनों स्त्रीलिंगी शब्दोंका; स्त्रीलिंगी 'अप' व वार् शब्दों का नपुंसकलिंगी अम्भस् और सलिल शब्दोंका; इत्यादि समानकाल कारक लिंग आदि वाले पर्यायवाची शब्दोंका वह एक ही अर्थ मानता है। वह केवल कारक आदिका भेद हो जानेसे ही पर्यायवाची शब्दोंमें अर्थभेद मानता है, परन्तु कारकादिका भेद न होनेपर अर्थात् समान कारकादिवाले पर्यायवाची शब्दोंमें अभिन्न अर्थ स्वीकार करता है। किन्तु समभिरूढ नय तो पर्यायभेद होनेपर भी उन शब्दोंमें अर्थभेद मानता है। जैसे—कि इन्द्र, पुरन्दर व शक्र इत्यादि पर्यायवाची शब्द उसी प्रकार भिन्नार्थ गोचर हैं, जैसे कि वाजी (घोड़ा) व वारण (हाथी) ये शब्द।

५. समभिरूढ नयाभासका लक्षण

स्या.म./२८/३१८/३० पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कुक्षीकुर्वाणस्तदाभासः। यथेन्द्र शक्रः पुरन्दर इत्यादयः शब्दाः भिन्नाभिधेया एव भिन्नशब्दत्वात् करिकुरङ्गतुरङ्गशब्दवद् इत्यादिः। —पर्यायवाची शब्दोंके वाच्यमें सर्वथा नानापना मानना समभिरूढाभास है। जैसे कि इन्द्र, शक्र, पुरन्दर इत्यादि शब्दोंका अर्थ, भिन्न शब्द होनेके कारण उसी प्रकारसे भिन्न मानना जैसे कि हाथी, हिरण, घोड़ा इन शब्दोंका अर्थ।

८. एवंभूतनय निर्देश

१. तत्क्रियापरिणत द्रव्य ही शब्दका वाच्य है

स. सि/१/३३/१४५/३ येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसायतीति एवंभूतः। स्वाभिप्रेतक्रियापरिणतिक्षणे एव स शब्दो युक्तो नान्यथेति। यदैवेन्दति तदैवेन्द्रो नाभिषेचको न पूजक इति। यदैव गच्छति तदैव गौर्न स्थितो न शयित इति। —जो वस्तु जिस पर्यायको प्राप्त हुई है उसी रूप निश्चय करनेवाले (नाम देनेवाले) नयको एवंभूत नय कहते हैं। आशय यह है कि जिस शब्दका जो वाच्य है उस रूप क्रियाके परिणमनके समय ही उस शब्दका प्रयोग करना युक्त है, अन्य समयोंमें नहीं। जैसे—जिस समय आज्ञा व ऐश्वर्यवान् हो उस समय ही इन्द्र है, अभिषेक या पूजा करनेवाला नहीं। जब गमन करती हो तभी गाय है, बैठी या सोती हुई नहीं। (रा.वा./१/३३/११/९९/५); (श्लो.वा.४/१/३३/श्लो.७८-७९/२६२); (ह.पु./५८/४९); (आ.प./५ व ६); (न.च./श्रुत/पृ.१९पर उद्धृत श्लोक); (त.सा /१/५०); (का.अ /मू./२७७); (स्या.म./२८/३१५/३)।

ध.१/१,१,१/९०/३ एवं भेदे भवनादेवंभूतः। —एवंभेद अर्थात् जिस शब्दका जो वाच्य है वह तद्रूप क्रियासे परिणत समयमें ही पाया जाता है। उसे जो विषय करता है उसे एवंभूतनय कहते हैं। (क.पा.१/१३-१४/§२०१/२४२/१)।

न. च.वृ./२१६ जं जं करेइ कम्मं देही मणवयणकायचेट्ठादो। तं तं खु णामजुत्तो एवंभूदो हवे स णओ।२१६।

न. च./श्रुत/पृ.१९ यः कश्चित्पुरुषः रागपरिणतो परिणमनकाले रागीति भवति। द्वेषपरिणतो परिणमनकाले द्वेषीति कथ्यते।···शेषकाले तथा न कथ्यते। इति तप्तायःपिण्डवत् तत्काले यदाकृतिस्तद्विशेषे वस्तुपरिणमनं तदा काले 'तत्काले तन्मयत्वात्' इति वचनमस्तीति क्रियाविशेषाभिधानं स्वीकरोति अथवा अभिधानं न स्वीकरोतीति व्यवहरणमेवंभूतनयो भवति। —१. यह जीव मन वचन कायसे जब जो-जो चेष्टा करता है, तब उस-उस नामसे युक्त हो जाता है, ऐसा एवंभूत नय कहता है। २. जैसे रागसे परिणत जीव रागपरिणतिके कालमें ही रागी होता है और द्वेष परिणत जीव द्वेषपरिणतिके कालमें ही द्वेषी कहलाता है। अन्य समयोंमें वह वैसा नहीं कहा जाता। इस प्रकार अग्निसे तपे हुए लोहेके गोलेवत्, उस-उस कालमें जिस-जिस आकृति विशेषमें वस्तुका परिणमन होता है, उस

कालमें उस रूपसे तन्मय होता है। इस प्रकार आगमका वचन है। अतः क्रियाविशेषके नामकथनको स्वीकार करता है, अन्यथा नामकथनको ग्रहण नहीं करता। इस प्रकारसे व्यवहार करना एवंभूत होता है।

२. तज्ज्ञानपरिणत आत्मा उस शब्दका वाच्य है

१. निर्देश

स.सि./१/३३/१४५/५ अथवा येनात्मना येन ज्ञानेन भूतः परिणतस्तेनैवाध्यवसाययति। यथेन्द्राग्निज्ञानपरिणत आत्मैवेन्द्रोऽग्निश्चेति। —अथवा जिस रूपमे अर्थात् जिस ज्ञानसे आत्मा परिणत हो उसी रूपसे उसका निश्चय करानेवाला नय एवंभूतनय है। यथा—इन्द्ररूप ज्ञानसे परिणत आत्मा इन्द्र है और अग्निरूप ज्ञानसे परिणत आत्मा अग्नि है। (रा.वा.१/३३/११/६६/१०)।

रा.वा./१/१/५/५/१ यथा "आत्मा तत्परिणामादग्निव्यपदेशभाग् भवति, स एवंभूतनयवक्तव्यतया उष्णपर्यायादनन्य", तथा एवंभूतनयवक्तव्यवशाज्ज्ञानदर्शनपर्यायपरिणत आत्मैव ज्ञानं दर्शनं च तत्स्वाभाव्यात्। —एवंभूतनयकी दृष्टिसे ज्ञान क्रियामें परिणत आत्मा ही ज्ञान है और दर्शनक्रियामें परिणत आत्मा दर्शन है; जैसे कि उष्णपर्यायमें परिणत आत्मा अग्नि है।

रा.वा./१/३३/१२/६६/१३ स्यादेतत्-अग्न्यादिव्यपदेशो यद्यात्मनि क्रियते दाहकत्वाद्यतिप्रसज्यते इति; उच्यते-तदव्यतिरेकादप्रसङ्गः। तानि नामादीनि येन रूपेण व्यपदिश्यन्ते ततस्तेषामव्यतिरेकः प्रतिनियतार्थवृत्तित्वाद्धर्माणाम्। ततो नो आगमभावाग्नौ वर्तमानं दाहकत्वं कथमागमभावाग्नौ वर्तेत। —प्रश्न—ज्ञान या आत्मामें अग्नि व्यपदेश यदि किया जायेगा तो उसमें दाहकत्व आदिका अतिप्रसंग प्राप्त होगा? उत्तर—नहीं; क्योंकि, नाम स्थापना आदि निक्षेपोंमें पदार्थके जो-जो धर्म वाच्य होते हैं, वे ही उनमें रहेंगे, नोआगमभाव (भौतिक) अग्निमें ही दाहकत्व आदि धर्म होते हैं उनका प्रसंग आगमभाव (ज्ञानात्मक) अग्निमें देना उचित नहीं है।

३. अर्थभेदसे शब्दभेद और शब्दभेदसे अर्थभेद करता है

रा.वा. १/४/४२/१७/२६१/१३ एवंभूतेषु प्रवृत्तिनिमित्तस्य भिन्नस्यैकस्यैवार्थस्याभिधानात् भेदेनाभिधानम्।...एवंभूतवर्तमाननिमित्तशब्द एकवाच्य एक.। —एवंभूतनयमें प्रवृत्तिनिमित्तसे भिन्न एक ही अर्थका निरूपण होता है, इसलिए यहाँ सब शब्दोंमें अर्थभेद है। एवंभूतनय वर्तमान निमित्तको पकड़ता है, अतः उसके मतसे एक शब्दका वाच्य एक ही है।

ध.१/१,१,१/९०/५ ततः पदमेकमेकार्थस्य वाचकमित्यध्यवसायः इत्येवंभूतनयः। एतस्मिन्नये एको गोशब्दो नानार्थे न वर्तते एकस्यैकस्वभावस्य बहुषु वृत्तिविरोधात्। —एक पद एक ही अर्थका वाचक होता है, इस प्रकारके विषय करनेवाले नयको एवंभूतनय कहते हैं। इस नयकी दृष्टिमें एक 'गो' शब्द नाना अर्थोंमें नहीं रहता, क्योंकि एक स्वभाववाले एक पदका अनेक अर्थोंमें रहना विरुद्ध है।

ध.९/४,१,४५/१८०/७ गवाद्यर्थभेदेन गवादिशब्दस्य च भेदकः एवंभूतः। क्रियाभेदे न अर्थभेदकः एवंभूतः, शब्दनयान्तर्भूतस्य एवंभूतस्य अर्थनयत्वविरोधात्। —गौ आदि शब्दका भेदक है, वह एवंभूतनय है। क्रियाका भेद होनेपर एवंभूतनय अर्थका भेदक नहीं है; क्योंकि शब्द नयोंके अन्तर्गत आनेवाले एवंभूतनयके अर्थनय होनेका विरोध है।

स्या.म./२८/३१६/उद्धृत श्लो. नं. ७ एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं सदा तन्नोपपद्यते। क्रियाभेदेन भिन्नत्वाद् एवंभूतोऽभिमन्यते। —वस्तु अमुक क्रिया करनेके समय ही अमुक नामसे कही जा सकती है, वह सदा एक शब्दका वाच्य नहीं हो सकती, इसे एवंभूतनय कहते हैं।

४. इस नयकी दृष्टिमें वाक्य सम्भव नहीं है।

ध.१/१,१,१/९०/३ न पदानां...परस्परव्यपेक्षाप्यस्ति वर्णार्थसंख्याकालादिभिर्भिन्नानां पदानां भिन्नपदापेक्षायोगात्। ततो न वाक्यमप्यस्तीति सिद्धम्। —शब्दोंमें परस्पर सापेक्षता भी नहीं है, क्योंकि वर्ण अर्थ संख्या और काल आदिके भेदसे भेदको प्राप्त हुए पदोंके दूसरे पदोंकी अपेक्षा नहीं बन सकती। जब कि एक पद दूसरे पदकी अपेक्षा नहीं रखता है, तो इस नयकी दृष्टिमें वाक्य भी नहीं बन सकता है यह बात सिद्ध हो जाती है।

५. इस नयमें पदसमास सम्भव नहीं

क.पा./१/१३-१४/§२०१/२४२/१ अस्मिन्नये न पदानां समासोऽस्ति; स्वरूपत. कालभेदेन च भिन्नानामेकत्वविरोधात्। न पदानामेककालवृत्तिसमासः क्रमोत्पन्नानां क्षणक्षयिणां तदनुपपत्तेः। नैकार्थे वृत्तिः समासः भिन्नपदानामेकार्थे वृत्त्यनुपपत्तेः। —इस नयमें पदोंका समास नहीं होता है; क्योंकि, जो पद काल व स्वरूपकी अपेक्षा भिन्न हैं, उन्हें एक माननेमें विरोध आता है। एककालवृत्तिसमास कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पद क्रमसे उत्पन्न होते हैं और क्षणध्वंसी हैं। एकार्थवृत्तिसमास कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि भिन्न पदोंका एक अर्थमें रहना बन नहीं सकता। (ध.१/१,१,१/९०/३)

६. इस नयमें वर्णसमास तक भी सम्भव नहीं

ध.९/४,१,४५/१९०/७ वाचकगतवर्णभेदेनार्थस्य...भेदक. एवंभूतः। —जो शब्दगत 'घ' 'ट' आदि वर्णोंके भेदसे अर्थका भेदक है, वह एवंभूतनय है।

क.पा.१/१३-१४/§२०१/२४२/४ न वर्णसमासोऽप्यस्ति तत्रापि पदसमासोक्तदोषप्रसङ्गात्। तत एक एव वर्ण एकार्थवाचक इति पदगतवर्णमात्रार्थ. एकार्थ इत्येवंभूताभिप्रायवान् एवंभूतनय.। —इस नयमें जिस प्रकार पदोंका समास नहीं बन सकता, उसी प्रकार 'घ' 'ट' आदि अनेक वर्णोंका भी समास नहीं बन सकता है, क्योंकि ऊपर पदसमास माननेमें जो दोष कह आये हैं, वे सब दोष यहाँ भी प्राप्त होते हैं। इसलिए एवंभूतनयकी दृष्टिमें एक ही वर्ण एक अर्थका वाचक है। अतः 'घट' आदि पदोंमें रहनेवाले घ्, अ, ट्, अ आदि वर्णमात्र अर्थ ही एकार्थ हैं, इस प्रकारके अभिप्रायवाला एवंभूतनय समझना चाहिए। (विशेष तथा समन्वय दे० आगम/४/४)

७. समभिरूढ व एवंभूतमें अन्तर

श्लो.वा./४/१/३३/७८/२६६/७ समभिरूढो हि शकनक्रियायां सत्यामसत्यां च देवराजार्थस्य शक्रव्यपदेशमभिप्रैति, पशोर्गमनक्रियायां सत्यामसत्यां च गोव्यपदेशवत्तथारूढेः सद्भावात्। एवंभूतस्तु शकनक्रियापरिणतमेवार्थं तत्क्रियाकाले शक्रमभिप्रैति नान्यदा। —समभिरूढनय तो सामर्थ्य धारनरूप क्रियाके होनेपर अथवा नहीं होनेपर भी देवोंके राजा इन्द्रको 'शक्र' कहनेका, तथा गमन क्रियाके होनेपर अथवा न होनेपर भी अर्थात् बैठी या सोती हुई अवस्थामें भी पशुविशेषको 'गौ' कहनेका अभिप्राय रखता है, क्योंकि तिस प्रकार रूढिका सद्भाव पाया जाता है। किन्तु एवंभूतनय तो सामर्थ्य धारनरूप क्रियासे परिणत ही देवराजको 'शक्र' और गमन क्रियासे परिणत ही पशुविशेषको 'गौ' कहनेका अभिप्राय रखता है, अन्य अवस्थाओंमें नहीं।

नोट—(यद्यपि दोनों ही नयें व्युत्पत्ति भेदसे शब्दके अर्थमें भेद मानती हैं, परन्तु समभिरूढनय तो उस व्युत्पत्तिको सामान्य रूपसे अंगीकार करके वस्तुकी हर अवस्थामें उसे स्वीकार कर लेता है। परन्तु एवंभूत तो उस व्युत्पत्तिका अर्थ तभी ग्रहण करता है, जब कि वस्तु तत्क्रिया परिणत होकर साक्षात् रूपसे उस व्युत्पत्तिकी विषय बन रही हो (स्या.म./२८/३१५.३)

८. एवंभूतनयाभासका लक्षण

स्या. म./२८/३११/३ क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपंस्तु तदाभासः। यथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यम्, घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तक्रियाशून्यत्वात् पटवद् इत्यादिः। –क्रिया-परिणतिके समयसे अतिरिक्त अन्य समयमें पदार्थको उस शब्दका वाच्य सर्वथा न समझना एवंभूतनयाभास है। जैसे—जल लाने आदिकी क्रियारहित खाली रखा हुआ घड़ा बिलकुल भी 'घट' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पटकी भाँति वह भी घटन क्रियासे शून्य है।

IV द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक

१. द्रव्यार्थिकनय सामान्य निर्देश

१. द्रव्यार्थिकनयका लक्षण

१. द्रव्य ही प्रयोजन जिसका

स. सि./१/६/२१/१ द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिकः। –द्रव्य जिसका प्रयोजन है, सो द्रव्यार्थिक है। (रा. वा./१/३३/१/९५/८); (ध. १/१,१,१/८३/११) (ध. ९/४,१,४५/१७०/१) (क. पा. १/१३-१४/§ १८०/२१६/६) (आ. प./९) (नि. सा./ता. वृ./१९)।

२. पर्यायको गौण करके द्रव्यका ग्रहण

श्लो. वा. २/१/६/श्लो. ११/३६१ तत्रांशिन्यपि निःशेषधर्माणां गुणतागतौ। द्रव्यार्थिकनयस्यैव व्यापारान्मुख्यरूपतः।११। – जब सब अंशोंको गौणरूपसे तथा अंशीको मुख्यरूपसे जानना इष्ट हो, तब द्रव्यार्थिकनयका व्यापार होता है।

न. च. वृ./१९० पज्जयगउणं किच्चा दव्वं पि य जो हु गिहणए लोए। सो दव्वत्थिय भणिओ…।१९०। –पर्यायको गौण करके जो इस लोकमें द्रव्यको ग्रहण करता है, उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं।

स. सा./आ./१३ द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति द्रव्यार्थिकः। –द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुमें जो द्रव्यको मुख्यरूपसे अनुभव करावे सो द्रव्यार्थिकनय है।

न. दी./३/§ ८२/१२५ तत्र द्रव्यार्थिकनयः द्रव्यपर्यायरूपमेकानेकात्मकमनेकान्तं प्रमाणप्रतिपन्नमर्थं विभज्य पर्यायार्थिकनयविषयस्य भेदस्योपसर्जनभावेनावस्थानमात्रमभ्यनुजानन् स्वविषयं द्रव्यमभेदमेव व्यवहारयति, नयान्तरविषयसापेक्षः सन्नयः इत्यभिधानात्। यथा सुवर्णमानयेति। अत्र द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण सुवर्णद्रव्यानयनचोदनायां कटकं कुण्डलं केयूरं चोपनयन्नुपनेता कृती भवति, सुवर्णरूपेण कटकादीनां भेदाभावात्। –द्रव्यार्थिकनय प्रमाणके विषयभूत द्रव्यपर्यायात्मक तथा एकानेकात्मक अनेकान्तस्वरूप अर्थका विभाग करके पर्यायार्थिकनयके विषयभूत भेदको गौण करता हुआ, उसकी स्थितिमात्रको स्वीकार कर अपने विषयभूत द्रव्यको अभेदरूप व्यवहार कराता है, अन्य नयके विषयका निषेध नहीं करता। इसलिए दूसरे नयके विषयकी अपेक्षा रखनेवाले नयको सद्नय कहा है। जैसे—यह कहना कि 'सोना लाओ'। यहाँ द्रव्यार्थिकनयके अभिप्रायसे 'सोना लाओ' के कहनेपर लानेवाला कड़ा, कुण्डल, केयूर (या सोनेकी डली) इनमेंसे किसीको भी ले आनेसे कृतार्थ हो जाता है, क्योंकि सोनारूपसे कड़ा आदिमें कोई भेद नहीं है।

२. द्रव्यार्थिकनय वस्तुके सामान्यांशको अद्वैतरूप विषय करता है

स. सि./१/३३/१४०/६ द्रव्यं सामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरित्यर्थः। तद्विषयो द्रव्यार्थिकः। –द्रव्यका अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति है। और इसको विषय करनेवाला नय द्रव्यार्थिकनय है। (त. सा./१/३९)।

क. पा. १/१३-१४/गा. १०७/§ २०१/२४२ पज्जवणयवोक्कंतं वत्थू[त्थं] दव्वट्ठियस्स वयणिज्जं। जाव दवियोपजोगो अपच्छिमवियप्पणिव्वयणो।१०७। –जिस के पश्चात् विकल्पज्ञान व वचन व्यवहार नहीं है ऐसा द्रव्योपयोग अर्थात् सामान्यज्ञान जहाँ तक होता है, वहाँ तक वह वस्तु द्रव्यार्थिकनयका विषय है। तथा वह पर्यायार्थिकनयसे आक्रान्त है। अथवा जो वस्तु पर्यायार्थिकनयके द्वारा ग्रहण करके छोड़ दी गयी है, वह द्रव्यार्थिकनयका विषय है। (स. सि./१/६/२०/१०); (ह. पु./५८/४२)।

श्लो. वा. ४/१/३३/३/२१५/१० द्रव्यविषयो द्रव्यार्थः। –द्रव्यको विषय करनेवाला द्रव्यार्थ है। (न. च. वृ./१८९)।

क. पा. १/१३-१४/§ १८०/२१६/७ तद्भावलक्षणसामान्येनाभिन्नं सादृश्यलक्षणसामान्येन भिन्नमभिन्नं च वस्त्वभ्युपगच्छन् द्रव्यार्थिक इति यावत्। –तद्भावलक्षणवाले सामान्यसे अर्थात् पूर्वोत्तर पर्यायोंमें रहनेवाले ऊर्ध्वता सामान्यसे जो अभिन्न हैं, और सादृश्य लक्षण सामान्यसे अर्थात् अनेक समान जातीय पदार्थोंमें पाये जानेवाले तिर्यग्सामान्यसे जो कथंचित् अभिन्न है, ऐसी वस्तुको स्वीकार करनेवाला द्रव्यार्थिकनय है। (ध. ९/४,१,४५/१६७/११)।

प्र. सा./त. प्र./११४ पर्यायार्थिकमेकान्तनिमीलितं विधाय केवलोन्मीलितेन द्रव्यार्थिकेन यदावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यमेकमवलोकयतामनवलोकितविशेषाणां तत्सर्वजीवद्रव्यमिति प्रतिभाति। –पर्यायार्थिक चक्षुको सर्वथा बन्द करके जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षुके द्वारा देखा जाता है तब नारकत्व, तिर्यक्त्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व—पर्यायस्वरूप विशेषोंमें रहनेवाले एक जीव सामान्यको देखनेवाले और विशेषोंको न देखनेवाले जीवोंको 'यह सब जीव द्रव्य है' ऐसा भासित होता है।

का. अ./मू./२६९ जो साहदि सामण्णं अविणाभूदं विसेसरूवेहिं। णाणाजुत्तिबलादो दव्वत्थो सो णओ होदि। –जो नय वस्तुके विशेषरूपोंसे अविनाभूत सामान्यरूपको नाना युक्तियोंके बलसे साधता है, वह द्रव्यार्थिकनय है।

३. द्रव्यकी अपेक्षा विषयकी अद्वैतता

१. द्रव्यसे भिन्न पर्याय नामकी कोई वस्तु नहीं

रा. वा./१/३३/१/९४/२५ द्रव्यमस्तीति मतिरस्य द्रव्यभवनमेव नातोऽन्ये भावविकाराः, नाप्यभावः तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति द्रव्यास्तिकः। …अथवा, द्रव्यमेवार्थोऽस्य न गुणकर्मणी तदवस्थारूपत्वादिति द्रव्यार्थिकः।…। –द्रव्यका होना ही द्रव्यका अस्तित्व है उससे अन्य भावविकार या पर्याय नहीं है, ऐसी जिसकी मान्यता है वह द्रव्यास्तिकनय है। अथवा द्रव्य ही जिसका अर्थ या विषय है, गुण व कर्म (क्रिया या पर्याय) नहीं, क्योंकि वे भी तदवस्थारूप अर्थात् द्रव्यरूप ही हैं, ऐसी जिसकी मान्यता है वह द्रव्यार्थिक नय है।

क. पा. १/१३-१४/§ १८०/२१६/१ द्रव्यात् पृथग्भूतपर्यायाणामसत्त्वात्। न पर्यायस्तेभ्यः पृथगुत्पद्यते; सत्त्वादिव्यतिरिक्तपर्यायानुपलम्भात्। न चोत्पत्तिरप्यस्ति; असतः खरविषाणस्योत्पत्तिविरोधात्।… एतद्द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः। –द्रव्यसे सर्वथा पृथग्भूत पर्यायोंकी सत्ता नहीं पायी जाती है। पर्याय द्रव्यसे पृथक् उत्पन्न होती है, ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सत्तादिरूप द्रव्यसे पृथक् पर्यायें नहीं पायी जाती हैं। तथा सत्तादिरूप द्रव्यसे उनको पृथक् माननेपर वे असत्‌रूप हो जाती हैं, अतः उनकी उत्पत्ति भी नहीं बन सकती है, क्योंकि खरविषाणकी तरह असत्‌की उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। ऐसा द्रव्य जिस नयका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिकनय है।

२. वस्तुके सब धर्म अभिन्न व एकरस हैं

दे. सप्तभंगी/५/८/द्रव्यार्थिक नयसे काल, आत्मस्वरूप आदि ८ अपेक्षाओं-से द्रव्यके सर्व धर्मोंमें अभेद वृत्ति है)। और भी देखो—(नय/IV/२/३/१) (नय/IV/२/६/३)।

४. क्षेत्रकी अपेक्षा विषयकी अद्वैतता है।

पं. का./ता. वृ./२७/५७/६ द्रव्यार्थिकनयेन धर्माधर्माकाशद्रव्याण्येकानि भवन्ति, जीवपुद्गलकालद्रव्याणि पुनरनेकानि। — द्रव्यार्थिकनयसे धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य एक एक हैं और जीव पुद्गल व काल ये तीन द्रव्य अनेक अनेक हैं। (दे० द्रव्य/३/४)।

और भी देखो नय/IV/२/६/३ भेद निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे धर्म, अधर्म, आकाश व जीव इन चारोंमें एक प्रदेशीपना है।

दे. नय/IV/२/३/२ प्रत्येक द्रव्य अपने अपनेमें स्थित है।

५. कालकी अपेक्षा विषयकी अद्वैतता

ध. १/१,१,१/गा. ८/१३ दव्वट्ठियस्स सव्वं सदा अणुप्पण्णमविणट्ठं ।८। —द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा पदार्थ सदा अनुत्पन्न और अविनष्ट स्वभाववाले हैं। (ध. ४/१,५,४/गा. २९/३३७) (ध. ६/४,१,४६/गा. ६४/२४४) (क. पा. १/१३-१४/गा. ६५/§ २०४/२४८) (पं. का./मू./११) (पं. ध./पू. २४७)।

क. पा. १/१३-१४/§ १८०/२१६/१ अयं सर्वोऽपि द्रव्यप्रस्तारः सदादि परमाणुपर्यन्तो नित्यः; द्रव्यात् पृथग्भूतपर्यायाणामसत्त्वात्।...सतः आविर्भाव एव उत्पादः तस्यैव तिरोभाव एव विनाशः, इति द्रव्यार्थिकस्य सर्वस्य वस्तुनित्यत्वान्नोत्पद्यते न विनश्यति चेति स्थितम्। एतद्द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः। —सत्से लेकर परमाणु पर्यन्त ये सब द्रव्यप्रस्तार नित्य है, क्योंकि द्रव्यसे सर्वथा पृथग्भूत पर्यायोंकी सत्ता नहीं पायी जाती है। सत्का आविर्भाव ही उत्पाद है और उसका तिरोभाव ही विनाश है ऐसा समझना चाहिए। इसलिए द्रव्यार्थिकनयसे समस्त वस्तुएँ नित्य हैं। इसलिए न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। यह निश्चय हो जाता है। इस प्रकारका द्रव्य जिस नयका प्रयोजन या विषय है, वह द्रव्यार्थिकनय है। (ध. १/१,१,१/८४/७)।

और भी देखो—(नय/IV/२/३/३) (नय/IV/२/६/२)।

६. भावकी अपेक्षा विषयकी अद्वैतता

रा. वा./१/३३/१/९५/४ अथवा अर्यते गम्यते निष्पाद्यत इत्यर्थः कार्यम्। द्रवति गच्छतीति द्रव्यं कारणम्। द्रव्यमेवार्थोऽस्य कारणमेव कार्यं नार्थान्तरत्वम्, न कार्यकारणयोः कश्चिद्रूपभेदः तदुभयमेकाकारमेव पर्वाङ्गुलिद्रव्यवदिति द्रव्यार्थिकः।...अथवा अर्थनमर्थः प्रयोजनम्, द्रव्यमेवार्थोऽस्य प्रत्ययाभिधानानुप्रवृत्तिलिङ्गदर्शनस्य निह्नोतुमशक्यत्वादिति द्रव्यार्थिकः। —अथवा जो प्राप्त होता है या निष्पन्न होता है, ऐसा कार्य ही अर्थ है। और परिणमन करता है या प्राप्त करता है ऐसा द्रव्य कारण है। द्रव्य ही उस कारणका अर्थ या कार्य है। अर्थात् कारण ही कार्य है, जो कार्य से भिन्न नहीं है। कारण व कार्यमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। उङ्गली व उसकी पोरीकी भाँति दोनों एकाकार हैं। ऐसा द्रव्यार्थिकनय कहता है। अथवा अर्थन या अर्थ-का अर्थ प्रयोजन है। द्रव्य ही जिसका अर्थ या प्रयोजन है सो द्रव्यार्थिक नय है। इसके विचारमें अन्वय विज्ञान, अनुगताकार वचन और अनुगत धर्मोंका अर्थात् ज्ञान, शब्द व अर्थ तीनोंका लोप नहीं किया जा सकता। तीनों एकरूप हैं।

क. पा. १/१३-१४/§ १८०/२१६/२ न पर्यायस्तेभ्यः पृथगुत्पद्यते...असदकरणाद् उपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात् शक्तस्य शक्यकरणात् कारणाभावाच्च।......एतद्द्रव्यमर्थं प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः। —द्रव्यसे पृथग्भूत पर्यायोंकी उत्पत्ति नहीं बन सकती, क्योंकि असत् पदार्थ किया नहीं जा सकता; कार्यको उत्पन्न करनेके लिए उपादान-कारणका ग्रहण किया जाता है; सबसे सबकी उत्पत्ति नहीं पायी जाती; समर्थ कारण भी शक्य कार्यको ही करते हैं; तथा पदार्थोंमें कार्यकारणभाव पाया जाता है। ऐसा द्रव्य जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक नय है।

और भी दे०—(नय/IV/२/३/४); (नय/IV/२/६/७,१०)।

७. इसीसे यह नय वास्तवमें एक, अवक्तव्य व निर्विकल्प है

क. पा. १/१३-१४/गा. १०७/§ २०५ जाव दवियोपजोगो अपच्छिमवियप्पणिव्वयणो ।१०७। —जिसके पीछे विकल्पज्ञान व वचन व्यवहार नहीं है ऐसे अन्तिमविशेष तक द्रव्योपयोगकी प्रवृत्ति होती है।

पं. ध./पू./५१८ भवति द्रव्यार्थिक इति नयः स्वधात्वर्थसंज्ञकश्चैकः। —वह अपने धात्वर्थके अनुसार संज्ञावाला द्रव्यार्थिक नय एक है।

और भी देखो—(नय/V/२)

२. शुद्ध व अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय निर्देश

१. द्रव्यार्थिक नयके दो भेद—शुद्ध व अशुद्ध

ध. ९/४,१,४५/१७०/५ शुद्धद्रव्यार्थिकः स संग्रहः... अशुद्धद्रव्यार्थिकः व्यवहारनयः। —संग्रहनय शुद्धद्रव्यार्थिक है और व्यवहारनय अशुद्धद्रव्यार्थिक। (क. पा. १/१३-१४/§ १८२/२१९/१) (त.सा./१/४१)।

आ. प./६ शुद्धाशुद्धनिश्चयौ द्रव्यार्थिकस्य भेदौ। — शुद्ध निश्चय व अशुद्ध निश्चय दोनों द्रव्यार्थिकनयके भेद हैं।

२. शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका लक्षण

१. शुद्ध, एक व वचनातीत तत्त्वका प्रयोजक

आ. प./६ शुद्धद्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति शुद्धद्रव्यार्थिकः। —शुद्ध द्रव्य ही है अर्थ और प्रयोजन जिसका सो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।

न. च./श्रुत/पृ. ४३ शुद्धद्रव्यार्थेन चरतीति शुद्धद्रव्यार्थिकः। —जो शुद्धद्रव्यके अर्थरूपसे आचरण करता है वह शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है।

पं. वि. /१/१५७ शुद्धं वागतिवर्तितत्त्वमितरद्वाच्यं च तद्वाचकं शुद्धादेश इति...। —शुद्ध तत्त्व वचनके अगोचर है, ऐसे शुद्ध तत्त्वको ग्रहण करनेवाला नय शुद्धादेश है। (पं. ध./पू./७४७)।

पं. ध./उ./३१,१३३ अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धश्चैकविधोऽपि यः। —शुद्ध नयकी अपेक्षासे जीव एक तथा शुद्ध है।

और भी दे० नय/*III*/४—(सत्मात्र है अन्य कुछ नहीं)।

३. शुद्धद्रव्यार्थिक नयका विषय

१. द्रव्यकी अपेक्षा भेद उपचार रहित द्रव्य

स. सा./मू./१४ जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं। अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ।१४। —जो नय आत्माको बन्धरहित और परके स्पर्शसे रहित, अन्यत्वरहित, चलाचलता रहित, विशेष रहित, अन्यके संयोगसे रहित ऐसे पाँच भावरूपसे देखता है, उसे हे शिष्य! तू शुद्धनय जान ।१४। (पं. वि./११/१७)।

ध. ९/४,१,४५/१७०/१ सत्तादिना यः सर्वस्य पर्यायकलङ्काभावेन अद्वैतत्वमध्यवस्यति शुद्धद्रव्यार्थिकः स संग्रहः। —जो सत्ता आदिकी अपेक्षासे पर्यायरूप कलंकका अभाव होनेके कारण सबकी अद्वैतताको विषय करता है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक संग्रह है। (विशेष दे० नय/*III*/४) (क. पा./१/१३-१४/§ १८२/२१९/१) (न्या. दी./३/§ ८४/१२८)।

प्र. सा./त. प्र./१२५ शुद्धद्रव्यनिरूपणायां परद्रव्यसंपर्कासंभवात्पर्यायाणां द्रव्यान्तःप्रलयाच्च शुद्धद्रव्य एवात्मावतिष्ठते। – शुद्धद्रव्यके निरूपण-में परद्रव्यके संपर्कका असंभव होनेसे और पर्यायें द्रव्यके भीतर लीन हो जानेसे आत्मा शुद्धद्रव्य ही रहता है।

और भी देखो नय/V/१/२ (निश्चयसे न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र है (आत्मा तो एक ज्ञायक मात्र है))।

और भी देखो नय/IV/१/३ (द्रव्यार्थिक नय सामान्यमें द्रव्यका अद्वैत)।

और भी देखो नय/IV/२/६/३ (भेद निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय)।

२. क्षेत्रकी अपेक्षा स्वमें स्थिति

प. प्र./मू./१/२९/३२ देहादेहहिं जो वसइ भेयाभेयणएण। सो अप्पा मुणि जीव तुहुं किं अण्णें बहुएण।२९।

प. प्र./टी./२ शुद्धनिश्चयनयेन तु अभेदनयेन स्वदेहाद्भिन्ने स्वात्मनि वसति यः तमात्मानं मन्यस्व। – जो व्यवहार नयसे देहमें तथा निश्चयनयसे आत्मामें बसता है उसे ही हे जीव तू आत्मा जान।२९। शुद्धनिश्चयनय अर्थात् अभेदनयसे अपनी देहसे भिन्न रहता हुआ वह निजात्मामें बसता है।

द्र.सं./टी./१९/५८/२ सर्वद्रव्याणि निश्चयनयेन स्वकीयप्रदेशेषु तिष्ठन्ति। – सभी द्रव्य निश्चयनयसे निज निज प्रदेशों में रहते हैं।

और भी देखो—(नय/IV/१/४); (नय/IV/२/६/३)।

३. कालकी अपेक्षा उत्पादव्यय रहित है

पं. का./ता. वृ./११/२७/१६ शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन नरनारकादिविभाव-परिणामोत्पत्तिविनाशरहितम्। – शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे नर नारकादि विभाव परिणामोंकी उत्पत्ति तथा विनाशसे रहित है।

पं. ध./पू./२१६ यदि वा शुद्धत्वनयान्नाप्युत्पादो व्ययोऽपि न ध्रौव्यम्। ...केवलं सदिति।२१६। – शुद्धनयकी अपेक्षा न उत्पाद है, न व्यय है और न ध्रौव्य है, केवल सत् है।

और भी देखो—(नय/IV/१/५) (नय/IV/२/६/२)।

४. भावकी अपेक्षा एक व शुद्ध स्वभावी है

आ. प./८ शुद्धद्रव्यार्थिकेन शुद्धस्वभावः। – (पुद्गलका भी) शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे शुद्धस्वभाव है।

प्र. सा./त. प्र./परि./नय नं. ४७ शुद्धनयेन केवलमृण्मात्रवन्निरुपाधि-स्वभावम्। – शुद्धनयसे आत्मा केवल मिट्टीमात्रकी भाँति शुद्धस्वभाव-वाला है। (घट, रामपात्र आदिकी भाँति पर्यायगत स्वभाववाला नहीं)।

पं. का./ता. वृ. १/४/२१ शुद्धनिश्चयेन स्वस्मिन्नेवाराध्याराधकभाव इति। – शुद्ध निश्चयनयसे अपनेमें ही आराध्य आराधक भाव होता है।

और भी दे नय/V/१/५/१ (जीव तो बन्ध व मोक्षसे अतीत है)।

और भी देखो आगे (नय/IV/२/६/१०)।

४. अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयका लक्षण

ध. १/४,१,४५/१७१/३ पर्यायकलङ्कितया अशुद्धद्रव्यार्थिकः व्यव-हारनयः। – (अनेक भेदों रूप) पर्यायकलंकसे युक्त होनेके कारण व्यवहारनय अशुद्धद्रव्यार्थिक है। (विशेष दे० नय/V/४) (क. पा. १/१३-१४/§ १८२/२१९/२)।

आ. प./८ अशुद्धद्रव्यार्थिकेन अशुद्धस्वभावः। – अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे (पुद्गल द्रव्यका) अशुद्ध स्वभाव है।

आ. प./९ अशुद्धद्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येत्यशुद्धद्रव्यार्थिकः। – अशुद्ध द्रव्य ही है अर्थ या प्रयोजन जिसका सो अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है। (न. च./श्रुत/पृ. ४३)।

प्र. सा./त. प्र./परि./नय. नं. ४६ अशुद्धनयेन घटशरावविशिष्टमृण्मात्र-वत्सोपाधि स्वभावम्। – अशुद्ध नयसे आत्मा घट शराव आदि विशिष्ट (अर्थात् पर्यायकृत भेदोंसे विशिष्ट) मिट्टी मात्रकी भाँति सोपाधिस्वभाव वाला है।

पं. वि./१/१७,२७...इतरद्वाच्यं च तद्वाचकं।...प्रभेदजनकं शुद्धेतरत्क-ल्पितम्। – शुद्ध तत्त्व वचनगोचर है। उसका वाचक तथा भेदको प्रगट करनेवाला अशुद्ध नय है।

स. सा./पं. जयचन्द/६ अन्य परसंयोगजनित भेद हैं वे सब भेदरूप अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयके विषय हैं।

और भी देखो नय/V/४ (व्यवहार नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय होनेसे, उसके ही सर्व विकल्प अशुद्धद्रव्यार्थिकनयके विकल्प हैं।

और भी देखो नय/IV/२/६ (अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयका पाँच विकल्पों द्वारा लक्षण किया गया है)।

और भी देखो नय V/१—(अशुद्ध निश्चय नयका लक्षण)।

५. द्रव्यार्थिकके दश भेदोंका निर्देश

आ. प./५ द्रव्यार्थिकस्य दश भेदाः। कर्मोपाधिनिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिको, ...उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकः शुद्धद्रव्यार्थिकः,...भेदकल्पना-निरपेक्षः शुद्धो द्रव्यार्थिक...,...कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धो द्रव्यार्थिको,... उत्पादव्ययसापेक्षोऽशुद्धो द्रव्यार्थिको, ... भेदकल्पनासापेक्षोऽशुद्धो द्रव्यार्थिको,...अन्वयसापेक्षो द्रव्यार्थिको,...स्वद्रव्यादिग्राहकद्रव्या-र्थिको,...परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिको,...परमभावग्राहकद्रव्यार्थिको। – द्रव्यार्थिकनयके १० भेद हैं—१. कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक; २. उत्पादव्यय गौण सत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक; ३. भेदकल्पना निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक; ४. कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक; ५. उत्पादव्यय सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक; ६. भेदकल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक; ७. अन्वय द्रव्यार्थिक; ८. स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक; ९. परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक; १०. परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक। (न. च./श्रुत/पृ. ३६-३७)

६. द्रव्यार्थिक नयदशकके लक्षण

१. कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक

आ. प./५ कर्मोपाधिनिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिको यथा संसारी जीवो सिद्ध-सदृक् शुद्धात्मा। – 'संसारी जीव सिद्धके समान शुद्धात्मा है' ऐसा कहना कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय है।

न. च. वृ./१९१ कम्माणं मज्झगदं जीवं जो गहइ सिद्धसंकासं। भण्णइ सो सुद्धणओ खलु कम्मोवाहिणिरवेक्खो। – कर्मोंसे बँधे हुए जीवको जो सिद्धोंके सदृश शुद्ध बताता है, वह कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्या-र्थिकनय है। (न. च./श्रुत/पृ. ४०/श्लो. १)

न. च./श्रुत/पृ. ३ मिथ्यात्वादिगुणस्थाने सिद्धत्वं वदति स्फुटं। कर्मभि-र्निरपेक्षो यः शुद्धद्रव्यार्थिको हि सः।१। – मिथ्यात्वादि गुणस्थानोंमें अर्थात् अशुद्ध भावोंमें स्थित जीवका जो सिद्धत्व कहता है वह कर्म-निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय है।

नि. सा./ता. वृ./१०७ कर्मोपाधिनिरपेक्षसत्ताग्राहकशुद्धनिश्चयद्रव्यार्थिक-नयापेक्षया हि एभिर्नोकर्मभिर्द्रव्यकर्मभिश्च निर्मुक्तम्। – कर्मोपाधि निरपेक्ष सत्ताग्राहक शुद्धनिश्चयरूप द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा आत्मा इन द्रव्य व भाव कर्मोंसे निर्मुक्त है।

२. सत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक

आ. प./५ उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकः शुद्धद्रव्यार्थिको यथा, द्रव्यं नित्यम्। – उत्पादव्ययगौण सत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे द्रव्य नित्य या नित्यस्वभावी है। (आ. प./८), (न. च./श्रुत/पृ. ४/श्लो. २)

न. च. वृ./१९२ उप्पादवयं गउणं किच्चा जो गहइ केवला सत्ता। भण्णइ सो सुद्धणओ इह सत्तागाहिओ समये।१९२। – उत्पाद और व्ययको

गौण करके मुख्य रूपसे जो केवल सत्ताको ग्रहण करता है, वह सत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहा गया है। (न.च./श्रुत/४०/श्लो.४)

नि. सा./ता.वृ./१६ सत्ताग्राहकशुद्धद्रव्यार्थिकनयबलेन पूर्वोक्तव्यञ्जनपर्यायेभ्यः सकाशान्मुक्तामुक्तसमस्तजीवराशयः सर्वथा व्यतिरिक्ता एव।—सत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनयके बलसे, मुक्त तथा अमुक्त सभी जीव पूर्वोक्त (नर नारक आदि) व्यंजन पर्यायोंसे सर्वथा व्यतिरिक्त ही हैं।

३. भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक

आ.प./५ भेदकल्पनानिरपेक्षः शुद्धो द्रव्यार्थिको यथा निजगुणपर्यायस्वभावाद् द्रव्यमभिन्नम्।

आ.प./८ भेदकल्पनानिरपेक्षेणैकस्वभावः। —भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा द्रव्य निज गुणपर्यायोंके स्वभावसे अभिन्न है तथा एक स्वभावी है। (न.च./श्रुत/पृ.४/श्लो.३)

न.च.वृ./१९३ गुणगुणिआइचउक्के अत्थे जो णो करइ खलु भेयं। सुद्धो सो दव्वत्थो भेयवियप्पेण णिरवेक्खो ।१९३। —गुण-गुणी और पर्याय-पर्यायी रूप ऐसे चार प्रकारके अर्थमें जो भेद नहीं करता है अर्थात् उन्हें एकरूप ही कहता है, वह भेदविकल्पोंसे निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय है। (और भी दे० नय/V/१/२) (न.च./श्रुत/४१/श्लो.५)

आ.प./८ भेदकल्पनानिरपेक्षेणेतरेषां धर्माधर्माकाशजीवानां चाखण्डत्वादेकप्रदेशत्वम्। —भेदकल्पना निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे धर्म, अधर्म, आकाश और जीव इन चारों बहुप्रदेशी द्रव्योंके अखण्डता होनेके कारण एकप्रदेशपना है।

४. कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक

आ.प./५ कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथा क्रोधादिकर्मजभाव आत्मा। —कर्मजनित क्रोधादि भाव ही आत्मा है ऐसा कहना कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।

न.च.वृ./१९४ भावे सरायमादी सव्वे जीवम्मि जो दु जंपदि। सो हु असुद्धो उत्तो कम्माणोवाहिसावेक्खो ।१९४। —जो सर्व रागादि भावोंको जीवमें कहता है अर्थात् जीवको रागादिस्वरूप कहता है वह कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। (न.च./श्रुत/४१/श्लो.१)

न.च./श्रुत/पृ.४/श्लो.४ औदयिकादित्रिभावान् यो ब्रूते सर्वात्मसत्तया। कर्मोपाधिविशिष्टात्मा स्यादशुद्धस्तु निश्चयः।४। —जो नय औदयिक, औपशमिक व क्षायोपशमिक इन तीन भावोंको आत्मसत्तासे युक्त बतलाता है वह कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।

५. उत्पादव्यय सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक

आ.प./५ उत्पादव्ययसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथैकस्मिन्समये द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम्। —उत्पादव्यय सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा द्रव्य एक समयमें ही उत्पाद व्यय व ध्रौव्य रूप इस प्रकार त्रयात्मक है। (न.च.वृ./१९५), (न.च./श्रुत/पृ.४/श्लो.५) (न.च./श्रुत/४१/श्लो. २)

६. भेद कल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक

आ.प./५ भेदकल्पनासापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथात्मनो ज्ञानदर्शनज्ञानादयो गुणाः।

आ.प./८ भेदकल्पनासापेक्षेण चतुर्णामपि नानाप्रदेशस्वभावत्वम्। —भेद कल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा ज्ञान दर्शन आदि आत्माके गुण हैं, (ऐसा गुण गुणी भेद होता है)—तथा धर्म, अधर्म, आकाश व जीव ये चारों द्रव्य अनेक प्रदेश स्वभाववाले हैं।

न.च.वृ./१९६ भेए सदि संबन्धं गुणगुणियाईहि कुणदि जो दव्वे। सो वि असुद्धो दिट्ठो सहिओ सो भेदकप्पेण। —जो द्रव्यमें गुण-गुणी भेद करके उनमें सम्बन्ध स्थापित करता है (जैसे द्रव्य गुण व पर्यायवाला है अथवा जीव ज्ञानवान् है) वह भेदकल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। (न.च./श्रुत/५/श्लो.६ तथा/४१/श्लो.३) (विशेष दे० नय/V/४)

७. अन्वय द्रव्यार्थिक

आ.प./५ अन्वयसापेक्षो द्रव्यार्थिको यथा, गुणपर्यायस्वभावं द्रव्यम्।

आ.प./८ अन्वयद्रव्यार्थिकत्वेनैकस्याप्यनेकस्वभावत्वम्। —अन्वय सापेक्ष द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा गुणपर्याय स्वरूप ही द्रव्य है और इसी लिए इस नयकी अपेक्षा एक द्रव्यके भी अनेक स्वभावीपना है। (जैसे—जीव ज्ञानस्वरूप है, जीव दर्शनस्वरूप है इत्यादि)

न.च.वृ./१९७ णिस्सेससहावाणं अण्णयरूवेण सव्वदव्वेहिं। विवहावणाहि जो सो अण्णयदव्वत्थिओ भणिदो ।१९७। —निःशेष स्वभावोंको जो सर्व द्रव्योंके साथ अन्वय या अनुस्यूत रूपसे कहता है वह अन्वय द्रव्यार्थिकनय है (न. च./श्रुत/४१/श्लो. ४)

न. च./श्रुत/पृ. ५/श्लो. ७ निःशेषगुणपर्यायान् प्रत्येकं द्रव्यमब्रवीत्। सोऽन्वयो निश्चयो हेम यथा सत्कटकादिषु ।७। —जो सम्पूर्ण गुणों और पर्यायोंमेंसे प्रत्येकको द्रव्य बतलाता है, वह विद्यमान कड़े वगैरहमें अनुस्यूत रहनेवाले स्वर्णकी भाँति अन्वयद्रव्यार्थिक नय है।

प्र. सा. /ता. वृ./१०१/१४०/११ पूर्वोक्तोत्पादादित्रयस्य तथैव स्वसंवेदनज्ञानादिपर्यायत्रयस्य चानुगताकारेणान्वयरूपेण यदाधारभूतं तदन्वयद्रव्यं भण्यते, तद्विषयो यस्य स भवत्यन्वयद्रव्यार्थिकनयः। —जो पूर्वोक्त उत्पाद आदि तीनका तथा स्वसंवेदनज्ञान दर्शन चारित्र इन तीन गुणोंका (उपलक्षणसे सम्पूर्ण गुण व पर्यायोंका) आधार है वह अन्वय द्रव्य कहलाता है। वह जिसका विषय है वह अन्वय द्रव्यार्थिक नय है।

८. स्वद्रव्यादि ग्राहक

आ. प./५ स्वद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिको यथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्ति। —स्व द्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव इस स्वचतुष्टयसे ही द्रव्यका अस्तित्व है या इन चारों रूप ही द्रव्यका अस्तित्व स्वभाव है। (आ. प./८); (न. च. वृ./१९८);(न. च./श्रुत/पृ. ३ व पृ. ४१/श्लो. ५); (नय/I/५/२)

९. परद्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिक

आ. प./५ परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिको यथा—परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यं नास्ति। —परद्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभाव इस परचतुष्टयसे द्रव्यका नास्तित्व है। अर्थात् परचतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्यका नास्तित्व स्वभाव है। (आ. प./८); (न. च. वृ./१९८); न. च./श्रुत/पृ. ३ तथा ४१/श्लो. ६); (नय/I/५/२)

१०. परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक

आ. प./५ परमभावग्राहकद्रव्यार्थिको यथा—ज्ञानस्वरूप आत्मा। —परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा आत्मा ज्ञानस्वभावमें स्थित है।

आ. प./८ परमभावग्राहकेण भव्याभव्यपारिणामिकस्वभावः। ...कर्मनोकर्मणोरचेतनस्वभावः। ... कर्मनोकर्मणोर्मूर्तस्वभावः। ...पुद्गलं विहाय इतरेषाममूर्तस्वभावः। ...कालपरमाणूनामेकप्रदेशस्वभावत्वम्। —परमभावग्राहक नयसे भव्य व अभव्य पारिणामिक स्वभावी हैं; कर्म व नोकर्म अचेतनस्वभावी हैं; कर्म व नोकर्म मूर्तस्वभावी हैं, पुद्गलके अतिरिक्त शेष द्रव्य अमूर्तस्वभावी हैं; काल व परमाणु एकप्रदेशस्वभावी हैं।

न. च. वृ./१९९ गेहइ दव्वसहावं असुद्धसुद्धोवयारपरिचत्तं । सो परमभावगाही णायव्वो सिद्धिकामेण ।१९९। —जो औदयिकादि अशुद्धभावोंसे तथा शुद्ध क्षायिकभावके उपचारसे रहित केवल द्रव्यके त्रिकाली परिणामाभावरूप स्वभावको ग्रहण करता है उसे परमभावग्राही नय जानना चाहिए। (न. च. वृ./११६)

न. च./श्रुत/पृ./३ संसारमुक्तपर्यायाणामाधारं भूत्वाप्यात्मद्रव्यकर्मबन्धमोक्षाणां कारणं न भवतीति परमभावग्राहकद्रव्यार्थिकनयः। —परमभाव ग्राहकनयकी अपेक्षा आत्मा संसार व मुक्त पर्यायोंका आधार होकर भी कर्मोंके बन्ध व मोक्षका कारण नहीं होता है।

स. सा./ता. वृ./३२०/४०८/५ सर्वविशुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धोपादानभूतेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन कर्तृत्व-भोक्तृत्वमोक्षादिकारणपरिणामशून्यो जीव इति सूचितः। —सर्वविशुद्ध पारिणामिक परमभाव ग्राहक, शुद्ध उपादानभूत शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे, जीव कर्ता, भोक्ता व मोक्ष आदिके कारणरूप परिणामोंसे शून्य है।

द्र. सं/टी./५७/२३६ यस्तु शुद्धशक्तिरूपः शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणपरमनिश्चयमोक्षः स च पूर्वमेव जीवे तिष्ठतीदानीं भविष्यतीत्येवं न। —जो शुद्धद्रव्यकी शक्तिरूप शुद्ध-पारिणामिक परमभावरूप परम निश्चय मोक्ष है वह तो जीवमें पहिले ही विद्यमान है। वह अब प्रकट होगी, ऐसा नहीं है।

और भी दे० (नय/V/१/५ शुद्धनिश्चय नय बन्ध मोक्षसे अतीत शुद्ध जीवको विषय करता है)।

३. पर्यायार्थिक नय सामान्य निर्देश

१. पर्यायार्थिक नयका लक्षण

१. पर्याय ही है प्रयोजन जिसका

स. सि./१/६/२१/१ पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ पर्यायार्थिकः। —पर्याय ही है अर्थ या प्रयोजन जिसका सो पर्यायार्थिक नय। (रा. वा./१/३३/१/९५/६); (ध. १/१,१,१/८४/१); (ध.६/४,१,४५/१७०/१); (क. पा.१/१३-१४/§१८१/२१७/१); (आ. प./६); (नि. सा./ता. वृ./१९); (पं. ध./पू./५१९)।

२. द्रव्यको गौण करके पर्यायका ग्रहण

न. च. वृ./१९० पज्जय गउणं किच्चा दव्वं पि य जो हु गिहणए लोए। सो दव्वत्थिय भणिओ विवरीओ पज्जयत्थिओ। —पर्यायको गौण करके जो द्रव्यको ग्रहण करता है, वह द्रव्यार्थिकनय है। और उससे विपरीत पर्यायार्थिक नय है। अर्थात् द्रव्यको गौण करके जो पर्यायको ग्रहण करता है सो पर्यायार्थिकनय है।

स. सा./आ./१३ द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि···पर्यायं मुख्यतयानुभवतीति पर्यायार्थिकः। —द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुमें पर्यायको ही मुख्यरूपसे जो अनुभव करता है, सो पर्यायार्थिक नय है।

स्या. मं./३/§८२/१२६ द्रव्यार्थिकनयमुपसर्जनीकृत्य प्रवर्तमानपर्यायार्थिकनयमवलम्ब्य कुण्डलमानयेत्युक्ते न कटकादौ प्रवर्तते, कटकादिपर्यायात् कुण्डलपर्यायस्य भिन्नत्वात्। —जब पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा होती है तब द्रव्यार्थिकनयको गौण करके प्रवृत्त होनेवाले पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे 'कुण्डल लाओ' यह कहनेपर लानेवाला कड़ा आदिके लानेमें प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि कड़ा आदि पर्यायसे कुण्डलपर्याय भिन्न है।

२. पर्यायार्थिक नय वस्तुके विशेष अंशको एकत्व रूपसे विषय करता है

स.सि./१/३३/१४१/१ पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः। तद्विषयः पर्यायार्थिकः। —पर्यायका अर्थ विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति (भेद) है, और इसको विषय करनेवाला नय पर्यायार्थिकनय है (त. सा./१/४०)।

श्लो. वा. ४/१/३३/३/२१५/१० पर्यायविषयः पर्यायार्थः। —पर्यायको विषय करनेवाला पर्यायार्थ नय है। (न. च. वृ./१८९)

ह. पु./५८/४२ ऋजुः पर्यायार्थिकस्याम्मी विशेषविषयाः नयाः ।४२। —ऋजुसूत्रादि चार नय पर्यायार्थिक नयके भेद हैं। ये सब वस्तुके विशेष अंशको विषय करते हैं।

प्र. सा./त. प्र./११४ द्रव्यार्थिकमेकान्तनिमीलितं केवलोन्मीलितेन पर्यायार्थिकेनावलोक्यते तदा जीवद्रव्ये व्यवस्थितान्नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकान् विशेषाननेकानवलोकयतामनवलोकितसामान्यानामन्यत्प्रतिभाति। द्रव्यस्य तत्तद्विशेषकाले तत्तद्विशेषेभ्यस्तन्मयत्वेनानन्यत्वात् गणतृणपर्णदारुमयहव्यवाहवत्। —जब द्रव्यार्थिक चक्षुको सर्वथा बन्द करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षुके द्वारा देखा जाता है तब जीवद्रव्यमें रहनेवाले नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व पर्याय स्वरूप अनेक विशेषोंको देखनेवाले और सामान्यको न देखनेवाले जीवोंको (वह जीवद्रव्य) अन्य-अन्य भासित होता है क्योंकि द्रव्य उन-उन विशेषोंके समय तन्मय होनेसे उन-उन विशेषोंसे अनन्य है—कण्डे, घास, पत्ते और काष्ठमय अग्नि की भाँति।

का. अ./मू./२७० जो साहेदि विसेसे बहुविहसामण्णसंजुदे सव्वे। साहणलिंग-वसादो पज्जयविसओ णओ होदि। —जो अनेक प्रकारके सामान्य सहित सब विशेषोंको साधक लिंगके बलसे साधता है, वह पर्यायार्थिकनय है।

३. द्रव्यकी अपेक्षा विषयकी एकत्वता

१. पर्यायसे पृथक् द्रव्य कुछ नहीं है

रा. वा./१/३३/१/९५/३ पर्याय एवार्थोऽस्य रूपाद्युत्क्षेपणादिलक्षणो, न ततोऽन्यद्द्रव्यमिति पर्यायार्थिकः। —रूपादि गुण तथा उत्क्षेपण अवक्षेपण आदि कर्म या क्रिया लक्षणवाली ही पर्याय होती है। वे पर्याय ही जिसका अर्थ है, उससे अतिरिक्त द्रव्य कुछ नहीं है, ऐसा पर्यायार्थिक नय है। (ध. १२/४,२,८,१५/२९२/१२)।

श्लो. वा./२/२/२/४/१५/१ अभिधेयस्य शब्दनयोपकल्पितत्वाद्विशेषस्य ऋजुसूत्रोपकल्पितत्वादभावस्य। —शब्दका वाच्यभूत अभिधेय तो शब्दनयके द्वारा और सामान्य द्रव्यसे रहित माना गया कोरा विशेष ऋजुसूत्रनयसे कल्पित कर लिया जाता है।

क. पा. १/१३-१४/§२७८/३१४/४ ण च सामण्णमत्थि; विसेसेसु अणुगम-अणुट्टसरूवसामण्णाणुवलंभादो। —इस (ऋजुसूत्र) नयकी दृष्टिमें सामान्य है भी नहीं, क्योंकि विशेषोंमें अनुगत और जिसकी सन्तान नहीं टूटी है, ऐसा सामान्य नहीं पाया जाता। (ध.१३/५,५,७/१९९/६)

क. पा. १/१३-१४/§२७१/३१९/६ तस्स विसए दव्वाभावादो। —शब्दनयके विषयमें द्रव्य नहीं पाया जाता। (क. पा. १/१३-१४/§२८५/३२०/४)

प्र. सा./त. प्र./परि./नय नं. २ तद् तु···पर्यायनयेन तन्तुमात्रवद्दर्शनज्ञानादिमात्रम्। —इस आत्माको यदि पर्यायार्थिक नयसे देखें तो तन्तुमात्रकी भाँति ज्ञान दर्शन मात्र है। अर्थात् जैसे तन्तुओं से भिन्न वस्त्र नामकी कोई वस्तु नहीं है, वैसे ही ज्ञानदर्शन से पृथक् आत्मा नामकी कोई वस्तु नहीं है।

२. गुण गुणीमें सामानाधिकरण्य नहीं है

रा. वा./१/३३/७/९७/२० न सामानाधिकरण्यम्—एकस्य पर्यायेभ्योऽनन्यत्वात् पर्याया एव विविक्तशक्तयो द्रव्यं नाम न किंचिदस्तीति। —(ऋजुसूत्र नयमें गुण व गुणीमें) सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता क्योंकि भिन्न शक्तिवाली पर्यायें ही यहाँ अपना अस्तित्व रखती

हैं, द्रव्य नामकी कोई वस्तु नहीं है। (ध. ९/४,१,४५/१७४/७); (क. पा. १/१३-१४/§८६/२२६/५)

दे० आगे शीर्षक नं. ८ ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिमें विशेष्य-विशेषण, ज्ञेय-ज्ञायक; वाच्य-वाचक, बन्ध्य-बन्धक आदि किसी प्रकारका भी सम्बन्ध सम्भव नहीं है।

३. काक कृष्ण नहीं हो सकता

रा. वा./१/३३/७/९७/१७ न कृष्णः काकः उभयोरपि स्वात्मकत्वात्— कृष्णः कृष्णात्मको न काकात्मकः। यदि काकात्मकः स्यात्; भ्रमरादीनामपि काकत्वप्रसङ्गः। काकश्च काकात्मको न कृष्णात्मकः; यदि कृष्णात्मकः, शुक्लकाकाभावः स्यात्। पञ्चवर्णत्वाच्च, पित्तास्थिरुधिरादीनां पीतशुक्लादिवर्णत्वात्, तद्व्यतिरेकेण काकाभावाच्च। —इसकी दृष्टिमें काक कृष्ण नहीं होता, दोनों अपने-अपने स्वभावरूप हैं। जो कृष्ण है वह कृष्णात्मक ही है काकात्मक नहीं; क्योंकि, ऐसा माननेपर भ्रमर आदिकोंके भी काक होनेका प्रसंग आता है। इसी प्रकार काक भी काकात्मक ही है कृष्णात्मक नहीं, क्योंकि ऐसा माननेपर सफेद काकके अभावका प्रसंग आता है। तथा उसके पित्त अस्थि व रुधिर आदिको भी कृष्णताका प्रसंग आता है, परन्तु वे तो पीत शुक्ल व रक्त वर्ण वाले हैं और उनसे अतिरिक्त काक नहीं। (ध. ९/४,१,४५/१७४/३); (क. पा. १/१३-१४/§१८८/२२६/२)

४. सभी पदार्थ एक संख्यासे युक्त हैं

ष. ख. १२/४,२,६/सू. १४/३०० सद्दुजुसुदाणं णाणावरणीयवेयणा जीवस्स ।१४।

ध. १२/४, २, ६, १४/३००/१० किमट्ठं जीव-वेयणाणं सद्दुजुसुदा बहुवयणं णेच्छंति। ण एस दोसो, बहुत्ताभावादो। तं जहासव्वं पि वत्थु एगसंखाविसिट्ठं, अण्णहा तस्साभावप्पसंगादो। ण च एगत्तपडिग्गहिए वत्थुम्हि दुब्भावादीणं संभवो अत्थि, सीदुण्हाणं व तेसु सहाणवट्ठाणलक्खणविरोहदंसणादो। —शब्द और ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा ज्ञानावरणीयकी वेदना जीवके होती है ।१४। प्रश्न—ये नय बहुवचनको क्यों नहीं स्वीकार करते ? उत्तर—यह कोई दोष नहीं; क्योंकि, यहाँ बहुत्वकी सम्भावना नहीं है। वह इस प्रकार कि—सभी वस्तु एक संख्यासे संयुक्त हैं; क्योंकि, इसके बिना उसके अभावका प्रसंग आता है। एकत्वको स्वीकार करनेवाली वस्तुमें द्वित्वादिकी सम्भावना भी नहीं है, क्योंकि उनमें शीत व उष्णके समान सहानवस्थानरूप विरोध देखा जाता है। (और भी देखो आगे शीर्षक नं. ४/२ तथा ६)।

ध. ९/४,१,५१/२६६/१ उजुसुदे किमिदि अणेयसंखा णत्थि। एयसद्दस्स एयपमाणस्स य एगत्थं मोत्तूण अणेगत्थेसु एक्ककाले पवुत्तिविरोहादो। ण च सद्द-पमाणाणि बहुसत्तिजुत्ताणि अत्थि, एक्कम्हि विरुद्धाणेयसत्तीणं संभवविरोहादो एयसंखं मोत्तूण अणेयसंखाभावादो वा। —प्रश्न—ऋजुसूत्रनयमें अनेक संख्या क्यों संभव नहीं ? उत्तर—चूँकि इस नयकी अपेक्षा एक शब्द और एक प्रमाणकी एक अर्थको छोड़कर अनेक अर्थोंमें एक कालमें प्रवृत्तिका विरोध है, अतः उसमें एक संख्या संभव नहीं है। और शब्द व प्रमाण बहुत शक्तियोंसे युक्त हैं नहीं; क्योंकि, एकमें विरुद्ध अनेक शक्तियोंके होनेका विरोध है। अथवा एक संख्याको छोड़कर अनेक संख्याओंका यहाँ (इन नयोंमें) अभाव है (क. पा. १/१३-१४/§ २७७/३१३/५; ३१५/१)।

५. क्षेत्रकी अपेक्षा विषयकी एकत्वता

१. प्रत्येक पदार्थका अवस्थान अपनेमें ही है

स. सि./१/३३/१४४/६ अथवा यो यत्राभिरूढः स तत्र समेत्याभिमुख्येनारोहणात्समभिरूढः। यथा क्व भवानास्ते। आत्मनीति। कुतः। वस्त्वन्तरे वृत्त्यभावात्। यद्यन्यस्यान्यत्र वृत्तिः स्यात्, ज्ञानादीनां रूपादीनां चाकाशे वृत्तिः स्यात्। —अथवा जो जहाँ अभिरूढ है वह वहाँ सम् अर्थात् प्राप्त होकर प्रमुखतासे रूढ होनेके कारण समभिरूढनय कहलाता है। यथा—आप कहाँ रहते हैं ? अपनेमें, क्योंकि अन्य वस्तुकी अन्य वस्तुमें वृत्ति नहीं हो सकती। यदि अन्यकी अन्यमें वृत्ति मानी जाये तो ज्ञानादि व रूपादिकी भी आकाशमें वृत्ति होने लगे। (रा. वा./१/३३/१०/९९/२)।

रा. वा./१/३३/७/९७/१६ यावत्याकाशप्रदेशेषु समर्थ आत्मपरिणामं वा तत्रैवास्य वसतिः। —जितने आकाश प्रदेशोंमें कोई ठहरा है, उतने ही प्रदेशोंमें उसका निवास है अथवा स्वात्मामें; अतः ग्रामनिवास गृहनिवास आदि व्यवहार नहीं हो सकते। (ध. ९/४,१,४५/१७४/२); (क. पा. १/१३-१४/§ १८७/२२६/१)।

२. वस्तु अखण्ड व निरवयव होती है

ध. १२/४,२,९,१५/३०१/१ ण च एगत्तविसिट्ठ वत्थु अत्थि जेण अणेगत्तस्स तदाहारो होज्ज। एक्कम्मि खंभम्मि मूलग्गमज्झभेएण अणेयत्तं दिस्सदि त्ति भणिदे ण तत्थ एयत्तं मोत्तूण अणेयत्तस्स अणुवलंभादो। ण ताव थंभगयमणेयत्तं, तत्थ एयत्तुवलंभादो। ण मूलगयमग्गगयं मज्झगयं वा, तत्थ वि एयत्तं मोत्तूण अणेयत्ताणुवलंभादो। ण तिण्णिमेगेगवत्थूणं समूहो अणेयत्तस्स आहारो, तव्वदिरेगेण तस्समूहाणुवलंभादो। तम्हा णत्थि बहुत्तं। —एकत्वसे अतिरिक्त वस्तु है भी नहीं, जिससे कि वह अनेकत्वका आधार हो सके। प्रश्न—एक खम्भेमें मूल अग्र व मध्यके भेदसे अनेकता देखी जाती है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उसमें एकत्वको छोड़कर अनेकत्व पाया नहीं जाता। कारण कि स्तम्भमें तो अनेकत्वकी सम्भावना है नहीं, क्योंकि उसमें एकता पायी जाती है। मूलगत, अग्रगत अथवा मध्यगत अनेकता भी सम्भव नहीं है, क्योंकि उनमें भी एकत्वको छोड़कर अनेकता नहीं पायी जाती। यदि कहा जाय कि तीन एक-एक वस्तुओंका समूह अनेकताका आधार है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उससे भिन्न उनका समूह पाया नहीं जाता। इस कारण इन नयोंकी अपेक्षा बहुत्व सम्भव नहीं है। (स्तम्भादि स्कन्धोंका ज्ञान भ्रान्त है। वास्तवमें शुद्ध परमाणु ही सत् है (दे० आगे शीर्षक नं. ८/२)।

क. पा. १/१३-१४/§ १९३/२३०/४ ते च परमाणवो निरवयवाः ऊर्ध्वाधोमध्यभागाद्यवयवेषु सत्सु अनवस्थापत्तेः, परमाणोरपरमाणुत्वप्रसङ्गाच्च। —(इस ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिमें सजातीय और विजातीय उपाधियोंसे रहित) वे परमाणु निरवयव हैं, क्योंकि उनके ऊर्ध्वभाग, अधोभाग और मध्यभाग आदि अवयवोंके माननेपर अनवस्था दोषकी आपत्ति प्राप्त होती है, और परमाणुको अपरमाणुपनेका प्रसंग प्राप्त होता है। (और भी दे० नय/IV/३/७ में स. म.)।

३. पलालदाह सम्भव नहीं

रा. वा./१/३३/७/९७/२९ न पलालादिदाहाभावः······यत्पलालं तद्दहतीति चेत्; न; सावशेषात्। ···अवयवानेकत्वे यद्यवयवदाहात् सर्वत्र दाहोऽवयवान्तरादाहात् ननु सर्वदाहाभावः। अथ दाहः सर्वत्र कस्मान्नादाहः। अतो न दाहः। एवं पानभोजनादिव्यवहाराभावः। —इस ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिमें पलालका दाह नहीं हो सकता। जो पलाल है वह जलता है यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि, बहुत पलाल बिना जला भी शेष है। यदि अनेक अवयव होनेसे कुछ अवयवोंमें दाहकी अपेक्षा लेकर सर्वत्र दाह माना जाता है, तो कुछ अवयवोंमें अदाहकी अपेक्षा लेकर सर्वत्र अदाह क्यों नहीं माना जायेगा ? अतः पान-भोजनादि व्यवहारका अभाव है।

ध. ९/४,१,४५/१७५/६ न पलालावयवी दह्यते, तस्यासत्त्वात्। नावयवा दह्यन्ते, निरवयवत्वतस्तेषामप्यसत्त्वात्। —पलाल अवयवीका दाह नहीं होता, क्योंकि, अवयवीकी (इस नयमें) सत्ता ही नहीं है। न

अवयव बनते हैं, क्योंकि स्वयं निरवयव होनेसे उनका भी असत्त्व है।

४. कुम्भकार संज्ञा नहीं हो सकती

क. पा. १/१३-१४/§ १८६/२२५/१ न कुम्भकारोऽस्ति। तद्यथा—न शिवकादिकरणेन तस्य स व्यपदेशः, शिवकादिषु कुम्भभावानुपलम्भात्। न कुम्भं करोति; स्वावयवेभ्य एव तन्निष्पत्त्युपलम्भात्। न बहुभ्य एकः घटः उत्पद्यते; तत्र यौगपद्येन भूयो धर्माणां सत्त्वविरोधात्। अविरोधे वा न तदेकं कार्यम्; विरुद्धधर्माध्यासतः प्राप्तानेकरूपत्वात्। न चैकेन कृतकार्य एव शेषसहकारिकारणानि व्याप्रियन्ते; तद्व्यापारवैफल्यप्रसङ्गात्। न चान्यत्र व्याप्रियन्ते; कार्यबहुत्वप्रसङ्गात्। न चैतदपि एकस्य घटस्य बहुत्वाभावात्। —इस ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिमें कुम्भकार संज्ञा भी नहीं बन सकती है। वह इस प्रकार कि—शिवकादि पर्यायोंको करनेसे उसे कुम्भकार कह नहीं सकते, क्योंकि शिवकादिमें कुम्भपना पाया नहीं जाता और कुम्भको वह बनाता नहीं है; क्योंकि, अपने शिवकादि अवयवोंसे ही उसकी उत्पत्ति होती है। अनेक कारणोंसे उसकी उत्पत्ति माननी भी ठीक नहीं है; क्योंकि घटमें युगपत् अनेक धर्मोंका अस्तित्व माननेमें विरोध आता है। उसमें अनेक धर्मोंका यदि अविरोध माना जायेगा तो वह घट एक कार्य नहीं रह जायेगा, बल्कि विरुद्ध अनेक धर्मोंका आधार होनेसे अनेक रूप हो जायेगा। यदि कहा जाय कि एक उपादान कारणसे उत्पन्न होनेवाले उस घटमें अन्य अनेकों सहकारी कारण भी सहायता करते हैं, तो उनके व्यापारकी विफलता प्राप्त होती है। यदि कहा जावे कि उसी घटमें वे सहकारीकारण उपादानके कार्यसे भिन्न ही किसी अन्य कार्यको करते हैं, तो एक घटमें कार्य बहुत्वका प्रसंग आता है, और ऐसा माना नहीं जा सकता, क्योंकि एक घट अनेक कार्यरूप नहीं हो सकता। (रा. वा./१/३३/७/९७/१२); (ध. ९/४,१,४५/१७३/७)।

५. कालकी अपेक्षा विषयकी एकत्वता

१. केवल वर्तमान क्षणमात्र ही वस्तु है

क. पा. १/१३-१४/§१८१/२१७/१ परि भेदं ऋजुसूत्रवचनविच्छेदं एति गच्छतीति पर्यायः, स पर्यायः अर्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः। सादृश्यलक्षणसामान्येन भिन्नमभिन्नं च द्रव्यार्थिकाशेषविषयं ऋजुसूत्रवचनविच्छेदेन पाटयन् पर्यायार्थिक इत्यवगन्तव्यः। अत्रोपयोगिन्यौ गाथे—'मूलणिमेणं पज्जवणयस्स उज्जुसुदवयणविच्छेदो। तस्स उ सद्दादीया साहपसाहा सुहुमभेया।८८। —'परि' का अर्थ भेद है। ऋजुसूत्रके वचनके विच्छेदरूप वर्तमान समयमात्र (दे० नय/III/१/२) कालको जो प्राप्त होती है, वह पर्याय है। वह पर्याय ही जिस नयका प्रयोजन है सो पर्यायार्थिकनय है। सादृश्यलक्षण सामान्यसे भिन्न और अभिन्न जो द्रव्यार्थिकनयका समस्त विषय है (दे० नय/IV/१/२) ऋजुसूत्रवचनके विच्छेदरूप कालके द्वारा उसका विभाग करनेवाला पर्यायार्थिकनय है, ऐसा उक्त कथनका तात्पर्य है। इस विषयमें यह उपयोगी गाथा है—ऋजुसूत्र वचन अर्थात् वचनका विच्छेद जिस कालमें होता है वह काल पर्यायार्थिकनयका मूल आधार है, और उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेदरूप शब्दादि नय उसी ऋजुसूत्रकी शाखा उपशाखा है।८८।

दे० नय/III/५/१/२ (अतीत व अनागत कालको छोड़कर जो केवल वर्तमानको ग्रहण करे सो ऋजुसूत्र अर्थात् पर्यायार्थिक नय है।)

दे० नय/III/५/७ (सूक्ष्म व स्थूल ऋजुसूत्रकी अपेक्षा वह काल भी दो प्रकारका है। सूक्ष्म एक समय मात्र है और स्थूल अन्तर्मुहूर्त या संख्यात वर्ष।)

रा. वा./१/३३/१/९५/६ पर्याय एवार्थः कार्यमस्य न द्रव्यम् अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्।…पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्य वाग्विज्ञानव्यावृत्तिनिबन्धनव्यवहारप्रसिद्धेरिति। —वर्तमान पर्याय ही अर्थ या कार्य है, द्रव्य नहीं, क्योंकि अतीत विनष्ट हो जानेके कारण और अनागत अभी उत्पन्न न होनेके कारण (खरविषाण की तरह (स. म.) उनमें किसी प्रकारका भी व्यवहार सम्भव नहीं। [तथा अर्थ क्रियाशून्य होनेके कारण वे अवस्तुरूप हैं (स. म.)] वचन व ज्ञानके व्यवहारकी प्रसिद्धिके अर्थ वह पर्याय ही नयका प्रयोजन है।

२. क्षणस्थायी अर्थ ही उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है

ध.१/१,१,१/गा. ८/१३ उप्पज्जंति वियंति य भावा णियमेण पज्जवणयस्स।८। —पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं। (ध.४/१,५,४/गा. २९/३३७), (ध. ९/४,१,४९/गा. ९४/२४४), (क. पा. १/१३-१४/गा. ९५/§२०४/२४८), (पं.का./मू./११), (पं. ध./पू./२४७)।

दे० आगे नय/IV/३/७ —(पदार्थका जन्म ही उसके नाशमें हेतु है।)

क. पा. १/१३-१४/§१९०/गा. ९१/२२८ प्रत्येकं जायते चित्तं जातं जातं प्रणश्यति। नष्टं नावर्तते भूयो जायते च नवं नवम्।९१। —प्रत्येक चित्त (ज्ञान) उत्पन्न होता है और उत्पन्न होकर नाशको प्राप्त हो जाता है। तथा जो नष्ट हो जाता है, वह पुनः उत्पन्न नहीं होता, किन्तु प्रति समय नया नया चित्त ही उत्पन्न होता है। (ध.९/१, ९-९,५/४२०/५)।

रा. वा./१/३३/१/९५/१ पर्याय एवास्ति इति मतिरस्य जन्मादिभावविकारमात्रमेव भवनं, न ततोऽन्यद् द्रव्यमस्ति तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धिरिति पर्यायास्तिकः। —जन्म आदि भावविकार मात्रका होना ही पर्याय है। उस पर्यायका ही अस्तित्व है, उससे अतिरिक्त द्रव्य कुछ नहीं है, क्योंकि उस पर्यायसे पृथक् उसकी उपलब्धि नहीं होती है। ऐसी जिसकी मान्यता है, सो पर्यायास्तिक नय है।

६. काल एकत्व विषयक उदाहरण

रा. वा./१/३३/७/पंक्ति—कषायो भैषज्यम् इत्यत्र च संजातरसः कषायो भैषज्यं न प्राथमिककषायोऽल्पोऽनभिव्यक्तरसत्वादस्य विषयः। (१)। "…" तथा प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन्निति प्रस्थः, यदैव मिमीते, अतीतानागतधान्यमानासंभवात्।(११) "…" स्थितप्रश्ने च 'कुतोऽद्यागच्छसि' इति। 'न कुतश्चित्' इत्ययं मन्यते, तत्कालक्रियापरिणामाभावात्। (१४)। —१. 'कषायो भैषज्यम्' में वर्तमानकालीन वह कषाय भैषज हो सकती है जिसमें रसका परिपाक हुआ है, न कि प्राथमिक अल्प रसवाला कच्चा कषाय। २. जिस समय प्रस्थसे धान्य आदि मापा जाता है उसी समय उसे प्रस्थ कह सकते हैं, क्योंकि वर्तमानमें अतीत और अनागतवाले धान्यका माप नहीं होता है। (ध. ९/४,१,४५/१७३/५); (क. पा. १/१३-१४/§१८६/२२४/८) ३. जिस समय जो बैठा है उससे यदि पूछा जाय कि आप अब कहाँसे आ रहे हैं, तो वह यही कहेगा कि 'कहींसे भी नहीं आ रहा हूँ' क्योंकि, उस समय आगमन क्रिया नहीं हो रही है। (ध. ९/४,१,४५/१७४/१), (क. पा. १/१३-१४/§१८७/२२५/७)

रा. वा./१/३३/७/९८/७ न शुक्लः कृष्णीभवति; उभयोर्भिन्नकालावस्थत्वात्, प्रत्युत्पन्नविषये निवृत्तपर्यायानभिसंबन्धात्। —४. ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिसे सफेद चीज काली नहीं बन सकती, क्योंकि दोनोंका समय भिन्न-भिन्न है। वर्तमानके साथ अतीतका कोई सम्बन्ध नहीं है। (ध. ९/४,१,४५/१७४/३), (क. पा. १/१३-१४/§१९४/२३०/६)

क. पा. १/१३-१४/§ २७६/३१६/६ सद्दणयस्स कोहोदओ कोहकसाओ, तस्स विसए दव्वाभावादो। —५. शब्दनयकी अपेक्षा क्रोधका उदय ही क्रोध कषाय है; क्योंकि, इस नयके विषयमें द्रव्य नहीं पाया जाता।

६. पलाल दाह सम्भव नहीं

रा. वा./१/३३/७/९७/२६ अतः पलालादिदाहाभावः प्रतिविशिष्टकालपरिग्रहात्। अस्य हि नयस्याविभागो वर्तमानसमयो विषयः। अग्निसंबन्धनदीपनज्वलनदहनानि असंख्येयसमयान्तरालानि यतोऽस्य दहनाभावः। किंच यस्मिन्समये दाहः न तस्मिन्पलालम्, भस्मताभिनिर्वृत्तेः यस्मिंश्च पलालं न तस्मिन् दाह इति। एवं क्रियमाणकृत-भुज्यमानभुक्त-बध्यमानबद्ध-सिध्यत्सिद्धादयो योज्याः। —इस ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिमें पलालका दाह नहीं हो सकता; क्योंकि इस नयका विषय अविभागी वर्तमान समयमात्र है। अग्नि सुलगाना धौंकना और जलाना आदि असंख्य समयकी क्रियाएँ वर्तमान क्षणमें नहीं हो सकतीं। तथा जिस समय दाह है, उस समय पलाल नहीं है, और जिस समय पलाल है उस समय दाह नहीं है, फिर पलाल दाह कैसा? इसी प्रकार क्रियमाण-कृत, भुज्यमान-भुक्त, बध्यमान-बद्ध, सिद्धयत्-सिद्ध आदि विषयोंमें लागू करना चाहिए। (ध. ९/४,१,४५/१७५/८)

७. पच्यमान ही पक्व है

रा. वा./१/३३/७/९७/३ पच्यमानः पक्वः। पक्वस्तु स्यात्पच्यमानः स्यादुपरतपाक इति। असदेतत्; विरोधात्। 'पच्यमानः' इति वर्तमानः 'पक्वः' इत्यतीतः तयोरेकस्मिन्नवरोधो विरोधीति; नैष दोषः; पचनस्यादावविभागसमये कश्चिदंशो निर्वृत्तो वा, न वा। यदि न निर्वृत्तः; तद्द्वितीयादिष्वप्यनिर्वृत्तः पाकाभावः स्यात्। ततोऽभिनिर्वृत्तः तदपेक्षया 'पच्यमानः पक्वः' इतरथा हि समयस्य त्रैविध्यप्रसङ्गः। स एवौदनः पच्यमानः पक्वः, स्यात्पच्यमान इत्युच्यते, पक्तुरभिप्रायस्यानिर्वृत्तेः, पक्तुर्हि सुविशदसुस्विन्नौदने पक्वाभिप्रायः, स्यादुपरतपाक इति चोच्यते कस्यचित पक्तुस्तावतैव कृतार्थत्वात्। —इस ऋजुसूत्र नयका विषय पच्यमान पक्व है और 'कथंचित् पकनेवाला' और 'कथंचित् पका हुआ' हुआ। प्रश्न—पच्यमान (पक रहा) वर्तमानकालको, और पक्व (पक चुका) भूतकालको सूचित करता है, अतः दोनोंका एकमें रहना विरुद्ध है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है। पाचन क्रियाके प्रारम्भ होनेके प्रथम समयमें कुछ अंश पका या नहीं? यदि नहीं तो द्वितीयादि समयोंमें भी इसी प्रकार न पका। इस प्रकार पाकके अभावका प्रसंग आता है। यदि कुछ अंश पक गया है तो उस अंशकी अपेक्षा तो वह पच्यमान भी ओदन पक्व क्यों न कहलायेगा। अन्यथा समयके तीन खण्ड होनेका प्रसंग प्राप्त होगा। (और पुनः उस समय खण्डमें भी उपरोक्त ही शंका समाधान होनेसे अनवस्था आयेगी) वही पका हुआ ओदन कथंचित् 'पच्यमान' ऐसा कहा जाता है; क्योंकि, विशदरूपसे पूर्णतया पके हुए ओदनमें पाचकका पक्वसे अभिप्राय है। कुछ अंशोंमें पचनक्रियाके फलकी उत्पत्तिके विराम होनेकी अपेक्षा वही ओदन 'उपरत पाक' अर्थात कथंचित् पका हुआ कहा जाता है। इसी प्रकार क्रियमाण-कृत; भुज्यमान-भुक्त; बध्यमान-बद्ध; और सिद्धयत्-सिद्ध इत्यादि ऋजुसूत्र नयके विषय जानने चाहिए। (ध. ९/४,१,४५/१७२/३), (क. पा. १/१३-१४/§१८५/२२३/३)

७. भावकी अपेक्षा विषयकी एकत्वता

रा. वा./१/३३/१/९५/७ स एव एकः कार्यकारणव्यपदेशभागिति पर्यायार्थिकः। —वह पर्याय ही अकेली कार्य व कारण दोनों नामोंको प्राप्त होती है, ऐसा पर्यायार्थिक नय है।

क. पा. १/१३-१४/§१९०/गा. ९०/२२७ जातिरेव हि भावानां निरोधे हेतुरिष्यते। —जन्म ही पदार्थके विनाशमें हेतु है।

ध. ९/४,१,४५/१७६/२ यः पलालो न स दह्यते, तत्राग्निसंबन्धजनितातिशयान्तराभावात, भावो वा न स पलालप्राप्तोऽन्यस्वरूपत्वात्। —अग्नि जनित अतिशयान्तरका अभाव होनेसे पलाल नहीं जलता। उस का स्वरूप न होनेसे वह अतिशयान्तर पलालको प्राप्त नहीं है।

क. पा./१/१३-१४/§२७८/३१५/१ उजुसुदेसु बहुअग्गहो णत्थि त्ति एयसत्तिसहियएयमणब्भुवगमादो। —एक क्षणमें एक शक्तिसे युक्त एक ही मन पाया जाता है, इसलिए ऋजुसूत्रनयमें बहुअवग्रह नहीं होता।

स्या.म/२८/३१३/१ तदपि च निरंशमभ्युपगन्तव्यम्। अंशव्याप्तेर्युक्तिरिक्तत्वात्। एकस्य अनेकस्वभावतामन्तरेण अनेकस्यावयवव्यापनायोगात्। अनेकस्वभावता एवास्तु इति चेत्। न, विरोधव्याघ्रातत्वात्। तथाहि—यदि एकस्वभावः कथमनेकः अनेकश्चेत्कथमेकः। अनेकानेकयोः परस्परपरिहारेणावस्थानात्। तस्मात् स्वरूपनिमग्नाः परमाणव एव परस्परोपसर्पणद्वारेण न स्थूलतां धारयत् पारमार्थिकमिति। —वस्तुका स्वरूप निरंश मानना चाहिए, क्योंकि वस्तुको अंश सहित मानना युक्तिसे सिद्ध नहीं होता। प्रश्न—एक वस्तुके अनेकस्वभाव माने बिना वह अनेक अवयवोंमें नहीं रह सकती, इसलिए वस्तुमें अनेकस्वभाव मानना चाहिए? उत्तर—यह ठीक नहीं है; क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है। कारण कि एक और अनेकमें परस्पर विरोध होनेसे एक स्वभाववाली वस्तुमें अनेक स्वभाव और अनेक स्वभाववाली वस्तुमें एकस्वभाव नहीं बन सकते। अतएव अपने स्वरूपमें स्थित परमाणु ही परस्परके संयोगसे कथंचित समूह रूप होकर सम्पूर्ण कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं। इसलिए ऋजु-सूत्र नयकी अपेक्षा स्थूलरूपको न धारण करनेवाले स्वरूपमें स्थित परमाणु ही यथार्थमें सत् कहे जा सकते हैं।

८. किसी भी प्रकारका सम्बन्ध सम्भव नहीं

१. विशेष्य विशेषण भाव सम्भव नहीं

क. पा.१/१३-१४/§१९३/२२६/६ नास्य विशेषणविशेष्यभावोऽपि। तद्यथा—न तावद्भिन्नयोः; अव्यवस्थापत्तेः। नाभिन्नयोः एकस्मिंस्तद्विरोधात्। —इस (ऋजुसूत्र) नयकी दृष्टिसे विशेष्य विशेषण भाव भी नहीं बनता। वह ऐसे कि—दो भिन्न पदार्थोंमें तो वह बन नहीं सकता; क्योंकि, ऐसा माननेसे अव्यवस्थाकी आपत्ति आती है। और अभिन्न दो पदार्थोंमें अर्थात् गुण गुणीमें भी वह बन नहीं सकता क्योंकि जो एक है उसमें इस प्रकारका द्वैत करनेसे विरोध आता है। (क. पा.१/१३-१४/§२००/२४०/६), (ध. ९/४,१,४५/१७४/७, तथा पृ.१७६/६)।

२. संयोग व समवाय सम्बन्ध सम्भव नहीं

क.पा./१/१३-१४/§१९३/२२६/७ न भिन्नाभिन्नयोरस्य नयस्य संयोगः समवायो वास्ति; सर्वथैकत्वमापन्नयोः परित्यक्तस्वरूपयोस्तद्विरोधात्। नैकत्वमापन्नयोस्तौ; अव्यवस्थापत्तेः। ततः सजातीयविजातीयविनिर्मुक्ताः केवलाः परमाणव एव सन्तीति भ्रान्तः स्तम्भादिस्कन्धप्रत्ययः। —इस (ऋजुसूत्र) नयकी दृष्टिसे सर्वथा अभिन्न दो पदार्थोंमें संयोग व समवाय सम्बन्ध नहीं बन सकता; क्योंकि, जो सर्वथा एकत्वको प्राप्त हो गये हैं और जिन्होंने अपने स्वरूपको छोड़ दिया है ऐसे दो पदार्थोंमें संबंध माननेमें विरोध आता है। इसी प्रकार सर्वथा भिन्न दो पदार्थोंमें भी संयोग या समवाय सम्बन्ध माननेमें भी विरोध आता है, तथा अव्यवस्थाकी आपत्ति भी आती है अर्थात् किसीका भी किसीके साथ सम्बन्ध हो जायेगा। इसलिए सजातीय और विजातीय दोनों प्रकारकी उपाधियोंसे रहित शुद्ध परमाणु ही सत् है। अतः जो स्तम्भादिरूप स्कन्धोंका प्रत्यय होता है, वह ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें भ्रान्त है। (और भी दे० नीचे शीर्षक नं० ४/२), (स्या.म./२८/३१३/५)।

३. कोई किसीके समान नहीं है

क. पा./१/१३-१४/§१९३/२३०/३ नास्य नयस्य समानमस्ति; सर्वथा द्वयोः समानत्वे एकत्वापत्तेः। न कथंचित्समानतापि; विरोधात्। —इस ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें कोई किसीके समान नहीं है, क्योंकि दोको सर्वथा समान मान लेनेपर, उन दोनोंमें एकत्वकी आपत्ति प्राप्त होती है। कथंचित् समानता भी नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेमें विरोध आता है।

४. ग्राह्यग्राहकभाव सम्भव नहीं

क.पा./१/१३-१४/§१९५/२३०/८ नास्य नयस्य ग्राह्यग्राहकभावोऽप्यस्ति। तद्यथा—नासंबद्धोऽर्थो गृह्यते; अव्यवस्थापत्तेः। न संबद्धः; तस्यातीतत्वात्, चक्षुषा व्यभिचाराच्च। न समानो गृह्यते; तस्यासत्त्वात् मनस्कारेण व्यभिचाराद्। —इस ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिमें ग्राह्यग्राहक भाव भी नहीं बनता। वह ऐसे कि—असम्बद्ध अर्थके ग्रहण माननेमें अव्यवस्थाकी आपत्ति और सम्बद्धका ग्रहण माननेमें विरोध आता है, क्योंकि वह पदार्थ ग्रहणकालमें रहता ही नहीं है, तथा चक्षु इन्द्रियके साथ व्यभिचार भी आता है, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय अपनेको नहीं जान सकती। समान अर्थका भी ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि एक तो समान पदार्थ है ही नहीं (दे० ऊपर) और दूसरे ऐसा माननेसे मनस्कारके साथ व्यभिचार आता है अर्थात् समान होते हुए भी पूर्वज्ञान उत्तर ज्ञानके द्वारा गृहीत नहीं होता है।

५. वाच्यवाचकभाव सम्भव नहीं

क. पा./१/१३-१४/§१९६/२३१/३ नास्य शुद्धस्य (नयस्य) वाच्यवाचकभावोऽस्ति। तद्यथा—न संबद्धार्थः शब्दवाच्यः; तस्यातीतत्वात्। नासंबद्धः अव्यवस्थापत्तेः। नार्थेन शब्द उत्पाद्यते; ताल्वादिभ्यस्तदुत्पत्त्युपलम्भात्। न शब्दादर्थ उत्पद्यते, शब्दोत्पत्तेः प्रागपि अर्थसत्त्वोपलम्भात्। न शब्दार्थयोस्तादात्म्यलक्षणः प्रतिबन्धः करणाधिकरणभेदेन प्रतिपन्नभेदयोरेकत्वविरोधात्, क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणप्रसङ्गाच्च। न विकल्पः शब्दवाच्यः अत्रापि बाह्यार्थोक्तदोषप्रसङ्गात्। ततो न वाच्यवाचकभाव इति। —१. इस ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिमें वाच्यवाचक भाव भी नहीं होता। वह ऐसे कि—शब्दप्रयोग कालमें उसके वाच्यभूत अर्थका अभाव हो जानेसे सम्बद्ध अर्थ उसका वाच्य नहीं हो सकता। असम्बद्ध अर्थ भी वाच्य नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे अव्यवस्थादोषकी आपत्ति आती है। २. अर्थसे शब्दकी उत्पत्ति मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि तालु आदिसे उसकी उत्पत्ति पायी जाती है, तथा उसी प्रकार शब्दसे भी अर्थकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती क्योंकि शब्दोत्पत्तिसे पहिले भी अर्थका सद्भाव पाया जाता है। ३. शब्द व अर्थमें तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध भी नहीं है, क्योंकि दोनोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियाँ तथा दोनोंका आधारभूत प्रदेश या क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। अथवा ऐसा माननेपर 'छुरा' और 'मोदक' शब्दोंको उच्चारण करनेसे मुख कटनेका तथा पूर्ण होनेका प्रसंग आता है। ४. अर्थकी भाँति विकल्प अर्थात् ज्ञान भी शब्दका वाच्य नहीं है, क्योंकि यहाँ भी ऊपर दिये गये सर्व दोषोंका प्रसंग आता है। अतः वाच्यवाचक भाव नहीं है।

दे० नय/III/८/४-६ (वाक्य, पदसमास व वर्णसमास तक सम्भव नहीं)।

दे० नय/I/४/५ (वाच्यवाचक भावका अभाव है तो यहाँ शब्दव्यवहार कैसे सम्भव है)।

आगम/४/४ उपरोक्त सभी तर्कोंको पूर्व पक्षकी कोटिमें रखकर उत्तर पक्षमें कथंचित् वाच्यवाचक भाव स्वीकार किया गया है।

६. बध्यबन्धक आदि अन्य भी कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं

क.पा.१/१३-१४/§१९१/२२८/३ ततोऽस्य नयस्य न बन्ध्यबन्धक-बध्यघातक-दाह्यदाहक-संसारादयः सन्ति। —इसलिए इस ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें बन्ध्यबन्धकभाव, बध्यघातकभाव, दाह्यदाहकभाव और संसारादि कुछ भी नहीं बन सकते हैं।

९. कारण कार्यभाव संभव नहीं

१. कारणके बिना ही कार्यकी उत्पत्ति होती है

रा.वा/१/१/२४/८/१२ नेमौ ज्ञानदर्शनशब्दौ करणसाधनौ। किं तर्हि। कर्तृसाधनौ। तथा चारित्रशब्दोऽपि न कर्मसाधनः। किं तर्हि। कर्तृसाधनः। कथम्। एवंभूतनयवशात्। —एवंभूत नयकी दृष्टिसे ज्ञान, दर्शन व चारित्र ये तीनों (तथा उपलक्षणसे अन्य सभी) शब्द कर्म साधन नहीं होते, कर्तासाधन ही होते हैं।

क.पा.१/१३-१४/§२८४/३१६/३ कर्तृसाधनः कषायः। एदं णेगमसंगहववहारउजुसुदाणं; तत्थ कज्जकरणभावसंभवादो। तिण्हं सद्दणयाणं ण केण वि कसाओ; तत्थ कारणेण विणा कज्जुप्पत्तीदो। —'कषाय शब्द कर्तृसाधन है', ऐसी बात नैगम (अशुद्ध) संग्रह, व्यवहार व (स्थूल) ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा समझनी चाहिए; क्योंकि, इन नयोंमें कार्य कारणभाव सम्भव है। परन्तु (सूक्ष्म ऋजुसूत्र) शब्द, समभिरूढ व एवंभूत इन तीनों शब्द नयोंकी अपेक्षा कषाय किसी भी साधनसे उत्पन्न नहीं होती है; क्योंकि इन नयोंकी दृष्टिमें कारण के बिना ही कार्यकी उत्पत्ति होती है।

ध. १२/४,२,८,१५/२९२/६ तिण्णं सद्दणयाणं णाणावरणीयपोग्गलक्खंधोदयजणिदण्णाणं वेयणा। ण सा जोगकसाएहिंतो उप्पज्जदे णिस्सत्तीदो सत्तिविसेसस्स उप्पत्तिविरोहादो। णोदयगदकम्मदव्वक्खंधादो, पज्जयवदिरित्तदव्वाभावादो। —तीनों शब्दनयोंकी अपेक्षा ज्ञानावरणीय सम्बन्धी पौद्गलिक स्कन्धोंके उदयसे उत्पन्न अज्ञानको ज्ञानावरणीय वेदना कहा जाता है। परन्तु वह (ज्ञानावरणीय वेदना) योग व कषायसे उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि जिसमें जो शक्ति नहीं है, उससे उस शक्ति विशेषकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। तथा वह उदयगत कर्मस्कन्धसे भी उत्पन्न नहीं हो सकती; क्योंकि, (इन नयोंमें) पर्यायोंसे भिन्न द्रव्यका अभाव है।

२. विनाश निर्हेतुक होता है

क. पा. १/१३-१४/§१९०/२२६/८ अस्य नयस्य निर्हेतुको विनाशः। तद्यथा—न तावत्प्रसज्यरूपः परत उत्पद्यते; कारकप्रतिषेधे व्यापृतात्परस्माद् घटाभावविरोधात्। न पर्युदासो व्यतिरिक्त उत्पद्यते; ततो व्यतिरिक्तघटोत्पत्तावर्पितघटस्य विनाशविरोधात्। नाव्यतिरिक्तः; उत्पन्नस्योत्पत्तिविरोधात्। ततो निर्हेतुको विनाश इति सिद्धम्। —इस ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें विनाश निर्हेतुक है। वह इस प्रकार कि—प्रसज्यरूप अभाव तो परसे उत्पन्न हो नहीं सकता; क्योंकि, वहाँ क्रियाके साथ निषेध वाचक 'नञ्'का सम्बन्ध होता है। अतः क्रियाका निषेध करनेवाले उसके द्वारा घटका अभाव माननेमें विरोध आता है। अर्थात् जब वह क्रियाका ही निषेध करता रहेगा तो विनाशरूप अभावका भी कर्ता न हो सकेगा। पर्युदासरूप अभाव भी परसे उत्पन्न नहीं होता है। पर्युदाससे व्यतिरिक्त घटकी उत्पत्ति माननेपर विवक्षित घटके विनाशके साथ विरोध आता है। घटसे अभिन्न पर्युदासकी उत्पत्ति माननेपर दोनोंकी उत्पत्ति एकरूप हो जाती है, तब उसकी घटसे उत्पत्ति हुई नहीं कही जा सकती। और घट तो उस अभावसे पहिले ही उत्पन्न हो चुका है, अतः उत्पन्नकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। इसलिए विनाश निर्हेतुक है यह सिद्ध होता है। (ध.६/४,१,४५/१७५/२)।

९. उत्पाद भी निर्हेतुक है

क. पा. १/१३-१४/§१९२/२२८/१ उत्पादोऽपि निर्हेतुकः। तद्यथा—नोत्पद्यमान उत्पादयति; द्वितीयक्षणे त्रिभुवनाभावप्रसङ्गात्। नोत्पन्न उत्पादयति; क्षणिकपक्षक्षतेः। न विनष्ट उत्पादयति; अभावाद्भावोत्पत्तिविरोधात्। न पूर्वविनाशोत्तरोत्पादयोः समानकालतापि कार्यकारणभावसमर्थिका। तद्यथा—नातीतार्थाभावत उत्पद्यते; भावाभावयोः कार्यकारणभावविरोधात्। न तद्भावात्; स्वकाल एव तस्योत्पत्तिप्रसङ्गात्। किंच, पूर्वक्षणसत्ता यतः समानसंतानोत्तरार्थक्षणसत्त्वविरोधिनी ततो न सा तदुत्पादिका; विरुद्धयोस्सत्तयोरुत्पाद्योत्पादकभावविरोधात्। ततो निर्हेतुक उत्पाद इति सिद्धम्। —इस ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें उत्पाद भी निर्हेतुक होता है। वह इस प्रकार कि—जो अभी स्वयं उत्पन्न हो रहा, उससे उत्पत्ति माननेमें दूसरे ही क्षण तीन लोकोंके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। जो उत्पन्न हो चुका है, उससे उत्पत्ति माननेमें क्षणिक पक्षका विनाश प्राप्त होता है। जो नष्ट हो चुका है, उससे उत्पत्ति मानें तो अभावसे भावकी उत्पत्ति होने रूप विरोध प्राप्त होता है।

पूर्वक्षणका विनाश और उत्तरक्षणका उत्पाद इन दोनोंमें परस्पर कार्यकारण भावकी समर्थन करनेवाली समानकालता भी नहीं पायी जाती है। वह इस प्रकार कि—अतीत पदार्थके अभावसे नवीन पदार्थकी उत्पत्ति मानें तो भाव और अभावमें कार्यकारण भाव माननेरूप विरोध प्राप्त होता है। अतीत अर्थके सद्भावसे नवीन पदार्थका उत्पाद मानें तो अतीतके सद्भावमें ही नवीन पदार्थकी उत्पत्तिका प्रसंग आता है। दूसरे, चूँकि पूर्व क्षणकी सत्ता अपनी सन्तानमें होनेवाले उत्तर अर्थ क्षणको सत्ताकी विरोधिनी है, इसलिए पूर्व क्षणकी सत्ता उत्तर क्षणको उत्पादक नहीं हो सकती है; क्योंकि विरुद्ध दो सत्ताओंमें परस्पर उत्पाद्य-उत्पादकभावके माननेमें विरोध आता है। अतएव ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे उत्पाद भी निर्हेतुक होता है, यह सिद्ध होता है।

१०. सकल व्यवहारका उच्छेद करता है

रा. वा/१/३३/७/९८/८ सर्वव्यवहारलोप इति चेत्; न; विषयमात्रप्रदर्शनात्, पूर्वनयवक्तव्यात् संव्यवहारसिद्धिरिति। —शंका— इस प्रकार इस नयको माननेसे तो सर्व व्यवहारका लोप हो जायगा? उत्तर—नहीं; क्योंकि यहाँ केवल उस नयका विषय दर्शाया गया है। व्यवहारकी सिद्धि इससे पहले कहे गये व्यवहारनयके द्वारा हो जाती है (दे० नय V/४)। (क.पा./१/१३-१४/§१९६/२३२/२), (क.पा./१/१३-१४/§२२८/२७८/४)।

४. शुद्ध व अशुद्ध पर्यायार्थिकनय निर्देश

१. शुद्ध व अशुद्ध पर्यायार्थिकनयके लक्षण

आ.प./९ शुद्धपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति शुद्धपर्यायार्थिकः। अशुद्धपर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येत्यशुद्धपर्यायार्थिकः। —शुद्ध पर्याय अर्थात् समयमात्र स्थायी, षड्गुण हानिवृद्धि द्वारा उत्पन्न, सूक्ष्म अर्थपर्याय ही है प्रयोजन जिसका वह शुद्ध पर्यायार्थिक नय है। और अशुद्ध पर्याय अर्थात् चिरकाल स्थायी, संयोगी व स्थूल व्यंजन पर्याय ही है प्रयोजन जिसका वह अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है।

न. च./श्रुत/पृ. ४४ शुद्धपर्यायार्थेन चरतीति शुद्धपर्यायार्थिकः। अशुद्धपर्यायार्थेन चरतीति अशुद्धपर्यायार्थिकः। —शुद्ध पर्यायके अर्थ रूपसे आचरण करनेवाला शुद्धपर्यायार्थिक नय है, और अशुद्ध पर्यायके अर्थरूपसे आचरण करनेवाला अशुद्ध पर्यायार्थिकनय है।

नोट—[सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय शुद्धपर्यायार्थिक नय है और स्थूल ऋजुसूत्र अशुद्ध पर्यायार्थिकनय है। (दे० नय/III/५/३,४,७) तथा व्यवहार नय भी कथंचित् अशुद्ध पर्यायार्थिकनय माना गया है—(दे० नय/V/४/७)]

२. पर्यायार्थिक नयके छः भेदोंका निर्देश

आ.प./५ पर्यायार्थिकस्य षड् भेदा उच्यन्ते—अनादिनित्यपर्यायार्थिको, सादिनित्यपर्यायार्थिको,......स्वभावो नित्याशुद्धपर्यायार्थिको,... भावोऽनित्याशुद्धपर्यायार्थिको, ... कर्मोपाधिनिरपेक्षस्वभावोऽनित्यशुद्धपर्यायार्थिको, ... कर्मोपाधिसापेक्षस्वभावोऽनित्याशुद्धपर्यायार्थिको। —पर्यायार्थिक नयके छः भेद कहते हैं—१. अनादि नित्य पर्यायार्थिक नय; २. सादिनित्य पर्यायार्थिकनय; ३. स्वभाव नित्य अशुद्धपर्यायार्थिकनय; ४. स्वभाव अनित्य अशुद्धपर्यायार्थिकनय; ५. कर्मोपाधिनिरपेक्षस्वभाव अनित्य शुद्धपर्यायार्थिक नय; ६. कर्मोपाधि सापेक्षस्वभाव अनित्य अशुद्धपर्यायार्थिकनय।

३. पर्यायार्थिक नयषट्‌कके लक्षण

न. च./श्रुत/पृ.६ भरतादिक्षेत्राणि हिमवदादिपर्वताः पद्मादिसरोवराणि, सुदर्शनादिमेरुनगाः लवणकालोदकादिसमुद्राः एतानि मध्यस्थितानि कृत्वा परिणतासंख्यातद्वीपसमुद्राः श्वभ्रपटलानि भवनवासिवाणव्यन्तरविमानानि चन्द्रार्कमण्डलादिज्योतिर्विमानानि सौधर्मकल्पादिस्वर्गपटलानि यथायोग्यस्थाने परिणताकृत्रिमचैत्यचैत्यालयाः मोक्षशिलाश्च बृहद्वातवलयाश्च इत्येवमाद्यनेकाश्चर्यरूपेण परिणतपुद्गलपर्यायाद्यनेकद्रव्यपर्यायैः सह परिणतलोकमहास्कन्धपर्यायाः त्रिकालस्थिताः सन्तोऽनादिनिधना इति अनादिनित्यपर्यायार्थिकनयः ।१। शुद्धनिश्चयनयविवक्षामकृत्वा सकलकर्मक्षयोद्भूतचरमशरीराकारपर्यायपरिणतिरूपशुद्धसिद्धपर्याय सादिनित्यपर्यायार्थिकनयः ।२। अगुरुलघुकादिगुणाः स्वभावेन षट्‌हानिषड्‌वृद्धिरूपक्षणभङ्गपर्यायपरिणतोऽपरिणतसद्द्रव्यानन्तगुणपर्यायासंक्रमणदोषपरिहारेण द्रव्यं नित्यस्वरूपेऽवतिष्ठमानमिति सत्तासापेक्षस्वभाव-नित्यशुद्ध-पर्यायार्थिकनयः ।३। सद्गुणविवक्षाभावेन ध्रौव्योत्पत्तिव्ययाधीनतया द्रव्यं विनाशोत्पत्तिस्वरूपमिति सत्तानिरपेक्षोत्पादव्ययग्राहकस्वभावानित्याशुद्धपर्यायार्थिकनयः ।४। चराचरपर्यायपरिणतसमस्तसंसारिजीवनिकायेषु शुद्धसिद्धपर्यायविवक्षाभावेन कर्मोपाधिनिरपेक्षविभावनित्यशुद्धपर्यायार्थिकनयः ।५। शुद्धपर्यायविवक्षाभावेन कर्मोपाधिसंजनितनारकादिविभावपर्यायाः जीवस्वरूपमिति कर्मोपाधिसापेक्ष-विभावानित्याशुद्धपर्यायार्थिकनयः ।६। —१. भरत आदि क्षेत्र, हिमवान आदि पर्वत, पद्म आदि सरोवर, सुदर्शन आदि मेरु, लवण व कालोद आदि समुद्र, इनको मध्यरूप या केन्द्ररूप करके स्थित असंख्यात द्वीप समुद्र, नरक पटल, भवनवासी व व्यन्तर देवोंके विमान, चन्द्र व सूर्य मण्डल आदि ज्योतिषी देवोंके विमान, सौधर्मकल्प आदि स्वर्गोंके पटल, यथायोग्य स्थानोंमें परिणत अकृत्रिम चैत्यचैत्यालय, मोक्षशिला, बृहद् वातवलय तथा इन सबको आदि लेकर अन्य भी आश्चर्यरूप परिणत जो पुद्गलकी पर्याय तथा उनके साथ परिणत लोकरूप महास्कन्ध पर्याय जो कि त्रिकाल स्थित रहते हुए अनादिनिधन हैं, इनको विषय करनेवाला अर्थात् इनकी सत्ताको स्वीकार करनेवाला अनादिनित्य पर्यायार्थिक नय है। २. (परमभाव ग्राहक) शुद्ध निश्चयनयको गौण करके, सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न तथा चरमशरीरके आकाररूप पर्यायसे परिणत जो शुद्ध सिद्धपर्याय है, उसको विषय करनेवाला अर्थात् उसको सत् समझनेवाला सादिनित्य पर्यायार्थिक नय है। ३. (व्याख्याकी अपेक्षा *यह नं. ४ है) पदार्थमें विद्यमान गुणोंकी अपेक्षाको मुख्य न करके* उत्पाद व्यय ध्रौव्यके आधीनपने रूपसे द्रव्यको विनाश व उत्पत्ति-

स्वरूप माननेवाला सत्तानिरपेक्ष या सत्तागौण उत्पादव्ययग्राहक स्वभाव अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिकनय है। ४. (व्याख्याकी अपेक्षा यह नं० ३)—अगुरुलघु आदि गुण स्वभावसे ही षट्गुण हानि वृद्धिरूप क्षणभंग अर्थात् एकसमयवर्ती पर्यायसे परिणत हो रहे हैं। तो भी सत् द्रव्यके अनन्तों गुण और पर्यायें परस्पर संक्रमण न करके अपरिणत अर्थात् अपने-अपने स्वरूपमें स्थित रहते हैं। द्रव्यको इस प्रकारका ग्रहण करनेवाला नय सत्तासापेक्ष स्वभावनित्य शुद्धपर्यायार्थिकनय है। ५. चराचर पर्याय परिणत संसारी जीवधारियोंके समूहमें शुद्ध सिद्धपर्यायकी विवक्षासे कर्मोपाधिसे निरपेक्ष विभावनित्य शुद्धपर्यायार्थिक नय है। (यहाँ पर संसाररूप विभावमें यह नय नित्य शुद्ध सिद्धपर्यायको जाननेकी विवक्षा रखते हुए संसारी जीवोंको भी सिद्ध सदृश बताता है। इसीको आ. प. में कर्मोपाधि निरपेक्षस्वभाव अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय कहा गया है। ६. जो शुद्ध पर्यायकी विवक्षा न करके कर्मोपाधिसे उत्पन्न हुई नारकादि विभावपर्यायोंको जीवस्वरूप बताता है वह कर्मोपाधिसापेक्ष विभाव अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय है। (इसीको आ. प. में कर्मोपाधिसापेक्षस्वभाव अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय कहा गया है।) (आ. प./५); (न. च. वृ./२००-२०५) (न. च./श्रुत/ पृ. ६ पर उद्धृत श्लोक नं. १-६ तथा पृ. ४१/श्लोक ७-१२)।

V निश्चय व्यवहार नय

१. निश्चयनय निर्देश

१. निश्चयका लक्षण निश्चित व सत्यार्थ ग्रहण

नि. सा./मू./१५९ केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।—निश्चयसे केवलज्ञानी आत्माको देखता है।

श्लो. वा./१/७/२८/५८५/१ निश्चनय एवंभूतः।—निश्चय नय एवंभूत है।

स. सा./ता. वृ./३४/६६/२० ज्ञानमेव प्रत्याख्यानं नियमान्निश्चयात् मन्तव्यं। —नियमसे, निश्चयसे ज्ञानको ही प्रत्याख्यान मानना चाहिए।

प्र. सा./ ता. वृ./९३/से पहिले प्रक्षेपक गाथा नं. १/११८/३० परमार्थस्य विशेषेण संशयादिरहितत्वेन निश्चयः। —परमार्थके विशेषणसे संशयादि रहित निश्चय अर्थका ग्रहण किया गया है।

द्र.सं./टी./४१/१६४/११श्रद्धान रुचिर्निश्चय इदमेवेत्थमेवेति निश्चयबुद्धिः सम्यग्दर्शनम्।—श्रद्धान यानी रुचि या निश्चय अर्थात् 'तत्त्वका स्वरूप यह ही है, ऐसे ही है' ऐसी निश्चयबुद्धि सो सम्यग्दर्शन है।

स. सा./पं. जयचन्द/२४१ जहाँ निर्बाध हेतुसे सिद्धि होय वही निश्चय है।

मो. मा. प्र./७/३६६/२ साँचा निरूपण सो निश्चय।

मो. मा. प्र./९/४८९/११ सत्यार्थका नाम निश्चय है।

२. निश्चय नयका लक्षण अभेद व अनुपचार ग्रहण

१. लक्षण

आ. प./१० निश्चयनयोऽभेदविषयो। —निश्चय नयका विषय अभेद द्रव्य है। (न. च./श्रुत/ २५)।

आ. प./९. अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयत इति निश्चयः।—जो अभेद व अनुपचारसे वस्तुका निश्चय करता है वह निश्चय नय है। (न. च. वृ./२६२) (न. च./श्रुत/पृ. ३१) (पं. ध./पू./६१४)।

पं. ध./पू./६६३ अपि निश्चयस्य नियतं हेतुः सामान्यमिह वस्तु।—सामान्य वस्तु ही निश्चयनयका नियत हेतु है।

और. भी दे. नय/IV/१/२-५; IV/२/३;

२. उदाहरण

दे. मोक्षमार्ग/३/१ दर्शन ज्ञान चारित्र ये तीन भेद व्यवहारसे ही कहे जाते हैं निश्चय से तीनों एक आत्मा ही है।

स. सा./आ./१६/क. १८ परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः। सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ।।१८।। —परमार्थसे देखनेपर ज्ञायक ज्योति मात्र आत्मा एकस्वरूप है, क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे सभी अन्य द्रव्यके स्वभाव तथा अन्यके निमित्तसे हुए विभावोंको दूर करने रूप स्वभाव है। अतः यह अमेचक है अर्थात् एकाकार है।

पं. ध./पू./५९९ व्यवहारः स यथा स्यात्सद्द्रव्यं ज्ञानवांश्च जीवो वा। नेत्येतावन्मात्रो भवति स निश्चयनयो नयाधिपतिः।—'सत् द्रव्य है' या 'ज्ञानवान् जीव है' ऐसा व्यवहारनयका पक्ष है। और 'द्रव्य या जीव सत् या ज्ञान मात्र ही नहीं है' ऐसा निश्चयनयका पक्ष है।

और भी दे. नय/IV/१/७-६द्रव्य क्षेत्र काल व भाव चारों अपेक्षासे अभेद।

३. निश्चयनयका लक्षण स्वाश्रय कथन

१. लक्षण

स. सा./आ./२७२ आत्माश्रितो निश्चयनयः। —निश्चय नय आत्माके आश्रित है। (नि. सा./ता. वृ./१५९)।

त. अनु./५९ अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नयः। —निश्चयनयमें कर्ता कर्म आदि भाव एक दूसरेसे भिन्न नहीं होते। (अन. ध./१/१०२/१०८)।

२. उदाहरण

रा. वा./१/७/३८/२२ पारिणामिकभावसाधनो निश्चयतः। —निश्चयसे जीवकी सिद्धि पारिणामिकभावसे होती है।

स. सा/आ./५६ निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवलम्ब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति।—निश्चयनय द्रव्यके आश्रित होनेसे केवल एक जीवके स्वाभाविक भावको अवलम्बन कर प्रवृत्त होता है, वह सब परभावोंको परका बताकर उनका निषेध करता है।

प्र. सा./त. प्र./१८९ रागादिपरिणामस्यैवात्मा कर्ता तस्यैवोपदाता हाता चेत्येष शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनयः। —शुद्धद्रव्यका निरूपण करनेवाले निश्चयनयकी अपेक्षा आत्मा अपने रागादि परिणामोंका ही कर्ता उपदाता या हाता (ग्रहण व त्याग करनेवाला) है। (द्र. सं./मू. व टी./ ८)।

प्र. सा./त. प्र /परि./नय नं. ४५ निश्चयनयेन केवलबध्यमानमुच्यमानबन्धमोक्षोचितस्निग्धरूक्षत्वगुणपरिणतपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोरद्वैतानुवर्ति।—आत्मद्रव्य निश्चयनयसे बन्ध व मोक्षमें अद्वैतका अनुसरण करनेवाला है। अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बन्धमोक्षोचित स्निग्धत्व रूक्षत्व गुण रूप परिणत परमाणुकी भाँति।

नि. सा./ता. वृ./९ निश्चयेन भावप्राणधारणाज्जीवः। —निश्चयनयसे भावप्राण धारण करनेके कारण जीव है। (द्र. सं./टी./३/११/८)।

द्र. सं./टी./१६/५७/९ स्वकीयशुद्धप्रदेशेषु यद्यपि निश्चयनयेन सिद्धास्तिष्ठन्ति।—निश्चयनयसे सिद्ध भगवान् स्वकीय शुद्ध प्रदेशोंमें ही रहते हैं।

द्र. सं./टी./८/२१/२ किन्तु शुद्धाशुद्धभावानां परिणममानानामेव कर्तृत्वं ज्ञातव्यम्, न च हस्तादिव्यापाररूपाणामिति।—निश्चयनयसे जीवको अपने शुद्ध या अशुद्ध भावरूप परिणामोंका ही कर्तापना जानना चाहिए, हस्तादि व्यापाररूप कार्योंका नहीं।

पं. का./ता. वृ./१/४/२१ शुद्धनिश्चयेन स्वस्मिन्नेवाराध्याराधकभाव इति।—शुद्ध निश्चयनयसे अपनेमें ही आराध्य आराधक भाव है।

४. निश्चयनयके भेद—शुद्ध व अशुद्ध

आ. प./१० तत्र निश्चयो द्विविधः शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च ।—निश्चयनय दो प्रकारका है—शुद्धनिश्चय और अशुद्धनिश्चय।

५. शुद्धनिश्चयनयके लक्षण व उदाहरण

१. परमभावग्राहीकी अपेक्षा

नोट—(परमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक नय ही परम शुद्ध निश्चयनय है। अतः दे० नय/IV/२/६/१०)

नि. सा./मू./४२ चउगइभवसंभमणं जाइजरामरणरोयसोका य। कुलजोणिजीवमग्गणठाणा जीवस्स णो संति ।४२। —(शुद्ध निश्चयनयसे ता. वृ. टीका) जीवको चार गतिके भवोंमें परिभ्रमण, जाति, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणा स्थान नहीं है। (स. सा./मू./५०-५५), (बा. अ./३७) (प. प्र./मू./१/१९-२१,६८)

स.सा./मू./५६ ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया। गुण ठाणंता भावा ण दु केइ णिच्छयणयस्स ।५६। —ये जो (पहिले गाथा नं० ५०-५५ में) वर्णको आदि लेकर गुणस्थान पर्यन्त भाव कहे गये हैं वे व्यवहार नयसे ही जीवके होते हैं परन्तु (शुद्ध) निश्चयनयसे तो इनमेंसे कोई भी जीवके नहीं है।

स. सा./मू./६८ मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा। ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ।६८।

स. सा./आ./६८ एवं रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्म ··· संयमलब्धिस्थानान्यपि पुद्गलकर्मपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात्पुद्गल एव न तु जीव इति स्वयमायातं। —जो मोह कर्मके उदयसे उत्पन्न होनेसे अचेतन कहे गये हैं, ऐसे गुणस्थान जीव कैसे हो सकते हैं। और इसी प्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म आदि तथा संयमलब्धि स्थान ये सब २९ बातें पुद्गलकर्म जनित होनेसे नित्य अचेतन स्वरूप हैं और इसलिए पुद्गल हैं जीव नहीं, यह बात स्वतः प्राप्त होती है। (द्र. सं./टी./१६/५३/३)

बा. अनु./८२ णिच्छयणयेण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो। —निश्चयनयसे जीव सागार व अनगार दोनों धर्मोंसे भिन्न है।

प. प्र./मू./१/६५ बंधु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहँ कम्मु जणेइ। अप्पा किं पि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउँ भणेइ ।६५। —बन्धको या मोक्षको करनेवाला तो कर्म है। निश्चयसे आत्मा तो कुछ भी नहीं करता। (पं. ध./पू./४५६)

न. च. वृ./११५ सुद्धो जीवसहावो जो रहिओ दव्वभावकम्मेहिं। सो सुद्धणिच्छयादो समासिओ सुद्धणाणीहिं ।११५। —शुद्धनिश्चय नयसे जीवस्वभाव द्रव्य व भावकर्मोंसे रहित कहा गया है।

नि. सा./ता. वृ./१५९ शुद्धनिश्चयतः···स भगवान् त्रिकालनिरुपाधिनिरवधिनित्यशुद्धसहजज्ञानसहजदर्शनाभ्यां निजकारणपरमात्मानं स्वयं कार्यपरमात्मापि जानाति पश्यति च। —शुद्ध निश्चयनयसे भगवान् त्रिकाल निरुपाधि निरवधि नित्यशुद्ध ऐसे सहजज्ञान और सहज दर्शन द्वारा निज कारणपरमात्माको स्वयं कार्यपरमात्मा होनेपर भी जानते और देखते हैं।

द्र. सं./टी./४८/२०६/४ साक्षाच्छुद्धनिश्चयनयेन स्त्रीपुरुषसंयोगरहितपुत्रस्येव सुधाहरिद्रासंयोगरहितरङ्गविशेषस्येव तेषामुत्पत्तिरेव नास्ति कथमुत्तरं प्रयच्छाम इति। —साक्षात् शुद्ध निश्चयनयसे तो, जैसे स्त्री व पुरुषसंयोगके बिना पुत्रकी तथा चूना व हल्दीके संयोग बिना लालरंगकी उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार रागद्वेषकी उत्पत्ति ही नहीं होती, फिर इस प्रश्नका उत्तर ही क्या। (स. सा./ता. वृ./१११/१७१/२१)

द्र. सं./टी./५७/२३५/७ में उद्धृत मुक्तश्चेत् प्राक्भवेद्बन्धो नो बन्धो मोचनं कथम्। अबन्धे मोचनं नैव मुञ्चेरर्थो निरर्थकः। बन्धश्च शुद्धनिश्चयनयेन नास्ति, तथा बन्धपूर्वकमोक्षोऽपि। —जिसके बन्ध होता है उसको ही मोक्ष होती है। शुद्ध निश्चयनय जीवको बन्ध ही नहीं है, फिर उसको मोक्ष कैसा। अतः इस नयमें मुञ्च धातुका प्रयोग ही निरर्थक है। शुद्ध निश्चय नयसे जीवके बन्ध ही नहीं है, तथा बन्ध पूर्वक होनेसे मोक्ष भी नहीं है। (प. प्र./टी./१/६८/६९/१)

द्र. सं./टी./५७/२३६/८ यस्तु शुद्धद्रव्यशक्तिरूपः शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणपरमनिश्चयमोक्षः स च पूर्वमेव जीवे तिष्ठतीदानीं भविष्यतीत्येवं न। —जो शुद्धद्रव्यकी शक्तिरूप शुद्धपारिणामिक भावरूप परम निश्चय मोक्ष है, वह तो जीवमें पहिले ही विद्यमान है, अब प्रगट होगी, ऐसा नहीं है।

पं. का./ता. वृ./२७/६०/१३ आत्मा हि शुद्धनिश्चयेन सत्ताचैतन्यबोधादिशुद्धप्राणैर्जीवति··· ···शुद्धज्ञानचेतनया ··· युक्तत्वाच्चेतयिता...। —शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा सत्ता, चैतन्य व ज्ञानादि शुद्ध प्राणोंसे जीता है और शुद्ध ज्ञानचेतनासे युक्त होनेके कारण चेतयिता है (नि. सा./ता. वृ./९); (द्र. सं./टी./३/११)

और भी दे० नय/IV/२/३ (शुद्धद्रव्यार्थिकनय द्रव्यक्षेत्रादि चारों अपेक्षासे तत्त्वको ग्रहण करता है।

२. क्षायिकभावग्राहीकी अपेक्षा

आ. प./१० निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयकः शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव इति। (स्फटिकवत्) —निरुपाधिक गुण व गुणीमें अभेद दर्शानेवाला शुद्ध निश्चयनय है, जैसे केवलज्ञानादि ही जीव है अर्थात् जीव का स्वभावभूत लक्षण है।

(न. च./श्रुत/२५); (प्र. सा./ता. वृ./परि./३६८/१२); (पं. का./ता.वृ./६१/११३/१२); (द्र. सं./टी./६/१८/८)

पं. का./ता. वृ./२७/६०/१७ (शुद्ध)निश्चयेन केवलज्ञानदर्शनरूपशुद्धोपयोगेन···युक्तत्वादुपयोगविशेषता;···मोक्षमोक्षकारणरूपशुद्धपरिणामपरिणमनसमर्थत्वात्···प्रभुर्भवति; शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धभावानां परिणामानां···कर्तृत्वात्कर्ता भवति;···शुद्धात्मोत्थवीतरागपरमानन्दरूपसुखस्य भोक्तृत्वात् भोक्ता भवति। —यह आत्मा शुद्ध निश्चय नयसे केवलज्ञान व केवलदर्शनरूप शुद्धोपयोगसे युक्त होनेके कारण उपयोगविशेषतावाला है; मोक्ष व मोक्षके कारणरूप शुद्ध परिणामों द्वारा परिणमन करनेमें समर्थ होनेसे प्रभु है; शुद्ध भावोंका या शुद्ध भावोंको करता होनेसे कर्ता है और शुद्धात्मासे उत्पन्न वीतराग परम आनन्दको भोगता होनेसे भोक्ता है।

द्र. सं./टी./९/२३/६ शुद्धनिश्चयनयेन परमात्मस्वभावसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानोत्पन्नसदानन्दैकलक्षणं सुखामृत भुङ्क्ते इति। —शुद्धनिश्चयनयसे परमात्मस्वभावके सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और आचरणसे उत्पन्न अविनाशी आनन्दरूप लक्षणका धारक जो सुखामृत है, उसको (आत्मा) भोगता है।

६. एकदेश शुद्धनिश्चय नयका लक्षण व उदाहरण

नोट—(एकदेश शुद्धभावको जीवका स्वरूप कहना एकदेश शुद्ध *निश्चयनय है। यथा—)*

द्र. सं/टी./४८/२०५ अत्राह शिष्यः—रागद्वेषादयः किं कर्मजनिता किं जीवजनिता इति। तत्रोत्तरं स्त्रीपुरुषसंयोगोत्पन्नपुत्र इव सुधाहरिद्रासंयोगोत्पन्नवर्णविशेष इवोभयसंयोगजनिता इति। पश्चान्नयविवक्षावशेन विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्मजनिता भण्यन्ते। —प्रश्न—रागद्वेषादि भाव कर्मोंसे उत्पन्न होते हैं या जीवसे? उत्तर—स्त्री व पुरुष इन दोनोंके संयोगसे उत्पन्न हुए पुत्रके समान और चूना तथा हल्दी इन दोनोंके मेलसे उत्पन्न हुए लालरंगके समान ये रागद्वेषादि कषाय जीव और कर्म इन दोनोंके संयोगसे उत्पन्न होते हैं। जब नयकी विवक्षा होती है तो विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनयसे ये कषाय कर्मसे उत्पन्न हुए कहे जाते हैं। (अशुद्धनिश्चयसे

जीवजनित कहे जाते हैं और साक्षात् शुद्धनिश्चय नयसे ये हैं ही नहीं, तब किसके कहें? (दे० शीर्षक नं. ५/१ में द्र. सं.)।

द्र. सं./टी./५७/२३६/७ विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनयेन पूर्वं मोक्षमार्गो व्याख्यातस्तथा पर्यायरूपो मोक्षोऽपि। न च शुद्धनिश्चयेनेति। —पहिले जो मोक्षमार्ग या पर्यायमोक्ष कहा गया है, वह विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयनयसे कहा गया है, शुद्ध निश्चयनयसे नहीं (क्योंकि उसमें तो मोक्ष या मोक्षमार्गका विकल्प ही नहीं है)

७. शुद्ध, एकदेश शुद्ध, व निश्चय सामान्यमें अन्तर व इनकी प्रयोग विधि

प. प्र./टी./६४/६५/१ सांसारिकं सुखदुःखं यद्यप्यशुद्धनिश्चयनयेन जीवजनितं तथापि शुद्धनिश्चयेन कर्मजनितं भवति। —सांसारिक सुख दुख यद्यपि अशुद्ध निश्चयनयसे जीव जनित हैं, फिर भी शुद्ध निश्चयनयसे वे कर्मजनित हैं। (यहाँ एकदेश शुद्धको भी शुद्धनिश्चयनय ही कह दिया है) ऐसा ही सर्वत्र यथा योग्य जानना चाहिए)

द्र. सं./टी./८/२१/११ शुभाशुभयोगत्रयव्यापाररहितेन शुद्धबुद्धैकस्वभावेन यदा परिणमति तदानन्तज्ञानसुखादिशुद्धभावानां छद्मस्थावस्थायां भावनारूपेण विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्ता, मुक्तावस्थायां तु शुद्धनयेनेति। —शुभाशुभ मन वचन कायके व्यापारसे रहित जब शुद्ध-बुद्ध एकस्वभावसे परिणमन करता है, तब अनन्तज्ञान अनन्तसुख आदि शुद्धभावोंका छद्मस्थ अवस्थामें ही भावना रूपसे, एकदेशशुद्ध-निश्चयनयकी अपेक्षा कर्ता होता है, परन्तु मुक्तावस्थामें उन्हीं भावोंका कर्ता शुद्ध निश्चयनयसे होता है। (इस परसे एकदेश शुद्ध व शुद्ध इन दोनों निश्चय नयोंमें क्या अन्तर है यह जाना जा सकता है।)

द्र. सं./टी./५५/२२४/६ निश्चयशब्देन तु प्राथमिकापेक्षया व्यवहाररत्नत्रयानुकूलनिश्चयो ग्राह्यः। निष्पन्नयोगनिश्चलपुरुषापेक्षया व्यवहाररत्नत्रयानुकूलनिश्चयो ग्राह्यः। निष्पन्नयोगपुरुषापेक्षया तु शुद्धोपयोगलक्षणविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयो ग्राह्यः। विशेषनिश्चयः पुनरग्रे वक्ष्यमाणस्तिष्ठतीति सूत्रार्थः।...'मा चिट्ठह मा जंपह...। —निश्चय शब्दसे—अभ्यास करनेवाले प्राथमिक, जघन्य पुरुषकी अपेक्षा तो व्यवहार रत्नत्रयके अनुकूल निश्चय ग्रहण करना चाहिए। निष्पन्न योगमें निश्चल पुरुषकी अपेक्षा अर्थात् मध्यम धर्मध्यानकी अपेक्षा व्यवहाररत्नत्रयके अनुकूल निश्चय करना चाहिए। निष्पन्नयोग अर्थात् उत्कृष्ट धर्मध्यानी पुरुषकी अपेक्षा शुद्धोपयोगरूप विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनय ग्रहण करना चाहिए। विशेष अर्थात् शुद्ध निश्चय आगे कहते हैं।—मन वचन कायसे कुछ भी व्यापार न करो केवल आत्मामें रत हो जाओ। (यह कथन शुक्लध्यानीकी अपेक्षा समझना)।

८. अशुद्ध निश्चयनय का लक्षण व उदाहरण

आ. प./१० सोपाधिकविषयोऽशुद्धनिश्चयो यथा मतिज्ञानादिजीव इति। —सोपाधिक गुण व गुणीमें अभेद दर्शानेवाला अशुद्धनिश्चयनय है। जैसे—मतिज्ञानादि ही जीव अर्थात् उसके स्वभावभूत लक्षण हैं। (न. च./श्रुत./पृ. २५) (प. प्र./टी./७/१३/३)।

न. च. वृ./११४ ते चेव भावरूवा जीवे भूदा खओवसमदो य। ते हुंति भावपाणा असुद्धणिच्छयणयेण णायव्वा ।११४। —जीवमें कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाले जितने भाव हैं, वे जीवके भावप्राण होते हैं, ऐसा अशुद्धनिश्चयनयसे जानना चाहिए। (पं. का./ता. वृ./२७/६०/१४) (द्र. सं./टी./३/११/७);

नि. सा./ता. वृ./१८ अशुद्धनिश्चयनयेन सकलमोहरागद्वेषादिभावकर्मणां कर्ता भोक्ता च। —अशुद्ध निश्चयनयसे जीव सकल मोह, राग, द्वेषादि रूप भावकर्मोंका कर्ता है तथा उनके फलस्वरूप उत्पन्न हर्ष विषादादिरूप सुख दुःखका भोक्ता है। (द्र. सं./ टी./८/२१/६; तथा ९/२३/५)।

प. प्र./टी./६४/६५/१ सांसारिकसुखदुःखं यद्यप्यशुद्धनिश्चयनयेन जीवजनितं। —अशुद्ध निश्चयनयसे सांसारिक सुख दुख जीव जनित हैं।

प्र. सा./ता. वृ./परि./३६८/११ अशुद्धनिश्चयनयेन सोपाधिस्फटिकवत्समस्तरागादिविकल्पोपाधिसहितम्। —अशुद्ध निश्चयनयसे सोपाधिक स्फटिककी भाँति समस्त रागादि विकल्पोंकी उपाधिसे सहित है। (द्र. सं/टी./१६/५३/१); (अन. ध./१/१०३/१०८)

प्र. सा./ता. वृ./८/१०/११ अशुद्धात्मा तु रागादिना अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानकारणं भवति। —अशुद्ध निश्चय नयसे अशुद्ध आत्मा रागादिकका अशुद्ध उपादान कारण होता है।

पं. का./ता. वृ./६१/११३/१३ कर्मकर्तृत्वप्रस्तावादशुद्धनिश्चयेन रागादयोऽपि स्वभावा भण्यन्ते। —कर्मोंका कर्तापना होनेके कारण अशुद्ध निश्चयनयसे रागादिक भी जीवके स्वभाव कहे जाते हैं।

द्र. सं./टी./८/२१/६ अशुद्धनिश्चयस्यार्थः कथ्यते—कर्मोपाधिसमुत्पन्नत्वादशुद्धः, तत्काले तप्तायःपिण्डवत्तन्मयत्वाच्च निश्चयः। इत्युभयमेलापकेनाशुद्धनिश्चयो भण्यते। —'अशुद्ध निश्चय' इसका अर्थ कहते हैं—कर्मोपाधिसे उत्पन्न होनेसे अशुद्ध कहलाता है और अपने कालमें (अर्थात् रागादिके कालमें जीव उनके साथ) अग्निमें तपे हुए लोहेके गोलेके समान तन्मय होनेसे निश्चय कहा जाता है। इस रीतिसे अशुद्ध और निश्चय इन दोनोंको मिलाकर अशुद्ध निश्चय कहा जाता है।

द्र. सं./टी./४५/१९७/१ यच्चाभ्यन्तरे रागादिपरिहारः स पुनरशुद्धनिश्चयेनेति। —जो अन्तरंगमें रागादिका त्याग करना कहा जाता है, वह अशुद्ध निश्चयनयसे चारित्र है।

प. प्र./टी./१/१/६/६ भावकर्मदहनं पुनरशुद्धनिश्चयेन। —भावकर्मोंका दहन करना अशुद्ध निश्चय नयसे कहा जाता है।

प. प्र./टी./१/१/६/१०/५ केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्मरणरूपो भावनमस्कारः पुनरशुद्धनिश्चयेनेति। —भगवान्‌के केवलज्ञानादि अनन्तगुणोंका स्मरण करना रूप जो भाव नमस्कार है वह भी अशुद्ध निश्चयनयसे कही जाती है।

२. निश्चयनयकी निर्विकल्पता

१. शुद्ध व अशुद्ध निश्चय द्रव्यार्थिकके भेद हैं

आ. प./६ शुद्धाशुद्धनिश्चयौ द्रव्यार्थिकस्य भेदौ। —शुद्ध और अशुद्ध ये दोनों निश्चयनय द्रव्यार्थिकनयके भेद हैं। (पं. ध./पू./६६०)

२. निश्चयनय एक निर्विकल्प व वचनातीत है

पं. वि./१/१५७ शुद्धं वागतिवर्तितत्त्वमितरद्वाच्यं च तद्वाचकं शुद्धादेश इति प्रभेदजनकं शुद्धेतरं कल्पितम्। —शुद्धतत्त्व वचनके अगोचर है, इसके विपरीत अशुद्ध तत्त्व वचनके गोचर है। शुद्धतत्त्वको प्रगट करनेवाला शुद्धादेश अर्थात् शुद्धनिश्चयनय है और अशुद्ध व भेदको प्रगट करनेवाला अशुद्ध निश्चय नय है। (पं. ध./पू./७४७) (पं. ध./उ./१३४)

पं. ध./पू./६२१ स्वयमपि भूतार्थत्वाद्भवति स निश्चयनयो हि सम्यक्त्वम्। अविकल्पवदतिवागिव स्यादनुभवैकगम्यवाच्यार्थः ।६२१। —स्वयं ही यथार्थ अर्थको विषय करनेवाला होनेसे निश्चय करके वह निश्चयनय सम्यक्त्व है, और निर्विकल्प व वचनागोचर होनेसे उसका वाच्यार्थ एक अनुभवगम्य ही होता है।

पं. ध./उ./१३४ एकः शुद्धनयः सर्वो निर्द्वन्द्वो निर्विकल्पकः। व्यवहारनयोऽनेकः सद्वन्द्वः सविकल्पकः ।१३४। —सम्पूर्ण शुद्ध अर्थात् निश्चय

नय एक निर्द्वन्द्व और निर्विकल्प है, तथा व्यवहारनय अनेक सद्वन्द्व और सविकल्प है। (पं. ध./पू./६५७)

और भी देखो नय/IV/१/७ द्रव्यार्थिक नय अवक्तव्य व निर्विकल्प है।

३. निश्चयनयके भेद नहीं हो सकते

पं. ध./पू./६६१ इत्यादिकाश्च बहवो भेदा निश्चयनयस्य यस्य मते। स हि मिथ्यादृष्टित्वात् सर्वज्ञाज्ञावमानितो नियमात् ।६६१। —(शुद्ध और अशुद्धको) आदि लेकर निश्चयनयके भी बहुतसे भेद हैं, ऐसा जिसका मत है, वह निश्चय करके मिथ्यादृष्टि होनेसे नियमसे सर्वज्ञ की आज्ञाका उल्लंघन करनेवाला है।

४. शुद्धनिश्चय ही वास्तवमें निश्चयनय है, अशुद्ध निश्चय तो व्यवहार है

स. सा./ता. वृ./५७/९७/१३ द्रव्यकर्मबन्धापेक्षया योऽसौ असद्भूत-व्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्यज्ञापनार्थं रागादीनामशुद्धनिश्चयो भण्यते। वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्चयोऽपि व्यवहार एवेति भावार्थः ।५७।

स.सा./ता.वृ./६८/१०८/११ अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्य कर्मा-पेक्षयाभ्यन्तररागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। इति व्याख्यानं निश्चयव्यवहार-नयविचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्यं। —द्रव्यकर्म-बन्धकी अपेक्षासे जो यह असद्भूत व्यवहार कहा जाता है उसकी अपेक्षा तारतम्यता दर्शानेके लिए ही रागादिकोंको अशुद्धनिश्चयनयका विषय बनाया गया है। वस्तुतः तो शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा अशुद्ध निश्चयनय भी व्यवहार ही है। अथवा द्रव्य कर्मोंकी अपेक्षा रागादिक अभ्यन्तर हैं और इसलिए चेतनात्मक हैं, ऐसा मानकर भले उन्हें निश्चय संज्ञा दे दी गयी हो परन्तु शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा तो वह व्यवहार ही है। निश्चय व व्यवहारनयका विचार करते समय सर्वत्र यह व्याख्यान जानना चाहिए। (स. सा./ता. वृ./११५/१७४/२१), (द्र. सं./टी./४८/२०६/३)

प्र.सा./ता.वृ./१८९/२५४/११ परम्परया शुद्धात्मसाधकत्वादयमशुद्धनयोऽ-प्युपचारेण शुद्धनयो भण्यते निश्चयनयो न। —परम्परासे शुद्धात्मा-का साधक होनेके कारण (दे०/V/८/१ में प्र. सा./ता. वृ./१८९) यह अशुद्धनय उपचारसे शुद्धनय कहा गया है परन्तु निश्चय नय नहीं कहा गया है।

दे० नय/V/४/६, ८ अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय वास्तवमें पर्यायार्थिक होनेके कारण व्यवहार नय है।

५. उदाहरण सहित व सविकल्प सभी नयें व्यवहार हैं

पं. ध./पू./६१६, ६१५-६२१, ६४७ सोदाहरणो यावानयो विशेषणविशेष्यरूपः स्यात्। व्यवहारापरनामा पर्यायार्थो नयो न द्रव्यार्थः ।६१६। अथ चेत्सदेकमिति वा चिदेव जीवोऽथ निश्चयो वदति। व्यवहारान्तर्भावो भवति सदेकस्य तद्द्विधापत्तेः ।६१५। एवं सदुदाहरणे सल्लक्ष्यं लक्षणं तदेकमिति। लक्षणलक्ष्यविभागो भवति व्यवहारतः स नान्यत्र ।६१६। अथवा चिदेव जीवो यदुदाह्रियतेऽप्यभेदबुद्धिमता। उक्तवदत्रापि तथा व्यवहारनयो न परमार्थः ।६१७। ननु केवलं सदेव हि यदि वा जीवो विशेषनिरपेक्षः। भवति च तदुदाहरणं भेदाभावात्तदा हि को दोषः ।६१९। अपि चैवं प्रतिनियतं व्यवहारस्यावकाश एव यथा। सदनेकं च सदेकं जीवाश्चिद्द्रव्यमात्मवानिति चेत् ।६२०। न यतः सदिति विकल्पो जीवः काल्पनिक इति विकल्पश्च। तत्तद्धर्मविशिष्टस्तदानुपचर्यते स यथा ।६२१। इत्युक्तसूत्रादपि सविकल्पत्वात्तथानुभूतेश्च। सर्वोऽपि नयो यावान् परसमयः स च नयावलम्बी च ।६४७। —उदाहरण सहित विशेषण विशेष्यरूप जितना भी नय है वह सब 'व्यवहार' नामवाला पर्यायार्थिक नय है। परन्तु द्रव्यार्थिक नहीं ।६१६। प्रश्न—'सद् एक है' अथवा 'चिद् ही जीव है' ऐसा कहनेवाले नय निश्चयनय कहे गये हैं और एक सद्को ही दो आदि भेदोंमें विभाग करनेवाला व्यवहार नय कहा गया है ।६१५। उत्तर—नहीं, क्योंकि, इस उदाहरणमें 'सद् एक' ऐसा कहनेमें 'सद्' लक्ष्य है और 'एक' उसका लक्षण है। और यह लक्ष्यलक्षण विभाग व्यवहारनयमें होता है, निश्चयमें नहीं ।६१६। और दूसरा जो 'चित ही जीव है, ऐसा कहनेमें भी उपरोक्तवत लक्ष्य-लक्षण भावसे व्यवहारनय सिद्ध होता है, निश्चयनय नहीं ।६१७। प्रश्न—विशेष निरपेक्ष केवल 'सत ही' अथवा 'जीव ही' ऐसा कहना तो अभेद होनेके कारण निश्चय नयके उदाहरण बन जायेंगे? ।६१९। और ऐसा कहनेसे कोई दोष भी नहीं है, क्योंकि यहाँ 'सत एक है' या 'जीव चिद् द्रव्य है' ऐसा कहनेका अवकाश होनेसे व्यवहारनयको भी अवकाश रह जाता है ।६२०। उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'सत्' और 'जीव' यह दो शब्द कहनेरूप दोनों विकल्प भी काल्पनिक हैं। कारण कि जो उस उस धर्मसे युक्त होता है वह उस उस धर्मवाला उपचार-से कहा जाता है ।६२१। और आगम प्रमाण (दे० नय/I/३/३) से भी यही सिद्ध होता है कि सविकल्प होनेके कारण जितने भी नय हैं वे सब तथा उनका अवलम्बन करनेवाले पर समय हैं ।६४७।

६. निर्विकल्प होनेसे निश्चयनयमें नयपना कैसे सम्भव है?

पं. ध./पू./६००-६१० ननु चोक्तं लक्षणमिह नयोऽस्ति सर्वोऽपि किल विकल्पात्मा। तदिह विकल्पाभावात् कथमस्य नयत्वमिदमिति चेत् ।६००। तत्र यतोऽस्ति नयत्वं नेति यथा लक्षितस्य पक्षत्वात्। पक्षग्राही च नयः पक्षस्य विकल्पमात्रत्वात् ।६०१। प्रतिषेध्यो विधि-रूपो भवति विकल्पः स्वयं विकल्पत्वात्। प्रतिषेधको विकल्पो भवति तथा सः स्वयं निषेधात्मा ।६०२। एकाङ्गत्वमसिद्धं न नेति निश्चयनयस्य तस्य पुनः। वस्तुनि शक्तिविशेषो यथा तथा तद-विशेषशक्तित्वात् ।६१०। —प्रश्न—जब नयका लक्षण ही यह है कि 'सब नय विकल्पात्मक होते हैं (दे० नय/I/१/१/५; तथा नय/I/२) तो फिर यहाँपर विकल्पका अभाव होनेसे इस निश्चयनयको नय-पना कैसे प्राप्त होगा? ।६००। उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि निश्चयनयमें भी निषेधसूचक 'न' इस शब्दके द्वारा लक्षित अर्थको भी पक्षपना प्राप्त है और वही इस नयका नयपना है; कारण कि, पक्ष भी विकल्पात्मक होनेसे नयके द्वारा ग्राह्य है ।६०१। जिस प्रकार प्रतिषेध्य होनेके कारण 'विधि' एक विकल्प है; उसी प्रकार प्रतिषेधक होनेके कारण निषेधात्मक 'न' भी एक विकल्प है ।६००। 'न' इत्याकारको विषय करनेवाले उस निश्चयनयमें एकांगपना (विकलादेशीपना) असिद्ध नहीं है; क्योंकि, जैसे वस्तुमें 'विशेष' यह शक्ति एक अंग है, वैसे ही 'सामान्य' यह शक्ति भी उसका एक अंग है ।६१०।

३. निश्चयनयकी प्रधानता

१. निश्चयनय ही सत्यार्थ है

स. सा./मू./११ भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ। —शुद्धनय भूतार्थ है।

न.च./श्रुत/३२ निश्चयनयः परमार्थप्रतिपादकत्वाद्भूतार्थो। —परमार्थ-का प्रतिपादक होनेके कारण निश्चयनय भूतार्थ है। (स.सा./आ./११)।

और भी दे० नय/V/१/१ (एवंभूत या सत्यार्थ ग्रहण ही निश्चयनयका लक्षण है।)

स. सा./पं. जयचन्द/६ द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, अभेद है, निश्चय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है।

२. निश्चयनय साधकतम व नयाधिपति है

न. च./श्रुत/३२ निश्चयनयः···पूज्यतमः। —निश्चयनय पूज्यतम है।

प्र. सा./त. प्र./१८९ साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वान्निश्चयनय एव साधकतमो। —साध्य वस्तु क्योंकि शुद्ध है अर्थात् पर संपर्कसे रहित तथा अभेद है, इसलिए निश्चयनय ही द्रव्यके शुद्धत्वका द्योतक होनेसे साधक है। (दे० नय/V/१/२)।

पं. ध./पू./६६६ निश्चयनयो नयाधिपतिः। —निश्चयनय नयाधिपति है।

३. निश्चयनय ही सम्यक्त्वका कारण है

स. सा./मू./भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो। —जो जीव भूतार्थका आश्रय लेता है वह निश्चयनयसे सम्यग्दृष्टि होता है।

न. च./श्रुत/३२ अत्रैवाविभ्रान्तान्तर्दृष्टिर्भवत्यात्मा। —इस नयका सहारा लेनेसे ही आत्मा अन्तर्दृष्टि होता है।

स. सा./आ./११,४१४ ये भूतार्थमाश्रयन्ति त एव सम्यक् पश्यन्तः सम्यग्दृष्टयो भवन्ति न पुनरन्ये, कतकस्थानीयत्वात् शुद्धनयस्य।११। य एव परमार्थं परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते त एव समयसारं चेतयन्ते। —यहाँ शुद्धनय कतक फलके स्थानपर है (अर्थात् परसंयोगको दूर करनेवाला है), इसलिए जो शुद्धनयका आश्रय लेते हैं, वे ही सम्यक् अवलोकन करनेसे सम्यग्दृष्टि हैं, अन्य नहीं।११। जो परमार्थको परमार्थबुद्धिसे अनुभव करते हैं वे ही समयसारका अनुभव करते हैं।४१४।

पं. वि/१/८० निरूप्य तत्त्वं स्थिरतामुपागता, मतिः सतां शुद्धनयावलम्बिनी। अखण्डमेकं विशदं चिदात्मकं, निरन्तरं पश्यति तत्परं महः।८०। —शुद्धनयका आश्रय लेनेवाली साधुजनोंकी बुद्धि तत्त्वका निरूपण करके स्थिरताको प्राप्त होती हुई निरन्तर, अखण्ड, एक, निर्मल एवं चेतनस्वरूप उस उत्कृष्ट ज्योतिका ही अवलोकन करती है।

प्र. सा./ता. वृ./१९१/२५६/१८ ततो ज्ञायते शुद्धनयाच्छुद्धात्मलाभ एव। —इससे जाना जाता है कि शुद्धनयके अवलम्बनसे आत्मलाभ अवश्य होता है।

पं. ध./पू./६२९ स्वयमपि भूतार्थत्वाद्भवति स निश्चयनयो हि सम्यक्त्वम्। —स्वयं ही भूतार्थको विषय करनेवाला होनेसे निश्चय करके, यह निश्चयनय सम्यक्त्व है।

मो. मा. प्र./१७/३६६/१० निश्चयनय तिनि ही कौं यथावत् निरूपै है, काहूकौं काहूविषैं न मिलावै है। ऐसे ही श्रद्धानतैं सम्यक्त्व हो है।

४. निश्चयनय ही उपादेय है

न. च./श्रुत/६७ तस्माद्द्वावपि नाराध्यावाराध्यः पारमार्थिकः। —इसलिए व्यवहार व निश्चय दोनों ही नयें आराध्य नहीं है, केवल एक पारमार्थिक नय ही आराध्य है।

प्र सा./त.प्र./१८९ निश्चयनयः साधकतमत्वादुपात्तः। —निश्चयनय साधकतम होनेके कारण उपात्त है अर्थात् ग्रहण किया गया है।

स. सा./आ./४१४/क. २४४ अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः। स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति। —बहुत कथनसे और बहुत दुर्विकल्पोंसे बस होओ, बस होओ। यहाँ मात्र इतना ही कहना है, कि इस एकमात्र परमार्थका ही नित्य अनुभव करो, क्योंकि निज रसके प्रसारसे पूर्ण जो ज्ञान, उससे स्फुरायमान होनेमात्र जो समयसार; उससे उच्च वास्तवमें दूसरा कुछ भी नहीं है।

पं. वि/१/१५७ तत्राद्यं श्रयणीयमेव सुदृशा शेषद्वयोपायतः। —सम्यग्दृष्टिको शेष दो उपायोंसे प्रथम शुद्ध तत्त्व (जो कि निश्चयनयका वाच्य बताया गया है) का आश्रय लेना चाहिए।

पं.का/ता. वृ./५४/१०४/१८ अत्र यद्यपि पर्यायार्थिकनयेन सादि सनिधनं जीवद्रव्यं व्याख्यातं तथापि शुद्धनिश्चयेन यदेवानादिनिधनं टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावं निर्विकारसदानन्दैकस्वरूपं च तदेवोपादेयमित्यभिप्रायः। —यहाँ यद्यपि पर्यायार्थिकनयसे सादिसनिधन जीव द्रव्यका व्याख्यान किया गया है, परन्तु शुद्ध निश्चयनयसे जो अनादि निधन टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एकस्वभावी निर्विकार सदानन्द एकस्वरूप परमात्म तत्त्व है, वही उपादेय है, ऐसा अभिप्राय है। (पं.का/ता.वृ./२७/६१/१६)।

पं.ध./पू./६३० यदि वा सम्यग्दृष्टिस्तद्दृष्टिः कार्यकारी स्यात्। तस्मात् स उपादेयो नोपादेयस्तदन्यनयवादः।६३०। —क्योंकि निश्चयनयपर दृष्टि रखनेवाला ही सम्यग्दृष्टि व कार्यकारी है, इसलिए वह निश्चय ही ग्रहण करनेयोग्य है व्यवहार नहीं।

विशेष दे० नय/V/८/१ (निश्चयनयकी उपादेयताके कारण व प्रयोजन। यह जीवको नयपक्षातीत बना देता है।)

४. व्यवहारनय सामान्य निर्देश

१. व्यवहारनय सामान्यके लक्षण

१. संग्रहनय ग्रहीत अर्थमें विधिपूर्वक भेद

ध.१/१,१,१/गा६/१२ पडिरूवं पुण वयणत्थणिच्छयो तस्स ववहारो। —वस्तुके प्रत्येक भेदके प्रति शब्दका निश्चय करना (संग्रहनयका) व्यवहार है। (क.पा./१/१३-१४/§१८२/८६/२२०)।

स. सि./१/३३/१४२/२ संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः। —संग्रहनयके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थोंका विधिपूर्वक अवहरण अर्थात् भेद करना व्यवहारनय है। (रा.वा/१/३३/६/९६/२०), (श्लो.वा./४/१/३३/श्लो.५८/२४४), (ह.पु./५८/४५), (ध.९/४,१,४५/१७१/४) (त. सा./१/४९), (स्या. म./२८/३१७/१४ तथा ३१६ पृ. उद्धृत श्लो. नं. ३)।

आ.प./९ संग्रहेण गृहीतार्थस्य भेदरूपतया वस्तु येन व्यवह्रियतेति व्यवहारः। —संग्रहनय द्वारा गृहीत पदार्थके भेदरूपसे जो वस्तुमें भेद करता है, वह व्यवहारनय है। (न. च. वृ./२१०), (का. अ./मू./२७३)।

२. अभेद वस्तुमें गुण-गुणी आदि रूप भेदोपचार

न.च.वृ./२६२ जो सियभेदुवयारं धम्माणं कुणइ एगवत्थुस्स। —सो ववहारो भणियो···।२६२। —एक अभेद वस्तुमें जो धर्मोंका अर्थात् गुण पर्यायोंका भेदरूप उपचार करता है वह व्यवहारनय कहा जाता है। (विशेष दे० आगे नय/V/५/१-३), (पं. ध./पू./६१४), (आ. प./९)।

पं.ध./पू./५२२ व्यवहरणं व्यवहारः स्यादिति शब्दार्थतो न परमार्थः। स यथा गुणगुणिनोरिह सदभेदे भेदकरणं स्यात्। —विधिपूर्वक भेद करनेका नाम व्यवहार है। यह इस निरुक्ति द्वारा किया गया शब्दार्थ है, परमार्थ नहीं। जैसा कि यहाँपर गुण और गुणीमें सत् रूपसे अभेद होनेपर भी जो भेद करना है वह व्यवहार नय कहलाता है।

३. भिन्न पदार्थोंमें कारकादि रूपसे अभेदोपचार

स.सा./आ./२७२ पराश्रितो व्यवहारः। —परपदार्थके आश्रित कथन करना व्यवहार है। (विशेष देखो आगे असद्भूत व्यवहारनय—नय/V/५/४-६)।

: व्यवहारनयो भिन्नकर्तृ कर्मादिगोचरः । —व्यवहारनय र्ता कर्मादि विषयक है । (अन.ध./१/१०२/१०८) ।

क व्यवहारगत-वस्तुविषयक

७/१११/१ लोकव्यवहारनिबन्धनं द्रव्यमिच्छत् व्यवहारनयः । व्यवहारके कारणभूत द्रव्यको स्वीकार करनेवाला पुरुष नय है ।

वहारनय सामान्यके उदाहरण

ह ग्रहीत अर्थमें भेद करने सम्बन्धी

३३/१४२/२ को विधिः । यः संगृहीतोऽर्थस्तदानुपूर्व्येणैव व्यवर्तत इत्ययं विधिः । तद्यथा—सर्वसंग्रहेण यत्सत्त्वं गृहीतं क्षितविशेषं नालं संव्यवहारायेति व्यवहारनय आश्रीयते । द्रव्यं गुणो वेति । द्रव्येणापि संग्रहाक्षिप्तेन जीवाजीवविशेषान शक्यः संव्यवहार इति जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमिति वा व्यवश्रीयते । जीवाजीवावपि च संग्रहाक्षिप्तौ नालं संव्यवहारायेकं देवनारकादिर्घटादिश्च व्यवहारेणाश्रीयते । —प्रश्न—नेकी विधि क्या है? उत्तर—जो संग्रहनयके द्वारा गृहीत उसीके आनुपूर्वीक्रमसे व्यवहार प्रवृत्त होता है, यह विधि था—सर्व संग्रहनयके द्वारा जो वस्तु ग्रहण की गयी है, वह उत्तरभेदोंके बिना व्यवहार करानेमें असमर्थ है, इसलिए रनयका आश्रय लिया जाता है । यथा—जो सत् है वह या य है या गुण । इसी प्रकार संग्रहनयका विषय जो द्रव्य है जीव अजीवकी अपेक्षा किये बिना व्यवहार करानेमें असइसलिए जीव द्रव्य है और अजीव द्रव्य है, इस प्रकारके रका आश्रय लिया जाता है । जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य तक संग्रहनयके विषय रहते हैं, तब तक वे व्यवहार करानेमें हैं, इसलिए जीवद्रव्यके देव नारकी आदि रूप और अजीव घटादि रूप भेदोंका आश्रय लिया जाता है । (रा.वा./१/३३/६/१३), (श्लो. वा ४/१/३३/६०/२४४/२५), (स्या. म./२८/-५) ।

४/१/३३/६०/२४५/१ व्यवहारस्तद्विभज्यते यद्द्रव्यं तज्जीवादिर्षं, यः पर्यायः स द्विविधः क्रमभावी सहभावी चेति । पुनरपि सर्वानजीवादीन् संगृह्णाति ।…व्यवहारस्तु तद्विभागमभिप्रैति वः स मुक्तः संसारी च,…यदाकाशं तल्लोकाकाशमलोकाकाशं क्रमभावी पर्यायः स क्रियारूपोऽक्रियारूपश्च विशेषः, यः सहर्यायः स गुणः सदृशपरिणामश्च सामान्यमिति अपरापरवहारप्रपञ्चः । —(उपरोक्तसे आगे)—व्यवहारनय उसका करते हुए कहता है कि जो द्रव्य है वह जीवादिके भेदसे रका है, और जो पर्याय है वह क्रमभावी व सहभावीके दो प्रकारकी है । पुनः संग्रहनय इन उपरोक्त जीवादिकोंका कर लेता है, तब व्यवहारनय पुनः इनका विभाग करता है जीव मुक्त व संसारीके भेदसे दो प्रकारका है, आकाश लोक व के भेदसे दो प्रकारका है । (इसी प्रकार पुद्गल व काल का भी विभाग करता है) । जो क्रमभावी पर्याय है वह क्रिया अक्रिया (भाव) रूप है, सो विशेष है । और जो सहभावी है वह गुण तथा सदृशपरिणामरूप होती हुई सामान्यरूप है । कार अपर व पर संग्रह तथा व्यवहारनयका प्रपंच समझ लेना है ।

भेद वस्तुमें गुणगुणीरूप भेदोपचार सम्बन्धी

/७ ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ।—ज्ञानीरेत्र दर्शन व ज्ञान ये तीन भाव व्यवहारसे कहे गये हैं । (द्र.सं/१७), (स.सा/आ./१६/क.१७) ।

का./ता.वृ./१११/१७५/१३ अनलानिलकायिकाः तेषु पञ्चस्थावरेषु मध्ये चलनक्रियां दृष्ट्वा व्यवहारेण त्रसाः भण्यन्ते । —पाँच स्थावरोंमें-से तेज वायुकायिक जीवोंमें चलनक्रिया देखकर व्यवहारसे उन्हें त्रस कहा जाता है ।

पं. ध./पू./५११ व्यवहारः स यथा स्यात्सद्द्रव्यं ज्ञानवांश्च जीवो वा । —जैसे 'सत् द्रव्य है' अथवा 'ज्ञानवान् जीव है' इस प्रकारका जो कथन है, वह व्यवहारनय है । और भी देखो—(नय/IV/२/६/६), (नय/V/५/१-३) ।

३. भिन्न पदार्थोंमें कारकरूपसे अभेदोपचार सम्बन्धी

स.सा./मू./५९-६० तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं । जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ।५९। गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य । सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ।६०। —जीवमें कर्मों व नोकर्मोंका वर्ण देखकर, जीवका यह वर्ण है, ऐसा जिनदेवने व्यवहारसे कहा है ।५९। इसी प्रकार गन्ध, रस और स्पर्शरूप देह संस्थान आदिक, सभी व्यवहारसे हैं, ऐसा निश्चयनयके देखनेवाले कहते हैं ।६०। (द्र.सं./मू./७), (विशेष दे० नय/V/५/५) ।

द्र. सं./मू./३,९ तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो य । ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स ।३। पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो ।८। ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि ।९। —भूत भविष्यत् व वर्तमान तीनों कालोंमें जो इन्द्रिय बल, आयु व श्वासोच्छ्वासरूप द्रव्यप्राणोंसे जीता है, उसे व्यवहारसे जीव कहते हैं ।३। व्यवहारसे जीव पुद्गलकर्मोंका कर्ता है ।८। और व्यवहारसे पुद्गलकर्मोंके फलका भोक्ता है ।९। (विशेष देखो नय/V/५/५) ।

प्र.सा./त.प्र./परि/नय नं० ४४ व्यवहारनयेन बन्धकमोचकपरमाण्वन्तरसंयुज्यमानवियुज्यमानपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोर्द्वैतानुवर्ति ।४४। —आत्मद्रव्य व्यवहारनयसे बन्ध और मोक्षमें द्वैतका अनुसरण करनेवाला है । बन्धक और मोचक अन्य परमाणुके साथ संयुक्त होनेवाले और उससे वियुक्त होनेवाले परमाणुकी भाँति ।

प्र.सा./त.प्र./१८९ यस्तु पुद्गलपरिणाम आत्मनः कर्म स एव पुण्यपापद्वैतं पुद्गलपरिणामस्यात्मा कर्ता तस्योपदाता हाता चेति सोऽशुद्धद्रव्यार्थिकनिरूपणात्मको व्यवहारनयः । —जो 'पुद्गल परिणाम आत्माका कर्म है वही पुण्य पापरूप द्वैत है; आत्मा पुद्गल परिणामका कर्ता है, उसका ग्रहण करनेवाला और छोड़नेवाला है, यह अशुद्धद्रव्यका निरूपणस्वरूप व्यवहारनय है ।

प. प्र./१/५२/५४/४ य एव ज्ञानापेक्षया व्यवहारनयेन लोकालोकव्यापको भणितः । —व्यवहारनयसे ज्ञानकी अपेक्षा आत्मा लोकालोकव्यापी है ।

मो.मा.प्र./७/३७०/१८ व्यवहारनय स्वद्रव्य परद्रव्यकौं वा तिनिके भावनिकौं वा कारणकार्यादिककौं काहूको काहूविषै मिलाय निरूपण करै है ।

और भी दे० (नय/III/२/३), (नय/V/५/४-६) ।

४. लोक व्यवहारगत वस्तु सम्बन्धी

स्या. म./२८/३११/२३ व्यवहारस्त्वेवमाह । यथा लोकग्राहकमेव वस्तु, अस्तु, किमनया अदृष्टाव्यवह्रियमाणवस्तुपरिकल्पनकष्टपिष्टिकया । यदेव च लोकव्यवहारपथमवतरति तस्यैवानुग्राहकं प्रमाणमुपलभ्यते नेतरस्य । न हि सामान्यमनादिनिधनमेकं संग्रहाभिमतं प्रमाणभूमिः, तथानुभवाभावात् । सर्वस्य सर्वदर्शित्वप्रसङ्गाच्च । नापि विशेषाः परमाणुलक्षणाः क्षणक्षयिणः प्रमाणगोचराः, तथा प्रवृत्तेरभावात् । तस्मादिदमेव निखिललोकाबाधितं प्रमाणसिद्धं कियत्कालभाविस्थूरतामाबिभ्राणमुदकाद्याहरणाद्यर्थक्रियानिर्वर्तनक्षमं

घटादिकं वस्तुरूपं पारमार्थिकम् । पूर्वोत्तरकालभावितत्पर्यायपर्यालोचना पुनरज्यायसी तत्र प्रमाणप्रसाराभावात् । प्रमाणमन्तरेण विचारस्य कर्तुमशक्यत्वात् । अवस्तुत्वाच्च तेषां किं तद्गोचरपर्यायालोचनेन । तथाहि । पूर्वोत्तरकालभाविनो द्रव्यविवर्ताः क्षणक्षयिपरमाणुलक्षणा वा विशेषा न कथंचन लोकव्यवहारमुपरचयन्ति । तन्न ते वस्तुरूपा । लोकव्यवहारोपयोगिनामेव वस्तुत्वात । अत एव पन्था गच्छति, कुण्डिका स्रवति, गिरिर्दह्यते, मञ्चाः क्रोशन्ति इत्यादि व्यवहाराणां प्रामाण्यम् । तथा च वाचकमुख्य' 'लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः । —व्यवहारनय ऐसा कहता है कि—लोकव्यवहारमें आनेवाली वस्तु ही मान्य है । अदृष्ट तथा अव्यवहार्य वस्तुओंकी कल्पना करनेसे क्या लाभ ? लोकव्यवहार पथपर चलनेवाली वस्तु ही अनुग्राहक है और प्रमाणताको प्राप्त होती है, अन्य नहीं । संग्रहनय द्वारा मान्य अनादि निधनरूप सामान्य प्रमाणभूमिको स्पर्श नहीं करता, क्योंकि सर्वसाधारणको उसका अनुभव नहीं होता । तथा उसे मानने पर सबको ही सर्वदर्शीपनेका प्रसंग आता है । इसी प्रकार ऋजुसूत्रनय द्वारा मान्य क्षणक्षयी परमाणुरूप विशेष भी प्रमाण बाह्य होनेसे हमारी व्यवहार प्रवृत्तिके विषय नहीं हो सकते । इसलिए लोक अबाधित, कियत्काल स्थायी व जलधारण आदि अर्थक्रिया करनेमें समर्थ ऐसी घट आदि वस्तुएँ ही पारमार्थिक व प्रमाण सिद्ध हैं । इसी प्रकार घट ज्ञान करते समय, नैगमनय मान्य उसकी पूर्वोत्तर अवस्थाओंका भी विचार करना व्यर्थ है, क्योंकि प्रमाणगोचर न होनेसे वे अवस्तु हैं । और प्रमाणभूत हुए बिना विचार करना अशक्य है । पूर्वोत्तरकालवर्ती द्रव्यकी पर्याय अथवा क्षणक्षयी परमाणुरूप विशेष दोनों ही लोकव्यवहारमें उपयोगी न होनेसे अवस्तु हैं, क्योंकि लोक व्यवहारमें उपयोगी ही वस्तु है । अतएव 'रास्ता जाता है, कुण्ड बहता है, पहाड़ जलता है, मंच रोते हैं' आदि व्यवहार भी लोकोपयोगी होनेसे प्रमाण हैं । वाचक मुख्य श्री उमास्वामीने भी तत्त्वार्थाधिगम भाष्य/१/३५ में कहा है कि "लोक व्यवहारके अनुसार उपचरित अर्थ (दे० उपचार व आगे असद्भूत व्यवहार) को बतानेवाले विस्तृत अर्थको व्यवहार कहते हैं ।

३. व्यवहारनयकी भेद-प्रवृत्तिकी सीमा

स. सि./१/३३/१४२/८ एवमयं नयस्तावद्वर्तते यावत्पुनर्नास्ति विभागः । —संग्रह गृहीत अर्थको विधिपूर्वक भेद करते हुए (दे० पीछे शीर्षक नं. २/१) इस नयकी प्रवृत्ति वहाँ तक होती है, जहाँ तक कि वस्तुमें अन्य कोई विभाग करना सम्भव नहीं रहता । (रा. वा./१/३३/६/९६/२१) ।

श्लो. वा. ४/१/३३/६०/२४५/१५ इति अपरापरसंग्रहव्यवहारप्रपञ्चः प्रागृजुसूत्रात्परसंग्रहादुत्तरः प्रतिपत्तव्यः, सर्वस्य वस्तुनः कथंचित्सामान्यविशेषात्मकत्वात । —इस प्रकार उत्तरोत्तर हो रहा संग्रह और व्यवहारनयका प्रपंच ऋजुसूत्रनयसे पहले-पहले और परसंग्रहनयसे उत्तर उत्तर अंशोंकी विवक्षा करनेपर समझ लेना चाहिए; क्योंकि, जगत्की सब वस्तुएँ कथंचित् सामान्यविशेषात्मक हैं । (श्लो. वा. ४/१,३३/श्लो. ५९/२४४)

का. अ./मू./२७३ जं संगहेण गहिदं विसेसरहिदं पि भेददे सददं । परमाणूपज्जंतं ववहारणओ हवे सो हु ।२७३। —जो नय संग्रहनयके द्वारा अभेद रूपसे गृहीत वस्तुओंका परमाणुपर्यंत भेद करता है वह व्यवहार नय है ।

ध. १/१,१,१/१३/११ (विशेषार्थ) वर्तमान पर्यायको विषय करना ऋजु- सूत्र है । इस लिए जबतक द्रव्यगत (दे० नय/III/१/२) भेदोंकी ही मुख्यता रहती है, तबतक व्यवहारनय चलता है और जब कालकृत भेद प्रारम्भ हो जाता है तभीसे ऋजुसूत्र नयका प्रारम्भ होता है ।

४. व्यवहारनयके भेद व लक्षणादि

१. पृथक्त्व व एकत्व व्यवहार

पं. का./मू. व भाषा/४७ णाणं धणं च कुव्वदि धणिणं जह णाणिणं च दुविधेहिं । भण्णंति तह पुधत्तं एयत्तं चावि तच्चण्हू । —धन पुरुषको धनवान् करता है, और ज्ञान आत्माको ज्ञानी करता है । तैसे ही तत्त्वज्ञ पुरुष पृथक्त्व व एकत्वके भेदसे सम्बन्ध दो प्रकारका कहते हैं । व्यवहार दो प्रकारका है—एक पृथक्त्व और एक एकत्व । जहाँ-पर भिन्न द्रव्योंमें एकताका सम्बन्ध दिखाया जाता है उसका नाम पृथक्त्व व्यवहार कहा जाता है । और एक वस्तुमें भेद दिखाया जाय उसका नाम एकत्व व्यवहार कहा जाता है ।

न.च./श्रुत/पृ. २६ प्रमाणनयनिक्षेपात्मकः भेदोपचाराभ्यां वस्तु व्यवहरतीति व्यवहारः । —प्रमाण नय व निक्षेपात्मक वस्तुको जो भेद द्वारा या उपचार द्वारा भेद या अभेदरूप करता है, वह व्यवहार है । (विशेष दे० उपचार /१/२) ।

२. सद्भूत व असद्भूत व्यवहार

न. च./श्रुत/पृ. २५ व्यवहारो द्विविधः—सद्भूतव्यवहारो असद्भूतव्यवहारश्च । तत्रैकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः । भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः । —व्यवहार दो प्रकारका है—सद्भूत व्यवहार और असद्भूत व्यवहार । तहाँ सद्भूतव्यवहार एक वस्तुविषयक होता है और असद्भूत व्यवहार भिन्न वस्तु विषयक । (अर्थात् एक वस्तुमें गुण-गुणी भेद करना सद्भूत या एकत्व व्यवहार है और भिन्न वस्तुओंमें परस्पर कर्ता कर्म व स्वामित्व आदि सम्बन्धों द्वारा अभेद करना असद्भूत या पृथक्त्व व्यवहार है ।) (पं. ध./पू./५२५) (विशेष दे० आगे नय/V/५)

३. सामान्य व विशेष संग्रह भेदक व्यवहार

न. च. वृ./२१० जो संगहेण गहियं भेयइ अत्थं असुद्ध सुद्धं वा । सो ववहारो दुविहो असुद्धसुद्धत्थभेदकरो ।२१०। —जो संग्रह नयके द्वारा ग्रहण किये गये शुद्ध या अशुद्ध पदार्थका भेद करता है वह व्यवहार नय दो प्रकार का है—शुद्धार्थ भेदक और अशुद्धार्थभेदक । (शुद्धसंग्रहके विषयका भेद करनेवाला शुद्धार्थ भेदक व्यवहार है और अशुद्धसंग्रहके विषयका भेद करनेवाला अशुद्धार्थभेदक व्यवहार है ।)

आ. प./५ व्यवहारोऽपि द्वेधा । सामान्यसंग्रहभेदको व्यवहारो यथा—द्रव्याणि जीवाजीवाः । विशेषसंग्रहभेदको व्यवहारो यथा—जीवाः संसारिणो मुक्ताश्च । —व्यवहार भी दो प्रकारका है—सामान्यसंग्रहभेदक और विशेष संग्रहभेदक । तहाँ सामान्य संग्रहभेदक तो ऐसा है जैसे कि 'द्रव्य जीव व अजीवके भेदसे दो प्रकारका है' । और विशेषसंग्रहभेदक ऐसा है जैसे कि 'जीव संसारी व मुक्तके भेदसे दो प्रकारका है । (सामान्य संग्रहनयके विषयका भेद करनेवाला सामान्य संग्रह भेदक और विशेष संग्रहनयका भेद करनेवाला विशेष संग्रहभेदक व्यवहार है ।)

न. च./श्रुत/१४ अनेन सामान्यसंग्रहनयेन स्वीकृतसत्तासामान्यरूपार्थं भित्त्वा जीवपुद्गलादिकथनं, सेनाशब्देन स्वीकृतार्थं भित्त्वा हस्त्यश्वरथपदातिकथनं ...इति सामान्यसंग्रहभेदकव्यवहारनयो भवति । विशेषसंग्रहनयेन स्वीकृतार्थान् जीवपुद्गलनिचयान् भित्त्वा देवनारकादिकथनं, घटपटादिकथनम् । हस्त्यश्वरथपदातीन् भित्त्वा भद्रगज - जात्यश्व - महारथ - शतभटसहस्रभटादिकथनं ...इत्याद्यनेकविषयान् भित्त्वा कथनं विशेषसंग्रहभेदकव्यवहारनयो भवति । —सामान्य संग्रहनयके द्वारा स्वीकृत सत्ता सामान्यरूप अर्थका भेद करके जीव पुद्गलादि कहना अथवा सेना शब्दका भेद करके हाथी, घोड़ा, रथ, पियादे कहना, ऐसा सामान्य संग्रहभेदक व्यवहार होता है । और विशेषसंग्रहनय द्वारा स्वीकृत जीव व पुद्गलसमूहका भेद

करके देवनारकादि तथा घट पट आदि कहना, अथवा हाथी, घोड़ा, पदातिका भेद करके भद्र हाथी, जातिवाला घोड़ा, महारथ, शतभट, सहस्रभट आदि कहना, इत्यादि अनेक विषयोंको भेद करके कहना विशेषसंग्रहभेदक व्यवहारनय है।

५. व्यवहार-नयाभासका लक्षण

श्लो. वा. ४/१/३३/श्लो./६०/२४४ कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभाग-भाक्। प्रमाणबाधितोऽन्यस्तु तदाभासोऽवसीयताम् ।६०। —द्रव्य और पर्यायोंके आरोपित किये गये कल्पित विभागोंको जो वास्तविक मान लेता है वह प्रमाणबाधित होनेसे व्यवहारनयाभास है। (स्या. म. के अनुसार जैसे चार्वाक दर्शन)। (स्या. म./२८/३१७/११ में प्रमाणतत्त्वालोकालंकार/७/१-५३ से उद्धृत)

६. व्यवहार नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है

श्लो. वा. २/१/७/२८/५८५/१ व्यवहारनयोऽशुद्धद्रव्यार्थिकः। —व्यवहार-नय अशुद्धद्रव्यार्थिकनय है।

ध. ६/४,१,४५/१७१/३ पर्यायकलङ्कितया अशुद्धद्रव्यार्थिकः व्यवहार-नयः। —व्यवहारनय पर्याय (भेद) रूप कलंकसे युक्त होनेसे अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। (क. पा. १/१३-१४/§१८२/२१६/२); (प्र.सा./त.प्र./१८६)।

(और भी दे०/नय/IV/२/४)।

७. पर्यायार्थिक नय भी कथंचित् व्यवहार है

गो. जी./मू./५७२/१०१६ ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओत्ति-एयट्ठो। —व्यवहार, विकल्प, भेद व पर्याय ये एकार्थवाची शब्द हैं।

पं. ध./पू./५२१ पर्यायार्थिकनय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति। एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचारमात्रः स्यात्। —पर्यायार्थिक और व्यवहार ये दोनों एकार्थवाची हैं, क्योंकि सब ही व्यवहार केवल उपचाररूप होता है।

स. सा./पं. जयचन्द/६ परसंयोगजनित भेद सब भेदरूप अशुद्धद्रव्या-र्थिक नयके विषय हैं। शुद्ध (अभेद) द्रव्यकी दृष्टिमें यह भी पर्यायार्थिक ही है। इसलिए व्यवहार नय ही है ऐसा आशय जानना। (स. सा./पं. जयचन्द/१२/क. ४)

दे० नय/V/२/४ (अशुद्धनिश्चय भी वास्तवमें व्यवहार है।)

८. उपनय निर्देश

१. उपनयका लक्षण व इसके भेद

आ. प./५ नयानां समीपाः उपनयाः। सद्भूतव्यवहारः असद्भूत-व्यवहार उपचरितासद्भूतव्यवहारश्चेत्युपनयस्त्रेधा। —जो नयोंके समीप हों अर्थात् नयकी भाँति ही ज्ञाताके अभिप्राय स्वरूप हों उन्हें उपनय कहते हैं, और वह उपनय, सद्भूत, असद्भूत व उप-चरित असद्भूतके भेदसे तीन प्रकारका है।

न. च./श्रुत/१८७-१८८ उवणयभेया वि पभणामो ।१८७। सब्भूदमसब्भूदं उवयरियं चेव दुविहं सब्भूदं। तिविहं पि असब्भूदं उवयरियं जाण तिविहं पि ।१८८। —उपनयके भेद कहते हैं। वह सद्भूत, असद्भूत और उपचरित असद्भूतके भेदसे तीन प्रकारका है। उनमें भी सद्-भूत दो प्रकारका है—शुद्ध व अशुद्ध—दे० आगे नय/V/५); असद्भूत व उपचरित असद्भूत दोनों ही तीन-तीन प्रकारके हैं—(स्वजाति, विजाति और स्वजाति-विजाति।—दे० उपचार/१/२), (न. च./श्रुत/पृ. २१)।

२. उपनय भी व्यवहारनय है

न. च./श्रुत/२६/१७ उपनयोपजनितो व्यवहारः। प्रमाणनयनिक्षेपात्मकः भेदोपचाराभ्यां वस्तु व्यवहरतीति व्यवहारः। कथमुपनयस्तस्य जनक इति चेत्, सद्भूतो भेदोत्पादकत्वात् असद्भूतस्तूपचारोत्पादकत्वात्। —उपनयसे व्यवहारनय उत्पन्न होता है। और प्रमाणनय व निक्षेपा-त्मक वस्तुका भेद व उपचार द्वारा भेद व अभेद करनेको व्यवहार कहते हैं। प्रश्न—व्यवहार नय उपनयसे कैसे उत्पन्न होता है, उत्तर—क्योंकि सद्भूतरूप उपनय तो अभेदरूप वस्तुमें भेद उत्पन्न करता है और असद्भूत रूप उपनय भिन्न वस्तुओंमें अभेदका उप-चार करता है।

५. सद्भूत असद्भूत व्यवहारनय निर्देश

१. सद्भूत व्यवहारनय सामान्य निर्देश

१. लक्षण व उदाहरण

आ. प./१० एकवस्तुविषयसद्भूतव्यवहारः। —एक वस्तुको विषय करनेवाला सद्भूतव्यवहार है। (न. च./श्रुत/२५)।

न. च. वृ./२२० गुणगुणिपज्जायदव्वे कारकसब्भावदो य दव्वेसु। तो णाऊणं भेयं कुणयं सब्भूयसद्दियपरो ।२२०। —गुण व गुणीमें अथवा पर्याय व द्रव्यमें कर्ता कर्म करण व सम्बन्ध आदि कारकोंका कथंचित् सद्भाव होता है। उसे जानकर जो द्रव्योंमें भेद करता है वह सद्भूत व्यवहारनय है। (न. च. वृ./४६)।

न. च. वृ./२२१ दव्वाणां खु पएसा बहुआ ववहारदो य एक्केण। अण्णं य णिच्छयदो भणिया कायत्थ खलु हवे जुत्ती। —व्यवहार अर्थात् सद्भूत व्यवहारनयसे द्रव्योंके बहुत प्रदेश हैं। और निश्चयनसे वही द्रव्य अनन्य है। (न. च. वृ./२२२)।

और भी दे. नय/V/४/१,२ में (गुणगुणी भेदकारी व्यवहार नय सामान्यके लक्षण व उदाहरण)।

२. कारण व प्रयोजन

पं. ध./पू./५२५-५२८ सद्भूतस्तद्गुण इति व्यवहारस्तत्प्रवृत्तिमात्रत्वात्। ।५२५। अस्यावगमे फलमिति तदितरवस्तुनि निषेधबुद्धिः स्यात्। इतरविभिन्नो नय इति भेदाभिव्यञ्जको न नयः ।५२७। अस्तमितसर्व-संकरदोषं क्षतसर्वशून्यदोषं वा। अणुरिव वस्तुसमस्तं ज्ञानं भवती-त्यनन्यशरणमिदम् ।५२८। — विवक्षित उस वस्तुके गुणोंका नाम सद्भूत है और उन गुणोंकी उस वस्तुमें भेदरूप प्रवृत्तिमात्रका नाम व्यवहार है ।५२५। इस नयका प्रयोजन यह है कि इसके अनुसार ज्ञान होनेपर इतर वस्तुओंमें निषेध बुद्धि हो जाती है, क्योंकि विकल्पवश दूसरेसे भिन्न होना नय है। नय कुछ भेदका अभिव्यंजक नहीं है। ।५२७। सम्पूर्ण संकर व शून्य दोषोंसे रहित यह वस्तु इस नयके कारण ही अनन्य शरण सिद्ध होती है। क्योंकि इससे ऐसा ही ज्ञान होता है ।५२८।

३. व्यवहार सामान्य व सद्भूत व्यवहारमें अन्तर

पं. ध./पू./५२३/५२६ साधारणगुण इति वा यदि वासाधारणः सत-स्तस्य। भवति विवक्ष्यो हि यदा व्यवहारनयस्तदा श्रेयान् ।५२३। अत्र निदानं च यथा सदसाधारणगुणो विवक्ष्यः स्यात्। अविवक्षितो-ऽथवापि च सत्साधारणगुणो न चान्यतरात् ।५२६। —सत्के साधारण व असाधारण इन दोनों प्रकारके गुणोंमेंसे किसीकी भी विवक्षा होने-पर व्यवहारनय श्रेय होता है ।५२३। और सद्भूत व्यवहारनयमें सत्के साधारण व असाधारण गुणोंमें परस्पर मुख्य गौण विवक्षा होती है। मुख्य गौण विवक्षाको छोड़कर इस नयकी प्रवृत्ति नहीं होती ।५२६।

४. सद्भूत व्यवहारनयके भेद

आ. प./१० तत्र सद्भूतव्यवहारो द्विविधः—उपचरितानुपचरितभेदात्। —सद्भूत व्यवहारनय दो प्रकारका है—उपचरित व अनुपचरित। (न. च./श्रुत/पृ. २५); (पं. ध./पू./५३४)।

आ.प./५ सद्भूतव्यवहारो द्विधा—शुद्धसद्भूतव्यवहारो···अशुद्धसद्भूतव्यवहारो। —सद्भूत व्यवहारनय दो प्रकारकी है—शुद्ध सद्भूत और अशुद्ध सद्भूत। (न. च./श्रुत/२१)।

२. अनुपचरित या शुद्धसद्भूत निर्देश

१. क्षायिक शुद्धकी अपेक्षा लक्षण व उदाहरण

आ. प./१० निरुपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा—जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणाः। —निरुपाधि गुण व गुणीमें भेदको विषय करनेवाला अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। जैसे—केवलज्ञानादि जीवके गुण हैं। (न. च./श्रुत/२५)।

आ. प./५ शुद्धसद्भूतव्यवहारो यथा—शुद्धगुणशुद्धगुणिनो, शुद्धपर्यायशुद्धपर्यायिणोर्भेदकथनम्। —शुद्धगुण व शुद्धगुणीमें अथवा शुद्धपर्याय व शुद्धपर्यायीमें भेदका कथन करना शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय है (न. च./श्रुत/२१)।

नि.सा./ता.वृ./१३, अन्या कार्यदृष्टिः······क्षायिकजीवस्य सकलविमलकेवलावबोधबुद्धभुवनत्रयस्य ··· साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मकस्य···तीर्थकरपरमदेवस्य केवलज्ञानादियमपि युगपल्लोकालोकव्यापिनी। —दूसरी कार्य शुद्धदृष्टि···क्षायिक जीवको जिसने कि सकल विमल केवलज्ञान द्वारा तीनभुवनको जाना है, जो सादि अनिधन अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले शुद्धसद्भूत व्यवहार नयात्मक है, ऐसे तीर्थंकर परमदेवको केवलज्ञानकी भाँति यह भी युगपत लोकालोकमें व्याप्त होनेवाली है। (नि. सा./ता. वृ./४३)।

नि. सा./ता. वृ./६ शुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानादि शुद्धगुणानामाधारभूतत्वात्कार्यशुद्धजीवः। —शुद्धसद्भूत व्यवहारसे केवलज्ञानादि शुद्ध गुणोंका आधार होनेके कारण 'कार्यशुद्ध जीव' है। (प्र. सा./ता. वृ/परि/३६८/१४)।

२. पारिणामिक शुद्धकी अपेक्षा लक्षण व उदाहरण

नि. सा./ता. वृ./२८ परमाणुपर्यायः पुद्गलस्य शुद्धपर्यायः परमपारिणामिकभावलक्षणः वस्तुगतषट्प्रकारहानिवृद्धिरूपः अतिसूक्ष्मः अर्थपर्यायात्मकः सादिसनिधनोऽपि परद्रव्यनिरपेक्षत्वाच्छुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मकः। —परमाणुपर्याय पुद्गलकी शुद्ध पर्याय है। जो कि परमपारिणामिकभाव स्वरूप है, वस्तुमें होनेवाली छह प्रकारकी हानिवृद्धि रूप है, अति सूक्ष्म है, अर्थ पर्यायात्मक है, और सादि सान्त होनेपर भी परद्रव्यसे निरपेक्ष होनेके कारण शुद्धसद्भूत व्यवहारनयात्मक है।

पं. ध./५३५-५३६ स्यादादिमो यथान्तर्लीना या शक्तिरस्ति यस्य सतः। तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद्विशेषनिरपेक्षम् ॥५३५॥ इदमत्रोदाहरणं ज्ञानं जीवोपजीवि जीवगुणः। ज्ञेयालम्बनकाले न तथा ज्ञेयोपजीवि स्यात् ॥५३६॥ —जिस पदार्थकी जो अन्तर्लीन (त्रिकाली) शक्ति है, उसके सामान्यपनेसे यदि उस पदार्थ विशेषकी अपेक्षा न करके निरूपण किया जाता है तो वह अनुपचरित—सद्भूत व्यवहारनय कहलाता है ॥५३५॥ जैसे कि ज्ञान जीवका जीवोपजीवी गुण है। घट पट आदि ज्ञेयोंके अवलम्बन कालमें भी वह ज्ञेयोपजीवी नहीं हो जाता। (अर्थात् ज्ञानको ज्ञान कहना ही इस नयको स्वीकार है, घटज्ञान कहना नहीं ॥५३६॥

३. अनुपचरित व शुद्ध सद्भूत की एकार्थता

द्र. सं./टी./६/१८/५ केवलज्ञानदर्शनं प्रति शुद्धसद्भूतशब्दवाच्योऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारः। —यहाँ जीवका लक्षण कहते समय केवलज्ञान व केवलदर्शनके प्रति शुद्धसद्भूत शब्दसे वाच्य अनुपचरित सद्भूत व्यवहार है।

४. इस नयके कारण व प्रयोजन

पं. ध./पू./५३६ फलमास्तिक्यनिदानं सद्द्रव्ये वास्तवप्रतीतिः स्यात्। भवति क्षणिकादिमते परमोपेक्षा यतो विनायासात्। —सद्रूप द्रव्यमें आस्तिक्य पूर्वक यथार्थ प्रतीतिका होना ही इस नयका फल है, क्योंकि इस नयके द्वारा, बिना किसी परिश्रमके क्षणिकादि मतोंमें उपेक्षा हो जाती है।

३. उपचरित या अशुद्ध सद्भूत निर्देश

१. क्षायोपशमिक भावकी अपेक्षा लक्षण व उदाहरण

आ. प./५ अशुद्धसद्भूतव्यवहारो यथाशुद्धगुणाशुद्धगुणिनोरशुद्धपर्यायाशुद्धपर्यायिणोर्भेदकथनम्। — अशुद्धगुण व अशुद्धगुणीमें अथवा अशुद्धपर्याय व अशुद्धपर्यायीमें भेदका कथन करना अशुद्धसद्भूत व्यवहार नय है (न. च./श्रुत/२१)।

आ. प./१० सोपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषय उपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा—जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः। —उपाधिसहित गुण व गुणीमें भेदको विषय करनेवाला उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है। जैसे—मतिज्ञानादि जीवके गुण हैं। (न. च./श्रुत/२५)।

नि. सा./ता. वृ./६ अशुद्धसद्भूतव्यवहारेण मतिज्ञानादिविभावगुणानामाधारभूतत्वादशुद्धजीवः। —अशुद्धसद्भूत व्यवहारसे मतिज्ञानादि विभावगुणोंका आधार होनेके कारण 'अशुद्ध जीव' है। (प्र.सा./ता.वृ./परि./३६८/१)

२. पारिणामिक भावमें उपचार करनेकी अपेक्षा लक्षण व उदाहरण

पं. ध./पू./५४०-५४१ उपचरितो सद्भूतो व्यवहारः स्यान्नयो यथा नाम। अविरुद्धं हेतुवशात्परतोऽप्युपचर्यते यतः स्व गुणः ॥५४०॥ अर्थविकल्पो ज्ञानं प्रमाणमिति लक्ष्यतेऽधुनापि यथा। अर्थः स्वपरनिकायो भवति विकल्पस्तु चित्तदाकारम् ॥५४१॥ —किसी हेतुके वशसे अपने गुणका भी अविरोधपूर्वक दूसरेमें उपचार किया जाये, तहाँ उपचरित सद्भूत व्यवहारनय होता है ॥५४०॥ जैसे—अर्थविकल्पात्मक ज्ञानको प्रमाण कहना। यहाँ पर स्व व परके समुदायको अर्थ तथा ज्ञानके उस स्व व परमें व्यवसायको विकल्प कहते हैं। (अर्थात् ज्ञान गुण तो वास्तवमें निर्विकल्प तेजमात्र है, फिर भी यहाँ बाह्य अर्थोंका अवलम्बन लेकर उसे अर्थ विकल्पात्मक कहना उपचार है, परमार्थ नहीं ॥५४१॥

३. उपचरित व अशुद्ध सद्भूतकी एकार्थता

द्र. सं./टी./६/१८/६ छद्मस्थज्ञानदर्शनापरिपूर्णापेक्षया पुनरशुद्धसद्भूतशब्दवाच्य उपचरितासद्भूतव्यवहारः। —छद्मस्थ जीवके ज्ञानदर्शनकी अपेक्षासे अशुद्धसद्भूत शब्दसे वाच्य उपचरित सद्भूत व्यवहार है।

४. इस नयके कारण व प्रयोजन

पं. ध./पू./५४४-५४५ हेतुः स्वरूपसिद्धिं विना न परसिद्धिरप्रमाणत्वात्। तदपि च शक्तिविशेषाद्द्रव्यविशेषे यथा प्रमाणं स्यात् ॥५४४॥ अर्थो ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषभ्रमक्षयो यदि वा। अविनाभावात् साध्यं सामान्यं साधको विशेषः स्यात् ॥५४५॥ —स्वरूप सिद्धिके बिना परकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि वह स्व निरपेक्ष पर अप्रमाणभूत है। तथा प्रमाण स्वयं भी स्वपर व्यवसायात्मक शक्तिविशेषके कारण द्रव्य विशेषके विषयमें प्रवृत्त होता है, यही इस नयकी प्रवृत्तिमें हेतु है ॥५४४॥ ज्ञेय ज्ञायक भाव द्वारा सम्भव संकरदोषके भ्रमको दूर करना, तथा अविनाभावरूपसे स्थित वस्तुके सामान्य व विशेष अंशोंमें परस्पर साध्य साधनपनेकी सिद्धि करना इसका प्रयोजन है ॥५४५॥

४. असद्भूत व्यवहार सामान्य निर्देश

१. लक्षण व उदाहरण

आ. प./१० भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहार. । =भिन्न वस्तुको विषय करनेवाला असद्भूत व्यवहारनय है। (न. च./श्रुत/२५); (और भी दे० नयV/४/१ व २)

न. च. वृ./२२३-२२५ अण्णेसिं अण्णगुणो भणइ असब्भुद तिविह ते दोवि। सज्जाइ इयर मिस्सो णायव्वो तिविहभेयजुदो ।२२३। =अन्य द्रव्यके अन्य गुण कहना असद्भूत व्यवहारनय है। वह तीन प्रकारका है—स्वजाति, विजाति, और मिश्र। ये तीनों भी द्रव्य गुण व पर्यायमें परस्पर उपचार होनेसे तीन तीन प्रकारके हो जाते हैं। (विशेष दे० उपचार/५)।

न. च. वृ./११३,३२० मण वयण काय इंदिय आणप्पाणाउगं च जं जीवे। तमसब्भूओ भणदि हु ववहारो लोयमज्झम्मि ।११३। णेयं खु जत्थ णाणं सद्धेयं जं दंसणं भणियं। चरियं खलु चारित्तं णायव्वं तं असब्भूयं ।३२०। =मन, वचन, काय, इन्द्रिय, आनप्राण और आयु ये जो दश प्रकारके प्राण जीवके हैं, ऐसा असद्भूत व्यवहारनय कहता है ।११३। ज्ञेयको ज्ञान कहना जैसे घटज्ञान, श्रद्धेयको दर्शन कहना, जैसे देव गुरु शास्त्रकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है, आचरण करने योग्यको चारित्र कहते हैं जैसे हिंसा आदिका त्याग चारित्र है; यह सब कथन असद्भूतव्यवहार जानना चाहिए ।३२०।

आ. प./८ असद्भूतव्यवहारेण कर्मनोकर्मणोरपि चेतनस्वभाव ।... जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेण मूर्तस्वभाव.... असद्भूतव्यवहारेणाप्युपचारेणामूर्तत्वं ।... असद्भूतव्यवहारेण उपचरितस्वभाव. । =असद्भूत व्यवहारसे कर्म व नोकर्म भी चेतनस्वभावी है, जीवका भी मूर्त स्वभाव है, और पुद्गलका स्वभाव अमूर्त व उपचरित है।

पं. का./ता. वृ./१/४/२१ नमो जिनेभ्य इति वचनात्मकद्रव्यनमस्कारोऽप्यसद्भूतव्यवहारनयेन । ='जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार हो' ऐसा वचनात्मक द्रव्य नमस्कार भी असद्भूतव्यवहारनयसे होता है।

प्र. सा./ता. वृ./१८९/२५३/११ द्रव्यकर्माण्यात्मा करोति भुङ्क्ते चेत्यशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकासद्भूतव्यवहारनयो भण्यते । =आत्मा द्रव्यकर्मको करता है और उनको भोगता है, ऐसा जो अशुद्ध द्रव्यका निरूपण, उसरूप असद्भूत व्यवहारनय कहा जाता है। (विशेष दे० आगे उपचरित व अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयके उदाहरण)

पं. ध./पू./५२९-५३० अपि चासद्भूतादिव्यवहारान्तो नयश्च भवति यथा। अन्यद्रव्यस्य गुणाः संजायन्ते बलात्तदन्यत्र ।५२९। स यथा वर्णादिमतो मूर्तद्रव्यस्य कर्म किल मूर्तम्। तत्संयोगत्वादिह मूर्ताः क्रोधादयोऽपि जीवभवाः ।५३०। =जिसके कारण अन्य द्रव्यके गुण बलपूर्वक अर्थात् उपचारसे अन्य द्रव्यके कहे जाते हैं, वह असद्भूत व्यवहारनय है ।५२९। जैसे कि वर्णादिमान मूर्तद्रव्यके जो मूर्तकर्म हैं, उनके संयोगको देखकर, जीवमें उत्पन्न होनेवाले क्रोधादि भाव भी मूर्त कह दिये जाते हैं ।५३०।

२. इस नयके कारण व प्रयोजन

पं. ध./पू./५३१-५३२ कारणमन्तर्लीना द्रव्यस्य विभावभावशक्तिः स्यात्। सा भवति सहज-सिद्धा केवलमिह जीवपुद्गलयोः ।५३१। फलमागन्तुकभावादुपाधिमात्रं विहाय यावदिह। शेषस्तच्छुद्धगुणः स्यादिति मत्वा सुदृष्टिरिह कश्चित् ।५३२। =इस नयमें कारण वह वैभाविकी शक्ति है, जो जीव पुद्गलद्रव्यमें अन्तर्लीन रहती है (और जिसके कारण वे परस्परमें बन्धको प्राप्त होते हुए संयोगी द्रव्योंका निर्माण करते हैं।) ।५३१। और इस नयको माननेका फल यह है कि क्रोधादि विकारी भावोंको परका जानकर, उपाधि मात्रको छोड़कर, शेष जीवके शुद्धगुणोंको स्वीकार करता हुआ कोई जीव सम्यग्दृष्टि हो सकता है ।५३२। (और भी दे० उपचार/४/६)

३. असद्भूत व्यवहारनयके भेद

आ. प./१० असद्भूतव्यवहारो द्विविधः उपचरितानुपचरितभेदात्। =असद्भूत व्यवहारनय दो प्रकार है—उपचरित असद्भूत और अनुपचरित असद्भूत। (न. च./श्रुत/२५); (पं. ध./पू./५३४)।

दे० उपचार—(असद्भूत नामके उपनयके स्वजाति, विजाति आदि २७ भेद)

५. अनुपचरित असद्भूत निर्देश

१. भिन्न द्रव्योंमें अभेदकी अपेक्षा लक्षण व उदाहरण

आ. प./१० संश्लेषसहितवस्तुसंबन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य शरीरमिति। =संश्लेष सहित वस्तुओंके सम्बन्धको विषय करनेवाला अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। जैसे—'जीवका शरीर है' ऐसा कहना। (न. च./श्रुत/पृ. २५)

नि. सा./ता. वृ./१८ आसन्नगतानुपचरितासद्भूतव्यवहारनयाद् द्रव्यकर्मणां कर्ता तत्फलरूपाणां सुखदुःखानां भोक्ता च...अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण नोकर्मणां कर्ता। =आत्मा निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे द्रव्यकर्मोंका कर्ता और उसके फलरूप सुख-दुःखका भोक्ता है तथा नोकर्म अर्थात् शरीरका भी कर्ता है। (स. सा./ता. वृ./२२ की प्रक्षेपक गाथाकी टीका/४६/२१); (पं. का./ता. वृ./२७/६०/२१); (द्र. सं./टी./८/२१/४; ९/२३/४)।

पं. का./ता. वृ./२७/६०/१५ अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यप्राणैश्च यथासंभवं जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वश्चेति जीवो। =अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे यथा सम्भव द्रव्यप्राणोंके द्वारा जीता है, जीवेगा, और पहले जीता था, इसलिए आत्मा जीव कहलाता है। (द्र. सं./टी./३/११/६); (न. च. वृ./११३)

पं. का./ता. वृ./५८/१०६/१४ जीवस्यौदयिकादिभावचतुष्टयमनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यकर्मकृतमिति। =जीवके औदयिक आदि चार भाव अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे कर्मकृत हैं।

प्र. सा./ता. वृ./परि./३६९/११ अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन द्व्यणुकादिस्कन्धसंश्लेषसम्बन्धस्थितपरमाणुवदौदारिकशरीरे वीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकदेहस्थितम्। =अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे, द्वि अणुक आदि स्कन्धोंमें संश्लेषसम्बन्धरूपसे स्थित परमाणुकी भाँति अथवा वीतराग सर्वज्ञकी भाँति, यह आत्मा औदारिक आदि शरीरोंमेंसे किसी एक विवक्षित शरीरमें स्थित है। (प. प्र./टी./१/२९/३३/१)।

द्र. सं./टी./७/२०/१ अनुपचरितासद्भूतव्यवहारान्मूर्तो। =अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे यह जीव मूर्त है। (पं. का./ता. वृ./२७/५७/१)।

प. प्र./टी./७/१३/२ अनुपचरितासद्भूतव्यवहारसंबन्धः द्रव्यकर्मनोकर्मरहितम्।

प. प्र./टी./१/१/६/८ द्रव्यकर्मदहनमनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन।

प. प्र./टी./१/१४/२१/१७ अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन देहादभिन्नं। =अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे जीव द्रव्यकर्म व नोकर्मसे रहित है, द्रव्यकर्मोंका दहन करनेवाला है, देहसे अभिन्न है।

और भी देखो नय/V/४/२/३—(व्यवहार सामान्यके उदाहरण)।

२. विभाव भावकी अपेक्षा लक्षण व उदाहरण

पं. ध./पू./५४६ अपि वासद्भूतो योऽनुपचरिताख्यो नयः स भवति यथा। क्रोधाद्या जीवस्य हि विवक्षिताश्चेदबुद्धिभवाः। =अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय, अबुद्धि पूर्वक होनेवाले क्रोधादिक विभावभावोंको जीवका कहता है।

३. इस नयका कारण व प्रयोजन

पं. ध./पू./५४७-५४८ कारणमिह यस्य सतो या शक्तिः स्याद्विभावभावमयी। उपयोगदशाविष्टा सा शक्तिः स्यात्तदाप्यनन्यमयी ।५४७।

फलमागन्तुकभावाः स्वपरनिमित्ता भवन्ति यावन्तः । क्षणिकत्वान्नादेया इति बुद्धिः स्यादनात्मधर्मत्वात् ।५४८। – इस नयकी प्रवृत्तिमें कारण यह है कि उपयोगात्मक दशामें जीवकी वैभाविक शक्ति उसके साथ अनन्यमयरूपसे प्रतीत होती है ।५४७। और इसका फल यह है कि क्षणिक होनेके कारण स्व-परनिमित्तक सर्व ही आगन्तुक भावोंमें जीवकी हेय बुद्धि हो जाती है ।५४८।

९. उपचरित असद्भूत व्यवहार निर्देश

१. भिन्न द्रव्योंमें अभेदकी अपेक्षा लक्षण व उदाहरण

आ. प./१० संश्लेषरहितवस्तुसंबन्धविषय उपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा—देवदत्तस्य धनमिति । – संश्लेष रहित वस्तुओंके सम्बन्धको विषय करनेवाला उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है । जैसे—देवदत्तका धन ऐसा कहना । (न. च./श्रुत/२५) ।

आ. प./५ असद्भूतव्यवहार एवोपचारः । उपचारादप्युपचारं यः करोति स उपचरितासद्भूतव्यवहारः । – असद्भूत व्यवहार ही उपचार है । उपचारका भी जो उपचार करता है वह उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है । (न. च./श्रुत/२६) (विशेष दे. उपचार) ।

नि. सा./ता. वृ./१८/उपचरितासद्भूतव्यवहारेण घटपटशकटादीनां कर्ता । – उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे आत्मा घट, पट, रथ आदिका कर्ता है । (द्र. सं./टी./८/२१/५ ।

प्र. सा./ता. वृ./परि /३६६/१३ उपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन काष्ठासनाद्युपविष्टदेवदत्तवत्समवशरणस्थितवीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकग्रामगृहादिस्थितम् । – उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे यह आत्मा, काष्ठ, आसन आदिपर बैठे हुए देवदत्तकी भाँति, अथवा समवशरणमें स्थित वीतराग सर्वज्ञकी भाँति, विवक्षित किसी एक ग्राम या घर आदिमें स्थित है ।

द्र. सं./टी /१९/५७/१० उपचरितासद्भूतव्यवहारेण मोक्षशिलायां तिष्ठन्तीति भण्यते ।

द्र. सं./टी./९/२३/१ उपचरितासद्भूतव्यवहारेणेष्टानिष्टपञ्चेन्द्रियविषयजनितसुखदुःखं भुङ्क्ते ।

द्र.सं./टी./४५/१९६/११ योऽसौ बहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयादिपरित्यागः स उपचरितासद्भूतव्यवहारेण । – उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे सिद्ध जीव मोक्षशिलापर तिष्ठते हैं । जीव इष्टानिष्ट पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न सुखदुःखको भोगता है । बाह्यविषयों—पंचेन्द्रियके विषयोंका त्याग कहना भी उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे है ।

२. विभाव भावोंकी अपेक्षा लक्षण व उदाहरण

पं. ध./पू./५४९ उपचरितोऽसद्भूतो व्यवहाराख्यो नयः स भवति यथा । क्रोधाद्याः औदयिकाश्चेद्बुद्धिजा विवक्ष्याः स्युः ।५४९। – उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे बुद्धिपूर्वक होनेवाले क्रोधादि विभावभाव भी जीवके कहे जाते हैं ।

३. इस नयका कारण व प्रयोजन

पं.ध /पू./५५०-५५१ बीजं विभावभावाः स्वपरोभयहेतवस्तथा नियमात् । सत्यपि शक्तिविशेषे न परनिमित्ताद्विना भवन्ति यतः ।५५०। तत्फलमविनाभावात्साध्यं तदबुद्धिपूर्वका भावाः । तत्सत्तामात्रं प्रति साधनमिह बुद्धिपूर्वका भावाः ।५५१। – उपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृत्तिमें कारण यह है कि उक्त क्रोधादिकरूप विभावभाव नियमसे स्व व पर दोनोंके निमित्तसे होते हैं; क्योंकि शक्तिविशेषके रहनेपर भी वे बिना निमित्तके नहीं हो सकते ।५५०। और इस नयका फल यह है कि बुद्धिपूर्वकके क्रोधादि भावोंके साधनसे अबुद्धिपूर्वकके क्रोधादिभावोंकी सत्ता भी साध्य हो जाती है, अर्थात् सिद्ध हो जाती है ।

६. व्यवहार नयकी कथंचित् गौणता

१. व्यवहारनय असत्यार्थ है तथा इसका हेतु

स. सा./मू /११ ववहारोऽभूयत्थो । – व्यवहारनय अभूतार्थ है । (न. च./श्रुत/३०) ।

आप्त. मी./४९ संवृत्तिश्चेन्मृषैवैषा परमार्थविपर्ययात् ।४९। – संवृत्ति अर्थात् व्यवहार प्रवृत्तिरूप उपचार मिथ्या है । क्योंकि यह परमार्थसे विपरीत है ।

ध. १/१,१,३७/२६३/८ अथवा नेदं व्याख्यानं समीचीनं । – (द्रव्येन्द्रियोंके सद्भावकी अपेक्षा केवलीको पंचेन्द्रिय कहने रूप व्यवहारनयके) उक्त व्याख्यानको ठीक नहीं समझना ।

न. च /श्रुत/२९-३० योऽसौ भेदोपचारलक्षणोऽर्थः सोऽपरमार्थः । अभेदानुपचारस्यार्थस्यापरमार्थत्वात् । व्यवहारोऽपरमार्थप्रतिपादकत्वादभूतार्थः । – जो यह भेद और उपचार लक्षणवाला पदार्थ है, सो अपरमार्थ है; क्योंकि, अभेद व अनुपचाररूप पदार्थको ही परमार्थपना है । व्यवहार नय उस अपरमार्थ पदार्थका प्रतिपादक होनेसे अभूतार्थ है । (पं. ध./पू./५२२) ।

पं. ध./पू./६३१,६३५ ननु च व्यवहारनयो भवति स सर्वोऽपि कथमभूतार्थः । गुणपर्ययवद्द्रव्यं यथोपदेशात्तथानुभूतेश्च ।६३१। तदसत् गुणोऽस्ति यतो न द्रव्यं नोभयं न तद्योगः । केवलमद्वैतं सद् भवतु गुणो वा तदेव सद्द्रव्यम् ।६३५। – प्रश्न—सब ही व्यवहारनयको अभूतार्थ क्यों कहते हो, क्योंकि द्रव्य जैसे व्यवहारोपदेशसे गुणपर्यायवाला कहा जाता है, वैसा ही अनुभवसे ही गुणपर्यायवाला प्रतीत होता है । ।६३१। उत्तर—निश्चय करके वह 'सत्' न गुण, न द्रव्य है, न उभय है और न उन दोनोंका योग है किन्तु केवल अद्वैत सत् है । उसी सतको चाहे गुण मान लो अथवा द्रव्य मान लो, परन्तु वह भिन्न नहीं है ।६३५।

पं. का./पं. हेमराज/४५ लोक व्यवहारसे कुछ वस्तुका स्वरूप सधता नहीं ।

मो. मा प्र /७/३६६/८ व्यवहारनय स्वद्रव्य परद्रव्यकौं वा तिनके भावनिकौं वा कारणकार्यादिककौं काहूकौं काहूविषै मिलाय निरूपण करै है । सो ऐसे श्रद्धानतै मिथ्यात्व है । तातै याका त्याग करना ।

मो. मा. प्र /७/४०७/२ करणानुयोगविषै भी कहीं उपदेशकी मुख्यता लिये उपदेश हो है, ताकौ सर्वथा तैसैं ही न मानना ।

२. व्यवहारनय उपचार मात्र है

स. सा./मू./१०५ जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं । जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण । – जीवको निमित्तरूप होनेसे कर्मबन्धका परिणाम होता है । उसे देखकर, 'जीवने कर्म किये हैं' यह उपचार मात्रसे कहा जाता है । (स. सा/आ./१०७) ।

स्या. म./२८/३१२/८ पर उद्धृत—"तथा च वाचकमुख्यः" लौकिकसमउपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः । – वाचकमुख श्री उमास्वामीने (तत्त्वार्थाधिगमभाष्य/१/३५ में) कहा है, कि लोक व्यवहारके अनुसार तथा उपचारप्राय विस्तृत व्याख्यानको उपचार कहते हैं ।

न. दी./१/§१४/१२ चक्षुषा प्रमीयत इत्यादिव्यवहारे पुनरुपचारः शरणम् । – 'आँखोंसे जानते हैं' इत्यादि व्यवहार तो उपचारसे प्रवृत्त होता है ।

पं. ध./पू./५२१ पर्यायार्थिक नय इति वा व्यवहार एव नामेति । एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचारमात्रः स्यात् ।५२१। – पर्यायार्थिक नय और व्यवहारनय दोनों ही एकार्थवाची हैं, क्योंकि सकल व्यवहार उपचार मात्र होता है ।

पं. ध./उ./११३ तत्राद्वैतेऽपि यद्द्वैतं तद्द्विधाप्यौपचारिकम् । तत्राद्यं स्वांशसंकल्पश्चेत्सोपाधि द्वितीयकम् । – अद्वैतमें दो प्रकारसे द्वैत

किया जाता है—पहिला तो अभेद द्रव्यमें गुण गुणी रूप अंश या भेद कल्पनाके द्वारा तथा दूसरा सोपाधिक अर्थात भिन्न द्रव्योंमें अभेद-रूप। ये दोनों ही द्वैत औपचारिक हैं।

और भी देखो उपचार/५ (उपचार कोई पृथक् नय नहीं है। व्यवहारका नाम ही उपचार है)।

मो. मा. प्र./७/३६६/३ उपचार निरूपण सो व्यवहार। (मो. मा. प्र./ ७/३६६/११);

३. व्यवहारनय व्यभिचारी है

स. सा./पं. जयचन्द/१२/क. ६ व्यवहारनय जहाँ आत्माको अनेक भेद-रूप कहकर सम्यग्दर्शनको अनेक भेदरूप कहता है, वहाँ व्यभिचार दोष आता है, नियम नहीं रहता।

और भी देखो नय/V/८/२ व्यभिचारी होनेके कारण व्यवहारनय निषिद्ध है।

४. व्यवहारनय लौकिक रूढ़ि है

स. सा./आ./८४ कुलाल: कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादि-रूढोऽस्ति तावद्व्यवहारः। —कुम्हार कलशको बनाता है तथा भोगता है ऐसा लोगोंका अनादिसे प्रसिद्ध व्यवहार है।

पं. ध./पू./५६७ अस्ति व्यवहारः किल लोकानामयमलब्धबुद्धित्वात्। योऽयं मनुजादिवपुर्भवति सजीवस्ततोऽप्यनन्यत्वात्। —अलब्धबुद्धि होनेके कारण लोगोंका यह व्यवहार होता है, कि जो ये मनुष्यादिका शरीर है, वह जीव है। (पं. ध./उ./५६३)।

और भी देखो नय V/४/२/७ में स.म.–(व्यवहार लोकानुसार प्रवर्तता है)।

५. व्यवहारनय अध्यवसान है

स. सा./आ./२७२ निश्चयनयेन पराश्रितं समस्तमध्यवसानं बन्धहेतुत्वे मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव किल प्रतिषिद्धः, तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात्। —बन्धका हेतु होनेके कारण, मुमुक्षु जनोंको जो निश्चयनयके द्वारा पराश्रित समस्त अध्यवसानका त्याग करनेको कहा गया है, सो उससे वास्तवमें व्यवहारनयका ही निषेध कराया है; क्योंकि, (अध्यवसान की भाँति) व्यवहारनयके भी पराश्रितता समान ही है।

६. व्यवहारनय कथन मात्र है

स. सा./मू./गा. ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं। णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो।७। पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी। मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई।५८। तह…जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो।५९। —ज्ञानीके चारित्र है, दर्शन है, ज्ञान है, ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है। निश्चयसे तो न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र है।७। मार्गमें जाते हुए पथिकको लुटता देखकर ही व्यवहारी जन ऐसा कहते हैं कि यह मार्ग लुटता है। वास्तवमें मार्ग तो कोई लुटता नहीं है।५८। (इसी प्रकार जीवमें कर्म नोकर्मोंके वर्णादिका संयोग देखकर) जिनेन्द्र भगवान्‌ने व्यवहारनयसे ऐसा कह दिया है कि यह वर्ण (तथा देहके संस्थान आदि) जीवके हैं।५९।

स. सा./आ./४१४ द्विविधं द्रव्यलिङ्गं भवति मोक्षमार्ग इति प्ररूपण-प्रकारः, स केवलं व्यवहार एव न परमार्थः। —श्रावक व श्रमणके लिंग-के भेदसे दो प्रकारका मोक्षमार्ग होता है, यह केवल प्ररूपण करनेका प्रकार या विधि है। वह केवल व्यवहार ही है, परमार्थ नहीं।

७. व्यवहारनय साधकतम नहीं है

प्र. सा./त. प्र./१८९ निश्चयनय एव साधकतमो न पुनरशुद्धद्योतको व्यवहारनयः। —निश्चयनय ही साधकतम है, अशुद्धका द्योतन करनेवाला व्यवहारनय नहीं।

देखो नय/V/६/१ (व्यवहारनयसे परमार्थवस्तुकी सिद्धि नहीं होती)।

८. व्यवहारनय सिद्धान्त विरुद्ध है तथा नयाभास है

पं. ध./पू./श्लोक नं० ननु चासद्भूतादिर्भवति स यत्रेत्यतद्गुणारोपः। दृष्टान्तादपि च यथा जीवो वर्णादिमानिहास्त्विति चेत्।५५२। तन्न यतो न नयास्ते किन्तु नयाभाससंज्ञकाः सन्ति। स्वयमप्यतद्गुण-त्वादव्यवहाराविशेषतो न्यायात्।५५३। सोऽयं व्यवहारः स्याद-व्यवहारो यथापसिद्धान्तात्। अप्यपसिद्धान्तत्वं नासिद्धं स्यादनेक-धर्मित्वात्।५६८। अथ चेद्घटकर्तासौ घटकारो जनपदोक्तिलेशोऽ-यम्। दुर्वारो भवतु तदा का नो हानिर्यदा नयाभासः।५७९। —प्रश्न—दूसरी वस्तुके गुणोंको दूसरी वस्तुमें आरोपित करनेको असद्भूत व्यवहारनय कहते हैं (दे० नय/V/५/४-६)। जैसे कि जीवको वर्णादिमान कहना?।५५२। उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि स्वयं अतद्गुण होनेसे, न्यायानुसार अव्यवहारके साथ कोई भी विशेषता न रखनेके कारण, वे नय नहीं हैं, किन्तु नयाभास संज्ञक हैं।५५३। ऐसा व्यवहार क्योंकि सिद्धान्त विरुद्ध है, इसलिए अव्यव-हार है। इसका अपसिद्धान्तपना भी असिद्ध नहीं है, क्योंकि यहाँ उपरोक्त दृष्टान्तमें जीव व शरीर ये दो भिन्न-भिन्न धर्मी हैं पर इन्हें एक कहा जा रहा है।५६८। प्रश्न—कुम्भकार घड़ेका कर्ता है, ऐसा जो लोकव्यवहार है वह दुर्निवार हो जायेगा अर्थात उसका लोप हो जायेगा?।५७९। उत्तर—दुर्निवार होता है तो होओ, इसमें हमारी क्या हानि है; क्योंकि वह लोकव्यवहार तो नया-भास है। (५७९)

९. व्यवहारनयका विषय सदा गौण होता है

स. सि./५/२२/२९२/४ अध्यारोप्यमाणः कालव्यपदेशस्तद्व्यपदेशनिमि-त्तस्य कालस्यास्तित्वं गमयति। कुतः; गौणस्य मुख्यापेक्षत्वात्। —(ओदनपाक काल इत्यादि रूपसे) जो काल संज्ञाका अध्यारोप होता है, वह उस संज्ञाके निमित्तभूत मुख्यकालके अस्तित्वका ज्ञान कराता है; क्योंकि गौण व्यवहार मुख्यकी अपेक्षा रखता है।

ध.४/१,५,१४५/४०३/३ के वि आइरिया…कज्जे कारणोवयारमवलंबिय बादरट्ठिदीए चेय कम्मट्ठिदिसण्णमिच्छंति, तन्न घटते, 'गौणमुख्य-योर्मुख्ये संप्रत्यय' इति न्यायात्। —कितने ही आचार्य कार्यमें कारणका उपचारका अवलम्बन करके बादरस्थितिकी ही 'कर्म-स्थिति' यह संज्ञा मानते हैं; किन्तु यह कथन घटित नहीं होता है; क्योंकि, 'गौण और मुख्यमें विवाद होनेपर मुख्यमें ही संप्रत्यय होता है' ऐसा न्याय है।

न. दी./२/§१२/३४ इदं चामुख्यप्रत्यक्षम् उपचारसिद्धत्वात्। वस्तुतस्तु परोक्षमेव मतिज्ञानत्वात्। —यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष अमुख्य अर्थात् गौण प्रत्यक्ष है; क्योंकि उपचारसे ही इसके प्रत्यक्षपनेकी सिद्धि है। वस्तुतः तो यह परोक्ष ही है; क्योंकि यह मतिज्ञानरूप है। (जिसे इन्द्रिय व बाह्यपदार्थ सापेक्ष होनेके कारण परोक्ष कहा गया है।)

न.दी./३/§३०/७५ परोपदेशवाक्यमेव परार्थानुमानमिति केचित्; त एवं प्रष्टव्याः; तत्किं मुख्यानुमानम्। अथ गौणानुमानम्। इति, न तावन्मुख्यानुमानम् वाक्यस्याज्ञानरूपत्वात्। गौणानुमानं तद्वाक्य-मिति त्वनुमन्यामहे, तत्कारणे तद्व्यपदेशोपपत्तेरायुर्घृतमित्यादि-वत्। —'(पंचावयव समवेत) परोपदेश वाक्य ही परार्थानुमान है', ऐसा किन्हीं (नैयायिकों) का कहना है। पर उनका यह कहना ठीक नहीं है। हम उनसे यह पूछते हैं वह वाक्य मुख्य अनुमान है या कि गौण अनुमान है? मुख्य तो वह हो नहीं सकता; क्योंकि वाक्य अज्ञानरूप है। यदि उसे गौण कहते हो तो, हमें स्वीकार है; क्योंकि ज्ञानरूप मुख्य अनुमानके कारण ही उसमें (उपचार या व्यवहारसे) यह व्यपदेश हो सकता है। जैसे 'घी आयु है' ऐसा व्यपदेश होता है। प्रमाणमीमांसा (सिंघी ग्रन्थमाला कलकत्ता/ २/१/२)।

और भी दे० नय/V/९/२/३ (निश्चय मुख्य है और व्यवहार गौण)।

१०. शुद्ध दृष्टिमें व्यवहारको स्थान नहीं

नि.सा./ता.वृ./४७/क ७१ प्रागेव शुद्धता येषां सुधियां कुधियामपि। नयेन केनचित्तेषां भिदां कामपि वेद्म्यहम् ।७१। —सुबुद्धि हो या कुबुद्धि अर्थात् सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि, सबमें ही जब शुद्धता पहले ही से विद्यमान है, तब उनमें कुछ भी भेद मैं किस नयसे करूँ।

११. व्यवहारनयका विषय निष्फल है

स.सा./आ./२६६ यदेतदध्यवसानं तत्सर्वमपि परभावस्य परस्मिन्नव्याप्रियमाणत्वेन स्वार्थक्रियाकारित्वाभावात् खकुसुमं लुनामीत्यध्यवसानवन्मिथ्यारूपं केवलमात्मनोऽनर्थायैव। —(मैं पर जीवोंको सुखी दुखी करता हूँ) इत्यादि जो यह अध्यवसान है वह सभी मिथ्या है, क्योंकि परभावका परमें व्यापार न होनेसे स्वार्थक्रियाकारीपन नहीं है, परभाव परमें प्रवेश नहीं करता। जिस प्रकार कि 'मैं आकाशके फूल तोडता हूँ' ऐसा कहना मिथ्या है तथा अपने अनर्थके लिए है, परका कुछ भी करनेवाला नहीं।

पं.ध./उ./५६३-५६४ तद्यथा लौकिकी रूढिरस्ति नानाविकल्पसात्। निःसारैराश्रिता पुम्भिरथानिष्टफलप्रदा ।५६३। अफलानिष्टफला हेतुशून्या योगापहारिणी। दुस्त्याज्या लौकिकी रूढिः कैश्चिद्दुष्कर्मपाकतः ।५६४। —अनेक विकल्पोंवाली यह लौकिक रूढि है और वह निस्सार पुरुषों द्वारा आश्रित है तथा अनिष्ट फलको देनेवाली है ।५६३। यह लौकिकी रूढि निष्फल है, दुष्फल है, युक्तिरहित है, अन्वर्थ अर्थसे असम्बद्ध है, मिथ्याकर्मके उदयसे होती है तथा किन्हींके द्वारा दुस्त्याज्य है ।५६४। (पं.ध./पू./५६३)।

१२. व्यवहारनयका आश्रय मिथ्यात्व है

स.सा./आ./४१४ ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते ते समयसारमेव न संचेतयन्ते। —जो व्यवहारको ही, परमार्थ बुद्धिसे अनुभव करते हैं, वे समयसारका ही अनुभव नहीं करते। (पु.सि.उ./६)।

प्र.सा./त.प्र./९४ ते खलूच्छलितनिरर्गलैकान्तदृष्टयो मनुष्य एवाहमेष ...मनुष्यव्यवहारमाश्रित्य रज्यन्तो द्विषन्तश्च परद्रव्येण कर्मणा संगतत्वात्परसमया जायन्ते। —वे जिनकी निरर्गल एकान्त दृष्टि उछलती है, ऐसे, 'यह मैं मनुष्य ही हूँ', ऐसे मनुष्य-व्यवहारका आश्रय करके रागी द्वेषी होते हुए परद्रव्यरूप कर्मके साथ संगतताके कारण वास्तवमें परसमय होते हैं।

प्र.सा./त.प्र./१९० यो हि नाम शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयनिरपेक्षोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहारनयोपजनितमोहः सन्...परद्रव्ये ममत्वं न जहाति स खलु... उन्मार्गमेव प्रतिपद्यते। —जो आत्मा शुद्ध द्रव्यके निरूपणस्वरूप निश्चयनयसे निरपेक्ष रहकर अशुद्ध द्रव्यके निरूपणस्वरूप व्यवहारनयसे जिसे मोह उत्पन्न हुआ है, ऐसा वर्तता हुआ, परद्रव्यमें ममत्व नहीं छोड़ता है वह आत्मा वास्तवमें उन्मार्गका ही आश्रय लेता है।

पं.ध./पू./६२८ व्यवहारः किल मिथ्या स्वयमपि मिथ्योपदेशकश्च यतः। प्रतिषेध्यस्तस्मादिह मिथ्यादृष्टिस्तदर्थदृष्टिश्च। —स्वयमेव मिथ्या अर्थका उपदेश करनेवाला होनेके कारण व्यवहारनय निश्चय करके मिथ्या है। तथा इसके अर्थपर दृष्टि रखनेवाला मिथ्यादृष्टि है। इसलिए यह नय हेय है।

दे० कर्ता/३ (एक द्रव्यको दूसरेका कर्ता कहना मिथ्या है)।

कारक/४ (एक द्रव्यको दूसरेका बताना मिथ्या है)।

कारण/III/२/१२ (कार्यको सर्वथा निमित्ताधीन कहना मिथ्या है)।

दे० नय/V/३/३ (निश्चयनयका आश्रय करनेवाले ही सम्यग्दृष्टि होते हैं, व्यवहारका आश्रय करनेवाले नहीं।)

१३. व्यवहारनय हेय है

मो.पा./मू./३२ इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं। —(जो व्यवहारमें जागता है सो आत्माके कार्यमें सोता है। गा. ३१) ऐसा जानकर योगी व्यवहारको सर्व प्रकार छोड़ता है ।३२।

प्र.सा./त.प्र./१४५ प्राणचतुष्काभिसंबन्धत्वं व्यवहारजीवत्वहेतुर्विभक्तव्योऽस्ति। —इस व्यवहार जीवत्वकी कारणरूप जो चार प्राणोंकी संयुक्तता है, उससे जीवको भिन्न करना चाहिए।

स.सा./आ./११ अतः प्रत्यगात्मदर्शिभिर्व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः। —अतः कर्मोंसे भिन्न शुद्धात्माको देखनेवालोंको व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।

प्र.सा./ता.वृ./१८९/२५३/१२ इदं नयद्वयं तावदस्ति। किन्त्वत्र निश्चयनय उपादेयः न चासद्भूतव्यवहारः। —यद्यपि नय दो है, किन्तु यहाँ निश्चयनय उपादेय है, असद्भूत व्यवहारनय नहीं। (पं.ध./पू./६३०)

और भी दे० आगे नय/V/९/२ (दोनों नयोंके समन्वयमें इस नयका कथंचित् हेयपना)।

और भी दे० आगे नय/V/८ (इस नयको हेय कहनेका कारण व प्रयोजन)

७. व्यवहारनयकी कथंचित् प्रधानता

१. व्यवहारनय सर्वथा निषिद्ध नहीं है

ध. १/१,१,३०/२३०/४ प्रमाणाभावे वचनाभावतः सकलव्यवहारोच्छित्तिप्रसङ्गात्। अस्तु चेन्न, वस्तुविषयविधिप्रतिषेधयोरप्यभावप्रसङ्गात्। अस्तु चेन्न, तथानुपलम्भात्। —प्रमाणका अभाव होनेपर वचनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, और उसके बिना सम्पूर्ण लोकव्यवहारके विनाशका प्रसंग आता है। प्रश्न—यदि लोकव्यवहारका विनाश होता है तो हो जाओ? उत्तर—नहीं, क्योंकि ऐसा माननेपर वस्तु विषयक विधिप्रतिषेधका भी अभाव हो जाता है। प्रश्न—वह भी हो जाओ? उत्तर—नहीं, क्योंकि वस्तुका विधि प्रतिषेध रूप व्यवहार देखा जाता है। (और भी दे० नय/V/९/३)

स.सा./ता.वृ./३५६-३६५/४४७/१५ ननु सौगतोऽपि ब्रूते व्यवहारेण सर्वज्ञः; तस्य किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति। तत्र परिहारमाह—सौगतादिमते यथा निश्चयापेक्षया व्यवहारो मृषा, तथा व्यवहाररूपेणापि व्यवहारो न सत्य इति, जैनमते पुनर्व्यवहारनयो यद्यपि निश्चयापेक्षया मृषा तथापि व्यवहाररूपेण सत्य इति। यदि पुनर्लोकव्यवहाररूपेणापि सत्यो न भवति तर्हि सर्वोऽपि लोकव्यवहारो मिथ्या भवति, तथा सत्यतिप्रसङ्गः। एवमात्मा व्यवहारेण परद्रव्यं जानाति पश्यति निश्चयेन पुनः स्वद्रव्यमेवेति। —प्रश्न—सौगत मतवाले (बौद्ध जन) भी सर्वज्ञपना व्यवहारसे मानते हैं, तब आप उनको दूषण क्यों देते हैं (क्योंकि, जैन मतमें भी परपदार्थोंका जानना व्यवहारनयसे कहा जाता है)? उत्तर—इसका परिहार करते हैं—सौगत आदि मतोंमें, जिस प्रकार निश्चयकी अपेक्षा व्यवहार झूठ है, उसी प्रकार व्यवहाररूपसे भी वह सत्य नहीं है। परन्तु जैन मतमें व्यवहारनय यद्यपि निश्चयकी अपेक्षा मृषा (झूठ) है, तथापि व्यवहार रूपसे वह सत्य है। यदि लोकव्यवहाररूपसे भी उसे सत्य न माना जाये तो सभी लोकव्यवहार मिथ्या हो जायेगा; और ऐसा होनेपर अतिप्रसंग दोष आयेगा। इसलिए आत्मा व्यवहारसे परद्रव्यको जानता देखता है, पर निश्चयनयसे केवल आत्माको ही। (विशेष दे०—केवलज्ञान/६; ज्ञान/I/३/४; दर्शन/२/४)

स.सा./पं. जयचन्द/६ शुद्धता अशुद्धता दोनों वस्तुके धर्म है। अशुद्धनयको सर्वथा असत्यार्थ ही न मानना।...अशुद्धनयको असत्यार्थ कहनेसे ऐसा तो न समझना कि यह वस्तुधर्म सर्वथा ही

नहीं; आकाशके फूलकी तरह असत् है। ऐसे सर्वथा एकान्त माननेसे मिथ्यात्व आता है। (स. सा./पं. जयचन्द/१४)

स. सा./पं. जयचन्द/१२ व्यवहारनयको कथंचित् असत्यार्थ कहा है; यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ दे तो शुभोपयोगरूप व्यवहार छोड़ दे; और चूँकि शुद्धोपयोगकी साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई, इसलिए उलटा अशुभोपयोगमें ही आकर भ्रष्ट हुआ। यथा कथंचित् स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तब नरकादिगति तथा परम्परासे निगोदको प्राप्त होकर संसारमें ही भ्रमण करेगा।

२. निचली भूमिकामें व्यवहार प्रयोजनीय है

स. सा./मू./१२ सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं। ववहार-देसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे। —परमभावदर्शियोंको (अर्थात् शुद्धात्मध्यानरत पुरुषोंको) शुद्धतत्त्वका उपदेश करनेवाला शुद्धनय जानने योग्य है। और जो जीव अपरमभावमें स्थित हैं (अर्थात् बाह्य क्रियाओंका अवलम्बन लेनेवाले हैं) वे व्यवहारनय द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

स. सा./ता. वृ./१२/२६/६ व्यवहारदेशितो व्यवहारनयः पुनः अधस्तन-वार्णिकसुवर्णलाभवत्प्रयोजनवान् भवति। केषां। ये पुरुषाः पुनः अशुद्धे असंयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टि-लक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा स्थिताः, कस्मिन् स्थिताः। जीवपदार्थे तेषामिति भावार्थः। —व्यवहारका उपदेश करनेपर व्यवहारनय प्रथम द्वितीयादि बार पके हुए सुवर्णकी भाँति जो पुरुष अशुद्ध अवस्थामें स्थित अर्थात् भेदरत्नत्रय लक्षणवाले १-७ गुणस्थानोंमें स्थित हैं, उनको व्यवहारनय प्रयोजनवान् है। (मो. मा. प्र./१७/३७२/८)

३. मन्दबुद्धियोंके लिए उपकारी है

ध.१/१,१,३७/२६३/७ सर्वत्र निश्चयनयमाश्रित्य प्रतिपाद्य अत्र व्यवहार-नयः किमित्यवलम्ब्यते इति चेन्नैष दोषः, मन्दमेधसामनुग्रहार्थ-त्वात्। —प्रश्न—सब जगह निश्चयनयका आश्रय लेकर वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन करनेके पश्चात् फिर यहाँपर व्यवहारनयका आलम्बन क्यों लिया जा रहा है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि मन्द-बुद्धि शिष्योंके अनुग्रहके लिए उक्त प्रकारसे वस्तुस्वरूपका विचार किया है। (ध. ४/१,३,५५/१२०/१) (पं.वि./११/८)

ध. १२/४,२,८,३/२८१/२ एवंविहववहारो किमट्ठं कीरदे। सुहेण णाणावरणीयपच्चयपडिबोहणट्ठं कज्जपडिसेहदुवारेण कारणपडि-सेहट्ठं च। —प्रश्न—इस प्रकारका व्यवहार किस लिए किया जाता है? उत्तर—सुखपूर्वक ज्ञानावरणीयके प्रत्ययोंका प्रतिबोध करानेके लिए तथा कार्यके प्रतिषेध द्वारा कारणका प्रतिषेध करनेके लिए भी उपर्युक्त व्यवहार किया जाता है।

स. सा./आ./७ यतोऽनन्तधर्मण्येकस्मिन् धर्मिण्यनिष्णातस्यान्तेवासि-जनस्य तदवबोधविधायिभिः कैश्चिद्धर्मैस्तमनुशासतां सूरिणां धर्म-धर्मिणोः स्वभावतोऽभेदेऽपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शनं, ज्ञानं चारित्रमित्युपदेशः। —क्योंकि अनन्त धर्मों-वाले एक धर्मीमें जो निष्णात नहीं हैं, ऐसे निकटवर्ती शिष्योंको, धर्मीको बतलानेवाले कितने ही धर्मोंके द्वारा उपदेश करते हुए आचार्योंका—यद्यपि धर्म और धर्मीका स्वभावसे अभेद है, तथापि नामसे भेद करके, व्यवहार मात्रसे ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानीके दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। (पु. सि. उ./६), (पं. वि./११/८) (मो. मा. प्र./७/३७२/१५)

४. व्यवहार पूर्वक ही निश्चय तत्त्वका ज्ञान सम्भव है

पं. वि./११/११ मुख्योपचारविवृतिं व्यवहारोपायतो यतः सन्तः। ज्ञात्वा श्रयन्ति शुद्धं तत्त्वमिति व्यवहृतिः पूज्या। —चूँकि सज्जन पुरुष व्यवहारनयके आश्रयसे ही मुख्य और उपचारभूत कथनको जानकर शुद्धस्वरूपका आश्रय लेते हैं, अतएव व्यवहारनय पूज्य है।

स. सा./ता. वृ./८/२०/१४ व्यवहारेण परमार्थो ज्ञायते। —व्यवहारनयसे परमार्थ जाना जाता है।

५. व्यवहारके बिना निश्चयका प्रतिपादन शक्य नहीं

स. सा./मू./८ तर्हि परमार्थ एवैको वक्तव्य इति चेत्। (उत्थानिका)— जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं। तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं।८। —प्रश्न—तब तो एक परमार्थका ही उपदेश देना चाहिए था, व्यवहारका उपदेश किसलिए दिया जाता है? उत्तर—जैसे अनार्यजनको अनार्य भाषाके बिना किसी भी वस्तुका स्वरूप ग्रहण करानेके लिए कोई समर्थ नहीं है, उसी प्रकार व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश देना अशक्य है। (पं. ध./पू./६४१); (मो. मा. प्र./७/३७०/४)

स. सि./१/३३/१४२/३ सर्वसंग्रहेण यत्सत्त्वं गृहीतं तच्चानपेक्षितविशेषं नालं संव्यवहारायेति व्यवहारनय आश्रीयते। —सर्व संग्रहनयके द्वारा जो वस्तु ग्रहण की गयी है, वह अपने उत्तर भेदोंके बिना व्यवहार करानेमें असमर्थ है, इसलिए व्यवहारनयका आश्रय लिया जाता है। (रा. वा./१/३३/६/९६/२२)

६. वस्तुमें आस्तिक्य बुद्धि कराना इसका प्रयोजन है

स्या. म./२८/३१५/२८ पर उद्धृत श्लोक नं. ३ व्यवहारस्तु तामेव प्रति-वस्तु व्यवस्थिताम्। तथैव दृश्यमानत्वाद् व्यापारयति देहिनः। —संग्रहनयसे जानी हुई सत्ताको प्रत्येक पदार्थमें भिन्न रूपसे मानकर व्यवहार करनेको व्यवहारनय कहते हैं। यह नय जीवोंका उन भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें व्यापार कराता है, क्योंकि जगत्में वैसे भिन्न-भिन्न पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

पं. ध./पू./६२४ फलमास्तिक्यमतिः स्यादनन्तधर्मैकधर्मिणस्तस्य। गुणसद्भावे यस्माद्द्रव्यास्तित्वस्य सुप्रतीतत्वात्। —अनन्तधर्मवाले धर्मीके विषयमें आस्तिक्य बुद्धिका होना ही उसका फल है, क्योंकि गुणोंका अस्तित्व माननेपर ही नियमसे द्रव्यका अस्तित्व प्रतीत होता है।

७. वस्तुकी निश्चित प्रतिपत्तिके अर्थ यही प्रधान है

पं. ध./पू./६३७-६३९ ननु चैवं चेन्नियमादादरणीयो नयो हि परमार्थः। किमकिंचित्कारित्वाद्व्यवहारेण तथाविधेन यत.।६३७। नैवं यतो बलादिह विप्रतिपत्तौ च संशयापत्तौ। वस्तुविचारे यदि वा प्रमाण-मुभयावलम्बितज्ज्ञानम्।६३८। तस्मादाश्रयणीयः केषांचित् स नयः प्रसङ्गत्वात्।...।६३९। —प्रश्न—जब निश्चयनय ही वास्तवमें आदर-णीय है तब फिर अकिंचित्कारी और अपरमार्थभूत व्यवहारनयसे क्या प्रयोजन है?।६३७। उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि तत्त्वके सम्बन्धमें विप्रतिपत्ति (विपर्यय) होने पर अथवा संशय आ पड़नेपर, वस्तुका विचार करनेमें वह व्यवहारनय बलपूर्वक प्रवृत्त होता है। अथवा जो ज्ञान निश्चय व व्यवहार दोनों नयोंका अवलम्बन करनेवाला है वही प्रमाण कहलाता है।६३८। इसलिए प्रसंगवश वह किन्हींके लिए आश्रय करने योग्य है।६३९।

८. व्यवहार शून्य निश्चयनय कल्पनामात्र है

अन. ध./१/१००/१०७ व्यवहारपराचीनो निश्चयं यश्चिकीर्षति। बीजा-दिना बिना मूढः स सस्यानि सिसृक्षति।१००। —जो मनुष्य बीज खेत जल खाद आदिके बिना ही धान्य उत्पन्न करना चाहता है, वो व्यवहारसे पराङ्मुख होकर केवल निश्चयनयसे ही कार्य सिद्ध करना चाहता है।

८. व्यवहार व निश्चयकी हेयोपादेयताका समन्वय

१. निश्चयनयकी उपादेयताका कारण व प्रयोजन

स. सा./मू./२७२ णिच्छयणयासिदा मुणिणो पावंति णिव्वाणं। —निश्चयनयके आश्रित मुनि निर्वाणको प्राप्त होते हैं।

नय/V/३/३ (निश्चयनयके आश्रयसे ही सम्यग्दर्शन होता है।)

प. प्र./१/७१ देहहँ पेक्खिवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि। जो अजरामरु बंभपरु सो अप्पाणु मुणेउ ।७१। —हे जीव! तू इस देहके बुढ़ापे व मरणको देखकर भय मत कर। जो वह अजर व अमर परमब्रह्म तत्त्व है उसही को आत्मा मान।

न. च./श्रुत/३२ निश्चयनयस्त्वेकत्वे समुपनीय ज्ञानचैतन्ये संस्थाप्य परमानन्दं समुत्पाद्य वीतरागं कृत्वा स्वयं निवर्तमानो नयपक्षातिक्रान्तं करोति तमिति पूज्यतमः। —निश्चयनय एकत्वको प्राप्त कराके ज्ञानरूपी चैतन्यमें स्थापित करता है। परमानन्दको उत्पन्न कर वीतराग बनाता है। इतना काम करके वह स्वतः निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार वह जीवको नयपक्षसे अतीत कर देता है। इस कारण वह पूज्यतम है।

न. च./श्रुत/६६-७० यथा सम्यग्व्यवहारेण मिथ्याव्यवहारो निवर्तते तथा निश्चयेन व्यवहारविकल्पोऽपि निवर्तते। यथा निश्चयनयेन व्यवहारविकल्पोऽपि निवर्तते तथा स्वपर्यवसितभावेनैकविकल्पोऽपि निवर्तते। एवं हि जीवस्य योऽसौ स्वपर्यवसितस्वभाव स एव नयपक्षातीत। —जिस प्रकार सम्यक्व्यवहारसे मिथ्या व्यवहारकी निवृत्ति होती है, उसी प्रकार निश्चयनयसे व्यवहारके विकल्पोंकी भी निवृत्ति हो जाती है। जिस प्रकार निश्चयनयसे व्यवहारके विकल्पोंकी निवृत्ति होती है उसी प्रकार स्वमें स्थित स्वभावसे निश्चयनयकी एकताका विकल्प भी निवृत्त हो जाता है। इसलिए स्वस्थित स्वभाव ही नयपक्षातीत है। (सू.पा./टी./६/५६/६)।

स. सा./आ./१८०/क.१२२ इदमेवात्र तात्पर्यं हेय. शुद्धनयो न हि। नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्त्यागाद्बन्ध एव हि। —यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है; क्योंकि, उसके अत्यागसे बन्ध नहीं होता है और उसके त्यागसे बन्ध होता है।

प्र. सा./त. प्र./१९१ निश्चयनयापहस्तितमोह···आत्मानमेवात्मत्वेनोपादाय परद्रव्यव्यावृत्तत्वादात्मन्येवैकस्मिन्नग्रे चिन्तां निरुणद्धि खलु···निरोधसमये शुद्धात्मा स्यात्। अतोऽवधार्यते शुद्धनयादेव शुद्धात्मलाभ.। —निश्चयनयके द्वारा जिसने मोहको दूर किया है, वह पुरुष आत्माको ही आत्मरूपसे ग्रहण करता है, और परद्रव्यसे भिन्नत्वके कारण आत्मारूप एक अग्रमें ही चिन्ताको रोकता है (अर्थात् निर्विकल्प समाधिको प्राप्त होता है)। उस एकाग्रचिन्तानिरोधके समय वास्तवमें वह शुद्धात्मा होता है। इससे निश्चित होता है कि शुद्धनयसे ही शुद्धात्माकी प्राप्ति होती है। (प्र.सा./ता. वृ./४१/८१/१६), (प.ध./पू./६६३)।

प्र. सा./ता. वृ./१८९/२५३/१३ ननु रागादीनात्मा करोति भुङ्क्ते चेत्येवं लक्षणो निश्चयनयो व्याख्यात., स कथमुपादेयो भवति। परिहारमाह—रागादीनेवात्मा करोति न च द्रव्यकर्म, रागादय एव बन्धकारणमिति यदा जानाति जीवस्तदा रागद्वेषादिविकल्पजालत्यागेन रागादिविनाशार्थं निजशुद्धात्मानं भावयति। ततश्च रागादिविनाशो भवति। रागादिविनाशे च आत्मा शुद्धो भवति। ···तथैवोपादेयो भण्यते इत्यभिप्रायः। —प्रश्न—रागादिकको आत्मा करता है और भोगता है ऐसा (अशुद्ध) निश्चयका लक्षण कहा गया है। वह कैसे उपादेय हो सकता है? उत्तर—इस शंकाका परिहार करते हैं—रागादिकको ही आत्मा करता (व भोगता है) द्रव्यकर्मोंको नहीं। इसलिए रागादिक ही बन्धके कारण हैं (द्रव्यकर्म नहीं)। ऐसा यह जीव जब जान जाता है तब रागादि विकल्पजालका त्याग करके रागादिकके विनाशार्थ शुद्धात्माकी भावना भाता है। उससे रागादिकका विनाश होता है। और रागादिकका विनाश होनेपर आत्मा शुद्ध हो जाती है। इसलिए इस (अशुद्ध निश्चयनयको भी) उपादेय कहा जाता है।

२. व्यवहारनयके निषेधका कारण

१. अभूतार्थ प्रतिपादक होनेके कारण निषिद्ध है

पं. ध./पू./६२७-२८ न यतो विकल्पमर्थाकृतिपरिणतं यथा वस्तु। प्रतिषेध्यस्य न हेतुश्चेदयथार्थस्तु हेतुरिह तस्य ।६२७। व्यवहारः किल मिथ्या स्वयमपि मिथ्योपदेशकश्च यतः। प्रतिषेध्यस्तस्मादिह मिथ्यादृष्टिस्तदर्थदृष्टिश्च ।६२८। —वस्तुके अनुसार केवल विकल्परूप अर्थाकार परिणत होना प्रतिषेध्यका कारण नहीं है, किन्तु वास्तविक न होनेके कारण इसका प्रतिषेध होता है।६२७। निश्चय करके व्यवहारनय स्वयं ही मिथ्या अर्थका उपदेश करनेवाला है, अतः मिथ्या है। इसलिए यहाँपर प्रतिषेध्य है। और इसके अर्थपर दृष्टि रखनेवाला मिथ्यादृष्टि है।६२८। (विशेष दे० नय/V/६/१)।

२. अनिष्ट फलप्रदायी होनेके कारण निषिद्ध है

प्र. सा./त. प्र./१८९ अतोऽवधार्यते अशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एव। —इससे जाना जाता है कि अशुद्धनयसे अशुद्धआत्माका लाभ होता है।

पं. ध./पू./५६३ तस्मादनुपादेयो व्यवहारोऽतद्गुणे तदारोपः। इष्टफलाभावादिह न नयो वर्णादिमान् यथा जीवः। —इसी कारण, अतद्गुणमें तदारोप करनेवाला व्यवहारनय इष्ट फलके अभावसे उपादेय नहीं है। जैसे कि यहाँ पर जीवको वर्णादिमान् कहना नय नहीं है (नयाभास है)। (विशेष दे० नय/V/६/११)।

३. व्यभिचारी होनेके कारण निषिद्ध है

स. सा./आ./२७७ तत्राचारादीनां ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यानैकान्तिकत्वाद्व्यवहारनयः प्रतिषेध्यः। निश्चयनयस्तु शुद्धस्यात्मनो ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यैकान्तिकत्वात्तत्प्रतिषेधक। —व्यवहारनय प्रतिषेध्य है; क्योंकि (इसके विषयभूत परद्रव्यस्वरूप) आचारांगादि (द्वादशांग श्रुतज्ञान, व्यवहारसम्यग्दर्शन व व्यवहारसम्यग्चारित्र) का आश्रयत्व अनैकान्तिक है, व्यभिचारी है (अर्थात् व्यवहारावलम्बीको निश्चय रत्नत्रय हो अथवा न भी हो) और निश्चयनय व्यवहारका निषेधक है; क्योंकि (उसके विषयभूत) शुद्धात्माके ज्ञानादि (निश्चयरत्नत्रयका) आश्रय एकान्तिक है अर्थात् निश्चित है। (नय/V/६/३) और व्यवहारके प्रतिषेधक हैं।

३. व्यवहारनय निषेधका प्रयोजन

पु. सि. उ./६,७ अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्। व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति।६। माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य। व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ।७। —अज्ञानीको समझानेके लिए ही मुनिजन अभूतार्थ जो व्यवहारनय, उसका उपदेश देते हैं। जो केवल व्यवहार ही को सत्य मानते हैं, उनके लिए उपदेश नहीं है।६। जो सच्चे सिंहको नहीं जानते हैं उनको यदि 'बिलाव जैसा सिंह होता है' यह कहा जाये तो बिलावको ही सिंह मान बैठेंगे। इसी प्रकार जो निश्चयको नहीं जानते उनको यदि व्यवहारका उपदेश दिया जाये तो वे उसीको निश्चय मान लेंगे ।७। (मो. मा. प्र./७/३७२/८)।

स. सा./आ./११ प्रत्यगात्मदर्शिभिर्व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः। —अन्य पदार्थोंसे भिन्न आत्माको देखनेवालोंको व्यवहारनयका अनुसरण नहीं करना चाहिए।

पं./वि./११/८. व्यवहृतिरबोधजनबोधनाय कर्मक्षयाय शुद्धनयः ।— अबोधजनोंको समझानेके लिए ही व्यवहारनय है, परन्तु शुद्धनय कर्मोंके क्षयका कारण है ।

स. सा./ता. वृ./३२४-३२७/४१४/६ ज्ञानी भूत्वा व्यवहारेण परद्रव्यमात्मीयं वदन् सन् कथमज्ञानी भवतीति चेत् । व्यवहारो हि म्लेच्छानां म्लेच्छभाषेव प्राथमिकजनसंबोधनार्थं काल एवानुसर्तव्यः । प्राथमिकजनप्रतिबोधनकालं विहाय कतकफलवदात्मशुद्धकारकात् शुद्धनयाच्च्युतो भूत्वा यदि परद्रव्यमात्मीयं करोतीति तदा मिथ्यादृष्टिर्भवति ।—प्रश्न—ज्ञानी होकर व्यवहारनयसे परद्रव्यको अपना कहनेसे वह अज्ञानी कैसे हो जाता है ? उत्तर—म्लेच्छोंको समझानेके लिए म्लेच्छ भाषाकी भाँति प्राथमिक जनोंको समझानेके समय ही व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य है । प्राथमिकजनोंके सम्बोधनकालको छोड़कर अन्य समयोंमें नहीं । अर्थात् कतकफलकी भाँति जो आत्माकी शुद्धि करनेवाला है, ऐसे शुद्धनयसे च्युत होकर यदि परद्रव्यको अपना करता है तो वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है । (अर्थात् निश्चयनय निरपेक्ष व्यवहार दृष्टिवाला मिथ्यादृष्टि ही सर्वदा सर्वप्रकार व्यवहारका अनुसरण करता है, सम्यग्दृष्टि नहीं ।

४. व्यवहार नयकी उपादेयताका कारण व प्रयोजन

दे. नय/V/७ निचली भूमिकावालोंके लिए तथा मन्दबुद्धिजनोंके लिए यह नय उपकारी है । व्यवहारसे ही निश्चय तत्त्वज्ञानकी सिद्धि होती है तथा व्यवहारके बिना निश्चयका प्रतिपादन भी शक्य नहीं है । इसके अतिरिक्त इस नय द्वारा वस्तुमें आस्तिक्य बुद्धि उत्पन्न हो जाती है ।

श्लो. वा. ४/१/३३/६०/२४६/२८ तदुक्त—व्यवहारानुकूल्येन प्रमाणानां प्रमाणता । नान्यथा बाध्यमानानां, तेषां च तत्प्रसङ्गत' । —लौकिक व्यवहारोंकी अनुकूलता करके ही प्रमाणोंका प्रमाणपना व्यवस्थित हो रहा है, दूसरे प्रकारोंसे नहीं । क्योंकि, वैसा माननेपर तो साध्यमान जो स्वप्न, भ्रान्ति व संशय ज्ञान हैं, उन्हें भी प्रमाणता प्राप्त हो जायेगी ।

न. च./श्रुत/३९ किमर्थं व्यवहारोऽसत्कल्पनानिवृत्यर्थं सद्रत्नत्रयसिद्ध्यर्थं च ।—प्रश्न—अर्थका व्यवहार किसलिए किया जाता है ? उत्तर—असत् कल्पनाकी निवृत्तिके अर्थ तथा सम्यक् रत्नत्रयकी प्राप्तिके अर्थ ।

स. सा./आ./१२ अथ च केषांचित्कदाचित्सोऽपि प्रयोजनवान् । (उत्थानिका) ।…ये तु…अपरमं भावमनुभवन्ति तेषां … व्यवहारनयो … परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात् । उक्तं च—'जइ जिणमय पवज्जह ता मा ववहार णिच्छए मुयह । एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ।

स. सा./आ./४६ व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव । तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात्त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशङ्कमुपमर्दनेन हिंसाभावाद्भवत्येव बन्धस्याभावः । तथा रक्तद्विष्टविमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषविमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः । —१. व्यवहारनय भी किसी किसीको किसी काल प्रयोजनवान् है ।—जो पुरुष अपरमभावमें स्थित है [अर्थात् अनुत्कृष्ट या मध्यमभूमिका अनुभव करते हैं अर्थात् ४-७ गुणस्थान तकके जीवोंको (दे. नय V/७/२)] उनको व्यवहारनय जाननेमें आता हुआ उस समय प्रयोजनवान् है, क्योंकि तीर्थ व तीर्थके फलकी ऐसी ही व्यवस्थिति है । अन्यत्र भी कहा है—हे भव्य जीवो ! यदि तुम जिनमतका प्रवर्तन कराना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयोंको मत छोड़ो; क्योंकि व्यवहारनयके बिना तो तीर्थका नाश हो जायेगा और निश्चयनयके बिना तत्त्वका नाश हो जायेगा । २. जैसे म्लेच्छोंको म्लेच्छभाषा वस्तुका स्वरूप बतलाती है (नय/V/७/५) उसी प्रकार व्यवहारनय व्यवहारी जीवोंको परमार्थका कहने वाला है, इसलिए अपरमार्थभूत होनेपर भी, धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनेके लिए वह (व्यवहारनय) बतलाना न्यायसंगत ही है । परन्तु यदि व्यवहारनय न बतलाया जाय तो, क्योंकि परमार्थसे जीवको शरीरसे भिन्न बताया गया है, इसलिए जैसे भस्मको मसल देनेसे हिंसाका अभाव है, उसी प्रकार त्रसस्थावर जीवोंको निःशंकतया मसल देनेमें भी हिंसाका अभाव ठहरेगा और इस कारण बन्धका ही अभाव सिद्ध होगा । तथा परमार्थसे जीव क्योंकि रागद्वेष मोहसे भिन्न बताया गया है, इसलिए 'रागी द्वेषी मोही जीव कर्मसे बन्धता है, उसे छुड़ाना'—इस प्रकार मोक्षके उपायके ग्रहणका अभाव हो जायेगा । इस प्रकार मोक्षके उपायका अभाव होनेसे मोक्षका ही अभाव हो जायेगा ।

५. निश्चय व्यवहारके विषयोंका समन्वय

१. दोनों नयोंमें विषय विरोध निर्देश

श्लो. वा. ४/१/७/२८/५८५/२ निश्चयनयादनादिपारिणामिकचैतन्यलक्षणजीवत्वपरिणतो जीवः व्यवहारादौपशमिकादिभावचतुष्टयस्वभावः; निश्चयतः स्वपरिणामस्य, व्यवहारतः सर्वेषां; निश्चयनयो जीवत्वसाधन , व्यवहारादौपशमिकादिभावसाधनश्च; निश्चयतः स्वप्रदेशाधिकरणो, व्यवहारतः शरीराद्यधिकरणः; निश्चयतो जीवनसमयस्थितिः व्यवहारतो द्विसमयादिस्थितिरनाद्यवसानस्थितिर्वा; निश्चयतोऽनन्तविधान एव व्यवहारतो नारकादिसंख्येयासंख्येयानन्तविधानश्च ।—निश्चयनयसे तो अनादि पारिणामिक चैतन्यलक्षण जो जीवत्व भाव, उससे परिणत जीव है, तथा व्यवहारनयसे औदयिक औपशमिक आदि जो चार भाव उन स्वभाव वाला जीव है (नय/V/१/३.५.८) । निश्चयसे स्वपरिणामोंका स्वामी व कर्ता भोक्ता है, तथा व्यवहारनयसे सब पदार्थोंका स्वामी व कर्ता भोक्ता है (नय/V/१/३.५.८ तथा नय/V/५) निश्चयसे पारिणामिक भावरूप जीवत्वका साधन है तथा व्यवहारनयसे औदयिक औपशमिकादि भावोंका साधन है । (नय/V/१/५.८) निश्चयसे जीव स्वप्रदेशोंमें अधिष्ठित है (नय/V/१/३), और व्यवहारसे शरीरादिमें अधिष्ठित है (नय/V/५/५) । निश्चयसे जीवनकी स्थिति एक समयमात्र है और व्यवहारनयसे दो समय आदि अथवा अनादि अनन्त स्थिति है । (नय/III/५/७) (नय/IV/३) । निश्चयनयसे जितने जीव हैं उतने ही अनन्त उसके प्रकार हैं, और व्यवहारनयसे नरक तिर्यंच आदि संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रकारका है । (इसी प्रकार अन्य भी इन नयोंके अनेकों उदाहरण यथा योग्य समझ लेना) । (विशेष देखो पृथक्-पृथक् उस उस नयके उदाहरण) (पं. का./ता. वृ. २७/५६-६०) ।

दे. अनेकान्त/५/४ (वस्तु एक अपेक्षासे जैसी है दूसरी अपेक्षासे वैसी नहीं है ।)

२. दोनों नयोंमें स्वरूप विरोध निर्देश

१. इस प्रकार दोनों नय परस्पर विरोधी हैं

मो. मा. प्र./७/३६६/६ निश्चय व्यवहारका स्वरूप तो परस्पर विरोध लिये हैं । जाते समयसार विषै ऐसा कहा है—व्यवहार अभूतार्थ है—और निश्चय है सो भूतार्थ है (नय/V/३/१ तथा नय/V/६/१) ।

नोट – (इसी प्रकार निश्चयनय साधकतम है, व्यवहारनय साधकतम नहीं है। निश्चयनय सम्यक्त्वका कारण है तथा व्यवहारनयके विषयका आश्रय करना मिथ्यात्व है। निश्चयनय उपादेय है और व्यवहारनय हेय है। (नय/V/३ व ६)। निश्चयनय अभेद विषयक है और व्यवहारनय भेद विषयक, निश्चयनय स्वाश्रित है और व्यवहारनय पराश्रित; (नय/V/१ व ४) निश्चयनय निर्विकल्प, एक वचनातीत, व उदाहरण रहित है तथा व्यवहारनय सविकल्प, अनेकों, वचनगोचर व उदाहरण सहित है (नय/V/२/२,५)।

२. निश्चय मुख्य है और व्यवहार गौण

न. च./श्रुत./३२ तर्हि द्वावपि सामान्येन पूज्यतां गतौ। नह्येवं, व्यवहारस्य पूज्यतरत्वान्निश्चयस्य तु पूज्यतमत्वात्। —प्रश्न—(यदि दोनों ही नयोंके अवलम्बनसे परोक्षानुभूति तथा नयातिक्रान्त होनेपर प्रत्यक्षानुभूति होती है) तो दोनों नय समानरूपसे पूज्यताको प्राप्त हो जायेंगे? उत्तर—नहीं, क्योंकि, वास्तवमें व्यवहारनय पूज्यतर है और निश्चयनय पूज्यतम।

पं. ध./उ./८०१ तद् द्विधाथ च वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचरात्। प्रधानं स्वात्मसंबन्धि गुणो यावत् परात्मनि।८०१। —वह वात्सल्य अंग भी स्व और परके विषयके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे जो स्वात्मा सम्बन्धी अर्थात् निश्चय वात्सल्य है वह प्रधान है और जो परात्मा सम्बन्धी अर्थात् व्यवहार वात्सल्य है वह गौण है।८०१।

३. निश्चयनय साध्य है और व्यवहारनय साधक

द्र. सं./टी./१३/३३/६ निजपरमात्मद्रव्यमुपादेयम्…परद्रव्यं हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारनयसाध्यसाधकभावेन मन्यते। —परमात्मद्रव्य उपादेय है और परद्रव्य त्याज्य है, इस तरह सर्वज्ञदेव प्रणीत निश्चय व्यवहारनयको साध्यसाधक भावसे मानता है। (दे. नय/V/७/४)।

४. व्यवहार प्रतिषेध्य है और निश्चय प्रतिषेधक

स. सा/मू./२७२ एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण। —इस प्रकार व्यवहारनयको निश्चयनयके द्वारा प्रतिषिद्ध जान। (पं ध./पू./५९८,६२५,६४३)।

दे. स. सा/आ/१४२/क,७०–८९ का सारार्थ (एक नयकी अपेक्षा जीव बद्ध है तो दूसरेकी अपेक्षा वह अबद्ध है, इत्यादि २० उदाहरणों द्वारा दोनों नयोंका परस्पर विरोध दर्शाया गया है)।

५. दोनोंमें मुख्य गौण व्यवस्थाका प्रयोजन

प्र. सा./त. प्र./१११ यो हि नाम स्वविषयमात्रप्रवृत्ताशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहारनयाविरोधमध्यस्थः शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयापहस्तितमोह सन्… स खलु…शुद्धात्मा स्यात्। —जो आत्मा मात्र अपने विषयमें प्रवर्तमान ऐसे अशुद्धद्रव्यके निरूपणस्वरूप व्यवहारनयमें अविरोधरूपसे मध्यस्थ रहकर, शुद्धद्रव्यके निरूपणस्वरूप निश्चयनयके द्वारा, जिसने मोहको दूर किया है, ऐसा होता हुआ (एकमात्र आत्मामें चित्तको एकाग्र करता है) वह वास्तवमें शुद्धात्मा होता है।

दे० नय/V/८/३ (निश्चय निरपेक्ष व्यवहारका अनुसरण मिथ्यात्व है।)

मो. मा. प्र./७/१९९/पंक्ति जिनमार्गविषै कहीं तौ निश्चयकी मुख्यता लिये व्याख्यान है, ताकौं तौ 'सत्यार्थ ऐसे ही है' ऐसा जानना। बहुरि कहीं व्यवहार नयकी मुख्यता लिये व्याख्यान है, ताकौं, 'ऐसे है नाहीं, निमित्तादि अपेक्षा उपचार किया है' ऐसा जानना। इस प्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है। बहुरि दोऊ नयनिके व्याख्यानकौ सत्यार्थ जानि 'ऐसे भी है और ऐसे भी है' ऐसा भ्रमरूप प्रवर्तनेकरि तौ दोऊ नयनिका ग्रहण करना कह्या नाहीं। (पृ. ३६६/१४)।… नीचली दशाविषैं आपको भी व्यवहार-नय कार्यकारी है; परन्तु व्यवहारको उपचारमात्र मानि वाके द्वारै वस्तुका श्रद्धान ठीक करै तौ कार्यकारी होय। बहुरि जो निश्चयवत् व्यवहारै भी सत्यभूत मानि 'वस्तु ऐसे ही है' ऐसा श्रद्धान करै तौ उलटा अकार्यकारी हो जाय। (पृ.३७२/६) तथा (और भी दे० नय/V/८/३)।

का. अ./पं. जयचन्द/४६४ निश्चयके लिए तो व्यवहार भी सत्यार्थ है और बिना निश्चयके व्यवहार सारहीन है। (का. अ./पं. जयचन्द/४६७)।

दे० ज्ञान/IV/३/१ (निश्चय व व्यवहार ज्ञान द्वारा हेयोपादेयका निर्णय करके, शुद्धात्मस्वभावकी ओर झुकना ही प्रयोजनीय है।)

(और भी दे० जीव, अजीव, आस्रव आदि तत्त्व व विषय) (सर्वत्र यही कहा गया है कि व्यवहारनय द्वारा बताये गये भेदों या संयोगोंको हेय करके मात्र शुद्धात्मतत्त्वमें स्थित होना ही उस तत्त्वको जाननेका भावार्थ है।)

६. दोनोंमें साध्य-साधनभावका प्रयोजन दोनोंकी परस्पर सापेक्षता

न. च./श्रुत/६३ वस्तुत स्याद्भेदः करमात्र कृत इति नाशङ्कनीयम्। यतो न तेन साध्यसाधकयोरविनाभावित्वं। तद्यथा—निश्चयाविरोधेन व्यवहारस्य सम्यग्व्यवहारेण सिद्धस्य निश्चयस्य च परमार्थत्वादिति। परमार्थमुग्धानां व्यवहारिणां व्यवहारमुग्धानां निश्चयवादिनां उभयमुग्धानामुभयवादिनामनुभयमुग्धानामनुभयवादिनां मोहनिरासार्थं निश्चयव्यवहाराभ्यामालिङ्गितं कृत्वा वस्तु निर्णेयं। एवं हि कथंचिद्भेदपरस्पराविनाभावित्वेन निश्चयव्यवहारयोरनाकुला सिद्धिः। अन्यथाभास एव स्यात्। तस्माद्व्यवहारप्रसिद्ध्यैव निश्चयप्रसिद्धिर्नान्यथेति, सम्यग्द्रव्यागमप्रसाधिततत्त्वसेवया व्यवहाररत्नत्रयस्य सम्यग्रूपेण सिद्धत्वात्। —प्रश्न—वस्तुतः ही इन दोनों नयोंका कथंचित भेद क्यों नहीं किया गया? उत्तर—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वैसा करनेसे उनमें परस्पर साध्यसाधक भाव नहीं रहता। वह ऐसे कि—निश्चयसे अविरोधी व्यवहारको तथा समीचीन व्यवहार द्वारा सिद्ध किये गये निश्चयको ही परमार्थपना है। इस प्रकार परमार्थमें मूढ केवल व्यवहारावलम्बियोंके, अथवा व्यवहारसे मूढ केवल निश्चयावलम्बियोंके, अथवा दोनोंकी परस्पर सापेक्षतारूप उभयसे मूढ निश्चयव्यवहारावलम्बियोंके, अथवा दोनों नयोंका सर्वथा निषेध करनेरूप अनुभयमूढ अनुभयावलम्बियोंके मोहको दूर करनेके लिए, निश्चय व व्यवहार दोनों नयोंसे आलिंगित करके ही वस्तुका निर्णय करना चाहिए।

इस प्रकार कथंचित भेद रहते हुए भी परस्पर अविनाभावरूपसे निश्चय और व्यवहारकी अनाकुल सिद्धि होती है। अन्यथा अर्थात् एक दूसरेसे निरपेक्ष वे दोनों ही नयाभास होकर रह जायेंगे। इसलिए व्यवहारकी प्रसिद्धिसे ही निश्चयकी प्रसिद्धि है, अन्यथा नहीं। क्योंकि समीचीन द्रव्यागमके द्वारा तत्त्वका सेवन करके ही समीचीन रत्नत्रयकी सिद्धि होती है। (पं. ध./पू./६६२)।

न. च. वृ./२८५–२८६ णो ववहारो मग्गो मोहो हवदि सुहासुहमिदि वयणं। उक्तं चान्यत्र, णियदव्वजाणट्ठं इयरं कहियं जिणेहि छद्दव्वं। तम्हा परछद्दव्वे जाणगभावो ण होइ सण्णाणं।—ण हु ऐसा सुंदरा जुत्ती। णियसमयं पि य मिच्छा अह जइ सुण्णो य तस्स सो चेदा जाणगभावो मिच्छा उवयरिओ तेण सो भणई।२८५। जं चिय जीवसहावं उवयारं भणिय तं पि ववहारो। तम्हा णहु

तं मिच्छा विसेसदो भणइ सब्भावं ।२८६। ज्जेओ जोवसहाओ सो इह सपराबभासगो भणिओ। तस्स य साहणहेऊ उवयारो भणिय अत्थेसु ।२८७। जह सब्भूओ भणिदो साहणहेऊ अभेदपरमट्ठो। तह उवयारो जाणह साहणहेऊ अणवयारे ।२८८। जो इह सुवेण भणिओ जाणदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं। तं सुयकेवलिरिसिणो भणंति लोयप्पदीपयरा ।२८९। उवयारेण विजाणइ सम्मगुरूवेण जेण परदव्वं। सम्मणिच्छय तेण वि सइय सहावं तु जाणंतो ।२९०। ण दु णय पक्खो मिच्छा तं पिय णेयंतदव्वसिद्धियरा। सियसद्दसमारूढं जिणवयणविणिग्गयं सुद्धं ।२९२। —प्रश्न—व्यवहारमार्ग कोई मार्ग नहीं है, क्योंकि शुभाशुभरूप वह व्यवहार वास्तवमें मोह है, ऐसा आगमका वचन है। अन्य ग्रन्थोंमें कहा भी है कि 'निज द्रव्यके जाननेके लिए ही जिनेन्द्र भगवान्ने छह द्रव्योंका कथन किया है, इसलिए केवल पररूप उन छह द्रव्योंका जानना सम्यग्ज्ञान नहीं है। (दे० द्रव्य/२/४)। उत्तर—आपकी युक्ति सुन्दर नहीं है, क्योंकि परद्रव्योंको जाने बिना उसका स्वसमयपना मिथ्या है, उसकी चेतना शून्य है, और उसका ज्ञायकभाव भी मिथ्या है। इसीलिए अर्थात् परको जाननेके कारण ही उस जीवस्वभावको उपचरित भी कहा गया है (दे० स्वभाव) ।२८५। क्योंकि कहा गया वह जीवका उपचरित स्वभाव व्यवहार है, इसीलिए वह मिथ्या नहीं है, बल्कि उसी स्वभावकी विशेषताको दर्शानेवाला है (दे० नय/V/७/१) ।२८६। जीवका शुद्ध स्वभाव ध्येय है और वह स्व-पर प्रकाशक कहा गया है। (दे० केवलज्ञान/६; ज्ञान/-I/३; दर्शन/२)। उसका कारण व हेतु भी वास्तवमें परपदार्थोंमें किया गया ज्ञेयज्ञायक रूप उपचार ही है ।२८७। जिस प्रकार अभेद व परमार्थ पदार्थमें गुण गुणीका भेद करना सद्भूत है, उसी प्रकार अनुपचार अर्थात् अबद्ध व अस्पृष्ट तत्त्वमें परपदार्थोंको जाननेका उपचार करना भी सद्भूत है ।२८८। आगममें भी ऐसा कहा गया है कि जो श्रुतके द्वारा केवल शुद्ध आत्माको जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं, ऐसा लोकको प्रकाशित करनेवाले ऋषि अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं। (दे० श्रुतकेवली/२) ।२८९। सम्यक् निश्चयके द्वारा स्वकीय स्वभावको जानता हुआ वह आत्मा सम्यक् रूप उपचारसे परद्रव्योंको भी जानता है ।२९०। इसलिए अनेकान्त पक्षको सिद्ध करनेवाला नय पक्ष मिथ्या नहीं है, क्योंकि जिनवचनसे उत्पन्न 'स्यात्' शब्दसे आलिंगित होकर वह शुद्ध हो जाता है। (दे० नय/II) ।२९२।

५. दोनोंकी सापेक्षताका कारण व प्रयोजन

न. च./श्रुत/५२ यद्यपि मोक्षकार्ये भूतार्थेन परिच्छिन्न आत्माद्युपादानकारणं भवति तथापि सहकारिकारणेन विना न सेत्स्यतीति सहकारिकारणप्रसिद्ध्यर्थं निश्चयव्यवहारयोरविनाभावित्वमाह। —यद्यपि मोक्षरूप कार्यमें भूतार्थ निश्चय नयसे जाना हुआ आत्मा आदि उपादान कारण तो सबके पास हैं, तो भी वह आत्मा सहकारी कारणके बिना मुक्त नहीं होता है। अतः सहकारी कारणकी प्रसिद्धिके लिए, निश्चय व व्यवहारका अविनाभाव सम्बन्ध बतलाते हैं।

प्र. सा./त. प्र/११४ सर्वस्य हि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वात्तत्स्वरूपमुत्पश्यतां यथाक्रमं सामान्यविशेषौ परिच्छिन्दती द्वे किल चक्षुषी, द्रव्यार्थिकं पर्यायार्थिकं चेति। तत्र पर्यायार्थिकमेकान्तनिमीलितं··· द्रव्यार्थिकेन यदावलोक्यते तदा···तत्सर्वं जीवद्रव्यमिति प्रतिभाति। यदा तु द्रव्यार्थिकमेकान्तनिमीलितं।···पर्यायार्थिकेनावलोक्यते तदा···अन्यदन्यत्प्रतिभाति···यदा तु ते उभे अपि···तुल्यकालोन्मीलिते विधाय तत इतश्चावलोक्यते तदा···जीवसामान्यं जीवसामान्ये च व्यवस्थिता···विशेषाश्च तुल्यकालमेवालोक्यन्ते। तत्र एकचक्षुरवलोकनमेकदेशावलोकनं, द्विचक्षुरवलोकनं सर्वावलोकनं। ततः सर्वावलोकने द्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वं च न विप्रतिषिध्यते। —वस्तुतः सभी वस्तु सामान्य विशेषात्मक होनेसे, वस्तुका स्वरूप देखनेवालोंके क्रमशः सामान्य और विशेषको जाननेवाली दो आँखें हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक (या निश्चय व व्यवहार)। इनमें से पर्यायार्थिक चक्षुको सर्वथा बन्द करके, जब केवल द्रव्यार्थिक (निश्चय) चक्षुके द्वारा देखा जाता है, तब 'यह सब जीव द्रव्य है' ऐसा भासित होता है। और जब द्रव्यार्थिक चक्षुको सर्वथा बन्द करके, केवल पर्यायार्थिक (व्यवहार) चक्षुके द्वारा देखा जाता है तब वह जीव द्रव्य (नारक तिर्यक् आदि रूप) अन्य अन्य प्रतिभासित होता है। और जब उन दोनों आँखोंको एक ही साथ खोलकर देखा जाता है तब जीव सामान्य तथा उसमें व्यवस्थित (नारक तिर्यक् आदि) विशेष भी तुल्यकालमें ही दिखाई देते हैं।

यहाँ एक आँखसे देखना एकदेशावलोकन है और दोनों आँखोंसे देखना सर्वावलोकन है। इसलिए सर्वावलोकनमें द्रव्यके अन्यत्व व अनन्यत्व विरोधको प्राप्त नहीं होते। (विशेष दे० नय/I/२) (स.सा./ता.वृ./११४/१७४/११)।

नि. सा./ता. वृ./१८७ ये खलु निश्चयव्यवहारनययोरविरोधेन जानन्ति ते खलु महान्तः समस्ताशास्त्रहृदयवेदिनः परमानन्दवीतरागसुखाभिलाषिणः···शाश्वतसुखस्य भोक्तारो भवन्तीति। —इस भागवत शास्त्रको जो निश्चय और व्यवहार नयके अविरोधसे जानते हैं वे महापुरुष, समस्त अध्यात्म शास्त्रोंके हृदयको जाननेवाले और परमानन्दरूप वीतराग सुखके अभिलाषी, शाश्वत सुखके भोक्ता होते हैं।

और भी देखो नय/II—(अन्य नयका निषेध करनेवाले सभी नय मिथ्या हैं।)

६. दोनोंकी सापेक्षताके उदाहरण

दे० उपयोग/II/३व अनुभव/५/८ सम्यग्दृष्टि जीवोंको अल्पभूमिकाओंमें शुभोपयोग (व्यवहार रूप शुभोपयोग) के साथ-साथ शुद्धोपयोगका अंश विद्यमान रहता है।

दे० संवर/२ साधक दशामें जीवकी प्रवृत्तिके साथ निवृत्तिका अंश भी विद्यमान रहता है, इसलिए उसे आस्रव व संवर दोनों एक साथ होते हैं।

दे० छेदोपस्थापना/२ संयम यद्यपि एक ही प्रकारका है, पर समता व व्रतादिरूप अन्तरंग व बाह्य चारित्रको युगपतताके कारण सामायिक व छेदोपस्थापना ऐसे दो भेदरूप कहा जाता है।

दे० मोक्षमार्ग/३/१ आत्मा यद्यपि एक शुद्ध-बुद्ध ज्ञायकभाव मात्र है, पर वही आत्मा व्यवहारकी विवक्षासे दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप कहा जाता है।

दे० मोक्षमार्ग/४ मोक्षमार्ग यद्यपि एक व अभेद ही है, फिर भी विवक्षावश उसे निश्चय व व्यवहार ऐसे दो भेदरूप कहा जाता है।

नोट—(इसी प्रकार अन्य भी अनेक विषयोंमें जहाँ-जहाँ निश्चय व्यवहारका विकल्प सम्भव है वहाँ-वहाँ यही समाधान है।)

७. इसलिए दोनों ही नय उपादेय हैं

दे० नय/V/८/४ दोनों ही नय प्रयोजनीय हैं, क्योंकि व्यवहार नयके बिना तीर्थका नाश हो जाता है और निश्चयके बिना तत्त्वके स्वरूपका नाश हो जाता है।

दे० नय/V/८/१ जिस प्रकार सम्यक् व्यवहारसे मिथ्या व्यवहारकी निवृत्ति होती है, उसी प्रकार सम्यक् निश्चयसे उस व्यवहारकी भी निवृत्ति हो जाती है।

दे० मोक्षमार्ग/४/६ साधक पहले सविकल्प दशामें व्यवहार मार्गी होता है और पीछे निर्विकल्प दशामें निश्चयमार्गी हो जाता है।

दे० धर्म/६/४ अशुभ प्रवृत्तिको रोकनेके लिए पहले व्यवहार धर्मका ग्रहण होता है। पीछे निश्चय धर्ममें स्थित होकर मोक्षलाभ करता है।

नयकीर्ति—१.आप पद्मनन्दि नं० ६ के गुरु थे। उन पद्मनन्दिका उल्लेख वि. १२३८,१२४२,१२६३ के शिलालेखोंमें मिलता है। तदनुसार आपका समय—वि. १२२५–१२५०(ई.११६८–११९३), (पं.वि./प्र.२८/A.N.Up.)। २ देशीयगण की तृ. शाखा में कलधौतनन्दि के शिष्य।—दे इतिहास/७/५।

नयचक्र— नयचक्र नामके कई ग्रन्थोंका उल्लेख मिलता है। सभी नय व प्रमाणके विषयका निरूपण करते हैं। १. प्रथम नयचक्र आ. मल्लवादी नं. १ (ई. ३५७) द्वारा संस्कृत छन्दोंमें रचा गया था, जो श्लोक वार्तिककी रचना करते समय आ. विद्यानन्दिको प्राप्त था। पर अब वह उपलब्ध नहीं है। २. द्वितीय नयचक्र आ. देवसेन (ई. ९३३-९५५) द्वारा प्राकृत गाथाओंमें रचा गया है। इसमें कुल ४२३ गाथाएँ हैं। ३. तृतीय नयचक्रपर पं. हेमचन्द जीने (ई. १६६७) एक भाषा वचनिका लिखी है।(ती./२/३२०, ३६६)

नयनंदि— नन्दिसंघ देशीयगण, माणिक्य नन्दि के विद्या शिष्य, द्रव्य संग्रहकार नेमिचन्द्र सिद्धान्तिक के शिष्य। गुरु परम्परा-नक्षत्र, पद्मनन्दि, विश्वनन्दि, नन्दनन्दि, विष्णुनन्दि, विशाखनन्दि, रामनन्दि, माणिक्यनन्दि, नयनन्दि। कृतियें—सुदसण चरिउ, सयल विहिविहाणकव्व। समय—ई. ९९३-१०५०। (दे इतिहास/७/५)। (ती./३/२९२)।

नयनसुख—सुन्दर आध्यात्मिक अनेक हिन्दी पदोंके रचयिता। समय—वि. श. १९ मध्य (हि. जैन साहित्य इतिहास/कामताप्रसाद)।

नय विवरण—आ. विद्यानन्दि (ई. ७७५-८४०) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित न्याय विषयक ग्रन्थ है, जिसमें नय व प्रमाणका विस्तृत विवेचन है। (दे० विद्यानन्दि)

नयसेन— धर्मामृत, समय परीक्षा, धर्म परीक्षा के रचयिता कन्नड कवि। गुरु—नरेन्द्रसेन। समय—ई ११२५। (ती./४/३०८)।

नर—(रा.वा/२/५०/१/१५६/११) धर्मार्थकाममोक्षलक्षणानि कार्याणि नृणन्ति नयन्तीति नराः। = धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चार पुरुषार्थका नयन करनेवाले 'नर' होते हैं।

नरक—प्रचुररूपसे पापकर्मोंके फलस्वरूप अनेकों प्रकारके असह्य दुःखोंको भोगनेवाले जीव विशेष नारकी कहलाते हैं। उनकी गतिको नरकगति कहते हैं, और उनके रहनेका स्थान नरक कहलाता है, जो शीत, उष्ण, दुर्गन्धि आदि असंख्य दुःखोंकी तीव्रताका केन्द्र होता है। वहाँपर जीव बिलों अर्थात् सुरंगोंमें उत्पन्न होते व रहते हैं और परस्परमें एक दूसरेको मारने-काटने आदिके द्वारा दुःख भोगते रहते हैं।

१. नरकगति सामान्य निर्देश

१. नरक सामान्यका लक्षण

रा. वा./२/५०/२-३/१५६/१३ शीतोष्णासद्वेद्योदयापादितवेदनया नरान् कायन्तीति शब्दायन्त इति नारका.। अथवा पापकृतः प्राणिन आत्यन्तिकं दुःखं नृणन्ति नयन्तीति नारकाणि। औणादिकः कर्तर्यकः।— जो नरोंको शीत, उष्ण आदि वेदनाओंसे शब्दाकुलित कर दे वह नरक है। अथवा पापी जीवोंको आत्यन्तिक दुःखोंको प्राप्त करानेवाले नरक हैं।

ध. १४/५,६,६४१/४९५/८ णिरयसेडिबद्धाणि णिरयाणि णाम।—नरकके श्रेणीबद्ध बिल नरक कहलाते हैं।

२. नरकगति या नारकीका लक्षण

ति. प./१/६० ण रमंति जदो णिच्चं दव्वे खेत्ते य काल भावे य। अण्णोण्णेहि य णिच्चं तम्हा ते णारया भणिया।६०। —यतः तत्स्थानवर्ती द्रव्यमें, क्षेत्रमें, कालमें, और भावमें जो जीव रमते नहीं हैं, तथा परस्परमें भी जो कभी भी प्रीतिको प्राप्त नहीं होते हैं, अतएव वे नारक या नारकी कहे जाते हैं। (ध. १/१,१,२४/गा. १२८/२०२) (गो. जी./मू./१४७/३६६)।

रा. वा./२/५०/३/१५६/१७ नरकेषु भवा नारका.। —नरकोंमें जन्म लेनेवाले जीव नारक है। (गो. जी./जी. प्र./१४७/३६६/१८)।

ध. १/१,१,२४/२०१/६ हिंसादिष्वसदनुष्ठानेषु व्यापृताः निरतास्तेषां गतिर्निरतगतिः। अथवा नरान् प्राणिनः कायति पातयति खलीकरोति इति नरकः कर्म, तस्य नरकस्यापत्यानि नारकास्तेषां गतिर्नारकगतिः। अथवा यस्या उदयः सकलाशुभकर्मणामुदयस्य सहकारिकारणं भवति सा नरकगतिः। अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभावेष्वन्योन्येषु च विरताः नरताः, तेषां गतिः नरतगतिः।—१. जो हिंसादि असमीचीन कार्योंमें व्यापृत हैं उन्हे निरत कहते हैं और उनकी गतिको निरतगति कहते हैं। २ अथवा जो नर अर्थात् प्राणियोंको काता है अर्थात् गिराता है, पीसता है, उसे नरक कहते हैं। नरक यह एक कर्म है। इससे जिनकी उत्पत्ति होती है उनको नारक कहते है, और उनकी गतिको नारकगति कहते हैं। ३. अथवा जिस गतिका उदय सम्पूर्ण अशुभ कर्मोंके उदयका सहकारीकारण है उसे नरकगति कहते हैं। ४. अथवा जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमें तथा परस्परमें रत नहीं हैं, अर्थात् प्रीति नहीं रखते हैं, उन्हें नरत कहते हैं और उनकी गतिका नरतगति कहते हैं। (गो. जी./जी. प्र./१४७/३६६/१६)।

ध. १३/५,५,१४०/३९२/२ न रमन्त इति नारका। —जो रमते नहीं है वे नारक कहलाते हैं।

गो. जी./जी. प्र./१४७/३६६/१६ यस्मात्कारणात ये जीवाः नरकगतिसंबन्ध्यन्नपानादिद्रव्ये, तद्भूतलरूपक्षेत्रे, समयादिस्वायुरवसानकाले चित्पर्यायरूपभावे भवान्तरवैरोद्भवतज्जनितक्रोधादिभ्योऽन्योन्यैः सह नूतनपुरातननारका परस्परं च न रमन्ते तस्मात्कारणात् ते जीवा नरता इति भणिताः। नरता एव नारताः।...अथवा निर्गतोऽयः पुण्यं एभ्यः ते निरयाः तेषां गतिः निरयगतिः इति व्युत्पत्तिभिरपि नारकगतिलक्षणं कथितं। —क्योंकि जो जीव नरक सम्बन्धी अन्नपान आदि द्रव्यमें, तहाँकी पृथिवीरूप क्षेत्रमें, तिस गति सम्बन्धी प्रथम समयसे लगाकर अपना आयुपर्यन्त कालमें तथा जीवोंके चैतन्यरूप भावोंमें कभी भी रति नहीं मानते। ५. और पूर्वके अन्य भवों सम्बन्धी वैरके कारण इस भवमें उपजे क्रोधादिकके द्वारा नये व पुराने नारकी कभी भी परस्परमें नहीं रमते, इसलिए उनको कभी भी प्रीति नहीं होनेसे वे 'नरत' कहलाते है। नरत को ही नारत जानना। तिनकी गतिको नारतगति जानना। ६. अथवा 'निर्गत' कहिये गया है 'अयः' कहिये पुण्यकर्म जिनमे ऐसे जो निरय, तिनकी

गति सो निरय गति जानना। इस प्रकार निरुक्ति द्वारा नारकगतिका लक्षण कहा।

३. नारकियोंके भेद

पं. का./मू./११८ णेरइया पुढविभेयगदा। –रत्नप्रभा आदि सात पृथिवियोके भेदसे (दे० नरक/५) नारकी भी सात प्रकारके हैं। (नि. सा./मू./१६)।

ध. ७/२,१,४/२१/१३ अधवा णामट्ठवणदव्वभावभेएण णेरइया चउव्विहा होंति। =अथवा नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे नारकी चार प्रकारके होते हैं (विशेष दे० निक्षेप/१)।

४. नारकीके भेदोंके लक्षण

दे. नय/III/१/८ (नैगम नय आदि सात नयोंकी अपेक्षा नारकी कहनेकी विवक्षा)।

ध. ७/२,१ ४/३०/४ कम्मणेरइओ णाम णिरयगदिसहगदकम्मदव्वसमूहो। पासपंजरजंतादीणि णोकम्मदव्वाणि णेरइयभावकारणाणि णोकम्मदव्वणेरइओ णाम। =नरकगतिके साथ आये हुए कर्मद्रव्यसमूहको कर्मनारकी कहते हैं। पाश, पंजर, यन्त्र आदि नोकर्मद्रव्य जो नारकभावकी उत्पत्तिमें कारणभूत होते हैं, नोकर्म द्रव्यनारकी हैं। (शेष दे० निक्षेप)।

२. नरक गतिके दुःखोंका निर्देश

१. नरकमें दुःखोंके सामान्य भेद

त. सू /३/४-५ परस्परोदीरितदुःखाः।४। संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः।५। =वे परस्पर उत्पन्न किये गये दुःखवाले होते हैं।४। और चौथी भूमिसे पहले तक अर्थात् पहिले दूसरे व तीसरे नरकमें संक्लिष्ट असुरोंके द्वारा उत्पन्न किये दुःखवाले होते हैं।५।

त्रि. सा./१९७ खेत्तजणिदं असादं सारीरं माणसं च असुरकयं। भुंजति जहावसरं भवट्ठिदी चरिमसमयो त्ति।१९७। =क्षेत्र, जनित, शारीरिक, मानसिक और असुरकृत ऐसी चार प्रकारकी असाता यथा अवसर अपनी पर्यायके अन्तसमयपर्यन्त भोगता है। (का. अ./मू./३५)।

२. शारीरिक दुःख निर्देश

१. नरकमें उत्पन्न होकर उछलने सम्बन्धी दुःख

ति. प./२/३१४-३१५ भीदीए कंपमाणो चलिदुं दुक्खेण पट्ठिओ संतो। छत्तीसाउहमज्झे पडिदूणं तत्थ उप्पलइ।३१४। उच्छेहजोयणाणि सत्त धणू छस्सहस्सपंचसया। उप्पलइ पढमखेत्ते दुगुणं दुगुणं कमेण सेसेसु।३१५। =वह नारकी जीव (पर्याप्ति पूर्ण करते ही) भयसे काँपता हुआ बड़े कष्टसे चलनेके लिए प्रस्तुत होकर, छत्तीस आयुधोंके मध्यमें गिरकर वहाँसे उछलता है।३१४। प्रथम पृथिवीमें सात योजन ६५०० धनुष प्रमाण ऊपर उछलता है। इससे आगे शेष छः पृथिवियोंमें उछलनेका प्रमाण क्रमसे उत्तरोत्तर दूना दूना है।३१५। (ह. पु./४/३५५-३६१) (म. पु./१०/३५-३७) (त्रि. सा./१८१-१८२) (ज्ञा./३६/१८-१९)।

२. परस्पर कृत दुःख निर्देश

ति. प./२/३१६-३४२ का भावार्थ – उसको वहाँ उछलता देखकर पहले नारकी उसकी ओर दौड़ते हैं।३१६। शस्त्रों, भयंकर पशुओं व वृक्ष नदियों आदिका रूप धरकर (दे० नरक/३)।३१७। उसे मारते हैं व खाते हैं।३२२। हजारों यन्त्रोंमें पेलते हैं।३२३। साकलोंसे बँधते हैं व अग्निमें फेंकते हैं।३२४। करोंतसे चीरते हैं व भालोंसे बींधते हैं।३२५। पकते तेलमें फेंकते हैं।३२६। शीतल जल समझकर यदि वह वैतरणी नदीमें प्रवेश करता है तो भी वे उसे छेदते हैं।३२७-३२८। कछुओं आदिका रूप धरकर उसे भक्षण करते हैं।३२९। जब आश्रय ढूँढ़नेके लिए बिलोंमें प्रवेश करता है तो वहाँ अग्निकी ज्वालाओंका सामना करना पड़ता है।३३०। शीतल छायाके भ्रमसे असिपत्र वनमें जाते हैं।३३१। वहाँ उन वृक्षोंके तलवारके समान पत्तोंसे अथवा अन्य शस्त्रास्त्रोंसे छेदे जाते हैं।३३२-३३३। गृद्ध आदि पक्षी बनकर नारकी उसे चूँट-चूँट कर खाते हैं।३३४-३३५। अंगोपांग चूर्ण कर उसमें क्षार जल डालते हैं।३३६। फिर खण्ड-खण्ड करके चूल्होंमें डालते हैं।३३७। तप्त लोहेकी पुतलियोंसे आलिंगन कराते हैं।३३८। उसीके मांसको काटकर उसीके मुखमें देते हैं।३३९। गलाया हुआ लोहा व ताँबा उसे पिलाते हैं।३४०। पर फिर भी वे मरणको प्राप्त नहीं होते हैं (दे० नरक/३)।३४१। अनेक प्रकारके शस्त्रों आदि रूपसे परिणत होकर वे नारकी एक दूसरेको इस प्रकार दुख देते हैं।३४२। (भ. आ./मू./१५६५-१५८०), (स. सि./२/५/२०१/७), (रा. वा./३/५/८/३१), (ह. पु./४/३६३-३६५), (म. पु./१०/३८-६३), (त्रि. सा./१८३-१९०), (ज. प./११/१५७-१७७), (का. अ./३६-३९), (ज्ञा./३६/६१-७६) (वसु. श्रा./१६६-१६९)

स. सि./३/४/२०८/३ नारका भवप्रत्ययेनावधिना दूरादेव दुःखहेतूनवगम्योत्पन्नदुःखाः प्रत्यासत्तौ परस्परालोकनाच्च प्रज्वलितकोपाग्नयः पूर्वभवानुस्मरणाच्चातितीव्रानुबद्धवैराश्च श्वशृगालादिवत्स्वाभिघाते प्रवर्तमानाः स्वविक्रियाकृत...आयुधैः स्वकरचरणदशनैश्च छेदनभेदनतक्षणदंशनादिभिः परस्परस्यातितीव्रं दुःखमुत्पादयन्ति। =नारकियोंके भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। उसके कारण दूरसे ही दुःखके कारणोंको जानकर उनको दुःख उत्पन्न हो जाता है और समीपमें आनेपर एक दूसरेको देखनेसे उनकी कोपाग्नि भभक उठती है। तथा पूर्वभवका स्मरण होनेसे उनकी वैरकी गाँठ और दृढ़तर हो जाती है, जिससे वे कुत्ता और गीदड़के समान एक दूसरेका घात करनेके लिए प्रवृत्त होते हैं। वे अपनी विक्रियासे अस्त्रशस्त्र बना कर (दे० नरक/३) उनसे तथा अपने हाथ पाँव और दाँतोंसे छेदना, भेदना, छीलना और काटना आदिके द्वारा परस्पर अति तीव्र दुःखको उत्पन्न करते हैं। (रा. वा./३/४/१/१६५/४), (म. पु./१०/४०,१०३)

३. आहार सम्बन्धी दुःख निर्देश

ति. प./२/३४३-३४६ का भावार्थ—अत्यन्त तीखी व कड़वी थोड़ी सी मिट्टीको चिरकालमें खाते हैं।३४३। अत्यन्त दुर्गन्धवाला व ग्लानि युक्त आहार करते हैं।३४४-३४६।

दे० नरक/५/५ (सातों पृथिवियोंमें मिट्टीकी दुर्गन्धीका प्रमाण)

ह. पु./४/३६६ का भावार्थ—अत्यन्त तीक्ष्ण खारा व गरम वैतरणी नदीका जल पीते हैं और दुर्गन्धी युक्त मिट्टीका आहार करते हैं।

त्रि. सा./१९२ सादिकुहिदातिगंधं सणिमण्णं मट्टियं विभुंजंति। घम्मभवा वंसादिसु असंखगुणिदासहं तत्तो।१९२। =कुत्ते आदि जीवोंकी विष्टासे भी अधिक दुर्गन्धित मिट्टीका भोजन करते हैं। और वह भी उनको अत्यन्त अल्प मिलती है, जब कि उनकी भूख बहुत अधिक होती है।

४. भूख-प्यास सम्बन्धी दुःख निर्देश

ज्ञा./३६/७७-७८ बुभुक्षा जायतेऽत्यर्थं नरके तत्र देहिनाम्। यां न शामयितुं शक्तः पुद्गलप्रचयोऽखिलः।७७। तृष्णा भवति या तेषु वाडवाग्निरिवोल्बणा। न सा शाम्यति निःशेषपीतैरप्यम्बुराशिभिः।७८। =नरकमें नारकी जीवोंको भूख ऐसी लगती है, कि समस्त पुद्गलोंका समूह भी उसको शमन करनेमें समर्थ नहीं।७७। तथा वहाँपर तृष्णा बड़वाग्निके समान इतनी उत्कट होती है कि समस्त समुद्रोंका जल भी पी लें तो नहीं मिटती।७८।

५. रोगों सम्बन्धी दुःख निर्देश

ज्ञा./३६/२० दुःसहा निष्प्रतीकारा ये रोगाः सन्ति केचन। साकल्येनैव गात्रेषु नारकाणां भवन्ति ते ।२०। —दुस्सह तथा निष्प्रतिकार जितने भी रोग इस संसारमें हैं वे सबके सब नारकियोंके शरीरमें रोमरोममें होते हैं।

* शीत व उष्ण सम्बन्धी दुःख निर्देश

दे० नरक/५/७ (नारक पृथिवीमें अत्यन्त शीत व उष्ण होती हैं।)

३. क्षेत्रकृत दुःख निर्देश

दे० नरक/५/६-८ नरक बिल, वहाँकी मिट्टी तथा नारकियोंके शरीर अत्यन्त दुर्गन्धी युक्त होते हैं।६। वहाँके बिल अत्यन्त अन्धकार पूर्ण तथा शीत या उष्ण होते हैं।७-८।

४. असुर देवोंकृत दुःख निर्देश

ति. प./२/३४८-३५० सिकतानन…/…।३४८।…वेतरणिपहुदि असुरसुरा। गंतूण बालुकंतं णारइयाणं पकोपंति ।३४९। इह खेत्ते जह मणुवा पेच्छंते मेसमहिसजुद्धादिं। तह णिरये असुरसुरा णारयकलहं पतुट्ठमणा ।३५०। —सिकतानन…वैतरणी आदिक (दे० असुर/२) असुरकुमार जातिके देव तीसरी बालुकाप्रभा पृथिवी तक जाकर नारकियोंको क्रोधित कराते हैं।३४८-३४९। इस क्षेत्रमें जिस प्रकार मनुष्य, मेंढे और भैंसे आदिके युद्धको देखते हैं, उसी प्रकार असुर-कुमार जातिके देव नारकियोंके युद्धको देखते हैं और मनमें सन्तुष्ट होते हैं। (म. पु./१०/६४)

स. सि./३/५/२०९/७ सुतप्तायोरसपायननिष्टप्तायस्तम्भालिङ्गन… निष्पीडनादिभिर्नारकाणां दुःखमुत्पादयन्ति। —खूब तपाया हुआ लोहेका रस पिलाना, अत्यन्त तपाये गये लोहस्तम्भका आलिगन कराना,…यन्त्रमें पेलना आदिके द्वारा नारकियोंको परस्पर दुःख उत्पन्न कराते हैं। (विशेष दे० पहिले परस्परकृत दुःख) (भ. आ./मू./१५६८-१५७०), (रा. वा./३/५/८/३६१/३१), (ज. प./११/१६८-१६९)

म. पु./१०/४१ चोदयन्त्यसुराश्चैनात् यूयं युध्यध्वमित्यरम्। संस्मार्य पूर्ववैराणि प्राक्चतुर्थ्याः सुदारुणाः ।४१। —पहलेकी तीन पृथिवियों तक अतिशय भयंकर असुरकुमार जातिके देव जाकर वहाँके नारकियों-को उनके पूर्वभव वैरका स्मरण कराकर परस्परमें लड़नेके लिए प्रेरणा करते रहते हैं। (वसु. श्रा./१७०)

दे० असुर/३ (अम्बरीष आदि कुछ ही प्रकारके असुर देव नरकोंमें आते हैं, सब नहीं)

५. मानसिक दुःख निर्देश

म. पु./१०/६७-८६ का भावार्थ—अहो! अग्निके फुलिंगोंके समान यह वायु, तप्त धूलिकी वर्षा ।६७-६८। विष सरीखा असिपत्र वन ।६९। जबरदस्ती आलिंगन करनेवाली ये लोहेकी गरम पुतलियाँ ।७०। हमको परस्परमें लड़ानेवाले ये दुष्ट यमराजतुल्य असुर देव ।७१। हमारा भक्षण करनेके लिए यह सामनेसे आ रहे जो भयंकर पशु ।७२। तीक्ष्ण शस्त्रोंसे युक्त ये भयानक नारकी ।७३-७५। यह सन्ताप जनक करुण क्रन्दनकी आवाज ।७६। शृगालोंकी हृदयविदारक ध्वनियाँ ।७७। असिपत्रवनमें गिरनेवाले पत्तोंका कठोर शब्द ।७८। काँटोंवाले सेमर वृक्ष ।७९। भयानक वैतरणी नदी ।८०। अग्निकी ज्वालाओं युक्त ये बिलें ।८१। कितने दुःस्सह व भयंकर हैं। प्राण भी आयु पूर्ण हुए बिना छूटते नहीं ।८२। अरे-अरे! अब हम कहाँ जावें ।८३। इन दुःखोंसे हम कब तिरेंगे ।८४। इस प्रकार प्रतिक्षण चिन्तवन करते रहनेसे उन्हें दुःसह मानसिक सन्ताप उत्पन्न होता है, तथा हर समय उन्हें मरनेका संशय बना रहता है।८५।

ज्ञा./३६/२७-६० का भावार्थ—हाय हाय! पापकर्मके उदयसे हम इस (उपरोक्तवत्) भयानक नरकमें पड़े हैं ।२७। ऐसा विचारते हुए वज्राग्निके समान सन्तापकारी पश्चात्ताप करते हैं ।२८। हाय हाय! हमने सत्पुरुषों व वीतरागी साधुओंके कल्याणकारी उपदेशोंका तिरस्कार किया है ।२९-३३। मिथ्यात्व व अविद्याके कारण विषयान्ध होकर मैंने पाँचों पाप किये ।३४-३७। पूर्व भवोंमें मैंने जिनको सताया है वे यहाँ मुझको सिंहके समान मारनेको उद्यत है ।३८-४०। मनुष्य भवमें मैंने हिताहितका विचार न किया, अब यहाँ क्या कर सकता हूँ ।४१-४४। अब किसकी शरणमें जाऊँ ।४५। यह दुःख अब मैं कैसे सहूँगा ।४६। जिनके लिए मैंने वे पाप कार्य किये वे कुटुम्बीजन अब क्यों आकर मेरी सहायता नहीं करते ।४७-५१। इस संसारमें धर्मके अतिरिक्त अन्य कोई सहायक नहीं ।५२-५९। इस प्रकार निरन्तर अपने पूर्वकृत पापों आदिका सोच करता रहता है ।६०।

३. नारकियोंके शरीरकी विशेषताएँ

१. जन्मने व पर्याप्त होने सम्बन्धी

ति. प./२/३१३ पावेण णिरयबिले जादूणं ता मुहुत्तगं मेत्ते। छप्पज्जत्ती पाविय आकस्मियभयजुदो होदि ।३१३। —नारकी जीव पापसे नरक बिलमें उत्पन्न होकर और एक मुहूर्त मात्रमें छह पर्याप्तियोंको प्राप्त कर आकस्मिक भयसे युक्त होता है। (म. पु./१०/३४)

म. पु./१०/३३ तत्र बीभत्सुनि स्थाने जाले मधुकृतामिव। तेऽधोमुखा प्रजायन्ते पापिनामुन्नतिः कुतः ।३३। —उन पृथिवियोंमें वे जीव मधु-मक्खियोंके छत्तेके समान लटकते हुए घृणित स्थानोंमें नीचेकी ओर मुख करके पैदा होते हैं।

२. शरीरकी अशुभ आकृति

स. सि./३/३/२०७/४ देहाश्च तेषामशुभनामकर्मोदयादत्यन्ताशुभतरा विकृताकृतयो हुण्डसंस्थाना दुर्दर्शनाः। —नारकियोंके शरीर अशुभ नामकर्मके उदयसे होनेके कारण उत्तरोत्तर (आगे-आगेकी पृथिवियों-में) अशुभ हैं। उनकी विकृत आकृति है, हुंडक संस्थान है, और देखनेमें बुरे लगते हैं। (रा. वा./३/३/४/१६४/१२), (ह. पु./४/३६८), (म. पु./१०/३४,९५), (विशेष दे० उदय/६/३)

३. वैक्रियक भी वह मांसादि युक्त होता है

रा. वा./३/३/४/१६४/१४ यथेह श्लेष्ममूत्रपुरीषमलरुधिरवसामेदःपूयव-मनपूतिमांसकेशास्थिचर्माद्यशुभमौदारिकगतं ततोऽप्यतीवाशुभत्वं नारकाणां वैक्रियकशरीरत्वेऽपि। —जिस प्रकारके श्लेष्म, मूत्र, पुरीष, मल, रुधिर, वसा, मेद, पीप, वमन, पूति, मांस, केश, अस्थि, चर्म अशुभ सामग्री युक्त औदारिक शरीर होता है, उससे भी अतीव अशुभ इस सामग्री युक्त नारकियोंका वैक्रियक भी शरीर होता है। अर्थात् वैक्रियक होते हुए भी उनका शरीर उपरोक्त बीभत्स सामग्री-युक्त होता है।

४. इनके मूँछ दाढ़ी नहीं होती

बो. पा./टी./३२ में उद्धृत-देवा वि य नेरइया हलहर चक्की य तह य तित्थयरा। सव्वे केसव रामा कामा निक्कुंचिया होंति ।१। —सभी देव, नारकी, हलधर, चक्रवर्ती तथा तीर्थंकर, प्रतिनारायण, नारायण व कामदेव ये सब बिना मूँछ दाढीवाले होते हैं।

५. इनके शरीरमें निगोद राशि नहीं होती

ध. १४/५,६,९१/८१/८ पुढवि-आउ-तेउ-वाउक्काइया देव-णेरइया आहार-सरीरा पमत्तसंजदा सजोगिअजोगिकेवलिणो च पत्तेयसरीरा वुच्चंति;

एवेसिं णिगोदजीवेहि सह संबंधाभावादो।— पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, देव, नारकी, आहारकशरीर, प्रमत्तसंयत, संयोगकेवली और अयोगिकेवली ये जीव प्रत्येक शरीरवाले होते हैं; क्योंकि, इनका निगोद जीवोंके साथ सम्बन्ध नहीं होता।

६. छिन्न-भिन्न होनेपर वह स्वतः पुनः पुनः मिल जाता है

ति. प./२/३४१ करवालपहरभिण्णं कूवजलं जह पुणो वि संघडदि। तह णारयाण अंगं छिज्जंतं विविहसत्थेहिं।३४१। —जिस प्रकार तलवारके प्रहारसे भिन्न हुआ कुएँका जल फिरसे भी मिल जाता है, इसी प्रकार अनेकानेक शस्त्रोंसे छेदा गया नारकियोंका शरीर भी फिरसे मिल जाता है।; (ह.पु./४/३६४); (म.पु./१०/३६); (त्रि.सा./१९४) (ज्ञा./३६/८०)।

७. आयु पूर्ण होनेपर वह काफूरवत् उड़ जाता है

ति. प./२/३५३ कदलीघादेण विणा णारयगत्ताणि आउअवसाणे। मारुदपहदब्भाइं व णिस्सेसाणि विलीयंते।३५३। —नारकियोंके शरीर कदलीघातके बिना (दे० मरण/४) आयुके अन्तमें वायुसे ताड़ित मेघोंके समान निःशेष विलीन हो जाते हैं। (त्रि. सा./१९६)।

८. नरकमें प्राप्त आयुध पशु आदि नारकियोंके ही शरीरकी विक्रिया है

ति. प./२/३१८-३२१ चक्कसरसूलतोमरमोग्गरकरवत्तकोंतसूईणं। मुसलासिप्पहुदीणं वणणगदावाणलादीणं।३१८। वयवग्घतरच्छसिगालसाणमज्जालसीहपहुदीणं। अण्णोण्णं चसदा ते णियणियदेहं विगुव्वंति।३१९। गहिरबिलधूममारुदअइतत्तकहल्लिजंतचुल्लीणं। कंडणिपीसणिदव्वीण रूवमण्णे विकुव्वंति।३२०। सूवरवणग्गिसोणिदकिमिसरिदहकूववाइपहुदीणं। पुहुपुहुरूवविहीणा णियणियदेहं पकुव्वंति।३२१। —वे नारकी जीव चक्र, बाण, शूली, तोमर, मुद्गर, करौंत, भाला, सूई, मूसल, और तलवार इत्यादिक शस्त्रास्त्र; वन एवं पर्वतकी आग; तथा भेडिया, व्याघ्र, तरक्ष, शृगाल, कुत्ता, बिलाव, और सिंह, इन पशुओंके अनुरूप परस्परमें सदैव अपने-अपने शरीरकी विक्रिया किया करते हैं।३१८-३१९। अन्य नारकी जीव गहरा बिल, धुआँ, वायु, अत्यन्त तपा हुआ खप्पर, यन्त्र, चूल्हा, कण्डनी, (एक प्रकारका कूटनेका उपकरण), चक्की और दर्वी (बर्छी), इनके आकाररूप अपने-अपने शरीरकी विक्रिया करते हैं।३२०। उपर्युक्त नारकी शूकर, दावानल, तथा शोणित और कीड़ोंसे युक्त सरित, द्रह, कूप, और वापी आदिरूप पृथक्-पृथक् रूपसे रहित अपने-अपने शरीरकी विक्रिया किया करते हैं। (तात्पर्य यह कि नारकियोंके अपृथक् विक्रिया होती है। देवोंके समान उनके पृथक् विक्रिया नहीं होती।३२१। (स.सि./३/४/२०८/६); (रा.वा./३/४/१/१६५/४); (ह.पु./४/३६३); (ज्ञा./३६/६७); (वसु. श्रा./१६६); (और भी दे० अगला शीर्षक)।

९. छह पृथिवियोंमें आयुधों रूप विक्रिया होती है और सातवींमें कीड़ों रूप

रा. वा./२/४७/४/१५२/११ नारकाणां त्रिशूलचक्रासिमुद्गरपरशुभिण्डिपालाद्यनेकायुधैकत्वविक्रिया—आ षष्ठ्याः। सप्तम्यां महागोकीटकप्रमाणलोहितकुन्थुरूपैकत्वविक्रिया। —छठे नरक तकके नारकियोंके त्रिशूल, चक्र, तलवार, मुद्गर, परशु, भिण्डिपाल आदि अनेक आयुधरूप एकत्व विक्रिया होती है (दे० वैक्रियक/१)। सातवें नरकमें गाय बराबर कीड़े लोहू, चींटो आदि रूपसे एकत्व विक्रिया होती है।

४. नारकियोंमें सम्भव भाव व गुणस्थान आदि

१. सदा अशुभ परिणामोंसे युक्त रहते हैं

त. सू./३/३ नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः। —नारकी निरन्तर अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना व विक्रियावाले हैं। (विशेष दे० लेश्या/४)।

२. नरकगतिमें सम्यक्त्वोंका स्वामित्व

ष. खं. १/१,१/सूत्र १५१-१५५/३९९-४०१ णेरइया अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति।१५१। एवं जाव सत्तसु पुढवीसु।१५२। णेरइया असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी चेदि।१५३। एवं पढमाए पुढवीए णेरइआ।१५४। विदियादि जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि, अवसेसा अत्थि।१५५। —नारकी जीव मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती होते हैं।१५१। इस प्रकार सातों पृथिवियोंमें प्रारम्भके चार गुणस्थान होते हैं।१५२। नारकी जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं।१५३। इसी प्रकार प्रथम पृथिवीमें नारकी जीव होते है।१५४। दूसरी पृथिवीसे लेकर सातवीं पृथिवी तक नारकी जीव असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं। शेष दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं।१५५।

३. नरकगतिमें गुणस्थानोंका स्वामित्व

ष. खं. १/१,१/सू. २५/२०४ णेरइया चउट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति।२५।

ष. खं. १/१,१/सू.७९-८३/३१९-३२३ णेरइया मिच्छाइट्ठिअसंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।७९। सासणसम्माइट्ठि-सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता।८०। एवं पढमाए पुढवीए णेरइया।८१। विदियादि जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया मिच्छाइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।८२। सासणसम्माइट्ठि-सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता।८३। —मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानोंमें नारकी होते हैं।२५। नारकी जीव मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्तक होते हैं और अपर्याप्तक भी होते हैं।७९। नारकी जीव सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानोंमें नियमसे पर्याप्तक ही होते हैं।८०। इसी प्रकार प्रथम पृथिवीमें नारकी होते हैं।८१। दूसरी पृथिवीसे लेकर सातवीं पृथिवी तक रहनेवाले नारकी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्तक भी होते है और अपर्याप्तक भी होते हैं।८२। पर वे (२-७ पृथिवीके नारकी) सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानोंमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं।८३।

४. मिथ्यादृष्टिसे अन्य गुणस्थान वहाँ कैसे सम्भव है

ध. १/१,१,२५/२०५/३ अस्तु मिथ्यादृष्टिगुणे तेषां सत्त्वं मिथ्यादृष्टिषु तत्रोत्पत्तिनिमित्तमिथ्यात्वस्य सत्त्वात्। नेतरेषु तेषां सत्त्वं तत्रोत्पत्तिनिमित्तस्य मिथ्यात्वस्यासत्त्वादिति चेन्न, आयुषो बन्धमन्तरेण मिथ्यात्वाविरतिकषायाणां तत्रोत्पादनसामर्थ्याभावात्। न च बद्धस्यायुषः सम्यक्त्वान्निरन्वयविनाशः आर्षविरोधात्। न हि बद्धायुषः सम्यक्त्वं संयममिव न प्रतिपद्यन्ते सूत्रविरोधात्। —प्रश्न—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नारकियोंका सत्त्व रहा आवे, क्योंकि, वहाँपर (अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें) नारकियोंमें उत्पत्तिका निमित्तकारण मिथ्यादर्शन पाया जाता है। किन्तु दूसरे गुणस्थानोंमें नारकियोंका

सत्त्व नहीं पाया जाना चाहिए; क्योंकि, अन्य गुणस्थान सहित नारकियोंमें उत्पत्तिका निमित्त कारण मिथ्यात्व नहीं पाया जाता है। (अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ही नरकायुका बन्ध सम्भव है, अन्य गुणस्थानोंमें नहीं)? उत्तर—ऐसा नहीं है; क्योंकि, नरकायुके बन्ध बिना मिथ्यादर्शन, अविरत और कषायकी नरकमें उत्पन्न करानेकी सामर्थ्य नहीं है। (अर्थात् नरकायु ही नरकमें उत्पत्तिका कारण है, मिथ्या, अविरति व कषाय नहीं)। और पहले बँधी हुई आयुका पीछेसे उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन द्वारा निरन्वय नाश भी नहीं होता है; क्योंकि, ऐसा मान लेनेपर आर्षसे विरोध आता है। जिन्होंने नरकायुका बन्ध कर लिया है, ऐसे जीव जिस प्रकार संयमको प्राप्त नहीं हो सकते हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्वको भी प्राप्त नहीं होते, यह बात भी नहीं है; क्योंकि, ऐसा मान लेनेपर भी सूत्रसे विरोध आता है (दे० आयु/६/७)।

५. वहाँ सासादनकी सम्भावना कैसे है

ध. १/१,१,२५/२०५/८ सम्यग्दृष्टीनां बद्धायुषां तत्रोत्पत्तिरस्तीति सन्ति तत्रासंयतसम्यग्दृष्टयः, न सासादनगुणवतां तत्रोत्पत्तिस्तद्गुणस्य तत्रापर्याप्तया सह विरोधात्। तर्हि कथं तद्वतां तत्र सत्त्वमिति चेन्न, पर्याप्तनरकगत्या सहापर्याप्तया इव तस्य विरोधाभावात्। किमित्यपर्याप्तया विरोधश्चेत्स्वभावोऽयं, न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः।...कथं पुनस्तयोस्तत्र सत्त्वमिति चेन्न, परिणामप्रत्ययेन तदुत्पत्तिसिद्धेः। =जिन जीवोंने पहले नरकायुका बन्ध किया है और जिन्हें पीछेसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है, ऐसे बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टियोंकी नरकमें उत्पत्ति है, इसलिए नरकमें असंयत सम्यग्दृष्टि भले ही पाये जावें, परन्तु सासादन गुणस्थानवालोंकी मरकर नरकमें उत्पत्ति नहीं हो सकती (दे० जन्म/४/१) क्योंकि सासादन गुणस्थानका नरकमें उत्पत्तिके साथ विरोध है। प्रश्न—तो फिर, सासादन गुणस्थानवालोंका नरकमें सद्भाव कैसे पाया जा सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार नरकगतिमें अपर्याप्त अवस्थाके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है उसी प्रकार पर्याप्तावस्था सहित नरकगतिके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध नहीं है। प्रश्न—अपर्याप्त अवस्थाके साथ उसका विरोध क्यों है? उत्तर—यह नारकियोंका स्वभाव है और स्वभाव दूसरोंके प्रश्नके योग्य नहीं होते हैं। (अन्य गतियोंमें इसका अपर्याप्त कालके साथ विरोध नहीं है, परन्तु मिश्र गुणस्थानका तो सभी गतियोंमें अपर्याप्त कालके साथ विरोध है।) (ध१/१,१,८०/३२०/८)। प्रश्न—तो फिर सासादन और मिश्र इन दोनों गुणस्थानोंका नरक गतिमें सत्त्व कैसे सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, परिणामोंके निमित्तसे नरकगतिकी पर्याप्त अवस्थामें उनकी उत्पत्ति बन जाती है।

६. मर-मरकर पुनः-पुनः जी उठनेवाले नारकियोंकी अपर्याप्तावस्थामें भी सासादन व मिश्र मान लेने चाहिए?

ध. १/१,१,८०/३२१/१ नारकाणामग्निसंबन्धाद्भस्मसाद्भावमुपगतानां पुनर्भस्मनि समुत्पद्यमानानामपर्याप्ताद्धायां गुणद्वयस्य सत्त्वाविरोधान्नियमेन पर्याप्ता इति न घटत इति चेन्न, तेषां मरणाभावात्। भावे वा न ते तत्रोत्पद्यन्ते।...आयुषोऽवसाने म्रियमाणानामेष नियमश्चेन्न, तेषामपमृत्योरसत्त्वात्। भस्मसाद्भावमुपगतानां तेषां कथं पुनर्मरणमिति चेन्न, देहविकारस्यायुर्विच्छित्त्यनिमित्तत्वात्। =प्रश्न—अग्निके सम्बन्धसे भस्मीभावको प्राप्त होनेवाले नारकियोंके अपर्याप्त कालमें इन दो गुणस्थानोंके होनेमें कोई विरोध नहीं आता है, इसलिए, इन गुणस्थानोंमें नारकी नियमसे पर्याप्त होते हैं, यह नियम नहीं बनता है? उत्तर—नहीं; क्योंकि, अग्नि आदि निमित्तोंसे नारकियोंका मरण नहीं होता है (दे० नरक/३/६)। यदि नारकियोंका मरण हो जावे तो पुनः वे वहाँपर उत्पन्न नहीं होते हैं (दे० जन्म/६/६)। प्रश्न—आयुके अन्तमें मरनेवालोंके लिए ही यह सूत्रोक्त (नारकी मरकर नरक व देवगतिमें नहीं जाता, मनुष्य या तिर्यंचगतिमें जाता है) नियम लागू होना चाहिए? उत्तर—नहीं, क्योंकि नारकी जीवोंके अपमृत्युका सद्भाव नहीं पाया जाता (दे० मरण/४) अर्थात् नारकियोंका आयुके अन्तमें ही मरण होता है, बीचमें नहीं। प्रश्न—यदि उनकी अपमृत्यु नहीं होती तो जिनका शरीर भस्मीभावको प्राप्त हो गया है, ऐसे नारकियोंका, (आयुके अन्तमें) पुनर्मरण कैसे बनेगा? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, देहका विकार आयुकर्मके विनाशका निमित्त नहीं है। (विशेष दे० मरण/२)।

७. वहाँ सम्यग्दर्शन कैसे सम्भव है

ध. १/१,१,२५/२०६/७ तर्हि सम्यग्दृष्टयोऽपि तथैव सन्तीति चेन्न, इष्टत्वात्। सासादनस्येव सम्यग्दृष्टेरपि तत्रोत्पत्तिर्मा भूदिति चेन्न, प्रथमपृथिव्युत्पत्तिं प्रति निषेधाभावात्। प्रथमपृथिव्यामिव द्वितीयादिषु पृथिवीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यक्त्वस्य तत्रत्यापर्याप्ताद्धया सह विरोधात्। =प्रश्न—तो फिर सम्यग्दृष्टि भी उसी प्रकार होते हैं ऐसा मानना चाहिए। अर्थात् सासादनकी भाँति सम्यग्दर्शनकी भी वहाँ उत्पत्ति मानना चाहिए? उत्तर—नहीं; क्योंकि, यह बात तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् सातों पृथिवियोंकी पर्याप्त अवस्थामें सम्यग्दृष्टियोंका सद्भाव माना गया है। प्रश्न—जिस प्रकार सासादन सम्यग्दृष्टि नरकमें उत्पन्न नहीं होते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टियोंकी भी मरकर वहाँ उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए? उत्तर—सम्यग्दृष्टि मरकर प्रथम पृथिवीमें उत्पन्न होते हैं, इसका आगममें निषेध नहीं है। प्रश्न—जिस प्रकार प्रथम पृथिवीमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार द्वितीयादि पृथिवियोंमें भी सम्यग्दृष्टि क्यों उत्पन्न नहीं होते हैं? उत्तर—नहीं; क्योंकि, द्वितीयादि पृथिवियोंकी अपर्याप्तावस्थाके साथ सम्यग्दर्शनका विरोध है।

८. सासादन मिश्र व सम्यग्दृष्टि मरकर नरकमें उत्पन्न नहीं होते। इसका हेतु—

ध. १/१,१,८३/३२३/६ भवतु नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्तत्रानुत्पत्तिः। सम्यग्मिथ्यात्वपरिणाममधिष्ठितस्य मरणाभावात्। किन्त्वेतन्न युज्यते शेषगुणस्थानप्राणिनस्तत्र नोत्पद्यन्त इति। न तावत् सासादनस्तत्रोत्पद्यते तस्य नरकायुषो बन्धाभावात्। नापि बद्धनरकायुष्कः सासादनं प्रतिपद्य नारकेषूत्पद्यते तस्य तस्मिन् गुणे मरणाभावात्। नासंयतसम्यग्दृष्टयोऽपि तत्रोत्पद्यन्ते तत्रोत्पत्तिनिमित्ताभावात्। न तावत्कर्मस्कन्धबहुत्वं तस्य तत्रोत्पत्तेः कारणं क्षपितकर्मांशानामपि जीवानां तत्रोत्पत्तिदर्शनात्। नापि कर्मस्कन्धाणुत्वं तत्रोत्पत्तेः कारणं गुणितकर्मांशानामपि तत्रोत्पत्तिदर्शनात्। नापि नरकगतिकर्मणः सत्त्वं तस्य तत्रोत्पत्तेः कारणं तत्सत्त्वं प्रत्यविशेषतः सकलपञ्चेन्द्रियाणामपि नरकप्राप्तिप्रसङ्गात्। नित्यनिगोदानामपि विद्यमानत्रसकर्मणां त्रसेषूत्पत्तिप्रसङ्गात्। नाशुभलेश्यानां सत्त्वं तत्रोत्पत्तेः कारणं मरणावस्थायामसंयतसम्यग्दृष्टेः षट्सु पृथिवीषूत्पत्तिनिमित्ताशुभलेश्याभावात्। न नरकायुषः सत्त्वं तस्य तत्रोत्पत्तेः कारणं सम्यग्दर्शनासिना छिन्नषट्पृथिव्यायुष्कत्वात्। न च तच्छेदोऽसिद्धः आर्षात्तत्सिद्ध्युपलम्भात्। ततः स्थितमेतत् न सम्यग्दृष्टिः षट्सु पृथिवीषूत्पद्यत इति। =प्रश्न—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवकी मरकर शेष छह पृथिवियोंमें भी उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्वरूप परिणामको प्राप्त हुए जीवका मरण नहीं होता है (दे० मरण/३)। किन्तु शेष (सासादन व असंयत सम्यग्दृष्टि) गुणस्थान वाले प्राणी (भी) मरकर वहाँपर उत्पन्न नहीं होते, यह कहना नहीं बनता है? उत्तर—१. सासादन गुणस्थानवाले तो नरकमें उत्पन्न ही नहीं होते हैं; क्योंकि, सासादन गुणस्थानवालोंके नरकायुका बन्ध ही नहीं होता है

(दे० प्रकृति बंध/७)। २. जिसने पहले नरकायुका बन्ध कर लिया है ऐसे जीव भी सासादन गुणस्थानको प्राप्त होकर नारकियोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं; क्योंकि, नरकायुका बन्ध करनेवाले जीवका सासादन गुणस्थानमें मरण ही नहीं होता है। ३. असंयत सम्यग्दृष्टि जीव भी द्वितीयादि पृथिवियोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं; क्योंकि, सम्यग्दृष्टियोंके शेष छह पृथिवियोंमें उत्पन्न होनेके निमित्त नहीं पाये जाते हैं। ४. कर्मस्कन्धोंकी बहुलताको उसके लिए वहाँ उत्पन्न होनेका निमित्त नहीं कहा जा सकता; क्योंकि, क्षपितकर्मांशिकोंकी भी नरकमें उत्पत्ति देखी जाती है। ५. कर्मस्कन्धोंकी अल्पता भी उसके लिए वहाँ उत्पन्न होनेका निमित्त नहीं है, क्योंकि, गुणितकर्मांशिकोंकी भी वहाँ उत्पत्ति देखी जाती है। ६. नरक गति नामकर्मका सत्त्व भी उसके लिए वहाँ उत्पत्तिका निमित्त नहीं है; क्योंकि नरकगतिके सत्त्वके प्रति कोई विशेषता न होनेसे सभी पंचेन्द्रिय जीवोंको नरकगतिकी प्राप्तिका प्रसंग आ जायेगा। तथा नित्य निगोदिया जीवोंके भी त्रसकर्म की सत्ता रहनेके कारण उनकी त्रसोंमें उत्पत्ति होने लगेगी। ७. अशुभ लेश्याका सत्त्व भी उसके लिए वहाँ उत्पन्न होनेका निमित्त नहीं कहा जा सकता; क्योंकि, मरण समय असंयत सम्यग्दृष्टि जीवके नीचेकी छह पृथिवियोंमें उत्पत्तिकी कारण रूप अशुभ लेश्याएँ नहीं पायी जातीं। ८. नरकायुका सत्त्व भी उसके लिए वहाँ उत्पत्तिका कारण नहीं है; क्योंकि, सम्यग्दर्शन रूपी खड्गसे नीचेकी छह पृथिवी सम्बन्धी आयु काट दी जाती है। और वह आयुका कटना असिद्ध भी नहीं है; क्योंकि, आगमसे इसकी पुष्टि होती है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि नीचेकी छह पृथिवियोंमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होता।

९. ऊपरके गुणस्थान वहाँ क्यों नहीं होते

ति. प./२/२७४-२७५ ताण य पच्चक्खाणावरणोदयसहिदसव्वजीवाणं। हिंसाणंदजुदाणं णाणाविहसंकिलेसपउराणं ।२७४। देसविरदादिउवरिमदसगुणठाणाण हेदुभूदाओ। जाओ विसोधियाओ कइया वि ण ताओ जायंति ।२७५। =अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे सहित, हिंसामें आनन्द माननेवाले और नाना प्रकारके प्रचुर दुःखोंसे संयुक्त उन सब नारकी जीवोंके देशविरत आदिक उपरितन दश गुणस्थानोंके हेतुभूत जो विशुद्ध परिणाम हैं, वे कदाचित भी नहीं होते हैं ।२७४-२७५।

ध.१/१,१,२५/२०७/३ नोपरिमगुणानां तत्र संभवस्तेषां संयमासंयमसंयमपर्यायेण सह विरोधात्। =इन चार गुणस्थानों (१-४ तक) के अतिरिक्त ऊपरके गुणस्थानोंका नरकमें सद्भाव नहीं है, क्योंकि, संयमासंयम, और संयम पर्यायके साथ नरकगतिमें उत्पत्ति होनेका विरोध है।

५. नरक लोक निर्देश

१. नरककी सात पृथिवियोंके नाम निर्देश

त. सू./३/१ रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ।१। =रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, और महातमःप्रभा, ये सात भूमियाँ घनाम्बुवात अर्थात् घनोदधि वात और आकाशके सहारे स्थित हैं तथा क्रमसे नीचे-नीचे हैं।(ति. प./१/१५२): (ह. पु./४/४३-४५); (म. पु./१०/३१); (त्रि. सा./१४४); (ज. प./११/११३)।

ति. प./१/१५३ घम्मावंसामेघाअंजणरिट्ठाणउब्भमघवीओ। माघविया इय ताणं पुढवीणं गोत्तणामाणि ।१५३। =इन पृथिवियोंके अपर रूढि नाम क्रमसे घर्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी भी हैं ।४६। (ह. पु./४/४६); (म. पु./१०/३२); (ज. प./११/१११-११२); (त्रि. सा./१४५)।

२. अधोलोक सामान्य परिचय

ति. प./२/९,२१,२४-२५ खरपंकप्पबहुलाभागा रयणप्पहाए पुढवीए ।९। सत्त च्चियभूमीओ णवदिसभाएण घणोवहि विलग्गा। अट्ठमभूमी दसदिसभागेसु घणोवहि छिवदि ।२४। पुव्वापरदिब्भाए वेत्तासणसंणिहाओ संठाओ। उत्तर दक्खिणदीहा अणादिणिहणा य पुढवीओ ।२५।

ति. प./१/१६४ सेढीए सत्तंसो हेट्ठिम लोयस्स होदि मुहवासो। भूमीवासो सेढीमेत्ताअवसाण उच्छेहो ।१६४। =अधोलोकमें सबसे पहले रत्नप्रभा पृथिवी है, उसके तीन भाग हैं—खरभाग, पंकभाग और अप्पबहुलभाग। (रत्नप्रभाके नीचे क्रमसे शर्कराप्रभा आदि छः पृथिवियाँ हैं।)।९। सातों पृथिवियोंमें ऊर्ध्व दिशाको छोड़ शेष नौ दिशाओंमें घनोदधिवातवलयसे लगी हुई हैं, परन्तु आठवीं पृथिवी दशों-दिशाओंमें ही घनोदधि वातवलयको छूती है ।२४। उपर्युक्त पृथिवियाँ पूर्व और पश्चिम दिशाके अन्तरालमें वेत्रासनके सदृश आकारवाली हैं। तथा उत्तर और दक्षिणमें समानरूपसे दीर्घ एवं अनादिनिधन है ।२५। (रा. वा./३/१/१४/१६१/१६); (ह. पु./४/६,४८); (त्रि. सा./१४४,१४६); (ज. प./११/१०६,११५)। अधोलोकके मुखका विस्तार जगश्रेणीका सातवाँ भाग (१ राजू), भूमिका विस्तार जगश्रेणी प्रमाण (७ राजू) और अधोलोकके अन्ततक ऊँचाई भी जगश्रेणीप्रमाण (७ राजू) ही है ।१६४। (ह. पु./४/६). (ज. प./११/१०८)

ध. ४/१,३,१/९/३ मंदरमूलादो हेट्ठा अधोलोगो।

ध. ४/१,३,३/४२/२ चत्तारि-तिण्णि-रज्जुबाहल्लजगपदरपमाणा अधउड्ढलोगा। =मंदराचलके मूलसे नीचेका क्षेत्र अधोलोक है। चार राजू मोटा और जगत्प्रतरप्रमाण लम्बा चौड़ा अधोलोक है।

३. पटलों व बिलोंका सामान्य परिचय

ति. प./२/२८,३६ सत्तमखिदिबहुमज्झे बिलाणि सेसेसु अप्पबहुलं तं। उवरि हेट्ठे जोयणसहस्समुज्झिय हवंति पडलकमे ।२८। इंदयसेढीबद्धा पइण्णया य हवंति तिवियप्पा। ते सव्वे णिरयबिला दारुण दुक्खाण संजणणा ।३६। =सातवीं पृथिवीके तो ठीक मध्यभागमें ही नारकियोंके बिल हैं। परन्तु ऊपर अब्बहुलभाग पर्यन्त शेष छह पृथिवियोंमें नीचे व ऊपर एक-एक हजार योजन छोड़कर पटलोंके क्रमसे नारकियोंके बिल हैं ।२८। वे नारकियोंके बिल, इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णकके भेदसे तीन प्रकारके हैं। ये सब ही बिल नारकियोंको भयानक दुःख दिया करते हैं ।३६। (रा. वा./३/२/२/१६२/१०), (ह. पु./४/७१-७२), (त्रि. सा./१५०), (ज. प./११/१४२)।

ध. १४/५,६,६४१/४९५/८ णिरयसेडिबद्धाणि णिरयाणि णाम। सेडिबद्धाणं मज्झिमणिरयावासा णिरइंदयाणि णाम। तत्थतणपइण्णया णिरयपत्थडाणि णाम। =नरकके श्रेणीबद्ध नरक कहलाते हैं, श्रेणीबद्धोंके मध्यमें जो नरकवास हैं वे नरकेन्द्रक कहलाते हैं। तथा वहाँके प्रकीर्णक नरक प्रस्तर कहलाते हैं।

ति. प./२/९५, १०४ संखेज्जमिंदयाणं रुंदं सेढिगदाण जोयणया। तं होदि असंखेज्जं पइण्णयाणुभयमिस्सं च ।९५। संखेज्जवासजुत्ते णिरय-बिले होंति णारया जीवा। संखेज्जा णियमेणं इदरम्मि तहा असंखेज्जा ।१०४। =इन्द्रक बिलोंका विस्तार संख्यात योजन, श्रेणीबद्ध बिलोंका असंख्यात योजन और प्रकीर्णक बिलोंका विस्तार उभयमिश्र हैं, अर्थात् कुछका संख्यात और कुछका असंख्यात योजन है ।९५। संख्यात योजनवाले नरक बिलोंमें नियमसे संख्यात नारकी जीव तथा असंख्यात योजन विस्तारवाले बिलोंमें असंख्यात ही नारकी जीव होते हैं ।१०४। (रा. वा./३/२/२/१६३/११); (ह. पु./४/१६९-१७०); (त्रि. सा./१६७-१६८)।

त्रि. सा./१७७ वज्जघणभित्तिभागा वट्टतिचउरंसबहुविहायारा। णिरया सयावि भरिया सव्विंदियदुक्खदाईहिं। =वज्र सदृश भीतसे युक्त

और गोल, तिकोने अथवा चौकोर आदि विविध आकारवाले, वे नरक बिल, सब इन्द्रियोंको दु:खदायक, ऐसी सामग्रीसे पूर्ण हैं।

४. बिलोंमें स्थित जन्मभूमियोंका परिचय

ति. प./२/३०२-३१२ का सारार्थ —१. इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलोंके ऊपर अनेक प्रकारकी तलवारोंसे युक्त, अर्धवृत्त और अधोमुखवाली जन्मभूमियाँ हैं। वे जन्मभूमियाँ घर्मा (प्रथम) को आदि लेकर तीसरी पृथिवी तक उष्ट्रिका, कोथली, कुम्भी, मुद्गलिका, मुद्गर, मृदंग, और नालिके सदृश हैं।३०२-३०३। चतुर्थ व पंचम पृथिवीमें जन्मभूमियोंका आकार गाय, हाथी, घोड़ा, भस्त्रा, अब्जपुट, अम्बरीष और द्रोणी जैसा है।३०४। छठी और सातवीं पृथिवीकी जन्मभूमियाँ झालर (वाद्यविशेष), भल्लक (पात्रविशेष), पात्री, केयूर, मसूर, शानक, किलिंज (तृणकी बनी बड़ी टोकरी), ध्वज, द्वीपी, चक्रवाक, शृगाल, अज, खर, करभ, संदोलक (झूला), और रीछके सदृश हैं। ये जन्मभूमियाँ दुष्प्रेक्ष्य एवं महा भयानक हैं।३०५-३०६। उपर्युक्त नारकियोंकी जन्मभूमियाँ अन्तमें करौंतके सदृश, चारों तरफसे गोल, मज्जवमयी (?) और भयंकर हैं। ३०७। (रा. वा./३/२/२/१६३/११); (ह पु./४/३४७-३४१); (त्रि.सा./१८०)। २. उपर्युक्त जन्मभूमियोंका विस्तार जघन्य रूपसे ५ कोस, उत्कृष्ट रूपसे ४०० कोस, और मध्यम रूपसे १०-१५ कोस है।३०१। जन्मभूमियोंकी ऊँचाई अपने-अपने विस्तारकी अपेक्षा पाँचगुणी है।।३१०। (ह. पु./४/३५१)। (और भी दे० नीचे ह. पु. व त्रि. सा.)। ३. ये जन्मभूमियाँ ७,३,२ १ और ५ कोणवाली हैं।३१०। जन्मभूमियोंमें १,२,३,५ और ७ द्वार—कोण और इतने ही दरवाजे होते हैं। इस प्रकारकी व्यवस्था केवल श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलोंमें ही है।३११। इन्द्रक बिलोंमें ये जन्मभूमियाँ तीन द्वार और तीन कोनोंसे युक्त हैं। (ह. पु./४/३५२)

ह. पु./४/३५० एकद्वित्रिकगव्यूतियोजनव्याससङ्गता' शतयोजनविस्तीर्णास्तेषूत्कृष्टास्तु वर्णिता'। ३५०। =वे जन्मस्थान एक कोश, दो कोश, तीन कोश और एक योजन विस्तारसे सहित हैं। उनमें जो उत्कृष्ट स्थान हैं, वे सौ योजन तक चौड़े कहे गये हैं।३५०।

त्रि.सा./१८० इगिबितिकोसो वासो जोयणमिव जोयणं सयं जेट्ठं। उट्ठादीणं बहलं सगवित्थारेहिं पंचगुणं।१८०। —एक कोश, दो कोश, तीन कोश, एक योजन, दो योजन, तीन योजन और १०० योजन, इतना घर्मादि सात पृथिवियोंमें स्थित उष्ट्रादि आकारवाले उपपादस्थानोंकी क्रमसे चौडाईका प्रमाण है।१८०। और बाहल्य अपने विस्तारसे पाँच गुणा है।

५. नरक भूमियोंमें दुर्गन्धि निर्देश

१. बिलोंमें दुर्गन्धि

ति. प./२/३४ *अजगजमहिसतुरंगमखरोट्ठमज्जारअहिणरादीणं। कुथिदाणं गंधेहिं णिरयबिला ते अणंतगुणा।३४।* —बकरी, हाथी, भैंस, घोड़ा, गधा, ऊँट, बिल्ली, सर्प और मनुष्यादिकके सड़े हुए शरीरोंके गन्धकी अपेक्षा वे नारकियोंके बिल अनन्तगुणी दुर्गन्धसे युक्त होते हैं।३४। (ति.प./२/३०८); (त्रि.सा./१७८)।

२. आहार या मिट्टीकी दुर्गन्धि

ति. प./२/३४४-३४६ *अजगजमहिसतुरंगमखरोट्ठमज्जारमेसपहुदीणं। कुथिताणं गंधादो अणंतगंधो हुवेदि आहारो।३४४।* घम्माए आहारो कोसस्सब्भंतरम्मि ठिदजीवे। इह मारदि गंधेणं सेसे कोसद्धवड्ढिया सत्ति। ३४६। —नरकोंमें बकरी, हाथी, भैंस, घोड़ा, गधा, ऊँट, बिल्ली और मेंढे आदिके सड़े हुए शरीरकी गन्धसे अनन्तगुणी दुर्गन्धवाली (मिट्टीका) आहार होता है।३४४। घर्मा पृथिवीमें जो आहार (मिट्टी) है, उसकी गन्धसे यहाँपर एक कोसके भीतर स्थित जीव मर सकते हैं। इसके आगे शेष द्वितीयादि पृथिवियोंमें इसकी घातक शक्ति, आधा-आधा कोस और भी बढ़ती गयी है।३४६। (ह पु./४/३४२); (त्रि.सा./१९२-१९३)।

३. नारकियोंके शरीरकी दुर्गन्धि

म. पु/१०/१०० श्वमार्जारखरोष्ट्रादिकुणपानां समाहृतौ। यद्वैगन्ध्यं तदप्येषां देहगन्धस्य नोपमा।१००। —कुत्ता, बिलाव, गधा, ऊँट, आदि जीवोंके मृत कलेवरोंको इकट्ठा करनेसे जो दुर्गन्ध उत्पन्न होती है, वह भी इन नारकियोंके शरीरकी दुर्गन्धकी बराबरी नहीं कर सकती।१००।

६. नरक बिलोंमें अन्धकार व भयंकरता

ति. प./२/गा. नं. ककखककचच्छुरीदो खइरिगालातितिक्खसूईए। कुंजरचिक्कारादो णिरयाबिला दारुणा तमसहावा।३५। होरा तिमिरजुत्ता।१०२। दुक्खणिज्जामहाघोरा।३०६। णारयजम्मणभूमीओ भीमा य।३०७। णिच्चंधयारबहुला कत्थुरिहिंतो अणंतगुणो।३१२। —स्वभावत: अन्धकारसे परिपूर्ण ये नारकियोंके बिल कक्षक (क्रकच), कृपाण, छुरिका, खदिर (खैर) की आग, अति तीक्ष्ण सूई और हाथियोंकी चिकारसे अत्यन्त भयानक हैं।३५। ये सब बिल अहोरात्र अन्धकारसे व्याप्त हैं।१०२। उक्त सभी जन्मभूमियाँ दुष्प्रेक्ष एवं महा भयानक हैं और भयंकर हैं।३०६-३०७। ये सभी जन्मभूमियाँ नित्य ही कस्तूरीसे अनन्तगुणित काले अन्धकारसे व्याप्त हैं।३१२।

त्रि.सा./१८६-१८७,१९१ वेदालगिरि भीमा जंतसुयक्कडगुहा य पडिमाओ। लोहणिहग्गिकणड्ढा परसूछुरिगासिपत्तवणं।१८६। कूडासामलिरुक्खा वइदरणिणदीउ खारजलपुण्णा। पुहरुहिरा दुगंधा हृदा य किमिकोडिकुलकलिदा।१८७। विच्छियसहस्सवेयणसमधियदुक्खं धरित्तिफासादो।१९१। —वेताल सदृश आकृतिवाले महाभयानक तो वहाँ पर्वत हैं और सैकड़ों दु:खदायक यन्त्रोंसे उत्कट ऐसी गुफाएँ हैं। प्रतिमाएँ अर्थात् स्त्रीकी आकृतियाँ व पुतलियाँ अग्निकणिकासे संयुक्त लोहमयी हैं। असिपत्र वन है, सो फरसी, छुरी, खड्ग इत्यादि शस्त्र समान यन्त्रोंकर युक्त है।१८६। वहाँ झूठे (मायामयी) शाल्मली वृक्ष हैं जो महादु:खदायक हैं। वैतरणी नामा नदी है सो खारा जलकर सम्पूर्ण भरी है। घिनावने रुधिरवाले महा दुर्गन्धित द्रह हैं जो कोड़ों, कृमिकुलसे व्याप्त हैं।१८७। हजारों बिच्छू काटनेसे जैसी यहाँ वेदना होती है उससे भी अधिक वेदना वहाँकी भूमिके स्पर्श मात्रसे होती है।१९१।

७. नरकोंमें शीत-उष्णताका निर्देश

१. पृथिवियोंमें शीत-उष्ण विभाग

ति. प./२/२९-३१ पढमादिबितिचउक्के पंचमपुढवीए तिचउक्कभागंतं। अदिउण्हा णिरयबिला तट्ठियजीवाण तिव्वदाधकरा।२९। पंचमिखिदिए तुरिमे भागे छट्ठीय सत्तमे महिए। अदिसीदा णिरयबिला तट्ठिदजीवाण घोरसीदयरा।३०। बासीदिं लक्खाणं उण्हबिला पंचवीसिदिसहस्सा। पणहत्तरिं सहस्सा अदिसीदबिलाणि इगिलक्खं।३१। —पहली पृथिवीसे लेकर पाँचवीं पृथिवीके तीन चौथाई भागमें स्थित नारकियोंके बिल, अत्यन्त उष्ण होनेसे वहाँ रहनेवाले जीवोंको तीव्र गर्मीकी पीड़ा पहुँचानेवाले हैं।२९। पाँचवीं पृथिवीके अवशिष्ट चतुर्थ भागमें तथा छठीं, सातवीं पृथिवीमें स्थित नारकियोंके बिल, अत्यन्त शीत होनेसे वहाँ रहनेवाले जीवोंको भयानक शीतकी वेदना करनेवाले हैं।३०। नारकियोंके उपर्युक्त चौरासी लाख बिलोंमें-से बयासी लाख पच्चीस हजार बिल उष्ण और एक लाख पचहत्तर हजार बिल अत्यन्त शीत है।३१। (ध.७/२,७,७८/गा.१/

४०५), (ह. पु./४/३४६), (म. पु./१०/६०), (त्रि. सा./१५२), (ज्ञा./३६/११) ।

२. नरकोंमें शीत-उष्णकी तीव्रता

ति. प./२/३२-३३ मेरुसमलोहपिंडं सीदं उण्हे बिलम्मि पक्खित्तं । ण लहदि तलप्पदेसं विलीयदे मयणखंडं व ।३२। मेरुसमलोहपिंडं उण्हं सीदे बिलम्मि पक्खित्तं । ण लहदि तलप्पदेसं विलीयदे लवणखंडं व ।३३। =यदि उष्ण बिलमें मेरुके बराबर लोहेका शीतल पिण्ड डाल दिया जाये, तो वह तलप्रदेश तक न पहुँचकर बीचमें ही मैन (मोम) के टुकड़ेके समान पिघलकर नष्ट हो जायेगा ।३२। इसी प्रकार यदि मेरु पर्वतके बराबर लोहेका उष्ण पिण्ड शीत बिलमें डाल दिया जाय तो वह भी तलप्रदेश तक नहीं पहुँचकर बीचमें ही नमकके टुकड़ेके समान विलीन हो जायेगा ।३३। (भ.आ./मू./१५६३-१५६४), (ज्ञा./३६/१२-१३) ।

८. सातों पृथिवियोंकी मोटाई व बिलोंका प्रमाण

प्रत्येक कोष्ठकके अंकानुक्रमसे प्रमाण—

नं. १-२ (दे० नरक/५/१) ।

नं. ३—(ति.प./२/६,२२), (रा.वा./३/१/८/१६०/१६), (ह.पु./४/४८,५७-५८), (त्रि.सा./१४६,१४७), (ज.प./११/११४,१२१-१२२) ।

नं. ४—(ति.प./२/३७), (रा.वा./३/२/२/१६२/११), (ह.पु./४/७५); (त्रि. सा./१५३), (ज.प./११/१४५) ।

नं. ५,६—(ति.प./२/७७-७९,८२), (रा.वा/३/२/२/१६२/२५), (ह.पु./४/१०४,११७,१२८,१३७,१४४,१४६,१५०), (त्रि.सा./१६३-१६६) ।

नं. ७—(ति.प./२/२६-२७), (रा.वा/३/२/२/१६२/५), (ह पु./४/७३-७४), (म.पु./१०/६१), (त्रि.सा./१५१), (ज.प./११/१४३-१४४) ।

नं.	नाम १	अपर नाम २	मोटाई ३	बिलोंका प्रमाण: इन्द्रक ४	श्रेणीबद्ध ५	प्रकीर्णक ६	कुल बिल ७
			योजन				
१	रत्नप्रभा	धर्मा	१,८०,०००	१३	४४२०	२९९५५६७	३० लाख
	खर भाग		१६,०००				
	पंक भाग		८४,०००				
	अब्बहुल		८०,०००				
२	शर्करा	बंशा	३२,०००	११	२६८४	२४९७३०५	२५ लाख
३	बालुका	मेघा	२८,०००	९	१४७६	१४९८५१५	१५ लाख
४	पंक प्र.	अजना	२४,०००	७	७००	९९९२९३	१० लाख
५	धूम प्र.	अरिष्टा	२०,०००	५	२६०	२९९७३५	३ लाख
६	तम प्र	मघवी	१६,०००	३	६०	९९९३२	९९९९५
७	महातम	माघवी	८,०००	१	४	×	५
				४९	९६०४	८३९०३४७	८४ लाख

९. सातों पृथिवियोंके बिलोंका विस्तार

दे० नरक/५/४ (सर्व इन्द्रक बिल संख्यात योजन विस्तारवाले हैं । सर्व श्रेणी बद्ध असंख्यात योजन विस्तारवाले हैं । प्रकीर्णक बिल संख्यात योजन विस्तारवाले भी हैं और असंख्यात योजन विस्तार वाले भी ।

कोष्ठक नं. १=(दे० ऊपर कोष्ठक न. ७) ।

कोष्ठक नं. २-५—(ति.प./२/९६-९९,१०३), (रा.वा/३/२/२/१६२/१३), (ह.पु./४/१६१-१७०); (त्रि.सा./१६७-१६८) ।

कोष्ठक नं. ६-८—(ति.प./२/१५७), (रा.वा/३/२/२/१६३/१५); (ह.पु./४/२१८-२२४); (त्रि.सा./१७०-१७१) ।

पृथिवीका नं.	कुल बिल	बिस्तारकी अपेक्षा बिलोंका विभाग: संख्यात यो.: इन्द्रक	संख्यात यो.: प्रकीर्णक	असंख्यात यो.: श्रेणीबद्ध	असंख्यात यो.: प्रकीर्णक	बिलोंका बाहुल्य या गहराई: इं.	श्रे.	प्र
	१	२	३	४	५	६	७	८
						कोस	कोस	कोस
१	३० लाख	१३	५९९९८७	४४२०	२३९५५८०	१	४/३	७/३
२	२५ लाख	११	४९९९८९	२६८४	१९९७३१६	३/२	२	७/२
३	१५ लाख	९	२९९९९१	१४७६	११९८५२४	२	८/३	१४/३
४	१० लाख	७	१९९९९३	७००	७९९३००	५/२	१०/३	३५/६
५	३ लाख	५	५९९९५	२६०	२३९७४०	३	४	७
६	९९९९५	३	१९९९६	६०	७९९३६	७/२	१४/३	४९/६
७	५	१	×	४	×	४	१६/३	२८/३
	८४ लाख	४९	१६७९९५१	९६०४	६७१०३९६			

१०. बिलोंमें परस्पर अन्तराल

१. तिर्यक् अन्तराल

(ति.प./२/१००), (ह.पु./४/३५४), (त्रि.सा./१७५-१७६) ।

नं.	बिल निर्देश	जघन्य	उत्कृष्ट
		योजन	योजन
१	संख्यात योजनवाले प्रकीर्णक	१ १/२ गो०	३ यो०
२	असंख्यात योजनवाले श्रेणीबद्ध व प्र०	७००० यो.	असं. यो.

२. स्वस्थान ऊर्ध्व अन्तराल

(प्रत्येक पृथिवीके स्व-स्व पटलोंके मध्य बिलोंका अन्तराल) ।

(ति.प./२/१६७-१९४); (ह.पु./४/२२५-२४८); (त्रि.सा./१७२) ।

नं	पृथिवीका नाम	स्वस्थान अन्तराल: इन्द्रकोंका	श्रेणीबद्धोंका	प्रकीर्णकोंका
१	रत्नप्रभा	६४९९योर२ १/४ १/२को	६४९९योर२ ५/६ को	६४९९यो१ १/३ ७/६को
२	शर्कराप्रभा	२९९९ „ ४७००ध.	२९९९ „ ३६००ध.	२९९९ „ २०००ध.
३	बालुकाप्रभा	३२४९ „ ३५०० „	३२४९ „ २००० „	३२४८ „ ५५०० „
४	पंकप्रभा	३६६५ „ ७५०० „	३६६५ „ ५५५५ ५/६ „	३६६४ „ ७७२२ २/६ „
५	धूमप्रभा	४४४९ „ ५०० „	४४९८ „ ६००० „	४४९७ „ ६५०० „
६	तमःप्रभा	६९९८ „ ५५०० „	६९९८ „ २००० „	६९९६ „ ७५०० „
७	महातमःप्रभा	बिलोंके ऊपर तले पृथिवीतलकी मोटाई		
		३९९९योर२ ५/६ को	३९९९ यो १/३ को	×

३. परस्थान ऊर्ध्व अन्तराल

(ऊपरकी पृथिवीके अन्तिम पटल व नीचेकी पृथिवीके प्रथम पटल के बिलोंके मध्य अन्तराल), (रा.वा/३/१/८/१६०/२८); (ति.प./२/गा. नं.); (त्रि.सा./१७३–१७४)।

नं.	ति.प./ गा.	ऊपर नीचेकी पृथिवियोंके नाम	इन्द्रक	श्रेणी-बद्ध	प्रकीर्णक
१	१६८	रत्न.प्र-शर्करा	२०,९०००यो. कम १ राजू	इन्द्रकोंवत् (ति.प./२/१८३–१८८)	इन्द्रकोंवत (ति.प./२/१६४)
२	१७०	शर्करा-बालुका	२६००० „ „ „ „		
३	१७२	बालुका-पंक	२२००० „ „ „ „		
४	१७४	पंक-धूम	१८००० „ „ „ „		
५	१७६	धूम-तम	१४००० „ „ „ „		
६	१७८	तम-महातम	३००० „ „ „ „		
७	×	महातम-	×		

११. सातों पृथिवियोंमें पटलोंके नाम व उनमें स्थित बिलोंका परिचय

दे० नरक/५/८ /३ सातों पृथिवियाँ लगभग एक राजूके अन्तरालसे नीचे नीचे स्थित हैं।

दे० नरक/५/३ प्रत्येक पृथिवी नरक प्रस्तर या पटल है, जो एक-एक हजार योजन अन्तरालसे ऊपर-नीचे स्थित है।

रा.वा/३/२/२/१६२/११ तत्र त्रयोदश नरकप्रस्तारा' त्रयोदशैव इन्द्रकनरकाणि सीमन्तकनिरय···।–तहाँ (रत्नप्रभा पृथिवीके अब्बहुल भागमें तेरह प्रस्तर हैं और तेरह ही नरक हैं, जिनके नाम सीमन्तक निरय आदि हैं। (अर्थात् पटलोंके भी वही नाम हैं जो कि इन्द्रकोंके है। इन्हीं पटलों व इन्द्रकोंके नाम विस्तार आदिका विशेष परिचय आगे कोष्ठकोंमें दिया गया है।

कोष्ठक नं. १–४—(ति.प./२/४/४५); (रा.वा/३/२/२/१६२/११); (ह.पु./४/७६–८५); (त्रि.सा./१५४–१५६); (ज.प./११/१४६–१५५)।

कोष्ठक नं. ५–८—(ति.प./२/३८,५५–५८); (ह.पु./४/८६–१५०). (त्रि. सा./१६३–१६५)।

कोष्ठक नं. ९—(ति. प./२/१०८–१५६); (ह. पु./४/१७१-२१७), (त्रि. सा./१६६)।

नं.	प्रत्येक पृथिवीके पटलों या इन्द्रकोंके नाम				प्रत्येक पटलमें इन्द्रक	प्रत्येक पटलकी दिशा व विदिशा में श्रेणीबद्ध बिल			प्रत्येक इन्द्रकका विस्तार
	ति.प.	रा.वा.	ह.पु.	त्रि.सा.		दिशा	विदिशा	कुल योग	
	१	२	३	४	५	६	७	८	९ योजन
१	रत्नप्रभा पृथिवी				१३			४४२०	
१	सीमंतक	सीमंतक	सीमंतक	सीमंतक	१	४९	४८	३८८	४५ लाख
२	निरय	निरय	नारक	निरय	१	४८	४७	३८०	४४०८३३३ $\frac{1}{3}$
३	रौरुक	रौरुक	रौरुक	रौरव	१	४७	४६	३७२	४३१६६६६ $\frac{2}{3}$
४	भ्रान्त	भ्रान्त	भ्रान्त	भ्रान्त	१	४६	४५	३६४	४२२५०००
५	उद्भ्रांत	उद्भ्रांत	उद्भ्रान्त	उद्भ्रान्त	१	४५	४४	३५६	४१३३३३३ $\frac{1}{3}$
६	संभ्रान्त	सभ्रान्त	संभ्रान्त	संभ्रान्त	१	४४	४३	३४८	४०४१६६६ $\frac{2}{3}$
७	असंभ्रांत	असंभ्रांत	असंभ्रांत	असंभ्रांत	१	४३	४२	३४०	३९५००००
८	विभ्रान्त	विभ्रान्त	विभ्रान्त	विभ्रान्त	१	४२	४१	३३२	३८५८३३३ $\frac{1}{3}$
९	तप्त	तप्त	त्रस्त	त्रस्त	१	४१	४०	३२४	३७६६६६६ $\frac{2}{3}$
१०	त्रसित	त्रस्त	त्रसित	त्रसित	१	४०	३९	३१६	३६७५०००
११	वक्रान्त	व्युत्क्रांत	वक्रान्त	वक्रान्त	१	३९	३८	३०८	३५८३३३३ $\frac{1}{3}$
१२	अवक्रांत	अवक्रांत	अवक्रांत	अवक्रांत	१	३८	३७	३००	३४९१६६६ $\frac{2}{3}$
१३	विक्रांत	विक्रांत	विक्रांत	विक्रांत	१	३७	३६	२९२	३४०००००
२	शर्करा प्रभा				११			२६८४	
१	स्तनक	स्तनक	तरक	तरक	१	३६	३५	२८४	३३०८३३३ $\frac{1}{3}$
२	तनक	संस्तनक	स्तनक	स्तनक	१	३५	३४	२७६	३२१६६६६ $\frac{2}{3}$
३	मनक	वनक	मनक	वनक	१	३४	३३	२६८	३१२५०००
४	वनक	मनक	वनक	मनक	१	३३	३२	२६०	३०३३३३३ $\frac{1}{3}$
५	घात	घाट	घाट	खडा	१	३२	३१	२५२	२९४१६६६ $\frac{2}{3}$
६	संघात	संघाट	संघाट	खडिका	१	३१	३०	२४४	२८५००००
७	जिह्वा	जिह्व	जिह्वा	जिह्वा	१	३०	२९	२३६	२७५८३३३ $\frac{1}{3}$
८	जिह्वक	उज्जिह्व	जिह्वक	जिह्विक	१	२९	२८	२२८	२६६६६६६ $\frac{2}{3}$
९	लोल	कालोल	लोल	लौकिक	१	२८	२७	२२०	२५७५०००
१०	लोलक	लोलुक	लोलुप	लोलवत्स	१	२७	२६	२१२	२४८३३३३ $\frac{1}{3}$
११	स्तन-लोलुक	स्तन-लोलुक	स्तन-लोलुप	स्तन-लोला	१	२६	२५	२०४	२३९१६६६ $\frac{2}{3}$
३	बालुका प्रभा				९			१४७६	
१	तप्त	तप्त	तप्त	तप्त	१	२५	२४	१९६	२३०००००
२	शीत	त्रस्त	तपित	तपित	१	२४	२३	१८८	२२०८३३३ $\frac{1}{3}$
३	तपन	तपन	तपन	तपन	१	२३	२२	१८०	२११६६६६ $\frac{2}{3}$
४	तापन	आतपन	तापन	तापन	१	२२	२१	१७२	२०२५०००
५	निदाघ	निदाघ	निदाघ	निदाघ	१	२१	२०	१६४	१९३३३३३ $\frac{1}{3}$
६	प्रज्व-लित	प्रज्व-लित	प्रज्व-लित	उज्ज्व-लित	१	२०	१९	१५६	१८४१६६६ $\frac{2}{3}$

नं०	पटलों या इन्द्रकोंके नाम				प्रत्येक पटलमें इन्द्रक	श्रेणी बद्ध			इन्द्रकोंका विस्तार
	ति. प.	रा. व.	ह. पु	त्रि. सा		दिशा	विदिशा	कुल योग	
	१	२	३	४	५	६	७	८	योजन
७	उज्ज्वलित	उज्ज्वलित	उज्ज्वलित	प्रज्वलित	१	१६	१८	१४८	१७५०८००
८	संज्वलित	संज्वलित	संज्वलित	संज्वलित	१	१८	१७	१४०	१६५८३३३ १/३
९	संप्रज्वलित	संप्रज्वलित	संप्रज्वलित	संप्रज्वलित	१	१७	१६	१३२	१५६६६६६ २/३
४. पंक प्रभा:—					७			७००	
१	आर	आर	आर	आरा	१	१६	१५	१२४	१४७५०००
२	मार	मार	तार	मारा	१	१५	१४	११६	१३८३३३३ १/३
३	तार	तार	मार	तारा	१	१४	१३	१०८	१२९१६६६ २/३
४	तत्त्व	वर्चस्क	वर्चस्क	चर्चा	१	१३	१२	१००	१२०००००
५	तमक	वैमनस्क	तमक	तमकी	१	१२	११	९२	११०८३३३ १/३
६	वाद	खड	खड	घाटा	१	११	१०	८४	१०१६६६६ २/३
७	खडखड	अखड	खडखड	घटा	१	१०	९	७६	९२५०००
५. धूमप्रभा:—					५			२६०	
१	तमक	तमो	तम	तमका	१	९	८	६८	८३३३३३ १/३
२	भ्रमक	भ्रम	भ्रम	भ्रमका	१	८	७	६०	७४१६६६ २/३
३	झषक	झष	झष	झषका	१	७	६	५२	६५००००
४	वाविल	अन्ध	अन्त	अंधेंद्रा	१	६	५	४४	५५८३३३ १/३
५	तिमिश्र	तमिस्र	तमिस्र	तिमिश्रका	१	५	४	३६	४६६६६६ २/३
६ तम:प्रभा					३			६०	
१	हिम	हिम	हिम	हिम	१	४	३	२८	३७५०००
२	वर्दल	वर्दल	वर्दल	वार्दल	१	३	२	२०	२८३३३३ १/३
३	लल्लक	लल्लक	लल्लक	लल्लक	१	२	१	१२	१९१६६६ २/३
७ महातम:प्रभा—					१			४	
१	अवधिस्थान	अप्रतिष्ठान	अप्रतिष्ठित	अवधिस्थान	१	१	×	४	१००,०००

नरकमुख—अष्टम नारद थे। अपर नाम नरवक्त्र। विशेष दे० शलाका पुरुष/६।

नरकांता कूट—नील पर्वतस्थ एक कूट —दे० श्लोक/७।

नरकांता देवी—नरकान्ता कुण्ड निवासिनी एक देवी।—दे० लोक/३/१०।

नरकांता नदी—रम्यक क्षेत्रकी प्रधान नदी।—दे० लोक ३/११।

नरकायु—दे० आयु/३।

नरगीत—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

नरपति—(म. पु./६१/८९-९०) मघवान चक्रवर्तीका पूर्वका दूसरा भव है। यह उत्कृष्ट तपश्चरणके कारण मध्यम ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र उत्पन्न हुआ था।

नरमद—भरतक्षेत्र पश्चिम आर्यखण्डका एक देश। —दे० मनुष्य/४।

नरवर्मा—एक भोजवंशी राजा। भोजवंशकी वंशावलीके अनुसार यह उदयादित्यका पुत्र और यशोवर्माका पिता था। मालवा देशमें राज्य करता था। धारा या उज्जैनी इसकी राजधानी थी। समय—वि. ११५०-१२०० (ई० १०९३-११४३)—दे० इतिहास/३/१।

नरवाहन—मगधदेशकी राज्य वंशावलीके अनुसार यह शक जातिका एक सरदार था, जो राजा विक्रमादित्यके कालमें मगधदेशके किसी भागपर अपना अधिकार जमाये बैठा था। इसका दूसरा नाम नभ:सेन था। इतिहासमें इसका नाम नहपान प्रसिद्ध है। श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार मालवादेशकी राज्य वंशावलीमें भी नभःसेनकी बजाय नरवाहन ही नाम दिया है। भृत्यवंशके गोतमीपुत्र सातकर्णी (शालिवाहन) ने वी. नि. ६०५ में इसे परास्त करके इसका देश भी मगध राज्यमें मिला लिया (क. पा. १/प्र.५३/ पं. महेन्द्र) और इसी-के उपलक्ष्यमें उसने शक संवत् प्रचलित किया था। समय—वी. नि. ५६६-६०६ (ई. पू. ३९-७९) नोट—शालिवाहन द्वारा वी. नि. ६०५ में इसके परास्त होनेकी संगति बैठानेके लिए —दे० इतिहास/३/३।

नरवृषभ—(म. पु /६१/६६-६८) वीतशोकापुरी नगरीका राजा था। दीक्षा पूर्वक मरणकर सहस्रार स्वर्गमें देव हुआ। यह 'सुदर्शन' नामक बलभद्रके पूर्वका दूसरा भव है—दे० सुदर्शन।

नरसेन—सिद्धचक्क कहा वड्ढमाण कहा, श्रीपाल चरित आदि के रचयिता एक अपभ्रंश कवि गृहस्थ। समय—वि श १५ का मध्य। (ती./४/२२३)।

नरेन्द्रसेन—१ सिद्धान्तसार संग्रह तथा प्रतिष्ठा तिलक के रचयिता लाडबागड संघी आचार्य। गुरु—गुणसेन। समय—वि श १२ का पूर्वार्ध। (ती /२/४३४)। २. प्रमाण प्रमेय कलिका के रचयिता। गुरु-शान्तिसेन। समय—वि १७८७-१८१०। (इतिहास/७/६), (ती./२/४२७)।

नर्मदा—पूर्वदक्षिणी आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

नल—(प. पु./९/१३ व ११९/३९) सुग्रीवके चचा ऋक्षरजका पुत्र था ।१३। अन्तमें दीक्षित हो गया था ।३९।

नलकूबर—(प. पु./१२/७९) राजा इन्द्रका एक लोकपाल जिसने रावणके साथ युद्ध किया।

नलदियार—तामिल भाषाका ८००० पद्य प्रमाण एक ग्रन्थ था, जिसे ई० पू० ३६५-३५५ में विशाखाचार्य तथा उनके ८००० शिष्योंने एक रातमें रचा था। इसके लिए यह दन्तकथा प्रसिद्ध है कि—बारह वर्षीय दुर्भिक्षमें जब आ. भद्रबाहुका संघ दक्षिण देशमें चला गया तो पाण्ड्यनरेशका उन साधुओंके गुणोंसे बहुत स्नेह हो गया। दुर्भिक्ष समाप्त होनेपर जब विशाखाचार्य पुनः उज्जैनीकी ओर लौटने लगे तो पाण्ड्यनरेशने उन्हें स्नेहवश रोकना चाहा। तब आचार्यप्रवरने अपने दस दस शिष्योंको दस दस श्लोकोंमें अपने जीवनके अनुभव निबद्ध करनेकी आज्ञा दी। उनके ८००० शिष्य थे, जिन्होंने एक रातमें ही अपने अनुभव गाथाओंमें गूँथ दिये और सवेरा होते तक ८००० श्लोक प्रमाण एक ग्रन्थ तैयार हो गया। आचार्य इस ग्रन्थको नदी किनारे छोड़कर विहार कर गये। राजा उनके विहारका समाचार जानकर बहुत बिगड़ा और क्रोधवश वे सब

गाथाएँ नदीमें फिकवा दीं। परन्तु नदीका प्रवाह उलटा हो जानेके कारण उनमेंसे ४०० पत्र किनारेपर आ लगे। क्रोध शान्त होनेपर राजाने वे पत्र इकट्ठे करा लिये, और इस प्रकार वह ग्रन्थ ८००० श्लोकसे केवल ४०० श्लोक प्रमाण रह गया। इसी ग्रन्थका नाम पीछे नलदियार पड़ा।

नलिन—१. पूर्व विदेहस्थ एक वक्षार गिरि (लोक/५/३)। २. उपरोक्त वक्षारका एक कूट तथा देव (लोक/५/४)। ३. अपर विदेहस्थ एक क्षेत्र। (लोक/५/२)। ४. आशीविष वक्षारका एक कूट तथा देव (लोक/५/४)। ५. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक५/१३। ६. सौधर्म स्वर्गका आठवाँ पटल—दे० स्वर्ग/५/३। ७. कालका एक प्रमाण (गणित/I/१/४)।

नलिनप्रभ—(म. पु./५७/श्लोक नं०) पुष्करार्ध द्वीपके पूर्व विदेहमें सुकच्छा देशका राजा था।२-३। सुपुत्र नामक पुत्रको राज्य दे दीक्षा धारण कर ली और ग्यारह अंगोंका अध्ययन कर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। समाधिमरण पूर्वक देह त्यागकर सोलहवें अच्युत स्वर्ग-में अच्युतेन्द्र हुआ।१२-१४।

नलिनांग—कालका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१/४।

नलिना—सुमेरुपर्वतके नन्दन आदि वनोंमें स्थित एक वापी—दे० लोक/५/६।

नलिनावर्त—पूर्व विदेहस्थ नलिनकूट वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/५/२,४।

नलिनी—सुमेरुके नन्दन आदि वनोंमें स्थित एक वापी—लोक५/६।

नवक समय प्रबद्ध—दे० समय प्रबद्ध।

नवकार मन्त्र—दे० मन्त्र।

नवकार व्रत—लगातार ७० दिन एकाशना करे। नमोकार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान संग्रह/पृ. ४७) (वर्द्धमान पुराण नवलसाहकृत)।

नवधा—पु. सि. उ./७६ कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा। =कृत कारित अनुमोदनारूप मन वचन काय करके नव प्रकार (का त्याग औत्सर्गिक है)।

नवधाभक्ति—दे० भक्ति/२।

नवविधि व्रत—किसी भी मासकी चतुर्दशीसे प्रारम्भ करके—चौदह रत्नोंकी १४ चतुर्दशी; नवनिधिकी ६ नवमी; रत्नत्रयकी ३ तीज; पाँच ज्ञानोंकी ५ पंचमी, इस प्रकार ३१ उपवास करे। नमोकार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान संग्रह/पृ. ६२) (किशन-सिंह क्रियाकोश)।

नवनीत— ★नवनीतकी अभक्ष्यताका निर्देश

—दे० भक्ष्याभक्ष्य/२।

१. नवनीतके निषेधका कारण

र. मा./२. नवनीत, मदिरा, मांस, मधु ये चार महाविकृतियाँ हैं, जो काम, मद (अभिमान व नशा) और हिंसाको उत्पन्न करते हैं।

र. क. श्रा./८५ अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणिशृङ्गवेराणि। नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम्। ८५। =फल थोड़ा परन्तु त्रस हिंसा अधिक होनेसे नवनीत आदि वस्तुएँ छोड़ने योग्य हैं।

पु. सि. उ./१६३ नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम्। =[उसी वर्ण व जातिके (पु. सि. उ./७१)] बहुतसे जीवोंका उत्पत्तिस्थानभूत नवनीत त्यागने योग्य है।

सा. ध./२/१२ मधुवन्नवनीतं च मुञ्चेत्तत्रापि भूरिशः। द्विमुहूर्तात्परं शश्वत्संसजन्त्यङ्गिराशयः।१२।...

सा. ध./२/१२ में उद्धृत—अन्तर्मुहूर्तात्परतः सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः। यत्र मूर्च्छन्ति नाद्यं तन्नवनीतं विवेकिभिः।१। =१. मधुके समान नवनीत भी त्याग देना चाहिए; क्योंकि, उसमें भी दो मुहूर्तके पश्चात् निरन्तर अनेक सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं।१२। २. और किन्हीं आचार्योंके मतसे तो अन्तर्मुहूर्त पश्चात् ही उसमें अनेक सूक्ष्म जीव उत्पन्न हो जाते हैं इसलिए वह नवनीत विवेकी जनों द्वारा खाने योग्य नहीं है।१।

नवमिका—रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी देवी।—दे० लोक/५/१३।

नवराष्ट्र—भरतक्षेत्र दक्षिण आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

नष्ट—अक्षसंचार गणितमें संख्याके आधारपर अक्ष या भंगका नाम बताना 'नष्ट' विधि कहलाती है—दे० गणित/II/३/४।

नहपान—दे० नरवाहन।

नहुष—कलिंग देशके सोमवंशी राजा। समय—ई० ११६-१४४ (सि. वि./प्र./१५/पं. महेन्द्र)।

नाग—सनत्कुमार स्वर्गका तृतीय पटल—दे० स्वर्ग/५/३।

नागकुमार—१. (ध. १३/५,५,१४०/३९१/७ फणोपलक्षिताः नागाः। =फणसे उपलक्षित (भवनवासी देव) नाग कहलाते हैं। २. भवनवासी देवोंका एक भेद है—दे० भवन/१/४। ३. इन देवोंके इन्द्रादि तथा लोकमें इनका अवस्थान —दे० भवन २/२; ४/१।

नागकुमार नागकुमार चरित विषयक तीन काव्य। १. मल्लिषेण (ई. श. ११) कृत। ५ सर्ग, ५०७ पद्य। (ती./३/१७१)। २. धर्मधर (वि. १५११) कृत। (ती./४/५८)। ३. माणिक्य राज (वि. १५७९) कृत। ६ सन्धि, ३३०० श्लोक। (ती./४/२३७)।

नागगिरि—१. अपर विदेहस्थ एक वक्षार —दे० लोक/५/३। २. सूर्य गिरि वक्षारका एक कूट। ३. इस कूटका रक्षक देव।—दे० लोक५/४ ४. भरतक्षेत्र आर्यखण्डका एक पर्वत—दे० मनुष्य/४।

नागचंद—मल्लिनाथ पुराणके कर्ता एक कन्नड कवि। ई. ११००। (ती./४/३०८)।

नागदत्त—यह एक साधु थे, जिनको सर्प द्वारा डसा जानेके कारण वैराग्य आया था। (बृहत् कथाकोश/कथा नं. २७)

नागदेव—आप 'मयण पराजय' के कर्ता हरिदेव सूरिके ही वंशमें उनकी छठी पीढ़ी में हुए थे। 'कन्नड़ भाषामें रचित उपरोक्त ग्रन्थके आधारपर आपने मदन पराजय' नामक संस्कृत भाषाबद्ध ग्रन्थकी रचना की थी। समय— वि. श. १४ का मध्य। (ती./४/६२)।

नागनंदि—कवि अरुणके गुरु थे। समय—वि० श० ११, (ई० श० ११ का अन्त) (भ. आ./प्र. २०/प्रेमी जी)

नागपुर—भरतक्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४।

नागभट्ट—१. स्वर्गीय चिन्तामणिके अनुसार यह वत्सराजके पुत्र थे। इन्होंने चक्रायुधका राज्य छीनकर कन्नौजपर कब्जा किया था। समय—वि. ८५७-८८२ (ई० ८००-८२५)।

नागवर—मध्यलोकके अन्तमें षष्ठ सागर व द्वीप—दे० लोक/५/१।

नागश्री—(पा. पु./सर्ग/श्लोक नं.) अग्निभूति ब्राह्मणकी पुत्री थी। सोमभूतिके साथ विवाही गयी (२३/७९-८२)। मिथ्यात्वकी तीव्रता वश।(२३/८८) एक बार मुनियोंको विष मिश्रित आहार कराया।(२३/१०३)। फलस्वरूप कुष्ठरोग हो गया और मरकर नरकमें गयी।।(२४/२-६)। यह द्रपोदोका दूरवर्ती पूर्वभव है।—दे० द्रौपदी।

नागसेन—१. श्रुतावतारके अनुसार आप भद्रबाहु प्रथमके पश्चात पाँचवें ११ अंग व १० पूर्वधारी हुए। समय - वी. नि. २२६-२४७ दृष्टि नं० ३ की अपेक्षा वी. नि २८६-३००। (दे. इतिहास/४/४)। २. ध्यान विषयक ग्रन्थ तत्त्वानुशासन के कर्ता रामसेन के गुरु और वीरचन्द्र के विद्या शिष्य। समय—ई १०४७। (ती./३/२३६) कोई कोई इन्हें ही तत्त्वानुशासन के रचयिता मानते हैं। (त. अनु./प्र/ २ म. श्री लाल)

नागहस्ती—१ दिगम्बराम्नायमें आपका स्थान आ. पुष्पदन्त तथा भूतबलि के समकक्ष माना गया है। आ० गुणधर से आगत 'पेज्जदोस-पाहुड' के ज्ञान को आचार्य परम्परा द्वारा प्राप्त कर के आपने यति-वृषभाचार्य को दिया था। समय—वि. नि. ६२० ६८६ (ई. ९३-१६२) (विशेष दे कोश १/ परिशिष्ट/३,३)।

२. पुन्नाटसंघकी गुर्वावलीके अनुसार आप व्याघ्रहस्तिके शिष्य तथा जितदण्डके गुरु थे। (दे० इतिहास/७/८)

नागार्जुन—१. एक बौद्ध विद्वान्। इनके सिद्धान्तोंका समन्तभद्र स्वामी (वि. श २-३) ने बहुत खण्डन किया है, अतः आप उनसे भी पहले हुए है। (र. क. श्रा./प्र. ८/पं. परमानन्द) २. आप आ. पूज्य-पादकी कमलनी नामक छोटी बहन जो गुणभट्ट नामक ब्राह्मणके साथ परणी थी, उसके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। आ. पूज्यपाद स्वामीने इनको पद्मावती देवीका एक मंत्र दिया था, जिसे सिद्ध करके इन्होंने स्वर्ण बनानेकी विद्या प्राप्त की थी। पद्मावती देवीके कहनेसे इसने एक जिनमन्दिर भी बनवाया था। समय—पूज्यपादसे मिलान करनेपर इनका समय लगभग वि. ४८१ (ई. ४२९) आता है। (स. सि./प्र. ८४/ पं. नाथूराम प्रेमीके लेखसे उद्धृत)

नाग्न्य—दे० अचेलकत्व।

नाटक समयसार—दे० समयसार नाटक।

नाड़ी—१. नाडी संचालन सम्बन्धी नियम—दे० उच्छ्वास। २. औदारिक शरीरमें नाड़ियोंका प्रमाण —दे० औदारिक/१।

नाथ वंश—दे० इतिहास/१०/७।

नाभांत—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर —दे० विद्याधर।

नाभिगिरि—दे० लोक/३/८।

नाभिराज—(म. पु./३/श्लोक नं.) आप वर्तमान कल्पके १४ वें कुलकर थे।१५२। इनके समय बालककी नाभिमें नाल दिखाई देने लगी थी। इन्होंने उसे काटनेका उपाय सुझाया जिससे नाभिराय नाम प्रसिद्ध हो गया।१६४। —दे० शलाका पुरुष/१।

नाम—**१. नामका लक्षण**

रा. वा./१/५/—/२८/८ नीयते गम्यतेऽनेनार्थं नमति वार्थमभिमुखी-करोतीति नाम। =जिसके द्वारा अर्थ जाना जाये अथवा अर्थको अभिमुख करे वह नाम कहलाता है।

ध. १५/२/२ जस्स णामस्स वाचगभावेण पवुत्तीए जो अत्थो आलंबणं होदि सो णामणिबंधणं णाम, तेण विणा णामपवुत्तीए अभावादो। =जिस नामकी वाचकरूपसे प्रवृत्तिमें जो अर्थ अवलम्बन होता है वह नाम निबन्धन है; क्योंकि, उसके बिना नामकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है।

ध. ६/४१/५४/२ नाना मिनोतीति नाम। =नानारूपसे जो जानता है, उसे नाम कहते हैं।

त. अनु./१०० वाच्यवाचकं नाम। =वाच्यके वाचक शब्दको नाम कहते हैं —दे० आगम/४।

२. नामके भेद

ध. १/१,१,१/१७/५ तत्थ णिमित्तं चउव्विहं, जाइ-दव्व-गुण-किरिया चेदि।...दव्वं दुविहं, संयोगदव्वं समवायदव्वं चेदि।...ण च अण्ण णिमित्तंतरमत्थि। =नाम या संज्ञाके चार निमित्त होते है- जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया। (उसमें भी) द्रव्य निमित्तके दो भेद हैं—संयोग द्रव्य और समवाय द्रव्य। (अर्थात् नाम या शब्द चार प्रकार-के हैं -जातिवाचक, द्रव्यवाचक, गुणवाचक और क्रियावाचक) इन चारके अतिरिक्त अन्य कोई निमित्त नहीं है। (श्लो. वा. २/१/५/ श्लो. २-१०/१६६)

ध. १५/२/३ तं च णाम णिबंधणमत्थाहिहाणपच्चयभेएण तिविहं। =वह नाम निबन्धन अर्थ, अभिधान और प्रत्ययके भेदसे तीन प्रकारका है।

३. नामके भेदोंके लक्षण

दे. जाति (सामान्य) (गौ मनुष्य आदि जाति वाचक नाम है)।

दे द्रव्य/१/१० (दण्डी छत्री आदि संयोग द्रव्य निमित्तक नाम हैं और गलगण्ड काना आदि समवाय द्रव्य निमित्तक नाम है।)

ध. १/१,१,१/१८/२,६ गुणो णाम पज्जायादिपरोप्परविरुद्धो अविरुद्धो वा। किरिया णाम परिप्फंदणरूवा। तत्थ...गुणणिमित्तं णाम किण्हो रुहिरो इच्चेवमाइ। किरियाणिमित्तं णाम गायणो णच्चणो इच्चेवमाइ। =जो पर्याय आदिकसे परस्पर विरुद्ध हो अथवा अविरुद्ध हो उसे गुण कहते हैं। परिस्पन्दन अर्थात हलनचलन रूप अवस्थाको क्रिया कहते है। तहाँ कृष्ण, रुधिर इत्यादि गुणनिमित्तक नाम है, क्योंकि, कृष्ण आदि गुणोंके निमित्तसे उन गुणवाले द्रव्योंमें ये नाम व्यवहारमें आते है। गायक, नर्तक आदि क्रिया निमित्तक नाम है, क्योंकि, गाना नाचना आदि क्रियाओंके निमित्तसे वे नाम व्यवहारमें आते हैं।

ध. १५/२/४ तत्थ अत्थो अट्ठविहो एगबहुजीवाजीवजणिदपादेक्कसंजोग-भंगभेएण। एदेसु अट्ठसु अत्थेसुप्पण्णणाणं पच्चणिबंधणं। जो णामसद्दो पवुत्तो संतो अप्पाणं चेव जाणावेदि तमभिहाणणामणिबंधणं णाम। =एक व बहुत जीव तथा अजीवसे उत्पन्न प्रत्येक व संयोगी भंगोंके भेदसे अर्थ निबन्धन नाम आठ प्रकारका है (विशेष देखो आगे नाम निक्षेप) इन आठ अर्थोंमें उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रत्यय निबन्धन नाम कहलाता है। जो संज्ञा शब्द प्रवृत्त होकर अपने आपको जतलाता है, वह अभिधान निबन्धन कहा जाता है।

४. सर्व शब्द वास्तवमें क्रियावाची हैं

श्लो. वा./४/१/३३/७९/२६७/६ न हि कश्चिदक्रियाशब्दोऽस्यास्ति गौरश्व इति जातिशब्दाभिमतानामपि क्रियाशब्दत्वात् आशुगाम्यश्व इति, शुक्लो नील इति गुणशब्दाभिमता अपि क्रियाशब्द एव। शुचिभवना च्छुक्लः नीलान्नील इति। देवदत्त इति यदृच्छा शब्दाभिमता अपि क्रियाशब्दा एव देव एव (एनं) देयादिति देवदत्तः यज्ञदत्त इति। संयोगिद्रव्यशब्दाः समवायिद्रव्यशब्दाभिमताः क्रियाशब्द एव। दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी विषाणमस्यास्तीति विषाणीत्यादि। पञ्चतयी तु शब्दानां प्रवृत्तिः व्यवहारमात्रान्न निश्चयादित्ययं मन्यते। =जगतमें कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जो कि क्रियाका वाचक न हो। जातिवाचक अश्वादि शब्द भी क्रियावाचक हैं; क्योंकि, आशु अर्थात शीघ्र गमन करनेवाला अश्व कहा जाता है। गुणवाचक शुक्ल नील आदि शब्द भी क्रियावाचक हैं; क्योंकि, शुचि अर्थात पवित्र होना रूप क्रियासे शुक्ल तथा नील रंगने रूप क्रियासे नील कहा

जाता है। देवदत्त आदि यदृच्छा शब्द भी क्रियावाची हैं; क्योंकि, देव ही जिस पुरुषको देवे; ऐसे क्रियारूप अर्थको धारता हुआ देवदत्त है। इसी प्रकार यज्ञदत्त भी क्रियावाची है। दण्डी विषाणी आदि संयोगद्रव्यवाची या समवायद्रव्यवाची शब्द भी क्रियावाची ही है, क्योंकि, दण्ड जिसके पास वर्त रहा है वह दण्डी और सींग जिसके वर्त रहे हैं वह विषाणी कहा जाता है। जातिशब्द आदि रूप पाँच प्रकारके शब्दोंकी प्रवृत्ति तो व्यवहार मात्रसे होती है। निश्चयसे नहीं है। ऐसा एवंभूत नय मानता है।

★ **गाण्यपद आदि नाम**—दे० पद।

★ **भगवान्के १००८ नाम**—दे० म. पु.२५/१००-२१७।

★ **नाम निक्षेप**—दे० आगे पृथक् शब्द।

नामकर्म—१. नामकर्मका लक्षण

प्र. सा./मू./११७ कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण। अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि। =नाम संज्ञावाला कर्म जीवके शुद्ध स्वभावको आच्छादित करके उसे मनुष्य, तिर्यंच, नारकी अथवा देव रूप करता है। (गो. क./मू./१२/९)

स. सि./८/३/३७९/२ नाम्नो नरकादिनामकरणम्।

स. सि./८/४/३८१/१ नमयत्यात्मानं नम्यतेऽनेनेति वा नाम। =(आत्मा का) नारक आदि रूप नामकरण करना नामकर्मकी प्रकृति (स्वभाव) है। जो आत्माको नमाता है या जिसके द्वारा आत्मा नमता है वह नामकर्म है। (रा. वा./८/३/४/५६७/५ तथा ८/४/२/५६८/४); (प्र.सा./ता. वृ.)।

ध. ६/१,९-१,१०/१३/३ नाना मिनोति निर्वर्तयतीति नाम। जे पोग्गला सरीरसंठाणसंघडणवण्णगंधादिकज्जकारया जीवणिविट्ठा ते णामसण्णिदा होंति त्ति उत्तं होदि। =जो नाना प्रकारकी रचना निर्वृत्त करता है, वह नामकर्म है। शरीर, संस्थान, संहनन, वर्ण, गन्ध आदि कार्योंके करनेवाले जो पुद्गल जीवमें निविष्ट हैं, वे 'नाम' इस संज्ञा वाले होते हैं, ऐसा अर्थ कहा गया है। (गो. क./मू./१२/९); (गो क./जी. प्र./२०/१३/१६); (द्र. स./टी./३३/९४/१२)।

२. नामकर्मके भेद

१. मूलभेद रूप ४२ प्रकृतियाँ

ष. खं. ६/१,९-१/सूत्र २८/५० गदिणामं जादिणामं सरीरणामं सरीरबंधणणामं सरीरसंघादणामं सरीरसंठाणणामं सरीरअंगोवंगणामं सरीरसंघडणणामं वण्णणामं गंधणामं रसणामं फासणामं आणुपुव्वीणामं अगुरुलहुवणामं उवघादणामं परघादणामं उस्सासणामं आदावणामं उज्जोवणामं विहायगदिणामं तसणामं थावरणामं बादरणामं सुहुमणामं पज्जत्तणामं अपज्जत्तणामं पत्तेयसरीरणामं साधारणसरीरणामं थिरणामं अथिरणामं सुहणामं असुहणामं सुभगणामं दूभगणामं सुस्सरणामं दुस्सरणामं आदेज्जणामं अणादेज्जणामं जसकित्तिणामं अजसकित्तिणामं णिमिणणामं तित्थयरणामं चेदि।२८। =१. गति, २. जाति, ३. शरीर, ४. शरीरबन्धन, ५. शरीरसंघात, ६. शरीरसंस्थान, ७. शरीर अंगोपांग, ८. शरीरसंहनन, ९ वर्ण, १०. गन्ध, ११. रस, १२. स्पर्श, १३. आनुपूर्वी, १४. अगुरुलघु, १५. उपघात, १६. परघात, १७. उच्छ्वास, १८. आतप, १९. उद्योत, २०. विहायोगति, २१. त्रस, २२. स्थावर, २३. बादर, २४. सूक्ष्म, २५. पर्याप्त, २६. अपर्याप्त, २७. प्रत्येक शरीर, २८. साधारण शरीर, २९. स्थिर, ३०. अस्थिर, ३१. शुभ, ३२. अशुभ, ३३. सुभग, ३४. दुर्भग, ३५. सुस्वर, ३६. दुःस्वर, ३७. आदेय, ३८. अनादेय, ३९. यशःकीर्ति, ४०. अयशःकीर्ति; ४१. निर्माण और ४२. तीर्थंकर, ये नाम कर्मकी ४२ पिंड प्रकृतियाँ हैं।२८। (ष. खं. १३/५,५/सू. १०१/३६३); (त. सू./८/११); (मू. आ./१२३०-१२३३) (पं. सं./प्रा./२/४); (म. बं. १/§५/२८/३); (गो. क./जी. प्र./२६/१६/७)।

२. उत्तर भेदरूप ९३ प्रकृतियाँ

दे० वह वह नाम—(गति चार हैं—नरकादि। जाति पाँच हैं—एकेन्द्रिय आदि। शरीर पाँच हैं—औदारिकादि। बन्धन पाँच हैं—औदारिकादि शरीर बन्धन। संघात पाँच हैं—औदारिकादि शरीर संघात। संस्थान छह हैं—समचतुरस्र आदि। अंगोपांग तीन हैं—औदारिक आदि। संहनन छह हैं—वज्रऋषभनाराच आदि। वर्ण पाँच हैं—शुक्ल आदि। गन्ध दो हैं—सुगन्ध, दुर्गन्ध। रस पाँच हैं—तिक्त आदि। स्पर्श आठ हैं—कर्कश आदि। आनुपूर्वी चार हैं—नरकगत्यानुपूर्वी आदि। विहायोगति दो हैं—प्रशस्त अप्रशस्त।—इस प्रकार इन १४ प्रकृतियोंके उत्तर भेद ६५ हैं। मूल १४को बजाय उनके ६५ उत्तर भेद गिननेपर नाम कर्मकी कुल प्रकृतियाँ ९३ (४२+६५—१४=९३) हो जाती हैं।)

३. नामकर्मकी असंख्यात प्रकृतियाँ

ष. खं. १२/४,२,१४/सूत्र १६/४८३ णामस्स कम्मस्स असंखेज्जलोगमेत्तपयडीओ।१६। =नामकर्मकी असंख्यात लोकमात्र प्रकृतियाँ हैं। (रा. वा./८/१३/३/५८१/५)

ष. खं. १३/२,५/सूत्र/पृष्ठ—णिरयगइपाओग्गाणुपुव्विणामाए पयडीओ अंगुलस्स असंखेज्जदिभागमेत्तबाहल्लाणि तिरियपदराणि सेडीए असंखेज्जदिभागमेत्तेहि ओगाहणवियप्पेहि गुणिदाओ। एवडियाओ पयडीओ।(११६/३७१)। तिरिक्खगइपाओग्गाणुपुव्विणामाए पयडीओ लोओ सेडीए असंखेज्जदिभागमेत्तेहि ओगाहवियप्पेहि गुणिदाओ। एवडियाओ पयडीओ।(११८-३७६)। मणुसगइपाओग्गाणुपुव्विणामाए पयडीओ पणदालीसजोयणसदसहस्सबाहल्लाणि तिरियपदराणि उड्ढकवाडछेदणणिप्फण्णाणि सेडीए असंखेज्जदिभागमेत्तेहि ओगाहणवियप्पेहि गुणिदाओ। एवडियाओ पयडीओ।(१२०/३७७)। देवगइपाओग्गाणुपुव्विणामाए पयडीयो णवजोयणसदबाहल्लाणि तिरियपदराणि सेडीए असंखेज्जदिभागमेत्तेहि ओगाहणवियप्पेहि गुणिदाओ। एवडियाओ पयडीओ।(१२२/३८१)। =नरकगत्यानुपूर्वी नामकर्मकी प्रकृतियाँ अंगुलके असंख्यातवें भागमात्र तिर्यक्प्रतररूप बाहल्यको श्रेणिके असंख्यातवें भागमात्र अवगाहनाविकल्पोंसे गुणित करनेपर जो लब्ध आवे उतनी हैं। उसकी इतनी मात्र प्रकृतियाँ हैं।११६। तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्मकी प्रकृतियाँ लोकको जगश्रेणीके असंख्यातवें भागमात्र अवगाहना विकल्पोंसे गुणित करनेपर जो लब्ध आवे उतनी हैं। उसकी इतनी मात्र प्रकृतियाँ होती हैं।११८। मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्मकी प्रकृतियाँ ऊर्ध्वकपाटछेदनसे निष्पन्न पैंतालीस लाख योजन बाहल्यवाले तिर्यक् प्रतरोंको जगश्रेणीके असंख्यातवें भागमात्र अवगाहनाविकल्पोंसे गुणित करनेपर जो लब्ध आवे उतनी हैं। उसकी उतनी मात्र प्रकृतियाँ होती हैं।१२०। देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्मकी प्रकृतियाँ नौ सौ योजन बाहल्यरूप तिर्यक्प्रतरोंको जगश्रेणीके असंख्यातवें भागमात्र अवगाहनाविकल्पोंसे गुणित करनेपर जो लब्ध आवे उतनी होती हैं। उसकी उतनी मात्र प्रकृतियाँ है।१२२।

ध. ७/१,२,८७/३३०/२ पुढविकाइयणामकम्मोदयवंतो जीवा पुढविकाइया त्ति वुच्चंति। पुढविकाइयणामकम्मं ण कहिं वि वुत्तमिदि चे ण, तस्स एइंदियजादिणामकम्मंतब्भूदत्तादो। एवं संदि कम्माणं संखाणियमो सुत्तसिद्धो ण घडदि त्ति वुत्तवे। ण सुत्ते कम्माणि अट्ठेव अट्ठेदालसयमेवेत्ति संखंतरपडिसेहविधायएवकाराभावादो। पुणो कत्तियाणि कम्माणि होंति। हय-गय-विय-फुल्लंधुव-सलहमक्कुणुद्देहि-गोमिदादीणि जेत्तियाणि कम्मफलाणि लोगे उवलब्भंते

कम्माणि वि तत्तियाणि चेव। एवं सेसकाइयाणं वि वत्तव्वं। –पृथिवीकाय नामकर्मसे युक्त जीवोंको पृथिवीकायिक कहते हैं। प्रश्न—पृथिवीकाय नामकर्म कहीं भी (कर्मके भेदोंमें) नहीं कहा गया है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, पृथिवीकाय नामका कर्म एकेन्द्रिय नामक नामकर्मके भीतर अन्तर्भूत है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो सूत्र प्रसिद्ध कर्मोंकी संख्याका नियम नहीं रह सकता है? उत्तर—सूत्रमें, कर्म आठ ही अथवा १४८ ही नहीं कहे गये हैं; क्योंकि आठ या १४८ संख्या-को छोड़कर दूसरी संख्याओंका प्रतिषेध करनेवाला एवकार पद सूत्रमें नहीं पाया जाता है। प्रश्न—तो फिर कर्म कितने हैं? उत्तर—लोकमें घोड़ा, हाथी, वृक (भेड़िया), भ्रमर, शलभ, मत्कुण, उद्देहिका (दीमक), गोमी और इन्द्र आदि रूपसे जितने कर्मोंके फल पाये जाते हैं, कर्म भी उतने ही हैं। (ध. ७/२,१,१९/७०/७) इसी प्रकार शेष कायिक जीवोंके विषयमें भी कथन करना चाहिए।

ध. ७/२,१०,३२/५०८/५ सुहुमकम्मोदएण जहा जीवाणं वणप्फदिकाइया-दीणं सुहुमत्तं होदि तहा णिगोदणामकम्मोदएण णिगोदत्त होदि। –सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे जिस प्रकार वनस्पतिकायिकादि जीवों-के सूक्ष्मपना होता है उसी प्रकार निगोद नामकर्मके उदयसे निगोदत्व होता है।

ध. १३/५,५,१०१/३६६/६ को पिंडो णाम। बहूणं पयडीणं संदोहो पिंडो। तसादि पयडीणं बहुत्तं णत्थि त्ति ताओ अपिंडपयडीओ त्ति ण घेत्तव्वं, तत्थ वि बहूणं पयडीणमुवलंभादो। कुदो तदुवलद्धी। जुत्तीदो। का जुत्ती। कारणबहुत्तेण विणा भमर-पयंग-मायंग-तुरंगा-दीणं बहुत्ताणुववत्तीदो।

ध. १३/५,५,१३३/३८७/११ ण च एदासिमुत्तरोत्तरपयडीओ णत्थि, पत्तेयसरीराणं धव-धम्मणादीणं साहारणसरीराणं मूलयथूहल्लयादीणं बहुविहसर-गमणादीणमुवलंभादो। –१. प्रश्न—पिंड (प्रकृति) का अर्थ क्या है? उत्तर—बहुत प्रकृतियोंका समुदाय पिण्ड कहा जाता है। प्रश्न—त्रस आदि प्रकृतियाँ तो बहुत नहीं हैं, इसलिए क्या वे अपिण्ड प्रकृतियाँ हैं? उत्तर—ऐसा ग्रहण नहीं करना चाहिए; क्योंकि, वहाँ भी युक्तिसे बहुत प्रकृतियाँ उपलब्ध होती हैं। और वह युक्ति यह है कि—क्योंकि, कारणके बहुत हुए बिना भ्रमर, पतंग, हाथी, और घोड़ा आदिक नाना भेद नहीं बन सकते हैं, इसलिए जाना जाता है, कि त्रसादि प्रकृतियाँ बहुत हैं।...। २. यह कहना भी ठीक नहीं है कि अगुरुलघु नामकर्म आदिकी उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ नहीं हैं, क्योंकि, धव और धम्ममन आदि प्रत्येक शरीर, मूली और थूहर आदि साधारणशरीर; तथा नाना प्रकारके स्वर और नाना प्रकारके गमन आदि उपलब्ध होते हैं।

और भी दे० नीचे शीर्षक नं० ५ (भवनवासी आदि सर्व भेद नामकर्म-कृत हैं।)

४. तीर्थंकरत्ववत् गणधरत्व आदि प्रकृतियोंका निर्देश क्यों नहीं

रा. वा./८/११/४१/५८०/३ यथा तीर्थकरत्वं नामकर्मोच्यते तथा गण-धरत्वादीनामुपसंख्यानं कर्तव्यम्, गणधरचक्रधरवासुदेवबलदेवा अपि विशिष्टर्द्धियुक्ता इति चेत्; तन्न; किं कारणम्। अन्यनिमित्तत्वात्। गणधरत्वं श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षनिमित्तम्, चक्रधरत्वादीनि उच्चैर्गोत्रविशेषहेतुकानि। –प्रश्न—जिस प्रकार तीर्थकरत्व नामकर्म कहते हो उसी प्रकार गणधरत्व आदि नामकर्मोंका उल्लेख करना चाहिए था; क्योंकि गणधर, चक्रधर, वासुदेव, और बलदेव भी विशिष्ट ऋद्धिसे युक्त होते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, वे दूसरे निमित्तोंसे उत्पन्न होते हैं। गणधरत्वमें तो श्रुतज्ञानावरणका प्रकर्ष क्षयोपशम निमित्त है और चक्रधरत्व आदिकोंमें उच्चगोत्र विशेष हेतु है।

५. देवगतिमें भवनवासी आदि सर्वभेद नाम कर्मकृत हैं

रा. वा./४/१०/३/२१६/६ सर्वे ते नामकर्मोदयापादितविशेषा वेदितव्याः।

रा. वा./४/११/३/२१७/१८ नामकर्मोदयविशेषतस्तद्विशेषसंज्ञाः।...किन्नर-नामकर्मोदयात्किन्नराः, किंपुरुषनामकर्मोदयात् किंपुरुषा इत्यादिः।

रा. वा./४/१२/५/२१८/१७ तेषां संज्ञाविशेषाणां पूर्ववन्निर्वृत्तिर्वेदितव्या-देवगतिनामकर्मविशेषोदयादिति। –वे सब (असुर नाग आदि भवनवासी देवोंके भेद) नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए भेद जानने चाहिए। नामकर्मोदयकी विशेषतासे ही वे (व्यन्तर देवोंके किन्नर आदि) नाम होते हैं। जैसे—किन्नर नामकर्मके उदयसे किन्नर और किंपुरुष नामकर्मके उदयसे किंपुरुष, इत्यादि। उन ज्योतिषी देवोंकी भी पूर्ववत् ही निर्वृत्ति जाननी चाहिए। अर्थात् (सूर्य चन्द्र आदि भी) देवगति नामकर्म विशेषके उदयसे होते हैं।

६. नामकर्मके अस्तित्वकी सिद्धि

ध. ६/१,९-१,१०/१३/४ तस्स णामकम्मस्स अत्थित्तं कुदोवगम्मदे। सरीरसंठाणवण्णादिकज्जभेदण्णहाणुववत्तीदो। –प्रश्न—उस नाम-कर्मका अस्तित्व कैसे जाना जाता है? उत्तर—शरीर, संस्थान, वर्ण आदि कार्योंके भेद अन्यथा हो नहीं सकते हैं।

ध. ७/२,१,१९/७०/६ ण च कारणेण विणा कज्जाणमुप्पत्ती अत्थि। दीसंति च पुढविआउ-तेउ-वाउ-वणप्फदितसकाइयादिसु अणेगाणि कज्जाणि। तदो कज्जमेत्ताणि चेव कम्माणि वि अत्थि त्ति णिच्छओ कायव्वो। –कारणके बिना तो कार्यकी उत्पत्ति होती नहीं है। और पृथिवी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, और त्रसकायिक आदि जीवोंमें उनकी उक्त पर्यायोंरूप अनेक कार्य देखे जाते हैं। इसलिए जितने कार्य हैं उतने उनके कारणरूप कर्म भी हैं, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिए।

७. अन्य सम्बन्धित विषय

१. नामकर्मके उदाहरण। —दे० प्रकृतिबंध/३।
२. नामकर्म प्रकृतियोंमें शुभ-अशुभ विभाग। —दे० प्रकृतिबंध/२।
३. शुभ-अशुभ नामकर्मके बन्धयोग्य परिणाम। —दे० पुण्य पाप।
४. नामकर्मकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणाएँ। —दे० वह वह नाम।
५. जीव विपाकी भी नामकर्मको अघाती कहनेका कारण। —दे० अनुभाग/३।
६. गतिनाम कर्म जन्मका कारण नहीं आयु है। —दे० आयु/२।

नामकर्म क्रिया—दे० संस्कार/२।

नाम नय—(दे० नय/I/५/३)।

नाम निक्षेप—१. नाम निक्षेपका लक्षण

स. सि./१/५/१७/४ अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषकारान्नियुज्य-मानं संज्ञाकर्म नाम। –संज्ञाके अनुसार जिसमें गुण नहीं हैं ऐसी वस्तुमें व्यवहारके लिए अपनी इच्छासे की गयी संज्ञाको नाम (नाम निक्षेप) कहते हैं। (स. सा./आ./१३/क. ८ की टीका); (पं. ध./पू./७४२)।

रा. वा./१/५/१/२८/१४ निमित्तादन्यन्निमित्तं निमित्तान्तरम्, तदनपेक्ष्य क्रियमाणा संज्ञा नामेत्युच्यते। यथा परमैश्वर्यलक्षणेन्दनक्रिया-निमित्तान्तरानपेक्षं कस्यचित् इन्द्र इति नाम। –निमित्तसे जो अन्य निमित्त होता है उसे निमित्तान्तर कहते हैं। उस निमित्तान्तरकी अपेक्षा न करके [अर्थात् शब्द प्रयोगके जाति, गुण, क्रिया आदि निमित्तोंकी अपेक्षा न करके लोक व्यवहारार्थ (श्लो. वा.)] की जानेवाली संज्ञा नाम है। जैसे—परम ऐश्वर्यरूप इन्दन क्रियाकी

अपेक्षा न करके किसीका भी 'इन्द्र' नाम रख देना नाम निक्षेप है। (श्लो.वा. २/१/५/श्लो. १-१०/१६६); (गो.क./मू./५२/५२); (त.सा./१/१०)

२. नाम निक्षेपके भेद

ष. खं. १३/५.३/सूत्र ९/८ जो सो णामफासो णाम सो जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाणं वा अजीवाणं वा जीवस्स च अजीवस्स च जीवस्स च अजीवाणं च जीवाणं च अजीवस्स च जीवाणं च अजीवाणं च जस्स णाम कीरदि फासे त्ति सो सव्वो णामफासो णाम। =जो वह नाम स्पर्श है वह—एक जीव, एक अजीव, नाना जीव, नाना अजीव, एक जीव एक अजीव, एक जीव नाना अजीव, नाना जीव एक अजीव, तथा नाना जीव नाना अजीव; इनमेंसे जिसका 'स्पर्श' ऐसा नाम किया जाता है वह सब नाम स्पर्श है। **नोट**—(यहाँ स्पर्शका प्रकरण होनेसे 'स्पर्श' पर लागू कर नाम निक्षेपके भेद किये गये हैं। पु. ९ में 'कृति' पर लागू करके भेद किये गये हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी जान लेना। धवलामें सर्वत्र प्रत्येक विषयमें इस प्रकार निक्षेप किये गये हैं।) (ष. खं. ९/४.१/सू. ५१/२४६); (ध. १५/२/४)।

३. अन्य सम्बन्धित विषय

१. नाम निक्षेप शब्दस्पर्शी है। —दे० नय/I/५/३।
२. नाम निक्षेपका नयोंमें अन्तर्भाव। —दे० निक्षेप/२,३।
३. नाम निक्षेप व स्थापना निक्षेपमें अन्तर। —दे० निक्षेप/४।

नाममाला—अर्थात् शब्दकोश—दे० 'शब्दकोश'।

नाम सत्य—दे० सत्य।

नाम सम—दे० निक्षेप/५/८।

नारकी—दे० नरक/१।

नारद—१. प्रत्येक कल्पकालके नौ नारदोंका निर्देश व नारदकी उत्पत्ति स्वभाव आदि—(दे० शलाकापुरुष/७)। २. भावी कालीन २१ वें 'जय' तथा २२ वें 'विमल' नामक तीर्थंकरोंके पूर्व भवोंके नाम—दे० तीर्थंकर/५।

नारसिंह—जैनधर्मके अतिश्रद्धालु एक यादव व होयसलवंशीय राजा थे। इनके मन्त्रीका नाम हुल्लराज था। ये विष्णुवर्द्धन प्रथमके उत्तराधिकारी थे और इनका भी उत्तराधिकारी बल्लाल देव था। समय—श. सं. १०५०-१०८५ (ई० ११२८—११६३)

नाराच—दे० संहनन।

नारायण—१. नव नारायण परिचय—दे० शलाकापुरुष/४। २. लक्ष्मणका अपर नाम—दे० लक्ष्मण।

नारायणमत—दे० अज्ञानवाद।

नारी—१. स्त्रीके अर्थमें—दे० स्त्री। २—आर्य खण्ड भरत क्षेत्रकी एक नदी—दे० मनुष्य/४। ३. रम्यकक्षेत्रकी एक प्रधान नदी—दे० लोक/३/११। ४. रम्यक क्षेत्रस्थ एक कुण्ड जिसमें-से नारी नदी निकलती है—दे० लोक/३/१०। ५. उपरोक्त कुण्डकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/३/१०।

नारीकूट—रा. वा. की अपेक्षा रुक्मि पर्वतका कूट है और ति. प. की अपेक्षा नील पर्वतका कूट है।—दे० लोक/५/४।

नालिका—पूर्वी आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

नाली—क्षेत्र व कालका प्रमाण विशेष।—दे० गणित/I/१/४।

नासारिक—भरतक्षेत्र पश्चिमी आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

नास्तिक वाद—दे० चार्वाक व बौद्ध।

नास्तिक्य—

सि. वि./मू./४/१२/२७१ तत्रेति द्वेधा नास्तिक्यं प्रज्ञासत् प्रज्ञप्तिसत्। तथादृष्टमदृष्टं वा तत्त्वमित्यात्मविद्विषाम्। =नास्तिक्य दो प्रकारका है—प्रज्ञासत् व प्रज्ञप्तिसत्, अर्थात् बाह्य व आध्यात्मिक। बाह्यमें दृष्ट घट स्तम्भादि ही सत् हैं, इनसे अतिरिक्त जीव अजीवादि तत्त्व कुछ नहीं है, ऐसी मान्यतावाले चार्वाक प्रज्ञासत् नास्तिक हैं। अन्तरंगमें प्रतिभासित संवित्ति या ज्ञानप्रकाश ही सत् है, उससे अतिरिक्त बाह्यके घट स्तम्भ आदि पदार्थ अथवा जीव अजीव आदि तत्त्व कुछ नहीं हैं, ऐसी मान्यतावाले सौगत (बौद्ध) प्रज्ञप्ति सत् नास्तिक है।

नास्तित्व नय—दे० नय/I/५।

नास्तित्व भंग—दे० सप्तभंगी/४।

नास्तित्व स्वभाव—

आ. प./६ परस्वरूपेणाभावान्नास्तिस्वभावः। =पर स्वरूपसे अभाव होना सो नास्तित्व स्वभाव है। जैसे—घट पटस्वभावी नहीं है।

न. च. वृ./६१ असंततच्चा हु अण्णमण्णेण। =अन्यका अन्यरूपसे न होना ही असत् स्वभाव है।

निःकषाय—भावीकालीन १४ वें तीर्थंकर। अपर नाम विमलप्रभ—दे० तीर्थंकर/५।

निःकांक्षित—१. निःकांक्षित गुणका लक्षण—

१. व्यवहार लक्षण—

स. सा./मू./२३० जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु। सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।२३०। =जो चेतयिता कर्मोंके फलोंके प्रति तथा (बौद्ध, चार्वाक, परिव्राजक आदि अन्य (दे० नीचेके उद्धरण) सर्व धर्मोंके प्रति कांक्षा नहीं करता है, उसको निष्कांक्ष सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

मू. आ./२४९-२५१ तिविहा य होइ कंखा इह परलोए तधा कुधम्मे य। तिविहं पि जो ण कुज्जा दंसणसुद्धीमुपगदो सो।२४९। बलदेवचक्कवट्टी-सेट्ठीरायत्तणादि। अहि परलोगे देवत्तपत्थणा दंसणाभिघादी सो।२५०। रत्तवडचरगतावसपरिव्वत्तादीणमण्णतित्थीणं। धम्मम्हि य अहिलासो कुधम्मकंखा हवदि एसा।२५१। =अभिलाषा तीन प्रकारकी होती है—इस लोक संबन्धी, परलोक सम्बन्धी, और कुधर्मों सम्बन्धी। जो ये तीनों ही अभिलाषा नहीं करता वह सम्यग्दर्शनकी शुद्धिको पाता है।२४९। इस लोकमें बलदेव, चक्रवर्ती, सेठ आदि बनने या राज्य पानेकी अभिलाषा इस लोक सम्बन्धी अभिलाषा है। परलोकमें देव आदि होनेकी प्रार्थना करना परलोक सम्बन्धी अभिलाषा है। ये दोनों ही दर्शनको घातनेवाली है।२५०। रक्तपट अर्थात् बौद्ध, चार्वाक, तापस, परिव्राजक, आदि अन्य धर्मवालोंके धर्ममें अभिलाषा करना, सो कुधर्माकांक्षा है।२५१। (र. क. श्रा./१२) (रा. वा./६/२४/१/५२९/९) (चा. सा./४/५) (पु. सि. उ./२४) (पं. ध./उ./५४७)।

का. अ./मू./४१६ जो सग्गसुहणिमित्तं धम्मं णायरदि दूसहतवेहिं। मोक्खं समीहमाणो णिक्कंखा जायदे तस्स।४१६। =दुर्धर तपके द्वारा मोक्षकी इच्छा करता हुआ जो प्राणी स्वर्गसुखके लिए धर्मका आचरण नहीं करता है, उसके निःकांक्षित गुण होता है। (अर्थात् सम्यग्दृष्टि मोक्षकी इच्छासे तपादि अनुष्ठान करता है न कि इन्द्रियोंके भोगोंकी इच्छासे।) (प. ध./उ./५४७)।

द्र.सं. टी./४१/१७१/४ इहलोकपरलोकाशारूपभोगाकाङ्क्षानिदानत्यागेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिरूपमोक्षार्थं ज्ञानपूजातपश्चरणादिकरणं निष्काङ्क्षागुणः कथ्यते। ... इति व्यवहारनिष्काङ्क्षितगुणो विज्ञातव्यः। = इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी आशारूप भोगाकांक्षा-निदानके त्यागके द्वारा केवलज्ञानादि अनन्तगुणोंकी प्रगटतारूप मोक्षके लिए ज्ञान, पूजा, तपश्चरण इत्यादि अनुष्ठानोंका जो करना है, वही निष्कांक्षित गुण है। इस प्रकार व्यवहार निष्कांक्षित गुणका स्वरूप जानना चाहिए।

२. निश्चय लक्षण

द्र. सं./टी./४१/१७२/६ निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिष्काङ्क्षागुणस्य सहकारित्वेन दृष्टश्रुतानुभूतपञ्चेन्द्रियभोगत्यागेन निश्चयरत्नत्रयभावनोत्पन्नपारमार्थिकस्वात्मोत्थसुखामृतरसे चित्तसंतोषः स एव निष्काङ्क्षागुण इति। = निश्चयसे उसी व्यवहार निष्कांक्षा गुणकी सहायतासे देखे सुने तथा अनुभव किये हुए जो पाँचों इन्द्रियों सम्बन्धी भोग है इनके त्यागसे तथा निश्चयरत्नत्रयकी भावनासे उत्पन्न जो पारमार्थिक निजात्मोत्थ सुखरूपी अमृत रस है, उसमें चित्तका संतोष होना निष्कांक्षागुण है।

३. क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि सर्वथा निष्कांक्ष नहीं होता

दे. अनुभाग/४/६/३ (सम्यक्त्व प्रकृतिके उदय वश वेदक सम्यग्दृष्टिकी स्थिरता व निष्कांक्षता गुणका घात होता है।)

★ भोगाकांक्षाके बिना भी सम्यग्दृष्टि व्रतादि क्यों करता है— दे० राग/६।

★ अभिलाषा या इच्छाका निषेध—दे. राग।

निःशंकित—१. निःशंकितगुणका लक्षण

१. निश्चय लक्षण—सप्तभय रहितता

स. सा./मू./२२८ सम्मदिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया। सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका।२२८। = सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होते हैं, इसलिए निर्भय होते हैं। क्योंकि वे सप्तभयोंसे रहित होते हैं, इसलिए निःशंक होते हैं। (रा. वा./६/२४/१/५२९/८) (चा. सा./४/३) (पं. ध./उ./४८१)।

स. सा./आ./२२८/क. १५४ सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं, यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि। सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं, जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि।१५४। = जिसके भयसे चलायमान होते हुए, तीनों लोक अपने मार्गको छोड़ देते हैं—ऐसा वज्रपात होनेपर भी, ये सम्यग्दृष्टि-जीव स्वभावतः निर्भय होनेसे, समस्त शंकाको छोड़कर, स्वयं अपने-अवध्य ज्ञानशरीरी जानते हुए, ज्ञानसे च्युत नहीं होते। ऐसा परम साहस करनेके लिए मात्र सम्यग्दृष्टि ही समर्थ है। (विशेष दे० स. सा./आ./२२८/क. १५५-१६०)।

द्र. सं./४१/१७१/१ निश्चयनयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिशङ्कितगुणस्य सहकारित्वेनेहलोकात्राणगुप्तिव्याधिवेदनाकस्मिकाभिधानभयसप्तकं मुक्त्वा घोरोपसर्गपरीषहप्रस्तावेऽपि शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयभावेनेव निःशङ्कगुणो ज्ञातव्य इति। = निश्चय नयसे उस व्यवहार निःशंका गुणकी (देखो आगे) सहायतासे इस लोकका भय, आदि सात भयों (दे० भय) को छोड़कर घोर उपसर्ग तथा परिषहोंके आनेपर भी शुद्ध उपयोगरूप जो निश्चय रत्नत्रय है उसकी भावनाको ही निःशंका गुण जानना चाहिए।

२. व्यवहार लक्षण—अर्हद्वचन व तत्त्वादिमें शंकाका अभाव

मू. आ./२४८ णव य पदत्था एदे जिणदिट्ठा वण्णिदा मए तच्चा। तत्थ भवे जा सका दंसणघादी हवदि एसो।२४८। = जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट ये नौ पदार्थ, यथार्थ स्वरूपसे मैंने (आ. वट्टकेर स्वामीने) वर्णन किये हैं। इनमें जो शंकाका होना वह दर्शनको घातनेवाला पहिला दोष है।

र. क. श्रा./११ इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा। इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः।११। = वस्तुका स्वरूप यही है और नहीं है, इसी प्रकारका है अन्य प्रकारका नहीं है, इस प्रकारसे जैन-मार्गमें तलवारके पानी (आब) के समान निश्चल श्रद्धान निःशंकित अंग कहा जाता है। (का. अ./मू./४१५)।

रा. वा./६/२४/१/५२९/६ अर्हदुपदिष्टे वा प्रवचने किमिदं स्याद्वा न वेति शङ्कानिरासो निःशङ्कितत्वम्। = अर्हन्त उपदिष्ट प्रवचनमें 'क्या ऐसा ही है या नहीं है' इस प्रकारकी शंकाका निरास करना निःशंकितपना है। (चा. सा./४/४); (पु. सि. उ./२३) (का. अ./मू./४१४) (अन. ध./२/७२/२००)।

द्र. सं./टी./४१/१६६/१० रागादिदोषा अज्ञानं वासत्यवचनकारणं तदुभयमपि वीतरागसर्वज्ञानां नास्ति ततः कारणात्तत्प्रणीते हेयोपादेयतत्त्वे मोक्षे मोक्षमार्गे च भव्यैः संशयः संदेहो न कर्तव्यः।... इदं व्यवहारेण सम्यक्त्वस्य व्याख्यानम्। = राग आदि दोष तथा अज्ञान ये दोनों असत्य बोलनेके कारण हैं और ये दोनों ही वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र देवमें नहीं हैं, इस कारण उनके द्वारा निरूपित हेयोपादेय तत्त्वमें मोक्षमें और मोक्षमार्गमें भव्य जीवोंको संशय नहीं करना चाहिए। 'यह व्यवहारनयसे सम्यक्त्वका व्याख्यान किया गया।

पं. ध./उ./४८२ अर्थवशादत्र सूत्रार्थे शङ्का न स्यान्मनीषिणाम्। सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः स्युस्तदास्तिक्यगोचराः। = सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ सम्यग्दृष्टिको आस्तिक्यगोचर है, इसलिए उसको, इनके अस्तित्वका प्रतिपादन करनेवाले आगममें किसी प्रयोजनवश कभी भी शंका नहीं होती है।

२. निःशंकित अंगकी प्रधानता

अन. ध./२/७३/२०१ सुरुचिः कृतनिश्चयोऽपि हन्तुं द्विषतः प्रत्ययमाश्रितः स्पृशन्तम्। उभयीं जिनवाचि कोटिमाजौ तुरगं वीर इव प्रतीर्यते ते।७३। = मोहादिकके रुचिपूर्वक हननका निश्चय करनेपर भी यदि जिन वचनके विषयमें दोनों ही कोटियोंके संशयरूप ज्ञानपर आरूढ रहे, (अर्थात् वस्तु अंशोंके सम्बन्धमें 'ऐसा ही है अथवा अन्यथा है' ऐसा संशय बना रहे) तो इधर उधर भागनेवाले घोड़ेपर आरूढ योद्धावत् वैरियों द्वारा मारा जाता है अर्थात् मिथ्यात्वको प्राप्त होता है।

३. क्षयोपशम सम्यग्दृष्टिको कदाचित् तत्त्वोंमें सन्देह होना सम्भव है

क. पा. १/१,१/१२६/३ संसयविवज्जासाणज्झवसायभावगयगणहरदेवं पडि पट्टमाणसहावा। = गणधरदेवके संशय विपर्यय और अनध्यवसाय भावको प्राप्त होनेपर (उसको दूर करनेके लिए) उनके प्रति प्रवृत्ति करना (दिव्यध्वनिका) स्वभाव है।

दे० अनुभाग/४ सम्यग्दर्शनका घात नहीं करनेवाला संदेह सम्यक्प्रकृतिके उदयसे होता और सर्वघाती संदेह मिथ्यात्वके उदयसे होता है।

★ सम्यग्दृष्टिको कदाचित् अन्ध श्रद्धान भी होता है
—दे० श्रद्धान/२।

★ भयके भेद व लक्षण

४. सम्यग्दृष्टिको भय न होनेका कारण व प्रयोजन

स. सा./आ/२२८/क. १५५ लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मनश्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः। लोकोऽयं न

तथापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो, निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।१५५। —यह चित्स्वरूप ही इस विविक्त आत्माका शाश्वत, एक और सकलव्यक्त लोक है, क्योंकि मात्र चित्स्वरूप लोकको यह ज्ञानी आत्मा स्वयमेव एकाकी देखता है—अनुभव करता है। यह चित्स्वरूप लोक ही तेरा है, उससे भिन्न दूसरा कोई लोक—यह लोक या परलोक—तेरा नहीं है, ऐसा ज्ञानी विचार करता है, जानता है। इसलिए ज्ञानीको इस लोकका तथा परलोकका भय कहाँसे हो? वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञानका सदा अनुभव करता है। (कलश १५६-१६० में इसी प्रकार अन्य भी छहों भयोंके लिए कहा गया है।) (पं. ध./उ./ ५१४,५२२,५२७,५३५,५४२,५४६)।

५. सम्यग्दृष्टिको भय नहीं होता

पं. ध./उ. श्लोक नं. परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी। भीतिः पर्यायमूढानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम् ।४९५। ननु सन्ति चतस्रोऽपि संज्ञास्तस्यास्य कस्यचित्। अर्वाक् च तत् परि (स्थिति) च्छेदस्थानादस्तित्वसंभवात् ।४९८। तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि। अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रयत्नवान् ।४९९। सत्यं भीकोऽपि निर्भीकस्तत्स्वामित्वाद्यभावतः। रूपि द्रव्यं यथा चक्षुः पश्यदपि न पश्यति ।५००। सम्यग्दृष्टिः सदैकत्वं स्वं समासादयन्निव। यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्धमत्येति चिन्मयम् ।५१२। शरीरं सुखदुःखादि पुत्रपौत्रादिकं तथा। अनित्यं कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति यः ।५१३। = निश्चय करके परपदार्थोंमें आत्मीय बुद्धिके बिना भय कैसे हो सकता है, अतः पर्यायोंमें मोह करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंको ही भय होता है, केवल शुद्ध आत्माका अनुभव करनेवाले सम्यग्दृष्टियोंको भय नहीं होता ।४९५। प्रश्न—किसी सम्यग्दृष्टिके भी आहार भय मैथुन व परिग्रह ये चारों संज्ञाएँ होती हैं, क्योंकि जिस गुणस्थानतक जिस जिस संज्ञाकी व्युच्छित्ति नहीं होती है (दे० संज्ञा/८) उस गुणस्थान तक या उससे पहिलेके गुणस्थानोंमें वे वे संज्ञाएँ पायी जाती हैं ।४९८। इसलिए सम्यग्दृष्टि सर्वथा निर्भीक कैसे हो सकता है। और वह प्रत्यक्षमें भी अनिष्ट पदार्थके संयोगके होनेसे उसकी निवृत्तिके लिए प्रयत्नवान् देखा जाता है? उत्तर—ठीक है, किन्तु सम्यग्दृष्टिके परपदार्थोंमें स्वामित्व नहीं होता है, अतः वह भयवान् होकरके भी निर्भीक है। जैसे कि—चक्षु इन्द्रिय रूपी द्रव्यको देखनेपर भी यदि उधर उपयुक्त न हो तो देख नहीं पाता ।५००। सम्यग्दृष्टि जीव सम्पूर्ण कर्मोंसे भिन्न होनेके कारण अपने केवल सत्स्वरूप एकताको प्राप्त करता हुआ ही मानो, उसको शुद्ध चिन्मय रूपसे अनुभव करता है ।५१२। और वह कर्मोंके फलरूप शरीर सुख दुख आदि तथा पुत्र पौत्र आदिको अनित्य तथा आत्मस्वरूपसे भिन्न समझता है ।५१३। [इसलिए उसे भय कैसे हो सकता है—(दे० इससे पहलेवाला शीर्षक)] (द. पा./पं. जयचन्द/२/११/३)।

द. पा./पं. जयचन्द/२/११/१० भय होतैं ताका इलाज भागना इत्यादि करे है, तहाँ वर्तमानकी पीड़ा नहीं सही जाय तातैं इलाज करे है। यह निर्बलाईका दोष है।

* **संशय अतिचार व संशय मिथ्यात्वमें अन्तर** —दे० संशय/५।

निःशल्य अष्टमी व्रत—११ वर्ष पर्यन्त प्रति भाद्रपद शुक्ला ८ को उपवास करे। तीन बार देव पूजा करे। तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान संग्रह/पृ. १०१) (किशनसिंह क्रियाकोश)।

निःश्रेयस—

र. क. श्रा./१३१ जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तं। निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यं ।१३१। = जन्म जरा मरण रोग व शोकके दुःखोंसे और सप्त भयोंसे रहित अविनाशी तथा कल्याणमय शुद्ध सुख निःश्रेयस कहा जाता है।

ति. प./१/४९ सोक्खं तित्थयराणं कप्पातीदाण तह य इंदियादीदं। अतिसयमादसमुत्थं णिस्सेयसमणुवमं परमं ।४९। तीर्थंकर (अर्हन्त) और कल्पातीत अर्थात् सिद्ध, इनके अतीन्द्रिय, अतिशयरूप, आत्मोत्पन्न, अनुपम और श्रेष्ठ सुखको निःश्रेयस सुख कहते हैं।

निःश्वास—१. श्वासके अर्थमें निःश्वास—दे० अपान। २. कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

निःसंगत्व—निःसंगत्वात्म भावना क्रिया—दे० संस्कार/२।

निःसृणात्मक—तैजस शरीर—दे० तैजस।

निःसृत—मतिज्ञानका एक भेद—दे० मतिज्ञान/४।

निंदन—दे० निन्दा।

निंदा—

१. निन्दा व निन्दनका लक्षण

स. सि./६/२५/३३९/१२ तथ्यस्य वातथ्यस्य वा दोषस्योद्भावनं प्रति इच्छा निन्दा। = सच्चे या झूठे दोषोंको प्रगट करनेकी इच्छा निन्दा है। (रा. वा./६/२५/१/५३०/२९)।

स. सा./ता. वृ./३०६/३८८/१२ आत्मसाक्षिदोषप्रकटनं निन्दा। = आत्म साक्षी पूर्वक अर्थात् स्वयं अपने किये दोषोंको प्रगट करना या उन सम्बन्धी पश्चात्ताप करना निन्दा कहलाती है। (का. अ./टी./४८/ २२/१५)।

न्या. द./भाष्य/२/१/६४/१०१/ अनिष्टफलवादो निन्दा। = अनिष्ट फलके कहनेको निन्दा कहते हैं।

पं. ध./उ./४७३ निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि। पश्चात्तापकरो बन्धो ना [नो] पेक्ष्यो नाप्यु (प्य) पेक्षितः ।४७३। = दुर्वार रागादिरूप दुष्ट कर्मोंका पश्चात्ताप कारक बन्ध अनिष्ट होकर भी उपेक्षित नहीं होता। अर्थात् अपने दोषोंका पश्चात्ताप करना निन्दन है।

२. पर निन्दा व आत्म प्रशंसाका निषेध

भ. आ./मू./गा. नं. अप्पपसंसं परिहरह सदा मा होह जसविणासयरा। अप्पाणं थोवंतो तणलहुहो होदि हु जणम्मि ।३५९। ण य जायंति असंता गुणा विकत्थंतयस्स पुरिसस्स। धन्ति हु महिलायंतो व पंडवो पंडवो चेव ।३६२। सगणे व परगणे वा परपरिवादं च मा करेज्जाह। अच्चासादणविरदा होह सदा वज्जभीरू य ।३६९। दट्ठूण अण्णदोसं सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ। रक्खइ य सयं दोसं व तयं जणजंपणभएण ।३७२। = हे मुनि! तुम सदाके लिए अपनी प्रशंसा करना छोड़ दो; क्योंकि, अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करनेसे तुम्हारा यश नष्ट हो जायेगा। जो मनुष्य अपनी प्रशंसा आप करता है वह जगत्में तृणके समान हलका होता है ।३५९। अपनी स्तुति आप करनेसे पुरुषके जो गुण नहीं हैं वे उत्पन्न नहीं हो सकते। जैसे कि कोई नपुंसक स्त्रीवत् हावभाव दिखानेपर भी स्त्री नहीं हो जाता नपुंसक ही रहता है ।३६२। हे मुनि! अपने गणमें या परगणमें तुम्हें अन्य मुनियोंकी निन्दा करना कदापि योग्य नहीं है। परकी विराधनासे विरक्त होकर सदा पापोंसे विरक्त होना चाहिए ।३६९। सत्पुरुष दूसरोंका दोष देखकर उसको प्रगट नहीं करते हैं, प्रत्युत लोक-निन्दाके भयसे उनके दोषोंको अपने दोषोंके समान छिपाते हैं। दूसरोंका दोष देखकर वे स्वयं लज्जित हो जाते हैं ।३७२।

र. सा./११४ ण सहंति इयरदप्पं थुवंति अप्पाण अप्पमाहप्पं। जिब्भणिमित्त कुणंति ते साहू सम्मउम्मुक्का ।११४। = जो साधु दूसरेके बड़प्पनको

सहन नहीं कर सकता और स्वादिष्ट भोजन मिलनेके निमित्त अपनी महिमाका स्वयं बखान करता है, उसे सम्यक्त्वरहित जानो।

कुरल काव्य/१९/२ शुभादशुभसंसक्तो नूनं निन्द्यस्ततोऽधिकः । पुरः प्रियंवद: किंतु पृष्ठे निन्दापरायणः ।२। –सत्कर्मसे विमुख हो जाना और कुकर्म करना निस्सन्देह बुरा है। परन्तु किसीके मुखपर तो हँसकर बोलना और पीठ-पीछे उसकी निन्दा करना उससे भी बुरा है।

त. सू./६/२५ परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ।२५। –परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, सद्गुणोंका आच्छादन या ढँकना और असद्गुणोंका प्रगट करना ये नीच गोत्रके आस्रव हैं।

स. सि./६/२२/३३७/४ एतदुभयमशुभनामकर्मास्रवकारणं वेदितव्यं । च शब्देन···परनिन्दात्मप्रशंसादि समुच्चीयते । –ये दोनों (योगवक्रता और विसंवाद) अशुभ नामकर्मके आस्रवके कारण जानने चाहिए। सूत्रमें आये हुए 'च' पदसे दूसरेकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करने आदिका समुच्चय होता है। अर्थात् इनसे भी अशुभ नामकर्मका आस्रव होता है। (रा.वा./६/२२/४/५२८/२१)।

आ.अनु./२४६ स्वान् दोषान् हन्तुमुद्युक्तस्तपोभिरतिदुर्धरैः । तानेव पोषयत्यज्ञः परदोषकथाशनैः ।२४६। –जो साधु अतिशय दुष्कर तपोंके द्वारा अपने निज दोषोंके नष्ट करनेमें उद्यत है, वह अज्ञानतावश दूसरोंके दोषोंके कथनरूप भोजनोंके द्वारा उन्हीं दोषोंको पुष्ट करता है।

दे० कषाय/१/७ (परनिन्दा व आत्मप्रशंसा करना तीव्र कषायीके चिह्न हैं।)

३. स्वनिन्दा और परप्रशंसाकी इष्टता

त. सू./६/२६ तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ।२६।

स. सि./६/२६/३४०/७ क. पुनरसौ विपर्ययः। आत्मनिन्दा परप्रशंसा सद्गुणोद्भावनमसद्गुणोच्छादनं च। –उनका विपर्यय अर्थात् परप्रशंसा आत्मनिन्दा सद्गुणोंका उद्भावन और असद्गुणोंका उच्छादन तथा नम्रवृत्ति और अनुत्सेक ये उच्चगोत्रके आस्रव हैं। (रा.वा./६/२६/२/५३१/१७)।

का.अ./मू./११२ अप्पाणं जो णिंदइ गुणवंताणं करेइ बहुमाणं। मण इंदियाण विजई स सरूवपरायणो होउ ।११२। –जो मुनि अपने स्वरूपमें तत्पर होकर मन और इन्द्रियोंको वशमें करता है, अपनी निन्दा करता है और सम्यक्त्व व्रतादि गुणवन्तोंकी प्रशंसा करता है, उसके बहुत निर्जरा होती है।

भा. पा./टी./६९/२१३ पर उद्धृत—मा भवतु तस्य पापं परहितनिरतस्य पुरुषसिंहस्य। यस्य परदोषकथने जिह्वा मौनव्रतं चरति। –जो परहितमें निरत है और परके दोष कहनेमें जिसकी जिह्वा मौन व्रतका आचरण करती है, उस पुरुष सिंहके पाप नहीं होता।

दे० उपगूहन (अन्यके दोषोंका ढाँकना सम्यग्दर्शनका अंग है।)

★ सम्यग्दृष्टि सदा अपनी निन्दा गर्हा करता है

—दे० सम्यग्दृष्टि/५।

४. अन्य मतावलम्बियोंका घृणास्पद अपमान

द. पा./मू./१२ जे दंसणेसु भट्टा पाए पाडंति दंसणधराणं। ते होंति लल्लमूआ बोहि पुण दुल्लहा तेसिं ।१२। –स्वयं दर्शन भ्रष्ट होकर भी जो अन्य दर्शनधारियोंको अपने पाँवमें पड़ाते हैं अर्थात् उनसे नमस्कारादि कराते हैं, ते परभवविषै लूले व गूंगे होते हैं अर्थात् एकेन्द्रिय पर्यायको प्राप्त होते हैं। तिनको रत्नत्रयरूप बोधि दुर्लभ है।

मो. पा./मू./७९ जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाही य जायणासीला। आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ।७९। –जो अंडज, रोमज आदि पाँच प्रकारके वस्त्रोंमें आसक्त हैं, अर्थात् उनमें से किसी प्रकारका वस्त्र ग्रहण करते हैं और परिग्रहके ग्रहण करने वाले हैं (अर्थात् श्वेताम्बर साधु), जो याचनाशील हैं, और अधः कर्मयुक्त आहार करते हैं वे मोक्षमार्गसे च्युत हैं।

आप्त. मी./७ त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्। आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते।७। –आपके अनेकान्तमत रूप अमृतसे बाह्य सर्वथा एकान्तवादी तथा आप्तपनेके अभिमानसे दग्ध हुए (सांख्यादि मत) अन्य मतावलम्बियोंके द्वारा मान्य तत्त्व प्रत्यक्ष-प्रमाणसे बाधित हैं।

द. पा./टी./२/३/१२ मिथ्यादृष्टयः किल वदन्ति व्रतैः किं प्रयोजनं,··· मयूरपिच्छं किल रुचिरं न भवति, सूत्रपिच्छं रुचिरं,···शासनदेवता न पूजनीयाः···इत्यादि ये उत्सूत्रं मन्वते मिथ्यादृष्टयश्चार्वाका नास्तिकास्ते।···यदि कदाग्रहं न मुञ्चन्ति तदा समर्थैरास्तिकैरुपानद्भिः गूथलिप्ताभिर्मुखे ताडनीयाः···तत्र पापं नास्ति।

भा. पा./टी./१४१/२८७/३ लौंकास्तु पापिष्ठा मिथ्यादृष्टयो जिनस्नपनपूजनप्रतिबन्धकत्वात् तेषां संभाषणं न कर्तव्यं तत्संभाषणं महापापमुत्पद्यते।

मो. पा./टी./२/३०५/१२ ये गृहस्था अपि सन्तो मनागात्मभावनामासाद्य वयं ध्यानिन इति ब्रुवते ते जिनधर्मविराधका मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्याः।···ते लौंकाः, तन्नामग्रहणं तन्मुखदर्शनं प्रभातकाले न कर्तव्यं इष्टवस्तुभोजनादिविघ्नहेतुत्वात्। –१. मिथ्यादृष्टि (श्वेताम्बर व स्थानकवासी) ऐसा कहते हैं कि—व्रतोंसे क्या प्रयोजन, आत्मा ही साध्य है। मयूरपिच्छी रखना ठीक नहीं, सूतकी पिच्छी ही ठीक है, शासनदेवता पूजनीय नहीं है, आत्मा ही देव है। इत्यादि सूत्रविरुद्ध कहते हैं। वे मिथ्यादृष्टि तथा चार्वाक मतावलम्बी नास्तिक हैं। यदि समझानेपर भी वे अपने कदाग्रहको न छोड़ें तो समर्थ जो आस्तिक जन है वे विष्ठासे लिप्त जूता उनके मुखपर देकर मारें। इसमें उनको कोई भी पापका दोष नहीं है। २. लौंका अर्थात् स्थानकवासी पापिष्ठ मिथ्यादृष्टि हैं, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान्‌के अभिषेक व पूजनका निषेध करते हैं। उनके साथ सम्भाषण करना योग्य नहीं है। क्योंकि उनके साथ संभाषण करनेसे महापाप उत्पन्न होता है। ३. जो गृहस्थ अर्थात् गृहस्थवत् वस्त्रादि धारी होते हुए भी किंचित् मात्र आत्मभावनाको प्राप्त करके 'हम ध्यानी हैं' ऐसा कहते हैं, उन्हें जिनधर्मविराधक मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए। वे स्थानकवासी या ढूंढियापंथी हैं। सवेरे-सवेरे उनका नाम लेना तथा उनका मुँह देखना नहीं चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेसे इष्ट वस्तु भोजन आदिकी भी प्राप्तिमें विघ्न पड़ जाता है।

५. अन्यमत मान्य देवी देवताओंकी निन्दा

अ.ग.श्रा./४/६९-७३ हिंसादिवादकत्वेन न वेदो धर्मकाङ्क्षिभिः। वृकोपदेशवन्नूनं प्रमाणीक्रियते बुधैः।६९। न विरागा न सर्वज्ञा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः। रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहादियोगतः ।७१। आश्लिष्टास्ते ऽखिलैर्दोषैः कामकोपभयादिभिः। आयुधप्रमदाभूषाकमण्डल्वादियोगतः ।७३। –धर्मके वांछक पण्डितोंको, ख्वारपटके उपदेशके समान, हिंसादिका उपदेश देनेवाले वेदको प्रमाण नहीं करना चाहिए।६९। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर न विरागी हैं और न सर्वज्ञ, क्योंकि वे राग-द्वेष, मद, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि सहित हैं।७१। ब्रह्मादि देव काम क्रोध भय इत्यादि समस्त दोषोंसे युक्त हैं, क्योंकि उनके पास आयुध स्त्री आभूषण कमण्डलु इत्यादि पाये जाते हैं।७३।

दे० विनय/४ (कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रकी पूजा भक्ति आदिका निषेध।)

६. मिथ्यादृष्टियोंके लिए अपमानजनक शब्दोंका प्रयोग

नं.	प्रमाण	व्यक्ति	उपाधि
१	मू. आ./६५१	एकल बिहारी साधु	पाप श्रमण
२	र. सा./१०८	स्वच्छन्द साधु	राज्य सेवक
३	चा.पा./मू./१०	सम्यक्त्वचरण से भ्रष्टसाधु	ज्ञानमूढ
४	भा.पा./मू./७१	मिथ्यादृष्टि नग्न साधु	इक्षु पुष्पसम नट श्रमण
५	भा.पा./मू./७४	भावविहीन साधु	पाप व तिर्यगालय भाजन
	भा.पा./मू./१४३	मिथ्यादृष्टि साधु	चल शव
६	मो.पा /मू./७६	श्वेताम्बर साधु	मोक्षमार्ग भ्रष्ट
७	मो.पा./मू /१००	मिथ्यादृष्टिका ज्ञान व चारित्र	बाल श्रुत बाल चरण
८	लिग पा./मू./३ ४	द्रव्य लिगी नग्न साधु	पापमोहितमति नारद, तिर्यंच
९	लिग. पा./मू./४-१८	,,	तिर्यग्योनि
१०	प्र.सा./मू./२६६	मन्त्रोपजीवि नग्न साधु	लौकिक
११	दे० भव्य/२	मिथ्यादृष्टि सामान्य	अभव्य
१२	दे० मिथ्यादर्शन/५	बाह्य क्रियावलम्बी साधु	पाप जोव
१३	स.सा./आ./३२१	आत्माको कर्मों आदिका कर्ता माननेवाले	लौकिक
१४	स. सा./आ./८५	,,	सर्वज्ञ मतसे बाहर
१५	नि.सा./ता वृ./१४३/क.२४४	अन्यवश साधु	राजवल्लभ नौकर
१६	यो सा./८/१८-१६	लोक दिखावेको धर्म करनेवाले	मूढ, लोभी, क्रूर, डरपोक, मूर्ख, भवाभिनन्दी

निबदेव—शिलाहारके नरेश गण्डरादित्यके सामन्त थे। उक्त नरेशका उल्लेख श. सं. १०३०-१०५८ तकके शिलालेखोंमें पाया जाता है। अत इनका समय—श. स. १०३०-१०५८ (ई. ११०८-११३६) होता है।

निम्बार्क वेदांत—दे० वेदांत/५।

निकल—निकल परमात्मा—दे० परमात्मा/१।

निकाचित व निधत्त—१. लक्षण

गो. क./मू. व जी. प्र./४४०/५६३ उदये संकममुदये चउसु वि दादु कमेण णो सक्कं। उवसंतं च णिधत्तिं णिकाचिदं होदि ज कम्मं। यत्कर्म···उदयावल्यां निक्षेप्तुं संक्रामयितुं चाशक्यं तन्निधत्तिर्नाम। उदयावल्यां निक्षेप्तुं संक्रामयितुमुत्कर्षयितुमपकर्षयितुं चाशक्यं तन्निकाचितं नाम भवति। —जो कर्म उदयावलीविषै प्राप्त करनेकौ वा अन्य प्रकृतिरूप संक्रमण करनेकौ समर्थ न हूजे सो निधत्त कहिये। बहुरि जो कर्म उदयावली विषै प्राप्त करनेकौ, वा अन्य प्रकृतिरूप संक्रमण करनेकौ, वा उत्कर्षण करनेकौ समर्थ न हूजे सो निकाचित कहिए।

२. निकाचित व निधत्त सम्बन्धी नियम

गो. क./मू. व जी. प्र./४५०/५६६ उवसंतं च णिधत्तिं णिकाचिदं तं अपुव्वोत्ति।४५०। तत् अपूर्वकरणगुणस्थानपर्यन्तमेव स्यात्। तदुपरि गुणस्थानेषु यथासंभवं शक्यमित्यर्थः।—उपशान्त, निधत्त व निकाचित ये तीनों प्रकारके कर्म अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यंत ही हैं। ऊपरके गुणस्थानोंमें यथासम्भव शक्य अर्थात् जो उदयावली विषै प्राप्त करनेकू समर्थ हूजै ऐसे ही कर्मपरमाणु पाइए है।

३. निधत्त व निकाचित कर्मोंका भंजन भी सम्भव है

ध. ६/१,९-९,२२/४२७/९ जिणबिंबदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो। —जिनबिम्बके दर्शनसे निधत्त और निकाचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलापका क्षय होता देखा जाता है।

निकाय—(स. सि./४/१/२३६/८) देवगतिनामकर्मोदयस्य स्वकर्मविशेषापादितभेदस्य सामर्थ्यान्निचीयन्त इति निकायाः संघाता इत्यर्थः।—अपने अवान्तर कर्मोंसे भेदको प्राप्त होनेवाले देवगति नामकर्मके उदयकी सामर्थ्यसे जो संग्रह किये जाते हैं वे निकाय कहलाते हैं। (रा. वा/४/१/३/२११/१३)।

निक्कुन्दरी—भरतक्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४)।

निकृति—मायाका एक भेद (दे० माया/२)

निकृति वचन—दे० वचन।

निक्लोविम—दे० निक्षेप/५/६

निक्षिप्त—आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४।

निक्षेप—उत्कर्षण अपकर्षण विधानमें जघन्य उत्कृष्ट निक्षेप।
—दे० वह वह नाम।

निक्षेप—जिसके द्वारा वस्तुका ज्ञानमें क्षेपण किया जाय या उपचारसे वस्तुका जिन प्रकारोंसे आक्षेप किया जाय उसे निक्षेप कहते हैं। सो चार प्रकारसे किया जाना सम्भव है—किसी वस्तुके नाममें उस वस्तुका उपचार वा ज्ञान, उस वस्तुकी मूर्ति या प्रतिमामें उस वस्तुका उपचार या ज्ञान, वस्तुकी पूर्वापर पर्यायोंमें-से किसी भी एक पर्यायमें सम्पूर्ण वस्तुका उपचार या ज्ञान, तथा वस्तुके वर्तमान रूपमें सम्पूर्ण वस्तुका उपचार या ज्ञान। इनके भी यथासम्भव उत्तरभेद करके वस्तुको जानने व जनानेका व्यवहार प्रचलित है। वास्तवमें ये सभी भेद वक्ताका अभिप्राय विशेष होनेके कारण किसी न किसी नयमें गर्भित हैं। निक्षेप विषय है और नय विषयी यही दोनोंमें अन्तर है।

१. निक्षेप सामान्य निर्देश

१. निक्षेप सामान्यका लक्षण

रा. वा. १/५/—/२८/१२ न्यसनं न्यस्यत इति वा न्यासो निक्षेप इत्यर्थः। सौंपना या धरोहर रखना निक्षेप कहलाता है। अर्थात् नामादिकोंमें वस्तुको रखनेका नाम निक्षेप है।

ध. १/१,१,१/गा. ११/१७ उपायो न्यास उच्यते।११। —नामादिके द्वारा वस्तुमें भेद करनेके उपायको न्यास या निक्षेप कहते हैं। (ति.प./१/८३)

ध. ४/१,३,१/२/६ संशये विपर्यये अनध्यवसाये वा स्थितं तेभ्योऽपसार्य निश्चये क्षिपतीति निक्षेपः। अथवा बाह्यार्थविकल्पो निक्षेपः। अप्रकृतनिराकरणद्वारेण प्रकृतप्ररूपको वा।—१. संशय, विपर्यय और

अनध्यवसायमें अवस्थित वस्तुको उनसे निकालकर जो निश्चयमें क्षेपण करता है उसे निक्षेप कहते हैं। अर्थात् जो अनिर्णीत वस्तुका नामादिक द्वारा निर्णय करावे, उसे निक्षेप कहते हैं। (क.पा. २/१ २/§ ४७५/४२५/७); (ध. १/१,१,१/१०/४), (ध. १३/५,३,५/३/११); (ध. १३/५,५,३/१९८/४), (और भी दे० निक्षेप/१/३)। २ अथवा बाहरी पदार्थके विकल्पको निक्षेप कहते हैं। (ध. १३/५,५,३/१९८/४)। ३ अथवा अप्रकृतका निराकरण करके प्रकृतका निरूपण करनेवाला निक्षेप है। (और भी दे० निक्षेप/१/४); (ध. ६/४,१,४५/१४१/१); (ध. १३/५,५,३/१९८/४)।

आ. प./६ प्रमाणनययोर्निक्षेप आरोपणं स नामस्थापनादिभेदचतुर्विधं इति निक्षेपस्य व्युत्पत्तिः। –प्रमाण या नयका आरोपण या निक्षेप नाम स्थापना आदिरूप चार प्रकारोंसे होता है। यही निक्षेपकी व्युत्पत्ति है।

न. च /श्रुत/४८ वस्तु नामादिषु क्षिपतीति निक्षेपः। –वस्तुका नामादिकमें क्षेप करने या धरोहर रखनेको निक्षेप कहते हैं।

न. च. वृ./२६१ जुत्तीसुजुत्तमग्गे जं चउभेयेण होइ खलु ठवणं। कज्जे सदि णामादिसु तं णिक्खेवं हवे समये ।२६१। –युक्तिमार्गसे प्रयोजनवश जो वस्तुको नाम आदि चार भेदोंमें क्षेपण करे उसे आगममें निक्षेप कहा जाता है।

२. निक्षेपके भेद

१. चार भेद

त. सू./१/५ नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः। –नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूपसे उनका अर्थात् सम्यग्दर्शनादिका और जीव आदिका न्यास अर्थात् निक्षेप होता है। (ष. खं. १३/५,५/सू. ४/१९८); (ध. १/१,१,१/८३/१); (ध. ४/१,३,१/गा. २/३), (आ. प./६), (न. च. वृ./२७१); (न. च./श्रुत/४८); (गो. क./मू. ५२/५२); (पं. ध./पू./७४१)।

२. छह भेद

ष.खं. १४/५,६/सूत्र ७१/५१ वग्गणणिक्खेवे त्ति छव्विहे वग्गणणिक्खेवे—णामवग्गणा ठवणवग्गणा दव्ववग्गणा खेत्तवग्गणा कालवग्गणा भाववग्गणा चेदि। –वर्गणानिक्षेपका प्रकरण है। वर्गणा निक्षेप छह प्रकारका है–नामवर्गणा, स्थापनावर्गणा, द्रव्यवर्गणा, क्षेत्रवर्गणा, कालवर्गणा और भाववर्गणा। (ध. १/१,१,१/१०/४)।

नोट—षट्खण्डागम व धवलामें सर्वत्र प्रायः इन छह निक्षेपोंके आश्रयसे ही प्रत्येक प्रकरणकी व्याख्या की गयी है।

३. अनन्त भेद

श्लो. वा./२/१/५/श्लो. ७१/२८२ नन्वनन्तः पदार्थानां निक्षेपो वाच्य इत्यसन्। नामादिष्वेव तस्यान्तर्भावात्संक्षेपरूपतः ।७१। –प्रश्न—पदार्थोंके निक्षेप अनन्त कहने चाहिए? उत्तर—उन अनन्त निक्षेपोंका संक्षेपरूपसे चारमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। अर्थात् संक्षेपसे निक्षेप चार हैं और विस्तारसे अनन्त। (ध. १४/५,६,७१/५१/१४)

४. निक्षेपके भेद प्रभेदोंकी तालिका
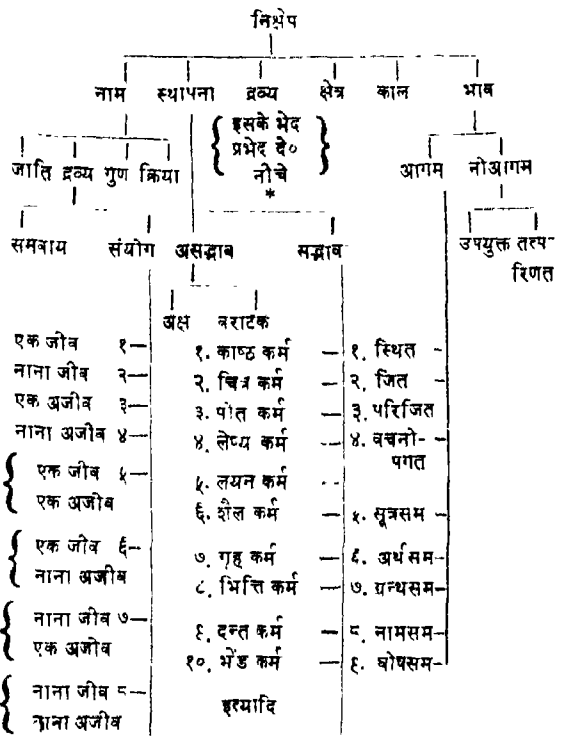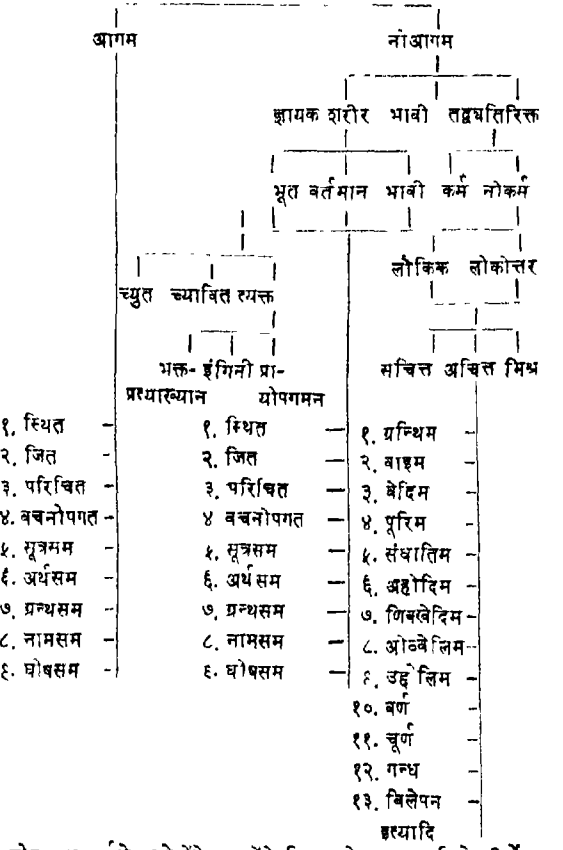
नोट—इन सर्व भेद प्रभेदोंके प्रमाणोंके लिए —दे० वह वह निक्षेप निर्देश

३. प्रमाण नय व निक्षेपमें अन्तर

ति. प./१/८३ णाणं होदि पमाणं णओ वि णादुस्स हिदियभावत्थो। णिक्खेओ वि उवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहणं ।८३। —सम्यग्ज्ञानको प्रमाण और ज्ञाताके हृदयके अभिप्रायको नय कहते है। निक्षेप उपाय-स्वरूप है। अर्थात् नामादिके द्वारा वस्तुके भेद करनेके उपायको निक्षेप कहते हैं। युक्तिसे अर्थात् नय व निक्षेपसे अर्थका प्रतिग्रहण करना चाहिए ।८३। (ध. १/१,१,१/गा. ११/१७);

न. च. वृ./१७२ वत्थू पमाणविसयं णयविसयं हवइ वत्थुएयंसं। जं दोहि णिण्णयट्ठं तं णिक्खेवे हवे विसयं।१७२। —सम्पूर्ण वस्तु प्रमाण-का विषय है और उसका एक अंश नयका विषय है। इन दोनोंसे निर्णय किया गया पदार्थ निक्षेपमें विषय होता है।

पं. ध./पू./७३९-७४० ननु निक्षेपो न नयो न च प्रमाणं न चांशकं तस्य। पृथगुद्देश्यत्वादपि पृथगिव लक्ष्यं स्वलक्षणादिति चेत ।७३९। सत्यं गुणसापेक्षो सविपक्ष. स च नय: स्वयं क्षिपति। य इह गुणाक्षेप: स्यादुपचरित: केवलं स निक्षेप: ।७४०। —**प्रश्न**—निक्षेप न तो नय है और न प्रमाण है तथा न प्रमाण व नयका अंश है, किन्तु अपने लक्षण-से वह पृथक् ही लक्षित होता है, क्योंकि उसका उद्देश पृथक् है? उत्तर—ठीक है, किन्तु गुणोंकी अपेक्षासे उत्पन्न होनेवाला और विपक्षकी अपेक्षा रखनेवाला जो नय है, वह स्वयं जिसका आक्षेप करता है, ऐसा केवल उपचरित गुणाक्षेप ही निक्षेप कहलाता है। (नय और निक्षेपमें विषय-विषयी भाव है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूपसे जो नयोंके द्वारा पदार्थोंमें एक प्रकारका आरोप किया जाता है' उसे निक्षेप कहते हैं। जैसे—शब्द नयसे 'घट' शब्द ही मानो घट पदार्थ है।)

४. निक्षेप निर्देशका कारण व प्रयोजन

ति.प./१/८२ जो ण पमाणणयेहिं णिक्खेवेणं णिरक्खदे अत्थं। तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि ।८२। —जो प्रमाण तथा निक्षेपसे अर्थ-का निरीक्षण नहीं करता है उसको अयुक्त पदार्थ युक्त और युक्त पदार्थ अयुक्त ही प्रतीत होता है ।८२। (ध. १/१,१,१/ गा. १०/१६) (ध. ३/१,२,१५/गा. ६१/१२६)।

ध १/१,१,१/गा. १५/३१ अवगयणिवारणट्ठं पयदस्स परूवणा णिमित्तं च। संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च ।१५।

ध. १/१,१,१/३०-३१ त्रिविधा: श्रोतार, अव्युत्पन्न: अवगताशेषविव-क्षितपदार्थ: एकदेशतोऽवगतविवक्षितपदार्थ इति।···तत्र यद्यव्युत्पन्न: पर्यायार्थिको भवेन्निक्षेप: क्रियते अव्युत्पादनमुखेन अप्रकृतनिराकर-णाय। अथ द्रव्यार्थिक: तद्द्वारेण प्रकृतप्ररूपणायाशेषनिक्षेपा उच्यन्ते। ···द्वितीयतृतीययो: संशयितयो: संशयविनाशायाशेषनिक्षेपकथनम्। तयोरेव विपर्यस्यतो. प्रकृतार्थावधारणार्थं निक्षेप. क्रियते। = अप्रकृत विषयके निवारण करनेके लिए, प्रकृत विषयके प्ररूपणके लिए, संशय का विनाश करनेके लिए और तत्त्वार्थका निश्चय करनेके लिए निक्षेपोंका कथन करना चाहिए। (ध. ३/१,२,२/गा. १२/१७), (ध. ४/१,३,१/गा. १/२); (ध. १४/५,६,७१/गा. १/५१) (स. सि /१/५/८/ ११) (इसका खुलासा इस प्रकार है कि—) श्रोता तीन प्रकारके होते हैं—अव्युत्पन्न श्रोता, सम्पूर्ण विवक्षित पदार्थको जाननेवाला श्रोता, एकदेश विवक्षित पदार्थको जाननेवाला श्रोता (विशेष दे० श्रोता)। तहाँ अव्युत्पन्न श्रोता यदि पर्याय (विशेष) का अर्थी है तो उसे प्रकृत विषयकी व्युत्पत्तिके द्वारा अप्रकृत विषयके निराकरण करनेके लिए निक्षेपका कथन करना चाहिए। यदि वह श्रोता द्रव्य (सामान्य) का अर्थी है तो भी प्रकृत पदार्थके प्ररूपणके लिए सम्पूर्ण निक्षेप कहे जाते हैं। दूसरी व तीसरी जातिके श्रोताओंको यदि सन्देह हो तो उनके सन्देहको दूर करनेके लिए अथवा यदि उन्हें विपर्यय ज्ञान हो तो प्रकृत वस्तुके निर्णयके लिए सम्पूर्ण निक्षेपोंका कथन किया जाता है। (और भी दे० आगे निक्षेप/१/५)।

स. सि./१/५/१९/१ निक्षेपविधिना शब्दार्थ: प्रस्तीर्यते। —किस शब्दका क्या अर्थ है, यह निक्षेपविधिके द्वारा विस्तारसे बताया जाता है।

रा. वा./१/५/२०/३०/२१ लोके हि सर्वैर्नामादिभिर्दृष्ट: संव्यवहार:।—एक ही वस्तुमें लोक व्यवहारमें नामादि चारों व्यवहार देखे जाते हैं। (जैसे—'इन्द्र' शब्दको भी इन्द्र कहते हैं; इन्द्रकी मूर्तिको भी इन्द्र कहते हैं, इन्द्रपदसे च्युत होकर मनुष्य होनेवालेको भी इन्द्र कहते हैं और शचीपतिको भी इन्द्र कहते हैं) (विशेष दे० आगे शीर्षक नं. ६)

ध. १/१,१,१/३१/६ निक्षेपविस्पृष्ट: सिद्धान्तो वर्ण्यमानो वक्तु: श्रोतुश्चो-त्पथानं कुर्यादिति वा। —अथवा निक्षेपोंको छोड़कर वर्णन किया गया सिद्धान्त सम्भव है, कि वक्ता और श्रोता दोनोंको कुमार्गमें ले जावे, इसलिए भी निक्षेपोंका कथन करना चाहिए। (ध. ३/१,२,१५/ १२६/६)।

न. च. वृ./२७०,२८१,२८२ दव्वं विविहसहावं जेण सहावेण होइ तं ज्झेयं। तस्स णिमित्तं कीरइ एक्कं पिय दव्वं चउभेयं।२७०। णिक्खेव-णयपमाणं णादूणं भावयंति जे तच्चं। ते तत्थतच्चमग्गे लहंति लग्गा हु तत्थयं तच्चं ।२८१। गुणपज्जयाण लक्खण सहाव णिक्खेवणयपमाणं वा। जाणदि जदि सवियप्पं दव्वसहावं खु बुज्झेदि ।२८२। —द्रव्य विविध स्वभाववाला है। उनमेंसे जिस जिस स्वभावरूपसे वह ध्येय होता है, उस उसके निमित्त ही एक द्रव्यको नामादि चार भेद रूप कर दिया जाता है ।२७०। जो निक्षेप नय व प्रमाणको जानकर तत्त्व-को भाते हैं वे तथ्यतत्त्वमार्गमें संलग्न होकर तथ्य तत्त्वको प्राप्त करते हैं ।२८१। जो व्यक्ति गुण व पर्यायोंके लक्षण, उनके स्वभाव, निक्षेप, नय व प्रमाणको जानता है वही सर्व विशेषोंसे युक्त द्रव्यस्वभावको जानता है ।२८२।

५. नयोंसे पृथक् निक्षेपोका निर्देश क्यों

रा. वा./१/५/३२-३३/३२/१० द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकान्तर्भावान्नामादीनां तयोश्च नयशब्दाभिधेयत्वात् पौनरुक्त्यप्रसङ्ग ।३२। न वा एष दोष:। ··ये सुमेधसो विनेयास्तेषां द्वाभ्यामेव द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाभ्यां सर्वनयवक्तव्यार्थप्रतिपत्ति: तदन्तर्भावात्। ये त्वतो मन्दमेधस: तेषां त्र्यादिनयविकल्पनिरूपणम्। अतो विशेषोपपत्तेर्नामादीनामपुनरुक्त-त्वम्। —**प्रश्न**—द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयोंमें अन्तर्भाव हो जाने-के कारण—दे० निक्षेप/२, और उन नयोंको पृथक्से कथन किया जानेके कारण, इन नामादि निक्षेपोंका पृथक् कथन करनेसे पुनरुक्ति होती है। **उत्तर**—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जो विद्वान् शिष्य हैं वे दो नयोंके द्वारा ही सभी नयोंके वक्तव्य प्रतिपाद्य अर्थोंको जान लेते हैं, पर जो मन्दबुद्धि शिष्य हैं, उनके लिए पृथक् नय और निक्षेपका कथन करना ही चाहिए। अत विशेष ज्ञान करानेके कारण नामादि निक्षेपोंका कथन पुनरुक्त नहीं है।

६. चारों निक्षेपोंका सार्थक्य व विरोधका निरास

रा. वा./१/५/१९-३०/३०/१६ अत्राह नामादिचतुष्टयस्याभाव:। कुत:। विरोधात्। एकस्य शब्दार्थस्य नामादिचतुष्टयं विरुध्यते। यथा नामैकं नामैव न स्थापना। अथ नाम स्थापना इष्यते न नामेदं नाम। स्थापना तर्हि; न चेयं स्थापना, नामेदम्। अतो नामार्थ एको विरो-धान्न स्थापना। तथैकस्य जीवादेरर्थस्य सम्यग्दर्शनादेर्वा विरोधा-न्नामाद्यभाव इति ।१९। न वैष दोष:। किं कारणम्। सर्वेषां संव्यव-हारं प्रत्यविरोधात्। लोके हि सर्वैर्नामादिभिर्दृष्ट: संव्यवहार:। इन्द्रो देवदत्त: इति नाम। प्रतिमादिषु चेन्द्र इति स्थापना। इन्द्रार्थे च काष्ठे द्रव्ये इन्द्रसंव्यवहार: 'इन्द्र आनीत:' इति वचनात्। अनागतपरिणामे चार्थे द्रव्यसंव्यवहारो लोके दृष्ट:—द्रव्यमयं माणवक:, आचार्य: श्रेष्ठी

वैयाकरणो राजा वा भविष्यतीति व्यवहारदर्शनात्। शचीपतौ च भावे इन्द्र इति। न च विरोधः। किंच, ।२०। यथा नामैकं नामैवेष्यते न स्थापना इत्याचक्षाणेन त्वया अभिहितानवबोधः प्रकटीक्रियते। यतो नैवमाचक्ष्महे—'नामैव स्थापना' इति, किन्तु एकस्यार्थस्य नाम-स्थापनाद्रव्यभावैर्न्यासः इत्याचक्ष्महे ।२१। नैतदेकान्तेन प्रतिजानीमहे—नामैव स्थापना भवतीति न वा, स्थापना वा नाम भवति नेति च ।२२। ···यत एव नामादिचतुष्टयस्य विरोधं भवानाचष्टे अतएव नाभावः। कथम्। इह योऽयं सहानवस्थानलक्षणो विरोधो वध्यघातकवत्, स सतामर्थानां भवति नासतां काकोलूकच्छायातपवत्, न काकदन्त-खरविषाणयोर्विरोधोऽसत्त्वात्। किंच ।२४।···अथ अर्थान्तरभावेऽपि विरोधकत्वमिष्यते; सर्वेषां पदार्थानां परस्परतो नित्यं विरोधः स्यात्। न चासावस्तीति। अतो विरोधाभावः ।२५। स्यादेतत् ताद्गुण्याद् भाव एव प्रमाणं न नामादिः।···तन्न; किं कारणम्।···एवं हि सति नामाद्याश्रयो व्यवहारो निवर्तेत। स चास्तीति। अतो न भावस्यैव प्रामाण्यम् ।२६।...यद्यपि भावस्यैव प्रामाण्यं तथापि नामादिव्यवहारो न निवर्तते। कुतः। उपचारात्।···तत्र, किं कारणम्। तद्गुणाभावात्। युज्यते माणवके सिंहशब्दव्यवहारः क्रौर्यशौर्यादिगुणैकदेशयोगात्, इह तु नामादिषु जीवनादिगुणैकदेशो न कश्चिदप्यस्तीत्युपचाराभावाद् व्यवहारनिवृत्तिः स्यादेव ।२७। ··· यद्युपचारान्नामादिव्यवहारः स्यात् 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्ययः' इति मुख्यस्यैव संप्रत्ययः स्यान्न नामादीनाम्। यतस्त्वर्थप्रकरणादिविशेषलिङ्गाभावे सर्वत्र संप्रत्ययः अविशिष्टः कृतसंगतेर्भवति, अतो न नामादिषूपचाराद् व्यवहारः ।२८। ···स्यादेतत्—कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययो भवतीति लोके। तन्न; किं कारणम्। उभयगतिदर्शनात्। लोके ह्यर्थात् प्रकरणाद्वा कृत्रिमे संप्रत्ययः स्यात् अर्थो वास्यैवंसंज्ञकेन भवति ।२९। ······ नामसामान्यापेक्षया स्यादकृत्रिमं विशेषापेक्षया कृत्रिमम्। एवं स्थापनादयश्चेति ।३०। =प्रश्न—विरोध होनेके कारण एक जीवादि अर्थके नामादि चार निक्षेप नहीं हो सकते। जैसे—नाम नाम ही है, स्थापना नहीं। यदि उसे स्थापना माना जाता है तो उसे नाम नहीं कह सकते; यदि नाम कहते हैं तो स्थापना नहीं कह सकते, क्योंकि उनमें विरोध है,। ।१९। उत्तर—१—एक ही वस्तुमें लोकव्यवहारमें नामादि चारों व्यवहार देखे जाते हैं, अत; उनमें कोई विरोध नहीं है। उदाहरणार्थ इन्द्र नामका व्यक्ति है (नाम निक्षेप) मूर्तिमें इन्द्रकी स्थापना होती है। इन्द्रके लिए लाये गये काष्ठको भी लोग इन्द्र कह देते हैं (सद्भाव व असद्भाव स्थापना)। आगेकी पर्यायकी योग्यतासे भी इन्द्र, राजा, सेठ आदि व्यवहार होते हैं (द्रव्य निक्षेप)। तथा शचीपतिको इन्द्र कहना प्रसिद्ध ही है (भाव निक्षेप) ।२०। (श्लो, वा, २/१/५/श्लो. ७६-८२/२८८) २. 'नाम नाम ही है स्थापना नहीं' यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि, यहाँ यह नहीं कहा जा रहा है कि नाम स्थापना है, किन्तु नाम स्थापना द्रव्य और भावसे एक वस्तुमें चार प्रकारसे व्यवहार करनेकी बात है ।२१। ३. (पदार्थ व उसके नामादिमें सर्वथा अभेद या भेद हो ऐसा भी नहीं है क्योंकि अनेकान्तवादियोंके हाँ संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि तथा पर्यायार्थिक नयको अपेक्षा कथंचित् भेद और द्रव्यार्थिक-नयकी अपेक्षा कथंचित् अभेद स्वीकार किया जाता है। (श्लो. वा. २/१/५/७३-८७/२८४-३११); ४. 'नाम स्थापना ही है या स्थापना नहीं है' ऐसा एकान्त नहीं है; क्योंकि स्थापनामें नाम अवश्य होता है पर नाममें स्थापना हो या न भी हो (दे० निक्षेप/४/६) इसी प्रकार द्रव्यमें भाव अवश्य होता है, पर भाव निक्षेपमें द्रव्य विवक्षित हो अथवा न भी हो। (दे० निक्षेप/७/८) / ।२२। ५. छाया और प्रकाश तथा कौआ और उल्लूमें पाया जानेवाला सहान-वस्थान और वध्यघातक विरोध विद्यमान ही पदार्थोंमें होता है, अविद्यमान खरविषाण आदिमें नहीं। अतः विरोधकी सम्भावनासे ही नामादि चतुष्टयका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है ।२४। ६. यदि अर्थान्तररूप होनेके कारण इनमें विरोध मानते हो, तब तो सभी पदार्थ परस्पर एक दूसरेके विरोधक हो जायेंगे ।२५। ७. प्रश्न—भावनिक्षेपमें वे गुण आदि पाये जाते हैं अतः इसे ही सत्य कहा जा सकता है नामादिको नहीं ? उत्तर—ऐसा माननेपर तो नाम स्थापना और द्रव्यसे होनेवाले यावत् लोक व्यवहारोंका लोप हो जायेगा। लोक व्यवहारमें बहुभाग तो नामादि तीनका ही है ।२६। ८. यदि कहो कि व्यवहार तो उपचारसे हैं, अतः उनका लोप नहीं होता है, तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि बच्चेमें क्रूरता शूरता आदि गुणोंका एकदेश देखकर, उपचारसे सिंह-व्यवहार तो उचित है, पर नामादिमें तो उन गुणोंका एकदेश भी नहीं पाया जाता अतः नामाद्याश्रित व्यवहार औपचारिक भी नहीं कहे जा सकते ।२७। यदि फिर भी उसे औपचारिक ही मानते हो तो 'गौण और मुख्यमें मुख्यका ही ज्ञान होता है इस नियमके अनुसार मुख्यरूप 'भाव' का ही संप्रत्यय होगा नामादिका नहीं। परन्तु अर्थ प्रकरण और संकेत आदिके अनु-सार नामादिका मुख्य प्रत्यय भी देखा जाता है ।२८। ९. 'कृत्रिम और अकृत्रिम पदार्थोंमें कृत्रिमका ही बोध होता है' यह नियम भी सर्वथा एक रूप नहीं है। क्योंकि इस नियम की उभयरूपसे प्रवृत्ति देखी जाती है। लोकमें अर्थ और प्रकरणसे कृत्रिममें प्रत्यय होता है, परन्तु अर्थ व प्रकरणसे अनभिज्ञ व्यक्तिमें तो कृत्रिम व अकृत्रिम दोनोंका ज्ञान हो जाता है जैसे किसी गँवार व्यक्तिको 'गोपालको लाओ' कहनेपर वह गोपाल नामक व्यक्ति तथा ग्वाला दोनोंको ला सकता है ।२९। फिर सामान्य दृष्टिसे नामादि भी तो अकृत्रिम ही हैं। अतः इनमें कृत्रिमत्व और अकृत्रिमत्वका अनेकान्त है ।३०।

श्लो, वा. २/१/५/८७/३१२/२४ काश्चिदप्यर्थक्रियां न नामादयः कुर्वन्तीत्ययुक्तं तेषामवस्तुत्वप्रसङ्गात्। न चैतदुपपन्नं भाववन्नामादीनामबाधितप्रतीत्या वस्तुत्वसिद्धेः। १० ये चारों कोई भी अर्थक्रिया नहीं करते, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि, ऐसा माननेसे उनमें अवस्तुपनेका प्रसंग आता है। परन्तु भाववत् नाम आदिकमें भी वस्तुत्व सिद्ध है। जैसे—नाम निक्षेप संज्ञा-संज्ञेय व्यवहारको कराता है, इत्यादि।

२. निक्षेपोंका द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयोंमें अन्तर्भाव—

१. भाव पर्यायार्थिक है और शेष तीन द्रव्यार्थिक

स. सि./१/६/२०/१ नयो द्विविधो द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। पर्यायार्थिकनयेन भावतत्त्वमधिगन्तव्यम्। इतरेषां त्रयाणां द्रव्यार्थिकनयेन, सामान्यात्मकत्वात्। —नय दो हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। पर्यायार्थिकनयका विषय भाव निक्षेप है, और शेष तीनको द्रव्यार्थिकनय ग्रहण करता है, क्योंकि वह सामान्यरूप है। (ध. १/१, १.१/गा. ६ सन्मतितर्कसे उद्धृत/१५) (ध. ४/१,३,१/गा. २/३) (ध. ६/४,१,४५/ गा. ६६/१८५) (क. पा. १/१,१३-१४/§२११/गा. ११६/२६०) (रा.वा. १/५/३१/३२/६) (सि. वि./मू./१३/३/७४१) (श्लो. वा. २/१/५/श्लो. ६६/२७६).।

२. भावमें कथंचित् द्रव्यार्थिकपना तथा नाम व द्रव्यमें पर्यायार्थिकपना

दे. निक्षेप/३/१ (नैगम संग्रह और व्यवहार इन तीन द्रव्यार्थिक नयोंमें चारों निक्षेप संभव हैं, तथा ऋजुसूत्र नयमें स्थापनासे अतिरिक्त तीन निक्षेप सम्भव हैं। तीनों शब्दनयोंमें नाम व भाव ये दो ही निक्षेप होते हैं।)

३. नामको द्रव्यार्थिक कहनेमें हेतु

श्लो० वा. २/१/५/६९/२७१/२४ नन्वस्तु द्रव्यं शुद्धमशुद्धं च द्रव्यार्थिकनयादेशात्, नाम-स्थापने तु कथं तयोः प्रवृत्तिमारभ्य प्रागुपरमादन्वयित्वादिति ब्रूमः। न च तदसिद्धं देवदत्तं इत्यादि नाम्नः क्वचिद्बालाद्यवस्थाभेदाद्भिन्नेऽपि विच्छेदानुपपत्तेरन्वयित्वसिद्धेः। क्षेत्रपालादिस्थापनायाश्च कालभेदेऽपि तथात्वाविच्छेदः इत्यन्वयित्वमन्वयप्रत्ययविषयत्वात्। यदि पुनरनाद्यनन्तान्वयासत्त्वान्नामस्थापनयोरनन्वयित्वं तदा घटादेरपि न स्यात्। तथा च कुतो द्रव्यत्वम्। व्यवहारनयात्तस्यावान्तरद्रव्यत्वे तत एव नामस्थापनयोस्तदस्तु विशेषाभावात्। —प्रश्न--शुद्ध व अशुद्ध द्रव्य तो भले ही द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे मिल जायें, किन्तु नाम स्थापना द्रव्यार्थिकनयके विषय कैसे हो सकते हैं ? उत्तर—तहाँ भी प्रवृत्तिके समयसे लेकर विराम या विसर्जन करनेके समय तक, अन्वयपना विद्यमान है। और वह असिद्ध भी नहीं है; क्योंकि देवदत्त नामके व्यक्तिमें बालक कुमार युवा आदि अवस्था भेद होते हुए भी उस नामका विच्छेद नहीं बनता है। (ध.४/१,३,१/३/६)। इसी प्रकार क्षेत्रपाल आदिकी स्थापनामें काल भेद होते हुए भी, तिस प्रकारकी स्थापनापनेका अन्तराल नहीं पड़ता है। 'यह वह है' इस प्रकारके अन्वय ज्ञानका विषय होते रहनेसे तहाँ भी अन्वयीपना बहुत काल तक बना रहता है। प्रश्न—परन्तु नाम व स्थापनामें अनादिसे अनन्त काल तक तो अन्वय नहीं पाया जाता ? उत्तर—इस प्रकार तो घट, मनुष्यादिको भी अन्वयपना न हो सकनेसे उनमें भी द्रव्यपना न बन सकेगा। प्रश्न—तहाँ तो व्यवहार नयकी अपेक्षा करके अवान्तर द्रव्य स्वीकार कर लेनेसे द्रव्यपना बन जाता है ? उत्तर—तब तो नाम व स्थापनामें भी उसी व्यवहारनयकी प्रधानतासे द्रव्यपना हो जाओ, क्योंकि इस अपेक्षा इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है।

ध. ४/१,३,१/३/७ वाच्यवाचकशक्तिद्वयात्मकैकशब्दस्य पर्यायार्थिकनये असंभवाद्वा दव्वट्ठियणयस्सेत्ति वुच्चदे। —वाच्यवाचक दो शक्तियों-वाला एक शब्द पर्यायार्थिक नयमें असम्भव है, इसलिए नाम द्रव्यार्थिक नयका विषय है, ऐसा कहा जाता है। (ध.९/४,१,४५/१८६/६) (विशेष दे० नय/IV/३/८/५)।

ध. १०/४,२,२,२/१०/२ णामणिक्खेवो दव्वट्ठियणए कुदो संभवदि। एक्कम्हि चेव दव्वम्हि वट्टमाणाणं णामाणं तब्भवसामाणम्मि तीदाणागय-वट्टमाणपज्जाएसु संचरणं पडुच्च अत्तदव्ववएसम्मि अप्पहाणीकयपज्जायम्मि पउत्तिदंसणादो, जाइ-गुण-कम्मेसु वट्टमाणाणं सारिच्छसामण्णम्मि वत्तिविसेसाणुवुत्तीदो लद्धदव्ववएसम्मि अप्पहाणीकयवत्तिभावम्मि पउत्तिदंसणादो, सारिच्छसामण्णप्पयणामेण विणा सद्दव्ववहाराणुववत्तीदो च। —प्रश्न—नाम निक्षेप द्रव्यार्थिकनयमें कैसे सम्भव है ? उत्तर—चूँकि एक ही द्रव्यमें रहनेवाले द्रव्यवाची शब्दोंकी, जिसने अतीत, अनागत व वर्तमान पर्यायोंमें संचार करनेकी अपेक्षा 'द्रव्य' व्यपदेशको प्राप्त किया है और जो पर्यायकी प्रधानतासे रहित है ऐसे तद्भावसामान्यमें, प्रवृत्ति देखी जाती है (अर्थात् द्रव्यसे रहित केवल पर्यायमें द्रव्यवाची शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती है)।

(इसी प्रकार) जाति, गुण व क्रियावाची शब्दोंकी, जिसने व्यक्ति विशेषोंमें अनुवृत्ति होनेसे 'द्रव्य' व्यपदेशको प्राप्त किया है, और जो व्यक्ति भावकी प्रधानतासे रहित है, ऐसे सादृश्य-सामान्यमें, प्रवृत्ति देखी जाती है। तथा सादृश्यसामान्यात्मक नामके बिना शब्द व्यवहार भी घटित नहीं होता है, अतः नाम निक्षेप द्रव्यार्थिक नयमें सम्भव है। (ध.४/१,३,१/३/६)।

और भी दे० निक्षेप/३ (नाम निक्षेपको नैगम संग्रह व व्यवहार नयों-का विषय बतानेमें हेतु। तथा द्रव्यार्थिक होते हुए भी शब्दनयोंका विषय बननेमें हेतु।

४. स्थापनाको द्रव्यार्थिक कहनेमें हेतु

दे० पहला शीर्षक नं. ३ ('यह वही है' इस प्रकार अन्वयज्ञानका विषय होनेसे स्थापना निक्षेप द्रव्यार्थिक है)।

ध. ४/१,३,१/४/२ सब्भावासब्भावसरूवेण सव्वदव्वाणि त्ति वा, पधाणापधाणदव्वाणमेगत्तणिबंधणेत्ति वा ट्ठवणणिक्खेवो दव्वट्ठियणयमुल्लीणो। —स्थापना निक्षेप तदाकार और अतदाकार रूपसे सर्व-द्रव्योंमें व्याप्त होनेके कारण; अथवा प्रधान और अप्रधान द्रव्योंकी एकताका कारण होनेसे द्रव्यार्थिकनयके अन्तर्गत है।

ध. १०/४,२,२,२/१०/८ कधं दव्वट्ठियणए ट्ठवणणामसंभवो। पडिणिहिज्जमाणस्स पडिणिहिणा सह एयत्तवज्झवसायादो सब्भावासब्भावट्ठवणभेएण सव्वत्थेसु अण्णयदंसणादो च। —प्रश्न—द्रव्यार्थिक नयमें स्थापना निक्षेप कैसे सम्भव है ? उत्तर—एक तो स्थापनामें प्रतिनिधीयमानकी प्रतिनिधिके साथ एकताका निश्चय होता है, और दूसरे सद्भावस्थापना व असद्भावस्थापनाके भेद रूपसे सब पदार्थोंमें अन्वय देखा जाता है, इसलिए द्रव्यार्थिक नयमें स्थापना-निक्षेप सम्भव है।

ध. ९/४,१,४५/१८६/६ कधं ट्ठवणा दव्वट्ठियविसओ। ण, अतम्हि तग्गहे संते ठवणुववत्तीदो। —नहीं; क्योंकि जो वस्तु अतद्रूप है उसका तद्रूपसे ग्रहण होनेपर स्थापना बन सकता है।

और भी दे० निक्षेप/३ (स्थापना निक्षेपको नैगम, संग्रह व व्यवहार नयोंका विषय बतानेमें हेतु।)

५. द्रव्यनिक्षेपको द्रव्यार्थिक कहनेमें हेतु

ध.९/४,१,४५/१८७/१ दव्वसुदणाणं पि दव्वट्ठियणयविसओ, आहाराहेयाणमेयत्तकप्पणाए दव्वसुदग्गहणादो। —द्रव्य श्रुतज्ञान (श्रुतज्ञानके प्रकरणमें) भी द्रव्यार्थिकनयका विषय है; क्योंकि आधार और आधेयके एकत्वकी कल्पनासे द्रव्यश्रुतका ग्रहण किया गया है। (विशेष दे० निक्षेप/३ में नैगम, संग्रह व व्यवहारनयके हेतु।)

६. भावनिक्षेपको पर्यायार्थिक कहनेमें हेतु

ध.९/४,१,४५/१८७/२ भावणिक्खेवो पज्जवट्ठियणयविसओ, वट्टमाणपज्जाएणुवलक्खियदव्वग्गहणादो। —भाव निक्षेप पर्यायार्थिकनयका विषय है; क्योंकि वर्तमान पर्यायसे उपलक्षित द्रव्यका यहाँ भाव रूपसे ग्रहण किया गया है। (विशेष दे० निक्षेप/३ में ऋजुसूत्र नय-में हेतु।)

७. भाव निक्षेपको द्रव्यार्थिक कहनेमें हेतु

क. पा./१/१,१३-१४/२६०/१ णाम-ट्ठवणा-दव्व-णिक्खेवाणं तिण्हं पि तिण्णि वि दव्वट्ठियणया सामिया होंतु णाम ण भावणिक्खेवस्स; तस्स पज्जवट्ठियणयमवलंबिय (पवट्टमाणत्तादो)…ण एस दोसो; वट्टमाणपज्जाएण उवलक्खियं दव्वं भावो णाम। अप्पट्टाणीकयपरिणामेसु सुद्धदव्वट्ठिएसु णएसु णादीदाणागयवट्टमाणकालविभागो अत्थि; तस्स पहाणीकयपरिणामपरिणम(णय)त्तादो। ण तदो एदेसु ताव अत्थि भावणिक्खेवो; वट्टमाणकालेण विणा अण्णकालाभावादो। वंजणपज्जाएण पादिदव्वेसु सुट्ठु असुद्धदव्वट्ठिएसु वि अत्थि भावणिक्खेवो, तत्थ वि तिकालसंभवादो। अथवा, सव्वदव्वट्ठियणएसु तिण्णि काला संभवंति; सुणएसु तदविरोहादो। ण च दुण्णएहि ववहारो; तेसिं विसयाभावादो। ण च सम्मइसुत्तेण सह विरोहो; उज्जुसुदणयविसयभावणिक्खेवमस्सिदूण तप्पउत्तीदो। तम्हा णेगम-संगह-ववहारणएसु सव्वणिक्खेवा संभवंति त्ति सिद्धं। प्रश्न—(तद्भावसामान्य व सादृश्यसामान्यको अवलम्बन करके प्रवृत्त होनेके कारण) नाम, स्थापना व द्रव्य इन तीनों निक्षेपोंके नैगमादि तीनों ही द्रव्यार्थिकनय स्वामी होओ, परन्तु भावनिक्षेपके वे स्वामी नहीं हो सकते हैं; क्योंकि, भावनिक्षेप पर्यायार्थिक

नयके आश्रयसे होता है (दे० निक्षेप/२/१)। उत्तर—१. यह दोष-युक्त नहीं है; क्योंकि वर्तमानपर्यायसे उपलक्षित द्रव्यको भाव कहते हैं। शुद्ध द्रव्यार्थिकनयमें तो क्योंकि, भूत भविष्यत और वर्तमानरूपसे कालका विभाग नहीं पाया जाता है, कारण कि वह पर्यायोंकी प्रधानतासे होता है; इसलिए शुद्ध द्रव्यार्थिक नयोंमें तो भावनिक्षेप नहीं बन सकता है, क्योंकि भावनिक्षेपमें वर्तमानकाल-को छोड़कर अन्य काल नहीं पाये जाते हैं। परन्तु जब व्यंजन-पर्यायोंकी अपेक्षा भावमें द्रव्यका सद्भाव स्वीकार कर दिया जाता है, तब अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयोंमें भाव निक्षेप बन जाता है; क्योंकि, व्यंजनपर्यायकी अपेक्षा भावमें भी तीनों काल सम्भव हैं। (ध.९/४,१,४८/२४२/८), (ध.१०/४,२,२,३/११/१), (ध.१४/५,६,४/३/७)। २. अथवा सभी समीचीन नयोंमें भी क्योंकि तीनों ही कालोंको स्वीकार करनेमें कोई विरोध नहीं है; इसलिए सभी द्रव्यार्थिक नयोंमें भावनिक्षेप बन जाता है। और व्यवहार मिथ्या नयोंके द्वारा किया नहीं जाता है; क्योंकि, उनका कोई विषय नहीं है। ३. यदि कहा जाय कि भाव निक्षेपका स्वामी द्रव्यार्थिक नयों-को भी मान लेनेपर सम्मति तर्कके 'णामं ठवणा' इत्यादि (दे० निक्षेप/२/१) सूत्रके साथ विरोध आता है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि, जो भावनिक्षेप ऋजुसूत्र नयका विषय है, उसकी अपेक्षासे सम्मतिके उक्त सूत्रकी प्रवृत्ति हुई है। (ध.१/१,१,१/१५/६), (ध.९/४,१,४९/२४४/१०)। अतएव नैगम संग्रह और व्यवहारनयोंमें सभी निक्षेप संभव हैं, यह सिद्ध होता है।

ध.१/१,१,१/१४/२ कधं दव्वट्ठिय-णये भाव-णिक्खेवस्स संभवो। ण, वट्टमाण-पज्जायोवलक्खियं दव्वं भावो इदि दव्वट्ठिय-णयस्स वट्टमाणमवि आरंभप्पहुडि आ उवरमादो। संगहे सुद्धदव्वट्ठिए वि भावणिक्खेवस्स अत्थित्तं ण विरुज्झदे सुकुक्खि-णिक्खित्तासेस-विसेस-सत्ताए सव्व-कालमवट्ठिदाए भावब्भुवगमादो त्ति। —प्रश्न—द्रव्यार्थिक नयमें भावनिक्षेप कैसे सम्भव है? उत्तर—१. नहीं; क्योंकि वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको ही भाव कहते हैं, और वह वर्तमान पर्याय भी द्रव्यकी आरम्भसे लेकर अन्त तककी पर्यायोंमें आ ही जाती है। (ध.१०/४,४,६/३६/७)। २. इसी प्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिक रूप संग्रहनयमें भी भाव निक्षेपका सद्भाव विरोधको प्राप्त नहीं होता है; क्योंकि अपनी कुक्षिमें समस्त विशेष सत्ताओंको समाविष्ट करनेवाली और सदा काल एक रूपसे अवस्थित रहनेवाली महासत्तामें ही 'भाव' अर्थात् पर्यायका सद्भाव माना गया है।

३. निक्षेपोंका नैगमादि नयोंमें अन्तर्भाव

१. नयोंके विषयरूपसे निक्षेपोंका निर्देश

ष. खं./१३/५,४/सूत्र ६/३९ णेगम-ववहार-संगहा सव्वाणि।६। —नैगम, व्यवहार और संग्रहनय सब कर्मोंको (नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव आदि कर्मोंको) स्वीकार करते हैं। (ष.खं./१०/४,२,२/सूत्र २/१०); (ष.खं./१३/५,५/सू.६/१९८); (ष.खं./१४/५,६,६/सूत्र४/३); (ष.खं.१४/५,६/सूत्र ७२/५२); (क. पा./१/१,१३–१४/§२११/चूर्ण सूत्र/२५९); (ध.१/१,१ १/१४/१)।

ष.खं.१३/५,४/सू.७/३९ उजुसुदो ट्ठवणकम्मं णेच्छदि।७। —ऋजुसूत्र नय स्थापना कर्मको स्वीकार नहीं करता। अर्थात् अन्य तीन निक्षेपोंको स्वीकार करता है। (ष. खं.१०/४,२,२/सूत्र ३/११); (ष.खं.१३/५,५/सु.७/१९९); (ष.ख.१४/५,६/सूत्र ५/३); (ष.खं.१४/५,६/सूत्र/७३/५३); (क.पा.१/१,१३–१४/§२१२/चूर्ण सूत्र/२६२); (ध.१/१,१.१/१६/१)।

ष. खं.१३/५,४/सू.८/४० सद्दणओ णामकम्मं भावकम्मं च इच्छदि। —शब्दनय नामकर्म और भावकर्मको स्वीकार करता है। (ष.खं.१०/४,२,२/सूत्र ४/११); (ष.खं.१३/५,५/सूत्र ८/२००); (ष.खं.१४/५,६/सू.६/३); (ष.खं.१४/५,६/सूत्र७४/५३); (क.पा.१/१,१३–१४/§२१४/चूर्ण-सूत्र/२६४)।

ध.१/१,१.१/१६/५ सद्द-समभिरूढ-एवंभूद-णएसु वि णाम-भाव-णिक्खेवा हवंति तेसिं चेय तत्थ संभवादो। —शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नयमें भी नाम और भाव ये दो निक्षेप होते हैं, क्योंकि ये दो ही निक्षेप वहाँपर सम्भव हैं, अन्य नहीं। (क.पा.१/१,१३–१४/§२४०/चूर्ण सूत्र/२८५)।

२. तीनों द्रव्यार्थिक नयोंके सभी निक्षेप विषय कैसे ?

ध.१/१,१,१/१४/१ तत्थ णेगम-संगह-ववहारणएसु सव्वे एदे णिक्खेवा हवंति तव्विसयम्मि तब्भव-सारिच्छ-सामण्णम्हि सव्वणिक्खेवसंभवादो। —नैगम, संग्रह और व्यवहार इन तीनों नयोंमें सभी निक्षेप होते हैं; क्योंकि इन नयोंके विषयभूत तद्भवसामान्य और सादृश्यसामान्यमें सभी निक्षेप सम्भव हैं। (क.पा.१/१,१३–१४/§ २११/२५९/८)।

क.पा.१/१,१३–१४/§२३९/२८३/६ णेगमो सव्वे कसाए इच्छदि। कुदो। संगहासंगहसरूवणेगम्मि विसयीकयसयललोगववहारम्मि सव्व-कसायसंभवादो। —नैगमनय सभी (नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव) कषायोंको स्वीकार करता है; क्योंकि वह भेदाभेदरूप है और समस्त लोकव्यवहारको विषय करता है।

दे० निक्षेप/२/३–७ (इन द्रव्यार्थिक नयोंमें भावनिक्षेप सहित चारों निक्षेपोंके अन्तर्भावमें हेतु)।

३. ऋजुसूत्रका विषय नाम निक्षेप कैसे

ध.१/१,१,१/१६/४ ण तत्थ णामणिक्खेवाभावो वि सद्दोवलद्धि काले णियत्तवाचयत्तुवलंभादो। —(जिस प्रकार ऋजुसूत्रमें द्रव्य निक्षेप घटित होता है) उसी प्रकार वहाँ नामनिक्षेपका भी अभाव नहीं है; क्योंकि जिस समय शब्दका ग्रहण होता है, उसी समय उसकी नियत वाच्यता अर्थात् उसके विषयभूत अर्थका भी ग्रहण हो जाता है।

ध.९/४,१,४९/२४३/१० उजुसुदणओ णाम पज्जवट्ठियो कधं तस्स णाम-दव्व-गणणगंथकदी होंति त्ति, विरोहादो। ...एत्थ परिहारो वुच्चदे—उजुसुदो दुविहो सुद्धो असुद्धो चेदि। तत्थ सुद्धो विसईकय अत्थपज्जाओ...। एदस्स भावं मोत्तूण अण्ण कदीओ ण संभवंति, विरोहादो। तत्थ जो सो असुद्धो उजुसुदणओ सो चक्खुपासियवेंज-णपज्जयविसओ। ...तम्हा उजुसुदे ठवणं मोत्तूण सव्वणिक्खेवा संभवंति त्ति वुत्तं। —प्रश्न—ऋजुसूत्रनय पर्यायार्थिक है, अतः वह नामकृति, द्रव्यकृति, गणनकृति और ग्रन्थकृतिको कैसे विषय कर सकता है, क्योंकि इसमें विरोध है? उत्तर—यहाँ इस शंकाका परिहार करते हैं—ऋजुसूत्रनय शुद्ध और अशुद्धके भेदसे दो प्रकार-का है। उनमें अर्थपर्यायको विषय करनेवाले शुद्ध ऋजुसूत्रमें तो भावकृतिको छोड़कर अन्य कृतियाँ विषय होनी सम्भव नहीं हैं; क्योंकि इसमें विरोध है। परन्तु अशुद्ध ऋजुसूत्रनय चक्षु इन्द्रियकी विषयभूत व्यंजन पर्यायोंको विषय करनेवाला है। इस कारण उसमें स्थापनाको छोड़कर सब निक्षेप सम्भव हैं ऐसा कहा गया है। (विशेष दे० नय/III/५/६)।

क. पा./१/१,१३–१४/§२२८/२७८/३ दव्वट्ठियणयमस्सिदूण ट्ठिदणामं कथमुजुसुदे पज्जवट्ठिए संभवइ। ण; अत्थणएसु सद्दस्स अत्थाणु-सारित्ताभावादो। सद्दववहारे चप्पलए संते लोगववहारो सयलो वि उच्छिज्जदि त्ति चे; होदि तदुच्छेदो, किन्तु णयस्स विसओ अम्हेहि परूविदो। —प्रश्न—नामनिक्षेप द्रव्यार्थिकनयका आश्रय

लेकर होता है और ऋजुसूत्र पर्यायार्थिक है, इसलिए उसमें नाम-निक्षेप कैसे सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, अर्थनयमें शब्द अपने अर्थका अनुसरण नहीं करता है (अर्थ शब्दादि नयोंकी भाँति ऋजुसूत्रनय शब्दभेदसे अर्थभेद नहीं करता है, केवल उस शब्दके संकेतसे प्रयोजन रखता है) और नाम निक्षेपमें भी यही बात है। अतः ऋजुसूत्रनयमें नामनिक्षेप सम्भव है। प्रश्न—यदि अर्थनयोंमें शब्द अर्थका अनुसरण नहीं करते हैं तो शब्द व्यवहारको असत्य मानना पड़ेगा, और इस प्रकार समस्त लोकव्यवहारका व्युच्छेद हो जायेगा? उत्तर—यदि इससे लोकव्यवहारका उच्छेद होता है तो होओ, किन्तु यहाँ हमने नयके विषयका प्रतिपादन किया है।

और भी दे० निक्षेप/३/६ (नामके बिना इच्छित पदार्थका कथन न हो सकनेसे इस नयमें नामनिक्षेप सम्भव है।)

४. ऋजुसूत्रका विषय द्रव्यनिक्षेप कैसे

ध. १/१,१,१/१६/३ कधमुज्जुसुदे पज्जवट्ठिए दव्वणिक्खेवो त्ति। ण, तत्थ वट्टमाणसमयाणंतगुणण्णिद-एगदव्व-संभवादो। —प्रश्न—ऋजुसूत्र तो पर्यायार्थिकनय है, उसमें द्रव्यनिक्षेप कैसे घटित हो सकता है? उत्तर—ऐसी शंका ठीक नहीं है; क्योंकि ऋजुसूत्र नयमें वर्तमान समयवर्ती पर्यायसे अनन्तगुणित एक द्रव्य ही तो विषय रूपसे सम्भव है। (अर्थात् वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्य ही तो विषय होता है, न कि द्रव्य-विहीन केवल पर्याय।)

ध. १३/५,५,७/१९९/८ कधं उजुसुदे पज्जवट्ठिए दव्वणिक्खेवसंभवो। ण असुद्धपज्जवट्ठिए वंजणपरजायपरतंते सुहुमपज्जायभेदेहि णाणत्तमुवगए तदविरोहादो। —प्रश्न—ऋजुसूत्रनय पर्यायार्थिक है, उसका विषय द्रव्य निक्षेप होना कैसे सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जो व्यंजन पर्यायोंके आधीन है और जो सूक्ष्मपर्यायोंके भेदोंके आलम्बनसे नानात्वको प्राप्त है, ऐसे अशुद्ध पर्यायार्थिकनयका विषय द्रव्यनिक्षेप है, ऐसा माननेमें कोई विरोध नहीं आता है। (ध.१३/५,४,७/४०/२)।

क. पा./१/१,१३-१४/§२१३/२६३/४ ण च उजुसुदो (सुदे) [पज्जवट्ठिए] णए दव्वणिक्खेवो ण संभवइ; [वंजणपज्जायरूवेण] अवट्ठियस्स वत्थुस्स अणेगेसु अत्थविंजणपज्जाएसु संचरंतस्स दव्वभावुवलंभादो। ...सव्वे (सुद्धे) पुण उजुसुदे णत्थि दव्वं य पज्जायप्पणाये तदसंभवादो। —यदि कहा जाय कि ऋजुसूत्रनय तो पर्यायार्थिक है, इसलिए उसमें द्रव्य निक्षेप सम्भव नहीं है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ अर्पित (विवक्षित) व्यंजन पर्यायकी अपेक्षा अवस्थित है और अनेक अर्थपर्याय तथा अवान्तर व्यंजनपर्यायोंमें संचार करता है (जैसे मनुष्य रूप व्यंजनपर्याय बाल, युवा, वृद्धादि अवान्तर पर्यायोंमें) उसमें द्रव्यपनेकी उपलब्धि होती ही है, अतः ऋजुसूत्रमें द्रव्य निक्षेप बन जाता है। परन्तु शुद्ध ऋजुसूत्रनयमें द्रव्य निक्षेप नहीं पाया जाता है, क्योंकि उसमें अर्थपर्यायकी प्रधानता रहती है। (क. पा.१/१,१३-१४/§२२८/२७१/३)। (और भी दे० निक्षेप/३/३ तथा नय/III/५/६)।

५. ऋजुसूत्रमें स्थापना निक्षेप क्यों नहीं

ध.६/४,१,४९/२४५/२ कधं ट्ठवणणिक्खेवो णत्थि। संकप्पवसेण अण्णस्स दव्वस्स अण्णसरूवेण परिणामाणुवलंभादो सरिसत्तणेण दव्वाणमेगत्ताणुवलंभादो। सारिच्छेण एगत्ताणब्भुवगमे कधं णाम-गणण-गंधकदीणं संभवो। ण तब्भाव-सारिच्छसामण्णेहि विणा वि वट्टमाणकालविसेसप्पणाए वि तासिमत्थित्तं पडि विरोहाभावादो। —प्रश्न—स्थापना निक्षेप ऋजुसूत्रनयका विषय कैसे नहीं? उत्तर—क्योंकि एक तो संकल्पके वशसे अर्थात् कल्पनामात्रसे एक द्रव्यका अन्यस्वरूपसे परिणमन नहीं पाया जाता (इसलिए तद्भव सामान्य रूप एकताका अभाव है); दूसरे सादृश्य रूपसे भी द्रव्योंके यहाँ एकता नहीं पायी जाती, अतः स्थापना निक्षेप यहाँ सम्भव नहीं है। (ध. १३/५,५,७/१९९/६)। प्रश्न—सादृश्य सामान्यसे एकताके स्वीकार न करनेपर इस नयमें नामकृति गणनाकृति और ग्रन्थकृतिकी सम्भावना कैसे हो सकती है? उत्तर—नहीं; क्योंकि, तद्भावसामान्य और सादृश्य सामान्यके बिना भी वर्तमानकाल विशेषकी विवक्षासे भी उनके अस्तित्वके प्रति कोई विरोध नहीं है।

क. पा. १/१,१३-१४/§२१२/२६२/२ उजुसुदविसए किमिदि ठवणा ण अत्थि (णत्थि)। तत्थ सारिच्छलक्खणसामण्णाभावादो। ण च दोण्हं लक्खणसंताणम्मि वट्टमाणाणं सारिच्छविरहिएण एगत्तं संभवइ; विरोहादो। असुद्धेसु उजुसुदेसु बहुएसु घडादिअत्थेसु एगसण्णिमिच्छंतेसु सारिच्छलक्खणसामण्णमत्थि त्ति ठवणाए संभवो किण्ण जायदे। होदु णाम सारित्तं; तेण पुण [णियत्तं]; दव्व-खेत्तकालभावेहि भिण्णाणमेयत्तविरोहादो। ण च बुद्धीए भिण्णत्थाणमेयत्तं सक्किज्जदे [काउं तहा] अणुवलंभादो। ण च एयत्तेण विणा ठवणा संभवदि, विरोहादो। —प्रश्न—ऋजुसूत्रके विषयमें स्थापना निक्षेप क्यों नहीं पाया जाता है? उत्तर—क्योंकि, ऋजुसूत्रनयके विषयमें सादृश्य सामान्य नहीं पाया जाता है। प्रश्न—क्षणसन्तानमें विद्यमान दो क्षणोंमें सादृश्यके बिना भी स्थापनाका प्रयोजक एकत्व बन जायेगा? उत्तर—नहीं; क्योंकि, सादृश्यके बिना एकत्वके माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—'घट' इत्याकारक एक संज्ञाके विषयभूत व्यंजनपर्यायरूप अनेक घटादि पदार्थोंमें सादृश्यसामान्य पाया जाता है, इसलिए अशुद्ध ऋजुसूत्र नयोंमें स्थापना निक्षेप क्यों सम्भव नहीं? उत्तर—नहीं; क्योंकि, इस प्रकार उनमें सादृश्यता भले ही रही आओ, पर इससे उनमें एकत्व नहीं स्थापित किया जा सकता है; क्योंकि, जो पदार्थ (इस नयकी दृष्टिमें) द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा भिन्न हैं (दे० नय/IV/३) उनमें एकत्व माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—भिन्न पदार्थोंको बुद्धि अर्थात् कल्पनासे एक मान लेंगे? उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि, भिन्न पदार्थोंमें एकत्व नहीं पाया जाता है, और एकत्वके बिना स्थापनाकी संभावना नहीं है; क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है। (क. पा. १/१,१३-१४/§ २२८/२७८/१); (ध. १३/५,५,७/१९९/६)।

६. शब्दनयोंका विषय नामनिक्षेप कैसे

ध. ९/४,१,५०/२४५/१ होदु भावकदो सद्दणयाणं विसओ, तेसि विसए दव्वादीणमभावादो। किंतु ण तेसि णामकदी जुज्जदे, दव्वट्ठियणयं मोत्तूण अण्णत्थ सण्णासण्णिसंबंधाणुववत्तीदो? खणक्खइभावमिच्छंताणं सण्णासंबंधा मा घडंतु णाम। किंतु जेण सद्दणया सद्दजणिदभेदपहाणा तेण सण्णासण्णिसंबंधाणमघडणाए अणत्थिणो। सगब्भुवगमम्हि सण्णासण्णिसंबंधो अत्थि चेवे त्ति अज्झवसायं काऊण ववहरणसहावा सद्दणया, तेसिमण्णहा सद्दणयत्ताणुववत्तीदो। तेण तिसु सद्दणएसु णामकदी वि जुज्जदे। —प्रश्न—भावकृति शब्दनयोंकी विषय भले हो हो; क्योंकि, उनके विषयमें द्रव्यादिक कृतियोंका अभाव है। परन्तु नामकृति उनकी विषय नहीं हो सकती; क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयको छोड़कर अन्य (शब्दादि पर्यायार्थिक) नयोंमें संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध बन नहीं सकता। (विशेष दे० नय/IV/२/८/१) उत्तर—पदार्थको क्षणक्षयी स्वीकार करनेवालोंके यहाँ (अर्थात् पर्यायार्थिक नयोंमें) संज्ञा-संज्ञी संबंध भले ही घटित न हो; किन्तु चूँकि शब्द नयें शब्द जनित भेदकी प्रधानता स्वीकार करते हैं (दे० नय/I/४/५) अतः वे संज्ञा-संज्ञी सम्बन्धोंके (सर्वथा) अघटनको स्वीकार नहीं कर सकते। इसीलिए (उनके) स्वमतमें संज्ञा-संज्ञी-सम्बन्ध है ही, ऐसा निश्चय करके शब्दनय भेद करने रूप स्वभाववाले हैं; क्योंकि, इसके बिना उनके शब्दनयत्व ही नहीं बन सकता। अतएव तीनों शब्दनयोंमें नामकृति भी उचित है।

ध. १४/५,६,७/४/१ कधं णामबंधस्स तत्थ संभवो। ण, णामेण विणा इच्छिदत्थपरूवणाए अणुववत्तीदो। —प्रश्न—इन दोनों (ऋजुसूत्र व शब्द) नयोंमें नामबन्ध कैसे सम्भव है? उत्तर—नहीं; क्योंकि, नामके बिना इच्छित पदार्थका कथन नहीं किया जा सकता; इस अपेक्षा नामबन्धको इन दोनों (पर्यायार्थिक) नयोंका विषय स्वीकार किया है। (ध. १३/५,४,८/४०/५)।

क. पा./१/१,१३-१४/§ २२६/२७१/७ अणेगेसु घडत्थेसु दव्व-खेत्त-काल-भावेहि पुधभूदेसु एक्को घडसद्दो वट्टमाणो उवलब्भदे, एवमुवलब्भमाणे कधं सद्दणए पज्जवट्ठिए णामणिक्खेवस्स संभवो त्ति। ण; एदम्मि णए तेसिं घडसद्दाणं दव्व-खेत्त-काल-भाववाच्चयभावेण भिण्ण-ण-मण्णयाभावादो। तत्थ संकेयग्गहणं दुग्घडं त्ति चे। होदु णाम, किंतु णयस्स विसओ परूविज्जदे, ण च सुणएसु किं पि दुग्घडमत्थि। प्रश्न—द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न अनेक घटरूप पदार्थोंमें (सादृश्य सामान्य रूप) एक घट शब्द प्रवृत्त होता हुआ पाया जाता है। जब कि 'घट' शब्द इस प्रकार उपलब्ध होता है तब पर्यायार्थिक शब्दनयमें नाम निक्षेप कैसे सम्भव है; (क्योंकि पर्यायार्थिक नयोंमें सामान्यका ग्रहण नहीं होता दे० नय/IV/३)। उत्तर—नहीं; क्योंकि, इस नयमें द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावरूप वाच्यसे भेदको प्राप्त हुए उन अनेक घट शब्दोंका परस्पर अन्वय नहीं पाया जाता है, अर्थात् वह नय द्रव्य क्षेत्रादिके भेदसे प्रवृत्त होनेवाले घट शब्दोंको भिन्न मानता है और इसलिए उसमें नामनिक्षेप बन जाता है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो शब्दनयमें संकेतका ग्रहण करना कठिन हो जायेगा? उत्तर—ऐसा होता है तो होओ, किन्तु यहाँ तो शब्दनयके विषयका कथन किया है।

दूसरे सुनयोंकी प्रवृत्ति, क्योंकि, सापेक्ष होती है, इसलिए उनमें कुछ भी कठिनाई नहीं है। (विशेष दे० आगम/४/४)।

७. शब्दनयोंमें द्रव्य निक्षेप क्यों नहीं

ध. १०/४,२,२,४/१२/१ किमिदि दव्वं णेच्छदि। पज्जायंतरसंकंति-विरोहादो सद्दभेएण अत्थभेयणवावदम्मि वत्थुविसेसाणं णाम-भावं मोत्तूण पहाणत्ताभावादो। —प्रश्न—शब्दनय द्रव्य निक्षेपको स्वीकार क्यों नहीं करता? उत्तर—एक तो शब्दनयकी अपेक्षा दूसरी पर्यायका संक्रमण माननेमें विरोध आता है। दूसरे, वह शब्दभेदसे अर्थके कथन करनेमें व्यापृत रहता है (दे० नय/I/४/५), अतः उसमें नाम और भावकी ही प्रधानता रहती है, पदार्थोंके भेदोंकी प्रधानता नहीं रहती; इसलिए शब्दनय द्रव्य निक्षेपको स्वीकार नहीं करता।

ध १३/५,५,८/२००/३ णामे दव्वाविणाभावे संते वि तत्थ दव्वम्हि तस्स सद्दणयस्स अत्थित्ताभावादो। सद्ददुवारेण पज्जयदुवारेण च अत्थभेद-मिच्छंतए सद्दणए दो चेव णिक्खेवा संभवंति त्ति भणिदं होदि। —यद्यपि नाम द्रव्यका अविनाभावी है (और वह शब्दनयका विषय भी है) तो भी द्रव्यमें शब्दनयका अस्तित्व नहीं स्वीकार किया गया है। अतः शब्द द्वारा और पर्याय द्वारा अर्थभेदको स्वीकार करनेवाले (शब्दभेदसे अर्थभेद और अर्थभेदसे शब्दभेदको स्वीकार करनेवाले) शब्द नय में दो ही निक्षेप सम्भव हैं।

क. पा. १/१,१३-१४/§ २१५/२६४/४ दव्वणिक्खेवो णत्थि, कुदो। लिंगादि (?) सद्दवाच्चियाणमेयत्ताभावे दव्वाभावादो। वंजणपज्जाए पडुच्च सुद्ध वि उजुसुदे अत्थि दव्वं, लिंगसंखाकालकारयपुरिसोव-ग्गहाणं पावेक्कमेयत्तब्भुवगमादो। —शब्द नयमें द्रव्यनिक्षेप भी सम्भव नहीं है; क्योंकि, इस नयकी दृष्टिमें लिंगादिकी अपेक्षा शब्दोंके वाच्यभूत पदार्थोंमें एकत्व नहीं पाया जाता है। किन्तु व्यंजनपर्यायकी अपेक्षा शुद्धसूत्रनयमें भी द्रव्यनिक्षेप पाया जाता है; क्योंकि, ऋजुसूत्रनय लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रहमेंसे प्रत्येकका अभेद स्वीकार करता है। (अर्थात् ऋजुसूत्रमें द्रव्य निक्षेप बन जाता है परन्तु शब्द नयमें नहीं)।

४. स्थापना निक्षेप निर्देश

१. स्थापना निक्षेप सामान्यका लक्षण

स. सि./१/५/१७/४ काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयं इति स्थाप्यमाना स्थापना। —काष्ठकर्म, पुस्तकर्म, चित्रकर्म और अक्ष-निक्षेप आदिमें 'यह वह है' इस प्रकार स्थापित करनेको स्थापना कहते हैं। (रा. वा./१/५/२/२८/१९)।

रा. वा./१/५/२/२८/१९ सोऽयमित्यभिसंबन्धत्वेन अन्यस्य व्यवस्थापनामात्रं स्थापना। —'यह वही है' इस प्रकार अन्य वस्तुमें बुद्धिके द्वारा अन्यका आरोपण करना स्थापना है। (ध. ४/१,५,१/३१४/१); (गो.क./मू. ५३/५३); (त. सा /१/११); (पं. ध./पू./७४९)।

श्लो. वा./२/१/५/श्लो. ५४/२६३ वस्तुनः कृतसंज्ञस्य प्रतिष्ठा स्थापना मता। —कर लिया गया है नाम निक्षेप या संज्ञाकरण जिसका ऐसी वस्तुकी उन वास्तविक धर्मोंके अध्यारोपसे 'यह वही है' ऐसी प्रतिष्ठा करना स्थापनानिक्षेप माना गया है।

२. स्थापना निक्षेपके भेद

१. सद्भाव व असद्भाव स्थापना रूप दो भेद

श्लो. वा. २/१/५/श्लो. ५४/२६३ सद्भावेतरभेदेन द्विधा तत्त्वाधिरोपतः। —वह सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापनाके भेदसे दो प्रकारका है। (ध. १/१,१,१/२०/१)।

न० च. वृ./२७३ सायार इयर ठवणा। —साकार व अनाकारके भेदसे स्थापना दो प्रकार है।

२. काष्ठ कर्म आदि रूप अनेक भेद

ष. खं. ९/४,१/सूत्र ५२/२४८ जा सा ठवणकदी णाम सा कट्ठकम्मेसु वा चित्तकम्मेसु वा पोत्तकम्मेसु वा लेप्पकम्मेसु वा लेणकम्मेसु वा सेल-कम्मेसु वा गिहकम्मेसु वा भित्तिकम्मेसु वा दंतकम्मेसु वा भेंडकम्मेसु वा अक्खो वा वराडओ वा जे चामण्णे एवमादिया ठवणाए ठविज्जंति कदि त्ति सा सव्वा ठवण कदी णाम ॥५२॥ —जो वह स्थापनाकृति है वह काष्ठकर्मोंमें, अथवा चित्रकर्मोंमें, अथवा पोतकर्मोंमें, अथवा लेप्यकर्मोंमें, अथवा लयनकर्मोंमें, अथवा शैलकर्मोंमें, अथवा गृह-कर्मोंमें, अथवा भित्तिकर्मोंमें, अथवा दन्तकर्मोंमें, अथवा भेंडकर्मोंमें, अथवा अक्ष या वराटक (कौड़ी व शतरंजका पासा); तथा इनको आदि लेकर अन्य भी जो 'कृति' इस प्रकार स्थापनामें स्थापित किये जाते हैं, वह सब स्थापना कृति कही जाती है।

नोट—(धवलामें सर्वत्र प्रत्येक विषयमें इसी प्रकार निक्षेप किये गये हैं।) (ष. खं. १३/५,३/सूत्र १०/६), (ष. खं. १४/५,६/सू. ६/५)

३. सद्भाव असद्भाव स्थापनाके लक्षण

श्लो. वा. २/१/५/५४/२६३/१७ तत्राध्यारोप्यमाणेन भावेन्द्रादिना समाना प्रतिमा सद्भावस्थापना मुख्यदर्शिनः स्वयं तस्यास्तद्बुद्धिसंभवात्। कथंचित् सादृश्यसद्भावात्। मुख्याकारशून्या वस्तुमात्रा पुनरसद्भाव-स्थापना परोपदेशादेव तत्र सोऽयमिति संप्रत्ययात्। —भाव निक्षेपके द्वारा कहे गये अर्थात् वास्तविक पर्यायसे परिणत इन्द्र आदिके समान बनी हुई काष्ठ आदिकी प्रतिमामें आरोपे हुए उन इन्द्रादिकी स्थापना करना सद्भावस्थापना है; क्योंकि, किसी अपेक्षासे इन्द्र-आदिका सादृश्य यहाँ विद्यमान है, तभी तो मुख्य पदार्थको देखनेवाले जीवको तिस प्रतिमाके अनुसार सादृश्यसे स्वयं 'यह वही है' ऐसी बुद्धि हो जाती है। मुख्य आकारोंसे शून्य केवल वस्तुमें 'यह वही है' ऐसी स्थापना कर लेना असद्भाव स्थापना है; क्योंकि मुख्य पदार्थको देखनेवाले भी जीवको दूसरोंके उपदेशसे ही 'यह वही है' ऐसा समीचीन

ज्ञान होता है, परोपदेशके बिना नहीं। (ध. १/१,१,१/२०/१), (न. च. वृ./२७३)

४. सद्भाव असद्भाव स्थापनाके भेद

ध. १३/५,४,१२/४२/१ कट्ठकम्मप्पहुडि जाव भेंडकम्मे त्ति ताव एदेहि सब्भावट्ठवणा परूविदा। उवरिमेहि असब्भावट्ठवणा समुद्दिट्ठा। —(स्थापनाके उपरोक्त काष्ठकर्म आदि भेदोंमेंसे) काष्ठकर्मसे लेकर भेंडकर्म तक जितने कर्म निर्दिष्ट हैं उनके द्वारा सद्भाव स्थापना कही गयी है, और आगे जितने अक्ष वराटक आदि कहे गए हैं, उनके द्वारा असद्भावस्थापना निर्दिष्ट की गयी है। (ध. ९/४,१,५२/२५०/३)

ध.९/४,१,५२/२५०/३ एदे सब्भावट्ठवणा। एदे देसामासया दस परूविदा। संपहि असब्भावट्ठवणाविसयस्सुवलक्खणट्ठं भणदि—...जे च अण्णे एवमादिया त्ति वयणं दोण्णं अवहारणपडिसेहणफलं। तेण तंभतुला-हल-मूसलकम्मादीणं गहणं।—ये (काष्ठ कर्म आदि) सद्भाव स्थापनाके उदाहरण हैं। ये दस भेद देशामर्षक कहे गये हैं, अर्थात् इनके अतिरिक्त भी अनेकों हो सकते हैं। अब असद्भावस्थापनासम्बन्धी विषयके उपलक्षणार्थ कहते हैं—इस प्रकार 'इन (अक्ष व वराटक) को आदि लेकर और भी जो अन्य हैं' इस वचनका प्रयोजन दोनों भेदों-के अवधारणका निषेध करना है, अर्थात् 'दो ही हैं' ऐसे ग्रहणका निषेध करना है। इसलिए स्तम्भकर्म, तुलाकर्म, हलकर्म, मूसलकर्म आदिकोंका भी ग्रहण हो जाता है।

५. काष्ठकर्म आदि भेदोंके लक्षण

ध. ९/४,१,५२/२४९/३ देव-णेरइय-तिरिक्ख-मणुस्साण णच्चण-हसण-गायण-तूर-वीणादिवायणकिरियावावदाणं कट्ठघडिदपडिमाओ कट्ठकम्मं त्ति भणंति। पड-कुड्ड-फलहियादीसु णच्चणादिकिरिया-वावददेव-णेरइय-तिरिक्खमणुस्साणं पडिमाओ चित्तकम्म, चित्रेण क्रियन्त इति व्युत्पत्ते। पोत्तं वस्त्रम्, तेण कदाओ पडिमाओ पोत्त-कम्मं। कड-सक्खर-मट्टियादीणं लेवो लेप्प, तेण घडिदपडिमाओ लेप्पकम्मं। लेणं पव्वओ, तम्हि घडिदपडिमाओ लेणकम्मं। सेलो पत्थरो, तम्हि घडिदपडिमाओ सेलकम्मं। गिहाणि जिणघरादीणि, तेसु कदपडिमाओ गिहकम्म, हय-हत्थि-णर-वराहादिसरूवेण घडिद-घराणि गिहकम्ममिदि वुत्तं होदि। घरकुड्डेसु तदो अभेदेण चिद-पडिमाओ भित्तिकम्मं। हत्थिदंतेसु किण्णपडिमाओ दंतकम्मं। भेंडो सुप्पसिद्धो, तेण घडिदपडिमाओ भेंडकम्मं।... अक्खे त्ति वुत्ते जूवक्खो सयडक्खो वा घेत्तव्वो। वराडओ त्ति वुत्ते कवड्डिया घेत्तव्वा। —नाचना, हँसना, गाना तथा तुरई एवं वीणा आदि वाद्योंके बजानेरूप क्रियाओंमें प्रवृत्त हुए देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्योंकी काष्ठसे निर्मित प्रतिमाओंको <u>काष्ठकर्म</u> कहते हैं। पट, कुड्य (भित्ति) एवं फलहिका (काष्ठ आदिका तख्ता) आदि-में नाचने आदि क्रियामें प्रवृत्त देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्योंकी प्रतिमाओंको <u>चित्रकर्म</u> कहते हैं; क्योंकि, 'चित्रसे जो किये जाते हैं वे चित्रकर्म हैं' ऐसी व्युत्पत्ति है। पोत्तका अर्थ वस्त्र है, उससे की गयी प्रतिमाओंका नाम <u>पोत्तकर्म</u> है। कट (तृण), शर्करा (बालू) व मृत्तिका आदिके लेपका नाम लेप्य है। उससे निर्मित प्रतिमायें <u>लेप्यकर्म</u> कही जाती हैं। लयनका अर्थ पर्वत है, उसमें निर्मित प्रतिमाओंका नाम <u>लयनकर्म</u> है। शैलका अर्थ पत्थर है, उसमें निर्मित प्रतिमाओंका नाम <u>शैलकर्म</u> है। गृहोंसे अभिप्राय जिनगृह आदिकोंसे है, उनमें की गयीं प्रतिमाओंका नाम <u>गृहकर्म</u> है। घोड़ा, हाथी, मनुष्य एवं वराह (शूकर) आदिके स्वरूपसे निर्मित घर <u>गृहकर्म</u> कहलाते हैं, यह अभिप्राय है। घरकी दीवालोंमें उनसे अभिन्न रची गयी प्रतिमाओंका नाम <u>भित्तिकर्म</u> है। हाथी दाँतोंपर खोदी हुई प्रतिमाओंका नाम दन्तकर्म है। भेंड सुप्रसिद्ध है। उस पर खोदी गई प्रतिमाओं का नाम <u>भेंडकर्म</u> है। <u>अक्ष</u> ऐसा कहनेपर द्यूताक्ष अथवा शकटाक्षका ग्रहण करना चाहिए (अर्थात् हार जीतके अभिप्रायसे ग्रहण किये गये जूआ खेलनेके अथवा शतरंज व चौसर आदिके पासे अक्ष हैं) <u>वराटक</u> ऐसा कहनेपर कपर्दिका (कौड़ियों) का ग्रहण करना चाहिए। (ध. १३/५,३,१०/९/८); (ध. १४/५,६,९/५/१०)

६. *नाम व स्थापनामें अन्तर*

रा. वा./१/५/१३/२९/२५ नामस्थापनयोरेकत्वं संज्ञाकर्माविशेषादिति चेद्; न; आदरानुग्रहाकाङ्क्षित्वात् स्थापनायाम्।...यथा अर्हदिन्द्र-स्कन्देश्वरादिप्रतिमासु आदरानुग्रहाकाङ्क्षित्वं जनस्य, न तथा परि-भाषते वर्तते। ततोऽन्यत्वमनयोः।

रा. वा./१/५/२३/३०/३१ यथा ब्राह्मणः स्यान्मनुष्यो ब्राह्मणस्य मनुष्य-जात्यात्मकत्वात्। मनुष्यस्तु ब्राह्मणः स्यान्न वा, मनुष्यस्य ब्राह्मणजात्यादिपर्यायात्मकत्वादर्शनात्। तथा स्थापना स्यान्नाम, अकृतनाम्नः स्थापनानुपपत्तेः। नाम तु स्थापना स्यान्न वा, उभयथा दर्शनात्। —१. यद्यपि नाम और स्थापना दोनों निक्षेपोंमें संज्ञा रखी जाती है, बिना नाम रखे स्थापना हो ही नहीं सकती; तो भी स्थापित अर्हन्त, इन्द्र, स्कन्द और ईश्वर आदिकी प्रतिमाओंमें मनुष्यको जिस प्रकारकी पूजा, आदर और अनुग्रहकी अभिलाषा होती है, उस प्रकार केवल नाममें नहीं होती, अतः इन दोनोंमें अन्तर है। (ध. ५/१,७,१/गा. १/१८६), (श्लो. वा. २/१/५/श्लो. ५५/२६४) २. जैसे ब्राह्मण मनुष्य अवश्य होता है; क्योंकि, ब्राह्मणमें मनुष्य जातिरूप सामान्य अवश्य पाया जाता है; पर मनुष्य ब्राह्मण हो न भी हो, क्योंकि मनुष्यके ब्राह्मण जाति आदि पर्यायात्मकपना नहीं देखा जाता। इसी प्रकार स्थापना तो नाम अवश्य होगी, क्योंकि बिना नामकरणके स्थापना नहीं होती; परन्तु जिसका नाम रखा है उसकी स्थापना हो भी न भी हो, क्योंकि नामवाले पदार्थोंमें स्थापनायुक्त-पना व स्थापनारहितपना दोनों देखे जाते हैं।

ध. ५/१,७,१/गा. २/१८६ णामिणि धम्मुवयारो णामं ट्ठवणा य जस्स तं थविदं। तद्धम्मे ण वि जादो सुणाम ठवणाणमविसेसं। —नाममें धर्मका उपचार करना नामनिक्षेप है, और जहाँ उस धर्मकी स्थापना की जाती है, वह स्थापना निक्षेप है। इस प्रकार धर्मके विषयमें भी नाम और स्थापनाकी अविशेषता अर्थात् एकता सिद्ध नहीं होती।

७. सद्भाव व असद्भाव स्थापनामें अन्तर

दे. निक्षेप/४/३ (सद्भाव स्थापनामें बिना किसीके उपदेशके 'यह वही है' ऐसी बुद्धि हो जाती है, पर असद्भाव स्थापनामें बिना अन्यके उपदेशके ऐसी बुद्धि होनी सम्भव नहीं।)

ध. १३/५,४,१२/४२/२ सब्भावासब्भावट्ठवणाणं को विसेसो। बुद्धीए ठविज्जमाणं वण्णाकारादीहि जमणुहरइ दव्वं तस्स सब्भावसण्णा। दव्व-खेत्त-वेयणावेयणादिभेदेहि भिण्णाणं पडिणिभ-पडिणिभेयाणं कधं सरिसत्तमिदि चेण, पाएण सरित्तुवलंभादो। जमसरिसं दव्वं तमसब्भावट्ठवणा। सव्वदव्वाणं सत्त-पमेयत्तादीहि सरिसत्तमुवल-ब्भदि त्ति चे—होदु णाम एदेहि सरिसत्तं, किंतु अप्पिदेहि वण्ण-कर-चरणादीहि सरिसत्ताभावं पेक्खिदूण असरिसत्तं उच्चदे। —प्रश्न—सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापनामें क्या भेद है? उत्तर—बुद्धि-द्वारा स्थापित किया जानेवाला जो पदार्थ वर्ण और आकार आदिके द्वारा अन्य पदार्थका अनुकरण करता है उसकी <u>सद्भावस्थापना</u> संज्ञा है। प्रश्न—द्रव्य, क्षेत्र, वेदना, और अवेदना आदिके भेदसे भेदको प्राप्त हुए प्रतिनिभ और प्रतिनिभेय अर्थात् सदृश और सादृश्यके मूलभूत पदार्थोंमें सदृशता कैसे सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्रायः कुछ बातोंमें इनमें सदृशता देखी जाती है। जो

असदृश द्रव्य है वह असद्भावस्थापना है। प्रश्न—सब द्रव्योंमें सत्त्व और प्रमेयत्व आदिके द्वारा समानता पायी जाती है? उत्तर—द्रव्योंमें इन धर्मोंकी अपेक्षा समानता भले ही रहे, किन्तु विवक्षित वर्ण हाथ और पैर आदिकी अपेक्षा समानता न देखकर असमानता कही जाती है।

ध. १३/५,३,१०/१०/१२ कधमत्र स्पृश्यस्पर्शकभावः। ण, बुद्धीए एयत्त-मावण्णेसु तदविरोहादो सत्त-पमेयत्तादीहि सव्वस्स सव्वविसयफोसणु-वलंभादो वा। —प्रश्न—यहाँ (असद्भाव स्थापनामें) स्पर्श्य-स्पर्शक भाव कैसे हो सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, बुद्धिसे एकत्वको प्राप्त हुए उनमें स्पर्श्य-स्पर्शक भावके होनेमें कोई विरोध नहीं आता। अथवा सत्त्व और प्रमेयत्व आदिकी अपेक्षा सबका सब-विषयक स्पर्शन पाया जाता है।

५. द्रव्य निक्षेपके भेद व लक्षण

१. द्रव्य निक्षेप सामान्यका लक्षण

रा. वा. १/५/३-४/२८/२१ यद्भाविपरिणामप्राप्ति प्रति योग्यतामाद-धानं तद् द्रव्यमित्युच्यते। ...अथवा अतद्भाव वा द्रव्यमित्युच्यते। यथेन्द्रमानीतं काष्ठमिन्द्रप्रतिमापर्यायप्राप्ति प्रत्यभिमुखम् इन्द्र इत्युच्यते। —आगामी पर्यायकी योग्यतावाले उस पदार्थको द्रव्य कहते हैं, जो उस समय उस पर्यायके अभिमुख हो, अथवा अतद्भाव-को द्रव्य कहते हैं। जैसे—इन्द्रप्रतिमाके लिए लाये गये काष्ठको भी इन्द्र कहना। (क्योंकि, जो अपने गुणों व पर्यायोंको प्राप्त होता है, हुआ था और होगा उसको ही द्रव्य कहते हैं दे० द्रव्य/१/१) (श्लो. वा. २/१/५/श्लो. ६०/२६६); (ध. १/१,१,१/२०/६); (त. सा./१/१२)।

पं. ध./पू./७४३ ऋजुसूत्रनिरपेक्षतया, सापेक्षं भाविनैगमादिनये। छद्म-स्थो जिनजीवो जिन इव मान्यो यथात्र तद्द्रव्यम्। —ऋजुसूत्रनय-की अपेक्षा न करके और भाविनैगमादिक नयोंकी अपेक्षासे जो कहा जाता है, वह द्रव्य निक्षेप है। जैसे कि छद्मस्थ अवस्थामें वर्तमान जिन भगवान्के जीवको जिन कहना।

नय/I/५/३ जैसे—आगे सेठ बननेवाले बालकको अभीसे सेठ कहना अथवा जो राजा दीक्षित होकर श्रमण अवस्थामें विद्यमान है उसे भी राजा कहना)।

२. द्रव्य निक्षेपके भेद-प्रभेद

१. द्रव्य निक्षेपके दो भेद हैं—आगम व नोआगम (ष. खं १/४,१/सू. ५३/२५०); (ष.खं. १४/५,६/सूत्र ११/७); (स.सि./१/५/१८/१); (रा. वा./१/५/५/२९/३); (श्लो.वा.२/१/५/श्लो. ६०/२६६); (ध. १/१,१,१/२०/७); (ध. ३/१,२,२/१२/३); (ध. ४/१,३,१/५/१); (गो.क./मू./५४/५१); (न. च.वृ./२७४)।

२. नो आगम द्रव्यनिक्षेप तीन प्रकारका है—ज्ञायक शरीर, भावी व तद्व्यतिरिक्त। (ष.खं. १/४,१/सूत्र ६१/२६७); (स.सि./१/५/१८/३), (रा. वा./१/५/७/२९/८); (श्लो.वा. २/१/५/श्लो. ६२/२६७); (ध.१/१,१,१/२१/२); (ध. ३/१,२,२/१३/२); (ध. ४/१,३,१/६/१); (गो. क. मू. ५५/५४); (न. च. वृ./२७५)।

३. ज्ञायक शरीर तीन प्रकारका है—भूत, वर्तमान, व भावी।—(श्लो. वा. २/१/५/श्लो. ६२/२६७); (ध. १/१,१,१/२१/३); (ध. ४/१,३,१/-६/२); (गो.क./मू./५५/५४)।

४. भूत ज्ञायक शरीर तीन प्रकारका है—च्युत, च्यावित व त्यक्त।—(ष. खं. १/४,१/ सू. ६३/२६९); (श्लो. वा. २/१/५/श्लो. ६२/२६७); (ध. १/१,१,१/२२/३); (ध.४/१/३,१/६/३); (गो.क./मू./५६/५४)।

५. त्यक्त ज्ञायकशरीर तीन प्रकारका है—भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी व प्रायोपगमन। —(ध.१/१ १,१/२३/३); (गो.क./मू./५६/५६)।

६. तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्यनिक्षेप दो प्रकार है—कर्म व नोकर्म।—(स. सि./१/५/१९/७); (रा. वा./१/५/७/२९/११); (श्लो. वा. २/१/५/श्लो.६३/२६९); (ध.१/१,१,१/२६/४); (ध.३/१,२,२/१५/१); (ध. ४/१,३ १/६/१); (गो.क./मू./६३/५४)।

७. नोकर्म तद्व्यतिरिक्त दो प्रकारका है—लौकिक व लोकोत्तर।—(ध. १/१,१,१/२६/६); (ध. ४/१,३,१/७/१)।

८. लौकिक व लोकोत्तर दोनों ही तद्व्यतिरिक्त तीन तीन प्रकारके हैं—सचित्त, अचित्त व मिश्र।—(ध.१/१,१,१/२७/१ व. २८/१). (ध. ५/१,७,१/१८४/७)।

९. आगम द्रव्य निक्षेपके ६ भेद हैं—स्थित, जित, परिचित, वाचनोपगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रंथसम, नामसम और घोषसम।—(ष.खं. ६/४,१ सू. ५४/२५१); (ष. खं. १४/५,६/सू. २५/२७)।

१०. ज्ञायक शरीरके भी उपरोक्त प्रकार स्थित जित आदि ६ भेद हैं—(ष. खं. ६/४,१/सू. ६२/२६८)।

११. तद्व्यतिरिक्त नो आगमके अनेक भेद हैं—१. ग्रन्थिम, २. वाइम, ३. वेदिम, ४. पूरिम, ५. संघातिम, ६. अहोदिम, ७. णिक्खेदिम, ८. ओव्वेलिम, ९. उद्वेलिम, १०. वर्ण, ११. चूर्ण, १२. गन्ध, १३. विले-पन, इत्यादि। (ष. खं ६/४,१/सू. ६५/२७२)।

नोट—(इन सब भेद प्रभेदोंकी तालिका दे० निक्षेप/१/२)।

३. आगम द्रव्य निक्षेपका लक्षण

स. सि./१/५/१८/२ जीवप्राभृतज्ञायी मनुष्यजीवप्राभृतज्ञायी वा अनुप-युक्त आत्मा आगमद्रव्यजीव। —जो जीवविषयक या मनुष्य जीव विषयक शास्त्रको जानता है, किन्तु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित है वह आगम द्रव्यजीव है। (इसी प्रकार अन्य भी जिस जिस विषय सम्बन्धी शास्त्रको जानता हुआ उसके उपयोगसे रहित रहने-वाला आत्मा उस उस नामवाला ही आगम द्रव्य है। जैसे मंगल विषयक शास्त्रको जाननेवाला आत्मा आगम द्रव्य मंगल है।) (रा. वा./१/५/६/२९/३); (श्लो. वा. २/१/५/श्लो. ६१/२६७); (ध.३/१,२, २/१२/११); (ध. ४/१,३,१/५/२); (ध. १/१,१,१/८३/३); (गो.क./-मू./५४/५३); (न. च. वृ./२७४)।

ध. १/१,१ १/२१/१ तत्थ आगमदो दव्वमंगलं णाम मंगलपाहुडजाणओ अणुवजुत्तो, मंगल-पाहुड-सद्द-रयणा वा, तस्सत्थ-ट्ठवणक्खर-रयणा वा। —मंगल प्राभृत अर्थात् मंगल विषयका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको जाननेवाला, किन्तु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीव-को आगम द्रव्यमंगल कहते हैं। अथवा मंगलविषयके प्रतिपादक शास्त्रकी शब्द रचनाको आगम द्रव्यमंगल कहते हैं। अथवा मंगल-विषयके प्रतिपादक शास्त्रकी स्थापनारूप अक्षरोंकी रचनाको भी आगम द्रव्य मंगल कहते हैं। (ध. ५/१,६,१/२/१)।

४. नोआगम द्रव्यनिक्षेपका लक्षण

(पूर्वोक्त आगमद्रव्यकी आत्माका आरोप उसके शरीरमें करके उस जीवके शरीरको ही नोआगम द्रव्य जीव या नोआगम द्रव्य मंगल आदि कह दिया जाता है। और वह शरीर ही तीन प्रकारका है भूत, भावि व वर्तमान। अथवा उसके शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य जो कर्म या नोकर्म रूप पदार्थ हैं उनको भी नोआगम द्रव्य कह दिया जाता है। इसीका नाम तद्व्यतिरिक्त है। इनके पृथक्-पृथक् लक्षण आगे दिये जाते हैं।)

५. ज्ञायक शरीर सामान्य व विशेषके लक्षण

१. ज्ञायक शरीर सामान्य

स.सि./१/५/१९/४ तत्र ज्ञातुर्यच्छरीरं त्रिकालगोचरं तज्ज्ञायकशरीरम्। —ज्ञाताका जो त्रिकाल गोचर शरीर है वह ज्ञायकशरीर नोआगम

द्रव्य जीव है। (रा. वा/१/५/७/२१/१), (श्लो. वा/२/१/५/श्लो.६२/२६७), (ध.१/१,१,१/२१/३), (गो.क./मू./५५/५४)।

२. च्युत च्यावित व त्यक्त अतीत ज्ञायक शरीर

ध.१/१,१,१/२२/३ तत्थ चुदं णाम कयलीघादेण विणा पक्कं पि फलं व कम्मोदएण ज्झीयमाणायुक्खयपदिदं। चइदं णाम कयलीघादेण छिण्णायुक्खयपदिसरीरं। चत्तसरीरं तिविहं, पाओगमण-विहाणेण, इंगिणीविहाणेण, भत्तपच्चक्खाणविहाणेण चत्तमिदि। —कदलीघात मरणके बिना कर्मके उदयसे झड़नेवाले आयुकर्मके क्षयसे, पके हुए फलके समान, अपने आप पतित शरीरको च्युतशरीर कहते हैं। कदलीघातके द्वारा आयुके छिन्न हो जानेसे छूटे हुए शरीरको च्यावित शरीर कहते हैं। (कदलीघातका लक्षण दे० मरण/४)। त्यक्त शरीर तीन प्रकारका है—प्रायोपगमन विधानसे छोड़ा गया, इंगिनी विधानसे छोड़ा गया और भक्त प्रत्याख्यान विधानसे छोड़ा गया। (इन तीनोंका स्वरूप दे० सल्लेखना/३), (गो. क./मू./५६, ५८/५४)।

ध. १/१,१,१/२५/६ कयलीघादेण मरणकंखाए जीवियासाए जीवियमरणासाहि विणा पदिदं सरीरं चइदं। जीवियासाए मरणासाए जीवियमरणासाहि विणा वा कयलीघादेण अचत्तभावेण पदिदं सरीरं चुदं णाम। जीविदमरणासाहि विणा सरूवोवलद्धि णिमित्तं व चत्तबज्झंतरंगपरिग्गहस्स कयलीघादेणियरेण वा पदिदसरीरं चत्तदेहमिदि। —मरणकी आशासे या जीवनकी आशासे अथवा जीवन और मरण इन दोनोंकी आशाके बिना ही कदलीघातसे छूटे हुए शरीरको च्यावित कहते हैं। जीवनकी आशासे, मरणकी आशासे अथवा जीवन और मरण इन दोनोंकी आशाके बिना ही कदलीघात व समाधिमरणसे रहित होकर छूटे हुए शरीरको च्युत कहते हैं। आत्म स्वरूपकी प्राप्तिके निमित्त, जिसने बहिरंग और अन्तरंग परिग्रहका त्याग कर दिया है, ऐसे साधुके जीवन और मरणकी आशाके बिना ही, कदलीघातसे अथवा इतर कारणोंसे छूटे हुए शरीरको त्यक्त शरीर कहते हैं।

३. भूत वर्तमान व भावी ज्ञायक शरीर

(वर्तमान प्राभृतका ज्ञातापर अनुपयुक्त आत्माका वर्तमानवाला शरीर; उस ही आत्माका भूतकालीन च्युत, च्यावित या त्यक्त शरीर; तथा उस ही आत्माका आगामी भवमें होनेवाला शरीर, क्रमसे वर्तमान, भूत व भावी ज्ञायकशरीर नोआगमद्रव्य जीव या मंगल आदि कहे जाते हैं।)

६. भावि नोआगमका लक्षण

स. सि./१/५/१८/५ सामान्यापेक्षया नोआगम-भाविजीवो नास्ति, जीवनसामान्यसदापि विद्यमानत्वात्। विशेषापेक्षया त्वस्ति। गत्यन्तरे जीवो व्यवस्थितो मनुष्यभवप्राप्तिं प्रत्यभिमुखो मनुष्यभाविजीवः। —जीव सामान्यकी अपेक्षा 'नोआगम भावी जीव' यह भेद नहीं बनता है; क्योंकि जीवमें जीवत्व सदा पाया जाता है। हाँ, पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा 'नोआगम भावी जीव' यह भेद बन जाता है; क्योंकि जो जीव अभी दूसरी गतिमें विद्यमान है, वह (अज्ञायक जीव) जब मनुष्य भवको प्राप्त करनेके प्रति अभिमुख होता है, तब वह मनुष्य भावी जीव कहलाता है।

रा. वा/१/५/७/२१/६ जीवन-सम्यग्दर्शनपरिणामप्राप्तिं प्रत्यभिमुखं द्रव्यं भावीत्युच्यते। —जीवन या सम्यग्दर्शन आदि पर्यायोंकी प्राप्तिके अभिमुख अज्ञायक जीवको जीवन या सम्यग्दर्शन आदि कहना भावी नोआगम द्रव्य जीव या भावी नोआगम सम्यग्दर्शन है।

श्लो.वा/२/१/५/श्लो.६३/२६८ भाविनोआगमद्रव्यमेष्यत् पर्यायमेव तत्। —जो आत्मा भविष्यत्में आनेवाली पर्यायोंके अभिमुख है, उन पर्यायोंसे आक्रान्त हो रहा वह आत्मा भावीनोआगम द्रव्य है।

ध.१/१,१,१/२६/३ भव्यनोआगमद्रव्यं भविष्यत्काले मंगलप्राभृतज्ञायको जीवः मंगलपर्यायं परिणंस्यतीति वा। —जो जीव भविष्यकालमें मंगल शास्त्रका जाननेवाला होगा, अथवा मंगल पर्यायसे परिणत होगा उसे भव्य नोआगम द्रव्यमंगल कहते हैं। (ध.४/१,३,१/६/६), (गो.क./मू./६२/६८)।

७. तद्व्यतिरिक्त सामान्य व विशेषके लक्षण

१. तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य सामान्य

स. सि./१/१८/७ तद्व्यतिरिक्तः कर्मनोकर्मविकल्पः। —तद्व्यतिरिक्तके दो भेद हैं—कर्म व नोकर्म। (रा. वा/१/५/७/२१/११), (श्लो. वा/२/१/५/श्लो.६३/२६८)।

ध.१/१,१,१/८३/५ तव्वदिरित्तं जीवट्ठाणाहार-भूदागास-दव्वं।—जीवस्थानोंके अथवा जीवस्थान विषयक शास्त्रके आधारभूत आकाश-द्रव्यको तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य जीवस्थान कहते हैं। (अथवा उस-उस पर्यायके या शास्त्रज्ञानसे परिणत जीवके निमित्तभूत कर्म वर्गणाओं या अन्य बाह्य द्रव्योंको उस-उस नामसे कहना तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यनिक्षेप है)।

२. कर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य

श्लो. वा/२/१/५/श्लो.६४/२६८ ज्ञानावृत्त्यादिभेदेन कर्मानेकविधं मतम्। —ज्ञानावरण आदि भेदसे कर्म अनेक प्रकार माने गये हैं। (ध.४/१,३,१/६/१०)।

ध.१/१,१,१/२८/४ तत्र कर्ममंगलं दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशधाप्रविभक्त-तीर्थंकर-नामकर्म - कारणैर्जीव - प्रदेश - निबद्ध - तीर्थंकरनामकर्म-माङ्गल्य-निबन्धनत्वान्मङ्गलम्। —दर्शन विशुद्धि आदि सोलह प्रकारके तीर्थंकर-नामकर्मके कारणोंसे जीवप्रदेशोंके साथ बँधे हुए तीर्थंकर नामकर्मको, कर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्य मंगल कहते हैं; क्योंकि वह भी मंगलपनेका सहकारी कारण है।

गो. क./मू./६३/५८ कम्मसरूवेणागयकम्मं दव्वं हवे णियमा।—ज्ञानावरणादि प्रकृतिरूपसे परिणमे पुद्गलद्रव्य कर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य कर्म जानना। (यहाँ 'कर्म'का प्रकरण होनेसे कर्मपर लागू करके दिखाया है)।

३. नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य सामान्य

श्लो.वा/२/१/५/श्लो ६४-६५ नोकर्म च शरीरत्वपरिणामनिरुत्सुकम्।६४। पुद्गलद्रव्यमाहारप्रभृत्युपचयात्मकम्।६५। —वर्तमानमें शरीरपनारूप परिणतिके लिए उत्साहरहित जो आहारवर्गणा, भाषावर्गणा आदि रूप एकत्रित हुआ पुद्गलद्रव्य है वह नोकर्म समझ लेना चाहिए।

ध. ३/१,२,२/१५/३ आगममधिगम्य विस्मृत् क्वान्तर्भवतीति चेत्तद्व्यतिरिक्तद्रव्यानन्ते। —प्रश्न—जो आगमका अध्ययन करके भूल गया है उसका द्रव्यनिक्षेपके किस भेदमें अन्तर्भाव होता है? उत्तर—ऐसे जीवका नोकर्म तद्व्यतिरिक्त द्रव्यानन्तमें अन्तर्भाव होता है (यहाँ 'अनन्त'का प्रकरण है)।

गो. क./मू./६४,६७/५६,६१ कम्मद्दव्वादण्णं णोकम्मदव्वमिदि होदि।६४। पडपडिहारसिमज्जा आहारं देह उच्चणीचङ्गम्। भंडारी मूलाणं णोकम्मं दवियकम्मं तु।६१। —कर्मस्वरूपसे अन्य जो कार्य होते हैं उनके बाह्यकारणभूत वस्तुको नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य-कर्म जानना (यहाँ 'कर्म'का प्रकरण है)।६४। जैसे—ज्ञानावरणका नोकर्म वस्त्र है, दर्शनावरणका नोकर्म द्वारविषै तिष्ठता द्वारपाल है। वेदनीयका नोकर्म मधुलिप्त खड्ग है। मोहनीयका नो-

कर्म, मदिरा, आयुका नोकर्म चार प्रकार आहार, नामकर्मका नोकर्म औदारिकादि शरीर और गोत्रकर्मका नोकर्म ऊँचा-नीचा शरीर है।

४. लौकिक व लोकोत्तर सामान्य नोकर्म तद्व्यतिरिक्त

ध. ४/१,३,१/७/१ णोकम्मदव्वखेत्तं तं दुविहं, ओवयारियं परमत्थियं चेदि। तत्थ ओवयारियं णोकम्मदव्वखेत्तं लोगपसिद्धं सालिखेत्तं वीहिखेत्तमेवमादि। पारमत्थियं णोकम्मदव्वखेत्तं आगासदव्वं। =नोकर्म द्रव्यक्षेत्र (यहाँ क्षेत्रका प्रकरण है) औपचारिक और पारमार्थिकके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें-से लोकमें प्रसिद्ध शालिक्षेत्र, व्रीहिक्षेत्र, इत्यादि औपचारिक नोकर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यक्षेत्र कहलाता है। आकाश द्रव्य पारमार्थिक नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यक्षेत्र है।

नोट—(अन्य भी देखो वह-वह विषय)।

५. सचित्त अचित्त मिश्र सामान्य नोकर्म तद्व्यतिरिक्त

ध. ५/१,७,१/१८४/७ तव्वदिरित्तणोआगमदव्वभावो तिविहो सचित्ताचित्तमिस्सभेएण। तत्थ सचित्तो जीवदव्वं। अचित्तो पोग्गल-धम्माधम्म-कालागासदव्वाणि। पोग्गलजीवदव्वाणं संजोगो कधंचिज्जच्चंतरसमावण्णो णोआगममिस्सदव्वभावो णाम। =तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यभावनिक्षेप (यहाँ भावका प्रकरण है) सचित्त अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है। उनमें जीव द्रव्य सचित्त भाव है, पुद्गल धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय काल और आकाशद्रव्य अचित्त भाव हैं। कथंचित जात्यंतर भावको प्राप्त पुद्गल और जीव द्रव्योंका संयोग अर्थात् शरीरधारी जीव नोआगम मिश्रद्रव्य भावनिक्षेप है। (ध. ५/१,६,१/३/१—यहाँ 'अन्तर' के प्रकरणमें तीनों भेद दर्शाये हैं। नोट—(अन्य भी देखो वह वह विषय)।

६. लौकिक व लोकोत्तर सचितादि नोकर्म तद्व्यतिरिक्त

ध. १/१,१,१/२७/१ तत्र लौकिकं त्रिविधम्, सचित्तमचित्तं मिश्रमिति। तत्राचित्तमङ्गलम्—'सिद्धत्थ-पुण्ण-कुंभो वंदणमाला य मङ्गलं छत्तं। सेदो वण्णो आदंसणो य कण्णा य जच्चस्सो।१३। सचित्तमङ्गलम्। मिश्रमङ्गलं सालंकारकन्यादिः। लोकोत्तरमङ्गलमपि त्रिविधम्, सचित्तमचित्तं मिश्रमिति। सचित्तमर्हदादीनामनाद्यनिधनजीवद्रव्यम्। न केवलज्ञानादिमङ्गलपर्यायविशिष्टार्हदादीनाम् जीवद्रव्यस्यैव ग्रहणं तस्य वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भाव इति भावनिक्षेपान्तर्भावात्। न केवलज्ञानादिपर्यायाणां ग्रहणं तेषामपि भावरूपत्वात्। अचित्तमङ्गलं कृत्रिमाकृत्रिमचैत्यालयादि, तत्स्थप्रतिमास्तु संस्थापनान्तर्भावात्। अकृत्रिमाणां कथं स्थापनाव्यपदेशः। इति चेन्न, तत्रापि बुद्धया प्रतिनिधौ स्थापयितमुख्योपलम्भात्। यथा अग्निरिव माणवकोऽग्निः तथा स्थापनेव स्थापनेति तासां तद्व्यपदेशोपपत्तेर्वा। तदुभयमपि मिश्रमङ्गलम्। =लौकिक मंगल (यहाँ मंगलका प्रकरण है) सचित्त-अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है। इनमें सिद्धार्थ अर्थात् श्वेत सरसों, जलसे भरा हुआ कलश, वन्दनमाला, छत्र, श्वेतवर्ण और दर्पण आदि अचित्त मंगल हैं। और बालकन्या तथा उत्तम जातिका घोड़ा आदि सचित्त मंगल हैं।१३। अलंकार सहित कन्या आदि मिश्रमंगल समझना चाहिए। (दे० मंगल/१/४)। लोकोत्तर मंगल भी सचित्त अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है। अर्हतादिका अनादि अनिधन जीवद्रव्य सचित्त लोकोत्तर नोआगम तद्व्यतिरिक्तद्रव्य मंगल है। यहाँ पर केवलज्ञानादि मंगलपर्याययुक्त अर्हंत आदिका ग्रहण नहीं करना चाहिए, किन्तु उनके सामान्य जीव द्रव्यका ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वर्तमानपर्याय सहित द्रव्यका भाव निक्षेपमें अन्तर्भाव होता है। उसी प्रकार केवलज्ञानादि पर्यायोंका भी इसमें ग्रहण नहीं होता, क्योंकि वे सब पर्यायें भावस्वरूप होनेके कारण उनका भी भाव निक्षेपमें ही अन्तर्भाव होगा। कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयादि अचित्त लोकोत्तर नोआगम तद्व्यतिरिक्त द्रव्यमंगल हैं। उनमें स्थित प्रतिमाओंका इस निक्षेपमें ग्रहण नहीं करना चाहिए; क्योंकि उनका स्थापना निक्षेपमें अन्तर्भाव होता है। **प्रश्न**—अकृत्रिम प्रतिमाओंमें स्थापनाका व्यवहार कैसे सम्भव है? **उत्तर**—इस प्रकारकी शंका उचित नहीं हैं; क्योंकि, अकृत्रिम प्रतिमाओंमें भी बुद्धिके द्वारा प्रतिनिधित्व मान लेनेपर 'ये जिनेन्द्रदेव हैं' इस प्रकारके मुख्य व्यवहारकी उपलब्धि होती है। अथवा अग्नि तुल्य तेजस्वी बालकको भी जिस प्रकार अग्नि कहा जाता है उसी प्रकार अकृत्रिम प्रतिमाओंमें की गयी स्थापनाके समान यह भी स्थापना है। इसलिए अकृत्रिम जिन प्रतिमाओंमें स्थापनाका व्यवहार हो सकता है। उन दोनों प्रकारके सचित्त और अचित्त मंगलको मिश्रमंगल कहते हैं (जैसे—साधु संघ सहित चैत्यालय)।

८. स्थित जित आदि भेदोंके लक्षण

ध. ९/४,१,५४/२५१/१० अवधृतमात्रं स्थितम्, जो पुरिसो भावागमम्मि वुड्ढओ गिलाणो व्व सणि सणि संचरदि सो तारिससंसकारजुत्तो पुरिसो तब्भावागमो च स्थित्वा वृत्तेः ट्ठिदं णाम। नैसर्ग्यवृत्तिर्जितम्, जेण संसकारेण पुरिसो भावागमम्मि अक्खलिओ संचरइ तेण संजुत्तो पुरिसो तब्भावागमो च जिदमिदि भण्णदे। यत्र यत्र प्रश्न, क्रियते तत्र तत्र आशुतमवृत्तिः परिचितम्, क्रमेणोत्क्रमेणानुभयेन च भावागमाम्भोधौ मत्स्यवच्चटुलतमवृत्तिर्जीवो भावागमश्च परिचितम्, शिष्याध्यापनं वाचना। सा चतुर्विधा नंदा भद्रा जया सौम्या चेति। ·· एतासां वाचनानामुपगतं वाचनोपगतं परप्रत्यायनसमर्थम् इति यावत्।

ध. ९/४,१,५४/२५९/७ तित्थयरवयणविणिग्गयबीजपदं सुत्तं। तेण सुत्तेण समं वट्टदि उप्पज्जदि त्ति गणहरदेवम्मिट्ठिदसुदणाणं सुत्तसमं। अर्यते परिच्छिद्यते गम्यते इत्यर्थो द्वादशाङ्गविषयः, तेण अत्थेण समं सह वट्टदि त्ति अत्थसमं। दव्वसुदाइरिए अणवेक्खिय संजमजणिदसुदणाणावरणक्खओवसमसमुप्पण्णबारहंगसुदं सयंबुद्धाधारमत्थसममिदि वुत्तं होदि। गणहरदेवविरइददव्वसुदं गंथो, तेण सह वट्टदि उप्पज्जदि त्ति बोहियबुद्धाइरिएसु ट्ठिदबारहंगसुदणाणं गंथसमं। नाना मिनोतीति नाम। अणेणेहि, पयारेहि अत्थपरिच्छित्ति णामभेदेण कुणदि त्ति एगादिअक्खराण बारसंगाणिओगाणं मज्झट्ठिददव्वसुदणाणवियप्पा णाममिदि वुत्तं होदि। तेण नामेण दव्वसुदेण समं सट्टवट्टदि उप्पज्जदि त्ति सेसाइरिएसु ट्ठिदसुदणाणं णामसमं।···सुई मुद्दा··· पंचैते···अणिओगस्स घोससण्णो णामेगदेसेण अणिओगो वुच्चदे। सच्चभामापदेण अवगम्ममाणत्थस्स तदेगदेसभामासद्दादो वि अवगमादो।·· घोसेण दव्वाणिओगद्दारेण समं सह वट्टदि उप्पज्जदि त्ति घोससमं णाम अणियोगसुदणाणं।

१. अवधारण किये हुए मात्रका नाम स्थितआगम है। अर्थात् जो पुरुष भावआगममें वृद्ध व व्याधिपीड़ित मनुष्यके समान धीरे-धीरे संचार करता है वह उस प्रकारके संस्कारसे युक्त पुरुष और वह भावागम भी स्थित होकर प्रवृत्ति करनेसे अर्थात् रुक-रुककर चलनेसे स्थित कहलाता है। २. नैसर्ग्यवृत्तिका नाम जित है। अर्थात् जिस संस्कारसे पुरुष भावागममें अस्खलितरूपसे संचार करता है, उससे युक्त पुरुष और भावागम भी 'जित' इस प्रकारका कहा जाता है। ३. जिस जिस विषयमें प्रश्न किया जाता है, उस-उसमें शीघ्रतापूर्ण प्रवृत्तिका नाम परिचित है। अर्थात् क्रमसे, अक्रमसे और अनुभयरूपसे भावागमरूपी समुद्रमें मछलीके समान अत्यन्त

चंचलतापूर्ण प्रवृत्ति करनेवाला जीव और वह भावागम भी परिचित कहा जाता है। ४. शिष्योंको पढ़ानेका नाम वाचना है। वह चार प्रकार है - नन्दा, भद्रा, जया और सौम्या। (विशेष दे० वाचना)। इन चार प्रकारकी वाचनाओंको प्राप्त वाचनोपगत कहलाता है। अर्थात् जो दूसरोंको ज्ञान करानेमें समर्थ है वह वाचनोपगत है। ५. तीर्थंकरके मुखसे निकला बीजपद सूत्र कहलाता है। (विशेष देखो आगम ७) उस सूत्रके साथ चूँकि रहता अर्थात् उत्पन्न होता है, अतः गणधरदेवमें स्थित श्रुतज्ञान सूत्रसम कहा गया है। ६. जो 'अर्यते' अर्थात् जाना जाता है वह द्वादशांगका विषयभूत अर्थ है, उस अर्थके साथ रहनेके कारण अर्थसम कहलाता है। द्रव्यश्रुत आचार्योंकी अपेक्षा न करके संयमसे उत्पन्न हुए श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे जन्य स्वयंबुद्धोंमें रहनेवाला द्वादशांगश्रुत अर्थसम है यह अभिप्राय है। ७. गणधरदेवसे रचा गया द्रव्यश्रुत ग्रन्थ कहा जाता है। उसके साथ रहने अर्थात् उत्पन्न होनेके कारण बोधितबुद्ध आचार्योंमें स्थित द्वादशांग श्रुतज्ञान ग्रन्थसम कहलाता है। ८. 'नाना मिनोति' अर्थात् नानारूपसे जो जानता है उसे नाम कहते हैं। अर्थात् अनेक प्रकारोंसे अर्थज्ञानको नामभेद द्वारा भेद करनेके कारण एक आदि अक्षरों स्वरूप बारह अंगोंके अनुयोगोंके मध्यमें स्थित द्रव्यश्रुत ज्ञानके भेद नाम है, यह अभिप्राय है। उस नामके अर्थात् द्रव्यश्रुतके साथ रहने अर्थात् उत्पन्न होनेके कारण शेष आचार्योंमें स्थित श्रुतज्ञान नामसम कहलाता है। ९. सूची; मुद्रा आदि पाँच दृष्टान्तोंके वचनसे (दे० अनुयोग/२/१)···घोष संज्ञावाला अनुयोगका अनुयोग (घोषानुयोग) नामका एकदेश होनेसे अनुयोग कहा जाता है; क्योंकि, सत्यभामा पदसे अवगम्यमान अर्थ उक्तपदके एकदेशभूत भामा शब्दसे भी जाना ही जाता है।···घोष अर्थात् द्रव्यानुयोगद्वारके समं अर्थात् साथ रहता है, अर्थात् उत्पन्न होता है, इस कारण अनुयोग श्रुतज्ञान घोषसम कहलाता है।

नोट—ये उपरोक्त नौके नौ भेदोंके लक्षण यहाँ भी दिये हैं—(ध. ९/४,१,६२/६२/२६८/५) (ध. १४/५,६,१२/७-९)।

२. ग्रन्थिम आदि भेदोंके लक्षण

ध. ९/४,१,६५/२७२/१३ तत्थ गंथणकिरियाणिप्फण्णं फुल्लमादिदव्वं गंथिमं णाम। वायणकिरियाणिप्फण्णं सुप्प-पच्छियाच गेरि-किदय-चालणि-कंबल-वत्थादिदव्वं वाइमं णाम। सुत्तिधुवकोसपल्लादिदव्वं वेहणकिरियाणिप्फण्णं वेदिमं णाम। तलावलि-जिणहराहिट्ठाणादिदव्वं पूरणकिरियाणिप्फण्णं पूरिमं णाम। कट्टिमजिणभवण-घर-पायार-थूहादिदव्वं कट्ठिट्ठय पत्थरादिसंघादणकिरियाणिप्पण्णं संघादिमं णाम। णिंबंबजंबुजंबीरादिदव्वं अहोदिमकिरियाणिप्फण्ण-महोदिमं णाम। अहोदिमकिरियासचित्त-अचित्तदव्वाणं रोवणकिरिएत्ति वुत्तं होदि। पोक्खरिणी-वावी-कूव-तलाय-लेण-सुरुंगादिदव्वं णिक्खोदणकिरियाणिप्फण्णं णिक्खोदिमं णाम। णिक्खोदणं-खणणमिदि वुत्तं होदि। एक्क-दु-तिउणसुत्त-डोरावेट्ठादिदव्वमोवेल्लण-किरियाणिप्पण्णमोवेल्लिमं णाम। गंथिम-वाइमादिदव्वाणमुव्वेल्लणेण जाददव्वमुव्वेल्लिमं णाम। चित्तारयाणमण्णेसिं च वण्णुप्पायणकुसलाणं किरियाणिप्पण्णदव्वं णर-तुरयादिबहुसंठाणंवण्णंणामपिट्ठपिट्ठिया-कणिकादिदव्वं चुण्णणकिरियाणिप्फण्णं चुण्णं णाम। बहूणं दव्वाणं संजोगेणुप्पाइदगंधपहाणं दव्वं गंधं णाम। घुट्ठ-पिट्ठ-चंदण-कुंकुमादिदव्वं विलेवणं णाम। —१. गून्थनेरूप क्रियासे सिद्ध हुए फूल आदि द्रव्यका ग्रन्थिम कहते हैं। २. बुनना क्रियासे सिद्ध हुए सूप, पिटारी, चंगेर, कृतक, चालनी, कम्बल और वस्त्र आदि द्रव्य वाइम कहलाते हैं। ३. वेधन क्रियासे सिद्ध हुए सुति (सोम निकालनेका स्थान) इंधुव (भट्ठी) कोश और पल्य आदि द्रव्य वेधिम कहे जाते हैं। ४. पूरण क्रियासे सिद्ध हुए तालाबका बाँध व जिनगृहका चबूतरा आदि द्रव्यका नाम पूरिम है। ५. काष्ठ, ईंट और पत्थर आदिकी संघातन क्रियासे सिद्ध हुए कृत्रिम जिनभवन, गृह, प्राकार और स्तूप आदि द्रव्य संघातिम कहलाते हैं। ६. नीम, आम, जामुन और जंबीर आदि अधोधिम क्रियासे सिद्ध हुए द्रव्यको अधोधिम कहते हैं। अधोधिम क्रियाका अर्थ सचित्त और अचित्त द्रव्योंकी रोपन क्रिया है। यह तात्पर्य है। ७. पुष्करिणी, वापी, कूप, तड़ाग, लयन और सुरंग आदि निष्खनन क्रियासे सिद्ध हुए द्रव्य णिक्खोदिम कहलाते हैं। णिक्खोदिमसे अभिप्राय खोदना क्रियासे है।) ८. उपवेल्लन क्रियासे सिद्ध हुए एकगुणे, दुगुणे एवं तिगुणे सूत्र, डोरा, व वेष्ट आदि द्रव्य उपवेल्लन कहलाते हैं। ९. ग्रन्थिम व बाइम आदि द्रव्योंके उद्वेल्लनसे उत्पन्न हुए द्रव्य उद्वेल्लिम कहलाते हैं। १०. चित्रकार एवं वर्णोंके उत्पादनमें निपुण दूसरोंकी क्रियासे सिद्ध मनुष्य, तुरग आदि अनेक आकाररूप द्रव्य वर्ण कहे जाते हैं। ११. चूर्णन क्रियासे सिद्ध हुए पिष्ट, पिष्टिका, और कणिका आदि द्रव्यको चूर्ण कहते है। १२. बहुत द्रव्योंके संयोगसे उत्पादित गन्धकी प्रधानता रखनेवाले द्रव्यका नाम गन्ध है। १३. घिसे व पीसे गये चन्दन और कुंकुम आदि द्रव्य विलेपन कहे जाते हैं।

६. द्रव्यनिक्षेप निर्देश व शंकाएँ

१. द्रव्य निक्षेपके लक्षण सम्बन्धी शंका

दे. द्रव्य/२/२ (भविष्य पर्यायके प्रति अभिमुखपने रूप लक्षण 'गुणपर्ययवान द्रव्य' इस लक्षणके साथ विरोधको प्राप्त नहीं होता)।

रा. वा./१/५/४/२८/२५ युक्तं तावत् सम्यग्दर्शनप्राप्तिं प्रति गृहीताभिमुख्यमिति, अतत्परिणामस्य जीवस्य संभवात्; इदं त्वयुक्तम्—जीवनपर्यायप्राप्तिं प्रति गृहीताभिमुख्यमिति। कुतः। सदा तत्परिणामात्। यदि न स्यात्, प्रागजीवः प्राप्नोतीति। नैष दोषः, मनुष्यजीवादिविशेषापेक्षया तद्व्यपदेशो वेदितव्यः। —प्रश्न—सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके प्रति अभिमुख कहना तो युक्त है; क्योंकि, पहले जो पर्याय नहीं है, उसका आगे होना सम्भव है; परन्तु जीवनपर्यायके प्रति अभिमुख कहना तो युक्त नहीं है, क्योंकि, उस पर्यायरूप तो वह सदा ही रहता है। यदि न रहता तो उससे पहले उसे अजीवपनेका प्रसंग प्राप्त होता। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि, यहाँ जीवन सामान्यकी अपेक्षा उपरोक्त बात नहीं कही गयी है, बल्कि मनुष्यादिपने रूप जीवत्व विशेषकी अपेक्षा बात कही है।

नोट—यह लक्षण नोआगम तथा भावी नोआगम द्रव्य निक्षेपमें घटित होता है—(दे० निक्षेप/६/३/१,२)।

२. आगम द्रव्य निक्षेप विषयक शंका

१. आगम-द्रव्य-निक्षेपमें द्रव्यनिक्षेपपनेकी सिद्धि

श्लो. वा. २/१/५/६६/२७०/६ तदेवेदमित्येकत्वप्रत्यभिज्ञानमन्वयप्रत्ययः। स तावज्जीवादिप्राभृतज्ञायिन्यात्मन्यनुपयुक्ते जीवाद्यागमद्रव्येऽस्ति। स एवाहं जीवादिप्राभृतज्ञाने स्वयमुपयुक्तः प्रागासम् स एवेदानीं तत्रानुपयुक्तो वर्ते पुनरुपयुक्तो भविष्यामीति संप्रत्ययात्। —'यह वही है' इस प्रकारका एकत्व प्रत्यभिज्ञान अन्वयज्ञान कहलाता है। जीवादि विषयक शास्त्रको जाननेवाले वर्तमान अनुपयुक्त आत्मामें वह अवश्य विद्यमान है। क्योंकि, 'जो ही मैं जीवादि शास्त्रोंको जाननेमें पहले उपयोग सहित था, वही मैं इस समय उस शास्त्रज्ञानमें उपयोग रहित होकर वर्त रहा हूँ और पीछे फिर शास्त्रज्ञानमें उपयुक्त हो जाऊँगा। इस प्रकार द्रव्यपनेकी लड़ीको लिये हुए भले प्रकार ज्ञान हो रहा है।

२. उपयोगरहितकी भी आगम संज्ञा कैसे है

ध. ४/१,३,१/५/२ कधमेदस्स जीवदव्वियस्स सुदणाणावरणीयक्खओव-समविसिट्ठस्स दव्वभावखेत्तागमवदिरित्तस्स आगमदव्वखेत्तबव-एसो। ण एसदोसो, आधारे आधेयोवयारेण कारणे कज्जुवयारेण लद्धा-गमववएसखओवसमविसिट्ठजीवदव्वावलंबणेण वा तस्स तद-विरोहा। —प्रश्न—श्रुतज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे विशिष्ट, तथा द्रव्य और भावरूप क्षेत्रागमसे रहित इस जीवद्रव्यके आगमद्रव्यक्षेत्र-रूप संज्ञा कैसे प्राप्त हो सकती है (यहाँ 'क्षेत्र' विषयक प्रकरण है)? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि, आधाररूप आत्मामें आधेय-भूतक्षयोपशम-स्वरूप आगमके उपचारसे; अथवा कारणरूप आत्मामें कार्यरूप क्षयोपशमके उपचारसे, अथवा प्राप्त हुई है आगमसंज्ञा जिसको ऐसे क्षयोपशमसे युक्त जीवद्रव्यके अवलम्बनसे जीवके आगमद्रव्य-क्षेत्ररूप संज्ञाके होनेमें कोई विरोध नहीं है।

ध. ७/२,१,१/४/२ कधमागमेण विप्पमुक्कस्स जीवदव्वस्स आगमवव-एसो। ण एस दोसो, आगमाभावे वि आगमसंसकारसहियस्स पुव्वं लद्धागमववएसस्स जीवदव्वस्स आगमववएसुवलंभा। एदेण भट्ठसंस-कारजीवदव्वस्स वि गहणं कायव्वं, तत्थ वि आगमववएसुवलंभा।—प्रश्न—जो आगमके उपयोगसे रहित है, उस जीवद्रव्यको 'आगम' कैसे कहा जा सकता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, आगमके अभाव होनेपर भी आगमके संस्कार सहित एवं पूर्वकालमें आगम संज्ञाको प्राप्त जीवद्रव्यको आगम कहना पाया जाता है। इसी प्रकार जिस जीवका आगमसंस्कार भ्रष्ट हो गया है उसका भी ग्रहण कर लेना चाहिए; क्योंकि, उसके भी (भूतपूर्व प्रज्ञापननयकी अपेक्षा—क. पा.) आगमसंज्ञा पायी जाती है। (क. पा. १/१,१३-१४/§ २१७/२६१/८)।

३. नोआगम द्रव्यनिक्षेप विषयक शंका

१. नोआगममें द्रव्य निक्षेपपनेकी सिद्धि

श्लो. वा. २/१/५/६६/२७४/१ एतेन जीवादिनोआगमद्रव्यसिद्धिरुक्ता। *य एवाहं मनुष्यजीवः प्रागासं स एवाधुना वर्ते पुनर्मनुष्यो भविष्या-मीत्यन्वयप्रत्ययस्य सर्वथाप्यबाध्यमानस्य सद्भावात्।*...ननु च जीवा-दिनोआगमद्रव्यमसंभाव्यं जीवादित्वस्य सार्वकालिकत्वेनानागतत्वा-सिद्धेस्तदभिमुख्यस्य कस्यचिदभावादिति चेत्, सत्यमेतत्। तत एव जीवादिविशेषापेक्षयोदाहृतो जीवादिद्रव्यनिक्षेपो। —इस कथनसे, जीव, सम्यग्दर्शन आदिके नोआगम द्रव्यकी सिद्धि भी कह दी गयी है। क्योंकि 'जो ही मैं पहले मनुष्य जीव था, सो ही मैं इस समय देव होकर वर्त रहा हूँ तथा भविष्यमें फिर मैं मनुष्य हो जाऊँगा', ऐसा सर्वतः अबाधित अन्वयज्ञान विद्यमान है। प्रश्न—जीव, पुद्गल आदि सामान्य द्रव्योंका नोआगमद्रव्य तो असम्भव है; क्योंकि, जीवपना पुद्गलपना आदि धर्म तो उन द्रव्योंमें सर्वकाल रहते हैं। अतः भविष्यत्में उन धर्मोंकी प्राप्ति असिद्ध होनेके कारण उनके प्रति अभिमुख होनेवाले पदार्थोंका अभाव है? उत्तर—आपकी बात सत्य है, सामान्यरूपसे जीव पुद्गल आदिका नोआगम द्रव्यपना नहीं बनता। परन्तु जीवादि विशेषकी अपेक्षा बन जाता है, इसीलिए मनुष्य देव आदि रूप जीव विशेषोंके ही यहाँ उदाहरण दिये गये हैं। (और भी दे० निक्षेप/६/१ तथा निक्षेप/६/३/२)।

२. भावी नोआगममें द्रव्यनिक्षेपपनेकी सिद्धि

स.सि./१/५/१९/५ सामान्यापेक्षया नोआगमभाविजीवो नास्ति, जीवन-सामान्यसदापि विद्यमानत्वात्। विशेषापेक्षया त्वस्ति। गत्यन्तरे जीवो व्यवस्थितो मनुष्यभवप्राप्ति प्रत्यभिमुखो मनुष्यभाविजीवः। —जीवसामान्यकी अपेक्षा 'नोआगमभावी जीव' यह भेद नहीं बनता; क्योंकि, जीवमें जीवत्व सदा पाया जाता है। यहाँ पर्याया-र्थिक नयकी अपेक्षा 'नोआगमभावी जीव' यह भेद बन जाता है; क्योंकि, जो जीव दूसरी गतिमें विद्यमान है, वह जब मनुष्यभवको प्राप्त करनेके लिए सम्मुख होता है तब वह मनुष्यभावी जीव कहलाता है। (यहाँ 'जीव' विषयक प्रकरण है। (और भी दे० निक्षेप/६/१; ६/३/१) (क. पा. १/१,१३-१४/§ २१७/२७०/६)।

ध. ४/१,३,१/६/६ भवियं खेत्तपाहुडजाणगभावो जीवो णिक्खित्तदे। कधं जीवस्स खेत्तागमखओवसमरहियस्सादो। अणागमस्स खेत्तववएसो। न, क्षेष्यत्यस्मिन् भावक्षेत्रागम इति जीवद्रव्यस्य पूर्वेव क्षेत्रत्वसिद्धेः। —नोआगमद्रव्यके तीन भेदोंमेंसे जो आगामी कालमें क्षेत्रविषयक शास्त्रको जानेगा ऐसे जीवको भावी-नोआगम-द्रव्य कहते हैं। (क्षेत्र विषयक प्रकरण है)। प्रश्न—जो जीव क्षेत्रागमरूप क्षयोपशमसे रहित होनेके कारण अनागम है, उस जीवके क्षेत्र संज्ञा कैसे बन सकती है? उत्तर—नहीं; क्योंकि, 'भावक्षेत्ररूप आगम जिसमें निवास करेगा' इस प्रकारकी निरुक्तिके बलसे जीवद्रव्यके क्षेत्रागमरूप क्षयोपशम होनेके पूर्व ही क्षेत्रपना सिद्ध है।

३. कर्ममें तद्व्यतिरिक्त नोआगममें द्रव्यनिक्षेपपना

ध. ४/१,३,१/६/१ तत्थ कम्मदव्वखेत्तं णाणावरणादिअट्ठविहकम्म-दव्वं। कधं कम्मस्स खेत्तववएसो। न, क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन् जीवा इति कर्मणो क्षेत्रत्वसिद्धेः। —ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मद्रव्यको कर्म (तद्व्यतिरिक्त नोआगम) द्रव्यक्षेत्र कहते हैं। प्रश्न—कर्मद्रव्यको क्षेत्रसंज्ञा कैसे प्राप्त हुई? उत्तर—नहीं; क्योंकि, जिसमें जीव 'क्षियन्ति' अर्थात् निवास करते हैं, इस प्रकारकी निरुक्तिके बलसे कर्मोंके क्षेत्रपना सिद्ध है।

४. नोकर्मतद्व्यतिरिक्ति नोआगममें द्रव्यनिक्षेपपना

ध. ९/४,१,६७/३२२/३ जा सा तव्वदिरित्तदव्वगंथकदी सा गंथिम-वाइम-वेदिम-पूरिमादिभेएण अणेयविहा। कधमेदेसिं गंथसण्णा। ण, एदे जीवो बुद्धीए अप्पाणम्मि गंथदि त्ति तेसिं गंथत्तसिद्धी। —जो तद्व्यतिरिक्त द्रव्यग्रन्थकृति है वह गूँथना, बुनना, वेष्टित करना और पूरना आदिके भेदसे अनेक प्रकार की है। —प्रश्न—इनकी ग्रन्थ संज्ञा कैसे सम्भव है? उत्तर—नहीं; क्योंकि, जीव इन्हें बुद्धिसे आत्मामें गूँथता है। अतः उनके ग्रन्थपना सिद्ध है।

४. ज्ञायकशरीर विषयक शंकाएँ

१. त्रिकाल ज्ञायकशरीरोंमें द्रव्यनिक्षेपपनेकी सिद्धि

श्लो. वा. २/१/५/६६/२७४/२७ नन्वेवमागमद्रव्यं वा बाधितात्तदन्वय-प्रत्ययान्मुख्यं सिद्धयतु ज्ञायकशरीरं तु त्रिकालगोचरं तद्व्यतिरिक्तं च कर्मनोकर्मविकल्पमनेकविधं कथं तथा सिद्धयेत् प्रतीत्यभावादिति चेन्न, तत्रापि तथाविधान्वयप्रत्ययस्य धान्वयप्रत्ययस्य सद्भावात्। यदेव मे शरीरं ज्ञातुमारभमाणस्य तत्त्वं तदेवेदानीं परिसमाप्ततत्त्व-ज्ञानस्य वर्तत इति वर्तमानज्ञायकशरीरे तावदन्वयप्रत्ययः। यदेवोप-युक्ततत्त्वज्ञानस्य मे शरीरमासीत्तदेवाधुनानुपयुक्ततत्त्वज्ञानस्येत्यतीत-ज्ञायकशरीरे प्रत्यवमर्शः। यदेवाधुनानुपयुक्ततत्त्वज्ञानस्य शरीरं तदे-वोपयुक्ततत्त्वज्ञानस्य भविष्यतीत्यनागतज्ञायकशरीरेप्रत्ययः। —प्रश्न—अन्वयज्ञानसे मुख्य आगमद्रव्य तो भले ही निर्बाधरूपसे सिद्ध हो जाओ परन्तु त्रिकालवर्ती ज्ञायक शरीर और कर्म नोकर्मके भेदोंसे अनेक प्रकारका तद्व्यतिरिक्त भला कैसे मुख्य सिद्ध हो सकता है; क्योंकि, उसकी प्रतीति नहीं होती है? उत्तर—नहीं; वहाँ भी तिस प्रकार अनेक भेदोंको लिये हुए अन्वयज्ञान विद्यमान है। वह इस प्रकार कि तत्त्वोंको जाननेके लिए आरम्भ करनेवाले मेरा जो ही शरीर पहले था, वही तो इस समय तत्त्वज्ञानकी भली भाँति समाप्त कर लेनेवाले मेरा यह शरीर वर्त रहा है, इस प्रकार वर्तमानके ज्ञायकशरीरमें

अन्वय प्रत्यय विद्यमान है। तत्त्वज्ञानमें उपयोग लगाये हुए मेरा जो हो शरीर पहले था वही इस भोजन करते समय तत्त्वज्ञानमें नहीं उपयोग लगाये हुए मेरा यह शरीर है, इस प्रकार भूतकालके ज्ञायक-शरीरमें प्रत्यभिज्ञान हो रहा है। तथा इस वाणिज्य करते समय तत्त्वज्ञानमें नहीं उपयोग लगा रहे मेरा जो भी शरीर है, पीछे तत्त्व-ज्ञानमें उपयुक्त हो जानेपर वही शरीर रहा आवेगा, इस प्रकार भविष्यत्के ज्ञायक शरीरमें अन्वयज्ञान हो रहा है।

२. ज्ञायक शरीरोंको नोआगम संज्ञा क्यों?

ध ६/४,१,१/७/१ कधमेदेसि तिण्णं सरीराणं जिणव्वएसो। ण, धणुहसहचारपज्जाएण तीदाणागयवट्टमाणमणुआणं धणुहववएसो व्व जिणाहारपज्जाएण तीदाणागय-वट्टमाणसरीराणं दव्वजिणत्तं पडि विरोहाभावादो। —प्रश्न—इन अचेतन तीन शरीरोंके (नोआगम) 'जिन' संज्ञा कैसे सम्भव है (यहाँ 'जिन' विषयक प्रकरण है)? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार धनुष-सहचार रूप पर्यायसे अतीत, अनागत और वर्तमान मनुष्योंकी 'धनुष' संज्ञा होती है, उसी प्रकार (आधारमें आधेयका आरोप करके) जिनाधार रूप पर्यायसे अतीत, अनागत और वर्तमान शरीरोंके द्रव्य जिनत्वके प्रति कोई विरोध नहीं है।

ध ६/४,१,६३/२७०/१ कधं सरीराणं णोआगमदव्वकदिव्ववएसो। आधारे आधेओवयारादो। —प्रश्न—शरीरोंको नोआगम-द्रव्यकृति संज्ञा कैसे सम्भव है (यहाँ 'कृति' विषयक प्रकरण है)? उत्तर—चूँकि शरीर नोआगम द्रव्यकृतिके आधार हैं, अतः आधारमें आधेयका उपचार करनेसे उक्त संज्ञा सम्भव है। (ध. ४/१,३,१/६/६)।

३. भूत व भावी शरीरोंको नोआगमपना कैसे है

क. पा. १/१,१३-१४/२७०/३ होदु णाम वट्टमाणसरीरस्स पेज्जागमववएसो; पेज्जागमेण सह एयत्तुवलंभादो, ण भविय-समुज्झादाणमेसा सण्णा; पेज्जपाहुडेण संबंधाभावादो त्ति; ण एस दोसो; दव्वट्ठियप्पणाए सरीरम्मि तिसरीरभावेण एयत्तमुवगयम्मि तदविरोहादो। —प्रश्न—वर्तमान शरीरकी नोआगम द्रव्यपेज्ज संज्ञा होओ, क्योंकि वर्तमान शरीरका पेज्जविषयक शास्त्रको जाननेवाले जीवके साथ एकत्व पाया जाता है। परन्तु भाविशरीर और अतीत शरीरको नोआगम-द्रव्य-पेज्ज संज्ञा नहीं दी जा सकती है, क्योंकि इन दोनों शरीरोंका पेज्जके साथ सम्बन्ध नहीं पाया जाता है। (यहाँ 'पेज्ज' विषयक प्रकरण है)? उत्तर—यह दोष उचित नहीं है, क्योंकि द्रव्यार्थिक-नयकी दृष्टिसे भूत, भविष्यत और वर्तमान ये तीनों शरीर शरीरत्व-की अपेक्षा एकरूप हैं, अतः एकत्वको प्राप्त हुए शरीरमें नोआगम द्रव्यपेज्ज संज्ञाके मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

ध. १/१,१,१/२१/५ आहारस्साहेयोवयारादो भववुधरिदमंगलपज्जाय-परिणद-जीवसरीरस्स मंगलववएसो ण अण्णेसि, तेसु ट्ठिदमंगल-पज्जायाभावा। ण रायपज्जायाहारत्तणेण अणागदादीदजीवे वि राय-ववहारोवलंभा। —प्रश्न—आधारभूत शरीरमें आधेयभूत आत्माके उपचारसे धारण की हुई मंगल पर्यायसे परिणत जीवके शरीरको नोआगम-ज्ञायकशरीर-द्रव्यमंगल कहना तो उचित भी है, परन्तु भावी और भूतकालके शरीरकी अवस्थाको मंगल संज्ञा देना किसी प्रकार भी उचित नहीं है; क्योंकि, उनमें मंगलरूप पर्यायका अभाव है। (यहाँ 'मंगल' विषयक प्रकरण है)? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, राजपर्यायका आधार होनेसे अनागत और अतीत जीवमें भी जिस प्रकार राजारूप व्यवहारकी उपलब्धि होती है, उसी प्रकार मंगल पर्यायसे परिणत जीवका आधार होनेसे अतीत और अनागत शरीरमें भी मंगलरूप व्यवहार हो सकता है। (ध. ५/१,६,१/२/६)।

ध. ४/१,३,१/६/३ भवदु पुव्विल्लस्स दव्वखेत्तागमत्तादो खेत्तववएसो, एदस्स पुण सरीरस्स अणागमस्स खेत्तववएसो ण घडदि त्ति। एत्थ परिहारो वुच्चदे। तं जधा—क्षियत्यस्मिन्नोक्ष्यत्यस्मिन् द्रव्यागमो नोआगमो वेति त्रिविधमपि शरीरं क्षेत्रम्, आधारे आधेयोपचाराद्वा। —प्रश्न—द्रव्य क्षेत्रागमके निमित्तसे पूर्वके (भूत) शरीरको क्षेत्र संज्ञा भले ही रही आओ, किन्तु इस अनागम (भावी) शरीरके क्षेत्र संज्ञा घटित नहीं होती। (यहाँ 'क्षेत्र' विषयक प्रकरण है)? उत्तर—उक्त शंकाका यहाँ परिहार करते हैं। वह इस प्रकार है—जिसमें द्रव्यरूप आगम अथवा भावरूप आगम वर्तमान कालमें निवास करता है, भूतकालमें निवास करता था और आगामी कालमें निवास करेगा; इस अपेक्षा तीनों ही प्रकारके शरीर क्षेत्र कहलाते हैं। अथवा, आधार-रूप शरीरमें आधेयरूप क्षेत्रागमका उपचार करनेसे भी क्षेत्र संज्ञा बन जाती है।

५. द्रव्यनिक्षेपके भेदोंमें परस्पर अन्तर

१. आगम व नोआगममें अन्तर

श्लो. वा. /२/१/५/२७५/१८ तस्यागमद्रव्यादन्यत्वं सुप्रतीतमेवानात्म-त्वात्। —वह ज्ञायक शरीर नोआगमद्रव्य आगमद्रव्यसे तो भिन्न भले प्रकार जाना ही जा रहा है, क्योंकि आगमज्ञानके उपयोग रहित आत्माको आगमद्रव्य माना है, और जीवके जड़ शरीरको नोआगम माना है।

ध. ६/४,१,६३/२७०/२ जदि एवं तो सरीराणमागमसमुवयारेण किण्ण वुच्चदे। आगमणोआगमाणं भेदपदुप्पायणट्ठं ण वुच्चदे पओजणा-भावादो च। —प्रश्न—यदि ऐसा है अर्थात् आधारमें आधेयका उपचार करके शरीरको नोआगम कहते हो तो शरीरोंको उपचारसे आगम क्यों नहीं कहते? उत्तर—आगम और नोआगमका भेद बतलानेके लिए अथवा कोई प्रयोजन न होनेसे भी शरीरोंको आगम नहीं कहते।

ध. ६/४,१,१/७/३ आगमसण्णा अणुवजुत्तजीवदव्वस्से एत्थ किण्ण कदा, उवजोगाभावं पडि विसेसाभावादो। ण, एत्थ आगमसंस्काराभावेण तदभावादो···भविस्सकाले जिणपाहुडजाणयस्स भूदकाले णादूण विस्सरिदस्स य णोआगमभवियदव्वजिणत्तं किण्ण इच्छिज्जदे। ण, आगमदव्वस्स आगमसंसकारपज्जायस्स आहारत्तणेण तीदाणागदवट्ट-माण णोआगमदव्वत्तविरोहादो। —प्रश्न—अनुपयुक्त जीवद्रव्यके समान यहाँ (त्रिकाल गोचर ज्ञायक शरीरोंकी भी) आगम संज्ञा क्यों नहीं की, क्योंकि दोनोंमें उपयोगाभावकी अपेक्षा कोई भेद नहीं है? उत्तर—नहीं की, क्योंकि, यहाँ आगम संस्कारका अभाव होनेसे उक्त संज्ञाका अभाव है। प्रश्न—भविष्यकालमें जिनप्राभृतको जाननेवाले व भूतकालमें जानकर विस्मरणको प्राप्त हुए जीवद्रव्यके नोआगम-भावी-जिनत्व क्यों नहीं स्वीकार करते (यहाँ 'जिन' विषयक प्रकरण है)? उत्तर—नहीं क्योंकि आगम संस्कार पर्यायका आधार होनेसे अतीत, अनागत व वर्तमान आगमद्रव्यके नोआगम द्रव्यत्वका विरोध है। (भावार्थ—आगमद्रव्यमें जीवद्रव्यका ग्रहण होता है और नोआगममें उसके आधारभूत शरीरका। जीवमें आगमसंस्कार होना सम्भव है, पर शरीरमें वह सम्भव नहीं है। इसीलिए ज्ञायकके शरीरको आगम अथवा जीवद्रव्यको नोआगम नहीं कह सकते हैं।)

२. भावी ज्ञायकशरीर व भावी नोआगममें अन्तर

श्लो. वा. २/१/५/६६/२७५/१७ तर्हि ज्ञायकशरीरं भाविनोआगमद्रव्या-दनन्यदेवेति चेन्न, ज्ञायकविशिष्टस्य ततोऽन्यत्वात्। —प्रश्न—तब तो (भावी) ज्ञायकशरीर भाविनोआगमसे अभिन्न ही हुआ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उस ज्ञायकशरीरसे ज्ञायकआत्मा करके विशिष्ट भावी नोआगमद्रव्य भिन्न है।

क. पा. १/१,१३-१४/§ २१७/२७०/२४-भाषाकार—जिस प्रकार भावी और भूत शरीरमें शरीरसामान्यकी अपेक्षा वर्तमान शरीरोंसे एकत्व मान-कर (उन भूत व भावी शरीरमें) नोआगम द्रव्यपेज्ज संज्ञाका

व्यवहार किया है (दे० निक्षेप/६/४/३), उसी प्रकार वर्तमान जीव ही भविष्यत्में पेज्जविषयक शास्त्रका ज्ञाता होगा; अतः जीव सामान्यकी अपेक्षा एकत्व मानकर वर्तमान जीव (के शरीरको) भाविनोआगम द्रव्यपेज्ज कहा है। (ध. १/१,१,१/२६/२१ पर विशेषार्थ)।

स. सि./पं. जगरूप सहाय/१/५/पृ. ४६ भावी ज्ञायकशरीरमें जीवके (जीव विषयक) शास्त्रको जाननेवाला शरीर है। परन्तु भावी नोआगमद्रव्यमें जो शरीर आगे जाकर मनुष्यादि जीवन प्राप्त करेगा। उन्हें उनके (मनुष्यादि विषयोंके) शास्त्र जाननेकी आवश्यकता नहीं। अज्ञायक होकर ही (शरीर) प्राप्त कर सकेगा। ऐसा ज्ञायकपना और अज्ञायकपनाका दोनोंमें भेद व अन्तर है।

३. ज्ञायक शरीर और तद्व्यतिरिक्तमें अन्तर

श्लो. वा. २/१/५/६६/२७५/२५ कर्म नोकर्म वान्वयप्रत्ययपरिच्छिन्नं ज्ञायकशरीरादनन्यदिति चेत् न, कार्मणस्य शरीरस्य तैजसस्य च शरीरस्य शरीरभावमापन्नस्याहारादिपुद्गलस्य वा ज्ञायकशरीरत्वासिद्धेः, औदारिकवैक्रियकाहारकशरीरत्रयस्यैव ज्ञायकशरीरत्वोपपत्तेः अन्यथा विग्रहगतावपि जीवस्योपयुक्तज्ञानत्वप्रसङ्गात् तैजसकार्मण शरीरयोः सद्भावात्। – प्रश्न – तद्व्यतिरिक्तके कर्म नोकर्म भेद भी अन्वय ज्ञानसे जाने जाते हैं, अतः ये दोनों ज्ञायकशरीर नोआगमसे भिन्न हो जावेंगे? उत्तर – नहीं, क्योंकि, कार्माण वर्गणाओंसे बने हुए कार्मणशरीर और तैजस वर्गणाओंसे बने हुए तैजसशरीर इन दोनों शरीररूपसे शरीरपनेको प्राप्त हो गये पुद्गलस्कन्धोंको ज्ञायक शरीरपना सिद्ध नहीं है। अथवा आहार आदि वर्गणाओंको भी ज्ञायकशरीरपना असिद्ध है। वस्तुतः बन चुके औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीरोंको ही ज्ञायकशरीरपना कहना युक्त है। अन्यथा विग्रहगतिमें भी जीवके उपयोगात्मक ज्ञान हो जानेका प्रसंग आवेगा, क्योंकि कार्मण और तैजस दोनों ही शरीर वहाँ विद्यमान हैं।

४. भाविनोआगम व तद्व्यतिरिक्तमें अन्तर

श्लो. वा. २/१/५/६६/२७६/३ कर्मनोकर्म नोआगमद्रव्यं भाविनोआगमद्रव्यादनर्थान्तरमिति चेन्न, जीवादिप्राभृतज्ञायिपुरुषकर्मनोकर्मभावमापन्नस्यैव तथाभिधानात्, ततोऽन्यस्य भाविनोआगमद्रव्यत्वोपगमात्। – प्रश्न – कर्म और नोकर्मरूप नोआगम द्रव्य भावि-नोआगम-द्रव्यसे अभिन्न हो जावेगा? उत्तर – नहीं, क्योंकि, जीवादि विषयक शास्त्रको जाननेवाले ज्ञायक पुरुषके ही कर्म व नोकर्मोंको तैसा अर्थात् तद्व्यतिरिक्त नोआगम कहा गया है। परन्तु उससे भिन्न पड़े हुए और आगे जाकर उस उस पर्यायरूप परिणत होनेवाले ऐसे कर्म व नोकर्मोंसे युक्त जीवको भाविनोआगम माना गया है।

७. भाव निक्षेप निर्देश व शंका आदि

१. भावनिक्षेप सामान्यका लक्षण

स. सि./१/५/१७/६ वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः। – वर्तमान-पर्यायसे युक्त द्रव्यको भाव कहते है। (रा. वा./१/५/८/२६/१२); (श्लो. वा. २/१/५/श्लो. ६७/२७६); (ध. १/१,१,१/१४/३ व २६/७); (ध. ६/४,१, ४८/२४२/७) (त. सा./१/१३)।

ध. ५/१,७,१/१८७/६ दव्वपरिणामो पुव्वावरकोडिवदिरित्तवट्टमाणपरिणामुवलक्खियदव्वं वा। – द्रव्यके परिणामको अथवा पूर्वापर कोटिसे व्यतिरिक्त वर्तमान पर्यायसे उपलक्षित द्रव्यको भाव कहते हैं।

दे. नय/I/५/३ (भाव निक्षेपसे आत्मा पुरुषके समान प्रवर्तती स्त्रीकी भाँति पर्यायोल्लासी है)।

२. भावनिक्षेपके भेद

स. सि./१/५/१८/७ भावजीवो द्विविधः – आगमभावजीवो नोआगमभावजीवश्चेति। – भाव जीवके दो भेद हैं – आगम-भावजीव और नोआगम-भावजीव। (रा. वा./१/५/६/२६/१५); (श्लो. वा. २/१/५/श्लो. ६७); (ध. १/१,१,१/२६/७;८३/६); (ध. ४/१,३,१/७/१); (गो. क./मू./६४/१६); (न. च. वृ./२७६)।

ध. १/१,१,१/२६/६ णो-आगमदो भावमंगलं दुविहं, उपयुक्तस्तत्परिणत इति। – नोआगम भाव मंगल, उपयुक्त और तत्परिणतके भेदसे दो प्रकारका है।

३. आगम व नोआगम भावके भेद व उदाहरण

ष. खं. १३/५,५/सू. १३९-१४०/३९०-३९१ जा सा आगमदो भावपयडी णाम तिस्से इमो णिद्देसो – ठिदं जिदं परिजिदं वायणोवगदं सुत्तसमं अत्थसमं गंथसमं णामसमं घोससमं। जा तत्थ वायणा वा पुच्छणा वा पडिच्छणा वा परियट्टणा वा अणुपेहणा वा थय-थुदि-धम्मकहा वा जे चामण्णे एवमादिया उवजोगा भावे त्ति कट्टु जावदिया उवजुत्ता भावा सा सव्वा आगमदो भावपयडी णाम।१३९। जा सा णोआगमदो भावपयडी णाम सा अणेयविहा। तं जहा – सुर-असुर-णाग-सुवण्ण-किण्णर-किंपुरिस-गरुड-गंधव्व-जक्ख-रक्खस-मणुअ-महोरग-मिय-पसु-पक्खि-दुवय-चउप्पय-जलचर-थलचर-खगचर-देव-मणुस्स-तिरिक्ख-णेरइय-णियगुणा पयडी सा सव्वा णोआगमदो भावपयडी णाम।१४०। – जो आगम भावप्रकृति है, उसका यह निर्देश है – स्थित, जित, परिचित, वाचनोपगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रन्थसम, नामसम, और घोषसम। तथा इनमें जो वाचना, पृच्छना, प्रतीच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षणा, स्तव, स्तुति, धर्मकथा तथा इनको आदि लेकर और जो उपयोग हैं वे सब भाव हैं; ऐसा समझकर जितने उपयुक्त भाव हैं वह सब आगम भाव कृति है।१३९।

जो नोआगम भावप्रकृति है वह अनेक प्रकार का है। यथा – सुर असुर, नाग, सुपर्ण, किंनर, किंपुरुष, गरुड़, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, मनुज, महोरग, मृग, पशु, पक्षी, द्विपद, चतुष्पद, जलचर, स्थलचर, खगचर, देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी; इन जीवोंकी जो अपनी-अपनी प्रकृति है वह सब नोआगमभावप्रकृति है। (यहाँ 'कर्मप्रकृति' विषयक प्रकरण है)।

४. आगम व नोआगम भावके लक्षण

स. सि./१/५/१८/८ तत्र जीवप्राभृतविषयोपयोगाविष्टो मनुष्यजीवप्राभृतविषयोपयोगयुक्तो वा आत्मा आगमभावजीवः। जीवनपर्यायेण मनुष्यजीवत्वपर्यायेण वा समाविष्ट आत्मा नोआगमभावजीवः। – जो आत्मा जीव विषयक शास्त्रको जानता है और उसके उपयोगसे युक्त है वह आगम-भाव-जीव कहलाता है। तथा जीवनपर्याय या मनुष्य जीवनपर्यायसे युक्त आत्मा नोआगम भाव जीव कहलाता है। (यहाँ 'जीव' विषयक प्रकरण है) (रा. वा./१/५/१०-११/२६); (श्लो. वा. २/१/५/श्लो. ६७-६८/२७६); (ध. १/१,१,१/८३/६); (ध. ५/१,७,१/३/५) (गो. क./मू. ६५-६६/५६)।

ध. १/१,१,१/२६/८ आगमदो मंगलपाहुडजाणओ उवजुत्तो। णोआगमदो भावमंगलं दुविहं, उपयुक्तस्तत्परिणत इति। आगममन्तरेण अर्थोपयुक्त उपयुक्तः। मङ्गलपर्यायपरिणतस्तत्परिणत इति। – जो मंगल-विषयक शास्त्रका ज्ञाता होते हुए वर्तमानमें उसमें उपयुक्त है उसे आगमभाव मंगल कहते है। नोआगम-भाव-मंगल उपयुक्त और तत्परिणतके भेदसे दो प्रकार का है। जो आगमके बिना ही मंगलके अर्थमें उपयुक्त है, उसे उपयुक्त नोआगम भाव मंगल कहते हैं, और मंगलरूप अर्थात् जिनेन्द्रदेव आदिको वन्दना भावस्तुति आदिमें

परिणत जीवको तत्परिणत नोआगमभाव मंगल कहते हैं। (ध. ४/१,३,१/७/८)।

न. च. वृ./२७६-२७७ अरहतसत्थजाणो आगमभावो हु अरहंतो।२७६। तग्गुणए य परिणदो णोआगमभाव होइ अरहंतो। तग्गुणएई झावा केवलणाणी हु परिणदो भणिओ।२७७। =अर्हन्त विषयक शास्त्रका ज्ञायक (और उसके उपयोग युक्त आत्मा) आगमभाव अर्हन्त है।।२७६। उसके गुणोंसे परिणत अर्थात् केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टयरूप परिणत आत्मा नोआगम-भाव अर्हन्त है। अथवा उनके गुणोंको ध्यानेवाला आत्मा नोआगमभाव अर्हन्त है।२७७।

५. भावनिक्षेपके लक्षणकी सिद्धि

श्लो. वा. २/१/५/६६/२७८/१० नन्वेवमतीतस्यानागतस्य च पर्यायस्य भावरूपताविरोधाद्वर्तमानस्यापि सा न स्यात्तस्य पूर्वापेक्षयानागतत्वात् उत्तरापेक्षयातीतत्वादतो भावलक्षणस्याव्याप्तिरसंभवो वा स्यादिति चेन्न। अतीतस्यानागतस्य च पर्यायस्य स्वकालापेक्षया सांप्रतिकत्वाद्भावरूपतोपपत्तेरननुयायिनः परिणामस्य सांप्रतिकत्वोपगमाद्युक्तदोषाभावात्। =प्रश्न—भूत और भविष्य पर्यायोंका, इस लक्षणके अनुसार, भाव निक्षेपपनेका विरोध हो जानेके कारण वर्तमानकालकी पर्यायको भी वह भावरूपपना न हो सकेगा। क्योंकि वर्तमानकालकी पर्याय भूतकालकी पर्यायकी अपेक्षासे भविष्यत्कालमें है और उत्तरकालकी अपेक्षा वही पर्याय भूतकाल की है। अतः भावनिक्षेपके कथित लक्षणमें अव्याप्ति या असम्भव दोष आता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, भूत व भविष्यत् कालको पर्याय भी अपने अपने कालकी अपेक्षा वर्तमान की ही हैं; अतः भावरूपता बन जाती है। जो पर्याय आगे पीछेकी पर्यायोंमें अनुगम नहीं करती हुई केवल वर्तमान कालमें ही रहती है, वह वर्तमान कालकी पर्याय भावनिक्षेपका विषय मानी गयी है। अतः पूर्वोक्त लक्षणमें कोई दोष नहीं है।

६. आगमभावनिक्षेपमें भावनिक्षेपपनेकी सिद्धि

श्लो वा. २/१/५/६६/२७८/१६ कथं पुनरागमो जीवादिभाव इति चेत्, प्रत्ययजीवादिवस्तुनः सांप्रतिकपर्यायत्वात्। प्रत्ययात्मका हि जीवादयः प्रसिद्धाः एवार्थाभिधानात्मकजीवादिवत्। =प्रश्न—ज्ञानरूप आगमको जीवादिभाव निक्षेपपना कैसे है? उत्तर—ज्ञानस्वरूप जीवादि वस्तुओंको वर्तमानकालकी पर्यायपना है, जिस कारणसे कि जीवादिपदार्थ ज्ञानस्वरूप होते हुए प्रसिद्ध हो ही रहे हैं, जैसे कि अर्थ और शब्द रूप जीव आदि हैं (दे० नय/I/४/१)।

७. आगम व नोआगमभावमें अन्तर

श्लो. वा. २/१/५/६६/२७८/१७ तत्र जीवादिविषयोपयोगाख्येन तत्प्रत्ययेनाविष्ट पुमानेव तदागम इति न विरोधः, ततोऽन्यस्य जीवादिपर्यायाविष्टस्यार्थस्यैनोआगमभावजीवत्वेन व्यवस्थापनात्। =जीवादि विषयोंके उपयोग नामक ज्ञानोंसे सहित आत्मा तो उस उस जीवादि आगमभावरूप कहा जाता है; और उससे भिन्न नोआगम भाव है जो कि जीव आदि पर्यायोंसे आविष्ट सहकारी पदार्थ आदि स्वरूप व्यवस्थित हो रहा है।

८. द्रव्य व भावनिक्षेपमें अन्तर

रा. वा./१/५/१३/२६/२५ द्रव्यभावयोरेकत्वम् अव्यतिरेकादिति चेत्, न; कथंचित् संज्ञास्वालक्षण्यादिभेदात् तद्भेदसिद्धेः।

रा. वा./१/५/२३/३१/१ तथा द्रव्य स्याद्भावः भावद्रव्यार्थादेशात् न भावपर्यायार्थादेशाद् द्रव्यम्। भावस्तु द्रव्यं स्यान्न वा, उभयथा दर्शनात्। =प्रश्न—द्रव्य व भावनिक्षेपमें अभेद है, क्योंकि इनकी पृथक् सत्ता नहीं पायी जाती? उत्तर—नहीं, संज्ञा लक्षण आदिकी दृष्टिसे इनमें भेद है। अथवा-द्रव्य तो भाव अवश्य होगा क्योंकि उसकी उस योग्यताका विकास अवश्य होगा, परन्तु भावद्रव्य हो भी और न भी हो, क्योंकि उस पर्यायमें आगे अमुक योग्यता रहे भी न भी रहे।

श्लो. वा./२/१/५/६६/२७६/६ नापि द्रव्यादनर्थान्तरमेव तस्याबाधितभेदप्रत्ययविषयत्वात्, अन्यथान्वयविषयत्वानुषङ्गाद् द्रव्यवत्। =वर्तमानकी विशेषपर्यायको ही विषय करनेवाला वह भावनिक्षेप निर्बाध भेदज्ञानका विषय हो रहा है, अन्यथा द्रव्यनिक्षेपके समान भावनिक्षेपको भी तीनों कालके पदार्थोंका ज्ञान करनेवाले अन्वयज्ञानकी विषयताका प्रसंग होवेगा। भावार्थ—अन्वयज्ञानका विषय द्रव्यनिक्षेप है और विशेषरूप भेदके ज्ञानका विषय भावनिक्षेप है। भूतभविष्यत् पर्यायोंका संकलन द्रव्यनिक्षेपसे होता है, और केवल वर्तमान पर्यायोंका भावनिक्षेपसे आकलन होता है।

निक्षेपाधिकरण—दे० अधिकरण।

निगमन—१. निगमनका लक्षण

न्या. सू./मू./१/१/३६ हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्।

न्या. सू./भाष्य/१/१/३६/३८/१२ उदाहरणस्थयोर्धर्मयोः साध्यसाधनभावोपपत्तौ साध्ये विपरीतप्रसङ्गप्रतिषेधार्थं निगमनम्। =हेतु पूर्वक पुनः प्रतिज्ञा या पक्षका वचन कहना निगमन है। (न्या. दी./३/§३२/७६/१)। साधनभूतका साध्यधर्मके साथ समान अधिकरण (एक आश्रय) होनेका प्रतिपादन करना उपनय है। उदाहरणमें जो दो धर्म हैं उनके साध्य साधनभाव सिद्ध होनेमें विपरीत प्रसंगके खण्डनके लिए निगमन होता है।

प. मु./३/५१ प्रतिज्ञायास्तु निगमनं।५१। =प्रतिज्ञाका उपसंहार करना निगमन है।

न्या. दी./३/§ ७२/१११ साधनानुवादपुरस्सरं साध्यनियमवचनं निगमनम्। तस्मादग्निमानेवेति। =साधनको दुहराते हुए साध्यके निश्चयरूप वचनको निगमन कहते हैं। जैसे—धूमवाला होनेसे यह अग्निवाला ही है।

२. निगमनाभासका लक्षण

न्या. दी./३/§७२/११२ अनयोर्व्यत्ययेन कथनमनयोराभासः। =उपनयको जगह निगमन और निगमनकी जगह उपनयका कथन करना उपनयाभास तथा निगमनाभास हैं।

निगूढतर्क—Abstract reasoning ध. ५/प्र. २७।

निगोद—दे० वनस्पति/२।

निग्रह—

स. सि./६/४/४११/३ स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवर्तनं निग्रह। =स्वच्छन्द प्रवृत्तिको रोकना निग्रह है। (रा. वा./६/४/२/५१३/१३)।

निग्रहस्थान—१. निग्रहस्थानका लक्षण

न्या. सू./मू /१/२/१९ विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्। =विप्रतिपत्ति अर्थात् पक्षको स्वयं ठीक न समझकर उलटा समझना; तथा अप्रतिपत्ति और दूसरेके द्वारा सिद्ध किये गये पक्षको समझकर भी उसकी परवाह न करते हुए उसका खण्डन न करना, अथवा प्रतिवादी द्वारा अपनेपर दिये गये दोषोंका निराकरण न करना, ये निग्रहस्थान हैं। अर्थात् इनसे वादीकी पराजय होती है।

श्लो. वा. ४/१/३३/न्या./श्लो. ६६-१००/३४३ तूष्णींभावोऽथवा दोषानासक्तिः सत्यसाधने। वादिनोक्ते परस्येष्टा पक्षसिद्धिर्न चान्यथा।६६। कस्यचित्तत्त्वसंसिद्धयप्रतिक्षेपो निराकृतेः। कीर्तिः पराजयोऽवश्यमकीर्तिकृदिति स्थितम्।१००। =वादीके द्वारा कहे गये सत्य हेतुमें प्रतिवादीका चुप रह जाना, अथवा सत्य हेतुमें दोषोंका प्रसंग न उठाना हो, वादीके पक्षकी सिद्धि है, अन्य प्रकार नहीं।६६। दूसरेके

पक्षका निराकरण करनेसे एककी यशःकीर्ति होती है और दूसरेका पराजय होता है, जो कि अवश्य ही अपकीर्तिका करनेवाला है। अतः स्वपक्षकी सिद्धि और परपक्षका निराकरण करना ही जयका कारण है। इस कर्तव्यको नहीं करनेवाले वादी या प्रतिवादीका निग्रहस्थान हो जाता है।

दे. न्याय/२ वास्तवमें तो स्वपक्षको सिद्धि ही प्रतिवादीका निग्रहस्थान है।

२. निग्रहस्थानके भेद

न्या.सू./मू./५/२/१ प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभाविक्षेपो मतानुज्ञापर्यनुयोज्योपेक्षणनिरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासश्च निग्रहस्थानानि। = निग्रहस्थान २२ है—१. प्रतिज्ञाहानि, २. प्रतिज्ञान्तर, ३. प्रतिज्ञाविरोध, ४. प्रतिज्ञासंन्यास, ५. हेत्वन्तर, ६. अर्थान्तर, ७. निरर्थक, ८. अविज्ञातार्थ, ९. अपार्थक, १०. अप्राप्तकाल, ११. न्यून, १२. अधिक, १३. पुनरुक्त, १४. अननुभाषण, १५. अज्ञान, १६. अप्रतिभा, १७. विक्षेप, १८. मतानुज्ञा, १९. पर्यनुयोज्यानुपेक्षण, २०. निरनुयोज्यानुयोग, २१. अपसिद्धान्त और २२. हेत्वाभास।

सि. वि /मू./५/१०/३३४ असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयो'। निग्रहस्थानमिष्टं चेत् किं पुनः साध्यसाधनै'।१०। =(बौद्धोंके अनुसार) असाधनाङ्ग वचन अर्थात् असिद्ध व अनैकान्तिक आदि दूषणों सहित प्रतिज्ञा आदिके वचनोंका कहना और अदोषोद्भावन अर्थात् प्रतिवादीके साधनोंमें दोषोंका न उठाना ये दो निग्रहस्थान स्वीकार किये गये हैं, फिर साध्यके अन्य साधनोंसे क्या प्रयोजन है।

३. अन्य सम्बन्धित विषय

१. जय पराजय व्यवस्था। —दे० न्याय/२।
२. नैयायिकों द्वारा निग्रहस्थानोंके प्रयोगका समर्थन - दे० वितंडा।
३. नैयायिक व बौद्धमान्य निग्रहस्थानोंका व उनके प्रयोगका निषेध। —दे० न्याय/२।
४. निग्रहस्थानके भेदोंके लक्षण —दे० वह वह नाम।

निघंटु— १. १३०० श्लोक प्रमाण संस्कृत भाषामें लिखा गया एक पौराणिक ग्रन्थ। २. श्वेताम्बराचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरि (ई० १०८८-११४३) को 'निघंटुशेष' नामकी रचना। ३. आ. पद्मनन्दि (ई० १२८०-१३३०) कृत 'निघंटु वैद्यक' नामका आयुर्वेदिक ग्रन्थ—(यशस्तिलकचम्पू/प्र. पं० सुन्दरलाल)।

निज गुणानुस्थान— दे० परिहार प्रायश्चित्त।

निजात्माष्टक—आ. योगेन्दुदेव (ई० श० ६) द्वारा रचित सिद्ध स्वरूपानुवाद विषयक आठ अपभ्रंश दोहे।

निजाष्टक—आ० योगेन्दुदेव (ई० श०/६) द्वारा रचित अध्यात्म भाव विषयक आठ अपभ्रंश दोहे।

नित्य—वैशे. सू./मू./४/१/१ सदकारणवन्नित्यम्। =सत और कारण रहित नित्य कहलाता है। (आप्त. प./टी./२/३६/४/३)।

त. सू./५/३१ तद्भावाव्ययं नित्यं।३१। =सतके भावसे या स्वभावसे अर्थात् अपनी जातिसे च्युत न होना नित्य है।

स. सि./५/४/२७०/३ नित्यं ध्रुवमित्यर्थः। 'नेर्ध्रुवः त्यः' इति निष्पादितत्वात्।

स. सि./५/३१/३०२/५ येनात्मना प्राग्दृष्टं वस्तु तेनैवात्मना पुनरपि भावात्तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायते। यद्यत्यन्तनिरोधोऽभिनवप्रादुर्भावमात्रमेव वा स्यात्ततः स्मरणानुपपत्तिः। तदधीनलोकसंव्यवहारो विरुध्यते। ततस्तद्भावेनाव्ययं नित्यमिति निश्चीयते। =१. नित्य शब्दका अर्थ ध्रुव है ('नेर्ध्रुवे त्यः' इस वार्तिकके अनुसार 'नि' शब्दसे ध्रुवार्थमें 'त्य' प्रत्यय लगकर नित्य शब्द बना है। २. पहले जिस रूप वस्तुको देखा है उसी रूप उसके पुनः होनेसे 'वही यह है' इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है। यदि पूर्व वस्तुका सर्वथा नाश हो जाये या सर्वथा नयी वस्तुका उत्पाद माना जाये तो इससे स्मरणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और स्मरणकी उत्पत्ति न हो सकनेसे स्मरणके आधीन जितना लोक संव्यवहार चालू है, वह सब विरोधको प्राप्त होता है। इसलिए जिस वस्तुका जो भाव है उसरूपसे च्युत न होना तद्भावाव्यय अर्थात् नित्य है, ऐसा निश्चित होता है। (रा. वा./५/४/१-२/४४३/६); (रा. वा./५/३१/१/४९६/३२)।

न. च. वृ./६१ सोऽयं इति तं णिच्चा। = 'यह वह है' इस प्रकारका प्रत्यय जहाँ पाया जाता है, वह नित्य है।

★ द्रव्यमें नित्य अनित्य धर्म—दे० अनेकान्त/४।

★ द्रव्य व गुणोंमें कथंचित् नित्यानित्यात्मकता —दे० उत्पाद व्ययध्रौव्य/२।

★ पर्यायमें कथंचित् नित्यत्व—दे० उत्पाद व्यय ध्रौव्य/३।

★ षट् द्रव्योंमें नित्य अनित्य विभाग—दे० द्रव्य/३।

नित्य नय—दे० नय/I/५।

नित्य निगोद—दे० वनस्पति/२।

नित्य पूजा—दे० पूजा/१/३, पूजापाठ।

नित्य मरण—दे० मरण/१।

नित्य महोद्योत—पं० आशाधर (ई० ११७३-१२४३) की एक संस्कृत छन्दबद्ध भक्तिरसपूर्ण ग्रन्थ है, जिस पर आ० श्रुतसागर (ई० १४८१-१४९९) ने महाभिषेक नामकी टीका रची है।

नित्यरसी व्रत—वर्षमें एक बार आता है। ज्येष्ठ कृ० १ से ज्येष्ठ पूर्णिमा तक कृ० १ को उपवास तथा २-१५ तक एकाशना करें। फिर शु. १ को उपवास और २-१५ तक एकाशना करें। जघन्य १ वर्ष, मध्यम १२ वर्ष और उत्कृष्ट २४ वर्ष तक करना पड़ता है। 'ॐ ह्रीं श्री वृषभजिनाय नमः' इस मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान संग्रह/पृ. १०२)।

नित्य वाहिनी—विजयार्धकी दक्षिणश्रेणीका एक नगर —दे० विद्याधर।

नित्य अनित्य समा जाति—

न्या. सू /मू./५/१/३२,३५/३०२ साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमः।३२। नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः।३५।

न्या. सू./वृ./५/१/३२,३५/३०२ अनित्येन घटेन साधर्म्यादनित्यः शब्द इति ब्रुवतोऽस्ति घटेनानित्येन सर्वभावानां साधर्म्यमिति सर्वस्यानित्यत्वमनिष्टं संपद्यते सोऽयमनित्यत्वेन प्रत्यवस्थानादनित्यसम इति।३२। अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञायते तदनित्यत्वं किं शब्दे नित्यमथानित्यं यदि तावत्सर्वदा भवति धर्मस्य सदा भावाद्धर्मिणोऽपि सदाभाव इति। नित्यः शब्द इति। अथ न सर्वदा भवति अनित्यत्वस्याभावान्नित्यः शब्दः। एवं नित्यत्वेन प्रत्यवस्थानान्नित्यसमः अस्योत्तरम्। =साधर्म्यमात्रसे तुल्यधर्मसहितपना सिद्ध हो जानेसे सभी पदार्थोंमें अनित्यत्वका प्रसंग उठाना अनित्यसम जाति है। जैसे—घटके साथ कृतकत्व आदि करके साधर्म्य हो जानेसे यदि शब्दका अनित्यपना साधा जावेगा, तब तो यों घटके सत्त्व, प्रमेयत्व आदि रूप साधर्म्य सम्भवनेसे सब पदार्थोंके अनित्यपनेका प्रसंग हो

जावेगा। इस प्रकार प्रत्यवस्थान देना अनित्यसमा जाति है। अनित्य भी स्वयं नित्य है इस प्रकार अनित्यमें भी नित्यत्वका प्रसंग उठाना नित्यसमा जाति है। जैसे—'शब्द अनित्य है' इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करनेवाले वादीपर प्रतिवादी प्रश्न उठाता है, कि वह शब्दके आधारपर ठहरनेवाला अनित्यधर्म क्या नित्य है अथवा अनित्य। प्रथमपक्षके अनुसार धर्मको तीनोंकालों तक नित्य ठहरनेवाला धर्मी नित्य हो होना चाहिए। द्वितीय विकल्पके अनुसार अनित्यपन धर्मका नाश हो जानेपर शब्दके नित्यपनका सद्भाव हो जानेसे शब्द नित्य सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार नित्यत्वका प्रत्यवस्थान उठाना नित्यसमा जाति है।

(श्लो. वा. ४/१/३३/न्या./श्लो. ४२६-४२८/५३; श्लो. ४३७-४४०/५३६ में इसपर चर्चा की गयी है)।

नित्यालोक—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३।

नित्योद्योत—१. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३, २. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

निदर्शन—दृष्टान्त।

निदाघ—तीसरे नरकका पाँचवाँ पटल—दे० नरक/५।

निदान—१. निदान सामान्यका लक्षण—

स. सि./७/३७/३७२/७ भोगाकाङ्क्षया नियतं दीयते चित्तं तस्मिंस्तेनेति वा निदानम्। =भोगाकांक्षासे जिसमें या जिसके कारण चित्त नियमसे दिया जाता है वह निदान है। (रा. वा./७/३७/६/५५६/६); (द्र. सं./टी./४२/१८४/१)।

स. सि./७/१८/३५६/६ निदानं विषयभोगाकाङ्क्षा। = भोगोंकी लालसा निदान शल्य है। (रा. वा./७/१८/२/५४५/३४); (१२/४.२, ८,६/२८४/६)।

२. निदानके भेद

भ. आ./मू./१२१५/१२१५ तत्थ णिदाणं तिविहं होइ पसत्थापसत्थभोगकदं।१२१५। =निदान शल्यके तीन भेद हैं—प्रशस्त, अप्रशस्त व भोगकृत। (अ. ग. श्रा./७/२०)।

३. प्रशस्तादि निदानोंके लक्षण

भ. आ./मू./१२१६-१२१६/१२१५ संजमहेदुं पुरिसत्तसत्तबलविरियसंघदणबुद्धी सावअबंधुकुलादीणि णिदाणं होदि हु पसत्थं।१२१६। माणेण जाइकुलरूवमादि आइरियगणधरजिणत्तं। सोभग्गाणादेयं पत्थंतो अप्पसत्थं तु।१२१७। कुद्धो वि अप्पसत्थं मरणे पच्छेइ परवधादीयं। जह उग्गसेणघादे णिदाणं वसिट्ठेण।१२१८। देविगमणिसभोगो णारिस्सरसिट्ठिसत्थवाहत्तं। केसवचक्कधरत्तं पच्छंतो होदि भोगकदं।१२१६। =पौरुष, शारीरिकबल, वीर्यान्तरायकर्मका क्षयोपशम होनेसे उत्पन्न होनेवाला दृढ़ परिणाम, वज्रवृषभनाराचादिकसंहनन, ये सब संयमसाधक सामग्री मेरेको प्राप्त हों ऐसी मनकी एकाग्रता होती है, उसको प्रशस्त निदान कहते हैं। धनिककुलमें, बंधुओंके कुलमें उत्पन्न होनेका निदान करना प्रशस्त निदान है।१२१६। अभिमानके वश होकर उत्तम मातृवंश, उत्तम पितृवंशकी अभिलाषा करना, आचार्य पदवी, गणधरपद, तीर्थंकरपद, सौभाग्य, आज्ञा और सुन्दरपना इनकी प्रार्थना करना सब अप्रशस्त निदान है। क्योंकि, मानकषायसे दूषित होकर उपर्युक्त अवस्थाकी अभिलाषा की जाती है।१२१७। क्रुद्ध होकर मरणसमयमें शत्रुवधादिककी इच्छा करना यह भी अप्रशस्त निदान है।१२१८। देव मनुष्योंमें प्राप्त होनेवाले भोगोंकी अभिलाषा करना भोगकृत निदान है। स्त्रीपना, धनिकपना, श्रेष्ठिपद, सार्थवाहपना, केशवपद, सकलचक्रवर्तीपना, इनकी भोगोंके लिए अभिलाषा करना यह भोगनिदान है।१२१६। (ज्ञा./२५/३४-३६); (अ. ग. श्रा./७/२१-२५)।

४. प्रशस्ताप्रशस्त निदानकी इष्टता अनिष्टता

भ. आ./मू./१२२३-१२२६ कोढी संतो लद्धूण डहइ उच्छुं रसायणं एसो। सो सामण्णं णासेइ भोगहेदुं णिदाणेण।१२२३। पुरिसत्तादि णिदाणं पि मोक्खकामा मुणी ण इच्छंति। जं पुरिसत्ताइमओ भावो भवमओ य संसारो।१२२४। दुक्खक्खयकम्मक्खयसमाधिमरणं च बोहिलाहो य। एयं पत्थेयव्वं ण पच्छणीयं तओ अण्णं।१२२५। पुरिसत्तादीणि पुणो संजमलाभो य होइ परलोए। आराधयस्स णियमा तत्थमकदे णिदाणे वि।१२२६। —जैसे कोई कुष्ठरोगी मनुष्य कुष्ठरोगका नाशक रसायन पाकर उसको जलाता है, वैसे ही निदान करनेवाला मनुष्य सर्व दुःखरूपी रोगके नाशक संयमका भोगकृत निदानसे नाश करता है।१२२३। संयमके कारणभूत पुरुषत्व, संहनन आदिरूप (प्रशस्त) निदान भी मुमुक्षु मुनि नहीं करते क्योंकि पुरुषत्वादि पर्याय भी भव ही हैं और भव ससार है।१२२४। मेरे दुःखोंका नाश हो, मेरे कर्मोंका नाश हो, मेरे समाधिमरण हो, मुझे रत्नत्रयरूप बोधिकी प्राप्ति हो इन बातोंकी प्रार्थना करनी चाहिए। (क्योंकि ये मोक्षके कारणभूत प्रशस्त निदान हैं)।१२२५। जिसने रत्नत्रयकी आराधना की है उसको निदान न करनेपर भी अन्य जन्ममें निश्चय से पुरुषत्व आदि व संयम आदिकी प्राप्ति होती है।१२२६। (अ. ग.श्रा./२३-२१)।

निद्रा—१. निद्रा व निद्राप्रकृति निर्देश

१. पाँच प्रकारकी निद्राओंके लक्षण

स. सि./८/७/३८३/५ मदखेदक्लमविनोदनार्थः स्वापो निद्रा। तस्या उपर्युपरि वृत्तिर्निद्रानिद्रा। या क्रियात्मानं प्रचलयति सा प्रचला शोकश्रममदादिप्रभवा आसीनस्यापि नेत्रगात्रविक्रियासूचिका। सैव पुनःपुनरावर्तमाना प्रचलाप्रचला। स्वप्ने यया वीर्यविशेषाविर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः। स्त्यायतेरनेकार्थत्वात्स्वप्नार्थ इह गृह्यते गृद्धेरपि दीप्तिः। स्त्याने स्वप्ने गृद्ध्यति दीप्यते यदुदयादात्मा रौद्रं बहुकर्म करोति सा स्त्यानगृद्धिः। =मद, खेद और परिश्रमजन्य थकावटको दूर करनेके लिए नींद लेना निद्रा है। उसकी उत्तरोत्तर अर्थात् पुनः पुन. प्रवृत्ति होना निद्रानिद्रा है। जो शोकश्रम और मद आदिके कारण उत्पन्न हुई है और जो बैठे हुए प्राणीके भी नेत्र-गात्रकी विक्रियाकी सूचक है, ऐसी जो क्रिया आत्माको चलायमान करती है, वह प्रचला है। तथा उसीकी पुनः पुन. प्रवृत्ति होना प्रचला-प्रचला है। जिसके निमित्तसे स्वप्नमें वीर्यविशेषका आविर्भाव होता है वह स्त्यानगृद्धि है। स्त्यायति धातुके अनेक अर्थ हैं। उनमेंसे यहाँ स्वप्न अर्थ लिया गया है और 'गृद्धि' दीप्यते जो स्वप्नमें प्रदीप्त होती है 'स्त्यानगृद्धि' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—स्त्याने स्वप्ने गृद्ध्यति धातुका दीप्ति अर्थ लिया गया है। अर्थात् जिसके उदयसे आत्मा रौद्र बहुकर्म करता है वह स्त्यानगृद्धि है। (रा. वा./८/७/२-६/५७२/६); (गो. क./जी. प्र./३३/२७/१०)।

२. पाँचों निद्राओंके चिह्न

१. निद्राके चिह्न

ध. ६/१,६-१,१६/३२/३,६ णिद्दाए तिव्वोदएण अप्पकालं सुवइ, उट्ठाविज्जंतो लहुं उट्ठेदि, अप्पसद्देण वि चेअइ।···णिद्दाभरेण पडंतो लहु अप्पाणं साहारेदि, मणा मणा कंपदि, सचेयणो सुवदि। =निद्रा प्रकृतिके तीव्र उदयसे जीव अल्पकाल सोता है, उठाये जानेपर जल्दी

उठ बैठता है और अल्प शब्दके द्वारा भी सचेत हो जाता है। निद्रा प्रकृतिके उदयसे गिरता हुआ जीव जल्दी अपने आपको सँभाल लेता है, थोड़ा थोड़ा काँपता रहता है और सावधान सोता है।

ध. १३/५,५,८५/८ जिस्से पयडीए उदएण अद्धजगंतओ सोवदि, धूलीए भरिया इव लोयणा होंति गुरुवभारेणोट्ठद्धं व सिरमइभारियं होइ सा णिद्दा णाम। —जिस प्रकृतिके उदयसे आधा जागता हुआ सोता है, धूलिसे भरे हुएके समान नेत्र हो जाते हैं, और गुरुभारको उठाये हुएके समान शिर अति भारी हो जाता है, वह निद्रा प्रकृति है।

गो. क./मू./२४/१६ णिद्दुदये गच्छंतो ठाइ पुणो वइसइ पडेई। —निद्राके उदयसे मनुष्य चलता चलता खड़ा रह जाता है, और खड़ा खड़ा बैठ जाता है अथवा गिर पड़ता है।

२. निद्रानिद्राके चिह्न

ध. ६/१,९-१,१६/३१/६ तत्थ णिद्दाणिद्दाए तिव्वोदएण रुक्खग्गे विसमभूमीए जत्थ वा तत्थ वा देसे घोरंतो अघोरंतो वा णिब्भरं सुवदि। —निद्रानिद्रा प्रकृतिके तीव्र उदयसे जीव वृक्षके शिखरपर, विषम भूमिपर, अथवा जिस किसी प्रदेशपर घुरघुराता हुआ या नहीं घुरघुराता हुआ निर्भर अर्थात् गाढ़ निद्रामें सोता है।

ध. १३/५,५,८५/३५४/२ जिस्से पयडीए उदएण अइणिब्भरं सोवदि, अण्णेहिं उट्ठाविज्जंतो वि ण उट्ठइ सा णिद्दाणिद्दा णाम। —जिस प्रकृतिके उदयसे अतिनिर्भर होकर सोता है, और दूसरोंके द्वारा उठाये जानेपर भी नहीं उठता है, वह निद्रानिद्रा प्रकृति है।

गो. क./मू./२३/१६ णिद्दाणिद्दुदयेण य ण दिट्ठिमुग्घाडिदुं सक्को। —निद्रानिद्राके उदयसे जीव यद्यपि सोनेमें बहुत प्रकार सावधानी करता है परन्तु नेत्र खोलनेको समर्थ नहीं होता।

३. प्रचलाके चिह्न

ध. ६/१,९-१,१६/३२/४ पयलाए तिव्वोदएण वालुवाए भरियाइं व लोयणाइं होंति, गुरुवभारोड्डव्वं व सीसं होदि, पुणो पुणो लोयणाइं उम्मिल्ल-णिमिल्लणं कुणंति। —प्रचला प्रकृतिके तीव्र उदयसे लोचन बालुकासे भरे हुएके समान हो जाते हैं, सिर गुरुभारको उठाये हुएके समान हो जाता है और नेत्र पुनः पुनः उन्मीलन एवं निमीलन करने लगते हैं।

ध. १३/५,५,८५/३५४/६ जिस्से पयडीए उदएण अद्धसुत्तस्स सीसं मणा मणा चलदि सा पयला णाम। —जिस प्रकृतिके उदयसे आधे सोते हुएका शिर थोड़ा-थोड़ा हिलता रहता है, वह प्रचला प्रकृति है।

गो. क./मू./२५/१७ पयलुदयेण य जीवो ईसुम्मीलिय सुवेइ सुत्तोवि। ईसं ईसं जाणदि मुहुं मुहुं सोवदे मंदं ।२५। प्रचलाके उदयसे जीव किंचित् नेत्रको खोलकर सोता है। सोता हुआ कुछ जानता रहता है। बार बार मन्द मन्द सोता है। अर्थात् बारबार सोता व जागता रहता है।

४. प्रचला-प्रचलाके चिह्न

ध./६/१,९-१,१६/३१/१० पयलापयलाए तिव्वोदएण बइट्ठओ वा उब्भओ वा मुहेण गलमाणलालो पुणो पुणो कंपमाणसरीर-सिरो णिब्भरं सुवदि। —प्रचलाप्रचला प्रकृतिके तीव्र उदयसे बैठा या खड़ा हुआ मुँहसे गिरती हुई लार सहित तथा बार-बार कपते हुए शरीर और शिर-युक्त होता हुआ जीव निर्भर सोता है।

ध. १३/५,५,८५/३५४/४ जिस्से उदएण ट्ठियो णिसण्णो वि सोवदि गहगहियो व सीसं धुणदि वायाहयलया व चदुसु वि दिसासु लोट्टदि सा पयलापयला णाम। —जिसके उदयसे स्थित व निषण्ण अर्थात् बैठा हुआ भी सो जाता है, भूतसे गृहीत हुएके समान शिर धुनता है, तथा वायुसे आहत लताके समान चारों ही दिशाओंमें लोटता है, वह प्रचला-प्रचला प्रकृति है।

गो. क./मू./२४/१६ पयलापयलुदयेण य वहेदि लाला चलंति अंगाई। —प्रचलाप्रचलाके उदयसे पुरुष मुखसे लार बहाता है और उसके हस्त पादादि चलायमान हो जाते हैं।

५. स्त्यानगृद्धिके चिह्न

ध. ६/१,९-१,१६/३२/१ थीणगिद्धीए तिव्वोदएण उट्ठाविदो वि पुणो सोवदि, सुत्तो वि कम्मं कुणदि, सुत्तो वि झंखइ, दंते कडकडावेइ। —स्त्यानगृद्धिके तीव्र उदयसे उठाया गया भी जीव पुनः सो जाता है, सोता हुआ भी कुछ क्रिया करता रहता है, तथा सोते हुए भी बड़बड़ाता है और दाँतोंको कड़कड़ाता है।

ध. १३/५,५,८५/५ जिस्से णिद्दाए उदएण जंतो वि थंभियो व णिच्चलो चिट्ठदि, ट्ठियो वि वइसदि, वइट्ठओ वि णिवज्जदि, णिवण्णओ वि उट्ठाविदो वि ण उट्ठदि, सुत्तओ चेव पंथे वहदि, कसदि, लणदि, परिवादिं कुणदि सा थीणगिद्धी णाम। —जिस निद्राके उदयसे चलता चलता स्तम्भित किये गयेके समान निश्चल खड़ा रहता है, खड़ा खड़ा भी बैठ जाता है, बैठकर भी पड़ जाता है, पड़ा हुआ भी उठानेपर भी नहीं उठता है, सोता हुआ भी मार्गमें चलता है, मारता है, काटता है और बड़बड़ाता है वह स्त्यानगृद्धि प्रकृति है।

गो. क./मू./२३/१६ थीणुदयेणुट्ठविदे सोवदि कम्मं करेदि जप्पदि य। —स्त्यानगृद्धिके उदयसे उठाया हुआ सोता रहता है तथा नींद हीमें अनेक कार्य करता है, बोलता है, पर उसे कुछ भी चेत नहीं हो पाता।

३. निद्राओंका जघन्य व उत्कृष्ट काल व अन्तर

ध. १५/पृ./पंक्ति णिद्दाणिद्दा-पयलापयला-थीणगिद्धीणमुदीरणाए कालो जहण्णेण एगसमओ। कुदो। अद्धुवोदयादो। उक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं। एवं णिद्दापयलाणं पि वत्तव्वं। (६१/१४)। णिद्दा पयलाणमंतरं जहण्णमुक्कस्सं पि अंतोमुहुत्तं। णिद्दाणिद्दा-पयलापयला-थीणगिद्धीणमंतरं जहण्णेण अंतोमुहुत्तं, उक्कस्सेण तेत्तीसं सागरोवमाणि साहियाणि अंतोमुहुत्तेण।(६८/४)। —निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धिकी उदीरणाका काल जघन्यसे एक समय है; क्योंकि, ये अध्रुवोदयी प्रकृतियाँ हैं। उनकी उदीरणाका काल उत्कर्षसे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इसी प्रकारसे निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोंके उदीरणाकालका कथन करना चाहिए।(६१/१४)। निद्रा और प्रचलाकी उदीरणाका अन्तरकाल जघन्य व उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त मात्र है। निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, और स्त्यानगृद्धिका वह अन्तरकाल जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टसे अन्तर्मुहूर्तसे अधिक तेतीस सागरोपम प्रमाण है।

२. साधुओंके लिए निद्राका निर्देश

१. क्षितिशयन मूलगुणका लक्षण

मू. आ./३२ फासुयभूमिपएसे अप्पमसथारिदम्हि पच्छण्णे। दंडंधणुव्व सेज्जं खिदिसयणं एयपासेण ।३२। —जीवबाधारहित, अल्पसंस्तर रहित, असंयमीके गमनरहित गुप्तभूमिके प्रदेशमें दण्डके समान अथवा धनुषके समान एक कर्वटसे सोना क्षितिशयन मूलगुण है।

अन. ध./९/९१/९२१ अनुत्तानोऽनवाङ् स्वप्याद्भूदेशेऽसंस्तृते स्वयम्। स्वमात्रे संस्तृतेऽल्पं वा तृणादिशयनेऽपि वा। —तृणादि रहित केवल भूमिदेशमें अथवा तृणादि संस्तरपर, ऊर्ध्व व अधोमुख न होकर किसी एक ही कर्वटपर शयन करना क्षितिशयन है।

२. प्रमार्जन पूर्वक करवट लेते हैं

भ. आ./मू./९६/२२४ इरियादाणणिखेवे विवेगठाणे णिसीयणे सयणे। उव्वत्तणपरिवत्तण पसारणा उंटणामरसे ।९६। —शरीरके मल मूत्रादि-

को फेंकते समय, बैठते-खड़े होते व सोते समय, हाथ-पाँव पसारते या सिकोड़ते समय, उत्तानशयन करते समय या करवट बदलते समय, साधुजन अपना शरीर पिच्छिकासे साफ करते हैं।

२. योग निद्रा विधि

मू. आ./७९४ सज्झायज्झाणजुत्ता रत्तिं ण सुवंति ते पयामं तु। सुत्तत्थं चिंतंता णिद्दाय वसं ण गच्छंति।७९४। =स्वाध्याय व ध्यानमें युक्त साधु सूत्रार्थका चिन्तवन करते हुए रात्रिको निद्राके वश नहीं होते हैं। यदि सोवें तो पहला व पिछला पहर छोड़कर कुछ निद्रा ले लेते हैं।७९४।

अन. ध./९/७/८५१ क्लमं नियम्य क्षणयोगनिद्रया लातं निशीथे घटिकाद्वयाधिके। स्वाध्यायमत्यस्य निशाद्विनाडिकाशेषे प्रतिक्रम्य च योगमुत्सृजेत्।७। =मनको शुद्ध चिद्रूपमें रोकना योग कहलाता है। 'रात्रिको मैं इस वस्तिकामें ही रहूँगा' ऐसी प्रतिज्ञाको योग-निद्रा कहते हैं। अर्धरात्रिसे दो घड़ी पहले और दो घड़ी पीछेका, ये चार घड़ी काल स्वाध्यायके अयोग्य माना गया है। इस अल्पकाल-में साधुजन शरीरश्रमको दूर करनेके लिए जो निद्रा लेते हैं उसे क्षण-योगनिद्रा समझना चाहिए।

दे. कृतिकर्म/४/३/१—(योगनिद्रा प्रतिष्ठापन व निष्ठापनके समय साधुको योगिभक्ति पढ़नी चाहिए।)।

३. अन्य सम्बन्धित विषय

१. पाँच निद्राओंको दर्शनावरण कहनेका कारण। —दे० दर्शनावरण/४/६।

२. पाँचों निद्राओं व चक्षु आदि दर्शनावरणमें अन्तर। —दे० दर्शनावरण/८।

३. निद्रा प्रकृतियोंका सर्वघातीपना। —दे० अनुभाग/४।

४. निद्रा प्रकृतियोंकी बन्ध, उदय सत्त्वादि प्ररूपणाएँ। —दे० वह वह नाम।

५. अति संक्लेश व विशुद्ध परिणाम सुप्तावस्थामें नहीं होते। —दे० विशुद्धि/१०।

६. निद्राओंके नामोंमें द्वित्वका कारण। —दे० दर्शनावरण।

७. जो निजपदमें जागता है वह परपदमें सोता है। —दे० सम्यग्दृष्टि/४।

निषत्त—दे० निकाचित।

निधि—चक्रवर्तीकी ६ निधि—दे० शलाका पुरुष/२।

निधुरा—भरत क्षेत्र पूर्वी आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

निह्नव—

मू. आ./२८४ कुलवयसीलविहूणे सुत्तत्थं सम्मगागमित्ताणं। कुलवय-सीलमहल्ले णिण्हवदोसो दु जप्पंतो।२८४। =कुल, व्रत, शील विहीन मठ आदिका सेवन करनेके कारण, कुल, व्रत व शीलसे महान् गुरुके पास अच्छी तरह पढ़कर भी 'मैंने ऐसे व्रती गुरुसे कुछ भी नहीं पढ़ा' ऐसा कहकर गुरु व शास्त्रका नाम छिपाना निह्नव है।

स. सि./६/१०/३२७/११ कुतश्चित्कारणान्नास्ति न वेद्मीत्यादि ज्ञानस्य व्यपलपनं निह्नवः। =किसी कारणसे, 'ऐसा नहीं है, मैं नहीं जानता' ऐसा कहकर ज्ञानका अपलाप करना निह्नव है। (रा. वा./६/१०/२/५१७/१३); (गो. क./जी. प्र. ८००/९७६/१०)।

भ. आ./वि./११३/२६१/४ निह्नवोऽपलापः। कस्यचित्सकाशे श्रुतमधीत्यन्यो गुरुरित्यभिधानमपलापः। =अपलाप करना निह्नव है। एक आचार्यके पास अध्ययन करके 'मेरा गुरु तो अन्य हैं' ऐसा कहना अपलाप है।

निबन्धन— स. सि./१/२६/१३३/७—निबन्धनं निबन्धः। =निबन्धन शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है जोड़ना, सम्बन्ध करना। (रा. वा./१/२६/.../८७/८)।

ध. १५/१/१० निबध्यते तदस्मिन्निति निबन्धनम्, जं दव्वं जम्हि णिबद्धं तं णिबंधणं त्ति भणिदं होदि। ='निबध्यते तदस्मिन्निति निबन्धनम्' इस निरुक्तिके अनुसार जो द्रव्य जिसमें सम्बद्ध है उसे निबन्धन कहा जाता है।

२. द्रव्य क्षेत्रादि निबन्धन

ध. १५/२/१० जं दव्वं जाणि दव्वाणि अस्सिदूण परिणमदि जस्स वा दव्वस्स सहावो दव्वंतरपडिबद्धो तं दव्वणिबंधणं। खेत्तणिबंधणं णाम गामणयरादीणि, पडिणियदखेत्ते तेसिं पडिबद्धत्तुवलंभादो। जो जम्हि काले पडिबद्धो अत्थो तक्कालणिबंधणं। तं जहा—चूअफुल्लाणि चेत्तमासणिबद्धाणि...तरथेव तेसिमुवलंभादो।...पंचरत्तियाओ णिबंधो त्ति वा। जं दव्वं भावस्स आलंबणमाहारो होदि तं भावणिबंधणं। जहा लोहस्स हिरण्णसुवण्णादीणि णिबंधणं, ताणि अस्सिऊण तदुप्पत्तिदंसणादो, उप्पण्णस्स वि लोहस्स तदालंबण-दंसणादो। =जो द्रव्य जिन द्रव्योंका आश्रय करके परिणमन करता है, अथवा जिस द्रव्यका स्वभाव द्रव्यान्तरसे प्रतिबद्ध है वह द्रव्यनिबन्धन कहलाता है। ग्राम व नगर आदि क्षेत्रनिबन्धन हैं; क्योंकि, प्रतिनियत क्षेत्रमें उनका सम्बन्ध पाया जाता है। जो अर्थ जिस कालमें प्रतिबद्ध है वह काल निबन्धन कहा जाता है। यथा—आम्र वृक्षके फूल चैत्र माससे सम्बद्ध हैं...क्योंकि वे इन्हीं मासोंमें पाये जाते हैं। अथवा पंचरात्रिक निबन्धन कालनिबन्धन है(?)। जो द्रव्य भावका अवलंबन अर्थात् आधार होता है, वह भाव निबन्धन होता है। जैसे—लोभके चाँदी, सोना आदिक हैं; क्योंकि, उनका आश्रय करके लोभकी उत्पत्ति देखी जाती है, तथा उत्पन्न हुआ लोभ भी उनका आलम्बन देखा जाता है।

निबद्ध मंगल—दे० मंगल।

निमंत्रण—दे० समाचार।

निमग्ना—

ति. प./४/२३६ णियजलभरउवरिगदं दव्वं लहुगं पि णेदि हेट्ठम्मि। जेणं तेणं भण्णइ एसा सरिया णिमग्ग त्ति।२३६। =(विजयार्धकी पश्चिमी गुफाकी एक नदी है—दे० लोक/३/५) क्योंकि यह नदी अपने जलप्रवाहके ऊपर आयी हुई हलकीसे हलकी वस्तुको भी नीचे ले जाती है, इसीलिए यह नदी निमग्ना कही जाती है।२३६। (त्रि. सा./५९६)

निमित्त—आहारका एक दोष। दे० आहार/II/४।

निमित्त कारण—

१. निमित्त कारणका लक्षण

स. सि./१/२१/१२५/७ प्रत्ययः कारणं निमित्तमित्यनर्थान्तरम्। =प्रत्यय, कारण व निमित्त ये एकार्थवाची नाम हैं। (ध. १२/४,२,८,२/२७६/२); (और भी दे० प्रत्यय)।

स. सि./१/२०/१२०/७ पूरयतीति पूर्वं निमित्तं कारणमित्यनर्थान्तरम्। ='जो पूरता है' अर्थात् उत्पन्न करता है इस व्युत्पत्तिके अनुसार पूर्व निमित्त कारण ये एकार्थवाची नाम हैं। (रा. वा./१/२०/२/७०/२१)।

श्लो. वा. २/१/२/११/२८/१३—भाषाकार—कार्यकालमें एक क्षण पहलेसे रहते हुए कार्योत्पत्तिमें सहायता करनेवाले अर्थको निमित्तकारण कहते हैं।

२. निमित्तके एकार्थवाची शब्द

१. निमित्त—(दे० निमित्तका लक्षण; स. सि./८/११; रा. वा./८/११; प्र. सा./त. प्र. ९५); २. कारण (दे० निमित्तका लक्षण; स. सि./८/११; रा. वा./८/११; प्र. सा./त. प्र./९५); ३. प्रत्यय (दे० निमित्तका लक्षण); ४. हेतु (स. सा./मू./८०; स. सि./८/११; रा. वा./८/११; प्र. सा./त. प्र./९५)। ५. साधन (रा./१/७/.../३८/२; स. सि./१/७/२९/१); ६. सहकारी (द्र. सं./मू./१७; न्या. दी./१/§ १४/१३/१; का. अ./मू./२१८); ७. उपकारी (पं. ध./उ./४१, १०९); ८. उपग्राहक (त. सू./५/१७); ९. आश्रय (स. सि./५/१७/२८२/६); १०. आलम्बन (स. सि./१/२१/१२६/९); ११. अनुग्राहक (स. सि./६/११/३२८/११); १२. उत्पादक (स. सा./मू./१००); १३. कर्ता (स. सा./मू./१०९; स. सा./आ./१००); १४. हेतुकर्ता (स.सि./५/२२/२९१/८; पं. का./त. प्र./८८); १५. प्रेरक (स. सि./५/१९/२८६/९); १६. हेतुमत (पं. ध./उ./१०१); १७. अभिव्यंजक (पं. ध./उ./३६०)।

३. करणका लक्षण

जैनेन्द्र व्याकरण/१/२/११३ साधकतमं करणं। —साधकतम कारणको करण कहते हैं। (पाणिनि व्या./१/४/४२); (न्या. वि./वृ./१३/५८/५)।

स. सा./आ./परि./शक्ति नं. ४३ भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करण-शक्तिः। —होते हुए भावके होनेमें अतिशयवान् साधकतमपनेमयी करण शक्ति है।

४. करण व कारणके तुलनात्मक प्रयोग

स. सि./१/१४/१०८/५ यथा इह धूमोऽग्नेः। एवमिदं स्पर्शनादिकरणं नासति कर्तर्यात्मनि भवितुमर्हतीति ज्ञातुरस्तित्वं गम्यते। —जैसे लोकमें धूम अग्निका ज्ञान करानेमें करण होता है, उसी प्रकार ये स्पर्शनादिक करण (इन्द्रियाँ) कर्ता आत्माके अभावमें नहीं हो सकते, अतः उनसे ज्ञाताका अस्तित्व जाना जाता है।

श्लो. वा./२/१/६/श्लो. ४०-४१/३६४ चक्षुरादिप्रमाणं चेदचेतनमपीष्यते। न साधकतमत्वस्याभावात्तस्याचितः सदा ।४०। चितस्तु भावनेत्रादेः प्रमाणत्वं न बार्यते। तत्साधकतमत्वस्य कथंचिदुपपत्तितः ।४१। ——नैयायिक लोग चक्षु आदि इन्द्रियोंमें, ज्ञानका सहायक होनेसे, उपचारसे करणपना मानकर, 'चक्षुषा प्रमीयते' ऐसी तृतीया विभक्ति अर्थात् करण कारकका प्रयोग कर देते हैं। परन्तु उनका ऐसा करना ठीक नहीं है, क्योंकि, उन अचेतन नेत्र आदिको प्रमितिका साधकतमपना सर्वदा नहीं है ।४०। हाँ यदि भावइन्द्रिय (ज्ञानके क्षयोपशम) स्वरूप नेत्र कान आदिको करण कहते हो तो हमें इष्ट है; क्योंकि, चेतन होनेके कारण प्रमाण हैं। उनकी किसी अपेक्षासे ज्ञप्तिक्रियाका साधकतमपना या करणपना सिद्ध हो जाता है। (स्या. म./१०/१०९/१४); (न्या. दी./१/§ १४/१२)।

भ. आ./वि./२०/७१/४ क्रियते रूपादिगोचरा विज्ञप्तय एभिरिति करणानि इन्द्रियाण्युच्यन्ते क्वचित्करणशब्देन। अन्यत्र क्रियानिष्पत्तौ यदतिशयितं साधकं तत्करणमिति साधकतममात्रमुच्यते। क्वचित्तु क्रियासामान्यवचनः यथा 'कृकृञ्' करणे इति। —करण शब्दके अनेक अर्थ हैं—रूपादि विषयको ग्रहण करनेवाले ज्ञान जिनसे किये जाते हैं अर्थात् उत्पन्न होते हैं वे इन्द्रियाँ करण हैं। कार्य उत्पन्न करनेमें जो कर्ताको अतिशय सहायक होता है उसको भी करण या साधकतम मात्र कहते हैं। जैसे—देवदत्त कुल्हाड़ीसे लकड़ी काटता है। कहीं-कहीं करण शब्दका अर्थ सामान्य क्रिया भी माना गया है। जैसे—'डुकृञ् करणे' प्रस्तुत प्रकरणमें करण शब्दका क्रिया ऐसा अर्थ है।

स. सा./आ./९५-९६ निश्चयतः कर्मकरणयोरभिन्नत्वात् यद्येन क्रियते तत्तदेवेति कृत्वा यथा कनकपात्रं कनकेन क्रियमाणं कनकमेव न त्वन्यत्। —निश्चयनयसे कर्म और करणमें अभेद भाव है, इस न्यायसे जो जिससे किया जाये वह वही है। जैसे—सुवर्णसे किया हुआ सुवर्णका पात्र सुवर्ण ही है अन्य कुछ नहीं। (और भी दे० कारक/१/२); (प्र. सा./त. प्र./१६,३०,३५,९६,९८,११७,१२६)।

५. करण व कारणके भेदोंका निर्देश

स्या. म./८/७९/५ में उद्धृत—न चैवं करणस्य द्वैविध्यमप्रसिद्धम्। यदाहुर्लाक्षणिकाः—'करणं द्विविधं ज्ञेयं बाह्याभ्यन्तरं बुधैः।' —करण दो प्रकारका न होता हो ऐसा भी नहीं। वैयाकरणियोंने भी कहा है—१. बाह्य और २. अभ्यन्तरके भेदसे करण दो प्रकारका जानना चाहिए। (और भी दे० कारण/१/२)। ३. स्व निमित्त, ४. पर निमित्त (उत्पादव्ययध्रौव्य/१/२)। ५. बलाधान निमित्त (स.सि./५/७/२७३/११); (रा. वा./५/७/४/४४६/१८); ६. प्रतिबन्ध कारण (स. सि./५/२४/२९६/८)। (रा. वा./५/२४/१५/४८९/७); ७. कारक हेतु, ८. ज्ञापक हेतु, ९. व्यंजक हेतु (दे० हेतु)।

६. निमित्तके भेदोंके लक्षण व उदाहरण

रा. वा./१/सू./वार्तिक/पृष्ठ/प. इन्द्रियानिन्द्रियबलाधानात् पूर्वमुपलब्धेऽर्थे नोइन्द्रियप्राधान्यात् यदुत्पद्यते ज्ञानं तत् श्रुतम्। (रा. वा./१/९/२७/४८/२९)। यतः सत्यपि सम्यग्दृष्टे श्रोत्रेन्द्रियबलाधाने बाह्याचार्यपदार्थोपदेशसंनिधाने च श्रुतज्ञानावरणोदयवशीकृतस्य स्वयमन्तःश्रुतभवननिरुत्सुकत्वादात्मनो न श्रुतं भवति, अतः बाह्यमतिज्ञानादिनिमित्तापेक्ष आत्मैव आभ्यन्तर···श्रुतभवनपरिणामाभिमुख्यात् श्रुतीभवति, न मतिज्ञानस्य श्रुतीभवनमस्ति, तस्य निमित्तमात्रत्वात्।(रा.वा./१/२०/४/७१/७)। चक्षुरादीनां रूपादिविषयोपयोगपरिणामात् प्राक् मनसो व्यापारः।···ततस्तद्बलाधानीकृत्य चक्षुरादीनि विषयेषु व्याप्रियन्ते।(रा. वा./२/१५/४/१२९/२०)। श्रोत्रबलाधानादुपदेशं श्रुत्वा हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थमाद्रियन्ते। अतः श्रोत्रं बहूपकारीति। (रा. वा./२/१९/७/१३१/३०)। युज्यते धर्मास्तिकायस्य जीवपुद्गलगतिं प्रत्यप्रेरकत्वम्, निष्क्रियस्यापि बलाधानमात्रत्व दर्शनात्, आत्मगुणस्तु अपरत्र क्रियारम्भे प्रेरको हेतुरिष्यते तद्वादिभिः। न च निष्क्रियो द्रव्यगुणः प्रेरको भवितुमर्हति···। किंच, धर्मास्तिकायाख्यद्रव्यमाश्रयकारणं भवतु न तु निष्क्रियात्मद्रव्यगुणस्य ततो व्यतिरेकेणाऽनुपलभ्यमानस्य क्रियाया आश्रयकारणत्वं युक्तम्। (रा. वा./५/७/१३/४४७/३३)। उपकारो बलाधानम् अवलम्बनम् इत्यनर्थान्तरम्। तेन धर्माधर्मयोः गतिस्थितिनिर्वर्तने प्रधानकर्तृत्वमपोदितं भवति। यथा अन्धस्येतरस्य वा स्वजङ्घाबलाद्गच्छतः यष्ट्याद्युपकारकं भवति न तु प्रेरकं तथा जीवपुद्गलानां स्वशक्त्यैव गच्छतां तिष्ठतां च धर्माधर्मौ उपकारकौ न प्रेरकौ इत्युक्तं भवति। (रा. वा./५/१७/१६/७)। —इन्द्रिय व मनके बलाधान निमित्तसे पूर्व उपलब्ध पदार्थमें मनकी प्रधानतासे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह श्रुत है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवको श्रोत्रेन्द्रियका बलाधाननिमित्त होते हुए भी तथा बाह्यमें आचार्य, पदार्थ व उपदेशका सांनिध्य होनेपर भी, श्रुतज्ञानावरणसे वशीकृत आत्माका स्वयं श्रुतभवनके प्रति निरुत्सुक होनेके कारण, श्रुतज्ञान नहीं होता है, इसलिए बाह्य जो मतिज्ञान आदि उनको निमित्त करके आत्मा ही अभ्यन्तरमें श्रुतरूप होनेके परिणामकी अभिमुख्यताके कारण श्रुतरूप होता है। मतिज्ञान श्रुतरूप नहीं होता, क्योंकि वह तो श्रुतज्ञानका निमित्तमात्र है। चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञान होनेसे पहले ही मनका व्यापार होता है। उसको बलाधान करके चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें व्यापार करती हैं। श्रोत्र इन्द्रियके बलाधानसे उपदेशको सुनकर हितकी प्राप्ति और अहितके

परिहारमें प्रवृत्ति होती है, इसलिए श्रोत्रेन्द्रिय बहुत उपकारी है। धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलकी गतिमें अप्रेरक कारण है अतः वह निष्क्रिय होकर भी बलाधायक हो सकता है। परन्तु आप तो आत्माके गुणको परकी क्रियामें प्रेरक निमित्त मानते हो, अत. धर्मास्तिकायका दृष्टान्त विषम है। कोई भी निष्क्रिय द्रव्य या उसका गुण प्रेरक निमित्त नहीं हो सकता। धर्मास्तिकाय द्रव्य तो अन्यत्र आश्रयकारण हो सकता है, पर निष्क्रिय आत्माका गुण जो कि पृथक् उपलब्ध नहीं होता, क्रियाका आश्रयकारण भी सम्भव नहीं है। उपकार, बलाधान, अवलम्बन ये एकार्थवाची शब्द हैं। ऐसा कहनेसे धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यका जीव पुद्गलकी गतिस्थिति-के प्रति प्रधान कर्तापनेका निराकरण कर दिया गया। जैसे लाठी चलते हुए अन्धेकी उपकारक है, उसे प्रेरणा नहीं करती उसी तरह धर्मादिको भी उपकारक कहनेसे उनमें प्रेरकपना नहीं आ सकता है।

पं. का./त. प्र./८५-८८ धर्मोऽपि स्वयमगच्छन् अगमयंश्च स्वयमेव गच्छतां जीवपुद्गलानामुदासीनाविनाभूतसहायकारणमात्रत्वेन गमन-मनुगृह्णाति इति ।८५। तथा अधर्मोऽपि स्वयं पूर्वमेव तिष्ठन् परम-स्थापयंश्च स्वयमेव तिष्ठतां जीवपुद्गलानामुदासीनाविनाभूत-सहायकारणमात्रत्वेन स्थितिमनुगृह्णातीति ।८६। यथा हि गतिपरिणतः प्रभञ्जनो वैजयन्तीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्तावलोक्यते न तथा धर्मः ।८८।

पं. का./ता. वृ./८४/१४२/११ यथा सिद्धो भगवानुदासीनोऽपि सिद्धगुणा-नुरागपरिणतानां भव्यानां सिद्धगते सहकारिकारणं भवति तथा धर्मोऽपि स्वभावेनैव गतिपरिणतजीवपुद्गलानामुदासीनोऽपि गति-सहकारिकारणं भवति। —१. धर्म द्रव्य स्वयं गमन न करता हुआ और अधर्म द्रव्य स्वयं पहलेसे ही स्थिति रूप वर्तता हुआ, तथा ये दोनों ही परको गमन व स्थिति न कराते हुए जीव व पुद्गलोंको अविनाभावी सहायरूप कारणमात्ररूपसे गमन व स्थितिमें अनुग्रह करते हैं ।८५-८६। जिस प्रकार गतिपरिणत पवन ध्वजाओंके गति-परिणामका हेतुकर्ता दिखाई देता है, उसी प्रकार धर्म द्रव्य नहीं है ।८८। २. जिस प्रकार सिद्ध भगवान् स्वयं उदासीन रहते हुए भी, सिद्धोंके गुणानुराग रूपसे परिणत भव्योंकी सिद्धगतिमें, सहकारी कारण होते हैं, उसी प्रकार धर्मद्रव्य भी स्वभावसे ही गतिपरिणत जीवोंको, उदासीन रहते हुए भी, गतिमें सहकारी कारण हो जाता है। नोट—(उपरोक्त उदाहरणोंपरसे निमित्तकारण व उसके भेदोंका स्पष्ट परिचय मिल जाता है। यथा—स्वयं कार्यरूप परिणमे वह उपादान कारण है तथा उसमें सहायक होनेवाले परद्रव्य व गुण निमित्त कारण हैं। वह निमित्त दो प्रकारका होता है—बलाधान व प्रेरक। बलाधान निमित्तको उदासीन निमित्त भी कहते हैं, क्योंकि, अन्य द्रव्यको प्रेरणा किये बिना, वह उसके कार्यमें सहायक मात्र होता है। परन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं कि वह बिलकुल व्यर्थ ही है; क्योंकि, उसके बिना कार्यकी निष्पत्ति असम्भव होनेसे उसको अविनाभावी सहायक माना गया है। प्रेरक निमित्त क्रियावान द्रव्य ही हो सकता है। निष्क्रिय द्रव्य या वस्तुका गुण प्रेरक नहीं हो सकते। वस्तुकी सहायता व अनुग्रह करनेके कारण वह निमित्त उपकार, सहायक, सहकारी, अनुग्राहक आदि नामोंसे पुकारा जाता है। प्रेरक निमित्त किसी द्रव्यकी क्रियामें हेतुकर्ता कहा जा सकता है, पर उदासीन निमित्तको नहीं। कार्य क्षणसे पूर्व क्षणमें वर्तनेवाला अन्य द्रव्य सहकारी कारण कहलाता है (दे० कारण/I/३/१)। स्व व पर निमित्तक उत्पादके लिए —दे० उत्पादव्ययध्रौव्य/१

★ **निमित्तकारणकी मुख्यता गौणता**—दे० कारण/III।

निमित्त ज्ञान—

१. निमित्तज्ञान सामान्यका लक्षण

रा. वा./३/३६/३/२०२/२१ एतेषु महानिमित्तेषु कौशलमष्टाङ्गमहानिमित्त-ज्ञता। — इन (निम्न) आठ महानिमित्तोंमें कुशलता अष्टांग महा-निमित्तज्ञता है।

२. निमित्तज्ञानके भेद

ति. प./४/१००२, १०१५ णइमित्तिका य रिद्धी णभभउमंगसराइ वेंजणयं। लक्खणचिण्हं सउणं अट्ठवियप्पेहिं वित्थरिदं ।१००२। तं चिय सउणणिमित्तं चिण्हो मालो त्ति दोभेदं ।१०१५। —नैमित्तिक ऋद्धि नभ (अन्तरिक्ष), भौम, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, चिह्न (छिन्न); और स्वप्न इन आठ भेदोंसे विस्तृत है ।१००२। तहाँ स्वप्न निमित्त-ज्ञानके चिह्न और मालारूपसे दो भेद हैं ।१०१५। (रा. वा./१/२०/१२/७६/८); (रा. वा./३/३६/३/२०२/१०); (ध. ९/४,१,१४/गा. १९/७२); (ध. ९/४,१,१४/७२/२; ७३/६); (चा. सा./२१४/३)।

३. निमित्तज्ञान विशेषोंके लक्षण

ति. प./४/१००३-१०१६ रविससिगहपहुदीणं उदयत्थमणादि आइं दट्ठूणं। खीणत्तं दुक्खसुहं जं जाणइ तं हि णहणिमित्तं ।१००३। घणसुसिरणिद्धलुक्खप्पहुदिगुणे भाविदूण भूमीए। जं जाणइ खय-वड्ढिं तम्मयसकणयरजदपमुहाणं ।१००४। दिसिविदिसअंतरेसुं चउ-रंगबलं ठिदं च दट्ठूणं। जं जाणइ जयमजयं तं भउमणिमित्त-मुद्दिट्ठं ।१००५। वातादिप्पणिदीओ रुहिरप्पहुदिस्सहावसत्ताइं। णिण्णाण उण्णयाणं अंगोवंगाण दंसणा पासा ।१००६। णरतिरियाणं दट्ठुं जं जाणइ दुक्खसोक्खमरणाइं। कालत्तयणिप्पण्णं अंगणिमित्तं पसिद्धं तु ।१००७। णरतिरियाणविचित्तं सद्दं सोदूण दुक्खसोक्खाइं। कालत्तयणिप्पण्णं जं जाणइ तं सरणिमित्तं ।१००८। सिरमुहकंधप्पहु-दिसु तिलमसयप्पहुदिआइ दट्ठूणं। जं तियकालसुहाइं जाणइ तं वेंजणणिमित्तं ।१००९। करचरणतलप्पहुदिसु पंकयकुलिसादिमाणि दट्ठूणं। जं तियकालसुहाइं लक्खइ तं लक्खणणिमित्तं ।१०१०। सुरदाणवरक्खसणरतिरिएहिं छिण्णसत्थवत्थाणि। पासादणयर-देसादियाणि चिण्हाणि दट्ठूणं ।१०११। कालत्तयसंभूदं सुहासुहं मरणविविहदव्वं च। सुहदुक्खाइं लक्खइ चिण्हणिमित्तं ति तं जाणइ ।१०१२। वातादिदोसचत्तो पच्छिमरत्ते मुयंकरवियहुदिं। णियमुह-कमलपविट्ठं देक्खिय सउणम्मि सुहसउणं ।१०१३। घडतेल्लब्भंगादिं रासहकरभादिएसु आरुहणं। परदेसगमणसव्वं जं देक्खइ असुहसउणं तं ।१०१४। जं भासइ दुक्खसुहप्पमुहं कालत्तए वि संजादं। तं चिय सउणणिमित्तं चिण्हो मालो त्ति दो भेदं ।१०१५। करिकेसरिपहुदीणं दंसणमेत्तादि चिण्हसउणं तं। पुव्वावरसंबंधं सउणं तं मालसउणो त्ति ।१०१६। —सूर्य चन्द्र और ग्रह इत्यादिके उदय व अस्तमन आदिकोंको देखकर जो क्षीणता और दुःख-सुख (अथवा जन्म-मरण) का जानना है, वह नभ या अन्तरिक्ष निमित्तज्ञान है ।१००३। पृथिवी-के घन, सुषिर (पोलापन), स्निग्धता और रूक्षताप्रभृति गुणोंको विचारकर जो ताँबा, लोहा, सुवर्ण और चाँदी आदि धातुओंकी हानि वृद्धिको तथा दिशा-विदिशाओंके अन्तरालमें स्थित चतुरंगबलको देखकर जो जय-पराजयको भी जानना है उसे भौम निमित्तज्ञान कहा गया है ।१००४-१००५। मनुष्य और तिर्यंचोंके निम्न व उन्नत अंगोपांगोंके दर्शन व स्पर्शसे वात, पित्त, कफ रूप तीन प्रकृतियों और रुधिरादि सात धातुओंको देखकर तीनों कालोंमें उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख या मरणादिको जानना, यह अंगनिमित्त नामसे प्रसिद्ध है ।१००६-१००७। मनुष्य और तिर्यंचोंके विचित्र शब्दोंको सुनकर कालत्रयमें होनेवाले सुख-दुःखको जानना, यह स्वर निमित्तज्ञान है। ।१००८। सिर मुख और कन्धे आदिपर तिल एवं मशे आदिको देख-

कर तीनों कालके सुखादिकको जानना, यह व्यञ्जन निमित्तज्ञान है।१००६। हाथ, पाँवके नोचेकी रेखाएँ, तिल आदि देखकर त्रिकाल सम्बन्धी सुख दुःखादिको जानना सो लक्षण निमित्त है।१०१०। देव, दानव, राक्षस, मनुष्य और तिर्यंचोंके द्वारा छेदे गये शस्त्र एवं वस्त्रादिक तथा प्रासाद, नगर और देशादिक चिन्होंको देखकर त्रिकालभावी शुभ, अशुभ, मरण विविध प्रकारके द्रव्य और सुख-दुःखको जानना, यह चिन्ह या छिन्न निमित्तज्ञान है।१०११-१०१२। वात-पित्तादि दोषोंसे रहित व्यक्ति, सोते हुए रात्रिके पश्चिम भागमें अपने मुखकमलमें प्रविष्ट चन्द्र-सूर्यादिरूप शुभस्वप्नको और घृत व तैलकी मालिश आदि, गर्दभ व ऊँट आदि पर चढ़ना, तथा परदेश गमन आदि रूप जो अशुभ स्वप्नको देखता है, इसके फल-स्वरूप तीन कालमें होनेवाले दुःख-सुखादिकको बतलाना यह स्वप्न-निमित्त है। इसके चिन्ह और मालारूप दो भेद हैं। इनमेंसे स्वप्नमें हाथी, सिंहादिकके दर्शनमात्र आदिकको चिन्हस्वप्न और पूर्वापर सम्बन्ध रखनेवाले स्वप्नको माला स्वप्न कहते हैं।१०१३-१०१६। (रा. वा./३/३६/३/२०२/११); (ध. ६/४,१,१४/७२/६); (चा. सा./२१४/३)।

निमेष—कालका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१/४।

निमित्त वाद—दे० परतंत्रवाद।

नियत प्रदेशत्व—स. सा./आ./परि./शक्ति नं. २४—आसंसारसंहरणविस्तरणलक्षितकिंचिदूनचरमशरीरपरिमाणावस्थितलोकाकाशसम्मितात्मावयवत्वलक्षणा नियतप्रदेशत्वशक्तिः।२४। =जो अनादि संसारसे लेकर संकोच-विस्तारसे लक्षित है और जो चरम शरीरके परिमाणसे कुछ न्यून परिमाणमें अवस्थित होता है, ऐसा लोकाकाश-प्रमाण आत्म अवयवत्व जिसका लक्षण है, ऐसी (जीव द्रव्यकी) नियत प्रदेशत्व शक्ति है।

नियत वृत्ति—स्या मं./श्लो./२/२८/४४/११ नियतवृत्तयः नियता संकरव्यतिकरविकला वृत्तिरात्मलाभो येषां ते तथोक्ताः। = नियत अर्थात् संकर व्यतिकर दोषोंसे रहित वृत्ति अर्थात् आत्मलाभ। संकर व्यतिकर रहित अपने स्वरूपमें अवस्थित रहना वस्तुकी नियतवृत्ति है। (जैसे अग्नि नियत उष्णस्वभावी है)। (और भी दे० नय/I/५/४ में नय नं. १५ नियत नय)।

नियति—जो कार्य या पर्याय जिस निमित्तके द्वारा जिस द्रव्यमें जिस क्षेत्र व कालमें जिस प्रकारसे होना होता है, वह कार्य उसी निमित्तके द्वारा उसी द्रव्य, क्षेत्र व कालमें उसी प्रकारसे होता है। ऐसी द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावरूप चतुष्टयसे समुदित नियत कार्यव्यवस्थाको 'नियति' कहते हैं। नियत कर्मोदय रूप निमित्तकी अपेक्षा इसे ही 'दैव', नियत कालकी अपेक्षा इसे ही 'काल लब्धि' और होने योग्य नियत भाव या कार्यकी अपेक्षा इसे ही 'भवितव्य' कहते हैं। अपने-अपने समयोंमें क्रम पूर्वक नम्बरवार पर्यायोंके प्रगट होनेकी अपेक्षा श्री कांजी स्वामी-जीने इसके लिए 'क्रमबद्ध पर्याय' शब्दका प्रयोग किया है। यद्यपि करने-धरनेके विकल्पोंपूर्ण रागी बुद्धिमें सब कुछ अनियत प्रतीत होता है, परन्तु निर्विकल्प समाधिके साक्षीमात्र भावमें विश्वकी समस्त कार्य व्यवस्था उपरोक्त प्रकार नियत प्रतीत होती है।

अतः वस्तुस्वभाव, निमित्त (दैव), पुरुषार्थ, काललब्धि व भवितव्य इन पाँचों समवायोंसे समवेत तो उपरोक्त व्यवस्था सम्यक् है; और इनसे निरपेक्ष वही मिथ्या है। निरुद्यमी पुरुष मिथ्या नियतिके आश्रयसे पुरुषार्थका तिरस्कार करते हैं, पर अनेकान्त बुद्धि इस सिद्धान्तको जानकर सर्व बाह्य व्यापारसे विरक्त हो एक ज्ञाता-द्रष्टा भावमें स्थिति पाती है।

१. नियतिवाद निर्देश

१. मिथ्या नियतिवाद निर्देश

गो. क./मू./८८२/१०६६ जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा। तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदि वादो दु।८८२। —जो जब जिसके द्वारा जिस प्रकारसे जिसका नियमसे होना होता है, वह तब ही तिसके द्वारा तिस प्रकारसे तिसका होता है, ऐसा मानना मिथ्या नियतिवाद है।

अभिधान राजेन्द्रकोश - ये तु नियतिवादिनस्ते ह्येवमाहुः, नियति नाम तत्त्वान्तरमस्ति यद्वशादेते भावाः सर्वेऽपि नियतेनैव रूपेण प्रादुर्भावमश्नुवते नान्यथा। तथाहि—यद्यदा यतो भवति तत्तदा तत एव नियतेनैव रूपेण भवदुपलभ्यते, अन्यथा कार्यभावव्यवस्था प्रतिनियतव्यवस्था च न भवेत् नियामकाभावात्। तत एवं कार्यनैयत्यत प्रतीयमानामेनां नियतिं को नाम प्रमाणपथकुशलो बाधितुं क्षमते। मा प्रापदन्यत्रापि प्रमाणपथव्याघातप्रसङ्गः। —जो नियतिवादी हैं, वे ऐसा कहते हैं कि नियति नामका एक पृथक् स्वतन्त्र तत्त्व है, जिसके वशसे ये सर्व ही भाव नियत ही रूपसे प्रादुर्भावको प्राप्त करते हैं, अन्यथा नहीं। वह इस प्रकार कि—जो जब जो कुछ होता है, वह सब वह ही नियतरूपसे होता हुआ उपलब्ध होता है, अन्यथा कार्यभाव व्यवस्था और प्रतिनियत व्यवस्था न बन सकेगी, क्योंकि उसके नियामकका अभाव है। अर्थात् नियति नामक स्वतन्त्र तत्त्वको न माननेपर नियामकका अभाव होनेके कारण वस्तुकी नियत कार्यव्यवस्थाकी सिद्धि न हो सकेगी। परन्तु वह तो प्रतीतिमें आ रही है, इसलिए कौन प्रमाणपथमें कुशल ऐसा व्यक्ति है जो इस नियति तत्त्वको बाधित करनेमें समर्थ हो। ऐसा माननेसे अन्यत्र भी कहीं प्रमाणपथका व्याघात नहीं होता है।

२. सम्यक् नियतिवाद निर्देश

प. पु./११०/४० प्रागेव यदवाप्तव्यं येन यत्र यथा यतः। तत्परिप्राप्यतेऽवश्यं तेन तत्र तथा ततः।४०। —जिसे जहाँ जिस प्रकार जिस कारणसे जो वस्तु पहले ही प्राप्त करने योग्य होती है उसे वहाँ उसी प्रकार उसी कारणसे वही वस्तु अवश्य प्राप्त होती है। (प. पु./२३/६२; २१/८३)।

का. अ./मू./३२१-३२३ जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि। णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा।३२१। तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि। को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा।३२२। एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए। सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी।३२३। —जिस जीवके, जिस देशमें, जिस कालमें, जिस विधानसे, जो जन्म अथवा मरण जिनदेवने नियत रूपसे जाना है; उस जीवके उसी देशमें, उसी कालमें उसी विधानसे वह अवश्य होता है। उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टाल सकनेमें समर्थ है।३२१-३२२। इस प्रकार जो निश्चयसे सब द्रव्योंको और सब पर्यायोंको जानता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो उनके अस्तित्वमें शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है।३२३। (यहाँ अविरत सम्यग्दृष्टिका स्वरूप बतानेका प्रकरण है)। नोट—(नियत व अनियत नयका सम्बन्ध नियतवृत्तिसे है, इस नियति सिद्धान्तसे नहीं। दे० नियत वृत्ति।)

३. नियतिकी सिद्धि

दे० निमित्त/२ (अष्टांग महानिमित्तज्ञान जो कि श्रुतज्ञानका एक भेद है अनुमानके आधारपर कुछ मात्र क्षेत्र व कालकी सीमा सहित अशुद्ध अनागत पर्यायोंको ठीक-ठीक परोक्ष जाननेमें समर्थ है।)

दे० अवधिज्ञान/८ (अवधिज्ञान क्षेत्र व कालकी सीमाको लिये हुए अशुद्ध अनागत पर्यायोंको ठीक-ठीक प्रत्यक्ष जाननेमें समर्थ है।

दे० मनःपर्यय ज्ञान/१/३/३ (मनःपर्ययज्ञान भी क्षेत्र व कालकी सीमाको लिये हुए अशुद्ध पर्यायरूप जीवके अनागत भावों व विचारोंको ठीक-ठीक प्रत्यक्ष जाननेमें समर्थ है।)

दे० केवलज्ञान/३ (केवलज्ञान तो क्षेत्र व कालकी सीमासे अतीत शुद्ध व अशुद्ध सभी प्रकार की अनागत पर्यायोंको ठीक-ठीक प्रत्यक्ष जाननेमें समर्थ है।)

और भी : इनके अतिरिक्त सूर्य ग्रहण आदि बहुतसे प्राकृतिक कार्य नियत कालपर होते हुए सर्व प्रत्यक्ष हो रहे हैं। सम्यक् ज्योतिष ज्ञान आज भी किसी-किसी ज्योतिषीमें पाया जाता है और वह निःसंशय रूपसे पूरी दृढताके साथ आगामी घटनाओंको बतानेमें समर्थ है।)

२. काललब्धि निर्देश

१. काललब्धि सामान्य व विशेष निर्देश

स. सि./२/३/१० अनादिमिथ्यादृष्टेर्भव्यस्य कर्मोदयापादितकालुष्ये सति कुतस्तदुपशमः। काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्। तत्र काललब्धिस्तावत्—कर्माविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्द्धपुद्गलपरिवर्त्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके इति। इयमेका काललब्धिः। अपरा कर्मस्थितिका काललब्धिः। उत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु च प्रथमसम्यक्त्वलाभो न भवति। क्व तर्हि भवति। अन्तःकोटाकोटीसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु विशुद्धपरिणामवशात्सत्कर्मसु च ततः संख्येयसागरोपमसहस्रोनायामन्तःकोटाकोटीसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति। अपरा काललब्धिर्भवापेक्षया। भव्यः पञ्चेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तकः सर्वविशुद्धः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयति। —प्रश्न—अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यके कर्मोंके उदयसे प्राप्त कलुषताके रहते हुए इन (कर्म प्रकृतियों) का उपशम कैसे होता है? उत्तर—काललब्धि आदिके निमित्तसे इनका उपशम होता है। अब यहाँ काललब्धिको बतलाते हैं—कर्मयुक्त कोई भी भव्य आत्मा अर्धपुद्गलपरिवर्तन नामके कालके शेष रहनेपर प्रथम सम्यक्त्वके ग्रहण करनेके योग्य होता है, इससे अधिक कालके शेष रहनेपर नहीं होता, (संसारस्थिति सम्बन्धी) यह एक काललब्धि है। (का. अ./टी./१८८/१२५/७) दूसरी काललब्धिका सम्बन्ध कर्मस्थितिसे है। उत्कृष्ट स्थितिवाले कर्मोंके शेष रहनेपर या जघन्य स्थितिवाले कर्मोंके शेष रहनेपर प्रथम सम्यक्त्वका लाभ नहीं होता। प्रश्न—तो फिर किस अवस्थामें होता है? उत्तर—जब बँधनेवाले कर्मोंकी स्थिति अन्तःकोडाकोडी सागर पड़ती है, और विशुद्ध परिणामोंके वशसे सत्तामें स्थित कर्मोंकी स्थिति संख्यात हजार सागर कम अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्राप्त होती है। तब (अर्थात् प्रायोग्यलब्धिके होनेपर) यह जीव प्रथम सम्यक्त्वके योग्य होता है। एक काललब्धि भवकी अपेक्षा होती है—जो भव्य है, संज्ञी है, पर्याप्तक है और सर्व विशुद्ध है, वह प्रथम सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है। (रा. वा./२/३/२/१०४/१६); (और भी दे० नियति/२/३/२)

दे० नय/I/५/४/ नय नं १६ कालनयसे आत्म द्रव्यकी सिद्धि समयपर आधारित है, जैसे कि गर्मीके दिनोंमें आम्रफल अपने समयपर स्वयं पक जाता है।

२. एक काललब्धिमें सर्व लब्धियोंका अन्तर्भाव

ष. खं./६/१,९-८/सूत्र ३/२०३ एदेसिं चेव सव्वकम्माणं जावे अंतोकोडाकोडिट्ठिदिं बंधदि तावे पढमसम्मत्तं लंभदि।३।

ध. ६/१,९-८,३/२०४/२ एदेण खओवसमलद्धी बिसोहिलद्धी देसणलद्धी पाओग्गलद्धि त्ति चत्तारि लद्धीओ परूविदाओ।

ध. ६/१,९-८,३/२०५/१ सुत्ते काललद्धी चेव परूविदा, तम्हि एदासिं लद्धीणं कधं संभवो। ण, पडिसमयमणंतगुणहीणअणुभागुदीरणाए

अणंतगुणकमेण वड्ढमाण विसोहीए आइरियोवदेसोवलंभस्स य तत्थेव संभवादो। —इन ही सर्व कर्मोंकी जब अन्तःकोड़ाकोड़ी स्थितिको बाँधता है, तब यह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। २. इस सूत्रके द्वारा क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि और प्रायोग्यलब्धि ये चारों लब्धियाँ प्ररूपण की गयी हैं। प्रश्न—सूत्रमें केवल एक काललब्धि ही प्ररूपणा की गयी है, उसमें इन शेष लब्धियोंका होना कैसे सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्रति समय अनन्तगुणहीन अनुभागकी उदीरणाका (अर्थात् क्षयोपशमलब्धिका), अनन्तगुणित क्रम द्वारा वर्द्धमान विशुद्धिका (अर्थात् विशुद्धि लब्धिका); और आचार्यके उपदेशकी प्राप्तिका (अर्थात् देशनालब्धिका) एक काललब्धि (अर्थात् प्रायोग्यलब्धि)में होना सम्भव है।

३. काललब्धिकी कथंचित् प्रधानताके उदाहरण

१. मोक्ष प्राप्तिमें काललब्धि

मो. पा./मू./२४ अइसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य। कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि।२४। —जिस प्रकार स्वर्णपाषाण शोधनेकी सामग्रीके संयोगसे शुद्ध स्वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार काल आदि लब्धिकी प्राप्तिसे आत्मा परमात्मा बन जाता है।

आ. अनु./२४१ मिथ्यात्वोपचितात्स एव समलः कालादिलब्धौ क्वचित् सम्यक्त्वव्रतदक्षताकलुषतायोगैः क्रमान्मुच्यते।२४१। —मिथ्यात्वसे पुष्ट तथा कर्ममल सहित आत्मा कभी कालादि लब्धिके प्राप्त होनेपर क्रमसे सम्यग्दर्शन, व्रतदक्षता, कषायोंका विनाश और योगनिरोधके द्वारा मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

का. अ./मू./१८८ जीवो हवेइ कत्ता सव्वं कम्माणि कुव्वदे जम्हा। कालाइ-लद्धिजुत्तो संसारं कुणइ मोक्खं च।१८८। —सर्व कर्मोंको करनेके कारण जीव कर्ता होता है। वह स्वयं ही संसारका कर्ता है और कालादिलब्धिके मिलनेपर मोक्षका कर्ता है।

प्र. सा./ता. वृ./२४४/२०५/१२ अत्रातीतानन्तकाले ये केचन सिद्धसुखभाजनं जाता, भाविकाले ··विशिष्टसिद्धसुखस्य भाजनं भविष्यन्ति ते सर्वेऽपि काललब्धिवशेनैव। —अतीत अनन्तकालमें जो कोई भी सिद्धसुखके भाजन हुए हैं, या भावीकालमें होंगे वे सब काललब्धिके वशसे ही हुए हैं। (पं. का./ता. वृ./१००/१६०/१२); (द्र. सं. टी./६३/३)।

पं. का./ता. वृ./२०/४२/१८ कालादिलब्धिवशाद्भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गं लभते। —काल आदि लब्धिके वशसे भेदाभेद रत्नत्रयात्मक व्यवहार व निश्चय मोक्षमार्गको प्राप्त करते हैं।

पं. का./ता. वृ./२६/६५/६ स एव चैतयितात्मा निश्चयनयेन स्वयमेव कालादिलब्धिवशात्सर्वज्ञो जातः सर्वदर्शी च जातः। —वह चेतयिता आत्मा निश्चयनयसे स्वयम् ही कालादि लब्धिके वशसे सर्वज्ञ व सर्वदर्शी हुआ है।

दे. नियति/५/६ (काललब्धि माने तदनुसार बुद्धि व निमित्तादि भी स्वतः प्राप्त हो जाते हैं।)

२. सम्यक्त्व प्राप्तिमें काललब्धि—

म. पु./६२/३१४-३१५ अतीतानादिकालेऽत्र कश्चित्कालादिलब्धितः। ।३१४। करणत्रयसंशान्तसप्तप्रकृतिसंचयः। प्राप्तविच्छिन्नसंसारः रागसंभूतदर्शनः।३१५। —अनादि कालसे चला आया कोई जीव काल आदि लब्धियोंका निमित्त पाकर तीनों करणरूप परिणामोंके द्वारा मिथ्यादि सात प्रकृतियोंका उपशम करता है, तथा संसारकी परिपाटीका विच्छेद कर उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। (स. सा./ता. वृ./३७३/४५१/१५)।

ज्ञा./६/७ में उद्धृत श्लो. नं. १ भव्यः पर्याप्तकः संज्ञी जीवः पञ्चेन्द्रियान्वितः। काललब्ध्यादिना युक्तः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते।१। —जो भव्य हो, पर्याप्त हो, संज्ञी पंचेन्द्रिय हो और काललब्धि आदि सामग्री सहित हो वही जीव सम्यक्त्वको प्राप्त होता है। (दे. नियति/२/१); (अन. ध./२/४६/१७१); (स. सा./ता. वृ./१७१/२३८/१६)।

स. सा./ता. वृ./३२१/४०८/२० यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति तदायं जीवः···सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायेण परिणमति। —जब कालादि लब्धिके वशसे भव्यत्व शक्तिकी व्यक्ति होती है तब यह जीव सम्यक् श्रद्धान ज्ञान चारित्र रूप पर्यायसे परिणमन करता है।

३. सभी पर्यायोंमें काललब्धि

का. अ./मू./२४४ सव्वाण पज्जायाणं अविज्जमाणाण होदि उप्पत्ती। कालाई—लद्धीए अणाइ-णिहणम्मि दव्वम्मि। —अनादिनिधन द्रव्यमें काललब्धि आदिके मिलनेपर अविद्यमान पर्यायोंकी ही उत्पत्ति होती है। (और भी दे० आगे शीर्षक नं. ६)।

४. काकतालीय न्यायसे कार्यकी उत्पत्ति

ज्ञा. ३/२ काकतालीयकन्यायेनोपलब्धं यदि त्वया। तत्तर्हि सफलं कार्यं कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम्।२। —हे आत्मन्! यदि तूने काकतालीय न्यायसे यह मनुष्यजन्म पाया है, तो तुझे अपनेमें ही अपनेको निश्चय करके अपना कर्तव्य करना तथा जन्म सफल करना चाहिए।

प. प्र./टी./१/८५/८१/१६ एकेन्द्रियविकलेन्द्रिय···आत्मोपदेशादीनुत्तरोत्तरदुर्लभक्रमेण दुःप्राप्ता काललब्धिः, कथंचित्काकतालीयकन्यायेन तां लब्ध्वा···यथा यथा मोहो विगलयति तथा तथा···सम्यक्त्वं लभते। —एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियसे लेकर आत्मोपदेश आदि जो उत्तरोत्तर दुर्लभ बातें हैं, काकतालीय न्यायसे काललब्धिको पाकर वे सब मिलनेपर भी जैसे-जैसे मोह गलता जाता है, तैसे-तैसे सम्यक्त्वका लाभ होता है। (द्र. सं./टी./३५/१४३/११)।

५. काललब्धिके बिना कुछ नहीं होता

ध. ६/४,१,४४/१२०/१० दिव्वज्झुणीए किमट्ठं तत्थापउत्ती। गणिंदाभावादो। सोहम्मिंदेण तक्खणे चेव गणिंदो किण्ण ढोइदो। काललद्धीए विणा असहायस्स देविंदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो। —प्रश्न—इन (छयासठ) दिनोंमें दिव्यध्वनिकी प्रवृत्ति किसलिए नहीं हुई? उत्तर—गणधरका अभाव होनेके कारण। प्रश्न—सौधर्म इन्द्रने उसी समय गणधरको उपस्थित क्यों नहीं किया? उत्तर—नहीं किया, क्योंकि, काललब्धिके बिना असहाय सौधर्म इन्द्रके उनको उपस्थित करनेकी शक्तिका उस समय अभाव था। (क पा. १/१,१/§ ५७/७६/१)।

म. पु./९/११५ तद्गृहाणाद्य सम्यक्त्वं तल्लाभे काल एष ते। काललब्ध्या विना नार्य तदुत्पत्तिरिहाङ्गिनाम्।११५।

म. पु./४७/३८६ भव्यस्यापि भवोऽभवद्व भवगतः कालादिलब्धेर्विना।··· ।३८६। —१. (प्रीतिंकर और प्रीतिदेव नामक दो मुनि वज्रजंघके पास आकर कहते हैं) हे आर्य! आज सम्यग्दर्शन ग्रहण कर। उसके ग्रहण करनेका यह समय है (ऐसा उन्होंने अवधिज्ञानसे जान लिया था), क्योंकि काललब्धिके बिना संसारमें इस जीवको सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति नहीं होती। (म. पु./४८/८४)।११५। २. कालादि लब्धियोंके बिना भव्य जीवोंको भी संसारमें रहना पड़ता है।३८६।

का. अ./मू./४०८ इदि एसो जिणधम्मो अलद्धपुव्वो अणाइकाले वि। मिच्छत्तसंजुदाणं जीवाणं लद्धिहीणाणं।४०८। —इस प्रकार यह जिनधर्म कालादि लब्धिसे हीन मिथ्यादृष्टि जीवोंको अनादिकाल बीत जानेपर भी प्राप्त नहीं हुआ।

६. काललब्धि अनिवार्य है

का. अ./मू./२१६ कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहि संजुदा अत्था। परि-

णममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं ।२१९। —काल आदि लब्धियोंसे युक्त तथा नाना शक्तियोंवाले पदार्थको स्वयं परिणमन करते हुए कौन रोक सकता है।

७. काललब्धि मिलना दुर्लभ है

भ. आ./वि./१५८/३७०/१४ उपशमकालकरणलब्धयो हि दुर्लभाः प्राणिनो सुहृदो विद्वांस इव। —जैसे विद्वान् मित्रकी प्राप्ति दुर्लभ है, वैसे ही उपशम, काल व करण इन लब्धियोंकी प्राप्ति दुर्लभ है।

८. काललब्धिकी कथंचित् गौणता

रा. वा./१/३/७-६/२३/२० भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः अधिगमसम्यक्त्वाभाव.।७। न, विवक्षितापरिज्ञानात्।…यदि सम्यग्दर्शनादेव केवलान्निसर्गजादधिगमजाद्वा ज्ञानचारित्ररहितान्मोक्ष इष्टः स्यात्, तत् इदं युक्तं स्यात् 'भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः' इति। नायमर्थोऽत्र विवक्षितः।८। यतो न भव्यानां कृत्स्नकर्मनिर्जरापूर्वकमोक्षकालस्य नियमोऽस्ति। केचिद् भव्याः संख्येयेन कालेन सेत्स्यन्ति, केचिदसंख्येयेन, केचिदनन्तेन, अपरे अनन्तानन्तेनापि न सेत्स्यन्ति। ततश्च न युक्तम्—'भवस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः' इति।—प्रश्न—भव्य जीव अपने समयके अनुसार ही मोक्ष जायेगा, इसलिए अधिगम सम्यक्त्वका अभाव है, क्योंकि उसके द्वारा समयसे पहले सिद्धि असम्भव है।।७। उत्तर—नहीं, तुम विवक्षाको नहीं समझे। यदि ज्ञान व चारित्रसे शून्य केवल निसर्गज या अधिगमज सम्यग्दर्शन ही से मोक्ष होना हमें इष्ट होता तो आपका यह कहना युक्त हो जाता कि भव्य जीवको समयके अनुसार मोक्ष होती है, परन्तु यह अर्थ तो यहाँ विवक्षित नहीं है। (यहाँ मोक्षका प्रश्न ही नहीं है। यहाँ तो केवल सम्यक्त्वकी उत्पत्ति दो प्रकारसे होती है यह बताना इष्ट है—दे० अधिगम)।८। दूसरी बात यह भी है कि भव्योंकी कर्मनिर्जराका कोई समय निश्चित नहीं है और न मोक्षका ही। कोई भव्य संख्यात कालमें सिद्ध होंगे, कोई असंख्यातमें और कोई अनन्त कालमें। कुछ ऐसे भी हैं जो अनन्तानन्त कालमें भी सिद्ध नहीं होंगे। अतः भव्यके मोक्षके कालनियमकी बात उचित नहीं है।९। (श्लो. वा. २/१/३/४/७५/८)।

म. पु./७४/३८६-४१३ का भावार्थ—श्रेणिकके पूर्वभवके जीव खदिरसारने समाधिगुप्त मुनिसे कौवेका मांस न खानेका व्रत लिया। बीमार होनेपर वैद्यों द्वारा कौवोंका मांस खानेके लिए आग्रह किये जानेपर भी उसने वह स्वीकार न किया। तब उसके साले शूरवीरने उसे बताया कि जब वह उसको देखनेके लिए अपने गाँवसे आ रहा था तो मार्गमें एक यक्षिणी रोती हुई मिली। पूछनेपर उसने अपने रोनेका कारण यह बताया, कि खदिरसार जो कि अब उस व्रतके प्रभावसे मेरा पति होनेवाला है, तेरी प्रेरणासे यदि कौवेका मांस खा लेगा तो नरकके दुःख भोगेगा। यह सुनकर खदिरसार तुरत श्रावकके व्रत धारण कर लिये और प्राण त्याग दिये। मार्गमें शूरवीरको पुनः वही यक्षिणी मिली। जब उसने उससे पूछा कि क्या वह तेरा पति हुआ तो उसने उत्तर दिया कि अब तो श्रावकव्रतके प्रभावसे वह व्यन्तर होनेकी बजाय सौधर्म स्वर्गमें देव उत्पन्न हो गया, अतः मेरा पति नहीं हो सकता।

म. पु./७६/१-३० भगवान् महावीरके दर्शनार्थ जानेवाले राजा श्रेणिकने मार्गमें ध्यान निमग्न परन्तु कुछ विकृत मुखवाले धर्मरुचिकी वन्दना की। समवशरणमें पहुँचकर गणधरदेवसे प्रश्न करनेपर उन्होंने बताया कि अपने छोटेसे पुत्रको ही राज्यभार सौंपकर यह दीक्षित हुए हैं। आज भोजनार्थ नगरमें गये तो किन्हीं मनुष्योंकी परस्पर बातचीतको सुनकर इन्हें यह भान हुआ कि मन्त्रियोंने उसके पुत्रको बाँध रखा है और स्वयं राज्य बाँटनेकी तैयारी कर रहे हैं। वे निराहार ही लौट आये और अब ध्यानमें बैठे हुए क्रोधके वशीभूत हो संरक्षणानन्द नामक रौद्रध्यानमें स्थित हैं। यदि आगे अन्तर्मुहूर्त तक उनकी यही अवस्था रही तो अवश्य ही नरकायुका बन्ध करेंगे। अतः तू शीघ्र ही जाकर उन्हें सम्बोध। राजा श्रेणिकने तुरत जाकर मुनिको सावधान किया और वह चेत होकर रौद्रध्यानको छोड़ शुक्लध्यानमें प्रविष्ट हुआ। जिसके कारण उसे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया।

मो. मा. प्र./६/४५६/१ काललब्धि वा होनहार तौ कछू वस्तु नाहीं। जिस कालविषैं कार्य बनैं, सोई काललब्धि और जो कार्य भया सोई होनहार।

दे. नय/I/५/४/नय. नं. २० कृत्रिम गर्मीके द्वारा पकाये गये आम्र फलकी भाँति अकालनयसे आत्मद्रव्य समयपर आधारित नहीं। (और भी दे. उदीरणा/१/१)।

३. दैव निर्देश

१. दैवका लक्षण

अष्टशती/- योग्यता कर्मपूर्वं वा दैवम्। —योग्यता या पूर्वकर्म दैव कहलाता है।

म. पु./४/३७ विधिः स्रष्टा विधाता च दैवं कर्म पुराकृतम्। ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेयाः कर्मवेधसः।३७।—विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत कर्म और ईश्वर ये सब कर्मरूपी ईश्वरके पर्यायवाचक शब्द हैं, इनके सिवाय और कोई लोकका बनानेवाला ईश्वर नहीं है।

आ. अनु./२६१ यत्प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्माशुभं वा शुभं। तद्दैवं…।२६२। —प्राणीने पूर्व भवमें जिस पाप या पुण्य कर्मका संचय किया है, वह दैव कहा जाता है।

२. मिथ्या दैववाद निर्देश

आप्त. मी./८८ दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैवं पौरुषत कथं। दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत्।८८। —दैवसे ही सर्व प्रयोजनोंकी सिद्धि होती है। वह दैव अर्थात् पाप कर्मस्वरूप व्यापार भी पूर्वके दैवसे होता है। ऐसा माननेसे मोक्षका व पुरुषार्थका अभाव ठहरता है। अतः ऐसा एकान्त दैववाद मिथ्या है।

गो. क./मू./८९१/१०७२ दइवमेव परं मण्णे धिप्पउरुसमणत्थयं। एसो सालसमुत्तंगो कण्णो हण्णइ संगरे।८९१।—दैव ही परमार्थ है। निरर्थक पुरुषार्थको धिक्कार है। देखो पर्वत सरीखा उत्तंग राजा कर्ण भी संग्राममें मारा गया।

३. सम्यग्दैववाद निर्देश

सुभाषित रत्नसन्दोह/३५६ यदनीतिमतां लक्ष्मीर्यदपथ्यनिषेविणां च कल्पत्वम्। अनुमीयते विधातुः स्वेच्छाकारित्वमेतेन।३५६। —दैव बड़ा ही स्वेच्छाचारी है, यह मनमानी करता है। नीति तथा पथ्यसेवियोंको तो यह निर्धन व रोगी बनाता है और अनीति व अपथ्यसेवियोंको धनवान् व नीरोग बनाता है।

दे. नय/I/५/४/ नय नं. २२ नींबूके वृक्षके नीचेसे रत्न पानेकी भाँति, दैव नयसे आत्मा अयत्नसाध्य है।

पं. ध./उ./७७४ दैवादस्तंगते तत्र सम्यक्त्वं स्यादनन्तरम्। दैवान्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम्।७७४। —दैवसे अर्थात् काललब्धिसे उस दर्शन मोहनीयके उपशमादि होते ही उसी समय सम्यग्दर्शन होता है, और दैवसे यदि उस दर्शन मोहनीयका अभाव न हो तो नहीं होता, इसलिए यह उपयोग न सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें कारण है और दर्शनमोहके अभावमें। (पं. ध./उ./३७८)।

पं. ध./उ./श्लो नं. सारार्थ—इसी प्रकार दैवयोगसे अपने-अपने कारणोंका या कर्मोदयादिका सन्निधान होनेपर—पंचेन्द्रिय व मन अंगोपांग नामकर्मके बन्धकी प्राप्ति होती है।२६५। इन्द्रियों आदिकी पूर्णता होती है।२६८। सम्यग्दृष्टिको भी कदाचित् आरम्भ आदि

क्रियाएँ होती हैं।४२१। कदाचित् दरिद्रताकी प्राप्ति होती है।५०७। मृत्यु होती है।५४०। कर्मोदय तथा उनके फलभूत तीव्र मन्द सक्लेश विशुद्ध परिणाम होते हैं।६८३। आँखमें पीड़ा होती है।६११। ज्ञान व रागादिमें हीनता होती है।८८१। नामकर्मके उदयवश उस-उस गतिमें यथायोग्य शरीरकी प्राप्ति होती है।६७७।—ये सब उदाहरण दैवयोगमें होनेवाले कार्योंकी अपेक्षा निर्दिष्ट हैं।

४. कर्मोदयकी प्रधानताके उदाहरण

स. सा./आ./२५६/क १६८ सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीयकर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्। अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य, कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।१६८। —इस जगतमें जीवोंके मरण, जीवित, दुःख, सुख—सब सदैव नियमसे अपने कर्मोदयसे होता है। यह मानना अज्ञान है कि—दूसरा पुरुष दूसरेके मरण, जीवन, दुःख सुखको करता है।

पं. वि./३/१८ यैव स्वकर्मकृतकालात्र जन्तुस्तत्रैव याति मरणं न पुरो न पश्चात्। मूढास्तथापि हि मृते स्वजने विधाय शोकं परं प्रचुरदुःखभुजो भवन्ति।१८। —इस संसारमें अपने कर्मके द्वारा जो मरणका समय नियमित किया गया है, उसी समयमें ही प्राणी मरणको प्राप्त होता है, वह उससे न तो पहले मरता है और न पीछे भी। फिर भी मूर्खजन अपने किसी सम्बन्धीके मरणको प्राप्त होनेपर अतिशय शोक करके बहुत दुःख भोगते हैं।१८। (पं. वि./३/१०)।

५. दैवके सामने पुरुषार्थका तिरस्कार

कुरल काव्य/३८/६,१० यत्नेनापि न तद् रक्ष्यं भाग्यं नैव यदिच्छति। भाग्येन रक्षितं वस्तु प्रक्षिप्तं नापि नश्यति।६। दैवस्य प्रबला शक्तिर्यतस्तद्ग्रस्तमानवः। यदैव यतते जेतुं तदैवाशु स पात्यते।१०। —भाग्य जिस बातको नहीं चाहता उसे तुम अत्यन्त चेष्टा करनेपर भी नहीं रख सकते, और जो वस्तुएँ भाग्यमें बदी हैं उन्हें फेंक देनेपर भी वे नष्ट नहीं होतीं।६। (भ. आ./मू./१७३१/१५६२); (पं. वि./१,१८८) दैवसे बढ़कर बलवान् और कौन है, क्योंकि जब ही मनुष्य उसके फन्देसे छूटनेका यत्न करता है, तब ही वह आगे बढ़कर उसको पछाड़ देता है।१०।

आ. मी./८८ पौरुषादेव सिद्धिश्चेत्पौरुषं दैवतः कथम्। पौरुषाच्चेदमोघं स्यात्सर्वप्राणिषु पौरुषम्।८८। —यदि पुरुषार्थसे ही अर्थकी सिद्धि मानते हो तो हम पूछते हैं कि दैवसिद्ध जितने भी कार्य हैं, उनकी सिद्धि कैसे करोगे। यदि कहो कि उनकी सिद्धि भी पुरुषार्थ द्वारा ही होती है, तो यह बताइए, कि पुरुषार्थ तो सभी व्यक्ति करते हैं, उनको उसका समान फल क्यों नहीं मिलता? अर्थात् कोई सुखी व कोई दुःखी क्यों है?

आ. अनु./३२ नेता यत्र बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः, स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः खलु हरेरैरावतो वारणः। इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलिभिद्भग्नः परैः संगरे, तद्व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम्।३२। —जिसका मन्त्री बृहस्पति था, शस्त्र वज्र था, सैनिक देव थे, दुर्ग स्वर्ग था, हाथी ऐरावत था, तथा जिसके ऊपर विष्णुका अनुग्रह था; इस प्रकार अद्भुत बलसे संयुक्त भी वह इन्द्र युद्धमें दैत्यों (अथवा रावण आदि) द्वारा पराजित हुआ है। इसीलिए यह स्पष्ट है कि निश्चयसे दैव ही प्राणोंका रक्षक है, पुरुषार्थ व्यर्थ है, उसके लिए बारंबार धिक्कार हो।

पं. वि./३/४२ राजापि क्षणमात्रतो विधिवशाद्रङ्कायते निश्चितं, सर्वव्याधिविवर्जितोऽपि तरुणोऽप्याशु क्षयं गच्छति। अन्यैः किं किल सारतामुपगते श्रीजीविते द्वे तयोः, संसारे स्थितिरीदृशीति विदुषा क्वान्यत्र कार्यो मदः।४२। —भाग्यवश राजा भी निश्चयसे क्षणभरमें रंकके समान हो जाता है, तथा समस्त रोगोंसे रहित युवा पुरुष भी शीघ्र ही मरणको प्राप्त होता है। इस प्रकार अन्य पदार्थोंके विषयमें तो क्या कहा जाय, किन्तु जो लक्ष्मी और जीवित दोनों ही संसारमें श्रेष्ठ समझे जाते हैं, उनकी भी जब ऐसी (उपर्युक्त) स्थिति है तब विद्वान् मनुष्यको अन्य किसके विषयमें अभिमान करना चाहिए?

पं. ध./उ./५७१ पौरुषो न यथाकामं पुंसः कर्मोदितं प्रति। न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुषः।५७१। —दैव अर्थात् कर्मोदयके प्रति जीवका इच्छानुकूल पुरुषार्थ कारण नहीं है, क्योंकि, पुरुषार्थ केवल पौरुषकी अपेक्षा नहीं रखता है, किन्तु दैवकी अपेक्षा रखता है।

और भी. दे. पुण्य/४/२ (पुण्य साथ रहनेपर बिना प्रयत्न भी समस्त इष्ट सामग्री प्राप्त होती है, और वह साथ न रहनेपर अनेक कष्ट उठाते हुए भी वह प्राप्त नहीं होती)।

६. दैवकी अनिवार्यता

पद्म पु./४६/६-७ सस्पन्दं दक्षिणं चक्षुरवधार्य व्यचिन्तयत्। प्राप्तव्यं विधियोगेन कर्म कर्तुं न शक्यते।६। क्षुद्रशक्तिसमासक्ता मानुषास्तावदासताम्। न सुरैरपि कर्माणि शक्यन्ते कर्तुमन्यथा।७। —दक्षिण नेत्रको फड़कते देख उसने विचार किया कि दैवयोगसे जो कार्य जैसा होना होता है, उसे अन्यथा नहीं किया जा सकता।६। हीन शक्तिवालोंकी तो बात ही क्या, देवोंके द्वारा भी कर्म अन्यथा नहीं किये जा सकते।७।

म. पु./४४/२६६ स प्रतापः प्रभा सास्य सा हि सर्वैकपूज्यता। प्रातः प्रत्यहमर्कस्याप्यतर्क्यः कर्कशो विधिः। —सूर्यका प्रताप व कान्ति असाधारण है और असाधारण रूपसे ही सब उसकी पूजा करते हैं, इससे जाना जाता है कि निष्ठुर दैव तर्कका विषय नहीं है।

४. भवितव्य निर्देश

१. भवितव्यका लक्षण

मो. मा. प्र./६/४५६/४ जिस काल विषै जो कार्य भया सोई होनहार (भवितव्य) है।

जैन तत्त्व मीमांसा/पृ. ६/पं. फूलचन्द—भवितुं योग्यं भवितव्यं, तस्य भावः भवितव्यता। —जो होने योग्य हो उसे भवितव्य कहते हैं। और उसका भाव भवितव्यता कहलाता है।

२. भवितव्यकी कथंचित् प्रधानता

पं. वि./३/५३ लोकश्चेतसि चिन्तयन्ननुदिनं कल्याणमेवात्मनः, कुर्यात्सा भवितव्यतागतवती तत्तत्र यद्रोचते। —मनुष्य प्रतिदिन अपने कल्याणका ही विचार करते हैं, किन्तु आयी हुई भवितव्यता वही करती है जो कि उसको रुचता है।

का. अ./पं. जयचन्द/३११-३१२ जो भवितव्य है वही होता है।

मो. मा. प्र./२/पृष्ठ/पंक्ति—क्रोधकरि (दूसरेका) बुरा चाहनेकी इच्छा तौ होय, बुरा होना भवितव्याधीन है।५६/८। अपनी महंतताकी इच्छा तौ होय, महंतता होनी भवितव्य आधीन है।५६/१८। मायाकरि इष्ट सिद्धिके अर्थि छल तौ करै, अर इष्ट सिद्धि होना भवितव्य आधीन है।५७/३।

मो. मा. प्र./३/८०/११ इनकी सिद्धि होय (अर्थात् कषायोंके प्रयोजनोंकी सिद्धि होय) तौ कषाय उपशमनेतैं दुःख दूर होय जाय सुखी होय, परन्तु इनकी सिद्धि इनके लिए (किये गये) उपायनिकै आधीन नाहीं, भवितव्यके आधीन हैं। जातैं अनेक उपाय करते देखिये हैं अर सिद्धि न हो है। बहुरि उपाय बनना भी अपने आधीन नाहीं, भवितव्यके आधीन है। जातैं अनेक उपाय करना विचारै और एक भी उपाय न होता देखिये है। बहुरि काकतालीन्यायकरि भवितव्य ऐसा ही होय जैसा आपका प्रयोजन होय तैसा ही उपाय होय अर तातैं कार्यकी सिद्धि भी होय जाय।

३. भवितव्य अलंघ्य व अनिवार्य है

स्व. स्तो/३३ अलङ्घ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं, हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा । अनीश्वरो जन्तुरहं क्रियार्त्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ।३३। — अन्तरंग और बाह्य दोनों कारणोंके अनिवार्य संयोग द्वारा उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है, ऐसी इस भवितव्यताकी शक्ति अलंघ्य है। अहंकारसे पीड़ित हुआ संसारी प्राणी मन्त्र-तन्त्रादि अनेक सहकारी कारणोंको मिलाकर भी सुखादि कार्योंके सम्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता है। (पं. वि./३/८)

प.पु/४१/१०२ पक्षिणं संयतोऽगादीन्मा भैषीरधुना द्विज। मा रोदीर्यद्यथा भाव्यं कः करोति तदन्यथा ।१०२। —रामसे इतना कहकर मुनिराजने गृद्धसे कहा कि हे द्विज! अब भयभीत मत होओ, रोओ मत, जो भवितव्य है अर्थात् जो बात जैसी होनेवाली है, उसे अन्यथा कौन कर सकता है।

५. नियति व पुरुषार्थका समन्वय

१. दैव व पुरुषार्थ दोनोंके मेलसे ही अर्थ सिद्धि होती है

अष्टशती/ योग्यता कर्मपूर्वं वा दैवमुभयमदृष्टम्, पौरुषं पुनरिह चेष्टितं दृष्टम्। ताभ्यामर्थसिद्धिः, तदन्यतरापायेऽघटनात्। पौरुषमात्रेऽर्थादर्शनात्। दैवमात्रे वा समीहानर्थक्यप्रसंगात्। —(संसारी जीवोंमें दैव व पुरुषार्थ सम्बन्धी प्रकरण है।)—पदार्थकी योग्यता अर्थात् भवितव्य और पूर्वकर्म ये दोनों दैव कहलाते हैं। ये दोनों ही अदृष्ट हैं। तथा व्यक्तिकी अपनी चेष्टाको पुरुषार्थ कहते हैं जो दृष्ट है। इन दोनोंसे ही अर्थ सिद्धि होती है, क्योंकि, इनमेंसे किसी एकके अभावमें अर्थसिद्धि घटित नहीं हो सकती। केवल पुरुषार्थसे तो अर्थसिद्धि होती दिखाई नहीं देती (दे० नियति/३/५)। तथा केवल दैवके माननेपर इच्छा करना व्यर्थ हुआ जाता है। (दे० नियति/३/२)।

प.पु./४६/२३१ कृत्यं किंचिद्विशदमनसामाप्तवाक्यानपेक्षं, नाप्नोत्यर्कं फलति पुरुषस्योज्झितं पौरुषेण। दैवापेतं पुरुषकरणं कारणं नेष्टसङ्गे तस्माद्भव्याः कुरुत यत्नं सर्वहेतुप्रसादे ।२३१। —हे राजन्! निर्मल चित्तके धारक मनुष्योंका कोई भी कार्य आप्त वचनोंसे निरपेक्ष नहीं होता, और आप्त भगवान्‌ने मनुष्योंके लिए जो कर्म बतलाये हैं वे पुरुषार्थके बिना सफल नहीं होते। और पुरुषार्थ दैवके बिना इष्ट सिद्धिका कारण नहीं होता। इसलिए हे भव्यजीवो! जो सबका कारण है उसके (अर्थात् आत्माके) प्रसन्न करनेमें यत्न करो ।२३१।

२. अबुद्धिपूर्वकके कार्योंमें दैव तथा बुद्धिपूर्वकके कार्योंमें पुरुषार्थ प्रधान है

आप्त.मी./९१ अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः। बुद्धिपूर्वविपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ।९१। —[केवल दैव ही से यदि अर्थसिद्धि मानते हो तो पुरुषार्थ करना व्यर्थ हो जाता है (दे० नियति/३/२ में आप्त. मी./८८)। केवल पुरुषार्थसे ही यदि अर्थसिद्धि मानी जाय तो पुरुषार्थ तो सभी करते हैं, फिर सबको समान फलकी प्राप्ति होती हुई क्यों नहीं देखी जाती (दे० नियति/३/५ में आप्त. मी./८९)। परस्पर विरोधी होनेके कारण एकान्त उभयपक्ष भी योग्य नहीं। एकान्त अनुभय मानकर सर्वथा अवक्तव्य कह देनेसे भी काम नहीं चलता, क्योंकि, सर्वत्र उनकी चर्चा होती सुनी जाती है। (आप्त. मी./९०)। इसलिए अनेकान्त पक्षको स्वीकार करके दोनोंसे ही कथंचित् कार्यसिद्धि मानना योग्य है। वह ऐसे कि—कार्य व कारण दो प्रकारके देखे जाते हैं—अबुद्धि पूर्वक स्वतः हो जानेवाले या मिल जानेवाले तथा बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले या मिलाये जानेवाले (दे० इससे अगला सन्दर्भ/मो. मा. प्र.)] तहाँ अबुद्धिपूर्वक होनेवाले व मिलनेवाले कार्य व कारण तो अपने दैवसे ही होते हैं; और बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले व मिलाये जानेवाले इष्टानिष्ट कार्य व कारण अपने पुरुषार्थसे होते हैं। अर्थात् अबुद्धिपूर्वके कार्य कारणोंमें दैव प्रधान है और बुद्धिपूर्वकवालोंमें पुरुषार्थ प्रधान है।

मो. मा. प्र./७/२८६/११ प्रश्न—जो कर्मका निमित्ततैं हो है (अर्थात् रागादि मिटै हैं), तौ कर्मका उदय रहै तावत् विभाव दूर कैसें होय? तातैं याका उद्यम करना तौ निरर्थक है? उत्तर—एक कार्य होने विषै अनेक कारण चाहिए हैं। तिनविषैं जे कारण बुद्धिपूर्वक होय तिनकौं तौ उद्यम करि मिलावै, और अबुद्धिपूर्वक कारण स्वयमेव मिलैं तब कार्यसिद्धि होय। जैसे पुत्र होनेका कारण बुद्धिपूर्वक तौ विवाहादिक करना है और अबुद्धिपूर्वक भवितव्य है। तहाँ पुत्रका अर्थी विवाह आदिका तौ उद्यम करै, अर भवितव्य स्वयमेव होय, तब पुत्र होय। तैसे विभाव दूर करनेके कारण बुद्धिपूर्वक तौ तत्त्वविचारादि हैं अर अबुद्धिपूर्वक मोह कर्मका उपशमादि हैं। सो ताका अर्थी तत्त्वविचारादिका तौ उद्यम करै, अर मोहकर्मका उपशमादि स्वयमेव होय, तब रागादि दूर होय।

३. अत: रागदशामें पुरुषार्थ करनेका ही उपदेश है

दे० नय/I/५/४-नय नं० २१ जिस प्रकार पुरुषार्थ द्वारा ही अर्थात् चलकर उसके निकट जानेसे ही पथिकको वृक्षकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार पुरुषाकारनयसे आत्मा यत्नसाध्य है।

द्र. सं./टी./२१/६३/३ यद्यपि काललब्धिवशेनानन्तसुखभाजनो भवति जीवस्तथापि ··· सम्यक् श्रद्धानज्ञानानुष्ठान ··· तपश्चरणरूपा या निश्चयचतुर्विधाराधना सैव तत्रोपादानकारणं ज्ञातव्यं न कालस्तेन स हेय इति। —यद्यपि यह जीव काललब्धिके वशसे अनन्तसुखका भाजन होता है तो भी सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, आचरण व तपश्चरणरूप जो चार प्रकारकी निश्चय आराधना है, वह ही उसकी प्राप्तिमें उपादानकारण जाननी चाहिए, उसमें काल उपादान कारण नहीं है, इसलिए वह कालद्रव्य त्याज्य है।

मो. मा. प्र./७/२९०/१ प्रश्न—जैसे विवाहादिक भी भवितव्य आधीन हैं, तैसे तत्त्वविचारादिक भी कर्मका क्षयोपशमादिकके आधीन है, तातैं उद्यम करना निरर्थक है? उत्तर—ज्ञानावरणका तौ क्षयोपशम तत्त्वविचारादि करने योग्य तेरै भया है। याहीतैं उपयोग कौं यहाँ लगावनेका उद्यम कराइए हैं। असंज्ञी जीवनिकैं क्षयोपशम नाहीं है, तौ उनकौ काहे कौं उपदेश दीजिए है। (अर्थात् अबुद्धिपूर्वक मिलनेवाला दैवाधीन कारण तौ तुझे दैवसे मिल ही चुका है, अब बुद्धिपूर्वक किया जानेवाला कार्य करना शेष है। वह तेरे पुरुषार्थके आधीन है। उसे करना तेरा कर्त्तव्य है।)

मो. मा. प्र./९/४५५/१७ प्रश्न—जो मोक्षका उपाय काललब्धि आए भवितव्यानुसारि बनैं है कि, मोहादिका उपशमादि भए बनैं हैं, अथवा अपने पुरुषार्थ तैं उद्यम किए बनैं, सो कहो। जो पहिले दोय कारण मिले बनैं है, तौ हमकौं उपदेश काहेकौं दीजिए है। अर पुरुषार्थतैं बनैं है, तौ उपदेश सर्व सुनैं, तिनिविषै कोई उपाय कर सकै, कोई न करि सकै, सो कारण कहा? उत्तर—एक कार्य होनेविषैं अनेक कारण मिलै हैं। सो मोक्षका उपाय बनै है तहां तौ पूर्वोक्त तीनौं (काललब्धि, भवितव्य व कर्मोंका उपशमादि) ही कारण मिलै हैं। पूर्वोक्त तीन कारण कहे, तिनिविषै काललब्धि वा होनहार (भवितव्य) तौ कछू वस्तु नाहीं। जिसकालविषै कार्य बनैं, सोई काललब्धि और जो कार्य भया सोई होनहार। बहुरि जो कर्मका उपशमादि है; सो पुद्गलकी शक्ति है। ताका कर्ता हर्ता आत्मा नाहीं। बहुरि पुरुषार्थतैं उद्यम करिए है, सो यह आत्माका कार्य है, तातैं आत्माको पुरुषार्थ करि उद्यम करनेका उपदेश दीजिये है।

४. नियति सिद्धान्तमें स्वच्छन्दाचारको अवकाश नहीं

मो. मा. प्र./७/२६८ प्रश्न—होनहार होय, तौ तहाँ (तत्त्वविचारादिके उद्यममें) उपयोग लागे, बिना होनहार कैसे लागे, (अतः उद्यम करना निरर्थक है)? उत्तर—जो ऐसा श्रद्धान है, तौ सर्वत्र कोई ही कार्यका उद्यम मति करै। तू खान-पान-व्यापारादिकका तौ उद्यम करै, और यहाँ (मोक्षमार्गमें) होनहार बतावै। सो जानिए है, तेरा अनुराग (रुचि) यहाँ नाहीं। मानादिककरि ऐसी झूठी बातैं बनावै है। या प्रकार जे रागादिक होतै (निश्चयनयका आश्रय लेकर) तिनिकरि रहित आत्म को मानैं हैं, ते मिथ्यादृष्टि हैं।

प्र.सा./पं. जयचन्द/२०२ इस विभावपरिणतिको पृथक् होती न देखकर वह (सम्यग्दृष्टि) आकुलव्याकुल भी नहीं होता (क्योंकि जानता है कि समयसे पहिले अक्रमरूपसे इसका अभाव होना सम्भव नहीं है), और वह सकल विभाव परिणतिको दूर करनेका पुरुषार्थ किये बिना भी नहीं रहता।

दे० नियति/५/७ (नियतिनिर्देशका प्रयोजन धर्म लाभ करना है।)

५. वास्तवमें पाँच समवाय समवेत ही कार्य व्यवस्था सिद्ध है

प. पु./३१/२१२-२१३ भरतस्य किमाकूतं कृतं दशरथेन किम्। रामलक्ष्मणयोरेषा का मनीषा व्यवस्थिता।२१२। कालः कर्मेश्वरो दैवं स्वभावः पुरुषः क्रिया। नियतिर्वा करोत्येवं विचित्रं कः समीहितम् ।२१३—(दशरथने रामको वनवास और भरतको राज्य दे दिया। इस अवसरपर जनसमूहमें यह बातें चल रही हैं।)—भरतका क्या अभिप्राय था? और राजा दशरथने यह क्या कर दिया? राम लक्ष्मणके भी यह कौनसी बुद्धि उत्पन्न हुई है? ।२१२। यह सब काल, कर्म, ईश्वर, दैव, स्वभाव, पुरुष, क्रिया अथवा नियति ही कर सकती है। ऐसी विचित्र चेष्टाको और दूसरा कौन कर सकता है ।२१३। (कालको नियतिमें, कर्म व ईश्वरको निमित्तमें और दैव व क्रियाको भवितव्यमें गर्भित कर देनेपर पाँच बातें रह जाती हैं। स्वभाव, निमित्त, नियति, पुरुषार्थ व भवितव्य इन पाँच समवायोंसे समवेत ही कार्य व्यवस्थाकी सिद्धि है, ऐसा प्रयोजन है।)

पं. का./ता.वृ./२०/४२/१८ यदा कालादिलब्धिवशाद्भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गं लभते तदा तेषां ज्ञानावरणादिभावानां द्रव्यभावकर्मरूपपर्यायाणामभावं विनाशं कृत्वा पर्यायार्थिकनयेनाभूतपूर्वसिद्धो भवति। द्रव्यार्थिकनयेन पूर्वमेव सिद्धरूप इति वार्तिकं। —जब जीव कालादि लब्धिके वशसे भेदाभेद रत्नत्रयात्मक व्यवहार व निश्चय मोक्षमार्गको प्राप्त करता है, तब उन ज्ञानावरणादिक भावोंका तथा द्रव्य भावकर्मरूप पर्यायोंका अभाव या विनाश करके सिद्धपर्यायको प्रगट करता है। वह सिद्धपर्याय पर्यायार्थिकनयसे तो अभूतपूर्व अर्थात् पहले नहीं थी ऐसी है। द्रव्यार्थिकनयसे वह जीव पहिलेसे ही सिद्ध रूप था। (इस वाक्यमें आचार्यने सिद्धपर्यायप्राप्तिरूप कार्यमें पाँचों समवायोंका निर्देश कर दिया है। द्रव्यार्थिकनयसे जीवका त्रिकाली सिद्ध सदृश शुद्ध स्वभाव, ज्ञानावरणादि कर्मोंका अभावरूप निमित्त, कालादिलब्धि रूप नियति, मोक्षमार्गरूप पुरुषार्थ और सिद्ध पर्यायरूप भवितव्य।)

मो. मा. प्र./३/७३/१७ प्रश्न—काहू कालविषै शरीरकी वा पुत्रादिककी इस जीवके आधीन भी तो क्रिया होती देखिये है, तब तौ सुखी हो है। (अर्थात् सुख दुःख भवितव्याधीन ही तो नहीं हैं, अपने आधीन भी तो होते ही हैं)। उत्तर—शरीरादिककी, भवितव्यकी और जीवकी इच्छाकी विधि मिलै, कोई एक प्रकार जैसे वह चाहै तैसे परिणमै तातैं काहू कालविषै वाहीका विचार होतैं सुखकी सी आभासा होय है, परन्तु सर्व ही तौ सर्व प्रकार यह चाहै तैसे न परिणमै। (यहाँ भी पाँचों समवायोंके मिलनेसे ही कार्यकी सिद्धि होना बताया गया है, केवल इच्छा या पुरुषार्थसे नहीं। तहाँ सुखप्राप्ति रूप कार्यमें 'परिणमन' द्वारा जीवका स्वभाव, 'शरीरादि' द्वारा निमित्त, 'काहू कालविषै' द्वारा नियति, 'इच्छा' द्वारा पुरुषार्थ और भवितव्य द्वारा भवितव्यका निर्देश किया गया है।)

६. नियति व पुरुषार्थादि सहवर्ती हैं

१. काललब्धि होनेपर शेष कारण स्वतः प्राप्त होते हैं

प. पु./५३/२४६ प्राप्ते विनाशकालेऽपि बुद्धिर्जन्तोर्विनश्यति। विधिना प्रेरितस्तेन कर्मपाकं विचेष्टते।२४६। —विनाशका अवसर प्राप्त होनेपर जीवकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। सो ठीक है; क्योंकि, भवितव्यताके द्वारा प्रेरित हुआ यह जीव कर्मोदयके अनुसार चेष्टा करता है।

अष्टसहस्री/पृ. २५७ तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः। सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता। —जिस जीवकी जैसी भवितव्यता होती है उसकी वैसी ही बुद्धि हो जाती है। वह प्रयत्न भी उसी प्रकारका करने लगता है और उसे सहायक भी उसीके अनुसार मिल जाते हैं।

म. पु./४७/१७७-१७८ कदाचित् काललब्ध्यादिचोदितोऽभ्यर्णनिर्वृतिः। विलोकयन्नभोभागं अकस्मादन्धकारितम् ।१७७। चन्द्रग्रहणमालोक्य धिगेतस्यापि चेदियम्। अवस्था संसृतौ पापग्रस्तस्यान्यस्य का गतिः ।१७८। —किसी समय जब उसका मोक्ष होना अत्यन्त निकट रह गया तब गुणपाल काललब्धि आदिसे प्रेरित होकर आकाशकी ओर देख रहा था कि इतनेमें उसकी दृष्टि अकस्मात् अन्धकारसे भरे हुए चन्द्रग्रहणकी ओर पड़ी। उसे देखकर वह संसारके पापग्रस्त जीवोंकी दशाको धिक्कारने लगा। और इस प्रकार उसे वैराग्य आ गया ।१७७-१७८।

पं. का./पं. हेमराज/१६१/२३३ प्रश्न—जो आप ही से निश्चय मोक्षमार्ग होय तो व्यवहारसाधन किसलिए कहा? उत्तर—आत्मा—अनादि अविद्यासे युक्त है। जब काललब्धि पानेसे उसका नाश होय उस समय व्यवहार मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति हो है।...(तभी) सम्यक् रत्नत्रयके ग्रहण करनेका विचार होता है, इस विचारके होनेपर जो अनादिका ग्रहण था, उसका तो त्याग होता है, और जिसका त्याग था उसका ग्रहण होता है।

२. कालादि लब्धि बहिरंग कारण हैं और पुरुषार्थ अन्तरंग कारण है—

म. पु./६/११६ देशनाकाललब्ध्यादिबाह्यकारणसंपदि। अन्तःकरणसामग्र्यां भव्यात्मा स्याद् विशुद्धकृत् (दृक्) ।११६। —जब देशनालब्धि और काललब्धि आदि बहिरंग कारण तथा करण लब्धिरूप अन्तरंग कारण सामग्रीकी प्राप्ति होती है, तभी यह भव्य प्राणी विशुद्ध सम्यग्दर्शनका धारक हो सकता है।

द्र. सं./टी./३६/१५१/४ केन कारणभूतेन गलति 'जहकालेण' स्वकालपच्यमानाम्रफलवत्सविपाकनिर्जरापेक्षया, अभ्यन्तरे निजशुद्धात्मसंवित्तिपरिणामस्य बहिरंगसहकारिकारणभूतेन काललब्धिसंज्ञेन यथाकालेन, न केवलं यथाकालेन 'तवेण' अकालपच्यमानानामाम्रादिफलवदविपाकनिर्जरापेक्षया...चेति 'तस्स' कर्मणो गलनं यच्च सा द्रव्यनिर्जरा। —प्रश्न—कर्म किस कारण गलता है? उत्तर—'जहकालेण' अपने समयपर पकनेवाले आमके फलके समान तो सविपाक निर्जराकी अपेक्षा, और अन्तरंगमें निजशुद्धात्माके अनुभवरूप परिणामको बहिरंग सहकारीकारणभूत काललब्धिसे यथा समय; और 'तवेणय' बिना समय पकते हुए आम आदि फलोंके समान अविपाक निर्जराकी अपेक्षा उस कर्मका गलना द्रव्यनिर्जरा है।

दे. पद्धति/२/३ (आगम भाषामें जिसे कालादि लब्धि कहते हैं अध्यात्म भाषामें उसे ही शुद्धात्माभिमुख स्वसंवेदन ज्ञान कहते हैं।)

६. एक पुरुषार्थमें सर्वकारण समाविष्ट हैं

मो. मा. प्र./९/४५६/८ यहु आत्मा जिस कारणतैं कार्यसिद्धि अवश्य होय, तिस कारणरूप उद्यम करै, तहाँ तो अन्य कारण मिलैं ही मिलैं, अर कार्यकी भी सिद्धि होय ही होय। बहुरि जिस कारणतैं कार्य-सिद्धि होय, अथवा नाहीं भी होय, तिस कारणरूप उद्यम करै तहाँ अन्य कारण मिलैं तौ कार्य सिद्धि होय न मिलै तौ सिद्धि न होय। जैसे—...जो जीव पुरुषार्थ करि जिनेश्वरका उपदेश अनुसार मोक्षका उपाय करै है, ताकै काललब्धि व होनहार भी भया। अर कर्मका उपशमादि भया है, तौ यहु ऐसा उपाय करै है। तातै जो पुरुषार्थ करि मोक्षका उपाय करै है, ताकै सर्व कारण मिलै हैं, ऐसा निश्चय करना।...बहुरि जो जीव पुरुषार्थ करि मोक्षका उपाय न करै, ताकै काललब्धि वा होनहार भी नाहीं। अर कर्मका उपशमादि न भया है, तौ यहु उपाय न करै है। तातै जो पुरुषार्थकरि मोक्षका उपाय न करै है, ताकै कोई कारण मिलै नाहीं, ऐसा निश्चय करना।

७. नियति निर्देशका प्रयोजन

प. वि./३/८,१०,५३ भवन्ति वृक्षेषु पतन्ति नूनं पत्राणि पुष्पाणि फलानि यद्वत्। कुलेषु तद्वत्पुरुषाः किमत्र हर्षेण शोकेन च सन्मतीनाम्।८। पूर्वोपार्जितकर्मणा विलिखितं यस्यावसानं यदा, तज्जायेत तदैव तस्य भविनो ज्ञात्वा तदेतद्ध्रुवम्। शोकं मुञ्च मृते प्रियेऽपि सुखदं धर्मं कुरुष्वादरात्, सर्पे दूरमुपागते किमिति भोस्तद्धृष्टिराहन्यते। ।१०। मोहोल्लासवशादतिप्रसरतो हित्वा विकल्पान् बहून्, रागद्वेष-विषोज्झितैरिति सदा सद्भिः सुखं स्थीयताम्।५३। —जिस प्रकार वृक्षोंमें पत्र, पुष्प एवं फल उत्पन्न होते हैं और वे समयानुसार निश्चय-से गिरते भी हैं उसी प्रकार कुटुम्बमें जो पुरुष उत्पन्न होते हैं वे मरते भी हैं। फिर बुद्धिमान् मनुष्योंको उनके उत्पन्न होनेपर हर्ष और मरनेपर शोक क्यों होना चाहिए।८। पूर्वोपार्जित कर्मके द्वारा जिस प्राणीका अन्त जिस समय लिखा है उसी समय होता है, यह निश्चित जानकर किसी प्रिय मनुष्यका मरण हो जानेपर भी शोकको छोड़ो और विनयपूर्वक धर्मका आराधन करो। ठीक है—सर्पके निकल जानेपर उसकी लकीरको कौन लाठीसे पीटता है।१०। (भवितव्यता वही करती है जो कि उसको रुचता है) इसलिए सज्जन पुरुष राग-द्वेषरूपी विषसे रहित होते हुए मोहके प्रभावसे अतिशय विस्तारको प्राप्त होनेवाले बहुतसे विकल्पोंको छोड़कर सदा सुखपूर्वक स्थित रहें अर्थात् साम्यभावका आश्रय करें।५३।

मो. पा./पं. जयचन्द/८६ सम्यग्दृष्टिकै ऐसा विचार होय है—जो वस्तुका स्वरूप सर्वज्ञने जैसा जान्या है, तैसा निरन्तर परिणमै है, सो होय है। इष्ट-अनिष्ट मान दुखी सुखी होना निष्फल है। ऐसे विचारतै दुख मिटै है, यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है। जातै सम्यक्त्व-का ध्यान करना कह्या है।

नियम—१. रत्नत्रयके अर्थमें

नि.सा./मू./३,१२० णियमेण य जं कज्जं तण्णियमं णाणदंसणचरित्तम्। ।३। सुहअसुहवयणरयणं रायादिभाववारणं किच्चा। अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवे णियमा।१२०। —नियम अर्थात् नियम-से जो करने योग्य हो वह अर्थात् ज्ञान दर्शन चारित्र।३। शुभाशुभ-वचनरचनाका और रागादि भावोंका निवारण करके, जो आत्माको ध्याता है, उसको निश्चित रूपसे नियम है।१२०।

नि. सा./ता. वृ./गा. नियमशब्दस्तावत् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु वर्तते।१। यः...स्वभावानन्तचतुष्टयात्मकः शुद्धज्ञानचेतनापरिणामः स नियमः। नियमेन च निश्चयेन यत्कार्यं प्रयोजनस्वरूपं ज्ञानदर्शन-चारित्रम्।३। नियमेन स्वात्माराधनातत्परता।१२१। —नियम शब्द सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमें वर्तता है। जो स्वभावानन्तचतुष्टयात्मक शुद्धज्ञान चेतनापरिणाम है वह नियम है। नियमसे अर्थात् निश्चयसे जो किया जाने योग्य है अर्थात् प्रयोजनस्वरूप है ऐसा ज्ञानदर्शन-चारित्र नियम है। निज आत्माकी आराधनामें तत्परता सो नियम है।

२. वचनरूप नियम स्वाध्याय है

नि. सा./मू./१५३ वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चक्खाणं णियमं च। आलोयणवयणमयं तं सव्वं जाण सज्झाउं। —वचनमयी प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, नियम और आलोचना ये सब स्वाध्याय जानो।

३. सावधि त्यागके अर्थमें

र. क. श्रा./८७-८९ नियमः परिमितकालो।८७। भोजनवाहनशयन-स्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु। ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु।८८। अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथार्तुरयनं वा। इति कालपरि-च्छित्त्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः।८९। —जिस त्यागमें कालकी मर्यादा है वह नियम कहलाता है।८७। भोजन, सवारी, शयन, स्नान, कुंकुमादिलेपन, पुष्पमाला, ताम्बूल, वस्त्र, अलंकार, काम-भोग, संगीत और गीत इन विषयोंमें—आज, एकदिन, एकरात, एकपक्ष, एकमास तथा दो मास, अथवा छहमास इस प्रकार कालके विभागसे त्याग करना सो नियम है। (सा. ध./५/१४)।

रा. वा./९/७/३/५३३/१५ इदमेवेत्थमेव वा कर्तव्यमित्यन्यनिवृत्तिः नियमः। —'यह ही तथा ऐसा ही करना है' इस प्रकार अन्य पदार्थकी निवृत्तिको नियम कहते हैं।

प. पु./१४/२०२ मधुतो मद्यतो मांसात् द्यूततो रात्रिभोजनात्। वेश्या-संगमनाच्चास्य विरतिर्नियमः स्मृतः।२०२। —गृहस्थ मधु, मद्य, मांस, जूआ, रात्रिभोजन और वेश्यासमागमसे जो रिक्त होता है, उसे नियम कहा है।

नियमसार—१. नियमसारका लक्षण

नि. सा./मू./३ णियमेण य जं कज्जं तण्णियमं णाणदंसणचरित्तं। विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणम्। —नियमसे जो करने योग्य हो अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्रको नियम कहते हैं। इस रत्नत्रयसे विरुद्ध भावोंका त्याग करनेके लिए वास्तवमें 'सार' ऐसा वचन कहा है।

नि. सा./ता. वृ./१ नियमसार इत्यनेन शुद्धरत्नत्रयस्वरूपमुक्तम्। —'नियमसार' ऐसा कहकर शुद्धरत्नत्रयका स्वरूप कहा है।

२. नियमसार नामक ग्रन्थ

आ. कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७९) कृत, अध्यात्म विषयक, १७० प्राकृत-गाथा बद्ध शुद्धात्मस्वरूप प्रदर्शक, एक ग्रन्थ। इसपर केवल एक टीका-उपलब्ध है—मुनि पद्मप्रभ मलधारीदेव (११४०-११८५) कृत संस्कृत टीका। (ती./२/११४)।

नियमित साल्व—Regular Solid (ज. प./प्र. १०७)।

नियुत—कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१/४।

नियुतांग—कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१/४।

निरंतर—१. निरन्तर बँधी प्रकृति—दे० प्रकृतिबंध/२। २. निरन्तर सान्तर वर्गणा—दे० वर्गणा। ३. निरन्तर स्थिति - दे० स्थिति/१।

निरतिचार—निरतिचार शीलव्रत भावना—दे० शील।

निरनुयोज्यानुपेक्षण

न्या. सू./मू./५/२/२२ अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः ।२२। —निग्रहस्थान नहीं उठानेके अवसरपर निग्रहस्थानका उठा देना वक्ताका 'निरनुयोज्यानुयोग' नामक निग्रहस्थान है।

नोट—(श्लो. वा. ४/१/३३/न्या. श्लो. २६२-२६३)—में इसका निराकरण किया है।

निरन्वय —(न्या. वि./वृ./२/६१/११८/२४)—निरन्वयम् अन्वयान्निष्क्रान्तं तत्त्वं स्वरूपम्। —अन्वय अर्थात् अनुगमन या संगतिसे निष्क्रान्त तत्त्व या स्वरूप।

निरपेक्ष—दे० स्याद्वाद/२।

निरय—प्रथम नरकका द्वितीय पटल—दे० नरक/५/११ तथा रत्नप्रभा

निरर्थक —(न्या. सू./मू. व. वृ./५/२/८) वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ।८। यथा नित्यः शब्दः कचटतपाः जबगडदशत्वात् झभञघढधषवदिति एवंप्रकारनिरर्थकम्। अभिधानाभिधेयभावानुपपत्तौ अर्थगतेरभावाद्वर्णाः क्रमेण निर्दिश्यन्त इति ।८। —वर्णोंके क्रमका नाममात्र कथन करनेके समान निरर्थक निग्रहस्थान होता है। जैसे—क, च, ट, त, प ये शब्द नित्य हैं। ज, ब, ग, ड, द, श, त्व, होनेके कारण, झ, भ, ञ, घ, ढ, ध, ष की नाई। वाच्यवाचक भावके नहीं बननेपर अर्थका ज्ञान नहीं होनेसे वर्ण ही क्रमसे किसीने कह दिये हैं, इसलिए यह निरर्थक है।

नोट—(श्लो. वा. ४/१/३३/न्या./श्लो. १६७-२००/३६२)—में इसका निराकरण किया गया है।

निराकांक्ष—१. निराकांक्ष अनशन—दे० अनशन २. निराकांक्ष गुण—दे० नि.कांक्षित।

निराकार—दे० आकार।

निराकुलता—दे० सुख।

निरूपणा—(रा. वा./१/१५/११/५५/१८) तस्य नामादिभिः प्रकल्पना प्ररूपणम्। —नाम जाति आदिकी दृष्टिसे शब्दयोजना करना निरूपण कहलाता है।

निरोध—(रा. वा./६/१७/५/६२५/२६) गमनभोजनशयनाध्ययनादिषु क्रियाविशेषेषु अनियमेन वर्तमानस्य एकस्याः क्रियायाः कर्तृत्वेनावस्थानं निरोध इत्यवगम्यते। —गमन, भोजन, शयन, और अध्ययन आदि विविध क्रियाओंमें भटकनेवाली चित्तवृत्तिका एक क्रियामें रोक देना (चिन्ता) निरोध है।

निर्गमन—किस गतिसे निकलकर किस गति व गुणस्थान आदिमें जन्मे। इस सम्बन्धी गति अगति तालिका—दे० जन्म/६।

निर्ग्रन्थ—१. निष्परिग्रहके अर्थमें

ध. ६/४,१,६७/३२३/७ ववहारणयं पडुच्च खेत्तादी गंथो, अब्भंतरंग कारणत्तादो। एदस्स परिहरणं णिग्गंथं। णिच्छयणयं पडुच्च मिच्छत्तादी गंथो, कम्मबंधकारणत्तादो। तेसिं परिच्चागो णिग्गंथं। णइगमणएण तिरयणाणुवजोगो बज्झब्भंतरपरिग्गहपरिच्चाओ णिग्गंथं। —व्यवहारनयकी अपेक्षा क्षेत्रादिक (बाह्य) ग्रन्थ हैं, क्योंकि वे अभ्यन्तर ग्रन्थ (मिथ्यात्वादि) के कारण हैं, और इनका त्याग निर्ग्रन्थता है। निश्चयनयकी अपेक्षा मिथ्यात्वादिक (अभ्यन्तर) ग्रन्थ हैं, क्योंकि, वे कर्मबन्धके कारण हैं और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है। नैगमनयकी अपेक्षा तो रत्नत्रयमें उपयोगी पड़नेवाला जो भी बाह्य व अभ्यन्तर परिग्रह (ग्रन्थ) का परित्याग है उसे निर्ग्रन्थता समझना चाहिए।—(बाह्य व अभ्यन्तर परिग्रहके भेदोंका निर्देश—दे० ग्रन्थ); (नि. सा./ता. वृ./४४)।

भ. आ./वि./४३/१४२/२ तत् त्रितयमिह निर्ग्रन्थशब्देन भण्यते। —सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रयको यहाँ निर्ग्रन्थ शब्द द्वारा कहा गया है।

प्र. सा./ता. वृ./२०४/२७८/१५ व्यवहारेण नग्नत्वं यथाजातरूपं निश्चयेन तु स्वात्मरूपं तदित्थंभूतं यथाजातरूपं धरतीति यथाजातरूपधरः निर्ग्रन्थो जात इत्यर्थः। —व्यवहारनयसे नग्नत्वको यथाजातरूप कहते हैं और निश्चयनयसे स्वात्मरूपको। इस प्रकारके व्यवहार व निश्चय यथाजातरूपको धारण करनेवाला यथाजातरूपधर कहलाता है। 'निर्ग्रन्थ होना' इसका ऐसा अर्थ है।

२. निर्ग्रन्थ साधु विशेषके अर्थमें

स. सि./६/४६/४६०/१० उदकदण्डराजिवदनभिव्यक्तोदयकर्माणः ऊर्ध्वं मुहूर्तादुद्भिद्यमानकेवलज्ञानदर्शनभाजो निर्ग्रन्थाः। —जिस प्रकार जलमें लकड़ीसे की गयी रेखा अप्रगट रहती है, इसी प्रकार जिनके कर्मोंका उदय अप्रगट हो, और अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् ही जिन्हें केवलज्ञान व केवलदर्शन प्रगट होनेवाला है, वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। (रा. वा./६/४६/४/६३६/२८); (चा. सा./१०२/१)

नोट—निर्ग्रन्थसाधुकी विशेषताएँ—दे० साधु/५।

निर्जर पंचमी व्रत—प्रतिवर्ष आषाढ़ शु० ५ से लेकर कार्तिक शु० ५ तक की कुल ६ पंचमियोंके उपवास ५ वर्ष पर्यन्त करे। नमोकारमन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान संग्रह/पृ० ६७)

निर्जरा—कर्मोंके झड़नेका नाम निर्जरा है। वह दो प्रकार की है—सविपाक व अविपाक। अपने समय स्वयं कर्मोंका उदयमें आ आकर झड़ते रहना सविपाक तथा तप द्वारा समयसे पहले ही उनका झड़ना अविपाक निर्जरा है। तिनमें सविपाक सभी जीवोंको सदा निरन्तर होती रहती है, पर अविपाक निर्जरा केवल तपस्वियोंको ही होती है। वह भी मिथ्या व सम्यक् दो प्रकारकी है। इच्छा निरोधके बिना केवल बाह्य तप द्वारा की गयी मिथ्या व साम्यताकी वृद्धि सहित कायक्लेशादि द्वारा की गयी सम्यक् है। पहलीमें नवीन कर्मोंका आगमन रूप संवर नहीं रुक पाता और दूसरीमें रुक जाता है। इसलिए मोक्षमार्गमें केवल यह अन्तिम सम्यक् अविपाक निर्जराका ही निर्देश होता है पहली सविपाक या मिथ्या अविपाक का नहीं।

१. निर्जराके भेद व लक्षण

१. निर्जरा सामान्यका लक्षण

भ. आ./मू./१८४७/१६५६ पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा। —पूर्वबद्ध कर्मोंका झड़ना निर्जरा है।

बा. अ./६६ बंधपदेसग्गलणं णिज्जरणं। —आत्मप्रदेशोंके साथ कर्मप्रदेशोंका उस आत्माके प्रदेशोंसे झड़ना निर्जरा है। (न. च. वृ./१५७); (भ. आ./वि./१८४७/१६५६/६)।

स. सि./१/४/१४/५ एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा। —एकदेश रूपसे कर्मोंका जुदा होना निर्जरा है। (रा. वा./१/४/११/२७/७); (भ.आ./वि./१८४७/१६५६/१०); (द्र. सं./टी./२८/८५/१३); (पं.का./ता.वृ./१४४/२०६/१७)।

स. सि./८/२३/३९९/६ पीडानुग्रहावात्मने प्रदायाभ्यवहृतौदनादिविकारवत्पूर्वस्थितिक्षयादवस्थानाभावात्कर्मणो निवृत्तिर्निर्जरा। —जिस प्रकार भात आदिका मल निवृत्त होकर निर्जीर्ण हो जाता है, उसी प्रकार आत्माका भला बुरा करके पूर्व प्राप्त स्थितिका नाश हो जानेके कारण कर्मकी निवृत्तिका होना निर्जरा है। (रा. वा./८/२३/१/५८३/३०)।

रा. वा./१/सूत्र/वार्तिक/पृष्ठ/पंक्ति—निर्जीर्यते निरस्यते यया निरसनमात्रं वा निर्जरा।(४/१२/२७)। निर्जरैव निर्जरा। कः उपमार्थः।

यथा मन्त्रौषधबलान्निर्जीर्णवीर्यविपाकं विषं न दोषप्रदं तथा...तपोविशेषेण निर्जीर्णरसं कर्म न संसारफलप्रदम् ।(४/१६/२७/८)। यथाविपाकात्तपसो वा उपभुक्तवीर्यं कर्म निर्जरा ।(७/१४/४०/१७)। =१. जिनसे कर्म झड़ें (ऐसे जीवके परिणाम) अथवा जो कर्म झड़ें वे निर्जरा हैं। (भ. आ./वि./३८/१३४/१६) २. निर्जराकी भाँति निर्जरा है। जिस प्रकार मन्त्र या औषध आदिसे निःशक्ति किया हुआ विष, दोष उत्पन्न नहीं करता; उसी प्रकार तप आदिसे नीरस किये गये और निःशक्ति हुए कर्म संसारचक्रको नहीं चला सकते। ३. यथाकाल या तपोविशेषसे कर्मोंकी फलदानशक्तिको नष्ट कर उन्हें झड़ा देना निर्जरा है। (द्र. सं/मू./३६/१५०)।

का. अ./मू./१०३ सव्वेसिं कम्माणं सत्तिविवाओ हवेइ अणुभाओ। तदणंतरं तु सडणं कम्माणं णिज्जरा जाण।१०३। =सब कर्मोंकी शक्तिके उदय होनेको अनुभाग कहते हैं। उसके पश्चात् कर्मोंके खिरनेको निर्जरा कहते हैं।

२. निर्जराके भेद

भ. आ./मू./१८४७-१८४८/१६५६ सा पुणो हवेइ दुविहा। पढमा विवागजादा विदिया अविवागजाया य।१८४७। तहकालेण तवेण य पच्चंति कदाणि कम्माणि।१८४८। =१. वह दो प्रकारकी होती है—विपाकज व अविपाकज। (स. सि./८/२३/३९९/८); (रा. वा./१/४/१९/२७/१; १/७/१४/४०/१८; ८/२३/२/५८४/१); (न. च. वृ./१५७); (त.सा./७/२) २. अथवा वह दो प्रकारकी है—स्वकालपक्व और तपद्वारा कर्मोंको पकाकर की गयी। (बा. अ./६७); (त. सू./८/२१-२३+९/३); (द्र.सं./मू./३६/१५०); (का. अ./मू./१०४)।

रा. वा./१/७/१४/४०/१६ सामान्यादेका निर्जरा, द्विविधा यथाकालौपक्रमिकभेदात्, अष्टधा मूलकर्मप्रकृतिभेदात्। एवं संख्येयासंख्येयानन्तविकल्पा भवति कर्मरसनिर्हरणभेदात्। =सामान्यसे निर्जरा एक प्रकारकी है। यथाकाल व औपक्रमिकके भेदसे दो प्रकारकी है। मूल कर्मप्रकृतियोंकी दृष्टिसे आठ प्रकारकी है। इसी प्रकार कर्मोंके रसको क्षीण करनेके विभिन्न प्रकारोंकी अपेक्षा संख्यात असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं।

द्र. सं./टी./३६/१५०,१५१ भाव निर्जरा...द्रव्यनिर्जरा। =भाव निर्जरा व द्रव्यनिर्जराके भेदसे दो प्रकार हैं।

३. सविपाक व अविपाक निर्जराके लक्षण

स. सि./८/२३/३९९/६ क्रमेण परिपाककालप्राप्तस्यानुभवोदयावलिस्रोतोऽनुप्रविष्टस्यारब्धफलस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा। यत्कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं बलादुदीर्योदयावलिं प्रवेश्य वेद्यते आम्रपनसादिपाकवत् सा अविपाकजा निर्जरा। चशब्दो निमित्तान्तरसमुच्चयार्थः। =क्रमसे परिपाककालको प्राप्त हुए और अनुभवरूपी उदयावलीके स्रोतमें प्रविष्ट हुए ऐसे शुभाशुभ कर्मकी फल देकर जो निवृत्ति होती है वह विपाकजा निर्जरा है। तथा आम और पनस(कटहल)को औपक्रमिक क्रिया विशेषके द्वारा जिस प्रकार अकालमें पका लेते हैं; उसी प्रकार जिसका विपाककाल अभी नहीं प्राप्त हुआ है तथा जो उदयावलीसे बाहर स्थित है, ऐसे कर्मको (तपादि) औपक्रमिक क्रिया विशेषकी सामर्थ्यसे उदयावलीमें प्रविष्ट कराके अनुभव किया जाता है। वह अविपाकजा निर्जरा है। सूत्रमें च शब्द अन्य निमित्तका समुच्चय करानेके लिए दिया है। अर्थात् विपाक द्वारा भी निर्जरा होती है और तप द्वारा भी(रा.वा./८/२३/२/५८४/३); (भ. आ./वि./१८४६/१६६०/२०); (न. च. वृ./१५८) (त. सा./७/३-५); (द्र. सं/टी./३६/१५१/३)।

स. सि./९/७/४१७/६ निर्जरा वेदनाविपाक इत्युक्तम्। सा द्वेधा—अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला चेति। तत्र नरकादिषु गतिषु कर्मफलविपाकजा अबुद्धिपूर्वा सा अकुशलानुबन्धा। परिषहजये कृते कुशलमूला। सा शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति। =वेदना विपाकका नाम निर्जरा है। वह दो प्रकार की है—अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरकादि गतियोंमें कर्मफलके विपाकसे जायमान जो अबुद्धिपूर्वा निर्जरा होती है वह अकुशलानुबन्धा है। तथा परिषहके जीतनेपर जो निर्जरा होती है वह कुशलमूला निर्जरा है। वह भी शुभानुबन्धा और निरनुबन्धाके भेदसे दो प्रकारकी होती है।

४. द्रव्य भाव निर्जराके लक्षण

द्र. सं./टी./३६/१५०/१० भावनिर्जरा। सा का।...येन भावेन जीवपरिणामेन। किं भवति 'सडदि' विशीर्यते पतति गलति विगलति। किं कर्तृ 'कम्मपुग्गलं'...कर्मणो गलनं यच्च सा द्रव्यनिर्जरा। =जीवके जिन शुद्ध परिणामोंसे पुद्गल कर्म झड़ते हैं वे जीवके परिणाम भाव निर्जरा हैं और जो कर्म झड़ते हैं वह द्रव्य निर्जरा है।

पं. का./ता. वृ./१४४/२०६/१६ कर्मशक्तिनिर्मूलनसमर्थः शुद्धोपयोगो भावनिर्जरा तस्य शुद्धोपयोगेन सामर्थ्येन नीरसीभूतानां पूर्वोपार्जितकर्मपुद्गलानां संवरपूर्वकभावेनैकदेशसंक्षयो द्रव्यनिर्जरेति सूत्रार्थः।१४४। =कर्मशक्तिके निर्मूलनमें समर्थ जीवका शुद्धोपयोग तो भाव निर्जरा है। उस शुद्धोपयोगकी सामर्थ्यसे नीरसीभूत पूर्वोपार्जित कर्मपुद्गलोंका संवरपूर्वकभावसे एकदेश क्षय होना द्रव्यनिर्जरा है।

५. अकाम निर्जराका लक्षण

स. सि./६/२०/३३५/१० अकामनिर्जरा अकामश्चारकनिरोधबन्धनबद्धेषु क्षुत्तृष्णानिरोधब्रह्मचर्यभूशय्यामलधारणपरितापादि.। अकामेन निर्जरा अकामनिर्जरा। =चारकमें रोक रखनेपर या रस्सी आदिसे बाँध रखनेपर जो भूख-प्यास सहनी पड़ती है, ब्रह्मचर्य पालना पड़ता है, भूमिपर सोना पड़ता है, मल-मूत्रको रोकना पड़ता है और सन्ताप आदि होता है, ये सब अकाम हैं और इससे जो निर्जरा होती है वह अकामनिर्जरा है। (रा. वा./६/२०/१/५२७/१६)

रा. वा./६/१२/७/५२२/२८ विषयानर्थनिवृत्तिं चात्माभिप्रायेणाकुर्वतः पारतन्त्र्याद्भोगोपभोगनिरोधोऽकामनिर्जरा। =अपने अभिप्रायसे न किया गया भी विषयोंकी निवृत्ति या त्याग तथा परतन्त्रताके कारण भोग-उपभोगका निरोध होनेपर उसे शान्तिसे सह जाना अकाम निर्जरा है। (गो. क./जी. प्र./५४८/७१७/२३)

★ **गुणश्रेणी निर्जरा**—दे० संक्रमण/८।

★ **काण्डक घात**—दे० अपकर्षण/४।

२. निर्जरा निर्देश

१. सविपाक व अविपाकमें अन्तर

भ. आ./मू./१८४९/१६६० सव्वेसिं उदयसमागदस्स कम्मस्स णिज्जरा होइ। कम्मस्स तवेण पुणो सव्वस्स वि णिज्जरा होइ। =१. सविपाक निर्जरा तो केवल सर्व उदयगत कर्मोंकी ही होती है, परन्तु तपके द्वारा अर्थात् अविपाक निर्जरा सर्व कर्मकी अर्थात् पक्व व अपक्व सभी कर्मोंकी होती है। (गो. सा./अ./६/२-३); (दे० निर्जरा/३/३)।

बा.अ./६७ चादुगदीणं पढमा वयजुत्ताणं हवे विदिया।६७। =२. चतुर्गतिके सर्व ही जीवोंको पहिली अर्थात् सविपाक निर्जरा होती है, और सम्यग्दृष्टि व्रतधारियोंको दूसरी अर्थात् अविपाक निर्जरा होती है। (त. सा./७/६); (और भी दे० मिथ्यादृष्टि/४ निर्जरा/३/१)

दे० निर्जरा/१/३ ३. सविपाक निर्जरा अकुशलानुबन्धा है और अविपाक निर्जरा कुशलमूला है। तहाँ भी मिथ्यादृष्टियोंकी अविपाक निर्जरा इच्छा निरोध न होनेके कारण शुभानुबन्धा है और सम्यग्दृष्टियों-

की अविपाक निर्जरा इच्छा निरोध होनेके कारण निरनुबन्धा है। दे० निर्जरा/३/१/४. अविपाक निर्जरा ही मोक्षको कारण है सविपाक निर्जरा नहीं।

★ निश्चय धर्म व चारित्र आदिमें निर्जराका कारणपना —दे० वह वह नाम।

★ व्यवहार धर्म आदिमें कथंचित् निर्जराका कारणपना —दे० धर्म/७/६।

★ व्यवहार धर्ममें बन्धके साथ निर्जराका अंश —दे० संवर/२।

★ व्यवहार समिति आदिसे केवल पापकी निर्जरा होती है पुण्यकी नहीं —दे० संवर/२।

२. कर्मोंकी निर्जरा क्रमपूर्वक ही होती है

ध. १३/५,४,२४/५२/१ जदि तिणसंतकम्मं पदमाणं तो अक्कमेण णिवदवे। ण, दोसहीणं व बज्झकम्मक्खंधपदणमवेक्खिय णिबद्धताणमक्कमेण पदणविरोहादो। —प्रश्न—यदि जिन भगवान्‌के सत्कर्मका पतन हो रहा है, तो उसका युगपत् पतन क्यों नहीं होता? उत्तर—नहीं, क्योंकि, पुष्ट नदियोंके समान बँधे हुए कर्मस्कन्धोंके पतनको देखते हुए पतनको प्राप्त होनेवाले उनका अक्रमसे पतन माननेमें विरोध आता है।

३. निर्जरामें तपकी प्रधानता

भ. आ./मू./१८४६/१६५८ तवसा विणा ण मोक्खो संवरमित्तेण होइ कम्मस्स। उवभोगादीहिं विणा धणं ण हु खीयदि सुगुत्तं।१८४६। —तपके बिना, केवल कर्मके संवरसे मोक्ष नहीं होता है। जिस धनका संरक्षण किया है वह धन यदि उपभोगमें नहीं लिया तो समाप्त नहीं होगा। इसलिए कर्मकी निर्जरा होनेके लिए तप करना चाहिए।

मू. आ./२४२ जमजोगे जुत्तो जो तवसा चेट्ठदे अणेगविधं। सो कम्मणिज्जराए विउलाए वट्टदे जीवो।२४२। —इन्द्रियादि संयम व योगसे सहित भी जो मनुष्य अनेक भेदरूप तपमें वर्तता है, वह जीव बहुतसे कर्मोंकी निर्जरा करता है।

रा. वा./-/२३/७/५८४/२५ पर उद्धृत—कायमणोवचिगुत्तो जो तवसा चेट्टदे अणेयविहं। सो कम्मणिज्जराए विपुलए वट्टदे मणुस्सो त्ति। —काय, मन और वचन गुप्तिमें युक्त होकर जो अनेक प्रकारके तप करता है वह मनुष्य विपुल कर्म निर्जराको करता है।

नोट—निश्चय व व्यवहारचारित्रादि द्वारा कर्मोंकी निर्जराका निर्देश —(दे० चारित्र/२/२; धर्म/७/६; धर्मध्यान/६/३)।

४. निर्जरा व संवरका सामानाधिकरण्य

त. सू./६/३ तपसा निर्जरा च ।३। —तपके द्वारा संवर व निर्जरा दोनों होते हैं।

भा. अ./६६ जेण हवे संवरणं तेण दु णिज्जरणमिदि जाणे।६६। —जिन परिणामोंसे संवर होता है, उनसे ही निर्जरा भी होती है।

स. सि./६/३/४१०/६ तपो धर्मेऽन्तर्भूतमपि पृथगुच्यते उभयसाधनत्वख्यापनार्थं संवरं प्रति प्राधान्यप्रतिपादनार्थं च। —तपका धर्ममें (१० धर्मोंमें) अन्तर्भाव होता है, फिर भी संवर और निर्जरा इन दोनोंका कारण है, और संवरका प्रमुख कारण है, यह बतानेके लिए उसका अलगसे कथन किया है। (रा. वा./६/३/१-२/५९२/२७)।

प. प्र./मू./२/३८ अच्छइ जित्तिउ कालु मुणि अप्पसरूवि णिलीणु। संवर णिज्जर जाणि तुहुं सयल वियप्प विहीणु।३८। —मुनिराज जब तक आत्मस्वरूपमें लीन हुआ ठहरता है, तबतक सकल विकल्प समूहसे रहित उसको तू संवर व निर्जरा स्वरूप जान। (और भी दे० चारित्र/२/२; धर्म/७/६; धर्मध्याना० ६/३ आदि)।

५. संवर सहित ही यथार्थ निर्जरा होती है उससे रहित नहीं

पं. का./मू./१४५ जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं। मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं। —संवरसे युक्त ऐसा जो जीव, वास्तवमें आत्मप्रसाधक वर्तता हुआ, आत्माका अनुभव करके ज्ञानको निश्चल रूपसे ध्याता है, वह कर्मरजको खिरा देता है।

भ. आ./मू./१८५४/१६६४ तवसा चेव ण मोक्खो संवरहीणस्स होइ जिणवयणे। ण हु सोत्ते पविसंते किसिणं परिसुस्सदि तलायं।१८५४। —जो मुनि संवर रहित है, केवल तपश्चरणसे ही उसके कर्मका नाश नहीं हो सकता है, ऐसा जिनवचनमें कहा है। यदि जलप्रवाह आता ही रहेगा तो तालाब कब सूखेगा? (यो. सा./६/६); विशेष—दे० निर्जरा/३/१।

★ मोक्षमार्गमें संवरयुक्त अविपाक निर्जरा ही इष्ट है, सविपाक नहीं—दे० निर्जरा/३/१।

★ सम्यग्दृष्टिको ही यथार्थ निर्जरा होती है —दे० निर्जरा/२/१; ३/१।

३. निर्जरा सम्बन्धी नियम व शंकाएँ

१. ज्ञानीको ही निर्जरा होती है, ऐसा क्यों

द्र. सं./टी./३६/१५२/१ अत्राह शिष्यः—सविपाकनिर्जरा नरकादिगतिष्वज्ञानिनामपि दृश्यते संज्ञानिनामेवेति नियमो नास्ति। तत्रोत्तरम्—अत्रैव मोक्षकारणं या संवरपूर्विका निर्जरा सैव ग्राह्या। या पुनरज्ञानिनां निर्जरा सा गजस्नानवन्निष्फला। यतः स्तोकं कर्म निर्जरयति बहुतरं बध्नाति तेन कारणेन सा न ग्राह्या। या तु सरागसद्दृष्टीनां निर्जरा सा यद्यप्यशुभकर्मविनाशं करोति तथापि संसारस्थितिं स्तोकं कुरुते। तद्भवे तीर्थकरप्रकृत्यादि विशिष्टपुण्यबन्धकारणं भवति पारम्पर्येण मुक्तिकारणं चेति। वीतरागसद्दृष्टीनां पुनः पुण्यपापद्वयविनाशे तद्भवेऽपि मुक्तिकारणमिति। —प्रश्न—जो सविपाक निर्जरा है वह तो नरक आदि गतियोंमें अज्ञानियोंके भी होती हुई देखी जाती है। इसलिए सम्यग्ज्ञानियोंके ही निर्जरा होती है, ऐसा नियम क्यों? उत्तर—यहाँ जो संवर पूर्वक निर्जरा है उसीको ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि, वही मोक्षका कारण है। और जो अज्ञानियोंके निजरा होती है वह तो गजस्नानके समान निष्फल है। क्योंकि अज्ञानी जीव थोड़े कर्मोंकी तो निर्जरा करता है और बहुतसे कर्मोंको बाँधता है। इस कारण अज्ञानियोंकी सविपाक निर्जराका यहाँ ग्रहण नहीं करना चाहिए। तथा (ज्ञानी जीवोंमें भी) जो सरागसम्यग्दृष्टियोंके निर्जरा है, वह यद्यपि अशुभ कर्मोंका नाश करती है, शुभ कर्मोंका नाश नहीं करती है, (दे० संवर२/४) फिर भी संसारकी स्थितिको थोड़ा करती है, और उसी भवमें तीर्थंकर प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्यबन्धका कारण हो जाती है। वह परम्परा मोक्षका कारण है। वीतराग सम्यग्दृष्टियोंके पुण्य तथा पाप दोनोंका नाश होनेपर उसी भवमें वह अविपाक निर्जरा मोक्षका कारण हो जाती है।

२. प्रदेश गलनासे स्थिति व अनुभाग नहीं गलते

ध. १२/४,२,१३,१६२/४३१/१२ खवगसेडीए पदेसगलस्स भावस्स कधमणंतगुणत्तं। ण, आउअस्स खवगसेडीए पदेसस्स गुणसेडिणिज्जराभावादो व ट्ठिदि-अणुभागाणं घादाभावादो। —प्रश्न—क्षपक श्रेणीमें घातको

प्राप्त हुआ (कर्मका) अनुभाग अनन्तगुणा कैसे हो सकता है ? उत्तर— नहीं, क्योंकि, क्षपकश्रेणीमें आयुकर्मके प्रदेशकी गुणश्रेणी निर्जराके अभावके समान स्थिति व अनुभागके घातका अभाव है।

क. पा./५/४-२२/§ ५७२/३३७/११ ट्ठिदीए इव पदेसगलणाए अणुभाग-घादो णत्थि त्ति। —प्रदेशोंके गलनेसे, जैसे स्थितिघात होता है वैसे अनुभागका घात नहीं होता। (और भी दे० अनुभाग/२/५)।

३. अन्य सम्बन्धित विषय

१. ज्ञानी व अज्ञानीकी कर्म क्षपणामें अन्तर—दे० मिथ्यादृष्टि/४।
२. अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानोंमें निर्जराका अल्पबहुत्व तथा तद्गत शंकाएँ। —दे० अल्पबहुत्व।
३. संयतासंयतकी अपेक्षा संयतकी निर्जरा अधिक क्यों? —दे० अल्पबहुत्व १/३/।
४. पाँचों शरीरोंके स्कन्धोंकी निर्जराके जघन्योत्कृष्ट स्वामित्व सम्बन्धी प्ररूपणा। —दे० ष. खं. ६/४,१/सूत्र ६६-७१/३२६-३५४।
५. पाँचों शरीरोंकी जघन्योत्कृष्ट परिशातन कृति सम्बन्धी प्ररूपणाएँ। —दे० ध० ६/४,१,७१/३२६-४३८।
६. कर्मोंकी निर्जरा अवधि व मनःपर्यय ज्ञानियोंके प्रत्यक्ष है। —दे० स्वाध्याय/१।

निर्जरानुप्रेक्षा—दे० अनुप्रेक्षा।

निर्णय—(रा. वा./१/१३/३/५८/६)—न हि यत्र एव संशयस्तत्र एव निर्णय'। —संशयका न होना ही निर्णय या निश्चय है।

न्या. सू./१/१/४१ विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ।४१। —तर्क आदि द्वारा पक्ष व प्रतिपक्षमेंसे किसी एककी निवृत्ति होनेपर, दूसरेकी स्थिति अवश्य ही होगी। जिसकी स्थिति होगी उसका निश्चय होगा। उसीको निर्णय कहते हैं।

निर्दंड—नि. सा./ता. वृ./४३ मनोदण्डो वचनदण्ड' कायदण्डश्चे-त्येतेषां योग्यद्रव्यभावकर्मणामभावान्निर्दण्डः। —मनदण्ड अर्थात् मनोयोग, वचनदण्ड और कायदण्डके योग्य द्रव्यकर्मों तथा भावकर्मों-का अभाव होनेसे आत्मा निर्दण्ड है।

निर्दुख—एक ग्रह—दे० ग्रह।

निर्देश— १. निर्देशका लक्षण

स. सि./१/७/२२/३ निर्देशः स्वरूपाभिधानम्। —किसी वस्तुके स्वरूपका कथन करना निर्देश है।

रा. वा./१/७/…/३८/२ निर्देशोऽर्थावधारणम्। —पदार्थके स्वरूपका निश्चय करना निर्देश है।

ध. १/१,१,८/१६०/१ निर्देशः प्ररूपणं विवरणं व्याख्यानमिति यावत्।

ध. ३/१,२,१/८/६ सोदाराणं जहा णिच्छयो होदि तहा देसो णिद्देसो। कुतीर्थपाखण्डिनः अतिशय्य कथनं वा निर्देशः। —१. निर्देश, प्ररूपण, विवरण और व्याख्यान ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। २. जिस प्रकारके कथन करनेसे श्रोताओंको पदार्थके विषयमें निश्चय होता है, उस प्रकारके कथन करनेको निर्देश कहते हैं। अथवा कुतीर्थ अर्थात् सर्वथा एकान्तवादके प्रस्थापक पाखण्डियोंको उल्लंघन करके अतिशय रूप कथन करनेको निर्देश कहते हैं।

२. निर्देशके भेद

ध. १/१,१,८/१६०/२ स द्विविधो द्विप्रकारः, ओघेन आदेशेन च। —वह निर्देश ओघ व आदेशकी अपेक्षा दो प्रकारका है। [ओघ व आदेशके लक्षण (दे० वह वह नाम)]।

निर्दोष—नि. सा./ता. वृ./४३ निश्चयेन निखिलदुरितमलकलङ्क-पङ्कनिर्णिक्तसमर्थसहजपरमवीतरागसुखसमुद्रमध्यनिर्मग्नस्फुटितसह-जावस्थात्मसहजज्ञानगात्रपवित्रत्वान्निर्दोषः। —निश्चयसे समस्त-पापमल कलंकरूपी कीचड़को धो डालनेमें समर्थ, सहज-परमवीतराग-सुख समुद्रमें मग्न प्रगट सहजावस्थास्वरूप जो सहजज्ञानशरीर, उसके द्वारा पवित्र होनेके कारण आत्मा निर्दोष है।

निर्दोष सप्तमी व्रत— दे० नंदसप्तमी व्रत।

निर्द्वन्द्व—मो. पा./टी./१२/३१२/१० निर्द्वन्द्वो निष्कलहः केनापि सह कलहरहितः। अथवा निर्द्वन्द्वो निर्युग्मः स्त्रीभोगरहितः। 'द्वन्द्वं कलह-युग्मयोः' इति वचनात्। —क्योंकि द्वन्द्व कलह व युग्म इन दो अर्थों-में वर्तता है, इसलिए निर्द्वन्द्व शब्दके भी दो अर्थ होते हैं—निष्कलह अर्थात् किसीके साथ भी कलहसे रहित; तथा निर्युग्म अर्थात् भोगसे रहित।

निर्नामिक—(ह. पु./३३/श्लोक नं.) राजा गंगदेवका पुत्र था। पूर्व. भवके वैरके कारण जन्मसे ही माताने त्याग दिया। रेवती नामक धायने पाला।१४४। एक दिन अपने भाइयोंके साथ भोजन करनेको बैठा तो माताने लात मारी।१४७। मुनि दीक्षा ले घोर तप किया। अगले भवमें कृष्ण नामक नवाँ नारायण हुआ।—दे० कृष्ण।

निर्मम—

नि. सा./ता. वृ./४३ प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तमोहरागद्वेषाभावान्निर्ममः। —प्रशस्त व अप्रशस्त समस्त प्रकारके मोह राग व द्वेषका अभाव होने-से आत्मा निर्मम है।

मो. पा./टी./१२/३१२/१२ निर्ममो ममत्वरहित', ममेति अदन्तोऽव्यय-शब्द.। निर्गतं ममेति परिणामो यस्येति निर्ममः। —निर्मम अर्थात् ममत्वरहित। 'मम' यह एक अदन्त अव्यय शब्द है। 'मम' जिसमेंसे निकल गया है ऐसा परिणाम जिसके वर्तता है, वह निर्मम है।

निर्मल—भावी कालीन १६ वें तीर्थंकर—दे० तीर्थंकर/५।

निर्माण— १. निर्माण नामकर्म सामान्य

स. सि./८/११/३८६/१० यन्निमित्तात्परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणम्। निर्मी-यतेऽनेनेति निर्माणम्। —जिसके निमित्तसे शरीरके अंगोपांगोंकी रचना होती है, वह निर्माण नामकर्म है। निर्माण शब्दका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है—जिसके द्वारा रचना की जाती है वह निर्माण है। (रा. वा./८/११/५/५७६/२१); (गो. क./जी. प्र./३३/३०/११)।

ध. ६/१,६-१,२८/३ नियतं मानं निमानं। —नियत मानको निर्माण कहते हैं।

२. निर्माण नामकर्मके भेद व उनके लक्षण

स. सि./८/११/३८६/११ तद् द्विविधं—स्थाननिर्माणं प्रमाणनिर्माणं चेति। तज्जाति नामोदयापेक्षं चक्षुरादीनां स्थानं प्रमाणं च निर्वर्त-यति। —वह दो प्रकारका है—स्थाननिर्माण और प्रमाणनिर्माण। उस उस जाति नामकर्मके अनुसार चक्षु आदि अवयवों या अंगो-पांगोंके स्थान व प्रमाणकी रचना करनेवाला स्थान व प्रमाण नामकर्म है। (रा. वा./८/११/५/५७६/२२); (ध. १३/५.५,१०१/३६६/६); (गो. क./जी. प्र./३३/३०/१६)।

ध. ६/१,६-१,२८/६६/२ तं दुविहं पमाणणिमिणं संठाणणिमिणमिदि। जस्स कम्मस्स उदएण जीवाणं दो वि णिमिणाणि होंति, तस्स-कम्मस्स णिमिणमिदि सण्णा। जदि पमाणणिमिणणामकम्मं ण होज्ज, तो जंघा-बाहु-सिर-णासियादीणं वित्थारायामा लोयंत-विसप्पिणो होज्ज। ण चेवं, अणुवलंभा। तदो कालमस्सिदूण जाइं च जीवाणं पमाणणिव्वत्तयं कम्मं पमाणणिमिणं णाम। जदि संठाण-णिमिणकम्मं णाम ण होज्ज, तो अंगोवंग-पच्चंगाणि संकर-वदियर-सरूवेण होज्ज। ण च एवं, अणुवलंभा। तदो कण्ण-णयण-णासिया-

दोणं सजादि अणुरूवेण अप्पप्पणो ट्ठाणे जं णियामयं तं संठाणणिमिणमिदि। —वह दो प्रकारका है—प्रमाणनिर्माण और संस्थाननिर्माण। जिस कर्मके उदयसे जीवोंके दोनों ही प्रकारके निर्माण होते हैं, उस कर्मकी 'निर्माण' यह संज्ञा है। यह प्रमाणनिर्माण नामकर्म न हो, तो जंघा, बाहु, शिर और नासिका आदिका विस्तार और आयाम लोकके अन्ततक फैलनेवाले हो जावेंगे। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा पाया नहीं जाता है। इसलिए कालको और जातिको आश्रय करके जीवोंके प्रमाणको निर्माण करनेवाला प्रमाण-निर्माण नामकर्म है। यदि संस्थाननिर्माण नामकर्म न हो तो, अंग, उपंग और प्रत्यग संकर और व्यतिकर स्वरूप हो जावेंगे अर्थात् नाकके स्थानपर ही आँख आदि भी बन जायेगी अथवा नाकके स्थानपर आँख और मस्तकपर मुँह लग जायेगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, ऐसा पाया नहीं जाता है। इसलिए कान, आँख, नाक आदि अंगोंका अपनी जातिके अनुरूप अपने स्थानपर रचनेवाला जो नियामक कर्म है, वह संस्थाननिर्माण नामकर्म कहलाता है।

★ निर्माण प्रकृतिकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणाएँ

दे० वह वह नाम

निर्माणरज—एक लौकान्तिक देव—दे० लौकान्तिक।

निर्माल्य—पूजाका अवशेष द्रव्य—दे० पूजा/४।

निर्मूढ—नि. सा./ता. वृ./४३ सहजनिश्चयनयबलेन सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखाद्यनेकपरमधर्माधारनिजपरमतत्त्वपरिच्छेदनसमर्थत्वान्निर्मूढः, अथवा साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारनयबलेन त्रिकालत्रिलोकवर्तिस्थावरजंगमात्मकनिखिलद्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलज्ञानावस्थत्वान्निर्मूढश्च। —सहज निश्चयनयसे सहजज्ञान-दर्शन-चारित्र और परमवीतराग सुख आदि अनेक धर्मोंके आधारभूत निज परमतत्त्वको जाननेमें समर्थ होनेसे आत्मा निर्मूढ है। अथवा सादि अनन्त अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले शुद्धसद्भूत व्यवहारनयसे तीन काल और तीन लोकके स्थावर जंगमस्वरूप समस्त द्रव्यगुण-पर्यायको एक समयमें जाननेमें समर्थ सकल विमल केवलज्ञानरूपसे अवस्थित होनेसे आत्मा निर्मूढ है।

निर्यापक—१. सल्लेखनाकी अपेक्षा निर्यापकका स्वरूप

भ. आ./मू./गा. संविग्गवज्जभीरुस्स पादमूलम्मि तस्सविहरंतो। जिणवयणसव्वसारस्स होदि आराधओ तादी।४००। पंचच्छसत्तजोयणसदाणि तत्तोऽहियाणि वा गंतुं। णिज्जावगण्णेसदि समाधिकामो अणुण्णादं।४०१। आयारत्थो पुण से दोसे सव्वे वि ते विवज्जेदि। तम्हा आयारत्थो णिज्जवओ होदि आयरिओ।४२७। जह पक्खुभिदुम्मीए पोदं रदणभरिदं समुद्दम्मि। णिज्जवओ धारेदि हु जिदकरणो बुद्धिसंपण्णो।५०३। तह संजमगुणभरिदं परिस्सहुम्मीहिं खुभिदमाइद्धं। णिज्जवओ धारेदि हु महुरेहिं हिदोवदेसेहिं।५०४। इय णिव्वओ खवयस्स होइ णिज्जावओ सदायरिओ।५०६। इय अट्ठगुणोवेदो कसिणं आराधणं उवविधेदि।५०७। एदारिसम्मि थेरे असदि गणत्थे तहा उवज्झाए। होदि पवत्ती थेरो गणधरवसहो य जदणाए।६२१। जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होइ वासेसु। ते तारिसया तदिया चोद्दालीसं पि णिज्जवया।६७१। —साधु संघमें उत्कृष्ट निर्यापकाचार्यका स्वरूप जो संसारसे भय युक्त है, जो पापकर्मभीरु है, और जिसको जिनागमका सर्वस्वरूप मालूम है, ऐसे आचार्यके चरणमूलमें वह यति समाधिमरणोद्यमी होकर आराधनाकी सिद्धि करता है।४००। जिसको समाधिमरणकी इच्छा है ऐसा मुनि ५००, ६००, ७०० योजन अथवा उससे भी अधिक योजन तक विहार कर शास्त्रोक्त निर्यापकका शोध करे।४०१। आचारवत्त्व गुणको धारण करनेवाले आचार्य सर्व दोषोंका त्याग करते हैं। इसलिए गुणोंमें प्रवृत्त होनेवाले दोषोंसे रहित ऐसे आचार्य निर्यापक होने लायक जानने चाहिए।४२७। (विशेष दे० आचार्य१/२ में आचार्यके ३६ गुण) जिस प्रकार नौका चलानेमें अभ्यस्त बुद्धिमान् नाविक, तरंगों द्वारा अत्यन्त क्षुभित समुद्रमें रत्नोंसे भरी हुई नौकाको डूबनेसे रक्षा करता है।५०३। उसी प्रकार संयम गुणोंसे पूर्ण यह क्षपकनौका प्यास आदिरूप तरंगोंसे क्षुब्ध होकर तिरछी हो रही है। ऐसे समयमें निर्यापकाचार्य मधुर हितोपदेशके द्वारा उसको धारण करते हैं, अर्थात् उसका संरक्षण करते हैं।५०४। इस प्रकारसे क्षपकका मन आह्लादित करनेवाले आचार्य निर्यापक हो सकते हैं। अर्थात् निर्यापकत्व गुणधारक आचार्य क्षपकका समाधिमरण साध सकते हैं।५०६। इस प्रकार आचारवत्त्व आदि आठ गुणोंसे पूर्ण आचार्यका (दे० आचार्य१/२) आश्रय करनेसे क्षपकको चार प्रकारकी आराधना प्राप्त होती है।५०७। अल्प गुणधारी भी निर्यापक सम्भव है—उपरोक्त सर्व आचारवत्त्व आदि गुणोंके धारक यदि आचार्य या उपाध्याय प्राप्त न हो तो प्रवर्तक मुनि अथवा अनुभवी वृद्ध मुनि वा बालाचार्य यत्नसे व्रतोंमें प्रवृत्ति करते हुए क्षपकका समाधिमरण साधनेके लिए निर्यापकाचार्य हो सकते हैं।६२१। जैसे गुण ऊपर वर्णन कर आये हैं ऐसे ही मुनि निर्यापक होते हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए। परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्रमें विचित्र कालका परावर्तन हुआ करता है इसलिए कालानुसार प्राणियोंके गुणोंमें भी जघन्य मध्यमता व उत्कृष्टता आती है। जिस समय जैसे शोभन गुणोंका सम्भव रहता है, उस समय वैसे गुणधारक मुनि निर्यापक व परिचारक समझकर ग्रहण करना चाहिए।६७१।

★ सल्लेखनामें निर्यापकका स्थान —(दे० सल्लेखना/५)।

२. छेदोपस्थापनाकी अपेक्षा निर्यापक निर्देश

प्र. सा./त. प्र./२१० यतो लिङ्गग्रहणकाले निर्विकल्पसामायिकसंयमप्रतिपादकत्वेन यः किलाचार्यः प्रव्रज्यादायकः स गुरुः, यः पुनरनन्तरं सविकल्पच्छेदोपस्थापनसंयमप्रतिपादकत्वेन छेदं प्रत्युपस्थापकः स निर्यापकः, योऽपि छिन्नसंयमप्रतिसंधानविधानप्रतिपादकत्वेन छेदे सत्युपस्थापकः सोऽपि निर्यापक एव। ततश्छेदोपस्थापकः परोऽप्यस्ति। —जो आचार्य लिंगग्रहणके समय निर्विकल्प सामायिकसंयमके प्रतिपादक होनेसे प्रव्रज्यादायक हैं वे गुरु हैं; और तत्पश्चात् तत्काल ही जो (आचार्य) सविकल्प छेदोपस्थापना संयमके प्रतिपादक होनेसे छेदके प्रति उपस्थापक (भेदमें स्थापन करनेवाले) हैं वे निर्यापक हैं। उसी प्रकार जो छिन्न संयमके प्रतिसन्धानकी विधिके प्रतिपादक होनेसे छेद होनेपर उपस्थापक (पुनः स्थापित करनेवाले) हैं, वे भी निर्यापक हैं। इसलिए छेदोपस्थापकपर भी होते हैं। (यो. सा./अ./८/६)

निर्लांछन कर्म—दे० सावद्य/५।

निर्लेपन—ध. १४/५,६.६१२/५०७/१ आहारसरीरिंदियआणपाणअपज्जत्तीणं णिव्वत्ती णिल्लेवणं णाम। —आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास अपर्याप्तियोंकी निवृत्तिको निर्लेपन कहते हैं।

निर्वर्ग—गो. क./जी. प्र./६६०/११८७/११ निर्वर्गं सर्वथा असदृशं। —जो सर्वथा असदृश हो उसे निर्वर्ग कहते हैं।

निर्वर्गण—(ल. सा./जी. प्र./४३/७७/५) अनुकृष्टयः प्रतिसमयपरिणामखण्डानि तासामद्धा आयामः तत्संख्येत्यर्थः। तदेव तत्परिणाममेव निर्वर्गणकाण्डकमित्युच्यते। वर्गणा समयसादृश्यं ततो निष्क्रान्ता उपर्युपरि समयवर्तिपरिणामखण्डा तेषां काण्डकं पर्व

निर्वर्गणकाण्डकं । –प्रति समयके परिणाम खण्डोंको अनुकृष्टि कहते हैं। उस अनुकृष्टिका काल आयाम कहलाता है। वह ऊर्ध्वगच्छसे संख्यात गुणे होते हैं। उन परिणामोंको ही निर्वर्गणा काण्डक कहते हैं। समयोंकी समानताका नाम वर्गणा है, उस समान समयोंसे रहित जो ऊपरके समयवर्ती परिणाम खण्ड हैं उनके काण्डक या पर्वका नाम निर्वर्गणा काण्डक है। विशेष—दे० करण/४/३।

निर्वंशावला—एक विद्याधर विद्या—दे० विद्या।

निर्वर्तना—दे० अधिकरण।

निर्वहण—भ. आ./वि./२/१४/२० निराकुलं वहनं धारणं निर्वहणं, परीषहाद्युपनिपातेऽप्याकुलतामन्तरेण दर्शनादिपरिणतौ वृत्तिः। –सम्यग्दर्शनादि गुणोंको निराकुलतासे धारण करना, अर्थात् परीषहादिक प्राप्त हो जानेपर भी व्याकुल चित्त न होकर सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयरूप परिणतिमें तत्पर रहना, उससे च्युत न होना, यह निर्वहण शब्दका अर्थ है। (अन. ध./१/९६/१०४)

निर्वाण—

नि. सा./मू./१७९-१८१ णवि दुक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा। णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं ।१७९। णवि इंदिय उवसग्गा णवि मोहो विम्हियो ण णिद्दा य। ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं ।१८०। णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि। णवि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं ।१८१। –जहाँ दुःख नहीं है, सुख नहीं है, पीड़ा, बाधा, मरण, जन्म कुछ नहीं है वहीं निर्वाण है।१७९। जहाँ इन्द्रियाँ, मोह, विस्मय, निद्रा, तृषा, क्षुधा, कुछ नहीं है वहीं निर्वाण है।१८०। जहाँ कर्म और नोकर्म, चिन्ता, आर्त व रौद्रध्यान अथवा धर्म व शुक्लध्यान कुछ नहीं है, वहीं निर्वाण है।१८१।

भ. आ./वि./११/५३/२० निर्वाणं विनाशः, तथा प्रयोगः निर्वाणः प्रदीपो नष्ट इति यावत्। विनाशसामान्यमुपादाय वर्तमानोऽपि निर्वाणशब्दः चरणशब्दस्य निर्जातकर्मशातनसामर्थ्याभिधायिनः प्रयोगात्कर्मविनाशगोचरो भवति। स च कर्मणां विनाशो द्विप्रकारः, कतिपयः प्रलयः सकलप्रलयश्च। तत्र द्वितीयपरिग्रहमाचष्टे। –निर्वाण शब्दका 'विनाश' ऐसा अर्थ है। जैसे—प्रदीपका निर्वाण हुआ अर्थात् प्रदीप नष्ट हो गया। परन्तु यहाँ चारित्रमें जो कर्म नाश करनेका सामर्थ्य है उसका प्रयोग यहाँ (प्रकृतमें) निर्वाण शब्दसे किया गया है। वह कर्मका नाश दो प्रकारसे होता है—थोड़े कर्मोंका नाश और सकल कर्मोंका नाश। उनमेंसे दूसरा अर्थात् सर्व कर्मोंका विनाश ही यहाँ अभीष्ट है।

प्र. सा./ता. वृ./६/८/६ स्वाधीनातीन्द्रियरूपपरमज्ञानसुखलक्षणं निर्वाणम्। –१. स्वाधीन अतीन्द्रियरूप परमज्ञान व सुख लक्षण निर्वाण है।

२. भूतकालीन प्रथम तीर्थंकर—दे० तीर्थंकर/५।

★ **भगवान् महावीरका निर्वाण दिवस**—दे० इतिहास/२।

निर्वाण कल्याणक वेला—दे० कल्याणकव्रत।

निर्वाह—दे० निर्वहण।

निर्विन्ध्या—भरतक्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

निर्विकृति—सा. ध./टीका/५/३५ विक्रियते जिह्वामनसि येनेति विकृतिर्गोरसेक्षुरसफलरसधान्यरसभेदाच्चतुर्विधा। तत्र गोरसः क्षीरघृतादि, इक्षुरसः खण्डगुडादि, फलरसो द्राक्षाम्रादिनिष्यन्दः, धान्यरसस्तैलमण्डादिः। अथवा यद्येन सह भुज्यमानं स्वदते तत्तत्र विकृतिरित्युच्यते। विकृतेर्निष्क्रान्तं भोजनं निर्विकृति। –१. जिसके आहारसे जिह्वा और मनमें विकार पैदा होता है उसे विकृति कहते हैं। जैसे—दूध, घी आदि गोरस, खाण्ड, गुड़ आदि इक्षुरस, दाख, आम आदि फलरस और तेल माण्ड आदि धान्य रस। ऐसे चार प्रकारके रस विकृति हैं। ये जिस आहारमें न हों वह निर्विकृति है। २. अथवा जिसको मिलाकर भोजन करनेसे भोजनमें विशेष स्वाद आता है उसको विकृति कहते हैं। (जैसे—साग, चटनी आदि पदार्थ।) इस विकृति रहित भोजन अर्थात् व्यंजनादिकसे रहित भात आदिका भोजन निर्विकृति है। (भ. आ./मूलाराधना टीका/२५४/४७५/१६)

निर्विचिकित्सा—१. दो प्रकारकी विचिकित्सा

मू. आ./२५१ विदिगिच्छा वि य दुविहा दव्वे भावे य होइ णायव्वा। –विचिकित्सा दो प्रकार है—द्रव्य व भाव।

२. द्रव्य निर्विचिकित्साका लक्षण

१. साधु व धर्मात्माओंके शरीरोंकी अपेक्षा

मू. आ./२५३ उच्चारं पस्सवणं खेलं सिंघाणयं च चम्मट्ठी। पूयं च मंससोणिदवंतं जल्लादि साधूणं ।२५३। –साधुओंके शरीरके विष्टामल, मूत्र, कफ, नाकका मल, चाम, हाड़, राधि, माँस, लोही, वमन, सर्व अंगोंका मल, लार इत्यादि मलोंको देखकर ग्लानि करना द्रव्य विचिकित्सा है (तथा ग्लानि न करना द्रव्य निर्विचिकित्सा है।) (अन. ध./२/८०/२०७)

र. क. श्रा./१३ स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते। निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ।१३। –स्वभावसे अपवित्र और रत्नत्रयसे पवित्र ऐसे धर्मात्माओंके शरीरमें ग्लानि न करना और उनके गुणोंमें प्रीति करना सम्यग्दर्शनका निर्विचिकित्सा अंग माना गया है। (का. अ./मू./४१७)।

द्र. सं./टी./४१/१७२/६ भेदाभेदरत्नत्रयाराधकभव्यजीवानां दुर्गन्धबीभत्सादिकं दृष्ट्वा धर्मबुद्ध्या कारुण्यभावेन वा यथायोग्यं विचिकित्सापरिहरणं द्रव्यनिर्विचिकित्सागुणो भण्यते। –भेदाभेद रत्नत्रयके आराधक भव्यजीवोंकी दुर्गन्धी तथा आकृति आदि देखकर धर्मबुद्धिसे अथवा करुणाभावसे यथायोग्य विचिकित्सा (ग्लानि) को दूर करना द्रव्य निर्विचिकित्सा गुण है।

२. जीव सामान्यके शरीरों व सर्वपदार्थोंकी अपेक्षा

मू. आ./२५२ उच्चारादिसु दव्वे...।२५२। –विष्टा आदि पदार्थोंमें ग्लानिका होना द्रव्य विचिकित्सा है। (वह नहीं करनी चाहिए पु. सि. उ.) (पु. सि. उ./२५)।

स. सा./मू./२३१ जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं। सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ।२३१। –जो चेतयिता सभी धर्मों या वस्तुस्वभावोंके प्रति जुगुप्सा (ग्लानि) नहीं करता है, उसको निश्चयसे निर्विचिकित्स सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

स. सा./ता. वृ./२३१/३१३/१२ यश्चेतयिता आत्मा परमात्मतत्त्वभावनाबलेन जुगुप्सां निन्दां दोषं द्वेषं विचिकित्सां न करोति, केषां संबन्धित्वेन। सर्वेषामेव वस्तुधर्माणां स्वभावानां, दुर्गन्धादिविषये वा स सम्यग्दृष्टिः निर्विचिकित्सः खलु स्फुटं मन्तव्यो। –जो आत्मा परमात्म तत्त्वकी भावनाके बलसे सभी वस्तुधर्मों या स्वभावोंमें अथवा दुर्गन्ध आदि विषयोंमें ग्लानि या जुगुप्सा नहीं करता, न ही उनकी निन्दा करता है, न उनसे द्वेष करता है, वह निर्विचिकित्स सम्यग्दृष्टि है, ऐसा मानना चाहिए।

पं. ध./उ./५८० दुर्दैवाद् दुःखिते पुंसि तीव्रासाताघृणास्पदे। यन्नासूयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः ।५८०। –दुर्दैव वश तीव्र असाताके उदयसे किसी पुरुषके दुःखित हो जानेपर; उससे घृणा नहीं करना निर्विचिकित्सा गुण है। (ला. सं./४/१०२)।

३. भाव निर्विचिकित्साका लक्षण

१. परीषहोंमें ग्लानि न करना

मू. आ./२५२ छुधादिए भावविदिगिंछा। —क्षुधादि २२ परीषहोंमें संक्लेश परिणाम करना भावविचिकित्सा है। (उसका न होना सो निर्विचिकित्सा गुण है—पु. सि. उ.); (पु. सि. उ./२५)।

२. असत् व दूषित संकल्प विकल्पोंका निरास

रा. वा./६/२४/१/५२९/१० शरीराद्यशुचिस्वभावमवगम्य शुचीति मिथ्यासंकल्पापनयः, अर्हत्प्रवचने वा इदमयुक्तं घोरं कष्टं न चेदिदं सर्वमुपपन्नमित्यशुभभावनाविरहः निर्विचिकित्सता। —शरीरको अत्यन्त अशुचि मानकर उसमें शुचित्वके मिथ्या संकल्पको छोड़ देना, अथवा अर्हन्तके द्वारा उपदिष्ट प्रवचनमें यह अयुक्त है, घोर कष्ट है, यह सब नहीं बनता' आदि प्रकारकी अशुभ भावनाओंसे चित्त विचिकित्सा नहीं करना अर्थात् ऐसे भावोंका विरह : निर्विचिकित्सा है। (म. पु./६३/३१५-३१६); (चा. सा./४/५)।

द्र. सं./टी./४१/१७१/११ यत्पुनर्जैनसमये सर्वं समीचीनं परं किन्तु वस्त्राप्रावरणं जलस्नानादिकं च न कुर्वन्ति तदेव दूषणमित्यादिकुत्सितभावस्य विशिष्टविवेकबलेन परिहरणं सा निर्विचिकित्सा भण्यते। —'जैनमतमें सब अच्छी बातें हैं, परन्तु वस्त्रके आवरणसे रहितता अर्थात् नग्नपना और जलस्नान आदिका न करना यही एक दूषण है' इत्यादि बुरे भावोंको विशेष ज्ञानके बलसे दूर करना, वह निर्विचिकित्सा कहलाती है।

३. ऊँच-नीचके अथवा प्रशंसा निन्दा आदिके भावोंका निरास

पं. ध./उ./५७८-५८४ आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्ध्या स्वात्मप्रशंसनात्। परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सता स्मृता ।५७८। नैतत्तन्मनस्यज्ञानमस्म्यहं संपदां पदम्। नासावस्मात्समो दीनो वराको विपदां पदम् ।५८१। प्रत्युत ज्ञानमेवैतत्तत्र कर्मविपाकजाः। प्राणिनः सदृशाः सर्वे त्रसस्थावरयोनयः ।५८२। —अपनेमें अपनी प्रशंसा द्वारा अपने गुणोंकी उत्कर्षताके साथ-साथ जो अन्यके गुणोंके अपकर्षमें बुद्धि होती है उसको विचिकित्सा कहते हैं। ऐसी बुद्धि न होना सो निर्विचिकित्सा है ।५७८। सम्यग्दृष्टिके मनमें यह अज्ञान नहीं होता है कि मैं सम्पत्तियोंका आस्पद हूँ और यह दीन गरीब विपत्तियोंका आस्पद है, इसलिए हमारे समान नहीं है ।५८१। बल्कि उस निर्विचिकित्सकके तो ऐसा ज्ञान होता है कि कर्मोंके उदयसे उत्पन्न त्रस और स्थावर योनिवाले सर्व जीव सदृश हैं ।५८२। (ला. सं./४/१००-१०५)।

४. निश्चय निर्विचिकित्सा निर्देश

द्र. सं./टी./४१/१७३/२ निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिर्विचिकित्सागुणस्य बलेन समस्तद्वेषादिविकल्परूपकल्लोलमालात्यागेन निर्मलात्मानुभूतिलक्षणे निजशुद्धात्मनि व्यवस्थानं निर्विचिकित्सा गुण इति। —निश्चयसे तो इसी (पूर्वोक्त) निर्विचिकित्सा गुणके बलसे जो समस्त राग-द्वेष आदि विकल्परूप तरंगोंका त्याग करके निर्मल आत्मानुभव लक्षण निज शुद्धात्मामें स्थिति करना निर्विचिकित्सा गुण है।

५. इसे सम्यक्त्वका अतिचार कहनेका कारण

भ. आ./वि./४४/१४४/१ विचिकित्सा जुगुप्सा मिथ्यात्वासंयमादिषु जुगुप्सायाः प्रवृत्तिरतिचारः स्यादिति चेत् इहापि नियतविषया जुगुप्सेति मतातिचारत्वेन। रत्नत्रयाणामन्यतमे तद्वति वा कोपादिनिमित्ता जुगुप्सा इह गृहीता। ततस्तस्य दर्शनं, ज्ञानं, चरणं, चाशोभनमिति। मन्यते हि एवं भवं इति अज्ञानं स तस्य जुगुप्सां करोति। ततो रत्नत्रयमाहात्म्याऽरुचिर्युज्यते अतिचारः। —प्रश्न—विचिकित्सा या जुगुप्साको यदि अतिचार कहोगे तो मिथ्यात्व, असंयम इत्यादिकोंमें जो जुगुप्सा होती है, उसे भी सम्यग्दर्शनका अतिचार मानना पड़ेगा? उत्तर—यहाँपर जुगुप्साका विषय नियत समझना चाहिए। रत्नत्रयमेंसे किसी एकमें अथवा रत्नत्रयाराधकोंमें कोपादि वश जुगुप्सा होना ही सम्यग्दर्शनका अतिचार है। क्योंकि, इसके वशीभूत मनुष्य अन्य सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञान, दर्शन व आचरणका तिरस्कार करता है। तथा निरतिचार सम्यग्दृष्टिका तिरस्कार करता है। अतः ऐसी जुगुप्सासे रत्नत्रयके माहात्म्यमें अरुचि होनेसे इसको अतिचार समझना चाहिए। (अन. ध./२/७६/२०७)।

निर्विष ऋद्धि—दे० ऋद्धि/७।

निर्वृत्ति—स. सि./२/१७/१७५/४ निर्वर्त्यते इति निर्वृत्तिः। —रचनाका नाम निर्वृत्ति है।

रा. वा./२/१०/१/१३०/७ कर्मणा या निर्वर्त्यते निष्पाद्यते सा निर्वृत्तिरित्युपदिश्यते। —नाम कर्मसे जिसकी रचना हो उसे (इन्द्रियको) निर्वृत्ति कहते हैं।

* पर्याप्त अपर्याप्त निर्वृत्ति—दे० पर्याप्ति/१।

निर्वृत्ति अक्षर—दे० अक्षर।

निर्वृत्ति इंद्रिय—दे० इन्द्रिय/१।

निर्वृत्ति क्रिया—दे० क्रिया।

निर्वर्त्य कर्म—दे० कर्ता/१।

निर्वेगनी कथा—दे० कथा।

निर्वेदनी कथा—दे० कथा।

निर्वेद—पं. ध./उ./४४२-४४३ संवेगो विधिरूपः स्यान्निर्वेदश्च (स्तु) निषेधनात्। स्याद्विवक्षावशाद्द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयोः ।४४२। त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा। स संवेगोऽथवा धर्मः साभिलाषो न धर्मवान् ।४४३। —संवेग विधिरूप होता है और निषेधको विषय करनेके कारण निर्वेद निषेधात्मक होता है। उन संवेग व निर्वेदमें विवक्षा वश ही भेद है, वास्तवमें कोई भेद नहीं है ।४४२। सब अभिलाषाओंका त्याग निर्वेद कहलाता है और धर्म तथा धर्मके फलमें अनुराग होना संवेग कहलाता है। वह संवेग भी सर्व अभिलाषाओंके त्यागरूप पड़ता है; क्योंकि, सम्यग्दृष्टि अभिलाषावान् नहीं होता ।४४३।

निलय—एक ग्रह—दे० ग्रह।

निवृत्ति—स. सा./ता. वृ./३०६/३८८/११ बहिरङ्गविषयकषायादीहागतचित्तस्य निवर्तनं निवृत्तिः। —बहिरंग विषय कषाय आदि रूप अभिलाषाको प्राप्त चित्तका त्याग करना अर्थात् अभिलाषाओंका त्याग करना निवृत्ति है।

* **प्रवृत्तिमें भी निवृत्तिका अंश**

* **प्रवृत्ति व निवृत्तिसे अतीत**—दे० संवर/२।

तीसरी भूमिका ही श्रेय है—दे० धर्म/३/२।

निशि भोजन कथा—कवि भारामल्ल (ई० १७५६) द्वारा हिन्दी भाषामें रचित कथा।

निशि भोजन त्याग—दे० रात्रि भोजन त्याग।

निशुंभ—म. पु./अधि./श्लोक—दूरवर्ती पूर्व भवमें राजसिंह नामका बड़ा मल्ल था।(६१/५६-६०)। अपर नाम मधुक्रीड़ था। पूर्व भवमें पुण्डरीक नामक नारायणके जीवका शत्रु था।(६५/१८०)। वर्तमान भवमें पाँचवाँ प्रतिनारायण हुआ—दे० शलाका पुरुष/५।

निश्चय—प्र. सा./ता. वृ./६३/११८/३१ परमार्थस्य विशेषेण संशयादिरहितत्वेन निश्चयः। —परमार्थका विशेष रूपसे तथा संशयादि-रहित अवधारण निश्चय है।

द्र. सं./टी./४१/१६४/११ श्रद्धानं रुचिर्निश्चय इदमेवेत्थमेवेति निश्चय-बुद्धिः सम्यग्दर्शनम्। —श्रद्धान, रुचि, निश्चय अर्थात् यह इस प्रकार ही है ऐसी निश्चय बुद्धि सम्यग्दर्शन है।

निश्चय नय—१. सर्व नयोंके मूल निश्चय व्यवहार—(दे० नय/I/१) २. निश्चय व्यवहार नय—दे० नय/V)

निश्चयावलंबी—दे० साधु/३।

निश्चल—एक ग्रह – दे० ग्रह।

निश्चित विपक्ष वृत्ति—दे० व्यभिचार।

निषद्यका—दे० समाचार।

निषद्या – दे० निषिद्धिका।

निषद्या क्रिया—दे० संस्कार/२।

निषद्या परीषह—

स. सि./९/९/४२३/७ श्मशानोद्यानशून्यायतनगिरिगुहागह्वरादिष्वनभ्यस्तपूर्वेषु निवसत आदित्यप्रकाशस्वेन्द्रियज्ञानपरीक्षितप्रदेशे कृत-नियमक्रियस्य निषद्यां नियमितकालामास्थितवतः सिंहव्याघ्रादि-विविधभीषणध्वनिश्रवणान्निवृत्तभयस्य चतुर्विधोपसर्गसहनादप्रच्युत-मोक्षमार्गस्य वीरासनोत्कुटिकाद्यासनादविचलितविग्रहस्य तत्कृत-बाधासहनं निषद्या परिषहविजय इति निश्चीयते। —जिनमें पहले रहनेका अभ्यास नहीं किया है ऐसे श्मशान, उद्यान, शून्यघर, गिरि-गुफा और गह्वर आदिमें जो निवास करता है, आदित्यके प्रकाश और स्वेन्द्रिय ज्ञानसे परीक्षित प्रदेशमें जिसने नियम क्रिया की है, जो नियत काल निषद्या लगाकर बैठता है, सिंह और व्याघ्र आदिकी नाना प्रकारकी भीषण ध्वनिके सुननेसे जिसे किसी प्रकारका भय नहीं होता, चार प्रकारके उपसर्गके सहन करनेसे जो मोक्षमार्गसे च्युत नहीं हुआ है, तथा वीरासन और उत्कटिका आदि आसनके लगानेसे जिसका शरीर चलायमान नहीं हुआ है, उसके निषद्या कृत बाधाका सहन करना निषद्या परीषहजय निश्चित होता है। (रा. वा./९/९/११/६१०/२२); (चा. सा./११८/३)।

निषध—रा. वा./३/११/४-६/१८३/८—यस्मिन् देवा देव्यश्च क्रीडार्थं निषीधन्ति स निषधः, पृषोदरादिपाठात् सिद्धः। अन्यत्रापि तत्तुल्य-कारणत्वात्तत्प्रसङ्गः इति चेन्न; रूढिविशेषबललाभात्। क्व पुनरसौ। हरिविदेहयोर्मर्यादाहेतुः।६। —जिसपर देव और देवियाँ क्रीड़ा करें वह निषध है। क्योंकि यह संज्ञा रूढ है, इसलिए अन्य ऐसे देवक्रीडा-की तुल्यता रखनेवाले स्थानोंमें नहीं जाती है। यह वर्षधर पर्वत हरि और विदेहक्षेत्रकी सीमापर है। विशेष—दे० लोक/३/३।

ज. दी. प./प्र./१४१ A. N. U. P. व H. L. Jain इस पर्वतसे हिन्दूकुश शृंखलाका तात्पर्य है। हिन्दूकुशका विस्तार वर्तमान भूगोलके अनुसार पामीर प्रदेशसे, जहाँसे इसका मूल है, काबुलके पश्चिममें कोहेबाबा तक माना जाता है। "कोहे-बाबा और बन्दे-बाबाकी परम्पराने पहाड़ोंकी उस ऊँची शृंखलाको हेरात तक पहुँचा दिया है। पामीरसे हेरात तक मानो एक ही शृंखला है।" अपने प्रारम्भसे ही यह दक्षिणको दाबे हुए पश्चिमकी ओर बढ़ता है। यही पहाड़ ग्रीकोंका परोपानिसस है। और इसका पार्श्ववर्ती प्रदेश काबुल उनका परोपानिसदाय है। ये दोनों ही शब्द स्पष्टतः 'पर्वत निषध' के ग्रीक रूप हैं, जैसा कि जायसवालने प्रतिपादित किया है। 'गिर निसा (गिरि निसा)' भी गिरि निषधका ही रूप है। इसमें गिरि शब्द एक अर्थ रखता है। वायु पुराण/४६/१३२ में पहाड़ीकी शृंखलाको पर्वत और एक पहाड़ीको गिरि कहा गया है—"अपवर्णास्तु गिरयः पर्वभिः पर्वताः स्मृताः।"

निषधकूट—निषध पर्वतका एक कूट तथा सुमेरु पर्वतके सौमनस व नन्दनवन में स्थित एक कूट—दे० लोक/५/४ ५।

निषध देव—निषध पर्वतके निषधकूटकार क्षक देव—दे० लोक/७।

निषध ह्रद—देवकुरुके १० ह्रदोंमेंसे एक—दे० लोक/५/६

निषाद—एक स्वरका नाम—दे० स्वर।

निषिक्त—ध. १४/५,६,२४६/३३२/६ पढमसमए पदेसग्गं णिसित्तं पढमसमयबद्धपदेसग्गं त्ति भणिदं होदि। —प्रथम समयमें प्रदेशाग्र निषिक्त किया है। अर्थात् प्रथमसमय जो प्रदेशाग्र बाँधा गया है, यह तात्पर्य है।

निषिद्धिका—श्रुतज्ञानमें अंगबाह्यका १४वाँ विकल्प—दे० श्रुत-ज्ञान/III।

निषीधिका—

भ. आ./मू./१९६७-१९७०/१७३५ समणाणं ठिदिकप्पो वासावासे तहेव उडुबंधे। पडिलिहिदव्वा णियमा णिसीहिया सव्वसाधूहिं ।१९६७। एगंता सालोगा णादिविकिट्ठा ण चावि आसण्णा। वित्थिण्णा विद्धत्ता णिसीहिया दूरमागाढा ।१९६८। अभिसुआ असुसिरा अघसा अज्जीवा बहुसमा य असिणिद्धा। णिज्जंतुगा अहरिदा अविला य तहा अणाबाधा ।१९६९। जा अवरदक्खिणाए व दक्खिणाए व अध व अवराए। वसधीदो वण्णिज्जदि णिसीधिया सा पसत्थत्ति ।१९७०।

भ. आ./वि./१४३/३२६/१ णिसिहीओ निषिधीर्योगिवृत्तिर्यस्यां भूमौ सा निषिधी इत्युच्यते। —अर्हदादिकोंके व मुनिराजके समाधि-स्थानको निषिद्धिका या निषीधिका कहते हैं (भ. आ./वि.)। चातुर्मासिकयोगके प्रारम्भकालमें तथा ऋतु प्रारम्भमें निषीधिकाकी प्रतिलेखना सर्व साधुओंको नियमसे करने चाहिए, अर्थात् उस स्थानका दर्शन करना तथा उसे पीछीसे साफ करना चाहिए। ऐसा यह मुनियोंका स्थित कल्प है ।१९६७। वह निषीधिका एकान्त-प्रदेशमें, अन्य जनोंको दीख न पड़े ऐसे प्रदेशमें हो। प्रकाश सहित हो। वह नगर आदिकोंसे अतिदूर न हो। न अति समीप भी हो। वह टूटी हुई, विध्वस्त की गयी ऐसी न हो। वह विस्तीर्ण प्रासुक और दृढ़ होनी चाहिए ।१९६८। वह निषीधिका चींटियोंसे रहित हो, छिद्रोंसे रहित हो, घिसी हुई न हो, प्रकाश सहित हो, समान भूमि-में स्थित हो, निर्जन्तुक व बाधारहित हो, गीली तथा इधर-उधर हिलनेवाली न हो। वह निषीधिका क्षपककी वसतिकासे नैर्ऋत दिशामें, दक्षिण दिशामें अथवा पश्चिम दिशामें होनी चाहिए। इन्हीं दिशाओंमें निषीधिकाकी रचना करना पूर्व आचार्योंने प्रशस्त माना है ।१९६९-१९७०।

★ निषीधिकाकी दिशाओंपरसे शुभाशुभ फल विचार —दे० सल्लेखना/६/३।

निषेक—१. लक्षण

ष. खं/६/१, ९-६/सू. ६/१५० आबाधूणिया कम्मट्ठिदी कम्मणिसेओ ।६। —(ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय व अन्तराय) इन कर्मोंका आबाधाकालसे हीन कर्मस्थिति प्रमाण कर्मनिषेक होता है। (ष. खं. ६/१,९-६/सू. ९,१२,१५,१८,२१/पृ. १५९-१६१ में अन्य तीन कर्मोंके सम्बन्धमें उपरोक्त ही बात कही है)।

ध. १४/४,२,६,१०१/२३७/१६ निषेचनं निषेकः, कम्मपरमाणुक्खंध-णिक्खेवो णिसेगो णाम। — निषेचनं निषेकः' इस निरुक्तिके अनुसार कर्म परमाणुओंके स्कन्धोंके निक्षेपण करनेका नाम निषेक है।

गो. क./मू./१६०/११६ आबाहूणियकम्मट्ठिदी णिसेगो दु सत्तकम्माणं। आउस्स णिसेगो पुण सगट्ठिदी होदि णियमेण।९१६। –आयु वर्जित सात कर्मोंकी अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थितिमेंसे उन-उनका आबाधा काल घटाकर जो शेष रहता है, उतने कालके जितने समय होते हैं; उतने ही उस उस कर्मके निषेक जानना। और आयु कर्मकी स्थिति प्रमाण कालके समयों जितने उसके निषेक हैं। क्योंकि आयुको आबाधा पूर्व भवकी आयुमें व्यतीत हो चुकी है। (गो.क./मू./९१६/११०२)।

गो. जी./भाषा/६७।१७३/१४ एक एक समय (उदय आने) सम्बन्धी जेता द्रव्यका प्रमाण ताका नाम निषेक जानना। (विशेष दे० उदय/३ में कर्मोंकी निषेक रचना)।

२. अन्य सम्बन्धित विषय

१. उदय प्रकरणमें कर्म प्रदेशोंकी निषेक रचना —दे० उदय/३।
२. स्थितिप्रकरणमें कर्मप्रदेशोंकी निषेक रचना —दे० स्थिति/३।
३. निषेकोंमें अनुभागरूप-स्पर्धक रचना —दे० स्पर्धक।
४. निक्षेप व अतिस्थापनारूप निषेक —दे० अपकर्षण/२।

निषेकहार—गो. क./मू./९२८/१११—दोगुणहाणिपमाणं णिसेयहारो दु होइ। –गुणहानिके प्रमाणका दुगुना करनेसे दो गुणहानि होती है, उसीको निषेकहार कहते हैं। (विशेष दे० गणित/II/५)

निषेध—पं. ध./पू./२७५-२७६ सामान्यविधिरूपं प्रतिषेधात्मा भवति विशेषश्च। उभयोरन्यतरस्योन्मग्नत्वादस्ति नास्तीति।२७५। तत्र निरंशो विधिरिति स यथा स्वयं सदिति। तदिह विभज्य विभागैः प्रतिषेधश्चांशकल्पनं तस्य।२७६। –विधिरूप वर्तना सामान्य काल (स्व काल) है और निषेधस्वरूप विशेषकाल कहलाता है। तथा इनमेंसे किसी एककी मुख्य विवक्षा होनेसे अस्ति नास्ति रूप विकल्प होते हैं।२७५। उनमें अंश कल्पनाका न होना ही विधि है; क्योंकि स्वयं सब सत् रूप है। और उसमें अंश कल्पना द्वारा विभाग करना प्रतिषेध है। (विशेष दे० सप्तभंगी/४)।

★ **प्रतिषेधके भेद**—पर्युदास व प्रसज्य—दे० अभाव।

निषेध साधक हेतु—दे० हेतु।

निषेधिक—दे० समाचार।

निष्काम भाव— दे० निःकांक्षित।

निष्कुट—दे० क्षेत्र।

निष्क्रांत क्रिया—दे० क्रिया।

निष्क्रियत्व शक्ति—

स. सा./आ./परि/शक्ति नं. २३ सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पंद्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः। –समस्त कर्मोंके अभावसे प्रवृत्त आत्मप्रदेशोंकी निस्पन्दता स्वरूप निष्क्रियत्व शक्ति है।

निष्ठापक—दे० प्रस्थापक।

निष्पत्ति—Ratio (ज. प./प्र. १०७)।

निष्पिच्छ—दिगम्बर साधुओंका एक संघ (दे० इतिहास/५/१६)।

निसर्ग—

स. सि./१/३/१२/३ निसर्गः स्वभाव इत्यर्थः।

स. सि./६/९/३२६/१ निसृज्यत इति निसर्गः प्रवर्तनम्। –निसर्गका अर्थ स्वभाव है अथवा निसर्गका अर्थ प्रवर्तन है। (रा. वा./१/३/-/२२/१६ तथा ६/९/२/५१६/२)।

निसर्ग क्रिया—दे० क्रिया/३।

निसर्गज—१. निसर्गज सम्यग्दर्शन—दे० अधिगमज। २. ज्ञानदर्शन चारित्रादिमें निसर्गज व अधिगमजपना व उनका परस्परमें सम्बन्ध —दे० अधिगमज।

निसर्गाधिकरण—दे० अधिकरण।

निसही—दे० असही।

निस्तरण—भ. आ./वि./२/१४/२१ भवान्तरप्रापणं दर्शनादीनां निस्तरणम्। –अन्य भवमें सम्यग्दर्शनादिकोंको पहुँचाना अर्थात् आमरण निर्दोष पालन करना, जिससे कि वे अन्य जन्ममें भी अपने साथ आ सकें।

अन. ध./१/९६/१०४ निस्तीर्णस्तु स्थिरमपि तटप्रापणं कृच्छ्रपाते। –परीषह तथा उपसर्गोंके उपस्थित रहनेपर भी उनसे चलायमान न होकर इनके अंततक पहुँचा देनेको अर्थात् क्षोभ रहित होकर मरणान्त पहुँचा देनेको निस्तरण कहते हैं।

निस्तारक मन्त्र—दे० मन्त्र/१/६।

निस्तीर्ण—दे० निस्तरण।

नीच—नीच गोत्र व नीच कुल आदि —दे० वर्ण व्यवस्था।

नीचैर्वृत्ति—स. सि./६/२६/३४०/८ गुणोत्कृष्टेषु विनयेनावनतिर्नीचैर्वृत्तिः। –जो गुणोंमें उत्कृष्ट हैं उनके प्रति विनयसे नम्र रहना नीचैर्वृत्ति है।

नीतिवाक्यामृत—आ. सोमदेव (ई० ९४३-९६८) द्वारा रचित, यह संस्कृत श्लोकबद्ध राजनीति विषयक ग्रन्थ है। (ती./३/ ७३)।

नीतिसार—आ. इन्द्रनन्दि (ई. श. १०) की नीति विषयक रचना।

नील—रा. वा./३/११/७-८/१८३/२१—नीलेन वर्णेन योगात् पर्वतो नील इति व्यपदिश्यते। संज्ञा चास्य वासुदेवस्य कृष्णव्यपदेशवत्। क्व पुनरसौ। विदेहरम्यकविनिवेशविभागी।८। –नील वर्ण होनेके कारण इस पर्वतको नील कहते हैं। वासुदेवकी कृष्ण संज्ञाकी तरह यह संज्ञा है। यह विदेह और रम्यक क्षेत्रकी सीमापर स्थित है। विशेष दे० लोक/३/४।

नील—१. नील पर्वतपर स्थित एक कूट तथा उसका रक्षकदेव—दे० लोक५/४;२. एक ग्रह—दे० ग्रह; ३. भद्रशाल वनमें स्थित एक दिग्गजेन्द्र पर्वत—दे० लोक ५/३;४. रुचक पर्वतके श्रीवृक्ष कूटपर रहनेवाला एक दिग्गजेन्द्र देव—दे० लोक५/१३,५. उत्तरकुरुमें स्थित १० द्रहोंमें से एक—दे० लोक५/६;६. नील नामक एक लेश्या—दे० लेश्या; ७.पं.पु./अधि/श्लो. नं.—सुग्रीवके चचा किष्कुपुरके राजा ऋक्षराजका पुत्र था। (९/१३)। अन्तमें दीक्षित हो मोक्ष पधारे। (११९/३९)।

नीलाभास—एक ग्रह—दे० ग्रह।

नृत्य माल्य—विजयार्ध पर्वतके खण्डप्रपात कूटका स्वामी देव—दे० लोक/५/४।

नृपतुंग—अपरनाम अमोघवर्ष था—दे० अमोघवर्ष।

नृपदत्त—(ह. पु./अधि./श्लोक नं.)—पूर्व भव नं. ३ में भानु सेठका पुत्र भानुकीर्ति था। (३४/९७-९८)। दूसरे भवमें चित्रचूल विद्याधरका पुत्र गरुडकान्त था। (३४/१३२-१३३)। पूर्वके भवमें राजा गङ्गदेवका पुत्र गङ्ग था। (३४/१४२-१४३)। वर्तमान भवमें वसुदेवका पुत्र हुआ। (३५/३)। जन्मते ही एक देवने उठाकर इसे सुदृष्टि सेठके यहाँ पहुँचा दिया। (३५/४-५)। वहीं पोषण हुआ। दीक्षा धारण कर घोर तप किया। (५९/११५-१२०); (६०/७)। अन्तमें मोक्ष सिधारे। (६५/१६-१७)।

नृपनंदि—राजा भोजके समकालीन थे। तदनुसार इनका समय वि० १०७८-१११२ (ई० १०२१-१०५५); आता है। (वसु. श्रा./प्र. १६/H. L. Jain)।

नेत्रोन्मीलन—प्रतिष्ठा विधानमें भगवान्‌की नेत्रोन्मीलन क्रिया —दे० प्रतिष्ठा विधान।

नेमिचंद्र—१. नन्दिसंघ बलात्कार। प्रभाचन्द्र के शिष्य भानुचन्द्र के गुरु। समय—शक ४७८-४८७(ई० ५५६-५६५)। दे. इतिहास/७/२)। २. नन्दिसंघ देशीय गण। अभयनन्दि के दीक्षाशिष्य और वीरनन्दि तथा इन्द्रनन्दि के लघु गुरु भाई अथवा विद्या शिष्य। मन्त्री चामुण्डरायके गुरु। उपाधि सिद्धान्त चक्रवर्ती। कृतियें—गोमट्टसार, लब्धिसार, क्षपणसार, त्रिलोकसार। समय-लगभग ई० ६८१। ई०श० १०-११। (दे० इतिहास।७/५)(जै०/१/३८८), (ती०/२/४२२)। ३. नन्दि संघ देशीयगण। श्रावकाचार के कर्ता वसुनन्दि के शिष्य। उपाधि सैद्धान्तिक देव। कृति—द्रव्य संग्रह। समय—धारा नगरी के राजा भोज (वि० १०७५-११२५) के समकालीन अर्थात लगभग वि० ११२५ (ई० १०६८)। (दे० इतिहास /७/५), (ती०/२/४४१) ४. क्षपणासार के कर्ता माधवचन्द्र त्रैविद्य (वि० १२६०, ई० १२०३) के गुरु। समय—लगभग ई० १२८०-१२१०। ५. अर्ध नेमिपुराण के कर्ता एक कन्नड़ कवि। समय—ई० श० १३/ (ती० /४/३०१)। ६. रविव्रत कथाके कर्ता एक अपभ्रंश कवि। समय—वि० श० १५/(ती०/४/ २४१)। ७. नन्दिसंघ बलात्कारगण सरस्वती गच्छ। भट्टारक ज्ञानभूषण (वि० १५५५ दे० इतिहास /७/४) के शिष्य। केशव वर्णी कृत कन्नड़ टीका (वि०१४१६) के आधारपर गोमट्टसारकी 'जीव प्रबोधिनी' नामक संस्कृत टीका लिखी। समय—ई० श० १६ का प्रारम्भ। (जै०/ १/४७४)।

नेमिचन्द्रिका—प० मनरंगलाल (ई० १८००-१८३२) कृत भाषा छन्दबद्ध कथा ग्रन्थ।

नेमिदत्त—नन्दिसंघ बलात्कार गण सूरत शाखा। भट्टारक मल्लि-भूषण (इति०/७/४) के शिष्य एक ब्रह्मचारी। कृतियें—आराधना कथा कोष, नेमिनाथ पुराण, श्रीपाल चरित, सुदर्शन चरित, प्रीतंकर महामुनि चरित, रात्रिभोजन त्याग कथा, धन्यकुमार चरित, नेमि-निर्वाण काव्य, नागकुमार कथा, धर्मोपदेशपीयूषवर्ष श्रावकाचार, मालारोहिणी। समय—वि० १५७५-१५८५. ई० श० १६। (जै०/ २/३७८), (ती०/३/४०३)।

नेमिदेव—यशस्तिलक के कर्ता सोमदेव (ई० ६५६) के गुरु। वाद विजेता। समय- ई० ६१८-६४३। (योगमार्ग/प्र० ब्र० श्री लाल)।

नेमिनाथ—(म. पु./७०/श्लो. नं. पूर्व भव नं. ६ में पुष्करार्ध द्वीपके पश्चिम मेरुके पास गन्धिल देश, विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें सूर्यप्रभ नगरके राजा सूर्यप्रभके पुत्र चिन्तागति थे।२६-२८। पूर्वभव नं. ५ में चतुर्थ स्वर्गमें सामानिक देव हुए।३६-३७। पूर्वभव नं. ४में सुगन्धिला देशके सिंहपुर नगरके राजा अर्हदासके पुत्र अपराजित हुए।४१। पूर्वभव नं० ३ में अच्युत स्वर्गमें इन्द्र हुए।५०। पूर्वभव नं. २ में हस्तिनापुरके राजा श्रीचन्द्रके पुत्र सुप्रतिष्ठ हुए।५१। और पूर्वभवमें जयन्त नामक अनुत्तर विमानमें अहमिन्द्र हुए।५६। (ह. पु./३४/१७-४३); (म. पु./७२/२७७ में युगपत् सर्व भव दिये हैं। वर्तमान भवमें २२वें तीर्थंकर हुए—दे० तीर्थंकर/५।

नेमिनाथ पुराण—ब्र० नेमिदत्त (ई० १५२८) कृत यथा नाम संस्कृत ग्रन्थ। अधिकार सं० १६। (ती०/३/४०४)।

नेमि निर्वाण काव्य—वाग्भट्ट (ई० १०७५-११२५) कृत १५ सर्ग प्रमाण यथानाम संस्कृत काव्य। (ती०/३/४०४)।

नेमिषेण—माथुर संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप अमितगति प्र. के शिष्य तथा श्री माधवसेनके गुरु थे। समय—वि. १०००-१०४० (ई० ९४३-९८३) —दे० इतिहास/७/११।

नैऋत्य—१. पश्चिम दक्षिणी कोणवाली विदिशा। २. लोकपाल देवोंका एक भेद—दे० लोकपाल।

नैगमनय—दे० नय/III/२-३।

नैपाल—भरतक्षेत्रके विन्ध्याचल पर्वतपर स्थित एक देश—दे० मनुष्य/४।

नैमित्तिक कार्य—दे० कारण/III।

नैमित्तिक सुख—दे० सुख।

नैमिष—विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर —दे० विद्याधर।

नैयायिक दर्शन—दे० न्याय/१।

नैषध—भरतक्षेत्रके विन्ध्याचल पर्वतपर स्थित एक देश —दे० मनुष्य/४।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी—दे० ब्रह्मचारी।

नैष्ठिक श्रावक—१. श्रावक सामान्य (दे० श्रावक/१)। २. नैष्ठिक श्रावककी ११ प्रतिमाएँ—दे० वह वह नाम।

नैसर्प—चक्रवर्तीकी नवनिधिमेंसे एक—दे० शलाका पुरुष/२।

नो—ध. ६/१,९-१,२३/गा. ८-९, ४४,४६ प्रतिषेधयति समस्तप्रसक्तमर्थं तु जगति नोशब्दः। स पुनस्तदवयवे वा तस्मादर्थान्तरे वा स्यात ।८। नो तद्देशविषयप्रतिषेधोऽन्यः स्वपरयोगात् ।९। —जगमें 'न' यह शब्द प्रसक्त समस्त अर्थका तो प्रतिषेध करता ही है, किन्तु वह प्रसक्त अर्थके अवयव अर्थात् एक देशमें अथवा उससे भिन्न अर्थमें रहता है, अर्थात् उसका बोध कराता है।८। 'नो' यह शब्द स्व और परके योगसे विवक्षित वस्तुके एकदेशका प्रतिषेधक और विधायक होता है।९।

ध. १५/४/८ णोसद्दो सव्वपडिसेहओ त्ति किण्ण घेप्पदे। [ण] णाणा-वरणस्साभावस्स पसंगादो, सु [व] वयणविरोहादो च। तम्हा णोसद्दो देसपडिसेहओ त्ति घेत्तव्वं। —प्रश्न—'नो' शब्दको सबके प्रतिषेधक रूपसे क्यों नहीं ग्रहण किया जाता? उत्तर—नहीं, क्योंकि वैसा स्वीकार करनेपर एक तो ज्ञानावरणके अभावका प्रसंग आता है दूसरे स्ववचनका विरोध भी होता है, इसलिए 'नो' शब्दको देश प्रतिषेधक ही ग्रहण करना चाहिए।

नोआगम—१. नोआगम—दे० आगम/१। २. नोआगम द्रव्य-निक्षेप/५। ३. नोआगमभाव निक्षेप—दे० निक्षेप/७।

नो इंद्रिय—दे० मन/८।

नो ओम—दे० ओम।

नोकर्म—दे० कर्म/२।

नोकर्माहार—दे० आहार/I/१।

नो कषाय—१. नोकषाय—दे० कषाय/१। २. नोकषाय वेदनी—दे० मोहनीय/१।

नो कृति—दे० कृति।

नो क्षेत्र—दे० क्षेत्र/१।

नोजीव—दे० जीव/१।

नो त्वचा—दे० त्वचा।

नो संसार—दे० संसार।

नौकार श्रावकाचार—आ० योगेन्दुदेव (ई० श० ६) द्वारा रचित प्राकृत दोहाबद्ध एक ग्रन्थ।

न्यग्रोध-परिमंडल—दे० संस्थान।

न्याय—तर्क व युक्ति द्वारा परोक्ष पदार्थोंकी सिद्धि व निर्णयके अर्थ न्यायशास्त्रका उद्गम हुआ। यद्यपि न्यायशास्त्रका मूल आधार नैयायिक दर्शन है, जिसने कि वैशेषिक मान्य तत्त्वोंकी युक्ति पूर्वक सिद्धि की है, परन्तु वीतरागताके उपासक जैन व बौद्ध दर्शनोंको भी अपने सिद्धान्तकी रक्षाके लिए न्यायशास्त्रका आश्रय लेना पड़ा। जैनाचार्योंमें स्वामी समन्तभद्र (वि० श० २-३), अकलंक भट्ट (ई० ६४०-६८०) और विद्यानन्दि (ई० ७७५-८४०) को विशेषतः वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक व बौद्ध मतोंसे टक्कर लेनी पड़ी। तभी-से जैनन्याय शास्त्रका विकास हुआ। बौद्धन्याय शास्त्र भी लगभग उसी समय प्रगट हुआ। तीनों ही न्यायशास्त्रोंके तत्त्वोंमें अपने-अपने सिद्धान्तानुसार मतभेद पाया जाता है। जैसे कि न्याय दर्शन जहाँ वितंडा, जाति व निग्रहस्थान जैसे अनुचित हथकण्डोंका प्रयोग करके भी वादमें जीत लेना न्याय मानता है, वहाँ जैन दर्शन केवल सद्हेतुओंके आधारपर अपने पक्षकी सिद्धि कर देना मात्र ही सच्ची विजय समझता है। अथवा न्याय दर्शन विस्तार रुचिवाला होनेके कारण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान व आगम इस प्रकार चार प्रमाण, १६ तत्त्व, उनके अनेकों भेद-प्रभेदोंका जाल फैला देता है, जब कि जैनदर्शन संक्षेप रुचिवाला होनेके कारण प्रत्यक्ष व परोक्ष दो प्रमाण तथा इनके अंगभूत नय इन दो तत्त्वोंसे ही अपना सारा प्रयोजन सिद्ध कर लेता है।

१. न्याय दर्शन निर्देश

१. न्यायका लक्षण

ध. १३/५,५,५०/२८६/१ न्यायादनपेतं न्याय्यं श्रुतज्ञानम्। अथवा, ज्ञेयानुसारित्वान्न्यायरूपत्वाद्वा न्यायः सिद्धान्तः।—न्यायसे युक्त है इसलिए श्रुतज्ञान न्याय कहलाता है। अथवा ज्ञेयका अनुसरण करनेवाला होनेसे या न्यायरूप होनेसे सिद्धान्तको न्याय कहते हैं।

न्या. वि./वृ./१/१/४८/१ नीयतेऽनेनेति हि नीतिक्रियाकरणं न्याय उच्यते। —जिसके द्वारा निश्चय किया जाये ऐसी नीतिक्रियाका करना न्याय कहा जाता है।

न्या. द./भाष्य/१/१/१/पृ. ३/१८ प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः। प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं सान्वीक्षा प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा तया प्रवर्त्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्। —प्रमाणसे वस्तुकी परीक्षा करनेका नाम न्याय है। प्रत्यक्ष और आगमके आश्रित अनुमानको अन्वीक्षा कहते हैं, इसीका नाम आन्वीक्षिकी या न्यायविद्या व न्यायशास्त्र है।

२. न्यायाभासका लक्षण

न्या. द./भाष्य/१/१/१/पृ. ३/२० यत्पुनरनुमानप्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः स इति। —जो अनुमान प्रत्यक्ष और आगमके विरुद्ध हो उसे न्यायाभास कहते हैं।

३. जैन न्याय निर्देश

त. सू./१/६, ९-१२,३३ प्रमाणनयैरधिगमः।६। मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।९। तत्प्रमाणे।१०। आद्ये परोक्षम्।११। प्रत्यक्षमन्यत्।१२। नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः।३३। —प्रमाण और नयसे पदार्थोंका निश्चय होता है।६। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय व केवल ये पाँच ज्ञान हैं।९। वह ज्ञान ही प्रमाण है वह प्रमाण, प्रत्यक्ष व परोक्षके भेदसे दो प्रकारका है।१०। इनमें पहले दो मति व श्रुत परोक्ष प्रमाण हैं। (पाँचों इन्द्रियों व छटे मनके द्वारा होनेवाला ज्ञान मतिज्ञान है और अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति व आगम ये सब श्रुतज्ञानके अवयव हैं)।११। शेष तीन अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं (इनमें भी अवधि व मनःपर्यय देश प्रत्यक्ष और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। उपचारसे इन्द्रिय ज्ञान अर्थात् मतिज्ञानको भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मान लिया जाता है)।१२। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय हैं। (इनमें भी नैगम, संग्रह व व्यवहार द्रव्यार्थिक अर्थात् सामान्यांशग्राही हैं और शेष ४ पर्यायार्थिक अर्थात् विशेषांशग्राही हैं)।३३। (विशेष देखो प्रमाण, नय, निक्षेप, अनुमान, प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि विषय)

प. मु./१/१ प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः। —प्रमाणसे पदार्थोंका वास्तविक ज्ञान होता है प्रमाणाभाससे नहीं होता।

न्या. दी./१/§१/३/४ 'प्रमाणनयैरधिगमः' इति महाशास्त्रतत्त्वार्थसूत्रम्। तत्खलु परमपुरुषार्थनिःश्रेयससाधनसम्यग्दर्शनादिविषयभूतजीवादितत्त्वाधिगमोपायनिरूपणपरम्। प्रमाणनयाभ्यां हि विवेचिता जीवादयः सम्यगधिगम्यन्ते। तद्व्यतिरेकेण जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरासंभवात्।...ततस्तेषां सुखोपायेन प्रमाणनयात्मकन्यायस्वरूपप्रतिबोधकशास्त्राधिकारसंपत्तये प्रकरणमिदमारभ्यते।§६-९। —'प्रमाणनयैरधिगमः' यह उपरोक्त महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्रका वाक्य है। सो परमपुरुषार्थरूप, मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयके विषयभूत, जीवादि तत्त्वोंका ज्ञान करानेवाले उपायोंका प्रमाण और नय रूपसे निरूपण करता है, क्योंकि प्रमाण और नयके द्वारा ही जीवादि पदार्थोंका विश्लेषण पूर्वक सम्यग्ज्ञान होता है। प्रमाण और नयको छोड़कर जीवादि तत्त्वोंके जाननेमें अन्य कोई उपाय नहीं है। इसलिए सरलतासे प्रमाण और नयरूप न्यायके स्वरूपका बोध करानेवाले जो सिद्धिविनिश्चय आदि बड़े-बड़े शास्त्र हैं, उनमें प्रवेश पानेके लिए यह प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है।

दे० नय/I/३/७ (प्रमाण, नय व निक्षेपसे यदि वस्तुको न जाना जाये तो युक्त भी अयुक्त और अयुक्त भी युक्त दिखाई देता है।)

४. जैन न्यायके अवयव
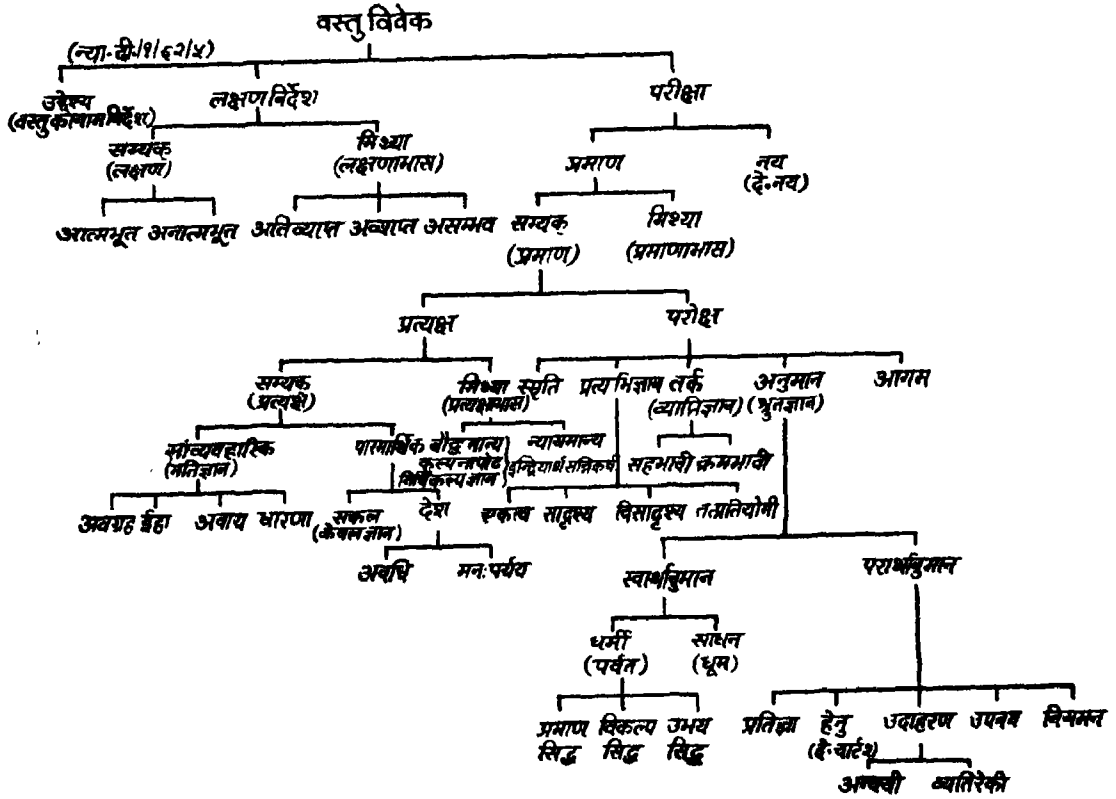
चार्ट नं० १
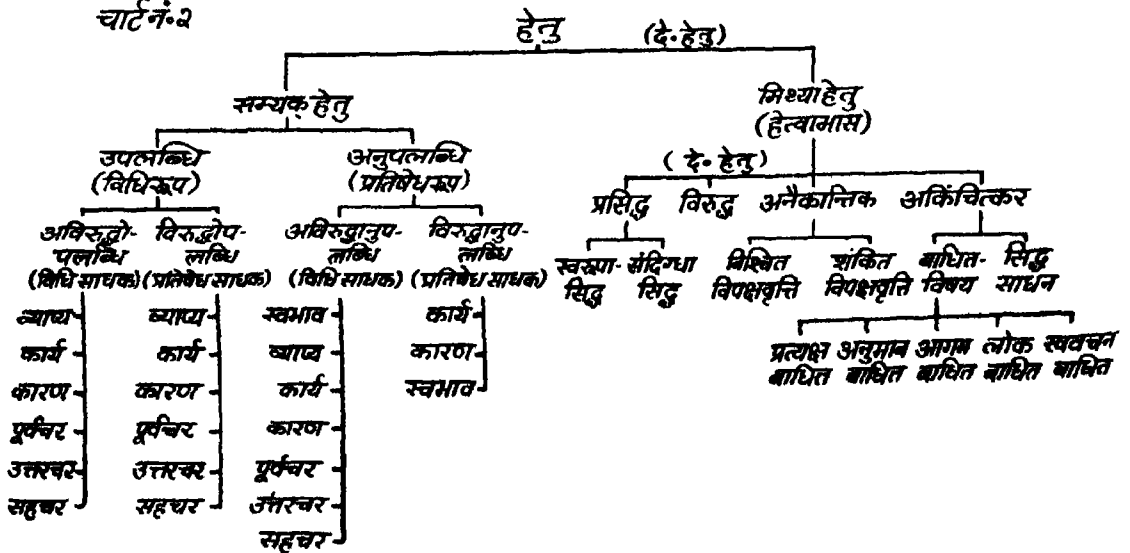
५. नैयायिक दर्शन निर्देश

न्या. सू./मू./१/१/१-२ प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ।१। दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।२। —१. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन, ५. दृष्टान्त, ६. सिद्धान्त, ७. अवयव, ८. तर्क, ९. निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितण्डा, १३. हेत्वाभास, १४. छल, १५. जाति, १६. निग्रहस्थान—इन १६ पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होता है ।१। तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञानका नाश होता है, उससे दोषोंका अभाव होता है, दोष न रहनेपर प्रवृत्तिकी निवृत्ति होती है, फिर उससे जन्म दूर होता है, जन्मके अभावसे सब दुःखोंका अभाव होता है । दुःखके अत्यन्त नाशका ही नाम मोक्ष है ।२।

षट् दर्शन समुच्चय/श्लो. १७-३३/पृ. १४-३१ का सार—मन व इन्द्रियों द्वारा वस्तुके यथार्थ ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। वह चार प्रकारका है (दे० अगला शीर्षक)। प्रमाण द्वारा जिन पदार्थोंका ज्ञान होता है वे प्रमेय हैं। वे १२ माने गये हैं (दे० अगला शीर्षक)। स्थाणुमें पुरुषका ज्ञान होनेकी भाँति संशय होता है (दे० संशय)। जिससे प्रेरित होकर लोग कार्य करते हैं वह प्रयोजन है। जिस बातमें पक्ष व विपक्ष एक मत हों उसे दृष्टान्त कहते हैं (दे० दृष्टान्त)। प्रमाण द्वारा किसी बातको स्वीकार कर लेना सिद्धान्त है। अनुमानकी प्रक्रियामें प्रयुक्त वाक्योंको अवयव कहते हैं। वे पाँच हैं (दे० अगला शीर्षक)। प्रमाणका सहायक तर्क होता है। पक्ष व विपक्ष दोनोंका विचार जिस विषयपर स्थिर हो जाये उसे निर्णय कहते हैं। तत्त्व जिज्ञासासे किया गया विचार-विमर्ष वाद है। स्वपक्षका साधन और परपक्षका खण्डन करना जल्प है। अपना कोई भी पक्ष स्थापित न करके दूसरेके पक्षका खण्डन करना वितण्डा है। असत् हेतुको हेत्वाभास कहते हैं। वह पाँच प्रकारके हैं (दे० अगला शीर्षक) वक्ताके अभिप्रायको उलटकर प्रगट करना छल है। वह तीन प्रकारका है (दे० शीर्षक नं० ७)। मिथ्या उत्तर देना जाति है। वह २४ प्रकार का है। वादी व प्रतिवादीके पक्षोंका स्पष्ट भाव न होना निग्रह स्थान है। वे भी २४ हैं (दे० वह वह नाम) नैयायिक लोग कार्यसे कारणको सर्वथा भिन्न मानते हैं, इसलिए ये असत् कार्यवादी हैं। जो अन्यथासिद्ध न हो उसे कारण कहते हैं वह तीन प्रकारका है—समवायी, असमवायी व निमित्त। सम्बन्ध दो प्रकारका है—संयोग व समवाय।

६. नैयायिक दर्शन मान्य पदार्थोंके भेद
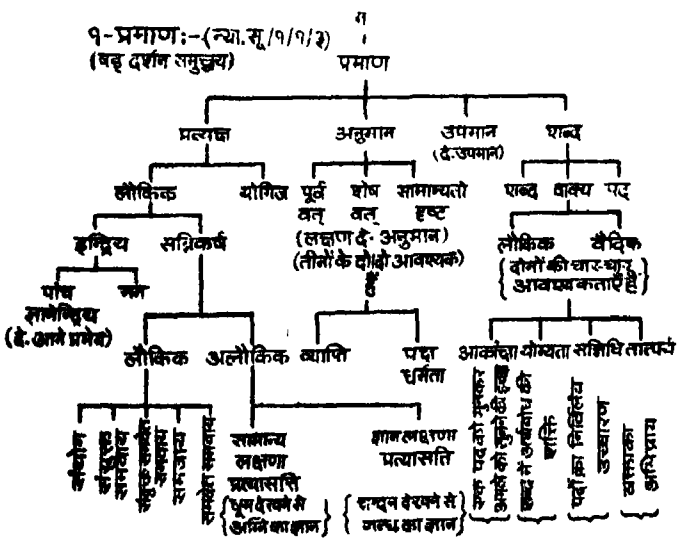
२ प्रमेय—न्या. सू./मू./१/१/६-२२ का सारार्थ—प्रमेय १२ हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग। तहाँ ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख आदिका आधार आत्मा है। चेष्टा, इन्द्रिय, सुख दुःखके अनुभवका आधार शरीर है। इन्द्रिय दो प्रकारकी हैं—बाह्य व अभ्यन्तर। अभ्यन्तर इन्द्रिय मन है। बाह्य इन्द्रिय दो प्रकारकी है—कर्मेन्द्रिय व ज्ञानेन्द्रिय। वाक्, हस्त, पाद, जननेन्द्रिय और गुदा ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् व श्रोत्र ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। रूप, रस आदि उन पाँच इन्द्रियोंके पाँच विषय अथवा सुख-दुःखके कारण 'अर्थ' कहलाते हैं। उपलब्धि या ज्ञानका नाम बुद्धि है। अणु, प्रमाण, नित्य, जीवात्माओंको एक दूसरेसे पृथक् करनेवाला, तथा एक कालमें एक ही इन्द्रियके साथ संयुक्त होकर उनके क्रमिक ज्ञानमें कारण बननेवाला मन है। मन, वचन, कायकी क्रियाको प्रवृत्ति कहते हैं। राग, द्वेष व मोह 'दोष' कहलाते हैं। मृत्युके पश्चात् अन्य शरीरमें जीवकी स्थितिका नाम प्रेत्यभाव है। सुख-दुःख हमारी प्रवृत्तिका फल है। अनुकूल फलको सुख और प्रतिकूल फलको दुःख कहते हैं। ध्यान-समाधि आदिके द्वारा आत्मसाक्षात्कार हो जानेपर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश ये पाँच क्लेश नष्ट हो जाते हैं। आगे चलकर छह इन्द्रियाँ, इनके छह विषय, तथा छह प्रकारका इनका ज्ञान, सुख, दुःख और शरीर इन २१ दोषोंसे आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाती है। वही अपवर्ग या मोक्ष है।

३-६ न्या.सू./मू./१/१/२३-३१/२८-३३ का सार—संशय, प्रयोजन व दृष्टान्त एक-एक प्रकार के हैं। सिद्धान्त चार प्रकारका है—सर्व शास्त्रोंमें अविरुद्ध अर्थ सर्वतन्त्र है, एक शास्त्रमें सिद्ध और दूसरेमें असिद्ध अर्थ प्रतितन्त्र है। जिस अर्थकी सिद्धिसे अन्य अर्थ भी स्वतः सिद्ध हो जायें वह अधिकरण सिद्धान्त है; किसी पदार्थको मानकर भी उसकी विशेष परीक्षा करना अभ्युपगम है।

७. अवयव—न्या. सू./मू./१/१/३२-३९/३३-३६ का सार—अनुमानके अवयव पाँच हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। साध्यका निर्देश करना प्रतिज्ञा है। साध्य धर्मका साधन हेतु कहलाता है। उसके तीन आवश्यक हैं—पक्षवृत्ति, सपक्षवृत्ति और विपक्ष व्यावृत्ति। साध्यके तुल्य धर्मवाले दृष्टान्तके वचनको उदाहरण कहते हैं। वह दो प्रकारका है अन्वय व व्यतिरेकी। साध्यके उपसंहारको उपनय और पाँच अवयवों युक्त वाक्यको दुहराना निगमन है।

८-१२. न्या. सू./१/१/४०-४१/३६-४१ तथा १/२/१-३/४०-४३का सार—तर्क; निर्णय, वाद, जल्प, व वितण्डा एक एक प्रकारके हैं। १३. हेत्वाभास—न्या. सू./१/२/४-९/४४-४७ का सारार्थ—हेत्वाभास पाँच हैं—'सव्यभिचारी, विरुद्ध, प्रकरण-सम, साध्यसम और कालातीत। पक्ष व विपक्ष दोनोंको स्पर्श करनेवाला सव्यभिचार है। वह तीन प्रकार है—साधारण, असाधारण व अनुपसंहारी। स्वपक्ष-विरुद्ध साध्यको सिद्ध करनेवाला विरुद्ध है। पक्ष व विपक्ष दोनों हीके निर्णयसे रहित प्रकरणसम है। केवल शब्द भेद द्वारा साध्यको ही हेतुरूपसे कहना साध्यसम है। देश कालके ध्वंससे युक्त कालातीत या कालात्ययापदिष्ट है। १४-१६. न्या. सू./१/२/१०-२०/४८-५४ का सारार्थ—छल तीन प्रकारका है—वाक् छल, सामान्यछल और उपचार छल।

वक्ताके वचनको घुमाकर अन्य अर्थ करना वाक्छल है। सम्भावित अर्थको सभीमें सामान्यरूपसे लागू कर देना सामान्यछल है। उपचारसे कही गयी बातका सत्यार्थरूप अर्थ करना उपचारछल है।

७. नैयायिकमतके प्रवर्तक व साहित्य

नैयायिक लोग यौग व शैव नामसे भी पुकारे जाते हैं। इस दर्शनके मूल प्रवर्तक अक्षपाद गौतम ऋषि हुए हैं, जिन्होंने इसके मूल ग्रन्थ न्यायसूत्रकी रचना की। इनका समय जैकोबीके अनुसार ई० २००-४५०, यूईके अनुसार ई० १५०-२५० और प्रो० ध्रुवके अनुसार ई० पू० की शताब्दी दो बताया जाता है। न्यायसूत्र पर ई. श. ४ में वात्स्यायनने भाष्य रचा। इस भाष्यपर उद्योतकरने न्यायवार्तिककी रचना की। तथा उसपर भी ई० ८४०में वाचस्पति मिश्रने तात्पर्य टीका रची। उन्होंने ही न्यायसूचिनिबन्ध व न्यायसूत्रोद्धारकी रचना की। जयन्तभट्टने ई० ८८० में न्यायमञ्जरी, न्यायकलिका; उदयनने ई.श. १० में वाचस्पतिकृत तात्पर्यटीकापर तात्पर्यटीका-परिशुद्धि तथा उदयनकी रचनाओंपर गंगेश नैयायिकके पुत्र बर्द्धमान आदिने टीकाएँ रचीं। इसके अतिरिक्त भी अनेक टीकाएँ व स्वतन्त्र ग्रन्थ प्राप्त हैं। जैसे—भासर्वज्ञकृत न्यायसार, मुक्तावली, दिनकरी, रामरुद्री नामकी भाषा परिच्छेद युक्त टीकाएँ, तर्कसंग्रह, तर्कभाषा, तार्किकरक्षा आदि। न्याय दर्शनमें नव्य न्यायका जन्म ई० १२००में गंगेशने तत्त्वचिन्तामणि नाम ग्रन्थकी रचना द्वारा किया, जिसपर जयदेवने प्रत्यक्षालोक, तथा वासुदेव सार्वभौम (ई० १५००) ने तत्त्वचिन्तामणि व्याख्या लिखी। वासुदेवके शिष्य रघुनाथने तत्त्वचिन्तामणिपर दीधिति, वैशेषिकमतका खण्डन करनेके लिए पदार्थखण्डन, तथा ईश्वरसिद्धिके लिए ईश्वरानुमान नामक ग्रन्थ लिखे। (स्या. म./परि-ग/पृ. ४०८—४१८)।

★ **नैयायिक मतके साधु**—दे० वैशेषिक।

★ **नैयायिक व वैशेषिक दर्शनमें समानता व असमानता**—दे० वैशेषिक।

८. न्यायमें प्रयुक्त कुछ दोषोंका नाम निर्देश

श्लो. वा. ४/१/३३/न्या./श्लो. ४५७-४५९ सांकर्यात् प्रत्यवस्थानं यथानेकान्तसाधने। तथा वैयतिकर्येण विरोधेनानवस्थया ।४५४। भिन्नाधारतयोभाभ्यां दोषाभ्यां संशयेन च। अप्रतीत्या तथाभावेनान्यथा वा यथेच्छया ।४५८। वस्तुतस्तादृशैर्दोषैः साधनाप्रतिघाततः। सिद्धं मिथ्योत्तरत्वं नो निरवद्यं हि लक्षणम् ।४५९। — जैनके अनेकान्त सिद्धान्तपर प्रतिवादी (नैयायिक), संकर, व्यतिकर, विरोध, अनवस्था, वैयधिकरण, उभय, संशय, अप्रतिपत्ति, व अभाव करके प्रसंग या दोष उठाते हैं अथवा और भी अपनी इच्छाके अनुसार चक्रक, अन्योन्याश्रय, आत्माश्रय, व्याघात, शाब्यत्व, अतिप्रसंग आदि करके प्रतिषेध रूप उपालम्भ देते हैं। परन्तु इन दोषों द्वारा अनेकान्त सिद्धान्तका व्याघात नहीं होता है। अतः जैन सिद्धान्त द्वारा स्वीकारा गया 'मिथ्या उत्तरपना' ही जातिका लक्षण सिद्ध हुआ।

और भी—जातिके २४ भेद, निग्रहस्थानके २४ भेद, लक्षणाभासके तीन भेद, हेत्वाभासके अनेकों भेद-प्रभेद, सब न्यायके प्रकरण 'दोष' संज्ञा द्वारा कहे जाते हैं। विशेष दे० वह वह नाम।

★ **वैदिक दर्शनोंका विकासक्रम**—दे० दर्शन (षट्दर्शन)।

२. वस्तु विचार व जय-पराजय व्यवस्था

१. वस्तुविचारमें परीक्षाका स्थान

ति. प./१/८३ जुत्तीए अत्थपडिग्गहणं।—(प्रमाण, नय और निक्षेपकी) युक्तिसे अर्थका परिग्रहण करना चाहिए।

द्र.नय/I/३/७ जो नय प्रमाण और निक्षेपसे अर्थका निरीक्षण नहीं करता है, उसको युक्त पदार्थ अयुक्त और अयुक्त पदार्थ युक्त प्रतीत होता है।

क. पा. १/१-१/§ २/७/३ जुत्तिविरहियगुरुवयणादो पयमाणस्स पमाणाणुसारित्तविरोहादो। —जो शिष्य युक्तिकी अपेक्षा किये बिना मात्र गुरुवचनके अनुसार प्रवृत्ति करता है उसे प्रमाणानुसारी माननेमें विरोध आता है।

न्या. दी./१/§ २/४ इह हि प्रमाणनयविवेचनमुद्देशलक्षणनिर्देशपरीक्षाद्वारेण क्रियते। अनुद्दिष्टस्य लक्षनिर्देशानुपपत्तेः। अनिर्दिष्टलक्षणस्य परीक्षितुमशक्यत्वात्। अपरीक्षितस्य विवेचनायोगात्। लोकशास्त्रयोरपि तथैव वस्तुविवेचनप्रसिद्धेः। —इस ग्रन्थमें प्रमाण और नयका व्याख्यान उद्देश, लक्षणनिर्देश तथा परीक्षा इन तीन द्वारा किया जाता है। क्योंकि विवेचनीय वस्तुका उद्देश नामोल्लेख किये बिना लक्षणकथन नहीं हो सकता और लक्षणकथन किये बिना परीक्षा नहीं हो सकती, तथा परीक्षा हुए बिना विवेचन अर्थात् निर्णयात्मक वर्णन नहीं हो सकता। लोक व्यवहार तथा शास्त्रमें भी उक्त प्रकारसे ही वस्तुका निर्णय प्रसिद्ध है।

भद्रबाहु चरित्र (हरिभद्र सूरि कृत) प्रस्तावना पृ. ६ पर उद्धृत—पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु। युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः। —न तो मुझे वीर भगवान्में कोई पक्षपात है और न कपिल आदि अन्य मत-प्रवर्तकोंमें कोई द्वेष है। जिसका वचन युक्तिपूर्ण होता है उसका ग्रहण करना ही मेरे लिए प्रयोजनीय है।

२. न्यायका प्रयोग लोकव्यवहारके अनुसार ही होना चाहिए।

ध. १२/४,२,८,१३/२८१/१० न्यायश्चर्च्यते लोकव्यवहारप्रसिद्धयर्थम्, न तद्बहिर्भूतो न्यायः, तस्य न्यायाभासत्वात्। —न्यायकी चर्चा लोकव्यवहारकी प्रसिद्धिके लिए ही की जाती है। लोकव्यवहारके बहिर्गत न्याय नहीं होता है, किन्तु वह केवल नयाभास ही है।

३. वस्तुकी सिद्धिसे ही जीत है, दोषोद्भावनसे नहीं

न्या वि./मू./२/२१०/२३९ वादी पराजितो युक्तो वस्तुतत्त्वे व्यवस्थितः। तत्र दोषं ब्रुवाणो वा विपर्यस्तः कथं जयेत् ।२१०। वस्तुतत्त्वकी व्यवस्था हो जानेपर तो वादीका पराजित हो जाना युक्त भी है। परन्तु केवल वादीके कथनमें दोष निकालने मात्रसे प्रतिवादी कैसे जीत सकता है!

सि. वि./मू. व. मू. वृ./५/११/३३७ भूतदोषं समुद्भाव्य जितवान् पुनरन्यथा। परिसमाप्तेस्तावतैवास्य कथं वादी निगृह्यते ।११। तत्र समापितम्—'विजिगीषुणोभयं कर्तव्यं स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणं च' इति। —प्रश्न—वादीके कथनमें सद्भूत दोषोंका उद्भावन करके ही प्रतिवादी जीत सकता है। बिना दोषोद्भावन किये ही वादकी परिसमाप्ति हो जानेपर वादीका निग्रह कैसे हो सकता है? उत्तर—ऐसा नहीं है; क्योंकि, वादी व प्रतिवादी दोनों ही के दो कर्तव्य हैं—स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण। (सि. वि./मू. वृ./५/२/३११/१७)।

४. निग्रहस्थानोंका प्रयोग योग्य नहीं

श्लो. वा. १/१/३३/न्या./श्लो. १०१/३४४ असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः। न युक्तं निग्रहस्थानं संधाहान्यादिवत्ततः ।१०१। —बौद्धोंके

द्वारा माना गया असाधनांग वचन और अदोषोद्भावन दोनोंका निग्रहस्थान कहना युक्त नहीं है। और इसी प्रकार नैयायिकों द्वारा माने गये प्रतिज्ञाहानि आदिक निग्रहस्थानोंका उठाया जाना भी समुचित नहीं है।

न्या. वि./वृ./२/२१२/२४२/६ तत्र च सौगतोक्तं निग्रहस्थानम्। नापि नैयायिकपरिकल्पितं प्रतिज्ञाहान्यादिकम्; तस्यासद्दूषणत्वात्। —बौद्धों द्वारा मान्य निग्रहस्थान नहीं है। और न इसी प्रकार नैयायिकोंके द्वारा कल्पित प्रतिज्ञा-हानि आदि कोई निग्रहस्थान है; क्योंकि, वे सब असत् दूषण हैं।

५. स्व पक्षकी सिद्धि करनेपर ही स्व-परपक्षके गुण-दोष कहना उचित है

न्या. वि./वृ./२/२०८/पृ. २३५ पर उद्धृत—वादिनो गुणदोषाभ्यां स्यातां जयपराजयौ। यदि साध्यप्रसिद्धौ च व्यर्थाः साधनादय.। विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः। आभासान्तरमुद्भाव्य पक्षसिद्धिम-पेक्षते। —गुण और दोषसे वादीकी जय और पराजय होती है। यदि साध्यकी सिद्धि न हो तो साधन आदि व्यर्थ हैं। प्रतिवादी हेतुमें विरुद्धताका उद्भावन करके वादीको जीत लेता है किन्तु अन्य हेत्वाभासोंका उद्भावन करके भी पक्षसिद्धिकी अपेक्षा करता है।

६. स्वपक्ष सिद्धि ही अन्यका निग्रहस्थान है

न्या. वि./वृ./२/१३/२४३ पर उद्धृत—स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः। —एक की स्वपक्षकी सिद्धि ही अन्य वादीका निग्रह-स्थान है।

सि वि./मू./५/२०/३५४ पक्षं साधितवन्तं चेद्दोषमुद्भावयन्नपि। वैतण्डिको निगृह्णीयाद् वादन्यायो महानयम् ।२०। —यदि न्यायवादी अपने पक्षको सिद्ध करता है और स्वपक्षकी स्थापना भी न करनेवाला वितण्डावादी दोषोंको उद्भावना करके उसका निग्रह करता है तो यह महान् वादन्याय है अर्थात् यह वादन्याय नहीं है वितण्डा है।

★ वस्तुकी सिद्धि स्याद्वाद द्वारा ही सम्भव है

—दे० स्याद्वाद

न्यायकर्णिका—श्वेताम्बर उपाध्याय श्री विनयविजय (ई० १६७७) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित एक ग्रन्थ।

न्यायकुमुद चन्द्रिका—श्री अकलंक भट्ट कृत लघीयस्त्रयपर आ. प्रभाचन्द्र (ई०९५०-१०२०) द्वारा रचित टीका। इसमें ७ परिच्छेद हैं। (ती०/२/३०६)

न्याय चूलिका—श्री अकलंक भट्ट (ई० ६४०-६८०) द्वारा संस्कृत गद्यमें रचा गया एक न्याय विषयक ग्रन्थ।

न्याय दीपिका—आ. धर्मभूषण (ई० १३९०) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित तीन परिच्छेद प्रमाण न्याय विषयक ग्रन्थ। समय—ई. १३९०-१४१८। (ती./३/३५७)।

न्याय आगमत समुच्चय—चन्द्रप्रभ काव्यके द्वितीय सर्गपर पं० जयचन्द छाबड़ा (ई० १७९३-१८२६) द्वारा भाषामें रचित एक न्याय विषयक ग्रन्थ।

न्याय विनिश्चय—आ. अकलंक भट्ट (ई० ६२०-६८०) कृत यह न्यायविषयक ग्रन्थ है। आचार्य श्री ने इसे तीन प्रस्तावोंमें ४८० संस्कृत श्लोकों द्वारा रचकर स्वयं ही संस्कृतमें इसपर एक वृत्ति भी लिख दी है। इसके तीन प्रस्तावोंमें प्रत्यक्ष, अनुमान व प्रवचन ये तीन विषय निबद्ध हैं। इस ग्रन्थपर आ. वादिराज सूरि (ई० १०१०-१०६५) ने संस्कृत भाषामें एक विशद विवरण लिखा है। (सि. वि./प्र. ५८/ पं० महेन्द्र) (ती० /२/३०१)।

न्यास—दे० निक्षेप।

न्यासापहार—स. सि./७/२६/३६६/१० हिरण्यादेर्द्रव्यस्य निक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यस्याल्पसंख्येयमाददानस्यैवमित्यनुज्ञावचनं न्यासापहारः। —धरोहरमें चाँदी आदिको रखनेवाला कोई उसकी संख्या भूलकर यदि उसे कमती लेने लगा तो 'ठीक है' इस प्रकार स्वीकार करना न्यासापहार है। (रा. वा./७/२६/४/५५३/३२) (इसमें मायाचारी-का दोष भी है) दे० माया/२।

न्यून—१. न्या. सू./मू./५/२/१२/३१५ हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ।१२। —प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवोंमेंसे किसी एक अवयवसे हीन वाक्य कहना न्यून नामक निग्रहस्थान है। (श्लो. वा. ४/१/३३/न्या./२२०/३६६/११ में इसका निराकरण किया गया है) २. गणितकी व्यकलनविधिमें मूलराशिको ऋण राशिकर न्यून कहा जाता है—दे० गणित/II/१/४।

न्योन दशमी व्रत—न्योन दशमि दश दशमि कराय, नये नये दश पात्र जिमाय। (यह व्रत श्वेताम्बर व स्थानकवासी आम्नायमें प्रचलित है।) (व्रत विधान संग्रह/पृ. १३१)

इति द्वितीयो खण्डः

[परिशिष्ट]

परिशिष्ट १—(आगम विचार)

कर्म प्रकृति—१. श्रुतज्ञानके 'दृष्टिप्रवाद' नामक बारहवें अंग के अन्तर्गत 'अग्रायणी' नामक द्वितीय पूर्व है। उसके पाँचवें वस्तु अधिकारसे सम्बद्ध चतुर्थ प्राभृतका नाम 'महाकर्म प्रकृति' है (दे० श्रुतज्ञान/II/१)। आचार्य परम्परा द्वारा इसका ही कोई अंश आचार्य गुणधर तथा धरसेन को प्राप्त था। आ० धरसेन से इसी का अध्ययन करके आ० भूतबलिने 'षट्खण्डागम' की रचना की थी (दे० आगे षट्खण्डागम)।

२. इसी प्राभृत (कर्म प्रकृति) के उच्छिन्न अर्थकी रक्षा करनेके लिये श्वेताम्बराचार्य शिवशर्म सूरि (वि० ५००) ने 'कर्म प्रकृति' के नाम से ही एक दूसरे ग्रन्थकी रचना की थी, जिसका अपर नाम 'कर्म प्रकृति संग्रहिणी' है।२६३। इस ग्रन्थमें कर्मोंके बन्ध उदय सत्त्व आदि दश करणोंका विवेचन किया गया है।२६५। इसकी अनेकों गाथायें षट्खण्डागम तथा कषाय पाहुडकी टीका धवला तथा जयधवलायें और यतिवृषभाचार्यके चूर्णिसूत्रोंमें पाई जाती हैं।३०१। आ० मलयगिरि कृत संस्कृत टीकाके अतिरिक्त इसपर एक प्राचीन प्राकृत चूर्णि भी उपलब्ध है।२६३। (जै०/१/७०)।

कर्मस्तव—५५ प्राकृत गाथाओं वाला यह ग्रन्थ कर्मोंके बन्ध उदय सत्त्वकी विवेचना करता है। दिगम्बर पंचसंग्रह (वि० श० ६) के 'कर्मस्तव' नामक तृतीय अधिकारमें इसकी ५३ गाथाओंका ज्योंका त्यों ग्रहण कर लिया गया है।३२२। दूसरी ओर विशेषावश्यक भाष्य (वि०६५०) में इसका नामोल्लेख पाया जाता है। इसका रचना काल (वि०श० ७-६) माना जा सकता है।३२५। इस ग्रन्थपर २४ तथा ३२ गाथावाले दो भाष्य उपलब्ध हैं, जिनके रचयिताके विषयमें कुछ ज्ञात नहीं है। तीसरी एक संस्कृत वृत्ति है जो गोविन्दाचार्य कृत है।३२२। (जै०/१/पृष्ठ संख्या)।

कषायपाहुड—साक्षात् भगवान महावीरसे आगत द्वादशांग श्रुतज्ञान के अन्तर्गत होनेसे तथा सूत्रात्मक शैलीमें निबद्ध होनेसे दिगम्बर आम्नाय में यह ग्रन्थ आगम अथवा सूत्र माना जाता है। (ज० ध०/१/ पृ० १५३-१५४) में आ० वीरसेन स्वामीने इस विषयमें विस्तृत चर्चा की है। चौदह पूर्वोंमें से पंचम पूर्व के दसवें वस्तु अधिकारके अन्तर्गत 'पेज्जपाहुड' नामक तृतीय पाहुड इसका विषय है।[1] १६००० पद प्रमाण इस का मूल विषय वि०पू० प्रथम शताब्दीमें ज्ञानोच्छेदके भय से युक्त आ० गुणधर देव द्वारा १८० सूत्र गाथाओं में उपसंहृत कर दिया गया।[2] १८० सूत्र गाथा परिमाण यह ग्रन्थ कर्म प्रकृति आदि १५ अधिकारों में विभक्त है।[3] आ० गुणधर द्वारा कथित वे १८० गाथायें आचार्य परम्परासे मुख दर मुख आती हुई आर्यमंक्षु और नागहस्ती को प्राप्त हुईं।[4] आचार्य गुणधरके मुख कमलसे विनिर्गत इन गाथाओं के अर्थको उन दोनों आचार्योंके पादमूलमें सुनकर आ. यतिवृषभने ई. १५०-१८०में ६००० चूर्णसूत्रोंकी रचना की।[5] इन्हीं चूर्ण सूत्रोंके आधारपर ई०१८० के आसपास उच्चारणाचार्यने विस्तृत उच्चारणा वृत्ति लिखी, जिसको आधार बनाकर ई०श० ५-६ में आ० बप्पदेवने ६०,००० श्लोक प्रमाण एक अन्य टीका लिखी। इन्हीं बप्पदेवसे सिद्धान्तका अध्ययन करके ई० ८१६ के आस-पास श्री वीरसेन स्वामीने इसपर २०,००० श्लोक प्रमाण जयधवला नामक अधूरी टीका लिखी जिसे उनके पश्चात् ई० ८३७ में उनके शिष्य आ० जिनसेन ने ४०,००० श्लोक प्रमाण टीका लिखकर पूरा किया इस प्रकार इस ग्रन्थ का उत्तरोत्तर विस्तार होता गया।

यद्यपि ग्रन्थमें आ० गुणधर देवने १८० गाथाओंका निर्देश किया है, तदपि यहाँ १८० के स्थानपर २३३ गाथायें उपलब्ध हो रही हैं। इन अतिरिक्त ५३ गाथाओं की रचना किसने की, इस विषयमें आचार्यों तथा विद्वानोंका मतभेद है, जिसकी चर्चा आगे की गई है। इन ५३ गाथाओंमें १२ गाथायें विषय-सम्बन्धका ज्ञापन कराने वाली हैं, ६ अद्धा परिमाणका निर्देश करती हैं और ३५ गाथायें संक्रमण वृत्तिसे सम्बद्ध हैं /(ती०/२/३३), (जै०/१/२८)।

<u>अतिरिक्त गाथाओं के रचयिता कौन</u>?—श्री वीरसेन स्वामी इन ५३ गाथाओं को यद्यपि आचार्य गुणधरको मानते हैं (दे. ऊपर) तदपि इस विषयमें गुणधरदेवकी अज्ञताका जो हेतु उन्होंने प्रस्तुत किया है उसमें कुछ बल न होनेके कारण विद्वान् लोग उनके अभिमतसे सहमत नहीं हैं और इन्हें नागहस्ती कृत मानना अधिक उपयुक्त समझते हैं। इस सम्बन्ध में वे निम्न हेतु प्रस्तुत करते हैं। १. यदि ये गाथायें गुणधरकी होतीं तो उन्हें १८० के स्थानपर २३३ गाथाओं का निर्देश करना चाहिये था। २. इन ५३ गाथाओंकी रचनाशैली मूल वाली १८० गाथाओंसे भिन्न है। ३. सम्बन्ध ज्ञापक और अद्धा परिमाण वाली १८ गाथाओंपर यतिवृषभाचार्य के चूर्णसूत्र उपलब्ध नहीं हैं। ४. संक्रमण वृत्तिवाली ३५ गाथाओंमें से १३ गाथायें ऐसी हैं जो श्वेताम्बराचार्य श्री शिवशर्म सूरि कृत 'कर्म प्रकृति' नामक ग्रन्थमें पाई जाती हैं, जब कि इनका समय वि. श. ५ अथवा ई. श. ५ का पूर्वार्ध अनुमित किया जाता है। ५. ग्रन्थके प्रारम्भमें दी गई द्वितीय गाथामें १८० गाथाओंको १५ अधिकारोंमें विभक्त करने का निर्देश पाया जाता है। यदि वह गाथा गुणधराचार्य की हुई होती तो अधिकार विभाजनके स्थानपर वहाँ "१६००० पद प्रमाण कषाय प्राभृत को १८० गाथाओं में उपसंहृत करता हूँ" ऐसी प्रतिज्ञा प्राप्त होनी चाहिये थी, क्योंकि वे ज्ञानोच्छेदके भयसे प्राभृतको उपसंहृत करने के लिये प्रवृत्त हुए थे। (ती./२/३४); (जै./१/२८-३०)।

टिप्पणी:— [1] पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्हि पाहुडे तदिए। पेज्जं त्ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम॥ (क० पा० १/§६८/८७)।

[2] एवं पेज्जदोसपाहुडं सोलसपदसहस्सपमाणं होंतं असीदि सदमेत्तगाहाहि उवसंघारिदं। (ज० ध० १/§६८/८७)।

[3] गाहासदे असीदे अत्थे पण्णरसधा विहत्तम्मि। वोच्छामि सुत्त गाहा जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि॥ (क० पा० १/२/पृ० ११)।

[4] पुणो ताओ सुत्त गाहाओ आइरिय परंपराए आगच्छमाणाओ अज्जमंखुणागहत्थीणं पत्ताओ॥ (ज० ध०/१/पृ० ८८)।

[5] पुणो तेसिं दोण्हंपि पादमूले असीदिसदगाहाणं गुणहरमुहकमलविणिग्गयाणमत्थं सम्मं सोऊण जयिवसह भडारएण पवयणवच्छलेण चुण्णिसुत्तं कयं। (ज० ध० १/§६८/८८)।

चूडामणि—१. विजयार्धकी उत्तर श्रेणी का एक नगर। (दे. विद्याधर)। २. इन्द्रनन्दि श्रुतावतारके अनुसार तुम्बुलाचार्यने 'कषायपाहुड़' तथा 'षट्खण्डागम' के आद्य ५ खण्डोंपर कन्नड़ भाषामें ८४००० श्लोक प्रमाण चूडामणि नामक एक टीका लिखी थी। ई. १६०४ के भट्टाकलंक कृत कर्नाटक शब्दानुशासनमें इसे 'तत्त्वार्थ महा शास्त्र' की ९६००० श्लोक प्रमाण व्याख्या कही गई है। पं. जुगल किशोर जी मुख्तार तथा डा. हीरा लाल जी शास्त्री के अनुसार 'तत्त्वार्थ महा शास्त्र' का अभिप्रेत यहाँ उमास्वामी कृत तत्त्वार्थ सूत्र न होकर सिद्धान्त शास्त्र है। (जै./१/२७५-२७६)।

चूर्णी—अल्प शब्दोंमें महान अर्थका धाराबाही विवेचन करनेवाले पद चौर्ण अथवा चूर्णी कहलाते हैं। (दे. अभिधान राजेन्द्र कोशमें चुण्णपद') इसकी रचनाका प्रचार दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों ही आम्नायोंमें पाया जाता है। दिगम्बर आम्नायमें यतिवृषभाचार्यने कषाय पाहुड़ पर चूर्णि सूत्रोंकी रचना की है। इसी प्रकार श्वेताम्बराम्नायमें भी 'कर्म प्रकृति' 'शतक' तथा 'सप्ततिका' नामक तीन ग्रन्थोंपर चूर्णियें उपलब्ध हैं। यथा—

१ कर्मप्रकृति चूर्णि—शिवशर्म सूरि (वि. ५) कृत 'कर्म प्रकृति' पर किसी अज्ञात आचार्य द्वारा रचित इस प्राकृत भाषा बद्ध चूर्णि में यद्यपि यत्र तत्र 'कषायपाहुड़ चूर्णि' (वि. श. २-३) के साथ साम्य पाया जाता है तदपि शैली।३०६। तथा भाषाका भेद होनेसे दोनों भिन्न हैं।३०६।कर्म प्रकृति चूर्णिमें जो गद्यांश पाया जाता है वह 'बन्ध सूत्र' (वि. ५१६) से लिया गया प्रतीत होता है और दूसरी ओर चन्द्रर्षि महत्तर (वि. ७५०-१०००) कृत पंच संग्रहके द्वितीय भागमें इस चूर्णिका पर्याप्त उपयोग किया गया है। इसलिये पं. कैलाशचन्द जी इसका रचना काल वि. ५५० से ७५० के मध्य स्थापित करते हैं।३११। (जै./१/पृष्ठ)।

२. कषायपाहुड़ चूर्णि—आ. गुणधर (वि. पू.श. १) द्वारा कथित कषायपाहुड़के सिद्धान्त सूत्रोंपर यति वृषभाचार्यने वि. श. २-३ में चूर्णि सूत्रोंकी रचना की थी, जिनको आधार मानकर पश्चाद्वर्ती आचार्योंने इस ग्रन्थपर विस्तृत वृत्तियें लिखीं, यह बात सर्वप्रसिद्ध है, इससे पहले कषाय पाहुड़)। यद्यपि इन सूत्रोंका प्रतिपाद्य भी वही है जो कि कषायपाहुड़ का तथापि कुछ ऐसे विषयों की भी इनमें विवेचना कर दी गई है जिनका कि संकेत मात्र देकर गुणधर स्वामी ने छोड़ दिया था।२१०। सिद्धान्त सूत्रोंके आधार पर रचित होते हुए भी, आ. वीरसेन स्वामीने इन्हें सिद्धान्त सूत्रोंके समकक्ष माना है और इनका समक्ष रखकर षट्खण्डागमके मूलसूत्रोंका समीक्षात्मक अध्ययन किया है।१७४। जिस प्रकार कषाय पाहुड़के मूल सूत्रोंका रहस्य जानने के लिये यतिवृषभ को आर्यमंक्षु तथा नागहस्ती के पादमूलमें रहना पड़ा उसी प्रकार इनके चूर्णि सूत्रोंका रहस्य समझने के लिये भी वीरसेन स्वामीको उच्चारणाचार्यों तथा व्याख्यानाचार्यों की शरणमें जाना पड़ा।१७८। (जै./१/पृष्ठ)।

३. लघु शतक चूर्णि—श्वेताम्बराचार्य श्री शिवशर्म सूरि (वि.श.५) कृत 'शतक' पर प्राकृत गाथा बद्ध यह ग्रन्थ।३५७। चन्द्रर्षि महत्तरकी कृति माना गया है।३५८। ये चन्द्रर्षि पंचसंग्रहकार हैं या कोई अन्य इसका कुछ निश्चय नहीं है (दे. आगे परिशिष्ट/२)। परन्तु क्योंकि तत्त्वार्थ भाष्य की सिद्धसेन गणी (वि. श. ९) कृत टीका के साथ इसकी बहुतसी गाथाओं या वाक्योंका साम्य पाया जाता है, इस लिये उसके साथ इसका आदान प्रदान निश्चित है।३६२-३६३। श्वेताम्बर सप्ततिका सर्वसंग्रहके मूलमें सम्मिलित दिगम्बरीय पंच संग्रह (वि. श. ८ से पूर्व) की अति प्रसिद्ध 'जं सामण्णं गहणं...' गाथा इसमें पाई जाती है।३६२। इसके अतिरिक्त विशेषावश्यक भाष्य (वि. ...) की भी अनेकों गाथायें इसमें उद्धृत हुई मिलती हैं।३६०। अभयदेव सूरि (वि. १०८८-११३५) के अनुसार उनका सित्तरि भाष्य इसके आधारपर रचा गया है। इन सब प्रमाणों पर से यह कहा जा सकता है कि इसकी रचना वि. ७५०-१००० में किसी समय हुई है।३६६।

४. बृहद् शतक चूर्णि—आ. हेमचन्द्र कृत शतक वृत्तिमें प्राप्त 'चूर्णिका बहुवचनान्त निर्देश' पर से ऐसा लगता है कि शतकपर अनेकों चूर्णियें लिखी गई हैं, परन्तु उनमें दो प्रसिद्ध हैं—लघु तथा बृहद्। कहीं-कहीं दोनों के मतोंमें परस्पर भेद पाया जाने से इन दोनोंको एक नहीं कहा जा सकता।३६७। लघु चूर्णि प्रकाशित हो चुकी है।३६५। शतक चूर्णिके नामसे जिसका उल्लेख प्रायः किया जाता है वह यह (लघु) चूर्णि ही है। बृहद् चूर्णि यद्यपि आज उपलब्ध नहीं है, तदपि आ. मलयगिरि (वि. श. १२ कृत पंच संग्रह टीका तथा कर्म प्रकृति टीका में 'उक्तं च शतक बृहच्चूर्णौ' ऐसे उल्लेख द्वारा वि. श. १२ में इस की विद्यमानता सिद्ध होती है। परन्तु लघु शतक चूर्णिमें क्योंकि इसका नामोल्लेख प्राप्त नहीं होता है इसलिये यह अनुमान किया जा सकता है कि इसकी रचना उसके अर्थात् वि. ७५०-१००० के पश्चात कभी हुई है।

५ सप्ततिका चूर्णि—'सित्तरि या सप्ततिका' नामक श्वेताम्बर ग्रन्थपर प्राकृत भाषा में लिखित इस चूर्णि में परिमित शब्दों द्वारा 'सित्तरि' की ही मूल गाथाओंका अभिप्राय स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया गया है। इसमें 'कर्म प्रकृति', 'शतक' तथा 'सत्कर्म' के साथ 'कषाय पाहुड़' का भी निर्देश किया गया उपलब्ध होता है।२६८। इसके अनेक स्थलोंपर 'शतक' के नाम से 'शतक चूर्णि' (वि. ७५०-१०००) का भी नामोल्लेख किया गया प्रतीत होता है।३७०। आ. अभयदेव सूरि (वि. १०८८-११३५) ने इस का अनुसरण करते हुए सप्ततिका पर भाष्य लिखा है।३७०। और इसीका अर्थावबोध कराने लिये आ० मलयगिरि (वि. श. १२) ने सप्ततिका पर टीका लिखी है।३६८। इसलिये इसका रचना काल वि.श. १०-११ माना जा सकता है।३७०। (जै./१/पृष्ठ)।

तत्त्वार्थसूत्र—१. सामान्य परिचय—दश अध्यायोंमें विभक्त छोटे छोटे ३५७ सूत्रों वाले इस ग्रन्थने जैनागमके सकल मूल तत्त्वों का अत्यन्त संक्षिप्त परन्तु विशद विवेचन करके गागरमें सागरकी उक्ति को चरितार्थ कर दिया है इसलिये जैन सम्प्रदायमें इस ग्रन्थका स्थान आगम ग्रन्थों की अपेक्षा किसी प्रकार भी कम नहीं। सूत्र संस्कृत भाषा में रचे गए हैं। साम्प्रदायिकतासे ऊपर होने के कारण दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों ही आम्नायों में इसको सम्मान प्राप्त है। जैनाम्नायमें यह संस्कृत का आद्य ग्रन्थ माना जाता है क्योंकि इससे पहले के सर्व ग्रन्थ मागधी अथवा शौरसैनी प्राकृतमें लिखे गए हैं। द्रव्यानुयोग, करणानुयोग इन तीनों अनुयोगोंका सकल सार इसमें गर्भित है। (ती. २/१५५-१५६)। (जै०/२/२४७)। सर्वार्थ सिद्धि राजवार्तिक तथा श्लोक वार्तिक इस ग्रन्थकी सर्वाधिक मान्य टीकायें हैं। इसके अनुसार इस ग्रन्थका प्राचीन नाम तत्त्वार्थ सूत्र न होकर 'तत्त्वार्थ' अथवा 'तत्त्वार्थ शास्त्र' है। सूत्रात्मक होने के कारण बादमें यह तत्त्वार्थ सूत्रके नामसे प्रसिद्ध हो गया। मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करने के कारण 'मोक्ष शास्त्र' भी कहा जाता है। (ती०/२/१५३) (जै०/२/२४६, २४७)। जैनाम्नाय में यह आद्य संस्कृत ग्रन्थ माना जाता है क्योंकि इससे पहले के सकल शास्त्र प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं। (जै०/२/२४८)।

२. दिगम्बर ग्रन्थ—यद्यपि यह ग्रन्थ दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों को मान्य है परन्तु दोनों आम्नायों में इसके जो पाठ प्राप्त होते हैं उनमें बहुत कुछ भेद पाया जाता है (ती०/२/१६२), (जै०/२/२५१)। दिगम्बराम्नाय वाले पाठ के अध्ययन से पता चलता है कि सूत्रकार ने अपने गुरु कुन्दकुन्द के प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, नियमसार आदि

ग्रन्थों का इस ग्रन्थ में पूरी तरह अनुसरण किया है, जैसे द्रव्य के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले सद्द्रव्य लक्षणम्, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, गुण पर्ययवद्द्रव्यम् ये तीन सूत्र पञ्चास्तिकाय की दसवीं गाथा का पूरा अनुसरण करते हैं। (ती०/२/१५१, १५६ १६०) (जै०/२/२६१)। इसलिए श्वेताम्बर भाष्य तत्त्वार्थाधिगम से यह भिन्न है। यह वास्तव में कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर मूल तत्त्वार्थ सूत्र पर रचित भाष्य है (ती०/२/१५०)। दूसरी बात यह भी कि दिगम्बर आम्नायमें इसका जितना प्रचार है उतना श्वेताम्बर आम्नायमें नहीं है। वहाँ इसे आगम साहित्य से कुछ छोटा समझा जाता है। (जै०/२/२४७) दिगम्बर आम्नाय में इसकी महत्ता इस बात से भी सिद्ध है कि जितने भाष्य या टीकायें इस ग्रन्थ पर लिखे गए उतने अन्य किसी ग्रन्थ पर नहीं हैं। १. आ० समन्त भद्र (वि०श० २-३) कृत गन्धहस्ति महाभाष्य; २. आ० पूज्यपाद (ई० श० ५) कृत सर्वार्थसिद्धि; ३ योगीन्द्रदेव (ई० श० ६) विरचित तत्त्व प्रकाशिका; ४. अकलंक भट्ट (ई० ६२०-६८०) विरचित तत्त्वार्थ राजवार्तिकालंकार; ५. विद्यानन्दि (ई० ७७५-८४०) रचित श्लोकवार्तिक; ६. अभयनन्दि (ई० श० १०-११) कृत तत्त्वार्थवृत्ति; ७ आ० शिवकोटि (ई० श० ११) कृत रत्नमाला; ८ आ० प्रभाचन्द्र (वि० श० ११) कृत तत्त्वार्थ वृत्ति पद; ९. आ० भास्करानन्दि (वि० श० १२-१३) कृत सुखबोधिनी; १० मुनि बाल चन्द्र (वि० श० १३ का अन्त) कृत तत्त्वार्थ सूत्रवृत्ति (कन्नड़); ११. योगदेव भट्टारक (वि० १६३६) रचित सुखबोध-वृत्ति; १२. विबुध सेनाचार्य (?) विरचित तत्त्वार्थ टीका; १३. प्रभाचन्द्र नं० ८ (वि० १४८९) कृत तत्त्वार्थ रत्न प्रभाकर; १४. भट्टारक श्रुतसागर (वि० श० १६) कृत तत्त्वार्थ वृत्ति। जबकि श्वेताम्बर आम्नाय में केवल ३ टीकायें प्रचलित हैं। १. वाचक उमास्वाति कृत तत्त्वार्थाधिगम भाष्य; २. सिद्धसेन गणी (वि० श० ५) कृत तत्त्वार्थ भाष्य वृत्ति; ३. हरिभद्र सूरिकृत तत्त्वार्थ भाष्य वृत्ति (वि० श०/८-९)।

३ कथा—सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ में इस ग्रन्थ की रचना के विषय में एक संक्षिप्त सा इतिवृत्त दिया गया है, जिसे परवर्ती आचार्यों ने भी अपनी टीकाओं में दोहराया है। तदनुसार इस ग्रन्थ की रचना सौराष्ट्र देश में गिरनार पर्वत के निकट रहने वाले किसी एक आसन्न भव्य शास्त्रवेत्ता श्वेताम्बर विद्वान के निमित्त से हुई थी। उसने 'दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग' यह सूत्र बनाकर अपने घर के बाहर किसी पाटिये पर लिख दिया था। कुछ दिनों पश्चात् चर्या के लिए गुजरते हुए भगवान् उमास्वामी की दृष्टि उस पर पड़ गई और उन्होंने उस सूत्र के आगे 'सम्यक्' पद जोड़ दिया। यह देख कर वह आसन्न भव्य खोज करता हुआ उनकी शरण को प्राप्त हुए। आत्म हित के विषय में कुछ चर्चा करने के पश्चात् उसने इनसे इस विषय में सूत्र ग्रन्थ रचने की प्रार्थना की, जिस से प्रेरित होकर आचार्य प्रवर ने यह ग्रन्थ रचा। सर्वार्थ सिद्धिकार ने उस भव्य के नाम का उल्लेख नहीं किया, परन्तु पश्चाद्वर्ती टीकाकारों ने अपनी-अपनी कृतियों में उसका नाम कल्पित कर लिया है। उपर्युक्त टीकाओं में से अष्टम तथा दशम टीकाओं में उसका नाम 'सिद्धय' कहा गया है, जबकि चतुर्दशम में उसे 'द्वैपायन' बताया गया है। इस कथा में कितना तथ्य है यह तो नहीं कहा जा सकता। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह ग्रन्थ किसी आसन्न भव्य के लिये लिखा गया था। (ती०/२/१५३) (जै०/२/२४१)।

४. समय—ग्रन्थ में निबद्ध 'सत्संख्याक्षेत्र स्पर्शन कालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ।१. ८।' सूत्र ष० ख०/१/१/७ का रूपान्तरण मात्र है। दूसरी ओर कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का इसमें अनुसरण किया गया है, तीसरी ओर आ० पूज्यपाद देवनन्दि ने इस पर सर्वार्थसिद्धि नामक टीका लिखी है। इसलिये इस ग्रन्थ का रचनाकाल षट्खण्डागम (वि० श० ५) और कुन्दकुन्द (वि० श० २-३) के पश्चात् तथा पूज्यपाद (वि० श० ६) से पूर्व कहीं होना चाहिये। पं० कैलाश चन्द जी वि० श० ३ का अन्त स्वीकार करते हैं। (जै०/२/२६९-२७०)।

धवला जयधवला—कषाय पाहुड तथा षट्खण्डागमके आद्य पाँच खण्डों पर ई. शताब्दी ३ में आ. बप्पदेव ने जो व्याख्या लिखी थी (दे० बप्पदेव); वाटग्राम (बड़ौदा) के जिनालयमें प्राप्त उस व्याख्यासे प्रेरित होकर आ. वीरसेन स्वामीने इन नामों वाली अति विस्तीर्ण टीकायें लिखीं (दे. वीरसेन)। इनमें से ७२००० श्लोक प्रमाण धवला टीका षट्खण्डागमके आद्य पाँच खण्डोंपर है, और ६०,००० श्लोक प्रमाण जयधवला टीका कषाय पाहुड पर है। इसमें से २०,००० श्लोक प्रमाण आद्य एक तिहाई भाग आ० वीरसेन स्वामीका है और ४०,००० श्लोक प्रमाण अपर दो तिहाई भाग उनके शिष्य जिनसेन द्वि. का है, जो कि उनके स्वर्गारोहणके पश्चात ग्रन्थ को पूरा करने के लिये उन्होंने रचा था।(इन्द्र नन्दिश्रुतावतार)।१७७-१८४। ये दोनों ग्रन्थ प्राकृत तथा संस्कृत दोनों से मिश्रित भाषामें लिखे गए हैं। दर्शनोपयोग, ज्ञानोपयोग, संयम, क्षयोपशम आदि के जो स्वानुभवगम्य विशद् लक्षण इस ग्रन्थमें प्राप्त होते हैं, और कषायपाहुड तथा षट्खण्डागमकी सैद्धान्तिक मान्यताओं में प्राप्त पारस्परिक विरोधका जो सुयुक्ति युक्त तथा समतापूर्ण समन्वय इन ग्रन्थोंमें प्रस्तुत किया गया है वह अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। इनके अतिरिक्त प्रत्येक विषयमें स्वयं प्रश्न उठाकर उत्तर देना तथा दुर्गम विषयको भी सुगम बना देना, इत्यादि कुछ ऐसी विशिष्टतायें हैं जिन के कारण टीका रूप होते हुए भी ये आज स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमें प्रसिद्ध हो गए हैं। अपनी अन्तिम प्रशस्तिके अनुसार जयधवला की पूर्ति आ० जिनसेन द्वारा राजा अमोघवर्षके शासन काल (शक. ७५९, ई० ८३७) में हुई। प्रशस्ति के अर्थ में कुछ भ्रान्ति रह जाने के कारण धवला की पूर्ति के कालके विषयमें कुछ मतभेद है। कुछ विद्वान इसे राजा जगत्तुंग के शासन काल(शक ७३८, ई. ८१६)में पूर्ण हुई मानते हैं और कोई वि. ८३८(ई. ७८१) में मानते हैं। जयधवला की पूर्ति क्योंकि उनकी मृत्युके पश्चात हुई है इसलिये धवला की पूर्तिका यह काल (ई. ७८१) ही उचित प्रतीत होता है। दूसरी बात यह भी है कि पुन्नाट संघीय आ. जिनसेन ने क्योंकि अपने हरिवंश पुराणकी प्रशस्ति (शक. ७०३, ई. ७८१) में वीरसेन के शिष्य पंचस्तूपीय जिनसेन का नाम स्मरण किया है इसलिए इस विषयमें दिये गए दोनों ही मत समन्वित हो जाते हैं।(ज./१/२५५); (ती./२/३२४)।

परिशिष्ट २—(आचार्य विचार)

गंधहस्ती—श्वेताम्बर आम्नायमें यह नाम आ. सिद्धसेन की उपाधि के रूप में प्रसिद्ध है। परन्तु क्योंकि सिद्धसेन नाम के दो आचार्य हुए हैं, एक सिद्धसेन दिवाकर और दूसरे सिद्धसेन गणी, इसलिए यह कहना कठिन है कि यह इनमें से किसकी उपाधि है। उपाध्याय यशोविजय जी (वि. श. १७) ने इसे सिद्धसेन दिवाकर की उपाधि माना है।३१७। परन्तु पं० सुखलाल जी इसे सिद्धसेन गणी की उपाधि मानते हैं।३१८। आ. शीलांक (वि. श ९-१०) ने आचारांग सूत्र की अपनी वृत्ति में गन्धहस्ती कृत जिस विवरण का उल्लेख किया है, वह इन्हीं की कृति थी ऐसा अनुमान होता है।३१९। (जै./१/पृष्ठ)

गर्गर्षि—सिद्धर्षि (वि. ९६२) के ज्येष्ठ गुरु भ्राता तथा दीक्षा गुरु (दे. सिद्ध ऋषि) कृति—कर्म विपाक। इसकी परमानन्द कृत टीका राजा कुमारपाल (वि. ११९९-१२३०) के शासनकाल में रची गई।४३१। अतः इनका काल वि श. ९ का अन्त अथवा १० का प्रारम्भ माना जा सकता है।४३२। (जै./१/पृष्ठ)।

चन्द्रर्षि महत्तर—श्वेताम्बर पंचसंग्रह प्राकृत तथा उस की स्वोपज्ञ टीका के रचयिता एक प्रसिद्ध श्वेताम्बर आचार्य ।३५१, ३६६। शतक चूर्णि के रचयिता का नाम भी यद्यपि यही है ।३५८। तथापि यह बात सन्दिग्ध है कि वे दोनों एक ही व्यक्ति थे या भिन्न ।३५६। इनकी स्वोपज्ञ टीका में एक ओर तो विशेषावश्यक भाष्य (वि. ६५०) की कुछ गाथायें उद्धृत पाई जाती हैं, और दूसरी ओर गर्गर्षि (वि. श. ६-१०) कृत 'कर्म विपाक' के एक मत का खण्डन किया गया उपलब्ध होता है ।३६१। इस पर से इनका काल वि. श. १० के अन्त में स्थापित किया जा सकता है। शतक चूर्णिका काल क्योंकि वि. ७५०-१००० निश्चित किया गया है (दे. परिशिष्ट/१), इसलिये यदि दोनों के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं तो कहना होगा कि वे इसी अवधि (वि. श. ६-१०) के मध्य में कहीं हुए हैं ।३६६। (जै./१/पृष्ठ)।

नन्दवंश—मगध देश का एक प्राचीन राज्यवंश। जैन शास्त्र के अनुसार इसका काल यद्यपि अवन्ती नरेश पालक के पश्चात् वी. नि. ६० (ई. पू. ४६७) से प्रारम्भ हो गया था, तथापि जैन इतिहासकार श्री जायसवाल जी के अनुसार यह मान्यता भ्रान्तिपूर्ण है। अवन्ती राज्य को मगध राज्य में मिलाकर उसकी वृद्धि करने के कारण शैशुनाग वंशीय नागदास के मन्त्री सुसुनाग का नाम नन्दिवर्द्धन पड़ गया था। वास्तव में वह नन्द वंश का राजा नहीं था। नन्दवंश में महानन्द तथा उसके आठ पुत्र ये नव नन्द प्रसिद्ध हैं, जिनका काल ई. पू. ४१० से ३२६ तक रहा (दे. इतिहास/३/४)। इस वंश की चौथी पीढ़ी अर्थात् महानन्दि के काल से इस वंश में जैन धर्म ने प्रवेश पा लिया था ।३३२। खारवेल के शिलालेख के अनुसार कलिंग देश पर चढ़ाई करके ये वहाँ से जिनमूर्ति ले आए थे ।३५२। हिन्दु पुराणों ने साम्प्रदायिकता के कारण ही इनको शूद्रा का पुत्र लिख दिया है। जिसका अनुसरण करते हुए यूनानी लेखकों ने भी इन्हें नाई का पुत्र लिख दिया ।३३२। धनानन्द इस वंश के अन्तिम राजा थे। जिन्होंने भोग विलास में पड़ जाने के कारण अपने मन्त्री शाकटाल को सकुटुम्ब बन्दी बनाकर अन्धकूप में डाल दिया था ।३६४। (जै./पी./पृष्ठ); (भद्रबाहु चरित्र/३/८)।

समाप्त